

सर्वोत्तम भारतीय चीनी-मिट्टी के
बर्तनों से
अपनी मेज की खूबसूरती
बढ़ाइए



वर्ष १२ 12 अंक १ 1 पूर्णांक १४३

मई १९५६ 1956

लेखकों के पते :

आवरण चित्र (तिब्बत में प्राप्त) : महात्मा बुद्ध
इस मास का चित्र : महात्मा बुद्ध

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८





वर्ष १२ मई १९५६ अंक १

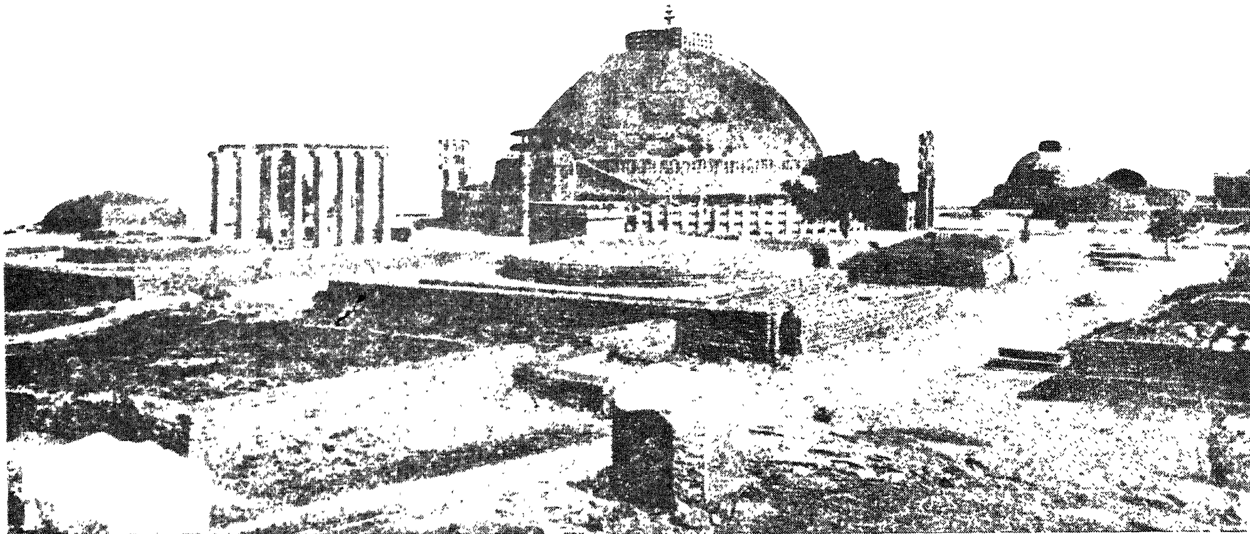
तथागत

मैथिलीशरण गुप्त

रसना-लोलुप मनुज हिंस्र पशु हो उठा
यज्ञ पुरुष भी उसे देख कर रो उठा !
वे ही आँसू, देव, तुम्हारे रूप में,
उद्धारक बन मिले हमें भव-कूप में !
राजभवन धन-धान्य और जन से भरा,
राहुल-सा शिशु पुत्र, कलत्र यशोधरा,
हाय ! हमारे हेतु क्या न तुमने तजा;
किस में ऐसा विश्व-वेदना-स्वर बजा ?
देख सके तुम हमें न आधिव्याधि में,
यह कह कर रत हुए अखण्ड समाधि में—
'सूख जाय यह काय, न आसन से हिले,
मुझे न जब तक सर्व-मुक्ति-दर्शन मिले ।
आकर दिए अनेक लोभ-भय 'मार' ने
छू पाया क्या तुम्हें परन्तु विकार ने ?
कर-मर पर पुरुषार्थ तुम्हारा तुल गया,
तभी उठे तुम, सब रहस्य जब खुल गया ।

तनु पर केवल एक गेरुआ वस्त्र था,
एकाकी थे, पास न कोई शस्त्र था ।
तदपि भिक्षु भगवान जिधर तुम चल पड़े,
आ आकर नत हुए नरेन्द्र बड़े-बड़े ।
हम क्या करते नहीं आप जिसके लिए,
गिनते हैं कब पुण्य-पाप जिसके लिए,
तुमने पाकर त्याग किया उस भोग का,
दिया नया उपचार पुराने रोग का ।
थल-पर-सा चल नदी पार कोई गया,
लोग चमत्कृत हुए, तुम्हें आई दया
'धेले का यह चमत्कार', तुमको जँचा
उतराई का यही नाव-भाड़ा बचा !
घाव लगा था तुम्हें, लगी सबको व्यथा,
पर कुछ भी वैकल्य भाव तुम में न था
'व्यथा-व्यथा है', सुगत, सहज तुमने कहा
'मानूँ अथवा उसे न, यह मुझ पर रहा !'

'ईश्वर हो वा न हो, किन्तु तुम हो, सुनो,
पथ अनेक हैं यहाँ, जिसे चाहो चुनो,
कर्मों की गति सदा सभी के साथ है,
भूत गया, भवितव्य तुम्हारे हाथ है ।'
नहीं वैर में, वैर-शान्ति है प्रेम में,
क्षेम तुम्हारा यहाँ सभी के क्षेम में ।
मैत्री-करुणा बिना कहाँ कल्याण है,
जलते हो तुम आप, प्राप्य निर्वाण है ।
'बढ़ो भिक्षुओ, भिन्न पथों से लोक में
तड़प रहा जो पड़ा दुःख में, शोक में ।
तुम सब का हित और सौख्य साधन करो,
एक ओर को गमन एक ही जन करो ।'
भय-संशय में पड़ा लोक लय पा रहा,
अवश मृत्यु के घाट उतरता जा रहा ।
देव, दया कर मार्ग दिखाओ फिर उसे,
पंचशील की सीख सिखाओ फिर उसे ।



साँची का एक सामान्य दृश्य

साँची

वचन

ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।
दो सहस्र वर्षों के पहले
महाकाव्य जो पाषाणों में
तुमने लिखा, उसे पढ़ पाना
था मेरे उन अरमानों में
जिनके पूरा हुए बिना मैं
अपना जन्म अधूरा कहता;
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

काल, प्रकृति, दानव, मानव के
दुसह कराघातों को सहते,
ऊँचा अपना भाल उठाए
अपनी पुण्य कथा तुम कहते;
अनहद नाद तुम्हारा सुनकर—
सुना अनसुना भी बहुतों को—
कोई कह सकता है उसने बात सुनी गंभीर गगन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कहाँ गए औज़ार कि जिनसे
तुमने ये रेखाएँ आँकीं,
कहाँ यंत्र-कल, रचीं जिन्होंने
कुशल तुम्हारी छेनी-टाँकी,
कहाँ गए वे साँचे जिनमें
ये नैसर्गिक रूप ढले थे;
ये जिज्ञासाएँ सदियों तक बनी रहेंगी विषय मनन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कला नहीं बसती पत्थर में,
स्वर में, रंगों की श्रेणी में,
बाजंतर में, कंठ, लेखनी में,
तूली, कीली, छेनी में;
कोई मंदर जब जन अंतर
मंथन करता, स्वप्न उभरते,
कला उभरती, कविता उठती,
कीर्ति निखरती, विभव बिखरते;
मैंने भी देखी है ऐसी एक बड़ी हलचल जीवन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

बुद्ध के सिद्धान्त

राहुल सांकृत्यायन

बुद्ध पूरे अर्थ में सभी काल और सभी देश के असाधारण पुरुष थे। ८० वर्ष की आयु (४८३ ई० पू०) में उनका देहान्त हुआ था। अपने जीवन के ४५ वर्ष उन्होंने लोगों को रास्ता बतलाने में लगाए। वह अपने उपदेशों के बारे में कहते थे, कि बेड़े की तरह मैंने उपदेश दिए हैं, वे पार होने के लिए हैं, सिर पर ढोने के लिए नहीं। वह यह भी कहते थे, कि तथागत (बुद्ध) तो सिर्फ़ बतलाने वाले हैं, रास्ता तुम्हें चलना है। उन्होंने ऐसे धर्म का उपदेश दिया, जिसमें ईश्वर के लिए गुंजाइश नहीं, ऐसे पुनर्जन्म को बतलाया, जिसमें आत्मा की आवश्यकता नहीं। बहुत बातों में वह बिल्कुल आधुनिक से मालूम होते हैं। भारत के वह सबसे बड़े सपूत थे। उनके सन्देश ने पृथ्वी के एक बहुत बड़े भाग को दो हज़ार वर्षों से शान्ति का सन्देश दिया। उनके सिद्धान्त क्या थे, उन्हें यहाँ बतलाने की कोशिश करेंगे; उनकी पच्चीसवीं शताब्दी मनाने के अवसर पर जिन्हें ध्यान में रखने की ज़रूरत है।

बुद्ध के सिद्धान्तों को तीन भागों (स्कंधों) में बाँटा जा सकता है, जिनको पुरानी परम्परा के अनुसार शील, समाधि और प्रज्ञा कहते हैं।

१. शील

शील का अर्थ है आचार, अर्थात् आचारशास्त्रीय सिद्धान्त शील-स्कन्ध के भीतर आते हैं। शील पर बुद्ध का बहुत ज़ोर है। इसी के कारण कितने ही लोग यह समझने की गलती करते हैं, कि बुद्ध ने केवल शील (आचार) का ही उपदेश दिया था। शील के बिना बड़े-बड़े सिद्धान्तों का बघारना निरा ढोंग है। शील है—जीवन और अपने कर्मों द्वारा व्यक्ति और समाज को ऊपर उठाने का तरीका। शील हो, समाधि हो या प्रज्ञा, हरेक में बुद्ध अति में जाने को वर्जित करते हैं, और मध्यम मार्ग (मध्यमा प्रतिपद्) को अपनाने पर ज़ोर देते हैं। बुद्ध ने अपना सब से पहला उपदेश सारनाथ (ऋषिपतन) में दिया था, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्तन—धर्म के चक्कर का आरम्भ—कहते हैं। राजा चक्रवर्ती दूसरी तरह का चक्र अपनी दिग्विजय के लिए इस्तेमाल करते हैं। बुद्ध ने धर्म के चक्र को इस्तेमाल किया था, और उनकी विजय ज़्यादा व्यापक और चिरस्थायी रही, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध ने अपने सब से पहले पाँच भिक्षु शिष्यों से मध्य मार्ग के बारे में कहा था—

"भिक्षुओ! इन दो अन्तों (अतियों) का सेवन प्रव्रजितों को नहीं करना चाहिए। कौन से दो? (१) जो यह हीन ग्राम्य, पृथग्जनों (भूले मनुष्यों) के योग्य, अनार्य सेवित, अनर्थों से युक्त, कामवासनाओं में काम-सुख-लिप्त होना है, और (२) जो दुःख (मय) अनार्य (सेवित) अनर्थों से युक्त कायक्लेश (आत्म-पीड़ा) में लगना है। भिक्षुओ! इन दोनों ही अन्तों (अतियों) में न जाकर, तथागत ने मध्यम मार्ग खोज निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला, उपशम (शांति) के लिए, अभिज्ञ होने के लिए, सम्बोध (परिपूर्ण ज्ञान) के लिए, निर्वाण के लिए है। वह कौन सा, मध्यम-मार्ग (मध्यम-प्रतिपद्) तथागत ने खोज निकाला है? वह यही आर्य-अष्टांगिक मार्ग है, जैसे कि—सम्यक् (ठीक)—दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका, सम्यक्-व्यायाम (प्रयत्न परिश्रम), सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि। (संयुक्त निकाय ५५.२.१.)

बुद्ध ने शील (आचार) के पाँच नियमों को सब के लिए बतलाया, वैसे भिक्षुओं के लिए दस शील बतलाए हैं। पंचशील हैं—(१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) यौन-दुराचार से विरत होना, (४) झूठ न बोलना और (५) नशीली चीज़ों का सेवन न करना। अपने एक उपदेश (श्रामण्य फल सूत्र, दीघनिकाय १.१.२.) में उन्होंने शील की बहुत सुन्दर और सरल शब्दों में व्याख्या की है:

"लोक में तथागत अर्हत् उत्पन्न होते हैं। वह धर्म उपदेश करते हैं। कोई, उसे सुनकर प्रव्रजित होता है। शिक्षापदों को सीखता है। परिशुद्ध-आजीविका वाला, शील-सम्पन्न, इन्द्रियों में गुप्तद्वार, भोजन में मात्रा जानने वाला, संतुष्ट हो विचरता है। भिक्षु कैसे शील-सम्पन्न होता है? वह प्राणातिपात (प्राण-हिंसा) छोड़ प्राणातिपात से विरत होता है, त्यक्त-दंड, त्यक्त-शस्त्र, लज्जालु, दयालु, सर्व-प्राणि-भूत-अनुकंपक हो विहरता है, यह उसके शीलों में है। अदत्तादान छोड़ अदत्तादान (चोरी) से विरत होता है, दत्त-आदायी, दत्त-प्रतिकांक्षी होता है। इस शुद्ध-भूत आत्मा से विहार करता है, यह भी उसके शीलों में है। अब्रह्मचर्य को छोड़ कर ब्रह्मचारी होता है, एकांत-चारी, मैथुन-ग्राम्य धर्म से विरत, यह भी उसके शीलों में है। मृषावाद (झूठ) को छोड़कर मृषावाद-विरत होता है, सत्यवादी-सत्य संध, स्थाता, बात पर ठहरने वाला, लोक का (विश्वासपात्र), अविसंवादक होता है। यह भी उसके शीलों में है। पिशुन-वचन (चुगली) को छोड़ पिशुन-वचन से विरत होता है, यह भी उसके शीलों में है। परुष वचन को छोड़, संप्रलाप (बकवास) छोड़, संप्रलाप से विरत होता है, काल-वादी भूत-वादी, अर्थ-वादी, धर्म-वादी, विनय-वादी होता है। काल से सप्रयोजन-पर्यन्तवती सार्थक-निधानवाली वाणी का बोलने वाला होता है, यह भी उसके शीलों में है। बीज-ग्राम, भूत-ग्राम के नाश (हत्या) से विरत होता है। एकाहारी रात को भोजन से विरत, विकाल भोजन से विरत होता है, नृत्य, गीत, वाद्य, तमाशे से विरत होता है। माला-गंध, विलेपन के धारण, मंडन विभूषण

से विरत होता है । उच्चशयन, महाशयन से विरत होता है। सोना-चाँदी के स्वीकार से विरत होता है। कच्चा अन्न ग्रहण करने से विरत होता है। स्त्री-कुमारिका के०। दासी-दास के ग्रहण से०। भेड़-बकरी के ग्रहण से०। मुर्गी-सुअर के०। हाथी-गाय, घोड़ा-घोड़ी के०। खेत, मकान के०। दूत के काम से०। क्रय-विक्रय से०। तुलाकूट (खोटी तौल), कंस-कूट (खोटी), प्रमाण-कूट (खोटी-नाप) से०। उत्कोटक (रिश्वत), वंचना, निकृति (कृतघ्नता), साचि-योग से०। छेदन, बध, बन्धन, लूट आलोप (छापा), सहसकार खून आदि से०, यह भी०।"

इन आचार-नियमों में से कुछ केवल भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए ही हैं, यह आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध ने इन्द्रियों पर संयम रखने पर भी ज़ोर दिया है। इन्द्रिय संयम से मतलब है मन-वचन और कर्म पर संयम रखना। संक्षेप में कहा गया है :

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा,
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।

(सारे पापों का न करना पुण्यों का संग्रह करना। अपने चित्त को शुद्ध रखना, यह बुद्ध का उपदेश है।)

दुनिया में भला या बुरा काम पुण्य या पाप क्या है? ईश्वर और ईश्वरीय पुस्तक के मानने वालों के लिए यह कोई कठिन प्रश्न नहीं था। वह कह सकते थे, कि ईश्वर और ईश्वरीय ग्रंथ में जिस बात को विहित बतलाया गया है, पुण्य का माना गया है, उसे ही पुण्यकर्म समझना चाहिए। जिसका निषेध किया गया है, वह पाप है। बुद्ध न ईश्वर को मानते थे, न ईश्वर की बनाई कोई पुस्तक है इसी को। अपने उपदेशों को भी वह ईश्वरीय पुस्तकों का दर्जा नहीं देते थे। इसीलिए उन्होंने अपने उपदेशों को भी बुद्धि और अनुभव के अनुकूल होने पर ही मानने के लिए कहा। उन्होंने इसके लिए एक बड़ी अच्छी कसौटी बतलाई। वह थी "बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय" संसार में विचरण करना। सारनाथ में आषाढ़ पूर्णिमा को धर्मचक्र-प्रवर्तन करके पहली वर्षा उन्होंने यहीं बिताई थी। वर्षा के समाप्त होने पर उन्होंने विचरण करने के लिए निकलने से पहले अपने शिष्यों से कहा था—"भिक्षुओ, बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय लोगों पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए सुख के लिए चारिका करो। एक साथ दो मत जाओ।" यही बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय उनके लिए पुण्य की कसौटी थी, और जो बहुजन-अहिताय बहुजन-असुखाय हो, वह पाप था। यह कसौटी इतनी स्पष्ट थी कि व्याख्या की ज़रूरत नहीं।

बुद्ध मनुष्य की सीमाओं को समझते थे और यह जानते थे, कि आदमी नियमों का पालन तभी कर सकता है, जबकि वह उसके जीवन-यात्रा के श्वासरोध का काम न करे। इसीलिए उन्होंने देश में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिए दण्ड को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना कि हरेक के लिए अत्यावश्यक अनिवार्य आवश्यकताओं की गारंटी होने को। इसका चित्र उन्होंने एक पुरानी कथा के रूप में खींचा है (कुटदन्त सुत्त, दीघनिकाय १. ५.)।

"पूर्व-काल में ब्राह्मण! महाधनी, महाभोगवान्, बहुत-सोना-चाँदी वाला, बहुत-वित्त-उपकरण (साधन) वाला, बहुधन-धन्यवान्, भरे-कोश-कोष्ठागार वाला, महाविजित नामक राजा था। ब्राह्मण! उस राजा महाविजित को, एकान्त में विचारते, चित्त में यह ख्याल उत्पन्न हुआ—'मुझे मनुष्यों के विपुल भोग मिले हैं, मैं महान् पृथ्वी-मंडल को जीत कर शासन करता हूँ! क्यों न मैं महायज्ञ करूँ, जोकि चिरकाल तक मेरे हित-सुख के लिए हो।' तब ब्राह्मण राजा महाविजित ने पुरोहित ब्राह्मण को बुलाकर कहा—'ब्राह्मण! एकान्त में बैठ विचारते, मेरे चित्त में यह ख्याल उत्पन्न हुआ—क्यों न मैं महायज्ञ करूँ। ब्राह्मण! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। आप मुझे अनुशासन करें, जो चिरकाल तक मेरे हित-सुख के लिए हो।' ऐसा कहने पर पुरोहित ब्राह्मण ने राजा महाविजित से कहा—'आप...का देश सकंटक, उत्पीड़ा-सहित है—राज्य में ग्राम-घात (ग्रामों की लूट) भी दिखाई पड़ते हैं, बटमारी भी देखी जाती है। आप...ऐसे संकटक उत्पीड़ा-सहित जनपद से बलि (कर) लेते हैं। इससे आप इस (देश) के अकृत्य-कारी हैं। शायद आप...का (विचार) हो, दस्यु-कीलको हम बध, बंधन, हानि, निर्वासन से उखाड़ देंगे। लेकिन इस दस्यु-कील (लूट-पाट रूपी कील) को, इस प्रकार अच्छी तरह नहीं उखाड़ा जा सकता। जो मारने से बच रहेंगे, वह पीछे राजा के जनपद को सताएँगे। इस दस्यु-कील का इस उपाय से भली प्रकार उन्मूलन हो सकता है: जो कोई आप के जनपद में कृषि-गोपालन करने का उत्साह रखते हैं, उनको आप बीज और भोजन सम्पादित करें। जो वाणिज्य करने का उत्साह रखते हैं, उन्हें आप...पूँजी (प्राभृत) दें। जो राज-पुरुषाई (राजा की नौकरी) करने का उत्साह रखते हैं, उन्हें आप भत्ता-वेतन (भत्त-वेतन) दें। इस प्रकार वह लोग अपने काम में लगे, राजा के जनपद को नहीं सताएँगे। आप...को महान् (धन्-धान्य की) राशि प्राप्त होगी, जनपद (देश) भी पीड़ा-रहित, कंटक-रहित, क्षेम-युक्त होगा। मनुष्य भी गोद में पुत्रों को नचाते से, खुले घर विहार करेंगे।' राजा महाविजित ने पुरोहित ब्राह्मण को 'अच्छा भो ब्राह्मण!' कह, जो राजा के जनपद में कृषि-गोरक्षा में उत्साही थे, उन्हें राजा ने बीज-भत्ता संपादित किया। जो राजा के जनपद में वाणिज्य में उत्साही थे, उन्हें पूँजी संपादित की। जो राजा के जनपद में राज-पुरुषाई में उत्साही थे, उनको भत्ता-वेतन ठीक कर दिया। उन मनुष्यों ने अपने-अपने काम में लग, राजा के जनपद को नहीं सताया। राजा को महाराशि मिली। जनपद अकंटक अपीड़ित क्षेम-स्थित हो गया। मनुष्य हर्षित, मोदित, गोद में पुत्रों को नचाते से खुले घर विहार करने लगे।"

२. समाधि

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक ने बुद्ध को "योगिनां चक्रवर्ती" कहा है। बुद्ध की महिमा एक महान् योगी की तरह उनके समय में ही बहुत प्रसिद्ध थी। योग-ध्यान के बारे में बुद्ध ने बहुत से उपदेशों में कहा है, और पीछे भी सभी बौद्ध देशों में योगियों और योग की बड़ी चर्चा रही है। पालि में तो "विसुद्धि मग्ग" नाम का एक बड़ा ग्रन्थ ही

इसके ऊपर लिखा गया है। हर समय ऐसे अरण्यवासी (आरण्यक) भिक्षु रहते रहे हैं, जो अपना जीवन ध्यान-अभ्यास ही में बिताते थे। ध्यान मुख्यतः चार माने गए हैं, जो चित्त की भिन्न-भिन्न भूमियाँ या स्थितियाँ हैं, जिनमें मन को रखने की कोशिश की जाती है। इन ध्यानों को क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान कहा जाता है। हरेक ध्यान की यह साधारण विशेषता है, कि उसमें चित्त का सम्बन्ध बाहर के विषयों से हट जाए—मन एकाग्र हो जाए। पहले ध्यान में मन में वितर्क और विचार होते हैं। बल्कि उन्हीं की एकाग्रता से एक तरह की प्रीति और सुख मिलता है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार बन्द हो जाते हैं। भीतर शान्ति, चित्त की एकाग्रता स्थापित हो जाती है। और यह स्थिति भी प्रीति और सुख वाली होती है। तृतीय ध्यान में चित्त प्रीति से भी विरक्त और उपेक्षक हो जाता है, तो भी उसकी स्मृति रहती है, अनुभूति नष्ट नहीं होती। वह काया से एक प्रकार से सुख का अनुभव करता है। चतुर्थ ध्यान में मन सुख और दुःख से विमुख हो सौमनस्य चित्तोल्लास और चित्त संताप से परे हो सुख-दुःख-रहित हो जाता है। यह स्मृति की परिशुद्धता का ध्यान है। इस ध्यान में पहुँच कर चित्त समाधि-प्राप्त परिशुद्ध से मल-रहित मृदु और स्थिर हो जाता है।

ये ध्यान योग की सर्वोच्च भूमियाँ हैं। इनके अतिरिक्त और दूसरी यौगिक भावनाओं का भी वर्णन आता है, और योग के प्रेमियों को उससे बहुत लाभ हुआ है। वस्तुतः समाधि की क्रियाएँ ऐसी हैं, जो अभ्यास से सम्बन्ध रखती हैं, और उनका अर्थ भी तभी स्पष्ट होता है।

३. प्रज्ञा

प्रज्ञा से अभिप्राय है दर्शन या गम्भीर ज्ञान का। बुद्ध और सभी कालों और देशों के बौद्ध विचारक भी प्रज्ञा पर सब से अधिक ज़ोर देते रहे हैं। इसलिए जो लोग बुद्ध को केवल आचार और नीति का प्रचारक बतलाना चाहते हैं, वह वास्तविकता से कितनी दूर हैं, यह कहने की ज़रूरत नहीं। बुद्ध के प्रायः सात शताब्दियों बाद पैदा होने वाले महान् विचारक नागार्जुन ने शाक्य मुनि को अप्रतिम संबुद्ध कहा है। यह उनके प्रतीत्य समुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद् पर विचार करके ही, जो कि बुद्ध की सब से बड़ी दार्शनिक देन है।

प्रतीत्य समुत्पाद—प्रतीत्य समुत्पाद के अर्थ को साफ़ करते हुए बुद्ध ने स्वयं कहा है—"इसके बाद यह होता है" (अस्मिन् सति इदं भवति)। यह वस्तुतः बिना अपवाद के सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, इसी मौलिक सिद्धान्त की व्याख्या थी। बुद्ध और बौद्ध अनित्यवादी हैं। वह किसी चीज़ के वास्तविक होने को स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक कि वह अनित्य न बतलाई जाए। पीछे के आचार्यों ने इसे और साफ़ करते हुए कहा—"यत् सत् तत् क्षणिकं (जो वास्तविक है, वह क्षणिक है)।" बाहरी वस्तुओं को सभी अनित्य और क्षणिक मानने के लिए तैयार थे, लेकिन बुद्ध ने बाहरी स्थूल जगत् को ही क्षणिक नहीं बतलाया, बल्कि आन्तरिक सूक्ष्म जगत् पर भी इस निरपवाद नियम को लागू बतलाया। बुद्ध से थोड़े ही दिनों पहले उपनिषद् के विचारकों का समय बीता था। प्रवाहण, उद्दालक, याज्ञवल्क्य जैसे उपनिषद् के महान् ऋषियों ने बहुत प्रयत्न करके इस बात को मानने के लिए लोगों को तैयार किया था कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील बाह्य जगत् के भीतर नित्य, कूटस्थ, अविचाली एक सूक्ष्म वस्तु (तत्व) है। इस तत्व को उन्होंने आत्मा की संज्ञा दी और उसी नित्य निर्विकार आत्मा को पाना जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य माना था। उपनिषद् के इस आत्मवाद (ब्रह्मवाद) के भक्तों की आज भी देश में कमी नहीं है। देश में ही क्यों, देश के बाहर भी इस आत्मवाद, ब्रह्मवाद के प्रतिपादक वेदान्त के मानने वाले मिलेंगे। सचमुच ही यह बड़े परिश्रम और तपस्या का फल था, जिसे बुद्ध ने अपने अनित्यतावाद द्वारा एक फूँक में उड़ा देना चाहा। उपनिषद् के आत्मवाद के ऊपर खास तौर से बुद्ध प्रहार करना चाहते थे, यह इससे भी मालूम है कि उन्होंने अपने सिद्धान्त को अनात्म (अनत्ता) कहा। वेदान्त ने सत्-चित्-आनन्द की घोषणा की और बुद्ध ने असत्, अचित्, अनानन्द की। हाँ, शब्द-भेद से उन्होंने इसके लिए अनित्य, दुःख और अनात्म शब्द का व्यवहार किया। सत् वेदान्त में नित्य के लिए कहा गया, चित् आत्मा के लिए और आनन्द का अर्थ है दुःख का अभाव। इससे साफ़ ही है कि बुद्ध उपनिषद् के मूल सिद्धान्तों के विरोधी थे। यह आश्चर्य की बात है कि आजकल कितने ही लेखक इस बारे में समन्वय करने की कोशिश करते बुद्ध को भी उपनिषद् के सिद्धान्तों का प्रतिपादक बतलाना चाहते हैं।

अनित्यवाद या क्षणिकवाद बुद्ध के दर्शन की आधारशिला है। उनका यह सिद्धान्त भारत के सब से प्रौढ़ और प्रगतिशील दर्शन का प्रेरणा-स्रोत भी है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर एक तरफ आदमी ईश्वर और आत्मा के बन्धन से छूट जाता है, दूसरी तरफ वह नियति के फंदे से भी मुक्त हो जाता है। संसार में कोई चीज़ दो क्षण भी नहीं रह सकती। पैदा होने के साथ वह अपनी मृत्यु को अपने साथ लाती है। इस सत्य को समझा कर एक ओर बुद्ध प्रियों के वियोग और अप्रियों के संयोग से होने वाली चिन्ता को भी अस्थायी मान कर छोड़ने के लिए कहते हैं। दूसरी ओर इस परिवर्तनशीलता से मानव को अनुकूल परिवर्तन की सम्भावना मालूम है, वह उसके लिए उद्योग-परायण हो सकता है, यह भी बतलाते हैं।

क्षणिकवाद के अनुसार कारण भी क्षणिक है, जिस समय काय पैदा होता है, उस समय से पहले कारण सर्वथा विलुप्त हो गया रहता है। इस विचार के अनुसार कार्य और कारण का क्या सम्बन्ध है, इसी बात को बतलाने के लिए बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के नाम से नई परिभाषा गढ़ी, अर्थात् एक के प्रतीत्य (नष्ट) होने पर दूसरे का उत्पाद (उत्पत्ति) होती है। कारण नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। इन दोनों का सम्बन्ध यही है कि 'इसके बाद यह होता है' कारण के बाद कार्य उत्पन्न होता है। बीज नष्ट होकर वृक्ष उत्पन्न होता है, इस बात को मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, लेकिन बुद्ध परिवर्तन को इतना स्थूल रूप में नहीं देखते। जिस परिवर्तन को हम आँखों से देख लेते हैं, वह बहुत ही स्थूल परिवर्तन है। वह इस स्थूल परिवर्तन को भी लाखों सूक्ष्म परिवर्तनों का आभास बतलाना चाहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य हर क्षण मर रहा है, और हर क्षण पहले की जगह एक दूसरा बिलकुल नया व्यक्ति प्रकट हो रहा है। परिवर्तन इतनी तेज़ी से होता है कि उसके काल को हम पकड़ नहीं सकते। पर, हरेक परिवर्तन में पहले का सादृश प्रवाहरूपेण चलता रहता है, जो भ्रम पैदा कर देता है, यह वही वस्तु है। मनुष्य बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य जैसे परिवर्तनों में ही नहीं पड़ता, बल्कि हर क्षण वह मरता है और दूसरा उसी के समान उस स्थान पर आता है। इस तरह के सिद्धान्त द्वारा बुद्ध ने अपने समय के आत्मवादी विचारकों में कितनी खलबली मचाई होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

वह चेतना को मानते हैं और चेतना तथा चेतन को एक कहने पर उसे इन्कार नहीं करते। उनके दर्शन में इस तरह के गुण-गुणी के भेद के लिए स्थान नहीं है। तत्वों का वर्गीकरण करते हुए वह उन्हें पाँच स्कन्धों में बाँटते हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान जिन्हें बौद्ध परिभाषा में पंचस्कन्ध कहा जाता है। इन पाँचों स्कन्धों में वस्तुतः रूप और विज्ञान मुख्य हैं, बाकी तीन रूप और विज्ञान के सम्पर्क की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ या क्रियाएँ हैं। स्थिति और क्रिया में वह कोई अन्तर नहीं मानते, क्योंकि कोई ऐसी स्थिति नहीं हो सकती जिसमें क्रिया न हो। नाश और उत्पात का चक्कर तो किसी क्षण भी नहीं रुकता। रूप है भौतिक तत्व, और विज्ञान है चेतना—वास्तविकता के ये दो रूप हैं। यह दोनों क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। वास्तविकता देश-काल में बहती हुई नदी की धारा है। ऐसी नदी है, दो क्षण भी एक ही जगह जिसमें अवगाहन नहीं किया जा सकता।

रूप और विज्ञान दोनों की क्षणिक सत्ता को वास्तविक मानते हुए बुद्ध को द्वैतवादी कहा जा सकता है। पर जिस रूप में अतिसूक्ष्म परिवर्तन को वस्तु के अन्तस्तल में वह मानते हैं, उसके कारण दोनों का भेद नहीं सा रह जाता है। इसी कारण पीछे बौद्ध-दर्शन में द्वैत और अद्वैत का भेद हो गया। सर्वास्तिवादी दोनों के अस्तित्व को मानने वाले थे। सौत्रांतिक बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को मुख्य मानते थे। विज्ञान-वादी योगाचार अन्तस्तत्व या विज्ञान को ही मुख्य तत्व मानते थे, और शून्यवादी, माध्यमिक दोनों के अस्तित्व को सापेक्ष मान कर उनकी परमार्थ सत्ता से इन्कार करते थे। यह बौद्ध-धर्म के पीछे का विकास है। पर, चारों दर्शनों का अंकुर बुद्ध के विचारों में मिलता है।

मध्यमा प्रतिपद्—मध्य-मार्ग पर बुद्ध का हमेशा ज़ोर था। कर्म में भी वह अति का रास्ता छोड़ कर मध्य का रास्ता स्वीकार करते, शरीर अत्यन्त सुखाने को वह अच्छा नहीं समझते, और न शरीर को ही सब कुछ समझ कर उसकी पूजा में रत रहने को पसन्द करते। यहाँ वह जिस तरह मध्य-मार्ग को स्वीकार करने की बात कहते हैं, वैसे ही दर्शन में भी वह मध्यमा प्रतिपद् को मानते हैं। एक तरफ वह जड़वाद को नहीं स्वीकार करते। उनके समय जड़वादी विचारधारा भारत में थी, जिसके सामने जड़-वस्तुओं या महाभूतों से भिन्न कोई दूसरी वास्तविक वस्तु नहीं है। जड़-वस्तुओं में ही चेतना उत्पन्न हो जाती है, जैसे गुड़ या दूसरी चीज़ों में मद्यता। दूसरी तरफ ब्रह्मवादी-आत्मवादी लोग थे, जो जड़ की सत्ता को चेतन से मानते थे। एक आत्मवाद का रास्ता था, दूसरा जड़वाद का रास्ता। बुद्ध ने आत्मवाद से साफ़ इन्कार किया। दूसरी तरफ उन्होंने जड़वाद को भी स्वीकार नहीं किया। रूप और विज्ञान भिन्न हैं, और उनकी तीन प्रकार की स्थितियाँ भी उसी तरह भेद रखती हैं। पाँचों स्कन्ध मिल कर विश्व की व्याख्या करते हैं। कार्य से कारण को बिलकुल भिन्न मानने पर उनके सिद्धान्तों के अनुसार रूप से भी विलक्षण विज्ञान उत्पन्न हो सकता है। पर इस बात को कहीं साफ़ नहीं किया गया, इसलिए हमें भी खींचातानी नहीं करनी चाहिए।

वह उच्छेदवाद अर्थात् शरीर के साथ जीवन की समाप्ति को नहीं मानते, लेकिन उन्हें यह मानने में उज्र नहीं कि जीवन प्रतिक्षण उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाता है। उच्छेद से उनका अभिप्राय जीवन-प्रवाह या सन्तान उच्छेद है। जीवन एक अविच्छिन्न रेखा नहीं है, बल्कि करोड़ों बिन्दुओं का समूह है। हरेक बिन्दु हरेक क्षण के जीवन का प्रतिनिधि है। यद्यपि जीवन का हरेक बिन्दु हर क्षण नष्ट हो रहा है, लेकिन उससे प्रवाह उच्छिन्न नहीं होता। एक की जगह दूसरा आता है, दूसरे की जगह तीसरा। इस तरह वह प्रवाह जारी रहता है। इस शरीर में भी जीवन बिन्दु-प्रवाह जारी रहते उनके एक दूसरे के अति समीप रहने के कारण जीवन की एकता का भान होता है, जैसे बिन्दुओं द्वारा बनी रेखा का। इसी जीवन-प्रवाह को इस शरीर के बाद भी अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार बनते वह मानते हैं। कर्म का फलदाता कोई दूसरा नहीं है। हरेक आदमी जैसा करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन बन जाता है, और यही तदनुकूल फल है। बुद्ध के सिद्धान्त के अनुसार हरेक मानव हर क्षण अपने अनन्त काल के अर्जित सुगुणों-दुर्गुणों का मिश्रित समूह है। यहाँ भी मध्यमा प्रतिपद् को ही बुद्ध ने स्वीकार किया। आत्मवादी आत्मा को मानकर उसके चोले को बदलते रहने की बात करते थे, और जड़वादी मृत्यु के साथ जीवन की समाप्ति मानते थे। आत्मवाद को न मानते हुए बुद्ध ने जन्मान्तर की संगति के लिए जीवन-बिन्दु-प्रवाह को मान लिया और उच्छेदवाद को भी मानने से इन्कार कर दिया।

बुद्ध के दर्शन (प्रज्ञा) ने अपने समय के बहुत से गम्भीर विचारकों को आकृष्ट किया। उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उस समय के गम्भीर विचारकों में से थे, जिन्होंने पण्डित ब्राह्मण के तौर पर ब्राह्मण विचारधारा का पूरी तौर से अवगाहन किया था। इन दोनों शिष्यों के बाद महाकात्यायन और महाकाश्यप उनके प्रमुख शिष्य थे। दोनों ही ब्राह्मण घर में पैदा होकर ब्राह्मणों की विद्या में निष्णात थे। ऐसी प्रतिभाओं को बुद्ध अपने दर्शन द्वारा आकृष्ट करने में सफल हुए। उसके बाद भी अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे महान् प्रतिभाशाली ब्राह्मणों को बुद्ध के विचारों ने संतुष्ट किया, और वह भारतीय दर्शन को आगे ले जाने में सफल हुए। यूरोप में १६वीं शताब्दी में उत्पन्न हेगेल के दर्शन को सब से अधिक पुष्ट और विकसित माना जाता है। हेगेल के दर्शन के

(शेष पृष्ठ १३ पर)

महात्मा बुद्ध का सन्देश

इन्द्र विद्यावाचस्पति

चिकित्सक के औषधालय में सभी रोगों के औषध रक्खे रहते हैं। चिकित्सक को वे सब सदा याद नहीं आते। जब जिस दवा की आवश्यकता होती है, योग्य चिकित्सक का हाथ उस समय उसी पर जाता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। कहने को वह कितना ही आदर्शवादी बने, परन्तु वस्तुतः वह किसी विशेष समय में उसी को आदर्श मान लेता है जो उसके लिए उपयोगी है। सत्य और अहिंसा की प्रशंसा केवल भारत में ही नहीं अपितु सारे संसार में अनादि काल से होती रही है। भारत का तो सम्पूर्ण धर्मशास्त्र ही इन दो गुणों की महिमा से भरा पड़ा है। परन्तु सत्य और अहिंसा का जैसा गुणगान गत तीस वर्षों में हुआ है, वैसा सदियों से नहीं हुआ था। इसका कारण स्पष्ट है महात्मा गान्धी से पूर्व संसारी लोग सत्य और अहिंसा को ऊँचे दर्जे का धर्म, योग साधन अथवा निष्काम कर्म के अंग मान कर मनन और श्रवण का विषय समझा करते थे। महात्मा गान्धी ने उन्हें वर्तमान भारत के सबसे बड़े रोग विदेशी राज्य के नष्ट करने का साधन बना कर उपयोगी सिद्ध कर दिया। यह देख कर भारतवासियों को बड़ा आनन्द हुआ कि सत्य और अहिंसा जैसे प्राचीन धर्म स्वराज्य प्राप्ति के साधन भी बन सकते हैं। इस पर 'सत्यमेव जयते नानृतम्' और 'अहिंसा परमो धर्मः' जैसे वाक्य, जो प्रायः अंग्रेज़ी पुस्तकों के ढेरों के नीचे दब गए थे, निकाल कर दीवारों पर चिपकाए जाने लगे। यह अनुभव सिद्ध बात है कि मनुष्य आदर्शवाद की दुन्दुभि बजाता हुआ भी अन्दर से उपयोगितावादी बना रहता है।



महात्मा बुद्ध सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश देते हुए

जिस समय महात्मा बुद्ध ने भारत में जन्म लिया उस समय यह देश अनेक धार्मिक और सामाजिक रोगों से बुरी तरह ग्रस्त था। धर्म केवल रूढ़ियों के रूप मे अवशिष्ट था। तपस्वी और ब्राह्मण वे लोग कहलाते थे जो जटाएँ धारण करके अथवा भस्म रमा कर कर्म-शून्य जीवन व्यतीत करने लगते थे। शीतकाल में ठंडे जल में खड़ा होना अथवा गर्मियों में जलती आग सेकना तप कहलाता था। यज्ञों में पशुओं की बलि देना धर्म का उत्तम अंग माना जाता था। भारतीय समाज ऐसी धार्मिक दुर्दशा में ग्रस्त था, जब महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु में जन्म लिया। वे जब सब कुछ देखने और विचारने के योग्य हुए तो उन्होंने अनुभव किया कि जिसे लोग धर्म मान रहे हैं वह धर्म का केवल बाह्य आवरण है और आवरण भी बहुत बिगड़ा हुआ। उनके हृदय में सच्चा धर्म जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, जो राजमहलों से निकाल कर राजकुमार सिद्धार्थ को जंगलों में ले गई। कुछ समय तक सिद्धार्थ ने उस समय के प्रचलित तप और धर्म के प्रयोगों का परीक्षण किया। जब देखा कि बाहर की भाग-दौड़ से न सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ और न ही मन को शान्ति मिली, तब सच्चे जिज्ञासु ने अपनी आँखें अन्तरात्मा में लगाईं। जो वस्तु वर्षों की भाग-दौड़ से न मिली वह अन्तर्दृष्टि होकर ध्यान लगाने से दिनों में प्राप्त हो गई। वह घोर शारीरिक तपस्याओं और रूढ़ियों से निराश होकर निरंजना नदी के तट पर एक पीपल के पेड़ के नीचे ध्यानावस्थित होकर बैठ गए और सच्चे मार्ग का अन्वेषण करने लगे। प्रभात होते-होते उन्हें अन्दर से वह प्रकाश मिल गया, जिसकी तलाश में वह घर से निकले थे। उन्होंने जान लिया कि असली धर्म सच्चे और अच्छे जीवन के व्यतीत करने में है, शरीर को तपाने अथवा यज्ञों में पशुओं का बलिदान देने में नहीं। उस समय राजकुमार सिद्धार्थ 'बुद्ध' अर्थात् यथार्थज्ञानी इस पद का अधिकारी हो गया।

गौतम बुद्ध ने जिस रूप में धर्म का अनुभव किया वह धम्मपद के इन श्लोकों से प्रकट होता है :

"न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति।"

बहुत बोलने से धर्मधर नहीं होता, जो थोड़ा भी सुन कर शरीर से धर्म का आचरण करता है, और जो धर्म में असावधानी नहीं करता वही धर्मधर है।

"यम्हि सच्चंच धम्मो च अहिंसा संजमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो 'ति पवुच्चति।"

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगतमल, धीर और स्थविर कहा जाता है।

"न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति।"

केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं हो सकता। जो मिथ्या बोलता है और सांसारिक लाभ की इच्छा रखता है वह श्रमण कैसे कहला सकता है।

श्रमण कौन है, इस प्रश्न का उत्तर महात्मा बुद्ध ने निम्नलिखित दिया।

"यो' ध पुण्ञ्ञं च पापं च वाहित्वा ब्रह्मचरियवा।
सगंखाय लोके चरति स वे भिक्खूति वुच्चति।"

जो यहाँ पुण्य और पाप को छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञान के साथ लोक में विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है।

उस समय धर्म अपने विशुद्ध रूप को छोड़ कर रूढ़ि रूपी कंकाल मात्र दृष्टिगोचर हो रहा था। लोभी भिक्षु और अज्ञानी ब्राह्मणों की प्रमुखता के कारण प्रजा विपरीत मार्ग पर चल कर दुःख उठा रही थी। महात्मा बुद्ध के इन उपदेशों ने उन्हें बहुत शान्ति प्रदान की। आत्मिक प्यास के सताए हुए लोगों को मानो अमृत पान कराया।

देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। राजा लोग मुख्य रूप से दो ही काम जानते थे, या तो राज्य के वैभव का उपभोग करते थे अथवा राज्य की सीमाओं को बढ़ाने के लिए एक-दूसरे से युद्ध करते थे। युद्धों के कारण राजाओं और राजवंशों में वैर की भावना पैदा हो जाती थी जो चिरकाल तक पड़ोसियों को शत्रु बनाए रखती थी। राजाओं की परस्पर लड़ाई में प्रजा बरबाद होती थी। इस प्रकार राज-कार्य प्रजा की अशान्ति का कारण बन रहा था। महात्मा बुद्ध ने इस कष्ट के निवारण का निम्नलिखित उपाय बतलाया :

"नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।"

यहाँ वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म है।

"अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति।"

मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हरा दिया, मुझे लूट लिया, इस प्रकार जो मन में गाँठ बाँधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता।

यज्ञों में पशुओं की बलि देना धर्म का काम समझा जाता था, राजा लोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी सैकड़ों गौओं तक का वध कर डालते थे। महात्मा बुद्ध ने उन्हें बताया कि :

"जैसा मैं हूँ, वैसे ही वे हैं, और जैसे वे हैं वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार अपने उदाहरण से सब को समझ कर न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा करे।"

"पहले तीन ही रोग थे, इच्छा, क्षुधा और बुढ़ापा; पशु की हिंसा प्रारम्भ होने पर वे ९८ हो गए। यह याजक, यह पुरोहित निर्दोष पशुओं का वध कराते हैं, धर्म का ध्वंस करते हैं। यज्ञ के नाम पर की गई यह पशु हिंसा निश्चय ही निन्दित और नीच कर्म है।"

इस प्रकार के अन्य उपदेशों द्वारा भी महात्मा बुद्ध ने लोगों को अहिंसा का उपदेश दिया और यज्ञों में पशु वध की विशेषरूप से निन्दा की। जिस धर्म को भिक्षु और ब्राह्मण लोग बहुत से आवरणों में और क्रियाकलाप में छुपाकर जनता के सामने उपस्थित करते थे, उसे बुद्ध ने अत्यन्त सरल शब्दों में 'आर्यसत्य-चतुष्टय' के रूप में प्रकट किया। वह आर्यसत्य चतुष्टय निम्नलिखित है :

१. पहला आर्यसत्य-संसार में दुःख है। जन्म में, जरा में, मृत्यु में, अप्रिय के मिलने में और प्रिय के वियोग में दुःख ही दुःख है।
२. दूसरा आर्यसत्य-दुःख का मूल कारण तृष्णा है। रात-दिन बढ़ती हुई अभिलाषा ही दुःखों को उत्पन्न करती है।
३. तीसरा आर्यसत्य-मनुष्य दुःख से छूटना चाहता है।
४. चौथा आर्यसत्य-दुःख से छूटने का उपाय अष्टांग मार्ग है, वह अष्टांग मार्ग यह है : सत्यदृष्टि, सत्यसंकल्प, सत्यवचन, सत्यकर्म, सत्य आजीविका, सत्यव्यायाम, सत्यस्मृति, 'अनुभव', सत्य समाधि।

यह था व्यावहारिक और सरल धर्म जो महात्मा बुद्ध ने मिथ्या ज्ञान और हिंसापूर्ण कर्मकाण्ड के सताए हुए मनुष्यों को बतलाया। मनुष्य धर्म के नाम पर रूढ़ियों को मानते और उनके अनुसार आचरण करते हुए भी हृदयों में अशान्ति का अनुभव करते थे। उन्हें अपनी अन्तरात्मा में धर्म का स्थान खाली मालूम होता था। जब महात्मा बुद्ध ने उन्हें धर्म का सरल और सीधा मार्ग बतलाया तब उसे ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। राजा और प्रजा दोनों उसकी ओर आकृष्ट होने लगे और थोड़े ही समय में बुद्ध का सन्देश देशव्यापी हो गया।

महात्मा बुद्ध के प्रचार से लगभग १०० वर्ष पीछे उनके उपदेश एशिया के बड़े भाग में पहुँच चुके थे। महाराज अशोक के प्रयत्न से भिक्षुओं और प्रचारकों के दलों ने दक्षिण और पूर्व के देशों में तथागत के व्यावहारिक धर्म का प्रचार कर दिया था। उस प्रचार को ऐसी असाधारण सफलता मिली, इसका कारण भी यही था कि मनुष्य समाज केवल रीति-रिवाज में आस्था रखने वाले धर्माचारियों से तंग आ चुका था। उन्हें ऐसे उपदेश की आवश्यकता थी जो आत्मा को सन्तोष दे सके। महात्मा बुद्ध के उपदेश मनुष्य को रूढ़ियों से ऊपर उठा कर व्यावहारिक धर्म की प्रेरणा देने वाले थे। लोग लड़ाई, झगड़े और ईर्ष्या-द्वेष से परेशान थे। बुद्ध ने उन्हें शान्ति का मार्ग दिखलाया, मानो भूखे को अन्न मिल गया। मनुष्य जाति के बड़े भाग ने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया।

आज हम फिर मनुष्य जाति को महात्मा बुद्ध का स्मरण करता हुआ पाते हैं। मनुष्य रोगी होकर ही वैद्य को याद करता है। इस समय संसार के सभ्य कहलाने वाले देशों की जो दशा है, उसकी यदि सन्निपात के रोगी से उपमा दें तो अनुचित न होगा। कहा जाता है कि यह उन्नति का युग है। उन्नति का प्रमाण यह दिया जाता है कि मनुष्य जाति ने विज्ञान की सहायता से बहुत बड़ी मात्रा में सुख के साधन उत्पन्न कर लिए हैं। यह तो ठीक है कि विज्ञान ने मनुष्यों की साधन-सम्पन्नता को बहुत बढ़ा दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं है कि उस साधन-सम्पन्नता से मनुष्यों के सुख या सन्तोष में वृद्धि हुई है। यदि गंभीर दृष्टि से, सभ्य कहलाने वाली जातियों की मानसिक दशा का निरीक्षण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि वस्तुतः ज्यों-ज्यों विज्ञान की सहायता से मनुष्यों की साधन-सम्पन्नता बढ़ती गई है, त्यों-त्यों व्यक्ति की और समाज की मानसिक बेचैनी में वृद्धि होती गई है; असन्तोष की मात्रा भी निरन्तर बढ़ती गई है। आजकल के विचारक यह दावा करते हैं कि नवीन युग हेतुवाद में विश्वास रखता है, वह रूढ़ियों का शत्रु है। वर्तमान विचारकों का यह दावा स्वयं एक बहुत ही भद्दी रूढ़ि से अधिक कीमत नहीं रखता। रूढ़ियों का रूप बदल गया है, परन्तु पश्चिम के दिमाग पर आज भी नई रूढ़ियों का वैसा ही साम्राज्य है, जैसा आज से २,५०० वर्ष पहले पूर्व के निवासियों के दिमाग पर था। ईसाइयत हो या कम्यूनिज्म, वह स्वयं उन्हीं बीमारियों के शिकार हैं, जिनसे मनुष्यों को निकालने का वह दावा करते हैं।

शान्ति के प्रचारक ईसाई मत के अनुयायी अशान्ति के अग्रदूत और मसीहा बने हुए हैं। विज्ञान और शिल्प की सारी शक्ति लगाकर अमेरिका और यूरोप के देश और उनके अनुकरण में बहुत से अन्य देश भी एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए युद्ध की घातक सामग्री तैयार करने में व्यग्र हैं। २,५०० वर्ष पूर्व वे लोग अदृश्य देवताओं की तृप्ति के लिए पशुओं की हिंसा किया करते थे; आज के, उन्नति के अभिमानी लोग अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की बलिवेदी पर मनुष्यों की भेंट चढ़ाने के लिए दिन-रात प्रयत्नशील हैं।

कुछ समय से मनुष्य फिर से महात्मा बुद्ध को स्मरण करने लगा है। कारण स्पष्ट है। जब रोग वैसा ही है, तो उपचार भी वैसा ही चाहिए और वैद्य भी वही चाहिए जो रोग की चिकित्सा कर सके। आज फिर मनुष्य जाति को महात्मा बुद्ध के उस अमृतमय उपदेश को हृदयंगत करने की आवश्यकता है, जो उन्होंने अपने शिष्यों को दिया था। उपदेश यह था :

"सब्ब पापस्स अकरणं
कुसलस्स उपसंपदा,
सचित्त परियोदपनं
एतं बुद्धान सासनं।"

सारे पापों का न करना, 'कुशलधर्मों' अर्थात् पुण्यों का संचय करना, और अपना चित्त परिशुद्ध रखना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

"अनुपवादो अनुपघातो
पातिमोक्खे च संवरो,
मत्तयुता च भत्तस्मिं
पंतन्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगे
एतं बुद्धान सासनं।"

बुद्धों की यह शिक्षा है :

१. निन्दा न करना।
२. हिंसा न करना।
३. आचार नियम द्वारा अपने को सयत रखना।
४. मित भोजन करना।
५. एकांत में वास करना।
६. चित्त को योग में लगाना।

महात्मा बुद्ध ने यह प्रचार पण्डितों की भाषा संस्कृत को छोड़ कर लोकभाषा में किया, इस कारण उनके विचार जनता में वायु की तरह फैल गए। जैसे आज से २५ शताब्दी पहले उन विचारों से जनता का कल्याण हुआ, वैसे अब भी हो सकता है।



बुद्ध के सिद्धान्त—(पृष्ठ १० का शेषांश)

उत्पन्न होने से तेरह शताब्दी पहले भारतीय हेगेल धर्मकीर्ति हुए थे, जिनको उत्पन्न करने का श्रेय बुद्ध की विचारधारा को है। धर्मकीर्ति और उनके पूर्वज दिङ्नाग ने बुद्ध के दर्शन को और भी स्पष्ट करते हुए "प्रमाणवार्तिक" और "प्रमाणसमुच्चय" लिखे। "प्रमाणसमुच्चय" का मूल संस्कृत में नहीं मिलता, पर प्रमाणवार्तिक अपनी कई टीकाओं और भाष्य के साथ तिब्बत से मिलकर अब मूल संस्कृत में छप चुका है। भारतीय दर्शन के चरम विकास को जानने के लिए इनका अध्ययन अनिवार्य है। इन विचारधाराओं को बिना पढ़े हुए हम एकांगी निर्णय कर बैठते हैं। कहा जाता है, वेदान्त ही एक मात्र भारत की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन यह गलत है। वेदान्त के आत्मवाद से बिल्कुल उलटा अनात्मवाद का दर्शन भी भारत में ही उत्पन्न हुआ। कितने ही समझते हैं, ईश्वरवाद—आस्तिकवाद—भारत की अपनी चीज़ है। लेकिन अनीश्वरवादी बुद्ध, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति कहाँ से आए? केवल रूढ़िवाद का एकाधिपत्य हमारे यहाँ कभी नहीं रहा। रूढ़ियों के प्रबल विरोधी भी यहाँ होते रहे हैं। नालन्दा के महान् दार्शनिक धर्मकीर्ति (६०० ई०) से बढ़ कर रूढ़िका विरोधी कौन हो सकता है, जिन्होंने डंके की चोट से कहा था—

"वेद प्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नानेधर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंचलिंगानि जाड्ये।"

वेद (ग्रंथ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का सृष्टि-कर्तापन (कर्तृवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (छोटी-बड़ी जाति-पाँत) का घमंड, और पाप दूर करने के लिए शरीर को सन्ताप देना (उपवास तथा शारीरिक तपस्याएँ करना) ये पाँच हैं, अकल-मारे लोगों की मूर्खता (जड़ता) की निशानियाँ हैं।

बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदाय

सत्यकेतु विद्यालंकार

संसार के अन्य मुख्य धर्मों के समान बौद्ध धर्म के भी अनेक सम्प्रदाय हैं। लंका और बर्मा में जो बौद्ध धर्म आज कल प्रचलित है, वह तिब्बत, चीन और मंगोलिया के बौद्ध धर्म से बहुत भिन्न है। ज्यों-ज्यों बुद्ध की शिक्षाएँ भारत के विविध प्रदेशों व अन्य देशों में फैलती गईं, वहाँ के निवासियों के संस्कारों, विचारों और विश्वासों के अनुसार बौद्ध धर्म में भी नये विचारों और परम्पराओं का समावेश होता गया। इसी कारण बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों का विकास हुआ। बौद्ध धर्म के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए इन सम्प्रदायों का परिचय बहुत उपयोगी है। इस लेख में हम विविध बौद्ध सम्प्रदायों के विकास पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद बौद्धों की पहली महासभा का अधिवेशन हुआ था। इस समय तक बौद्ध धर्म का प्रचार अधिक नहीं हुआ था, और उसके अनुयायियों में मतभेद उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं था। महासभा में एकत्र हुए बुद्ध के शिष्यों ने अपने गुरु के वचनों और शिक्षाओं को संकलित किया। इस महासभा का अध्यक्ष महाकस्सप नाम का भिक्षु था। धम्म और विनय (जीवन के नियन्त्रण) के सम्बन्ध में बुद्ध ने समय-समय पर जो प्रवचन दिए थे, उनके शिष्यों ने इस महासभा में उनकी आवृत्ति की, और इस प्रकार सुत्तपिटक और विनयपिटक का सूत्रपात हुआ, जो बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में सबसे प्राचीन हैं।

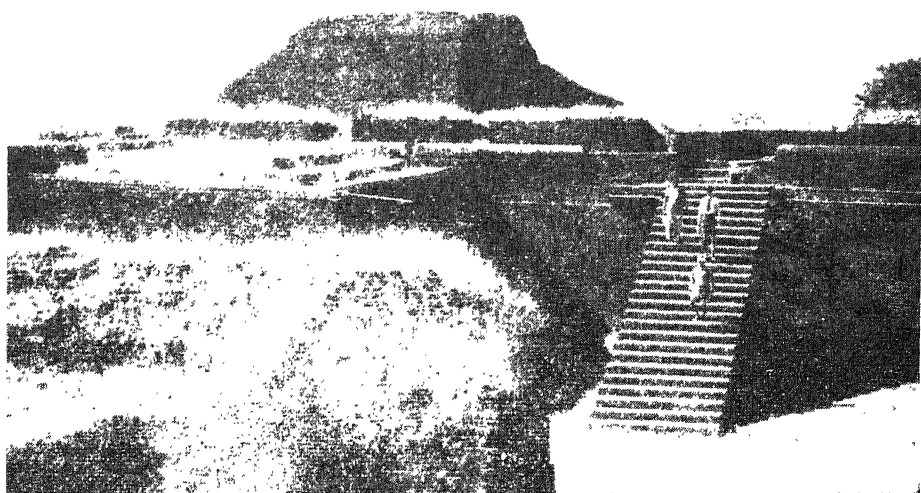
थेरवाद और महासांघिक सम्प्रदाय—बुद्ध की मृत्यु के सौ वर्ष बाद वैशाली में बौद्धों की दूसरी महासभा हुई। इस समय तक उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। वैशाली और पाटलिपुत्र के अतिरिक्त कौशाम्बी और अवन्ति भी बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुके थे। वैशाली की महासभा में एकत्र हुए बौद्ध भिक्षुओं में अनेक प्रश्नों पर मतभेद प्रकट हुए। ये मतभेद मुख्यतया विनय सम्बन्धी थे। दोपहर के बाद भिक्षु को भोजन करना चाहिए या नहीं, सोना-चाँदी को भिक्षा में स्वीकार करना चाहिए या नहीं, भिक्षुओं को नमक जैसी वस्तु अपने पास रखनी चाहिए या नहीं—इसी प्रकार की अनेक बातों पर भिक्षुओं में मतभेद था। वैशाली की महासभा में इन मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि इस समय से बौद्ध लोग दो मुख्य सम्प्रदायों में विभक्त हो गए—महासांघिक और थेरवाद। वैशाली, पाटलिपुत्र आदि पूर्वी प्रदेशों के भिक्षु महासांघिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और कौशाम्बी, अवन्ति आदि पश्चिमी प्रदेशों के भिक्षु थेरवाद के।

बाद में इन दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों में भी मतभेद विकसित होने लगे। थेरवाद अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, और महासांघिक सम्प्रदाय सात उपसम्प्रदायों में। थेरवाद का प्रवर्तक महाकच्चायन नाम का भिक्षु था, जो अवन्ति का निवासी था। इसके अठारह सम्प्रदायों में 'सर्वास्तिवाद' सबसे प्रसिद्ध है। अवन्ति से इसका प्रचार मथुरा, गान्धार और काश्मीर में हुआ। कनिष्क ने इसी सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी। कनिष्क की संरक्षा में इस सम्प्रदाय का मध्य एशिया में प्रचार हुआ, और वहाँ से अनेक भिक्षु इसे चीन में भी ले गए। इसी कारण मध्य एशिया और पूर्वी तुर्किस्तान में बौद्ध धर्म के जो अनेक प्राचीन ग्रन्थ मिले हैं, वे सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के ही हैं।

महासांघिक सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र वैशाली था। बाद में इसका प्रचार आन्ध्र देश में हुआ और वहाँ अमरावती और नागार्जुनकोण्ड इसके प्रधान केन्द्र बन गए। थेरवाद और महासांघिक सम्प्रदायों में जहाँ विनय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद थे, वहाँ उनमें सिद्धान्त विषयक मतभेद भी विकसित होने प्रारम्भ हो गए थे। महासांघिक लोगों का मन्तव्य था कि बुद्ध साधारण मनुष्य नहीं था, वह 'लोकोत्तर' था। साथ ही, वे यह भी कहते थे कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य बुद्धत्व प्राप्त करना है। केवल अर्हत पद प्राप्त करना मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं है। थेरवादी लोग बुद्ध को लोकोत्तर नहीं मानते थे, और मनुष्य के लिए अर्हत पद की प्राप्ति ही पर्याप्त समझते थे।

अशोक के समय (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व) तक बौद्ध भिक्षुओं के ये मतभेद भली-भाँति विकसित हो गए थे, और बुद्ध के अनुयायी अनेक सम्प्रदायों व उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गए थे। इन मतभेदों ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था, कि अनेक स्थानों पर उपोसथ (पाक्षिक सभा में एकत्र भिक्षुओं की उपासना विधि) हो सकना भी सम्भव नहीं रहा था। इस समय तक बौद्ध संघ को 'चातुर्दिश' माना जाता था। किसी भी स्थान का व किसी भी सम्प्रदाय का बौद्ध भिक्षु संघ के अधिवेशन में उपस्थित हो सकता था, और उपासना में भाग ले सकता था। पर आपस के मतभेदों के कारण चातुर्दिश संघ में एकत्र भिक्षुओं के लिए साथ मिलकर उपासना विधि का अनुसरण कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। और इसीलिए अनेक स्थानों पर उपोसथ ही नहीं हो पाती थी। जब अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली तो उसने इस दशा में सुधार करने का प्रयत्न किया। अपने गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (उपगुप्त) के नेतृत्व में उसने बौद्धों की तीसरी महासभा का आयोजन किया, जिसका एक मुख्य उद्देश्य विविध सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर बौद्ध संघ में एकता को स्थापित करना था। इस कार्य के लिए

आचार्य तिस्स ने एक हज़ार ऐसे भिक्षुओं को चुना जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इन भिक्षुओं की सभा तिस्स की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्म और विनय सम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इस सभा ने विचार किया। आचार्य तिस्स थेरवाद के विभज्जवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उसी के मन्तव्यों को इस सभा ने प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया। महासांघिक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के साथ कोई समझौता इस सभा में नहीं हो सका और अशोक ने उन्हें संघ से वहिष्कृत कर दिया। थेरवाद के आन्तरिक मतभेदों का निराकरण करने में इस सभा को सफलता प्राप्त हुई और उसने तिस्स द्वारा लिखित 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को प्रमाण रूप से स्वीकृत किया। बौद्धों की तीसरी महासभा यद्यपि महासांघिकों और थेरवादियों में एकता नहीं स्थापित कर सकी, पर थेरवाद के आन्तरिक मतभेदों को दूर करने में वह बहुत कुछ सफल हुई। सम्राट् अशोक थेरवाद का ही अनुयायी था और उसके समय में देश-विदेश में बौद्ध धर्म का जो प्रचार हुआ, वह थेरवाद का ही था। अशोक के पुत्र महेन्द्र ने लंका में जिस बौद्ध धर्म का प्रचार किया, वह थेरवाद ही था। आगे चल कर लंका में थेरवाद के दो प्रधान केन्द्र विकसित हुए—महाविहार और अभयगिरि। थेरवादी सिद्धान्तों का इन दोनों महाविहारों में चिरकाल तक अनुशीलन होता रहा।



नालन्दा के अवशेष

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महान् उद्योग किया था, उसका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रयत्न से थेरवाद का भारत और पड़ोस के अन्य देशों में बहुत प्रचार हुआ, और कुछ समय के लिए वह बौद्धों का सर्वप्रधान सम्प्रदाय बन गया। मीनान्दर (मिलिन्द) जैसे यवन (ग्रीक) राजाओं और कनिष्क जैसे कुशाण राजाओं ने इसी के उपसम्प्रदायों को अपनाया था। कनिष्क के समय में बौद्धों की चौथी महासभा का आयोजन किया गया था, जिसके अधिवेशन काश्मीर में हुए थे। वसुमित्र नामक विद्वान् भिक्षु ने इस महासभा का सभापति पद ग्रहण किया था, और इसमें भी बौद्धों के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया था। बुद्ध की असली शिक्षाएँ क्या थीं, और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का वास्तविक अभिप्राय क्या है, इसका निर्णय करने के लिए इस महासभा में 'महाविभाषा' या विभाषाशास्त्र नामक भाष्य तैयार किए गए थे। पर यह महासभा प्रधानतया थेरवादी सम्प्रदायों के भिक्षुओं की ही थी और इसमें सम्मिलित विद्वान् थेरवाद के 'सर्वास्तिवाद' सम्प्रदाय के अनुयायी थे। महाविभाषा में इन्होंने सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के मन्तव्यों का ही समर्थन किया था।

महायान और हीनयान : कनिष्क के समय (पहली सदी ई० पू०) से कुछ पूर्व ही बौद्ध धर्म के एक नवीन सम्प्रदाय का सूत्रपात हो गया था, जो आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय का नाम 'महायान' था। इसका प्रादुर्भाव महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ था। महासांघिक सम्प्रदाय जिन अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त था, उनमें से एक वैपुल्यवाद था। वैपुल्यवादी विचारक अन्य बौद्धों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे, वे निम्नलिखित थे—(१) बौद्ध संघ न दान ग्रहण करता है, न उसका उपभोग करता है, और न संघ को दान देने में महाफल है। (२) बुद्ध लोकोत्तर थे, न उन्होंने लोक में जन्म लिया, न वे संसार में रहे और न उन्होंने धर्मोपदेश किया। (३) किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का भी सेवन किया जा सकता है। वैपुल्यवादी लोगों की ये तीनों ही बातें ऐसी थीं, जो बौद्ध धर्म में विप्लव मचाने वाली थीं। विशेषतया, बुद्ध के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करना कि उन्होंने न कभी मानव तन धारण कर संसार में प्रवेश किया, और न कभी उन्होंने धर्म का उपदेश किया—एक ऐसा विचार था, जिससे बुद्ध पूर्णतया अमानव व अलौकिक बन जाते थे। वैपुल्यवादी विचारक, संघ को भी बहुत महत्त्व नहीं देते थे। उनके मत में गृहस्थ लोग भी बुद्ध की शिक्षाओं से लाभ उठा कर 'बोधिसत्त्व' पद प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकते थे। संघ में केवल भिक्षु लोग ही प्रविष्ट हो सकते थे, और अन्य बौद्धों के अनुसार अर्हत पद व बुद्धत्त्व की प्राप्ति के लिए भिक्षु बनना अनिवार्य था। पर वैपुल्यवादी लोग भिक्षुव्रत और संघ को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। और इसीलिए वे उसे दान देना कोई विशेष फलदायक नहीं मानते थे। मैथुन को भी वे हेय नहीं समझते थे, और विशेष दशाओं में उसकी भी अनुमति देते थे।

वैपुल्यवाद का मुख्य केन्द्र श्रीधान्यकटक था जहाँ वह पहली सदी ई० पू० में भली-भाँति विकसित हो गया था। आगे चलकर यही सम्प्रदाय महायान के रूप में विकसित हो गया, और महासांघिकों के अनेक सम्प्रदाय भी इसी के अन्तर्गत हो गए।

महायान ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज़ ऐसी नहीं हो सकती, जिसे प्राणिमात्र के हित के लिए अदेय समझा जा सके। इस चरम साधना के लिए महायान ने बोधिसत्त्व जीवन का उपदेश दिया। बोधिसत्त्व वह होता है, जो दूसरों के कल्याण के लिए अपने देश, घर व सुख का परित्याग कर देता है। अन्धे को दृष्टिदान करने के लिए अपनी आँखें निकाल कर दे देता है, भूखे बाघ को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करता है, दूसरों के हित के लिए अपनी स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देता है, और परोपकार के लिए किसी कष्ट को कष्ट नहीं गिनता। बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व सिद्धार्थ ने बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्म लिये थे, और इस प्रकार दूसरों का हित सम्पादन किया था। मनुष्य का आदर्श यही है कि वह दुःखग्रस्त प्राणियों के आर्तिनाशन के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर बोधिसत्त्व के रूप में जीवन व्यतीत करे, और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले। बोधिसत्त्व का जीवन भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही अपना सकते हैं। इसके लिए भिक्षु-व्रत ग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। बोधिसत्त्व का पद पाने के लिए मनुष्य को दस गुणों—जिन्हें महायान सम्प्रदाय के अनुयायी 'पारमिता' कहते थे—को अपने में विकसित करना चाहिए। ये दस पारमिताएँ निम्नलिखित हैं—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय कौशल्य, प्रणिधान बल और ज्ञान। इन गुणों को विकसित करके ही मनुष्य बोधिसत्त्व बन सकता है, और अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व का जीवन बिताते हुए अन्त में बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है।

महासांघिकों ने बुद्ध को 'लोकोत्तर' प्रतिपादित करना शुरू कर दिया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। महायान सम्प्रदाय से इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिला। जनता में किसी लोकोत्तर शक्ति की भक्ति करने की भावना बहुत प्रबल होती है। प्राचीन समय में भारत में जो अनेक धर्म प्रचलित थे, उनमें से भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी भक्ति को बहुत महत्त्व देते थे। सर्वसाधारण लोग किसी ऐसी सत्ता की भक्ति करना चाहते हैं, जो लोकोत्तर हो, और जिसे देखकर उनके मन में उच्च भावनाएँ विकसित हों। महायान के प्रतिपादकों ने बुद्ध के ऐसे स्वरूप को ही जनता के सम्मुख उपस्थित किया। उन्होंने बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनानी आरम्भ कीं, और उन्हें चैत्यों में प्रतिष्ठापित कर जनता के लिए बुद्ध की भक्ति करना सुगम कर दिया। महायानी लोग चैत्य बनाना और उनमें बुद्ध की मूर्त्ति को प्रतिष्ठित करना बहुत महत्त्व की बात समझते थे। पर यह नहीं समझना चाहिए कि महायान के विकास से पूर्व बुद्ध की मूर्त्तियों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। महासांघिक सम्प्रदाय में यह प्रवृत्ति पहले भी विद्यमान थी। महायान से इसे नया बल मिला।

महायान सम्प्रदाय के दो आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, नागार्जुन और असंग। इन आचार्यों ने महायान के दार्शनिक विचारों का बहुत विकास किया। बुद्ध विश्व को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते थे। उनके अनुसार कोई सत्ता नित्य नहीं है। नागार्जुन ने 'अनित्यता' के इसी विचार को लेकर शून्यवाद या सापेक्षतावाद का विकास किया। उन्होंने, पदार्थ-जगत् हो या आचार-जगत्, सर्वत्र क्षणिकता और अनात्मता के सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी वस्तुओं को शून्य या सारशून्य घोषित किया।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों को 'हीनयान' कहते थे। हीनयान में मुख्यतया उन सम्प्रदायों का समावेश था, जिनका सम्बन्ध थेरवाद से था। हीनयान और महायान सम्प्रदायों में मुख्य मतभेद निम्नलिखित बातों पर था—(१) हीनयान के अनुयायी भिक्षु जीवन को बहुत महत्त्व देते थे। उनके अनुसार निर्वाणपद को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुव्रत अवश्य लेना चाहिए। इसके विपरीत महायान के अनुयायी यह मानते थे कि गृहस्थ व सांसारिक जीवन बिताते हुए मनुष्य को अपने में उन पारमिताओं को विकसित करना चाहिए, जिनसे वह बोधिसत्त्व का पद पा सकता है। भिक्षु जीवन का महायान सम्प्रदाय की दृष्टि में महत्त्व इतना कम था कि उनके धर्म-ग्रन्थों में विनयपिटक (जिसमें भिक्षुओं के नियन्त्रण सम्बन्धी नियम प्रतिपादित हैं) को स्थान नहीं दिया गया था। इसीलिए महायान सम्प्रदाय के भिक्षु संघ में निवास करते हुए उन्हीं नियमों का पालन करते थे, जो हीनयान के विनयपिटक में प्रतिपादित हैं। (२) महायान और हीनयान के दर्शन में भी भेद है। यद्यपि दोनों के दर्शनों का आधार शून्यता और अनात्मता है, पर इनके स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें मतभेद है। हीनयान के अनुसार केवल पुद्गल (जीव या आत्मा) की शून्यता है, पर महायानी लोग पुद्गल की शून्यता के साथ-साथ 'धर्म' (बाह्य संसार व उसके गुणों) की भी शून्यता मानते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मट्टी से घट बनता है, और मट्टी से ही एक खिलौना बनता है। हीनयानी दार्शनिक कहेगा कि घट और खिलौने में कोई भेद नहीं है, क्योंकि वस्तुतः दोनों ही मृत्तिका हैं। इनका जो पृथक् व्यक्तित्व है, वह अवास्तविक है। इस प्रकार पुद्गल-रूप में जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह सत्य नहीं है। पर महायानी दार्शनिक का मन्तव्य है कि न केवल पुद्गल रूप में मृत्तिका के घट और मृत्तिका के खिलौने की कोई सत्ता नहीं है, अपितु मृत्तिका धर्म (पदार्थ) की भी सत्ता नहीं है। महायान का यह सिद्धान्त वेदान्त के 'जगन्मिथ्यावाद' के बहुत समीप है। शून्यता और अनात्मता के आधारभूत मन्तव्य को लेकर हीनयान ने अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास किया, जिनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक प्रधान हैं। महायान के दार्शनिक सम्प्रदायों में सबसे मुख्य माध्यमिक और योगाचार हैं। इन सभी सम्प्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जो भारत के दार्शनिक साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। (३) बोधिसत्त्व का विचार महायान

सम्प्रदाय की विशेषता है। बुद्ध ने स्वयं अनेक बार जन्म लेकर बोधिसत्त्व का जीवन बिताते हुए पारमिताओं को प्राप्त किया था। और यही प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए। बुद्ध के इन पूर्वजन्मों का वृत्तान्त जातक कथाओं में वर्णित है। हीनयान में बोधिसत्त्व जीवन को स्थान नहीं दिया गया है। वह भिक्षु जीवन को ही महत्त्व देता है। महायान के अनुसार अनेक व्यक्ति बोधिसत्त्व बन कर परोपकार में प्रवृत्त रहे। ये सुगमता से बुद्धत्व भी प्राप्त कर सकते थे, पर क्योंकि बुद्धत्व निर्गुण होता है, बुद्ध बनकर मनुष्य परोपकार का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, अतः ये बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न कर बोधिसत्त्व ही बने रहे, और परोपकार में तत्पर रहे। महायान में इन बोधिसत्त्वों को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और उनकी प्रायः वही स्थिति है, जो पौराणिक धर्म में देवताओं की है। वे चैत्यों में इनकी मूर्त्तियों को भी स्थापित करते हैं, और बुद्ध के समान इनकी भी पूजा की जाती है। बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, बज्रपाणि, सामन्तभद्र, आकाशगर्भ, महास्थान प्राप्त, भैषज्यराज और मैत्रेय प्रमुख हैं।

नागार्जुन, असंग आदि महाविद्वानों के प्रयत्न से महायान सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ और उसके सम्मुख पुराने थेरवाद व हीनयानी सम्प्रदायों का महत्त्व घट गया। पर ये दोनों सम्प्रदाय ही भारत में साथ-साथ कायम रहे। सातवीं सदी में जब चीनी यात्री ह्यूएन्त्सांग भारत की यात्रा के लिए आया था, तो उसने इन दोनों के ही महाविहारों की यात्रा की थी। उसके यात्रा-विवरण से बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों की सत्ता के सम्बन्ध में विशद रूप से परिचय मिलता है।

वज्रयान : बौद्ध धर्म का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है, जिसे वज्रयान कहते हैं। इसका विकास महायान से ही हुआ था। सम्भवतः, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि धीरे-धीरे महायान ही वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया था। सातवीं सदी से शुरू होकर भारत के मध्यकालीन इतिहास में बौद्ध धर्म का जो रूप विद्यमान था, वह वज्रयान ही था।

जो स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म में वाममार्ग का है, वही बौद्ध धर्म में वज्रयान का है। तान्त्रिक क्रियाओं का भारत के धर्मों में किस प्रकार प्रवेश हुआ, यह विषय बड़े महत्त्व का है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति जिन शब्दों में हो, उन्हें मन्त्र कहते हैं। न केवल भारत में अपितु संसार के अन्य प्राचीन देशों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि मन्त्र शक्ति का प्रयोग कर मनुष्य अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। साथ ही लोग यह भी मानते थे कि जादू-टोना आदि अभिचाय क्रियाएँ वस्तुतः फलवती होती हैं। आधुनिक युग में भी मनुष्य समाज का मन्त्र-शक्ति व जादू-टोनों में विश्वास पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भी भारत में मन्त्र-शक्ति और अभिचार क्रियाओं में विश्वास की सत्ता थी। ये क्रियाएँ गुप्त रखी जाती थीं। इन्हें केवल वही व्यक्ति जान सकता था, जो गुरु का अत्यधिक विश्वासपात्र हो।

यद्यपि बुद्ध अन्धविश्वासों और रहस्यमयी क्रियाओं के विरोधी थे, और जीवन की साधना का ही उपदेश उन्होंने दिया था, पर जनता के लिए अपने मज्ज्ञातन्तुगत विश्वासों से दूर रह सकना सम्भव नहीं था। इसी कारण बौद्ध धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हुआ। बौद्धों के प्राचीन वैपुल्यवादी सम्प्रदाय का यह भी मन्तव्य था कि विशेष अभिप्राय से भिक्षु और भिक्षुणी भी मैथुन का सेवन कर सकते हैं। हज़ारों-लाखों युवक और युवतियाँ भिक्षुव्रत ग्रहण करके संघ में प्रविष्ट होती थीं। वे सब काम-वासना को वशीभूत करने में समर्थ रहें, यह क्रियात्मक नहीं था। भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः, इसीलिए वैपुल्यवादियों ने विशेष अभिप्राय से मैथुन की अनुमति प्रदान की थी। मानव-शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे और सरल मार्ग से पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्ध भिक्षुओं ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल द्वारा मैथुन क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिए सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया। वज्रगुरू काम-वासना की पूर्ति के लिए मैथुन का सेवन नहीं करता, अपितु सम्यक् संबुद्ध व सिद्ध बनने के विशेष अभिप्राय से ही इसका प्रयोग करता है, यह उन्होंने प्रतिपादित करना शुरू किया। महायान का भी यही मत था। वैपुल्यवादियों के मैथुन विषयक विचार महायान में भी कायम रहे। बाद में इन विचारों ने बहुत ज़ोर पकड़ा। और वज्रगुरू, सम्यक् संबुद्ध व सिद्ध बनने के लिए लोग ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे, जिनमें मैथुन क्रियाओं को भी स्थान प्राप्त था। सातवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली भाँति विकास हो गया, तो वैपुल्यवादियों द्वारा बोया गया बीज एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक साधक लोग भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे, जो धार्मिक संघ के लिए तो क्या, सभ्य समाज के लिए भी घृणास्पद थीं।

वज्रयान के रूप में केवल मैथुन ही बौद्ध संघ में प्रविष्ट नहीं हुआ, अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सुत्तों (सूत्रों) का पाठ किया करते थे। पर ये सूत्र बहुत बड़े-बड़े थे। इनके पाठ में बहुत समय लगता था। वैपुल्यवादियों ने विचार किया कि लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ से जो फल प्राप्त होता है, वह संक्षिप्त शब्द समूह से भी प्राप्त हो सकना चाहिए, क्योंकि शब्द में विशेष शक्ति होती है और उस शक्ति के लिए सुदीर्घ सूत्रों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इसलिए वैपुल्यवादियों ने कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी 'धारणियाँ' बनाईं, और उनके पाठ द्वारा भी वही फल माना, जो सूत्रों के पाठ से प्राप्त होता था। पर धारणियों का पाठ भी कुछ लोगों को कष्टकर प्रतीत होता था। अतः, बाद में मन्त्रों की सृष्टि की गई, जिनमें केवल कुछ शब्द ही होते थे। "ओं मुने मुने महामुने स्वाहा", "ओं आ हुँ" आदि इसी प्रकार के मन्त्र थे, जिन्हें जप कर बौद्ध लोग अभिलषित फल की आशा रखते थे। मन्त्र-शक्ति के साथ-साथ गुह्य यौगिक क्रियाओं

(शेष पृष्ठ १८ के नीचे)

तथागत के प्रति

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

हे तपस्वी बुद्ध !
सुप्त मानव-प्राण को तूने किया सुप्रबुद्ध ।
स्रोत था कारुण्य का जो शुष्क-अति, अवरुद्ध,
असुर-भावों से विजित था जो हुआ कर युद्ध !
चेतनाएँ, भावनाएँ, कामनाएँ शुद्ध—
हो चुकीं अस्तंगता थीं, नीच-भाव-निरुद्ध ।
हृदय लख संतप्त तेरा था, न जन से क्रुद्ध ।
थी अहिंसा देव ! तुझ में मूर्तिमान, विशुद्ध ।
हृदय में था क्षमा-करुणा-प्रेमभाव प्रवर्द्ध,
त्याग गृह-सुख, ज्ञान-हित तू हुआ तप में बद्ध ।
प्राप्तसत् ! सन्देश पर तेरे हुआ जग लुब्ध,
मनुजता के थे खड़े जो दनुज घोर विरुद्ध—
वे भगे सुन देव-वाणी, और मानव रुद्ध,
था खड़ा स्वातंत्र्य-युत, तेजःस्वरूप, विमुग्ध ।
चरण पर तेरे हुए नत निबल, सबल, समृद्ध,
और भारतवर्ष तेरे हेतु जगत्-प्रसिद्ध ।
आज पावन-पर्व पर तुझ को नमः करबद्ध ।
नमः शत-शत बार तुझ को, नमः हृत्-संबद्ध !
हे तपस्वी बुद्ध !

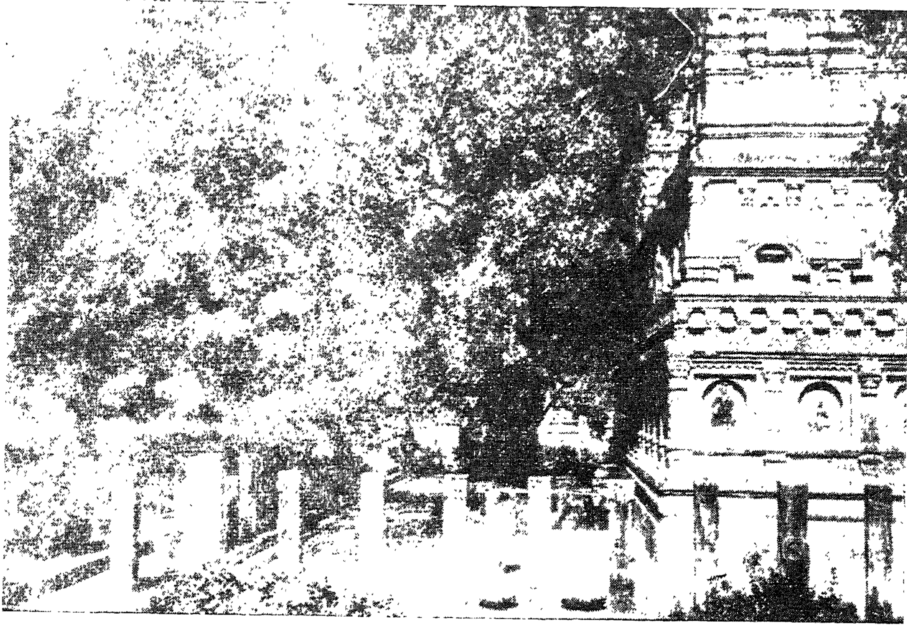


नालन्दा से प्राप्त
एक बुद्ध मूर्ति

बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदाय—(पृष्ठ १७ का शेषांश)

का भी बौद्ध धर्म में प्रवेश हुआ । बौद्ध धर्म के जो विद्वान् शाक्य-कुलोत्पन्न सिद्धार्थ को अलौकिक व अमानव बता कर मानव-शरीर में बुद्ध की सत्ता से ही इनकार कर जनता को अपने धर्म में अनुरक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, उन्होंने गुह्य सिद्धियों को भी अपने मन्तव्यों में समाविष्ट किया । इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे बौद्ध धर्म ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया, जिसके अनुसार बुद्ध लोकोत्तर व अमानव थे, जिसके छोटे-छोटे मन्त्र अभिलषित फल प्रदान करने वाले थे और जिसके गुरू योगाभिचार क्रियाओं, गुह्य सिद्धियों और रहस्यमय साधनाओं द्वारा वज्रगुरू या सिद्ध पद प्राप्त कर लेते थे । इन सिद्ध पुरुषों को न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता थी, और न इन्द्रिय जय की । उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊपर उठ कर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे । जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊँचा उठ कर सिद्ध बन जाता है, तो उसके लिए वे मर्यादाएँ नहीं रह जातीं, जो साधारण लोगों के लिए उपयोगी हैं । उसके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य और उचित-अनुचित का कोई भेद रह ही नहीं जाता । इन भेदों से ऊँचा उठने के लिए ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है, स्त्री-मात्र से मैथुन करना अपनी साधना में सहायक समझता है और मदिरा-सेवन को योग-क्रियाओं के लिए उपयोगी मानता है । वैपुल्यवाद

(शेष पृष्ठ ३१ पर)



बोधि वृक्ष; गया

बोधि लाभ

सियारामशरण गुप्त

शाक्य वह, सिद्धार्थ वह, अमिताभ वह,
सुचिर ज्योतिर्मय रुचिर तारुण्य से ।
राज्य पर आकर नहीं वह है शुपा;
निज प्रजा के स्वस्थ, स्वच्छ तड़ाग में
नीरतल में से उमँग ऊँचा उठा,
प्रस्फुटित वह एक स्वर्ण सरोज है ।
संगिनी उसकी सुशील यशोमयी,
गोद हृदयामोद से जिसकी भरी,
पूर्णकाम प्रसन्न जो, परितुष्ट जो ।

दृष्टि बहुधा रौंदती जिसको रही,
उस दिवस उसके दृगों में दृश्य वह
गड़ गया उड़ते उपलकण के सदृश ।
सामने जर्जर जरा से वृद्ध था,
कष्ट जिसका देखने में भी कठिन ।
फिर सभी पीड़ा-व्यथा अपसृत हुई,
मरण में मानो मिली चिर-शान्ति है ।
हाय ! तब क्या इस अभागे जीव की
अन्त में यह मृत्यु ही विश्रान्ति है ?

राजवैभव सर्व सुख फीके पड़े
सुमन-सी सेजें हुईं अंगार की ।
सर्व चिन्ता वेदना पीड़ा-व्यथा
हो गईं एकत्र सहसा व्यष्टि में ।
रात्रियाँ वे रह गईं अनिमेषिनी
व्योम के घन तिमिर धारापात में ।
निखिल का सम्पूर्ण प्रतिनिधि एक वह
विश्व की सारी विकलता झेलकर
निशि दिवस की आँच में तँचकर दिपा ।
चित्त में स्मृति बोध-सा उसके हुआ,
पूर्व भव में भी अनेकों बार वह
मरण-विष के घूँट कितने पी चुका,
और भी पीना पड़ेगा क्या उसे ?
शून्य है जिसके बिना जीवन-जगत्

अमृत वह कैसे कहाँ उपलब्ध हो ?
राजमन्दिर में प्रकट प्रत्यक्ष यह—
वह नहीं है, वह नहीं है, वह नहीं ।
प्रव्रजित हो सब कहीं प्रति गेह में
भीख उसकी माँगने वह जाएगा ।
गरल है तो अमृत क्यों होगा नहीं ?

पुण्य की परिपूर्णिमा में यामिनी
शीश पर रक्खे भरा अमृतांशु घट
कर रही थी मार्ग मंगल कामना ।
डुल रहा था व्यजन मन्द सुगन्ध सह,
पौर जन सुधि-भूल निद्रा-मग्न थे ।
वह परम यात्री वहाँ ऐसे समय
छोड़ पुत्र, कलत्र, राज्य, कुटुम्ब, धन,
मुक्त होकर निष्क्रमित था मार्ग में,
सो रहे तनु में सहज ही भाव से
स्वस्थ श्वास-समीर ज्यों गतिमन्त था ।

दूर जाकर हिंस्र-संकुल विजन में
झेलकर सब दुःख कष्ट शरीर पर
उस तथागत श्रेष्ठ मानव ने किए
घोर जप-तप-व्रत अनेकों वर्ष के ।
त्याग उनका भी किया निष्काम ने
देखकर अन्तर्निहित फल कामना ।
बोधि तरु की छाँह में तब विश्व ने
बुद्ध वाणी दूर तक गुंजित सुनी—
"भय न कर मानव, अरे तू भय न कर,
मारती तुझको नहीं है मृत्यु वह ।
हन रही हिंसा तुझे तेरी स्वयं ।
भ्रम रहा है क्यों छिपे के फेर में
अल्प क्या प्रत्यक्ष ही तेरे लिए ?"

बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन ?

सेठ गोविन्ददास

मुख्य पात्र, स्थान और समय

मुख्य पात्र :

(१) आनन्द : गौतम बुद्ध का प्रमुख शिष्य
(२) तिस्य : दो भिक्षु
(३) धर्माराम :
(४) गौतम बुद्ध :

स्थान : वैशाली का एक उपवन

समय : भगवान् बुद्ध के निर्वाण के कुछ मास पूर्व

पहला दृश्य

स्थान : एक उपवन

समय : अपराह्न

[उपवन खूब हरा-भरा है, बड़े-बड़े वृक्ष और छोटे-छोटे पौधे तथा लताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। नाना प्रकार के पुष्प और फल भी दिख पड़ते हैं। आनन्द अनेक बौद्ध भिक्षुओं के साथ बैठा हुआ है। सब की वेश-भूषा बौद्ध भिक्षुओं के सदृश है। सभी की मुद्रा अत्यन्त शोकमयी है।]

एक भिक्षु—हाँ, क्या......क्या करें, हम कुछ......कुछ भी तो समझ में नहीं आता।

दूसरा—समझ में आने की बात हो, तब तो समझ में आए!

तीसरा—ठीक......ठीक कहते हो, समझ में आने की बात हो तभी समझ में आ सकती है।

चौथा—हाँ, समझ में आने की सचमुच ही बात नहीं है।

पाँचवाँ—(आनन्द से) भन्ते! आपका विश्वास है, कि जो कुछ तथागत ने कहा है वही होकर रहेगा।

आनन्द—(जिसका सिर झुका हुआ था धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) आज पर्यन्त भगवान् तथागत की कोई बात मिथ्या हुई है?

छठवाँ—(सिसकते हुए) तो......तो सचमुच ही चार मास में भगवान् निर्वाण पद को प्राप्त करेंगे!

सातवाँ—और हम सब अनाथवत् हो जाएँगे। (रोने लगता है)

पहला—तथागत ने घोषणा ही कर दी है कि चार मास में वे निर्वाण-पद को प्राप्त करेंगे। (दीर्घ निःश्वास छोड़ता है)

दूसरा—और भन्ते आनन्द ठीक ही कहते हैं कि उनकी कोई वाणी आज तक मिथ्या नहीं हुई।

तीसरा—(दीर्घ निःश्वास लेकर) हाँ, जब उनकी कोई वाणी आज तक मिथ्या नहीं हुई, तब यही क्यों होने लगी।

पहला—इसीलिए तो मैंने कहा न कि कुछ...कुछ भी समझ में नहीं आता कि हम सब करें क्या?

चौथा—कितना...कितना समय बीता है, हमारा उनके श्री चरणों में।

पाँचवाँ—कितनी...कितनी घटनाएँ स्मरण आ रही हैं, उस सारे काल की, जो हमने उनकी शरण में बिताया है।

छठवाँ—उनकी वाणी के एक-एक शब्द...

सातवाँ—और उन शब्दों के अनुरूप एक-एक कृति।

पहला—(रोते हुए) न अब वह वाणी सुनने को मिलेगी और न उस प्रकार की कृतियों के ही कभी दर्शन होंगे। तभी...तभी...तो कहता हूँ न, कि कुछ...कुछ समझ में नहीं आता कि करें क्या?

दूसरा—इस समय यहाँ हम सात सौ भिक्षु हैं, दो को छोड़ कर छः सौ अट्ठानवे की तो बुद्धि कुण्ठित हो गई है।

तीसरा—हाँ, हमारे दो साथी अवश्य विचित्र हैं।

आनन्द—कौन?

दूसरा—तिस्य और धर्माराम।

आनन्द—कैसे?

तीसरा—भगवान् की इस घोषणा का कि वे चार मास में निर्वाण-पद प्राप्त करेंगे इन दोनों पर कोई प्रभाव नहीं है।

आनन्द—अच्छा!

दूसरा—हाँ, भन्ते! कोई प्रभाव नहीं।

पहला—हमें न क्षुधा लगती है और न नींद आती है।

चौथा—क्षुधा और नींद! पल भर को भी चैन नहीं मिलता फिर क्षुधा और नींद तो बड़ी बातें हैं।

पाँचवाँ—जैसा तुमने कहा, हमारी तो सारी ज्ञान शक्ति का ही लोप हो गया है, हमारी समझ में ही कुछ नहीं आता कि हम करें क्या?

दूसरा—और तिस्य तथा धर्माराम के सारे कार्य पूर्ववत् चलते हैं।

तीसरा—वरन् उनके समस्त कार्यों में तो और अधिक व्यवस्था आ गई है।

दूसरा—भगवान् तथागत के प्रति उनका कोई स्नेह नहीं?

तीसरा—शुष्क-हृदय हैं, शुष्क-हृदय।

आनन्द—पाषाण-हृदय हैं, पाषाण-हृदय।

समस्त भिक्षु—(एक साथ) हाँ, पाषाण-हृदय, पाषाण-हृदय।

दूसरा—मैं तो भगवान् तथागत से कहने वाला हूँ इन पाषाण हृदय तिस्य और धर्माराम की बात।

तीसरा—हाँ, आज... ...आज ही सन्ध्या को उपदेश के अनन्तर यह बात निकालनी चाहिए।

अधिकांश भिक्षु—(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

[लघु यवनिका]

दूसरा दृश्य

स्थान : उसी उपवन का एक अन्य भाग

समय : अपराह्न के उपरान्त

[दृश्य लगभग वैसा ही है, जैसा पहले दृश्य में था । तिस्य और धर्माराम बैठे हुए हैं, दोनों युवक हैं, वेश-भूषा बौद्ध भिक्षुओं के समान ।]

तिस्य—जानते हो बन्धुवर ! ये सात सौ भिक्षु हमें कैसा मानते हैं ?

धर्माराम—भावनाओं से रहित ।

तिस्य—कोई कहता है, शुष्क-हृदय !···

धर्माराम—और कोई कहता है, पाषाण-हृदय !···

तिस्य—समझते हैं तथागत के प्रति हमारा कोई स्नेह नहीं···

धर्माराम—और अब इनमें से अनेक ने हमारे विरुद्ध भन्ते आनन्द के कान भी भरने आरम्भ किए हैं ।

तिस्य—इतना ही नहीं, सुना है, कुछ भिक्षु भगवान् तथागत से भी कहने वाले हैं कि हमें उनके निर्वाण-सम्वाद से दुःख नहीं ।

धर्माराम—अब, हमें दुःख नहीं है, यह तो कदाचित् सत्य है ।

तिस्य—परन्तु,दुख की निवृत्ति के कारण का भी तो ज्ञान होना चाहिए।

धर्माराम—वह किसे होता है ?

तिस्य—तब ये, भगवान् तथागत के कैसे अनुयायी; कैसे भिक्षु ? तुम जानते ही हो कि भगवान् तथागत ने चार सत्यों का निरूपण किया है । पहला सत्य है, पाँच प्रकार के दुःख—जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग । दूसरा सत्य है—इन दुःखों का कारण तृष्णा । तीसरा सत्य है इस तृष्णा का निवारण और चौथा सत्य है इस निवारण के लिए अष्टांगिक मार्ग पर चलना ।

धर्माराम—और यह अष्टांगिक मार्ग है—दृष्टि संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और तल्लीनता की सम्यक्ता ।

तिस्य—जो धम्म अर्थात् दर्शन और विनय अर्थात् आचार···

धर्माराम—दूसरे शब्दों में प्रज्ञा और शील···

तिस्य—अथवा ज्ञान और कर्म के उचित मिश्रण से ही प्राप्त हो सकती है ।

धर्माराम—और आठों प्रकार की सम्यक्ता के नष्ट न होने की अवस्था प्राप्त होते ही मनुष्य अर्हत् हो जाता है ।

तिस्य—क्योंकि उसके पश्चात् उसे सृष्टि की भिन्नता का आभास ही नहीं होता ।

धर्माराम—जिस प्रकार समस्त समुद्र में एक ही स्वाद है, उसी प्रकार समस्त सृष्टि में भी वह एकता का अनुभव करता है ।

तिस्य—पृथकत्व का निरीक्षण ही दुःख उत्पन्न करता है ।

धर्माराम—एकता के अनुभव के पश्चात् स्थूल दृष्टि से दिखने वाले जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग कहाँ रह जाता है ?

तिस्य—कहाँ रह जाता है, स्वार्थ ?

धर्माराम—जब निजता ही नहीं रह जाती, तब कहाँ रह जाती है इसकी पूर्ति की तृष्णा ?

तिस्य—तो हमने ज्योंही सुना कि भगवान् तथागत चार मास में निर्वाण-पद प्राप्त करना चाहते हैं, त्योंही हमने उनके चारों सत्यों को सच्चे रूप में हृदय पर अंकित करना चाहा······

धर्माराम—और उनके अष्टांगिक मार्ग पर चलना ।

तिस्य—भिक्षु होने पर भी अपनी पतित इच्छाओं से मेरी पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई है ।

धर्माराम—मैं भी अपनी इच्छाओं के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ हूँ ।

तिस्य—भगवान् के जीवित रहते हुए ही मुझे इन इच्छाओं से मुक्त होना है·····

धर्माराम—और मुझे भी ।

तिस्य—इसीलिए जिस प्रकार ये अन्य भिक्षुगण निश्चेष्ट ही मुँह लटकाए बैठे रहते हैं ।

धर्माराम—और आँसू बहाते हुए दीर्घ निःश्वासें छोड़ा करते तथा हिचकियाँ लिया करते हैं ।

तिस्य—इनका साथ न दे हम भगवान् तथागत के ज्ञान से हृदय को द्युतिवन्त कर···

धर्माराम—उनके बताए हुए मार्ग पर चल···

तिस्य—उनके निर्वाण-पद प्राप्त करने के पूर्व ही···

धर्माराज—उनके जीवित रहते हुए अर्हत् पद प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

तिस्य—अब बताओ हम भगवान् तथागत से सच्चा स्नेह करते हैं या ये ?

धर्माराम—हम······अवश्य हम । [लघु यवनिका]

तीसरा दृश्य

स्थान : उसी उपवन का एक अन्य भाग

समय : सन्ध्या

[दृश्य लगभग वैसा ही है, जैसा पहले और दूसरे दृश्य में था । एक काष्ठ के तखत पर, जिस पर श्वेत वस्त्र से ढके गद्दे-तकिए लगे हैं, भगवान् बुद्ध विराजमान हैं । यद्यपि बुद्ध की अवस्था अब अस्सी वर्ष के लगभग है, इतने पर भी वृद्धावस्था का कोई प्रभाव उनके मुख अथवा शरीर पर नहीं है, और इतने वृद्ध होते हुए भी सौन्दर्य ने उनका साथ नहीं छोड़ा है । तखत के नीचे बहुत से भिक्षु उनकी ओर मुख किए हुए बैठे हैं । भगवान् बुद्ध उपदेश दे रहे हैं । परन्तु, भिक्षु शोक से इतने संतप्त हैं कि वे बुद्ध के इस समय के उपदेश को एकाग्रता से श्रवण करने की मनोवृत्ति में नहीं जान पड़ते, जो उनकी मुद्रा से भास हो जाता है ।]

बुद्ध—मन ही धर्म का पूर्वज है । मन ही धर्म का स्वामी है, धर्म से बना हुआ है । दुष्ट मन से जो मनुष्य कुछ कहता या करता है, दुःख उसके पीछे इस प्रकार लग जाता है, जैसे गाड़ी के बैल के पीछे पहिया । जो लोग इस प्रकार का विचार रखते हैं कि अमुक पुरुष ने मुझे गाली दी, अमुक ने मुझे मारा, अमुक ने पराजित किया या अमुक ने मुझे लूट लिया उनके हृदय से वैर-भाव दूर नहीं होता । वैर से वैर कभी नहीं जाता किन्तु, मित्रता से वैर चला जाता है, यही धर्म है । हम सुख से जिएँ, वैरियों से वैर न करें, जो हमसे वैर करते हैं, उन मनुष्यों के बीच भी वैर रहित होकर रहें। हम सुख से जिएँ, आतुरों में आतुर न होकर, आतुरों में अनातुर होकर विचरें । चाहे कोई भिक्षु हो या गृहस्थ, उसे हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या भाषण, चुगली, कठोर वचन, व्यर्थ बकवाद,

लोभ, द्रोह और मिथ्या सिद्धान्त ये दस प्रकार के विप्रतिसार अर्थात् चित्त को मलिन करने वाली बातों को छोड़ सत्य धारणा से युक्त हो समस्त सृष्टि के प्रति प्रेम भावना रख लोकोपकार में दत्त-चित्त होना चाहिए। सद्भावनाओं में प्रेम का मुख्य स्थान है। जिस प्रकार तारिकाओं में कोई भी तारिका चन्द्रमा की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है, उसी प्रकार सद्भावनाओं में कोई भी भावना प्रेम भावना के सोलहवें भाग के तुल्य नहीं है। प्रेम अन्य समस्त सद्भावनाओं को उसी प्रकार अपने अन्तर्गत कर लेता है जिस प्रकार प्रातः काल का प्रकाश समस्त तारिकाओं को और वह हृदय के सारे अन्धकार को नष्ट कर उसी प्रकार चमकने लगता है, जिस प्रकार वर्षा के अन्तिम मास में बादलों को नष्ट कर सूर्य।

प्रथम दृश्य वाला दूसरा भिक्षु—और भगवन्! यदि किसी का हृदय इतना शुष्क हो जाए कि उसमें प्रेम की आर्द्रता ही न रहे तो?

बुद्ध—कोई सच्चा भिक्षु ऐसा हो ही नहीं सकता।

पहले दृश्य वाला तीसरा भिक्षु—परन्तु, भगवन् हममें दो ऐसे पाषाण-हृदय भिक्षु हैं।

बुद्ध—कौन?

दूसरा—तिस्य और धर्माराम, तथागत!

बुद्ध—(कुछ आश्चर्य से) तिस्य और धर्माराम!

तीसरा—हाँ, भगवन्।

बुद्ध—मुझे वे बड़े विवेकी जान पड़ते थे। (इधर-उधर देखते हुए) यहाँ तो दिख नहीं पड़ रहे हैं।

दूसरा—आजकल तथागत! वे हम लोगों के साथ नहीं रहते।

बुद्ध—अच्छा!

तीसरा—हाँ भगवन् प्रायः एकान्तवास करते हैं। (तिस्य और धर्माराम का प्रवेश। वे दोनों बुद्ध को साष्टांग दण्डवत् कर एक ओर बैठ जाते हैं।)

बुद्ध—अच्छा! तिस्य और धर्माराम! तुम्हीं दोनों की अभी चर्चा हो रही थी।

तिस्य—हमारी चर्चा भगवन्!

धर्माराम—हमारी चर्चा, तथागत!

बुद्ध—हाँ, तुम्हारी चर्चा। तुम पर आरोप लगाया गया है कि तुम्हारे हृदय शुष्क हो गए हैं, पाषाणवत्। उनमें प्रेम की आर्द्रता ही नहीं रही है।

तिस्य—और इस आक्षेप का कौन सा प्रमाण प्रस्तुत किया गया।

बुद्ध—प्रमाण! (कुछ विचारते हुए) प्रमाण तो अब तक कोई नहीं रखा गया, आक्षेप मात्र हुआ था, इतने में तुम दोनों आ गए।

धर्माराम—बहुत अच्छा हुआ भगवन् कि आज यह विषय आपके सम्मुख आ गया। कुछ दिनों से इस सम्बन्ध में काना-फूसी चल रही थी और हम पर जो यह आक्षेप किया जा रहा है, उसके लिए जो प्रमाण दिया जाता है, वह भी हमें ज्ञात हो गया है।

बुद्ध—तब, अन्यों से इस सम्बन्ध में कुछ न पूछ मैं तुम्हीं दोनों से पूछता हूँ कि तुम पर इस प्रकार के आक्षेप का क्या प्रमाण दिया जा रहा है?

धर्माराम—आपने जब से यह घोषणा की है कि आप चार मास में निर्वाण पद प्राप्त करने वाले हैं तब से यहाँ का वायुमण्डल जिस प्रकार शोक से ओत-प्रोत हो गया है, वह तो आप स्वयं देखते ही हैं।

एक भिक्षु—इससे अधिक शोक का और कोई अवसर आ सकता है? (दीर्घ निःश्वास छोड़ता है)......

अनेक भिक्षु—(एक साथ) कोई नहीं...कोई नहीं। (कई भिक्षुओं के नेत्रों से आँसू टपकते हैं।)

दूसरा—हम सब अनाथ हो जाएँगे......

तीसरा—हम ही क्या संसार के समस्त मानव......

चौथा—मानव ही नहीं सारी जड़-जंगम सृष्टि।

पाँचवाँ—अखिल विश्व श्रीविहीन हो जाएगा। (कई भिक्षु सिसकने लगते हैं।)

बुद्ध—मेरे संग वर्षों नहीं, युगों तक रहने के पश्चात् तुम सब की यह दशा देख मुझे आश्चर्य होता है। मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह तो मेरी समझ में आता है, पर यह तो स्नेह न होकर मोह है। बुद्ध पद की प्राप्ति के पश्चात् जिन चार सत्यों को मैंने घोषित किया था और जिन्हें न जाने कितनी बार तुम सब ने सुना होगा, उनमें पहले सत्य के जो पाँच प्रकार के दुःख हैं उनमें मरण और प्रिय का वियोग दो दुःख हैं। दूसरा सत्य है, इन दुःखों का कारण तृष्णा। तीसरा सत्य है तृष्णा का निवारण और चौथा सत्य है, तृष्णा के निवारण के लिए अष्टांगिक मार्ग पर चलना। क्या फिर तुम्हें इन चार सत्यों के स्मरण कराने की आवश्यकता है? इस मर्त्य लोक की रचना ही ऐसी है कि यहाँ आकर न कोई सदा रहा है और न रहेगा। तब मरण और प्रिय के वियोग का दुःख क्यों होना चाहिए?

तिस्य—भगवन्! ये सब इसी दुःख से ओत-प्रोत हो आठों पहर चौसठों घड़ी आँसू बहाते हैं, हिचकियाँ लेते हैं, दीर्घ निःश्वासें छोड़ते हैं। धर्माराम और मैं इस मोह में इनके साथी नहीं। यह इनके मतानुसार प्रमाण है हमारे हृदयों में प्रेम की आर्द्रता न रहने का।

धर्माराम—भगवन्! तिस्य और मैं अभी अपनी इच्छाओं के बन्धनों से मुक्त नहीं हुए हैं; हम चाहते हैं, आपके निर्वाण-पद प्राप्त करने के पूर्व हम आपके उपदेशों के अनुसार चल, उस पद को प्राप्त करें जिसे आप जीवन के लिए इष्ट मानते हैं।

तिस्य—हम चाहते हैं आपका स्नेह; हमें कर्त्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा दें, साहस दें।

धर्माराम—वह स्नेह मोह बन कर हमें कर्त्तव्य पथ से भ्रष्ट न करे; विमुख न करे।

तिस्य—आपके उपदेश इस अन्धकारमय कठिन काल में हमें प्रकाश दें।

बुद्ध—समझा, मैं सब कुछ समझ गया। तुम दोनों का हृदय प्रेम की आर्द्रता से शुष्क नहीं हुआ है, न तुम पाषाण हृदय ही हुए हो। तुम मेरे उपदेशों को समझने का, आत्मसात् करने का ठीक दिशा में प्रयत्न कर रहे हो। ऐसे अवसर पर, ऐसे वायुमण्डल में यह प्रयत्न एकान्त में ही सम्भव है। (अन्य भिक्षुओं से) भिक्षुगण! तिस्य और धर्माराम ने एकान्त के और शान्ति के माधुर्य को चखा है, ऐसे ही व्यक्ति भय और पाप से मुक्त हो सकते हैं और वे सच्चे आनन्द का पान कर सकते हैं। मुझ से सच्चा स्नेह करने वाले तिस्य और धर्माराम के सदृश ही व्यक्ति हैं। [यवनिका]

उर्वशी

रवीन्द्र नाथ ठाकुर

हे नन्दन वासिनी उर्वशी !
न तो तुम माता हो,
न दुहिता हो, न वनिता हो
तुम हो केवल एक मात्र—
सुन्दरी रूपसी ।
गोधूलि वेला में,
जब श्रान्त सन्ध्या
फहराती आती अंचल सुनहरा,
तब तुम न किसी के घर में
करतीं सांध्य-दीप प्रज्वलित,
न, स्तब्ध अर्धनिशा में
हो कर सलज्जिता
किसी के शयन कक्ष तक ही जातीं,
न दुविधा से तुम्हारे पग रुकते,
न वक्ष ही कँपता,
न तुम्हारे नेत्र झुकते,
न मृदु हास ही खिलता,
उषा के आगमन सी
ओ अनवगुंठिता, अकुंठिता ।
वृन्त-हीन पुष्प-सी,
स्वयं सम्पूर्ण, ओ उर्वशी !
तुम कब विकसित हो उठीं ?
युगारम्भ के वसन्त में,
मन्थित सागर से जब उदय हुईं तुम
दाहिने हाथ में था सुधापात्र
बायें हाथ में विष-घट लिए हुए थीं ।
नत किए हुए था
तव चरणों पर—
अपने शत-शत सहस्र फन
वह महातरंगित महासिन्धु
जैसे मन्त्रों से मोहित भुजंग ।
ओ कुन्द-शुभ्रा, नग्न कान्ति,
सुरेन्द्र वन्दिता ओ अनन्दिता ।
ओ, अनन्त यौवना, उर्वशी !
क्या न थीं तुम कभी बालिका
अविकसित कलिका-सी ?
अंधकार-पूर्ण सागर-तल में,
तुम किसके गृह में
बचपन के खेलों को
खेला करतीं थीं एकाकी ?

मणिद्वीपों से प्रज्वलित कक्ष में
सागर की लहरों की लय में
अकलंक हास्य मुद्रा में
प्रवाल पलंग पर
बोलो तुम किस के संग सोती थीं ?
जब तुम प्रकट हुईं विश्व में
थीं पूर्ण प्रस्फुटिता, पूर्ण यौवना
युग युग से तुम रहीं—विश्व प्रेयसी
ओ उर्वशी, अपूर्व शोभना ।
हो उठा विश्वयौवन चंचल
कटाक्ष-आघातों से
कर ध्यान भंग मुनिगण
अपना तपफल
अर्पित करते थे तव चरणों पर ।
पाकर तुम्हारी मधुर गंध
हो जाता यह पवन अंध
बहने लगता फिर दिग-दिगन्त ।
मदमत्त भ्रमर से
कवि लुब्ध चित्त हो
गाते फिरते उद्दाम छन्द ।
जब तुम चलती हो
पगनूपुर रुन-झुन बज उठते हैं;
ओ आकुल अंचला,
विद्युत चंचला ।
हे विलोल, हिल्लोल उर्वशी !
देवसभा में जब तुम
पुलकित उल्लसित नृत्य करतीं ।
लय के साथ-साथ सागर की
लहरें नाच-नाच उठतीं,
पृथ्वी के अंचल की
हरियाली झूम-झूम पड़ती,
हिलते ही तव वक्ष हार
नभ से तारे टूट-टूट पड़ते,
पुरुष आत्म-विस्मृत हो जाते
रुधिर नाच-नाच उठता,
कटि-भूषण के गिरते ही
नभ आन्दोलित हो पड़ता
ओ असम्वृता ।
हे भुवनमोहिनी उर्वशी ?
स्वर्ग के उदयाचल में

ओ मूर्तिमती ऊषा सी ।
तुम्हारी वदन कान्ति—
विश्व अश्रुओं से धुली हुई,
तुम्हारे चरण बिम्ब
त्रिभुवन के हृदय रक्त से सने हुए,
ओ मुक्त वेणी, विवसना !
रखती आती हो तुम
हल्के-हल्के चरण
विश्व वासना के विकसित पद्मों पर,
अखिल मानस-स्वर्ग की—
ओ अनन्त रंगिनी,
स्वप्न संगिनी !
ओ निठुरा, वधिरा उर्वशी !
सुनो, तुम्हारे हेतु चतुर्दिक लोग रो रहे,
वह आदि-पुरातन युग
क्या फिर न लौट आयेगा ?
अतल अकूल से निकल
जलसिक्त केश लिये
क्या तुम फिर न उदित होगी जग में ?
प्रथम प्रभात के
उस प्रथम दर्शन के समय
तुम्हारा सर्वांग
निखिल के नयनाघातों से रो उठेगा;
जलकण गिरते होंगे
और तब सहसा यह महासिन्धु
अपूर्व संगीत से
पुनः तरंगित हो जावेगा ।
पर अब गौरव-शशि डूबा,
वह न लौटेगी,
न लौटेगी,
उर्वशी हुई अस्ताचल वासिनी ।
इसलिए ही तो धरा पर आज,
वासन्ती आनन्दोच्छ्वासों के साथ,
मिले हैं—चिर विरह के दीर्घ श्वास ।
पूर्णिमा निशीथ में,
जबकि मुखरित है चतुर्दिक हास
कहाँ से बजाती बंसरी
फिर वह पुरानी याद ।
अश्रु गिरते हैं नयन से
किन्तु इन रोते उरों में
जागती रहती तुम्हारी कामना,
ओ अबन्धना !

अनुवादक—सतीश

शब्द और शब्दकोश

हेमचन्द्र जोशी

एको शब्दः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामदुग्भवति॥*

कोश-शास्त्र ऐसा विषय है कि शायद ही कोई शिक्षित मिले जिसे इसमें रस न मिले। हिन्दी भाषा को ही लीजिये घर-पड़ोस, हाट-बाज़ार, अदालत-कचहरी, दुकान-दफ़्तर आदि में हम हिन्दी बोलते हैं और यह कोशिश करते हैं कि ऐसा बोलें कि सुनने वालों पर हमारे शब्द-चयन या बोली के ढंग का अधिक-से-अधिक प्रभाव पड़े। एक व्यक्ति का प्रभाव सर्वत्र अधिक पड़ता है और दूसरे का बहुत कम। यह क्यों होता है? एक का शब्द-चयन और बोलने का ढंग शास्त्र-सम्मत है, दूसरे का नहीं। ऋग्वेद में यह प्रसंग आया है:

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

७–१०४–१२

'अच्छा विज्ञान लोगों में बताने के लिए सब जाते हैं पर इसमें सत् और असत् वाणी का संघर्ष होता है, इसमें जो वचन सत्य और सीधा-सादा है उसकी सोम रक्षा करता है और झूठ का नाश करता है।' ऐसे विचार भारतीय आर्यों के वैदिक काल से रहे हैं, जो वास्तव में शब्द-शास्त्र के मूल सिद्धान्त हैं। यही कारण है, भारत ने शब्द की महिमा सदा समझी। 'शब्द ब्रह्म' इसी का परिणाम है। निघंटु और निरुक्त इसी का प्रमाण हैं और पाणिनि ने शब्द-शास्त्र की जड़ जमा दी। यूरोपियन पंडित यह स्वीकार करते हैं कि भाषा-शास्त्र, शब्द-शास्त्र, व्युत्पत्तिशास्त्र, शब्द-तुलनाशास्त्र आदि संसार को भारत की देन हैं। हाँ, इन शास्त्रों की यूरोप में वह उन्नति हुई कि उसे देख दाँतों-तले अंगुली दबानी पड़ती है।

शब्द की महिमा में मनु महाराज ने एक बात बहुत पते की कही है। उन्होंने बताया है कि संसार का सारा काम वाच् से चलता है, इसलिए जो वाच् की चोरी करता है, अर्थात् शब्दों में इधर का उधर हेरफेर करता है, वह हर तरह की चोरी का अपराधी है। महात्मा गान्धी ने बताया कि वकालत का पेशा बुरा है, यह केवल इसलिए कि वकीलों का काम शब्दों के अर्थ का अनर्थ करके अपने मुवक्किल को जिताना या अदालत को धोखा देना और सत्य को असत्य करना है। अर्थात् यह वही हुआ कि साबर मंत्र जाल रचा गया जिसके बारे में तुलसी ने कहा है:

अनमिल आखर अरथ न जापू, प्रगट प्रभाऊ महेस प्रतापू॥

अर्थ हो, अनर्थ हो इसकी नाम की चिन्ता नहीं, खूनी को अदालत से छुड़ा लाये इसे ही विजय समझो, चाहे परिणाम समाज का ध्वंस हो। एक उदाहरण और लीजिये स्वधा, खुदा (वास्तव में ख्वदा) और गॉड की व्युत्पत्ति एक है या प्रायः एक है, पर हिन्दू, मुसलमान और ईसाई प्रचारक इस का इतना दुरुपयोग करते हैं, मानों ये तीन शब्द परस्पर शत्रु हैं। शब्द का उचित उपयोग देखिये कि भारतीय वाणी ने अंग्रेज़ों के प्रखर शस्त्रों और बेजोड़ संगठन को हराया। निदान यह निकला कि शब्द के ठीक और सच्चे अर्थ की महान महिमा है। राष्ट्रों को बनाने-बिगाड़ने में शब्द अथवा कोश बहुत काम करते हैं। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने १९२४ ई० में सर माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में एक कमीशन बिठाया, जिसने पता चलाया कि ब्रिटिश स्कूलों में कैसी अंग्रेज़ी पढ़ाई जा रही है? पता चला कि पाठ्य-पुस्तकों की अंग्रेज़ी भ्रमात्मक है। कमीशन की रिपोर्ट में लिखा गया—'भ्रमात्मक अंग्रेज़ी ब्रिटेन के स्कूलों में पढ़ाई जा रही है। इसका परिणाम स्पष्ट ही यह होगा कि छात्रों के दिमाग़ों में भ्रम या अर्थ का धुँधलापन छा जायगा। फिर वे देश का चाहे कोई काम करेंगे उसमें अवश्य धुँधलापन रहेगा, स्पष्टता नहीं होगी। इस प्रकार भ्रमात्मक अंग्रेज़ी भाषा का छुटपन का अभ्यास ब्रिटिश राष्ट्र और जाति की जड़ खोद देगा। अतः हमें समय पर सावधान हो जाना चाहिए।' ब्रिटिश जाति वक्त पर ख़बरदार हो गई।

ब्रिटेन में प्रायः आदर्श कोश हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी प्रायः आदर्श है। बीसों वर्ष इसे तैयार करने में लगे और उसके निर्माण के समय में जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज़ भाषाशास्त्रियों ने शब्दों की जड़ का भी पूरा पता लगा लिया था। इसलिए उन्होंने बताया कि 'बिडो' आदि आर्य-भाषा के विधवा का रूप है। 'लव' का मूल उन्होंने लुभ् में पाया। इसके अतिरिक्त ऑक्सफोर्ड कोश में एक शब्द ऐसा नहीं है, जिसका जन्म-तिथि न दी गई हो और सब शब्दों के आधार रूप उदाहरण भी उद्धृत किए गए हैं। उच्चारण भी सबका दिया हुआ है। फ्रांस में लित्रे ने यह काम सौ वर्ष पहले ही आरम्भ कर दिया था। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने लित्रे का ढंग अपनाया और उसका आभार माना है। जर्मनी में एक-से-एक बढ़िया कोश हैं। कुछ कोश जैसे 'मेयर्स लेक्सिकन' (Meyers Lexicon) और ब्रौकहौस के कोश दो-दो, तीन-तीन खण्डों को एनसाइक्लोपीडिया हैं। ये वास्तव में ज्ञान-कोश हैं। लोगनशाइत्त ने संसार की अधिकांश भाषाओं के कोश छापे हैं। इन सब का थोड़ा वर्णन करने में भी कम-से-कम सौ-दो सौ पेज चाहिए। डच, डैनिश, नौरवेजियन, स्वीडिश तथा आइसलैंडिक के कोश इनसे टक्कर लेते हैं, इनमें से प्रायः चालीस कोश मेरे पास हैं। जब इनकी तुलना भारतीय भाषाओं के कोशों से करता हूँ तो हाथ मलता हूँ और सिर धुनता हूँ।

* एक भी सुप्रयुक्त शब्द स्वर्गलोक में कामधेनु के समान सिद्ध होता है।

नवीन भारतीय भाषाओं के कोशों की, स्वराज मिलने के बाद, बाढ़-सी आई है। हिन्दी में तो छोटे-मोटे प्रकाशक भी कोशों से मनमानी चाँदी काट रहे हैं, पर किसी के रचयिता को पता नहीं है कि कोश-रचना के सामान्य सिद्धांत क्या हैं? मैंने तो सब कोशों को मिलाया है, जिससे यह निदान निकला है कि 'हिन्दी-शब्द-सागर' की ही सब ने हजामत की है। नकल को अकल क्या चाहिए? इस मुहावरे को ही सब चरितार्थ कर रहे हैं। जिन्हें अपने कोश में कुछ नवीनता लाने की सूझी है, उन्होंने जो फेर-फार किया है वह नाम मात्र को। यह दशा उत्साहवर्धक नहीं है। यदि हम पीटर्सबुर्गर संस्कृत-जर्मन कोश ही देख लेते या कम-से-कम मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश का ही अनुसरण कर लेते, तो कुछ ऊँचा उठ जाते। पीटर्सबुर्गर कोश अभी तक संस्कृत कोशों में आदर्श है। यह कोश १८५२-१८७५ तक निकला। स्मरण रखिए अच्छे कोश दो-चार साल में नहीं बन सकते। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी को पचास-साठ बरस लग गए। अस्तु, पीटर्सबुर्गर कोश के सम्पादक-द्वय हर रोट और बोएटलिंक ने उस समय प्राप्य सभी हस्तलिखित और छपे संस्कृत ग्रन्थों से सब शब्द ले लिये और प्रत्येक शब्द के अर्थ को वैदिक काल से लेकर नवीनतम ग्रन्थों के उद्धरण देकर साधार बनाया तथा उनके अर्थों में कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं, इसके प्रमाण दिए। इस कोष की महिमा यह है कि इसके बल पर वाकरनागल ने अपना अपूर्व और महान् ग्रन्थ 'ऑल्ट इंडिशे ग्रामाटिक' कई खण्डों में लिखा और स्वयं पाणिनि को मात दी। गुरु गुड़ रह गए, चेले शक्कर हो गए। यह है एक प्रामाणिक कोश का काम।

हिन्दी के वर्तमान कोशों को सवा-डेढ़ सौ बरस पुराने और उससे कुछ नए टॉमस, टेलर, शेक्सपियर, फोर्बस फैलन और प्लैट्स के हिन्दुस्तानी कोशों ने बहुत पीछे फेंक रखा है। हमारे वर्तमान कोशों से उनके अर्थ, उदाहरण, मुहावरे, व्युत्पत्ति आदि शुद्ध और सटीक हैं। दोनों को सामने रखिए, आप तुरन्त ताड़ जाएँगे, यह सब क्यों? क्या अंग्रेज़ों, जर्मनों या और जातियों के हिस्से में ही अक्ल आई है, हमारे भाग में नहीं। बात दूसरी है। यदि कोई इस विषय में ज्ञान-प्राप्ति और उसका परिश्रम-पूर्वक उचित उपयोग का प्रयत्न न करेगा तो किसके माथे दोष मढ़ा जाएगा? कोश-निर्माण के कुछ सिद्धान्त हैं। उनका अनुसरण करना ही पड़ेगा। 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।' ये सिद्धान्त हैं—

१. आपको अवश्य ही उन भाषाओं से परिचय होना चाहिए जिनके शब्द आपकी भाषा में आए हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हिन्दी भाषा का कोश बनाने के लिए आपको पुरानी फारसी, पहलवी, नई फारसी, कुछ अरबी, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, केल्टिक, पुरानी ऑयरिश, आइसलैंड की भाषा, पुरानी जर्मन, पुरानी अंग्रेज़ी आदि आदि की कुछ जानकारी होनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त खोतान, निप आदि की प्राकृतों का ज्ञान भी ज़रूरी है। लोमड़ी का मूल रूप 'लोमटि' खोतान की प्राकृत में मिलता है। बनियों के लिए बहुवचन में 'वनिये' का प्रयोग भी इसी प्राकृत में पाया जाता है। यद्यपि तुखार की प्राकृत यूरोप की भाषाओं से अधिक मिलती है, तो भी उसमें 'आँख' के लिए 'आँक' है। और लीजिए—हिन्दी में भुवन 'जगत' और भवन 'घर' है और ये दोनों भू के विकार हैं। इस पर धातुपाठ बताता है 'भू सत्तायाम्।' हम भू का अर्थ करते हैं 'होना'। इससे हमारा दिल ठुकता नहीं कि ठीक व्युत्पत्ति मिल गई। इसकी व्युत्पत्ति के लिए हमें जर्मनी पहुँचना होगा। जर्मनी में बाउएन (Bau-en) धातु है और इसका अर्थ 'गृह, प्रासाद आदि बनाना' है। यह धातु गॉथिक में बउअ और आइसलैंडिक में बूअ है और इसका अर्थ है 'घर में बसना और घर बनाना', यह संस्कृत भू का यूरोप का रूप है। ग्रीक में 'फुओ' और लैटिन में 'फ़ु' है। इसका अर्थ वही 'घर में रहना या घर बनाना' है। आदि आर्य भाषा में भी इसका रूप भू है। अब आप इसकी व्युत्पत्ति समझ गए होंगे। इसी के रूप हैं—भू-मि, भू-ति आदि। अवेस्ता की भाषा में यह बू है जिसके रूप वूद वूदन् आदि हैं। एक ऐसा दूसरा शब्द विधवा है, जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत में वि-धव अर्थात् पति से रहित है। किन्तु यह अशुद्ध है, क्योंकि विधवा शब्द वैदिक है और धव बहुत बाद का है। यह शब्द भी आर्य भाषा की समान सम्पत्ति है। इसके विडो, विटवे, वेव, बेवा, वे, वेदुओ रूप अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, नई फारसी, अलबानियन और इटालियन में चलते हैं, रूसी में विदोवि कहते हैं। यह लैटिन में 'विदु-अ' है। धातु विद है जिसके अर्थ लूटना, एकांत करना, अलग करना हैं। संस्कृत में विध्, व्यध् का ऐसा ही अर्थ होना चाहिए और विधवा तथा विधुर इनके ही रूप हैं। यदि ऐसा न होता तो विधुर में जो धुर है उसका अर्थ पति होता जो कहीं नहीं मिलता। जर्मन में विधुर को विट्वर कहते हैं। अवेस्ता में विद-वा है और दव का अर्थ पति नहीं है। यह शब्द आदि आर्य भाषा में 'उइधेउआ' है। ग्रीक में 'ए-इएथौस्'। इसी प्रकार के बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति आदि-आर्य भाषा में मिलती है।

२. शब्द का अर्थ अस्पष्ट कभी न होना चाहिए। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के एक सम्पादक आर० डब्लु चैपमैन ने कहा है—'अर्थ स्पष्ट लिखो। अस्पष्ट लिखना भाषा के लिए महान् संकट है।' हमारे वर्तमान कोशों में अस्पष्टता बहुत है। एक शब्द लीजिए—आटा, इसका अर्थ दिया हुआ है—'अन्न का चूर्ण।' अब देखिए कि यदि इसका अर्थ गेहूँ का चूर्ण, दिया जाता तो वह भी भ्रामक होता। 'गेहूँ का चूर्ण' मैदा, सूजी और दलिया भी हैं। इन्हें आटा नहीं कहा जाता। इस पर चने का आटा नहीं बोला जाता, वह बेसन है। उड़द और मूँग पीस कर पिट्ठी बनती है। ऐसे अर्थ हिन्दी भाषा और उसके बोलने वालों को रसातल पहुँचाएँगे। इधर अंग्रेज़ी में बार्नार्ड और थौर्नडाइक का एक कोश निकला है। उसमें जो अर्थ दिए गए हैं उनकी भाषा सरल और बहुत स्पष्ट है तथा अर्थ देते समय यह उचित विचार भी रखा गया है कि अधिकांश जनता में कौन अर्थ अधिक प्रचलित है। कोश लिखते समय यह विचार प्रधान मानना चाहिए।

३. भाषा का कोई शब्द जो जनता बोलती हो छूटना न चाहिए। ऋग्वेद में कैलडियन शब्द 'मना' आया है। यह मन का आदि-रूप है। पाली में ईरानी शब्द नमदे के लिए 'नमतक' है, और अरबी किताब

(शेष पृष्ठ ९१ पर)

माओत्से तुंग के चीन की यात्रा

रघुवीर

साम्यवादी चीन में श्रद्धेय श्री जवाहरलाल नेहरू तथा उनसे पहले और पीछे सैकड़ों भारतीय गए हैं, मैं भी उनमें से एक हूँ। केवल मेरा उद्देश्य दूसरों से कुछ भिन्न था। चीन जाने वाले सब भारतीय यात्रियों में एक बात समान अवश्य है, वह यह कि भारत और चीन के सम्बन्ध अधिक मैत्री और विश्वासपूर्ण बनें। इन सम्बन्धों की नींव हमारे प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने डाली। उस नींव के बिना मेरा इस वर्ष चीन जाना संभव न होता, न मुझे वह सफलता मिलती, जो अब मिली है।



चीनी धर्म यात्री

मेरी चीन जाने की इच्छा ३०-३५ वर्षों से थी। चीन का भारतवर्ष से २,१०० वर्ष पुराना सम्बन्ध है। चीन में जाकर पुराने नगरों की जो खुदाइयाँ हमने देखीं, उनसे भारत और चीन का ३,२०० वर्ष पुराना सम्बन्ध निश्चित है। चीनी ऐतिहासिकों ने भारत और चीन के प्रथम सम्पर्क की तिथि आज से १,६०० वर्ष पूर्व की दी है। यह सम्पर्क चीन से नहीं, किन्तु चीन के राजाओं के साथ है। वास्तव में राजसभा में प्रवेश करने से पूर्व बौद्ध धर्म चीन की जनता में प्रवेश कर चुका था।

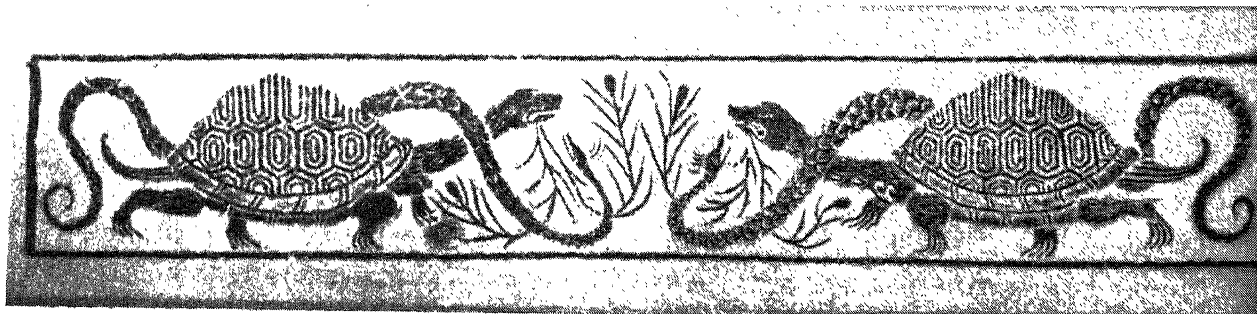
बड़े औत्सुक्य और आश्चर्य के साथ, पिछले ३५ वर्षों में हमने अंग्रेज़, फ्रेंच, जर्मनी, रूसी तथा जापानी, अमेरिकी तथा अन्य पाश्चात्य यात्रियों और विद्वानों के चीनी बौद्ध धर्म के जटिल और विस्तृत वर्णन पढ़े हैं। इनके वर्णनों से चीन के प्रति मेरा प्रेम लगातार बढ़ता चला गया। चीन मुझे अपना ही समान-धर्मा प्रतीत होने लगा। अज्ञान के कारण भारतीय जनता में जो चीन के प्रति उपेक्षा और दूरत्व चले आ रहे हैं, वे मुझे अखरने लगे।

अनेक बार यत्न किया, पर ऐसा अवसर नहीं आया कि अपने स्वप्नों की भूमि चीन के दर्शन संभव हो सकते। स्वातंत्र्य के पश्चात् भी स्थिति ऐसी नहीं हुई कि जो चाहे और जब चाहे सो चीन में जा सके और वहाँ यथेष्ट स्थानों का निरीक्षण और साहित्य तथा आवश्यक सामग्री का संग्रह कर सके।

मेरा आधुनिक चीन के शासन के साथ सम्पर्क पारिभाषिक शब्दावली द्वारा हुआ।

चीन उन्नतिशील देश है। हमारे समान उसे भी आधुनिक विचारों और विज्ञान, व्यापार और उद्योग, शिक्षा और शासन आदि जीवन के सभी क्षेत्रों के लिए नए शब्दों की आवश्यकता है। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में नए शब्दों का निर्माण किया है। अपने व्यवहार के लिए चीन ने विदेशी शब्दों को स्वीकार नहीं किया। नव शब्द-निर्माण की पद्धति में उनके विचार हमारे विचारों से मिलते हैं। उन्हें मेरे कोश की आवश्यकता रहती है, मुझे उनकी शब्दावली से प्रेरणा मिली है। अन्त में चीन और भारत ही तो दो राष्ट्र हैं, जो बीसवीं शताब्दी में भी सारे संसार को नये विचार दे सकते हैं। भाषा विचारों से सुश्लिष्ट और सुसम्बद्ध है। केवल विचारशील जातियाँ ही अपने शब्द बनाती हैं। अन्य जातियाँ उधार से काम चलाती हैं। विज्ञान को अपने शब्दों में ढालना विज्ञान को आत्मसात् करना है, नये मौलिक विचारों के लिए मार्ग खोलना है।

'शी-आन्' नगर से प्राप्त कच्छप तथा नाग के चित्र, जो दीर्घायुष्य के प्रतीक हैं



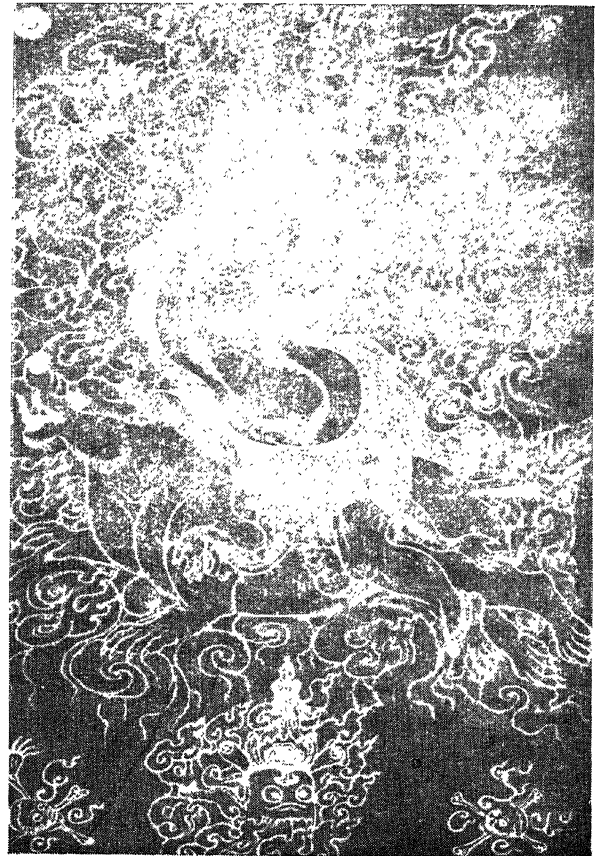
पारिभाषिक शब्दावली के आदान-प्रदान के फलस्वरूप चीन शासन के विद्या विभाग ने मुझे ६ सप्ताह के लिए अपने देश में निमन्त्रित किया। मेरी सहायता के लिए मेरी लड़की सुदर्शनादेवी मेरे साथ चली। मेरे सामने चीन का २,२०० वर्ष का इतिहास था। पारिभाषिक शब्दावली तो आज की समस्या है। प्राचीन काल में इन दोनों पड़ोसी देशों के सम्मुख भी सैकड़ों समस्याएँ आई थीं, जिनके बारे में चीन ने भारत का और भारत ने चीन का सहयोग लिया था। भारत के पण्डितों का ताँता १०-११ शताब्दियों तक चीन जाता रहा। भारत के उच्चतम विचारों के पुंजीभूत सहस्रों शास्त्र हमने चीन भेजे थे। चीन ने उनका आदर किया था। चीन में भारतीय आचार्यों की समाधियाँ बनी हुई हैं। वहाँ उनके जीवन चरित्र लिखे गए, उनके ग्रन्थों का सैकड़ों वर्षों तक अनुवाद होता रहा। उन अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थों में अधिकांश ग्रन्थ अब भारत में भी उपलब्ध नहीं रहे।

भारत और चीन का आदान-प्रदान संसार के इतिहास में सामान्य महत्त्व का नहीं है। उसका महत्त्व बहुत व्यापक और बड़ा है। इसका निरीक्षण और अन्वेषण करना अति रुचिकर और लाभप्रद है। साथ में वहाँ की आधुनिक अर्थनीति, राजनीति और सामाजिक व्यवस्था देखना भी कम रुचिकर नहीं है। हमारे समान ही वर्तमान युग में उनका देश भी पिछड़ा हुआ और दरिद्र देश है। जनसंख्या और देश विस्तार आदि कारणों से स्थिति को सुधारना और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उद्योगों को चलाना और उद्योगों को चलाने के लिए वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार तथा अनुसन्धानशालाओं का निर्माण आवश्यक है। नए जीवन-स्तर के लिए नई मनोवृत्ति का बनाना भी परम आवश्यक है। दो रूखी-सूखी रोटी खाकर बैलों और बकरियों के सहवास में एक ही छत के नीचे अत्यन्त साधारण शैया से सन्तोष कर लेने वाली जनता यन्त्र-युग में पदार्पण नहीं कर सकती। यन्त्र युग लाने के लिए शारीरिक, बौद्धिक और सामूहिक परिश्रम की आवश्यकता है। कृषिप्रधान देश को किस प्रकार यंत्रोन्मुख बनाया जाए, रोग और दरिद्रता को दूर कर किस प्रकार अन्य देशों के साथ समान कक्षा में आया जाए ये समस्याएँ भारत और चीन के लिए एक समान हैं। इसलिए भारतीयों का अधिकाधिक संख्या में चीन जाना और उनके जीवन के विभिन्न अंगों का अध्ययन करना विशेष रुचिकर और लाभप्रद है। यही मानकर मैंने अपनी चीन यात्रा की योजना चीन शासन के पास भेजी थी। उन्होंने मेरी योजना को स्वीकार कर लिया।

'ओं मणि पद्मे हुँ' का लाञ्छा लिपि में संस्कृत, तिब्बती, चीनी, शी-श्या, फाग्स्या तथा वीगूर लिपियों में लिखत रूप



मंगोलिया से प्राप्त 'महाकाल' का चित्र





चीन के प्रधान मंत्री श्री चाऊ एन लाई ने हमारा स्वागत किया।

देशों में बहुत अधिक विदेशी नहीं जा पाते। जो जा पाते हैं वे प्रायः निमन्त्रित व्यक्ति ही होते हैं। उनका स्वागत आदर और प्रेम से होता है, किन्तु यदि मैं यह कहूँ कि हमें अपने स्वागत में कुछ असामान्य स्नेह दिखलाई पड़ा, तो यह अनुचित न होगा। हमारे प्रति चीन का स्नेह नाच और गाने, भोज और यात्रा आदि के प्रबन्ध तक ही सीमित नहीं था, उसकी महत्ता सांस्कृतिक ऐक्य के विचारों के आदान-प्रदान में थी।

हमें ६ सप्ताह के लिए निमन्त्रित किया गया था, किन्तु कार्य और देश की विशालता के कारण वहाँ ६९ दिन लग गए। जब तक हमारी आँखें नवीन और प्राचीन उत्साहवर्द्धक दृश्यों का पान करने में समर्थ रहीं, तब तक हम चीन के एक कोने से दूसरे कोने तक घूमते-फिरते रहे। जब आँखें थक गईं, केवल आँखें ही नहीं जब पाँव भी थक गए, तब हमने अपनी यह सरस्वती यात्रा समाप्त की। हमारी यात्रा का एक विशेष उद्देश्य भारत और चीन के लम्बे सम्बन्धों की साहित्यिक और कलात्मक सामग्री संग्रह करना भी था। जब तक हम यह संग्रह कर सके, करते रहे। किन्तु जब हमारी बाहें थक गईं और संग्रहीतव्य सामग्री का प्राप्तव्य भाग समाप्तप्राय हो गया, तब हमने चीन से प्रस्थान किया।

नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रख्यात विद्वान आचार्य धर्मसिद्धि

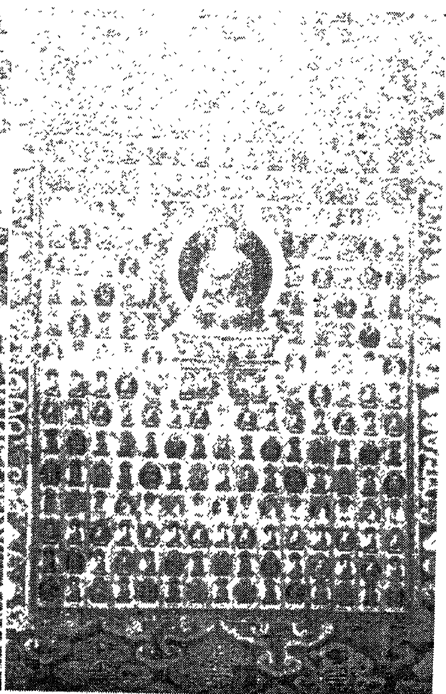
'अचेन बोधि धर्म'



भारतीय शेषनाग के मंगोल प्रतीक



महात्मा बुद्ध और उनके अवतारों के चित्र



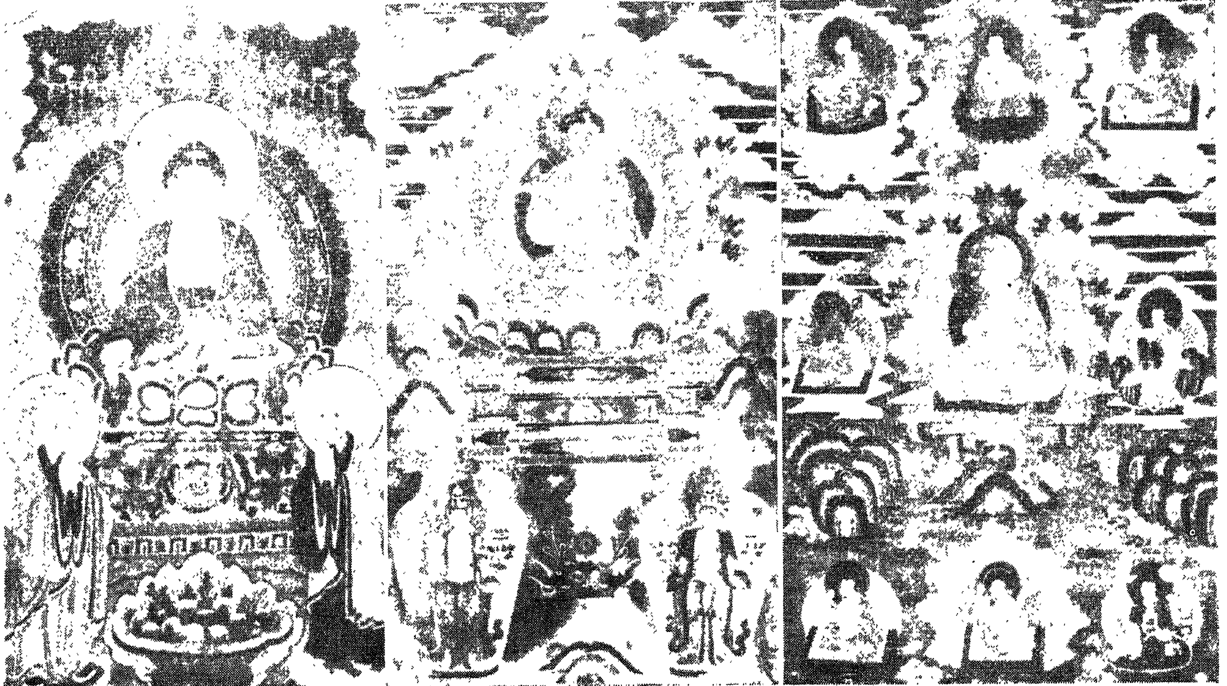
चीन के प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई और चीन की जनता का हमारे प्रति वह प्रेम और मान था जो प्राचीन भारतीय आचार्यों के प्रति उनके साहित्य में वर्णित है। चीनी प्राचीन साहित्य, कला और संस्कृति के केन्द्र वहाँ के पुस्तकालय, अद्भुतागार और मन्दिर हैं। प्राचीन नगरों, मन्दिरों और शिलालेखों के अवशेष चीन के कोने-कोने में फैले हुए हैं। इन अवशेषों में से हमने सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में काले और रंगीन चित्र लिये, शिलालेखों की छापें लीं। चीन में उपलब्ध संस्कृत के शिलालेखों और उनके छापों को हम भारत में ला सके, यह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। कौन भारतीय है, जिसका हृदय इनको देख कर गद्गद् न हो जाएगा। जिस प्रकार से बुद्ध-गया में चीन के शिलालेखों को देख कर चीनी हृदय उछल पड़ता है, वैसे ही हमारा हृदय चीन में संस्कृत शिलालेखों को देख कर फूला नहीं समाता। इन्हें देखते हुए भारत और चीन का प्राचीन इतिहास नया और जीता-जागता रूप धारण कर लेता है। यों भी चीन दूर देश नहीं हमारा पड़ोसी है। पर उस सामग्री को देख कर हृदय यह अनुभव करने लगता है कि दोनों देश दो भाइयों के समान हैं।

चीन के मन्दिरों में चित्रों का प्राधान्य है। जिस मन्दिर में हम जाते थे, वहाँ यह चित्र हम को पुकारते थे मानो वह कहते थे—"हम आप के सखा हैं, आओ मिलें। युग बीत गया जब हम बिछुड़े थे। तुम हम को देखो और पहचानो।"

यह पहचानना कठिन नहीं सरल था। यथासम्भव हम ने इन चित्रों का संग्रह किया। ये चित्र भारत की विभूति हैं, हमारे भूत के प्रतिनिधि हैं, हमारे इतिहास की आँखें हैं। इनके बिना हमारा इतिहास अपूर्ण है। जो इतिहास हम आज पढ़ते-पढ़ाते हैं, वह इनके बिना अपूर्ण और विकल है। उसको स्वरूप और अविकल रूप में देखने के लिए चीन, मंगोलिया, मंचूरिया, और तिब्बत, तुर्क और तांगूत के साहित्य की आवश्यकता है। ये साहित्य चीन और रूस में विद्यमान हैं। हमारे देश से इनका अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है। अतः



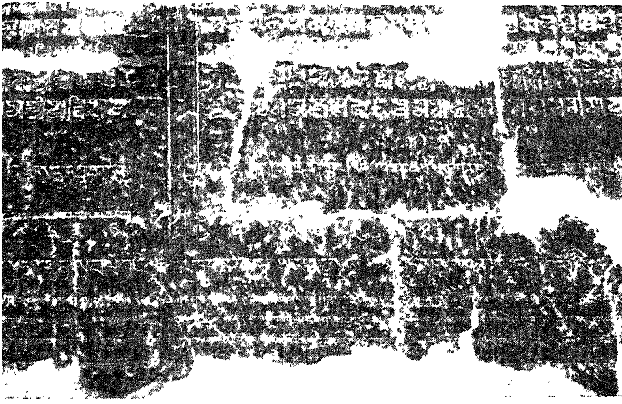
कुर्सी पर : आचार्य रघुवीर; खड़े हुए बाएँ से दाएँ : सुपुत्री सुदर्शना, सुपुत्र लोकेशचन्द्र, पुत्रवधू शारदा रानी, सुपुत्री सुषमा रानी



भगवान् बुद्ध तथा सारिपुत्त और मौद्गल्यायन

भगवान् बुद्ध अपने प्रधान शिष्य सारिपुत्त तथा मौद्गल्यायन के साथ

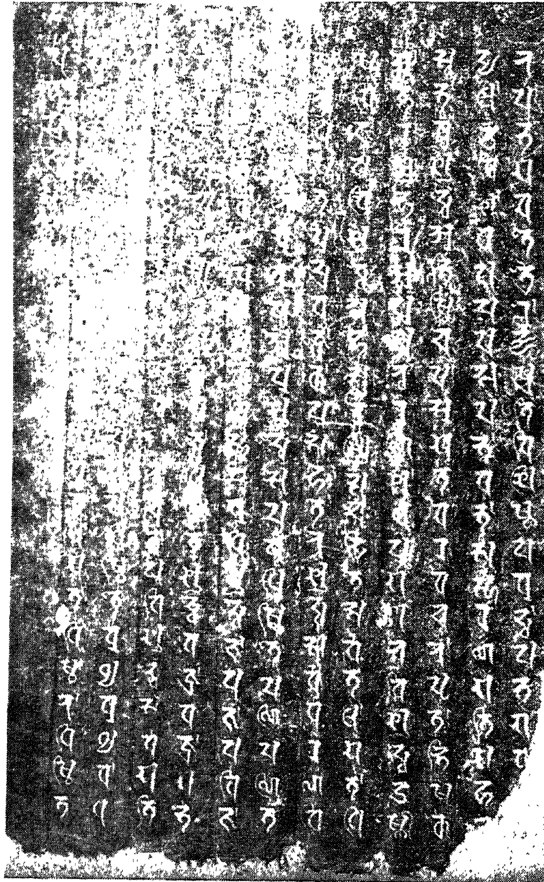
धनपति कुबेर



विभिन्न मध्य एशियाई भाषाओं में गायत्री मन्त्र

यह मूल्यवान साहित्य हमें उक्त देशों से पुनः उपलब्ध करना है और उसके आधार पर अपने इतिहास को पुष्ट रूप देना है।

सन् ११०४ में निर्मित संस्कृत शिलालेख जिस पर "नमो भगवते त्रैलोक्य प्रतिविष्टाय बुद्धाय भगवते" लिखा है



हम ने भी इन साहित्यों का संग्रह किया। कुछ को मोल लिया, कुछ मन्दिरों से भेंट में मिले और कुछ चीनी शासन ने प्रेमोपहार के रूप में दिए। इन सबके लिए हम चीनी शासन और जनता के आभारी हैं। ये साहित्य बहुत बड़े हैं। इनकी अनेक भाषाएँ हैं। प्रथम भाषा चीनी, दूसरी भोट (तिब्बतन) तीसरी मंगोल, चौथी मंजु (मंचोरियन) पाँचवीं शी-श्या। जो कुछ भी चीनी, मंगोलिया, मंचूरिया, तिब्बत में उपलब्ध थी, वह हम अपने साथ लाए हैं। हमारा संग्रह आधारभूत संग्रह है। २००-२५० मन इसका भार है। इस साहित्य में क्या कुछ है, उसका केवल सूचीपत्र बनाने में २-३ वर्ष लगेंगे।

हमारी योजना है कि हम इस साहित्य को मूल भाषा तथा हिन्दी अनुवाद के रूप में उपस्थित करें।

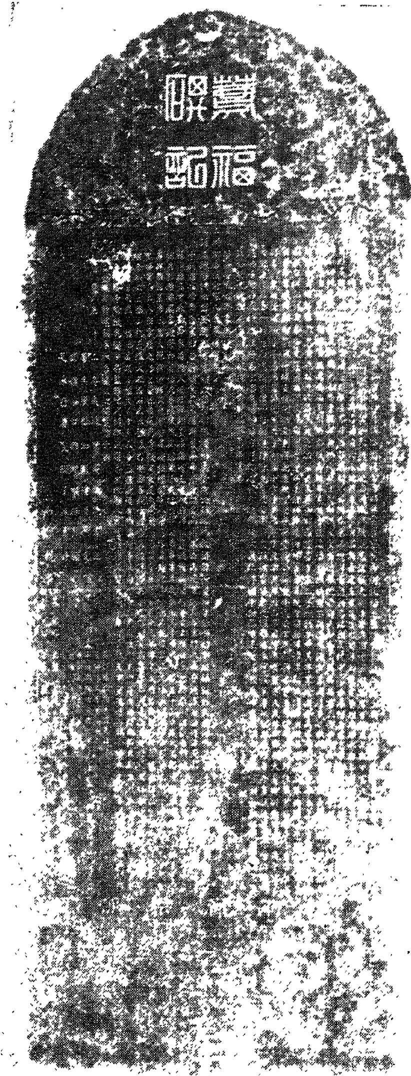
बौद्ध धर्म के साथ-साथ शैवतंत्र का इस साहित्य में पर्याप्त सम्मिश्रण है। हम १० सहस्र से अधिक तान्त्रिक मन्त्र अपने साथ

भगवान बुद्ध अपने दोनों प्रधान शिष्यों के साथ





ताराओं से घिरी 'हरित तारा' का चित्र



विनयाचार्य ई-चिङ् के स्तूप का शिलालेख

लाये हैं। एक ओर शाक्यमुनि और उनका शुद्ध सम्प्रदाय, दूसरी ओर शिव, महाकाल, वैश्रवण, गणेश, काली चण्डी आदि का सम्प्रदाय।

और तो और शुद्ध वैदिक मन्त्र जो भारत में गायत्री के नाम से प्रसिद्ध है, उसका पाठ भी हमने मंचूरिया के मन्दिरों में सुना है। उसका प्रचार केवल मंचूरिया में ही नहीं, किन्तु चीन, तिब्बत और मंगोलिया में भी अभी तक विद्यमान है। हमें जो मन्त्र मिले हैं, उस में गायत्री चार लिपियों में लिखी हुई है। ये चार लिपियाँ चीन की चार मुख्य भाषाओं की लिपियाँ हैं। प्रथम लिपि मंजु, दूसरी चीनी, तीसरी मंगोल और चौथी भोट।

लिपियों का नाम लेते समय चीन में प्रचलित भारतीय लिपियाँ ध्यान में आ जाती हैं। चीन में संस्कृत तीन लिपियों में लिखी जाती रही है और अब भी लिखी जाती है। पहली का नाम सिद्धम, दूसरी का लाञ्छा और तीसरी का वर्तुल है।

इस लेख के साथ आप कुछ चित्र देख रहे हैं। ये चित्र उन वस्तुओं के हैं, जो हमने भारतीय जनता के प्रदर्शन के लिए दिल्ली में रखी थीं। जो विद्वान इस दिशा में अनुसन्धान कर रहे हों, उन्हें हम सहर्ष यथेष्ठ सूचनाएँ देते रहेंगे।

●

बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदाय—(पृष्ठ १८ का शेषांश)

ने जिस बीज का आरोपण किया था, महायान द्वारा उसका पोषण हुआ और वज्रयान के रूप में वह एक महान् वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो गया।

भारत में बौद्ध धर्म के जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए, वज्रयान उनमें अन्तिम था। जब तुर्क आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किया तो बौद्ध धर्म के जो अनेक बड़े केन्द्र इस देश में थे, उनमें इसी का प्रचार था। इस दशा में यदि यह धर्म अपनी पुरानी शक्ति को खो चुका हो, तो आश्चर्य ही क्या है?

गूदड़ का लाल

श्यामा

दिल्ली से मेरे एक मित्र का खत आया है। उसे पढ़ कर तो मेरा दिल ही बैठ गया।

उन्होंने लिखा है—कुछ दिन हुए, तमिल प्रान्त से कई गरीब लोग यहाँ आकर बसे हुए हैं। कल मैं सरोज के साथ घूमने गया था। रास्ते में अधेड़ उम्र की एक स्त्री और एक छोटे लड़के से हमारी भेंट हुई। दोनों भीख माँग रहे थे। उन्हें कुछ देने के इरादे से हमने बातें कीं, तो उनकी बहुत ही करुण कहानी सुनने में आई। पिछले महासमर के पहले उस स्त्री का पति रंगून के बन्दरगाह पर काम कर रहा था। जब जापानी लोगों ने रंगून पर हमला किया था तब ये लोग किसी जहाज़ से भारत को लौट रहे थे। लेकिन रास्ते में जहाज़ दुश्मनों के हाथ बुरी तरह फँसा और डूब गया। कुछ लोग जान बचा कर, शत्रुओं के बन्दी बने। जब लड़ाई खतम हुई तब ये लोग रिहा होकर भारत लौटे। उस स्त्री ने कहा, 'हम बहुत गरीब हैं, बाबू! हमारे कोई भाई-बंद या रिश्तेदार नहीं हैं। हर जगह लोग दाने-दाने को तरस रहे हैं। तब हम भीख माँगने के सिवाय, कर ही क्या सकते हैं?'

उसके पास जो लड़का खड़ा था, उसकी ओर इशारा करके सरोज ने पूछा, 'क्या यह तुम्हारा बेटा है?'

'नहीं माँ,' उस स्त्री ने कहा, 'डूबे हुए जहाज़ से जो लोग बच निकले उनमें से यह लड़का भी एक है। इसे अपनाने वाला कोई नहीं था। तब इसकी उम्र करीब दो साल की थी। इसके माँ-बाप शायद समुद्र में डूब कर मर गए। मेरे पति और मैं—दोनों उसी दिन से इसका पालन-पोषण कर रहे हैं।'

यह कहानी सुन कर हमें रंगून के वे दिन याद आए, जब हम लोग वहाँ से सिर पर पैर रख कर भाग आए थे। कल सारे दिन हमारे यहाँ यही बात चलती रही थी। सरोज ने मुझसे पूछा, 'आपके मित्र का लड़का राजू अगर ज़िन्दा रहता तो वह इसी लड़के के बराबर हो सकता था न!'

खत क्या था, मेरे मन पर बड़ा भारी प्रहार था। मेरा हाथ उस चिट्ठी को कुचल रहा था और मेरा मन अतीत के सपनों में रम गया था।—'राजू अगर ज़िन्दा रहता तो?'

सन् १९४२ की बात है। तब रंगून युद्ध के चक्कर में आया नहीं था। वे हँसी-खुशी के दिन थे। दफ़्तर के काम से, मैं दो हफ़्ते के लिए भारत आ रहा था। राधा ने कहा, "मैं भी चलूँगी।" मुझे इस पर गुस्सा आया। मैं बरस पड़ा—"मैं तो दफ़्तर के काम से जा रहा हूँ। अब तुम्हारे लिए 'पास' कहाँ से निकालूँगा? राजू के जन्म के बाद तुम्हें भारत से यहाँ आए दो साल भी तो नहीं हुए? फिर हम परिवार के साथ चलेंगे तो यहाँ पैसा कहाँ धरा है?"

मुझे पहुँचाने के लिए राधा, बच्चे के साथ बन्दरगाह तक आई थी। "तबीयत को सँभालिएगा"—कहते-कहते वह रोने लगी।

"अपने प्रेम से तुम मुझे यों कमज़ोर मत बनाओ," मैंने हँसने की कोशिश की। बारिश के बीच निकलने वाले सूरज की भाँति, वह अगले ही क्षण में हँस पड़ी। तभी जहाज़ का भोंपू बजा, मानो वह हमारे वियोग की निठुरता को बता रहा हो। मैंने जहाज़ की सीढ़ी पर चढ़ते हुए कहा, "अच्छा, चलता हूँ। बच्चे का ख़्याल रखो और अपने स्वास्थ्य को सँभालो।" जहाज़ हिलता-डुलता चलने लगा। धीरे-धीरे हटने वाले किनारे के साथ, मेरे जीवन के अनन्य साथी वे दोनों जीव अदृश्य होते गए।

मद्रास में मेरे दफ़्तर के काम पूरे हो गए; तब मैं अपने गाँव की ओर चला। रास्ते में मुझे ख़बर मिली कि रंगून पर जापानी वायुयानों ने बमों की वर्षा की है। मैं उसी वक्त मद्रास लौट कर वहाँ से रंगून जाने की कोशिश करने लगा। परन्तु यहाँ के सरकारी अफ़सरों ने मुझे जाने नहीं दिया। कहने लगे, "रंगून जाना अब ख़तरनाक है। वहाँ से लोग बाहर भेजे जा रहे हैं, इसलिए तुम वहाँ नहीं जा सकते।"

मैंने राधा और अपने एक मित्र को तार दिया कि तुरन्त चले आओ। गाँव से लौटा तो पहले-पहल राधा की चिट्ठी मिली। बमबारी के बाद उसने यह खत लिखा था—"फ़िक्र करने की कोई बात नहीं है। हम सारी स्त्रियाँ यहाँ एक साथ हैं। इस हफ़्ते जो जहाज़ निकल रहा है उसमें हमारे लिए जगह नहीं है। अगले हफ़्ते में मैं ज़रूर जहाज़ से लौटूँगी। जल्दी ही हमारी भेंट होगी। यहाँ से निकलते ही तार दूँगी। आप मद्रास में मुझ से मिलिएगा।" इसके बाद राधा का तार भी मुझे मिला। लेकिन वह जहाज़ नहीं आया। कुछ दिनों के बाद फ़ौजी ख़बर मिली कि वह जहाज़ दुश्मनों के हाथ लग कर डूब गया।

राधा के उस आखिरी खत को उठा कर आज मैं फिर से पढ़ने लगा। "हमारी भेंट जल्दी ही होगी, इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं है। फिर भी, फिर भी, अगर मुझे कुछ हो गया तो आप राजू को मत भूलिएगा। उसे कहीं से ढूँढ़ निकाल कर उसका पालन-पोषण कीजिएगा। यही मेरी स्मृति के लिए आपका अनन्य वरदान होगा।"

वह बेचारी जिस आपत्ति में फँसने वाली थी, उससे उसका बेटा कैसे बच सकता था?

राधा ने आगे लिखा था—"आपसे बिछुड़े हुए इन दुःखी दिनों में राजू ही मेरे जीवन का एकमात्र सम्बल है। कल मैं पैकिंग कर रही थी। तब वह हठ पकड़ कर कहने लगा—मेरे 'नाना' को भी पेटी में

महात्मा बुद्ध सम्बन्धी चित्र



यमुना नदी से प्राप्त
गुप्तकालीन बुद्ध मूर्त्ति

वह कुत्ता जो महात्मा बुद्ध के प्रति भौंका था



महात्मा बुद्ध का जन्म : गान्धार से प्राप्त, तीसरी सदी में निर्मित





बोधिसत्व वज्रपाणी: १०वीं सदी



महात्मा बुद्ध : कुशान युग

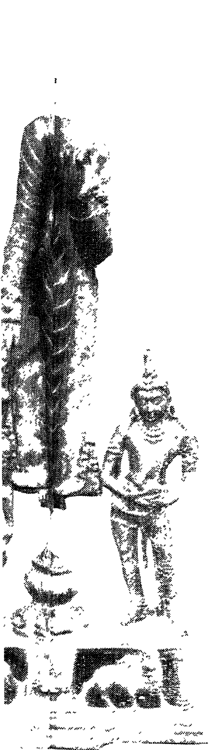


बुद्ध

उपदेश देते हुए महात्मा बुद्ध







: कांसदी

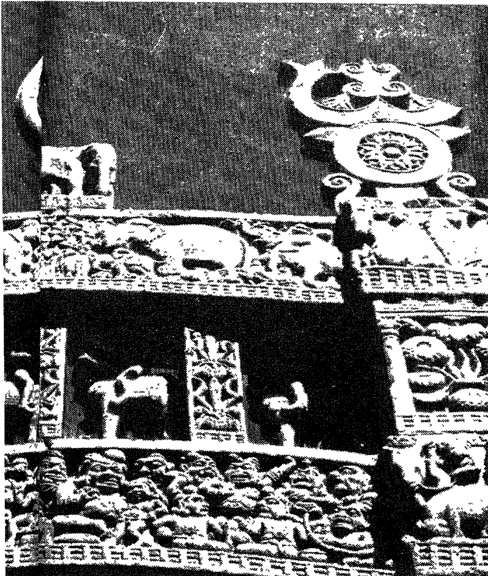


बुद्ध भूमिस्पर्श मुद्रा में



बुद्धमूर्त्ति; ५वीं सदी, गुप्त कालीन

साँशिखर का चित्र

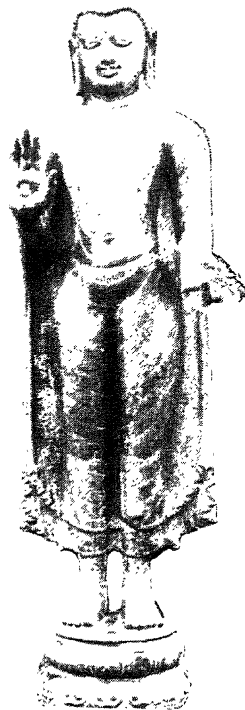


महापरिनिर्वाण; १०वीं सदी में निर्मित





बुद्ध धर्मचर मुद्रा में



बुद्ध की धातु-मूर्ति; ९वीं सदी



अवलोकितेश्वर; १०वीं सदी

बरहुत की स्तम्भ-प्राचीर



तपस्यालीन बुद्ध



रक्खो। सिर हिलाने वाली उस गुड़िया को जब तक मैंने पेटी में नहीं रखा तब तक वह मुझे तंग करता ही रहा।"

'नाना' का वह गुर हम दो ही जने जानते थे। राधा जब प्रसव के बाद रंगून लौटी तब तंजावूर से, सिर हिलाने वाली एक गुड़िया लाई थी। "इतनी बड़ी हस्ती का बिना टिकट जहाज़ से कैसे आना हुआ ?" मैंने दिल्लगी की। वह कब पीछे हटने वाली थी ? बोली, "इसकी उपयोगिता तब मालूम होगी, जब राजू जरा और बड़ा होगा।"

उसकी बात सच निकली। जब राजू छः महीने का हुआ, तभी से वह उस गुड़िया को हिलाने में अनोखा आनन्द पाता था। जब वह तुतलाने लगा तब मैंने उस गुड़िया के साथ उसका परिचय करा दिया—"ये तुम्हारे नाना हैं !" मुझे देखने पर वह हर बार तुतलाया करता—"ये नाना हैं !" राधा को तब इतना गुस्सा आता था कि देखते ही बनता था !

मद्रास मेल रात को दस बजे तंजावूर आती है। दिसम्बर की रात थी; कड़ा जाड़ा था। गाड़ी रुकी। मैंने बाहर झाँक कर देखा। बिजली की बत्तियाँ टिमटिमा रही थीं। मुझे राधा की याद आई। उसके नैहर जाना हो तो यहीं पर उतरना चाहिए। इतने जाड़े में भी कोई बेचारा गरीब, सिर हिलाने वाली तंजावूरी गुड़ियाँ बेच रहा था। अपने मित्र के बच्चों का ख्याल आया तो मैंने चार-पाँच खिलौने खरीद कर पेटी में रख दिए।

मैंने यों अचानक दिल्ली पहुँच कर अपने मित्र को अचम्भे में डाल दिया। वे उलाहना देने लगे, "अरे, तुमने एक खत लिखा होता तो मैं स्टेशन पर आ जाता !" इतने में सरोज आई; बोली, "पहले उन्हें काफी तो पिलाइये। तीन दिन से गाड़ी में थके-माँदे आ रहे हैं।"

सरोज राधा की सहेली थी। रंगून में हम पास-पास ही रहते थे। सरोज जापे के लिए गाँव आ गई थी; इसलिए मुसीबत से बच गई।

मेरे मित्र ने कहा, "तुम्हारी समस्या मेरी समझ में नहीं आ रही है।" हम दोनों नई दिल्ली स्टेशन के पास चले जा रहे थे। जाड़े का अँधेरा धीरे-धीरे साँझ पर हमला कर रहा था। मैंने पूछा, "हाँ, आपने जो लिखा था, वे गरीब लोग कहाँ रहते हैं ?" मेरा स्वर अब स्थिर नहीं रह सका।

"यहीं इसी रोड पर सीधे जाकर मुड़ेंगे तो उनकी झोपड़ी मिलेगी।"

"तब हम वहीं जाएँगे।"—मैंने कहा।

"यही वह स्त्री है।"—मित्र ने कहा।

"वह बालक कहाँ है ?"

"कौन सा बालक ?"

"वही !"

"ओह ! उसके बारे में तो इसी से पूछना चाहिए।"

स्त्री ने बुलाया तो बालक झोंपड़ी के बाहर आया। यह ! क्या यही वह बालक है ? क्या इसी के लिए मैं इतनी दूर चला आया।

लेकिन मुझे कुछ तसल्ली भी हुई। गाँव में मेरे कमरे में मेरा एक फोटो है। वह तब लिया गया था, जब मैं आठ साल का था। माँ के लाड़-प्यार में पला हुआ बालक ! मेरी कल्पना का राजू भी वैसे ही हृष्ट-पुष्ट था। लेकिन यह ! गरीबी, भूख और परतन्त्रता में पला हुआ यह बालक उसके बराबर कैसे हो सकता था ? मैं अपने मित्र की ओर मुड़ा। सकपकाते हुए उससे कहा, "मैं इस बालक से अकेले मिलना चाहता हूँ।"

"तुम्हारी खुशी ! आठ बजे मेरे भोजन का समय है। तब तक चले आना। रास्ता तो जानते हो न ?"

मैंने सिर हिला दिया।

पहले तो उस बालक के दुबले-पतले हाथ को छूने में मुझे ग्लानि लगी। बिना बोले ही हम कुछ दूर चले। मैंने पूछा, "तुम्हारा क्या नाम है ?"

"मेरा कोई नाम नहीं है। मुझे बाबू कह कर पुकारते हैं।"—बोलने का उसका ढंग मुझे बहुत बुरा लगा।

"तुम्हारे माँ-बाप हैं ?"—मैंने पूछा।

वह उसी ढंग से कहने लगा—"जी हाँ, अभी आपने जिससे बातें कीं, वही मेरी माँ है। बाबू जी बाहर गए हैं।"

"तुम्हारा गाँव कहाँ है ?"

"यही हमारा गाँव है।"

आगे उससे बातचीत करने का कोई लाभ नहीं था। मैं उसे एक होटल में ले गया और खूब खिलाया। उसके मुँह पर जो कृतज्ञता की भावना थी उससे मैं निराश ही हुआ।

मित्र के यहाँ लौटने से पहले मैंने फिर उस स्त्री से बालक के बारे में पूछा। उसने कहा, "वह क्या जाने सारी बातें ? हमने उसे कुछ बताया ही नहीं।"

मैंने उत्सुकता से पूछा, "तुम लोग जिस जहाज़ से आए थे उसका नाम क्या था ?"

"नाम-वाम हम क्या जानें ?"

इसी समय उसका पति बाहर से आया। सारी बातें समझाने पर उसने जहाज़ का नाम बताया। वह बन्दरगाह पर काम करने वाला था; इसलिए जहाज़ का नाम वह जानता था। उसका जवाब सुनते ही मैं भौंचक रह गया। यह वही भयंकर जहाज़ था, जिससे राधा और राजू भारत चले थे।

भोजन के उपरान्त मेरे मित्र मुझ पर बुरी तरह टूट पड़े—"तुम्हारी ये बातें मुझे बिलकुल नहीं रुचतीं। अगर मैं जानता कि तुम इसके लिए यहाँ आओगे तो मैं यहाँ से कहीं दूर चला जाता।"

मैंने वह नई ख़बर उन्हें सुनाई। वे कहने लगे, "कैसे बेवकूफ़ हो ? उस जहाज़ से कितने ही लोग आए होंगे। तुम यह कैसे सिद्ध कर सकते हो कि यह तुम्हारा ही बच्चा है ? बिना कुल या गोत्र के जाने तुम इसे अपने गाँव ले जाओगे तो तुम्हारी माँ की जान निकल जाएगी।"

इतने में सरोज बोल उठी, "राधा मेरी प्यारी सहेली थी, यह तो आप भी जानते हैं। फिर भी मैं कहती हूँ—आप सीधे गाँव जाइए और दूसरा ब्याह कर लीजिए। इस भ्रम को भुला देना ही, राधा की स्मृति के लिए आपका वरदान होगा।"

मेरे मित्र भी इस पर ज़ोर देने लगे—"सरोज का कहना ठीक है। तुम्हारी उम्र अभी चौंतीस से ज़्यादा तो नहीं होगी ? तुमने यों आठ

बरस बरबाद कर दिए। अब अपने जीवन को कब तक चौपट करते रहोगे? ब्याह कर लो, दो-चार बच्चे हो जाएँगे तो यह सब ठीक-ठाक हो जाएगा।"

बहस का अन्त मनमुटाव में हुआ। मैं सारी रात बिस्तर पर बेचैन पड़ा रहा। राधा की अन्तिम प्रार्थना मेरे मन में गूँजने लगी—"अगर मुझे कुछ हो गया तो आप राजू को ढूँढ निकाल कर उसका पालन-पोषण कीजिएगा। यही मेरी स्मृति के लिए आपका अनन्य वरदान होगा।" मित्र की बात भी मुझे ठीक लगी। बिना कुल या गोत्र के जाने मैं इस लड़के को अपनी माँ के हाथ कैसे सौंप सकता हूँ? वह तो यों ही तन-मन से दुःखी पड़ी है।

सवेरा हुआ। मेरे मित्र आफ़िस चले गए तो मैं फिर उन गरीबों के यहाँ गया। मुझे उस लड़के की याद आई, जो पिछले दिन जाड़े से काँप रहा था। मैंने उसके लिए एक ऊनी कुरता खरीद लिया। मेरे सवालों का वह बार-बार यही जवाब दे रहा था। उसकी बातों व उदासी से मैं ऊकता गया था। अजीब पसोपेश में पड़ कर मैं मित्र के घर लौट आया।

आते ही मेरे मित्र ने कहा कि वे अगले दिन हरिद्वार जाने की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने सोचा कि मेरे मरज़ का यही इलाज है। बिना सोचे ही मैंने कह दिया कि मैं अगले दिन मद्रास जा रहा हूँ।

मैंने अपने मित्र को असबाब के साथ स्टेशन भेज दिया और बाज़ार चलने के बहाने अकेले निकल पड़ा। चलते वक्त मुझे उस गुड़िया की याद आई। मित्र के बच्चों को देने के बाद एक गुड़िया मेरी पेटी में रक्खी थी। उसे मैंने एक कागज़ में लपेट लिया। झोंपड़ी के पास ताँगे को रोक कर नीचे उतरा। वह स्त्री अकेली बाहर खड़ी थी। मैंने वह पार्सल उसके हाथ में देकर कहा, "इसे बच्चे को दे दो।"

मैं फिर ताँगे पर सवार हुआ। न जाने क्यों मैं उस लड़के को देखना नहीं चाहता था।

ताँगा तेज़ी से जा रहा था। घोड़ों की टापें ज़मीन पर ही नहीं, बल्कि मेरे मन पर भी पड़ने लगीं। 'वाह! धन्य है तुम्हारा प्रेम! हज़ारों मील दूरी से तुम इसी के लिए आए; लेकिन वह प्रेम ही क्या है जो टिकता नहीं है?'

मैं चौंक कर मुड़ा। मेरे आस-पास कोई नहीं था। ताँगा अपनी चाल से चल रहा था। मैंने अपने आपको सँभालना चाहा।

'तुम्हें सबूत चाहिए न? भिखमंगों के यहाँ पलने वाला लड़का और कैसा होगा? और कैसे बोलेगा? रेशमी कपड़े और मधुर बानी हो तो वह तुम्हारा लड़का बन जाएगा।'

जाड़े में भी मेरा सारा बदन पसीने से तर हो गया।

फिर वही आवाज़ सुनने में आई—'कैसे बेरहम हो! सिर हिलाने वाली गुड़िया, एक जून का खाना और एक ऊनी कुरता—इतने से तुम निपट गए और तुम्हारे कर्त्तव्य की इतिश्री हो गई!'

ताँगा चला जा रहा था।

'तुम्हें सबूत चाहिए! इसकी उम्र भी वही है। वही साल, वही तारीख़, वही जहाज़। मातृ विहीन बच्चे को अकेले छोड़कर तुम बेरहम जा रहे हो! राधा का तुम पर कितना विश्वास था!'

"रोको ताँगा!"—मैं चिल्लाया। ताँगा रुका।

ताँगे वाला मुझे यों घूर कर देखने लगा मानो मैं कोई पागल हूँ। मैंने ताँगा झोंपड़ी की ओर चलाने को कहा।

मुझे देखते ही वह स्त्री दौड़ी हुई आई और कहने लगी, "आप उससे बिना कहे-सुने चल दिए। इसलिए वह उदास बैठा है। आपके दिए हुए पार्सल को उसने खोलकर भी नहीं देखा।"

मैंने उसे बुलाने को कहा। लेकिन इतने में वह लड़का अपने आप फुर्ती से झोंपड़ी के बाहर आया। उसके हाथ में वह गुड़िया, सिर हिलाने वाली तंजावूरी गुड़िया, थी।

खुशी से उछलता हुआ वह कहने लगा, "माँ, देखो तो बाबूजी ने मुझे क्या दिया है! यह मेरे नाना हैं, मेरे नाना!"

बेचारी, वह क्या जाने, उसके आनन्द के रहस्य की बात!

अनुवादक : का० श्री० श्रीनिवासाचार्य



तेलुगु कविता

मतवाला

श्री श्री

अनुवादक—दुर्गानन्द

मुख पर अलकें धूमिल धूसर
काँटों-से उभरे हाड़ सूक्ष्मतर
कागज़ के-से पतले तन पर
रे इकहरे छोकरे!

गली-गली का चिथड़ा बन कर
मानों बस्ती की न्योछावर
किस पुल के नीचे निशि, थक कर,
काटोगे मतवाले।

तुम्हारे वे चल चपल दृग-खग
ओंठों पर की स्मिति-लिपि डगमग
बस के बाहर किस अविदित-जग
के सारे उलझन-मय पग-मग।

अनदेखी कर चलते क्यों जन
हट जाते क्यों मुड़ कर सज्जन
कहलाते जो, युग के तन-मन
क्यों रे इकहरे छोकरे?

दया करोगे बालक, उन पर
जिन ने अन्याय किया तुम पर?
होंगे वे महान् बुद्धिमान नर
क्षमा करोगे?

देखो मत वैसे तुम घूर कर
हँसो न बेढंगा रह रह कर
नहीं कुछ बस कटु व्यंग्य हम पर
सच रे बालक! (महाप्रस्थान से)

काकड़ापार बाँध

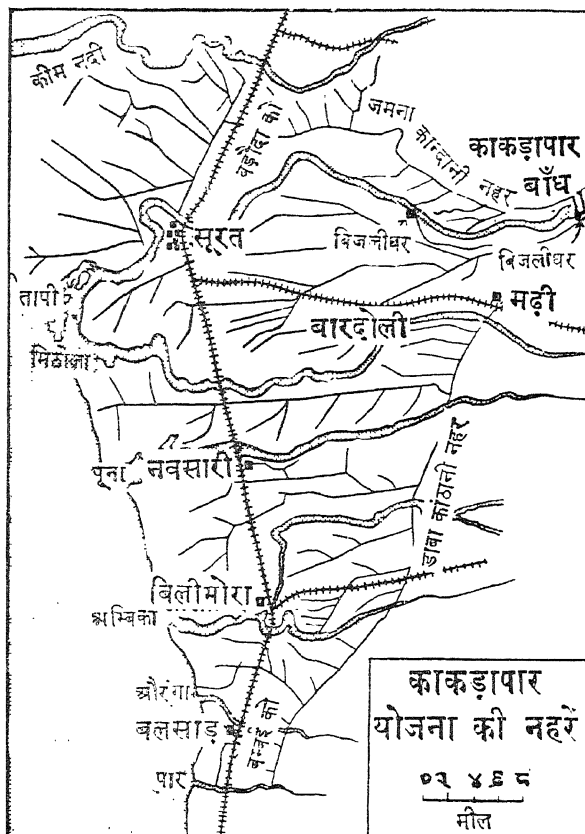
आनन्द प्रकाश सिंह

ताप्ती उन दो प्रमुख नदियों में से एक है जो कि भारत के विशाल भू-खण्ड को पूर्व से पश्चिम की दिशा में बहती हुई बीचोंबीच दो भागों में विभक्त करती है। मध्य-प्रदेश के घने वनों में स्थित पर्वत-मालाओं में से निकल कर २०० मील तक उसके तीन ज़िलों बेतूल, अमरावती और निमाड़ से होती हुई वह खानदेश ज़िले में बम्बई राज्य की सीमा में प्रवेश करती है। पूर्वी और पश्चिमी खानदेश के टेढ़े-मेढ़े रास्तों में आँखमिचौनी खेलती, पथरीली चट्टानों को गले लगाती, सूरत के मैदानों में मचलती हुई वह आगे बढ़ती है और यह देखकर आश्चर्य होता है कि जल की यह पतली-सी रेखा अब किस प्रकार एक विशाल सागर का-सा रूप धारण कर लेती है। बम्बई राज्य में लगभग २०० मील तक इठलाती हुई बहने के उपरान्त, यह नदी सूरत के समीप खम्भात की खाड़ी में अरब महासागर के गले लगती है।

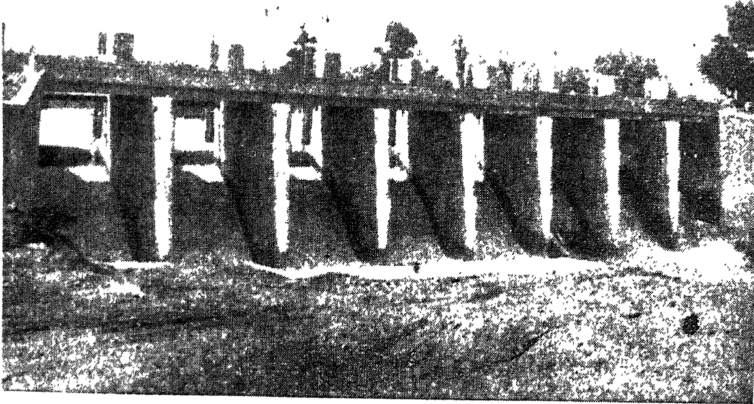
दो राज्यों में से होकर बहने वाली इस नदी का जल-स्रवण क्षेत्र (कैचमेण्ट एरिया) लगभग २६,००० वर्ग मील है और काकड़ापार के समीप, जो कि सूरत से ५० मील दूर ऊपर की ओर ताप्ती के किनारे है, उसमें प्रति सेकण्ड १३॥ लाख घनफुट पानी बहता है। लम्बाई, पानी के बहाव, और महत्त्व को देखते हुए इस नदी की तुलना इसकी बहन नर्बदा से की जा सकती है, जो कि इसके समानान्तर ३५ मील उत्तर में पूर्व से होकर पश्चिम की दिशा में बहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि ताप्ती की धारा से होकर प्रतिवर्ष इतना पानी सागर में जाकर गिरता है, जिसकी मात्रा आसानी से १६० लाख एकड़ फुट तक की होगी। किन्तु यह पानी व्यर्थ जाता है, क्योंकि इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता।

ताप्ती घाटी में वर्षा अच्छी होती है किन्तु उसका वितरण वर्ष भर में समान नहीं होता। अधिकांश वर्षा तो वर्षा ऋतु के महीनों में ही अर्थात् जून से सितम्बर में ही होती है। घाटी के उत्तरी भाग में औसतन वर्षा ३५ इंच तक होती है, जो कि दक्षिण के ओर बढ़ने पर बलसर तालुके में ५० इंच तक पहुँच जाती है। दक्षिण के छोर के तालुकों माण्डवी और बारदोली में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है, यहाँ वह ६०-६५ इंच तक पहुँच जाती है। किन्तु यह सब वर्षा वर्षा-ऋतु में ही होती है, जबकि वर्ष के बाकी महीनों में नगण्य वर्षा होती है। ऐसी हालत में घाटी की फसल, सिंचाई के साधनों के अभाव में, वर्षा के अतिरिक्त अन्य महीनों में पानी का लाभ नहीं पाती।

ऐसे स्थानों में जहाँ वर्षा अधिक होती है और जहाँ भूमि नीची होने के कारण वर्षा का पानी एकत्रित किया जा सकता है, धान उगाया जाता है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में जवार और छोटे रेशे वाली कपास की भी खेती होती है। विलम्ब से बोई गई फसलें वर्षा-ऋतु के बाद पानी



बिलकुल नहीं पातीं। यद्यपि गेहूँ उगाने के लिए भी यहाँ की धरती पर्याप्त उपयुक्त है, तथापि रबी की वर्षा के अभाव में उसकी खेती करना प्रायः असम्भव ही रहता है। उपजाऊ धरती के अलावा इस घाटी में वन-धन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जिसमें सागोन तथा अन्य प्रकार की उपयोगी लकड़ियाँ, कागज़ बनाने के काम आने वाली घास और बाँस के अतिरिक्त रेयन तथा प्लाईवुड भी होते हैं। किन्तु विद्युत्-शक्ति के अभाव तथा समय-समय पर आने वाली भयंकर बाढ़ों के कारण उद्योगों के काम आने वाले ये सब साधन छिन्न-भिन्न से रहे हैं। विद्युत्-शक्ति का अभाव कुछ हद तक कोयले द्वारा दूर किया जा सकता है, किन्तु इस क्षेत्र के आस-पास कोयले की खानें न होने से वह यातायात की दिक्कतों के कारण सस्ते दर पर और सुगमता से उपलब्ध नहीं हो सकता है।



काकड़ापार बाँध

ताप्ती-घाटी के विस्तृत निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि योजना और विकास के लिए उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले विभाग में भुसावल के पश्चिम ताप्ती के दोनों किनारों की ५,२०,००० एकड़ भूमि का तट-प्रदेश है। इसलिए भुसावल के ऊपर हाथनूर के समीप एक विशाल जल सागर का निर्माण सम्भव है। इससे भी ऊपर दो विशाल बाँध बाँधे जा सकते हैं। इनसे बम्बई के खानदेश ज़िले को नहर की सिंचाई का लाभ मिल सकता है और ३०,००० किलोवाट बिजली का उत्पादन हो सकता है। योजना के दूसरे विभाग में खानदेश ज़िले की लगभग ४ लाख एकड़ भूमि आती है, जिसके अन्तर्गत पंजान में गिरणा नदी पर बाँध के निर्माण के पश्चात् नहरों द्वारा सिंचाई सम्भव है।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखने पर इस प्रदेश में बाँध द्वारा होने वाले लाभ स्पष्ट हो जाते हैं। सस्ती और प्रचुर विद्युत्-शक्ति के उपलब्ध होने पर घाटी का औद्योगिक-विकास तेज़ी से किया जा सकता है। दूसरी ओर इससे बाढ़ पर नियंत्रण रख कर अपार धन-जन की हानि को रोका जा सकता है। किन्तु ऐसे बाँध से होने वाला जो सब से बड़ा लाभ है, वह है कृषि सम्बन्धी। समय-समय पर सिंचाई के लिए उपलब्ध हो सकने वाले पानी द्वारा धान की कई उत्तम किस्में उगाई जा सकती हैं। यही हाल सूखी फसलों का भी है। वर्षा के पश्चात् की सिंचाई से कपास और जवार का उत्पादन भी काफी कुछ बढ़ाया जा सकता है। स्थानीय किसानों का अनुभव बतलाता है कि समय पर पानी मिल जाने से कपास का उत्पादन प्रति एकड़ ३०० पौंड से ६०० पौंड तक बढ़ाया जा सकता है। किन्तु सिंचाई के लिए छोटे-मोटे बाँधों के अतिरिक्त ताप्ती के पानी को अधिक उपयोगी बनाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। फलतः नदी के १ प्रतिशत से भी कम पानी का उपयोग हो पाता था जिसमें १,५०,००० एकड़ से भी कम भूमि में चावल और ८०,००० एकड़ से भी कम भूमि में गेहूँ की पैदावार होती थी।

इन सब परिस्थितियों को सामने रखकर और एक विशाल बाँध से होने वाले लाभों को देखते हुए, बम्बई सरकार ने सन् १६४६ के अन्त में तब के केन्द्रीय जल मार्ग, सिंचाई तथा जहाजरानी कमीशन से अनुरोध किया कि वह नर्बदा और ताप्ती से होने वाली बाढ़ों को रोकने और उनके जल को सिंचाई के काम में लाने तथा विद्युत्-शक्ति के उत्पादन की सम्भावनाओं के बारे में अपनी राय दे। सन् १६४७ में मध्य-प्रान्त और बरार (अब मध्य-प्रदेश) की सरकार ने भी कमीशन से ऐसा ही अनुरोध किया। कमीशन ने नर्बदा और ताप्ती की घाटियों का विस्तृत निरीक्षण करने के पश्चात् बतलाया कि सिंचाई, बाढ़-नियंत्रण, विद्युत्-उत्पादन और नौकानयन की इन दोनों घाटियों में पर्याप्त गुंजाइश है।

योजना के तृतीय भाग में काकड़ापार में ताप्ती नदी पर बाँध का समावेश है। इसके द्वारा ६ लाख एकड़ भूमि तक की सिंचाई की जा सकती है, जबकि ५०,००० एकड़ भूमि को स्थायी रूप में पानी मिल सकेगा। इसके अन्तर्गत ही बाँध के दोनों ओर की नहरों और वहाँ से १७ मील दूर उकाई में एक दूसरे बाँध का निर्माण करने की योजना भी है। वैसे तो सम्पूर्ण घाटी के लिए यह आवश्यक था कि योजना के तीनों भागों का काम एक साथ आरम्भ किया जाता, किन्तु एक ओर अर्थाभाव और प्रशिक्षित कारीगरों की कमी तथा दूसरी ओर योजना के कार्यान्वित हो जाने पर तुरन्त पहुँचने वाले लाभ की दृष्टि से काकड़ापार बाँध योजना को ही अन्य दो योजनाओं की अपेक्षा प्राथमिकता दी गई। बाँध और उसकी नहर प्रणाली पर होने वाले कुल खर्च का अनुमान ६·२६ करोड़ रुपये लगाया गया। जून सन् १६४७ में भली भाँति विचार करने के पश्चात् बम्बई सरकार ने योजना को अपनी स्वीकृति प्रदान की और उसी वर्ष नवम्बर में बम्बई सरकार के विकास मन्त्री, डा० जीवराज मेहता ने बाँध का शिलान्यास भी किया और उसका काम द्रुतगति से आगे बढ़ने लगा। किन्तु बाँध के निर्माण-कार्य में एक सबसे बड़ी बाधा थी—सीमेण्ट, लोहा, इस्पात आदि का सुगमता से उपलब्ध न होना। अतएव बाँध के करीब ही एक रेलवे लाइन बिछाई गई, जिससे यातायात की दिक्कत न रहे। पास ही में एक इंजीनियरिंग वर्कशाप भी खोल दी गई।

काकड़ापार बाँध का स्थान अनेक दृष्टियों से लाभकारी है। यह वह स्थान है, जहाँ ताप्ती वनों और पर्वतों को छोड़ कर गुजरात के मैदान में प्रवेश करती है। बाँध का शिलान्यास पथरीली ज़मीन पर होने से उसकी नींव बड़ी मज़बूत है। बाँध २,०३६ फुट लम्बा तथा ५० फुट ऊँचा है। नदी की तलहटी में पानी के भीतर १,८०० फुट लम्बाई का भाग कांक्रीट का बना हुआ है, जबकि बाकी भाग मिट्टी का बना हुआ है। बाँध बाँधने के परिणामस्वरूप जो प्राकृतिक जलाशय बना है, वह ५५ मील तक फैला हुआ है और उसमें १ लाख एकड़ ज़मीन आ गई है। किन्तु यह प्रदेश या तो वनों से घिरा हुआ है अथवा ऐसा है जहाँ

खेती नहीं की जा सकती। अतएव, हीराकुड के समान यहाँ पर गाँवों को अन्यत्र बसाने की समस्या सामने नहीं आई। इस विशाल जलाशय में ५६ लाख एकड़ फुट पानी का संग्रह किया जा सकता है। बम्बई राज्य का यह सबसे बड़ा जलाशय तो होगा ही, नए बनाए गए जलाशयों में भी हीराकुड और भाकड़ा के बाद यही आता है। किन्तु एक प्रकार से देखा जाए तो काकड़ापार जलाशय में हीराकुड की अपेक्षा भी अधिक जल संग्रह किया जा सकेगा, क्योंकि उसके आस-पास का प्रदेश वनों से परिपूर्ण है।

बाँध के निचले भाग के पास एक बिजलीघर बनाने का काम भी चल रहा है, जिसके "टरबाइन" में से निकलने वाली पानी की धारा १६ मील लम्बी विद्युत्-नहर (पावर कैनाल) में से होकर गुज़रेगी। नहर के छोर पर दूसरा बिजलीघर बनेगा। पहले बिजलीघर में विद्युत्-उत्पादन के लिए पाँच प्लाण्ट तथा दूसरे में चार प्लाण्ट रखे जाएँगे। दोनों को मिला कर २,८८,००० किलोवाट विद्युत्-शक्ति का उत्पादन किया जा सकेगा। यह स्थान बम्बई तथा अहमदाबाद नगरों के मध्य स्थित होने के कारण इसके द्वारा उत्पादित बिजली इन दोनों नगरों के उद्योगों के काम भी आ सकती है।

काकड़ापार बाँध का निर्माण जून १९५३ में पूरा हुआ। साथ ही साथ नदी के बाएँ तट की मुख्य नहर तथा उसकी शाखाओं की खुदाई भी की गई। इन नहरों की कुल लम्बाई ५२० मील है। इनके साथ ही दो अन्य बाँधों मोतीचर और रतनियाँ का काम भी चल रहा है, जिससे काकड़ापार के मुख्य बाँध के साथ आस-पास के खेत भी नहरों द्वारा पानी पा सकें। इस प्रकार बाँध के दोनों ओर की नहरों द्वारा ८ लाख एकड़ भूमि को पानी मिल सकेगा। मुख्य बाँध के साथ ही जब उसके दोनों ओर की मुख्य नहरों और उनके रेगुलेटर (नियंत्रक-यन्त्र) पूर्णरूपेण निर्मित हो जाएँगे तो उनसे ६,५२,००० एकड़ भूमि सींची जा सकेगी, जिसके परिणाम स्वरूप खाद्यान्न-उत्पादन में १,६०,००० टन की वृद्धि हो सकेगी।

नदी के बाएँ तट की मुख्य नहर की खुदाई के अतिरिक्त जो १२ मील तक खुद चुकी है, ४६५ छोटे-मोटे पुलों तथा जलाशयों का निर्माण-कार्य भी पूरा हो चुका है, जब कि १०२ ऐसे छोटे-मोटे पुलों तथा जलाशयों का निर्माण-कार्य, जिनमें १४ लाख रुपये की अनुमानित लागत का एक जलाशय पूर्णा नदी पर है, चल रहा है। जहाँ तक छोटी-मोटी नहरों का प्रश्न है ७४ का काम पूरा हो चुका है, १८० की खुदाई चल रही है, और ४६५ की बाकी है। बाएँ तट की मुख्य नहर से सम्बन्धित २,५२७ लाख घनफुट मिट्टी से बनने वाले भाग का काम पूरा हो चुका है, जबकि दाहिने तट की ६३० लाख घनफुट मिट्टी का ऐसा काम पूरा किया जा चुका है। योजना के अन्तर्गत सूरत शाखा अर्थात् बाएँ तट की मुख्य नहर का काम लगभग पूर्ण हो चुका है। इससे १६,००,००० एकड़ भूमि सिंचाई का लाभ पा सकेगी। बाएँ तट की नहर प्रणाली की चेलदन शाखा की नहरों और उपनहरों का काम भी जून १९५३ में पूरा हो चुका था और उसकी सामर्थ्य बारदोली, कामराज और पालवाना तालुकों की ४०,००० एकड़ भूमि सींच सकने तक की है। किन्तु १९५३-५४ और १९५४-५५ में अनुकूल वर्षा होने के कारण नहर के पानी की अधिक माँग नहीं रही। फलतः इन वर्षों में क्रमशः ३,८१७ और ६६८ एकड़ भूमि ही सींची गई।

निचली ताप्ती-घाटी-विकास योजना के अन्तर्गत निर्मित काकड़ापार बाँध इस प्रकार न केवल खाद्यान्न की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु उससे उत्पादित सस्ती विद्युत्-शक्ति द्वारा गुजरात का तीव्र औद्योगीकरण सम्भव हो सकेगा और आस-पास के नगरों को पर्याप्त तथा स्वच्छ पीने का जल भी सुगमता से उपलब्ध हो सकेगा। एक ओर अब बाढ़ की आशंका भी नहीं रहेगी और दूसरी ओर मांडवी से ऊपर ताप्ती के ६० मील के जल-प्रदेश में नौका-व्यवहार भी हो सकेगा। जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, बम्बई राज्य का यह दूसरे नम्बर का बाँध आज सही अर्थों में गुजरात का अन्नदाता सिद्ध हो रहा है। इससे गुजरात तो समृद्ध-शाली बनेगा ही, समूचे देश के आर्थिक ढाँचे को भी बल प्राप्त होगा।

●

गीत

पाण्डेय कपिल

प्रिय, अपने मन की बात बताऊँ तो कैसे?
जगता है रह-रह आज
दर्द-सा कुछ मन में;
पगते हैं कातर प्राण
आज अपनेपन में;
नयनों में डूब गए मेरे
मन के बादल,
डूबे मन में बरसात मनाऊँ तो कैसे?
छन में होता कुछ और,
और कुछ ही, छन में;
उस ओर तड़ित, इस ओर
तड़प मेरे मन में,
बाड़व को तो लहरों से
मैंने दाब लिया,
लहरों से झंझावात दबाऊँ तो कैसे?
करते थे जो झंकार,
तार वे टूट गए;
यति पर देते जो ताल,
मुरज वे फूट गए;
अब रूठ गए वे गान,
मान जो तेरे थे;
संगीतमयी यह रात बिताऊँ तो कैसे?

वारिसशाह और उनका काव्य 'हीर'

हंसराज 'रहबर'

वारिसशाह पंजाब के महा कवि हैं। उनका महाकाव्य 'हीर' संयुक्त पंजाब के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ा जाता था और अब विभाजन के बाद भी दोनों भागों में उसी प्रकार लहक-लहक कर पढ़ा जाता है। इस प्रेस के ज़माने में भी कोई दूसरा किस्सा, कहानी अर्थात् उपन्यास 'हीर' से अधिक लोकप्रिय नहीं है। आप किसी गाँव में चले जाएँ वहाँ 'हीर' को गाकर पढ़ने वाले निपुण व्यक्ति अवश्य मिल जाएँगे। शाम को जब किसान काम से लौटते हैं, खा-पीकर चौपाल में बैठते हैं तो ये लोग 'हीर' गाकर उनकी थकान दूर करते हैं। पंजाब में कोई अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो वारिसशाह के हीर से परिचित न हो। 'हीर' की इस लोकप्रियता का कारण यह है कि वारिसशाह ने अपने महाकाव्य में कूँजे में दरिया बन्द करने के सदृश, पंजाब के रीति-रिवाज, मानव स्वभाव, संस्कृति और जातीय चरित्र को प्रचलित और सरस भाषा में नाटकीय और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

वारिसशाह का जन्म पश्चिमी पंजाब के शेखूपुरा ज़िले के एक गाँव जंडियाला शेखूपुरा में सन् १७३२ में हुआ था। कुछ लोग उनके पिता का नाम सैयद कुतबशाह बताते हैं, लेकिन प्रोफ़ेसर एस० एस० अमोल की खोज के अनुसार उनका नाम सैयद गुलशेरशाह था। कादिरशाह और कुतबशाह उनके दो बड़े भाई थे। वारिसशाह को मकतब में पढ़ने बैठाया गया। लेकिन मकतब का मुल्ला जिस ढंग से सबक रटाता, बिना बात घुड़कता और मारता था उससे वे शीघ्र ही ऊब गए और मकतब छोड़ कर दूसरे लड़कों के साथ ढोर-डंगर चराने लगे। मकतब के वातावरण में अपनी प्रतिभा को कुंठित करने की बजाए उन्हें घूमना, पेड़ों पर चढ़ना और शरारतें करना और प्राकृतिक सौंदर्य को निहारना अधिक प्रिय था। इनके माता-पिता लड़कपन में ही चल बसे। इससे उन्हें बड़ा आघात पहुँचा। उन्हें अब शिक्षा का अभाव भी खटकने लगा था। इसलिए वे एक दिन गाँव छोड़कर कसूर की ओर चल पड़े, क्योंकि किसी ने उन्हें बताया था कि वहाँ ऐसे दाना फ़क़ीर बसते हैं, जो तुम्हें मुफ़्त में शिक्षा देना स्वीकार कर लेंगे। वारिसशाह कसूर पहुँच कर हज़रत मुर्तज़ाशाह के शिष्य बन गए। उन्होंने खुद लिखा है :

"वारिसशाह वसनीक जंडियाल दे वा
ते शागिरद मखदूम कसूर दा ए।"

अर्थात् वारिसशाह जंडियाले का वासी और मख़दूम कसूर वाले का शिष्य है।

मुर्तज़ाशाह प्रसिद्ध फ़क़ीर थे। उनके पास बहुत से स्त्री-पुरुष आया करते थे कोई सलाह मशविरा लेता, कोई धार्मिक समस्याओं पर बहस करता और कोई घरेलू विपदा सुनाता। वारिसशाह यह सब बातें ध्यान से सुना करते। जो अधिक गहरी होतीं, उन पर एकाँत में विचार किया करते। अधिक और विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलते रहने के कारण वे मानव स्वभाव को भली प्रकार समझने लगे और उन्हें धर्म और समाज का भी काफी ज्ञान प्राप्त हो गया। लेकिन कसूर का वातावरण भी उन्हें हमेशा के लिए सन्तुष्ट न कर सका।

कसूर से चल कर वारिसशाह पाकपटन पहुँचे और साईं फरीदशाह के शिष्य बन गए। उस समय साईं फरीदशाह की ख्याति दूर-दूर फैली हुई थी। वारिसशाह की आवाज़ ऊँची और गला सुरीला था। वे साईं फरीद की वाणी उनके शिष्यों को गा-गाकर सुनाने लगे। इससे साईं फरीदशाह अपने इस नए शिष्य से कुछ अधिक प्रेम करने लगे। वारिसशाह ने उनसे न सिर्फ़ ज्ञान की बहुत-सी बातें सीखीं बल्कि इस ज्ञान को जनता में फैलाने के लिए शायरी भी सीख ली। वारिसशाह की प्रतिभा से साईं फरीद बहुत प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने वारिसशाह को हर प्रकार से योग्य बनाने का विशेष प्रयास किया। उस समय फ़क़ीरों में यह रिवाज था कि जब एक शिष्य सयाना हो जाता तो उसे कोई इलाका प्रचार के लिए दे दिया जाता। साईं फ़रीदशाह ने भी एक दिन इस शिष्य को घूम-फिर कर दुनिया देखने का आदेश दिया।

वारिसशाह घूमते-फिरते "ढहा जाहद" गाँव में आए और उन्होंने तकिए में डेरा डाल दिया। हँसमुख चेहरा, गोरा-चिट्टा रंग और सुरीली आवाज़, साईं जी की मान्यता बढ़ने लगी। उनकी वाणी सुनने मर्द भी आते, और औरतें तो उन्हें प्रायः घेरे रहतीं। उन्हें स्त्रियों का अपने पास आना अच्छा भी लगता और नहीं भी। अपने फ़क़ीरी वेष का ख्याल करके वह सोचते :

"रन्ना पास फकीर नूँ ऐब जाना,
जैसा नस्सना रनों सिपाहियाँ दा।"

अर्थात्—किसी फ़क़ीर का स्त्रियों के पास आना इतना ही बुरा है जितना कि एक सिपाही का रण से भागना।

लेकिन स्त्रियों के रूप-लावण्य को देख कर उन्हें अपने भीतर किसी अभाव की पूर्ति होती जान पड़ती। फिर सूफ़ीवाद, वेदान्तियों की तरह, संसार को मिथ्या और माया कह कर उससे भागने की शिक्षा नहीं देता, बल्कि प्रकृति और सौन्दर्य से प्रेम करना सिखाता है, क्योंकि हुस्न जहाँ और जिस रूप में नज़र आए वह ख़ुदा का ही जलवा है और इश्क़ मजाज़ी, इश्क हक़ीक़ी ही का एक मार्ग है। इसलिए वारिसशाह अजब दुविधा में पड़े हुए थे।

आखिर उन्होंने एक दिन गाँव की सब से सुन्दर लड़की 'भागभरी' को देखा, जो सखियों के संग पनघट पर पानी भरने आई थी। देखते

ही वह उस पर मोहित हो गए। अपने किस्से में उन्होंने हीर के रूप-लावण्य का जो वर्णन किया है वह वास्तव में भागभरी के ही रूप-लावण्य का वर्णन है :

"कवि से हीर की तारीफ़ किए नहीं बनती। उसका माथा चाँद के सदृश चमक रहा है। सखियों के संग में झूलती आ रही है जैसे उकाब का पंख झूल रहा हो। कमान के समान भवें लाहौर का दृश्य दिखा रही हैं। इस हुस्न का कोई अन्त-हिसाब नहीं। 'वारिसशाह' उसे देखना लैलतुल कदर[१] की ज़ियारत करना है।" अकेले वारिसशाह भागभरी पर मोहित नहीं हुए, बल्कि वह भी इस अलबेले फ़क़ीर से प्रेम करने लगी और उनके प्रेम की चर्चा शीघ्र ही सारे गाँव में फैल गई। भागभरी के भाइयों ने बदनामी के डर से एक दिन वारिसशाह को खूब पीटा और उन्हें वहाँ से भगा देना चाहा। लेकिन वारिसशाह मार खाकर भी वहीं डटे रहे क्योंकि वे जानते थे :

"कंघी वाँग चराइए बदन सारा,
तौँ फिर जुल्फ महबूब दी पाइए जो।"

अर्थात्—प्रेयसी की जुल्फ तक पहुँचने के लिए प्रेमी को अपना शरीर कंघी के सदृश चिरा देना पड़ता है।

लेकिन इसके बावजूद वे प्रेयसी की जुल्फ तक पहुँचने में सफल न हो सके। भाइयों ने भागभरी का ब्याह झटपट किसी दूसरे गाँव में कर दिया। निराश होकर वारिसशाह वहाँ से चले और एक दूसरे गाँव 'मलिकाहास' की मस्जिद में जा डेरा डाला और वहीं उन्होंने अपने महाकाव्य 'हीर' की रचना की, जो उनके अपने कथनानुसार सन् १७६४ में पूर्ण हुआ। अन्त में वह अपने फ़क़ीरी जीवन से भी ऊब गए। उन्होंने अपने अनुभव से देख लिया कि यह फ़क़ीरी, फ़क़ीरी नहीं बल्कि अपने जीवन-कर्त्तव्य से भागना है। अतः वे गाँव लौट आए। ब्याह करके गृहस्थी बसाई और तीन लड़कियाँ उत्पन्न हुईं। उनका शेष जीवन जंडियाला ही में व्यतीत हुआ।

"हीर-राँझा" का किस्सा पंजाब में पहले ही प्रचलित था। इसे पहले-पहल दामोदर ने लिखा था। दामोदर गुरु अर्जुन देव का समकालीन था और उसने कहा है कि मैंने जो कुछ आँखों देखा वह सब सच लिख दिया। अर्थात् हीर-राँझे के रोमांस की कहानी एक सच्ची घटना है। लेकिन दामोदर का किस्सा सच्चा होते हुए भी लोकप्रिय न बन सका क्योंकि उसमें सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण नहीं था, उसमें ऐतिहासिक सत्य नहीं था, पंजाब का सम्पूर्ण चित्र नहीं था। इसी किस्से को फिर 'उद्दम' और 'मुकबल' ने लिखा और फिर इसी किस्से ने वारिसशाह का ध्यान आकर्षित किया। किस्से के आरम्भ में लिखा है :

"याराँ असाँ नू आन सवाल कीता,
इश्क हीर दा नवाँ बनाइए जी।
ऐस प्रेम दी झोक दा सब किस्सा
ढब सोहणे नाल सुनाइए जी

याराँ नाल मजलसाँ विच बैह के,
मज़ा हीर दे इश्क दा पाइए जी।

अर्थात्—मित्रों ने हम से आकर सवाल किया कि हीर के किस्से को नया जीवन प्रदान किया जाए। इसे कुछ इस खूबी और सुन्दरता से लिखा जाए कि यार लोग इसे मजलिसों में बैठ कर पढ़ें तो 'हीर' के प्रेम का आनन्द महसूस करें।

वारिसशाह अपने इस उद्देश्य में सफल हुए। उनका किस्सा वाकई मजलिसों में बैठ कर पढ़ा जाता है और यारों को उसमें हीर के प्रेम का आनन्द महसूस होता है। लेकिन देखना यह है कि उद्दम और मुकबल के किस्से क्यों इतने लोकप्रिय नहीं हुए? वारिसशाह को यह सफलता क्यों प्राप्त हुई और उन्होंने इस किस्से के माध्यम से कौन-सा ऐसा ऐतिहासिक सत्य व्यक्त किया है?

वारिसशाह ने जिस समय होश सम्हाला, मुगलों की सामन्तवादी सत्ता उखड़ रही थी। औरंगज़ेब ही के ज़माने में इस सत्ता के विरुद्ध सौदागरों, दस्तकारों और किसानों के जनवादी विद्रोह शुरू हो गए थे। पंजाब में सिख और दक्षिण में मरहठे नई शक्ति के रूप में उभर रहे थे। सन् १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ही इस व्यवस्था के टूटने का साधनमात्र बन गए। सन् १७३९ में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल सत्ता को जड़ से हिला दिया और उसके सेनापति अहमद शाह अब्दाली ने सन् १७६७ तक हिन्दुस्तान पर सत्रह हमले किए। वह देश को रौंदता हुआ जहाँ तक जी चाहता आगे बढ़ता और लूट-मार करके लौट जाता। छापामार सिख लौटते समय उस पर झपटते और उसके छोड़े हुए इलाके पर कब्जा करते। वारिसशाह ने अपने किस्से में इन आक्रमणों की ओर संकेत किया है। वारिसशाह ने सामन्ती व्यवस्था को अपनी आँखों के सामने टूटते देखा था, इसलिए पैरी-मुरीदी से उनकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई, और वह फ़क़ीरी जीवन को निभा नहीं सके, गृहस्थ में लौट आए। बचपन में उन्हें मदरसे का सामन्ती ढंग पसन्द नहीं आया और 'हीर' लिखते समय मकतब का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है :

"कुछ लड़के ऐन का गैन इसलिए बाँचते हैं कि मुल्ला की घुड़कियाँ जान निकाल देती हैं। और कुछ लड़के मुल्ला के डर से सवेरे ही से भाग खड़े होते हैं या मदरसे आते ही नहीं।"

फिर जब राँझा तख्त हज़ारे से जाते हुए एक रात मस्जिद में गुजारता है। वह वहाँ बैठा गाँव वालों को अपनी बंसरी पर मधुर राग सुना रहा है कि सहसा मुल्ला को आते देख चौंक उठता है।

"वारिसशाह मियाँ पंड झगडियों दी
पिच्छों मुल्ला मसीत दा आया ए"

अर्थात्—'वारिसशाह' इतने में झगड़ों की गठरी मस्जिद का मुल्ला भी वहाँ आ गया वह सचमुच आते ही राँझे को डाँटना-डपटना शुरू कर देता है, तो राँझा विनोद में भर कर व्यंग्य भाव से कहता है कि ऐ मुल्ला तुम्हारी दाढ़ी तो शेख की है, लेकिन अमल शैतान वाले हैं। तू जिस शरह और नमाज़ की बातें बघार रहा है वह क्या है? किस चीज़ की बनी हुई है? उसका कद, काठ और नाक-आँख कैसे हैं?

१. लैलतुल क़दर रमजान के महीने की २१वीं या २३वीं रात होती है। इस रात को रोजेदार मुसलमान जाग कर इबादत करते हैं। कहते हैं कि उन्हें खुदा का नूर दिखाई देता है।

जब काज़ी हीर का विवाह ज़बर्दस्ती सैदे खेड़े के साथ पढ़ने आता है तो हीर पूछती है कि ऐ काज़ी तू यह गुनाह किस लिए कमा रहा है। तुझे मालूम होना चाहिए कि जो इल्म पढ़ कर उस पर अमल नहीं करता वह नरक में जाता है और नरक में एक बहुत बड़ा कुआँ है, खुदा सब काज़ियों को उसमें डालेगा।

सामन्तवाद में विवाह एक राजनीतिक संस्था थी। बादशाह, सामन्त और सरदार अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्थित को दृढ़ करने के लिए एक-दूसरे से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते थे। उसमें प्रेम को अथवा वर और वधू की इच्छा को कुछ भी दख़ल नहीं होता था। स्त्री हर हालत में पुरुष के अधीन होती थी। माता-पिता चाहे जिसे लड़की ब्याह देते थे और कभी-कभी मार भी देते थे। रोमांस की कहानियाँ जो चौदहवीं—पंद्रहवीं सदी में घटित हुई अथवा लिखी गईं, इसी सामन्ती प्रथा के विरुद्ध जनता की विद्रोह भावना को व्यक्त करती हैं। पंजाब में भी सोहनी-महीवाल, सस्सा-पुन्नूँ, मिर्ज़ा-सेहबाँ और हीर-राँझे की प्रेम-कथाएँ इस युग में लिखी गईं। जैसे भक्ति आन्दोलन में मनुष्य को पुस्तक, जाति-पाँति के बन्धनों और रीति-रिवाज से श्रेष्ठ और आदरणीय बनाया गया है, उसी प्रकार इन प्रेम-कथाओं में स्त्री और पुरुष के लिए प्रेम के अधिकार की माँग की गई है।

लेकिन जिस समय ये किस्से लिखे गए थे उस समय सामन्तवादी व्यवस्था दृढ़ और सशक्त थी। उसके बदलने की कोई सम्भावना नहीं थी। इसलिए सामन्तवादी संस्थाओं और रीति-रिवाज का न तो खुल कर विरोध किया जा सकता था और न उन पर भरपूर व्यंग्य ही हो सकता था। सिर्फ़ प्रेम के अधिकार की माँग की जा सकती थी। अथवा किस्से के नायक और नायिका के प्रति पाठकों के मन में सहानुभूति और संवेदना उत्पन्न की जा सकती थी। कुछ भी हो इन रोमांस कथाओं पर मनुष्य के व्यक्तित्व की छाप थी और वे उसकी नई उमंगों को व्यक्त करती थीं।

वारिसशाह ने इन प्रेम-कथाओं में से वह कथा चुनी जो पंजाब के जीवन का एक अंग बन चुकी थी, जो सब से अधिक लोकप्रिय थी। लेकिन उन्होंने इस कहानी को ज्यों-का-त्यों इस्तेमाल नहीं किया बल्कि उन्होंने जो व्यापक अनुभव प्राप्त किया था और उनकी पैनी दृष्टि ने समाज का जो रूप देखा था, उसे चित्रित करने के लिए कहानी को घटाया-बढ़ाया है—उदाहरण के लिए राँझे के मस्जिद में रात काटने की घटना दूसरे किस्सों में भी है, लेकिन वारिसशाह ने काज़ी पर और उसके तथाकथित धर्म और शरह की जो आलोचना की है, वह उनसे पहले की किसी पुस्तक में नहीं है। फिर राँझे का जोगी के रूप में सहती से जो झगड़ा होता है, उसमें वारिसशाह ने दुनिया भर का ज्ञान भर दिया और समाज की भरपूर आलोचना की है। मुकबल आदि कवियों ने इस कहानी को सुखांत बनाया है, लेकिन वारिसशाह ने अपने किस्से को दुखांत बनाया है, जिससे उस युग का ऐतिहासिक सत्य बहुत ही सार्थक हो गया है।

वारिसशाह के 'हीर' की एक विशेषता यह भी है कि वह कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल हो पाया है। खुद वारिसशाह ने शुरू में ही लिख दिया है कि वाक्यों को कुछ ऐसे सुन्दर ढंग से दुरुस्त किया जाए कि यह किस्सा गुलाब का महकता हुआ फूल बन जाए, लोग इसे मजलिसों में बैठ कर पढ़ें और 'हीर-राँझे' के प्रेम का आनन्द ले सकें। वारिसशाह ने यह सिर्फ़ कहा ही नहीं, बल्कि किस्से को लिखने में यथार्थ में बड़ी मेहनत और सूझ-बूझ से काम लिया है। वारिसशाह के पूर्ववर्ती लेखकों ने न तो प्रेम को इतनी तीव्रता से अनुभव किया और न कथावस्तु को इतनी गहराई और सुन्दरता से व्यक्त किया। वारिसशाह का किस्सा पढ़ते समय वाकई हीर-राँझे के प्रेम के अमरत्व का आनन्द महसूस होता है:

"वारिसशाह प्रेम दी चाली न्यारी,
न्यारा अंतरा ऐस दे गीत दा ए।"

वारिसशाह ने प्रेम की न्यारी चाल और न्यारे अंतरे को समझा ही नहीं समझाया भी है। उन्होंने प्रेम की जो उपमाएँ दी हैं, वे भी एकदम न्यारी और निराली हैं। सिर्फ़ एक देखिए:

"एह आशक बेल अँगूर दी ने,
मुढों एसनूँ मूल ना पाट्टिये नी
ज्यों-ज्यों कट्टिये त्यों-त्यों होवे दूनी,
रुत्त नाल जे ऐसनूँ कट्टिये नी।"

अर्थात्—प्रेमी अँगूर की बेल है, इसे जड़ से कदाचित् न उखाड़िए। अगर इसे ऋतु के अनुसार काटा जाए तो जितना काटो, उतना ही बढ़ती है।

वारिसशाह के प्रेमी निर्भीक प्राणी हैं और हमेशा सच्ची, खरी बात कहते हैं। जब हीर का भाई उसे राँझे के प्रेम से मना करता है तो वह मुस्कराते हुए सस्नेह कहती है:

"सिर दित्तियाँ बाझ न इश्क पक्के,
वीरा नहीं सुखालियाँ यारियाँ ने।"

अर्थात्—मेरे वीर! मैं जानती हूँ कि सिर दिए बिना प्रेम नहीं पकता और यारियाँ निभाना सहज नहीं है।

हीर के विवाह के उपरान्त जब राँझा कान छिदवा कर जोगी बनता है, तो गुरु बालानाथ उसे शिक्षा देते हैं कि किसी स्त्री की ओर देखना जोगी का धर्म नहीं। इस समय राँझा मन को बात छिपाता नहीं, स्पष्ट कहता है:

"मेरी अरज़ सुनी गुरु बालानाथा,
जिसतें करम करें पार लंघदा जी।
मैनूं हीर देओ, मेरी तलब राहो,
हीर, हीर मेरे जिन्ना मंगदा जी।
नाथा वा कोलों जिवें डरे दीवा,
तीवें होरनाँ तों जिन्ना संगदा जी।"

अर्थात्—गुरु बालानाथ! मेरी एक प्रार्थना सुन लीजिए। आप जिस पर करम (दया) करें उसे पार लगा सकते हैं। मुझे हीर दे दीजिए। बस मेरी यही माँग है। मेरी आत्मा का कण-कण हीर माँग रहा है। जिस प्रकार दीपक वायु से डरता है उसी प्रकार हीर के अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों से मेरे प्राण भी डरते हैं।

फिर वारिसशाह के यह सच्चे और निर्भीक प्रेमी अपने मन में सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह भावना रखते हैं और उन्हें तोड़ते और चुनौती देते समय तनिक भी नहीं झिझकते। राँझे का मुल्ला से और हीर का क़ाज़ी से झगड़ा हम देख चुके हैं। जब हीर को राँझे के प्रेम से वर्जित करते हुए माँ उसे मारने की धमकी देती है तो हीर कहती है :

"पड़े हत्या कौम ओह नष्ट हुंदी,
धियाँ माराँ कौल गुआए माये
जिन्हाँ बेटियाँ मारियाँ रोज़ क़यामत,
सिर तिन्हाँ दे वडा गुनाह माये"

अर्थात्—ऐ माँ! अपना प्रण छोड़ कर बेटियों को मारने से ऐसी हत्या लगती है कि सारी कौम नष्ट हो जाती है। जो माता-पिता, बेटियों को मार देते हैं, क़यामत के दिन वे बहुत बड़े गुनाहगार ठहराए जाते हैं।

फिर वारिसशाह के महाकाव्य का एक विशेष गुण यह है कि वह नाटकीय ढंग में लिखा गया है। पात्र जब बोलते हैं तो एक ऐसा चित्र दृष्टि में उभर आता है कि वे साक्षात् सामने खड़े दिखाई देने लगते हैं।

हीर जब सखियों के संग जेहलम नदी पर आती है और उसे मालूम होता है कि कोई अजनबी उसके पलंग पर सो रहा है तो वह क्रोध में भर कर उसे मारने दौड़ती है।

वारिसशाह की रचना में लड़कियों का जो चित्रण है वह वास्तव में पंजाब की प्रत्येक नवयुवती रमणी का चित्र है। पंजाब की स्त्रियों और पुरुषों के, उनके मेले-ठेले और बारातों के, हाली-पाली और मवेशियों के, खेतों और नदियों के, पनघटों और त्रिंजनों के सफल चित्र हमें इस महाकाव्य में मिलते हैं। पंजाब के एक गाँव में क्या होता है और क्या न होने से वह गाँव-गाँव नहीं कहलाता अर्थात् पंजाब के एक गाँव की पंजाबियत क्या है, इसे वारिसशाह ने बहुत ही संक्षेप में बयान कर दिया है।

राँझा जब जोगी बन कर रंगपुर खेड़े में आता है तो उसकी निन्दा करते हुए कहता है :

"आन वड़े हाँ उजड़े पिंड अन्दर
काई कुड़ी न त्रिंजनी गाऊंदी ए
नहीं किलकिली पाऊंदी
ना सम्मी पब्बी मार धरत कंबाऊंदी ए।"

कैसे उजड़े हुए गाँव में आ गया हूँ जहाँ कोई लड़की त्रिंजन में नहीं गा रही। न कोई किलकिली पा रही है और न पंजे और एड़ी की धमक से धरती को कँपा रही है। मतलब यह कि जहाँ लड़कियों के त्रिंजन, गीत खेल और नाच न हों वह भी कोई गाँव है।

वारिसशाह ने सारे पंजाब को घूम-फिर कर देखा था और उन्हें पंजाब की धरती से प्रेम था इसलिए वह उसकी आत्मा और संस्कृति को चित्रित करने में सफल हुए हैं और इसी लिए उनका महाकाव्य इतना लोकप्रिय बन पाया है। उन्होंने अपने पात्रों का कुछ ऐसा विशिष्टीकरण किया है कि वे आज भी पंजाब (संयुक्त पंजाब) के देहात में सप्राण और सदेह चलते-फिरते दिखाई देते हैं और जब तक पंजाब और उसकी संस्कृति कायम है, वे इसी प्रकार चलते-फिरते दिखाई देंगे। पंजाब की हर लड़की हीर और हर लड़का राँझा कहलाने में गर्व महसूस करता है। कोई कुरूप पुरुष सुन्दर स्त्री ब्याह कर ले आए तो उसे 'सैदा खेड़ा' कहा जाता है, बेजोड़ शादी पर यह एक स्थायी व्यंग्य है और जो आदमी चुगली-निन्दा करे उसे 'कैदो' के घृणास्पद नाम से पुकारा जाता है।

वारिसशाह ने इस महाकाव्य में अपने सांसारिक और पुस्तक ज्ञान को कुछ इस प्रकार सँजोकर रखा है कि उनके बहुत से बोल लोकोक्तियाँ बन गए हैं, जिन्हें शिक्षित-अशिक्षित सभी अपनी मनोगत भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अवसर के अनुसार दोहराते हैं।

अब अगर भाषा के बारे में कुछ न कहा जाए तो यह लेख अधूरा ही रहेगा। वारिसशाह ने अपने महाकाव्य में लोगों की सरल और प्रचलित भाषा का प्रयोग किया है, जो सहज ही में समझ में आ जाती है और अपने सहज प्रवाह के कारण बहुत-सी पंक्तियाँ आप-ही-आप याद हो जाती हैं। इसके बावजूद वारिसशाह ने पंजाबी भाषा को अनेकों नए शब्द दिए हैं। ऐसा लगता है कि उनके पास शब्दों का अतुल भंडार था। उन्होंने फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्द बहुत उपयुक्त स्थान पर इस्तेमाल किए हैं। जहाँ वे भाषा के प्रयोग के समय अपने पात्रों की मनोस्थिति को ध्यान में रखते हैं वहाँ क़ाज़ी और जोगी की भाषा का अन्तर भी उनकी नज़र से ओझल नहीं हुआ।

वारिसशाह की उपमाएँ, रूपक और अलंकार बड़े ही सुन्दर और उपयुक्त हैं। अहमद यार पंजाबी का प्रसिद्ध आलोचक कवि है। वह वारिसशाह के बारे में कहता है :

"वारिसशाह सुखन दा वारस,
कितों न अटकिया वलिया।"

अर्थात्—वारिसशाह सुखन (कविता) का बादशाह है उसमें कहीं कोई अटकाव, कहीं कोई उलझन नहीं है।

वारिसशाह के महाकाव्य में जो असंगतियाँ और न्यूनताएँ हैं वे, उनकी व्यक्तिगत नहीं, उस समय की असंगतियाँ और न्यूनताएँ हैं। उदाहरण के लिए वारिसशाह ने अपने नारी पात्रों का बड़ी श्रद्धा और आदर से चित्रण किया है। हीर, सेहती और उनकी सखियों को चतुर साहसी और उदार दिखाया है। लेकिन वह कई बार उनकी बुराई करते हुए प्रचलित मुहावरे इस्तेमाल करते हैं, जैसे—औरतों की खत-मत गुत (चोटी) के पीछे होती है, स्त्रियाँ सच्चे को झूठा कर दिखाती हैं और चलते राहियों को कैद करवा देती हैं। फिर राँझे के बुलाने पर पाँचों पीर बार-बार आते हैं और अपना चमत्कार दिखाते हैं। आज के मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि ऐसे चमत्कारों की कायल नहीं।

इसके बावजूद 'हीर' वारिसशाह की अमर कृति है। जिस प्रकार महाकवि पुश्किन ने रूसी भाषा को जनता से सीख कर उसे अपनी कला और प्रतिभा से साहित्य की भाषा बनाया था, उसी प्रकार वारिसशाह ने पंजाबी को साहित्य की भाषा बनाया, इसके लिए पंजाब उनका हमेशा कृतज्ञ रहेगा।



बिमल कर

हमारे कालेज में श्री पूर्णेन्दु विकास बोटनी के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। उनके आगमन पर हम लोगों ने यानी मैंने और मोहित ने आपस में वार्तालाप किया कि वह एक 'कनट्रास्ट' है। यानी जब हम परस्पर नए प्रोफ़ेसर साहब के सम्बन्ध में बातचीत करने लगते थे, तो दो-तीन महीने पहले का एक दृश्य हमारे मानस-पट पर सजीव हो उठता था···

तब हम लोग इर्द-गिर्द के कालेजों को छोड़कर नव-निर्मित 'राजा प्रदीपनारायण' नामक कालेज में उपस्थित हुए थे। इस कालेज के अधिकांश प्रोफ़ेसर नवयुवक थे। मेरे आने पर ही कालेज का उद्घाटन हुआ। उस अनुष्ठान-उद्योग में मैंने सर्वप्रथम 'रानी सुवर्णसुन्दरी' जी को देखा, मैजिस्ट्रेट साहब के बाद में दुग्ध-फेनिल इस्लामपुरी धोती पहने हुए बैठी थीं। शरीर का रंग हाथीदाँत जैसा शुभ्र, मुखमंडल कोमल सम्पूर्णता से परिपूर्ण अभिजात और समुज्ज्वल था। रानीजी के कंठ पर हीरे का एक नेकलेस मंद-मंद झूम रहा था। हम लोग विस्फारित नेत्रों से वह दृश्य देख रहे थे। उनकी दो नीलाभदीप्त आँखों को देखते ही क्षण भर में स्मरण हो आया कि मैं जिस रूप-लावण्य को देख रहा हूँ, वह रूप नहीं, रूप की छाया है।

जब रानीजी भाषण देने के लिए खड़ी हुईं, तब उनके लावण्य का मैंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया। अभिवादन के साथ नमस्कार करते समय रानीजी के ओठों पर मृदु-मधुर मुस्कान की रेखा छिटक गई थी। उसके पश्चात् धीर-नम्र, स्पष्ट और यथास्थान, ध्वनित स्वराघात के साथ उन्होंने प्रांजल भाषा में भाषण दिया। उनके भाषण में बंगला शब्दों के साथ अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश था। भाषण की श्रुति-मधुरता में श्रोता अभिभूत हो उठे थे। रानीजी के भाषण के दौरान में मैजिस्ट्रेट साहब और दीवानजी बीच-बीच में चौंक उठते थे और राजकुमारी चन्द्रा भी।

रानीजी ने स्वाभाविक कण्ठ से अपने राज-परिवार के ऐयाशी और उच्छृङ्खलता में बह जाने का घोर प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा, "राज-परिवार ने शामियाने की रोशनी में जगत और जीवन को देखा है। मैं इस युग की धारा को भली भाँति समझ चुकी हूँ, सो मैं वह आलोक प्रज्वलित करना चाहती हूँ, जो समस्त अन्धकार को समूल दूर कर राज-परिवार का मुख उज्ज्वल करे। राज-परिवार की विलासिता और इस कलुषित प्रमोदोद्यान को निश्चिह्न करने के लिए मैंने इस कालेज का निर्माण करवाया है। आशा करती हूँ, भविष्य में यह विद्या का विकास करके उद्दीप्त हो उठेगा।"

सभा का गुंजन स्तब्ध हो गया था। ऐसी निस्तब्धता थी कि दिलों की धड़कन तक गिनी जा सकती थी। सबों के चित्त रानीजी के दीप्त भावों पर जमे हुए थे।

रानीजी ने फिर कहा, "हमें ख्याल रखना होगा कि हम एनिमल्स हैं······हायर—एनिमल्स; हम 'रेसपाण्ड' कर सकते हैं, 'री-ऐक्ट' कर सकते हैं, किसी की पुकार को सुनकर हम विचलित हो उठते हैं और किसी के आघात पर हम निष्क्रिय नहीं रह सकते, सो यही 'हायर एनिमल्स' का धर्म है।"

इसके बाद हम अपनी विमुग्धता को न रोक सके। चमत्कृत होकर विह्वलता और उच्छ्वास के साथ हमने रानीजी के प्रति अभिनन्दन ज्ञापन किया। रानीजी इस अभिनन्दन से विस्मित नहीं हुईं। अत्युक्ति से वे उत्तेजित भी नहीं हुईं। इसके बाद मैजिस्ट्रेट साहब ने चाँदी का 'ट्रे' को अपने हाथों से रानीजी के सम्मुख रखा। रानीजी ने 'ट्रे' से कैंची उठा कर हरे फीते को काट दिया। फिर उन्होंने 'राजा प्रदीपनारायण' कालेज के प्रशस्ततम कक्ष के दरवाज़े को खोल दिया। राजकुमारी चन्द्रा ने अपनी अंजुली में प्रदीप रखकर कक्ष में सर्वप्रथम पाँव रखे। मालूम हो रहा था कि कितनी ही पायलों की रुन-झुन झंकार मुहूर्त में स्तब्ध हो गई और एक झटके के साथ कुछ रुद्ध वायु अन्धकक्ष में अन्तिम बार अपना आर्त्तनाद सुना कर अदृश्य हो गई। प्रदीप की आलोक-दीप्ति से प्रत्येक कक्ष प्रकाशमान हो उठा, मानो अज्ञान के तिमिरघनों पर ज्ञानरूपी चंचला ने विजय पा ली हो!

× × ×

कालेज की पढ़ाई आरम्भ हुई। राजकुमारी चन्द्रा भी अन्य छात्राओं की तरह 'फर्स्ट ईयर' क्लास में आई। किन्तु गीता, ललिता और रेखा आदि के साथ न बैठ कर राजकुमारी बैठी थी एक सुन्दर और सुरुचिपूर्ण कुर्सी पर। प्रिन्सिपल साहब ने ही यह व्यवस्था की थी। रानीजी को यह खबर मिलते ही प्रिन्सिपल साहब को एक चिट्ठी मिली, जिसमें यह लिखा हुआ था कि राजकुमारी चन्द्रा भी अन्य छात्राओं की तरह शिक्षा ग्रहण करे। उसकी पृथक व्यवस्था उचित नहीं। आप ऐसे किसी उदाहरण या परिस्थिति की सृष्टि न करें कि चन्द्रा अपने को साधारण मनुष्यों से पृथक समझने लगे।

उस पत्र को हम लोगों ने भी पढ़ा था। किसी ने कहा, "रानीजी ही 'ट्रू-डिमोक्रेसी' की ज्वलन्त उदाहरण हैं।"

दूसरे ने दाद देते हुए कहा, "इंग्लैण्ड की शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित हैं न।"

व्यतिक्रम तो यह था कि संस्कृत के अध्यापक मथुरेन्द्र बाबू इन बातों से सहमत नहीं थे, सो उन्होंने कहा "वह राजा की द्वितीय पत्नी हैं, विलायत घूम आई हैं और उनसे राजा भी परेशान थे। चार वर्ष में केवल एक ही वर्ष उन्होंने रानीजी के साथ व्यतीत

किया था। चन्द्रा तो प्रथम स्त्री की कन्या है, सो उस पर इतनी उदारता है !"

रानीजी विमाता थी; तथापि कुमाता नहीं। दो-तीन महीने में ही हमने रानीजी की उदार मनोवृत्ति और विशालहृदयता की उपलब्धि की। जब राजकुमारी ने 'बोटेनी' पढ़ने की इच्छा प्रकट की तब प्रिन्सिपल साहब बड़ी ही मुश्किल में पड़ गए, क्योंकि कालेज में 'बोटेनी'—'कम्बीनेशन' की कोई व्यवस्था नहीं थी। किन्तु राजकुमारी का आग्रह जो था, सो उन्होंने तुरन्त ही रानीजी से साक्षात् कर 'बोटेनी' के एक जूनियर प्रोफ़ेसर की नियुक्ति की व्यवस्था कर दी।

इसके पश्चात् ही श्री पूर्णेन्दु विकास 'बोटेनी' के प्रोफ़ेसर होकर इस कालेज में आए। आते ही दीवार में स्थित, स्व० राजा प्रदीपनारायण की प्रतिछबि और रानीजी के भाषण की शेष कुछ पंक्तियों को उन्होंने गौर से लक्ष्य किया। उनकी जिज्ञासु दृष्टि को देखकर हमने उन्हें उद्‌घाटन समारोह से तब तक की समस्त बातें बताईं। रानीजी की 'इन्सपायरिंग टाक्स' से हम किस तरह अभिभूत हुए थे, वह भी हमने बताया। उन्होंने अन्यमनस्क भाव से निस्पन्द हमारी बातों को सुना।

इसके बाद दूसरे दिन ही मैंने अपने क्लास में बैठे अनुभव किया कि प्रोफ़ेसर साहब बग़ल के कमरे में, मृदु किन्तु मधुर उत्तेजित स्वर में 'ऐनिमल्स और प्लान्ट लाइफ़' के भेद को समझाते हुए आत्मविभोर हो उठे थे। उत्सुकतावश मैं दीवार से सट गया, किन्तु सभी बातें मेरे कानों तक न पहुँच सकीं। फिर भी प्रो० साहब कह रहे थे, शायद जीवन सृष्टि के पहले ही प्रकृति ने इस जटिल प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा की थी कि 'हू इज़ मोर स्युटेबुल टू दिस अर्थ ? एनिमल्स आर प्लांट ?' अर्थात् कौनसा जीवन उपयुक्त है, वह जीवन जो रेसपांड कर सकता है अथवा असहाय मूक जीवन, जो सम्पूर्ण ही क्षुधा और आयु से निपटारा करता है ?

हठात् प्रो० पूर्णेन्दु की आवाज़ धीमी पड़ गई। और मेरे सम्मुख उस दिन की छवि स्पष्ट हो उठी। इस कालेज का उद्‌घाटन समारोह और रानीजी का प्रांजल भाषण, "हमें ख्याल रखना होगा कि हम 'एनिमल्स—हायर एनिमल्स' हैं।" फिर हठात् स्मरण हो आया कि यह तो 'कनट्रास्ट' है। रानीजी और प्रो० पूर्णेन्दु जीव जगत के दो प्राचीन पृथक अस्तित्व हैं, मानो ये पृथक् एवं प्रतिद्वन्द्वी दो अस्तित्व हैं।

× × ×

हम परिवार हीन कई नवयुवक प्रोफ़ेसर थे। प्रोफ़ेसर होने के नाते रानीजी की कृपा से निवास के लिए घर भी मिल गया था।

एक कमरे में मैं और मोहित दोनों रहते थे और बग़ल का कमरा 'बोटेनी' के प्रोफ़ेसर पूर्णेन्दु बाबू का था। पूर्णेन्दु को बन्धुत्वसूत्र में बाँधने की हम ने भरसक कोशिशें की, लेकिन उनका स्वभाव, रहन-सहन सब अजीब किस्म का था। कभी-कभी वे हम से किसी विषय पर वाद-विवाद करते, घर में आते, बैठते फिर भी वे हमारी आन्तरिकता के घेरे में न आ सके। शायद आयु में उनसे अधिक होने के कारण वे मुझ से संकोच करते थे। इस पर भी उनकी सुख-सुविधा का हम हमेशा ख्याल रखा करते थे। किन्तु निभृत अन्तर की कामना और वांछनाओं पर हमारा कोई अधिकार न था। क्रमशः प्रो० पूर्णेन्दु कालेज के अध्यापक और छात्र-छात्राओं के सम्मुख कौतूहल की एक प्रतिमूर्ति बनने लगे। हम अन्तरदृष्टि से उन्हें अनुभव करने लगे। कारण वे अपने साथ लाए थे सामूहिक सौन्दर्य और वेदना !

हम कालेज से उदासीन थे, यद्यपि रानीजी ने हमारे ही हाथों में कालेज की उन्नति का भार समर्पित किया था। हम सिर्फ़ जीविका-निर्वाह के लिए ही काम किए जा रहे थे। परन्तु प्रो० पूर्णेन्दु उत्साह के साथ किसी की खोज में पथभ्रान्त पथिक की तरह अन्धकार में पथ अन्वेषण कर रहे थे। एक बार क्लास में वे 'क्रिप्टोगेमिया' और 'फ़ायलोटाक्सी' को समझाते हुए आत्मविभोर हो कर उद्भिज रहस्य के एक सूत्र से अन्य सूत्र में मँडराने लगे थे, सो कालेज में प्रचार हो गया था कि वे 'प्लांट' प्रोफ़ेसर हैं। आश्चर्य की बात है, 'पूर्णेन्दु' नाम ही सब भूल गए। इस अनुचित सम्बोधन को सुन कर हमने छात्रों का तिरस्कार किया, समझाया, परन्तु जिनका यह तिरस्कार और उपहास हो रहा था, वह इन विषयों पर कभी भूल कर भी ध्यान न देते थे। कभी उनको देखता 'बोटेनी' बाग में तालाब के पास, जहाँ श्वेत-प्रस्तर से बनी हुई एक नग्न नारी की मूर्त्ति थी। श्वेत-प्रस्तर होने पर भी शिल्पी ने यौवन की कमनीयता उसमें कूट-कूट कर भर दी थी। उस मूर्त्ति के निकट ही एक विश्रामागार था। शायद किसी समय में विलासी राजा उस विश्रामागार में दीनो-दुनियाँ को भूल कर सुरा और सुन्दरी के साहचर्य का आनन्द उठाया करते थे। लेकिन वह मूर्त्ति समाधिस्थ जोगन की तरह तपस्विनी बनकर किसी की आराधना में लीन थी, मानो आँखों पर 'माइक्रोस्कोप' लगाकर 'साइटोप्लाजी' के आश्चर्य जगत में किसी रहस्य की खोज में विचरण कर रही हो !

प्रोफ़ेसर पूर्णेन्दु ने अपने ही हाथों से नाना प्रकार के पौधे और लताओं के 'स्पेसिमन' की सृष्टि की थी। 'क्रिपर' और 'रूट' के उस जगत को हमने दूर से ही समझा था। प्रो० पूर्णेन्दु तालाब पर उन पौधों और लताओं को लेकर ही हमेशा मग्न रहते थे। बिजली की बत्ती जलाकर 'माइक्रोस्कोप' आँखों पर लगाकर प्रो० पूर्णेन्दु ने ठंडी हवा में ध्यान मग्न होकर कितनी ही रातें बीता दी थी। 'बोटेनी' क्लास में वे छात्राओं को गार्डन में ले जाते थे। किन्तु हठात् एक दिन छात्राओं का गार्डन जान बन्द हो गया, तो हम लोग आश्चर्य-चकित रह गए।

कालेज की छुट्टी होने पर प्रिन्सिपल साहब ने हम से कहा, "आप लोग एक बार गार्डन होकर आइए।" हम लोग वहाँ पर गए, किन्तु उस दिन प्रो० पूर्णेन्दु नहीं आए थे, सो यह तो सौभाग्य की बात थी क्योंकि अगर वह आते तो शायद उनका हृदय-स्पन्दन रहित हो जाता। हमने 'बोटेनी गार्डन' को देखा सिर्फ़ कुछ मुहूर्त तक। उसके बाद हमारी आँखें शर्म से झुक गईं। उस प्रस्तर-मूर्ति को किसी ने रंग से अलंकार का प्रतिरूप बनवा कर पहना दिया था। परन्तु सिर्फ़ अलंकार ही नहीं, प्रांजल भाषा में अर्थकरण भी कर दिया गया था। यद्यपि अलंकार को क्षमा किया जा सकता था, लेकिन अर्थकरण को किसी भी तरह क्षमा नहीं किया जा सकता था। प्रो० पूर्णेन्दु को छोड़ सकता हूँ, किन्तु

राजकुमारी चन्द्रा की निन्दा ? हमें आशा थी कि रानी जी इतनी बड़ी निन्दा और निर्लज्जता को कभी सहन नहीं करेंगी। इसके बारे में प्रिन्सिपल साहब ने मीटिंग की। उन्होंने कहा, "किस के द्वारा यह कुकर्म हुआ है ? उसे हम खोज कर अवश्य निकालेंगे।"

प्रोफ़ेसर पूर्णेन्दु इस विषय पर बिल्कुल खामोश थे, सिर्फ़ इतना ही उन्होंने कहा कि उसे मिटा दिया जाए। मिटा तो दिया जाए परन्तु लोगों की जबान को क्या करें ?

ग्रीष्म-ऋतु की छुट्टी के बाद रानीजी एक दिन कालेज में आईं। उन्होंने प्रिन्सिपल साहब के साथ सर्वप्रथम 'गार्डन' का मुआयना किया। उस समय प्रो० पूर्णेन्दु तालाब पर कुछ उद्भिजों को लेकर अन्वेषण में मग्न थे। रानीजी ने प्रो० पूर्णेन्दु को पहली बार देखा और उन्होंने गौर से उनके हाव-भाव को लक्ष्य किया। रानीजी ने उनसे पूछा, "क्या देख रहे हैं आप ?" उन्होंने कहा, "स्पाइरोगैरा।" रानीजी ने आश्चर्य से प्रश्न किया, "स्पाइरोगैरा याने मास ?" प्रो० पूर्णेन्दु ने कहा, "दीवारों पर जो हरा रंग का उद्भिज-सा दीखता है, वह 'मास' है।"

रानीजी ने प्रस्तर-मूर्ति की ओर इशारा करते हुए कहा, "अगर उसके शरीर पर 'मास' जम जाए तो उसका क्या नाम होगा ?"

प्रो० पूर्णेन्दु निस्तब्ध हो गए। एक बार उन्होंने रानीजी की ओर देखा और फिर उस 'स्टैच्यू' की ओर।

रानीजी ने प्रिन्सिपल साहब से कहा, "छात्राओं को भी गार्डेन जाने दिया जाए और वे तो कोई बच्ची नहीं हैं।"

फिर से 'बोटेनी' क्लास शुरू हो गया। एक दिन प्रो० पूर्णेन्दु को कहते हुए सुना, "चन्द्रा 'बोटेनी' में अच्छा 'रिज़ल्ट' करेगी। कारण, वह इस 'सब्जेक्ट' में बहुत ही दिलचस्पी लेती है।" मैंने और मोहित ने समझा कि उन्हें सावधान कर दें, किन्तु फिर सोचा कि कहीं वह गलत न समझ बैठें।

उधर कालेज में प्रचार हो गया था कि प्रो० पूर्णेन्दु राजकुमारी के सम्बन्ध में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। यहाँ तक कि उन दोनों को 'गार्डन' में अकेले रहते हुए भी देखा गया था। जब चन्द्रा 'माइक्रोस्कोप' पर गर्दन झुका कर कुछ देखने में खो जाती थी तब प्रो० पूर्णेन्दु की गर्दन अनजाने में ही झुक जाती थी। एक दिन मोहित कह रहे थे, "अगर यह बात वास्तव में ठीक है तो छिपाने की क्या आवश्यकता है ? रानीजी भी यथेष्ट उदार हैं और पूर्णेन्दु भी कोई अयोग्य पात्र नहीं।"

एक दिन हमने उनसे पूछा था, "क्या आपके पास राजकुमारी चन्द्रा 'एक्स्ट्रा क्लास' करती है ?" प्रो० पूर्णेन्दु ने शान्त भाव से कहा था, "नहीं······।" "परन्तु हमने सुना है कि कालेज की छुट्टियों के बाद भी 'चन्द्रा' आपके साथ प्रायः 'गार्डन' में रहती थी।" प्रो० पूर्णेन्दु ने कहा, "हो सकता है, दो-एक रोज़ रही हो।" इस प्रश्न के बाद हम लोग चुप हो गए, क्योंकि वह बड़े ही शान्त और आत्मविभोर मनुष्य थे। लेकिन इधर रसभरी टीका-टिप्पणियों से कालेज के वातावरण में हलचल पैदा हो गई थी।

एक दिन हठात् तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। आकाश में मेघ-मालाएँ इतस्ततः विचरण कर रही थीं। कालेज की छुट्टी हो गई थी। सोचा बारिश होगी, सो 'गार्डन' से पूर्णेन्दु को बुला लेता चलूँ। जब मैं तालाब के निकट आया तब देखा विश्रामागार में चन्द्रा खड़ी है। उसकी सतृष्ण आँखें बगीचे के चारों ओर कुछ खोज रही थीं। हवा से उसकी वेश-भूषा विश्रृंखल हो गई थी। विस्तृत ललाट पर सुनहरी काकुलों की लटें दिशाहीन भटक रही थीं। उसकी निष्पलक आँखें प्रो० पूर्णेन्दु को घूर-घूर कर देख रही थीं। उन दोनों का फ़ासला मुश्किल से बीस कदम होगा। और एक दिन मोहित ने भी देखा था कि गोधूली के समय पूर्णेन्दु के बहुत ही करीब राजकुमारी चन्द्रा खड़ी थी।

× × ×

कुछ दिनों के बाद अकस्मात् एक दिन हम लोगों के पास राजकुमारी चन्द्रा के शुभ विवाह का निमन्त्रण पत्र आया। सुनने में आया कि भावी दूल्हा बड़ा ही सम्पत्तिशाली है। अब तो राजकुमारी चन्द्रा का कालेज आना भी बन्द हो गया। इन दिनों 'बोटेनी' के प्रोफ़ेसर हताश-से नज़र आते थे। एक दिन अपने-आप वह कह रहे थे, "अगर चन्द्रा परीक्षा देती तो अच्छा होता।"

मैंने उत्तर में कहा था, "परीक्षा दे कर अब क्या करेगी ? अब तो फूलों को देखने का समय चला गया। अब तो माला बुनने का समय आया है।" प्रो० पूर्णेन्दु खामोश रहे ! इतने दिनों के बाद मेरा सन्देह दूर हो गया और स्वयं जो कुछ भी देखा था, वह अब अर्थहीन-सा प्रतीत होने लगा।

राजकुमारी चन्द्रा की आज शादी थी। 'इंगलिश बैंड' बज रहा था। राजमहल स्वर्णमहल में परिणत हो गया था। और आतिशबाजी मानो चारों ओर धूम मचा रही थी।

इधर हम लोग शादी में जाने के लिए तैयार हो गए, परन्तु प्रो० पूर्णेन्दु अब तक नहीं आए थे, सो उनकी खोज में मैं और मोहित 'गार्डन' की ओर गए। किन्तु वे वहाँ भी नहीं थे। आकाश में चाँद की किरणें झिल-मिला रही थीं। परेशान होकर हम लौटे जा रहे थे कि हठात् हमारी नज़र तालाब के घाट पर चली गई, तो हमने देखा, प्रो० पूर्णेन्दु उस प्रस्तर-मूर्ति—मर्मर अवयव से लता की तरह सट गए हैं। धवल चाँदनी रात्रि ने उनके हृदय में और मस्तिष्क में एक आश्चर्य-अद्भुत मोह का विस्तार कर दिया था। उन्होंने उस मूर्त्ति को अपनी भुजाओं में क्यों समेट लिया था ? कौनसी आशा पर ? मूर्त्ति तो निष्प्राण थी। फिर पूर्णेन्दु ने अपने आवेगपूर्ण ओंठों को उस मूर्त्ति के ओंठों पर क्यों रख दिया था ? चाँद की स्वच्छ किरणों में आज प्रो० पूर्णेन्दु का समस्त रहस्य अनावृत हो गया।

मोहित उनके पास जाने लगा तो मैंने यह कह कर रोका, "जाने दो ···डोण्ट डिस्टर्ब हिम।" उस दिन मैंने एक 'क्रिपर' को देखा था, कितनी आतुरता और गहरी आन्तरिकता के साथ उस मूर्त्ति को अपनी भुजाओं में समेट रखा था।

(शेष पृष्ठ ५१ के बीच में)

पूनों का चाँद

रहमान राही

आकाश के तारे चारों ओर टोह लगाने लगे—
स्नेह और प्यार भरा पूनों का चाँद दिखाई देने लगा;
चाँद का रुपहला प्रकाश सभी ऊँच-नीच पर पड़ने लगा;
स्नेह और प्यार भरा पूनों का चाँद दिखाई देने लगा;
झरनों में चाँदनी छिटकने लगी और निर्झर मस्त होकर भागने लगे;
पर्वतों पर से नदियाँ मदमाती उतर आईं
और ऊँचाइयों और निचानों में आवाज़ें लगाने लगीं
कि स्नेह और प्यार भरा पूनों का चाँद दिखाई देने लगा;
अल्हड़ यौवन की मस्ती और सुवास-सुगन्धि वायु में भर गई;
इस नए चाव में वायु ने अपनी गति की शान दिखाई,
और स्नेह और प्यार की सुधि में अपने हृदय के रहस्य खोल दिए,
क्योंकि स्नेह और प्यार भरा पूनों का चाँद दिखाई देने लगा।
संध्या की कालिमा में सारी दुनिया का वर्ण धवल हो गया;
पर्वत-पर्वत प्रकाश से प्रकाशमान हुआ।
चटकते-चटकते इस चाँदनी में सघन वन भी चमकने लगे—
संध्या के बाद भी फिर से बुलबुल ने गुलों (फूलों) की
संगति की—यह देख उलूक मातम मनाने लगे।
अन्धे भी इस अन्धकार में आँसू बहाने लगे, जब स्नेह और प्यार भरा
पूनों का चाँद दिखाई देने लगा। यह देखो किस तरह दिन छिपे चन्दा
अठखेलियाँ कर रहा है और इशारों-इशारों में सब को समझा रहा है
कि अन्धकार प्रकाश का मुकाबला नहीं कर सकता। यह लो!
स्नेह और प्यार भरा चाँद दिखाई देने लगा।

●

उद्भिज—(पृष्ठ ४० का शेषांश)

मोहित ने उस दिन विद्रूप से कहा था, "किसे? राजकुमारी चन्द्रा को!" मैंने कहा था, "हो सकता है, राजकुमारी चन्द्रा, अथवा दुर्लभ चन्द्रा की सुलभ स्मृति को, या कोई अचेतन कामना को ही।"

विवाह हो गया। चन्द्रा ने अपने प्रोफ़ेसरों को सम्मान के साथ विदाई दी। प्रशस्त कक्ष फूलों और सुगन्धि से मुखरित हो उठा था। मैं जब उसके निकट गया, तो उसने प्रणाम करते हुए अपनी काजल से सुशोभित आँखों को मृदु ऊपर उठा कर कहा, "वह नहीं आए···?" मैंने अपनी गर्दन हिला कर कहा, 'न'। उसकी माता रानीजी मेरे पीछे ही खड़ी थीं, सो उन्होंने तत्परता से कहा, "क्यों चन्द्रा, तुम्हारे 'बॉटेनी' प्रोफ़ेसर साहब भी तो एक 'प्लांट' हैं न? उनको चेतना ही कहाँ? वे तो हमेशा लैबरटरी में ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें तो 'एनिमल्स' होना था......!"

इन बातों से चन्द्रा की गर्दन सलज्जता से झुक गई। रानीजी ने मृदु मुस्कुराहट के साथ चन्द्रा को एक बार देखा और फिर दूसरी ओर चली गईं।

रानीजी ने प्रो० पूर्णेन्दु में क्या देखा था, मैं नहीं समझ सका। किन्तु मैंने उस निस्तब्धता और चन्द्रमा की उज्ज्वलता में देखा था, एक आश्चर्य उद्भिज प्रेम, अव्यक्त वेदना और उत्फुल्लता को!

अनुवादक : विमानचन्द्र दे

●

शब्द और शब्दकोश—(पृष्ठ २५ का शेषांश)

का कैटभ रूप है। अशोक ने मनशेरा के शिलालेख में लिपि का आदि-रूप 'दिपि' दिया है। यह फारसी का शब्द है। फा दबीर इससे ही बना है। हिन्दी में ऐतिहासिक तथा सामाजिक कारणों से अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी, डच, पोर्तुगीज, फ्रेंच और जर्मन शब्द आ गए हैं। हिन्दी का संत और सूफ़ी साहित्य अरबी तथा फारसी शब्दों से भरा पड़ा है। उन सबको कोश में लेना ही चाहिए। इसके अलावा इन शब्दों में वह व्यंजना-शक्ति और ज़ोर आ गया है कि इनके स्थान पर दूसरा नया संस्कृतमय शब्द मौजूँ नहीं होता। हिन्दी में साहिब का अर्थ ईश्वर हो गया था। इस कारण इस शब्द का व्यवहार संत-साहित्य और तुलसी ने किया है। उससे उनकी प्रतिभामयी लेखनी का ज़ोर बढ़ा है, घटा नहीं। हमारा डोल फारसी है और बालटी पोर्तुगीज़। भले ही ये शब्द कहीं से आए हों अब हमारी शब्द-सम्पत्ति हैं। इसका भी ध्यान रखना पड़ेगा।

४. अर्थ वह ठीक होता है जो व्युत्पत्ति-संगत हो और साथ ही उस भाषा के भाषियों में घिसते-मँजते उसने जो विस्तृत या थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूप ग्रहण कर लिया हो। एक शब्द 'सोच-विचार' लीजिए। विचार तो अच्छी बातों का होता है, पर सोच के भीतर दुःख की भावना भी है। यह इसलिए कि वैदिक शुच् का अर्थ 'आग लगाना, जलाना' है और इसी के प्रेरणार्थक रूप शोचय का अर्थ 'आग की तेज आँच में तपाना' है। अधिकांश हिन्दी भाषी यह नहीं जानते, पर परम्परा से इसके भी दुःख या सन्ताप का भाव उन्होंने सुरक्षित रखा है। यह अर्थ व्युत्पत्ति-संगत है और इसका जनता में भी प्रचार है। व्युत्पत्ति अर्थ को स्पष्ट करती है और शब्द का इतिहास बताती है। इससे विद्वान और अ-विद्वान सभी लाभ उठा सकते हैं। इससे ही पता चलता है कि हरिन, मृग, एण के अर्थों में क्या-क्या विशेषताएँ

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

नवीना सृष्टि की द्वाभा में

वीरेन्द्रकुमार जैन

जब हम मिले थे प्रथम बार,
जब हमारी आँखें मिली थीं प्रथम बार,
रात डूब रही थी पश्चिमी सागर में
दिन उदय हो रहा था पूर्वाचल पर—
काल के उस एक संयुक्त पल में।
पश्चिम के कुहरिल अवगुण्ठन में से
नीहार के पिघलते अधर मुस्कराए :
और लो, अंकित हो गया
एक चुम्बन गुलाबी पूर्व के गाल पर।
वह थी द्वाभा नवीना सृष्टि की
जो कि गोचर थी, फिर भी अगोचर थी।

× × ×

वह था वह चरम-परम लग्न-क्षण
जब तुम उठीं ईथर के सागर से
मेरे प्यार के आलोक में नहाती हुईं :
मेरी चिर पुकार के चरम उत्तर-सी
रूप वह कि जिसका
केवल स्वप्नभास पाया था मैंने,
पर जो था चिर अज्ञात मुझको—
फिर भी कितना अपना-सा,
अपनी ही ममता के मुखड़े-सा लगता था।
रात की वह नील-कमला कन्या,
सृष्टि के गर्भ की गोपन-माधुरी वह :
जोकि मानव-हृदयों की
सारी पुकारों, सामीप्यों और ऊष्माओं के पीछे
एक अदृश्य जादूगरी-सी सदा रहती है।

× × ×

मैं पुरुष, आदि आलोक सत्ता का,
मैं अजन्मा ही रहा,
जब तक कि तुमने ओ आइसिस, माँ, वल्लभा,
हटा न दिया घूँघट अपनी पावन रात का;
कि जब तक तुमने
अनावरण न किया गोपन मर्म
अपने गम्भीर जंघा-सरों का,
कि अपनी गोद के मधु पद्म-सम्पुट का।

× × ×

मैं सर्व-व्यापी, अगोचर, अनन्त,
निश्चल औ' निराकार,
निरन्तर व्याकुल जो रूप लेने को;
अचेतन शून्य की
विजन बीहड़ता में मैं था
सुस्थिर, अनाविल प्रभा का
एक निःसीम, निस्तरंग, प्रान्तर !
मैं था ऐश्वर्य वह
कि जो स्वयं को अनजाना था !
मैं था प्रकाश वह
कि जो स्वयं को अन्धकार था !
मैं था अमरता वह
कि जो एक परिवर्तनहीन मरण था !
मैं, जो था केवल अकूटस्थ ब्रह्म :
मैं, जो सब-कुछ था फिर भी कुछ नहीं था—
मैं सिहर कर हिल उठा,
छोड़ कर निःश्वास जाग उठा
तुम्हारे गोपन-गर्भ में—
पाकर ऊष्म परस तुम्हारी उर्मिला अँगुलियों का !
ओ री ओ माता, प्रियतमा अज्ञाता,
तुम्हारे सागर-गम्भीर नीलांचल के भीतर से
मुक्त होकर फूट पड़ी चिर गोपन गोमुखी :
और लो, देखो तो, उफन पड़े उसमें से
अनन्तानन्त जीवन के पारावार ये अपार :
कि उनकी तरंग-चूड़ा पर
मेरे हृदय के पद्म में से तुम उठीं
आगामी सृष्टि की नवीना आदि कन्या,
धारण किए अपने वक्ष-देश पर
संयुक्त भूमण्डल द्यौमण्डल !
सान्त औ' अनन्त परस्पर गलबाँही डाल
खेल रहे तुम्हारी उठी हुई हथेलियों पर।

× × ×

ओ री ओ, प्रियतमा दिव्या,
अपनी लीलायित अँगड़ाइयों के
हर-हर अंगों में से
उत्पन्न कर वस्तुओं के पूर्णतम रूपों को,
परिपूर्ण कर रही तुम
चिर-प्यासी मानव-जाति की
अनादि वासनाओं को,
चिर अपूर्व कामनाओं को।
इस प्रकार मैं, जो था भगवान सर्वशक्तिमान,
फिर भी निपट शक्तिहीन, एकाकी औ' अनाथ,
मैं, जो था सर्वज्ञ, फिर भी आप अपने को
अज्ञात,
बन गया सृष्टि का स्वामी सिरजनहार,
तुम्हारी प्यार से आलोड़ित बाँहों पर उदार !

× × ×

बन गया स्रष्टा मैं ऐसी एक सृष्टि का,
इतनी जो परिपूर्ण, इतनी जो सुसम्वादी,
सपना भर देखा जिसका युगान्तरों में
मानव के पुत्रों और पुत्रियों ने,
स्वर्गों और कल्प-वृक्षों की कल्पनाएँ कर,
पर कभी नहीं जिसको सिद्ध किया था
अपनी इस प्यारी धरती पर।

× × ×

ऐसा कुछ घटित हुआ उस पर मुहूर्त में,
जब तुम-हम मिले थे प्रथम बार
काल की अविभाजित द्वाभा में !
जब रात डूब रही थी पश्चिमी सागर में,
जब दिन उदय हो रहा था पूर्वाचल पर,
बँध गये थे तब एक अगोचर परिरम्भण में
प्रकाश और अन्धकार !
और देखो तो, अंकित हो गया था
एक चुम्बन पूर्व के गाल पर,
रात के शीर्ण होते घूँघट के भीतर से।
और देखो तो, तुम्हारे चुम्बन के
उस कमल की पंखुरियों से—
एक नया ही सूर्य उदय हो उठा मेरे भाल पर,
एक नया ही युग उतर आया भूमण्डल पर,
एक नई ही अमरा सृष्टि तैर उठी लोक-
लोकान्तर में—

× × ×

हमारे प्यार की उस परम लग्न-बेला में,
जब हमारी-तुम्हारी आँखें मिलीं थीं प्रथम
बार।

क्षमा-याचना

राय आनन्दकृष्ण

मेज़ पर रखे सारे सामान को इधर-उधर कर, रद्दी की टोकरी को उलट-पलट कर, उसके भीतर पड़े फटे लिफ़ाफ़ों-चिट्ठियों को फ़र्श पर बिखेर, एक ओर बिछी गद्दी चाँदनी को कई स्थानों से उलट पुलट, इधर-उधर बिखरे कपड़ों को पुनः बिखेर, जिनकी तालाशी लेने से कई की जेबें बाहर निकली ही रह गई थीं, सारे कमरे को अस्त-व्यस्त कर मदन ने ऊपर घड़ी की ओर देखा, दस बज चुके थे। उसने अपनी बड़ी लटों को, जिनमें से कुछ आँखों के सामने लटक आई थीं, सिर के एक झटके से पुनः अपने स्थान पर ला दिया। फिर क्लान्त हो वह उठ खड़ा हुआ।

'आख़िर घटना हो ही गई।' मदन का रोष-भरा उलहना यद्यपि किसी को लक्ष्य करके नहीं था फिर भी आँगन के उस पार चौक में बैठी सुभद्रा के कानों से टकरा कर वह रुक गया। मदन को उत्तर देने के लिए वह किसी बात को ढूँढ़ने लगी, पर अँधेरे भण्डारघर में कुछ दिनों से रखी और इधर-उधर हुई किसी छोटी-मोटी चीज़ की तरह, बहुत टटोलने पर भी उसे कोई बात न मिल सकी। उसके माथे पर पसीने की बूँदें और बड़ी हो गईं, अपनी असहायता पर उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए।

परसों रात जब कई महीने बाद उसके मामा फिर मेहमान होकर आए थे तभी उसके मन में न जाने कितनी आशंकाएँ उठने लगी थीं, न जाने क्यों उसका हृदय धड़कने लगा था और उसने उसी बात की कल्पना कर ली थी, जिसे आज मदन ने अन्तरिक्ष की ओर देख कर अर्धस्वगत-सा कह डाला।

फिर सुभद्रा के हाथ मशीन की तरह बटलोही में पड़ी दाल को चलाने में व्यस्त हो गए। उसे वह न जाने कितनी देर तक चलाती रही, उसी भाँति जैसे उसके मन में घूम-घूम कर अपने बचपन की घटनाएँ आतीं।

उसके पिता बहुत पहले ही स्वर्ग सिधार चुके थे। एक बहुत ही अस्पष्ट छाया की भाँति उनकी आकृति कभी-कभी उसके स्मृति-पटल पर उभर आती। किन्तु उसे यह भली भाँति याद था कि उसकी माँ अपने इन्हीं भाई के यहाँ महीनों रहतीं। वहाँ एक बड़े से आम के पेड़ पर सखियों के झुण्ड समेत झूला झूलते उसकी न जाने कितनी बरसातें बीती थीं।······

उसका हाथ मन के साथ किस पूर्ण विराम पर कब रुक गया था, इसे वह स्वयं न जान सकी और दाल उफन कर जब आग को बुझा देने की चुनौती देने लगी तब जाकर उसका ध्यान बचपन के सुनहले दिनों से लौट कर फिर पति की उक्ति पर लौट आया—'आख़िर घटना हो ही गई।'

परसों रात जब मामा ने दरवाज़ा खटखटाया तभी उसके मन में यह वाक्य कैसे गूँजने लगा था, यह वह स्वयं न समझ सकी थी। तब से आज तक तीन दिनों में इस वाक्य ने उसके मन को मथ डाला था। फिर भी इस चिर-परिचित वाक्य ने उसको इतना उद्वेलित कर दिया कि वह इतना भी न पूछ सकी कि आख़िर क्या हो गया?

सहसा बड़ी-बड़ी आँखों से बूँदें ढुलक कर उसके साँवले गालों पर आ टिकीं। मदन बाल झाड़ते-झाड़ते कब आ पहुँचा, इसका उसे भान ही न हुआ। उसने सुभद्रा को टोका 'यह क्या, तुम तो ज़बान पर ताला लगा देना चाहती हो? आख़िर चुपचाप सहते जायँ, ऐसी हमारी हैसियत भी नहीं।' उसका लक्ष्य आँसू की उन बूँदों की ओर था।

सुभद्रा ऐसी जड़ हो गई कि वह उन अश्रु-बिन्दुओं को आँचल से पोंछ भी न सकी—ऐसा कोई उपाय भी न था कि वह उन्हें वापस लौटा कर आँखों में ही पी सकती। मदन लौटते-लौटते कह गया, 'दफ़्तर का समय हो गया है, अब जो कुछ तैयार हो परस दो।' सुभद्रा फिर अतीत में घूमने लगी।

× × ×

मामा की सारी सम्पत्ति तभी उड़ गई थी जब सुभद्रा बचपन पार कर रही थी। दिनों-दिन उनके बड़े देहाती घर में आने-जाने वालों का क्रम घटता गया, ऊपरी सजावट के सामान टूटते-फूटते एवं बिकते गए, मकान का जो अंश गिरता गया उसकी मरम्मत न हो सकी और अन्ततः किसी स्वप्न-लोक की उनकी सारी सम्पत्ति के साथ-साथ वह घर भी जाने कहाँ चला गया। वे विरक्त-से हो गए और इधर-उधर घूमते रहते—कभी-कभी सुभद्रा के यहाँ भी चले आते।

पहली ही झलक में मदन को उनका आना न रुचा था। उस बार दूसरे दिन ही वे चले गए तो मदन ने सन्तोष की साँस ली, इसे बिना बताए ही सुभद्रा ने जान लिया था।

उस बार मदन के दफ़्तर चले जाने पर, दिन भर अकेली पड़ी-पड़ी वह इस सबके प्रति अपने पति की रुखाई पर विचार करती रही थी, पर उसे कोई समाधान न मिला था।

प्रति दिन की भाँति शाम को पति के लौटने के बाद, जब भोजन इत्यादि से छुट्टी पा कर गोद में शिशु को लेकर सुभद्रा मदन से इधर-उधर की बातें करने लगी तब भी उसे कोई संधि न मिल सकी थी कि वह मामा के प्रति मदन के भाव को जान ले। फिर भी न जाने कितना रोकते-रोकते उसके मुँह से निकल पड़ा था, 'मामा से पूछना भूल गई कि आम के उस पेड़ का क्या हुआ, जिस पर झूला पड़ता और मैं दिन भर झूलती रहती।'

मदन जैसे मामा को इतनी देर भूल कर कुछ आराम का अनुभव कर रहा था। पत्नी की इस बात से वह चौंक-सा उठा था—'कौन हैं ये तुम्हारे मामा? मैंने तो जैसे इन्हें कभी देखा तक न हो। कुछ अजब-से लगते हैं।'

सुभद्रा ने पति पर असर डालने के हेतु सोद्देश्य कहा था, 'हमारे विवाह में तो सारा काम हँस-हँस कर कर रहे थे, फिर भी तुम्हें याद नहीं। पहले बहुत पैसे वाले थे, इधर इनकी सज्जनता का लाभ उठा कर इनके नौकर-चाकरों ने सारी सम्पत्ति हड़प ली। है भी नहीं कोई इनके, अब कुछ विरक्त-से घूमते हैं। देखा नहीं तुमने कपड़े-लत्ते सफ़ेद खद्दर के, लम्बे-लम्बे मिले हुए, दाढ़ी-मूँछ मुँडाये।'

अँधेरा बढ़ चुका था और सुभद्रा यह न देख सकी थी कि मदन के चेहरे की रेखाएँ कठोर हो गईं। पर भविष्य में उन दोनों के बीच मामा को लेकर बहुत दिनों तक कोई बात न हो सकी थी कि एक दिन मामा पुनः आ गये।

मदन उस समय दफ़्तर गये थे। सुभद्रा ने बहुत ललक कर उनका स्वागत किया था। बहुत देर तक वह उनसे बचपन और माँ के सम्बन्ध में बातें करती रही थी। न जाने कितनी स्मृतियों के कपाट वह खोलती-मूँदती रही। उनकी पिछवाड़े वाली पगडंडी से प्रतिदिन वह अपनी माँ के साथ जा गंगा में ऊधम करती इसका भी उल्लेख आया। बगल के घर में लुहार की लड़की उसकी सखी थी—उसकी भी चर्चा चली। पंडित रामभरोसे मामा के घनिष्ट मित्र थे। उनकी लड़की के साथ गुड्डे-गुड़ियों के न जाने कितने बार उसने ब्याह रचाये थे—उसका ब्याह एक वृद्ध से हुआ था जिन्हें लोग गुड्डे की भाँति एक जगह से दूसरी जगह उठा कर बैठा देते यह मामा ने बताया। और अन्त में उसने उस आम के पेड़ की पूछताछ की जिसकी डाल पर झूला डाल कर वह अनेक बरसात झूली थी। वह भी सारी सम्पत्ति के साथ बिक-बिका गया था—न जाने किस-किस के हाथों में घूमता रहा।··· वह दिन में अदृश्य हो जाने वाली तारावली-सा वर्तमान होते हुए भी वर्तमान न था।······

'और मामा, तुमने सब छोड़ कर यह वैराग्य क्यों धारण कर लिया?' पुरानी स्मृतियों में डूबते-उतराते हुए उसने पूछा था।

मुरझाती हुई फूल की-सी सूखी हँसी के साथ मामा ने उत्तर दिया था, 'तेरे सिवा कौन बच रहा है अब मेरा जो यह प्रश्न भी करता है; किसके लिए अब पहनूँ-ओढ़ूँ? बहुत कर चुका, अब थोड़ी और बीत जाय। कभी-कभी आकर तुझे देख लेता हूँ तो छाती ठंडी हो जाती है।'

'फिर भी मामा कहीं एक ठिकाना तो बना लेना चाहिए न,' सुभद्रा ने स्वाभाविक बात कही थी। 'इस तरह बे-ठिकाने घूमते रहने में कष्ट ही कष्ट हैं, सुख नहीं।'

और मामा ने उतनी ही स्वाभाविकता से उत्तर दिया था, 'बाप-दादों से चली आई गुरु परम्परा वाले गोसाईं जी एक मन्दिर बनवाने वाले हैं। जो कुछ बचा-खुचा था उसे मैंने मन-ही-मन वहीं अर्पण कर दिया है। तुम तो सब जानती ही हो, था भी क्या? सोने की दो-चार चीज़ें थीं—कोई बीस भर की और एक नथ। सब मिला कर कोई हज़ार का सामान होगा। उसे वहीं दे देना है, फिर मुट्ठी भर अन्न और चार हाथ छाया—वही मिलता रहे, भगवद्भजन में जीवन कट जाय—यही कामना है।' यह कहते हुए उन्होंने अपनी बढ़ी हुई अधपकी दाढ़ी पर हाथ फेरा था।

सुभद्रा अतीत के साम्राज्य से, शाप-भ्रष्ट नहुष की भाँति वर्तमान में आ गिरी थी, जब उसके पति ने दफ़्तर से लौट कर दरवाज़ा खटखटाया। तभी सुभद्रा के मन में न जाने कैसी-कैसी आशंकाएँ उठ खड़ी हुई थीं।

पर इस बार कोई अप्रिय घटना न घटी थी। मामा सात दिन रुके थे और रोज़ जल्दी ही खा-पी कर कहीं चले जाते थे कि रात काफ़ी देर गए लौटते थे, अतः सुभद्रा ने निश्चिन्तता की साँस ली थी। फिर भी अन्तिम दिन जब कमली में अपना सामान लपेट कर वे उससे एवं उसके स्वामी से बिदा ले रहे थे, तब मदन ने बहुत रूखे स्वर में क्या कह डाला था, उसे वह आज तक न समझ सकी थी—'देखिए हमारा घर बहुत छोटा है, अतः भविष्य में आप कहीं दूसरी जगह टिकने का प्रबन्ध कर लीजिएगा।'

उसके बाद महीनों तक न मामा आए और न उन दोनों ही में उनके सम्बन्ध में कोई चर्चा चली थी। दोनों जैसे इस प्रश्न पर एक दूसरे से कुछ छिपा कर रखते, जिसे प्रकट करने में वे आँखें चुराते।

× × ×

परसों रात जब मामा ने दरवाज़े पर आवाज़ लगाई तभी सुभद्रा के मन में किसी ने कह दिया था, इस बार कुछ-न-कुछ होकर रहेगा। कल का दिन भली भाँति बीत गया और रात पति के सो जाने पर मामा ने जब सुभद्रा से कह दिया कि कल सुबह ही मैं चला जाऊँगा, मेरे लिए रसोई न बनाना तो सुभद्रा के मन से एक भारी बोझ हट गया था। उसकी सारी आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं, यह जान कर उसे अपूर्व सन्तोष हुआ। पर आज दफ़्तर जाते समय स्वामी ने जो 'आख़िर घटना हो गई' कह दिया—उससे उसका मन फिर उद्विग्न हो गया। खाने के स्वल्प अवकाश में उसने इस अप्रिय प्रसंग को छेड़ने की भूल न की। परिणाम यह हुआ कि सारे दिन उसका मन उससे पूछता ही रहा कि आख़िर क्या हो गया?

शाम को पति देर से लौटे। खाना खा दिन भर की गर्मी से झुलसे शरीर को सुखद समीर से ताज़गी पहुँचाने के लिए जब छत पर बैठे तब सुभद्रा ने बरबस यह अनुभव किया कि स्वामी मामा की बात छेड़ने के लिए उद्विग्न हैं। इस विकलता से छुटकारा देने के लिए जब वह कोई बात छेड़ने का उपक्रम करने लगी तब बहुत देर तक दोनों के बीच मौन का एक परदा पड़ गया, जो उत्तरोत्तर घना होता गया। इस असह्य परिस्थिति को दूर करने के लिए सुभद्रा ने बात निकाली, मामा कहते थे कि—'उन्होंने कोई दो हज़ार के गहने अपने गोसाईं जी को समर्पित कर दिए।'

मदन फिर भी चुप रहा। उसके असमंजस को देख सुभद्रा चौंक उठी। सुबह आवेश में पति जो कुछ कह गया, उसे दुबारा कहने में जब

उसे इतना संकोच है, तब कोई साधारण घटना नहीं जान पड़ती। उसे तुरन्त ही जान लेनी चाहिए वह बात, जिससे निराकरण तो हो सके। 'क्या कह रहे थे तुम आज, कौनसी बात हो गई सुबह ?'

मौन का परदा हट गया, संकोच की अनुल्लंघनीय दीवार ढह गई। तब मदन ने रुकते-रुकते कहा, 'कुछ नहीं, दस रुपये का नोट टेबुल पर रख, दावात से दबा, नहाने गया था। लौट कर देखता हूँ कि न मामा हैं, न नोट। तब से खोजते-खोजते हार गया, उस कोठरी की एक-एक चीज़ तलाश डाली—कुर्सियों के गद्दे उलट डाले, रद्दी की टोकरी में रखे पुराने अख़बार-चिट्ठियाँ देख डालीं, मेज़ पर धरी किताबों को, खूँटियों पर पड़े कपड़ों की हर-एक जेब देख डाली, नहाने वाले घर की हर एक चीज़ उलट डाली······।'

सुभद्रा को जैसे काठ मार गया। वही मामा न, जिनके दरवाज़े गाय, भैंस, घोड़ों की कतारें बँधी रहतीं ? वही न ? जिनके यहाँ नित्य नए-नए उत्सव होते रहते, वही न ? जिनके यहाँ आने-जाने वालों की भीड़ लगी रहती, जिनके यहाँ······?

नदियों में ऐसे स्थल होते हैं—दो-चार चट्टानों के बीच, जहाँ पानी आ-आ कर घूमता रहता है। वैसे ही सुभद्रा का मन फिर कितने-कितने दृश्यों, घटनाओं और व्यक्तियों की ओर घूमता रहा। मामा के घर में अनजाने रूप से धीरे-धीरे सन्नाटे का बढ़ना, आने-जाने वालों की कमी होना, सूखते हुए महा वृक्ष की भाँति धीरे-धीरे पत्ते गिरा छाया-हीन होते जाने की भाँति जायदादों को बेचते-बेचते क्रमशः उनका अनागरिक हो जाना—सभी दृश्य उसकी आँखों के सामने आ-आकर नाचते-कूदते अदृश्य होते जाते। फिर बहुत दिनों तक मामा का हाल-चाल ठौर-ठिकाना ही पता न चला, कि एक दिन मामा ने आकर दरवाज़ा खटखटाया, वही न ?

सुभद्रा न जाने कब तक कल्पना-लोक में घूमती रहती, उधर उसका पति भी किसी दूसरी उधेड़बुन में लग गया था। फिर भी मौन के अनन्त आकाश ने घटाटोप की तरह उन दोनों को ढक लिया है, इसका मदन ने अनुभव कर लिया। मदन उससे पार होने के लिए विकल हो उठा, 'इसी से मैं तुम्हें नहीं बता रहा था कि तुम दुःखी हो जाओगी। मैं जानता था······'

सुभद्रा का उत्तर देने का मन न हुआ। फिर भी अनजाने में उसके मुँह से निकल गया, 'समय की बात है, मामा पर यह कलंक भी लगना था।'

दूसरे दिन तड़के ही दफ़्तर के काम से न जाने कौन-कौन से काग़ज़-पत्तर अपने चमड़े के बेग में भर कर मदन शहर से बाहर चला गया।

लौटने के तीन दिन बाद मदन ने उसे बतलाया, 'अचानक बाज़ार में मामा से भेंट हो गई थी—मैंने सब हाल कह दिया। वे भी कुछ न बोले, चुप रह गए। मैंने उन्हें फिर यहाँ आने से मना कर दिया है।'

मदन ऑफ़िस जाने की जल्दी में था। सुभद्रा ने कोई उत्तर न दिया। पर सारे दिन दफ़्तर में बैठे-बैठे मदन की आँखों के सामने सुभद्रा का वह चेहरा नाचता रहा—मामा वाली बात सुनने पर जिसमें व्यथा की रेखाएँ उभर आई थीं।

× × ×

कई वर्ष बीत गए। मामा यह सब कुछ भुला देंगे, यह सोच सुभद्रा भी उनकी प्रतीक्षा करते-करते दूसरे लोक को चली गई। उसके अन्तिम दिनों के चित्र मदन के स्मृति-पटल पर प्रायः साकार हो उठते हैं। अन्त में सुभद्रा को मामा और आम के पेड़ की बहुत याद आई, इसे मदन कैसे भूल सकता।

सब जोड़-घटा कर मदन न जाने क्यों भीतर से अनुभव करता कि मामा के प्रति उसने न्याय नहीं किया। वह उन्हें खोज कर उनसे क्षमा माँगना चाहता। पर फिर मामा कहीं न दीखे। सुभद्रा की बीमारी के अन्तिम दिनों में, दफ़्तर से समय निकाल कर न जाने कितनी बार उसने मामा की खोज में शहर की परिक्रमा कर डाली, क्योंकि सुभद्रा ने एक दिन क्षीण कंठ से कहा था कि वे यहीं कहीं मन्दिर बनवा रहे थे, उसी के लिए यहाँ आकर ठहरते थे। फिर भी मामा न मिले।

मदन उस समय ही उसका आशय समझ सका था। उसकी निस्तेज आँखों ने इस कथन से बहुत-कुछ अधिक कह डाला था। मदन ने संतोष देने के लिए उससे कहा था, 'तुम चिन्ता न करो सुभद्रा, मैं उन्हें खोज लाऊँगा, उन्हें मना लूँगा, उनसे पैर पकड़ कर क्षमा माँग लूँगा।' फिर भी वह मामा को खोज न निकाल सका।······

अन्त में जब सुभद्रा का स्वर बहुत क्षीण हो गया था और कम से कम शब्दों में वह अपने को व्यक्त कर पाती, तब उसने कहा था : मिलें तो मामा को क्षमा कर देना······

× × ×

अब जब दिन पोस्त के फूल-सा फूल कर प्रति दिन शाम को अपनी पंखुड़ियाँ बिखेर देता है, तब मदन घर में उस उत्साह से नहीं प्रवेश करता जैसे पत्नी की जीवितावस्था में। पत्नी के बड़े-से चित्र की छाया में बैठ वह पुरानी पुस्तकों-पत्रिकाओं को उलटने-पलटने में उदास संध्याओं को बिता देता और अन्त में खाट पर पड़ रहता। कभी-कभी वह सिर उठा कर देखता तो पट चित्र पर विषाद की वही गहरी रेखाएँ जो जीवितावस्था में मामा को सोच कर प्रायः उभर आती थीं, देखता।

एक दिन पुरानी घटनाएँ फिर साकार हो उठीं। उस शाम को उसके हाथ में वही पत्रिका थी, एक बार बहुत दिन पहले जिसे पढ़ते-पढ़ते वह उठा था नहाने वाले घर की ओर गया, पर उसके पढ़ने का लोभ संवरण न कर सका और लौट आया था। उसे अपने दफ़्तर ले जाने वाले चमड़े के बेग में धर पुनः नहाने चला गया। उस दिन दफ़्तर में साहब आ गए, उनके साथ सारा दिन यों ही बीत गया। रात देर से लौटने पर सुभद्रा ने मामा की बात छेड़ दी थी। तब उसका मन ऐसा खट्टा हो गया था कि वह इसे पढ़ सकने की इच्छा भी न कर सका। उसे भली भाँति याद आया—दूसरे दिन तड़के ही सब सामान बाँध उसे दफ़्तर के काम से बाहर जाना पड़ा। तब भी इसे साथ ले जाना चाहता था पर हड़बड़ी में यह घर पर ही छूट गई थी। रास्ते भर,

(शेष पृष्ठ ८९ पर)

गोविन्द बल्लाल देवल

गोविन्द शास्त्री

इस समय भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में बंगला, मराठी, गुजराती और तमिल भाषा की रंगभूमि बहुत कुछ विकसित और परिमार्जित हो चुकी है। उनमें से मराठी रंगभूमि के आदि प्रतिष्ठाताओं में से स्व० गोविन्द बल्लाल देवल का परिचय करा दिया जाता है। बंगला नाट्य क्षेत्र में जो आदर का स्थान नाट्य-सम्राट् गिरिश घोष का है, वही मराठी नाट्य क्षेत्र में श्री देवल जी का है। उन्होंने नाटक लिखने और उनको अभिनीत करने में जो चातुर्य प्रकट किया है, वह हिन्दी नाट्य के लिए अनुकरणीय होगा। उनकी कला कृति से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि कलापूर्ण नाट्य सृष्टि की जाए, तो उसे सिनेमा से कोई भय नहीं रहेगा और भारतीय नाट्य का पुनरुत्थान हो सकेगा, 'सिनेमा ने नाटकों का नाश किया है' यह आक्षेप निर्मूल सिद्ध होगा, क्योंकि दोनों के क्षेत्र ही भिन्न हैं। दोनों स्वतन्त्र कलाएँ हैं, साथ-साथ जी सकती हैं और लोगों के बौद्धिक क्षेत्र को सँवार सकती हैं।

सिनेमा 'सस्ते मनोरंजन' का साधन है; परन्तु नाटक बुद्धि को प्रेरणा देता है। चित्रपट का माध्यम दृश्य है; परन्तु नाटक का माध्यम शब्द है। चित्रपट में विविध सौन्दर्य की सजावट 'कैमरा' करता है; किन्तु नाटक की सजावट नाटककार की कल्पकता और अभिनेताओं की अभिनय कुशलता पर निर्भर रहती है। मगर और सिंह के प्रभाव क्षेत्र जिस प्रकार भिन्न हैं, उसी प्रकार सिनेमा और नाटकों के क्षेत्र भी भिन्न हैं। मगर पृथ्वी पर और सिंह जल में अपना पराक्रम प्रकट नहीं कर सकता। नाटकों के लिखने और खेलने में यदि केवल चित्रपटों का अनुकरण किया जाए, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। रसिकों की ललित कला सम्बन्धी भूख चित्रपटों से नहीं, किन्तु नाटकों से ही शमन हो सकती है। नाटकों में रसिक दर्शक कलाकारों का वह कौशल देखना चाहते हैं, जो उन्हें चित्रपटों में देख नहीं पड़ता। नाटक के पात्रों और दर्शकों का कला-कौशल के साथ तादात्म्य होना चाहिए। नाटक और सिनेमा में काम करने वाले नटों का कौशल भी पृथक्-पृथक् होता है। दोनों क्षेत्रों में सफल अभिनेता क्वचित् ही देख पड़ते हैं। अधिकांश एक क्षेत्र का अभिनेता दूसरे क्षेत्र में असफल हो जाता है। सिनेमा केवल दृश्य सामने खड़ा करता है, काव्य से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है; परन्तु नाटक काव्य है। काव्य ही नहीं, काव्यों में श्रेष्ठ है। 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्'। वह दृश्य है और श्रव्य भी। नाटक के देखने में आनन्द आता है और पढ़ने में भी। देशी-विदेशी नाटकों को पढ़ कर हम नाट्य काव्य का रसास्वादन कर लेते हैं। सभी नाटक रंगमंच पर देखने को हमें कहाँ मिलते हैं? यदि मानवी मनोभावों को यथार्थ रूप से चित्रित करने वाले नाटक लिखे जाएँ और कुशल अभिनेताओं के द्वारा सादगी से अभिनीत हों, तो वर्तमान सिनेमा-साम्राज्य में भी वे जी सकते हैं, टिक सकते हैं और सदा हरे रह सकते हैं, बासी नहीं हो सकते। कालिदास, शेक्सपियर, इब्सन, मोलियर आदि के नाटक इसी गुण के कारण लोकप्रिय हुए हैं और उनमें नावीन्य बना हुआ है। श्री देवल जी ने यह बात जानकर ही अपने नाटक लिखे और खेले, जिससे वे अब तक ताजे बने हुए हैं, और मराठी रंगमंच पर सफलता के साथ खेले जाते हैं। उनको दर्शकों की भी कमी नहीं रहती। उन्हीं नाटकों की जो फ़िल्में बनाई गईं, वे सफल नहीं हो सकीं। नाटकों में पात्रों की जो सजीवता देख पड़ती है, वह चित्रपटों में कहाँ? वह तो कठपुतलियों का ही एक परिमार्जित रूप है। सजीव व्यक्ति और उसके फ़ोटो में जो अन्तर होता है, वही सिनेमा और नाटकों में देख पड़ता है।

दूसरी एक दृष्टि से भी नाट्य मंचों के लिए चित्रपटों का अनुकरण करना सम्भव नहीं है। सिनेमा वाले लाखों रुपये खर्च करके कला वैभव युक्त दृश्य (सेटिंग्स) तैयार करते हैं और अभिनेताओं को मासिक हज़ारों रुपये का वेतन देते या ठेका कर लेते हैं। दृश्यों के फोटो उतार लेने पर उनके लिए जो सामग्री एकत्र की गई हो, वह रद्दी में चली जाती है। उसका कोई उपयोग नहीं, उस तंट-घंट को साथ में लादे-लादे नहीं घूमना पड़ता। अभिनेताओं को सहस्रों रुपया देना भी उनको पुसाता है। नाटक मण्डलियों को नहीं पुसा सकता।। क्योंकि फ़िल्म तैयार हो जाने पर उसकी कई प्रतियाँ तैयार कर ली जाती हैं और देश के अनेक नगरों में एक साथ प्रतिदिन चार-पाँच बार भी दिखाई जाती हैं। नाटक मण्डलियों के लिए यह सुभीता नहीं है। उन्हें अपना सामान जहाँ-तहाँ सजाने के लिए साथ रखना पड़ता है और अभिनेताओं को स्थायी रूप से नियुक्त करना पड़ता है। हर जगह सप्ताह में दो-तीन बार या अधिक-से-अधिक प्रतिदिन एक बार ही मण्डली नाटक का अभिनय कर सकती है। टिकट का दाम अधिक रखना पड़ता है और कला प्रेमी ही दर्शक मिलते हैं, जिनकी संख्या सस्ते मनोरंजन की तुलना में बहुत कम होती है। अन्ततः अधिक झंझट उठाकर भी नाटक कम्पनियों को व्यय अधिक करना पड़ता है और आय कम होती है। इसी से वे न तो अभिनेताओं को पुष्ट पारिश्रमिक दे सकती हैं और न भड़कीली सीन-सीनरी ही दिखा सकती हैं। अतः नाटकों का सिनेमा के अनुकरण पर विकास करना सम्भव नहीं है। काव्य, अभिनय, संगीत और नृत्य की कला का पोषण करने की अभिरुचि रखने वाले दर्शकों को नाटकों में भड़कीले सीनों की अपेक्षा भी नहीं रहती और अभिनेता भी कला प्रेम के कारण स्वार्थ-त्याग पूर्वक नाट्य सेवा किया करते हैं।

चित्रपटों में जो देखने को नहीं मिलता, वह नाट्य रसिक नाटकों

में देखने की अपेक्षा रखते हैं। सिनेमा में हलके या उत्तान विनोद के द्वारा लोगों को हँसा दिया जाता है; परन्तु गम्भीर वृत्ति के मार्मिक कला प्रेमियों को उससे हँसी नहीं आती, उनकी भौंहें चढ़ जाती हैं। वे भावपूर्ण गम्भीर विनोद चाहते हैं, जो नाटकों में देखने को मिलता है और उससे शिक्षित रसिकों का मनोरंजन भी होता है। विनोद जीवन और रंजन का प्रधान अंग है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु विनोद की परख या श्रेणी विभाजन करते समय इस उक्ति को नहीं भूलना चाहिए कि, "तुम किस पर हँसते हो यह बता दो, तो मैं तुम्हें बताऊँगा कि तुम हो कौन ?" किस श्रेणी का विनोद प्रिय है, यह जानने पर मनुष्य की संस्कृति के स्तर का पता लग जाता है। चित्रपटों की अपेक्षा नाटकों का विनोद उच्च श्रेणी का, बुद्धिमत्तापूर्ण और गम्भीर होना चाहिए। नाटक की भाषा, सम्वाद, पद्य आदि प्रौढ़ और सजीव होने चाहिएँ। मानव जाति का जीवन इस समय तेजोहीन और नीरस हो रहा है। व्यक्तिगत और सामाजिक सुख स्वप्न पद-पद पर भंग हो रहे हैं। दुःख, असत्य, अन्याय, भौतिक सुखवाद, परमुखापेक्षिता आदि का बोलबाला है और सत्य, न्याय, सौन्दर्य, आनन्द, आत्मिक सुख, स्वातन्त्र्य आदि का गला घुट रहा है। ऐसे समय केवल हँसा देने वाले मनोरंजन से काम नहीं चल सकता। ऐसे समय तो मनोरंजन के द्वारा मनुष्य जाति को उसके जीवन के मूल्यों को समझा देने की आवश्यकता है। यही दृष्टि रख कर श्री देवल जी ने अपने नाटक लिखे और खेले, इसी से उनकी नाट्य कृति सफल हुई और बिना रुकावट के अब तक ताजी बनी हुई है। वह बासी होगा भी नहीं।

गत शताब्दी के आरम्भ से ही मराठी में नाटक लिखे जाने लगे थे। अन्य प्रान्तों की तरह महाराष्ट्र में भी राम लीला, रास लीला की तरह पौराणिक नाटक खेले जाते थे, लिखे नहीं जाते थे। किसी पौराणिक कथा का सूत्र लेकर उसी के आधार पर पात्रों का मनमाना सम्वाद होता था। लोगों के घरों के आँगन ही रंगमंच होते थे। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से नाटक लिखे जाने लगे। पहले के नाटकों में संगीत नहीं होता था। गान का कोई प्रसंग हो तो सूत्रधार गाता था और हास्य के प्रसंग में विदूषक हँसता था। धीरे-धीरे शास्त्र शुद्ध नाटक लिखे जाने लगे और आधुनिक ढंग का रंगमंच भी बन गया। अभिनेता भी निर्मित होने लगे। इस त्रिवेणी संगम से मराठी नाट्य मंच का अच्छा उत्कर्ष हो सका। यद्यपि विगत सौ वर्षों में अनेक नाटककारों ने नाटक लिखे हैं, तथापि मुख्य नाटककारों में श्री किर्लोस्कर, देवल, कोल्हटकर, खाडिलकर, गडकरी और वरेरकर अग्रगण्य हैं। इनसे पहले श्री त्रिलोकेकर, भावे आदि ने भी नाटक लिखे और खेले थे; किन्तु नाट्य गुरु के रूप में पहला मान श्री किर्लोस्कर को ही प्राप्त हुआ। उन्होंने देश कालानुसार नाट्य संस्था का प्रथम उद्धार किया। वह समय ऐसा था कि जो नाटक में अभिनय करे, वह प्रायश्चित्ती हो जाता था। कितने ही नाट्य प्रेमी भले आदमियों को इस अपराध में जाति दण्ड भोगना पड़ा था। धीरे-धीरे समाज की भावना बदलती गई और श्री देवल जी के समय तक बहुत कुछ अनुकूल परिस्थिति हो गई थी। पहले मराठी गद्य नाटक ही खेले जाते थे। मराठी नाटकों में संगीत का समावेश पहले-पहल श्री किर्लोस्कर ने किया, जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ और उससे मराठी रंगभूमि की बागडोर देवल जी के हाथ आ गई और उन्होंने ही मराठी रंगभूमि को वैभवशाली बनाया। किर्लोस्कर, देवल आदि ने अपने नाटकों में संस्कृत के नाटकों का ही अनुकरण किया था; किन्तु कोल्हटकर, खाडिलकर आदि ने शेक्सपियर, मोलियर, इब्सन आदि पश्चिमी नाटककारों की शैली की पुट दे दी, इससे मराठी नाटक सर्वांग सुन्दर और प्रभावशाली हो सके हैं। मराठी नाटकों में रूपक, काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय-कौशल, भावना-विलास, स्वभाव-चित्रण, अद्‌भुतरम्यता, वास्तवता, रचना-चातुरी, मानवी मन के विविध कोमल क्रीड़ा-कौतुक आदि गुण निखर उठे हैं और इसके प्रथम प्रवर्त्तक श्री देवल जी ही माने जाते हैं। इसका सुयश उन्हीं को प्राप्त है। अतः नाट्य प्रेमियों का उनसे परिचय करा देना आवश्यक समझा गया। देवल जी की नाट्य तपस्या का आदर्श सामने रखकर यदि हिन्दी रंगमंच का उद्धार किया जाए, तो हमारी सम्मति में वह अवश्य सफल और प्रभावशाली होगा। अध्ययन, लगन और सहिष्णुता होने पर साधन सामग्री आप ही जुट जाती है।

श्री गोविन्द बल्लाल देवल जी का जन्म कोल्हापुर राज्य में सन् १८५५ नवम्बर को १३ तारीख को हुआ। कोल्हापुर में ही उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। कुछ दिन बेलगाँव के कालेज में भी पढ़े, परन्तु घर की आर्थिक परिस्थिति अनुकूल न होने से कालेज की पढ़ाई पूरी न कर सके। फिर बेलगाँव के सरदार स्कूल में कुछ दिन आप मास्टर थे; परन्तु चित्त न लगने से उन्होंने नौकरी छोड़ दी और पूना के कृषि कालेज में अपना नाम लिखाया। वहाँ से डिप्लोमा भी प्राप्त किया, परन्तु उस ज्ञान का जीवन के निर्वाहार्थ कभी उपयोग नहीं किया। वे तो 'जन्मना' नाटककार थे। उसी क्षेत्र को उन्हें अलंकृत करना था, अन्य क्षेत्र क्यों रुचता ?

देवल जी बेलगाँव के जिस कालेज में पढ़ते थे, मराठी संगीत नाटकों के प्रथम प्रवर्त्तक श्री बलवन्त पाण्डुरंग किर्लोस्कर उसी कालेज में अध्यापक थे। दोनों समानशील होने से दोनों में बड़ा प्रेम हो गया और वह दिन प्रतिदिन बढ़ता हुआ अन्त तक बना रहा। पूना के कृषि कालेज में भी दोनों गुरु शिष्य के रूप में रहे। देवल जी के श्री किर्लोस्कर जी जैसे शिक्षा गुरु थे, वैसे ही नाट्य गुरु भी थे। किर्लोस्कर के पश्चात् मराठी नाट्य मंच का उत्तराधिकार भी देवल जी को ही प्राप्त हुआ और उन्होंने बड़ी योग्यता से उसे निबाहा।

देवल जी के उदय काल में विष्णुदास भावे आदि नाट्य सेवकों के पौराणिक नाटकों से लोगों का जी ऊब गया था और अंग्रेज़ी नाटकों की ओर प्रवृत्ति बढ़ चली थी। इस लोक प्रवृत्ति के अनुसार अनेक विद्वानों ने शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद किए, उनमें देवल जी के अनुवाद सर्वोत्कृष्ट माने गए और इनके अनूदित प्रथम नाटक 'दुर्गा' को कोल्हापुर कालेज की ओर से सन् १८७६ में ८०) रुपये का पारितोषिक भी प्राप्त हुआ। उस नाटक की बड़ी प्रशंसा हुई। उस समय के गणमान्य नेता श्री चिपलूणकर, आगरकर, लोकमान्य तिलक, कोंडोपन्त छत्रे आदि विद्वानों की पृष्ठपोषकता में 'आर्योद्धार' नामक

नाटक मण्डली स्थापित हुई, जो संस्कृत और अंग्रेज़ी से अनूदित नाटक खेला करती थी। उस समय शेक्सपियर के जितने नाटकों का मराठी अनुवाद हुआ, उतना किसी प्रान्तीय भाषा में नहीं हुआ था। एक बार श्री गोडबोले द्वारा संस्कृत से अनूदित 'वेणीसंहार' नाटक खेला गया, जिसमें धर्मराज का काम वर्तमान मराठी भाषा के जनक विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, भीम का प्रोफ़ेसर छत्रे और अश्वत्थामा का देवल जी ने किया था। दर्शकों में शास्त्री जी के पिता तत्कालीन पण्डितों में अग्रगण्य कृष्णशास्त्री भी विराज रहे थे। जब नाटक में शास्त्री जी पिता के सामने पितृ-तर्पण करने लगे, तब दर्शकों के कुतूहल का ठिकाना न रहा।

सन् १८८० के आस-पास देवल जी ने 'किंग लियर' और 'अथेल्लो' के सफल प्रयोग किए। 'अथेल्लो' में आयागो का काम देवल जी ही करते थे। दोनों नाटक बहुत लोकप्रिय हुए और उनकी सजीवता का यही प्रमाण है कि वे अब तक खेले जाते हैं। अंग्रेज़ी नाटकों के देवल जी के अनुवादों में विशेषता यह है कि, अंग्रेज़ी भाषा और रीति-नीति को मराठी भाषा और रीति-नीति के ऐसा अनुकूल बना लिया है कि नाटक, अनूदित नहीं, मौलिक जान पड़ते हैं। यह कला उन्हें अच्छी सध गई थी।

देवल जी जैसे उत्तम नाटककार और बेजोड़ अभिनेता थे, वैसे नाट्य शिक्षा देने में भी बड़े कुशल थे। यह काम सब नहीं कर सकते। उनके इस गुण को उनके गुरु किर्लोस्कर जी ने ताड़ लिया था और इसी से उन्होंने सन् १८८४ में अपने लिखे 'राम राज्य वियोग' तथा अन्य नाटकों की शिक्षा (दिग्दर्शन) का भार देवल जी पर छोड़ दिया था। 'मुद्रा' और 'सन्थन' के अभिनय से सुप्रसिद्ध अभिनेता श्री भाऊराव कोल्हटकर को जो सर्वतोमुखी कीर्ति हुई, उसका श्रेय देवल जी की शिक्षा को देना ही उचित समझा गया।

देवल जी ने सन् १८८० में 'विक्रमोर्वशीय' और १८८७ में 'मृच्छकटिक' नाटक का अनुवाद किया। इन दोनों नाटकों में 'मृच्छकटिक' का प्रभाव अधिक रहा। इसके रंग संस्करण में चारुदत्त का सात्विक स्वभाव, शकार की मूर्खता तथा दुष्टता, वसन्त-सेना का अनन्य प्रेम, शर्विलक की प्रणय कथा राजनीतिक वातावरण से अछूत कर देने के कारण मूल संस्कृत नाटक से अनुवाद का सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है और उन पात्रों से दर्शक समरस हो जाते हैं। इसी से अब तक वह खेला जाता है।

सन् १८९२ में उस समय के इन्दौर नरेश ने घोषित किया कि, बाणभट्ट की संस्कृत 'कादम्बरी' के आधार पर जो विद्वान् सर्वोत्तम नाटक लिखेंगे, उनको ८००) का पुरस्कार दिया जाएगा। तदनुसार अनेक विद्वानों ने नाटक लिखे, जिनमें मराठी साहित्य के महारथी श्री शिवराम महादेव परांजपे भी थे। देवल जी ने भी 'शाप सम्भ्रम' लिखा। परांजपे जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न सरस्वती पुत्र से प्रतियोगिता में ठहरना हँसी खेल नहीं था; परन्तु परीक्षकों ने देवल जी की रचना को प्रथम स्थान दिया और उन्हीं को पुरस्कार मिला। इस विजय से देवल जी की मराठी साहित्य क्षेत्र में बड़ी कीर्ति हुई और उनकी मान प्रतिष्ठा बढ़ गई। परीक्षकों की प्रशस्ति में 'शाप सम्भ्रम' की विशेषताओं की बड़ी प्रशंसा की गई थी।

सन् १८९३ में एक अंग्रेज़ी नाटक के आधार पर श्री देवल जी ने 'फाल्गुन राव' नामक एक गद्य नाटक लिखा; परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका, क्योंकि उसमें संगीत नहीं था और संगीत तो मराठी नाटकों की आत्मा ही है। सन् १९१६ में सुप्रसिद्ध संगीत अभिनेता बाल गन्धर्व ने उसे संगीत मण्डित करके खेला, तो वह लोगों को बहुत पसन्द आया और अब तक खेला भी जाता है। सौभाग्य की बात यह है कि श्री देवल जी के नाटकों के लिए कुशल अभिनेता उपलब्ध होते गए। उन्हें शिक्षा देकर उन्होंने तैयार कर लिया और रंगमंच पर सफलता प्राप्त की। दुःख की बात है कि, देवल जी उस नाटक का संगीत रूप देखने को इस लोक में नहीं रहे। नाटक के रंगमंच पर आने से ४-५ मास पूर्व ही सन् १९१६ में परलोक सिधार गए थे।

श्री देवल जी ने अपने जीवन में सब मिलाकर सात नाटक लिखे, जिनमें तीन संस्कृत के आधार पर, तीन अंग्रेज़ी-फ्रेंच के आधार पर तथा एक मौलिक। वह नाटक है—शारदा। सन् १८९९ में लिखे गये इस एक नाटक ने ही उनको चिरस्मरणीय बना दिया है। दिल्ली के नाट्य महोत्सव में इस वर्ष मराठी की ओर से यही खेला गया था, जिसकी मर्मज्ञ रसिकों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। इसका विषय है, जरठ कुमारी विवाह अथवा बेमेल विवाह। उसी समय महाराष्ट्र के एक नरेश ने वृद्धावस्था में एक कच्ची बच्ची से विवाह कर लिया था। इसी घटना से श्री देवल जी को प्रेरणा मिली और जनता पर नाटक का अच्छा प्रभाव पड़ा। उक्त नरेश को भी नाटक देख कर बड़ा पश्चाताप करना पड़ा और समाज में अच्छी जागृति हुई। शारदा के गान घर-घर आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों के कण्ठों से प्रतिध्वनित होने लगे।

तत्कालीन महाराष्ट्र की नाटक मण्डलियों को शेक्सपियर के नाटक खेलने की धुन समाई थी। उनको देखने के लिए बड़े-बड़े यूरोपियन नाट्य प्रेमी इस विचार से आते थे कि देखें, मराठी रंगमंच पर शेक्सपियर के नाटक कैसे खेले जाते हैं। गणपतिराव जोशी, बोडस, बाल गन्धर्व आदि के अभिनय देखकर अंग्रेज़ों को भी दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती थी। उन्होंने उक्त अभिनेताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शेक्सपियर को मराठी रंगमंच पर देख लेने पर मौलिक मराठी नाटक देखने की अंग्रेज़, फ्रेंच आदि विदेशी साहित्यिकों में अभिरुचि बढ़ी और वे अधिक संख्या में मराठी नाटक देखने लगे। पूना में जिस दिन 'शारदा' नाटक खेला जाने वाला था, घटनाचक्र से उसी दिन वहाँ के अंग्रेज़ कलक्टर मि० जैक्सन नाटक देखने जा रहे थे। नाटक गृह के प्रवेश द्वार में उन्होंने ज्योंही पैर रक्खा, त्योंही एक क्रान्तिकारी युवक ने गोली मार कर उनकी हत्या कर दी। 'शारदा' के चसके ने बेचारे के प्राण गँवाए।

नाटक केवल लोक रंजन का ही नहीं, किन्तु लोक शिक्षण का भी उत्तम साधन है। नाटक के द्वारा जनता के सामने उच्च आदर्श उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनसे लोगों के चरित्र निर्माण और सुधार में बड़ी सुगमता होती है। महात्माजी ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा

है कि बाल्यावस्था में उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र और श्रवणकुमार के नाटक देखे थे, जिनकी उनके चित्त पर अमिट छाप बनी रही और वे माता-पिता के सेवक तथा सत्य के सच्चे उपासक बन गए। उन्हें अमरता की जड़ी, 'अमिय भूरि' नाटक में ही मिली थी, जिससे वे मर कर भी अमर हो गए। लोक शिक्षा और आदर्श स्थापन का कार्य सिनेमा भी कर सकता है; परन्तु वह कर नहीं पाता। क्योंकि सस्ते मनोरंजन के दर्शक निम्न कोटि के ही लोग होते हैं। कुलियों-मज़दूरों और मन-चले लोगों से ही सिनेमा वालों को पैसा मिलता है और वे लोग उच्च श्रेणी का भावमय काव्य या शास्त्रीय संगीत समझ नहीं पाते। अतः निम्न श्रेणी के लोगों की अभिरुचि के अनुसार ही वे फिल्म तैयार करते हैं और पैसा कमाते हैं। व्यवसाय की दृष्टि से नाटक विशेष लाभ-दायक नहीं है, यह स्वीकार करना पड़ता ही है; किन्तु कला के उपासक यदि कला के प्रेम से प्रेरित होकर नाटकों के उद्धार और प्रचार के लिए लगन के साथ कटिबद्ध हो जाएँ, तो उन्हें घाटा नहीं रहेगा। इसी दृष्टि-कोण के अनुसार इस समय महाराष्ट्र और बंगाल की कई व्यावसायिक नाटक कम्पनियाँ जी रही हैं और यथाशक्ति नाट्य सेवा कर रही हैं।

मराठी रंगभूमि से हिन्दी रंगभूमि को अनुकरणीय सबसे महत्त्व की बात यह है कि हिन्दी रंगभूमि सर्वप्रथम कलापूर्ण और उत्तम आदर्श स्थापित करने वाले जानदार (सजीव) नाटकों के अभिनय कर सर्वप्रथम जन-समाज की अभिरुचि को उन्नत और परिमार्जित करें। आरम्भ में ही जब सदभिरुचि जगाने वाले नाटक लोगों के सामने आवें, तो निम्न कोटि के फूहड़ नाटक देखने की उनमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी और इस प्रकार सर्वसाधारण में उच्च अभिरुचि उत्पन्न करने का लोक शिक्षा का कार्य नाटकों के द्वारा सम्पन्न हो सकेगा। केवल आर्थिक लाभ के लोभ से महाराष्ट्र में निम्न कोटि के फूहड़ नाटक खेलने वाली कुछ कम्पनियाँ स्थापित हुई थीं, परन्तु वे अधिक दिन टिक न सकीं; क्योंकि लोगों की अभिरुचि बदल चुकी थी। उन नाटकों से उनका मनोरंजन नहीं होता था, उनके मनोरंजन का स्तर ऊँचा उठ चुका था। इस कारण वे कम्पनियाँ टूट गईं और उच्च स्तर के नाटकों का उत्कर्ष होता गया। श्री देवल जी ने यह मर्म समझ लिया था और उसके अनुसार उन्होंने जो मराठी रंगमंच निर्माण किया, वह पूर्ण सफल हुआ और इस समय मराठी रंगमंच पर उच्च कोटि के नाटक ही खेले जाते हैं और उन्हें रसिक दर्शकों की कमी नहीं रहती।

श्री देवल जी की नाट्य सेवा की सफलता में तीन बातें स्पष्ट देख पड़ती हैं:—(१) कलापूर्ण और आदर्श स्थापन करने वाले तथा सदभिरुचि जगाने वाले नाटकों की सृष्टि करना, अभिनेताओं को शास्त्र शुद्ध रीति से शिक्षा देना और किफ़ायत के साथ रंगमंच को सँवारना। हिन्दी रंगमंच का संस्कार करते समय संचालकों को इन अनुकरणीय बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए और नाटकों को उपस्थित करने में लोक शिक्षा का ही लक्ष्य रखना चाहिए। इस कार्य में व्यय की तुलना में आय कम होगी; परन्तु इसके लिए चिन्ता का कोई कारण नहीं है। वर्तमान सरकार देश की कलाओं को उत्तेजना देने के पक्ष में है और कलाओं के उत्कर्ष के लिए आर्थिक सहायता भी कर रही है। यदि हिन्दी रंगमंच का लोक हितकारी, सत् शिक्षा के माध्यम स्वरूप और सुरुचिपूर्ण ढंग से निर्माण किया जाए, तो सरकार भी अपने प्रचार विभाग से उसे आश्रय दे सकती है। श्री देवल जी के पुरुषार्थ की सफलता के मूल-सूत्र से हिन्दी नाट्य मंच भरपूर लाभ उठा सकता है।



क्षमा-याचना—[पृष्ठ ५५ का शेषांश]

इसमें प्रकाशित जासूसी धारावाहिक अंश पढ़ने को वह तड़फड़ाता रहा—यह भी उसे न भूला था। स्टेशनों पर उतर-उतर कर उसने इस अंक को बहुत खोजा पर वह न मिला। लौटने पर सुभद्रा ने सब अस्त-व्यस्तता को सुधार कर क्रमबद्ध कर दिया था, इसका तो उसे संतोष हुआ था; पर यह अंक कहाँ रखा गया था, इसकी उसे बहुत दिनों तक खोज रही। विशेष रूप से इधर-उधर कई विक्रेताओं के यहाँ खोजने पर भी, युद्ध के उन समस्त पदार्थों की भाँति, विदेशी पत्रिकाओं की दुर्लभता के दिनों में यह अंक न मिला। उस धारावाहिक के क्रम के टूट जाने से उसे बहुत असंतोष हुआ। अगले अंक से उसका सारांश पढ़ कर किसी प्रकार उसने अपने आपको संतुष्ट किया। फिर भी जब तक उसके मन में उस कहानी की छाप बनी रही, तब जहाँ उसका स्मरण आता इस अंक के खो जाने की उसे कसक होती।

आज कागज़ों में सहसा वह प्रकट हो गया तो उसे स्वाभाविक कौतूहल ही नहीं हुआ, सारी घटनाएँ याद हो आईं। बरबस उलटते-पलटते उसका हाथ वहीं जा कर रुका जहाँ धारावाहिक शुरू होता था, क्योंकि इतने दिनों की बात होने पर भी उसे पढ़ डालने की उत्कंठा कम न थी। पर दूसरा पृष्ठ उलटते ही एक बहुत बड़ा उद्घाटन हुआ। दस रुपये का नोट उसमें पड़ा था—वही नोट जिसके लिए इतना काण्ड खड़ा हुआ, अन्ततः जिसकी ग्लानि सुभद्रा के मन में रही थी। वही था—सन्देह का कोई कारण न था। छः-सात वर्षों से तो इसका चलन बन्द हो गया है। फिर इसके पड़े-पड़े पत्रिका के अख़बारी काग़ज़ पर उतनी दूर रंग और भी गहरा हो गया था···जैसे स्मृति-वेदना को अपने भीतर छिपाये-छिपाये और भी गहरा बना देती है।

उस दिन से मदन मामा को और भी अधिक खोज करने लगा। शहर के अनेक मन्दिरों और मठों तथा धार्मिक आचार्यों से पूछताछ करने पर भी उसे कोई पता न लगा। सुभद्रा ने जिस सम्प्रदाय में मामा को दीक्षित बतलाया था उसके कई व्यक्तियों से वह मिला, फिर भी उसे सफलता न मिली।

पर उसे क्षमा माँगनी थी अतः उसका प्रयत्न बढ़ता गया।

× × ×

एक दिन वह नित्य की भाँति हारा-थका लौटा तो बैठक के फ़र्श पर एक कार्ड पड़ा था। चार दिन पहले दक्षिण के किसी सुदूर

मन्दिर से वह चला था। अपरिचित नागरी और टूटी-फूटी हिन्दी में जो लिखा था उसका आशय इस प्रकार था—

स्वामी हरिशरणानन्दजी का देहान्त हुआ था। कल उनका भंडारा भी हो गया। अपने को वे गृहस्थाश्रम में आपकी पत्नी का मामा बतलाते थे। सन्निपात में उन्होंने जो कुछ कहा वह ठीक समझ में नहीं आया। पर आपको पत्र-लिखने को वह बार-बार कहते कि आपने मुझ पर व्यर्थ सन्देह किया। धन को मैंने सदा तृणवत समझा है। मैं जा रहा हूँ। मुझे क्षमा कीजिएगा तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।

आज भी जब निरपेक्ष संध्या को पंडुक की उदास बोली भरती रहती है, मदन अपने आपको उन स्वर्गीय आत्माओं से क्षमा माँगने में असमर्थ पाता है, वह विवश है। और तब मामा का वह संदेश, जैसे अंतरिक्ष से उस पर हँसता रहता है।

●

हिन्दी कवि शाह बरकत उल्लाह 'पेमी'—[पृष्ठ ३३ का शेषांश]

अब हम जोग जुगत सब छाड़ी—
सींगी सेली भसम मेखला, तजी गुफा औ माढ़ी।
भूल्यौ बिरज द्वारिका काशी, गई पियाग की छाड़ी।
छूटे ध्यान, ग्यान सब टूटे, चिन्ता मन सौं काढ़ी,
ऊधौ रहे सँदेसौ भूल्यौ पेमी आनन्द बाढ़ी,
सुन्दर स्याम सलौनी मूरत रही रैन-दिन ठाढ़ी।

हमारे हरि बिन और न कोय।
मन मनसा निहचै कर जान्यो, मोह, कोह सब धोय।
पाप-पुन्न को पंथ न भावत, लाज काज दिय खोय,
एकै पीन, मीत मन भाई, होनी होय सु होय।
देखौ एक कहौ नित एकै, सुनियो हरिजन लोय,
पेमी सो जन मुकुत न पावै, जिन कर जाने दोय।

अब सवैयों की सुन्दरता का भी अवलोकन कीजिए। पेमी कवि कहते हैं—

अंग भभूत लगाएँ सहा सुख है कोऊ ऐसो जो पेम हू पाकै,
नाथ को नाँव सुनें बिकसै हियो कान्ह को नाती सदा अनुरागे।
जोगलिये हर घोर मिलें तोपै, कान्ह, बिथाएँ निरे दुख लोगे,
मोहना की मनमानी भई तो कहो री सबै मिल गोरख जागै।

काहे कों ऊधौ दुखारी भये तुम, लाये हो मेखला जोग की बाकै,
न्याय न कीनों अनीत करै सो तो देन लगे अब आग बेदागै।
काहि कहा सुख देत हो पेमी तजै कुलकानि औ प्रान को त्यागै,
जा दिन स्याम बिछोड़ भयो हम ताहि दिना कह्यो गोरख जागै।

अब दो-चार रेखता के पद उद्धृत कर यह प्रसंग समाप्त किया जाएगा। देखिए रेखता में 'पेमी' साहब अपने विचारों का किस सुन्दरता से प्रकाशन करते हैं—

सलोने रूप की जग में, सदा हर्फ़ो हिकायत है,
कहाँ लग हुस्न को बरनौं, सो एको विधन ग़ायत है।
जो देखा रूप कै मधु है, भया ज़ाहिद विकल अबलग
परेशाँ हाल अज़ उकबा, व जन्नत-पुर शिकायत है

शरीअत ज़ेव तुझ दीनी, तरीकत जेब वा कीनी,
हकीक़त ग़ैब सब चीन्ही, ज़हे बे ऐब गीलानी।
कहीं माशूक़ कर जाना, कहीं आशिक-सितां माना
कहीं खुद इश्क ठैराना, सुनो लोगों सुखा बानी,

मौजों के फेर को जो दिले गैर बूझता,
जब सिन्ध के भँवर में परी, तब समझ परी।
तकिया जो मख़मली व दिगर सेज छोड़ के—
जब ईंट ज़ेर सोस धरी, तब समझ परी।

शाह बरकत उल्लाह पेमी की हिन्दी कविताओं के इन नमूनों से कई बातें स्पष्ट होती हैं। उस समय यहाँ के मुसलमानों की मातृभाषा हिन्दी थी। वे देवनागरी लिपि न जान कर भी हिन्दी भाषा में रुचि रखते, उसमें अपने भाव प्रकट करते और कविता भी रचते थे। उस समय 'रेखता' के रूप में खड़ी बोली में भी कविता लिखने की प्रथा थी। हिन्दू-मुसलमानों की एकता पर बल दिया जाता था। मुसलमान लोग भी राधा-कृष्ण में श्रद्धा रखते थे और मानवता का सन्देश देते थे। उन्हें हिन्दू परम्पराओं और हिन्दुओं के रीति-रिवाजों का अच्छा ज्ञान था। रहस्यवाद पर उस समय बड़ी सुन्दर रचनाएँ की जाती थीं। उनमें आशा और समाज-कल्याण का सन्देश होता था।

ऊपर की कविताओं के पढ़ने से कवि पेमी की रचनाओं की ओर पाठकों की रुचि होनी स्वाभाविक है। यह कवि ढाई-सौ वर्ष से अधिक समय तक उपेक्षा-गर्त में पड़ा रहा, अब आठ-दस वर्ष पूर्व कुछ सहृदय विद्वानों के सदुपयोग द्वारा, उसकी कविता का उद्धार हुआ है। आशा है, यह शुभ प्रयत्न साहित्य-संसार में सम्मान के साथ देखा जायगा और पेमी का 'पेम प्रकाश' लोक-प्रिय होगा।

पेमी कवि ने १६६० ई० में जन्म ग्रहण किया और १७२१ ई० में, ६१ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ। वे अपने पीछे फारसी और हिन्दी का अच्छा साहित्य लिख कर छोड़ गये। आशा है ये परिचायक पंक्तियाँ प्रेमी कवि के सम्बन्ध में, सहृदय-समाज की रुचि उत्पन्न करने में अवश्य कुछ सहायक सिद्ध होंगी।



पृथ्वी कैसे शान्त हुई ?

वि० स० खाण्डेकर

प्राचीन काल की बात है।

असह्य अन्तर्दाह के कारण एक अति विशाल व अति तेजोमय पिंड के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

एक टुकड़ा दूर, बहुत दूर जा गिरा।

भगवान् को उस टुकड़े पर नई सृष्टि निर्माण करने की इच्छा हुई। उन्होंने उसे पानी में डाल दिया। उसका बाह्य अंश ठंडा हो गया। भगवान् ने बड़े चाव से उसका नाम रखा—पृथ्वी।

भगवान् पृथ्वी से बोले—अरे ऐसी उदास मुद्रा में क्या बैठी हो ? ज़रा हँसो भी।

पृथ्वी बोली—हँसो कहने से हँसी नहीं आती। वह तो भीतर से अपने आप आती है। मेरे हृदय में कैसी ज्वालाएँ धधक रही हैं, ओह ! उनके शान्त हुए बिना……!

उस भीषण अग्नि के कारण ही शायद पृथ्वी थर-थर काँपने लगी। उस भूकम्प को देख भगवान् भी चकरा गए।

बहुत देर तक विचार करने के बाद वे पृथ्वी से बोले—तेरे अन्तर्दाह को शान्त करने के लिए मैं एक नए प्राणी का निर्माण कर रहा हूँ। उसका नाम होगा—मानव।

मानव का निर्माण हो गया और वह पृथ्वी पर खेलने लगा। मिट्टी पत्थर से भरी ऊबड़-खाबड़ पृथ्वी को फल-फूलों से सुशोभित करने के लिए वह दिन-रात अविश्रांत परिश्रम करने लगा।

श्रम के कारण मनुष्य शरीर से निकले पसीने की धारा से पृथ्वी गीली हो गई। देखते-देखते उस पर हरियाली छा गई, लताएँ डोलने लगीं, वृक्ष ऊँचे-ऊँचे हाथ पसार कर आकाश को स्पर्श करने का प्रयत्न करने लगे।

खेत सुनहरी फसलों से लहलहा उठे, मानों अलंकारों से सजे बालक हों।

अट्टालिकाएँ अपनी शान दिखाती हुई ऊपर उठती रहीं, मानो यौवन में पदार्पण करती मोहक रमणियाँ हों।

नगरों का तेज़ी से विस्तार होने लगा, मानो पराक्रमी पुरुषों की महत्त्वाकांक्षाएँ हों।

पृथ्वी का यह अभिनव स्वरूप देखकर भगवान् का मन मानव के प्रति अभिमान से भर गया। उन्होंने पृथ्वी से पूछा—अब तो तेरा हृदय शान्त हो गया न ?

पृथ्वी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मन को बहुत सँभालने पर भी उसकी एक दीर्घ सिसकी निकल ही गई।

मनुष्य सहसा बोल उठे—ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ, देखो ! ओह………

भगवान् क्रोधित हो बोले—यह असन्तुष्ट पृथ्वी कभी भी शान्त नहीं होगी इसके लिए मैंने एक नए प्राणी का निर्माण किया। उसने किसी जादूगर के समान इस पृथ्वी का सारा रूप ही बदल डाला। उसने अपना पसीना बहा कर इसे अभिनव सौन्दर्य प्रदान किया। इतने पर भी इसका रोना-झींकना अभी चालू ही है।

उन्होंने क्रोधित हो निश्चय किया अब मैं इस पृथ्वी से एक शब्द भी नहीं बोलूँगा।

इधर पृथ्वी पर सब तेज़ी से बढ़ रहे थे—धन, धान्य, नगर, मनुष्य और, और दुःख भी !

सतत बढ़ते हुए वैभव के कारण मनुष्यों में ईर्ष्या-द्वेष बढ़ गया। दूसरों को गुलाम बना कर उनके जीवन पर चैन करने की उनकी इच्छा भी बढ़ती ही गई। मनुष्यों के आपस में लड़ाई-झगड़े शुरू हो गए। देखते-देखते झगड़े महायुद्ध में परिणत हो गए।

पृथ्वी पर रक्त के नद बह निकले।

भगवान् ने सोचा—मनुष्य के इस रक्त-प्रवाह से पृथ्वी का दाह अब शान्त हो ही जाएगा।

अपना मौन त्याग हँसते हुए भगवान् बोले—मनुष्य के पसीने की धारा से तेरी अग्नि शान्त नहीं हुई, पर अब उसके रक्त-प्रवाह से तो……

वह और भी अधिक धधक उठी है—पृथ्वी सिसकते हुए बोली।

भगवान् संतप्त होकर बोले—तब तो तेरी अग्नि कभी शान्त नहीं होगी। रक्त से अधिक मूल्यवान वस्तु मनुष्य के पास है ही नहीं। और क्रोधित हो भगवान् स्वर्ग में जाकर सो गए।

बहुत समय बीत गया।

एक दिन शयन-मंदिर में भगवान् को एक मधुर गीत सुनाई दिया। वह स्वर उनका चिर परिचित था। पृथ्वी ही गा रही थी।

उनके आश्चर्य का अन्त न था। उन्हें तो विश्वास हो चुका था कि विलाप के सिवा पृथ्वी का और कोई स्वर उन्हें कभी सुनाई नहीं देगा।

भगवान् भागे आए। स्वर्ग की सीमा पर से वे गीत सुनने लगे।

कितना शान्त व मधुर स्वर था। दुःखी मनुष्य के गले से कभी ऐसा स्वर निकल सकता है ? असम्भव। आग में क्या कभी फूल भी खिले हैं ?

किसी बालक के समान भगवान् की स्थिति हो गई थी। अधीर हो वे भागे आए और पृथ्वी से बोले—यह सब क्या हो रहा है ?

हँसना…गाना…

(शेष पृष्ठ ६५ पर)

माड़िया लोक-गीत

पूरनचन्द्र जोशी

माड़िया जाति मध्य प्रदेश, उड़ीसा, और आंध्र के सीमावर्ती भाग में रहती है। उनकी भूमि वहाँ आरम्भ होती है, जहाँ गोंड जाति की भूमि समाप्त होती है। वे गोंड जाति से अधिक पिछड़े हुए हैं और उनके जीवन और अर्थ-व्यवस्था का जंगलों और शिकार खेलने से ज़्यादा सम्बन्ध है और धरती व खेती से कम। उनका सामूहिक जीवन गोंड जाति की तुलना में आधुनिक सभ्यता से कम छिन्न-भिन्न हुआ है और इसका प्रमाण उनकी लोक-संस्कृति है। वह इतनी सजीव और सप्राण है कि जनवरी '५९ के लोक-नृत्योत्सव में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव माड़िया नृत्य-मंडली को ही मिला।

माड़िया-जाति के जीवन से सम्बन्धित हर अवसर पर गीत गाए जाते हैं। प्रत्येक उत्सव और प्रत्येक श्रम-क्रिया के लिए गीत हैं। जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित उनके गीत हैं—युवक-युवतियों के प्रेम और यौवन-आनन्द के गीत, जो खेल-गीत कहलाते हैं; कोटनी गीत, जो विवाह के गीत हैं; धनकुल-गीत, जो वर्षा काल की रात्रियों में गाए जाते हैं; निदाई-गीत, जो खेत निराने के समय गाए जाते हैं; पान-दुटानी गीत, जो जंगल से पत्तल बनाने के लिए पत्र-संचय के समय गाए जाते हैं; और लूँदी-लाँगा गीत, जो उस समय गाए जाते हैं जब औरतें बाज़ार को जाती हैं।

नीचे दिए गए वर्षाकालीन गीत से माड़िया जाति के सरल जीवन और दृष्टिकोण की झाँकी मिलती है और प्रकट होता है, प्रकृति के नाना रूपों के लिए आर्द्र स्नेह और अपने जातीय मुखिया तथा जातीय देवताओं के प्रति आस्था।

धनकुल-गीत

सामूहिक-निवास-स्थान (कम्यूनल डारमीटरी) में माड़िया कन्या का जीवन अत्यन्त स्वतन्त्र और आनन्दपूर्ण होता है। विवाह के बाद उसे डारमीटरी का त्याग करना पड़ता है, जहाँ वह नवयुवती अविवाहित लड़के-लड़कियों के साथ मस्ती से अपने दिन बिताती थी। विवाह के दिन उसके साथी उससे अलग नहीं होना चाहते और विवाह के उपरान्त के कठिन श्रम और दासता के जीवन की ओर इंगित करते हैं।

धनकुल-गीत

तुई अजान लोकबिरे स्यूनी झाटी मुचकलिया
साले-साले सोबेदा सुआ सुआ सोबेदा
छी तू न्वो जीवना रे स्यूनी झाटी मुचकलिया
साले-साले सोबेदा मुलक सुआ सोबेदा
बजार-बजार जाइस रे स्यूनी झाटी मुचकलिया
साले-साले सोबेदा मुलक सुआ सोबेदा
जउक नीचे सकिसरे स्यूनी झाटी मुचकलिया
साले-साले सोबेदा मुलक सुआ सोबेदा
तेवर झूठी बेनी पाउल रहेदे रे
स्यूनी झाटी मुचकलिया
साले-साले सोबेदा मुलक सुआ सोबेदा।

अर्थ—ए बहन तू बहुत अजान है
स्यूना झाड़ की तरह तू हलकी है
और सुकुमार है
साले[1] पेड़ के समान तू सबसे हिल-मिल जाती है
सुए के समान······
तेरे जीवन को धिक्कार है
कि तू भोली-भाली है।
तू स्यूना झाड़ को तरह हलकी और
सुकुमार है।
अब तू केला भेंट कर कैसे प्रेम निवेदन करेगी
तू स्यूना झाड़ की तरह······
तू हाट-बाट भटका करती थी
अब चैत-परब रँगरलियाँ सब छूट गए
तू स्यूना झाड़ की तरह······
तेरा आना-जाना छूट गया······
अब तो तेरा दुखमय जीवन आरम्भ हुआ
तू स्यूना झाड़ की तरह······
इमली के झाड़ का ठूंठ बना कर······
तेरे लिए तेरा मर्द रखेगा
तू स्यूना झाड़ की तरह······

अब एक और गीत देखिए। बूढ़ी औरतें इस गीत को अधिकतर गाती हैं। इस तरह के गीत धनकुल चाखना कहलाते हैं।

कौन नदी बहे रे झिरमिर-झिरमिर
इन्द्रावती बहे निराधार
इन्द्रावती तीर तरे एक पेड़ चम्पा एक पेड़ चमेली
उड़ि गए लाल गुलाल
ए बाटले आवथे पीला भये मैरम रसिका
टोड़ी-टोड़ी गजरा गुथे।
अर्थ—कौन नदी बहती है झिरमिर-झिरमिर
इन्द्रावती निराधार बहती है
इन्द्रावती के आर-पार एक चम्पा का पेड़ है, एक चमेली का

१. साले पेड़ की टहनी कहीं लगा दो जड़ें पकड़ लेती है।

उसके निकट राजकुमार जा पहुँचे

इधर से आये पीले भैरव देव, जो पहनते हैं चम्पा-चमेली के फूल तोड़-तोड़ कर गजरे।

लड़की संगनी गीत

आया बोनो-बोनो जाइ जामा कोली
कदलीर बोनो
कदली खाया कोजू बोइलो रे
मालती बिछौना जूना बसतौ रे
जूना बसतो रे टेकी पड़े रथो
टेकी पड़े रथो टेकी पड़ो रे
टेकीला राथो के बाँगाइ नेला
रे मालती बिछौना बूढ़ो हनुमतो

अर्थ—हे जाम की कली
आम के वनों में जा-जा के घूमी
कदली के वनों में जा-जा के घूमी
कदली के वनों में जा-जा के घूमी
केले खाने का कौन शौकीन है?
कहाँ पर मालती फूल का बिछौना मिलेगा?
जूना बस्तर में मालती फूल का
बिछौना मिलेगा।
जूना बस्तर में रथ भी आकर एक बार रुक जाता है
टेके हुए रथ को कौन राह बता कर ले जाता है, बूढ़ा हनुमान?
(नहीं तो) जूना बस्तर में सभी रथ रुकते हैं।

कोटनी गीत

नीचे एक और विवाह गीत दिया गया है जिसमें दैनिक क्रीड़ाओं की ओर सूक्ष्म संकेत है:

विवाह के बाद पालने में दूल्हा-दुलहन को बिठा के झुलाते हैं और कन्याएँ निम्न गीत गाती हैं:

काहे झुलना झुलसे नोनी रे
काहे झुलना झुलसे ·नी रे
काटा बाँसर झुलना नोनी रे,
रान बाँसर धरना नोनी रे
एबर कहाँ जासे नोनी रे
एबर कहाँ जासे नोनी रे
जाड के नीचे सकिस नोनी रे
कहाँ जाइसिस बद ले दे नोनी रे···
धरे दे हटका मारे दे नोनी रे···
भाटा सूना होली नोनी रे
खोरी···
मंडइ-मंडइ जाइस नोनी रे
बाजार-बाजार जाइस नोनी रे
काय हाल होली नोनी रे
घर चिन्ता घाली नोनी रे
मुँड बाँवसा पड़ली नोनी रे
मुँड बाँवसा पड़ली नोनी रे

अर्थ—ए नोनी (लड़की) तू कौनसा झूलना झूलती है? (काँटा) वाले बाँस का झूलना है
मोटे बाँस का धरना[२] है।
ए नोनी, तू कहाँ जाती है
हम तुझे कैसे छोड़ दें
कहाँ जाएगी नोनी, तू कहाँ जाएगी?
तेरा मर्द तुझे मारेगा
हमारे खेल का मैदान सूना हो जाएगा।
मेला सूना हो गया, ए नोनी
बाज़ार-हाट सूनी हो गई
ए नोनी, तू क्या होने जा रही है?
(जानती है ब्याह के बाद)
तू घर की चिंता से पीड़ित रहेगी
तेरे सर पर पड़ेगी ए नोनी
बाँस की लाठियाँ।

माड़िया जाति का जीवन और उनकी अर्थ-व्यवस्था जंगलों पर आधारित है। लड़के वहाँ शिकार के लिए या जानवरों को चराने के लिए जाते हैं और लड़कियाँ जंगली फल इकट्ठा करने या अपने को सजाने के लिए फूल एकत्र करने या खाना परोसने के पत्तल बनाने के लिए पत्तियाँ इकट्ठा करने जाती हैं। लड़के-लड़कियों की प्रेम-लीलाओं के लिए वनस्थली एक आदर्श स्थान है। उनके गीतों में जंगलों में काम करते हुए नाना प्रकार की यौवन-सुलभ प्रेम-लीलाओं का वर्णन आता है। जितना उनका जीवन स्वच्छन्द है, उतने ही उनके शब्द स्पष्ट हैं।

नीचे दो पान-टुटानी गीत दिए जा रहे हैं। पान के माने हैं पत्ता और टुटानी माने चुनना।

पान-टुटानी

पतर टोड़ली काग्रोरे झाकिली
संगाइली वाटो पाखे
ताकला कोल्हे परा लुडंगी धरली
कोनी बोट नोइ बाखे
हाट फिटी गेला हाट रे दिन हेला
जाँग फिटी गेला माँसे
राती कौनो जाने दिन आस्ती
पुरुसोर डेर हेला
सिरलिगा भिरलिगा राइंकरा झोड़ी
खेलीबी टोकसा गरी
गाड़ी बाइल परा बेसनी छेड़िबी
कतक होइबी ऊबा करी

---

२. झूलने को टिकाने वाली लकड़ी

भावार्थ—

पत्ते तोड़ कर काँख (भाँक-भोले) में
भरती जाती हूँ
सड़क के किनारे बंडल बना-बना कर
रखे हैं
(साँझ होने पर) घर की ओर थके हुए
कोल्हिया (सियार) की भाँति लौट रही हूँ
किसी भी तरफ में नहीं पहुँच पाई
(मित्र से भी नहीं मिली और घर को भी देर हो गई)
हाट छूट गया आठ दिन से भेंट नहीं हुई
एक माह से तेरा स्पर्श नहीं मिला
रात को कौन कहे, मैं दिन को चला आना
तेरे पुरुष का भय जो है
सिरलिंगा-भिरलिंगा, राइकेरा का नाला—
टोकरी गरी-मछली पकड़ने की बाँसी से
मैं मछली पकड़ूँगी।
गाड़ी के बैल के समान तुम्हें नथ पहनाएँगे, उतावलो क्या दिखाते हो ?

(२)

पवर टोडिलो लालो लाइ वने
कुंज वने भूलि-भूलि
होइ रसवति बलारि मालती
हस्तौ वने भूलि-भूलि
बन्धु गला पाछे रोदना कली
छूछा भूएँ टुलि-ढुलि
आले टेकि धेर पीला सन कर
मोर जियो हर-हर
तोके देखे नाइ दिन पंदर
तोर गठन केड़े सुन्दर

भावार्थ—

लालो लाइ, वन में पत्रल तोड़ती हूँ
कुंज वन में घूम-घूम कर पत्रल तोड़ती हूँ
हे रसवती, हे मालती
हाथी के वन में भी हमने घूम-घूम
कर पत्रल तोड़े
बन्धु के बिछोह की बाट मैंने रुदन किया
नग्न भूमि पर लोट-लोट कर
अब सँभलो, लड़कों के समूह का
उत्तर देने के लिए
मेरा जी आज हरा-भरा है
तुम्हें पन्द्रह दिन से नहीं देखा है
तेरा गठन बड़ा ही सुन्दर है।

मूँदी-माँगा

मूँदी-माँगा उन गीतों का नाम है जिन्हें माड़िया और हाट-बाज़ार जाते समय गाती हैं। मार्ग में जब किसी गाँव वे विश्राम करने के लिए रुक जाती हैं, तो उस गाँव और इ गायक मण्डली के बीच गीत-प्रतिद्वन्द्विता होती है। जो हारता है उ अपने पास के किसी कीमती आभूषण से वंचित होना पड़ता है। ऐस अधिकतर होता है कि इस तात्कालिक गीत-सृजन और गायन में और मर्दों से अधिक अच्छा गाता हैं। नीचे दिया गया गीत का भावार्थ इसक उदाहरण है :

हम लड़कियों के समूह ने सलाह की। चलो मूँदी माँगने जाएँ तुम यहाँ-वहाँ मत भटको। नीलम और मूँगे की कीमती मुँदरी ज तुम्हारे हाथ में है, हमसे हँसी-मजाक और गीत में पराजित होक हमें दे दो।

(गोल कुम्हड़ा और गुलटिया—कंमडलाकार लौकी) जिस दिन पक्का भोजन न मिला उस दिन आधा सेर चाउर भी बाँट कर खा लेते हैं।

बाऊस पलके की डंडी से पंखा चलता है।

न देख पाने से जीवन को शान्ति रहती है और देख लेने पर छोड़ने की चाह नहीं होती।

नगर नार की मुंडी वाली कुल्हाड़ी और एलार पाल का बसूला।

करम को हज़ार पटको तो भी कैसे जोड़ी बनेगी ? अगर कर्म में लिखा है तभी न तुम्हारी हमारी भेंट होगी।

साल का झाड़ जब वसंत में चोटी पर फलता है, तो कितना सुन्दर लगता है। चैत पूरब में जितना कमर झुला के नाचो उतना ही सुन्दर।

सायलोड़ी पाड़ में तो क्रमवार नाचना ही सोहता है। तुम्हारे मुँह के सुन्दर वचन सुनकर घर का काम छोड़कर मैं दौड़ी-दौड़ी आई हूँ। लेकिन तुम छोकरे सब बूढ़े हो।

सूर्य छिप गया और गोधूली में गउओं का समूह विदा हो गया। कुम्हड़े के पेड़ में छोटी-सी बतिया लग गई। कितने सुन्दर तरीके से फल काट कर सेज पर सजाया है। हे मित्र, जुबान से ऐसे लालच-भरे वचन बोलती हैं, लेकिन काटो तो रस की एक बूँद भी नहीं। (यानी तुम्हारे वचन में मिठास है, हृदय में नहीं।)

गायों का समूह दीखता है, केकड़ा का भी समूह दीखता है, तालाब के किनारे घोड़ियों का समूह चर रहा है, मैं तुम्हारी शादी और मँगनी न हुई समझ दौड़ी आई, लेकिन तुम छोकरे सब बूढ़े हो।

मिट्टी सरीखा तुम्हारा रंग पानी के कुक्कुट से भी बत्तर है। इस मरे-मुर्दे का कितना जतन करें। लाओ तुम्हें झोंक के गाड़ कर मुक्ति पाएँ।

शहर के वासी कच्ची हल्दी के समान हैं, दो दिन के प्रेमी हैं (कच्ची हल्दी का रंग एक बार धोने पर उतर जाता है)। गाँव के लोग साबुन हैं जो सब मैल धो देता है। जो लंगोटी पहनते हैं उन गरीबों को सभी झिड़कते हैं। जो घुटने तक धोती पहनते हैं उन्हें बाबू कहते हैं।

गभार बेड़े (सिंची उपजाऊ ज़मीन में) बनैले धान की भरमार है।

पुजारी का खेत भी बहुत उपजाऊ है, उसमें घास की भरमार है । ए लड़की, तू रोज़ धोका देकर भाग जाती है आज तुझे देख लेंगे ।

अगर झूम आती हो, तो सो जाना चाहिए। तू सुस्त चेहरे का आदमी है। टेढ़ा तेरा मुँह है, तू क्या समझता है कि ढेकी (धान काटने की मशीन) सहज ही में चला लेगा? (संकेत यह भी है कि क्या हमें सहज ही में पा लेगा?)

भोजन कर सजधज कर, क्या मैं तेरे जैसे घोंघावसंत के लिए आई हूँ।

इन माड़िया गीतों को मैं निदाई यानी खेत-निराई गीत का एक और उदाहरण देकर समाप्त करता हूँ। अधिकतर स्त्रियाँ खेत निराने का कार्य करती हैं। और खेत में काम करते समय वह निदाई-गीत गाती हैं, जो माड़िया जाति का प्रसिद्ध लोक-महाकाव्य है। निराई के काम के लिए बड़े धैर्य की आवश्यकता होती है। इसीलिए निदाई का गीत एक लम्बा गीत है जो खेत-निराने के काम की समाप्ति तक रहता है। निदाई-गीत का केवल कथानक भर ही मैं माड़िया-नृत्य-मण्डली के नेता से सुन पाया।

कथानक इस प्रकार है।

किसी ज़माने में बस्तर महाराजा के सिपाही महासागर झील से होते हुए जा रहे थे। झील के दूसरे छोर से एक अन्य राज्य का राजकुमार एक नन्दी के साथ चला आ रहा था। राजा के सिपाही राजकुमार के रूप को और नन्दी की छवि देख कर अत्यन्त प्रभावित हुए। वे राजा के पास अपने अनुभव का बखान करने के लिए पहुँचे। राजा को भी राजकुमार और नन्दी के दर्शन की इच्छा हुई और उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि दोनों को दरबार में लाया जाए।

राजकुमार राजा के सामने उपस्थित होकर बोला—"मैंने कोई अपराध नहीं किया, फिर भला मेरे दरबार में बुलाए जाने का क्या कारण है।"

राजा बोला—"तुम्हारे नन्दी को मेरे हाथी से जूझना होगा। मैंने तुम्हारे नन्दी की बड़ी प्रशंसा सुनी है। उसकी शक्ति की परीक्षा लेना चाहता हूँ।"

राजकुमार को बड़ी चिंता हुई। जब नन्दी चरागाह से लौटा उसने राजकुमार को चिंतित देखकर चिंता का कारण पूछा। नन्दी ने उसे विश्वास दिलाया और कहा चिंता की कोई बात नहीं।

नन्दी ने अपना एक कान हिलाया और कीमती चावल की वर्षा होने लगी, दूसरा कान हिलाया और दूध-भात की वर्षा होने लगी। स्वादिष्ट भोजन से तृप्त होकर वे राजा के पास पहुँचे।

प्रसिद्ध दोकाटा मैदान में राजकुमार के नन्दी और राजा के हाथी के बीच युद्ध आरम्भ हुआ। नन्दी के प्रचंड आघातों से भयभीत होकर हाथी भाग गया।

दूसरे दिन नन्दी को एक भेड़िए से जूझना पड़ा। भेड़िया भी पराजित हो गया।

अन्त में राजा ने शेर से नन्दी का सामना कराया। जैसे ही नन्दी पर शेर झपटा, नन्दी का शरीर लोहे में बदल गया।

नन्दी की शक्तियों का लोहा सभी को स्वीकार करना पड़ा।

राजा ने राजकुमार के साथ अपनी कन्या ब्याह दी और उसे घर-जमाई बना दिया।

जहाँ भी राजकुमार गया नन्दी उसके साथ रहा। नन्दी की सहायता से राजकुमार ने पास-पड़ोस के सभी अत्याचारी राजाओं को परास्त कर दिया।

घर-जमाई की प्रथा माड़िया लोगों में खास तौर पर प्रचलित है। कोई भी विवाह तब तक सामाजिक रूप से स्वीकृत नहीं होता जब तक सारे समाज को भोज नहीं दिया जाता, जो एक गरीब माड़िया के बूते की बात नहीं। इसलिए लड़के-लड़की में शादी की बात तय हो जाने पर और माँ-बाप की स्वीकृति मिल जाने पर यदि लड़के के माँ-बाप गरीब हुए तो लड़की के माँ-बाप उसे घर-जमाई बना लेते हैं। माड़िया लोगों में सभी कन्याएँ निदाई-गीत के राजकुमार की भाँति पति की कामना करती हैं। माड़िया कन्याओं को सचमुच राजकुमार सरीखे वर मिलते भी हैं।

●

शब्द और शब्दकोश—(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

हैं। हिरण्य, स्वर्ण, कांचन, कनक आदि नाम सोने की किस-किस विशेषता के द्योतक हैं। व्युत्पत्ति यह भी सब के सामने रख देती है कि वैदिक संस्कृत, पाली, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं में टक्कर खाते और चक्कर लगाते हुए एक शब्द अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी आदि के भाषा प्रवाह में घिसकर आजकल के नए रूप में, शालिग्राम बन कर, हमारे पास आकर हमें क्यों बहुत प्यारा लगने लगा है?

कोश में चित्र देना भी अपना महत्त्व रखता है। पर अब इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं, क्योंकि "अनन्त पारं किल शब्द शास्त्रम्" कहा गया है।

●

पृथ्वी कैसे शान्त हुई?—(पृष्ठ ६१ का शेषांश)

गाना!—अरे हृदय में प्रज्वलित अग्नि के होते हुए भी तुझे गाना कैसे सूझता है?

वह अग्नि शान्त हो चुकी है प्रभू!

शान्त हो चुकी है? किसने शान्त की?

मनुष्य ने!

कैसे?

'उसके अन्तःकरण में जागृत हुए बंधुभाव ने! इस भावना के कारण उसकी आँखों से झरने वाले आँसुओं ने!!'

अनुवादक : हीरालाल शर्मा



पुस्तक समालोचना

महात्मा गांधी : दि लास्ट फेज़ (फ़र्स्ट वौल्यूम) : लेखक—प्यारेलाल; प्रकाशक—नवजीवन ट्रस्ट, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या ७५०; बड़ा आकार और सुन्दर जिल्द; मूल्य २०)।

प्यारेलाल बरसों तक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के व्यक्तिगत मन्त्री रहे और स्वनामधन्य महादेव देसाई के देहान्त के बाद 'हरिजन' के सम्पादक रहे। स्वभावतः गांधीजी से उनका सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ट था। इस ग्रन्थ में प्यारेलाल ने गांधीजी की जीवनी के अन्तिम ४ वर्षों, बल्कि ठीक कहना हो तो ३ वर्ष, ८ महीने और २६ दिन को लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम खण्ड है, जिसमें ५ मई १९४४ से लेकर लार्ड मौण्टबेटन के भारत आगमन (२४ मई १९४७) तक का वर्णन है और दूसरा खण्ड (जो बाद में प्रकाशित होगा) गांधी जी के जीवन के अन्तिम ८ महीनों से सम्बद्ध है, जिन ८ महीनों के सम्बन्ध में लार्ड मौण्टबेटन के मन्त्री महोदय भी एक ग्रन्थ लिख चुके हैं।

प्यारेलाल जी की यह अंग्रेज़ी रचना गांधी साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थ है। और इसी दृष्टि से हम इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रन्थ मानते हैं। अपनी प्रस्तावना में प्यारेलाल जी ने लिखा है—"आज जब कोई महत्त्वपूर्ण विदेशी यात्री भारत में आता है, तो दिल्ली पहुँचते ही प्रायः सबसे पहले वह राजघाट पर जाकर राष्ट्रपिता की समाधि पर पुष्पांजलि चढ़ाता है। भारत यात्रा समाप्त करते हुए वह प्रायः पूछता है : 'आज के भारत में गांधी कहाँ है?' यह प्रश्न है जो आज प्रत्येक भारतवासी को स्वयं अपने से पूछना चाहिए। मेरी यह पुस्तक इसी प्रश्न का उत्तर तलाश करने में मदद देने की इच्छा से लिखी गई है।"

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में गांधी जी के सम्बन्ध की कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर नया प्रकाश डाला गया है। गांधी जी के जीवन की घटनाओं, उनके विचारों और आदर्शों तथा उनके व्यक्तित्व पर प्यारेलाल जी की इस रचना में बहुत प्रामाणिक, स्पष्ट और केन्द्रित प्रकाश डाला गया है। पुस्तक की शैली भी अत्यन्त मनोरंजक है। उदाहरण के लिए पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार किया गया है—'हिटलर पर अन्तिम आक्रमण करने के उद्देश्य से नारमण्डी पर मित्रसेनाओं के उतरने से ठीक एक मास पूर्व ५ मई १९४४ की साँझ को बम्बई जेल विभाग के इन्स्पैक्टर जनरल कर्नल भण्डारी आग़ाख़ान महल में आए, जहाँ गांधी जी को कठोर निगरानी में रक्खा गया था। कर्नल भण्डारी का इस तरह साँझ को आना एक असाधारण बात थी। आते ही उन्होंने गांधी जी को बताया कि वह और उनके साथी कल प्रातः ८ बजे बिना किसी शर्त के रिहा कर दिए जाएंगे।

'गांधी ने आश्चर्य से पूछा—"क्या आप मज़ाक कर रहे हैं?"

'इन्स्पैक्टर जनरल ने कहा—"जी नहीं। मैं अत्यन्त गम्भीरता से यह बात कह रहा हूँ। रिहाई का हुक्मनामा मुझे अभी आज ही मिला है। आप चाहें तो आराम के लिए अभी यहाँ कुछ दिन और रह सकते हैं। परन्तु कल प्रातः ८ बजे पहरे पर नियुक्त सभी सिपाही यहाँ से हटा दिए जाएँगे।"

'और इस सब के साथ ही साथ कर्नल भण्डारी ने कहा—"अब मेहरबानी कर आप कभी यहाँ न आइएगा! देखिए न आपकी चिन्ता में मेरे सभी बाल भी सफ़ेद हो गए हैं!"

'गांधी जी अब तक सहज स्वाभाविक भाव में आ गए थे। मुस्कराते हुए उन्होंने पूछा—"पर यदि मैं पूना में कुछ देर और ठहरा तो मेरे रेल भाड़े का क्या होगा?"

'—"जब आप पूना से जाने लगेंगे, वह आपको मिल जाएगा।"

'—"बहुत अच्छा। तो मैं अभी पूना में दो-चार दिन और रहूँगा।"

'इस तरह २१ महीनों के बाद गांधी जी के जीवन की यह अन्तिम जेलयात्रा समाप्त हुई, जो ८ अगस्त १९४२ को इस कारण प्रारम्भ हुई थी कि इन्होंने अंग्रेज़ों से कहा था कि "भारत छोड़ो और इस देश को स्वाधीन घोषित कर दो"।'

इसी तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ अत्यन्त मनोरंजक और तथ्यात्मक शैली में लिखा गया है। अनावश्यक विस्तार उसमें कहीं भी नहीं है। स्थानाभाव से हम यहाँ इस मूल्यवान ग्रन्थ के उद्धरण देने के प्रलोभन का सम्वरण कर रहे हैं। पुस्तक की भूमिका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने लिखी है जो अत्यन्त विचारोत्तेजक है। हमें विश्वास है कि संसार भर में इस पुस्तक का आदर होगा। विशेषतः उन लोगों में जो गांधी जी के आदर्शों को समझना चाहते हैं। हिन्दी में इस अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ का अनुवाद अत्यन्त शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। पुस्तक में दर्जनों सुन्दर चित्र भी हैं और उसकी छपाई, सफ़ाई, बँधाई आदि प्रथम श्रेणी की है।

सन्त विनोबा की आनन्द यात्रा : लेखक—सुरेश रामभाई; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वर्धा; पृष्ठ संख्या ३१६; मूल्य १॥)।

सन्त विनोबा की बिहार यात्रा का सजीव और रोचक वर्णन सुरेश रामभाई की इस रचना में है। आचार्य विनोबा की यह बिहार यात्रा

४ सितम्बर १९५२ को प्रारम्भ हुई और ३१ दिसम्बर १९५४ को समाप्त हुई। इस यात्रा में बाबा ५,९४७ मील पैदल चले और उन्हें २,८६,४२० व्यक्तियों से २२,२२,४७४ एकड़ भूमि दान में प्राप्त हुई। इन व्यक्तियों में भारत के राष्ट्रपति भी सम्मिलित हैं। उक्त यात्रा के मानचित्र भी इस पुस्तक में दिए गए हैं। आचार्य विनोबा का यह भूमिदान आन्दोलन एक क्रान्ति से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका प्रभाव तो क्रान्ति के प्रभाव से भी अधिक चिरस्थायी है। इस आन्दोलन ने भारत में एक नए प्रकार की मनोवृत्ति और विचारधारा को जन्म दिया है, जो आज के हिंसापूर्ण संसार में अनोखी है। सर्वत्यागी बाबा की यह चुनौती संसार भर के हिंसावाद को एक शानदार चुनौती है और यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि यह चुनौती भविष्य के सुखी संसार की पूर्व सूचिका है। सुरेश रामभाई ने बाबा की इस ऐतिहासिक बिहार यात्रा का चित्रण कर अपनी लेखनी को सफल बनाया है। पुस्तक की लेखन शैली सजीव और आकर्षक है। उदाहरण के लिए रुपैली गाँव की एक सभा के वर्णन में लेखक ने लिखा है—"इस बीच पानी बरसने लगा। बाबा ने कहा कि आप डरिए मत। छाते बन्द रखिए। छाते आपस में भेद खड़ा करते हैं। परमेश्वर की कृपा का एक साथ आनन्द लूटिए। लेकिन हाँ, जिस गद्दी पर हम बैठे हैं, उसको हटा दीजिए। (बाबा गद्दी हटा कर ख़ाली मेज़ पर बैठ गए) बाबा बोले—इन गद्दियों की वजह से ही दुनिया में मुसीबतें आई हुई हैं। राजा की गद्दी, सेठ की गद्दी, महन्त की गद्दी। अब गद्दी के दिन गए। दुनिया की सारी सम्पत्ति किसी एक आदमी की नहीं हो सकती। इसी तरह गाँव की ज़मीन मेरी-तेरी नहीं, बल्कि कुल गाँव की है।"

बाबा के बिहार पहुँचने की तीसरी वर्षगाँठ के दिन वह परिहार नाम गाँव में थे। उस दिन का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है—"दोपहर को एक बूढ़ा आदमी जिसकी दोनों आँखें चली गई थीं, बाबा से मिलने आया। उसके पास कुल छः कट्ठा ज़मीन थी, जो उसने सब की सब बाबा को दान में दे दी। बाबा ने पूछा कि तुम अब अपना काम किस तरह चलाओगे? उसने जवाब दिया कि अब भी मेहनत मज़दूरी से गुज़र होती है, इन छः कट्ठों से नहीं। बाबा ने खुशी से उसका दान स्वीकार कर लिया। लेकिन दानपत्र की पीठ पर लिख दिया—"इस अन्धे भक्त ने यह ज़मीन प्रेमपूर्वक दी है। यह इसी को प्रसाद के तौर पर वापस की जाती है—विनोबा।" इसी तरह के कितने ही मधुर और हृदयस्पर्शी प्रसंग इस पुस्तक में हैं। हम इस पुस्तक की ज़बरदस्त सिफ़ारिश करते हैं।

हिन्दी समाचारपत्र निर्देशिका १९५६ : सम्पादक—बंकटलाल ओझा; प्रकाशक—हिन्दी समाचारपत्र संग्रहालय, पोस्ट बॉक्स १०, कसार हट्टा रोड, हैदराबाद-२; पृष्ठ संख्या २००; मूल्य ३) (अजिल्द)।

इस निर्देशिका में हिन्दी सामयिक पत्रों की पूर्ण सूची के अतिरिक्त समाचारपत्र संस्थाओं, समाचार-प्रबन्ध, देवनागरी दूर मुद्रक, अख़बारी कागज़ का उत्पादन, प्रेस कानून, पहेली पुरस्कार कानून, समाचारपत्र कानून, श्रमजीवी पत्रकार कानून आदि सम्बद्ध तथा उपयोगी बातों की जानकारी भी दी गई है। निर्देशिका निस्सन्देह अत्यन्त उपयोगी है। पर हम चाहते हैं कि इस निर्देशिका में कॉपीराइट कानून के अतिरिक्त यह जानकारी भी रहती कि प्रत्येक पत्र की प्रकाशन-तिथि क्या है, उसमें प्रकाशित होने वाली सामग्री का क्षेत्र क्या है तथा उसके लिए किस दर से पारिश्रमिक दिया जाता है। जिस तरह का प्रकाशन इंग्लैण्ड का 'राइटर्स ईयर बुक' है, उसी तरह का प्रकाशन यह निर्देशिका भी बन पाती तो इसका उपयोग और भी अधिक बढ़ जाता। साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्रों को समाचारपत्र (न्यूज़ पेपर) नहीं कहा जा सकता, उन्हें सामयिक पत्र (पिरीऑडिकल) कहना चाहिए। इस दृष्टि से निर्देशिका का नाम बदलने की भी आवश्यकता है।

फलाहार : लेखक—डाक्टर अब्रायौस्की; अनुवादक—सन्तराम; प्रकाशक—विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान प्रकाशन, होशियारपुर; पृष्ठ संख्या १०२; मूल्य १।)।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान भारत की एक सुप्रसिद्ध संस्था है, जिसने वैदिक साहित्य के अनुसन्धान और प्रकाशन के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। आचार्य विश्वबन्धु की देखरेख में यह संस्था लाहौर में पनपी और देश-विभाजन के बाद होशियारपुर को इस संस्था का केन्द्र बना दिया गया। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई है कि उक्त संस्था वैदिक साहित्य के प्रकाशन के साथ-साथ अब अन्य उपयोगी साहित्य का प्रकाशन भी कर रही है। उक्त संस्थान की ओर से जो ८ ग्रन्थमालाएँ निकाली जा रही हैं, 'फलाहार' उनमें से विश्व कल्याण ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है। फल तथा सब्ज़ियों के आहार से मनुष्य किस प्रकार अपने को नीरोग तथा दीर्घायु बना सकता है, यही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। डाक्टर अब्रायोस्की के अतिरिक्त कुछ भारतीय डाक्टरों के आहार सम्बन्धी लेख भी इस लघु पुस्तिका में दिए गए हैं। पुस्तक आकर्षक शैली में लिखी गई है।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

आदर्श पुरुष : लेखक—पी० जी० वासुदेव; प्रकाशक—एन० एस० एस० सेन्ट्रल को-आपरेटीव सोसाइटी, पेरुन्ना पी० ओ०, टी० सी० स्टेट; पृष्ठ ४५; मूल्य १० आना।

लेखक ने कुछ महापुरुषों की जीवन झाँकी प्रस्तुत की है। वेलुतंपि और महागुरु नारायण का परिचय उत्तर वालों के लिए नया है। लेखक का प्रयास स्तुत्य है।

पंचशील : लेखक—श्री मालसिंह एम० ए०, एल-एल० बी०; प्रकाशक—नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर; पृष्ठ ८०।

पंचशील पर एक छात्रोपयोगी पुस्तक।

समझौता : लेखक—चावलि सूर्यनारायणमूर्ति, एम० ए० 'साहित्यरत्न'; प्रकाशक—चावलि सूर्यनारायणमूर्ति; १० मैलेय रंगनाथ मुदलियार स्ट्रीट, त्यागराजनगर, मद्रास-१७; पृष्ठ ७६; मूल्य १४ आने।

आन्ध्र प्रांत में प्रचलित वैवाहिक आचार को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। कन्या का उसकी फूफी के लड़के के साथ विवाह दक्षिण

में—विशेषतः आन्ध्र में—बहुत प्रचलित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत हिन्दू कोड बिल की तलाक़-समस्या को लेकर नाटक को सामयिक और सर्वकालीन बनाने का भी प्रयत्न किया गया है। भारत की राष्ट्रीय एकता को दृष्टि में रख कर नाटक के घटना-स्थल और पात्र उत्तर और दक्षिण भारत के रखे गए हैं।

लेखक की रचना सद्भावनापूर्ण है। हिन्दी भी अच्छी है।

लाल चीन में : लेखक—लियु० शा-टॉग; प्रकाशक—सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स लिमिटेड; ३९ फ़ैज़बाज़ार दिल्ली-७; पृष्ठ २६४; मूल्य १॥)।

सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स का यह प्रकाशन जनवादी चीन के सम्बन्ध में है। लेखक का मूल विचार उनके शब्दों में इस प्रकार है :

"स्वतन्त्र संसार के विरुद्ध कम्युनिस्टों ने जो युद्ध छेड़ रखा है, उसमें उसके पास एक भयंकर अस्त्र है : अभी तक स्वतन्त्र संसार को इस बात की कल्पना तक भी नहीं होगी कि समस्त जनता से उसके विचार, भाषण और कार्य की स्वतन्त्रता किस प्रकार चुरा और छीन ली जा सकती है। किन्तु सुन्दर एवं सुमधुर नारे लगाते हुए चीन के कम्युनिस्टों ने अपने देश में यह सब कुछ कर दिखाया है, यह निर्विवाद रूप से सत्य है। उन्होंने एक नया शब्द-कोष रच लिया है और अपनी तानाशाही इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन शब्दों में एक नया ही अर्थ डाल दिया है। इसी शब्द-कोष के द्वारा वे आए दिन अनेक अपराध करते रहते हैं और अपने अधिकृत क्षेत्रों में जनता को उन्मत्त रखते हैं और उन्हीं शब्दों द्वारा वे लौह-पट्ट के बाहर के देशों की जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का यत्न करते रहते हैं।"

पर यह लौह-पट्ट अब कहाँ है? सिद्धार्थ प्रकाशन ने इस प्रकार के साहित्य को हिन्दी में तब लाकर पटका है, जब ये धारणाएँ बहुत पुरानी पड़ कर उनसे एक तरह की सड़ाँध आने लगी है।

ग्राम राज : लेखक—धीरेन्द्र मजूमदार; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ ७१; मूल्य चार आना।

गाँव-गाँव में स्वराज्य : लेखक—विनोबा; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ ३२; मूल्य २ आना।

गाँव का गोकुल : लेखक—अप्पा पटवर्धन; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन राजघाट, काशी; पृष्ठ ६४; मूल्य चार आना।

कार्यकर्त्ता-वर्ग : लेखक—विनोबा; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन राजघाट, काशी; पृष्ठ १०४; मूल्य आठ आना।

जीवन-दान : लेखक—जयप्रकाश नारायण; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ ६१; मूल्य चार आना।

'ग्राम राज' में भूदान की विचारगत पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण किया गया है। 'गाँव-गाँव में स्वराज्य' तथा 'कार्यकर्त्ता-वर्ग' में विनोबा के कुछ व्याख्यान हैं। 'गाँव का गोकुल' भूदान की एक व्याख्या है। 'जीवन दान' में जयप्रकाश नारायण के मार्क्सवाद से विनोबावाद में पहुँचने की प्रक्रिया का दिलचस्प इतिहास है, इसलिए भूदान पर निकलने वाले अन्य साहित्य से यह विशिष्ट है। एक झाँकी लीजिए—"इस समय मेरे मन में एक नया चिन्तन चल रहा था। मेरे विचारों का विकास एक और ही दिशा में हो रहा था। पहले मार्क्सवाद पर मेरी आस्था थी। लेकिन इधर कुछ दिनों से मुझे ऐसा विश्वास होने लगा था कि भौतिकवादी दर्शन के आधार पर समाजवादी समाज-रचना नहीं हो सकती। मुझे यह साफ़ दीखने लगा था कि गांधी जी का यह कहना बिलकुल सही था कि मानव-निर्माण के बिना समाज-निर्माण असम्भव है और मानव-निर्माण का आधार भौतिकवाद नहीं बन सकता। यहाँ तक तो मेरा विचार भूदान-आन्दोलन में प्रवेश करने के पहले पहुँच चुका था। आगे चलकर जब मुझे भूदान-आन्दोलन का अधिक परिचय हुआ, तो मैंने अनुभव किया कि मानव-निर्माण अथवा मानवीय क्रांति के लिए यह एक महान् प्रयास है। समाजवादी आन्दोलन में मानव-निर्माण का कोई कार्य-क्रम दीखता नहीं था। समाजवादी तंत्र के जो नमूने दुनिया में जहाँ-जहाँ दिखलाई पड़े या जिस तंत्र का स्वरूप समाजवादी विचारधारा में पाया जाता था, उससे मुझे संतोष नहीं था। समाजवादी समाज-रचना में राज्य-शक्ति का विस्तार होगा, ऐसा मुझे लगता था। समाजवाद को राज्यवाद से कैसे बचाया जाए, यह प्रश्न आज भी हर विचारवान समाजवादी के सामने है। इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर महात्मा जी के विचारों और विनोबा जी के इस क्रांतिकारी आन्दोलन में मुझे मिला। धीरे-धीरे मुझे विश्वास हो गया कि समाजवाद के सही उद्देश्य और सही मूल्य महात्मा जी के सर्वोदय में मिलेंगे। सर्वोदय की स्थापना राज-शक्ति के द्वारा नहीं हो सकती, बल्कि यह भूदान-आन्दोलन तथा उसी प्रकार दूसरी प्रक्रियाओं के द्वारा नैतिक, वैचारिक तथा जीवन-मूल्यों में क्रांति करके ही की जा सकती है।"

फिर—"कुछ लोग समझते हैं कि मेरे इस कदम से समाजवाद की शक्ति क्षीण होगी। लेकिन उसका तो सवाल ही नहीं उठता। सन् १९५७ में अगले चुनाव होंगे। उस समय तक यदि भूदान क्रांति सफल हो जाती है, पाँच करोड़ एकड़ ज़मीन मिल जाती है, हज़ारों गाँवों में ज़मीन का ग्रामीकरण हो जाता है, नए समाज के नए विचार, नई सभ्यता के नए मूल्य वातावरण में व्याप्त हो जाते हैं, तो अगले चुनाव में समाजवाद की बड़ी से बड़ी जीत इसके सामने फीकी पड़ जाने वाली है। चुनाव की जीत तो केवल राजनैतिक होगी, लेकिन भूदान-आन्दोलन की सफलता प्रत्यक्ष समाजवाद की क्रांति होगी। इस क्रांति से समाजवाद की इतनी शक्ति बढ़ेगी कि जितनी समाजवादी पक्ष के दायरे में सीमित रहकर किसी प्रकार भी बढ़ना सम्भव नहीं है।"

मतभेद की गुंजाइश है, पर जयप्रकाश के शब्दों में उनकी बातें महत्त्व रखती हैं। पुस्तिका का नाम और अच्छा हो सकता था।

स्वास्थ्य के साधन और औषधि विज्ञान : लेखक और प्रकाशक—तबीब हाज़िक वैद्य बाबू प्रसाद गुप्त; पृष्ठ२१८; मूल्य २ रुपये २ आने।

इस पुस्तक के लेखक ने वैद्यक के साथ-साथ यूनानी की भी शिक्षा पाई है। इसके अलावा वे अच्छी तरह लिख भी लेते हैं। इस पुस्तक में साधारण तथा असाधारण सभी तरह के रोगों के सम्बन्ध में विस्तार

के साथ लिखा गया है। पुस्तक की विशेषता यह है कि लेखक हर रोग के लिए कोई-न-कोई साधारण सस्ता नुस्खा पेश करता है। इसमें सन्देह नहीं कि जो भी इस पुस्तक को पढ़ेगा उसे बहुत फ़ायदा रहेगा और हमारा ध्यान शीशी वाली दवाओं पर से हट कर मामूली जड़ी-बूटियों की तरफ़ जाएगा। अवश्य ही बड़े रोग में अच्छी तरह इलाज करवाना चाहिए पर छोटी-छोटी बातों के लिए वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों के पास दौड़ना उचित नहीं है। इस पुस्तक में बहुत-सी चीज़ों के गुण-दोष बतलाये गए हैं जो प्रत्येक के लिए हितकर हैं।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

अम्बपाली : रचयिता—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह; प्रकाशक—वीणापाणि प्रकाशन, ११६, बलराम दे स्ट्रीट, कलकत्ता-६; पृष्ठ संख्या २३०; मूल्य तीन रुपये आठ आने।

राजेश्वर बाबू ने वैशाली गणराज्य की इतिहास-प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली के विषय में काफ़ी गम्भीर अध्ययन करने के बाद इस सुन्दर काव्य-ग्रंथ की रचना की है। उन्होंने न केवल अम्बपाली के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराया है वरन् कवि की सूक्ष्म, संवेदनशील अन्तर्दृष्टि से अम्बपाली के मन और जीवन के नितान्त वैयक्तिक क्षणों का भी सफल उद्घाटन किया है। अम्बपाली का अन्तर्द्वन्द्व और अमिताभ के चरणों में समर्पण के रूप में उसकी चरम परिणति बड़ी सफलता से इस काव्य-ग्रन्थ में व्यक्त हुई है। वह केवल एक नारी न रह कर गुप्त जी की 'यशोधरा' और 'उर्मिला' की भाँति समस्त नारी जाति के मन और भावनाओं की प्रतिनिधि बन गई है। समस्त सुख-भोगों के होते हुए भी अम्बपाली का जीवन अशान्त है। उसके मन में एक ऐसी प्यास है जिसे बाह्य उपकरण शान्त नहीं कर सकते। वह गाती है :

गाऊँ मैं, पर किसे रिझाऊँ,
इन बागों में, इन फूलों में,
प्यार कहाँ से लाऊँ ?
भाव-तरंग हृदय में इनके,
निज सा ही लहराऊँ,
अपनी मर्म-व्यथा कह-कह कर
कैसे इन्हें रुलाऊँ ?

एक के बाद एक समस्त ऋतुएँ अपनी सुषमा और मादकता अम्बपाली के जीवन पर न्योछावर करती हैं; फिर भी वह अशान्त है, क्योंकि उसे उस वस्तु की उपलब्धि नहीं हो पाती जिसके लिए वह आकुल-व्याकुल है और जिसका संकेत वह इन शब्दों में करती है :

मिलकर हम इस विश्व-बीन के
हो जायें दो तार,
औ' उसके पावन निनाद में
विलय करें स्वर-धार।

प्रकृति के उल्लसित सौन्दर्य को देखकर अम्बपाली को ऐसा प्रतीत तो होता है कि उसे कुछ प्राप्त हुआ है जो बहुत सुन्दर है और बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु अभी यह उपलब्धि अपूर्ण है :—

क्या अपने आराध्य-देव के स्वागतार्थ ही आज,
देवलोक की नगरवधू ने साजा है यह साज ?
सात रँगों में रँगा हुआ है, देख. नगर का द्वार,
और दूर पर सुन पड़ती है, पायल की झनकार।
सखी, देख यह धनुषाकार।

वर्षा का ही वर्णन करते हुए कवि ने कुछ बहुत ही सुन्दर पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं :—

नीरव निशीथ में टप्-टप्-टप्—
पड़ रही वृष्टि, जल अन्त-हीन,
माँ की गोदी में लिपट-सिमट,
सोया अबोध शिशु, स्वप्न-लीन।
बैठे विहंग निज नीड़ों में,
चुपचाप, ऊँघते बार-बार,
रजनी की श्यामल कबरी से,
गिरते झड़-झड़ कर हरसिंगार।

अम्बपाली के मन का आलोड़न निरन्तर बढ़ता जाता है और अन्ततः वह अनुभव करती है कि जीवन के समस्त सुखों के होते हुए भी वह नितान्त एकाकिनी है :—

है मेरा कौन नगर में ?
हूँ मैं सबकी—यह माना
पर स्वयं अकेली घर में।

भगवान् बुद्ध का स्मरण करती हुई अम्बपाली सोचती है :—

पाकर के बुद्ध चरण को, जाकर के संघ शरण को,
फिर से शोभित-सी होगी नव-नव फूलों से डाली।

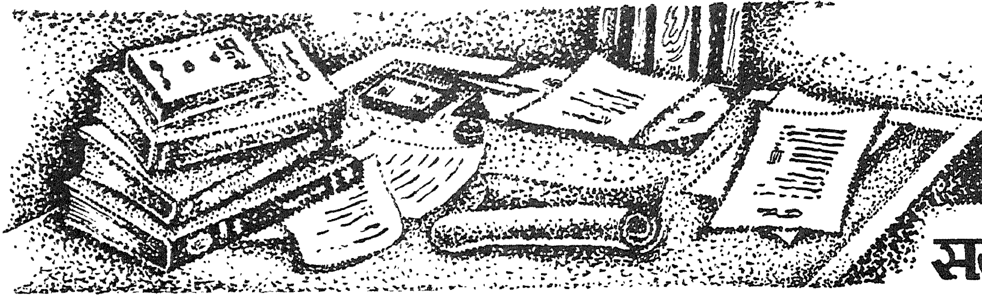
अम्बपाली को ऐसा लगता है कि उसके जीवन की रात अब बीतने वाली है, मंगल प्रभात आने वाला है। यही सन्देश उसे नेपथ्य से आता हुआ यह गीत सुनाता है :—

बीतती अब आ रही है रात, जाग, री, अब, जाग !
झाँकता नभ के झरोखे प्रात, विहग के सुन राग !

बुद्ध का आगमन होता है और उनके पावन चरणों में नत और समर्पित होकर अम्बपाली अनुभव करती है कि :—

मिटी वासनाएँ घुल-घुल कर।
गिरीं ग्रन्थियाँ उर की मेरे,
आज स्वयं खुल-खुल कर।
नव-जागृत निर्झर-हिमजल-सी,
सद्यःस्नाता दूर्वा-दल-सी,
स्वच्छ हुई यह मन की काया,
मिटा कलुष, त्रय-ताप मिटाया
प्रभु ने, दी चरणों की छाया
स्वर्ण सदृश अमिताभ बनाया।

[शेष पृष्ठ ७२ पर]



सम्पादकीय

नमो बुद्धाय !

संसार के सर्वकालीन सब से महान् मानव महात्मा बुद्ध की २५००वीं जयन्ती (२४ मई १९५६; बुद्ध पूर्णिमा) के अवसर पर उनकी अमर स्मृति में हम 'आजकल' परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं। मानव जाति का अब तक का जितना इतिहास है, उसे प्रतीकात्मक भाषा में 'देवासुर संघर्ष' का इतिहास कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में वह मानव की हिंसात्मक प्रवृत्ति और मानवीय दया-माया की भावनाओं के निरन्तर संघर्ष का द्योतक है। इस दैवी सम्पत्त और आसुरी सम्पत्त के अनगिनत उदाहरणों से धरती माँ का लम्बा इतिहास ओतप्रोत है। इस दैवी सम्पत्त का सबसे बड़ा धनी और साथ ही साथ सबसे बड़ा दानी मनुष्य महात्मा बुद्ध था। और हमारे देश का यह महान् सौभाग्य है कि इस महानतम मानव का जन्म इसी भारत भूमि में हुआ था।

आज से २५०० वर्ष पहले के उस युग का आप कल्पना कीजिए, जब सम्वाद वहन और यानायात के साधन अत्यन्त मन्दगामी थे। तब न छापेखाने का आविष्कार हुआ था और न शक्ति से चलने वाले यन्त्रों का। परन्तु इस महापुरुष के जीवन-काल में ही यह विशाल देश एक नए जीवन और नई विचारधारा से अनुप्राणित हो उठा था। इस महापुरुष ने भारत की पुरानी सांस्कृतिक परम्परा को ठुकराया नहीं, पर वह उसे एक नई ऊँचाई तक ले गया और कुछ ही सदियों में भारत का न केवल बाह्य जीवन अपितु भारतीय साहित्य, भारतीय विचारधारा और भारतीय कला पूर्णरूप से बुद्धमय हो उठीं। संसार के इतिहास में प्रथम बार और सम्भवतः केवल एक ही बार सम्राट् अशोक के नेतृत्व में इस महान् देश की राजनीति भी पूर्णरूप से 'धम्म' की अनुगामिनी बन गई। 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्' (क्रोध को शान्ति से जीतना चाहिए और असाधु को अपनी साधुता से) का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति और जीवन का अपरिहार्य अंग बन गया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति एकमात्र अपनी प्रचुरता और असीम समृद्धि के कारण हज़ारों मील दूर देशों में भी व्याप्त हो गई; जिस तरह नदी में अपनी आन्तरिक प्रचुरता के कारण ही बाढ़ आ जाती है। किसी तरह के शस्त्र-बल के प्रयोग के बिना बौद्ध धर्म लगभग आधे संसार का धर्म बन गया और आज २५०० वर्ष बीत जाने पर भी वही संसार का सब से अधिक व्यापक धर्म है।

एटम शक्ति के इस युग में महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। आज स्पष्टतः मानव जाति एक ऐसे ख़तरनाक बिन्दु पर विद्यमान है, जहाँ ज़रा-सी भी असावधानता उसके लिए घातक सिद्ध हो सकती है। मानव के हाथ में आज हाइड्रोजन बम और आई० सी० बी० एम० (इण्टर कौन्टिनैन्टल बैलिस्टिक मिसिली) के रूप में वह शक्ति विद्यमान है, जो एक घण्टे के भीतर न केवल आधी मनुष्य जाति का संहार कर सकती है, अपितु मनुष्य ने आज तक जो कुछ प्राप्त किया है, उस सब को तहस-नहस कर सकती है। इस तूफ़ानी परिस्थिति में महात्मा बुद्ध के उपदेश मानव-जाति के लिए शक्तिशाली प्रकाशस्तम्भ के समान सिद्ध हो सकते हैं। महात्मा बुद्ध ने हमें सिखाया कि घृणा को घृणा द्वारा नहीं जीता जा सकता; घृणा को प्रेम द्वारा ही जीता जा सकता है; क्योंकि घृणा करने वाले से घृणा करना और भी अधिक बड़ी घृणा को जन्म देता है। इसी तरह एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है, एक क्रोध दूसरे क्रोध को जन्म देता है, एक विनाशक आविष्कार दूसरे और भी अधिक विनाशक आविष्कारों को जन्म देता रहा है। महात्मा बुद्ध की इस २५००वीं जयन्ती के अवसर पर, हमें आशा करनी चाहिए कि मानव जाति के नेता घृणा, हिंसा और क्रोध की दिनों-दिन बढ़ती हुई होड़ पर प्रेम, अहिंसा और अशान्ति के प्रतिबन्ध लगाने के उपायों पर गम्भीर विचार करेंगे। महानतम मानव महात्मा बुद्ध के सन्देश हमारा पथ-प्रदर्शन करें।

●

पृथ्वी पर की गुटबन्दियाँ

दस वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर शान्ति, समानता और भ्रातृभाव की स्थापना के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया था। किसी भी राष्ट्र के अन्यायपूर्ण आक्रमण के विरुद्ध यह संगठन एक तरह की गारण्टी था। पर संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण करने वाले शक्तिशाली राष्ट्रों ने स्वयं ही पृथक क्षेत्रीय सन्धियों की रचना प्रारम्भ कर दी और देखते ही देखते सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिकांश शक्तिशाली राष्ट्र परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो गए। आज इस तरह की ६ सैनिक सन्धियाँ विद्यमान हैं। इन सन्धियों के नाम निम्न लिखित हैं :

१. नाटो (नार्थ एटलान्टिक ट्रीटी ऑर्गैनिज़ेशन); सम्मिलित देश : संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड, कैनाडा, नार्वे, आइसलैण्ड, डैन्मार्क, पश्चिम जर्मनी, हालैण्ड, बेल्जियम, लक्समबर्ग, फ्रान्स, पुर्तगाल, इटली, ग्रीस और टर्की।

२. बग़दाद पैक्ट (मिडल ईस्ट ट्रीटी ऑर्गैनिज़ेशन) : इंग्लैण्ड, टर्की, इराक, ईरान और पाकिस्तान।

३. सीटो (साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी ऑर्गेनिज़ेशन) : इंग्लैण्ड, फ्रान्स, पाकिस्तान, थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका।

४. एनज़स ट्रीटी : संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड।

५. रीओ ट्रीटी : संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका के राष्ट्र।

६. बाल्कन पैक्ट : टर्की, ग्रीस और यूगोस्लाविया।

७. वार्सा पैक्ट : पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, बाइलो-रशिया, हंगरी, रूमानिया, अल्बानिया, बल्गेरिया और रूस।

८. अरब लीग : सीरिया, ईरान, लीबिया, ईजिप्ट, लैबनान, यमन, जोर्डन और सूडान।

९. इजिप्शियन ब्लॉक : ईजिप्ट और सीरिया।

इन ९ संगठनों में सब से बड़ा भाग संयुक्त राज्य अमेरिका का है, जो ४ पैक्टों में सम्मिलित है। मानव जाति के भविष्य के लिए यह स्थिति चिन्ताजनक है; विशेषतः उस दशा में जब वाह्य रूप से उक्त सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के भी सदस्य हैं।

●

काश्मीर

प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने गत २९ मार्च के दिन लोक सभा में भारत की विदेश नीति का स्पष्टीकरण करते हुए काश्मीर के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया; जिसकी पुष्टि २ अप्रैल की प्रेस कान्फ्रेन्स में की गई। प्रधान मंत्री ने कहा—"काश्मीर की कहानी अक्तूबर १९४७ के तीसरे सप्ताह में प्रारम्भ हुई, जब जम्मू और काश्मीर पर पाकिस्तान की राह से और पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किया गया। पाकिस्तान के इस आक्रमण के सम्बन्ध में अब ज़रा भी सन्देह नहीं है। इस आक्रमण द्वारा काश्मीर में कितना ही रक्तपात, लूटपाट और विनाश किया गया। काश्मीर के सम्बन्ध में कोई भी निश्चय करते हुए अथवा किसी तरह का विचार करते हुए हमें यह आधारभूत तथ्य सदा सामने रखना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि काश्मीर पर किए गए इस आक्रमण के लिए पाकिस्तान के पास कोई भी औचित्य नहीं था।

"इस सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कानूनी तौर से तथा वैधानिक रूप से काश्मीर भारत का अंग बन गया था।......मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि काश्मीर भारत में उस तरह सम्मिलित न भी हुआ होता, तब भी उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य था। क्योंकि भारत एक पुरानी और निरन्तर सत्ता वाला देश है और उसका जो अंश भारत से वैधानिक रूप से पृथक नहीं कर दिया गया, वह भारत का ही अंग है।"

इसके बाद प्रधान मन्त्री ने बतलाया कि किस प्रकार पाकिस्तान ने पहले यह दावा किया कि उसने काश्मीर पर आक्रमण नहीं किया, और बाद में जब देखा कि उसका यह झूठ छिपा नहीं रह सकता तो काश्मीर में अपनी सेनाओं की विद्यमानता को स्वीकार कर लिया। संयुक्त राष्ट्र की ओर से यह माँग की गई कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सभी सेनाएँ वापस बुला ले और तब भारत भी वहाँ उतनी ही सेनाएँ रक्खे जो सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हों। प्रधान मन्त्री ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि यह सदन इस बात को याद रक्खे कि पाकिस्तान की ओर से सेना वापस बुलाने का वह आवश्यक और आधारभूत कदम भी अभी तक नहीं उठाया गया। आज ८½ वर्ष बीत जाने पर भी पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर में विद्यमान हैं।"

पाकिस्तान को अमेरिकन सहायता प्राप्त होने, तथा पाकिस्तान के सीटो और बग़दाद सन्धियों का सदस्य बनने से उत्पन्न परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए प्रधान मन्त्री ने यह बताया कि जम्मू और काश्मीर राज्य में भारत सरकार की सहमति से एक विधान-सभा का चुनाव किया गया और काश्मीर के प्रतिनिधि रूप से उस विधान-सभा ने भारत में रहने का निश्चय किया। आज स्थिति यह है कि जम्मू और काश्मीर राज्य भारत के अन्य राज्यों की तरह शीघ्रता से उन्नति पथ पर अग्रसर हो रहा है। सभी दृष्टियों से जम्मू और काश्मीर की स्थिति इतनी अच्छी है, जितनी वह आज तक कभी नहीं थी। प्रधान मन्त्री ने कहा—"पिछले ८½ वर्षों में जो नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उन्हें देखते हुए अर्बिट्रेशन (पँच निर्णय) या प्लेबिसिट (जनमत) लेने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जब तक पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेनाओं को वापस नहीं बुला लेता, प्लेबिसिट की बात करना भी बेकार और अप्रासंगिक है।"

२ अप्रैल को प्रधान मन्त्री से पूछा गया कि क्या यह ठीक है कि आप अब काश्मीर में प्लेबिसिट के पक्ष में नहीं हैं, तो उन्होंने कहा, "यह बहुत हद तक ठीक है।" उन्होंने पुनः उक्त स्थिति को स्पष्ट किया और बताया कि बहुत शीघ्र काश्मीर के संविधान को अन्तिम रूप दे दिया जाएगा और उसके आधार पर वहाँ आम चुनाव होंगे।

काश्मीर पाकिस्तान के साथ कभी नहीं था, इस का उदाहरण देते हुए प्रधान मन्त्री ने कहा—"जब आक्रमणकारियों ने काश्मीर की घाटी पर आक्रमण किया तो वहाँ भारतीय सेना का एक भी सैनिक नहीं था। कई दिनों तक काश्मीर की सुन्दर घाटी सैनिक रूप से असुरक्षित पड़ी रही और काश्मीर के नागरिक स्वयंसेवकों ने स्वयं उसकी रक्षा की। यह एक बड़ा शानदार समय था, जब एक तरह की क्रान्ति का नज़ारा वहाँ दिखाई दिया और काश्मीर के नागरिकों ने अपने नगर और अपनी घाटी की रक्षा की। इससे स्पष्ट है कि काश्मीर के निवासी उस आक्रमण से बहुत ही क्रुद्ध और क्षुब्ध हुए थे।"

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, काश्मीर के बारे में स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। भारत के आन्तरिक भाग के रूप में काश्मीर की चौमुखी उन्नति निश्चित है।

●

नाटक विचार-गोष्ठी

हाल ही में संगीत नाटक अकादेमी की ओर से एक भारतीय नाटक विचार गोष्ठी का संगठन किया गया, जिसमें भारत की कितनी

ही नाटक सम्बन्धी प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस विचार गोष्ठी में जो निर्णय किए गए, उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण निश्चय इस प्रकार हैं :

१. दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सरकार अभिनय तथा रंगमंच के विकास के लिए यह कार्य करे—

क. राजधानी दिल्ली में एक बड़े राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण किया जाए। भारत के कुछ अन्य नगरों में भी रंगमंचों तथा मुक्ताकाश मंचों का निर्माण किया जाए।

ख. देश में पेशेवर नाटक कम्पनियों के निर्माण के लिए सरकार धन तथा अन्य सुविधाओं द्वारा सहायता दे।

ग. सब से बड़ी आवश्यकता शौकिया नाटक संस्थाओं को सहायता देने की है। सरकार उन्हें सभी तरह की आर्थिक तथा अन्य सहायता यथेष्ठ रूप में दे।

२. रंगमंच से सम्बद्ध सभी अंगों की शिक्षा देने के लिए समुचित व्यवस्था की जाए :

क. अभिनय, भूषा, निर्देशन, नाटक लेखन, ओपेरा, बैले आदि की उच्चतम शिक्षा देने के लिए एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण किया जाए।

ख. इसी उद्देश्य से विभिन्न स्थानों पर गोष्ठी आदि का आयोजन भी किया जाए।

३. भारत के लोक रंगमंच तथा परम्परागत अभिनय कला के अध्ययन के अतिरिक्त उसे सुरक्षित और परिमार्जित करने का भी भरसक प्रबन्ध किया जाए।

४. भारतीय विश्वविद्यालयों से भी यह अनुरोध किया गया कि वे रंगमंच की शिक्षा की व्यवस्था करें। यह प्रयत्न किया जाए कि विद्यार्थी इस ओर अधिक से अधिक आकृष्ट हों, क्योंकि अभिनय शिक्षा का भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

रंगमंच और अभिनय भारत की अत्यन्त प्राचीन परम्परा के अंग हैं और यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि आज से बहुत समय पूर्व नाटक कला की दृष्टि से भारत संसार का अत्यन्त समुन्नत देश था। जिन कारणों से भारत में नाटक कला का ह्रास हुआ, उनका निर्देश किए बिना हम यह कहना चाहेंगे कि हमारे देश में, विशेषतः भारत के हिन्दी क्षेत्रों में, नाटक अत्यन्त अवनत स्थिति पर पहुँच गया। रंगमंच और नाटक लेखन दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। रंगमंच के अभाव में अच्छे नाटकों की कमी होना स्वाभाविक ही था। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के इस युग में रंगमंच की समुचित उन्नति किए बिना हम अपने देश को यथेष्ठ रूप में सुसंस्कृत नहीं बना सकते। हमें आशा है कि विचार गोष्ठी में हुए निर्णयों की ओर समुचित ध्यान दिया जाएगा।

पुस्तक समालोचना—[पृष्ठ ६६ का शेषांश]

उसका मन शान्त हो जाता है और उसका जीवन स्नेहाशीर्वाद के समान पुनः दसों दिशाओं में बह उठता है। चरम सिद्धि की सम्पूर्ण तन्मयता से वह गा उठती है :—

रहे घर-घर में बहता प्रेम,
पाते रहें सभी जन सन्तत
पावन योग क्षेम !

इस प्रकार, अम्बपाली के माध्यम से राजेश्वर बाबू ने एक मार्मिक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी को प्रदान किया है। ग्रन्थ की रूप-सज्जा सुन्दर है। परन्तु, जैसा कि स्वयं राजेश्वर बाबू ने स्वीकार किया है, यह दुख की बात है कि इस प्रकार के सुन्दर काव्य-ग्रन्थ में प्रूफ़ की बहुत अधिक अशुद्धियाँ रह गई हैं—यहाँ तक कि कुछ पंक्तियाँ तक छपने से रह गई हैं। हम आशा करते हैं कि आगामी संस्करण में इन्हें सुधार लिया जाएगा। कहीं-कहीं छन्दो-भंग दोष भी आ गया है, जैसे पृष्ठ ४० पर यह पंक्ति—"मत पूछ तू इनका आदि-अन्त" और पृष्ठ ४१ पर यह पंक्ति "मैं लघु नीहारिका, वृन्त हीन" अथवा पृष्ठ ४६ पर "धन्य मैं, है प्राप्त जिसको, नाम तव, धन्य धाम" आदि।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

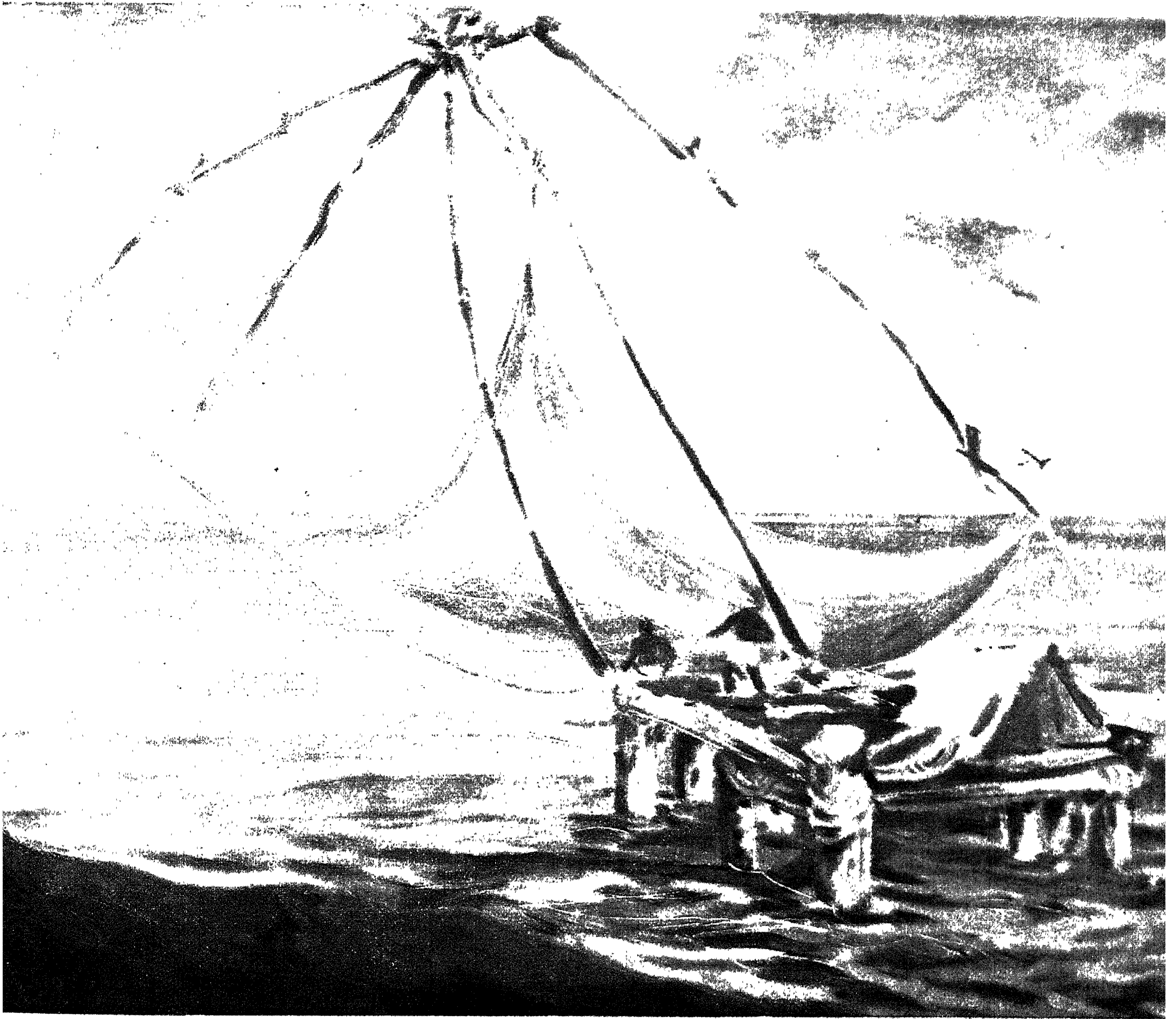


Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

Regd. No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित



जून १९५६

आठ आना



वर्ष १२ अंक २ पूर्णांक १४४

जून १९५६

आवरण चित्र : मालाबार के मछियारे : ज्योतिष भट्टाचार्य

इस मास का चित्र : भक्त नरसी मेहता : रविशंकर रावल

●

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

●

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, दस सेंट या नौ पेंस





भक्त नरसी मेहता

चित्रकार : रविशंकर रावल



वर्ष १२ जून १९५६ अंक २

दुराव

बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’

कुछ रहस्य है ऐसा,
जिसे तुम्हारे विश्वासी जन भी,
तुमको नहीं बताते;
तो तुमको क्यों हो इससे अचरज ?

सब जन अपनी खिचड़ी—
पका रहे हैं अपने चूल्हे पर;
तुम्हें क्या पड़ी है जो—
देखो : दाने पके हैं कि कच्चे ?

भाग्य सराहो अपने
कि तुम रखे जाते हो दूर सदा;
विपद मोल क्यों लोगे ?
गुप्त मन्त्रणा एक यन्त्रणा है ।

‘अपनी-अपनी ढपली,
अपना-अपना राग, गीत अपना;’
नियम नहीं यह दूषित
यदि न बनें जन क्षुद्र स्वार्थ-केन्द्रित ।

स्वयं बजाने से ढप
ठीक ताल-गति सीखेगा मानव;
क्या गति होगी उसकी—
तुम्हीं बजाते रहे ढोल-ढप जो ?

और बिना आलापे—
अपना राग, सिद्ध स्वर कैसे हो ?
गाओ तुम जो चाहो,
पर, अन्यों के कण्ठ न सुधरेंगे ।

अच्छा है, वे तुमसे
निज सम्बन्धित बात नहीं कहते;
करो प्रशंसा उनकी
कि है आत्म-विश्वास उन्हें इतना !

हाँ, पर, एक खटक है :
कि जब गोपनीयता रहे इतनी—
तो फिर, सँग चलने में
क्या कोई शुचि रुचि रह जाती है ?

★

संस्कृत के नाटकों में 'ट्रेजेडी'

वंशीधर विद्यालंकार

जिन विद्वानों ने पाश्चात्य और संस्कृत के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन किया है, उनकी यह धारणा है कि संस्कृत के नाटककारों को 'ट्रेजेडी' या शोकान्त का ज्ञान नहीं था। उनके अनुसन्धान के अनुसार : "संस्कृत नाटकों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था और वे प्रायः राजा-महाराजाओं और उच्च स्थिति के लोगों के मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे। संस्कृत के नाटकों का विकास ऐसी परिस्थितियों और आधार पर हुआ जो कि संकीर्ण, कृत्रिम और परम्परागत था।" कुछ इसी प्रकार के प्रमाण और युक्तियों के आधार पर यह प्रतिपादित किया जाता है कि संस्कृत नाटक अधिकतर एक ही ढंग के लिखे जाते थे, उनमें न तो विविधता होती थी, न नवीनता और न मौलिकता। मृत्यु को स्टेज पर दिखलाने की मनाही थी, इस कारण भारतवर्ष के नाटक उस पूर्णता और अनेकरूपता को प्राप्त नहीं कर सके जिसे अन्य देशों के नाटकों ने प्राप्त किया।

संस्कृत के नाटकों के विषय में बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ इसलिए उत्पन्न हो गई हैं कि इस विषय का अध्ययन और अनुशीलन जिस ढंग पर किया जाना चाहिए—उस ढंग पर नहीं किया जा सका है। क्योंकि संस्कृत के नाटक अब स्टेज पर खेले नहीं जाते—इसलिए संस्कृत के नाटकों की टेकनीक और विशेषता को यथार्थ रूप से अवगत करना अत्यन्त कठिन है। पाश्चात्य विचारक ट्रेजेडी या शोकान्त में मृत्यु के तत्व को आवश्यक समझते हैं और क्योंकि यह समझा जाता है कि संस्कृत के नाटकों में मृत्यु का निषेध किया गया है, इसलिए यह समझा जाता है कि संस्कृत के नाटककारों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि ट्रेजेडी किसको कहा जाता है।

यह समझना ठीक नहीं है कि संस्कृत नाटकों में ट्रेजेडी या शोकान्त नाटक नहीं हैं। विश्व में कला का विकास एक ही प्रकार का नहीं हो सकता—इसलिए संस्कृत में जो ट्रेजेडी है उसका रूप पाश्चात्य ढंग की ट्रेजेडी से सर्वथा भिन्न है, परन्तु यह कहना बिल्कुल गलत है कि संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी का अभाव है।

हम समझते हैं कि जो नाटक करुण-रस-प्रधान है वह ट्रेजेडी है। अरिस्टौटल के विचारों के अनुसार ट्रेजेडी का आधार करुणा और भय है। करुण रस किन तत्वों से बना हुआ है इसकी व्याख्या भरत-मुनि ने "नाट्य-शास्त्र" में निम्न प्रकार की है :

"निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यग्लान्यस्रमेव च।
जड़ता मरणञ्चैव व्याधिश्च करुणे रसे।"

करुण रस में निर्वेद, चिन्ता, दीनता, ग्लानि, रोना, जड़ता, व्याधि और मरण होते हैं। संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में शोक को "करुण रस" का स्थायीभाव कहा गया है। करुण रस का देवता यम है।

"करुणो यमदैवतः"

यम मृत्यु का देवता है इसलिए करुण रस का मृत्यु से सम्बन्ध है। करुण रस को कपोत वर्ण का कहा गया है।

'धीरैः कपोतवर्णोऽयम्'

करुण रस की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस सम्बन्ध में भरत-मुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में लिखा है :

"अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपाते इष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।

करुण की उत्पत्ति शोक से होती है और यह शाप, कष्ट, इष्टजन का वियोग, वैभव का नाश, वध, क़ैद, हत्या या आपत्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

भरत-मुनि 'नाट्य शास्त्र' में आगे लिखते हैं :

इष्टवधदर्शनाद्वा, विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणो नाम संभवति।

करुण रस किसी इष्ट व्यक्ति के वध को देखने से या कोई कष्टप्रद समाचार सुनने से उत्पन्न होता है।

शारदातनय ने अपनी पुस्तक 'भावप्रकाशनम्' में करुण रस का लक्षण इस प्रकार दिया है :

"करुः क्लेश इति ख्यातः, क्लेशं न सहते यतः।
यस्य धीः करुणा सा स्यात् तद्रसः करुणो भवेत्।"

करु का अर्थ है क्लेश—ऐसा क्लेश जिसे किसी प्रकार सहन किया नहीं जा सकता। इसका अनुभव करुणा होती है और इसके द्वारा जो रस उत्पन्न होता है वह करुण रस होता है।

और आगे :

"शोकात्मा करुणः
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात्
वधादिष्टस्य पुत्रादिनिधनादर्थहानितः
राज्यदेशपरिभ्रंशादभ्यान्यव्यसनोदयात्
दैवोपघाताद् दारिद्र्याद् व्याध्यादिभ्यः प्रजायते।"

शोक करुण की आत्मा है।

और यह इष्ट व्यक्ति के विरह से, शाप, मुसीबत, प्रिय जन के वध, पुत्र आदि के निधन, अर्थ-हानि, राज्य छीन लिया जाना, कष्ट, दुर्भाग्य, हत्या, दरिद्रता और व्याधि आदि से उत्पन्न होता है।

रामचन्द्र सूरि ने अपने 'नाट्य-दर्पण' में करुण रस की व्याख्या निम्न प्रकार की है :

"मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शापव्यसनसंभवः

करुणः.......................... ।"

मृत्यु, क़ैद, धन-हानि, शाप और कष्ट आदि से करुण रस उत्पन्न होता है ।

धनञ्जय ने 'दशरूप' में और विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में करुण रस की उत्पत्ति का इस प्रकार संक्षिप्त रूप से निर्देश किया है ।

"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणः ।"

"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ करुणाख्यो रसो भवेत् ।"

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस उत्पन्न होता है, जिसकी आत्मा शोक है ।

—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति में करुण रस होता है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मृत्यु और ऐसे कष्ट से, जिसका किसी भी प्रकार निवारण नहीं हो सकता—करुण रस उत्पन्न होता है । मृत्यु और अनिवारणीय महान् कष्टों से शोक उत्पन्न होता है और शोक करुण रस की आत्मा होती है । शोक उसी समय उत्पन्न होता है जबकि मनुष्य अपनी किसी प्रिय वस्तु को गँवा बैठता है और फिर किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता । शोक, मृत्यु और नाश के बिना सम्भावित नहीं हो सकता । भरत मुनि 'शोक' की व्याख्या 'नाट्य-शास्त्र' में निम्न प्रकार करते हैं :

"शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदुःखानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते ।"

शोक इष्टजन के वियोग, धन-हानि, वध, क़ैद और दुःख की अनुभूति से उत्पन्न होता है ।

विश्वनाथ 'साहित्य-दर्पण' में 'शोक' का लक्षण निम्न प्रकार करते हैं :

इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।

इष्ट के वध और नाश आदि से चित्त को जो कष्ट होता है उसे शोक के नाम से कहा जाता है ।

धनञ्जय ने 'दशरूप' में शोक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की दी है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना मृत्यु के शोक की उत्पत्ति नहीं हो सकती । वे लिखते हैं :

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।

एक के मरने पर जब दूसरा विलाप करता है तो इसे शोक कहा जाता है ।

'शोक' की उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु या किसी अनिवारणीय महान् कष्ट के बिना शोक की अनुभूति नहीं हो सकती ।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या संस्कृत के नाटकों में प्रत्येक अवस्था में मृत्यु का निषेध किया गया है । जब करुण रस का शोक से सम्बन्ध है और शोक का मृत्यु से—तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मृत्यु का निषेध कर दिया जाए । भरत मुनि इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि स्टेज पर मृत्यु का अभिनय किया जाना चाहिए। वे लिखते हैं :

"मरण या तो बीमारी के द्वारा कराया जाना चाहिए और या फिर हत्या द्वारा । यदि बीमारी के द्वारा मृत्यु दिखलाई जाए तो वह शरीर पर उदासी, आँखों का बन्द होना, हिचकियाँ, लम्बी साँस—ऐसा बोलना जिससे आवाज़ स्पष्ट नहीं निकलती—आदि के द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए । हत्या के द्वारा मृत्यु या तो शस्त्र के द्वारा, या साँप आदि के काटने से या हाथी आदि के पैर के नीचे कुचलने से दिखलाई जानी चाहिए । यदि तलवार आदि से हत्या करवाई जाए तो ज़मीन पर गिर जाने आदि अनुभवों के द्वारा अभिनय किया जाना चाहिए ।"

यदि विष देकर मृत्यु करवाई जाए तो उसका अभिनय निम्न प्रकार किया जाना चाहिए :

"विष जब चढ़ने लगे तब उसके पहले वेग में कृशता, दूसरे में कँपकँपी, तीसरे में जलन, चतुर्थ में हिचकी, पाँचवें में मुख से फेन निकलना, षष्ठ में कन्धों का टूटना, सातवें में जड़ता और आठवें में मृत्यु दिखलाई जानी चाहिए । यदि हाथी आदि के द्वारा कुचलने आदि से मृत्यु करवाई जाए तो उसका अभिनय उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसा कि तलवार आदि के द्वारा हत्या करने से किया जाता है ।"

इस प्रकरण के अन्त में भरत मुनि 'नाट्य-शास्त्र' में लिखते हैं :

"इत्येवं मरणं प्रोक्तं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यक् यथाभावविचेष्टितैः ॥"

इस प्रकार मरण का अभिनय नाना प्रकार का और नाना अवस्थाओं द्वारा होता है । इसका प्रयोग बुद्धिमानों के द्वारा भाव और चेष्टाओं के द्वारा ठीक तरह से किया जाना चाहिए ।

'नाट्य-शास्त्र' के २६वें अध्याय में 'मरण' के प्रयोग को पुनः इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है कि मरण का अभिनय बहुत प्रकार का है । यदि बीमारी के कारण मृत्यु का प्रदर्शन किया जाए तो हाथ-पैर का पटकना और शरीर के रंग का मलिन हो जाना आदि प्रदर्शित किया जाना चाहिए । विष के द्वारा मृत्यु का यदि अभिनय किया जाए तो हिचकी, श्वास और हाथ-पैर का पटकना आदि प्रदर्शित किया जाना चाहिए । विष का वेग भी इस तरह दिखाया जाए कि प्रथम में अंगों का विस्फुरित होना, दूसरे में कँपकँपी, तीसरे में जलन, चौथे में हिचकी, पाँचवें में मुख में फेन; छठे में ग्रीवाभंग, सातवें में जड़ता और आठवें में मरण दिखाया जाना चाहिए । आँखों का अन्दर धँस जाना, शरीर की कृशता, हाथ, पैर और सिर आदि में कम्पन और हाथ-पैर के पटकने से और छटपटाने के द्वारा जलन का अभिनय करना चाहिए । अव्यक्ताक्षर कथन से, हिचकी का अभिनय किया जाए। उलटी कर के प्रदर्शन से और जीभ के द्वारा बार-बार ओंठों को चाटना और सिर में चक्कर आना आदि का और उसके पश्चात् समस्त इन्द्रियों की जड़ता का प्रयोग किया जाए । आँखों का बन्द हो जाना, व्याधि का बढ़ जाना अथवा साँप से कटवाने से नाटक में मृत्यु का प्रयोग स्टेज पर किया जाना चाहिए ।

यह समझ में नहीं आता कि मृत्यु का इतना विस्तृत वर्णन करने और बार-बार मृत्यु के अभिनय के प्रयोग को प्रदर्शन के पश्चात् यह कहते हैं कि मृत्यु का प्रदर्शन अप्रत्यक्ष होना चाहिए और प्रवेशक आदि के द्वारा किया जाना चाहिए अर्थात् प्रवेशक आदि के द्वारा मृत्यु की

सूचना दे दी जानी चाहिए। इसके साथ ही यह निर्देश किया गया है कि प्रसिद्ध व्यक्ति का वध प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। वे कहते हैं :

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगररोधनं चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि
अंकप्रवेशके वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं वापि
न वधस्तस्य स्याद् यत्र तु नायकः ख्यातः ॥

—युद्ध, राज्यभ्रंश, नगर का रोधन और मरण एक तो प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिए—दूसरा उनकी सूचना प्रवेशक के द्वारा दी जानी चाहिए। ख्यात नायक का वध प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए। इसको भी अंक प्रवेशक या किसी प्रकरण में कह दिया जाना चाहिए।

अब यदि मृत्यु का अभिनय वर्जित है तो भरत मुनि को मृत्यु का इतना विस्तार से वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी। वे तो बार-बार मरण के विषय में यह कहते हैं कि मरण का अभिनय किया जाना चाहिए। अगले नाट्य शास्त्रियों ने मरण के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है। शारदातनय अपने 'भाव-प्रकाशनम्' में लिखते हैं :

"मरणोऽभिनयो नास्तीत्येतत् काव्ये न बध्यते।"

मरण का अभिनय नहीं किया जा सकता और इस कारण इसको नाटक में दिखाया नहीं जा सकता।

इसी प्रकार 'नाटकलक्षणकोश' में कहा गया है :

"मरणं प्राणच्छेदः। तस्यैवंविधस्य मरणस्य लक्षणमाचार्येण नोपवर्णितमलसस्योपन्यासेन।"

मरण का अर्थ है प्राण-नाश। इस प्रकार के मरण का आचार्य ने वर्णन नहीं किया है इसीलिए उसकी व्याख्या नहीं की जा रही है।

यह आश्चर्य की बात है कि एक ओर भरत मुनि पुनः पुनः मरण के विषय में कहते हैं : "मरणं सम्प्रयोक्तव्यम्", "मरणं सम्प्रयुंजीत", "मरणं प्रयोक्तव्यम्", "मरणाभिनयो बहुप्रकारस्तु"—आदि जिनमें स्पष्टतया कहा गया है कि मरण का अभिनय किया जाना चाहिए और दूसरी ओर लक्षण-ग्रन्थकारों ने 'मरण' का ही निषेध नहीं किया है अपितु उसके सम्बन्ध में विचार करने तक से इन्कार कर दिया है। ये परस्पर—विरोधी बातें हैं। यह सम्भव है कि पहले मौत का अभिनय किया जाता हो और फिर दर्शकों पर उसकी प्रतिक्रिया को देख कर उसका निषेध कर दिया गया हो और प्रवेशक आदि के द्वारा उसकी सूचनामात्र दे दी जाती हो। इसके पश्चात् मरण का सर्वथा निषेध कर दिया गया हो।

धनञ्जय ने 'दशरूप' में यद्यपि स्पष्ट रूप से कहा है कि स्टेज पर मरण को प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु का प्रदर्शन एकमात्र शृंगार रस में अर्थात् करुण विप्रलम्भ में वांछनीय नहीं है, परन्तु करुण रस के नाटक में उसका प्रदर्शन किया जा सकता है। वे लिखते हैं :

"मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।"

हम मरण के विषय में इसलिए कुछ नहीं लिखते कि एक तो यह प्रसिद्ध है और दूसरा यह अनर्थ है—अर्थात् हमसे कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—इस कारण हम मृत्यु का वर्णन नहीं करते।

परन्तु आगे शृंगार रस का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :

"शृंगाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्। अन्यत्र कामचारः।"

इसका तात्पर्य यह है कि यदि रस शृंगार हो तो मरण का केवल प्रयत्न ही प्रदर्शित किया जाना चाहिए—वास्तविक मृत्यु का कभी प्रपादन नहीं किया जाना चाहिए, परन्तु जहाँ शृंगार रस न हो वहाँ वास्तविक मृत्यु को प्रदर्शित करने में नाटककार स्वतंत्र है—यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह मृत्यु को प्रदर्शित करे या न करे। उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है :

यदि शृंगार रस हो तो मरण में प्रयत्नमात्र का ही प्रदर्शन किया जाना चाहिए। शृंगार को छोड़ कर अन्यत्र स्वतंत्रता है और यदि साक्षात् मरण का प्रपादन किया जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है।

'भाव-प्रकाशन' की निम्न पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि मरण के प्रदर्शन के विरोधी कुछ विद्वान् थे, सब नहीं। शारदातनय कहते हैं :

जाड्यं मरणमित्येते द्वे कैश्चिद् वर्जिते बुधैः।

यहाँ "कैश्चित् बुधैः" शब्दों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। अर्थात्—कुछ विद्वानों ने जड़ता और मरण का अभिवर्जन किया है। इससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सभी विद्वान् मरण के निषेध के पक्षपाती नहीं थे।

विश्वनाथ ने "साहित्य-दर्पण" में विप्रलम्भ-शृंगार का वर्णन करते हुए लिखा है :

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरे पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥

अर्थात्—नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुःखी होता है उस अवस्था को 'करुण विप्रलम्भ'—कहा जाता है, परन्तु यह उसी अवस्था में हो सकता है, जबकि परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो। बात यह है कि शृंगार रस का स्थायीभाव 'रति' होता है और करुण का 'शोक' यदि शृंगार में वास्तविक मृत्यु को प्रदर्शित कर दिया जाए तो शृंगार रस नहीं रह सकता—क्योंकि वहाँ शोक स्थायीभाव हो जाएगा, रति नहीं! इस कारण विप्रलम्भ शृंगार में मृत्यु का या तो व्यवसाय मात्र दिखाया जाना चाहिए और यदि मृत्यु प्रदर्शित की जाए तो वह ऐसी कि पुनः स्वल्प काल में मृत व्यक्ति जीवित हो उठे। उसकी जीवित हो उठने की अवस्था में ही विप्रलम्भ शृंगार रहेगा—अन्यथा करुण रस हो जाएगा। क्योंकि कुछ समय के लिए मृत्यु प्रदर्शित की जाती है इसलिए इसको 'करुण विप्रलम्भ शृंगार' कहते हैं।

श्री विश्वनाथ कहते हैं : यदि इसी शरीर के द्वारा नायक और नायिका का सम्मिलन न हो और या दूसरे शरीर के द्वारा हो तो शृंगार रस नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में करुण रस हो जाएगा। जब नायक या नायिका की मृत्यु हो जाती है तब आकाशवाणी आदि के द्वारा, जब तक उसके पुनर्जीवित होने की घोषणा नहीं कर दी जाती है तब तक शृंगार रस नहीं होता और जब पुनर्जीवित होने की घोषणा

कर दी जाती है तब संगम की प्रत्याशा के कारण रति रहती है। इस घोषणा से पूर्व रस करुण हो जाता है। कई लोग कहते हैं कि इस प्रकार की मृत्यु में क्योंकि प्राण कहीं जाकर लौट आता है—इसलिए इसे प्रवास विप्रलम्भ क्यों न कहा जाए—इसके उत्तर में अन्य विद्वान् कहते हैं कि क्योंकि इसमें पहले मरण हो जाता है, इसलिए करुण विप्रलम्भ—प्रवास विप्रलम्भ से सर्वथा भिन्न है।

श्री विश्वनाथ की करुण विप्रलम्भ की इस व्याख्या से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि करुण शब्द का मृत्यु के साथ सम्बन्ध है और दूसरा जहाँ तक श्रृंगार रस का सम्बन्ध है वहाँ पहले तो मृत्यु को प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए और यदि प्रदर्शित भी की जाए तो कुछ समय के लिए ही। कुछ समय के पश्चात् मृत शरीर पुनर्जीवित हो उठना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो श्रृंगार रस का परिपाक न हो कर करुण रस का परिपाक होगा, क्योंकि उसका स्थायीभाव रति न रह कर शोक हो जाएगा।

अब हम कुछ ऐसे नाटकों का उल्लेख करते हैं, जिनमें मृत्यु को प्रदर्शित किया गया है। भास ने 'प्रतिमा' नाटक के तीसरे अंक में दशरथ की मृत्यु को प्रदर्शित किया है; 'उरुभंग' नाटक में दुर्योधन और 'अभिषेक-नाटक' में बालि की मृत्यु को प्रदर्शित किया गया है। 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका निराश होकर आत्महत्या का प्रयत्न करती है, परन्तु बचा ली जाती है। वह अपने गले में फाँसी लगा लेती है और ज्योंही ऐसा करने के लिए उद्यत होती है, त्योंही उसको बचा लिया जाता है। 'मृच्छकटिक' नाटक में पुष्पकदंड उद्यान में शकार वसन्तसेना का गला घोंट देता है और जब वह यह समझता है कि वह मर गई है तब वह उसके शरीर को पत्तों से ढक कर चला जाता है। पीछे वसन्तसेना पुनर्जीवित हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्टेज पर पीछे से मृत्यु को न प्रदर्शित करने के कई कारण हो सकते हैं जिनमें कि कला सम्बन्धी कारण मुख्य प्रतीत होते हैं। उन वस्तुओं की सूची को देखने से, जिन्हें कि स्टेज पर प्रदर्शित करने की वर्जना की गई है, यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि सुन्दरता को दृष्टि में रख कर ही पीछे-से मृत्यु को दिखाने की वर्जना की गई है, परन्तु यदि मृत्यु को दिखाने की वर्जना को गई तो 'प्रवेशक' आदि के द्वारा मृत्यु की सूचना देने का नियम बनाया गया। महान् और प्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसे भी रोका गया—परन्तु इसका कारण नाटक के क्षेत्र को संकुचित करना नहीं था, जैसी कि कल्पना की जाती है। इसके कारण भी मुख्यतया कलात्मक ही प्रतीत होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के नाटकों में मृत्यु के बिना ही करुण रस के नाटकों को विकसित करने का प्रयत्न किया गया। मृत्यु ही तो एकमात्र ऐसी वस्तु नहीं है, जिसके कारण ट्रेजेडी बन सके। जिस प्रकार एक मनुष्य जीवित रहता हुआ भी ऐसी अवस्था में रह सकता है कि उससे मृत्यु अच्छी हो—उसी प्रकार मृत्यु के बिना भी ऐसी ट्रेजेडी बनाई जा सकती है, जो मृत्यु से भी अधिक गम्भीर और दुःखान्त हो और जिसके सम्मुख मृत्यु का कुछ विशेष महत्त्व ही न रहे। ऐसे नाटकों को शैक्सपियरी या पाश्चात्य ट्रेजेडी न कहा जा सके, परन्तु यह ट्रेजेडी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती। हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि करुण रस के नाटक का अर्थ 'ट्रेजेडी' है क्योंकि उसका स्थायीभाव शोक है। इस प्रकार के नाटकों का केन्द्र-बिन्दु एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण विपत्ति होती है जिसका कि किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकता। यद्यपि इस प्रकार की विपत्ति का पर्यवसान मृत्यु में नहीं होता, परन्तु फिर भी यह भय और करुणा को जागृत करती है और इसमें उन समस्त तत्वों का समावेश होता है, जिनका कि एक पाश्चात्य ट्रेजेडी में होता है। इस प्रकार की अवस्थाएँ भी महान्, शोचनीय अवस्थाओं को उत्पन्न करती हैं यद्यपि उनमें मृत्यु का अंश नहीं होता। इस प्रकार की ट्रेजेडी में अति-प्राकृत तत्व का समावेश किया जाता है। इस अति-प्राकृत तत्व से किसी-न-किसी प्रकार अन्त में नायक और नायिका का सम्मिलन हो तो जाता है, परन्तु उनके सम्मिलन के पश्चात् भी भय और करुणा की स्थिति बनी ही रहती है। जिन नाटकों में नायक और नायिका की पृथकता ऐसी करुणाजनक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न होती है कि उनका सम्मिलन न केवल असम्भव होता है, परन्तु उस सम्मिलन में किसी प्रकार का महत्त्व नहीं रह जाता और जिसे एकमात्र अति-प्राकृत साधनों के द्वारा सम्भव बताया जाता है वे ट्रेजेडी होती हैं क्योंकि उनका रस मुख्यतया शोक पर आधारित होता है, जो कि करुण की आत्मा है। हम 'शकुन्तला' और 'उत्तर रामचरित' को ट्रेजेडी मानते हैं यद्यपि उनमें अति-प्राकृत दैवीय साधनों द्वारा नायक और नायिका का मिलन अन्त में करा दिया गया है।

इन दोनों नाटकों में नायकों ने नायिकाओं के प्रति ऐसा अन्याय और क्रूरता प्रदर्शित की है, जो कि सर्वथा अनपेक्षित और अमानुषीय है। दोनों की नायिकाएँ भोली-भाली और पवित्र हैं। उनके साथ जो व्यवहार हुआ है, उससे हृदय को आघात पहुँचता है और उससे हृदय में एक कँपकँपी सी उत्पन्न हो जाती है। सीता और शकुन्तला के साथ रामचन्द्र और दुष्यन्त ने जो व्यवहार किया है वह अकल्पित है और इसीलिए उनका मिलन दिव्य तत्वों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अन्यथा वह किसी प्रकार सम्भावित नहीं हो सकता था। इन दोनों नाटकों में सम्मिलन की मर्यादा ही टूट गई है और फिर उन दोनों से मिलने में किसी प्रकार से आनन्द या गौरव की सृष्टि नहीं हो सकी है। मिलने के पश्चात् भी हमारे दुःख की अनुभूति में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। रामचन्द्र गर्भवती सीता का जंगल में निर्वासन कर देते हैं और दुष्यन्त गर्भवती शकुन्तला का निराकरण कर देते हैं और दोनों को ऐसी अवस्था में छोड़ दिया जाता है कि उनको कहीं से भी किसी प्रकार का आश्रय प्राप्त नहीं होता। सीता 'उत्तर रामचरित' में कहती है :

"साऽहमिदानीं मन्दभागिनी भागीरथ्यामात्मानं निक्षेप्स्यामि" में मन्दभागिनी अपने आपको गंगा में फैंक दूँगी। और शकुन्तला चारों ओर से निराश होकर कहती है :

(शेष पृष्ठ १० पर)

गीत

सुमित्रा कुमारी सिनहा

बुलाना है सवेरा वह !
चमकती ओस की बूँदें
धुला दे दुख-तिमिर-मुखड़ा
जहाँ सोकर जगे सपने
न सत्यों से कहें दुखड़ा ।
विपन्ना दुख निशा सधवा,
पहन ले रश्मि-सुख-कंगन,
हरी फूलों जड़ी चुनरी,
पहन कर सजे जिसका तन ।
मधुर कलरव भरे मन, नित,
नयन का अश्रुफेरा वह ।
बुलाना है सवेरा वह !

सुलाना है अँधेरा वह !
जहाँ गिरि-शिखर-सी साधें,
धरा पर लोटती डोलें,
अभावों-मय घुटे तन-मन,
सुलग यौवन न मुँह खोले
विषैली नींद की नागिन,
उलट जाए झपट डस कर ।
न जिसमें चाँद-तारे हों,
घिरें बादल उमस कस कर ।
कभी जिसमें तनिक सोते,
न अपनी रात—डेरा वह ।
सुलाना है अँधेरा वह !

कहीं लेना बसेरा वह !
जहाँ परिवार की ममता
बँधे रस-रंग-मय धागों
लगन का कर्म कोलाहल,
बजे विश्राम के रागों ।
दिवस भर नीड़ के बाहर,
मिलें श्रम को सफलताएँ
सलोनी साँझ की परियाँ,
सुनहला स्वप्न बुन जाएँ ।
जहाँ सुख-शान्ति हँस खेलें,
न विष आए घनेरा वह ।
कहीं लेना बसेरा वह !

●

भेंट-ग्रहण

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

दे न पायी मैं तुम्हें वह भेंट,
जीर्ण वस्त्रों में जिसे लायी सहेज,— समेट ।
देख स्वर्णासन तुम्हारा, दिव्य हीरक—पंक्ति,
बुद्धिहत, कुछ समझ में आयी न मेरी युक्ति!
था पड़ा सम्मुख तुम्हारे मणिमाणिक्याधिक्य,
उच्चरित शत-शत मुखों से सुस्तवन के वाक्य।
लौट मैं आयी स्वगृह को, आर्द्रचक्षु, निहर्ष,
हाय, होती धूल, कर पाती चरण-सुस्पर्श !
विश्व-कोलाहल मिटा, था निभृत यह संसार,
टिमटिमाता दीप लघु, मैं सोचती बहु बार—
तुच्छ मेरी भेंट क्या होती तुम्हें स्वीकार,
युग-युगों की कामना मेरी फलित साकार ?
हो उठा सहसा सुकंपित, भरित तेजःपुञ्ज,
अस्तप्राय प्रदीप का कुंठित सुमानस-कुञ्ज,
चरण-ध्वनि सुन कर उठी मैं, देखती क्या नाथ—
तुम खड़े थे सामने मेरे बढ़ा कर हाथ !!

●

चलो वहाँ

हर फ्रेडरिक ग्रे

सूर्य प्राचीरे, रोज हरियाली पर
आती क्यों करके पुकार,
साँवली, सलोनी, सुकुमार,
क्यों आती अकेली-अकेली ?

आज रात तारों की है दिवाली,
आकाश चाँदी की दिवार—
मन में आनन्द की फुहार—
नदियाँ बहतीं मदमाती !

स्तब्ध आज निर्जन रात्रि,
हृदय—आनन्द-उत्फुल्ल, उन्मुख,
हम दोनों अभिसार के यात्री—
छिपाएँ कहाँ दिल का सुख ?

धरती आज स्वर्ग सम बनी—
चलो प्रिये : रजनी मधु-सनी !

●

व्यक्तित्व का द्वैत

सद्‌गुरुशरण अवस्थी

प्रश्न चिरंतन है। शरीर की भूख इन्द्रियों को उकसाती है। विषयों का इन्द्रिय सम्पर्क रस देता है। सृष्टि की नैसर्गिक प्रयोजना इन्द्रियार्थों को उभारती है। हम प्रति दिन इन्द्रियों के प्रयोग के अभ्यासी बनते जाते हैं। इनके माध्यम से चाहे सुख मिले चाहे दुःख, मन इन्हें छोड़ नहीं पाता। सृष्टि विस्तार यदि निसर्ग का आदेश है तो शरीर साधना उसी आदर्श की पूर्ति के लिए अमोघ साधन है। फिर तो भोजनों की व्यवस्था, वस्त्रों की व्यवस्था, स्थान की व्यवस्था होनी ही चाहिए। इन्द्रियों का प्रयोग सामने ही आजाएगा। व्यवस्था की साधना में जो एक निष्ठ नैरन्तर्य रहता है, वह स्वयं एक कला बन जाती है। स्थिति धारणा के व्यवहार विस्तार की अनेकरूपता में तत् सम्बन्धी कला का विकास होता है और उपयोगिता ऐहिकता के क्रोड़ से ऊपर उठ कर पूर्ण मानसिकता के स्तर तक पहुँच जाती है। यहीं उसमें सौन्दर्य की अवतारणा होती है और कला का परिपक्व रूप सामने आता है। यौन व्यापार से शृंगार रस तक पहुँचते-पहुँचते समस्त काम कला विकसित हो गई और काम सूत्र और कोक शास्त्र सामने आए। भोजनों की व्यवस्था ने पहले पशु वध के लिए अस्त्रों और शस्त्रों को रचा और फिर खेतों से अनाज निकाल कर सुआर शास्त्र और पाक शास्त्र का विकास किया। शरीर रक्षा ही ने कपास के पौधों से रूई प्राप्त की और तन्तुवाय के ताने-बाने के मेल ने मीलों को जन्म दिया तथा बेल-बूटे दार नाना प्रकार के वस्त्रों की निर्माण कला सामने आई। केवल सरदी से शरीर की रक्षा के लिए ही यह सब हुआ। शरीर रक्षा के लिए बड़े-बड़े महल बने। पर्वतों की खोहों में घुसने के कष्ट और फिर द्विपद रूप में सीधे प्रवेश की व्यवस्था ने भय से बचाने के लिए द्वार रचे और उस क्षण से लेकर आज जो गगनचुम्बी महल दिखाई देते हैं और जो भगवान् तक को बिठाने के लिए देव मन्दिर बनाए गए हैं, उनमें जो कला मुस्कराती है वह एक दिन में विकसित नहीं हुई। वर्षों की भवन-निर्माण साधना ने वास्तुकला का विकास किया और आज भी उसका विकास हो रहा है।

व्यक्ति की जीवन साधना का जब इतना बड़ा झमेला हमने मोल ले रखा है और जब यह सब नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है, तो इन्द्रियों के विषय परक होने को हम कोसते क्यों हैं? यह तो सब शरीर के साथ ही है और मन भी तो इन्द्रियाधीन है।

नेत्रों का बाहर देखना रोका नहीं जा सकता। कानों से नाद का बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ कहीं भी शरीर होगा उस पर बाहरी प्रभाव पड़ेगा ही चाहे हम चाहें अथवा न चाहें।

यह उक्ति गीता के निम्नलिखित कथन के बहुत ही निकट है···

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

जब तक प्राणी मर्त्य माता के उदर से उत्पन्न हुआ है, कुन्ती का पुत्र है, तब तक इन्द्रियों का बाहरी पदार्थों से सम्पर्क होगा ही और उसे सरदी और गरमी का अनुभव भी होगा तथा सुख-दुःख भी प्रतीत होगा। हाँ, हैं ये सब अनित्य क्योंकि शरीर ही अनित्य है अतएव शरीर को उन्हें सहन करना चाहिए।

प्रश्न चिरंतन है। इस नैसर्गिक प्रगति को रोका क्यों जाए? संयम क्यों किया जाए? यदि संयम और नियन्त्रण स्वयं शरीर क्षय की आशंका से आवश्यक हों तो इनका सन्तुलित और नियमित प्रयोग किया जाए। पर इन्द्रियों को विषयाभिमुखी होने से रोका क्यों जाए? क्यों ऐसी शिक्षा भारतीय ग्रन्थों में मिलती है कि विषय भोगों से मन पराङ्‌मुख किया जाए, विषयों का परित्याग किया जाए, इन्द्रियों को रोका जाए? इन उपदेशों में क्या गूढ़ रहस्य है? पार्थिव होने के स्थान में आध्यात्मिक क्यों बना जाए?

शेष और अशेष के सम्पर्क की प्रतिक्रिया का नाम बोध है। बोध जब मन के सान्निध्य से भीतर पैठ जाता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान समाहार का दूसरा अभिधान चेतना है। निज के साक्षात् अनुभव ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। ज्ञान का विस्तार चेतना का विस्तार है। ज्ञान की अनेकरूपता चेतना की संकुलता है। चेतना को ज्ञान का रूप ही चिंतना तक पहुँचाता है। ज्ञान के इस रूप को, चेतना की इस परिस्थिति को, व्यक्तित्व कहते हैं। व्यक्तित्व ससीम है, विभक्त है, एक देशीय है, अतएव उसके सकाश का समस्त ज्ञान समाहार भी खण्डित है, विभक्त है, एक देशीय है।

व्यक्तित्व के भी दो रूप होते हैं। खण्ड व्यक्तित्व और सम्पूर्ण व्यक्तित्व। खण्ड ज्ञान के सहारे टिका हुआ व्यक्तित्व, खण्ड व्यक्तित्व है और निस्सीम से ओत-प्रोत व्यक्तित्व, सम्पूर्ण व्यक्तित्व कहलाता है।

इन पंक्तियों का लेखक जब अपने भोजनों की बात सोचता है, अपने वस्त्रों का ध्यान करता है, अपनी पत्नी और पुत्रों का विचार करता है, अपने परिवार की आकृतियों को स्मरण करता है, अपने बंगले और मोटर की स्थिति समझता है और अपने वेतन की बढ़ती देखता है, तो वह खण्ड व्यक्तित्व अथवा खण्ड ज्ञान में टिका है। गरीबी से अमीरी, बुद्धि दारिद्र्य से बुद्धि वैभव, पाप और पुण्य की संकुचित भावना से पाप और पुण्य की विशाल भावना, जानकारी और उसके प्रयोग की गरीबी और उसकी अमीरी, लिखी हुई पुस्तकें और अपने द्वारा निर्माण किया गया समस्त साहित्य, अपनी योग्यता, गरिमा, प्रशंसा यहाँ तक कि अपनी मृत्यु में रमण करना सभी खण्ड व्यक्तित्व और खण्ड ज्ञान का विलास है। यह सारा संसार खण्ड ज्ञान ने खण्ड

व्यक्तित्व के लिए निर्माण किया है और इसके मूल में इन्द्रिय प्रयोग द्वारा पार्थिव आराधना और विषय संग इसका परिणाम है।

खण्ड ज्ञान और खण्ड व्यक्तित्व अहंकार का दूसरा नाम है। वास्तव में समस्त पार्थिव ऐन्द्रिक ज्ञान का ही नाम खण्ड व्यक्तित्व है। इसके विस्तार में अहं का विस्तार होता है। 'मैं' के बाद 'मोरु' और फिर 'तोरु' और 'तैं' बढ़ते चलते हैं। इस विस्तार में पार्थिव संसार का आकार बढ़ता जाता है।

परन्तु मेरा एक दूसरा व्यक्तित्व भी है। वह अखण्ड व्यक्तित्व है। उसकी आधार शिला अखण्ड ज्ञान है। देहाध्यास और देह ज्ञान से हट कर समस्त सांसारिक परिवेष्टन से ऊपर उठ कर, समग्र विषय ज्ञान और इन्द्रिय रस से परे पहुँच कर, वैभिन्य अनेकरूपता, अपना परायापन, असाम्य अथवा वास्तविकता की ठोस अनुभूति से नितान्त विलग होकर सब में खिला हुआ, सब में रमा हुआ, सब में आलोकित और सब रूप भी है। यह व्यक्तित्व चिरंतन न टिके, परन्तु प्राप्त तो होता है। प्रकाशावलियों में वह स्वयं झाँकता है। समुद्र की सब लहरों में स्वयं खेलता है। हाथ, पैर, मुँह के बिना सब में सब काम करता है। अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम् की यह स्थिति प्राप्त न हो, प्राप्य अवश्य है।

अखण्ड ज्ञान अथवा पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए खण्ड व्यक्तित्व और अहं का पूर्ण लय अपेक्षित है। अखण्ड की प्राप्ति के लिए संसार सबसे महान अड़चन है। हम देखते हैं कि संसार और विषय के झटके बार-बार नीचे ले आते हैं। क्योंकि ... ...

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अतएव मन और इन्द्रियों को विषयाभिमुखी होने से बचाना है। उनके लिए नियन्त्रण, यम-नियम परमावश्यक हैं। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। क्योंकि खण्ड ज्ञान से पूर्ण ज्ञान और खण्ड व्यक्तित्व से पूर्ण व्यक्तित्व तक पहुँचना मनुष्य मात्र का परम पुरुषार्थ है। खण्ड के विलय में ही अखण्ड का उदय सम्भव है। व्यक्तित्व का द्वैत तो नष्ट ही होना चाहिए। यही मोक्ष है।

संस्कृत के नाटकों में 'ट्रेजेडी'—(पृष्ठ ७ का शेषांश)

"भगवती वसुधे ! देहि मे विवरम् !"

ज़मीन मुझे तुम अपने अन्दर आत्मसात कर लो।

यह स्पष्ट ही है कि दोनों नायिकाएँ अपनी इस शोचनीय स्थिति से मृत्यु को अच्छा समझती हैं। उनको जो कष्ट हुआ है वह मृत्यु से कहीं अधिक भयानक और करुणाजनक है। यदि दिव्य अंशों का समावेश न होता तो इनका परिणाम मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकता था, क्योंकि उनका दुःख इतना महान है कि उसको दूर करने का कोई उपाय ही नहीं है।

यदि कवि इन दोनों नाटकों में अति-प्राकृत या दिव्य अंश की अवतारणा न करते, तो न तो सीता और रामचन्द्र का और न शकुन्तला और दुष्यन्त का सम्मिलन हो सकता था। इस अलौकिक तत्व के मिल जाने पर भी लौकिक तत्व में किसी प्रकार का कुछ भेद नहीं पड़ता। वह सुख जो अन्त में प्रतिपादित किया गया है सर्वथा अकल्पित और अनपेक्षित-सा प्रतीत होता है। राम सीता का निर्वासन कर सकते थे और दुष्यन्त शकुन्तला को भूल सकते थे—ये दोनों घटनाएँ अत्यन्त शोचनीय और करुणापूर्ण हैं। ट्रेजेडी में एक प्रकार की अस्वाभाविकता होती है और इससे बड़ी अस्वाभाविक बात क्या हो सकती है। इस अस्वाभाविकता को रामचन्द्र के राजापन और दुष्यन्त के शाप के द्वारा स्वाभाविक बनाया गया है, परन्तु इतने पर भी वे सम्भव और स्वाभाविक नहीं प्रतीत होते। किसी भी अवस्था में इसमें जो करुणा का तत्व है उसमें कमी नहीं आ सकती।

हमें इन दोनों नाटकों से इस बात का पता चलता है कि संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी है और उन्हें अपनी ही पद्धति पर विकसित किया गया है। करुण-रस के नाटक का तात्पर्य ही ट्रेजेडी है—इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि संस्कृत के नाटककारों को ट्रेजेडी का ज्ञान नहीं था।

"कल्याण बुद्धिना सन्दधीत। शठं तथा इति प्रतिगृह्य अतिसंदध्यात्।"

कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण ६; अध्याय ३

कल्याण बुद्धि वाले (राष्ट्र और व्यक्ति दोनों) के साथ तो सच्ची मित्रता करनी चाहिए, पर धूर्त (राष्ट्र या व्यक्ति) के साथ की हुई सन्धि मौका पाकर तोड़ देनी चाहिए।

कुटुम्ब

के० एम० पणिक्कर

जब छोटी बेटी शारदा की शादी विश्वविद्यालय के एक ऐसे स्नातक के साथ हो गई, जिसे अच्छी सरकारी नौकरी मिलने की संभावना थी, तो कल्याणी अम्मा ने अपने दूसरे बच्चों के पारिवारिक सम्पत्ति के बँटवारे सम्बन्धी सुझाव को मान लिया। यह सच था कि इससे कुटुम्ब विच्छिन्न हो जाता था, पर वह इस विषय में अपने बच्चों की अन्तहीन पैरवी के कारण इस विचार को मानसिक रूप से स्वीकार कर चुकी थी। कानून तो यह था कि जब तक परिवार में माता जीवित है, तब तक उसकी सम्मति के बिना सम्पत्ति का बँटवारा नहीं हो सकता। पर वह सम्मति न देती तो क्यों? वह तो अपने बच्चों को सुखी देखना चाहती थी। उसकी तीनों बेटियों की शादी हो चुकी थी और एक मात्र बेटा उत्तर भारत में कहीं नौकरी पर लगा हुआ था। अगर बँटवारे से उनको अधिक स्वतन्त्रता मिलती है तो मिले।

कल्याणी अम्मा को इस पर गर्व था कि उसके विचार उदार हैं। इसके अलावा उसने यह सोचा कि जब सभी बच्चे उससे अलग जा रहे हैं, तो फिर उन्हें सम्पत्ति का अपना-अपना हिस्सा भी मिल जाय तो हर्ज ही क्या है? उनके पति भी तो धनी नहीं थे। बड़ी लड़की नलिनी का पति पास के ही शहर में वकील था, पर उसकी आमदनी कुछ यों ही थी। दूसरी बेटी लीला की शादी कहने के लिए एक प्रसिद्ध धनी परिवार के लड़के से हुई थी, पर उसकी अवस्था भी कोई बहुत अच्छी नहीं दिखाई देती थी। शारदा के पति को अभी कोई नौकरी नहीं मिली थी। इस प्रकार देखा जाय तो सम्पत्ति का बँटवारा इन सभी के लिए हितकर सिद्ध होगा। परिवार के पास बीस एकड़ धान वाली ज़मीन थी, और कई नारियल के बगीचे थे। उसकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति के कारण लड़ाई करने की बजाय उसकी जीवितावस्था में ही यदि उन्हें सम्पत्ति मिल जाए तो ठीक हो।

कल्याणी अम्मा ने एक के सिवाय उनके सभी सुझावों को मान लिया और जिसे नहीं माना वह यह था कि उसकी जीवितावस्था में ही सम्पत्ति का हिस्सा बच्चों में बाँट दिया जाय। उसने कहा—मैं इसके बारे में यथा-समय सोचूँगी। हो सकता है कि मैं इसे अनाथालय को दान दे दूँ। आखिर मैं इसके प्रतिष्ठाताओं में से हूँ।

लड़के और लड़कियाँ इस पर प्रसन्न तो नहीं हुए, पर यह जानते हुए कि वृद्धा को अनाथालय के काम में कितनी दिलचस्पी है, उन लोगों ने उसके उस विचार का विरोध नहीं किया। पर साथ ही कल्याणी अम्मा ने उस सुझाव का भी कस कर विरोध किया जो अनाथालय के मन्त्री की ओर से उसके सामने आया। उसने यह सुझाव रखा कि वह अपनी सम्पत्ति अनाथालय को दान दे दे और ज़िन्दगी भर के लिए मकान पर अधिकार रखे और खर्च चलाने लायक रकम, वह जब तक ज़िन्दा रहे तब तक लेती जाए। इससे वह सम्पत्ति की देख-रेख के झंझटों से भी फ़ुर्सत पा जाएगी।

कल्याणी अम्मा ने दृढ़ता के साथ जवाब दिया—"नहीं, नहीं। इसका नतीजा क्या होता है, यह मैं बहुत बार देख चुकी हूँ। अनाथालय में सर्वस्व दान दे देने के बाद मेरी कौन सुनेगा? अभी तो आप लोग आते-जाते हैं, क्योंकि आपको मालूम है कि दान देना या न देना मेरे हाथ में है।"

मन्त्री ने कहा—"तो माताजी, आप अनाथालय की व्यवस्था भी अपने हाथ में ले लीजिए। अब तो आप अकेली ही रह गई, इस प्रकार कुछ काम तो पड़ता रहेगा।"

—"हाँ मैं इसके बारे में भी सोचूँगी", उसने उत्तर दिया।

किसी वाद-विवाद के बिना ही बँटवारा हो गया। वृद्धा ने मकान और उसके आस-पास वाली ज़मीनों को अपने हिस्से में रख लिया। माँ की लाडली बड़ी बेटी ने कहा—"अम्मा, हमारे साथ क्यों नहीं रहने के लिए आतीं? इतने बड़े मकान में अकेली किस लिए रहना चाहती हो? शहर में चलो, हमारे पास मज़े में रह सकोगी। शहर में रहने से कितनी नई-नई चीज़ें देखने को मिलती हैं।"

दूसरी बेटी भी माँ को अपने पास रखना चाहती थी, पर वह अपने पति के बहुत बड़े कुटुम्ब में रहती थी। किन्तु इस कारण वह किसी प्रकार से पीछे हटने वाली नहीं थी, बोली—"यहीं हम एक नया मकान बनवाने जा रहे हैं। अम्मा तब तुम्हें हमारे साथ रहना पड़ेगा। जो भी हो, हम इसी गाँव के ही तो हैं।"

कल्याणी अम्मा जानती थी कि उसके बच्चे उससे वास्तविक प्यार करते हैं, और उनका बुलावा भी हार्दिक है। वह यह भी जानती थी कि उनका यह बुलावा पूर्ण रूप से निःस्वार्थ भी नहीं है। बात यह है कि उसकी अपनी सम्पत्ति जो थी।

बेटियों में होड़ पैदा होते देख कर उसने कहा—"हाँ, पर यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं। जब तक शारदा के पति को नौकरी न मिल जाए और वह अपना घर बसाने न जाए, तब तक तो शारदा मेरे पास ही रहेगी और अभी वह है भी तो बच्ची, चाहे वह माने या न माने।"

इस उत्तर से उन्हें चुप हो जाना पड़ा। शारदा और उसकी अम्मा एक साथ रहने लगीं, पर दोनों जानते थे कि यह व्यवस्था अस्थायी रूप से ही है। जब पति को शहर में ढंग की नौकरी मिलेगी, तो उसका जीवन कैसा रहेगा, शारदा इसी की कल्पना में विभोर रहती थी। उसने बहुत देर भी तो नहीं की, ज्यों-ज्यों दिन बीतते

जाते थे, त्यों-त्यों घर का जीवन उसे नीरस और निरानन्द प्रतीत होने लगा। और अब तो उसके हिस्से की सम्पत्ति उसे मिल चुकी थी, इसलिए वह पहले की तरह आर्थिक रूप से अपनी अम्मा पर निर्भर नहीं थी। धीरे-धीरे वह अस्थिर होने लगी, और कभी-कभी अम्मा के साथ छोटी-मोटी झड़प भी होने लगी।

कल्याणी अम्मा को आश्चर्य होता था कि बँटवारे के साथ-साथ जैसे एक योगसूत्र टूट गया, पर उसकी प्रकृति क्या है यह पकड़ में नहीं आता था। अब उसे भी बच्चों में पहले की तरह एकाग्र दिलचस्पी नहीं रह गई थी। अब वह अधिकतर पैसे अनाथालय के काम में ही लगाती थी। जब शारदा ने यह कहा कि उसके धन पर अनाथालय से उसके बच्चों का अधिक हक है, तो वह कभी-कभी चिढ़ जाती थी।

शारदा के पति के राजधानी में किसी छोटे पद पर नियुक्त हो जाने की खबर मिली, तो वह खुशी से फूली न समाई, बोली—अम्मा उनको काम मिल गया है। अब मैं उनके साथ शहर में रह सकूँगी। तुम भी अक्सर हमारे यहाँ रहोगी न ?"

—"हाँ बेटी। तू वहाँ खुश रहेगी।"

यह खुशखबरी जब गाँव में फैल गई, तो गाँव वाले माँ और बेटी को बधाइयाँ देने के लिए आने लगे। कल्याणी अम्मा ऊपर से तो बिलकुल अविचलित रही, पर भीतर से बहुत ही दुखी थी। और इस समय उसकी समझ में आया कि बँटवारे का असली अर्थ क्या है ? जब वह मातृप्रधान कुटुम्ब की मालकिन थी और सम्पत्ति संयुक्त थी, तब उसके विवाहित बच्चे दूर रहते हुए भी इस मकान को अपना ही घर समझते थे। वह जानती थी कि दूर रहते हुए भी मानसिक रूप में वे अपने को यहीं का समझते थे। वह अपने परिवार की मालकिन थी। एक-न-एक बहाने से वे उनके पास बराबर आते रहते थे। पर अब कहीं पर जैसे फ़र्क़ पड़ गया था। वह जानती थी कि वे अब भी उसे उतना ही प्यार करते हैं, पर अब जैसे किसी चीज की कमी हो गई थी। रहा यह कि वह क्या चीज थी, सो उसे मालूम नहीं था।

अब वह पुरानी दुनिया नहीं रही। वे इतना कैसे बदल गए ? हमारे समय में कुटुम्ब ही सब कुछ समझा जाता था। उन दिनों लोग तो माँ और कुटुम्ब को छोड़ कर केवल थोड़े दिनों के लिए दूर जाने की बात सोच सकते थे, यानी आगे बढ़े हुए लोग भी माँ और कुटुम्ब को छोड़ कर चले जाने की बात बिलकुल नहीं सोच सकते थे। अब तो वह युग आया है कि कुटुम्ब का महत्त्व कुछ भी नहीं रहा। पुश्तैनी घर का महत्त्व एक किराए के मकान के बराबर रह गया। और माँ ! वह तो कहीं की नहीं रही। इस प्रकार सोचते-सोचते वह अपनी चिन्ता में खो जाती थी, जैसे वह कुछ ऐसी बात समझने की चेष्टा कर रही हो जो उससे छिपी हो। उसे अपने पुराने दिन याद आ रहे थे, जब वह एक तरुणी थी। जीवन कितना भिन्न था। घर में कितने लोग थे, माताएँ, किशोरियाँ, बच्चे और मामा जी थे, जिनकी एक-एक बात पर लोग थरथर काँपते थे। बीस साल से ऊपर हो गए, जब इसी कुटुम्ब की और शाखाएँ सम्पत्ति के बँटवारे की माँग कर रही थीं, उस समय वह वृद्ध तब कारनॅवन या कुटुम्ब के प्रधान थे, क्रोध में आकर बोले थे : "यह कुटुम्ब देश का सबसे पुराना और धनी कुटुम्ब है, जिसे सब लोग भारी श्रद्धा से देखते हैं, तुम उसे तोड़ डालना चाहते हो !"

जो लोग शारदा को बधाई देने के लिए आए, उनमें अनाथालय की मन्त्राणी महोदया भी थीं। वह समझ गईं कि वृद्धा के मन में क्या विचार उठ रहे हैं, वह धीरे से बोली—"आप क्यों न आकर अनाथालय की सारी व्यवस्था अपने हाथों में लें ? आप कार्य-समिति की सदस्या तो हैं ही। आप किसी वैतनिक मैनेजर की तरह थोड़े ही होंगी।"

वृद्धा हँस कर बोली—"अपने लड़के-बच्चे पालने में मुझे यथेष्ट काम करना पड़ा। अब तो मैं वृद्धावस्था में केवल शान्ति चाहती हूँ। अब मैं कुछ दिन अपनी बड़ी बेटी के पास रहूँगी। मैं जानती हूँ कि वह ढंग के नौकर-चाकर नहीं रख सकती और उसके बच्चे भी अभी बड़े नहीं हुए। मैं वहाँ पर आनन्द से रहूँगी।"

इस पर आगे और बातचीत नहीं हुई।

शारदा के चले जाने के पहले ही खबर पहुँची कि नलिनी के लड़के का जन्म-दिवस अगले सोमवार को है, और बच्चे के माता-पिता की प्रबल इच्छा है कि वृद्धा शारदा के साथ वहाँ अवश्य पधारें। कल्याणी अम्मा अब तक धार्मिक कट्टरता के कारण शहर जाने से हिचकिचाती थी, क्योंकि वहाँ जात-पाँत और अन्य नियमों का ठीक से पालन नहीं होता। इसके अलावा शारदा की शादी से पहले घर में बहुत काम बना रहता था। अब भी वह जाए या न जाए, इसी दुविधा में पड़ी रही, पर शारदा की जिद्द के कारण वह आखिर में राजी हो गई।

नलिनी और उसके पति ने बड़े ही प्रेम से उसका स्वागत किया। घर का सबसे अच्छा कमरा उसे दिया गया। अपने घर में उसे जितना सम्मान मिला करता था, यहाँ भी उतना ही सम्मान उसे दिया गया। आते समय कल्याणी अम्मा अपने साथ बहुत-सी मिठाइयाँ और नाती के लिए सोने का एक गहना लाई थी। बुढ़िया नानी का दिल तो बच्चे को देखते ही पिघल गया और कुछ ही घण्टों में वे दोनों बहुत हिलमिल गए। शाम को नलिनी ने फिर अम्मा के वहीं रह जाने की बात छेड़ी।

"अम्मा, शारदा चली जाएगी तो अकेली रह जाओगी। फिर हमारे पास क्यों नहीं चली आतीं ? देखो यहाँ पर तुम्हें सभी सुविधाएँ मिलेंगी, फिर तुम्हारा दिल बहलाने के लिए नन्हा-मुन्ना तो है ही।"

"है तो बात ठीक। पर तुम्हारा पति क्या कहेगा ?"

"कुट्टन के बाबू जी की राय भी तो यही है। वह कहते हैं कि माँ-बेटी एक साथ रहें, तो उन्हें काम करने के लिए अधिक समय मिले।"

"अच्छी बात है। यदि तुम दोनों ऐसा ही चाहते हो, तो शारदा के चले जाने के बाद मैं इस बारे में विचार करूँगी।"

असली बात तो यह थी कि कल्याणी अम्मा बुढ़ापे में अकेली रहने की चिन्ता से घबराती थी। और जब उसने अपने नाती को देखा, तो उसे अपने पहले मातृत्व की याद आई। उसका हृदय द्रवित हो गया। जिस अवस्था में वह पाली गई थी, अब कल्याणी अम्मा ने वही

परिस्थिति पाई। इसमें करने के लिए काम है, आनन्द है, और साथ ही आकर्षण भी, क्योंकि अपने पोते-पोती की देख-भाल किसे नहीं भाती? उसी काम को वह अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती, और उसी काम में उसे पूर्णता मिल सकती थी। पर नई समाज-व्यवस्था में सन्तान, नानी की देख-भाल की वस्तु रहने की बजाय, माता के सुपुर्द कर दी गई थी। अम्मा हरेक स्थिति के साथ समझौता करने को तैयार थी, पर एक चीज को मानने से उसका मन रह-रह कर विद्रोह करता था। फिर भी उसने सब कुछ सोच कर नलिनी के निकट से आए हुए प्रस्ताव को बड़ी सावधानी से स्वीकार कर लिया।

अगले दिन उत्सव था। नानी बहुत ही खुश और उत्तेजित थी। उसने अपनी इच्छानुसार बच्चे को नहलाया और नए वस्त्र और गहनों से भूषित किया। फिर उसने धीरे से बेटी के सामने यह सुझाव रखा कि बच्चे के साथ मन्दिर में जाए। नानी ही तो इस काम के लिए सबसे उपयुक्त थी।

नलिनी ने कहा—"पर अम्मा बच्चे के पिता यह नहीं चाहते कि उसे मन्दिर में ले जाया जाए। वह कहते हैं कि पूजा-पाठ के पैसे तो सब ब्राह्मण के ही भोग में जाते हैं।"

यह सुनकर वृद्धा को एक धक्का-सा लगा, बोली—"क्या पूजा-पाठ कुछ भी नहीं होगा? क्या किसी ने कभी ऐसी बात भी सुनी है? अब भी तुम्हारे जन्म-दिन पर मन्दिर में नियम से पूजा भेजी जाती है। मैं स्वयं इसकी देख-रेख करती हूँ। और तुम ऐसी बात पहले ही जन्म-दिन पर कहती हो?"

वृद्धा अपने को शान्त नहीं कर पाई और सिसकने लगी।

"अम्मा, मेरी अच्छी अम्मा, मैं क्या करूँ यह तो कुट्टन के पिता की मर्ज़ी है।"

"पर क्या वह तुम्हारा बच्चा नहीं है?" नानी बोली—"क्या वह हमारे कुटुम्ब का नहीं है? वह जो चाहे कानून अपनी माँ के घर में चलावे।"

"पर अम्मा तुम कैसी बातें कर रही हो? तुम जानती हो कि पुराना कानून बदल चुका है। बच्चा अब हमारे कुटुम्ब का नहीं है, वह उनके परिवार का है! अब तो पति-पत्नी एक ही परिवार में माने जाते हैं, पहले जैसे वे दो परिवार के नहीं हैं।"

इस तरह समझाने पर वृद्धा को और भी अधिक दुःख पहुँचा, बोली—"तो तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि तुम्हारा बच्चा, यानी मेरी बेटी का बच्चा मेरे कुटुम्ब का नहीं, उसके पिता के कुटुम्ब का ही है। यह तो सरासर अनैतिक और अस्वाभाविक है। तुम कैसे ऐसे हास्यास्पद विचार मन में ला सकती हो, और मेरे सामने उन्हें कह भी सकती हो? यह तो मेरे कुटुम्ब का ही है जैसी कि तुम हो।"

"हाँ अम्मा, मैं थी, पर वह बँटवारे के पहले। अब कुटुम्ब कहाँ रहा? अब तो कुट्टन के पिता और माता यही परिवार है। कानून भी तो ऐसा ही है।"

नलिनी ने सोचा कि कुछ देर के लिए अम्मा को अकेले में छोड़ना चाहिए, और वह पार्टी के काम-काज की देख-भाल करने चली गई। बच्चे को भी साथ ले गई। बड़े प्रयास से वृद्धा ने अपने को सँभाला, पर यह आघात उसके लिए बड़ा ही कठोर था। क्या उसका कुटुम्ब, जो देश के सबसे बड़े कुटुम्बों में था, समाप्त हो गया, जब कि उसने तीन बेटियों को गर्भ में धारण किया। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उसका कुटुम्ब अब भी गाँव में है, भले ही लड़कियाँ उसे अस्वीकार करें। इस विचार के सिलसिले में और भी विचार उसके मन में आये—तो वह अपने पति के घर में रहने के लिए मुझे बुला रही है। यह घर बेटी का घर नहीं, और न यह मेरा ही है। वह चाहती है कि मैं उसके पति की बातों पर उठूँ बैठूँ और उसके साथ अपने कुटुम्ब के पुरुषों की तरह बर्ताव करूँ—उसको खाना खिलाऊँ और शायद उसके जूठे बर्तन भी मलूँ। कभी नहीं, जब तक जिन्दा हूँ ऐसा नहीं होने का।"

जब सन्ध्या समय पार्टी हो रही थी, तो वृद्धा को कुछ बुखार-सा था, और वह बिस्तर पर लेटी थी। पर निमन्त्रितों को देखे बिना भी उससे नहीं रहा गया। शहर के सभी उत्सवों की तरह इस अवसर पर भी हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों की सम्मिलित पार्टी थी। उनकी बातचीत के ढंग से कल्याणी अम्मा को अच्छी तरह पता चल गया कि हिन्दू रीति के अनुसार यहाँ खाने-पीने का तो क्या, यहाँ आने का भी जिन्हें अधिकार नहीं है, वे यहाँ बिना किसी रोक-टोक के खा-पी रहे हैं। वृद्धा ने मन-ही-मन सोचा—नलिनी ठीक ही कह रही थी। जिस घर में ऐसी अनीति चलती है, वह मेरा घर न तो है और न हो सकता है। बेटी भी अब हमारी नहीं रही। अच्छा हो कि और कुछ देखने के पहले ईश्वर मुझे आश्रय दें। उस शाम को अम्मा ने तबीयत ठीक न रहने के बहाने कुछ भी नहीं खाया। नलिनी या उसके पति उसके न खाने के असली कारण का अनुमान भी नहीं कर पाये। कारण यह था कि निषिद्ध व्यक्तियों के खान-पान के कारण अब इस घर को ही जात मारी गई थी।

जब बहुत रात को आराम करने के पहले नलिनी, अम्मा की तबीयत पूछने आई, तो बिना किसी भूमिका के अम्मा ने कहा—"नलिनी, मैं कल वापस जाना चाहती हूँ। मेरा घर अब तुम्हारा न हो, पर वही अब भी मेरा घर है। मैं तो वहीं मरना चाहती हूँ, जैसे कि मेरे पूर्वज मरे।"

"पर अम्मा, तुम अभी मरने थोड़े ही जा रही हो और आज ही सुबह तो तुम हमारे साथ रहने को राज़ी हुई थीं।"

पर अम्मा अपनी राय पर अडिग बनी रही, बोली—"अब इस विषय में बातचीत की कोई आवश्यकता नहीं बेटी। मैं घर जाना चाहती हूँ—बस।"

वह अपने पुराने पारिवारिक घर में लौट आई, और थोड़े ही दिनों बाद शारदा अपने पति के साथ चली गई। वृद्धा ने उसे आशीर्वाद दिया, पर और कुछ नहीं बोली। अपने विशाल मकान में केवल एक दासी के साथ वह अकेली रहने लगी, मानो वह कोई प्रेत हो—बस उन बीते हुए दिनों की याद को हृदय से चिपकाए हुए जो हमेशा के

(शेष पृष्ठ २० पर)

शब्दों का प्रयोग

ब्रजमोहन

शब्दों का अर्थ प्रसंग और साहचर्य से बदल जाता है। किसी के घर बच्चा जन्म लेता है। वह ज्योतिषी को बुला कर उसका भविष्य पूछता है। ज्योतिषी कहता है कि "बच्चा बड़ा होनहार है।" इसका अर्थ यह होता है कि बच्चा बड़ा होकर धन, यश और प्रतिष्ठा कमाएगा, माँ-बाप का नाम उज्ज्वल करेगा। किन्तु यदि बच्चा किसी चोर के घर जन्म ले और उसका बाप कहे कि "बच्चा बड़ा होनहार प्रतीत होता है," तो उसका क्या अर्थ होगा? स्पष्ट है कि उसका अर्थ होगा कि बच्चा बड़ा होकर एक चतुर चोर या गिरहकट होगा। होनहार शब्द वही है, किन्तु साहचर्य से उसके अर्थ में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

यदि हम यह कहें कि "श्रीविलास बड़ा चतुर आदमी है, उसके क्या कहने हैं।" इसका यही अर्थ हुआ कि हम श्रीविलास की प्रशंसा कर रहे हैं, उसे अनुकरणीय बता रहे हैं। किन्तु यदि कोई यह कहे कि "श्रीविलास बड़ा चतुर है, तनिक सावधान रहना।" इसका अर्थ यह हुआ कि हम श्रीविलास की बुराई कर रहे हैं, उसे अवांछनीय व्यक्ति बता रहे हैं। पहले प्रसंग में चतुर का अर्थ है 'बुद्धिमान, समझदार, होशियार' दूसरे प्रसंग में चतुर का अर्थ है 'चालाक, मक्कार, कौइयाँ।'

एक-एक शब्द के दो-दो चार-चार और दस-दस अर्थ भी हो सकते हैं। 'पक्के' का प्रमुख अर्थ है 'पक्व, परिपक्व, पुष्ट, पूर्ण-विकसित' जैसे 'पक्का आम, पक्का नाज।' किन्तु इस सीधे-सादे अर्थ में भी प्रसंग से अन्तर पड़ सकता है। शतरंज के किसी शौकीन के विषय में यदि हम कहें कि "वह एक पक्का खिलाड़ी है" तो यह वाक्य प्रशंसा का ही द्योतक समझा जाएगा। किन्तु यदि किसी व्यक्ति के विषय में कहें कि "वह पक्का चोर है, या पक्का बेईमान है" तो ये वाक्य निन्दा के द्योतक होंगे। यहाँ शब्दों का वास्तविक अर्थ नहीं बदलता। वास्तविक अर्थ तो 'पुष्ट' ही रहता है, किन्तु चोर और बेईमान जैसे निन्दात्मक शब्दों के साहचर्य के कारण 'पक्के' में भी निन्दा का भाव आ जाता है।

'पक्के' का दूसरा अर्थ है 'दृढ़।' जब हम कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति अपनी बात का पक्का है," तो यह अर्थ होता है कि वह बात का धनी है, वचन का पालक है। किन्तु यदि यह कहें कि "वह पक्का बदमाश है, कितना ही मारो कभी भेद बता कर नहीं देगा" तो ये शब्द प्रशंसात्मक नहीं समझे जाएँगे। वास्तव में दोनों प्रसंगों में पक्के का अर्थ 'दृढ़' ही है; एक स्थान पर अच्छी बात पर दृढ़, दूसरे स्थान पर बुरी बात पर दृढ़। जेल में जिन अपराधियों को रहते कई वर्ष हो जाते हैं और जिनकी कोई शिकायत नहीं होती अर्थात् जो अपने आचरण पर दृढ़ रहते हैं उन्हें 'पक्का' कहा जाता है।

पर 'छँटा हुआ' का अर्थ भी साहचर्य से बदलता रहता है। जब हम कहते हैं कि "प्रशासन प्रतियोगिता परीक्षा में तो देश के छँटे हुए लड़के पहुँचते हैं," तो इसका यह अर्थ होता है कि देश भर के लड़कों में से अच्छे-अच्छे लड़के छँट कर उक्त परीक्षा में जाते हैं। इसी प्रकार 'छँटे हुए माल' का अर्थ हुआ बहुत से माल में से निकाल कर अलग किया हुआ माल। इन दोनों स्थानों में उक्त पद प्रशंसा का सूचक है। किन्तु 'छँटे हुए बदमाश' का अर्थ होगा अनेक बदमाशों में भी जो अव्वल हो। यहाँ यह पद निन्दा का सूचक है, किन्तु वास्तव में छाँटने की क्रिया वही रहती है।

'निशाचर' का अर्थ है जो रात्रि में विचरण करे। किन्तु साधारणतया राक्षस लोग रात्रि में ही अपना आहार ढूँढ़ने निकलते थे। अतः अब 'निशाचर' 'दानव' अथवा 'राक्षस' का ही पर्याय समझा जाता है। कभी-कभी 'इमानदार चोर' जैसे पद भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह पद केवल एक परस्पर विरोधी शब्द-पुंज नहीं है। वास्तव में 'ईमानदार चोर' भी हुआ करते हैं। ऐसे लोग चोरी तो करते हैं, किन्तु अपने गुट के सदस्यों से सदैव ईमानदारी का व्यवहार करते हैं। चोरी के माल में ईमानदारी से भाग बाँट कर देते हैं और एक-दूसरे को दिए हुए वचनों का पालन करते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि छँटे हुए गुंडे भी जिसे एक बार अपना कह देते हैं, उसके साथ जीवन भर उसी प्रकार निभाते हैं। चरित्रवान व्यक्ति भले ही डिग जाएँ, ये लोग नहीं डिगते।

अब तनिक 'अच्छा' पर विचार कीजिए। इसका साधारण अर्थ है उत्तम, बढ़िया जैसे—'अच्छा स्वास्थ्य, अच्छे दिन।' अब मान लीजिए कि हम किसी से कहें, "भई तुम अच्छे आए, हम लोग तुम्हारी ही याद कर रहे थे।" इसका अर्थ यह होगा कि तुम ठीक अवसर पर आए। किन्तु मान लीजिए कि कोई व्यक्ति वचन देकर भी नहीं आया। यदि उससे हम कहें कि "आज तो तुम अच्छे आए, हम तो बाट ही देखते रह गए।" यह उलाहने का रूप है। इसका अर्थ है तुम क्यों नहीं आए? तुम्हें आना चाहिए था।

एक और प्रयोग देखिए। मान लीजिए आप अपने छोटे भाई से कहें कि "आज संध्या को बाज़ार से तरकारी ले आना।" वह कहता है 'अच्छा'। यहाँ यह शब्द स्वीकृति का द्योतक है। इसमें अच्छाई अथवा अच्छेपन का भाव नहीं है। एक और प्रयोग भी उल्लेखनीय है। मान लीजिए आप अपने किसी मित्र से कहें: "भई, आज चन्द्रप्रताप जी कोठे से गिर पड़े।" आपके मित्र के मुख से तुरन्त निकलेगा 'अच्छा!' यहाँ वही शब्द आश्चर्य का द्योतक है। इसमें न बढ़ियापन का भाव है न स्वीकृति का।

'जी' का संज्ञा के रूप में तो अर्थ है 'मन या हृदय'। इस पर तो हम इस समय विचार नहीं करेंगे। 'जी' अव्यय के रूप में एक आदर सूचक शब्द है। किन्तु इस दूसरे अर्थ में भी कई प्रकार के भाव निहित हैं। तनिक इस सम्वाद पर विचार कीजिए :

राम—आइए, श्याम जी, आज आपको शतरंज का खेल सिखाऊँ।

श्याम—जी, आया भाई साहब।

राम—देखिए, शतरंज में १६ मुहरे होते हैं, जिनमें से एक राजा, एक मन्त्री, एक ऊँट,……जी ?

श्याम—जी।

राम—जी। अब देखिए राजा, इस प्रकार चलता है……

इस सम्वाद में जी के पाँच प्रकार के प्रयोग दिखाए गए हैं। पहले स्थान पर 'जी' केवल सम्बोधन का एक आदर सूचक शब्द है, दूसरे स्थान पर उत्तर देने का एक सम्मानसूचक चिह्न। तीसरे स्थान पर प्रश्नात्मक भाव है, जिसका अर्थ है 'क्या आप समझ गए।' चौथे स्थान पर स्वीकृति का भाव है। उक्त स्थान पर 'जी' का अर्थ है 'जी हाँ मैं समझ गया।' पाँचवें स्थान पर 'जी' केवल एक संतोष का चिन्ह है।

शब्दों का अर्थ, प्रयोग से भी बदल जाता है। शब्द 'विकार' पर विचार कीजिए। इसका मौलिक अर्थ है 'परिवर्तित रूप।' "वह जाने वाला है," इस वाक्य में 'जाने' शब्द 'जाना' का विकृत रूप अर्थात् विकार है। दही, दूध का विकार है। इस अर्थ में दोष का कोई भाव नहीं है, किन्तु आज सर्वत्र विकार का अर्थ 'दूषित भावना या पदार्थ' ही लिया जाता है। "उसके मन में विकार आ गया" इसका यही अर्थ है कि उसके मन में कोई दूषित भाव अथवा विचार आ गया। 'मल शरीर का विकार है' इस वाक्य में भी 'विकार' का अर्थ दोषयुक्त पदार्थ ही है।

'व्यापार' का वास्तविक अर्थ है 'वह कार्य जिसमें कोई व्यक्ति लगा रहे अर्थात् व्यस्त रहे।' किसी का व्यापार हो सकता है—उपन्यास पढ़ना अथवा शतरंज खेलना। इन कामों में लाभ-हानि अथवा क्रय-विक्रय का कोई भाव नही है। किन्तु साधारणतया मनुष्य वही काम करता है, जिससे उसकी जीविका चले। विशेषकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय जीवकोपार्जन के लिए ही किया जाता है। अतः 'व्यापार' का प्रचलित अर्थ हो गया 'वस्तुएँ खरीदने और बेचने का व्यवसाय।' आजकल बहुधा लोग व्यापार से ऐसे ही व्यवसाय का अर्थ लगाते हैं।

'आलोचना' का मौलिक अर्थ है 'किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण-दोष का विवेचन।' सच्चा आलोचक वही हो सकता है, जो निष्पक्ष भाव से गुण और दोष दोनों का दिग्दर्शन करा सके। किन्तु कदाचित कुछ आलोचकों ने अवगुणों पर ही अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया। अतः दीर्घ प्रयोग से 'आलोचना' में 'छिद्रान्वेषण' का भाव आ गया। इस प्रकार 'कटु आलोचना' कड़ी आलोचना जैसे पद बन गए। 'प्रशंसा करना आता नहीं तुम निरे आलोचक हो,' इस वाक्य में आलोचना से आशय दोष-दर्शन अथवा एकपक्षी आलोचना का ही है।

'प्रमाण' का वास्तविक अर्थ है 'साक्ष्य'। जब दो पण्डित शास्त्रार्थ करते थे तो पहले से निश्चय कर लेते थे कि किस-किस ग्रन्थ को प्रामाणिक माना जाएगा। एक कहता था : "मैं वेद के प्रमाण से यह युक्ति देता हूँ।" दूसरा कहता था "मेरे पास गीता का प्रमाण है।" किन्तु आजकल लोग 'प्रमाण' का अर्थ बहुत कुछ अंशों में 'उपपत्ति' समझते हैं। मान लीजिए कि हम ज्यामिति का यह प्रमेय सिद्ध कर रहे हैं—किसी त्रिभुज की कोई-सी दो भुजाएँ मिल कर तीसरी से बड़ी होती हैं। इस प्रमेय की सिद्धि में हम जो कुछ कहेंगे, वह उपपत्ति कहलाएगी। किन्तु उपपत्ति का वह भाग, जिसमें हम किसी पिछले प्रमेय की सहायता लें, प्रमाण कहलाएगी। पूरी उपपत्ति को प्रमाण कहना गलत होगा।

'छुट्टी' का वास्तविक अर्थ है 'छुटकारा।' इस वाक्य में, "इस काम से छुट्टी पाऊँ तो चलूँ," छुट्टी अपने वास्तविक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। स्कूल के बच्चे कहते हैं : आज तो स्कूल में मैच था। एक बजे ही छुट्टी हो गई।" किन्तु आजकल छुट्टी 'विराम दिवस' और अवकाश के अर्थ में भी प्रयुक्त हो रहा है। यह कदाचित् इस प्रकार हुआ होगा कि किसी अवकाश के दिन किसी ने किसी लड़के से पूछा होगा कि "आज तुम्हारे स्कूल में कै बजे छुट्टी होगी।" तो उसने उत्तर दिया होगा कि "आज तो स्कूल जाना ही नहीं है। आज तो दिन भर छुट्टी ही छुट्टी है।" धीरे-धीरे छुट्टी इस अर्थ में भी रूढ़ हो गया।

'अनिवार्य' का अर्थ है 'अटल' अर्थात् जो टाला न जा सके जैसे 'मृत्यु अनिवार्य है।' इस शब्द का अंग्रेज़ी समानार्थी होगा Inevitable, किन्तु आजकल परीक्षाओं के प्रश्नपत्रों में बराबर लिखा रहता है "किन्हीं सात प्रश्नों के उत्तर दो। प्रश्न ३ अनिवार्य है।" यहाँ अनिवार्य से तात्पर्य Compulsory का है। यह अनिवार्य का गलत प्रयोग है। इसके स्थान पर 'विवशक' होना चाहिए।

इसी प्रकार 'अवस्था' का मौलिक अर्थ है 'दशा'। किन्तु आज बहुधा यह शब्द 'वय' के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। यदि इसी प्रकार के शब्दों की सूची तैयार की जाए, जिनके अर्थ प्रचलन से बदल गये हैं तो उनकी संख्या सहस्रों में पहुँचेगी। किन्तु यह कोई दोष नहीं है। यह तो जीवित भाषा का एक लक्षण है।

"अश्व सधर्माणो हि मनुष्याः नियुक्ता कर्मसु विकुर्वते।"

कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण २; अध्याय ९

मनुष्यों की यह आदत घोड़ों जैसी है कि जब उन्हें किसी नए काम में जोता जाता है तो शुरू-शुरू में वे बहुत उछल-कूद मचाते हैं।

शैवसंत तिरुनावुक्करशर "अप्पर"

सु० शंकर राजू नायुडू

पुरातत्व वेत्ताओं का निश्चित मत है कि प्रागैतिहासिक काल में हड़प्पा और मोहें-जोदड़ो आदि स्थानों में 'लिंग पूजा' के रूप में शिव-भक्ति विकास प्राप्त कर चुकी थी। यदि कहा जाए कि भक्ति का उद्गम ही उस 'सिंधु सभ्यता' से हुआ जिसे 'द्राविड़ सभ्यता' कहा जा सकता है, तो युक्तियुक्त ही होगा। स्कन्द पुराण में 'भक्ति' का स्वयं अपने को 'द्राविड़े उत्पना' कहना और संत कबीर का भी 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' कहना दक्षिण भारत के साथ 'भक्ति' के विशिष्ट सम्पर्क को ही सूचित करता है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है, शिव-भक्ति का प्रचार सिन्धु सभ्यता के समय में ही यथेष्ट हो चुका था। उत्तर पश्चिमी दर्रों से होकर आर्यों के आगमन के पश्चात् इस भक्ति का प्रचार 'शंकर' और 'महादेव' के रूप में अत्यधिक हुआ अवश्य, परन्तु इसके पश्चात् भी शिव-भक्ति का चरम विकास दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश में ही छठी और नवीं शताब्दियों के बीच हुआ प्रतीत होता है। "शैव सिद्धान्त" नामक एक विशिष्ट दर्शन तमिल में चिरकाल से स्वीकृत होता आया है। इस शैव सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए शिव-भक्ति में आत्म-विस्मृत हो उसका प्रचार करने वाले चार प्रधान आचार्य तमिल भूभाग में सातवीं शताब्दी के लगभग हुए। वे थे—तिरुज्ञानसम्बंधर, तिरुनावुक्करशर "अप्पर", सुन्दरर और माणिक्कवासहर। सब में शिव भक्ति का ही प्राधान्य होते हुए भी तिरुज्ञानसम्बंधर में "सरियै" अर्थात् पूजा की, तिरुनावुक्करशर में "किरियै" अर्थात् जन-सेवा की, सुन्दरर में योग-साधन की और माणिक्कवासहर में ज्ञान की विशेषता पाई जाती है। हिन्दी के भक्ति-कवि गोस्वामी तुलसीदास का निम्न कथन ही इनमें भी चरितार्थ होता है:—

> "ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
> उभय हरहिं भव संभव खेदा॥"

मानव की मानसिक प्रवृत्ति के अनुकूल वह चाहे किसी भी पद्धति का अनुसरण कर सकता है, पर चारों की फलप्राप्ति मोक्ष ही है। इन चारों में योग-साधन और ज्ञान का मार्ग साधारण जन समुदाय के लिए कुछ कठिन है, क्योंकि चंचल मन अपनी चंचलता को पूर्णतः तज कर लोकोत्तर भावना में पूर्णतः लीन हो अदृष्ट शक्ति का सतत चिंतन, मनन व ध्यान नहीं कर पाता। कतिपय सिद्ध पुरुष ही इसमें सफलता प्राप्त करते हैं। पूजा और जन-सेवा बाह्य कर्म के साधन से 'शिव' को प्राप्त करने की सरल पद्धतियाँ हैं, जिनमें मन को चंचलता से अवरोध करने के लिए कुछ प्रत्यक्ष बाह्य पदार्थ ही आवश्यक होते हैं और मन को स्थिर करने में सहायक होते हैं। इस स्थिर मन के साथ अपने सारे कर्मों को शिवार्पण करने में मानव का मन लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है और इस लोकोत्तर आनन्द के माध्यम में वह ऐसा लीन होता है कि इसका तादात्म्य उस शिव से करके अपने को शिव में आत्मसात् कर लेता है, अपने को पूर्णतः विलीन कर देता है। प्रथम दोनों मार्गों में सीधे सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना पड़ता है और शेष दोनों मार्गों में स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना पड़ता है। अतः पूजा एवं जन-सेवा के मार्ग ही साधारण जन समाज के लिए सरल सिद्ध होते हैं।

तिरुज्ञानसम्बंधर की पद्धति में मंदिर में मूर्त्तिपूजा व अर्चना आदि पर विशेष बल दिया गया है। इसमें भक्त मूर्त्ति को अप्रत्यक्ष शिव का एक प्रत्यक्ष साधन-मात्र मानता है और प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाने का प्रयत्न करता है। तिरुनावुक्करशर की पद्धति में जीव-मात्र को सर्वव्यापक अदृष्ट शिव के अंग मान कर सेवा के द्वारा जीव-मात्र में उपस्थित उसी शिव तक पहुँचने का प्रयत्न भक्त करता है। इसमें वह सबसे अधिक अपने ही जैसे मानव की सेवा को सर्वाधिक महत्त्व देता है और जन सेवा को ही साक्षात् शिव-सेवा मानता है। इसी तत्त्व के आधार पर राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है :—

> "न तन सेवा, न मन सेवा,
> न जीवन और धन सेवा।
> मुझे है इष्ट जन सेवा,
> सदा सच्ची भुवन सेवा॥"

इसी 'जन सेवा' की पद्धति को शिव-प्राप्ति का सर्वसुलभ साधन मान कर अमृतमय तमिल भाषा में इसका सर्वत्र प्रचार करने वाले आचार्यों में प्रमुख शिव-भक्त 'नायन्मार' ही 'अप्पर' व 'तिरुनावुक्करशर' हैं। 'अप्पर' का अर्थ है : 'पितृवर' और 'तिरुनावुक्करशर' का अर्थ है: 'शब्दों के सम्राट् महान'। इनका वास्तविक नाम 'मरुणीक्कियार' था, जिसका अर्थ है; 'अंधकार को हटाने वाले।'

दक्षिण भारत के तमिल भूभाग में चोल प्रदेश और तोण्डैनाड के मध्य तिरुवामूर (अर्थात् दिव्य स्थान) नामक एक कृषि प्रधान ग्राम था जिसमें पुकलनार-मादिनियार का दाम्पत्य जीवन धर्मानुकूल व्यतीत हो रहा था। कुछ दिनों में एक कन्या-रत्न का जन्म हुआ जिसका नाम 'तिलकवदियार' रखा गया। वह वस्तुतः स्त्रियों में तिलक के समान सुशोभित हुई। कतिपय वर्षों के पश्चात् प्रकाश पुंज जैसे एक बालक का जन्म हुआ, और उसी का नाम रखा गया 'मरुणीक्कियार'। कुटुम्ब की कीर्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई। तिलकवदियार बारह वर्ष की हुई। कुल गौरव तथा बालिका के गुण व उसके सौन्दर्य से प्रसन्न हो, कलिप्पहैयार नामक एक धर्मरत व कर्त्तव्यनिष्ट सेनापति ने उससे विवाह करने की इच्छा बड़ों के द्वारा प्रकट की जिसे सब ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, और उनके विवाह का निश्चय भी कर दिया गया। परन्तु

'कर्म गति टारे नाहिं टरे ।' इसी समय उत्तर से युद्धरत हो आई हुई सेना का सामना करने के लिए स्थानीय सम्राट् कलिप्पहैयार के अतिरिक्त और किसी सेनापति का विचार न कर सके, अतएव राजाज्ञा हुई कि वही तुरन्त सेना लेकर कूच करें । हमारे वीरवर सेनापति ने वैसा ही किया। इस बीच में तिलकवदियार और मरुणीक्कियार के जनक पुहलनार इस संसार से चल बसे, और असह्य पति-वियोग के फलस्वरूप पत्नी मादिनियार भी पति के संग सती हुई। भाग्यदेव इतने पर भी शांत न होकर युद्धरत वीरवर कलिप्पहैयार को भी समर-क्षेत्र में वीरगति दिला बैठा। तिलकवदियार जो कलिप्पहैयार को हृदय से पति मान चुकी थी, उनके ही संग सती होना चाहती थी, परन्तु अनुज ने उसके चरणों में साष्टांग नमस्कार करके प्रार्थना की कि आप ही अब मेरे लिए माता-पिता हैं, और यदि आप मुझे अकेले इस संसार में छोड़ जाने का विचार करेंगी तो आप से पूर्व में ही अपने प्राण तज दूँगा। इस विषम परिस्थिति का विचार करके तिलकवदियार ने अपने निश्चय में अपने अनुज के हेतु परिवर्तन लाकर आजीवन तपस्विनी बने रहने का प्रण करके अपने सर्वस्व को शिवाराधना में विलीन कर दिया।

इस अवस्था में मरुणीक्कियार विद्यार्जन कर अहिंसा को ही परम धर्म मान अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को साधारण जनता के लिए विविध रूपों में व्यय करते हुए संसार के सकल वैभवों को तज संन्यास ग्रहण करके सत्यान्वेषण में लीन हो धर्म क्षेत्रों की यात्रा करने लगे। वे जैनियों के प्राचीन तमिल केन्द्र पाटलिपुत्र जा पहुँचे, और जैन संन्यासियों के प्रभाव में आकर वहीं रहते हुए जैन धर्म का विशिष्ट अध्ययन करने लगे। कुछ ही काल में वे जैन धर्म में ऐसे सिद्धहस्त हुए कि वाद-विवाद में जैन मुनियों को भी उन्होंने परास्त कर दिया। ऐसी विद्वत्ता को मरुणीक्कियार में देखकर उन्हें 'धर्मसेनर' नामक उपाधि से जैनियों ने विभूषित किया। इस अवस्था में वे बरसों रहे और अपनी ज्येष्ठा तिलकवदियार को देखने का विचार भी उन्हें न हुआ। इधर तपस्विनी तिलकवदियार अपने अनुज को जैन मत में पूर्णतः विलीन पाकर उसे पुनः शैव मतावलम्बी बनाने की प्रार्थना भगवान् शिव से करती रही। एक रात भगवान् ने स्वप्न में प्रत्यक्ष हो उनसे कहा, "निश्चिन्त रहो। वह पूर्व जन्म में ही मुझ से मिलने का प्रयत्न कर चुका है, परन्तु कुछ-एक दोषों के फलस्वरूप अब मुझ से दूर जा पड़ा है और बिकट भविष्य में वह उदर-शूल से पीड़ित हो तुम्हारे ही पास उसके निवारणार्थ आएगा और मेरा भक्त बन जाएगा।" ऐसा ही हुआ। थोड़े ही दिनों के पश्चात् मरुणीक्कियार को उदर में शूल वेदना उत्पन्न हुई जिसे पाटलिपुत्र का कोई जैनमतावलम्बी शांत न कर सका। तब उन्हें अपनी ज्येष्ठा का स्मरण आया, और एक दूत के द्वारा इसकी सूचना भेजी। तिलकवदियार ने आने से साफ़ इन्कार कर दिया कि अन्य धर्मावलम्बियों के यहाँ मैं किसी प्रकार पैर न रखूँगी। यह समाचार सुनने पर विवश हो मरुणीक्कियार को ही स्वयं अपनी बहन के पास आना पड़ा। सजल नेत्रों के साथ उन्होंने ज्येष्ठा के पैरों में पड़ कर साष्टांग नमस्कार किया। तपस्विनी बहन ने भी इससे तृप्त हो अपने भैया को उठाया और उससे कहा, "शिव की कृपा से ही तुम्हें यह रोग हुआ है। इसके निवारणार्थ भगवान् शिव की आराधना करो।" भैया ने पुनः प्रणाम किया। शिव की अपार करुणा को देख कर पंचाक्षर मंत्र जप कर भैया को बहन ने विभूति प्रदान की, जिसे सप्रेम व सादर मरुणीक्कियार ने अपने मुख में थोड़ा-सा डाल कर शेष को माथे व शरीर में लगा लिया। फिर दोनों ने तिरुवीरट्टनाथ के मंदिर में जाकर प्रदक्षिणा की, परन्तु इस पर भी पूर्ण रूप से वह रोग नहीं गया। फिर शिव की कृपा से तमिल गीत गाने की शक्ति प्राप्त हो चार चरण उन्होंने अपने पेट को जोरों से पकड़ कर गाये :—

काल-सम पीड़ा को न आप हैं हटाते अभी,
क्रूर करम अनेक किये हैं मैंने नहीं।
ऋषभ वाहन युत शिव को ही निशिदिन,
भजन-बंदगी सदा करता जहाँ कहीं॥
आँतों से निबन्धित हो असह्य उदर पीड़ा
व्यथित करती सदा भीतर-भीतर ही,
'केडिल' नदी तट के 'अदिहै' नगर स्थित
वीरट्टनाथ दास सह सकता नहीं॥

ऐसा प्रारम्भ करके कुल दस छन्द उन्होंने शिवानुग्रह के फलस्वरूप गाये। तुरन्त उदर की वह शूल पीड़ा जाती रही, और उसी समय शिव की परम कृपा भी प्राप्त हुई। आकाशवाणी हुई: "आज से तेरा नाम इस भूतल पर तिरुनावुक्करशु होगा।" इससे भक्तों को आश्वासन प्राप्त हुआ कि अब शिव भक्ति का प्रचार यथावत् शक्ति प्राप्त करेगा। स्वनाम धन्य मरुणीक्कियार ने सचमुच ही अंधकार को मिटाया। तिलकवदियार परम तृप्त हो शिव के श्री चरणों में और अधिक तल्लीन हुई।

पाटलिपुत्र के जैनों ने अपने 'धर्मसेनर' के मत-परिवर्त्तन की वार्त्ता सुन, अपने मन में विचार किया कि यदि इसका पता सम्राट् को चलेगा तो सम्भव है वह भी शैव हो जाए। अतः सभी बातों को विपरीत ढंग से इस प्रकार उन जैनियों ने अपने पल्लव सम्राट् के सम्मुख उपस्थित किया, "हे सम्राट्, धर्मसेनर ने उदर पीड़ा का केवल बहाना ही किया था। वस्तुतः वह अपनी बहन के साथ पुनः शैव मतावलम्बी होना चाहता था, और अब उसने धोखे से अपनी झूठी वेदना को हम लोगों से स्वस्थ होता हुआ न दिखा कर, अपनी इच्छापूर्ति के अनन्तर स्वस्थ होने का झूठा बहाना कर रहा है। इतना ही नहीं, हमारे मत की निन्दा भी अब करता फिरता है। अतः उसे उचित दण्ड दिया जाना चाहिए।" सम्राट् ने इस वार्त्ता को सुन कर तुरन्त आज्ञा दी कि उसे पकड़ कर लाया जाए। उनके मंत्री उसी दम आ पहुँचे और तिरुनावुक्करशर के पास जाकर राजाज्ञा सुनाई। परन्तु 'तिरुनावुक्करशर' ने छूटते ही मधुर तमिल में गाकर उत्तर दिया :—

"हम किसी की प्रजा नहीं हैं, हमें यम से भी भय नहीं है। न हम नरक में डाले जाएँगे और न किसी प्रकार की पीड़ा हमें सता सकती है। सदा सानन्द रहेंगे, पीड़ा हम नहीं जानेंगे। किसी के सामने हम नहीं झुकेंगे। सभी दिन सुखी रहेंगे और हमें कोई दुःख नहीं होगा। सदा के लिए उस सर्वेश्वर शंकर के श्री चरणों में ही हमें

स्थान प्राप्त हो गया है।" और उनके साथ जाने से साफ़ मना कर दिया। पुनः उन मंत्रियों ने विनीत भाव से सम्राट् के पास चलने की प्रार्थना की, और शैवसन्त तिरुनावुक्करशर ने मन में विचार किया कि "चलो, मेरा शिव सर्वत्र व्याप्त है। देखें, वहाँ क्या गुल खिलते हैं" और उनके साथ चल कर पल्लव सम्राट् की सभा में पहुँचे।

पल्लव सम्राट् अपनी प्रकृति से कब बाज आने वाला था? मन्त्रियों से परामर्श करके शैवसन्त को एक उष्ण भाप्प पूर्ण कक्ष में डाल कर बन्द कर देने की आज्ञा दी और उसी दम वैसा ही किया गया। शिवानुग्रह प्राप्त होने के कारण शैवसन्त का बाल भी बाँका न हुआ और अपने परम पिता परमेश्वर की महिमा को गाते हुए वे बाहर निकले। सम्राट् तथा सभी जैन मतावलम्बी इसे देख आश्चर्य चकित रह गए। परन्तु इनके मन में क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित हुई। सम्राट् ने पुनः परामर्श करके भोजन में तीक्ष्ण विष मिला कर 'शैवसन्त' को खिलाने को कहा। ऐसा करने पर भी फल मनोनुकूल न हुआ। सम्राट् को मन्त्रियों ने कारण यह बताया कि जैन धर्म में शिक्षित मन्त्रों के द्वारा इसने विष के विषैलेपन का नाश कर डाला। तब सम्राट् ने तिरुनावुक्करशर को एक मस्त हाथी के पैरों से कुचलवाने की आज्ञा दी। परन्तु वैसा प्रयत्न करने पर वह हाथी इनकी ओर पहले तो तेजी से झपटा, और शैवसन्त ने निर्भय होकर कहा कि, "न अब मुझे किसी से भयभीत होने की आवश्यकता है और न आगे कभी किसी से भयभीत होने की आवश्यकता पड़ेगी।" बस, हाथी उनके चारों ओर सविनय घूम कर फिर हाथीवानों की ओर ही झपटा और उनके प्राण लेकर ही रहा। इसे सुन सम्राट् ने सावेश व सक्रोध आज्ञा दी कि इस शैवसन्त को बड़े प्रस्तर खण्ड के साथ बाँध कर अथाह समुद्र में फेंक दो। इस प्रकार फेंके जाने पर भी तिरुनावुक्करशर 'नमः शिवाय' के तमिल पंचाक्षर मन्त्र का सतत कीर्त्तन करते व पानी पर तैरते-तैरते 'तिरुप्पाप्पुलियूर' शिव क्षेत्र के समुद्र तट पर जा लगे। वहाँ के शिव भक्तों ने इनका आदर सत्कार सहित स्वागत किया और फलतः भक्त शिरोमणि तिरुनावुक्करशर ने भी उसी शिव-क्षेत्र में शिव कीर्ति गाते हुए कतिपय दिवस रहने का निश्चय किया।

कुछ काल के पश्चात् तिरुनावुक्करशर को पुनः अपने प्रारम्भिक शिव-स्थल का स्मरण हो आया। अनेक शिव-क्षेत्रों की यात्रा करते हुए अन्त में तिरुवदिहै में स्थित तिरुवीरट्टानेश्वर के मन्दिर में जाकर अपने धर्म-परिवर्त्तन का विचार करके उन्होंने शिव से क्षमा याचना की। इस आश्चर्यजनक परिवर्त्तन व पूर्व कथित घटनाओं को सुन कर तपस्विनी बहन तिलकवदियार भी अति प्रसन्न हुईं।

पल्लव सम्राट् को जब, 'धर्मसेनर' का वास्तविक व्यक्तित्व ज्ञात हुआ, तो उन्होंने स्वयं यहाँ आकर शैवसन्त तिरुनावुक्करशर से क्षमा प्रार्थना की और अपने को भी शैव मतावलम्बी बना लेने की याचना की। सम्राट् के सद्भावों व शुभ विचारों से तृप्त होकर शैवसन्त ने इन्हें शैव मत में मिला लिया, और पंचाक्षर मन्त्र 'नमः शिवाय' का पाठ पढ़ा कर विभूति से उन्हें विभूषित किया। सम्राट् शिव भक्त होकर अपने नगर पाटलिपुत्र लौटे, और वहाँ के सभी जैन मठों को शिवालयों में परिवर्त्तित करके नगर के मध्य में एक शिव मन्दिर की भी स्थापना की।

यद्यपि तिरुनावुक्करशर को शैवमतावलम्बन के पश्चात् भगवान् शिव की कृपा भी पूर्णतः प्राप्त हो चुकी थी, तथापि वे अपने उस शरीर से घृणा करने लगे जो मतपरिवर्त्तन करके जैन धर्मावलम्बी हो गया था। अतः एक विशिष्ट शिवक्षेत्र "तिरुत्तंगानै मठ" में जाकर उन्होंने शिव से यह प्रार्थना करते हुए कि मेरी शरीर-शुद्धि के हेतु त्रिशूल एवं ऋषभ के चिन्ह मुझ पर अंकित करें, शिव स्तुति के गीत गाये। तुरन्त एक शिव गण प्रगट हुआ जिसे कोई नहीं देख सका। इसने तिरुनावुक्करशर के शरीर में शूल एवं ऋषभ के चिन्हों को अंकित कर दिया। भक्त के आनन्द का पारावार न रहा।

यहाँ के अनेक क्षेत्रों की यात्रा करते हुए वे चिदम्बरम पहुँचे और नटराज शंकर के प्रत्यक्ष दर्शन किए और कहा, "शरीर एवं प्राण के द्वारा जो श्रेष्ठ फल सिद्ध हो सकते हैं वे मुझे प्राप्त हो गए। मैं धन्य हूँ।" चिदम्बरम को केन्द्र बना कर निकट के अनेक शिव मन्दिरों में जाकर उन्होंने अपनी पूजाएँ अर्पित करके सुमधुर गीतों में सर्वेश्वर की स्तुति गाई।

यह काल शिव-भक्ति एवं शैवसन्तों का था। इसी समय देवी पार्वती द्वारा 'ज्ञान क्षीर' प्राप्त शियाली के सन्त-प्रवर तिरुज्ञानसम्बन्धर की कीर्त्ति सर्वत्र व्याप्त हो चुकी थी। तिरुनावुक्करशर के मन में उनसे मिलने की अभिलाषा उत्पन्न हुई, और स्वयं अन्य शिव भक्तों के साथ उनके स्थान को गए। इनके आगमन को सुन कर तिरुज्ञानसम्बन्धर भी इनसे मिलने के लिए चले। इन्हें देखते ही तिरुनावुक्करशर ने उनको साष्टांग प्रणाम किया और तिरुज्ञानसम्बन्धर ने भी प्रणाम करके इनके दोनों हाथों को पकड़ कर 'अप्पर' 'अर्थात् पितृदेव' कह कर उठाया, और अपने को 'दास' कहते हुए वे उठे। इस समय से इस शैवसन्त का नाम 'अप्पर' पड़ गया। यहाँ से दोनों शियाली के शिवालय 'तोणियप्पर' के दर्शन के लिए गए। अप्पर ने 'तोणियप्पर' की स्तुति में एक 'तिरुप्पदिहम्' (दस छन्दों की भगवद् स्तुति) गाया और तिरुज्ञानसम्बन्धर के साथ ही कुछ दिन रहे।

यहाँ से चोल प्रदेश के अनेक शिव स्थलों की यात्रा करते हुए अप्पर ने 'शक्ति मुत्तम्' के प्रसिद्ध शिव क्षेत्र पहुँच कर परमेश्वर से प्रार्थना की कि काल के आने से पूर्व अपने श्री चरणों को मेरे सिर पर रखें, और आकाशवाणी हुई 'तिरुनल्लूर पहुँचो'। वहाँ अप्पर के पहुँचने पर उनकी इच्छापूर्ति हुई।

तदनन्तर विभिन्न पुण्य क्षेत्रों में ईश्वर दर्शन व स्तुति पाठ के पश्चात् वे 'तिंगलूर' से होकर गुज़रे। यहाँ 'तिरुनावुक्करशु जल वितरण मंडप' शब्द लिखित देख कर वे पूछताछ करने लगे। ज्ञात हुआ कि एक अप्पूदि अडिहल नामक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी, बाल-बच्चे, व घर की अन्य सभी वस्तुओं को 'तिरुनावुक्करशु' का एक ही नाम दे रक्खा है और अभी हाल ही में अपने घर गए। अप्पर उनके घर गए। एक शिव भक्त का आगमन सुन कर अप्पूदि ने भाग कर उनका सादर स्वागत किया। अप्पर ने पूछा कि आपने अपना नाम न लिख कर

किसी दूसरे का नाम क्यों लिखा है ? अप्पूदि ने उत्तर दिया, 'क्या, दूसरे का नाम ? आपने ऐसा पूछ कर ठीक नहीं किया । अपने आश्चर्य-जनक कृत्यों से पल्लव सम्राट् को भी ज्ञान प्रदान करने वाले उस शिव भक्त का नाम, क्या दूसरा नाम है ? जन सेवा से ही जन्म सफल होने के तथ्य को अभिव्यक्त करने वाले उस भक्त के नाम पर आक्षेप ? उस नाम से अनभिज्ञ व्यक्ति हो ही नहीं सकता । आप हैं तो शिव भक्त के वेश में, और उनसे अनभिज्ञ ? "अप्पर" ने भक्त की भक्ति से परवश हो अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करते हुए कहा, "उदर शूल पीड़ा देकर भगवान् शिव ने जिसे अन्य धर्मावलम्बन से स्वधर्म का अनुगामी बनाया, वह अकिंचन मैं ही हूँ ।" अप्पूदि ने प्रेम विह्वल हो, 'हमारे भगवान् आ गए' 'हमारे भगवान् आ गए', कहते हुए उनके चरणों को धोया, और उस चरणामृत का पान स्वयं करके अपने बन्धुजनों को भी कराया । उन्हें एक सुन्दर पीठ पर बैठा कर अपने तिरुनावुक्करशु नामक ज्येष्ठ पुत्र से केले के पत्ते लाने को कहा । केले के पेड़ के निकट जाकर पत्ता काटते समय एक सर्प ने उसे काट लिया, परन्तु इसकी परवाह न करते हुए वह तेज़ी से आया, और पत्तों को देने के पश्चात वह पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसके माता-पिता ने अप्पर के भोजन में अधिक देरी होती हुई देख कर पुत्र के शव को एक ओर छिपा कर अप्पर की सेवा में लीन हुए । परन्तु अप्पर को इस घटना का गुप्त रूप से ज्ञान हो ही गया, अप्पूदि से अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलवाया । अप्पूदि वस्तुस्थिति को छिपाते हुए कहने लगे कि अब उससे यहाँ कोई लाभ न होगा । परन्तु अप्पर ने वास्तविक स्थिति को व्यक्त करने पर विवश किया । अप्पूदि को सच्ची घटना का उल्लेख करना ही पड़ा । उसे सुनने पर अप्पर ने उठ कर शव के निकट जाकर शिव स्तुति का एक दशक (पदिहम्) गाया और कहा, 'उठो,' । तुरन्त वह उठ बैठा और उसने अप्पर स्वामी को प्रणाम किया ।

यहाँ से प्रस्थान करके विभिन्न देवालय होते हुए वे पुनः तिरुज्ञान-सम्बन्धर से मिले । पुनः दोनों देवालय-यात्रा करते हुए तिरुवीलिमिललै पहुँचे । यहाँ वर्षाभाव के फलस्वरूप अकाल जनता को पीड़ित कर रहा था । भक्त जन क्षुधा से त्रस्त हो रहे थे । अप्पर और सम्बन्धर भी दुखित हुए । इसे देख शिव ने स्वप्न में प्रत्यक्ष होकर कहा कि मन्दिर में मेरे पीठ-स्थान के पूर्व और पश्चिम की ओर मुद्राएँ तुम्हें प्राप्त होंगी, और उनसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लो । तब से प्रतिदिन उन दोनों शैव संतों को एक-एक मुद्रा अकाल की समाप्ति तक प्राप्त होती रही जिनसे वे अन्य भक्तों को भी उनकी क्षुधा से मुक्ति प्रदान करते रहे । कतिपय दिवसों के अनन्तर अकाल जाता रहा । यहाँ से वे यात्रा करते हुए तिरुमरैक्काडु पहुँचे । वहाँ के मन्दिर का मुख्य द्वार सदा के लिए बन्द हो गया था । कहा जाता है कि इस मन्दिर में ईश्वर पूजा करने के लिए चारों वेद आए, और लौटते समय द्वारों को बन्द करके चले गए । इसे सुन कर तिरुज्ञानसम्बन्धर ने तिरुनावुक्करशर से कहा कि आप ईश्वर स्तुति गाकर इन बन्द द्वारों को खोलें । अप्पर ने मरैक्काडु के ईश्वर से प्रत्यक्ष दर्शनार्थ उन द्वारों को खुलवाने की याचना करते हुए गाया । गीत समाप्त होते-होते द्वार खुल गए । दोनों शैव सन्त उन्हीं द्वारों से होकर भीतर गए और पूजा-पाठ करने के पश्चात् लौटे । लौटने पर अप्पर ने सम्बन्धर से निवेदन किया कि सदा नियमानुसार खुलते और बन्द होते रहने के लिए इन द्वारों को बन्द होने के हेतु आप गीत गाएँ । बाल सन्त सम्बन्धर ने गान प्रारम्भ किया ही था कि द्वार अपने आप बन्द हो गए । सब ने वहाँ से सानन्द चल कर उस स्थान के एक मठ में विश्राम किया । अप्पर के मन में एक संशय यह उत्पन्न हुआ कि मेरे गीत समाप्त करते-करते द्वार खुले, परन्तु सम्बन्धर के गीत प्रारम्भ करते ही द्वार बन्द हो गए । इसका कारण क्या हो सकता है ? रात के समय भगवान् शिव ने स्वप्न में दर्शन देकर 'तिरुवायमूरु' जाने को कहा । तुरन्त अप्पर उठे और जिस रूप में स्वप्न में दर्शन किए थे उसी रूप में साक्षात् शिव को आगे आगे जाते देखा । उनके पीछे-पीछे अप्पर भी गए । बहुत दूर चलने पर शिव अदृष्ट हो गए, और सम्मुख एक शिवालय दिखाई पड़ा । अप्पर उसी के भीतर गए । अप्पर का प्रस्थान ज्ञात होने पर सम्बन्धर भी उसी ओर गए, और सम्मिलित हो गए । अब अप्पर ने प्रार्थना की, हे प्रभु, बन्द द्वारों को खोलने का दोष मुझ पर हो सकता है । अतएव आप मुझे दर्शन से कदाचित् वंचित किए हुए हैं । पर उन द्वारों को बन्द करने वाले महान् भी यहीं हैं । उनसे भी यह छिपाव क्यों ? अब सम्बन्धर को दर्शन प्राप्त हुए, और पुनः उनके प्रार्थना करने पर अप्पर को भी दर्शन प्राप्त हुए, और अन्त में सबके लिए अदृश्य हो गए । यहाँ से दोनों तिरुवायमूरु जाकर कुछ दिन वहीं ठहरे । तदनन्तर सम्बन्धर पाण्ड्य प्रदेश में शैव-धर्म स्थापन व अन्य धर्म-उन्मूल-नार्थ सम्राट् को यथानुकूल उपदेश देने के लिए साम्राज्ञी एवं मन्त्री के आमन्त्रण पर वहाँ चले गए, अप्पर ने अनेक धर्म-क्षेत्रों की यात्रा करने के पश्चात् 'पलैयारु' में शिव की मूर्त्ति को कट्टर जैनों द्वारा छिपाए जाने की वार्त्ता सुन कर अति दुखित हो, ईश्वर से प्रार्थना की कि वह मूर्त्ति प्राप्त हो, और अनशन सत्याग्रह करने लगे । शिव ने उसी दिन स्थानीय सम्राट् को स्वप्न में दर्शन देकर मूर्त्ति के स्थान को भी कुछ चिह्नों द्वारा सूचित कर दिया । सम्राट् ने ईश्वरीय आदेश का पालन किया और मूर्त्ति को पुनः स्थापित किया ।

अप्पर ने पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ की । तिरुपैञीली जाते समय वे बहुत थक गए थे जिसे देख सभी भक्त दुःखी हुए । शिव ने वहीं एक तड़ाग एवं कुंज की सृष्टि की व स्वयं एक वृद्ध भक्त के समान बैठ गए । अप्पर के जाते ही कहा, "मालूम पड़ता है, बहुत थक गए हो । लो, यहाँ थोड़ा विश्राम कर लो । मेरे पास थोड़ा भोजन है, उससे अपनी क्षुधा तृप्ति भी कर लो ।" अप्पर ने उनका सम्पूर्ण आदर-सत्कार स्वीकार कर लिया, फिर दोनों तिरुपैंजीली पहुँचे, परन्तु पहुँचते-पहुँचते शिव अदृष्ट हो गए । तभी अप्पर को ज्ञात हुआ कि आदर-सत्कार करने वाले स्वयं शिव थे, और उन्होंने आनन्दाश्रुधारा बहाई । यहाँ से वे मद्रास की ओर सिधारे । काँची, तिरक्कलुक्कुनड्रम, वान्मियूर, मयिलै व तिरुवोट्रियूर आदि धर्मालयों में भगवान् के दर्शन करते हुए श्री कालहस्ति नामक दक्षिण कैलाश के पुण्य क्षेत्र में पहुँचे । इसके दर्शन करने के उपरान्त हिमालय में स्थित कैलाश के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई, और सीधे उत्तर की ओर यात्रा करने लगे । अनेक कठिनाइयों

(शेष पृष्ठ २६ पर)

शरणार्थी

गोपाल भौमिक

ये कौन हैं, कहाँ है इनका निवास,
ये कहाँ से आए हैं—
अजस्र प्रश्नों के तीरों से
हमारा गगन है कंटकित।
ये पितृ परिचय में हीन हैं,
ये नामहीन गोत्रहीन हैं,
असंख्य चेहरों की भीड़ जमा है स्टेशन के
मोड़ में
उद्वेलित आकुलित।

उन्हीं के साथ मैं ढूँढ़ता फिरता हूँ
एक परिचित चेहरे को,
जिसे देखा था। तब से युग बीत गए,
जैसे शिशु की अर्थहीन टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें
किशोर अवस्था की पहली कापी पर
सर्पिल स्मृति मिट जाती है किसी अस्तमित
सीमा पर।

इनकी कोई जड़ें नहीं हैं,
खेत पर कटे हुए धान की तरह,
बहरहाल हैं वे विवर्ण और विरल,
अपने घरों में ये बन चुके हैं प्रवासी
फिर भी किसी के स्नेह स्पर्श की साध बनी है,
न कोई दावा है, न कोई माँग,
और न तो कोई ऊँची विचारधारा है,
बस केवल जैविक स्वप्न में आच्छन्न चेतना ने
मेरी दुनिया भर दी है,
तीव्र भूख और प्यास से
मैं रो पड़ता हूँ।
याद आता है कि भूखों का जुलूस
एक दिन राजपथ पर दृष्टिगोचर हुआ था।

फिर भी इनके चेहरे देखता हूँ
जैसे आसमान के दिल को फाड़ कर
केवल गन्दा नाला ही उतरता आ रहा है
पद्मा, मेघना, यमुना का पानी
इनकी आँखों में डोल रहा है।

अनुवादिका—माया गुप्त



कुटुम्ब—(पृष्ठ १३ का शेषांश)

लिए जा चुके थे। उसके लिए वह मकान केवल एक मकान नहीं था, वह और भी कुछ था—वह था उसके पूर्वजों का मन्दिर। प्रतिदिन वह कमरे में जाती थी और बड़े चाव के साथ याद करती थी—इस कमरे में अमुक का जन्म हुआ और अमुक की मृत्यु हुई। उसे ऐसा अनुभव होता था कि जैसे बच्चे अब भी आँगन में हँसते हुए दौड़ रहे हों और औरतें रसोई में झगड़ रही हों, जैसा कि बहुत से लोगों के एक साथ रहने पर होता है।

वह स्वप्न में गढ़े हुए पुरुषों और स्त्रियों को लेकर अपनी स्मृति में डूबी रहती थी, पर उसने कभी अपनी तरफ से कोई शिकायत नहीं की। उसे इस बात का सुख था कि कुटुम्ब के प्रति प्यार और श्रद्धा उसकी आत्मा में ओत-प्रोत है, और कुटुम्ब केवल उसकी मृत्यु से ही खत्म हो सकता है, इसके पहले नहीं। सभी बाहरी चिंताओं से वह बरी हो गई। अनाथालय की कार्य समिति में अब वह कभी नहीं जाती थी, पर चन्दा नियमित रूप से दिया जाता था। खबर आई कि शारदा भी माँ होने जा रही है। आश्चर्य की बात है कि इस खबर से भी उसमें कोई दिलचस्पी पैदा नहीं हुई और जैसी कि पुराने दिनों की एक अवश्य पालनीय रीति थी—ऐसे समय बेटी को बुला लिया जाए—उसने वैसा भी नहीं किया। शारदा तो अपने पति की है, हमारे कुटुम्ब की नहीं। कानून यही है।

इसके बाद थोड़े दिनों के अन्दर कल्याणी अम्मा बीमार पड़ी। उसे दृढ़ विश्वास था कि वह अब जिन्दा नहीं रहेगी। जिन्दगी की प्यास ही जैसे नहीं रही। यथा समय उसके लड़के के पास जो उत्तर भारत में था, और लड़कियों के पास खबर भेजी गई। वे आये और उसकी अन्तिम इच्छाओं को पूरा करने की इच्छा से उसकी चारपाई को घेरे रहे। पर क्या उसने उन लोगों से कुछ बातें की? अम्मा ने उनकी ओर देखा तो ज़रूर, पर वह बातें उन्हीं के साथ करने लगी जो बहुत दिन हुए मर चुके थे। एक बार कल्याणी अम्मा जैसे अपनी नानी से कुछ कहने लगी और फिर किसी रिश्तेदार से—जिसके मरते समय वह पास थी। नलिनी की ओर देख कर कल्याणी अम्मा बड़े प्यार से जैसे अपनी ही अम्मा से बातें करने लगी। न तो उसकी एक तरफ़ खड़ी लड़कियाँ और न दूसरी ओर खड़ा लड़का कुछ समझ पाया। वे सब सोच रहे थे कि उनकी अम्मा सन्निपात के आवेश में प्रलाप कर रही है, पर उसके चेहरे पर एक मधुर हँसी खेल रही थी और उसकी अन्तिम बातें थीं: 'जिस कमरे में मेरा जन्म हुआ था, और मेरी अम्मा की मृत्यु हुई थी, उसी पूरब वाले कमरे में मुझे ले चलो।

कल्याणी अम्मा वहाँ ले जाई गई, और बड़े सुख में उसका प्राणान्त हुआ।

जंगल में मंगल

विमला लूथरा

पात्र—

अरुण मित्र—
राजपाल सिन्हा— } तीन इंजीनियर
कृष्णमूर्त्ति—

कैलाश—उनका नौकर

सुषमा मेहता—नई इंजीनियर

श्री पी० सी० वर्मा—ऐक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर

पहला दृश्य

(आसनसोल के पास, बराकर नदी का तट, जहाँ एक बहुत बड़ा बाँध बनाया जा रहा है। यहाँ सैकड़ों की संख्या में इंजीनियर तथा अन्य कर्मचारियों के रहने के लिए छोटे-मोटे काम-चलाऊ क्वार्टर बने हैं। पर्दा उठने पर ऐसे ही एक क्वार्टर का कमरा दिखाई देता है।

इस कमरे में तीन चारपाइयाँ पड़ी हैं। कोने में एक मेज़-कुर्सी रखी है, दो आराम कुर्सियाँ भी नज़र आती हैं। एक दीवार पर किसी विदेशी इंजीनियरिंग कम्पनी का कैलेण्डर टँगा है। पीछे की दीवार में दो खिड़कियाँ हैं, जिनमें से कुछ दूर मज़दूर काम करते दिखाई पड़ते हैं। बड़ी-बड़ी मशीनें, ट्रक, क्रेन, लारियाँ इत्यादि नज़र आती हैं। निरन्तर ठक-ठक की आवाज़ आ रही है। बीच-बीच में बारूद के साथ पत्थर तोड़ने का धमाका भी होता है।

कमरे में जो थोड़ी बहुत चीज़ें हैं, वे भी अस्त-व्यस्त पड़ी हैं जैसे बहुधा अविवाहित नवयुवकों के कमरे होते हैं। फिर यह तो उन तीनों इंजीनियरों का घर है, जो सवेरे से शाम तक काम में जुटे रहते हैं। अपनी देख-भाल के लिए उनके पास न समय है न रुचि। दरवाज़े को धक्के से खोल कर यह तीनों इंजीनियर बातें करते हुए अन्दर आते हैं। तीनों खाकी कमीज़ें और नेकरें पहने हुए हैं, बूटों पर मिट्टी की मोटी तह जमी हुई है। एक के हाथ में कुछ नक़्शे हैं। आते ही वह इन्हें मेज़ पर फेंक देता है, और स्वयं धड़ाम से चारपाई पर लेट जाता है। दूसरे भी थके-माँदे आराम कुर्सियों पर पाँव पसार कर बैठ जाते हैं।)

राजपाल सिन्हा—(ऊँची आवाज़ में) कैलाश! एक गिलास पानी!

अरुण—चाय में कितनी देर है?

कृष्णमूर्त्ति—कोई चिट्ठी-विट्ठी भी आई कि नहीं?

(कैलाश एक थाली में तीन गिलास पानी रख कर लाता है)

क्यों कैलाश, कोई चिट्ठी?

कैलाश—जी नहीं।

अरुण—किसकी चिट्ठी का इतना इंतज़ार है?

कृष्णमूर्त्ति—किसी विशेष चिट्ठी का नहीं। कौन लिखता है हमें? लेकिन क्या मुसीबत है? सारा दिन काम करो—चूर होकर घर लौटो और इतना भी नहीं कि कोई पूछे कैसे हो? मेरा तो मन ऊब गया है इस जगह से। सारे दिन काम, काम और काम!

अरुण—और रखा ही क्या है यहाँ पर!

कृष्णमूर्त्ति—मुझे तो कम्बख़्त घरवालों ने भी भुला दिया है। तुम्हारे लिए तो फिर भी आसान है अरुण। कलकत्ता नज़दीक है, जब जी चाहे चले जा सकते हो।

अरुण—लेकिन जाना होता कहाँ है? छुट्टी मिलती कहाँ है? हम तो जैसे इस बाँध से बँध गए हैं।

कृष्णमूर्त्ति—इसी तरह खाट पर पड़े-पड़े कई बार सोचता हूँ कि १०,००० के लगभग आदमी यहाँ काम करते हैं, फिर भी न जाने यहाँ इतना सूनापन क्यों है!

अरुण—मनोरंजन के लिए तो यहाँ कुछ है ही नहीं।

कृष्णमूर्त्ति—मेरा तो कभी-कभी जी चाहता है कि छोड़ कर चला जाऊँ यहाँ से।

सिन्हा—इतना आसान नहीं है छोड़ना। बड़े दायित्व का काम होता है, हम इंजीनियरों का!

कृष्णमूर्त्ति—भाड़ में जाए यहाँ का दायित्व। और लोगों को देखो—शहरों में रहते हैं, दस से पाँच बजे तक काम करते हैं। उसके बाद ऐश—सिनेमा, होटल, डांस, थियेटर। कई जगहें हैं मन बहलाने को।

सिन्हा—ऐसा ही चाव था तो इंजीनियर बनने काहे को निकले थे? जानते नहीं थे कि इंजीनियर के पहले दस-बारह साल तो शहरों से दूर ही कटते हैं। उसके बाद जब ऊँचे पद पर पहुँचोगे, तब दिल्ली-कलकत्ता के बड़े-बड़े, हवादार दफ़्तरों में बैठने की अभिलाषा करना।

कृष्णमूर्त्ति—तुम्हारा क्या ख़्याल है, मैं तब तक यहीं बैठा रहूँगा? मेरे से नहीं होगा भइया यह बाँध-वाँध का काम।

सिन्हा—ज़रा सोचो तो हमारा काम कितने महत्त्व का है। यों ही बेकार चिल्लाने से क्या होता है? तीन साल के बाद देखना, यह बंजर भूमि कैसी हरी-भरी हो जाएगी। तब यहाँ पर लहलहाते खेत होंगे, फूलों के बगीचे होंगे, गाँव-गाँव में बिजली होगी, सुन्दर-सुन्दर झीलें होंगी, उसमें नावें चलेंगी, लोग शहरों से चल कर यहाँ आवेंगे छुट्टी बिताने—जानते हो तीन लाख एकड़ भूमि को पानी-बिजली देगा यह बाँध?

कृष्णमूर्त्ति—जाने दो जी, लीडरों जैसी बातें मत करो। जब

तुम्हारे खेत लहलहाएँगे और फल पकेंगे तो मियाँ तुम और हम किसी और जंगल में, कोई और बाँध बना रहे होंगे।

अरुण—सिन्हा, तुमने तो मिनिस्टर साहब का शिलान्यास के समय का भाषण रट रखा है शायद।

कृष्णमूर्त्ति—दोस्त, देश का भविष्य उज्ज्वल बनाने की बात ठीक है, लेकिन हमारे लिए तो यह नौकरी है। जैसी और कोई नौकरी वैसी यह। काम करते हैं, वेतन पाते हैं। कहीं और अच्छे पैसे मिल जाएँ, तो इसे छोड़ वहाँ चले जाएँगे।

अरुण—मैंने तो चारों ओर अर्जियाँ भेजी थीं। कहीं रेलवे में आ गए होते, तो इस समय सैलून की सैर करते। नेवी वाले ही ले लेते तो दुनिया भर की सैर करते और समुद्र की ठंडी हवा खाते।

सिन्हा—आजकल इंजीनियरों के लिए जगह-जगह काम निकल आए हैं, तो तुम बढ़-चढ़ कर बातें करने लगे कि यह नौकरी अच्छी नहीं। आज से दस साल पहले क्या था? कालिज से निकल कर मारे-मारे फिरते थे। कोई सौ रुपए की नौकरी भी नहीं देता था।

(कैलाश चाय लाकर रख देता है)

कृष्णमूर्त्ति—ठीक है। किन्तु यहाँ कितना कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। शहर की कोई सुविधा नहीं। अख़बार तक तो एक दिन देर से पहुँचता है। सिनेमा है तो बीस-पच्चीस मील दूर। और जब कहीं जाने लगो तो इसी जगह कोई-न-कोई काम निकल आता है—कोई अफ़सर आ रहा है या कोई मिनिस्टर और विदेशी प्रतिनिधिमंडल तो आते ही रहते हैं।

सिन्हा—सच, इन तमाशबीनों का कोई प्रबन्ध करना चाहिए। ये बड़े लोग या तो शिलान्यास के लिए आएँ या उद्घाटन के समय। बीच में हमें अकेला छोड़ दिया जाए। यह रोज़-रोज़ का आना-जाना बहुत बुरा है। न डट कर काम कर सकते हैं, न आराम से छुट्टी मना सकते हैं।

अरुण—मुझे तो स्कूल के दिनों की याद आ जाती है, जब छुट्टी के लिए बहाना ढूँढ़ना पड़ता था।

कृष्णमूर्त्ति—याद है, वह सेठी क्या किया करता था कालेज में? एक कबाड़ी की दुकान से चश्मा खरीद लाया था। कभी उसका फ्रेम तोड़ देता और सुपरिन्टैंडिंग इंजीनियर से कहता कि इसे बनवाने जाना है, कभी उसका शीशा तोड़ देता और उसे लगवाने जाता।

अरुण—मुझे भी तो यही कुछ करना पड़ा उस दिन आसनसोल जाने के लिए। एक बात बताऊँ! चार साल हुए कालिज की टीम के साथ जब हाकी का मैच खेलने आसनसोल गया था, तो वह बिल्कुल एक उजाड़-सा गाँव मालूम होता था। कलकत्ते से गया था न—अब जो कभी-कभार आसनसोल जाता हूँ तो वह 'पैरिस' मालूम होता है। सारे शहर भर में बत्तियाँ, सड़कों पर चहल-पहल और लड़कियाँ सज-धज कर यों घूमती-फिरती हैं, जैसे अप्सराएँ हों।

सिन्हा—भई, वह संथाली लड़की जो तुम्हारे सीमेंट-मिक्सर पर काम करती है, वह भी तो बुरी नहीं। रंग ज़रूर काला है, मगर साहब, क्या कहने!

कृष्णमूर्त्ति—क्या तुम दिन भर वहाँ लड़कियों को ही देखा करते हो?

(दरवाज़े पर खटखटाहट होती है)

कौन है? भीतर आइए······

(वर्मा साहब पधारते हैं। तीनों लड़के खड़े हो जाते हैं।)

वर्मा—बैठो, बैठो, बस मुझे ज़रा-सा काम है तुम लोगों से।

कृष्णमूर्त्ति—एक प्याला चाय तो पी लीजिए।

वर्मा—नहीं, मुझे बहुत जल्दी है।

अरुण—(मेज़ पर रखी थाली की ओर संकेत कर) चाय तो तैयार है।

वर्मा—अच्छा लाओ, एक प्याला दे हो दो। लेकिन ठहरूँगा नहीं। आज सीमेंट भरवाना है पहले ब्लाक में।

कृष्णमूर्त्ति—चाय पीने में कितनी देर लगेगी? यही दो-चार मिनट।

वर्मा—मुझे खेद है कि जिस काम से मैं आया हूँ, उससे आपको कुछ असुविधा तो होगी, परन्तु और कोई चारा ही नहीं।

सिन्हा—आप कहिए तो, आपके काम के लिए सुविधा-असुविधा का सवाल ही नहीं उठता।

वर्मा—बात असल में यह है कि एक स्त्री इंजीनियर यहाँ नियुक्त होकर आई है। (स्त्री इंजीनियर के नाम से तीनों की आँखें चमकने लगती हैं।)

कृष्णमूर्त्ति—आ रही हैं या आ गई हैं?

वर्मा—(मुस्करा कर) आ गई हैं। मिस मेहता बहुत योग्य इंजीनियर हैं। तुम लोगों के साथ ही काम करेंगी। मेरा विचार था कि अभी पाँच-सात दिन तक आएँगी, परन्तु वह आज दोपहर को ही पहुँच गईं। अभी तो उन्हें इन्स्पैक्शन बंगले में ठहराया है, परन्तु कल सुबह यहाँ विदेशी इंजीनियरों की एक पार्टी आ रही है। तुम जानते हो कि यहाँ लोगों का आना-जाना लगा ही रहता है। और तो कोई जगह है नहीं। यदि आप लोग दस-पन्द्रह दिन के लिए पास वाले तम्बू में चले जाएँ, तब तक वह नया क्वार्टर तैयार हो जाएगा।

कृष्णमूर्त्ति—अभी खाली कर देते हैं जी, इसमें मुश्किल क्या है? क्यों अरुण, सिन्हा?

सिन्हा—हाँ, हाँ, ठीक है। हमारा सामान उठाने में देर भी कितनी लगेगी। आप निश्चिन्त रहिए, हम अभी यह घर खाली कर देंगे।

वर्मा—बहुत धन्यवाद। माफ़ करना तुम लोगों को तकलीफ़ दी।

(जाता है)

कृष्णमूर्त्ति—(हँसते हुए) लड़की सुन्दर हुई तब तो माफ़ कर देंगे नहीं तो·········

सिन्हा—मुझे तो हैड-आफ़िस वालों पर गुस्सा आता है। भला यहाँ स्त्री क्या काम करेगी? हमीं लोग थक कर चकनाचूर हो जाते हैं। यह स्त्री-पुरुष की समानता का ढोंग कहाँ तक निभेगा? अव्वल तो लड़कियों को इंजीनियर बनाना ही नहीं चाहिए। यदि एक-आध को मौका दे भी दिया तो उसे हैड-आफ़िस में रक्खें। वहाँ वे चिट्ठियाँ लिखें, फ़ाइलें-वाइलें सँभालें। उठा कर यहाँ भेज दिया। जब रात की शिफ़्ट में काम करना पड़ेगा तो नानी याद आ जाएगी।

कृष्णमूर्त्ति—काम-वाम तो वह क्या करेगी ? थोड़े दिन की बात है। जब तक मन-पसन्द का आदमी नहीं मिलता, फिर शादी करके घर में बैठेगी। इंजीनियरिंग की पढ़ाई जाएगी भाड़ में।

अरुण—काम तो हम मज़दूर लोग करेंगे, वह तो अपना घर सजाएगी। कुछ परदे-वरदे लगाएगी, कुछ कुशन बनाएगी, कसीदा काढ़ेगी और ममी को चिट्ठियाँ लिखेगी।

सिन्हा—कोई तरीका होना चाहिए इस बात को रोकने के लिए।

कृष्णमूर्त्ति—मैं तो इस मामले में कुछ कहने को तैयार नहीं जब तक उसकी शक्ल-सूरत न देख लूँ।

सिन्हा—तुम तो अभी से दीवाने हो गए।

कृष्णमूर्त्ति—माफ़ी की शर्त तो तुम जानते हो दोस्त!

(दरवाज़े पर खटखट। एक लड़की प्रवेश करती है। सुन्दर, आकर्षक, चतुर। सब खड़े हो जाते हैं। झेंपते हुए-से कुछ कह नहीं पाते।)

लड़की—क्षमा कीजिए, आपको मेरे कारण कष्ट होगा। परन्तु पहले मैं अपना परिचय तो दे दूँ। मेरा नाम सुषमा मेहता है और मैं यहाँ असिस्टेंट इंजीनियर नियुक्त होकर आई हूँ।

कृष्णमूर्त्ति—(चारपाई के पास खड़ा हुआ) आइए, बैठिए।

अरुण—नहीं, आप यहाँ इस कुर्सी पर आइए।

सिन्हा—क्षमा कीजिए, हमारे घर में आपके योग्य कोई कुर्सी तक नहीं।

मिस मेहता—तकल्लुफ़ की आवश्यकता नहीं। मैं भी तो आपकी तरह यहाँ काम करने आई हूँ।

कृष्णमूर्त्ति—तो एक प्याला चाय ?

मिस मेहता—जी ज़रूर, यदि कष्ट न हो तो।

अरुण—(ऊँची आवाज़ में) कैलाश, ओ कैलाश, एक प्याला और लाना।

(कैलाश आकर दरवाज़े की आड़ में खड़ा हो जाता है)

क्यों, प्याला नहीं लाए ?

कैलाश—(धीमी आवाज़ में) साहब प्याला तो और नहीं है। बस यही तीन तो हैं।

(तीनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं। सुषमा मेहता हँस देती है। एक अर्थपूर्ण हँसी—मानो कह रही हो कि पुरुष भले ही बाँध बना लें, रेलें चला लें, कारखाने खड़े कर दें, परन्तु घर का प्रबन्ध करना उनके बस का रोग नहीं।)

मिस मेहता—प्याला नहीं है तो गिलास ही ले आओ।

कृष्णमूर्त्ति—नहीं, नहीं (अपना प्याला कैलाश की ओर बढ़ा कर) अभी धोकर लाता है)।

मिस मेहता—रहने दीजिए, मैं गिलास में ही पी लूँगी। ऐसी तकल्लुफ़ की क्या बात है ? जब ऐसी जगहों पर काम करना हो तो ऐसी चीज़ें तो होंगी ही। बल्कि मुझे बहुत खुशी होगी यदि आप मुझे अपना-सा ही समझें।

अरुण—घबराइए नहीं, कोई ऐसा कठिन काम नहीं है। और यदि आपको कोई कष्ट या कठिनाई आए तो हमें बताइए। हम किस लिए हैं ?

सिन्हा—खाना बनाने के लिए चाहिए तो कैलाश से कह दीजिएगा। एक अच्छा-सा नौकर ला देगा आपको।

कृष्णमूर्त्ति—मिस मेहता, काम तो यहाँ है ही, पर साथ-साथ मनोरंजन के साधन भी हैं। एक तो हमारा क्लब है, जहाँ जाकर कभी-कभी ताश खेलते हैं, और दूसरे एक-दो जगह पिकनिक के लिए बहुत सुन्दर हैं।

मिस मेहता—और यहाँ की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

सिन्हा—धीरे-धीरे सब पता चल जाएगा आपको। अभी तो हम आपके लिए यह घर खाली किए देते हैं—आप अपना सामान रखवाइए—कैलाश!

(कैलाश आता है)

वहाँ से दो मज़दूर साथ लगा लो और हमारा सामान उठा कर सामने तम्बू में ले चलो। यहाँ मिस मेहता रहेंगी।

कैलाश—जी अच्छा, रात का खाना क्या वहीं बनेगा ?

मिस मेहता—तुम खाना चाहे यहीं पका लो।

कृष्णमूर्त्ति—तो आज आप हमारे साथ ही खाइए।

मिस मेहता—बहुत-बहुत धन्यवाद। मेरा नौकर सामान लेकर आता ही होगा। न आया तो आप लोगों के साथ ही खालूँगी।

तीनों—(उठ कर) अच्छा तो फिर—

(तीनों कमरे के बाहर जाते हैं। कैलाश उनके बिस्तर गोल कर रहा है कि पर्दा गिरता है।)

दूसरा दृश्य

(वही कमरा परन्तु उसकी देख-रेख से मालूम होता है कि किसी शिष्ट स्त्री के हाथ उसमें लगे हैं। दरवाज़ों के सामने पर्दे हैं। मेज़ के ऊपर मेज़पोश बिछा है, जिस पर कसीदा किया हुआ है। दीवार पर सुरुचिपूर्ण तस्वीरें टँगी हैं। खाट के ऊपर बढ़िया पलँगपोश तथा रंग-बिरंगी गद्दियाँ कमरे की शोभा बढ़ा रही हैं। मिस मेहता मेज़-कुर्सी पर बैठी कुछ ड्राइंग कर रही हैं। कोई दरवाज़ा खटखटाता है।)

मिस मेहता—कौन हैं ? आइए।

(हाथ में फूलों का गुलदस्ता लिए अरुण का प्रवेश)

अरुण—क्षमा कीजिए। आपके काम में विघ्न……।

मिस मेहता—नहीं, नहीं, बहुत खुशी हुई, आइए बैठिए।

अरुण—इधर से जा रहा था, आपकी रोशनी जलती देखी तो सोचा थोड़ी देर मिलते चलें।

मिस मेहता—यह तो कृपा है आपकी।

अरुण—आपका घर तो बहुत सुन्दर लग रहा है, कितनी सुरुचिपूर्वक सजाया है आपने।

मिस मेहता—धन्यवाद।

अरुण—यह मैं थोड़े से फूल लाया था, आपके लिए।

मिस मेहता—अहा! कितने सुन्दर फूल हैं। कहाँ से लाए आप ?

अरुण—आसनसोल से मँगवाए हैं।

मिस मेहता—कितना कष्ट किया आपने!

अरुण—कष्ट ? मुझे बहुत आनन्द मिलता है इसमें! और आपके

(बसा जाता है। सुषमा हँसती हुई उस मेज़ के पास जाती है, जहाँ फूल रखे हैं। दोनों गुलदस्ते अलग-अलग रख देती है और तीसरे की जगह किताब रख कर अँगुली से एक, दो, तीन गिनती है जैसे बच्चे आँख-मिचौनी खेलने के समय 'चोर' को चुनते हैं। फिर अपने आपसे कहती है 'क्या मैं पागल हो गई हूँ ?' रोशनी बुझा कर वह खिड़की के पास जा खड़ी हो जाती है और गम्भीरता से एकटक बाँध की ओर देखती है। चाँद की धीमी-धीमी चाँदनी उसके शरीर को प्रकाशित कर रही है, स्वच्छ, सरल, सुन्दर। धीरे-धीरे पर्दा गिरता है।)

शैवसंत तिरुनावुक्करशर "अप्पर"—(पृष्ठ १६ का शेषांश)

के मार्ग में आ पड़ने पर भी उन्होंने अपनी यात्रा जारी रखी और गंगा नदी में स्नान कर काशी विश्वनाथ की पूजा करके, अकेले कैलाश की ओर गए। पहले वन की जड़ी-बूटियों में दिन काटते हुए, फिर इन्हें भी छोड़ रात-दिन सतत निराहार ही चलते रहे। चलते-चलते उनके पैर घिस गए। फिर हाथों को टेक कर भी कुछ दूर गए, और हाथ भी घिस गए। फिर छाती के बल आगे बढ़े जिससे उनका शरीर भी घिस गया और वे अशक्त पड़े रहे। इस पर भी उनमें यही इच्छा बनी रही कि शिव और जगन्माता के दर्शन कैसे करूँ, और अपने शारीरिक दुःख पर उन्हें तनिक भी सन्तोष न हुआ। इस समय वहाँ एक वृद्ध मुनि का आगमन हुआ, जिन्होंने अप्पर से वहाँ इस रूप में आकर पड़े रहने का कारण पूछा। अप्पर ने कहा, 'कैलाश दर्शनार्थ।' मुनिवर ने स्पष्टतः कह दिया कि मानव उनके दर्शन नहीं कर सकते, तुम लौट चलो। अप्पर ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया कि पार्वती-परमेश्वर के दर्शन किए बिना हम कभी नहीं लौटेंगे। इस दृढ़-निश्चय को देख, प्रसन्न हो आकाशवाणी हुई, "हे तिरुनावुक्करशु, उठो !" और अप्पर तुरन्त स्वस्थ हो उठ बैठे, आश्चर्यचकित हो अप्पर ने प्रार्थना की कि जब इतनी कृपा हुई तो मेरी मूल इच्छा भी पूर्ण हो। आकाशवाणी हुई, "निकट के इस तड़ाग में गोता लगा कर मेरे कैलाश-स्वरूप के दर्शन कर लो।" इस प्रकार कैलाशपति के असाधारण दर्शन प्राप्त करके अपने तमिल प्रदेश की ओर लौटे। अपने अनुभवों को सब भक्तों को गीतों में सुनाते हुए उन्होंने विभिन्न पुण्य स्थलों की यात्रा की और पून्दुरुत्ति आ पहुँचे। यहाँ एक शिव मठ का निर्माण करा कर पूजा-पाठ करने लगे। पाण्ड्य प्रदेश में शैव मत का स्थापन करा कर तिरुज्ञानसम्बन्धर लौटने पर अप्पर के आगमन की सूचना पाकर उनके दर्शनार्थ गए। अप्पर ने भी स्वागतार्थ आगे बढ़ कर छिपे-छिपे सम्बन्धर की शिविका को कन्धा दिया। सम्बन्धर ने अपने निश्चित स्थान पर पहुँचने पर अप्पर को आते न देख पूछा, "कहाँ हैं अप्पर," और उत्तर प्राप्त हुआ "उपस्थित हूँ यहाँ शिविका के नीचे। यह मेरा अहोभाग्य है।" आश्चर्यान्वित हो सम्बन्धर ने तुरन्त उत्तर में अप्पर को प्रणाम किया। उसके पूर्व ही अप्पर उनको प्रणाम किए खड़े थे। इस दृश्य को देख सभी भक्त जन विस्मित रह गए। दोनों शैव सन्तों ने एक-दूसरे को अपनी-अपनी अपूर्व कथा सुनाई।

जब अप्पर पाण्ड्य प्रदेश की यात्रा करते हुए मदुरा पहुँचे तो सम्राट् साम्राज्ञी व मन्त्री आदि ने इनका सादर स्वागत किया। यहाँ से रामेश्वर, तिरुनेलवेली आदि स्थलों की यात्रा करते हुए चोल प्रदेश के तिरुप्पुहलूर पहुँचे। यहाँ अनेक पदिहों अर्थात् मंगल गीतों की रचना करते हुए वे कृषि कर्म में लीन हुए। लोगों को अप्पर के महात्म्य को अभिगत कराने के विचार से भगवान् ने उनकी कृषि भूमि में स्थान-स्थान पर रत्न व मणियों को बिखेर दिया। अप्पर इसका लेशमात्र भी विचार न करके अपने कृषि कर्म में ही लीन रहे। इसे देख लोगों को स्पष्टतः ज्ञात हुआ कि अप्पर किस स्तर के व्यक्ति हैं और लौकिक पदार्थों से कितनी दूर रहते हैं। कुछ समय पश्चात् स्वर्ग की अप्सराएँ पृथ्वी पर आईं और अप्पर को अपने नृत्य व गान से मोह-पाश में बाँधने का उन्होंने प्रयत्न किया, परन्तु अप्पर का मन लेशमात्र विचलित न हुआ। इस प्रकार लोगों को अप्पर के चारित्रिक उत्थान का भान हुआ।

इसी पून्पुहलूर में शिव के श्री चरणों में ही सदा स्थान प्राप्त करने के लिए, नश्वर तन त्याग का यथानुकूल समय आया जान कर परमेश्वर की महिमा को मधुर तमिल में गाते हुए उन्होंने अपने स्थूल मानव शरीर को छोड़ दिया।

× × ×

'मरुणीकियार' ने संसार से अन्धकार को हटाने के लिए अपने जीवन को ही उसमें लगा कर एक आदर्श उपस्थित किया है। जन सेवा से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त हो सकती है, मानव को किस प्रकार ईश्वराराधन में तल्लीन रहना चाहिए, सम्पूर्ण बाधाओं को किस प्रकार सहना चाहिए, अपने आदर्श पर किस प्रकार दृढ़ रहना चाहिए, अपने मन को किस प्रकार लौकिक सुखों और मोह-बन्धनों से हटा कर रखना चाहिए, अन्य भक्तों का किस प्रकार आदर-सत्कार करना चाहिए, सद्धर्म के प्रचारार्थ किस प्रकार अपने सुखों को त्यागना चाहिए, इन बातों को तिरुनावुक्करशु 'अप्पर' जनता के सम्मुख व्यक्त करके तमिल जनता व साहित्य में अजर-अमर हो गए।

ख़ास्तगीर और उनकी कला

मदनलाल नागर

आज से ४२ वर्ष पहले चिटगाँव में एक छोटी पहाड़ी पर, एक छोटे-से सुन्दर चर्च के पीछे स्थित, एकान्त कब्रिस्तान में, छः वर्ष का एक नन्हा-सा बालक प्रशंसात्मक कौतूहल के साथ देखा करता था।—कब्रों पर खुदी हुई नक्काशी व मूर्त्तियों और आस-पास बिखरे हुए प्रकृति के अनन्त वैभव को। उस समय उसे देख कर किसको यह अनुमान



"पद्माञ्जलि"—लिनो

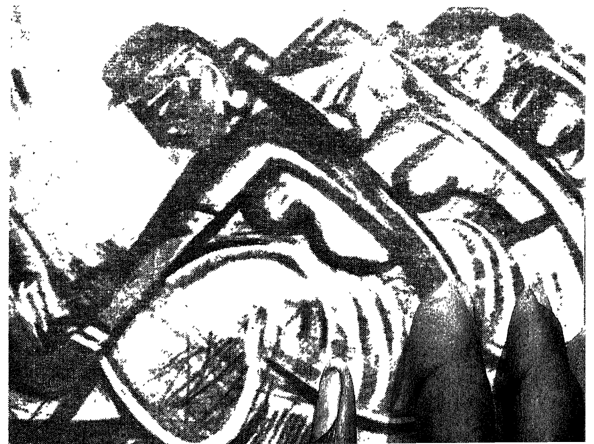
हो सकता था कि वहीं बालक भविष्य का यशस्वी चित्रकार व मूर्त्तिकार सुधीर ख़ास्तगीर होगा।

ख़ास्तगीर के बचपन का वह प्रकृति व कला प्रेम आयु के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता गया। पिता की इच्छा अपने अन्य लड़कों की तरह इन्हें भी ऊँची शिक्षा दिलाने की थी, अतः हाई स्कूल पास करने के



ख़ास्तगीर सरदार पटेल की मूर्त्ति बनाते हुए

उपरान्त आगे पढ़ने के लिए इन्हें शान्तिनिकेतन भेज दिया गया, किन्तु एक आदेश के साथ कि कला की ओर वह बहुत कम ध्यान दें। शान्तिनिकेतन में ही थे कला-भवन और सिद्ध चित्र-शिल्पी आचार्य नन्दलाल वसु। ख़ास्तगीर के लिए यह आदेश ठीक उसी प्रकार था, जैसे प्यासे को कुँआ दिखा कर उसे प्यास बुझाने से रोक दिया जाए। इन्होंने उस आदेश को निभाया तो, किन्तु मन की कुंठा किस सीमा तक पहुँची, इसका अनुमान लगाया जा सकता है उस घटना से जब कि परीक्षा से केवल तीन दिन पूर्व, कलकत्ता आए



"लय"

हुए कुछ भ्रमणार्थी गुजराती नवयुवकों के साथ ख़ास्तगीर भी थोड़ा-सा सामान लेकर घूमने के लिए निकल पड़े। नवयुवक ख़ास्तगीर यहीं अपने जीवन का ध्येय निश्चित कर चुके थे कि वे कलाकार बनेंगे।

तब इच्छा न रहते हुए भी पिता ने उन्हें कला-भवन में शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दे दी और उनके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

शान्तिनिकेतन से निकलने पर कलाकार ख़ास्तगीर का कुछ समय काफी अस्थिर और संघर्षमय बीता। अंत इसका हुआ ग्वालियर के सिंधिया स्कूल में कला अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति पर, और तब से पद और सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि पाते हुए उनका सम्बन्ध आज तक कला शिक्षण को लेकर संस्थाओं से जुड़ा रहा है और अब तो वह लखनऊ के प्रसिद्ध 'गवर्नमेन्ट स्कूल ऑफ आर्टस् एण्ड क्रैफ्टस्' के प्रिन्सिपल हैं।

कला के क्षेत्र में ख़ास्तगीर का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उन्होंने मिट्टी, पत्थर, धातु, जलरंग, तैलरंग, टेम्परा, लिनो आदि विभिन्न माध्यमों द्वारा कितनी ही शैलियों में अपने भावों को रूप प्रदान किया है और वह भी अपनेपन की छाप के साथ।

ख़ास्तगीर के प्रारम्भिक चित्र शान्तिनिकेतन की परम्परावादी वाश और टेम्परा शैलियों में निर्मित हैं। किन्तु उन्हें देखने से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कलाकार भाव को ग्रहण करने और ईमानदारी से उसे व्यक्त करने में सदा से प्रयत्नशील रहा है और यह विशेषता आज भी उनके चित्रों व मूर्त्तियों में ज्यों-की-त्यों चली आ रही है।

इनके पुराने चित्रों में 'श्यामवर्ण की लड़की', 'निर्धन का स्वर्ग', 'माँ', 'व्यथा,' 'बुढ़ापा' और 'यौवन' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अंतिम चित्र बड़ा ही भावपूर्ण है। चित्र एक वृद्धा और एक किशोर को लेकर अंकित किया गया है। चित्र में दोनों के भावों का अंकन बहुत ही सफलता के साथ किया गया है।

इस काल की इनकी कुछ मूर्त्तियाँ 'प्यास', 'शीत', 'धरती की पुत्रियाँ' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और मेरे विचार से तो उस समय का मूर्त्तिकार ख़ास्तगीर अपने चित्रकार से अधिक सशक्त था। इस माध्यम द्वारा निर्मित 'धरती की पुत्रियाँ' शीर्षक मूर्त्ति इसका सजीव उदाहरण है। एक स्त्री का बोझ उठवाती हुई दूसरी स्त्री का निरूपण इतना सजीव और गतिशील है कि रेखाओं का एक-

"भग्न तार"



"थकावट"





"पुजारिन"



"शिव पार्वती"

एक घुमाव मन को बाँध लेता है। यह कृति कलाकार की अमर कृतियों में स्थान पाएगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसी प्रकार इनकी एक अन्य कृति 'शीत', जिसमें एक दुर्बल वृद्धा अँगीठी ताप रही है, बड़ी हृदय-स्पर्शी है।

ख़ास्तगीर युग के साथ चलने वाले कलाकारों में से तो हैं, किन्तु बह जाने वालों में से नहीं। वह प्रयोगशील हैं, किन्तु सूझ-बूझ के साथ। 'कला, कला के लिए' इस नारे में उनका विश्वास नहीं, बल्कि 'कला जीवन के लिए है', यह उनकी मान्यता है।

आज का युग बड़े ही संक्रान्तिकाल से गुजर रहा है। केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि कला की दृष्टि से भी क्या साहित्य, क्या चित्रकला, क्या मूर्तिकला सभी क्षेत्रों में, नित्य ही नए वादों का जन्म हो रहा है। परम्परा की रूढ़ियों को निकाल कर कला में नूतन प्राण फूँके जाएँ। नये प्रयोगों द्वारा कला का मार्ग प्रशस्त किया जाए आदि बातें तो युग की माँग हैं, जिनसे शायद कुछ परम्परावादियों को छोड़ कर कोई भी सुलझे हुए दिमाग का आदमी इन्कार नहीं कर सकता। किन्तु प्रयोगवाद के नाम पर बगैर समझे-बूझे कुछ भी बना कर अथवा लिख कर उसे 'आधुनिक कला' की संज्ञा दे, जनता पर उसे लादना कहाँ तक उचित है, यह एक विचारणीय विषय है। आधुनिक कला के नाम से आज जो विश्वव्यापी आन्दोलन चला हुआ है, उसका जन्म लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व फ्रांस में परम्परागत कला के विरुद्ध, उसे एक नया कलेवर देने के पक्षपाती कुछ युवक कलाकारों के स्वस्थ चिन्तन के फलस्वरूप हुआ था। इसका उद्देश्य कला को एक नया दृष्टिकोण देकर उसे अधिक रचनात्मक बनाना था। आगे आने वाली पीढ़ियों ने क्रमशः इस परम्परा को अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप देकर नये प्रयोगों द्वारा अधिक स्वस्थ रूप में आगे बढ़ाया। किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक कला में नवीनता लाने के इस आन्दोलन ने यह रूप धारण कर लिया कि पहले की सारी मान्यताएँ तथा सौंदर्य की परिभाषा तक भी बदल गई। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि कला के नाम पर मनमानी करने की पूरी स्वतन्त्रता कलाकार को मिल गई।



"शीत"

ख़ास्तगीर इस विषय में बहुत सुलझे हुए कलाकार हैं। यह नहीं कि वे पाश्चात्य आधुनिक शैली के प्रभाव से बिलकुल अछूते रहे हों। उन्होंने उनसे प्रेरणा अवश्य ली है, किन्तु उनकी कला पाश्चात्य प्रभाव में खो नहीं गई, बल्कि पश्चिमी कला को उनकी कला ने अपने में आत्मसात कर लिया है।

ख़ास्तगीर के चित्रों की मुख्य विशेषताएँ हैं—मुखरित रंग और उनका निडर प्रयोग तथा गतिशीलता। इनकी कृतियों में गति की इतनी प्रधानता है कि दर्शक उनमें सजीवता का अनुभव करने लगता है। विशेषकर उनके नृत्य अथवा संगीत सम्बन्धी चित्रों में तो यह अंग बहुत ही प्रबल है। इस कोटि में, 'बाजारू-गवैये', 'हर्षोन्माद', 'नर्तक' 'नर्तकी' आदि उनके चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। 'पैटर्न' का ज्ञान ख़ास्तगीर की दूसरी बड़ी विशेषता है, जिसके सहारे यह सारी गति को बाँधने में सफल होते हैं।

गतिशीलता, निर्माण का शक्तिशाली ढंग और सादगी ख़ास्तगीर की मूर्त्तियों की भी प्रमुख विशेषताएँ हैं। भावपक्ष तो प्रारम्भ से ही इनका प्रबल पक्ष रहा है। इनकी व्यक्ति-मूर्त्तियों (Portraits) में 'श्री सलीम अली', 'श्री पी० नियोगी', 'चाली सिक्किम के महाराजकुमार', 'कुमारी श्यामली', 'कुमारी हेलेन टासकर' आदि तथा अन्य मूर्त्तियों में 'तालाब से लौटते हुए', 'देवदासी', 'हर्षोन्माद', 'बाँसुरीवादक', 'गरीबी' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। 'गरीबी' शीर्षक मूर्त्ति अपने कारुणिक विषय,

"नर्तकी"



"जीवन"



शैली की सादगी और सुन्दर भाव प्रकाशन को लेकर बहुत ही मर्मस्पर्शी कृति बन पड़ी है।

विषय चयन की दृष्टि से भी देखा जाय तो ख़ास्तगीर ने विविध विषयों से अपनी कला को सज्जित किया तथा जीवन के विभिन्न वर्गों और पहलुओं पर प्रकाश डाला है। राजा और रंक, शहरी और ग्रामीण, मन की भावनाएँ, दैनिक जीवन के दृश्य, राष्ट्रीय भावना, पशु-पक्षी तथा प्रकृति के विभिन्न रूप और पौराणिक कथाएँ आदि सभी इनकी कला के विषय रहे हैं। उनकी कला कृतियों की संख्या विविधता तथा मात्रा—दोनों दृष्टियों से बहुत अधिक है। हमें विश्वास है कि कला-जगत को अभी सुधीर ख़ास्तगीर से और भी बहुत कुछ प्राप्त होगा।

''तबलची''



''घट''



गुजराती कविता

शहर की घड़ियाँ गिनते

हंसमुख पाठक

सवेरा कैसे होता है (जैसे बच्चे की जमुहाई)
इस शहर का; लड़खड़ाते थक कर लौटते
जाते सब
(क्या रात पाली के मज़दूर ?) तारे;
और सूर्य लाल तिरछी नज़र से देखता है,
होटेल लाइट्स अभी भी भभक रहे हैं।

दोपहर कैसी (गृहस्थिन पर बाँझ स्त्री)
समूह में आग लगा कर खुद दूर खड़ी रहती;
चारों दिशाओं की ओर से सूखी हवा
बेडौल ''बैंडल'' चिनगारियाँ हिहकार करती
हुई;
और साँझ (लिपस्टिक से ओंठ रंग कर)

सड़क और गली-कूचों को चूम रही है,
जाभी म्युज़िक पर सौ मरवयुगी लैंप हैं
नाच रहे, गटर में उनका तेज ढुला जाता है।

इस रात में अनाथ सपने भ्रम रहे हैं
(खोये हुए शिशु) घड़ियाँ उलाँघते हुए।

खोटी चवन्नी

श्रीपाद जोशी

"आबूजी, दूसरी चवन्नी दे दीजिए! यह नहीं चलेगी।" उस कुँजड़िन ने मेरी दी हुई चवन्नी वापस लौटाते हुए कहा। उसका वह हाव-भाव देख कर और आवाज़ सुन कर मैं शरम से मानो ज़मीन में गड़ गया। गोया वह कहना चाहती थी, 'अच्छा धन्धा चलाया है! खोटे सिक्कों का कारखाना चला कर हम अनाड़ी औरतों को धोखा देते हो क्या? मगर याद रखो, हम कुँजड़िनें तुम सफ़ेदपोशों को भी सबक सिखा सकती हैं। तुम हमें क्या धोखा दोगे?'

मैंने उसे दूसरी चवन्नी दे दी और वह तथाकथित खोटी चवन्नी ग़ौर से देखी, सचमुच वह खोटी थी। मगर देखते ही पहचानी जा सके, इतनी बदसूरत वह नहीं थी और इसीलिए तो वह मेरी जेब में आ पहुँची थी। फिर से ऐसी फ़ज़ीहत न होने पाए, इसीलिए मैंने उसे दूसरी जेब में डाल दिया और आगे बढ़ा। इतने में पीछे से कुँजड़िन के ये शब्द मेरे कानों पर आ टकराए—"अब ये बाम्हन भी जाली सिक्के बनाने लग गए मालूम होते हैं।"

"इनके सफ़ेद कपड़ों को देख कर आदमी धोखा खाता है, मगर ये बाम्हन बड़े छँटे हुए होते हैं।" दूसरी कुँजड़िन ने उसका समर्थन किया।

वास्तव में मैं कोई ब्राह्मण नहीं हूँ, फिर भी मेरे कपड़ों और भाषा से उन्हें वह गलतफ़हमी हो गई और असावधानी में खोटी चवन्नी ले लेने की जो गलती मुझ से हुई थी उसके कारण उन्होंने मुझे झूठे और चालाक ब्राह्मणों में शुमार कर दिया। एक क्षण के लिए मुझे ऐसा लगा कि वापस लौट कर उन देवियों की गलतफ़हमी को दूर करूँ, मगर फिर सोचा कि यदि बातचीत बढ़ गई और भीड़ जमा हो गई तो साधारण लोगों को, पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं (यानी औरों की स्त्रियों) की भलाई पर अधिक विश्वास होने से, उन सन्नारियों के कहने पर लोग मुझे जाली सिक्के बनाने वाली टोली का सरदार समझ कर पुलिस के हवाले कर देंगे। अतः मैंने वह विचार छोड़ दिया और मन-ही-मन उन कुँजड़िनों की ओर मुख़ातिब होकर कहा, 'ऐ सज्जनता की मूर्त्तियो! तुम जैसे किसी दूकानदार ने ही यह चवन्नी मेरे मत्थे मढ़ दी है। अगर जाली सिक्के बनाने का कारोबार मुझे चलाना होता, तो मैं इस तरह दुअन्नी-चवन्नी न बना कर दस-दस और सौ-सौ रुपयों के नोट ही बना लेता। उतनी अकल भगवान् ने मुझे ज़रूर दी है और उन नोटों को इस खूबी से मैं चला लेता कि साल-दो-साल के भीतर मेरे अपने दो-चार बंगले खड़े हो जाते। मगर इस प्रामाणिकता के शौक के कारण ही मैं अस्सी रुपयों पर कलम-घिसाई कर रहा हूँ और दड़बे जैसे छोटे-से कमरे में माँ, पत्नी और तीन बच्चों का संसार चला रहा हूँ। वरना मेरे लिए क्या वह असम्भव था?'

पर मैंने ये सब बातें उन कुँजड़िनों से नहीं कहीं, क्योंकि मैं जानता था कि यदि मैं कहता तो भी उन्हें उस पर यकीन न आता। अतः मैं ज़हर का घूँट पीकर चुप रह गया।

जाली सिक्कों का यह सवाल मुझे हमेशा से सताता आया है। वैसे तो मैं भी यह नियम जानता हूँ कि रेज़गारी या चिल्लर लेते वक्त हर सिक्का परख कर, अच्छी तरह देख कर लेना चाहिए, मगर हर समय उतना ध्यान नहीं रहता और सामने का व्यक्ति अपने जितना ही सज्जन या शरीफ़ है इस (गलत) ख़्याल के कारण पैसे लेते वक्त तनिक लापरवाही-सी हो जाती है और खोटा सिक्का जेब में आ जाता है। मेरा तो अनुभव है कि कई बार ऐसे लोग भी खोटे सिक्के हमें दे देते हैं, जिन्हें हम अपना मित्र समझते हैं। मगर दुनिया में जितनी बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं, उन सब पर हम थोड़े ही अमल कर सकते हैं?

आप कहीं यह न समझ बैठें कि जो जाली सिक्के मेरे पास चले आते हैं उन्हें मैं दूसरों के मत्थे नहीं मार सकता, इसलिए वे मेरे पास पड़े रहते होंगे। जी नहीं, ऐसी बात नहीं है। अब तक इतने खोटे सिक्के मेरी जेब में आए, मगर उनमें से एक भी मेरे पास नहीं है। मेरा एक मित्र बड़ा व्यापारी है। उसके गल्ले में मैं अपना खोटा सिक्का डाल देता हूँ और उसके बदले खरा सिक्का लेता हूँ। उसके बाद थोड़ी ही देर में, कई बार तो मेरे सामने ही, वह खोटा सिक्का खरा बन कर लोगों की जेब में चला जाता है और मेरे पास आ जाने से उसकी जो यात्रा रुकी होती है वह फिर चालू हो जाती है।

मगर इसमें आश्चर्य की क्या बात है? संस्कृत में एक वचन है कि गन्दी नालियाँ और क्षुद्र नदी-नाले भी जब गंगा नदी में जाकर मिलते हैं तब उन्हें गंगा जी की पवित्रता प्राप्त होती है। सूरदास जी ने भी तो कहा है:

इक नदिया इक नार कहावत मैलो ही नीर भरयौ।
जब मिल दोनों एक बरन भये सुरसरि नाम परयौ॥

इसी तरह खरे सिक्कों की गंगा जी में प्रवेश करके खोटे सिक्के भी खरे बन जाते हैं।

कुछ लोग खोटे सिक्के चलाने में बड़े होशियार होते हैं। ऐसे सिक्के कहाँ और कब चलाए जाएँ, इसका एक विशेष विज्ञान वे लोग तैयार कर लेते हैं। मेरा एक मित्र है। एक बार मैं उससे दस रुपये तुड़वा रहा था। नोट और सिक्के देते-देते उसने झट से एक रुपया अलग निकाल कर दूसरी जेब में डाल दिया। मैंने उससे पूछा, "क्यों भई, उसमें क्या हुआ? क्या वह रुपया पूजा का है?"

"जी नहीं! वह रात वाला है!" उसने कहा।

"रात वाला? मतलब? मैं कुछ नहीं समझा?"

"इसका मतलब यह है कि वह रात के वक्त मेरे पास आया है और रात को ही चल सकेगा। दिन में वह बहुत जल्दी पहचाना जा सकेगा," उसने कहा।

"ओह! यह बात है! यानी वह खोटा रुपया है। मगर दोस्त, यह अच्छा नहीं है। लोगों को इस तरह ठगना नहीं चाहिए," मैंने शरीफ़ाना ढंग से कहा।

"तो क्या आप चाहते हैं कि मैं व्यापार-धंधा बन्द करके भगवान का नाम लेते हुए चुपचाप बैठा रहूँ? मैंने कोई जाली सिक्कों का कारखाना तो नहीं खोला है। जल्दी में हर सिक्का परख कर लेना भी मेरे लिए सम्भव नहीं होता। अतः मैं समझता हूँ कि इस तरह आप-ही-आप आने वाले खोटे सिक्कों को वापस लौटा देना पाप नहीं है। अगर मैं खोटे सिक्कों को अलग निकाल कर रखूँ और सरकारी नियम के मुताबिक उनका नाश कर दूँ, तो साल भर में मुझे कम-से-कम डेढ़-दो हज़ार रुपयों का घाटा उठाना पड़ेगा। फिर तो व्यापार-व्यवसाय रहेगा एक तरफ़ और हमें भूखों मरना पड़ेगा। और अगर लोगों को पता चल जाए कि यहाँ खोटे सिक्के लिये तो जाते हैं, मगर वापस नहीं किये जाते, तो दुनिया भर के मारे जाली सिक्के हमारे गल्ले में आ जाएँगे और खरा सिक्का देखने को भी नहीं मिलेगा।" उसने हँसते हुए कहा, "और मैं आप से सच कहता हूँ, लोगों को ठग कर, चोर-बाज़ारी से जो पैसा कमाया जाता है, उसी को खोटा समझना चाहिए। सचाई के साथ व्यवसाय करते समय मिलने वाला खोटा सिक्का भी खरा ही समझना चाहिए।"

उसकी बात में अतिशयोक्ति ज़रूर थी, मगर सचाई भी कम न थी।

खोटे सिक्के चलाने में होशियार और भी एक व्यक्ति है। वह केवल मेरे ही घर में नहीं है बल्कि आप सबके ही घर में वह होता है। वह है घरवाली! हमारे संसार की मालकिन! आप में से कई इस बात पर विश्वास नहीं करेंगे, क्योंकि हमारे पुराने साहित्यकारों ने स्त्री को अबला, गरीब, गाय आदि नाम दे रखे हैं, जिससे नारी के विषय में बड़ा गलतफहमी है, मगर यदि आप ज़रा बारीकी से देखें तो आपको पता चलेगा कि आपकी श्रीमती जी कई बातों में आपसे बढ़-चढ़ कर हैं, ख़ैर।

अब मैं अपनी कहानी को आगे चलाता हूँ—वह अभी खत्म कहाँ हुई है? कुँजड़िन से वापस ली हुई खोटी चवन्नी किसी दूसरी जेब में डाल कर मैं घर तो लौटा, मगर जब तक वह चवन्नी किसी दूसरे की जेब में चली नहीं जाती तब तक मेरी यह कहानी अधूरी ही रहेगी।

मैंने घर जाकर तरकारी की थैली श्रीमती जी को सौंपते हुए सब्ज़ी मंडी का सारा वाकया हँसते-हँसते उनको कह सुनाया। अलबत्ता, यद्यपि मैं हँस रहा था, तो भी मेरी वह हँसी बनावटी थी और हमारी चाणाक्ष श्रीमती जी उसे तुरन्त भाँप गईं और दाँत पीसती हुई वह गोया स्वगत बोलीं, "अच्छा! यह बात है! ठहरो, मुँहजली, तुम को अच्छा सबक सिखाती हूँ।"

उनकी बात सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वास्तव में मेरी फ़जीहत हुई सुन कर उन्हें ख़ुशी होनी चाहिए थी और हमेशा की तरह ताना दे कर उन्हें मुझसे कहना चाहिए था, "वाह! कितने होशियार हैं आप! मामूली कुँजड़िन के पास भी आप खोटी चवन्नी न चला सके? मैं तो ऐसी हज़ार चवन्नियाँ चला कर बताऊँगी। आप तो बस 'ऐसे' ही हैं। आपकी सारी ठकुराई घर की चार दीवारों के अन्दर ही चलती है!......वग़ैरह!"

मगर आज उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया, इसके विपरीत मेरा पक्ष लेकर बोलीं, "ये पूना की कुँजड़िनें आजकल बड़ी गुस्ताख बन गई हैं! हम जैसे कायस्थों को भी ये बाम्हन कहने लगीं, ऐं?"

यानी उनका गुस्सा दूसरी ही बात के लिए था। अपना पति मामूली क्लर्क हो तो भी वह ऊँची जात का कायस्थ है, उसे ब्राह्मण कहना मानो उसका अपमान करना है, ऐसा वे समझती थीं। उन्होंने मुझ से पूछा, "यह तो वह कुँजड़िन होगी जो मिनर्वा सिनेमा के नुक्कड़ पर बैठा करती है। है ना?"

"हाँ! हाँ! वही है। बस भैंस की तरह मोटी और काली-कलूटी ......मगर तुमने कैसे जान लिया कि वह वही है?" मैंने अचरज से पूछा।

"क्या मैं आपकी तरह अंधी हूँ? आँखें खोल कर दुनिया में रहने पर यह जान लेने में देर नहीं लगती कि कौन आदमी कैसा है। मैं उस औरत को बहुत दिनों से जानती हूँ। एक बार मैंने उसे ऐसा डाँटा था कि देखती ही रह गई। उसने शायद सोचा था कि यह होगी कोई बेचारी ब्राह्मणी, जो कहूँगी वह सुन लेगी—मगर जब उसने मेरी बातें सुनीं तो इत्ता-सा मुँह लेकर चुप रह गई। अच्छा, अब वह रहने दीजिए। कहाँ है वह चवन्नी? दे दीजिए मुझे। अगर उसी डायन के पल्ले में वह फिर न बाँध दूँ तो अपना नाम बदल दूँगी!"

"जाने दो भई, इन लोगों के मुँह लगने से क्या फ़ायदा?" आगामी लड़ाई की कल्पना से डरते हुए मैंने शरीफ़ों की तरह कहा?

"आपके इस डरपोकपन से ही तो ये औरतें (यानी खुद नहीं!) इतनी सरज़ोर बनती हैं। आप दे दीजिए वह चवन्नी मुझे!"

मैंने वह चवन्नी चुपचाप उनको दे दी।

शाम को जब मैं दफ़्तर से लौटा तो श्रीमती जी मानो मेरी प्रतीक्षा में ही बैठी थीं। किसी विजयी वीर की तरह मेरे सामने आते हुए वे बोलीं, "आखिर उसे सबक सिखा ही दिया मैंने!"

असल में मैं सुबह की घटना को अब तक बिल्कुल भूल गया था। अतः मेरी समझ में न आया कि वे किस सम्बन्ध में कह रही हैं। मैंने कुछ हिचकिचाते हुये पूछा, "कैसा सबक? किसको सिखाया तुमने?"

"किस को? उसी कुँजड़िन को। आज सुबह आपको उसने जो चवन्नी वापस दे दी थी वही मैंने उसके गले में बाँध दी!" उन्होंने कहा।

"अरे वाह! कैसे किया यह तुमने?" मैंने पूछा।

"उसमें क्या है?" उन्होंने इस तरह हाथ मटकाते हुए कहा, गोया कोई बिल्कुल ही आसान बात हो, "मैंने उससे एक रुपये की रेज़गारी ली—एक आने की सब्ज़ी खरीद कर, और वह खोटी चवन्नी उसे वापस देकर कहा, "देखो बाई, यह चवन्नी नहीं चलेगी। दूसरी

दो !" उसने थोड़ी देर तक मेरी तरफ़ देखा। उसे कुछ शक भी हुआ। मगर वह मुझे अच्छी तरह जानती है, इसलिए ज़्यादा हुज्जत करने की कोशिश न करते हुए उसने वह खोटी चवन्नी लेकर दूसरी खरी चवन्नी मुझे दे दी। क्यों? अब मान गए या नहीं?" उन्होंने सवाल किया।

"वाह! यह भी कोई पूछने की बात है? मगर ······" कहते हुए मैंने बड़े प्यार से उनकी पीठ पर धौल जमा दिया?

मगर ठहरिए! अभी यह कहानी खत्म नहीं हुई।

दो दिन के बाद जब मैं सब्ज़ी मंडी गया तो उसी कुँजड़िन से मैंने तरकारी खरीदी। चिल्लर देते समय उसने वही खोटी चवन्नी फिर से मेरे गले डाल दी। उसने यह बात योजनापूर्वक की, यानी मेरे लिए ही उसने वह चवन्नी सम्हाल कर रख दी थी, या संयोग से वह मेरे पास लौट आई, यह कहना कठिन है। मगर हमेशा की तरह वह बात मेरे ध्यान में बड़ी देर से आई, क्योंकि मैं इसी ख्याल में मशगूल था कि हमारी श्रीमती जी ने इस भैंस को कैसे चकमा दिया होगा। अतः उसकी चालाकी उस वक्त मेरे ध्यान में नहीं आई।

मगर इस बार मैंने अपनी कजोड़ेन का पता अपनी श्रीमती जी को नहीं लगने दिया, क्योंकि फिर तो वे मुझे बिलकुल ही बुद्धू समझतीं और उनका गुस्सा भी बढ़ जाता। अतः मैं चुप रहा।

अब यहाँ एक बात आप से कह देनी चाहिए, हालाँकि आपको भी इसका अच्छी तरह अनुभव होगा ही. वह यह कि हमारी श्रीमती जी को हमारी जेबें टटोलने की आदत है। (क्यों? आपके घर में भी यही चलता है न?) अतः मैंने वह चवन्नी जेब में ही रखी और उसके गायब होने की प्रतीक्षा मैं करने लगा। दूसरे या तीसरे रोज़ वह सचमुच गायब हो गई तो मैंने भोलेपन से श्रीमती जी से पूछा, "क्यों जी, मेरी जेब में एक चवन्नी थी, क्या तुमने वह कहीं देखी है?"

"वही खोटी चवन्नी ना?" उन्होंने ज़ख्म पर नमक छिड़कते हुए पूछा।

"हाँ······हाँ······वही!"

"मैं उससे सब्ज़ी लाई!"

"उसी कुँजड़िन से?" मैंने पूछा।

"जी नहीं! अपने गोपाल तरकारी वाले से! कल रात उसकी गाड़ी पर दीया नहीं था, तो सोचा चवन्नी यहीं चला ली जाए!"

"तुम सचमुच मुझ से अधिक बुद्धिमान हो!" उनकी चालाकी की दाद देते हुए मैंने कहा।

"नहीं तो फिर आपकी नालायकी कैसे चलती?" उन्होंने मेरी सज्जनता से नाजायज़ फायदा उठाते हुए कहा।

आप जो भी कहें, इस तरह खोटे सिक्के चलाने में जो चालाकी करनी पड़ती है, वह मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। मेरा यह मत है कि इस रामराज्य में खोटे सिक्कों को चलाने का कोई अहिंसक मार्ग ज़रूर होना चाहिए। अगर वैसा हो जाए तो मनुष्य के मन में पाप करने की बुद्धि नहीं जगेगी और अगर पाप हो भी जाए तो उसकी चुभन नहीं रहेगी।

इस तरह की एक सुविधा कुछ साल पहले हर स्टेशन पर रहती थी। वहाँ प्लेटफार्म की टिकट देने वाली मशीन में खोटी इकन्नियाँ ही ज़्यादा जमा हो जाती थीं। मगर इसके लिए कभी किसी को बुरा न लगता था। बल्कि कुछ लोगों को ईमानदारी के साथ ऐसा लगता था कि उस मशीन में खोटी इकन्नी ही डालनी चाहिए। अगर किसी समय खोटी इकन्नी न होने के कारण उनको खरी इकन्नी डालनी पड़ती तो आठ दिन तक वे छटपटाते रहते। मगर उस यन्त्र में एक खामी थी—उसमें केवल खोटी इकन्नियाँ ही चल सकती थीं, दूसरे सिक्कों का कोई प्रबन्ध वहाँ नहीं हो सकता था।

आज वे यन्त्र स्टेशनों पर दिखाई नहीं देते। वास्तव में अब, जबकि एक आने वाले प्लेटफार्म टिकट फिर से चालू हो गए हैं, ये यन्त्र स्टेशनों पर आ जाने चाहिए। कम-से-कम खोटी इकन्नियों के इस्तेमाल के लिए तो सरकार ऐसे यन्त्र ज़रूर लगाए इस तरह की माँग जनता को करनी चाहिए। तब तक इकन्नी लेकर आपका वज़न बताने वाली मशीन ही खोटी इकन्नियों को अपने उदर में उदार आश्रय देती रहेगी। मगर बीस बरस में जिसका वज़न एक औंस या रत्ती भी नहीं घटा-बढ़ा, ऐसे मुझ जैसे मरियल को उस मशीन से क्या फ़ायदा? हर बार उतना ही वज़न मिलेगा, केवल उस पर का 'वचन' भिन्न रहेगा! मगर केवल उस वचन के लिए एक इकन्नी—फिर वह खोटी ही क्यों न हो?—गँवाने को मैं तैयार नहीं हूँ।



पंजाबी का सन्त कवि : बुल्हेशाह—[पृष्ठ २७ का शेषांश]

कुसम्बड़ा चुग-चुग हारी
ऐस कुसम्बड़े दे कण्डे निपरथरे
नीं उड़-उड़ चुन्नी फाड़ी"

कुसम्बड़े[1] के फूल चुन रही हूँ। अरे! इस दुष्ट फूल के निष्ठुर काँटों ने मेरी चुनरी को तार-तार कर दिया है।

बुल्हेशाह के काव्य में दया, समता, कोमलता, क्षमा, सहिष्णुता और त्याग की भावनाएँ भरी पड़ी हैं। उर्स के अवसरों पर जब उनकी 'काफ़ियाँ' उनके भक्त, कव्वालियों के रूप में गाते हैं, तो लगता है जैसे बुल्हेशाह मरे नहीं—वह हमारे बीच जीवित हैं। सचमुच बुल्हेशाह नहीं मर सकते, क्योंकि उनकी 'काफ़ियाँ' जीवित हैं। यह 'काफ़ियाँ' पंजाबी जन-साधारण की सभ्यता, संस्कृति और समाज का मुँह बोलता चित्र हैं। एक पंजाबी को शेक्सपियर का कोई नाटक, 'निराला' या 'बच्चन' का कोई गीत, कृष्णचन्दर की कोई कहानी या इक़बाल की कोई नज़्म उतना प्रभावित नहीं कर सकती जितना बुल्हेशाह की एक काफ़ी।

१. इस फूल के पत्तों से गुलाबी रंग बनाया जाता था।

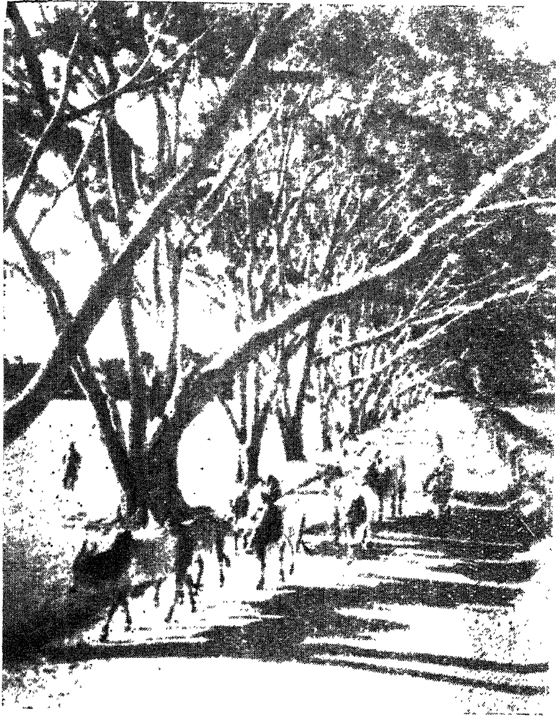
चरखा कातते हुए



भारतीय जीवन के चित्र



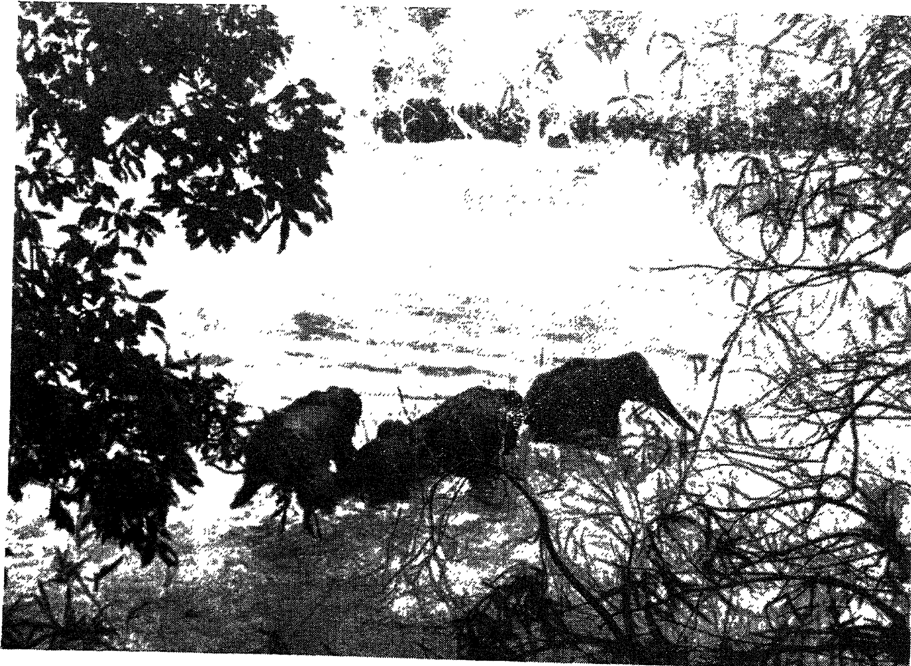
अनाज ओसाते हुए



पुराने वृक्षों की छाया में



कुम्भकार के हाथ



हाथियों का स्नान



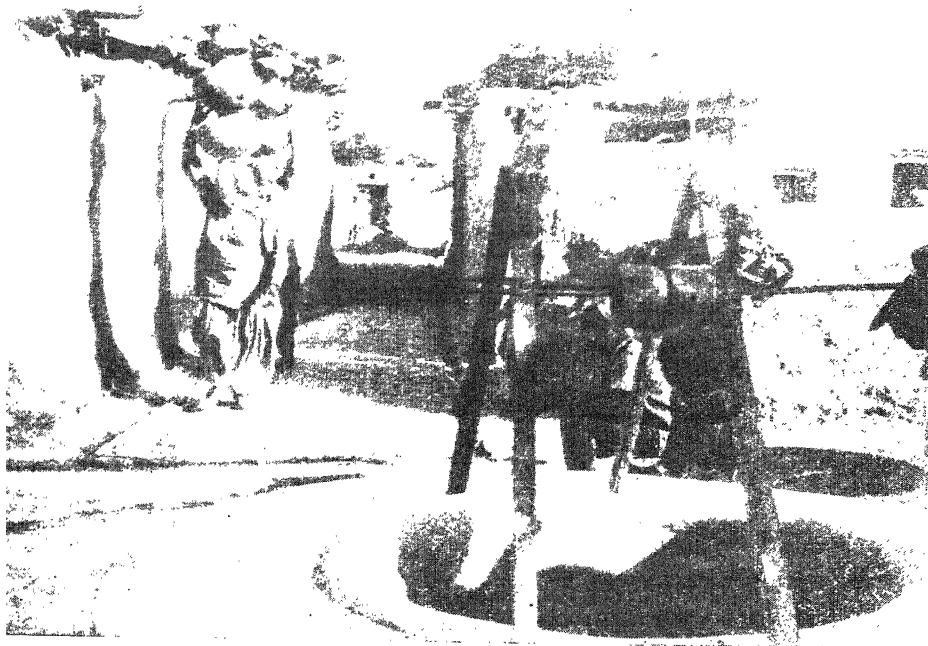
चरागाह



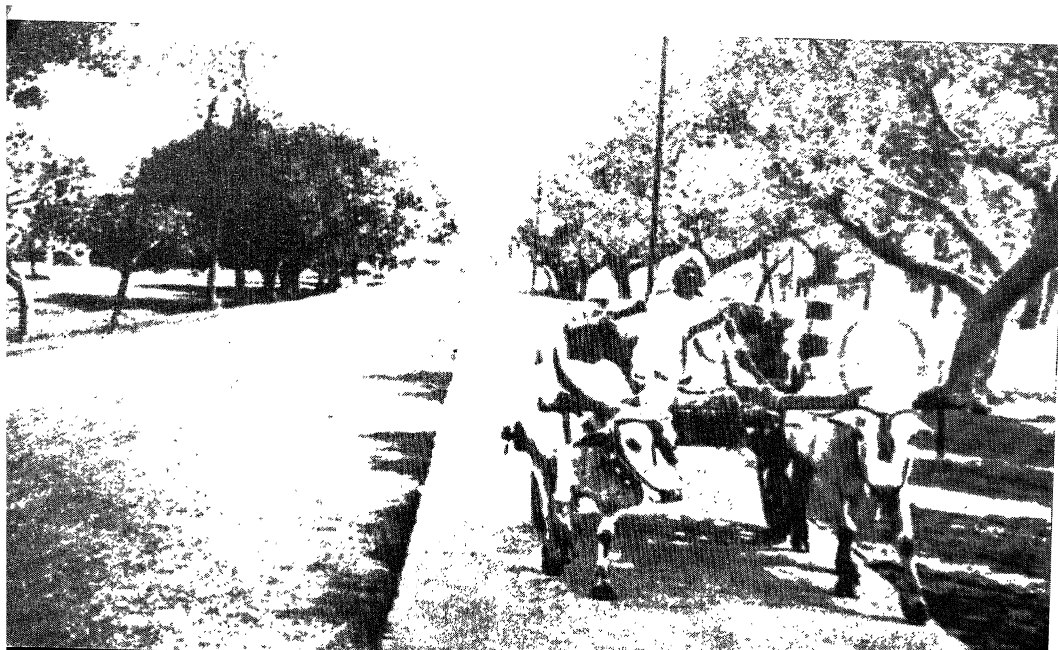
हाट के दिन

चावलों की खेती





गाँव के कुएँ की ओर



नया और पुराना

भारतीय जूट उद्योग

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

भारतीय आर्थिक एवं औद्योगिक तन्त्र के तीन मुख्य आधार इस समय जूट, वस्त्र और चाय उद्योग हैं। इन तीनों में भी जूट उद्योग का स्थान सबसे ऊँचा है। विदेशी मुद्रा का अर्जन जितना जूट की बनी वस्तुओं द्वारा होता है, उतना अन्य और किसी से नहीं होता। भारत के निर्यात उद्योगों में यह मुख्यतम है। तालिका संख्या १ देखिए :

डालर दुर्लभ मुद्रा है और इस कारण अमेरिका को निर्यात बढ़ाने की नीति इस समय हरेक देश की है। डालर-अर्जन की दृष्टि से जूट का महत्त्व तालिका संख्या २ से स्पष्ट है—

भारत का विदेशी मुद्रा-अर्जन (तालिका १)

	जूट माल		चाय		सूती वस्त्र		खाल व कपड़ा		कुल निर्यात
	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	(करोड़ रुपये में)
१९५२-५३	१२९	२३·३	८०	१४·४	७०	१२·६	२६	४·७	५५४
१९५३-५४	११४	२२·०	१०२	१९·७	७२	१३·९	३२	६·०	५१८
१९५४-५५	१२४	२४·७	१२७	२४·७	६६	११·५	२६	४·२	५०२

अमेरिका को भारतीय निर्यात (तालिका २)

	जूट माल		चाय		खनिज द्रव्य		लाख		कुल निर्यात
	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत	(करोड़ रुपये में)
१९५२-५३	३७·०	३३	५·९	५	१४·४	१३	३·७	३	१११·८
१९५३-५४	२७·४	३०	७·२	८	१७·३	१९	२·८	३	८९·९
१९५४-५५	२९·८	३४	१०·४	१२	८·०	१०	३·५	४	८७·७

यही नहीं भारतीय जूट उद्योग का विश्व के जूट उद्योग में विशेष स्थान है। यह ठीक है कि भारत का इस क्षेत्र में अब एकाधिकार नहीं रहा है। किन्तु फिर भी इसका आज सर्वोपरि स्थान है। यथा : (देखिए पृष्ठ ४० कालम १, सबसे ऊपर)

इससे स्पष्ट है कि दुनिया का और कोई देश भारत का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं है। किन्तु इस उद्योग का जितना भारतीय औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्व है, उतने ही उलट-फेर भी इसने देखे हैं। जितने उतार-चढ़ाव इस उद्योग ने देखे हैं, जितने संकटों का सामना इस उद्योग ने किया है, उतना भारत के और किसी उद्योग ने शायद ही किया हो। इस दृष्टि से इसका इतिहास महत्त्वपूर्ण है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि यह उद्योग पश्चिमी बंगाल की समृद्धि के लिए प्राणवायु के समान है। पर यह पश्चिमी बंगाल के लिए ही नहीं सम्पूर्ण देश के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

दूसरे महायुद्ध का समय जूट उद्योग के लिए स्वर्ण अवसर था। मिलें ६० घंटा प्रति सप्ताह चलने लगीं। भारी करों, अतिरिक्त लाभ कर, लाभकर और अन्य करों को देते हुए भी जूट मिलों को खूब नफा हुआ। सन् १९४५ में लड़ाई समाप्त होने के बाद उद्योग की समृद्धि में कोई अन्तर नहीं आया। पर देश का विभाजन इस उद्योग के लिए एक भारी आघात सिद्ध हुआ और इस उद्योग का जीवन भी एक बार संकट में पड़ गया। अनेक निराशावादियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि अब भारतीय जूट उद्योग, नील उद्योग के समान समाप्त हुआ।

देश के विभाजन के बाद भारत में ११३ जूट मिलें शेष रहीं। इनमें ७२,००० करघे थे। इनमें ३,८०,००० मज़दूर काम करते थे। किन्तु जूट की खेती ७१ प्रतिशत भूमि, और देश के सम्पूर्ण जूट-उत्पादन का ७२ प्रतिशत कच्चा जूट देश से छिन गया था और जूट पर भारत का एकाधिकार समाप्त हो गया था। स्थिति यह थी कि भारत की जूट मिलें कच्चे जूट के वास्ते पाकिस्तान पर निर्भर थीं। उधर पाकिस्तान की नज़र इन जूट मिलों पर अच्छी नहीं थी। जूट मिलों का जीवन पाकिस्तान में उत्पन्न जूट पर निर्भर है, इसका अधिकतम लाभ उठाने के लिए वह उत्सुक था। वह भारतीय जूट उद्योग के सर्वनाश में अपने जूट उद्योग को विकसित होता हुआ देख रहा था। पर क्या उसका मनोरथ और स्वप्न पूरा हुआ?

जूट की ११३ में से १०१ मिलें कलकत्ता के आस-पास हैं, मद्रास और बिहार में चार-चार, उत्तर प्रदेश में ३, और मध्य प्रदेश में १ जूट मिल है। जूट मिलों के एक जगह केन्द्रित होने पर भी इसका अस्तित्व और इनका चलते रहना सारे देश के आर्थिक जीवन और समृद्धि के लिए आवश्यक था। 'जूट मिल एसोसीएशन' और सरकार दोनों दृढ़ संकल्प

सब देशों की जूट मिलों में करघों का वितरण (१९५२ में)

देश का नाम	करघों की संख्या	कुल विश्व का प्रतिशत	देश का नाम	करघों की संख्या	कुल विश्व का प्रतिशत
भारत	६८'५५७ (क)	५६'०	चीन	७५६	०'६
ग्रेट ब्रिटेन	११,१५१	९'१	आस्ट्रिया	७३५	०'६
फ्रांस	७,६६८ (ख)	६'३	जापान	६१५	०'५
जर्मनी	६,३४६	५'२	यूगोस्लाविया×	४००	
ब्राज़ील	४,९८७	४'२	स्वीडन	३६२	
बेल्जियम	४,८०७	३'९	एस्टोनिया×	२३०	
इटली	४,६३१	३'८	नार्वे	१९८	
सं० अमेरिका	२,७५०	२'२	नेपाल	१११	१'४
चेकोस्लोवा० ×	२,०००	१'६	ईरान	१४२	
पोलैंड	१,६००	१'३	फ्रेंच मुरक्को	१२०	
सोवियत रूस	१,३१५	१'१	बलगेरिया×	१००	
पाकिस्तान	१,००० (ग)	०'८	फिनलैण्ड	२९	
दक्षिण अमेरिका× (ब्राज़ील को छोड़कर)	१,०००	०'८	योग	१,२२,५१०	
स्पेन	८००	०'७			

थे कि जूट मिलों को सतत चालू रखा जाए। अनुभव किया गया कि जूट और जूट-माल का निर्यात चालू रखने से ही खाद्य पदार्थों, औद्योगिक कच्चा माल और आवश्यक उपभोक्ता माल का आवश्यक मात्रा में आयात करना और उसकी कीमत चुकाना सम्भव होगा। लगभग ५०० करोड़ रुपये के कुल निर्यात व्यापार में जूट का भाग लगभग १५० करोड़ रुपये था। जूट उद्योग देश को एक-चौथाई विदेशी मुद्रा का अर्जन करने में मदद दे रहा था। निर्यात व्यापार में इसका भाग ४६ प्रतिशत था और यह ६० प्रतिशत डालर-अर्जन करता था। देश की समृद्धि और रोकड़ भुगतान की स्वस्थ व्यवस्था इसके जीवन पर निर्भर थी। इसको मर कैसे दिया जा सकता था ?

स्वाधीनता प्राप्ति के समय भारत में केवल १७ लाख गाँठ जूट उत्पन्न होता था, जबकि जूट मिलों को पूर्णतः चालू रखने के लिए ७२'५ लाख गाँठ जूट या इसके स्थानापन्न रेशे की आवश्यकता थी। देश विभाजन से पहले देश में लगभग ७० लाख गाँठ जूट पैदा होता था। इसमें से ५९ लाख गाँठ मिलों को चालू रखती थीं और शेष का निर्यात होता था। देश-विभाजन के समय जूट की खेती की स्थिति इस प्रकार थी :

× अंक १९३९ के हैं।
(क) खास करघे इसमें शामिल नहीं।
(ख) आनुमानिक।
(ग) १९५३ में ३,००० करघे चलने की आशा थी।

जूट की खेती (अंक लाख एकड़ में)

	१९४६-४७	१९४५-४६	१९४३-४४	१९४०-४१	१९३९-४
भारत	५'३	५'१	७'१	१२'३	८'०
पाकिस्तान	१३'७	१८'२	१९'२	४४'३	२३'५

जूट की पैदावार भारत और पाकिस्तान में (अंक लाख गाँठों में)

	१९४६-४७	१९४५-४६	१९४३-४४	१९४०-४१	१९३९-४०
भारत	१३'२	१६'१	१५'८	२५'१	२०'३
पाकिस्तान	४१'२	६१'८	५४'०	१०६'५	७७'०

महायुद्ध के समय कच्चे जूट का निर्यात बहुत घट गया। ४२'०४ लाख गाँठ से घट कर वार्षिक औसत १७'३४ लाख गाँठ रह गया। देश-विभाजन के बाद जूट के निर्यात में और भी अधिक कमी आ गई। यथा :

वर्ष	कच्चे जूट का निर्यात (लाख गाँठों में)
१९४६-४७	१६'५
१९४७-४८	१२'३
१९४८-४९	११'३
१९४९-५०	७'०२

कच्चे जूट के सबसे बड़े ग्राहक ब्रिटेन और जर्मनी थे। लड़ाई से पहले १,११,३७४ टन और १,३६,३३९ टन लेते थे। पर विभाजन के बाद भारत ही जूट आयात करने लगा। भारत ने जूट का आयात इस प्रकार किया :

वर्ष	आयात (लाख गाँठ)
१९४८-४९	४०'१५
१९४९-५० (जून तक)	१२'३२
१९४९-५० (जुलाई-अक्तूबर)	७'५९
जुलाई १९५० से फ़रवरी १९५१	१६'५३

पाकिस्तान की व्यापारिक-नीति थी कि वह भारत के साथ बँधा न रहे। अतः वह भारत को जूट अन्यों से मँहगा देता था। यही नहीं नाना प्रकार की बाधाएँ भी देता था। वह भारत के बाज़ार से स्वतन्त्र होना चाहता था। इसी कारण उसने सन् १९४९ में भारत के साथ-साथ मुद्रा का अवमूल्यन भी नहीं किया। पाकिस्तान की इस नीति ने भारत को जूट की दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के वास्ते बाध्य कर दिया। अतः जूट अधिक उपजाओ आन्दोलन शुरू किया गया। सन् १९५०-५१ के लिए ५० लाख गाँठ जूट उपजाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस जूट का उत्पादन क्रमशः इस प्रकार हुआ—

वर्ष	(लाख गाँठ)
१९४६–४७	१२
१९४७–४८	२०
१९४८–४९	३०
१९४९–५०	३०
१९५०–५१	३३
१९५१–५२	४६·७

जूट उद्योग को कच्चे माल की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने का निश्चय करने के बाद जूट मिलों का ध्यान 'मेस्ता' और 'बिमली' की ओर गया। इसका रंग कुछ भूरा होता है, अतः इसको घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। पर जब कोई विकल्प नहीं रहा, तब 'मेस्ता' और 'बिमली' का भी उपयोग किया गया और इसके गुण और इसकी उपयोगिता देख कर सब चकित रह गए।

जूट के बोरों व थैलों का निर्यात ५,४६२·६३ लाख था और सन् १९३९ में यह बढ़ कर ९,३९९·१० लाख था। इसी समय टाट वस्त्र का निर्यात १३,९५५·४१ लाख गज से बढ़ कर १५,५२२·०३ लाख गज हो गया। पर दूसरे महायुद्ध के वर्षों में निर्यात घट गया। सन् १९४५-४६ में बोरों का निर्यात २·७४ लाख टन ही रह गया। इसके बाद निर्यात बढ़ने लगा। सन् १९४८-४९ में ४·२७ लाख टन पर पहुँच गया। पर बाज़ार इसको पचा न सका। सन् १९५०-५१ में यह घट कर ३·४८ लाख टन ही रह गया, किन्तु टाट-वस्त्र के निर्यात की गतिविधि बोरों से कुछ भिन्न रही। जूट और जूट माल की कीमतों का विनियन्त्रण हो जाने से मार्च १९५१ में जूट माल का दाम बहुत बढ़ गया। कोरिया-युद्ध के कारण सब देशों की प्रवृत्ति माल संग्रह करने की थी। 'बरलप' का सबसे बड़ा ग्राहक अमेरिका है। किन्तु उसने भारतीय जूट माल लेने के बदले ज़रूरत होने पर यूरोप खण्ड से लेना अधिक पसन्द किया।

अमेरिका और कैनाडा को प्रति मास पहले औसतन १६,००० टन जूट माल जाता था। बाद में उसने सन् १९५१ में इसको घटा कर १०,००० टन कर दिया। इस वर्ष अन्न धान्यों के साथ जूट माल का विनिमय करने का प्रसिद्ध विज्ञापित करार भी हुआ था। फिर भी सन् १९५१ में प्रति मास निर्यात का औसत ४,६०० टन रहा। बात क्या हुई ? जो लोग पहले हमारे टाट (हैसियन) उत्पादन का ६५ प्रतिशत लेते थे उन्होंने आधा कर दिया। अमेरिका में 'बरलप' की खपत सन् १९५१ में ५,३४२ लाख गज रह गई। यह सन् १९५० की तुलना में, ६६३ लाख गज कम थी। भारतीय जूट माल की खपत भी अमेरिका में घट गई। सन् १९५० में इस देश ने भारतीय जूट उत्पादन का ५६ प्रतिशत लिया था, पर सन् १९५१ में उसने केवल ३९·६ प्रतिशत लिया। डालर-बाज़ार का छिनना चिन्ताजनक था। डालर क्षेत्र और अ-डालर क्षेत्र में जूट माल के निर्यात की स्थिति इस प्रकार थी :

वर्ष	डालर क्षेत्र (हज़ार टन में)	अ-डालर क्षेत्र
१९४९	२६४·९	५३५·२
१९५०	२८३·५	३९४·८
१९५१	२५०·१	५२२·१

जूट मिलों के ६५ प्रतिशत करघे टाट वस्त्र और ३५ प्रतिशत बोरे के उत्पादन में लगे हुए थे। मास २६ दिनों का था। मासिक उत्पादन का औसत ४०,००० टन टाट और ४९,००० टन बोरा था। रस्सा, बटी रस्सी, सुतली आदि का उत्पादन केवल ३ प्रतिशत था।

इस समय जूट माल के निर्यात में कमी आने के अनेक कारण थे। इन कारणों में से कुछ ये थे :—(१) वस्तुओं के बाज़ार में सर्वत्र मन्दी आ रही थी और कीमतें गिर कर कोरिया-युद्ध से पूर्व की कीमतों से नीचे आ रही थीं, (२) विदेशों और देश के उपभोक्ताओं ने खरीदने से हाथ रोक लिया। फलतः सरकार ने निर्यात शुल्क टाट पर १,५०० रुपये से घटा कर २७५ रुपये प्रति टन और बोरे पर ३५० रुपये प्रति-टन से घटा कर १७५ रुपये प्रति टन कर दिया। इसका मुख्य उद्देश्य टाट का संयुक्त राज्य अमेरिका में निर्यात बढ़ाना था, (३) पाकिस्तान में बना जूट माल भी इसी वर्ष निर्यात किया गया। यूरोप की जूट मिलों ने अपना माल कलकत्ता की मिलों से कम कीमत पर बेचा और (४) पाकिस्तान के अधिकारियों ने कच्चे जूट पर निर्यात शुल्क और "न्यूनतम कीमत" दोनों को घटाने की घोषणा की। इन कारणों से भारतीय जूट उद्योग को एक साधारण धक्का लगा और इसके साथ जूट उद्योग का एक अध्याय भी समाप्त हो गया।

नूतन परिस्थितियों, नई कठिनाइयों, अप्रत्याशित बाधाओं और भीषण प्रतियोगिता के बावजूद भी भारतीय जूट उद्योग का कदम बराबर आगे ही बढ़ता गया है। सन् १९५५ के आरम्भ में ७०,००० टन जूट माल स्टाक में था, और यह एक मास के उत्पादन के बराबर है। यह सन् १९५३ के मध्य में जमा स्टाक से आधा था। सन् १९५५ में उद्योग ने सन् १९४८ के बाद से सर्वाधिक उत्पादन किया और सर्वाधिक निर्यात किया। यथा :

जूट माल का उत्पादन (हज़ार टन में)

	टाट	बोरा	अन्य	योग
१९४८	४८०	५४०	२८	१,०४८
१९४९	३२९	५६२	३२	९२३
१९५०	३१८	४८५	३४	८३७
१९५१	३२२	५२०	३२	८७४
१९५२	३१२	६०७	३३	९५२
१९५३	३८९	४५०	३०	८६९
१९५४	३८९	५०६	३३	९२८
१९५५ (अनु०)	४००	५६२	४६	१००८

(शेष पृष्ठ ६५ पर)

अपरिचित

मोहन राकेश

कुहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुँधले पड़ गए थे। गाड़ी चालीस मील की रफ़्तार से सुनसान अँधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिड़की से सिर सटा कर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था, फिर भी मैं आँख गड़ा कर देखने का प्रयत्न कर रहा था। कभी किसी पेड़ की हल्की गहरी रेखा ही पास से गुज़र जाती तो कुछ देख लेने का सन्तोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफ़ी था। पलकों में ज़रा नींद नहीं थी। गाड़ी को जाने कितनी देर बाद जाकर कहीं ठहरना था। जब और कुछ दिखाई नहीं देता था तो अपना प्रतिबिम्ब तो कम-से-कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और भी कई प्रतिबिम्ब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए हुए व्यक्ति का प्रतिबिम्ब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। नीचे सामने की बर्थ पर बैठी हुई महिला का प्रतिबिम्ब बहुत उदास था। उसकी भारी-भारी पलकें पल भर के लिए ऊपर उठतीं और फिर नीचे झुक जातीं। आकृतियों के अतिरिक्त कई बार नई-नई ध्वनियाँ ध्यान बँटा लेती थीं, जिनसे भान होता था कि गाड़ी पुल पर से जा रही है या मकानों की पंक्ति के आगे से गुज़र रही है। बीच-बीच में सहसा इंजन की सीटी चीख़ जाती, जिससे अँधेरा और एकान्त और भी गहरे प्रतीत होने लगते।

मैंने खिड़की से सिर हटा कर घड़ी की ओर देखा। सवा ग्यारह बजे थे। सामने बैठी हुई महिला की आँखें बहुत सुनसान थीं। बीच-बीच में उनमें एक लहर-सी आ जाती और विलीन हो जाती। वह जैसे आँखों से देख नहीं रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जो फ़र के कम्बल में लिपट कर सोई थी, ज़रा-ज़रा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी ऊन की टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बँधी हुई मुट्ठियाँ ऊपर उठाईं और सहसा रोने लगी। महिला की सुनसान आँखें उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कम्बल समेत उठा कर छाती से लगा लिया।

मगर इससे बच्ची का रोना बन्द नहीं हुआ। उसने बच्ची को हिला कर और दुलार कर चुप करना चाहा, पर फिर भी वह रोती रही तो उसने कम्बल थोड़ा ऊपर उठा कर उसके मुँह में दूध दे दिया और उसे अपने साथ सटा लिया।

मैंने फिर खिड़की के साथ सिर टिका लिया। दूर तक बत्तियों की कतार नज़र आ रही थी। शायद वह कोई आबादी थी या केवल सड़क ही थी। गाड़ी बहुत तेज़ चल रही थी और इंजन पास होने के कारण कुहरे के साथ धुआँ भी खिड़की के शीशों पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी थी, अब धीरे-धीरे पीछे रही जा रही थी। शीशे में दिखाई देते हुए प्रतिबिम्ब पहले से गहरे हो गए थे। महिला की आँखें बन्द थीं और ऊपर लेटे हुए व्यक्ति की बाँह ज़ोर-ज़ोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी साँस के फैलने से प्रतिबिम्ब और धुँधले हुए जा रहे थे, यहाँ तक कि एक बार सब आकृतियाँ अदृश्य हो गईं। मैंने जेब से रुमाल निकाल कर शीशे को पोंछ दिया।

महिला ने आँखें खोल ली थीं और एकटक सामने की ओर देख रही थी। उसके ओंठों पर हल्की-सी मधुर रेखा फैली थी जो ठीक मुस्कराहट नहीं थी। मुस्कराहट से बहुत कम व्यक्त, उस रेखा में गम्भीरता भी थी और अवसाद भी—वह जैसे अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा मात्र थी। उसके माथे पर भी हल्की-सी सिकुड़न पड़ गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठा कर अपना बिना दाँत का मुँह खोल दिया और किलकारी मारती हुई माँ की छाती पर मुट्ठियों से प्रहार करने लगी। दूसरी ओर से आती हुई एक गाड़ी तेज़ी से गुज़री तो वह ज़रा सहम गई, मगर गाड़ी के गुज़रते ही और भी मुँह खोल कर किलकारी मारने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हल्के-हल्के बाल नज़र आ रहे थे। उसकी नाक ज़रा छोटी थी पर आँखें माँ की ही तरह गहरी और फैली हुई थीं। माँ के गाल और कपड़े नोंच कर उसकी आँखें मेरी ओर घूम गईं और वह बाहें हवा में झटकती हुई मेरी ओर देख कर किलकारियाँ मारने लगी।

महिला की पुतलियाँ उठीं और उसकी उदास आँखें पल भर मेरी आँखों से मिली रहीं। मुझे क्षण भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हूँ, जिसमें गोधूलि के सभी हल्के-गहरे रंग झिलमिला रहे हैं और जिसका दृश्य-पट क्षण के हर शतांश में बदलता जा रहा है.........

बच्ची मेरी ओर देख कर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने बच्ची की ओर हाथ बढ़ा दिए और कहा, "आ बेटे, आ......"

मेरे हाथ पास आ जाने पर बच्ची के हाथों का हिलना बन्द हो गया और उसके ओंठ रुआँसे-से हो आए।

महिला ने बच्ची के ओंठों को अपने ओंठों से छुआ और कहा, "जा बिट्टू, जाएगी?"

लेकिन बिट्टू के ओंठ और रुआँसे हो गए और वह माँ के साथ सट गई।

"पराए आदमी से डरती है", मैंने खिसियाने स्वर में कहा और हाथ हटा लिए।

महिला के ओंठ भिंच गए और माथे के मांस में खिंचाव आ गया। उसकी आँखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वे लौट आईं और

वह बोली, "नहीं, डरती नहीं। इसे असल में आदत नहीं है। यह आज तक या मेरे हाथों में रही है या नौकरानी के हाथों में......" और वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सट कर आँखें झपकने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकियाँ देने लगी। बच्ची ने आँखें मूँद लीं। महिला उसकी ओर देखती हुई, जैसे चूमने के लिए ओंठ बढ़ाए हुए, उसे थपकियाँ देती रही। फिर उसने अनायास मुस्कराकर उसे चूम लिया।

"बड़ी अच्छी है मेरी बिट्टू, झट से सो जाती है," उसने जैसे अपने से कहा और मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में उल्लास भर रहा था।

"कितनी बड़ी है यह बच्ची?" मैंने पूछा, "सात-आठ महीने की होगी?"

"महीना भर बाद यह पूरे एक साल की हो जाएगी।" वह बोली, "पर यह देखने में अभी छोटी लगती है। लगती है न?"

मैंने आँखों से उसकी बात का समर्थन किया। उसके चेहरे से अजब विश्वास और भोलापन झलकता था। मैंने उचक कर सोई हुई बच्ची के गाल को ज़रा सहला दिया। महिला का चेहरा और वत्सल हो गया।

"लगता है आपको बच्चों से बहुत प्यार है," वह बोली, "आपके कितने बच्चे हैं?"

मेरी आँख उसके चेहरे से हट गई। बिजली की बत्ती के पास एक कीड़ा उड़ रहा था।

"मेरे!" मैंने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा, "अभी तो कोई नहीं, मगर........."

"मतलब ब्याह हुआ है, अभी बच्चे-अच्चे नहीं हुए," वह मुस्कराई, "आप मर्द लोग तो बच्चों से बचे रहना चाहते हैं, हैं न?"

मैंने ओंठ सिकोड़ लिए और कहा, "नहीं, यह बात नहीं..."

"हमारे ये तो बच्चों को छूते भी नहीं," वह बोली, "कभी दस मिनट के लिए भी उठाना पड़ जाए तो झल्ला पड़ते हैं। अब तो ख़ैर वे इस मुसीबत से छूट कर बाहर ही चले गए हैं," और सहसा उसकी आँखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके ओंठ बिल्कुल उसकी बच्ची जैसे हो गए। फिर उसके ओंठों पर मुस्कराहट आ गई, जैसा अक्सर सोए हुए बच्चों के साथ होता है। उसने आँखें झपक कर ठीक कर लीं और बोली, "वे डॉक्टरेट के लिए इंग्लैण्ड गए हैं। मैं उन्हें बम्बई में जहाज़ पर चढ़ा कर आ रही हूँ।...वैसे छः या आठ महीने की ही बात है। फिर मैं भी उनके पास चली जाऊँगी।"

फिर उसने ऐसी नज़र से मुझे देखा जैसे उसे शिकायत हो कि मैंने उसकी रहस्य की बात क्यों जान ली?

"आप बाद में अकेली जाएँगी?" मैंने पूछा, "इससे तो आप अभी साथ चली जातीं..."

उसके ओंठ सिकुड़ गए और आँखें फिर अन्तर्मुख हो गईं। वह कई क्षण अपने में डूबी रही और उसी तरह बोली, "साथ तो नहीं जा सकती थी, क्योंकि अकेले उनके जाने की भी सुविधा नहीं थी। लेकिन उनको मैंने भेज दिया है। मैं चाहती थी कि उनकी कोई तो चाह मुझ से पूरी हो जाए। दीशी को बाहर जाने की बहुत साध थी। अब छः या आठ महीने में अपनी तनख़्वाह में से कुछ बचाऊँगी और थोड़ा-बहुत कहीं से उधार लेकर अपने जाने का बन्दोबस्त भी करूँगी।"

उसने अपनी कल्पना में डूबती-उतराती आँखों को सहसा सचेत कर लिया और फिर कुछ क्षण शिकायत की नज़र से मुझे देखती रही। फिर बोली, "अभी यह बिट्टू भी बहुत छोटी है न? छः या आठ महीने में यह बड़ी हो जाएगी। मैं भी तब तक और पढ़ लूँगी। दीशी की बहुत चाह है कि मैं एम० ए० कर लूँ। मगर मैं ऐसी जड़ और नाकारा हूँ कि उनकी कोई चाह पूरी नहीं कर पाती। इसलिए मैंने उन्हें भेजने के लिए अपने सब गहने बेच दिए हैं। अब मेरे पास मेरी बिट्टू रह गई है।" और वह उसके सिर पर हाथ फेरती हुई गर्व-पूर्ण दृष्टि से उसे देखती रही।

बाहर वही सुनसान अँधेरा था, वही निरन्तर सुनाई देती हुई इंजन की फक्-फक्। शीशे से आँख गड़ा लेने पर दूर तक वीरानगी-वीरानगी ही नज़र आती थी।

परन्तु उस महिला की आँखों में जैसे संसार भर की वत्सलता सिमट कर आ गई थी। वह फिर कई क्षण अपने में डूबी रही। फिर उसने एक साँस ली और बच्ची को अच्छी तरह कम्बल में लपेट कर सीट पर लिटा दिया।

ऊपर की सीट पर लेटा हुआ व्यक्ति खर्राटे भरने लगा था। एक बार वह नीचे गिरने को हुआ, पर सहसा हड़बड़ा कर सँभल गया। कुछ ही देर बाद वह और ज़ोर से खर्राटे भरने लगा।

"लोगों को जाने सफ़र में कैसे इतनी गहरी नींद आ जाती है?" वह बोली, "मुझे दो-दो रातें सफ़र करना हो तो भी मैं नहीं सो पाती। अपनी-अपनी आदत होती है। क्यों?"

"हाँ, आदत की ही बात है," मैंने कहा, "कुछ लोग बहुत निश्चिन्त होकर जीते हैं और कुछ होते हैं कि......"

"बग़ैर चिन्ता के जी ही नहीं सकते!" और वह ज़रा हँस दी। उसकी हँसी का स्वर भी बच्चों जैसा ही था। उसके दाँत बहुत छोटे-छोटे और चमकीले थे। मैंने भी उसकी हँसी में योग दिया।

"मेरी बहुत ख़राब आदत है," वह बोली, "मैं बात-बेबात के सोचती रहती हूँ। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं सोच-सोच कर पागल हो जाऊँगी। ये मुझ से कहते हैं कि मुझे लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, हँसना-बोलना चाहिए, मगर इनके सामने मैं ऐसी गुम-सुम हो जाती हूँ कि क्या कहूँ? वैसे अकेले में भी मैं ज़्यादा नहीं बोलती, लेकिन इनके सामने तो ऐसी चुप्पी छा जाती है जैसे मुँह में ज़बान ही न हो।...अब देखिए, यहाँ कैसे लतर-लतर बोल रही हूँ!" और वह मुस्कराई। उसके चेहरे पर हल्की-सी संकोच की रेखा भी आ गई।

"रास्ता काटने के लिए बात करना ज़रूरी हो जाता है," मैंने कहा, "ख़ास तौर पर जब नींद न आ रही हो।"

उसकी आँखें पल भर फैली रहीं। फिर वह गरदन ज़रा झुका कर

बोली, "ये कहते हैं कि जिसके मुँह में ज़बान न हो, उसके साथ पूरी ज़िन्दगी कैसे काटी जा सकती है? ऐसे इन्सान में और एक पालतू पशु में क्या फ़र्क है! मैं हज़ार चाहती हूँ कि इन्हें खुश दिखाई दूँ, और इनके सामने कोई-न-कोई बात करती रहूँ, लेकिन मेरी सारी कोशिश बेकार चली जाती है। इन्हें फिर गुस्सा ही आता है और मैं रो देती हूँ। इन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है।" कहते-कहते उसकी आँखों में दो आँसू झलक आए, जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ दिया।

"मैं बहुत पागल हूँ," वह फिर बोली, "ये जितना मुझे रोकते हैं, मैं उतना ही ज़्यादा रोती हूँ। दरअसल ये मुझे समझ नहीं पाते। मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर जाने क्यों ये मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं?" और फिर माथे को हाथ से दबाए हुए बोली, "आप भी अपनी पत्नी से कभी ज़बर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं?"

मैंने पीछे टेक लगा कर कन्धे ज़रा सिकोड़े और हाथ बग़लों में दबाए हुए बत्ती के पास उड़ते हुए कीड़े को देखा। फिर मैंने सिर को ज़रा झटक कर उसकी ओर देखा। वह उत्सुक आँखों से मेरी ओर देख रही थी।

"मैं?" मैंने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए कहा, "मुझे यह कहने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मैं बल्कि पाँच साल से यह चाह रहा हूँ कि वह ज़रा कम बातें किया करे। मैं समझता हूँ कि कई बार इन्सान चुप रह कर ज़्यादा बात कह सकता है। ज़बान से कही हुई बात में वह रस नहीं होता जो आँख की चमक से, या ओंठों के कम्पन से, या माथे की एक लकीर से कही हुई बात में होता है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूँ, तो वह मुझ से पहले विस्तार-पूर्वक बता देती है कि ज़्यादा बात करना इन्सान की निश्छलता का प्रमाण है, और कि मैं इतने बरसों में अपने प्रति उसकी सद्भावना को समझ ही नहीं सका। वह दरअसल कॉलेज में लेक्चरार है, और उसे घर में लेक्चर देने की आदत है।"

"ओह!" और वह थोड़ी देर दोनों हाथों में मुँह छिपाये रही। फिर बोली, "ऐसा क्यों होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे दोशी से यही शिकायत है कि वे मेरी बात समझ नहीं पाते। मैं कई बार उनके बालों से अपनी उँगलियों से बात करना चाहती हूँ, कई बार उनके घुटनों पर सिर रख कर मुँदी हुई आँखों से उनसे कितना-कुछ कहना चाहती हूँ, लेकिन उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता। वे कहते हैं कि यह सब गुड़ियों का खेल है, उनकी पत्नी को जीता-जागता इन्सान होना चाहिए। और मैं इन्सान बनने की बहुत कोशिश करती हूँ, लेकिन नहीं बन पाती, कभी नहीं बन पाती। इन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती। मेरा मन होता है कि चाँदनी रात में खेतों में घूमूँ, या नदी में पैर डाल कर घंटों बैठी रहूँ, मगर ये कहते हैं कि ये सब आइडिल मन की वृत्तियाँ हैं। इन्हें क्लब, संगीत-सभाएँ और डिनर पार्टियाँ अच्छी लगती हैं। मैं इनके साथ वहाँ जाती हूँ तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहाँ ज़रा आत्मीयता प्रतीत नहीं होती। ये कहते हैं कि तू पिछले जन्म में मेंढकी थी, जो तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतों में मेंढकों की आवाज़ें सुनना ज़्यादा अच्छा लगता है। मैं कहती हूँ कि मैं इस जन्म में भी मेंढकी हूँ। मुझे बरसात में भीगना बहुत अच्छा लगता है और भीग कर मेरा मन गुनगुनाने को होने लगता है, हालाँकि मुझे गाना नहीं आता। मुझे क्लब में सिगरेट के धुएँ में घुट कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता वहाँ मेरे प्राण गले को आने लगते हैं।"

उस थोड़े से समय में ही उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव मुझे परिचित लगने लगा था। उसकी बात सुनते हुए मेरे हृदय पर हल्की उदासी छाने लगी थी, हालाँकि मैं जानता था कि वह कोई भी बात मुझे लक्ष्य कर के नहीं कह रही—वह अपने से बात करना चाह रही है, और मेरी उपस्थिति उसके लिए एक बहाना मात्र है। मेरी उदासी भी उसके लिए न हो कर अपने लिए ही थी, क्योंकि बात उससे करते हुए भी मैं सोच अपने विषय में ही रहा था। मैं पाँच साल से मंज़िल-दर-मंज़िल विवाहित जीवन में से गुज़रता आ रहा था, रोज़ यही सोचते हुए कि शायद आने वाला कल ज़िंदगी के इस ढाँचे को बदल दे। सतही तौर पर हर चीज़ ठीक थी, कहीं कुछ ग़लत नहीं था, मगर आन्तरिक तौर पर जीवन कितना संकुल और विषमता की रेखाओं से भरा था! मैंने विवाह के पहले दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझ से विवाह करके सुखी नहीं हो सकती, क्योंकि मैं जीवन में उसकी कोई भी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसकी वह शासिका हो और ऐसा सामाजिक जीवन चाहती थी, जिसमें उसे महत्त्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से स्वतन्त्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह मानसिक विकृतियाँ प्रतीत होती थीं, जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन-दर्शन के बल से दूर करना चाहती थी। उसने उस विश्वास के साथ जीवन आरम्भ किया था कि वह मेरी त्रुटियों की क्षति-पूर्ति करती हुई बहुत शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से एक सफल व्यक्ति बनने की दिशा में प्रेरित करेगी। उसकी दृष्टि में यह मेरे वंशगत संस्कारों का दोष था, जो मैं इतना अन्तर्मुख हो रहता था और इधर-उधर मिल-जुल कर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। वह इस परिस्थिति को सुधारना चाहती थी, पर परिस्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ती ही गई थी। वह जो कुछ चाहती थी, वह मैं नहीं कर पाता था और जो कुछ मैं चाहता था, वह उससे नहीं होता था। हम दोनों में अक्सर बहस-मुबाहिसा हो जाता था और कई बार दीवारों से सिर टकराने की नौबत आ पहुँचती थी। परन्तु यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी, और उसे फिर मुझ से यह शिकायत होती कि मैं दो-दो दिन अपने को उन साधारण घटनाओं के प्रभाव से मुक्त क्यों नहीं कर पाता। परन्तु मैं दो-दो दिन क्या कभी भी उन घटनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं होता था और रात को जब वह सो जाती थी तो घंटों तकिये में मुँह छिपा कर कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगड़े को उतना अस्वाभाविक नहीं समझती थी, जितना मेरे

रात भर जागने को और उसके लिए मुझे 'नर्व' टानिक लेने की सलाह दिया करती थी। विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह कटे थे और उसके बाद हम लोग अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालाँकि समस्या ज्यों-की-त्यों वर्तमान थी, और जब कभी हम इकट्ठे होते, वही पुरानी ज़िन्दगी लौट आती थी, फिर भी नलिनी का यह विश्वास अभी कम नहीं हुआ था कि कभी-न-कभी मेरे सामाजिक संस्कारों का उद्‌बोध अवश्य होगा और तब हम साथ रह कर सुखी दाम्पत्य-जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे हैं?" उस महिला ने अपनी बच्ची के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

मैं सहसा सचेत हुआ और मैंने कहा, हाँ, मैं आप ही की बात को लेकर सोच रहा था। कुछ लोग होते हैं, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार के संस्कार आसानी से नहीं ओढ़े जाते। आप भी शायद उन्हीं लोगों में से हैं।'

"मैं नहीं जानती," वह आँखें मूँद कर बोली, "मगर मैं इतना जानती हूँ कि मैं बहुत से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरिचित, बेगाना और विजातीय अनुभव करती हूँ। मुझे लगता है कि मुझ में ही कुछ कमी है। मैं इतनी बड़ी होकर भी वह कुछ नहीं जान-समझ पाई जो लोग छुटपन में ही सीख जाते हैं। दोशी का कहना है कि मैं सामाजिक दृष्टि से बिलकुल मिसफ़िट हूँ।"

"आप भी यही समझती हैं?" मैंने पूछा।

"कभी समझती हूँ, कभी नहीं समझती", वह बोली, "एक ख़ास तरह के समाज में ज़रूर अपने को मिसफ़िट अनुभव करती हूँ। परन्तु...कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके बीच जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। ब्याह से पहले मैं दो-एक बार कॉलेज की पार्टी के साथ पहाड़ों पर घूमने के लिए गई थी। वहाँ सब लोगों को मुझ से यही शिकायत रहती थी कि मैं जहाँ बैठ जाती हूँ, वहीं की हो रहती हूँ। मुझे पहाड़ी बच्चे बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके घर के लोगों से भी बहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज याद आती है। उस परिवार के बच्चे मुझ से इतना घुल-मिल गए थे कि मैं बड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़ कर उनके घर से चल पाई। मैं दो घंटे उन लोगों के पास रही थी। मैंने दो घंटे में उन्हें नहलाया-धुलाया भी, और उनके साथ खेलती भी रही। बहुत ही अच्छे बच्चे थे वे। हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहूँ? मैंने उनकी माँ से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हँस कर बोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहाँ कौन उनके लिए तोशे रखे हैं। यहाँ तो दो बरस में इनकी हड्डियाँ निकल आएँगी, वहाँ खा-पी कर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी बात सुन कर रुलाई आने को हो गई। मैं अकेली होती तो शायद कई दिनों के लिए उन लोगों के पास रह जाती। ऐसे लोगों में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। अब तो आपको भी लग रहा होगा कि कितनी अजीब हूँ मैं। ये कहा करते हैं कि मुझे किसी अच्छे मनोविद् से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ों पर भटकती फिरूँगी।"

"यह तो अपने-अपने निर्माण की बात है," मैंने कहा, "मुझे ख़ुद आदिम संस्कारों के लोगों के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बना कर नहीं रह सका और न ही आशा है कि कभी रह सकूँगा। मुझे अपनी ज़िन्दगी की जो रात सबसे ज़्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते रहे और नाचते रहे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब मुझे बाद में बताया गया कि वे गूजर दस-दस रुपये के लिए इंसान का ख़ून भी कर देते हैं।"

"आपको सचमुच इस तरह की ज़िन्दगी अच्छी लगती है?" उसने कुछ आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

"आपको शायद ख़ुशी हो रही है, कि पागल होने की उम्मीदवार अकेली आप ही नहीं हैं," मैंने मुस्करा कर कहा। वह भी मुस्कराई। उसकी आँखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आँखों में न जाने कितना कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और सौहार्द! उसके ओंठ कुछ कहने के लिए काँपे, लेकिन काँप कर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे महसूस हुआ कि मेरा मस्तिष्क बिल्कुल ख़ाली है और मुझे पता नहीं कि मैं क्या कह रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। उसकी आँखों में सहसा सूनापन भरने लगा और आधे क्षण में वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी ओर से आँखें हटा लीं।

बत्ती के आस-पास उड़ता हुआ कीड़ा उसके साथ सट कर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुस्करा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुंध जमा हो गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी नहीं दिखाई देता था।

गाड़ी की रफ़्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियाँ तेज़ी से निकल गईं तो मैंने खिड़की का शीशा थोड़ा उठा दिया। बाहर से आती हुई बर्फ़ानी हवा के स्पर्श ने जैसे स्नायुओं को सहला दिया। गाड़ी एक बहुत नीचे प्लेटफ़ार्म के बराबर खड़ी हो रही थी।

"यहाँ थोड़ा पानी मिल जाएगा?"

मैंने चौंक कर देखा कि वह अपनी टोकरी में से काँच का गिलास निकाल कर अनिश्चित भाव से अपने हाथ में लिये हुए है। उसके चेहरे की रेखाएँ पहले से गहरी हो रही थीं।

"आपको पानी पीने के लिए चाहिए?" मैंने पूछा।

"हाँ, कुल्ला करूँगी या पिऊँगी। न जाने क्यों ओंठ कुछ चिपक से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी......"

"मैं देखता हूँ यदि मिल जाए तो......"

कह कर मैंने गिलास उसके हाथ से ले लिया और जल्दी से प्लेटफ़ार्म पर उतर गया। न जाने कैसा सुनसान स्टेशन था कि कहीं भी कोई आकृति दिखाई नहीं दे रही थी। प्लेटफ़ार्म पर आते ही

हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कॉलर खड़े कर लिए। प्लेटफ़ार्म के जंगले के बाहर से फैल कर ऊपर आए हुए दो-एक वृक्ष हवा में मरमरा रहे थे। इञ्जन के भाप छोड़ने से लम्बी शूँ-शूँ की आवाज़ सुनाई दे रही थी। शायद वहाँ गाड़ी सिग्नल न मिलने की वजह से ही रुक गई थी।

दूर कई डिब्बे पीछे मुझे एक नल दिखाई दिया और मैं तेज़ी से उसकी ओर चला। ईंटों के प्लेटफ़ार्म पर अपने जूते की एड़ियों का शब्द मुझे बहुत अपरिचित-सा लग रहा था। मैंने चलते-चलते गाड़ी की ओर देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा नहीं झाँक रहा था। मैं नल के पास जा कर गिलास में पानी भरने लगा। तभी एक हल्की-सी सीटी दे कर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा हुआ पानी का गिलास लेकर अपने डिब्बे की ओर दौड़ा। मुझे दौड़ते हुए लगा कि मैं डिब्बे तक नहीं पहुँच पाऊँगा और बिना सामान के सर्दी में उस अँधेरे और सुनसान प्लेटफ़ार्म पर मुझे रात बितानी पड़ेगी। मैं और भी तेज़ दौड़ने लगा। किसी तरह मैं अपने डिब्बे के दरवाज़े के बराबर पहुँच गया तो मैंने देखा कि दरवाज़ा खुला है और वह दरवाज़े के पास खड़ी है। उसने हाथ बढ़ा कर गिलास मुझ से ले लिया। फुटबोर्ड पर चढ़ते हुए एक बार मेरा पैर ज़रा-सा फिसला पर दूसरे ही क्षण में स्थिर होकर खड़ा हो गया। इञ्जन तेज़ होने की चेष्टा में हल्के-हल्के झटके दे रहा था और ईंटों के प्लेटफ़ार्म के स्थान पर अब नीचे अस्पष्ट गहराई दिखाई देने लगी थी।

"अन्दर आ जाइए," उसके ये शब्द सुन कर मुझे महसूस हुआ कि फुटबोर्ड से आगे भी कुछ गन्तव्य है। डिब्बे के अन्दर कदम रखते हुए मेरे घुटने ज़रा-ज़रा काँप रहे थे।

अपनी जगह पर आ कर मैंने टाँगें सीधी करके पीछे को टेक लगा ली। कुछ क्षण बाद मैंने आँखें खोलीं तो मुझे लगा कि वह शायद हाथ-मुँह धोकर आई है। फिर भी उसके चेहरे पर मुर्दनी छा रही थी। मेरे भी ओंठ सूख रहे थे, तो भी मैं थोड़ा मुस्कराया।

"क्या हुआ है, आपका चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है ?" मैंने पूछा।

"मैं कितनी मनहूस हूँ......" कह कर उसने अपना निचला ओंठ ज़रा-सा काट लिया।

"क्यों ?"

"अभी मेरी वजह से आपको कुछ हो जाता......"

"वाह ! यह खूब सोचा आपने !"

"नहीं। मैं हूँ ही ऐसी..." वह बोली, "जिन्दगी में हरएक को दुःख ही दिया है। अगर कहीं आप न चढ़ पाते......"

"तो ?"

"तो ?" उसने ओंठ ज़रा सिकोड़े, "तो मुझे पता नहीं...पर..."

उसने खामोश रह कर आँखें झुका लीं। मैंने लक्ष्य किया कि उसकी साँस जल्दी-जल्दी चल रही है। उस क्षण मैंने अनुभव किया कि वास्तविक संकट की अपेक्षा कल्पना का संकट कितना बड़ा और खतरनाक होता है! शीशा थोड़ा उठा रहने से खिड़की से हवा आ रही थी। मैंने खींच कर शीशा नीचे कर दिया।

"आप क्यों गए थे पानी लाने के लिए ? आपने मना क्यों नहीं कर दिया ?" उसने पूछा।

उसके पूछने के लहजे से मुझे हँसी आ गई।

"आप ही ने तो कहा था..." मैंने कहा।

"मैं तो मूर्ख हूँ, कुछ भी कह देती हूँ। आपको तो सोचना चाहिए था।"

"अच्छा, मैं अपनी गलती मान लेता हूँ !"

यह सुन कर उसके मुरझाये हुए ओंठों पर भी मुस्कराहट फैल गई।

"आप भी कहेंगे कैसी लड़की है," उसने कहा, "सच कहती हूँ मुझे ज़रा अक्ल नहीं है। इतनी बड़ी हो गई हूँ पर अक्ल अभी बालिश्त भर भी नहीं है—सच !"

मैं फिर हँस दिया।

"आप हँसते क्यों हैं ?" उसने शिकायत के स्वर में पूछा।

"मुझे हँसने की आदत है !" मैंने कहा।

"हँसना अच्छी आदत नहीं है।"

मुझे इस बात पर फिर हँसी आ गई।

वह शिकायत भरी दृष्टि से मुझे देखती रही।

गाड़ी की रफ़्तार फिर बहुत तेज़ हो गई थी। ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति सहसा हड़बड़ा कर उठ बैठा और ज़ोर-ज़ोर से खाँसने लगा। खाँसी का दौरा शान्त होने पर उसने कुछ क्षण छाती को हाथ से दबाये रखा और फिर भारी आवाज़ में पूछा, "क्या बजा है ?"

"पौने बारह," मैंने उसकी ओर देख कर उत्तर दिया।

"कुल पौने बारह ?" उसने निराश स्वर में कहा और फिर लेट गया। कुछ ही देर में वह फिर खर्राटे भरने लगा।

"आप भी थोड़ी देर सो जाइए।" वह पीछे टेक लगाये शायद कुछ सोच रही थी या केवल देख ही रही थी। उसने उसी मुद्रा में यह अनुरोध किया।

"आपको नींद आ रही है, आप सो जाइए," मैंने कहा।

"मैंने आप से कहा था न मुझे गाड़ी में नींद नहीं आती। आप सो जाइए।"

"अच्छी बात है !" और मैंने बिस्तर पर लेट कर कंबल ऊपर ले लिया। मेरी आँखें देर तक शून्य भाव से बत्ती को देखती रहीं, जिसके साथ झुलसा हुआ कीड़ा चिपक कर रह गया था।

"रज़ाई भी ले लीजिए, काफ़ी ठंड है," उसने कहा।

"नहीं, अभी जरूरत नहीं है। मैं बहुत-से गर्म कपड़े पहने हूँ," मैंने कहा।

"ले लीजिए, नहीं बाद में ठिठुरते रहिएगा।"

"नहीं, ठिठरूँगा नहीं," मैंने कम्बल गले तक लपेटते हुए कहा, "और थोड़ी-थोड़ी ठंड लगती रहे तो अच्छा रहता है।"

"बत्ती बुझा दूँ ?" कुछ क्षण बाद उसने पूछा।

"नहीं, रहने दीजिए।"

"नहीं, बुझा देती हूँ, ठीक से सो जाइए।" और उसने उठ कर

(शेष पृष्ठ ७१ पर)

लोकोक्तियों में वायु सम्बन्धी धारणाएँ

नारायण प्रसाद सिनहा

सावन पछिया भादव पुरवा, आसिन बहै ईशान।
कातिक कन्ता सिकियो न डोलें, कतयक राखब धान।

यदि सावन मास में पछिया हवा चले और भादों में पूर्वा बयार चले और आश्विन में उत्तर-पूर्व हवा चले और कातिक में कोई हवा न चले, तो धान की उपज अच्छी होगी।

सावन पुरवा भादव पछवा, आसिन बहै नैऋता।
भहुरी बोलय घाघसँ, उपजै नहिं भरि बीघा।

यदि सावन मास में पुरवा, भादों में पछिया और आश्विन में पश्चिम-दक्षिण की हवा चले, तो एक सेर भी अन्न नहीं उपजेगा।

चैत तुये तीनि लय मुये, कहहिं 'डाक' जे रौदी हुये।

यदि चैत मास में वर्षा हो जाय तो तीन नक्षत्र (आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य) में पानी नहीं बरसे, डाकका कथन है कि रौदी होगी।

छपि के उगै तो क्या भये, निर्मल रैनि करन्त।
की जल देखहिं सागरा, की तिय कूप भरन्त।

यदि सावन इंजोरिया में सूर्योदय मेघ से ढँका हो और यदि उसी रात में बिना मेघ का आकाश दिखाई पड़े, तो वर्षा नहीं होगी।

दिन में बादल रात निबद्दर, बह पुरवैया हबर-हबर।
कहहिं 'डाक' बीआ जनु खोअह, धानक खेत में राहड़ि बोअह।

बरसात में यदि रात में मेघ नहीं रहें, केवल दिन में ही मेघ रहें तथा पुरवैया हवा खूब चले, तो खेत में बीज बरबाद मत करो और धान के खेत में अरहर का बीज रोप दो।

आदि न बरिसय आर्द्रा, अन्त न बरिसय हस्त।
कहहिं 'डाक' सुनु भहुरी, पिसाने भेल गिरहस्त।

यदि बरसात में आर्द्रा नक्षत्र शुरू में वर्षा नहीं करे तथा अन्त में हस्त नक्षत्र में वर्षा न हो, तो गृहस्थ सब तरह से नाश हो जाएगा—कारण धान की उपज नहीं होगी।

सावन पछवा बह दिन चारि, चूल्हिक पाछौं उपजै सारि।
बरिसै रिमझिम निश दिन वारि, कहिगै वचन 'डाक' परिचारि।

सावन में यदि चार दिन भी पछवा बयार चले तो दिन-रात वर्षा हो, नीचे के खेत का कौन हिसाब, ऊपर के खेत में भी, जिसमें धान नहीं होता है, उसमें भी धान अवश्य होगा।

सावन पुरवा बह रविवार, कोदों मडुआक होय बहार।
खोजत भेंटै न थोड़े अहार, कहत बैन यह 'डाक' गोहार।

यदि सावन में पुरवैया हवा रविवार के दिन चले तो कोदों-मड़आ बहुत उपजे, परन्तु थोड़े दिन के बाद कुछ भी अहार नहीं मिले।

जो सावन पुरवैया बहय, शाली लागु करीब।
भादव पछवा जो बहय, होंहि सकल नर हीन।

यदि सावन में पुरवैया हवा बहे तथा तब साल भर करीने से खेत सींचा जाएगा, इसमें संदेह नहीं। यदि भादों में पछवा चले तो लोगों को बहुत हानि हो।

जँ सावन में बह पुरवैया, बेंचि बरद कें कीनू गैया।

यदि सावन में पुरवैया हवा चलती हो, तो बैल बेच कर गाय खरीदना ही श्रेयस्कर होगा।

जौं सावन बहे बड़द हँसा, बीआ काटि करु गैयासा।

यदि सावन में पश्चिम-दक्षिण कोण की हवा चले तो बीआ काट कर गाय को खिला दो। धान नहीं होगा।

आवत नहिं आदर किये, जात न दीन्हें हस्त।
ए दोनों तब हीं गये, पण्डित ओ गिरहस्त।

आषाढ़ के आर्द्रा नक्षत्र में जो बरसात का आदि नक्षत्र है वर्षा नहीं हुई तथा हस्त नक्षत्र में जो आश्विन मास में होता है वर्षा नहीं हुई तो धान नहीं उपजेगा। जिस तरह से पण्डित के आने पर आदर नहीं होने से तथा जाते समय कुछ विदाई नहीं देने से पण्डित दुःखी हो जाते हैं उसी तरह आर्द्रा और हस्त नक्षत्र में वर्षा न होने से गृहस्थ को भी दुःखी होना पड़ता है।

मघके बरसै मात के परसै, भूखा न मांगे फिर कुछ हरसै।

मघा नक्षत्र के बरसने से उतना ही आनन्द होता है जितना आनन्द माता को भोजन परोसने में होता है।

कार्त्तिक द्वादशि मेघा दीशै, ताहि दिशा आषाढ़ै बरसै।
अगहन पंचमी मेघ घटा, भरि सावन में कौन मिटा।
पूस अमावस मेघा कारा, बरिसै भादव घोड़ा धारा।
माघक सप्तमी मेघ बदरिया, चारु मास बहै जल धरिया।
ई सब जौं ने एको देखाय, मेघ रसातल में चल जाय।
कहहि "डाक" सुनु भहुरी, मानुष कूपहिं पैसि नहाय॥

कार्त्तिक द्वादशी (शुक्ल या कृष्ण पक्ष) में जिस दिशा में मेघ लगा दिखाई पड़े, उस दिशा में आषाढ़ मास में वर्षा होगी। इसी तरह से अगहन पंचमी में यदि मेघ रहे तो सावन में बहुत जल वृष्टि हो। यदि पूस की अमावस्या में मेघ लगा दिखाई पड़े तो भादों में अवश्य वर्षा होगी। इसी तरह यदि माघ की सप्तमी में मेघ रहे तो चारों मास अवश्य वर्षा होगी। यदि यह सब मेघ कार्त्तिक इत्यादि में दिखाई न पड़े तो अवश्य मेघ रसातल में चला जाएगा अर्थात वर्षा नहीं होगी। 'डाक' का कहना है कि लोग कूप में स्नान करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

जों अशरेखा गुमकी लावैं, मघा निरावैं चारु पावैं।

जों पुरवा पुरवैया पावै, सूखले नदिया नाव बहावैं।

यदि श्लेषा नक्षत्र में गरमी हो तथा मघा नक्षत्र में हवा नहीं चले तो चारों नक्षत्र में वर्षा होगी। और यदि पूर्वा नक्षत्र में पूर्वा वातास चले तो यदि सूखी नदी रहे तो उस नदी में भी इतना पानी आ जाएगा कि नाव चल सकती है।

जे मेघा जलु बरिसै स्वाती, जोलहिन पहिरय सोनाक पाती।

यदि स्वाती नक्षत्र में मेघ बरसे तो जोलहिन सोने के आभूषण धारण करेंगी अर्थात अच्छा समय बीतेगा।

वेद विदित नहिं होवे आन, तूल बिना नहिं फूटे धान।

यह बात वेद पुराण में निश्चित रूप से है कि जब तक तुला राशि में रवि नहीं आवेगा, तब तक धान नहीं फूटेगा अर्थात कार्तिक की संक्रान्ति में धान फूट जाएगा।

पानी बरिसय आधा पूस। आधा गहुम आधा भूस।

माघक गरमी जेठक जाड़। पहिला पानी भरि गैल ताल।

यदि आधे पूस में वर्षा हो, तो आधा गेहूँ और आधा भूसा हो। यदि माघ में गर्मी पड़े और जेठ में जाड़ा पड़े तो वर्षा नहीं हो। पहला पानी जो तालाब में है, वही रहेगा।

अषाढ़क पछवा सोना वहे, मीक डोले मही भरे।

रोहिनी लवे मृगशिर तवे, आर्द्रा देख सुभुआय।

कहे 'डाक' सुनु सज्जना, कुकुरो अन्न न खाय।

धान-पान कै नित्य स्नान, कहै 'डाक' ई निश्चय जान।

यदि आषाढ़ मास में धीरे-धीरे पछवा बयार चले तो यह हवा सोना है। पृथ्वी पर अन्न बहुत होगा। रोहणी नक्षत्र में मेघ दिखाई पड़े, मृगशिरा नक्षत्र में बहुत गर्मी हो, तो आर्द्रा में बहुत पानी बरसे। समय अच्छा रहेगा। अन्न इतना उपजेगा कि कुत्ता भी नहीं पूछेगा तथा लोग स्नान, ध्यान कर नित्य पान खायेंगे और आनन्द करेंगे।

मिरगा बाव न वाजियो, रोहन तपीन जेठ।

कै नै बाँधौ झोंपड़ी, बैठो बड़ लै हेठ।

यदि मृगशिरा नक्षत्र में हवा नहीं चले, रोहणी नक्षत्र में बहुत रौद नहीं करे, घर नहीं बनवाओ, अकाल पड़ेगा। वट वृक्ष के नीचे ही निर्वाह कर लिया जाएगा।

शुक्ल पक्ष नवमो के वारा, मास अषाढ़क कहौ बियारा।

भोर झड़ी सूखा बरसावैं, पहर तीसरा बान कहावैं।

मह्य झड़ी धान उपजावैं, सूर्योदय मारी दिखलावैं।

यदि आषाढ़ शुक्ल पक्ष नवमी तिथि को भोर में वर्षा हो, तो वर्षा नहीं होगी। यदि तीसरे पहर में वर्षा हो तो व्यापार व व्यवसाय के लिए शुभ है। यदि दोपहर में वर्षा हो तो मार-झगड़ा अवश्य हो, यह निश्चय है।

चौठ अन्हरिया सावन मांहि, जो महि पर मेघा वर्षाहिं।

तो पैंतालिस दिन घन बरसे, साख सवाई हो मन हरसे।

यदि सावन कृष्णपक्ष चतुर्थी तिथि में वर्षा हो तो अवश्य पैंतालीस दिन तक वर्षा होगी तथा अन्न की उपज सवाई होगी।

उगै अगस्त फूले कपास, आब नै करु वर्षाक आस।

यदि अगस्त का उदय हो जाए और कपास फुलाने लगे तो वर्षा की आशा करना व्यर्थ है।

उर्दू कविता

ग़ज़ल

जिगर मुरादाबादी

यदि अलौकिक सुन्दरियों के बीच रहते हुए जीवन व्यतीत न हो
तो फिर यह जीवन कैसे व्यतीत होगा, कहाँ व्यतीत होगा ?
जो (क्षण) तेरे कपोलों तथा केशों के बीच
(तेरी संगत में) व्यतीत हुए, कभी-कभी वे क्षण अत्यन्त असह्य प्रतीत हुए हैं
कितने ही समय तक मुझे यह भ्रम रहा कि तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम जतलाना
कहीं तुम जैसी सुकुमारी पर भार सिद्ध न हो (तुम्हें अप्रिय न लगे)
प्रेम-पथ का प्रत्येक स्थान अत्यन्त हृदय आकर्षक था
परन्तु हम प्रेमी वहाँ से शीघ्रातिशीघ्र गुज़रते चले गए।
तेरी याद के साथ उन्माद के कठिन प्रयाण-स्थल भी
सुन्दर-सुन्दर दिखे, जवान-जवान नज़र आए।
तेरी खोज के हेतु मैंने
यह एक संसार ही नहीं, सैकड़ों संसार देख लिए।
तेरे छबि दिखाने पर अपनी प्रेम सम्बन्धी कल्पनाओं की उड़ान
के बारे में मैं क्या कहूँ—मानो आत्मा सितारों के बीच से गुज़र रही हो।
मुझे उससे जुदाई की शिकायत थी कि ऐसा अनुभव हुआ
अकस्मात वह मेरे निकट से होकर निकल गया हो।
प्रकृति के सौन्दर्य के बहुत सुन्दर दृश्य भी
न जाने आज मन को क्यों इतने अप्रिय लगे !
कभी-कभी इसी मुट्ठी भर मिट्टी (मनुष्य) के गिर्द
सातों आकाशों ने परिक्रमा की है।
फूलों की संगत अत्यन्त सुन्दर तथा सुहावनी सही,
परन्तु जीवन वही है जो काँटों में रहते हुए व्यतीत हो।
ऐ 'जिगर' ! मुझे उन्हीं की याद अधिक प्रिय है
जो प्रेम-घटनाएँ अकस्मात घटीं।

रूपहली बेड़ी

शान्ताराम सवनीस

बिछौने पर लेटते ही मैंने एक नवीन जगत में प्रवेश किया। मेरे आस-पास अनेक व्यक्ति सो रहे थे। उन व्यक्तियों में नाना प्रकार के नमूने थे। दवाखाने में आने के पश्चात अनेक अविस्मरणीय व्यक्तियों से मेरा परिचय हुआ।

एक था बूढ़ा जमादार, जो मरते दम तक बीड़ी का प्रेमी था। वह कह रहा था—"प्राण भले ही चले जाएँ, परन्तु इसे नहीं छोड़ूँगा।"

मेरे सामने की खटिया पर पेट दर्द के कारण कराहने वाला एक मारवाड़ी पड़ा हुआ था। उसे खाने का बड़ा लालच था। उसका भोजन अस्पताल में ही तैयार होता था। इसके अतिरिक्त वह घर से भी खाना मँगा लेता था। वार्ड में प्रविष्ट एक छोटे से लड़के के लिए मैंने बिस्कुट मँगा रक्खे थे। उन बिस्कुटों पर भी उसकी दृष्टि लगी रहती थी।

उसके दूसरे पार्श्व में सो रहा था एक तरुण पत्नी का वृद्ध पति। उसके साथ उसकी पत्नी का अतृप्त प्रेम-व्यापार चलता रहता था।

इस प्रकार दवाखाने के एक महीने के निवास के अन्दर, नाना मनोभावों वाले नाना व्यक्तियों से मेरा परिचय हुआ होगा। रोगियों, परिचारिकाओं, डाक्टरों से तथा रोगियों और परिचारिकाओं से मिलने के लिए आने वाले सभी प्रकार के लोगों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। इस छोटे से चिकित्सालय जगत में अनेक करुण, हास्यपूर्ण, उदात्त, मधुर और आर्त घटनाएँ घटती रहती थीं। मुझसे मिलने के लिए आने वाली वह लड़की, वे गुलाब के फूल, वह मीठी प्रेम गोष्ठी, तथा मेरे वृद्ध और रोगी पिता की वह रोग-जर्जर और जराग्रस्त प्रेम-मयी मूर्त्ति। परन्तु इन सब की अपेक्षा मेरे मन पर यदि किसी व्यक्ति ने सब से अधिक प्रभाव डाला, तो वह था सदाशिव। उसके साथ मेरी मित्रता किस प्रकार स्थापित हुई, सो बड़े विनोद की बात है। शस्त्र-क्रिया (ऑपरेशन) से दो दिन पहले ही मैं अस्पताल में प्रविष्ट हुआ था। इस मंत्रणा में से सदाशिव कुछ दिन पूर्व ही पार हो चुका था। अतः एक भुक्तभोगी और अनुभवी की अदा के साथ उसने मुझसे वार्तालाप प्रारम्भ किया।

"साहब, ऑपरेशन से ज़रा भी घबराने की ज़रूरत नहीं। उसमें कुछ भी तकलीफ़ नहीं होती। हाँ, उससे एक दिन पहले, पीठ की ओर से नली द्वारा पेट में पानी चढ़ाया जाता है, बस उस समय कष्ट होता है।"

यह सुन कर मुझे हँसी आ गई। "यह प्रयोग तो मैं स्वयं कई बार कर चुका हूँ"—मेरे ऐसा कहने पर वह विस्मय से मेरी ओर निहारने लगा। इसके बाद धीमे-धीमे मेरी मित्रता बढ़ती गई।

सदाशिव के प्रति मेरे मन में इतना अधिक कुतूहल था, इसका मुख्य कारण यह था कि वह कैदी था। होली के दिन शराब पीकर उसने एक कलाल का सिर फोड़ दिया था। अतः उसे जेल में डाल दिया गया था।

सदाशिव के साथ गप्पें मारते हुए ऐसा प्रतीत होता था मानो हम एक नई दुनिया में घूम रहे हों।

उन्हीं दिनों मेरी समझ में यह बात आई कि मनुष्यता का आधार शिक्षण या सामाजिक स्तर नहीं। सदाशिव की माया-ममता निहार कर मैं विस्मय-विमूढ़ हो गया।

मेरे पास की खटिया पर एक आठ वर्ष का लड़का था। उससे मिलने के लिए उसका बाप प्रति सायंकाल को आया करता था। बाकी समय में वह बेचारा अकेला ही पड़ा रहता था। उसका गरीब पिता एक कारखाने में रात में काम करता था।

"मेरे बच्चे को रात को ज़रा मौसंबी काट कर दे देना"—अपना दिल कठोर करके आस-पास के रोगियों से इस प्रकार कह कर वह चला जाता था। इस लड़के की सभी प्रकार की सँभाल का दायित्व सदाशिव ने अपने ऊपर ले लिया था, क्योंकि अब वह लँगड़ा-लँगड़ा कर चलने योग्य हो गया था। समय-समय पर और मध्यरात्रि में भी सदाशिव इस लड़के को पानी आदि दिया करता था। उसकी यह तत्परता देख कर स्वभावतः किसी को भी आश्चर्य और कुतूहल हो सकता था। रात्रि के समय एक ही परिचारिका (नर्स) होती थी और उसे भी काम बहुत होता था, अतः सामान्य कार्यों के लिए उसको कष्ट देना किसी को भी अच्छा नहीं लगता था। सदाशिव पर पुलिस का पहरा रहता था, परन्तु क्योंकि कैदी बीमार था अतः सिपाही का विशेष दायित्व नहीं था। इसलिए वह निश्चिन्त-भाव से ऊँघता रहता था। इसके अतिरिक्त सदाशिव कारागृह का पुराना निवासी था।

"मेरा बच्चा भी आज इतना ही बड़ा हो गया होगा। मैं जेलखाने में आया उस समय वह एक वर्ष का था। कौन जाने, इस समय उसकी क्या दशा होगी?"—ऐसा कह कर सदाशिव जब उस लड़के की ओर निर्निमेष दृष्टि से निहारता था, तो यह दृश्य अतिशय मार्मिक हो उठता था। उस लड़के के लिए मैंने बिस्कुट का डिब्बा मँगाया हुआ था और इस कारण ही सदाशिव और उस मारवाड़ी के बीच में ज़रा गरमागरमी हो गई थी: "ये मालदार लोग तो ऐसे ही होते हैं। इतना-इतना खाते हैं, फिर भी बच्चे के बिस्कुट पर दृष्टि रहती है। वह श्रीपत कलाल भी ऐसा ही था। यदि श्रीपत ने ताड़ी में पानी न मिलाया होता तो मैं उसकी खोपड़ी क्यों फोड़ता और आज इस प्रकार पत्थर क्यों तोड़ता फिरता?"

उसके बाद वह श्रीपत कलाल की तथा अपने गाँव के अन्य लोगों की बातें सुनाया करता था। श्रीपत के लिए भी वह आत्मीयता का अनुभव किया करता था—"यों तो श्रीपत मेरा गहरा दोस्त था। हमारी उमर में भी कोई विशेष अन्तर नहीं था। जब मैं माँ का दूध पिया करता था तो वह खड़ा-खड़ा लघुशंका किया करता था।"

इतना कहने से दोनों की उमर का अन्तर तो मैं नहीं समझ पाया, तथापि उसकी बातें मैं उत्सुकता के साथ सुनता रहा।

"हम दोनों एक ही अखाड़े में जाया करते थे। वैसे तो वह दूसरे के लिए जान दे देने वाला आदमी था। उसके मरने पर सबसे अधिक मुझे ही रोना आया था। परन्तु……" इतना कह कर उसने अपने माथे पर हाथ रख लिया और उसके बाद श्रीपत ने अधिक पैसे चुका कर दूकान का ठेका किस प्रकार प्राप्त किया और किस प्रकार वह झूठ बोलने लगा—इत्यादि बातें सुनाने लगा।

"मैं कोई रोज़ शराब पीने वाला थोड़े ही था! पर ऐसा मुसलमान भी नहीं कि होली के त्यौहार पर भी शराब न पिऊँ!"

उसकी इस प्रकार की बातें सुन कर मुझे हँसी आ जाती थी। परन्तु हँसी रोक कर मैं उसकी बातें सुनता रहता। वह इतना अधिक बातूनी था कि हमारा समय आनन्द से कट जाता था। परन्तु एक रात को जो घटना घटी, उसका मेरे मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

एक दिन सदाशिव पर पहरा देने वाले सिपाही की बदली हो गई। पहरा देने के लिए एक दूसरा सिपाही आया। उसने आते ही सदाशिव को अपना अधिकार जता दिया। पुराना सिपाही सदाशिव के साथ आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करता था। इस नए सिपाही ने तो आते ही सदाशिव को इस बात का भान करा दिया कि वह कैदी है। ज्यों ही सदाशिव उससे बात करने लगा त्यों ही सिपाही ने—"बकवाद मत करो"—कह कर अपना रौब जताना शुरू कर दिया। सदाशिव ने इस बात को विशेष रूप से तो अनुभव नहीं किया, हाँ ज़रा धीमे से बोलने लगा। उस समय मैंने देखा कि उस मारवाड़ी के मुख पर मुस्कराहट आ गई थी।

धीमे-धीमे अँधेरा बढ़ने लगा। वार्ड की सब बत्तियाँ बुझा दी गईं। केवल एक ही बत्ती जलती रही। उसके मंद प्रकाश से आस-पास का स्थान प्रकाशित हो रहा था। धीरे-धीरे सब रोगी सो गए! मैं भी निद्राधीन हो गया था। मध्यरात्रि में सदाशिव लँगड़ाता-लँगड़ाता उस बालक को पानी पिलाने के लिए गया—उसी समय नींद खुल जाने से मैं उसको देख पाया। लड़के का शरीर ज्वर के कारण भक्-भक् तप रहा था। वह बराबर एक ही स्वर में 'पानी-पानी' कर रहा था। उसके पश्चात सवेरे ठीक पाँच बजे मेरी नींद खुली। आँख खुलते ही मैंने क्या देखा कि सदाशिव के भावनाशून्य कठोर चेहरे पर मूर्त्तिमान दुःख झलक रहा है।

"क्यों सदाशिव, क्या हुआ?"—पूछने पर उसने अपनी बेड़ी खड़खड़ा दी! पूर्णतया जाग जाने पर मैंने देखा कि सदाशिव के पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं।

"क्यों, जमादार ने आज बेड़ी क्यों लगा दी है?"—मैंने प्रश्न किया।

वह कहने लगा—"वह बच्चा रात को 'पानी-पानी' चिल्ला रहा था। बिचारा बुखार के कारण तड़प रहा था। मैंने उसे दो-तीन बार पानी पिलाया!"

"हाँ, मुझे पता है, एक बार मैं भी जाग गया था। तो फिर—"

"सो, जमादार साहब ने देख लिया, और रात को मैं कहीं भाग न जाऊँ, इस भय से उन्होंने मुझे इस प्रकार जकड़ दिया है!"

"परन्तु तुझ में भाग जाने की शक्ति कहाँ है? अभी तो घाव पूरी तरह भरने तक नहीं आया?"

"यही तो मैं कहता हूँ कि भाग कर आखिर मैं कहाँ जा सकता था? उस बच्चे की दशा मुझ से सहन नहीं हुई! मैं उसे पानी पिला रहा था, परन्तु…………"

अत्यन्त करुण चेहरा बना कर वह मुझ से प्रार्थना करने लगा—"आप ही जमादार से ज़रा कह देखिए! इस लड़के की सेवा करते हुए मन को अच्छा लगता है।"

इस प्रकार कहते-कहते उसके मुखड़े पर ऐसा कोमल भाव झलकने लगा कि यह मानना असम्भव लगने लगा कि इस व्यक्ति के हाथ से एक का खून हुआ होगा। थोड़ी देर के बाद मैंने रात की घटना नर्स को सुनाई। वह परिचारिका सिपाही को बुला लाई।

सदाशिव किस प्रकार अपने बच्चे को याद करता है, इसका मन इस लड़के के लिए किस प्रकार उमड़ उठता है, यह छूट कर भाग जाने की अवस्था में नहीं है, केवल इस लड़के की सेवा-शुश्रूषा करने में यह आनन्द अनुभव करता है,—इत्यादि बातें परिचारिका ने तथा मैंने जमादार से कहीं तथा सदाशिव की बेड़ियाँ निकालने की प्रार्थना की।

हमें कल्पना भी नहीं थी, वैसी शांति के साथ जमादार ने हमारी बातें सुनी। कदाचित् उस परिचारिका के यौवन का प्रभाव हो; कुछ भी हो, हमें यह अनुभव होने लगा कि यह हमारी बात ज़रूर मानेगा।

"रात को देखूँगा", कह कर उसने बेड़ियाँ निकाल दीं।

मैं और सदाशिव साँझ होने की प्रतीक्षा करने लगे। साँझ होते ही वह सिपाही बेड़ियाँ लेकर आ गया। मैंने उससे प्रश्न किया—"अब इसे बेड़ी क्यों पहनाते हो?"

वह कहने लगा—"महाशय, आपकी बात सच्ची है! मैंने इस पर खूब विचार किया है! मेरे यहाँ भी बच्चे हैं। परन्तु कल यदि सदाशिव के मन में अपने बच्चों की स्मृति तीव्र हो उठे, और वह भाग निकलने का प्रयत्न करे तो फिर मेरे बच्चों का क्या होगा? मुझ में भी मनुष्यता है पर…………"

यह कह कर, बिना विलम्ब किए, उसने सदाशिव के पैरों में बेड़ी पहना दी और बाहर चला गया। सदाशिव भी 'अच्छा' कह कर आँखें बन्द करके पड़ रहा।

अनुवादक—शंकरदेव विद्यालङ्कार



बग़दाद-सन्धि और ईरान

शिवकुमार

ईरान एशिया का सुसंस्कृत राष्ट्र है। उसका इतिहास प्राचीन है। उसकी संस्कृति सम्पन्न है। भारत का वह पड़ोसी है। भारत और ईरान के सम्बन्ध सदियों पुराने हैं। फ़ारसी के कवियों की रचनाएँ भारतीय साहित्य की अनमोल निधि हैं। फिरदौसी, निज़ामी, सादी, हाफ़िज़ और उमर ख़य्याम जैसे कवियों का भारत के उर्दू साहित्य में विशिष्ट स्थान है। आज भी शायर लोग इनकी कृतियों से अनुप्राणित हो रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

राजनीतिक दृष्टि से भी दोनों देशों की जनता का इतिहास एक जैसी धारा में प्रवाहित होता रहा है। भारत यदि अंग्रेज़ों से मुक्त होने का प्रयत्न करता रहा है, तो ईरान भी प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिए छटपटाता रहा है। १८६० ईस्वी में प्रसिद्ध मुस्लिम नेता श्री जमालुद्दीन अफ़ग़ानी ने वहाँ जनता को प्रजातन्त्री अधिकार दिलाने के लिए एक आन्दोलन का सूत्रपात किया था। 'हबलुल मतीन' अखबार इसी आन्दोलन के सिलसिले में निकाला गया था। यह साप्ताहिक पत्र था। इसके सम्पादक सैयद जलालुद्दीन ख़ुरासान थे। सन् १८९३ में ईरान के शाह ने उनका अखबार निकालना असम्भव कर दिया। इस पर सैयद जलालुद्दीन भारत आ गए। उन्होंने कलकत्ता से 'हबलुल मतीन' का प्रकाशन शुरू कर दिया। यह अखबार ईरान भेजा जाता था।

इस प्रकार यदि मुग़ल-काल में भारत ने ईरान के कवियों का समादर किया तो आधुनिक युग में भी वह उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का पूर्ण समर्थन करता रहा है। दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध सदैव नए होते रहे हैं। ईरान भारत में चलने वाले हरेक आन्दोलन में दिलचस्पी लेता रहा है। उधर भारत भी ईरान के जन-आन्दोलनों को उचित महत्त्व देता रहा है। हाल में ही तेल के प्रश्न पर डा० मुसादिक और स्वर्गीय श्री ग़वमस्सुलतानेह के नेतृत्व में जो आन्दोलन किया गया था, भारत ने उसके साथ पूर्ण सहानुभूति प्रकट की। आज भी ईरान में जो कुछ होता है, उसे भारत उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

रूस और चीन के साथ भारत ने जिन पंचशील-सन्धियों पर हस्ताक्षर किए थे, आशा थी उसके बाद कम-से-कम सैनिक गुटबन्दियाँ समाप्त हो जाएँगी। लेकिन मालूम होता है कि अभी तक पश्चिमी राष्ट्रों का सन्देह दूर नहीं हुआ। वे रूस और चीन से सशंक रहते हैं। इसलिए हमने बड़ी चिन्ता से देखा कि ईरान उस बग़दाद-सन्धि में शामिल हो गया है, जिसमें तुर्की, इराक, पाकिस्तान और ब्रिटेन पहले से ही शरीक थे। भारत के पड़ोस में एक ऐसी सामरिक गुटबन्दी हुई है कि इस पर उसके नेताओं का चिन्तित होना स्वाभाविक है। शायद इसीलिए उस दिन नेहरू जी को संसद् में कहना पड़ा कि बग़दाद-सन्धि में शामिल होने वाले राष्ट्रों का यह कार्य दुर्भाग्यपूर्ण व निन्दनीय है।

ईरान बग़दाद-सन्धि में कैसे शामिल हुआ? पश्चिमी राष्ट्र एशिया में साम्यवाद की लहर से सदैव चिन्तित रहे हैं। इसलिए वे इसे रोकने के लिए प्रयत्न करते रहे हैं। सबसे पहले सन् १९५१ में उन्होंने मध्यपूर्व के राष्ट्रों की संयुक्त कमान स्थापित करने की एक योजना तैयार की। ईरान को भी इसमें शामिल करने की तजवीज़ थी। किन्तु मिस्र तथा अरब-लीग के कुछ राष्ट्रों ने इसका विरोध किया। फलस्वरूप मध्यपूर्वी कमान स्थापित न हो सकी। बाद में यह कोशिश की गई कि मध्यपूर्व के राष्ट्रों को मिला कर मध्यपूर्वी-प्रतिरक्षा-संस्थान स्थापित किया जाय। लेकिन यह योजना भी क्रियान्वित न हो सकी।

दो बार असफल होने के बाद पश्चिमी राष्ट्रों ने एक और तरकीब निकाली। उन्होंने मध्यपूर्व के दो-दो राष्ट्रों के बीच सैनिक सन्धियाँ करानी शुरू कीं। सबसे पहले सन् १९५४ में तुर्की और पाकिस्तान के बीच एक सन्धि कराने में वे सफल हो गए। इससे प्रोत्साहित होकर सन् १९५५ में तुर्की, पाकिस्तान और इराक ये तीनों राष्ट्र बग़दाद-सन्धि में शामिल हो गए।

सीरिया को बग़दाद-सन्धि में शामिल होने का अल्टीमेटम दिया गया, लेकिन उसने साफ़ इन्कार कर दिया। सऊदी अरब पर भी दबाव डाला गया। बुरैमी शाद्वल का सवाल इसलिए पैदा किया गया। लेकिन वह भी बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित होने को तैयार न हुआ। मिस्र को आँखें दिखाई गईं। उसे परेशान करने के लिए सूडान में कई राजनीतिक उतार-चढ़ाव करने का नाटक रचा गया। लेकिन उसने इस सन्धि में शामिल होना अपने राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल समझा। इस प्रकार एक के बाद एक अरबी राष्ट्र ने जब इस सन्धि में शामिल होने से इन्कार कर दिया, तो ब्रिटेन ने यह घोषणा कर दी कि वह भी इसमें शामिल होता है।

पाकिस्तान सितम्बर १९५५ में बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित हुआ था। इन्हीं दिनों तुर्की के राष्ट्रपति श्री बायर 'मैत्री-सन्देश' लेकर तेहरान पहुँचे। उनकी गतिविधि गुप्त रखी गई। अचानक ही अमेरिका के 'युनाइटेड प्रेस' ने खबर दी: "अधिकृत अमेरिकी सूत्रों के अनुसार ईरान शीघ्र ही बग़दाद-सन्धि में शामिल हो जायगा...यह सन्धि सोवियत संघ के विरुद्ध बर्छी की नोंक साबित होगी।" फ्रांस की एक समाचार-समिति ने यह फैला दिया कि 'बग़दाद-सन्धि उत्तरी अटलांटिक संघ की पूरक होगी और भौगोलिक दृष्टि से इस संगठन को दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के सुरक्षा-करार में जोड़ देगी।' पश्चिमी राष्ट्र अपने कूटनीतिक दाँव-पेचों में सफल हो गए। ११ अक्तूबर १९५५

को ईरान के प्रधान मंत्री श्री हुसैन श्राला ने बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी ।

हम भारतीयों के लिए यह जानना आवश्यक है कि पंचशील और बांडुंग-सम्मेलन के बाद एशिया का यह शानदार मुल्क ईरान बग़दाद-सन्धि में शामिल क्यों हुआ ? क्या वह इसलिए शामिल हुआ कि उसे अमेरिका से आर्थिक सहायता मिलेगी और इससे वह अपना घाटे का बजट पूरा कर लेगा ? यदि ईरान यही सोच कर शामिल हुआ तो यह उसकी गलती थी । तुर्की भी बग़दाद-सन्धि का सदस्य है । उसे अमेरिका की फ़ौजी मदद मिलने लगी, लेकिन उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी । उसके बजट का अधिकांश पैसा सेना पर खर्च होने लगा जन-हितकारी कार्यों पर नहीं । इसलिए हो सकता है कि ईरान आर्थिक लोभ से इस सन्धि में शामिल न हुआ हो ।

ईरान यदि आर्थिक लोभ में फँस कर बग़दाद-सन्धि में शामिल नहीं हुआ, तो वह कौन सा कारण था, जिसने उसे उक्त सन्धि में सम्मिलित होने के लिए बाध्य किया । ईरान के नेताओं का वक्तव्य था कि हम लोगों ने राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से सन्धि में शरीक होने का निश्चय किया । प्रश्न यह है कि उसकी सुरक्षा को किससे खतरा था ? क्या वह रूस से भयभीत था ? रूस उसका पड़ोसी राष्ट्र है । उससे उसका आशंकित होना स्वाभाविक ही है, लेकिन आधुनिक रूस ईरान की प्रभुसत्ता और स्वाधीनता का सदैव सम्मान करता रहा है । क्या ईरान के अधिकारी यह भूल गए कि अक्तूबर-क्रान्ति के बाद बोल्शेविक रूस ने १६०७ की आँग्ल-सोवियत सन्धि को भंग कर दिया था ? इस सन्धि के भंग होने के साथ रूस सरकार ने ईरान में अपने प्रभाव-क्षेत्रों का खात्मा कर दिया था । ज़ार कालीन सरकार ने ईरान पर जो अन्यायपूर्ण समझौते थोप रखे थे, वे सब खत्म कर दिए गए। तमाम रूसी सेनाएँ ईरान से हटा ली गईं । १६२१ में ईरान और रूस के बीच एक पृथक् संधि हुई थी । इसके अनुसार ईरान रूस की नज़रों में एक सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र हो गया । साथ ही समूचे विश्व ने ईरान को एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में देखना शुरू कर दिया ।

इतने से भी जब ईरान को तसल्ली नहीं हुई तो सन् १६२७ में रूस ने ईरान के साथ एक और सन्धि की । इस सन्धि के अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे को आश्वासन दिया कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। साथ ही वे ऐसे किसी गुट में भी शामिल न होंगे, जिसका उद्देश्य दोनों में से किसी एक का विरोध करना हो । क्या ईरान के नेता एक भी उदाहरण ऐसा पेश कर सकते हैं, जब कि रूस ने इस संधि को तोड़ा हो ?

आर्थिक व सीमा सम्बन्धी मामलों के बारे में रूस ने हाल ही में ईरान के साथ एक समझौता किया । इसी से प्रेरित होकर उस ने ईरान के शाह को तथा वहाँ के एक संसदीय शिष्टमण्डल को अपने यहाँ आने का निमंत्रण दिया ।

इस तरह हमने देखा कि अपने अमल से रूस ने ईरान को अभयदान दे रखा है । कम-से-कम उस से तो ईरान की सुरक्षा को कोई खतरा नहीं।

ईरान की सीनेट में जब बग़दाद-संधि में शामिल होने के प्रश्न पर बहस हो रही थी तो शाह ने कहा था—"ईरानी जनता और सरकार की तटस्थता तथा शान्तिपूर्ण नीति ने हमारे देश को दो महायुद्धों के दौरान में आक्रमण एवं प्रहार से तथा हमारे अधिकारों को तिरस्कृत होने से नहीं बचाया ।" शाह के बाद दूसरे नेताओं ने भी कहा था—"ईरान विदेशी मामलों में अब तक तटस्थ रहा है । लेकिन इस नीति से उसकी सरासर बर्बादी ही हुई है । ३० साल से भी ज़्यादा समय तक तटस्थ रह कर ईरान ने देख लिया है कि उसे सिवाय गरीबी और मुसीबत के कुछ हासिल नहीं हुआ । द्वितीय विश्व-युद्ध में ईरान ने तटस्थ रहने का ऐलान किया था, लेकिन युद्ध रत शक्तियों ने उसे तटस्थ नहीं रहने दिया ।"

ईरान के नेताओं ने तटस्थता-नीति को छोड़ देने के जो कारण बताए वे ठीक नहीं । ईरान विदेशी मामलों में सदैव तटस्थ रहा है । इस नीति ने सदैव उसकी रक्षा की । ईरान के नेता द्वितीय विश्व-युद्ध की घटनाओं को अपनी नीति के लिए अभिशाप बताते हैं । लेकिन वास्तविकता यह है कि तटस्थता-नीति ईरान के लिए वरदान साबित हुई । ईरान के वर्तमान नेता शायद भूले न होंगे कि ब्रिटेन से अपना पिंड छुड़ाने के लिए तत्कालीन बादशाह रज़ाशाह ने अपने देश को हिटलर-पंथी धुरी राष्ट्रों का सदस्य बनाने की घोषणा कर दी थी । ईरान में हिटलर के ऐजेन्टों का ज़ोर बढ़ गया । जनता इसके लिए तैयार नहीं थी । तत्कालीन शासकों ने हिटलर और उसके ऐजेन्टों से मुक्त होने के लिए सन् १६२१ की संधि के अनुसार रूस से सहायता माँगी । इस संधि की धारा ६ का पालन करते हुए रूसी सेनाओं को ईरान भेज दिया गया था । इसी समय ब्रिटेन की सेनाएँ भी ईरान में घुस आईं । रूस और ब्रिटेन की सेनाओं के पहुँच जाने से ईरान मुसीबत से बच गया । यह तटस्थता-नीति थी जिस ने ईरान को हिटलर के चंगुल से बचा लिया । इसी काण्ड को लेकर श्री चर्चिल ने अपने युद्धकालीन संस्मरणों में लिखा है—"हमारी विजय ने फारस की स्वतंत्रता की रक्षा की ।" इस अवस्था में ईरान के वर्तमान नेताओं का यह कथन गलत है कि शक्तिशाली राष्ट्रों ने उसे तटस्थ नहीं रहने दिया, इसलिए उनका देश आज भी तटस्थ नहीं रह सकता ।

रूस ईरान को अभयदान दे चुका है । वह उसे उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दे चुका है । इस अवस्था में यदि वह बांडुंग सम्मेलन के निश्चयों के अनुसार आज की पूर्व और पश्चिम की गुटबंदियों से अलग रहने का फैसला कर देता तो उसे क्या हानि होती ? इस प्रश्न पर भी ईरान के नेताओं ने खूब सोचा और समझा ।

मध्य-पूर्व के मामलों के विशेषज्ञ और सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री जॉन किमचे ने एक स्थान पर लिखा है—"पश्चिमी राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों को ईरान के सम्बन्ध में सदैव एक आशंका रही है और वह यह कि यहाँ के राजनीतिज्ञ बड़े कमज़ोर और हारी हुई मनोवृत्ति के होते हैं ।" पश्चिम के राष्ट्र शायद अब भी ईरान के नेताओं को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे । उन्हें भय था कि कहीं ईरान के नेता मध्य-पूर्व और एशिया की हवा में बह कर बग़दाद-संधि में शामिल न होने का फैसला न कर बैठें । उस अवस्था में ये राष्ट्र पहले से ही इलाज कर लेना चाहते हों

तो कोई आश्चर्य नहीं। इसलिए जब मिस्र के 'अलअहराम' अखबार के इस्तम्बूल स्थित संवाददाता ने यह खबर दी तो हमें अविश्वास का कोई कारण दिखाई न दिया था—"मध्य-पूर्व में सैनिक गुटबंदियों के संगठन-कर्त्ता ईरानी अजर्बेजान और कुर्दिस्तान की भूमि पर तुर्की की फ़ौजों तथा ईरान के खोरासान सूबे में पाकिस्तानी फ़ौजों की सरगर्मियों के लिए पहले से ही योजनाएँ बना रहे हैं।"

अपनी सीमा के आस-पास तुर्की और पाकिस्तान की सेनाओं की इस हलचल से चिन्तित होना ईरान के लिए स्वाभाविक था। ईरानी अजर्बेजान की स्थिति सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह उत्तरी ईरान में है। रूस का बाकू नगर यहाँ से १०० मील रह जाता है। बाकू के तेल-क्षेत्र यहाँ से केवल ६० मील परे हैं। बाकू-वातूम तेल-लाइन ईरान की सीमा से १६० मील परे है। फिर ईरानी अजर्बेजान की राजधानी तबरेज़ में अनेक महत्त्वपूर्ण सड़कों का संगम है। वहाँ से एक सड़क बाकू को जाती है, तो दूसरी तेहरान को। इसलिए यदि पश्चिमी राष्ट्रों ने यह सोचा हो तो कोई आश्चर्य नहीं कि यदि ईरान के नेता तटस्थता-नीति घोषित करें तो तुर्की की फ़ौजों को आगे कर के कम-से-कम अजर्बेजान पर तो कब्ज़ा कर लिया जाय।

इसी तरह कुर्दिस्तान के किरकुक और मोसल में ब्रिटेन के तेल क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों से रूस की सीमा १५० किलोमीटर रह जाती है। रूस कहीं इन तेल-क्षेत्रों को दबोच न ले, इसलिए पश्चिमी राष्ट्रों के इशारे पर तुर्की की सेनाओं की हलचल शुरू हो गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

ईरान के शाह पिछले दिनों भारत आए। पत्र-प्रतिनिधियों ने उनसे कई प्रश्न किए। एक प्रश्न यह भी था कि ईरान बग़दाद-संधि में क्यों शामिल हुआ? इसका उत्तर शाह ने राजनीतिक ढंग से दिया। उन्होंने कहा था—"अपनी भौगोलिक स्थिति से लाचार होकर ही ईरान गुटबन्दियों में शामिल होने का फैसला करता है। भारत भी यदि हमारी स्थिति में होता तो उसे भी किसी-न-किसी गुट में शामिल होना पड़ जाता।"

अपने इस वक्तव्य का शाह ने बहुत अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया, किन्तु ईरान के पत्रों ने इस प्रश्न पर शाह के भारत आने से पहले ही प्रकाश डाल दिया। पत्र सम्पादकों को बखूबी मालूम था कि भारत ईरान के बग़दाद-सन्धि में शामिल होने का कटु आलोचक है। उन्हें यह भी पता था कि शाह के भारत जाने पर उनसे मुख्य प्रश्न यही किया जाएगा। इसलिए उन्होंने ही अपने देश और अपनी सरकार की ओर से कैफियत पेश कर दी। 'तेहरान-मुसव्वर' पत्र ने इन्हीं दिनों लिखा था—"ईरान की आमदनी का सब से बड़ा ज़रिया खनिज तेल है, इसलिए तेल की आमदनी के आधार पर ही उसे अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती है। ईरान को तेल की इसी राजनीति के दबाव के कारण बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित होना पड़ा।

"ईरान के तेल का काम १९५४ में अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंपा गया था, उसमें ४० प्रतिशत शेयर ब्रिटेन के, ४० प्रतिशत अमेरिका के, १२ प्रतिशत हालैंड के तथा ६ प्रतिशत फ्रांस के हैं। यह संस्था १२½ प्रतिशत क्रूड ऑयल रायल्टी के रूप में ईरान को देती है। पिछले एक साल में ईरान को अपने हिस्से का जो क्रूड ऑयल मिला वह अब तक ईरान के गोदामों में पड़ा है। कारण, उसका कोई खरीदार नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय तेल-संस्था ने ईरान के इस क्रूड ऑयल को साफ़ करने से इन्कार कर दिया। विदेशों में तेल साफ़ करने के जो कारखाने हैं, वे ही उक्त चार देशों में ही किसी-न-किसी के हैं। इस तरह जब क्रूड ऑयल साफ़ न होगा तो उसे खरीदेगा कौन?

"ईरान को अपने क्षेत्र में ही निकलने वाले लाखों टन तेल से एक पाई की भी आय नहीं हो पाती। इस स्थिति से फ़ायदा उठा कर अन्तर्राष्ट्रीय तेल-संस्था ने ईरान पर दबाव डाला और माँग की कि यदि वह अपने हिस्से का क्रूड ऑयल बेचना चाहता है तो बग़दाद-सन्धि में शामिल हो जाय। इस मजबूरी में ईरान बग़दाद-सन्धि में शामिल हुआ है।"

'तेहरान-मुसव्वर' ईरान का अर्ध-सरकारी अखबार है। इसके लेख से साफ हो जाता है कि ईरान अपनी खुशी से नहीं, बल्कि दबाव से बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित हुआ है।

अपनी मजबूरी को छिपाने के लिए ईरान के नेताओं ने कहा था—"संयुक्त राष्ट्रीय अधिकार-पत्र (चार्टर) के अनुसार ईरान को बग़दाद-सन्धि में सम्मिलित होने का अधिकार था।" लेकिन चार्टर के अनुसार कोई भी देश, ऐसे किसी भी क्षेत्रीय सैनिक गठबन्धन में शामिल होने को स्वतन्त्र है, जिसका उद्देश्य विश्व-शान्ति व सुरक्षा स्थापित करना हो। परन्तु बग़दाद-सन्धि न तो क्षेत्रीय है और न ही उसका उद्देश्य विश्व-शान्ति स्थापित करना है। इस सन्धि को 'क्षेत्रीय' कतई नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसमें तुर्की, इराक, ईरान और पाकिस्तान के अतिरिक्त ब्रिटेन भी शामिल है तथा अमेरिका ने इस सन्धि में शामिल न होकर यह फैसला किया है कि वह बग़दाद में एक स्थायी राजनीतिक व सैनिक सम्पर्क अधिकारी अवश्य रखेगा। दो विदेशों में से एक का इस सन्धि में शामिल होना और दूसरे की इसमें सक्रिय दिलचस्पी से यह सन्धि 'क्षेत्रीय' नहीं है। फिर इस बग़दाद-सन्धि को विश्व-शान्ति के लिए सहायक भी नहीं कहा जा सकता। ब्रिटेन, फ्रांस, और अमेरिका के राजनीतिज्ञ और अखबार इसे 'नाटो' और 'सीटो' के बीच सेतु बता रहे हैं।

ईरान ने बग़दाद-सन्धि में शामिल होने के कई कारण बताए। उसने अपने क़दम को सही बताने के लिए संयुक्त राष्ट्रीय चार्टर की दुहाई तक दी। लेकिन कहना न होगा कि उसने इस सन्धि में शामिल होकर एशिया में बहने वाली हवा के रुख को नहीं पहिचाना। एशिया उपनिवेशवाद के जुए को उतार फेंकने का संकल्प कर चुका है। वह अपना आर्थिक शोषण देर तक बर्दाश्त न कर सकेगा। इस वातावरण में ईरान ने बग़दाद-सन्धि में शामिल होकर दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया। हाँ, इससे ईरानी अजर्बेजान, कुर्दिस्तान और खोरासान को दबोच लेने वालों की दाल नहीं गली, इसमें कोई सन्देह नहीं।



पंजाबी का सन्त कवि : बुल्हेशाह

घनश्याम सेठी

पंजाबी के सन्त कवियों ने शताब्दियों तक फ़ारसी भाषा को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाए रखा। शेख़ इब्राहीम फ़रीद सानी[1] ने सर्वप्रथम इस पुरातन परम्परा को तोड़ कर अपनी मातृ-भाषा को अपनाया। तत्पश्चात माधोलाल 'हुसैन', सुलतान बाहू, बुल्हेशाह, फ़रीद, हाशिमशाह और अन्य कई कवियों ने भी शेख़ इब्राहीम फ़रीद 'सानी' का अनुसरण किया।

प्रारम्भ से ही पंजाबी साहित्य (विशेषकर काव्य) पर ब्रह्मवादी विचारों का गहरा प्रभाव रहा है। लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध पंजाबी कवि की रचनाओं पर इस प्रभाव की छाप स्पष्ट रूप से अंकित है, यहाँ तक कि पंजाबी के महाकाव्य 'हीर-रांझा' के रचयिता रूमानी कवि वारिसशाह की रचना भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं। वर्तमान पंजाबी कवि की रचनाओं में भी इन विचारों की छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है और यह प्रभाव इतना गहरा है कि भविष्य का कवि भी इससे मुक्त नहीं रह पाएगा।

पंजाब के समस्त सूफ़ी कवियों में बुल्हेशाह सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। वे सूफ़ी सन्त थे। जुलाहों और कृषकों के घरों में उनकी रचनाएँ अब लोकगीतों का रूप धारण कर चुकी हैं। और आज दो सौ वर्ष गुज़र जाने पर भी उनको पढ़ या सुन कर आत्मा फड़क उठती है। वारिसशाह की रचनाएँ जहाँ पंजाब की सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं वहाँ बुल्हेशाह पंजाब के हृदय की पुकार है।

बुल्हेशाह का जन्म सन् १६८१ में एक सम्पन्न, कुलीन और शिक्षित सैय्यद घराने में हुआ था। उनके घर में निरन्तर प्रेम और हरि-चर्चा की मन्दाकिनी प्रवाहित रहती थी। बुल्हेशाह की प्रारम्भिक शिक्षा पहले घर और फिर मकतब में हुई। पर कुल की इस घिसी-पिटी शिक्षा-पद्धति में उन्हें कोई आकर्षण नहीं दिखा और उन्होंने लाहौर जाने की ठान ली, क्योंकि गाँवों या कस्बों में किसी श्रेष्ठ मुर्शिद की आशा रखनी व्यर्थ थी और एक दिन बुल्हेशाह सचमुच गुरु की खोज में निकल पड़े। खोज के दो उद्देश्य थे; पहला यह कि शिक्षा पूर्ण की जाए और दूसरा यह कि लोक-परलोक के विषय में गुरु उनका पथ-प्रदर्शन करे। लाहौर में काफ़ी भटकने के बाद उनकी भेंट शाह इनायत कादरी से हुई, जिनका अनुसरण करने वाले उस समय सारे भारतवर्ष में फैले हुए थे (और हैं)। शाह के आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा सर्वत्र फैली हुई थी। बुल्हेशाह ने दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान् का भेद पूछा तो शाह ने कहा : "बुल्हे भगवान् का भेद यही है कि वह एक ओर तो विनाशात्मक प्रवृत्तियों में रत है, किन्तु दूसरी ओर रचनात्मक और सर्जनात्मक कार्य भी करता है।

बुल्हे का यह समाचार जब उसके परिवार में पहुँचा, तो सब ने सिर पीट लिया क्योंकि शाह इनायत कादरी 'अराई' (या 'अहमदी') मुसलमान थे, जिन्हें कुलीन मुसलमान अपना हम पल्ला नहीं समझते थे। बुल्हेशाह के उन भाई-बन्धुओं ने, जो अपनी ऊँची जाति को ही सब कुछ समझे बैठे थे, बड़े यत्न किए कि वह शाह इनायत को छोड़ दें। एक स्थान पर इसी विषय में लिखते हुए वह कहते हैं : "बुल्हे को बहनें और भावजें समझाने आईं। ऐ ! बुल्हे (उन्होंने कहा) तुमने अलियों और नबियों की सन्तान होकर यह कलंक का टीका क्यों लगा लिया ? हमारी बात मान लो ऐ बुल्हेशाह ! और एक अराई का साथ छोड़ दो।"

परन्तु वह तो गुरु को इस लोक और परलोक का द्रष्टा समझ कर आजीवन उनके चरणों में रहने का संकल्प कर चुके थे—

"बुल्हेशाह की बात सुनो। उसने पथ-प्रदर्शन के लिए गुरु ग्रहण किया है। उसका गुरु शाह इनायत है, वही उसका बेड़ा पार लगाने वाला है।"

"बुल्हेशाह ! इनायत ईश्वर का अग्रश्रावक है। वह मेरे हृदय की बात भी जानता है। मैं लोहा हूँ और वह पारस है।"

बुल्हेशाह ने सगे-सम्बन्धियों के तानों से कोई प्रभाव नहीं लिया। गुरु के प्रति उन्हें असीम श्रद्धा थी। उनका निश्चय अटल रहा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया : "जो हमें सैय्यद कहेगा वह नरक की यातनाएँ भुगतेगा। जो हमें अराई कहेगा स्वर्ग के झूलने में झूलेगा। बुल्हेशाह ! यदि तू बहारों के मज़े लूटना चाहता है तो अराइयों के संग में मिल जा।"

बुल्हेशाह की प्रसिद्ध 'काफ़ी' में शाह इनायत की चर्चा है। स्पष्ट है कि वह प्रारम्भ में उन्हीं के सम्बन्ध में लिख रहे थे—

"मैं प्रतीक्षा में हूँ कभी तो इधर भी आओ। मैंने तुम्हें कहा था, कोई संदेश ही भेजो। मैंने तुम्हारे लिए अपनी आँखें सेज पर बिछा दीं और दिल का आँगन बनाया। ऐ मेरे शाह इनायत ! धीरे-धीरे चलते हुए आ जाओ। प्रेम की प्रथम सीढ़ी पर मैंने पैर रख दिया है। हाजी मक्के हज करने चले गए हैं, पर मैं तुम्हारा मुँह देखने में ही मग्न हूँ, आओ और आकर मेरा हाथ थाम लो। मैंने सारा शहर ढूँढ मारा है; अब कौन सा कासिद भेजूँ ? प्रेम के हिंडोले में सवार मेरा हृदय धड़क रहा है।"

क्रमशः उनकी प्रकृति सत्वगुण प्रधान हो गई। वह सदा शील और विनय के अवतार बने रहने लगे। उनकी विचारधारा और भक्ति-

१. इनके पद्य सिक्खों के धार्मिक ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' तथा 'दस ग्रन्थी' में संकलित हैं।

पद्धति अन्य भारतीय तथा पंजाबी सूफ़ियों—तुकाराम, कबीर, नानक, पोतना, हुसैन, फरीद सानी इत्यादि के विचारों से गहरा मेल खाती थी ।

इस्लाम धर्म के अनुसार ईश्वर एक है और अन्य किसी दैवी शक्ति की सत्ता इस संसार में नहीं है। बहुदेववाद को इस्लाम में महापाप समझा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् एक है, और उसके अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति पूजन का अधिकार नहीं रखती। वह सर्वातीत है। वही इस ब्रह्माण्ड का कारण और निर्माता है। सूफ़ी साधक आरम्भ में इस बात को मान कर चले, परन्तु ज्यों-ज्यों उनका चिन्तन और निरूपण प्रौढ़ होता गया वे इस धारणा से विमुख होने लगे। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि वास्तविक सत्ता और परम सत्य भी वही है।[1] वह केवल एक ही नहीं है बल्कि वही सब कुछ है। वह अपनी विभूतियों में अनन्त है और उसकी सर्वव्यापी सत्ता है। वह निरुपाधि है, निर्गुण है, असीम है। सभी कारण उसकी इच्छा के परिणाम हैं। उसका निवास सब प्राणियों में है और सब प्राणियों का निवास परमात्मा में। कट्टर इस्लामी सिद्धान्तों से यह विचार मेल नहीं खाते। फलतः स्थानीय मुसलमान अधिकारी उनके विरोधी हो गए। शाह इनायत का सम्बन्ध सूफ़ियों के उसी गिरोह से था, जिसने दारा-शिकोह को 'तसव्वुफ़' प्याला पिला दिया था। औरंगज़ेब के हाथों पराजित होकर जब दारा शिकोह का जीवन समाप्त हो गया तो पंजाब में सूफ़ियों के लिए बड़ी-बड़ी रुकावटें पैदा हो गईं। इसी अपराध के दण्डस्वरूप प्रसिद्ध सूफ़ी साधक सुमर्द और मुल्लाशाह को फाँसी दी जा चुकी थी। इसलिए जब शाह इनायत ने बुल्हेशाह को इन विचारों का खुल्लमखुल्ला प्रचार करते देखा, तो उसे टोकना चाहा क्योंकि वह स्वयं भी मुग़लों के भय से बच-बच कर चलते थे। शाह इनायत को बुल्हेशाह से बड़ी आशाएँ थीं और उन्होंने अपने हृदय के सभी ख़जाने अपने शिष्य के सामने खोल कर रख दिए थे और इस रास्ते के सभी भेद और कठिनाइयाँ उस पर विदित कर दी थीं। पर गुरु-इच्छा थी, कि उनका शिष्य, भेद को भेद समझ कर ही ग्रहण करे और रखे, परन्तु शिष्य छिपाना न जानता था; उसने पिटारी खोल कर सब कुछ बिखेर कर रख दिया। यह देख कर शाह इनायत ने बुल्हेशाह को सामयिक तक़ाज़ों और माहौल की मजबूरियों से अवगत कराया। परन्तु बुल्हेशाह अल्पकाल में ही अपनी कठोर साधना द्वारा अपनी आत्मा का कलुष धोकर परमात्मा के मार्ग पर अग्रसर हो चुके थे। उनकी जिह्वा सदा ज़िक्र और मन फ़िक्र में मस्त-मौला बने रहते। वह उसके साथ एकमेक हो चुके थे। उन्होंने अपने अन्तराल से उठती हुई आवाज़ को मुग़लों के भय से दबाया नहीं—

"मुँह आई बात न रेहन्दी ए
झूठ आख्यां ते कुछ बचदा ए
सच आख्यां भाम्बड़ मचदा ए
दिल दोनां गल्लां तो जचदा ए
जच-जच के जिह्वा कैंहदी ए
मुँह आई बात न रेंहदी ए
इक लाज़म बात अदब दी ए
सानूँ बात मलूम सब दी ए
हर-हर विच सूरत रब दी ए
कहूँ जाहर कहूँ छुपी दे ए"

अर्थात्—"मुँह में आई बात रुकती नहीं। झूठ कहूँ तो कुछ शेष बचा रह जाता है। सच कहूँ तो आग लग जाती है। मन दोनों बातों से डरता है। परन्तु डर-डर के भी जिह्वा कह उठती है—कि मुँह में आई बात नहीं रुकती। अदब (शिष्टाचार) एक लाज़िम बात है और हमें सब की बात मालूम है। प्रत्येक वस्तु भगवान् का रूप है। कहीं यह रूप गुप्त है तो कहीं स्पष्ट।"

"—बुल्हे नूँ लोकी मत्तां दिंदे
तू जावीं मसीतीं
विच मसीतां दे कुज हुन्दा
जे विचों गई न पलीती
भिट्ट नमाज़ा ते चिक्कड़ रोज़े
कलमें ते फिर गई स्याही
बुल्हे नूँ शाह अन्दरों मिलया
भुल्ले फिरन लुकाई"

अर्थात्—"बुल्हे को लोग कहते हैं कि ओ बुल्हे! तू मस्जिद में जाकर बैठ। मस्जिद में जाने से क्या होता है, यदि मन का कलुष न मिटा हो। इस प्रकार तो नमाज़ मिट्टी, रोज़े कीचड़ हैं और कलमे पर भी स्याही पुत जाती है। साधना व्यर्थ हो जाती है। बुल्हेशाह को देव के दर्शन अपने मन में ही हुए। यह लोग तो भूले फिर रहे हैं।"

निम्नांकित 'काफ़ी' में ही बुल्हेशाह का वह विद्रोह है जिससे भयभीत होकर शाह इनायत कादरी ने बुल्हेशाह को अपने मठ से निकाल दिया। गुरु में सरकार का क्रोध बर्दाश्त कर सकने का साहस नहीं था—

"बुल्हे! क्या जानूँ मैं कौन हूँ? न मैं मोमिन हूँ न काफ़िर हूँ। न पथभ्रष्ट हूँ और न पुण्य-आत्मा, न मूसा हूँ और न फ़िरौन। बुल्हे! मैं क्या जानूँ मैं कौन हूँ। न मैं वेदां तथा अन्य पोथियों में हूँ और न भांग-शराबों में हूँ। न जागृत अवस्था में हूँ और न ही सोया हुआ हूँ। बुल्हे! क्या जानूँ मैं कौन हूँ। न मैं हर्ष और उल्लास में हूँ और न दुःख और कष्ट में। न मैं धर्मात्मा हूँ और न दुराचारी। न मैं थल में हूँ न जल में। न मैं अग्नि में हूँ न हवा में। बुल्हे! क्या जानूँ मैं कौन हूँ। न मैंने धर्म का ही रहस्य समझा है और न ही मैं आदम-हव्वा की सन्तान हूँ। न मैं गतिहीन हूँ और न गतिशील। बुल्हे! मैं क्या जानूँ मैं कौन हूँ। आदि और अन्त, मैं अपने को ही समझता हूँ। किसी और को मैं नहीं पहचानता, क्योंकि मुझ से अधिक कोई विद्वान ही नहीं है और न मैं अच्छाई और बुराई में ही कोई तमीज़ रखता हूँ। बुल्हे! क्या जानूँ मैं कौन हूँ।"

बुल्हेशाह को गुरु ने यह कह कर मठ से निकाल दिया कि ख़बरदार! अब कभी मुझे अपनी शक्ल न दिखाना। वह अपना

१. इस्लाम के अनुसार आत्मा तथा दृश्यमान जगत की उससे अलग सत्ता है।

जीवन घूम-फिर कर व्यतीत करने लगे। पर गुरु बिन चैन कहाँ! वह दिन-रात गलियों में भटकते और गा-गाकर लोगों को सुनाते कि गुरु को पाना ईश्वर को पा लेने के बराबर है। उन्होंने बड़े यत्न किए कि शाह इनायत उन्हें पुनः अपनी शरण में ले लें परन्तु असफल रहे। अन्त में एक गायक-मण्डली में मिल गए और उस टोली को लेकर नित्य ही वह वहाँ आकर खड़े हो जाते, जहाँ से शाह इनायत गुज़रा करते थे। एक दिन जब यह शाही मस्जिद (लाहौर) के सामने खड़े हुए थे, महफ़िल गरम थी और खूब-खूब वाह-वाह हो रही थी। शाह इनायत मस्जिद से निकले—बुल्हेशाह स्त्रियों की वेश-भूषा धारण किए, लोगों को यह काफ़ी सुना रहे थे और सारंगी बजा रहे थे—

"—वत न करसां मान
रांझड़े यार दा अड़या
इश्क अल्ला दी जात
लोकां दा मेहनां
किस दिल करां पुकार
किसे न रहना
उसे दा हाल ओही जानें
कोई दम मारदा वे अड़िया"

अर्थात्—मैं अपने प्रियतम पर अब और मान न करूँगी। प्रेम तो ईश्वर की देन है, परन्तु लोग मुझे ताने देते हैं। मैं किसके सामने पुकार करूँ, किसी को भी इस संसार में सदा नहीं रहना है। उसकी करनी वही जाने, शिकायत करने का साहस किसमें है?"

और फिर जब गुरु को अपनी ओर आते देखा तो बोले:

"—आयो सय्यो नी दयो नी बधाई
मैं वर पाया रांझा माही
अज दा रोज़ मुबारक चड़या
रांझा साडे वेढ़े वड़या
हत्थी खूंडी मोंडे कम्बल धरया
चाकां वाली शक्ल बनाई"

अर्थात्—"सखियो आओ, मुझे बधाई दो कि मैंने राँझे प्रियतम को वरदान में पा लिया। आज का दिन तो बड़ा शुभ है जो प्रियतम मेरे आँगन में आया। उसके हाथ में लाठी है, कंधे पर कम्बल है और सूरत प्रियतमों वाली है।"

गुरु ने अपने शिष्य का स्वर पहचानने में धोखा नहीं खाया, और बुल्हेशाह से पूछा:

"ओह तू बुल्हे एं?"
—अरे तुम बुल्हेशाह हो?

बुल्हे ने कहा—

"नहीं मैं भुल्ला सां!"
—नहीं मैं भूला हुआ था।

सूफ़ी साधक और कवि परमात्मा को प्रियतम कह कर पुकारते हैं। इस प्रेमी-प्रियतम सम्बन्ध को लेकर पंजाबी साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है। स्त्री-पुरुष (भक्त और भगवान्) के प्रेम-वर्णन में सूफ़ी कवियों के काव्य अश्लीलता की हद तक पहुँच चुके हैं। भारत में तो सूफ़ी मत मुख्यतः ईरान से आया और ईरानी सूफ़ी भी अपनी परम्परानुसार जो बात कहते थे "गुल व बुलबुल" और "साक़ी व मीना" के पर्दे में छिपा कर कहते थे। पर पंजाब ने इस काव्य की रंगत ही बदल दी। बुल्हेशाह ने केवल सूफ़ियाना विचारों की ही अभिव्यक्ति पंजाबी में नहीं की बल्कि पंजाब की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं को इस प्रकार अपनी भाषा में समो दिया और हिन्दू-दर्शन की चमक इस पर इस ढंग से चढ़ाई कि सूफ़ी मत की शक्ल ही बदल गई। उन्होंने कहा, प्रेम करना एक बहुत बड़ी तपस्या है और ईश्वर से मिलने का यही एक ढंग है। बुल्हेशाह ने अपनी रचनाओं में ऐसे प्रतीकात्मक भावों का प्रयोग किया और आध्यात्मिक विचारों को आम जनता तक पहुँचाने के लिए ऐसी उपमाओं और मुहावरों का प्रयोग किया है जो पंजाब के सामाजिक जीवन का एक अंग हैं। शायद बुल्हेशाह प्रथम सूफ़ी कवि थे, जो इस दिशा में पूर्ण रूप से सतर्क थे और काफ़ी संयत भी! इनकी काव्य-रचनाओं का शृंगार मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता:

"रांझा-रांझा करदयां नीं मैं
आपे रांझा होई
सद्दो नी मैनूँ धीदो रांझा
हीर न आखो कोई!"

"राँझा-राँझा पुकारते-पुकारते मैं स्वयं ही राँझा बन गई हूँ। ऐ सखियो! मुझे राँझा कह कर पुकारो, मुझे हीर कोई न कहो। राँझा और मैं एकमेक हो चुके हैं। मैं मिट गई हूँ, अब वही शेष है। अपना मनोरंजन वह स्वयं ही करे। सखियो! मुझे हीर कह कर मत पुकारो··· मेरे हाथ में लाठी है। मेरे सम्मुख ढोर हैं और कन्धे पर लोई है। बुल्हे! देखो, हीर राँझा के विरह में कहाँ से कहाँ पहुँच गई है। सखियो! मुझे हीर कह कर न पुकारो···"

चरखा पंजाब के ग्रामीण जीवन का एक अंग है। हल चलाने के लिए पुरुष जब खेतों को चले जाते हैं तो घर की स्त्रियाँ, घर के बाहर किसी पीपल की छाँह तले अपने-अपने चरखे निकाल लाती हैं। यह स्थान 'त्रिंजन' कहलाता है। बुल्हेशाह ने अपनी एक 'काफ़ी' में इसी स्थान की पृष्ठभूमि में लिखा है:

"—हत्थी ढलक पई मेरे चरखे दी
नीं मैथों कतिया न जाए
मुश्किल दिन चढ़या गुज़रे
पर ओह रातीं शक्ल दिखाए
तकले नूं वल पै जांदे
कोई लुहार बुलाए
तकले तों वल सा लोहारा
मेंडा तंद टुट-टुट जाए
घड़ी-घड़ी ऐह भूले खांदा
पछी हिक न लाहे

माही छड़गयाँ नाल सजींदा
हुण कत्तण किस नूं भाए"

अर्थात्—"मेरे चरखे की हत्थी ढलक गई है, अब मुझ से काता नहीं जाता। यह पहाड़-सा दिन कब व्यतीत होगा और कब वह रात गए घर लौटेगा। मेरे तकले में बल पड़ गए हैं, अरे! कोई लुहार को बुलाओ। अरे लोहार! तकले को सीधा कर दे, क्योंकि मेरा तार टूट-टूट जाता है। तकला बार-बार झोल खाता है और इसने अभी तक एक भी कुकरी नहीं उतारी। प्रियतम तो मेरा गाँव से दूर, चरागाहों में ढोर चरा रहा है, अब मेरा कातना किसे अच्छा लगता है?"

तकला मानव-मन का प्रतीक है जो बार-बार झोल खाता है और लोहार गुरु है जो मन को राह पर डालता है।

बुल्हेशाह की निम्नांकित 'काफ़ी'—जो 'इश्क' और 'शरह' का झगड़ा है—बड़ी प्रसिद्ध है और अब पंजाबी साहित्य की एक अमर कला-कृति बन चुकी है—

"—इश्क शरह दा झगड़ा पै गया
मन दा भरम मटावां मैं
सवाल शरह दे जवाब इश्क दे
हज़रत आख सुनावां मैं
शरह कहे चल पास मुल्ला दे
सिख ले अदब-आदाबां नूं
इश्क कहे इक हर्फ़ बथेरा
ठप रख होर किताबां नूं
शरह कहे कर पंज अशनानां
आ लग मन्दर पूजा दे
इश्क कहे तेरी पूजा झूठी
जे बिन बैठों न भाए
शरह कहे कुछ शरम हया कर
बंद कर इस चमकारे नूं
इश्क कहे ओह घूँघट कैसा
खुल्लन दे नज़ारे नूं······"

अर्थात्—'इश्क' और 'शरह' का झगड़ा हो गया। मैं इनके भ्रम मिटाता हूँ और 'शरह' के प्रश्न और 'इश्क' के उत्तर कह सुनाता हूँ। 'शरह' ने कहा कि मुल्ला के पास चल और कुछ दीन-धर्म की बात भी सीख ले। 'इश्क' ने उत्तर दिया कि मेरे लिए एक शब्द (प्रियतम) ही पर्याप्त है, अन्य पोथियों को तुम बन्द ही रखो। 'शरह' ने कहा कि पाँच बार स्नान किया कर और मन्दिर जाया कर। 'इश्क' ने उत्तर दिया कि यदि मन्दिर जाए बिना पूजा सम्पन्न नहीं हो सकती तो तुम्हारी पूजा झूठी है। 'शरह' ने कहा कि अरे नीच बन्द कर इस बेहयाई के चमकारे को और कुछ आदाब सीख। 'इश्क' ने कहा शरम व हया का परदा कैसा, इस घूँघट को उठा कर अपनी बात कहो······

बुल्हेशाह का हृदय विरागरंजित था। आँख खोलो तो भगवान्, आँख बन्द करो तो भगवान्—तन्मयता उनके जीवन का प्रधान अंग थी। जिस प्रकार शराब के नशे में मनुष्य कुछ समय के लिए अपने आपको भूल जाता है, उसी प्रकार प्रियतम (परमात्मा) के नाम की माधुरी पीकर, वह चिरन्तन काल के लिए अनन्त समाहित सिद्धि को प्राप्त कर चुके थे। जिस प्रकार रक्त का संचार मानव-धमनियों में होता रहता है, उसी प्रकार भगवान की अनन्त चेतना उनके अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हो गई थी। उन्हें संसार की प्रत्येक वस्तु में उसी परम प्रियतम के दर्शन होते थे :

"—वृन्दावन में गौ चरावे
लंका साड़ के नाद बजावे
मक्का जा बन हज़रत आवे
वाह-वाह रंग विराया हो"

—वृन्दावन में गाएँ चराते रहे। लंका-दहन करके तुमने विजय-नाद किया। फिर मक्का जाकर पैग़म्बर का रूप भर लिया। प्रियतम! तुम्हारे इन रंगों का पार नहीं।

उनकी एक 'काफ़ी' है :

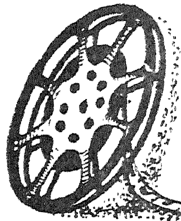
"—हिन्दु नां, नई मुस्लमान
बेह तिरंजन तज अभिमान
सुन्नी नां, नई हम शिय्या
सुलह कुल दा मार्ग लिया
भुखे नां, नई हम रज्जे
नंगे नां, नई हम कज्जे
रोंदे नां, नई हम हसदे
उजड़े नां, नई हम वसदे
पापी नां, सुधर्मी नां
पाप-पुण्य की राह नाँ जाँ
बुल्हेशाह जो हर चित्त लागे
हिन्दु व तुर्क दोजन त्यागे"

—न मैं हिन्दू हूँ न मुसलमान—आओ अभिमान को तज कर चरखा कातें। न मैं सुन्नी हूँ न शिया—मैंने तो परम शान्ति का मार्ग अपना लिया है। न मैं भूखा हूँ और न ही मेरा पेट भरा हुआ है, न मैं नंगा हूँ और न ही मेरा शरीर ढका हुआ है। न मैं रोता हूँ, न हँसता हूँ, न आबाद हूँ और न ही बर्बाद हूँ। न पापी हूँ; न सदाचारी हूँ—पाप-पुण्य की राह मैं नहीं जानता। बुल्हेशाह! जिसका मन प्रभु से लग जाता है वह हिन्दू-मुसलमान को दो जन नहीं समझता।

बुल्हेशाह ने शब्दों को नाप-तोल कर उनका प्रयोग नहीं किया और न विचारों का ही कोई क्रम रखा। जो उनके मन में जहाँ आया, जैसे आया, वहाँ वैसा ही लिखते चले गए। शायद इसीलिए उनके काव्य की कैफ़ियत एक छलकते हुए रस के प्याले के समान है जिसके दिल को कभी चैन नहीं और शायद इसीलिए उनकी रचनाओं में संगीत भी है और संवेदना भी, सोज़ भी है और साज़ भी—

"—कुसम्बड़ा चुग-चुग हारी नीं मैं

[शेष पृष्ठ ३४ पर]



कुछ नए भारतीय चलचित्र

प्रेमलता 'दीप'

देवदास

सुप्रसिद्ध निर्देशक बरुआ और अमर कलाकार कुन्दनलाल सहगल की अत्यन्त लोकप्रिय कृति देवदास के लगभग एक पीढ़ी बाद, महान् लेखक शरद्चन्द्र के इस अत्यन्त श्रेष्ठ उपन्यास का पुनः चित्रीकरण हुआ है। किसी उपन्यास के अभिनीत एवं चित्रित रूप से उसके मूलरूप की तुलना करना उचित नहीं होता, क्योंकि दोनों की टेकनीक तथा शैली एकदम भिन्न है।

आज से लगभग बाईस वर्ष पूर्व निर्मित चित्र देवदास की लोकप्रियता की यह स्थिति थी कि लोगों ने एक बार नहीं, उस चित्र को बार-बार देखा था। और जिसने वह चित्र नहीं देखा था, उसका चलचित्र सम्बन्धी ज्ञान बहुत सीमित समझा जाता था। आज के बने इस चित्र के प्रति भी दर्शकों की उत्सुकता कुछ कम नहीं। किन्तु आज की उत्सुकता के कई कारण हो सकते हैं। सर्वप्रथम, तुलनात्मक दृष्टिकोण हो सकता है। दूसरा यह कि चित्र का कथानक ही इतना मर्मस्पर्शी है कि जनता का मन बिना यह चित्र देखे नहीं मानता। प्रश्न तो यह है कि आज के दर्शक भी इस चित्र को क्या बार-बार देखना पसन्द करेंगे? उत्तर अस्पष्ट है। इस अस्पष्टता के भी दो कारण हैं। एक तो यह कि फ़िल्म व्यवसाय की नवीनतम कृतियों में इतना वैविध्य एवं इतनी तीव्रगति दृष्टिगत होती है कि कसौटी पर कसे जाने पर अधिकांश चित्रों का सफल सिद्ध होना कठिन होता है। दूसरा उस ज़माने में आदर्शवादिता से ओत-प्रोत एवं अत्यन्त भावुक कृति पर जनता मर मिटती थी, इधर आज के दर्शक चित्रों में युक्तियुक्तता तलाश करते हैं। और सच तो यह है कि जहाँ मस्तिष्क अर्थात् युक्तियों का सवाल आ जाता है, वहाँ आलोचना अधिक कड़ी हो जाती है। दूसरे शब्दों में समाज की तत्कालीन भावुकता के स्तरानुसार वह कृति उस समय अमर सिद्ध हुई, पर आज भी वह अमर बन पाएगी या नहीं, इसमें संदेह है। देखा जाए तो देवदास चित्र के गुण-दोष विवेचन करने का तात्पर्य है कुछ अंश तक लेखक शरद्चन्द्र के उपन्यास के गुण और दोषों का विवेचन करना। शरद्चन्द्र के उपन्यास अच्छे-से-अच्छे सिनैरियो लेखकों की कला से कम अच्छे नहीं होते। निर्देशक को इस सम्बन्ध में अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती। रही कथा की सामयिकता की बात। आज का युग तनिक अधिक आगे सरक आया है। तदनुसार कथा अत्युत्तम होते हुए भी अधिक सामयिक नहीं बन पाई। लोकापवाद के भय तक को तिलांजलि देकर देवता के चरणों में अर्पित होने के आशय से नायिका नायक के घर बहुत रात बीत जाने पर जाती है, पर नायक दुर्बल मन है। बाद में नायक के जीवन में निराशा की पराकाष्ठा देख हृदय रो उठता है। सम्पूर्ण कथा का चित्रीकरण काफ़ी प्रभावपूर्ण हुआ है।

अभिनय की दृष्टि से नायक दिलीप कुमार, नायिका सुचित्रा सेन, नर्तकी वैजयन्तीमाला तथा व्यक्तिगत सहायक नज़ीर हुसैन ने अपनी-अपनी भूमिकाओं को बहुत सुन्दर रूप से निभाया है। शेष पात्र भी ठीक हैं। किन्तु बच्चों के हावभाव प्रौढ़ों के समान प्रतीत होते हैं। छोटे नायक के चले जाने के बाद छोटी नायिका को एकान्त में वैसे ही पेड़ के पास खड़ा कर दिया जाता है, जैसे भारतीय फ़िल्मों में अन्य नायिकाओं को। नायक के दृष्टि से ओझल हो जाने पर नायिका भिक्षुक गायकों से गाना सुनती है—ग़म ग़लत करने के लिए। उसकी आँखों से भले ही आँसू ढुलकवा दिए जाते हैं, किन्तु स्थिति प्रभावोत्पादक

'देवदास' में दिलीप कुमार



प्रतीत नहीं होती। दूसरे, नायक द्वारा नायिका के माथे पर स्मृति स्वरूप चिन्ह अंकित किए जाने का दृश्य भी उतना प्रभावोत्पादक नहीं है, जितना वह होना चाहिए था। बात कुछ अधूरी-सी रह जाती है।

चित्र का संगीत भी अधिक मधुर नहीं, किन्तु निर्देशक-निर्माता बिमल राय का कहना है कि एक अच्छी कृति के लिए अच्छा संगीत सहायक नहीं, घातक सिद्ध होता है। जनता का ध्यान कृति से हट कर संगीत की मधुर लहरियों की ओर खिंच जाता है, जिससे उत्तम कृति को क्षति पहुँचती है। इस कथन के दोनों पक्ष हो सकते हैं। एक ओर यह कथन सत्य कहा जा सकता है और दूसरी ओर कृति यदि वास्तव में उत्तम है, तो अच्छा संगीत उसको हानि पहुँचाने की बजाय उसके लिए सहायक भी सिद्ध होता है। पूर्व रचित देवदास ही इसका प्रमाण है। प्रस्तुत देवदास में बच्चों का गान काफ़ी अस्वाभाविक जान पड़ा। साथ ही वह उतना कर्णप्रिय भी नहीं है। इसी प्रकार नर्तकी के गीत बहुत साधारण स्तर के हैं। वातावरण के अनुसार मधुर गीत सम्भवतः इस कृति को अधिक सजीव बनाने में सहायक सिद्ध होते।

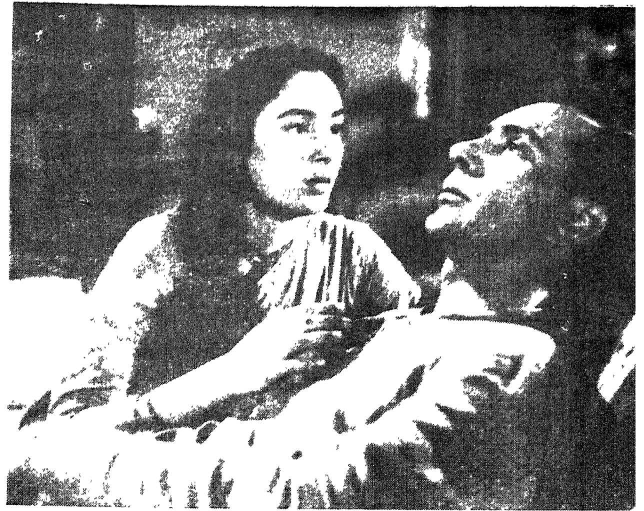
निर्देशन के विचार से चित्र में पर्याप्त दक्षता का परिचय मिलता है। चित्र की फ़ोटोग्राफ़ी भी बहुत अच्छी है। सज्जा और वेशभूषा भी उपयुक्त हैं। शेष अवयव ठीक ही हैं। सामान्य रूप से कृति असफल नहीं कही जा सकती; वह इस वर्ष की स्मरणीय रचनाओं में है।

सीमा

अमिय चक्रवर्ती द्वारा निर्मित एवं निर्देशित चित्र 'सीमा' उत्तम कृति कही जा सकती। कथानक में नवीनता है और समाज के एक ज्वलन्त प्रश्न के उत्तर की ओर संकेत है। समाज के अधिकांश पथ-भूले सदस्य, परिस्थितियों के क्रूर हाथों में पड़ कर किस हेय स्थिति में पहुँच जाते हैं, यह इस चित्र में अंकित किए
समाधान स्वरूप सुधारक संस्थाओं का सुझाव प्रस्तुत किया गया है। ऐसी सुधारक संस्थाओं के संरक्षकों से आशा की जाती है कि वे उक्त वर्ग का मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा सुधार करेंगे। चित्र के निर्देशक ने यद्यपि उक्त साधन द्वारा पतितों का उद्धार करने की चेष्टा की है, किन्तु उसे अधिक सफलता नहीं मिल सकी। सुधारक का व्यक्तित्व कहीं-कहीं, सुधारकों के समान नहीं, सामान्य अध्यापकों के सदृश प्रतीत होता है। सौम्यभाव दर्शाने की बजाय वह कहीं-कहीं चिल्लाने लगता है, जिससे इच्छित वातावरण उत्पन्न नहीं हो पाता। फिर भी चित्र में निहित आशय सुन्दर है और चित्र ध्येयपूर्ण है।

सम्बन्धियों से तिरस्कृत अनाथ बालिका, निरपराधिनी होने पर भी, समाज द्वारा अपमानित होती है और दोषी ठहराई जाती है। समाज द्वारा दण्डित तथा समाज के दुर्व्यवहार से पीड़ित होने पर, उसमें समाज के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में पात्रों को यदि उचित आश्रय न मिले तो वे पतित और समाज के अवांछनीय प्राणी बन जाते हैं।

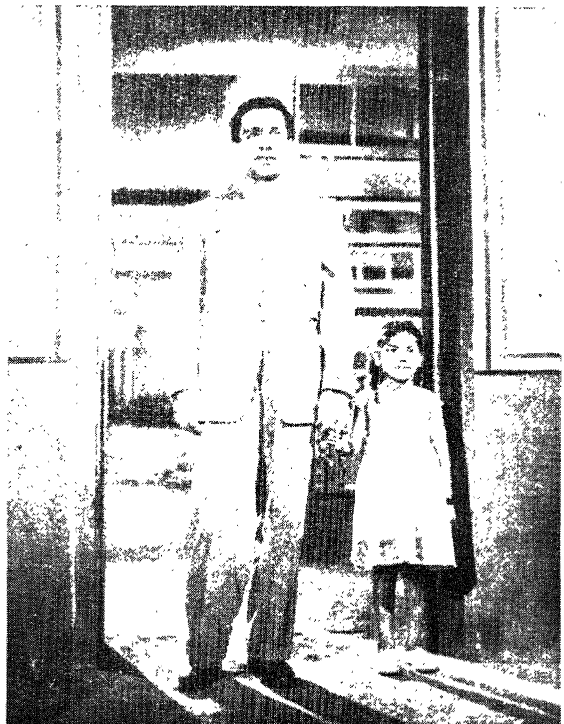
चित्र का कथानक पर्याप्त उन्नत स्तर का है और वह रोचक एवं हृदयग्राही भी है। कई एक स्थितियों का अंकन यथेष्ट दक्षता से हुआ



'सीमा' में नूतन और बलराज साहनी

है। बलिदान, प्रेम, देश-सेवा आदि मूलभूत प्रवृत्तियों का उत्तम प्रतिपादन हुआ है। किन्तु कथानक के अंत में तनिक शिथिलता एवं अस्वाभाविकता आ गई है। जानबूझ कर उपदेश देने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगती है। डूबते को तिनके का सहारा, ठुकराई हुई कन्या की सहानुभूति उद्धारक के प्रति हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु स्थितियाँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक जान पड़ती हैं, विशेषकर चित्र के अन्त में।

'सीमा' में बलराज तथा बालिका शशि





'सीमा' में नूतन और दुबे

अभिनय के क्षेत्र में नूतन ने इस चित्र में दक्षतापूर्ण एवं उत्तम अभिनय किया है। बलराज साहनी का अभिनय सामान्य रूप से अच्छा है, किन्तु यदि वह तनिक और गम्भीर होता तो अच्छा रहता। उसका चिल्लाना अखरता है। स्पष्टतः इसमें दोष कलाकार का नहीं, अपितु निर्देशक का है। खलनायक के रूप में दुबे का अभिनय अच्छा है, किन्तु नायिका से पिटते हुए भी उसका बचने का प्रयास न करना हास्यास्पद प्रतीत होता है। यहाँ भी दोष अभिनेता का नहीं, निर्देशक का है। नवोदित तारिका शोभा खोटे का अभिनय सामान्य सिद्ध हुआ है और सुन्दर का अभिनय भी सामान्य है।

संगीत चित्र का अधिक आकर्षक अंग नहीं बन सका है। सज्जा सुन्दर है। फोटोग्राफी और वेशभूषा ठीक है, पर हास्य का पुट प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सका। हाँ, चीनी का एक बरतन टूट जाने पर, नौकरानी को पुलिस के हाथों सौंप देने की मालकिन की धमकी पर अवश्य हँसी आ जाती है।

सामान्य रूप से चित्र बुरा नहीं।

आवाज़

"सुनते थे नाम बहुत........" कहावत के अनुसार 'आवाज़' चित्र देखने पर काफी निराशा हुई। महबूब नये निर्देशक एवं निर्माता नहीं हैं। महबूब द्वारा निर्मित तथा उनकी देख-रेख में ज़िया सरहदी द्वारा निर्देशित यह कृति देख कर निराशा हुई। आदि से अन्त तक दर्शक कहानी का सिर-पैर ही ढूँढ़ता रह जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्देशक ने पहले हज़ारों फुट फ़िल्म का शूटिंग कर डाला और बाद में कैंची लेकर जहाँ-तहाँ से सैल्यूलाइड काटता चला गया। परिणामस्वरूप कहानी में झटके, सिनेरियों में झटके, और तो और स्थितियों में भी झटके लगते हैं। दो कहानियाँ एक साथ दौड़ती हैं और यहाँ का दृश्य वहाँ और वहाँ का दृश्य यहाँ भागता रहता है। ढूँढ़ने के प्रयास में, कहानी में जहाँ-तहाँ मानवीय एवं आकर्षक स्थितियों का दर्शन तो हो जाता है, मगर बार-बार यही विचार उठता है कि ऐसी स्थितियों का तो बीसियों बार अंकन हो चुका है, इनमें नवीनता रंच भर भी नहीं। नौकरी छूट जाने पर एक वृद्ध पुरुष के दर-दर ठोकरें खाने के वैसे ही दृश्य अनेक बार अंकित हो चुके हैं। पैसे द्वारा सौंदर्य का व्यापार करने वाले धनिक के दुर्व्यवहार के दृश्य भी, एक नहीं, अनेक तरह से और अनेक बार अंकित हो चुके हैं। बल्कि कितने ही ऐसे दृश्य जो अपनी ओर से कारुणिक बनाए गए हैं, देख कर हँसी आ जाती है। हँसी का पुट मुकरी ने भी दिया है। यदि सहानुभूति होती है तो केवल दो पात्रों से, पिता के रूप में नज़ीर हुसैन से और उसके मित्र के रूप में अनवर से। कुछ अंश तक महिला पात्रों से अर्थात् लीला चिटनीस, नलिनी जयवंत और उषाकिरण से भी सहानुभूति होती है। अभिनेता राजेन्द्र को अभिनय का अधिक क्षेत्र उपलब्ध न हो सका और जुलवलानी क्षेत्र मिलने पर भी उत्तम अभिनय का परिचय न दे सका।

ऐसा प्रतीत होता है कि निर्देशक चिकों का बहुत शौकीन है। भटनागर जी के घर में जहाँ-तहाँ चिकें टँगी हुई दिखाई देती हैं—कहीं टूटी, कहीं साबुत। जहाँ चिक टूटी हुई है, वहाँ से पात्र झाँकते रहते हैं। निर्देशक को इस अटपटी बात में रुचि की तुक समझ में नहीं आई। जो भी हो, चित्र में निहित आशय बुरा नहीं। दहेज की कुप्रथा से पीड़ित मध्यमवर्ग की दशा का अंकन इस चित्र में किया गया है। मध्यमवर्ग के परिवार का घरेलू जीवन भी यथार्थरूपेण अंकित किया



'आवाज़' में नलिनी जयवन्त और जुलवलानी



'आवाज़' में नलिनी जयवन्त

गया है। उधर कारखाने में सहृदय मित्र के चरित्र का चित्रण भी सुन्दर हुआ है।

चित्र में न संगीत उत्तम है और न नृत्य ही। स्पष्टतः यह चित्र अत्यन्त सामान्य चित्रों की श्रेणी में है।

निर्देशक ज़िया सरहदी की इससे पहली कृति 'फ़ुटपाथ' भी असफल रही थी। अतः इस चित्र को देख कर शिकायत निर्देशक से नहीं, निर्माता से होती है, जिनकी देख-रेख एवं संरक्षण में यह चित्र बना। महबूब फ़िल्म व्यवसाय के उन स्तम्भों में से एक हैं, जिन्होंने स्मरणीय कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। 'अन्दाज़', 'आन' जैसे चित्र इन्होंने बनाए हैं और इनका नाम उच्च श्रेणी के निर्देशकों में गिना जाता है। व्यवसाय के साथ कदम-से-कदम मिला कर न चलने वाले निर्देशक व निर्माताओं की कृतियों का जनता अधिक समय तक स्वागत न कर सकेगी, यह बात निश्चित है।

ताँगावाली

'ताँगावाली' चित्र में एक विशेषता है। कथा बड़े स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप से चलती रहती है, विशेषतः चित्र के प्रथम भाग में। पात्रों के प्रति अनायास ही कभी सहानुभूति तो कभी नाराज़गी का भाव आता रहता है और दर्शक को ऐसा नहीं प्रतीत होता कि लेखक या निर्देशक ने उसके भावों को उद्वेलित करने के लिए जानबूझ कर स्थितियाँ उत्पन्न की हैं। इस बात का श्रेय इस फ़िल्म के कथा लेखक पण्डित मुखराम शर्मा को है। 'अधिकार', 'औलाद', 'ताँगावाली', 'वचन', 'एक ही रास्ता' आदि चित्रों की लोकप्रियता का बड़ा श्रेय श्री मुखराम शर्मा को है। ताँगावाली चित्र की कहानी बड़ी सरल और स्वाभाविक है और ऐसा प्रतीत होता है कि चित्र में घटित घटनाएँ वास्तविक रूप से घट रही हैं। पंजाबी जीवन का वातावरण भी वास्तविकता के साथ उत्पन्न कर दिया गया है। पात्रों के चरित्र में स्वाभाविकता, आवश्यव भोलापन, तथा सादगी है।

कथानक में उक्त स्वाभाविकता के अतिरिक्त अच्छाई और बुराई मे स्पष्ट अन्तर दिखाया गया है। यदि किसी निरपराध व्यक्ति पर असहनीय मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़े तो किस दर्शक का हृदय द्रवित न हो उठेगा? दूसरी ओर, पतित की पराजय और अन्त में किसी भले व्यक्ति के हाथों उसका सुधार होता देख दर्शक को अपूर्व शान्ति क अनुभव होता है।

'ताँगावाली' में एक शरीफ़ ताँगेवाले का रोमांस दिखाया गय है। मुसीबत में पड़ी एक लड़की की सहायता करते हुए वह अपने प्राण दे देता है। उसकी पत्नी अपने पति की मर्यादा क़ायम रखती है। पर दुर्भाग्य से उसी का बेटा आवारा सिद्ध होता है। माँ की ममता और कर्त्तव्य की पुकार में कशमकश होती है और अन्त में जीत सच्चाई की होती है। यद्यपि बाप के बाद बेटे की कहानी का आरम्भ होते समय ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही चित्र में दो कथानकों क

'ताँगावाली' में निरूपा राय





'ताँगावाली' में बलराज साहनी



'एक ही रास्ता' में जीवन

समावेश हो गया है, किन्तु कुछ ही समय के बाद चित्र में रोचकता उत्पन्न हो जाती है।

सुन्दर कथानक के अतिरिक्त चित्र की दूसरी विशेषता है कहीं-कहीं उपयुक्त संगीत, जिससे इच्छित वातावरण उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायता मिली है।

अभिनय के क्षेत्र में निरूपा राय और बलराज साहनी का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। इन दोनों कलाकारों ने भारतीय फ़िल्म व्यवसाय में विशिष्ट स्थान बना लिया है। जयन्त और गोप ने भी अपनी-अपनी भूमिकाओं को यथाशक्ति अच्छा निभाया है। शम्मी का अभिनय अधिक नहीं निभा। वेशभूषा सुन्दर एवं उचित कही जा सकती है। निर्देशन सज्जा, फ़ोटोग्राफ़ी आदि चित्र के अन्य अवयव ठीक हैं।

साधारणतः चित्र अच्छा है।

एक ही रास्ता

शीर्षक से कुछ अंश तक यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्र में कोई समस्या खड़ी की गई होगी, जिसका हल ढूँढने का एक ही रास्ता रहा होगा। बात दरअसल है भी कुछ ऐसी ही। नायक के प्रति नौकरी का कर्त्तव्य निभाते हुए नायिका के पति की मृत्यु हो जाती है और नायक का मित्र स्वाभाविक सहानुभूतिवश विधवा स्त्री की तथा अनाथ बच्चे की देखभाल करता है। माँ-बेटे का जीवन निर्वाह अच्छी तरह हो सके, इस आशय से वह विधवा की देख-रेख में बच्चों को नृत्य सिखाने की संस्था की स्थापना भी कर देता है। माँ यहीं पर अध्यापिका का काम करती है। किन्तु संकुचित समाज उनके निःस्वार्थ सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखता है और उन पर दुराचरण का अभियोग लगाता है। क्रमशः यह लोकापवाद अपमानजनक व्यवहार का रूप धारण कर लेता है। समाज के दुर्व्यवहार की पराकाष्ठा हो जाने पर



'एक ही रास्ता' में रूपकुमार और सुनील दत्त



'एक ही रास्ता' में रूपकुमार

एक ही रास्ता रह जाता है कि वे दोनों परस्पर विवाह कर लें। और कोई चारा उन्हें दिखाई नहीं देता।

बात यहाँ समाप्त नहीं हो जाती। विवाह के बाद एक और विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मृत पिता का नन्हा-सा पुत्र माँ के दूसरे पति को पिता के रूप में स्वीकार करने से कतई इनकार कर देता है। स्थिति यहाँ तक पहुँचा दी गई है कि माँ-बेटे को सुखी देखने की इच्छा से नायक घर का परित्याग तक करने को उद्यत हो जाता है। चित्र के अन्त में लेखक ने बच्चे के हृदय में विश्वास का अंकुर उत्पन्न कर दिया है, जिससे स्थिति सँभल जाती है।

कथानक की इस अस्वाभाविकता के बावजूद भी चित्र बहुत सुन्दर है। निर्देशन में भी बहुत कम न्यूनताएँ हैं। स्थितियों को उत्तम रूप से चित्रित किया गया है।

अभिनय के क्षेत्र में अशोक कुमार, मीना कुमारी और नन्हीं बालिका डेज़ी का अभिनय वास्तव में प्रशंसनीय है। संगीत ठीक है तथा चित्र के अन्य अवयव अच्छे हैं। कहीं-कहीं अस्वाभाविक स्थितियाँ हैं, जैसे छोटे बच्चे का आधी रात के समय कुछ दिनों के बालक को उठा कर रेलवे लाइन पर उठा ले जाना। रेलवे लाइन का वह पूरा-का-पूरा दृश्य हास्यास्पद रूप से अस्वाभाविक है। फिर भी सब मिलाकर कहानी इतनी बलवती है कि इन त्रुटियों की ओर दर्शक का ध्यान ही नहीं जाता।

सामान्य रूप से चित्र अच्छा है

बंदिश

'बंदिश' चित्र पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इस लोकप्रियता का रहस्य यह है कि उस कथानक में पकड़ है। उसमें रोचक परिस्थितियाँ, चुटीले सम्वाद तथा बालक अभिनेता (वास्तविक जीवन में बालिका) का स्वाभाविक अभिनय है। बंगाली कथा 'छेलेकार' पर आधारित यह चित्र उत्तम कृतियों में गिना जा सकता है। यद्यपि चित्र में सामान्य जनता को आकर्षित करने वाले प्रचलित साधन, अथवा हल्ला-गुल्ला आदि नहीं हैं, किन्तु उसके सरल एवं स्वाभाविक कथानक में इतनी रोचकता है कि दर्शक ऊबता नहीं। विशेषकर मध्यान्तर तक तो चित्र पर्याप्त रोचक जान पड़ता है, पर बाद में कहानी कुछ बिखरने-सी लगती है।

अनाथ बालक इस चित्र का जीवन है। उसी पर चित्र का कथानक केन्द्रित है। वह नायक और नायिका, अर्थात् प्रियतम और प्रेमिका के मध्य अड़चन की समस्या के समाधान स्वरूप आ उपस्थित होता है। इसी आधार पर चित्र में रोचकता लाई गई है। मध्यान्तर के बाद स्पष्ट हो जाता है कि यह बालक अवश्य ही नायक और नायिका के जीवन की उलझी गुत्थी को सुलझा कर रहेगा, अतः चित्र में औत्सुक्य की मात्रा क्षीण हो जाती है। पर फिर भी चुटीले सम्वादों और रोचक स्थितियों के बल-बूते पर कहानी रोचक ढंग से चलती रहती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से चित्र में अनाथ बालक के जीवन का चित्रण अच्छा हुआ है। ऐसे बालक या तो अत्यधिक आत्मविश्वासी हो जाते हैं या भीरु बन जाते हैं। चित्र का नन्हा नायक परिस्थितियों का सामना करने का प्रयत्न करता है। उसमें आत्मविश्वास की भावना इस सीमा तक जागरूक हो उठती है कि अन्य पात्र उसके नन्हें-से व्यक्तित्व की लपेट में आ जाते हैं।

चित्र में हास्य की मात्रा काफ़ी है। किन्तु उसे जान-बूझ कर लादा नहीं गया। स्वाभाविक स्थितियों के कारण हास्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है। देखा जाए तो उत्तम 'कामेडी' की यही कसौटी है।

अभिनय के क्षेत्र में लगभग सभी पात्रों ने प्रशंसनीय दक्षता प्रगट की है। अशोक कुमार आज भी पर्याप्त लोकप्रिय नायक है तथा उसकी



'बंदिश' में अशोक और मीना



'ताँगावाली' में बलराज साहनी



'एक ही रास्ता' में जीवन

समावेश हो गया है, किन्तु कुछ ही समय के बाद चित्र में रोचकता उत्पन्न हो जाती है।

सुन्दर कथानक के अतिरिक्त चित्र की दूसरी विशेषता है कहीं-कहीं उपयुक्त संगीत, जिससे इच्छित वातावरण उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायता मिली है।

अभिनय के क्षेत्र में निरूपा राय और बलराज साहनी का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। इन दोनों कलाकारों ने भारतीय फ़िल्म व्यवसाय में विशिष्ट स्थान बना लिया है। जयन्त और गोप ने भी अपनी-अपनी भूमिकाओं को यथाशक्ति अच्छा निभाया है। शम्मी का अभिनय अधिक नहीं निभा। वेशभूषा सुन्दर एवं उचित कही जा सकती है। निर्देशन सज्जा, फ़ोटोग्राफ़ी आदि चित्र के अन्य अवयव ठीक हैं।

साधारणतः चित्र अच्छा है।

एक ही रास्ता

शीर्षक से कुछ अंश तक यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्र में कोई समस्या खड़ी की गई होगी, जिसका हल ढूँढ़ने का एक ही रास्ता रहा होगा। बात दरअसल है भी कुछ ऐसी ही। नायक के प्रति नौकरी का कर्त्तव्य निभाते हुए नायिका के पति की मृत्यु हो जाती है और नायक का मित्र स्वाभाविक सहानुभूतिवश विधवा स्त्री की तथा अनाथ बच्चे की देखभाल करता है। माँ-बेटे का जीवन निर्वाह अच्छी तरह हो सके, इस आशय से वह विधवा की देख-रेख में बच्चों को नृत्य सिखाने की संस्था की स्थापना भी कर देता है। माँ यहीं पर अध्यापिका का काम करती है। किन्तु संकुचित समाज उनके निःस्वार्थ सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखता है और उन पर दुराचरण का अभियोग लगाता है। क्रमशः यह लोकापवाद अपमानजनक व्यवहार का रूप धारण कर लेता है। समाज के दुर्व्यवहार की पराकाष्ठा हो जाने पर



'एक ही रास्ता' में रूपकुमार और सुनील दत्त



'एक ही रास्ता' में रूपकुमार

एक ही रास्ता रह जाता है कि वे दोनों परस्पर विवाह कर लें। और कोई चारा उन्हें दिखाई नहीं देता।

बात यहाँ समाप्त नहीं हो जाती। विवाह के बाद एक और विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मृत पिता का नन्हा-सा पुत्र माँ के दूसरे पति को पिता के रूप में स्वीकार करने से कतई इनकार कर देता है। स्थिति यहाँ तक पहुँचा दी गई है कि माँ-बेटे को सुखी देखने की इच्छा से नायक घर का परित्याग तक करने को उद्यत हो जाता है। चित्र के अन्त में लेखक ने बच्चे के हृदय में विश्वास का अंकुर उत्पन्न कर दिया है, जिससे स्थिति सँभल जाती है।

कथानक की इस अस्वाभाविकता के बावजूद भी चित्र बहुत सुन्दर है। निर्देशन में भी बहुत कम न्यूनताएँ हैं। स्थितियों को उत्तम रूप से चित्रित किया गया है।

अभिनय के क्षेत्र में अशोक कुमार, मीना कुमारी और नन्हीं बालिका डेज़ी का अभिनय वास्तव में प्रशंसनीय है। संगीत ठीक है तथा चित्र के अन्य अवयव अच्छे हैं। कहीं-कहीं अस्वाभाविक स्थितियाँ हैं, जैसे छोटे बच्चे का आधी रात के समय कुछ दिनों के बालक को उठा कर रेलवे लाइन पर उठा ले जाना। रेलवे लाइन का वह पूरा-का-पूरा दृश्य हास्यास्पद रूप से अस्वाभाविक है। फिर भी सब मिलाकर कहानी इतनी बलवती है कि इन त्रुटियों की ओर दर्शक का ध्यान ही नहीं जाता।

सामान्य रूप से चित्र अच्छा है

बंदिश

'बंदिश' चित्र पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इस लोकप्रियता का रहस्य यह है कि उस कथानक में पकड़ है। उसमें रोचक परिस्थितियाँ, चुटीले सम्वाद तथा बालक अभिनेता (वास्तविक जीवन में बालिका) का स्वाभाविक अभिनय है। बंगाली कथा 'छेलेकार' पर आधारित यह चित्र उत्तम कृतियों में गिना जा सकता है। यद्यपि चित्र में सामान्य जनता को आकर्षित करने वाले प्रचलित साधन, अथवा हल्ला-गुल्ला आदि नहीं हैं, किन्तु उसके सरल एवं स्वाभाविक कथानक में इतनी रोचकता है कि दर्शक ऊबता नहीं। विशेषकर मध्यान्तर तक तो चित्र पर्याप्त रोचक जान पड़ता है, पर बाद में कहानी कुछ घिसटने-सी लगती है।

अनाथ बालक इस चित्र का जीवन है। उसी पर चित्र का कथानक केन्द्रित है। वह नायक और नायिका, अर्थात् प्रियतम और प्रेमिका के मध्य अड़चन की समस्या के समाधान स्वरूप आ उपस्थित होता है। इसी आधार पर चित्र में रोचकता लाई गई है। मध्यान्तर के बाद स्पष्ट हो जाता है कि यह बालक अवश्य ही नायक और नायिका के जीवन की उलझी गुत्थी को सुलझा कर रहेगा, अतः चित्र में औत्सुक्य की मात्रा क्षीण हो जाती है। पर फिर भी चुटीले सम्वादों और रोचक स्थितियों के बल-बूते पर कहानी रोचक ढंग से चलती रहती है।

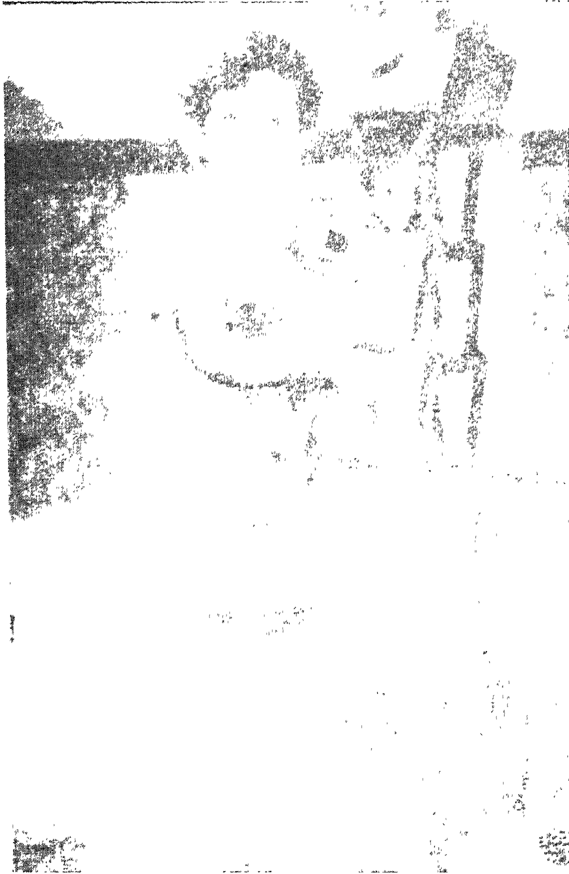
मनोविज्ञान की दृष्टि से चित्र में अनाथ बालक के जीवन का चित्रण अच्छा हुआ है। ऐसे बालक या तो अत्यधिक आत्मविश्वासी हो जाते हैं या भीरु बन जाते हैं। चित्र का नन्हा नायक परिस्थितियों का सामना करने का प्रयत्न करता है। उसमें आत्मविश्वास की भावना इस सीमा तक जागरूक हो उठती है कि अन्य पात्र उसके नन्हें-से व्यक्तित्व की लपेट में आ जाते हैं।

चित्र में हास्य की मात्रा काफ़ी है। किन्तु उसे जान-बूझ कर लादा नहीं गया। स्वाभाविक स्थितियों के कारण हास्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है। देखा जाए तो उत्तम 'कामेडी' की यही कसौटी है।

अभिनय के क्षेत्र में लगभग सभी पात्रों ने प्रशंसनीय दक्षता प्रगट की है। अशोक कुमार आज भी पर्याप्त लोकप्रिय नायक है तथा उसकी



'बंदिश' में अशोक और मीना



'बंदिश' में रूपकुमार

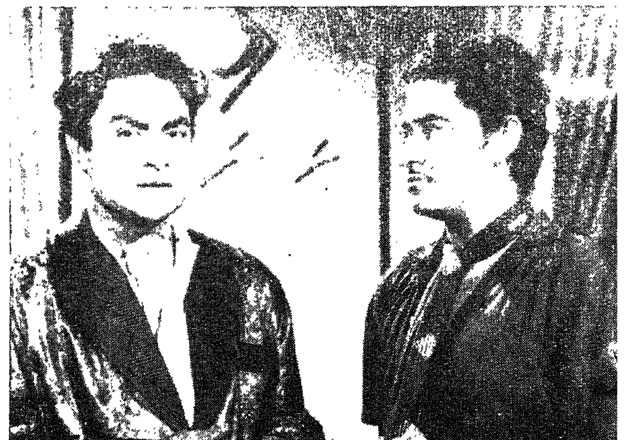
कला बहुमुखी है। संतुलित अभिनय उसकी विशेषता है। यही कारण है कि हर प्रकार की भूमिका को वह बहुत सुन्दर रूप से निभा लेता है। दूसरी ओर मीना कुमारी का सौम्यभाव भी पर्याप्त आकर्षक है। अध्यापिका के रूप में मीना कुमारी का अभिनय उत्तम जान पड़ता है। पर उसके घर की सजावट एक अध्यापिका के घर की सजावट नहीं; वह एक करोड़पति का घर प्रतीत होता है। पर इसमें दोष अध्यापिका का नहीं, आर्ट डायरेक्टर का है। शेष पात्रों का अभिनय भी पर्याप्त सुन्दर है। बालिका डेज़ी चित्र का मुख्य आकर्षण है। उसके अभिनय में विशेष स्वाभाविकता एवं भोलापन है। सम्भवतः भारतीय नन्हें कलाकारों में इस कलाकार का नाम अग्रगण्य है। इस नन्हें से जीवन में उल्लेखनीय सफलता, इस बालिका के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है। केवल अभिनय ही नहीं, बालिका ने नृत्यकला में भी काफ़ी दक्षता प्राप्त की है। पर यह समझ में नहीं आया कि एक बालिका से निरन्तर बालक का ही अभिनय क्यों करवाया जा रहा है। आख़िर यह अस्वाभाविक बात कब तक निभेगी।

चित्र का संगीत सामान्य है, पर सज्जा वेशभूषा आदि ठीक है। सामान्य रूप से चित्र काफ़ी अच्छा है।

भाई-भाई

ए० वी० एम० कृत एवं रमन द्वारा निर्देशित चित्र 'भाई-भाई' का प्रदर्शन हाल में ही हुआ है। दक्षिण के चित्रों के प्रति जनता का सामान्यतः जो उत्साह होता है, वही इस चित्र के प्रति भी दृष्टिगत हुआ है। दस आना क्लास में लाख क्यू लगाने के प्रयत्न पर भी लोग सरों पर से या टाँगों के बीच में से लाँघ कर टिकट खरीद रहे थे। दक्षिण में निर्मित चित्रों की यही तो विशेषता है। विज्ञापनों के आधार पर वे जनता को चित्र देखने के लिए उत्सुक बना देते हैं और इस उत्सुकता की पूर्ति हेतु अनेक साधन उपस्थित कर देते हैं। 'भाई-भाई' में भी इसी फ़ार्मूले का प्रयोग किया गया है। मध्यान्तर तक कहानी दर्शक को साँस ही नहीं लेने देती। यह जानते हुए भी कि स्थितियाँ काफ़ी अटपटी और अस्वाभाविक हैं, दर्शक की उत्सुकता बनी रहती है। पर मध्यान्तर के बाद कहानी में शिथिलता आ जाती है। यह शिथिलता दर्शकों को अधिक नहीं खटकती, क्योंकि चित्र के पूर्वार्ध में पड़े हुए प्रभाव के बल पर दर्शक शेष चित्र को भी उसी चश्मे से देखता चला जाता है।

जनता को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए अनेक प्रभावपूर्ण स्थितियाँ हैं, मगर लगभग छः-सात रील निकल जाने के बाद, लम्बे-लम्बे लैक्चरों से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इन लैक्चरों के लिए ये स्थितियाँ उत्पन्न की गई हैं। सुखी पारिवारिक जीवन बिताने वाला पुरुष, कारोबार की देख-रेख के लिए बम्बई आता है और यहाँ किसी धोखेबाज़ के पाश में फँस जाता है। पाश में फँसाने का कार्य कार्यकर्त्ता की स्त्री को सौंपा जाता है। यह सम्पूर्ण स्थिति पुरानी और पिटी-पिटाई है। इसके बाद पतिव्रता पत्नी अनेक कष्ट और कठिनाइयाँ सह कर पति के घर में नौकरी कर लेती है। इसी प्रकार का एक और चित्र 'धर्मपत्नी' बना था। इसमें पत्नी हार नहीं मानती, बल्कि पति का क्या, पूरे खानदान का सुधार कर देती है। याद आता है उस चित्र का लोगों ने खूब स्वागत किया था। आज की जनता अत्याचार सहने पर भी आवाज़ न उठाने वाले व्यक्ति के प्रति सहानुभूति



'भाई-भाई' में अशोक और किशोर

नहीं रखती, लड़ कर अधिकार माँगने वाले पर तालियाँ पीटती है। इस चित्र में भी यदि छोटे भाई द्वारा उत्पन्न उचित स्थितियाँ न होतीं और यदि वह अपनी भाभी को अधिकार दिलवाने में सहायता न करता तो संभवतः कहानी की इतिश्री हो जाती।

एक बात और है। कहानी के दूसरे भाग में चित्रित किया गया है कि सामान्यतः कोई इन्सान बुरा नहीं होता, परिस्थितियाँ उसे बुरा बना देती हैं। सच तो यह है कि बुरे-से-बुरे मनुष्य में भी कितनी ही अच्छाइयाँ होती हैं। उसको केवल प्रेरणा और अनुकूल स्थितियों की आवश्यकता होती है।

तीसरे, दुनिया चाहे कुछ कहे, वही इन्सान अच्छा है, जिसकी आत्मा पर आँच नहीं आई। ऐसे कई काम हैं जिन्हें बुरा नहीं कहा जा सकता, करने वाले की नीयत साफ़ होनी चाहिए।

चित्र यदि बहुत अच्छा नहीं, तो बुरा भी नहीं कहा जा सकता। सम्वाद बड़े ज़ोरदार हैं और संगीत भी अच्छा है। नृत्यों में सजीवता है और मध्यान्तर तक कहानी जानने की उत्सुकता बनी रहती है। पर कहीं-कहीं गीत और नृत्य ज़बरदस्ती लाद दिए गए हैं। अभिनय सभी का सुन्दर है। बल्कि सब का एक-से-एक बढ़कर है। अशोक कुमार, निम्मी, डैविड और किशोर, सभी ने अपनी-अपनी भूमिका अच्छी तरह निभाई है। किशोर प्रायः बहुत उछल-कूद मचाता है, किन्तु इस चित्र में उसका अभिनय संयत कहा जा सकता है। वास्तविक जीवन में



'भाई भाई' में किशोर और मीना

अशोक और किशोर भाई-भाई हैं, अतः स्थिति और भी प्रतीक रही। ओमप्रकाश और श्यामा का काम भी, उनकी भूमिका के अनुसार काफ़ी ठीक है। मगर वह इससे भी अधिक प्रभावोत्पादक बन सकता था।

सैट्स बहुत अच्छे हैं और फ़ोटोग्राफ़ी भी काफ़ी अच्छी है। अशोक कुमार को जब नशे के कारण अर्धचेतनावस्था में दिखाया जाता है, उस समय के क्लोज़अप बहुत अच्छे लिए गए हैं। इनकी तुलना विदेशों के अच्छे चित्रों की फ़ोटोग्राफ़ी से की जा सकती है। वेशभूषा सभी की उपयुक्त है। अस्वाभाविक होते हुए भी चित्र बुरा नहीं।

भारतीय जूट उद्योग—(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

भारत से जूट माल का निर्यात (हज़ार टन में)

	टाट	बोरा	अन्य	योग
१९४८	४७२	४५१	३४	६५७
१९४९	३३७	४२३	४१	८०१
१९५०	२६४	३४३	४१	६७८
१९५१	३०१	४२४	५२	७७७
१९५२	२८८	४१६	२७	७३४
१९५३	३८८	३२४	३५	७४७
१९५४	३७०	४३०	४३	८४३
१९५५ (अनु०)	४०७	४६८	५०	९२५

यह जापान, पाकिस्तान और ब्रिटेन द्वारा भारी प्रतियोगिता किए जाने पर हुआ है, इसे स्मरण रखना चाहिए। इस उद्योग का भविष्य आज की भी अपेक्षा उज्ज्वलतर दिखाई देता है, क्योंकि विश्व भर में सब वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा है और सन् १९४० के स्तर पर पहुँच रहा है। विश्व आज युद्ध पूर्व की अपेक्षा गेहूँ, चावल और रूई २० प्रतिशत अधिक उत्पन्न कर रहा है। फल और चीनी ५० प्रतिशत अधिक पैदा कर रहा है। कृषि की कुल पैदावार युद्धान्त के वर्ष की अपेक्षा २५ प्रतिशत अधिक रही। यूरोपियन जूट मिलों को चालू रखने के लिए उत्पादन का केवल १६ प्रतिशत निर्यात करने की आवश्यकता है। अतः प्रतिस्पर्द्धा होते हुए भी भारतीय जूट माल के लिए अब भी विस्तृत क्षेत्र खुला पड़ा है। जूट का स्थान कागज़ के थैले ले लेंगे, यह भय अब नहीं रहा है। अतः कृषि पैदावार और अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होने के साथ, पैकिंग के वास्ते जूट माल की माँग भी बनी रहेगी।

भारत के सामने मुख्य समस्या है उत्पादन व्यय को घटाने की। भारत में प्रति करघा ४॥ आदमी काम पर लगाया जाता है। डंडी और यूरोप में प्रति करघा १॥ आदमी लगाया जाता है। अधिक उत्पादन व्यय की इसमें कल्पना की जा सकती है। जूट मिलों का आधुनिकीकरण तेजी से किया जा रहा है। जो स्वतः नहीं कर सकते उनको सरकार द्वारा पूँजी दिलाई जा रही है। जूट माल के उत्पादन व्यय में लगभग दो-तिहाई व्यय कच्चे जूट का होता है। कच्चा जूट सस्ता मिले इसके लिए आवश्यक है कि प्रति एकड़ जूट की खेती बढ़ाई जाए और अन्य जूट उत्पादन देशों के समान फसल करने और क्रमांक लगाने के वास्ते यंत्रों का उपयोग किया जाए। यंत्रीकरण करने से कच्चे जूट की लागत कम हो जाएगी। जूट की फसल भी एक समान होनी चाहिए। इसके लिए प्रयोगशाला में बराबर परीक्षण होता रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त जूट माल का निर्यात बढ़ाने को भी आवश्यकता है। अतः बाज़ारों का बारीकी के साथ अध्ययन बराबर जारी रहना चाहिए।



पुस्तक समालोचना

मेरी जीवन-यात्रा : लेखिका—जानकी देवी बजाज; प्रस्तावना लेखक—विनोबा भावे; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या २०४; मूल्य २) रुपया ।

'मेरी जीवन-यात्रा' में श्रीमती जानकी देवी बजाज ने अपने जीवन के संस्मरण दिए हैं । ये संस्मरण ३१ अध्यायों में विभक्त हैं और यद्यपि उनमें एक अत्यन्त स्पष्ट क्रम विद्यमान है, तथापि संस्मरणों के इस संग्रह को आत्मकथा कहना कठिन है । आत्मकथा में जिस तरह तिथिक्रम के अनुसार चलना आवश्यक होता है, इस रचना में उसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं की गई । घटनाओं में तिथिक्रम की उपेक्षा तो की ही गई है, साथ ही अपने जन्म, विवाह, गुरुजनों के देहावसान और यहाँ तक कि श्री जमनालाल बजाज के देहावसान की भी तारीख, सन् आदि कुछ भी नहीं दिए गए । इस तरह इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना को 'मेरी जीवन-यात्रा' न कह कर 'मेरे जीवन के संस्मरण' कहना अधिक उपयुक्त होता ।

पर नाम चाहे जो कुछ हो, यह रचना हिन्दी साहित्य की एक अत्यन्त मूल्यवान और प्रथम श्रेणी की रचनाओं में से है । जानकी देवी बजाज देश की उन महान् साधिकाओं में हैं, जिन पर हमारा देश गर्व कर सकता है । इस एक रचना द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य में भी अपना अमर स्थान बना लिया है । जानकी देवी का हिमतुल्य निर्मल और गंगाजल के समान स्वच्छ हृदय इस रचना में असाधारण सफलता के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है । पुस्तक में आदि से लेकर अन्त तक एक विस्मयोत्पादक स्पष्टता और सहजपन विद्यमान हैं । इस सब स्वच्छता, स्पष्टता और सहजपन के साथ ही साथ एक असाधारण शक्ति से जानकी देवी बजाज के ये संस्मरण ओतप्रोत हैं ।

पुस्तक की शैली इतनी मनोरंजक है कि अनुभूतिशील पाठक जब तक इसे समाप्त नहीं कर लेगा, उसे छोड़ना नहीं चाहेगा । इस रचना से वर्त्तमान भारत के कितने ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों पर नया प्रकाश पड़ता है । जैसे पाठक उन्हें बहुत निकट से देख रहा हो ।

प्रस्तावना में आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है : "भूदान यज्ञ में जानकी देवी ने जो परिश्रम किया है, उसका जिक्र इस कहानी में नहीं है । पाठकों से यह बात छिपी नहीं रहनी चाहिए । बिहार की भूदान यात्रा समाप्त कर के हम बंगाल में प्रवेश कर रहे थे, उस दिन जानकी देवी हमारे साथ थी । भीड़ बहुत थी, जिनमें लड़कों की भी बड़ी तादाद थी । भीड़ में से मार्ग निकालने के लिए मैंने लड़कों के हाथ पकड़ कर दौड़ना शुरू किया । बुजुर्ग लोग पीछे रह गए । लड़कों के साथ दौड़ता हुआ मैं आगे चला गया । मुझे ख्याल न रहा कि ६२ साल की एक लड़की भी लड़कों के साथ दौड़ती चली आ रही है । दौड़ते-दौड़ते वह गिर पड़ी । उस के घुटने में चोट आई । दर्द शुरू हुआ जो कम-बेशी आज तक जारी है । अब वह दौड़ तो क्या सकेंगी, ज्यादा चल भी नहीं सकतीं । पर उनका मन दौड़ता रहता है ।

"परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि जानकी देवी की यह बालवृत्ति अन्त तक कायम रहे और हम सब को उसका स्पर्श हो ।"

अन्तिम वाक्य में बाबा कितनी बड़ी बात कह गए हैं और उन्होंने श्रीमती जानकी देवी को कितनी उज्ज्वल श्रद्धांजलि भेंट की है ।

साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश : लेखक—राजेन्द्र द्विवेदी; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या ३०६, रायल अठपेजी; मूल्य ८) रुपये सजिल्द ।

इस शब्दकोश में रस, रीति, गुण, दोष, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य, वृत्ति, वक्रोक्ति, साहित्यालोचन, साहित्यवाद, काव्यांग, नाटकशास्त्र और छन्दशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का विवेचन किया गया है । संस्कृत में इस तरह का साहित्य अत्यन्त प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । जहाँ तक उक्त विषयों का सम्बन्ध है, हिन्दी अभी तक पूर्ण रूप से संस्कृत प्रथाओं की अनुगामिनी बनी हुई है । हिन्दी में भी इन विषयों पर काफ़ी कुछ लिखा गया है । पर इन अपेक्षाकृत नीरस विषयों पर सरस शैली में लिख सकना आसान नहीं है । 'कुवलयानन्द' की मनोरंजक शैली आप को हिन्दी साहित्य शास्त्र में शायद ही कहीं मिले । हिन्दी में रस, अलंकार, नाट्य शास्त्र आदि के सम्बन्ध में जो नई परम्पराएँ बन रही हैं, उनका शास्त्रीय ढंग से विवेचन और भी अधिक आवश्यक है और अपने नए साहित्य शास्त्रों में हमें उन्हें विशेष महत्त्व देना चाहिए । प्रस्तुत ग्रन्थ निस्सन्देह मूल्यवान है, पर वह पूरी तरह परम्परागत संस्कृत साहित्य शास्त्र तक ही सीमित है । उसकी शैली यद्यपि नीरस नहीं है, तथापि इस विषय को और भी अधिक मनोरंजक शैली में लिखा जा सकता था । यह पुस्तक साहित्य शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है । इन कठिन शास्त्रीय विषयों पर हिन्दी में उत्तम कोटि के प्रकाशन के लिए आत्माराम एण्ड सन्ज़ साधुवाद के पात्र हैं ।

स्विटज़रलैंड का शासन : लेखक—महेन्द्रप्रकाश अग्रवाल; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १८८; मूल्य २॥) रु० सजिल्द ।

उत्तर भारत के विविध विश्वविद्यालयों ने जब से हिन्दी को बी० ए० की शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया है, तब से राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र और इतिहास के सम्बन्ध में हिन्दी में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए स्विटज़रलैंड की शासन व्यवस्था का महत्त्व अत्यधिक है। यह पुस्तक स्विटज़रलैंड की शासन व्यवस्था के विकास तथा इसके वर्तमान रूप पर यथेष्ट प्रकाश डालती है। विज्ञान, समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि पुस्तकों के लेखन या अनुवाद के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। विभिन्न लेखक, यहाँ तक कि विभिन्न संस्थाएँ भी, हिन्दी में अपने-अपने ढंग से नये पारिभाषिक शब्दों का निर्माण कर रहे हैं और इस तरह अंग्रेज़ी के एक-एक शब्द के लिए कितने-कितने शब्द बनाए जा रहे हैं। हम तो चाहते हैं कि भारत भर की सभी भाषाओं के लिए एक ही सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावलि तैयार की जाए। क्या हम आशा करें कि हिन्दी क्षेत्र के सभी विश्वविद्यालय एक साथ मिल कर एक बड़ी 'पारिभाषिक शब्द निर्माण समिति' का आयोजन करेंगे, जो समिति कम-से-कम हिन्दी क्षेत्र के लिए एक और सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेगी? उस प्रयत्न के अभाव में हम किसी भी लेखक को किसी भी तरह के शब्दों का व्यवहार करने का दोष नहीं दे सकते।

गान्धी श्रद्धांजलि ग्रन्थ : सम्पादक—सर्वपल्ली राधाकृष्णन्; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या २१६; मूल्य ३) रु० सजिल्द।

इस सुसम्पादित ग्रन्थ में देश-विदेश के ५२ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों की महात्मा गान्धी के प्रति अर्पित श्रद्धांजलियाँ एकत्र की गई हैं। अन्त में श्री प्यारेलाल लिखित "बापू का अन्तिम दिन" शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख तथा बापू का २६ जनवरी का अन्तिम प्रार्थना भाषण भी दिए गए हैं। श्रद्धांजलियों का अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। पुस्तक का महत्त्व निर्विवाद है और वह संग्रहणीय है।

परम्परा : (त्रैमासिक शोध पत्रिका) प्रथम अंक; सम्पादक—नारायणसिंह भाटी, वार्षिक मूल्य १०) रुपया; एक प्रति ३) रु०; पृष्ठ संख्या १६२; प्रकाशक—चौपासनी शोध-संस्थान, जोधपुर।

लोक साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिक और शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित करने वाली इस त्रैमासिक पत्रिका ने हिन्दी पत्रकारिता के इस क्षेत्र में एक नया रिकार्ड कायम किया है। लोक गीतों के सम्बन्ध में सामान्य परिचय, लोकगीत और प्रकृति, लोकगीत और परिवार, लोकगीत और समाज, विशेष परिचय आदि स्तम्भों के अन्तर्गत लगभग २० अत्यन्त प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक ढंग से लिखे गए लेख इस अंक में प्रकाशित किए गए हैं। पत्रिका की छपाई-सफ़ाई आदि अत्यन्त सुन्दर है। यदि इस पत्रिका के सम्पादक तथा परामर्श समिति पत्रिका का यही सौन्दर्य क़ायम रख सके तो उनके द्वारा साहित्य जगत की एक बहुत बड़ी सेवा होगी। 'परम्परा' के संचालक इस अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकाशन के लिए बधाई तथा साधुवाद के पात्र हैं।

मैं ज़रूर रोऊँगी : लेखक—बलवन्तसिंह; प्रकाशक—राजीव प्रकाशन, लूकरगंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या २२४; मूल्य ३) रु०।

उर्दू के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक बलवन्तसिंह की कुछ कहानियों का हिन्दी अनुवाद इस संग्रह में है। इससे पूर्व भी उनका एक कहानी संग्रह तथा तीन उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं और हिन्दी पाठक उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। बलवन्तसिंह भारत के अच्छे कहानी लेखकों में हैं और उनकी कहानियों में एक विशेष ढंग की बलवती सजीवता विद्यमान है। उनकी कुछ कहानियाँ तो अत्यन्त श्रेष्ठ कहानी कला का उदाहरण हैं। इस संग्रह की 'शहनाज़' कहानी उन्हीं प्रथम श्रेणी की रचनाओं में है, जो अपनी अमिट छाप पाठक पर छोड़ जाती हैं। कुछ कहानियाँ घड़न (क्रैफ्टमैनशिप) के लिहाज़ से बहुत अच्छी हैं, जैसे 'एक ही नाव पर'। "मैं ज़रूर रोऊँगी" की सभी कहानियाँ १९४४ से लेकर १९५४ के बीच लिखी गई हैं। उनमें किसी तरह की कोई समानता तलाश करने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। संग्रह की कुछ कहानियाँ अत्यन्त साधारण श्रेणी की हैं, जैसे 'रकीब' और 'वेश्या'। कुछ का प्रारम्भ और उत्थान बहुत अच्छा है, पर अन्त कमज़ोर हो गया है, जैसे 'दूसरी भूल' और 'चकोरी'। यह भी मानना पड़ेगा कि कुछ कहानियों में मर्यादा की यथेष्ट चिन्ता नहीं की गई। इस पर भी सब मिलकर यह संग्रह बहुत अच्छे दर्जे का तथा शक्तिशाली है। मनोरंजकता उसका एक विशेष गुण है। बलवन्तसिंह की उपमाएँ भी अत्यन्त प्राणवती हैं। उदाहरण के लिए 'कसक' कहानी में : "वर्षों के प्रतिबन्धों से छुटकारा पाकर शायद वह पहली उड़ान में बहुत ऊँचाई पर पहुँच गया था और फिर आप ही आप भयभीत हो गया था। जैसे एक बच्चा अपनी धुन में किसी ऊँची मीनार पर चढ़ जाए और फिर नीचे की ओर देखकर डर के मारे रोने लगे।" इस संग्रह की एक विशेषता यह भी है कि इसका हिन्दी अनुवाद स्वयं लेखक ने किया है। हमें यह जानकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई है कि बलवन्तसिंह अब हिन्दी में भी कहानियाँ लिखने लगे हैं। हमें विश्वास है कि यह संग्रह इस वर्ष के विशिष्ट कहानी संग्रहों में गिना जाएगा।

सम्पदा : (राष्ट्रीय विकास अंक) : सम्पादक—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार; वार्षिक मूल्य ८) रु०; इस अंक का मूल्य १।); रोशनारा रोड, दिल्ली।

आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में 'सम्पदा' ने हिन्दी पत्रकारिता जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पिछले कुछ वर्षों में 'सम्पदा' के ६ विशेषांक निकल चुके हैं। इस अंक में राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी विषयों पर १०४ पृष्ठों में सुपाठ्य और विविध सामग्री दी गई है। अंक में चार्ट आदि भी यथेष्ट मात्रा में हैं। हम 'सम्पदा' की उन्नति चाहते हैं।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास : (सोक्रेटीज़ से हिटलर और मुसोलिनी तक) लेखक—श्री राजनारायण गुप्त और श्री राधानाथ चतुर्वेदी; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद; मूल्य ८॥) सजिल्द।

राजदर्शन के इतिहास का विषय भारतीय विश्वविद्यालयों में

राजनीति-शास्त्र के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत है। इस विषय पर अंग्रेज़ी भाषा में अनेक प्रामाणिक पुस्तकें विद्यमान हैं, पर हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों का अब तक सर्वथा अभाव था। उत्तरी भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी को भी शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है और एम० ए० के परीक्षार्थी भी अपने उत्तरपत्र हिन्दी में लिखने लगे हैं। इस कारण हिन्दी में ऐसी पुस्तकों की माँग निरन्तर बढ़ रही है, जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों। यह पुस्तक बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों की इसी आवश्यकता को दृष्टि में रख कर लिखी गई है। जिस प्रकार डनिंग, सेबाइन, गेटल आदि के राजदर्शन के इतिहास विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, वैसे ही श्री राजनारायण गुप्त और श्री राधानाथ चतुर्वेदी की यह हिन्दी पुस्तक भी विद्यार्थियों की आवश्यकता को भली-भाँति पूरा करेगी, इसमें सन्देह नहीं। इस पुस्तक के लेखकों को विषय का बहुत अच्छा ज्ञान है और हिन्दी भाषा पर भी उनका पूरा अधिकार है। इस कारण पुस्तक बहुत सुपाठ्य है, और इसकी प्रतिपादन शैली भी रोचक है।

पाश्चात्य राजदर्शन का प्रारम्भ ग्रीस के प्राचीन विचारकों द्वारा हुआ था। जिस प्रकार प्राचीन भारत में शुक्र, भीष्म, चाणक्य आदि अनेक ऐसे विद्वान हुए, जिन्होंने न केवल राजनीति-शास्त्र अपितु दर्शन-शास्त्र के सभी अंगों पर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वैसे ही प्राचीन ग्रीस में सोक्रेटीज़, प्लेटो, अरिस्टोटल आदि विद्वान हुए, जिन्होंने मानव जीवन और सामाजिक संस्थाओं के सभी अंगों पर अपने विचार प्रगट किए। ये विचारक गणराज्यों में उत्पन्न हुए थे। इस कारण इनके विचारों पर अपने समय की परिस्थितियों और संस्थाओं का बहुत अधिक प्रभाव है। सोक्रेटीज़ और प्लेटो के विचारों को तब तक भली-भाँति नहीं समझा जा सकता, जब तक कि प्राचीन ग्रीस के गणराज्यों की शासन व्यवस्था और उनकी सामाजिक परिस्थितियों का परिचय न हो। इस कारण इस पुस्तक के लेखकों ने ग्रीस के विविध विचार-सम्प्रदायों और दार्शनिकों के राजदर्शन सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करने से पूर्व वहाँ की राजनीतिक व सामाजिक दशा पर भी संक्षेप के साथ प्रकाश डाल दिया है, जिसके कारण यह पुस्तक बहुत उपयोगी हो गई है।

बाद के राजदर्शन के इतिहास को लिखते हुए भी इसी शैली को अपनाया गया है। रोमन साम्राज्य के विकास के कारण प्राचीन गणराज्यों का अन्त हुआ, और पाश्चात्य संसार का बड़ा भाग एक विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। रोमन लोगों ने अपने साम्राज्य में सर्वत्र एक कानून को प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया। इसीलिए रोमन साम्राज्य में एक सार्वभौमिक कानून का भी विकास हुआ। नई राजनीतिक परिस्थितियों में राजदर्शन सम्बन्धी नए सिद्धान्तों का विकसित होना भी सर्वथा स्वाभाविक था। रोमन साम्राज्य की शक्ति के शिथिल पड़ने पर यूरोप में बहुत से छोटे-बड़े राज्य कायम हो गए और पाश्चात्य संसार की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई। पर इसी समय में ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप में होने लगा, और उसके चर्चों का एक केन्द्रीय संगठन भी कायम हो गया। राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि पाश्चात्य संसार में एकता कायम नहीं रह सकी, पर ईसाई चर्च के केन्द्रीय संगठन के कारण पाश्चात्य लोगों में अपनी एकता का भाव पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पाया। इसी कारण "पवित्र रोमन साम्राज्य" का विकास हुआ, और मध्यकालीन यूरोप के विविध राजा रोम के चर्च के प्रभाव व प्रभुत्व को स्वीकृत करते रहे। मध्यकाल में यूरोप के लोगों में स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति का अभाव था और वे ईसाई धर्म के मन्तव्यों के अनुकूल ही विचार करने का प्रयत्न करते थे। पर चौदहवीं सदी व उससे पूर्व ही यूरोप में ऐसे विचारक उत्पन्न होने लग गए थे, जो अपने दिमागों को धार्मिक विश्वासों से स्वतन्त्र करने के पक्षपाती थे। इन लोगों ने चर्च के प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज़ उठाई, और यूरोप में विचार-स्वातन्त्र्य के युग का श्रीगणेश किया। विचार स्वातन्त्र्य और धार्मिक सुधार के आन्दोलनों के कारण यूरोप में चर्च का प्रभाव शिथिल होने लगा और आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ। इस आधुनिक युग में यूरोप में बहुत से ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने जहाँ ज्ञान, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वहाँ साथ ही राजनीति-शास्त्र में भी नए विचार विकसित किए।

श्री राजनारायण गुप्त और श्री राधानाथ चतुर्वेदी की इस पुस्तक में इन सब विचारकों के मन्तव्यों पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है और ऐसा करते हुए उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया गया है, जिन्होंने कि इन विचारकों के विचारों को प्रभावित किया था। हिन्दी भाषा का सौभाग्य है कि उसमें इतनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है। राजदर्शन एक कठिन विषय है, और उसके इतिहास को लिखना तो और भी अधिक कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि इस कठिन और विस्तृत विषय को सुपाठ्य भाषा में प्रस्तुत करने में लेखकों को बहुत सफलता प्राप्त हुई है।

यह इतिहास मुख्यतया डनिंग, सेबाइन और गेटल जैसे लेखकों की अंग्रेज़ी पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है, अतः स्वाभाविक रूप से इसमें अनेक कमियाँ भी आ गई हैं, जो इन अंग्रेज़ी पुस्तकों में भी पाई जाती हैं। ऐसी कतिपय कमियों का यहाँ निर्देश करना अनुचित नहीं होगा। इस इतिहास में मैकियावली पर पूरा एक अध्याय दिया गया है। और उसके मन्तव्यों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। उसके मुकाबले में सोक्रेटीज़ और अरिस्टोटल के सिद्धान्त बहुत संक्षेप से दिए गए हैं। यह सही है कि मैकियावली के विचारों ने आधुनिक राजदर्शन के विकास में बहुत सहायता पहुँचाई है, पर राजदर्शन के इतिहास में सोक्रेटीज़ और अरिस्टोटल का उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है। यदि प्राचीन ग्रीस के विचारकों के मन्तव्यों पर इस पुस्तक में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डाला जाता तो बहुत अच्छा होता। इसी प्रकार, समाजवाद के विविध सम्प्रदायों और विचारकों के साथ भी इस इतिहास में समुचित न्याय नहीं किया गया। कार्ल मार्क्स और उसके पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों पर इस पुस्तक में पूरा एक अध्याय दिया गया है, पर मार्क्स के विचारों को क्रिया रूप में परिणत करते हुए लेनिन और स्तालिन ने रूस में जिस

विचारसरणी का विकास किया, उसका इस ग्रन्थ में उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर है। वर्तमान समय के समाजवादी विचारक मार्क्सवाद के साथ-साथ लेनिनवाद और स्तालिनवाद का भी प्रतिपादन करते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि रूसी समाजवादी क्रान्ति के इन नेताओं ने मार्क्सवाद को बहुत अधिक विकसित किया है। उसका उल्लेख न करना इस पुस्तक की एक बड़ी भारी कमी है। आधुनिक राजदर्शन में अराजकवाद, फेबियनवाद व श्रेणी संघवाद का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि लेनिन और स्तालिन के विचारों का है। पर इस पुस्तक में इन वादों पर पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डालते हुए रूस के समाजवाद की विचारधारा की उपेक्षा कर दी गई है।

पुस्तक का नाम देते हुए लेखकों ने "सोक्रेटीज़ से हिटलर और मुसोलिनी तक" ये शब्द लिखे हैं, जिनके कारण नाज़ीवाद और फासीवाद के इन दोनों प्रवर्तकों को अनुचित महत्त्व प्राप्त हो गया है। राजदर्शन के इतिहास में हिटलर और मुसोलिनी का महत्त्व बहुत कम है। सोक्रेटीज़ जैसे गम्भीर विचारक के साथ उनका उल्लेख कर देना असंगत प्रतीत होता है। नाज़ीवाद और फासीवाद ने कुछ वर्षों तक यूरोप के अच्छे बड़े भाग को प्रभावित अवश्य किया, पर इन वादों द्वारा किसी ऐसी नवीन विचारसरणी का विकास नहीं हुआ, जिसका आधुनिक राजदर्शन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान हो। हिटलर और मुसोलिनी का राजदर्शन के पण्डितों व प्रतिपादकों में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह बात भी संदिग्ध है।

अंग्रेज़ी ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए इस पुस्तक के लेखकों ने पौर्वात्य (प्राच्य) राजदर्शन के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी बातें लिख दी हैं, जिन्हें केवल वे ही लेखक लिख सकते हैं, जिन्हें भारत या चीन की विचारधाराओं का बिल्कुल भी ज्ञान न हो। यथा—"प्राचीन भारत में राजव्यवस्था के पीछे धर्म का हाथ सर्वोपरि था···पौर्वात्य दर्शन ने ······राजनीतिक और धार्मिक निरंकुशता का परिपोषण किया।" ये विचार यदि उन पाश्चात्य लेखकों द्वारा लिखे जाएँ, जिन्हें प्राचीन भारतीय राजदर्शन का कोई परिचय नहीं, तो क्षम्य समझे जा सकते हैं। पर भारतीय लेखकों द्वारा इसका उल्लेख कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। भारत के अनेक प्राचीन लेखक तो केवल दण्डनीति (राजनीति शास्त्र) को ही एकमात्र विद्या मानते थे, और उसके मुकाबले में त्रयी (धर्म-शास्त्र) को "आवरण" (ढोंग) कहने में भी संकोच नहीं करते थे। पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास लिखते हुए यदि लेखक प्राच्य राजनीति-शास्त्र पर कोई भी विचार प्रगट न करते, तो अच्छा होता।

हिन्दी में राजदर्शन विषयक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करते हुए इस ग्रन्थ के लेखकों ने बहुत परिश्रम किया है। पर उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दों के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति की जा सकती है। 'टायरन्ट' के लिए आततायी और 'टिरेनी' के लिए आततायित्व शब्द का प्रयोग उन पाठकों को अवश्य अनुचित प्रतीत होगा, जो प्राचीन ग्रीस के इतिहास से परिचित हैं और साथ ही आततायी शब्द के अभिप्राय को भी जानते हैं। प्राचीन ग्रीस में जिन राजाओं को 'टायरन्ट' कहा जाता था, वे सब निरंकुश अवश्य होते थे, पर आततायी नहीं। इसी प्रकार 'लेस्ये फेयर' की नीति के लिए "यद्भाव्यम् नीति" शब्द का प्रयोग भी असंगत प्रतीत होता है। नेचर के लिए 'स्वभाव' के स्थान पर 'प्रकृति' शब्द का उपयोग अधिक अच्छा होता।

इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक द्वारा हिन्दी साहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उपयोगी ग्रन्थ की वृद्धि हुई है। गहन विचारों को भी सरल व शुद्ध हिन्दी द्वारा भली-भाँति प्रकाशित किया जा सकता है, यह इस ग्रन्थ द्वारा भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है। इतनी गम्भीर व सुपाठ्य पुस्तक की रचना के लिए हिन्दी संसार श्री राजनारायण गुप्त और श्री राधानाथ चतुर्वेदी का सदा आभारी रहेगा। पुस्तक की छपाई भी बहुत सुन्दर है, और बड़े आकार के ६६८ पृष्ठों के इस विशाल ग्रन्थ का ८॥) मूल्य भी बहुत उचित है।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

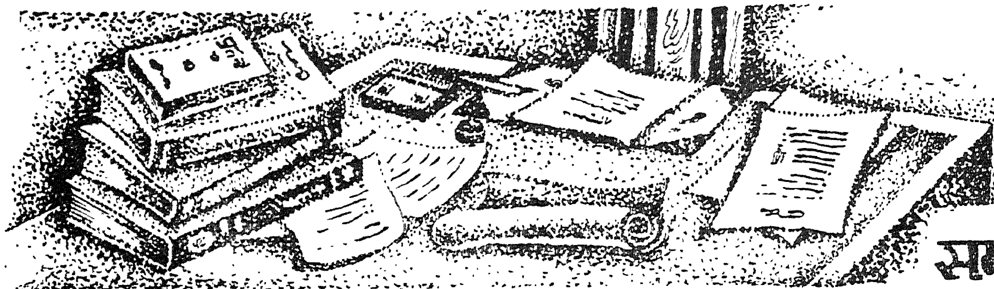
कम्युनिज़्म और किसान : लेखक—रामस्वरूप; प्रकाशक—प्राची प्रकाशन, कलकत्ता; पृष्ठ संख्या २८६; मूल्य एक रुपया आठ आना।

लेखक की यह पुस्तक कई साल पहले लिखी गई थी, पर अब प्रकाशित हुई जब दुनिया कहीं से कहीं जा चुकी है। इस पुस्तक में लेखक ने भारत की कृषि और किसानों पर भी कुछ कहा है, जिसमें ये बातें द्रष्टव्य हैं। वे कहते हैं—"बड़े पैमाने पर की जाने वाली सामूहिक कृषि उत्पादन की दृष्टि से हेय है और ट्रैक्टर इत्यादि के प्रयोग से उत्पादन का खर्च ही बढ़ता है। कुछ देशों की परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर खेती करना अनिवार्य हो सकता है और वहाँ शायद ट्रैक्टर इत्यादि मशीनों का प्रयोग भी लाभकारी है। किन्तु भारत की परिस्थितियों में इस प्रकार के प्रयोग से तबाही मच जाएगी।" इस अजीब सिद्धान्त के समर्थन की बहक में वे कहते हैं—"हम जब सामूहिक तथा यन्त्रयुक्त पद्धति को अमान्य ठहराते हैं, तो हम यह नहीं कहते कि प्रति व्यक्ति उत्पादन की औसत नहीं बढ़नी चाहिए। वास्तव में हम उस पद्धति को अमान्य इसीलिए कहते हैं कि उससे यह औसत बढ़ने की अपेक्षा घटने की ही अधिक सम्भावना है।"

कोई विकल्प न बता कर वे कल्पना का आश्रय लेकर रहस्यवाद में भटक जाते हैं—"चूँकि केन्द्रीकरण और मशीनों के उपयोग से हम उत्पादन नहीं बढ़ा सकते, इसलिए हमको आर्थिक पुनर्निर्माण की एक ऐसी पद्धति खोज निकालनी होगी जो कि अल्प समय में ही बहुत कम खर्च करके उत्पादन बढ़ाने में हमारी सहायक हो सके। नई पद्धति में जमींदारों तथा सूदखोरों का कोई स्थान नहीं हो सकता। किन्तु उनका खर्च कम करके खेती पर मशीनों का खर्च लादने के कोई मायने नहीं। हम चाहते हैं कि किसान अपनी धरती के मालिक बनें तथा अपने-अपने स्थान पर उपलब्ध साधनों का प्रयोग करके अपने-अपने तरीके से उत्पादन की मात्रा बढ़ाते चले जाएँ।"

इतना ही कहना यथेष्ट है कि यदि लेखक की राय मानी जाए तो हमें पंचवर्षीय योजनाओं को फाड़ कर एक कृषि-प्रधान पिछड़ा हुआ देश

[शेष पृष्ठ ७२ पर]



सम्पादकीय

साहित्य-समारोह

हाल ही में दिल्ली में भारतीय आकाशवाणी की ओर से जो भारतीय साहित्य-समारोह किया गया था, वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। भारत में १४ राष्ट्रीय भाषाएँ हैं और उनके साथ ही साथ अभी तक अंग्रेज़ी भी इस देश की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा बनी हुई है। सैंकड़ों भारतीय लेखकों के भाव-प्रकाशन का माध्यम अभी तक अंग्रेज़ी भाषा है। इस तरह देश की इन १५ भाषाओं के लेखकों में परस्पर सहयोग और आदान-प्रदान की भावना का विस्तार प्रत्येक दृष्टि से न केवल वांछनीय है, अपितु आवश्यक है। साहित्य-समारोह में १४ भारतीय भाषाओं के लगभग १०० लेखकों ने भाग लिया। इस नए अध्यवसाय के लिए भारतीय आकाशवाणी के संचालक बधाई के पात्र हैं। भारतीय लेखकों को परस्पर मिलने के अधिकतम अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। आकाशवाणी ने इस आयोजन द्वारा देश के लगभग १०० लेखकों को प्रतिनिधि रूप में निमन्त्रित किया और लगभग १०० लेखकों को दर्शक रूप में। इस तरह राजधानी में लगभग २०० लेखकों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला, आकाशवाणी के श्रोताओं को उनकी रचनाओं का रसास्वादन प्राप्त हुआ—यह दोनों बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। हम आशा करते हैं कि यह साहित्य-समारोह राजधानी में प्रति वर्ष आयोजित किया जाएगा और अप्रैल के अन्तिम सप्ताह के गरम दिनों की अपेक्षा मार्च का प्रथम सप्ताह इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए चुना जाएगा।

जहाँ तक भारतीय साहित्यकारों का एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का प्रश्न है, यह काम यदि और अधिक वैज्ञानिक तथा वास्तविक स्तर पर किया जा सके तो अधिक अच्छा है। हमारा विचार है कि भविष्य में आकाशवाणी के ही अधिकांश कार्यकर्त्ताओं को इस समारोह में प्रतिनिधि न बना कर प्रत्येक भारतीय भाषा के माने हुए श्रेष्ठ लेखकों को इस समारोह में प्रतिनिधि रूप से बुलाना चाहिए। प्रतिनिधि लेखकों के चुनाव या नामज़दगी के लिए कोई कसौटी निश्चित की जा सकती है। जैसे कम से कम ६ प्रकाशित श्रेष्ठ मौलिक पुस्तकों की विद्यामानता।

इस समारोह से एक बहुत बड़ा लाभ यह भी उठाया जा सकता है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के कवियों, कहानी-लेखकों, नाटककारों, आलोचकों और उपन्यासकारों को अपनी अनुभूतियों, अपनी कठिनाइयों और अपनी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में एक-दूसरे के साथ विचार विनिमय करने का यथेष्ट अवसर प्राप्त हो। यह काम ग़ैर-रस्मी (इन्फ़ॉर्मल) तरीके से ही हो सकता है। और अच्छा यह होगा कि प्रतिनिधियों को कम से कम ३ दिन एक ही साथ ठहराने की व्यवस्था की जाए ताकि उन्हें एक-दूसरे को समझ सकने का अधिकतम अवसर प्राप्त हो।

●

पूर्वी पाकिस्तान से हिन्दुओं का निर्गमन

देश-विभाजन के बाद से अब तक ४० लाख से ऊपर हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान से भाग कर भारत में आ बसे हैं। सन् १९५० में नेहरू-लियाकत पैक्ट में इस बात की खुली छूट रखी गई थी कि जहाँ तक दोनों बंगालों का प्रश्न है, दोनों बंगालों के लोग पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व में जाकर आबाद हो सकते हैं। इस निश्चय के पीछे जो भावना थी, वह पूरी नहीं हुई और व्यवहार में ४० लाख से ऊपर हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान को छोड़ कर भारत में आ बसे हैं। स्पष्ट है कि पूर्वी बंगाल में रहने वाले बहुत से हिन्दू इस्लामी पाकिस्तान में अपने को सुरक्षित नहीं समझते। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है। पश्चिमी पाकिस्तान से लगभग सभी हिन्दुओं को भाग कर भारत में चले आना पड़ा। यदि पूर्वी भारत में भी यही स्थिति जारी रही तो विभाजन के आधारभूत सिद्धान्तों में ही अन्तर आ जाता है। विभाजन के समय पूर्वी बंगाल, पश्चिमी बंगाल की अपेक्षा आबादी तथा क्षेत्रफल दोनों दृष्टियों से बहुत बड़ा था। अब दोनों का क्षेत्रफल तो वही है, पर पूर्वी बंगाल के ४० लाख नागरिक भाग कर पश्चिमी बंगाल में आ गए हैं और इस तरह आबादी का समतुलन चिन्ताजनक रूप में बिगड़ गया है।

स्पष्टतः इस सम्बन्ध में भारत तटस्थ नहीं रह सकता और भारत सरकार इस दिशा में यथोचित कार्यवाही कर भी रही है। ढाका का गत मई मास में हुआ सम्मेलन भारत सरकार के इसी प्रयत्न का परिणाम था। इस सम्मेलन में भारत तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधियों की ओर से यह सम्मिलित घोषणा की गई कि इस तरह के निर्गमन को रोकने का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। पाकिस्तान के प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार किया कि पाकिस्तान के अल्पमतों में विश्वास की भावना उत्पन्न करना उन्हीं का उत्तरदायित्व है और पाकिस्तान की ओर से यह प्रयत्न किया जाएगा कि अल्पमतों के लोग वहाँ सम्मानपूर्वक रह सकें।

यहाँ हम पूर्वी पाकिस्तान के नागरिकों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर खींचना चाहते हैं कि यदि वहाँ के हिन्दू भाग कर भारत

में चले आए तो पूर्वी पाकिस्तान की आबादी पश्चिमी पाकिस्तान की अपेक्षा भी कम हो जाएगी और पिछले ६ वर्षों के प्रयत्न से उन्होंने पाकिस्तान के विधान तथा जीवन में जो स्थिति प्राप्त कर ली है, वह ख़तरे में पड़ जाएगी। क्योंकि पश्चिमी पाकिस्तान आबादी का बहुमत प्राप्त कर चाहे जिस तरह का व्यवहार कर सकेगा। यदि और किसी दृष्टि से नहीं, तो कम से कम इसी व्यावहारिक दृष्टि से ही पूर्वी पाकिस्तान के नेताओं को हिन्दुओं का यह निर्गमन रोकना चाहिए। और यह काम तभी हो सकता है, जब पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दू पाकिस्तानी नागरिक वहाँ अपने को पूरी तरह सुरक्षित अनुभव कर सकें।



नेपाल उन्नति की राह पर

गत २ मई को काठमाण्डू में नेपाल के नए महाराजाधिराज महेन्द्रवीर विक्रमशाह देव का जो राज्याभिषेक हुआ, वह कितनी ही दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। एक तो यह कि महाराज के प्राचीन राजवंश को पीढ़ियों के बाद वह सम्मान और स्थान प्राप्त हुआ, जिसके वह अधिकारी थे। दूसरा यह कि इस राज्याभिषेक महोत्सव में पहली बार अन्य देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए और इस तरह नेपाल में अपने को संसार से पृथक् रखने की नीति का युग समाप्त कर दिया गया। नेपाल महाराज अपने देश में कितने अधिक लोकप्रिय हैं, इसका बहुत अच्छा प्रदर्शन उस अवसर पर हुआ। नए महाराज न केवल प्रजा के अत्यन्त हित-चिन्तक हैं, अपितु वह प्रगतिशील विचारों के हैं। इसका बहुत स्पष्ट प्रमाण इस बात से मिला कि पुरानी पद्धति के अनुसार राज्याभिषेक के अवसर पर एक नया विवाह करने की बात से उन्होंने इनकार कर दिया। महाराज ने यह घोषणा भी की है कि वह अपने देश की सरकार को लोक-हितकारी सरकार बनाने का अधिकतम प्रयत्न करेंगे। नेपाल में प्रतिनिधितन्त्र का प्रारम्भ वह कर ही चुके हैं। हमें विश्वास है कि नए महाराज के वैधानिक शासन में हमारे पड़ोसी और भारत को अनुज के समान प्रिय नेपाल राष्ट्र की चौमुखी उन्नति होगी।

लंका की नई सरकार

पिछले दशक में एशिया के दो निर्वाचन अत्यन्त विस्मयोत्पादक सिद्ध हुए। एक तो पूर्वी बंगाल के पिछले आम चुनाव, जब वहाँ शासनकर्ता दल मुस्लिम लीग का पूर्ण पतन हुआ था और दूसरा श्रीलंका का नया आम चुनाव, जिसमें लंका के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री कोटलेवाला के दल को १०१ में से केवल ८ सीटें मिलीं और उनके मन्त्रिमण्डल के बहुत से सदस्य भी चुनाव में हार गए। श्री कोटलेवाला लंका को संसार की गुटबन्दी से पृथक् नहीं रख सके थे। उनका तथा उनके दल का पतन पश्चिमी शक्तियों के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। इस चुनाव में भी बण्डारनायके के महाजन तथा पेरामुना दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और वह श्रीलंका के नए प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए हैं। श्री बण्डारनायके अत्यन्त प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति हैं। उनके नेतृत्व में श्रीलंका न केवल पूर्ण रूप से स्वाधीन विदेश नीति का अनुसरण कर सकेगा, अपितु एक प्रजातन्त्र का रूप भी धारण कर सकेगा। भारत और लंका के पारस्परिक प्रश्नों को सुलझते अब देर नहीं लगेगी, यह भी हमें पूर्ण विश्वास है। हम लंका की उन्नति की कामना करते हैं।



हमारा वार्षिक अंक

जैसा कि पहले घोषणा की जा चुकी है, 'आजकल' का इस वर्ष का विशेषांक आगामी अक्तूबर मास में 'बुद्ध जयन्ती अंक' के रूप में प्रकाशित होगा। इस अंक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, रोचक और प्रामाणिक सामग्री देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। वार्षिक अंक में बीसियों सादे तथा रंगीन चित्र भी रहेंगे। वार्षिक अंक (बुद्ध जयन्ती अंक) का मूल्य १) रु० प्रति कापी होगा। परन्तु 'आजकल' के स्थायी ग्राहकों को उसका पृथक् मूल्य नहीं देना होगा। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि ६) रु० भेज कर आज ही आप वर्ष भर के लिए 'आजकल' के ग्राहक बन जाएँ। हमारे पिछले वार्षिक अंक (स्वाधीन भारत का साहित्यांक) की माँग इतनी अधिक थी कि हज़ारों पाठक प्रयत्न करने पर भी उसे प्राप्त नहीं कर सके थे। हम चाहते हैं कि बुद्ध जयन्ती अंक प्राप्त करने के सम्बन्ध में किसी पाठक को निराश न होना पड़े।



अपरिचित—(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

बत्ती बुझा दो। मैं काफ़ी देर अँधेरे में छत की ओर देखता रहा। फिर मुझे नींद आने लगी।

शायद रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, जब इंजन के भोंपू की आवाज़ से मेरी नींद खुली। वह आवाज़ कुछ ऐसी भारी थी कि मेरे सारे शरीर में एक सिहरन-सी भर गई। पिछले किसी स्टेशन पर इंजन बदल गया था।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी तो मैंने सिर थोड़ा ऊँचा उठाया। सामने की सीट उस समय खाली थी। वह महिला न जाने किस स्टेशन पर उतर गई थी। वह इसी स्टेशन पर न उतरी हो, यह सोच कर मैंने खिड़की का शीशा उठाकर बाहर देखा। प्लेटफार्म बहुत पीछे रह गया था और एक बत्तियों की कतार के अतिरिक्त कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने शीशा फिर खींच लिया। अन्दर की बत्ती अब भी बुझी हुई थी। बिस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने लक्ष्य किया कि मैं कम्बल के अतिरिक्त रज़ाई भी ओढ़े हुए हूँ, जिसे अच्छी तरह कम्बल के साथ मिला दिया गया है। उष्णता की अनेक सिहरनें एक साथ मेरे शरीर में भर गईं।

ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति उसी तरह ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे भर रहा था।

बनना चाहिए जिससे कि इसका शोषण और दोहन अच्छी तरह हो सके। लेखक रूस को गालियाँ देने तक अपने कर्तव्य की इतिश्री मानते तो उनके लिए अच्छा रहता क्योंकि कुछ लोग हर हालत में उनका साथ देते, पर भारत को उपदेश देने के चक्कर में पड़कर उन्होंने सारा काम गुड़गोबर कर दिया।

फूल बच्चा और ज़िन्दगी ' लेखक—देवेन्द्र इस्सर; प्रकाशक—साहित्य संगम, लुधियाना; पृष्ठ संख्या १६८; मूल्य ३)।

एक कहानी संग्रह है। लेखक भावुक हैं, पर कथानक उतने कसे-कसाये नहीं। जो कहानियाँ पढ़ीं, उनसे यही धारणा बनती है।

संघर्ष और विकास (प्रथम भाग) : लेखक—प्रेमनारायण अग्रवाल; प्रकाशक—नारायण पब्लिशिंग हाउस, अजीतमल, इटावा, (यू० पी०); पृष्ठ संख्या १२७; मूल्य १॥)।

लेखक ने जिन तीन व्यक्तियों की जीवनियाँ इस संग्रह के लिए चुनी हैं; वे हैं—राजकुमार प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव—संसद् सदस्य, श्री मूलचन्द्र अग्रवाल, पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य। राजकुमार भंजदेव को अंग्रेज़ों से संघर्ष करना पड़ा और इस संघर्ष में कई बार ब्रिटिश सरकार ने नीचता, क्रूरता, और अभद्रता का व्यवहार किया, जिसे कहते हैं पेटी के नीचे वार करना। सर्वश्री मूलचन्द्र अग्रवाल और ठाकुरदत्त शर्मा भी सेल्फमेड हैं इसमें सन्देह नहीं।

मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी) : लेखक—हरिहरनिवास द्विवेदी; प्रकाशक—उदय द्विवेदी विद्या मन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर; पृष्ठ संख्या २३४; मूल्य ४)।

लेखक हिन्दी साहित्य की एक अविज्ञात कड़ी पर रोशनी डालने के लिए बधाई के पात्र हैं। इस कड़ी के अस्तित्व के सम्बन्ध में सब से पहले शुक्ल जी ने यह लिख कर इंगित किया था—"ध्यान देने की बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहली कृति सूरदास की ही मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांग-पूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी।"

लेखक की स्थापना है कि ब्रजभाषा मध्यदेशीय भाषा का ही एक अंगमात्र है तथा ब्रजभाषा नाम अपेक्षाकृत आधुनिक है। वे मानते हैं कि बंगाल की ब्रज-बोली के अनुकरण पर ब्रजभाषा नाम पड़ा। वृन्दावन में कविराज कृष्णदास (१४९६-१५९८ ई०) ने चैतन्यचरणामृत लिखा जिसकी भाषा बंगाली है, परन्तु उसमें वृन्दावन की भाषा का भी मिश्रण है। इस भाषा को भी ब्रज-बोली कहा गया। बंगाल, उड़ीसा और असम के वैष्णवों द्वारा भक्ति भावना से प्रसूत यह नाम वृन्दावन में प्रचार पा रहा था और पास ही गोकुल में महाप्रभु वल्लभाचार्य का इसी भावना से उद्भूत नाम 'पुरुषोत्तम भाषा' भक्तों की भावना को परितुष्ट कर रहा था। महाप्रभु के तिरोधान के पश्चात् उनके चलाए हुए 'पुरुषोत्तम भाषा' नाम को उनके अनुयायियों ने बदल दिया ज्ञात होता है। वार्त्ता में की गई ब्रज मण्डल की कल्पना के पश्चात् जब ब्रज की रज का भी महत्त्व बढ़ा, तब कृष्ण भगवान् के सम्भाषण की भाषा के लिए गोकुल के भक्तों को भी ब्रज-बोली नाम ही अधिक उपयुक्त ज्ञात हुआ। परन्तु बोली से सन्तोष न कर उसे भाषा बना दिया गया और वृन्दावन के बंगाली भक्तों को ब्रज-बोली के स्थान पर गोकुल में उसका अधिक शालीन नाम 'ब्रजभाषा' अपनाया गया। मध्यदेशीय भाषा को दिया गया ब्रजभाषा नाम भाषा-विकास की परम्परा का नहीं है, न उसका सम्बन्ध भाषा के रूप से ही है, वह तो भावुक भक्तों के मधुर कल्पना-लोक की सृष्टि है।

डा० वासुदेवशरण और श्री राहुल सांकृत्यायन ने लेखक की गवेषणा की प्रशंसा की है।

रूपम : प्रधान सम्पादक—श्री भाऊ समर्थ; प्रकाशक—नागपुर स्कूल ऑफ़ आर्ट्स, नागपुर (म० प्र०); पृष्ठ संख्या ४३; मूल्य ॥)।

'रूपम' नागपुर स्कूल ऑफ़ आर्ट के तरुण चित्रकारों का सहकारी प्रयास है और इसमें हिन्दी तथा मराठी में कुछ लेख हैं। कुल मिला कर १७ लेख हैं, जिनमें सात लेख हिन्दी में और छः मराठी में हैं। इसके अतिरिक्त कुछ चित्र भी हैं। दो भाषाओं के इस प्रकार के प्रकाशनों का स्वागत होना चाहिए।

—मन्मथनाथ गुप्त

प्र सा रि का

अमेरिका में हर दूसरे आदमी के पास रेडियो होता है। यूरोप में हर छठे व्यक्ति के पास रेडियो है, जब कि एशिया में हर पचासवाँ व्यक्ति ही रेडियो रखता है। परन्तु भारत में हर दो ऐसे व्यक्तियों पर जिनके पास रेडियो है, नौ सौ अट्ठानवे ऐसे हैं जिनके पास रेडियो नहीं है। अगर आपके पास रेडियो नहीं है और जब तक आप इस कमी को दूर नहीं कर सकते, रेडियो से हिन्दी में प्रसारित होने वाली स्थायी महत्त्व की चीज़ें आप 'प्रसारिका' से प्राप्त कीजिए।

'प्रसारिका' साहित्य, कला, इतिहास, यात्रा, दर्शन, धर्म, विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों पर देश भर के प्रख्यात व्यक्तियों के चुने हुए भाषणों का संग्रह है। उच्च कोटि की बौद्धिक सामग्री के अलावा इस संग्रह में कहानी, कविता, नाटक, हास्य-रस के लेख आदि भी होते हैं। ऐसी उत्कृष्ट सामग्री सभी को सुलभ करने के लिए इस सचित्र लगभग सौ पृष्ठ की पत्रिका का मूल्य केवल आठ आने रखा गया है।

नोट—प्रसारिका के पहले दो अंक 'रेडियो संग्रह' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

अधिकृत प्रकाशन

स्वाधीनता और उसके बाद (जवाहरलाल नेहरू के भाषण १९४६-४९)	५	०	०
भारत की एकता का निर्माण (स्वर्गीय सरदार पटेल के भाषण १९४७-५०)	५	०	०
भारत १९५५	४	८	०
पहली पंचवर्षीय योजना (जनता संस्करण)	२	०	०
आठवाँ साल	१	८	०
हमारा संविधान	१	०	०
आचार्य विनोबा भावे	०	१२	०
हमारा झंडा	०	८	०
सामाजिक कल्याण	०	८	०
द्वितीय पंचवर्षीय योजना—संक्षिप्त प्रारम्भिक रूप रेखा	०	६	०
रेडियो विकास योजना	०	६	०
वैदिक साहित्य	०	६	०
हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ	०	६	०
सूरदास एक विश्लेषण	०	६	०
मानव विज्ञान	०	४	०
प्रयाग दर्शन	०	४	०

मिलने का पताः—



प ब्लि के श न्स डि वी ज़ न

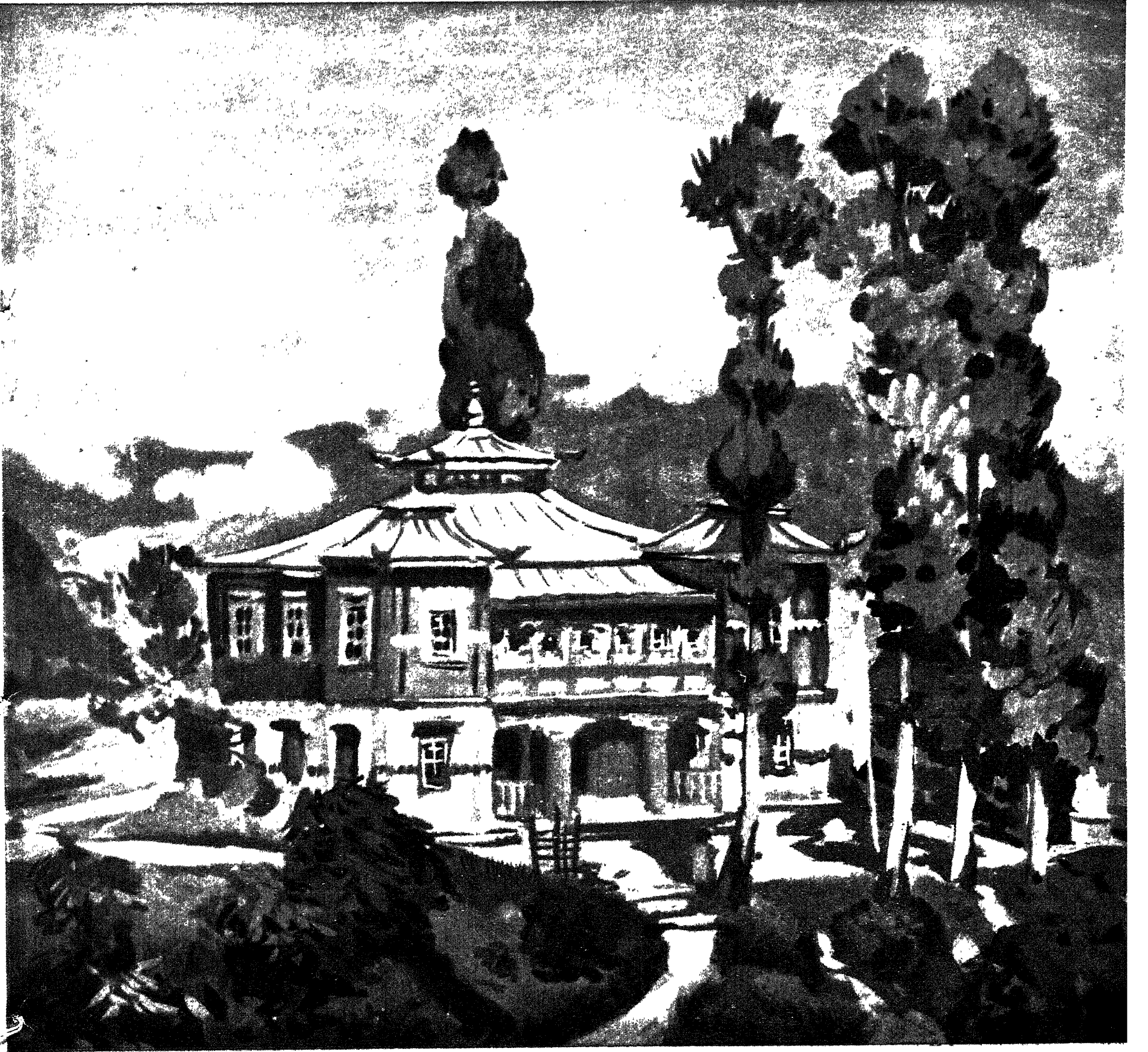
ओल्ड सेक्रेटेरियट दिल्ली—८

Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित



अधिकृत प्रकाशन

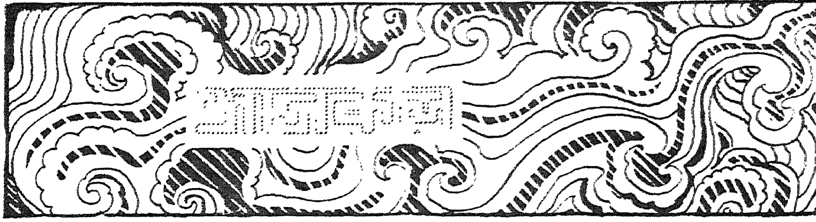
स्वाधीनता और उसके बाद (जवाहरलाल नेहरू के भाषण १९४६-४९)	५	०	०
भारत की एकता का निर्माण (स्वर्गीय सरदार पटेल के भाषण १९४७-५०)	५	०	०
भारत १९५५	५	८	०
पहली पंचवर्षीय योजना (जनता संस्करण)	२	०	०
आठवाँ साल	०	८	०
हमारा संविधान	१	०	०
आचार्य विनोबा भावे	०	१२	०
हमारा झंडा	[illegible]	८	०
सामाजिक कल्याण	०	८	०
द्वितीय पंचवर्षीय योजना—संक्षिप्त प्रारम्भिक रूपरेखा	०	६	०
रेडियो विकास योजना	०	६	०
वैदिक साहित्य	०	६	०
हिन्दी साहित्य की नवीन धारा	०	६	०
सूरदास एक विश्लेषण	०	६	०
मानव विज्ञान	०	४	०
प्रयाग दर्शन	०	४	०

मिलने का पता



पब्लिकेशन्स डिवीज़न

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८



वर्ष १२ अंक ३ पूर्णांक १४५

जुलाई १९५६

आवरण चित्र : बौद्ध विहार, दार्जलिंग (चित्रकार : बी० एन० जिज्जा)

इस मास का चित्र : भगवान बुद्ध का उपदेश

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट दिल्ली-८

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, दस सेंट या नौ पेंस



भगवान बुद्ध का उपदेश —कलकत्ता संग्रहालय से प्राप्त



वर्ष १२ जुलाई १९५६ अंक ३

उत्तर वेला

बालकृष्ण राव

'तुम कहते उत्तर वेला यह,
मैं संध्या का दीप जलाऊँ ?'
—पंत : 'नव अरुणोदय'

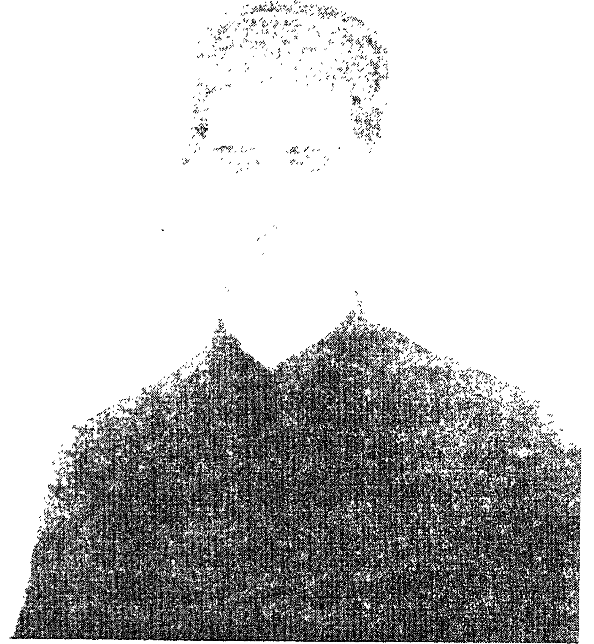
तुम कहते उत्तर वेला यह,
हाँ, उत्तर की ही वेला है—
प्रश्न किए थे तुमने जो
उनके उत्तर की।

घटी प्रखरता,
मन्द हुआ रवि का प्रकाश अब,
किन्तु पूर्वजो !
सायंतन आकाश न देखो:
सुने न उसने प्रश्न, बधिर है,
मूक न उत्तर ही दे पाता—
हमसे पूछो;
किन्तु पूछने से पहले यह हमें बता दो
जितनी आँखें जाग रही हैं अब धरती पर
क्या उतनी ही खुली मिली थीं प्रथम किरण को ?

मेरे संस्मरण

आचार्य नरेन्द्रदेव

मेरा जन्म संवत् १९४६ में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर में हुआ था। हम लोगों का पैतृक घर फ़ैज़ाबाद में है किन्तु उस समय मेरे पिता श्री बलदेवप्रसाद जी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे ख़ानदान में सबसे पहले अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध में अंग्रेज़ी हुकूमत सन् १८५६ में क़ायम हुई। इस कारण अवध में अंग्रेज़ी शिक्षा का आरम्भ देर से हुआ। मेरे बाबा का नाम बाबू मोहनलाल था। वह पुराने कैनिंग कालेज में अध्यापक का काम करते थे। उन्होंने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेज़ी की शिक्षा दी। पिता जी ने कैनिंग कालेज से एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आँखों की बीमारी के कारण वह बी० ए० नहीं कर सके। मेरे बाबा उनको क़ानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुन कर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वह सीतापुर में मेरे बाबा के शिष्य मुंशी मुरलीधर जी के साथ वकालत करने लगे। दोनों सगे भाई की तरह रहते थे। दोनों की आमदनी और ख़र्च एक ही जगह से होते थे। मुंशी जी के कोई सन्तान न थी। वह अपने भतीजे और मेरे बड़े भाई को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग २ वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिता जी को सीतापुर छोड़ना पड़ा और वह फ़ैज़ाबाद में वकालत करने लगे। जब वह सीतापुर में थे तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। किसी संन्यासी के प्रभाव में आने से ऐसा हुआ था। वह बड़े दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदान्त में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। संन्यासियों का सत्संग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी उस समय फ़ारसी का प्रचलन था। किन्तु अपनी संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था। वह एक नामी वकील थे किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनको अनेक दिलचस्पियाँ थीं। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी, हिन्दी और फ़ारसी में पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रन्थ भी प्रकाशित किए थे। अंग्रेज़ी की प्राइमर तो उन्होंने मेरे बड़े भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्हीं पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग़ लगाने का भी शौक था। हमारे घर पर एक छोटा सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गरमी की छुट्टियों में इनकी देख-भाल भी किया करता था। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे पिता जी धार्मिक थे और इस नाते सनातनधर्म के उपदेशक, संन्यासी और पंडित मेरे घर पर प्रायः आया करते थे। किन्तु पिता जी कांग्रेस और सोशल कानफ़रेन्स के कामों में भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पंडित काली दीन अवस्थी। वह हम भाई-बहनों को हिन्दी, गणित और भूगोल पढ़ाया करते थे। पिता जी मुझ से विशेष रूप से स्नेह करते थे। वह भी मुझे नित्य आध घंटा पढ़ाया करते थे। मैं उनके साथ प्रायः कचहरी जाया करता था। वहाँ मेरे पिता के वकील मित्र मुझे अंग्रेज़ी पढ़ाया करते थे। मैं पिता जी के साथ बाहर भी जाया करता था। मुझे याद है कि वह मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गये थे। वहाँ भारत धर्म महामंडल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पं० दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आँकने की मुझ में बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्मा जी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि थी।



आचार्य नरेन्द्रदेव क्वीन्स कालेज के छात्र के रूप में

मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढ़ा। इनके अतिरिक्त बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर

आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकान्ता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को १६ बार पढ़ा होगा। चन्द्रकान्ता सन्तति को भी जो २४ भाग में है एक बार पढ़ा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन प्रायः हुआ करता था। १० वर्ष की आयु में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता जी के साथ नित्य में सन्ध्या-वंदन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझ को एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कंठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघु कौमुदी भी पढ़ा था। जब मैं १० वर्ष का था अर्थात् सन् १८९१ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिता जी डेलिगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय डेलिगेट का 'बैज' होता था—कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगाकर अपने चचाज़ाद भाई के साथ 'विज़िटर्स गैलरी' में जा बैठा। उस ज़माने में प्रायः भाषण अंग्रेज़ी में होते थे और यदि हिन्दी में भी होते तब भी मैं कुछ ज़्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवाय शोर-गुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था? दर्शकों ने तंग आकर मुझे डाँटा और पंडाल से भागकर मैं बाहर चला आया। उस समय मैं कांग्रेस के महत्त्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानाडे देश के बड़े नेताओं में से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया। रानाडे महाशय की तो सन् १९०१ में मृत्यु हो गई। दत्त महाशय के दर्शन दोबारा सन् १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुए।

मैं सन् १९०२ में स्कूल में भरती हुआ। सन् १९०४ या १९०५ में मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिता जी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियों में सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या में कोई मेला था। मैंने शौक़िया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जला कर जो पहला कश खींचा तो सर घूमने लगा। इलायची-पान खाने पर तबियत सँभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यों सिगरेट पीते हैं। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट नहीं छुआ। हाँ! श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्ट्रैमोनियम के सिगरेट पीने पड़े हैं। मेरे पिता जी सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिए। मुझे इस सम्बन्ध में एक घटना याद आती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आए। मैं घर के अन्दर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर में नहीं हैं। मैंने उनसे यह संदेसा ज्यों का त्यों कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज़ हुए। मैं अपनी सिधाई में यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि मैं बड़ा सत्यवादी हूँ किन्तु इतना सच है कि झूठ कम बोलता हूँ। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हूँ और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिता जी की शिक्षा चेतावनी का काम करती है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे यहाँ अक्सर साधु-संन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पंडित माधवप्रसाद मिश्र। वह महीनों हमारे घर पर रहा करते थे। वह बंगला भाषा अच्छी जानते थे। उन्होंने 'देशेर कथा' का हिन्दी में अनुवाद किया था। यह पुस्तक ज़ब्त कर ली गई थी। हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक थे। यह राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट संपर्क में आया। मेरा घर का नाम 'अविनाशीलाल' था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्रजी पर बंगला भाषा का अच्छा प्रभाव पड़ा था। इन्होंने हम सब भाइयों के नाम बदल दिये उन्होंने ही मेरा नाम 'नरेन्द्रदेव' रखा। सनातनधर्म पर प्रायः व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् १९०६ में जब मैं एन्ट्रेन्स में पढ़ता था स्वामी रामतीर्थ का फ़ैज़ाबाद आना हुआ। और वे हमारे अतिथि हुए। उस समय वह केवल दूध पर रहते थे। शहर में उनका एक व्याख्यान 'ब्रह्मचर्य' पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बड़ा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बाद को मैंने उनके ग्रन्थों का अध्ययन किया। वह हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि संन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता। इतना कहना था कि वह अपना सारा सामान छोड़ कर चले गए और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि राम खुश है।

हमारे स्कूल में एक बड़े योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था—श्री दत्तात्रेय भीखाजी रानाडे। उनका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके पढ़ाने का ढंग निराला था। उस समय मैं ८ वीं कक्षा में था। किन्तु अंग्रेज़ी व्याकरण में हमारे दर्जे के विद्यार्थी दसवें दर्जे के विद्यार्थियों का कान काटते थे। मैं अपनी कक्षा में सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझ से प्रसन्न रहा करते थे। किन्तु संस्कृत के पंडित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियों से नाराज़ हो गए और उन्होंने वार्षिक परीक्षा में हम लोगों को फ़ेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बड़े परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। अपने जीवन में एक बार यह विरक्त हो गए थे। इनके घर पर हम लोग प्रायः जाया करते थे। यह अपने विद्यार्थियों को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकाल कर दिया करता था। मुझे याद आया कि पंडित जी ने दो वर्ष के कैलेंडर अपने नाम issue कराये हैं। ख्याल आया कि कहीं इन्हीं वर्षों के एन्ट्रेन्स के प्रश्न-पत्रों से प्रश्न न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियों के साथ बैठ कर उन प्रश्न-पत्रों को हल किया। देखा क्या कि उन्हीं प्रश्न-पत्रों से सब प्रश्न पूछे गए हैं। परीक्षा-भवन में पंडित जी ने मुझ से पूछा कि कहो कैसा कर

रहे हो। मैंने भी उत्तेजित होकर कहा कि जीवन में ऐसा अच्छा पर्चा कभी नहीं किया। उन्होंने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे।

मुझे उन्हें विवश होकर ५० में से ४६ अंक देने पड़े और कोई भी विद्यार्थी फेल न हुआ। यदि मैं लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फ़ेल हो गया होता। सन् १९०५ में पिता जी के साथ बनारस कांग्रेस में गया। पिता जी के निकट संपर्क में आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। यह मौखिक प्रेम था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं किन्तु इसी कारण आगे चलकर मैंने एम० ए० में संस्कृत ली। सन् १९०४ में पूज्य मालवीय जी फ़ैज़ाबाद आए थे। भारत धर्म महामण्डल से सम्बन्ध होने के नाते वह मेरे पिता जी से मिलने घर पर आए। गीता के एक-आध अध्याय सुने। मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एन्ट्रेन्स पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहना। पूज्य मालवीय जी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नहीं था। यद्यपि मैंने सेंट्रल हिन्दू कालेज में नाम लिखाने का विचार किया था किन्तु साथियों के कारण उस विचार को छोड़ना पड़ा। एन्ट्रेन्स पास कर मैं इलाहाबाद पढ़ने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगा। मेरे ३-४ सहपाठी थे। हम को एक बड़े कमरे में रक्खा गया। छात्रावास में रहने का यह पहला अवसर था। बंग भंग के कारण कांग्रेस में एक नए दल का जन्म हुआ था जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई ख़ास राजनीतिक विचार न थे। किन्तु कांग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन १९०५ में दर्शक के रूप में कांग्रेस में शरीक हुआ था। प्रिंस आफ़ वेल्स भारत आने वाले थे और उनका स्वागत करने के लिए एक प्रस्ताव श्री गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उसका घोर विरोध किया किन्तु अन्त में दबाव में उसे वापिस ले लिया। किन्तु उस समय पंडाल से बाहर चले आए। विरोध की यह पहली ध्वनि सुनाई पड़ी। सन् १९०६ में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेज़ी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारों का केन्द्र था। पंडित सुन्दरलाल जी उस समय विद्यार्थियों के अगुआ थे। अपने राजनीतिक विचारों के कारण वह विश्वविद्यालय से निकाले गए। उस समय बोर्डिंग हाउस में रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्द गरम दल के विचार का हो गया। हममें से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन में शरीक हुए। रिपन कालेज में हम लोग ठहराए गए। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते तो वहीं दो टुकड़े हो गए होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग स्वदेशी, ब्रिटिश माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा थे। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनों दलों में विवाद खड़ा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे—उनका कहना था कि इससे विद्वेष और घृणा का भाव फैलता है—तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पड़ा। जापान की विजय से एशिया में नवजागृति का आरम्भ हुआ। एशियावासियों ने अपने खोए हुए आत्म-विश्वास को फिर से पाया और अंग्रेज़ों की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था वह उठने लगा। इस पीढ़ी का अंग्रेज़ी शिक्षित वर्ग समझता था कि अंग्रेज़ हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हम को शासन के कार्य में दक्ष बना देगा तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंप कर चला जाएगा। बिना इस विश्वास को दूर किए राजनीति में प्रगति आ नहीं सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नए दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गई। इसकी ओर से कलकत्ते में दो सभाएँ हुईं। एक सभा बड़ा बाज़ार में हुई थी। उसमें मैं भी मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमें सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्री विपिनचन्द्रपाल और लोकमान्य भी हिन्दी में बोले थे। श्री पाल को हिन्दी बोलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत हुई किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बड़ाबाज़ार में उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते हैं। उन्हीं की सुविधा के लिए हिन्दी में ही भाषण कराए गए थे। बंगाल में इस नए दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की कांग्रेस के बाद संयुक्त प्रान्त को सर करने के लिए दोनों दलों में होड़ लग गई। प्रयाग में दोनों दलों के बड़े-बड़े नेता आए और उनके व्याख्यानों को सुनने का मुझको अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आए। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन गए। उनकी सभा का आयोजन थोड़े से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में से कोई भी उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ा-गाड़ी लाए थे। हम लोगों ने घोड़ा खोल कर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे—"Reserve that enthusiasm for a better cause"—इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए। एक वकील साहब के अहाते में उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गए हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाज़त दे दी थी। हम लोगों ने दरी बिछाई। एक विद्यार्थी ने वंदे मातरम् गान गाया और अंग्रेज़ी में भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेज़ी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अंग्रेज़ ईश्वर से भी बड़ा है। इसके कुछ दिनों बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला में हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर हम टैक्स देना भी बन्द कर सकते हैं। इसके बाद श्री विपिन पाल आए और उनके ४ ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी न किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हैदर रज़ा भी आए। नरम दल के नेताओं में केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियों पर पड़ा। हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और

गरम दल के अखबार मँगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्देमातरम्' आता था जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। पांडिचरी जाने के बाद भी उनका प्रभाव क़ायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूरी करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् १९२१ में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गई थी। किन्तु उन्होंने अपने भाई बारीन्द्र को लिखा कि सन् १९०८ के अरविन्द को बंगाल चाहता है किन्तु मैं १९०८ का अरविन्द नहीं रहा। यदि मेरे ढंग के ३६ भी कर्मी तैयार हो जाएँ तो मैं आ सकता हूँ। बहुत दिनों तक मुझे यह आशा बनी रही किन्तु अन्त में जब मैं निराश हो गया तो उधर से मुँह मोड़ लिया। उनके विचारों में ओज के साथ-साथ सचाई थी। प्राचीन संस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बड़ा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढ़े हैं वह इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझ को बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्र वृत्ति छोड़ कर विलायत से लौट आए थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा-प्रणाली का विरोध किया था और "हमारी शिक्षा समस्या" पर १४ लेख 'पंजाबी' में लिखे थे। उनके प्रभाव में आकर पंजाब के कुछ विद्यार्थियों ने पढ़ना छोड़ दिया था। उनके पढ़ाने का भार उन्होंने स्वयं लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। हरदयाल जी बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बड़ा काम बिना कठोर साधना के नहीं होता। Edwin Arnold की "Light of Asia" को पढ़ कर वह बिल्कुल बदल गए थे। विलायत में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किए थे। इन सूचियों की पुस्तकों को पढ़ना मैंने आरम्भ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान-युद्ध, गैरिबाल्डी और मैज़िनी पर पुस्तकें और रूस के आतंकवादियों के उपन्यास पढ़ा करते थे। सन् १९०७ में प्रयाग से रामानन्द बाबू का "Modern Review" भी निकलने लगा। इसका बड़ा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बंगाली नवयुवक को क्रान्तिकारी समझते थे। बंगला साहित्य में इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गई। मैंने रमेशचन्द्र दत्त और बंकिम के उपन्यास पढ़े और बंगला साहित्य थोड़ा-बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत में हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नहीं ख़रीदते थे। माघ मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय हमारे कालेज के प्रिंसिपल जैनिंग्स साहब थे। वह कट्टर Anglo-Indian थे। हमारे छात्रावास में एक विद्यार्थी के कमरे में खुदीराम बोस की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आए और सीधे मेरे मित्र के कमरे में गए। मेरे मित्र कालेज से निकाल दिए गए किन्तु श्रीमती एनीबेसंट ने हिन्दू कालेज में उनको भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हम में से कुछ का क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध होने लगा। उस समय कुछ क्रान्तिकारियों का विचार था कि I.C.S. में शामिल होना चाहिए ताकि क्रान्ति के समय हम ज़िले का शासन सँभाल सकें। इस विचार से मेरे चार साथी इंग्लैंड गए। मैं भी सन् १९११ में जाना चाहता था किन्तु माताजी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १९०७ में सूरत में फूट पड़ चुकी थी और कांग्रेस से गरम दल के लोग निकल आये थे। कनवेंशन बुलाकर कांग्रेस का विधान बदला गया। इसे गरम दल के लोग कनवेंशन कांग्रेस कहते थे। गवर्नमेंट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल में डाल दिए गए। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गये और लंदन, पैरिस, जेनेवा, बर्लिन में क्रान्ति के केन्द्र बनाने लगे। और वहीं से साहित्य प्रकाशित होता था। मेरे जो साथी विलायत पढ़ने गये थे वह उस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की War of Indian Independence की एक प्रति भी मेरे पास आई थी और मुझे बराबर हरदयाल का "वन्देमातरम्" बर्लिन का "तलवार" और पैरिस का Indian Sociologist मिला करता था। मेरे दोस्तों में से एक सन् १९१४ की लड़ाई में जेल में बन्द कर दिए गए थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आये। मैंने सन् १९०८ के बाद से कांग्रेस के अधिवेशनों में जाना छोड़ दिया क्योंकि हम लोग गरम दल के साथ थे। यहाँ तक कि जब कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में हुआ तब भी हम उसमें नहीं गए। सन् १९१६ में जब कांग्रेस में दोनों दलों में मेल हुआ तब हम फिर कांग्रेस में आ गए।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करूँ। मैं क़ानून पढ़ना नहीं चाहता था। मैं प्राचीन इतिहास में गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज में भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क में आया। डाक्टर गंगानाथ झा की मुझ पर बड़ी कृपा थी। बी० ए० में प्रो० ब्राउन से इतिहास पढ़ा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढ़ाते भी अच्छा थे, उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर मैं पुरातत्व पढ़ने काशी चला गया। वहाँ डाक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कालेज में जो अंग्रेज़ी अध्यापक आते थे वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डा० वेनिस जैसे पढ़ाने वाले कम होंगे। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मैं क्वींस कालेज में था तब वहाँ भी शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझ से ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियों के समाचार मिलते रहते थे। मेरी इन लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति थी किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मैं किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु उनके कई नेताओं से परिचय था और वह मुझ पर विश्वास करते थे और समय-समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १९१३ में जब मैंने

एम० ए० पास किया तब मेरे घर वालों ने वकालत पढ़ने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नहीं करता था। किन्तु जब पुरातत्व विभाग में स्थान न मिला तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति में भाग ले सकूँगा मैंने क़ानून पढ़ा।

सन् १९१९ में मैं एल० एल० बी० पास कर वकालत करने फ़ैज़ाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग में परिपक्व हुए और वहीं मुझ को एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रही हैं—एक पढ़ने-लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनों में संघर्ष रहता है। यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाये तो मुझे बड़ा परितोष रहता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण मेरे जीवन का वह सबसे अच्छा हिस्सा है जो विद्यापीठ की सेवा में व्यतीत हुआ और आज भी उसे मैं अपना कुटुम्ब समझता हूँ।

सन् १९१४ में लोकमान्य मांडले जेल से रिहा होकर आये और अपने सहयोगियों को फिर एकत्र करने लगे। श्रीमती बेसंट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और दो होम रूल लीग की स्थापना हुई। सन् १९१५ में हमारे प्रान्त में श्रीमती बेसंट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सम्बन्ध में लोकमान्य से बातें की और उनकी लीग की एक शाखा फ़ैज़ाबाद में खोलना चाहा। किन्तु उन्होंने यह कह कर मना किया कि दोनों के उद्देश्य एक हैं, दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा क़ायम की गई किसी संस्था में शरीक नहीं होना चाहते और कुछ श्रीमती बेसंट द्वारा संस्थापित किसी संस्था में नहीं रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फ़ैज़ाबाद में खोली और उसका मन्त्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय-समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला सार्वजनिक भाषण अली बन्धुओं की नज़रबन्दी का विरोध करने के लिए आमंत्रित सभा में हुआ था। मैं बोलते बहुत डरता था। किन्तु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनों ने मेरे भाषण की प्रशंसा भी की। इससे मेरा उत्साह बढ़ा और फिर धीरे-धीरे संकोच दूर हो गया। मैं अब सोचता हूँ कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड़ गया होता तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

लीग के साथ-साथ कांग्रेस में भी था और बहुत जल्द उसकी सब कमेटियों में बिना प्रयत्न के पहुँच गया। महात्मा जी के राजनीतिक क्षेत्र में आने से धीरे-धीरे कांग्रेस का रूप बदलने लगा। आरम्भ में तो वह कोई ऐसा हिस्सा नहीं लेते थे किन्तु सन् १९१९ से वह प्रमुख भाग लेने लगे। ख़िलाफ़त के प्रश्न को लेकर जब उन्होंने असहयोग आन्दोलन चलाना चाहा, तो असहयोग के कार्यक्रम के सम्बन्ध में लोकमान्य से उनका मतभेद था। जून १९२० में काशी में A. I. C. C. की बैठक के समय मैंने इस सम्बन्ध में लोकमान्य से बातें कीं। उन्होंने कहा कि मैंने अपने जीवन में कभी गवर्नमेंट के साथ सहयोग नहीं किया; प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वही पुराना विश्वास नहीं रह गया था और उनका ख़याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो जिस पर जनता चल सके। वह कौंसिलों के बहिष्कार के ख़िलाफ़ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहें ख़ाली रहें तो यह ठीक है किन्तु यदि वहाँ जगहें भर जावें तो अपने को प्रतिनिधि कह कर सरकारपरस्त लोग देश का अहित करेंगे। उनका एक सिद्धान्त यह भी था कि कांग्रेस में अपनी बात रक्खो और अन्त में जो उसका निर्णय हो उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का अनुयायी था। इसलिए मैंने कांग्रेस में कौंसिलों के बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया किन्तु जब एक बार निर्णय हो गया उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे में मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड़ दी। इस निश्चय में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नहीं किया क्योंकि मैं कांग्रेस के निर्णय से अपने को बँधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी ख़्याल नहीं किया। पिताजी से एक बार पूछना चाहा किन्तु यह सोच कर कि यदि उन्होंने विरोध किया तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकूँगा। मैंने उनसे भी अनुमति नहीं माँगी, किन्तु पिताजी को जब पता चला तो उन्होंने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि तुमको अपनी स्वतन्त्र जीविका की कुछ फ़िक्र करनी चाहिए और जब तक जीवित रहे मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होने दी। असहयोग आन्दोलन के शुरू होने के बाद एक बार पं० जवाहरलाल फ़ैज़ाबाद आए और उन्होंने मुझ से कहा कि बनारस में विद्यापीठ खुलने जा रहा है और तुम्हें लोग वहाँ चाहते हैं। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिवप्रसाद जी को पत्र लिखा। उन्होंने मुझे तुरन्त बुला लिया। शिवप्रसाद जी मेरे सहपाठी थे और विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गई। वह बड़े उदार हृदय के व्यक्ति थे। दानियों में मैंने उन्हीं को एक पाया जो नाम नहीं चाहते थे। क्रान्तिकारियों की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डा० भगवानदास जी ने मुझ पर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्हीं की देख-रेख में मैं कार्य करने लगा। मैं २ वर्ष तक छात्रावास में ही विद्यार्थियों के साथ रहता था। एक कुटुम्ब सा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची में जब अली बन्धुओं को सज़ा हुई थी तब हम सब बनारस के गाँवों में प्रचार के लिए गए थे। अपना-अपना बिस्तर बग़ल में दबा नित्य पैदल घूमते थे। सन् १९२६ में डाक्टर साहब ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस में मुझे कई नए मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापकों तथा कार्यकर्त्ताओं से मेरा बड़ा मीठा सम्बन्ध रहा है। श्रीप्रकाश जी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गए थे। उन्होंने मुझे आचार्य कहना शुरू किया यहाँ तक कि वह मेरे नाम का एक अंग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशंसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलाल जी से होम रूल आन्दोलन के समय से था तथापि श्रीप्रकाश जी द्वारा उनसे तथा गणेश जी से मेरी घनिष्ठता हुई। मैं उनके घर में महीनों रहा हूँ। वह मेरी सदा फ़िक्र उसी तरह करते हैं जैसे माता अपने बालक की। उनकी मेरे बारे में राय है कि मैं अपनी फ़िक्र नहीं करता

हूँ, शरीर से बड़ा लापरवाह हूँ। मेरे विचार उनसे चाहे मिलें या न मिलें, उनका स्नेह घटता नहीं। सियासत की दोस्ती पायदार नहीं होती है। किन्तु विचारों में अन्तर होते हुए भी हम लोगों के स्नेह में फर्क नहीं पड़ा है। पुराने मित्रों से वियोग दुःखदायी होता है किन्तु यदि शिष्टता बनी रहे तो सम्बन्ध में बहुत अन्तर नहीं पड़ता ऐसी मिसाल हैं किन्तु बहुत कम हैं। नेता के मुझ में कोई भी गुण नहीं हैं। मुझ में महत्त्वाकांक्षा नहीं है। यह बड़ी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूँ और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं अनुशासन में नहीं रहना चाहता हूँ। मैं व्यक्तिवादी नहीं हूँ। नेताओं की दूर से आराधना करता रहा हूँ। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूँ। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है। आत्म-प्रशंसा सुनकर कौन खुश नहीं होता। अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नहीं होती। किन्तु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नहीं किया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की किन्तु अपने अन्य नेताओं के अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुझ से वर्किंग कमेटी में आने को कहा, मैंने इन्कार कर दिया। किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमन्त्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मैं नेता नहीं हूँ। इसलिए किसी नए आन्दोलन या पार्टी का आरम्भ नहीं कर सकता। सन् १९३४ में जब जयप्रकाश जी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा तो मैंने इन्कार किया। इसलिए नहीं कि समाजवाद को नहीं मानता था किन्तु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था। और इसी कारण मुझे अन्त में उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन पटने में मई सन् १९३४ में हुआ था। बिहार में भूकम्प हो गया था। उसी सिलसिले में मैं विद्यार्थियों को लेकर कार्य करने गया। वहाँ पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अन्त में हम लोगों की विजय हुई। मेहर अली से एक बार सन् १९२८ में मुलाकात हुई थी। बम्बई के और मित्रों को मैं उस समय तक नहीं जानता था। अपरिचित व्यक्तियों के साथ कार्य करते मुझ को घबराहट होती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्त्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गए।

यों तो मैं अपने सूबे में बराबर भाषण किया करता था किन्तु A. I. C. C. में मैं पहली बार पटने में बोला। मौलाना मुहम्मद-अली ने एक बार कहा था कि बंगाली और मद्रासी कांग्रेस में बहुत बोला करते हैं, बिहार के लोग जब औरों को बोलते देखते हैं तो खिसक कर राजेन्द्र बाबू के पास जाते हैं और कहते हैं कि रौंवों बोलीं बोलीं और यू० पी० के लोग खुद नहीं बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते हैं क्या बेवकूफ़ बोलता है। हमारे प्रान्त के बड़े-बड़े नेताओं के आगे हम लोगों को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पं० जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे किन्तु सन् १९३४ में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी न बनी होती तो शायद मैं कांग्रेस में बोलने का साहस भी नहीं करता।

पं० जवाहरलाल जी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी, इस कारण तथा उनके ऊँचे व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा है। उनके सम्बन्ध में कई कोमल स्मृतियाँ हैं। केवल एक बात का उल्लेख यहाँ करता हूँ। हम लोग अहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातों की चर्चा चल पड़ी। उन्होंने कहा—नरेन्द्रदेव! यदि मैं कांग्रेस के आन्दोलन में न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मैं इन्सान न बनता। उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक में जवाहरलाल का एक पत्र उद्धृत किया है जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पं० मोतीलाल जी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी बहनों को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, मैं तो सब के लिए उसका ट्रस्टी मात्र हूँ। उस पत्र को पढ़ कर मेरी आँखों में आँसू आ गए और मैंने जवाहरलाल की महानता को समझा। उनको अपने साथियों का बड़ा ख़्याल रहता है और बीमार साथियों की बड़ी शुश्रूषा करते हैं।

महात्मा जी के आश्रय में मुझे ४ महीने रहने का मौक़ा सन् १९४२ में मिला। मैंने देखा कि वह कैसे अपने प्रत्येक क्षण का उपयोग करते हैं। उनका जीवन बड़ा संयत था। वह रोज़ आश्रम के प्रत्येक रोगी की पूछ-ताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यकर्त्ता का ख़्याल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग शय्या पर पड़े-पड़े मैं विचार किया करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू धर्म के किसी नियम को नहीं मानता वह क्यों असंख्य सनातनी हिन्दुओं का आराध्य देव बना हुआ है। पंडित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे किन्तु अपढ़ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमण संस्कृति का कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति घरबार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है उसके आचार की ओर हिन्दू जनता ध्यान नहीं देती। पंडितम्मन्य उनकी भले ही निन्दा करे किन्तु सामान्य जनता उनका सदा सम्मान करती है। अक्तूबर सन् १९४१ में जब मैं जेल से छूटा तब महात्मा जी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मुझ से पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम में बुलाया। मैं महात्मा जी पर बोझ नहीं डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं A. I. C. C. की बैठक में शरीक होने वर्धा गया और वहाँ बीमार पड़ गया तब उन्होंने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्मा जी मेरी बड़ी फ़िक्र करते थे। एक रात मेरी तबियत बहुत ख़राब हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे वह घबरा गये यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात के एक बजे बिना मुझे बताये महात्मा जी को जगाने गये और वह मुझे देखने आए।

वह उनका मौन का दिन था। उन्होंने मेरे लिए मौन तोड़ा। ऐसे मौक़े थोड़े थे। उसी समय मोटर भेजकर वर्धा से डाक्टर बुलाये गए। सुबह तक तबियत सँभल गई। दिल्ली में Stafford Cripps वार्तालाप के लिए आए थे। महात्मा जी दिल्ली जाना नहीं चाहते थे किन्तु आग्रह होने पर गए। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बँटवारे का सवाल किसी न किसी रूप में लावेंगे। इसीलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फ़ोन से मेरी तबियत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थीं। इस कारण वह जल्दी लौट आए। जिनके विचार उनसे नहीं मिलते थे यदि वह ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे।

उस समय महात्मा जी सोच रहे थे कि जेल में वह इस बार भोजन नहीं करेंगे। उनके इस विचार को जान कर महादेव भाई बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मुझ से कहा कि तुम भी महात्मा जी से इस सम्बन्ध में बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उस दिन आ गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम दोनों ने बहुत देर तक बातें कीं। महात्मा जी ने हमारी बात शान्तिपूर्वक सुनी। किन्तु उस दिन वह अन्तिम निर्णय न कर सके। बंबई में जब हम लोग ९ अगस्त को गिरफ़्तार हो गये, स्पेशल ट्रेन में अहमदनगर ले जाए गये। उसमें महात्मा जी, उनकी पार्टी और बंबई के प्रमुख लोग थे। नेताओं ने उस समय भी महात्मा जी से अन्तिम बार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। क़िले में भी हम लोगों को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् १९४५ में हम लोग छूटे, मैं जवाहरलाल जी के साथ अलमोड़ा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनों के बाद मैं पूना में महात्मा जी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे में अब तुम्हारे क्या विचार हैं। मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हूँ किन्तु इसमें मुझे सन्देह है कि बिना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अंग्रेज़ों से छीन सकेंगे।

महात्मा जी के सम्बन्ध में अनेक संस्मरण हैं किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नहीं कहते।

इधर कई वर्ष से कांग्रेस में यह चर्चा चल रही थी कि कांग्रेस में कोई पार्टी नहीं रहनी चाहिए। महात्मा जी इसके विरुद्ध थे। स्वतन्त्र होने के बाद मेरी यह राय थी कि कांग्रेस से अलग होने का समय अभी नहीं आया है क्योंकि देश संकट से गुज़र रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्बन्ध में मतभेद था। किन्तु मेरे मित्रों ने मेरी सलाह मान कर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ़ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया जिससे हम लोगों का कांग्रेस में रहना असम्भव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड़ दूँगा। कोई भी व्यक्ति जिसको आत्म-सम्मान का ख्याल है, ऐसा नियम बनने पर नहीं रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस को छोड़ने का निश्चय करती तो यह तो ठीक है कि मैं आदेश का पालन करता किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक उसके पक्ष में होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गए और अपना निर्णय करने में मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा है, ऐसे ही हुए हैं। इन मौक़ों पर घटनाएँ ऐसी हुईं कि मुझे अपना फ़ैसला करने में कुछ देर न लगी, इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए हैं। शरीर-सम्पत्ति अच्छी नहीं है। किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतन्त्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी ज़िन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आँखें मुँदेंगी, मुझे यह परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूँ कि यही मेरी पूँजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।



आचार्य नरेन्द्रदेव

बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर

आचार्य नरेन्द्रदेव जी के देहान्त ने देश को बहुत गहरी क्षति पहुँचाई है। उनके जैसे महान् नेता देश के पिछले पचास साल के इतिहास में इने-गिने ही हुए हैं।

देश-भक्ति का सबक तो उनको बचपन से ही मिला था और देश के लिए काम करने की लगन कालेज के ज़माने से ही उनको लग गई थी। तिलक जी के नेतृत्व में उन्होंने राजनीतिक कार्य आरम्भ कर दिया था। गान्धी जी के असहयोग का सन्देश पाते ही वे वकालत छोड़ कर फ़ौरन आन्दोलन में शामिल हो गए। उसी सिलसिले में नरेन्द्रदेव जी गान्धी जी द्वारा स्थापित काशी विद्यापीठ में अध्यापन करने लगे। कुछ सालों तक उसके उपाचार्य रह कर बाद को आचार्य हुए।



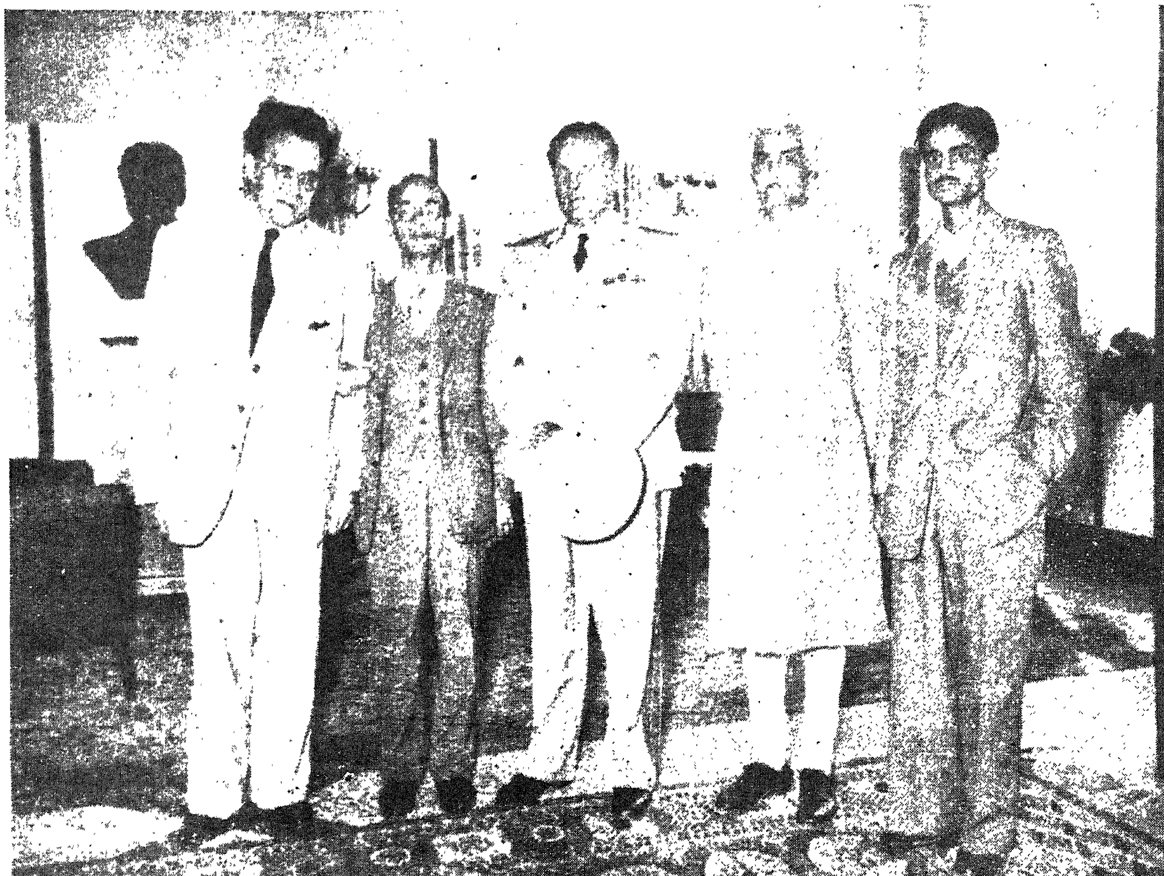
आचार्य नरेन्द्रदेव के साथ डा० केसकर

नरेन्द्रदेव जी बहुगुणी आदमी थे। उनके व्यक्तित्व में विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, चारित्र्य और स्वार्थ-त्याग का ऐसा मेल मिलता है कि उसकी उपमा और शायद ही किसी के चरित्र में मिले। वे संस्कृत, प्राकृत, पाली के विद्वान थे। प्राचीन भारतीय इतिहास का उनका सूक्ष्म अध्ययन था लेकिन साथ ही साथ आधुनिक भारत के उत्थान का इतिहास भी उन्हें अच्छी तरह अवगत था। भारतीय इतिहास के इस अध्याय का ज्ञान बहुत कम लोगों को है और इसे अच्छी तरह से जानने वाला उनके बराबर मुझे कहीं नहीं मिला। विद्यापीठ में उन्होंने इस विषय को बराबर पढ़ाया। इसमें उनको इतना रस था कि वे बड़े चाव से पढ़ाते थे। इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसका अध्ययन किया था और वे जीवित इतिहास के सम्पर्क में रहे तथा उसमें भाग लेते रहे।

नरेन्द्रदेव जी अच्छे काबिल वकील थे और कोई सन्देह नहीं कि अगर आगे चलते तो वकालत में भी बहुत बड़ा नाम कमाते। लाजवाब वक्ता थे। उनकी विशेषता यह थी कि हिन्दी और उर्दू दोनों में जब चाहे बोल सकते थे। वक्ता तो मैंने बहुत देखे लेकिन बुद्धिमान और समझदार श्रोता के लिए उनके जैसा वक्ता मिलना कठिन है। धारा-प्रवाह चुने हुए शब्दों में कठिन-से-कठिन विषय को चित्रित कर देते थे। उर्दू पर भी उनका इतना अधिकार था कि कठिन दार्शनिक विषयों पर भी जानकारों की बैठक में ऐसा अच्छा व्याख्यान दे देते थे कि सब को तबीयत खुश हो जाती थी।

उनकी नम्रता और सौजन्य हद दरजे का रहा। अपने को आगे बढ़ाने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। शायद राजनीति में उनको इससे कुछ हानि उठानी पड़ी। मुझे याद है कि बहुत दिनों तक, १९२८-२९ तक, उनको विद्यापीठ से बाहर कम लोग जानते थे। उस समय गान्धी जी एक दौरे में जब बनारस आए तब उनका परिचय नरेन्द्रदेव जी से हुआ और वह उनसे इतने प्रभावित हुए कि कई जगह उनको खींच ले गए और इस प्रकार धीरे-धीरे उनका नाम देश भर में फैल गया। लेकिन उनका स्वभाव जैसा पहले था वैसा हमेशा बना रहा। आगे बढ़ने की कोशिश कभी नहीं की। अपने दूसरे साथियों को खुशी से आगे बढ़ाया।

वे कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य रह चुके थे। जो मशहूर वर्किंग कमेटी अगस्त १९४२ में अहमदनगर जेल में बन्द कर दी गई थी, उसमें वे थे। खेद है कि वे कांग्रेस के सभापति नहीं बनाए गए। दो बार उनका नाम निश्चित रूप से आगे आया और यदि पार्टी का सवाल न होता तो वे शर्तिया हो जाते—चूँकि वे कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नेता थे इसलिए कांग्रेस नेताओं के एक दल ने उनके सभापतित्व का विरोध किया। नहीं तो वे एक नहीं बल्कि दो बार शायद सभापति हो जाते। कांग्रेस समाजवादी



यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो के साथ

दल के तो वे शुरू से ही स्थापकों में थे। वहाँ भी उन्होंने नेता बनने की कभी कोशिश नहीं की। हमेशा दूसरों को बनने दिया। अन्त में मजबूर किए जाने पर ही वे सोशलिस्ट पार्टी के चेयरमैन बने थे।

अपने साथियों से वे हमेशा बहुत प्रेम करते रहे। विशेष तौर पर विद्यापीठ में जो उनके साथ थे, चाहे वे अध्यापक रहे हों या उन्हें विद्यार्थी बन कर उनसे सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, उनको अपना कुटुम्बीय ही उन्होंने मान लिया। विद्यापीठ में बीता हुआ अपना जीवन-काल उनको सब दृष्टि से सुखदायी मालूम हुआ और इसलिए उसकी वे बार-बार याद करते थे। विद्यापीठ परिवार के वे हमेशा आचार्य रहे।

उनका जीवन स्वार्थ-त्याग की एक कहानी है। उन्होंने अपना सर्वस्व देश की सेवा में लगाया। बाद को जब वे यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर हुए तब भी अपनी तनख्वाह का एक अच्छा अंश विद्यार्थियों के स्कॉलरशिप के लिए दे देते थे। देश और समाज के काम को व्यक्तिगत या कुटुम्ब के काम से वे हमेशा अधिक महत्त्व का समझा करते थे, परिणामस्वरूप हमेशा आर्थिक कठिनाई में रहे। लेकिन इसकी परवाह नहीं की।

उनको काफी पहले से दमे का रोग हो गया था। शुरू में तो मामूली रहा लेकिन आगे बढ़ता ही गया। बाद को उनके रोग ने काफी उग्र रूप धारण किया। मुख्य कारण शायद यह था कि देश और पार्टी के काम के लिए उन्होंने अपने स्वास्थ्य की तरफ़ ध्यान न दिया और किसी प्रकार का नियम पालन तो शायद ही कभी किया हो या पथ्य कभी लिया हो। नतीजा यह हुआ कि उनकी दमे की हालत बिगड़ती ही गई और उसी में उनका अन्त हुआ।

पिछले पचास साल में जो बड़े-बड़े नेता हमारे देश में हुए हैं उनमें से ऊपरी आठ-दस में ही उनकी गिनती होगी। विद्वत्ता, वक्तृत्व, चरित्र की दृढ़ता और स्वार्थ-त्याग—ऐसे गुणों का मेल उनके अलावा लोकमान्य तिलक में ही मिलता है। यह देश के लिए अत्यन्त दुःख और खेद की बात है कि उनके जैसा नेता ऐसे समय में चल बसा। उनकी मृत्यु से जो हानि हुई है उसकी पूर्ति होना बहुत कठिन है।

हम लोग जो ३५ साल उनके साथ रहे, जिन्होंने उनसे शिक्षा पाई और उनके व्यक्तित्व से जिनको स्फूर्ति मिली, उनकी जो हानि हुई है उसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। जब से

वे विद्यापीठ में आए तब से उनसे पढ़ने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी विद्वत्ता और स्नेह ऐसा था कि विद्यार्थी उन पर लुब्ध-से रहते थे। एक समय ऐसा आया था कि अपने पिता की मृत्यु के कारण आचार्य जी विद्यापीठ छोड़कर फ़ैज़ाबाद में घर पर रहने का विचार कर रहे थे। थोड़े दिनों के लिए वे छोड़ कर चले भी गए। उस समय काफ़ी विद्यार्थियों ने आपस में सलाह-मशवरा करके यह तय किया था कि उनके न रहते हुए काशी विद्यापीठ में रहना व्यर्थ है और किसी और विद्यापीठ में हम सब चले जाएँ। सौभाग्य से वे फिर वापस आ गए। उनका मन फ़ैज़ाबाद में नहीं लगा।

विद्यापीठ की शिक्षा के अलावा उन्होंने हम सब को अपनी बातचीत के द्वारा काफी ज्ञान दिया और सबक सिखाया। विद्यापीठ एक कुटुम्ब की तरह था। सब लोग वहीं रहते थे इसलिए दिन में कई बार मुलाकात होती थी, बातें होती थीं, चर्चा होती थी और पुस्तकों के बारे में तथा सिद्धान्तों के बारे में बहस भी हुआ करती थी। उसमें हम लोगों पर आचार्य जी की छाप सबसे गहरी पड़ी। जो विद्यार्थी उनसे शुरू से पढ़ते रहे उनके साथ आचार्य जी का बहुत गहरा स्नेह रहा। वे उन्हें अपने कुटुम्बीजन की तरह मानते थे और यह स्नेह-सम्बन्ध राजनीतिक जीवन के परिवर्तन के बावजूद भी अटूट रहा। इसलिए मेरे लिए तो उनका जाना ऐसा ही है जैसे अपने कुटुम्ब का बहुत स्नेही बुज़ुर्ग चल बसे। अपने जीवन में जो कुछ थोड़ा-बहुत मैं कर सका या करने की कोशिश करता हूँ उसका बहुत कुछ श्रेय आचार्य जी को है।

ज्योतिस्तम्भ

आचार्य नरेन्द्रदेव की मृत्यु से मुझे गहरा आघात पहुँचा है। भारत में उनकी कोटि के बहुत कम लोग थे और उनके सम्पर्क में जो भी आता था, भले ही वह किसी भी पार्टी का हो, या उसके कुछ भी विचार हों, उनसे सहज ही प्रेम करने लगता था। उनकी मृत्यु से जो अभाव उत्पन्न हुआ है वह मुश्किल से ही भरेगा। धीरे-धीरे स्वतन्त्रता युद्ध के महापुरुष और ज्योतिस्तम्भ गिरते जा रहे हैं और जो स्थान रिक्त होता है, वह भरने को नहीं आता।

मेरे वह लगभग चालीस वर्ष के मित्र और सहयोगी थे। उनके साथ विभिन्न जेलों में और अन्त में अहमदनगर किले में जो समय बीता, उसे मैं कभी नहीं भूल सकूँगा।

—जवाहरलाल नेहरू

निधन से कुछ काल पूर्व आस्ट्रिया में स्वास्थ्य लाभ करते हुए

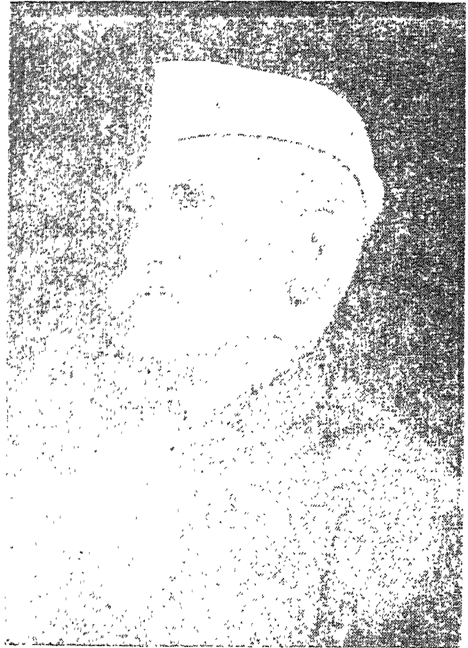


'नर-रत्न' नरेन्द्रदेव

श्रीप्रकाश

आचार्य नरेन्द्रदेव आज नहीं रहे। शोक और विषाद की इस घड़ी में उनके साथ अपने दीर्घ साहचर्य की इतनी विविध और असंख्य स्मृतियाँ मेरे मानस-पट पर उभरती आ रही हैं कि मैं सोच नहीं पाता कहाँ से शुरू करूँ।

नरेन्द्रदेव जी को हम लोग स्नेहवश आचार्य कहते थे और वह सचमुच थे भी 'आचार्य' ही। जलियाँवाला बाग काण्ड के थोड़े दिन बाद इलाहाबाद में पण्डित मोतीलाल नेहरू के निवास स्थान पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में पहले-पहल हम लोगों की भेंट हुई थी। अगले वर्ष अपने मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त की उदारता और महात्मा गान्धी की प्रेरणा से हमने बनारस में काशी विद्यापीठ की स्थापना का निश्चय किया। नरेन्द्रदेव जी से अनुरोध किया गया कि वह, फ़ैज़ाबाद में अपना घर और अपनी खूब चलती हुई वकालत छोड़कर, उसके अध्यक्ष के रूप में बनारस पधारें। इसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। १९२१ के आरम्भ में ही हमने पूरी तरह से अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। संस्था का कार्य करते हुए मुझे नरेन्द्रदेव जी के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह सम्पर्क धीरे धीरे अत्यन्त प्रगाढ़ मैत्री में परिणत हो गया और उस पर जीवन भर किसी प्रकार की मलिनता की छाया नहीं पड़ी। इसे मैं अपने जीवन की अत्यन्त मूल्यवान निधियों में मानता हूँ।



स्निग्ध आचार्य जी

आचार्य नरेन्द्रदेव बड़े स्निग्ध और निरभिमानी व्यक्ति थे। जीवन भर निरन्तर अस्वस्थता का शिकार रहने पर भी उनके स्वभाव में अद्वितीय सन्तुलन और स्थिरता थी। मैंने जो कुछ इने-गिने आकर्षक व्यक्तित्व देखे हैं, वह भी उनमें से एक थे। जो कोई उनके सम्पर्क में आता, उनका प्रशंसक बन जाता और उनसे स्नेह कर उठता। वे सरल और सदय थे, सभ्य और विनम्र थे। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय उनके पास तक पहुँच सकता था। जो जाता प्रसन्न होकर लौटता, हर व्यक्ति को उनकी सहायता और सहानुभूति अनायास ही प्राप्त हो जाती थी। वह बड़े विनोदी थे और वाग्विदग्ध भी। एकान्त में बैठकर उन्मुक्त भाव से मित्रतापूर्ण बातचीत करने में वह बड़ा आनन्द लेते थे।

शिक्षक के रूप में वह अप्रतिम थे। अनेक देशों के इतिहास, अनेक युगों के दर्शन, अनेक भाषाओं के साहित्य सभी में उनकी समान गति थी। आश्चर्य की बात यह है कि उनकी सबसे अधिक दिलचस्पी का विषय था राजनीति। इस विषय पर भी उनका वैसा ही अधिकार था, जैसा अन्य विषयों पर। अपने अगाध ज्ञान को वह अत्यन्त विनम्रतापूर्वक धारण किये थे। जिस किसी विषय पर वह बोलते थे उसे वह इतना स्पष्ट, रोचक और सहज सुगम बनाकर प्रस्तुत करते कि श्रोता उनका अर्थ सरलता से ग्रहण कर लेते और दुर्बोध विषय को सुबोध रूप देने पर उनकी प्रशंसा किये बिना न रहते। बहुत समय तक अपने कुछ निकट के लोगों को छोड़कर कोई उन्हें जानता भी न था, परन्तु प्रसिद्धि की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। उनके हाथ में जो काम होता था, उसी से वे पूर्णतः सन्तुष्ट रहते थे, उसी में उनकी लगन थी। शुरू से ही देश को स्वतन्त्र कराने की उनमें अदम्य लालसा थी। अनेक राजनीतिक आन्दोलनों में वह हँसते-खेलते कूद पड़े थे और बड़े-से-बड़े खतरे के अवसरों पर भी वे कभी पीछे नहीं हटे।

१९२९ में जब महात्मा जी काशी विद्यापीठ के दीक्षान्त समारोह की अध्यक्षता करने आये तो नरेन्द्रदेव जी से पहली बार उनका निकट सम्पर्क हुआ। उस समय गान्धी जी मेरे अतिथि थे। बाद में उन्होंने मुझ से कहा कि नरेन्द्रदेव जी के सम्बन्ध में उन्हें पहले कुछ न बताकर मैंने बड़ी भारी गलती की है, वह तो 'नर-रत्न' हैं जिन्हें बहुत पहले ही मुझे जान लेना चाहिए था। तब मैंने महात्मा जी से कहा था कि जिन्हें रत्नों की ज़रूरत होती है वे स्वयं ही तो उनकी खोज करते हैं, रत्न तो कभी उनके पीछे नहीं जाते। तब से महात्मा जी नरेन्द्रदेव जी की ओर बहुत ही आकर्षित हुए थे और उनकी बहुत प्रशंसा किया करते थे। वे प्रायः नरेन्द्रदेव जी को अपने आश्रम में बुला लेते थे और उनका

उपचार करते कि किसी तरह वह उस भीषण और क्लेशकारी व्याधि से मुक्ति पा जायें।

शीघ्र ही नरेन्द्रदेव जी राजनीतिक क्षेत्र में प्रख्यात हो गए। जो भी उनके सम्पर्क में आता, उनके चरित्र, उनके विवेक और ज्ञान के कारण उनका आदर करने लगता। महात्मा जी ने एक बार कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए भी उनका नाम प्रस्तावित किया था। वह बहुत समय तक कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य रहे और अन्य सदस्यों के साथ कई वर्ष तक अहमदाबाद किले में नज़रबन्द रहे। वे प्रायः मुझ से कहते कि जीवन में मेरी दो ही चीज़ों में दिलचस्पी है—एक तो दर्शन और दूसरी राजनीति। राजनीति में, अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के बावजूद, उनकी प्रवृत्ति अतिवाद की ओर थी। स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी, जिसके लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया था और मुसीबतें झेली थीं, उन्होंने शासन व्यवस्था से अलग रह कर ही अपने भावित समाजवाद के लिए प्रयत्न करना पसन्द किया। बुद्ध के भव्य व्यक्तित्व, उनकी चिन्तनधारा और दर्शन में नरेन्द्रदेव जी के लिए बड़ा प्रबल आकर्षण था। प्राचीन भारत के इस महान सपूत के उपदेशों और विचारों का उन्होंने अत्यन्त गहन अवगाहन किया था। जैसे उनकी रुचि का प्रसार राजनीति से बौद्ध दर्शन तक था, वैसे ही उनकी बातचीत के भी ये दो छोर थे। आज अगर बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा और उनके उपदेशों का पालन करने का प्रयास हमारी राजनीतिक स्पृहाओं में एक जीवन्त सत्य बन गया है, यहाँ तक कि जिसने राजनीतिक सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है, तो वह नरेन्द्रदेव जी के अचेतन प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव हुआ है। एक इतिहास प्रेमी के रूप में विभिन्न देशों के इतिहासों के विभिन्न युगों के सम्बन्ध में उनके व्याख्यानों को सुनकर स्वयं मैं मुग्ध हो जाया करता था। अतीत की धुँधली परिस्थितियों और व्यक्तित्वों को वह अपने श्रोताओं के सामने जीवन्त वास्तविकताओं के रूप में प्रस्तुत कर देते। इन विषयों पर



श्रीमती विजयालक्ष्मी के साथ चीन में

मैंने जब कभी भी उन्हें सुना तो आश्चर्य-चकित और श्रद्धा-विनत हुए बिना नहीं रह सका।

एक व्यक्ति के रूप में तो नरेन्द्रदेव जी में कोई कमी या दोष कभी दिखाई ही नहीं पड़ता था। मित्र के रूप में वह पर्वत के समान अडिग थे। शिक्षक के रूप में वह अद्वितीय थे—ज्ञान के विस्तार की दृष्टि से भी और अपने छात्रों को उन्होंने जितना स्नेह दिया और पाया उसके देखे भी। एक विद्वान के रूप में देखा जाए तो उनका पाण्डित्य अगाध था और जिन विभिन्न विषयों पर उनका अधिकार था, वे उनके अत्यन्त व्यवस्थित और अपरिमित ज्ञान के विषय थे। प्रत्येक विषय में उनकी समान गति थी। राजनीतिज्ञ के रूप में उनमें सचाई और ईमानदारी की पराकाष्ठा देखने को मिलती थी। दूसरों के मत के प्रति वह सहिष्णु थे। वह उसे भी माफ़ कर देते थे, जिसके बारे में जानते कि उसने उन्हें और उनके ध्येय को आघात पहुँचाया है। परन्तु वह अपना कर्म-पथ सदा निर्धारित कर लेते थे और भय, पक्षपात, स्नेह एवं मनोमालिन्य से ऊपर उठ कर जिस राह को ठीक समझते उसी पर निर्द्वन्द्व होकर चलते थे।

उनके देहावसान से देश ने एक महान देशभक्त, संसार ने एक प्रकाण्ड विद्वान और उनके साथियों और मित्रों ने उदारता, सरलता और स्नेह की एक जीवन्त प्रतिमा को खो दिया है। दूसरों की सेवा में अपना जीवन होम देने वाले महात्मा के रूप में उनकी स्मृति और दृष्टान्त सदा जीवित रहेंगे; जिसके हम सैकड़ों-हजारों लोग ऋणी हैं, पर जो किसी का ऋणी न था; जिसने सदा देना ही जाना, लेना कभी नहीं। मुझे तो आशा नहीं कि मैं कभी फिर वैसे किसी व्यक्ति के दर्शन कर पाऊँगा।

कार्ल मार्क्स की समाधि पर



आचार्य जी के कुछ संस्मरण

बनारसीदास चतुर्वेदी

वह दिन मुझे अब भी याद है जब कि कानपुर कांग्रेस के अवसर पर श्री सम्पूर्णानन्द जी ने आचार्य जी से मेरा प्रथम परिचय कराया था और इन पिछले ३१ वर्षों में अनेकों बार आचार्य जी के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। कई अवसर मुझे खास तौर पर याद आ रहे हैं।

आचार्य जी कलकत्ते पधारे हुए थे। 'विशाल भारत' पर उनकी विशेष कृपा थी और उसके लिए कई लेख लिखने की कृपा उन्होंने की थी। मैंने आचार्य जी की सेवा में निवेदन किया, "तय्यब शेख नामक एक क्रान्तिकारी युवक, जो एम० एन० राय के साथी हैं और जो जर्मनी में रह चुके हैं और रूस भी जा चुके हैं, आपके दर्शन करना चाहते हैं, पर वे फरार हैं और पुलिस उनके पीछे है। क्या आप उन्हें दर्शन देंगे? यहीं मेरे यहाँ मुलाकात हो सकती है।"

आचार्य जी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब मैंने निवेदन किया, "तो शाम का भोजन और विश्राम भी यहीं रखिए।"

आचार्य जी रात के वक्त पधारे और तय्यब शेख से उनकी कई घंटे बातचीत होती रही। राय के अनुयायी उन दिनों काफी खतरनाक माने जाते थे और तब तक राय महोदय ने उस राष्ट्रविरोधी नीति का अवलम्बन नहीं किया था, जो आगे चलकर उनके तथा उनके साथियों के लिए विघातक सिद्ध हुई।

तय्यब शेख ने इस परिचय से जो लाभ उठाया उसका ब्योरा मुझे बहुत दिनों बाद स्वयं आचार्य जी से मालूम हुआ।

आचार्य जी ने कहा, "आप के भेजे हुए तय्यब शेख मेरे घर पर आए थे और मैंने उन्हें सकुशल आगे पहुँचा दिया।" बात यह हुई थी तय्यब शेख जब बम्बई से पकड़े जाकर पुलिस द्वारा कलकत्ते लाये गए तो लाल बाज़ार पुलिस थाने के पास से ही, पुलिस की गिरफ्तारी से भाग निकले और हथकड़ी पहने हुए सीधे मेरे यहाँ पहुँचे। मैंने उनकी हथकड़ी कटवा दी और एक सुरक्षित स्थान पर रखकर तीसरे दिन कलकत्ते से उत्तर भारत के लिए एक प्राइवेट मोटर द्वारा रवाना करा दिया। वे सीधे आचार्य जी के यहाँ पहुँचे! मुझे इस बात का बिल्कुल पता न था। उन दिनों पता लग भी नहीं सकता था। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने आचार्य जी से पूछा, "फिर आपने क्या किया?" उन्होंने कहा, "मैंने एक परिचित गार्ड के साथ बिठला कर रेल द्वारा उन्हें गुजरात तक पहुँचा दिया।"

आचार्य जी ने यह बात इतने सीधे सादे ढङ्ग से कही कि मुझे उनके प्रति और भी श्रद्धा हो गई। वे बड़ी आसानी से कह सकते थे:—

"आपने अच्छा परिचय कराया! उस भले मानस ने मुझे ख़तरे में डाल दिया होता" पर आचार्य जी स्वयं क्रान्तिकारी थे—वास्तविक अर्थों में क्रान्तिकारी—और ख़तरों से डरना वे जानते ही नहीं थे।

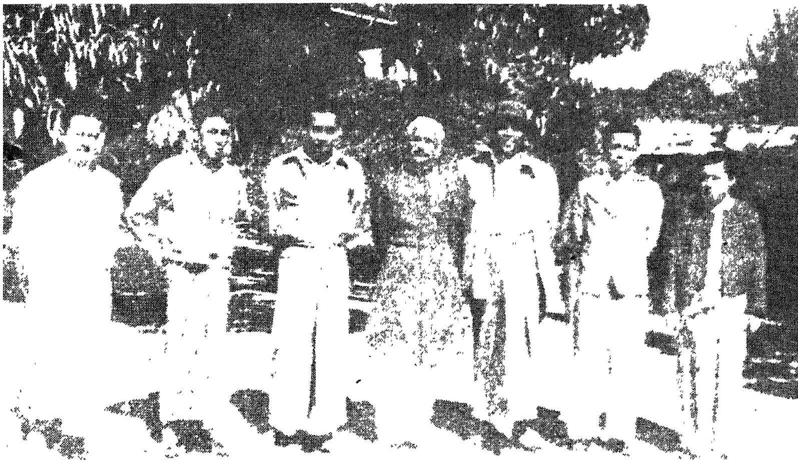
आचार्य जी से मैंने कई बार निवेदन किया कि वे आत्मचरित लिख दें। उन्होंने यही उत्तर दिया, "वक्त कहाँ मिल पाता है? कितनी ही बातें याद हैं पर कितनी ही भूल गया हूँ और भूलता जाता हूँ।"

मुझे एक बात का खेद बराबर रहा और अब भी है—वह यह कि आचार्य जी से गम्भीर वार्तालाप करने का अवसर मुझे कभी भी नहीं मिला! आचार्य जी अत्यन्त व्यस्त रहते थे। अपनी पार्टी के तथा अन्य पार्टियों के सदस्यों से घंटों तक गम्भीर विषयों पर बातचीत करते-करते वे थक जाते थे। उस वक्त उन्हें हँसी-मज़ाक की बातों से कुछ विश्राम मिल जाता था और ऐसे अवसरों पर वे अक्सर मुझे याद कर लिया करते थे। राज्य सभा में वे जब-जब पधारे अथवा जब कभी वे राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के यहाँ आए उन्होंने बराबर मुझे बुलवाया और फिर घंटे सवा घंटे हास्य रस की बातें होती रहती थीं। दद्दा (कविवर गुप्तजी) के यहाँ पधारने पर वे कहते, "चौबे जी को बुलवाओ।" आज्ञानुसार मैं सेवा में उपस्थित हो जाता। फिर इन दोनों महानुभावों के कटाक्षों का पात्र मुझे बनना पड़ता। मैंने एक बार कुछ झुँझलाकर आचार्य जी के सामने कहा, "ग़रीब की जोरू सब की भाभी! आप दोनों हमीं से मज़ाक करते हैं।" इस पर दद्दा ने तुरन्त ही उत्तर दिया, "अरे भाई! हम लोग तो उस आदमी की तलाश में हैं, जिसकी तुम जोरू हो!"

एक बार तो पार्लामेण्ट से दद्दा ने फ़ोन पर हुक्म भेजा, "आचार्य जी तुम्हें तलाश कर रहे हैं और तुम गैरहाज़िर हो? चले आओ।" मैं शीघ्र ही पार्लामेण्ट पहुँचा। मेरा ख़याल था कि कोई आवश्यक कार्य होगा। पहुँचते ही आचार्य जी ने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया। उनके इस प्रेमपूर्ण व्यवहार को मैं कदापि नहीं भूल सकता। मैं महापुरुषों से एक खास फ़ासले पर रहता हूँ और कभी इतने निकट सम्पर्क की कल्पना भी नहीं करता, पर आचार्य जी के स्नेहपूर्ण स्वभाव का मैं कायल था।



भारतीय शिष्टमण्डल के साथ चीन में



बर्मा में सोशलिस्ट पार्टी के लोगों के साथ

मैंने फिर दद्दा से पूछा, "कोई खास काम था मुझसे ?" दद्दा ने तब अलग ले जा कर निजी तौर पर मुझसे कहा, "आचार्य जी बहुत थके हुए हैं। उनका कुछ मनोरंजन करना हम लोगों का कर्त्तव्य है। बस इसी लिए तुम्हें बुलाया है। चौबे लोगों का यह प्राचीन कर्त्तव्य है।" जब जब आचार्य जी दिल्ली में पधारे मैंने अपना यह कर्त्तव्य सहर्ष पालन किया। एक बार जब मैं घंटे सवा घंटे अपने इस कर्त्तव्य का पालन कर चुका और आचार्य जी दद्दा के यहाँ से मोटर में सवार होकर अपने स्थान पर जाने लगे, मैंने उनके पास पहुँच कर कहा "आचार्य जी ! मुझे कुछ सीरियस (गम्भीर) बातचीत आपसे करनी है।" आचार्य जी ने तुरन्त ही उत्तर दिया, "देखिये, मैं मुँह देखकर बात करता हूँ !" फिर खूब हँसी हुई ! मैं निरुत्तर रह गया।

एक बार डाक्टर केसकर साहब के यहाँ से फ़ोन आया, "आचार्य जी याद कर रहे हैं।" उन दिनों आचार्य जी काफी अस्वस्थ थे और डाक्टर केसकर का यह प्रयत्न रहता था कि दर्शकों से उनकी रक्षा करें। मैं तुरन्त समझ गया कि मुझे अपना प्राचीन कर्त्तव्य पालन करना है। शीघ्र ही मैं वहाँ हाज़िर हुआ। मेरा अनुमान ठीक निकला। इस बार भी डेढ़ घंटे तक खूब हँसी मज़ाक रहा। जाते ही मैंने कहा :—

"असत्य भाषण के प्रति मेरे मन में जो संकोच था, वह आपकी कृपा से दूर हो गया।" आचार्य जी ने कहा, "सो कैसे ? और मेरी कृपा से, इसके क्या मानी ?" मैंने निवेदन किया, "आपने अपनी रेडियो टॉक में, जो लखनऊ से प्रसारित हुई थी, कहा था कि आप को भी कभी-कभी झूठ बोलना पड़ता है! बस उसी से मुझे प्रोत्साहन मिला है।"

आचार्य जी खूब हँसे और तब मैंने उनके हस्ताक्षरों की प्रति उन्हें दिखलाई। वे बोले "अच्छा ! यह आपके पास सुरक्षित है !" मैंने कहा, "जी हाँ।" आचार्य जी मेरे साथ मज़ाक करने का कोई भी मौका हाथ से न जाने देते। एक बार उन्होंने उर्दू की एक कविता मुझ पर कटाक्ष करते हुए कही :

"हुसूले आरज़ू की क्या तवक्को ऐसे गाफिल से
जो दिल में रहके भी वाकिफ न हो बेताबिये दिल से।"

उर्दू के विषय में अपने अज्ञान के कारण मैं इसका अर्थ न समझ सका, तब इसका मतलब किसी ने मुझे समझाया।

श्री वैजनाथ दुबे (मेम्बर राज्य सभा) ने एक बार रींवा में मुझसे कहा, "बनारस से कल ट्रंक कॉल आया था और आचार्य जी पूछ रहे थे कि राज्य सभा में चौबे जी के पहुँचने की कितनी सम्भावना है।" यद्यपि मैं कांग्रेस पार्टी की ओर से खड़ा हुआ था, पर आचार्य जी मेरे चुनाव के लिए चिन्तित थे ! यह जानकर मुझे हर्ष और आश्चर्य भी हुआ।

जब स्वयं दुबे जी ने समाजवादी पार्टी छोड़ दी और कांग्रेस में शामिल हो गये, तब आचार्य जी ने उन्हें लिखा, "आप किसी भी पार्टी में क्यों न रहें, मेरा स्नेह आप पर ज्यों का त्यों पहले जैसा ही रहेगा।" श्री दुबे जी ने बड़ी कृतज्ञता पूर्वक बतलाया कि कान में लगाने का यंत्र स्वयं आचार्य जी ने अपने पास से पाँच सौ रुपये में खरीद कर उन्हें भेंट किया था।

आचार्य जी की उदारता के बीसियों किस्से मैं सुन चुका था। उनकी सहृदयता की एक बात श्री उमापति राय चन्देल ने मुझे लिख भेजी थी। अपने कार्यकर्ताओं की कितनी चिन्ता आचार्य जी को रहती थी, यह पत्र इस बात का प्रमाण है :—

काशी
२७-१२-५२

प्रिय चन्देल जी,

नमस्कार। आपका कृपा पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं कन्वोकेशन में व्यग्र था और उसके बाद ही जबलपुर चला गया था। इस कारण उत्तर में कुछ विलम्ब हुआ।

आपकी शिकायत बहुत कुछ सही है। मैं समझता हूँ कि मेरा कर्तव्य था कि मैं अस्पताल जाकर आपको देखता। मेरी कई बार इच्छा भी हुई। अजय से कहा भी कि मुझे जाना है, पर न मालूम क्या हुआ—कभी कार का प्रबन्ध न हो सका, कभी कोई और बात हो गई—कि मैं आप तक न पहुँच सका। इसका मुझे स्वयं पछतावा है। पर आपका यह ख्याल कि मैंने आपकी उपेक्षा की, बिलकुल ठीक नहीं है। जब आपका पिछला पत्र मिला था तब मैंने अजय को अस्पताल में प्रबन्ध करने के लिए लिखा था। बराबर समाचार लेता रहता था। पहले तो यह मालूम हुआ कि Nature cure छोड़ना नहीं चाहते हैं। उस समय आपकी हालत बहुत खराब थी। मैंने उनको लिखा कि आपसे अनुरोध करें। डाक्टर गुजराल को भिजवाया। जब अजय ने कहा कि एक नई दवा निकली है, उसका प्रबन्ध कर दीजिए—वह उस

(शेष पृष्ठ २३ पर)

श्रद्धेय आचार्य नरेन्द्रदेव

शकुन्तला श्रीवास्तव

मुझे आचार्य जी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर सन् १९४८ में उनके उप-चुनाव के समय मिला था। इसके पूर्व में अपने पति (स्व० श्री हरिहरनाथ शास्त्री, जो उनके काशी विद्यापीठ के छात्र थे) के साथ सन् १९४१ के नवम्बर मास में अल्मोड़ा गई थी। शास्त्री जी व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल गए थे और छूटने के बाद ही वे आचार्य जी के दर्शनार्थ उनके यहाँ पहुँचे थे। वहाँ डाक्टरों की राय से अल्मोड़े में आचार्य जी स्वास्थ्य-सुधार के लिए गए हुए थे। उन दिनों वे काफ़ी अस्वस्थ थे। दमे के दौरे प्रायः हुआ करते थे। अल्मोड़े की जलवायु



आचार्य जी रुग्णावस्था में

उनके अनुकूल नहीं थी। अस्वस्थता की ऐसी दशा में भी मिलने वाले आते रहते थे। डाक्टरों ने अधिक बोलने को मना किया था, शास्त्री जी चाहते थे कि आचार्य जी बात कम करें और कष्ट रहने पर तो मिलना एकदम बन्द ही कर दें। अतः वे आने वालों को मना करते थे, परन्तु जब आचार्य जी को पता चलता तो वे आगतों को बुला लेते और विभिन्न विषयों पर (जिसमें राजनीति और साहित्य प्रमुख होता) बात चलती रहती। रात में दौरा पड़ता तो सारी रात बैठे-बैठे ही काट देते। परन्तु ज़रा स्वस्थ होने पर फिर वही प्रसन्न मुख-मुद्रा हँसी-मज़ाक और बात-चीत का दौर चलता रहता। मुझे याद है उन दिनों श्री श्रीप्रकाश जी (वर्तमान राज्यपाल मद्रास) भी वहाँ आए थे।

कांग्रेस छोड़ने के पश्चात आचार्य जी ने विधान-सभा से इस्तीफ़ा दे दिया था। अन्य समाजवादियों ने भी। उनके उप-निर्वाचन में काम करने के लिए कानपुर से कई स्त्रियों और लड़कियों को लेकर मैं गई थी। चुनाव का कार्य जोरों से चल रहा था। आचार्य जी के पास यद्यपि साधनों की कमी थी, फिर भी वह अपने सिद्धान्त से रंच मात्र भी कभी विचलित नहीं हुए। प्रत्येक काम ऐसी ईमानदारी और श्रद्धा से करते थे कि विरोधी भी देख कर दंग रह जाते। उन दिनों नित्य ही उनसे बात करने का मौका पड़ता था। अनेक कठिनाइयों, चोटों और आक्षेपों पर भी वह विचलित नहीं होते थे। उनमें इन सब बातों के गरल-पान करने की शंकर की भाँति अपूर्व क्षमता थी। मुझे याद है फ़ैज़ाबाद के एक पुराने कार्यकर्त्ता ने जब कुछ लोगों से दबाव डालकर वोट माँगे, तो उन्होंने उनकी काफ़ी भर्त्सना की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि चाहे वे चुनाव हार जाएँ, परन्तु इस तरह की बात नहीं होने देंगे।

उसके बाद तो फिर उनसे प्रायः मिलने का अवसर मिलता रहता था। शास्त्री जी पर उनका सहज स्नेह था। आई० एन०टी० यू० सी० (राष्ट्रीय मज़दूर कांग्रेस) का निर्माण करने के कारण शास्त्री जी को सोशलिस्ट पार्टी से त्याग-पत्र देना पड़ा था। दिल्ली में जब समाजवादी पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी का शास्त्री जी की नीति से मतैक्य न हो सका, तो उन्होंने पार्टी छोड़ दी। शास्त्री जी की राय थी कि कांग्रेस के सहयोग से एक मज़दूर संस्था का निर्माण हो (जो ए० आई० टी० यू० सी० से स्वतन्त्र हो) और उसमें समाजवादी पार्टी का भी सहयोग प्राप्त हो। आचार्य जी को भी (वह अस्वस्थतावश राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सम्मिलित नहीं हो पाए थे) लम्बा पत्र लिखा, जिसमें वस्तु-स्थिति का पूरा दिग्दर्शन था। परन्तु पत्र देर में मिला और पार्टी त्याग की सूचना पहले। आचार्य जी कुछ दुखी हुए, परन्तु बाद में वस्तु-स्थिति का पता लगने पर गलतफ़हमी दूर हो गई। इसके बाद तो सदा ही उनका स्नेह तथा वात्सल्य शास्त्री जी पर पूर्ववत् ही रहा।

उप-निर्वाचन के कुछ दिन पूर्व ही श्रम प्रतिनिधिमण्डल में शास्त्री जी सेनफ्रांसिस्को गए हुए थे। जब समाजवादी पार्टी कांग्रेस से अलग हुई तब मैंने भी कांग्रेस छोड़ दी थी। आचार्य जी के चुनाव में भी कार्य किया था। इस पर कांग्रेस के एक प्रतिष्ठित महानुभाव ने शास्त्री जी से मेरे चुनाव में जाने के सम्बन्ध में आश्चर्य प्रकट किया था। शास्त्री जी ने विदेश से जो पत्र मुझे भेजा, उससे आचार्य जी के प्रति

अटूट श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट होती है। उन्होंने लिखा था—"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह तो विचार-स्वातन्त्र्य का मामला है। फिर आचार्य जी जो मेरे पितृवत् हैं, तुम उनके चुनाव में गई यह मेरे लिए परम हार्दिक सन्तोष की बात है। आज मैं यद्यपि उनसे दूर हूँ (केवल राजनीति में) परन्तु तुम उनका कार्य कर रही हो। मैंने सुना है कि कुछ मित्र फ़ैज़ाबाद गए हैं। मैं वहाँ होता तो सम्भवतः कांग्रेस की ओर से आदेश मिलने पर भी उनके विरोध में काम करने न जाता।"

जब हार हुई तब बड़ा धक्का लगा, क्योंकि यह हार प्रजातन्त्र की बहुत बड़ी खामी थी। कुछ दिन मन काफ़ी विक्षुब्ध रहा परन्तु आचार्य जी पर इसका कोई असर न था। एक बार कानपुर में मुझे देर में सूचना मिली कि आचार्य जी प्रेस कान्फ्रेंस कर रहे हैं (उन दिनों मैं 'जागरण' में सह-सम्पादिका थी) मैं जब पहुँची तो वह भाषण समाप्त करने वाले थे। देर में पहुँचने के कारण मुझे बड़ी लज्जा का अनुभव हो रहा था। मैं सोच रही थी कि भाषण समाप्त होते ही मैं नमस्कार करूँगी। पर मैं तो चकित हो गई जब आचार्य जी ने अन्तिम वाक्य समाप्त करते ही नमस्कार किया। उनकी इस महानता पर मैं नत-शिर हो गई। उसके बाद तो अनेक अवसरों पर ऐसा ही होता और उनकी तत्परता के कारण मैं लज्जित एवं गद्‌गद् हो जाती।

शिष्ट हास्य

मुज़फ्फरनगर में यू० पी० पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक थी। मैंने महिला संगठन के सम्बन्ध में बात करते हुए उनसे कहा—"आचार्य जी लखनऊ विश्वविद्यालय में तो अनेक लड़कियाँ (छात्राएँ) पढ़ती हैं, उनमें से बहुत सी काम करने वाली मिल सकती हैं। यदि आप कुछ दिलचस्पी लें तो।"

आचार्य जी बोले—"इस काम के लिए तो मैं माफ़ी चाहता हूँ।" फिर कुछ हँसकर कहा—"शास्त्र में लिखा है कि स्त्रियाँ नर्क का द्वार होती हैं।"

मैंने फौरन उत्तर दिया—"माँ भी तो स्त्री ही है।"

इस पर फरीद साहब (फरीदुल हक अंसारी) बोले—"कुरान में लिखा है माँ के पैरों पर जन्नत लोटती है।"

आचार्य जी हँस पड़े। कुछ देर वातावरण में हँसी गूँजती रही। उसी दिन सेठ जी (श्री दामोदरस्वरूप) रींवा से आये थे। उनका बिस्तर अन्य साथियों के सामान में था, वह गुम हो गया। परेशान थे। आचार्य जी ने रिमार्क कसा—"अच्छा है थोड़ा बोझ ही हल्का हो गया।"

सेठ जी बिगड़ पड़े।

एक बार लोगों ने कहा—"आचार्य जी फ़ैज़ाबाद में कुछ काम नहीं हो रहा, चिराग तले अँधेरा है।"

आचार्य जी ने उत्तर में मुस्कराते हुए कहा—"ऐसा न होता तो मैं प्रकाश कैसे फैलाता।" आचार्य जी हास-परिहास और शिष्ट व्यंग्य करने में कुशल थे। बात का उत्तर ऐसे देते कि उपस्थित व्यक्ति उनकी वाक्पटुता की दाद दिए बिना न रहते। अल्मोड़े में एक बार उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—"तुम यहाँ चादर नहीं ओढ़तीं क्या बात है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"यहाँ रिवाज नहीं है।"

तो आचार्य जी तपाक से बोले—"यहाँ तो और कोई कुएँ में गिरे तो तुम भी गिरोगी?"

एक बार जब वहाँ वज़न लिया गया तो आचार्य जी ने अपनी पत्नी को लक्ष्य करके कहा—"मैंने इनकी सब बीमारी ले ली है, और इन्होंने मेरी तन्दुरुस्ती।"

जब दिल्ली आए तो हम लोगों ने आग्रह किया उन्हें अपने साथ ठहराने के लिए, तो बोले—"नहीं भाई, ऐसी भीड़-भाड़ में कहाँ रह सकता हूँ। यहाँ तो बहुत लोग रहते हैं। पूरा कबूतर का दरबा है।"

स्नेह-मूर्ति एवं भक्तवत्सल

आचार्य जी के यहाँ सदैव ही मिलने वालों का ताँता लगा रहता था। उसमें सभी विचारों तथा पार्टियों के व्यक्ति रहते। विभिन्न विषयों पर बात होती रहती। राजनीतिक कटुता तो कभी उनके स्वभाव में देखी ही नहीं गई। शत्रु-मित्र अपना-पराया इन सबके भेदों से वह विमुक्त थे। उनके घर का द्वार प्रत्येक के लिए खुला था और पहुँचने पर मंद मुस्कराहट के साथ प्रत्येक का स्वागत होता था।

लोहिया जी जब विदेश से लौटे तो आचार्य जी ऐरोड्रोम (हवाई अड्डे पर) उन्हें लेने गए। घर पर आने पर अनेक योजनाएँ चल रही थीं। आगामी चुनाव सम्बन्धी (पिछले आम चुनाव के पूर्व) बातें चल रही थीं। उस दिन लोहिया जी के आगमन पर वह इतने प्रसन्न थे, इतनी खुशी किसी को अपने भाई या लड़के से मिलने पर ही हो सकती है।

अपने शिष्यों के प्रति तो उनका प्रेम अद्वितीय ही था। उनका सौजन्य और छात्रों की श्रद्धा देख कर तो गत युग की याद आती थी, जब गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त उच्च स्तर पर था। बिना इसकी परवाह किए कि वे गुरु तथा इतने महान व्यक्ति हैं, अक्सर उनके (शिष्यों के) यहाँ बिना किसी पूर्व सूचना के पहुँच जाया करते थे। परिवार के सदस्य और अनुज तथा आत्मज की भाँति ही उनकी चिन्ता करते थे।

शास्त्री जी से तो एक प्रकार से उनका पारिवारिक सम्बन्ध था। काशी विद्यापीठ में छात्रावस्था में, एवं इसके बाद भी अनेक अवसरों पर उन्होंने इनका मार्ग-प्रदर्शन किया था। लोक सेवक मण्डल का आजीवन सदस्य बनने के लिए न केवल इन्हें प्रोत्साहित ही किया अपितु लाला लाजपतराय जी को भी पत्र लिखा। ऐसे समय जब घर वाले चाहते हों कि लड़का कोई अच्छी नौकरी करके धनोपार्जन करे, वे आजीवन लोक सेवक मण्डल के सदस्य रहे। आचार्य जी ने काशी विद्यापीठ के सदस्यों को केवल विद्यादान ही नहीं दिया वरन् उन्हें एक प्रकार से जीवनदान दिया; यानी वास्तविक ढंग से मानव बनाया, तथा देश एवं समाज की बलिवेदी पर न्यौछावर होने की प्रेरणा प्रदान की। इन लोगों के कार्यों और सेवा का सारा श्रेय आचार्य जी को ही है।

नवयुवकों को प्रेरणा देना तथा उनका पथ-प्रदर्शन करना तो उनके स्वभाव में ही शामिल हो गया था। जब वह लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे तो अपने वेतन का अधिकांश भाग दान कर देते थे। छात्रावास की कमी के कारण प्रारम्भ में अपना बंगला भी उन्होंने छात्रों

के लिए दे दिया था और स्वयं अपने एक मित्र के यहाँ रहते थे। वाइस-चान्सलर स्कॉलरशिप द्वारा गरीब छात्रों को छात्र-वृत्ति मिलती थी। अपने छात्रों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण होता था। प्रत्येक की कठिनाई को समझ कर उसका निराकरण करना एवं उसको राहत पहुँचाना उनका स्वाभाविक धर्म बन गया था।

आम चुनाव के समय की बात है। मुझे सीतापुर-कम-खीरी से लोकसभा के लिए खड़ा किया गया। सीतापुर मेरे लिए अपरिचित स्थान न था, क्योंकि महिला संगठन के सिलसिले में मैं वहाँ कई बार गई थी। परन्तु वह मेरा कार्य-क्षेत्र न था। वहाँ के कुछ प्रमुख व्यक्तियों से ही मैं परिचित थी। पारस्परिक मतभेद के कारण कुछ कर्मठ साथी खिंचे-से थे। अतः कार्य करने में दिक्कत होती थी। जब आचार्य जी मेरे चुनाव क्षेत्र का दौरा करने आये तो मैंने तथा अन्य लोगों ने सब बातें बतलाईं। उन्होंने फौरन ही उन साथी से (जो आचार्य जी के मित्र भी थे) सहयोग करने का अनुरोध किया। लखनऊ पहुँच कर फिर पत्र भी भेजा। आचार्य जी के अनुरोध का असर जादू की भाँति हुआ और फिर तो चुनाव के अंतिम दिन तक उन साथियों ने तन-मन से जो सहयोग दिया वह मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकती। मुझे कार्य करने में जो सुविधा एवं सफलता मिली उसका श्रेय बहुत कुछ उन लोगों को है।

मेरा चुनाव क्षेत्र काफी बड़ा था। पैसे का अभाव था। यहाँ तक कि ज़मानत जमा करना भी कठिन था। आचार्य जी को ट्रंक-कॉल किया और फौरन ही उन्होंने रुपये का प्रबन्ध करवा दिया। उसके पश्चात भी जीप एवं चुनाव सम्बन्धी अन्य खर्च व आवश्यकताओं की पूर्ति का भी प्रबन्ध किया।

वैसे तो शास्त्री जी की पत्नी होने के कारण आचार्य जी को मेरा काफी ख्याल था, परन्तु उनके असामयिक निधन के बाद तो मुझ पर उनकी कृपा और स्नेह पिता की भाँति ही रहा। जब तक वे जीवित रहे, तब तक मेरी चिन्ता उन्हें थी और मेरे भविष्य के लिए भी हर सम्भव प्रयत्न करते रहे। आज मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पिता की स्नेह-मयी छाया सिर पर से हट गई। कठिन दुःख में भी उनका आश्वासन तथा वात्सल्य मुझे सहारा देता था।

आचार्य जी की क्षमाशीलता भी प्रसिद्ध थी। यह जानते हुए भी कि यह आदमी गलत है, वह उसकी भर्त्सना नहीं करते थे। समझा-बुझाकर प्रेमपूर्वक उसे ठीक करने का प्रयत्न करते थे। वह स्वयं अत्यन्त सरल हृदय थे, अतः किसी के प्रति सन्देह भी उन्हें नहीं होता था और इसका परिणाम अक्सर यह होता था कि गलत लोगों पर भी उनका वरद हस्त बना रहता था। अक्सर लोग मज़ाक में कहते थे कि आचार्य जी तो शंकर हैं, अच्छे-बुरे सभी पर उनकी समान कृपा रहती है। किन्तु फिर भी गलती करने वालों की वे कड़ी भर्त्सना करते थे।

प्रकाण्ड विद्वान

आचार्य जी अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू में जब भाषण करते या लिखते तो क्या मज़ाल कोई शब्द दूसरी भाषा का प्रयुक्त करते? कानपुर के डी० ए० वी० कॉलेज में उनका भाषण हुआ तो अनेक प्रोफेसर इतनी दुरूह हिन्दी न समझ सके। एक बार लखनऊ में प्रेस कर्मचारी सम्मेलन में उर्दू में बोले। एक दिन पूर्व मैंने जयप्रकाश जी के भाषण की रिपोर्टिंग साप्ताहिक 'संघर्ष' के लिए की थी, परन्तु आचार्य जी की उर्दू तो इतनी जटिल थी कि मेरे लिए उसकी रिपोर्टिंग करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव था।

समाजवादी विचारक

वह समाजवादी विचारधारा के भारत में ही नहीं किन्तु विश्व में माने हुए विचारक थे। उनकी नीति स्पष्ट, विचार सुलझे हुए एवं सुसंस्कृत थे। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आए जब यदि वे चाहते तो केन्द्र में भी आ सकते थे। परन्तु उन्होंने तो समाजवाद की स्थापना का व्रत लिया था। वह तपस्वी अनेक प्रलोभनों के सम्मुख भी अडिग और चट्टान की भाँति दृढ़ रहा। यही कारण है कि आज उनके विरोधी भी उनकी महत्ता को स्वीकार करते हैं।

वह प्रजा-समाजवादी दल के लगभग डेढ़ वर्ष तक सभापति रहे। यह अवधि पार्टी के लिए बड़ी नाजुक थी। आन्तरिक वाद-विवाद एवं कटुता बढ़ गई थी, ऐसी स्थिति में आचार्य जी ने जिस कुशलता एवं योग्यता से उसे सम्हाला वह अद्वितीय है। इसके लिए उन्हें प्राणों की बाजी लगा देनी पड़ी। स्वास्थ्य की दशा दो-ढाई वर्ष से अत्यन्त चिन्तनीय थी। परन्तु उद्देश्य-पूर्ति के सामने उन्होंने उसकी परवाह न की। वे ही साथी जिनके साथ उन्होंने पार्टी का निर्माण करके उसे बड़ा बनाया था और जो उनके सहयोगी थे उनसे अलग हुए। काफी प्रयत्नों के बावजूद भी वह उन्हें रास्ते पर न ला सके। इसका उन्हें बड़ा आघात पहुँचा। उनका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिरता गया। आस्ट्रिया जब वे स्वास्थ्य-सुधार के निमित्त गए थे तो काफी स्वस्थ हो गए थे। वहाँ के उनके चित्र देख कर मन में पूरी आशा हो गई थी कि वे अब स्वस्थ हो जाएँगे। परन्तु भारत भूमि पर आते ही उनकी हालत बिगड़ी। दूसरी ओर पार्टी का उत्तरदायित्व भी उनके कन्धों पर था। सोते-जागते हर समय पार्टी की चिन्ता और साथियों के गैर-जिम्मेदाराना कामों का गम उन्हें रहता था। स्वप्न में भी वे अक्सर बड़बड़ाते रहते थे। सभी उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित रहते थे। परन्तु वे दृढ़ता से पार्टी की बागडोर सम्हाले थे।

उदार प्रकृति

आचार्य जी कितने उदार प्रकृति एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रताप्रिय थे, यह उनके दैनिक व्यवहार एवं उनके गृह-जीवन से प्रकट होता था। उनकी पत्नी धार्मिक प्रकृति की हैं। पूजा-पाठ अत्यन्त निष्ठा से करती हैं। खान-पान में अत्यन्त नियम का पालन करती हैं। आचार्य जी की आस्था यद्यपि इन बातों में नहीं थी, किन्तु उनकी पत्नी को इन सब बातों की काफी आज़ादी थी। मुझे याद है जब हम लोग अल्मोड़े गए थे तो नवम्बर का अन्त और दिसम्बर का प्रारम्भ था। ठण्ड इतनी पड़ती थी कि हाथ भी गर्म पानी से धोते। परन्तु आचार्य जी की पत्नी उतने शीत में ठण्डे जल से स्नान करके पूजा-पाठ में संलग्न रहती थीं। किन्तु इतना होते हुए भी उनमें पराकाष्ठा का सेवा-भाव निष्ठा एवं धैर्य है, जो आचार्य जी जैसे महान व्यक्ति की पत्नी में ही

होना सम्भव है। उनकी मूक तपस्या के कारण ही आचार्य जी घर-गृहस्थी से निर्लिप्त रह कर इतना कर पाए, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। यद्यपि वे (आचार्य जी की पत्नी) आजीवन घर-गृहस्थी, अतिथि-सत्कार और बच्चों के पालन-पोषण में लगी रहीं, फिर भी उनके विचारों की महानता त्याग-वृत्ति एवं उदारता उनके बहुत बड़े गुण हैं। ज़रा-सा स्वस्थ होने पर आचार्य जी ने पार्टी का घोषणा-पत्र लगभग सौ पृष्ठ का तैयार किया था, जो पार्टी विचारधारा व नीति की एक सुन्दर सैद्धान्तिक पुस्तक है।

कोयम्बटूर से समाचार मिलता था कि वे अब स्वस्थ हो रहे हैं। वज़न भी बढ़ा है। हम लोग उत्साह से उनके आने की प्रतीक्षा करते थे। यह सोच कर हर्ष विभोर हो जाते थे कि अब आचार्य जी स्वस्थ होकर आ रहे हैं। परन्तु काल के बुलावे का किसे पता था? १६ फरवरी को शाम के ५॥ बजे समाजवाद का वह महान विचारक, नेता और प्रकाण्ड विद्वान उस अमर ज्योति में लीन हो गया। वह दीनबन्धु, अजातशत्रु और परम उदार थे। उनकी महानता यही थी कि वे छोटे-बड़े, गरीब-अमीर और मजदूर-किसान सभी के अपने थे। उनके निधन से मानवता अनाथ हो गई। उनका बहुत बड़ा परिवार (परिचित साथी आदि) उनके वियोग से विचलित एवं क्षुब्ध हैं। उस अभाव की पूर्ति होना असम्भव है। फिर भी उनकी प्रेरणा हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

आचार्य जी के कुछ संस्मरण—(पृष्ठ १६ का शेषांश)

समय तक बाजार में नहीं मिलती थी—तब मैंने राजकुमारी अमृतकौर से कहकर वह दवा आपके लिए भिजवाई। बीच-बीच में हाल लेता रहता था। अजय ने बताया कि आफिस में आप रखे गये हैं और व्यवस्था हो गई है। पीछे मैंने उनको लिखा कि डाक्टर टण्डन को मैं लिख सकता हूँ यदि आवश्यकता हो। किन्तु इसकी जरूरत न पड़ी और आप अस्पताल में भरती कर लिए गए। यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ था कि वहाँ आपको आशातीत लाभ हुआ है। इसकी पुष्टि आपके पत्र से भी होती है।

यह सब लिखने का यह आशय नहीं है कि मैंने आपके लिए कोई विशेष बात की। मुझे तो आपके लिए बहुत कुछ करना चाहिए था। मैं लज्जित हूँ कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। किन्तु इसका कारण उपेक्षा नहीं है, मेरा चलने-फिरने का आलस्य है। श्वास रोग के कारण चला-फिरा नहीं जाता, मोटर का मोहताज हो गया हूँ।

इस पत्र के लिखने का केवल इतना ही उद्देश्य था कि मुझे आपकी याद बराबर थी और मैं समझता था कि अजय तथा पार्टी के अन्य लोग फिक्र कर रहे हैं। अब यह जानकर दुःख हुआ कि इधर वे लोग भी नहीं आते जाते हैं।......

भवदीय
नरेन्द्रदेव

आचार्य जी की कृपाओं के कितने ही संस्मरण हैं, पर उन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा सकता। मथुरा की प्रान्तीय कानफरेंस में जब उन्हें १०३॥ डिग्री का बुखार चढ़ा हुआ था, डाक्टरों के मना करने पर भी उन्होंने मुझे समय दिया था। जब वे काशी विश्वविद्यालय में वाइस चान्सलर की हैसियत से रहते थे उन्होंने मुझे अपने निकट ही ठहराया था और उस समय उनके अत्यन्त व्यस्त जीवन की कुछ झलक मिली थी।

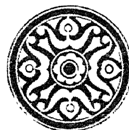
अपने ६।११।५१ के पत्र में उन्होंने मुझे लखनऊ से लिखा था—

"काम बहुत ज्यादा है और शरीर जवाब देता जाता है। किन्तु कर्तव्यविमुख कैसे हूँ?" आचार्य जी ने जिन कठोर परिस्थितियों में अत्यन्त अस्वस्थ होते हुए भी निरन्तर देश सेवा का कार्य किया वह किसी दूसरे के लिए अत्यन्त ही कठिन होता।

उनके सम्भाषण का वह वाक्य आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है—

"जीवन सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। और स्वतन्त्र भारत में इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।" आचार्य जी से कभी गम्भीर वार्तालाप करने की मेरी इच्छा मन की मन में ही रह गई! पर सन्तोष इसी बात का है कि उनके कुछ क्षणों को मैं थोड़ा-सा आनन्दमय बना सका। अन्त में उनकी स्वर्गीय आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैं भी यही कहता हूँ—

सदय समुदार औ' था नम्र कितना वह बड़प्पन भी।
कि था तेरा कृपाभाजन, भला मुझ-सा अकिंचन भी॥



सत्याग्रही

गोपाल भौमिक

सदा जागरूक विवेक बुद्धि और असीम प्रेम
लेकर जग रहा है केवल एक मानव
इस विशाल महादेश में।
प्यार से
करोड़ों अर्द्ध मनुष्यों को
वह परिपूर्ण मानव कहता है—
"प्रेम के द्वारा हृदय में
अनिर्वाण दीप जला लो,
धो डालो आत्मा के सारे मैल।"
अर्द्ध मनुष्यों की टोली हहराकर हँस उठती है
अविश्वास से, भीरुता से चंचल हृदय होकर।

हिमालय से कुमारिका तक
सहसा थिरक उठता है,
मनुष्य की प्रवृत्ति की आँधी में
अन्धकार उतर आता है
जीवन के विशाल चबूतरे में।
धर्म से बावले मनुष्य के भय से
यह जीवन जंगल के जीवन में परिणत हो जाता है,
जल गए नगर और प्रान्तर
कौन जाने कैसा भविष्य है इसके बाद।
पशुता के अभिमान में जितने भी संस्कार हैं
मिल गए वे पथ की धूल में—
उसी का परिणाम है अस्थियों का यह पहाड़।
निष्क्रिय जड़ता और भीरुता के बोझ से
विभीषिकामय दिन चुपचाप बीतता है।

रक्तलिप्त उस महाश्मशान में
फिर भी जग रहा है एक मानव,
लांछना और निर्यातनों से
निर्विकल्प परम निर्भय—
मनुष्यता के भविष्य पर उसे रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।
दिल्ली से नोआखाली—सारे देश में
वह घसीटता ले जाता है अपने जीर्ण देह-यन्त्र को
घर-घर में पहुँचा देता है वाणी
न्याय, सत्य, अहिंसा, प्रेम,

गुलमुहर के फूल

सरोजिनी नायडू

हे! वसन्त के चटकीले रंगों के उत्सव!
मैं तुम्हारे उज्ज्वल रंगों की किससे तुलना करूँ?
तुम्हारा लाल रंग है
नई दुलहन के कपड़ों की तरह चमकदार लाल,
या एक वन्य पत्ती के पंख की तरह गहरा लाल,
या उस रहस्यमय मणि की तरह,
जो कि नागराज के फण पर चमकती है।

तुम्हारी आह्लादपूर्ण चमक और कान्ति की
किससे तुलना की जा सकती है?
अरुण से आरक्त स्वच्छ बादल
जो कि समुद्र की लहरों को रंग देते हैं,
या उस रक्त के समान लाल,
जो कि एक राजपूत तरुणी के मन को जीतने के लिए
हजारों योद्धाओं की छातियों से प्रवाहित होता है।

तुम्हारी चंचल, दर्पपूर्ण और विजयोज्वल
ज्वाला की किससे तुलना की जा सकती है?
यह आशा की ज्वाला है, या घृणा की,
या मेरे हृदय की धधकती हुई कामना की,
या ये वे उल्लासपूर्ण लपटें हैं,
जो कि एक सती की चिता से
ऊपर आकाश में उठ रही हैं।

अनुवादक—वंशीधर विद्यालंकार

सम्मति, तितिक्षा, क्षेम की,
स्निग्ध कण्ठ से पुकार कर कहता है वह—
"कोई डर नहीं,
हम सब हैं सत्याग्रही।"

मुर्दा देश में गूँज उठता है प्राण
फिनिक्स की भाँति देशवासी जग उठते हैं
धुल जाते हैं प्राणों के सारे कलुष।

अनुवादिका—माया गुप्त

आज का मराठी साहित्य

कुसुमावती देशपाण्डे

किसी राष्ट्र के इतिहास का जिन मुख्य घटनाओं से मार्ग निर्धारित होता है, आवश्यक नहीं है कि उन्हीं घटनाओं से उसके साहित्य के इतिहास की गति-दिशा भी तय हो। कभी ऐसा होता है कि साहित्य में नई विचारधाराएँ फूट पड़ती हैं और वे नवीन राष्ट्रीय युग का पथ प्रशस्त करती हैं। कभी साहित्य में दिखलाई पड़ने वाले नए तत्त्व अनेक राष्ट्रीय घटनाओं के मन्द गति से पड़ने वाले प्रभाव के फल होते हैं। भारत के राजनीतिक इतिहास में स्वतन्त्रता प्राप्ति का वर्ष बहुत ही बड़ी घटना का वर्ष है। इस वर्ष आत्मनिर्णय और भौतिक प्रगति के महान युग का श्रीगणेश हुआ। लेकिन भारतीय साहित्य में भी इस घटना से नए युग का सूत्रपात हुआ—यह पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्रता की प्राप्ति जिन सामाजिक और विशेषतः बौद्धिक गतिविधियों का परिणाम थी, वे तो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ही आरम्भ हो गई थीं। उन दिनों हर भारतीय भाषा के साहित्य में ऐसे ही तत्व उद्भूत हुए। ये तत्त्व गत पचास वर्षों में तरह-तरह की भली-बुरी परिस्थितियों से होकर गुज़रे और इन्होंने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। इसलिए भारतीय भाषाओं के साहित्य में गत आठ वर्षों में नई प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सच तो यह है कि इतने लघु काल में साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुमान लगाया ही नहीं जा सकता। तथापि, कुछ नई प्रवृत्तियाँ तो स्पष्टतः उभर आई हैं। जागरूक और सजग पाठक की दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सकता कि गत आठ वर्षों में नए आदर्शों के निर्माण की चेष्टा की गई है; साहित्य को नए रूप देने का प्रयास किया गया है; साहित्य के कलेवर को नए दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की गई है। नीचे की पंक्तियों में इन्हीं बातों की संक्षिप्त समालोचना प्रस्तुत की जा रही है।

मराठी साहित्य में उपन्यास का जन्म सौ वर्ष पूर्व हुआ। यह कला उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में श्री हरिनारायण आप्टे की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट रीति से पल्लवित हुई। बीसवीं शती के चौथे दशक में मराठी उपन्यासों की कला-धारा और भी विस्तृत हुई तथा उसकी कई शाखा-प्रशाखाएँ भी निकलीं। एन० एस० फड़के की कृतियों में यदि उपन्यास कला के परिष्कार के साथ उसे बाह्य गरिमा या ऊपरी चमक-दमक मिली तो खाण्डेकर और माडखोलकर की रचनाओं में आदर्शवादिता ही अधिक दिखलाई पड़ती है। हृदय की गहराइयों में छिपी तीव्र अनुभूति पी० वाई० देशपाण्डे के उपन्यासों में मुखरित हुई है। उपन्यास कला की इस धारा को सन् १९४० के बाद के कुछ वर्षों में विभावरी शिरुरकर ने मनो-सामाजिक उपन्यास लिख कर, बोकिल ने हलकी-फुलकी व्यंग्य-विनोद की चीज़ें लिख कर, दांघे ने अपने उपन्यासों में ग्राम-जीवन का चित्रांकन कर के, तथा अन्य उपन्यासकारों ने भी तरह-तरह से योगदान दे कर विस्तृत किया। सन् १९४७ में उपन्यास प्रेमियों के हृदय में ऐसी आशंका उत्पन्न होने लगी कि कहीं उपन्यास की शक्ति साहित्य के माध्यम के रूप में समाप्त तो नहीं हो गई है। उदीयमान लेखकों की पीढ़ी लघु कथा की ओर झुक पड़ी थी। वयोवृद्ध लेखकों ने या तो लेखन कार्य बन्द कर अवकाश ग्रहण कर लिया था या फिर वे कथा लेखन की अपनी पुरानी पद्धति का ही पिष्ट-पेषण कर रहे थे। इसके साथ ही उनकी मनोवृत्तियों में भी कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता था। लेकिन कुछ ही दिन बाद उपन्यास कला का नए ढंग के साथ शृंगार किया गया। विभावरी शिरुरकर ने अपराधी जातियों के जीवन को आधार बना कर 'बळि' नाम का उपन्यास लिखा। नोआखाली की सामाजिक पृष्ठ भूमि के आधार पर विब्रलकर ने 'सुनीता' नाम का उपन्यास लिखा। एस० एन० पेंडसे ने ग्राम अध्यापक के जीवन की 'हद्दपार' में हृदय-स्पर्शी कथा लिखी। इन सबने मराठी उपन्यास साहित्य को पुनर्जन्म दिया। मराठी उपन्यास कला ने मोड़ पर पहुँच कर नई गति-दिशा ग्रहण की। यह गति-दिशा थी सहज अभिव्यक्ति की और गहरी सहृदयता की। आजकल एस० एन० पेंडसे, जी० एन० दाण्डेकर, व्यंकटेश माडगूलकर आदि मराठी के प्रमुख उपन्यासकार हैं। माडगूलकर का 'बनगरवाडी' उपन्यास तो बहुत ही प्रसिद्ध है। ये सब कलाकार अत्यन्त सरल और सजीव शैली में सामाजिक और आर्थिक जीवन के जटिल ताने-बाने के बारे में लिखते हैं। प्रत्येक लेखक ने चरित्र-चित्रांकन करने के लिए विशिष्ट क्षेत्र चुन लिया है। तरह-तरह के चरित्र हों और लेखक क्षेत्रवाद की अति कर दे तो वह फिर चाहे कोई भी भाषा हो, रचना की 'अपील' सीमित हो जाती है। लेकिन मराठी के उपन्यासकारों की यह विशेषता है कि सफलता के क्षणों में इनकी शैली की यथार्थवादिता और सजीवता और भी उभर आती है। दृश्य वर्णन और चरित्रांकन में गहरी कवित्व शक्ति झलक उठती है।

वसन्त कानेटकर या मुक्तिबोध जैसे उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में भिन्न प्रकार के प्रयोग किए हैं। मुक्तिबोध का उपन्यास 'घर' ग्राम जीवन के चित्रण से आरम्भ होता है। ग्राम जीवन का वर्णन अत्यन्त आकर्षक और कोमल शैली में किया गया है। इसमें ऐसी परिश्रमी तरुण पत्नी का वर्णन किया गया है, जिसका पति नौकरी के लिए शहर गया हुआ है। ग्राम जीवन के इस संक्षिप्त चित्र के बाद दृश्य बदल जाता है। पाठक को नगर जीवन की गतिविधियों के उलझे हुए जाल में लेखक ले आता है और नायक की चेतना की धारा को

समझाने का यत्न करता है। उनका दूसरा उपन्यास 'पंख' ऐसे अध्यापक की कथा है जिसे अभिनय का बड़ा शौक है। मुक्तिबोध तीन भागों में 'क्षिप्रा' नामक उपन्यास लिख रहे हैं। अभी इसका एक ही भाग प्रकाशित हुआ है। लेकिन पहले ही भाग में लेखक की नूतन दिशा की ओर बढ़ने की झलक दिखलाई पड़ गई है और यह भी ज्ञात हो गया है कि उनमें अपने आपको भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने और चरित्र-चित्रण करने की कितनी अधिक क्षमता है।

इन नई प्रवृत्तियों के अलावा पुराने उपन्यासों की शैली-परम्परा तो है ही। इनकी अपील का क्षेत्र बना-बनाया है, किन्तु कथा की रूपरेखा पुरानी ही रहती है। इस प्रकार के सबसे अधिक उपन्यास श्री एन० एम० फड़के ही लिखते हैं। वे हर उपन्यास में स्थान और सामाजिक पृष्ठभूमि तो बदल देते हैं, लेकिन उपन्यास की कथा मूलतः रोमाण्टिक प्रेम पर ही आधारित रहती है। माडखोलकर तक ने अपने नए उपन्यास 'स्वप्नान्सरिता' में इसी प्रकार की कथा लिखी है, जिसमें पलायनवाद (escapism) और गुरुडम दोनों का मिश्रण है।

लघु कथाओं का इतिहास उपन्यास से भी अधिक ऊहापोहमय है। आज की मराठी लघु कथा विगत दशक की कहानियों से इतनी अधिक भिन्न है कि इसे 'नवकथा' या नई कहानी कहा जाने लगा है। कुछ दिनों पूर्व तक नए और पुराने लघु कथा लेखकों में 'पुस्तकों' का युद्ध (Battle of Books) चला करता था। फड़के और खाण्डेकर की शैली नवकथा के प्रादुर्भूत होने तक पुरानी पड़ गई थी। उनके उद्देश्य कृत्रिम होने लगे थे और वे कथा की रूपरेखा में छिप नहीं पाते थे। इस प्रकार की कहानियों की शैली का बहिष्कार सर्व प्रथम सन् १९३०-४० में किया गया। इसके बजाय दिवाकर कृष्ण, चोरघड़े, पाध्ये, जोशी तथा अन्य कहानीकारों ने कोमल, आत्म-निरीक्षणात्मक और विश्लेषणात्मक शैली अपनाई। किन्तु अगले दशक के तरुण लेखकों ने औपचारिकता और पुरानी शैली के आदर्शों को बिल्कुल छोड़ दिया। अब वे बिल्कुल भिन्न शैली में लिखते हैं। भावे बड़ी भाव-प्रवणता से धाराप्रवाह लिखते हैं। कभी-कभी उनकी शैली बड़े भोंडे ढंग से भौतिकवादी हो जाती है किन्तु कभी-कभी वे संचेत्य, स्वतन्त्रताप्रिय व्यक्ति भी गहन मनोव्यथाओं का बड़ी सफलता से अंकन करते हैं, जैसा उन्होंने 'मुक्ति' नाम की कहानी में किया भी है। गंगाधर गाडगील की शैली विश्लेषणमय मनोवैज्ञानिक है। वह नागरिक जीवन के मध्यवर्ग की ही समस्याओं पर कहानियाँ लिखते हैं। उनकी लेखन शैली में निराशा का भाव है और उसमें यह भी झलकता है कि कहानीकार समाज और व्यक्ति के मानस की विघटनात्मक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में बड़ा चैतन्य और जागरूक है। गोखले का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक कोमल और रचनात्मक है। जयलता और बम्बई की दुग्धशाला (डेरी) में बँधी भैंस 'पारू' का भी उनकी कोमल कल्पना चित्रांकन करने में समर्थ है। माडगूलकर ग्राम-जीवन का सजीव चित्रण बड़ी सफलता से करते हैं। लघु कथा जैसे सीमित माध्यम द्वारा अग्निहोत्री, मोकाशी और शान्ताराम आदि कलाकार मानव विचारों और भावनाओं के विभिन्न सूक्ष्म पक्षों को बड़ी चतुराई से उभार कर सतह पर ले आते हैं। हमीद दलवई, विजया आप्टे, रणजीत देसाई तथा अन्य ऐसे ही कलाकारों से तरुण लेखकों का भी एक वर्ग प्रभावित हुआ है और उनके पथ का अनुकरण कर रहा है।

नव कथा या नवीन प्रकार की लघु कथाओं का बाह्य और आन्तरिक क्षेत्र पहले से कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है। बाह्य दृष्टि से जीवन के गुह्यतम स्थलों तक इसकी पहुँच है और आन्तरिक क्षेत्र में नई लघु कथा मानस के अन्तरतम की भावनाओं तक पहुँचने की क्षमता रखती है। लघु कथा में दृश्य पदार्थों के विश्लेषण से लेकर चेतना-धारा तक को स्पर्श किया जाता है। कहीं उदासीन या तटस्थ भाव से लिखा जाता है तो कहीं अत्यन्त सफलता और भाव-प्रवणता से कुछ बातों का समर्थन भी किया जाता है। नवीन लघु कथा ने रूपकों और 'पेरेबिल' (parable) को भी आत्मसात कर लिया है। लघु कथा ने एक ओर संतुलित यथार्थवाद अपनाकर और दूसरी ओर काव्यात्मक आत्म-चिन्तनवाद का मिश्रण करके गद्य और पद्य के क्षेत्रों को जोड़ने वाली कड़ी स्थापित कर दी है।

लेकिन लघु कथा की शैलियों में क्लान्ति के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे हैं। लघु कथा लेखक भी पुरानी लकीर पीटते रहने के आदी हो गए हैं—ऐसा लगता है। बहुधा भाव और विचार स्पष्ट नहीं हो पाते। कभी तो इसका कारण लेखक का अति स्वतन्त्र होने का स्वभाव होता है और कभी लेखक पूरी तरह से उस अनुभूति पर काबू कर नहीं पाता जिसे वह लघु कथा में अभिव्यक्त करना चाहता है। निराशा तो कभी-कभी इतनी कृत्रिमता के साथ प्रकट की जाती है कि उसमें एकरसता का दोष उत्पन्न हो जाता है। अब फिर वह समय आ गया है जब इस बात की आवश्यकता है कि पुरानी रूढ़ियों को छोड़ कर लघु कथा का माध्यम साहित्य क्षेत्र में नवशक्ति के साथ अवतरित हो।

कविता मानव भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। हाल ही के मराठी साहित्य में काव्य साहित्य का बड़ी मात्रा में सृजन हुआ है। सम्भवतः मराठी भाषा में उसके काव्य-साहित्य का भण्डार ही सबसे अधिक समृद्ध है। मराठी में कविता के नए-नए रूप और नई-नई दिशाएँ विकसित हुई हैं। कविता की गहराई और ऊँचाई, दोनों में ही वृद्धि हुई है। उसकी सृजनात्मक शक्ति का और भी परिष्कार हुआ है। शब्दबहुलता और आकार-बहुलता, दोनों दोषों को दूर किया गया है। व्यर्थ का शब्दाडम्बर नहीं रहा है। मराठी कविता पहले से अधिक संक्षिप्त, छँटी-छँटाई और तराशी हुई होने लगी है। यदि गत आठ वर्षों में प्रकाशित सर्वोत्तम कविता संग्रहों को ही चुना जाए तो इनकी संख्या दर्जनों हो जाएगी। मार्ढेकर का 'आणखी कही कविता', अनिल का 'पेरतेवा', मुक्तिबोध का 'नवी मलवाट', पडगाँवकर के 'धारानृत्य' और 'जिप्सी', बापट का 'बिजली', इन्दिरा संत का 'सेला और मेंदी', पद्मा गोले का 'नीहार', करन्दीकर का 'स्वेदगंगा' और 'मृदगंध', देशपाण्डे का

'शील', कुसुमाग्रज का 'किनारा', बोरकर का 'आनन्द भैरवी', कान्त की 'रुद्रवीणा', रेगे का 'दोला' और 'गंधरेखा' आदि संग्रहों का नाम लिया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक की अपनी अलग और स्वतन्त्र शैली है। ये कवि किसी विशेष विचारधारा के नहीं हैं। सच तो यह है कि इनको एक समूह में रखा भी नहीं जा सकता। जिसने जिस माध्यम को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन समझा है उसी माध्यम द्वारा ईमानदारी से उसे प्रकट किया है। फलतः, मराठी कविता में कल्पनाबहुलता है, गतिमयता है। इससे कविता की पुरानी शैलियों को भी बल मिला है। आधुनिक मराठी कविता की अन्य विशेषता है उसकी बौद्धिकता। आज की मराठी कविता जीवन और जगत की दृश्य वस्तुओं के चित्रण से सन्तुष्ट नहीं होती। वह व्यक्ति के मानस की गहराइयों में उतर कर उसकी उन समस्याओं का समाधान करना चाहती है, जो उसके चिन्तन का अंग बन गई हैं और वह व्यक्ति तक ही सीमित न रह कर सामाजिक समस्याओं का हल खोजने के लिए भी व्यग्र दिखलाई पड़ती है। सर्वोत्तम कविताओं में बौद्धिक विश्लेषण में भावनात्मक गहनता का समन्वय हो गया है। अनिल, बोरकर, पडगाँवकर, देशपाण्डे आदि ने कविता के किसी-न-किसी पक्ष के भण्डार की अपने गहन आत्म-चिन्तन और मौलिकता द्वारा अभिवृद्धि की है। उन्होंने बड़े मधुर गीतों की रचना की है। इनमें से प्रत्येक के गीतों में कोमलतम गहरी भावनाएँ और तीव्र आत्मानुभूति दिखलाई पड़ती है। मुक्तछंद के प्रमुख कवि अनिल की रचनाओं में सामाजिक समस्याओं का समावेश हो जाने के कारण उसका क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक हो गया है। उनकी कविता में परम्परागत आदर्शों को बनाए रखने की भी प्रवृत्ति है और नए समाज के निर्माण की भी प्रेरणा है। उन्होंने मुक्तछंदों के जो दो नए रूप प्रचलित किए हैं वे आज मराठी कवियों की भावनाभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम बन गए हैं। आधुनिक कविता पर मर्ढेकर की गहरी छाप है। उन्होंने ओवी और अभंग छंदों की शैली में ही काव्यरचना की है, लेकिन उनके शब्द चयन और कल्पना में अतिनूतनता है। मशीनों और आधुनिक जगत से उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक उपमाएँ ली हैं। विदेशी शब्दों का उन्होंने आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है। रूढ़िवादी आलोचकों को उनकी शैली मिश्रित और कर्कश लगती है। वे मर्ढेकर की निराशा, साधारण व्यक्ति के जीवन को घृणित दशाओं के चित्रण को और पुराने आदर्शों की त्याज्यता को भी अच्छा नहीं समझते। लेकिन मर्ढेकर में आत्म-चिन्तन और मौलिकता है, इससे वे भी इन्कार नहीं कर सकते। रचना शैली और शब्द चयन की दृष्टि से करन्दीकर मर्ढेकर के अधिक निकट हैं, लेकिन उन्हें अनिल की भाँति मानव में मर्ढेकर से अधिक विश्वास है। मुक्तिबोध की कविताएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। उनकी कविताओं में अपेक्षाकृत अधिक संयम और अधिक विश्लेषण है और कभी-कभी तो वे करन्दीकर से भी अधिक नीरस हो जाती हैं। लेकिन इन गुणों के कारण उनकी कुछ कविताओं में अन्दर तक पैठने की शक्ति आ जाती है और उन्हें पढ़ कर बौद्धिक तुष्टि भी होती है। इन्दिरा सन्त की वेदनाओं और मानोभ्यथाओं का अपना जगत है। उनकी कविता सबसे भिन्न है। इनके कुछ गीतों का तो हृदय पर बिजली जैसा प्रभाव होता है। कुछ कविताएँ तो आँसू की बूँद की तरह सुडौल होती हैं। रेगे के कोमल शब्द-चित्रों में सूक्ष्म भावनाओं और विशुद्ध प्रेम का अद्भुत समन्वय दिखलाई पड़ता है।

आज के कवियों में पडगाँवकर अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की श्रेणी में आते हैं। अब तक की उनकी उपलब्धि यथेष्ट है। उनका प्रकृति प्रेम, उनके काव्य की संगीतमयता, उनका शब्द चयन और उनकी व्यापक आध्यात्मिकता उनके काव्य को मनोमोहकता प्रदान करती है। अनेक युवक कवि भी अपने भावों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

गत पीढ़ी का काव्य निःशेष हो गया हो ऐसा नहीं है। समय-समय पर यशवंत के गीति काव्य की झलक मिलती रहती है। बी० जी० खापर्डे ने बृहद् रहस्यात्मक काव्य 'काव्य कान्तार' का दूसरा अंक प्रकाशित किया है। प्रथम अंक की तुलना में द्वितीय अंक में सच्ची काव्यानुभूति अधिक मात्रा में विद्यमान है। डब्ल्यू० एन० देशपाण्डे ने आदिवासी जीवन पर आधारित अपने 'कोरकू' नामक नये लम्बे काव्य में एक नया प्रयोग किया है।

साहित्यिक निबन्ध भी लघु कथा की भाँति ही शास्त्रीय औपचारिकता तथा आत्म-चिन्तन को अंकित करने की अवस्था या अवस्थाओं से होकर गुजरा है। किन्तु उपन्यास, लघु कथा और काव्य के समान निबन्ध साहित्य के भण्डार में अभिवृद्धि नहीं हुई है। पिछला निबन्ध साहित्य तो काफ़ी है लेकिन अब, प्रतीत होता है, लघु कथा की वेगधारा में वह खो गया है। तिलक और आगरकर के ज़माने से लम्बे-लम्बे पांडित्यपूर्ण निबन्ध लिखने की जो परम्परा मराठी गद्य-साहित्य में रही है और जिसने मराठी साहित्य के विकास में इतना महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वह आज भी है। उसमें चमक-दमक नहीं है, किन्तु उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाशित लेखों का भण्डार विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं। आचार्य जवड़ेकर, प्रोफ़ेसर माटे, आचार्य धर्माधिकारी, माडखोलकर आदि कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं। विनोबा भावे के भाषण और लेखों की तो अपनी अलग और निराली ही शैली है। उनमें सरलता, संक्षिप्तता, सूक्ष्मता और मानस के अन्दर तक पैठने की शक्ति होती है। इस क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के दिग्गज निबन्ध लेखकों ने जो परम्परा स्थापित कर दी है उसका भली भाँति विकास किया जा रहा है।

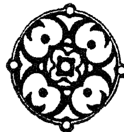
मराठी रंगमंच को भी संसार की समस्त भाषाओं के रंगमंचों की भाँति १९३० से ही सिनेमा से होड़ करनी पड़ी है। मराठी रंगमंच के दो यशस्वी कलाकार हैं—मामा वरेरकर और पी० के० अत्रे। मामा वरेरकर १९१४ से नाटकों की रचना करते आ रहे हैं। उनके प्रारम्भिक नाटक समकालीन शैली से प्रभावित हैं। संगीत की उनमें प्रधानता थी और कथानक परिपाटी के अनुसार होता था, उदाहरणार्थ : 'कुंज विहरी'। तब से वह निरन्तर मराठी नाटकों में नूतनता और स्फूर्ति लाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके नाटक सामयिक समस्याओं से

सम्बद्ध रहते हैं। अब तक वह ४० नाटक लिख चुके हैं, किन्तु उनकी सृजन-शक्ति अभी भी सक्रिय है। 'सारस्वत' उनके अनुपम नाटकों में से है। इसमें एक प्रतिभा-सम्पन्न निर्धन व्यक्ति का जीवन चरित्र बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। 'भूमि कन्या सीता' नामक उनका नाटक १९५५ में प्रकाशित हुआ, जिसमें सीता की कहानी को एक मौलिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। मामा वरेरकर स्त्रियों के अधिकारों के पक्षपाती हैं और सामाजिक न्याय में विश्वास रखते हैं। सीता और उर्मिला का चरित्रांकन उन्होंने अनुभूति के इसी स्तर से किया है। 'अपूर्व बंगाल', और 'सिंगापुराकड़े' आधुनिकतम विषयों पर लिखने और नये प्रयोग करने की उनकी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। पी० के० अत्रे ने मराठी रंगमंच को उसके कठिन समय में नया बल दिया। हास्य और व्यंग्य का सहारा लेकर उन्होंने नई और पुरानी विचार-सरणी की हास्यास्पद एवं अवांछनीय बातों पर कुठाराघात किया। उनके 'साष्टांग नमस्कार' नाटक से सर्वत्र हलचल मच गई। 'घराबाहेर', 'उद्याचा संसार' तथा अन्य नाटक जो बाद में लिखे गए बड़े लोकप्रिय सिद्ध हुए। इसके उपरांत उन्होंने 'जग काया म्हणेल', 'मी उभा आहे' नाटक लिखे। अन्तिम कुछ वर्षों में उन्होंने फ़िल्मों की ओर भी ध्यान दिया और 'श्याम ची आई' तथा 'ज्योति बा फुले' आदि फ़िल्मों के द्वारा इस दिशा में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

वरेरकर और अत्रे के नाटक व्यापकता की पुट लिए रहते हैं और किसी महान आकांक्षा से प्रेरित होते हैं। श्री एम० जी० रांगणेकर ने अपने नाटकों में विशेषकर मनोरंजन का दृष्टिकोण ही अपनाया है। १९४१ में उन्होंने ज्योत्सना भोले, जागीरदार, मोहिते तथा अन्य कलाकारों की सहायता से एक नाटक कम्पनी की स्थापना की। 'कुल-वधू' 'नन्दन वन' आदि उनके चुटीले और हलके-फुलके नाटक हैं। 'रम्भा' अथवा 'सत्रा वर्षे' आदि उनके नाटकों में कुछ गम्भीरता भी परिलक्षित होती है। 'नाट्य-निकेतन' द्वारा प्रस्तुत इन सफल नाटकों ने मराठी रंगमंच को और नाटकों को आधुनिकता प्रदान की है। डाक्टर वर्टी ने अपने नाटक 'रार्णी चा बाग' में, मुक्ताबाई ने अपने नाटक 'जुगार' और 'अन्धेर' में, नाना जोग ने अपने सामाजिक व आर्थिक नाटक 'चित्र-शाला', 'सोनया चे देव' और मनोवैज्ञानिक नाटक 'भारती' में और नागेश जोशी ने अपने नाटक 'देव मानूष' में कुछ गहनतर आदर्श-वादिता को अंकित किया है। उत्कृष्ट यूरोपीय नाटकों के अनुवाद अथवा रूपान्तरण से मराठी नाटकों में विविधता का समावेश हुआ। पी० एल० देशपाण्डे ने 'अमलदार' नाम से 'इंसपेक्टर जनरल' को रूपान्तरित किया। शिरवाडकर ने 'राजमुकट' नाम से मेकबेथ को और 'वैजयन्ती' नाम से मोना वना को रूपान्तरित किया। उनका ऐतिहासिक नाटक, जिस पर उन्हें पुरस्कार भी मिला कला और रंगमंच दोनों की दृष्टि से सराहनीय है। वी० वाई० मराठे का 'होनाजी बाला' भी इसी कोटि का नाटक है। नवोदित कलाकार तारा वानारसे का 'कक्षा' नाटक आधुनिक मनोवैज्ञानिक समस्या पर आधारित होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

एकांकी नाटकों के क्षेत्र में भी यथेष्ट विविधता है। कला प्रेमियों के प्रयासों और प्रसारण माध्यम के कारण इस दिशा में काफ़ी प्रगति हो रही है। ताम्हनकर वकील, गाडगील, विजय तेंडुलकर आदि इस क्षेत्र में कुछ प्रमुख लेखक हैं।

मराठी साहित्य के एक और पक्ष पर हम प्रस्तुत लेख में विचार कर सकते हैं। साहित्यालोचन की ओर लोगों का ध्यान पहले से अधिक आकृष्ट हो रहा है। अभी हाल ही में मराठी साहित्य का इतिहास एक या अधिक भागों में कई व्यक्तियों ने लिखा है। कई प्रतिभा-सम्पन्न लेखक आधुनिक मराठी काव्य, मराठी उपन्यास आदि के अलग-अलग आलोचनात्मक इतिहास लिख रहे हैं। प्राचीन मराठी साहित्य में अनुसंधान भी किया जा रहा है। उदाहरण के लिए ऐसे अनुसंधान कार्यों में ज्ञानेश्वर की कृतियाँ और दर्शन का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य सन्त कवियों के साहित्य की भी शोध की जा रही है। उपरोक्त प्रथम श्रेणी के कार्यों के क्षेत्र में डा० दाण्डेकर, प्रो० जोग और देशपाण्डे के नाम उल्लेखनीय हैं। द्वितीय श्रेणी में डा० पेंडसे, प्रोफ़ेसर फाटक आदि का नाम आता है। आलोचना के सिद्धान्त, विभिन्न साहित्यिक रूपों की सिद्धान्त वाली साहित्यिक व्याख्या, तथा सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं के विषय पर प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे जाते हैं। साहित्यिक आलोचक पहले से अधिक जागरूक होते जा रहे हैं। वे सूक्ष्म-से सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। परिष्कृत सृजनात्मक रचनाओं का सौन्दर्य ऐसे मानदण्ड विकसित कर रहा है जो सृजनात्मक व्याख्या के अनुकूल हों। यह बड़ा परिश्रमसाध्य कार्य है और इससे सावधानी की भी अपेक्षा है। साहित्य का आलोचक, साहित्यिक तथ्यों और घटनाओं का भी अच्छा ज्ञाता होने का प्रयास कर रहा है। इस दिशा में प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० एल० कुलकर्णी, एम० वी० राजाध्यक्ष, गंगाधर गाडगील, डी० वी० देशपाण्डे, जी० एम० कुलकर्णी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आलोचना जगत और सौन्दर्यशास्त्र की पिछले दशक की सर्वोत्कृष्ट निधि स्वर्गीय श्री बी० एस० मर्ढेकर थे। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र, कला व साहित्य का अच्छा ज्ञान होने से उनके आलोचना साहित्य में बड़ी पैनी सूझ-बूझ पाई जाती थी। इसके अतिरिक्त वह मौलिक रचनाकार भी थे जिससे उनके आलोचनात्मक लेखों को दोहरा बल मिला था। मराठी आलोचना साहित्य को उनकी देन अविस्मरणीय रहेगी।



दिल्ली और उसकी वेदनाएँ

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

"दिल्ली जो इक शहर था आलम में इन्तखाब
रहते थे मुन्तखब ही जहाँ रोजगार के
उसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया—"

उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर मीर ने कहा था, पर आज नयी दिल्ली की अट्टालिकाओं-इमारतों को देखकर कवि के इस कथन की सत्यता पर कौन विश्वास कर सकेगा? किन्तु कवि की इस उक्ति में सत्य ही नहीं, घोर सत्य छिपा है। दिल्ली उन नगरों में है, जिसे एक नहीं बारम्बार लुटेरों के आक्रमण का सामना करना पड़ा है। और मीर यहाँ उन दिनों बसते थे जबकि दिल्ली की रौनक समाप्त हो चुकी थी, उसके गौरव का सूर्य अस्तप्राय था, मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था, चौकियाँ बदल गयी थीं, थाने बदल चुके थे, मुगल सल्तनत की जगह ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन आरम्भ हो चुका था—दिल्ली की तत्कालीन अवस्था मानो किसी कवि की इस उक्ति को चरितार्थ कर रही हो—

सदा न बागीं बुलबुल बोले,
सदा न बाग बहारौं,
सदा न ज्वानी रहती यारो,
सदा न सोहबत यारौं।

वह दिल्ली जो एक जमाने में संसार में अपनी सुन्दरता एवं दौलत के लिये प्रसिद्ध थी, उजड़े हुए चमन की याद दिला रही थी।

दिल्ली शताब्दियों से किसी-न-किसी साम्राज्य अथवा लोकपाल की राजधानी रही है। कितने नगर बने और बिगड़े, यह इतिहास के पृष्ठ बतलाते हैं अथवा दिल्ली के आस-पास प्रायः ४० मील की परिधि में फैले हुए पुराने खण्डहर। प्राक् ऐतिहासिक काल में, पौराणिक आधार पर विशेषज्ञों का कहना है, कि आर्यों ने प्रायः ईसा के पूर्व १४वीं सदी में यहाँ आकर एक उपनिवेश का निर्माण किया था। सबसे पहला शहर जो आर्यों ने यहाँ बसाया था और जिसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है, वह था इन्द्रप्रस्थ। महाभारत में पाण्डवों के हस्तिनापुर से जाकर जंगलों से नाग नामक एक अनार्य जाति के भगाने तथा जंगल साफ कर इन्द्रप्रस्थ के निर्माण की कथा वर्णित है। कहते हैं यमुनातट पर वर्तमान फिरोजशाह की कोटला और हुमायूँ की कब्र के बीच के इलाके में यह नगर बसा हुआ था। पर आज दिन इसके कोई ध्वंसावशेष अथवा चिह्न प्राप्य नहीं हैं, सिवाय इन्द्रप्रस्थ नाम के जिसके द्वारा यह इलाका आज भी ज्ञात है। भागवत पुराण के अनुसार युधिष्ठिर के बाद अर्जुन की तीस पीढ़ियों ने यहाँ शासन किया, जब तक कि इस पीढ़ी के अन्तिम सम्राट के मंत्री विसर्व ने उससे गद्दी न छीन ली। विसर्व वंश के लोगों ने पाँच सौ बरसों तक राज्य किया। उनके बाद गौतमवंश के १५ राजाओं ने, तत्पश्चात मयूर वंशियों ने। फिर तो हम ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दि के मध्य में पहुँचते हैं, जब कि सर्वप्रथम 'दिल्ली' नाम का प्रवेश होता है। तब तक शहर प्राचीन स्थिति से आगे, दक्षिण दिशा को फैल चुका था, वहाँ जहाँ कि आज कुतुब मीनार खड़ा पठान शासन की याद दिला रहा है।

जनरल कनिंघम के कथनानुसार इस नये नगर का निर्माणकर्त्ता दिलू नामक एक राजा था, जो मयूर वंश का अन्तिम सम्राट था तथा जिसका टालमी ने अपने ग्रन्थ में दैदालर के नाम से उल्लेख किया है। फेरिश्ता का भी यही मत है और शायद कनिंघम के पूर्वोक्त कथन का आधार फेरिश्ता ही है।

साक वंशी राजा साकादित्य ने, इतिहासज्ञों का कथन है कि राजा दिलू से, दिल्ली की गद्दी छीन ली पर वह स्वयं थोड़े दिनों के बाद ही महाराज विक्रमादित्य के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ। इसके बाद कई सदियों तक दिल्ली का कोई पता नहीं मिलता। किंवदन्ति है कि ७८२ वर्षों तक वह उजाड़ पड़ी रही पर यह बात इसलिए मान्य नहीं कि तीसरी किंवा चौथी शताब्दी (ईसोपरान्त) राजा धाव के प्रसिद्ध लौह स्तम्भ का निर्माणकाल बताया जाता है। इस स्तम्भ के सम्बन्ध में पुरातत्व एवं इतिहास के विद्वान विशेषज्ञों ने तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगायी हैं, पर प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि राजा धाव कौन थे? किन्तु इस पर जो संस्कृत के कुछ शब्द खुदे हुए हैं उनसे यह साफ-साफ परिलक्षित है कि इसका निर्माता कोई महान शक्तिशाली व्यक्ति था। जेम्स प्रिंसेप ने इन शब्दों को बड़ी मेहनत से पढ़ा था और उसका कहना है कि इस पर जो पंक्तियाँ अंकित हैं उनमें इस स्तम्भ को राजा धाव की 'कीर्ति-भुजा' कहा है, तथा यह भी लिखा है कि उन्होंने अपने बाहुबल से इस पृथ्वी पर बहुत दिनों तक एकतंत्र शासन किया। निष्कर्ष यह कि इस लेख से यह स्पष्ट है कि राजा धाव कोई प्रतापी शासक था और यह स्वाभाविक है कि दिल्ली उसके राजत्वकाल में धन-धान्य से सम्पन्न रही हो, पर यह कौन था उसका निश्चित पता आज तक न लगा। हाँ, सादृश्यता के सिद्धान्त पर इस शिलालेख का अंकनकाल तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी आसानी से माना जा सकता है। तोमर वंशीय राजाओं के सम्बन्ध में कनिंघम आदि का मत है कि इस वंश की स्थापना अनंगपाल ने ७३८ ई० में की तथा दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। उसके बाद इस वंश के कई राजाओं ने दिल्ली को ही अपनी राजधानी रखा। पर कालान्तर में, ऐसा प्रतीत होता है कि वे कन्नौज चले गये और दिल्ली राजधानी न रही। ११वीं सदी के मध्य में राठौर वंशीय चन्द्रदेव ने द्वितीय अनंगपाल को कन्नौज से मार भगाया और

उसने पुनः दिल्ली की शरण ली; तोमर वंशीय राजाओं की वह फिर राजधानी बनी। अनंगपाल द्वितीय ने दिल्ली की सजावट के अनेक प्रयत्न किए तथा सुरक्षा के उद्देश्य से 'लाल कोट' नामक एक किले का निर्माण किया, जिसके ध्वंसावशेष अब भी कुतुब मीनार के इर्द-गिर्द पाए जाते हैं। राजा धाव के जिस लौह-स्तम्भ की चर्चा ऊपर की गयी है उसके ऊपर बड़े ही संक्षेप में लिखा है '११०८ संवत् में अनंगपाल ने दिल्ली बसाई।' कई विद्वानों ने इसी लिखावट के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि राजा धाव तोमर कुल का ही कोई व्यक्ति था। सौ वर्षों तक दिल्ली में अमन-चैन बना रहा। पर इस अवधि के बीतते-न-बीतते अजमेर के चौहान वंशीय राजा विशालदेव ने दिल्ली पर आक्रमण किया। अनंगपाल ने पराजय प्राप्त कर उसकी अधीनता ही स्वीकार न की, बल्कि अपनी पुत्री भी उसे भेंट की। विशालदेव ने उसे वधू रूप में स्वीकार किया। इसके ही गर्भ से प्रसिद्ध महाराज पृथ्वीराज चौहान उत्पन्न हुए, जो कि अनंगपाल के स्वर्गारोहण के बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठे और जिन्होंने तोमर एवं चौहान वंशों का एकीकरण किया, उन्हें एक सूत्र में बाँधा।

महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा थे, प्रतापी थे, गुणी थे तथा उनकी कथाएँ भारतवर्ष के इतिहास एवं साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं; कविवर चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' लिख कर उन्हें अमरत्व प्रदान किया है। सन् ११९१ ई० में मुहम्मद शहाबुद्दीन गोरी का भारतवर्ष पर प्रथम आक्रमण हुआ। पृथ्वीराज के द्वारा उसे हार खानी पड़ी पर वह वर्षों में ही पुनः भारत पर चढ़ आया तथा युद्ध-क्षेत्र में उसने पृथ्वीराज को पराजित किया। पृथ्वीराज बन्दी हुए तथा उसके द्वारा कत्ल कर दिए गए। दिल्ली उसके एक मुख्य सेनानायक कुतुबुद्दीन के हाथों पड़ी। शहाबुद्दीन गोरी के जीवन-काल तक तो वह दिल्ली पर बतौर उसके प्रतिनिधि के शासन करता रहा। पर १२०६ में जब वह मृत हुआ तो कुतुबुद्दीन निज को स्वतन्त्र घोषित कर हिन्दुस्तान का बादशाह बन बैठा। वह तुर्क तथा दास वंश का था। अतः वह तथा उसके वंशज दास कुल के बादशाह कहलाए। दिल्ली की कई मशहूर इमारतें—कुतुब मीनार आदि इसी वंश के बादशाहों की कृतियाँ हैं।

सन् १२८२ ई० तक दास वंश का शासन रहा, फिर खिलजियों का। इस वंश की नींव डालने वाला जलालुद्दीन खिलजी था, पर इस वंश का विख्यात शासक अलाउद्दीन हुआ जिसने दो बार मुगलों के आक्रमण का सामना किया तथा उन्हें मार भगाया। जिस स्थान पर उसने मुगल आक्रमण का सामना कर उन्हें पराजित किया, वहाँ शाहपुर नामक स्थान में उसने एक किले का निर्माण भी किया।

सन् १३२१ ई० तक खिलजियों का राज रहा, फिर आया तुग़लक वंश का शासन-काल। इस वंश के ही एक बादशाह ग़ियासुद्दीन ने तत्कालीन दिल्ली से प्रायः पाँच मील दूर एक नगर बसाया—तुग़लकाबाद, जो अधिक दिनों तक आबाद न रह सका, खण्डहरों में परिवर्तित हो गया। उसका पूरा नाम मुहम्मद तुगलक था जिसके सम्बन्ध में एलफिन्सटन नामक एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ने लिखा है कि संसार में मानव-प्रकृति को श्रृंगारित अथवा कलंकित करने वालों में वह एक प्रमुख व्यक्ति था, अतिशय विद्या-सम्पन्न, साथ ही भयंकर उत्पीड़क भी! तीन बार वह अपनी राजधानी दिल्ली से उठा कर देवगिरि (दक्कन) ले गया और वापस लाया। दिल्ली के बाशिन्दों को वहाँ जाने और लौटने को, राजाज्ञा से विवश होना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें धन-जन की अपार क्षति तो उठानी ही पड़ी, दिल्ली भी उजाड़ हो गई। उन्हीं दिनों इब्नबतूता नामक एक विदेशी (अफ्रीकी) यात्री यहाँ आया था जिसने दिल्ली के सम्बन्ध में लिखा है कि 'वह एक परम सुशोभित नगर है जिसकी मस्जिदों तथा दीवारों का मुकाबला करने वाली मस्जिदें और दीवारें दुनिया के किसी भी हिस्से में प्राप्य नहीं हैं। पर वह आज आबादी की कमी के कारण मरुभूमि-सा हो रहा है। संसार के सबसे बड़े शहर की आबादी आज सभी शहरों से कम है।' मुहम्मद तुग़लक के उत्तराधिकारी फिरोज़ ने कुतुब से कई मील उत्तर हट कर एक नया नगर बसाया जिसका नाम फिरोजाबाद रखा। यह भी आज खण्डहरों में परिणत है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, महाराज पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी के हाथों मारे गए और उनके साथ-ही-साथ हिन्दू आधिपत्य का सूर्य भी इस देश से अन्तर्हित हो गया। हिन्दू शासन के विनाश एवं भारतवर्ष में इस्लाम धर्म के प्रवेश के सम्बन्ध में इस्लामी दुनिया में एक मनोरंजन कथा प्राचीन काल से प्रचलित है। किस तरह अरब के एक पीर के द्वारा इस्लाम यहाँ आया तथा चिश्त के ही एक दूसरे प्रसिद्ध पीर का अभिशाप सुल्तान ग़ियासुद्दीन के लिए घातक सिद्ध हुआ। इनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा।

कहते हैं मुहम्मद गोरी के भारत आक्रमण के पूर्व ही चिश्ती सम्प्रदाय के एक परम विख्यात पीर ख़्वाजा साहिब[1] एक दिन काबे की चारों ओर परिक्रमा कर रहे थे जब कि उन्होंने स्वर्ग की एक वाणी

---

१. ख़्वाजा साहब का जन्म सन्जर नामक एक गाँव में हुआ था। बालपन ख़ुरासान में बीता। उनके पिता सैय्यद ग़ियासुद्दीन अहमद ने सन् ११५६ ई० में निशापुर में शरीर छोड़ा, साथ-साथ पुत्र के लिए एक बाग और जल का कारखाना भी। तदुपरान्त उन्हें—ख़्वाजा साहब को उनकी वालदा बीबी महनूर ने पाला-पोसा। इसके बाद के उनके जीवन के पृष्ठ अज्ञात-से हैं, पर प्रचलित किंवदन्ती है कि वह कम ही उम्र में इब्राहीम नाम के किसी फ़कीर के प्रभाव में आए तथा अपनी सारी सम्पत्ति बेच उसकी कीमत गरीबों को बाँट दी और स्वयं भी फ़कीर हो गए। फिर बोखारा और समरकन्द की यात्रा की। और अन्त में हारून नामक एक गाँव में जा बैठे। वहीं रहते-रहते वह ख़्वाजा उस्मान हारुनी चिश्ती नामक एक सूफ़ी महात्मा के शिष्य हो गए। चिश्ती-सम्प्रदाय में शामिल हो ख़्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती नाम से विख्यात हुए। वहीं से मक्का और मदीने की सफर की और अन्त में ४२ वर्ष की उम्र में अजमेर पधारे, मुहम्मद गोरी की फ़ौज के साथ। अजमेर में ही उन्होंने समाधि ली। उनकी क़ब्र पर तब से सालाना जलसा होता है, मेले लगते हैं, दूर-दूर से लोग आते हैं, सिजदा करते हैं। कहते हैं जो कोई जिस इरादे को जी में लेकर वहाँ जाता है उसकी अवश्य पूर्ति होती है। सदियों से यह धारणा लोगों में चली आती है। बादशाह अकबर ने भी पैदल ही आगरे से अजमेर की यात्रा की थी।

इस्लाम में संगीत को स्थान नहीं, पर ख़्वाजा साहब के मजार पर हमेशा से बाजे-शहनाई आदि, बजते हैं, तथा महफिलखाने में देश भर से तवायफें आकर जाती हैं। इस्लाम के कट्टरपंथियों तथा सूफ़ियों के रीति-रिवाज में यह एक बड़ा-सा अन्तर है, जिसका आरम्भ कब और कैसे हुआ, यह अज्ञात है।

सुनी, जिसमें उन्हें मदीना जाने का आदेश था। वे तत्काल मदीना के लिए रवाना हो गए।

मदीने में हज़रत मुहम्मद ने उन्हें ख़्वाब में कहा—"ख़ुदा ने हिन्दुस्तान को तुम्हारे सुपुर्द किया है। वहाँ जाओ और अजमेर में अपना कयाम रखो। ख़ुदा के फ़ज़्ल से तुम्हारे तथा तुम्हारे अनुगामियों के द्वारा उस मुल्क में इस्लाम फैलेगा।" ख़्वाजा साहब आदेश पाकर हिन्दुस्तान चले आए तथा उन्होंने अजमेर में अपना आसन जमाया। दिल्ली के तख्त पर उन दिनों महाराज पृथ्वीराज आसीन थे। उन्होंने ख़्वाजा साहब के पथ में रोड़े अटकाने की चेष्टा की तथा उनके शाप के भाजन बने। कहते हैं उन्हीं के शाप के कारण इन्हें मुहम्मद गोरी के हाथों मरना पड़ा तथा उनकी दुआ से हिन्दुस्तान इस्लाम धर्मियों के हाथ आया। सन् १२३५ ई० में १७० वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा। आज उनके मज़ार का इस्लाम-संसार के प्रमुखतम तीर्थ-स्थानों में शुमार है।

ख़्वाजा साहब के बाद चिश्त के तीन और पीरों ने हिन्दुस्तान में इस्लाम का प्रचार किया तथा तरह-तरह के अलौकिक करिश्मे दिखलाए। इनमें सबसे अन्तिम निज़ामुद्दीन औलिया थे, जिनके मजार पर गत छः सौ वर्षों से लोग जाते और सिजदा करते हैं। दिल्ली के तख्त पर उन दिनों गियासुद्दीन तुगलक आसीन थे। दिल्ली से पाँच मील दूर वह एक नए शहर के निर्माण में संलग्न थे। एक नया किला और उसके भीतर एक संगमरमर तथा लाल पत्थर की कब्र अपने लिए बनवा रहे थे। चूँकि वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे, इच्छुक थे कि उन्हें शीघ्रातिशीघ्र तैयार करा लें। संयोग ऐसा कि उन्हीं दिनों निज़ामुद्दीन औलिया भी एक जलाशय के खुदवाने में लगे हुए थे। पर बादशाह की आज्ञा सर्वोपरि थी, अतः सभी मजदूर शाही काम में जा जुटे। इधर पीर साहब भी बूढ़े हो चुके थे, मालूम नहीं किस दिन आँखें मूँद लें, अतएव उन्होंने बाजार से तेल खरीदवाया और मजदूरों से रात में काम करवाना शुरू किया। दिन की थकावट तथा नैश जागरण के कारण मजदूरों की कार्य-शक्ति में ह्रास-सा हो चला। काम करते-करते बहुधा वे सो जाते या ऊँघने लगते। बादशाह को जब यह खबर लगी तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठे, आज्ञा दी कि कोई भी दूकानदार पीर साहब को तेल न बेचे। पीर साहब ने यह खबर बड़े दुःख के साथ सुनी और भगवान से कातर स्वरों में प्रार्थनाएँ करने लगे। कहते हैं सन्ध्या होते ही जलाशय से एक अलौकिक प्रकाश बाहर हुआ जिसकी ज्योति से खुदाई का कार्य पुनः पूर्ववत् चलने लगा। पर सुल्तान की आध्यात्मिक शक्ति भी कोई कम न थी, क्रोधावेश में आकर उन्होंने जल को शाप दे डाला, जिसके फलस्वरूप पानी के भीतर से एक ऐसी बदबू आने लगी कि लोग उसे पीने से वंचित रहे। इधर निज़ामुद्दीन औलिया ने भी इसे देख कर दर्द-भरे दिल से अभिशाप दिया "तुग़लकाबाद गुर्जर लोगों का निवास स्थान हो या जन-हीन एक वीरान-सी जगह।"

दोनों ही बातें सच हुईं—पूर्वोक्त जलाशय के पानी में अन्ध-विश्वासी जनों का ख्याल है कि आज भी सड़े हुए अण्डे की बू आती है तथा तुग़लकाबाद अधिक दिनों तक आबाद न रह सका; सुल्तान तुग़लक के इन्तकाल के बाद ही उसके पुत्र ने जल की कमी के कारण इस शहर को त्याग दिया और आज इस उजड़े हुए स्थान में थोड़े से गुर्जर लोगों के घरों के अतिरिक्त और कुछ देखने को नहीं मिलता।

सूबा बंगाल बलबन के बाद से ही दिल्ली के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो चुका था, उसे पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से सुल्तान ग़ियासुद्दीन बंगाल की यात्रा पर गया। इधर उसके लड़के मुहम्मद ने पिता से गद्दी छीनने की सोची और पीर की मदद चाही। पीर ने कहा—"तुग़लक पुनः दिल्ली पर पाँव न रख पाएँगे।" कुछ ही दिनों के बाद, यह खबर पहुँची कि सुल्तान विजयी होकर दिल्ली लौट रहे हैं। मुहम्मद घबराए हुए से पीर के पास पहुँचे और कहा कि सुल्तान दिल्ली लौट रहे हैं, रास्ते में हैं। पीर ने तसबी (माला) फेरते-फेरते कहा—"दिल्ली दूर अस्त", अर्थात् दिल्ली दूर है। सुलतान के और निकट आने की खबर आयी। मुहम्मद ने पुनः जाकर यह संवाद पीर साहब को सुनाया और कहा कि कल वे यहाँ आ रहे हैं। अतः हम लोग आज ही कहीं भाग चलें। पीर फिर भी विचलित न हुए, बोले—"दिल्ली हनोज़ दूर अस्त"—दिल्ली अब भी दूर है। अन्ततः सुल्तान आ ही पहुँचे, मुहम्मद ने अपने भाइयों के साथ जाकर नगर के बाहर ही उनका स्वागत किया तथा नदी के तट पर एक नव निर्मित काष्ठ-मण्डप में उन्हें दावत दी। भोजनोत्तर मुहम्मद ने हाथियों के परेड प्रदर्शन के लिए सुल्तान से अनुमति चाही तथा उनकी आज्ञा से तमाशा शुरू हुआ।

तुग़लक अपने छोटे बच्चे के—जिसे वह अत्यधिक प्यार करते थे तथा अपने संग बंगाल भी लेते गये थे—साथ मण्डप में विराजमान थे। बगल में एक शेख बैठे थे जिनसे शाम होते देख शाहजादा मुहम्मद ने कहा—"शेख! नमाज़ का वक्त हो आया" और वह दोनों बाहर निकल पड़े। इतने में ही सहसा जोरों की एक आवाज़ सुनकर शेख लौटे तो सारे मण्डप को भूमिसात् पाया। एक विशाल-काय गज की टक्कर से वह ताश के घर की भाँति नीचे जा चुका था। सुल्तान काठ की छतों के नीचे थे। मुहम्मद ने एक दिखाऊ व्याकुलता के साथ चिल्ला कर कहा, फौरन सफाई के औज़ार लाये जायँ। लोग दौड़े पर सामान जुटाने में फिर भी घंटों लग गये। अन्ततोगत्वा जब टूटे हुये काठों की सफाई की गयी तो सुल्तान अपनी छाती से अपने कनिष्ठ पुत्र को लगाये प्राणहीन अवस्था में दृष्टिगोचर हुए। दोनों ही कालकवलित हो चुके थे। सुल्तान दिल्ली न पहुँच पाये, पीर ने ठीक ही कहा था "दिल्ली हनोज दूर अस्त।"

बाद का दिल्ली का इतिहास एक उथल-पुथल का इतिहास है, आपसी झगड़े, मार-काट, खून-खराबी का। दिल्ली की अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय एवं उपद्रवपूर्ण हो गई। जान-माल सभी अनिश्चिता-वस्था को प्राप्त थे।

यही परिस्थिति थी जब कि तैमूरलंग तथा उसका झुण्ड टिड्डियों की भाँति फारस, मेसोपोटामिया तथा अफगानिस्तान होता हुआ पंजाब में आ धमका और फिर खून की दरिया बहाता हुआ दिल्ली पर आ

छाया। कहते हैं दिल्ली पहुँचने तक उसके पास एक लाख हिन्दू कैदी थे जिन्हें, यह सोच कर कि लड़ाई की गड़बड़ी में वे कहीं निकल न भागें और दुश्मन का साथ दें, उसने मौत के घाट उतार डाला। अपने स्मृति-ग्रन्थ में बड़े गर्व से एक विद्वान परामर्शदाता के सम्बन्ध में वह लिखता है कि अपने समस्त जीवन में कभी एक गौरैये तक का उसने वध नहीं किया पर इस वक्त मेरी आज्ञा से स्वयं अपने हाथों १५ बुतपरस्त हिन्दुओं का काम तमाम किया।

सुल्तान महमूद आतंक से काँपता हुआ गुजरात की ओर भाग निकला, उसकी फ़ौज ने मोर्चा लेना चाहा पर असफल रही। तैमूर ने वायदा किया कि वह शहर की पूरी तरह रक्षा करेगा और एक आम जलसे में बादशाह घोषित हुआ, पर अपने वायदे को वह फौरन ही भूल गया। दिल्ली की लूटपाट शुरू हुई और पाँच दिनों तक नगर की जो अवस्था रही वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती है। खून की नदी बहती रही और सड़कों पर झुण्ड-की-झुण्ड लाशें पड़ी रहीं। अन्त में लूट एवं संहार से सन्तोष पा, तैमूर और उसका जत्था समरकन्द की ओर लौट चला। साथ में हजारों नर-नारियों को अपने दास कार्य के निमित्त लेता गया। कहते हैं उनके चले जाने के बाद दो महीनों तक दिल्ली में न तो कोई शासन रहा न बाशिन्दा।

सुल्तान महमूद दो महीनों के बाद अपनी उजड़ी हुई राजधानी को लौटा तथा दिल्ली और कन्नौज में अपने जीवन के शेष दिन बिताए। सन् १४१२ ई० में वह मरा और उसके साथ ही तुग़लक वंश का भी अन्त हो गया। दिल्ली धन, यौवन, सौन्दर्य से रहित, एक अति साधारण नगरी के रूप में अवस्थित रही।

तत्पश्चात कुछ दिनों तक सैयद और लोदी इन दो वंशों का राज्य रहा पर नाम-मात्र को ही। दिल्ली के प्राचीन साम्राज्य क्षेत्र को वे वापिस न ला सके। अन्त में सन् १५२६ ई० में बाबर ने—जो कि तैमूर की छठी पीढ़ी में था—इब्राहीम लोदी के शासन काल में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की। पानीपत में इब्राहीम लोदी को हराता एवं क़त्ल करता हुआ दिल्ली आ पहुँचा। और इस प्रकार दिल्ली से अफ़ग़ानों का शासन सदा के लिए विलीन हो गया।

बाबर ने हिन्दुस्तान में मुगल सल्तनत की नींव डाली। यह भी इतिहास की एक प्रबल विडम्बना है कि तैमूर यद्यपि मुगल जाति का न था, तुर्क था, फिर भी बाबर की स्थापित सल्तनत को इतिहास मुगल सल्तनत के नाम से ही पुकारता रहा। बाबर ने अपने स्मृति-ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी मुगलों का ज़िक्र किया है, बड़े ही निन्दनीय शब्दों में किया है। उसकी माँ ने मुगल कुल में जन्म पाया था। तथा उन दिनों अफ़ग़ानों को छोड़ कर बाकी सभी मुसलमानों को यहाँ मुगल कहा करते थे। सम्भव है इन्हीं कारणों से बाबर तथा उसके वंशज मुगल कहलाए। बाबर मुख्यतः आगरा को ही अपनी राजधानी मानता रहा और वहीं कालगत भी हुआ। उसके पुत्र हुमायूँ ने पुनः दिल्ली आने की सोची तथा पुराने किले को फिर से आबाद किया, पर सन् १५४० ई० में शेरशाह ने बिहार से आकर हुमायूँ के हाथों से दिल्ली छीन ली तथा अपनी सल्तनत कायम की। नगर का पुनर्निर्माण भी किया।

शेरशाह के वंशज अधिक दिनों तक दिल्ली में शासन न कर पाए। सन् १५५५ में हुमायूँ ने पुनः दिल्ली पर कब्ज़ा किया लेकिन छः महीने के भीतर ही अपने ग्रन्थागार की सीढ़ियों से गिर कर इस संसार से वह चल बसा।

हुमायूँ के बाद चार बादशाह—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब अतिशय प्रतापी हुए। इसमें सन्देह नहीं कि उनके शासन काल में दिल्ली ने बड़ी तरक्की पाई। संसार के महान नगरों में उसकी गणना होने लगी। एक इतिहासज्ञ के शब्दों में—"आज से दो सौ वर्ष पहले दिल्ली एक महान् एवं बड़े साम्राज्य की राजधानी थी और सौ वर्षों तक रही। यह भारतवर्ष की ही नहीं वरन् पूर्व की कुस्तुन-तुनिया से लेकर कैंटन तक की, सब से बड़ी और प्रसिद्ध नगरी थी। पर ५० वर्षों के भीतर ही इसके अधीनस्थ प्रान्त अन्तर्हित हो गए, इसका धन अपहृत हो गया, इसके बादशाह अन्धे बना डाले गए, तथा यह नगर एक छोटे से सूबे की राजधानी मात्र रह गया जिसकी आबादी दो लाख से भी कम थी।"

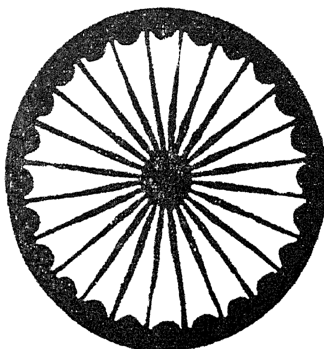
तभी तो मीर ने कहा :

दिल्ली जो एक सहर था, आलम में इन्तख़ाब,
रहते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के,
उसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया।

किसी शायर के दिल की तरह यह शहर भी बारम्बार लूटा गया—

"दिल की वीरानी का क्या मज़कूर है,
यह नगर सौ मरतबा लूटा गया।"

(अगले अंक में समाप्य)



लैम्प पोस्ट

देवेन्द्र इस्सर

शाम होते ही बूढ़ा फ़ज़लदीन अपने दुर्बल कन्धों पर बाँस की छोटी-सी सीढ़ी उठाए गली के मोड़ पर आकर रुक जाता। कुछ समय तक वह ज़ोर-ज़ोर से खाँसता जिससे उसकी दोनों ओर की पसलियों के बीच नाली-सी बनती और फिर मिट जाती। लैम्प जलाने के लिए जब वह चिमनी उतार कर अपने घुटनों में दबा लेता और दियासलाई सुलगाता तो उसके लकड़ी जैसे खुश्क पाँव काँपने लगते और बाँस की सीढ़ी उसकी कमर की तरह झुक जाती। उसी समय किसी मस्जिद से मग़रब की अज़ान गूँजती और फ़ज़लदीन चिमनी अपनी जगह पर टिका कर और केस बन्द करके 'खुदाए दो जहान' का कलमा पढ़ता हुआ नीचे उतर आता और कंधे पर सीढ़ी उठा कर धीरे-धीरे किसी थके माँदे राही की तरह वापस चला जाता। उसकी झुकी हुई कमर देख कर ऐसा मालूम होता था कि यह धरती बैल के सींग की अपेक्षा उसकी पीठ पर खड़ी है। उसका जला हुआ चेहरा कच्चे मांस की तरह था जिस पर एक स्याह गुठली थी। उसकी आँखों से सदैव मैला पानी रिसता रहता था, जिससे उसकी दाढ़ी दाग़दार हो गई थी। फ़ज़लदीन लैम्प के पीले प्रकाश में श्मशान भूमि के भूत की भाँति दिखाई देता था, जो भूले-भटके आदमी की बस्ती में आकर परेशान हो गया हो।

मैं बूढ़े के कुरूप चेहरे से दृष्टि हटा कर एंग्लो इंडियन जज के मकान की खिड़कियों में लटके हुए रंगीन रेशमी पर्दों में गड़ा देता। कभी-कभी वायु का कोई तेज़ झोंका इन पर्दों को एक ओर से सरका देता तो प्यानो पर पड़ा हुआ साराह का चित्र दिखाई दे जाता। मेरी दृष्टि इन पर्दों में उस समय तक खोई रहती जब तक कि बूढ़ा अगली गली के मोड़ पर ग़ालिब की ग़ज़ल अपनी बेसुरी आवाज़ में गाता हुआ गायब न हो जाता। क्षण प्रति क्षण गहरे होते हुए अँधेरे में लैम्प का उज्ज्वल होता हुआ प्रकाश मुझे बड़ा ही भला मालूम होता। लेकिन यह लैम्प शाम से ही बुझा हुआ सा रहता था। शायद तेल की कमी थी या वर्षों से जलने के कारण बत्ती छोटी हो गई थी। चिमनी भी धुँधला गई थी। इसलिये प्रकाश मद्धिम-मद्धिम मटियाला सा प्रतीत होता था। लैम्प के केस पर वर्षा की बूँदों और रेत के कणों ने अपने अनगिनत चिन्ह छोड़ दिए थे। जब सामने वाली दीवार पर प्रकाश का पीला घेरा पड़ता तो उसमें छोटे-बड़े काले धब्बे लैम्प की लौ के साथ-साथ नृत्य करते थे। इस समय शीशम की बूढ़ी टहनियों से पीले चाँद की किरणें सृष्टि पर इस तरह पड़तीं, जैसे किसी पीलिया के रोगी पर मृत्यु की परछाईं पड़ रही हो। लैम्प के केस के अन्दर हज़ारों पतंगों के जले हुए पर बिखरे पड़े थे और उसके गिर्द सैकड़ों परवाने प्रकाश को अपने आलिंगन में समेटने के असफल प्रयत्न में मँडराते हुए मृत्यु से गले मिल रहे थे। लैम्प के साथ दीवार पर एक चमगादड़ ने बसेरा कर रखा था जो कभी-कभी अत्यन्त बेचैनी की दशा में इधर-उधर दौड़ती फिरती थी। जब मैं दिन भर काम के बाद प्रेस रिपोर्ट भेज कर अपने प्रेतग्रस्त कमरे में कदम रखता था तो लैम्प के मद्धिम प्रकाश में चमगादड़ का इधर-उधर भटकना मालूम नहीं क्यों मेरे मन में एकाकीपन की उदासी पैदा कर देता।

इस गली ने अँधेरे में जन्म लिया था और अँधेरे में ही मर जाएगी और यह लैम्प हमेशा इसी तरह ऊँघता रहेगा। सूर्य के प्रकाश से दूर इस गली में सहस्रों प्रकार के घातक कीटाणु रेंगते रहते थे, जो गन्दी नालियों और कूड़े करकट के ढेरों पर जीवन का निर्वाह कर रहे थे। और अपनी संख्या में प्रतिक्षण वृद्धि कर रहे थे। मिट्टी के टीले और उड़ते हुए तिनके, कच्ची सब्ज़ियों और अंडों के छिलके, मुर्गियों के टूटे हुए पर, मक्खियों की भिनभिनाहट, खून में लिथड़े हुए चीथड़े, उलझे हुए बालों के गुच्छे, दवाइयों की टूटी हुई शीशियाँ, पिचके हुए डिब्बे, गले-सड़े फल, और कूड़े-करकट के दुर्गन्ध से भरे ढेर इस भीगी हुई गली की शोभा थे। कई बार अजनबी दर्शकों के मनोरंजन के लिए मुहल्ले के छोटे-छोटे बच्चे नाली के किनारे पंक्तिबद्ध बैठ जाते और 'एक, दो, तीन' कह कर प्रकृति के आह्वान का उत्तर कुछ इस ढंग से देते कि राह चलने वालों को विवश हो कर अपनी नाक पर हाथ या रूमाल रखना पड़ता। गली के वातावरण में हमेशा जली हुई गंधक की गंध बसी रहती थी। गंदगी और कूड़े के ढेरों पर खारिशज़दा कुत्ते मुँह मार कर चले जाते या वहीं दीवार से लग कर सो जाते थे। वे कभी-कभी पाँव की चाप सुनकर चौंक पड़ते और भौंक कर चुप हो जाते। गली से गुज़रने वाले लोग कई बार काँच के टुकड़ों से अपने नंगे पाँव जख्मी कर लेते या केले के छिलकों पर से फिसल कर नाली में गिरते-गिरते बचते जिसमें साबुन का मैल घिनौने विचारों की तरह बहता रहता। इस गली की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील थी, केवल गंदगी को ही स्थिरता प्राप्त थी। यही नित्य प्रति का नियम था। लोग आते, मुँह के बल गिरते और गुज़र जाते। और वह साँवली लड़की भी अपने आँचल को सँभालती लैम्प के जलते ही गली में प्रवेश करती और सीधी गुज़र जाती। वह कई महीनों से लगातार इसी तरह आती और चली जाती। जब मैंने उसे पहले-पहल देखा तो उस का चेहरा हर प्रकार के भावों से खाली नज़र आया था। उसके मौन ओंठों पर मुस्कान और वेदना की हल्की लहरें एक रहस्यमयी सम्मिश्रण पैदा कर देती थी। ज्योंही यह लड़की गली में प्रवेश करती, एंग्लो इंडियन जज के मकान की खिड़कियों के पर्दे गिर जाते और फिर उनके पीछे ठहाकों की ध्वनि गूँज उठती। सेठ जी के मकान का गली वाला दरवाज़ा खट से बन्द हो जाता और गली में

खेलते हुए बच्चे भीतर खींच लिए जाते, जैसे कोई राक्षसी आत्मा इस गली से गुज़र रही हो या किसी प्रेत की अपवित्र परछाईं पड़ रही हो। मगर वह लड़की प्रतिमा की भाँति थी—मौन, गम्भीर और शान्त, जिसमें किसी निपुण कलाकार ने साँस की गति पैदा कर दी हो। उसकी सफ़ेद सारी पर जंगली फूल खिले रहते थे। उसके हाथ पर तीन लाल चूड़ियाँ थीं जो घटते-घटते गायब हो गईं और एक दिन उसके नंगे हाथ उसके आँचल को सम्हाले हुए थे। मालूम नहीं ये लोग उसे देख कर छिप क्यों जाते थे। माताएँ अपने बच्चों को उसकी नज़र से बचाना क्यों चाहती थीं ? एंग्लो इंडियन जज के मकान की खिड़कियों के पर्दे गिर क्यों जाते हैं और उसकी लड़की साराह व्यंग्यात्मक ठहाके क्यों लगाती है। लेकिन मुझ पर एक जादू सा छा जाता और मेरी दृष्टि उस समय तक उसका पीछा करती रहती जब तक कि वह गली के अगले मोड़ पर ओझल न हो जाती। उसे देख कर मुझे ऐसा मालूम होता था, जैसे कोई निर्मल जल वाली नदी फूलों से लदी चाँद की आलोकित चादर ओढ़े बह रही हो। जब वह लड़की आती तो दाईं ओर वाले मकान की ऊपरी मंजिल की चिलमन के पीछे एक जीवित परछाईं प्रगट होती और दो उदास आँखें उस लड़की के कदमों की चाप के साथ-साथ हरकत करतीं और एक क्षण बाद ही चूड़ियों की खनक के साथ ही किसी अथाह अन्धकार में खो जातीं। इस मकान के रहने वालों ने गन्दगी और ग़िलाज़त के हानिकारक प्रभावों से बचने के लिए गली के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक पाँच फ़ुट ऊँची दीवार खड़ी कर रखी थी, जो धीरे-धीरे गिर रही थी। कई स्थानों पर सुराख और दरारें बन गई थीं जिनमें छिपकलियों, मकड़ियों और नन्हे-नन्हे पक्षियों ने अपने घर बना रखे थे। कभी-कभी किसी सुराख से कोई साँप भी झाँक लेता था। किसी-किसी स्थान से ईंटें भी खिसक गई थीं और जब हवा का तेज़ झोंका आता तो इन सुराखों से दुर्गन्ध की एक लपट मकान के अन्दर पहुँच ही जाती थी। शायद इस मकान के रहने वाले बहुत ही पवित्र वृत्ति के लोग थे। वह अपनी लड़की को गहरे सब्ज़ रंग की मोटी चादर में लपेट कर स्कूल भेजते थे, ताकि दुर्गन्ध और दूसरे सैकड़ों कुरूप दृश्यों से उस लड़की की कोमल वृत्ति पर बोझ न पड़े। चादर इक्के के चारों ओर इस तरह बाँध दी जाती थी कि चलता हुआ इक्का गतिशील कैम्प प्रतीत होता था। यह मोटी चादर भी समय के साथ-साथ घिस चुकी थी। एक-दो स्थानों पर छोटे-छोटे सुराख भी हो गए थे जो धीरे-धीरे बड़े होते गए, नीचे वाले सुराख से हमेशा दो लम्बी उँगलियाँ निकली रहा करती थीं और पर्दे पर ऐसे हरकत करती रहतीं जैसे कोई हारमोनियम की 'कीज़' से खेल रहा हो। ऊपर वाले सुराख से प्रकाश की दो किरणें फूटने लगतीं जो पथिकों को कुछ फ़ासले तक इक्के के साथ-साथ चलने पर मजबूर कर देतीं। इस मकान वालों ने पुरानी चादर को रफ़ू करवा दिया था और फीके पड़ते हुए सब्ज़ रंग को स्याह करवा दिया था। जीवन का चक्कर एक बार फिर इक्के के पुराने पहिए की तरह घूमने लगा। कभी-कभी तेज़ हवा से चादर फड़फड़ाने लगती और ऐसा जान पड़ता कि अगर यह चादर स्वयं ही न हटाई गई तो किसी दिन 'झक' से उड़ जाएगी और अपने साथ इस लड़की को भी किसी अज्ञात दुनिया में ले जा फेंकेगी, जो उसकी जानी-पहचानी न होगी और जहाँ कोई राजकुमार उसकी प्रतीक्षा में फ़कीरों के भेस में दर-बदर मारा न फिरता होगा।

साराह शुरू में इस साँवली लड़की पर हँसती नहीं थी, बल्कि प्रशंसा की दृष्टि से देखती थी। जब वह प्यानो बजाते-बजाते थक जाती, तो उसका जी चाहता था कि वह प्यानो को छत से नीचे फेंक दे और स्वयं उस लड़की के साथ हमराही हो जाए। साराह अपने साज-श्रृंगार की सब वस्तुओं को फेंक देना चाहती थी, सजीव और खिलती हुई मुस्कराहट के लिए। लेकिन दूसरे क्षण ही उसके मस्तिष्क में आनन्दमयी शाम का ख्याल अँगड़ाइयाँ लेने लगता। बालरूम के रहस्ययुक्त बल्बों के प्रकाश में राजकुमारों और परीज़ादों के नृत्य और युवा सीनों के स्पर्श का आनन्दमय अनुभव उसे शाम को ही वहाँ पहुँचा देता था। साराह कभी-कभी अपने छोटे से लान में आराम कुर्सी पर बैठी हुई मोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ा करती और भूरी-भूरी आँखों वाले खरगोश से खेला करती। साराह को अब उस लड़की से घृणा हो गई थी और वह उसे देख कर तिरस्कार से दृष्टि फेर लेती थी। शाम को फ़ज़लदीन जब लैम्प जलाने के लिए आता तो वह पुस्तक मेज़ पर रख कर आँखें मूँद के कुर्सी की बैक पर लेट-सी जाती और उसके सुनहरी बाल धरती को चूमने लगते। वह उस समय चौंकती जब बेतेवा गली की सफ़ाई करके अपने मैले-कुचैले बच्चे को उठाए साराह के सामने आ खड़ी होती। साराह अँगड़ाई लेकर उसकी ओर देखती। गुलाब की कोमल पंखुड़ियों जैसे उसके ओंठ खिल उठते और उसके गालों पर कमल मुस्कराने लगते। उसकी नीली-नीली आँखों पर लम्बी-लम्बी पलकें इस तरह झुकी रहती थीं जैसे किसी झील पर सनोबर की छाया पड़ रही हो। लम्बी अलकें उसके वक्षस्थल पर इस तरह फैल जातीं जैसे शालीमार पर गुबार छा जाए।

साराह बेतेवा को एक विचित्र पोज़ में बैठने के लिए कहती और स्वयं पैलेट, रंग, ब्रुश और ईज़ल लेने के लिए अन्दर दौड़ जाती। जब वह चलती तो उसकी कमर लता-बेल की तरह बल खाती। उस समय ऐसा मालूम होता कि साराह एक लड़की नहीं बल्कि कोई झोंका खाया हुआ उपवन है। बेतेवा साराह के कहने के अनुसार अपनी लटकी हुई छाती से चोली सरका लेती और अपने बच्चे का मुँह अपनी नंगी छातियों पर रख लेती। वह अपने धूल से भरे बालों को बिखरा कर भूमि पर देखने लगती। एक हाथ से अपने बच्चे को सम्हाल कर दूसरा हाथ भूमि पर रख लेती, जैसे वह किसी भारी बोझ से दबी जा रही हो। साराह चुटकी बजा कर 'फाइन' कहती और थोड़ी देर में स्केच पूर्ण करना शुरू कर देती। वह साथ-ही-साथ कहती भी जाती, "जब तुम्हारा चित्र पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर छपेगा तो तुम्हें अत्यन्त हर्ष होगा। तुम्हारी ख्याति संसार के कोने-कोने में फैल जाएगी। जानती हो तुम्हारे चित्र का नाम क्या होगा—'लाइफ विद्आउट लाइट।' कितना अर्थपूर्ण नाम है! काश तुम इसकी

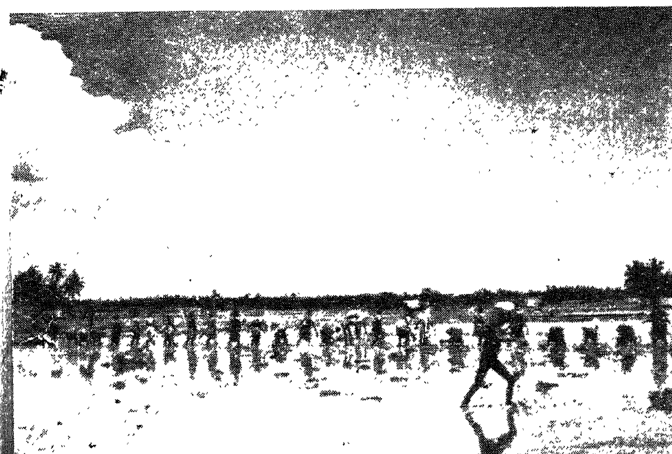


काली घटा

छतरियों के नीचे



धान रोपना



बदरिया थम-थम कर झर री !

माखनलाल चतुर्वेदी

बदरिया थम-थम कर झर री !
सागर पर मत भरे अभागन
गागर को भर री ।
बदरिया थम-थम कर झर री !

एक-एक दो-दो बूँदों में
बँधा सिन्धु का मेला
सहस-सहस बन विहँस उठा है
यह बूँदों का रेला ।
तू खोने से नहीं बावरी
पाने से डर री !
बदरिया थम-थम कर झर री !

जग, आये घनश्याम देख तो
देख गगन पर आगी
तूने बूँद, नींद खेतिहर ने
साथ-साथ ही त्यागी ।
रही कजलियों की कोमलता,
झंझा को वर री !
बदरिया थम-थम कर झर री !



वृक्ष और बादल



प्रकाश पुंज

वर्षा मंगल

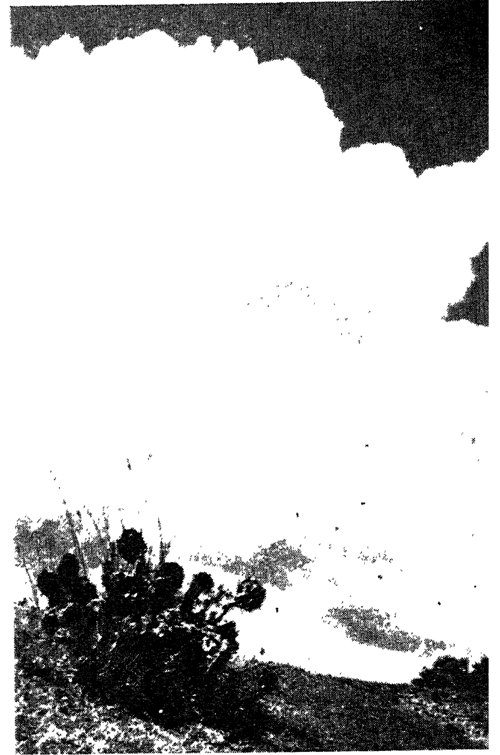
सावन की साँझ







धरती के लाल



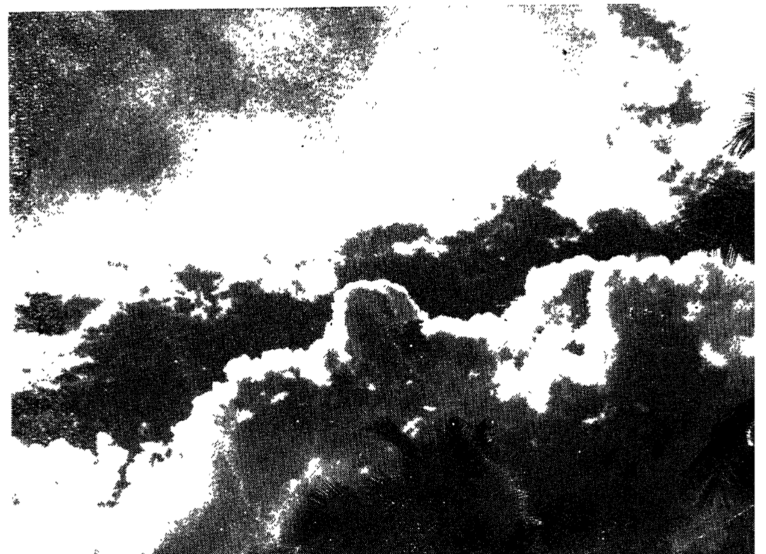
घन गर्जन क्षण

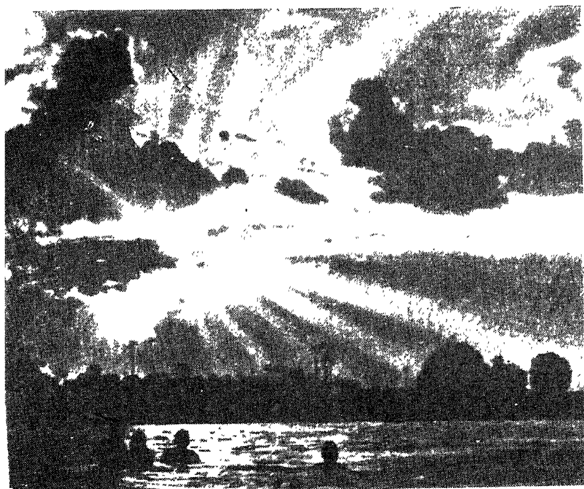
फोटो : विद्यारत्न

सूर्यास्त



गगन हिलोर

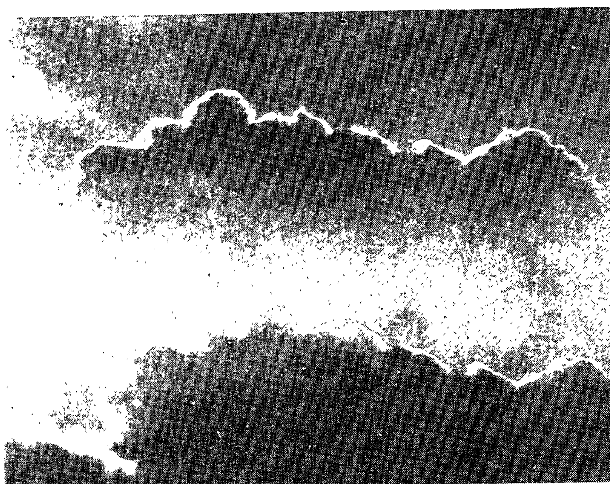




किरण जाल



एकाकी ताड़



कनक रेखाएँ

समवेत गान



वृक्षावलि



गहराइयों में डूब सकती !" साराह यह सोच कर उदास हो जाती कि बेतेवा बिलकुल मूर्ख है। वह रंग भरते-भरते सोचने लगती कि कब वह समय आएगा जब बेतेवा भी कीट्स और शेली के रोमांटिक कविता-संसार में विलीन हो सकेगी। दूसरे क्षण ही उसे विश्वास-सा हो जाता कि धरती पर रेंगने वाले यह कीड़े कभी भी प्रेम की मादक भावना से आनन्द नहीं ले सकते। इनका काम तो बच्चे पैदा करना और मर जाना है।

पन्द्रह-बीस मिनट तक यही क्रम जारी रहता और फिर साराह उसके रोते हुए बच्चे को पैपरमिंट की गोली देकर विदा कर देती। लेकिन बेतेवा खड़ी रहती और प्रार्थनायुक्त स्वर में उससे अपने पापा से सिफ़ारिश करने के लिए कहती, "बीबी, नहीं तो मैं मर जाऊँगी। परमात्मा तुम्हारा भला करे। तुम्हें चाँद-सा बच्चा दे।" साराह को बच्चे के नाम से ही चिढ़ थी। उनसे जीवन का सारा रोमान्स समाप्त हो जाता है। इसे वह बुरे किस्म की प्रतिक्रियावादी गाली समझती। बेतेवा कोई उत्तर न पाकर सिर झुकाए अपने पल्लू से आँसू पोंछती फाटक से बाहर निकल जाती। साराह अपने भविष्य की कल्पना में खो जाती। जब बरगद की टहनियों के पीछे चाँद मुस्कराएगा और बिजली के बल्बों से प्रकाशमान बंगलों से प्यानो की जादुई मधुर ध्वनि वातावरण में मिलकर एक विचित्र समाँ बाँधेगी और वह स्टूडी बेकर में अपने प्रेमी के पहलू में बैठी 'मेराबली' जा रही होगी, जिसके बाग़ में गहरे नीले और लाल रंग के फूल खिले होंगे और वह अपने प्रेमी के सिगरेट के धुएँ, सुगन्धित श्वास और आरकेस्ट्रा की धुन में अंग्रेज़ी गीत गाया करेगी और खुशी से विभोर होकर नाचा करेगी।

साराह के कमरे में सुन्दर जिल्दों वाली बड़ी-बड़ी पुस्तकें थीं, जिन के नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखे थे। वह घण्टों अपने कमरे या इंडिया काफ़ी हाउस में दर्शन, जीवन, साहित्य, समाजवाद और शान्ति सम्मेलन पर विवाद किया करती। अंग्रेज़ी फिल्मों पर समालोचना उसकी 'हाबी' थी। वह अंग्रेज़ी में कविता करती थी जिसमें अधिकतर फ्रांसीसी शब्द प्रयोग में लाए जाते थे। उसकी कविताएँ देश की उच्चकोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर सर्वप्रिय हो चुकी थीं। उसे इस बात का गर्व था कि वह कई अंग्रेज़ी शब्दों का उच्चारण फ्रांसीसी स्वर में कर सकती है। वह कहा करती कि इंग्लैंड में एक समय ऐसा भी था कि फ्रांसीसी जानने वाले भद्रलोग अधिक सभ्य समझे जाते थे और समाज में उनका सम्मान बढ़ जाता था। वे फ्रांसीसी सीखने के लिए ख़ास तौर पर पैरिस के होटलों, कैफ़ों और वेश्याघरों में घूमते थे और इंग्लैंड की सोसाइटी गर्ल्स उनके इन्तज़ार में अपनी कई शामें वीरान कर देती थीं।

कभी-कभी साराह की कविता में लाल रंग झलकने लगता। चित्रकारी में उसे लाल रंग सबसे अधिक पसन्द था—रक्त की भाँति गाता, नाचता, उबलता रंग उसके चित्रों पर फैला रहता था लेकिन जब से उसकी मित्रता एक भूतपूर्व अमेरिकन सारजेंट से हुई यह रंग हलका होते-होते गुलाबी पड़ गया और फिर बिलकुल गायब हो गया। एक बार अमेरिकन सारजेंट ने उसके सुनहरे बालों में लगे हुए लाल फूल से खेलते हुए उससे शिकायत की थी कि तुम्हारी कविता और चित्र में लाल रंग बहुत उभरा हुआ है। मुझे इस रंग से सख्त घृणा है। साराह ने अमेरिकन प्रेमी की छाती पर सिर रखते हुए कहा—"डार्लिंग, तुम्हें मेरे गुलाबी ओंठ और क्षितिज की तरह खिलते हुए कपोल पसन्द हैं ?" अमेरिकन सारजेंट ने उसके ओंठों का चुंबन करते हुए कहा—"तुम कितनी सुन्दर हो !" एक क्षण बाद सारजेंट ने साराह के व्यंग्य को महसूस किया। उसके गले में ह्विस्की की कड़वाहट तीव्र हो गई। वह जल्दी-जल्दी घूँट पीते हुए बोला—"तुम नीली-नीली आँखों वाली बिल्ली की तरह शरीर हो।" सारजेंट ने झेंप मिटाने के लिए कहा, लेकिन कड़वाहट कुछ तेज़ ही थी। और साराह हँस रही थी। साराह सारजेंट को नाराज़ नहीं कर सकती थी। उसने अपने भविष्य को उससे सम्बन्धित कर रखा था। उसे सारजेंट के भावों और विचारों का आभास था। वह अब नीले रंग का अधिक प्रयोग करने लगी। उसके चित्रों में नन्हें-नन्हें तारे टूट कर इस तरह जगमगाने लगे जैसे कोई किरण टूट कर सैकड़ों रंग बिखेर गई हो। उस दिन के बाद उसने गली वाली लड़की पर ठहाके लगाने शुरू कर दिए। उसने एक कविता भी लिखी, "एक लड़की"। इसी नाम से उसने एक चित्र भी बनाया। इस चित्र को बनाने में उसने दिन-रात एक कर दिया। यह चित्र इसका मास्टरपीस था—एक लड़की सख्त चट्टान पर खड़ी अपने हाथ फैलाए सितारों के जमघट में कूदने का असफल प्रयत्न कर रही है। शायद वह इससे भी आगे किसी और संसार में जाना चाहती है। लेकिन उसके हाथ हवा में फैले ही रह गए। उसकी दृष्टि शून्य में खो गई। चट्टान के नीचे ठाटें मारता हुआ समुद्र बह रहा है। लड़की की ज़रा-सी गफ़लत उसे समुद्र की तह में पहुँचा सकती है। इस चित्र पर उसे प्रदर्शनी में पुरस्कार भी मिला था। उसका पहला चित्र अधूरा ही रह गया था। जब दूसरे दिन बेतेवा आई तो उसने एक रुपया उसके हाथ में देकर विदा करते हुए कहा—"अब अपने चित्र के लिए तुम्हें आने की आवश्यकता नहीं।" बेतेवा ने रुपया वापस करते हुए कहा—"मुझे रुपया नहीं चाहिए। तुम्हारा जी खुश हो जाए। मेरी झोली भर जाएगी। ज़रा पापा से मेरी सिफारिश कर दो। पापा तुम से बहुत प्यार करते हैं।" साराह रोज़-रोज़ के इस मूर्खतापूर्ण अनुरोध से तंग आ चुकी थी। वह वैसे ही उदास बैठी रही, क्योंकि उसका अमेरिकन प्रेमी अपने देश वापस जा रहा था। वह भी उस के साथ अमेरिका जाना चाहती थी। वहाँ वह उसके साथ विवाह करके अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी। लेकिन सारजेंट उसे अपने साथ न ले जा पा रहा था। साराह ने गम्भीर स्वर में बेतेवा को बताया—"देखो बेतेवा, पापा स्वयं इन मामलों में बेबस हैं। तुम्हारे बाप ने उस पर तुम्हें अपहरण करने का दावा कर रखा है। जब तक यह अभियोग झूठा सिद्ध नहीं हो जाता, उसे हवालात में रहना पड़ेगा। कानून का पालन करना हर नागरिक का कर्त्तव्य है।" साराह यह कह कर चली गई। बेतेवा ने उसके पाँव पकड़ने चाहे लेकिन वह अपने कमरे में जा चुकी थी। प्यानो के उदास स्वर में उसकी सिसकियों की आवाज़ घुल गई थी। वातावरण में उदासी थी।

बेतेवा कुछ देर ख़ामोश रही और फिर वह फाटक से निकल कर झाड़ू सँभाल कर डगमगाते क़दमों से वापस चली गई। वह दरतों अपनी नंगी छातियों का प्रदर्शन करती रही, लेकिन फिर भी अपने प्रेमी को रिहा न करा सकी। उसे साराह पर असीम क्रोध आ रहा था। वह चाहती थी कि अपने चित्र के टुकड़े-टुकड़े कर के नाली में फेंक दे। उसे यह चित्र नहीं चाहिए। वह चाहती थी कि साराह का गला घोंट दे या उसको सेंट जार्ज चर्च की बुलन्दी से नीचे गिरा दे। लेकिन वह विवश थी, बेबस और लाचार थी। साराह दूसरी मंजिल से उस के चित्र को फ़ाड़ कर हवा में उड़ा रही थी। दूसरे ही क्षण साराह अपने कुशन को आँसुओं से भिगो रही थी। उसकी सब आकांक्षाएँ और तमन्नाएँ मन्दिरों में बजती हुई घंटियों की ध्वनि के साथ आकाश में गुम हो गई। इतने में जमादार बेतेवा को गालियाँ देता हुआ गली में पहुँच गया। "इस हरामी को लिए कहाँ घूम रही हो ? अभी तक मैला नहीं कमाया!"—जमादार अपनी गरज़दार आवाज़ में बोला। "साफ़ तो कर चुकी हूँ!" बेतेवा ने आवाज़ में कठोरता पैदा करते हुए कहा। आज वह लड़ने पर आमादा थी। आज से पहले वह जमादार की गालियाँ सिर झुकाए सुन लिया करती थी। "और यह क्या है ? तुम्हारी⋯" जमादार ने मिट्टी के ढेले से ढेर की ओर संकेत करते हुए गाली दी।

"जमादार !" बेतेवा की आँखें सुलग उठीं और झाड़ू पर उसकी पकड़ मज़बूत हो गई।

"चालान करना है तो कर लो। गाली मत बको। इस गली के लोग ही गंदे हैं। इधर साफ़ करो, उधर फिर कूड़ा।" बेतेवा ने झाड़ू उठाई और चलने लगी। जमादार बेतेवा की सख़्त कलामी से चौंक पड़ा। उस ने स्वर में नम्रता पैदा करते हुए कहा।

"तुम तो अपनी दुश्मन हो जाती। ऐसे ही इस निखट्टू के लिए अपनी जवानी गँवा रही हो।" जमादार की आँखों में चमक प्रगट हुई। लेकिन बेतेवा उसे झाड़ू से धकेलती हुई आगे निकल गई। "साली देख लेना, जो उस बदमाश को सात साल चक्की न पिसवाई तो अपने बाप का न कहना।"

जमादार कह रहा था। बेतेवा ने उसकी बातों पर कोई ध्यान न दिया और वापस चली गई।

२

अंधकार बढ़ रहा था और गली का दृश्य भयानक हो रहा था। पीला, रोगी-सा चाँद साराह के मकान की ओट में झाँकने लगा और मुझे याद आया कि सेठ जी के घर जाने में देर हो गई है। फ़ज़लदीन के आते ही मुझे सेठ जी के घर जाना पड़ता है। जहाँ लगातार दो घंटे उनकी दूसरी पत्नी सरस्वती की बुद्धिहीनता का शिकार बनना पड़ता है। सेठ जी रूई के व्यापारी हैं। साहित्य कला इत्यादि से उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं है। उनकी आयु पचास के लगभग होगी। वह दिन-रात इसी ग़म में रहते हैं कि किसी प्रकार उनके दो लड़के हो जाएँ तो रूई का तमाम कारोबार सँभाल लें। आख़िर मुनीमों पर कब तक भरोसा किया जा सकता है। दुर्भाग्य से उनकी पहली पत्नी से केवल लड़कियाँ ही हुई थीं। उनकी पहली पत्नी की आयु भी पैंतीस के ऊपर ही होगी। जो मनुष्य बिना सन्तान के मर जाए वह नर्क का भागी बनता है। सेठ जी धर्म कर्म के पूरे पाबन्द थे। वह नहीं चाहते थे कि प्रतिदिन प्रातः एक साधु को खाना खिलाने के बाद भी स्वर्ग के अधिकारी न बनें। इसलिए उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। सेठ जी का भाग्य खुल गया। उनके यहाँ गोल-मोल गोरा सा लड़का पैदा हुआ। सेठ जी दुबले-पतले काले रंग के थे। वह सुन्दर-सा बच्चा पा कर खुशी से फूले न समाते थे। अब वह भगवान से यही प्रार्थना करते रहते थे कि एक लड़का और हो जाए तो वह किसी तपोवन में कुटिया बना कर तपस्वी हो जाएँ और भगवान के भजन में अपना हीरा जन्म सफल बना लें।

सरस्वती हिन्दी की विद्याविनोदनी की परीक्षा अच्छे नम्बरों से पास कर चुकी थी और उर्दू में थोड़ी बहुत सुद्ध-बुद्ध रखती थी। वह एक ही समय में दो पत्रिकाओं—'अप्सरा' और 'हूर' का सम्पादन करती थी। मेरा काम उसके हिन्दी लेखों की नोक-फलक ठीक करके उर्दू में अनुवाद कर देना और सम्पादकीय लिखना था। दोनों पत्रिकाएँ प्रेम की उत्तेजनापूर्ण कहानियों, भावुक कविताओं और हार-श्रृंगार के आधुनिक फ़ैशन के विवरण के आधार पर देश भर में लोक-प्रिय हो चुकी थीं। स्कूल की लड़कियों की ये रुचिकर पत्रिकाएँ थीं। खाते-पीते घरानों की स्त्रियाँ भी इन पत्रिकाओं से हाज़मे की दवा का काम लेती थीं और रजिस्टर्ड नम्बर से लेकर अन्तिम विज्ञापन तक पढ़ जाती थीं, जिसमें एक छोटी-सी शीशी से नन्हें-नन्हें बच्चे भाप की तरह निकलते दिखाई देते। पत्रिका के ग्राहकों को बढ़ाने के लिए हमने प्रश्नोत्तर का स्तम्भ भी शुरू कर रखा था जो काफ़ी लोकप्रिय हुआ। इसी स्तम्भ में दिल धड़कने, नींद न आने और बाज़ार में ख़रीद-फ़रोख़्त करने तक प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दिया जाता था। इस सब काम के लिए मुझे साठ रुपए प्रतिमास मिलते थे। और काम यह था कि जो जी में आए लिख दो। मुझे इस गली में आए हुए छः महीने बीत गये और उसी दिन से इन दो सर्वप्रिय पत्रिकाओं में काम कर रहा हूँ। इन पत्रिकाओं की सराहना में हमें सैकड़ों पत्र मिल चुके हैं, जिससे हमें प्रोत्साहन मिलता है। और हम इन्हें अधिक से अधिक रंगीन बनाने की कोशिश करते हैं। कई बार स्कूल की लड़कियाँ ऐसे विचित्र प्रश्न पूछ बैठती हैं कि मैं डर से काँप जाता हूँ।

३

आज इतवार है और हर इतवार को मुझे निश्चित समय से एक घण्टा पहले जाना पड़ता है। लेकिन आज देर हो गई। मैंने वस्त्र पहने और सेठ जी के घर पहुँच गया। सेठ जी हर इतवार को अपने मित्र विधिचन्द के यहाँ हिसाब-किताब चुकाने जाते थे और मित्र के अनुरोध पर वहीं सो जाते थे। स्टेनले रोड पर स्थित सेठ जी का दोमंजिला मकान रात को बहुत सुन्दर दिखाई देता था। जब भी रेशमी पर्दों से प्रकाश की किरणें छन-छन कर कोलतार की सड़क पर पड़तीं तो सड़क जगमगा उठती थी। इस मकान में पहुँच कर मैं एक क्षण के लिए अपनी प्यारी गली को भूल जाता हूँ। मेरे देर से जाने

पर सरस्वती ने बाज़पुर्स की। मैंने अपनी परेशानी और मानसिक उलझनों के कारण बताने शुरू किए तो वह हँस पड़ी, "साहित्य तो मनोरंजन के लिए लिखा जाता है, भावों में हलचल पैदा करने के लिए। लेखक नैतिक प्रोपेगेंडिस्ट नहीं। यदि नीति शास्त्र ही पढ़ाना हो तो मन्दिरों और मस्जिदों में जाना चाहिए।" मेरा मस्तिष्क सरासर विद्रोह करने पर तुला हुआ था और मैं पेन्सिल लिए मेज़ पर झुका रहा और सरस्वती अपनी नई कविता सुनाती रही—

"चाँद की शीतल किरणें—हम दोनों एक—" घड़ी ने दस बजाए और उसकी आँखों में नींद झाँकने लगी। उसने बोझिल आँखों से मेरी ओर देखा और सोई हुई अँगड़ाई लेकर विदा कर दिया। मैं चाहता था कि यह अंक प्रकाशित करके हमेशा के लिए छुट्टी ले लूँ। इसलिए देर तक काम करना चाहता था। लेकिन वह मुझे आज जल्दी छुट्टी देना चाहती थी। मैं वापस चला आया।

स्टेनले रोड जाग रही थी। आकाश पर तारों का जाल फैला हुआ था। मैं अपने वीरान कमरे की कल्पना से ही उदास हो गया। और आज तो मिट्टी का तेल भी ख़त्म हो चुका था। मैं अनायास क्रिश्चियन सिमेट्री की ओर चल पड़ा। आज कई मास बाद मैं यहाँ आया था। सिमेट्री का शान्त और निस्तब्ध वातावरण आत्मा को शान्ति प्रदान करता है। सिमेट्री में सैकड़ों नई और पुरानी कब्रें थीं जिन पर मरने वालों के सम्बन्धियों और मित्रों ने उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्यार भरे शब्दों में अपने दुख को प्रगट किया था। पुरानी कब्रों पर मुरझाए हुए फूलों और पत्तों की बनी हुई सलीबें पड़ी थीं। कई कब्रें सुन्दर थीं, कई टूटी हुई और कई तो केवल मिट्टी का ढेर थीं। कब्रों का निरीक्षण कर, मरने वालों की सामाजिक हैसियत का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। कब्रिस्तान से एक फर्लांग के फ़ासले पर धीरे-धीरे यमुना बह रही थी। इन रातों में यह दृश्य ऐसा मालूम होता था जैसे समस्त सृष्टि सुख की नींद सो रही हो। मैं कब्रिस्तान की दीवार पर ख़ामोश बैठा रहा। मेरे अतिरिक्त वहाँ कोई ज़िन्दा आदमी न था। मुझे आशा थी कि ऐंग्लो इंडियन जज अपनी प्यारी माँ की कब्र पर फूल चढ़ाने के लिए अवश्य पधारेंगे। उन्हें अपनी माँ से बहुत स्नेह था और वह हर इतवार को शाम से ही कब्रिस्तान की ओर पैदल रवाना हो जाते थे और रात वहीं प्रार्थना में व्यतीत करते थे। आज भी वह इसी इरादे से घर से निकले थे। मालूम नहीं अभी तक यहाँ क्यों नहीं पहुँचे। कब्रिस्तान में केवल क्लाक की आवाज़ ही हर आध घंटे बाद उसकी निस्तब्धता को तोड़ती थी। मैं कई घंटे निस्तब्ध और मौन बैठा रहा। मेरे मस्तिष्क में कोई विचार नहीं था। मैं भूल गया था कि कब्रिस्तान में रात को भूत नाचा करते हैं। इतने में कब्रिस्तान की ख़ामोशी में हल्का सा कंपन पैदा करती सिसकियों की आवाज़ आने लगी। कुछ क़दमों पर ताड़ के वृक्ष के नीचे कोई साँवली लड़की फूलों की कोमल पत्तियाँ लिए घुटनों के बल बैठी थी। मैं कुछ क्षण तक उसे देखता रहा। चाँद वृक्षों की पत्तियों के पीछे से उस पर प्रकाश की किरणों के जाल बुन रहा था। मैं धीरे धीरे क़दम उठाता उस के पास जा कर बैठ गया। उसके कपोल पर आँसू मोतियों की तरह चमक रहे थे। वृक्षों के सूखे हुए पत्तों पर क़दमों की हल्की सी आवाज़ से वह चौंक पड़ी। उसकी आँखों में भय की हल्की सी लहर उठी जो दूसरे क्षण ही वेदना की गहरी रेखा में डूब गई। मैंने अनायास उस के सिर पर हाथ रख दिया। वह रो रही थी। सहानुभूति के कुछ शब्द सुन कर उसका दर्द पिघल गया और वह कहने लगी :

"मैं रीटा हूँ—रीटा—मैं एक निर्धन नर्स हूँ। माँ-बाप के स्नेह से वंचित। एक दिन ऐसी ही चाँदनी रात में जब गिरजे के क्लाक ने बारह बजाए, मैं यहाँ आई। मैंने अपनी माँ की कब्र के पास सफ़ेद कपड़े में लिपटा हुआ नन्हा सा चाँद का टुकड़ा पाया। जो आज इस कब्र में सो रहा है। लोगों ने मुझ पर लांछन लगाए, लेकिन मैंने इस अबोध बालक के लिए सब कुछ सहन किया। एक दिन वह बीमार पड़ गया। मैं एक रोगी की सेवा में व्यस्त थी जो मृत्यु और जीवन के संघर्ष में हाथ-पैर मार रहा था। जब मैं घर पहुँची तो मेरे नन्हे का शरीर ठंडा हो चुका था। मेरे गालों की गरमी और मेरे ओंठों की तपिश भी उस के मृत शरीर में हरकत पैदा न कर सकी। मुझ से मेरी ज़िन्दगी छीन ली गई—"

लड़की भावुक हो रही थी, "उस के नन्हे-नन्हे हाथों का स्पर्श मेरी बेज़ार ज़िन्दगी में बिजली की लहर दौड़ा देता था।" साँवली लड़की मेरा हाथ थाम कर रोने लगी। उस के गरम-गरम आँसू मेरे हाथों पर गिर रहे थे और वह लगातार रोए जा रही थी। मेरा दिल भर आया। लेकिन मैं रो नहीं सकता था और उसका दुख से आतुर चेहरा भी नहीं देख सकता था। मालूम नहीं कब वह लड़की मेरा हाथ छोड़ कर चली गई। कब्र पर फूल की पत्तियाँ बिखरी पड़ी थीं। शायद मरने वाले बच्चे के लिए उस लड़की का अन्तिम उपहार था। उस के हृदय की तरह कोमल और सुन्दर और उस के बच्चे की तरह प्यारा प्यारा सा। मैंने कब्र पर झुक कर इन कोमल पत्तियों को चूम लिया।

मैं उदास और लज्जित कब्रिस्तान से वापस लौट आया। रास्ते भर मुझे सड़कों पर भयानक भूत नाचते दृष्टिगोचर होते रहे और मैं सर्दी से काँपता रहा। सड़क की बिजली के अतिरिक्त सब रोशनी बुझ चुकी थी। मकानों के अन्दर अँधेरा था। फुटपाथ पर सोये हुए मनुष्य धरती पर उभरे हुए फोड़ों की तरह दिखाई दे रहे थे। जब मैं गली में मुड़ा तो एक परछाईं सेठ जी के घर से प्रगट हुई। परछाईं सिमटती गई। लैम्प के प्रकाश में वह परछाईं एंग्लो इण्डियन जज बन गई। परछाईं मोड़ पर गायब हो गई। मुझे पहली बार इस रोगी लैम्प के महत्त्व का पता चला। इस के साथ ही बूढ़े फ़ज़लदीन की सेवा भी याद आ गई। दुर्गंध की एक तेज़ लपट ने मुझे नाक पर रुमाल रखने पर विवश कर दिया। कूड़े-करकट के ढेर ऊँचे होते हुए पहाड़ बन रहे थे। नालियों का गंदा पानी विष की नदी बन कर तेज़ी से बह रहा था। चमगादड़ उसी बेक़रारी की अवस्था में चक्कर काट रही थी। छिपकलियों की आवाज़ विचित्र शोर पैदा कर रही थी। काश कि चाँद की चाँदनी इस अँधेरी गली को धो दे और इस पर सितारों की रुपहली छाँह पड़ जाए। लेकिन यहाँ पूर्ण अंधकार था। मैं अपने

उजड़े घर में दाख़िल हुआ और लेट गया। विचित्र भयानक स्वप्नों ने नींद हराम कर दी। ऐसा मालूम होता था कि कमरे की दीवारें एक दूसरे के निकट आती जा रही हैं और मैं उन में पिसा जा रहा हूँ। मेरे ऊपर छत गिर रही है, दीवारें काँप रही हैं और यह ढाँचा चटाख़ कर के टूट जाएगा।

लैम्प की लौ वायु के तेज़ झोंकों में टिमटिमा रही थी। दूसरे दिन फ़ज़लदीन लैम्प जलाने के लिए आया। साँवली लड़की तेज़ क़दम उठाती गली में आई और जल्दी से गुज़र गई। मुझे उसके चेहरे की रेखाओं में और रीटा के चेहरे में बहुत समानता प्रतीत हुई। इतनी गहरी समानता मैंने जीवन में पहली बार देखी थी। लेकिन रीटा की आँखों में दीनता और बेबसी फैली हुई थी और यह लड़की अपने दुख के बावजूद भी विश्वास और साहस का आँचल थामे हुए थी। यह लड़की रीटा का बदला हुआ रूप थी या शायद रीटा ही थी जिसे मैं रात के अँधेरे में न पहचान सका था। आज साराह ने ठहाके भी नहीं लगाए। वह उदास थी और अपने हाथों से चेहरा थामे लान पर बैठी थी। मैं सेठ जी के मकान में चला गया। सेठ जी अपने कमरे में मदिरा पान कर रहे थे क्योंकि एंग्लो इण्डियन जज ने उन्हें चोरबाज़ारी के एक अभियोग में बरी घोषित कर दिया था। सरस्वती खुश नज़र आती थी। मैं नौकरी छोड़ने का संकल्प कर चुका था।

मैंने सेठ जी के घर में प्रवेश करते ही नौकरी छोड़ने का इरादा प्रगट कर दिया। सरस्वती के चेहरे पर शंका के चिन्ह प्रगट हुए। उसने व्यंग्यात्मक हँसी से मेरे विचारों का उपहास किया और जब मैंने अपने विचारों की व्याख्या की तो वह चौंक पड़ी। उसके कमरे में हालीवुड की अभिनेतारिकाओं के अर्धनग्न चित्र मुस्करा रहे थे। इत्र में बसे हुए चकाचौंध कमरे में मेरा दम घुटा जा रहा था। सरस्वती ने समस्या पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया। वह कहने लगी, "मालूम होता है कि उस लड़की ने जादू कर दिया है। मालूम नहीं वह लड़की कितने लोगों को बहका चुकी है।" सरस्वती ने धमकी और लालच से काम लिया लेकिन विद्रोही आत्मा पुराने पिंजरे में फिर से बंदी होना स्वीकार नहीं कर सकी। सरस्वती एकदम चारपाई पर गिर पड़ी और उसने चीख़ना शुरू कर दिया। मैंने समझा उसे दौरा पड़ गया है, क्योंकि उसे प्रायः ऐसे दौरे पड़ा करते हैं। और वह इसी तरह भयानक चीत्कार करती है। ज्योंही मैं उसे सम्हालने के लिए उस पर झुका ही था कि सेठ जी कमरे में दाख़िल हुए। मैंने बात करने के लिए ओंठ खोले ही थे कि सरस्वती ने रोते-रोते सेठ जी से कहना शुरू किया—"इसने मेरी इज़्ज़त पर हाथ डालना चाहा है यदि आप समय पर न आ जाते तो......।" उसने सेठ जी की भीतर धँसी हुई छाती पर अपना सिर रख दिया और अपने आँचल से आँसू पोंछने लगी जो बह नहीं रहे थे। सेठ जी क्रोध से बेकाबू हो रहे थे। शराब के नशे में चूर सेठ जी काँप रहे थे। शराब की गंध के भभके उनके मुँह से निकल रहे थे। मैंने अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहा लेकिन मेरी आवाज़ सेठ जी की गालियों और सरस्वती की कृत्रिम सिसकियों में डूब गई। सेठ जी ने एंग्लो इण्डियन जज को बुला भेजा। जज घबराए हुए आए। लेकिन सरस्वती ने गुप्त मुस्कराहट से उनके मुँह में ज़ुबान दे दी। उन्होंने मामले की गम्भीरता पर विचार करते हुए फ़रमाया कि ऐसे बदमाश आदमियों से मुहल्ले की नैतिकता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ने का अंदेशा है। मुहल्ले की बहू-बेटियों के सम्मान का मामला है। वास्तव में सबके सम्मान का मामला था। इसलिए सबके प्रस्ताव के अनुसार मुझे २४ घण्टों के अन्दर कमरा ख़ाली कर देने की आज्ञा मिल गई। और यदि मैंने इसका उल्लंघन किया तो मुझे भी बेतेवा के प्रेमी के साथ खटमल वाली किसी कोठड़ी में जीवन का कुछ भाग व्यतीत करना पड़ेगा। मैं चुपचाप बाहर चला आया। मुझे कोई गम नहीं था, कोई खुशी नहीं थी, कोई अनुभूति नहीं थी। मैं कुछ सोच नहीं रहा था, कुछ महसूस नहीं कर रहा था।

४

बीस घंटे गुज़र चुके थे। सेन्ट जार्ज चर्च के क्लाक ने छः बजाए और बूढ़ा फ़ज़लदीन लैम्प जलाने के लिए आ गया। एंग्लो इण्डियन जज मेरी ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देख कर टेनिस खेलने चले गए। बेतेवा की चीखें मुहल्ले के शान्त वातावरण में ख़लल डाल रहीं थीं। उसने एंग्लो इण्डियन जज के पाँव पकड़ने चाहे लेकिन उसके हाथ फैले ही रह गए और जज साहब अपनी कार में क्लब चले गए। साराह अपने लान में बैठी अपनी सखी से कह रही थी, "दूर आकाश पर अस्त होते हुए सूर्य की लाली फैल रही थी जब जहाज़ ने तट को छोड़ा और मैं उस समय तक नन्हे-नन्हे सितारोंवाले झंडे को देखती रही जब तक कि वह दूर जाकर खो नहीं गया।"

मैं चाहता था कि साराह ठहाके लगाए लेकिन वह ख़ामोश थी और किसी फ़िल्म कम्पनी में हीरोइन बनने की सोच रही थी। दाईं ओर के मकान वाली लड़की इक्के में बैठे सेनाटोरियम जा रही थी। उसके आलोकहीन नेत्र शून्य में झाँक रहे थे। उसके पीले चेहरे पर ओंठ काले पड़ गए थे जैसे किसी काले नाग ने डस लिया हो। उसके माँ-बाप की आवाज़ गली में गूँज रही थी—'सुरैया—सुरैया—' लेकिन सुरैया सितारों की महफ़िल से टूट कर अथाह अंधकार में डूब चुकी थी, फिर कभी न उभरने के लिए। फ़ज़लदीन ने लैम्प जलाते हुए मेरे जाने पर शोक प्रगट किया। जब मैंने उसे अपने जाने का समाचार सुनाया और कहा कि भलेमानसों के मुहल्ले में बदमाश नहीं रह सकते तो बूढ़े के हाथ से चिमनी छूट कर भूमि पर गिर गई और चूर-चूर हो गई। उसके दुर्बल पाँव के नीचे से सीढ़ी खिसक गई और वह गिर गया। मैंने लपक कर उसे सँभाला, उसके चेहरे की पिंडली नर्म पड़ गई थी। बूढ़ा फ़ज़लदीन अपनी मैली पगड़ी से आँखों का मैला पानी पोंछते हुए कह रहा था—"भलेमानसों की बस्ती में हम जैसे बदमाशों की गुजर नहीं होनी चाहिए।"

बूढ़े के मुँह से 'हम जैसे बदमाशों' के शब्द सुन कर दिल भर आया। जी चाहता था कि बूढ़े के गले से लिपट कर ज़ोर-ज़ोर से रोऊँ और उसकी सफ़ेद दाढ़ी को अपने आँसुओं से भिगो दूँ।

(शेष पृष्ठ ६१ पर)

नई कविता—नया साहित्य

भगवतीचरण वर्मा

"नई कविता, नया साहित्य !" इस नारे के साथ जिस कविता और साहित्य का प्रचुरता के साथ सृजन हो रहा है, उससे वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि पर जो प्रभाव पड़ा है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। और इसलिए इस नई कविता तथा साहित्य पर अपने विचार व्यक्त करना मेरे लिए अप्रासंगिक न होगा, ऐसा मेरा मत है। बहुत सम्भव है मेरे विचार विवाद का रूप धारण कर लें, पर मुझे इसमें भी सन्तोष होगा, क्योंकि इस विवाद से उन नवीन मान्यताओं का स्पष्टीकरण हो जाएगा जिनसे यह नवीन कविता और साहित्य प्रेरित है।

अपने विचार प्रकट करने के पहले मुझे नई कविता की परिभाषा कर देनी पड़ेगी, क्योंकि 'नई कविता' शब्द का व्यवहार एक विशेष अर्थ में ही किया जा रहा है और वह भी कुछ इने-गिने व्यक्तियों द्वारा ! वैसे आज के दिन लिखी जाने वाली हरेक कविता नई कहला सकती है, पर नई कविता से प्रयोजन उस कविता से है जो नए युग का प्रतिनिधित्व करती है।

यह नया युग क्या है ? इसका रूप कैसा है ? इसमें कितना स्थायित्व है ? नई कविता की समीक्षा करने के पहले इन प्रश्नों का सामने आ जाना स्वाभाविक है।

आज का युग संघर्षों का युग है, आज का युग अनास्था का युग है, आज का युग मानसिक असन्तुलन का युग है। पिछले दो महायुद्धों में जिस विनाश का ताण्डव हुआ है; हत्या, झूठ, विनाश और क्रूरता का जो सार्वजनिक प्रदर्शन दुनिया को देखने को मिला है, उसके फलस्वरूप आज का युग अविश्वास का युग कहला सकता है। जितनी पुरानी आस्थाएँ और मान्यताएँ थीं, वे एकबारगी ही नष्ट हो गई; नितान्त नवीन मान्यताओं और आस्थाओं की स्थापना और विकास में समय लगेगा। और इसलिए आज मानव की विचारधारा में रचनात्मक प्रवृत्ति न रह कर एक प्रकार की विनाशात्मक प्रवृत्ति आ गई है। जो प्राचीन है वह सब झूठा है, अकल्याणकारी है, त्याज्य है—विनाश और विध्वंस से त्रस्त मानव-मनोविज्ञान ने गौण रूप से अथवा स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लिया है। किस नवीन का सृजन हो और किस नवीन की स्थापना सम्भव है, यह विवादग्रस्त है, तथा इस पर अभी दुनिया में बहुत अधिक मतभेद है। इस नवीन का सृजन और इसकी स्थापना वैयक्तिक विकास पर न निर्भर होकर राजनीतिक विचारधारा द्वारा संचालित विभिन्न राज्यों की शासन-व्यवस्था के हाथ में आ पड़े हैं।

नई कविता, जैसा मैं निवेदन कर चुका हूँ, आज के उस युग की प्रतिनिधि कविता है जिसमें चेतन मानव राजनीतिक आधिपत्य से कुण्ठित होकर व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयत्न तो कर रहा है, पर उसका यह व्यक्तिवाद संघर्ष-रत, अनास्था और अविश्वास से भरा हुआ है। वैसे अधिकांश में जो कविताएँ लिखी जा रही हैं या जिस साहित्य का सृजन हो रहा है वे या तो प्रचलित मान्यताओं और आस्थाओं को लेकर लिखी जा रही हैं या फिर राजनीति द्वारा आरोपित नवीन मान्यताओं और आस्थाओं को लेकर लिखी जा रही हैं, पर वे नए युग की मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं इसलिए वे नई कविताएँ नहीं कहला सकतीं—ऐसा नई कविता के प्रवर्तकों एवं आचार्यों का मत है और कम-से-कम मुझे तो इस मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं दीखता, क्योंकि जो सत्य है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

प्राचीन के प्रति विद्रोह और उस प्राचीन के विनाश की प्रवृत्ति आधुनिक कविता के शिल्प तथा उसकी विषय-वस्तु दोनों ही स्थानों में मिलती है। सबसे पहले हमें नई कविता के शिल्प को ही देखना पड़ेगा।

: २ :

कविता का माध्यम अनादि काल से पद्य रहा है, गद्य नहीं—हमें सबसे पहले यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा। यहाँ हमें पद्य और गद्य में जो अन्तर है, उसे समझ लेना पड़ेगा।

पद्य को गद्य से पृथक् करने वाला उसका रूप होता है। जहाँ पद्य में लय और छन्द को प्रधानता मिलती है वहाँ गद्य केवल व्याकरण के सहारे चलता है, लय और छन्द से उसे कोई प्रयोजन नहीं। जितनी प्राचीन कविता है वह पद्य में ही मिलती है, गद्य के माध्यम द्वारा अन्य साहित्यिक कलाएँ विकसित हुई हैं, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि आदि। पर कविता हमेशा से ही पद्य में ही लिखी गई है। लय और छन्द के साथ अनुप्रास, अलंकार आदि न जाने कितनी अन्य चीज़ें कविता के आवश्यक अंग समझे गए हैं।

पर नई कविता में लय और छन्द को निरर्थक समझा गया है, क्योंकि लय और छन्द की मान्यता प्राचीन है और जो प्राचीन है वह सड़ा-गला है, उसे नष्ट होना ही चाहिए। नई कविता का आधार केवल भावना को माना गया है, रूप को नहीं माना गया है। यह कहना गलत नहीं होगा कि जिसे अब तक कविता का शिल्प समझा गया है उस शिल्प का अभाव ही नई कविता का सब से बड़ा शिल्प है। छन्दों और तुकोंवाली कविता को नई कविता के प्रवर्तक केवल तुकबन्दी कह सकते हैं, उसी प्रकार की तुकबन्दी जैसी चूरन के लटके कहने वाले, ख़यालबाज़ या गाँवों के बिना पढ़े लोग कर दिया करते हैं। सम्भवतः छन्द और अनुप्रास के प्रति इसी वितृष्णा के कारण वे कवि लोग जो छन्द लिख सकते हैं, अन्त्यानुप्रास लाना जिनके लिए कठिन काम नहीं है, नई कविता लिखते समय सतर्कता के साथ और चेष्टापूर्वक छन्दों और अनुप्रासों की उपेक्षा करते हैं।

यहाँ कुछ लोग जो नई कविता से परिचित नहीं हैं, यह प्रश्न कर

सकते हैं कि फिर नई कविता में और गद्य में रूप का भेद क्या रह जाता है? उत्तर में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि वे नई कविता का कुछ थोड़ा-सा ध्यानपूर्वक अध्ययन करें और उन्हें भेद स्पष्ट हो जाएगा। जहाँ गद्य में व्याकरण होता है वहाँ नई कविता में व्याकरण को तोड़-मरोड़ा या गायब ही कर दिया जाता है। भावना के अनुसार, बिना विचारों के तारतम्य के नई कविता की पंक्तियाँ छोटी-बड़ी, पूर्ण-अपूर्ण, विराम-कॉमा-डैश आदि से युक्त मिलेंगी। नई कविता केवल भावना का प्रतिनिधित्व करती है, तर्क और विचार शुद्ध भावना के क्षेत्र से अलग हैं और इसलिए नई कविता में इनका कोई स्थान नहीं। गूढ़ से गूढ़ विचार भी भावना की विश्रृंखल अनुभूति के रूप में ही नई कविता में आ सकते हैं। महाकाव्य और खण्डकाव्य तो नहीं नाटक प्रचुरता के साथ इस नई कविता में लिखे गए हैं—यद्यपि नाटकों में विचारों की विश्रृंखलता को दूर रखा गया है, क्योंकि ये नाटक अभिनय के लिए लिखे गए हैं और अभिनय की कसौटी पर विचारों की विश्रृंखलता नितान्त हास्यास्पद साबित होती।

: ३ :

कुछ दिनों तक लय के शिल्प को नई कविता में स्वीकार किया गया, पर लय के शिल्प को स्वीकार करने पर छन्द के शिल्प को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि शिल्प में पूर्णता प्राप्त करने के सिद्धान्त को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता और मात्र लय के शिल्प को स्वीकार करने से कलाकार में शिल्प की कमज़ोरी समझी जाती। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए नई कविता के प्रवर्तकों को लय के शिल्प को भी छोड़ ही देना पड़ा।

इस लय और छन्द के शिल्प को छोड़ने का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है जिसकी ओर दुर्भाग्यवश अभी लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया।

प्रत्येक मनुष्य में कविता है, लेकिन प्रत्येक मनुष्य छन्द नहीं लिख सकता और न लय का ठीक तरह से निर्वाह कर सकता है। ऐसी हालत में लय और छन्द के बन्धनों से कविता को बाँध कर कोटि-कोटि जनों को कवि बनने से वंचित रखना—यह सामाजिक न्याय नहीं है। नई कविता में उस शिल्प का परित्याग कर दिया गया है, जो कुछ इने-गिने लोगों की बपौती (Monopoly) है जिनके कान संगीतमय हैं, जो लय, छन्द एवं अनुप्रास में पारंगत हैं।

हम सब भावना से प्रेरित होते हैं, भावना के वेग में बिना व्याकरण के सोचते हैं, अस्पष्ट और धुँधले विचार हमारे सामने आते हैं। इन भावनाओं और विचारों को शब्दों में लिख देना—व्याकरण सही न हो और जो लिखा है उसमें उलझाव स्पष्ट रूप से दिखे—हरेक पढ़े-लिखे आदमी के लिए आसान काम है। कविता कुछ इने-गिने लोगों की विशेष सम्पत्ति न रह जाए, वह प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति की मुट्ठी में आ जाए—नई कविता के शिल्प में इस बात का ध्यान रखा गया है।

मुझे व्यक्तिगत रूप से तो इस पर कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से अगर मैं इस दृष्टिकोण की निस्सारता पर कुछ कहूँ तो अनुचित न होगा। कविता का ध्येय आत्म-सन्तुष्टि ही नहीं है, कविता मुख्यतः दूसरों के मनोरंजन के लिए लिखी जाती है। वही कविता समाज द्वारा स्वीकृत होगी जो दूसरों का मनोरंजन कर सके। छन्द और अनुप्रास दूसरों के मनोरंजन में कविता के सहायक रहे हैं। आज भी जो कविताएँ जनता द्वारा पढ़ी जाती हैं और प्रशंसित हैं, वे छन्द और अनुप्रास के सहारे ही मनोरंजन करती हैं। हरेक आदमी भावनामय प्राणी है, लेकिन हरेक आदमी कवि नहीं है। कविता कला है और 'कला' शब्द में ही कृत्रिमता का बोध है। यह कृत्रिमता परिष्कार और सजावट की है। इस कृत्रिमता को दूर करने से कविता व्यक्तिगत चीज़ रह जाती है, वह सामाजिक सम्पत्ति नहीं बन सकती। जिस तरह कालिदास, तुलसीदास आदि कवियों की कृतियाँ समाज एवं लोक की निधियाँ बन चुकी हैं।

आज का युग अनास्था, अविश्वास तथा इस अनास्था और अविश्वास द्वारा जनित अराजकता और असंयम का युग है—मैंने माना, पर यह अराजकता और असंयम नियम नहीं है, केवल अपवाद है।

: ४ :

कुछ लोग कहेंगे कि नई कविता पिछले दो महायुद्धों की उपज नहीं है, वह उन महायुद्धों के पहले ही आ गई थी। और उनका कहना ठीक है। वह असंयम और अनास्था जो १९१४-१८ वाले महायुद्ध के पहले यूरोप तथा अमेरिका की कला में दिखती है, वह उन्हीं मानसिक विकृतियों को प्रतिबिम्बित करती है, जिनके कारण पिछले महायुद्ध हुए। केवल इस बात को कह कर कि नई कविता पिछले महायुद्धों द्वारा जनित अविश्वास और अनास्था की उपज नहीं है, वरन् उसके पहले आ गई थी, नई कविता के अन्दर वाले अविश्वास और अनास्था से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अविश्वास और अनास्था की इस कविता को नई कविता का नाम अभी हाल में ही दिया गया है क्योंकि इधर इस कविता के शिल्प की शिथिलता के कारण इस कविता के लिखने वालों की संख्या बेतहाशा बढ़ गई है और चूँकि इस कविता का लिखने से विशेष सम्बन्ध है इसलिए इस कविता के कवि पढ़े-लिखे लोग हैं और उनमें संगठन तथा प्रचार की उपादेयता का ज्ञान है। तो इस कविता के लिखने वालों ने इस कविता को नई कविता मान लिया है।

आज के वैज्ञानिक और वस्तुवादी जगत में भावना को अधिक महत्त्व न देने की प्रथा चल पड़ी है। वैज्ञानिक एवं श्रमिक वर्ग की बात अलग है, स्वयं साहित्यकार विचारक माने जाने में गौरव समझने लगे हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जनता में कविताओं के प्रति प्रेम कम होने लगा। आज का युग गद्य का युग कहलाता है, कविता का युग नहीं। कविता के प्रति जनता की उदासीनता ने नई कविता के विकास में और भी सहायता की। इस वस्तुवादी जगत में जहाँ हर चीज़ का मूल्य सोना-चाँदी से आँका जाता है, साहित्यकारों ने कविता को छोड़ कर गद्य का आश्रय लिया। भारतवर्ष में ही नहीं, दुनिया के किसी भी देश में कविता की पुस्तकों की रायल्टी पर कोई भी साहित्यकार जीवन-यापन नहीं कर सकता। ऐसी हालत में साधना और संयम के साथ कविता पर अथक परिश्रम करने वालों की संख्या

धीरे-धीरे कम होती गई। और जब परिश्रम, संयम, एवं साधना कविता के मामले में नियम न रह कर अपवाद ही बन चुके हों, तब नई कविता को आज के युग की प्रतिनिधि कविता के रूप में स्वीकार कर लेने से भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?

: ५ :

नई कविता के शिल्प पक्ष पर इतना कह लेने के बाद नई कविता के भावना पक्ष पर भी कुछ थोड़ा-बहुत कह देना मैं उचित समझूँगा।

नई कविता में जो कुछ लिखा जाता है वह भी प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध! प्रकृति-वर्णन, मनोविज्ञान, दर्शन, प्रेम, शृंगार—सभी कुछ तो नई कविता में है, पर इन सबका रूप बदला हुआ है। स्वप्न और कल्पना पर नई कविता को विश्वास नहीं, वह तो आज की वास्तविकता से प्रेरित है, वह आज की कुरूपता को चित्रित करने में विश्वास करती है। सौन्दर्य सृजन प्राचीन की परम्परा रही है, इस प्राचीन परम्परा को कुरूपता के सृजन से ही नष्ट किया जा सकता है।

कुरूपता जीवन का उतना ही बड़ा सत्य है जितना सौन्दर्य है, पर अनास्था और अविश्वास की जिस मान्यता को लेकर नई कविता आगे बढ़ रही है वह सौन्दर्य के विनाश को प्रेरित करती है—कुरूपता की सृष्टि द्वारा। और यहाँ मुझ पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि मैं इस नए युग को ही रोग-ग्रस्त समझता हूँ। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, यह युग अनास्था और अविश्वास का युग है, और मैं यह भी मानता हूँ कि यह अविश्वास और अनास्था स्वाभाविक है। समय के साथ मान्यताओं और आस्थाओं का रूप बदला करता है; इन आस्थाओं और मान्यताओं के प्राचीन रूप मिट जाते हैं और उनके नवीन रूप हमारे सामने प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक आस्था और विश्वास के दो पहलू हैं, एक वैयक्तिक पहलू जो अमिट और अक्षय है, दूसरा सामाजिक पहलू जो निरन्तर परिवर्तनशील है। वह जो मिटा है, आस्था और विश्वास का सामाजिक पहलू है, आस्था और विश्वास का वैयक्तिक पहलू कभी नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि वह शाश्वत और चिरन्तन है। आस्था और विश्वास के इन वैयक्तिक पक्षों में से कोई एक पक्ष फिर से सामाजिक पहलू का रूप धारण कर लेगा। मानव शून्य में तो स्थित नहीं रह सकता, उसे स्थित रहने के लिए आस्था और विश्वास का आधार चाहिए।

अनास्था और अविश्वास जीवन का रचनात्मक दृष्टिकोण नहीं, वह केवल ध्वंसात्मक दृष्टिकोण है। दुनिया में इतना व्यतिक्रम और इतनी विकृतियों के होते हुए भी मानव का सत्य एवं संयम पर विश्वास रहा है, इनके प्रति आस्था रही है और इसीलिए मानव सामाजिक प्राणी बन सका तथा वह स्थित है। वैयक्तिक अनास्था और अविश्वास को सामाजिक अनास्था और अविश्वास बना देने से तो समाज का विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। यह अनास्था और अविश्वास समाज स्वीकार नहीं करेगा—नई कविता में यह अनास्था और अविश्वास का दोष स्वयं उसके लिए घातक है।

साहित्य में उसी भावना का स्थान है जो मानव की बुद्धि और बुद्धि द्वारा जनित संतुलन के आधार पर स्थित है। बिना बौद्धिक संतुलन के भावना, भावना न रह कर प्रलाप का रूप धारण कर लेती है। यह जो कविता का शिल्प है, या कहना यह उचित होगा कि यह जो कला का शिल्प है, इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? इस शिल्प के निखार के बिना कोई भी भावना या तो प्रलाप के रूप में सामने आएगी, या फिर भद्दे और निर्जीव नारे के रूप में सामने आएगी। भावना को सजीव, प्राणवान और संयत बनाने का एकमात्र माध्यम है कला का शिल्प।

नई कविता का कला-शिल्प स्पष्ट रूप से निर्बल ही नहीं बल्कि विकृत है और इसलिए नई कविता जनता को आकर्षित करने की बजाय उसमें वितृष्णा और ग्लानि उत्पन्न करती है। आज जो अनास्था और अविश्वास युग में प्रतिबिम्बित है, क्या वह मानव के निर्माण-प्रयत्नों को रोक सकता है? जो शाश्वत सत्य है वह किसी विशेष युग की क्रिया-प्रतिक्रिया से बिलकुल भिन्न है। आधुनिक कविता युग की क्रिया का ही प्रतिनिधित्व करती है, वह सर्वदेशीय और सर्वकालीन सत्य से बहुत दूर है।

वह जो प्राचीन है क्या उसे एकदम नष्ट कर देना सम्भव है? मानव आस्था और विश्वास पर ही स्थित है। और मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता स्वयं किन्हीं आस्थाओं और विश्वासों को लेकर आगे बढ़ी है, ये आस्थाएँ और विश्वास रचनात्मक न होकर विनाशात्मक भले ही हों।

: ६ :

नई कविता का विश्लेषण करते हुए मुझे एक कुरूप और कटु सत्य भी कहना पड़ रहा है, पर यदि मैं उसे न कहूँ तो मेरी बात अधूरी ही रह जाएगी।

भौतिक सभ्यता के इस युग में जहाँ जीवन अत्यधिक व्यस्त है और मनुष्य सुख-सुविधा को जीवन में प्रधानता देने लगा है—नई कविता के पीछे जल्दी-से-जल्दी ख्याति पाने की प्रवृत्ति है, यश-लिप्सा है। यह युग महत्वाकांक्षा का है, लेकिन महत्वाकांक्षा के पीछे जिस लगन और अथक परिश्रम की आवश्यकता है, वह इस युग में बहुत कम मिलती है। सम्भवतः लोगों के पास न इतनी लगन है और न इतना समय है कि वह साधना करें, परिश्रम करें।

साधना और परिश्रम के अभाव की पूर्ति नवीन विचारों से और नवीन शैली से करने की प्रवृत्ति ही इस युग का गुण हो गया है। पर यह नवीनता भ्रामक है—यह केवल अप्रचलित का ग्रहण ही है। समाज में अप्रचलित वही है जो विकृत है और इसलिए यह नवीनता अन्ततोगत्वा विकार का ग्रहण ही है।

कला का क्षेत्र विचार है भी नहीं, कला का क्षेत्र भावना है। और भावना का उदात्तीकरण ही उच्च कला का ध्येय है। भावना को सजीवता प्रदान करना—इसमें साधना की आवश्यकता है, शिल्प के साथ परिश्रम की आवश्यकता है।

नई कविता में बिना परिश्रम यश और ख्याति प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति है, उससे जो वास्तविक कलाकार हैं उन्हें बचने की नितान्त आवश्यकता है। युग बदलता रहता है; आज का अनास्था और अविश्वास वाला युग बदल जाएगा और इस युग के साथ आज जिसे नई कविता कहा जा रहा है वह नष्ट हो जाएगी। जीवित वही कविता रहेगी जो भावना और शिल्प इन दोनों के आधारमूल सत्य पर अवलम्बित है।

आधुनिक भारत की दार्शनिक समस्याएँ

इन्द्रसेन

दर्शन मानव-जीवन की पथप्रदर्शक ज्योति है। जीवन का प्रयोजन और अर्थ समझने के लिए तथा उसे ठीक दिशा में ले जाने और उसका समुचित विकास करने के लिए दर्शन की आवश्यकता होती है, जो इस परिवर्तनशील जगत का ही बोध नहीं कराता, वरन् जीवन के तत्व को भी समझने की दृष्टि देता है। इस प्रकार जीवन के समान दर्शन की धारा भी सतत प्रवाहित होती रहती है। दर्शन शाश्वत जीवन का दर्शन होता है। इस नाते वह नित्य और सनातन तत्व का अनित्य और परिवर्तनशील स्थितियों से समन्वय करता है। दर्शन यदि एकांगी हो तो वह सम्पूर्ण और शाश्वत तत्व को नहीं देख पाता, क्योंकि शाश्वत तत्व एकांगी नहीं होता।

दर्शन जीवन की जाग्रत शक्ति है। इसलिए उसे मानव के सामने प्रतिक्षण आने वाली नई-नई समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। कहा जा सकता है कि यहाँ वर्तमान और परिवर्तनशील तत्वों पर अधिक ज़ोर दिया जा रहा है और शाश्वत या परमतत्व की उपेक्षा की जा रही है। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि परिवर्तनशील और नित्य तत्व में घनिष्ठ सम्बन्ध है तो यह समझने में कठिनाई न होगी कि वर्तमान या परिवर्तनशील स्थिति से होकर ही हम परम और तत्व तक पहुँच सकते हैं। इस प्रकार परम और शाश्वत का परिवर्तनशील वर्तमान से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। और उसका अनुभव करने के लिए हमें ऐसे जीवित दर्शन की आवश्यकता है जो हमारे जीवन को गति और ज्ञान दे। पिछले युग में परम तत्व की जो धारणा थी वह आज के युग में हमारी अधिक सहायता नहीं कर सकती थी।

अस्तु हर पीढ़ी को अपने जीवन-दर्शन का विकास करना चाहिए और फिर उस जीवन-दर्शन से पथप्रदर्शन ग्रहण करना चाहिए। आज सम्पूर्ण मानव जाति अधिकाधिक निकट आ रही है और एकता के सूत्र में बँधती जा रही है। इसलिए मानव मात्र की समस्याएँ समान होती जा रही हैं। लेकिन जिस जाति के दार्शनिक चिन्तन की अपनी परम्परा, विशिष्ट संस्कृति और अपना एक विशिष्ट वातावरण होगा, उसकी अपनी अलग दार्शनिक समस्याएँ भी होंगी और वह उन समस्याओं का समाधान करने का प्रयास भी बराबर करेगी। दीर्घकाल से भारत का अपना विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन रहा है और उस जीवन के अपने एक दर्शन का भी विकास हुआ है। हमारे यहाँ अत्यन्त मौलिक विचारक भी उत्पन्न हुए हैं। तथा यहाँ चिन्तन का विशिष्ट वातावरण भी है। अतएव यह स्वाभाविक है कि हमारे देश की दार्शनिक समस्याएँ भी अधिकांशतः भिन्न होंगी। ये विशिष्ट दार्शनिक समस्याएँ क्या हैं, यह रोचक जिज्ञासा है और दार्शनिक मस्तिष्क के लिए आवश्यक भी है।

भारत की क्या समस्याएँ हैं और उनका क्या वास्तविक समाधान है, इसका सम्बन्ध इस बात से है कि हम भारतीयों की क्या विशेषता है और क्या स्थिति है। यही हमारी असली स्थिति है और यही हमारे जीवन की आधारशिला है। एक ओर हमारा चरित्र और हमारा व्यक्तित्व, हमारा स्वभाव, व्यवहार, रुचि और आदर्श तथा दूसरी ओर हमारे देश की, हमारे पास-पड़ोस की और बाहरी दुनिया की भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, इन्हीं दोनों बातों से हमारी समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं और उनका समाधान भी होता है। किन्तु सामयिक या वर्तमान समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते समय हमें अपनी दृष्टि शाश्वत की ओर भी रखनी चाहिए अन्यथा वह समाधान काम चलाऊ होगा, स्थायी समाधान नहीं। बाहरी परिस्थितियों या अवस्थाओं को भौतिक तथ्यों के रूप में समझना कठिन नहीं। लेकिन हमारा व्यक्तित्व और स्वभाव जटिल चीज़ है। हो सकता है कि हमारा स्वभाव ऊपर से कुछ और हो तथा अन्दर से कुछ और। ऊपरी स्व के अन्दर हमारा एक दबा हुआ स्व भी हो सकता है, जिसकी मान्यताएँ बिलकुल भिन्न हों। ऐसी दशा में छिपे हुए स्व की प्रेरक शक्तियाँ वर्तमान या ऊपरी स्व को बहुत कुछ उपलब्ध न होंगी। परन्तु जीवन में वास्तविक कार्य या सृजन तो तभी किया जा सकता है जब अपनी समग्र शक्तियों को बटोर कर निर्दिष्ट लक्ष्य या कार्य में लगाया जाय। इसके अलावा वातावरण का भी वास्तविक अर्थ और स्वरूप हमारे स्वभाव से ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार स्व का दोहरा महत्व है।

राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ राष्ट्रीय सरकार बनी। हमें अपना पथ स्वयं निर्दिष्ट करने की शक्ति प्राप्त हुई और आत्मविकास का अवसर मिला। लेकिन अब भारतीय जनता का वह कौन सा स्व है जो कार्य-प्रवृत्त होगा, जो आत्मानुभूति कर आत्मसंतोष का लाभ पाएगा? स्वतंत्रता के बाद से राष्ट्रीय आत्मा और स्व की खोज के प्रयत्न चारों ओर से आरम्भ हो गए हैं। लेकिन यह खोज कर लेना कुछ सरल नहीं है। गत ३० वर्षों के स्वाधीनता संघर्ष काल में हमारा एक विशिष्ट स्व विकासोन्मुख हुआ है। क्या वही हमारा प्रतिनिधि स्व है? या हम अपने समूचे ऐतिहासिक अस्तित्व पर दृष्टिपात करें, विशेष रूप से उन कालों के स्व पर जो हमारे सर्वाधिक सर्जनात्मक काल रहे हैं और जिन्होंने हमें संदेश के लिए जीवन के सतत आदर्श प्रदान किए हैं तथा अधिक सतत स्व की खोज के लिए प्रेरित किया है। जैसा गीता में कहा गया है स्वभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस कथन के अनुसार आधुनिक भारत के स्वभाव की खोज आधुनिक भारत की सबसे महत्व-पूर्ण सांस्कृतिक समस्या है।

ज्यों-ज्यों आधुनिक भारत के स्वभाव को समझते जायेंगे त्यों-त्यों

हम अपनी छिपी हुई गहरी अन्तर्प्रवृत्तियों का उपयोग कर सकेंगे। यह उपयोग हमारी सर्जनात्मक शक्ति को बढ़ाएगा। फलतः, हमें अपने कार्यों द्वारा पहले से अधिक आत्मसन्तोष होगा।

स्व की जिज्ञासा राष्ट्रव्यापी है। परन्तु, देश के वातावरण में इस जिज्ञासा के विरुद्ध भी कुछ शक्तियाँ काम कर रही हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं: "दूसरे क्या कर रहे हैं?" "आधुनिक जगत में क्या करना आवश्यक है?" "हमें प्रगतिशील होना चाहिए।" "सफलता क्या है?" "हम दूसरों से पिछड़े न रहें।" ये सब सामान्य चीज़ें हैं। इनके प्रभाववश हम कार्यप्रवृत्त होते हैं। ऐसी दशा में स्वभावतः ये प्रवृत्तियाँ हमारे प्रयत्नों-प्रयासों की गति-दिशा का निर्देशन भी करती हैं। परन्तु जिस हद तक हम इन सामान्य प्रवृत्तियों के निर्देशन द्वारा अपनी गति-दिशा का निर्धारण करते हैं उस हद तक हम अपने आपको आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित रखते हैं। ऐसा करने से हमारे प्रयत्न गहराइयों को छू पाने की बजाय ऊपरी सतह तक ही सीमित रह जाते हैं। जीवन उन्नत नहीं हो पाता। हम उचित ढंग से तभी काम कर सकते हैं जब होश-हवास में हों, हम पर कोई बाहरी ज़ोर या दबाव न हो। हम अपने स्वभाव को समझते हों। हमें अपने निश्चय करने का अधिकार आप हो। जब ये सारी बातें हों तब हमें यह तय करना चाहिए कि हमें अमुक कार्य करना है।

आजकल हमारे देश में अनेक राष्ट्रीय योजनाओं पर काम चल रहा है। उदाहरण के लिए इन योजनाओं में सन्निहित अन्तर्प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना काफी रोचक होगा। इन योजनाओं को बनाने वालों ने दो बातों का स्थूलतः ध्यान रखा है। एक तो यह कि उस क्षेत्र में अन्य देश क्या कर चुके हैं और दूसरे यह कि लोगों में नागरिक भावना के प्रति कितनी सजगता है। योजना बनाने वालों के ये अत्यन्त साधारण कार्यप्रवृत्तकारी तत्व हैं। ये योजनाएँ कुछ अंशों में भारतीय जनता की परम्परागत निस्स्वार्थता और सेवा की भावना पर राष्ट्रीय विकास की लक्ष्य प्राप्ति के लिए निर्भर करती हैं। उत्तरोक्त वृत्तियों के कुछ मौलिक भारतीय आदर्श हैं, जबकि पूर्वोक्त बातों का आधार साधारण स्वार्थ है।

प्रजातन्त्र और राजनीति ने स्वतन्त्रता के बाद से हम पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। सामान्यतः इन दोनों का समन्वय भी सन्तोष-जनक है। परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह समन्वय स्वतन्त्र ढंग से हुआ है। इस समन्वय का पुरानी और इससे मिलती-जुलती उन गहरी प्रवृत्तियों के साथ मिश्रण होना आवश्यक है जो हमारे स्वभाव में गहराई से जड़ पकड़ चुकी हैं। अभी तक यह नहीं हो पाया है। कहा जा सकता है कि समय के साथ राष्ट्रीय जीवन में भी प्रौढ़ता एवं सुचारुता आती जायगी। लेकिन यदि हम चाहें तो वांछित प्रौढ़ता और सुचारुता अपेक्षाकृत जल्दी भी आ सकती है। इसका उपाय यह है कि हम अपनी छिपी हुई राजनीतिक प्रवृत्तियों को मुखरित करें, उनको चिन्तन और अभ्यास द्वारा सशक्त बनायें जिससे उसमें वर्तमान के सर्वोत्तम और अविच्छिन्न तत्व भी घुलमिल जायँ।

हमारे जीवन में कार्य करने वाली उपरोक्त दोनों शक्तियों (प्रजातंत्र और राजनीति) ने धर्म के साथ बड़ी भीरुता से व्यवहार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त शक्तियों ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी पटुता से व्यवस्था की है। लेकिन भारत में धर्म प्राचीनकाल से ही भारतीय जीवन के परिचालन का बड़ा शक्तिशाली तत्व रहा है। धर्म ने भारतीयों से बड़े-बड़े कार्य कराये हैं। किन्तु कालान्तर में जब धर्म का पतन हो गया तो उसका दुरुपयोग भी हुआ। परन्तु कोई भी प्रजातन्त्र, जिसका लक्ष्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो किसी भी ऐसे शक्तिशाली तत्व की सहायता लेने से विमुख नहीं हो सकता जिससे उसके लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान मिले। मानव-मात्र को जिन शक्तियों ने सबसे अधिक प्रेरणा दी है और कार्यप्रवृत्त कराया है, धर्म का उन सब शक्तियों में प्रमुख स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में इस धर्म की दशा बड़ी अस्तव्यस्त रही है। तो क्या हम अपने राजनीतिक और प्रजातांत्रिक जीवन को इस अस्तव्यस्तता से अलग ही रखना चाहते थे यह बात कुछ समझ में नहीं आती। जो भी हो हमें धर्म की अस्तव्यस्तता की समस्या का साहसपूर्ण समाधान खोजना होगा। हमें धर्म के मूलभूत तत्वों को समझना होगा। इसके उपरान्त राजनीति और धर्म के बीच खड़ी दीवाल को ढहाना पड़ेगा। इस दीवाल के गिरा देने का अर्थ होगा कि हम धर्म की उन समस्त प्रेरक शक्तियों को आत्मसात कर लेंगे जो आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। इसके अनन्तर हम उन शक्तियों को व्यक्ति और राष्ट्र की सेवा में प्रयुक्त कर सकेंगे। हमारी बुद्धि विकसित होगी और जीवन में एकरसता आएगी। हम जिन साधनों से राजनीतिक जीवन और उसकी विभिन्न गतिविधियों को सबल बनाना चाहते हैं उन साधनों को ऐसा करने से विशेषतः प्रेरणादायी शक्तियों को बड़ा बल मिलेगा।

इस समस्या के समाधान की ओर आधुनिक काल के आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है। श्री रामकृष्ण ने अपने महान आदर्श द्वारा दिखला दिया था कि हर धर्म में ईश्वरानुभूति और ईश्वर प्राप्ति के रास्ते हैं और वे उनके जीवन को किस प्रकार सम्पन्न बना चुके हैं। इसी अनुभूति को श्री अरविन्द ने दार्शनिक रीति से सूत्रबद्ध किया था। वह मानवता के आध्यात्मिक धर्म के पोषक हैं। सम्पूर्ण मानवता की एक ही आत्मा है। इसलिए विभिन्न धर्म एक ही ईश्वर की अनुभूति के विभिन्न और विशिष्ट प्रकार हैं। यही सब धर्मों का सारभूत सत्य है। इस तथ्य की मान्यता व्यक्ति (की आत्मा) को सबल बनाएगी, उसे ईमानदार बनाएगी तथा राष्ट्रीय एकता की वृद्धि कर उसे सुदृढ़ करेगी।

हमें एक मौलिक आधिभौतिक समस्या का समाधान भी करना है। यह तो सब ही सरलता से मान लेंगे कि भारतीय स्वभाव अनि-वार्यतः आधिभौतिक है। वह केवल अनुभूतिमात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाला नहीं है। वह हर प्रश्न का, हर समस्या का, पूर्ण समाधान चाहता है। भारतीय जन जीवन के इतिहास में कभी कोई रचनात्मक समा-धान सामने ही न आया हो—ऐसा नहीं है। बुद्ध धर्म का जन्म भारतीय आत्मा की इस सबल प्रवृत्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। लेकिन बुद्ध धर्म भी उसे अनिश्चित काल तक सन्तुष्ट नहीं कर सका। उसने

कुछ आधिभौतिक सिद्धान्त स्थिर किए थे, किन्तु कालान्तर में उसे भी अपने मान्य सिद्धान्तों और जीवन के तरीकों को बदलना पड़ा।

कुछ शताब्दियों का इतिहास देखिए। आप पाइएगा कि इस इतिहास में भारतीय जीवन-दर्शन में जगत को न्यूनाधिक निस्सार समझा गया है। यही विरासत हमें मिली है। लेकिन आधुनिक जीवन सांसारिक या भौतिक सफलताओं को बड़ा महत्त्व देता है। इस स्थल पर हमें मानसिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है। यदि मैं अनुभव करता हूँ कि यह जगत निस्सार है, मिथ्या है, तो जिन सिद्धान्तों को मैं मानता हूँ और जिनके अनुसार आचरण करता हूँ, उनके होते हुए जागतिक क्षेत्र में मैं निर्बाध रूप से अपनी सारी शक्तियों और प्रवृत्तियों का किस प्रकार उपयोग कर सकता हूँ? यहाँ पर किसी दार्शनिक संश्लेषण (Synthesis) की बड़ी आवश्यकता है। जो स्वभाव से ही रचनात्मक स्वभाव के हों, उनके लिए ऐसा संश्लेषण आवश्यक नहीं है लेकिन भारतीय स्वभाव के लिए यह व्यक्तिमात्र की आवश्यकता है और साथ ही राष्ट्रीय आवश्यकता भी। वह जो काम कर रहा है उसका संसार से क्या मतलब है और इन दोनों का पूर्ण सत्य से क्या सम्बन्ध है? यदि इन दोनों के बीच कोई सावयवी सम्बन्ध खोज लिया जाता है तो प्रजातन्त्र को, राष्ट्रीय एवं नागरिक जीवन को तथा हमारे सब प्रयत्नों को अपेक्षाकृत अधिक पुनीत स्थान प्राप्त हो जाएगा। या यों कह लीजिए कि वे सब ईश्वर और सत्य की प्राप्ति के साधन बन जाएँगे।

विज्ञान और प्रौद्योगशास्त्र के क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति का बहुत बड़ा अंश लगा हुआ है। लेकिन इन दोनों का ही हमारे उस जीवन-दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है जो हम पीढ़ियों से मानते चले आ रहे हैं। यदि उपरोक्त आधिभौतिक समस्या का कोई सन्तोषजनक हल निकाल लिया जाता है तो हम भारतीय चरित्र में वे सारी शक्तियाँ समाविष्ट कर सकेंगे जो भारतीय जीवन में सर्वोत्तम मानी जाती हैं। यदि प्रकृति पूर्णतः भौतिक है और मैं मन ही मन उसे अयथार्थ मानता हूँ तो मैं उसमें निहित सत्य को खोजने के लिए उत्साहित कैसे हो सकता हूँ? लेकिन यदि प्रकृति ब्रह्म का एक यथार्थ पक्ष है और यदि कोई चाहे तो ब्रह्म को इस पक्ष का अध्ययन करके भी पा सकता है, तो वह प्रकृति का अध्ययन अत्यन्त प्रेरणादायी विषय बन जाता है।

जीवन की बहुमुखी गतियों का क्रमिक संश्लेषण भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। भारतीय इतिहास में हमें बारम्बार परस्पर विरोधी तत्वों का विस्मयकारी ढंग से सम्मिश्रण और समन्वयीकरण हुआ है तथा उसमें नए तत्व मिल गए हैं। इस प्रवृत्ति ने अपनी शक्ति और अपने बल का अभी पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में पर्याप्त परिचय दे दिया है। सम्पूर्ण भारत का एक राष्ट्र के रूप में संगठन और छोटे-छोटे राज्यों का विलयन हमारी गृह नीति के क्षेत्र की सबसे अधिक उल्लेखनीय सफलता है। विदेशी क्षेत्र में इस प्रवृत्ति की शक्ति विश्व शान्ति और नैतिक मूल्यों के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के रूप में अभिव्यक्त हुई है।

लेकिन इनमें हमें अचेतन भाव से अपनी विरासत का लाभ हुआ है। हम इसकी गुप्त सचाई नहीं जानते। परन्तु यह विरासत यदि हमारा इतनी मज़बूती से साथ देती है और यदि हमें अपने देश में विघटनकारी प्रवृत्तियों को जीतने तथा विदेशों में विभिन्न राष्ट्रों के व्यापक मतभेदों को दूर करने के लिए इतनी अधिक आवश्यकता है तो हमारे लिए यह बड़ा आवश्यक है कि हम उस विरासत की शान्ति का स्रोत जान लें और यह भी जान लें कि वह कैसे विकसित होती है। इसे भी हमें एक समस्या के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। हमें यह मानना चाहिए इस समस्या का हल हमारे राष्ट्रीय जीवन की पूर्णतर अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है।

एकता की समस्या इसका केवल एक अन्य रूप है। भारत में, हम कहते हैं, अनेक प्रकार के लोग हैं और सदैव रहे हैं। भाषा, क्षेत्र, जाति, सम्प्रदाय और धर्मों के विभिन्न दावों के बीच हम अपने आपको अरक्षित पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम भारत की एकता के मौलिक आधार को नहीं जानते—जो भारत के पास है और सदैव रहा भी है। हम कहते हैं, यह आधार संस्कृति है। लेकिन संस्कृति में भी तो विभिन्नता है। निस्सन्देह सांस्कृतिक विभिन्नता में भी एकता का कोई न कोई आधार रहा है। वह क्या है—यह भी हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसके ज्ञान बिना हम लोग राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य ऊपरी बातों के समन्वय और हेर-फेर द्वारा एकता प्राप्ति की चेष्टा करते रहेंगे और फिर भी राष्ट्रीय एकता की अरक्षा की भावना बनी रहेगी।

भारतीय जीवन में मौलिक मूल्यों को सदैव समझने, सराहना करने और उन मूल्यों का आनन्द उठाने का सदैव प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए सत्य, अच्छाई, ईश्वर, सेवा, निस्स्वार्थता आदि का नाम मौलिक मूल्यों का दृष्टान्त के रूप में लिया जा सकता है। भारतीय ऋषि, मनीषी, सन्त और महात्मा स्वयं इन मूल्यों के जीते-जागते उदाहरण थे। इन मूल्यों की सराहना और इनके द्वारा आनन्द लाभ करने की भावना, कोई कह सकता है, जनता या समाज का सर्वोत्तम अनुभव था और प्रेरणादायी भी था। इन्होंने भारतीय चरित्र को कुछ विशिष्टताएँ प्रदान कर दी हैं जो भारतीय जीवन की सच्ची शक्ति बन गई हैं।

आज, विश्व संस्कृति के अंग के रूप में, जीवन का उपयोगितावादी दर्शन अधिक प्रभावशील है। भारतीय जीवन पर इसकी कैसी प्रतिक्रिया होती है या होनी चाहिए, यह बड़े महत्त्व की बात है। यदि मौलिक मूल्यों को जीवन की सच्ची आधारशिलाएँ मान लिया जाय, तो हमें देखना होगा कि उनको किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है, उन्हें किस प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है, अपने ही अनुभव के क्षेत्र में नहीं अपितु समग्र विश्व में।

भारतीय जीवन में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध कई शताब्दियों तक निर्बल रहे हैं। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर बहुत अधिक

जलता पानी

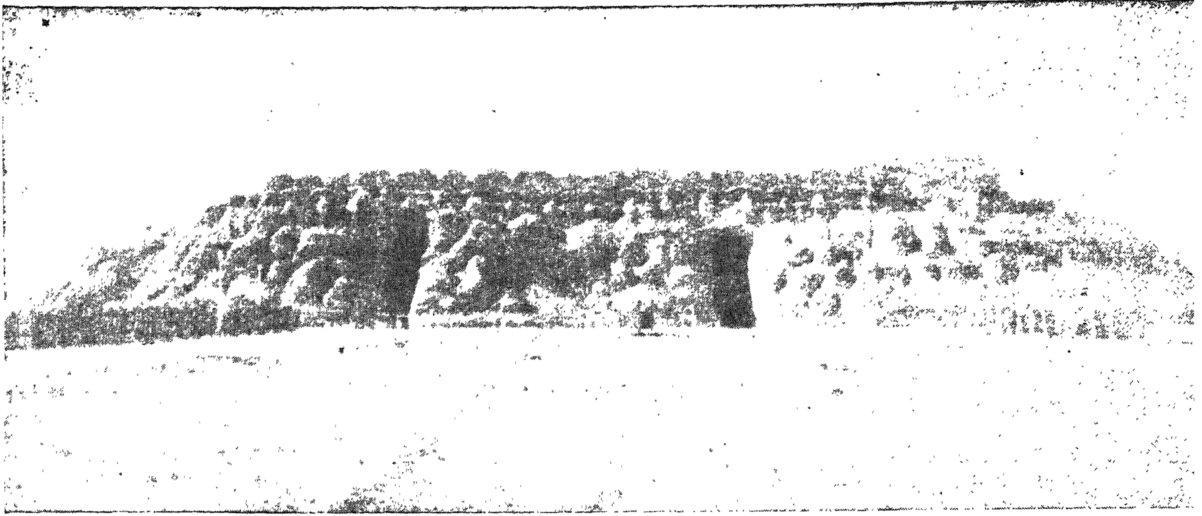
उमाशंकर

नदी दौड़ी जाती, मकमक जलें गिरि-वन पार्श्व-सरिताः
पड़े आगी प्रतिबिम्ब जल में; सरित हिया सुलगता ।
जले देह भारी, तनतन उड़ रहे बिन्दु जल के,
किन्तु हृदय की भाप भी न कर पाती कुछ मदद ही ।
औ' न बन पाता कि कर दे छाँट शीतल पर्वतों को
ज़रा रुक कर, उछल ऊपर, माग उड़ी छोर तट के ;
अरे ! निचोई निज सर्व दे दिया जिन पर्वतों ने
निपानों में, उसे समय पर न दे सके एक भी बूँद ।
बँधी-बँधाई किनारे की यह जड़ कठोर सीमा
उलँघ कर, स्वजन दुःख को किस भाँति शान्त करना ?
जल कर मरते पड़ोसी की करके अवगणना नदी को
जाना होगा सुदूर सिन्धु की बड़वाग्नि बुझाने !
वहाँ से फिर किसी दिन मेघ का रूप धर के,
यहाँ आ, कदाचित् होगा सम्भव गिरिदव बुझाना !
अरे ! पर यह कब ? भसम सब हो जाएँ तब क्या ?

अनु०—गौरीशंकर जोशी

बल दिये जाने के कारण व्यक्ति को पूर्णात्मा मानने की प्रवृत्ति प्रबल हो गई । इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक जीवन और उनके उत्तरदायित्व बाह्यात्मक आवश्यकता मात्र रह गए । इनमें सामाजिक सुदृढ़ता की भावना तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती थी । लेकिन व्यक्ति की एक आत्मा तो अवश्य है, किन्तु, आत्माएँ तो बहुत सी हैं, उनमें से उसकी भी एक आत्मा है जिसका अखिल ब्रह्माण्ड के अस्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस प्रकार व्यक्ति का सार्वभौमिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय पक्ष भी है । वह पक्ष सम्पूर्ण सत्य का ही एक अंश है । हमें इस पक्ष का समुचित शोध करना है । सामाजिक चैतन्यता का उचित स्थान निर्धारित करना है तथा क्रमशः उनका निर्माण करना है ।

ऊपर हमने उन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है, जिन पर समकालीन भारतीय जीवन का दार्शनिक दृष्टि से विचार करने के लिए विवश होना पड़ सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि हम इन समस्याओं को संभवतः व्यवस्थित रीति से एक समुच्चय के रूप में रख सकते हैं । भारतीय जीवन के दीर्घ इतिहास तथा उसके व्यापक तत्त्वों का गहन चिन्तन करने से लगता है कि व्यक्ति की आत्मा की और जगत में व्याप्त सार्वभौमिक तत्त्व की अनुभूति उसके मौलिक तथ्य रहे हैं । उन्होंने हमारे शेष जीवन को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु प्रेरणा भी दी है । इस परिवर्तनशील एवं बहुरूपयुक्त भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में आत्मा स्वभावतः ऐक्कि और सतत तथ्य है ! यह अनुभूति ही संभवतः हमारी दूरदर्शिता, सहिष्णुता, संश्लिष्टता, आग्रहशीलता, अभिनवीकरण तथा सतह के नीचे छिपी एकता के गुणों का मूल स्रोत तथा प्रेरणादायी शक्ति थी । यदि यह सच है तो आत्मा की खोज उसके गुणों को समझने की इच्छा को जाग्रत करना, हमारी प्राथमिक और सर्वाधिक आवश्यक समस्या है । जिस हद तक हम ऐसा करने में सफल होंगे उसी हद तक जीवन धारा की ऊपरी लहरियों के झकझोरों से हमारे बह जाने की संभावना कम रह जाएगी । हम अपने आपको समझेंगे तथा विभिन्न और बहुरूपयुक्त बाह्य तत्त्वों को उनमें छिपी वास्तविक एकता द्वारा समझने लगेंगे और उनका उपयोग करना सीख लेंगे ।



१ लाख रुपये से निर्मित राजगृह की सप्तपर्णी
गुहा के सदृश गुहा जहाँ छठी बौद्ध संगायन हुई

वर्मा में बुद्ध जयन्ती और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

सेठ गोविन्ददास

सन् १९५२ में जब मैं कनाडा में होने वाले कामनवैल्थ पालियामेण्ट्री कान्फ्रेंस के प्रतिनिधि के रूप में कनाडा गया, उस समय मैंने सारी पृथ्वी की ही परिक्रमा कर डाली थी। उस पृथ्वी-परिक्रमा पर मेरी एक पुस्तक 'पृथ्वी-परिक्रमा' के नाम से निकली है। कुछ लेख भी इस यात्रा पर 'धर्मयुग' में निकलते रहे हैं और कुछ रेडियो पर भी इस परिक्रमा के सम्बन्ध में मैं बोला हूँ। इस परिक्रमा की समाप्ति मैंने बर्मा में ही की थी।

यों तो वर्मा से मेरा बचपन से ही कुछ सम्पर्क रहा था। उस समय मेरे पितामह राजा गोकुलदास जी का बहुत बड़ा रोज़गार-धन्धा था। उनके कोई ८०० गाँव थे और ३०० दुकानें। उनकी एक दुकान रंगून में भी थी और, न जाने क्यों, मैं उस समय रंगून को लंगूर कहा करता था। बचपन के वर्मा के सम्पर्क के बाद मैं पहले-पहल वर्मा सन् १९५२ में ही गया। उस समय मैं नहीं जानता था कि कुछ दिनों के अनन्तर मुझे फिर बर्मा आना है।

इस बार मेरा बर्मा जाना हुआ वहाँ के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के कारण। वर्मा किसी समय भारत से अलग था। फिर भारत में सम्मिलित हुआ और फिर अंग्रेज़ों ने उसे भारत से अलग कर दिया। आज बर्मा एक पृथक देश है और यह पहला अवसर था जब भारत के बाहर किसी देश में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन हो। हिन्दी के राज-भाषा होने के उपरान्त मैंने संसद् में तथा अन्य अनेक स्थलों पर अपने भाषणों में कहा है कि हिन्दी को अब अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त होना चाहिए तथा राष्ट्रसंघ (यू० एन० ओ०) में भी उसे वैसा ही स्थान मिलना चाहिए, जैसा अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, रूसी और स्पैनिश भाषाओं को प्राप्त है। मेरे ये भाषण वर्मा के हिन्दी भाषा-भाषियों के पास भी पहुँचे और उन्होंने २५००वीं बुद्ध जयन्ती के अवसर पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन करने का निश्चय किया, तथा उसके उद्घाटन के निमित्त मुझे निमन्त्रित किया। वर्मा में बसे हुए इन हिन्दी भाषा-भाषियों ने इस सम्मेलन में एक यह विशेषता की कि इसमें वर्मा निवासियों को भी सम्मिलित किया और इसकी स्वागत-समिति का अध्यक्ष एक बर्मा निवासी श्री ऊ पारगू को बनाया।

दिनांक २० मई को दिल्ली से चलकर कलकत्ता में एक दिन ठहर दिनांक २३ मई को मैं वायुयान द्वारा रंगून पहुँचा। बुद्ध जयन्ती के कारण रंगून में इस समय बहुत अधिक चहल-पहल थी। भगवान बुद्ध की यह २५००वीं जयन्ती, यद्यपि सारे संसार में मनाई गई तथापि मैं समझता हूँ कि बर्मा में यह दुनिया में सबसे अधिक उत्साह और शान से हुई। इसका केवल यह कारण नहीं है कि बर्मा के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। अन्य अनेक देशों के भी अधिकांश निवासी बौद्ध हैं। पर बर्मा में बुद्ध जयन्ती के इस प्रकार मनाए जाने का प्रधान कारण यह है कि बुद्ध जयन्ती के दिन बुद्ध धर्म की उस छठवीं संगायन के समारोह का आयोजन भी हुआ, जो गत दो वर्षों से बर्मा में बैठी हुई थी। बुद्ध धर्म की इन संगायनों का बड़ा

लम्बा इतिहास है, जिन्हें संगीति भी कहते हैं। पहली संगायन भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन मास पश्चात भारत के राजगृह में अजातशत्रु की संरक्षता में सप्तपर्णी नामक गुहा में बुद्ध भिक्षु महाकाश्यप की अध्यक्षता में हुई थी, जिसमें ५०० भिक्षुओं ने भाग लिया था। यह संगीति सात मास में पूर्ण हुई और इसमें सम्पूर्ण बुद्ध वचनों को संकलित कर तीन पिटकों में विभक्त किया गया, जिन्हें त्रिपिटक कहते हैं। दूसरी संगायन बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात कालाशोक की संरक्षता में उत्तरी विहार के वैशाली में बालुकाराम महाविहार में स्थविर रेवत की अध्यक्षता में हुई थी। इसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसका कार्य आठ मास में पूर्ण हुआ। यह संगीति वज्जीभूमि के भिक्षुओं के भिक्षु विनय उल्लंघन और कुछ परिवर्तन के कारण हुई थी। तीसरी संगीति सम्राट् अशोक की संरक्षता में बुद्ध भगवान के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक महा-विहार में मोग्गलिपुत्त तिस्य स्थविर की अध्यक्षता में हुई और इसमें १,००० भिक्षुओं ने भाग लिया तथा यह नौ मास तक चली। इसी संगायन के उपरान्त अशोक ने सत्धम्म के प्रचार के लिए अनेक धर्म-दूतों को संसार में भेजा और ८४,००० विहारों तथा स्तूपों का निर्माण कराया। चौथी संगायन भगवान तथागत के निर्वाण के ५३५ वर्ष बाद लंका के मलय गाँव की अशोक गुहा में महाथेर की अध्यक्षता में हुई, जिसमें ५०० भिक्षुओं ने भाग लिया और पहली बार भगवान तथागत के उपदेशों को लिपिबद्ध किया गया। पाँचवीं संगीति आज से ८६ वर्ष पूर्व उस समय की बर्मा की राजधानी माण्डले में राजा मिण्डोन द्वारा आयोजित हुई थी। इसमें २४०० भिक्षुओं ने पाँच मास तक कार्य किया था और इसके पश्चात संगमरमर की ७२९ शिलाओं पर भगवान बुद्ध के उपदेशों को लिपिबद्ध किया गया। बर्मा के रंगून में यह जो संगायन हुई वह बुद्ध धर्म की छठी संगायन थी। संगायन का प्रमुख उद्देश्य धर्म सम्बन्धी विवादों का निराकरण करना और बुद्ध शासन का संशोधन होता है। यह जो छठा संगायन हुई इसकी एक विचित्र पृष्ठभूमि भी है।

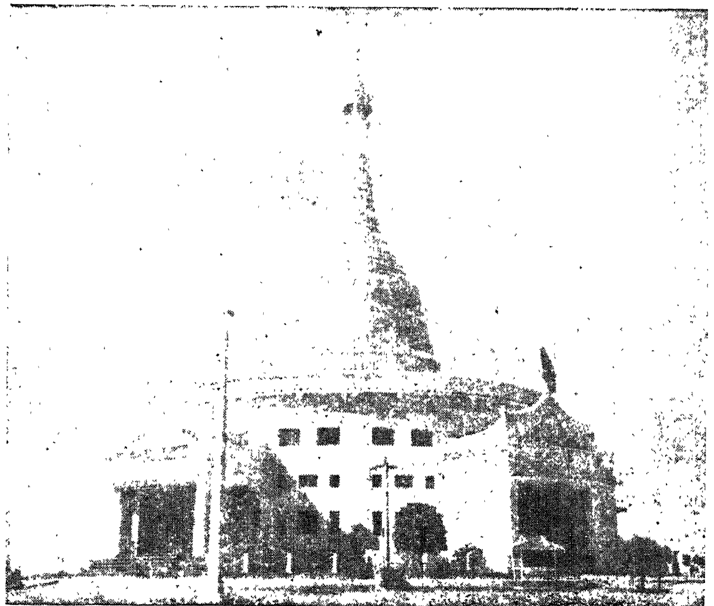
कुछ साल पहले बर्मा के प्रधान मन्त्री ऊ नू भारत आए थे। ऊ नू बड़े धर्मपरायण महानुभाव हैं। उस समय उन्होंने पवित्र बौद्ध तीर्थों का पर्यटन किया था और इन पर राजगृह की सप्तपर्णी गुहा का बड़ा प्रभाव पड़ा था। राजगृह से जब ये बौद्धगया में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित अवस्था में बैठे हुए थे, तो उन्होंने एकाएक कुछ स्वप्न-सा देखा कि सप्तपर्णी जैसी गुहा में बुद्ध भिक्षु और सद्‌गृहस्थ एकत्र होकर संसार में शान्ति की नींव डालेंगे। बर्मा के प्रधान मन्त्री का यह स्वप्न इसी छठी संगायन के रूप में साकार हुआ। बर्मा के संसद् ने एक विशेष विधेयक द्वारा बौद्ध शासन कौंसिल स्थापित कर, इसे इस छठी संगीति की तैयारी और आयोजन का भार सौंपा। इस संगायन का मुख्य उद्देश्य भगवान तथागत के उपदेशों को ऐसे प्रामाणिक रूप में उपस्थित करना था, जो समस्त थेरवादी बौद्ध भिक्षुओं को मान्य हो।

इस संगायन के लिए राजगृह की सप्तपर्णी नामक गुहा के सदृश एक गुहा बनाई गई। इस गुहा का नाम पवित्र महापसना गुहा रखा गया। बड़े-बड़े इंजीनियरों ने इस गुहा को बनाया और इसमें ६१ लाख रुपया व्यय हुआ। बाहर से यह गुहा ठीक राजगृह की सप्तपर्णी गुहा के सदृश दिखती है। और भीतर से यह गुहा क्या वर्तमान काल का एक हाल है। बाहर से इसकी लम्बाई ४५५ फुट और चौड़ाई ३७२ फुट है और भीतर से इसकी लम्बाई २२० फुट और चौड़ाई १४० फुट है। गुहा की छत ६ स्थूल स्तम्भों पर स्थित है। और इसमें लगभग १०,००० व्यक्ति सुविधापूर्वक बैठ सकते हैं। इस गुहा के बनाने में केवल १४ महीने लगे।

यह गुहा ऊ नू द्वारा बनाए गए शान्ति पगोडा के अहाते में ही बनी है और गुहा के साथ अन्य अनेक इमारतें भी बनी हैं। इनमें प्रधान हैं—बौद्ध भिक्षुओं के रहने के स्थान। हर भिक्षु के लिए एक कमरा बनाया गया है। इस प्रकार अढ़ाई हज़ार कमरों का निर्माण किया गया है। इन इमारतों में कोई ४५ लाख रुपया अलग लगा।

कोई दो वर्ष पहले इसी गुहा में छठी संगायन बैठी, जिसमें अढ़ाई हज़ार भिक्षुओं ने ऊ रिवन बौद्ध भिक्षु की अध्यक्षता में कार्य किया। इन अढ़ाई हज़ार भिक्षुओं में से लगभग दो हज़ार भिक्षु बर्मा के ही थे और शेष ५०० थाइलैण्ड, श्रीलंका, कम्बोदिया, लाओस,

शान्ति पगोडा जो बर्मा के प्रधान मंत्री ऊ नू ने बनवाया है





पवित्र गुहा के भीतर मंच

जापान, नवचीन, भारत, इन्डोनेशिया, तिब्बत, नेपाल, सिक्किम, लद्दाख, वियतनाम, पाकिस्तान और मलाया से आए थे।

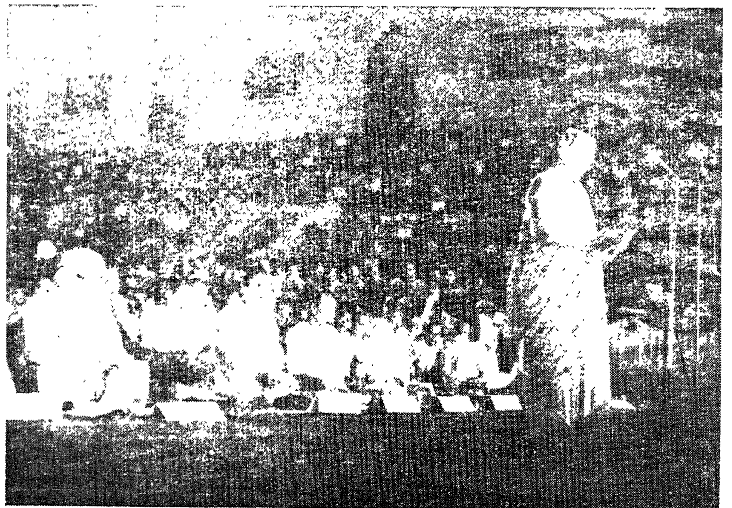
बौद्ध धर्म में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा का सबसे अधिक महत्त्व है। उसी दिन भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था, उसी दिन उन्हें बुद्ध पद प्राप्त हुआ था और उसी दिन उनका निर्वाण हुआ था। भगवान बुद्ध की २५०० वीं परिनिर्वाण तिथि इस वर्ष २४ मई को पड़ी थी और उस दिन जब इस संगायन का समारोह हो रहा था, उस समय मैं भी बर्मा में इस पवित्र महापासाण गुहा में बैठा हुआ इस समारोह का दर्शन कर रहा था। कैसा भव्य था वह सारा दृश्य! जीवन में वैसा सांस्कृतिक आयोजन कभी नहीं देखा था और न भविष्य में वैसा दृश्य देखने की सम्भावना है।

गुहा बिजली के प्रकाश से जगमगा रही थी। इस पवित्र गुहा के हॉल के ऊँचे रंगमंच पर संगायन के अध्यक्ष अनेक बौद्ध भिक्षुओं के साथ बैठे हुए थे। गुहा की लम्बाई में मंच के दोनों ओर पाँच-पाँच कतारों में, जो एक के ऊपर एक थीं, लगभग अढ़ाई हज़ार बौद्ध भिक्षु विराजमान थे। सजावट में चक्र और छत्र दो वस्तुओं की प्रधानता थी। इन कतारों के सामने जो रेलिंग थी उस पर सुनहरे रंग के अशोक चक्रों की पंक्तियाँ थीं और सजावट के जो कागज के पदार्थ थे वे अधिकांश छत्र के आकार के थे। ये बौद्ध भिक्षु अपने केसरी रंग के चीवर धारण किए हुए थे। हर भिक्षु के सामने एक नीले रंग का चमकदार काष्ठ का बड़ा रखा था। हाल की भूमि पर रंग-बिरंगी बिछावन थी, जिस पर जन समूह एकत्रित था।

सबसे आगे बर्मा के राष्ट्रपति विराजमान थे। उनके पीछे बर्मा के प्रधान मन्त्री और उनके पीछे भिन्न-भिन्न देशों से आए हुए कुछ महानुभाव, भिन्न-भिन्न देशों के बर्मा में स्थित राजदूत तथा कुछ अन्य व्यक्ति भी थे। उन्हीं में मैं भी बैठा हुआ था।

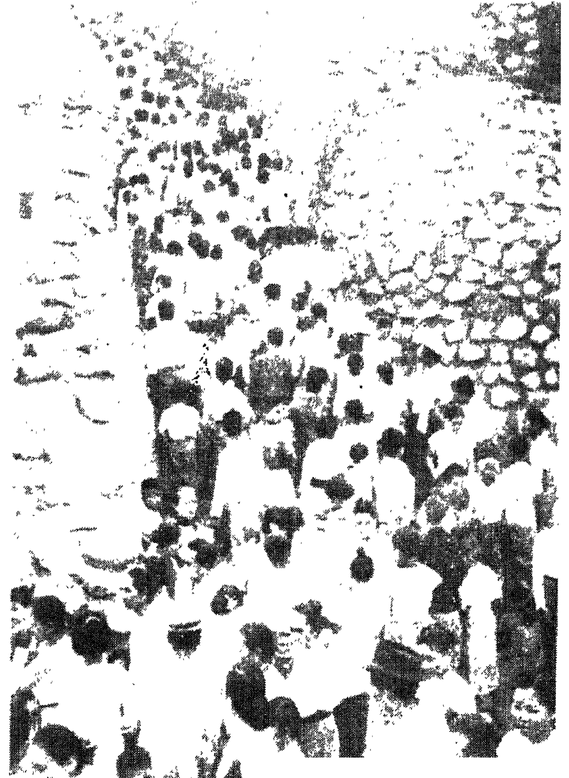
दिनांक २४ मई को यह समारोह प्रातःकाल आठ बजे से साढ़े दस-बजे तक चला। पहले एक वाद्य बजा। उसके पश्चात वन्दना हुई। फिर बाहर से आए हुए सन्देश पढ़े गए। यह सन्देश हर देश ने अपनी-अपनी भाषा में भेजे थे। मेरा हृदय उस समय दुःख से भर गया, जब भारत के राजदूत श्री सक्सेना ने भारत के राष्ट्रपति का सन्देश अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ा। यही एक सन्देश था जो किसी विदेशी भाषा में पढ़ा गया। सन्देशों के पठन के पश्चात बर्मा के राष्ट्रपति ऊ थ्विन का भाषण हुआ। उसके बाद संगायन के अध्यक्ष का। तदुपरांत संगायन के दो वर्ष के कार्यों का विवरण पढ़ा गया, फिर अभिधम्म पिटक के कुछ अंश पढ़े गए और उसके बाद कुछ धार्मिक प्रश्नोत्तर हुए। इसके पश्चात उन पाँच भिक्षु समुदायों ने, जिन्होंने दो वर्ष तक पाँच विभागों में विभक्त हो संगायन का काम किया था, पिटक के रूपों को स्वीकृति दी और अन्त में संगायन समाप्ति की घोषणा की गई। समारोह का सारा कार्य पाली और बर्मा की भाषा में हुआ। बीच-बीच में जब भिक्षु साधु-साधु शब्द का तीन-तीन बार उच्चारण करते थे, उस समय तो रोमांच हो आता था।

दो वर्ष पूर्व छठी बौद्ध संगायन के उद्घाटन अवसर पर संयुक्त राष्ट्र की तत्कालीन अध्यक्षा श्रीमती विजयालक्ष्मी भाषण देते हुए





बौद्ध संगायन के अध्यक्ष

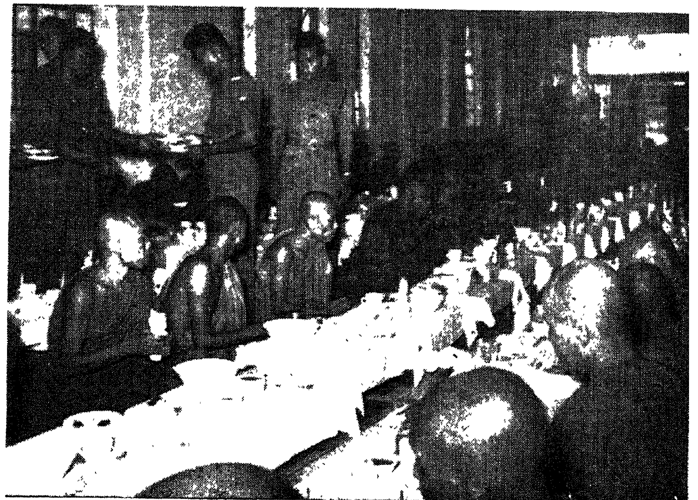


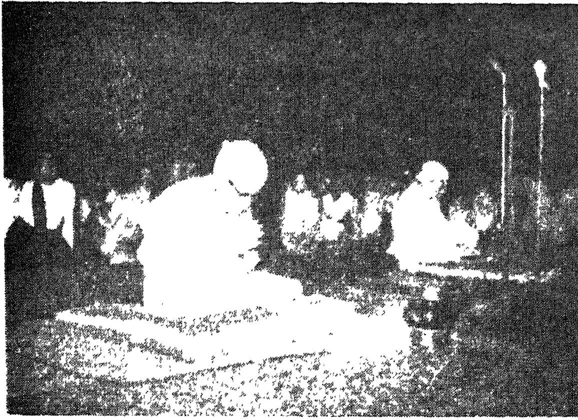
पवित्र गुहा में प्रवेश करता हुआ नर समूह

इस गुहा में केवल निमन्त्रित व्यक्ति ही जा पाए थे। शेष जनता गुहा के बाहर एकत्र थी। ध्वनिविस्तारक यन्त्र की ऐसी व्यवस्था थी, जिससे गुहा के भीतर जो कार्य हो रहा था वह बाहर घूमने वाली जनता को भी सुनाई दे। बाहर की जनता की संख्या लाखों ही थी।

बुद्ध जयन्ती के इस अवसर पर बर्मा के २,६६८ युवक-युवतियाँ भिक्षु और भिक्षुणियाँ भी हुए। उन्हीं में बर्मा के प्रधान मन्त्री ऊ नू की एक पुत्री भी भिक्षुणी हुई हैं। मैंने जब यह सुना तो हठात् मेरे मुँह से निकला कि इस अवस्था में इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणी होने से इतने युवक-युवतियों के जीवन क्या संयमपूर्वक चल सकेंगे? पर मेरी इस शंका का तुरन्त ही निराकरण हो गया, इसलिए कि इन युवक-युवतियों को जीवन भर भिक्षु-भिक्षुणी रहने की आवश्यकता नहीं। बर्मा के हर निवासी को चार महीने से लेकर चार वर्ष तक भिक्षु और भिक्षुणी होना ही पड़ता है। उनका यह संस्कार हमारे देश

बौद्ध भिक्षुओं का सहभोज





पवित्र गुहा में प्रार्थना करते हुए बर्मा के राष्ट्रपति



पवित्र गुहा में प्रार्थना करते हुए बर्मा के प्रधान मंत्री

के प्राचीन वैदिक उपनयन संस्कार के अनुसार है। उपनयन के पश्चात समावर्तन तक इस देश के निवासियों को जिस प्रकार ब्रह्मचारी रहना पड़ता था और समावर्तन के पश्चात वे जिस प्रकार गृहस्थ-आश्रम में आते थे, उसी प्रकार बर्मा के बालक और बालिकाओं तथा युवक और युवतियों को कुछ दिन के लिए भिक्षु और भिक्षुणी रहना अनिवार्य है।

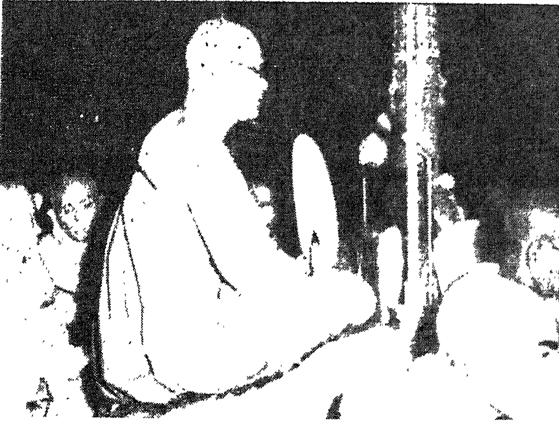
एक बात और हुई। बुद्ध जयन्ती के उत्सव पर दिनांक २२ मई से २६ मई तक यात्रियों के भोजन की मुफ़्त व्यवस्था की गई थी। यह व्यवस्था बर्मा की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं ने की थी। किसी ने किसी दिन और किसी ने किसी दिन। उस व्यवस्था के लिए इन्हीं संस्थाओं ने चन्दा भी एकत्रित किया था। इसका सबसे बड़ा भार, दो दिन के दोनों बार के भोजन का, बर्मा के मारवाड़ी ऐसोसिएशन पर पड़ा था। सुना गया कि इस ऐसोसिएशन ने हर दिन लगभग २५-२५ हज़ार व्यक्तियों को भोजन कराया था।

दिनांक २६ मई के ४ बजे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन हुआ। बड़ी अच्छी उपस्थिति थी। भारतवासियों के अतिरिक्त बर्मा निवासी काफी संख्या में उपस्थित थे। पहले मीरा का एक गीत हुआ, उसके पश्चात स्वागताध्यक्ष ऊ पारगू का हिन्दी में भाषण हुआ। ऊ पारगू काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। बर्मी और हिन्दी दोनों भाषाओं के पण्डित हैं। इन्होंने हिन्दी के कुछ ग्रन्थों का बर्मी भाषा में अनुवाद किया है। स्वागताध्यक्ष के भाषण के पश्चात मेरा उद्घाटन-भाषण हुआ और उसके पश्चात सम्मेलन के अध्यक्ष पद से श्री सत्यनारायण जी गोयनका का। गोयनका जी के पूर्वज भारत से बर्मा में गए थे और अब उनका कुटुम्ब बर्मा में रहता है। सत्यनारायण जी बर्मा के ही नागरिक हो गए हैं। गोयनका जी के भाषण के पश्चात बर्मा के प्रधान मन्त्री ऊ नू का सम्मेलन के लिए आया हुआ अत्यन्त उत्साहवर्द्धक सन्देश पढ़ा गया। इसके बाद डा० ओमप्रकाश ने बर्मा में हिन्दी का जो कार्य हो रहा है, उसका संक्षिप्त विवरण पढ़ा। इस विवरण के बाद इस अधिवेशन का मुख्य प्रस्ताव पास हुआ, जिसमें कहा गया था कि हिन्दी को अब वैसा ही अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त होना चाहिए जैसा अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, रूसी और स्पैनिश भाषाओं को है।

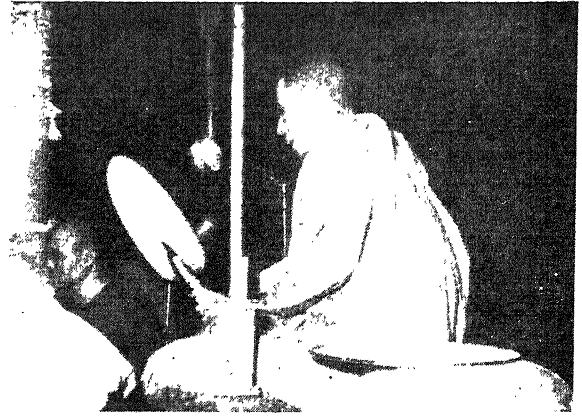
संगायन के दर्शन के लिए जाता हुआ गाता-बजाता नर समूह



इस सम्मेलन की सफलता का श्रेय सम्मेलन के अध्यक्ष श्री सत्यनारायण जी गोयनका, स्वागताध्यक्ष ऊ पारगू, मन्त्री डा० ओमप्रकाश, महावीरप्रसाद जी दांईवाला, रामगोविन्द जी बर्मा वहाँ के हिन्दी दैनिक 'प्राची प्रकाश' के सम्पादक श्री चन्दूलाल ठक्का, संचालक श्री प्रसिद्ध नारायण पाठक और हिन्दी साप्ताहिक 'नवजीवन' के सम्पादक श्री रामप्रसाद बर्मा को है।



अन्तिम दिन के प्रश्नोत्तर : उत्तरदाता



अन्तिम दिन के प्रश्नोत्तर : प्रश्नकर्ता

श्री सत्यनारायण जी रंगून के एक बहुत बड़े व्यापारी हैं। इनका काम-काज बर्मा के बाहर भी अनेक स्थानों पर है। इन्होंने मुझे आश्वासन दिया है कि वे बहुत जल्दी इसी प्रकार के हिन्दी साहित्य सम्मेलनों को मलाया की राजधानी सिंगापुर, स्याम की राजधानी बैंकाक, जापान के नगर ओसाका और हाँगकाँग में भी आयोजित करेंगे।

मेरी दृष्टि से बर्मा के बुद्ध जयन्ती उत्सव के अवसर पर हिन्दी भाषा के इस आयोजन ने सोने में सुगन्ध मिला दी।

मेरे जीवन के अनेक स्वप्नों में एक स्वप्न था भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी को आसीन कराना। यह स्वप्न साकार हो गया। उसके पश्चात इसी सम्बन्ध में मेरा एक दूसरा स्वप्न है कि हिन्दी को वही अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त हो जो विश्व की कुछ भाषाओं को है। बर्मा के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन से मुझे आशा हो गई कि जीवन में शायद इस स्वप्न को भी साकार देख सकूँ।

भारत और बर्मा का सम्बन्ध २,००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। हिन्दी भाषा इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करेगी, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है।

•

बोधि वृक्ष के सिंचन के लिए पवित्र नीर ले जाने वाली नारियाँ



सप्त प्राचीर दुर्ग

रामचन्द्र शर्मा

सप्त प्राचीर दुर्ग
कड़ा पहरा उसके बाहर भीतर !
महल बीच में, नीचे
तहखाना ।
वहाँ रो रही है सुन्दर राजकुमारी
मान रक्षा का रह गया एक ही मार्ग,
नदी, आग, गरल, छुरा !
पल भर का अन्तर है जीवन और मरण के बीच में ?
सप्त प्राचीर पार कर
सौ वीरों को मार कर
क्या न वह आएगा राजकुमार प्रिया के पास ?
लो वहाँ पैरों की आहट ! नयनों का विश्वास न करें तात ?
कौन है यह आँखों के सम्मुख !
रात-दिन का मधुर स्वप्न उतरा तो नहीं धरती पर ?
'प्यारी मेरी, लो मैं आया
खलनायक को मार आया
तेरे लिए !'
मुँह पर मुस्कान चमकी; आँखों ने कुशल पूछा, धरती ने पिया विष
सौ साल तक सुख से जीते रहे रूप और अनुराग साथ साथ !
नानी की कहानी, साथ साथ गुल्ली-डंडा
कौड़ी, गेंद और काँच की गोली,
ऐसे लोक में
एक शिशु आया, आया !

क्या आयेगा सचमुच ?
प्रभु के आने पर क्या बजे नगाड़े ?
चली क्या कोई मार्गदर्शक सवारी ?
बादल को नभ में क्या तुमने तिरते देखा ?
कहो तो किस घड़ी कुसुम में सौरभ आया ?
शिशु आया ?
अथवा घर में ही था !
अज्ञात गहराई में छिपी स्मृति की तरह क्या वह निकल आया !
शिशु के आने पर ही उसका भान हुआ
प्यारा मुँह, बँधे हाथ, सुन्दर तन, दीनता नयनों में
'आया हूँ तेरे ही भरोसे पर
रहने भर की जगह देना; कुछ चिंता नहीं खाने की ।'

शिशु के साथ खेल-कूद मन भाया
दिन पर दिन
बीते मास पर मास, नव मास आया
वर्ष पर वर्ष, नूतन आया
उसके आने की स्मृति भी भूल गया !
अंतर हुआ यही हृदय ने सुख पाया
जिस दिन मेरी उम्र अठारह हुई
उसी दिन उमर शिशु की भी अठारह हुई
पल-पल बढ़ा हमारा नेह नाता ।
धर लिया आँखों ने उसका दिया ऐनक
जग की विभूति मुझे लगी अति मनमोहक
अरविंद के आँचल में छिपने के पहले भौंरे ने
दृष्टि डाल दी अपनी ओर एक बार
आम्रतरु को बंदी बनाकर लगी नाचने लताएँ
मुझे फूल ने छेड़ दिया अपनी मुस्कान से
(उसमें कैसा घमण्ड)
उभरी छाती पर
संध्या सूर्य की सुनहली उँगलियों की लीला !
नीचे फूस बिछी है ।
ऊपर चाँदनी की मृदु चादर—
चुपके से
स्त्री की ध्वनि से मोद भरा मोहक कलकल हास !
सप्त प्राचीर दुर्ग
अन्दर राजकुमारी
मान रक्षा का रह गया एक ही मार्ग,
नदी, आग, गरल, छुरा !
सुनाई देता नहीं आक्रन्दन ? आगे बढ़ो !
मैं ही हूँ राजकुमार : लो आया
मेरी मन भावनी !
प्राण तजने की चिन्ता ही अब क्यों प्यारी ?

जो बच्चा बन आया था अब बना है गगनचुम्बी !
मैं ही बच्चा बना, छोटा बना,
उसने ताल दिया, मैं नाचने लगा बेताल !
जग भर फैला वह, शत रूप धर कर लगा सताने निरन्तर
मेरे तन में अपना घर बना कर, कर दिया सुख-दुख को एक-सा

बादल, ओ जलधर !

रामदरश मिश्र

झाँक-झाँक जाते हो
क्षण भर के लिये, जोहती आँखों में
श्यामल आभा लहरा कर
तिर जाती है
लेकिन कब बरसोगे ?
ओ बादल !
ओ जलधर !
आदिगन्त रुद्र ताप की छाती
नये रुद्र गर्जन से बार-बार आलोड़ित करने वाले
कजरारे बादल !
धरती को धानों की नई सजल आभा से
रँग-रँग देने वाले
ओ प्रियदर्शी जलधर !
हम धरती के छोटे-छोटे ये जीव
ग्रीष्म के लड़ते
तुम्हें टेर देते हैं
⋯लेकिन कब बरसोगे ?

खेती का कुम्हलाना
नये हरे धानों से पीले, पड़ते
ईखों के बचपन
बार-बार तुम्हें बुला रहे—
कि ओ, ओ बादल !
ओ जलधर !
तुम्हारे यहाँ आने तक हम मरु हड़ते
अपना सब रस निचोड़
दग्ध रिक्त आँखों को सींच रहे
लेकिन हम उगते-से प्राण हैं
कहाँ कब तक⋯?
कब बरसोगे नवाम्बु
नई फसल, नये अन्न
ओ फसलों के बादल !
ओ फसलों के जलधर !

लाल-लाल अनगिन कोमल ह गों ऊपर
दहकती दुपहरी का शैल उठाये
पथ के गुलमोहर
स्तब्ध उमस में अपनी लाल हँसी घोल रहे,
बार-बार पूछ रहे—
तुम्हारे यहाँ आने तक बोझिल पथ
ढोते जाते हम
लेकिन कब तक⋯?
कब तुम बरसोगे
नव फूलों का प्लावन
ओ मंजिल के बादल !
ओ मंजिल के जलधर !

आग्नमान की जलती सूनी चट्टानों पर
ये पंछी—
नन्हें-नन्हें पंछी !
प्यासे कण्ठों से स्वर के निर्झर बरस रहे
छोटे-छोटे निर्झर बरस रहे
बुला रहे तुमको ये—
तुम्हारे यहाँ आने तक नभ से लड़ते हम !
किन्तु रिक्त कण्ठों से कब तक गायेंगे ?
कब तक अम्बर का फैला सूनापन चीरेंगे ?
कब बरसोगे झर-झर स्वर
गीतों की झड़ियाँ ?
ओ गीतों के बादल !
ओ गीतों के जलधर !

मैं हुआ कँटीला झाड़
अग्नि-पर्वत में बन्दी हैं अभिशाप-दावानल
तन में बन्दी पागल नदी
बहती है अंबुधि में मिल जाने की बड़ी उत्कंठा से !
युगल पर्वत पर चढ़ कर
कन्दुक गहराई में चल कर
समतल पर दूर बह कर
भूमध्य रेखा के अगल-बगल का घना जंगल पार कर
सागर के आँचल में अस्तित्व अपना भुला देने की लालसा से।

मैं हूँ एक जर्जर, वृद्ध
पागल हूँ, यह भी सम्भव है;
बच्चा बन आया था, साथ दिया था
उसके आगे कितने ही युग बीते !
परछाईं रात बनी।
हृदय देख रहा है उसकी मधुर स्मृति का स्वप्न
गिरि राजियाँ खड़ी हैं स्मृति-सी आँखों के सम्मुख;
छिपाने पर भी विवरण
सुस्पष्ट
'तात, जी ऊब गया है, कहानी सुनाना एक अच्छी'
'सुन बच्चा,
सप्त प्राचीर दुर्ग
कड़ा पहरा उसके बाहर भीतर।'

अनुवादक : हिरण्मय

सालाना जलसा

वी० के० एन० 'कुट्टी'

मैं इस देहात का प्रथम नागरिक हूँ। यहाँ दो ही सरकारी अफसर हैं—एक मैं, सरकारी एस्टेट का मैनेजर; और दूसरा, देहात का अधिकारी।

बाहरी दुनिया के साथ इस देहात का कहने लायक कोई सम्बन्ध नहीं। हफ्ते में सिर्फ एक ही दिन यहाँ पत्र-पत्रिकाएँ पहुँचा करती हैं। किसी बस या बैलगाड़ी में बैठ कर कहीं जाना हो तो देहात से छः मील पैदल जाना पड़ता है। आज भी यहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं, जिन्होंने बस या कार कभी नहीं देखी। हवाई जहाज वगैरह की तो बात ही क्या? पिछले एक दिन की बात है, एक बूढ़ा किसान अपना खेत जोत रहा था। उस वक्त आसमान से एक हवाई जहाज उड़ता चला गया। किसान ने तुरन्त बैलों को रोक दिया और ऊपर की ओर गौर से देखा। वह एकदम चिल्ला उठा, "ओह! यमराज का दूत!"

इस देहात में पहुँचने के दो ही मार्ग हैं—एक तो पैदल जाना और दूसरा हेलिकोप्टर। हाइड्रोजन या नाइट्रोजन बम के गिरने से अगर सारे संसार का सर्वनाश हो जाय, तो भी हमारे यहाँ उस खबर के पहुँचते-पहुँचते एक हफ्ता से ज्यादा लग जायगा।

बात कुछ भी हो, दूर तक फैले हुए इस देहात का जीवन वास्तव में आनन्दमय है।

मुझे काम पर लगे एक हफ्ता भी नहीं बीता था कि एक दिन शाम को दो सज्जन मेरे दफ्तर के कमरे में दाखिल हुए और उन्होंने मुझे सलाम किया। उनमें से एक मध्य आयु का था और दूसरा नौजवान।

"आप स्थानीय एलिमेंटरी स्कूल के हेडमास्टर हैं, और मैं उसी स्कूल का एक सहअध्यापक।"—मध्य आयु के व्यक्ति का और स्वयं अपना परिचय देते हुए नवयुवक ने कहा।

"मिलकर बड़ी खुशी हुई, बैठ जाइए।" मैंने उनसे कहा। दोनों ज़रा सकुचाते हुए खड़े रहे।

"हम इसी गाँव के रहने वाले हैं," इस बार हेडमास्टर ने फरमाया।

"और भी खुशी की बात है, बैठ जाइए," मैंने दुहराया।

दोनों आगन्तुक मुक्त कण्ठ से हँस पड़े और कुर्सियों पर विराजमान हो गए।

इसके बाद हेडमास्टर ने अपने आने का कारण संक्षेप में ही बता दिया—"आगामी शनिवार को हम अपने स्कूल का जलसा मनाने जा रहे हैं। अध्यक्ष का आसन स्वीकार करने के लिए मैनेजर साहब से विनती करने के ख्याल से हम लोग आए हैं।"

मैं दुविधा में पड़ गया। फिर भी मैंने कहा—"मैंने आज तक किसी जलसे का सभापति बनने का साहस नहीं किया है। कभी कहीं भाषण भी नहीं दिया है। अतः किसी दूसरे अनुभवी सज्जन को......"

मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि हेडमास्टर ने मेरी बात काट कर कहा—"खैर, देखा जाएगा। अगर दूसरा आदमी नहीं मिला, तो आपको ही मंजूर करना होगा।"

मैंने सोचा कि चलो बला टली और कहा—"ठीक है।"

"अच्छा, तो नमस्ते! हम दो दिन के बाद मिलेंगे।" इतना कह कर दोनों सज्जन विदा हो गए।

ठीक दो दिन बाद दोनों पुनः मेरे यहाँ उपस्थित हुए। हेडमास्टर ने मेरा पता लिखा हुआ एक लिफाफा उठा कर मेरी ओर बढ़ाया। मैंने उसे खोल कर देखा तो उसमें मेरे सम्मान्य सभापतित्व में होने वाले एलिमेंटरी स्कूल के सालाना जलसे का निमन्त्रण-पत्र था।

"तो, दूसरा कोई उपयुक्त व्यक्ति इस काम के लिए नहीं मिला?" मैंने थोड़ी घबराहट के साथ सवाल किया।

"जी नहीं", हेडमास्टर ने क्षमा-प्रार्थना के स्वर में उत्तर दिया।

मैंने निमन्त्रण-पत्र को दुबारा ध्यान से पढ़ा, तभी मुझे मालूम हुआ कि उसमें एक बड़ी भारी भूल हुई है। मेरे नाम के पीछे 'बी० ए०' की डिग्री जोड़ी गई है।

"मास्टर जी, मैं तो बी० ए० नहीं हूँ", मैंने नम्रता से कहा।

"नहीं?" मास्टर साहब हँस पड़े। फिर बोले—"चलो कुछ परवाह नहीं, कुछ परवाह नहीं। शनिवार को दोपहर के बाद मैं यहाँ आ जाऊँगा और तब साथ-साथ चलेंगे।"

"हूँ!" कुछ परवाह नहीं! उनकी बातों से ऐसा मालूम होता था कि जैसे एलिमेंटरी स्कूल ने मुझे बी० ए० की डिग्री देकर सम्मानित किया है।

शनिवार की शाम को ठीक साढ़े-तीन बजे हेडमास्टर साहब मेरे कमरे में हाजिर हो गए। स्कूल डेढ़ मील दूर है। पैदल जाना है। मेष राशि के उच्च स्थान का सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणें हमारे ऊपर बरसा रहा था। स्कूल पहुँचते-पहुँचते हम पसीने से तर-बतर हो गए।

स्कूल क्या है, उत्तर-दक्षिण की दिशा में एक हॉल है और उसके मध्य भाग में बाहर एक चबूतरा। उसी चबूतरे पर एक स्टेज तैयार किया गया था। हॉल बाँस की तीन टट्टियाँ लगा कर चार भागों में विभाजित किया गया था। "इन्हीं कमरों में कक्षाएँ लगती हैं", हेडमास्टर ने मुझ से कहा।

मुझे तो बेहद प्यास लगी हुई थी। गला सूख गया था। मैंने हेडमास्टर से कहा—"एक गिलास पानी चाहिए।"

मास्टर ने चारों ओर नजर दौड़ाई, फिर वह स्वयं बाहर गए और पल भर में वापस आकर उन्होंने पूछा—"थोड़ी चाय पीएँगे?"

मैंने कहा—"नहीं।"

"चाय की दुकान स्कूल से एक मील दूर है चाय मिलना मुश्किल है।" हेडमास्टर ने लम्बी साँस खींचकर कहा। उनका हरेक शब्द मानों मुझसे कह रहा था कि अगर आप चाय माँगते तो घोर निराशा हो जाती।

"शरबत हो तो···" हेडमास्टर ने फिर पूछा।

"आप जो चाहें दे सकते हैं, मगर प्यास बुझाने लायक रहना चाहिए। यही जरूरी है।" मैंने कुछ अधीरता से कहा।

मास्टर हँस पड़े और बाहर चले गए। थोड़ी देर बाद एक गिलास उन्होंने मेरे सामने लाकर रखा और कहा—"लीजिए, शरबत।"

मैं एक ही घूँट में पूरा-का-पूरा शरबत पी गया। मास्टर ने उसको शरबत कहकर सचमुच पानी का अपमान किया था। उस पानी के साथ शक्कर या अन्य किसी वस्तु का लेश मात्र भी सम्पर्क नहीं हुआ था।

खैर! अब सवाल यह उठा कि हॉल में कैसे बैठा रहूँ। वहाँ गर्मी असह्य थी। मैं चबूतरे पर जाकर खड़ा हो गया और चारों तरफ की प्रकृति का सौन्दर्य निरखने लगा।

प्रकृति वास्तव में रमणीय थी। सामने एक छोटी-सी चट्टान; उसके उस पार कुछ खेत, बीच-बीच में इने-गिने झोंपड़े। दूर पश्चिमी घाट को भी मात करने वाला एक उन्नत पहाड़ और बरफ से ढकी हुई चोटियाँ। अस्त होने वाले सूर्य की किरणों के पड़ने से ऐसा मालूम होता था कि वे चोटियाँ क्षण-क्षण पर रंग बदलती जाती हैं।

मैं इस प्राकृतिक दृश्य को निहारता रह गया। अचानक पीछे से एक आवाज सुनकर मैं घूम पड़ा—"व्याख्यानदाता श्री कुरुप अभी तक नहीं आए न!" हेडमास्टर अत्यन्त अधीर होकर कह रहे थे।

"आते ही होंगे। अब समय हो ही रहा है न!" दूसरे अध्यापक ने कहा।

मैंने घड़ी की ओर देखा। छः बज चुके थे। ठीक ५ बजे नाटक शुरू कर ६ बजे समाप्त करने की बात निमन्त्रण-पत्र में घोषित की गई थी। यहाँ तो छः बजने पर भी नाटक शुरू होने का लक्षण नहीं दीखता। तिस पर भी यह टिप्पणी कि "समय हो ही रहा है न!" खूब रहा, मैंने मन ही मन सोचा।

मैं फिर घूम पड़ा और बाहरी दृश्यों का निरीक्षण करने लगा। हॉल के सामने आँगन में कुछ बेंचें पड़ी हुई थीं। आठ-दस लोग श्रोतागण के अग्रिम दल के रूप में इधर-उधर घूम रहे थे। नए रंग-बिरंगे कपड़े पहने हुए बच्चे उछल-कूद मचा रहे थे। चाहे कोई आए या न आए, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। माइक आ गया। उसे फिट कर दिया गया। एक जगह दो-एक पेट्रोमैक्स लैम्प जलाने का प्रयत्न हो रहा था। इसी बीच व्याख्यानदाता श्री कुरुप आ पहुँचे।

श्री कुरुप कोषिकोड के रहने वाले हैं। एक गाँव तक बस में आए। वहाँ से उन्होंने एक साइकिल किराए पर ली। पूरे आठ मील साइकिल पर आए हैं। स्वास्थ्य तो खराब है। आने का वायदा किया था, इसलिए चले आए। ज्यादा तो नहीं बोल सकेंगे, तो भी कोशिश करेंगे। इन शब्दों में श्री कुरुप ने अपना परिचय दिया।

देखने से ऐसा मालूम होता था कि श्री कुरुप भाषण देने के काबिल ही नहीं, बल्कि भाषण सुनकर श्रोताओं में से कोई बिगड़ कर उठ खड़ा हो तो उसका अकेले ही सामना करने की हिम्मत भी रखते हैं। उम्र करीब पैंतीस वर्ष होगी—मोटा-ताज़ा शरीर, छाती चौड़ी और फूली हुई।

"थोड़ी चाय पीकर कार्यक्रम शुरू कर देंगे", हेडमास्टर ने सूचना दी।

हम सब हॉल के अन्दर चले गए। दाल के बड़े और चाय सामने आई। बड़े ऐसे थे, मानों दाल के नहीं लोहे के बने हों। काटने पर दाँत टूटे तो टूटे लेकिन बड़े कभी नहीं टूटेंगे, अतः मैंने सिर्फ़ चाय पी।

"बड़े नहीं खाएँगे?" श्री कुरुप ने प्रश्न किया।

"इच्छा नहीं" मैंने उत्तर में कहा।

उन्होंने मेरे हिस्से का भी सदुपयोग किया। उनके दाँत मेरे दाँतों की अपेक्षा बहुत मज़बूत थे।

चाय पीकर बाहर आए तो पौने सात बज चुके थे। अंधकार फैलने लगा था। स्टेज पर एक पेट्रोमैक्स रखी हुई थी। उसके नीचे एक मेज पर खादी का एक सुन्दर शाल बिछा था। उसके ऊपर एक बोतल में फूलों के गुच्छे रखे थे। मेज के पीछे सिर्फ़ अध्यक्ष के लिए एक कुर्सी और एक ओर दो कुर्सियाँ रखी थीं। एक अध्यक्ष का तात्कालिक स्थान और दूसरी ओर भाषणदाता का स्थायी स्थान, यह स्टेज की सजावट थी।

मैं अध्यक्ष की तात्कालिक सीट पर और श्री कुरुप अपने स्थायी स्थान पर आसीन हो गए। श्रोताओं की भीड़ लग गई। उनमें ज्यादातर मजदूर थे जो पास के मन्दिर के तालाब से कीचड़ निकालने का काम करते थे। उस दिन का काम समाप्त करके जाने लगे तो सुना कि स्कूल में नाटक होने वाला है, इसलिए सब-के-सब वहाँ चले आए थे। बेंचों पर गाँव के प्रतिष्ठित सज्जन और मुट्ठी भर महिलाएँ विराजमान थीं। भीड़ के बीच में एक गंजे सिर वाला आदमी बैठा था। पेट्रोमैक्स की रोशनी में उसका सिर चमक रहा था। कुछ शरारती लोग उसके सिर की ओर इशारा कर हँसने लगे। आए हुए सभी लोगों का ध्यान उस ओर गया। लेकिन उस व्यक्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने चुपके से रुमाल लेकर सिर पर बाँध लिया, मानों उसने कुछ जाना ही नहीं। उसके साथ उस प्रदर्शन का भी अन्त हो गया।

हेडमास्टर स्टेज पर आए और उन्होंने घोषणा की कि अब कार्यक्रम शुरू हो रहा है।

कार्यक्रम में पहला कार्य अध्यक्ष का स्वागत था। हेडमास्टर साहब पास आकर खड़े हो गए और उन्होंने आगन्तुकों का स्वागत किया। उन्होंने यह भी कहा—"हम सब लोगों का सौभाग्य है कि इस साल हमें एक सम्मान्य सज्जन सभापति के स्थान के लिए प्राप्त हुए हैं। भविष्य में कभी ऐसे व्यक्ति प्राप्त होंगे या नहीं इसमें बड़ा सन्देह है। अध्यक्ष महाशय बी० एस० सी० परीक्षा भी पास हैं।"

शायद यही पक्की धारणा है कि जो बी० ए० पास नहीं हैं, वे अवश्य बी० एस० सी० डिग्री प्राप्त व्यक्ति होंगे। मैंने मन में ही

कहा—"शरीर के नार्मल ताप ९८.४ डिग्री के अलावा मेरे पास तो दूसरी कोई डिग्री नहीं है।"

हेडमास्टर ने आगे कहा—"इसलिए मैं उनसे नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे इस उत्सव के अध्यक्ष के आसन पर आसीन होकर आज के कार्यक्रम को चलावें।"

आगन्तुकों ने तालियाँ बजाकर समर्थन किया। मैं उठा, माला स्वीकार की और अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठ गया।

कार्यक्रम का दूसरा कार्य था प्रार्थना। स्कूल की छोटी लड़कियों ने मधुर-कोमल कण्ठ से प्रार्थना के गीत गाए। उनके गाने सुनने वालों के कान व मन दोनों को अत्यन्त मधुर लगे।

उसके बाद अध्यक्ष का प्रारम्भिक भाषण था। मुझे जो कुछ कहना था उपसंहार में कहने का वायदा करके मैंने श्री कुरुप को अपना भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया।

श्री कुरुप ने उठ कर मेरे कान में कहा—"भाषण के लिए कितने मिनट ले सकता हूँ?"

सवा सात बज चुके थे। अतः मैंने कहा—"प्रायः आधा घंटा ले सकते हैं।"

"ठीक है" कह कर श्री कुरुप माइक के पीछे खड़े हो गए और उन्होंने अपना भाषण शुरू किया—"भाइयो और बहनो! आज नए फैशन के लोग पुरानी रीति को अपनाते जाते हैं, सो ठीक भी है। दुनिया में कुछ भी नया नहीं है। सब पुराने ही हैं। उदाहरण के लिए स्त्रियों के ब्लाऊज़ को ही देखिए। शुरू में वह कैसा था। प्रतिदिन उसकी शक्ल-सूरत में कैसे-कैसे परिवर्तन होने लगे। परिवर्तन की पराकाष्ठा तक पहुँचने के बाद वह कैसे अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर गया। ज़िन्दगी के पहिए घूमते रहते हैं, लेकिन घुमाव पीछे की तरफ होता है। आज जो हवाई जहाज़, पन-डुब्बी वगैरह हम देखते हैं, उनका आविष्कार सदियों पहले हमारे ऋषियों-मुनियों ने किया था। तत्सम्बन्धी एक ग्रन्थ बंगलूर में है, कोई भी जाकर देख सकता है। पाश्चात्य........."

एकाएक माइक फेल हो गया। भाषण को शुरू हुए चालीस मिनट गुज़र चुके थे। श्रोताओं को भाषण बेहद पसन्द आया था। वे चुपचाप सुन रहे थे। नितान्त निस्तब्धता फैली हुई थी। एक नहीं दसों सुइयाँ गिर पड़तीं तो उनका शब्द ज़रूर सुनाई पड़ता।

"कार्यक्रम में और भी कई कार्य हैं, भाषण को जल्दी समाप्त करने के लिए कह दीजिए", एक अध्यापक ने मेरे कान में कहा।

मैंने इन शब्दों को ज्यों-के-त्यों श्री कुरुप के कान में दुहराया। लेकिन उन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उलटे उन्होंने एक कड़ी ताकीद दी—"मुझे बहुत कुछ कहना बाकी है, और भी समय चाहिए। आप सभापति हैं तो क्या हुआ? बीच में डिस्टर्ब मुझे न कीजिए।"

इस बीच में माइक ठीक कर दिया गया। श्री कुरुप ने अपना भाषण पुनः जारी किया। बाल्मीकि की रामायण से अभिज्ञान शाकुन्तलम् तक और शाकुन्तलम् से रामायण तक के सभी महाकाव्यों के नाम वह एक-एक करके बताने लगे। भारतीय संस्कृति की महानता को स्पष्ट करना ही उनका उद्देश्य था।

सवा आठ बज गए। वक्ता महाशय अपना भाषण समाप्त करने का नाम तक नहीं लेते थे। हेडमास्टर ने पीछे से उनका कुर्ता पकड़ कर खींचा। उन्होंने इस पर ध्यान ही नहीं दिया, मानो उनको इसका पता ही न लगा हो।

श्री कुरुप ने पुरानी गुरुकुल प्रणाली का वर्णन करना शुरू किया।

नौ बजने जा रहे थे। मालूम होता था कि बादल अब बरसे कि अब बरसे। श्री कुरुप को कड़ी चेतावनी देकर तुरन्त ही भाषण बन्द कराने का पूरा अधिकार हेडमास्टर ने मुझे दे दिया।

मैं उठ खड़ा हुआ और ज़रा खाँसा। बाएँ हाथ को श्री कुरुप के सामने बढ़ाया जिसमें घड़ी बँधी हुई थी। यह देख कर इन कटु शब्दों में उन्होंने अपना भाषण जारी रखा, "मालूम होता है कि हमारे सभापति महोदय को सब्र करना आता ही नहीं। उन्होंने इसके पहले किसी सभा में कभी भाग लिया है कि नहीं—इसमें मुझे बड़ा सन्देह है। मैं जिस महत्वपूर्ण विषय की चर्चा कर रहा हूँ, उसे वे समझ ही नहीं पाते और अपना भाषण बन्द कर देने के लिए मुझे मजबूर कर रहे हैं। यह मेरा ही नहीं, सारे सम्मान्य सदस्यों का अपमान है। भाइयो! चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए, पूरी बातें बताए बिना मैं यहाँ से नहीं हटूँगा। इस बात का आप पूरा विश्वास रखें।"

श्रोतागण मेरी ओर उँगलियाँ दिखाने लगे और उन्होंने शोर मचाया। मैं अपना-सा मुँह लेकर बैठ गया। विजय पताका फहराते हुए श्री कुरुप आगे कहने लगे—

"पुराण के चार वेद और छः शास्त्रों को छोड़ कर बाकी सब शास्त्र झूठे हैं। बी० एस० सी० डिग्री प्राप्त महाशयों को अन्दमान टापू में भेज देना चाहिए।"

श्रोताओं में फिर से शोर-गुल मचा। छोटे-छोटे कंकड़ मेरी मेज़ पर आकर गिरने लगे। मैं सहम गया। श्री कुरुप ने श्रोताओं को पूर्ण रूप से अपने वश में कर लिया था। वह ज़रा इशारा कर दें तो मेरी खैरियत नहीं, वे मुझे नोंच डालेंगे।

"यही नहीं, ऐसे लोग देश के दुश्मन हैं", कह कर उन्होंने कनखियों से मेरी ओर देखा। बेशुमार तालियाँ और गगन-भेदी शोर-गुल हुआ।

"मैनेजर अध्यक्ष जी! बाहर निकलिए, तब देखा जाएगा।" सदस्यों में से किसी को कहते मैंने सुना। मुझे ऐसा लगा कि दुनिया की कोई भी ताकत श्री कुरुप को चुप नहीं करा सकती। मैं निराश होकर बैठ गया।

लेकिन किस्मत का खेल! क्षण भर में प्रकृति देवी ने हमारी लड़ाई में दखल दिया। आँखों को चौंधिया देने वाली बिजली चमकी। बादलों के भैरव-निनाद से अन्तरिक्ष मुखरित हो उठा। रिमझिम-रिमझिम पानी बरसने लगा। अपना भाषण बन्द करने के लिए श्री कुरुप मजबूर हो गए।

हेडमास्टर ने बताया कि सभा यहीं समाप्त की जाएगी और कार्यक्रम का बाकी अंश फिलहाल स्थगित रखा जाएगा।

मैं माइक के पास गया। लेकिन मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। बारिश के कारण भागने वाली भीड़ बीच-बीच में मेरी ओर देख कर दाँत पीसती थी और मुट्ठी दिखाती थी। मैं घूम कर भागा और हॉल में दाखिल हुआ।

हेडमास्टर ने हाँफते-हाँफते मुझसे कहा—"मुझे बड़ा अफ़सोस है कि आपको कष्ट हुआ। आगे से इस कुरुप को किसी भी जलसे का न्यौता नहीं दिया जाएगा।"

"कोई बात नहीं, थोड़ी-सी सहायता मात्र कीजिए", मैंने प्रार्थना की।

"बताइए, आप क्या चाहते हैं ?"

"किसी तरह मुझे अपने दफ़्तर पहुँचवा दीजिए।"

"इसमें क्या मुश्किल है ?" हेडमास्टर ने फरमाया।

इसी समय एक आदमी ने आकर मुझसे कहा, "श्री कुरुप ने कहला भेजा है कि आप जाने से पहले उनसे ज़रा मिल लें। वह रास्ते में खड़े हैं।"

"उनके साथ और कौन है ?" मैंने पूछा।

"चार-पाँच सज्जन हैं", उसने कहा।

"मेरी हिम्मत नहीं पड़ती", मैंने हेडमास्टर और उस व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा।

"जाकर कह दो कि अध्यक्ष जी चले जा चुके हैं", कह कर हेडमास्टर ने उस आदमी को विदा कर दिया।

"अब यहाँ ठहरना ठीक नहीं", मैंने कहा।

हेडमास्टर और उस नवयुवक की संरक्षा में जब मैं अपने दफ़्तर पहुँचा तो बारह बज चुके थे

अपने शरीर की सुरक्षा के लिए मैं उन दोनों मित्रों का आभारी हूँ।

भविष्य में किसी सालाना जलसे में सम्मिलित होना पड़े तो मैंने पुलिस की ही नहीं, बल्कि फ़ौज की भी मदद माँगने का दृढ़ निश्चय कर लिया है।

लैम्प पोस्ट—(पृष्ठ ४२ का शेषांश)

फ़ज़लदीन मोहल्ले वालों को अश्लील गालियाँ देता हुआ चला गया। इतने में वह साँवली लड़की आई। उसके चेहरे पर वही दुख भरी मुस्कराहट थी।

"आप भी जा रहे हैं।" इसके बाद वह हल्का-सा कहकहा लगा कर चुप हो गई और गली के लैम्प की ओर देखने लगी। वह अपरिचित लड़की ही मेरी मित्र थी। मैंने उसकी ओर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा।

"मैं रीटा हूँ। यहीं करीब ही एक अस्पताल में नर्स हूँ," उसने कहा और गली के मोड़ पर ओझल हो गई। दूर से फ़ज़लदीन की आवाज़ आ रही थी। आज वह ग़ालिब की गज़ल नहीं गा रहा था, बल्कि ऊँचे स्वर में अश्लील गालियाँ दे रहा था।

एक साथ !

शमशेरबहादुर सिंह

सूरज
उगाया जाता
फूलों में :
यदि हम
एक साथ
हँस पड़ते !

चाँद
आँगन बनता :
आँखों में रासभूमि यदि
सौरमण्डल की मिलती !

सार हम होते
काव्य के—
अनुपम भूत-भविष्य के :
यदि हम
वर्तमान
में
एक साथ
हँसते-रोते-गाते !

नमक के लिये*

शशि भूषण सिंहल

अन्त में ऊब कर कैदी शाहजहाँ ने शहन्शाह औरंगज़ेब को पत्र लिखने का निश्चय किया। औरंगज़ेब ने बाप की सल्तनत छीनी, उसे कैद में डाला। अब वह उसे पत्रों द्वारा ज़लील करने पर उतारू था। पत्रों में अनेक दोषारोपण होते थे। शाहजहाँ ने उन सब का पहला और अन्तिम उत्तर दिया, "बरखुरदार! हम निहायत नालायक हैं। इसलिए तुम्हारे कैदखाने की रौनक अफरोज़ी कर रहे हैं। लेकिन इतना याद रखो कि तुम पर हमारा अहसान ही है। तुमने सल्तनत हमसे जबरन हासिल की और ज़िन्दगी भी तुमने हम से पाई। क्या खूब! चोरी और सीनाज़ोरी! लेकिन लिहाज़ से तुम्हारा वास्ता क्या? अलबत्ता हम शरमिन्दा हैं, तुम्हारे बाप होने के नाते—"

ख्वाजासरा पत्र लेकर शंकित हृदय से अंगूरी बाग में दाखिल हुआ। सामने अंगूरों की बेलों से घिरा आलमगीर औरंगज़ेब सफेद कपड़ों में टहल रहा था। दायें हाथ में घूमती तस्बीह और माथे पर बल। चेहरे की दाढ़ी फुफकारते सर्प के फन जैसी। ख्वाजासरा काँपता हुआ आगे बढ़ा। उसने फर्शी सलाम किया और चिट्ठी पेश कर दी।

शहन्शाह ने उपेक्षा से पत्र लिया और झटके से खोला। दृष्टि एक स्थल पर अटकी—'···और ज़िन्दगी भी तुमने हम से पाई···' "हूँ।" आँख के डोरे रक्तिम हो गए। माथे की रेखाएँ सिमटीं। खँखार कर थूक सटका। पत्र पढ़ कर फेंका जाने वाला था कि अन्तिम पंक्ति पढ़ी—'अलबत्ता हम शरमिन्दा हैं, तुम्हारे बाप होने के नाते—' औरंगज़ेब के मुँह पर जैसे ज़ोर का थप्पड़ पड़ा। उसने अपनी दाढ़ी सहलाई और उसकी दृष्टि सम्मन बुर्ज की दिशा में, जहाँ शाहजहाँ बन्दी था, केन्द्रित हो गई। क्रमशः वह ताजमहल की ओर घूमी और अदृश्य में खो गई।

न जाने कब तक वह यों ही खोया रहता, यदि मुँह लगा ख्वाजासरा उसे न टोकता। "जहाँपनाह!" शायद वह कुछ नमक-मिर्च लगाना चाहता था। औरंगज़ेब जगा, जैसे उसे दूसरा तमाचा लगा हो। उबल पड़ा—"निकल कम्बख़्त यहाँ से!" और दूसरे ही क्षण पत्र की चिंदियाँ क्यारियों में उड़ रही थीं। ख्वाजासरा के होश उड़ गए, होम करते हाथ जला। सहमी निगाहों से उसने फर्शी सलाम किया, धीरे-धीरे पीछे कदम हटाते-हटाते दूर पहुँचा और सर पर पैर रख कर भागा।

बात आई-गई हो गई। औरंगज़ेब ने अपनी भूल स्वीकार की। उसे अपने पिता से ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए था। शाहजहाँ के कष्टों पर ध्यान दिया गया। वह अरसे से बीमार था। शाहजहाँ का प्रिय हकीम मर चुका था। हकीम का पुत्र था मुकर्रम खाँ। तीस वर्ष की आयु में ही खासा ख्याति प्राप्त हकीम। इलाज के लिए मुकर्रम खाँ की नियुक्ति हुई। बाँदियाँ गुल-अनार, गुलाल और सलोनी भी छम-छम करती सम्मन बुर्ज में आने-जाने लगीं। बुर्ज की यमुना की ओर वाली खिड़कियाँ खुल गईं। नीचे मैदान में जानवरों की लड़ाइयों का आयोजन होने लगा। कभी-कभी बुर्ज में महफ़िल जमने की इजाज़त भी मिल जाती। सब इस परिवर्तन से प्रभावित थे, किन्तु शाहजहाँ स्वयं चुप था।

यह कौन जानता था कि रहमदिल जहाँपनाह आलमगीर की तेज निगाहें वास्तव में शाहजहाँ के गुप्त खजाने के हीरे-जवाहरातों को खोज रहीं थीं। एक दिन जमी महफ़िल में शाहजहाँ को अपने मेहरबान बेटे का खत मिला। पत्र में पिछले किए पर पछतावा था। शीघ्र ही बहुत अच्छा प्रबन्ध करने के आश्वासन के साथ-साथ दबे शब्दों में शाहजहाँ को उसके गुप्त खजाने के हीरे-जवाहरात दान कर देने की सलाह थी। अन्त में इस दान कार्य का भार स्वयं वहन करने की इच्छा भी प्रगट की गई थी।

औरंगज़ेब पत्र भेज कर संतुष्ट था। उसने लम्बा जाल फेंका था। आठ-दस दिन में स्वीकारात्मक उत्तर की आशा थी। वह नगीना मस्जिद में वज़ू कर रहा था, किन्तु ध्यान उन चकाचौंध कर देने वाले हीरों की कल्पना में था। उठ कर खड़ा हुआ ही था कि सामने गुल-अनार पत्र का उत्तर लिए पेश थी। औरंगज़ेब चकराया। मन्त्रमुग्ध-सा पत्र देखने लगा। लिखा था—"काश तुम्हारे पत्थर दिल के साथ तुम्हारा दिमाग पत्थर का न होता। गिरगिट के से रंग बदलने वाले औरंगज़ेब! तुम्हें उन जवाहरातों को देने के बदले, उन्हें हकीम के खल में डाल कर चूर-चूर कर देना ज्यादा पसन्द करूँगा!" हाथों से पत्र गिर गया। वज़ू वाला बँधना भी लुढ़क कर घन-घन करता हुआ दीवार से जा टकराया।

जासूसों ने किले और महल का कोना-कोना छान मारा। ताजमहल और किले के बीच की सुरंग का चप्पा-चप्पा खोद डाला गया। पर शाहजहाँ के गुप्त हीरे-जवाहरातों का पता न लगा और न लगा। औरंगज़ेब कभी झुँझलाता, कभी फुंकारता, कभी षड़यन्त्र सोचता और कभी मुट्ठियाँ बाँध कर रह जाता। हृदय में कभी-कभी टीस जगती! मन गिरने सा लगता। क्या यह पश्चाताप की लहर थी? शाहजहाँ का वह पत्र भी भुलाये न भूलता। वह दो वाक्य हृदय को कचोटे डालते थे। फिर सम्मन बुर्ज की ओर दृष्टि जाती। ताज के गुम्बद को देखता। ठण्डी आह भर कर रह जाता। कदम बहुत आगे

* औरंगज़ेब कालीन, इटेलियन यात्री 'निक्कोलो मुनिक्कि' के संस्मरण-ग्रन्थ 'स्टोरिया डी मोगेर' की एक घटना के आधार पर।

बढ़ चुका था। लौटना असम्भव था। आखिर अब करे भी तो क्या? क्या सल्तनत छोड़ दे? नहीं, हरगिज़ नहीं! जिस बेल को भाइयों और अज़ीज़ों के रक्त से सींचा गया है, क्या उसे वह योंही ज़रा सी भावुकता में नोच कर फेंक दे? यह सोच कर उसकी क्षणिक दुर्बलता का लोप हो जाता और वह दृढ़ प्रतिज्ञ रहने का संकल्प करता।

आखिर औरंगज़ेब को बीमारी ने धर दबाया। उस मानसिक व्याधि से वह अकेला लड़ता तो कब तक? कोई हृदय की बात सुनने वाला न था। कहता भी किस से। उसे अपने पीछे भागती अपनी छाया पर भी विश्वास नहीं था। औरंगज़ेब और नगीना मस्जिद—यही दो साथी रह गए थे।

शाही हकीमों और वज़ीरों की राय हुई कि शहन्शाह को स्वास्थ्य लाभ के लिए काश्मीर जाना चाहिए। औरंगज़ेब स्वयं आगरे के घुटते हुए वातावरण से ऊब उठा था। हृदय कहीं भागने को बेचैन था। फिर भी उसकी स्वार्थबुद्धि सतर्क थी। यदि बाद में शाहजहाँ ने विद्रोह खड़ा कर दिया? प्रत्येक वज़ीर, सरदार और क्या छोटे-से-छोटे अहलकार, सभी मन-ही-मन सुलग रहे थे। विनाश की ज्वाला भड़काने को बयार का एक झोंका भर चाहिए था। और शाहजहाँ तो जीता-जागता तूफ़ान था। वही सब झंझटों की जड़ और केन्द्र था। काश, उसे उखाड़ कर फेंक पाता! और फिर गुप्त जवाहरातों वाली बात। बूढ़े की सल्तनत गई पर अब भी वह उन हीरों को तहखाने में दबाए सड़ रहा था। उन हीरों से तो भारी युद्ध चलाया जा सकता था। दक्षिण में मराठे बराबर सर उठा रहे थे। उन्हें मटियामेट किया जा सकता था। किन्तु शाहजहाँ की खुले-आम हत्या करना भी टेढ़ी खीर थी। प्रजा और अनेक दबे हुए विरोधी तत्वों के एक साथ भड़क उठने की आशंका। औरंगज़ेब नैतिक दृष्टि से लोगों की निगाहों में गिरना भी न चाहता था। आखिर उसने एक निश्चय किया, जिससे साँप मरे और लाठी भी न टूटे।

शाहजहाँ को अत्यधिक परेशान करने की योजना अमल में लाई जाने लगी। उसे दी गई सभी सहूलियतें बन्द कर दी गईं। मौत का पंजा कस उठा। यमुना और ताज की ओर खुलने वाली खिड़कियाँ बन्द कर दी गईं। बुर्ज के नीचे आस-पास चाँदमारी प्रारम्भ हो गई। चाँदमारी वालों को आज्ञा दी गई कि यदि शाहजहाँ तनिक भी बाहर झाँके तो तुरन्त उसे भून दो। दिन भर की ठाँय-ठाँय—धूँ-धूँ और भाग-दौड़ ही शाहजहाँ को ऊबा कर मार डालने के लिये पर्याप्त थे। उस पर शाहजहाँ की व्यक्तिगत प्रिय वस्तुएँ उससे छीन ली गईं। जानवरों की लड़ाइयाँ बन्द। महफ़िल-तमाशे सब बन्द। हाँ, हकीम को रहने दिया गया। न जाने क्यों?

किन्तु शाहजहाँ क्या नहीं समझता था? जिन्दगी का खेल उसके लिए शतरंज की बाजी से कम दिलचस्प न था। वह औरंगज़ेब को जता देना चाहता था कि पहली बाजी में भले ही शाहजहाँ हार गया हो, लेकिन था वह शातिर। दूसरी बाजी बिछ गई थी। उसमें मात खाने के लिये वह हरगिज़ तैयार न था। शाहजहाँ औरंगज़ेब की इच्छानुसार क्यों मरता? इन शरारतों के उत्तर में वह जीवन से, कष्टों से, यहाँ तक कि जीवन की आसक्ति से भी तटस्थ हो गया। भला अब बुर्ज की घुटन, बन्दूकों की ठाँय-ठाँय और सामान की लूटपाट कुछ भी उसे विचलित न कर सके। औरंगज़ेब की शह बेकार गई। वह पागल हो उठा। उसका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था। वह काश्मीर जाना चाहता था। किन्तु राह की बाधा, यह रोड़ा! वह झुँझला उठा। औरंगज़ेब ने अब अन्तिम दाँव फेंका।

आज हकीम मुकर्रम खां की परेशानी देखते ही बनती थी। वह, शाहजहाँ का विश्वासपात्र था। उसके खानदान की कितनी ही पीढ़ियाँ शाहजहाँ और उसकी बेगमों के नमक पर पलती आ रही थीं। पहले कभी उसके सामने ऐसी समस्या नहीं आई थी, जैसी आज आलमगीर के फरमान ने उत्पन्न कर दी थी। हकीम के चौड़े सुन्दर माथे पर वक्र रेखायें उभरीं। लम्बी पुष्ट नाक किसी अज्ञात पीड़ा से तनिक सिकुड़ गई।

शाहजहाँ की दवा का समय हो गया था। हकीम ने तत्परता से कई शीशियों से अर्क एक प्याली में डाले। फिर काँपती दृष्टि से उस शाही फरमान की ओर देखा और तब देखा तिपाई पर रखी उस शीशी को, जो फरमान के साथ भेजी गई थी। किंकर्त्तव्यविमूढ़ हकीम! हाथ का फरमान और तिपाई की शीशी, फरमान और शीशी! शाहजहाँ और औरंगज़ेब! माथे से पसीने की बूँदें हाथ के फरमान पर टपक गईं। हकीम एकाएक चौंका, फरमान उसने दूर फेंक दिया। जैसे हाथ में जलता हुआ अंगारा हो। खुश्क ओठों पर खुश्क जीभ फेरने का प्रयास उसने किया।

नहीं यह तो करना ही होगा! न करोगे तो जान से हाथ धोओगे। गुल-अनार का क्या होगा? अपने सपनों का क्या होगा? हकीम का रक्त जमने लगा। दिमाग घूमने लगा। मुट्ठियाँ कस गईं और दाँत भिंच गए। नहीं, नहीं! गुल ने किसी का क्या बिगाड़ा है? मुझे जीवित रहना है, उसे जीना है। हम अपनी दुनियाँ क्यों उजाड़ें। दो शतरंज के खिलाड़ी जमे हुए हैं। मैं तो उनके हाथ मोहरा भर हूँ! महज़ एक गुलाम! औरंगज़ेब का जो हुकुम होगा वह अब मानना होगा। दयानतदारी, ईमानदारी, नमक हलाली, सब बकवास हैं! किन्तु हृदय गवाही न देता था। मुकर्रम ने फिर तिपाई की शीशी को घूरा, जैसे जाल में फँसा हरिण बधिक को ताक रहा हो। कुछ संकल्प किया, फिर भी आँखें अपने आप बन्द हो गईं। आँख खोलने का साहस न होता था। मुँदी निगाहों, हाथ फैलाये मुकर्रम तिपाई की ओर बढ़ा था, पागल-सा, खोया-सा हाथ फैलाये। फैले हाथ से टकरा कर शीशी गिर ही जाती, यदि बीच में मीठी खिलखिलाती आवाज़ उसे न टोक देती—"क्यों जनाब! क्या कोई नाटक हो रहा है?"

मुकर्रम ने आँखें खोल दीं और फैले हाथ पीछे कर लिये, जैसे चोरी करते पकड़ा गया हो। सामने शाहजहाँ की मुख्य परिचारिका गुल-अनार थी, ओंठों पर स्मित लिये। मुकर्रम के सपनों की साकार प्रतिमा। मुकर्रम ने सन्तोष की लम्बी साँस ली। गुल की ठोड़ी के तिल को अपलक निहारता रहा। गुलाबी ओढ़नी में लिपटी गुल-अनार अपनी लम्बी नागिन-सी वेणी से खेलती आगे बढ़ आई। 'रात की रानी' की भीनी-भीनी सुगन्ध वातावरण में बस गई। गुल ज़ोर से खिलखिलाई,

"दवादारू का झंझट भूल कर यह क्या करने लगे ? क्या खूब शायराना अन्दाज़ है जनाब का !" हँसती गुल का गोरा रंग कुन्दन-सा हो गया। नाभि पर हीरों से जड़ी करधनी कमर में थिरक उठी। मुकर्रम ने पीड़ा से उसकी गहरी तरल आँखों में झाँका और पुकारा—"गुल !"

गुल की हँसी क्षण भर में विलीन हो गई, जैसे तुषारपात हुआ हो। उसे परिस्थिति की गम्भीरता का बोध हुआ। "गुल, तुम शायद मुझे बुलाने आई हो, शाह को दवा देने के लिये !" मुकर्रम ने हारे जुआरी के से स्वर में कहा। गुल ने अपनी लम्बी पतली नाक हिलाकर हुँकारी भरी सहमे नेत्रों से, जैसे उससे कुछ अपराध बन पड़ा हो।

एकाएक मुकर्रम के चेहरे पर प्यार दौड़ गया। उसने आँखें बन्द कर लीं और बोला—"गुल तुम्हें याद है, हमने क्या सोचा था ?" बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वह बोलता गया—"सोचा था, हम दोनों इस दुनिया को छोड़ जायेंगे, इस मक्कारी की दुनिया को, फरेब की दुनिया को ! और शायद वह समय अब आ गया है !"

गुल को सब बातें याद थीं। उसे यह भी याद था कि दोनों ने फतेहपुर सीकरी में जाकर बसने का और वहीं विवाह करने का इरादा किया था। मुकर्रम ने गम्भीर सीधे स्वर में पूछा, मानो कोई न्यायाधीश अपने पुत्र की फाँसी की घोषणा कर रहा हो—"मुझे फ़र्ज़ अदा करना चाहिए न गुल। मुझे लोग नमक हराम कहें, यह तुम पसन्द करोगी ?"

गुल के गले से इतना ही निकला—"फ़र्ज़ ! मुकर्रम। मैं क्या कभी तुम्हारे रास्ते में रुकावट...?" इसके बाद उससे बोला नहीं गया !

मुकर्रम को जैसे उत्तर मिल गया। उसके चेहरे पर दृढ़ता उभर आई। आँखें खुल गईं। तिपाई की शीशी की दवा उसने अर्कों की प्याली में पलट दी। शीशी को हिलाकर बन्द कर दिया और मुस्करा कर बोला—"बताओ गुल इसमें क्या है ?"

गुल-अनार के चेहरे पर फिर से हँसी दौड़ गई। मानो सुबह की किरणों के स्वागत में कमल खिल गया हो। बोली—"तुम्हारे हाथ का ज़हर भी अमृत है !"

"यह अमृत पीकर अमर हो जाऊँ न गुल ?"

"क्यों नहीं ?" गुल ने निश्चिन्त उत्तर दिया।

"लेकिन फिर तुम कैसे पहुँचोगी मुझ तक ?" मुकर्रम ने पूछा।

"मर कर मेरे आक़ा !" गुल-अनार ने तुरन्त उत्तर दिया।

मुकर्रम को जैसे समस्या का हल मिल गया हो। वह आगे बढ़ आया। गुल की ठोड़ी ऊँची कर मुकर्रम ने उसकी आँखों में देखा। और गुल झुक गई।

आगरे का किला। ठण्ड के दिन। रात के बारह बजे का गजर बजा। चारों ओर हवा साँय-साँय चल रही थी और दूर पर सियारों की हुआ-हुआ सुनाई दे रही थी। किले में जहाँ-तहाँ जलती मशालें दीख पड़ती थीं, जैसे रात के वीराने में किसी की चिता के अंगारे उसासें ले रहे हों।

मुकर्रम, दवा की शीशी लेकर सम्मन बुर्ज में हाज़िर हुआ। फरमान में यही समय लिखा हुआ था। उसे ज्ञात था, यहीं-कहीं दीवारों से चिपके औरंगज़ेब की तेज़ निगाहें निगरानी कर रही होंगी। सामने शाहजहाँ था। मुकर्रम ने दवा प्याले में उँड़ेल कर आगे बढ़ा दी। शाहजहाँ के हाथों में प्याला उठा और ओंठों तक पहुँच गया।

"ठहरिए, जहाँपनाह !" हकीम ने एकाएक टोका। "आप को मुझ पर कभी शक नहीं होता ? दवाएँ जाँच कर ही पीनी चाहिएँ।"

"शक ! तुम पर ?" शाहजहाँ ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"जी हाँ।" मुकर्रम तलवार के-से पैने स्वर में बोला, "पहले मैं खुद इस दवा का इम्तिहान लूँगा !" और उसने शाहजहाँ के ओंठों पर टिके प्याले को छीन-सा लिया। अगले क्षण मुकर्रम था और प्याला। वह पूरा प्याला गट-गट पी गया। एकाएक चेहरे पर ज़ोर का पसीना आया, कमल पर फिसलती हुई जल की बड़ी-बड़ी बूँदों जैसा। मुकर्रम लड़खड़ा कर गिर पड़ा !

"ज़हर !!!" शाहजहाँ चीखा।

"मेरे खून में आपका नमक है, जहाँपनाह !" मुकर्रम कराहा।

चीख सुनकर गुल-अनार अन्दर से दौड़ी आई। मशाल की रोशनी में उसने देखा, ठगा-सा बूढ़ा शाहजहाँ खड़ा था। और उसके सामने पड़ा था अन्तिम साँसें गिनता, ढलते सूर्य-सा अपना मुकर्रम ! पास पड़े प्याले ने सारी कहानी कह दी। मुगलिया सल्तनत में यह सब होता ही रहता था। क्षण भर में वह सब कुछ समझ गई। मुकर्रम धीरे-धीरे बोला—"गुल प्यारी ! यह सब मैं नमक के लिए—" और तभी अन्तिम हिचकी ली।

गुल ने लम्बी चीख भरी। लगभग आधे मिनट तक सारे किले में वह करुण चीत्कार गूँजता रहा। फिर गहरी खाइयों और कठोर किले से टकराकर स्तब्धता की गोद में वह चीत्कार खो गया। गुल फूट पड़ी—"तुम अमर हो गए मुकर्रम ?" और कटे वृक्ष की भाँति वह उस पर जा गिरी।

बूढ़ा शाहजहाँ सिसक रहा था। वह बड़बड़ाया—"जिसे मैंने खून दिया, जो मेरा बेटा था, वह तो मेरी जान का गाहक बन बैठा ! और थोड़े से नमक के लिए तुमने, मेरी खातिर, अपनी जान दे दी मुकर्रम !"

पीछे दीवार से सटी हुई एक छाया एकाएक हिली। शहन्शाह आलमगीर औरंगज़ेब बुरी तरह मात खा कर चुपचाप खिसक जाने की कोशिश कर रहा था।



पुस्तक समालोचना

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के बालोपयोगी प्रकाशन

पता—ज्ञानवापी, पोस्ट बौक्स नं० ७०, बनारस।

ज्ञान की कहानियाँ (चार भाग) : लेखक—सी० एस० भण्डारी; प्रत्येक की पृष्ठ संख्या ३२; प्रत्येक का मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

चारों भागों में कुल मिला कर ५६ कहानियाँ दी गई हैं। इन कहानियों के स्रोत विभिन्न हैं। पंचतन्त्र, ईसप, लोक-साहित्य तथा महापुरुषों के जीवन—इन सभी से उपयोगी और ज्ञानवर्धक कहानियाँ इन चारों भागों में एकत्र की गई हैं। प्रत्येक कहानी में दो चित्र दिए गए हैं। कहानियों की भाषा बालोपयोगी तथा अच्छी है। पुस्तकों की छपाई दो रंगों में है, टाइप बड़ा है और कागज़ श्रेष्ठ कोटि का है।

आदि मानव की कहानी : लेखक—योगेन्द्रनाथ शर्मा; पृष्ठ ४०; मूल्य सवा रुपया।

तीन रंगों में छपी इस सुन्दर पुस्तिका में आदि मानव की जीवन-कथा २० मनोरंजक कहानियों के रूप में दी गई है।

दूध-बताशा : लेखक—सुधाकर पाण्डेय; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य सवा रुपया।

यह पद्यात्मक रंगीन पुस्तिका नन्हे मुन्नों के लिए है। जिस आयु के बच्चों के लिए 'दूध-बताशा' लिखी गई है, उस आयु की दृष्टि से इसकी शैली कठिन है। चित्र निस्सन्देह अच्छे हैं।

अनिता सरकस गई : लेखक—बालबन्धु; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य सवा रुपया।

इस पुस्तिका में अनिता नाम की दिल्ली-निवासिनी एक लड़की सरकस देखने जाती है और वहाँ नए-नए जानवरों को देखती है। पुस्तिका मनोरंजक शैली में लिखी गई है।

फलों का झोला : लेखक—मोहन लहरी; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य सवा रुपया।

'फलों का झोला' में पद्यात्मक शैली द्वारा विभिन्न फलों का परिचय दिया गया है। पद्य सरल तथा आकर्षक शैली में लिखे गए हैं।

चाँद-सितारे : लेखक—हरिऔध; पृष्ठ ३०; मूल्य सवा रुपया।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय हरिऔध की एक बालोपयोगी अत्यन्त आकर्षक रचना का यह बहुत सुन्दर और सचित्र संस्करण, हमें विश्वास है कि अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध होगा।

सितारों की बरात : लेखक—एस० सी० खत्री; पृष्ठ ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

पद्यात्मक इस पुस्तिका में विभिन्न सितारों का परिचय दिया गया है। पद्य रचना आकर्षक, सरल और प्रवाहमयी है।

हाथी दादा : लेखक—बालबन्धु; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना। दमकलवाले और मोती : लेखक—बालबन्धु; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

इन दोनों पुस्तिकाओं में क्रमशः हाथी तथा कुत्ते का वर्णन दो कहानियों के रूप में दिया गया है। दोनों लम्बी कहानियाँ आकर्षक शैली में लिखी गई हैं। छपाई तथा चित्र सुन्दर हैं।

पढ़ लो बेटा पढ़ लो : लेखक—बेणीमाधव शर्मा; पृष्ठ संख्या ४८; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

अक्षराभ्यास प्रारम्भ करने वाले बच्चों के लिए।

मुन्नू की दुनिया : लेखक—हरीश; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

उपर्युक्त प्रवेश पुस्तिका के बाद पढ़ने के लिए।

भों-भों इंजन : लेखक—बालबन्धु; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

छोटे बच्चों के लिए।

रानी घोड़ी : लेखक—बालबन्धु; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य साढ़े पन्द्रह आना।

इन सभी पुस्तकों की छपाई-सफ़ाई सुन्दर और आकर्षक है। रंगीन चित्रों वाली इन बालोपयोगी पुस्तकों के दाम भी अधिक नहीं रखे गए। हम चाहते हैं कि हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों से बालोपयोगी साहित्य लिखवाए। हिन्दी में इस तरह के साहित्य की बहुत बड़ी आवश्यकता है। बंगला में महाकवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर तथा अन्य सुप्रसिद्ध लेखकों ने यथेष्ट बालोपयोगी साहित्य लिखा है, पर अभी तक हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

ईशोपनिषद्भाष्य : लेखक—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति; प्रकाशक—गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार; पृष्ठ संख्या १५०; मूल्य दो रुपये।

वैदिक साहित्य एक गहन वन के समान है जिसमें उपनिषद् इस वन में बहता एक ऐसा शीतल जल का झरना है जिसके किनारे बैठ कर इस वन की थकान को मिटाया जा सकता है। जितने भी प्राचीन

आचार्य हुए हैं, उन्होंने उपनिषदों पर लिखना आवश्यक समझा है। इन उपनिषदों में ईशोपनिषद् का प्रमुख स्थान है और उसी पर विद्वान् लेखक ने यह भाष्य लिखा है। पुस्तक को तेरह परिच्छेदों में बाँटा गया है और एक-एक परिच्छेद में इस उपनिषद् के किसी एक मुख्य विचार को लेकर उसकी सुन्दर व्याख्या की गई है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तथा 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—ये दो परिच्छेद बड़े रोचक ढंग से लिखे गए हैं। सारी पुस्तक के लिखने का ढंग हृदयाकर्षक है और आत्मिक-ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए भटकने वालों को ज्ञान-रस पिलाने का यह पुस्तक उत्तम साधन बन सकती है। जैसे बीज-गणित तथा रसायन-शाला में फ़ारमूले बने होते हैं और एक-एक फ़ारमूले में उनका अथाह ज्ञान सिमटा पड़ा होता है, इसी प्रकार उपनिषदों का एक-एक वाक्य अध्यात्म-शाला का एक-एक फ़ारमूला है—उसे जितना भी फैलाया जाए, थोड़ा है। इस व्याख्या को करते हुए प्राचीन आचार्य प्रमाणों का संग्रह कर दिया करते थे, एक वाक्य की पुष्टि में वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद् न जाने क्या-क्या इकट्ठा कर देते थे, वर्तमान युग में इस प्रकार की प्रमाणवादी व्याख्या उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। आजकल तो उपनिषद्-वाक्य को खोल कर समझा देना, प्रमाणों से पुष्ट न कर उसे बुद्धि-गम्य बना देना ठीक समझा जाता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने प्रमाण संग्रह करने में कमी नहीं की, परन्तु साथ ही उपनिषदों के फ़ारमूलों को उनकी गुत्थियों में से निकाल कर स्पष्ट रूप से खोल कर रखने का अधिक प्रयत्न किया है। पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाने में पाठक के हृदय पर लेखक की विद्वत्ता या प्रतिभा की इतनी छाप नहीं पड़ती जितनी उसके उत्तम तथा सुसंस्कृत लेखक होने की छाप पड़ती है। पुस्तक उपादेय है।

गीता-नवनीत : लेखक—श्री केशवदेव आचार्य; प्रकाशक—श्री अरविंद पुस्तकालय, रेलवे रोड, हापुड़; पृष्ठ संख्या २४२; मूल्य साढ़े तीन रुपये।

श्री केशवदेव आचार्य वेदान्त शास्त्र के पंडित तथा पाश्चात्य-दर्शन में उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त किये हुए हैं। आप गृहस्थाश्रम के जंजाल में नहीं पड़े और सीधे सन्यस्त हुए हैं। वर्षों तक आपने पांडीचेरी के अरविन्द आश्रम में रह कर साधना की है और श्री अरविन्द के साहित्य का मनन किया है। श्री अरविन्द वर्तमान युग के उच्च-कोटि के अध्यात्म शास्त्री हुए हैं और उन्होंने अनेक मौलिक ग्रन्थ अंग्रेज़ी में लिखे हैं। श्री अरविन्द की विचार-धारा का आधार वेद, उपनिषद् तथा गीता को कहा जा सकता है और इसीलिए उन्होंने जहाँ 'दिव्य-जीवन' आदि ग्रन्थ लिखे वहाँ गीता पर भी अनेक प्रबन्ध लिखे। श्री अरविन्द के उन्हीं प्रबन्धों के आधार पर श्री केशवदेव आचार्य ने 'गीता-नवनीत' नामक ग्रन्थ तैयार किया है। श्री अरविन्द के गीता पर लिखे निबन्धों को पढ़ने की रुचि श्री केशवदेव जी को तब हुई जब एक सज्जन ने उनसे यह कहा कि जिस समय श्री अरविन्द का 'एसेज़ आन दी गीता' छपा था, उस समय ऐसी प्रसिद्धि हो गई थी कि इसके लेखक वही हो सकते हैं, जिन्होंने मूल गीता कही है। श्री अरविन्द के गीता-प्रबन्धों को पढ़ कर, उन्हें मथ कर, श्री केशवदेव जी ने यह गीता-नवनीत निकाला है। पुस्तक को तेरह परिच्छेदों में बाँटा गया है, जिनमें गीता और उसका मानव जीवन से सम्बन्ध, गीता का अधिकारी, गीतोपाख्यान का तात्पर्य, सिद्धान्त-सार, सांख्य और ज्ञान-योग, क्षत्रिय-धर्म, बुद्धि-योग, कर्मयोग का महत्त्व-ज्ञान, कर्म और संन्यास-यज्ञ का रहस्य, अहंकार का त्याग, मुक्त-कर्म तथा दिव्य-कर्म—इन विषयों की चर्चा की गई है। प्रत्येक विषय का प्रतिपादन श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से किया गया है और हमें यह कहते हुए संकोच नहीं होता कि वह दृष्टिकोण दिमाग में बैठता जाता है, हृदय को खींचता है, उसमें नवीनता तथा अपूर्वता है। गीता पर जिन्होंने तिलक महाराज का भाष्य पढ़ा है उन्हें श्री अरविन्द के विचार भी जानने चाहिएँ। लेखक ने श्री अरविन्द के विचारों को हिन्दी में प्रकट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

गो-सेवा : लेखक—महात्मा गान्धी; प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या २४०, मूल्य डेढ़ रुपया।

महात्मा गान्धी की 'अहिंसा' उनके जीवन का एक क्रियात्मक सिद्धान्त था और इसे वे हर दिशा में लागू करते थे। इस सिद्धान्त को अपने जीवन का आधारभूत सिद्धान्त समझते हुए उनका ध्यान गो-रक्षा की तरफ़ न जाता यह असम्भव था। महात्मा जी के लेखों में गो-सेवा, गो-रक्षा आदि के विचार जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं। गो-सम्बन्धी उन्हीं सब लेखों का इस पुस्तक में संग्रह कर दिया गया है। महात्मा जी के लेख-संग्रहों में से गो-सम्बन्धी लेखों को अलग से ढूँढ़ने की मेहनत को इस संग्रह ने बचा दिया है और जो व्यक्ति सिर्फ़ गो-सम्बन्धी उनके विचारों को जानना चाहें उनके लिए सहल रास्ता बना दिया है। पुस्तक की ५ हज़ार प्रतियाँ पहले बिक चुकी हैं और यह संस्करण भी ५ हज़ार प्रतियों का निकला है। इससे स्पष्ट है कि महात्मा जी के गो-सम्बन्धी विचारों को जानने वालों की संख्या पर्याप्त है।

प्रौढ़ और सामाजिक-शिक्षा के नए प्रयोग : लेखिका—श्रीमती उर्मिला जौहरी एम० ए०; प्रकाशक—विद्या मन्दिर लिमिटेड, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या १०४, सचित्र तथा सजिल्द पुस्तक का मूल्य साढ़े तीन रुपया।

श्रीमती उर्मिला जौहरी ने अमेरिका जाकर वहाँ प्रौढ़ और सामाजिक शिक्षा के जो प्रयोग हो रहे हैं, उनका क्रियात्मक रूप से ज्ञान उपलब्ध किया। अपने उन्हीं अनुभवों के आधार पर श्रीमती जौहरी ने यह पुस्तक लिखी है जिसमें अमेरिका में चल रही प्रौढ़ तथा सामाजिक-शिक्षा का सजीव चित्र खींचा है। हमने अभी तक इस विषय पर जितनी पुस्तकें देखी हैं उनमें यही एक पुस्तक देखने में आई है जिससे सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ क्रियात्मक निर्देश लेकर उन्हें अपने देश में भी घटाया जा सकता है। सामाजिक शिक्षा का आजकल नाम बहुत लोग लेते हैं, परन्तु प्रौढ़ व्यक्तियों को अक्षराभ्यास करा देने के अतिरिक्त वे कुछ नहीं करते। श्रीमती जौहरी की इस पुस्तक में जगह-जगह ऐसे नवीन निर्देश मिलते हैं, जिन्हें हम अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार क्रियात्मक रूप दे सकते हैं।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

सर्वोदय साहित्य

मेरी सर्वोदय यात्रा : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या ८४; मूल्य ७ आने।

सर्वोदय दैनिक जीवन में : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, प्रयाग; पृष्ठ संख्या ४२; मूल्य ६ आने।

समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १०४; मूल्य १२ आने।

भूदान, श्रमदान, जीवनदान : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १०४; मूल्य १)।

राजव्यवस्था सर्वोदय दृष्टि से : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १६०; मूल्य १॥)।

समाज-रचना सर्वोदय दृष्टि से : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १६४; मूल्य १॥)।

सर्वोदय अर्थशास्त्र : लेखक—भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या २२२; मूल्य ४ रुपये।

आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम : लेखक—जवाहिरलाल जैन; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग; पृष्ठ संख्या ५६; मूल्य ७ आने।

श्री भगवानदास केला ने राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, बिहार, कलकत्ता पुरी आदि में खादी केन्द्रों, शिविरों शिक्षा-संस्थाओं आदि का निरीक्षण किया। पुरुषों, स्त्रियों, विद्यार्थियों, अध्यापकों और रचनात्मक कार्य करने वालों से तरह-तरह की सर्वोदय चर्चा हुई। लेखक इस यात्रा को सर्वोदय यात्रा क्यों कहते हैं, समझ में नहीं आया। वे तो कई तरह की चर्चा करते हैं, जो बहुत सुन्दर हैं, पर इन से सर्वोदय का क्या सम्बन्ध। एक उदाहरण लीजिए—"नगरा-सिलावली (मुरैना) में अक्तूबर मास में जो सामूहिक हत्याएँ हुईं उनसे तो परिस्थिति और भी अधिक शोचनीय प्रतीत हुई। शासन ने इसका सामना अपने ढंग से पुलिस और फ़ौज द्वारा किया। जनता में आतंक, अशान्ति और निराशा की भावना बहुत बढ़ गई। शान्ति और प्रेम को देश की नव-रचना का साधन मानने वालों को यह स्थिति एक चुनौती थी, जिसका जवाब दिया जाना आवश्यक था। इस प्रकार इस शिविर का महत्त्व स्पष्ट था।

"सामूहिक हत्याकाण्ड की बात—ऊपर जो सामूहिक हत्या की बात कही गई है, उसके विषय में हमें जो जानकारी प्राप्त हुई वह इस प्रकार है—डाकू लाखनसिंह से जनता की रक्षा करने के निमित्त सरकार ने इस क्षेत्र में पुलिस रखी हुई है, वह हवेली वाले जमींदार रघुबीर की हवेली में रहती है। इस पुलिस के होते हुए लाखनसिंह के दल ने गाँव के पाँच आदमियों की हत्या की। तब पुलिस ने कुछ न किया, पीछे १० अक्तूबर को सुबह उसने भिन्न-भिन्न स्थानों से सात व्यक्तियों को पकड़ा। ये ही सात व्यक्ति ११ अक्तूबर को सवेरे सिलावली गाँव के पास मारे गए। पुलिस का कहना है कि ये आदमी संघर्ष में मारे गए, पर गाँव वालों की मान्यता है कि ये निर्दोष थे, इनमें से दो तो सरकारी पेन्शन पाते थे, और डेढ़-दो महीने पहले तक पेन्शन की रकम लाए थे। पुलिस का इन सात आदमियों को दोषी कहना असत्य है। गाँव वालों का यह भी कहना था कि 'हम एक ओर लाखनसिंह से सताए जाते हैं तो दूसरी ओर पुलिस से। पुलिस हमारी रक्षक नहीं है, इसे तुरन्त हटा लिया जाना चाहिए।' हाँ, इस तरह की बातें आदमी साफ़-साफ़ खुले-आम नहीं कहते, उन पर आतंक छाया हुआ था।"

इसके बाद लेखक ने यह बताया कि लाखनसिंह डाकू क्यों बना? यदि लेखक ने उसे सर्वोदय के मन्त्र द्वारा सुधारा होता, या कम-से-कम चेष्टा की होती, तो इस पुस्तक के नाम की कुछ सार्थकता होती। यह तो कहीं रिपोर्ताज है, कहीं भ्रमण कहानी, कहीं आत्मकथा। किसी भी शब्द को महज़ एक नारे के रूप में यत्रतत्र प्रयोग करना उसे इतरीकृत करना है।

'सर्वोदय दैनिक जीवन में' पुस्तक में खान-पान, पहनावा, खेती, उद्योगधन्धे, व्यापार तथा व्यवसाय पर सर्वोदय का दृष्टिकोण बताया गया है। थोड़े में यह दृष्टिकोण इस प्रकार है—'संसार में सर्वोदय की यह भावना बहुत पुराने जमाने से है। भारत के ऋषियों और विद्वानों ने हजारों वर्ष पहले कहा था कि अपने और पराए की बात छोटे दिल वाले करते हैं, उदार हृदय वालों के लिए तो सारा संसार ही अपना परिवार है। इस जमाने में इस भावना के मुख्य प्रचारक महात्मा गान्धी हुए हैं और उनके शिष्य विनोबा अब पैदल यात्रा करते हुए भूदान-यज्ञ, सम्पत्तिदान-यज्ञ और श्रमदान-यज्ञ के द्वारा जगह-जगह लोगों में यह भावना फैला रहे हैं।'

'किसी पदार्थ का उपयोग करते समय हम यही न सोचें कि हमारी जरूरत पूरी हो जाए, बल्कि हम यह भी विचार करें कि क्या लोकहित की दृष्टि से इसका इसी प्रकार उपयोग किया जाना उचित है, या इसमें कुछ फेर-बदल होना चाहिए। खान-पान में लेखक बाजार, दुकान तथा होटल में खाने के विरुद्ध राय देते हैं। लेखक पास के ही स्थानों में पैदा होने वाली चीजों पर जोर देते हैं और कहते हैं: "इसके अतिरिक्त यह भी याद रखने की बात है कि साधारणतया जो व्यक्ति जहाँ का निवासी होता है, उसकी प्रकृति के लिए वहाँ के ही पदार्थ अधिक अनुकूल रहते हैं। इसलिए भी हमारे वास्ते स्थानीय पदार्थों के उपयोग की बात का विशेष महत्त्व है।" पहनावे में लेखक कहते हैं "हम कई-कई जोड़ी कपड़े रखते हैं और फिर भी अगर बस चले तो कुछ नए कपड़े बनाने की योजना करते रहते हैं। क्या हम नहीं जानते कि हमारे अनेक भाई-बहनों की अपनी शरीर-रक्षा के लिए अथवा लज्जा-निवारण के लिए भी यथेष्ट वस्त्र नहीं मिलता? हम लोग

भारत में रहते हुए और भारतीय कहलाते हुए भी वास्तविक भारत से (गरीब ग्रामीणों से) अपरिचित से रहते हैं अथवा जान-बूझकर उनकी ओर देखना और उनका ख्याल करना नहीं चाहते। हमारा किसान भाई प्रायः 'आधा-नंगा' रहता है।'' सादापन का विचार ठीक है, पर एक व्यक्ति के कम कपड़े पहनने से अधनंगों को लाभ होगा, यह बात समझ में नहीं आती। क्या ऐसा कोई नियम है? हाँ यदि कोई कम-से-कम कपड़े रखकर बाकी अधनंगों में बाँटता रहे तो बात और होगी। पर जब लेखक जूठन रखने का यह कह कर विरोध करते हैं कि हमारी जूठन गरीबों या नीची कही जाने वाली जातियों के आदमियों के काम आती है, तो मानवता का अपमान करना है, हम किसी को जूठन क्यों दें, तब फिर कपड़ों का दान देना क्यों अच्छा होगा? खेती के विषय में कहते हुए लेखक व्यापारिक फसल के बजाय चावल और गेंहू उगाने पर जोर देते हैं। यह कहाँ तक सम्भव है? क्या दोनों में समन्वय नहीं हो सकता? यदि हम माल बेचेंगे नहीं तो मशीन आदि खरीदेंगे कैसे? तो क्या हमारी योजनाएँ सर्वोदय विरोधी आधार पर बनी हैं?

'समाजवाद, साम्यवाद, और सर्वोदय' में लेखक ने समाजवाद और साम्यवाद के मुकाबले में श्रेष्ठता दिखलाई है, उनका मुख्य कथन इस सम्बन्ध में इस प्रकार है—'समाजवाद का सिद्धान्त है कि राज्य भर के सब आदमियों की सम्पत्ति का अधिकार राज्य को हो, किसी आदमी के पास कोई निजी सम्पत्ति न हो। हरेक आदमी की निजी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जाए, और सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो। इसके विरुद्ध, सर्वोदय में किसी भी आदमी के पास अपनी निजी सम्पत्ति हो सकती है, और वह चाहे जितनी हो सकती है। हाँ, सम्पत्ति का अधिकारी अपने आपको उसका ट्रस्टी समझे और उसका उपयोग समाज की एक अमानत या धरोहर के रूप में करे। अगर कोई धनी यह शर्त पूरी नहीं करता तो जनता को अधिकार है कि वह उसे ट्रस्टी न रहने दे; हाँ, इसमें अहिंसात्मक उपायों से ही काम लिया जाए।' प्रश्न यह है कि यदि वह जबरदस्ती ट्रस्टी बना रहे तो? यदि वह अपने धन से जन बढ़ा ले और भाड़े के टट्टू दार्शनिक उसका साथ दें? पर लेखक का कहना है विजय सत्य की अवश्य होगी।

'भूदान, श्रमदान, जीवनदान' में विनोबा के विचार प्रतिपादित हैं। 'राजव्यवस्था—सर्वोदय की दृष्टि में' पुस्तक में सर्वोदय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'समाज रचना सर्वोदय की दृष्टि में' पूर्वोक्त ग्रन्थ का पूरक है।

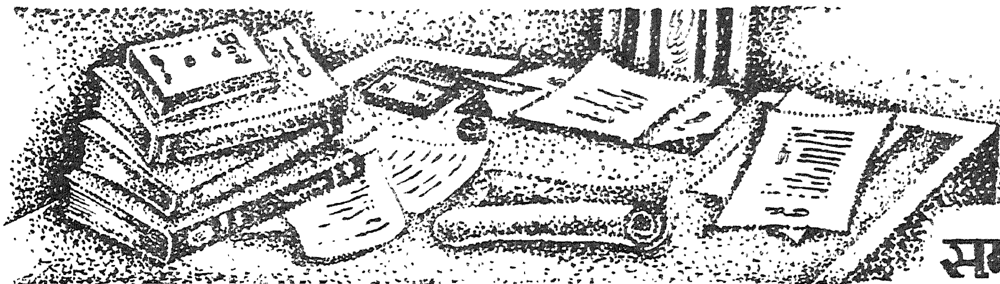
'सर्वोदय अर्थशास्त्र' में अर्थशास्त्र में सर्वोदय का क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, यह बताने की चेष्टा की गई। भूमिका में श्रीकृष्णदास जाजू कहते हैं प्रचलित अर्थशास्त्र की किताबों में जो विचार पाये जाते हैं, वे प्रायः पाश्चात्य राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था को लेकर हैं, यंत्र-युग शुरू होने पर वहाँ जो केन्द्रित और पूंजागत आर्थिक व्यवस्था निर्माण हुई, उस पर वे आधारित हैं, समय के साथ कुछ परिवर्तन जरूर हुआ, पर मूल ढाँचा जैसा का तैसा बना रहा, इसमें प्रधानता है बड़े-बड़े केन्द्रित उद्योगों की, जिनसे बनी हुई चीज जगत् के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचती हैं; इतना ही नहीं, बरन् जहाँ आवश्यकता नहीं है, वहाँ भी नाना युक्ति-प्रयुक्तियों से लाद दी जाती हैं, और उनके लिए कच्चा माल जगत् भर से बटोर कर और कई देशों को अपने अधीन कर प्राप्त करने की आवश्यकता खड़ी होती है, बड़े-बड़े वर्ग-भेद खड़े हो कर संघर्ष के कारण बनते हैं, स्पर्द्धा तो उसका प्राण ही है, जिसमें छोटे पीसे जाते हैं, और गरीबों का शोषण होता है। कुछ थोड़े व्यक्तियों के हाथ में विराट स्वरूप के कारोबार आकर, भले ही कानूनन न हों, व्यवहार में एकाधिकार आ जाता है। वे अपनी संगठित शक्ति से जगत् में मनचाही उथल-पुथल कर सकते हैं। सब देशों में प्रजातंत्र की दुहाई दी जाती है; पर जहाँ आर्थिक व्यवस्था जनतांत्रिक न रहते हुए केन्द्रित रहती है और उसे कानून से संरक्षण मिलता है तो प्रजातंत्र वास्तव में एक दिखावा रह जाता है, आज के पेचीदे समाज में राज-नीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का बहुत प्रभाव है, अगर इनका ठीक मेल न हो तो समाज का सच्चा हित कैसे सध सकता है? इस व्यवस्था में अमीरों का ही बोलबाला रहता है गरीबों को उनकी मर्जी पर अव-लम्बित रहना पड़ता है, न कि अपने मानवोचित हक के आधार पर, इस पूंजीवाद की आँच कुछ मंद करने के लिए अब राज्य का कारोबार 'वेलफेयर स्टेट' के नाम से चलने लगा है। समाजवाद भी आ खड़ा हुआ है, और विरोध में हिंसात्मक साम्यवाद तो है ही।''

''समाज में सुख-शान्ति रहने के लिए अर्थशास्त्र पैसे की जगह मानवता पर आधारित होना चाहिए, व्यक्ति का अपना निज मानवोचित स्वतन्त्र स्थान होना चाहिए; सबल हो या निर्बल, सबको स्वाभिमान-पूर्वक रहने का मौका मिलना चाहिए। सब प्रकार की कृत्रिम विषमताएँ मिट कर व्यवहार में यथासम्भव समता आनी चाहिए और स्पर्द्धा के बदले सहकार। मनुष्य को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में स्वावलम्बी रहे बिना सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नहीं; इसलिए ऐसी चीज़ों का उत्पादन विकेन्द्रित होना चाहिए। राजसत्ता भी यथासम्भव विकेन्द्रित हो। अपनी आवश्यकताएं बढ़ाने की अपेक्षा, मन और शरीर को स्वस्थ रखते हुए, कम-से-कम चीज़ों से काम चलाना चाहिए।'' जाजू जी यह मानते हैं कि—

''सर्वोदय का सम्पूर्ण अर्थशास्त्र लिख डालना आसान नहीं है, कहीं वैसे समाज का व्यापक पैमाने का नमूना हो और उसका कुछ समय तक परीक्षण हो तब कहीं उस शास्त्र के नियम और वे भी अंशतः ही हाथ आ सकते हैं, सर्वोदय समाज का रूप क्या हो, इस विषय में अब तक कुछ फुटकर विचार अवश्य किया गया है। पर उसका समग्र चित्र नहीं खींचा जा सकता; आज की दशा में इतना ही विवेचन किया जा सकता है कि अर्थशास्त्र के प्रचलित विचारों में सर्वोदय की दृष्टि से क्या फर्क होना चाहिए। इस किताब में यह किया गया है।''

लेखक धन तथा उसके उपयोग में सामाजिक दृष्टि को महत्त्व देते हैं। वे सादा जीवन और उच्च विचार पर ज़ोर देते हैं, पर वे यह स्पष्ट नहीं करते कि यदि उच्च रहन-सहन और उच्च विचार साथ-साथ हों तो उन्हें कोई आपत्ति होगी या नहीं। हाँ वे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने का अनिष्टकारी सनक मानते हैं। वे टूथ पेस्ट के बजाय राख या

(शेष पृष्ठ ७० पर)



सम्पादकीय

"बहता दरिया"

हाल ही में संसदीय हिन्दी परिषद् के वार्षिकोत्सव के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"जीवित भाषा तो एक बहते दरिया के समान होती है, जिसमें नए-नए पानी के समान नए-नए शब्द मिलते रहते हैं।" उन्होंने बताया कि अंग्रेज़ी भाषा में प्रति वर्ष लगभग ९,००० नए शब्दों की वृद्धि होती है। कितने ही शब्द अप्रचलित होकर पुराने पड़ जाते हैं। प्रधान मन्त्री ने कहा कि हिन्दी को भी नए-नए शब्द ग्रहण करने चाहिएँ ताकि हमारी भाषा समृद्ध हो सके। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य को भारत की एकता कायम रखने का सबसे बड़ा उपकरण स्वीकार करते हुए भी उन्होंने सलाह दी कि हिन्दी को अब पूर्ण रूप से अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनानी चाहिए। संस्कृत से पूरी सहायता लेते हुए भी सभी बातों में संस्कृत की नकल करना उचित नहीं है।

प्रधान मन्त्री की उक्त स्थापना निस्सन्देह मनन करने के योग्य है। आज हिन्दी जिस रूप में विद्यमान है, उस रूप पर भी कितने ही स्पष्ट प्रभाव देखे जा सकते हैं। अधिकांश शब्द संस्कृत तथा तद्भव भाषाओं से लिए गए हैं। मुहावरों और विभक्तियों पर उर्दू का प्रभाव है और शैली पर पिछले २९ वर्षों में अंग्रेज़ी का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा है। इन सब प्रभावों के अतिरिक्त अन्य भी कितनी भाषाओं से हिन्दी अपना शब्दकोश समृद्ध करती रही है।

कुछ राजनीतिक तथा अन्य कारणों से हिन्दी जगत के एक भाग में यह आन्दोलन भी चल पड़ा था कि हिन्दी में से वे सब शब्द निकाल दिए जाएँ, जो तद्भव या तत्सम नहीं हैं। यह प्रवृत्ति स्पष्टतः प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति थी। बहिष्कार की यह प्रवृत्ति पहले उर्दू जगत में आई और उसका गहरा प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। स्पष्टतः इस प्रवृत्ति ने हिन्दी को कमज़ोर बनाया। हिन्दी तो अभी विकास की दिशा में है और अभी हिन्दी को ज्ञान-विज्ञान के लाखों नए शब्दों का निर्माण करना है। इसके साथ-ही-साथ अभी हमें हिन्दी शैली का मानकरण करना है और शब्दों को निश्चित अर्थ देना है। इस स्थिति में शब्दों और मुहावरों के बहिष्कार की प्रवृत्ति और भी अधिक हानिकर होती है। हमें इस बात का हर्ष है कि हिन्दी जगत का बहुत बड़ा भाग अब इस प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं है और वह समझता है कि हिन्दी भी एक बड़ा बहता हुआ दरिया है।

इस प्रसंग में हमें यह भी निवेदन करना है कि हिन्दी में आज जो नए पारिभाषिक शब्द बनाए जा रहे हैं, वे न केवल हिन्दी के लिए अपितु भारत की सभी भाषाओं के लिए एक रूप में ही बनने चाहिए। इस स्थापना का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि भारत की १४ राष्ट्रीय भाषाओं के प्रतिनिधियों को एक साथ मिल कर सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करना चाहिए। तब ये १४ बहते दरिया एक साथ मिल कर एक शक्तिशाली महा समुद्र का निर्माण कर सकेंगे।

●

राष्ट्रीय प्लेग

हाल ही में हड़तालों का एक अत्यन्त जघन्य रूप देश के सामने आया है। खड़गपुर में यात्रियों (जिनमें अधिकांश रेलवे कर्मचारी थे) से भरी गाड़ी के एंजिन को चलाकर हड़तालियों ने ड्राइवर और उसके सहकारी को ज़बर्दस्ती एंजिन से नीचे खींच लिया। यात्रियों से भरी इस चलती गाड़ी को दुर्घटना का शिकार होना ही था। स्वभावतः बहुत बड़ी संख्या में इस गाड़ी के यात्री ज़ख्मी हुए। उसके बाद कालका, अम्बाला, दिल्ली आदि स्टेशनों पर भी हड़तालियों ने रेलों के यातायात को रोक दिया। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है। खड़गपुर में जो गुण्डागीरी हुई, वह ट्रेड यूनियनों के इतिहास में शायद सबसे अधिक काला कारनामा है। हमारा देश आज पुनर्निर्माण के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। बहुत बड़ी आबादी वाला हमारा यह देश सदियों की पराधीनता के कारण इतना दुर्बल और दरिद्र हो चुका है कि स्वाधीन भारत की पहली पीढ़ी का यह पुण्य कर्तव्य है कि वह अपनी सारी शक्ति अपने देश को सम्पन्न बनाने में लगाए। यह इतना बड़ा काम है कि हमें बरसों तक जुट कर अध्यवसाय करना होगा। इन परिस्थितियों में इस तरह की हड़तालें प्लेग से कम खतरनाक नहीं हैं। यह ऐसी प्लेग है, जो न केवल देश के आर्थिक विकास में अड़चन सिद्ध होगी, अपितु जो काला बाजार आदि को भी प्रोत्साहित करेगी। देश के नवयुवकों को इस तरह के राष्ट्र विरोधी कार्यों को रोकने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

●

देहातों के लिए नाटक

हमारे देश में साक्षर लोगों की संख्या २० प्रतिशत के लगभग है। देश की ८० प्रतिशत जनता अभी तक निरक्षर है। दूसरे शब्दों

में भारत में आज प्रचार के लिए जितना साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है, वह हमारे देश की ८० प्रतिशत जनता के लिए निरर्थक है। और नई बातें बताने तथा समझाने की सबसे बड़ी आवश्यकता इसी ८० प्रतिशत जनता को है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस ओर ध्यान देने का गम्भीर प्रयत्न किया गया था और अब दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के साथ इस काम का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। यह काम इस प्रकार किया जा रहा है—जादू की लालटेन से तस्वीरें दिखाना, तस्वीरों वाले बड़े-बड़े पोस्टर प्रकाशित करना, शिक्षाप्रद गीतों का प्रचार करना, रेडियो द्वारा शिक्षा तथा देहातों के लिए नाटक मण्डलियाँ बनाना।

हाल ही में इनमें से कुछ नाटकों का प्रदर्शन दिल्ली में किया गया। इन नाटकों में 'सवेरा' नामक नाटक विशेष लोकप्रिय सिद्ध हुआ। नाटक का अभिनय एक सफल संगठन की अपेक्षा करता है। नाटक के अभिनय द्वारा अभिनय करने वालों को भी बहुत अच्छा प्रशिक्षण मिलता है। यह आवश्यक है कि सबसे पूर्व देहातों के लिए अच्छे नाटक लिखवाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया जाए और उसके बाद विभिन्न विश्वविद्यालयों में इन नाटकों को खेलने वाली नाटक मण्डलियाँ तैयार की जाएँ। ये नाटक मण्डलियाँ यथावसर देहातों में उक्त नाटकों का अभिनय करें, तो उससे न केवल ग्रामवासियों को भी उचित शिक्षा दी जा सकेगी अपितु यह अनुभव हमारे नवयुवक विद्यार्थियों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। देहातों में ग्रामवासियों की निजी नाटक मण्डलियाँ तो बनानी ही चाहिएँ। इन देहाती नाटक मण्डलियों में परस्पर सामुख्य की प्रथा जारी करना भी आवश्यक है।

●

पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ६८ का शेषांश)

नमक अधिक पसन्द करेंगे। वे दो-तीन जोड़ी कपड़ों से सन्तुष्ट होने को कहते हैं। यह सब एक हद तक ठीक है, पर कहीं इस प्रकार के विचार 'गरीबी का दर्शन' बन कर न रह जाय जिससे लोगों में सन्तोष हो जाए, वे विद्रोह भावना से बचे रहें और धनी आनन्द करते रहें।

"आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम" में लेखक इन विचारों को सामने रखते हैं—"सबै भूमि गोपाल की," "सम्पत्ति सब रघुपति के आहि" सब एक ही वर्ग श्रमिक वर्ग में शामिल हों, वेतनों की विषमता दूर हो, श्रम ही विनिमय और जमा का साधन हो, ग्रामोद्योगों को प्राथमिकता दी जाय, यन्त्रोद्योग मर्यादित तथा पंचायती हो, व्यापार संस्थागत हो, जीवन-यापन के लिए उत्पादक उद्योग अनिवार्य बने।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

ज्ञान सरोवर (भाग १)—इस पुस्तक को भारत सरकार के लिए मक्तबा जामिया, जामिया नगर, देहली ने तैयार किया है, और इसका प्रकाशक भारत सरकार का शिक्षा मन्त्रालय है। पुस्तक की भूमिका में श्री हुमायूँ कबीर ने इसके प्रकाशन का प्रयोजन निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किया है—"भारत सरकार ने जनसाधारण के लिए "ज्ञान सरोवर" के नाम से एक विश्वकोश लिखाने की व्यवस्था की है। इस विश्वकोश की तैयारी में यह ध्यान रक्खा गया है कि आम लोग इसे पढ़ें तो आजकल की दुनिया में जो नए-नए माली और राजकाजी विचार पैदा हो रहे हैं उनको समझने लगें और साइंस और टेकनीक में जो दिन-दिन बढ़ती हो रही है उसे भी जान लें। इस तरह अपनी जानकारी बढ़ाकर हमारे देश के लोग नए भारत के और अच्छे नागरिक बन सकेंगे। इन सब बातों को इस विश्वकोश में ऐसी बोली में बताने की चेष्टा की जाएगी जो आम लोगों की बोली है और जिसे सब सहज में समझ सकते हैं। इसी प्रयोजन को दृष्टि में रख कर इस "ज्ञान सरोवर" में ब्रह्माण्ड की कहानी, आदमी की कहानी, हमारी दुनिया, हमारे पड़ोसी, विश्वसाहित्य, विज्ञान की बातें, इंजीनियरी के चमत्कार, रोग पर विजय, जीव-जन्तु और पौधे आदि शीर्षकों से बहुत-सी उपयोगी बातों की जानकारी कराने का प्रयत्न किया गया है। ज्ञान-विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी बातों का परिचय इस पुस्तक में आ गया है और आशा है कि जब इस "सरोवर" के सब भाग प्रकाशित हो जाएँगे, तो उनमें उन सब बातों का समावेश हो जाएगा, जिनका ज्ञान स्वतन्त्र भारत के नए नागरिकों को अवश्य होना चाहिए।

क्योंकि यह "पुस्तक नए पढ़े हुए और कम पढ़े लोगों के लिए" लिखी गई है, अतः यह ध्यान में रखा गया है कि इसकी भाषा बहुत सरल हो, और विषय के प्रतिपादन का ढंग भी रुचिकर हो। इस उद्देश्य में पुस्तक के लेखकों को सफलता भी प्राप्त हुई है। आठ-दस साल की आयु के बालक भी इसे रुचिपूर्वक पढ़ते हैं, और एक बार शुरू करके उनका मन इसे छोड़ने को नहीं करता। निःसन्देह, इससे उनके ज्ञान में वृद्धि भी होती है। चित्रों के बाहुल्य के कारण पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। बड़े आकार के ३०४ पृष्ठों के लिए २ रु० मूल्य भी बहुत कम है।

पर कुछ बातें ऐसी हैं, जो भारत सरकार द्वारा प्रकाशित इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक के अनुरूप नहीं हैं। चित्रों के डिज़ाइन सुन्दर नहीं कहे जा सकते। महाभारत पुराण और कालिदास की कथाओं के साथ जो चित्र दिए गए हैं, उनकी वेशभूषा उस युग के अनुरूप नहीं है जिसके साथ इन कथाओं का सम्बन्ध है। जिस काल में ये ग्रन्थ लिखे गए थे, उसके अनेक ऐसे भग्नावशेष भी वर्तमान समय में मिलते हैं जिनमें उस युग की वेशभूषा को सूचित करने वाले चित्र अंकित हैं। यदि उनके आधार पर इन चित्रों के डिज़ाइन बनवाए जा सकते, तो बहुत उत्तम होता। पुस्तक के विविध प्रकरण किन सज्जनों के लिखे हैं, और इसका सम्पादन किन्होंने किया है, यह भी कहीं नहीं लिखा गया। पर इन साधारण कमियों के बावजूद यह "ज्ञान सरोवर" बहुत

उपयोगी प्रकाशन है, और इसको तैयार कराने के लिए मक्तबा जामिया साधुवाद का पात्र है।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

मेघदूत : रचयिता—नारायण सिंह भाटी; प्रकाशक—पीथल प्रकाशन, कचहरी रोड, जोधपुर; पृष्ठ संख्या १४४; मूल्य ढाई रुपया।

'मेघदूत' के अनेक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। श्री भाटी ने इस महान् काव्य का राजस्थानी में अनुवाद करके एक नवीन मार्ग-दर्शन किया है। श्री भाटी को अपनी मातृ-भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार है। इससे पहले आपका प्रथम राजस्थानी काव्य 'साँझ' प्रकाशित हुआ था जिसका सर्वत्र अभूतपूर्व स्वागत हुआ। 'मेघदूत' का अनुवाद भी सफल और सुन्दर कृति है। अनुवाद के साथ-साथ मूल काव्य और हिन्दी गद्यानुवाद भी दिया गया है जिससे कालिदास के इस ग्रन्थ-रत्न को सूक्ष्मता से समझने में सहायता मिलती है। अन्त में राजस्थानी शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। हम इस अनुवाद का स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि भाटी जी भविष्य में हमें अन्य सुन्दर अनुवाद देंगे।

तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त : लेखक—यज्ञदत्त शर्मा; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली; पृष्ठ संख्या १६०; मूल्य ढाई रुपया।

तुलसी पर अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गई हैं। तुलसी-साहित्य एक ऐसा अपार सागर है जिसमें जितनी ही गहरी डुबकी लगाई जाए, उतने ही नए-नए रत्न प्राप्त होते हैं। आलोच्य पुस्तक का उद्देश्य तुलसी-साहित्य पर कुछ नया प्रकाश डालना तो नहीं है, परन्तु तुलसी पर अब तक प्रकाशित साहित्य के आधार पर तुलसीदास की जीवनी, विचारधारा, रचनाओं आदि के विषय में संक्षेप में उपयोगी सामग्री एकत्र की गई है। पुस्तक विद्यार्थियों के लाभ की अधिक है जैसा कि भूमिका में स्वीकार भी किया गया है। प्रसंगोचित उद्धरण भी दिए गए हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय का संक्षिप्त सार भी दिया गया है। तुलसी-साहित्य के प्रेमियों के लिए पुस्तक पठनीय है।

सृष्टि की साँझ : रचयिता—सिद्धनाथ कुमार; प्रकाशक—पुस्तक मन्दिर, बक्सर (आरा); पृष्ठ संख्या १०६; मूल्य साढ़े चार रुपये।

आलोच्य पुस्तक में श्री कुमार के पाँच काव्य-नाटक संगृहीत हैं जो रेडियो के लिए लिखे गए और ऑल इण्डिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से अनेक बार प्रसारित हो चुके हैं। नाटकों का विषय स्वस्थ और विचारोत्तेजक है और शैली उपयुक्त। सभी नाटकों में मुक्त छन्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि सर्वत्र प्रवाह का निर्वाह ठीक से नहीं हो सका है। आज के जीवन-यथार्थ की प्रभावशाली अभिव्यक्ति सभी नाटकों में हुई है, यद्यपि संस्कृतनिष्ठ भाषा होने के कारण कहीं-कहीं अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रभावकता घट गई है। नाटकों की—विशेषतः उन नाटकों की जो रेडियो या रंगमंच के लिए लिखे जाते हैं—सफलता के लिए यह आवश्यक है कि भाषा सरल हो और जीवन-यथार्थ के अधिक से अधिक निकट। फिर भी सिद्धनाथ कुमार के नाटकों में पाठकों को आन्दोलित करने की क्षमता है। गहराई की अवश्य कमी है, जो आशा है, समय के साथ दूर हो जाएगी।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

आलोचना के सिद्धान्त : लेखक—ब्योहार राजेन्द्रसिंह; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या २०४; मूल्य चार रुपये।

पूर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य-मनीषियों का विस्तृत अध्ययन करके लेखक महोदय ने यथासाध्य परिश्रम द्वारा एक सुन्दर और सुपाठ्य ग्रंथ की रचना की है। स्वयं लेखक के कथनानुसार उत्तम-कला-कृति के अनिवार्य लक्षणों के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों को एकत्र करके संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव कर यह पुस्तक तैयार की गई है। प्रथम भाग में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है और द्वितीय भाग में आलोचना के विकास पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में संदर्भ ग्रन्थों की सूचना दे दी गई है। लेखक महोदय पर अंग्रेज़ी ग्रन्थों का गहरा प्रभाव जान पड़ता है और कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि वह अंग्रेज़ी में सोचने के आदी हैं। पर इससे पुस्तक की उपादेयता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अध्ययन की प्रचुरता पुस्तक में सर्वत्र परिलक्षित होती है, और कहीं-कहीं उसमें अति का भी आभास होने लगता है। इस प्रकार के शास्त्रीय दृष्टिकोण से यह साहित्य-विवेचन साहित्य-प्रेमियों के लिए तो रुचिकर होगा ही विद्यार्थी वर्ग के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। पुस्तक की छपाई, सफाई और गेटअप आदि उत्कृष्ट और सुन्दर हैं।

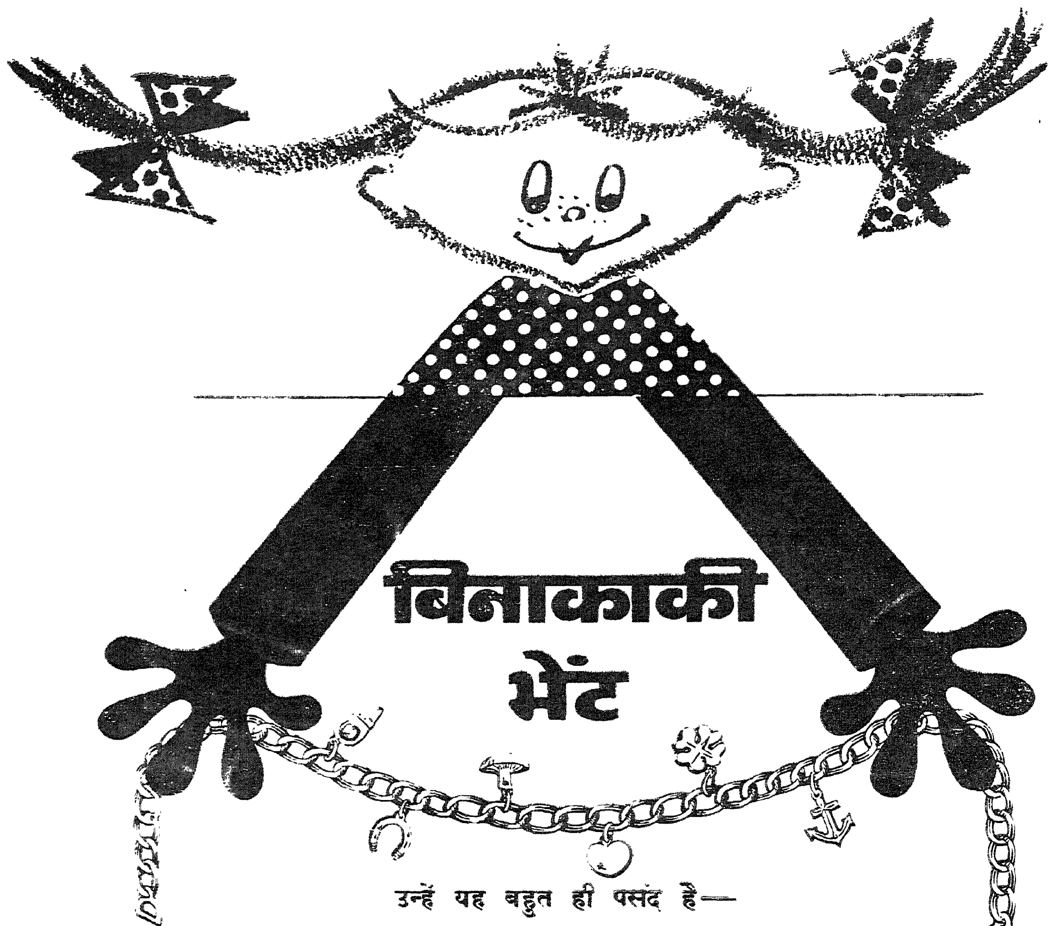
मिहिरकुल : लेखक—डाक्टर कैलाशनाथ भटनागर; प्रकाशक—भारतीय गौरव ग्रन्थमाला, करौल बाग; नई दिल्ली-५; पृष्ठ संख्या १४४; मूल्य ढाई रुपया।

यह नाटक तीन अंकों में लिखा गया है। लेखक 'कुणाल', 'भीम-प्रतिज्ञा' तथा 'श्रीवत्स' आदि जनप्रिय नाटकों के रचयिता हैं और आशा है कि अभिनय की दृष्टि से उनका यह नाटक भी सफल सिद्ध होगा। उनके उक्त नाटकों की भाँति यह नाटक भी भारतीय संस्कृति और आदर्शों के गौरव प्रकाशन का साधन है। नाटककार ने इतिहास से कुछ भिन्न परिस्थितियाँ दिखलाई हैं, सो नाटकत्व की दृष्टि से। इसलिए इस विषय में क्या कहा जा सकता है। ज्ञात होता है कि नाटक जल्दी में छापा गया है इससे छपाई की अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं, जो आगामी संस्करण में सुधारी जा सकेंगी। चरित्रों का चित्रण रंगमंच की दृष्टि से सामान्य सुन्दर है।

—जगदीश गोयल

मई अंक में हमने वैद्यक के नुस्खों की एक पुस्तक 'स्वास्थ्य के साधन और औषधि विज्ञान' की आलोचना की थी। उसमें प्रकाशक का पता छपने से रह गया था जो इस प्रकार है: बाबू प्रसाद गुप्त विशारद, श्री जगदीश ज्योतिष कार्यालय, सुन्दर विलास, अजमेर।


सर्वोत्तम भारतीय चीनी-मिट्टी के
बर्तनों से
अपनी मेज की खूबसूरती
बढ़ाइए

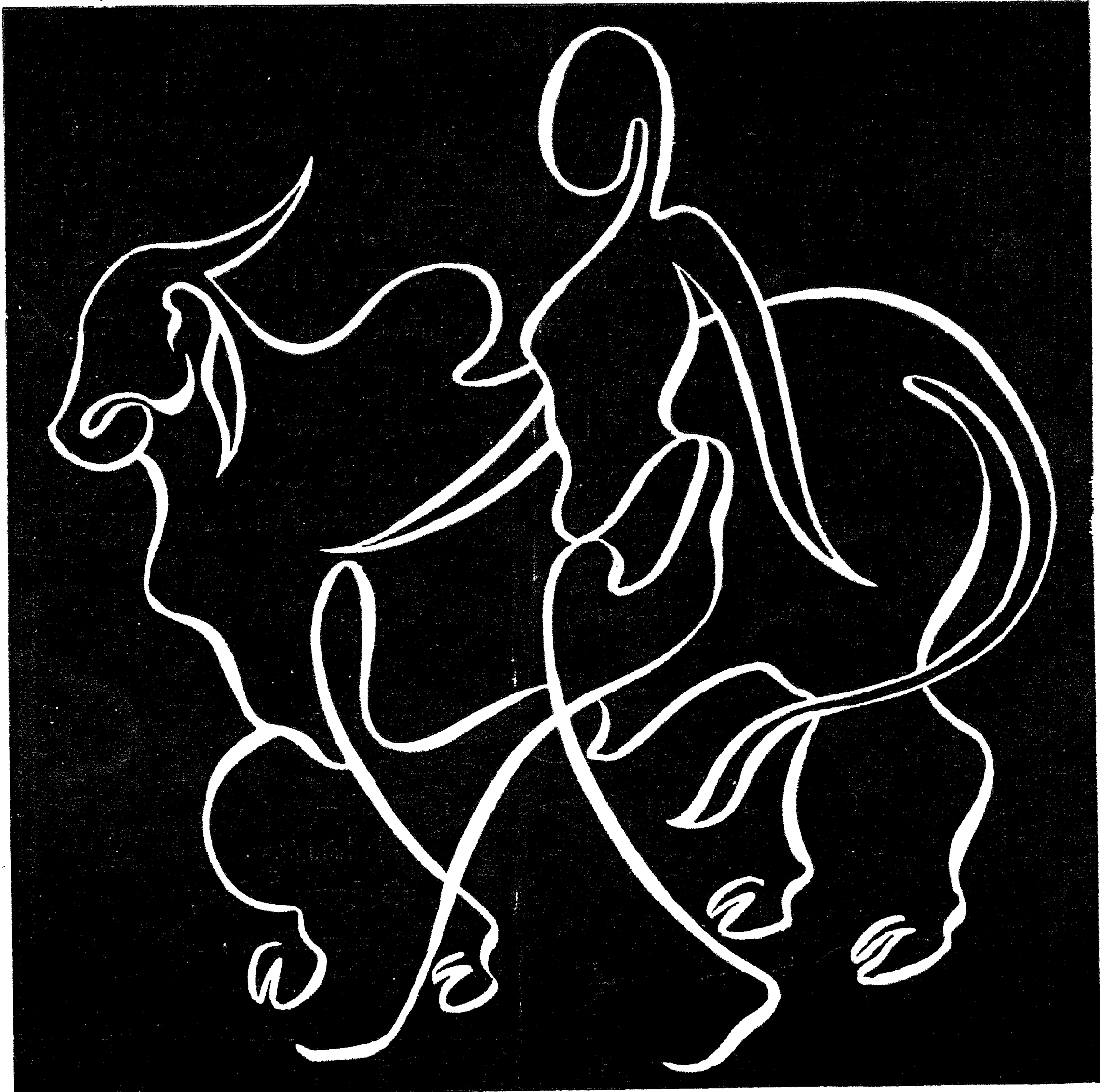


Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

Regd. No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित



अगस्त १९५६

आठ आना



वर्ष १२ अंक ४ पूर्णांक १४६

अगस्त १९५६

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट दिल्ली-८



वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, दस सेंट या नौ पेंस



लोकमान्य
बाल गंगाधर
तिलक



वर्ष १२ अगस्त १९५६ अंक ४

गुजराती कविता

बाँसुरी वाला

उमा शंकर जोशी

'चार-चार आने !
लो, भाई लो,
और सुधा बरसाओ, कान में अपने ।
चार-चार आने !
क्यों न हिये रुँधाये ।'
यों, वह बाँसुरी वाला
गाता-बजाता,
अपनी मीठी ज़बान से लोगों के दिल ललचाता—
किसी श्रमिक को,
जो है तो रंगीला मगर जिसकी जेब में है नहीं अधेला,
निरर्थक ही पीड़ा पहुँचाता
ज़ोर से आवाज़ लगाता—
'चार-चार आने ।'
सच्चे गाहक सुन नहीं पाते थे
वे तो तेज़ी से भागती गाड़ी में
चिपट कर एक-दूसरे से
प्रणयोर्मिगोष्ठि का बीन में थे लीन ।
'चार-चार आने ।'
ना कोई माने
और उसके कंधे पर रखा बंसी का गट्ठर
बहुत भटकने के बावजूद ज़रा भी हलका न हुआ ।
'चार-चार आने ।'
लो, भाई लो,
और इसकी स्वर्गीय तान में रमो
रात-दिन ।
'चार-चार आने ।'
'दे एक आने ।'
'ना, भाई ना,
गाँव जाऊँगा अपने
भले ही न खपें । ईंधन से तो नहीं जाएँगी न !
'चार-चार आने ।
बस, एक ही मोल है, चार आने ।'
गाँव को मुड़ते गट्ठर में से एक बढ़िया बंसी निकाली ।
और आषाढ़ की सन्ध्या की रिमझिम में
स्वरों के इन्द्र-धनुष उड़ाती—
अपने हृदय की तान छेड़ दी ।
इस सजीव विज्ञापन को सुन कर
झरोखे से थोड़ा झुक कर, उसे
बुलाया किसी बाला ने ताली देकर ।
किन्तु अब तो लययुक्त कान
गाहक का रहा न लेश भान !

अनुवादक—गौरी शंकर जोशी

शंकर का उत्तर भारत में धर्माभियान

आचार्य चतुरसेन

भारतीय धर्मक्षेत्र की यह असाधारण घटना है, कि वैदिक काल से तथागत बुद्ध काल तक उत्तर भारत ही हिन्दू सभ्यता और धर्म का केन्द्र रहा। धर्म और संस्कृति मूलक साहित्य—वेद, उपनिषद्, दर्शन, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ उत्तर भारत में ही लिखे गए। उत्तर भारत ही में धर्म और समाज के नेता उत्पन्न हुए। और सहस्त्रों वर्ष तक उत्तर भारत से दक्षिण की ओर धर्म और संस्कृति की गंगा का प्रवाह निरन्तर बहता रहा।

परन्तु मसीह की आठवीं शताब्दी में यह एक सर्वथा नवीन और असाधारण सांस्कृतिक घटना घटी, कि धर्म का प्रथम प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुआ। शंकराचार्य ही इस धर्म-प्रवाह को लेकर उत्तर से दक्षिण-भारत में आए, और अपनी असाधारण सामर्थ्य से इस धर्म तत्व, का उत्तर भारत में आरोप किया। शंकर का लाया हुआ यह धर्म सर्वथा नवीन धर्म था; जिसने उत्तर भारत के जन-जन को अपने व्यापक अंक में लपेट लिया। शंकर के इस धर्म-प्रवर्तन को हम "संप्रदाय प्रवर्तन" कहेंगे। इस धर्म-प्रवर्तन के फलस्वरूप आर्यों का वैदिक-धर्म हिन्दू-धर्म बन गया।

वैदिक आर्यों के पहिले भी भारत में एक सुसंस्कृत धर्म था। इस धर्म में और मिस्र, ईराक और एशिया माइनर तथा भूमध्य सागरीय प्रदेशों की संस्कृतियों और वंशों में बहुत समानता थी। आर्यों का वैदिक-धर्म ऐहिकता-प्रधान था। बल, वीर्य, पराक्रम, विजय, शत्रु-नाश, कीर्ति, कवित्व, विद्वत्ता, आरोग्य, दीर्घायुष्य, पर्जन्य, पशु, शस्य, सुवर्ण, धन आदि ऐहिक साधनों की कामनाओं से वैदिक-साहित्य भरा पड़ा है। संक्षेप में वैदिक-धर्म भौतिकवादी धर्म था। यह आर्यों का धर्म था, और उनका अवैदिक प्रजा पर अधिकार था, यद्यपि यह अधिकार सार्वभौम न था। आर्यों ने यह अधिकार दो मार्गों द्वारा प्राप्त किया था: प्रत्यक्ष राज सत्ता द्वारा और ब्राह्मण पुरोहितों के धार्मिक आधिपत्य के द्वारा। अवैदिक लोगों को अपनी अधीनता में रखने में धर्म कल्पना का ही अधिक उपयोग किया गया था; जिनमें प्रधानता वैदिक यज्ञों की रही। आगे श्रौत स्मार्त-धर्म ने वैदिकेतरों को सामाजिक दासता में रखने के लिए उन्हें वैदिक-धर्माचरण का अधिकार नहीं दिया। प्राचीन धर्म सूत्रों में वेदाध्ययन करने पर शूद्रादि को प्राण दण्ड देने की व्यवस्था है। इस प्रकार वैदिक-यज्ञ और स्मार्त-धर्म से पवित्र हुआ आर्य ही तब समाज का सच्चा स्वामी होता था। परन्तु इस यज्ञ प्रधान वैदिक-समाज में भी क्रांति हुई। कल्पसूत्र, धर्मसूत्र, वेदांग, व्याकरण, कामशास्त्र और मोक्ष शास्त्र की उत्पत्ति हुई। मोक्ष शास्त्र का आरम्भ उपनिषदों से हुआ। उपनिषदों ने वैदिक-यज्ञों और देवताओं की समीक्षा करके उनको व्यर्थता सिद्ध की और ब्रह्मवाद और मानसिक उपासना का सम्प्रदाय उत्पन्न किया। वैदिकेतरों ने भी नए विचारों को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मवाद, वैराग्यवाद, प्रव्रज्या और एकेश्वर-भक्ति के नए धर्म उत्पन्न हुए। और ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न हो गई कि वैदिक-गृहधर्म और यज्ञ-धर्म का निर्वाह कठिन हो गया। क्योंकि वैदिक-धर्म की अपेक्षा इस नई धर्म-संस्था का निरालापन यह था—कि इसमें सब धर्मों के लिए श्रेय का मार्ग खोल दिया गया था। इसमें समाज का किसी भी परिस्थिति और जाति का व्यक्ति बिना भेद-भाव के अपनी योग्यता से धार्मिक स्थिति को पा सकता था। ये संसार के सबसे प्राचीन विश्व-धर्म थे; जिन्होंने वैदिक आर्यों की समाज-संस्था के विरुद्ध सिर उठाया। उस समय तक जीवन-विज्ञान और समाज-शास्त्र इतना परिपक्व नहीं हो पाया था—कि सामाजिक जीवन की ठीक-ठीक व्यवस्था की जा सकती। अतः भोगतृष्णा के नाश ही को परम सत्य मान लिया गया। उन्होंने जीवन और जगत को दुःखमय ही देखा। कपिल, बुद्ध और जिनमुनि महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व इस दुःखवादी तत्व ज्ञान की प्रतिष्ठा की थी। इस नए धर्म के सबसे बड़े नेता तथागत बुद्ध थे। उनके शिष्यों में समाज के सारे स्तरों के लोग थे। ब्राह्मण, राजा, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, और स्त्रियाँ भी थीं। तपस्सु और मल्लिक वैश्य थे। उपालि नाई था, काश्यप वत्स जटिल, और चुन्द लुहार, सारिपुत्र और मोग्गलान ब्राह्मण, आनन्द और देवदत्त क्षत्रिय, अम्बपाली वेश्या, तथा मगध, कोशल, वैशाली और कपिलवस्तु के राजा उनके शिष्य थे। बुद्ध लोगों को अपनी बोल-चाल की भाषा में उपदेश देते थे। उन उपदेशों को स्थविरवादी बुद्ध अनुयायियों ने पालि-भाषा में, महासांघिकों ने पैशाची-भाषा में, और सीमन्तीयों ने अपभ्रंश में कलमबद्ध किया। यह साहित्य त्रिपिटक नाम से आगे विख्यात हुआ। बुद्ध ने सत्य-अहिंसा, सादा जीवन, मिताहार, तृष्णाक्षय, और जीवन की क्षण-भंगुरता पर उपदेश दिए। गौतम बुद्ध जिस काल में अपने उपदेश दे रहे थे, वह काल भारतीय समाज में बुद्धि-प्रधान था। उपनिषदों से लेकर षड्दर्शन तक के उस काल में भारतीय बौद्धिक विचार उत्कर्ष की अंतिम सीमा पर पहुँच गए थे। मैक्समूलर ने इस काल को—भारतीय नव-जीवन युग कहा है। तथागत बुद्ध इस विचार आन्दोलन के मध्य बिन्दु थे। उनके जन्म के पूर्व चार्वाक, बृहस्पति, उशनस, कपिल, कणाद, अजित केश कम्बलि आदि बड़े-बड़े तार्किक तत्वज्ञ और अर्थ-शास्त्री उन्हें राह दिखा गए थे। बुद्ध के सौ वर्ष बाद ही सिकन्दर भारत में आया, जिससे ग्रीकों का संपर्क भारतीयों को मिला। और इस विचार-आन्दोलन भूमि में मौर्यों का साम्राज्य स्थापित हुआ—जो

हिन्दुओं का सबसे बड़ा साम्राज्य था। इसका जन्म बौद्धोत्तर काल में हुआ। परन्तु रोमन साम्राज्य की भाँति वह चिरस्थायी न हो पाया। इसलिए ईसाई-धर्म की भाँति वह विश्वधर्म समूचे भारत में एकरूप न हो सका, फिर भी मौर्य सम्राट अशोक ने इसे भारत की सीमाओं से पार कर इसे संसार का सर्व प्रथम विश्वधर्म होने में मदद की। मौर्य साम्राज्य को विदीर्ण कर जो पुष्यमित्र ने फिर से ब्राह्मण-धर्म की स्थापना की, सो वह उसे पूर्व वैदिक-धर्म की वेदी पर स्थापित नहीं कर सका। उसने पुराने-नए सब प्रचलित-अप्रचलित धर्मों, सम्प्रदायों, हीन देवताओं की पूजा विधियों आदि को मिलाकर उसे श्रौत-स्मार्त पौराणिक हिन्दू-धर्म का नया रूप दे दिया। इससे वहाँ शास्त्रीय लौकिक कायदे की समाज संस्था स्थापित न हो सकी। जैसा कि ईसाई संस्कृति के आधार पर रोमन साम्राज्य ने सारे जगत को कायदे की संस्था का दान दिया।

दुबारा श्रौत स्मार्त पुराणोक्त हिन्दू-धर्म की स्थापना से समाज क्रांति की गति धीमी पड़ गई, और भारतीय समाज एक दीर्घकालीन स्थैर्य के युग में प्रविष्ट हो गया। इस युग में काव्य, नाटक, टीका भाष्य, अलंकार और तर्क-शास्त्र की तो प्रगति अच्छी हुई, पर नव-जीवन निर्माण करने वाली हलचल समाप्त हो गई। इसी दीर्घ-कालीन स्थैर्य युग के अन्तिम चरण में सम्राट् की सातवीं शताब्दी में उत्तर भारत में कुमारिल भट्ट और दक्षिण में शंकराचार्य का जन्म हुआ। इन दोनों महापुरुषों ने हिन्दू-धर्म को नया यौवन दिया। कुमारिल सातवीं शती के अन्तिम चरण में और शंकर आठवीं शती के प्रथम चरण में उत्पन्न हुए। कुमारिल ने अपनी पूर्व मीमांसा के भाष्य में प्रामाण्य की सूक्ष्म छानबीन की, वेदों का स्वतः प्रामाण्य भारी परिष्कार से सिद्ध किया। उन्होंने धर्म-शास्त्र निर्णय की ऐसी विशिष्ट पद्धति निकाली कि—बारह सौ बरस बीत जाने पर भी पंडित गण उसी पद्धति से धर्म व्यवस्था करते रहे। कुमारिल वैदिक यज्ञ मार्ग और स्मार्त गृहस्थ धर्म का पुनरुज्जीवन करना चाहते थे, परन्तु शंकर के दिग्विजय से उनका यह प्रयत्न विफल हो गया। कुमारिल ने जिस शुद्ध प्रामाण्य की स्थापना करके पंडितों को मोह लिया था, उसे शंकर ने भी ग्रहण किया, पर जिस प्रवृत्तिवाद की स्थापना कुमारिल ने की थी—उसे शंकर ने त्याग दिया। क्योंकि वह श्रौत-स्मार्त प्रवृत्ति मार्ग था, भौतिकवाद पर आधारित नहीं था। उन दिनों अगतिकता का इतना आधिक्य था—कि शंकर ने अगतिकता का ही तत्त्वज्ञान मायावाद और संन्यासवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया। शंकराचार्य बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनकी बौद्धिक और मानसिक स्थिति अत्यन्त श्रेष्ठ थी। उन्होंने अपने काल तक के सारे परम्परा से प्राप्त तत्त्वज्ञान और विचार सम्प्रदाय बुद्धि की कसौटी पर कस डाले। उन्होंने शैवों-वैष्णवों का एकेश्वर वाद और सर्वेश्वरवाद, कणाद और नैयायिकों का परमाणुवाद, सांख्यों का जड़प्रकृतिवाद, बौद्धों का क्षणिकवाद और विज्ञान व जैनों का अनेकान्तवाद, चार्वाक का देहात्मवाद और योगियों का योगदर्शन आदि विचार धाराओं को अनुपपन्नत्व तर्क दृष्टि से साधा। उन्होंने यह भी प्रगट किया कि उनका ब्रह्मवाद भी मानव बुद्धि से नहीं, तर्क से ही सिद्ध है। उन्होंने कहा कि बुद्धि से आत्मा और पुनर्जन्म का निर्णय नहीं हो सकता है। उन्होंने कहा कि सारे मानवीय विचार जीवन और विश्व सम्बन्धी खोज करने ही से कुंठित हो जाते हैं। चूँकि वस्तु अनिर्वच-नीय है। वह अस्ति नास्ति कुछ भी नहीं हैं, इसलिए वह मिथ्या है। वस्तु विषयक विचारों की अगतिकता ही पर उनका मायावाद स्थापित हुआ। परन्तु श्रुति के प्रामाण्य को माने बिना वस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता था। श्रुति ने कहा है—ब्रह्म ही सत्य है, अतः जगत मिथ्या है—यह उन्होंने स्थिर किया। इस प्रकार शंकर का मायावाद अगति-कता के कारण कुंठित बुद्धि का फल है। यह ब्रह्मवाद या मायावाद बुद्धि की समीक्षक प्रणाली से सिद्ध नहीं किया जा सकता था। इसी से उन्होंने श्रुति प्रामाण्य का आश्रय लिया। इसका फल यह हुआ कि उपनिषद् काल के बाद भारत में जो बुद्धिवाद और तत्त्वज्ञान का विकास हुआ था, वह दब गया। दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान वस्तु की—विश्व की मानव बुद्धि से की हुई छानबीन है। उस समय यदि विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ होता तो शंकराचार्य के प्रखर तर्क-शास्त्र से भिन्न-भिन्न तत्कालीन तत्त्वज्ञान के विनाश से नवीन भौतिकवाद उत्पन्न हो सकता था। पर उस समय सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के अनुकूल न थी। अतः मायावाद—जो विज्ञान का उलटा स्वरूप था, उत्पन्न हुआ और तत्कालीन विकसित सारा बौद्धिक पराक्रम व्यर्थ गया। बारहवीं शताब्दी से लेकर हिन्दू राज्यों के अन्त होने तक यही मायावाद, भक्तिवाद और जातिभेद ही हिन्दू-धर्म का सच्चा स्वरूप रहा। जो मुसलमानों और मराठों के राज्य काल में भी चलता रहा।

परन्तु श्री शंकराचार्य इस नवीन विचार परम्परा के मूलभूत विचारक और प्रचारक न थे। मूल प्रचारक एक गोष्ठी थी, जिसके मूल पुरुष बादरायण थे। बादरायण की शिष्य परम्परा में बादरायण के शुक, शुक के गौड़पाद, गौड़पाद के गोविन्द और गोविन्द के शंकरा-चार्य शिष्य थे। बादरायण ने वेदान्त दर्शन लिखा। महत्त्वपूर्ण बात यह है—कि यह गोष्ठी दक्षिण भारत में संगठित हुई थी। कुमारिल की पूर्व मीमांसा के समक्ष वेदान्त को उत्तर मीमांसा कहा गया। परन्तु दोनों में भारी अन्तर था। पूर्व मीमांसा में उत्तर भारत के आर्यों की वैदिक संस्कृति थी, वैदिक कर्मकांड की व्याख्या थी। उस का मूलाधार वेद था, परन्तु वेदान्त का मूलाधार उपनिषद् थे। उसमें उपनिषद् को ही श्रुति के नाम से पुकारा गया था। क्योंकि वेदान्त में जिस ब्रह्म जिज्ञासा की बात कही गई है, वह वेद में नहीं था, उप-निषद् में था। अतः बादरायण गोष्ठी ने उपनिषद् को श्रुति कहकर एक नई समस्या खड़ी कर दी थी। श्रुति के साथ स्मृति और समीक्षा दर्शन की आवश्यकता थी। अतः शंकराचार्य ने गीता को स्मृति और वेदान्त को समीक्षा दर्शन का रूप दिया। इस प्रकार जैसे बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक साहित्य का संगठन था, वैसा ही संगठन शंकर ने उप-निषद्, गीता और वेदान्त को मिला कर प्रस्थान त्रयी के नाम से विख्यात किया। इसी प्रस्थान त्रयी के द्वारा शंकर ने उत्तर भारत के विद्वानों को पछाड़ डाला, और कुमारिल के कर्म कांड और यज्ञ मीमांसा पर पानी फेर दिया। शंकर के इस असाधारण प्रयास के कारण उत्तर

भारत में वैदिक धर्म का लोप हो गया; और नए हिन्दू-धर्म की स्थापना हुई, जिसका मूल आधार प्रस्थान त्रयी था। यह एक ऐसा असाधारण प्रयास था—कि जिसने एक ओर तो सनातन से चले आते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर के सांस्कृतिक धर्म प्रवाह का रुख फेर दिया और अब धर्म प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर आना आरम्भ हुआ, जो रामानुज, रामानन्द निम्बार्क स्वामी, माध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य तक पन्द्रहवीं शताब्दी पर्यन्त निरन्तर चलता रहा, तथा इसका सांस्कृतिक प्रभाव यह हुआ कि दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति और उत्तर की आर्य संस्कृति का मेल हो गया, जिसने न केवल धर्म क्षेत्र में, अपितु साहित्य और सामाजिक क्षेत्रों में भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत की एकता सम्पादित की।

शंकराचार्य का यह अमोघ प्रभाव था कि अकेले उन्हीं के उद्योग से उत्तर भारत में यह वेद रहित धर्म स्थापित हो गया। और किसी ने इस पर विचार ही नहीं किया। सनातन ही से वेद संहिता भाग को ही श्रुति कहा जाता रहा था, तथा उपनिषद्, ब्राह्मणों के कतिपय भाग थे। गीता ही में लिखा है—'ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दोभिर्विविधैः प्रथक्।' यही सब छन्द उपनिषदों से लेकर ब्रह्मसूत्रों में ग्रन्थित किए गए हैं। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में—जहाँ-जहाँ श्रुति प्रामाण्य की आवश्यकता हुई है, इन्हीं उपनिषदों से उद्धृत किए हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि उस समय उत्तर भारत में एक भी पण्डित ऐसा उन्हें न मिला, जो उन्हें ललकार कर यह कहता—कि श्रुति तो संहिता को कहते हैं। शंकर के प्रखर तेज के सामने सभी की बुद्धि कुण्ठित हो गई, और शंकर ने उत्तर भारत से वैदिकों को धर्मच्युत कर दिया। जिस तरह उन्होंने उपनिषदों को श्रुति बनाया, उसी तरह गीता को स्मृति बना दिया। इस समय तक गीता को किसी ने भी स्मृति नहीं कहा था। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ ही स्मृति कहाती थीं। पर इनमें वे सब प्रमाण नहीं थे, जिनकी शंकर को आवश्यकता था। इसलिए ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में जहाँ-जहाँ स्मृति के प्रमाणों की आवश्यकता हुई, वहाँ शंकर ने गीता ही के श्लोक उद्धृत किए हैं। वेदान्त के अनेक-सूत्र गीता और उपनिषद में आए हुए शब्दों का खुलासा ही है। जैसे—वेदान्त सूत्र—'स्मृतेश्च'—गीता के—'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति'—की ओर संकेत करता है। और 'अपिस्मर्यते' सूत्र—'ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः'—के आधार पर है। इन सूत्रों में स्मृति के प्रमाणों को जिज्ञासा है, जिसकी पूर्ति गीता ही कर सकती थी। शंकराचार्य वेदान्त भाष्य में स्वयं लिखते हैं—'स्मर्यते भगवद्गीता सुगीतास्वपिच स्मर्यते।'

शंकर की गुरु परम्परा के सम्बन्ध में शंकर दिग्विजय का यह श्लोक प्रमाण है—

व्यासःपराशरसुतः किलसत्यवत्यां तस्मादभूच्छुकमुनिः प्रथितानुभावः।
तच्छिष्यतामुपगतोकिल गौड़पादः गोविन्दनाथ मुनिरस्यच शिष्यमुक्तः।

शंकराचार्य का विरोध भी उत्तर भारत में हुआ। उनमें प्रयुक्त गूढ़ शब्द—कूटस्थ, चेतन, चिदात्मा, आदि पारिभाषिक शब्दों से तथा—'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा, नमे धारणा ध्यानयोगादयोपि। न माता पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।'

इस प्रकार के भाषण से लोग कहने लगे कि—

'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध मेव च।'

शंकर ने अपने भाष्यों में अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। 'एकमेवाद्वितीयं', 'विज्ञानमानन्दंब्रह्म' यह छान्दोग्य और बृहदारण्यक का मूलाधार 'ब्रह्म' है। इस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद से वे रहित मानते हैं। इस सम्बन्ध में वे ब्रह्मसूत्र भाष्य करते हुए कहते हैं—वैधर्म्यैहिभवति स्वप्नजागरितयाः। बाध्यतेहि-स्वप्नोपलब्धं वस्तुप्रतिबुद्धस्यमिथ्यामयोपलब्धौमहाजन समागम इति। नैवं जन-जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भकं कस्याचिदपि अवस्थां बाध्यते। अपिच स्मर्यतेरेवायत्र स्वप्नवत्। उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम्।

शंकराचार्य ने प्रस्थान त्रयी पर तो भाष्य किया ही, और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने बहुत कम आयु पाई। परन्तु इसी अल्प आयु में उन्होंने युग पलट दिया। उत्तर से दक्षिण तक उनकी कीर्ति फैल गई। उन्होंने सच्चे अर्थों में दिग्विजय किया। अद्वैतवाद की दुन्दुभी समूचे उत्तर भारत में बज उठी। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान उनकी शिष्य मण्डली की शोभा बढ़ा रहे थे, जिन्होंने शंकर मत पर वार्तिक लिखीं। उन्होंने भारत की चार दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की, जिनकी परम्परा आज तक चली आती है।

उन्होंने कहा—कृतेविश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायां ऋषि सत्तमः।
द्वापरे व्यास एवाख्यात् कलावत्र भवाम्यहम्॥

"मुझे शक है कि कोई भी मुल्क यह दावा कर सकता है कि वह बहुत अच्छा है या एक दम सही राह पर है; कम-से-कम मैं हिन्दुस्तान के लिए तो यह दावा हरगिज नहीं करता। हम लोगों में कमजोरियाँ भी हैं और हमें नाकामयाबी भी हुई है। कोई भी देश पूरे तौर से सही या ग़लत नहीं है। यह कहना कि सब देश एक ही तरीके से सोचें, न तो सम्भव है और न यह प्रजातन्त्रात्मक ही है। यह कहना कि संसार भर के सभी मनुष्य सभी बातों में पूरी तरह सहमत हों, प्रजातन्त्र विरोधी बात है। मैं यह हरगिज नहीं कहूँगा कि अमुक लोग ग़लत है या जो हमारे देश की नीति के विरुद्ध हैं, वे अनैतिक हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू
६ जुलाई १९५६

भारत और पड़ोसी एशियाई भाषाएँ

प्रभाकर माचवे

अक्सर कहा जाता है कि भारत के आसपास के देशों में आर्य-संस्कृति और संस्कृत का प्रभाव है। यह कहाँ तक सच है? इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर यह लेख लिखा गया है कि प्राचीन भारतीय भाषाएँ और एशिया में पड़ोसी देशों की भाषाओं के बीच क्या सम्बन्ध था? और वह किस रूप में विकसित हुआ? वस्तुतः भाषा-शास्त्र का आज जिस प्रकार से अध्ययन किया या कराया जा रहा है वह बहुत एकांगी है। भाषा संस्कृति का मेरुदंड है। भाषा के अध्ययन में इतिहास, रीति-नीति, आचार-व्यवहार, मानववंश-शास्त्र, पुरातत्व, सामाजिक मनोविज्ञान आदि का बहुत गहरा सम्बन्ध है। उनसे कटकर जो लोग भाषा का अध्ययन केवल मत-विशेष की पुष्टि के लिए या भावनाओं को उभारने के लिए करते हैं, वह बहुत बड़ा अन्याय इस विज्ञान के साथ करते हैं।

मेरा यह अध्ययन कई ग्रन्थों, ज्ञानकोशों, और विद्वानों से विचार विनिमय पर आधारित है। अतः मेरी इच्छा है कि इस विषय में और विचार-विनिमय बढ़े, और भारत में कम से कम किसी एक विश्व-विद्यालय में एशिया की सभी भाषाएँ पढ़ने-पढ़ाने का शीघ्रातिशीघ्र प्रबन्ध हो सके।

भारत के मानचित्र में सबसे पहले हमारे तीन प्राचीन पड़ोसियों का ध्यान हो आता है: श्रीलंका, बर्मा और तिब्बत। इनकी सिंहली, बर्मी और तिब्बती भाषाओं का विचार करने पर उनका चीनी-जापानी और दक्षिण-पूर्व के द्वीपकल्प की भाषाओं में गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाएगा।

सिंहली

सिंहली भाषा के बारे में गैज़र का मत है कि वह प्राकृत से निकली। इन दोनों में वर्णोच्चार और शब्द-सिद्धि के मामले में साम्य है। गैज़र के अनुसार ई० पू० ५०० के करीब आर्य सिंहल में आए और तब से 'एलू' नामक भाषा बनने लगी। पर 'एलू' का एक अर्थ सिंहल की प्राचीन काव्य-भाषा भी है। आजकल भी कई सिंहली कवि 'एलू' का ही प्रयोग करते हैं। श्रीलंका की यह प्राचीन राष्ट्रभाषा आधुनिक सिंहली से बहुत भिन्न है। इस पर संस्कृत का भी प्रभाव दिखाई देता है। अनेक संस्कृत-पालि शब्द साहित्यिक सिंहली में ही नहीं, बोलचाल की भाषा में भी घुस गए हैं। बोलचाल की भाषा में 'घोड़े' को 'अस्वया' कहते हैं, 'एलू' में 'अस' है। कई बाहर से आए हुए शब्दों का बड़ा विचित्र रूप में सिंहलीकरण हो गया है।

संस्कृत	पालि	प्राकृत	सिंहली (एलू)	हिन्दी
पृष्ठ	पिट्ठ	पिट्ठ	पिट	पीठ
शृगाल	सिगाल	सिआल	हिवालु	सियार
भृंग	भिंग	भिंग	बिंगु	भौंरा
मृग	मिग	मिअ	मुव	मृग

गैज़र ने अनेक उदाहरणों द्वारा यह शब्द-साम्य अपने लेख सिंहली भाषा की उत्पत्ति' (म्यूनिख़, १८७७) में दिए हैं। कुछ संस्कृत-पालि रूप सिंहली दीर्घ हो गए हैं:

संस्कृत	पालि	सिंहली	हिन्दी
रात्रि	राति	रा	रात
आयुष्	आ-उ	आ	आयु
समुद्र	समुद्द	मूदु	समुन्दर
नारिकेल	नलिकेर	नेरलु	नरियल

कहीं-कहीं आद्यवर्ण का लोप हो जाता है।

संस्कृत	पालि	सिंहली	हिन्दी
चतुर्दश	चतुद्दस	तुदस	चौदस
अरण्य	अरञ्ञ	रण	अरण्य
अनुराग	अनुराग	नुरा	अनुराग
अशोक	असोक	हो	अशोक

इसी तरह डा० गैज़र ने स्वर-विपर्यय के भी उदाहरण दिए हैं। सिंहली में सर्वनाम और संख्यावाचक शब्द शुद्ध आर्य हैं। क्रियाओं में आर्य-भाषाओं से भिन्नता जान पड़ती है। पर गैज़र ने उनका भी सम्बन्ध आर्य-भाषाओं से खोजने की कोशिश की है। उनके अनुसार सिंहली प्राकृत का ही एक रूप है। जो कई अनार्य शब्द भी सिंहली में हैं, वे इस मूल कथन के विरोध में नहीं रखे जा सकते।

ये अनार्य शब्द कुछ द्राविड़ हैं और कुछ मूल सिंहली के। उदाहरणार्थ निम्न शब्दों की व्युत्पत्ति आर्य-भाषाओं में नहीं मिलती: अंड = शोर; इब्ब = कछुआ; इंग = जंघा; कोंड = फल; बैलो = सीप; रावुलू = दाढ़ी; हुलंगि = हवा आदि।

पर सिंहली में कई तमिल शब्द भी है। जैसे: अडि = पैर, नींव; अलि = हाथी; काडि = सिरका, काढ़ा; तक्कडि = झूठा; टेक्क = टीक या सागौन का पेड़; पंगु = हिस्सा; पुंचि = छोटा। मगर अब सिंहल देश ने

तमिल को राजभाषा स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि तमिल की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका श्रीलंका में छपती है।

मालदिवी

श्रीलंका की बाँईं ओर अरब सागर में लंकद्वीप और मालद्वीप दो छोटे-छोटे टापू हैं। यहाँ की 'मालदिवी' बोली को गुणशेखर सिंहली की ही उप-भाषा मानते हैं। उदाहरण के लिए—

पालि	सिंहली	मालदिवी	हिन्दी
मरिच	मिरिस	मिरस	मिर्च
अंगुलि	आंगिलि	इगिलि	उंगली
भूमि	बिम	बिन	भूमि
अट्ठ	अट	अर	आठ

मालदिवी में 'र' वर्ण का विशेष उच्चारण पाया जाता है। इस 'र', में 'र्', 'ह्', 'स्' तीनों का मिश्रित उच्चारण रहता है। पालि 'ऊ' के बदले सिंहली की भाँति मालदिवी में 'इ' आता है; जहाँ सिंहली में 'आ' होता है, मालदिवी में 'ए' होता है। पालि संयुक्ताक्षर सिंहली और मालदिवी में सादा अक्षर बन जाते हैं। पालि वर्ण 'च्' और छ्' का 'स्' हो जाता है। 'ज्' का 'द्' और 'ट' का 'र'। सत्रहवीं सदी में खिस्टाफर और पिरार्ड ने इन भाषाओं का अध्ययन किया तो 'पहेत' (=पांच) और 'पाए' (=पैर, पाँव) रूप दिए थे। मालदिवी में धीरे-धीरे 'प' का 'फ' हो और 'पहेत' का 'फहेइ' और 'पाए' का 'फा' हो गया।

रास्म ने सिंहली और मालदिवी दोनों को द्राविड़ भाषा माना है। यही फ्रेड मुल्लर का भी मत है। लेसेन के अनुसार सिंहली मलायी भाषा की एक शाखा है। ठीक इससे उलटे, डी० अल्विस, काल्डवेल, हिस डेविस ने सिंहली को आर्यकुल की भाषा माना है। कुहन् के मत से सिंहली भाषा आर्य-भाषाओं जैसी दिखाई देती है, पर है वह संमिश्र भाषा। उसमें के कुछ दृढ़मूल विशेष अंश अनार्य-भाषाओं से आए हैं।

इस सम्बन्ध में अभी बहुत अनुसन्धान होना है। क्योंकि ये दोनों द्वीप बड़े उपेक्षित-से पड़े हैं।

बर्मी

दूर से बर्मा एक देश जान पड़ता है पर वहाँ बोली जाने वाली भाषाएँ और उप-भाषाएँ अनेक हैं। ख़ास ब्रम्ही या बर्मी भाषा पहले एक अक्षर वाली थी। आगे चलकर उसमें पालि का मिश्रण हुआ। और उसमें मूल शब्द एक से एक मिलकर नए शब्द बनाए गए। इस भाषा में शब्दों के रूप बिल्कुल नहीं बदलते। शब्दों का अर्थ केवल वाक्य में उनके स्थान से निश्चित होता है। भाषा की रचना रुखेंग की तरह सादा है। अलग-अलग श्रेणी के लोग भी इस भाषा में अलग-अलग तरह के शब्द प्रयुक्त करते हैं। ये सब विशेषताएँ आर्य-भारतीय भाषाओं से सर्वथा भिन्न हैं। लिपि मात्र भारत जैसी है: कन्नड़, तेलुगु या सिंहली के समान ही यह है। पहले इस लिपि को भारतीय नहीं मानते थे। विद्वानों में मतभेद था। कार्यानिग्रस का अनुमान था कि हिब्रू से फ़ारसी में और फिर जावा की भाषा-लिपि से संयुक्त होकर यह लिपि बनी। रामदुतिग्रस के मत से यह लिपि और मलयालम लिपि आर्मेनियन लिपियों से निकलीं। परन्तु लेडेन के हिसाब से ये सब अन्दाज़ ग़लत हैं।

बर्मी भाषा में तुकें आसानी से मिल जाती हैं। इसलिए वहाँ का गद्य भी पद्य जैसा जान पड़ता है। इस भाषा का सबसे पहले अध्ययन मिशनरियों ने किया। किन्तु अभी इसका और अध्ययन किया जाना बाकी है। वस्तुतः सभी एकाक्षर भाषाएँ कठिन होने से उनका अध्ययन कम किया गया है। फिर तिब्बती-बर्मी, स्यामी-चीनी, मोन-अनाम, (मोन-ख्मेर) भाषा-कुलों का अध्ययन तो और भी कम हुआ है।

बर्मा की एक प्रमुख उप-भाषा है रुखेंग। यह भी एकाक्षरी है। यह अराकान के मूल निवासियों की भाषा है। इसमें कई पालि के अनेकाक्षर शब्द भी मिले हुए हैं। अराकान के लोग प्रायः सभी बौद्ध हैं और मगधवासी रहे होंगे। इसी से बंगाली उन्हें मग या मौग कहते हैं। रुखेंग की वर्णमाला भी देवनागरी जैसी ही है। अक्षरों का रूप बर्मी अक्षरों जैसा है। भाषा-रचना में मलयु भाषा की समानता है। इस भाषा में वचन, विभक्ति, क्रियाओं के रूप में कुछ अन्तर नहीं होता। रुखेंग भाषा के ग्रन्थों के नामों से स्पष्ट लगता है कि उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है:

रुखेंग	संस्कृत
रामवत्थुच	रामचरित
बुद्धोवद	बुद्धचरित
हितोपदेस	हितोपदेश
थम्मसत् मनु	धर्मशास्त्र मनु
सुवन्न अस्यंग	सुवर्ण श्रृंग

डा० बुकनन ने रुखेंग भाषा के कुछ शब्दों का कोश बनाया है। उन्होंने अराकान के मुसलमानों की बोली 'रुहंगा' (अरबी, हिन्दी, रुखेंग का मिश्रण) और अराकान के ब्राह्मण और हिन्दुओं की 'रुसन' (बंगाली संस्कृत का अपभ्रंश) का उल्लेख किया है। रुखेंग लोग जिस प्रदेश को 'रो' कहते हैं और बर्मी 'यों' कहते हैं उस प्रान्त की भाषा रुखेंग की ही एक उप-भाषा है।

मोन या तलैंग

यह उप-भाषा पेगू प्रान्त के मूल निवासियों की है। ये लोग अपने को मोन कहते हैं, बर्मी लोग इन्हें तलैंग कहते हैं। स्यामी इन्हें मिंगमोन कहते हैं। इस भाषा के उच्चारण चीनी की भाँति होते हैं। बहुत से धातु एकाक्षरी हैं। बर्मी और करेन भाषाओं की तरह वे अनेकाक्षरों पर आधारित हैं। व्यंजन और मूल स्वर मिल कर एक अक्षर बनता है और व्याकरण तो बहुत ही आसान है: क्रिया के पहले कर्त्ता और बाद में कर्म रख दीजिए—बस वाक्य बन गया है।

तलैंग की कोल उप-भाषाओं से बड़ी समानता है। इसके धातु थाई, बर्मी, करेन, नाग भाषा-धातुओं से भिन्न हैं। यह चीनी-तिब्बती या तातरि भाषाओं से भी भिन्न है। यह ठेठ देशज भाषा है। भारत के कोल, गोंड, मुण्डा आदिवासियों की भाषाओं और तलैंग में बड़ा साम्य है:

हिन्दी	तलैंग	कोल
एक	म्वोआ	मोय
दो	बा	बई
चार	योन	योनिअ
छः	तरिओ	तुरिया

इन उप-भाषाओं का भी अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है। भारत में आज भी आदिवासियों की भाषाओं के विशेषज्ञ बहुत थोड़े हैं। प्रोफ़ेसर अमृतराव ने, द्राविड़ शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र के विषय में लिखते हुए तलैंग पर हिन्दू प्रभावों के मत का खण्डन किया। लागेन ने मुण्डा और सोनाकेर का सम्बन्ध बताते हुए खासी और कोल भाषाओं की समानता दिखाई है। स्टेन कोनाउ ने इस परस्पर-सम्बन्ध की बड़ी चर्चा की, जिसे ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' (खण्ड ४ पृष्ठ ११) में आधारभूत माना है। रायल एशियाटिक सोसायटी के सन् १८७८ के जर्नल में 'पेगू के मौन और मध्य भारत के कोल' नामक निबन्ध में फोर्बस् ने कहा है कि—'तलैंग तैलंग या तिलंगाना (तिलंगा) का एक रूप है। समुद्र मार्ग से थातुन् में जा कर वे रहे होंगे। आर्यों के आने से पहले मध्य-भारत के जो कोल हैं वे ही तैलंग आदि बड़े कुल के होंगे। ये अभी भी अपने को 'मून' कहते हैं।' हिन्दी के तिलंगे की व्युत्पत्ति क्या है?

गोंडी की तेलुगु-प्रभावित 'कोरकु' उप-भाषा में और मोन (तलैंग) में बहुत से शब्दों की समानता है ऐसा अब नए उपलब्ध अनुशीलनों से पता चला है।

हिन्द-चीन

श्रीलंका की भाँति यहाँ हिन्द-चीन में भी बौद्ध ग्रन्थों की भाषा पालि ही है। परन्तु पालि यहाँ की बोलचाल की भाषा नहीं है। यहाँ की भाषाओं पर अरबी का भी बड़ा प्रभाव हुआ है। हिन्द-चीन की भाषाओं के तीन विभाग किए जाते हैं—

अनेकाक्षरी	एकाक्षरी	पंडिताऊ (ग्रान्थिक) भाषा
मलयु	रुखैंग	पालि
जावा	बर्मी	
बूगी	मोन	
बिभ	थाइ	
बत्ता	खोहमेन	
गाल (तागाल)	लाव	
	अनाम	

मलायी (मलयु) और संस्कृत के साम्य को लेकर सर विलियम जोन्स से डाक्टर रघुवीर तक संस्कृत को मूल भाषा मानने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है वह अन्य भाषा-शास्त्री के अनुसार पर्याप्त तर्कयुक्त नहीं। लेडेन ने और 'युनिवर्सल हिस्ट्री' में सयाम पर लेख लिखने वाले ने माना है कि मलयु भाषा में इधर-उधर से लेने की व्यापारी-प्रवृत्ति ही प्रधान है। जैसे संस्कृत के हैं, वैसे अरबी के भी शब्द मलायी में हैं। मलायी की कई प्राथमिक बातें संस्कृत से नहीं मिलतीं। मार्लडेन के अनुसार मलायी भाषा में अरबी शब्दों की उच्चार पद्धति ज्यों-की-त्यों बनाई रखी है, जबकि संस्कृत को बहुत कुछ अदला-बदला भी है। मलायी लोगों को संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं का परिचय शायद गुजराती लोगों ने सबसे पहले कराया। डॉ० बरास आदि का ऐसा मत है। लेडेन के अनुसार मलायी और बंगला तथा उड़िया में बड़ा साम्य है। कलिंग से मलाया का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा ऐसा भी एक विश्वास है।

बंगला	मलयु
तथापि	ततापि
पुनः	पुन
वंश	बंग्स
किच्छु	किचि

बरो के अनुसार मलायी लोग चीनियों की ही एक शाखा है। उन्होंने सुमात्रा के बहुत से शब्द चीनी में भी मिलते हैं ऐसा माना है।

जहाँ मलय भाषा में 'पान्तुन' या 'सामेर' पद्य मिलते हैं जो मलयाली 'पाट्टु' ओं से बहुत साम्य रखते हैं, वहाँ संस्कृत या तैलंग से ली हुई कई कथाएँ भी हैं। जैसे: 'पिण्डव लिम' (पाँच पाण्डवों की कथा), 'पिण्डव पिंजम बलि' (पाण्डव महल उधार लेते हैं), आदि। मलयु भाषा में ग्रन्थों के 'हिकायत श्रीराम' जैसे संस्कृत-अरबी मिश्र नाम भी हैं। हिकायत अमीर हुमदा, हिकायत राजा खैबर, हिकायत मैमुन, हिकायत एबलीस आदि कई कहानियाँ अरबी से मलायी में ली गई हैं। कुरआन का तर्जुमा भी मिलता है। कई हिकायतें इतिहास-विषयक हैं।

मलायी लोग अरबी लिपि का उपयोग करते हैं—छः अक्षर और बढ़ाकर। इस भाषा का अध्ययन विदेशियों ने बड़े जोरों से किया। डेविड हीक्स ने मलयु-डच कोश बनाया, जिसका लैटिन अनुवाद सन् १६३१ में प्रकाशित हुआ। एम्स्टरडम में मलायी का पहला व्याकरण सन् १७२६ में छपा। बावरे, हाविसन आदि ने अंग्रेज़ी-मलय कोश बनाए हैं।

मलायी में कई भारतीय पुराण-अनुश्रुति की कथाएँ बड़े ही मिश्रित रूप में मिलती हैं। ये भारतीय पुराण-कथाएँ आदम-हव्वा की कहानी से मिला दी गई हैं। उसी प्रकार से भाषा में भी हुआ है।

ता-गाल

यह फ़िलिपाइन द्वीपों की मुख्य भाषा है। इसमें लैटिन की तरह से प्रत्ययादि होते हैं। वैसे विसाय भी बोली जाती है। इस्पाहानी मिशनरी फ़ादर ग्रास्कर ने सन् १७०३ में ता-गाल भाषा का एक व्याकरण लिखा। सन् १८८२ में फ़ाग्यूम नट्टि ने 'बिब्लियोथीका फ़िलिपीना' प्रकाशित की।

ता-गाल भाषा में १४ व्यंजन और ३ स्वर, कुल १७ वर्ण हैं। यह भाषा बाँस पर कील से लिखी जाती है और चीनी भाषा की तरह ऊपर से नीचे की ओर। लेडेन के अनुसार बत्ता उप-भाषा की तरह शायद यह नीचे से ऊपर को लिखी जाती थी। यह भाषा मलयु, बुगीस और जावानी वर्ग की है।

सयामी या थाई

सयाम या थाइदेश के लोग अपने को 'तहाई' कहते हैं। बर्मी लोग उन्हें 'स्यन' कहते हैं। पुर्तगालियों ने सिअम, सिअओम कहा। इसी से स्याम बना। फ्राँसीसी राजदूत ल लुबेर ने सन् १६८७-८८ में सयामी भाषा पर ग्रन्थ लिखा। थाई भाषा के अंक भी चीनी की तरह होते हैं इस भाषा में कई शब्द पालि से भी आए हैं। सयामी लोग जब कविता पढ़ते हैं तो सामवेद-पाठ की तरह जान पड़ता है। मगर लेडेन उसे चीनी ढंग कहता है।

इस भाषा में बीस स्वर और सैंतीस व्यंजन हैं। इतिहास पर इस भाषा में बड़े ग्रन्थ लिखे गए हैं। वैसे ही जीवनियाँ भी बहुत हैं। 'रामकिरान' रामायण जैसा ग्रन्थ है जिसमें 'राजा प्रराम' और उसके भाई 'प्रलक' (लक्ष्मण) के पराक्रमों का वर्णन है। 'नंगसेद' (सीता) का हरण करने वाला 'तोत्सकन' (दशकन्ध) युद्ध में मारा जाता है। 'उन्नसत' में अनिरुद्ध की कथा है। 'महाचिनोक' में महाजनक की कथा है। पर कथा के बीच में फ्रेंच और फ्रैंकों का उल्लेख है।

अनामी

अनामी भाषा को सयामी और मलायी 'जुआन' भी कहते हैं। सन् १६५१ में 'अलेक्ज़ैंडर डी रोड्स' ने इस भाषा का एक कोश रोम में प्रकाशित किया। वह जेसुइट पादरी था। पेरिस में अनाम भाषा पढ़ाने के लिए एक विशेष प्रोफ़ेसर नियुक्त था।

लोग चीनी लिपि को 'चूत्र' कहते हैं। स्वयम् 'नोम' का प्रयोग करते हैं। यह लिपि थाई से बहुत मिलती-जुलती है। अनाम भाषा में लिंग, वचन, विभक्ति, कारक, क्रिया के बदलते रूप—कुछ नहीं होते। सब काम अव्यय करते हैं। बहुत से शब्दों का अर्थ सन्दर्भ से जाना जाता है।

कांबोजी या 'रम्भैर' भाषा उससे भिन्न है। फ्रेंच लोगों ने इसका बहुत अध्ययन किया है। लाओ सयामी राष्ट्र से मिलता-जुलता है। सिंहल द्वीप में विश्वास है कि असल श्रीपाद पर्वत पर बुद्ध के बाँए पैर का निशान है। वैसे ही सयाम में 'स्वन्नपबतो' (सुवर्ण पर्वत) पर दाहिने पैर के चिह्न हैं ऐसी किम्वदन्ती है। लाओ भाषा के नाम हेमचन्द्राचार्य के अभिधानचिन्तामणि के अन्तिम चार बुद्ध नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं—

लाओ	हेमचन्द्र
प्रकुकुसोन	कुदुच्छन्द (क्रकुच्छन्द)
प्रकोन्नकोन	कांचन
प्रपुत्थकत्सोप	काश्यप

जावा, बालि, सुमात्रा तथा सेलिबिस की भाषाएँ

जावा की भाषा मलाया से पुरानी है। इसके अन्तःप्रदेशस्थ और तटवर्ती दो रूप हैं। तटवर्ती भाषाएँ अधिक अपभ्रष्ट हैं। जावा भाषा की लिपि का देवनागरी से कोई सम्बन्ध नहीं। इसकी वर्णमाला में २० वर्ण हैं और ए, उ, इ, ओ यह चार ही स्वर हैं। मगर उच्चारण कहीं अधिक हैं। यह उर्दू की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती हैं। जावा द्वीप की बागेलेन और सुंदा भाषाएँ जावानी से भिन्न हैं। बागेलेन से सुलु भाषा निकली है ऐसा भी एक मत है। जावानी भाषा के कुछ शब्दकोश बटाविया की एशियाटिक सोसायटी ने प्रकाशित किए हैं। कुरान का अनुवाद जावानी में भी है।

ग्रीक ग्रन्थों में यद्यपि कई जगह पालि का उल्लेख बालि की तरह से मिला है। किन्तु बालि द्वीप में प्रचलित बालि भाषा जावानी की ही उप-भाषा है। बालि द्वीप वासियों और भारतीय हिन्दुओं में बहुत सी आचारिक समानताएँ हैं। सेलिबिस की मूल भाषा बूगी है। तटवर्ती बूगी में संस्कृतजन्य शब्द बिल्कुल नहीं है। बूगी भाषा में बाईस वर्ण हैं; और अ, उ, इ, ए, ओ, उँग यह छः स्वर हैं। लेडेन ने बूगी और मकासर का एक छोटा कोश बनाया पर वह अधूरा और अपर्याप्त है। डा० मत्थेस ने सन् १८१४, १८८१ और १८८३ में बूगी और मकासर साहित्यों की वर्णनात्मक सूचियाँ प्रकाशित कीं, व्याकरण और कोश भी लिखे। के० जी० नीमन ने अलफुरू नाम से सेलिबिस की तटवर्ती भाषाओं पर एक ग्रन्थ १८६६ में एम्स्टरडम में प्रकाशित किया।

सुमात्रा में प्रचलित भाषा है बुत्ता। बुत्ता भाषा का मलायी, बूगी और बिम भाषाओं से विशेष सम्बन्ध है, फिर भी उसमें कई बातें मूल जैसी ही है। रचना के मामले में वह मलयु जैसी सादी है। परन्तु उसका बूगी से बड़ा साम्य है। बूगी लोगों में बहुत से रिवाज बुत्ता की तरह से हैं। इन दोनों भाषाओं और मलबा की मोप्ला भाषा में बड़ी समानता है। उसके कई शब्द इनमें हैं। उसके कई शब्द इनमें हैं।

इस बुत्ता भाषा की वर्णमाला बड़ी विचित्र है। अक्षरों की आकृति और अनुक्रम भी अजीब है। कुल अक्षर उन्नीस हैं और बूगी की भाँति छः स्वरों के हिसाब से उनका अलग-अलग उच्चारण हैं। ये लोग न हिन्दी की तरह बाँये से दाहिनी ओर, न अरबी की तरह दाहिने से बाँयी ओर, न ही चीनी की भाँति ऊपर से नीचे की ओर, नीचे से ऊपर को लिखते हैं। मैक्सिको की चित्रलिपि भी ऐसी ही लिखी जाती थी। बाँस के टुकड़े या पेड़ की टहनी पर काँटे से ये लोग लिखते हैं। इनके ग्रन्थ बाँस और लकड़ी के गट्ठर हैं। मार्सडेन ने सुमात्रा के इतिहास में इस भाषा की वर्णमाला दी है। परन्तु ये वर्ण रोमन या नागरी की तरह से लिखे गए हैं, इसलिए बहुत गड़बड़ होती है।

काम्बोजी के सब ग्रन्थ तालपत्र पर न होकर हिरण और नील-गाय के चमड़े पर है। चमड़े को काला रंग कर ऊपरी दूसरे रंग की स्याही काम में लाते थे। काम्बोजी लिपि और सिरियन जाति की 'होएइ हु' या 'उइगुरेस' लिपि की समानता को लासेन आदि विद्वानों ने अमान्य किया है। इसमें वर्णों के ऊपर-नीचे स्वर लिखे जाते हैं। इसमें कई अपभ्रष्ट पालि शब्द भी हैं।

तिब्बती

'तिब्बत' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। तिब्बती लोग अपने देश को 'बोद-युल' और भाषा को 'बोद-स्कद' कहते हैं। मध्य तिब्बत में बोद-स्कद का उच्चारण 'भो-क' किया जाता है। तिब्बती में मनुष्य को 'बोद-प' कहा जाता है। इसी से भारतीयों ने भोट, भोटिया अपभ्रंश बनाया। भारत में तिब्बत की सीमा पर रहने वाले लोगों को 'भोट' और तिब्बत ख़ास को 'हून्-देस्' कहते हैं, वहाँ के रहने वालों को 'हूनिय' कहते हैं।

बाल्तिस्तान और लद्दाख मिलाकर समूचे तिब्बत में इस मूल तिब्बती भाषा के कई रूप प्रचलित हैं। श्रीनगर से इसकी ओर जाने वाले मुख्य रास्ते पर जोज़िला का रास्ता नृवंशशास्त्र की दृष्टि से आर्य और तिब्बती बस्तियों के बीच की सीमा रेखा है। इस स्थान से पूर्व की ओर लाहौल, स्पिति, कुनावर, गढ़वाल, नेपाल, सिक्किम और भूटान आदि उत्तर के स्थानों को जोड़ने वाली जो रेखा बनेगी वह तिब्बती भाषा को भिन्न बनाने वाली रेखा है। पूर्व की ओर यह भाषा चीन के स्सेचुअन प्रान्त तक चली गई है।

तिब्बती भाषा का बोलचाल का रूप एक-सा नहीं है। तिब्बती साहित्य की पुरानी अभिजात भाषा से पता चलता है कि आरम्भ में इसमें संयुक्ताक्षर थे, ऐसी एकाक्षरी भाषा यह न थी। मध्य-तिब्बती भाषा में वर्णोच्चार की एक विशेष पद्धति है। मध्य-तिब्बती भाषाओं का विस्तार पश्चिम में स्पिति से पूर्व की ओर भूतान तक है। इन भाषाओं में कई उप-भाषाएँ आती हैं। पश्चिम की ओर से चलें तो इस क्रम से उसके रूप मिलते हैं:

१. स्पिति २. न्यम्कत् ३. जड ४. गढ़वाली

५. काग्ते ६. शेर्पा ७. दङ्जाङ्क ८. लहोके

ङ्री नाम का तिब्बत का जो पश्चिमी भाग है उसके तीन भाग हैं:

(१) मंग्युल—यहाँ की भाषा पूर्व नेपाल में प्रचलित शेर्पा और काग्ते भाषा से मिलती-जुलती है।

(२) खोरसुम—यहाँ की भाषा स्पिति, न्यमकत्, जड़ आदि गढ़वाली प्रदेशों की तिब्बती भाषाओं से मिलती है।

(३) मन्थुल—खोरसुम के उत्तर में उद्दोक की भाषा लद्दाखी और बाल्टी भाषाओं से मिलती-जुलती है।

पश्चिमी तिब्बती नामक एक दूसरा भाषा वर्ग भी है जिसमें तीन उप-भाषाएँ हैं: बालटी, पुरानी पुरिक, और लद्दाखी। लाहौल की तिब्बती, पश्चिमी और मध्य-तिब्बती को जोड़ने वाली भाषा है। पूर्व तिब्बत में खम्स में जो भाषा चलती है, उसे पूर्व-तिब्बती कह सकते हैं। उत्तर में और पूरब में मिकन और स्सेचुअन प्रान्तों में पूर्व तिब्बती से सम्बद्ध भाषाएँ चलती हैं। ये उप-भाषाएँ तिब्बती और आसाम या भारत की पूर्वी सीमा की तिब्बती-बर्मी भाषाओं की सन्धि-भाषा है। रेवरेण्ड एस० जस्खे ने तिब्बती-अंग्रेज़ी कोश की भूमिका में लिखा है कि सातवीं सदी के पहले ही तिब्बती साहित्य-भाषा बन चुकी थी। प्राचीन तिब्बती के विशेषज्ञ डा० जार्ज रोरीक ने मुझे बताया कि चौथी शती के उपलब्ध तिब्बती व्याकरण के आरम्भ में 'ॐ शिवाय नमः' है, जबकि ग्रन्थ एक बौद्ध धर्मानुयायी का लिखा हुआ है। तिब्बती यथार्थ अर्थ में एक 'बोली' मात्र है, क्योंकि इसमें छपाई के कोई साधन अभी तक नहीं हैं। कालिङ्पोङ् में एकमात्र तिब्बती समाचारपत्र 'दर्पण' के प्रकाशक और तिब्बती के दुनिया भर में एकमात्र छापेखाने के संचालक थार्चिन ने मुझे बताया कि उनके पास तिब्बती-हिन्दी शिक्षक बना हुआ तैयार पड़ा है। द्रव्य के अभाव में वे उसे छाप न सके। थार्चिन ईसाई हैं और मिशन के काम से बीसियों बरस तिब्बत में रहे हैं। इसके उलटे चीन की ओर से तिब्बत को मुक्ति दिलाने के उत्साह में शायद वहाँ की भाषा और लिपि भी बहुत जल्दी सु-संस्कृत बना दी जाए। यानी तिब्बती के बदले चीनी का व्यवहार शुरू हो। पर इस 'चीनी' में कुछ और ही छिपा हुआ है!

इसी प्रकार से भूटानी; नेपाली आदि भाषाओं के बारे में भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। राहुल जी ने इस विषय में हिमालय के आसपास की बोलियों पर बड़ा ही मूल्यवान अध्ययन किया है, और उसमें से कुछ प्रकाश में भी आया है।

गुलाब की ऋतु

सरोजिनी नायडू

प्रिय, गुलाब की ऋतु आ गई है
धूप से चमकते खेतों और बगीचों में
गुलाब कैसे हँस और खिल रहे हैं
ऊपर और नीचे,
चारों ओर
आनन्दोज्ज्वल!
गहरे लाल रंगों में गुलाब—
सुन्दरता ही सुन्दरता और रंग ही रंग!

उनकी भीनो मधुर सुगन्ध से
आकृष्ट होकर चली आ रही हैं
टोलियों को टोलियाँ
वन्य मधु-मक्षिकाओं की,
आनन्द-निर्भर होकर मधु-संचय के लिए,
तुम्हारी पगड़ी में लगे हुए तुर्रे के समान
वे हिल रहे हैं—
और वायु को प्रदान कर रहे हैं अपनी हँसी
और सुगन्ध का वैभव!

उगते हुए प्रातःकाल में
वे कैसे झूम और मुस्करा रहे हैं
प्रसन्न, उज्ज्वल और चंचल!
चाँदनी से चमकती घास में,
ये गुलाब के फूल प्रतीत होते हैं
एक तरुणी के सुहाग की चादर की तरह।

मुझे गुलाबों में समाधि प्रदान करना,
मुझे गुलाब की उस शराब में डुबाना
जिसे कि सुगन्धित गुलाब के प्रत्येक
वृक्ष में से खींचा गया है!
मुझे गुलाब की चिता पर लिटाना,
मुझे गुलाब की आग में जलाना,
मुझे प्रेम के गुलाब का मुकुट पहनाना।

अनुवादक: वंशीधर विद्यालंकार

काव्य और कवि

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

हमारे विचार में अन्तर्दृष्टि सापेक्ष वह लयात्मक रचना, जिसके वाक्यों के चयन में कोई अनूठापन हो, जिसकी प्रतीति रसात्मक हो और जिसमें लोक-मंगल साधन के हेतु बीजरूपेण अथवा प्रत्यक्ष ढंग से कोई सन्देश सन्निहित हो काव्य की संज्ञा से अभिहित होगी। इस प्रकार की रचना अनिवार्यतः आमोदकारी एवं आनन्ददायिनी होगी। इसका अनुभव मस्तिष्क और हृदय दोनों ही के द्वारा और एक ही समय होता है पर प्रक्रिया भिन्न होती है। मस्तिष्क की दृष्टि से जिसे हम रसानुभव कहेंगे हृदय की दृष्टि से वही आनन्द होता है, अथवा यों कहें कि रसानुभव का हृदय पक्ष ही आनन्द कहलाता है। इन दोनों तथ्यों का जिस रचना में संयोग हो जाए उसे निस्संकोच काव्य कहा जा सकता है।

काव्य आनन्दमूलक होता है। उसके पठन से हृदय की सारी चिंताएँ मिट जाती हैं और एक अतीन्द्रिय सुख मिलता है। यह सब सही है। किन्तु कवि के समक्ष जो लक्ष्य होता है वह आनन्द की साधना न होकर रस की और लोकहित की साधना होता है। आनन्दानुभव प्रत्येक काव्यनामधारी रचना से होना ही चाहिए पर समझने की बात यह है कि जो रचना किसी कवि की हृद्गत संवेदनाओं की दर्पण है और अपने प्रभाव में रसात्मक और लोक-हितात्मक है उससे आनन्द की प्राप्ति निर्बाध होगी। ऐसा नहीं है कि कवि को अपनी कविता में आनन्द-तत्व लाने के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास करना पड़े। वास्तव में यदि कवि रस और लोकहित की साधना—इन दो आदर्शों के प्रति पूरा-पूरा सचेष्ट है तो वह यह आसानी से भुला सकता है कि उसकी रचना को पाठक के हृदय को आनन्दातिरेक से मन्त्र-मुग्ध भी करना है। अतएव काव्य में आनन्द तत्व का समावेश स्वाभाविक और बिना किसी विशेष प्रयत्न के हुआ और कवि के काव्य-प्रयास की दृष्टि से प्रासंगिक हुआ।

काव्य में आत्म गुण का संयोग अनिवार्य है जो कवि की अन्तर्दृष्टि एवं संवेदना से परिपुष्ट और संपोषित हो उनकी वैयक्तिकता का सूचक बनता है। जो कवि अपनी कविता में अपनी आत्मा को उतार कर रख देता है वही सच्चा कवि है, और जब कवि की उसके काव्य में सुरक्षित आत्मा का पाठक की आत्मा से मेल खा जाता है तब आनन्द और रस दोनों की संसृष्टि होती है। ऐसी दशा में कवि और पाठक दोनों के व्यक्तित्व मिलकर एक हो जाते हैं और उनकी आत्माएँ प्रेषणीय (Communicable) एवं एक दूसरे के प्रति संवेदनशील हो उठती हैं। जब तक किसी क्रूर व्याघात से उसका स्वप्न टूट नहीं जाता, पाठक एक मोहक विस्मृति की अवस्था में रहता है। कवि और पाठक का यह व्यक्तित्व-समन्वय चिरंतन है और इस व्यापार को घटित कराने में जो काव्य समर्थ होता है उसे सच्चा काव्य मानना चाहिए।

जागरूक संवेदना और स्वस्थ कल्पना एक कवि के व्यक्तित्व के दृढ़ आधार हैं, जिनके सौकर्य से वह रुचिर काव्य की रचना कर पाता है। कवि एक भाव तथा हृदय-प्रधान प्राणी है, उसे अपने मस्तिष्क का सहारा तभी लेना पड़ता है जब किसी रचना को समाप्त कर लेने के पश्चात उसके लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उसका आकार-प्रकार, रूप-रंग संसार की मान्यताओं के अनुरूप है अथवा नहीं, या कि उसके प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर इस प्रकार ठीक बैठते हैं या नहीं कि वे साधारण पाठक को बुद्धिग्राह्य हो सकें और भाव-प्रेषणीयता में व्याघात उपस्थित होने का भय न रह जाए। कवि बुद्धि के सौजन्य से अपनी रचना को संसार के सामने रखने के पूर्व उसमें कुछ काट-छाँट करता है और उसके स्वरूप को सँवारता है। नहीं तो, कवि के व्यक्तित्व में हृदय और भावपक्ष अधिक विकसित होते हैं। जो अनोखी सूझें एक कवि की रचना में सुलभ होंगी वे एक बुद्धि और तर्क-प्रधान गद्यलेखक की कल्पना में बहुधा नहीं आएँगी। कवि अपनी पैनी दृष्टि से जितनी दूर तक और किसी विषय में जिस गहराई तक प्रवेश कर पाता है वहाँ तक उसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। कवि की अन्तर्दृष्टि एक ऐसी ईश्वरप्रदत्त गोप्य निधि है जो उसके चुने हुए विषय—भले ही वह स्वतः नवीन न हो—के वर्णन में एक नवलता एवं अनूठापन उत्पन्न कर देती है जो रचना को अत्यन्त मोहक और हृदयग्राही बना देती है। कवि अपनी भावना के सहारे जो एक रूपरेखा खड़ी करता है उसमें रंग भरने में वह अपनी कल्पना शक्ति से मदद लेता है, और यह निश्चय करने में कि कहाँ कौन रंग अधिक उपयुक्त होगा उसकी सहायता के लिए बुद्धि आ खड़ी होती है। किन्तु यह सम्पूर्ण व्यापार अलग-अलग न चलकर सामूहिक ढंग से और लगभग एक ही साथ चलता है और इसके फलस्वरूप जो काव्यरूप सामने आता है वह निश्चय ही ओजपूर्ण और हृदयस्पर्शी होता है। काव्य-रचना और उसकी प्रभावोत्पादकता का यही मर्म है।

जिस व्यापार अथवा क्रिया की अभी चर्चा हुई है उसके किसी पक्ष के अधिक या कम प्रधान होने से काव्य का सन्तुलन खो जाता है और रचना अस्तव्यस्त एवं असंयत हो जाती है। अतएव, जिन विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं से गुजर कर काव्य अपना अंतिम मनोहारी रूप ग्रहण करता है उनके बीच सन्तुलन का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सन्तुलन की नाप-जोख के लिए कोई निश्चित मापदण्ड अथवा सिद्धान्त नहीं है, यह तो अनुभव से, संयोग से विशेष प्राप्त होता है। इसके अभाव में भी प्रतिभा अपने विकास का मार्ग ढूँढ़ ही निकालती है किन्तु उसके प्रस्फुटन में एक अटपटापन और उसके कारण प्रसाद गुण की कमी, कहीं-कहीं अस्तव्यस्त वाक्य-

रचना और परिमार्जन की कमी के आ जाने का भय बना रहता है। कबीर और जायसी का काव्य या सन्तों की वाणी ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनमें प्रतिभा के दर्शन तो होते हैं किन्तु भाषा-संस्कार अथवा संयम का सर्वथा अभाव है।

शास्त्रीय नियमों का ज्ञान प्रतिभा के स्वतन्त्र तथा स्वस्थ विकास में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करता है यह हम मानने को तैयार नहीं हैं। यह समझने की बात है कि जिस व्यक्ति को किसी विषय के हरएक पहलू का पूरा-पूरा ज्ञान होगा वही उस विषय के नियमों-सिद्धान्तों को साधिकार तोड़-मोड़ कर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता है या नवीन आवश्यकताओं की भूमिका में उन्हें खपा सकता है। इसलिए काव्य-शास्त्र से भिज्ञता कवि की स्वतन्त्रता में कभी भी बाधक नहीं हो सकती। कवि जब अपनी भावना के वशीभूत हो अपनी वृत्तियों को किसी वस्तु में केन्द्रीभूत कर उसमें एकदम तल्लीन हो जाता है तो किसी प्रकार के बाह्य अवरोध उसके लिए निरर्थक हो जाते हैं। और जब वह कुछ कहने के लिए बेचैन हो उठता है तो उसकी भावना कुछ विशिष्ट शब्दों में स्वरित हो उठती है। यही उसका काव्य बन जाता है। शिक्षा-दीक्षा के अभाव में भावना का यह स्वरित होना अटपटी और अस्थिर भाषा (जिसे सधुक्कड़ी भाषा भी कहा गया है) में होगा, पर यही क्रिया सुसंस्कृत-भाषा में प्रस्फुटित होगी, यदि कवि अपने क्षेत्र के साहित्य का सुयोग्य विद्वान भी है। वास्तव में उसकी सारी शिक्षा-दीक्षा संस्कार रूप में संकलित हो उसके मस्तिष्क के अर्धचेतन या अवचेतन भाग में गुम्फित होती है और जब किसी भावना-विशेष के आवेश में उसकी वाणी मुखर हो उठती है तो उसके (वाणी) विन्यास में उसका सम्पूर्ण पिछला संस्कार स्वाभाविक ढंग से प्रवेश कर जाता है। इस सम्पूर्ण क्रिया में अवरोध या स्वातन्त्र्य की कमी के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। कवि की प्रतिभा किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं करती। यदि वह काव्य-शास्त्र से भी परिचय रखता है तो यह उसके लिए गौरव की बात है न कि निन्दा की। विद्वत्ता की भूमिका में निर्मित काव्य इस तत्व के अभाव में रचित रचना की तुलना में अधिक श्रेष्ठ और यशस्वी होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

रसात्मक बोध को हमने काव्य का एक स्थायी गुण माना है। यदि किसी काव्य-रचना के पठन के उपरान्त पाठक रसानुभव से वंचित रह जाय तो यह वैसे ही होगा जैसे किसी अत्यन्त मधुर कहलाने वाली वस्तु को पूरा खा लेने पर भी उसके स्वाद का अनुभव न हो। काव्य में रस क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना शायद गूँगे के गुड़ के समान है, जिसका स्वाद वह मन ही मन ग्रहण करता है पर व्यक्त नहीं कर पाता। या इसका एक उत्तर यह है कि यदि आप पूछिए न कि रसानुभव क्या है तो हम कहेंगे कि हम उसे जानते हैं, और यदि आप उसकी व्याख्या करने को कहें तो हम कहेंगे कि हम उसे जानते ही नहीं। इसी प्रकार की रस की कुछ और टालने वाली परिभाषाएँ दी गई हैं। एक में कहा गया है कि रस रस ही के समान है (रसो वै सः), तो दूसरी के अनुसार जो कुछ आस्वादन किया जाय वह रस है (रस्यते इति रसः)। सार यह है कि रस के स्वरूप का वर्णन सीधे स्पष्ट शब्दों में करना कठिन है, हाँ, उदाहरण देकर उसे समझाया जा सकता है। जैसे हम कहें कि ब्रह्मानन्द के अनुभव में जो सुख मिलता है, लगभग वैसे ही सुख की उपलब्धि रसानुभूति की स्थिति में होती है।

वास्तव में किसी काव्य-रचना में प्राप्य रस, ग्रहण करने की वस्तु है और उसकी व्याख्या की चेष्टा में उसके रसत्व का ह्रास है। भरत जैसे निष्णात् आचार्य ने भी केवल यही बताया है कि रस की निष्पत्ति कैसे होती है, रस क्या है इस सीधे प्रश्न को उन्होंने नहीं उठाया है। जब पाठक का व्यक्तित्व काव्य की रमणीयता में अवगाहन करते-करते उसमें पूर्णतया तल्लीन होकर रम जाता है, तब एक स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें उसका कवि के व्यक्तित्व से समन्वय होता है और दो आत्माओं के इस आदान में पाठक का व्यक्तित्व अपने को जिस सूक्ष्म और उत्कृष्ट भावना से ओत-प्रोत पाता है उसकी अनुभूति को रस कह सकते हैं और पाठक की वह अवस्था रसानुभव की अवस्था कही जा सकती है। रस-ग्रहण की स्थिति काव्य और पाठक दोनों ही की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का उच्चतम लक्ष्य रस की संसृष्टि है और पाठक का किसी रचना के पढ़ने का यही उद्देश्य हो सकता है कि वह उसके रस का आस्वादन कर सके। अतएव रस की अनुभूति को काव्य के सम्पूर्ण व्यापार का सर्वोच्च बिन्दु मान सकते हैं। इसी बिन्दु पर पहुँच कर आनन्द की चरम स्थिति, जिसे लोकोत्तर आनन्द कह सकते हैं, का भी आभास मिलता है।

रस की संसृष्टि के साथ ही साथ लोकहित की साधना को भी हमने काव्य का उच्चतम लक्ष्य माना है। वस्तुतः जनहित साधन को ही काव्य का सर्वोपरि उद्देश्य मानना चाहिए। काव्य में जनता की मनोवृत्ति को बदल कर उसे दूसरे मार्ग पर लगा देने की शक्ति होती है। जिस कार्य की सिद्धि में बड़े से बड़ा समाज सुधारक अथवा राजनीतिज्ञ विशेष सफलता का अधिकारी नहीं हो पाता उसे काव्य अपने ओज तथा प्रसाद इत्यादिक गुणों के सम्मोहन से सरलता से पूर्ण कर लेने में सक्षम है। शब्द, छन्द, लय और स्वर के संयोग से जो अनुपम सृष्टि होती है उससे जन-जागृति का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि उसमें जनता को अपनी ओर खींचने की शक्ति होती है। कवि उसी के माध्यम से अपने सन्देश को जनता तक पहुँचाता है, अतएव उसका प्रभाव अवश्यंभावी है। इसलिए कवि-कर्म के पीछे यह आदर्श होना अपेक्षित है कि वह जो भी काव्य-रचना संसार को देने का निश्चय करे वह जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो अथवा उसमें जन-समुदाय की जीवन के प्रति आस्था को दृढ़तर बनाने के निमित्त कवि का सन्देश निहित हो।

कवि का वास्तव में सामाजिक जीवन की अभिवृद्धि से घनिष्ट सम्बन्ध है और इस कारण समाज के प्रति उसका विशेष उत्तरदायित्व है। प्रत्येक कवि को इस उत्तरदायित्व के प्रति विशेष रूप से सजग रहना पड़ता है। जिस कवि को अपने इस दायित्व का ध्यान नहीं

(शेष पृष्ठ २४ पर)

पानवाला

'सुखी'

"हेड क्लार्क क्या आसमान से उतर कर आए हैं ? उनके सुरखाब के पर तो नहीं लगे हैं ? तुम्हें कहना चाहिए था कि दूकान की बाकी चुका दें, फिर बात करें"—अय्यामुत्तु चिल्लाकर अपने बेटे से कह रहा था। असल में उसका गुस्सा लड़के पर नहीं था। वह चाहता था कि उसकी बातें चपरासी चिन्नस्वामी, जो पान लेने आया था, सुन ले फिर हेड क्लार्क से जा कर कहे और हेड क्लार्क शरम और झुँझलाहट के मारे फ़ौरन पैसा चुका दे। यदि पैसा न भी चुकावे तो कोई बात नहीं, परन्तु पानवाले ने झुँझलाहट से जो बातें कहीं उन्हें हेड क्लार्क कान खोलकर सुन ले।

पानवाले की ज़बान सर-सर चलती थी। उसके हाथ, सोडा बॉटल खोलना, केले का छिलका निकालना, शीशे के जार से बड़ी जल्दी से मिठाइयाँ निकालना, पान बनाना आदि काम इतनी तेज़ी से करते थे मानो वे हाथ न होकर मशीन हों।

आज दूसरी तारीख है। तनख्वाह मिलने के बाद भी गाहक उसकी आँख बचाकर चले जाते थे। इसलिए वह गुस्से से चिल्ला रहा था। दूसरे गाहकों के साथ उसका व्यवहार जैसा भी रहा हो, लेकिन हेड क्लार्क से उसकी दुश्मनी सी थी। उन्हें चीज़ें देता था बड़ी उदारता से, परन्तु पैसा माँगता था कड़ाई से। ज़रा भी रियायत नहीं दिखाता था। पैसा इस तरह माँगना कि गाहक बेचारे शरम के मारे चुल्लू भर पानी में डूब कर मरना पसन्द करें।

हेड क्लार्क कई बार कसम खा चुके थे कि उसकी दूकान से चीज़ें उधार नहीं खरीदेंगे, परन्तु इसका पालन उनसे नहीं हो सका।

"जा बे, गधे के बच्चे ! जा, माँग ला उनसे पैसा। पूछना, क्या पैसा माँगने मेरे बाप को आपके पास आना पड़ेगा ? मुझे तो दे देंगे न ? 'गेट आउट' कहकर तुझे उन्होंने कमरे से बाहर कर दिया था न ? अब जाकर पूछ—'गेट आउट' के माने क्या हैं ? उसके आगे कुछ कहें तो कह देना—आप पैसे न देंगे तो दफ्तर के बड़े बाबू से जाकर इसकी रिपोर्ट करूँगा। जा, छाती तानकर माँग। तेरे जैसे छोकरे को ही उनसे पैसा माँगना चाहिए। जा अभी जा।" इस तरह पानवाला अपने लड़के को गाहक से पैसा माँगने की ट्रेनिंग दे रहा था। उसका उद्देश्य पैसा वसूल करना ही नहीं था, हेड क्लार्क की खिल्ली उड़ाना भी था।

छोकरे की उम्र सात-आठ साल की होगी। सिर हिलाते हुए, अपने मटके से बड़े पेट पर हाथ फेरते हुए वह दफ्तर की तरफ जाने लगा। जाते हुए छोकरे से फिर एक बार धीरज बँधाते हुए पानवाले ने कहा—"सुन रे, हेड क्लार्क धमकियाँ देंगे। घबराना नहीं, अच्छा।"

"अरे जाने भी दो जी। हमें दो छटाँक चना खाने को दो। तुम्हारा पैसा लेकर हेड क्लार्क भाग थोड़े ही जाएँगे, दे देंगे भाई। अब हमें जल्दी छुट्टी दो।"—रोज़गार दफ्तर के चपरासी चिन्नस्वामी ने पानवाले से कहा। उनके लिए चना तौलते हुए पानवाले ने कहा—"सुनो भाई, तुम पर भी तो पैसा निकलता है। उसके लिए तो हम तकाज़ा नहीं करते हैं, तुम जानते ही हो। हेड क्लार्क से तो सिर्फ दस ही रुपए मिलने हैं। अगर वह न मिले तो क्या मेरी दूकान नहीं चलेगी ? छः महीने पहले तुम भी ऐसे ही गुस्सा करते थे। मामूली अनपढ़ आदमी समझकर हमने उसका ख्याल ही नहीं किया। लेकिन यह हेड क्लार्क पढ़ा-लिखा आदमी है, उसका इस तरह बोलना ठीक नहीं है न ?"

"तुम तो बड़े चालाक आदमी हो। बहुत पुरानी बात को लेकर मुझ पर भी चोट करते हो। बड़े बाबू तक तुम से डरने लगे हैं। रोज़ हमारे दफ्तर में सैकड़ों पढ़े-लिखे आदमी आते हैं। लेकिन कोई भी तुम्हारे जैसा व्यवहार-कुशल और बुद्धिमान नहीं मिला," पानवाले की तारीफ़ में चपरासी ने कहा।

"छः महीने पहले जब मैं तुम्हारे दफ्तर में आया था तब तुम भी मुझे देख कर कुत्तों की तरह गुर्रा उठे थे। अगर मेरे पास पैसा होता तो काहे को तुम्हारे दफ्तर में नौकरी की तलाश में आता ? अनपढ़ आदमी जो ठहरा। मुहल्लेवालों ने कहा कि रोज़गार दफ्तर में जाओ, नौकरी मिल जाएगी,"—पानवाला बोला।

"जाने दो इन पुरानी बातों को। बड़े बाबू के आने का समय हो गया। दो केले और एक रांजन बीड़ी मेरे नाम भी लिख लो," यह कहते हुए चपरासी ने भुने चने से मुट्ठी भर ली और वहाँ से भागा।

एक मुट्ठी चना बिना पैसे दिए ले गया। पानवाला बड़े उदार दिल का आदमी था। इन छोटी-छोटी बातों पर वह ध्यान नहीं देता था। ऐसे मौकों पर कड़े शब्द कहकर अपने उदार स्वभाव पर बट्टा नहीं लगने देता था। उसे दुनियाँ के किसी शख्स पर अविश्वास नहीं था। उसने एहसान फ़रामोश रामस्वामी तक को उधार दिलवाया था। उसे नई दूकान खोलने के लिए सेठ मंगूमल से पैसा उधार दिलवाया था। पत्नी प्रेमी रामस्वामी ने अपनी बीवी के लिए उन पैसों से जेवर बनवाए। पानवाले अय्यामुत्तु के डर से कहीं अज्ञातवास करने लगा। सेठ जी से किए वायदे के अनुसार पानवाले ने अपना माल बेचकर सेठ जी का ऋण चुकाया। उस तरह उसने अपने को तकलीफ़ में डालकर, अपना वायदा पूरा किया था। ऋण चुक जाने की बात सुनकर रामस्वामी फिर उसी शहर में आया, जहाँ पानवाला रहता था। उसे देखकर पानवाले ने कुछ नहीं कहा। वही परोपकारी पानवाला आज हेड क्लार्क से इतना नाराज़ क्यों है ?

छः महीने पहले की बात है। सुबह का वक्त था। मोहल्ले वालों के कहने में आकर वह रोज़गार दफ्तर में गया—नंगे बदन, बिना दाढ़ी बनाए। उसे देखकर चपरासी चिन्नस्वामी ने पूछा—"क्यों बे, क्या देखता है ?"

पानवाले अय्यामुत्तु ने अपने साले को, जो रजिस्ट्रार के आफ़िस में चपरासी है, कई बार लोगों को बेकार डाँटते हुए देखा है। इसलिए वह चिन्नस्वामी की गीदड़-भभकी से नहीं डरा। उसने अदब से कहा—"काम की तलाश में आया हूँ, भाई।"

"अपना नाम रजिस्टर में लिखवाया है ?" ज़रा जोर से चपरासी ने पूछा। उसका ख्याल था कि अय्यामुत्तु घबरा जाएगा।

"मुझे कुछ मालूम नहीं है। जैसा कहोगे, करूँगा।"

"अच्छा, अहाते के बाहर जो नीम का पेड़ है, उसकी छाया में खड़े रहो।"

अय्यामुत्तु दुनियादारी से खूब वाकिफ़ था। नन्हे से बच्चे से लेकर बड़े-बड़े अनुभवी आदमी तक को वह जल्दी पहचान लेता था। चपरासी की बात सुनकर वह हँसने लगा। उसकी व्यंग्य भरी हँसी चपरासी को बुरी लगी। उसे गुस्सा आ गया। पूछा—"क्यों बे, हँस क्यों रहा है ?" "पेड़ की छाया में खड़े रहने के लिए भी तुम्हारी आज्ञा की ज़रूरत है ? सरकारी सड़क पर जो पेड़ खड़ा है उसकी ओर इशारा करके लोगों को वहाँ जाने को कहने के लिए सरकार को तुम्हारे जैसे आदमी की ज़रूरत पड़ रही है ?" यह कहता हुआ पानवाला अय्यामुत्तु पेड़ की तरफ चला गया। वह पहले ही जानता था कि उसे गरीब, चार बच्चों का बाप समझ कर कोई नौकरी देने की कृपा नहीं करेगा।

उसने देखा कि पेड़ के नीचे उससे भी ज़्यादा पढ़े-लिखे युवक खड़े हैं। हरेक युवक के हाथ में एक-एक पुस्तक थी, मानो वह उनके शिक्षित होने का प्रमाण थी। सबके चेहरे पर भूख और निराशा की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि उन्हें कैसी नौकरी मिलेगी और वह भी कब ? अय्यामुत्तु ने इन सब को देखा। वह चुपचाप खड़ा रहा। इतने में एक शख्स तेज़ी से आया और दफ्तर में घुस गया। उसे देखकर दो-चार शख्सों ने सलाम किया। अय्यामुत्तु को यह जानने में देर नहीं लगी कि वही रोज़गार दफ्तर के बड़े बाबू हैं। उसे ये बाबू देवता स्वरूप मालूम हुए। उसने भी बाबू को नमस्कार किया। दूसरों ने तो सलाम करने के बाद बाबू साहब की आलोचना शुरू कर दी, परन्तु अय्यामुत्तु ने ऐसा नहीं किया। वह मानो नेकनीयती की मूर्त्ति बनकर खड़ा था। बड़े साहब ने उसकी तरफ देखा तक नहीं।

कड़ाके की धूप पड़ रही थी। लू ऐसी चल रही थी मानो पेड़-पौधे गरम साँस छोड़ रहे हों। अय्यामुत्तु को खाना खाए तीन दिन हो गए थे। उसके पास दो ही पैसे थे। साफ़-सुथरे कपड़े पहने कई युवक अफ़सर के कमरे में आ-जा रहे थे। कुछ हँसते-मुस्कराते निकल रहे थे, और कुछ रोनी सूरत लेकर।

अय्यामुत्तु हिम्मत करके हेड क्लार्क के कमरे में पहुँचा। हेड क्लार्क सिर झुकाए कुछ लिख रहे थे। उन्हें मालूम था कि कोई सामने खड़ा है, फिर भी उन्होंने उसकी परवाह नहीं की। वह कुछ लिखते ही रहे। अय्यामुत्तु ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्ते कहा। उन्होंने सुना, फिर भी सिर नहीं उठाया। अय्यामुत्तु को जो अपने पास आने वाले को "आइए! आइए!" कहकर स्वागत करने का आदी था, हेड क्लार्क का यह मौन और उपेक्षा भाव बर्दाश्त नहीं हुआ। उसे बहुत गुस्सा आया। फिर भी अपनी हाजिरी जता देने के लिए वह खाँसा। तब भी उनका मौन भंग नहीं हुआ।

एकाएक उन्होंने घंटी बजाई और चपरासी को बुलाया। उन्होंने चपरासी से पूछा—"इसे आफ़िस में क्यों घुसने दिया ?"

"उसने नहीं भेजा, बाबू जी। मैं खुद चला आया। उसका कोई दोष नहीं है। दोष मेरा है।" अय्यामुत्तु ने नम्रता से कहा।

"अच्छा, जाकर क्लार्क से मिलो।"

"मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। लोगों ने कहा कि आपके पास आने से काम बन जाएगा।"

"बेकार बक-बक मत करो। वहाँ जाकर, अपना नाम लिखवा लो। इन सालों के कारण नाकों दम है।" अब भी हेड क्लार्क ने सिर नहीं उठाया। शायद सिर उठाकर बात करने की उनकी आदत शादी के बाद छूट गई थी। अमीर घराने की लड़की से शादी करने के बाद से उन्हें उसके पैसे के आगे सिर नवाने की जो आदत पड़ी वह लगातार जारी रही।

"मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ"—अय्यामुत्तु ने फिर चिरौरी की।

"तुम्हें जो कुछ कहना है, और जो नहीं कहना है, सबका बयान क्लार्क के पास जाकर देना। यहाँ से जल्दी हटो।" यह कहते हुए उन्होंने चपरासी की ओर देखा। चपरासी ने दाएँ हाथ से अय्यामुत्तु को पकड़कर दरवाज़े की ओर खींचा। पर अय्यामुत्तु टस-से-मस न हुआ। जिसने अय्यामुत्तु से हेड क्लार्क के बारे में कहा था उसने यह भी कह रखा था कि हेड क्लार्क के पास से, जब तक काम न बने, न हिलो। वे टालते हुए कहेंगे कि 'कल आओ'। तब भी न हिलना। अय्यामुत्तु ने इन बातों को ब्रह्म वाक्य माना हुआ था और वह मूर्तिवत खड़े होकर उनका पालन कर रहा था।

"आपको मेरा उद्धार करना ही होगा। मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। दस्तखत उलटा-सीधा कर लेता हूँ। एक जमाने में अच्छी हालत में था। अब समय बुरा है। माहवार दस रुपए का ही सही, कोई काम दिलाइए। नहीं तो मेरे बाल-बच्चे भूखों मर जाएँगे।" अय्यामुत्तु ने बड़ी विनय से कहा।

हेड क्लार्क ऐसे वाक्य हर रोज़ और वह भी बीसियों बार सुनते थे। केवल भाषा और बोलने के तरीके में फर्क होता था। उन्होंने पढ़े हुए युवकों को रोते हुए देखा था। नौकरी की ज़रूरत और उसके बिना होने वाली मुसीबतों का वर्णन करके कई लोगों ने उनके सामने आँसू बहाए थे। इसलिए अय्यामुत्तु का यह रोना उनके लिए नया नहीं था। अलावा इसके जब पढ़े-लिखे युवकों को काम मिलना मुश्किल हो रहा है, तो ऐसे अनपढ़ आदमी को क्या काम मिल सकता है ?

"जा, जा, अपने को बड़ा पंडित समझ कर बातें करने लगा है मानो आई० सी० एस० पास किया हो। हट जा, यहाँ से। क्लार्क के पास जाकर नाम लिखा ले।"

"जो भी काम दें, मैं करूँगा। किसी तरह आधा पेट भर लेने के लिए कुछ मिल जाय तो बड़ी कृपा होगी। अगर काम नहीं दे सकें तो ५०) उधार ही.........."

"जब लेन-देन की दूकान खोलूँगा, तब लाट साहब को खबर भेजूँगा। हूँ, हट यहाँ से!" यह कहकर हेड क्लार्क स्वयं उस कमरे से बाहर चले गए।

अय्यामुत्तु का सिर चक्कर खाने लगा। उसका ख्याल था कि हेड क्लार्क ख्वाह-म-ख्वाह काम देने से इनकार कर रहे हैं। बेचारे ने निश्चय किया कि धरना देकर ही सही, उनके द्वारा कोई काम ढूँढ़ लेना चाहिए।

आधा घंटा बाद भी जब वह वहाँ से नहीं हटा तो हेड क्लार्क गुस्से से पागल हो गए। उन्होंने उसे बहुत समझाया। कहा कि उसका वहाँ खड़ा रहना दफ्तर के काम में बाधा पहुँचाता है। उनका गुस्सा भी न्याय-संगत था। अब वे उठे और बोले—"तुम चुपचाप यहाँ से जाओगे कि पुलिस बुलवाऊँ।"

अब इस अस्त्र के आगे अय्यामुत्तु को झुकना ही पड़ा। पुलिस के चंगुल में पड़ने की अपेक्षा वह नौकरी की आशा छोड़ने को तैयार हो गया। पुराने अनुभवों की याद आते ही, उसे जेल के मुफ्त के भोजन की अपेक्षा इस दुखमय संसार का स्वाधीन जीवन ही बेहतर जान पड़ा।

"आप इतना ही कर सकते हैं या और कुछ? अगर आप और आपके आफिस वालों को अपने सामने थोड़ी देर भी खड़ा नहीं रखा, तो मेरा नाम अय्यामुत्तु नहीं। अपने को दानी कर्ण ही समझ लिया है। जल्दी ही मैं भी दिखा दूँगा कि मैं कौन हूँ?" इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए वह रोज़गार दफ्तर से बाहर निकल गया।

दफ्तर के अन्य कर्मचारियों ने सोचा कि इसके लिए उचित स्थान पागलखाना ही है। वे लोग उसे देखकर हँस रहे थे। एक अनपढ़, गरीब आदमी उन पढ़े-लिखों के सामने नाचीज़ और भोंदू मालूम पड़ रहा था।

अब अय्यामुत्तु सोचने लगा: "मैंने जो बातें कहीं, उनका पालन कैसे होगा? इन लोगों को मेरी कृपा की क्या ज़रूरत पड़ेगी? इन लोगों को सबक कैसे सिखाया जाय?" यह सोचते हुए उसने देखा कि वहाँ काम की खोज में जो लोग आए हुए थे, उनमें से कई सिगरेट के प्रेमी थे, कइयों को भूख और प्यास लग रही थी। यह दृश्य देखकर अचानक उसके मन में एक विचार बिजली की तरह कौंध गया।

दूसरे हफ्ते रोज़गार दफ्तर से लगे हुए दूसरे अहाते में एक छोटी-सी दूकान खुल गई। एक-एक करके कई चीज़ें दूकान को सजाने लगीं। दूकान का किराया दस रुपया मासिक था। अय्यामुत्तु की योजना सफल हुई। जितने लोग नौकरी की खोज में रोज़गार दफ्तर में आते थे, सब उसकी दूकान से सिगरेट, पान, फल, बिस्कुट, मिठाई आदि खरीद कर खाते थे। उसका व्यापार दिन-दिन चमकने लगा। रोज़ कितने लोग उस दफ्तर में आते हैं, इसका विवरण अय्यामुत्तु की दूकान पर ही मिल जाता था। यहाँ तक कि दफ्तर के सभी कार्यकर्ता उधार खाते में उसी से सिगरेट, सोडा, पान आदि खरीदने लगे। बड़े बाबू, हेड क्लार्क तक के नाम उसकी पाकेट बुक में चढ़ गए।

ग्यारह बजते ही वह सीधे आफिस में पहुँच जाता था। किसी दिन उसके आने में ज़रा देरी हुई तो ग्राहक खुद उसके आने की राह देखने लगते। पहले जिन्होंने पूछा था कि 'तुम यहाँ क्यों आए', वे ही लोग अब पूछते थे कि अय्यामुत्तु क्यों नहीं आया? जिसने पिछले महीने की बाकी नहीं चुकाई, वह उसकी आँख बचाकर दूसरे दरवाज़े से निकल जाता है। अब पानवाले अय्यामुत्तु की ख्याति बढ़ गई है। सब की ज़बान पर उसका नाम है। कोई पान के बहाने, कोई सोडा खरीदने के बहाने और कोई बिस्कुट के बहाने उसका नाम ले लेता है। कहना चाहिए कि उसकी कीर्ति आज चरम सीमा तक पहुँच गई है।

× × × ×

जब अय्यामुत्तु बीती बातों की याद कर रहा था, तभी चपरासी ने आकर कहा कि हेड क्लार्क तुम्हें याद फ़रमा रहे हैं।

पानवाले ने कहा—"हमें इस वक्त फ़ुरसत नहीं है। उन्हीं को यहाँ ले आओ।"

"अगर तुम नहीं चलोगे तो हेड क्लार्क कहते हैं कि तुम्हारी दूकान के मुकाबले में दूसरी दूकान खुलवायेंगे।" चपरासी ने धमकी के स्वर में कहा।

"जाकर कह दो कि हम उस दूकान में नौकरी करने के लिए दरख्वास्त नहीं भेजेंगे," पानवाला बोला।

"सुनो भाई अय्यामुत्तु," विनय के साथ चपरासी ने शुरू किया, "तुम्हारे छोकरे का हेड क्लार्क के कमरे में पैसे के लिए धरना देना अच्छा नहीं लगता। कहता है कि जब तक पैसा नहीं देंगे, तब तक यहाँ से नहीं हटूँगा। हेड क्लार्क ने कहला भेजा है कि तुम जाकर उस छोकरे को बुला लाओ। इसीलिए मैं दौड़ा हुआ आया हूँ। ज़रा जल्दी करो।"

"देने दो धरना। दफ्तर के बड़े बाबू आएँ और सारे हालात से वाकिफ हो जाएँ। मेरा लड़का नौकरी के लिए धरना नहीं दे रहा है। दूकान की बाकी माँग रहा है। पैसा दिलवा दो तो वहाँ से चला आएगा।"

चपरासी मिन्नत करके बोला—"अगर बड़े बाबू को मालूम हो जाए कि बाकी के लिए लड़का खड़ा है, तो हेड क्लार्क की नौकरी की खैर नहीं। वे इन मामलों में बहुत ही स्ट्रिक्ट रहते हैं। देर हो रही है, अय्यामुत्तु, चलने की कृपा करो!" यह कहते हुए चपरासी ने पानवाले के पैर पकड़ लिए।

"हाँ, मेरे जैसे अनपढ़ आदमी नौकरी न रहने पर भीख माँग कर चार पैसे कमा सकते हैं। लेकिन पढ़े-लिखे आदमी की नौकरी चली जाएगी तो वह कहीं का न रहेगा। उसका सारा परिवार ही बरबाद हो जाएगा। दस रुपए मेरे लिए कोई बड़ी बात नहीं है। जाकर कह दो कि हमने १०) माफ़ कर दिया!"

(शेष पृष्ठ २४ पर)

एक पंजाबी गाँव में ग्राम सेविका



जब जीवन जाग उठा और संस्कृति मुस्कराने लगी

सावित्री निगम

इसमें सन्देह नहीं कि सदियों की सूखी बंजर जमीन को तोड़ उर्वर और उपजाऊ बनाना और पिछड़े हुए रूढ़िग्रस्त तथा अशिक्षा और अज्ञान के अन्धकार में निमग्न गाँवों में नव-जागृति लाने में सफलता प्राप्त करना लगभग एक ही स्तर के कठिन कार्य हैं। पर कभी-कभी तो ग्राम सेवा भूमि सेवा से भी अधिक कंटकाकीर्ण प्रतीत होती है।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ और स्थान का चुनाव—भारत सेवक समाज में शिविर चलाने का जब हमने निर्णय कर लिया तो प्रयोग रूप में कुछ शिविर दिल्ली राज्य की शाखा के तत्त्वावधान में चलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। अपनी अनुभव शून्यता के कारण हम यह तो जैसे मान ही बैठे थे कि दिल्ली के आस-पास के गाँवों में अवश्य ही राजधानी की जागृति एवं प्रगति का प्रभाव पड़ा होगा—कुछ ऐसी ही विचित्र धारणाएँ बनाकर हमारी टोली दिल्ली तथा पंजाब की सीमा के गाँवों का निरीक्षण करके शिविर के लिए उपयुक्त स्थान चुनने के इरादे से रवाना हुई और लगभग २० मील चलने के पश्चात हमारी भेंट एक वृद्ध ग्रामीण से हुई जो कि निकट के गाँव का प्रतिष्ठित व्यक्ति था।

हमारी बातें ध्यान से सुन कर उसने बड़े गम्भीर स्वर में अपनी ग्रामीण भाषा में कहना आरम्भ किया—"जी हयाँ तो यू ही बहुतेरे आवें हैं एवेई सेवा, वेवा करन वास्ते पर ये तो गूजान की बस्ती ठहरी हयाँ कोऊ की दाल कब्बहू ना गली वे ऐसई सौ बेर करके फेर चले जाएँ यों ही।"



ग्राम सेविकाओं के शिविर का दृश्य

उसकी साफ खरी बातें तथा अपने ऊपर उसका अविश्वास देख हम हतप्रभ हो उठे। बार बार पूरी विद्वत्ता लगाकर जब हमने उन्हें शिविर लगाने के इरादे का पूरा परिचय दिया तो वृद्ध ने अपना रवैया तुरन्त बदल कर बड़े ही प्रेम से हमें यह बताया कि यदि हम सचमुच शिविर लगा कर सुधार करना चाहते हैं, तो सबसे उपयुक्त स्थान वही गाँव है क्योंकि उसकी राय में वहाँ सबसे पिछड़ा हुआ तथा कुरीतिग्रस्त इलाका वही था।

लोग किसी न किसी अपराध के मामले में अक्सर दिल्ली पुलिस के क्रोध का शिकार बनते रहते हैं और अनेक दस नम्बरी रजिस्टर्ड सी० दर्जा हैं। पर साथ ही बड़ी विनम्रता के साथ उसने यह भी कहा कि इसीलिए यह स्थान जिसे सेवा की सब से अधिक आवश्यकता है सब से उपयुक्त रहेगा। इतना ही नहीं जब उसने पूरे सहयोग का वायदा किया तो हम सब की बाँछें खिल गईं।

पर सहयोगिनी बहन ने साधारण उत्सुकता के साथ जब पूछा—क्यों बाबा जी क्या कुछ ग्रामीण लड़कियाँ भी हमारे शिविर में आएँगी तो बूढ़े बाबा ऐसे चौंके मानों किसी ने चिकोटी काट ली हो। बोले, "तो क्या ये मीमियों का शेबिर है। हूँ क्या बेरा है खूब ठनेगी मीमियाँ (स्त्रियाँ) शेबिर में मज़े करेंगी और मर्द गोबर उठाएँगे, टिक्कड़ लगाएँगे और लड्डा खिलाएँगे।" आकस्मिक व्यंग्य एवं निराशा के बावजूद भी हम अपनी हँसी न रोक सके। एक दूसरी समस्या जो काफी समझदारीपूर्ण ढंग से हमारे सम्मुख रक्खी गई, वह थी शहरी बालिकाओं के सामान की रक्षा का प्रश्न?

वृद्ध ने हमें बताया कि चोरियाँ यहाँ इतनी होती हैं कि गाय, बैल भैंसें तथा खेत की फसलें ताकना भी असम्भव हो रहा है क्योंकि ये गाँव सीमा के निकट हैं। हम बड़े असमंजस में थे। पर हमारी साथ की बहन ने कहा, "बहन जी, स्थान तो यही उत्तम है, रक्षा की जिम्मेदारी मेरी रही। दिन भर सोऊँगी, रात को पहरा दूँगी।"

ग्रामीण बहनों के शिविर वासी बनने की आशा छोड़ हमने शहरी बालिकाओं की भर्ती शुरू की,



ग्राम में संगीत का आनन्द

पर विचित्र हाल था। इण्टरव्यू में अनेक बालिकाएँ प्रसन्नमुद्रा में आती थीं, पर जहाँ शारीरिक श्रम, ग्राम सेवा, सामूहिक सफ़ाई के कार्यक्रम पर दो-चार प्रश्न करके वे सही उत्तर पाती थीं वहीं उनकी प्रसन्नता उलझन तथा परेशानी और चिन्ता का रूप धारण कर लेती थी।

आशा के विपरीत हमें बालिकाओं की निश्चित संख्या जुटाने में बड़ी जद्दोजेहद और दौड़-धूप करनी पड़ी।

शिविर के प्रथम दिन के अनुभव—पूरी चौकसी और सतर्कता से कार्यकारिणी की सभी सदस्याओं ने एक-एक काम के लिए एक-एक अलग कमेटी बना दी। सारी सम्भावित समस्याओं और कठिनाइयों को सुलझाने की पूरी तैयारी के बाद जब हम ४५ बालिकाओं के बोरिया-बिस्तर के साथ गाँव के लिए रवाना हुए तो हमारा मन सफलता के गर्व से मुस्करा उठा। खाना बनाने के लिए सवेरे ही बहनें गई हुई थीं। हम निश्चिन्त थे कि अब बढ़िया गरमागरम भोजन तैयार मिलेगा। घड़े, सुराहियाँ, सब्जियाँ, दालें, चावल, मसाले, बर्तन आदि सभी देकर, हमने यह भी हिदायत कर दी थी कि पहले दिन गाँव वालों से कोई चीज़ हर्गिज़ न माँगी जाए। किस प्रकार सफ़ाई और कमरों की धुलाई हो, कैसे छिड़काव किया जाए सब के लिए लिखित आदेश कार्यकर्ताओं को मिल चुके थे।

पर जब हम शिविर पहुँचे हमारे उत्साह का सारा नशा काफ़ूर हो गया—न कहीं धुलाई, न कहीं गरमागरम भोजन, न ठण्डा पानी। अगर एक क्षण हमारी प्रमुख कार्यकर्ता शिविर संचालिका ने आकर उल्टी शिकायत न शुरू की होती, तो हम सभी उन पर बरस पड़े होते। "आपने भी अन्धेर किया सब कुछ भेजा पर रस्सी तो भेजी ही नहीं, पानी कैसे भरते? इतना ही नहीं न दियासलाई है, न लकड़ियाँ।" दूसरी बोल उठी "कोयले हैं तो उसका चूल्हा नहीं। फिर आपने यह भी कह दिया था कि कुछ माँगा न जाए।" अपनी गलती स्वीकार करने के बाद मैंने कहा तो ऐसा बाबा वाक्यम प्रमाणम क्या था। सब को भूखा मारने से तो कहीं अच्छा होता कि रस्सी तो माँग लेतीं और आग माँग कर जंगल की लकड़ी से खाना शुरू करवा देतीं।

एक बहन ने आगे बढ़ कर कहा "बस कुछ कहो नहीं कम-से-कम बीस घरों में रस्सी माँगी होगी, पर सब ने इन्कार ही नहीं किया दस-बीस खरी-खोटी बातें भी सुनाईं। पर घबराइए नहीं रस्सी आने में देर नहीं है, हमने साइकिल पर एक आदमी भेज दिया है, जिससे रस्सी, लकड़ी आदि के अलावा ५ सेर मिठाई और १० सेर नमकीन भी मँगवा लिया है। आज पिकनिक ही सही।

शहर की लड़कियाँ ठहरीं। दस-पन्द्रह मील कच्ची सड़क के धचके और सुस्ती की स्वाभाविक आदत से इधर-उधर पलंग डाल कर नाश्ते के बाद ही विश्राम लेने लगीं। पहला दिन था, देर भी हो गई थी। इसलिए हमारा साहस तो हो नहीं रहा था कि उनसे कुछ कहें पर इधर-उधर फैला सामान और बेतरतीबी भी असह्य-सी हो उठी थी। इसलिए मैं और शिविर संचालिका धोती कमर से लपेट झाड़ू लेकर चुपचाप कमरे धोने में जुट गईं। सहायक नौकर पानी भर रहे थे। पर हम एक ही कमरा धो पाए थे कि लड़कियों ने देख लिया और पाँच-सात दौड़ कर आ गईं। हमारी झाड़ू और लोटे छीन लिए। उनका प्रेमपूर्वक आग्रह हम न टाल सके। जब हमने सामान चुनना शुरू किया तो दूसरा दल हमला कर बैठा और फिर तो सेवा की कुछ ऐसी होड़ और प्रतिस्पर्धा चली कि दो घण्टे के अन्दर हर वस्तु ऐसी व्यवस्थित हो गई कि जिसकी हमें आशा भी न थी। भोजन आदि से निवृत्त होकर विश्राम के पहले कार्यक्रम पर प्रकाश डाल कर हम वापस लौटने लगे तो शिविर संचालिका ने कहा, "और सब ठीक है पर सायंकाल ग्राम सेवा को हम नहीं जाना चाहते।" "मैंने उन्हें उस समय हँसी-हँसी में डरपोक कायर सभी बना डाला था, पर जब सायंकाल हम लोग गाँव पहुँचे तो लाख-लाख अनुनय-विनय पर भी गाँव वालों ने हमें सफ़ाई करने के लिए घरों के भीतर न जाने दिया और कहा "कि हमारी चीज़ों की जमानत कौन लेगा, हमें अपनी चीज़ों की सफ़ाई (चोरी) नहीं करानी।" हार कर बालिकाओं ने फिर गलियों, सड़कों और चौपालों तथा कुओं की सफाई की और जब हम प्रार्थना के लिए चौपाल के ऊपर बैठे तो एक बिगड़े दिल आदमी ने आकर कहा, "चौपाल पर मीमियाँ नहीं चढ़तीं। उतरो यहाँ से।" जब नीचे बैठ कर हमने प्रार्थना शुरू की तो मिट्टी और ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े आने





ग्राम वधुओं और कन्याओं को नई बातें सिखाने का प्रयत्न

शुरू हुए। एक लड़की ने शिकायत की तो शिविर संचालिका ने उच्च स्वर में कहा, "बच्चियो, चुपचाप बैठी रहना। तुम उनकी सन्तान हो जिन्होंने देश से गुलामी के अन्धकार को दूर करने के लिए गोलियों की बौछार के सामने हँसते-हँसते सीने खोल दिए थे। क्या इन छोटी कंकड़ियों के डर से तुम अज्ञान का अन्धकार दूर करने से झिझकोगी? तुम भगवान की सच्ची सेवा के लिए यहाँ आई हो। जैसे मीराबाई के लिए राजा का भेजा हुआ साँप पुष्पमाला बन गया था, ये पत्थर तुम्हारे लिए फूल बन कर रहेंगे। तुम इनकी महमान हो, समझीं! जो ये तुम्हें दें, चुपचाप ग्रहण करो। भारतीय परम्परा में महमान के स्वागत के लिए लोग गहने ज़ेवर तक गिरवी रख कर मिठाई-पकवान से स्वागत करते थे पर इनके पास कंकड़-पत्थर हैं, इन्हीं से तुम्हारा स्वागत कर रहे हैं। उठो, इनको हार्दिक धन्यवाद दो। फिर प्रार्थना आरम्भ करो।" पता नहीं किस घड़ी में उनके मुँह से यह शब्द निकले थे कि वे कंकड़-पत्थर सचमुच दूसरे ही दिन से फूलों में बदल गए। उसी समय कई लोग जो दूर खड़े तमाशा देख रहे थे, पास आ गए और पत्थर फेंकने वालों को ललकारा। फिर खेस और दरियाँ लाकर बिछा दीं। एक सज्जन छाछ की बाल्टी ले आए, दूसरे कई पंखे लाकर डाल गए। प्रार्थना और गीत के बाद जब भजन शुरू हुए तो घूँघट और घाघरे से ढकी हुई गूजर और जाट बहनें भी साथ देने लगीं और ढोलक मजीरे भी बिना माँगे ही आ गए। फिर क्या था? बात की बात में पूरा गाँव इकट्ठा हो गया और ७॥ बजे तक यह मनोरंजक कार्यक्रम चला, क्योंकि जभी उठने की तैयारी होती, ग्रामीण बहनें और भाई आग्रह-पूर्वक बिठा लेते। शिविर संचालिका ने मेरे कान में कहा कि यह अवसर है जब आप सहयोग की अपील करें तथा ग्राम समस्याओं के बारे में मालूम करके उनको सुलझाने के ढंग पर प्रकाश डालें। बातचीत के ढंग पर दिए गए भाषण के ऐसे अच्छे प्रभाव की हमें आशा न थी कि आँखों में आँसू भर-भर कर उन्होंने अपने भाइयों के दुर्व्यवहार के लिए क्षमा याचना की और दूसरे दिन से पूरे-पूरे सहयोग का वायदा किया। साथ ही हमारे सहयोग से एक नए कुएँ के निर्माण का और सड़कों की मरम्मत का प्रस्ताव भी हमारे सामने रखा। हमने उसी समय ग्रामीण भाइयों का एक रक्षक दल बनाया, जिसमें बारी-बारी से चार-चार व्यक्तियों को पहरे की जिम्मेदारी सौंपी गई।

अन्धकार से प्रगति और प्रकाश की ओर—जब हमने नेब सराय में शिविर लगाने का निश्चय किया था तो न तो हमें कंकड़-पत्थर डाँट-फटकार की ही आशा थी और न ऐसे अच्छे वातावरण की जैसा कि हमें दूसरे दिन प्रभाव फेरी के लिए गाँव जाने पर मिला। हर घर के द्वार हमारे स्वागत के लिए खुले थे। झाड़ू, खुरपी, टोकरी देने के अतिरिक्त घर की स्त्रियाँ और बच्चे हमारे सुझावों को मिनटों में कार्यान्वित करने के लिए तैयार थे। सामूहिक सफ़ाई तथा प्रार्थना के बाद पाँच-पाँच बालिकाओं के ग्रुपों को दस-दस मकान सौंप दिए गए। शिशु शुश्रूषा २५ लड़कियों को सौंप दी गई। पशुपालन, खेती के शत्रुओं पर विजय का कार्यक्रम चलाने के लिए १० बालिकाओं और २५ ग्रामीणों की एक सभा बन गई। क्या खायें, कैसे पकायें के लिए दोपहर का समय, जब ग्रामीण बहनें खाली रहती हैं, निर्धारित कर दिया गया। दोपहर को सिलाई, दरी बनाना, बुनाई और चर्खा तथा गत्ते और कपड़े के खिलौने बनाने और सीखने आने वाली बालिकाओं और स्त्रियों की संख्या तो इतनी बढ़ गई कि सम्हालना कठिन होने लगा। पाँच-सात दिन में गाँव के कुओं और गलियों तथा सड़कों की शक्लें ही बदल गईं। मुँहबन्द नालियों और सेनेटरी पिट्स ने तो गाँव की गलियों में एक अजीब स्वच्छता और आकर्षण ला दिया।

बच्चे नंगे न रहें और सड़क पर गन्दगी न फेंकी जाए, खुले खेत में टट्टी करना निर्लज्जता है आदि नारों ने खूब चमत्कार दिखाया।

बूढ़े से जवान और पुराने से नए बनो—यह आन्दोलन भी खूब चला। सैकड़ों गुदड़ों, टूटी डालियों, सूप और टूटे-फूटे सामान के ढेर लग गए और उनसे नन्हें सूप व छोटी-छोटी टोकरियाँ बनने लगीं। कपड़ों की धुलाई, रँगाई, कटाई, सिलाई देखकर छोटी-मोटी फैक्टरी का भ्रम होने लगता था। घूँघट काढ़े बुढ़ियाँ, मुँह लपेटे युवतियाँ रंग-बिरंगी चुन्नियाँ ओढ़-ओढ़ कर देहाती मेले का दृश्य उपस्थित कर रही थीं।



सिलाई की शिक्षा
और बच्चों की देखभाल

सड़क की मरम्मत के काम में जब बूढ़े-बूढ़े आदमियों को फावड़ा चलाते हुए गाँव के मुखिया ने देखा तो वह कहने लगा, "बहन जी आपने तो इस गाँव में जादू कर दिया है। बूढ़े जवानों को मात करते हैं। पुराने नया रूप धरते हैं।" एक दिन में चार फर्लांग सड़क बन सकेगी, जब यह बात हमने कही तो इंजीनियर्स और ओवरसियर बोले, "बिना नियन्त्रित मज़दूर रक्खे आप आठ दिन में भी श्रमदान से इतनी सड़क न बनवा पायेंगी।" हमने बिना उनसे अधिक बहस किए उनसे पूरी सलाह ले ली और निशान आदि लगवा दिए। पर दूसरे दिन जब वे आए उन्होंने बड़े आश्चर्य में आकर कहा, "बहन जी हम मान गए कि इस प्रकार के शिविर ही ग्रामीण जीवन को जगा सकते हैं। सचमुच यह गूजर जाटों का गाँव इतनी शीघ्रता से बदल जाएगा, ऐसी आशा हमें न थी।"

नियम से नित्य हमारी प्रार्थना सभा और प्रभात फेरी में गाँव का बच्चा-बच्चा सम्मिलित होने लगा। इधर शहरी बालिकाओं में शारीरिक श्रम के प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि भोजन तथा पानी भरने वाले सहायकों की यह शिकायत थी कि उन्हें कोई अन्य काम दिया जाए, क्योंकि व्यर्थ बैठने में उन्हें भी बुरा लगता था।

शिविर की छोटी-मोटी समस्याएँ वरदान बनीं—एक दिन सायंकाल को जब मैं शिविर पहुँची तो वातावरण में कुछ स्तब्धता नज़र आई। लड़कियों के मुँह भी सहज प्रसन्न मुद्रा में न हो कर कुछ उदास से थे। पूछने पर पता चला कि कुछ बालिकाओं को शिकायत है कि उन्हें सोने के लिए चारपाई नहीं मिलती। दूसरे दल का कहना है कि हमीं लोग शारीरिक श्रम के लिए रोज जाते हैं। एक दल जो कि कार्यक्रम निरीक्षक का प्रिय है, हमेशा श्रम से बचा रहता है। सबसे बड़ी समस्या की बात यह थी कि शिकायत करने वाली बालिकाओं को शिविर संयोजिका का भी समर्थन प्राप्त था। मैंने उनकी सारी शिकायतों को सही मान लिया, परन्तु जैसे ही उनसे पूछा कि तुम्हारे शिविर में आने का क्या उद्देश्य है तो सब एक स्वर से बोलीं गाँव में एक नई क्रान्ति लाना, सेवा की कला सीखना!

जब क्रान्ति की अग्रदूत बनी हो तो इन छोटी-मोटी असुविधाओं का ख्याल आया ही कैसे? धन्यवाद दो प्रभु को कि तुम्हें विदेशियों की गोलियों और दमन के कुचक्रों का सामना देश के अन्य क्रान्तिकारियों



पाठशाला में
आँगन की सफ़ाई



ग्राम की सफ़ाई

की तरह नहीं करना पड़ता। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब वन में गए थे तो रेशमी वस्त्र न मिलने की शिकायत क्यों नहीं करते थे? क्यों प्रसन्नता से वल्कल वस्त्र पहनते थे? योगिराज कृष्ण जब गुरु के यहाँ थे तो सुदामा तथा अन्य साथियों के साथ गाय चराने और पानी भरने सहर्ष जाते थे। तभी उन्हें योगिराज की उपाधि मिली। पक्षपात तो असल में उनके साथ हुआ है और शिकायत भी उन्हीं को होनी चाहिए जिन्हें शारीरिक श्रम का अवसर नहीं मिल रहा। पिलपिले से आराम-पसन्द शरीर लेकर आई थीं, वैसे ही बिना कुछ सीखे-समझे वापस जाएँगी। यहाँ जंगल में रह कर कष्ट भी उठाया, समय भी बर्बाद किया, न शरीर बदला न विचार, ऐसी बालिकाएँ दया तथा सहानुभूति की पात्र हैं, ईर्ष्या की नहीं। मुझे तो ईर्ष्या तुमसे हो रही है। श्रम से जिनके मन शरीर अंग-प्रत्यंग सुडौल एवं स्वस्थ बन रहे हैं। रूठी हुई सहज मुस्कान सब के चेहरों पर फिर लौट आई।

दूसरे दिन पता चला कि उस रात सारी चारपाइयाँ खड़ी रहीं सब जमीन पर सोये और सांस्कृतिक कार्यक्रम की लड़कियाँ सचमुच शारीरिक श्रम करने को जबर्दस्ती गईं और विश्राम के समय उन्होंने सांस्कृतिक कार्यक्रम के रिहर्सल किए। इस प्रकार थोड़ी सी भावना भर कर शहरी और तथाकथित फैशनेबिल और आलसी लड़कियाँ सच्ची वीरांगनाएँ बन सकती हैं।

बापू की सफलता का रहस्य जहाँ अन्य वस्तुएँ और अन्य मानवीय श्रेष्ठ गुण थे वहाँ उनको सेवाग्राम तथा साबरमती आश्रमों में भी सच्चे कार्यकर्ता और ऊँचे इन्सान बनाने की सुविधा को भी उनकी सफलता का बड़ा श्रेय दिया जाना चाहिए।

इस शिविर की सफलता का सब से बड़ा प्रमाण था गाँव वालों का अत्यन्त प्रेमपूर्ण सहयोग। प्रतिदिन आई हुई भेंटों को लौटाना हमारे लिए बड़ा ही कठिन कार्य बन जाता था। एक ओर हमारे भेंट न लेने के नियम, दूसरी ओर उनका अश्रुपूर्ण प्रेमाग्रह।

एक और तमाशा हुआ। हरिजन बहनें और भाई हमारे लिए दावत का पैगाम लेकर आए, पर हमने कहा कि शराब पीने वालों के घर हमारे

बच्चे भोजन नहीं कर सकते। हमने सोचा चलो इसी बहाने इन विचारों को अपव्यय से तथा कष्टों से मुक्त किया जाय। पर दूसरे दिन सवेरे एक कागज पर ३० घरों के निवासियों के हस्ताक्षर लेकर वे फिर आ पहुँचे। यह एक प्रतिज्ञापत्र था कि वे शराब नहीं पीएँगे। उनके इस साहसपूर्ण निश्चय ने हमें निरुत्तर बना दिया। उनकी सामूहिक दावत का निमंत्रण हम न टाल सके।

स्वस्थ रहो और खूब जियो तथा नेत्र सुधार का कार्यक्रम—एक दिन ग्राम-सेवा के समय बच्चों के एक झुण्ड को हमने गौर से देखा तो पता चला कि लगभग ८० फी सदी बच्चों की आँखें खराब हैं। सेवा शुश्रूषा तथा स्नान के ग्रुप को बुला कर मैंने कहा कि आप क्या खाक नहलाती हैं। इनकी आँख क्यों साफ़ नहीं कीं? तो उनकी संयोजिका ने बताया बच्चों की आँखें रोज़ बोरिक लोशन से धोई जाती हैं पर धूल तथा रोहों के कारण आँखों में सुधार नहीं होता। बस तुरन्त मुझे ख्याल आया कि बेचारे वे डाक्टर जो हमेशा अस्पताल के दमघुटाऊ कमरों में बन्द रहते हैं, इस 'ओपन एअर' अस्पताल शिविर में क्यों न बुलाये जाएँ। सब को यह बात पसन्द आ गई।

हमारा नेत्र सुधार शिविर तो इतना सफल हुआ कि दस गाँवों के लोग इसमें सम्मिलित हुए और इतनी भीड़ रहने लगी कि दो बालिकाएँ तो केवल क्यू बनाने के लिए नियुक्त करनी पड़ीं। पूरे ग्रामवासियों का मेडिकल चेक-अप किया गया, जिससे २० ऐसे संक्रामक पुराने रोगों के मरीज निकले जिन्हें तत्काल औषधि तथा सहायता की आवश्यकता थी।



मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी करने की शिक्षा

गाँव को अधिक लाभ हुआ या शहर को—एक दिन एक सम्मानित उपदेशक ने गाँव की सफ़ाई के कार्यक्रम को देख कर कहा? "मैंने देखा कि आपने गाँव में नालियाँ, साफ़ पाखाने आदि बनाए। इन बहनों को घर सजाना, बच्चे नहलाना सिखाया पर आपका यहाँ शिविर लगाने का प्रमुख उद्देश्य क्या है?"

दो लड़कियों ने उत्तर के लिए हाथ ऊँचे किए और क्रमशः दोनों ने कहा प्रथम उद्देश्य गाँव वालों से शारीरिक श्रम की शिक्षा लेना और गाँव रूपी धड़ से शहर रूपी सिर को जोड़ना और समाजवादी समाज की रचना करना। दूसरी बालिका ने उत्तर दिया ग्रामीण जनता से निष्काम सेवा व अप्रशंसित त्याग की शिक्षा लेना। उनका दूसरा प्रश्न था इस शिविर से गाँव को अधिक लाभ हुआ या शहर को? एक स्वर से सब ने उत्तर दिया दोनों को ही बराबर।

जब विदाई का अवसर आया तो ग्रामीण बहनों की करुणाजनक सिसकियों और बूढ़ों की स्नेहयुक्त बातों ने हमारे हृदय को पारिवारिक विछोह की भावनाओं से भर दिया। सांस्कृतिक कार्यक्रम के क्रान्तिकारी प्रभाव हुए। शराब तथा तम्बाकू पर जब नाटक दिखाए गए तो नाटक के पश्चात ग्रामीण नेताओं के भाषण हुए और उन्होंने कहा कि जो लोग शराब तमाखू के बुरे प्रभाव समझ कर छोड़ना चाहें वे अपने नाम दें। १३४ नाम तो तुरन्त ही आ गए। सबसे बड़ी बात यह हुई कि हरिजन समाज के दण्ड विधान से शराब हटा दी गई, बल्कि दावतों सहभोजों में भी पंचायत ने सख्त मनाही कर दी कि शराब हर्गिज़ न चलाई जाय।

पशुओं की देखभाल



ग्रहण

अंचल

यह काला बादल सूरज को कहाँ लिये जाता है ?

दिशा-दिशा बेचैन कि कैसा ज्वार उठा है ऊपर,
भय-कातर प्रकाश की किरणें लटक गिरीं धरती पर,
नभ के मन में शान्ति नहीं है, शान्ति नहीं है बाहर—
दिन की अरथी देख रहे हैं चाँद-सितारे छिपकर।
अरे दिवा-स्वप्नों के स्वामी ! क्या होता जाता है ?
यह काला बादल सूरज को कहाँ लिये जाता है ?

व्याप्त चतुर्दिक भय संशय के अनजाने अन्धे स्वर,
अन्तिम पीली किरण पी गए ये तम के यायावर,
कऋनाती है सान्ध्य, धूलिमा, जल, थल और पवन पर—
कैसा स्तब्ध प्रलय, कंपन भी भूल गया है थरथर।
कोटर में भयभीत खगों का कंठ न खुल पाता है !
यह काला बादल सूरज को कहाँ लिये जाता है ?

उड़ा छाँह-सा ताप, तेज बन गया कालिमा गहरी,
मरघट-सा बन गया गगन होते-होते दोपहरी,
सृष्टि भरी है गहन व्यथा से, धरती का दिल जलता—
त्यक्त केंचुली जैसा चारों ओर धुँधलका गलता।
हुए अनमने पाट नदी के, जल भी अकुलाता है !
यह काला बादल सूरज को कहाँ लिये जाता है ?

सूरज का यह हाल हुआ तो चन्दा का क्या होता ?
काले प्रेतों ने उसको दफ़ना कर छोड़ा होता,
पर डूबा सूरज संकट को चीर सदा चमकेगा—
काले बादल की छाती को फूँकेगा, दमकेगा।
मेरी बात सुनो—युग-युग से यही चला आता है !
यह काला बादल सूरज को कहाँ लिये जाता है ?



पानवाला—(पृष्ठ १८ का शेषांश)

"अरे भाई, तुम खुद चलकर पहले अपने लड़के को वहाँ से बुला लाओ।"

पानवाला थोड़ी देर के लिए अपनी दूकान चिन्नस्वामी के सुपुर्द कर हेड क्लार्क के कमरे की ओर गया। अब किसी ने उसे नहीं रोका। हेड क्लार्क पानवाले को देखकर अब भी सिर झुकाए बैठे नहीं रह सके। उसे देखकर हेड क्लार्क ने बनावटी मुस्कुराहट के साथ कहा—"मैं भाग थोड़े ही जाऊँगा। इस छोकरे ने आज हमारी इज्जत मिट्टी में मिला दी।"

"बाबू जी, मैंने आपकी बाकी माफ़ कर दी हैं। आगे से आप नकद देकर चीज़ें ख़रीद लीजिएगा। आज से आपका हिसाब नहीं रक्खा जाएगा। आपने उस दिन मुझ में जो क्रोध पैदा किया, उसके बदले में यह रियायत दे रहा हूँ। क्योंकि उस दिन अगर आप ज़लील करके मुझे नहीं भगाते तो आज पान की दूकान से १००) नहीं कमाता। (लड़के की ओर देखकर) चल रे, आगे से बाबू जी से पैसे का तकाज़ा न करना। उन्होंने पैसा दे दिया। शुक्रिया बाबू जी। आदाब अर्ज़।" यह कहता हुआ अपने शरीर के हाव-भाव से उनकी खिल्ली उड़ाते हुए वह तेज़ी से बाहर चला गया।

हेड क्लार्क कुछ कहना चाहते थे। लेकिन तब तक पानवाला अपने लड़के को साथ लिए कमरे से बाहर जा चुका था। उन्हें थोड़ा सन्तोष हुआ कि बला टली।

तीसरे पहर का समय था। आरेंज क्रश लिए हुए वही छोकरा फिर हेड क्लार्क के कमरे में पहुँचा। "बाबू जी कोल्ड ड्रिन्क पीयेंगे ?" मुस्कराते हुए छोकरे ने पूछा। उन्हें लड़के का यह सवाल कैसा लगा होगा, यह कहने की ज़रूरत नहीं है। उनके जवाब की प्रतीक्षा किये बिना ही वह क्रश का गिलास मेज़ पर रखकर चला गया। हेड क्लार्क को कुछ सूझा नहीं। किसी काम में उनका मन नहीं लगा। ६ बजे तक वह पत्थर की मूर्त्ति की तरह कुर्सी पर बैठे रहे।

अनुवादक : एम० सुब्रह्मण्यम



काव्य और कवि—(पृष्ठ १५ का शेषांश)

रहता वह स्थायी महत्व से रहित एक छन्दबद्ध रचना प्रस्तुत करके रह जाता है। काव्य वही अमर होता है जो एक काल तक जनता के जीवन को अपने साथ लेकर चले और जिसमें युगों-युगों तक एक मनोवृत्ति-विशेष का नेतृत्व करने की शक्ति हो। निश्चय ही प्रत्येक युग या काल में इस कसौटी पर खरी उतरने वाली रचनाओं की संख्या बहुत छोटी होती है। बाकी की रचनाएँ जन-जीवन-सम्पर्क-विहीन होने के कारण निर्जीव होती हैं और कुछ ही दिन चलकर समाप्त हो जाती हैं। अतः काव्य वही अपने अस्तित्व को सार्थक कर सकता है जो समाज की आशा-निराशाओं, सुख-दुःख अथवा उसकी विशेष मनोवृत्तियों से सामञ्जस्य स्थापित कर अपने निर्माण में लोक-मंगल की भावना से अनुप्राणित हो।

श्री श्री और आधुनिक तेलुगु काव्य

वेंकटाचार्युलु

यह लो नई दुनिया
नई दुनिया
और कोई दुनिया
बुला रही है—बुला रही है
बढ़ो बढ़ो आगे
बढ़ो बढ़ो
राह बनाते
चलेंगे हम; चलो भी तुम
चलेंगे आगे-आगे (महा प्रस्थान)

सहृदय रसिकगण, कौन हैं ये कवि जो हम सबको डंका बजाते हुए आगे बढ़ने का न्योता दे रहे हैं और एक नई दुनिया की झलक दिखा देने की कसम-सी खा रहे हैं? वे हैं श्री श्री उपनामधारी कवि।

मैं भी
भुवन भवन पर
झण्डा बन
उठूँगा
ऊपर। (जय भेरी)

कौन हैं आप जो दुनिया रूपी हवेली पर झण्डा बनकर फरफराने की उम्मीद रखते हैं? आप ही हैं श्री रंगम श्रीनिवासराव।

फूँक देंगे
मरण में भी प्राण,
लगा देंगे
नसेनी
स्वर्ग तक!
उड़ायेंगे खिल्ली
जगत की।
करेंगे हुकूमत
भविष्य पर।
लगायेंगे
लगाम
काल पर भी।
खोल देंगे
कुण्डी
मुहब्बत पर
लगी हुई।
अगर
आनन्द हो सागर,
अगर
अनुराग हो अम्बर,
देख लेंगे
किनारा
अनुराग का
देख लेंगे
थाह
आनन्द की।

कौन हैं वे जो मौत तक में जान फूँक देने की हिम्मत रखते हैं और कौन हैं ये निराला जो वक़्त तक की गति को रोक देने का साहस या, आप चाहें तो, दुस्साहस दिखाते हैं?

वे ही हैं आज मेरे प्रसंग के विषय। आपका पूरा नाम है श्रीरंगम श्रीनिवासराव। यदि मैं कहूँ कि तीन करोड़ की आबादी में से बिरला ही कोई ऐसा तेलुगु भाषी होगा, जो आपके नाम से परिचित न हो, तो अत्युक्ति नहीं होगी। जब कभी श्री श्री का नाम किसी के मुँह से निकलता है, तो श्रोता उनकी 'नयी दुनिया' वाली कविता के प्रारम्भिक पद, जो मैंने आप लोगों को सुनाए हैं, अवश्य गुनगुनाने लगता है।

ई० सन् १९१० जनवरी में इनका जन्म हुआ, विशाखापट्टणम् ज़िले में। यह वर्ष हमारे आन्ध्र देश के इतिहास में युग-प्रवर्तक है। उसी साल कवि ब्रह्मश्रद्धेय गुरजाड़ा अप्पाराव ने कृत्रिम ग्रान्थिक पण्डिताई की बू से सराबोर भाषा के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द की थी और पुराने पाषाण-छन्दों को तिलांजलि देकर जनता की समझ में आने वाले नए छन्द 'मुत्यालसरम' की सृष्टि की थी, और चलती भाषा की बुनियाद डाली थी। उसी वर्ष आन्ध्र देश की नवचेतना के मूल पुरुष प्रातःस्मरणीय वीरेशलिंगम् पन्तुलु की देखादेखी बरहमपूर नगर में जात-पाँत पर लात मार कर सह-पंक्ति-भोज आयोजित किया गया, जिसमें सारे मज़हब के अनुयायी और अखिल वर्ण और वर्ग के लोग पहली बार शामिल हुए थे। उसी समय विनायक दामोदर सावरकर ने लन्दन के India House में एक विप्लव संस्था की स्थापना की थी, जिसके सदस्यों में से कई आन्ध्र भी थे। उसी साल, आप लोग जानते हैं, यूरोप के सारे राष्ट्र विश्व की पहली लड़ाई के लिए सामग्री जुटाने में संलग्न थे। ऐसे संघर्षमय और सामाजिक सुधार होने वाले शुभ समय में इन्होंने जन्म लिया। अब इसमें ताज्जुब करने की बात ही क्या रह गई है, कि ये आगे चल कर एक इन्क़लाबी शायर निकले और अपनी पीढ़ी के युवक कवियों के लिए काव्य-क्षेत्र में एक नया रास्ता बनाया और उनके पथ-प्रदर्शक बन गए।

आधुनिक तेलुगु कविता में दिलचस्पी रखने वाले सब लोग आपके नाम से भली भाँति परिचित हैं। ख़ास कर, नवयुवक मण्डली में आपको विशेष सम्मानित और सर्वप्रथम स्थान प्राप्त तो हुआ ही है। आपकी अनेक कविताएँ लाखों आन्ध्रों को कण्ठस्थ हैं। आधुनिक कविता की समीक्षा करते हुए जितने भी मज़मून प्रकाशित हुए हैं, उन सब में श्री श्री का, खण्डन या मण्डन के तौर पर, ज़िक्र अवश्य पाया जाता है।

इनके पिता जी का नाम है वेंकटरमणप्पा जी। ये विशाखपट्टणम् के विद्यालय में गणितशास्त्र के अध्यापक थे। जब श्री श्री डेढ़ साल के ही थे, उनकी माता का देहान्त हो गया। बचपन में ही वह मातृ-स्नेह से वंचित हो गए। पिता ने दूसरी शादी की, लेकिन इनकी सौतेली माँ सुभद्रम्मा जी ने इनका लालन-पालन किया बड़े लाड़-प्यार से। वह भी बाद में चल बसीं। अपना पहला कविता-संग्रह 'प्रभवा' इन्हीं सौतेली माँ के पाद-पद्मों में समर्पित कर श्री श्री ने इनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रकट की। जैसा रिवाज है, श्री श्री का अक्षराभ्यास पाँच साल की उम्र में किया गया। जब श्री श्री की आयु कुल सात बरस की थी, उन्होंने अपनी पहली कविता बनाई, 'कन्द' नामक छन्द में। कविता की ओर अपने पुत्र का झुकाव देखकर पिता ने 'सुलक्षणसारं' तथा 'अप्पकवीयम्' जो छन्दों और अलंकारों की पुस्तकें हैं, श्री श्री के हाथों में सौंप दीं। उनके अध्ययन के बाद तेलुगु के प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य 'मनुचरित्र' एवं श्रीनाथ और रामकृष्ण कवि के काव्य ये पढ़ने में दत्तचित्त हुए।

सन् १९१९ में जगन्मित्र समाज नाटकमण्डली में, जिसमें सारी भूमिकाएँ धारण करने वाले बालक ही होते थे, श्री श्री ने कई पात्रों के रूप में काम किया। वे दिन गान्धी युग के थे। उन दिनों हरएक आन्ध्र, देश-भक्ति से लैस होकर अपने को एक राजपूत वीर समझ रहा था। उसी साल वीर-भावना से अनुप्रेरित होकर श्री श्री ने एक उपन्यास लिख डाला। उसका नाम है 'वीरसिंहविजयं'। सन् १९२० से हमारे आन्ध्र देश के साहित्य-क्षेत्र में एक रोमांटिक युग का श्रीगणेश होता है। साहिती-समिति के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई है। उनकी कविता भाव-कविता नाम से हमारे देश में प्रसिद्ध है। प्रेम, संयोग, वियोग, बहार, कोयल, बुलबुल, प्रकृति-प्रेम आदि उन दिनों की कविता की वस्तुएँ बन गईं। इस संस्था के कई लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री श्री के आराध्य देव बन गए।

सन् १९२५ में उनका विवाह हुआ। उसी साल 'परिणय-रहस्य' उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह एक जासूसी उपन्यास है। तत्काल के लिए उनकी गद्य-रचना बन्द हो गई और वह जी-जान से कविता की ओर झुके। साहिती-समिति से प्रेरणा पाकर अपनी बस्ती विशाखापट्टणम् में इन्होंने कई और कवि मित्रों के साथ सन् १९२६ में कविता-समिति की स्थापना की।

यह दशाब्द श्री श्री के विकास का प्रथम चरण है। अब तक संस्कृत, आन्ध्र और अंग्रेज़ी साहित्य का इन्होने गम्भीर अध्ययन कर लिया था। साहिती-समिति की भाव-कविता से भी काफ़ी प्रभावित हो चुके थे। यह विकास सन् १९३० तक परिमित था। इस चरण में उनकी कई स्फुट कविताएँ निकलीं और ये 'भारती' प्रसिद्ध मासिक में प्रकाशित हुईं। 'प्रलय नर्तन', 'अहमुखम्', 'अन्धकार', 'निशीथ सान्त्वना', 'सुमार्चना', 'खण्डशशि' आदि इनकी कविताएँ प्रसिद्ध हैं। पुरातन-पन्थियों के बताए हुए छन्दों का ही वह प्रयोग करते रहे और शैली भी वही जो मुद्दत से आ रही थी।

'प्रलय नर्तन' की शैली सलक्षण भाषा की है। यह उनका प्रथम गीत है। इसमें आप अभिलाषा करते हैं कि शिव का ताण्डव नृत्य होवे। शायद तब तक ही ये वर्तमान सृष्टि से निराश हो गए हों और प्रलय के बाद नई सृष्टि होने की आशा रखते हों। नाश पुनः सृष्टि का पूर्व रंग होता है न? भाषा मनमोहक है और सन्निवेश के अनुकूल परुष है।

'अहमुखम्' में ये एक सपना देखते हैं सवेरे-सवेरे प्राचीन भारत की उज्जवल महत्ता आँखों के आगे विद्यमान है। पुराने ऋषि-मुनियों के आश्रम और वेद-गान देखते हैं और सुनते हैं। इतने में सपना टूट जाता है। इसमें भारत की प्राचीन उन्नति का नक्शा हमारे सामने रखते हैं और इसलिए इनकी ओर लोग खिंच जाते हैं।

'अन्धकार' में सन्ध्या, अन्धकार, नक्षत्र—इन तीनों का सुन्दर सम्वाद चलता है।

अब तक इन्होंने साबित किया था कि लाक्षणिक शैली लिखने में सफल हैं। भाषा स्वभावतया संस्कृत-बहुल होती थी। पण्डितगण इनका आदर करते थे। प्रकृति सौन्दर्य, शृंगार प्रेम आदि के वर्णन में प्रवीण माने जाते थे।

'भविष्य का सुख-स्वप्न' आधुनिक यूरोपीय साहित्य की एक रूढ़ि है। जगत की जीर्ण-शीर्ण और सड़ी-गली व्यवस्था के स्थान पर नूतन सुखमयी सुवर्णमयी व्यवस्था के निकट होने के आभास का बर्णन श्री श्री की 'भावी दृष्टि' नामक कविता में मिलता है। लेकिन वह अस्पष्ट-सा ही रहता है, Utopia मात्र ही रह जाता है।

सन् १९३० के अनन्तर उनके विकास का दूसरा चरण शुरू होता है। उस समय की तेलुगु कविता की हृदय-रानी प्रेयसी मात्र ही रहती है। प्रायः सारे कवि प्रेम के समुद्र में गोते लगाते नजर आते हैं। प्रेम-गीतों के सिवा दूसरी कोई चीज सुनने के लिए युवक-मण्डल लालायित नहीं होता। ऐसे समय में श्री श्री अपनी पुरानी केंचुली उतार देते हैं और करवट बदलते हैं। कविता के क्षेत्र में एक नया पथ दिखाने के लिए कदम उठाते हैं। उस समय से लेकर आज तक की जो रचनाएँ उन्होंने कीं, उसी के कारण उनकी ख्याति हुई है।

सन् १९२९ में वह मद्रास पहुँच गए जन्तु-शास्त्र की डिग्री की तैयारी के लिए। वहाँ पर उनका श्री के० जनार्दन राव से परिचय हुआ। यह परिचय स्नेह में बदल गया। जनार्दन भी कवि थे। दोनों मद्रास के समुद्र-तट पर बैठकर अन्तर्मुखी हो जाते थे। अपनी रचनाओं की समीक्षा करने लगते थे और आखिर इस फैसले पर पहुँचे कि अब तक जो कुछ रचनाएँ उनसे हुईं, वे निरे अनुकरण-मात्र थे। सख्त आत्म-निरीक्षण के बाद अपने ही साहित्य के विषय में निर्णय करते हैं कि अब तक की हमारी सारी रचनाएँ जूठन

मात्र हैं। नतीजा यह होता है कि अपनी मौलिक और दिल की सच्ची आवाज जनता को सुनाने का बीड़ा उठाते हैं।

इ० ए० पो० स्विनबर्न ब्राउनिंग और बायरन आदि कवियों की कविताओं का मन्थन करने लगते हैं श्री श्री। जनपद-साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन करते हैं। बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर विशाखापट्टणम् लौट आते हैं।

कई महीनों तक हाई स्कूल में विज्ञान-शास्त्र के टीचर रहते हैं। लेकिन यह विप्लवी वैतालिक बन्धनों में कहाँ जकड़े जा सकते थे? कविता-कौमुदी को 'मरू-भूमि' सदृश शब्दकोश से, व्याकरण की जंजीरों से, छन्दों के बंधन से "मुक्त कर देने वाले ये क्रान्तकारी कवि सेवक होकर" कैसे रह सकते थे? अतः आजाद हुए।

जरा ठहर कर उन दिनों के हाल पर नज़र डालें। राजनीतिक क्षेत्र में नमक-सत्याग्रह, गान्धी-इर्विन समझौते के बाद स्थगित किया जाता है। गान्धी जी गोलमेज़ कान्फ्रेंस से वापिस भारत में पहुँचते ही गिरफ्तार किये जाते हैं। बाद में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की शुरुआत होती है। उसमें दुर्भाग्य से हमारी हार होती है। युवक-दल निराश से हैं। आर्थिक क्षेत्र में मन्दी का जमाना जोरों पर है। बेकारी की महामारी से, शिक्षित और अशिक्षित, दोनों त्रस्त और पीड़ित हैं। कांग्रेस में जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव आदि कां० सो० पार्टी की स्थापना करते हैं। साम्यवाद और समाजवाद की ओर जनता आकृष्ट होती है। इन सब का प्रभाव श्री श्री पर भी पड़ता है। वे भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद का अध्ययन करके आत्मसात कर लेते हैं।

एक दिन सन् १९३३ में (जून दो को) विशाखापट्टणम् के समुद्र के किनारे अकेले श्री श्री समाधिस्थ से पहुँच जाते हैं। सागर का गम्भीर घोष उनका एकमात्र संगी-साथी रह जाता है। वहीं पर उनके अन्तस्तल से एक विप्लवी वाणी उमड़-घुमड़ कर फूट पड़ती है। वही 'नई दुनिया' का गीत है, जिसका उल्लेख मैं आरम्भ में कर चुका हूँ। उसके तेलुगु पद कई आपको सुनाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। यह तराना मार्चिंग साँग कहा जा सकता है। या यों कहें, तब से लेकर अब तक जितने भी आन्दोलन चले आन्ध्र देश में, उन सब आन्दोलनों में हिस्सा लेने वाले लोगों को इस गीत ने बैकग्राउंड संगीत का-सा काम दिया।

यह गीत मार्चिंग साँग है—युद्ध गीत है—इससे अनेक देश सेवकों को जोश मिला—इसी ढर्रे पर मैंने, इन पंक्तियों के लेखक ने भी, एक विप्लवी गीत की रचना कर डाली सन् १९३९ में अज्ञातवास में रहते हुए "स्वतन्त्र भारत पिलिचिन्दी" जो बराबर 'भारत छोड़ो' के आन्दोलन तक आन्ध्र के वीर युवक शहर-शहर में गाँव-गाँव में गाते रहे और आगे झूमते हुए बढ़ते रहे।

हैदराबाद रियासत में भी उसी गीत से प्रेरणा पाकर कविराज मूर्त्ति नामधारी एक तेलंगी भाई ने उर्दू में यह गीत लिखा था, जो तेलंगाने में जनप्रिय रहा—

बढ़े चलो
बढ़े चलो
कदम मिला
चले चलो
ज़मीं भी तेरे साथ है
जमाँ भी तेरे साथ है
फ़िज़ाँ भी तेरे साथ है
हवा भी तेरे साथ है
बढ़े चलो
बढ़े चलो
ये ज़ुल्म जो है रोक दो
हवा के रूख़ को टोक दो
ये संगे मील तोड़ दो
अमन के बीज पेर दो
बढ़े चलो……

जिस प्रकार हिन्दी कवि निराला जी को छन्द के बन्धन अरुचिकर हैं, उसी प्रकार इस कवि को भी। मेरा विश्वास है कि इसमें पाठकों को पढ़ने का आनन्द भी अवश्य मिला होगा। इसलिए भी इसकी उपयोगिता सिद्ध होती है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि तेलुगु साहित्य में मुक्त छन्द, गद्यात्मक पद्य, भिन्नतुकान्त या स्वच्छन्द छन्द के जन्मदाता यही माने जाते हैं। आजकल के दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक तेलुगु अखबार का कोई भी अंक ऐसा नहीं निकलता, जिसमें एक या दो मुक्त छन्द की रचनाएँ पढ़ने को न मिलें। इनका पूरा श्रेय अकेले श्री श्री ही को देना चाहिए। गत दो दशकों में सैकड़ों की संख्या में तेलुगु के नए कवि निकल पड़े और हरएक पर श्री श्री का असर स्पष्ट रूप से नजर आता है। इसीलिए हैदराबाद के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य कुरुगंटि सीतारामय्या जी जब श्री श्री को भावी-नव्य-आन्ध्र-साहित्य के मार्गदर्शी की उपाधि प्रदान करते हैं, तो हमें उनसे सहमत होना पड़ता है।

इसी चरण में श्री श्री ने अन्यों से एकदम भिन्न मार्ग अपनाया। आप आन्ध्र के विप्लवी कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इन सब नई कविताओं का संग्रह ही 'महाप्रस्थान' है। इस संग्रह के प्रकाशित होते ही पाँच हजार प्रतियाँ एक साल के अन्दर बिक गईं। इससे इनकी लोकप्रियता का कुछ अन्दाजा आप लगा सकते हैं। अब आप विद्वज्जनों के सम्मुख कई उदाहरण पेश करने की इजाजत माँगता हूँ।

शीर्षकों पर ज़रा ध्यान दीजिये। 'महाप्रस्थान,' 'जय-भेरी', 'ज्वाला-तोरण', 'नव कविता', 'कला-रवि', 'कविते हे कविते', 'भिक्षुवर्षायसी', 'अद्वैत', 'देश के इतिहास', 'उसपार', 'मिथ्यावादी', 'मानव', 'गर्जन करो रूस', 'जगन्नाथ के रथ-चक्र जनार्दनराव को' और

'मैं'

भूत हूँ
यज्ञोपवीत हूँ
वैप्लव्य-गीत हूँ।
स्मरण करूँ

तो निकल पड़ता है
पद्य,
मुँह खोल दूँ
तो उमड़ पड़ता है
वाद्य
अनल की वेदिका के सामने
अस्त्र नैवेद्य।
लोक
भवभूति के श्लोक,
परमेष्ठि के झूमक—
मेरे महोद्रेक हैं।
मेरी ऊहा है चम्पा की माला,
है रस-राज्य-झूला
मेरी ऊहा है केदार राग
गिरि, सागर, कंकेलिका गजरा
निर्झर-झरने
हैं मेरे सगे भाई।
हूँ मैं एक दुर्ग
है मेरा एक स्वर्ग
अनर्गल,
अनितर-सांध्य
है मेरा मार्ग
'अभ्युदय' में से—
ये कहते हैं कि
देख रहा हूँ
नर जाति में परिवर्तन,
देख रहा हूँ, यार,
नव-जीवन शुभ-वेला
अरु 'अभ्युदय'

हमारे यथार्थवादी कवि श्री श्री, प्रकृति से हट कर अपने चारों ओर के, दीन-दुखी एवं पीड़ित मानव-समाज की ओर दृष्टिपात करने लगते हैं। आर्थिक विषमता के कारण जो गरीबी विकराल रूप धारण करके हमारे सामने ताण्डव नृत्य कर रही है, उसके प्रति वह उदासीन नहीं रह पाए। उन्हें भी आर्थिक और सामाजिक इन्कलाब की चाह है।

'नव कविता' के लिए आवश्यक उपकरणों का उल्लेख वह यों करते हैं—

सिन्दूर, रक्त-चन्दन,
बन्धूक, सन्ध्या-राग,
बाघ-हत-हिरण-रक्त,
रुद्रालिका-नयन-ज्वाला,
कलकत्ता-कालिका-जिह्वा

नवीन कविता की रचना के लिए सिंदूर, लाल चन्दन, बन्धूक पुष्प, साँझ की सुर्खी बाघ के मारने से प्राप्त हिरन का गरम खून वगैरह चाहिए।

हिन्दी कवि 'नवीन' जी के विप्लव-गायन से इस कविता की तुलना की जाए, तो विचार-साम्य स्पष्ट होगा।

लेकिन पाठक यह न समझें कि कवि बिलकुल क्रान्ति को प्रोत्साहित करने वाली कविता ही लिखना चाहता है। इस कविता में वे आगे फरमाते हैं—

कविता ऐसी हो जो खुद द्रवीभूत हो और दूसरों को द्रवीभूत करे। खुद बदले और दूसरों में परिवर्तन लाए, खुद गाए और दूसरों से गवाए।

वह ऐसी हो, जो हमारी सुस्ती को दूर करे और पूर्ण जीवन प्रदान करे।

इस कविता से स्पष्ट होता है कि ये कवि अपनी कविता के द्वारा एक नवीन सामाजिक, तथा आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, वे केवल क्रान्तिमात्र से सन्तुष्ट नहीं हैं।

अब 'कविते, हे कविते' शीर्षक कविता-खण्ड को लेते हैं। कविता-देवी की आराधना करते हुए एक दिन कवि

एक लाख सितारों के सम्वाद,
एक करोड़ जल-प्रपात के गीत,
सौ करोड़ समुद्र-तरंगों की चीखें,

सुन लेते हैं। इसी में ये कहते हैं—

मेरे रचे हुए गान में
मेरे पाप-समूह
धुल गए हैं।

आगे यह आशा करते हैं—

मेरी रचनाओं में
लोक प्रतिबिम्बित हों,
और मेरा गीत
हृदय को स्पंदित करते हुए
मेरे राष्ट्र-भाई
राष्ट्रीय-गीत के तौर पर
गाने लगे

और ठीक हुआ भी यही। 'नई दुनिया' इनका गीत आन्ध्रों का राष्ट्रीय-गीत बना।

इनकी 'भिक्षुवर्षीयसी' बूढ़ी भिखारिन की तुलना निराला की 'भिक्षुक' कविता—

वह आता
दो टूक कलेजे को करता

से की जा सकती है। वह भिखारिन को 'बुझी हुई अँगीठी' कहते हैं।

× × ×

भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर जब वह मर जाती है, तो कवि कहते हैं—

एक जूठा-सूखा पत्तल
हवा में उड़कर
गिर पड़ा उस मुर्दे पर
यह कहते हुए
कि माँ, तेरे बुरे हाल
की वजह
मैं तो नहीं हूँ।

'गरीब' कविता में कवि कहते हैं :

गरीबों की आँखें
झुकी हुई हैं
वे व्यथा के घाव हैं।
आँधी की बारिश में
गीली डरी हुई
गो-माताओं की आँखों के भाई
हैं
गरीबों की आँखें।

'शैशव-गीति' में वह नादान बच्चों को सम्बोधन करके कहते हैं

समस्त विश्व तुम्हारा ही है
तुम लोग ही विश्व के
भाग्य विधाता हो
तुम लोगों की हँसी में
आने वाले दिनों के
प्रभातों की छटाएँ
झिलमिलाती हैं।

'व्यत्यास फर्क' में वह कहते हैं हम गरीब सन्ध्याजीवी हैं

शंका-शील हैं
आमने-सामने सवाल ही
सवाल हैं
जवाब आपके,
हमें मंजूर नहीं
आन्दोलन ही हमारी ज़िन्दगी है,

चलना ही हमारी साँस है
इन्कलाब ही हमारी फिलासफी है
इनका 'मानव', पन्त के 'मानव' से मिलता-जुलता है।

'गर्जन करो रूस' का तर्जुमा अंग्रेज़ी में हुआ है। और 'Indian Literature' में उद्धृत है।

अब 'जगन्नाथ-रथ-चक्र' कविता के कुछ अंश देखिए।

पतितो,
भ्रष्टो,
बाधा-सर्प-दृष्टो
दग़ा खाए हुए भाइयो।
आपके वास्ते
लेखनी लेकर
जगन्नाथ के रथ चक्रों के
प्रलय-घोष को
धरती के रास्ते पर
लाऊँगा
और एक जलज़ला पैदा करूँगा।
× × ×
यह लोक आप का ही है
इस राज्य पर
शासन करें
आप ही।

'देश के इतिहास' इनकी एक महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है।

किसी भी देश का
इतिहास पढ़ो
कोई है
गर्व करने का कारण?
नरजाति का समस्त
इतिहास
पर-पीड़न-परायणत्व है।
नरजाति का समस्त
इतिहास
एक दूसरे को लूट लेने का
सतत प्रयत्न ही है।
नरजाति का इतिहास
समस्त
है रण-रक्त-प्रवाह सिक्त।
चंगेज़खाँ, तामर्लेन,
नादिरशाह, ग़जनी, गौरी,
या
सिकन्दर, कोई भी हो
एक-एक
एक महान
जल्लाद है।
दीनों के लिए
आशा की किरण दिखा रहे हैं ये—
एक व्यक्ति को
दूसारा व्यक्ति
एक राष्ट्र को
दूसरा राष्ट्र
पैरों तले कुचल
डाल देने का
सामाजिक धर्म।
अब चल नहीं सकता।
कौन लड़ाई कहाँ हुई?
कौन राज्य कब तक रहा?
तारीख़, दस्तावेज—
यह नहीं
इतिहास के मानी।
इस रानी का प्रेम-पुराण
उस चढ़ाई के जमा-खर्च
मतलब और क़ैफ़ियत
यह नहीं
इतिहास का
निचोड़?
तब क्या चाहते हैं इतिहास से
बताओ इतिहासकार?
नील नदी की नागरिकता में
जन-साधारण की
जिन्दगी कैसे गुजरी?
बताओ
ताजमहल के निर्माण के लिए
पत्थर ढोने वाले
मजदूर कौन थे?
सल्तनतों की चढ़ाइयों में
मामूली सिपाही की
हिम्मत का बखान करो।
साहब की बैठी हुई
पालकी नहीं—
उसके ढोने वाले कहार कौन थे?

यह कहूँ, इनकी कविता खून और आँसू को मिला कर बनाई हुई फोनिक है, अथवा कहूँ पाल राबसन के गम्भीर संगीत के समान है।



शुद्धः स एव कुलजश्च स एव धीरः
श्लाघ्यो विपत्स्वपि न मुंचति यः स्वभावम्।
तप्तं यथा दिनकरस्यमरीचिजालैः
देहं त्यजेदपि हिमं न तु शीतलत्वम्॥

"जिस प्रकार बरफ़, सूर्य की किरणों से तप-तप कर, अपनी देह को तो गला देता है, पर अपने स्वभाव की शीतलता को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपना साधु-स्वभाव विपत्तियाँ पड़ने पर भी नहीं बदलता, वह वास्तव में सराहना के योग्य है, उसी को संस्कारी कुलीन और धैर्यवान भी समझना चाहिए।"

अन्धकार

आनन्द बागची

एक रस्सी से बीड़ी और सिगरेट सुलगाते समय हम दोनों की चार आँखें हो गईं। बुझा कर रक्खी हुई बीड़ी को दोबारा सुलगाते हुए समीरण मुझे देख कर चौंक पड़ा, बोला—अरे बागची तुम !

समीरण मेरे सामने सशरीर खड़ा है, इस बात को स्वीकार करने में मैं भी अकचका गया। सिगरेट के धुएँ से गले में खसखसी पैदा हो गई। खाँसते हुए मैंने उसे और एक बार घूर कर देखा। इस समय समीरण की उम्र कितनी थी, यह कहना सम्भव नहीं था। उसके बाल काफ़ी बढ़ रहे थे, और उनमें कहीं-कहीं रुपहली खरोंचें थीं। दाढ़ी भी बढ़ी हुई थी, इससे मैंने पहले सोचा कि शायद वह मुर्दनी में हो। पर जब मैंने उसे सिर से पैर तक ध्यान से देखा, तो सब समझ में आ गया। उसके पैर में जो जूते पड़े हुए थे, वे अजायबघर के लायक हो चुके थे।

इसी बीच में समीरण ने बीड़ी छिपा दी थी। हाथ की सफ़ाई की बलिहारी है। चलो जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ, नहीं तो फ़जूल में लज्जित होना पड़ता। समीरण कभी बीड़ी भी पी सकता है, यह हमारे लिए अकल्पनीय था। उसे तो हम लोग बराबर सबसे कीमती सिगरेट सुलगाते और दूसरों को पेश करते देखते थे। नसें निकले हुए अपने लम्बे हाथ को मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए समीरण ने कहा—चलो मेरे ठीहे पर चलो।

यह तो मालूम था कि अपने पिता के साथ उसकी कुछ अनबन चल रही थी, पर वह भी एक युग पहले की बात थी। इस बीच में ऐसा क्या हो गया कि समीरण की यह दशा हो गई। खानदानी रईस घराने के लड़के के मुँह से 'ठीहा' सुन कर बात कुछ-कुछ साफ़ होती मालूम पड़ी। मेरे स्तम्भित चेहरे को करीब-करीब फटकार बताते हुए समीरण हँसा और बोला—हा, हा, हा क्या बात सुनकर घबड़ा गए ?

मैंने सिर हिलाते हुए कहा—करीब-करीब।

मजबूरी से समीरण के निकट आत्मसमर्पण करना पड़ा। चुपचाप दो मिनट तक पैदल चलने के बाद उसने एक मकान के सामने आकर हँसते हुए मेरी तरफ़ देखा। इसके बाद उसने मुझे उसी प्रकार मुस्कराते हुए यह हिदायत दी कि मैं सावधानी से चलूँ। कह कर उसने मकान के अन्दर लम्बी डगें भर कर चलना शुरू कर दिया। इस बीच में मैंने मकान में लगे हुए साइन बोर्ड को एक ही दृष्टि में पढ़ लिया था। तो अन्त में वह इस समय एक धर्मशाला में पड़ा हुआ था। सीढ़ी से ऊपर की मंजिल में जाते हुए मैंने उससे पूछा—यहाँ कितने दिन से टिके हुए हो ?

—कोई छः महीने हो गए। ज़रा बचकर चलना, फ़र्श पर काई बहुत जम गई है।

बात यह है कि एकाएक आगे पीछे हो जाने के कारण मेरी दृष्टि उसके कुर्ते के पीछे की ओर लगे हुए पैबन्द पर जमने से मैं कुछ अन्यमनस्क हो गया था। समीरण का मुँह आगे की ओर था, इसलिए उसे पता नहीं लगा कि मैं उसकी इस प्रकार बारीकी से जाँच करने में व्यस्त था।

स्कूल से लेकर कालेज के एक स्टेशन तक समीरण और मैं बराबर साथ-साथ आये थे, रेल के बगल वाले डिब्बे जिस प्रकार साथ-साथ रहते हैं। जो कमरा दूसरे दर्जे का है, वह वहीं रहता है और जो तीसरे दर्जे का है, वह भी वहीं रहता है, पर दोनों साथ-साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर चलते रहते हैं। समीरण में और मुझ में कोई फ़ासला भले ही न रहा हो, पर दोनों में कहीं कोई अटक अवश्य थी। इस कारण समीरण कभी तो मुझे तुम कहता था और कभी तू, पर मैंने बराबर उसके लिए आज तक एक ही सम्बोधन रखा था।

इन्टर तक आ कर एकाएक हम लोगों की लाइन बदल गई। वह अलग चला गया और मैं अलग। समीरण ने कालेज से डुबकी लगाई और मैंने भी उसका पता लगाने की कोई जरूरत नहीं समझी।

एक बार यह उड़ती हुई खबर मिली कि समीरण ने अपने पिता की राय के विरुद्ध एक शादी कर ली है। मेरे एक मित्र ने बताया कि आजकल का प्रगतिशील विवाह है, पहले से दोनों में साँठ-गाँठ थी। बड़े दिनों तक न मालूम कितने लोगों के मुँह से समीरण की प्रेम कहानी नए-नए रंग और रस से प्लावित होकर पहुँचती रही। लेक के किनारे, गंगा पार या काफी हाउस के कितने ही खण्डचित्र बीच-बीच में कानों में पड़ते थे। लोगों का कहना था कि लड़की बिल्कुल परी है। कुछ लोग इसे इस प्रकार से बताते थे मानो बन्दर के गले में मोतियों का हार पड़ा है। पर यहीं तक सुनते थे। मेरा कौतूहल कभी इससे एक कदम आगे नहीं गया।

हम सभी यह समझते थे कि समीरण की कहानी दुखान्त होगी क्योंकि सन्दीपन बापू की बदमिजाजी के सम्बन्ध में बहुत-सी कहानियाँ सुन रखी थीं।

चौखट पर खड़े होकर उसने खखारते हुए कहा—देखो जी, किसे लाया हूँ, देखो।

पर 'जी' की कोई आहट नहीं मिली। कोई दस सेकिण्ड तक हत-बुद्धि रह कर उसने ज़रा मुँह फुला लिया और एकाएक जल्दी से गाए हुए तालव्य 'श' को अर्द्ध अस्फुट रख कर मुझ से बोला—भीतर आओ।

पीछे-पीछे मैंने चौखट पार की। छोटा-सा कमरा था। उधर के दरवाजे पर एक टाट का पर्दा लटक रहा था। शायद उधर कोई कमरा नहीं बरामदा था। सारी दीवारें रंगबिरंगे कागजों से ढकी हुई थीं।

जब ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि ये तस्वीरें हैं। एकाएक याद पड़ गया कि कभी समीरण को चित्रकला की लत थी। ओह! मैं तो इस महत्त्वपूर्ण बात को एकदम भूल ही गया था।

समीरण को मेरे मन की बात शायद मालूम हो गई। इसलिए वह कोमल आँखों से हँसा और बोला—यह लत मुझ से नहीं छूटी, किसी भी प्रकार नहीं छूटी।

समीरण के लहजे में दर्द था, जो कदाचित् इन सालों की साधना थी। उसने अन्तिम शब्दों को आदर्शवादी की तरह गम्भीर लहजे में कहा था, मैंने सिर हिलाया। समीरण की बनाई हुई तस्वीरों को मैं घूम-घूम कर कमरे के अन्दर देख रहा था। पहले तो कुछ समझ में ही नहीं आता था कि ये हैं क्या। ऐसा मालूम होता था कि कूँची से बनाई हुई कुछ पहेलियाँ हैं। पर जब उसने व्याख्या करके एक-एक चित्र को समझाया, तो मुझे बड़ा आश्चर्य होने लगा। प्रत्येक चित्र के पीछे एक दुरूह चिन्तन था, जो शायद सम्पूर्ण रूप से चित्र में व्यक्त नहीं हो पाया, अथवा जिसे जानबूझ कर प्रच्छन्न रक्खा गय था। कूँची के उद्भट रंग तथा असम लकीरों के पीछे एक विचित्र समीकरण था, जिसे ढूँढ़ कर आविष्कार करना पड़ता था। मैं इस चित्र गणित को (और इसके लिए नाम ही क्या हो सकता है) जितना ही देखता जाता था, उतना ही दाँतों तले उँगली दबा कर रह जाता था। हम लोगों का यह सुपरिचित समीरण, यह खामख्याल और अन्य-मनस्क समीरण रंग और कूँची के सम्पर्क में आते ही बिल्कुल दूसरा ही व्यक्ति हो जाता है, और चित्र की एक मामूली-सी रेखा खींचने के पहले इतना चिन्तन या दुश्चिन्तन करता है, कम-से-कम किसी बात को कठिनाई के साथ सोचने की चेष्टा करता है, यह भी एक आश्चर्य की बात थी।

समीरण अपने स्वप्न में तन्मय होकर अपने चित्रों की व्याख्या कर रहा था और उसका छरहरा बदन उस जोश में थर-थर काँप रहा था। उसकी आत्मविभोर आँखों की ओर देखने पर ऐसा मालूम होता था, जैसे वह धर्मशाला की इस कोठरी, भद्दी, गई बीती कोठरी का अधिवासी न होकर किसी और ही संसार का अधिवासी हो, उसकी आँखों में दूसरे ही किसी राज्य की छाया हो।

कोठरी के किनारे से जैसे एक चिरपरिचित गीली आवाज़ आई, जिससे सुनते ही मैंने चौंक कर उधर देखा। उन्नीस बीस साल की एक सद्यस्नाता मूर्त्ति कोठरी के अन्दर पैर रखते ही ठिठक कर खड़ी रह गई थी। जंगले को घूम कर आई हुई दिनान्त की मखनिया पतली धूप में जिसे मैंने इस समय देखा, उसे असह्य सुन्दरी नहीं कहा जा सकता, पर यह मुहूर्त सचमुच ही असह्य था। एक क्षण की दुर्लभ लज्जा और स्वच्छ काँच की तरह गीली साड़ी उसके शुभ्र शरीर पर अच्छी तरह लिपटी हुई थी।

सिहरी हुई आँखों को उधर से फेर कर जब मैंने फिर उधर दृष्टि डाली, तब दरवाजे पर लगा हुआ टाट का पर्दा ज़रा-ज़रा लरज़ रहा था। फर्श पर कमल की तरह कई जोड़े भीगे पैरों का आल्पना दिखाई पड़ रहा था और समीरण मेरी बगल में खड़े रह कर ग्रामोफोन के रेकार्ड की तरह बराबर बोलता जा रहा था। और-और फिर ऐसा मालूम हुआ (क्यों यह मैं नहीं बता सकता) कि कोठरी सूनी पड़ गई है, और उसका प्राण पखेरू उड़ चुका है।

मन कुछ उदास हो गया था। रंग उड़े हुए ट्रे पर रक्खी हुई रंग वाली दवातों की रिक्तता तथा ईज़ेल का बेतापन देख कर मैं समझ गया कि कलाकार समीरण पर इन दिनों बहुत ही बुरा वक्त पड़ा है। फटे हाल कूँचियों को देखकर यह स्पष्ट धारणा बन जाती थी कि काफी दिनों से कला की आराधना बन्द पड़ी है।

पता नहीं वह अपने आप और कितना बोलता, पर इतने में टाट के उस पार से महीन आवाज़ आई—अजी सुन रहे हो ?

फिर भी समीरण नहीं सुन पाया, तब मैंने उसे पुकार कर कहा—देखो उधर से कुछ कह रही हैं।

समीरण चौंक कर बोला—क्या सुजाता लौट आई ?

मैंने हिलते हुए टाट की ओर इशारा कर के कहा देखो।

समीरण जल्दी से टाट के उस पार चला गया और सुजाता को लगभग घसीटते-घसीटते इधर ले आया। सुजाता, उसकी स्त्री अपने कपड़े-लपड़े सम्हालती हुई आरक्त चेहरे से बोली—छोड़ दो, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

समीरण ने सुजाता को मेरे सामने लाकर ही दम लिया, बोला—बागची, यह रही मेरी घरवाली—कह कर उसने डी० एल० राय के एक गाने का अनुकरण करते हुए तरन्नुम के साथ कहा—सारे संसार में खोजने पर भी नहीं मिलेगी ऐसी बीवी। कह कर वह बड़े जोर से हँस पड़ा।

सुजाता ने लजा कर समीरण को कटाक्ष करते हुए कहा—जाओ तुम बड़े वैसे हो।

इसके बाद ही बड़े ढंग से मुझे हाथ जोड़ कर नमस्कार करती हुई बोली—अभी मैंने आपका परिचय सुना, आप से परिचित होकर बड़ी खुशी हुई।

मैंने कहा—यह तो आपकी ज्यादती है।

कभी नहीं—कह कर वह गायब हो गई!

अगले मुहूर्त चाय ला कर पेश करते ही मैं समझ गया कि पहले ही से सुजाता ने तैयारी कर ली थी। स्नान के बाद एकाएक सामने पड़ जाने के कारण चेहरे पर जो विह्वल लज्जा आ गई थी, अब ढूँढ़ने पर भी उसका कहीं पता नहीं था।

सुजाता ने किनारे से टूटे हुए प्याले में बिना डिश के ही चाय पेश करते हुए कहा—गरीबखाने में पधारे ही हैं, तो जैसी आवभगत होनी चाहिए वैसी न होने पर नाराज़ न होइयेगा। त्रुटि अनिच्छित है।

मैंने बनावटी गाम्भीर्य के साथ कहा—नाराज न हूँगा, भूल भी माफ कर दी गई, पर आप जो चूक गईं, उसका क्या किया जाए ?

सुजाता ने प्रश्न भरी शंकित दृष्टि से मुझे देखा। कहीं पर जैसे उसे एक काँटा खटक रहा था। इसी कारण मैंने जल्दी से कहा—भाभी जी समीरण की चाय किधर है ? गृहस्वामी को सब से पहले देना चाहिए, यह आप भूल गईं ?

कह कर मैं हँसा। वे एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। इसके बाद समीरण ने एकाएक कह डाला—पर मुझे गिलास में चाय देना। मुझे कप-वप बुरा लगता है—मैं समझ गया कि समीरण ने घरवाली की इज़्ज़त बचाई है। मैंने सुजाता की अनुपस्थिति में चुपचाप समीरण से पूछा—तुम अपनी तस्वीरें बेचते क्यों नहीं? फिर तो यह मुसीबत न रहे।

समीरण ने गहरी साँस ली, बोला—कोई खरीदता नहीं है। आधुनिक कला का नाम सुनते ही लोग नाक-भौं चढ़ाते हैं। कुछ लोग तो मेरी कला को रेखागणित का अभ्यास भी कह देते हैं। कोई नहीं समझता—समीरण ने खेद के साथ कहा।

दोष तुम्हारा भी है। तुम इतने दुरूह चित्र क्यों बनाते हो, जो किसी की समझ में न आवें? इससे न तुम्हारा भला होता है, और न कला का। यों तो तुम अच्छे चित्रकार हो, रेखाओं में बड़ी जान है।

—समीरण एकाएक फुफकारते हुए बोला—कलाकृति का सृजन धन के लिए नहीं है।

—पर कला के लिए धन चाहिए यह तो मानते हो न?

मैंने कप को सम्हाल कर उतारते हुए यह बात कही। मैं नहीं सोच पाया था कि ऐसा भी हो सकता है। अगले ही क्षण देखता क्या हूँ समीरण ने मेरे हाथों को अपने हाथों में जकड़ रक्खा है, और वह कह रहा है—"बागची, पाँच रुपये दोगे? रंग खरीदूँगा।"

यह बिल्कुल ही दूसरे संसार की बात थी। इन बातों में मैंने एक मंत्रशासित सर्प की अवनति पाई। मैंने हाथ छुड़ा लिए। वह फिर बोला—कितनी रातें बिना तस्वीर बनाये निकल गईं—कह कर उसने फिर हाथ फैला दिए।

मेरी जेब में एक दस रुपये का नोट पड़ा हुआ था, जो महीने के अन्तिम दिनों का सम्बल था। अभी थोड़ी देर पहले ही कह सुनकर मैं इसे पेशगी लाया था। मैंने कुछ क्षण तक सोचा, और कुछ क्षण तक उधेड़बुन में पड़ा रहा। पर आश्चर्य की बात है कि समीरण उसी प्रकार मेरे सामने हाथ फैलाये खड़ा रहा। एक बार यह विचार आया कि साफ़ इन्कार कर दूँ फिर विचार आया कि बहाना बना दूँ कि मेरे पास रुपये नहीं हैं, पर ऐसा मैं अन्त तक कर न सका और मैंने जेब से नोट निकाल ही लिया।

नोट समीरण के लुब्ध हाथों तक पहुँच नहीं पाया था कि पीछे से हँसी की आवाज़ सुनकर मैं ठिठक कर खड़ा हो गया। सुजाता मुँह में कपड़ा लगा कर मुश्किल से हँसी रोकती हुई सामने आ गई, मानो यह कोई बहुत बड़ी हँसी की बात हो। बोली—उसे फिर जेब में ही वापस कर लीजिए। दान के लिए और भी बहुत से स्थान आपको मिल जायेंगे।

कौन कह सकता था कि ये बातें, आलता से मानो धोए हुए ओंठों से उच्चारित हो सकती हैं। मेरे दोनों कान ऐसे दर्द करने लगे जैसे उन पर जोर के थप्पड़ पड़े हों।

समीरण ने कुछ डूबती हुई आवाज़ में कहा—मैं दान थोड़े ही लेता हूँ, मैं उधार ले रहा था—

—कर्ज़ अदा कैसे करते?—कह कर वह चुपचाप हँसी।

समीरण ने बचकाने लहजे में कहा—अदा कब करूँगा?

सुजाता के चेहरे पर की ललाई ली हुई हँसी जहाँ की तहाँ ठिठक कर रुक गई। रुखाई से बोली—हाथ पसार कर भीख माँगने में तुम्हें शर्म नहीं आती?

मैंने बहुत पहले ही अपने मानो चोट खाये हुए हाथ को जेब में छिपा लिया था। मैंने कहा—समीरण आज मैं चला। भाभी आज इतने ही से माफ़ी माँगता हूँ।

इसके बाद कई दिनों तक जान बूझ कर मैं पुरनारी धर्मशाला की ओर नहीं गया, पर मन में बराबर एक बेचैनी कचोटती रही। उस ज्वाला के बीच में माला की गुरिया की तरह सुजाता का मुख-मण्डल सामने आता रहता था। मुझे अपनी यह कमज़ोरी अच्छी नहीं मालूम हुई और मैंने बहुत कोशिश की कि इससे छुटकारा पा लूँ, पर किसी भी प्रकार सफल न हो सका।

समीरण की बात भी याद आती थी। बेचारा खानदानी रईस घराने का था, पर हाथ, पैर समेट कर बैठते-बैठते बेकार बन गया है। जो कुछ करना है, वह सुजाता ही करती है, फिर भी सुन रक्खा था कि वह कोई अधिक पढ़ी-लिखी भी नहीं है, पर बड़ी अक्लमंद है। बड़ी ही सजग और अभिमानी है। पर यह अभिमान कितने दिन काम दे सकता है?

इसी बीच में एक लड़का और एक लड़की पैदा हो चुकी थी। समीरण ने बताया था कि वे दोनों कार्पोरेशन के स्कूल में पढ़ते हैं, पर वे हमेशा तो वहाँ नहीं पढ़ सकते। उनके पढ़ने का खर्च देना पड़ेगा, और दरबानों को घूस दे कर धर्मशाला में कितने दिन रहा जा सकता है? फिर भी सुजाता किसी के सामने हाथ पसारना नहीं चाहती, सिर झुकाना नहीं चाहती। ऐसा कितने दिन चल सकता है? मैं साफ़ देख रहा था कि एक अच्छा खासा परिवार धीरे-धीरे पातालपुरी की ओर धँसता चला जा रहा था। बस थोड़े से दिन और, थोड़े से लमहे और, फिर उनका कहीं और पता नहीं लगेगा।

उस दिन दोपहर को एक-एक हाथ में कुछ रुपये आ गए। मैंने सोचा रुपये तो दे नहीं सकता, सुजाता को इससे आघात लगेगा, इससे अच्छा है कि लड़कों के लिए कुछ लेते चलें। कुछ फल और एक टीन बिस्कुट खरीद कर जब मैं दूसरी मंज़िल की सीढ़ी के बीचोंबीच आ गया, तो मुझे समीरण की तेज़ आवाज़ सुनाई पड़ी। वह बुरी तरह बिगड़ रहा था। मैं ठिठक कर खड़ा हो गया। समीरण सुजाता के साथ लड़ रहा था। वह एक बनैले पशु की तरह ललकार कर बातें कर रहा था। उसकी बातें साफ सुनाई पड़ती थीं। इसके उत्तर में सुजाता शान्त होकर कुछ समझाना चाह रही थी, पर वह क्या कह रही थी, यह नहीं सुन पड़ रहा था।

लौटूँ या आगे बढ़ूँ, इस उधेड़बुन में पड़कर भी अन्त तक लौटना नहीं हुआ। बाकी सीढ़ियाँ पार कर मैंने बहुत ज़ोर से चिल्लाकर कहा—समीरण, समीरण भाई, घर पर हो क्या?

एक मुहूर्त के लिए दोनों को जैसे काठ मार गया। कोई कुछ

बोला ही नहीं। फिर समीरण उद्‌भ्रान्त ढंग से दरवाजे के पास आकर मुझे देख कर ज़ोर से हँसने की चेष्टा करते हुए बोला—अरे आगची तुम हो ? आओ, आओ भीतर आओ।

पर जवाब में मैं हँस नहीं सका। शायद उसकी भी हँसी मँझधार में ही रह गई थी। कोठरी में प्रवेश करते हुए मैंने कहा—इस भरी दोपहरी में मियाँ बीवी की लड़ाई के लिए क्या खूब मौका चुना है ? भाभी जी लीजिए, इन चीज़ों को रखिए।

सुजाता ने हँस कर मेरे हाथ की ओर देखा। बोली—यह सब क्या है ? मामला क्या है ?

बच्चों के लिए कुछ ऐसे ही ले आया।

मैं जानता था कि अब की बार सुजाता इन्कार न कर सकेगी। पर समीरण पर अभी झगड़े का नशा सवार था। वह उसी के आवेश में बकने लगा। मैंने समीरण को बड़े जोर से समझाया, पर वह बोला—हाँ, हाँ, चुप करता हूँ। इतने दिनों तक तो चुप ही था। क्या किसी दिन मैंने यह पूछा था कि रोज़ रात को देर से क्यों लौटती हो ? कहाँ से गृहस्थी का खर्च चलाती हो ?

मैंने समीरण को रोकते हुए कहा—फिर तुमने वही पागलपन शुरू किया ? तो फिर मैं चला।

मुझे सचमुच उठ खड़े होते देख कर समीरण कुछ सम्हल गया, बोला—नहीं, नहीं उठो मत। कुछ दिनों से मेरा दिमाग ठीक नहीं रहता। अब मैं सहने की सीमा पार कर चुका, इसीलिए कुछ बातें निकल गईं।

कहते-कहते वह दरवाजे की तरफ बढ़ चला। मैंने कहा—कहाँ चले ? बात तो सुनो।

—जरा घूम आऊँ। दिमाग ठंडा हो जाएगा, तुम बैठो।

समीरण के बाहर जाते ही सुजाता ने मेरी ओर देख कर कहा—आजकल इनका यही रंग है, जरा नाराज हुए कि बस घर छोड़ कर चल देते हैं, पर मैं तो ऐसा नहीं कर सकती। यदि लड़का और लड़की न होते, तो मैं भी किसी दिन निकल पड़ सकती थी।

प्रेममूलक बहुत सी शादियों में इसी प्रकार होते देखा गया है। इसके पहले भी कई बार ऐसा देखने में आया। सन्देह करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और उसके फलस्वरूप ताश का बना मकान धूलिधूसरित हो जाता है। मैंने समझा कि न तो समीरण का ही सुजाता पर विश्वास है और न सुजाता का ही समीरण पर विश्वास है। कठोर वास्तविकता के कारण खेल के घर का मोह टूटता जा रहा है। पर अब बहुत देर हो चुकी है।

थोड़ी देर चुप रह कर मैंने कहा—जब आपने घोंसला बनाया है, तो उसे अब बचाना भी पड़ेगा।

सुजाता ने मेरी आँखों के अन्दर जैसे कोई बात खोजी और फिर भर्राई हुई आवाज़ में बोली—पर अब तो मुझसे सहा नहीं जाता। मन के अन्दर बार-बार मैं टूट कर बिखर पड़ती हूँ।

—क्या अब समीरण के प्रति आपके मन में सचमुच प्रेम अवशिष्ट नहीं है ?

—यह बात क्यों ?—सुजाता ने यह कहकर चौंक कर मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में जैसे किसी ज्वाला का दर्शन हुआ, जिसे देख कर मैं चौंक पड़ा। पर केवल आग ही नहीं पानी भी था। उसकी दोनों आँखें एकाएक धुँधली हो गईं। आँचल में मुँह ढाँप कर सुजाता जरा घूम कर बैठ गई। रुके हुए क्रन्दन की धमक के मारे उसका सारा शरीर लहर की तरह काँपने लगा।

मैं समझ गया कि अब भी सुजाता के मन में समीरण के प्रति गहरा प्रेम है। उसने खर-पात से घोंसला बनाया, पर आँधी के आक्रमण से उसे बचाने के लिए भी उसने कोई कसर नहीं रक्खी है। पर समीरण उसे सन्देह की दृष्टि से देखता है। इस मार्मिक आघात से वह अब तिलमिला गई है। उसके पैर लड़खड़ा चुके हैं और किसी भी समय······

मैं करता भी क्या ? लम्बी साँस भर कर चुपचाप उठ पड़ा। सुजाता उस समय भी आँचल में मुँह ढाँप कर रो रही थी। शायद उसे मेरे चले आने का पता नहीं लगा या पता लगा हो तो चुप रही, कुछ बताया नहीं। वह रोवे। उसे इस समय रोने की ही ज़रूरत है।

मैंने रास्ते में निकल कर देखा कि शाम हुई थी। उद्देश्यहीन ढंग से जल्दी-जल्दी चलता गया। दिमाग में असंख्य चिन्ताएँ एक दूसरे के ऊपर चलने वाले कीड़ों की तरह आ-जा रही थीं। दिमाग़ में एक तपा हुआ लोहे का छड़ जैसे अटका हुआ था। अपने विचारों में मैं खोया हुआ था। फटेहाल निम्न मध्यवित्त परिवार की बात सोच कर मनुष्य पागल क्यों नहीं हो जाता, यही सोच रहा था। मध्यवित्त की गृहस्थी समस्याओं का कोई अन्त नहीं है और समस्याएँ भी कैसी, जिनका कोई समाधान नहीं।

पता नहीं कब अन्यमनस्क होकर मैं जाकर हेदुआ के एक बैंच पर बैठ गया था। सीढ़ी लेकर जब बत्ती जलाने वाला आया, तब मैं चौंक पड़ा। कुछ हवाखोर हवा खाकर लौट गए, कुछ आपस में बातें बनाने लगे। यदि समीरण को जिलाना हो तो गृहस्थी नहीं बचती। और यदि गृहस्थी बचती है, तो फिर दूसरी बातें पैदा होती हैं। रहा सो मैं क्या कर सकता हूँ ? कितनी मेरी क्षमता है और मेरी जिम्मेदारी ही कितनी है ? इसी कलकत्ता शहर में न मालूम कितने समीरण भूखों मर रहे हैं। मैं उनका क्या कर सकता हूँ ? मेरी ताकत कितनी है ?

कुल्फी बेचने वाला अपना विज्ञापन कर गया। शायद बेला के फूल बेचने वाला भी गुहार लगा गया। मैं मन ही मन हँसा। इनमें से किसका अधिक प्रयोजन है ? देह का या मन का। शायद मैं कुछ जोर से हँस पड़ा था। पास ही बैठे हुए बूढ़े सज्जन एकाएक घबड़ा कर उठ गए। शायद उन्होंने मुझे पागल समझा।

—सहायता कीजिए—किसी ने कहा। लहजे में कुछ दावा भी मालूम हुआ। देखता क्या हूँ कि एक छः सात वर्ष का लड़का है, सुन्दर कहा जा सकता है। हाथ बढ़ा कर बोला—सहायता कीजिए, मेरे पिता जी अपाहिज हैं।

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

देवताओं का आँचल, कुल्लू

सोमेश चौधरी

दूर दूर तक फैले हुए खेतों का विस्तार, और उस विस्तार के एक छोर पर हल पर झुका हुआ किसान धरती का कलेजा चीर कर अपनी जीविका खोज रहा है। खेतों में यहाँ-वहाँ पहाड़ी युवतियाँ ढोर चरा रही हैं। कुछेक पीठ पर पुआल के गट्ठे उठाए हँसती-अठखेलियाँ करती गाँव को लौट रही हैं। पीछे क्षितिज को ओट दिये हरी-भरी चोटियाँ हैं, और बाँई ओर खेतों के पार्श्व में बहती जल रेखा, उस जल रेखा के तीर एक बड़ी चट्टान पर बैठा एक चरवाहा मस्ती में पोरी बजा रहा है। बाँस की उस पोरी से स्वर छूटता है और समूची घाटी में गूँजकर वायुमण्डल में विलीन हो जाता है—

× × ×

नीले आकाश में काले सफ़ेद बादलों की टुकड़ियाँ मँडरा रही हैं, या कुछ चीलें हैं जो स्वच्छन्द उड़ानें लेकर शून्य को सप्राण बनाने का प्रयास कर रही हैं। ऊपर पहाड़ की ढलान पर गद्दी भेड़ें चरा रहे हैं। भेड़ों के झुण्ड चरते हुए नीचे की ओर सरकते आ रहे हैं, जैसे सफ़ेद बादलों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ उर्वी के उरोजों पर रेंग रही हों।

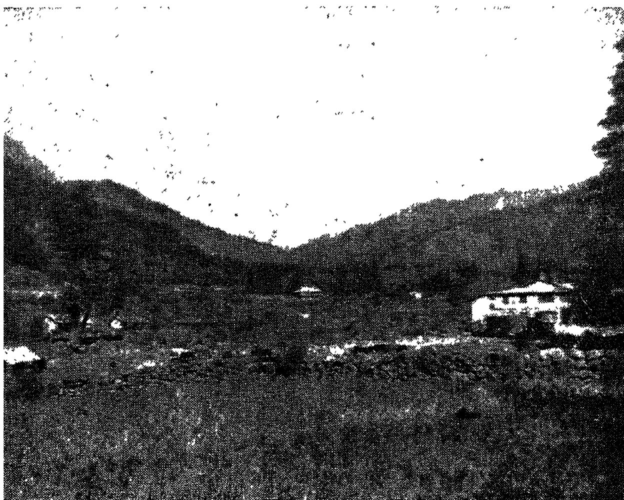
× × ×

पलकें बन्द किए क्षितिज की पृष्ठभूमि लिये ख़ामोश स्याह वीरान चोटियाँ दिन के मरण का तमाशा देख रही हैं। ज्यों-ज्यों क्षितिज की लालिमा क्षीण होती जा रही है, उन चोटियों का अस्तित्व रात की कालिमा में घुलता जा रहा है और ऊपर आकाश पर तारों की दीप्ति बढ़ती जा रही है।···दूर पहाड़ की एक अँधेरी खोह में कोई दीया टिमटमा कर अपनी कहानी कह रहा है।

× × ×

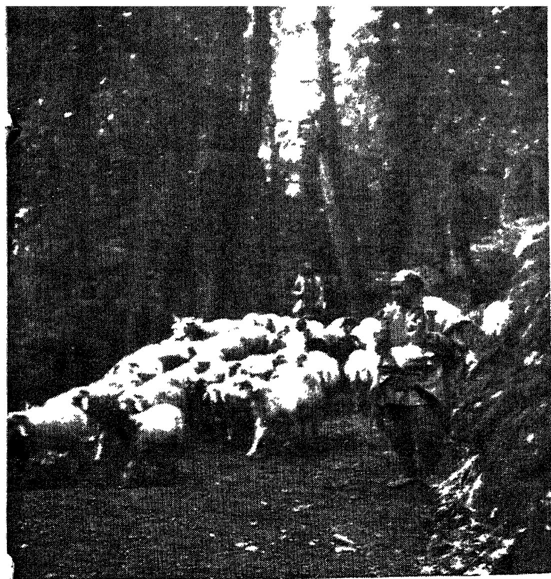
ऐसे ही अनेक दृश्य आँखों के सामने घूमते जाते हैं। यात्री काँगड़ा और हिमाचल की घाटियों को पार कर, चूम लेता है धरती के उस छोर को जिसे हम "देवताओं का आँचल" कहते हैं। कुल्लू घाटी हिमाचल की सीमा है। वहाँ से कुछ मील तक घाटी बहुत तंग है। वस्तुतः समूची कुल्लू घाटी ब्यास नदी के दो कूलों के साथ-साथ चली जाती है। सड़क बिल्कुल ब्यास के किनारे पर है। घाटी के गर्भ में स्वाभाविक रूप से विस्तार कम होता है। किन्तु यात्री ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, घाटी का विस्तार अधिक होता जाता है। किसी घाटी के सौन्दर्य का आनन्द उसके गर्भ में खड़े होकर नहीं लिया जा सकता। सौन्दर्य की खोज में ऊँचाई पर चढ़ते जाना होगा। यात्री पर्वत शिखर की ओर लपकता जाता है, घाटी स्वाभाविक रूप से खुलती जाती है, और नीचे-ऊपर, सामने, दाएँ-बाएँ दृश्य को सुघड़ता मिलती जाती है। चोटी पर खड़े होकर घाटी के सौन्दर्य-दर्शन और पर्वतमालाओं के ऊपर से क्षितिज की धूमिल रेखा तक फैले विस्तार को देखकर यात्री के अन्तर में एक विशेष प्रकार के आनन्द की रिमझिम होने लगती है।

मनाली का एक दृश्य



कुल्लू घाटी का जन-जीवन छोटे-छोटे गाँवों पर आधारित है। कुछेक गिनी-चुनी बड़ी बस्तियाँ भी हैं। किन्तु उन बस्तियों का जीवन भी ग्राम्य जीवन की छाया में पलता है। वह छाया प्रकृति की छाया है, जिसे इन्सान और विज्ञान के कृत्रिम साधनों ने अभी अपनी लपेट में नहीं लिया। कहना न होगा कि प्रकृति के मुक्तहास का सतत गुंजन यात्री को मोह लेता है। ब्यास नदी, जलप्रपातों और कलकल बहते झरनों की रागिनी, देवदारों की सरसराहट, साँझ ढले झींगुरों का सामूहिक गान, चाँदनी रातों में पहाड़ों पर चाँदनी की बिछलन—ऐसे में यात्री की चेतना पर आनन्द की अनुभूति छा जाती है। कुल्लू के लगभग प्रत्येक गाँव का अपना देवता है। तभी तो कुल्लू घाटी को देवताओं का आँचल या देवताओं की धरती कहते हैं। देवता स्वर्ग में वास करते हैं, ठीक ही सुना। इससे अच्छा स्वर्ग उन्हें और कहाँ मिलता?······

मनाली रोड पर कुल्लू से बारह मील दूर 'कटराई' नामक एक बस्ती है। वहाँ से नगर तक फैलाव समस्त कुल्लू घाटी में सबसे विस्तृत है। नगर ब्यास के उस पार पहाड़ की ऊँचाई पर स्थित है। कटराई से नगर को जाने वाली कच्ची सड़क पुल पर से नदी पार कर चीड़ के जंगल के बीचोंबीच चली जाती है। वहाँ पुल के आस-पास शिकार के मौसम में यात्री ब्यास के किनारे-किनारे ख़ेमे डालकर 'ट्राउट' मछली का शिकार खेलते हैं। पुल के पास ही 'ट्राउट' फ़ार्म भी हैं जहाँ सरकार की ओर से मछली सम्बन्धी अनुसन्धान और मछलियों के पालन-पोषण की व्यवस्था की जाती है। उस भाग में नदी का दृश्य अधिक सुहाना हो गया है। बहाव से पहाड़ कट गिरने के कारण नदी का पाट बहुत चौड़ा हो गया है। धारा तो विशेष फैली हुई नहीं, परन्तु फैलाव के चिन्ह सफ़ेद पत्थरों के रूप में दूर-दूर तक फैले हुए हैं।······नगर को जाने वाली सड़क, चढ़ाई में कहीं-कहीं पगडण्डी का



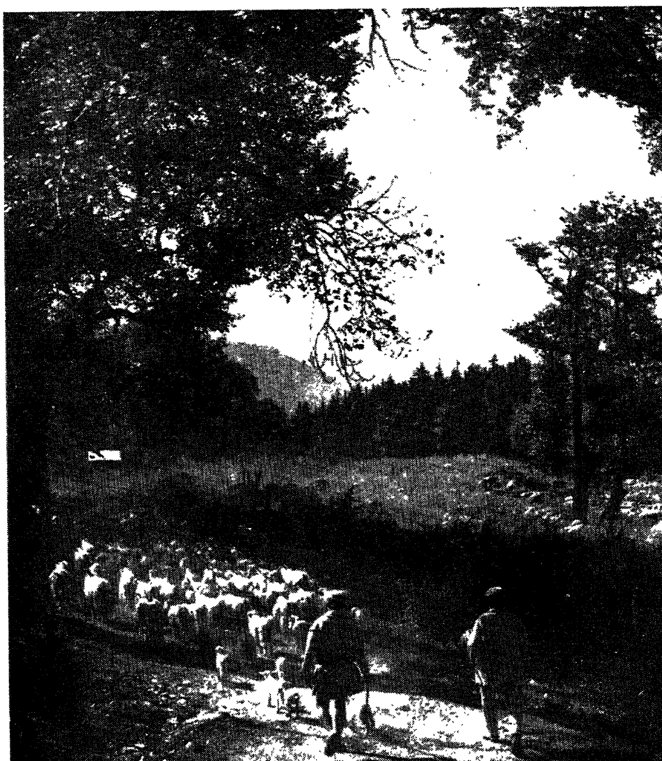
कुल्लू का गद्दी चरवाहा

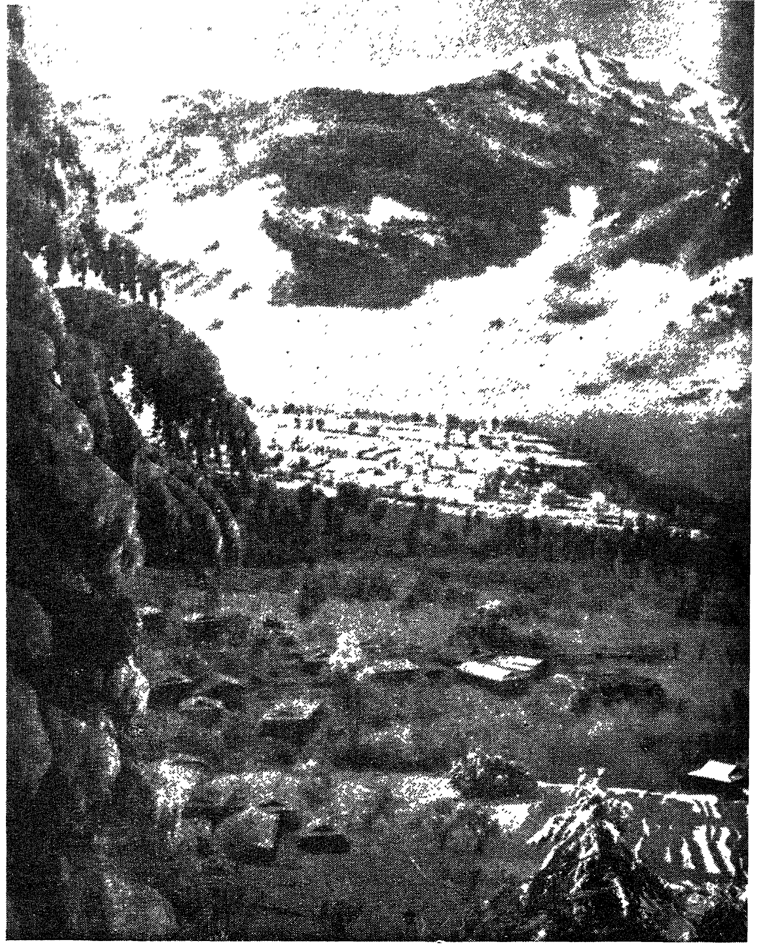
देवताओं की घाटी

मनाली के चरवाहे



कुल्लू घाटी का एक मनोरम दृश्य





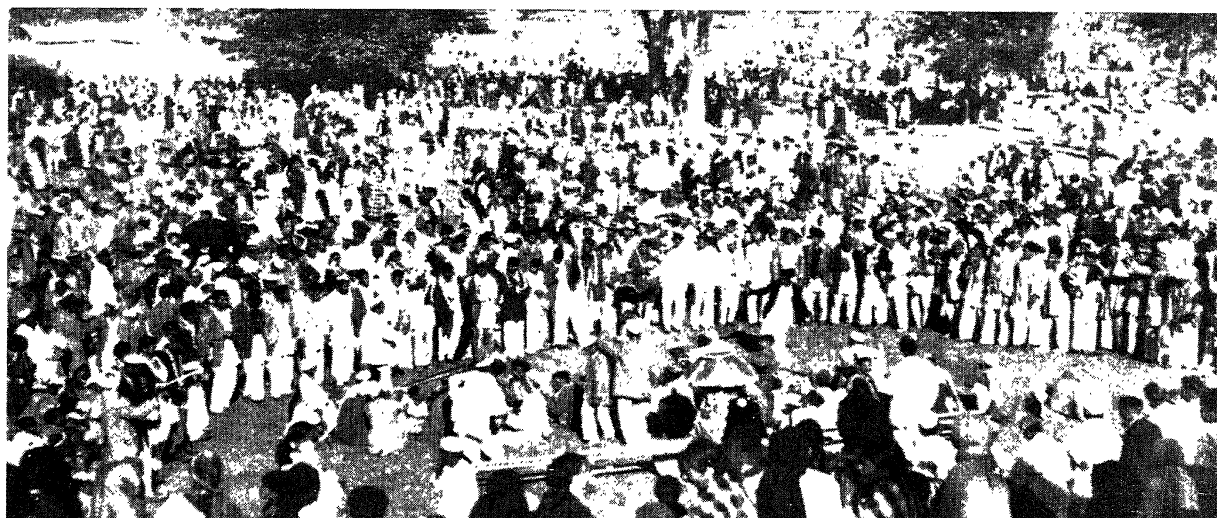
कुल्लू में लाहौल के व्यापारी





कुल्लू घाटी का सामान्य दृश्य

कुल्लू का एक प्रमुख मेला



कुल्लू के किसान मेले
की ओर जाते हुए



बैजनाथ की एक गायिका

रूप धारण कर लेती है। ऊपर चढ़ते चलिए, व्यास नदी पैरों में छूटती जा रही है। रास्ते के साथ-साथ चीड़ के गगनचुम्बी गैल, सामने हिमाच्छादित पर्वतश्रृंगों तक का खुला विस्तार, ऊपर नीले आकाश में मँडराते आवारा बादल, नीचे व्यास की जलधारा चीड़ वन की स्वरलहरी के साथ सुर मिलाकर गाती इठलाती बही जा रही है, जैसे धरती के सीने पर आकाश-गंगा रेंग रही हो। पगडण्डी करवटें बदलती जाती है और हर करवट पर दृश्य नया रूप धारण कर लेता है। उस दृश्य के एक रूप को कविता के फ्रेम में देखिए—

"पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों सी,
बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा,
विहग शिशु मौन नीड़ों में,
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा,
भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद......"

कवि ने तो इतना भर कह मन को दिलासा दे दी और प्रकृति से विदा ले ली थी। लेकिन प्रसिद्ध रूसी चित्रकार स्व० निकोलस रोरिक अपनी हिमालय यात्रा में नगर रुके तो वहीं के हो रहे। जिस मकान के पास श्री रोरिक ने डेरा डाला, वह मण्डी के राजा की कोठी थी। वह स्थान रोरिक को इतना पसन्द आया कि उन्होंने भारी मूल्य देकर मण्डी के राजा से वह कोठी और उसके साथ की जमीन खरीद ली। उस जमीन में आजकल सेब और नाशपाती के बगीचे हैं। स्व० निकोलस रोरिक का मज़ार भी उन्हीं बगीचों में है। नगर के सौन्दर्य से मुग्ध होकर ही कुल्लू के राजा ने उस स्थान को राजधानी बनाया था। राजाओं के पुराने महलों तथा अन्य इमारतों के रूप में राजधानी के अवशेष वहाँ अब भी मौजूद हैं। वे महल आजकल यात्रियों के लिये डाक बंगला बने हुए हैं। नगर ऊँचाई पर होने के कारण वहाँ से समूचा दृश्य आँखों के सामने रहता है। यात्री की आँखें उस सौन्दर्य रस को पीते थकती नहीं हैं। मानव का बस चले तो दोनों बाहों को फैलाकर उस समूचा प्राकृतिक छटा को उनमें बाँध घेरे। नगर से दीखने वाला दृश्य समस्त कुल्लू घाटी में सुन्दरतम है। कुल्लू की

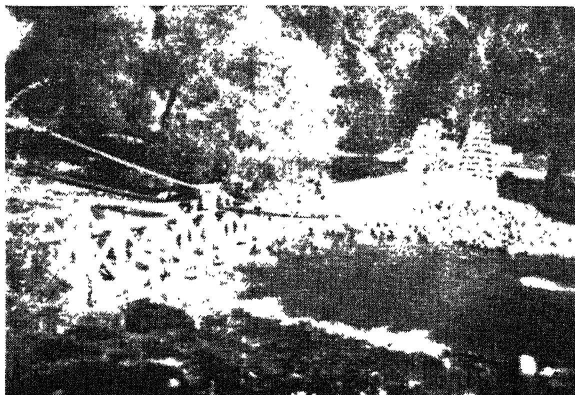


व्यास नदी का प्रारम्भिक रूप

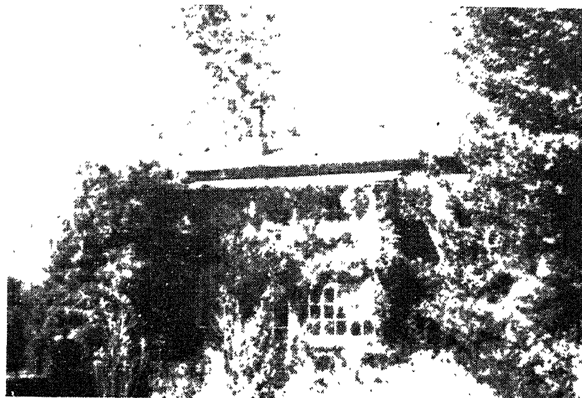


देवताओं का नृत्य

कटराई और नगर के बीच व्यास का पुल



नगर में निकोलस रोरिक का बंगला



यात्रा पर निकलने वाला एक भी यात्री ऐसा न होगा जो नगर को बिना देखे लौट आया हो।

देवताओं के उस धड़कते आँचल में यात्री के लिए एक बड़ा आकर्षण है—मनाली। कुल्लू से तेईस मील दूर मनाली कुल्लू घाटी की प्रथम उपत्यका है। हिमानी शैल-मालाओं, देवदार के हरे-भरे घने जंगलों की गोद में और धान के सुनहरी खेतों के पार्श्व में बसी मनाली यात्री के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ती है। झिलमिलाती बर्फ़ानी चोटियाँ, देवदार के घने जंगलों में बिछी मखमली हरियाली, धान के खेतों का सुनहरी विस्तार, पार्श्व में व्यास नदी की गुनगुनाहट—मानव को स्वर्ग में विचरने का आभास देती हैं।

मनाली से दो मील दूर 'रोहतंग पास' से होकर लाहौल को जाने वाली सड़क से ऊपर पर्वत की ऊँचाई पर 'वसिष्ट' नाम का एक स्थान है। वसिष्ट में गरम पानी के कुण्ड हैं। वहाँ गरम पानी के कुण्डों में स्नान का आनन्द यात्रियों को आकर्षित करता है। उन कुण्डों में पानी गन्धक के पहाड़ से निकलने वाले सोतों में से आता है। पानी से गन्धक की गन्ध भी आती है। कहा जाता है—उस स्थान पर वसिष्ठ जी ने तपस्या करते-करते देहत्याग किया था। वसिष्ठ जी की पाषाण मूर्त्ति वहाँ के लोगों से आज भी पूजा पाती है। वहाँ खड़े होकर चारों ओर का दृश्य दर्शनीय है। धूप में बर्फ़ की चमक से समूची घाटी चौंधिया जाती है और व्यक्ति अपने भीतर एक विशेष प्रकार की उष्णता महसूस करता है।

सुरम्य स्थलियों के अतिरिक्त यात्रियों के आकर्षण का कारण है वहाँ का जन-जीवन। वह लोग प्रकृति के पालने में पलकर जिस ढंग का स्वच्छन्द और उन्मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं, देखकर स्पर्धा होती है। वेशभूषा, आचार-व्यवहार, हँसी-खिलवाड़ सब का सब एकदम प्राकृतिक। पुरुषों के पहनावे में कुल्लू टोपी के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं। हाँ, स्त्रियों का पहनावा ज़रूर निराला है। महिलाएँ, युवतियाँ और बालिकाएँ, प्रायः समूचे शरीर को 'पट्टू' से कसे रखती हैं। सिर पर किसी गाढ़े रंग का पटका बँधा रहता है। युवतियाँ प्रायः काला या लाल हलका रंग पसन्द करती हैं। वस्त्रों में शृंगार की दृष्टि से प्रधानता पट्टू और सिर के पटके को दी जाती है। युवक टोपी पर मुनाल नामक पक्षी की कलगी और युवतियाँ सिर पर रेशमी पटका बड़े चाव से पहनती हैं। मुनाल मुर्ग़े के आकार का बहुत सुन्दर पक्षी है। टोपी पर उसकी कलगी बहुत खूबसूरत जान पड़ती है। कलगी लगाए युवक और सिर पर काला या लाल रेशमी पटका पहने युवती के पाँव, एक दूसरे से नज़र टकरा जाने पर, धरती पर मुश्किल से ही टिकते हैं। यात्री उस जीवन के सूत्रों को वहाँ के मन मेले उत्सवों में ही देखता है। कारण, उन लोगों के बीच रहकर उनके जीवन का अध्ययन करने की प्रवृत्ति हर किसी की नहीं होती। वहाँ के लोकोत्सवों में दशहरा प्रमुख है। सप्ताह भर तक रहने वाला वह मेला उन लोगों की मासूम चाहतों का केन्द्र है। सुदूर प्रदेशों से लोग दशहरे पर कुल्लू पहुँचते हैं। कुल्लू नगरी की रौनक उन दिनों कई गुना बढ़ जाती है। दशहरे के दिनों में यदि कोई यात्री वहाँ के किसी गाँव में जा निकले तो उसे अधिकतर किवाड़ बन्द मिलेंगे। बच्चे, बूढ़े, जवान, नर-नारी, सब के सब अपने दैनिक जीवन के पाटों से छुटकारा पाकर दशहरा उत्सव में सम्मिलित होने कुल्लू पहुँच जाते हैं। कुल्लू का वह मेला परसाल के बिछुड़े साथियों का मिलनोत्सव माना जाता है।

कुल्लू के दशहरे का आध्यात्मिक और व्यापारिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। सभी गाँवों के देवता दशहरा उत्सव में लाये जाते हैं। उन देवताओं के अनुयायी गाते-बजाते और उनकी पालकियों को कन्धों पर नचाते हुए आते हैं। वहाँ उन देवताओं को रघुनाथ जी की मूर्त्ति के सामने नचा कर रघुनाथ जी की आराधना की जाती है। देवताओं का वह सामूहिक नृत्य दर्शनीय होता है। वे देवता प्रायः चाँदी के होते हैं, जिन्हें पालकियों में सजाकर रखा जाता है। देवताओं के अतिरिक्त वहाँ के लोकनृत्य भी दर्शनीय हैं। लोकनृत्य में स्त्रियाँ प्रायः भाग नहीं लेतीं। वे अलग नाचती हैं। कुल्लू का गद्दी नृत्य तो जाना-माना है। नगाड़े और शहनाई की रुनझुन में उनका मन झूम-झूम नाच उठता है।

ऊन, पशम और जड़ी-बूटियों के व्यापारी विभिन्न प्रान्तों से आकर दशहरे के मेले पर एकत्रित होते हैं। लद्दाख़, लाहौल तथा अन्य सीमाप्रदेश के इलाकों से व्यापारी आकर दशहरे पर अपने माल के दाम खरे करते हैं। हज़ारों रुपया देखते-देखते हाथ बदल लेता है।

दशहरे के दिनों में कुल्लू घाटी की यात्रा पर निकलने वाले यात्री के लिए एक और भी आकर्षण है। उन दिनों वहाँ सेब और 'परसिमन' (जिसे हम जापानी फल कहते हैं) की भरमार होती है। फल पक कर पूरी तरह तैयार हो जाता है। कुल्लू के सेब और परसिमन स्वाद और रंगत में अद्वितीय हैं। वहाँ के सेब की गोल्डन डेलिशियस और रेड डेलिशियस जातियाँ तो सुविख्यात हैं। उन सेबों का प्रतिबिम्ब ही वहाँ के स्वस्थ चेहरों पर दिखाई देता है।

मानव और प्रकृति में रागात्मक सम्बन्ध है। उस रागात्मक सम्बन्ध के सूत्र कुल्लू की जीवन धारा में दीख आते हैं। यात्री वहाँ प्रकृति में इतना तल्लीन रहता है कि अपनी सत्ता तक उसके अर्पण कर देता है। प्रकृति ने वहाँ के कण-कण, क्षण-क्षण, बूँद-बूँद को इतना दुलार, इतना प्यार दिया है कि देवताओं की उस धरती पर मानव भी अपने को देवताओं का समकक्ष मानने लगता है।



लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

अमरनाथ विद्यालंकार

२३ जुलाई स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की पुण्य तिथि है। आज से सौ वर्ष पूर्व सन् १८५६ में इसी तिथि को भारत के इस महान युग निर्माता ने जन्म लिया था।

भारत ने अंग्रेजों से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जो महान संघर्ष किये, उनका इतिहास कई पर्वों में लिखा जाने वाला है। उस इतिहास में एक युग वह भी आया जब हमारे स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों ने धुंधले प्रकाश में पूर्ण स्वाधीनता के आदर्श की कुछ-कुछ झलक देखी और इस युग में भारत को प्रेरणा देने वाली विभूति लोकमान्य तिलक थे, जब उन्होंने निर्भिक होकर घोषणा की "स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे उपलब्ध करके रहूँगा।"

महापुरुष जब किन्हीं भावनाओं और लक्ष्यों का प्रतिपादन करते हैं, तो वह सदा देश और काल की मर्यादाओं के भीतर रह कर ही ऐसा कर पाते हैं। यदि वह देश और काल की मर्यादाओं का उल्लंघन करके अव्यवहारिक आदर्शवाद की बातें कहने लगें तो वे कारोबारी सामान्यजनों का सफल नेतृत्व करने के अयोग्य हो जाते हैं। लोकमान्य तिलक की प्रतिभा में जहाँ आदर्शवाद की पराकाष्ठाओं को छूने की योग्यता और सामर्थ्य थी, वहाँ वह एक सफल व्यवहारिक राजनीतिज्ञ थे, और आजन्म उन्होंने व्यावहारिकता को तुला पर ही अपने आदर्शों को परखा। जहाँ नर्मदल वालों की ढीली-ढाली और कृतत्व विहीन राजनीति उन्हें कुर्सीनशीन राजनीतिज्ञों की विलास लीला समान जान पड़ती थी, वहाँ जब महात्मा गाँधी जी ने सम्पूर्ण राजनीति को अहिंसात्मक व्यवहार की तुला पर तोलना चाहा तो लोकमान्य ने अहिंसा सिद्धान्तों को व्यावहारिकता की मर्यादाओं में रखने पर बल दिया। लोकमान्य आदर्शवाद और व्यावहारिकता में समन्वय स्थापित करने में सिद्धहस्त थे।

युगधर्म को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने भगवान कृष्ण की गीता की कर्मयोग के सिद्धान्त के अनुसार सुन्दर व्याख्या 'गीता-रहस्य' के रूप में की, क्योंकि लोकमान्य तिलक की धारणा के अनुसार केवल ज्ञान-भक्ति और त्याग-योग का एकांकी उपदेश देने वाली गीता की व्याख्या आज के भारत के लिए अनुपयोगी, निरर्थक, अतएव अव्यवहारिक थी।

लोकमान्य को अपने जीवन की प्रथम प्रेरणा स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे से मिली। रानाडे उस समय महाराष्ट्र के एक दीप्तिमान प्रकाश पुंज थे, जिनसे उस समय के नवयुवकों ने अध्ययन शीलता, उत्सर्गमय जीवन और देशसेवा-व्रत की दीक्षा ली थी। लोकमान्य तिलक और स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले उन गिने चुने नवयुवकों में से थे। प्रारम्भ ही से लोकमान्य तिलक में ओजस्विता की मात्रा अधिक थी और गोपाल कृष्ण गोखले में प्रशान्त और गंभीर वृत्ति प्रधान थी। यद्यपि रानाडे लोकमान्य तिलक के राजनीतिक गुरु थे और उन तीन-चार व्यक्तियों में से थे जिन्होंने पहले-पहल इंडियन नैशनल कॉंग्रेस की कल्पना और स्थापना की थी, परन्तु शीघ्र ही जब उनके विचारों और वृत्ति लोकमान्य तिलक के अन्तःस्थल को प्रभावित नहीं कर सके तो लोकमान्य ने उनका विरोध करने में भी हिचकिचाहट नहीं की। सन् १८८५ में कॉंग्रेस की स्थापना हुई और सन् १८८६ में हम लोकमान्य को कॉंग्रेस में उनके विरोध में साहस के साथ खड़ा पाते हैं।

उस समय कॉंग्रेस के नर्मदल के नेता श्री फिरोज़ शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले इत्यादि थे। सरदार, जमींदार, सरकारी पैंशनर और कई सरकारी नौकरों का समर्थन नर्मदल वालों को उपलब्ध था। लोकमान्य के पीछे कुछ तो पुराणपन्थी हिन्दू लग गए थे, जिन्हें नर्मदल वालों के समाज-सुधार के प्रोग्राम पसन्द न थे, लेकिन क्रमशः लोकमान्य के ओजस्वी नेतृत्व से प्रभावित होकर आने वाले लोगों में अधिकतर नवयुवक वकील, शिक्षक, और अखबार-नवीस लोग थे। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर इन में से प्रमुख थे।

कॉंग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में होने को था, परन्तु वहाँ हैज़ा फैल जाने के कारण यह अधिवेशन वहाँ न हो सका। यदि अधिवेशन पूना में होता तो अवश्य लोकमान्य प्रारम्भ से ही कॉंग्रेस के प्रमुख महारथियों में होते। सर्वश्री रानाडे और गोखले को धनियों और समाज के गण-मान्य व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त था। तथापि तिलक की अनुयायी युवक मंडली निरन्तर कॉंग्रेस में अधिक से अधिक प्रभाव प्राप्त करती गई।

सन् १८६७ में लोकमान्य पर राजद्रोह का प्रथम केस चला और यद्यपि उन्हें सज़ा होने पर नर्मदली नेता भी दुखी थे परन्तु उन्हें यह साहस न हुआ कि वह अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध कोई आवाज़ उठाते। जेल से छूटने पर लोकमान्य कुछ दूसरे केसों में फंस गए।

सन् १६०४ में बम्बई कॉंग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर कॉंग्रेस के विधान के सम्बन्ध में कुछ चर्चा हुई, जिसमें स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी की विधान के मामले पर स्वर्गीय फिरोज़ शाह मेहता से कुछ झड़पें हुईं। लोकमान्य ने खुले तौर पर ला० लाजपतराय का समर्थन किया। इसी समय वंग भंग हुआ और लार्ड कर्जन की नीति के विरुद्ध देश में घोर आन्दोलन आरम्भ हुआ। स्वदेशी आन्दोलन भी चला। नर्मदल के नेता सार्वजनिक आन्दोलनों से बहुत घबराए हुए थे, परन्तु लोकमान्य ने इन आन्दोलनों को पूर्ण समर्थन प्रदान किया। कहना

(शेष पृष्ठ ४१ पर)

भारत के विदेशी व्यापार की कुछ नई प्रवृत्तियाँ

राजनारायण गुप्त

पिछले कुछ वर्षों में भारत के वैदेशिक व्यापार के स्वरूप में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, वह देश की प्रगति के इतिहास को गौरवान्वित करने वाले हैं। यह सच है कि यदि केवल आयात व निर्यात के आँकड़ों को ही देखा जाय तो समुद्र की लहरों के समान उनमें कभी उतार व कभी चढ़ाव देखने को मिलेगा, कारण, विदेशी व्यापार की मात्रा को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व होते हैं, जिन सब का एक स्थान पर वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ देश में खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति, दूसरे कच्चे माल की पैदावार, मौन्सून की स्थिति, विनिमय की दर, सरकार की नियंत्रण नीति, विदेशों की माँग, अन्य देशों की आर्थिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, युद्ध का भय, दूसरे देशों की प्रतिस्पर्धा, इत्यादि—अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे किसी एक वर्ष में आयात या निर्यात की मात्रा कम तथा दूसरे वर्ष में उनकी मात्रा अधिक हो सकती है। व्यापार के आँकड़ों का अध्ययन करते समय, इसलिए इन सभी कारणों को दृष्टि में रख कर, यह देखना चाहिए कि किसी वर्ष में हमारे देश के व्यापार की स्थिति में अमुक परिवर्तन क्यों कर हुआ?

द्वितीय महायुद्ध से पहले हमारे देश के वैदेशिक व्यापार के तीन मुख्य लक्षण थे। प्रथम यह कि हमारा देश अधिकतर कच्चा माल विदेशों को भेजता था तथा बना हुआ तैयार माल आयात करता था। दूसरा यह कि भारत से बाहर जाने वाले माल की मात्रा आयात होने वाले माल से कहीं अधिक होती थी, इसलिए व्यापार की बाकी प्रायः हमारे पक्ष में ही रहती थी। इसका एक कारण यह भी था कि हमारे देश को परतन्त्रता के काल में एक बहुत मोटी रकम इंग्लैण्ड की सरकार को "गृह भार" (होम चार्जेज) के रूप में देनी पड़ती थी, जिसका भुगतान अनुकूल व्यापार की बाकी के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। तीसरा यह कि हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर इंग्लैंड तथा राष्ट्र मंडल के देशों के साथ ही होता था और हमारी ब्रिटिश सरकार इस प्रकार की व्यापार नीति का अवलम्बन करती थी कि इन्हीं देशों के साथ व्यापार करने में हमें अधिक लाभ है, दूसरे देशों के साथ नहीं। "ओटावा समझौता", "इम्पीरियल प्रीफरैंस" तथा "रुपये की ऊँची विनिमय दर" इत्यादि नीतियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनाई जाती थीं।

द्वितीय महायुद्ध तथा उसके पश्चात के काल को एक प्रकार से हम अपने विदेशी व्यापार की इन तीनों विशेषताओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन का द्योतक मान सकते हैं। एक प्रकार से इस काल में यह तीनों ही विशेषताएँ विपरीत अवस्था को प्राप्त कर गई हैं। अब हमारा देश कच्चे माल का निर्यात बहुत कम तथा बने हुए तैयार माल का निर्यात अधिक करता है। विदेशों से हम कारखानों में काम आने वाले औद्योगिक कच्चे माल का आयात अधिक करते हैं। हमारे विदेशी व्यापार की बाकी अब हमारे पक्ष में नहीं होती वरन् प्रायः विपक्ष में ही रहती है, जिसका अर्थ हुआ कि आजकल हम विदेशों से अधिक मूल्य का माल आयात करते हैं और बदले में कम माल निर्यात करते हैं। डालर तथा स्टर्लिंग दोनों ही क्षेत्रों के देशों के साथ व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में रहती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इस स्थिति के और भी अधिक विकट हो जाने की सम्भावना है, कारण इन वर्षों में हम दूसरे देशों से बहुत अधिक मूल्य की मशीनें, लोहा, रासायनिक पदार्थ तथा औद्योगिक कच्चा माल मँगाना चाहते हैं, जिससे हमारे देश का द्रुत गति से औद्योगीकरण हो सके। अन्त में, आजकल हमारा व्यापार इंग्लैण्ड तथा राष्ट्र मंडल के देशों के साथ ही सीमित नहीं, वरन् उसका क्षेत्र बराबर बढ़ता ही जा रहा है। और मध्य पूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशों में हमारा निर्यात बराबर बढ़ रहा है अमेरिका से हमारे आयात की मात्रा बराबर अधिक हो रही है। यूरोप के साम्यवादी व प्रजातन्त्र देशों के साथ भी हमारी सरकार ने अनेक व्यापारिक समझौते किए हैं जिनके कारण 'बारटर' के आधार पर हमारा इन देशों के साथ भी व्यापार निरन्तर बढ़ रहा है।

यहाँ कुछ उन अत्यन्त अनुकूल बातों का जो पिछले १८ वर्षों में हुई हैं तथा जिनके कारण हमारे विदेशी व्यापार की कुल मात्रा तथा उसके स्वरूप में भारी परिवर्तन हुए हैं वर्णन कर देना असामयिक न होगा। पिछले महायुद्ध के समय जहाज़ों की कमी, शत्रु से भय तथा मित्र राष्ट्रों को स्वयं अपने यहाँ युद्ध तथा जनता की आवश्यकता के लिए बने हुए माल की भारी माँग के कारण, भारत में विदेशी माल का आयात बहुत कम हो गया। इसके विपरीत हमारे कच्चे माल जैसे रुई, पटसन, अनाज, चाय, लोहा, चमड़ा, खनिज, रबड़, तिलहन इत्यादि की माँग विदेशों में बहुत अधिक बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि जहाजों की कमी तथा हर प्रकार के नियंत्रण होने पर भी हमारे देश से मित्र राष्ट्रों को बहुत अधिक मात्रा में माल का निर्यात हुआ और बदले में बहुत कम बना हुआ माल हमारे देश में आया। इस स्थिति से हमारे देश को दो बड़े लाभ हुए—एक तो यह कि हमारा देश जो इंग्लैंड का भारी कर्जदार था तथा जिसे उसको लगभग १३ अरब रुपये का ऋण चुकाना था, अब एक साहूकार देश बन गया और हमारे देश की अनुकूल व्यापार की बाकी के कारण, इंग्लैंड लगभग १६ अरब रुपये की रकम से हमारा कर्ज़दार हो गया। इस स्थिति में यह आवश्यक नहीं रहा कि आगे के वर्षों में हम इंग्लैंड से थोड़ा माल मँगाएँ तथा अधिक निर्यात करें जिससे हम अपने कर्ज़ का भुगतान

कर सकें। उल्टे इंग्लैंड में हमारे पौंड-पावना की इतनी रकम जमा हो गई कि उसका भुगतान हम वहाँ से या स्टर्लिंग क्षेत्र के दूसरे देशों से अधिक माल मँगा कर ही कर सकते थे। दूसरे, इंग्लैंड तथा साथी राष्ट्रों से आयात में कमी हो जाने के कारण, हमारे देश में अनेक नए उद्योगों की स्थापना हो गई और युद्ध के काल में इन कारखानों ने खूब लाभ कमाया। पिछली लड़ाई में जर्मनी तथा जापान की हार से हमें यह भी अवसर मिल गया कि मध्य पूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशों में हम इन देशों के निर्यात व्यापार का स्थान ले सकें। लड़ाई से पहले जापान का सस्ता माल इन सब बाज़ारों में बिकने के लिए आता था। युद्धोत्तर काल में इन सब देशों में भारत के बने हुए माल की माँग बढ़ने लगी।

परन्तु यहाँ कुछ उन प्रतिकूल अवस्थाओं का वर्णन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है जिनके कारण हमारा देश विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का पूरा लाभ नहीं उठा सका। सन् १९४७ में हमारे देश का विभाजन हो गया और उसके कारण तेल, अनाज, चावल, पटसन इत्यादि बहुत सी निर्यात वस्तुएँ पाकिस्तान के क्षेत्र में चली गईं। अब भारत स्वयं इन वस्तुओं के आयात की आवश्यकता अनुभव करने लगा। दूसरे युद्ध के पश्चात सस्ती विलायत की बनी चीज़ों का आयात पुनः आरम्भ हो गया और उनके मुकाबले में बहुत से भारतीय कारखाने बन्द होने लगे। हमारे निर्यात की मात्रा कम हो गई और आयात के एकदम बढ़ जाने से हमारे व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में हो गई। सन् १९४९ और १९५५ के बीच प्रत्येक वर्ष में ही हमारी व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में रही। निम्न आँकड़े इस बात को प्रमाणित करते हैं :

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार की बाकी
१९४९	६६१	४८९'९	–१७२'९
१९५०	५५१'६	५३६'०	– १२'६
१९५१	८४४'१	७५७'३	– ८६'८
१९५२	७९९'६	६०८'८	–१९१'१
१९५३	५६७'१	५१२'५	– ५४'६
१९५४	५८९'५	५४७'७	– ३७'८
१९५५	६४४'०	६०४'०	– ४०'०

इन वर्षों में भारत अपने प्रतिकूल व्यापारान्तर का भुगतान पौंड-पावना की रक़म तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विदेशों की सहायता के द्वारा कर सका। घट कर अब हमारे पौंड-पावना की बाकी केवल ७०० करोड़ रुपया रह गई है। पिछले पाँच वर्षों में हमें लगभग ३०० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता भी प्राप्त हुई है। अंतर्राष्ट्रीय बैंक तथा मुद्राकोष से भी हमने ऋण लिया है। आयात की मात्रा को कम करने के लिए सरकार ने अनेक नियंत्रण लगाए हैं। अनावश्यक व विलासिता की चीज़ों का आयात बन्द कर दिया गया है, निर्यात की नीति को हर प्रकार से प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है, अनेक वस्तुओं के निर्यात के लिए "निर्यात विकास परिषदें" स्थापित कर दी गई हैं, विदेशों में भारतीय चीज़ों की माँग को बढ़ाने के लिए जगह-जगह व्यापारिक एजेंट तथा दूत नियुक्त किए गए हैं, जो अपने दूतावास में भारतीय चीज़ों का प्रदर्शन करते हैं तथा औद्योगिक प्रदर्शनियों में भाग लेते हैं। आयात होने वाली आवश्यक चीज़ों को भारत में ही बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, इस सम्बन्ध में अनेक नए कारखाने विदेशी मूलधन के सहयोग के द्वारा स्थापित किए गए हैं। ऐसे उद्योगों में तेल शोधक—बर्मा शैल, स्टैंडर्ड वैक्यूम व कालटैक्स—के कारखाने, मोटर उद्योग, साइकिल फैक्ट्रियाँ, रसायनिक व दवाई उद्योग प्रमुख हैं।

आगे आने वाले वर्षों में जिस क्षेत्र में भारत अपनी निर्यात की वस्तुओं को सबसे अधिक आगे बढ़ा सकता है, वह हल्की बनी हुई इंजीनियरिंग की वस्तुएँ हैं। इन चीज़ों में हम बिजली का सामान—पंखे, तार, मोटर, स्विच, बिजली के मोटर, सिलाई की मशीनें, हार्ड वेयर का सामान, कब्ज़े, पेच, कील, हैंडिल, खटके इत्यादि, सैनीटरी सामान, छोटी-छोटी मशीनें, पंच, प्रेस, छापेखाने, टाइप, स्प्रेयर इत्यादि—मोटर के हिस्से, बाइसिकिल व उसका सामान इत्यादि का नाम ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त रासायनिक, पेंट, सीमेंट, लोहे का सामान, शीशे की चीज़ें, कागज़ व कागज़ की बनी चीज़ें, चमड़े का सामान, दवाइयाँ, कपड़े, हाथ करघे का सामान, गृह उद्योग की चीज़ें इत्यादि भी भारी मात्रा में निर्यात हो सकती हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश के वैदेशिक व्यापार में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। सन् १९३०-४० के बीच हमारे देश के वैदिक व्यापार की कुल मात्रा लगभग २५०-४०० करोड़ रुपया थी। पिछले कुछ वर्षों में यह मात्रा लगभग चार गुनी बढ़ गई है। आजकल हमारे देश के वैदेशिक व्यापार का कुल मूल्य लगभग १३ अरब रुपया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में जिस दिशा में सबसे अधिक संतोषजनक प्रगति हुई है वह यह है कि हमारी अनाज व रूई की आयात बहुत कम हो गई है। इन दोनों ही चीज़ों के उत्पादन में हम प्रायः स्वावलंबी बनते जा रहे हैं और इस प्रकार करोड़ों रुपये लागत की आयात बन्द होती जा रही है, जिसके लिए हमें अपने अमूल्य विदेशी मुद्रा कोष की बलि देनी पड़ती थी। सन् १९४६ और १९५२ के बीच हमारे देश को लगभग ९५० करोड़ रुपये का अनाज विदेशों से मँगवाना पड़ा। सन् १९५१ के अकेले एक वर्ष में इस आयात का मूल्य २१७ करोड़ रुपया था। पिछले तीन वर्षों में इस आयात की मात्रा में भारी कमी हुई है। सन् १९५३ में हमें ८३ करोड़, सन् १९५४ में ७५ करोड़ तथा सन् १९५५ में केवल ६६ करोड़ रुपये का अन्न आयात करना पड़ा। इसी प्रकार हमारी रूई की पैदावार भी निरंतर बढ़ रही है और इसका आयात कम हो रहा है। सन् १९५१-५२ में हमारे देश में १५ लाख ४०,००० गाँठ रूई आई, सन् १९५३-५४ में इसकी मात्रा केवल ६ लाख ९० हज़ार रह गई थी। जूट की पैदावार भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आगे आने वाले काल की ओर इसलिए हम संतोष की दृष्टि से देख सकते हैं। निर्यात के क्षेत्र में हमारे देश के सम्मुख एक बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है और आशा है विभिन्न "निर्यात विकास परिषदों" की सहायता से इस स्थिति का पूरा लाभ

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

उड़ान

बलवन्त सिंह

हाथ—एक खूबसूरत गोरा हाथ—पलंग की पट्टी के नीचे की ओर लटक रहा था। यह हाथ मेरी बीवी का था। उसकी आदत थी कि वह मेंहदी घोल कर एक-एक पोर तक उँगलियाँ उसमें डुबो देती। सिंगार का यह साधन कितना सादा था, लेकिन कितना मन लुभाने वाला था। फिर नाच करते समय यही हाथ कई हसीन शक्लों में ढाले जा सकते थे। कबूतरों के-से पाँव, जो स्वर और ताल पर मदमस्ती से नाच सकते थे। और वे दूधिया पिण्डलियाँ जो चकफेरियाँ लेते समय लहँगे के इधर-उधर उड़ जाने से बिजली की तरह कौंध जाया करती थीं।

मेरी खुशनसीबी इस बात में नहीं थी कि मुझे ऐसी प्यारी बीवी मिली थी, बल्कि इसमें थी कि मैं इस योग्य था कि उसे जीवन के सब आराम दे सकता था। वरना वह तो एक फूल के समान थी, मुर्झा कर रह जाती; वह तो एक गीत की भाँति थी, कराह कर रह जाती; वह तो एक सपने की तरह थी, परेशान होकर रह जाती।

वह खुद कविता थी और कविताओं की आशिक, खुद सुन्दरता की मूर्त्ति थी और खूबसूरती की पुजारिन, खुद भगवान की कला का नमूना थी और हर कला की मतवाली। और इन सब से ऊपर वह भोली और नेकदिल थी। वह एक भरे-पूरे घर में पली थी और एक प्यार करने वाले पति के दिल के सिंहासन पर विराजमान हो गई। यह सब कुछ इस दुनिया में हुआ, जहाँ इतनी गरीबी है, इतनी भूख है, इतनी बदसूरती है।

क्या मैं शायरी कर रहा हूँ? लेकिन दुनिया में कुछ ऐसी भी चीज़ें हैं, जिनका वर्णन कविता में ही हो सकता है।

मेरे लिए मधु सदा दूसरी दुनिया की चीज़ रहती, अगर वह एक दिन अपने कोमल और गुलाबी ओंठ मेरे कान के पास लाकर कुछ कहते-कहते शरमा न जाती—

वह मेरे बच्चे की माँ बनने वाली थी। अभी करीब चार महीने बाकी थे।

वह सो रही थी, मैं उसे जगाना चाहता था। लेकिन कैसे? यह समझ में नहीं आ रहा था। मेरा दिल शायर ज़रूर था, लेकिन मेरी सूरत, मेरी आवाज़ या मेरी हरकतों में शायरी की झलक नहीं दिखाई देती थी। तो भी उसे जल्दी जगाना ज़रूरी था। सो मैं उसके पलंग के करीब धरती पर बैठ गया और उसकी आँख के ऊपर से होकर गाल पर परेशान एक काली लट को हल्की-सी फूँक मार कर ज्योंही मैंने उस लट को और परेशान किया तो वह कसमसाई, उसके पपोटों पर हल्की-सी हलचल पैदा हुई और फिर दो जोड़ों में चार सुन्दर पलकें कली की तरह चटक कर कुछ अलग-अलग हो गईं।

मैंने उसकी अधखुली आँखों के आगे दो उँगलियाँ खड़ी कर दीं। उसे रात वाली बात याद आ गई तो उसके ओंठों पर नटखट मुस्कान की लहरें दिखाई देने लगीं। उसने पहले एक मेंहदी-रँगी उँगली उठाई और नींद में डूबी आवाज़ में बोली—"पहला काम डाक्टर के पास जाना और दूसरा" यह कह कर उसने दूसरी उँगली उठाई "दस बजे अंग्रेज़ी पिक्चर।"

मैंने सँपेरे की तरह उसके कान में मंत्र फूँका—"इसलिए देर नहीं होनी चाहिए। मैं शेव करने जा रहा हूँ। फिर से तो न सो जाओगी?"

उसने एकबारगी आँखें पूरी तरह से खोल कर मेरी नज़र से नज़र मिलाई और फिर मेरी आँखों से छलकते हुए प्यार को एक ही घूँट में पीकर आँखें झुका लीं और शरारत से बोली—"ज़रूर सो जाऊँगी!"

हम तैयार बैठे थे कि नौकर ने रिक्शे के आ जाने की खबर दी। रिक्शा साफ़-सुथरा था और सीट भी अच्छी दिखाई दे रही थी लेकिन रिक्शे वाला बुड्ढा था। उसके चेहरे पर लकीरों का जाल-सा बुना हुआ था। उसके सिर और दाढ़ी के बाल बर्फ़ की तरह सफ़ेद थे। रंग काला, खाल मोटी व खुरदरी, मैला चीकट कुर्ता, धोती बिल्कुल चिथड़ा।

मैं रिक्शे की सवारी पसन्द नहीं करता। अगर मोटर खराब हो जाए, जैसा कि उस दिन हुआ, तो मैं कम-से-कम इतनी तसल्ली कर लेता हूँ कि रिक्शा साफ़-सुथरा हो और रिक्शे वाला तगड़ा-जवान हो।

बुड्ढे रिक्शे वाले को देख कर हम दोनों कुछ झिझक कर आगे बढ़े। मैंने ऐसी आवाज़ में कि जिससे उसके दिल को दुःख न हो पूछा—"क्यों भाई! दो सवारी खींच लोगे?"

"हाँ मालिक, हींच लई!" उसने कारोबारी अन्दाज़ में जवाब दिया।

वह हट्टा-कट्टा तो नहीं था लेकिन कुछ ऐसा मरियल भी नहीं था। और फिर यह मुश्किल भी तो थी कि उसको क्या कह कर टाला जाए, सो हम ज़रा बेदिली से रिक्शे पर सवार हो गए।

थोड़ा-सा पैदल चल कर रिक्शे वाला भी साईकिल की गद्दी पर बैठ गया।

रिक्शा अपनी रफ़्तार से दौड़ने लगा तो मैंने मधु की ओर देखा। गर्मी के कारण उसका चेहरा तमतमाया हुआ था। आँखें शरबत के कटोरों की तरह हो रही थीं और सन्तरे की बारीक फाँकों की तरह ओंठ ऐसे दिखते थे जैसे उनमें से रस टपकने को हो। उसका शरीर रंग और खुशबू का एक सपना-सा दिखाई दे रहा था। मैंने अपने दिल को यकीन दिलाने के लिए कि वह सपना नहीं थी अपना हाथ बढ़ा कर उसके दूसरे कंधे पर रख दिया।

सुनसान सड़क धूप के कारण तप रही थी। सूर्य की किरणें तेज़ भालों की तरह आँखों में चुभ कर उन्हें झुकने पर मजबूर कर रही थीं। इसलिए हम दोनों की नज़रें रिक्शे वाले की नीचे ऊपर होती हुई टाँगों पर जम गईं।

उसकी टाँगें बिलकुल लकड़ी तराश कर बनाई गई दिखाई देती थीं। जैसे लकड़ी के दो डण्डों पर काला रोग़न कर दिया गया हो। उन पर पड़ी हुई गर्द के कारण वे और भी बेजान दिखाई देती थीं। बाईं पिण्डली पर नसों का एक गुच्छा-सा बन गया था और वह जगह और भी भद्दी लग रही थी। पतले टखनों के नीचे पाँव फैल कर एकदम बड़े हो गए थे—नीचे-ऊपर; ऊपर-नीचे। दोनों टाँगें मशीन की तरह हरकत किए जा रही थीं। मैंने देखा, मधु की मदमाती आँखें उन पिण्डलियों पर जमी हुई थीं।

जून का आख़िरी सप्ताह था। दूर क्षितिज से बादल उठ रहे थे। अभी तक बरसात शुरू नहीं हुई थी, बादल दूर थे और सूर्य अभी आज़ाद था। लेकिन बादलों के आगे-आगे नन्हें धब्बों की तरह उड़ती हुई चीलें इस बात का पता देती थीं कि वह बादल ठण्डे पानी की बूँदों से बोझिल हो रहे हैं। मधु लगातार उन सूखी काली दो पिण्डलियों को देखे जा रही थी। मेरे दिल को दुःख हो रहा था, क्योंकि उन हसीन आँखों के सामने ऐसा दृश्य उपस्थित करने वाला मैं ही तो था।

अपने दिल की हालत को छिपाते हुए मैंने पूछा—"क्या सोच रही हो मधु ?"

उसके ओंठों पर फूल खिल गए, बोली—"सोच रही हूँ कि इनका भी कितना मेहनत का काम है।"

"हाँ, सचमुच।" मैंने ज़रा बेतकल्लुफ़ी से कहा।

मैं नहीं चाहता था कि उसकी उजली-उजली सदा प्रसन्न रहने वाली आँखों के आगे यह दृश्य बहुत देर तक रहे। मैं उचित नहीं समझता था कि नागिन सी लटों से ढँके हुए उसके सिर को यह सिर-दर्दी करनी पड़े, संगीत और कविता की दुनिया में नृत्य करने वाले उसके दिल को इस दर्द से वाक़िफ़ होना पड़े। लेकिन उस वक्त मैंने यही उचित समझा कि बुड्ढे से बात करते-करते चुपके से बात का रुख बदल दिया जाए।

मैंने बुड्ढे से कहा—"बाबा, बड़ी मेहनत का काम करते हो तुम।"

"हाँ, मालिक।"

मधु ने हमदर्दी से पूछा—"तुम्हारा दुनिया में कोई नहीं बाबा ?"

इस पर उसने सिर को ज़रा-सा घुमाया। मालूम होता था कि इस बात से उसे दुख हुआ है। कुछ रुक कर वह बोला—"बिटिया, हमारी बिरादरी बहुत बड़ी है। मेरे दो बेटे हैं, तीन लड़कियाँ हैं, पोते हैं, पोतियाँ हैं, मेरी बिरादरी बहुत बड़ी है !"

"ओ ! ओ !" मधु ने अपने रूमाल की चुभन को महसूस करते हुए कहा—"बाबा, माफ़ करना। बुरा न मानना।"

इस पर बुड्ढे ने ज़ोर से सिर को इधर-उधर हिलाया। मैंने देखा कि उसके नाक के दोनों ओर प्रसन्नता की लहरें दिखाई देने लगी हैं। पुचकारते हुए बोला—"नहीं बिटिया, बुरा काहे का मानी !"

इस अनपढ़ और ग़लीज़ बुड्ढे का मधु को बिटिया कहना भी मुझे अच्छा न लगा। क्या वह उसे मालकिन नहीं कह सकता था ? और फिर मधु में भी कितना बचपना था।

मधु छोटे बालक की तरह चहक रही थी, बोली—"मैंने यह इसलिए कहा था कि अब तुम्हारे आराम करने के दिन हैं और फिर तुम्हारे बेटे भी काम तो करते ही होंगे ?"

"हाँ, हाँ, दोनों बेटे काम पर लगे हैं। एक काफ़ी हाउस में बैरागीरी करता है और दूसरा सनीमा के जलूस के आगे बंसी बजाता है। पर मैं घर में सब से बड़ा हूँ। मेरी ज़िम्मेदारी भी तो बड़ी है। मैं भी काम करता हूँ। मैं ऐसा कमज़ोर नहीं हूँ बिटिया !"

फिर "बिटिया !" मुझे गुस्सा-सा आने लगा। उधर मधु बच्चे की तरह सिर हिला-हिला कर उसकी बातों में दिलचस्पी ले रही थी।

अब मुझ से न रहा गया—मैंने अंग्रेज़ी में कहा—"डारलिंग ! तुम जिस दुनिया में रहती हो वह उसमें नहीं रहते। उनकी दुनिया बहुत छोटी है। उनकी नज़र में एक-एक दमड़ी की बड़ी कीमत है। मुझे भी इससे हमदर्दी है। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगरचे यह ठीक है कि हम सब इंसान हैं, फिर भी……।"

न जाने मैंने इतना कुछ क्यों कह डाला और न जाने मधु ने भी बहस क्यों नहीं की। वह चुप हो गई।

जब हम डाक्टर के बँगले के पास पहुँचे तो मैंने रिक्शे वाले से कहा—"बाबा ! कुछ देर रुक कर हम मैट्रो सिनेमा जायेंगे। चार आना मिलेगा। चलना हो तो बोलो।"

"छः आना लागी मालिक।"

"नहीं, बस चार आना। जल्दी बोलो।"

"नहीं मालिक ! कम न होई।"

मैंने माथे पर बल डाल कर उसका किराया दे दिया और कहा—"जाओ।"

मधु ने मेरा हाथ थाम कर शायद कुछ कहना चाहा, लेकिन मैंने उसकी आवाज़ निकलने से पहले ही फिर अंग्रेज़ी में कहा—"डोंट बी ए फूल ! डारलिंग ये लोग गाँठ के बड़े पक्के होते हैं। हमेशा उचित से ज़्यादा किराया माँगा करते हैं।"

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मधु का पाँव भारी था, उसे रिक्शे में से निकलने में दिक्कत महसूस हुई तो बुड्ढे ने आगे बढ़कर छत पीछे की ओर सरका दी और मैंने मधु को बाँह का सहारा देकर नीचे उतारा।

हम डाक्टर के बँगले की ओर बढ़े तो मैंने नरम लहजे में कहा—"डारलिंग, यह न समझो कि मैं बुड्ढे से नफ़रत करता हूँ या उसे ज़लील समझता हूँ। लेकिन फिर भी यह सोचने की बात है कि उसमें और हममें कौन सी बात एक समान है। छोटे लोगों को ज़्यादा मुँह लगाना अच्छा नहीं होता। ख़ैर छोड़ो इन बातों को। देखना तो यह है कि उसे सवारियों की कमी नहीं है, हम न मिले तो क्या ? हमें रिक्शा की कमी नहीं है, वह न मिला तो क्या हुआ ?"

यह कह कर मैंने हल्का-सा कहकहा लगाया और उसके कन्धे को हल्की-सी थपकी देते हुए कहा—"तुम इन दुनियादारी की बातों को

नहीं समझ पाओगी। तुम परियों के रंग-महलों में रहने वाली हो। तुम्हारे ख़्यालात आकाश से भी ऊँचे उड़ते हैं। नहीं, तुम इन बातों को नहीं समझ सकतीं।"

डाक्टर से बातें हो चुकीं तो डाक्टर साहब तो किसी और मरीज़ को देखने चल दिए। इधर देखते-देखते आकाश पर काले बादल छा गए और एकबारगी बड़े ज़ोर की बारिश होने लगी।

मैं डरा कि अगर यही हालत रही तो सिनेमा का प्रोग्राम खटाई में पड़ जाएगा। लेकिन ख़ैर हुई कि जल्दी ही बारिश थम गई। मैंने फ़ौरन एक नौकर को रिक्शा लाने के लिए भेजा। नौकर ने डरते-डरते कहा—"साहब रिक्शा तो यहाँ मुश्किल ही से मिलेगी।"

यह कह कर वह रिक्शा की तलाश में चला गया।

उस तरफ़ ज़्यादातर बड़े डाक्टर और बड़े वकील आदि रहते थे, जिनका सवारी का अपना-अपना इन्तज़ाम था।

थोड़ी देर बाद नौकर निराश होकर वापस लौट आया।

मैंने घड़ी देखी सिनेमा शुरू होने में मुश्किल से बारह मिनट थे। हफ्ते में इतवार का दिन ही तो मनोरंजन का होता है। मैंने सोचा अगर हम पिक्चर न देख सके तो मधु को कितनी निराशा होगी, काश मैं उस बुड्ढे को वहीं रोक लेता। कभी-कभी हम कैसी बेवक़ूफ़ी की हरकतें कर डालते हैं। भला दो आने के लिए अड़ जाने की क्या ज़रूरत थी। शायद यहाँ पैसे का सवाल नहीं, सौदेबाज़ी का सवाल था। हम सौदेबाज़ी में मात नहीं खाना चाहते। शायद मुझे मधु का बचपन बुरा लगा था। अगर मुझे मालूम होता कि यहाँ रिक्शा एक सिरे से ही नहीं मिलेगी, तो मैं बुड्ढे को छः आने क्या एक रुपये पर भी रोक लेता। मैंने हैरान होकर नौकर से पूछा—"क्या यहाँ एक भी रिक्शा नहीं है?"

"नहीं साहब! एक है सो पहले ही से लगा हुआ है," फिर उसने कुछ रुक कर कहा—"अगर आप टहलते हुए ज़रा आगे तक चले जाएँ, तो हो सकता है कि आपको रेलवे के पुल के नीचे कोई रिक्शा मिल जाए।"

हम बोझिल दिल से उठे। मैं दिल-ही-दिल में अपने आपको कोस रहा था। मधु पैदल चल नहीं सकती थी। यों भी सिनेमा वहाँ से एक मील से कम न था।

हम फाटक से बाहर निकले तो देखा कि रेलवे का पुल भी कोई ऐसा नज़दीक तो नहीं है। इधर-उधर नज़र दौड़ाई तो पीपल के पेड़ के नीचे एक रिक्शा दिखाई दिया, वही जिसके बारे में नौकर ने बताया था कि लगा हुआ है। मुझे अपने आप पर रह-रह कर गुस्सा आ रहा था।

इतने में यह रिक्शा वाला हमारी तरफ़ बढ़ा तो मैंने पहचान लिया कि यह तो वही बुड्ढा है।

पास आकर बुड्ढा सीट साफ़ करने लगा तो मैंने कहा—"ओ, तो तुम हो! तुम हमारे लिए रुक गए थे?"

वह कुछ नहीं बोला। हम बैठ गए तो वह चुपचाप अपनी गद्दी साफ़ करने लगा, और फिर धीरे से बोला—"हम दो आना कम ले लेब?"

मुझे अपनी जीत का एहसास हो रहा था। इस जीत के बाद यों मैं उसे आठ आने देने को तैयार था।

कुछ मधु पर अपनी दुनियादारी का रोब गाँठने और कुछ बुड्ढे को और रंग देने के ख़्याल से मैंने फिर कहा—"बाबा, तुम तो कहते थे कि कम न होई!"

बुड्ढा उस वक्त पैंडल पर पाँव रख कर रुक गया। क्षण भर उसने अपनी बूढ़ी आँखों से मेरी ओर देखा, फिर बड़ी गम्भीर आवाज़ में बोला—"हमऊँ सोचा कि जो इहाँ कोई और रिक्शा न मिली तो बिटिया को तकलीफ़ होई!"

यह सुनकर मैं मानो दुनिया में अकेला रह गया। मधु की ओर देखने की मेरी हिम्मत भी नहीं हुई।

वह काली-काली टाँगें एक बार फिर ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर चल रही थीं, लेकिन मैंने अबके साफ़-साफ़ देखा—वे लकड़ी की हरगिज़ नहीं थीं! उनमें भी लाल-लाल और ज़िन्दा लहू झलक रहा था।

●

अन्धकार—(पृष्ठ ३३ का शेषांश)

मैंने उत्तर नहीं दिया। लड़का चला गया और उसने जाकर बगल वाले एक अन्य सज्जन के सामने हाथ पसारा। चाहे जितना दावा करे, हाथ पसारना ही है।

सज्जन ने पूछा—तेरा और कौन है।

—माँ—कह कर लड़के ने गैस बत्ती की तरफ कहीं उँगली दिखा दी—वह रही।

एक भद्र ढंग की महिला वहाँ अर्द्धगुंठिता खड़ी थी। आसपास से कुछ मन्तव्य सुनाई पड़े। मुझसे सहन नहीं हुआ। मैं जल्दी से एक रुपया निकाल कर उस तरफ गया, पर गैस की रोशनी में उस महिला के मुख की तरफ ताक कर मैंने रुपए वाले चोट खाए हुए हाथ को जेब में डुबो दिया।

अनुवादक—माया गुप्त

●

भारत के विदेशी व्यापार की कुछ नई प्रवृत्तियाँ—(पृष्ठ ४३ का शेषांश)

उठाने का प्रयत्न किया जायगा। अगली पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा बचाने के लिए हमें प्रत्येक संभव उपाय से अनावश्यक वस्तुओं के आयात को रोकना तथा निर्यात को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतीय विदेशी व्यापार के संबंध में अंत में यह जानना उपयोगी होगा कि हमारे देश से कौन-सी मुख्य वस्तुओं का निर्यात तथा किनका आयात होता है, तथा किन देशों के साथ हमारा व्यापार अधिक है।

हरियाणा प्रदेश

देवव्रत शर्मा वशिष्ठ

हरियाणा के सम्बन्ध में एक आम कहावत प्रचलित है, जो इस प्रकार है :

"देसाँ में देश हरियाणा, जित दुग्ध दही का खाणा।"

उक्त कहावत जहाँ इस गौरवशाली प्रदेश के पौष्टिक भोजन की द्योतक है, वहाँ इसमें इस प्रदेश के आतिथ्य सत्कार की भी एक झलक दृष्टिगोचर होती है। सघन वनों से आच्छादित और खाद्य के क्षेत्र में आत्मनिर्भर यह प्रदेश देश के सर्वाधिक पिछड़े हुए प्रदेशों में से एक है। ब्रिटिश शासनकाल में यह सदैव राष्ट्रीय विचारधारा का प्रबल समर्थक और सहायक रहा, जिसके फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने सदैव इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा, और इसकी प्रगति पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप यह प्रदेश देश के अन्य उन्नतशील प्रदेशों की तुलना में सर्वाधिक पिछड़ा रह गया। किन्तु इसका एक विशेष लाभ यह हुआ कि इसकी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होने पाया, और वह आज भी अपने पूर्वरूप में विद्यमान है। मूल भारतीय संस्कृति का हरियाणा सदैव से ही पोषक रहा है।

हरियाणा की ग्रामीण स्त्रियाँ



इस प्रदेश का आतिथ्य सत्कार न केवल भारत अपितु विदेशों तक में प्रसिद्धि पा चुका है। आज भी आप हरियाणा के किसी भी गाँव में चले जाइए, आपको प्रत्येक ग्रामवासी के यहाँ कम से कम एक-एक दो-दो स्वस्थ एवं दुधारू गाएँ अवश्य बँधी हुई मिलेंगी। यहाँ के दैनिक भोजन में दुग्ध, दही, छाछ, शुद्ध घृत एवं मक्खन का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। यहाँ के पौष्टिक भोजन का ही यह प्रभाव है कि यहाँ के निवासी शरीर से अत्यन्त सुदृढ़ एवं स्वस्थ होने के साथ-साथ आत्मिक बल से भी बलवान हैं। कृत्रिमता तो यहाँ के निवासियों को लेशमात्र भी नहीं छू गई। यहाँ के निवासी अत्यन्त भोले-भाले, निष्कपट, सत्य एवं मिष्टभाषी, अत्यन्त नम्र एवं हृदय से उदार हैं।

इस प्रदेश के लोगों के शारीरिक बल की तुलना नहीं की जा सकती। एक समय में तीन-चार मन बोझ उठा लेना तो यहाँ के लोगों के लिए मामूली-सी बात है। परिश्रम करने में यहाँ की स्त्रियाँ भी पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं और वे भी पुरुषों से कन्धे से कन्धा मिला कर घर पर खाना बनाने से खेतों में बुआई तथा कटाई आदि के कामों में पूर्ण सहयोग देती हैं। ग्रामीण स्त्रियाँ प्रायः रात के तीसरे पहर उठ कर ही गृह कार्यों में लग जाती हैं, किन्तु इससे पूर्व वे गाँव के कुएँ से स्वयं अपने हाथों से पानी खींच कर लाना नहीं भूलतीं। जिस समय स्त्रियाँ अपने सिर पर ३ ४ मटके अथवा पानी से भरे अन्य बर्तन लाती हैं, वह दृश्य देखने योग्य होता है।

हरियाणा नाम की उत्पत्ति

इस प्रदेश का नाम हरियाणा क्यों और कैसे पड़ा, इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'इन्द्रप्रस्थ से द्वारिका जाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण के रथ के जाने का यही निर्दिष्ट मार्ग था।' यह भी प्रसिद्ध है कि पाण्डवों ने अपने शासन-काल में राजधानी से सम्बन्ध जोड़ने के लिए जिन नए दो मार्गों का निर्माण किया था, उनमें से पश्चिम को जाने का लगभग २५० कोस तक का मार्ग इसी हरियाणा प्रदेश के मार्ग से होकर जाता था। दिल्ली के निकट नजफ़गढ़ से प्रारम्भ होने वाली परमिट की सड़क जो आज जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है, इसका प्रमाण है।

हरियाणा के यशस्वी पत्रकार एवं सुदर्शन सम्पादक एवं पं० माधवप्रसाद जी मिश्र ने हरियाणा की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखा है : "हरियाणा वेद विदित कुरुक्षेत्र भूमि का सहोदर है और इस प्रान्त की भाषा से उस प्राकृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिससे वर्तमान हिन्दी का जन्म हुआ है। भिवानी स्थित हरियाणा शेखावाटी

ब्रह्मचर्याश्रम के संस्थापक एवं संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान विद्यामार्तण्ड स्वा० सीताराम जी शास्त्री ने हरियाणा की गौधन भूरि को पवित्रतम माना है।

यही नहीं हरियाणा के प्रसिद्ध वैदिक इतिहास रिसर्च स्कालर पं० प्रभुदयाल ने तो अपनी गवेषणा एवं खोजों के आधार पर हरियाणा को ही सृष्टि का उद्गम स्थल माना है। अस्तु, इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"यूरोप के भाषा विज्ञानी कहते हैं कि ईसा से पूर्व १० सहस्र वर्षों से अधिक समय बीत गया है जबकि पुरातत्वज्ञ स्वस्तिक चिन्ह के अनुयायी इसे साथ लिये सारे एशिया, यूरोप ा चीन आदि देशों में फैल गए थे। खोजों से पता चलता है कि समस्त जगत के देशों में स्वस्तिक खुदाई में से पाए गए हैं। यूरोप के पुरातत्वज्ञ कहते हैं कि कभी हम सारे आर्यन, एर्यन, इंडियन, इंडोयूरोपियनादि सब एक स्थान पर बसते थे, एक भाषा बोलते थे। परन्तु वे उस देश का पता अभी तक नहीं लगा सके? जो स्वष्टाम्, हरियाणा, भारतवर्ष ही है अन्य कोई नहीं!"

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने, जो शताब्दियों पूर्व भारत की सद्भावना यात्रा पर आया था, इस प्रदेश (हरियाणा) के आतिथ्य-सत्कार के सम्बन्ध में लिखा है कि "इस प्रदेश में मेरा आदर-सत्कार सर्वत्र दूध-दही और मक्खन से हुआ। जब कभी मैंने यहाँ पानी की माँग की तो यहाँ के निवासियों ने अत्यन्त सहज एवं मृदु स्वभाव से उत्तर दिया कि उसे आप केवल जंगल में ही पी सकते हो।" इस प्रकार इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि किसी समय यहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती थीं।

विक्रमी १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग के एक शिलालेख में ढ़िल्लिका (वर्तमान दिल्ली) नामक पुरी को तोमरवंश द्वारा निर्मित बताया गया है, उसी के एक भाग में हरियाणा को स्वर्गभिन्न कहा गया है! अर्थात हरियाणा प्रदेश की तुलना स्वर्ग से की गई है। इससे जहाँ हरियाणा के समृद्धशाली होने का आभास मिलता है, वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि उस समय इसकी सीमाएँ दिल्ली तक विस्तृत थीं।

हरियाणा को पंजाब के साथ क्यों मिलाया गया?

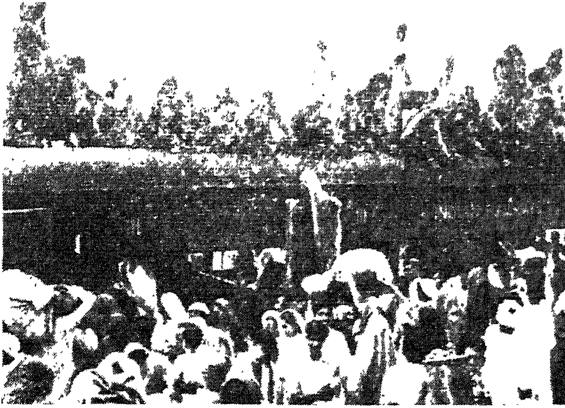
हरियाणा जो कि पहले एक स्वतन्त्र प्रदेश था और आरम्भ से ही और विशेषकर विप्लव के दिनों में तो यह राष्ट्रीय विचारधारा का कट्टर समर्थक बन गया था, जिसके कई प्रमाण मिलते हैं और इसी के दण्डस्वरूप अंग्रेज़ों ने इसे पंजाब के साथ मिला दिया।

मुस्लिम शासनकाल में यहाँ के कई प्रसिद्ध वंशों ने उदयपुर के महाराणाओं का साथ देकर अपनी राष्ट्रीय भक्ति का परिचय दिया और उनकी सेनाओं में विभिन्न प्रतिष्ठित पद प्राप्त किए। पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में यहाँ के केवल एक-दो वर्गों को छोड़ कर शेष सारे हरियाणा प्रदेश ने पेशवाओं का साथ दिया था। भारतीय स्वतन्त्रता हेतु सन् १८५७ में लड़ी गई प्रथम लड़ाई, जिसे अंग्रेज़ों ने गदर अथवा विप्लव का नाम दिया, में भी हरियाणा ने अपनी राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया। और यही एक विशेष कारण था कि अंग्रेज़ों ने इसका विलय पंजाब के साथ किया। अंग्रेज़ों ने केवल इतने से ही संतोष नहीं कर लिया



हरियाणा का प्रिय पशु : ऊँट

अपितु इसकी राष्ट्र भक्ति के दण्डस्वरूप और भी कड़ा दण्ड देने का संकल्प कर लिया और शीघ्र ही अपने इस विचार को मूर्त्तरूप भी दे दिया, फलतः झज्जर की नवाबी समाप्त करके उसके क्रमशः तीन भाग नाभा, जींद तथा पटियाला के साथ मिला दिए गए। क्योंकि सिखों ने उस समय अंग्रेज़ों का साथ दिया था और अपने ही देश के साथ राष्ट्र द्रोह किया था शेष सम्पूर्ण हरियाणा प्रान्त को पंजाब राज्य के साथ मिला दिया गया। हरियाणा से जो भी सीधे मार्ग (राजपथ) दिल्ली जाते थे उन सब को नष्ट कर दिया गया, ताकि इस प्रदेश का दिल्ली से कोई सम्पर्क न रह जाए। केवल मात्र कुछ विशेष भागों को नष्ट करने के हेतु ही एक अंग्रेज़ अफसर कर्नल रैनक को बारी-बारी भिन्न-भिन्न जिलों का जिलाधीश इसलिए नियुक्त किया गया कि वह प्रत्येक जिले में जाकर राजमार्गों तथा हरे-भरे सघन वनों को काट डाले। वरना यह तो इतिहास प्रसिद्ध है कि हरियाणा का प्रत्येक जंगल नन्दन वन था। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को यहाँ के हरे-भरे जंगल देखकर ईर्ष्या होती थी, अतः उन्होंने एक नई चाल चली और यहाँ के भोले-भाले ग्रामवासियों को उपदेश देना आरम्भ किया कि हरियाली से मच्छर पैदा होते हैं, और उनके नहीं काटने से कई प्रकार की बीमारियाँ होती हैं और दूसरी ओर चुपचाप प्रत्येक ग्राम में तथा सड़कों के किनारे लगे छायादार वृक्षों को काट डाला। बेचारे हरियाणा निवासी उस समय तक इतने शिक्षित नहीं थे कि उनकी चालों को समझ सकते और न ही उनकी आवाज़ का उस समय कोई महत्त्व था। अतः यहाँ की बहुमूल्य सम्पदा पूर्णतया नष्ट हो गई, जिसकी क्षतिपूर्ति आज तक नहीं हो सकी है। यही एक विशेष कारण है कि अब प्रायः हर तीसरे-चौथे वर्ष इस प्रदेश में अकाल पड़ते रहते हैं, और वर्षा कदापि समय पर नहीं होती। न केवल प्राचीन ऋषि, मुनियों



मेले की ओर जाते हुए

अपितु आज के वैज्ञानिकों का भी मत है कि जहाँ हरे-भरे वन होते हैं, वहाँ वर्षा समय पर और पर्याप्त मात्रा में होती है।

संस्कृति के क्षेत्र में हरियाणा देश के अन्य भागों की तुलना में सबसे अग्रगण्य रहा है। कुछ समय पूर्व तक तो यहाँ प्रत्येक ग्राम के साथ-साथ एक-एक संस्कृत पाठशाला होने के भी प्रमाण मिलते हैं। हरियाणा का भिवानी नगर स्थित श्री हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रम तो सर्वविदित ही है। इस प्रदेश में संस्कृत पाठशालाओं, उसके आचार्यों एवं ब्रह्मचारियों को आज भी अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता है। प्रत्येक ग्राम में एक गोशाला भी अवश्य ही होती थी। यहाँ सुन्दर स्वस्थ एवं दुधारू गायों के साथ लँगड़ी-लूली तथा दूध से सूखी हुई गायों को भी रखा जाता था। किन्तु आज स्थिति इसके विपरीत है, गो-पालन पर भाषण कर्त्ता तो अधिक हैं, किन्तु उसको मूर्तरूप देने वाले नहीं के बराबर हैं। इस प्रदेश में संस्कृति की बढ़ती हुई लोकप्रियता देख कर और उसे अंग्रेज़ों के विकास में बाधक समझ कर अंग्रेज़ों ने इस कहावत को मूर्तरूप दिया कि घर तो जलेगा ही चूहे भी क्या सुख पाएँगे? और इस प्रकार सन् १८७४ में हिन्दी के स्थान पर उर्दू को राजभाषा घोषित कर दिया गया। उर्दू को राजभाषा बनाने का सर्वाधिक लाभ यह हुआ कि उर्दू का अवलम्बन पाकर इस प्रदेश में अंग्रेज़ी का भी समुचित विकास हुआ।

हरियाणा कृषि प्रधान प्रदेश है और यहाँ के निवासियों की जीविका का मुख्य साधन खेती-बाड़ी है। यहाँ की मुख्य उपज, क्रमशः गेहूँ, चना-बाजरा, गन्ना तथा जवार आदि की है। भूमि यहाँ की काफी उपजाऊ है। केवल दो विशेष जातियों—वैश्य तथा ब्राह्मणों को छोड़कर शेष प्रायः सभी जातियाँ आज भी खेती-बाड़ी पर ही निर्भर करती हैं। हरियाणा के पशु अपनी नस्ल के लिए विश्व विख्यात हैं। हिसार का 'कैटल फार्म' एशिया का सबसे बड़ा पशु पालन केन्द्र है। यहाँ के यातायात के मुख्य साधनों में बैलगाड़ियों, ठेले, रथ, बहल तथा ऊँटों का ही सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। भिवानी का अनाथालय तथा दो कपड़ा मिलें इस प्रदेश के सबसे बड़े औद्योगिक केन्द्र हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से पंजाब सरकार इस प्रदेश के विकास पर समुचित ध्यान देने लगी है, जिससे आशा है हरियाणा अपने अतीत के शानदार गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

●

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक—(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

चाहिए कि सन् १९०४ के वर्ष से ही देश की राजनीति में तिलक युग का आरम्भ हुआ। उसके बाद तो लोकमान्य का प्रभाव देश भर में बढ़ता ही चला गया और यद्यपि काँग्रेस पर सन् १९२० तक नर्मदल वालों का अधिकार रहा, तथापि देश को और काँग्रेस को सम्पूर्ण राजनीतिक प्रेरणा और संबशक्ति लोकमान्य से ही प्राप्त होती रही।

सन् १९०७ में सूरत काँग्रेस में खुला विभाजन हो गया उसके अगले ही वर्ष लोकमान्य पर फिर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और उन्हें छः वर्ष का कारावास हुआ। इस बार उन्हें माण्डले भेज दिया गया। अब सम्पूर्ण देश का समर्थन लोकमान्य को प्राप्त हो गया। लोकमान्य की अनुपस्थिति में उनके अनुयायियों ने नागपुर में एकत्र होकर एक मुकाबले की काँग्रेस खड़ी करने का यत्न किया। परन्तु लोकमान्य ने जेल से आकर इस का समर्थन नहीं किया। वह काँग्रेस को आगे बढ़ाना चाहते थे, उसमें फूट डालना उनका लक्ष्य नहीं था। परिणाम यह हुआ कि लखनऊ में न केवल काँग्रेस के सब दल इकट्ठे हो गए, बल्कि हिन्दू-मुसलमानों में एक समझौता भी हुआ, जिसे लखनऊ के समझौते के नाम से याद किया जाता है। इस समझौते को लोकमान्य का समर्थन और आशीर्वाद प्राप्त था। उन्हें आशा थी कि इससे अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध वह सब शक्तियों को एकत्रित कर सकेंगे।

महात्मा गान्धी जब काँग्रेस के कर्णधार बने तो लोकमान्य जीवित थे। महात्मा गान्धी की प्रगतिशील राजनीति को लोकमान्य का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। केवल साधनों के सम्बन्ध में लोकमान्य राजनीति को 'अहिंसा नीति' के बन्धन में सर्वथा बाँध देने के विरुद्ध थे। उनका मत यह था कि जैसा समय, अवस्थाएँ, और परिस्थितियाँ हों उन्हीं के अनुसार साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए। लोकमान्य के अन्य अनुयायी भी उस समय अहिंसा नीति को संदेह की दृष्टि से देखते थे। परन्तु आने वाली घटनाओं ने प्रायः लोकमान्य के सभी समर्थकों को महात्मा गान्धी का समर्थक बना दिया था। दुर्भाग्य से लोकमान्य सन् १९२१ और उसके बाद के राष्ट्रीय आन्दोलनों को देखने के लिए जीवित न रह सके। अन्यथा राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे अवश्य ही महान प्रेरणा मिलती। देश की परिस्थितियों, देश की जनता की शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप ही साधन भी हो सकते हैं। राष्ट्र का आन्दोलन जो सम्पूर्ण जनशक्ति के सक्रिय सहयोग और समर्थन पर आश्रित था व्यावहारिक रूप से सामूहिक अहिंसा नीति पर कायम रहते हुए ही चलाया जा सकता था। परन्तु यह बात तो निर्विवाद है कि राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतन्त्रता संग्राम की अन्तिम सफलता तक निरन्तर लोकमान्य के

(शेष पृष्ठ ६४ पर)

दिल्ली और उसकी वेदनाएँ

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

(गतांक का शेषांश)

औरंगज़ेब की मृत्यु के उपरान्त ही मुगल साम्राज्य का टूटना आरम्भ हो गया। इसके बाद जो अधिकार की लड़ाइयाँ हुई उनमें दिल्ली को बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े, कठिन पीड़ाओं का मुकाबला करना पड़ा। ज़फ़र के शब्दों में बार-बार विधाता ने उसे……

"झटके पर झटके दिए, सदमे पर सदमे लाखों"

औरंगज़ेब के पुत्र बहादुरशाह प्रथम ने बहुत हद तक अपने पुरखों की परम्परा निभाई। राजपूत, सिख, मराठे, जाट, सबसे लड़े और कामयाबी से लड़े पर जीत कर भी सबके साथ मित्रता का व्यवहार किया। उदयपुर, जोधपुर दोनों राज्यों को स्वतन्त्रता दी, संभा जी के पुत्र साहुजी को बन्दीगृह से मुक्त किया, फिर सिखों से भिड़े, पर अधिक सफलता न हासिल कर पाए थे कि प्रायः ७० साल की उम्र में लड़ाई के पड़ाव में ही इस संसार से वह चल बसे और फिर उसके बाद क्या हुआ उसका वर्णन एक अंग्रेज़ इतिहासज्ञ के शब्दों में सुनिए,

"बादशाह की छावनी में कुहराम मच गया। हर तरफ से ज़ोरों की आवाज़ आने लगी। नैश अन्धकार में ही अमीर-उमरा तथा उच्च-पदाधिकारी—बादशाह का खीमा छोड़ शाहज़ादों का साथ देने दौड़े। वे जो किसी दल में शामिल न थे, समझ न पाए कि उनकी किस्मत में क्या लिखा है आतंक से भरे अपने परिवारों के साथ शहर की ओर चल पड़े। दुष्ट और हत्यारे सामान लूटने में संलग्न हो गए। छोटी-छोटी दूकानों में लोग शरण लेते हुए नज़र आए। मित्र और सम्बन्धी पुकार सुनते पर कुछ न कर पाते थे। शाहज़ादों की फौजों में घोर अशान्ति फूट पड़ी, तथा श्रेष्ठ जन जीवन रक्षा से निराश-से हो उठे। फौज के सिपाही ज़ोर-ज़ोर से अपने वेतन माँगने तथा साधारण नौकरों के साथ होकर अपशब्दों का व्यवहार करने लगे—गालियाँ देने लगे—और जो कुछ भी पाते उसे हथियाने लगे। पिता पुत्रों की रक्षा करने में असमर्थ थे, पुत्र पिता की। सभी आत्मरक्षा में व्यस्त थे और इस दृश्य को देख कर ऐसा प्रतीत होता था मानो क़यामत के दिन आ गए हैं।"

प्रायः सारे देश में आगामी एक सदी तक यही हाल रहा, कम या अधिक, और दिल्ली बराबर अशान्ति की चक्की में पिसती रही। बहादुरशाह के बाद से मुहम्मदशाह तक जितने भी बादशाह हुए, निकम्मे तथा ऐशोआराम में दिन बिताने वाले तथा राज परिवार के सभी जन राजासन के लिए एक दूसरे से श्वान-रीति से लड़ते रहे। मुगल साम्राज्य की सीमा दिन-प्रतिदिन क्षीण होती गई तथा मुगल वंश के आधिपत्य का सूर्य अस्तगामी हो चला। उस वंश का, जिसने अकबर तथा शाहजहाँ जैसे पुरुष रत्न पैदा किए, विनाश अब निकटप्राय था।

भारत के राजनीतिक व्योममण्डल में उन दिनों दो नक्षत्र जाज्वल्यमान थे—अफगान उत्तर में, मराठे दक्षिण में। अफगानों के नेता अहमदशाह अब्दाली में वीरता थी, लड़ने की दक्षता एवं साधन भी, पर राजनीतिक एकता और संगठन की कमी थी। मराठों में बुद्धि और युद्ध कौशल दोनों ही पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे पर उनके पास पैसों की कमी से समुचित साधन न थे। वर्षों की लड़ाई के कारण उनकी आर्थिक दशा क्रमशः क्षीण हो चली थी और किसी भी युद्ध में अधिक दिनों तक लगा रहना उनके लिए असम्भव था। फलतः पानीपत के युद्धक्षेत्र में जब इन दोनों, मराठों तथा अफगानों, की मुठभेड़ हुई तथा मराठे हारे तो उस हार का नतीजा स्थायी रूप धारण न कर सका। कुछ वर्षों में ही अफगानों को अपनी बुद्धि की कमी के कारण भारत छोड़ना पड़ा तथा मराठे पुनः अपनी आर्थिक दशा सुधार एवं युद्ध के साधनों से सुसज्जित हो दिल्ली की ओर लौट आए। पर उनमें सबसे बड़ी कमी पारस्परिक एकता की थी, जिस पर वे विजय न पा सके। माधव राव सिंधिया, तुकाजी होल्कर आदि पेशवा के सेनानी यद्यपि युद्धकौशल में पूरे दक्ष थे, मध्य भारत, मालवा आदि तक पर उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, फिर भी पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष के कारण वे तरक्की न कर पाए—मराठा साम्राज्य की नींव न डाल सके। उत्तर में सिख जिन्हें बहादुरशाह प्रथम तथा फ़र्रुखसियर ने पहाड़ों में मार भगाया था—पुनः बाहर निकल आए और पंजाब में दल बाँध कर विचरने तथा स्थानीय ज़मींदारों पर जो कि अधिकतर मुसलमान थे आघात पर आघात देने लगे और अन्त में बारह संगठित दलों का निर्माण किया। अवध में नवाब शुजाउद्दौला की तूती बोल रही थी, आगे चलकर वह मुगल साम्राज्य के वज़ीर भी मुकर्रर हुए पर उसे बचा न पाए। दिल्ली के पूर्व, गंगा नदी तथा कुमायूँ के पहाड़ों के बीच रोहिलखंड में जो कि किसी समय अवध का ही एक हिस्सा था, पर जिसे नादिरशाह के भगाये हुए अफगानों को रुहेला नामक एक जाति ने सन् १७४० में अपने अधिकार में कर लिया था, अफगान अशान्ति एवं उपद्रव के कारण हो रहे थे। गरज़ यह कि दिल्ली के चारों ओर विभिन्न शक्तियों ने अपना आधिपत्य जमा रखा था। प्रायः १२० मील लम्बी तथा १०० मील चौड़ी भूमि में वह उसी प्रकार स्थित थी जैसी कि दंतपंक्तियों के बीच जिह्वा—"जिमि दशनन महँ जीभ विचारी!" यह क्षेत्र अब भी बादशाह के अधीन था, पर नाम मात्र को ही। कई सरदारों के बीच जिनकी

ज़िम्मेदारी, लड़ाई के समय लड़ने तथा शाही फौज के लिए सेना प्रस्तुत करने की थी, बँटी हुई थी और वे किसी कदर कम दुखदाई न थे। रैयतों में जाट ज़्यादा थे और वे सूरजमल नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में काफी संगठित हो गए तथा अन्त में सन् १७५४ ई० में दिल्ली तक आ पहुँचे। उसे इनके हाथों भी लूट-मार सहनी पड़ी। सूरजमल ने ही वर्तमान भरतपुर राज्य की नींव डाली। इस क्षेत्र के पश्चिमी भाग में मुसलमान मियों तथा हिन्दू गुर्जर उपजातियों की आबादी थी। ये जिप्सियों की तरह घुमक्कड़ थे तथा जब कभी शासन का हाथ कमज़ोर पाते लूट-पाट में लग जाते थे। उत्तर-पश्चिम के हिस्सों में सिखों के लुटेरे दल घूमा करते तथा अशान्ति फैला रहे थे। आगे चलकर इन्हीं दलों ने पटियाला आदि राज्यों की स्थापना की। केन्द्रीय सरकार के कमज़ोर पड़ जाने का एक ज़बर्दस्त नतीजा यह हुआ कि चारों ओर भय का साम्राज्य हो गया तथा दिल्ली के इर्द-गिर्द दूरों तक लुटेरों ने ऐसी परिस्थिति कर डाली कि दिन-दहाड़े डाके पड़ने लगे, किसी की जान-माल सुरक्षित न रही। लोगों ने लूट के भय से खेती करनी छोड़ दी। अच्छी-अच्छी ज़मीनें गैरआबाद रहने लगीं तथा सड़कों के आस-पास से हटकर लोगों ने अपने घर दूर-दूर पर बसाए ताकि लुटेरों की आँखों से बचे रहें। गाँवों के चारों ओर मिट्टी की ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर लीं जो आज भी दिल्ली के चतुर्दिक मीलों तक लक्षित हैं, या प्राचीन टूटे-फूटे किलों और सरायों के अन्दर जाकर वे बस गए। बिना अस्त्र-शस्त्र से रास्तों से चलना अपनी जान को घोर संकट में डालना था। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" सोलहों आने चरितार्थ था। वर्षा की कमी, सतत लूटमार, नहर का अभाव आदि कारणों से कृषि-सम्बन्धी कार्यों तथा भूमि की उपज में उत्तरोत्तर कमी होती गई, दिल्ली शहर ही नहीं बल्कि आस-पास मीलों तक फैली हुई भूमि उजाड़-सी हो गई। एक लम्बे अर्से तक यही स्थिति रही और यदि दिल्ली की अड़ोस-पड़ोस की ज़मीनों को आप ध्यानपूर्वक देखेंगे तो इस स्थिति के अवशेष आज भी जहाँ-तहाँ देखने को मिलेंगे।

बादशाह के शासनाधीन केवल दिल्ली तथा आस-पास की जगहें रह गई थीं जिनकी आय से उनके तथा राजपरिवारों के इतरजनों के काम किसी भाँति चलते रहे। उनके समक्ष जो सबसे बड़े महत्त्व का प्रश्न था वह था पार्श्ववर्ती राजशक्तियों के सम्बन्ध का। ये शक्तियाँ काफी शक्तिशाली थीं, पर इनमें भी एक जबर्दस्त कमी थी और वह यह कि उनका शासन सुगठित न था। किन्तु ये सभी सिख, राजपूत, जाट, मराठे तथा रूहेले—काफी वीर थे तथा युद्ध क्षेत्र में अपने अद्भुत बल का परिचय देते थे। साथ ही ये सभी, धन और शक्ति के प्रबल लोभी थे तथा सबों का उद्देश्य एक ही था—दिल्ली को अपने प्रभाव तथा नियन्त्रण में लाना। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए उनके बीच पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में यदि बादशाह चाहते तो एक को दूसरे से लड़ा कर अपनी सत्ता कायम ही नहीं रख सकते बल्कि बढ़ा भी सकते थे, पर तत्कालीन बादशाहों में न तो इस उद्देश्य सिद्धि की योग्यता ही थी न उनके पास योग्य व्यक्ति ही थे, फलतः इस काम को वे पूरा न कर पाए।

पर सर्वसाधारण में अब भी बादशाह के नाम का काफी प्रभाव था। उनके उपर वह जादू का-सा असर डालता था, यही कारण था कि माधव राव सिन्धिया तथा निज़ाम जैसे लोग भी अपने कामों पर बादशाह की स्वीकृति की मुहर लगवाते रहे। उदाहरणार्थ, सन् १८०३ ई० में जब निज़ाम गद्दी पर बैठे तो उन्होंने बादशाह की स्वीकृति की याचना की। मेजर ब्राउन ने तभी तो लिखा था, "मैं शाह आलम के नाम को उतना ही महत्त्व का मानता हूँ जितना कि पार्लियामेंट का कोई कानून।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिस्थितियों में दिल्ली को बारम्बार लूट-पाट एवं रक्त-प्रवाह के दावानल में दग्ध होना पड़ा। शक्तिहीन बादशाह, चतुर्दिक शक्तिशाली व्यक्तियों का दिल्ली पर अधिकार जमाने की चेष्टा, नादिरशाह जैसे बाहरी आक्रमणकारियों की चढ़ाई—संक्षेप में, तत्कालीन दिल्ली का यही इतिवृत्त है।

बहादुरशाह प्रथम के युद्ध क्षेत्र में मरने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके पौत्र फर्रुखसियर की मृत्यु १७१६ में हुई और दिल्ली के तख्त पर मुहम्मद शाह रँगीला बैठा। वह पुरुषार्थहीन व्यक्ति था और सारा वक्त ऐशोआराम में बिताया करता था। इसके शासन-काल में ही प्रथम मराठों ने दिल्ली में प्रवेश पाया जबकि तालकटोरा में मुग़ल सेना के साथ उसकी जमकर लड़ाई हुई। बादशाह की ओर से निज़ाम जो उसके प्रधान मन्त्री थे और उसका सच्चे दिल से भला चाहते थे, बड़ी चेष्टाएँ करके भी कुल ३४ हज़ार ही सिपाही जुटा पाए। बाजीराव की जीत हुई। विवश होकर निज़ाम को उनके संग संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार नर्मदा तथा चम्बल के बीच का सारा इलाका मालवा प्रान्त के साथ-साथ, मराठों को देना पड़ा।

बादशाह के सलाहकारों में निज़ाम ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो उसका हित ही नहीं चाहते थे बल्कि इस योग्य थे कि इस टूटते हुए साम्राज्य के स्तम्भ बन सकें, पर धीरे-धीरे उनका ही दिल स्वयं टूटने लगा कारण बादशाह का निकम्मापन तथा दरबार में शोहदों का बोलबाला था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बादशाह स्वयं विलासी था, राज्य-कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था, अपनी एक प्रेमिका के हाथों का गुलाम था। वह अँगूठी जिस पर राज्य की मुहर अंकित थी, उसे दे रखी थी और वह जिस तरह भी चाहती उसका दुरुपयोग करती थी। वृद्ध निज़ाम आसफजाह के प्रति साधारण शिष्टाचार तक न दिखाती थी। जब कभी वे दरबार में आते उसके इशारों पर दरबार के लौंडे जिनसे वह भरा था और जो बादशाह के दिन-रात के साथी हो रहे थे, कानाफूसी करने लगते, बादशाह से कहते, "हजूर! दक्कन के बन्दर किस तरह नाचते हैं, देखें।"

क्षुब्ध और अपमानित आसफजाह दिल्ली त्याग कर दक्कन चले गए और इधर दिल्ली के ऊपर मराठों से भी कहीं भयंकर आपदा आ पड़ी।

नादिरशाह जिसने फारस का तख्त छीन गज़नी, काबुल और कान्धार पर भी आधिपत्य जमाया था, सन् १७३२ ई० में सिन्धु पार कर हिन्दुस्तान में आ धमका। खबर दिल्ली पहुँची। बादशाह के सलाहकारों के बीच किस तरह उसका सामना करें, इस सम्बन्ध में

मतैक्य न हो सका। निज़ाम, शाही फौज के सिपहसालार "खाँ दौराँ" तथा अवध के राज्य प्रतिनिधि सादतअली आपस में लड़ते रहे, बादशाह में यह ताकत नहीं कि वह उनके पारस्परिक कलह पर नियन्त्रण कर सकें, इधर फारस की फौज दिल्ली की ओर अग्रसर होती गई। पानीपत के आस-पास बादशाह की सेना जिसे सादतअली तथा "खाँ दौराँ" ने सम्मिलित चेष्टा कर अति शीघ्रता में एकत्र किया था, के साथ मुठभेड़ हुई। वह बड़ी बहादुरी से लड़ी, जिसकी नादिरशाह कभी उम्मीद भी न करता था, यहाँ तक कि नादिरशाह फारस लौटने तक को तैयार हो गया बशर्ते कि उसे युद्ध-व्यय की क्षतिपूर्ति के रूप में काफी रुपये मिल जाएँ, किन्तु ठीक ऐसे ही समय में जबकि नादिरशाह वापिस होने के सोच-विचार में पड़ा हुआ था, बादशाह एक प्रबल मूर्खता का काम कर बैठा, पालकी पर चढ़ा हुआ स्वयं नादिरशाह से मिलने को उसकी छावनी में आ पहुँचा। नादिरशाह के हृदय में पुनः साहस जाग उठा। उसने बादशाह का खूब स्वागत किया, पर साथ ही घृणा-भरे शब्दों में बोला—"मुहम्मदशाह! तुमने दक्षिण में काफ़िर हिन्दुओं को कर देकर इस्लाम की इज़्ज़त धूल में मिला दी और जब मुझ जैसा आक्रमणकारी तुम से लड़ने आया तो बजाय इसके कि कसकर लड़ते हार मान ली—पूरे कायर हो तुम!" मुहम्मदशाह इस अपमान का घूँट ज्यों-का-त्यों पी गया, जवाब देने का साहस न हुआ। नादिर को रुपये दिए, दरबार की सबसे निपुण, सुन्दरी गायिका—नूरबाई की भेंट चढ़ाई, इस आशा में कि वह इन्हें लेकर कर्नाल से ही फारस लौट जावेगा, पर नादिरशाह प्रबल धूर्त था और फिर बादशाह की कमजोरियों से पूरी तरह वाकिफ़ भी हो चुका था, धीमे शब्दों में बोला—जहाँपनाह! हिन्दुस्तान आकर आपके घर न जाऊँ, यह शिष्टता के विरुद्ध होगा, मैं आपके साथ दिल्ली चलूँगा।

मुहम्मदशाह के मुँह पर हवाइयाँ उड़ गईं पर विवश था, नादिरशाह के प्रस्ताव को कैसे अस्वीकार करे? अनिच्छा होते हुए भी उसे दिल्ली लाना पड़ा। नादिरशाह ने किले में डेरा डाला तथा सुरक्षा का सारा प्रबन्ध अपने सिपाहियों के हाथ दे दिया। दीवाने-खास में जहाँ कि अब भी शाहजहाँ की ये पंक्तियाँ अंकित थी, नादिरशाह ने अड्डा जमाया—

स्वर्ग है यदि भूमि के तल पर कहीं,
तो यहीं है, तो यहीं है, तो यहीं। (ऋ)

एक दिन सहसा दिल्ली के बाज़ारों में यह अफवाह उड़ी कि नादिरशाह बादशाह के हुक्म से मार डाला गया। लोग इस ख़बर से इतने उत्साहित हुए कि नादिरशाह के कुछ सिपाहियों को जो बाजार की दुकानों पर आटा-दाल खरीद रहे थे, मार डाला। दो चार ही होंगे, पर आधी रात के समय नादिरशाह के कुछ सिपाहियों ने जाकर उसे इत्तिला दी कि फ़ौज के करीब तीन हज़ार सैनिकों की दिल्ली वालों ने हत्या कर दी। नादिरशाह यह खबर सुनते ही क्रोध से बावला हो उठा, आँखें लाल हो गयीं और उसकी रक्त-पिपासा ने भयंकर रूप धारण कर लिया। आज्ञा दी—दिल्ली के नागरिक तलवार की धार उतार दिए जायें। फिर क्या था, उसके सैनिक दिल्ली वालों पर बाज की तरह टूट पड़े। आधी रात से आरम्भ कर पाँच बजे सुबह तक जो कोई भी मिला—स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी—क़त्ल कर दिया गया। घर-घर से खून की धारा बह चली, चाँदनीचौक, दरीबाकलाँ, जामा-मस्जिद का अड़ोस-पड़ोस, सभी आग में जल रहे थे। उससे निकला हुआ धुआँ कोसों में फैल रहा था। ९ घण्टों तक हत्याकांड चलता रहा तथा झरोखे पर बैठा हुआ नादिरशाह उसे देखता रहा।

सुबह होते ही मुहम्मदशाह डरा हुआ उसके पास आया और रोते हुए, नागरिकों की ओर से क्षमा याचना की। नादिरशाह की रक्त पिपासा पूरी हो चुकी थी, उसने हत्या बन्द करने का हुक्म दिया। अपने सिपाहियों पर उसका ऐसा प्रभाव था कि क्षणों में ही वह बन्द हो गई। कहते हैं, दिल्ली के पूरे एक लाख नागरिक इस हत्याकांड के शिकार हुए, एक अंग्रेज़ इतिहासकार के शब्दों में—

बहुत दिनों तक सड़कों पर शव पड़े रहे, जैसे कि किसी पुष्प-वाटिका की बीथियों पर सूखी पत्तियाँ तथा फूल बिछे होते हैं। नगर भस्मीभूत हो चुका था ऐसा लगता मानों आग से जला हुआ कोई क्षेत्र हो!

हत्या समाप्त हुई, पर दिल्ली के लोग अब भी चैन न पा सके। प्रत्येक धनी-मानी व्यक्ति से रुपए, जवाहिरात, हाथी-घोड़े जो कुछ भी मिल सके, वसूल किए गए, वह भी बड़ी बेरहमी के साथ। बहुतों ने अपमान और यातना से बचने को आत्म-हत्या की शरण ली। "शहर से नींद और आराम गायब हो गए। हर घर से, हर परिवार से, यंत्रणा-भरे शब्द, दर्द-भरी कराह, सुन पड़ने लगी।"

बादशाह से नादिरशाह ने लाखों रुपए तथा प्रायः साढ़े तीन सौ बरसों के संगृहीत शाही खजाने के जवाहिरात लिए और इनसे भी बढ़ कर तख्त-ताऊस। फिर शाहज़ादी से अपने लड़के का विवाह किया और हिन्दुस्तान से चलता बना। किले को उजाड़-सा कर गया।

१७४७ में नादिरशाह को उसके ही कुछ आदमियों ने, जबकि वह अपने खेमे में सो रहा था, मार डाला। फिर तो उसके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए। दक्षिणी हिस्सा अहमदशाह दुर्रानी नामक उसके एक अफगान सामन्त के अधीन आया। उसने भी नादिर की तरह भारत पर आक्रमण किया और यद्यपि पहली बार मुगल सेना के द्वारा परास्त हुआ, पर बाकी आक्रमणों में सफल रहा। दिल्ली को उसने एक बार नहीं कई बार लूटा और दिल्ली को नादिरशाह के आक्रमण के समय जिन विपत्तियों का सामना करना पड़ा था, उन्हें पुनः बारम्बार भुगतना पड़ा। बाहरी चढ़ाई और घरेलू कलह ने वर्षों तक उसे चैन से न रहने दिया। अहमदशाह दुर्रानी के बाद मराठे आए और नगर को बार-बार लूटते रहे। ६ महीनों तक दिल्ली गृह-कलह का शिकार बनी रही जबकि शायद ही कोई ऐसा दिन गया हो जब दिल्ली की सड़कों पर लड़ाइयाँ न हुई हों। सन् १७६० में आलमगीर

(ऋ) अगर फिरदौस बर रूए ज़मीं अस्त,
हमीअस्तो हमीअस्तो हमीअस्त।

द्वितीय की हत्या हुई और सारे शहर में अशान्ति छा गई। शाहआलम जो कि इलाहाबाद में निर्वासित थे—ने आकर शासन की बागडोर सँभाली पर मराठों को परास्त न कर सके। अन्त में १७८८ में मराठे शाही महल में आ घुसे और अपना अड्डा जमाया। बादशाह सिन्धिया के हाथों में कठपुतली बने रहे। फिर अंग्रेज़ आए उन्होंने १४ मार्च १८०३ को मराठों को हराया और बादशाह शाहआलम के संरक्षक बन बैठे। अगले वर्ष यानी १८०४ में मराठों ने होलकर के नेतृत्व में पुनः दिल्ली पर चढ़ाई की, पर लार्ड लेक के द्वारा पराजित हुए, सफल न हो पाए। दिल्ली की रूपरेखा में तब से एक महान परिवर्तन हुआ तथा एक नए इतिहास के पृष्ठ खुले। किले के भीतर बादशाह का शासन बना रहा और बाहर शहर तथा दिल्ली सूबे में—अंग्रेजों का। ५३ वर्षों तक यही सिलसिला चला, फिर आए ५७ के गदर के दिन। बादशाह बहादुरशाह द्वितीय बलवाइयों से जा मिले पर विधाता वाम थे, बलवाई अंग्रेजी ताकत के खिलाफ टिक न सके। तमाम मुल्क में उनकी हार हुई तथा दिल्ली को पुनः एक बार खून-खराबी से गुज़रना पड़ा। अंग्रेज़ों ने शहर को लूटा ही नहीं, बादशाह को कैद कर उनके शाहज़ादों को कत्ल किया और उनके कटे हुए सर शहर के एक प्रमुख भाग में टाँग दिए। मुगल जाति के दिल्ली में रहने वाले लोग अधिकांशतः मार डाले गये या भाग गये, यही कारण है कि आज दिल्ली में मुगलानी खून वाले ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते।

गदर के बाद बलवाई दिल्ली से भाग निकले, फिर भी अंग्रेज़ों ने न तो लूट-पाट ही बन्द की न कत्लेआम ही। इसका वर्णन स्वयं एक अंग्रेज़ महिला श्रीमती सान्डर्स—जो दिल्ली के तत्कालीन कमिश्नर की धर्मपत्नी थीं—की ज़बानी सुनिए, एक खत में इन्होंने लिखा था—"सिपाही (अंग्रेज़ी सेना के) जिस किसी को भी पाते हैं मार डालते हैं······शहर का प्रत्येक घर जन विहीन हो रहा है······दिल्ली शहर, जिसकी परिधि ७ मीलों की है, के नगर निवासी अन्न और आश्रय के बिना कालकवलित होते जा रहे हैं।·········गड़े हुए धन की आशा में दिल्ली के हर मकान को जो कि धनी मानी व्यक्तियों के निवास-स्थल थे, वे खोद रहे हैं।"

स्वयं बादशाह (बहादुरशाह) के सम्बन्ध में लारेन्स ने सान्डर्स को लिखा था—

"खेद है कि वह बूढ़ा शैतान जैसे ही नज़र आया गोली का शिकार न बना डाला गया—मैं होता तो उसे कैद में न लेता अर्थात गोली का शिकार ही बनाता।"

हफ्तों तक शहर में आतंक का साम्राज्य छाया रहा। लोग घर छोड़-छोड़ कर भाग गये, भोजन और शरणहीन होकर हज़ारों ने अपने प्राण दे डाले। सैनिक पागल कुत्तों की तरह नगर में विचरते तथा जिसे जहाँ पाते मार डालते थे। उनकी रक्त पिपासा और धन लिप्सा दोनों ही जागृत थीं। गड़े हुए धन के लोभ में सैकड़ों, हजारों, मकानों की सहन उन्होंने खोद डाली, सैकड़ों विशिष्ट नागरिक मौत के घाट उतारे गये। लाहौर से सर जौन लारेन्स ने अपने एक खत में पूछा—

"व्यक्तिगत लूटपाट की क्या अब भी इजाज़त है? और क्या अफ़सरान अब भी नेटियों को गोली का शिकार बनाते फिरते हैं?" हिन्दुस्तानियों के साथ किस तरह बदला लिया गया इसका पता सिर्फ इससे ज़ाहिर होगा कि चन्द दिनों के भीतर ही स्पेशल कमीशन ने, जिसका कम्पनी की सरकार ने निर्माण किया था, ३६२ आदमियों को सूली पर चढ़ाया तथा २०२५ को जेल की सज़ा दी।

दिल्ली के मशहूर मकानों—किले से लेकर जामा और फतहपुरी मस्जिदों तक—में फौज के सिपाहियों का डेरा था। इसके कई हिस्सों को उन्होंने तोड़-फोड़ कर भूमिसात करने के यत्न किए पर पूरी तरह सफल न हो पाये। लाल किला फौज का सबसे बड़ा अड्डा था। तय पाया कि इसके आस-पास के सारे मकान सुरक्षार्थ तोड़ डाले जाएँ (कई सुन्दर मकान तथा मस्जिदें तोड़ी भी गईं) बल्कि सारे दरीबा-कलाँ को भूमिसात कर जमीन खाली कर दी जाय, पर भाग्यवश यह निर्णय काम में न लाया जा सका। दिल्ली को किन्तु एक कड़ी अग्नि-परीक्षा से होकर गुजरना पड़ा।

बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र गोली के शिकार न हुए, परन्तु उन पर सर जान लारेन्स के आदेश से राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। अदालत बैठी, २७ जनवरी से लेकर ९ मार्च १८५८ तक मुकदमों की सुनवाई हुई, सैकड़ों गवाह गुजरे जिन्होंने अंग्रेज़ों के लगाये गये आरोपों का समर्थन किया और अन्त में उन्हें देश निर्वासन की सज़ा मिली। बहुतेरे ऐसे लोग जिन्होंने उनके द्वारा परवरिश पाई थी, भय एवं लोभ से उनके विरुद्ध साक्षी जा बने। यह एक ऐसी घूँट थी जिसे 'ज़फ़र' आसानी से गले के नीचे न उतार सके। अपनी अन्तर्वेदना का उन्होंने कई स्थलों पर परिचय दिया है, जैसे कि—

(१) छोड़ कर घाट हमें सब हुए चलते-फिरते,
अपनी महरूमी पै हम हाथ हैं मलते फिरते।

(२) आशना जितने हैं सब अपनी गरज़ के आशना,
खूब देखा हमने अपना आशना कोई नहीं।

(३) क्यों वादी-ए-वहशत में न खटका रहे मुझको,
हर झाड़ है दुश्मन मेरा हर ख़ार मुखालिफ़।

(४) हैं लोग दगाबाज़ हुए गिर्द हमारे,
महफ़ूज़ खुदा रखे "ज़फ़र" इनकी दगा से।

(५) हाय, कहिए किसे यहाँ अपना,
कौन अपना है और कहाँ अपना।

(६) दोस्त अपने हुए "ज़फ़र" दुश्मन,
इस मुसीबत को कौन पहचाने।

प्रायः एक साल तक दिल्ली में बन्दी रहे वह, एक ऐसे मकान में जो गन्दगी से भरा हुआ काल-कोठरी के समान था। यहीं वह तथा उनकी पत्नी ज़ीनत महल निवास करती रहीं। अंग्रेज नर-नारियाँ बहुधा उन्हें देखने जातीं तथा उन्हें चिढ़ाया करती थीं। लार्ड राबर्ट्स ने, जो तब एक छोटे से फौजी अफसर थे, लिखा है—"कई और लोगों के साथ मैं भी बहादुरशाह को देखने गया। वृद्ध सम्राट दुर्गति-भावापन्न नज़र आए और चूँकि देखने से ही ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी भी

यूरोपियन का उनकी ओर ग़ौर से देखना उन्हें अत्यन्त अप्रिय था, मैं शीघ्र ही वहाँ से लौट आया।" १८५८ के अक्तूबर महीने में बादशाह, बेगम ज़ीनत महल, मिर्ज़ा जीवन बख्त, उनकी पत्नी तथा राज परिवार के अन्यान्य स्त्री-पुरुष बैलगाड़ियों से कलकत्ता के लिए फौजी अफ़सर तथा सिपाहियों के पहरे में रवाना हुए। कलकत्ते से रंगून गए और वहीं उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनके साथ ही साथ दिल के उनके अनेकों अरमान भी रंगून में ही दफन हुए। उनकी यह तमन्ना—

"हम जो काबे जायेंगे तो वाँ से होकर ऐ ज़फ़र, फिर मदीने को, नज़फ़ को, करबला को, जायेंगे।" भी न पूरी हो पायी।

इधर दिल्ली में अंग्रेज़ों का दमन-चक्र चलता रहा। हजारों आदमी मौत के घाट उतारे गए। उनके ही सम्बन्ध में दिल्ली के एक तत्कालीन शायर मोवीन ने लिखा था—

हुए दफ्न जोकि हैं बेकफन,
उन्हें रोता अब्रे बहार है।
कि फ़रिश्ते पढ़ते हैं फ़ातेहा,
न निशान है, न मज़ार है॥

दिल्ली कुछ काल के लिए पुनः उजाड़ हो गई। उसके दुर्दिन पर आँसू गिराते हुए एक दूसरे शायर ने लिखा—

अजीब कूचए रश्के जिना[1] था देहली का।
बहिश्त कहते हैं जिसको जहां था देहली का।
दिमाग बरसरे हफ्त[2] आसमां था देहली का,
ख़िताब ख़ित्तए—हिन्दोस्तां था देहली का—
ग़ज़ब है उसको कोई शादमां न देख सका,
ज़मीं न देख सकी, आसमां न देख सका।

सौदा ने लिखा—

बागे दिल्ली में जो इक रोज हुआ मेरा गुज़र,
न वह गुल ही नज़र आया, न वह गुलशन, न बहार।
नख्ल पतझड़ हुए और सूखी पड़ी हैं शाखें,
खाक उड़ती है हर इक तरफ़ पड़े हैं ख़सोख़ार[3]

१. सुन्दरता की ईर्ष्या। २. हिन्दुस्तान का दिल। ३. घासफूस।

मुस्कराता था जहाँ, गुन्चा व गुल हँसते थे।
अश्के शबनम के भी क़तरे का नहीं वाँ आसार।

और दाग—जिसके मुतल्लिक़ इक़बाल ने लिखा था—'नालाकश शीराज़ का बुलबुल हुआ बग़दाद पर, दाग़ रोया खून के आँसू जहानाबाद पर'—दिल्ली की दयनीय दशा पर रो पड़े, लिखा—

वह गुल रोख़ाने समनबर के कहकहे न रहे
वह बुलबुलाँने खुश-इलहाँ के चहचहे न रहे।
ज़मीं के हाल पे अब आसमान रोता है,
हर एक फ़िराके मकीं में मकान रोता है,
कि तिफ्लो-औरतो-पीरो-जवान रोता है,
गरज़ जहाँ के लिए एक जहान रोता है।

दिल्ली की तत्कालीन उजड़ी हुई अवस्था का हाल पढ़ कर सहसा रघुवंश का यह श्लोक स्मरण हो आता है जिसमें महाकवि कालिदास ने जनशून्य अयोध्या का वर्णन किया है—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां
यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम्,
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।

निशाकाल में पहले जिन रास्तों पर चमकीले नूपुरोंवाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन पर अब सियारिनें विचरतीं, जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकलती हैं—अर्थात् स्वर्ण-नूपुरों की जगह अब उनके मुख की चिनगारियाँ ही चमक पाती हैं।

कालान्तर में दाग़ की यह प्रार्थना कि—

'इलाही, फिर उसे आबादो शाद दिखला दे,
इलाही, फिर उसे हसबे-मुराद दिखला दे'—

पूरी हुई ज़रूर पर इस नई दिल्ली में प्राचीन दिल्ली की वे विशेषताएँ न आ सकीं जिनके लिए वह संसार में मशहूर थी। पुरानी बातें न रहीं, बदल गयीं—

वह मुतरिब अरु वह साज़, वह गाना बदल गया,
नींदें बदल गयीं, वह फ़साना बदल गया।
रंगे रुखे बहार की जीनत हुई नयी,
गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक—(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

ओजस्वी व्यक्तित्व की छाप उस पर रही और देश के युवक और युवतियाँ उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त करते रहे। इतना ही नहीं, क्रान्तिकारी युवकों के लिए 'गीता रहस्य' शक्ति, स्फूर्ति और आत्म-विश्वास का स्रोत बना रहा और सदा बना रहेगा।

लोकमान्य की विद्वत्ता की छाप यूरोप के बड़े-बड़े विद्वानों पर थी। वह स्वयं कहा करते थे कि यदि मुझे देश को स्वतन्त्र कराने का कार्य न होता तो मैं कहीं गणित शास्त्र का प्रोफेसर बन कर अपना जीवन विद्या विज्ञान की चर्चा में व्यतीत करता।

लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व और उनकी ओजस्वी और स्फूर्तिदायिनी प्रेरणाएँ चिरकाल तक भारत के युवकों के लिए मार्ग प्रदर्शक बनी रहेंगी।

श्रमजीवी पत्रकारों को कानूनी संरक्षण

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

संसद के हेमन्तकालीन सत्र में श्रमजीवी पत्रकारों की काम की शर्तों को नियमित करने वाला एक विधेयक पारित हो गया और वह २० दिसम्बर १९५५ को राष्ट्रपति की सम्मति प्राप्त होते ही तुरन्त लागू हो गया। भारतवर्ष में ही नहीं, समस्त राष्ट्रमण्डल (कामनवैल्थ) व एशिया महाद्वीप में श्रमजीवी पत्रकारों को संरक्षण देने वाला इस ढंग का यह प्रथम कानून है। यदि हम इसके परिणामों पर विचार करें तो केवल इसी दृष्टि से नहीं, बल्कि श्रमिक सम्बन्धों के बारे में भी कई मामलों में यह अग्रदूत सिद्ध होगा। अतएव इस अधिनियम की धाराओं तथा उनसे उत्पन्न कानूनी स्थिति पर विशद रूप से विचार करना आवश्यक है।

श्रमजीवी पत्रकार अधिनियम आज भारतवर्ष के समस्त श्रमजीवी पत्रकारों के काम की शर्तों की रक्षा करने वाला ऐसा अस्त्र है, जिसका यदि सद्भावनापूर्वक पालन किया जाय, तो पत्र उद्योग में न केवल शांति व सुरक्षा की स्थापना होगी बल्कि पत्रकारिता का स्तर आशातीत गति के साथ बढ़ेगा।

भारतवर्ष आज संसार के उन देशों के समकक्ष आ गया है जहाँ पत्रकारिता के पेशे को अन्य पेशों की भाँति सुदृढ़ औद्योगिक आधार पर संगठित किया गया है। पत्रकारों की स्थिति के सम्बन्ध में संसार में दो पक्ष रहे हैं। एक पक्ष ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका तथा राष्ट्रमण्डलीय देशों में प्रचलित रहा, जिसमें यह माना गया कि पत्रकारों को श्रमिक संगठन के आधार पर अपने वेतन, काम की शर्तों आदि के सम्बन्ध में सामूहिक सौदेबाज़ी करनी चाहिए। फलतः इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी तथा स्विटजरलैंड में पत्रकार संघों और पत्र संचालकों के बीच सामूहिक सौदे हुए हैं। इन देशों के अतिरिक्त ऐसे भी देश हैं जहाँ पत्रकारों की स्थिति कानून द्वारा निश्चित की गई। युद्धकाल में अमेरिका में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने एक 'न्यूज़पेपर कोड' बनाया और फ्रांस में १९४४ से लेकर १९५० तक विशिष्ट आदेशों के अनुसार पत्रकारों के काम की शर्तें निश्चित होती रहीं। पोलैंड, इटली, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, तथा दक्षिणी अमेरिका के अनेक देशों में या तो पत्रकारों के लिए विशेष कानून बने या उनको साधारण श्रमिक कानूनों के अंतर्गत लाभान्वित किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन व संयुक्त राष्ट्र शिक्षा संस्कृति व विज्ञान सभा ने पत्रकारों की काम की शर्तों को पत्रों की स्वाधीनता के लिए आवश्यक मानकर उनको प्राथमिकता देने की सिफारिश की।

आज से सोलह वर्ष पहले सन् १९४२ की बसन्त पंचमी को कानपुर में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सभापतित्व में उत्तर प्रदेश के हिन्दी पत्रकारों का एक सम्मेलन किया गया। इसमें पत्रकारों को 'ट्रेड यूनियन' ढंग पर संगठित करने का निश्चय किया गया और पत्रकारों की स्थिति की जाँच के लिए सर्वश्री जयदेव गुप्त के संयोजकत्व में एक समिति नियुक्त की गई। थोड़े समय पश्चात ही दिल्ली में अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ का दूसरा अधिवेशन हुआ, जिसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि श्रमजीवी पत्रकारों को कम-से-कम चालीस रुपया मासिक वेतन दिया जाय। यह रकम बहुत कम थी। जब १९४३ में कलकत्ते में इस संघ का तीसरा अधिवेशन हुआ तो उसमें यह रकम बढ़ा कर ५० रुपया मासिक कर दी गई। परन्तु इस सम्मेलन में श्रमजीवी पत्रकारों की समस्याओं पर बड़े उग्र रूप से विचार किया गया, जिसके फलस्वरूप श्री राजेन्द्रशंकर भट्ट के संयोजकत्व में एक जाँच समिति की नियुक्ति इस संघ ने भी कर दी। इसी अवसर पर अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन ने भी सुब्रह्मण्यं समिति की स्थापना की। इस समिति ने अंग्रेजी पत्रों में काम करने वालों को १०० रु० मासिक व देशी पत्रों में काम करने वालों को ७५ रु० का जो प्रस्ताव किया उसका देश में बड़ा विरोध हुआ। संयुक्त प्रदेश हिन्दी पत्रकार संघ तथा अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ की जाँच समितियों के सदस्य के नाते व उनके आदेश से इन पंक्तियों के लेखक ने उत्तर भारत के समस्त पत्रकार क्षेत्रों की यात्रा कर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। १९४४ की जनवरी में कानपुर में हुए द्वितीय युक्त प्रांतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन व अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ में इन समितियों की रिपोर्ट के आधार पर पत्रकारों की न्यूनतम माँगें स्वीकृत की गईं। ये माँगें थीं कि कम-से-कम १०० रुपया मासिक न्यूनतम वेतन हो, दस रुपया वार्षिक वेतन वृद्धि की व्यवस्था हो, काम के घंटे छः हों, सप्ताह में कम-से-कम एक दिन की छुट्टी मिले। एक महीने की अर्जित व बीमारी की और आकस्मिक छुट्टियाँ दी जाएँ। ग्रेड निश्चित किए जाएँ, संवाददाताओं का कालम रेट निश्चित हो, नौकरी से पृथक करने के लिए विधिवत नोटिस दिया जाय, जो एक मास से कम का न हो। मँहगाई का भत्ता तथा बोनस मिले और रात्रि की ड्यूटी का अतिरिक्त पारिश्रमिक हो। अन्य संस्थाओं जैसे मराठी पत्रकार संघ, पंजाब श्रमजीवी पत्रकार संघ, बम्बई पत्रकार संघ ने भी बहुत कुछ इसी ढंग की माँगें रक्खीं। इसके पश्चात उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश समाचार पत्र उद्योग समिति की सिफारिशों में इन प्रस्तावों को स्वीकार किया गया और अन्त में प्रेस आयोग ने भी पत्रकारों की काम की शर्तों को स्वस्थ परम्परा पर स्थापित करने का प्रस्ताव मान लिया।

श्रमजीवी पत्रकार अधिनियम में प्रेस आयोग की अनेक सिफारिशें स्वीकार कर ली गई हैं।

इस अधिनियम के दो खण्ड हैं। एक वह जिसमें स्वयं अधिनियम ने कुछ शर्तें निश्चित कर दी हैं। वे हैं काम के घंटों के संबंध में, अनुग्रह धन के सम्बन्ध में, छुट्टियों के सम्बन्ध में तथा वेतन के सम्बन्ध में। वेतन के बारे में इतना अंतर अवश्य है कि कानून किसी वेतन को निश्चित नहीं करता। वेतन बोर्ड को यह अधिकार दिया गया है कि वह श्रमजीवी पत्रकारों के वेतन-दर निश्चित करे। पहले केवल न्यूनतम वेतन निश्चित करने की बात थी, परन्तु अब न्यूनतम वेतन का प्रश्न हटा दिया गया है। वेतन बोर्ड प्रत्येक कर्मचारी के लिए अलग-अलग वेतन तय नहीं करेगा बल्कि वेतन के क्रम या स्केल तय करेगा, जिसमें नियमानुसार प्रत्येक कर्मचारी एक सीमा तक जा सकेगा। यह क्रम अनिवार्य होंगे। उनसे अधिक वेतन भी दिया व लिया जा सकता है।

एक शंका की गई है कि वेतन दर को वेतन क्रम नहीं माना जा सकता। सूचना मंत्री डा० केसकर ने दोनों सदनों में स्पष्ट किया था कि बोर्ड वेतन क्रम निर्धारित करेगा। हमें साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वेतन बोर्ड को एक औद्योगिक न्यायाधिकरण के अधिकार प्राप्त होंगे। अतएव वह सब क्रम निश्चित कर सकेगा।

वेतन बोर्ड में मालिकों तथा कर्मचारियों के बराबर प्रतिनिधि होंगे और उसका अध्यक्ष एक ऐसा व्यक्ति होगा जिसका किसी व्यवस्था या कर्मचारी विभाग से सम्बन्ध न होगा। यदि उसके किसी पत्र में हिस्से होंगे, तो उसे सरकार को इसकी सूचना देनी होगी।

बोर्ड कौन सी पद्धति अपनायेगा, यह उसी पर निर्भर है। भारत सरकार जो नियम बनायेगी उसमें भी कुछ निर्देश दिये जा सकेंगे। परन्तु बोर्ड का प्रथम कार्य होगा कि भारत सरकार को अन्तरिम वेतन के प्रश्न पर परामर्श दे। बोर्ड से परामर्श लेकर सरकार अन्तरिम वेतनों की घोषणा कर सकती है। प्रत्येक पत्र संचालक के लिए यह आवश्यक होगा कि वह निश्चित वेतन से कम न दे।

काम के घंटों के सम्बन्ध में यह नियम है कि चार सप्ताह में १४४ घंटे से अधिक काम न लिया जा सके। प्रति सप्ताह २४ घंटे की छुट्टी अनिवार्य है। इस प्रकार ६ दिन में ३६ घंटे से अधिक काम न लिया जा सकेगा।

काम के घंटों के नियमों के बारे में कहा गया है कि उनका पालन असंभव है। परन्तु यह धारा प्रत्येक कारखाने में जो नियम चालू हैं वहीं से ज्यों का त्यों उठा ली गई है। फैक्टरी एक्ट की ५१वीं धारा में दिया हुआ है कि किसी कारखाने में किसी कारीगर से सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक काम नहीं कराना चाहिए और न किसी कारीगर को इससे अधिक काम करने दिया जाना चाहिए। यही नहीं, धारा ५४ में इसको दोहरा कर कहा गया है कि कोई व्यक्ति एक दिन में ९ घंटे से अधिक काम न करे। इस बात की जिम्मेवारी मालिक पर डाली गई है कि उसके यहाँ कोई व्यक्ति समय से अधिक काम नहीं करता।

फैक्टरी एक्ट में नियम जितने विस्तार से हैं उतने विस्तार से पत्रकार अधिनियम में नहीं हैं। यहाँ केवल सिद्धान्त निरूपण कर दिया है और पत्रकारिता के धंधे की विशेष स्थिति ध्यान में रख कर औसत पूरे महीने का बना लिया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होगा कि यहाँ एक दिन में कितने ही घंटे काम करने की छूट हो। नियमों में इस प्रकार की व्यवस्था होगी कि प्रति दिन काम के घंटों का औसत विस्तार कितना होगा। फैक्टरी एक्ट में १०॥ घंटे हैं यानी काम का प्रारम्भ, छुट्टी व अंत सब साढ़े दस घंटे में पूर्ण होना चाहिए।

फैक्टरी एक्ट में तो समय से अधिक काम करने पर दूने ओवर टाइम की व्यवस्था है। हमारे यहाँ क्या व्यवस्था होती है यह नियमों पर निर्भर है। प्रेस आयोग की राय थी कि ओवर टाइम न दिया जाय, लेकिन किसी भी शर्त में समय से अधिक काम न लिया जाय क्योंकि उनकी दृष्टि से पत्रकारों की क्षमता कायम रखने के लिए अवकाश की अत्यन्त आवश्यकता है।

यह सवाल उठता है कि बाहर काम करने वालों या संवाददाताओं आदि का कार्य विभाजन किस प्रकार होगा। अमेरिका में तो उचित श्रम माप अधिनियम (Fair Labour Standard Act) घर पर काम करने वाले मजदूरों तक पर लागू होता है। यही स्थिति दक्षिण अमेरिका में है। इस अधिनियम का लाभ यह होगा कि जहाँ तक सम्वाददाताओं या रिपोर्टरों का सम्बन्ध है उनके काम के घंटे बंध जायेंगे और यदि संचालक अतिरिक्त काम चाहेंगे, तो या तो ओवर टाइम देंगे या सहायक रखेंगे। यह भी सम्भव हो सकता है कि ऐसा कर्मचारी अधिक काम करके सप्ताह में एक से अधिक दिन की छुट्टी ले ले।

संयुक्त राज्य के कई पत्रों में ३३½ घंटे का सप्ताह है और वह भी ५ दिनों में पूरा होता है। जहाँ साढ़े पाँच दिन काम होता है वहाँ भी सप्ताह के घंटों को इस प्रकार बाँट लेते हैं। ब्रिटेन में साधारणतः ५॥ घंटे का सप्ताह है।

अनुग्रह धन के सम्बन्ध में जो धाराएँ हैं, उनमें यदि कुछ दोष हैं तो कुछ गुण भी हैं। दोष यह है कि १५ दिन का अनुग्रह धन बहुत बड़ी रकम नहीं है। दूसरे विधेयक की स्वीकृति से पूर्व काल के लिए उन पत्रों में अनुग्रह धन की मात्रा कम है जहाँ ६ से कम पत्रकार काम करते थे। पत्रकार संघ इस भेदभाव के विपरीत था। क्योंकि जिन पत्रों में पाँच से कम कर्मचारी हैं साधारणतः वहाँ वेतन भी कम है, अन्य सुविधाएँ भी कम हैं, प्रोवीडेण्ड फण्ड आदि की भी व्यवस्था नहीं है। फिर भी यदि कोई पत्रकार इन संस्थानों में काफी समय तक कार्य करता रहा है तो उसे छोटे कार्यालय में काम करने के लिए दंडित नहीं किया जाना चाहिए।

परन्तु इस धारा में दो-तीन विशेषताएँ भी हैं। पहली यह कि यह धारा औद्योगिक विवाद अधिनियम द्वारा प्रदत्त सुविधाओं और अधिकारों से स्वतन्त्र है। इसका अर्थ यह है कि जिन व्यक्तियों को इस धारा से कोई लाभ न भी प्राप्त हो तो वह औद्योगिक विवाद खड़ा कर उक्त अधिनियम के द्वारा अधिक अच्छी व्यवस्था पा सकते हैं। औद्योगिक न्यायाधिकरणों ने एक-एक महीने तक की ग्रेचुयटी (अनुग्रह

धन) स्वीकार की है। कम्पनी की आर्थिक स्थिति को देखते हुए न्यायाधिकरणों ने कोऑपरेटिव बीमा कम्पनी, बर्मा शैल आदि के मामलों में एक-एक महीने की ग्रेचुयटी दी है। अतएव यदि कोई श्रमजीवी पत्रकार ऐसे पत्र में कार्य कर रहे हैं जहाँ उनकी संख्या कम है परन्तु पत्र लाभ पर चल रहे हैं, तो वहाँ वह ग्रेचुयटी माँग सकेंगे।

इसी सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि औद्योगिक विवाद कानून द्वारा क्या-क्या अधिकार प्राप्त होते हैं। वास्तव में छँटनी में मुआवजे के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों में केवल अधिकार विवाद का निर्णय कराने का है परन्तु इन निर्णयों में औद्योगिक न्यायाधिकरणों ने महत्त्वपूर्ण अधिकार निश्चित किए हैं। उदाहरण के लिए अनुग्रह धन वाली धारा में ही कहा गया है कि सिवाय उन मामलों को छोड़ जब अनुशासन की कार्यवाही के लिए किसी को निकाला जाएगा, अन्य सब मामलों में अनुग्रह धन दिया जाएगा। यह 'अनुशासन की कार्यवाही' क्या है, कैसे होनी चाहिए और किस अपराध के लिए क्या दण्ड हो, इसका न्यायाधिकरणों ने बड़े विस्तार से निर्णय किया है।

किसी कर्मचारी को किस प्रकार और किस हालत में निकाला जा सकता है, इसके लिए सबसे प्रमुख निर्णय बकिंघम कर्णाटक कम्पनी के मामले में किया गया निर्णय है। इसके अनुसार न्यायालय को यह अधिकार है कि यदि किसी कर्मचारी को निकालते समय निम्नलिखित बातों में कोई भी हों तो उस बरखास्तगी को अस्वीकार कर दें। वे हैं :

१. यदि इस आदेश में सद्भावना या ईमानदारी की कमी है।

२. यदि यह आदेश विद्वेषात्मक दण्ड (Victimization) का मामला है या मालिकों द्वारा अनुचित व्यवहार का (Unfair labour practices) या नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त (Principles of Natural Justice) के विपरीत हैं, उनमें तथ्यों की गलती है या जो तथ्य हैं उन पर सर्वथा अन्याययुक्त निर्णय किया गया है।

यदि किसी व्यक्ति को निकाला जाए (Discharge) तो उसे उसका कारण बताना चाहिए और उसे स्पष्टीकरण का अवसर मिलना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को बरखास्त (dismiss) किया जाए तो पहले तो उसका अपराध संगीन हो, दूसरे उस पर चार्जशीट (अभियोग) लगाया जाए, उसे अपना स्पष्टीकरण करने का अवसर मिले। इसके उपरान्त उसकी जाँच हो, जिसमें वह अपने विपरीत गवाहों से जिरह कर सके, अपने गवाह पेश कर सके तथा अपने-अपने संघ के प्रतिनिधि या वकील की सहायता ले सके। इसके उपरान्त उसको बरखास्त किए जाने का निर्णय किया जा सकता है। इसके उपरान्त भी यदि न्यायाधिकरण समझे कि उसके साथ अन्याय हुआ है तो उसे पुनः कार्य पर नियुक्त कर सकता है या भारी हर्जाना दिला सकता है।

'चेरिटी एंड बस सर्विस' के एक मुकदमे में लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल ने यह निर्णय किया कि जहाँ एक व्यक्ति को बिना कारण बताए, बिना चार्जशीट लगाए या बिना जाँच के अलग कर दिया गया तो यह अलहदगी अनुचित थी और उसे काम पर वापिस लौटा दिया गया।

मेस्मरिया मिल (बम्बई) के एक मजदूर के मामले में यह निर्णय किया गया कि बिना उचित जाँच किए केवल इस आधार पर किसी को निकाल देना कि कम्पनी का कर्मचारी पर विश्वास नहीं रह गया है और कम्पनी को नियमानुसार निकालने का हक है बिलकुल पुराण-पंथी है और कोई अदालत इसका समर्थन नहीं कर सकती।

जानकी शुगर मिल देहरादून के नियमों में था कि यदि कोई मजदूर बिना छुट्टी काम पर न आए तो कम्पनी उसे निकाल सकती है। एक मजदूर जो पाँच दिन की छुट्टी पर गया था, छठे दिन नहीं आया और कम्पनी ने बिना पूछे-ताछे उसे निकाल दिया। इस पर अपील अदालत ने निर्णय दिया कि यदि वह सात दिन भी काम पर न आता तो भी उसे अपनी सफाई का अवसर दिए बिना निकालना न्याय विरुद्ध था।

एक मामले में एक मजदूर को चार्जशीट दी गई, परन्तु कोई जाँच नहीं हुई। बाद में इंजीनियर ने उसे एक लम्बी चिट्ठी लिखी, जिसमें लिखा कि वह किस प्रकार अयोग्य था तथा उसने क्या दुर्व्यवहार किए थे। अदालत ने इस बरखास्तगी को अनुचित माना।

एक कर्मचारी कम्पनी की जानकारी में दूसरी जगह काम कर रहा था, परन्तु बाद में इसी आरोप पर उसे निकाल दिया गया। इसे भी गलत समझा गया।

कानपुर टैक्सटाइल मिल के एक कर्मचारी को यह लिख कर निकाल दिया गया कि उसका काम बिल्कुल असंतोषजनक है और कम्पनी को उसकी आवश्यकता नहीं है। पर उसे स्पष्टीकरण का कोई अवसर नहीं दिया गया। उसकी अलहदगी गलत समझी गई।

एक कर्मचारी पर दुर्व्यवहार का चार्जशीट लगाया गया। परन्तु उसने चार्जशीट लेने से इंकार किया। इस पर कम्पनी ने उसे एक महीने का नोटिस देकर अलग कर दिया। न्यायाधिकरण ने इस पर निर्णय दिया कि उक्त कर्मचारी को रजिस्ट्री से चार्जशीट भेजना चाहिए था और वह उसका निर्धारित समय में उत्तर न भेजता तो जाँच कर अलग करना चाहिए था।

एक अन्य निर्णय में कहा गया कि यदि कर्मचारी अपराध न माने तो उसकी जाँच बिना बरखास्तगी नहीं हो सकती।

जाँच भी किस प्रकार की हो इसके निर्णय हैं। प्रयाग के लीडर प्रेस में एक लाइनो ऑपरेटर ३२ वर्ष से काम कर रहा था, परन्तु उसे आदतन लापरवाही (habitual negligence) के आरोप में हटा दिया गया। पता लगा कि बरखास्तगी से पाँच महीने पहले उसे काम खराब होने की चेतावनियाँ मिलने लगीं। यू० पी० पत्रकार संघ ने उसका मामला लड़ा और अपील ट्रिब्यूनल ने निर्णय किया कि जिस व्यक्ति का काम बराबर ठीक रहा है उसे, कुछ गलतियों के कारण जो काम की जल्दी में हो गईं, आदतन कामचोर नहीं कहा जा सकता और उसे पुनः पत्र में नियुक्त किया गया।

इस प्रकार के अनेक निर्णय हैं, जिनमें स्पष्ट किया गया है कि अनुशासन की कार्यवाही कैसे की जाय। बैंक अवार्ड में इसकी बड़ी विशद व्याख्या है। दुर्व्यवहार (misconduct) दो प्रकार के हैं—

राग

शमशेरबहादुर सिंह

(१)

मैंने शाम से पूछा—
या शाम ने मुझसे पूछाः
इन बातों का मतलब ?
मैंने कहा—
शाम ने मुझसे कहा :
राग अपना है।

(२)

आँखें मुँद गईं।
सरलता का आकाश था
जैसे त्रिलोचन की रचनाएँ।
नींद ही इच्छाएँ।

(३)

मैंने उससे पूछा—
उसने मुझसे :
कब ?
मैंने कहा—
उसने मुझसे कहा :
समय अपना राग है।

(४)

तुमने 'धरती' का पद्य पढ़ा है ?
उसकी सहजता प्राण है।
तुमने अपनी यादों की पुस्तक खोली है ?
जब यादें मिटती हुई एकाएक स्पष्ट हो गई हों ?
जब आँसू छलक न जाकर
आकाश का फूल बन गया हो ?
—वह मेरी कविताओं मा मुझे लगेगा :
तब तुम मुझे क्या कहोगे ?

(५)

उसने मुझसे पूछा,
तुम्हारी कविताओं का क्या मतलब है ?
मैंने कहा—कुछ नहीं।
उसने पूछा—फिर तुम इन्हें क्यों लिखते हो ?
मैंने कहा—ये लिख जाती हैं। तब
इनकी रक्षा कैसे हो जाती है ?
उसने क्यों यह प्रश्न किया ?
मैंने पूछा :
मेरी रक्षा कहाँ होती है ? मेरी साँस तो—
तुम्हारी कविताएँ हैं : उसने कहा। पर—
इन साँसों की रक्षा कैसे होती आई ?
वे साँसों में बँध गए; शायद ऐसे ही रक्षा
होती आई। फिर बहुत से गीत
खो गए।

(६)

वह अनायास मेरा पद गुनगुनाता हुआ बैठा
रहा, और मैंने उसकी ओर
देखा, और मैं समझ गया।
और यह संग्रह उसी के हाथों में खो गया।

(७)

उसने मुझसे पूछा : इन शब्दों का क्या
मतलब है ? मैंने कहा : शब्द
कहाँ हैं ? वह मौन मेरी ओर
देखता चुप रहा। फिर मैंने
श्रम-पूर्वक बोलते हुए कहा—कि :
शाम हो गई है। उसने मेरी
आँखों में देखा, और फिर—एकटक
देखता
ही रहा। क्यों फिर उसने मेरा संग्रह
अपनी धुँधली गोद में खोला और
मुझसे कुछ भी पूछना भूल गया।
मुझको भी नहीं मालूम, कौन था
वह। केवल वह मुझे याद है।

(८)

तब छन्दों के तार खिंचे-खिंचे थे;
राग बँधा-बँधा था;
प्यास उँगलियों में विकल थी—
कि मेघ गरजे।
और मोर दूर और कई दिशाओं से
बोलने लगे—पीयूअ ! पीयूअ ! उनकी
हीरे-नीलम की गर्दनें बिजलियों
की तरह
हरियाली के आगे चमक रही थीं।
कहीं छिपा हुआ बहता पानी
बोल रहा था : अपने स्पष्ट-मधुर
प्रवाहित बोल।

गहन व साधारण। गहन दुर्व्यवहार कोई ऐसा अपराध होता है जिसमें कम्पनी को आर्थिक हानि हो, अवैध हड़ताल में भाग हो, कम्पनी के व्यापार को हानि हो या जान-बूझकर छोटे-छोटे दुर्व्यवहार करने की आदत हो। इनके कई दण्ड हैं, बरखास्तगी, पृथक् करना, मुअत्तिल करना, पद वृद्धि रोक लेना, वार्षिक वृद्धि रोक लेना, जुर्माना, चेतावनी या सर्विस बुक पर विपरीत नोट। समय पर काम पर न आना, काम में ढिलाई या सुस्ती, बिना छुट्टी घर बैठ जाना आदि साधारण या छोटे दुर्व्यवहार गिने जाते हैं।

यद्यपि ये सारी व्यवस्थाएँ पत्रकार अधिनियम में गिनाई नहीं हैं, परन्तु जिस व्यक्ति पर वह अधिनियम लागू होता है उसे ये सब अधिकार अपने आप प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि ये व्यवस्थाएँ औद्योगिक विवाद अधिनियम के अन्दर प्रदत्त हैं और वर्तमान कानून के अनुसार जो भी व्यक्ति धन्धे से श्रमजीवी पत्रकार है और किसी पत्र में या किसी पत्र के लिए अथवा समाचार समिति व समाचार सामग्री समिति के लिए काम करता है वह इसका लाभ उठाता है। परिभाषा बड़ी व्यापक है और उसके उदाहरणों में सम्पादक से लेकर सम्वाद-दाता, प्रूफ़रीडर, फोटोग्राफर व कार्टूनिस्ट, जो पत्र के लिए काम करते हैं, उसकी परिधि में आ जाते हैं। हाँ जो लोग मुख्यतः प्रशासनिक या प्रबन्ध का कार्य करते हैं वे इस परिभाषा में नहीं आते।

पत्रकार अधिनियम में कार्य से पृथक् करने के नोटिस के लिए साधारण कानून से अन्तर किया गया है। सम्पादकों को कम से कम

(शेष पृष्ठ ६१ पर)

संस्कृति की परिकल्पना

सत्यदेव विद्यालंकार

धर्म, भाषा और प्रादेशिकता के समान संस्कृति की कल्पना भी हमें संकीर्णता की ओर ले जाने का कारण बन सकती है। संस्कृति की ठीक-ठीक व्याख्या करना बहुत कठिन है। इसीलिए उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती हैं। अंग्रेज़ी का 'रिलीजन' शब्द जिस प्रकार धर्म शब्द के ठीक-ठीक अभिप्राय को प्रकट नहीं करता वैसे ही कल्चर शब्द भी संस्कृति के ठीक-ठीक अभिप्राय का द्योतक नहीं है। धर्म वह है जिसको धारण अथवा स्वीकार किया जाता है और रिलीजन वह है जो लोगों को आपस में बाँधता अथवा एक करता है। यद्यपि धर्म का अभिप्राय भी लोगों को एक करना समझा जाने लगा है परन्तु उसका वास्तविक अर्थ अथवा प्रयोजन लोगों को एक करने की अपेक्षा व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को परिमार्जित करना अधिक है। धर्म के जो दस लक्षण बताए गए हैं अथवा उसकी जो अन्य व्याख्याएँ की गई हैं उन सब में व्यक्तिगत गुणों पर ही अधिक जोर दिया गया है। धृत्ति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या, सत्य और अक्रोध सब ऐसे गुण हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण के साथ है। इसी प्रकार जिन अणुव्रतों और महाव्रतों का प्रतिपादन धर्मचर्या की दृष्टि से किया गया है, उनका सम्बन्ध भी व्यक्तिगत जीवन के साथ है। धर्म का इस रूप में जिन आचार्यों ने प्रतिपादन किया उनकी दृष्टि में समाज की अपेक्षा व्यक्ति का महत्त्व अधिक था। वे उसको समष्टि की इकाई मान कर यह समझते थे कि इकाई के बन जाने से समष्टि अथवा समाज स्वतः ही बन जाएगा। परन्तु रिलीजन की कल्पना करने वालों की दृष्टि में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का महत्त्व अधिक था। समाज की एकता, संगठन और मेल को अधिक महत्त्व देते थे। पश्चिम में मानव के व्यक्तिगत जीवन को उसका निजी विषय कह कर उसकी प्रायः उपेक्षा कर दी गई। इससे समाज की नींव वैसी दृढ़ नहीं हो सकी जैसी कि होनी चाहिए।

इसी प्रकार संस्कृति मानव-जीवन के परिष्कार अथवा संस्कार पर अधिक ज़ोर देती है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के बाद धर्म जब समाज के दायरे में पहुँचता है, तब वह संस्कृति का रूप धारण कर लेता है। धर्म व्यक्ति के जीवन को सुसंस्कृत अथवा परिष्कृत करता है तो, संस्कृति समाज के जीवन का संस्कार अथवा परिष्कार करती है। संस्कृत में एक कहावत है जिसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जन्म से शूद्र होता है और संस्कार से द्विज बनता है। इसका रूढ़िगत अर्थ किया जाए तो, संस्कार का अभिप्रायः हो जाता है उन संस्कारों से जो व्यवहार में प्रायः निरर्थक हो गए हैं। मनुष्य भले ही जनेऊ न पहने और ब्रह्मचर्य पालन के लिए गुरुकुल न जाए; गृहस्थ-आश्रम में तो प्रवेश कर ही लेता है और उसका सारा व्यवहार यथावत चलता रहता है। सोलह में से किसी संस्कार का न होना उसके मार्ग में बाधक नहीं बनता। इसलिए इस रूढ़िपरक अर्थ में न जाकर संस्कार शब्द का अर्थ परिष्कार ही लिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्वीकार करना होगा कि संस्कृति का सम्बन्ध उन संस्कारों के साथ है जो परम्परा से आते हुए समाज को उन्नत और प्रगतिशील बनाने में सहायक होते हैं और जो संस्कार ऐसा नहीं कर सकते उनका समावेश संस्कृति में नहीं किया जा सकता। उनको विकार कह कर विकृति पैदा करने वाला मानना होगा। संस्कृति यदि समाज का परिष्कार नहीं करती तो, उसका वास्तविक अभिप्राय नष्ट हो जाता है। कल्चर शब्द का सीधा-सादा अभिप्राय एक चीज़ की दूसरी चीज़ में कलम लगाना है, जिसका अभिप्राय है एक का दूसरे के साथ सम्मिश्रण करना। पशु-पक्षियों की नस्ल को उन्नत करने के लिए जो क्रास ब्रीड किया जाता है और पौधों को उन्नत बनाने के लिए उनकी एक-दूसरे के साथ जो कलमें लगाई जाती हैं, उनको कल्चर करना कहा जाता है। मानव समाज में भी सदा ही एक-दूसरे से हर तरह का आदान-प्रदान अथवा लेन-देन होता रहता है। एक स्थान के लोग दूसरे स्थान के लोगों से, एक समाज के लोग दूसरे समाज के लोगों और एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से न केवल जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का आर्थिक क्षेत्र में आदान-प्रदान अथवा लेन-देन करते हैं, परन्तु धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी परस्पर बहुत-सा आदान-प्रदान तथा लेन-देन करते रहते हैं; कल्चर शब्द इसी आदान-प्रदान तथा लेन-देन का सूचक है। इसलिए जब विशुद्ध कल्चर की दृष्टि से विचार किया जाता है तब सामाजिक जीवन के परिष्कार अथवा संस्कार पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि उस निर्माण पर दिया जाता है जो मानव एक-दूसरे की सहायता से करता है। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। अकेले-दुकेले रह कर उसका गुज़ारा चल नहीं सकता। अपनी सामाजिक चेतना से प्रेरित होकर जब वह समूह में रहना प्रारम्भ करता है तब स्वभावतः उसमें आपस में लेन-देन अथवा आदान-प्रदान की प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और इस प्रकार कल्चर का विकास भी स्वतः ही होना प्रारम्भ हो जाता है परन्तु सांस्कृतिक जीवन का प्रारम्भ स्वतः नहीं हो सकता उसके लिए केवल सामाजिक चेतना पर्याप्त नहीं है। सामाजिक चेतना के भी परिष्कार किंवा संस्कार की आवश्यकता है। इसीलिए संस्कृति का अभिप्राय उस सामाजिक व्यवहार से कुछ अधिक है जिसका अर्थ कल्चर से लिया जाता है।

इस भेद या अन्तर के बाद भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि रिलीजन और कल्चर जिस भाव के द्योतक हैं उसकी भी आज के

मानव को अथवा मानव-समाज को उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि धर्म और संस्कृति की है। मनुष्य चूँकि अकेला रह कर अपना गुज़ारा चला नहीं सकता, इसलिए उसको वह रिलीजन चाहिए जो उसका दूसरों के साथ मेल करता है और जब वह मिलकर रहना शुरू कर देता है तब लेन-देन अथवा आदान-प्रदान की प्रवृत्ति के स्वतः ही प्रारम्भ हो जाने से वह कल्चर से अलग नहीं रह सकता। धर्म और रिलीजन अथवा संस्कृति और कल्चर के तात्विक अर्थों में अन्तर होने पर भी उनके कार्य और परिणाम में ऐसा कोई विशेष अन्तर नहीं है। मतलब की बात सिर्फ़ इतनी है कि किसी भी धर्म, जाति अथवा देश के लोग वर्तमान युग में दूसरों से सर्वथा अलग रह कर अपना गुज़ारा नहीं चला सकते। वैसे तो पहले भी कभी मनुष्य का काम कूप मंडूकता से नहीं चला है। उसको आँखें खोल कर दुनिया को देखना पड़ा है और दुनिया में जितनी दूर तक उसकी आँखें जा सकीं उतनी दूर तक उसको अपना व्यवहार फैलाना पड़ा है। केवल अपनी नाक तक की दुनिया को देखने वाले संसार में जीवित नहीं रह सके। अपने को संकीर्ण, संकुचित अथवा अनुदार बना कर मानव का गुजारा चल नहीं सकता इसी कारण उसको दूसरों के साथ अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम करने पड़ते हैं। राजनीति ने मनुष्यों को आपस में मिलाने का बहुत वर्षों तक प्रयत्न किया है, परन्तु पिछले दो महायुद्धों में राजनीति ने कूटनीति का रूप धारण करके वही काम किया, जो मानव दानव बन कर करता है। राजनीति की संहार लीला और उसके हिंसा-प्रतिहिंसा तथा घात-प्रतिघात के भीषण रूप को देख लेने के बाद मानव का हृदय सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के महत्त्व को आँकने लगा है। पिछले कुछ वर्षों में आपस के कूटनीतिक सम्बन्ध की अपेक्षा सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और मानव को इसमें अपना निश्चित कल्याण दीख पड़ता है।

प्रश्न यह है कि इस संस्कृति का विकास कैसे होता है? मनुष्य को सामाजिक प्राणी और उसकी सामाजिक चेतना को स्वाभाविक मान लेने पर इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना कठिन नहीं रह जाता। यह स्वाभाविक सामाजिक चेतना संस्कृति के विकास की मूल प्रेरणा है। यदि कोई यह मानता है कि बाबा आदम या मनु के समय से सांस्कृतिक जीवन का क्रम एक ही सा चला आता है तो वह सबसे बड़ी भूल करता है। हर युग में मानव के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन होता रहता है। उसके आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और खानपान तक के तौर-तरीके सदा बदलते रहते हैं। जीवन का कोई क्रम और कोई दिशा ऐसी नहीं है जिसमें समय-समय पर परिवर्तन न होता हो। हम कभी संस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे। उसके बाद प्राकृत का व्यवहार करना शुरू किया। प्राकृत का स्थान कालान्तर में दूसरी भाषा ने ले लिया। आज हम हिन्दी बोलते हैं। बीच में अरबी, फारसी, उर्दू, और अंग्रेज़ी भी आ गई। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न भाषाओं का व्यवहार होता है। इन भाषाओं में आपस में कितना लेन-देन और आदान-प्रदान होता रहता है। एक भाषा के कितने ही शब्द दूसरी भाषाओं में समा जाते हैं। एक भाषा का शब्द-कोष दूसरी भाषाओं के मेल से हमेशा बढ़ता रहता है। साहित्य का फैलाव भी इसी प्रकार होता रहता है। एक पुस्तक एक भाषा में छपती है, दूसरी, तीसरी और चौथी में उसका अनुवाद होता है अथवा उसके आधार पर नई पुस्तक लिखी जाती है। ज्ञान विज्ञान के आविष्कार भी एक से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। कला और उद्योग के क्षेत्र में भी इसी प्रकार उन्नति तथा प्रगति होती रहती है। कभी हम अपने लिए कपड़े की सारी आवश्यकता चर्खे और कर्घे से पूरी कर लेते थे। फिर ऐसा भी समय आया जब मिलें भी हमारी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकीं। आज फिर हम इस विवाद में पड़े हैं कि चर्खे के तकुवे और मिल के तकुवे में से हम किसको अपनायें। इसी प्रकार कृषि में कभी बैल की खेती काफ़ी होती थी तो आज बड़े-बड़े ट्रैक्टरों से काम लिया जा रहा है। कभी बैलगाड़ी की सवारी हमारी सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती थी। आज हमें रेल अथवा मोटर से भी सन्तोष नहीं है। हवाई जहाज के बिना काम चलाना हमारे लिए कठिन हो रहा है। जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाले हर क्षेत्र में हम आगे बढ़ना चाहते हैं। उसमें तेज़ी और प्रगति पैदा करना चाहते हैं। फिर धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में हम पीछे क्यों बने रहें? उसमें प्रगतिशील बनने का अर्थ है सांस्कृतिक विकास। कोई माने या न माने यह विकास सदा निरन्तर होता रहा है।

अपने देश के इतिहास पर जितनी भी दूर से दृष्टि डाली जा सकती है, हमें यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि हमारे देश में बाहर से आने वालों का ताँता लगा रहा है। बहुत से लोगों का तो यह मत है कि आर्य लोग भी बाहर से ही इस देश में आए हैं। आर्य चाहे बाहर से आए हों अथवा वे इसी देश के मूल निवासी हों, उन्होंने इस देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में कुछ भी उठा नहीं रखा और दूसरों के साथ घुल-मिल जाने में भी वे पीछे नहीं रहे। वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों और स्मृतियों में अनेक ऐसी जातियों के नाम मिलते हैं जिनका आज कहीं पता भी नहीं है। उन सभी जातियों के जीवन का आर्यों की भाषा, साहित्य और इतिहास पर ही नहीं, किन्तु उनके रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान के तौर तरीकों पर भी गहरा असर पड़ा। इसी प्रकार बौद्ध काल में जो लोग इस देश से चीन, जापान, स्याम, बर्मा और लंका आदि देशों में गए उन्होंने वहाँ के लोगों को अपनी भाषा, साहित्य, धर्म तथा रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान के तौर-तरीकों से प्रभावित किया। बौद्धों के समान ही जैन, वैष्णव, शैव तथा अन्य लोग अपने विचारों और संस्कारों की छाप लगाते चले गए। उससे बड़ा अभियान अरब से उठने वाले मुसलमानों ने किया जो एक ओर स्पेन की खाड़ी तक और दूसरी ओर चीन की सीमा तक पहुँचे। उन्होंने अपने विचारों और संस्कारों को निस्संदेह चारों ओर फैलाया किन्तु वे जिस-जिस देश में पहुँचे वहाँ के विचारों, संस्कारों और रहन-सहन के तौर-तरीकों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। अरब से भारत आते हुए उन्होंने ईरान से बहुत कुछ लिया। यहाँ तक कि वे अपने धर्म-कर्म की कट्टरता को भी बहुत

कुछ भूल गए और अपने धर्म-कर्म के लिए ईरान की शब्दावली स्वीकार कर ली। यहाँ भारत में आकर वे और भी अधिक बदल गए और उनके संसर्ग से यहाँ भी बहुत सा परिवर्तन हुआ। कहते हैं कि यहाँ गंदम अथवा गेहूँ उनके साथ आया। गुलाब का फूल भी इस देश को उनकी ही देन बताई जाती है। हलवाइयों की दूकानों पर मिलने वाली मिठाइयों के नाम हमारी भाषा के नहीं, उनकी भाषा के हैं और वे प्रायः उनकी ही देन हैं। यहाँ तक कि वेश-भूषा और रहन-सहन में भी हमने उनसे बहुत कुछ ले लिया। हमारा आज का राष्ट्रीय लिबास गान्धी टोपी, अचकन और चूड़ीदार पायजामा उनकी ही देन है। इसी प्रकार अंग्रेज़ों के डेढ़ सौ वर्ष के सम्पर्क से हमने उनसे क्या नहीं लिया? हमारी वेश-भूषा और रहन-सहन पर उनके जीवन की कितनी गहरी छाप पड़ी है। हमारी भाषा, हमारा साहित्य और हमारा इतिहास उनसे काफ़ी प्रभावित हुआ है। यही है वह लेन-देन और आदान-प्रदान जो हमेशा से मनुष्य एक-दूसरे से करता चला आया है। यह न हो तो सम्भवतः मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक चेतना का अन्त हो जाय। इसी को आजकल की भाषा में सांस्कृतिक लेन-देन कहा जाता है।

अपने देश के सामाजिक और धार्मिक जीवन की दृष्टि से यदि विचार करें, तो यह बहुत आसानी से समझा जा सकता है कि इस लेन-देन और आदान-प्रदान का कैसा गहरा असर आपस में एक-दूसरे पर पड़ता है। इस्लाम और ईसाई धर्म पर हिन्दू धर्म की छाप इतनी गहरी पड़ी कि छूआछूत मस्जिदों और गिरजा घरों तक में जा पहुँची। खान-पान का भेदभाव मुसलमान और ईसाइयों तक में समा गया। जात-पाँत का भेद-भाव भी उनमें घर कर गया। जो हिन्दू कभी समुद्र यात्रा को धर्म के विरुद्ध मानता था, विधवा विवाह को धर्म से वर्जित समझता था और अपनी जाति से बाहर विवाह करना जिसके लिए निषिद्ध था आज वह भी हवा में उड़ता दीख पड़ता है, विवाह की विधि निषेध उसके लिए बहुत कमज़ोर पड़ गई है और बात-बात में धर्म अब वैसी कोई बाधा नहीं पैदा करता। यह सारा परिवर्तन इस लेन-देन अथवा आदान-प्रदान का ही परिणाम है। उसके बिना मनुष्य का काम चल नहीं सकता। इसलिए यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि संस्कृति का प्रवाह गंगा और यमुना की धारा के समान है, जो कलरव करती हुई दिन-रात निर्बाध रूप से बहती रहती है। उसको तालाब की तरह चारों ओर से बाँध कर नहीं रखा जा सकता। वह संकीर्णता, अनुदारता और असहिष्णुता को जन्म न देकर मानव को विशाल, उदार और सहिष्णु बनाने वाली है। वह हर किसी को अपने रंग में रंग कर विशाल रूप देने का काम करती है। इस व्यापक दृष्टि से संस्कृति के सम्बन्ध में यदि विचार किया जा सके तो उसकी ठीक-ठीक कल्पना की जा सकती है और उसके स्वरूप एवं महत्त्व को ठीक-ठीक आँका जा सकता है। वह एक विशुद्ध भावना है जिसका सम्बन्ध उन संस्कारों के साथ है जिनका न कोई आदि है और न अन्त। मानव के सामाजिक जीवन का प्रारम्भ होने के साथ उसका प्रादुर्भाव हुआ और उसके विकास के साथ-साथ उसका भी विकास होता गया। जैसे मानव सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त मानी जाती है, वैसे ही संस्कृति का भी कोई आदि या अन्त नहीं है। मानव की प्रगतिशील आत्मा एवं स्वभाव की छाया होने से उसको भी प्रगतिशील होना चाहिए। उसके सम्बन्ध में प्रगति विरोधी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। वह मानव और मानव समाज को सदा आगे ही बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। उसकी आड़ में कोई भी प्रतिगामी कदम उस मानव को शोभा नहीं दे सकता, जो स्वभावतः अंकुर की तरह सिर ऊपर उठा कर प्रगट होता है और जिसको उस पौधे की तरह निरन्तर और उत्तरोत्तर ऊपर ही ऊपर उठते जाना चाहिए। उसकी आत्मा उस पौधे की तरह स्वभावतः प्रगतिशील, उन्नतिशील और विकासशील है। कुहरा जैसे पौधे की प्रगति एवं उन्नति को ग्रस लेता है, वैसे ही विकृति मानव की आत्मा पर विकारों का पर्दा डाल देती है। इसलिए हमारी मान्यता यह है कि संस्कृति, मानव तथा समाज के जीवन का संस्कार एवं परिष्कार करने के साथ उसमें परस्पर आदान-प्रदान की भावना को सुदृढ़ करते हुए उसको निरन्तर प्रगति एवं विकास की ओर अग्रसर करती है। जो विचार, जो भावना, जो कल्पना और जो धारणा ऐसा करने की क्षमता नहीं रखतीं उनका संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे संस्कार नहीं विकार हैं। वे परिष्कार न करके विकार पैदा करते हैं। उनको संस्कृति से सर्वथा विपरीत विकृति कहना चाहिए। उनका मानव के साथ स्वभावसिद्ध सम्बन्ध नहीं है। वे उसके विकृत स्वभाव के सूचक हैं। संस्कृति की साधना अथवा उपासना करने वालों को इस विकृति से यत्नपूर्वक बचना चाहिए।



श्रमजीवी पत्रकारों को कानूनी संरक्षण—(पृष्ठ ५८ का शेषांश)

छः मास का व अन्य पत्रकारों को तीन मास का नोटिस मिलना अनिवार्य है। छँटनी के अवसर पर वह औद्योगिक विवाद अधिनियम के अनुसार प्रतिवर्ष की नौकरी पर १५ दिवस का वेतन क्षतिपूर्ति के रूप में पावेंगे और जो पहले नियुक्त किया गया है, उसे साधारणतः बाद में पृथक् किया जायगा। इसमें अन्तर करने पर प्रबन्ध को कारण बताने होंगे। जब उस पद पर पुनर्नियुक्ति होगी तो छँटनी किए गए आदमी को पद पर आने का पहला अधिकार होगा।

इस अधिनियम द्वारा उन समाचार संगठनों में जहाँ बीस से अधिक व्यक्ति काम करते हैं, प्रोवीडेण्ट फण्ड अधिनियम व स्टैंडिंग आर्डर्स अधिनियम भी लागू कर दिए गए हैं। इस प्रकार उन कार्यालयों में प्रोवीडेण्ट फण्ड की व्यवस्था अनिवार्य होगी और स्थायी नियमों को प्रमाणित करने तथा लागू करने का प्रबन्ध करना होगा। प्रोवीडेण्ट फण्ड कानून अभी तक केवल ६ उद्योगों तक सीमित था और स्थायी नियम उन कारखानों में होते थे जहाँ कम से कम १०० कर्मचारी हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे कारखानों में भी इन कानूनों को लागू करने का इस अधिनियम से

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

पत्नी की खोज

अशोक

दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में कांची नाम की एक नगरी थी। उसमें शक्तिकुमार नाम का एक करोड़पति वैश्य पुत्र रहता था। जब वह अठारह वर्ष का हुआ तो उसने सोचा कि अविवाहित मनुष्य के जीवन में कुछ सुख नहीं। साथ ही वह मनुष्य जिसकी स्त्री अवगुणों से युक्त हो वह भी सुख नहीं पाता। तब उसने सोचा कि गुणसम्पन्न स्त्री किस प्रकार प्राप्त करूँ? उसके सम्बन्धी उसके लिए अनेक रिश्ते लाये परन्तु दूसरों द्वारा लाई हुई कन्याओं में इच्छानुकूल गुणों को न पाकर उसने स्वयं ही उद्योग करने का निश्चय किया। ज्योतिषी का वेष बना, अपने वस्त्र के छोर में प्रायः एक सेर धान बाँध कर वह घर से निकल पड़ा। ज्योतिषी समझ कर बहुत से अभिभावकों ने उसे अपनी कन्याएँ दिखाईं। जब वह अपनी जाति की ही किसी गुणवती कन्या को देखता था तो उससे पूछता था, "भद्रे! क्या तुम केवल इन एक सेर धानों द्वारा ही मुझे अच्छा भोजन भर पेट खिला सकती हो?" सुन कर लोग हँस देते थे। इस प्रकार तिरस्कृत होता हुआ वह बहुत दूर निकल गया।

चलते-चलते वह कावेरी के तट पर स्थित शिबी नगर में पहुँचा। वहाँ पर एक धाय ने उसे एक अनाथ कुमारी कन्या को दिखाया। उस कन्या के विरल वस्त्राभूषणों से पता चल रहा था कि उसकी समृद्धि उसके माता-पिता के साथ ही नष्ट हो गई होगी। शक्तिकुमार ने ध्यान से उस कन्या को देखा। उसने सोचा कि निश्चय ही इस कन्या के अंग न तो अधिक मोटे हैं और न अधिक दुबले; यह न अधिक नाटी है और न अधिक ऊँची; कुरूप नहीं है प्रत्युत स्वच्छ है। इसके हाथ की अँगुली और हथेली लाल है। इसके हाथ में मीन, कमल, कलश आदि पुण्य चिन्ह और शुभ रेखाएँ हैं, जिनसे धन, सम्पत्ति और पुत्रों की अधिकता दृष्टिगोचर होती है। इसके टखने का जोड़ बराबर है अर्थात् हड्डी उठी हुई नहीं है, टाँगें मांसल हैं तथा उभरी हुई नसों से रहित हैं। नाभि कुछ छोटी तथा गहरी है। उदर तीन वलियों से युक्त है। नख मणि सदृश चिकने, कोमल तथा उठे हुए हैं। अँगुलियाँ सीधी हैं और वक्रता क्रमशः है। कन्धे सुडौल हैं। इस सुकुमारी की कुहनी की हड्डी उठी हुई नहीं है। गर्दन पतली और शंख जैसी है। इसके लाल अधरों की गोलाई बीच में विभक्त है। ठोड़ी पूर्ण और सुन्दर है। माथा प्रौढ़ तथा कठिन है। भवें क्रमशः गोल, काली और चिकनी हैं, आपस में जुड़ी हुई नहीं हैं। नासिका तिल के पुष्प के सदृश है, अधिक बड़ी नहीं। नेत्रों में श्वेत, श्याम और रतनार वर्ण शोभित हो रहे हैं। नेत्र चंचल तो हैं परन्तु मन्द गति से घूमते हैं। माथा चन्द्रमा के खण्ड के समान है। केशराशि इन्द्रनील मणि के सदृश काली और सुन्दर है। कमल जैसे मुख में, तिरछी तथा मुरझाई हुई कमलनाल के सदृश कान मनुष्यों के हृदय को आकर्षित कर लेते हैं। केश घुँघराले अवश्य हैं, परन्तु घूँघर अत्यधिक नहीं हैं। केश सिरे तक काले, सुन्दर, लम्बे और एक-सी प्रकृति के हैं। यह कन्या सुन्दर है, परन्तु सौन्दर्य के अभिमान से इसने शील का परित्याग नहीं किया है। यह कन्या मेरे मन को आकर्षित कर रही है। फिर भी इसकी परीक्षा लेकर ही इससे विवाह करना उचित है, क्योंकि बिना विचारे किया हुआ कार्य कर्त्ता को दुःखों की श्रृंखला में फँसा देता है।

फिर शक्तिकुमार ने कोमल दृष्टि से उस कन्या की ओर देखते हुए कहा, "हे सुन्दरी! क्या तुम इस एक सेर धान से मुझे भरपेट खिलाने के लिए अच्छा भोजन बना सकती हो?"

कुमारी ने अपनी वृद्धा दासी की ओर संकेत किया और उसने शक्तिकुमार के हाथ से उस धान को ले लिया और पाद-प्रक्षालन के पश्चात उसे स्वच्छ और जल छिड़के हुए आसन पर बैठाया। तब कुमारी ने उस धान को धूप में डाल दिया और बार-बार पलट कर सुखा लिया। फिर उसे पक्की और समतल भूमि पर रख कर मूसल के पिछले भाग से धीमे-धीमे कूट कर चावलों को बिना तोड़े उनका छिलका अलग कर लिया। फिर वह अपनी धाय से बोली, "हे माता! इस भूसी से सुनार आभूषण चमकाते हैं। इसलिए तुम इसे किसी सुनार को बेच दो और उससे प्राप्त हुई कौड़ियों से एक साधारण हँडिया, दो कुलहड़ और कुछ लकड़ियाँ ले आओ। लकड़ी मजबूत हो, अधिक सूखी या अधिक गीली भी न हो।"

तब उस कुमारी ने उन चावलों को अर्जुन वृक्ष के काष्ठ की बनी हुई ऊखल में डाल कर कूट लिया। ऊखल का मुँह चौड़ा था और वह न बहुत गहरी थी और न बहुत उथली। मूसल खदिर की लकड़ी का बना हुआ था और उसके ऊपर लोहे का पत्तर चढ़ा हुआ था। मूसल न अधिक हलका था और न अधिक भारी। यथेष्ट लम्बा था और उसका मध्य भाग पतला था। कुमारी ने सूप में डाल कर और कुरेद-कुरेद कर चावलों में से सारा कूड़ा निकाल दिया। फिर चावलों को कई बार पानी में धो लिया। इसके पश्चात उसने चूल्हे का सगुन करके, चावलों में पाँच गुना पानी डाल कर उन्हें आग पर चढ़ा दिया।

जब चावल कुछ पक गए और उनके अवयव ढीले हो गए तो उसने चम्मच से उन्हें घोट दिया और पतीली को उलट कर उनका माँड निकाल दिया। फिर पतीली को उतार कर उसके ढक्कन पर कुछ आग रख दी। शेष लकड़ी को पानी के छींटे देकर बुझा लिया और उसके कोयले बना लिए। बची हुई लकड़ी और कोयलों को धाय बाजार में बेच आई और उससे प्राप्त कौड़ियों से थोड़ा-थोड़ा

साग, घी, दही, तेल, आँवला, इमली आदि ले आई। कुमारी ने इन वस्तुओं में से ही दो-तीन प्रकार के भोज्य पदार्थ, चटनी, रायता, सलाद आदि बना लिये। चावल के माँड को भी नए सकोरों में डाल कर गीली बालू में जमा दिया और पंखे द्वारा धीमी-धीमी हवा करके उसे कुछ ठण्डा कर लिया। फिर उसमें नमक मिला कर उसे अंगार द्वारा धूप से सुगन्धित कर लिया। आँवले को बारीक पीस लिया और दासी द्वारा उससे स्नान करने को कहलवाया। शक्तिकुमार ने क्रमशः तेल और आँवले का प्रयोग करके स्नान किया। स्नान करके वह गीले बदन ही फर्श पर रखे हुए पटे पर बैठ गया। आँगन में ही लगे हुए केले के पेड़ के चौथाई कटे हुए पत्ते पर सकोरे उसके समक्ष लाए गए।

कुमारी ने सर्वप्रथम चावल के माँड की बनी हुई पेय वस्तु (सूप) उसके समक्ष रखी। उसको पीकर उसके शरीर से मार्ग की सारी थकावट दूर हो गई और उसके समस्त शरीर में प्रसन्नता फैल गई। तब कुमारी ने उसकी पत्तल में दो चम्मच चावल डाले और शाकादि अनेक व्यंजन और घी उसको दिया। उसने इस प्रकार मिर्च, सोंठ और पीपल के चूर्ण से युक्त मट्ठे की काँजी से शेष भोजन भी किया। इस प्रकार उसने तृप्तिपूर्वक भोजन किया। तब भी कुछ चावल, शाकादि शेष रह ही गए।

भोजन करने के उपरान्त शक्तिकुमार ने जल की याचना की। तब कुमारी ने नए घड़े के जल को धार बाँध कर गिराया। जल अगरु की धूप, नए गुलाब और उत्फुल्ल कमल की सुगन्ध से सुरभित था। उसने भी मुख पर लगाए हुए सकोरे से हिमवत शीतल उस जल को आकण्ठ किया। शीतल जल के छींटों से उसकी पलकें कुछ लाल और तिरछी हो गईं, धारा के शब्द से उसके कान सुनन्दित हो गए, जल के स्पर्श के सुख से उसके कपोल कठोर और रोमांचित हो गए, सुगन्धित वायु से उसकी नासिका के रन्ध्र फूल गए और मधुरता के कारण उसकी रसनेन्द्रिय तृप्त हो गई।

सिर हिलाकर उसने कुमारी को और जल डालने से रोका और फिर दूसरे हाथ में जल लेकर आचमन किया। वृद्धा धाय ने तब तक जूठन को उठा कर ताज़े गोबर से फर्श को लीप दिया और अपने उत्तरीय द्वारा मध्य में पर्दा कर दिया।

इस प्रकार पूर्णरूपेण तृप्त होकर शक्तिकुमार ने कुमारी से विधिवत विवाह कर लिया और उसे अपने घर ले गया। फिर भी उसकी परीक्षा लेने के लिए शक्तिकुमार ने उससे उदासीन हो जाने का स्वाँग रचा और एक वेश्या को रख लिया। उस कन्या ने वेश्या से भी प्रिय सखी के समान ही व्यवहार किया तथा आलस्य-रहित हो, पति को देवता तुल्य मानकर उसकी सेवा की। गृह-कार्यों को भी वह भली भाँति करती रही। उसने अपने कुटुम्बियों को भी अपने गुणों और चतुरता के वश में कर लिया। उसके गुणों के वशीभूत होकर शक्तिकुमार ने उसे समस्त परिवार की स्वामिनी बना दिया। अपने जीवन और शरीर को भी उसके अधीन करके धर्म, अर्थ और काम तीनों का उपभोग किया।

इसीलिए कहा गया है कि पत्नी के गुण पति को प्रिय लगने वाले और कल्याणकारी होने चाहिएँ।



श्रमजीवी पत्रकारों को कानूनी संरक्षण—(पृष्ठ ६१ का शेषांश)

श्रीगणेश होता है। प्रस्तावित संशोधन विधेयक के अनुसार जो संसद के समक्ष है, श्रमिकों को कार्यालय के स्थायी आदेशों में परिवर्तन कराने व उनका पालन कराने का अधिकार होगा। प्रोवीडेण्ट फण्ड की दर भी ६१/४ प्रतिशत से ८१/३ प्रतिशत बढ़ाने का प्रस्ताव चल रहा है।

छुट्टियों के सम्बन्ध में यह अधिनियम सभी श्रमिक अधिनियमों से अधिक उदार हैं। प्रत्येक कर्मचारी अपने सेवा काल के १।११ भाग की अर्जित व १।१८ भाग की बीमारी की छुट्टी ले सकेगा। अर्जित छुट्टी पूरे वेतन पर व बीमारी की आधे वेतन पर होगी। त्यौहारों की व आकस्मिक छुट्टियों की संख्या सरकार नियमों में निर्धारित करेगी।

इस विधेयक में दो-तीन अन्य धाराएँ भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी हैं। एक धारा के अनुसार जिस कर्मचारी को अनुग्रह धन, वेतन आदि के सम्बन्ध में मालिक से वसूली करनी है वह इस दिशा में राज्य सरकार को एक आवेदन देगा और उस पर सरकार आदेश देकर उस धन को मालगुजारी की भाँति वसूल कर सकती है। इससे रुपये की वसूली के लिए मुकदमेबाजी बच जाएगी। दूसरा अधिकार यह है कि यदि किसी पत्रकार की वर्तमान सुविधाएँ किसी सौदे, शर्त, कानून या अन्य किसी भी भाँति कानून की धाराओं से अधिक हैं तो वह उन समस्त सुविधाओं का उपभोग तो करेगा ही, साथी ही कानून की जो धाराएँ उसके उपयोग की होंगी उनका उपभोग करेगा। इस प्रकार बैंक कर्मचारी विवाद की सी स्थिति कभी उत्पन्न न होगी कि कुछ लोगों के वेतन में कटौती हो।

इस प्रकार इस कानून में यथासम्भव अधिकाधिक श्रमजीवियों के हितों की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। केन्द्रीय सरकार इसके परिपालन के लिए नियम बनाएगी और वेतन बोर्ड की नियुक्ति करेगी। इन नियमों के अन्तर्गत पत्रकारों के प्रोवीडेण्ट फण्ड की एक अलग योजना होगी तथा वेतन बोर्ड पूरे समय के व फुटकर रेट भी तय करेगा। इससे बाहरी सम्वाददाता भी पूरा लाभ उठाएँगे। इस प्रकार देश के तीन हजार नौकर पत्रकार व लगभग एक हजार सम्वाददाता इस कानून से लाभ उठाएँगे। साथ ही इसमें जो सिद्धान्त निरूपित किए गए हैं—जैसे वेतन बोर्ड का, नोटिस का, छुट्टियों का, अनुग्रह धन का—वे भारतीय मजदूर कानून के लिए अभिनव हैं और अन्य श्रमिकों के लिए प्रेरणा केन्द्र होंगे। यह अधिनियम समाजवादी राज्य की कल्पना को एक अंश में कार्यान्वित करने का प्रथम चरण है।

मैथिली साहित्य : प्राक्विद्यापति युग

रमाकान्त झा

भारतीय आर्य एवं तदितर भाषा मध्य मैथिली भाषा-साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है, इसे प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इस ओर विद्वानों का ध्यान अठारहवीं शताब्दी के सप्तम दशाब्द से ही आकृष्ट होता आया है। फलतः भाषा शास्त्रीय दृष्टि से मैथिली के सम्बन्ध में अनेक अनुसन्धानात्मक कार्य हुए हैं। मैथिली साहित्य का अध्ययन-मनन ग्रियर्सन आदि विद्वानों द्वारा बाद में हुआ।

सर्वप्रथम 'अल्फाबेटम ब्राम्हनिकम' (प्रकाशित—१७७१ ई०) में मैथिली पर विचार किया गया और इसे एक पृथक भाषा माना गया। पुनः कालब्रुक ने १८०१ में अपने 'संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएँ' शीर्षक सुविख्यात निबन्ध में तथा श्री फेलोन एवं डा० ग्रियर्सन ने अपनी परवर्ती कृतियों में मैथिली पर व्यापक विवेचन उपस्थित किया। देशीय पण्डितों में श्री हरप्रसाद शास्त्री, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, खगेन्द्रनाथ मित्र, डा० उमेश मिश्र, डा० सुधाकर झा, डा० सुभद्र झा, डा० जयकान्त मिश्र प्रभृति विद्वानों ने नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है मैथिली साहित्य के प्रारम्भिक युग का संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन उपस्थित करना। अतः मैथिली भाषा के सम्बन्ध में यहाँ अधिक और कुछ कहना विषयान्तर होगा। मिथिलेतर क्षेत्र के साहित्यानुरागी विद्यापति की कोमल-कान्त पदावली तथा उनके उत्तरकालीन कवियों की रचनाओं से तो परिचित हैं, किन्तु विद्यापति के पूर्व वाणी के वरद पुत्रों ने मैथिली भारती के चरणों में अपने जो भाव-प्रसून अर्पित किए, उनसे अधिकांश वे अनभिज्ञ ही हैं। मैथिली साहित्य का सृजन मिथिला के अतिरिक्त नेपाल, आसाम, बंगाल एवं उड़ीसा प्रदेश में हुआ। मैथिली साहित्य की अमूल्य निधियाँ उन क्षेत्रों में बिखरी पड़ी हैं, किन्तु अभी तक उन क्षेत्रों में अपेक्षित मात्रा में गवेषणात्मक कार्य नहीं हुए हैं। अतः इस स्थिति में इस काल के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना न तो सम्भव है और न उचित ही। उपलब्ध सामग्री के आधार पर निम्न विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

महायान सम्प्रदाय के बौद्ध सिद्धाचार्यों की रचना मैथिली की प्राचीनतम निधि है। १९१६ में श्री हरप्रसाद शास्त्री नेपाल दरबार पुस्तकालय से पर्याप्त मात्रा में 'गान और दोहे' नोट कर लाए जो 'बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता की ओर से १९१९ में 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से प्रकाशित हुए। श्री शास्त्री का अभीष्ट था बंगला के प्राचीन रूपों का अन्वेषण करना, अतः उन्होंने ऐसे ही पदों का संकलन किया जो आपाततः बंगला से साम्य रखते थे। किन्तु बाद में राहुल जी जैसे विद्वानों द्वारा जिस अपरिमित सिद्ध-साहित्य का उद्धार हुआ, उसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जितना अधिकार उस पर मैथिली का होना चाहिए, उतना किसी अन्य भाषा का नहीं। असमिया, बंगला और उड़िया के विद्वान, जो चर्यापदों पर अपने-अपने दावे कर रहे हैं, वे निराधार एवं भ्रान्तिमूलक हैं। किन्तु चर्यापदों के रचयिता, वर्ण्य-विषय, स्थानीय वातावरण, शब्दावली, वाक्य-विन्यास, व्याकरण एवं भाषा की प्रकृति का सम्यक अनुशीलन करने के पश्चात उन पर मैथिली का सवा-सोलह आना स्वत्व स्थिर हो जाता है। ८४ सिद्धों का उल्लेख कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्ण-रत्नाकर' (१३वीं शताब्दी) के अष्टम कल्लोल में हुआ है। इससे अनुमान किया जाता है कि मिथिला क्षेत्र से उन सिद्धों का घनिष्ठ सम्पर्क था। अपने मत के प्रचारार्थ वे सतत भ्रमण-शील रहते थे और तदर्थ जन-भाषा का सहारा लेते थे। उस समय पूर्वी भाषा समुदाय मध्य मैथिली के अतिरिक्त, किसी जन भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं थी। अतः उन आचार्यों ने प्राचीन मैथिली को अपनी रचना का माध्यम बनाया। कुछ लोगों का तर्क है कि मिथिला बौद्ध धर्म के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही। अतः सिद्ध साहित्य एवं मैथिली का सम्बन्ध अनर्गल-सा दीखता है। उनकी यह उक्ति आंशिक रूप से ही सत्य है। सचमुच मिथिला के ब्राह्मण वर्ग ने बौद्ध धर्म का उग्र विरोध किया, किन्तु निम्नवर्ग ने बौद्ध धर्म के प्रति आदर का भाव प्रदर्शित किया—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए। ब्राह्मणों द्वारा चिरकाल से निम्नवर्ग के लोगों का बौद्धिक एवं सामाजिक शोषण हो रहा था। बौद्ध धर्म ने उन्हें समता का अवसर एवं विश्व मैत्री का सन्देश दिया। अतः उस ओर उनका आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। बाद में मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप भारत से बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन होने के उपरान्त, उन लोगों ने पुनः ब्राह्मण धर्म को स्वीकार कर लिया हो—यह सम्भव है। अद्यतन काल में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव मिथिला में दृष्टिगोचर होता है; यथा, शक्ति की पूजा में पंचमकार पर जोर और तांत्रिक संस्कृति में जादू-टोना की महत्ता। चर्यापद में नदी और नाव का निरन्तर उल्लेख मिथिला का प्राचीन नाम 'तीरभुक्ति' के अनुकूल ही है। सम्प्रति काल में भी मिथिला की जनसंख्या में ग्वालों की अधिकता चर्यापद में वर्णित गोप-जीवन की साक्षी है।

भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से चर्यापद को मैथिली का प्राचीन रूप मानना सर्वथा युक्ति-संगत है। सानुनासिक वर्णों का बाहुल्य मैथिली की प्रकृति के अनुकूल ही है। षष्ठी विभक्ति के 'क', 'एर', 'अर', 'केर' आदि चिह्न मैथिली के हैं। आधुनिक मैथिली में 'कर' (हुनकर), 'क' एवं 'करे' रूप विद्यमान हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम

'अप्पण', 'मा', 'मजे' मैथिली के हैं और मध्यम पुरुष 'तो', 'तोहर', 'तोरा' जैसे प्रयोग तो चर्यापद में अधिकता से हुए हैं। क्रियापद तो स्पष्टतः प्राचीन मैथिली के हैं ही; यथा 'थक', 'अछ' आदि। आधुनिक मैथिली में उनके रूप क्रमशः 'थिक' और 'अछि' हो गए हैं।

शब्दावली का आधा से अधिक अंश मैथिली का है जो आधुनिक मैथिली में उसी रूप में मिल सकता है, यथा—अप्पण, विनु, अवस्स (अवश्य), पइसल, पाँक, चँगेड़ा, भनइ (भनइ विद्यापति), चउदह, बेढ़, वैरी, सोहाली (साहारी), हक्क (हाक), पियरि (पीअर) दुव्वरि, खण-खण, घुंप (खोपा), खोरू (खोर), तौंति, बेंग (मेंढक), माँझ, मइलि, तिम्मण (व्यंजन), अणठीया आदि।

स्व० काशीप्रसाद जयसवाल, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० उमेश मिश्र, डा० सुभद्र झा, डा० जयकान्त मिश्र आदि विद्वानों ने एक स्वर से बौद्ध सिद्ध साहित्य की भाषा को मैथिली का प्राचीन रूप और उसे मैथिली का प्राचीनतम साहित्य स्वीकार किया है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने 'बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास' (पृष्ठ ११७) में स्वीकार किया है कि चर्यापदों को लिखित रूप नेपाल में दिया गया—'जहाँ मैथिली प्रचलित थी और नाटकों में उसका प्रयोग होता था; और दक्खिन-पूर्वी नेपाल (मोरंग देश) में मैथिली बोली जाती थी। अतः चर्यापद में मैथिली रूपों का होना स्वाभाविक ही है।'

चर्यापद की विषय-वस्तु सिद्धों की रहस्यात्मक साधना और अनुभूति है। इसका उद्देश्य था बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्धान्तों का प्रचार करना। अतः इसमें साहित्यिकता की मात्रा अधिक नहीं है, किन्तु मैथिली भाषा के विकास-क्रम को समझने में उसकी उपादेयता महान है।

अब उपरोक्त उपस्थापना की पुष्टि में चर्यापद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

(१) 'पुणु धसइ पुणु खसइ, पुणु ललइ पुणु घुमइ'

(२) 'केअइ धूलि सव्वदिस पइसइ, पीअर सव्वइ भासे
आउ वसंत काह सहि करिअइ, कंत न थाकइ पासे।'

(हि० का० ३२४)

(३) काजण कारण ण एहु जुगती
मअ संवेअण बोलथि सान्ती

(चर्यापद)

(४) अप्पण माँसे हरिणा वइरी, खणहु ण छाड़इ भुसुक अहेरी
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो, ए बन छाड़ि होहु भान्तो

(भुसुकपाद, ८०० ई०)

(५) तरुफल दरिसण णउ अग्घाइ
वैद देखि की रोग पलाइ

(साहपाद, ७६० ई०)

सिद्ध साहित्य के बाद का जो मैथिली साहित्य है वह अद्यावधि मौखिक ही है। स्वभावतः कलाप्रिय मैथिल लोक-समुदाय शताब्दियों से उसे अपनी जिह्वा पर सुरक्षित रखती आई है। वह है लोरिक का गीतमय काव्य। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ज्योतिरीश्वरकृत 'वर्ण रत्नाकर' मध्य नगर वर्णन के प्रसंग में आया है। लोरिक की गीत-कथा ज्योतिरीश्वर के समय मिथिला के सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी; अन्यथा 'वर्ण रत्नाकर' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ में उसका उल्लेख नहीं होता। लोक-प्रिय एवं लोक-प्रचलित होने में किसी साहित्यिक कृति को कुछ समय की अपेक्षा होती है। अतः इसका रचना-काल अनुमानतः 'वर्ण रत्नाकर' से दो शताब्दी पूर्व (लगभग ११ शताब्दी) माना जा सकता है। लोरिक का मैथिली साहित्य में वही स्थान है जो आल्हखण्ड का हिन्दी में। लिखित रूप के अभाव में कालक्रमेण इसमें भाषागत परिवर्तन होता रहा है। तथापि कोटि-कोटि निरक्षर, किन्तु भावुक, हृदय की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पिपासा की परितृप्ति जो इसके द्वारा हुई है, वह क्या कम महत्त्व का विषय है?

लोरिक का विषय घटना-संघटन मध्ययुगीन, तथा वातावरण एवं शैली रोमांटिक है। इसमें लोरिक के प्रणय एवं युद्ध के प्रसंगों का वर्णन है। लोरिक एक ग्वाल युवक है। उसकी विवाहिता स्त्री का नाम मंझारी है जो अनुपम रूपमती है। एक दिन प्रातःकाल लोरिक राजा सहदेव की पुत्री चनैन से प्रणयालाप कर रहा था कि मंझारी ने देख लिया। ज्योतिष गणना में निष्णात मंझारी उनके सम्भाषण के विषय से अवगत हो गई तथा उनके पलायन की योजना को विफल करने का प्रयास करने लगी। किन्तु दैवी सहायता से लोरिक चनैन के साथ निशीथ वेला में हरदी (एक स्थान) के हेतु चल पड़ा। मार्ग में चनैन साँप के काटने से मर गई। लोरिक का अश्रभेदी करुण-क्रंदन स्वर्ग तक पहुँचा। देवताओं की सभा ने एक देवी को विषय का अनुसंधान करने के लिए नियुक्त किया। उसने लोरिक के अनन्य प्रेम एवं हृदय-द्रावक व्यथा से आर्द्र होकर चनैन को पुनर्जीवित कर दिया। वे आगे बढ़े और अपने गंतव्य स्थान को पहुँचे। वहाँ के मोचनि राजा का समुचित अभिवादन न करने के कारण लोरिक उसका कोप-भाजन हुआ। दोनों के बीच भीषण युद्ध हुआ जो निरन्तर सात दिनों तक चलता रहा। पुनः दैवी शक्ति की मध्यस्थता से संधि हुई। लोरिक को मोचनि के राज्य का अर्द्धांश मिला। वह वहाँ पूरे बारह वर्षों तक चनैन के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करता रहा। एक रात अचानक उसकी विवाहिता पत्नी एवं वृद्धा माता की करुण स्मृति उसके हृदय को विलोड़ित करने लगी। दूसरे दिन प्राची दिशा में सूर्य की प्रथम किरण के फूटने के पूर्व ही वह अपने ग्राम-देश को चल पड़ा। निरन्तर दिन भर चलने के बाद संध्या काल वह घर पहुँचा। मंझारी के प्रति किए गए विश्वासघात पर पश्चाताप प्रकट कर पुनः वह उसका प्रेम-भाजन हुआ। मंझारी और चनैन सहोदरा की भाँति प्रेमपूर्वक रहने लगीं और लोरिक की माँ के सुख-आनन्द का तो कुछ कहना ही नहीं।

संक्षेप में लोरिक का यही कथानक है। जहाँ कहीं भी मार्मिक प्रसंग आया है उसका हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है। लोरिक-चनैन का पलायन, मंझारी की विरह-व्यथा, लोरिक-मोचनि का रोमांचकारी युद्ध आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनका सजीव चित्रण हुआ है। अथ से इति तक महाकाव्योचित शैली का अनुसरण हुआ है। नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य

का वर्णन मध्ययुगीन परिपाटी के अनुकूल हुआ, यद्यपि भाषागत परिवर्तन के कारण वह प्रभाव अक्षुण्ण नहीं रह सका है।

निम्न पंक्तियों में चनैन का सौन्दर्य कितना निखर सका है :

आँगी में जे झाँगी सोभई, रतन लागल चारि
सोन टाँकल मखमल सोभई, गोटा झमकारि
हँसइ जखन दामिनि छिटकई, हँसक ठुम्मकि चालि
जकरा दिशि उठा के ताकई, देइ करेजा सालि

हंस की चाल तथा नायिका के हँसने पर दामिनी चमकने की चर्चा कर उपमा-रूपक की प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया गया है।

लोरिक एक पराक्रमी योद्धा था। अतः उसका वर्णन भी उसी के अनुरूप हुआ है। निस्संदेह आधुनिक नायिका उसके रूप को देखकर आह्लादित न होकर भयग्रस्त हो जाय, किन्तु रूपवती चनैन तो उसी पर विमोहित थी :

रूप मन-मन कान झुलई, छिट्टा सनक कपार
डाँका मन-मन आँखि झुलई, दाँत जेना फार
लट भरि टिक्की फहराइ झुलई, माना हाथ चार
मुट्ठा भरि जे डाँड़ झुलई, धोती पेचदार

जनरल कनिंघम ने पुरातत्त्व पर्यवेक्षण १८८३ के प्रतिवेदन में 'अतिमानवीय शौर्य का योद्धा' लोरिक से सम्बन्धित निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

अस्सी मन के सेलो, चौरासी मन के खाड़
मन पचहत्तरि के जन्वू कटार
सात मे मन मलसेवा, बावन मन के सोनमुठ कटार
बाइस मनके झिलमिल, अस्सी मनक लोहबंद
सात गाड़ाक भरता लोरिक कसर लागइ बाँध

विस्तार-भय से अधिक उद्धरण नहीं दिए जा रहे हैं। सम्पूर्ण काव्य में प्रेम, विरह, मिलन, युद्ध, पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता आदि का अनोखा वर्णन हुआ है। सर्वाधिक महत्त्व का विषय यह है कि इस काव्य का नायक प्राचीन परम्परानुसार कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय सामन्त नहीं—एक ग्वाल युवक है।

साहित्यिक गुणों के अतिरिक्त 'लोरिक' का समाज शास्त्रीय महत्त्व भी बहुत अधिक है। तत्कालीन मिथिला के इतिहास, राजनीति, भूगोल एवं सामाजिक स्थिति आदि अनेक विषयों का ज्ञान 'लोरिक' द्वारा होता है। अभी तक 'लोरिक' का छिटपुट संकलन एवं प्रकाशन हुआ है। एक सुसम्बद्ध संकलन एवं सुसम्पादित संस्करण की नितान्त अपेक्षा है।

'लोरिक' के बाद का साहित्य भी अधिकांश अलिखित ही है; यथा डाक-वचन, दीन भद्रीक गीत, विहुला आदि। इन सबों का विषय-क्षेत्र विभिन्न और व्यापक है। अनुमानतः ये रचनाएँ इसी युग की हैं। कुछ अंशों में इनका संकलन एवं प्रकाशन भी हुआ है। इन अलिखित लोक-काव्यों के बाद इस युग की अनुपम विभूति कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' है।

वर्णरत्नाकर तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की रचना है। यह ग्रन्थ हरप्रसाद शास्त्री के सहकर्मी, पं० विनोद विहारी काव्यतीर्थ द्वारा मिथिला से गवेषित होकर 'रायल एसियाटिक सोसाइटी बंगाल' के तत्वावधान में प्रकाशित हुआ। सम्पादन एवं भूमिका लेखन का कार्य डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या तथा श्री बबुआ जी मिश्र ने किया है। यह मैथिली का उत्कृष्ट गद्य-ग्रन्थ तो है ही श्री चाटुर्ज्या महोदय के मतानुसार आधुनिक भारतीय आर्य भाषा मध्य प्रामाणिक रचनाओं में भी यह सर्व प्राचीन है।

यह ग्रन्थ आठ 'कल्लोल' (अध्याय) में समाप्त हुआ है। कुछ अंश विनष्ट हो गए हैं, किन्तु जो अवशिष्ट हैं वे सुन्दर एवं सुपाठ्य हैं। नगर वर्णना, नायक वर्णना, आस्थानक वर्णना, ऋतु वर्णना, प्रयानक वर्णना, भाट वर्णना, श्मशान वर्णना एवं राज्य पुत्र वर्णना इसका विषय-क्रम है। यद्यपि यह एक प्रकार का लक्षण ग्रन्थ है, जो परवर्ती काव्यकारों के लिए निर्देश-पुस्तक के काम आया, तथापि इसमें ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ ज्योतिरीश्वर की काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठी है।

नायिका के रूप-सौन्दर्य के प्रत्यक्ष चित्रण के अभाव में भी दर्शक पर उसके मोहक प्रभाव का वर्णन निम्न पंक्तियों में हुआ है—

'जनि कामदेव संसार जिति आएल तकरि पताका। जनि एकर रूप देयकें इन्द्र सहस्राक्ष भेलाह, ब्रह्मा जे चतुर्मुख कए हलु। जनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह।'

अब निष्कलंक चाँद जैसा मुख और यमुना की तरंग जैसी भौंह वाली सखी के सौन्दर्य का साक्षात दर्शन किया जाय :

'काम देवक नगर अइसन शरीर। निस्कलंक चान्द अइसन मुह।
कंदल खंजरीट अइसन लोचन। ओंकरक सलाका अइसन नाक।
यमुनाक तरंग अइसन भउह। सोनाक साप अइसन कान।
अन्धकार लता अइसन विरनी। पाकल बिंब अइसन अधर।
काम देवक पाश अइसन बाँह।'

पुनः नायिका का हास्य वर्णन जैसा कलापूर्ण एवं मनहर हुआ है वैसा तो संस्कृत साहित्य में भी मिलना दुर्लभ है :

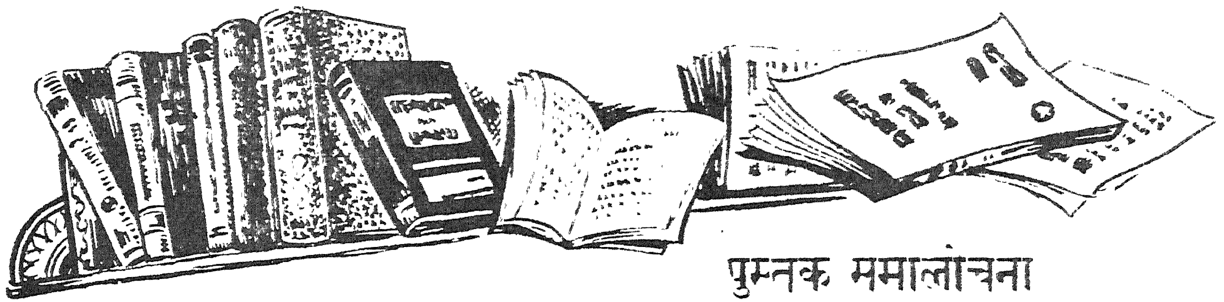
'क्षीर समुद्र दक्षिणानिलें चालल तरंग सनक लहरी अइसन। अमृत सरोवर तरंगक सहोदर अइसन। शरतक पूर्णिमा चान्दक ज्योत्स्ना अइसन। त्रैलोक्यक नागरजन युवजन हृदय मोहन मंत्र सन।'

महान प्रतिभा सम्पन्न काव्यकार की कल्पना सर्वदिक्गामी होती है। अतः ज्योतिरीश्वर ने प्रकृति (मानव + मानवेतर) के भव्य एवं भीषण; कोमल एवं कठोर दोनों ही पक्ष के चित्रण में समान दक्षता का परिचय दिया है। बैताल का वर्णन 'सखी वर्णना' की पृष्ठभूमि में देखा जाय, कितना कुरूप और भयावह है :

'कंसारिक भाल पजरल अइसन मुह। ओवारी दीप लेसल अइसन आँखि। हथिनाक पात अइसन कान। फेदखाजुरीक केसर अइसन भौंह। फरहदा फूल अइसन नह।'

अब अन्त में वर्षा रात्रि के निविड़ मांसल अंधकार का वर्णन देखा जाय :—

(शेष पृष्ठ ७२ पर)



पुस्तक समालोचना

रक्त का मोड़ : लेखक—श्री राम शर्मा 'राम': प्रकाशक—भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली: पृष्ठ ३४०: मूल्य २॥)

इस उपन्यास के सम्बन्ध में लेखक का यह कथन है कि प्रस्तुत उपन्यास की कथा एक व्यक्ति की नहीं अपितु एक समाज और देश की कथा है। पहले इसी कसौटी पर इस उपन्यास की जाँच की जाए तो यह कहना पड़ेगा कि समाज और देश की कथा इस पुस्तक में बहुत कम आती है। लगभग १०० पृष्ठ तक तो यह उपन्यास बिल्कुल एक साधारण प्रेम सम्बन्धी उपन्यास की तरह चलता रहता है, बाद को चलकर एकाएक पता नहीं कहाँ से उपन्यास के दोनों नायक पहले एक और बाद को दूसरा क्रान्तिकारी के रूप में दिखाए जाते हैं। समसामयिक समाज और आन्दोलनों का कहीं कोई विशेष जिक्र नहीं और जो है वह बहुत छिछला है। कहीं पर भी लेखक सामाजिक-आर्थिक शक्तियों की गहराई में नहीं उतर पाते।

थोड़े में इस उपन्यास का कथानक यह है कि आत्माराम अपने मित्र विपिन को लेकर अपने गाँव में आता है और विपिन का परिचय आत्माराम की भावी पत्नी रजनी से होता है। रजनी का पिता विपिन को अधिक धनी देख कर उसी से अपनी लड़की की शादी करना चाहता है पर रजनी की निष्ठा के सामने उसकी एक नहीं चलती और अन्त में आत्माराम और रजनी की शादी हो जाती है, पर रजनी के पिता ने विपिन से रजनी की शादी की बात किसी न किसी रूप में कही थी, इसलिए विपिन के मन में आलोडन उत्पन्न होता है। यहाँ तक आत्माराम और विपिन दोनों बहुत कमजोर दिलों के व्यक्ति करके दिखाए जाते हैं। इस कथानक में एक स्वामी जी भी हैं जो जब तब आते हैं। वही स्वामी जी पहले-पहले रजनी को बताते हैं कि विपिन क्रान्तिकारी है। आत्माराम को कुछ यह शक होता है कि शायद विपिन और रजनी एक-दूसरे को चाहते हैं इसलिए शादी के बाद तो नहीं पर जब वह एक लड़के का बाप हो चुका होता है तब वह एकाएक रजनी को विपिन के घर बहाना करके छोड़ आता है। विपिन और रजनी का कुछ मानसिक द्वन्द्व दिखलाया जाता है पर इसमें मनोविज्ञान की बराबर हत्या की जाती है। इस प्रकार से चलते हुए कथानक में यह दिखाया जाता है कि आत्माराम अहिंसा का मार्ग अपना कर चला जाता है, रजनी क्रान्तिकारियों की गुप्त सभाओं में जाती हुई दिखाई देती है इत्यादि इत्यादि। विपिन क्रान्तिकारी मामले में पकड़ा जाता है पर मुखबिर बन जाता है। अन्त में रजनी के कारण उसे अदालत में बयान वापस लेते हुए तथा बाद को चल कर स्वेच्छा से फाँसी पर चढ़ते हुए दिखाया जाता है।

इस संक्षिप्त रूप में कथा फिर भी दिलचस्प मालूम होती है, पर कथा जिस रूप में लिखी गई है उसे पढ़ते-पढ़ते पाठक बराबर ऊब जाता है। लेखक न तो क्रान्तिकारी आन्दोलन को चित्रित करने में सफल हुआ है न गांधी जी के आन्दोलन को। इन दोनों आन्दोलनों के नेताओं में जो बहस हुई है उसमें भी कहीं कोई गहराई नहीं। यदि एक वाक्य में कहा जाए तो उपन्यास आदि से अन्त तक ऊलजलूल है और उपन्यास में जिस एक गुण के होने से सब दुर्गुण छिप जाते हैं यानी रोचकता, वह तो इसमें कहीं भी नहीं है। लेखक को ऐसे विषय में लिखना चाहिए जिसका उसे स्वयं ज्ञान हो और यदि वह ऐसे विषयों को लेता है जिनका उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है तो उसे अच्छी तरह अध्ययन करके तभी लेखनी उठाने का साहस करना चाहिए।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

प्रेत की छाया : लेखक—ज्योतिन्द्रनाथ: प्रकाशक—अरुण पुस्तक माला, लहरिया सराय: पृष्ठ संख्या १३४: मूल्य १)

विधाता की भूल : लेखक—वही: प्रकाशक—राजेन्द्र प्रकाशन, पटना—४: पृष्ठ संख्या १७६: मूल्य २)

ये दोनों कहानी संग्रह हैं। इनके लेखक नवोदित कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में लगभग वे सब गुण विद्यमान हैं जो एक कहानी को पढ़ने योग्य बनाते हैं। कहानियों में कला है, संवेदन है, रोचकता है और आशा होती है कि आगे चलकर श्री ज्योतिन्द्रनाथ हिन्दी साहित्य को कुछ चिर स्मरणीय कहानियाँ दे सकेंगे। कुछ कहानियाँ तो मन को पकड़ लेती हैं—जैसे 'अपराधी' कोई और लेखक इस कहानी का सुखान्त बनाकर एक आदर्शवादी कहानी बना सकता था, लेकिन श्री ज्योतिन्द्रनाथ इस लालच से बचे रहे और उन्होंने इस कहानी की कंचन को नरक में ही पड़ा रहने दिया। नवल के हृदय में अपनी ओर से कोई दया नहीं पैदा की। इसीलिए यह कहानी तिलमिला देती है। इसी प्रकार 'रूप का मोह' कहानी भी बहुत चुटीली है। और भी ऐसी कहानियाँ हैं जिनकी याद बहुत देर तक रहती है। कुछ कहानियाँ मात्र वर्णन बन कर रह गई हैं, लेकिन जहाँ कहीं लेखक ने गहरा पैठने का प्रयत्न किया है वहाँ वह सफल हुआ है मनुष्य के अन्तर को बाहर खींच लाया है—जैसे 'एक घटना'

की सुमन। 'सन्देह का विष' नामक कहानी में दर्द तो है लेकिन इस प्रकार सन्देह हो जाना और तुरन्त ही इतनी बड़ी घटना का घट जाना कुछ विश्वसनीय नहीं लगता; यों दुनिया में क्या नहीं हो जाता। सामाजिक कहानियों के अतिरिक्त जो दूसरी कहानियाँ इसमें हैं वे इतनी अधिक सफल नहीं हो सकीं।

यही बात 'प्रेत की छाया' कहानी संग्रह के बारे में भी कही जा सकती है। 'प्रेत की छाया' कहानी स्वयं एक अति कल्पनात्मक कहानी है। आज के युग में कौन इस पर विश्वास करेगा। 'स्मृति के आँसू' कहानी निस्सन्देह दिल पर चोट करती है। उसकी सरलता और उसकी मनोवैज्ञानिक पकड़ प्रभावशाली है। '२० दिन' और 'मन का दोष' कहानियाँ 'अपराधी' कहानी की तरह बहुत ही स्वाभाविक दर्दभरी कहानियाँ हैं। लेखक ने हास्य रस की एक ही कहानी लिखी है 'इलाज', लेकिन उसमें भी वह काफी सफल हुआ है।

सब मिलाकर ये कहानियाँ पढ़ने लायक हैं, पकड़ती भी हैं। लेकिन एक बात मैं कहना चाहूँगा—कहानी-लेखन की जो कला है लेखक अभी उसको पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सका है। कहानी कहाँ से आरम्भ होनी चाहिए, कौन-सी बातें बड़ी आसानी से छोड़ी जा सकती हैं,—यह अभी उसे सीखना है। अधिकांश कहानियाँ व्यर्थ के वर्णन से लम्बी हो गई हैं। लम्बी होने का अर्थ पृष्ठों से नहीं है, बल्कि पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि काश कि लेखक इन बातों को न लिखता। यह सब कुछ अनुभव और अभ्यास की बात है। शिल्प के इस दोष के अतिरिक्त हम इन कहानियों का हृदय से स्वागत करते हैं और हमें पूर्ण विश्वास है कि लेखक आगे चलकर हिन्दी कथा साहित्य की अच्छी सेवा करेगा।

रसभरी कहानियाँ : लेखक—श्री सुदर्शन; प्रकाशक—बोहरा एण्ड कम्पनी; पब्लिशर्स लि०, कालबादेवी रोड, बम्बई; पृष्ठ संख्या ८८; मूल्य १)

रसभरी कहानियाँ सचमुच ही रसभरी हैं। भाषा, भाव और गठन व दृष्टियों से वे उन बालकों के लिए हैं, जिनके लिए लिखी गई हैं। जैसा कि लेखक ने स्वयं लिखा है आसान भाषा लिखना बड़ा कठिन है। पुस्तक में एक भी मिलवाँ या जुड़वाँ अक्षर नहीं है। बालक और अशिक्षित प्रौढ़ भी बड़ी आसानी से पढ़ सकते हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो कि हम शायद बचपन से सुनते आ रहे हैं। सर गंगाराम के बड़ा बनने की कहानी भी बड़ी रोचकता से बताई गई है। इसी प्रकार हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर जो विजय प्राप्त की गई है उसको भी एक परी की कहानी द्वारा बड़ी सुन्दरता से समझाया गया है। वह लेखक की अपनी सूझ-बूझ और मौलिकता का परिचायक है। लेकिन हमें इस संग्रह में एक-दो कहानी के आने पर जरा आपत्ति है। एक तो 'परी ने बदला लिया' कहानी जिसमें शादी की चर्चा आती है, दूसरी 'दारू पीना बहुत बुरा'। बेशक इनका उद्देश्य अच्छा है लेकिन जिस तरह कहानी सामने आती है हमें डर है वह शायद उचित प्रभाव न डाल सके। बहरहाल वह मेरी अपनी राय है। अन्यथा इस संग्रह की कहानियाँ सरल, सरस और शिक्षाप्रद हैं। इनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि ये उपदेश नहीं देतीं। कहानी सुनाती हैं। मनोरंजन के द्वारा सीख देती हैं। छपाई, सफाई, चित्र सब ठीक हैं।

उलझन : लेखक—राजाराम शास्त्री; प्रकाशक—सहयोगी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ७६; मूल्य १॥)

प्रस्तुत संग्रह में तीन नाटक हैं। इनके लेखक बहुत दिनों से ऑल इण्डिया रेडियो के लिए नाटक लिखते आ रहे हैं। भूमिका में श्री प्रेमनाथ दर ने हिन्दी में नाटकों के अभाव के बारे में काफ़ी चर्चा की है और नाटक के नाम पर जो कुछ सामने आ रहा है उस पर भी काफ़ी रोष प्रकट किया है।

संग्रह के पहले नाटक 'जनसेवक' में शास्त्री जी ने एक जनसेवक का चित्र खींचा है। भाषा बोलचाल की है और नाटक प्रभाव डालने वाला है, लेकिन उसमें नृत्य की जो योजना प्रस्तुत की गई है वह बहुत स्वाभाविक नहीं मालूम होती। 'हरि के प्यारे' दूसरा नाटक है। रेडियो से प्रसारित हो चुका है। रंगमंच पर शायद ही उसका उपयोग हो सके। कथा का स्थान यमलोक है। कुल मिला कर साधारण नाटक है। तीसरा नाटक 'उलझन' भी रेडियो से प्रसारित हो चुका है। शास्त्री जी में हास्य की वृत्ति है लेकिन भूमिका लेखक का यह दावा कि स्वस्थ हास्य एकांकीकारों में वह सर्वोत्तम हैं, गलत ही नहीं अनुचित भी है। यों भी इन तीनों नाटकों में वह ऊँचाई नहीं है जो एक नाटककार में होनी चाहिए। एक सीमित स्थिति में, एक सीमित जनवर्ग के लिए ये अच्छे हैं, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि शास्त्री जी में तत्व वर्तमान हैं, जो उन्हें एक सफल नाटककार बना सकते हैं बशर्ते कि वे वर्तमान नाट्य कला का अच्छी तरह से अध्ययन करें। छपाई, सफाई साधारण है। मूल्य अधिक है।

—विष्णु प्रभाकर

सावित्री : लेखक—प्रो० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र', एम०ए०; प्रकाशक—ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना-४; पृष्ठ संख्या ११५; मूल्य १॥)

सावित्री के विषय में उसके रचयिता का कहना है कि वह इसे महाकाव्य की परम्परा में लिखना चाहते हुए वैसा न कर सका क्योंकि सावित्री के चरित्र को उभारना ही उसका उद्देश्य था। फिर भी यह काव्य पुस्तक प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई है। पुस्तक वर्णन प्रधान है। कवि ने भावों की गहराई में उतरने की बजाय वर्णन की विशदता में जाना ही समीचीन समझा है। इस दृष्टि से यह एक सफल काव्य है। कहीं-कहीं कवि भावों में डूबता अवश्य है, जैसे इन पंक्तियों में :—

यह अरुणिमा लायगी शुभ रात,
रात लायेगी सुखद बारात।
वह पिरोयेगी पृथक् दो गात,
गात होंगे पुलक-श्रमजल-स्नात।
जल रचेगा प्रेम-स्वर अवदात,
सर खिलायेगा प्रमुद-जलजात;

जलज मांहेगा स्पृहा-अलि-व्रात,
प्रात यह, जीवन-प्रफुल्ल-प्रभात।

परन्तु वर्णन-क्षमता ही स्थान-स्थान पर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होती है, जैसे इन पंक्तियों में :—

ढँक लिया था घोर तम ने मेदिनी-आकाश,
पत्र कम्पन-हीन, मानों रुक गया जग-श्वास।
जल रहे ऊपर नखत के दीप शत अम्लान,
जल रहे नीचे कुटी में दो नयन द्युतिमान।

भूमिका में द्विजेन्द्र जी ने तोरूदत्त और अरविन्द द्वारा रचित सावित्री विषयक काव्यों की चर्चा की है और इस बात पर दुःख प्रकट किया है कि हिन्दी के किसी कवि की दृष्टि सावित्री जैसे उदात्त चरित्र के चित्रण की ओर नहीं गई। यह अच्छा ही हुआ कि द्विजेन्द्र जी ने सावित्री लिख कर उक्त कमी की पूर्ति की। परन्तु अपने इस प्रयास में वह न तो तोरूदत्त कृत सावित्री की गहरी काव्यात्मक सम्वेदना ला सके और न अरविन्द कृत सावित्री की गहरी प्रतीकात्मक और दार्शनिक उदात्तता ही। हाँ, सामान्य पाठकों के लिए सावित्री अवश्य ही एक सुन्दर वर्णनात्मक काव्य ग्रन्थ सिद्ध होगा। भाषा और छन्द की दृष्टि से सावित्री प्रायः निर्दोष है और इसीलिए जो दो-एक दोष मिलते हैं उनका निराकरण हो जाए तो अच्छा होगा। पृष्ठ ७ पर यह पंक्ति है—'सुलझ न पाई, गई उलझती पल-पल तू मकड़ी-सा' और पृष्ठ २७ पर यह पंक्ति—'काम-मोह का मुग्ध शलभ पड़ जिसमें होते च्वार।' व्याकरण की दृष्टि से 'मकड़ी-सा' के स्थान पर 'मकड़ी-सी' और 'का' के स्थान पर 'के' होना चाहिए था।

एक बात, जिसकी चर्चा मैं पहले भी 'आजकल' के इस स्तम्भ में कर चुका हूँ, फिर दुहरा देना चाहता हूँ। हिन्दी की पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हो रही हैं। उनमें से अनेक पुस्तकें अनुपम सजधज के साथ प्रकाशित हो रही हैं। परन्तु प्रूफ़ की भूलों की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। 'सावित्री' में भी दो पृष्ठों का शुद्धि-पत्र लगाया गया है। काव्य ग्रन्थ में प्रूफ़ की प्रायः एक सौ भूलों के होने पर यह स्वाभाविक है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते खीझ जाए और वह पुस्तक को परे हटा दे!

हिन्दी रुबाइयाँ: लेखक—उदयभानु 'हंस' एम०ए०; प्रकाशक—अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ७२; मूल्य १।)

इस काव्य ग्रन्थ को 'हिन्दी कविता में एक नया प्रयोग' कहा गया है परन्तु समझ में नहीं आया कि इसमें नया क्या है जिसको प्रयुक्त किया गया है। रुबाइयों का प्रचलन उर्दू में काफी लम्बे समय से है। हिन्दी में भी इस माध्यम को इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले ही अपनाया जा चुका है। यदि विषय की दृष्टि से यह दावा किया गया है कि यह एक नया प्रयोग है तो वैसी भी कोई बात देखने में नहीं आई। प्रेम, विरह, देश-प्रेम, भक्ति, रूप, यौवन, दीवाली, आशा, महापुरुष, पाप, एकता, आदि पिष्टपेषित विषयों पर ही रुबाइयाँ लिखी गई हैं। परन्तु उस दावे को भुला दिया जाए तो कहना होगा कि हंस जी की अनेक रुबाइयाँ हृदय को काफी गुदगुदाती हैं। बानगी के तौर पर यह रुबाई देखिए:—

तुम प्रेम को जीवन की निशानी समझो,
जो बहता रहे उसको ही पानी समझो,
जब हृदय बुढ़ापे में भी रंगीन रहे,
तुम ऐसे बुढ़ापे को जवानी समझो॥

इसी प्रकार पृष्ठ २८ पर दी गई इस रुबाई को पढ़कर आप को रीतिकालीन कवियों की चमत्कार-प्रियता का स्मरण हो आएगा—

अब और न अपमान सहे जायेंगे,
सच कहते हैं, सच बात कहे जायेंगे,
माथे का पसीना ही निचोड़ें यदि मिल कर,
तिनके की तरह शत्रु बहे जायेंगे।

हंस जी की 'पाप' सम्बन्धी रुबाइयाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि उनमें मनुष्यत्व की आड़ में पाप के औचित्य को बार-बार सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास कुछ बचकाना-सा ही लगता है, क्योंकि स्वयं हंस जी ने पृष्ठ ४५ पर कहा है—

जिस व्यक्ति के जीवन में सदाचार नहीं,
निर्धन के लिए दिल में भरा प्यार नहीं,
आता ही नहीं देश पे मरना जिसको,
उस नीच को जीने का भी अधिकार नहीं॥

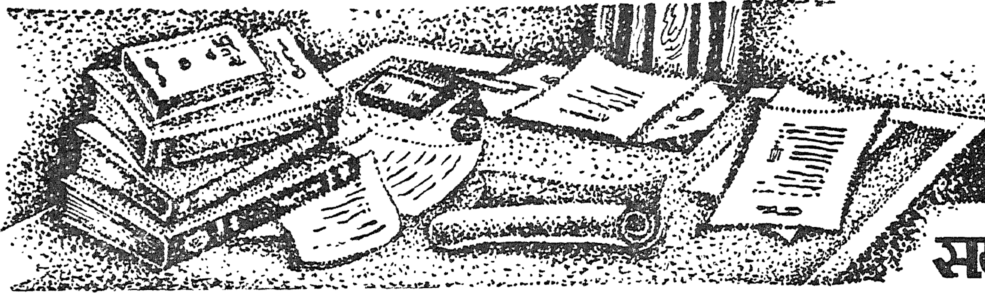
कलाकार का दर्पण: लेखक—श्री इन्द्रिय दमन 'कौशिक'; प्रकाशक—हिन्दी साहित्यकार-संसद् दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य ३)

तरुण कवि ने इस संग्रह को 'मेरा प्रथम दुधमुहाँ प्रयास' कहा है और यह भी कहा है कि 'इस किशोरावस्था में जो मैंने यह साहस किया उसके लिए विनीत हूँ। कोई सन्देह नहीं इस कार्य के पश्चात् मैं उपहासास्पद बन जाऊँ।' इस स्वीकारोक्ति के बाद संग्रह की कविताओं के विषय में कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। हाँ, एक बात अवश्य कहना चाहूँगा कि कौशिक जी यदि अपनी कविता संग्रह को प्रायः दस वर्ष और न छपाते तभी अच्छा होता। जिस सन्तान का कोई भी अंग पूर्णतः विकसित न हुआ हो उसे दुनिया में लाने के प्रयास का एक ही परिणाम हो सकता है: उस सन्तान की अकाल मृत्यु।

किरातार्जुनीय: अनुवादक—मुरलीधर दीक्षित, जगन्नाथ प्रसाद चौबे; प्रकाशक—जन-सहयोग नव-साहित्य-प्रकाशन-मन्दिर, कटनी, (सीमेण्ट,) म० प्र०; पृष्ठ संख्या १७६; मूल्य २॥)

महाकवि भारवि-प्रणीत किरातार्जुनीय के इस पद्यानुवाद में मूल की आत्मा को यथेष्ट परिश्रम-पूर्वक सुरक्षित रखा गया है। अनुवाद में छन्दों का सहज निर्वाह हुआ है। भाषा प्रवाहयुक्त और भावोचित है। संस्कृत के अमर काव्यों के ऐसे सुन्दर अनुवाद जितने भी अधिक हों उनसे हिन्दी की श्री-वृद्धि होगी। केवल एक ही बात से मैं सहमत नहीं हो सका। अनुवादकों ने महाकवि भारवि की मूल रचना के उन अंशों को छोड़ दिया है जिनमें, उनके शब्दों में, 'खुले शृंगार' का वर्णन था।

(शेष पृष्ठ ७१ पर)



लोकमान्य तिलक की सौवीं जयन्ती

२३ जुलाई १९५६ को भारत में स्वाधीनता की अर्वाचीन लहर के जन्मदाता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की सौवीं जन्म जयन्ती बड़े उत्साह और धूमधाम के साथ मनाई गई। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक एक महान लोकनायक होने के अतिरिक्त एक महान विद्वान तथा उच्चकोटि के पत्रकार भी थे। भारतीय कांग्रेस को उन्होंने मध्य श्रेणी की संस्था बनाया, उससे पहले वह केवल धनिक शिक्षित वर्ग की ही संस्था थी। और उनके बाद गांधी जी ने उसे देश भर की जनता की संस्था बना दिया। इस अवसर पर 'आजकल' परिवार की ओर से हम लोकमान्य की दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

आशा के चिन्ह

पिछले कुछ महीनों से संसार के दोनों धड़ों के पारस्परिक तनाव में कमी आती जा रही है। यह तनाव बड़ी शीघ्रता से अत्यन्त उग्रता पर पहुँच गया था। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि मानव जाति एक महा-भयंकर खड्ड के किनारे पर आ पहुँची है, जहाँ एक ज़रा-सा भी धक्का उसे अतल गहराइयों में गिरा देगा। पर धीरे-धीरे इस तनाव में कमी आने लगी। इस कमी की रफ्तार इतनी कम थी कि पहले तो यह कमी दिखाई ही नहीं दी। पर पिछले कुछ महीनों की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह तनाव अब कम हो गया है और परिस्थिति दिनोंदिन सुधर रही है।

मानव जाति के इतिहास में पहली बार जैसे सम्पूर्ण संसार दो धड़ों में विभक्त हो गया था। इस दलबन्दी में सबसे पहले भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने यह साहस दिखाया कि खुले आम अपनी तटस्थता की घोषणा कर सकें। उससे पूर्व तटस्थता की नीति स्विटज़रलैंड आदि दो-एक छोटे-छोटे देशों की बपौती समझी जाती थी। जिन भयंकर विरोधों और छिपी-खुली धमकियों के बावजूद भारत अपनी तटस्थता की नीति पर स्थिर रहा, वह आज स्वाधीन भारत के इतिहास का एक सुनहला अध्याय बन गया है। इसी तटस्थता की नीति से पंचशिला के सिद्धान्तों का जन्म हुआ और क्रमशः संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों ने भी यह समझ लिया कि 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्तों के बिना सम्पूर्ण मानव जाति का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय बन जाता है।

हाल ही में रूस की हवाई शक्ति के प्रदर्शन के अवसर पर कितनी ही पश्चिमी शक्तियों के सैनिक पदाधिकारी निमन्त्रित थे। अमेरिका के कितने ही वायुसेना पदाधिकारी मास्को पहुँचे थे। दोनों धड़ों को आज यह ज्ञात हो गया है कि कोई किसी का समूल नाश नहीं कर सकता। इस स्थिति में विपक्षी के विरुद्ध जहाद प्रारम्भ कर देना भारी मूर्खता का ही काम सिद्ध होगा।

स्टालिन के देहावसान के बाद जिस तरह रूस में कट्टरता कम हुई और रूस जैसा शक्तिशाली राष्ट्र पंचशिला के आधारभूत सिद्धान्तों पर पूर्ण रूप से विश्वास करने लगा, इस तथ्य की प्रथम घोषणा भी भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने ही की थी। आज क्रमशः यह स्थिति आ गई है कि संसार के अधिकाँश राष्ट्र, कुछ अपवादों की बात जाने दीजिए, यह मान गए हैं कि रूस की नई नीति शान्ति के पक्ष में है।

कॉमनवैल्थ के प्रधानमन्त्रियों की इस बैठक में संसार की वर्तमान परिस्थितियों पर जो विचार विनिमय हुआ, उस पर भारत के प्रधानमन्त्री तथा भारतीय विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। कॉमनवैल्थ के प्रधानमन्त्रियों ने यह घोषणा की है कि उन्हें रूस के शान्तिपूर्ण इरादों पर विश्वास है। हमें विश्वास है कि इस घोषणा से संसार के वातावरण को शान्तिमय बनाने में और भी अधिक सहायता मिलेगी।

क्या यह सच है?

भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में संसार भर में दिलचस्पी बढ़ रही है। संसार की कितनी ही भाषाओं में भारतीय साहित्य, विशेषतः नए भारतीय साहित्य का अनुवाद हो रहा है। संसार की समुन्नत भाषाओं में से अंग्रेज़ी में पहले भी भारतीय साहित्य का सबसे अधिक अनुवाद हुआ था। भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व था, इससे यह बात स्वाभाविक थी। आज संसार की अन्य समुन्नत भाषाओं (रूसी, चीनी, जर्मन, फ्रेंच आदि) में भी भारतीय साहित्य का अनुवाद असाधारण तीव्र गति से हो रहा है।

भारत की पढ़ी-लिखी जमात ने अंग्रेज़ी को अपना लिया था। इससे कितने ही भारतीयों ने अंग्रेज़ी में साहित्य रचना की। आज भी कितने ही भारतीय लेखक मूल अंग्रेज़ी में साहित्य रचना कर रहे हैं। पिछले ५, ६ वर्षों में इंग्लैंड तथा अमेरिका के कितने ही छोटे-बड़े प्रकाशक भारतीय लेखकों की मौलिक अंग्रेज़ी रचनाओं के प्रकाशन में दिलचस्पी ले रहे हैं। हमें हाल ही में ज्ञात हुआ है कि इनमें से सब तो नहीं, पर कुछ प्रकाशक नए भारतीय लेखकों से यह तकाज़ा करते हैं

कि वे ऐसी रचनाएँ करें, जिनमें भारतीय जीवन के काले पहलू का सीधा या परोक्ष वर्णन अवश्य हो। पिछले दिनों कतिपय भारतीय लेखकों की जो नई अंग्रेज़ी रचनाएँ उक्त दोनों देशों में प्रकाशित हुई हैं, उनमें भारतीय जीवन का जो चित्रण किया गया है; उसे पढ़ कर यह सन्देह अवश्य होता है कि कहीं उक्त स्थापना ठीक तो नहीं है। हमने स्वयं यत्किंचित रूप में यह साहित्य पढ़ा है। आवश्यकता हुई तो सम्बद्ध उद्धरण भी हम पेश करेंगे।

●

वन-महोत्सव

विभाजन के परिणामस्वरूप भारत के सन्मुख अन्न समस्या जटिल रूप में उपस्थित हुई थी। तब यह पाया गया था कि पिछले सौ सालों में भारत के जंगलों का इतना बड़ा क्षय हुआ है कि भारतीय ऋतुओं पर और विशेषतः बरसात पर उसका स्पष्टतः हानिकर प्रभाव पड़ा है। इसी कारण जुलाई के प्रारम्भ में प्रति वर्ष वन-महोत्सव मनाने की प्रथा जारी की गई थी। इस अवसर पर प्रति वर्ष देश में हज़ारों लाखों नए वृक्ष बोए जाते हैं। इन नए वृक्षों में कितने वृक्ष पनप पाते हैं और कितने नष्ट हो जाते हैं, इसका हिसाब रखना भी उतना ही आवश्यक है, जितना इस बात का ब्यौरा रखना कि इस वर्ष कितने नए वृक्षों का आरोपण हुआ है। हमें ज्ञात है कि उत्तर प्रदेश में, विशेषतः कुमायूं के पहाड़ों पर, गत वर्षों में कितने ही नए जंगलों का सफल आरोपण हुआ है। पर हमें मानना चाहिए कि वृक्षारोपण के साथ-साथ उन नए वृक्षों की वर्षों तक निरन्तर परिचर्या भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। हम यह भी चाहते हैं कि वन-महोत्सव केवल नए वृक्षों के आरोपण तक ही सीमित न रहे। वन-महोत्सव के दिन देश के हज़ारों-लाखों नागरिक वन भ्रमण के लिए जाएँ, और उस दिन बहुत बड़े पैमाने पर वनों में खेल-कूद, संगीत, नृत्य और सहभोज आदि का आयोजन हो। इस कार्य के लिए ज्येष्ठ और श्रवण के ४ रविवारों (ज्येष्ठ के अन्तिम दो और श्रवण के प्रथम दो) को वन-महोत्सव मनाया जा सकता है। तभी भारतीय जनता अपने देश के वनों में आवश्यक दिलचस्पी ले सकेगी।

●

लेखकों से अनुरोध

'आजकल' के लिए जो सज्जन अपनी रचनाएँ भेजते हैं, उनसे पुनः हमारा अनुरोध है कि—

१. जब तक आपसे अनुरोध न किया जाए, एक से अधिक रचना 'आजकल' के लिए न भेजिए।

२. प्रत्येक रचना पर शीर्षक के नीचे अपना पूरा नाम और पूरा पता अवश्य लिखिए। अन्यथा वह रचना न तो वापस की जाएगी और न उसका प्राप्ति स्वीकार ही भेजा जा सकेगा।

३. उत्तर या लेख की वापसी के लिए डाक टिकट मत भेजिए।



पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ७० का शेषांश)

यदि यह अनुवाद केवल पाठ्य पुस्तक के रूप में रखने के लिए किया गया है तो शायद उक्त बात का औचित्य हो सकता है। परन्तु भारवि के काव्य कौशल को समग्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक था कि किरातार्जुनीय के सभी अंशों का अनुवाद किया जाता। जिसे खुले श्रृंगार की संज्ञा दी गई है, वह रस सिद्ध कवियों की लेखनी से छन कर क्या रूप धारण करता है, इसे जानने-समझने का अधिकार पाठकों को है और अच्छा होता कि अनुवादक पाठकों को इस अधिकार से वंचित न करते। परन्तु जैसा कुछ भी है, अनुवाद सुन्दर है और इसके लिए अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

विविधा (अर्ध वार्षिक काव्य-संकलन): सम्पादक—राजेन्द्र किशोर, रणधीर सिन्हा; प्रकाशक—अशोक प्रेस, पटना; पृष्ठ सं० ९६; मूल्य २) रु०

'विविधा' में हिन्दी के तरुण और प्रौढ़ प्रायः ६३ कवियों की कविताएँ संगृहीत हैं। १६ कविताएँ गीतात्मक शैली पर लिखी गई हैं और शेष नई या मुक्त छन्द की शैली में। कुल मिला कर जिसे आज नई कविता कहा जा रहा है, उसी का प्राधान्य 'विविधा' में मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'विविधा' ने कुछ बहुत ही उच्चकोटि की काव्य सामग्री आज के पाठकों के लिए प्रस्तुत की है। हरिमोहन श्रीवास्तव, शम्भुनाथ सिंह, राजेन्द्र किशोर, ब्रजविलास, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, गजानन्द माधव मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, कीर्ति चौधरी और अजित कुमार की कविताएँ मुझे प्रथम श्रेणी की लगीं। इनमें अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की नवीनता तो है ही, नई काव्य-चेतना का स्वस्थ प्रतिनिधित्व भी ये कविताएँ करती हैं। उच्चकोटि की इतनी कविताओं का एक साथ एक संग्रह में आ जाना बड़ी बात है और बड़ा शुभ-चिन्ह है। ये सभी कविताएँ हमें नई हिन्दी कविता के भविष्य के प्रति सर्वथा आश्वस्त बनाती हैं। इनमें भी राजेन्द्र किशोर कृत 'एक आत्मकथा', नरेश मेहता कृत 'ये हरिणा-सी बदलियाँ', धर्मवीर भारती कृत 'घाटी के बादल' और मुक्तिबोध कृत 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' अविस्मरणीय रचनाओं में अपना स्थान ग्रहण करेंगी।

उपर्युक्त कविताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जैसे श्यामनन्दन सहाय 'सेवक' की कविता 'जीवन का गीत' और रघुनाथ प्रसाद 'विकल' की कविता 'मानव की इच्छाएँ' जिन्हें प्रयोग के अच्छे नमूने कहा जा सकता है।

जैसा कि स्वयं सम्पादकों ने अपने वक्तव्य में स्वीकार किया है, "शायद कुछ ऐसी कविताएँ भी इस संकलन में हैं जो न होतीं तो अच्छा था।" उदाहरणार्थ मैं कुछ कविताओं के शीर्षकों का उल्लेख करूँगा: 'धूल भरी ज़िन्दगी', 'नींद को बुलाता हूँ', 'प्यार-प्रदर्शन', 'बेगार' आदि।

परन्तु कुल मिला कर यह एक अच्छा काव्य-संकलन है। सम्पादक-द्वय ने हमें वचन दिया है कि वे आगामी संकलन में और भी व्यवस्थित रूप से कविताओं का संचयन करेंगे, उन पर टिप्पणी देंगे, कवियों के

चित्र देंगे और आज की कविता पर लेख देंगे। यदि यह सब हो तो हमें आशा करनी चाहिए कि काव्य-संकलनों के अन्तर्गत 'विविधा' अपना एक विशिष्ट स्थान बनाएगी।

भूमिका (कविता संग्रह) : रचयिता—राजेन्द्र प्रसाद सिंह; प्रकाशक—राका प्रकाशन, मुज़फ्फ़रपुर; पृष्ठ संख्या १७२; मूल्य ४)

'भूमिका' में बिहार के तरुण प्रतिभाशाली कवि राजेन्द्र प्रसाद सिंह की सन् १६५० तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। इन्हें दो उप-शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है—'संकेत' और 'गीत'। 'संकेत' के अन्तर्गत रचनाओं में कवि का निर्वैयक्तिक चिन्तन और समाज-यथार्थ के प्रति उसकी प्रतिक्रिया अधिक उभरी है और 'गीत' के अन्तर्गत रचनाओं में वैयक्तिक हर्ष-विषाद की भाव-भूमि का विकास हुआ है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने यद्यपि अभिव्यक्ति के माध्यम परम्परा से चुने हैं, उनके कथ्य के अन्तर्गत जगत और जीवन की नवीनतम एवं गहन अनुभूतियों का समावेश है। सिंहावलोकन की निम्न पंक्तियाँ देखिए :

सामर्थ्य नाम उसका अब, जो कमलों से भी
ले छीन सुरभि भरने को उनमें वज्र-कीट
पौरुष कहते अब उसे, इन्द्र-धनु पर भी जो
दे बिछा दहकते 'फुटपाथों' के 'कंकरीट'
हैं द्वन्द्वग्रस्त उलझे तन-मन से कोमल गुण
भीतर-बाहर हैं दो क्षितिजों की तरह दूर
बनती समष्टि पूर्णत्व व्यष्टि की नहीं, मगर
है व्यक्ति-व्यक्ति को यह समाज कर रहा चूर

ओजस्विता इस प्रकार की कविताओं का विशिष्ट गुण है जैसे कि गीतों का विशिष्ट गुण है यथार्थ अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्तित्व का निरन्तर उदात्तीकरण :

प्राणों की पुण्य प्रभा धारा से धो शरीर, अन्तर
भर लो अमन्द जगमग-जगमग इच्छाएँ शिव सुन्दर
देखो संस्कृति में कुलिश और कलिकाओं का मिश्रण
सौन्दर्य, प्रेम, करुणा का नयनों में प्रकाश लेकर।

संग्रह की अन्तिम कविता विशेष द्रष्टव्य है।

मादिनी (कविता संग्रह): रचयिता—राजेन्द्र प्रसाद सिंह; प्रकाशक—मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुज़फ्फ़रपुर; पृष्ठ संख्या १०८; मूल्य २) रुपये

'मादिनी' में राजेन्द्र प्रसाद सिंह की सन् १६५१ से १६५४ तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। साथ में स्वयं कवि द्वारा लिखी गई एक भूमिका भी है जो विशेष पठनीय है, क्योंकि उससे कवि के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो कुछ कवि की रचनाओं को कहना चाहिए था, उसे सम्पूर्णतः कह डालने की बेचैनी ही भूमिका की मुख्य प्रेरणा रही है। कुछ भी हो, भूमिका है मज़ेदार। कम से कम कवि का १२ सूत्री जीवन-दर्शन और 'प्रीति' के ७ सोपानों का विवेचन (और उन सोपानों के अन्तर्गत अपनी रचनाओं का स्थान-निर्देश) पाठकों के लिए काफी विचारोत्तेजक सिद्ध होगा।

संग्रह की कविताओं में प्रथम कविता 'मधु-सूक्त' काफ़ी विचारणीय है। यह भूमिका में निर्दिष्ट कवि के प्रीति-विषयक विचारों का ही काव्यात्मक विवेचन है जिसमें यत्र-तत्र पैट्रोनियस आरबीटर, टी० एस० इलियट, रवीन्द्रनाथ, जयशंकर प्रसाद, अथर्ववेद—सभी के उद्धरण समोये गए हैं। कविता में कोई नवीन जीवन-दर्शन तो नहीं प्रस्तुत किया गया है पर परम्परागत जीवन-दर्शन को नई और ओजस्वी शैली में अवश्य रखने का प्रयास किया गया है। पर कुल मिला कर मुझे ऐसा लगा कि इस कविता को कहीं काट-छाँट द्वारा और कहीं व्याख्या-विस्तार द्वारा और अधिक काव्यात्मक, गहन एवं नवोन्मेषशालिनी बनाया जा सकता था। पर इससे कवि राजेन्द्र प्रसाद सिंह की क्षमता का परिचय अवश्य मिल जाता है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भविष्य में उनसे हम कहीं अधिक सशक्त और सुचिन्तित रचनाओं की आशा कर सकते हैं।

'व्यक्ति और व्यक्तित्व' शीर्षक के अन्तर्गत कविताओं में 'हिम हासिनी' मुझे विशेष सुन्दर लगी। 'व्यक्ति और व्याप्ति' की रचनाएँ साधारण लगीं—विशेषतः इसलिए कि उनमें निवेदित सत्य, संग्रह की प्रथम कविता में आ गया है।

पुस्तक का आवरण-पृष्ठ कुछ विचित्रता लिए हुए है। अच्छा होता कि इस प्रकार की चिन्तनशील कविताओं का आवरण-पृष्ठ सादा रखा जाता।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

★

मैथिली साहित्य : प्राक्विद्यापति युग—(पृष्ठ ६६ का शेषांश)

'काजरक भीति तेलें सिंचलि अइसान रात्रि। पल्हेवाँ कौं बेगे काजरक मोंट फुजल अइसन मेघ। निविल मांसल अंधकार देषु।'

उक्त वर्णन में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अंधकार जैसी सूक्ष्म वस्तु को 'मांसल' विशेषण प्रदान कर उसके गाढ़त्व को द्योतित किया गया है।

इस ग्रन्थ के साहित्यिक एवं भाषा शास्त्रीय महत्त्व की जितनी चर्चा की जाए थोड़ी होगी। इसकी शैली बाण की कादम्बरी के समकक्ष है। इसके अध्ययन से मध्ययुगीन हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता, आचार-व्यवहार का पता लगता है।

इस युग में 'वर्णरत्नाकर' के बाद कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। किन्तु कौन जानता है कि कितनी पाण्डुलिपियाँ मिथिला की कुटियों में किसी अन्वेषक की बाट जोहती होंगी। कम-से-कम गीत-साहित्य का तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना अधिक समीचीन जान पड़ता है कारण विद्यापति का गीत-साहित्य उनके पूर्व से आती हुई परम्परा का ही विकसित रूप है। किसी साहित्यिक रूप के स्थिर एवं पुष्ट होने में कुछ काल तो लगता ही है, अतः ऐसा अनुमान करना निराधार नहीं है कि प्राक्विद्यापति काल में गीत-साहित्य का निर्माण यथेष्ट मात्रा में हुआ होगा। श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या महोदय ने चतुर्थ निखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में यही विश्वास प्रकट किया था। कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति के बीच किसी उपलब्ध सामग्री के अभाव में इस काल की चर्चा अब समाप्त होती है।

Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

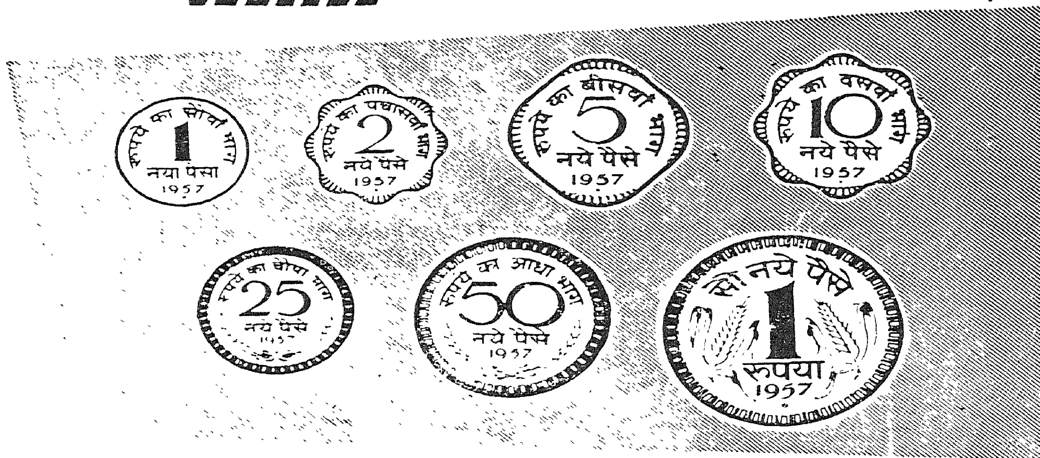
Regd. No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित



हमारे **नये सिक्के**



आजकल आप अपना हिसाब किताब रुपये, आने और पाइयों में करते है । आपकी सुविधा के लिए भारत सरकार ने १ अप्रैल १९५७ से देश में दाशमिक प्रणाली के सिक्के चालू करने का निश्चय किया है । दाशमिक प्रणाली के अनुसार एक रुपये में १०० नये पैसे होंगे, और सात नये सिक्के चलेंगे ।

१०० नये पैसे	=	एक रुपया
५० नये पैसे	=	रुपये का आधा भाग
२५ नये पैसे	=	रुपये का चौथा भाग
१० नये पैसे	=	रुपये का दसवां भाग
५ नये पैसे	=	रुपये का बीसवां भाग
२ नये पैसे	=	रुपये का पचासवां भाग
१ नया पैसा	=	रुपये का सौवां भाग

महत्त्वपूर्ण बातें

- रुपये के वर्त्तमान मूल्य में बदल नहीं होगा और वह प्रामाणिक सिक्का रहेगा ।
- पुराने सिक्कों का नये सिक्कों में धीरे धीरे बदल होगा । लगभग तीन साल तक पुराने और नये दोनों सिक्के चालू रहेंगे ।
- इस अवधि में नये, पुराने, या दोनों सिक्कों में हिसाब किताब किया जा सकता है ।



DA-56/32

अच्छे साफ
दाँतों
के लिये

Aryan
Regd.

भारत का
लोकप्रिय
टुथ ब्रश
प्लास्टिक कॅन्टेनर्स
में भी मिलता है

कहीं अधिककाल चलता है।

आँखों की रक्षा
जीवन की रक्षा है

रेडियम आई ड्राप्स

भली-चंगी आँखों वाले प्रयोग करें तो बुढ़ापे में भी आँखों की ज्योति तेज़ रहती है।

आँखों के बहुत से रोगों में लाभदायक लाखों घरों में प्रयोग होती है

मूल्य 3/-

रेडियम कैमीकल वर्क्स लिमिटेड पोस्ट बाक्स नं. 1351 देहली

सजावट में सौंदर्य



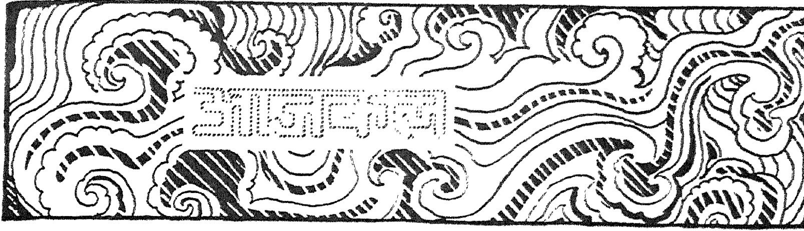
* सुन्दर नमूनों और लुभावने रंगों के मनोहर मेलों में प्राप्त बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मद्रास के परदे।
* आसाम, बिहार, उड़ीसा, हैदराबाद और पंजाब के परम्परागत भारतीय डिजाइनों में खेस आदि सजावट के वस्त्र।
* मद्रास, मैसूर और उत्तर प्रदेश के कालीन और दरियां चमकीले रंगों की अनोखी बुनावट तथा अपने ढंग के अनुपम डिजाइनों में श्रेष्ठ हैं।
* भोजन की मेज की शोभा बढ़ाने वाली चटाइयां और मेजपोश।
* देखने में सुंदर और उपयोग में सुखद नैपकिन और तौलिए।

हथकरघे के
वस्त्र

आप के विश्वास पात्र

ALL INDIA HANDLOOM BOARD

आॅल इंडिया हैंडलूम बोर्ड,
९८, मौब्रेज रोड, मद्रास-१८, शाहीबाग हाउस, बिटेट रोड, बेलार्ड एस्टेट, बम्बई और ७।१९२, स्वरूपनगर, कानपुर।



वर्ष १२ अंक ५ पूर्णांक १४७

सितम्बर १९५६

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सम्पादक हिन्दी

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग

एक प्रति—आठ आने, दस सेंट या नौ पेंस





"भोटिया-बस्ती का लामा"

फोटो : ए० एल० सैयद



वर्ष १२ सितम्बर १९५६ अंक ५

प्रभात की किरण

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

(१)

मैं आँखें मलता था अलसाया सा,
बीती के सपनों में भरमाया सा,
कुछ अनहोनी सी आज हो गयी रे,
मुझको प्रभात की किरन छू गयी रे !
जब तक सोचूँ क्या हुआ एक छन में,
वह एक अनी सी पैठ गई मन में,
बाहर अम्बर आतुर अभिलाषा सा,
भीतर कुछ कटने लगा कुहासा सा।
अनजान कल्पना ने अँगड़ाई ली,
चिड़ियों की पहली चहक सुनाई दी,
झंकार ढली मीठी शहनाई सी,
सुकुमार उँगलियों से सहलाई सी,
रग, रग में ढलता लावा सा दुर्धर,
कुछ लगा सालने अन्दर ही अन्दर
अब जनम जनम की नींद खो गई रे,
मुझको प्रभात की किरन छू गयी रे !

(२)

पहले भी तो प्रभात आता ही था,
जग में स्वर्णिम प्रकाश लाता ही था,
अम्बर अवनी पर राग लुटाता था,
ऊपर ऊपर मुझको भी भाता था।
यह किरन निगोड़ी कहाँ छिपी थी पर,
जो लुटा गयी मुझ पर स्वप्नों के स्वर।
रोने-धोने की कोई बात नहीं,
अब तो मरना भी अपने हाथ नहीं।
अब अन्धकार के चिर-दुराव से क्या ?
अब हार-जीत के मोल-भाव से क्या ?
नभ के नयनों का नीर धो गई रे,
तम की छाती पर तीर हो गयी रे।
जीवन में कोई ज्वार भर गया रे,
मैं बिना नाव के सिन्धु तर गया रे।
मन-मोती की सौगात लुट गयी रे,
मुझको प्रभात की किरन छू गयी रे !

महा प्रस्थान का गीत

श्री श्री

बढ़ो विश्व पर
मिला नव्य-पथ
नया विश्व हुंकारा
बढ़ा चरण युग
बजा पटह कटु
बहिरंतर गर्जन भर
बढ़ो बढ़ो—
थड़ थड़ वह कौन घात
मेदुर घन का वर्ष-पात
नये विश्व के जल प्रपात
सुनो सुनो, बढ़ो बढ़ो
पग पग पर खूनी फव्वारे
फटें, झरें, बढ़ो बढ़ो
झील झरने
शहर महल देहात मुहल्ले
गंड शैल गहरे दर्रे
लाँघ नदी-नाले
चलो नव्य पथ
तोड़ दुर्ग परकोटा
पग पग का रोड़ा
बढ़ो विश्व पर
मिला नव्य पथ
नया विश्व हुंकारा
बे रीढ़ के मुर्दो,
ढली उम्र के वृद्धो,
अलसाने वाले कीड़ो,
मरे रहो—
उष्ण रक्त वालो,
लौह वक्ष के धीरो,
हरों हरों हर
हर हर हर हर
ऊष्ण कंठ चिल्लाओ,
नया विश्व वह
महा विश्व वह
खिला धरित्रि पर
रुको न पल भर
बढ़ो बढ़ो
झोंका हो झंझा का
हो प्रलयों की भीषण उल्का
फड़ फड़ फड़
सड़े विश्व पर
मरे स्तूप पर
गिरो, मरो
आगे देखो अग्नि-शिलाएँ
भक भक जलतीं—
नये विश्व की त्रेताएँ
उचक-उचक गिरतीं
मेरु-शैल चट्टानें
अतल जलधि के हैं वे
प्रलय-नृत्य चक्राकार
खल खल उबले तेल नहीं
उष्ण रक्त का सार
शिव समुद्र का
नया गरा का
जलपात बनो, कूदो
बढ़ो विश्व पर
मिला नव्य पथ
नया विश्व हुंकारा
नये विश्व का उठा शब्दवा
नया कांस्य नक्कारा
शेरों-से
फण वाले साँपों-से
फल्गुन-से धन्वा-से
बढ़े चलो
हो—हो—हो
कब देखीं
नये विश्व की
अग्नि मुकुट की लपटें
अरुण ध्वजा की
लेलिहान जिह्वाएँ
होम धूप की भौंवें
बढ़ो विश्व पर
बढ़ो विश्व पर
मिला नव्य पथ
नया विश्व हुंकारा।



बुद्धं शरणं गच्छामि !

रामेश्वर राव कालोजी

पश्चिम में फिर इब्ने मरियम
पूरब में गान्धी औ गौतम
पैदा हों तो जग बच पाये
वरना सर्वनाश हो जाये।
सत्ता के लोभी राष्ट्रों का
जलता है मत्सर से अन्तर
खून उतर आया आँखों में
दीवानापन नाचे सर पर
शांति समय बन गया जगत में
दो संग्रामों का मध्यंतर
प्रेम भरा सन्देश बुद्ध का
लाये तो लाये मन्वन्तर
सुन ले तो ही जग बच पाये
वरना सर्वनाश हो जाये
छोड़ छाड़ कर 'ए' बम 'एच' बम
जगत कहे फिर 'धर्मं शरणं'
छोड़ छाड़ कर स्वार्थ दुराशा
व्यक्ति कहे फिर 'संघं शरणं'
सुख समृद्धि विज्ञान लक्ष्य हों
बुद्धि कहे फिर 'बुद्धं शरणं'
धर्मं शरणं संघं शरणं
बुद्धं शरणं बुद्धं शरणं
यों हो तो ही जग बच पाये
वरना सर्वनाश हो जाये
जान गया जग, मान गया युग
रण के दुष्परिणाम भयंकर
जान गया जग मान गया युग
भय से जीना कितना दुर्भर
जान गया जग मान गया युग
सह-जीवन का तत्व महत्तर
जान गया जग पंचशील के
बिना नहीं कोई गत्यंतर
फिर भी शंका से पीड़ित है
कायर जग का कातर अन्तर
फिर से कोई बजा रहा है
प्रेम बाँसुरी यमुना तट पर
सुन ले तो ही जग बच पाये
वरना सर्वनाश हो जाये
विश्व कुटुम्बी हो नव मानव
जग हो गोकुल मानव माधव
सफल कृष्ण की हो शिष्टाई
गले मिलें कौरव और पाण्डव
करे मनुज हर एक राष्ट्र का
रण से घृणा स्नेह का गौरव
प्राप्त करे मानवता अपना
असली दर्जा ऊँचा वैभव
श्रद्धा से यह मंत्र जपें हम
धर्मं शरणं संघं शरणं
नाद यही गूँजे अम्बर में
बुद्धं शरणं बुद्धं शरणं
यों हो तो ही जग बच पाये
वरना सर्वनाश हो जाये।

शेख मुबारक

राहुल सांकृत्यायन

इस्लाम ने आठवीं सदी के शुरू में सिन्ध और मुलतान पर अधिकार किया। उससे तीन सौ वर्ष बाद (ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में) महमूद गज़नवी ने पंजाब को लेकर लाहौर को अपने राज्यपाल की राजधानी बनाया। सिन्ध और पंजाब मुसलमानों के हाथ में रहे। बारहवीं शताब्दी के अन्त में कन्नौज, दिल्ली, कालंजर आदि को जीत कर प्रायः सारे उत्तरी भारत पर तुर्कों ने अपना शासन स्थापित किया। ईरान सातवीं सदी के मध्य में अरबों के हाथ में चला गया। ईरानी तख्त और उच्च संस्कृति ने रेगिस्तानी अरबों और उनके धर्म के सामने सिर झुकाया। अरब पानी की तरह अपने और अपने शत्रुओं के रक्त को केवल बहिश्त के लिए नहीं बहा रहे थे। बहिश्ती हूरों और नियामतों से कहीं अधिक आकर्षक इस दुनिया की हूरें और सम्पत्ति उनके लिए थीं। उन्हीं पर हाथ साफ करने के लिए अरब नौजवान जान की बाज़ी लगा कर अपने सूखे मुल्क से निकले थे। इस्लाम ले आने पर यह बात नहीं थी कि अन-अरब मुसलमान अरब मुसलमानों के बराबर हो जाते। हमारे यहाँ अंग्रेज़ों के समय एंग्लो-इंडियन की जो स्थिति थी, वही स्थिति अरबों के सामने अन-अरबों की थी। यह जाति का अपमान था, लेकिन ईरान या हिन्दुस्तान में जो जातियाँ सबसे पहले इस्लाम के झण्डे के नीचे आईं, वह शताब्दियों से उत्पीड़ित और नीच समझी जाती थीं। उनके निकल जाने के बाद बड़ी जाति वालों ने भी उनका अनुगमन धीरे-धीरे किया। अरब मुसलमानों ने इनका विशेष ध्यान किया, क्योंकि वह संख्या में कम रहने पर भी हिम्मत में ज्यादा और विदेशी शासन के लिए सबसे ज्यादा खतरनाक थे।

मुल्की गैर-मुल्की या अरब, अन-अरब मुसलमानों का भेद, ईरान, तूरान (मध्य-एशिया) में ही अपने चरम रूप पर पहुँच चुका था। शुद्ध अरब मुस्लिम-शासन सिन्ध-मुल्तान तक ही रहा। महमूद गज़नवी तुर्क था। चार दिनों की चाँदनी के तौर पर गोरी दस-पन्द्रह साल के लिए भारत में अतुर्क, अन-अरब विजेता के तौर पर आए। पर, उनके यहाँ भी असली शासक तुर्क ही थे। गुलाम, खिलजी, तुगलक तीनों तुर्क राजवंशों ने दिल्ली को इस्लामिक राजधानी बना कर भारत के ऊपर दृढ़ मुस्लिम-शासन स्थापित किया। इस समय प्रमुख स्थान तुर्कों का था। ईरानी उसके बाद आते थे, और इसीलिए कि उन्होंने तुर्कों की संस्कृति और भाषा पर भारी प्रभाव डाला था। तुर्क तुर्की और फ़ारसी दोनों का व्यवहार करते थे। भारत में आकर दो-चार पीढ़ियों में ही वह तुर्की भाषा भूल कर फारसीभाषी हो गए। अन्तिम मुग़ल बादशाह तक अभिमान करते थे कि हमारी मादरी ज़बान फारसी है। फारसी-भाषी ईरानियों की इसीलिए भारत के मुस्लिम-दरबारों में कदर थी। अरब तो न अब तीन में थे, न तेरह में। बहुत हुआ, तो मस्जिद का मुअज्ज़िन या क़ारी (कुरान-पाठी) किसी को बना लिया। विद्या और रण दोनों के मैदान में अब अरब पीछे पड़ गए थे। तो भी शुद्ध तुर्कों को छोड़ कर बाकी सभी विदेशी मुसलमान अपना सम्बन्ध अरब के किसी प्रसिद्ध व्यक्ति या खानदान से जोड़ते थे। अरब आदमी का नहीं, अरब खून के महत्त्व को जरूर माना जाता था।

अकबर के समय तक शेख, सैयद, मुगल, पठान का भेद गैर-मुल्की मुसलमानों में स्थापित हो चुका था। शेख के महत्त्व को आजकल हम नहीं समझ पाते, क्योंकि अब वह टके सेर है, वैसे ही जैसे खान। तुर्क और मंगोलों में खान राजा को कहते थे। १९२० ई० तक बुखारा में सिवाय वहाँ के बादशाह (अमीर) के कोई अपने नाम के साथ खान नहीं लगा सकता था। युवराज भी तब तक अपने नाम के साथ खान नहीं जोड़ सकता था, जब तक कि वह तख्त पर न बैठ जाता। शेख सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। शेख का अर्थ था गुरु या सन्त पुरुष। इस्लाम में देखा देखी यद्यपि अविवाहित साधुओं, फकीरों की भी चाल पड़ गई, विशेषकर मध्य-एशिया और पूर्वी ईरान जैसे बौद्ध प्रदेशों पर अधिकार करने के बाद; पर, वस्तुतः इस्लाम में मठों और साधुओं के लिए कोई स्थान नहीं था। शेखों की चल पड़ी। हमारे यहाँ ब्राह्मण गृहस्थ-गुरु बड़े सम्मान से देखे जाते हैं। वल्लभ कुल के महागुरु गृहस्थ ही होते हैं। यही स्थान इस्लाम में शेख का था। उनके बाद पैगम्बर के अपने वंश और रक्त के सम्बन्धी होने से सैयदों का नम्बर आता था। मध्य-एशिया में इन्हें खोजा कहते थे। मुगल पहले तुर्क कहे जाते थे, बाबर के वंश ने जब भारत पर अपना शासन स्थापित किया, तब वह मुगल के नाम से पुकारे जाने लगे। इनका एक पुराना नाम तूरानी भी था। चीनी और सोवियत मध्य-एशिया को पहले तूरान कहा जाता था, इसीलिए वहाँ के मंगोलायित निवासी तूरानी पुकारे जाते थे। पठान दसवीं सदी के अन्त तक पक्के हिन्दू थे। हिन्दू दर्शन और कला की उनकी देनें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। बौद्ध योगाचार और शंकर वेदान्त दोनों के आदि गुरु असंग पेशावर के पठान थे। पाणिनि पठान थे। गन्धार-कला पठानों की देन है, यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं है। महमूद ग़ज़नवी ने पहले-पहल काबुल पर अधिकार किया। पठानों ने पहले जबर्दस्त संघर्ष किया, पर अन्त में उन्हें इस्लाम के झण्डे के नीचे आना पड़ा। यह बहादुर जाति न तुर्क होने का अभिमान कर सकती थी, न इस्लामी संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली ईरानी जाति का होने का दावा कर सकती थी, और न अरब ही थी। लेकिन, पठान तलवार के धनी थे, उसी के बल पर वह भारत में अपना स्थान बनाने में सफल हुए।

इन चारों के बाद हिन्दुओं से मुसलमान बने लोग आते थे। इनमें से जो प्रसिद्ध थे, वह चाहने पर भी अपने को छिपा नहीं सकते थे। हाँ, बहुत से राजपूतों और योद्धा जातियों ने मुसलमान बनाने पर अपने नाम के साथ खान लगा कर पठानों में नाम लिखाया। यह बहुत पीछे की बात है। मुल्की मुसलमान दूसरे मुसलमानों के सामने वही स्थान रखते थे, जो कि अंग्रेज़ों के काल में एंग्लो-इंडियन, यह हम कह आए हैं। मुल्की मुसलमानों में भी उच्च और नीच (अशरफ और अर्ज़ल) दो तरह के लोग थे। जात-पाँत की खाइयों को तोड़ने का अभिमान करने वाला इस्लाम भारत में इस खाई को कभी नहीं पाट सका। सारे ही मुसलमानों में भारत में सबसे अधिक संख्या अर्ज़ल मुसलमानों की थी, लेकिन वह अपने सहधर्मियों के भीतर अछूतों से थोड़ा ही बेहतर समझे जाते थे। जब तक अंग्रेज़ों ने दास प्रथा को उठा नहीं दिया, तब तक—उन्नीसवीं सदी के मध्य तक—मुसलमान होने से कोई दास बनने से छुट्टी नहीं पा सकता था। हाँ, मुसलमानों को—चाहे गैर मुल्की हों या मुल्की, चाहे अशरफ हों या अर्ज़ल—इसका अभिमान जरूर था, कि हम भारत के शासक हैं। अर्ज़ल (नीच) अपने को अपने हिन्दू सजातीयों से बेहतर स्थिति में जरूर पाते थे, यही कारण था, जो कि पेशावर से ढाका तक के सभी शिल्पी, विशेषकर पटकार मुसममान हो गए।

कुरान ने जरूर सारे मुसलमानों में भ्रातृभाव और समानता का प्रचार किया, पर वह पैगम्बर की आँख मूँदने के बाद बहुत दिनों नहीं चल सका। उनके दामाद और इस्लाम के लिए सर्वस्व त्यागी अली भ्रातृभाव और समानता के कट्टर पक्षपाती होने के कारण दूध से मक्खी की तरह बाहर रखे गए, और चौथे खलीफा बने भी, तो अन्तिम कुर्बानी देने ही के लिए। उनके दोनों पुत्र तथा पैगम्बर के नाती हसन-हुसेन अपने पिता और नाना की आन पर बलि चढ़े। दुश्मनों ने तो इस वंश को अपने जान उच्छिन्न कर डाला, पर एक बीज से भी हजारों वृक्ष और लाखों फल पैदा होते हैं, वैसे ही फातमी सैयदों का उच्छेद नहीं हो सका।

इस्लामिक एकता और समानता और भ्रातृभाव इसी स्थिति में था, जब कि तुगलकों के बाद छिन्न-भिन्न हुए इस्लामिक साम्राज्य को फिर से स्थापित करने में पठान शेरशाह सफल हुए। शेरशाह भारत में आगे आने वालों का मार्ग-प्रदर्शक था। बहुत-सी बातें जो पीछे अकबर के समय प्रचलित हुईं, उनका आरम्भ शेरशाह ने किया। शेरशाह ही ने धर्म की जगह पर मिट्टी के महत्त्व को माना, और हिन्दू-मुसलमानों को एक करने, एकता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की, जिसे अपने दीर्घ शासन में अकबर ने और आगे बढ़ाया। शेरशाह ही का शासन था, जो कि हिन्दू हेमू 'हेमचन्द्र' को शासन और सेना के सर्वोच्च पद पर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। और अपने स्वामियों से गद्दारी करने के ख्याल से नहीं बल्कि पठानों के आपसी झगड़े और मुगलों की जबर्दस्त शक्ति को देखकर दिल्ली के तख्त पर बैठ उसे विक्रमादित्य बनने के लिए तैयार होना पड़ा।

शेख मुबारक—जैसा कि शेख नाम से मालूम होता है—गुरुओं के वंश में पैदा हुए। इनके पूर्वज बहुत पुराने जमाने में यमन (अरब) के अरब थे। शेख मूसा की छठीं पुश्त में शेख खिजिर हुए, जो वतन को छोड़ कर दुनिया की सैर और महात्माओं के दर्शन-सत्संग के लिए निकल पड़े, तथा पन्द्रहवीं सदी में वह सिन्ध के कस्बा रेल में पहुँच कर रहने लगे। पीरी मुरीदी चलने लगी। पैगम्बर मुहम्मद ने चार की संख्या बीबियों को कम करने के लिए की थी। पीछे इस्लाम के लिए वफादार पुरुष इस संख्या की पाबन्दी करते थे, पर लौंडियों की संख्या नियत नहीं थी। इसके द्वारा खानदान बढ़ने का भी बहुत सुभीता था, मुसलमानों की संख्या-वृद्धि के लिए इसका महत्त्व था। शेख खिज़िर मुस्लिम सन्तों और उनके पवित्र स्थानों के दरस-परस के लिए रेल छोड़ कर हिन्दुस्तान में घूमते-फिरते नागौर में पहुँचे, यहीं अपने बहुत से मुरीदों और परिवार के साथ बस गए। इनके कई बच्चे होकर मर गए। १५०५ या १५०६ ई० (हिजरी ९११) में एक लड़का पैदा हुआ। बाप ने मुबारक समझ कर मुबारक अल्ला उसका नाम रक्खा, जो अन्त में शेख मुबारक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि अपने महान पुत्रों—कवि सम्राट् फ़ैज़ी, और अकबर के महामंत्री अबुलफ़ज़ल—की रोशनी में वह छिप गए, पर जिन बीजों को उनके दोनों पुत्रों में हमने वृक्ष का रूप लेते देखा, वह शेख मुबारक में पूरी तौर से मौजूद थे। चार वर्ष की आयु में ही उनकी प्रतिभा का पता लगा। नौ वर्ष की उम्र तक फारसी अरबी तथा उसके बहुमूल्य साहित्य का उन्हें काफ़ी परिचय हो गया। चौदह साल तक पहुँचते-पहुँचते योग्यता प्रकट होने लगी। नागौर में ही शेख अतन नाम के एक विद्वान रहते थे। वह १४०० ई० से पहले ही किसी समय तूरान से आए थे। जाति से तुर्क थे, लेकिन शमशीर के नहीं, बल्कि विद्या के धनी थे। सिकन्दर लोदी के जमाने में वह नागौर में आकर बस गए, और १२० वर्ष की उम्र में वहीं मरे। मुबारक ने उस ज्ञान-वयो-वृद्ध के ज्ञान और तजुर्बे का पूरा लाभ उठाया।

शेख खिज़िर को सिन्ध का वतन याद आया। नागौर में अच्छी चल रही थी। सोचा, जाकर रेल से अपने और भाई-बन्दों को लाएँ। लेकिन, उनकी यह यात्रा महायात्रा साबित हुई। वह फिर नागौर लौट कर नहीं आ सके। इसी समय महान अकाल पड़ा। लोग भूखों मरने लगे। बहुतेरे घर छोड़ कर भाग गए। अकाल में शेख खिज़िर का सारा परिवार स्वाहा हो गया। छोटा उमर का मुबारक और उसकी माँ दुनिया में जीवन संघर्ष के लिए रह गए। अकाल ख़त्म हो गया, काल-रात्रि सिर से टली। मुबारक नागौर में जो कुछ ज्ञान पा सकते थे, पा चुके थे। विद्या की पिपासा उन्हें बाहर जाने के लिए मजबूर करती लेकिन अकेली माँ को छोड़ कर जाने के लिए उनका हृदय तैयार नहीं था।

शेख मुबारक ने अपने पुत्रों—फैज़ी और अबुल फ़ज़ल को एक पत्र में लिखा था :

"बाबाय मन्, अज़ फुज़लाय ईं अहद्—कि हमाँ औक़ात व गन्दुमनुमाँ अन्द, व दीनरा बदुनिया फरोख़्ता, तुहमत आँ बर मा बस्त अन्द—अज़गुफ़्ता हरफ आँहा न बायद् रंजीद। व अज़ आँकि अज़ तरफ़े नजाबत् मा गुफ़्तगू दारन्द, दिले पुर-तश्वीश न बायद् नमूद। दर ऐयामे कि वालिदे-मन् वदीअते हयात नमूद, मन् ब-हद्दे तमीज़ न

रसीदा बूदम्—वालिदए-मन् मरा दर् साये-अवातिफ़ एकेअज़ मादान तुल-मुहतरम दर-कमाल असरत पर्वरिश मीदाद। ऊ दर् तर्बियते-मन् अज़ तरफ़-दर्स-इल्मी व दीगर तादीब-कमाल, सई बकार मि-बुर्दाज़। आँकि पिदरम् मरा'''मौसूम ब-मुबारक साख्ता बूद, रोज़ियके अज़-हमसाय हाय हसद पेशये आँ सैयद, कि ग़मख्वारी मा येकसां मीनमूद, मादरम् रा ब-कलमाते दुरुश्त रंजानीद, मरा ब-अदमे-नजाबत मतऊन नमूद। वालिदा अम् गिरिया कुना निज़्द आँ सैयद'''रफ़्त नालिश तअद्दी ओ नमूद।" (मेरे बच्चा, इस ज़माने के विद्वान, गेहूँ दिखा जौ बेचने वाले हैं, दुनिया के लिए दान को बेच कर हमारे ऊपर तोहमत बाँधते हैं, उनकी कही बातों से रंज नहीं होना चाहिए, और हमारी कुलीनता के बारे में जो बात करते हैं, उसके लिए मन में ग्लानि नहीं पैदा करनी चाहिए। जिस समय मेरे पिता ने दुनिया से विदाई ली, उस समय मैं अभी अबोध था। मेरी माँ एक सम्माननीय सैयद की छाया में रहती थीं, जो मेरी पढाई और शिक्षा के लिए कोशिश करता था। पिता ने मेरा नाम मुबारक रख दिया था। एक दिन सैयद से डाह रखने वाले एक पड़ोसी ने मेरी माँ को बुरा-भला कह कर दुखी करते मेरी कुलीनता पर आक्षेप किया। माँ ने रोते हुए इस बात की नालिश सैयद के पास की।)

फैज़ी और अबुलफ़ज़ल ने अकबर की सल्तनत में जो स्थान पाया था, उसके कारण उनसे जलने वालों की संख्या कम नहीं थी। वह उड़ाया करते थे कि इनका बाप मुबारक लौंडी का बच्चा था, तभी तो उसका नाम मुबारक पड़ा। उस समय गुलामों में यह नाम अधिक प्रचलित था, इससे यह भी मालूम होगा, कि शेख मुबारक को केवल आर्थिक कठिनाइयों से ही गुज़रना नहीं पड़ा, बल्कि उग्र विचारों के कारण उनके ऊपर बुरी तरह के लांछन लगाए जाते थे। उन्हें विद्या की धुन थी। इसी समय मध्य एशिया के ख्वाजा एहरार घूमते हुए भारत पहुँचे। उनकी विद्वत्ता से भी लाभ उठाने का उन्हें मौका मिला। वह ख्वाजा अहरार समरकन्द के महान सन्त ख्वाजा उबैदुल्ला अहरार नहीं हो सकते, जिनका देहान्त मुबारक के पैदा होने से १५ साल पहले २० फरवरी १४९० को समरकन्द में हो चुका था! समरकन्दी ख्वाजा अहरार बहुत परोपकारी सन्त, और मध्यएशिया के सबसे बड़े भूस्वामी भी। कहावत है—कोई आदमी अपने गदहे पर चढ़ा तूरानी अन्तर्वेद में उत्तर से दक्षिण की यात्रा कर रहा था। सैकड़ों मील चलता गया जब कभी किसी लहलहाते खेत के बारे में पूछता, तो लोग कहते—"यह ख्वाजा अहरार का है।" अन्त में झुँझला कर मुसाफिर ने अपने गदहे को भी खेत की ओर हाँकते हुए कहा—"जा, तू भी ख्वाजा अहरार का हो जा। अस्तु, किसी ख्वाजा अहरार, (स्वतन्त्रानन्द स्वामी) से शेख मुबारक को ज्ञान प्राप्त करने का मौका मिला। समरकन्दी ख्वाजा अहरार के वचनों में कहीं-कहीं "दर्वेश पुर्सीद, व दर्वेशे गुफ्त," (एक दर्वेश ने पूछा और एक दर्वेश ने कहा) की बात आती है। उसमें दर्वेश शेख मुबारक को लिया जाता है। पर निश्चय ही है, कि समरकन्दी अहरार के सामने शेख मुबारक पूछने और कहने के लिए अभी दुनिया में आए नहीं थे।

माता का देहान्त हो गया। शेख मुबारक की दबी उमंगें अब ऊपर उमड़ने लगीं, और सादी, नासिर ख़ुसरू की तरह दुनिया की सैर की धुन उनके सिर पर सवार हुई। उस समय उत्तर में जैसे जौनपुर की विद्या और संस्कृति में प्रसिद्धि थी, वही बात गुजरात में अहमदाबाद की थी। वहाँ कितने ही नागौरी भी पहुँच गए थे। मुबारक भी पहुँचे, और विद्योपार्जन में तल्लीन हो गए। वहाँ इस्लामी धर्म के अतिरिक्त दर्शन और सूफ़ियों (मुस्लिम वेदान्तियों) के सिद्धान्तों के साथ-साथ दूसरे शास्त्रों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। ख़तीब अबुलफ़ज़ल गाज़रूनी शीराज से गुजरात आए, उस समय के बहुत बड़े विद्वान थे। मुबारक जैसे प्रतिभाशाली शिष्य को पाकर वह उसे पुत्र की तरह मानने लगे। उनके पास जो भी ज्ञान था—उसे शिष्य के हृदय में स्थानान्तरित कर दिया। वहाँ पागल शेख युसुफ नाम के एक सन्त रहते थे। मुबारक पण्डिताई से संतुष्ट न हो उनकी सेवा में भी जाते थे। शेख युसुफ से समुन्दर पार के सफर की बात कही, तो उन्होंने कहा—"आगरा में जाकर बैठ। वहाँ मनोरथ सफल न हो, तो ईरान-तूरान की यात्रा करना।"

आगरा में—११ अप्रेल १५४३ ई० को ३८ वर्ष के मुबारक आगरा पहुँचे। गर्मी का मौसम था, आगरा अपनी गर्मी के लिए और भी बदनाम था। पर, वली-फकीर की बात पर मुबारक को बहुत विश्वास था। आगरा में भी एक मस्त फकीर शेख अलाउद्दीन रहते थे। उन्होंने भी वहीं रहने के लिए कहा। जमुना पार रामबाग की बस्ती चार बाग थी, जो फिर हश्त-बहिश्त (अष्टम स्वर्ग) और बाबर द्वारा नूर-अफ़शां (प्रकाश-वर्षी) के नाम से प्रसिद्ध हुई। शेख मुबारक चारबाग में पहुँचे। मीर रफीउद्दीन चिश्ती के पड़ोस में रहने की जगह मिली। मीर (सैयद) मोहल्ले के रईस थे, उनके साथ घनिष्टता हो गई। वहीं एक कुरेशी परिवार में मुबारक की शादी भी हो गई। १५४७ या १५४८ ई० में सैयद मर गए। उनको विद्वत्ता को देखकर सैयद उन्हें आगे बढ़ाना चाहते थे, सैयद कुछ किए बिना ही चल बसे। शेख मुबारक अब और भी एकान्तवासी हो गए। बहुत से विद्यार्थी उनके पास पहुँचने लगे। लोग श्रद्धा करते, उनके सन्त जीवन से आकृष्ट हो भेंट-पूजा देने वाले भी पहुँचते, लेकिन बहुत कम की ही भेंट को वह स्वीकार करते। आगरा पहुँचने के चार वर्ष बाद ४३ वर्ष की उमर में शेख मुबारक को पहला पुत्र—फ़ैज़ी पैदा हुआ। फैज़ी महान विद्वान थे, और मुसलमानों में जहाँ वह कविता में खुसरो के समकक्ष थे, वहाँ दूसरी विद्याओं में उनकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। फैज़ी के चार वर्ष बाद १५५१ ई० में मुबारक के यहाँ दूसरा लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम उन्होंने अपने गुरु खतीब अबुलफ़ज़ल गाज़रूनी के नाम पर अबुलफ़ज़ल रक्खा।

शेख मुबारक आगरा में उस समय आए, जबकि शेरशाह की बादशाहत थी। दो वर्ष बाद शेरशाह मर गया, और सलीमशाह गद्दी पर बैठा। कुछ लोगों ने चाहा, कि सलीमशाह के दरबार में शेख मुबारक की पहुँच हो। एक ओर सूफ़ियों के विचारों और जीवन ने उनको अपनी ओर आकृष्ट किया था, दूसरी ओर वह शिया और दूसरे

उदार विचारों से प्रभावित थे। पर, मुल्लों की कट्टरता भी अभी उनमें थी। कहीं गाना होता, तो वहाँ से जल्दी आगे निकल जाते, क्योंकि इस्लाम ने गाना सुनने को पाप बतलाया है। पायजामा नीचा नहीं होना चाहिए, इसलिए वह अपना ही पायजामा ऊँचा नहीं रखते, बल्कि अगर कोई नीचा पायजामा पहन कर आ जाता, तो वह उसके अधिक भाग को फड़वा डालते। लाल कपड़ा पहनना मना है, इसलिए देखने पर उतरवा देते।

उस समय मख्दूमुलमुल्क मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी की तूती बोल रही थी। मुल्ला सुल्तानपुरी को हुमायूँ के दरबार में स्थान मिला था। सलीमशाह सूरी के तो वह नाक के बाल थे। हुमायूँ के समय दरबार में पहुँचने के कारण भीतर-भीतर उसके लिए भी खैर मनाया करते थे, जिसके ही बल पर हुमायूँ के फिर से गद्दी पाने के बाद उनका दर्जा नहीं छिना। हाँ, अकबर के दरबार का स्वतन्त्र वातावरण उनके लिए उतना अनुकूल साबित नहीं हुआ, तो भी मुल्ला ठहरे, उन्हें मोहताज होने की जरूरत नहीं पड़ी।

चारबाग के इस एकान्तवासी शेख की ख्याति दूर-दूर तक पहुँची। आगरा बाबर के समय से दिल्ली का प्रतिद्वन्द्वी था। अकबर ने इसको अपनी राजधानी बनाया। शेरशाह के खान्दान ने भी आगरा के सम्मान को कायम रक्खा।

मुल्ला फतवा की कमाई खाते थे। किसी को आगे बढ़ते देख कर उस पर तुरन्त काफिर होने का फतवा लगा देते थे। मुल्ला सुल्तानपुरी से लोग परेशान थे। जिसको कोई ऐसा गाढ़ पड़ता, तो वह शेख मुबारक के पास पहुँचते। शेख मुबारक इस्लामी धर्म-शास्त्र और साहित्य के अगाध विद्वान थे। वह कोई ऐसी बात बतला देते, कि सुल्तानपुरी को मुँह की खानी पड़ती। उसे यह मालूम होते देर नहीं लगती, कि चारबाग की मस्जिद की चटाई पर बैठने वाले शेख की ही यह कारस्तानी है। सलीमशाह के जमाने में साम्यवादी शेख अल्लाई जब पहली बार दरबार में आए, तो सुल्तानपुरी ने उन्हें बरबाद करने की कोई कसर नहीं उठा रक्खी, पर पहली बार ही जब दरबार में अल्लाई ने अपना मुँह खोला, और बतलाया, कि जिन गरीबों के खून की कमाई से तुम मौज करते हो, वे कैसी तकलीफ में हैं, तो सलीमशाह की आँख भी बरसे बिना नहीं रहीं, और उस रात उसे अपने सामने दस्तरखान पर चुने हुए तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजनों में गरीबों का खून दिखलाई पड़ा, और उसे खाने से इन्कार कर दिया। लेकिन, कुछ समय बाद सुल्तानपुरी सलीमशाह से अल्लाई को मरवाने में सफल हुए। शेख मुबारक अल्लाई के उपदेशों में शामिल होते थे। उनकी दाद भी दिए बिना नहीं रहते थे, इसलिए यदि उन्हें लोग मेहदीपंथी (साम्यवादी) और देहरिया (नास्तिक) कहें, तो क्या अचरज।

सलीमशाह के जमाने में शेख मुबारक को बहुत सँभल कर रहना पड़ता था। शेरशाह के वंश को खतम होते-होते हेमचन्द्र का प्रभाव बढ़ा। शेख मुबारक को विद्वत्ता और उदारता की खबर हेमू के पास पहुँची, और उनके साथ उसका अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया। शेख की सिफारिश पर कितने ही प्राणदण्ड पाने वालों को हेमू ने छोड़ दिया। लेकिन हेमू ज्यादा दिन तक नहीं टिके। मुगलों और पठानों के जो खूनी लड़ाइयाँ चल रही थीं, उनके कारण हालत खराब थी। इसी समय अकाल पड़ गया। लोग दाने दाने के मोहताज हो गए। शेख मुबारक के घर में बच्चे, विद्यार्थी, नौकर-चाकर से लेकर सत्तर आदमी थे। उस अकाल में उन पर कैसे बीती होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। कभी-कभी दिन में सेर भर अनाज आता। उसे मिट्टी की हाँडी में उबालते, और लोग उसका जूस पीकर क्षुधा शान्त करने की कोशिश करते। इस समय फ़ैज़ी आठ वर्ष का था, और अबुल फ़ज़ल पाँच वर्ष का। इन मुसीबतों के भीतर भी शेख मुबारक सदा अपने और अपनों को खुश रखने की कोशिश करते थे।

हुमायूँ ने दिल्ली की सल्तनत (१०५५ ई० में) फिर लौटाई, लेकिन छः महीने बाद ही सीढ़ी से गिर कर मर गया। तेरह वर्ष का अकबर गद्दी पर बैठा। बैरमखाँ ने उसे अपने हाथ की कठपुतली बना कर रखने में अधिक दिनों तक सफलता नहीं प्राप्त की। बीस वर्ष की उमर (१५६२ ई०) में अकबर ने शासन की बागडोर सँभाल ली। दो ही साल बाद (१५६४ ई० में) उसने हिन्दुओं के ऊपर से जज़िया (कर) उठा लिया। भारत में एक दूसरी हवा बहने का समय आया, लेकिन, शेख मुबारक को भारी खतरों और कठिनाइयों में से गुजरना पड़ा था।

शेख मुबारक दर्वेश नहीं थे, और न सन्त-सूफी स्वभाव और रुझान के आदमी थे। पर, अपने उदार विचारों को छिपाने के लिए सब ढोंग रचना, "अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः" बनना पड़ता था। कितनी ही सादगी से रहें, लेकिन परिवार, दास-दासी, नौकर तथा छात्र मिला कर पाँच-छः दर्जन आदमियों का खर्च था, जिसका चलाना आसान काम नहीं था। शेख अब्दुन्नबी सदर अहलेहाजत थे, शेरशाह ने अभावग्रस्त लोगों की सहायता के लिए एक विभाग खोला था, उसका यह अध्यक्ष था। फ़ैज़ी को लेकर शेख साहब भी भाग्य-परीक्षार्थ उसके पास गए। शेख बड़े विद्वान, अच्छे अध्यापक और अभावग्रस्त थे, उनसे बढ़ कर कौन सहायता का पात्र हो सकता था? सिर्फ सौ बीघा जमीन के लिए प्रार्थना की थी। लेकिन अब्दुन्नबी ने दर्खास्त लेना स्वीकार नहीं किया, और बड़े रूखेपन और घृणा के साथ कहा—इस मेहदीपंथी नास्तिक को निकाल दो। उस दिन शेख मुबारक की क्या हालत हुई होगी, और फ़ैज़ी के दिल पर क्या गुजरी होगी।

अकबर के आरम्भिक सालों में शिया और काफिर कह कर मीर हंबश आदि कितनों को कैद और कितनों ही को प्राणदण्ड दिया गया था। अबुलफ़ज़ल लिखते हैं, कि कुछ दुष्ट लोग मेरे पिता को शिया समझ कर बुरा कहते थे। वह इसमें विवेक करने के लिए तैयार नहीं थे, कि किसी मज़हब को मानना दूसरी बात है, और उसको जानना दूसरी बात। इराक इराक अजम अर्थात ईरान का एक योग्य विद्वान मस्जिद में इमाम था। कुछ मुल्लों ने हनफ़ी सम्प्रदाय के एक वचन का उद्धरण दे करके कहा, कि इराकी गवाही प्रामाणिक नहीं है। जब गवाही प्रामाणिक नहीं है, तो वह इमाम कैसे हो सकता है?

इमाम पर से हटा देने पर सैयद की जीविका छिन गई। उसने आकर अपना दुखड़ा शेख मुबारक के सामने रोया। शेख मुबारक ने उसमें एक नुक्ता बतला दिया, कि इमाम अबु हनीफ़ा का इराक से इराक-अजम, (ईरान) नहीं, बल्कि इराक-अरब अभिप्रेत है। उसके लिए पुस्तकों से बहुत से उद्धरण दे दिए। जब इन प्रमाणों को लिख कर अकबर के सामने रखा गया, तो उसने इमाम को अपने पद पर रहने का हुक्म दे दिया। दुश्मन दिल में बहुत जले, लेकिन करते क्या? वह जानते थे, कि कौन है कुञ्जी बताने वाला।

इतिहासकार बदायूँनी अकबर के समय का एक महान विद्वान था। दरबार में उसकी इज्जत भी थी। वह शेख मुबारक का ही विद्यार्थी था। पर कट्टर मुलंटा रहने या दिखलाने की कोशिश करता था। इसके कारण अपने गुरु को यदि कभी छोड़ भी देता, तो दोनों गुरु-पुत्रों पर तीखी कलम चलाने से बाज न आता था। बदायूँनी को मालूम था, कि उसके गुरु को लोग शिया, मेहदीपंथी, देहरिया (नास्तिक) कह कर बुरा-भला कहते हैं। वह अपने गुरु की सफाई भी कभी-कभी देता था। मियाँ हातिम सम्भली अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धर्म-शास्त्री (फ़क़ीह) माने जाते थे। शेख मुबारक की लिखित बातों को पढ़ने का उन्हें भी अवसर मिला था। एक बार उन्होंने बदायूँनी से पूछा कि शेख की पण्डिताई और विचार व्यवहार कैसा है। बदायूँनी ने उनकी मुल्लाई, सदाचार, ज्ञान-ध्यान की बातें बतलाई। मियाँ ने कहा—ठीक है, मैंने भी बड़ी तारीफ सुनी है, लेकिन कहते हैं, मेहदी का अनुयायी, यह बात कैसी? बदायूँनी ने कहा—शेख साहब, मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी को वली (सन्त) और बुजुर्ग मानते हैं, मगर मेहदी नहीं मानते। मियाँ हातिम ने भी स्वीकार किया, कि सैयद मुहम्मद जौनपुरी की महानता से कोई इन्कार नहीं कर सकता है। वहीं पर मीर अद्ल (न्यायाध्यक्ष) मीर सैयद मुहम्मद भी बैठे थे। दोनों की बात सुनकर उन्होंने पूछ लिया—शेख मुबारक को लोग मेहदीपंथी क्यों कहते हैं? बदायूँनी ने जवाब दिया—क्योंकि वह नेकियों का आग्रह और बुराइयों का कड़ाई के साथ निषेध करते हैं।

सलीमशाह सूरी के जमाने (१५४५-५४ ई०) में साम्यवादी शेख अल्लाई के खून से हाथ रँगने के कारण मेहदीपंथियों के विद्रोह का डर था। उस वक्त शेख मुबारक को बरबाद करने के लिए दुश्मनों को इससे बढ़कर हथियार क्या मिल सकता, कि उन्हें मेहदीपंथी कहते। अकबर के आरम्भिक वर्षों में मध्य-एशिया के तुर्कों का बोलबाला था। ईरान डेढ़ सौ साल से शिया धर्म को अपना राष्ट्रीय धर्म मान चुका था, जिसे मध्य-एशियायी तुर्क फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहते थे। उस वक्त शिया या राफ़ज़ी कह कर किसी को बरबाद किया जा सकता था, इसलिए दुश्मनों ने शेख मुबारक को शिया कहना शुरू किया था। इसमें शक नहीं, कि शेख मुबारक वही नहीं थे, जो वह दिखलाना चाहते थे। वह मुलंटे नहीं, बल्कि बुद्धिवादी बहुत उदार विचारों के विद्वान थे। फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल ने अपने पिता से ये बातें पाई थीं, जिनके कारण अकबर के वह अत्यन्त प्रिय हो गए।

शेख मुबारक दुश्मनों के षड्यन्त्र में पड़ने से बहुत मुश्किल से बचे थे। अबुलफ़ज़ल ने उस समय की आफ़तों के बारे में बहुत-सी बातें लिखी हैं। अकबर के आरम्भिक जमाने में शेख मुबारक का मदरसा (महाविद्यालय) खूब चल निकला, अच्छे-अच्छे शिष्य उनके पास पढ़ने के लिए पहुँचने लगे। दुश्मन यह कैसे पसन्द करते? अकबरनामा में अबुलफ़ज़ल ने लिखा है, द्वेष करने वाले मुल्ला दरबार में जाल-फरेब करके तूफ़ान उठाते रहते थे। कुछ भलेमानुस भी थे, जो आग को बुझा देते थे। अकबर के आरम्भिक जमाने में सच्चे पुरुष दरबार से अलग हो गए थे, शैतानों और धोखेबाजों का बोलबाला था। मख्दूमुल्मुल्क मुल्ला सुलतानपुरी गिरगिट की तरह रंग बदलने में उस्ताद था। हुमायूँ के दरबार में था, फिर शेरशाह और सलीमशाह के दरबार में भी धर्म का सर्वेसर्वा बना हुआ था। हुमायूँ के दुबारा राज्य पाने पर फिर अपने पद पर पहुँच गया, और अकबर के आरम्भिक काल में भी उसकी वैसी ही चलती रही। अल्लाई का खून उसी के गर्दन पर था। वह शेख मुबारक को भी बरबाद करने के लिए फांद बाँधे हुए था। एक दिन अपने बेटे अबुलफ़ज़ल के साथ शेख मुबारक किसी दोस्त के घर गए। मुल्ला सुलतानपुरी भी आ गया। वह बढ़ बढ़ के बातें मारने लगा। अबुलफ़ज़ल कहते हैं—"मुझे जवानी के नशे में अक़्ल की मस्ती चढ़ी हुई थी। आँख खोल कर मदरसा भर ही देखा था, व्यवहार की हाट की ओर कदम भी नहीं उठाया था। उसकी बेहूदा बकवास से मेरी ज़बान खुल गई। मैंने बात को यहाँ तक पहुँचाया, कि मुल्ला शरमा कर उठ गया। देखने वाले हैरान हो गए उसी वक्त वह बदला लेने की फ़िक्र में पड़ा।"

(अगले अंक में समाप्य)

"सहस्रेषु हि मुख्यो भवति एको न वा"

कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण २, अध्याय ४

हज़ारों व्यक्तियों में एक-आध ही व्यक्ति महान बन पाता है; वह भी कभी कभी।

पण्डित मोतीलाल नेहरू

इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रथम दर्शन

यह सन् १९१९ की बात है। वर्ष के प्रारंभ में महात्मा गान्धी जी ने रोलट एक्ट के विरोध में सत्याग्रह की घोषणा की थी। प्रारम्भिक कदम के तौर पर जो देशव्यापी हड़ताल हुई, भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने उस पर अपने-अपने ढंग से प्रहार किया। पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओड्वायर की सरकार ने सत्याग्रह पर लाठी और गोली से प्रहार किया। जिसका स्थूल रूप जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड और मार्शल ला के आकार में प्रकट हुआ। ब्रिटिश टाइगर अपने असली नग्न रूप में संसार के सामने आ गया। पंजाब पर ऐसे अत्याचार हुए, जैसे इतिहास में पढ़े थे। परन्तु कभी विश्वास नहीं किया था और समझा था कि यह केवल अतिशयोक्ति मात्र है। कुछ समय तक तो पंजाब के सम्बन्ध में फाँसीघर की सी निस्तब्धता बनी रही। प्रान्त पर सैन्सरशिप का पर्दा डाल कर मार्शल ला के नाम पर जो भीषण अन्याय किये गये उनका देश को और संसार को तब पता चला, जब लोकमत से प्रभावित होकर सरकार को सैन्सरशिप का प्रतिबन्ध हटा लेना पड़ा। पर्दे के हटने पर संसार ने देखा कि सभ्यताभिमानी ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने पंजाब में जो राक्षसी लीला की है, उसने नीरो और चंगेजखाँ की स्मृति को भी मात कर दिया है। देश भर में हाहाकार सा मच गया। पंजाब की दशा को देखने और उसके आघातों पर मरहम लगाने के लिए देश के हर एक प्रान्त से देशभक्त पंजाब के लिए रवाना होने लगे। उन देशभक्तों में से विशेष रूप से स्मरणीय देशबन्धु चित्तरंजनदास, पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द जी और पंडित मदन मोहन मालवीय जी थे। पहले दोनों महानुभाव मार्शल ला की तहकीकात के सम्बन्ध में और शेष दोनों महानुभाव मार्शल ला द्वारा आहतों और पीड़ितों की सहायता के लिए पंजाब पहुँचे। इस प्रसंग में इन तथा इनके अन्य सहायक देशभक्तों ने जो अनुपम सेवाएँ कीं, उनके विस्तार से लिखने का यह स्थान नहीं है। वे सेवाएँ भारत के राजनीतिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जा चुकी हैं। मैंने तो यह चित्रपट इसलिए सामने रखा है कि मैं तत्सम्बन्धी उन चित्रों को अंकित कर सकूँ, जो मेरी स्मृति में खूब उज्ज्वल रूप से विद्यमान हैं।

पिता जी के पास पंडित मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकात के लिए कांग्रेस द्वारा बनाई गई तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिए लाहौर जा रहा हूँ। आप पंजाब में सेवा का कार्य करके अभी आये हैं। इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आप से मिलकर जाऊँगा। पत्र में अपने दिल्ली पहुँचने की तारीख और पिता जी के



पं॰ मोतीलाल नेहरू

निवास-स्थान पर पहुँचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था। निश्चित और विधिपूर्वक कार्य करने की यह प्रवृत्ति पूज्य नेहरू जी के चरित्र का एक आवश्यक अंग थी।

मुझे नेहरू जी के समीप दर्शनों की बड़ी लालसा थी। उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था तब आप माडरेट (नरम) विचारों के धनी नेता समझे जाते थे। उस समय मैंने नेहरू-परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटना जाते हुए देखा था। पहले दर्जे का पूरा डिब्बा रिज़र्व कराया गया था। पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू—पिता और पुत्र—जब प्लेटफार्म पर पहुँचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी-सी फैल गई थी। नेहरू जी के धन और आनन्दभवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के विलायत से बैरिस्टर बन कर आये हैं, ये भी हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करेंगे। दोनों नेहरुओं के साथ अन्य भी दो-तीन व्यक्ति थे। जो रूप-रंग और वेशभूषा से नेहरू परिवार के ही सदस्य माने जा रहे थे। वह नेहरू जी का राजसी ठाठ था, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात यह पहला अवसर था, जब मुझे नेहरू जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई, मैंने पिता जी से निवेदन किया कि मैं नेहरू जी के आने के समय कुछ देर के लिए उपस्थित रहना चाहता हूँ और आपकी बातचीत आरम्भ हो जाने पर चला जाऊँगा। पिता जी ने स्वीकार कर लिया।

यह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातःकाल के दस बजे का समय होगा। पंडित जी पिता जी के निवास स्थान पर पहुँचे। जब वे सीढ़ियों से ऊपर पहुँचे तो उनके रूप की पहली झाँकी दिखाई दी। अभी वे कोट, पैंट और हैट के वेश से निकले नहीं थे। शानदार सफेद मूँछें, उनके सुन्दर गोरे कश्मीरी चेहरे पर खूब सज रही थीं और उनकी शान को बढ़ा रही थीं। पिता जी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर आये। उस समय जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत ही मनोरंजक थी, इसमें थोड़ा अभिनय का सा रंग भी आ गया था। पिता जी ने बाहर आकर पंडित जी पर नजर पड़ते ही आश्चर्य से कहा "हैं! तुम हो"। पंडित जी ने भी पिता जी की तरफ ध्यान से देख कर कहा "अरे तुम हो" में आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कस कर हाथ मिलाये। पिता जी ने कहा, "मैं अब तक यह नहीं जानता था कि पं० मोतीलाल नेहरू तुम ही हो।" पंडित जी ने उत्तर दिया कि "मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुंशीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम ही हो।" इसके पीछे थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊँची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भी भूल गये और पुराने कालिज के समय में वापिस चले गये। एक ने दूसरे से कहा, "तुम तब भी बहुत नटखट थे।" दूसरे ने उत्तर दिया, "तुम्हारी यह तब भी आदत थी।" किसने किससे क्या कहा यह याद नहीं रहा, सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में यह आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, मित्र थे और एक ही तबियत के थे; दोनों सैलानी तबियत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे।

इतना परिचय प्राप्त करके और दर्शनों से सन्तुष्ट होकर मैं चुपके से वहाँ से उठ गया। दोनों में लगभग दो-तीन घंटे तक बातचीत होती रही।

अमृतसर की कांग्रेस में

अमृतसर कांग्रेस में पिता जी स्वागताध्यक्ष थे और पं० मोतीलाल जी सभापति। उस अवसर पर मैंने पहिली बार पंडित जी का भाषण सुना। पंडित जी का भाषण सारगर्भित और युक्तिपूर्ण होता था। वे सदा श्रोताओं के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने का यत्न करते थे। एक योग्य वकील को जिस भाषण-शैली से काम लेना चाहिए, पंडित जी उसके उस्ताद थे। अंग्रेजी और उर्दू दोनों भाषाओं पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था साथ ही जिन्दादिली उनका विशेष गुण था। बड़े से बड़े कठिन समय में वे विनोद कर सकते थे, खिलखिलाकर हँस सकते थे, और गंभीर से गंभीर कठिनाई को हँसी में उड़ा सकते थे। उनका



माता स्वरूप रानी नेहरू

ह गुण भाषण के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत उपयोगी सिद्ध होता ा। वे विरोधी की अनर्गल युक्तियों का उत्तर देने में अधिक परिश्रम हीं करते थे, प्रत्युत उसे विनोद की चुटकियों में उड़ा देते थे। इस कार मौलिक रूप में वे कुशल वक्ता थे। साथ ही यह भी मानना ड़ेगा कि जनता के लाड़ले आरेटरों में जो विशेषताएँ होती हैं, उनमें ा एक बड़ी विशेषता का उनमें अभाव था। वे दमे के पुराने मरीज़ ा, इस कारण उनका गला बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता था और न नके स्वर का तार बँधता था। जब कभी ज़ोर से बोलना पड़ता था ो प्रायः खाँसी उठ खड़ी होती थी, जो भाषण में विघ्न पैदा कर ्ती थी। इस कमी के कारण उन्हें जनसाधारण को उत्तेजित करने ाला आरेटर नहीं कहा जा सकता। वे बहुत कुशल वक्ता थे। उनकी ़ोरदार स्पष्ट भाषा और युक्तियों का जनता पर जो प्रभाव पड़ता था, ही उन्हें जन नेता बनाने के लिए पर्याप्त था।

यह मैंने पंडित जी के कांग्रेस में प्रारम्भिक जीवन की बात कही। कुछ समय पश्चात तो नक्शा ही बदल गया। पंडित जी ने महात्मा गान्धी की आध्यात्मिक प्रेरणा से अपनी अतुल विभूति और सुखैषणा का जो अनुपम बलिदान किया, उसने उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा दिया, इतना ऊँचा उठा दिया कि उनका कहा हुआ एक-एक शब्द हज़ार-हज़ार शब्दों का बल रखता था। आरेटर के योग्य भौतिक विशेषता के न होते हुए भी गान्धी-युग में पंडित मोतीलाल नेहरू के भाषण बिजली का सा असर रखते थे। यदि गान्धी-युग से पूर्व के वक्ताओं से पंडित मोतीलाल नेहरू की तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि केवल पुरानी वक्तृत्व-कला की दृष्टि से वे कुछ न्यून थे, परन्तु वह वक्तृत्व कला जिसमें वक्ता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्त्व रखता है, पंडित जी को वक्ताओं में बहुत ऊँची कोटि पर बिठा देता है।

अमृतसर को कांग्रेस में पंडित मोतीलाल नेहरू जी ने मुख्य रूप से धारासभा के अध्यक्ष का पार्ट अदा किया। वे कांग्रेस को गर्म राजनीति में नये थे। वहाँ रंगमंच में मुख्य पात्र लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे। देशबन्धु दास भी मंच पर पग बढ़ा रहे थे, परन्तु नेहरू जी संसद् के स्पीकर की भाँति लोकमत के उतार-चढ़ाव के निरीक्षक और नियंत्रणकर्ता ही बने रहे। यूँ, उनकी तथा उनके परिवार की जो राजोचित शान वहाँ दिखाई दे रही थी, वह किसी अन्य को प्राप्त नहीं थी। परमात्मा की दी हुई जन्मसिद्ध पहली विभूति सुन्दरता नेहरू परिवार को पुष्कल मात्रा में प्राप्त थी। स्वयं नेहरू जी राजपूती मूँछों और श्वेत रोबीले चेहरे के ऐश्वर्य के लिए सभापति के आसन की शोभा बढ़ा रहे थे, श्रीमती नेहरू तब यौवन और प्रौढ़ता के मध्यवर्ती काल को छू रही थीं। उनके रूप के बारे में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि उनके सुयोग्य पुत्र जवाहरलाल जी ने उस पर उचित गर्व प्रकट किया है। विजयालक्ष्मी जी और कृष्णा जी दोनों बहनें उस समय युवती थीं। इनके अतिरिक्त श्रीमती श्यामलाल नेहरू अपनी पुत्री श्यामकुमारी के साथ वहाँ विद्यमान थीं। दर्शकों की दृष्टि उस काश्मीरी परिवार पर पड़ती थी, तो आसानी से हटती नहीं थी। वह रूप और शान नेहरू परिवार को जहाँ परमात्मा की देन थी, वहाँ परिवार के केन्द्र पंडित मोतीलाल जी की गुण-गरिमा ने उसकी चमक को सौ गुना कर दिया था।

स्वराज्य दल की स्थापना

पंडित मोतीलाल जी के चरित्र की सब विशेषताओं का एकत्र प्रदर्शन तब हुआ जब गया की कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने और चित्तरंजन श्री देशबन्धुदास ने मिल कर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। महात्मा जी जेल में थे। देश में राजनीतिक आन्दोलन के शिथिल हो जाने के कारण उदासी-सी छा रही थी। कांग्रेस ने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक समिति बनाई थी, जिसकी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि कांग्रेस को कौंसिलों का बहिष्कार उठा देना चाहिए और चुनाव लड़कर कौंसिलों के मोर्चे को भी गर्म कर देना चाहिए। आशा यह थी कि कांग्रेस के अधिवेशन में समिति की रिपोर्ट स्वीकार हो जाएगी, परन्तु अनेक प्रमुख नेताओं के विरोध के कारण वह आशा पूरी न हुई। कौंसिल प्रवेश के पक्षपातियों के नेता पंडित मोतीलाल जी और देशबन्धुदास थे, और उसके विरोधियों के नेता श्री राजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभभाई पटेल और श्री राजेन्द्रप्रसाद थे। फलतः जब आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के सामने कौंसिल बहिष्कार को स्थगित कर देने का विषय उपस्थित हुआ तो कांग्रेस के व्याख्यान मंच ने विवाद-सभा का रूप धारण कर लिया। कौंसिल प्रवेश के विरोधी बहुत प्रभावशाली थे। श्री राजगोपालाचार्य का तर्क कैंची की तरह तेज़ चलता था, सरदार पटेल को चुनौती-भरी उक्तियाँ विरोधियों को दहला देती थीं, और बा० राजेन्द्रप्रसाद की भावुकतापूर्ण वकालत परिवर्तनवाद के पाँव हिला देती थी और उनका उत्तर देने का कठिन काम अकेले पंडित मोतीलाल जी को करना पड़ रहा था। वे यह जानते थे कि अपरिवर्तनवादी बलवान हैं, और वे यह भी समझते थे कि अपरिवर्तनवादियों की पीठ पर महात्मा जी का हाथ है। साधारण योद्धा होता तो इतनी शक्तियों के सामने झुक जाता, या कम से कम मौन हो जाता, पर मोतीलाल जी राजपूती शान के बहादुर थे। खूब जम कर लड़े। महात्मा जी के नाम की दुहाई देने वालों को आपने यह उत्तर दिया कि यदि महात्मा जी जेल से बाहर होते तो वे अवश्य हमारा समर्थन करते। आपने आलोचकों को करारे उत्तर दिए परन्तु प्रतिनिधियों का बहुमत आपके विरुद्ध रहा, क्योंकि सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता था कि महात्मा जी कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम को पसन्द नहीं करते। बहुमत से पंडित मोतीलाल जी का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया, परन्तु पंडित जी परास्त नहीं हुए। आपने तत्काल स्वराज्य पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी, और उसी दिन सायंकाल के समय आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के उन सदस्यों की स्वराज्य दल में भर्ती आरम्भ कर दी जो कौंसिल को लड़ाई का मोर्चा बनाने के पक्ष में थे। जिन सदस्यों ने उसी समय स्वराज्य दल के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए, उनमें से मैं भी था। जब मैंने हस्ताक्षर करके फार्म पंडित जी के हाथ में दिया तो उन्होंने प्यार से मेरी पीठ को थपथपाया, जिससे मैं वस्तुतः फूल उठा था। पंडित जी दोषी को लताड़ना जानते थे तो जिससे प्रसन्न होते थे, उसे पुचकारना भी खूब जानते

थे। उनकी डाँट भयावनी थी, तो उनकी हँसी की मादकता भी असन्दिग्ध थी।

धारासभा में

जब स्वराज्य पार्टी ने पहली बार धारासभाओं में प्रवेश किया तब धारासभा में उसके सदस्यों का अल्पमत था। यह स्वाभाविक ही था कि स्वराज्य पार्टी के जन्मदाता, और योग्यतम सदस्य होने के कारण पंडित मोतीलाल जी को उसका नेता चुना जाता। उस समय धारासभा का नेतृत्व अंग्रेजों के हाथों में था, और बहुमत जी हुजूरों के हाथों में। ऐसे विकट सरकारी दल के विरोध में खड़ा होना, और अपने परिमित सैनिकों की सहायता से पग-पग पर मोर्चा लेना बहुत दुष्कर कार्य था। कई वर्षों तक उस दुष्कर कार्य को नेहरू जी ने जिस आन और शान के साथ किया, उसने न केवल दासता की बेड़ियों में बँधे हुए भारतवासियों के मस्तकों को ही ऊँचा कर दिया, विरोधियों के मुँह से भी बरबस 'वाह वाह' कहला दिया। अल्पसंख्या में होते हुए भी पंडित जी ने अपनी नीतिनिपुणता के कारण कई अवसरों पर सरकार को परास्त कर दिया, जिससे सरकारी हलकों पर उनकी धाक वज्रलेप की तरह बैठ गई थी। जिन गुणों ने उन्हें अनेक बाधाओं के होते हुए भी ऐसा प्रभावशाली बना दिया था, उनमें से तीन मुख्य थे। उनका पहला गुण था समय और परिस्थिति को पहचानने की शक्ति, उसका संक्षिप्त नाम नीतिज्ञता है। उनका आदर्शवाद यथार्थवाद का मित्र था, विरोधी नहीं था। प्रत्येक प्रश्न पर वह यह परख लेते थे कि हम आदर्श के कितने भाग को प्राप्त कर सकते हैं, और उस भाग पर अंगद का पाँव जमा देते थे। उस समय कांग्रेस के क्षेत्रों में कहा जाने लगता था कि अब पंडित जी अपनी बात पर अड़ गए हैं। विश्वास करने से पहले सब पहलुओं पर विचार कर लेना, और विश्वास कर लेने पर उस पर दृढ़ हो जाना राजनीति में सफलता का सार है।

पंडित जी का दूसरा गुण था, उनकी सन्तुलित और प्रौढ़ वक्तृत्व-शक्ति। वे कानूनी ढंग के वक्ता थे। प्रत्येक पक्ष के केन्द्रभूत विचार को पकड़ लेना और फिर उद्भट प्रतिभा और समुचित भाषा की सहायता से उसका प्रतिपादन करना धारासभाओं में सफलता प्राप्त करने का अचूक साधन है, पंडित जी उस साधन से पूरी तरह सम्पन्न थे।

उनका तीसरा विशेष गुण था, स्वभाव की लोकोत्तर विशालता। लोकोत्तर विशालता किसे कहते हैं, यह कवि भवभूति ने इस श्लोक में बतलाया है,

वज्रादपि कठोराणि
मृदूनि कुसुमादपि,
लोकोत्तराणां चेतांसि
को हि विज्ञातुमर्हति।

लोकोत्तर व्यक्तियों के चित्तों को कौन समझ सकता है, क्योंकि वे जहाँ वज्र से भी कठोर होते हैं वहाँ फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। पं० मोतीलाल का क्रोध प्रसिद्ध था। घर में जब उनके माथे पर त्योरी दिखाई देती थी तब आनन्दभवन की दीवारें हिलने लगती थीं, परन्तु जब क्रोध उतर जाता था तब उनके मुँह से जो अट्टहास निकलता था वह आनन्दभवन के आसपास के मकानों में भी सुनाई देता था। वह हँसी मैंने अपने जीवन में बहुत ही कम शायद कभी नहीं देखी। आप पूरे हृदय से हँसते थे, ऐसा हँसते थे कि उसके प्रवाह में बड़े से बड़े विरोधियों के हृदयों की नाराजगी धुल जाती थी। वह हँसी घर तक ही परिमित नहीं थी, कांग्रेस की बैठकों में, धारासभा के अधिवेशनों में और निजी बातचीत में भी अनायास फूट पड़ती थी जिससे गर्म से गर्म वातावरण क्षण भर में शान्त हो जाता था।

उन दिनों वायसराय की कौंसिल में पंडित जी का जो गौरव था, जब मैं उस पर विचार करता हूँ तो मुझे उनकी तुलना का व्यक्ति दिखाई नहीं देता। जिस व्यवस्थापिका सभा के भवन में आज श्री जवाहरलाल नेहरू सरकारी नेता की हैसियत से विराजमान हैं, उसी भवन में आज से बहुत पहले उनके पिता विरोधी दल के नेता के रूप में बैठते थे। तुलना कभी अच्छी नहीं होती और फिर योग्य पिता और योग्य पुत्र में तुलना तो और भी असुविधाजनक है। मैंने तब भी देखा और अब भी देखता हूँ और मैं इतना लिखे बिना नहीं रह सकता कि कौंसिल चैम्बर में विरोधी पार्टी के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू का जो रोबदाब और राजाओं जैसा ठाट था, वह आज भी किसी व्यक्ति का दिखाई नहीं देता। जिस समय सफेद खद्दर के रूप में परिष्कृत होकर पंडित जी अपनी गम्भीर गति से कौंसिल चैम्बर में प्रविष्ट होते थे उस समय सरकारी कुर्सियों पर बैठने वाले अंग्रेज़ महापुरुषों को भी सहम कर खड़े हो जाना पड़ता था। पंडित जी द्वारा धारासभा में की गई आलोचनाओं से सरकार थर-थर काँपती थी। फलतः जितनी शान उन दिनों विरोधी दल के नेता की थी, उतनी शान आज के सचिवों की भी नहीं है। निःसन्देह कहा जा सकता है कि पंडित मोतीलाल जी पैदायशी राजा थे। समय ने उन्हें ऐसे समय उत्पन्न किया कि उन्हें विरोधी दल के नेता बनना पड़ा।

सत्याग्रही बनने के साथ ही पंडित जी ने अपने सम्पूर्ण राजसी ठाठ को तिलांजलि दे दी थी। उनका आनन्दभवन, जिसके सामने गवर्नर का बंगला पानी भरता था, तपस्वियों का बाना पहन कर स्वराज्य-भवन हो गया था। लाखों के विलायती कपड़े आग की भेंट हो चुके थे। पंडित जी की दशा बरसे हुए बादल के समान हो गई थी, परन्तु उससे उनका न गौरव घटा था, और न तेज। वह और भी अधिक उज्ज्वल हो गया था।

तेजस्विता की झाँकी

अन्त में एक आँखों देखी घटना सुना कर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। घटना अत्यन्त साधारण है, परन्तु उससे पंडित मोतीलाल जी के स्वभाव की विशेषताएँ भली प्रकार प्रकट होती हैं। रात की गाड़ी से मैं दिल्ली से लखनऊ जा रहा था। गाड़ी के चलने का समय हो रहा था। गार्ड ने सीटी दे दी और लाइन क्लियर मिल गया, सब मुसाफिर अपने अपने स्थान पर जा बैठे, परन्तु गाड़ी चली नहीं। पाँच मिनट, दस मिनट, आधा घण्टा गाड़ी ने प्लेटफार्म पर से हिलने का नाम न लिया, तब मुसाफिर उतर उतर कर देखने लगे कि माजरा

(शेष पृष्ठ १६ के नीचे)

यह गुण भाषण के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत उपयोगी सिद्ध होता था। वे विरोधी की अनर्गल युक्तियों का उत्तर देने में अधिक परिश्रम नहीं करते थे, प्रत्युत उसे विनोद की चुटकियों में उड़ा देते थे। इस प्रकार मौलिक रूप में वे कुशल वक्ता थे। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जनता के लाड़ले आरेटरों में जो विशेषताएँ होती हैं, उनमें से एक बड़ी विशेषता का उनमें अभाव था। वे दमे के पुराने मरीज़ थे, इस कारण उनका गला बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता था और न उनके स्वर का तार बँधता था। जब कभी ज़ोर से बोलना पड़ता था तो प्रायः खाँसी उठ खड़ी होती थी, जो भाषण में विघ्न पैदा कर देती थी। इस कमी के कारण उन्हें जनसाधारण को उत्तेजित करने वाला आरेटर नहीं कहा जा सकता। वे बहुत कुशल वक्ता थे। उनकी ज़ोरदार स्पष्ट भाषा और युक्तियों का जनता पर जो प्रभाव पड़ता था, वही उन्हें जन नेता बनाने के लिए पर्याप्त था।

यह मैंने पंडित जी के कांग्रेस में प्रारम्भिक जीवन की बात कही। कुछ समय पश्चात तो नक्शा ही बदल गया। पंडित जी ने महात्मा गान्धी की आध्यात्मिक प्रेरणा से अपनी अतुल विभूति और सुखैषणा का जो अनुपम बलिदान किया, उसने उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा दिया, इतना ऊँचा उठा दिया कि उनका कहा हुआ एक-एक शब्द हज़ार-हज़ार शब्दों का बल रखता था। आरेटर के योग्य भौतिक विशेषता के न होते हुए भी गान्धी-युग में पंडित मोतीलाल नेहरू के भाषण बिजली का सा असर रखते थे। यदि गान्धी-युग से पूर्व के वक्ताओं से पंडित मोतीलाल नेहरू की तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि केवल पुरानी वक्तृत्व-कला की दृष्टि से वे कुछ न्यून थे, परन्तु वह वक्तृत्व कला जिसमें वक्ता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्त्व रखता है, पंडित जी को वक्ताओं में बहुत ऊँची कोटि पर बिठा देता है।

अमृतसर को कांग्रेस में पंडित मोतीलाल नेहरू जी ने मुख्य रूप से धारासभा के अध्यक्ष का पार्ट अदा किया। वे कांग्रेस की गर्म राजनीति में नये थे। वहाँ रंगमंच में मुख्य पात्र लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे। देशबन्धु दास भी मंच पर पग बढ़ा रहे थे, परन्तु नेहरू जी संसद् के स्पीकर की भाँति लोकमत के उतार-चढ़ाव के निरीक्षक और नियंत्रणकर्ता ही बने रहे। यूँ, उनकी तथा उनके परिवार की जो राजोचित शान वहाँ दिखाई दे रही थी, वह किसी अन्य को प्राप्त नहीं थी। परमात्मा की दी हुई जन्मसिद्ध पहली विभूति सुन्दरता नेहरू परिवार को पुष्कल मात्रा में प्राप्त थी। स्वयं नेहरू जी राजपूती मूँछों और श्वेत रोबीले चेहरे के ऐश्वर्य को लिए सभापति के आसन की शोभा बढ़ा रहे थे, श्रीमती नेहरू तब यौवन और प्रौढ़ता के मध्यवर्ती काल को छू रही थीं। उनके रूप के बारे में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि उनके सुयोग्य पुत्र जवाहरलाल जी ने उस पर उचित गर्व प्रकट किया है। विजयालक्ष्मी जी और कृष्णा जी दोनों बहनें उस समय युवती थीं। इनके अतिरिक्त श्रीमती श्यामलाल नेहरू अपनी पुत्री श्यामकुमारी के साथ वहाँ विद्यमान थीं। दर्शकों की दृष्टि उस काश्मीरी परिवार पर पड़ती थी, तो आसानी से हटती नहीं थी। वह रूप और शान नेहरू परिवार को जहाँ परमात्मा की देन थी, वहाँ परिवार के केन्द्र पंडित मोतीलाल जी की गुण-गरिमा ने उसकी चमक को सौ गुना कर दिया था।

स्वराज्य दल की स्थापना

पंडित मोतीलाल जी के चरित्र की सब विशेषताओं का एकत्र प्रदर्शन तब हुआ जब गया की कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने और चित्तरंजन श्री देशबन्धुदास ने मिल कर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। महात्मा जी जेल में थे। देश में राजनीतिक आन्दोलन के शिथिल हो जाने के कारण उदासी-सी छा रही थी। कांग्रेस ने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक समिति बनाई थी, जिसकी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि कांग्रेस को कौंसिलों का बहिष्कार उठा देना चाहिए और चुनाव लड़कर कौंसिलों के मोर्चे को भी गर्म कर देना चाहिए। आशा यह थी कि कांग्रेस के अधिवेशन में समिति की रिपोर्ट स्वीकार हो जाएगी, परन्तु अनेक प्रमुख नेताओं के विरोध के कारण वह आशा पूरी न हुई। कौंसिल प्रवेश के पक्षपातियों के नेता पंडित मोतीलाल जी और देशबन्धुदास थे, और उसके विरोधियों के नेता श्री राजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभभाई पटेल और श्री राजेन्द्रप्रसाद थे। फलतः जब आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के सामने कौंसिल बहिष्कार को स्थगित कर देने का विषय उपस्थित हुआ तो कांग्रेस के व्याख्यान मंच ने विवाद-सभा का रूप धारण कर लिया। कौंसिल प्रवेश के विरोधी बहुत प्रभावशाली थे। श्री राजगोपालाचार्य का तर्क कैंची की तरह तेज़ चलता था, सरदार पटेल को चुनौती-भरी उक्तियाँ विरोधियों को दहला देती थीं, और बा० राजेन्द्रप्रसाद की भावुकतापूर्ण वकालत परिवर्तनवाद के पाँव हिला देती थी और उनका उत्तर देने का कठिन काम अकेले पंडित मोतीलाल जी को करना पड़ रहा था। वे यह जानते थे कि अपरिवर्तनवादी बलवान हैं, और वे यह भी समझते थे कि अपरिवर्तनवादियों की पीठ पर महात्मा जी का हाथ है। साधारण योद्धा होता तो इतनी शक्तियों के सामने झुक जाता, या कम से कम मौन हो जाता, पर मोतीलाल जी राजपूती शान के बहादुर थे। खूब जम कर लड़े। महात्मा जी के नाम की दुहाई देने वालों को आपने यह उत्तर दिया कि यदि महात्मा जी जेल से बाहर होते तो वे अवश्य हमारा समर्थन करते। आपने आलोचकों को करारे उत्तर दिए परन्तु प्रतिनिधियों का बहुमत आपके विरुद्ध रहा, क्योंकि सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता था कि महात्मा जी कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम को पसन्द नहीं करते। बहुमत से पंडित मोतीलाल जी का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया, परन्तु पंडित जी परास्त नहीं हुए। आपने तत्काल स्वराज्य पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी, और उसी दिन सायंकाल के समय आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के उन सदस्यों को स्वराज्य दल में भर्ती आरम्भ कर दी जो कौंसिल को लड़ाई का मोर्चा बनाने के पक्ष में थे। जिन सदस्यों ने उसी समय स्वराज्य दल के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए, उनमें मैं भी था। जब मैंने हस्ताक्षर करके फार्म पंडित जी के हाथ में दिया तो उन्होंने प्यार से मेरी पीठ को थपथपाया, जिससे मैं वस्तुतः फूल उठा था। पंडित जी दोषी को लताड़ना जानते थे तो जिससे प्रसन्न होते थे, उसे पुचकारना भी खूब जानते

रात में सड़क पर

बालकृष्ण राव

दाहिने, बाएँ—
हमें है देखना दो ओर केवल,
और दोनों ओर हमको देखना है;
क्योंकि आगे और पीछे कुछ नहीं है,
मार्ग का विस्तार केवल, मील के पत्थर बहुत से
जो लगे हैं ग्लोब की इस करधनी पर
और जो शोभा बढ़ाते, जगमगाते
रोशनी में, राह पर जो पड़ रही है।

रोशनी यह मार्ग-दीपों की नहीं है,
आ रही है यह मकानों से
बने हैं जो सड़क पर
दाहिने-बाएँ।

न जाने क्यों
जलाकर दीप
घर के, लोग सोते हैं यहाँ!

उन्हें है डर
कि शायद स्वप्न टूटे, आँख खुल जाये
अचानक,
और तब शायद
उन्हें इच्छा घड़ी से पूछने की हो
समय की बात;
उठें शायद, चलें शायद,
कहीं ठोकर लगे शायद,
गिरे सामान कोई, टूट जाये।

पर हमें क्या ?
वे जलायें या बुझायें, दीप उनके हैं—
हमारी राह पर तो रोशनी ही पड़
रही है,
और हम इस रोशनी में देखते हैं
नाम उनके,
जो लिखे हैं इन मकानों पर।

सभी हैं अजनबी, परदेस है यह
पाँव जिस पर पड़ रहे हैं,
राह सूनी है।

मगर ऊपर,
सितारे हैं जहाँ,
जो राह इसके साथ ही तय हो रही है,
वह पुरानी और पहचानी हुई है—
बिछा परदेस का क़ालीन जब पैरों तले
उसी दिन—हाँ, उसी दिन
शीश पर थी तन गई यह चाँदनी
घर की।

साथ कोई भी नहीं है,
सड़क सूनी,
सो रहे हैं लोग—दोनों ओर।



पण्डित मोतीलाल नेहरू—(पृष्ठ १२ का शेषांश)

क्या है। देखते क्या हैं कि प्लेटफार्म पर पंडित मोतीलाल नेहरू अपने सेक्रेटरी के साथ टहल रहे हैं, और उनका सामान प्लेटफार्म पर ही रखा हुआ है। मैंने कुछ पास जाकर देखा तो पंडित जी की आँखों में लाली दिखाई दी। समझ लिया कि इस समय शिवजी की तीसरी आँख सक्रिय है। कुछ घबराहट हुई, फिर भी साहस करके पास गया और नमस्कार के अनन्तर बाहर खड़े रहने का कारण पूछा। पंडित जी ने अत्यन्त शान्त भाव से उत्तर दिया, "मैंने अपने और सेक्रेटरी के लिए सीटें रिज़र्व कराई थीं। इन कूढ़मग्जों ने अपर बर्थ रिज़र्व कर दी हैं। मैंने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया है गाड़ी स्टेशन से नहीं जा सकती, जब तक मेरे लिए लोअर बर्थ का प्रबन्ध न हो। आप लोगों को कष्ट हो रहा है इसका मुझे दुःख है, परन्तु इनका दिमाग सीधा करना भी जरूरी है।"

यह कह कर पंडित जी जोर से हँस पड़े। इतने में स्टेशन सुपरिन्टेन्डेन्ट भागा हुआ आया, और हाथ जोड़ कर बोला कि "महाराज, स्टेशन पर इस समय कोई छोटा डिब्बा नहीं है। बहुत बड़ी बड़ी बोगियाँ हैं, परन्तु गाड़ी पहले ही सीमा से लम्बी हो चुकी है।"

अभी स्टेशन सुपरिन्टेन्डेन्ट इतना ही कह पाया था कि पंडित जी ने गर्म होकर कहा, "तो डिब्बा किसी और स्टेशन से मँगवाओ। मेरे लिए सीट की व्यवस्था हुए बिना गाड़ी नहीं जा सकती।" बेचारा सरकारी अधिकारी काँप रहा था। अन्त में बोला, "अच्छा तो एक पहले दर्जे की पूरी स्पेशल बोगी विद्यमान है, उसे लगा देता हूँ।"

यह स्मरण रहे कि पंडित जी मुख्यमन्त्री या मन्त्री नहीं थे, अपितु विरोधी दल के नेता थे। थोड़ी देर में पहले दर्जे की एक पूरी बोगी ट्रेन के पिछले भाग में लगाई गई, तब पंडित जी और उनके साथी गाड़ी में सवार हो गए, और गाड़ी लगभग एक घण्टा देर में स्टेशन से रवाना हुई। गाड़ी पर चढ़ने के समय पंडित जी ने फिर एक बार हाथ जोड़ कर गाड़ी के यात्रियों से विलम्ब करने के लिए क्षमा याचना की।

पराधीन भारत में सरकार के एक प्रसिद्ध विद्रोही नेता का वह आत्मसम्मान और वह ठाठ देख कर हम लोगों की छाती गर्व से फूल गई। अनुभव हुआ कि हम राजनीतिक दृष्टि से पराधीन अवश्य हैं, परन्तु भारत माता की गोद तेजस्वी सपूतों से शून्य नहीं है।

नई कविता

प्रभाकर माचवे

'आजकल' के जुलाई १९५६ के अंक में "नई कविता—नया साहित्य" शीर्षक से श्री भगवतीचरण वर्मा का एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख द्वारा हम 'आजकल' में नई कविता के सम्बन्ध में एक चर्चा का प्रारम्भ कर रहे हैं। इस चर्चा में भाग लेने वाले कतिपय महानुभाव इस प्रकार हैं—श्री प्रभाकर माचवे, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', श्री महाराज कृष्ण रसगोत्र, डा० हरिवंश राय 'बच्चन', श्री नेमीचन्द्र जैन, श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह। हमें विश्वास है कि इस चर्चा से न केवल नई कविता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा, अपितु कविता सम्बन्धी कितनी ही धारणाएँ भी स्पष्ट हो सकेंगी। यह प्रथम लेख 'नई कविता' के पक्ष में है। लेख में सर्वत्र उद्धरण चिह्नों में श्री भगवती चरण वर्मा के विचार हैं।

—सम्पादक

(१)

जुलाई १९५६ के 'आजकल' में प्रकाशित श्री भगवतीचरण वर्मा के लेख में कई परस्पर-विरोधी विधान हैं। उदाहरण के लिए—

१. "कविता का ध्येय आत्म-सन्तुष्टि ही नहीं है, कविता मुख्यतः दूसरों के मनोरंजन के लिए लिखी जाती है। वही कविता समाज द्वारा स्वीकृत होगी जो दूसरों का मनोरंजन कर सके। छन्द और अनुप्रास दूसरों के मनोरंजन में सहायक रहे हैं। आज भी जो कविताएँ जनता द्वारा पढ़ी जाती हैं और प्रशंसित हैं, वे छन्द और अनुप्रास के सहारे मनोरंजन करती हैं।" और साथ ही—"इस वस्तुवादी जगत में जहाँ हर चीज़ का मूल्य सोना-चाँदी से आँका जाता है, साहित्यकारों ने कविता को छोड़ कर गद्य का आश्रय लिया। भारतवर्ष में ही नहीं, दुनिया के किसी भी देश में कविता की पुस्तकों की रायल्टी पर कोई भी साहित्यकार जीवनयापन नहीं कर सकता।"

अतः, निवेदन है कि कविता निरा मनोरंजन नहीं है। कविता बन्दर का तमाशा, पुतरिया का नाच, बढ़िया भोजन और सुरापन, रंगबिरंगे कैलिडिस्कोप की कोटि से कुछ अधिक और भिन्न है। जिसे अपना मनोरंजन ही करना हो वह कविता नहीं पढ़ेगा, सिनेमा के गीतों की किताब पढ़ेगा, जासूसी उपन्यास पढ़ेगा, हलके-फुलके गाने सुनेगा। कवि विट या चेट, विदूषक या मनोरंजनकर्त्ता नहीं है। वह समाज की साहित्यिक अभिरुचि का निर्माता और शास्ता भी है। कविता चाकलेट नहीं है कि चूसिये और भूल जाइये। स्वयम् मूल लेखक कविता में "आस्था, विश्वास और साधना" चाहते हैं। क्या ये मूल्य केवल मनोरंजनार्थ है? नई कविता मनोरंजन के लिए नहीं लिखी जाती।

२. कला के विषय में कुछ परस्पर विरोधी बातें देखिए—"कला का क्षेत्र विचार है भी नहीं, और कला का क्षेत्र भावना है।" और "भावना का उदात्तीकरण ही उच्च कला है।" परन्तु यह सब सहज न हो, क्योंकि—"कविता कला है और 'कला' शब्द में ही कृत्रिमता का बोध है। यह कृत्रिमता परिष्कार और सजावट की है।"

आशय यह हुआ कि कविता में विचार और तर्क को न आने दो। विशुद्ध भावना लिखो। और ध्यान रहे कि भावना कलात्मक यानी कृत्रिम हो, परिष्कृत और सजी-सजाई। नहीं तो बेचारी वह छुई भावना मर जाएगी। "भावना को सजीव, प्राणवान और संयत बनाने का एक मात्र माध्यम है कला का शिल्प।" नई कविता इस कृत्रिम तथा-कथित शिल्प के प्रति विद्रोह है। रवीन्द्रनाथ ने "फार्मेलिज़्म" को "रूप-शिल्पवाद" कहा था। क्या मूल लेखक उसी का "उदात्तीकरण" चाहता है।

३. "नई कविता जनता को आकर्षित करने के बजाय उसमें वितृष्णा और ग्लानि उत्पन्न करती है।" फिर भी "नई कविता के पीछे जल्दी-से-जल्दी ख्याति पाने की प्रवृत्ति है।" यह दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं, पता नहीं। जिस चीज़ से जनता का मनोरंजन न हो, उसमें वितृष्णा और ग्लानि पैदा हो, उसी के पीछे भागने वाले यश (?)-लिप्सु अनोखे हैं। इन फाके-मस्तों से तो वे मंदयशःप्रार्थी शायद भले हैं, जो चुस्त-दुरुस्त छन्द-अनुप्रासादि लिखकर, उसमें शिल्प वगैरह का यथामात्रा बघार देकर, "जनमनरंजन" कविता-होटल चलाते हैं।

लेख के अन्त में, इस "नई-कविता के लिखने वालों की संख्या" इतनी "बेतहाशा बढ़ गई है" कि, मूल लेखक अत्यन्त संयमपूर्ण और साधना भरी आवाज़ में भविष्यवाणी करता है—"युग बदल जाएगा, और जिसे नई कविता कहा जा रहा है वह नष्ट हो जाएगी। जीवित वही कविता रहेगी जो भावना और शिल्प इन दोनों आधारमूल सत्य पर आश्रित है।" क्या यही बात द्विवेदी-युगीन आलोचकों ने छायावाद के बारे में, और छायावादी आलोचकों ने प्रगतिवाद के बारे में बार-बार नहीं कही थी। पर इतिहास साक्षी है कि नष्ट पुराना ही होता है, नया आगे बढ़ता है। अगर "नए" में भी दोष पैदा हो गए तो वह पुराना, सड़ियल होता जाता है, और फिर दूसरा नया आगे बढ़ता है। "मानव जैसे शून्य में स्थित नहीं रह सकता", साहित्य भी कभी शून्य में नहीं रहा है।

वर्मा जी के तर्क के अनुसार कवि को समाज या जनता का मनोरंजन करना चाहिए। छन्द और अनुप्रास, तरन्नुम और संगीत (?) आदि के सहारे। तब उसमें शिल्प-साधना रूपी कृत्रिमता या कला अधिक जगेगी। वहाँ शुद्ध भावना से काम लेना चाहिए, "विचार"

को पास नहीं आने देना चाहिए। "शाश्वत और चिरंतन आस्था" और विश्वास के मूल्यों के सहारे, "साधना" करनी चाहिए। साधना करने से आप "युग की कुरूप, वस्तुवादी, अराजकतापूर्ण, असंयमी कुत्सितता" से धीरे-धीरे दूर हो जाएँगे। आपकी 'भावना का उदात्तीकरण' हो जाएगा। और आप उस राजमार्ग पर सहज पहुँच जाएँगे जिस पर कालिदास या तुलसीदास चले थे। आपको "भू की छाती पर कच्चे फोड़ों से ये उठे हुए जो घर" नहीं देखने चाहिए, "चूँ चरमरर चूँ चरमरर जा रही चली भैंसा गाड़ी" की ध्वनि नहीं सुननी चाहिए, न "हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले" जैसी व्यक्तिवादी रचनाएँ गानी चाहिए, और न ऐसी यथार्थवादी रचनाएँ लिखनी चाहिए जैसे "यामा" को आलोचना कभी "विशाल भारत" में भगवतीचरण वर्मा ने की थी। यानी कवि को अ-कवि हो जाना चाहिए।

(२)

नई कविता पर पहला आक्षेप यह है कि उसमें "लय और छन्द को निरर्थक समझा गया है।" वह "व्याकरण के बन्धन से हीन गद्य है।" उसमें "भावना के अनुसार, बिना विचारों के तारतम्य के छोटी-बड़ी पंक्तियाँ, पूर्ण-अपूर्ण, विराम-कॉमा-डैश आदि से युक्त मिलेंगी।"

प्रश्न यह है कि लय और छन्द की व्याख्या क्या है? क्या कवितान्तर्गत लय और संगीत की लय एक ही चीज़ है? क्या "छन्दस्त्व" नाम की कोई चीज़ है, जो गद्य से भिन्न है? क्या पद्योच्चारी गद्य और गद्योच्चारी पद्य नहीं लिखे गए हैं? क्या रूढ़ छन्द में लिखने से पंक्तियाँ पद्य या काव्य हो जाती हैं? नीचे की पंक्तियाँ पढ़िए, जो हिन्दी के एक गण्यमान्य कवि की हैं। क्या भगवतीचरण जी इसे कविता मानते हैं? "रालीब्रदर इत्यादि को हम बेचते जो माल हैं। लेते वही पन्द्रह गुने तक मूल्य में तत्काल हैं। आता विलायत से यहाँ यह माल नाना रूप में। आश्चर्य क्या फिर पड़े हैं जो अँधेरे कूप में। हम दूसरों को पाँच सौ को बेचते हैं जब रुई। सानन्द कहते हैं कि हमको आय क्या अच्छी हुई। पर दूसरे कहते कि ठहरो, वस्त्र हम जब लाएँगे। तब और पैंतालीस सौ लेकर तुम्हीं से जाएँगे।" अब यह दूसरे उदाहरण कुछ ख्यातनाम गीतकारों के हैं, मैं कवियों के नाम जान-बूझ कर नहीं दे रहा हूँ:—

(१) "राजकुमारी जा! तेरे घर रोज़ बजे शहनाई,
सूरज तेरी गोदी खेले, चन्दा करे ढिठाई,
किरनें तेरे कुन्तल गूँथें, दर्पन रूप दिखाए,
आँगन लीपे धूप, चाँदनी पानी भरे सजाए,
भूले भटके कभी हमारी सुधि यदि आ जाए
तो गा लेना यह गीत गगन जब गाए मेघ मलार।"

(२) "मैं देख रहा हूँ काफी अरसे से दुनिया के रंग-बिरंगे आँगन को,
इसमें हर एक ढूँढ़ता फिरता है केवल अपने-अपने मनभावन को।"

(३) "वहाँ मैं गान गाऊँगा, वहाँ मैं प्राण पाऊँगा,
वहाँ मैं प्राण फूँकूँगा, वहाँ मैं प्राण पाऊँगा।"

(४) "मुझे शुरू से ही लगता था आकर्षक व्यक्तित्व तुम्हारा,
अलग सबों से प्रकट प्रवाही थी तुमने अपनी ध्वनि-धारा।"

(५) "तुम न सुनोगे तो मैं किसे पुकारूँगा संसार में,
तुम न रहोगी पास कहाँ देखूँगा सुख का द्वार मैं।
तुम न छुओगी पाऊँगा कैसे गति का संचार मैं।
तुम न भरोगी स्नेह जलूँगा कैसे तम के पार मैं!"

इन पंक्तियों को पढ़कर, जिन्हें 'गीत' कहा जाता है, कौन-सा नवीन काव्योद्बोधन या रस-संचार साधारण बुद्धिमान और परिपक्व भावनाओं वाले पाठक के मन में हो पाता है, यह मैं जानना चाहता हूँ। यदि वह नहीं होता है, तो ये गीत (यानी गेय शब्द रचना) चाहे हों, कविता कैसे हुई? आप कहेंगे कि किसी भी कविता में से दो-चार बीच की गद्यमय या नवीनता-शून्य पंक्तियाँ उसके संदर्भ से काट कर देने से। द्विवेदीयुगीन या गीतकारों की आधुनिक हिन्दी कविता के साथ अन्याय किया जा रहा है। मैंने यह इसलिए जान-बूझ कर किया है, क्योंकि छन्द-लय-व्याकरण सम्मत पद्य-रचना की मर्यादाएँ क्या हैं, यह अच्छी तरह जान ली जाएँ। किसी भी साधारणतया अच्छी प्रयोगशील या प्रयोगवादी रचना से आप यों काट कर चार पंक्तियाँ, उस कविता के संश्लिष्ट अर्थ को हानि पहुँचाए बिना कभी दे नहीं सकते। गीतवालों या भगवतीचरण जी के स्टैंडर्ड से श्रेष्ठ कविताओं में से आप पंक्तियाँ की पंक्तियाँ निकाल दीजिए, उसके भाव-प्रभाव में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इस विवेचन का निष्कर्ष यह हुआ कि नया कवि वर्णन, सूक्तियाँ, उपदेश, उक्ति-चमत्कार या छन्दो क्रीड़ा के लिए पद्य नहीं लिखता। वह एक समग्र सत्य के संश्लिष्ट जीवनानुभव को, उसकी प्रगाढ़ उत्कटता और सघनता को, समूचा व्यक्त करता है। नई कविता इसलिए शीर्षकों पर टँगी, या पंक्तियों या मात्राओं की मुहताज़ नहीं होती। वह समग्र पढ़ी जाती है, समग्र गुनी जाती है, उसका प्रभाव उसकी सम्पूर्णता के साथ है। नई कविता पढ़ने पर आपको शीर्षक याद नहीं रहते, न पंक्तियाँ आप दुहराते हैं—उर्दू ग़ज़ल के शेरों की तरह—मगर उस सारी कविता से अभिभूत होते हैं। यहीं नई कविता का पुरानी कविता से अन्तर शुरू होता है। पुरानी कविता अवयव, अलंकार, छन्द, प्रास आदि के प्रति सचेष्ट थी। (चाहे उसमें की ऊहा नवीन न हो, कल्पकता मौलिक न हो, अनुभूति सैकेंडहैंड हो, विचार अप्रामाणिक हों) उसका आग्रह शिल्प की साधना पर था। वही कला थी। नई कविता आनन्दवर्धन के शब्दों में कहें तो "अवयवों से अतिरिक्त लावण्य" की ओर संकेत करती है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वाति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।"

यहाँ नई कविता के आलोचकों के लिए विशद करूँ कि भाषा का कवितांतर्गत प्रयोग और केवल पद्य-रचना में बड़ा अन्तर है। सभी छन्दोमय पद्य रचनाएँ काव्य होतीं तो दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि के कई संस्कृत ग्रन्थ जो पद्य में हैं, काव्य कहलाते। कविता अब निरा अनुकरण नहीं रही, न वह निरी सूझ और कल्पना ही रही, परन्तु उसमें प्राचीन रसशास्त्रियों के शब्दों में कहें तो सम्वेदना-भावना-कल्पना-चिंतना आदि का संश्लिष्ट 'अभिसम्भव' होता

है। यह कलात्मक अभिसम्भव-प्रक्रिया ही कविता की भाषा में अनुव्यवसाय से व्यंजकता की ओर संक्रमण निर्मित करती है। अरस्तू ने अभिधान के वर्णनात्मक और भावात्मक दो भेद किए थे। भगवतीचरण जी की कलामीमांसा उसी प्राथमिक अवस्था में है। कलाविषयक मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र-दर्शन ने अरस्तू से अब तक बहुत प्रगति कर ली। काडिलाक, विको और हर्डर ने कला की अपनी स्वतंत्र भाषा मानी। विरौन ने कहा कि भाषा के तीन रूप होते हैं :—निवेदक, प्रेरक और भाव-व्यंजक। भाषा का निवेदनात्मक रूप हमें द्विवेदीयुगीन खण्ड-काव्यों में या छायावादी गीतों में मिलता है, आदेशात्मक या प्रेरणात्मक रूप 'दिनकर' के हुंकार में या प्रगतिवादी काव्य में, परन्तु भावसंक्रांति या 'इंडक्शन ऑफ मूड' सही अर्थ में प्रयोगशील या नई कविता में मिलने लगा है। चार्ल्स पीअर्स के अनुसार भाषा की मूर्तिवत् (Iconic) और संकेतरूप Conventional दो प्रकार की कलात्मक स्थिति है। साधारण व्यवहार में भाषा Unisign होती है, तो काव्य में वह Plurisign बनती है। राजशेखर ने स्पष्ट लिखा है कि काव्य की सरसता-नीरसता केवल कवि-वचन पर अवलम्बित है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बौद्ध साहित्यिक धर्मकीर्ति के और अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी के उदाहरण देकर कहा है कि सरसता-नीरसता 'नियत स्वभाव नहीं है', वह कवि-मनोधर्मसापेक्ष है।

(यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृति विशेषायत्ता तु रसवत्ता;
विदग्धभणितिभंगिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं, न नियतस्वभावम्।)

भट्टतौत ने अभिनव भारती टीका में अनुकरण नहीं परन्तु अनुव्यवसाय को ही सृजन का मूल-बिन्दु माना है। नई कविता में भाषा का यह अभिसम्भव, यह अनुव्यवसाय सामान्य रूढ़ विचारकों के ध्यान में नहीं आता। वे लीकै लीकै चलते हुए, इस 'कुकुरमुत्ते' पर ठिठक जाते हैं!

नई कविता का उत्तरोत्तर धर्म निरलंकारता, सहजता और सादगी की ओर, सर्व-रूप से स्व-रूप की ओर बढ़ने का है। आधुनिक कविता की विशेषता ही उसके रचयिता के भावलोक की प्रगाढ़ता, अनुभवविश्व की समृद्धता और व्यंजना के माध्यम की दुर्बलता का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भान है। 'तारसप्तक' में अज्ञेय ने अपने वक्तव्य में इसे प्रेषणीयता की समस्या कहकर विश्लेषित किया था। आधुनिक कवि की अनुभूति की दुरूहता उसमें अपरिहार्य रूप में व्यंजना की दुरूहता पैदा करती है और सहजता या ऋजुता तक पहुँचने के सारे प्रयत्न वहाँ अनुभूति से अप्रमाणिक होकर, अ-सहज होकर, शब्द-बहुल होकर ही समाप्त होते हैं। शब्द की पंगुता अर्थ की गति-अतिशयता के आगे स्पष्ट हो उठती है। यही आधुनिक कविता की समस्या पैदा होती है।

बड़े भाग्यवान हैं वे गीतकार जिनके लिए छन्द (और तुकें) आसमान से परियों की तरह उतर आती हैं। 'फरिश्तों से मजमूं मेरे आगे' चले आते हैं। बड़े भाग्यवान हैं वे पद्य-रचनाकार जिनके भाव तुकों की सीढ़ियों का सहारा पाकर बच्चों के पार्क की फिसलनी की तरह एक के पीछे एक बराबर समस्यापूर्तियाँ करते चलते हैं—रीतिकाल में प्रास और छन्द की सुविधा के अनेक उदाहरण मिलेंगे—परन्तु कविता अब शब्दों का खिलवाड़ नहीं रही। कविता अब निरा चमत्कार नहीं रही। वह कालिदास और तुलसीदास से क्रमशः दो हजार और चार-सौ वर्ष आगे के मानव की सांस्कृतिक थाती है। वह दर्शन और विज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वहाँ का चिन्मय घनीभूत, क्षण-चित्रात्मक प्रामाणिक समग्र अन्तर-दर्शन है। वह विराट स्वरूप का केवल मुँह में देखा हुआ ग्यारहवाँ अध्याय है, स्थितप्रज्ञ पर कर्मण्य, अनिकेत पर स्थिरमति! स्थिति-गति के इस संवेग-अवरोह की उत्पत्ति-लय का अखण्ड लीलालास्य इस माध्यम में है। अतः जहाँ छन्द और प्रास की सचेष्ट, साग्रह शिल्प-साधना है, कविता उसमें अपवाद-प्रकर्ष से ही दिखाई देती है। हिन्दी का आज का काव्योत्पादन साक्षी है कि अच्छे गीत लिखना आसान है या अच्छी नई कविता लिखना।

(३)

तीसरा आक्षेप नई कविता के वस्तु-पक्ष या भाव-पक्ष को लेकर है। आक्षेप यों है—नई कविता में प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध लिखा जाता है। नई कविता आज की कुरूपता को चित्रित करने में विश्वास करती है। अभी हमने आक्षेपकों से जाना था कि नई कविता में कोई विश्वास है ही नहीं। गनीमत है, अब यह तो जाना कि नई कविता एक चीज़ में यानी कुरूपता में विश्वास करता है। "सौंदर्यसृजन प्राचीन की परम्परा है," "नई कविता को प्राचीन मात्र का खण्डन करना है। अतः वह सौंदर्य के विनाश को प्रेरित करती है," मूल लेखक ने यह भी माना है कि "सौंदर्य, कुरूपता आदि मूल्य युगानुकूल बदलते रहते हैं।" आज यदि कोई स्त्री पति की चिता पर सती होने लगे या उसे बाध्य किया जाए, तो इस दृश्य को भव्य और सुन्दर कहा जा सकेगा क्या? यद्यपि सती व का सिद्धान्त, शाश्वत और चिरंतन आस्था का वैयक्तिक पक्ष है। दूसरा उदाहरण लें नवाब वाजिदअली शाह का। उनके नज़ाकत के प्रेम को सामाजिक परिस्थितियों से काटकर देखा जाए तो वैयक्तिक आस्था का एक सुन्दर उदाहरण है। पर आज वह हास्यास्पद क्यों लगता है? नई आस्थाएँ और नए विश्वास बनते जाते हैं, यह मूल आक्षेपक भी मानते हैं। परन्तु कविता को उनसे शायद बचना चाहिए, ऐसा उनका मत है। क्योंकि "अनास्था और अविश्वास केवल ध्वंसात्मक दृष्टिकोण हैं।" क्या कोई भी रचना बिना किसी न किसी प्रकार के विनाश के सम्भव हो सकी है। बीज मिट्टी में विनष्ट होता है, अंकुर ऊपर आता है। एक पीढ़ी मिटती है, दूसरी सामने आती है: "खेतों के प्रासाद बने हैं, प्रासादों के फिर से खेत।" ऐसी दशा में जीवन की समग्रता को न देखकर केवल अपना मनचीता, 'मीठा-मीठा गप्प-गप्प, कड़ुआ-कड़ुआ थू-थू' कह कर हंस क्षीर-न्याय मानना, क्या निरी एकांगिता नहीं है? क्या यह कवि के लिए सम्भव है कि वह केवल एक ही पहलू देखे। वह केवल पत्थर के लिए सम्भव है। मूल लेखक पत्थर ने आवेश से लिखा है, तभी वह भविष्यवाणी करता है कि "जिसे नई कविता कहा जा रहा है, वह नष्ट हो जाएगी।" ऐसा ही हर सुधार और हर क्रान्ति के पहले, प्रतिक्रियावादी मत वाले कहते रहे हैं इतिहास साक्षी है। और जीवित वही मत रहे हैं जो अधिकाधिक मानवकल्याण को पोषित करते रहे।

'भावना और शिल्प' यह 'दो आधारभूत सत्य' कविता के लिए काफी नहीं हैं। कविता केवल भाव-दशा का सुघर, शिल्पित, मनोरम कर्णप्रिय प्रेषण मात्र नहीं है। वह विचारों के आँवे में पकी भावनाओं का, समूचे सामाजिक यथार्थ का, कवि के समूचे व्यक्तित्व से निखरने वाला, सत्य है। उसमें कवि की आकांक्षा, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-विराग इन्द्रिय-सम्वेदना, कल्पना, चेतना-अचेतन, स्वप्न और वास्तवदर्शन, संस्कार और शब्द-ज्ञान, सौन्दर्य-सम्वेदना, मानवीय सहानुभूति सबका परिपाक है। यानी वह एक संश्लिष्ट (इंटिग्रेटेड) रचना है। और यहीं वह निरी मधुर तुकबन्दी से भिन्न है। आधुनिक कविता में व्यंग और विच्छित्ति की अधिकता इसी कारण से है। भारत की सभी प्रौढ़ भाषाओं में न केवल छन्द-बंध की कठोर कारा को बीसियों वर्ष पहले कविता छोड़ आई है; परन्तु उत्कट अनुभूति के क्षणों का यह संमिश्र, अपरिभाषेय, सूक्ष्म, सौष्ठव कविजन अपनी तूलिका से अंकित कर रहे हैं। इस कविता का समग्र रसग्रहण करना होगा। केवल छन्द या प्रास, केवल भावना या केवल आस्था या विश्वास हमें केवल रामधुन का अखण्ड कीर्तन तक पहुँचा सकेगा। यदि केवल शिल्प देखना हो तो 'दुलारे-दोहावली' उसका आदर्श उदाहरण है—शायद उसके पीछे कवि की 'साधना' भी कम नहीं रही होगी। परन्तु क्या उसमें व्यक्त कवि का सत्य है—या उक्ति-चमत्कार का आग्रह मात्र है। क्या मूल लेखक सचमुच, सन् १९४९ के जनतन्त्रात्मक भारत को और उसके कवि को पुनः दरबारी वातावरण में ले जाना चाहते हैं, जहाँ कवि मनोरंजनकर्त्ता है, कला-शिल्पबद्ध है, प्राचीन परम्पराओं पर उसकी आस्था भी है। हमारे यहाँ कवि को 'मनीषी, परिभू, स्वयंभू' कहा गया है। यह मनीषीपन तो उसे विचार और तर्क के बीहड़ काँटों में घसीटेगा, ('स्वायंभुवत्व' तो केवल वैवस्वत मनु का है) आधुनिक कवि तो जैसा जनता चाहती है, सिनेमा का डाइरेक्टर चाहता है वैसा निरा 'गीत दान' करता रहता है। फकीरों की सी एक-सी तरन्नुम में या बेसुरी, भद्दी आवाज में पनियल रोमांस और भग्न-हृदय की प्रेमनिराशा के जज्बातों का इजहार करता है, मृत्यु-पूजा पर आस्था और विश्वास करता है—वही आदर्श आधुनिक कवि हुआ। बाकी तो सब घास छीलने वाले या भड़भूँजे हैं ! क्योंकि या तो उनके हाथ हँसिया-खुरपी है, या वे अकेले चने से भाड़ फूँकना चाहते हैं।

(४)

इसका अर्थ यह नहीं कि नई कविता नाम से अभिहित सभी रचनाएँ आदर्श कोटि की या पूर्णतः परिपक्व हैं। उनमें भी प्रयोगशीलता के नाम पर बहुत-सा कूड़ा-कचरा लिखा जा रहा है। जब-जब नया साहित्यिक आन्दोलन चला है, चाहे छायावाद हो, प्रगतिवाद या प्रयोगवाद—क्या बाढ़ के साथ बहुत-सा छिछला और अनावश्यक बह कर नहीं आया है। जब मूल्यांकन किया जाए तो उस दुर्बल पक्ष को लेकर नहीं, बल्कि उपलब्धियों को लेकर कहा जाए। देखना यह है कि विश्वकविता, या भारत की अन्य भाषाओं की कविता की तुलना और परिपार्श्व—क्योंकि उपलब्धि का अनुमान तो इसी प्रकार से कुछ स्तर निश्चित किए बिना नहीं होगा—किस 'दल' या 'दल' की कविताएँ कवितापन से अधिक परिप्लुत हैं, किसने भावना (जो विचार के बिना अपरिपक्व और पंगु है) और शिल्प (जो कि निरा कठखुदाई या मीनाकारी या पच्चीकारी नहीं है, परन्तु काव्य के वागर्थ से संपृक्त है) दोनों में अधिक संश्लेषण प्राप्त किया है, कौन अपने अनुभूत के प्रति अधिक प्रामाणिक है, कौन सचमुच आगे आने वाली कविता का चूड़-संवाहक है। इस प्रश्न का निर्णय पाठक पर छोड़ देना उचित होगा। जो न्यस्त स्वार्थों के पोषक हैं, जो रूढ़िवादी और स्थिति-स्थापक वादी हैं, वे दोनों दलों में हैं। वे 'आस्था और विश्वास' की बात बार-बार दुहराते हैं—पर आधुनिक मानव का मन खण्डित हो चुका है। वह कहीं जमता नहीं। 'जेरूसेलम, विएना, पैरिस—गिरती हुई मीनारें' हैं (ईलियट)।

'कल्याण' मासिक की हिन्दी में सबसे अधिक खपत है। उसमें भावना और शिल्प की कमी नहीं है। परन्तु हिन्दी भाषी पाठक-समाज अधिकाधिक अश्रद्ध और नास्तिक बनता जा रहा है। उसका क्या कारण है ? क्या गीता जी के सस्ते संस्करण, मुफ्त में बाँटने से श्रद्धा उसमें जाग जाएगी ? मूलतः यह बात ही गलत है कि कविता, जो कि कवि के समग्र व्यक्तित्व का आत्माविष्करण है, ईमानदार आत्म-प्रकटीकरण है—उसे किसी काव्य-गत सत्य से बाहर की श्रद्धा, आस्था, साधना इत्यादि की लादी ढोने वाला खच्चर बना दिया जाए। तितली के पंखों द्वारा पराग-केसर ही ले जाया जाता है, ढोंगी उपदेश को, तेलसने पुराने चीथड़ों जैसे शब्दों की, घिसे-पिटे बासी उपमा-उत्प्रेक्षाओं की रसद नहीं। इस नए संघर्ष में ये अस्त्र काम नहीं आएँगे, अणु-युग में सांघिक रूप से लाठी भाँजने (या गलाबाजी करने) से कुछ नहीं होगा। अब कविता का पाठक जागरूक हो गया है। वह कवि से सौटंच 'कविता' चाहता है। लेक्चर या लोरियाँ, लटके या लावनियाँ, मुकरियाँ और ढकोसले नहीं। अर्थहीन गुनगुनाहट जैसे कविता नहीं है, वैसे वाग्सौन्दर्यविहीन नव-काव्य भी सार्थक नहीं है। दोष दोनों शैलियों की नई कविता में हैं। परन्तु मूल लेखक जिस प्रकार की एक विशेष नई कविता पर आक्षेप करता है, उससे हिन्दी कविता के भविष्य पर कुठाराघात नहीं हो सकता है, केवल लेखक के मन की झाँकी मात्र मिलती है। मेरा निश्चित मत है कि हिन्दी कविता का भविष्य नई कविता की उसी शैली के हाथों है, जो अभी प्रयोगशील है यानी जो सँवर और उभर रही है।



स्वप्न की छलना

महाराज कृष्ण रसगोत्र

रात के तीसरे पहर की
गहराई की घनी नींद में खोया हुआ,
कोई पड़ा सोता हो
भुला सब ग़मो-फ़िक्र मानवी जीवन के,
औ' मुहब्बत की तरस से
ख़ाली हों तहें मन की, तो
नींद उसके लिए राहत है।
ऐसे में दबे पाँव
स्वर्ग की रूपवती, मोहिनी
रंगमयी इन्द्रेणी[1] सी,
और लावण्यमयी रति सी
अप्सरा एक उतर आए,
और छू स्वप्न की जादू-छड़ी से पलकें
उसको उठा ले जाए
तीर पै रवितनया के
किसी शीतल वन में,
जिसके हर पेड़, शिला, पत्थर पर
जमी हो काई
सुख-स्पर्श-मयी, कोमल, शीतप्रद और हरी;
फिर घनी, महकीली शस्य की शय्या पर
लिटा कर उसको,
और बल खा
विद्युत की तरलता से
उसकी भुजाओं में सिमिट,
उसके हर अंग में औ' रुए में
विश्व के कुल भोगों का
रस भर दे, मद भर दे।
और फिर बिन-कारण रूठ चली जाए—
उस विलासी की दशा कौन कहे ?
वह दशा मेरी है।
यों तो कमी
दुनिया में नहीं हूरों की
और कहते हैं
सगोत्र हैं सौन्दर्य के सब रूप,
और ये रूप-शिखें लमकाती
प्रतिरूप हैं रूप के उस लवर की
जिस पर
आदि मनुज ने अपना
तन वारा मन वारा,
पर मुझे एक परी रूह ने
स्वप्न में चूमा है :
उसके सौन्दर्य के उजियारे से भरे
मेरे नयन अन्धे हैं,
और करक ओठों पर
अमीरस की तृषा की
बँध गई ऐसी, कि अब
मद चुम्बन का
उतर अधर पर मेरे
विष बनता है,
इन भुजाओं में स्वयं स्वर्ग
समेटा था कभी मैंने,
इसलिए इनका अब पाश नहीं भरता है,
स्वप्न जिसका हो, उसे
सत्य से सन्तोष कहाँ मिलता है ?
प्रणयिनी, हमने प्रणय की
सौ बार शपथ ली होगी,
और सौ बार
शिथिल बाहों में सरकता प्यार
कसा है हमने,
और अभिसार के अनित्य में
नित्य का परिचय खोजा,
और निर्दीप्त गहनता में नयन की
सौ बार परस्पर हमने
दिव्य अगोचर देखा—
या कि माना देखा,
क्योंकि नयनों में उपस्थित होती
दिव्य की ज्योति, अगर,
तो न दरकार इन्हें थी
किरण दिनकर की—
और घड़ियों में समर्पण की
क्या नहीं माँगा मैंने
जो कि तुमने न मुझे दे डाला ?
किन्तु नहीं तृप्ति मिली,
और न हम
सत्य की क़ैद से मुक्त हुए।
मेरी हर माँग अधूरी थी
और हर माँग की परिपूर्ति
आशा से कहीं कम।
जब कभी रागीले,
परदार क्षणों के बल पर
निश्चेष्ट उठकर मेरे
स्वप्न की स्वर्णमयी
काया की परिधि छूने को,
सत्य की भुरभुरी धूल, लिए वे लौटे
और वह धूल निज भाल चढ़ाई तुमने !
तुम धराशायी हो, नहीं परिचित हो
मेरी उत्तुंग उमंगों से,
जो कि परवाज़ में छूती हैं
गगन की सीमा,
इसलिए धूल की दो मुट्ठी को
समझ कर देवी सम्पद्
ग्रहण किया है तुमने।
तुम नहीं मित-सन्तोषी,
मगर मित ग्रहणी हो,
और तुम स्मारक हो
मेरी धरा-दीनता, मेरी पराधीनता की।
अब न तुम और मुहब्बत चाहो मुझ से।
मेरी लाचारी पर ज़रा सोचो तो—
मैं तुम्हें प्यार कभी क्या दे पाया ?
और कब तुम भूलीं
कि सतरंगी पाशों में तुम्हारे
बँध नहीं पाया कभी
स्वप्न-रसिक मन मेरा ?
तुम धारा-रूप—स्वयं धरती हो,
और तन मेरा विनिर्मित है
मिट्टी से तुम्हारी, इसलिए
कुछ तो सहज बंधन तन के हैं,
मन मगर तन से अलग, ऊपर है,
स्वप्न का अनुरागी, नहीं भक्त है वह
तन की तरल माँगों का।
अब न तुम मुझ से मुहब्बत माँगो,
स्वप्न का अभिसारी, नहीं मन
अपना है तुम्हें दे दूँ जो, और
कामना मन की मुहब्बत है,
तन, मगर देन तुम्हारी जो, तुम्हारा है।

१. इन्द्रेणी नेपाली भाषा में इन्द्र-धनुष को कहते हैं।

पागल

अनिलवरण गंगोपाध्याय

छोटा सा देहाती स्टेशन है। दिन के समय जो थोड़ी-बहुत सरगर्मी रहती है, वह सन्ध्या के उतरते ही क्षीण हो जाती है। केवल स्टेशन मास्टर के कमरे में एक बत्ती रात भर टिमटिमाती रहती है। ११-४५ की अप ट्रेन चले जाने पर स्टेशन मास्टर भी निश्चिन्त होकर अपने क्वार्टर की तरफ चल देता है।

स्टेशन की घड़ी में टन-टन करके ग्यारह बज गए। स्टेशन मास्टर के कमरे के बरामदे के एक अँधेरे कोने में जो स्त्री रात आठ बजे से गुम-सुम बैठी हुई है, वह ज़रा हिल-डुल कर बैठ गई।

यहाँ पर बहुत कम मुसाफिर उतरते-चढ़ते हैं, और जो उतरते-चढ़ते हैं, उनमें से अधिकांश को स्टेशन मास्टर पहचानता है। पर वह स्त्री कपड़ों में लिपट कर इस तरह चुपचाप बैठी हुई थी मानों वह साधना कर रही हो कि अपने को विलुप्त कैसे किया जाय। हाँ, वह एक बार स्टेशन मास्टर से यह पूछ गई थी कि ११-४५ के पहले कोई गाड़ी है या नहीं।

११-४५ की गाड़ी आ गई। यहाँ पर गाड़ी एक मिनट से अधिक रुकती नहीं है। वह स्त्री जल्दी में गाड़ी पर सवार होने जा रही थी कि इतने में किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा और वह ठिठक कर खड़ी हो गई। किसी ने पुकारा—लेखा!

बस उसका गाड़ी पर सवार होना रह गया। घूँघट का जो हिस्सा उघड़ गया था, उसे बन्द करके वह थरथर काँपने लगी।

हाथ में एक सूटकेस और छोटी सी बेडिंग लेकर एक सुन्दर युवक आश्चर्य से अवाक् होकर उसकी तरफ ताक रहा था। दोनों जैसे भाषा शक्तिहीन हो गए। अति परिचित के आविर्भाव से दोनों गूँगे हो गए। फिर भी प्रथम आश्चर्य के झटके से सम्हल कर सौम्येन्द्र ने ही पहले-पहल कहा—कहाँ चली हो?

लेखा ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसी तरह सिर नीचा किए हुए खड़ी रही।

सौम्येन्द्र को और भी आश्चर्य हुआ कि लेखा के साथ और कोई नहीं है। लेखा से कोई उत्तर न पाकर सौम्येन्द्र इसी उधेड़बुन में था कि क्या करे, इतने में उसे मालूम हुआ जैसे लेखा बिलख-बिलख कर रो रही है। उसकी समझ में नहीं आया कि क्या मामला है। गाड़ी तो बहुत पहले ही छूट चुकी थी। अँधेरे में सौम्येन्द्र के मन को जैसे एक रहस्य ने धीरे से छू लिया। उसने कहा—मेरे साथ आओ।

इतनी देर में लेखा ने आँख उठा कर देखा। गीले शब्दों में बोली—कहाँ?

उसके चेहरे की तरफ देखकर सौम्येन्द्र का गला रुँध चला। लेखा का चेहरा ऐसा हो गया है। एक क्षीण निराशापूर्ण चेहरा। उसके दुबले पीले चेहरे की तरफ देखकर वह बोला—मैं घर जा रहा हूँ। मेरे साथ चलोगी?

—नहीं, नहीं, सामू दादा, वहाँ नहीं—लेखा जैसे चीख़ कर बोल उठी।

—तो इतनी रात में तुम कहाँ रहोगी?

—देखा जायगा, तुम जाओ—लेखा ने सिर नीचा करते हुए कहा।

—मैं जाऊँ और तुम यहाँ अकेली रहोगी? क्या पागल की तरह बात कर रही हो लेखा।

एक ही मुहूर्त्त के अन्दर सौम्येन्द्र ने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। बोला—चलो स्टेशन मास्टर के पास। वेटिंग रूम की चाभी लेकर उसी में रात काट दी जाएगी।

स्टेशन मास्टर को जब मोटे तौर पर सारी बात समझा दी गई, तो उसने वेटिंग रूम का दरवाजा खोल दिया। सौम्येन्द्र को यहाँ कुछ झूठ का सहारा लेना पड़ा। लेखा उसकी रिश्तेदार है। गाड़ी फेल हो जाने के कारण अब रात भर यहाँ रहने के लिए मजबूर है। झूठ के बिना स्टेशन मास्टर शायद ही वेटिंग रूम खोलने पर राज़ी होता। लेखा को वेटिंग रूम में बैठा कर सौम्येन्द्र बाहर आकर खड़ा हो गया।

कुछ खाद्य द्रव्य मिल जाता तो अच्छा रहता। पर यह तो बिल्कुल ही असम्भव है। इस उजाड़ खंड में खाद्य द्रव्य कहाँ से मिले, पर लेखा को देखकर ऐसा मालूम होता था कि उसने दिन भर खाना-पीना यहाँ तक कि नहाना भी नहीं किया। धीरे-धीरे सौम्येन्द्र टहलता हुआ प्लेटफार्म के बाहर आकर खड़ा हो गया।

बाहर के घुप अँधेरे की तरह उसके मन में भी अज्ञात चिन्ताएँ आ रही थीं। कोई भयंकर बात हुई है, यह तो सुलेखा को इस अज्ञात स्टेशन में अकेली देखकर अनुमान किया जा सकता था। पर अपने से कुछ पूछने में संकोच हो रहा था। आँखों के सामने सुलेखा का मलिन चेहरा तैरने लगा। साथ ही चित्रपट की तरह कई साल पहले की बातें भी याद आ गईं। उन दिनों सभी उनके मधुर सम्पर्क से परिचित थे। दोनों एक ही साथ एक ही पड़ोस में पले थे। नन्हीं सी शान्त लड़की मुँह बिचकाए बिना सौम्येन्द्र के सारे अत्याचार सहन करती थी। सौम्येन्द्र खेलता तो सुलेखा दौड़-दौड़ कर उसकी गेंद पकड़ कर लाती। वह फूल तोड़-तोड़ कर डाल देता और सुलेखा को उन्हें उसके लिए बटोरना पड़ता। कभी उसने चूँ-चपड़ नहीं की थी। सौम्येन्द्र ने उसे कितनी ही कहानियाँ सुनाईं तथा सबक तैयार करने में मदद दी। आज ऐसा मालूम हो रहा था कि सुलेखा उन दिनों उतनी अच्छी न होती, तो ठीक था।

बचपन का वह स्नेह धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण करने लगा। सुलेखा की माँ ने भी दोनों के मिलने-जुलने में कोई बाधा नहीं पहुँचाई। सौम्येन्द्र की तरह वह भी समझती थी कि एक दिन इनका ब्याह होना ही है। पर सब सोचा-सोचाया पाँच साल पहले एक दिन धरा रह गया। सौम्येन्द्र कलकत्ते में होस्टल में रह कर एम० एस-सी० पढ़ रहा था कि परीक्षा देने के बाद ही शादी होगी।

इतने में धूमकेतु की तरह अरविंद का उदय हुआ। सौम्येन्द्र दशहरे की छुट्टी में बड़ी आशाएँ लेकर गाँव में आया था। उसने तो कलकत्ते में शादी के बाद रहने के लिए मकान भी ठीक कर रक्खा था। सुलेखा को बहुत कुछ कहना था। उससे सलाह लेनी थी। पर वे बातें मन की मन में ही रह गईं। उसने आकर देखा कि लेखा के घर में वही आगन्तुक डटा हुआ है।

सुलेखा के माता-पिता ने उसकी तरफ अजीब उदासीनता का रुख अपना लिया। अब तो सुलेखा से मिलना भी मुश्किल हो गया। एकाएक लोग जैसे सौम्येन्द्र और सुलेखा की उम्र के सम्बन्ध में सचेत हो गए थे। सुलेखा की दृष्टि में भय के साथ-साथ कुछ ऐसी आत्म-करुणा थी, जिसके कारण सौम्येन्द्र पागल हो गया। पर सुलेखा के पिता टस से मस नहीं हुए। तरुण जमींदार अरविंद के सामने सौम्येन्द्र को हट जाना पड़ा। सुलेखा पर उसे क्रोध और साथ ही साथ वितृष्णा हो गई। उसकी शादी के कुछ दिन पहले ही वह होस्टल में लौट गया। सुलेखा इतनी कमजोर और इतने छोटे दिल की है, यह बात वह कभी सोच नहीं सका था, पर इसी सुलेखा को जिसने उसका जीवन नष्ट कर दिया, वह कभी भूल नहीं सका, इस कारण उसे अपने ऊपर बड़ा क्रोध आता था।

पाँच साल बाद वह उसी सुलेखा का अपमान करने के लिए ही गाँव में लौट रहा था। सौम्येन्द्र अब कोयले की एक खान का मैनेजर था। उस समय लेखा को जो बात सौभाग्य के रूप में जँची थी, आज सौम्येन्द्र यह दिखला सकता था कि वह कुछ भी नहीं था। वह चाहता था कि सुलेखा अपनी आँख से देखे और पछतावे की आग में जले।

पर यह क्या हुआ? जिसे अपमानित करने के लिए उसने संकल्प किया था, आज उसकी व्यथा देखकर उसका हृदय दुखी क्यों हो रहा है, तो क्या आज भी वह सुलेखा को उसी प्रकार······?

तभी तो रेल से उतरने के पहले भी उसी की बात याद आ रही थी। टहलते-टहलते सौम्येन्द्र प्लेटफार्म से बहुत दूर निकल आया था इसीलिए वह धीरे-धीरे लौट पड़ा। सुलेखा वेटिंग रूम के बैंच के कोने से चिपक कर बैठी हुई थी। ऐसा तो मालूम नहीं होता कि उसने इस बीच में मुँह-हाथ भी धोया है।

सौम्येन्द्र को देखते ही सुलेखा बोली—सामू दादा, तुमने मेरे लिए नाहक ही इतना कष्ट किया। मैं अच्छी तरह रह सकती थी।

सौम्येन्द्र के सिर पर से एक बोझ-सा उतर गया क्योंकि उसके सामने समस्या यह थी कि कहाँ से और कैसे शुरू करे। बोला—तुम कहाँ जा रही थीं? अरविन्द बाबू कहाँ गए?

—मैं समझ गई तुम मुझे इस प्रकार देख कर आश्चर्य में पड़ गए हो। यही बात है न?

—हाँ—सौम्येन्द्र ने कहा और चुप हो गया।

पाँच मिनट तक सुलेखा चुप रही जैसे कोई फैसला कर रही हो। फिर उसने धीरे-धीरे सारी बात बताई। बात थोड़ी सी थी। शादी के बाद ही सुलेखा को पता लगा कि अरविन्द शराब का लती है। साथ ही उसमें अन्य दुर्गुण भी हैं, जो शराब के साथ चलते हैं। इसलिए जो थोड़ी सी जायदाद थी, उसे फूँकने में कुछ देर नहीं लगी। दो साल से बहुत परेशानी में दिन बीत रहे थे। इन दिनों पैसों की कमी के कारण वह जब-तब सुलेखा पर हाथ भी झाड़ दिया करता था। उसके अत्याचार इतने बढ़ गए थे कि उन्हें सहने की सामर्थ्य अब उस में रह नहीं गई थी। यह सब कह कर वह एकाएक चुप हो गई।

सौम्येन्द्र की समझ में नहीं आया कि क्या कहे। सुलेखा बोल उठी—इसीलिए मैं भाग आई—कह कर वह फफक-फफक कर रोने लगी।

सौम्येन्द्र सारी बात सुन कर कुछ डर-सा गया। अब वह इस स्त्री को कहाँ ले जाए? बोला—ऐसी हालत में तुम्हारे लिए अपने पिता के यहाँ जाना ही शायद उचित होता। वहाँ···

—बीच में ही बात काटती हुई सुलेखा बोली—पर वे लोग जाने कब के मर-खप गए। तुम सालों से इधर नहीं आए, इसलिए तुम्हें नहीं मालूम।

सौम्येन्द्र को इन बातों का पता नहीं था। सोचकर बोला—अब लेट जाओ। कल सवेरे जो कुछ होगा देखा जाएगा। सवेरा होने में अधिक देर नहीं है।

दोनों में से कोई भी सो नहीं पाया और सवेरा हो गया। सुलेखा पहले उठी और मुँह-हाथ धोकर तैयार हो गई। सौम्येन्द्र ने यह तय किया था कि समझा-बुझाकर सुलेखा को उसके घर लौटा देना चाहिए। वह कुछ खाना ले आया। फिर खाते-खाते एक समय बोल उठा—मैं बैलगाड़ी लाता हूँ। तुम तैयार हो लो। देर करने पर धूप सहनी पड़ेगी—कह कर वह चलने को हुआ।

—पर मुझे तो नहीं जाना है।

अब सौम्येन्द्र कुछ बिगड़ गया। पर अपनी नाराज़गी को गुप्त रख कर बोला—तुम्हें और कहीं जाना हो, तो बता दो, मैं वहीं पहुँचा दूँगा।

—मैं तो पहले ही बता चुकी हूँ कि जाने के लिए कोई जगह रह नहीं गई। तुम बेकार में परेशान हो रहे हो। तुम अपनी राह जाओ और मैं जहाँ भी बन पड़ेगा चली जाऊँगी।

सौम्येन्द्र के सिर पर जैसे वज्रपात हुआ। अब वह क्या करे। न तो यह पति के यहाँ लौटना चाहती है और न अपने पैतृक गाँव में ही जाना चाहती है।

तो?

इस विपत्ति से कैसे छुटकारा मिले? एकाएक उसके दिमाग में यह बात आई कि क्यों न वह उसे लेकर अपनी कोलियारी में लौट जाए?

इसमें बुराई ही क्या है ? वह तो आश्रय भर देना चाहता है। उसने एक बार रुआँसी सुलेखा की तरफ देखा, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उलटे पाँव लौटेगा। उसने ऐसा ही किया।

इसके बाद दस साल निकल गए। अब वह एक कोलियारी का मालिक है। लक्ष्मी ने उस पर बड़ी कृपा की। पर इन दस सालों में उसका चेहरा बीस साल आगे बढ़ गया है। चेहरे पर हर समय थकावट की छाप रहती है। अक्सर वह अपने को काम में लगा रखता है। अपने जीवन की व्यर्थता फिर भी भूल नहीं पाता है। सुलेखा और उसके बीच जो खाई थी, वह कभी पाटी नहीं जा सकी। लोकचक्षु के अन्तराल में कोई काँटा दोनों के दिल में खटकता रहता है। वे कभी पास नहीं आ सके। दूर ही दूर बने रहे। एक सड़ती हुई लाश जैसे दोनों के बीच बराबर बिछी रही हो। अब तो बहुत दिनों से एक छत के नीचे रहते हुए भी वे हफ़्तों एक दूसरे का मुँह नहीं देखते।

सौम्येन्द्र को जब भी मौक़ा लगता है, वह पास-पड़ोस की खानों में जाकर समय काट आता है। कई बार रात रात भर नहीं आता। वह अपने मित्रों में अपने को भुला देना चाहता है।

एक दिन वह अपने एक मित्र के यहाँ बाग़बानी के सम्बन्ध में व्यावहारिक आलोचना कर रहा था याने बाग़ में खड़े होकर यह बता रहा था कि इस इस प्रकार से क्यारी बनाई जाए तो अच्छा रहेगा। इतने में उनकी खान का एक युवक कर्मचारी साइकिल पर भागता हुआ आया और किसी तरह साइकिल को पेड़ से टिका कर बोला—सर, बड़ा भयंकर कांड हो गया।

—क्या ? खान में कोई दुर्घटना हो गई ?

—नहीं।

—फिर ?

उस युवक ने कुछ कहने में आनाकानी की। सौम्येन्द्र ने झिड़क कर कहा—बताते क्यों नहीं ?

वह युवक हिचकिचा कर बोला—आप चलिए, मैं चलते-चलते बताता हूँ।

सौम्येन्द्र गाड़ी निकाल कर चला तो उस युवक ने बताया कि कल वह किसी काम से नए माल बाबू को साथ में लेकर सौम्येन्द्र के बंगले में गया था। मिसेज़ राय ने कहा कि साहब बाहर गए हुए हैं।

—मैं लौट आया। आज एकाएक भजनसिंह ने आकर ख़बर दी कि मेम साहब का क़त्ल हो गया। सुनकर सब लोग दौड़ पड़े। डाक्टर भी आए, पर प्राण-पखेरू पहले ही उड़ चुका था। उसी नए माल बाबू ने हत्या की है। लोगों ने उससे पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया, तो वह कुछ नहीं बताता। बस हँसता जाता है और कहता है—"मैंने बहुत अच्छा किया, यही करना चाहिए था।" मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह आदमी पागल है। पर आश्चर्य की बात है कि कल तक वह बिलकुल ठीक था।

सुन कर सौम्येन्द्र कुछ नहीं बोला, जैसे इसकी ही आशा थी। ऐसी घटना से जितनी घबराहट की आशंका थी, वह भी देखने में नहीं आई। उसके हाथों में स्टियरिंग ह्वील एक बार भी गुमराह नहीं हुआ। एकाएक उसने पूछा—क्या मैंने नए माल बाबू को देखा है ?

—नहीं, उसका नाम अरविन्द है।

सौम्येन्द्र ने और कुछ नहीं पूछा। उधर अरविन्द ने भी पुलिस के सामने कुछ भी नहीं कहा। बस यही कहता रहा कि मैंने जो कुछ किया ठीक किया, मैंने कोई गलती नहीं की।

अरविन्द को पागलखाने भेज दिया गया। सब लोग कहने लगे कि वह पागल है, पर सौम्येन्द्र जानता था कि पागल अरविन्द नहीं, वह स्वयं है, जिसने जबर्दस्ती घड़ी का काँटा पीछे की तरफ घुमाकर एक ऐसी समस्या सुलझानी चाही थी जो वैसे नहीं सुलझ सकती थी।

प्रेरणाएँ और कवि

ब्रजकिशोर 'नारायण'

कहने लगी दिया कि मैं दर्शन सिखा दूँगी !

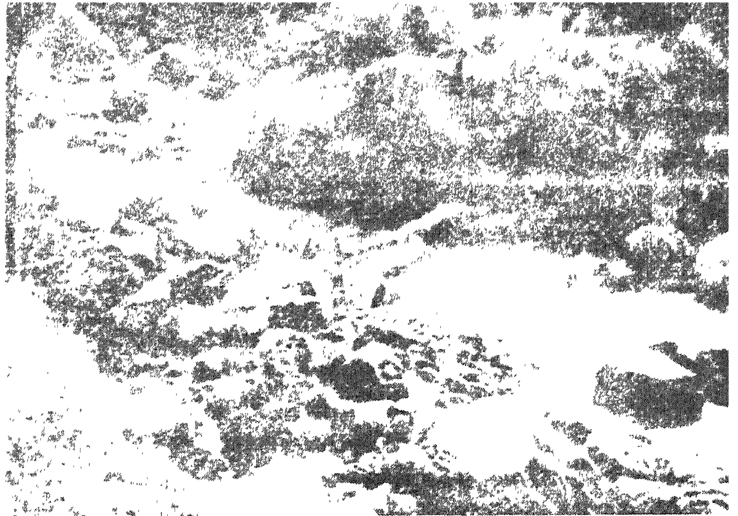
कहने लगी निशा कि मैं कविता सिखा दूँगी !
कहने लगी उषा कि मैं रंगीन कर दूँगी !
संध्या लगी कहने कि मैं ग़मगीन कर दूँगी !
पतझार ने कहा कि मैं बेपर्द कर दूँगी !
बहार ने कहा कि मैं दर्द भर दूँगी !
गर्मी ने कहा—'छाँव भी सहने नहीं दूँगी !'

बरसात ने कहा कि मैं रहने नहीं दूँगी !
कहने लगी शरद कि मैं तारे गिनाऊँगी !
सर्दी ने कहा—'रात भर, प्यारे ! सताऊँगी !'
× × ×
मैंने कहा सबों से—'मुझे तंग कीजिए
सुविधाएँ सभी लीजिए ! पर संग दीजिए !'

यमुना का उद्गम

योगेन्द्रनाथ दत्त

दिल्ली या आगरा के समीप ग्रीष्म ऋतु में बालुका प्रदेश से प्रवाहित होने वाली यमुना के शान्त एवं मन्द गति प्रवाह का अवलोकन करने पर इस बात पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि उस स्थान से उद्गम की दिशा में कुछ २०० मील की दूरी पर जन-साधारण उसी नदी को सहज ही में लाँघ सकता है। आज तक जिस प्रदेश का वर्णन भी ठीक से प्राप्त नहीं हो सका, ऐसे दुर्गम स्थान का, उद्गम की ओर चलते ही चलते आपको आसानी से ज्ञान प्राप्त होता जायगा।



राना गाँव के निकट यमुना का एक अस्थायी पुल

उद्गम की दिशा में यमुना का प्रवाह नाना प्रकार की अठखेलियाँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। कभी बालूमय शिलाखण्डों के बीच उसका रुक-रुक कर बहना, तो कभी समतल प्रदेश में चित्रविचित्र खेतों को काटता हुआ सुन्दर, श्वेत, चमकदार धाराओं में विभाजित होकर प्रवाहित होना देखते ही बनता है। हिमालय से निकली हुई कई अन्य नदियों की तुलना में इसे कष्टसाध्य प्रदेश कहना कदाचित ही तर्कसंगत प्रतीत होगा। हिमालय की दक्षिणवर्ती छोटी पहाड़ियों से यमुना का वेगपूर्ण चंचल प्रवाह जब समतल भूमि पर आने लगता है, तब इस वैज्ञानिक युग के चतुर मानव ने नहरों का एक जाल-सा बिछाकर उसके वेग को बड़ी कुशलता से रोक लिया है और विभिन्न कार्यों के लिए अतिरिक्त जल के उपयोग का प्रबन्ध भी कर लिया है। इसीलिए इस नदी में बाढ़ की सम्भावना क्वचित ही होती है। विधाता द्वारा निर्मित मानवरूपी अनुपम श्रृंगार के लिए यह नदी मानो एक वरदान है।

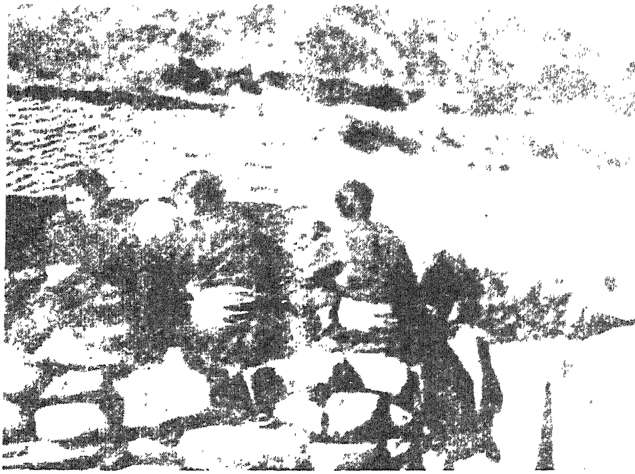
शिवालिक पहाड़ियों की घाटियों से होते हुए उत्तर की ओर इसके प्रवाह का अनुसरण कीजिए। यहाँ हमें इसके दोनों तटवर्ती प्रदेशों में साल या शीशम के दुर्गम एवं सघन वनप्रदेश का सर्वत्र विस्तार दिखाई देगा, उसमें विविध हिंस्र पशु भी इतनी विपुल मात्रा में विद्यमान हैं कि इस वनप्रदेश की गंध मात्र से ही अत्यन्त आलसी शिकारी भी उन्मत्त हो उठेगा। वसन्त ऋतु में नवविकसित फूलों का श्रृंगार तो अप्रतिम होता ही है, पर वहाँ की श्वेत या चित्रविचित्र मछलियों को पकड़ने की कला कुशल मत्स्यजीवी के लिए बड़ी ही मनोरंजक प्रतीत होगी।

हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जिले में पावंटा नामक स्थान के पास यमुना काफी चौड़ी दिखाई देती है। यहाँ नदी मानो अपने दोनों किनारों से होड़ लगाती हुई प्रवाहित होती है, इसीलिए उसके भँवर-युक्त प्रवाह की शक्ति का ठीक-ठीक पता लगाना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु नदी की गड़गड़ाती हुई कुछ लहरें जब जल पृष्ठ पर कभी-कभी दृष्टिगोचर होने वाली चट्टानों से सहसा टकराती हैं, तब उसकी अगाध शक्ति का कुछ-कुछ आभास अवश्य होने लगता है। पर्वतीय प्रदेश से देवदार वृक्षों के दर्जनों खण्ड नदी के प्रवाह में बह कर समतल प्रदेश में आते हैं, जिनका उपयोग आधुनिक युग का चतुर मानव विभिन्न कार्यों के लिए करता है। दूर से ऐसा दिखाई देता है मानो किंचित हरे आसमानी रंग की स्लेट पर किसी ने चित्रलिपि अंकित की हो।

इससे भी अन्तर्गत पर्वतीय प्रदेश का प्रवास केवल वे ही हिन्दू पदयात्री कर पाते हैं जिन्हें परिश्रमी जीवन का अनुभव हो। उन्हें हिमालयीन देहातों में उपलब्ध रूखी-सूखी चीज़ों से ही अपनी उदर-पूर्ति करनी पड़ती है। नदी के उद्गम स्थान के समीप पहुँचने की दुराशा इन्हें सदा धैर्य प्रदान करती रहती है। नदी के उद्गम स्थान का सान्निध्य मानो मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में उनके लिए सीढ़ी की एक-एक अग्रिम पैड़ी सिद्ध होता हो।

पावंटा में प्रवासियों के लिए आकर्षक वस्तुओं का अभाव नहीं। नगर के दक्षिण की ओर एक पथरीली सीढ़ी बनी है, जिससे होकर धार्मिक पदयात्री यमुना के शीतल जल में डुबकियाँ लगाते हैं। यह पथरीला मार्ग यात्रियों को नगर के एक प्राचीन ढंग के भव्य महल तक ले जाता है। इसी महल में एक ओर गुरुद्वारे की स्थापना हो चुकी है, जिसकी पताका सिक्खों के गुरु नानक की शिक्षा की साक्षी देती है। दूसरी ओर खालसा हाई स्कूल को स्थान दिया गया है। पावंटा नगर में व साथ-साथ इस भवन के अंधकारमय गुम्बजों के नीचे पश्चिम पंजाब के कई निर्वासित लोगों को आश्रय मिला है। इस नगर के वातावरण को देख कर कई व्यक्ति इस नगर को पंजाब का ही एक भाग समझने लगेंगे। इस बस्ती में नए बसे हुए निर्वासित परिवारों के बच्चों को अपने प्रचण्ड उत्साह के साथ खेतों में खेलते हुए या यमुना में तैरते हुए देखते हैं, तब हमें अनुभव होता है कि भावी भारत के प्रगतिशील नागरिक बनने की दिशा में यमुना जी ने इन बच्चों का जीवन मोड़ने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

सिरमुरी ताल के पास यमुना का गिरि नदी से संगम हुआ है। प्राचीन समय में सिरमुरी ताल के स्थान पर एक छोटा सरोवर था,



भागीरथी की घाटी का एक गाँव



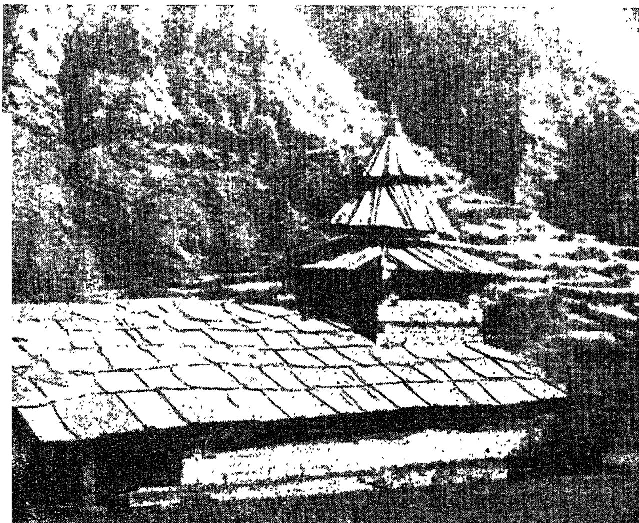
यमुना के उद्गम के पास गरम पानी का एक भरना

और उसकी सीमा पर पुरानी राजधानी बसी थी। सिरमुरी ताल अभी भी वहाँ पर है, पर तत्कालीन सरोवर का ऐश्वर्य व राजधानी का आडम्बर मात्र अतीत की घटनाएँ बन चुकी हैं। उस काल में वास्तु-कला पूर्णावस्था को पहुँच चुकी थी, इसकी साक्षी भी हमें यत्रतत्र बिखरी हुई दैवी मूर्त्तियों से प्राप्त हो सकती है। ऐसी ही कुछ-कुछ भग्न पर कलापूर्ण मूर्तियाँ विद्यमान सड़कों के किनारे पाई गई हैं। पावंटा से सिरमुरी ताल के लिए बस चलती है, पर इस कलापूर्ण ऐतिहासिक स्थान के भग्नावशेषों का अवलोकन करने के लिए विदेशी यात्री क्वचित ही दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार असंख्य पर्वत-श्रेणियों को पार करते ज्यों-ज्यों आप नदी के उद्गम की ओर बढ़ते जाएँगे, उतने ही असंख्य श्वेत, चंचल व शीघ्रगति जलस्रोत आपके पीछे छूटते जाएँगे। इन्हीं स्रोतों से यमुना के प्रवाह को शक्ति प्राप्त होती है। शक्ल-सूरत व मैत्रीपूर्ण आतिथ्य में हिमालय का एक देहाती दूसरे से बिलकुल मिलता है। इसका कारण भी बड़ा स्पष्ट है चारों ओर का वातावरण उस पर्वतीय प्रदेश के ग्रामीण के लिए सदैव प्रतिकूल रहता है। दैनिक कार्य के लिए आवश्यक नमक या शक्कर के लिए भी उसे घासयुक्त, अधकटी पगडंडी से गुजरना पड़ता है, जिसका मार्ग कई बार पहाड़ियों के ऊपर से नीचे व नीचे से ऊपर होकर जाता है। ऐसा करते-करते उसे कई दिन तक पैदल चलना पड़ता है। तिस पर भी प्रकृति का कोप सदैव उस पर बना रहता है। मार्ग में मलेरिया आदि बीमारियाँ उस पर आक्रमण करती हैं। मार्गस्थ घाटियों की स्फूर्तिदायी ठंडी हवा कई बार उसकी व्याधि में आरामदायक सिद्ध होती है। यमुना का प्रवाह मात्र निरन्तर अपनी नाद लहरी निनादित करता हुआ प्रवाहित होता रहता है। क्या इस मर्त्य सृष्टि का कोई व्यक्ति उस निनाद की सुरीली पद्य-रचना को जाँच भी कर सकेगा?

टोन्स यमुना की अत्यन्त प्रभावशाली सहायक नदियों में से एक महत्वपूर्ण नदी है। टोन्स नदी के साथ उसका संगम होने के पूर्व यमुना आकार में काफी छोटी दिखाई देती है। इससे भी उत्तर की ओर नदी की स्थिति के विषय में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। एक बार पुनः हम उसके कुछ कम संकटमय मार्ग का अनुसरण करेंगे। वास्तव में अधिकतर पदयात्री उसके उद्गम की ओर जाते समय इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं।

इस समय आपको हरिद्वार नामक पवित्र नगरी से प्रस्थान करना होगा। यहीं आपकी रेलयात्रा भी समाप्त होती है। यहाँ से पास ही किसी पहाड़ी पर रात्रि में झिलमलाते हुए प्रकाश-पुंज को आप देखेंगे। वह स्थान नरेन्द्रनगर कहलाता है, जो कि टेहरी-गढ़वाल जिले का प्रमुख नगर है। यों तो वह स्थान हरिद्वार से काफी समीप मालूम पड़ता है, पर बस से वहाँ पहुँचने में पूरे दो घंटे लग जाते हैं। नरेन्द्रनगर का रास्ता काफी चक्करदार है। उसके प्रत्येक सर्पाकार मोड़ पर अनुभवहीन ड्राइवर को धोखे की सम्भावना प्रतीत होगी। हिमालय के पर्वतीय प्रदेश से गुजरते समय दर्राओं में कुछ सुन्दर आकर्षक दूकानें भी आपको देखने को मिलेंगी। सम्भव है कि पर्वतीय



खरसाली गाँव का शिव मन्दिर



हनुमान गंगा के निकट रहने वाली एक ब्राह्मण कन्या

प्रदेश के अनुकूल जलवायु में भ्रमण करने के कारण आपको अपनी प्रदीप्त क्षुधा शान्त करने की इच्छा भी सहसा हो उठेगी।

शाम होने के कुछ समय पहले आप चमखल की ओर से होते हुए जाइए। यहाँ पर आप प्रथम जागतिक महायुद्ध के टेहरी-गढ़वाल निवासी सिपाहियों का भव्य स्मारक देख सकेंगे।

उतार के चारों ओर आपको बिलकुल विलक्षण ढंग का दृश्य दिखाई देगा। सामने दृष्टिगोचर होने वाली प्रतापनगर की पहाड़ियों के पीछे घना कुहरा छाया हुआ रहता है। इसलिए प्रतापनगर की पर्वत-श्रेणियों के ऊपर व पीछे की ओर विद्यमान हिम कुहराच्छादित घाटियों में सहसा लुप्त होता हुआ दिखाई देगा, मानो घाटियों में पहुँचते ही वह कुहरे में घुल गया हो। इसी घाटी से पवित्र गंगा मैया का उद्गम हुआ है, यहाँ के लोग उसे ही भागीरथी कहते हैं। आपकी बस जब घाटियों के सहजगम्य सर्पाकृति मार्ग से गुजरने लगेगी तब एक बार पुनः आपको ऊष्ण प्रदेश में रहने का आभास होगा। आपके दाहिनी ओर भीलांगण व भागीरथी के संगम पर टेहरी नगर बसा है। हिमालय में नदियों के संगम के पास बसे हुए अन्य स्थानों के समान यह स्थान भी हिन्दुओं के लिए पूज्य माना जाता है। यहाँ से आप भागीरथी के पास से होते हुए धराशु तक जाइए व वहाँ से पैदल चलकर या किसी पहाड़ी टट्टू पर सवार होकर १२ मील की दूरी पर विद्यमान नकोरी तक बढ़ते जाइए। मार्ग में 'जाध' नामक अस्थिरवासी परिगणित जातियों के पड़ाव आपको स्थान-स्थान पर दिखाई देंगे, शीतकाल में उनका निवासस्थान हिमाच्छादित होने के कारण मजबूर होकर उन्हें दक्षिण की ओर प्रस्थान करना पड़ता है।

फलाचु डंडे के पास विद्यमान ७,००० फुट ऊँचे दर्रे के मार्ग से जब आप आरोहण करने लगेंगे, तब आपको पर्वतीय प्रदेश के शान्त व शीतल वातावरण के सदैव हरे-भरे जंगल से गुजरना पड़ेगा। मार्ग में गोलाई के पास से जब आप गंगनी तक पहुँचने लगेंगे तब आपके सामने पवित्र यमुना आपके स्वागत में उपस्थित दिखाई देगी। दूर से हरियाली आभा से देदीप्यमान होने वाला उसका चंचल एवं मंजुल स्रोत जब सहसा विशाल शिलाखण्डों से टकराता है तब वह अप्रत्याशित श्वेत तुषार में परिणत होता हुआ अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है। जमुनाचट्टी की ओर चलते समय मार्ग में यमुना का आकर्षक प्रवाह देखने पर हमें सहसा इस कथन का स्मरण हो आता है—"सौन्दर्य सदैव अविनाशी होता है, परिस्थित्यनुरूप उसका स्वरूप मात्र बदलता रहता है।"

रानागाँव के पास कच्चा लकड़ी का पुल पार करने पर आप अपने को निसर्गरम्यता के विशाल उद्यान का दर्शक समझने लगेंगे। यहाँ पर 'चूलो' नामक मजबूत फल को पाकर आप आनन्द मनायेंगे। इसके पास ही आपको हनुमानगंगा व यमुना के संगम पर हनुमान-

खरनाली गाँव के एक पण्डे की पुत्री





यमुना के उद्गम के बहुत निकट

चट्टी नामक छोटा-सा गाँव दिखाई देगा। सुहावने व अनुकूल मौसम के कारण यहाँ की आबादी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पूर्व की ओर कुछ दूरी पर आपको देदीप्यमान हिम से सुशोभित बंदरपूँछ पर्वत दिखाई देगा। इस पर्वत की ऊँचाई २०,७२० फुट बताई जाती है। कुशल पर्वतारोही इसके पूर्व की ओर भी प्रस्थान कर सकता है व एक बार नदियों के जलोत्सारण-क्षेत्र को पार करने पर भागीरथी के पात्र में पहुँच सकता है।

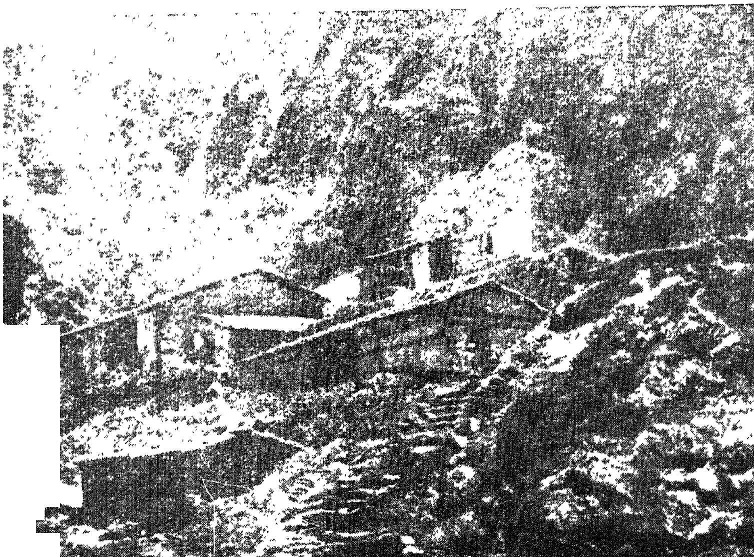
उत्तर की ओर दस मील तक प्रस्थान करने पर आप खरसाली नामक ग्राम में पहुँचेंगे। जमनोत्री के पंडे लोग यहीं पर निवास करते हैं। एक समय था जब कि यह स्थान हिमनदियों के शीत से व्याप्त था, पर आज वह अत्यन्त उपजाऊ क्षेत्र कहलाता है। इस ग्राम में आप लकड़ी के उत्कृष्ट शैली के मकान व मन्दिर विपुल मात्रा में पाएँगे। मन्दिरों की घण्टियाँ प्रातःकाल व सन्ध्या समय सुमधुर ध्वनि निनादित करती रहती हैं। ऐसे स्थान पर तारागणों से देदीप्यमान पूर्णिमा की रात बहुत ही मंजुल, सुखद व आह्लादकारक प्रतीत होगी। सम्भव है कि ऐसे शान्त समय में आप अपने पीछे की नीरस दुनिया को सहसा भूलने लगें।

यात्रा के अंतिम चरण में निसर्ग सुन्दरी की शोभा वास्तव में अवर्णनीय है। इस पर्वतीय प्रदेश का प्रत्येक उतार या गड्ढा श्वेत, गुलाबी, बसन्ती व चित्र-विचित्र रंगों का सम्मिश्रण मात्र प्रतीत होगा। जमनोत्री के पास पहुँचते ही यदि सन्ध्या हो जाए तो आप सहसा पीछे की ओर मुड़कर देखिए। वहीं से आप अपने दक्षिण की ओर विद्यमान प्रदेश का अवलोकन कर सकेंगे। जहाँ अपरान्ह में किंचित हरितवर्ण पर्वत नीलवर्ण क्षितिज की पार्श्व भूमि में अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे, वहाँ सन्ध्या समय में वे ही पर्वत कुछ-कुछ भयावह व भूरे रंग में परिणत होते हुए दिखाई देंगे। मेघों की सुन्दर सुनहली या नारंगी पतली कोर देखकर आपका हृदय सहसा कह उठेगा कि रात्रि मानो निसर्ग रमणी की प्रयोगशाला में एक अस्थिर अवस्था मात्र है।

अब आप देखेंगे कि हिमालय की दक्षिणवर्ती पहाड़ियों में विद्यमान द्रुतगति यमुना कब की बदल चुकी है। जमनोत्री के पास यमुना का प्रवाह क्रमशः हिम-नदियों की घाटियों को काटकर शिलाओं से झरता हुआ आपको दृष्टिगोचर होगा। नदी के पश्चिम किनारे पर बसा हुआ मन्दिर अपनी प्राचीनता की कुछ-कुछ अस्पष्ट साक्षी देता हुआ दिखाई देगा। मन्दिर को जाते समय लकड़ी का एक पुल पार करना पड़ता है। समीप ही एक गरम पानी का झरना भी है। यह पुल बिलकुल सँकरा व कमजोर है। पृथ्वी के गर्भ से गरम गन्धयुक्त जल बाहर निकल कर विशिष्ट कार्य के लिए तैयार किए गए कुण्ड में इकट्ठा होता है, जहाँ धार्मिक हिन्दू यात्री यमुना की पूजा करते हैं। इस पर्वतीय प्रदेश के गरम पानी के झरने में चावल व आलू उबाल कर धार्मिक हिन्दू उसे दक्षिण की समतल भूमि में लाते हैं व उसी को यमुना का पवित्र प्रतीक मानते हैं। वास्तव में यमुना का उद्गम कुछ तो इन झरनों से व कुछ पिघली हुई बर्फ से मानना चाहिए।

यमुना के उद्गम की ओर यात्रा करने से पर्वतों की विशालता व सौन्दर्य के प्रति हमारा आकर्षण जागृत हो उठता है। यमुना का प्रवाह अत्यन्त प्राचीन समय से पर्वतीय प्रदेश व सघन जंगल से व्याप्त समतल भूमि से प्रवाहित हो रहा है। इसी प्रवाह ने अपने जीवन-काल में कई साम्राज्यों का उत्थान-पतन भी देखा है। यमुना के विषय में एक बात का निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है। उस पवित्र सरिता का मधुमय, मंजुल प्रवाह भारतीय जीवन में सदैव प्रसन्नता एवं उत्फुल्लता का संचार प्रागैतिहासिक काल से करता आ रहा है। सम्भव है कि भविष्य में भी भारतीयों के लिए वह आह्लाद और स्फूर्ति का स्रोत सिद्ध होता रहे।

अनुवादक—पां० ग० अड्यालकर



जमनोत्री का एक
प्राचीन मन्दिर

बौद्ध-युग की कुछ विचित्रताएँ

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

बौद्ध-साहित्य के पढ़ने से पता चलता है कि उस युग में भी विचित्रताओं का अन्त न था। पशु-जगत से अधिक मानव-जगत विचित्रताओं का भण्डार अपने आदिम युग से रहा है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मानव कैसा भी रहा हो किन्तु ज्यों-ज्यों इसने अपनी उन्नति की इसकी विचित्रताएँ बढ़ती गईं। मानव ऊपर उठा तो ईश्वरत्व तक पहुँचा और नीचे उतरा तो शैतान के भी नाकों चने चुनवा दिए। मानव-मनोविज्ञान के पंडित लाखों साल सिर मार कर भी, दूसरे की तो बात ही अलग रही, अपने मन की गति भी समझ सकें तो बहुत बड़ी बात हो। हमें भाषा की ओर से दो शब्द मिले हैं—'क्यों' और 'कैसे'। इन दोनों शब्दों का मुँह बन्द आज तक नहीं किया जा सका—यही है हमारे ज्ञान-विज्ञान की सफलता का एक दयनीय रूप।

अब जातक-युग की कुछ विचित्रताओं की ओर ध्यान दीजिए। बौद्ध-युग को ही हम जातक-युग कहेंगे। बौद्ध-जातक-कथाओं के आधार पर ही हम यह लेख प्रस्तुत कर रहे हैं।

सुना जाता है कि कुछ ऐसी जंगली जातियाँ हैं जो नर-मांस भक्षण करती हैं किन्तु यदि कोई कहे कि एक शासक, राजा जो अपनी प्रजा का पालन न्याय और धर्म के द्वारा करता हो आदमखोर हो, नर-मांस भक्षण करता हो, कौन विश्वास करेगा। कोई विश्वास करे न करे, सत्य इसकी परवा नहीं करता। वह था, है और रहेगा। जातकों में एक जातक का नाम है महासुतसोम जातक (५३७)। वाराणसी नरेश बिना मांस के कौर नहीं उठाता था। उसे हर समय मांस खाने की रुचि जगी ही रहती थी रसोइया मांस लेकर बनाने की धुन में एक दिन था कि राज के कुत्ते मौका पाकर सारा मांस चट कर गए। रसोइया बाज़ार की ओर दौड़ा भागा कहीं मांस नहीं मिला। संयोग की बात है। राजा के भोजन का समय आ रहा था। रसोइए को एक उपाय सूझा। वह कच्चे श्मशान (जहाँ मुर्दे गाड़े जाते हैं) में गया और एक मुर्दा, जो हाल ही में गाड़ा गया था, उखाड़ कर उसके शरीर का मांस काट कर ले आया। मांस बनाया गया। राजा चटखारे मार कर खाने लगा। राजा ने इतना मज़ेदार मांस कभी खाया ही नहीं था। रसोइए से उसने पूछा। भय से रसोइए ने कहा कि—"वह मांस मनुष्य का था।" राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने रसोइए को कहा कि "रोज़ नर-मांस ही बनाओ।" रसोइए का दल चुपके-चुपके शहर में घूमता और मौका मिलते ही किसी न किसी को मार कर उसका मांस ले आता। अन्त में राजा को जनता ने खदेड़ दिया और अपने रसोइए के साथ ही जंगल की ओर वह भागा। एक दिन राजा ने रसोइया को नर मांस लाने कहा। जंगल में नर कहाँ जो नर-मांस प्राप्त हो। राजा बिगड़ा और रसोइए को ही मार कर खा गया। सारा किस्सा खत्म हो गया। क्या यह कम विचित्रता है कि एक शासक जो ज्ञान, धर्म और संस्कृति का रक्षक माना जाता है नर-भक्षी बन जाए। आश्चर्य तो यह है कि वह क्षत्रिय-वंश का था। राजा को धिक्कारता हुआ एक ब्राह्मण कहता है—

माणवो अभिरूपोसि, कुले जातोसि सोत्थिये।
न त्वं अरहसि तात अभक्खं भक्खयेतवे॥

तेरा वर्ण सुन्दर है। तू क्षत्रिय कुल-संभूत है। हे तात, तेरे लिये अभ्यक्ष का ग्रहण करना उचित नहीं।

अब एक दूसरे राजा का वर्णन सुनिए जिसने महज इसलिए अपने सात महीने के एकमात्र पुत्र को जल्लाद से कटवा दिया था कि महल की रानियाँ दिन-रात उसी राजकुमार के लाड़-प्यार में लगी रहती थीं। राजा ने इसे अपमान समझा। यह कथा चुल्लधम्मपाल जातक (३५८) के नाम से जातक-गाथाओं में आई है। यह गाथा भी वाराणसी के राजा महाप्रताप की है। एक दिन राजा महल में गया मगर रानियों ने उठ कर स्वागत नहीं किया क्योंकि वे शिशु-कुमार के साथ खेल रही थीं। राजा क्रोध से तिलमिलाता हुआ उलटे पैरों लौट गया और उसने राज्यासन पर बैठ कर जल्लाद को बुलवाया। महल में कोहराम मच गया, तूफ़ान उठ गया। घातक को राजा ने आदेश दिया—"महल में जाकर बच्चे को ले आ।"

वधिक धड़धड़ाता हुआ महल में घुसा और रानी की पीठ पर एक मुक्का मार कर शिशु-कुमार को उठा लाया। जब राजा के सामने बच्चा लाया गया तो जल्लाद ने आज्ञा माँगी।

राजा बोला—"पहले इस बच्चे के दोनों हाथ काटो।"

हाथ, पैर और सिर कटवा कर बड़ी दुर्दशा से बच्चे की हत्या की गई—सभी रोते-बिलखते रहे मगर उस नर-राक्षस ने दया नहीं की। क्रोध और दया से क्या नाता। नर-भक्षी राजा और पुत्र की हत्या करने वाले राजा—दोनों में हम किस को कम या किस को ज्यादा मानें! हम केवल इतना ही कहते हैं कि यह विचित्रता है मानव-चरित्र की। कोई भी ऐसा यंत्र आज तक नहीं बना है जो मानव के मन की थाह ले सके।

क्या मरा चूहा पाकर, उस चूहे के सहारे, व्यापार करके करोड़पति बनने की कल्पना कोई कर सकता है? यदि किसी को यह सम्मति दी जाए तो वह सम्मति देने वाले को पागल करार दे देगा। यह शेखचिल्ली की बात है। जातक-युग में एक ऐसे चालाक व्यक्ति के अस्तित्व का पता चलता है, जिसने एक मरा हुआ चूहा पाया और उसी चूहे से करोड़ों का रोज़गार खड़ा कर लिया।

चुल्लसेट्ठि-जातक (४) में एक गाथा इस प्रकार है—एक व्यक्ति दरिद्र था। उसे रास्ते में मरा हुआ एक चूहा मिला। उसने चूहे को उठा लिया। एक दूकानदार ने चूहे के उपद्रव से बचने के लिए बिल्ली पाल रक्खी थी मरा चूहा उसी दूकानदार के हाथों में उसने एक काकणी (एक कर्षापण का आठवाँ भाग) में बेचा। उसने बिल्ली को खिलाने के लिए मरा चूहा खरीद लिया। यहीं से उस उद्योगी का रोजगार शुरू हुआ। उस काकणी से उसने गुड़ खरीदा। इसके बाद जो माली जंगल की ओर जाते उन्हें वह पानी पिलाता और गुड़ का एक टुकड़ा दे देता। माली जब लौटते तो बदले में उसे एक-एक अंजलि फूल देते। अब वह उद्योगी फूल बेच कर पैसे जमा करने लगा। मालियों की मित्रता का परिणाम यह हुआ कि राजा के बाग के सूखे-पत्ते और लकड़ियाँ उसे अनायास ही प्राप्त होने लगीं। वह बच्चों के खेलने की जगह पर जाता और उन्हें गुड़ देकर उनसे काम लेता। कुम्हार सूखे पत्ते और लकड़ियाँ खरीदने लगे, उसकी पूँजी बढ़ने लगी। अब उसने घसियारों से दोस्ती गाँठी। उन्हें वह पानी पिलाया करता और बदले में घास की पूलियाँ लेता। इस क्रम से वह आगे बढ़ता गया और दो लाख की रकम के साथ घर लौटा। एक मरे चूहे से व्यापार आरम्भ करके लखपति सेठ बन गया। अन्त में उसने नगर-सेठ का पद भी राजा की ओर से पाया। अन्त में उस उद्योगी ने यह उपदेश दिया—

अप्पकेनापि मेधावी पाभतेन विचक्खणो।
समुट्ठापेति अत्तानं अणुं अग्गिं व सन्धमं॥

एक चतुर व्यक्ति के पास यदि थोड़ी-सी भी आग हो तो वह उसे फूँक मार कर बढ़ा देता है उसी तरह (उद्योगी पुरुष) थोड़ी-सी पूँजी से भी अपनी उन्नति कर लेता है।

कहाँ मरा चूहा और कहाँ नगर-सेठ का गौरवपूर्ण पद! चतुर आदमी क्या कर सकता है, यही सोचना है।

यदि हम कहें कि ९०० अशर्फियों में एक कौआ बिकता है तो आप विश्वास करेंगे? कौआ एक ऐसा पंछी होता है जिसमें न तो रूप और न गुण; उसका स्वभाव भी महा क्रूर होता है तथा खान-पान तो इतना गंदा होता है कि कोई उसे स्पर्श करना पसन्द नहीं करेगा। आवाज भी कर्ण-कटु होती है—मगर भारत के व्यापारियों ने ऐसे वाहियात पंछी को भी कभी भारत के बाहर ९००—अशर्फियों में बेचा था और यह व्यापार चल निकला था। "बाबेलोन" एक इतिहास प्रसिद्ध स्थान रहा है। यह मिस्र में था और यहाँ की सभ्यता विख्यात थी जो अब नहीं रही। पाली में इसे "बावेरू" कहते हैं और जातक-कथाओं में एक बावेरूजातक (३३९) भी है। भारत का व्यापार मिस्र में खूब होता था। यह ई० पू० ४८० के कुछ पहले तक ही चला फिर बन्द हो गया। यूनान की भूमि भारत के मालों से पटी रहती थी। कुछ बनिये जहाज पर बावेरू गए। जहाज पर कौए भी थे जो पिछली रात को बोल कर समय का ज्ञान कराते थे, दिशा का ज्ञान भी इन्हें आकाश में उड़ाकर प्राप्त किया जाता था। यूनानियों ने काक-दर्शन नहीं किया था। फिर क्या था भारत के व्यापारियों ने कौओं के रूप, गुण की प्रशंसा करके बावेरू के धनिकों के हाथों में कौआ बेचना शुरू कर दिया और फी कौआ ९०० कर्षापण के हिसाब से मूल्य वसूल करना भी शुरू कर दिया। सोने के पिंजरों में अभागे कौए यूनानियों के घरों की शोभा बढ़ाने लगे। भारत के दूसरे व्यापारी भी इस व्यापार से ललचाये और 'मोर' लेकर वे बावेरू पहुँचे। प्रत्येक मोर १,००० कर्षापण में बिकने लगा। कौआ फिर कौआ बन गया—उसका बाजार खत्म हो गया। मोर के आगे कौआ की एक न चली।

यदा च सरसम्पन्नो मोरो बावेरुमागमा।
अथ लाभो च सक्कारो वायसस्स अहायथा॥

कौवे का लाभ और सत्कार उसी दिन घट गया जब (सुन्दर और) स्वर वाला मोर वहाँ पहुँचा।

भारत के व्यापारी कितने बढ़े-चढ़े थे यह बतलाना न होगा जिन्होंने यूनानियों के हाथों में कौआ देकर उनसे सोने के सिक्के ऐंठ लिये। क्या यह कम विचित्रता है।

बौद्ध युग में वैद्य भी एक से एक झक्खड़ होते थे। एक वैद्य की कहानी बड़ी ही शानदार है। वह साँप के काटने पर जहर उतारने का इलाज करता था। वह गाँव-गाँव घूमा पर कहीं कुछ न मिला तो उसे एक उपाय सूझा गाँव के बाहर लड़के खेल रहे थे और सामने ही एक विशाल वृक्ष भी था। वैद्य ने देख लिया कि वृक्ष के कोटर में एक नाग सो रहा है। वैद्य चाहता था कि किसी को यह नाग सूँघ ले तो मैं उसकी चिकित्सा करूँ। रोगी को आराम हो जाएगा ही फिर यश और धन मिलेगा। उसने बच्चों को यह कह कर उकसाया कि उस कोटर में "मैना का बच्चा है।" बच्चे प्रसन्न हो गए। एक बच्चा पेड़ पर चढ़ा। और उस कोटर के निकट पहुँचा जिसमें काला नाग था। बच्चा भी एक ही काइयाँ निकला। उसने नाग की गर्दन पकड़ी और एक झटके में उसे वैद्य जी पर फेंक दिया। साँप झल्ला उठा था। गिरते ही उसने वैद्य जी को अच्छी तरह भँभोड़ लिया।

यह कथा सालिय जातक (३६७) की है। मानव भी कितना विचित्र प्राणी होता है। रोग पैदा करा कर इलाज करने की प्रवृत्ति राक्षसता की पराकाष्ठा है।

इसके बाद हम एक अत्यन्त विचित्र कथा यहाँ उपस्थित करेंगे। क्या आप विश्वास करेंगे कि बुद्ध देव के रहते हो भिक्खु अपना सिर कटवाते थे और सिर काटने के लिए एक वधिक इस विहार से उस विहार में घूमता-फिरता था। भिक्खु खुशी-खुशी उस वधिक के साथ जाकर अपना सिर कटवा लेते थे। भिक्खुओं के पास कुछ भी नहीं होता था जो इस भयानक उपकार के लिए वधिक को देते। वधिक भिक्खुओं के चीवर और भिक्षापात्र लेकर ही उनकी 'सेवा' किया करता था। एक बार ऐसा हुआ कि बुद्ध देव छः महीनों के लिए एकान्त में चले गए। वे जब लौटे तो देखा कि 'विहार' खाली हो गया। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। पूछने पर पता चला कि भिक्खु अपनी खुशी से अपना सिर कटवा लेते हैं, नतीजा यह हुआ कि विहार वीरान हो गया।

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

बुद्ध-दर्शन

गुरदयाल मल्लिक

सवेरा हो चुका था। मगर शहर के लोग अब तक भी घोर नींद में थे। एक प्रभु का प्यारा रास्ते पर गाता हुआ जा रहा था :

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ तू सोवत है,
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है।
टुक अखियाँ नींद से खोल जरा और अपने रब से ध्यान लगा,
यह प्रीत की रीत नहीं तेरी, रब जागत है तू सोवत है।

उसके गीत की हृदय-स्पर्शी आवाज़ एक सोने वाले के कानों पर पड़ी। उसने फौरन अपने मुँह से चादर हटाई और बिस्तरे से बाहर निकल पड़ा। फिर अपने कमरे का दरवाजा खोल कर वह बरामदे में आ खड़ा हुआ और बड़े ध्यान से गीत सुनने लगा। अगरचे गाने वाला तो उसकी नज़र से कब का बाहर हो चुका था, तब भी कुछ देर तक वह एक बुत की तरह खड़ा रहा। राम जाने वह कौन-से विचारों में उस वक्त मग्न था।

इतने में दिन चढ़ आया। वह शहरी अपने कमरे में दाखिल हुआ और गुनगुनाने लगा : 'काम करो, शुभ काम करो, वोहि है राम का सच्चा नाम'। बाहर सूरज की किरणों ने सारे शहर को सुनहला बना दिया था और लोगों के दिलों में जैसे नया प्राण भर दिया था। हर एक जन अपना काम बड़ी तन्मयता से करने लगा।

उसी वक्त दूर से एक भिक्षुओं की टोली दिखाई दी। उन्होंने वैराग्यवल्क पहना हुआ था और वह बड़ी उमंग और शान्ति से एक मंत्र उच्चारण कर रहे थे :

बुद्धम् शरणम् गच्छामि !
धम्मम् शरणम् गच्छामि !
संघम् शरणम् गच्छामि !

यह मंत्र सुनते ही जो लोग वहाँ काम कर रहे थे, उन्होंने अपना काम बन्द कर दिया और हाथ जोड़ कर चुपचाप खड़े रहे। ज्योंही भिक्षुगण नजदीक आए उनके सिर आदर भाव से खुद-ब-खुद झुक गए। मगर जल्दी सब की नज़र सिर्फ एक विशेष भिक्षु पर आकर टिक गई। उसकी पेशानी से कितनी शान्ति टपक रही थी, उसकी आँखों में कितनी चमक-दमक थी और उसके जिस्म से चंदन की कितनी खुशबू निकल रही थी !

तब "भिक्षा दो ! भिक्षा दो !" ऐसा कह कर उन भिक्षुओं ने अपने-अपने कमण्डल शहरियों के सामने कर दिए, और हर एक व्यक्ति फौरन अपने घर से कोई न कोई वस्तु दान देने के लिए ले आया। भिक्षुओं ने दान एक कृतज्ञता से स्वीकार किया। मगर मालूम नहीं क्यों, उनके गुरुजी, जो कोई और नहीं थे बल्कि स्वयं बुद्ध भगवान थे, के उज्ज्वल मुख पर कुछ उदासी छा गई।

धीरे-धीरे भिक्षुओं की यह टोली शहर के किनारे पर आ पहुँची। वहाँ एक शहरी बुद्ध भगवान के चरणों में गिर पड़ा। उन्होंने बड़े वात्सल्य से उसे अपने कमल जैसे कोमल हाथों से उठाया और फिर पूछा, "वत्स, क्या बात है ?"

उस शहरी ने जवाब दिया, "मैं आपके लिए एक दान लाया हूँ। उसे आप कृपया स्वीकार करें।"

यह सुन कर भिक्षुओं को कुछ आश्चर्य-जैसा हुआ, क्योंकि उसके हाथों में कोई भी वस्तु नहीं थी।

मगर बुद्ध भगवान ने कहा—"जो कोई भी मुझे कुछ भी श्रद्धा से देता है, उसे मैं बड़ी खुशी से स्वीकार करता हूँ।"

तब शहरी ने अपना सिर फिर बुद्ध के चरणों में रख दिया और बड़ी ही आजिज़ी से प्रार्थना की—"भगवान, लीजिये मेरी सारी खुशी, मेरी सब ख्वाहिशें। वह मुझे बड़ी प्रिय हैं और सच्ची पूजा तो अपनी सबसे प्रिय वस्तुओं को समर्पण करने से होती है।"

बुद्ध ने प्रत्युत्तर में कहा—"पुत्र, तेरा कल्याण हो !"

तब भिक्षुओं ने अपना प्रिय मंत्र उच्चारण किया :

बुद्धम् शरणम् गच्छामि !
धम्मम् शरणम् गच्छामि !
संघम् शरणम् गच्छामि !

यह शहरी वही व्यक्ति था, जिसने सवेरे अपने कमरे से बाहर निकल कर 'उठ जाग मुसाफिर' का गीत ध्यान-मग्न होकर सुना था। जब वह अपनी खुशी का दान दे चुका तब स्वयं बुद्ध ने उसे आशीर्वाद दिया। उन्होंने उसके सिर पर अपना हाथ रखा जिससे उसके सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गई। फिर वह आनन्द से मस्त हो कर गाने लगा :

मैंने एक अजब भिखारी देखा !
न वह माँगे कपड़ा खाना, नहीं माँगे माल खज़ाना।
वह तो माँगे अहंकार ममता, जिन के लिए मनुष्य है दिवाना।
जिस ने अपनी खुशी की दान, वो ही मनुष्य है सच्चा स्याना।

२

एक बार सभा में बुद्ध भगवान और उनके शिष्य बैठे हुए थे। मगर आज बुद्ध भगवान बिल्कुल शान्त थे। इससे शिष्यगण जरा घबरा गए और वह एक दूसरे से पूछने लगे : "आज क्या भगवान की तबीयत ठीक नहीं है ?" कुछ अन्य शिष्यों ने चिन्ता से कहा : "आज क्या हम से कोई बड़ा अपराध हो गया है ?"

कुछ देर के बाद शिष्य चुपचाप बैठे न रह सके। उनमें से एक शिष्य ने खड़े होकर प्रणाम करने के बाद, भगवान बुद्ध से पूछा, "आज भगवन्, आप इतने गुपचुप क्यों हैं ?"

किन्तु, भगवान ने कोई उत्तर नहीं दिया।

उसी समय बाहर से कोई बड़े ज़ोर से बोल उठा—"भगवन्, मुझे आज सभा में बैठने की आज्ञा क्यों नहीं दी गई ?"

मगर भगवान आँखें बन्द कर ध्यान में मग्न हो गए।

एक बार पुनः बाहर से वही व्यक्ति चिल्ला उठा। इस पर एक शिष्य को उस पर दया आई और उसने भगवान से प्रार्थना की कि उस व्यक्ति को जो बाहर खड़ा हुआ है, उसे अन्दर आने की अनुमति प्राप्त हो।

"नहीं !" भगवान ने जवाब में कहा, "क्योंकि वह एक अछूत है।"

"अछूत ? भगवन् !" शिष्य ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ।"

"मगर, भगवन् ! आपके धर्म में तो जात-पाँत का किसी किस्म का भेद-भाव है ही नहीं तो फिर वह अछूत कैसे हुआ ?"

बुद्ध ने कहा, "उसे आज क्रोध आया हुआ है। और जो व्यक्ति क्रोध करता है, वह जीवन की एकता को भंग करता है और जो कोई किसी भी कारण से ऐसा करता है, वह एक अछूत है। इसलिए उसे कुछ वक्त के लिए पृथक और अकेले खड़े रहना चाहिए, जिससे पश्चाताप की आग में जल कर वह एक बार पुनः याद कर ले कि अहिंसा ही सब से बड़ा धर्म है और सब से बड़ा कर्तव्य है।

तब शिष्यों ने उठकर बुद्ध को प्रणाम किया और सभा में फिर से पूर्ण शान्ति व्याप्त हो गई।

●

बौद्ध-युग की कुछ विचित्रताएँ—(पृष्ठ ३० का शेषांश)

शरीर से घृणा हो जाने के कारण और शरीर त्याग करके मोक्ष प्राप्त करने के "सद्-विचार" से ही भिक्खुओं ने यह रास्ता अपनाया था। मोक्ष के लिए वे इतना आतुर हो उठे थे कि एक क्षण भी जीना दूभर हो गया था या अपनी स्थिति से ऊब उठे थे, कुछ भी हो पर होता ऐसा ही था। यह गाथा पाराजिका (३) नाम से प्रसिद्ध है। अब एक विचित्रता की कहानी और सुनिए। बौद्ध-युग में महाजन भी थे और जब महाजन थे तो कर्ज़दार भी थे। शेक्सपीयर के शाइलॉक या आजकल के मुगलों से कम दबंग महाजन जातक कथाओं में नजर नहीं आते। वे कर्ज देते थे और गिरवी भी रखा करते थे। ऋग्वेद-युग ("ऋणं सन्नयामसि" ८।४७।१७) में भी लेन-देन की चर्चा है किन्तु बौद्ध-युग में महाजनी प्रथा अपनी हीनता की अन्तिम सीमा को भी पार कर गई थी। तरह-तरह के वाणिज्य-व्यवसायों में कर्ज देना और सूद लेना भी एक व्यवसाय बन गया था, जिसका समर्थन समाज और राज्य ने किया था—वह न तो समाज विरोधी समझा जाता था और न कानून विरोधी। समाज और राज्य से आशीर्वाद प्राप्त कर लेने के बाद महाजनों ने अपना ऐसा रूप प्रकट किया था कि शैतान के भी छक्के छूट गए थे।

प्रायः अँगूठी रख कर कर्ज लिया जाता था (जातक १।१२१) या 'हैण्डनोट' भी लिख कर लोग कर्ज लेते थे ('इण'-पाणिनि और जातक १।२३०)।

एक व्यक्ति दिवालिया था। महाजन ने उसे पकड़ा तो उसने महाजन का धन भी हड़प जाना चाहा। नदी का तट था। वह छलाँग मार कर कूद पड़ा और महाजन के सामने ही डूब मरा—इस तरह उसने अपने दिवालियापन पर चार चाँद लगा दिए (जातक ४।२५६)। स्त्री अथवा पुत्र को गिरवी में रख कर भी कर्ज देते थे (जातक ६।५२१ और थेरी गाथा ४४४) और सूद में उस गिरवी में रक्खी हुई स्त्री या लड़के से बेगार करवाते थे। हद हो गई।

स्त्री और पुत्र को गिरवी रख कर कर्ज लेना—कितनी भयानक बात है और इससे भी भयानक बात है कर्ज देना किसी के स्त्री-पुत्र को गुलाम बना कर।

जहाँ मानव होगा वहीं विचित्रता भी होगी। अब एक वज्रवादी की कथा सुनिए। कटु वचन बोलने वाले सर्वत्र होते हैं किन्तु कुछ वज्रवादी ऐसे होते हैं कि उन्हें इतिहास में भी स्थान मिल जाता है। यह कथा महापरिनिब्बान सुत्त २७० की है। बुद्धदेव का निर्वाण हो चुका था। महाकाश्यप ५०० भिक्खुओं के साथ पावा और कुसीनारा के बीच में कहीं पर थे—वे भिक्षु-संघ के साथ थे। उनके साथ एक वृद्ध भिक्खु था सुभद्र जो भयानक वज्रवादी था। बुद्धदेव के निर्वाण का जब सम्वाद महाकाश्यप के निकट पहुँचा तो सभी शोकमग्न हो गए। सुभद्र को यह बात रुची नहीं और वह बोल उठा—अलं अवुसो, मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ। सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन उपद्दुता च होम इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पती, ति'। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं त इच्छिस्साम न तं करिस्साम, ति'। शोक मत करो हम मुक्त हो गए। उस महाश्रमण ने हमें पीड़ित कर रक्खा था, यह करो, यह मत करो। अब हम जो चाहेंगे करेंगे और जो नहीं चाहेंगे नहीं करेंगे।

यह है वज्रवादिता का एक भयानक नमूना। इतिहास में ऐसी कटु-उक्ति खोजने से भी नहीं मिलती।

निश्चय ही वह भिक्खु सुभद्र अपने इस दुर्गुण के चलते इतिहास के महापुरुषों के साथ ही अमर हो गया।

ऐसी अमरता से भगवान रक्षा करें।

●

"लोक यात्रार्थी नित्यं उद्यतदण्ड : स्यात्"

कोटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण १, अध्याय ४

सभी लोक कार्य ठीक तौर से चलते रहें, इस के लिए आवश्यक है कि सरकार सख्ती से कानून की रक्षा करे।

तीन दृश्य

कमला चौधरी

लाला पन्नालाल नगर के विख्यात धनाढ्य व्यक्तियों में से थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन के ज़माने में वे मिलिट्री के ठेकेदार थे और ब्रिटिश हकूमत के ख़ैरख़्वाह। इस प्रकार के रईस लोग उन दिनों जनता की दृष्टि में उपहास के पात्र बन गए थे। रायबहादुरों, ख़ानबहादुरों एवं ब्रिटिश नौकरशाही से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को देशद्रोही, जी हजूर आदि के विशेषणों से विभूषित किया जाता था। किन्तु लाला पन्नालाल इस परिस्थिति में अपवाद स्वरूप थे। अपने व्यापार की वृद्धि के निमित्त वे एक ओर सरकारी कर्मचारियों को बड़ी-बड़ी डालियाँ देते, सरकारी कार्यों के निमित्त कर्मचारियों को धन राशि देते, दूसरी ओर अफसरों की दृष्टि से बच कर देशव्यापी स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भी जी खोल कर धन देते थे। अतः अपकीर्ति के स्थान पर उन्हें यथेष्ट सुकीर्ति मिली। नगर में उनका विशेष मान था। उनका अर्थात उन दिनों लोकोक्ति बन गया था। लोग कहते थे उन्हें लक्ष्मी और कीर्ति दोनों ही सिद्ध हैं।

लाला पन्नालाल कुछ काल पूर्व अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति थे, एक ज़मींदार के कारिन्दे थे। ज़मींदार उनके सदाचार शालीनता एवं ईमानदारी से बहुत प्रसन्न थे। अतः लाला जी की सहायता के हेतु उन्होंने एक अंग्रेज़ अफ़सर से सिफ़ारिश करके पन्नालाल जी को मिलिट्री का एक छोटा-सा ठेका दिला दिया और स्वयं ही अपने पास से चार हज़ार रुपये उन्हें काम करने को दिए।

पन्नालाल जी ने अत्यन्त परिश्रम से काम किया और लाभ का सारा धन लाकर ज़मींदार के चरणों में रख कर कहा—"यह लाभ आप ही के धन से हुआ है। अतः सब आप ही का है। मैं तो आप का सेवक हूँ।"

इस आचरण से ज़मींदार और भी अधिक प्रभावित हुए और लाला जी के आग्रह करने पर अपना मूल धन लेकर उन्होंने लाला पन्नालाल को प्रोत्साहित करके भविष्य में ठेकेदारी ही करने की सलाह दी।

लक्ष्मी की उन पर कुछ ऐसी अनुकम्पा हुई कि कुछ ही समय में वह सम्पत्तिशाली बन गए और नगर के जन समाज में चर्चा का विषय भी। लोग कहते लाला पन्नालाल यदि मिट्टी भी छू देते हैं तो वह सोना बन जाती है। साथ ही एक हाथ से कमाते हैं, दूसरे हाथ से दान करते हैं पात्र-अपात्र कोई भी उनके द्वार से खाली नहीं लौटता।

जीवन में तीन बार मुझे भी उनसे साक्षात्कार करने का अवसर मिला। सन् १९३० का आन्दोलन जोरों पर था, उन्हीं दिनों मैं गुप्त रूप से लाला जी के समीप चन्दा लेने गई। वे मिलिट्री के ठेकेदार थे। सी० आई० डी० को यदि पता चल जाता तो उन पर विपत्ति आ सकती थी। अतः खादी प्रचार के बहाने मैं हाथ में कुछ खादी की साड़ियाँ लेकर उनके घर गई और पूर्व परिचित की भाँति सीधे घर के आँगन में चली गई।

संध्या का समय था, लाला जी एक बाँस की चारपाई पर बैठे भोजन कर रहे थे। समीप ही कई चारपाइयाँ और पड़ी थीं जिन पर घर की स्त्रियाँ एवं बच्चे बैठे थे। उन लोगों से मिलने का मेरा यह प्रथम अवसर था फिर भी मेरे हाथ में खादी की साड़ियाँ देख कर किसी को यह समझने में देर नहीं लगी कि मैं कौन हूँ।

लाला जी तुरन्त ही उठकर हाथ जोड़ कर खड़े हो गए—"आइए बहन जी, बैठिए, हमारे धन्य भाग।"

मेरे मन में अत्यन्त ही संकोच उत्पन्न हुआ। हाथ जोड़ कर नमस्कार का उत्तर देते हुए मैंने कहा—"मैं बहुत ही बेमौके उपस्थित हुई, क्षमा करें। आप भोजन कर लें फिर बात होगी। स्त्रियों की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा जब तक मैं इन लोगों को साड़ियाँ दिखाती हूँ। हम लोग आजकल खादी प्रचार का सप्ताह मनाह रहे हैं। इसलिए घर-घर खादी बेचने जाते हैं।"

लाला जी उसी प्रकार खड़े ही खड़े बोले—"आप बहुत ही ठीक समय पर पधारीं वरना मुझे यह सौभाग्य कैसे प्राप्त होता, अब तो सुदामा के तन्दुल ग्रहण ही करने पड़ेंगे। और अपनी पत्नी से कहने लगे जल्दी से एक थाली लगा लाओ।

मैंने बहुत अनुनय-विनय करके खाना न खाने के लिए क्षमा माँगी, किन्तु वे उसी प्रकार खड़े-खड़े बराबर आग्रह करते रहे फिर थाली ला कर उनकी पत्नी ने भी मनुहार का अन्त कर दिया और विवश होकर मुझे भोजन करने बैठना पड़ा। तब कहीं लाला जी भोजन करने बैठे और जेब से एक रुपया निकाल कर नौकर को देते हुए बोले—जल्दी से एक रुपये की गरम-गरम इमरती तो ले आ।

मैंने इमरती मँगाने के लिए भी बहुत ही मना किया किन्तु वे माने नहीं। उन दोनों पति-पत्नी ने अत्यन्त आदर-सत्कार से मुझे भोजन कराया।

भोजन करते हुए मेरे मन में विचार आया इतने धनाढ्य व्यक्ति हैं, किन्तु रहन-सहन में कितनी सादगी है। और घर में चारों ओर दृष्टि डाल कर मैंने अनुभव किया कि घर में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दिखाई देती जिससे धन-वैभव का आभास मिल सके। एक साधारण गृहस्थ के घर में जिस प्रकार की वस्तुएँ होती हैं वही हैं। मन में किंचित हँसी भी आई कि कदाचित कोई छोटी मेज भी नहीं है, क्योंकि जिस चारपाई पर मैं बैठी थी उसके समीप एक लकड़ी की कुर्सी खींच कर उसी पर मेरी थाली रख दी गई थी। किन्तु उनका आदर-सत्कार, नम्रता देख कर मैं स्तम्भित रह गई थी। इस सादगी के प्रति मन में आदर का भाव ही उत्पन्न हुआ।

भोजन के पश्चात मैंने धीरे से अपने आने का तात्पर्य लाला जी से कहा। तुरन्त ही वे उसी प्रकार हाथ जोड़ कर कहने लगे, "जो आज्ञा, हाजिर हूँ, मैं इस योग्य कहाँ जो कुछ देश सेवा कर सकूँ। जिस प्रकार व्यापार कर रहा हूँ आप लोगों से छिपा थोड़े ही है हम लोग तो आज़ादी से किसी से बात भी नहीं कर सकते। हर समय भय लगा रहता है। कमाई का पैसा अच्छे कार्य में लग जाए इसमें भलाई ही है। आप को देर तक नहीं रोकूँगा, हुक्म कीजिए।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, आप को संख्या बताने की आवश्यकता नहीं है। मुझे मालूम है आप हमारी सहायता करते ही रहते हैं। इस समय सुविधानुसार जो कुछ दे सकें दे दीजिए। हमारी आवश्यकता तो बहुत बड़ी है। ज़रूरत होगी तो फिर आकर कष्ट देंगे।

स्वभावानुसार लाला जी ने फिर हाथ जोड़ लिए—"कष्ट काहे का, यह तो सौभाग्य की बात है। यथाशक्ति सेवा करने से पीछे नहीं हटूँगा केवल इतनी प्रार्थना है कि किसी को कानों-कान खबर न होने पाए वरना सब कारोबार चौपट हो जाएगा।"

मैंने कहा, आप निश्चिन्त रहें। जब से कांग्रेस को सरकार ने गैर-कानूनी करार दिया है हम लोग इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि हमारी सहायता करने वालों पर किसी प्रकार आँच न आने पाए।

लाला जी भीतर गए और कुछ ही क्षणों में लौट कर मेरे हाथ में एक हज़ार के नोटों की गड्डी थमा दी। मैंने धन्यवाद दिया तो वे फिर उसी प्रकार हाथ जोड़ कर कहने लगे—"धन्यवाद किस बात का हम लोगों का भी तो कुछ कर्त्तव्य है। हम कर ही क्या सकते हैं। चोरों की भाँति डरते हैं। आज़ादी से पैसा भी नहीं दे सकते हैं।"

मैंने अनुभव किया जैसे यह शब्द लाला जी की अन्तरात्मा से निकले हों, बनावट या दिखावा लेशमात्र नहीं था।

मैंने कहा कुछ खादी भी लीजिए। आप तो खादी पहनेंगे नहीं क्योंकि हकूमत के कर्मचारी खादी से भी बिदकते हैं किन्तु घर में और लोग तो पहन सकते हैं।

लाला जी ने प्रसन्नता से वे सब साड़ियाँ ले लीं और गान्धी जी खादी चर्खे पर इतना जोर क्यों देते हैं इस विषय पर बहुत दिलचस्पी से कुछ देर बातें करते रहे। उन्होंने अपनी ओर से सौ चर्खे बनवा कर निर्धन स्त्रियों के लिए देने का वचन भी दिया।

चलते समय एक बार फिर सी० आई० डी० का स्मरण कराया। कहने लगे पास-पड़ोस के लोगों को भी पैसे की बात मालूम न हो।

मैंने दृढ़ता से उन्हें विश्वास दिलाया, किसी को मालूम नहीं होगा। यह धन गुप्तदान में लिखा जाएगा। दोनों पति-पत्नी मुझे द्वार तक पहुँचा गए। सड़क तक आने का शायद उन्हें साहस नहीं हुआ।

लाला जी की उदारता एवं देशभक्ति की भावना से मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुई और रास्ते भर अन्य चन्दा देने वाले व्यक्तियों से लाला जी की तुलना करती रही। न खुशामद न मनुहार न ख्याति की इच्छा, विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर हजार रुपये की गड्डी पकड़ा दी, जैसे रक्खी हुई अमानत लौटा रहे हैं, बड़े ही उदार एवं दानी व्यक्ति हैं।

इसके उपरान्त फिर कई वर्ष तक लाला जी के दर्शनों का अवसर प्राप्त नहीं हुआ किन्तु धन समृद्धि की चर्चा यदा-कदा सुनने को मिल जाती थी। शहर में उन्होंने अब बहुत बड़ी जायदाद बना ली है। सैकड़ों की संख्या में दुकानें, मकान कोठी बंगले हैं और पन्नालाल नगर के नाम से एक अलग ही कालोनी बसा ली है। ठेकेदारी का काम अब छोड़ दिया है, लेन-देन करते हैं। हजारों रुपये की मासिक आय है।

दुबारा फिर इसी प्रकार के एक सामाजिक कार्य के लिए चन्दा एकत्रित करना पड़ा। सेठ पन्नालाल जी के यहाँ जाते समय पुरानी स्मृति सजीव हो उठी और मैं बहुत प्रसन्न मन से कई अन्य साथियों के साथ गई। उस पुराने मकान के स्थान पर अब आलीशान कोठी थी। जिसका विशाल कम्पाउन्ड पार करके हम लोग सुन्दर मुज़ैक के फ़र्श वाले बरान्डे में पहुँचे। देखा बढ़िया टीक के गद्देदार पलंग पर कोई स्थूल शरीर के व्यक्ति मसनद के सहारे आधे लेटे से बैठे हैं। पेट इतना बड़ा था कि कदाचित बैठने में उन्हें कष्ट होता होगा। मैं चकित सी देखती ही रही। उन्हें पहिचान नहीं सकी। तभी एक साथी ने धीरे से कहा, यही हैं सेठ जी।

हम लोगों ने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया, किन्तु सेठ जी ने जैसे देखा ही न हो। न नमस्ते का उत्तर ही दिया न किसी से बैठने ही को कहा, न हिले न डुले, न मुख पर कोई भाव ही आता जाता प्रतीत हुआ।

हम लोग स्वयं ही अप्रतिभ से, जो मूढ़े पड़े थे उन पर चुपचाप बैठ गए। यह जान कर भी कि यही सेठ पन्नालाल हैं, अतीत का स्मरण करके मन को जैसे विश्वास नहीं हुआ। जैसे वे कोई दूसरे ही पन्नालाल थे। नाम में सेठ लग जाने से अब एक ही पन शेष रह गया हो। अपमान के कारण मैं जैसे भीतर ही भीतर घुटी जा रही थी। सम्भव है सभी का यह हाल हो। मैं सोच रही थी ख़ामोशी से उठ कर चल दिया जाए, या इनसे कुछ कहा जाए। तभी सेठ जी का मौन टूटा, उपेक्षा के स्वर में बोले—"आप लोग चन्दा लेने आए हैं?"

सेठ जी की अनुमान करने की क्षमता अद्वितीय थी। मैं सोचने लगी—कदाचित इनके समीप केवल चन्दा माँगने वाले ही आते हैं। इसी कारण चन्दा लेने वालों के प्रति यह इतने अशिष्ट हो गए हैं। अतः सेठ जी से वार्तालाप करने की मेरी इच्छा नहीं हुई। मुझे मौन देख कर एक साथी ने उठ कर छपी हुई अपील का एक कागज सेठ जी की ओर बढ़ाया।

सेठ जी ने मुख दूसरी ओर करके पढ़ने या कुछ सुनने के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हुए तकिए के नीचे से पाँच रुपये का एक नोट निकाल कर साथी की ओर बढ़ा दिया।

सिटपिटा कर साथी ने उत्तर दिया—सेठ जी, आप समझे नहीं। हम लोग किस कार्य के लिए चन्दा कर रहे हैं। काम बहुत बड़ा है। पाँच से काम नहीं चलेगा। इस समय आप कुछ अस्वस्थ हैं। हम लोग फिर कभी आ जाएँगे। नोट रहने दीजिए।

सेठ जी उसी प्रकार लेटे-लेटे तनिक भी उत्तेजित हुए बिना एक-एक शब्द पर रुक-रुक कर बोले—एक दो थोड़े ही आते हैं चन्दा तो नित्य का धन्धा हो गया है।

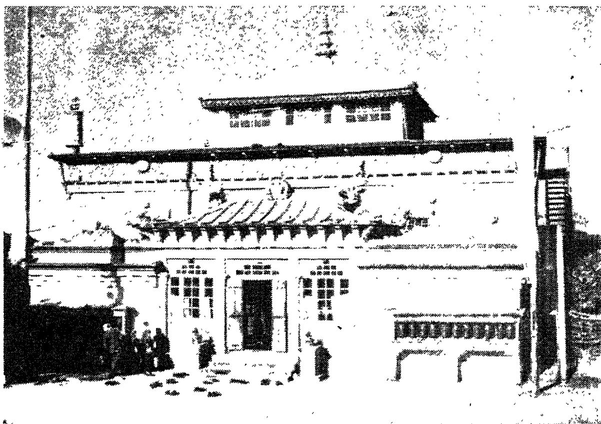
हिमालय का सुन्दर नगर दार्जिलिंग



सिंह पर्वत से कंचन जंगा का दृश्य

दार्जिलिंग की एक लेपेछा युवती





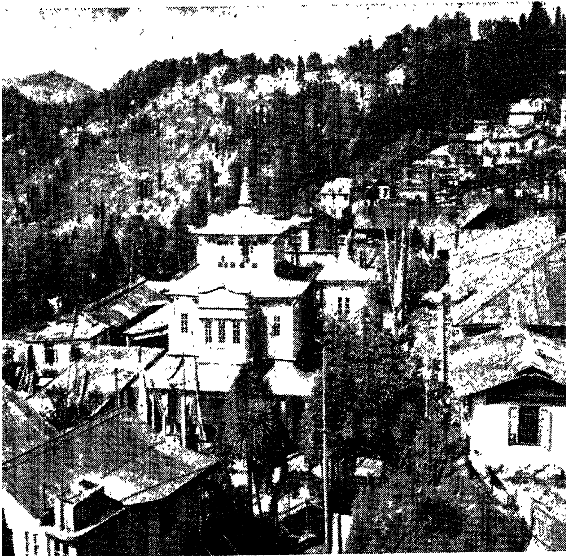
घूम का तिब्बतन मन्दिर



दार्जिलिंग का एक
सामान्य दृश्य



दार्जिलिंग का 'स्टैप एसाइड' नामक बंगला, जहाँ सन् १९२४
में देशबन्धु चित्तरंजन दास का देहावसान हुआ था



बौद्ध-मन्दिर
टोमौंग

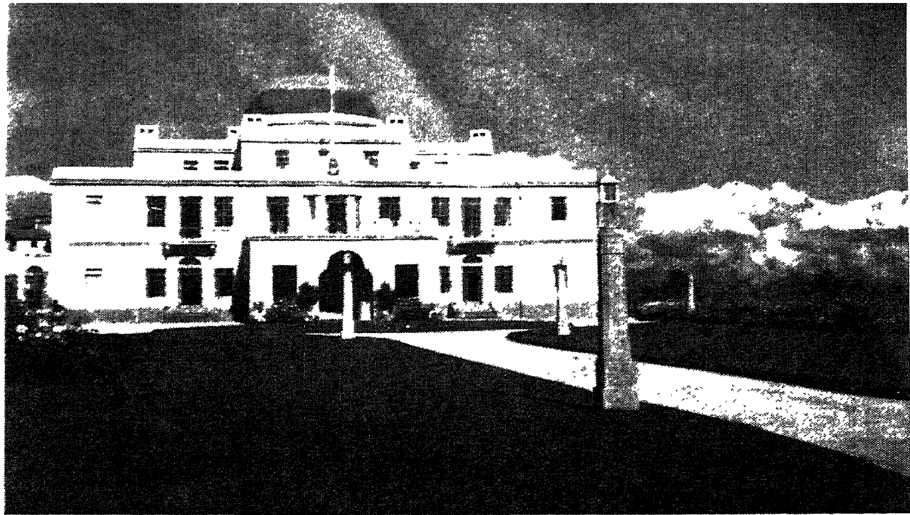


बौद्ध भिक्षुणियाँ धर्मचक्र की पूजा करती हुई

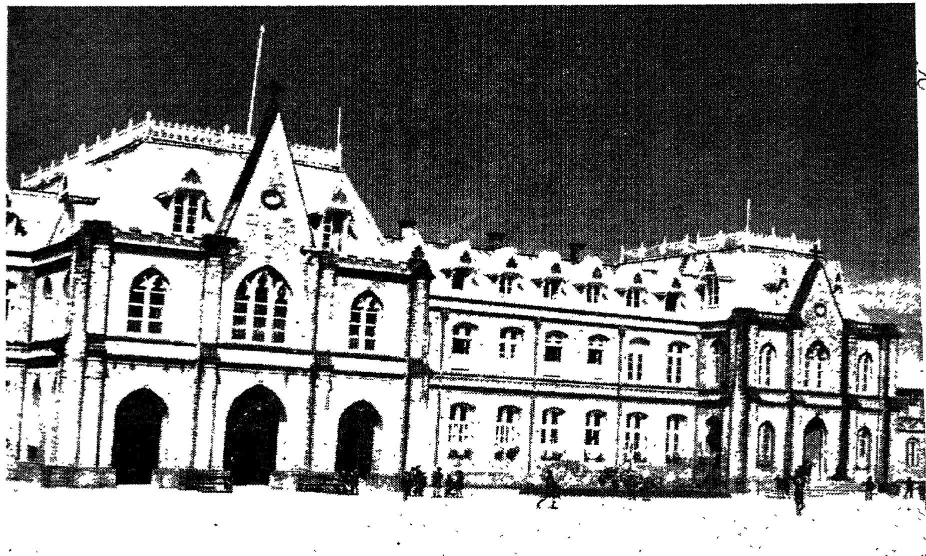


चौरास्ते के नीचे
भोटिया बस्ती का
मन्दिर

राजभवन

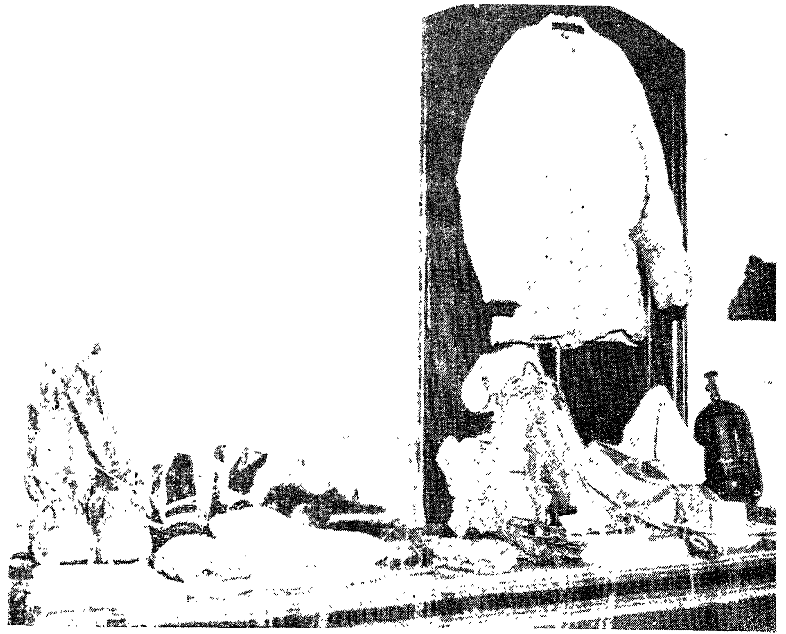


सेण्ट जोसेफ़ कालेज



हाट के दिन





स्ट विजेता तैन्जिग के वे प्रसाधन, जो
स्ट की चढ़ाई में उसके काम आए थे

लामाओं का नृत्य



नम्रता से साथी ने कहा—दानी ही के समीप लोग जाते हैं। हम लोग गोशाला के लिए माँगने नहीं आए हैं। शहर के अन्य रईसों ने जो रकमें दी हैं वह देख लीजिए और तुरन्त ही रसीद वहीं सेठ जी के सम्मुख पेश कर दो।

लेकिन सेठ जी ने गर्दन किंचित घुमा कर उसी लहजे में उत्तर दिया—

चन्दा तो चन्दा है चाहे किसी के लिए हो. दान कहाँ अब तो टैक्स हो गया है।

हम लोग चुपचाप अपमान का घूँट पीकर लौट आए। रास्ते में मैंने साथियों को पुरानी बात सुनाई तो उन लोगों ने बताया वह दिन गए अब तो सेठ जी महा कंजूस हो गए हैं। वह उदारता जाने कहाँ लुप्त हो गई। यद्यपि आय अब जब से अठगुनी होगी। बस इतना अन्तर अवश्य हुआ है कि जब परिश्रम से धन आता था अब धन से धन आता है।

इसके बाद सामाजिक राजनीतिक कितने ही कार्यों के लिए योजनाएँ बनीं। बड़े-बड़े चन्दे हुए किन्तु मैं कभी सेठ पन्नालाल के समीप नहीं गई। और उनकी स्मृति भी जैसे लुप्त हो गई थी। वर्षों से उनकी कुछ चर्चा भी नहीं सुनी थी। अचानक एक बार नगर में कालेज भवन के लिए रुपया एकत्रित करते समय हम लोग चन्दा लेते हुए पन्नालाल नगर की ओर से निकले तो एक साथी कहने लगे, चलिए यहाँ से भी ले लें।

मैंने तुरन्त ही इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा, "वहाँ जाना व्यर्थ है। एक बार हम लोग गए थे तो उन्होंने नमस्ते का उत्तर देना भी आवश्यक नहीं समझा। अपना अपमान कराने कौन जाए!"

वे साथी सेठ जी के रिश्तेदार थे और उनकी वर्तमान अवस्था से पूर्णतः परिचित थे। वे कहने लगे, "नहीं, जब हम लोगों ने घर-घर जाने का निश्चय किया है तो यहाँ भी चलिए। सेठ जो बहुत दिनों से बीमार हैं और आजकल तो कोई भी अच्छे काम के लिए जाता है उसे पच्चीस रुपया दे देते हैं सो वही आपको भी देंगे। न अधिक न कम।"

सभी लोगों की राय चलने की हुई और बीमारी की बात सुनकर अपमान की बात बार-बार दोहराना अच्छा नहीं लगा।

हम लोग फिर उसी बरांडे में जाकर खड़े होकर देखने लगे कोई आदमी दिखाई दे तो भीतर खबर करें। तभी कमरे से एक नवयुवक बाहर आया। उस साथी ने जो सेठ जी के रिश्तेदार थे हम लोगों को परिचय दिया, "ये सेठ जी के छोटे सुपुत्र हैं" और पूछा "कैसे हैं?"

किंचित मुस्कराकर पुत्र ने उत्तर दिया, "वैसे ही हैं आप लोग आइए।" और कमरे को चिक उठाई। तीन चार कमरे पार करके हम लोग सेठजी के कमरे में पहुँचे। बड़ा करुणाजनक दृश्य उपस्थित था। सेठ जी पलंग पर लेटे थे। शरीर सूख कर पंजर मात्र हो गया था। पेट ही पेट दिखाई देता था। पलंग के पाँयते कमोड रखा था। और सिरहाने की ओर पलंग से सटी हुई एक गाडरज की तिजोरी। मेरे शरीर में तो जैसे रोमांच हो आया और चन्दे के लिए ऐसी अवस्था में उपस्थित होना अत्यन्त ही अनुचित लगा, अतः मैं कुछ दूर ही खड़ी रही।

उन्हीं साथी ने समीप जाकर सेठ जी से आशय कहा।

लड़खड़ाती जिह्वा से सेठ जी बोले, "पच्चीस रुपए की रसीद काट दो।" और काँपते हाथों से तकिए के नीचे से तालों का गुच्छा निकाल कर वह तिजोरी खोलने लगे।

घबरा कर मैंने कहा, "आप कष्ट न करें, जल्दी नहीं है। जब कोई आए तब निकलवा कर भेज दें।"

सेठ जी ने उसी प्रकार लड़खड़ाती हुई जिह्वा से कहा, "नहीं लेते जाएँ" और दो दस के एक पाँच का नोट साथी के हाथ में थमा दिए और रसीद हाथ में लेकर देखी। पढ़ी नहीं गई तो पुत्र की ओर बढ़ा कर बोले, "छोटे, जरा पढ़ना।"

पुत्र ने पढ़कर मुस्कराते हुए कहा "पच्चीस रुपये की रसीद है।"

सेठ जी ने उसे रख कर तिजोरी बन्द करदी। हम लोग नमस्कार करके जल्दी से चले आए। मन बड़ा भारी हो गया था। बरांडे में आकर मैंने उनके पुत्र से पूछा, "कब से यह अवस्था है? मैं जानती ऐसा हाल है तो कभी न आती। बेचारों को बड़ा कष्ट हुआ। इनके लिए एक अच्छी सी नर्स रखनी चाहिए जो हर समय देख-रेख कर सके।"

पुत्र हँस कर कहने लगा, "डाक्टर की फ़ीस के रुपए भी उन्हें भारी लगते हैं। नर्स कौन रखे। हम लोग कर्ज लेकर अपना काम चलाते हैं। जब तक जीवित हैं तिजोरी की चाबी हम लोगों को नहीं छूने दे सकते। अब शायद समझने लगे हैं कि कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ इसलिए दान-पुन्य की प्रवृत्ति फिर उत्पन्न हुई है। लेकिन क्या? मैंने एक पंडित लगा दिया था कि इन्हे गीता सुना दिया करे सो सुनी ही नहीं। उनकी गीता तो बहीखाता है। कितना वसूल हुआ कितना किस पर बाकी है सारे दिन मुनीम जी से यही सुनते रहते हैं।"

उनके पुत्र की ध्वनि से व्यंग्य और आकृति से पिता के प्रति घृणा व्यक्त हो रही थी। मैंने अनुभव किया कि यदि हम लोग सुनते रहे तो यह बहुत देर तक अपनी बात समाप्त नहीं करेगा। पिता से इतना कुढ़ा प्रतीत होता है कि राह चलते के मन में उनकी कंजूसी के प्रति घृणा उत्पन्न करने का अवसर जैसे छोड़ नहीं सकता है। अतः उस प्रसंग को समाप्त करने के लिए लौटने को उद्यत होकर बीच ही में मैंने नमस्कार करके उसे चुप कर दिया।

राह में सेठ जी के रिश्तेदार लड़कों की ऐयाशी की और सेठ जी की कंजूसी के किस्से सुनाते रहे, किन्तु मेरा मन इतना भारी हो गया था कि कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। मन करुणा से भर गया था।

इसके पश्चात दूसरे या तीसरे दिन सुना सेठ पन्नालाल का स्वर्गवास हो गया। और मृत्यु को भी अब बहुत समय व्यतीत हो चुका है फिर भी सेठ पन्नालाल से जीवन में जो तीन बार साक्षात्कार हुआ वे तीनों ही दृश्य बहुधा आँखों के सम्मुख तुलनात्मक रूप लेकर मेरी आँखों के सम्मुख सजीव हो उठते हैं।

मन कहता है बिना परिश्रम के धन कमाना और एकत्रित करना भी सामाजिक कोढ़ है जो इन्सान को कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है।

बेढब बुत

अमृता प्रीतम

जिसने आज उधारा माँगा
एक मनुष्य का मुँह
बाकी सिर से पाँवों तक है
दैत्य हुआ प्रधान

दो आँखों में पशुवृत्ति है
माथे पर है दानव
पाँवों बाँधे लाख दरिंदे
हाथों में हैवान

काली जीभें नील रगें हैं
हवस हुई बलवान
ओंठों पर वहशत है चिपकी
दिल में महा-मसान

जिसका जिन है जाबर हुआ,
खंडहर रहा बखेर
बसते आँगन कब्र बनाए
कहरों को वरदान

सत्य सभ्यता रूप कला को
पाप के संग बाँधा
प्यार-परी को कैद किया है
स्वयं हुआ दरबान

दोनों हाथ लुटेरे जिसके
मुँह से छीनें कौर
पत्र विहीन बनाए तरु को
करें भूख का दान

नए युद्ध का डर सा दिखलाएँ
घातक जिसके बोल
जिसकी भट्टी ज्वाला उगले
लौह चढ़ा है सान

आँगन की सब रौनक छीनें
ओंठों की मुसकान
तख्ती पर से अक्षर पोंछें
जंगों के ऐलान

सहमे जीवन सहमीं माएँ
गले लगाये सुत
ऐसे जगत-विधान का
कैसा बेढब बुत !

अनुवादक : अमर भारती



मेघपाहुन, द्वार—

नरेश मेहता

पश्चिमी थामे पधारे
नतनयन से मेघपाहुन
मुझ अकिंचन द्वार।

मेघराजा !
यह अपात्री जलकृपा किस ओट बाँधे ?
किस खेत को अपना बता
मेंढ़ बाँधे,
हर्ष से विनये—
ओ देववर्षा !
इस आँगने, खेते अमृत बरसो।
एक भी पोखर नहीं
जो राजपाहुन को पुकारे—

प्रतीक्षा हाली हुई,
सब तृप्तियाँ पथरा चुकीं,
क्यों मुझे लज्जित किया इतनी कृपा ले ?

क्या कहेंगे जब सुनेंगे शेष पुरवासी,
—बड़ सकारे
अभागे के द्वार थे ठाकुर पधारे,
लौटा दिया इस अपशकुन ने,
आँगने पीपल कहीं का—

स्वर्गराजा !
सो न होगा,
कुलदेवता, कुलअम्बिका से
पुरजनों के खेत-पोखर जहाँ फैले
चलो अमृत करो ठाकुर !
इस सहज परिवार को अपनी कृपाएँ ब्याह दो,
मनुज के सम्बन्ध से सब स्वर्ग है,
छू जिसे पाथर, अहिल्या तक हुए।
मेघराजा !
जलों को छोड़ो,
धरा को तीर्थ करने
अकिंचन पार्थिव खड़ा है केश खोले,
भले ही गल जाय,
पर धारनी है धार
मुक्ति की इस बार !!

पंजाबी लोक-नृत्य—भांगड़ा

पूरनचन्द्र जोशी

भांगड़ा पेप्सू और पूर्वी पंजाब का अत्यन्त प्रसिद्ध लोक-नृत्य है। भूमि से अन्न उपजाने वाला पंजाबी किसान खेती के कमर-तोड़ परिश्रम से छुट्टी पाकर अत्यन्त उन्माद और आनन्द के साथ इस नृत्य में सम्मिलित होता है।

भांगड़ा का मौसम गेहूँ की बुवाई के साथ आरम्भ होता है और इसके पश्चात जब-जब पूर्णिमा के चाँद की हँसी धरती पर चाँदनी के रूप में फैल जाती है तब-तब गाँव के नौजवान किसी भी खुले मैदान में ढोल-वादक को लेकर भांगड़ा नृत्य के लिए एकत्र हो जाते हैं। ढोल बजाने वाला नृत्य मण्डली का अगुआ होता है। उसके ढोल के बोल सुनते ही सारी नृत्यमण्डली सक्रिय हो उठती है। गीतों की धारा उन्मुक्त होकर प्रवाहित होती है और नर्तकों के पाँव नृत्य के लिए थिरक उठते हैं।

इन नृत्यों की दिनों तक पुनरावृत्ति होती जाती है और पूर्णाहुति बैसाखी के महान समारोह में होती है। जब अनाज के लहलहाते खेतों में बालियाँ पकने लगती हैं और प्रकृति अपना सुनहला ऐश्वर्य मुक्त हस्त से धरती के परिश्रमी लाल इन किसानों को लुटाती है, सारी धरती पके अनाज की सुन्दर सुगन्ध से महकने लगती है तब किसान का आल्हाद उसके गीत नृत्यों में फट पड़ता है। ढोल के बोल चारों ओर गूँजने लगते हैं और गाँव के गाँव मेले और बैसाखी के समारोह-केन्द्र की ओर उमड़ पड़ते हैं और भांगड़ा नृत्य का पूर्ण प्रदर्शन होता है।

भांगड़ा के नर्तक चमकीली, रँगीली पोशाक में प्रगट होते हैं, सिर में सुनहला रेशमी पटका, घुटनों तक फैला हुआ सफेद पंजाबी कुर्ता, और सुनहरे रंग की लुंगी (लचड़ा) सफेद चमकते हुए बटन, जड़ी हुई एक काली वास्कट और पाँवों में घुँघरू।

नृत्य आरम्भ होने के पहले नृत्य की घोषणा गीत से होती है। जिसमें भांगड़ा नृत्य की कथा का प्रारम्भिक परिचय दिया होता है और जैसे ही ढोल के पहले बोल थिरक उठते हैं, नृत्य का प्रारम्भ होता है।

भांगड़ा एक सामूहिक नृत्य है। जिसमें कोई भी किसी समय सम्मिलित हो सकता है। नृत्य एक वृत्त के रूप में होता है और जैसे-जैसे अधिक-से-अधिक लोग इसमें शामिल होने लगते हैं वैसे-वैसे वृत्त का घेरा बढ़ता चला जाता है। ढोल-वादक वृत्त के बीच में खड़ा होता है, ढोल उसके गरदन में लटकता रहता है, ढोल की ध्वनि नृत्य की लय को जन्म देती है। नृत्य का आरम्भ मन्द और धीर चाल से होता है, लेकिन ज्यों-ज्यों ढोल तेजी से बजता है त्यों-त्यों नृत्य की गति भी तीव्र होने लगती है। नृत्य का पूरा सौंदर्य वेग और मंदता



भांगड़ा नृत्य

ढोल-वादक पर निर्भर करते हैं। ढोल-वादक जब चाहे नृत्य को मंदता और तीव्रता की दिशा में मोड़ देता है। पूरे नृत्य को संचालित करने के लिए कोई कठोर बने हुए अनुलंघनीय नियम नहीं हैं। गोलाकार नृत्य होता रहता है, बाहें हिलाते हुए पाँवों को लय के अनुकूल बढ़ाते हुए नर्तक घूमते रहते हैं। अगर कोई लय के प्रतिकूल कदम उठा बैठता है तो क्रोध से लोगों की भृकुटि नहीं चढ़ती, बल्कि लोग मस्ती से खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं।

नृत्य में उन्माद और तेजी लाने के लिए नर्तक बीच-बीच में 'होई होई ऊ ऊ' की ध्वनि करते हुए किलक पड़ते हैं। इसी प्रकार बीच में वे उँगलियों से चुटकियाँ और हाथ से तालियाँ बजाने लगते हैं।

भांगड़ा नृत्य का प्रदर्शन सन् १९५४ में दिल्ली में राष्ट्रीय लोक-नृत्य समारोह के अवसर पर हुआ। इस नृत्य में नृत्यमण्डली के प्रथम नर्तक ने मंच पर प्रवेश करके अपने सिर पर एक उलटा घड़ा रख लिया और उसके ऊपर एक दूसरा व्यक्ति चढ़ गया और नृत्यमण्डली



भांगड़ा की पूजा



नृत्य की तैयारी

आगे बढ़ते हुए वृत्त के रूप में एकत्र हो गई। घड़े पर बैठा हुआ व्यक्ति अपनी नृत्य-चेष्टाएँ बिना किसी प्रयास या भय के करते हुए अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है।

इसी प्रकार नृत्य के बीच में एक नर्तक टोली से अलग निकल कर अपने हाथों से, या आधे बैठे हुए अवस्था में या ज़मीन में लोटते हुए आदि अनेक रूपों में भावों और क्रियाओं का प्रदर्शन करता है।

भांगड़ा की दो मुख्य विशेषताएँ हैं, उसकी मस्ती और परुषता। नृत्य की क्रियाओं में शरीर के अंगों और मांसपेशियों पर ज़ोर पड़ता है। भावों की तरंग में नृत्य होता है और किन्हीं नियमों के बन्धनों से नृत्य की उन्मुक्तता में बाधा नहीं पड़ती।

'ढोला' और 'बोलियाँ' दो प्रकार के लोक-गीत भांगड़ा नृत्य के साथ गाए जाते हैं। ये पंजाबी जन-जीवन की घटनाओं और समस्याओं, प्रेम सौन्दर्य और जीवन के आल्हाद-विषाद से भरे रहते हैं। सरलता और स्पष्टवादिता जो लोकसाहित्य के गुण हैं, इन गीतों में कूट-कूट कर भरे रहते हैं।

गीत की कुछ पंक्तियाँ गाई जाती हैं इसके बाद नृत्य क्रियाएँ और भाव व्यक्त किए जाते हैं, फिर एक 'ढोला या बोला' की पंक्तियों का गान और फिर नृत्य—इस प्रकार अटूट क्रम चलता चला जाता है।

भांगड़ा में भी बदलती हुई परिस्थितियों के साथ परिवर्तन होते गए हैं। प्राचीन सामूहिक जीवन के छिन्न-भिन्न होने पर पंजाबी किसान नगर के आधुनिक औद्योगिक केन्द्रों में रोजगार के लिए निकल पड़े हैं। इसलिए बैसाखी के अवसर पर ही नहीं बल्कि ईद, दिवाली या मासिक वेतन मिलने के दिन भांगड़ा नृत्य का नगरों में भी प्रदर्शन होता है। शहर की व्यवस्था की छाप भांगड़ा पर भी पड़ी है। इसकी भौतिक सरलता और उन्मुक्तता में कमी आ गई है, लेकिन इसको तरतीब, शैलीबद्ध करके माँज दिया गया है। आधुनिक सिनेमाओं का असर काफी गहरा है। जहाँ अमेरिकी अश्लीलता और (exhibitionism) का समावेश इस नृत्य में हुआ है, वहाँ नृत्य में अनेक दूषित तत्व आ गए हैं। लेकिन सिनेमा के प्रभाव से भांगड़ा की एक शहरी शैली का भी जन्म हो गया है।

इन प्रभावों से गाँवों का भांगड़ा नृत्य भी मुक्त नहीं रह पाया है। पंजाब के धनी या मध्यम जाट किसानों के बलिष्ठ बेटे जो शहर में शिक्षा के लिए आते हैं वे शहरी जीवन के प्रभावों से अपने को बचा कर अपने गाँव के फार्मों को चलाने का रोज़गार अपनाते हैं। वे भांगड़ा के परम्परागत रूप में सन्तुष्ट नहीं रह पाए। उन्होंने उसे एक शैली के रूप में बाँधने और ढालने की कोशिश की है। सरकारी विकास-योजनाओं के अधिकारियों ने भी गाँव के प्रतिभाशाली गीत-नृत्य-प्रवीण युवकों से सम्पर्क स्थापित किया है और इस प्रकार व्यापक रूप से भांगड़ा नृत्य मण्डलियों का जन्म हुआ है। राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह में भांगड़ा नृत्यमण्डली की अगवाई तीन दीपक बन्धुओं ने की थी जो आधुनिक शिक्षा पाए हुए चुस्त नौजवान थे, जिनका सौ एकड़ ट्रैक्टर की खेती वाला फार्म था जबकि बाकी ग्रामीण जाट तथा निम्न कृषक मेहनत वर्णों और सम्प्रदायों के नवयुवक थे। पेप्सू सरकार द्वारा संगठित किए गए कई समारोहों में ये लोग भाग ले चुके थ।

भांगड़ा नृत्य का प्रवेश पंजाब के स्कूलों, पुलिस लाइनों तथा सैनिक केन्द्रों में भी हो गया है। भांगड़ा नृत्य में स्वच्छन्द उन्मुक्तता, उल्लास भरी मस्ती और परुषता आदि वह सभी गुण और तत्व विद्यमान हैं, जिनके आधार पर वह पंजाब के लोगों के राष्ट्रीय लोकनृत्य का रूप ले सकता है।

शब्द और अर्थ

बद्रीनाथ कपूर

शब्द हमारे लिए धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि से भी कहीं अधिक पवित्र, महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान उत्तरदान हैं, जो हमें अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं। न जाने इन शब्दों के बल से ही कितनी ऊँचाई, कितनी महानता और कितनी श्रेष्ठता को मनुष्य प्राप्त कर लेते हैं, न जाने इनके प्रयोग से वे अपना, अपनों, और गैरों की कितनी भलाई, उपकार और नेकी कर जाते हैं और इन्हीं के मेल से न जाने कैसी सुन्दर, प्रिय और अद्भुत सृष्टि मनुष्य रच देते हैं, जिसमें हम लोग विचरण करते हैं, आनन्द लेते हैं और अपना ज्ञान बढ़ाते हैं।

शब्द वह ध्वनि या घोष है जिसका अनुभव श्रवणेन्द्रियों द्वारा होता है। शब्दों के, सुविधानुसार, दो विभाग किए जा सकते हैं। एक स्फुट शब्द और दूसरे अस्फुट शब्द। स्फुट शब्दों से तात्पर्य ऐसे सार्थक शब्दों से होता है, जिनके द्वारा मानव जाति अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करती है और जिनके कुछ निश्चित तथा बँधे हुए अर्थ होते हैं। जिन शब्दों को हम व्यवहार में लाते हैं वे प्रायः सभी इसी वर्ग में आते हैं। अस्फुट शब्द वे हैं जिनके वास्तव में कुछ अर्थ नहीं होते, परन्तु फिर भी जिनसे किसी विशेष स्थिति, कार्य, क्रिया आदि का बोध अवश्य हो जाता है। जब 'धाँय-धाँय' का शब्द होता है तो हम समझ लेते हैं कि गोली चली है, जब 'धम' या 'धड़ाम' शब्द सुनाई पड़ता है तो हम समझ लेते हैं कि कोई वस्तु, भवन या व्यक्ति गिर पड़ा है और जब हमें किसी रमणी के करुण शब्द 'हाय-हाय' 'ऍं-ऍं' सुनाई पड़ते हैं तो समझ लेते हैं कि उसे कोई मार रहा है। वस्तुतः 'धाँय-धाँय', धम-धड़ाम, हाय-हाय, ऍं-ऍं आदि का कुछ अर्थ नहीं है, परन्तु फिर भी इनके श्रवण से हम किसी स्थिति, कार्य आदि का अनुभव कर लेते हैं, इसी लिए इन्हें अस्फुट शब्द कहते हैं। पशु-पक्षी जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं यदि वे अर्थपूर्ण हैं (भले ही हम लोग उनका कुछ अर्थ समझते हों) तो उन्हें स्फुट कहा जाएगा, और यदि उनके कुछ अर्थ नहीं हैं तो उन्हें अस्फुट कहा जाएगा। यहीं कविवर पं० सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' की दो पंक्तियाँ स्मरण हो आई हैं :

एक गऊ कुछ दूर रँभाई
पनिहारी पनघट से आई।

और यदि सचमुच पनघट पर पानी भरने के लिए गई हुई पनिहारिन ने गऊ के विशेष प्रकार से रँभाने या पुकारने से यह समझ लिया हो कि वह मुझे बुला रही है और यह कह रही है कि तुम्हारे प्रिय घर लौट आए हैं, आओ! जल्दी से आओ, उनका स्वागत करो—तो गऊ के रँभाने का वह स्वर स्फुट ही कहा जाएगा।

शब्दों के सम्बन्ध में एक जानने योग्य बात यह भी है कि शब्दों की सृष्टि नहीं निर्माण होता है, शब्द उत्पन्न नहीं किए जाते वरन् बनाये जाते हैं। प्रायः नए शब्द अन्य शब्दों के आधार पर बनाये जाते हैं। जैसे आदरणीय श्री रामचन्द्र वर्मा ने नहीं से नहिक (Negative) के लिए, सही से सहिक (Positive) के लिए, प्रायः से प्रायिक (Frequent) के लिए, विश्व से विश्वक (Universal) के लिए, सर्व से सार्विक (General) के लिए, सम से प्रलन (Normal) के लिए और डा० रघुवीर ने आक्रमण से अभ्याक्रमण (Aggression) के लिए, विलयन से संविलयन (Merger) के लिए आदि सैकड़ों शब्द बनाये हैं।

'शब्द गढ़ना' पद का भी कुछ लोग अर्थ लगाते हैं—शब्दों की सृष्टि से। वस्तुतः इस पद से भी शब्दों के निर्माण से ही अभिप्रायः होता है। 'गहना गढ़ना' में भाव यह है कि सोने या चाँदी को काट-छाँट कर तोड़-मरोड़ कर, टाँका आदि लगाकर एक नया तथा सुन्दर रूप देना। 'पत्थर गढ़ना' में भी भाव पत्थर को छील कर, काट कर, मसाला आदि लगाकर उसे अच्छे रूप में प्रतिष्ठित करना होता है। 'शब्द गढ़ना' में भी वस्तुतः यही भाव है, शब्दों की सृष्टि या उत्पन्न करने का भाव इस पद में नहीं है। पुराने अथवा प्रचलित शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, अथवा उनमें उपसर्ग या प्रत्यय लगा कर उन्हें नया रूप देना होता है।

अब ज़रा अर्थों के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। शब्दों में अर्थ कहाँ से आते हैं अथवा उनमें अर्थ कैसे लगते हैं इस सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं। 'शब्दों में अर्थ निहित होता है'—इतना सभी विद्वान मानते हैं। यदि शब्दों में अर्थ ही न लगे होते तो मानव मस्तिष्क द्वारा आज तक संचित किए हुए तथा अभिलिखित ज्ञान का मूल्य हमारे लिए कुछ भी न होता।

प्रशस्त मत यह है कि जिन शब्दों के जो अर्थ हम आज मानते हैं, वे हमारे संस्कारों द्वारा ही स्थिर होते हैं। एक उदाहरण लीजिए। छोटे बच्चों को न तो गरमी का ही विशेष अनुभव होता है और न सरदी का ही, परन्तु वे प्रायः सुनते ही रहते हैं कि आज गरमी पड़ रही है और आज सरदी पड़ रही है। धीरे-धीरे उनकी यह धारणा अवश्य बन जाती है कि सरदी और गरमी भी कोई चीज़ें हैं जो पड़ती रहती हैं। कुछ बड़े होने पर जब वह तपन और ठंडक का अनुभव करने लगते हैं तो उन्हीं पहले के सुने हुए शब्दों—गरमी और सरदी को उनके स्थान पर प्रयुक्त करने लगते हैं। शब्दों के जो अर्थ हम सुनते हैं अथवा देखते हैं वे हमारी स्मृति के अंग बन जाते हैं, फिर सभी जगह शब्द विशेष का अर्थ हम अपनी स्मृति के बल पर लगा

लेते हैं। शब्द-कोश वस्तुतः हमारी शक्ति को सहायता देते हैं, हमें अनुस्मरण करा देते हैं।

शब्दों के अर्थ कई प्रकार के होते हैं। हमारे साहित्य-शास्त्रों में शब्दों के तीन प्रकार के अर्थ—अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ बतलाये गए हैं। हम यहाँ उनकी चर्चा इसलिए नहीं कर रहे, क्योंकि सभी लोग बहुत कुछ इनके सम्बन्ध में जानते हैं।

विदेशी विद्वानों ने शब्दों के अर्थों के दो विभाग किए हैं १. व्याप्त्यार्थ और २. गुणार्थ। व्याप्त्यार्थ से तात्पर्य किसी शब्द की अपनी निजी परिभाषा से होता है। जैसे 'पौधे' का व्याप्त्यार्थ होगा—ऐसी जीवित वस्तु जिस की जड़ें भूमि में होती हैं। 'गुणार्थ' से तात्पर्य उन सब भावों और विचारों से होता है जो उस शब्द के साथ लगे होते हैं अथवा लगा दिए जाते हैं। जैसे घर का व्याप्त्यार्थ होगा— ऐसा स्थान जहाँ लोग अपने परिवार के साथ रहते हों और गुणार्थ होगा—ऐसा स्थान जहाँ सभी प्रकार के सुख और सुभीते प्राप्त होते हों। जैसे —इसे आप अपना ही घर समझें। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। व्याप्त्यार्थ तो सदा निश्चित ही होता है परन्तु गुणार्थ वक्ता या लेखक के प्रयोग पर निर्भर होता है।

कुछ अर्थ ऐसे होते हैं जो शब्दों की अभ्यान्तर शक्ति को व्यक्त करते हैं और कुछ अर्थ ऐसे होते हैं जो शब्दों का सार बतलाते हैं। व्हेल (Whale) मछली का अर्थ एक कोश में दिया है—ऐसी भयंकर मछली जिसमें जलयान को उलटने की सामर्थ्य होती है। यह अर्थ वस्तुतः व्हेल की अभ्यान्तर शक्ति को ही सूचित करता है। व्हेल का व्याप्त्यार्थ होगा—समुद्र में रहने वाली ऐसी मछली जो आकार प्रकार में साधारण मछलियों से बहुत बड़ी और भयंकर होती है। अर्थ सार बतलाते हैं, यह 'रहस्यवाद' की निम्न परिभाषा से स्पष्ट हो जाएगा। रहस्यवाद वस्तुतः ऐसा शब्द है जिसका ठीक-ठीक अर्थ नहीं बतलाया जा सकता। जिन-जिन लेखकों ने इस पर कलम चलाई है उन सभी ने इसके विभिन्न अर्थ लगाये हैं। इसलिए एक पुस्तक में इन सब झमेलों में न पड़कर 'रहस्यवाद' का अर्थ दिया है—जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने की क्रिया या भाव। यह व्याख्या संक्षेप में रहस्यवाद का अर्थ बतलाती है उसका सार बतलाती है, उसकी पूरी-पूरी व्याख्या नहीं करती।

शब्दों के ऐसे अर्थ भी होते हैं जो कोशों में पर्याय के रूप में दिए जाते हैं। जैसे अनुग्रह के लिए कृपा, दया तथा अनुकम्पा, मार्ग के लिए रास्ता, पथ तथा बाट, तीक्ष्ण के लिए प्रखर, उग्र तथा प्रचंड और तीव्र के लिए तीखा, तेज तथा वेगवान। शब्दों के अर्थ पर्याय रूप में देना अच्छी बात नहीं है यह तो कठिनाई से भागने या मुख मोड़ने की क्रिया मात्र है। पर्यायों से अर्थ की सिद्धि नहीं होती, वरन भ्रम उत्पन्न होता है।

अन्त में शब्दों और अर्थों पर एक और दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिए। प्रायः हमारे सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब हम अपने भावों या विचारों को ठीक प्रकार से व्यक्त नहीं कर पाते, अथवा कुछ का कुछ कहने लगते हैं। और कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता ही भावों या विचारों को ठीक प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाते या कुछ का कुछ समझ लेते हैं। चाहे लेखक या वक्ता की भूल हो चाहे पाठक या श्रोता की, कारण दोनों का एक ही है कि उन्हें शब्दों और अर्थों का विशेष ज्ञान नहीं है। इस स्थिति से सभी को पार पाना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी ठीक प्रकार न कहने अथवा न समझने से अनर्थ हो सकता है। लेखक, वक्ता, पाठक तथा श्रोता को सदा शब्दों पर तथा उनके अर्थों पर पैनी दृष्टि रखनी चाहिए, तभी उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हो सकती है।

"यह सब को समझ लेना चाहिए कि पार्लियामैण्ट जो फैसला करेगी, वह ज़रूर लागू होगा। वह धमकियों और दंगों फसादों से बदल नहीं सकता। जब पार्लियामैण्ट एक फैसला करती है तो वह देश का, सारे भारत का फैसला होता है। उस फैसले के सामने सब को झुकना होगा। वह फैसला पत्थर की लकीर है। जो लोग बाज़ारों में ऊधम मचा कर पार्लियामैण्ट के फैसले बदलने की कोशिशें करते हैं, वे देश के हितों के खिलाफ़ काम करते हैं। आखिर सरकारी सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, वह सारे देश की सम्पत्ति है।"

—जवाहरलाल नेहरू
१५ अगस्त १९५६

उड़िया साहित्य की प्रगति

तारिणीचरण दास

कालिन्दी बाबू के उड़िया सम्बन्धी 'आजकल' के 'स्वाधीन भारत का साहित्यांक' में प्रकाशित एक लेख में लेखकों तथा पुस्तकों के बारे में चर्चा करते हुए लेखक ने जो स्थापनाएँ की हैं, उनके द्वारा पाठकों के मन में उड़िया साहित्य के बारे में जो धारणाएँ बनी हैं, उनका संशोधन तथा समाधान करना इस लेख का ध्येय है।

इस लेख का कर्त्तव्य है सन् १९४७ के बाद के उड़िया साहित्य से प्रादेशिक भाषाओं या विशेषकर हिन्दी के विद्वानों को परिचित कराना। अतः यहाँ पर एक बात कह देना अनुचित न होगा कि प्रादेशिक साहित्यिक क्षेत्र में ऐसे कुछ पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति हैं, जो बिलकुल नई साहित्यिक गतिविधियों पर ध्यान नहीं देते और अपने को ही पूर्ण समझ बैठते हैं। प्रयोगवादी दृष्टिकोण को समझने में ईमानदार न रहने, बढ़ती हुई प्रवृत्तियों से घृणा करने और तुच्छ ज्ञान आदि ऐसे उत्तरदायित्वहीन लेखों को प्रकाश में लाने में सहायक हैं।

'आजकल' में प्रकाशित लेख पर उत्कल की विशिष्ट दैनिक पत्रिका 'प्रजातन्त्र' (श्री हरेकृष्ण जी महताब द्वारा प्रतिष्ठित) लिखती है—"स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारत के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों की प्रवृत्तियों का परिचय हमें इस (आजकल) पत्रिका से मिलता है, परन्तु उड़िया साहित्य की वास्तविक समीक्षा उसमें नहीं की गई है।"

श्री पाणिग्राही जी ने यह भी लिखा है कि उड़िया साहित्य की आजकल की कृतियों में से कोई भी क्लासिक कोटि की नहीं है। इस बात का जवाब श्री गोपीनाथ जी महान्ति के 'अमृतर सन्तान' और 'परजा' जैसे उपन्यास दे सकते हैं। इसके बारे में 'प्रजातन्त्र' का कथन है:

"गल्प और उपन्यास के क्षेत्र में कालिन्दी बाबू ने विशेष अभिज्ञता के साथ कुछ नहीं कहा है। श्री गोपीनाथ महान्ति का ग्रन्थ 'अमृतर सन्तान' भारतीय साहित्य अकादेमी द्वारा उत्कृष्ट विवेचित हो पुरस्कृत हुआ है। कालिन्दी बाबू स्वयं अकादेमी के सदस्य होते हुए भी इस बात को कैसे भूल गए?"

वस्तुतः सन् १९४७ के बाद ही आधुनिकतम उड़िया साहित्य की वास्तविक प्रगति हुई है। इस अवधि के भीतर हरिजन, कृष्ण, चूड़ा, मनर मृणाल, पृथ्वी बाहारे मणिष आदि बहुत से गल्प और कथा साहित्य रचे गए हैं। इन वर्षों के भीतर महापात्र नीलमणि साहु ने जो हास्यरसपूर्ण गल्प लिखे वे अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद होने योग्य हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के इस युग में श्री गोपीनाथ महान्ति, अच्युतानन्द पति और वामाचरण मित्र आदि ने नए ढंग की कहानियाँ लिखी हैं।

कविता

भारतीय उच्च साहित्यिक श्री सच्चिदानन्द राउत राय से अपरिचित नहीं हैं। वे उड़िया साहित्य के मुक्त छन्द के प्रयोक्ता हैं। हाल ही में भारतीय कवियों के प्रतिनिधि बन कर अमेरिका गए हुए थे और हवाई विश्वविद्यालय में सम्मिलित भी हुए थे, उन्हीं की 'पाण्डुलिपि', जो कि भारत सरकार द्वारा विभिन्न भाषाओं में अनूदित होने जा रही है, सन् १९४७ में ही छपी थी। कविता के क्षेत्र में ऐसी विशिष्ट रचना का उल्लेख लेखक को करना चाहिए था।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद श्री ज्ञानीन्द्र वर्मा की सरल भाषा युक्त कविताएँ सामने आईं। श्री अनन्त पट्टनायक की शैली प्रधान व्यंग कविताएँ इसी समय 'झंकार' में प्रकाशित हुईं। श्री रमाकान्त रथने नवीन तथा परित्यक्त कथावस्तुओं के प्रति अभिरुचि प्रकट कर घड़ी, चील आदि पर कविताएँ लिखीं एवं प्रयोगवादी प्रवृत्तियों के अनुसार प्राचीन कथावस्तुओं को नवीन ढंग से प्रगट किया (धर्मपदर आत्महत्या)। श्री मनोज दास की गद्य कविताएँ, श्री दुर्गाचरण परिड़ा की क्षुद्र परन्तु भावपूर्ण कविताएँ भी आधुनिक कविता क्षेत्र को व्यापक बना देती हैं।

एकांकी नाटक

स्वाधीनतोत्तर काल में भी श्री कालीचरण नाट्याचार्य ने अपनी धारा को अक्षुण्ण रखा है। इनके बाद श्री हरेकृष्ण महताब जी का नाम एकांकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। आधुनिकतम एकांकी की क्षतिपूर्ति श्री प्राणबन्धु के द्वारा हुई है। इनकी विशिष्ट रचनाएँ स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही प्रकाशित हुई हैं।

आलोचनात्मक निबन्ध तथा आलोचना के बारे में लिखते हुए 'प्रजातन्त्र' का कहना है कि स्वतन्त्रता के बाद के सातों वर्षों में ही बहुत-सी आलोचनाएँ विश्वसाहित्य कोटि की न होने पर भी उड़िया आलोचना साहित्य को गति देने वाली हैं, जैसे—संस्कृति ओ साहित्य, युगस्रष्टा फकीर मोहन, तपस्विनी ओ मेहर साहित्य एवं उड़िया समाज ओ साहित्य आदि।

स्वाधीनता के बाद उड़िया साहित्य में शिशु साहित्य का भी निर्माण हुआ है। खिलुआनना, घटि घागुड़ि, कषि-काकुड़ि और चलन्ता राइज़र अमुहाँ नई आदि प्रसिद्ध हैं। श्री उपेन्द्र त्रिपाठी ने ५,००० का भारत अकादेमी पुरस्कार शिशु साहित्य के लिए पाया है।

उसके बाद 'साहित्य-क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं का योग' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लेखक ने विशिष्ट आधुनिक पत्रिकाओं का उल्लेख नहीं किया है। 'झंकार', 'आसन्ताकालि', 'प्रभाती', 'नवजीवन' आदि का जन्म स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही हुआ है।

अनुवाद क्षेत्र में भी उड़िया साहित्य में अच्छी प्रगति दिखलाई दी है। रोम्याँ रोलाँ, रेनेमारोँ, पर्ल एस० बक, बर्नर्ड शा, हेमिंगवे आदि विशिष्ट विश्वप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं का अनुवाद उड़िया में हो चुका है। पी० इ० एन० के सदस्य श्री लक्ष्मी नारायण जी महान्ति ने बहुत-से विश्वकाव्यों का सुन्दर अनुवाद उड़िया भाषा में किया है। प्रभास चन्द्र शतपथी ने मोपासाँ और चैखव की कहानियों का सुन्दर अनुवाद किया है। श्री प्रफुल चन्द्र दास (मनमोहन प्रेस) ऐसे अनुवादों को छापने या उनका प्रकाशन करने में अग्रणी हैं।

इस प्रकार उपन्यास तथा कहानी, कविता, एकांकी, नाटक, शिशु-साहित्य एवं अनुवाद आदि विविध क्षेत्रों में उड़िया साहित्य की प्रगति हुई है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के उत्कल साहित्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी भावनाएँ प्रविष्ट हो गई हैं। प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता की चाह, नवीन छन्द, नवीन अन्वेषण एवं नए पथ आविष्कार करने की भावना दिखलाई पड़ती है। इन कुछ वर्षों के भीतर उड़िया साहित्य ने जो कुछ प्रगति की है, उसमें से 'अनुन्नत जाति के सजीव चित्रण वाले उपन्यास', हास्यरस की कहानियाँ, व्यंग्य, कविताएँ और मनोवैज्ञानिक कहानियाँ अन्य भाषा में अनुवाद योग्य हैं।

निर्वाण

नरसिंह श्रीवास्तव

(१)

हंस ! जाना है मुझे उस पार
अपने पंख दे दो !
दो क्षणों को छोड़ दो तुम नील नभ का प्यार।
प्रिय वह शान्ति का संसार !
कोमल बादलों का चिर मधुर अभिसार।
आओ इस जगत में—
जहाँ कोलाहल बना है प्रीति का व्योहार।
प्रियतम ! कौन सी थी वह घड़ी, जब
रो पड़ा था पर्वतों का प्यार,
गंगा और यमुना बह चलीं थीं,
सिन्धु, सरयू धार।
किन्तु, उस दिन मैं कहाँ था ? तुम कहाँ थे ?
और इस क्षण यह अचानक प्रीति कैसी ?
प्यार कैसा ?
छोड़ दो मुझको यहीं, प्रिय, मैं विरह के गीत गाकर
खोज लाऊँगा अमर संसार।
पाते तुम न जिसको हो युगों से,
आ गया है नील नभ का द्वार।
अन्तिम अंक दे दो
हंस ! अपने पंख दे दो।
आज जाना है मुझे उस पार।

(२)

चेतना के पंख डोले,
आज मन के तार बोले।
शान्त-स्वरवेला- मधुर मल्हार छेड़ो।
उड़ चलो उस पार !
क्षण की कौन सीमा, क्यों रुके हो हंस ?
गति का माप क्या है ?
है अनन्त वितान नभ का—
क्या भुला दी उन दिनों की बात
जब हम मानसर के तट मिले थे ?
स्वयं ले लो मोतियों को आज तक तुमने चुने जो !
क्या करूँगा हार और श्रृंगार मैं अब,
चेतना की नींद सोता हूँ—
विरह का जागरण है।
सुप्त मानस को जगाकर—
विश्व में उन्माद भरने के लिए
कुछ शंख दे दो,
पंख दे दो !
आज जाना है मुझे उस पार।

(३)

शान्त-स्वर्ण विहान,
आया हंस का प्रस्थान।
प्रिय, तुम कब चलोगे ?
"नयन नभ की नीलिमा में मैं तनिक विश्राम कर लूँ।
आज सौरभ सिन्धु में मैं एक क्षण स्नान कर लूँ।
क्योंकि अन्तिम बार तेरा मधुमिलन है।
मैं न पाया जीत जग को,
मैं न पाया जीत तुमको,
मैं न पाया जीत अब तक,
वासना के कठिन मग को।
किन्तु पहली जीत भी है,
आज अन्तिम हार !"
हंस ! जाना है मुझे उस पार।

(४)

आज नभ के नयन जागे !
मूर्तममता-मानवी-मन्दिर विराट,
आज श्रद्धा ने लिया समाधि।
टूटते सब जा रहे हैं स्नेह धागे।
कालिमा की रूपरेखा मिट गई है,
स्वप्न से बर कौन माँगे ?
आज नभ के नयन जागे !
पवन ने स्वर सात साधे,
मृत्तिका का किया पूजन।
दीप ने जो अर्चना के साज साजे,
जल रहा है पूर्ण पारावार !
हंस ! जाना है मुझे उस पार।

(५)

सुन रहा हूँ इस विरह निशीथ में,
"पी कहाँ," पपीहरा पुकारता।
सिहर उठी है रूप की सुशीलता।
सकुच उठी है गंध की नवीनता।
विवश हुई है आज मन की मान्यता।

कहाँ है ज्ञान जिससे मैं भुला सकूँ।
पुनीत प्रीति आज प्रिय अतीत की।
वह कौन गीत है जिसे मैं गा सकूँ।
कहाँ है प्यार जिसको मैं निभा सकूँ।
कहाँ है चाह जिससे मैं उठा सकूँ।
जगत की वासना का यह असह्य भार।
क्योंकि जाना है मुझे उस पार!

(६)

बह जाने दो क्यों रोते हो,
क्यों खोते हो मन की ममता।
दो जल के बूँद दिए मिल गई ममता?
कितने सस्ते प्रिय प्रीति आज पहचानी।
स्वप्नों में मैंने सत्य बहुत देखा था।
और सत्य स्वप्न की ओढ़े थे परछाईं।
कुछ समय रहा यों सत्य स्वप्न का झगड़ा।
विश्वास कभी सन्देह कभी, पर अब तो
हँसता हूँ—उर नयन गले जाते हैं।
रोता हूँ तो शाश्वत विहान-अरुणोदय।
पर हटा न पाया अब तक जग का अन्धकार।
हंस! जाना है मुझे उस पार।

(७)

दो-चार पतंग उड़ा करते हैं प्रतिक्षण
दीपक के सुनसान सुनहले घर पर।
मृग-सर्प चले आते हैं,
बरबस वीणा के स्वर पर।
तो मैं ही क्यों मन की ममता विश्वास छोड़ता।
मैंने जग से वरदान स्वप्न का माँगा।
उसने दे दी अभिलाषाओं की करवट।
पर नहीं चाहिए अब यह झूठी आशा।
मैं नभ का विश्वास लिये चलता हूँ।
धरती पर मेरी प्रीति पला करती है।
मैं अभ्र बनूँ उच्छ्वास सिन्धु का लेकर।
फिर बरस पड़ूँ आधार प्रीति का खोकर,
खोजूँगा कब तक मैं जलनिधि विस्तार!
प्रिये! जाना है उस पार।

(८)

हंस! आज तुम क्या गाते हो?
नभ के राही,
तुम पथ की पहचान छोड़ कर
नभ से दूर कहाँ जाते हो?
नूतन राग नवीन लहर में,
अनजानी भाषा के स्वर में,
हंस! आज तुम क्या गाते हो?
शांत-स्निग्ध-सन्ध्या रवि किरणें,
आज विदा लेतीं जीवन से,
भू से वृक्ष—वृक्ष से नभतल,
लुप्त हुई आभा उपवन से।
अश्रुकणों के बदले अब तक,
कितनी श्वासें बेच चुका था।
किन्तु न सोचा था क्या होगा
अन्तरिक्ष के पार?
मुझे जाना है उस पार।

(९)

हंस! तुम मधुऋतु में क्यों आये?
तमस विहीन, अरुण नभ छाया
स्वर्णिम साज-सजाये।
जीवन ज्योति जली जलने तक,
किरण माल पहनाये।
मूक हुई है मन की ममता,
बुद्धि वन्दना गाये।
मिलन-वियोग एक रस के स्वर
कौन विहाग सुनाये?
केवल मैं हूँ इस मन्दिर में,
कितने पथ पर आये?
हंस! तुम मधुऋतु में क्यों आये?

(१०)

फूले मन सुमन आज फूले!
मधुर-मधुर रस पराग
गूँज रहा अमर राग
मन्द-मन्द शीतल सुगन्ध पवन डोले।
फूले मन सुमन आज फूले!
स्वागत है, जगतप्राण!
जगत-चेतना विहीन,
शुभ्र श्वेत पंखुड़ी है नयन पंथ खोले।
शोभित नभ किरण माल,
बेसुध वसुधा निहाल,
होड़ लगी गीत और प्रीति में,
होड़ लगी हार और जीत में,
स्वर्णिम भविष्य और अतीत में,
जाऊँ किस ओर, मैं गाऊँ प्रिय कौन गीत?
गा दूँ तो हट जाये अन्धकार!
आज मुझे मिल गया है आर-पार।

(११)

आज मन का राग बज रहा!
झूम उठीं तनिक-तनिक दसों दिशा,
बोल उठे मधुर-मधुर सातों स्वर।
आज मन सरोज खिल गया,
थिरक रही पंखुड़ी प्रकाश में
विहँस रही चेतना विकास में,
दो स्वरूप, दो दिशा हैं प्यार के!
एक देखती नयन के कोर से,
एक देखती है सिन्धु छोर से।
पुकारती है आज मानवी कराह,
उभर रही है आज साधना की चाह,
धन्य-धन्य अलि का मधु पराग,
धन्य गूँजता विहाग!
आज मन की साधना की जीत,
उर की वेदना की हार।
कहाँ वियोग है जिसे मिला न दूँ?
गिरा है कौन जिसको मैं उठा न दूँ?
कहाँ है प्यास जिसको कुछ पिला न दूँ?
आज बज रहा है मन का तार!
मानव-हित-स्वार्थ रहित शान्तिमय,
आज करूँ प्रीति का प्रचार।
हंस! मुझे रहने दो इसी पार।

भाई

रमणलाल वसन्तलाल देसाई

हिन्दुओं के साथ लग्न सम्बन्ध स्थापित करके ही मुस्लिम राजसत्ता स्थिर तथा व्यापक बनाई जा सकती है, अकबर के इस विचार के समर्थकों की अब भी कमी नहीं थी। अमीनाबाद के युवा नवाब अहमदखाँ ने अनुभव किया, कि पड़ोस के ठाकुर राजसिंह को अपने प्रति वफ़ादार बनाये रखने का केवल एक ही मार्ग है। यही कि राजसिंह की रूपवती पुत्री के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा जाए। प्रस्ताव स्वीकार हो गया तो ठीक, नहीं तो युद्ध के लिए एक ठोस कारण मिल जाएगा।

राजसिंह छोटा, पर एक तेजस्वी ठाकुर था। अपनी तलवार के बल पर उसने मुस्लिम प्रदेश का कितना ही भाग अपने राज्य में मिला लिया था तथा अन्य मुस्लिम प्रदेशों को अपने अधिकार में करने की ताक में रहता था। कभी नवाब की अधीनता स्वीकार कर, तो कभी उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर, वह सदा नवाब को चिन्तित रखता था। आस-पास के राजपूत ठाकुरों का संगठन कर नवाब के लिए संकट उपस्थित करने का उसका षड्यन्त्र भी छिपा हुआ नहीं था।

राजसिंह के साथ युद्ध करना विकट काम था। पहाड़ी प्रदेशों में छिप कर बाज़ की-सी चपलता से मुसलमान सेना पर टूट पड़ने वाला यह राजपूत इतनी अशान्ति उत्पन्न कर देता था कि उसे शान्त रखने में ही नवाब अपनी कुशलता समझता था। पर शान्त बैठे हुए राजसिंह की शान्ति भी कम भयंकर नहीं होती थी।

राजसिंह के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही नवाब को सर्वोत्तम मार्ग जान पड़ा। राजसिंह का हिन्दुत्व पर अभिमान प्रसिद्ध था। वह सरलता से उसे अपनी कन्या सौंप देगा, यह सम्भव नहीं था। पर नवाब के पास अपनी सलामती के दो ही मार्ग थे, या तो राजसिंह को जड़मूल से नष्ट कर दे, या फिर विवाह सम्बन्ध स्थापित कर उसे अपना बना ले।

अस्तु, नवाब अहमदखाँ ने सैनिक तैयारियाँ शुरू कर दीं। साथ ही यह अफवाह भी फैला दी कि निकट के स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों के विरुद्ध अपनी सेना का उपयोग करने वाला है। इतना ही नहीं उसने राजसिंह तथा उसके समान अन्य अर्ध स्वतंत्र ठाकुरों से सहायता भी माँगी। युद्ध तत्पर राजपूतों ने उसे सहायता देना स्वीकार भी कर लिया।

एक दिन सहसा ही नवाब अहमदखाँ ने युद्ध की तैयारियों के बीच राजसिंह के पास अपने विवाह का प्रस्ताव भेज दिया। भरे दरबार में नवाब के प्रतिनिधि ने उपस्थित होकर कहा—"नवाब साहब का फरमान है कि आप एक सप्ताह के दरमियान में ही अपनी पुत्री पद्मावती की शादी उनके साथ कर दें।"

नवाब का फरमान सुन कर राजसिंह आश्चर्य-चकित रह गया। मैत्री के इच्छुक नवाब ने यह मार्ग क्यों अपनाया, यही वह नहीं समझ सका। उसे अपने हिन्दुत्व का अपमान होता दिखा।

नवाब के संदेशवाहक ने फिर कहा—"आपकी कन्या को हिन्दू धर्म पालन करते रहने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता रहेगी।"

'विवाह मुस्लिम के साथ होगा और धर्म हिन्दू का रहेगा।' राजसिंह को लगा, कि उसके धर्म की खिल्ली उड़ाई जा रही है। क्रोधावेश में उसने कहा—"अपने नवाब से कहना जाकर, कि अपना सिर धड़ से जुदा कर, थाल में रखकर यहाँ भेजे। बाद में मैं उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के प्रस्ताव पर सोचूँगा।"

नवाब के प्रतिनिधि ने धमकी देते हुए नवाब के फरमान की अवज्ञा का विपरीत परिणाम समझाया। पर राजसिंह का हिन्दुत्व अभी जीवित था। यद्यपि युद्ध में नवाब के विरुद्ध वह अधिक समय तक नहीं टिक सकता था, और न ही पहाड़ियों में छिप कर, अचानक आक्रमण करके नवाब को अधिक दिनों तक संकट में डाले रखना ही उसके लिए सम्भव था तथा यह समझते हुए भी, कि उसी के किसी सेनापति को फोड़ कर पद्मावती का हरण करवा लेना भी नवाब के लिए असम्भव नहीं है, मृत्यु से न डरने वाले राजसिंह ने नवाब के प्रतिनिधि की धमकी की कोई परवाह नहीं की। नवाब के प्रस्ताव को तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर, वह उठा, और रनिवास में चला गया।

रनिवास में भी यह बात तुरन्त फैल गई थी। रानी ने राजसिंह के निर्णय की पुष्टि करते हुए कहा—"भले ही सारा राज्य नष्ट हो जाए, पर पद्मा का विवाह एक म्लेच्छ से कदापि न होगा।"

"पर पद्मा कहाँ है?" राजसिंह ने कहा।

(२)

पद्मा पहाड़ी पर स्थित एक तालाब के किनारे बैठी थी। शिकार की शौकीन इस राजकुमारी के आज कोई बाघ या मृग तो हाथ नहीं आया था, पर उसके हृदय को डाँवाडोल कर देने वाले एक राजकुमार से उसकी भेंट हुई। इस राजकुमार—विजयसिंह का नाम उसने सुना था। एक बार दूर से देखा भी था। राजसिंह के विकट कार्यों और षड्यन्त्रों में वह सदैव आगे होता था। राजसिंह और विजयसिंह के पिता मित्र थे। विजयसिंह के पिता की दो वर्ष पूर्व मृत्यु हो गई थी। पर विजय ने अपने पिता के मित्रों के साथ सम्बन्ध कायम रखा था। इतना ही नहीं, उसने राजसिंह को इतनी सहायता दी थी कि राजसिंह उसके उपकारों के बोझ से दबा हुआ सा था।

पहाड़ियों को पार कर, वह राजपूत युवक राजसिंह को एक महत्त्वपूर्ण सन्देश देने जा रहा था। तभी तालाब के किनारे सिर से

साफा उतार कर, मुँह पर पानी के छींटे डालती हुई पद्मा पर उसकी दृष्टि पड़ी।

वीर हो या व्यापारी, हिन्दू या मुसलमान, पुरुष या स्त्री, सब के जीवन में एक क्षण समान रूप में आता है। और उस एक क्षण में सब कोई एक ही भाव में डूब जाते हैं। वह क्षण होता है प्रेम का।

विजय ने घोड़ा खड़ा कर दिया। हवा में उड़ने वालों को सनसनाती हुई, एक अकेली सुन्दरी को निर्जन पहाड़ी पर देखने की उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। पद्मा के साहसी शौक से वह परिचित था। उसने अनुमान से पद्मा को पहचाना और पद्मा भी उसे पहचान गई। एक दूसरे को देखते ही, पद्मा शिकार की निष्फलता भूल गई और विजय सिंह अपने महत्वपूर्ण सन्देश को भूल गया। वह घोड़े से नीचे उतरा और जल्दी-जल्दी साफा बाँधती हुई पद्मा के पास जा खड़ा हुआ। पुरुष वेश में छिपी हुई पद्मा की स्त्री देह उसे अत्यन्त मोहक लग रही थी।

"आप कौन हैं?" विजय ने पूछा।

"मैं—पद्मा, राजसिंह की पुत्री।" पद्मा ने उत्तर दिया।

"शायद आप मुझे तो नहीं पहचानती होंगी?"

"पहचानता हूँ!"

"तो बताइए, कौन हूँ मैं?"

"आप.........आप विजयसिंह ही तो हैं?" विजयसिंह के नाम का उच्चारण करते समय उसने अपने हृदय में कम्पन का अनुभव किया।

क्षण भर दोनों मौन रहे।

"क्या आज कोई शिकार नहीं मिला?" विजय ने मौन भंग किया।

"नहीं।"

"आपके विरुद्ध राजकुमारों की बहुत ही जोरदार शिकायत है।"

"मेरे विरुद्ध? क्यों?"

"आपने इस सारे जंगल को बाघ विहीन कर दिया है न!"

पद्मा हँस पड़ी। अपनी प्रशंसा उसे अच्छी लगी, और प्रशंसा करने वाला उससे भी अधिक।

"कहाँ जाएँगे आप?"

"आपके साथ ही चलूँगा।"

"क्यों?"

"आपके पिता को एक महत्त्वपूर्ण सन्देश देना है।"

"कैसा सन्देश है यह?"

"वह गुप्त है।"

"पर मेरे पिता मुझ से कोई बात छिपा कर नहीं रखते।"

"यह बात शायद छिपा कर रखें!"

"क्यों?"

विजय विचार में पड़ गया। वह इस बात की तुलना करने लगा, कि राजकुमारी को सारी गुप्त बात बताये या नहीं? पर पद्मा की बेधड़क दृष्टि ने अन्त में उससे उगलवा ही लिया।

"वह सन्देश आप ही के सम्बन्ध में है।"

"तब तो आपको मुझ से अवश्य ही कहना चाहिए।"

"पर मैं आपके साथ ही चल रहा हूँ न!"

"मैं किसी गैर के साथ नहीं जाती।" कह कर, पद्मा ने मुँह फेर लिया और आगे बढ़ने लगी। पेड़ से बँधा उसका अश्व हिनहिना उठा। एक ओर खड़े विजय के अश्व ने भी हिनहिना कर उत्तर दिया।

विजयसिंह कुछ समय तक जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। फिर आगे बढ़ कर बोला—"क्षण भर रुकिए। आपके पिता शुभेच्छु हैं, बुजुर्ग हैं—फिर भी आप मुझे गैर समझती हैं?"

पद्मावती रुकी। और दूर ही से जवाब दिया—"आप ने भी मुझे गैर समझा फिर यदि मैं भी आपको गैर न समझूँ तो क्या समझूँ?"

"यह बात नहीं है, पद्मावती जी। मुझे डर लगा कि शायद आप उस सन्देश को सहन न कर सकेंगी।"

"कर सकूँगी। मुझे किसी बात से डर नहीं लगता।"

क्षण भर विजय मौन रहा। उसे लगा, कि ऐसी निर्भय राजकुमारी को राज्य की समस्त गुप्त बातें बताई जा सकती हैं! साथ ही उसके मस्तिष्क में एक विचित्र कल्पना उत्पन्न हुई, कि यदि पद्मा उसकी पत्नी होती, तो क्या वह उससे कुछ छिपा सकता था? नहीं, यह कोई पुतली नहीं है, इस योगमाया में राज्य स्थापित करने तथा नष्ट करने की क्षमता है।

"सुनिए बताता हूँ। वह सन्देश आपके विवाह के सम्बन्ध में है।"

"मेरे विवाह का? क्षत्राणी तो स्वयंवर करती है।"

"आपका स्वयंवर नहीं होगा।"

"क्यों?"

"नवाब अहमदखाँ आपसे शादी करना चाहते हैं।"

"वह भले ही चाहा करे। विवाह करना न करना तो मेरी इच्छा की बात है।"

"आपके घर पहुँचने से पूर्व ही शायद इस प्रश्न का फैसला हो चुका होगा।"

"तब आप कौनसा सन्देश पहुँचाने जा रहे हैं?"

"यही कि नवाब ने शादी के लिए जो सात दिन का समय दिया है, वह झूठ है। कल सूर्योदय से पूर्व ही आपके पिता का गढ़ घिर जाएगा।"

"मतलब?"

"सात दिन से पहले ही आप को नवाब के साथ विवाह करना होगा।"

पद्मा स्थिर खड़ी रह गई। साफे के बन्धन से मुक्त होकर बालों की एक लट उसके मस्तक पर फरफरा उठी।

"आप मेरे पिता के मित्र हैं। आप क्या करेंगे?" पद्मा ने पूछा।

"जो कुछ करने को आपके पिता जी कहेंगे, वही करूँगा।"

"उनके कहने की राह देखेंगे? आपका धर्म क्या कहता है?"

"मेरा धर्म सत्य की सहायता करने को कहता है।"

सन्ध्या काल का सुनहला रंग सरोवर को सुनहला बना रहा था। पर उस सुनहले रंग के पीछे एक काला धब्बा भी झूल रहा था।

"विजय, जो कुछ मैं माँगूँ, क्या वह दे सकोगे ?" सर झुकाए पद्मा ने पूछा ।

विजय सोचने लगा, पूरा नाम न लेकर क्या पद्मा उसके निकट नहीं आ रही है ? और यह क्या माँगने जा रही है ? स्त्री विषय के विचारों से सदैव दूर रहने वाला विजय आनन्द और भय अनुभव करने लगा ।

"आप क्या माँगेंगी ?" अन्त में उसने झिझकते हुए पूछा ।

"पूछ कर देना चाहते हो, तो मुझे कुछ नहीं माँगना । माँगने वाले को सर्वस्व दे देने का आर्य नियम.........."

"माँगिए, जो चाहेंगी, वही दूँगा ।"

"अपनी तलवार दे दीजिए ।"

"तलवार ?" विजयसिंह ने आश्चर्य से पूछा ।

क्षण भर पूर्व उसने अनेक मधुर स्वप्नों की रचना कर डाली थी । पद्मा प्रेम व्यक्त करेगी, साथ-साथ चलने का आग्रह करेगी । उसने सोचा था, कि पद्मा उससे विनती करेगी, कि वह उसे भगा कर ले जाए और नवाब के शिकंजे में से बचा ले ! पर जब पद्मा ने तलवार माँगी, तो वह आश्चर्य चकित रह गया ।

"हाँ !" पद्मा ने कहा ।

"क्या करोगी ?"

पद्मा ने मुँह फेर लिया ।

"नहीं, नहीं, लीजिए ! मैं अपनी प्रिय तलवार आपको देता हूँ ।"

सचमुच विजय को अपनी तलवार बहुत प्यारी थी । तलवार देते समय उसे लगा, कि जैसे उसका एक अंग काटा जा रहा हो ।

"क्या तलवार देना अच्छा नहीं लगा ?" पद्मा ने पूछा ।

"वह मेरा एक अंग बन गई थी ।"

"तो मैं यह कमी पूरी किए देती हूँ ।" अपनी तलवार विजयसिंह को देती हुई पद्मा बोली ।

बिना कुछ बोले विजय ने पद्मा की तलवार स्वीकार करली । पर वह यह नहीं समझ सका, कि पद्मा अपने इस विचित्र व्यवहार से क्या सूचित कर रही है ।

"अब तुम वापस लौट जाओ, विजय ! तुम्हारा सन्देश मैं पिता जी से कह दूँगी ।" पद्मा ने कहा ।

"और मुझे क्या करना चाहिए ?"

"नवाब के साथ मैं विवाह नहीं करूँगी । तुम कहते हो, कि नवाब हमें घेर लेगा, तो तुम हमें उस घेरे में से मुक्त करना ।"

"तुम मेरे साथ भाग चलो, पद्मा ।"

"आज के बाद जब भी तुम कहोगे, मैं तुम्हारे साथ चली चलूँगी; पर आज नहीं ।"

दोनों की आँखें मिलीं । दोनों एक दूसरे के निकट आ रहे थे । दोनों के बीच जो सम्मान सूचक सम्बोधन था, वह अपने आप लोप हो गया ।

× × ×

सहसा ही चारों ओर अंधकार-सा फैल गया । पर वह अंधकार हिल क्यों रहा था ?

"जल्दी करो पद्मा, नवाब की सेना अनुमानित समय से पूर्व ही आ रही है !"

पद्मा शीघ्रता से अपने घोड़े के पास गई । वह जब तक घोड़े पर सवार नहीं हो गई, विजय वहीं खड़ा रहा । फिर वह अपने घोड़े के पास गया ।

पद्मा ने तभी सहसा पुकारा—"विजय !"

"क्या ?" जल्दी से उसके पास आकर विजय बोला ।

पद्मा कुछ बोले बिना विजय की ओर एकटक देखने लगी । विजय कुछ समझ नहीं सका ।

"क्या बात है, पद्मा ?"

"कुछ नहीं !"

"फिर मुझे किस लिए बुलाया था ?"

"तुम्हारा मुँह देखने के लिए ।" कहकर, पद्मा ने तेजी से अपना अश्व दौड़ा दिया । विजय भी पहाड़ों में कहीं अदृश्य हो गया ।

पद्मा ने जब अपने शिकारी साथियों के साथ गढ़ में प्रवेश किया, तब दीया-बत्ती का समय हो गया था । गढ़ में प्रवेश करते ही उसने किले के फाटक बन्द करवा दिए । फिर चिन्ताग्रस्त पिता के पास पहुँच कर विजयसिंह का सन्देश सुनाकर बताया, कि देखते-देखते नवाब के सैनिक गढ़ को घेर लेंगे ।

(३)

युद्ध के डंके गड़गड़ाने लगे, तुरहियाँ बजने लगीं और सशस्त्र सैनिक राजसिंह के दरबार में इकट्ठे होने लगे । और जब नवाब के सैनिक गाँव की सीमा में प्रविष्ट हुए, तो उन्हें सारे फाटक बन्द मिले और किला सावधान दिखाई दिया ।

एक ही हमले में, एक ही रात में राजसिंह के गढ़ पर आधिपत्य जमा कर पद्मा के साथ विवाह करने की नवाब की योजना सफल नहीं हुई । नवाब के हमले को रोकने की राजसिंह ने पूरी तैयारी कर रखी थी ।

परन्तु नवाब की सेना बहुत ही सुगठित तथा अनुशासन-शील थी । राजसिंह जैसा ठाकुर इस सेना के सामने एक हफ्ते भी नहीं टिक सकता था । राजसिंह की सेना और सेनापति सारे जीवन युद्ध करते-करते थक भी गए थे । राजकुमारी की शादी राजा की निजी बात थी । अनेक राजपूत राजा अपनी कन्याएँ मुस्लिम शासकों को सौंप कर शान्ति प्राप्त कर चुके थे । राजसिंह की पुत्री पद्मावती का विवाह नवाब के समान वीर और अच्छे मुस्लिम शासक के साथ कर देना बहुतों की दृष्टि में अपकीर्ति का कार्य नहीं था ।

इस तरह की धारणा वाले एक-दो सेनापति राजसिंह की सेना में थे । नवाब ने भी केवल सैनिक तैयारियाँ ही नहीं की थीं, बल्कि उसने अपने कुछ गुप्तचर राजसिंह के दरबार में छोड़ रखे थे । उन्होंने सुस्त पड़े सेनापति तथा सैनिकों की लापरवाही का लाभ उठा कर, सवेरा होते ही किले का एक फाटक खोल दिया । नवाब की सेना के लिए इतना ही पर्याप्त था । समुद्र की तरंगों की भाँति राजसिंह के सैनिकों को चीरती हुई नवाब की सेना दरबार गढ़ तक जा पहुँची ।

गाँव का किला बहुत मजबूत था, इसी कारण दरबार गढ़ की सुरक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया गया था। प्रातःकाल से पूर्व ही किला फतह हो जाएगा, राजसिंह को यह आशंका नहीं थी। असावधान सैनिकों व सेनापतियों की लापरवाही से लाभ उठाने वाले गुप्तचरों की तो उसने कल्पना तक नहीं की थी।

अत्यन्त सरलता से—आश्चर्यजनक सरलता से, नवाब अहमदखाँ ने दरबार गढ़ में प्रवेश किया। गढ़ में नवाब ने युद्ध की कल्पना की थी, पर वहाँ युद्ध के बदले राजसिंह के मन्त्री ने आगे बढ़ कर नवाब का अभिवादन करते हुए कहा—"महाराज आप की राह देख रहे हैं?"

"मेरी?" नवाब को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। उसे इस तरह के स्वागत की स्वप्न में भी आशा नहीं थी। उसने तो सोचा था, कि राजसिंह तक पहुँचने में उसे बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

"जी हाँ। राजकुमारी का विवाह हो रहा है। आप के कल्याण-कारी आशीर्वाद की अपेक्षा है।"

"राजकुमारी का विवाह?"

"जी हाँ! कुँवरानी का विवाह।"

"पद्मावती की शादी! किसके साथ?" नवाब ने क्रोधावेश में पूछा।

"विजयसिंह के साथ।"

"विजयसिंह के साथ? वह तो आज सवेरे ही कैद हो चुका है।"

"सम्भव है। पर यह भी सत्य है, कि पद्मावती का विवाह विजयसिंह के साथ ही हो रहा है।"

क्रोध से फुँफकारते हुए नवाब ने विवाह-मण्डप में प्रवेश किया। राजसिंह ने खड़े होकर उसका सत्कार करने का प्रयत्न किया। पर नवाब ने उसकी ओर विशेष ध्यान न देकर, देखा कि वहाँ वास्तव में विवाह हो रहा है।

वधू के निकट एक नंगी तलवार रखी हुई थी। उसी तलवार के साथ उसका विवाह हो रहा था। नवाब ने सुन रखा था, कि राजपूतों के नियमानुसार कन्या का विवाह तलवार के साथ भी हो सकता है।

"यह विवाह निरर्थक है।" नवाब ने गर्जना की।

"क्षत्राणी का विवाह कभी निरर्थक नहीं होता।" राजसिंह ने कहा।

"विजय इस समय मेरी कैद में है। जब उसे सूली पर चढ़ाया जाएगा, तब तुम्हें इस विवाह की निरर्थकता मालूम होगी।" नवाब ने कहा।

"मुझे अपना मित्र समझें, नवाब साहब।" राजसिंह ने प्रार्थना की।

"नवाब के हुक्म की हँसी उड़ाने वाले की मित्रता सूली से हो सकती है, नवाब से नहीं।" राजसिंह की ओर सरोष नेत्रों से घूरते हुए नवाब ने कहा। और फिर अपने सेनापति की ओर घूम हुक्म दिया—"जितने भी यहाँ हैं, सब को कैद कर लो।"

क्षण भर में राजसिंह, पद्मा, ब्राह्मण, मन्त्री और रक्षक कैद कर लिए गए। आत्महत्या करने के हेतु उठाई हुई तलवार पद्मा के हाथ में ही रह गई। सैनिकों ने उसे इस तरह बाँध दिया, कि वह अपने शरीर पर चोट न कर सके।

"बाहर दो सूली तैयार करो, और राजसिंह और विजयसिंह को सूली के पास पहुँचाओ।" नवाब ने हुक्म दिया।

सबों को विश्वास हो गया कि यदि पद्मावती नवाब के साथ विवाह करने के लिए राजी नहीं हुई, तो राजसिंह तथा विजयसिंह को अवश्य ही सूली पर चढ़ा दिया जाएगा।

(४)

देखते-देखते मैदान में दो चमकती हुई सूलियाँ तैयार हो गईं। नवाब के एक सैनिक ने आकर कहा—"खुदावन्द, सूलियाँ तैयार हैं।"

"ठीक। राजसिंह और विजयसिंह कहाँ हैं?"

"सूलियों के पास ही हैं, जहाँपनाह।"

"पद्मावती को झरोखे पर पहुँचा दो। मैं और पद्मावती साथ-साथ ही सूलियों का प्रयोग देखेंगे।"

सैनिक पद्मावती को झरोखे पर ले गए। पद्मावती के मन में भले ही डरावने विचार उठ रहे हों, पर उसके हाव-भाव में जरा भी भय नहीं दीख रहा था।

सूली के पास खड़े हुए विजयसिंह और राजसिंह, दोनों ने उसे झरोखे पर खड़ी देखा। देख कर, दोनों की आँखें झुक गईं। विजयसिंह शर्म से गड़-सा रहा था। पद्मा की रक्षा में जूझ पड़े उस वीर को नवाब के सैनिक बड़ी कठिनाई से पकड़ पाये थे। पर इस समय वह पद्मा की रक्षा करने में असमर्थ था और इसी कारण वह मन ही मन छटपटा रहा था।

विजयसिंह के साथ यदि वह भाग निकली होती, तो? पर विवाह से पूर्व विजयसिंह के साथ भाग जाना अनीतिपूर्ण काम समझा जाता। और फिर उसे अपने पिता को विजयसिंह का सन्देश भी तो पहुँचाना था। इसी कारण उसके साथ भागने का विचार छोड़, वह उससे तलवार माँग लाई थी।

विजयसिंह और राजसिंह की मुक्ति का केवल एक ही मार्ग था, कि वह नवाब के साथ विवाह कर ले। पर यह अब असम्भव था। पर यदि विजय की तलवार के साथ विवाह नहीं हुआ होता, तो? तो शायद प्रियतम और पिता की रक्षार्थ वह अपना बलिदान कर देती। पर विवाह सम्पन्न हो जाने के पश्चात यह विचार ही निरर्थक था। पर नवाब के साथ विवाह करने के अतिरिक्त उन दोनों की मुक्ति भी सम्भव नहीं थी। पद्मा भाँति-भाँति के विचारों से मन ही मन छटपटाने लगी। झरोखे से कूद पड़ने का भी उसने विचार किया। उसने पिता की ओर देखा, पति की ओर देखा, सूलियों की ओर देखा, और फिर अपने पीछे देखा। नवाब अहमदखाँ उसके पीछे बहुत ही पास में खड़ा था। झरोखे से कूद पड़ना भी असम्भव था।

"पद्मा", नवाब की आवाज़ सुनाई दी। स्वर में मिठास था। पर पद्मा ने न तो कोई उत्तर दिया और न नवाब की ओर देखा ही।

पद्मा के व्यवहार से कुछ कठोर होकर, नवाब फिर बोला—"पहले किसको सूली पर चढ़ाया जाए?"

"तुम मुसलमान बहुत ही क्रूर होते हो!" पद्मा का स्वर काँप रहा था।

"कैसे ?"

"एक स्त्री को प्राप्त करने के हेतु, इतनी घोर हिंसा करने वाले क्या क्रूर नहीं होते ?"

"स्त्री के लिए ही हिंसा करने वाले हिन्दुओं के नाम गिनाऊँ ?"

उसने सोचा, वास्तव में स्त्रियों के लिए केवल मुसलमानों ने ही नहीं, हिन्दुओं ने भी घोर हिंसा की है।

"मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लो, पद्मा। मैं राजसिंह और विजयसिंह, दोनों को छोड़ दूँगा !" नवाब ने नम्रता से कहा।

"उन्हीं से पूछ देखिए, क्या वह आपकी शर्त पर जीवन-दान चाहते हैं ?" पद्मा ने कहा।

"आओ, तुम्हारे सामने ही पूछता हूँ। पर मान लो, यदि उन्होंने मेरी शर्त मान ली, फिर ?"

"फिर मैं सोचूँगी, कि मुझे क्या करना चाहिए।" कह कर, पद्मा ने वस्त्रों के भीतर छिपी कटार पर हाथ फेरा।

नवाब अहमदखाँ हँसा। उसकी हँसी में क्रूरता के बदले स्नेह का भाव देख कर पद्मा चौंकी।

"चलो, तो उन्हीं से पूछ कर तय कर लें।" जीने की ओर बढ़ते नवाब ने कहा।

इस समय यदि पद्मा चाहती तो अपनी छिपाई हुई कटार से नवाब को कत्ल कर सकती थी। पर उसने वह कटार नवाब के लिए नहीं, अपनी देह-रक्षा के लिए रखी थी। यदि वह नवाब को कत्ल कर देती, तो इसके सैनिकों से अपनी रक्षा किस भाँति कर पाती। और फिर यदि कहीं पिता या पति ने नवाब की शर्त मन्जूर कर ली, तो उस समय अपने सीने को चीरने के लिए उसे कटार की जरूरत पड़ेगी। उसने यही तय किया कि कटार और प्राण साथ-साथ रहें और साथ-साथ ही जाएँ।

सीढ़ियाँ उतरते नवाब ने पीछे मुड़ कर देखा। पद्मा धीरे-धीरे उतर रही थी।

"पहले किससे पूछना है ? राजसिंह से या विजयसिंह से ?"

"दोनों से मैं स्वयं ही पूछूँगी।" पद्मा ने उत्तर दिया।

"जाओ, तुम खुद ही पूछ आओ। अपनी मौजूदगी से मैं बेजा फायदा नहीं उठाना चाहता। मैं यहीं खड़ा हूँ।"

पद्मावती मैदान की ओर जाने लगी, तो नवाब ने कहा—"वहाँ से मैंने उन्हें बुला लिया है। सामने परदे के पीछे हैं।"

पद्मा ने परदा उठाया। उसी स्थान पर उसने विधिपूर्वक विजयसिंह की तलवार के साथ विवाह किया था! उसका हृदय काँप उठा। जहाँ विवाह हुआ है, क्या वहीं पिता या पति विवाह को अमान्य ठहराएँगे ? पर कमरे में प्रवेश करते ही सहसा ब्राह्मणों के मन्त्रोच्चार से दरबार गढ़ गूँज उठा।

नवाब साहब ने खुद पद्मावती और विजयसिंह का विधिपूर्वक विवाह करवाया।

विवाह सम्पन्न होने के बाद पद्मावती के गले में मोतियों का हार पहनाते हुए नवाब ने कहा—"एक मुस्लिम का स्पर्श तुम्हें अपवित्र तो नहीं बना देगा न, पद्मा ?"

पद्मा की आँखों में खुशी के आँसू छलछला आए!

नवाब ने यह सोचा था कि अनिच्छित विवाह कराने के बदले इच्छित विवाह करवा कर ही वह हिन्दुओं का हृदय अच्छी तरह जीत सकेगा। इसीलिए उसने सबको आश्चर्य चकित करते हुए सहसा ही इस प्रकार के विवाह का आयोजन किया था।

"नवाब साहब......" कृतज्ञता के आवेश में गद्गद् कंठ से पद्मा आभार मानने जा रही थी।

"अब मैं तुम्हारा भाई हूँ, नवाब नहीं! मुझे भाई कहकर ही पुकारा करो, पद्मा!"

सबों को विश्वास हो गया कि एक मुसलमान को भी भाई बनना आता है।

बाले ! सन्देह काहे को है तुम्हें
कि भगवान नहीं है इस धरती पर ?
दूसरों की दुर्गति देख रोते जो
टपकता भगवान उनकी आँसुओं में।

—जी० जाषुवा
(तेलगू रचना 'अनाथ' के मुखपृष्ठ से)

साइप्रस की समस्या

अवनीन्द्र कुमार

हमारे देश के लोगों का कल्याण और जीवन साइप्रस पर निर्भर है, क्योंकि यह संरक्षण भूमि है और सामरिक अड्डा है। इन हितों की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। यह साम्राज्यवाद नहीं है। यह किसी भी सरकार का स्पष्ट कर्त्तव्य हो सकता है और हम इस कर्त्तव्य का पालन करेंगे।

यह है ब्रिटिश प्रधान मन्त्री सर ऐंटनी ईडन की घोषणा, जो कि उन्होंने 'कॉमन-सभा' में साइप्रस पर हुई बहस का जवाब देते हुए १४ मार्च १९५६ को की थी। साइप्रस के प्रति इन दो महीनों में ब्रिटेन के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। क्योंकि २१ मई को ब्रिटिश उपनिवेश मन्त्री मि० लेनाक्स बायड ने पुनः इसको 'कॉमन-सभा' में दोहराया और कहा—

यह एक द्वीप है, जिसकी प्रभुत्व शक्ति का प्रश्न भूगोल के कठोर सत्य के कारण मध्य-पूर्व के लाखों लोगों के जीवन के साथ ही नहीं, अपितु साधारणतः दुनिया भर के लोगों के हित के साथ जुड़ा हुआ है। हम इस द्वीप को छोड़ देंगे, यदि इस द्वीप की प्रभुत्व शक्ति हस्तान्तर कर दी गई, तो कम्युनिस्ट और समस्त पश्चिमी जगत के मध्य का संतुलन बदल जाएगा। हमने यह बात स्पष्ट कर दी है और घोषित कर दिया है कि इस स्थिति के रहते हुए इस प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता और मुझे यह कहने की ज़रूरत नहीं कि तुर्की सरकार भी प्रभुत्व शक्ति में परिवर्तन करने की विरोधी है।

ब्रिटिश सरकार केवल साइप्रस के बारे में ही नहीं, बल्कि अदन, सिंगापुर, जिब्राल्टर आदि के बारे में भी इसी प्रकार सोचती है। ये चारों स्थान दुर्ग हैं, या समुद्र पार के ब्रिटिश सैनिक संगठन के नाके हैं और ब्रिटेन के माध्यम से इनका सम्बन्ध 'नाटो' (उत्तरी अटलांटिक सन्धि संस्था) और 'सीटो' (दक्षिण एशिया सन्धि संस्था) और बगदाद पैक्ट से है। पश्चिमी राष्ट्रों ने तथाकथित कम्यूनिस्ट भय का मुकाबला करने के लिए जो व्यूह रचना की है उसमें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सोवियत रूस के चारों ओर घेरा डालने की व्यूह रचना में, मजदूर नेता श्री एनेयूरियन बेवन के शब्दों में, ब्रिटेन का यह अंशदान है। इसके साथ फ्रांस का अंशदान और डालर की व्यावसायिक प्रभुता के बल पर स्पेन, जापान और अन्यत्र प्राप्त किए हुए अड्डों को जोड़ने से बनी सैनिक अड्डों की माला सोवियत रूस की महत्वाकांक्षा का जवाब है। पश्चिमी जगत इन स्थानों से एक साथ विनाशक अणु-बम की वर्षा कर सोवियत रूस की गति को रोक सकता है, या जहाँ का वहाँ इसके द्वारा उसको 'कीलित' कर सकता है। पश्चिमी जगत के सेनानी इस प्रकार सोचते हैं।

किन्तु इसके साथ ही भूमध्य सागर के दोनों तटों, अरब जगत और अन्यत्र जो राष्ट्रीयता की उद्दाम लहरें उठ रही हैं, राष्ट्रवाद का जो प्रचण्ड तूफ़ान उठ रहा है, उसकी सर्वथा उपेक्षा की जा रही है। साइप्रस, अदन, सिंगापुर आदि स्थानों के लोगों में किन्तु इस बात के लिए उत्साह नहीं है कि वे महाशक्तियों के संग्राम में अपने आप को होम दें, स्वाहा कर दें। उनकी इस अनिच्छा का एक बड़ा कारण है। उनको नागरिकता तक के भी अधिकार प्राप्त नहीं हैं। यदि साइप्रस को सम्मानपूर्ण दर्जा दिया जाय तो ग्रीस को इसमें आपत्ति न होगी कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अपेक्षा करती है, ब्रिटेन अपना नौ व हवाई अड्डा वहाँ रखे। किन्तु ब्रिटेन यह मार्ग अपनाने को तैयार नहीं। वह ग्रीस और तुर्की के बीच मैत्री कायम रखने के लिए साइप्रस के द्वीप के लोगों को न्यायाधिकार से वंचित करना उचित समझता है। इसके लिए सर ऐंटनी ईडन ने प्राचीन इतिहास और पुरानी सन्धियों का सहारा लिया है। अतः उन पर भी एक दृष्टिपात करना चाहिए। क्योंकि ब्रिटेन का कहना है कि साइप्रस की समस्या ऐंग्लो-ग्रीक नहीं, ग्रीस-तुर्की की नहीं, साइप्रस के लोगों और ब्रिटिश सरकार के मध्य की नहीं। इसका सम्बन्ध विश्व-शान्ति से है। सत्य क्या है और वस्तु-स्थिति क्या है?

भूमध्य सागर में साइप्रस द्वीप का स्थान तीसरा है। पूर्व से पश्चिम में इसकी अधिक से अधिक लम्बाई १४० मील और उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी अधिक से अधिक चौड़ाई ६० मील है। इसका क्षेत्रफल ७,२७२ वर्गमील है और विस्तार में वेल्स के आधे भाग से भी कुछ कम है। किन्तु इस द्वीप की भौगोलिक स्थिति महत्त्वपूर्ण है। मिस्र से यह २४० मील दूर है। पश्चिम में सीरिया इससे ६० मील दूर है और इसके दक्षिण में तुर्की केवल ४० मील दूर है। सर ऐंटनी ईडन के शब्दों में 'आइल आफ़ मैन' द्वीप इंग्लैंड से जितनी दूर है, उतनी ही दूर साइप्रस तुर्की से है। इस कारण साइप्रस के विषय में कोई भी निर्णय उसकी सहमति से ही किया जा सकता है।

साइप्रस की कुल आबादी ५,१७,००० है। प्रति वर्गमील १४५ व्यक्ति बसते हैं। १९४६ की जनगणना की अपेक्षा १९५४ में ६७,००० अर्थात १५ प्रतिशत आबादी बढ़ी है। साइप्रस की समस्या को हल करने का सवाल जब सामने आता है तब अल्पसंख्यकों का प्रश्न भी उठाया जाता है, जैसे कि ब्रिटिश शासक भारत में उठाया करते थे। अतः उसकी जनसंख्या के विभिन्न तत्वों को देखना चाहिए—

ग्रीक	३,६१,१९९	८०·२ प्रतिशत
तुर्क	८०,५४९	१७·९ प्रतिशत
अन्य	८,३६७	१·९ प्रतिशत

साइप्रस की राजधानी निकोसिया है और इसकी आबादी ५३,३०० है।

अन्य प्रसिद्ध नगर हैं, लिमासोल (२२,८००), पाफोस (५,२००) और कीरेनिया (२,६००)।

इसकी जलवायु बहुत अच्छी है? मृत्यु-संख्या इस द्वीप की दुनिया भर में सब से कम है।

साइप्रस द्वीप की समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। इसका एक कारण इसकी पराधीनता भी है। नई खुदाई इसके इतिहास को ३२०० ई० पू० पहले तक ले गई है। इस समय नदियों के किनारे और पर्वतों पर ही बस्तियाँ बसी थीं। १६०० से १०५० ई० पू० तक यहाँ अलाम्पिया लोगों का राज्य था और ये लोग मिस्र के करद शासक थे। मिसेनियम साम्राज्य के अन्तर्गत यह कुछ वर्ष रहा। प्रसिद्ध है कि इतिहास प्रसिद्ध ट्रोजन-युद्ध से लौटते हुए ग्रीक लोग यहाँ आए और यहाँ बस गए। इस समय से ग्रीक लोगों की यहाँ बस्ती बसने लगी। किन्तु यह द्वीप कभी ग्रीस का एक भाग होकर रहा, ऐसा इतिहास नहीं बताता और आज के इसके शासक इस बात पर बहुत बल देते हैं।

साइप्रस पर मिस्रियों ने भी आक्रमण किया और वे कुछ दिन इसके शासक रहे। फिर एशिया के सम्राटों के राज्य का यह एक भाग रहा। ३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने इसको जीता। सिकन्दर का साम्राज्य जब उसके सेनापतियों में बँटा तो साइप्रस मिस्र के शासक टालमो को मिला। ५४ ई० में रोम साम्राज्य में यह सम्मिलित हो गया। रोम साम्राज्य के विभक्त होने पर यह बाईजेण्टियम साम्राज्य में रहा। ३०० से ७वीं सदी तक अरबों और ग्रीक लोगों के मध्य इस द्वीप के लिए बराबर संघर्ष चलता रहा। साइप्रस पुनः बाईजेण्टियम साम्राज्य का एक भाग हो गया और इस प्रकार २०० वर्ष रहा।

क्रूसेड वीर रियार्ड ने साइप्रस को ११६१ में जीता। किन्तु ब्रिटेन ने उस समय इसको अपने ऊपर एक व्यर्थ का बोझ समझा और नाइट आफ टेम्पलर के हाथ बेच दिया। इसने जैरूसलेम के पदच्युत राजा गुई डी लूसी नन को यह द्वीप दे दिया। लूसी नन वंश १४८६ ई० तक यहाँ राज्य करता रहा। १४६८ में वेनिस शहर राज्य का इस पर अधिकार हो गया। १५७१ में तुर्की ने इसको जीता और १८७८ तक यह उसके ही अधिकार में रहा। तुर्की का शासन ३०७ वर्ष इस द्वीप पर रहा और इस एक कारण से साइप्रस-समस्या के साथ तुर्की का प्रश्न भी जोड़ दिया गया है।

रूस ने कुछ भाग तुर्की का दबा लिया था। उस हिस्से को वापस लेने में तुर्की ने अंग्रेज़ों से सहायता माँगी। तुर्की ने इस सहायता के बदले साइप्रस द्वीप अंग्रेज़ों को दे दिया। अंग्रेज़ तुर्की की इस मैत्री को आज भी भुलाना नहीं चाहते। १६१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर इस द्वीप का ब्रिटेन ने स्वामित्व और प्रभुत्व भी हस्तगत कर लिया। १६२३ में ग्रीस तुर्की और ब्रिटेन के बीच लासेन-सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार ग्रीस और तुर्की दोनों ने साइप्रस पर अंग्रेज़ों का अधिकार स्वीकार किया। १६२५ में साइप्रस शाही उपनिवेश घोषित किया गया और यह आज भी ब्रिटेन का एक शाही उपनिवेश है। १६१४ में एक समय आया था जब ब्रिटेन यह द्वीप ग्रीस को देने के लिए इस शर्त पर तैयार हुआ था कि ग्रीस लड़ाई में सर्विया की मदद करे। पर यह प्रस्ताव ही रहा इससे आगे नहीं बढ़ा। फलतः आज साइप्रस की समस्या सामने है और ग्रीस और साइप्रियाट ग्रीक लोग स्वयं भाग्य निर्णय का अधिकार माँग रहे हैं और ब्रिटेन इसको स्वीकार करने से इन्कार कर रहा है। ब्रिटिश सरकार ने एक से अधिक बार और ब्रिटिश उपनिवेश मन्त्री मि० लेनाक्स बायड ने तो १४ मई को विदेशी पत्रकारों के सम्मुख और २१ मई को 'कॉमन-सभा' में पुनः घोषित किया है कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में अन्तर नहीं आता, साइप्रस के ग्रीक लोगों की स्वयं भाग्य-निर्णय की माँग पर विचार नहीं किया जा सकता। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने साथ ही कहा है कि वह नहीं कहते कि साइप्रस के ग्रीक लोगों की इच्छा का सम्मान कभी नहीं किया जाएगा। किन्तु यह समय कब आएगा? यह अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निर्भर है। ब्रिटेन का एक अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व है। उसको वह साइप्रस का अप्रतिहत और अप्रतिबन्धित उपयोग करने का अधिकार रहने के बिना पूरा नहीं कर सकता।

वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व क्या है? १६५० में फ्रांस और अमेरिका के साथ ब्रिटेन ने भी यह गारण्टी दी है कि इज़राइल और अरब राष्ट्रों के बीच की अन्तरिम सीमा की रक्षा करेगा। 'नाटो' के ग्रीस और तुर्की दोनों सदस्य हैं। इनकी रक्षा की ज़िम्मेदारी ब्रिटिश नौ हवाई सेना तभी पूरी कर सकती है जब साइप्रस द्वीप उसके अधिकार में रहे। अब 'बगदाद पैक्ट' के कारण मध्य-पूर्व या पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने का बोझ भी उस पर आ गया है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि इससे साइप्रस के लोगों का भी कुछ सम्बन्ध है? अन्यों की रक्षा की ज़िम्मेदारी ब्रिटेन ने अपने पुराने साम्राज्य मार्ग की रक्षा के लिए उठाई है। यह क्यों न माना जाए? ब्रिटेन का कहना है कि वह 'यू० एन० ओ०' में विश्वास करता है। वह प्रशान्त घोषणा का समर्थक है। पर जब साइप्रस के ८२ प्रतिशत ग्रीक और ग्रीस सरकार इस द्वीप को ग्रीस के अधिकार में देने के लिए कहते हैं तो ब्रिटेन अपना प्रभुत्व उठाने से इन्कार कर देता है और इसको विश्व-शान्ति के हित में आवश्यक बताता है। प्रश्न यह है कि क्या विश्व-शान्ति के नाम मानव-समाज के एक भाग को स्वभाग्य निर्णय के अधिकार से वंचित रखना ठीक है? स्वेज़ नहर का परित्याग करने के बाद ब्रिटिश बेड़े को कहीं आश्रय चाहिए। क्या इसी कारण किसी द्वीप के लोगों को स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार से वंचित करना ठीक होगा?

साइप्रस आज काँटेदार तारों, कटुता और पीठ पीछे गोली चलाने का देश है। ब्रिटिश शासकों की अपेक्षा साइप्रियाट लोग अधिक कष्ट भोग रहे हैं। क्योंकि हर रोज किसी न किसी गाँव में 'कर्फ्यू' लगाने की घोषणा की जाती है। किसी अंग्रेज़ पर हमला होने पर यदि उसके बारे में गाँव वाले कुछ नहीं बताते तो उस गाँव पर सामूहिक जुर्माना किया जाता है। सबसे बुरी बात यह है कि साइप्रस के स्कूल बन्द हैं। माध्यमिक स्कूलों में पढ़ने वाले १२,००० छात्रों में से ६,००० विद्यार्थी बगैर पढ़ाई के गलियों में घूमते हैं। ६२,००० प्राथमिक छात्रों में से केवल १५,००० छात्र प्राइमरी शिक्षा पा रहे हैं। स्कूल ग्रीक समर्थकों और अंग्रेज़ विरोधियों के केन्द्र हैं। इस कारण स्कूलों को बन्द कर दिया गया है।

साइप्रस में इस समय १८,००० ब्रिटिश सैनिक हैं। स्नान करने के समुद्र तटों को काँटेदार तारों से घेर दिया गया है। ब्रिटिश अधिकारी और ब्रिटिश सैनिक पहरे में दूकानों से सामान खरीदने जाते हैं। अंग्रेज़ों के बच्चे जब बसों में स्कूलों में पढ़ने जाते हैं तो सैनिक उनके साथ जाते हैं। मोटरों में ताला लगाना आवश्यक है। अन्यथा उनमें बम रख दिया जाता है। रात को अंग्रेज़ सब खिड़कियाँ बन्द करके सोते हैं। क्योंकि खिड़की को खुला रखना 'ए० ओ० का०' (ग्रीस के साथ साइप्रस को मिलाने का आन्दोलन करने वाली दक्षिण पक्षीय संस्था) को दस्ती बम डालने का निमन्त्रण देना है।

यात्री को प्रथम दृष्टि में दुर्भावना और हिंसा का केन्द्र मालूम देता है। किन्तु सत्य यह है कि साइप्रस की कहानी अनिच्छा और उपेक्षा की एक कथा है। ८२ प्रतिशत ग्रीक लोगों ने अपनी इस इच्छा को कभी छिपाया नहीं है कि वे ग्रीस के साथ मिल कर रहना चाहते हैं। सन् १८७८ में जब ब्रिटेन ने तुर्की से यह द्वीप लिया तब साइप्रस के ग्रीक 'आर्थोडाक्स' आर्कबिशप ने इस परिवर्तन का स्वागत करते हुए कहा था: इस बात को किसी को भूल न जाना चाहिए कि साइप्रस अन्ततोगत्वा ग्रीस के साथ मिलना चाहता है। चालीस वर्षों से भी अधिक पहले जब सर विंस्टन चर्चिल साइप्रस गए थे तो इस महान राजनीतिज्ञ ने कहा था कि उसने केवल एक ग्रीक शब्द 'एनोसिस' ग्रीस के साथ सम्मिलन सीखा है। सन् १९३१ में हताश ग्रीक सिपाहियों ने गवर्नर का राजमहल जला दिया और दंगे में सैकड़ों आदमी मारे गए। ब्रिटिश सरकार ने प्रतिशोध में आर्कबिशप को निर्वासित कर दिया।

इस चेतावनी के बाद भी साइप्रस के असन्तोष और क्षोभ को दूर करने के लिए कुछ नहीं किया गया। ग्रीस आज भी ग्रीक शिक्षकों का वेतन देने और पाठ्यक्रम निश्चित करने के लिए तैयार है। किन्तु इसके साथ ही ग्रीस ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साइप्रस के ग्रीक स्वप्न में भी ब्रिटिश शासन को सहन नहीं करेंगे। सन् १९५४ में तात्कालिक गृहमन्त्री मि० हैरोल्ड हापकिन्स ने कहा था कि द्वीप के लोगों को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार कभी भी न दिया जाएगा। फलतः नरम दली नेता भी आतंकवादी दल 'ए० ओ० का०' में सम्मिलित हो गए। हिंसा और कटुता की ऊँची-ऊँची लहरों के बीच साइप्रस के गवर्नर फील्ड मार्शल सर जॉन हार्डिंग और धार्मिक एवं राजनीतिक नेता आर्कबिशप मकारियस के बीच सन्धि चर्चा चली। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का कहना है कि आर्कबिशप ने समझौते की बातचीत खत्म कर दी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री और उपनिवेश मन्त्री ने यह भी कहा कि उसके साथ समझौते की बातचीत नहीं चलाई जा सकती, क्योंकि उसकी माँगों का कोई अन्त नहीं। फिर वह ब्रिटिश सरकार की एकमात्र माँग के बारे में कि हिंसा काण्डों की वह निन्दा करेगा, हमेशा मौन साधे रहा।

ब्रिटेन द्वीप को प्रतिरक्षा परिषद् और आन्तरिक सार्वजनिक सुरक्षा (कानून और व्यवस्था) के इन तीन विभागों को छोड़ कर शेष सब विभाग देने को उद्यत है। आर्कबिशप ने आन्तरिक कानून और व्यवस्था को देने के लिए भी कहा था और माँग की थी कि सब राजनीतिक बन्दियों को क्षमादान दिया जाए। इन दोनों माँगों को ब्रिटिश सरकार मानने को तैयार नहीं। बातचीत यहाँ आकर टूट गई। सन्धि-चर्चा भंग होने का एक और कारण भी है। साइप्रस का शासन वस्तुतः लन्दन से सैनिक अधिकारी करते हैं, साइप्रस का ब्रिटिश गवर्नर नहीं करता। ब्रिटिश सेना द्वीप पर २०,०००,००० पौंड खर्च कर रही है, जिससे यह ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डा बन सके। दक्षिणी साइप्रस के पर्वतीय भाग में हेपिसकोपी में ब्रिटिश सैनिकों के वास्ते बैरकें और सेना के सदर मुकाम के लिए इमारतें बन रही हैं। स्वेज छोड़ने के बाद ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने अपना भाग्य यहाँ लगा दिया है। साइप्रस का महत्त्व बताते हुए एक ब्रिटिश सैनिक अधिकारी व रण पण्डित ने कहा:

मध्यपूर्व के तेल की रक्षा के वास्ते हमको एक न एक अड्डा अवश्य चाहिए। यदि तेल-भूमि में बाधा पड़ी तो ब्रिटेन भूखा मर जाएगा। कानूनन साइप्रस ब्रिटिश है। हमारे इस अधिकार व प्रभुत्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता, न इसके बारे में विवाद ही कर सकता है। साइप्रस के लोगों के विरोध के बावजूद यहाँ ब्रिटिश अड्डे और बीस साल तक बने रहेंगे। मकारियस के साथ द्वीप को स्वायत्त शासन देने की बातचीत चलाने से मध्यपूर्व में हमारी सम्पूर्ण सैनिक स्थिति को भारी आघात पहुँचेगा।

ब्रिटिश सरकार और साइप्रस के गवर्नर सर जान हार्डिंग ने कहा कि उनका पहला लक्ष्य द्वीप में शान्ति स्थापित करना है और कानून और व्यवस्था का राज्य कायम करना है। 'एओका' (एथनिकी आरमेनोमटिस की परियान एगोनिस्टन' सिपरियाट योद्धाओं का राष्ट्रीय संगठन) निकोसिया, लारनाका और लीमासोल में तोड़-फोड़ का कार्य कर रहे हैं। १२ सितम्बर १९५५ में दंगे के बाद निकोसिया में 'ब्रिटिश इंस्टीट्यूट' को जला दिया। एथेंस रेडियो भी साइप्रस को रेडियो-प्रसार करते हुए साइप्रस के लोगों को हिंसा के लिए भड़काता है। ग्रीस से साइप्रस हथियार भेजे जाते हैं, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। नवम्बर १९५५ को पिरेक से किताबों का एक पार्सल लिमासोल के पुस्तक-विक्रेता के नाम भेजा गया। वस्तुतः किताबों के बहाने शस्त्रास्त्र भेजे गए थे। ग्रीस का एक सेनापति, जिसने दूसरे महायुद्ध में ब्रिटेन की बहुत सहायता की थी, कर्नल ग्रीवास आतंकवादी दलों का नेतृत्व कर रहा है। 'एनोसिस' के विरोधियों को जान से मार डालने की धमकी दी जाती है। 'एओका' की कोपदृष्टि के पहले शिकार पुलिस के लोग होते हैं।

'एओका' तीन विभागों में विभक्त है, (१) राजनीतिक कमेटी, इसमें ब्रिटिश विरोधी और धनी व्यवसायी हैं, (२) प्रशिक्षित बन्दूकचियों की चलती-फिरती टोलियाँ, इसमें युवक हैं और ये हमला कर तुरन्त भाग जाते हैं, ये क्रिकेट खेल के 'टिपरन' की तरह काम करते हैं, (३) इसके लिए 'ओखेन' (यूनियन ऑफ आर्थोडाक्स क्रिश्चियन यूथ) से युवक आते हैं! युवकों की अन्य संस्थाएँ हैं 'पान अग्रेरियन यूनियन ऑफ साइप्रस' (पी० ई० के०) और 'पी० ई० ओ० एन०'। किन्तु

सन् १९५३ से ये गैरकानूनी घोषित हैं। माध्यमिक स्कूलों के छात्रों से भी इनको मदद मिलती है। 'एग्रोका' के सदस्य निम्न शपथ लेते हैं:

'होली ट्रीनिटी' (पिता पुत्र और देव) के नाम में शपथ लेता हूँ।

(१) मैं प्राणोत्सर्ग करके भी ब्रिटिश जूए से साइप्रस को मुक्त करने के लिए यथाशक्ति कार्य करूँगा।

(२) संस्था के सब आदेशों का, बिना कोई आपत्ति किए और कठिनाई और भयानकता की कोई शिकायत किए बगैर पालन करूँगा।

(३) लक्ष्य सिद्धि होने तक या नेता से आदेश मिलने के पूर्व में संग्राम बन्द न करूँगा।

(४) संस्था के किसी गुप्त रहस्य, प्रमुख अधिकारियों के नाम, संस्था के अन्य सदस्यों के नाम, मैं गिरफ्तार किए जाने और सताए जाने पर भी न बताऊँगा।

(५) मुझे जो निर्देश दिए जाएँगे उनको मैं अपने साथियों को भी न बताऊँगा।

यदि मैं इस शपथ का अक्षरशः प्रतिपालन न करूँ और इसको भंग करूँ तो मैं देशद्रोही को दिए जाने वाले दण्ड का पात्र होऊँगा और घृणा सदा मेरे जीवन को घेरे रहे।

स्कूलों के छात्र 'एग्रोका' के सेनापतियों के निर्देशों, पर्चों, पत्रिकाओं को स्कूल के टाइपराइटरों पर खुशी-खुशी टाइप करके बाँटते हैं। फील्ड मार्शल सर जान हार्डिंग द्वीप के नए गवर्नर हैं और इनको विशेष अधिकार दिए गए हैं। स्वेज से फामागुस्ता में शस्त्रास्त्र लाकर रखे जा रहे हैं। गवर्नर स्वतः गुप्तचर विभाग की देख-रेख करता है और सुरक्षा-कार्रवाई का नियन्त्रण और निर्देशन करता है। यहाँ रखी ब्रिटिश सेना को दंगे और उत्पात भंग करने के पुलिस तरीकों की शिक्षा दी गई है। साइप्रस की पुलिस चौकियों को सैनिक संरक्षण दिया गया है। सर जान हार्डिंग ने साइप्रस पहुँचने के बाद और भी कुमुक ब्रिटेन से मँगाई है। साइप्रस में सेना को पुलिस कार्य जिस परिमाण में करना पड़ रहा है, वह ब्रिटिश इतिहास में अज्ञात है। साइप्रस के छोटे-छोटे बच्चे और लड़कियाँ पत्थर बड़े लड़कों तक पहुँचाते हैं। और ब्रिटिश सेना इनको पकड़ नहीं पाती।

बिना रोशनी के सेना रात में संकीर्ण पर्वती मार्ग में यात्रा कर सुबह के समय सन्दिग्ध गाँव पर डेरा डाल देती है। १२ वर्ष की आयु तक के सब पुरुषों को गाँवों से बाहर ले जाकर उनसे पूछा-ताछा जाता है और उनकी अनुपस्थिति में स्त्रियों और छोटे-छोटे बच्चों के सामने हरेक घर की तलाशी ली जाती है। व्यर्थ के भारी प्रयास के बाद कहीं छिपाया शस्त्रास्त्रों का संग्रह और छिपाई सैनिक वर्दियाँ मिल जाती हैं और ब्रिटिश सैनिक अपने परिश्रम को सार्थक मानते हैं। दिसम्बर तक कुछ आतंकवादी मारे गए हैं। ट्रूडोज पर्वत माला में गुफाओं का व्यापक जाल मिला है। इन गुफाओं का निर्माण बड़ी कुशलता के साथ किया गया है और इसमें से एक में एक समय में २० व्यक्ति रह सकते हैं। इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य साज-सामान यहाँ रहता है। गाँवों और पर्वतों के आतंकवादियों को वश में करना सेना के लिए उत्साहवर्द्धक है। पर शहरों के आतंकवादियों को पकड़ना उसके लिए एक पहेली और समस्या है। क्योंकि वे नागरिक जीवन-प्रवाह में मिल जाते हैं। सेना द्वारा ली गई तलाशी के कारण नागरिकों को भारी असुविधा का सामना करना पड़ता है। क्योंकि अलमारियों और दराजों से निकाला सामान वह यों ही बाहर छोड़ कर चली जाती है। कभी-कभी आटे की बोरी उलट कर चली जाती है। कर्फ्यू होने से अनेक बार लोग अपना वेतन लेने नहीं जा पाते। इन कारणों से ब्रिटिश सेना बहुत बदनाम हो गई है।

स्कूली छात्र नवम्बर १९५५ से युद्ध-पथ पर बराबर आगे बढ़ रहे हैं। ग्रीक स्कूल बन्द कर दिए गए। एक बड़ा निजी स्कूल 'सेम्युअल स्कूल' बन्द कर देने से शिक्षक और माता-पिता भी 'एनोसिस' के समर्थक हो गए। एक सरकारी आदेश ने 'एनोसिस' का और बल बढ़ा दिया। स्कूलों के अधिकारियों को आदेश दिया गया है कि वे स्कूलों की इमारतों पर से ग्रीक झण्डे को उतार दें या स्कूल बन्द कर दें। फल यह हुआ कि सर्वत्र ग्रीक झण्डे फहराए जाने लगे और स्कूल बन्द कर दिए गए। ब्रिटेन अपने उपनिवेश में विदेशी पताकाओं को फहराने की अनुमति कैसे दे सकता है? बच्चों ने पढ़ने से छुट्टी पाने का यह सरल मार्ग पा लिया है। वे सोत्साह ग्रीक पताका फहराते हैं फलतः स्कूल बन्द कर दिया जाता है और वे पढ़ने से छुट्टी पा जाते हैं।

९ नवम्बर को एक सार्जेण्ट 'कीको कैम्प' में समय-बम से मारा गया। २६ नवम्बर को गवर्नर ने मार्शल-ला की घोषणा की, क्योंकि सात दिन के अन्दर अनेक ब्रिटिश सैनिक मारे गए थे। इस नए आदेश के अनुसार अनधिकृत रूप से बन्दूक और विस्फोटक पदार्थ रखने पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता है। देश-निर्वासन, सेंसरशिप और सामूहिक जुर्माने की भी इसमें व्यवस्था की गई है। लेफकानिको के नेताओं को स्वतः गवर्नर ने सूचित किया कि उन पर २,००० पौंड जुर्माना किया गया है। क्योंकि ३ दिसम्बर को वहाँ का डाकखाना जला दिया गया था। वसूल हुए जुर्माने से डाकखाना फिर बनाया गया। १३ दिसम्बर को सेना ने १३० तथाकथित कम्यूनिस्टों को गिरफ्तार किया और उनको लारनाका के समीप नज़रबन्दी के कैम्प में नजरबन्द रखा गया। कम्यूनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित संस्थाएँ गैरकानूनी घोषित कर दी गईं और उनका अखबार 'नेओज डेमाक्रैट्स' बन्द कर दिया गया। तीन बड़े शहरों की म्युनिसिपैल्टियों पर कम्युनिस्टों का नियन्त्रण और अधिकार है। उनकी मज़दूर संस्था 'पानसिपरियत फेडरेशन आफ लेबर' दक्षिण पक्षीय मजदूर संघ से पाँच गुणा शक्तिशाली है। कम्यूनिस्ट संख्या में कितने हैं, इसमें भारी मतभेद है। आर्कबिशप मकारियस उनकी संख्या २०० बताता है और कहता है कि 'एनोसिस' में कम्यूनिस्ट कोई बाधक तत्त्व नहीं। पर कीरोनिया का बिशप मानता है कि ४० प्रतिशत सिर्पारियाट ग्रीक कम्यूनिस्ट हैं। तुर्की की मान्यता है कि साइप्रस के ६० प्रतिशत ग्रीक कम्यूनिस्ट हैं। पर 'एकेल' के सेक्रेटरी जनरल एजेकैल पापैओनू का कहना है कि कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या ६,००० है। 'एग्रोका' और 'एकेल' विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक-दूसरे के आलोचक भी हैं। किन्तु इस बात में वे एकमत हैं

(शेष पृष्ठ ६२ पर)

धुन्धपाल का राज

शिवसहाय चतुर्वेदी

एक थे राजा। नाम था धुन्धपाल। जैसा नाम वैसा गुण। वे राज-काज बिलकुल नहीं देखते थे। सब काम नौकरों के जिम्मे था। राज में अन्धेरगर्दी मची रहती थी। कोई देखने-सुनने वाला नहीं था। राजा के तीन बीसी रानियाँ थीं और हर एक के एक एक गड़ा (पाँच-पाँच) लड़का-बच्चा। महल का खर्च बहुत जबरदस्त था। हर एक रानी के मुन्तज़िम और नौकर-चाकर अलग-अलग थे। सब अपने-अपने मालिकों का खर्च चलाने के लिए मनमानी लूट-खसोट किया करते थे। प्रजा तबाह हो रही थी। कोई किसी की सुनने वाला नहीं था। जिधर देखो उधर अन्धेर ही अन्धेर दिखाई देता था।

उसी शहर में एक लाला जी रहते थे। बेकार, ठलुआ। राज की ढील पोल देखकर सोचा कोई तिकड़म भिड़ानी चाहिए। वे कचहरी के सामने बरिया के पेड़ के नीचे दरी बिछा कर बैठ गए। वे अपने को बरिया वाला मुन्शी कहने लगे। अपने इस नाम की एक मुहर भी बनवा ली। एक सन्दूक पर कुछ कागज पत्र रख लिए। जब कोई आदमी कचहरी में दरख्वास्त पेश करने जाता तो उसे बुलाते और उसकी दरख्वास्त पर अपनी मुहर लगा देते। जिस कागज पर बरिया वाले मुन्शी की मुहर न होती वह कागज कचहरी के हाकिम के सामने पेश न होता। हुक्म होता कि पहले बरिया वाले मुन्शी की मुहर लगवा आओ। यह किसी ने नहीं पूछा कि बरिया वाला मुन्शी कौन है और उसे किसने मुकर्रर किया है? लाला जी की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं। वे नित्य सैकड़ों रुपया पैदा करने लगे।

एक बार क्या हुआ कि एक बड़े हाकिम को एकाएक किसी कारणवश छुट्टी पर जाना था। उसने वज़ीर के पास छुट्टी की दरख्वास्त पेश की। परन्तु उस पर बरिया वाले मुन्शी की मुहर नहीं थी। वज़ीर ने दरख्वास्त वापस कर दी। कह दिया—'इस पर बरिया वाले मुन्शी की मुहर नहीं है। मुहर लगवा लाओ।' सन्ध्या हो गई थी। मुन्शी अमला सब अपने-अपने घर चले गए थे। हाकिम को रात ही को छुट्टी पर घर जाना था। बेचारा खोजता-खोजता बरिया वाले मुन्शी के घर पहुँचा। कहा—'इस पर मुहर लगा दो।' मुन्शी बोला—'रात को मुहर नहीं लगाई जाती, कल कचहरी में आओ।' हाकिम को तो ज़रूरी काम से रात ही को जाना था। उसने सौ रुपया रिश्वत देकर मुहर लगवा ली।

हाकिम के मन में बरिया वाले मुन्शी की मुहर की बात खटक गई। जब वह छुट्टी से वापस आया तो उसने पूछताछ करके राजा से प्रार्थना की—"यह मुन्शी सरकार के हुक्म के बिना कचहरी के सब कागज़ों पर अपनी मुहर लगाता है। यह धाँधली मिटाई जाए और उसे इसके लिए उचित सजा दी जाए।" राजा ने फैसला दिया—"बरिया वाले मुन्शी की मुहर सभी सरकारी कागज-पत्रों पर देखी जाती है। इस कारण वह हटायी नहीं जा सकती। उसके बैठने के लिए कचहरी में एक कमरा बनवा दिया जाए।"

एक गड़रिया था। उसके यहाँ सैकड़ों भेड़-बकरियाँ थीं। जब-जब वह उन्हें बेचने बाज़ार में जाता तो हाकिम अमला एक एक भेड़-बकरी अपनी अपनी लागपात के लिए ले जाते। कीमत के नाम फूटी कौड़ी उसके हाथ न लगती। बाज़ार की चुंगी उसे गाँठ से देनी पड़ती। इस प्रकार उसकी सब भेड़-बकरियाँ सरकारी अमला खा गया। बेचारा भूखों मरने लगा। एक दिन जब उसने खाने-पीने का कोई वसीला न देखा तो वह घर पर लगे ८ कुम्हड़ों को तोड़ कम्बल में बाँध कर बाज़ार में बेचने ले गया। बाज़ार में कुम्हड़ा रखते ही पटवारी, कुटवार, जमादार, चुंगी का मुन्शी, नाकेदार आदि ने उसे घेर लिया। जाते ही सब ने एक एक कुम्हड़ा उठा लिया। सब अपना-अपना दस्तूर लेकर चले गए। केवल कम्बल बिछा रह गया। पास ही एक भाँड़ खड़ा था। उसने वह कम्बल उठा कर कन्धे पर डाला और चल दिया। गड़रिया कहने लगा—"अरे ओ भाई, सब कुम्हड़ा तो सरकारी अमला अपनी-अपनी दस्तूरी में ले गए—हाथ पर एक पैसा भी न रखा। बचा कम्बल, सो तुम लिए जा रहे हो। बताओ भला तुम कौन हो?" भाँड़ तो ठहरा, उसने मसखरी में कहा—"हम डेबढ़ी के साले हैं।" ऐसा कह वह कम्बल लेकर चम्पत हो गया। बेचारा गड़रिया रोता पीटता खाली हाथ घर आया। कहने लगा—आठ कुम्हेड़ों नौ बिके[१] धुन्धपाल को राज।

गड़रिया को उस रात नींद नहीं आई। वह सोचने लगा इस राज में जब इतना भर्रा है कि कोई किसी की सुनने वाला नहीं तो मैं क्यों न इससे लाभ उठाऊँ? आखिर उसे एक उपाय सूझ गया। उसने बढ़ई के पास जाकर लकड़ी का एक डेउवा (लम्बी मूठ वाला खोंचा) बनवाया और उसे कन्धे पर रख हाथ में झोला ले बाज़ार पहुँचा। हर दूकान पर जाकर वह अपना डेउवा खपा देता और उस भर चीज़ निकाल कर अपने झोले में डाल लेता। दूकानदार रोकता तो कह देता—"सालेरा का डेऊ बात न पूछे कोऊ"। अब क्या था, सालेरा गड़रिया मालामाल हो गया। गेहूँ, चावल, घी, गुड़, शक्कर सभी चीज़ों का उसके घर ढेर लगा रहता। मनभाया खाता और मौज उड़ाता।

गड़रिये के पड़ोस में एक धोबन रहती थी। नाम था पोपाबाई। देखने में खूबसूरत थी। शरीर की बंदस भी अच्छी थी। घर में अकेली थी। बाल-बच्चा कोई नहीं था। गड़रिये से उसका मन मिला था।

१. बिके—बिक्री का महसूल, दस्तूरी

हमेशा उसके पास बैठा उठा करती थी। डेउवा की बदौलत उसका घर धन-धान्य से भरा देखकर एक दिन वह कहने लगी—"गड़रिया लाला, डेउवा ने तो तुमारे दिन फेर दिये, अब मोरी सोई कछू सुध लेव। कौनऊ ऐसो उपाव बताव जी सें मैं मोई बैठें बैठें खाऊँ और मलारें गाऊँ।"

गड़रिया बोला—"भौजी कौन बड़ी बात है? धुंधपाल का राज है, कोई सुनने-बुनने वाला नहीं, कहो तो तुम्हें रानी बना दूँ।"

धोबन हँसकर बोली—"नेकी उर पूछ पूछ। मोरे घर में जो आवटाव हती सब बेंच खाई। खाँय खाँय राजा को भंडार बड़ात, मोरी तो बिसात ही कितनी। अब मोरी कछू मदत करो—बड़ो जस मान हों।"

दूसरे दिन सवेरे गड़रिये ने डेउवा उठा कर कन्धे पर रखा और रनवास की ओर चला। राजा की तीन बीसी रानियाँ थीं। सब की न्यारी-न्यारी बखरी थीं। एक रानी अभी कुछ दिन हुए मर गई थी। उसकी बखरी खाली थी। यह देख वह तुरन्त घर आया, पुरा-पड़ोस वालों को इकट्ठा किया। फिर पालकी वाले कहारों के घर जाकर कहा—"पालकी लेकर शीघ्र चलो, पोपाबाई को लेने चलना है।" पालकी वाले पालकी लेकर आ गए। अब रह गई बाजों की कमी। उसने बाजे वालों को जाकर फटकारा—"तुम लोग सब के सब कहाँ चले जाते हो? घण्टों से तलाश कर रहा हूँ। राजा से रिपोर्ट कर दूँगा तो नौकरी से हाथ धो बैठोगे, चलो, जल्दी करो। महारानी पोपाबाई को लेने चलना है।" इस तरह गड़रिया धूमधाम के साथ पोपाबाई को लेने उसके घर पहुँचा। पोपाबाई को पालकी पर चढ़ाया। गाजे बाजे के साथ जलूस चला। सब से आगे गड़रिया काँधे पर डेउवा रखे—"हटो हटो, रास्ता छोड़ो, पोपाबाई की सवारी आ रही है" कहता हुआ चला जा रहा था। रनवास में पहुँच कर उस खाली बखरी में पोपाबाई को उतार दिया। नौकर-चाकर सब जहाँ के तहाँ मुकर्रर कर दिए। राजा के भण्डारी से कहकर सब सामान बुला दिया। किसी ने पूछा तक नहीं कि कौन और कहाँ की पोपाबाई। सब काम-काज दूसरे रनवासों की तरह बदस्तूर चलने लगा। गड़रिया पोपाबाई की बखरी का मुन्तज़िम बन गया।

कारिन्दा कामदार समझे यह भी राजा की एक रानी होगी। पोपाबाई की सब फरमाइशें पूरी होने लगीं। यहाँ तक कि उसका हुक्म भी चलने लगा। कुछ अमलों ने डरते-डरते राजा साहब से पोपाबाई की बखरी के भारी खरचे की बात कहीं। पर राजा ने सुनी अनसुनी कर दी। पोपाबाई की धाक दिन पर दिन बढ़ने लगी। यहाँ तक कि बड़े-बड़े ओहदेदार और मन्त्री भी उसकी आज्ञा के सामने सिर झुकाने लगे।

इस प्रकार पोपाबाई को महलों में रहते बहुत वर्ष हो गए। एक दिन पोपाबाई को खबर मिली कि उसका पुराना बूढ़ा गधा सोढ़र मर गया है। पोपाबाई ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी—"हाय, मेरा सोढ़र मर गया।" धीरे-धीरे यह खबर चारों ओर फैल गई—राजा साहब के कुटुम्ब में किसी की गमी हो गई है। राज्य भर में शोक छा गया। बड़े-बड़े हाकिम, मन्त्री, सेनापति, खजांची आदि पोपाबाई की बखरी में मातम मनाने आने लगे। राजवंश का कोई पुरुष मरा है यह जान कर पुरोहित पण्डितों ने अपनी-अपनी मूँछें मुड़ाना प्रारम्भ कर दिया। हाकिमों ने भी अपनी-अपनी मूँछें मुँड़ा डालीं। राज-परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करने के लिए नगर के बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों तथा बड़े आदमियों को भी मूँछें मुड़ानी पड़ीं। मातम राज्य-व्यापी हो गया।

राजा साहब को भी खबर मिली कि पोपाबाई के यहाँ गमी हो गई है और वे बहुत दुखी हैं। वे उनकी बखरी में धीरज बँधाने पहुँचे। इधर कई वर्षों से सुख में रहने के कारण पोपाबाई की सुन्दरता निखर आई थी। वह देखने में वास्तव में रानी-सी ही लगती थी। राजा ने पोपाबाई के रूप-रंग को देखा तो दंग रह गया। उसके कन्धे पर हाथ रख कर उसे सान्त्वना देते हुए राजा ने पूछा—'ये सोढ़र तुम्हारे कौन थे?' सोढ़र का नाम सुनते ही पोपाबाई हिलक-हिलक कर रोने लगी। फिर कुछ धीरज रख कर बोली—"राजा साहब, तुम्हें क्या बतलाऊँ। सोढ़र की याद आते ही छाती फटने लगती है। मेरे बाप ने मुझे १०-१२ गधे दिए थे। उनमें अकेला सोढ़र ही बचा था सो अब वह भी मर गया। सोढ़र बहुत पुराना और नामी गधा था। हाय मेरे सोढ़र।"

राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तो क्या सोढ़र तुम्हारा गधा था?"

पोपाबाई ने आँसू पोंछते हुए कहा—"हाँ राजा साहब, गधा क्या एक चीज़ था।"

राजा साहब चुपचाप उठ कर चले गए। जब तक पोपाबाई जीती रही उसकी हकूमत वैसी ही चलती रही।*

---

* मालूम होता है किसी धुन्धपाल नामक राजा के राज्य की बदइन्तजामी, अन्धेरगर्दी तथा पोलपट्टी के प्रतीक स्वरूप 'धुन्धपाल' शब्द प्रचलित हुआ होगा जो अब राज-व्यवस्था की अन्धेरगर्दी तथा पोलपट्टी का पर्यायवाची बन गया है। 'राजकाज और पोपाबाई' कहावत भी राज-व्यवस्था की पोलपट्टी तथा बदइन्तजामी की चरम सीमा दरसाने के लिए कही जाती है, जो उसी समय प्रचलित हुई होगी। राजा धुन्धपाल और पोपाबाई का अटूट सम्बन्ध है। इन दोनों का नाम राजकीय अन्धाधुन्धी प्रकट करने के लिए ही लिया जाता है। यह धुन्धपाल राजा कौन था? कब और कहाँ हुआ है? क्या वह ऐतिहासिक तथ्य है या केवल कपोल कल्पना? इसकी खोज करना विद्वानों का काम है।—लेखक।

अपनी कविता के प्रति

राजकुमारी श्रीवास्तव

ये हैं उस सरसी के शतदल।
तप तप आतप ने सुखा दिया,
जिसके अंतर का सलिल तरल।

जाने कब कैसे अनायास
उर की दरार से उठे झाँक
सूने में सौरभ कोष खोल
प्राणों का वैभव रहे आँक
इस धूल भरी संतप्त धरा पर
लगे विहँसने स्वर्ण कमल।

ये राग उषा से ले आये
ले आये संध्या से विराग।
झर झर धरती के अंचल को
ही भर देता जिनका पराग
देखी न लालसा की पंकिल
लहरों की क्रीड़ामय हलचल।

अंतरतम के किस गह्वर से
झरता रस का निर्झर अशेष।
जिससे जीवन पाता मृणाल
देता पंकज को छवि विशेष।
जल में उद्भव थल में विकास
मारुत को पर न मिला परिमल।

इनमें ज्योत्स्ना की शीतलता
इनमें दिनकर का दिव्य ओज
करुणा के अश्रु भरे दृग से
ये ओस बिन्दु संकुल सरोज
पूजा के घृत के दीपों सी
है पीत पुनीत प्रभा उज्ज्वल।

निर्जन में बिखरी सुषमा पर
अंचल विरक्ति ने फैलाया
सौरभ संदेश दिशाओं को
कब पवन दूत देने पाया।
गुन गुन कर गुन गाने आया
कब मधुग्राही मधुकर का दल।

जब मरु की दाहक ज्वाला से,
होने लगता है दग्ध हृदय।
अपनी मंजुल मुस्कानों से,
कर मुग्ध पुनः करते रसमय।
बनते हैं मेरा ही संबल
मेरे उर के ये भाव सरल।

काश्मीरी कविता

धान के खेत का गीत

प्रेमनाथ प्रेमी

नर्गिसी आँखों वाली मेरी सखि तू पनीरी लगाती जा
बनफशा के फूलों के समान तेरे कुन्तल हैं सखि तू पनीरी लगाती जा
तेरी जैसी अपूर्व सुन्दरी के हाथों में यह गुच्छे कितने भले लगते हैं
धान से भरी खेतियों को सजा ले सखि तू पनीरी लगाती जा
धरती माँ के कानों में यह हरी-हरी बालियाँ पहना दे
इसकी माँग निकाल दे, सखि पनीरी लगाती जा

धान के नन्हें-नन्हें पौदे हाथ उठा-उठा कर तुझे आसीसें देते हैं
तू भी हमारी तरह फले-फूले सखि पनीरी लगाती जा
तुझे विषैले साँपों के समान, निष्ठुर और अन्यायी मानव ने
अपने पाँव तले रौंद रखा है, सखि पनीरी लगाती जा
उठ ऐ धान की रानी, तुझे किसने बन्दी बनाया है
यह जादुई श्रृंखलाएँ फरेब हैं, इन्हें तोड़ डाल, सखि पनीरी लगाती जा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भारत

महेश चन्द्र

यूरोप, एशिया तथा भारत

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का त्रिकोणीय लक्षण है। एशियाई देश इंग्लैंड से माल अधिक मँगाते थे और यूरोपीय देशों तथा अमेरिका को माल अधिक भेजते थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यह स्थिति बदल गई है। (देखिए तालिका सं १) अब एशियाई देश यूरोप तथा अमेरिका दोनों क्षेत्रों से अधिक माल मँगा रहे हैं। यूरोपीय देशों को डालर की कमी महसूस होती है और वे चाहते हैं कि एशियाई देश अमेरिका से माल न मगा कर उनसे ही माल मँगाएँ, ऐसा होने से एशियाई देशों को अपने निर्यात के कारण अमेरिका से जो डालर प्राप्त होते हैं उसका एशियाई देशों के लिए विशेष महत्त्व नहीं रह जाएगा और यूरोपीय देश उस डालर को एशियाई देशों से प्राप्त कर लेंगे। एशियाई देशों का इस प्रबन्ध या व्यवस्था के प्रति कोई मूल विरोध नहीं है। वे तो अपनी औद्योगिक उन्नति चाहते हैं। यदि यूरोपीय देश इस दिशा में एशियाई देशों की सहायता कर सकें तो एशियाई देशों का विशेष हित सिद्ध होगा—

तालिका १

इकाफे के विदेशी व्यापार का शेष (करोड़ डालर में)

सन्	यूरोप	अमेरिका	जापान	इकाफे देश	अन्य
१९३८	१०	१३	—५'५	—५	१०
१९५२	—४४	—१८	—२६	—७	—१०

यूरोपीय देश एशियाई देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने की दृष्टि से पाँच बातों की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं :

(१) एशियाई देशों को व्यापार मण्डल भेजे जाते हैं।

(२) यूरोपीय तथा एशियाई देशों के वैयक्तिक व्यापारी कार्य स्थापित करते हैं।

(३) आयात-निर्यात के भिन्न तरीकों, ढंगों तथा प्रणालियों के कारण आयातकों और निर्यातकों को जो असुविधाएँ होती हैं उन्हें दूर किया जाए।

(४) वस्तुओं का श्रेणी-विभाजन और किस्मांकन किया जाता है जिससे क्रेता को अच्छी किस्म का माल प्राप्त होने का विश्वास हो।

(५) मशीन, यन्त्र आदि का रूप तथा किस्म इस प्रकार निर्धारित की जाती हैं जिससे क्रेता के उत्पादन कार्य में वे अधिक उपयोगी सिद्ध हों।

यूरोपीय देशों के ये प्रयत्न सराहनीय हैं। परन्तु एशियाई देशों के दृष्टिकोण से यह भी आवश्यक है कि यूरोपीय देश तीन नीतियों को अपनाएँ :

(१) एशियाई देशों से अमेरिका को अधिक निर्यात हो इसलिए तुलनात्मक मूल्यों पर यूरोपीय उत्पादन-यन्त्र एशियाई देशों को बेचे जाएँ।

(२) यूरोपीय देश अपने कच्चे माल डालर क्षेत्र से न मँगा कर यथासंभव एशियाई देशों से मँगाएँ। ऐसे कुछ पदार्थों के नाम हैं, रुई, तम्बाकू, तेल-तिलहन तथा चरबी।

(३) यूरोपीय देश एशियाई देशों में पूँजी का विनियोग करें।

सन् १९३५-३८ काल में एशियाई देशों से जिन सामानों का इंग्लैंड यूरोप तथा अमेरिका को निर्यात होता था उसमें परिवर्तन हो गया है जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है। ये निर्यात अंक लाख टन में दिए गए हैं।

तालिका २

	इंग्लैंड		यूरोप		अमेरिका	
	१९३८	-२१	३८-	५१	-३८	-५१
खाद्य तथा तेल पदार्थ	८'४	२	३८'४	१७	१४'४	११'५
पेय तथा तम्बाकू	२'२	२'०	३'३	१'४	०'६	०'४
रबर तथा रेशे	५	५'४	१३'४	१३'०	११'३	१०'५
अन्य (मुख्यतः टिन)	०'०३	०'१	०'४	०'५	०'६	०'२

अमेरिका को रबर तथा रेशे वाले पदार्थ (जूट, रुई, रेशम) कम जाते हैं क्योंकि वहाँ इन सामानों के प्रतियोगी-पदार्थ तैयार हो रहे हैं। इंग्लैंड तथा यूरोप को खाद्य तथा तेल पदार्थ कम भेजे जाते हैं। यूरोप को पेय पदार्थ भी कम भेजे जाते हैं। यह आवश्यक है कि इंग्लैंड तथा यूरोप इन पदार्थों का आयात बढ़ाएँ। निर्यात क्षेत्र में यूरोपीय देशों को सदा के लिए यह समझ लेना चाहिए कि एशियाई देशों में सूती, ऊनी तैयार माल के बाजार नहीं हैं। एशियाई देशों (विशेषतः भारत तथा जापान) में ये माल पर्याप्त मात्रा में तैयार होते हैं। द्वितीय महायुद्ध के कारण एशियाई निर्यात कम हो गए थे अतः यूरोपीय देश डालर क्षेत्र से कच्चा माल मँगाने लगे थे। अब उन्हें पुनः तम्बाकू, चमड़ा, मैंग्नीज, पेट्रोल तथा निकल पदार्थ एशियाई देशों से मँगाना चाहिए। क्योंकि एशियाई देशों में श्रम का बाहुल्य है अतः यूरोपीय देशों को ऐसी गवेषणाएँ करानी चाहिएँ जिससे ऐसी मशीनें तैयार हों जिन पर पूँजी कम लगे।

भारत से विदेशों को जो निर्यात होता है उस सम्बन्ध में भी ये विचार लागू हैं क्योंकि इन देशों से होने वाले भारतीय व्यापार के शेष की स्थिति निम्नांकित है :

तालिका ३

भारतीय विदेशी व्यापार का शेष (करोड़ डालर में)

	यूरोप	अमेरिका	जापान	इकाफे देश	अन्य
१६३८	६·२	०·८	-०·४	३·८	२
१६५२	-८·८	-३४·५	१·४	६·३	२

जहाँ तक भारतीय आयातों का प्रश्न है हम अरसे से संरक्षण नीति अपनाते चले आए हैं। यह ज्ञातव्य है कि इस सम्बन्ध में क्या स्थिति है।

भारतीय संरक्षण

भारतीय आयात पर (१) आय हेतु तथा (२) संरक्षण हेतु आयात कर लगाए जाते हैं। एक तीसरा आधार भारत-इंग्लैण्ड व्यापार समझौता (१६३६) है जिसके अन्तर्गत कुछ वस्तुओं पर रियायती दर से आयात कर लगता है। आय हेतु लगे आयात कर पर प्रति वर्ष पुनर्विचार किया जाता है परन्तु संरक्षण हेतु लगाया आयात कर एक निश्चित अवधि के लिए होता है। वह अधिकतर औसत भारतीय उत्पादन व्यय के १·१५ गुने तथा जिस भाव विदेशी वस्तु हमारे तट पर आकर पड़ती है उसके अन्तर के बराबर होता है। यदि भारतीय उत्पादक की कोई वस्तु १०० रुपये की पड़ती है और विदेश से मँगाने पर वैसी वस्तु ६० रुपये की थी तो संरक्षण कर १००+१५–६० अर्थात् २५ रुपये होगा। १५ रुपये का अन्तर इसलिए दिया जाता है क्योंकि अन्यथा उपभोक्ता रूप रंग के कारण विदेशी माल पसन्द करते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद संरक्षण-निर्णय के लिए उद्योग द्वारा आवेदन पत्र आने पर यह कार्य संरक्षण-बोर्ड करता था जो अब संरक्षण-आयोग के रूप में है। जिन उद्योग-धन्धों को विदेशी प्रतियोगी से लोहा लेने में अड़चन पड़ती है वह संरक्षण की माँग करता है। सन् १६४५-५४ में ऐसी ८० माँगें आईं इनमें से २७ बर्खास्त कर दी गईं और ३६ में आय हेतु आयात कर को ही उचित समझा गया। इस प्रकार लगभग तीन-चौथाई माँगें अस्वीकृत हुईं।

एक ओर सरकार इस प्रकार संरक्षण की माँग अस्वीकृत करती है और दूसरी ओर वह आयात नियन्त्रण हटाने के पक्ष में है। आयात नियन्त्रण के अन्तर्गत आयात मात्रा निश्चित की जाती है। आयात नियन्त्रण और संरक्षण कर दोनों में से प्रत्येक साधन भारतीय उद्योगों को पनपने में सहायता देता है। इनमें से कौन उत्तम है? 'गैट' सन्धि के अन्तर्गत हमने वचन दिया है कि संरक्षण हेतु हम आयात का नियन्त्रण नहीं करेंगे। यह भी सही है कि अधिक मुक्त विश्व व्यापार के हित में किसी न किसी दिन मुक्त व्यापार तथा मुद्रा का बहुमुखी विनिमय आरम्भ करना है। ऐसी स्थिति में विदेशियों की लाग-डाट में भारतीय उद्योगों का क्या होगा। संरक्षण कर विदेशी वस्तु का मूल्य बढ़ा देते हैं, परन्तु विश्व में विज्ञान की उन्नति इतनी तीव्रता से हो रही है कि विदेशों में वस्तु उत्पादन लागत तेजी से कम होती है। इसके अतिरिक्त वस्तु की बिक्री बेचने के ढंग पर भी निर्भर है और इसमें विदेशी उत्पादक अधिक पटु हैं। यदि आयात नियन्त्रण हटाना है तो संरक्षण कर बढ़ाना तथा व्यापक बनाना पड़ेगा। संरक्षण कर आयोग तथा भारत सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी विचारणीय है कि पिछले पच्चीस वर्षों में हमारे उद्योगपतियों की यह कमजोरी छिपी नहीं रही है कि संरक्षण प्राप्त होने पर वे क्षमता बढ़ाने और लागत घटाने की चिन्ता नहीं करते अथवा लाभ के लोभ में उपभोक्ता के लिए वस्तु का मूल्य नहीं गिराते। चीनी उद्योग इसका एक उदाहरण है। जिस देश के उद्योगपतियों की यह भावना हो वहाँ संरक्षण कर बढ़ाने से ही क्या होगा? जनता की नजरों में जो उद्योगपति यह कहते हैं कि आयात नियन्त्रण हटाने से लगे संरक्षण कर का प्रभाव जाता रहता है उन्हें पागल कुत्ते ने भले ही न काटा हो परन्तु उन्हें पहले लागत घटाने तथा किस्म उन्नत करने की चेष्टा करनी चाहिए।

यहाँ संरक्षण सम्बन्धी एक अन्य पहलू की ओर संकेत करना गलत न होगा। संरक्षण का ध्येय यह होता है कि भारतीय पूँजी, प्रबन्धक, साहस श्रम तथा कच्चे माल का अधिक उपयोग हो। ऐसी स्थिति में यदि विदेशी पूँजीपति यहाँ आकर बड़ी मात्रा की फैक्टरी खोल कर यहाँ के पुराने उद्योग-धन्धों और मिलों को प्रतियोगिता में हटावे तो क्या उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं करना चाहिए। साबुन के क्षेत्र में 'लीवर ब्रदर्स' तथा दियासलाई के क्षेत्र में 'विम्को' ऐसे विदेशी प्रतियोगी हैं। दियासलाई में अधिक पूँजी लगाकर अपेक्षाकृत सस्ता उत्पादन किया जाता है। साबुन में बड़ी मात्रा विज्ञापन तथा उत्तम प्रबन्ध के कारण ऐसा होता है। परन्तु हमारे उद्योगपतियों को भी मिल कर ऐसे प्रतियोगियों से लोहा लेना चाहिए। आपस में फूट भी रखें और दूसरों के बड़ी मात्रा के उत्पादन को अवांछनीय भी कहें। ऐसे तो काम नहीं चलेगा। लड़ाई से पहले चार-पाँच पैसे की एक दर्जन दियासलाई की डिबियाँ बिकती थीं तथा छः पैसे का उम्दा बाथ सोप। भारतीय व्यापारी ऐसे उत्पादन को पुनः व्यवहारिक रूप क्यों नहीं देते?

भारतीय आयात नीति

अस्तु। जैसा कि पंचवर्षीय योजना में भी स्पष्ट किया गया है, इस समय भारत सरकार की आयात नीति की आधार शिलाएँ निम्नांकित हैं:

(अ) विदेशी मुद्रा की कमी न पड़े, (ब) देश के अन्दर वस्तुओं के मूल्य घटें, (स) देश के कृषि तथा औद्योगिक साधन का विकास हो, (द) उपभोक्ताओं को विविध वस्तुएँ अधिकाधिक मिलें।

भारत सरकार ने एक आयात नियन्त्रण समिति नियुक्त की थी। उसके सुझाव सरकार ने मान लिए थे। उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त समिति ने कहा था:

(१) विदेशी विनिमय (मुद्रा) सभी आयात वस्तुओं पर सम तथा उपयुक्त रूप में बाँटा जाए।

(२) कुछ चुनी हुई वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहें।

(३) कुल व्यापारिक आयात लगभग ४ अरब रुपये के आस-पास रखा जाए क्योंकि यही शान्ति कालीन आयात था।

(४) कस्टम अधिकारियों तथा आयात-नियन्त्रण अधिकारियों के बीच अधिक सहयोग हो।

भारत सरकार इस नीति को कार्यान्वित कर रही है। कस्टम अधिकारियों को नियम का स्पष्टीकरण करने के अधिक अधिकार दिए गए हैं। कस्टम तथा नियन्त्रण अधिकारियों के बीच सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से बन्दरगाह-वाहकार-समिति स्थापित की गई है।

इसमें भारत सरकार ने आयात नीति उदार (लिबरल) कर दी है। विशेषतः कच्चे माल का आयात बढ़ाने की चेष्टा है। सरकार ने कुछ तैयार माल के थोड़े-थोड़े आयात इसलिए स्वीकृत किए हैं जिससे वैसे माल के देशी उत्पादकों को प्रतिस्पर्धा की आशंका से समता-वृद्धि करने की प्रेरणा मिले। सरकार ने उपभोक्ता वस्तुओं के आयात नियन्त्रण घटाए हैं, परन्तु साथ ही साथ उन पर आयात-कर बढ़ा दिए हैं। ऐसा होता है कि कुछ लोग अपनी सामर्थ्य से अधिक आयात मात्रा के लाइसेंस प्राप्त करने की सफल चेष्टा करते थे। इसको रोकने की कोशिश की जा रही है तथा लाइसेंस की अवधि भी छः मास कर दी गई है।

साइप्रस की समस्या—(पृष्ठ २६ का शेषांश)

कि साइप्रस से ब्रिटिश शासन का अन्त होना चाहिए। 'एकेल' कम्यूनिस्ट पार्टी की संस्था है और यह भूमिगत रहकर कार्य करते हैं।

एक ग्रीक साइप्रस वासी पिता को अपने बच्चों को स्कूल से लाते हुए शूट कर दिया गया। लारनाका में एक ब्रिटिश-पक्षपाती पत्रकार मार डाला गया। इन घटनाओं के प्रतिदिन बढ़ने पर ब्रिटिश सरकार और द्वीप के गवर्नर सर जान हार्डिंग ने अपना प्रथम लक्ष्य साइप्रस में कानून और व्यवस्था स्थापित करना बताया है। इसके साथ वे ब्रिटिश सेना के लिए इस द्वीप को सैनिक अड्डे के रूप में बदल देना चाहते हैं। इसके साथ-साथ वे राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के वास्ते युक्तियुक्त और उचित मार्ग खोजने के लिए उद्यत हैं।

किन्तु आज की स्थिति में मैत्रीपूर्ण समझौते की बातचीत चलाना सम्भव नहीं। आर्कबिशप मकारियस की अनुपस्थिति में साइप्रस के ग्रीकों की ओर से समझौते की बात चलाने को कोई भी तैयार नहीं। आर्कबिशप मकारियस के पुनः द्वीप में आने से ही बातचीत आगे चलना सम्भव है। एक समय ग्रीक सरकार और 'एथनारकी कौंसिल' दोनों अंग्रेज़ों को साइप्रस में सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति देने को तैयार थे। पर वे 'एनोसिस' (ग्रीस के साथ साइप्रस का सम्मिलित) पहले चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि रण-नीति में आजकल जिस तरह परिवर्तन हो रहा है, उसको देखते हुए 'भूमण्डली युद्ध' में सैनिक अड्डों को रण पण्डित कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। वे इन सैनिक अड्डों को अनद्यतन बताते हैं। पर ब्रिटेन आर्कबिशप को द्वीप भेजने और साइप्रस की स्वतन्त्रता की घोषणा करने को निकट भविष्य में तैयार होगा—इसका कोई लक्षण आज दिखाई नहीं देता। इसके अभाव में विकल्प है हिंसा, दमन और मैत्री का अभाव। इससे दुनिया भर में अंग्रेज़ों के मित्रों की संख्या में कमी होगी। पर साइप्रस को छोड़ने का अर्थ है कि ब्रिटेन राष्ट्रवादी शक्तियों के आगे सिर झुका कर जिब्राल्टर, अदन, सिंगापुर और हांगकांग को भी खाली कर दे। इसके लिए ब्रिटेन क्या प्रसन्नतापूर्वक और सोत्साह कभी तैयार होगा ?

एक कहानी

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ यदि वा स्वांके गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ ! भवतः पृष्ठे पलालोच्चयः।
दम्पत्यो रिति जल्पितं निशि यदा चौरः प्रविष्टस्तदा
लब्धं कर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन्निर्गतः ॥

सर्दियों में रात को एक घर में चोर घुसा। उसे वहाँ अद्भुत दृश्य दिखाई दिया। उस घर का आदमी अपनी स्त्री से कह रहा था कि—"यह अपने पास का चिथड़ा इधर दे, मैं इस पर बच्चे को लिटा दूं। या फिर इस बच्चे को तू ही अपनी गोदी में सम्हाल ले।" इस पर स्त्री बोली—"हे स्वामी, यहाँ मेरे पास की धरती तो एकदम खुली पड़ी है, तुम्हारी पीठ के नीचे फिर भी पुआल अच्छा बिछा हुआ है, इसे तुम अपने पास पुआल पर सुला दो।" चोर ने इस निर्धन दम्पती की जब यह बातचीत सुनी, तो वहाँ से कुछ चुरा लेने की बात ही वह भूल गया। वह दूसरी जगह से जो कपड़े उठा लाया था, वही इन दोनों के ऊपर फेंक कर, रोता हुआ, चुपचाप लौट गया।



पुस्तक समालोचना

मानो माजरा (अंग्रेज़ी उपन्यास) : लेखक—खुशवन्त सिंह; प्रकाशक—ग्रोव प्रेस, ७९५ ब्रौडवे, न्यूयार्क; पृष्ठ संख्या १८२; मूल्य १ डालर २५ सेंट।

सं० रा० अमेरिका के ग्रोव प्रेस ने गत वर्ष उपन्यास सम्बन्धी एक प्रतियोगिता संगठित की थी, जिसमें उन्हें २५० से अधिक नए मौलिक उपन्यास प्राप्त हुए थे। 'मानो माजरा' को उस प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। 'मानो माजरा' का कथानक भारत विभाजन के सम्बन्ध में है। जालन्धर के निकट मानो माजरा नामक एक बड़ा गाँव है, जिसमें इस उपन्यास के अनुसार सिक्खों की आबादी सबसे अधिक थी और उसके बाद मुसलमानों की। गाँव का बनिया ही केवल हिन्दू था। गाँव में रहने वाले सभी सम्प्रदायों के लोगों में परस्पर आदर्श भाई-चारा था और सन् १९४७ के रक्तपात में भी वह भाई-चारा उसी तरह बना रहा। जिन बाह्य उपकरणों से मानो माजरा और आसपास के प्रदेश में साम्प्रदायिकता का विष फैलाने का प्रयत्न किया गया, उनका इस उपन्यास में बहुत मनोरंजक वर्णन है। उपन्यास की शैली ताज़गी से पूर्ण है, कथानक अत्यन्त मनोरंजक है, उपन्यास के पात्र सजीव हैं और चित्रण पूर्णरूप से यथार्थवादी है। उपन्यास में व्यंग्य का भी बहुत अच्छा पुट है। विभाजन के दिनों की लोमहर्षक घटनाओं का इस उपन्यास में अत्यन्त सजीव चित्रण किया गया है। पर यह सब होते हुए भी लेखक उपन्यास भर में कहीं भी गहराई में नहीं पैठ पाया। एक भी स्थल पर पाठक पुस्तक बन्द कर कुछ देर सोचने को विवश नहीं हो जाता। न यह ही ज्ञात हो पाता है कि लेखक अपनी ओर से क्या कहना चाहता है।

'मानो माजरा' में कम से कम दो स्थानों पर अनावश्यक रूप से भारतीय जीवन की खिल्ली-सी उड़ाने की चेष्टा की गई है। हम इस बात के विरोधी नहीं हैं कि देश के जीवन के कमजोर पहलुओं की खिल्ली उड़ाई जाए। पर उसके लिए यथोचित औचित्य प्रस्तुत करना भी तो लेखक ही का काम है। उदाहरण के लिए 'मानो माजरा' के पृष्ठ १०७ पर का एक उद्धरण इस प्रकार है—

"इकबाल बौखला गया। यह सम्भव नहीं है कि हिन्दोस्तानी सैक्स के बारे में बातचीत न करें। सैक्स उनके मन पर एक बोझ के समान छाया रहता है। वह उनकी कला, साहित्य और धर्म—सभी जगह फूट निकला है। भारत के शहरों की दीवारों पर हस्तमैथुन के दुष्परिणामों के इलाज सम्बन्धी बड़े-बड़े इश्तिहार भरे रहते हैं। वहाँ की अदालतों और मण्डियों में खुले आम चिल्ला-चिल्ला कर 'सांडे का तेल' बेचा जाता है (यहाँ सांडे के तेल का कथित गुण नग्न शब्दों में दिया गया है)। भारत के विज्ञापनों में ऐसी दवाइयों के विज्ञापनों की भरमार रहती है, जिनसे पुत्र अवश्य उत्पन्न होगा। भारत के समान सैक्स सम्बन्धी गालियाँ किसी अन्य देश में नहीं दी जातीं, जहाँ 'साला' और 'ससुर' तो मित्रता तक की भाषा में भी व्यवहृत होने लगे हैं। राजनीति, दर्शन, खेल—किसी भी सम्बन्ध में बात शुरू कीजिए, वह सैक्स पर पहुँच जाएगी और टोली के सब लोग पूरी दिलचस्पी से तालियाँ बजा बजा कर उसमें भाग लेने लगेंगे।"

एक कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता हवालात में एक डाकू से बातचीत कर रहा है, उसी प्रसंग में उक्त हाशिया लेखक ने दिया है। इस सम्बन्ध में अधिक सतर्कता की आवश्यकता इस कारण भी थी कि उपन्यास का प्रकाशन विदेश में हुआ है और स्वभावतः उसकी अधिक खपत भी विदेशों में ही होगी।

ज्ञान के उद्यान में : लेखक—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक; प्रकाशक—सत्य ज्ञान प्रकाशन, ज्वालापुर; पृष्ठ संख्या ३३६; मूल्य ३ रुपया सजिल्द।

स्वामी सत्यदेव हिन्दी के अत्यन्त अनुभवी और लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। अपने जीवन भर उन्होंने देश और समाज की सेवा का कार्य किया है और अपनी कला द्वारा पूर्णतः स्वतन्त्र रह कर जीवन निर्वाह किया है। 'ज्ञान के उद्यान में' नामक उनकी प्रसिद्ध रचना का यह नवीन संस्करण सुन्दर रूप में प्रकाशित हुआ है। सन् १९३९ में यह पुस्तक पहली बार छपी थी। इस नए संस्करण में अन्य भी कितने ही पुष्पों का समावेश कर दिया गया है। इससे पुस्तक का महत्त्व और उपयोग दोनों बढ़ गए हैं। पुस्तक में ४० अध्याय हैं, जिन्हें दो भागों में बाँटा गया है, एक चरित्र गठन सम्बन्धी और दूसरा व्यक्तिगत अनुभव सम्बन्धी। स्वामी जी की लेखनी में जो ओज है, उससे 'ज्ञान का उद्यान' रंग-बिरंगा हो उठा है। हमें विश्वास है कि यह ग्रन्थ यथेष्ट लोकप्रिय सिद्ध होगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र : अनुवादक—प्रो० इन्द्र; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या—२५२; कीमत—३॥ रुपया, सजिल्द।

कौटिल्य अर्थशास्त्र भारतीय साहित्य का एक असाधारण ग्रन्थ है। संसार के प्रथम सर्वश्रेष्ठ राजनीति विद्या विशारदों में आचार्य विष्णुगुप्त

चाणक्य का स्थान उच्चतम है। उनकी यह कृति दीर्घकाल के बाद इस युग में पहलेपहल सन् १६०५ में उपलब्ध हुई और संसार भर के विद्वानों पर इस ग्रन्थ की असाधारण धाक जम गई। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर कर प्रो० इन्द्र ने निस्सन्देह एक उपयोगी काम किया है। पर इस बात की आवश्यकता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र का न केवल पूर्ण अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध हो, अपितु आवश्यक संदर्भों की पूर्ण व्याख्या आदि भी फुटनोट के रूप में दी जाए। प्रो० इन्द्र कृत इस संक्षिप्त रूपान्तर की भाषा सुगम और सुबोध है। पुस्तक की छपाई आदि बहुत सुन्दर है।

नागिन : लेखक—जे० पी० गुप्त; प्रकाशक—जयन्त कुशवाहा, चिनगारी प्रकाशन, बनारस; पृष्ठ संख्या १२८; मूल्य पन्द्रह आना।

रक्त गंगा : लेखक गोविन्दसिंह; प्रकाशक आदि उपर्युक्त।

"नागिन" 'चिनगारी ऐतिहासिक उपन्यास माला' का प्रथम पुष्प है। प्रकाशक ने घोषणा की है कि इस उपन्यास माला में वह प्रति मास एक नया उपन्यास प्रकाशित करेंगे। इसी तरह "रक्तगंगा" 'नागिन साहसिक उपन्यास माला' का प्रथम ग्रन्थ है और इस माला में भी प्रति मास एक उपन्यास प्रकाशित होगा। 'नागिन' और 'चिनगारी' आदि नाम चाहे कितने ही सस्ते ढंग के हों; पर दोनों उपन्यास निस्सन्देह बहुत रोचक और पठनीय हैं। दोनों उपन्यासों में कुछ न कुछ नवीनता है। हमें विश्वास है कि चिनगारी प्रकाशन के उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध होंगे। अन्य देशों में इस तरह की कितनी ही लोकप्रिय ग्रन्थ मालाएँ प्रकाशित होती हैं। श्री जयन्त कुशवाहा यदि अपने प्रकाशनों का यही स्टैण्डर्ड कायम रख सकें, तो वह हिन्दी में मनोरंजक ढंग के नए उपन्यास प्रभूत मात्रा में लाने के कार्य में सफल होंगे।

क्रियात्मक मनोविज्ञान : लेखक—प्रियरत्न आर्ष; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६; पृष्ठ संख्या १३६; मूल्य २ रुपया, सजिल्द।

मनोविज्ञान के क्रियात्मक उपयोगों सम्बन्धी यह पुस्तक १० अध्यायों में विभक्त है: मन और उसके उपयोग स्थल, दृष्टिबन्ध, अन्तरावेश, सम्मोहन और संवशीकरण; गन्ध सिद्धि, अन्तःकरणीय भौमिकानुभव आदि के सम्बन्ध में इस पुस्तक में जिस ढंग से प्रकाश डाला गया है, उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। प्लांचिट आदि एकदम अवैज्ञानिक साधनों द्वारा लेखक ने जब कभी प्रयोजक, पात्र आदि के जो परीक्षण किए हैं, उन्हें पूर्ण सत्य के रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। मनोविज्ञान जैसे पेचीदा विषय को शायद एकदम सीधा-सादा और टोटकों से नियन्त्रित किया जा सकने वाला विषय समझ लिया गया है। यों पुस्तक की शैली यथेष्ट मनोरंजक है और उसके कुछ अध्यायों में उपयोगी सामग्री भी है। लेखक के उद्देश्य की तो सराहना ही की जानी चाहिए।

लोक विजय : लेखक—पं० सन्तराम; प्रकाशक—सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला, साधु आश्रम, होशियारपुर; पृष्ठ संख्या २८०; मूल्य ३। रुपया सजिल्द।

"लोक विजय" समाज शास्त्र की रचना है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रश्नों पर लेखक ने इस पुस्तक में यथेष्ट मनोरंजक ढंग से विचार किया है। उनकी शैली न केवल आकर्षक है, वह युक्तियुक्त भी है। होशियारपुर का साधु आश्रम साहित्य और समाज का असाधारण सेवा कर रहा है। यह ग्रन्थमाला भी उसी का भाग है।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

बोलता हिन्दुस्तान : लेखक—रामनारायण उपाध्याय; प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा; पृष्ठ संख्या ५५; मूल्य आठ आने।

इस छोटी-सी पुस्तक में भारत के कुछ स्थानों का परिचय दिया गया है, पर उसमें कुछ सिलसिला या क्रम नहीं मालूम होता है। एक ऐतिहासिक किला माण्डव का परिचय दिया गया है फिर एकदम से लेखक भारत की विशाल नगरी बम्बई पर कूद जाता है, उसके बाद ताज का परिचय दिया जाता है। फिर क्रमशः सेवाग्राम, कस्तूरबा ग्राम, निमाड़ के कुछ स्थानों का परिचय दिया जाता है। अन्त में गाँव की नई सुबह नाम से एक लेख है जो प्रत्येक गाँव का साधारण परिचय है। पता नहीं ऐसी पुस्तकें किस माँग की पूर्ति करती हैं।

आधुनिक भारत में वक्तृत्व-कला की प्रगति : लेखक—इन्द्र विद्यावाचस्पति; प्रकाशक—वाचस्पति पुस्तक-भण्डार, जवाहर नगर, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ७८; मूल्य १।)।

इस पुस्तक के लेखक स्वयं भारतीय राजनीतिक रंगमंच के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रहे हैं। स्वाभाविक रूप से उन्होंने भारत में वक्तृत्व-कला की प्रगति पर जो कुछ लिखा है, उसमें संस्मरण का पुट बहुत जबरदस्त है जिससे कि पुस्तक सुखपाठ्य और उपयोगी बन गई है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, एनी बीसेन्ट, बाल गंगाधर तिलक, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, गांधी, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, अलीबन्धु, सुभाषचन्द्र बोस, अबुलकलाम आजाद आदि की वक्तृत्व-कला पर लेखक ने अपनी राय लिखी है जो बहुत दिलचस्प है। लेखक के विचार बहुत ही प्रौढ़ और परिपक्व हैं। स्वतन्त्र भारत में वक्तृत्वकला के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"भारतीय संघ के प्रधान मन्त्री पं० नेहरू जी से लेकर दिल्ली जैसे छोटे से 'ग' राज्य के मन्त्री का भाषण एक ही नपने से नपा होता है। वह दफ़्तरी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब होता है, इस कारण उसमें वक्तृत्व-कला नाम की वस्तु को तलाश करना सर्वथा व्यर्थ है। बाकी रही मन्त्रियों के अधिलिखित भाषणों की बात। मैं स्पष्टवादिता के लिए नम्रतापूर्वक क्षमा माँगता हुआ यह सम्मति प्रगति करने का दुःसाहस करता हूँ कि आज पंडित जवाहरलाल जी के अतिरिक्त अन्य किसी मन्त्री के शब्दों में जनता के हृदयों पर प्रभाव डालने की शक्ति नहीं। स्वराज्य मिलने पर दो "शब्द" शक्तिशाली थे। पहला पं० नेहरू जी का और दूसरा सरदार का। सरदार का शब्द शान्त हो गया। अब केवल जवाहरलाल जी का शब्द है जो भारतीय जनता के हृदयों में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। शेष मन्त्रियों के शब्द माइक्रोफोन द्वारा विस्तारित होते हैं। परन्तु निश्चल हृदयों से टकराकर माइक्रोफोन में ही वापस हो

जाते हैं। उनका मनोवैज्ञानिक मूल्य 'हिज़ मास्टर्स वायस' से अधिक नहीं रहा।"

क्या इस पर यह कहना उचित होगा कि स्वतन्त्र भारत में वक्तृत्व-कला की प्रगति हुई?

अहिंसा और उसके विश्वव्यापी प्रभाव : लेखक—कामताप्रसाद जैन; प्रकाशक—श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज (एटा); पृष्ठ १३२।

इस पुस्तक में भक्त के खयाल से अहिंसा पर विचार किया गया है। अहिंसा पर जहाँ जो भी उल्लेख लेखक को मिला, उसे लेखक ने अपने ढंग से पेश करने का प्रयत्न किया है पर इसे अहिंसा पर वैज्ञानिक विवेचन कहना शायद उचित नहीं होगा।

मानव संस्कृति और धर्म : लेखक—ज्ञानचन्द नाहर; प्रकाशक—ज्ञान प्रकाशन मन्दिर, ९ साँग बाजार, इन्दौर नगर; पृष्ठ ४३; मूल्य दस आने।

यह पुस्तक छुआछूत के विरुद्ध एक मुकदमा प्रस्तुत करती है। लेखक का उद्देश्य अच्छा है।

कदम की फूली डाली : लेखक—विद्यानिवास मिश्र; प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, २४७ चक, जीरो रोड, इलाहाबाद; पृष्ठ १८३; मूल्य तीन रुपये।

इस पुस्तक में लेखक के कुछ निबन्ध संग्रहीत हैं। कहीं-कहीं इसमें गद्य-काव्य की शैली रखी गई है तो कहीं-कहीं ऐतिहासिक निबन्धों का ढंग है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की शैली सुन्दर है, विशेषकर लोक-साहित्य पर उन्होंने जो लेख लिखा है वह ज्ञानवर्द्धक है। इस पुस्तक के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में विंध्य भूमि की यात्रा का वर्णन है, दूसरे में आधुनिक साहित्य के कुछ प्रश्नों पर विचार किया गया है, तीसरे खण्ड में लेखक का स्वप्न मूर्त्त होता है। इसमें लेखक गद्य-काव्य की शैली पर चलते हैं।

राणा साँगा : लेखक—मनु शर्मा; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस; पृष्ठ २२१; मूल्य १।)।

इस पुस्तक में मेवाड़ की गौरव-गाथा के कुछ अध्याय अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किए गए हैं। जिनको इतिहास में रुचि नहीं है उन्हें इस प्रकार की शैली में लिखी हुई पुस्तकें पसन्द आती हैं। इस ढंग पर और भी पुस्तकें लिखी जानी चाहिएँ। पुस्तक का मूल्य कम रखने के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

कमला नेहरू—नाटककार—प्रो० शैवाल; प्रकाशक—दि न्यू एज पब्लिकेशन्स लि० गौशाला रोड, पटियाला; पृष्ठ ८१; मूल्य २) रुपए।

श्रीमती कमला नेहरू के जीवन पर यह नाटक प्रस्तुत किया गया है। प्रकाशक ने लेखक के सम्बन्ध में महाकवि और नाटक के सम्बन्ध में अमर शब्द का जो प्रयोग किया है, वह शायद विज्ञापन की दृष्टि से है, अतएव क्षम्य है। पहली बात तो यह है कि यह विषय नाटक के लिए कहाँ तक उपयुक्त है, यह विचार्य है। नाटक-लेखन में ऐतिहासिक व्यक्ति को लेने से रस का परिपाक जल्दी होता है, पर इतने पास के इतिहास से एक महिला को सफलतापूर्वक नाटक का विषय बनाना, और उसे निभा ले जाना, विशेषकर जबकि उनका पति इस समय भारत का कर्णधार है, मामूली नाटककार के वश की बात नहीं। श्री शैवाल ने तो एक-एक व्यक्ति का संवाद कई पृष्ठों तक खींचा है, इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इसे रंगमंच के लिए नहीं लिखा। रहा ऐसे पुनीत जीवन से जो अनुप्रेरणा पाठकों को प्राप्त हो सकती है, वह तो एक अच्छी जीवनी प्रस्तुत करने से भी प्राप्त होती। जिन काल्पनिक पात्रों की सृष्टि नाटककार ने की है, उनसे न तो कोई चमत्कार पैदा हुआ और न कोई विचित्रता आई।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

मधुमय (कविता संग्रह) : रचयिता—ब्रजकिशोर नारायण; प्रकाशक—किताब घर, पटना; पृष्ठ संख्या ६४; मूल्य २॥) सजिल्द।

जेबी आकार के ६४ पृष्ठों की दो रंगों में छपी काव्य-पुस्तिका का मूल्य २॥) शायद कुछ अधिक लगे, पर पुस्तिका नयनाभिराम है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें रेखाएँ हैं, रंग हैं। इसकी सज-धज अपने ढंग की अनोखी है। ये बातें हैं जो काव्य-रसिकों को इस पुस्तिका की ओर सर्वप्रथम आकर्षित करेंगी। रह गई कविताओं की बात। उनके सम्बन्ध में कवि के शब्दों को ही उद्धृत करना मैं यथेष्ट समझता हूँ:

मेरे शेर घबराते हैं शोरोगुल से,
हैं नक्कारखाने की तूती बेचारे।

मगर कवि की एक और आत्म-स्वीकृति भी है—

यह उर्दू नहीं है, यह हिन्दी नहीं है!
ये जुमले जिगर के, जुबाँ ज़िन्दगी की॥

जिन्हें 'जिगर के जुमले' पढ़ने हों या जो 'ज़िन्दगी की जुबाँ' सुनने के प्रेमी हों, उन्हें 'मधुमय' अवश्य पढ़ना चाहिए।

स्वदेश और साहित्य : लेखक—शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय; रूपान्तरकार—डा० महादेव साहा; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस; पृष्ठ संख्या १८०; मूल्य ॥।≡)॥

आलोच्य पुस्तक स्वर्गीय शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के अब तक अप्रकाशित निबन्धों, भाषणों, पत्रों आदि का संग्रह है। सभी लेख पठनीय हैं। इनको पढ़ते हुए बंगला साहित्य का एक विशिष्ट युग आँखों के आगे नाच उठता है—वह युग, जब शरत् की कथा-कृतियों को 'अनैतिक' कह कर उनकी भर्त्सना की गई थी, और जब शरत् और रवीन्द्र में साहित्य और शिक्षा विषयक विचारों को लेकर वाद विवाद उठ खड़ा हुआ था। बंगला साहित्य के इन दो दिग्गजों का वह विवाद साहित्यिक वाद-विवाद चलाने वालों को शालीनता और गरिमा का पाठ पढ़ाने वाला है। साहित्य में यथार्थ और आदर्श की प्रतिष्ठा, नारी का समाज और साहित्य में स्थान, बंगला साहित्य की तत्कालीन प्रवृत्तियाँ, राजनीतिक घटनाओं और विचारों का स्पष्ट और निर्भीक विवेचन—इन सभी विषयों पर शरत् के विचार हमें इस पुस्तक में पढ़ने को मिलते हैं। पुस्तक आकर्षक भी है और उपादेय भी। मूल्य भी कम है। दुःख इस बात का है कि ऐसी अच्छी किताब की छपाई बहुत ही असन्तोषजनक है। शायद ही कोई पृष्ठ ऐसा होगा जिस पर मात्राएँ टूटने या अक्षर ग़ायब हो जाने के अनेक उदाहरण न मिलें। प्रकाशक महोदय को भविष्य में इस ओर ध्यान देना चाहिए।

कदम-कदम बढ़ाए जा (वीररसपूर्ण खण्ड-काव्य) : रचयिता—गोपाल प्रसाद व्यास; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ७४; मूल्य १।) ।

हमारे राष्ट्रपिता (जीवनी) : लेखक और प्रकाशक—उपर्युक्त; पृष्ठ संख्या १४०; मूल्य २) ।

गान्धी चरित (बालोपयोगी जीवनी) : लेखक और प्रकाशक—उपर्युक्त; पृष्ठ संख्या ५०; मूल्य ॥) ।

मैंने कहा (हास्य निबन्ध) : लेखक और प्रकाशक—उपर्युक्त; पृष्ठ संख्या १२५; मूल्य ३) ।

अजी सुनो (काव्य-संग्रह) : लेखक और प्रकाशक—उपर्युक्त; संख्या १७४; मूल्य ५) ।

"कदम-कदम बढ़ाए जा" व्यास जी का "वीररसपूर्ण खण्ड काव्य" है, जिसमें नेता जी सुभाष के महान कार्यों का स्मरण किया गया है । सर्व-सुबोध बनाने की दृष्टि से पुस्तक की भाषा और शैली सरल रखी गई है । हिन्दी का साधारण ज्ञान रखने वाला पाठक भी इसे पढ़ और समझ सकता है । विषय तो प्रेरणा-दायक है ही । कहीं-कहीं छन्द-रचना अशुद्ध और भाषा ऊबड़-खाबड़ अवश्य हो गई है । पर पुस्तक का मज़ा फिर भी लिया ही जा सकता है ।

"हमारे राष्ट्रपिता" गांधी साहित्य सम्बन्धी अनेक उत्तम पुस्तकों में एक है । भाषा और शैली सरल, विचार स्पष्ट, परिधि सीमित और सुचिन्तित । किशोर और सद्यः शिक्षित प्रौढ़ पाठकों तथा अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी । अन्त में आश्रम के भजनों व प्रार्थना मन्त्रों, बापू के सम्बन्ध में देश-विदेश के चिन्तकों के विचारों, जीवन-सम्बन्धी महत्वपूर्ण घटनाओं और तिथियों की सूचनादि देकर पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ा दिया गया है ।

"गांधी चरित" बालकों के लिए लिखा गया है । मोटे टाइप में साफ़-सुथरी छपी हुई यह पुस्तिका बच्चों के लिए उपयोगी और आकर्षक सिद्ध होगी । इसमें यदि कुछ चित्र भी दे दिए जाते तो इसका आकर्षण और भी बढ़ सकता था ।

"मैंने कहा" व्यास जी के हास्य निबन्धों का संग्रह है । हिन्दी में हास्य लेखकों की काफ़ी कमी है । व्यास जी निरन्तर अपनी कविताओं और गद्य-कृतियों से इस कमी की पूर्ति कर रहे हैं । "मैंने कहा" के निबन्धों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे जहाँ आपको गुदगुदाते हैं वहीं, आज के जीवन की किसी न किसी समस्या की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं । जैसे मकान का अभाव, मेहमानदारी के कष्ट, नौकर की समस्या, कवि-सम्मेलनों का धन्धा, बस की सवारी, दफ्तरों के हाल-चाल इत्यादि । इस प्रकार व्यास जी का हास्य जहाँ एक ओर हृदय को उल्लसित करता है वहीं मस्तिष्क को झकझोरता भी है । यह व्यास जी की हास्य-रचनाओं की विशिष्ट सफलता है । कुछ पाठकों को इन निबन्धों में उस बारीकी की कमी खटक सकती है, जो पाश्चात्य हास्य-लेखकों में अक्सर पाई जाती है । पर हमें यह नहीं भूल जाना है कि हमारे यहाँ अभी बहुतायत ऐसे पाठकों की है जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों के प्रति रुचि ही उत्पन्न नहीं हो पाई । अतः साहित्यिकों का प्रथम कार्य है पाठकों की रुचि जाग्रत करना । रुचि का सम्वर्द्धन भी अपने समय में होगा ही । जिस प्रकार एक ज़माने में "चन्द्रकान्ता" को पढ़ने के उद्देश्य से ही लाखों की संख्या में लोगों ने हिन्दी सीखी थी, (यद्यपि "चन्द्रकान्ता" स्वयं में एक गठा हुआ उपन्यास है, जिसमें चित्त को उलझाए रखने की अपूर्व क्षमता है) उसी प्रकार, मुझे विश्वास है कि, व्यास जी की गद्य और पद्य की हास्य कृतियों को पढ़ने के लिए लोग यदि हिन्दी सीखें तो "किमाश्चर्यम् अतः परम् ?" किसी भी लेखक की यह एक बड़ी सफलता है । शैली का परिष्कार तो समय के साथ होता ही जाएगा ।

ऊपर जो कुछ कहा गया, वही व्यास जी की हास्य-कविताओं के संग्रह के द्वितीय संस्करण "अजी सुनो···" के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है । "अजी सुनो" में भी सोद्देश्य हास्य है । आज के जीवन की अनेक दुर्बलताओं, कमियों और अन्यायों पर इस संग्रह की कविताओं में कहीं सीधी, कहीं व्यंग्यात्मक चोटें हैं । "पत्नी" के व्याज से व्यास जी ने मानव-दुर्बलताओं का मज़ेदार दिग्दर्शन कराया है । संग्रह में दी गई व्यास जी की अनेक कविताएँ कवि सम्मेलनों के माध्यम से लाखों श्रोताओं की ज़बान पर चढ़ चुकी हैं । जनप्रियता ही साहित्य की कसौटी हो, ऐसी बात नहीं है । पर सोद्देश्य रचनाओं की जनप्रियता, कम से कम, रचयिता की इस सफलता की ओर तो इंगित करती ही है कि उसने समाज की किसी दुखती रग को छुआ है । सामाजिक व्यंग के लेखक के रूप में व्यास जी की सफलता निर्विवाद है । हाँ, कभी-कभी उनकी कलम से ऐसी पंक्तियाँ भी निकल आती हैं जो शिष्ट हास्य की सीमा का अतिक्रमण कर जाती हैं, जैसे ५वें पृष्ठ पर दी गई कविता की "ललनाएँ" से आरम्भ होने वाली कुछ पंक्तियाँ । पर ऐसा कम ही होता है । अधिकांशतः हम व्यास जी के मस्तमौलापन की ऊबड़-खाबड़ उपजों पर खिलखिला सकते हैं । कभी राजाओं का युग था और उनके दरबार में विदूषक का काम था मनोविनोद द्वारा उन्हें विविध चिन्ताओं का भार सहन करने योग्य बनाना । आज जनता ही राजा है जिसके दरबार के विदूषक व्यास जी लाख-लाख मस्तिष्कों के चिन्ता-भार को हलका कर रहे हैं । इसके लिए उन्हें शतशः बधाइयाँ ।

निकष २ (अर्ध वार्षिक संकलन) : सम्पादक—धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मी कान्त वर्मा; प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग; पृष्ठ संख्या २४०; मूल्य तीन रुपये ।

हिन्दी में इधर कुछ समय से साहित्यिक संकलनों की धूम है । कुछ तो काव्य-संकलन निकले हैं और कुछ मिले-जुले संकलन । "निकष" एक मिला-जुला संकलन है । "निकष" के प्रथम अंक का सर्वत्र स्वागत हुआ । केवल उन्हीं क्षेत्रों ने उसके प्रति अरुचि दिखाई जो परम्परा की चहार दिवारी से बाहर बिल्कुल ही नहीं झाँक पाते; अथवा जिन्हें हर नए और सशक्त प्रयास को देखते ही यह भय लगने लगता है कि अब उनका गुरुडम समाप्त हुआ, अब उनके पाँवों तले से धरती खिसकी । "निकष" और "संकेत" जैसे साहित्य-संकलन हिन्दी साहित्य की नवोन्मेषशालिनी, तरुण और मौलिक प्रतिभाओं का

प्रतिनिधित्व करता है। हर नए प्रयत्न में कुछ कमज़ोरी हो सकती है। "निकष" में भी कमज़ोर कृतियाँ हैं। "महागाथा" एक ऐसी ही कृति है। सिवा शैली के प्रयोग के और कोई बात इस कहानी में बनती नहीं। इसी प्रकार "गोभक्ति" का व्यंग्य इतना स्पष्ट है कि मन को ऊपर ही ऊपर छू कर रह जाता है। जगदीश गुप्त के चित्रों पर दिया गया परिचयात्मक लेख भी और सशक्त हो सकता था।

परन्तु दूसरी ओर "निकष" की अधिकांश रचनाओं में एक ऐसी ताज़गी और एक ऐसी शक्ति है जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। माखनलाल चतुर्वेदी के लेख "कला के मरण-बिन्दु" की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वकाल के लिए स्मरणीय हैं—

"कलाकार का जीवन विधाता का वरदान है। उसके घर दारिद्र्य उस दिन नहीं आता, जब उसे भूख का भान हो और वह भीख की भाषा लिखने लगे। उसका सबसे बड़ा दुर्दिन तब आता है जब वह अपने अनन्त विश्वासों के लिए नई सूझ नहीं खोज पाता, और विश्वासों के द्वारा माँगे जाने वाले संकट-पथ को किसी बाहरी भय से या सुविधाओं के मोह से स्वीकार नहीं कर पाता। वही कलाकार की कालरात्रि है, और कला का मरण-बिन्दु।"

अज्ञेय और शम्भुनाथ सिंह की कविताओं में व्यक्त आस्था के स्वर अन्तरतम की गहराई तक प्रवेश करते हैं। रघुवीर सहाय की लघुकथा "लड़के" रोज़मर्रा की जिन्दगी की एक मार्मिक तस्वीर है। मनोहर श्याम जोशी की कहानी "उसका बिस्तर", केशवचन्द्र वर्मा की कहानी "काले डब्बों की चरखी", मोहन राकेश का एकांकी "दूध और दाँत", राजेन्द्र यादव की कहानी "रोशनी कहाँ है",—इन सभी में आज का समाज-यथार्थ प्रखर रूप में व्यक्त हुआ है। "सूने आँगन रस बरसै", डा० लक्ष्मीनारायण लाल की ऐसी मनोरम कथा कृति है जिसमें गाँव की धरती का सोंधापन, ग्राम-जीवन के करुण मधुर उतार-चढ़ाव और ग्राम वधुओं तथा बालाओं के मन और जीवन की तृष्णा और मिठास बहुत ही सफल रूप में व्यक्त हुई है। मालती परुलकर की कहानी "कविप्रिया", नरेश मेहता की कथा-कृति "तथापि" और शांता सिन्हा की कहानी "सिम्फनी" की सम्वेदनात्मक गहराई मन को सर्वथा आप्लुत करने वाली है। "ये विपथगाएँ" नचिकेता का एक ऐसा निबन्ध है जो आज और आगामी कल की पीढ़ी के मन में खुशी और उत्साह भरने वाला और बीते कल की पीढ़ी की आँख खोलने वाला सिद्ध होगा। उसके निम्न वाक्य कितने सही हैं—

"हम अपराधी होंगे, यदि हमने सत्य नहीं कहा; हम अपराधी होंगे, यदि हमने अपना स्वरूप नहीं पहचाना; हम अपराधी होंगे, यदि हमने अपने सत्य का, अपनी पहचान का लाभ अपने असंख्य बन्धुओं को नहीं पहुँचाया। विपथगाएँ हमारा पथ नहीं मोड़ सकतीं, यदि हम मुड़ने वाले तत्व के खुद न बने हों। आज राजमार्ग पर रपटन है, फिसलन है; हमें पगडण्डी पकड़नी होगी, तभी हम अपनी मंज़िल तक पहुँचने की आशा रख सकते हैं। उन पथिकों को विपथगाओं से कोई आशंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पथ उनके कल्याण का दायित्व अपने ऊपर ले लेता है; पथ ही उन्हें तार देगा।"

फणीश्वरनाथ रेणु, जिनके "मैला आँचल" उपन्यास से हम सब परिचित हो चुके हैं, अपने अगले उपन्यास की एक झलक लेकर "निकष" में उतरे हैं। शिवप्रसाद सिंह का यात्रा-वर्णन अभिव्यक्ति पर उनके चमत्कारिक अधिकार का सूचक है। शमशेर बहादुर सिंह द्वारा रूपान्तरित मुक्तनेश्वर की दोनों कविताएँ बड़ी सशक्त कृतियाँ हैं। श्रीकान्त वर्मा की कृति "संध्या के बच्चे" की अन्तिम दो पंक्तियाँ—

'मत भूलो…
शून्य शक्ति है, शून्य प्रजा है।'

आज के प्रखर युग-सत्य को व्यक्त करती है। साही की कविता "अयाचित झोंका" की ताज़गी दर्शनीय है:—

हो गया कम्पित शरद् के शांत झीने ताल-सा
तन
आह! करुणा का अयाचित एक झोंका
सान्त्वना की तरह, मन की सतह पर लहरा गया,
कहाँ से उपजा?
कहाँ को गया?

इस प्रकार "निकष" के प्रकाशन से हिन्दी की अनेक तरुण प्रतिभाएँ उभर कर सामने आई हैं। यह वह प्रतिभाएँ हैं जिनके हाथ में भविष्य की पताका है। वे कहाँ तक इस पताका को एक के बाद एक उन्नत शृंगों पर लहराएँगी, यह हमें देखना है।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

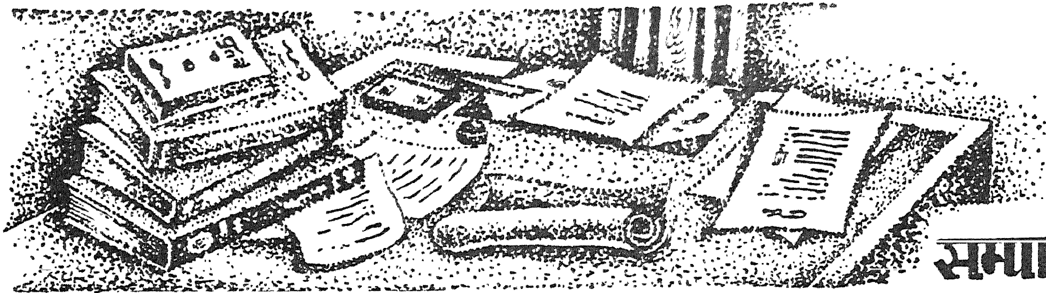
●

सिद्धार्थ बुद्ध : लेखक—श्री बनारसीदास 'करुणाकर'; प्रकाशक—श्री गौरीशंकर शर्मा; भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; पृष्ठ संख्या १४८; मूल्य २ रुपए।

यह नाटक महात्मा बुद्ध की जीवन गाथा के विषय में उनकी २५००वीं जयन्ती के अवसर पर लिखा गया है और उसे अभिनय योग्य बनाने का विशेष ध्यान रखा गया है। नाटककार की दूसरी चेष्टा रचना को प्रामाणिक बनाने की रही है और इस आशय की पूर्ति के लिए उन्होंने कथानक तथा बौद्ध दार्शनिक विचारों के लिए श्री राहुल सांकृत्यायन कृत 'बौद्ध चर्या', भदन्त बोधानन्द कृत 'बौद्धचर्या पद्धति', श्री सूर्यनारायण चौधरी द्वारा अनूदित महान बौद्धकवि, अश्वघोष कृत 'बुद्ध चरित' तथा 'धम्मपद' आदि ग्रन्थों का आधार लिया है यद्यपि नाटकीयता की दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं में थोड़ा-सा उलट-फेर भी किया है।

जैसा कि पुस्तक के भूमिका लेखक बाबू गुलाबराय ने लिखा है भारत के धार्मिक और राजनीतिक इतिहास में भगवान बुद्ध का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के कारण ही पिछली अनेक शताब्दियों में भारत का प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव रहा, बौद्ध धर्म ने ही पहले-पहल जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ मानव-मानव की समता का पाठ पढ़ाया। केवल इसलिए भी ऐसे महापुरुष का जीवन चरित्र पठनीय है, फिर 'करुणाकर' जी का नाटक तो बुद्ध महाराज के जीवन की करुणा के उद्घाटन में भली प्रकार समर्थ होता है। नाटक छोटा और अभिनय

(शेष पृष्ठ ७० पर)



स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण

सामरिक महत्त्व तथा भौगोलिक महत्त्व की दृष्टि से स्वेज़ नहर से बढ़कर सम्पूर्ण एशिया तथा यूरोप में सम्भवतः अन्य कोई एक स्थान नहीं है। स्वेज़ एशिया की कुंजी है और शायद यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि सब मिला कर संसार का वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण द्वार है। स्वेज़ की तुलना में पैनामा नहर की महत्ता इस कारण कम हो जाती है कि संसार की तीन-चौथाई आबादी एशिया और यूरोप में विद्यमान है और जलमार्ग द्वारा उनके पारस्परिक यातायात की दृष्टि से स्वेज़ नहर एक अनिवार्य द्वार है।

राष्ट्रपति नासर द्वारा इसी स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण का समाचार द्वितीय महायुद्ध के बाद का सम्भवतः सबसे अधिक चौंका देने वाला समाचार है। इस राष्ट्रीयकरण का सबसे अधिक प्रभाव ब्रिटेन और फ्रांस पर पड़ना स्वाभाविक है, जो स्वेज़ नहर कम्पनी के प्रथम और द्वितीय बड़े हिस्सेदार थे। राष्ट्रपति नासर ने विश्वास दिलाया है कि स्वेज़ में संसार भर के देशों के जहाज़ों का यातायात यथापूर्व जारी रहेगा, उसमें किसी तरह की अड़चन नहीं डाली जाएगी। उन्होंने तो यहाँ तक भी विश्वास दिलाया है कि स्वेज़ कम्पनी के किसी कार्यकर्ता को उसके कार्य से पृथक नहीं किया जाएगा और न उनके वेतन, अवकाश आदि पर इस राष्ट्रीयकरण का कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण से संसार की शान्ति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

स्वेज़ नहर कम्पनी के पट्टे के अनुसार अभी वह कम्पनी आगामी १३ वर्षों तक मिस्र में अपना कारोबार जारी रख सकती थी। गतवर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैंड ने मिस्र से वायदा किया था कि दोनों राष्ट्र मिस्र के आस्वन बाँध के लिए कुछ धन राशि देंगे। कुछ ही समय पूर्व कुछ कारणों से उक्त दोनों देशों ने अपना वचन वापस ले लिया। स्वेज़ नहर के एकाएक राष्ट्रीयकरण की उत्तेजना सम्भवतः इसी कारण से मिली। योजना के अनुसार आस्वन बाँध संसार के सबसे बड़े बाँधों में होता और यह स्पष्ट है कि उसके बिना मिस्र की वांछनीय आर्थिक सम्पन्नता सम्भव नहीं है। राष्ट्रपति नासर का कथन है कि मुख्यतः उक्त बाँध के लिए अर्थ संग्रह के उद्देश्य से ही उन्होंने स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण किया है। एक स्वाधीन और सर्वप्रभुता सम्पन्न राष्ट्र होने के नाते मिस्र की सरकार अपना यह अधिकार मानती है कि वह अपने देश के भीतर की किसी कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर सके, जिस तरह अन्य भी कितने ही स्वतन्त्र देशों ने किया है।

यह तो स्पष्ट है कि एशिया में बाह्य शक्तियों के हस्तक्षेप के दिन अब समाप्त हो चुके। आशा है कि स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण के कारण उत्पन्न गरमागरमी को शान्त करने का प्रयत्न करते हुए इस तथ्य की भी अपेक्षा नहीं की जाएगी।

१६ अगस्त से स्वेज़ की समस्या के सम्बन्ध में लण्डन में २२ राष्ट्रों की एक महत्त्वपूर्ण कान्फरैन्स हो रही है। पर इस कान्फरैन्स में ईजिप्ट सम्मिलित नहीं हुआ। इस कान्फरैन्स के प्रारम्भ से पूर्व जिस तरह ब्रिटेन और फ्रान्स के सामुद्रिक जंगी बेड़े भूमध्य सागर की ओर चल दिए थे और जिस तरह ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रधान मन्त्री श्री एन्थनी ईडन ने राष्ट्रपति नासर पर व्यक्तिगत आक्षेप किए थे, उस से यह स्पष्ट है कि स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण से इंग्लैण्ड बहुत उत्तेजित होगया था। हमें आशा है कि परिस्थितियों पर ठण्डे दिमाग़ से विचार करने के बाद सम्बद्ध देश स्वेज़ के बारे में कोई ऐसा उचित मार्ग तलाश कर सकेंगे, जिससे मिस्र के राष्ट्रीय गौरव पर कोई आँच न आने पाए तथा अन्य देशों को भी कोई वाजिब शिकायत न रहे।

अणु शक्ति के शान्त उपयोग

मानव जाति को सुख-सुविधा पहुँचाने वाले कार्यों में अणु शक्ति के प्रयोग की सम्भावनाएं इस वर्ष बहुत अधिक बढ़ी हैं। इस सम्बन्ध के परीक्षणों की ओर जिन देशों ने गम्भीरता पूर्वक ध्यान दिया है, उनमें भारत भी है। हाल ही में भारत का बम्बई में स्थापित एक न्यूक्लियर रिएक्टर शक्ति (क्रिटिकैलिटी) समन्वित किया गया है, जो इस देश में एक नए युग का पूर्व-सूचक हो सकता है। स्वभावतः इस दृष्टि से भी संसार के वही दोनों सबसे अधिक शक्तिशाली देश अग्रणी हैं, जिनके पास अणु बम और हाइड्रोजन बम प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। शान्तिमय कार्यों के सम्बन्धमें रूस में जो क्रान्तिकारी परीक्षण हो रहे हैं, आशा है, उनका परिणाम बहुत शीघ्र संसार के सम्मुख आ सकेगा। हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका ने २५ अरब (२५,००,००,००,०००) रुपयों के व्यय से एक अत्यन्त विशाल एटौमिक प्रयोगशाला का निर्माण प्रारम्भ किया है। यह दावा किया गया है कि इन परीक्षणों के आधार पर कुछ ही वर्षों में एटम शक्ति से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त कर लिए जा सकेंगे:—

१. पूरे मकान को इच्छानुसार ठण्डा या गरम किया जा सकेगा। एक ही जगह से घर पर की सब खिड़कियाँ, रोशनदान, परदे आदि खोले या बन्द किए जा सकेंगे।

२. एटोमिक रेडिएशन के प्रभाव से तैयार भोजन चाहे जितने दिनों तक स्वस्थ और स्वादिष्ट रूप में सुरक्षित रक्खा जा सकेगा।

३. खेतों में अवांछनीय घास-फूस को इसी एटम शक्ति से अभिभूत खाद द्वारा नष्ट कर दिया जा सकेगा। केवल वही पौध बची रहेगी, जिसे किसान उगाना चाहता है।

४. ऐसे टैलीफ़ोन बनाए जा सकेंगे, जिनसे न केवल पृथ्वी भर के सब स्थानों से बातचीत की जा सकेगी, अपितु टैलीफ़ोन के ऊपर बनाए गए एक पर्दे पर दूसरी ओर बात करने वाले व्यक्ति को देखा भी जा सकेगा।

५. ऐसी मशीनें बनाई जाएँगी, जिनके द्वारा बड़े से बड़े और पेचीदा हिसाबों को हल करने के अतिरिक्त विशाल पुलों और गगनचुम्बी इमारतों के इंजीनियरिंग सम्बन्धी नक्शे और हिसाब किताब आदि भी तैयार किए जा सकेंगे।

६. ऐसी मशीनें बन जाएँगी, जो घर भर को कुछ ही मिनटों में धो-पोंछ कर स्वच्छ कर देंगी। मैले कपड़ों को घर ही पर धोने, इस्त्री करने और तह करने का काम भी एटोमिक मशीनें ही करेंगी।

●

स्वर्गीय हरिजी गोविल

भारत के प्रतिभाशाली और कर्मठ सुपुत्र श्री हरिजी गोविल के देहावसान का समाचार सम्पूर्ण हिन्दी जगत में अत्यन्त शोक और गहरी संवेदना के साथ सुना गया है। अपने जीवन का एक बड़ा भाग विदेशों में रह कर जिन भारतीयों ने अपने देश का मुँह उज्ज्वल करने का भरसक प्रयत्न किया, और जिनके सम्पर्क में आकर अन्य देशों के नागरिकों के हृदय में भारत भर के लिए श्रद्धा और सम्मान की भावना उत्पन्न हुई, श्री हरिजी गोविल उन्हीं लोगों में थे। अपने अनथक प्रयत्न से उन्होंने अमेरिका में धन और यश का अर्जन किया। साधनहीन महत्त्वाकांक्षी युवकों के लिए हरिजी गोविल का जीवन एक आदर्श जीवन है। हमें खेद है कि वह अपना आत्मचरित नहीं लिख पाए। हरिजी गोविल के नागरी लाइनो टाइप के आविष्कार से तो हिन्दी जगत परिचित है ही, पर यह तथ्य बहुत कम लोग जानते हैं कि हाल ही में उन्होंने नागरी प्रिंटिंग के लिए 'फोटो-सैटर' नामक एक नई मशीन का आविष्कार किया था। उन्होंने जिस तरह ६ प्वाइण्ट से लेकर १२ प्वाइण्ट तक के नागरी टाइपों का निर्माण किया था, उनका ज़िक्र हम गत वर्ष इन्हीं स्तम्भों में कर चुके हैं। अपनी नई मशीन लेकर वह हाल ही में भारत आए थे। "आजकल" के लिए उन्होंने अपने आविष्कारों के सम्बन्ध में एक विशेष लेख लिखा था। अमेरिका से चलते समय उन्होंने हमें इस बात की सूचना दी थी। "आजकल" कार्यालय उनके स्वागत की प्रतीक्षा कर रहा था कि बम्बई से उनके असामयिक देहावसान का समाचार प्राप्त हुआ। हम "आजकल"–परिवार की ओर से भी हरिजी गोविल के प्रति आदर भावना प्रकाशित करते हैं।

●

"बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष"

जैसा कि गत मास घोषणा की जा चुकी है, यह निश्चय किया गया है कि इस वर्ष दिसम्बर १९५६ में "आजकल" के स्थायी ग्राहकों को "आजकल" के वार्षिक अंक के रूप में "बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष" नामक ग्रन्थ भेंट में दिया जाए। अतः यह ग्रन्थ दिसम्बर में "आजकल" के वार्षिक अंक के रूप में प्रकाशित होगा। इस ग्रन्थ की भूमिका के लेखक हैं—सर्वपल्ली श्री राधाकृष्णन्। ग्रन्थ के कुछ अध्यायों के शीर्षक इस प्रकार हैं—बौद्ध धर्म का स्रोत, महात्मा बुद्ध की जीवनी और सन्देश, चार बौद्ध महासभाएँ, अशोक तथा बौद्ध धर्म का प्रसार, बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय, बौद्ध साहित्य, बौद्ध शिक्षा केन्द्र, अशोक के बाद के भारतीय तथा विदेशी महान् बौद्ध, बौद्ध तीर्थ आदि। इन अध्यायों के कुछ लेखक हैं—प्रोफ़ेसर बापत, श्री वैद्य, श्री जोशी, श्री जिनानन्द, प्रो० बागची, श्री गोखले, प्रो० मजूमदार, श्री तकासाकी, श्री अनुकूल चन्द्र बैनर्जी, श्री साकाइ, श्री नलिनाक्ष दत्त, श्री भरतसिंह, श्री आनन्द कौसल्यायन, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री ऐया स्वामी शास्त्री, श्री अनागरिक गोविन्द, श्री गुन्थर आदि।

बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन अपने क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह ग्रन्थ रत्न "आजकल" के उन्हीं ग्राहकों को भेंट किया जाएगा, जो "आजकल" के स्थायी ग्राहक हैं। जो लोग "आजकल" किसी अन्य स्रोत से खरीदते हैं, वे ग्रन्थ की पूरी कीमत देकर ही उसे प्राप्त कर सकेंगे। जो सज्जन ६ रु० भेज कर "आजकल" के वर्ष भर के लिए ग्राहक बन जाएँगे, उनके पास यह ग्रन्थ दिसम्बर १९५६ में डाक द्वारा निश्शुल्क रूप में पहुँचेगा।

●

लेखकों को आवश्यक सूचना

१. यह निश्चय किया गया है कि अनाहूत रचनाओं की वापसी का उत्तरदायित्व "आजकल" कार्यालय नहीं लेगा। केवल वे रचनाएँ ही वापस की जाएँगी, जिन के साथ उचित आकार का, आवश्यक डाक टिकटों से युक्त, पूरा पता निर्दिष्ट किया हुआ लिफ़ाफ़ा विद्यमान होगा। उस दशा में भी "आजकल" कार्यालय केवल उक्त लिफ़ाफ़े को डाक में डालने का उत्तरदायित्व ही लेगा; पहुँच के लिए वह उत्तरदायी नहीं होगा। "आजकल" कार्यालय में प्रतिमास अनाहूत रूप से प्राप्त होने वाली रचनाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है, इसी कारण उक्त निश्चय किया गया है। उचित यही होगा कि रचना भेजने से पूर्व उसकी एक प्रति अपने पास सुरक्षित रख ली जाए।

२. अनुवादित रचनाएँ भेजते हुए मूल लेखक की लिखित अनुमति साथ भेजना आवश्यक है।

★

पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ६७ का शेषांश)

की दृष्टि से सुन्दर है। भाषा सरल और सुबोध है एवं घटनाचक्र रोचक है।

लोहा सिंह : लेखक—श्री रामेश्वरसिंह काश्यप; प्रकाशक—ग्रन्थ-माला कार्यालय, पटना-४; पृष्ठ संख्या ११०, मूल्य २।)

लेखक की यह पहली प्रकाशित पुस्तक है। इसमें हास्यरस के पाँच एकांकी संग्रहीत हैं, जिनसे पाठक अथवा दर्शक का अवश्य ही मनोरंजन होगा। इन नाटकों का रस निवेदन शहरी न होकर देहाती है और मनोरंजन भी अधिक सूक्ष्म नहीं है पर वह स्वस्थ अवश्य है। सभी एकांकियों का एक ही प्रमुख पात्र 'लोहासिंह' है जो खड़ी बोली मिश्रित भोजपुरी बोलता है। अन्य पात्र भोजपुरी बोलते हैं पर इस कारण से इन एकांकियों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। इनमें जगह-जगह व्यंग्य का भी पुट है और हास्य का तो ये पिटारा ही हैं। संक्षेप में इनमें लोकप्रियता के सभी गुण मौजूद हैं।

लंकेश्वर : लेखक—अम्बिका प्रसाद 'दिव्य' ; प्रकाशक—'साहित्य सदन' अजयगढ़, वी० पी० ; पृष्ठ संख्या १०६, मूल्य १॥)

लेखक ने रामायण की कहानी के आधार पर प्रस्तुत नाटक लिखा है। किन्तु रामायण में जहाँ राम के चरित्र को प्रमुखता दी गई है इस नाटक में रावण के चरित्र को दी गई है। रावण के चरित्र को इस प्रकार ऊपर उठाया गया है कि वह भी एक विचार-धारा का परिपोषक जान पड़ता है। आज के राजनीतिक युग में जब सब प्रकार के कार्यों के लिए किसी न किसी विचारधारा का आश्रय लेना अनिवार्य-सा हो गया है तो हम नाटक को समयोचित ही कहेंगे। नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह तीन-चार घंटे के भीतर ही खेला जा सकता है और भाषा व रंगमंच की दृष्टि से भी सफल है।

कविकुल गुरु : लेखक—कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ; प्रकाशक—सेवा प्रकाशन, गौतम बुद्ध मार्ग, लखनऊ ; पृष्ठ संख्या १७१, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी के आठ एकांकियों का संग्रह है। ये एकांकी संस्कृति और हिन्दी के क्रमशः आठ महाकवियों—महर्षि वेदव्यास, महाकवि कालिदास, जानिक, चन्द, सूर, रहीम, भूषण और निराला के जीवन को आलोकित करने वाली घटनाओं के आधार पर लिखे गए हैं। पुस्तक की विषय-सूची ही लेखक महोदय की साहित्य-निष्ठा की द्योतक है, यहाँ तक कि उन्होंने एक जीवित कवि 'निराला' तक को अपनी कल्पना के सहारे रंगमंच पर प्रस्तुत कर दिया है। ऐतिहासिक तथ्यता अथवा अभिनय की कसौटी पर इन एकांकियों को परखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यहाँ तक कि महाकवि निराला का एक स्वगत तो पृष्ठ १६७ से आरम्भ होकर पृष्ठ १७७ तक चलता है।

प्रादुर्भाव : लेखक—जगदीश, एम० ए०; प्रकाशक—राष्ट्रीय पुस्तक भण्डार, नई सड़क, देहली; पृष्ठ संख्या ६६, मूल्य ढाई रुपये।

प्रस्तुत नाटक कल्पना प्रधान रूपक है जिसके पात्र हैं शंकर, उमा, जीव, सूर्य, चन्द्र, मधुवन, अनिल, पुलिन, सागर, मेघ, सरिता, समीर, आशा, कामना, तृष्णा आदि। पात्रों की यह सूची अपूर्ण ही है। स्थान, काल, दृश्य आदि में भी इसी प्रकार कोई तारतम्य नहीं है। लेखक महोदय पौराणिक संसार की भूमिका-सी बाँधते हैं और फिर आधुनिक परमाणु युग की बातें करते हैं। पाठक की समझ में नहीं आता कि उनकी इस कल्पनाधारा के पीछे निहित आशय क्या है? पर इस विलक्षण कृति के निर्माण में लेखक ने काफी परिश्रम किया है यह स्पष्ट है।

दौलत विलास : लेखक—स्वर्गीय दौलतराम; सम्पादिका—श्रीमती सरोजिनी देवी जैन; प्रकाशक—श्री अ० वि० जैन मिशन; अलीगंज, एटा; पृष्ठ संख्या १११, मूल्य सदुपयोग।

जैन पत्रकारों में कविवर दौलतराम जी का अपना अलग स्थान है। इस पुस्तक में उनके पद संग्रहीत किए गए हैं। आशा है जैन-समाज में संग्रह का समुचित आदर होगा।

—जगदीश गोयल

मद्य-निषेध

"ग्रामात् अनिर्णयनं असंपातं च सुरायाः, प्रमाद भयात् कर्मसुनिर्दिष्टानां मर्यादातिक्रम भयात् आर्याणां उत्साह भयाच्च तीक्ष्णानाम्।

(कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय २५)

शराब न तो आबादी के भीतर चुआई (बनाई) जा सकेगी और न उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की अनुमति दी जाएगी। क्योंकि शराब से विभिन्न कार्यों पर नियुक्त राजकर्मचारियों में प्रमाद आने लगता है और जनता में झगड़े बढ़ जाते हैं। साथ ही शराब के व्यवहार से आर्यों की परम्परागत मर्यादा टूटने का भी भय है।

Published by the Dire tor, ublications Division, and printed by the Production Officer, U i.ed . ress Government of India, Old Secret.riat, Delhi.

Regd. No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित



अक्तूबर १९५६

आठ आना

दो महान् कृतियाँ

स्वाधीनता और उसके बाद :

१६४६ से १६४६ तक के ऐतिहासिक काल में दिए गए, जनजन वल्लभ नेता जवाहरलाल नेहरू के ५६ भाषणों का अनुपम संग्रह। राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत, निर्माणकारी प्रयत्नों के लिए प्रेरक इन भाषणों से कौन भारतीय वंचित रहना चाहेगा।

सुन्दर, आकर्षक छपाई, व अनेक चित्रों सहित, ४४२ पृष्ठों वाले इस सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ४) है। डाक व्यय १-१०-० अलग।



भारत की एकता का निर्माण :

राष्ट्रीय एकता के प्रणेता, सरदार वल्लभ भाई पटेल के २७ ऐतिहासिक भाषणों का अनुपम संग्रह। "लौह पुरुष" की अमर वाणी युगयुगान्तर तक प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए उत्साहवर्धक, प्रेरक व मार्गदर्शक रहेगी।

सुन्दर, आकर्षक छपाई, व अनेक चित्रों सहित, ३२२ पृष्ठों वाले इस सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ४) है। डाक व्यय १-८-० अलग।

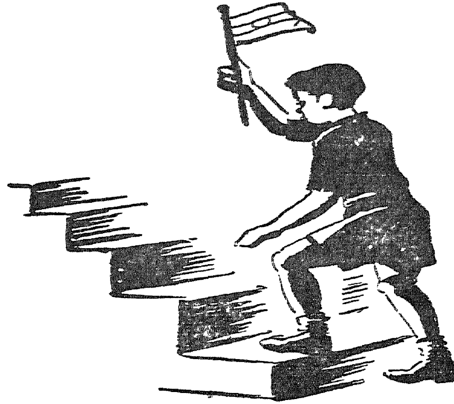


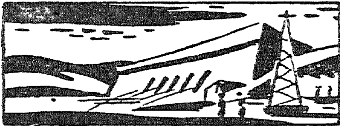
उपरोक्त दोनों पुस्तकें एक साथ मँगाने पर डाक व्यय नहीं लिया जाएगा।

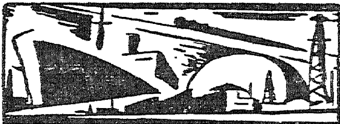
पब्लिकेशन्स डिवीज़न,
ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली–८

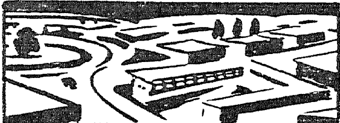
प्रगति के लिए आयोजन

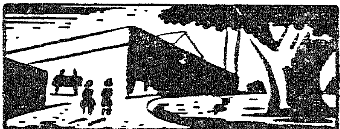
समाजवादी समाज की ओर...











जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा करके उसे समृद्ध और विविधतापूर्ण जीवन बिताने के लिए अवसर प्रदान करना हमारी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य है

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६)

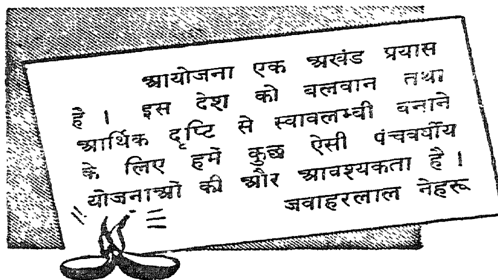
कार्यसिद्धि

- अधिक अन्न
- अधिक माल
- बेहतर समाज सेवाए
- अधिक रोजगार
- रहन-सहन का उन्नत स्तर

दूसरी पंचवर्षीय योजना (१९५६-६१)

मुख्य लक्ष्य

- राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि
- शीघ्र गति से औद्योगीकरण
- रोजगार सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार
- आय तथा सम्पत्ति की विषमताओं का निराकरण
- आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण



हमारी

दूसरी पंचवर्षीय योजना

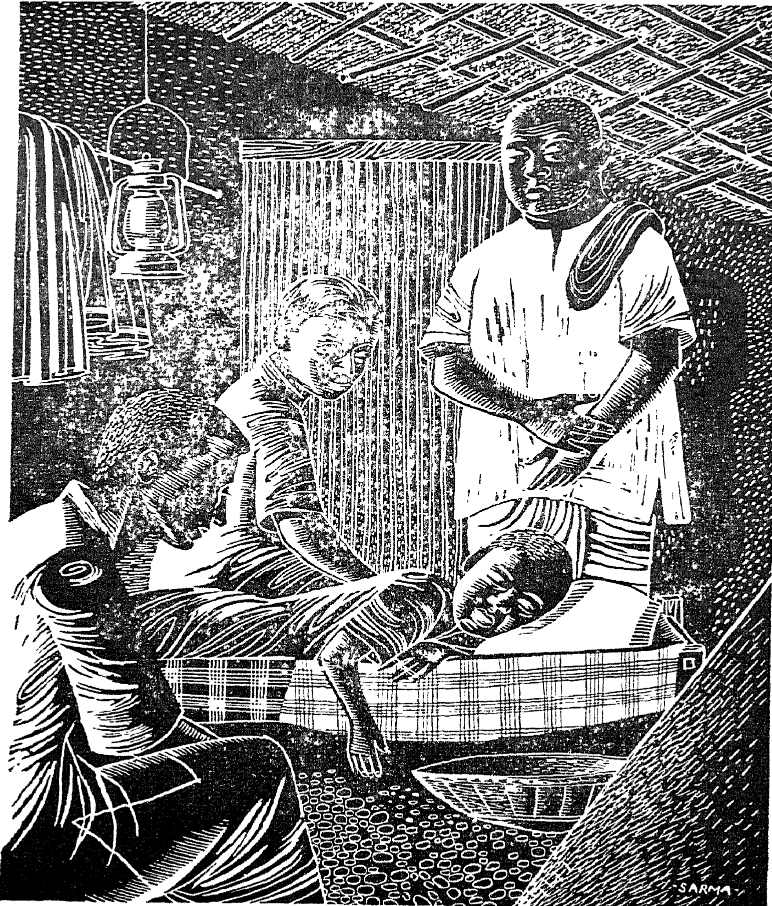
का ध्येय

राष्ट्रीय समृद्धि

OA 56/62

रोग से मुक्ति पाने की नयी आशा...

इस समय भारत में इतने सुशिक्षित डाक्टर और नर्सें नहीं हैं कि हर जगह के रोगियों की और खासकर गाँवों के बीमार-दुखियों की चिकित्सा कुशलतापूर्वक की जा सके। लेकिन १९५१/५६ वाली योजना की तुलना में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी कार्यों पर दुगना पैसा खर्च किया जायगा। १९५६ तक सामुदायिक योजना, राष्ट्रीय विस्तार तथा अन्य क्षेत्रों में ३,००० से भी अधिक 'स्वास्थ्य संगठनों' की स्थापना का विचार है। अस्पतालों में प्राप्य स्थान २६% बढ़ जायगा और देशभर के अस्पतालों में कुल मिलाकर ३०,००० पलंगों की वृद्धि हो जायगी।



देश में मलेरिया तथा फ़िलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम के लिए बर्मा-शैल अधिकाधिक परिमाण में लार्वानाशक तेल और दीर्घकालीन प्रभाववाले छिड़काव के तेल तैयार कर रहा है। हम देशभर में पेट्रोलियम से तैयार किये हुए कीटाणुनाशक तेल वितरित करते हैं। शैल पेट्रोलियम रासायनिक पदार्थ—एल्ड्रिन, डिल्ड्रिन और एण्ड्रिन देश के खाद्य पदार्थों की रक्षा कर रहे हैं। पेट्रोलियम से तैयार किये जानेवाले रासायनिक पदार्थों का प्रयोग रोग-निवारक औषधियाँ बनाने के लिए भी किया जा रहा है।

बर्मा-शैल . . .
भारत के जीवन का
एक अंग है !



वर्ष १२ अंक ६ पूर्णांक १४८

अक्तूबर १९५६

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८



वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, दस सेंट या नौ पेंस



जन्म : २ अक्तूबर १८६६ युग-निर्माता गांधी अवसान : ३० जनवरी १६४८



वर्ष १२ अक्तूबर १९५६ अंक ६

बंगला कविता

नगरलक्ष्मी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्रावस्तीपुर में जब पड़ा अकाल
हाहा रव से हुआ नगर बेहाल
कहा बुद्ध ने सभी भक्त से,
"लेने को भूखों का भोजन-भार
तुम में से है कहो कौन तैयार।"

यह सुन कर धनपति रत्नाकर सेठ
ज़रा देर तक किए रहा सिर हेंट
कहा जोड़ कर "क्षुधित नगर भर,
इतनों की कर सकूँ भूख मैं दूर—
ऐसी साध्य नहीं है, मैं मजबूर।"

बोल उठा जयसेन नाम सामंत,
"जो आदेश आपका है श्रीमंत
सिर आँखों पर लेता मैं धर
उर का लहू दिए जो चलता काज—
मेरे घर में अन्न कहाँ है आज।"

धर्मपाल बोला निश्वास निकाल,
"क्या बतलाऊँ, ऐसा जला कपाल—
स्वर्ण-प्रसू-सी खेती सूखी
राजा का कर देना हुआ मुहाल।
बेबस हूँ मैं, दीन-हीन, पामाल।"

यह उसको देखे, सब रहे अवाक
नहीं किसी के मुँह से फुरे जवाब
मौन सभा-घर व्यथित नगर पर
रहीं बुद्ध की दो आँखें अनिमेष
संध्या के तारे-सी करुण अशेष।

तब बढ़ आई आगे धीमी चाल
झुका लाज से माथा, रक्तिम भाल
व्यथा तरल-सी चरण कमल की—
रेणु बुद्ध की शीश चढ़ा अनमोल
वह अनाथ पिंडद की कन्या बोल।

"भिक्षुणियों में अधम सुप्रिया एक
यह आदेश उठाती है सिर टेक
अन्नहीन जो लोग रहे रो
वे सब ही तो हैं मेरी सन्तान
उनका कौर जुटाऊँगी भगवान।"

काठ सभी के मार गया यह—"हाय,
भिक्खु सुता भिक्खुनी निरी निरुपाय,
किस बूते पर यह अपने सर
उठा लिया गुरुतर कर्त्तव्य कठोर
क्या है पास तुम्हारे, किसके जोर?"

शीश झुका सबको बोली वह "मात्र
मेरा संबल यह भिक्षा का पात्र
मैं दरिद्रतम सबसे अक्षम
इसीलिए पाऊँगी दया विशेष
विजयी होगा प्रभु का यह आदेश।

तुम सब के घर-घर मेरा भंडार
भरा हुआ है अक्षय और अपार
जो तुम सब दो तो अक्षय हो—
पात्र; भीख से कर भूखों का त्राण
वसुधा के रक्षा कर लूँगी प्राण।"

—'कथा ओ काहिनी' से

अनुवादक—हंस कुमार तिवारी

युग-निर्माता गांधी

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

महात्मा गांधी को मैं इस युग का सबसे बड़ा एक आश्चर्य मानता हूँ। आज भारत में जो कुछ श्रेष्ठ है और नए भारत में जो प्राण-शक्ति है, उसके निर्माण में गांधी जी का हाथ सब से अधिक है। इसी कारण गांधी जी हमारे देश के राष्ट्रपिता माने जाते हैं और करोड़ों भारतवासी उन्हें 'बापू' नाम से याद करते हैं। गांधी जी का सम्पूर्ण जीवन चमत्कारपूर्ण रहा। वह सदा एक महान शक्ति बन कर रहे। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि वह अपने युग की सब से बड़ी शक्ति बन कर रहे। एक ऐसी महान शक्ति, जिसके सम्पर्क में जो भी आया, वह भी महानता की ओर बढ़ चला। ऐसी महान शक्ति, जो 'असत' से 'सत्य' की ओर ले जाती थी, 'तम' से 'ज्योति' की ओर ले जाती थी और 'मृत्यु' से 'अमृत' की ओर ले जाती थी।

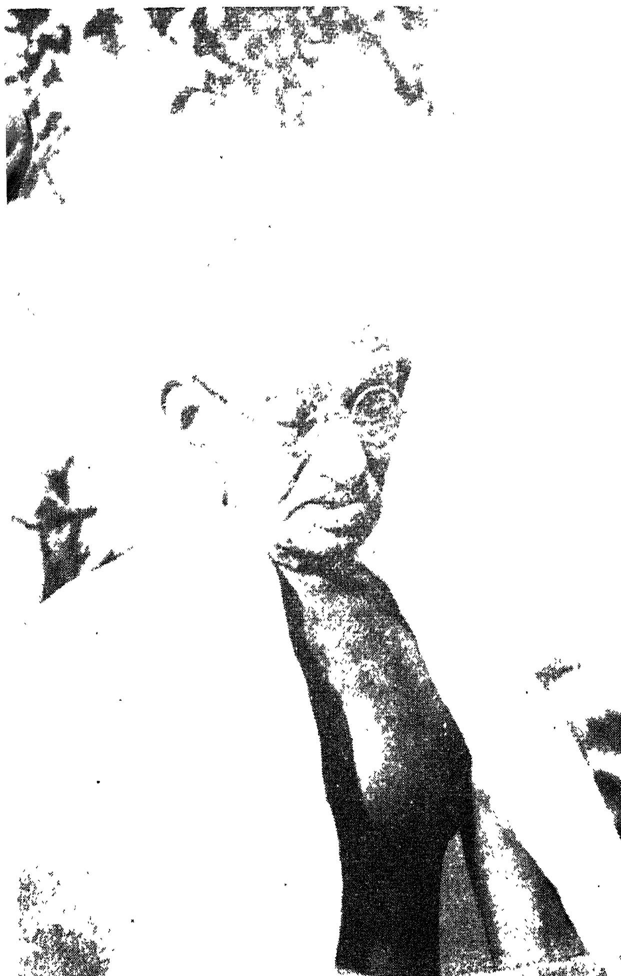
जहाँ तक यश और ख्याति का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि पिछले १२०० वर्षों के मानव-इतिहास में किसी अन्य व्यक्ति को उतना यश और उतनी ख्याति प्राप्त नहीं हुई जो गांधी जी को उनके जीवन काल ही में प्राप्त हो गई थी। वह जहाँ भी जाते थे, वही देश का केन्द्र बन जाता था; वह जहाँ भी रहते थे, वही स्थान देश का तीर्थ बन जाता था। जो बात वह सोचते थे, सारा देश वही बात सोचने लगता था; जो काम वह हाथ में लेते थे, वही काम सारा देश करने लगता था।

जितना शानदार गांधी जी का जीवन था, उतना ही शानदार उनका बलिदान भी हुआ। मानव-जाति के इतिहास में आज तक किसी एक व्यक्ति के देहावसान पर इतना व्यापक और इतना गहरा शोक और कभी नहीं मनाया गया। भारत में तो करोड़ों नागरिकों को ३० जनवरी १९४८ की साँझ सचमुच यह अनुभूति हुई, जैसे उनके पूज्य पिता का हाथ उन पर से उठ गया हो। यह सच है कि पुराने युग में इस तरह का समाचार कुछ मिनटों में भूमण्डल पर फैल भी नहीं सकता था, पर गांधी जी के लिए मानव-जाति के बड़े भाग में जो श्रद्धा और सम्मान विद्यमान था, वह उक्त पृथ्वीव्यापी शोक का सब से बड़ा कारण था।

नवीन भारत के राष्ट्रपिता एक असाधारण प्रतिभा सम्पन्न मानव थे, पर प्रतिभा तो और भी कितने ही लोगों में होती है। गांधी जी का हृदय बहुत विशाल था, पर भारत में विशालहृदयता की कमी कभी नहीं रही। उनमें अनथक कार्यशक्ति थी, पर अकेली कार्यशक्ति किसी को महान नहीं बना देती। उक्त सभी गुणों के साथ गांधी जी का एक अत्यन्त असाधारण गुण यह था कि वह एक महान साधक थे। और गांधी जी जैसा महान साधक इस विशाल पृथ्वी पर भी कभी-कभी जन्म लेता है।

गान्धी जी की साधना 'सत्य' की साधना थी। इसी साधना के लिए वह युग पुरुष जीया और इसी साधना में उसने अपने प्राण दिए। यह महान साधक आजीवन सत्य के सम्बन्ध में परीक्षण करता रहा। उस युग पुरुष के ये सत्य सम्बन्धी परीक्षण संसार के सब से महान् वैज्ञानिकों के महानतम परीक्षणों के समान सूक्ष्म पूर्ण थे और अपने क्षेत्र में उनका महत्त्व भी किसी बड़े-से-बड़े भौतिक परीक्षण से कम नहीं था।

भारत की इस पुण्य भूमि पर सत्य के ये महान परीक्षण कितनी ही बार किए जाते रहे हैं। युगों पूर्व हिमालय की उपत्यकाएँ वेदों की सत्य सम्बन्धी ऋचाओं से मुखरित हुई थीं। इसी भूमि पर उपनिषद्-कार महान द्रष्टाओं ने सत्य का चिन्तन किया था। भारत की यही धरती सत्य के महानतम साधक गौतम बुद्ध के चरणों से पवित्र हुई



प्रार्थना सभा में
ध्यानमग्न बापू

थी। भारत के उक्त सभी महान क्षणों के समान आज से सिर्फ १० वर्ष पहले के वे क्षण भी 'अमर क्षण' थे, जब इस युग का सबसे बड़ा सत्य साधक नंगे पाँव नोआखाली की यात्रा कर रहा था। उसने कहा था कि "मैं तीर्थ यात्रा कर रहा हूँ, इससे मैं नंगे पाँव पैदल चलता हूँ।" पर सच तो यह है कि इस यात्रा द्वारा वह देवपुरुष नए तीर्थों का निर्माण कर रहा था।



बापू चरखा चलाते हुए

महात्मा गान्धी की जीवनचर्या घड़ी के समान नियमित थी। प्रत्येक कार्य का समय निश्चित था और प्रत्येक कार्य ठीक अपने समय पर होता था। सन् १९३० की बात है कि जब इस अनोखे सन्त नेता ने उस ज़माने के विश्व के सब से अधिक शक्तिशाली देश इंग्लैंड को नमक का कानून तोड़ कर परास्त करने का अजीब-सा दिखाई देने वाला निश्चय किया था। उस युग के समझदार माने जाने वाले अधिकांश बुद्धिजीवी गांधी जी के इस निश्चय पर खुल कर हँसे थे। पर संसार भर ने पाया कि महात्मा गांधी की डांडी यात्रा के साथ-साथ प्रतिदिन भारत का रूप ही बदलता चला गया। इस देश का जनसमुदाय जैसे एकाएक सचेतन हो उठा। गांधी जी और उनके साथी जितना-जितना डांडी की ओर बढ़ते गए, देश भर की स्थिति गम्भीर-से-गम्भीरतर बनती चली गई। वह समय इस प्रकार का था कि भारत के लाखों व्यक्तियों को रात भर नींद न आती थी। सरकारी कर्मचारी अपनी चिन्ताओं के कारण सो न पाते थे, देश के स्वयं सेवकों को कार्य साधन की चिन्ता सोने न देती थी और लाखों भारतीय डांडी मार्च के समाचार और परिणाम जानने की उत्सुकता के कारण सो न पाते थे। उन दिनों भी अगर कोई ठीक समय पर निश्चिन्त होकर गहरी नींद सोता था, तो वह उक्त सम्पूर्ण आन्दोलन का सर्वोच्च नेता महात्मा गांधी ही था। आखिर एक दिन किसी ने गांधी जी से पूछ ही तो लिया—"बापू, आपने सारे देश की नींद हराम कर दी है और आप खुद इस तरह ठीक समय पर गहरी नींद सो जाते हैं! इसका रहस्य क्या है?"

बापू ने कहा—"देखो भाई, जब मैं सोने लगता हूँ तो अपने भगवान को याद करता हूँ। अपने इस राम से मैं कहता हूँ 'हे मेरे राम, तेरे काम की गठरी मैंने दिन भर पूरी ईमानदारी से सम्भाली है, अब मैं आराम करने जा रहा हूँ, सो अब अपनी गठरी तू आप सम्भाल!' और सब चिन्ताओं की गठरी भगवान को सौंप कर मैं निश्चिन्त सो जाता हूँ।"

इसी अनासक्त दिव्य साधना का एक शानदार उदाहरण नोआखाली में मिला था। नोआखाली में जो लोग अत्याचार पीड़ित हुए थे, उनके प्रति गांधी जी से बढ़ कर सहानुभूति और किस व्यक्ति के हृदय में हो सकती है। जिन दिनों सारा भारत अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की खुशियाँ मना रहा था, यह महान सन्त नोआखाली में पैदल चल कर अत्याचार पीड़ितों के आँसू पोंछ रहा था। उन्हीं दिनों गांधी जी एक ऐसे गाँव में पहुँचे, जहाँ जघन्य अत्याचारों की पराकाष्ठा हो गई थी। गांधी जी को वे सब हृदय-विदारक घटनाएँ सुनाई गई। उन्हें एक ऐसे मकान में ले जाया गया, जहाँ घर भर के

राष्ट्रपिता गांधी जी अपने राजनीतिक उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू के साथ





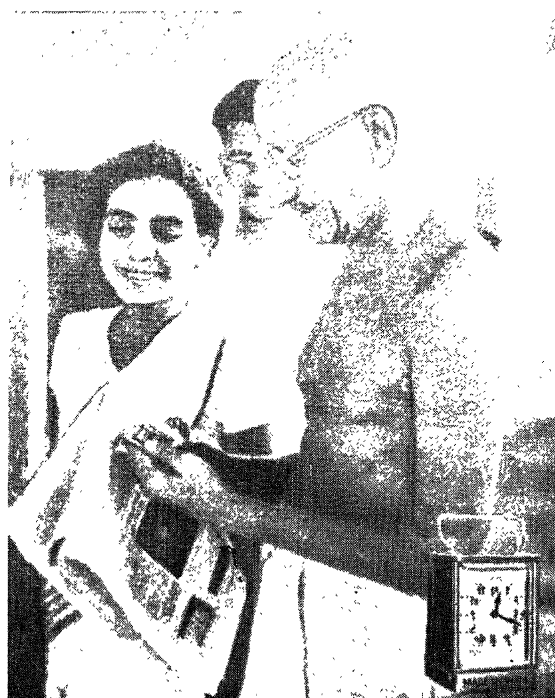
महात्मा [illegible] ट्रेन की खिड़की से झुक कर बम्बई आते हुए
बापू हरिजन फंड के लिए भिक्षा एकत्र करते हुए

सब प्राणियों की न सिर्फ निर्मम हत्या की गई थी, अपितु उन पर पैशाचिक अत्याचार भी किए गए थे। बच रही थी तो घर की एक बुढ़िया, जिसकी करुण दशा देखने तक में असह्य थी। घर भर में अत्याचार के प्रमाण बिखरे पड़े थे और उस सब के बीचोंबीच उक्त बुढ़िया को देख कर गांधी जी के साथ आए सभी लोग द्रवित हो उठे। उस जीवित बुढ़िया की दशा मृतक से भी अधिक करुणाजनक थी। गांधी जी के साथ उस मकान तक आए सभी लोग, हिन्दू-मुसलमान सब के सब, चुपचाप आँसू बहाने लगे। अगर किसी की आँख में आँसू नहीं आए, तो वह महात्मा गांधी थे। करुणा का वह महान हिमालय हिमवत् स्थिरता से चुपचाप वह करुणतम दृश्य देखता रहा!

हमारे देश का यह परम सौभाग्य है कि यह युग पुरुष नवीन भारत का निर्माता था। राष्ट्रीय निर्माण का कोई छोटे से छोटा क्षेत्र भी इस महान द्रष्टा की पैनी दृष्टि से बचा नहीं रहा। राष्ट्र निर्माण के सभी पहलुओं की ओर हमारे राष्ट्रपिता ने पूरा ध्यान दिया। किसी बात को उन्होंने छोटा या उपेक्षणीय नहीं समझा। राष्ट्र के समान व्यक्ति के जीवन को उच्च बनाने की दृष्टि से भी इस युग के इस सब से बड़े महात्मा का ध्यान जीवन की अत्यन्त छोटी-छोटी बातों की ओर भी उतना ही था, जितना बड़ी समझी जाने वाली बातों की ओर। जहाँ वह सारे राष्ट्र को मितव्ययता और प्राप्त साधनों के अधिकतम उपयोग की सलाह देते थे, वहाँ निजी जीवन में इस मितव्ययता और साधनों के अधिकतम उपयोग को इतना महत्त्व देते थे कि डाक में आए लिफाफों तक को सम्भाल कर रखते थे कि उनका उपयोग हो सके।

यदि महात्मा गांधी के महान आदर्शों के व्यावहारिक भाग को एक भी वाक्य में व्यक्त करना हो तो वह वाक्य इस प्रकार है—"व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र के लिए अच्छे लक्ष्य का होना ही पर्याप्त नहीं है। अच्छे लक्ष्य के साथ लक्ष्य प्राप्ति के लिए अच्छे साधनों का प्रयोग उतना ही आवश्यक है।" यह एक बहुत बड़ी बात महात्मा गांधी ने हमारे देश के सम्मुख लक्ष्य के रूप में रक्खी है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिस पर चल कर हम कभी गुमराह नहीं हो सकते। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिस पर आचरण करते हुए कभी कोई व्यक्ति मार्गभ्रष्ट नहीं हो सकता। और यही एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर आचरण करने से ही मानव जाति का भविष्य सुनिश्चित और आशापूर्ण बन सकता है।

महात्मा गांधी एक स्वदेशी साड़ी का निरीक्षण करते हुए



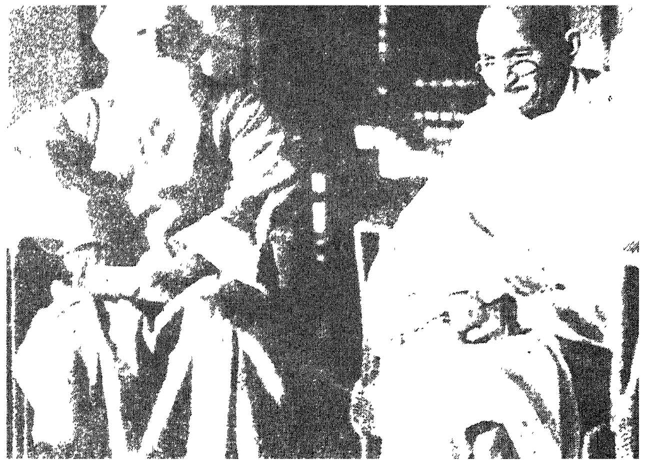
सच बात तो है कि लक्ष्य तो कब किस ने प्राप्त किया है ? प्रत्येक क्षेत्र में जीवन का लक्ष्य रात के तारों के समान दूर ही दूर बना रहता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी के जीवन में जब एक लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाता है, तो दूसरा लक्ष्य सामने आ जाता है, जैसे पहाड़ की एक चोटी पर चढ़ते ही दूसरी और भी बड़ी चोटी दिखाई देने लगे। सैंकड़ों-हज़ारों सालों से मानव समाज किसी न किसी लक्ष्य की ओर बढ़ता रहा है और आने वाले हज़ारों सालों में भी वह किसी न किसी लक्ष्य की ओर बढ़ता रहेगा। जीवन में लक्ष्य की महत्ता बहुत बड़ी है, क्योंकि वह मंज़िल के अगले पड़ाव के समान जीवन को दिशा देता रहता है। पर जो असली जीवन हम जीते हैं, वह सब तो साधन ही साधन है, यानी राह ही राह है। इस कारण यदि साधन अपवित्र हुआ तो सारा जीवन ही अपवित्र हो गया। इसी कारण व्यक्ति, राष्ट्र और समाज के जीवन में एक बुराई कितनी ही अधिक बड़ी बुराइयों को जन्म देती है। हमारा आज का लक्ष्य कल मंज़िल का एक पड़ाव बन जाएगा और नया लक्ष्य हमारे सामने आ खड़ा होगा। अगर पथिक गलत राह पर चल दिया तो वह ठीक मंज़िल पर कहाँ पहुँच पाएगा ?

और एक दिन यह महान युग पुरुष एक क्षण का भी नोटिस दिए बिना चुपचाप अपने 'राम' के पास चला गया। मानव जाति के इतिहास में ऐसे महान जीवन का इतना विराट अन्त कभी-कभी ही हुआ है। और जब वह युग पुरुष इस तरह एकाएक चला गया तो मानव जाति ने पाया कि इस एक मृत्यु से माता पृथ्वी का आँचल कितना सूना-सूना हो गया है।

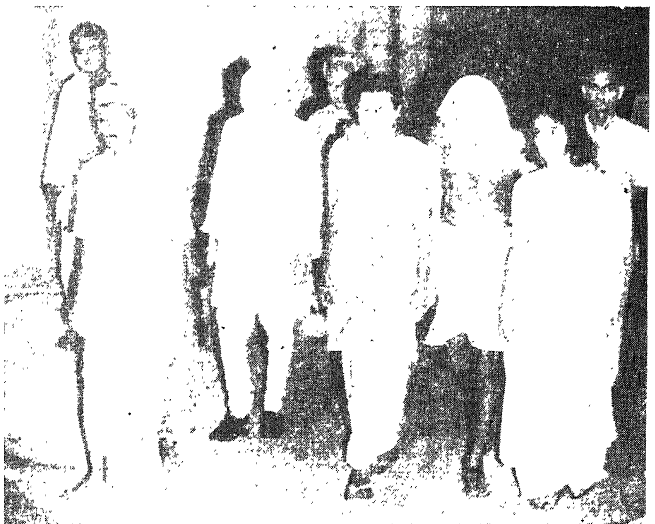
जब वह महान अपरिग्रही चला गया, तो यह देख कर विश्व भर के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि जिस व्यक्ति के इशारे मात्र पर करोड़ों रुपया एकत्र हो जाता था, वह व्यक्ति अपनी निजी सम्पत्ति के रूप में छोड़ गया है : एक चप्पल की जोड़ी, एक ऐनक, एक घड़ी, कुछ कपड़े और तीन बन्दरों की एक मूर्ति !

परन्तु वह युग पुरुष न सिर्फ हमारे देश के लिए अपितु विश्व भर के लिए एक ऐसी विरासत छोड़ गया है, जो आज तक की सभी प्राप्त सम्पत्तियों से अधिक मूल्यवान है। उस विरासत के रूप में वह एक ऐसा क्रियात्मक आदर्श छोड़ गया है, जो आदर्श आज के एटम शक्ति युग में मानव जाति की रक्षा कर सकेगा।

आज से ठीक ८७ वर्ष पूर्व इस महान विभूति का जन्म हुआ था। इस पुण्य पर्व पर सारा राष्ट्र अपने बापू की वन्दना करता है।



भारत की दो अमर विभूतियाँ : गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी



सन् १९४६ में भंगी कोलोनी के निवास के दिनों में



१९४१ में इलाहाबाद में कमला नेहरू हस्पताल के उद्घाटन अवसर पर

स्वेज़—'राष्ट्रीयकरण' बनाम 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण'

अमरनाथ विद्यालंकार

"इस संकट का मूल कारण है, राष्ट्रों में परस्पर विश्वास तथा सद्भावना का अभाव। परन्तु विश्वास और सद्भावनाएँ न तो प्रस्ताव पास कर देने से उत्पन्न हो सकती हैं, और न उनके उत्पन्न होने के लिए कोई समय की अवधि ही नियत की जा सकती है।

"हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इधर एक महाद्वीप है, जो जाग उठा है। यह बड़ी भूल होगी यदि इस महाद्वीप की कोमल अनुभूतिशील भावनाओं की उपेक्षा कर दी जाएगी। जो राष्ट्र अभी कुछ समय पहले तक साम्राज्यवाद की श्रृंखलाओं में जकड़े पड़े थे, वे अपने राष्ट्रीय अधिकारों और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को स्वभावतः ज़रूरत से अधिक भी महत्त्व दे सकते हैं। परन्तु उन्हें यकीन दिलाना ज़रूरी है कि दूसरे राष्ट्रों के साथ सहयोग के बहाने उनकी प्रभुसत्ता को सीमित कर देने का इरादा किसी का नहीं है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब पहले उन राष्ट्रों को परस्पर बातचीत द्वारा मामलों को तय करने के लिए राज़ी कर लिया जाए।"

"स्वेज़ नहर के प्रश्न में भारत को उतनी ही गहरी दिलचस्पी है, जितनी दूसरे राष्ट्रों को है। दूसरे अनेक राष्ट्रों की भाँति भारत के लिए भी यह नहर 'जीवन वाहिनी' है। भारत जो माल विदेशों से मँगाता है, उसका ७६ प्रतिशत और जो माल विदेशों को भेजता है, उसका ७० प्रतिशत इसी नहर की राह से गुज़रता है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वेज़ का मार्ग कभी किसी दशा में भी अवरुद्ध न हो। परन्तु भारत इस समस्या पर संकुचित कानूनी दृष्टि से विचार नहीं करता, बल्कि संसार की व्यावहारिक आवश्यकताओं की दृष्टि से इस नहर का दुनिया के लिए सदियों तक जो महत्त्व रहेगा, उस सब को दृष्टि में रख कर हम अपनी नीति निर्धारित करते हैं। यदि शान्तिपूर्ण समझौते का मार्ग न अपनाया गया तो इस नीति के विकल्प बहुत ही भयंकर नज़र आ रहे हैं।"

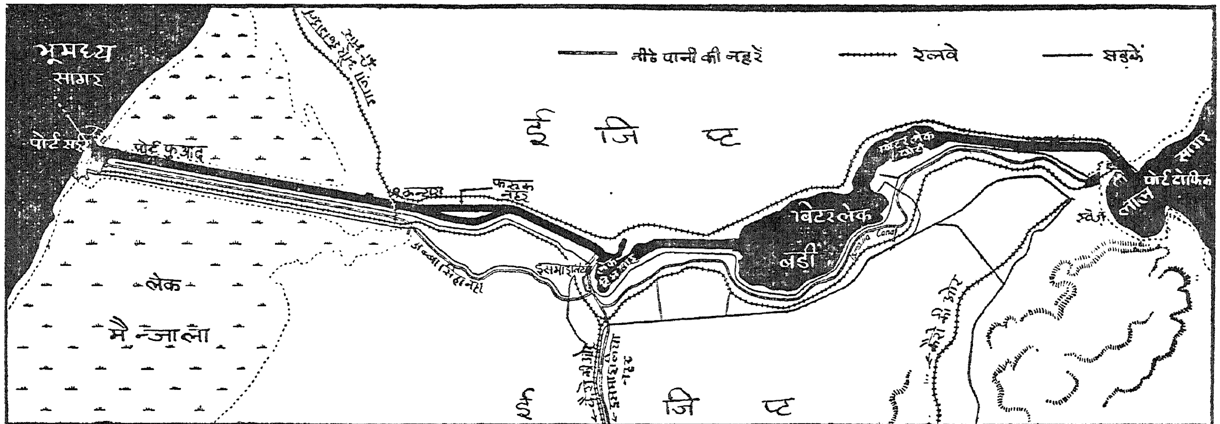
उपर्युक्त शब्दों में भारत के प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने लन्दन की स्वेज़ कान्फ्रेंस में भारत का दृष्टिकोण पेश किया, और श्री डलेस के सप्त सूत्री प्रस्ताव के मुकाबले में अपना पंच-सूत्री प्रस्ताव उपस्थित किया। संसार के २२ राष्ट्र इंग्लैंड, फ्रान्स तथा अमेरिका के निमन्त्रण पर लंदन में स्वेज़ नहर के प्रश्न पर विचार करने के लिए एकत्र हुए थे। १६ अगस्त से २३ अगस्त १९५६ तक यह कान्फ्रेंस जारी रही। १७ राष्ट्रों ने श्री डलेस के प्रस्ताव को कुछ मामूली संशोधनों के साथ स्वीकार किया। परन्तु भारत, सोविएट यूनियन, श्री लंका और इण्डोनेशिया ने भारत के प्रस्ताव का समर्थन किया। न्यूज़ीलैंड के प्रतिनिधि ने प्रस्ताव उपस्थित किया था कि कान्फ्रेंस के बहुमत का प्रस्ताव पाँच देशों के प्रतिनिधियों की मार्फत मिस्र के प्रधान मन्त्री के पास भेजा जाना चाहिए। परन्तु कान्फ्रेंस ने यह स्वीकार नहीं किया, क्योंकि कान्फ्रेंस के आरम्भ ही में यह निर्णय कर दिया जाएगा कि कान्फ्रेंस का कोई निर्णय बहुमत के ज़ोर से नहीं किया जाएगा। भारत और कुछ दूसरे राष्ट्र ऐसा वायदा लेकर ही लन्दन कान्फ्रेंस में शरीक हुए थे।

२६ जुलाई १९५६ को मिस्र की राज्य क्रान्ति की पाँचवीं सालगिरह के अवसर पर भाषण देते हुए मिस्र के गेमाल अब्दुल नासिर ने स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की। एशिया तथा पूर्वीय जगत के राष्ट्रों ने इस घोषणा को मिस्र के नवजागरण और उत्थान का प्रतीक तथा जर्जरित साम्राज्यवाद के मरणोन्मुख होने की एक और सूचना मान कर इसका हृदय से स्वागत किया। इंग्लैंड, फ्रांस, तथा अमेरिका ने अपनी सत्ता के लिए इसे एक चैलेंज समझा और इन देशों ने कुछ ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि दुनिया को प्रतीत हुआ कि जिसके लिए पश्चिमी देश निरन्तर शस्त्रास्त्र संग्रह और युद्ध सज्जा कर रहे थे, वह घड़ी आज आ ही पहुँची है। इंग्लैंड और फ्रांस ने अपनी स्थल सेनाओं और जंगी बेड़े को हरकत दी और उन्हें भूमध्य सागर की ओर रवाना करना आरम्भ कर दिया। लामबन्दी के हुक्म जारी हो गए। हवाई जहाज़ों पर लाद-लाद कर इंग्लैंड ने अपनी फौज अपने भूमध्य सागर में स्थित सैनिक अड्डों पर उतारनी शुरू कर दी। शस्त्रों की इस झनझनाहट ने एक बार तो संसार को सहमा ही दिया कि शायद महासमर की भेरी बस बजा ही चाहती है।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यपूर्व के राष्ट्रों की भावनाओं का कुछ अधिक ज्ञान संयुक्त राज्य अमेरिका को था। अरब राष्ट्रों से लड़ाई मोल लेना और वहाँ के तेल क्षेत्रों को—जिनमें अमेरिका के स्वार्थ विशेष रूप से हैं—रणांगण बना देना, भयंकर खतरा मोल लेने वाली बात थी। अमेरिका की सलाह पर तीनों राष्ट्रों—इंग्लैंड, फ्रांस तथा अमेरिका—ने निश्चय किया कि राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुला कर कुछ और राष्ट्रों का भी समर्थन प्राप्त कर लिया जाए। इसीलिए सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए २४ राष्ट्रों को निमन्त्रण भेजे गए—मिस्र, फ्रांस, इटली, नीदरलैंड, स्पेन, टर्की, इंग्लैंड, सोविएट यूनियन—ये आठ राष्ट्र ऐसे थे, जिन्होंने सन् १८८८ की स्वेज़ सम्बन्धी संधि पर हस्ताक्षर किए थे। इनके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, सीलोन, डेनमार्क एथियोपिया, पश्चिमी जर्मनी, यूनान, भारत, इण्डोनेशिया, ईरान, जापान, न्यूज़ीलैंड, नार्वे, पाकिस्तान, स्वीडन, पोर्चुगाल और अमेरिका को निमन्त्रित किया गया था।

सम्मेलन में किन राष्ट्रों को बुलाया जाए और किन्हें न बुलाया जाए इसका निश्चय किसी निश्चित असूल पर नहीं किया गया था।

कहा यह गया कि जो राष्ट्र स्वेज़ नहर का ज़्यादा उपयोग करते हैं, अथवा सन् १८८८ की संधि में जो राष्ट्र सम्मिलित थे, उन्हीं को निमन्त्रण भेजे गए हैं। परन्तु इस असूल का पूरी तरह पालन नहीं किया गया। भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में जब आठ अगस्त को यह घोषणा की कि भारत ने इस सम्मेलन में शरीक होने की स्वीकृति दे दी है, तो उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से कहा कि हम इस सम्मेलन को संसार के राष्ट्रों का पूरा प्रतिनिधि सम्मेलन नहीं मान सकते। भारत के प्रधान मंत्री ने कहा था—"भारत सरकार इस बात से चिन्तित है कि कई ऐसे राष्ट्रों को सम्मेलन में निमन्त्रित नहीं किया गया, जिन्हें सन् १८८८ की संधि पर हस्ताक्षर करने वालों की श्रेणी में शुमार किया जाना चाहिए था, अथवा स्वेज़ नहर का प्रधानता से उपयोग करने वालों में गिना जाना चाहिए था।" प्रधान मंत्री ने बर्मा के न बुलाए जाने पर खेद प्रकट किया और सन् १८८८ में संधि पर हस्ताक्षर करने वालों की श्रेणी में युगोस्लाविया 'पुराने आस्ट्रिया हंगरी' का उत्तराधिकारी है, जिसने सन् १८८८ की संधि पर हस्ताक्षर किए थे। इन



राष्ट्रों की श्रेणी में पूर्वी जर्मनी चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, आस्ट्रिया, हंगरी भी आते थे, जिन्हें बुलाया जाना चाहिए था। स्वेज़ के यातायात में इन देशों का भी कम स्वार्थ नहीं है। सम्मेलन के समय अनेक देशों ने इस बात की शिकायत की।

मिस्र सम्मेलन में शरीक नहीं हुआ और उसने शरीक न होने की एक वजह यह भी बतलाई कि यह सम्मेलन किसी भी दृष्टि से उन राष्ट्रों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता था, जो स्वेज़ का उपयोग करते हैं। उपर्युक्त जिन यूरोपियन राष्ट्रों के नाम लिखे गए हैं, उनके अतिरिक्त अरब के सम्पूर्ण राष्ट्र इस नहर के साथ हर लिहाज़ से बँधे हुए हैं। अरब राष्ट्रों का सारा व्यापार, तेल और अन्य वस्तुओं का यातायात स्वेज़ के मार्ग से ही होता है। परन्तु इन राष्ट्रों की उपेक्षा कर दी गई। इस लिए इस सम्मेलन के निर्णयों को सम्पूर्ण संसार का समर्थन प्राप्त हो, ऐसी बात नहीं कही जा सकती थी। हाँ, यदि यूनाइटेड नेशन्स में यह मामला लाया जाता तो वहाँ बात ही कुछ और होती। वहाँ अन्य राष्ट्र भी उपस्थित होते और वहाँ जो निर्णय होता, उसको नैतिक बल प्राप्त होता।

सम्मेलन का कार्यक्रम तथा उद्देश्य जो निमन्त्रण पत्र में दर्ज था, वह यह था—"यह विचार करना कि स्वेज़ नहर के प्रबन्ध संचालक कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में किस प्रकार लाया जाए, जिससे सन् १८८८ की संधि में वर्णित यातायात की सम्पूर्ण सुविधाएँ सब राष्ट्रों को समान रूप से उपलब्ध होती रहें। स्वेज़ नहर की कम्पनी का स्वरूप प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय रहा था, क्योंकि इसके हिस्सेदार, डायरेक्टर और कार्यकर्ता विभिन्न देशों के नागरिक थे। परन्तु स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण से सारा सम्बन्ध मिस्र की सरकार के हाथों में चला जाएगा। इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था पर एक राष्ट्र ने अपना कब्ज़ा जमाने का प्रयत्न किया है, जिसके कारण इस नहर का प्रबन्ध अब प्रधानतया एक ही राष्ट्र के हितों की दृष्टि से चलाया जाएगा। इसीलिए इस संकट का उपाय सोचने के लिए यह सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया है।"

यह स्पष्ट है कि जिस ढंग से और जिस वातावरण में सम्मेलन बुलाया गया था वह शान्तिपूर्ण समझौते की राह निकालने में सहायक नहीं था। उलटे उससे सन्देह और घबराहट का वातावरण बना। सम्मेलन से ठीक पहले इंग्लैंड ने मिस्र का तमाम लेखा-जोखा, जो ब्रिटिश आधिपत्य की सीमा में था, ठप कर दिया और अनेक प्रकार की आर्थिक पाबन्दियाँ लगा कर मिस्र को आर्थिक कष्ट में डालने की चेष्टा की। दोनों ओर से बदले की भावना से काम होने लगा। ऐसी दशा में लन्दन सम्मेलन कौन सी राह निकाल सकेगा, इस विषय में सभी परेशान थे।

सम्मेलन में क्या कुछ हुआ, इसे जानने से पहले हमें स्वेज़ की ऐतिहासिक तथा वर्तमान स्थिति पर संक्षेप से नज़र दौड़ा लेनी चाहिए।

भूमध्य सागर तथा लाल सागर को पृथक करने वाली ज़मीन की एक कम चौड़ी पट्टी को काट कर स्वेज़ नहर निकाली गई है। प्राचीन समय में यूरोप के देशों में आने-जाने वाले जहाज़ भूमध्य सागर के तटों

पर रुक जाते थे। सारा माल-असबाब और सवार कुछ मील का पैदल सफ़र रेगिस्तान में करते थे और फिर लाल सागर के बन्दरगाहों से नए जहाज़ों पर सवार होते थे। यदि जहाज़ों से उतरना कबूल न हो और जलयात्रा ही करनी हो तो उसके लिए अफ्रीका के नीचे 'केप' से घूम कर आना होता था, जिसमें समय और धन का अपव्यय होता था। स्वेज़ के मार्ग से ४००० मील का रास्ता कम हो जाता है।

इतिहास बतलाता है कि इस स्थल मार्ग को काट कर भूमध्य सागर तथा लाल सागर को मिलाने वाली जल प्रणालिकाएँ प्राचीन युग में भी बनाई गई थीं। ईसा से १३ सौ बरस पहले कहा जाता है कि ऐसी कोई नहर थी। आठवीं सदी तक एक नहर थी जो नील नदी को लाल सागर से मिलाती थी। जहाज़ नील नदी के मुहाने में घुस कर कुछ दूर जाते और फिर नहर के ज़रिए लाल समुद्र में दाख़िल हो जाते थे। परन्तु ये सब नहरें छोटी-छोटी थीं। रेत के भयंकर तूफ़ान नहरों को हर साल रेत से भर देते थे, और इन नहरों को चालू न रखा जा सका। १६वीं सदी के यूरोप के कई राष्ट्र ऐसी योजनाएँ सोचने लग गए, जिनके द्वारा यहाँ फिर कोई अच्छा जल-मार्ग काटा जा सके। नेपोलियन जब मिस्र में आया तो उसने इस योजना में बहुत दिलचस्पी दिखाई। परन्तु १९वीं सदी के मध्य तक यह विचार व्यावहारिक शक्ल अख्तियार न कर पाया। फ्रेंच इन्जीनियर और फ्रांस के एक अधिकारी फ़र्डिनेंड डि लेसेप ने इस योजना में व्यावहारिक दिलचस्पी ली। उस समय मिस्र पर टर्की का साम्राज्य था और टर्की के सुलतान का वायसराय (ख़दीव) मिस्र का शासन कार्य चलाता था। लेसेप ने उसके साथ अपनी योजना की चर्चा की। ख़दीव सैय्यद पाशा ने योजना को स्वीकार किया और नहर चालू होने से लेकर ९९ साल का ठेका इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए स्थापित हुई एक कम्पनी को देना स्वीकार किया। सन् १८५६ में अहदनामा लिखा गया। सन् १८६६ में टर्की के सुलतान ने उसकी मंज़ूरी दी।

सन् १८५९ में खुदाई का काम शुरू हुआ और दस वर्षों में अर्थात १७ नवम्बर १८६९ को यह कार्य समाप्त हुआ। अहदनामे के अनुसार इस तारीख से आरम्भ होकर १०० वर्षों का ठेका कम्पनी को मिला। इसलिए १७ नवम्बर १९६९ को कम्पनी का ठेका अपने आप समाप्त हो जाता है। इस लिहाज़ से यह बात ध्यान में रखने की है कि यदि कर्नल नासर स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण की घोषणा न भी करते तो भी १७ नवम्बर १९६९ को कम्पनी का ठेका समाप्त हो जाने को था, और आपसे आप इस नहर पर मिस्र का सम्पूर्णतया अधिकार हो जाता। नहर की सम्पूर्ण सम्पत्ति भी मिस्र की मिल्कियत बन जाने वाली थी।

नहर बनाने में सन् १८६९ तक सब खर्च १,६६,३२,९५३ पौंड आया था। कम्पनी की पूँजी ८० लाख पौंड थी। इस घाटे की पूर्ति कर्ज़ा लेकर पूरी की गई।

प्रारम्भ ही से इंग्लैंड के जहाज़ इस नहर का ज्यादा उपयोग करते रहे। सन् १८७५ में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री डिज़रौली ने मिस्र के ख़दीव से सब हिस्से खरीद लिए। ये हिस्से आधे के लगभग थे (१,७६,६०२)। इंग्लैंड और वहाँ के व्यापारियों ने ख़दीव को बहुत-सा रुपया सूद पर दे रखा था। यह रुपया किसी प्रकार के उन्नति के कार्यों पर नहीं, बल्कि ख़दीव के भोग-विलास के सामान जुटाने में ही खर्च होता था। जब रकम ज्यादा बढ़ गई और रुपया चुकाने का कोई रास्ता नज़र न आया तो कई प्रकार से ख़दीव पर दबाव डाल कर और डरा-धमका कर ये हिस्से ले लिये गए, जिनकी कीमत केवल ४० लाख पौंड लगाई गई, जो ख़दीव के कर्ज़ों में मुजरा कर ली गई।

इस प्रकार इंग्लैंड के पास कम्पनी के हिस्सों का आधे से ज्यादा भाग आ गया। प्रारम्भ में इंग्लैंड का कम्पनी में दख़ल नहीं था, लेकिन अब धीरे-धीरे दख़ल बढ़ने लगा। पहले इंग्लैंड के २४ में से केवल ३ डायरेक्टर थे। सन् १८८२ में ख़दीव के विरुद्ध मिस्र में बग़ावत हुई। ख़दीव ने अंग्रेज़ी फौजों को अपनी रक्षा के लिए बुला भेजा। बहाना यह बनाया गया कि ये फौजें स्वेज़ की रक्षा के लिए ख़दीव ने बुलाई हैं। तब से ब्रिटिश फौजें स्वेज़ पर जम कर बैठ गईं। बोर्ड में डायरेक्टरों की संख्या ३२ कर दी गई, जिनमें १० इंग्लैंड के थे। आजकल बोर्ड में १६ फ्रेंच, ९ ब्रिटिश, ५ मिस्री, १ अमेरिकन और १ हालैंड का डायरेक्टर है। हिस्सेदार ही डायरेक्टरों को चुनते हैं—पर प्रायः वही लोग उम्र भर डायरेक्टर बने रहते हैं।

कम्पनी मिस्र में रजिस्टर हुई थी और इसलिए उस पर मिस्र का कानून लागू है, परन्तु उसका मुख्य दफ्तर मिस्र में न होकर पैरिस में है। मिस्र में भी उनका एक दफ्तर है।

कम्पनी की पूँजी २० करोड़ फ्रांक या ८० लाख पौंड निश्चित हुई थी। इसे ४ लाख हिस्सों में बाँटा गया था। जिन देशों को स्वेज़ में दिलचस्पी हो सकती थी उनके लिए हिस्से रखे गए थे। परन्तु एशिया और अरब के देश उस समय चेतना में न थे, इसलिए उन्हें किसी ने न पूछा। इंग्लैंड, आस्ट्रिया, रूस और अमेरिका ने प्रारम्भ में कोई हिस्से नहीं खरीदे थे। मिस्र के ख़दीव ने ६ करोड़ फ्रांक के हिस्से खरीदे थे।

कम्पनी की मुख्य आय उस चुंगी पर निर्भर है, जो स्वेज़ में से गुज़रने वाले जहाज़ों को अदा करनी पड़ती है।

स्वेज़ कम्पनी ने इस नहर से बहुत नफ़ा उठाया है। अकेले ब्रिटेन ने ४० लाख पौंड के सरमाया पर हर साल लगभग इतना ही मुनाफ़ा हासिल किया है। सन् १९३२ में इंग्लैंड के हिस्से ३५ लाख पौंड मुनाफ़े का आया था। मिस्र पर इसी नहर की वजह से इंग्लैंड का ज़बर्दस्त सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण कायम हो गया।

कम्पनी की आय का विभाग इस समय इस रीति पर किया जाता है। ७१ प्रतिशत हिस्सेदारों में बाँटा जाता है। १५ प्रतिशत मिस्र सरकार को, १० प्रतिशत कम्पनी के संस्थापकों को २ प्रतिशत डायरेक्टरों को, २ प्रतिशत कर्मचारियों की पैंशन के लिए। सन् १९५५ में कम्पनी को सवा सोलह अरब फ्रांक का मुनाफ़ा हुआ (१००० फ्रांक = १ पौंड) दूसरे शब्दों में प्रति वर्ष औसत १० करोड़ डालर का मुनाफ़ा होता है।

मार्च १९४९ में मिस्र के साथ समझौता हुआ जिसके ज़रिए यह तय हुआ कि डायरेक्टरों में मिस्रवासियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ाई

जाए। यह भी तय हुआ कि जो मुलाज़मतें रिक्त होंगे उनमें से प्रत्येक पाँच मुलाज़मतों में से चार मिस्री नागरिकों को दी जाया करेंगी। अफ़सरों के रिक्त स्थानों का पूर्ति करते हुए भी प्रत्येक दस उच्च पदाधिकारियों में से नौ पदाधिकारी मिस्रवासियों में से होंगे।

सितम्बर १९५५ में मिस्र की सरकार ने कम्पनी को सूचना दी कि मिस्र सरकार कम्पनी के इस अधिकार को वापस लेना चाहती है, जिसके ज़रिए वह अपनी आमदनी का अधिकांश रुपया मिस्र से बाहर ही उगाहती है, और वह रुपया मिस्र से बाहर ही रखा जाता है। जून १९५६ में कम्पनी के साथ जो नया समझौता हुआ, उसके अनुसार मिस्र की सरकार ने कम्पनी को मिस्र से बाहर रुपया उगाहने और रखने का अधिकार तो दे दिया, परन्तु साथ ही कम्पनी ने यह इकरार भी किया कि कम्पनी भविष्य में अपनी ज्यादा से ज्यादा पूँजी मिस्र में रखेगी। सन् १९५६ के ख़तम होने से पहले मिस्र में रखा हुआ कोष १ करोड़ मिस्री पौंड तक पूरा कर दिया जाएगा। सन् १९५७ में १ करोड़, ३० लाख तक, सन् १९५८ में डेढ़ करोड़ मिस्री पौंड तक यह कोष मिस्र में रहेगा।

स्वेज़ नहर की कुल लम्बाई १०१ मील है। इसकी गहराई ज्यादा से ज्यादा ३१ फुट है। इसकी चौड़ाई १९६ फुट से २४६ फुट तक है। मोड़ों पर चौड़ाई ज्यादा है, जहाँ वह २६२ फुट से ३६० फुट तक हो जाती है।

सन् १८६९ में जब स्वेज़ नहर बन कर तैयार हुई थी, तो उसकी चौड़ाई केवल ७२ फुट थी और गहराई २६ फुट। आमने-सामने से आने वाले जहाज़ों को लँघाने के लिए आठ स्टेशन थे जहाँ चौड़ाई ८९ फुट थी। अभी हाल तक कम्पनी ने कई सुधार नहर की बनावट में किए हैं। उस ज़माने में इतने बड़े-बड़े, जहाज़ नहीं होते थे। आज बहुत बड़े-बड़े जहाज़ नहर में से होकर गुज़रते हैं। तथापि जहाज़ अब इतने विशालकाय होते जा रहे हैं कि अभी तक दुनिया के सबसे बड़े जहाज़ इस नहर में से होकर नहीं गुज़र सकते। तेल ढोने वाले बड़े-बड़े टेंकर भी पूरे भर कर नहर स्वेज़ में से नहीं निकल सकते पूरे भरे हुए ४५ हज़ार टन के टेंकर नहर में से न गुज़र कर 'केप' के रास्ते घूम कर यूरोप पहुँचते हैं और इससे उन्हें २५ से ३० प्रतिशत तक की बचत हो जाती है।

इसलिए योजना यह है कि १२ करोड़ पौंड खर्च करके एक नई नहर बनाई जाए, जिससे यातायात की सुविधाएँ अधिक हो जाएँ। १९३८ में प्रतिदिन औसतन १७ जहाज़ नहर में से गुजरते थे, सन् १९४८ में २१ जहाज़। अब नहर में ऐसा सुधार करने की योजनाएँ हैं कि ४५ से ५० तक बड़े-बड़े जहाज़ प्रतिदिन नहर में से गुजर सकें।

नहर को ठीक हालत में रखने के लिए निरन्तर खुदाई और गाट निकालने का काम जारी रखना पड़ता है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, इस नहर का ज्यादा उपयोग प्रारम्भ से ही इंग्लैंड करता था, परन्तु अब धीरे-धीरे दूसरे देश भी इसका अधिक उपयोग करने लगे हैं। सन् १९३८ में स्वेज़ में से होकर गुजरने वाले ५० प्रतिशत जहाज़ इंग्लैंड के थे। सन् १९४८ में इंग्लैंड का हिस्सा ३७ प्रतिशत हो गया। अब लाइबेरिया, फ्रेंच, इटली, नीदरलैंड, स्वीडन, अमेरिका, डेनमार्क, जर्मनी और पैनामा के जहाज़ भी बहुत संख्या में जाने लगे। यातायात किस गति से बढ़ता जा रहा है। इसका अनुमान इससे हो सकता है कि जहाँ सन् १९५२ में सब मिला कर ८ करोड़ ६१ लाख टन के जहाज़ नहर में से होकर गुजरे थे, वहाँ सन् १९५५ में ११ करोड़ ५७ लाख टन के जहाज़ नहर में से होकर गुजरे।

स्वेज़ नहर से होकर माल का जो यातायात हुआ, उसमें किस पूर्वी देश का कितना हिस्सा रहा है उसका अन्दाज़ा नीचे की गणनाओं से लगाया जा सकता है:

ईरान की खाड़ी के तटवर्ती देश	६६६ लाख टन
भारत, पाकिस्तान, सीलोन, बर्मा	११५ लाख टन
दक्षिण पूर्वी एशिया	७६ लाख टन
चीन, जापान, फ़िलिपाइन	७६ लाख टन
आस्ट्रेलिया न्यूज़ीलैंड	५३ लाख टन
लाल सागर के तटवर्ती देश और अदन	३७ लाख टन

नीचे की गणनाओं से ज्ञात होता है कि कौन-कौन सामान कितना-कितना नहर में से होकर यूरोप से पूर्वी और दक्षिणी देश को जा रहा है:

धातु का बना हुआ सामान	३७,३१,००० टन
सीमेंट	२६,८३,००० टन
खादें	२४,५४,००० टन
पेट्रोल और पेट्रोल से उत्पन्न पदार्थ	१९,०५,००० टन
मशीनें	१०,२८,००० टन
खांड	९,६६,००० टन
पल्प और काग़ज़	६,११,००० टन
रासायनिक द्रव्य	५,५६,००० टन
नमक	४,६७,००० टन
अनाज	४,८९,००० टन
रेलों का सामान	४,६७,००० टन

ऊपर के अंकों से यह बात स्पष्ट है कि इन देशों में औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति के लिए आवश्यक पदार्थों का आयात एशिया व अफ्रीका के देशों में ज्यादा बढ़ रहा है।

जो माल पूर्वी और दक्षिणी देशों से यूरोप को जा रहा है उसकी तालिका यह है:—

	टनों में
पैट्रोल और पैट्रोल से निर्मित पदार्थ—	६,६८,९३,०००
कच्ची धातुएँ	५३,००,०००
अनाज	२४,८८,०००

इसी प्रकार कपास, रबर, खांड, तेल लकड़ी, चाय, मांस, काफी, सूखे मेवे और सब्ज़ियाँ, ये पदार्थ प्रधान हैं। इन पदार्थों के लिए यूरोप पूर्वी देशों पर निर्भर है।

व्यापार की इन तालिकाओं से यह स्पष्ट है कि यूरोप और एशिया दोनों के लिए यह नहर कितना महत्त्व रखती है, और दोनों के लिए वह जीवन वाहिनी प्रणालिका है।

उपर्युक्त तालिका से यह भी स्पष्ट है कि यूरोप को जाने वाले माल में सब से प्रथम स्थान अरब के तेल के चश्मों ने ले लिया है। कुवाइत, साउदी अरब, ईरान, बहारिन, आदि देशों का तेल इसी मार्ग से होकर यूरोप को जाता है। इसमें ब्रिटेन को सबसे ज्यादा, दूसरे दर्जे पर फ्रांस, तीसरे अमेरिका और चौथे दर्जे पर इटली का हिस्सा है। दुनिया का ८० प्रतिशत के तेल के भंडार इन मध्य पूर्व के देशों में हैं—जिन पर सारे यूरोप का उद्योग व्यवसाय और यातायात निर्भर है। सन् १६३८ में जहाँ ४२ लाख टन तेल स्वेज़ से होकर यूरोप को जाता था, वहाँ सन् १६५५ में ६ करोड़ ६८ लाख टन तेल की निकासी स्वेज़ के रास्ते यूरोप को हुई।

ऊपर की गणनाओं से यह स्पष्ट है कि पश्चिम और पूर्व को मिलाने वाली इस जल प्रणालिका का यूरोप और एशिया दोनों के लिए समान रूप से बहुत अधिक महत्त्व है।

स्वेज़ नहर के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व से कोई व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। प्रारम्भ से ही संसार के देशों ने यह आश्वासन चाहा कि स्वेज़ का मार्ग प्रत्येक देश के लिए शान्ति और युद्ध दोनों हालतों में समान रूप से खुला रहेगा। यदि ऐसा बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण जल मार्ग किसी एक देश के आधिपत्य में आ जाए तो सारे एशिया और यूरोप का भाग्य उस देश की इच्छा पर निर्भर रहेगा, बल्कि युद्ध के समय कोई राष्ट्र भी नहर को हानि पहुँचा कर सारे संसार के लिए विपत्ति खड़ी कर सकता है। इसलिए २६ अक्टूबर १८८८ को ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन, फ्रांस, इटली, नीदरलैंण्ड, रूस और टर्की इन देशों ने इकट्ठे होकर कुस्तुनतुनिया में एक संधि पर हस्ताक्षर किए।

संधि की पहली ही धारा में कहा गया कि स्वेज़ नहर का जल मार्ग युद्ध और शान्ति दोनों ही हालतों में प्रत्येक देश के व्यापारी अथवा लड़ाकू जहाज़ों के लिए खुला रखा जाएगा। इस मार्ग को कभी बन्द नहीं किया जाएगा, न केवल स्वेज़ बल्कि उसमें गिरने वाली साफ पानी की नहरों को भी सुरक्षित रखा जाएगा। युद्ध के समय जहाँ लड़ने वाले राष्ट्रों के जंगी जहाज़ युद्ध के सामान और फौजें आदि इस मार्ग से स्वतन्त्र रीति से आ-जा सकेंगे वहाँ प्रत्येक राष्ट्र इस बात का ख्याल रखेगा कि नहर के भीतर और उसके मुहाने के बन्दरगाहों से तीन-तीन मील के घेरे के भीतर कोई आक्रमण अथवा लड़ाई का अभ्यास वगैरा नहीं किया जाएगा—यहाँ तक कि यदि टर्की या मिस्र भी जिनके प्रदेश में यह नहर स्थित है—यदि लड़ाई में एक फ़रीक हों, तो स्वेज़ के क्षेत्र को लड़ाई से बाहर रखा जाएगा।

संधि की धारा ८ और ६ के द्वारा नहर की सुरक्षा और देख-भाल की जिम्मेवारी मिस्र सरकार पर ही डाली गई। मिस्र को यह देख-भाल करने का अधिकार था कि कहीं कोई राष्ट्र संधि की धाराओं का उल्लंघन तो नहीं करता। यदि मिस्र की सरकार के पास पर्याप्त साधन स्वेज़ की रक्षा के न हों तो टर्की को यह भार सौंपा गया (उस समय मिस्र टर्की के साम्राज्य का एक प्रदेश था) और टर्की उस संधि पर हस्ताक्षर करने वाली सरकारों की मदद से स्वेज़ की रक्षा और व्यवस्था करने के लिए जिम्मेवार होगा। धारा १० और ११ में लिखा है कि स्वेज़ पर खतरा आने पर मिस्र और टर्की नहर को ज़रूरत पड़ने पर बन्द भी कर सकते हैं और उसकी नाकाबन्दी भी कर सकते हैं, उस समय इस कार्य को इस संधि के विरुद्ध न समझा जाएगा। परन्तु कोई स्थायी किलाबन्दी न की जाएगी।

जैसा ऊपर कहा गया है सन् १८८२ के बाद से ब्रिटिश सेनाएँ स्वेज़ के क्षेत्र में तैनात रहीं, और व्यावहारिक रूप से इंग्लैंड का इस नहर पर पूर्ण अधिकार रहा। मिस्र कमज़ोर था, टर्की का साम्राज्य भी जर्जरित हो रहा था, इसलिए इंग्लैंड ने बहुत आराम के साथ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली कि मिस्र स्वयं इंग्लैंड से स्वेज़ की रक्षा के कार्य में सहायता की याचना करे। शान्तिकाल में तो सन् १८८८ की संधि पर पूरी तरह अमल होता रहा, परन्तु प्रथम महायुद्ध के अवसर पर टर्की इंग्लैंड के विरुद्ध लड़ा। परन्तु स्वेज़ पर व्यावहारिक रूप से इंग्लैंड का ही आधिपत्य रहा। सन् १६१४ में ब्रिटिश सैनिक विभाग ने हुक्म दिया कि शत्रु को स्वेज़ में घुसने की इजाज़त नहीं होगी, हालाँकि सन् १६११ में जब इटली और टर्की में युद्ध हुआ तो टर्की ने संधि का पूरी तरह पालन करते हुए इटली के जहाज़ों को स्वेज़ में से होकर गुज़रने से नहीं रोका था। युद्ध के पश्चात सन् १६२३ में लूसान संधि द्वारा टर्की ने मिस्र पर से अधिकार उठा लिया और मिस्र स्वतन्त्र गिना जाने लगा। २८ फरवरी १६२२ को मिस्र की स्वाधीनता की घोषणा करते हुए इंग्लैंड ने स्वेज़ की रक्षा के प्रश्न को बाद की बात-चीत द्वारा तय करने के लिए अनिश्चित ही रहने दिया।

परन्तु सन् १६२२ को संधि में इंग्लैंड और मिस्र ने यह स्वीकार किया कि स्वेज़ मिस्र का एक अभिन्न भाग है। परन्तु इसी संधि में स्वेज़ की रक्षा के लिए ब्रिटिश फौज़ी दस्ते को स्वेज़ क्षेत्र में रहने की अनुमति दे दी गई। यह निर्णय किया गया कि २० वर्ष के बाद इस बात का निश्चय किया जाएगा कि भविष्य में ब्रिटिश फौजी दस्ते के रहने की आवश्यकता होगी अथवा नहीं।

जब दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो इंग्लैंड ने अपने शत्रुओं के लिए स्वेज़ का मार्ग बन्द कर दिया और इसके लिए संधि की धारा १० और ११ का हवाला दिया गया और जर्मनी पर इलज़ाम लगाया गया कि वह स्वेज़ को बर्बाद कर देना चाहता है, उससे इसकी रक्षा करना आवश्यक है।

जब अरब देशों और इज़राइल में परस्पर युद्ध हुआ तो मिस्र ने इज़राइल के जहाज़ों के लिए स्वेज़ का मार्ग बन्द कर दिया और इससे इज़राइल का बहुत नुकसान हुआ। यूनाइटेड नेशन्स ने मिस्र के इस कार्य को सन् १८८८ की संधि के विरुद्ध ठहरा कर मिस्र की निन्दा की और आज्ञा दी कि वह इज़राइल के जहाज़ों के आवागमन में रुकावट न डाले।

इस प्रकार हमने देख लिया कि जहाँ नहर और सब राष्ट्रों के लिए शान्ति या युद्ध दोनों अवस्थाओं में खुली रही, और सन् १८८८ की सन्धि का पूरी तरह पालन होता रहा, वहाँ इंग्लैंड का नहर पर पूरा-पूरा अधिकार बना रहा और उसने सन्धि की व्याख्या मनमाने ढंग से करते हुए युद्ध काल में अपने अधिकार का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया।

जब तक मिस्र निर्बल दशा में था, और इसलिए वह इंग्लैंड के सलाह मशविरे के बिना कुछ कर न सकता था, इंग्लैंड स्वेज़ पर मिस्र का ही आधिपत्य जताता रहा। क्योंकि मिस्र के शाह की निर्बल सरकार ने इंग्लैंड को स्वेज़ के मामले में खुली छुट्टी दे रखी थी।

चार वर्ष पूर्व मिस्र में नई क्रान्ति हुई। मिस्र का नक्शा बदल गया। मिस्र के नए राजनीतिक नेता मिस्र को इंग्लैंड और दूसरे विदेशियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त करने के लिए तुले बैठे थे और मिस्र का नव-निर्माण करने के लिए उत्सुक थे।

सन् १९५४ में इंग्लैंड के साथ मिस्र की जो सन्धि हुई, उसके अनुसार जून १९५६ को ब्रिटिश सैनिक स्वेज़ क्षेत्र को बिल्कुल खाली कर गए। अब तक वहाँ अंग्रेज़ों के ८० हज़ार सैनिक रहा करते थे। अब से मिस्र के अपने सैनिक स्वेज़ की रक्षा करने लगे।

सन् १९५३ में मिस्र ने नील नदी पर एक बहुत बड़ा बाँध बनाने की योजना तैयार की, जिससे मिस्र में सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध किया जा सके। उस पर एक अरब डालर खर्च का अनुमान लगाया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने कहा कि इंग्लैंड और इज़राइल से मिस्र के झगड़े हैं, इसलिए बैंक कर्ज़ा नहीं दे सकता। अमेरिका और इंग्लैंड पहले कर्ज़ा देने को उद्यत हुए और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी कर्ज़ दिलाने का वायदा किया बशर्ते कि मिस्र और किसी देश से कर्ज़ न ले और बैंक का मिस्र की अर्थ नीति पर नियन्त्रण रहे। उधर इज़राइल में अमेरिका और इंग्लैंड का करोड़ों रुपया लगा हुआ है, फिर भी अमेरिका इज़राइल को हर साल ३ करोड़ से ५ करोड़ डालर तक सहायता देता है। मिस्र ने असवान बाँध पर अपना ७३ करोड़ डालर लगाना है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अमेरिका और इंग्लैंड का सब मिलाकर केवल २७ करोड़ रुपया लगने वाला था।

इस सम्बन्ध में इंग्लैंड, अमेरिका और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अधिकारियों के साथ मिस्र का जो वार्तालाप हुआ, उस पर प्रेज़िडेन्ट नासर ने कहा कि "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के प्रेज़िडेन्ट मिस्टर ब्लैक ने मेरे साथ असवान बाँध के विषय में वैसी ही चालाकी चलनी चाही, जैसी स्वेज़ नहर के ठेका लेते समय "डी० लेसेप" ने मिस्र के ख़दीव सैय्यद पाशा के साथ चली थी। पर वह असफल रहे।"

जब अमेरिका और इंग्लैंड ने असवान बाँध के लिए रुपया न देने की घोषणा की तो सारी दुनिया ने भाँप लिया कि इसके कारण राजनीतिक हैं। अब हाल ही में इटली के विदेश मन्त्री ने भी इसका समर्थन किया है कि लन्दन में उनकी अमेरिका तथा इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों से जो बातचीत हुई उससे उन्हें यकीन हो गया कि ये कारण राजनीतिक ही हैं।

इसी पृष्ठभूमि में स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की गई।

जैसा हम पहले लिख आए हैं राष्ट्रीयकरण की घोषणा से पहले तक स्वेज़ का सारा अधिकार व्यावहारिक रूप से बर्तानिया के हाथों में रहा है। उसने अपने स्वार्थों को कभी आँच न आने दी, और उन्हीं को प्रधान रखा। पिछले दो महायुद्धों के समय उसने कुस्तुनतुनिया की संधि को भंग करके भी अपने शत्रुओं को स्वेज़ में आने-जाने की स्वाधीनता नहीं दी। मिस्र की स्वाधीनता से पहले यदि कभी किसी ने स्वेज़ पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार स्थापित करने की बात की है तो इंग्लैंड ने सदा इस प्रस्ताव का विरोध किया है। यदि इंग्लैंड के हाथ में समस्त अधिकार रहे तब तो कोई ऐतराज़ न किया जाए। उस समय दूसरे देशों को यही कहा गया कि स्वेज़ पर मिस्र का प्रभुत्व है जिसके नियन्त्रण पर इंग्लैंड उसकी रक्षा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध की बात मिस्र के स्वाधीन होने और स्वेज़ के प्रबन्ध को पूरी तरह अपने अधिकार में लेने की घोषणा करने के बाद ही उठाई गई है। यदि इंग्लैंड के हाथ में व्यावहारिक रूप से सब अधिकार रह सकते थे तो मिस्र पर क्यों संदेह किया जाए?

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और भी विचारणीय है संसार के दूसरे जल मार्ग पर किस का अधिकार रहे। यदि संसार के अन्य जल व स्थल मार्गों पर कभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कब्ज़ा कर लेंगी, तो स्वेज़ पर भी वैसा ही असूल लागू होगा। परन्तु कोई भी दूसरा राष्ट्र जब अपने अधिकार में आते हुए जलमार्गों को अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तिजारत के अड्डों को दूसरों के अधिकार में देने को उद्यत नहीं तो अकेले मिस्र पर ही ऐसा दबाव क्यों डाला जाए?

उदाहरण के लिए क्या इंग्लैंड जिब्राल्टर, सिंगापुर इत्यादि अड्डों को अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में देने को उद्यत होगा? क्या अमेरिका पैनामा की नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध बिठाने के लिए सहमति देगा? हाल ही में पैनामा जनतंत्र ने जब पैनामा के राष्ट्रीयकरण की चर्चा उठाई तो अमेरिका सरकार के प्रवक्ता श्री डलेस ने साफ कह दिया कि पैनामा नहर पर अमेरिका का पूरा प्रभुत्व ही है जिसे वह छोड़ने को कभी तैयार न होगा। पैनामा नहर का ठेका भी अमेरिका को उसी प्रकार दिया गया था जिस प्रकार स्वेज़ का ठेका स्वेज़ कम्पनी को दिया गया था।

यह मानना पड़ेगा कि लन्दन सम्मेलन ने उस तनाव को बहुत हद तक कम कर दिया है, जो इस सम्मेलन से पहले उत्पन्न हो गया था। अब यह आशा की जाती है कि इस सवाल का निर्णय मिस्र और दूसरे देशों की आपसी बातचीत से हो सकेगा और युद्ध का जो संकट उपस्थित हो गया था, कम से कम अभी तो वह टल गया। इस दृष्टि से लन्दन सम्मेलन को एक सफल सम्मेलन माना जाना चाहिए।

●

"सत्व प्रज्ञाधिक्यात् तदाश्रयत्वात् क्षुद्रकाणाम्"

कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण ८, अध्याय ४

जन-साधारण अधिक बुद्धि और अधिक मानसिक शक्ति वाले व्यक्तियों के नेतृत्व में रहना पसन्द करते हैं।

अम्बपाली

सरदार के० एम० पणिक्कर

"सुना है आज,
तथागत स्वयं पधारेंगे
अम्बपाली के गेह
करेंगे स्वीकृत अन्नाहार
अहो ! क्या सच कि मारजित् आज
आ रहे गणिका-गृह स-समाज
सहज करने को अङ्गीकार
मधुकरी औ' सत्कार !!
लिच्छवी-गण जग में सम्मान्य,
महामहिमामय गौरवशील,
न यह सौभाग्य किसी को किन्तु
मिला सुन्दर वैशाली में
कि आज कर पाता बुद्धातिथ्य !
नहीं क्या विस्मय की है बात ?"
—राजसुत उदयन ने यों कहा
मित्र-मंडल में अति साश्चर्य ।
मित्र-जन वे, जो थे एकत्र
सदा की भाँति । और उनमें
था जाग्रत मूर्त्त
विभव लिच्छवि प्रभुओं का दल ।
सभी सुत उनके ही तो थे,
मनोरंजन था उनका इष्ट ।
धन-मद में अति चूर
लिच्छवि प्रभुओं ने था फिर-फिर
किया निमन्त्रित बुद्धदेव को
कर सविनय अनुरोध ।
किन्तु रही थी उनके बाँटे
निपट विफलता-मात्र ।
औ' प्रभु ने स्वीकार किया था
गणिका का आतिथ्य
अति आदर के साथ ।
स्तब्ध चकित क्षुब्ध जिसे हुए थे
धनी गर्व के वीर मान के
लिच्छवि राजकुमार ।
"आह ! यह शौद्धोदन
होकर भी राजपुत्र
बन गया प्रहारी है
हम पर ही नहीं वरन्
राजोचित मान पर—
राज्याधिकार पर !
घोर यह अनर्थ है !
असह्य अवहेलना !"
—ईर्ष्या तथा क्रोध में,
प्रतिकार-शोध में,
डूब गए प्रभुजन—
विकल मानहानि से,
गलित आत्मग्लानि से ।
और हुई नगरी भी
विवर्ण इन्हीं भावों से ।
यही एक-मात्र विषय
रहा वार्तालाप का—
या कहो, प्रलाप का !
मन्दस्मित सुन्दर-सा
बोला एक प्रभु-कुमार—
"क्या कहा कि आम्रपाली ?
भली भाँति परिचित मैं
उस बन्धुरांगना से
कमल-सा आनन है,
स्वर्ण-वर्ण, निखरा हुआ !
अधर मानो पाटल-दल
अमृत-भंडार हैं
किंवा सुधा-सार हैं ।
मोहिनी छलकाती
मुसकान मन्द मन्द
जिधर खिल जाती है
रुक जाती समस्त गति—
है समर्थ रोमांच
उपजाने में महर्षियों के ।
लावण्य मधुमय लेह्य
तन्वंगी वारांगना
वारांगना-जगत की वह
अनन्य सम्राज्ञी है !"
"बस-बस ! मित्रवर !
खत्म करो लड़कपन !
ज्ञात नहीं क्या हम भी
यहीं के निवासी हैं ?
कौन नहीं जानता
उस सुन्दर नारी को—
है तो वह वेश्या ही
लिच्छवि वैशाली की ?
उसमें क्या लाल जड़े
भाई मेरे, बोलो तो—
क्या सुन्दर नारियाँ
अन्य नहीं जग में ?
नर्तकियाँ कितनी हैं—
गिनती कर सकते हो ?
नृत्य-संगीत में
प्रवीणा, पारंगता—
जो निज सौन्दर्य,
लावण्य, कमनीयता से
लज्जित कर देवें, बन्धु,
सौ-सौ अम्बपाली को—
एक नहीं, सौ-सौ
विद्यमान वैशाली में ।
'कमलमुखी ! विजय-पताका
कामदेव की !'—
बखानते उसे हो और
करते सराहना ।
हुआ क्या, परन्तु,
वह है तो मात्र गणिका ही !
अन्तर क्या उसमें और
इतर वेश्याओं में ?
स्मरण नहीं तुमको
काशिराज के कुमार को
अभी उसी दिन तो किया
नष्ट-भ्रष्ट इसने !!!
भोले राजपुत्र के
वसन तक अपहृत कर
रात्रि में निकाल दिया
सौध से अपने !
भीषण अपहारिणी !

स्वर्ण की आशा से
क्या-क्या महा पाप
नहीं करती ?—ज़रा बोलो तो !
वहीं आज भिक्षार्थ
जा रहे सिद्धार्थ !
कैसा है यह अनर्थ !
कैसा यह अनौचित्य !
सदा सर्वजन के
परिरंभण आलिंगन से
मलिन जो पुंश्चली—
चारित्र्यवती मानी गई !—
पुनीत सर्वाधिक,
प्रतिमा गुण-शील की !
अशौच मात्र-दर्शन से
स्पर्श तो दूर रहा—
ऐसी वह गणिका !
उसका अन्न खाने से
धर्म-क्षय निश्चय !
धर्म के रक्षणार्थ
अवतरित बुद्ध को
बुद्धि-भ्रम क्योंकर हुआ ?''

तब एक बोला अन्य—
''अवगत नहीं है तुम्हें
कथा इस सुन्दरी की ?
पिता अज्ञात, स्वयं
भिक्षा-प्रतिपालित-भरित;
दुःख-दारिद्र्य का भोग पर्याप्त कर
अब लोलुप धन की—
अधिकाधिक विलास की,
अखण्ड सौभाग्य की,
सुख निर्बाध की,
कितने महासौधों की
आज वह स्वामिनी !
कितने चरानुचर
इंगित पर रहते हैं,
कितने नरेशों को
नचाती नित मानिनी !
आते दूर-दूर से
युवक-वृद्ध कामुक-जन
ले-लेकर उपहार,
पुरस्कार कटाक्षों का।
विवश हो राजा—
महाराजा द्वार ताकते,
झलक-मात्र पाने को
झरोखों से झाँकते !
कितना बड़ा है भाग्य
कामिनी का, आश्चर्य !''

''एक बात तो है''
तभी कहा किसी और ने—
''मैं भी परिचित भली भाँति
उस कामिनी से—
वेश्या वह निस्सन्देह,
किन्तु अति प्रीति उसे
शाश्वत धर्म में,
धर्म के कर्म में,
मानव के मंगल में।
देखता रहा हूँ मैं एक दीर्घकाल से
जीवन में उसके विराग एक, अनासक्ति।
दान करने को सदा
आतुर वह रहती है—
व्यग्र सेवार्थ भी।
कौन नहीं जानता
धर्म में निरत वह
'रूपजीवि' कह कर जिसे
जगत पुकारता ?
तर्क औ' वितर्क व्यर्थ
आदर तथागत ने
उसका किया है यदि !
ऊँचे-ऊँचे, मानी सब
लिच्छवि प्रभुओं को छोड़,
तथागत जाएँगे
उसके घर सहर्ष कल !
करेंगे कृतार्थ उसे
निज सान्निध्य से !
भाग्य आज उसका प्रबल,
प्रभु का अनुग्रह ! फिर,
व्यर्थ अपवाद क्यों ?''

मित्र-वृन्द मौन हुआ
सुन सभी बातों को—
मानो मधु गायन से
मुग्ध सब हो गए।

२

प्रात हुआ तो मानो कोई सुन्दर उत्सव
वैशाली की गणिका-वीथी मना रही थी
स्वच्छ, अलंकृत तोरण से,
वन्दनवारों से।
स्थान-स्थान पर रुचिर वितान तने थे,
द्वार-द्वार पर मंगल कलश सजे थे,
चौक-चौक पर स्वागत-द्वार रचे थे।
भूषण-वसन सुसज्जित
वैशाली-बालाएँ
मंगल-थाल लिए
स्वागत-हित प्रभु के,
निष्ठा-भक्ति-विह्वला
पंक्ति बना कर खड़ी हुई थीं
जन-पथ के पार्श्वों पर !
सर्व कला कुशला गणिका का
महासौध वह सजा हुआ था
भाँति-भाँति से—
ईश-तुल्य प्रभु के स्वागत-सत्कार
योग्य बनने को।
दुर्लभ पुष्पों से
सुन्दर मोहक पाटम्बर से
प्रभु पूजन के हेतु
भवन को गया सजाया—
और गंध-द्रव्यों से
मानो प्रक्षालन कर
स्वयं इंद्र-मंदिर को
लाया गया धरा पर।
उत्तम राजोचित मणिमय
विश्राम-कक्ष में,
भद्रासन अतिश्रेष्ठ
अलंकृत स्वर्ण-स्तम्भ से,
मखमल के उपधान सुकोमल
यथायोग्य रख,
सम्पद् और समृद्धि-प्रदर्शन के हित मानो
साज-समाज सहर्ष जुटा था।
शत विलास-उपकरणों से
हो गया सुसज्जित रम्य हर्म्य वह
जो था स्वागत योग्य
विश्व के सम्राटों के,
प्रस्तुत था अब स्वागतार्थ—
उस निर्मम के
जो एकछत्र-अधिपति था
व्यापक धर्म-राज्य का।
''समय हो गया

प्रभुवर के पधारने का, पर—
आप नहीं तैयार स्वामिनी,
क्यों अब तक भी ?
आप करेंगी स्वागत क्या उन महाभाग का
इसी वेश में ?
कोसलराज-प्रदत्त विविध पट
नीलाम्बर, चीनांशुकादि
संचित पेटक में,
फिर भी आज आप
कोरी साड़ी पहने हैं !
अमृत-धौत ज्योत्स्ना सम मोहन
मुक्ताहार-सुशोभन योग्य कंठ यह, स्वामिनि !
निराभरण क्यों ?
वे संन्यासी हैं, परिव्राजक वे, निश्चल हैं,
किन्तु क्या नहीं, वे कुमार हैं शुद्धोदन के ?
स्वागतार्थ उनके सब सज्जा,
रूप और शृंगार यथाविध
अतः उचित है, आवश्यक है।
देवार्चन के हित मन्दिर में जब हम जातीं
करतीं नहीं भला क्या धारण
नये वस्त्र-परिधान, विविध नूतन आभूषण ?
उचित वही है देवि ! किस लिए
ऊहापोह भला यह
समय रुकेगा नहीं, काम क्या, कैसे होगा ?''
—चेटियों का आग्रह औ' अनुरोध
वह मानती क्या, वह सुनती क्या,
जिसका हृदय कातर, औ' भाव-व्यथित,
एक दीर्घ काल से ? स्तब्ध रही मृगनयनी—
नहीं, आयताक्षी वह—निस्पन्द
अन्तस् में अनल-वाही उदधि-वती !
और फिर झमक कर
चली मणि-मन्दिर से
चली, और पहुँची वहाँ,
स्वागत होना था जहाँ बुद्ध भगवान का !
विविध जय-घोष ध्वनित,
साडम्बर अतिसज्जित
स्वागत-शाला विलोक
चकित, उद्विग्न, क्षुब्ध
क्रमशः हुई वह और
अन्त में बोली सवेग—
''धन-दर्प-के प्रदर्शक
उपकरण सारे जो,
कैसे भगवान के स्वागत के योग्य हैं ?

त्यागी सर्वस्व के,
विरागी आर्त-रक्षणार्थ,
तीर्थपाद बोधिसत्व,
तृण-तुल्य मानते वे भोग-सामग्री को;
लोक-लोकेश-वन्द्य शाक्यसिंह,
साक्षात् जिनदेव, मोचक कर्मपाश के
सुधर्म-राज्य-शासनार्थ;
दीनों के बन्धु वे,
मात्र दीन-हितार्थ अवतरित हुए भू पर—
देव, परमदेव वे ! साक्षात् धर्ममूर्ति !
क्षुद्र धन-दर्प नहीं,
अन्तर की श्रद्धा-भक्ति,
विनय-भाव जीवन का
चाहिए पूजनार्थ उन महाप्राण के
यही मात्र पूजन की सामग्री,
इसके बिना शेष सब व्यर्थ है, तुच्छ है।
भिक्षा माँग घर घर
करता जो लोकानुग्रह
भोजन महायोगी का
होगा कनक-थाल में ?
राजासन तुच्छ मान जिन्होंने त्याग दिया
वे प्रभु विराजेंगे आज रत्नासन पर ?
तुरत हटाओ यह सज्जा सब इस स्थल से
पूजन भगवान का न होगा इस सब से।''

३

उधर, उसी क्षण हुए जागरित
प्रभु ध्यानावस्था से।
मन्द हास से शीतल करते
लोक और लोकान्तर
बोले निज शिष्यों से
''चलो चलें भिक्षा हित हम सब
देख रही है बाट,
अम्बपालिका निज मन्दिर में
तोड़ सकल भ्रम-ठाठ !
हृदयाकाश हो रहा है शुचि,
हटते घन-अवरोध
उदित हो रहा बोध !''
लेकर भिक्षा-पात्र, दण्ड,
चले बुद्ध तथागत
शिष्यों सहित, मानो
चली अनीक धर्म-व्रतियों की
कल्याण-कृतियों की।
पुण्यवान् सचमुच

वह वीथी वैशाली की
हो गई कृतकृत्य—
चरण-रज से भगवान की;
पादपद्म-अंकित वही
धूलि ही तो है न, जिसने
धोया कलुष जग का,
बढ़ाया मान कृतियों का
और माहात्म्य शक्रादि देवगण का !
चले मन्द गति से देव
वैशाली-वीथी में—
मानो पूर्णचन्द्र चला
परिवृत्त तारकों से।
मुख से आनन्द-शान्ति
देह से सहज कान्ति
प्रस्फुटित प्रसारित करते देव
चले जब दृष्टि से उँडेलते
करुणा प्राणिमात्र पर
और जगन्मात्र को
करते अनुगृहीत,
होकर चित्प्रभा-दीप्त,
तब वह दिशा मानो
बन गई वैकुंठ भूतल का।

४

लिच्छवि नेताओं ने
अजान जैसे, चकित हो,
भक्तियुत वन्दन किया
विश्वैक-दीप का।
स्वच्छ हुए अन्तर
विनष्ट हुआ अन्धकार,
दर्प और अहंकार।
नारियों ने
एकत्रित होकर गवाक्षों पर
दर्शन किये प्रभु के
और की पूजा
निज सुदीर्घ नेत्रों के
अवलोकन-पुष्पों से
मारजित-बुद्ध की।
''कौन सा पुण्य किया
इस वार-वनिता ने
जो पाया महाभाग्य यह !
देव-वंद्य पाद-पद्मों से
पावन-तदावास हुआ !
पालतीं हम सभी धर्म,

कुलाचार, मर्यादा—
दर्शन भी दुर्लभ किन्तु
हमको भगवान के;
एक यह वारांगना, बेचती चरित्र,
किन्तु पुण्य तो इसे ही मिला !
धन्य अम्बपाली तू !
तू ही सुचरित्रा है, तू ही भाग्यशालिनी !
धन्य तेरी जननी है, ए री मनस्विनी !"
मुख में ये बातें, और लोचन लगे प्रभु पर—
मुग्ध हुई बालाएँ—
शुद्ध हुईं, मुक्त हुईं
मन की मलिनता से ।

५

जैसे ही चरण पड़े प्रभु के उस वीथी में,
दौड़ पड़ी आम्रपाली
आकुल हो व्याकुल हो भावों से
संभ्रम, एकाकिनी,—
और धूलिभरी उस धरा पर लोट कर
किया प्रणिपात साष्टांग उन प्रभु का ।
दर्शक सब बोल उठे—"धन्य ! धन्य !"
कोमलांगी, सुकुमारी
करती जो शयन सदा फूलों की सेज पर,
पड़ी जब पृथ्वी पर
हुई धूलि-धूसरित,
शोभा मानो उसकी
अनेक गुनी बढ़ गई ।
शत-सहस्र अंगराग
तू ने अपनाए थे !
सुन्दर स्वदेह-कान्ति दिन-दिन बढ़ाने को !
गन्ध-द्रव्य, चूर्ण आदि
कितनों का प्रयोग किया
किन्तु कब पाई, बता,
कान्ति जो आज मिली
वीथी की धूलि से ?
पावन तू हुई आज तन्वंगी,
'बोधि' का हुआ उदय अन्तस् में तेरे
कहाँ अब दुःख तुझे
इस अखिल लोक में ?

६

मंथर गति से चलते
तथागत जा पहुँचे
शुभ्र हर्म्य-द्वार पर ।
धोया श्रीचरणों को
निज कर-कमलों से
उस आतिथेयी ने
और किया स्वागत गद्‌गद् भाव से ।
प्रभु थे निःशब्द, मौन—
मानो थे ध्यानमग्न—
जाकर विराजे एक आसन पर
जो था अनुरूप त्यागमूर्ति के ।
भोजन शुद्ध सात्विक,
वैभव की गन्ध नहीं जिसमें,
निवेद्य कर स्व-कर से
नम्रता से, अंजलिबद्ध
खड़ी हुई कामिनी ।
शास्ता प्रसन्न हुए
भिक्षा स्वीकार कर
शिष्य-मण्डली समेत—
कर प्रणाम देव सर्वज्ञ को
बोली यों शर्वरीशानना—
"पाप मैंने बहुत किये,
घोर अज्ञान-कूप में जन्मी औ' पली हूँ मैं;
हूँ मैं हीन, नीच, कर्मपाशों से बद्ध, देव,
धर्म का अर्थ या रीति नहीं जानती;
तो भी हूँ, धर्म-मूर्त्ति, पंकहीन,
सेवा तव चरणों की चाहती !
हे प्रभु ! हे जन-शरण्य !
तव पद-रेणु से पूत यह आम्र-वन
हो तव विश्रान्ति-स्थल,
बने तव आश्रम—
है यह समर्पित श्रीचरणों में !
भगवन् ! निस्संग, निर्मम प्रभु !
सारहीन, तुच्छ उपहार यह
पूजारूपेण स्वीकार हो !"
बोले देव—"वत्सले हे !
भक्तिमय दान तव किया स्वीकार मैंने ।
धर्म के प्रवर्त्तन में
भगिनी तुम भी बनीं ।
आधि तुम्हें होगी नहीं,
'बोधि' तव हृदय में
आज उदित हो गया ।
कर्म-बन्ध वशीभूत
तुमने अकर्म किये आज तक
टूट चुके बन्धन अब—पाश सब ।
अब न रहोगी डूबी
इहलोक जीवन के
बन्धन-दुख-सागर में ।
मन तुम्हारा जा चुका, मिल चुका
सद्‌ष्टांग मार्ग में—शुभ हुआ सब अब !"
शिष्यों को देख फिर
बोले तथागत यों—
"मेरी इस बेटी को
उत्तम तत्त्वोपदेश
देना आज ही अवश्य ।
पापहीन चित्त बना
इसका शुद्ध, सत्वमय,
पूर्ण अधिकारिणी है यह आज
सद्धर्म-स्वागत की ।
शिष्योत्तम सारिपुत्र,
जो हैं मर्मज्ञ तत्त्व-चिन्तन के
और धर्म-सेनापति,
स्वयं करें दान
इस पुत्री को कैवल्य-ज्ञान—
दृढ़ हो जो और सारपूर्ण,
भव-दुख-नाशक हो ।
आज से है आम्रपाली
शिष्याओं में एक मेरी—
करें घोषित यह सत्य,
बता दें सब को ।"
स्वप्न से उठी मानो
पाप-विनिर्मुक्त तन्वी;
उज्ज्वल तन-मन में
अखण्ड शान्ति हुई व्याप्त ।
शोभित हुई आम्रपाली
जैसे उदित हो ऊषा
स्निग्ध नीलाकाश में ।

अनुवादिका—श्रीमती रत्नमयी देवी दीक्षित
पद्यानुवाद—सीताचरण दीक्षित

ज्ञान गंगा

'धूमकेतु'

बीज बोने योग्य वर्षा हो चुकी थी। आकाश साफ हो गया था। किसानों के हृदय आनन्द विभोर हो उठे थे। घर-घर से लोग बीज बोने के लिए खेतों में निकल पड़े थे। प्रारम्भ ऐसा था कि वर्ष सोलह आना सफल होगा।

उस वक्त एक किसान के मन में न जाने कैसे एक सन्देह उत्पन्न हुआ। उसने खेत में बीज तो बोए, लेकिन उसकी फसल काटने के लिए वह जीवित रहेगा या कोई दूसरा उसका आनन्द लेगा?

सन्देह दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। उसके मन में यह निश्चय हो गया कि फसल के समय मैं जीवित नहीं रहूँगा।

मनसा भूत और शंका डाकिन! मन से भूत खड़ा होता है, और थोड़ा सन्देह घुसा कि वह आदमी के साथ डाकिन की तरह लग जाता है।

अतः वह मन ही मन दुखी होता कि बड़े ठाठ-बाट के साथ खेत बोया गया है, फसल भी ठीक-ठीक फूली-फली है, लेकिन भगवान उसके दाने भी दिखाए तब बात है! क्रमशः उसका दुःख बढ़ता गया, और उससे वह निर्बल बनने लगा।

यह देखकर एक भला आदमी जो उसकी बगल में ही रहता था एक दिन उससे मिलने आया। बातों-बातों में पता चला कि वह बेचारा मन ही मन भविष्य की बातों को लेकर दुखी होता है। उसने विचार किया कि यदि उसके मन की बला को निकाला नहीं गया तो वह वृथा दुखी होता रहेगा।

वह थोड़ा समझदार आदमी था। उसे मालूम था कि मनुष्य का मन बहुत विलक्षण होता है। बोलने में यदि थोड़ी सी भूल हुई तो, अनर्थ हो जायगा। अतः उसने शान्तिपूर्वक बात को उठाया।

"लवजी भाई! आप शहर हो आए, वहाँ बिजली के पंखे देखे या नहीं?"

"हाँ, क्यों नहीं। बिजली के पंखे देखे, बिजली के दीप देखे। अरे! बिजली का कारखाना भी मैं देख आया हूँ।"

"ऐसा? तब तो बहुत मज़ा आया होगा?"

"मज़ा तो आया, परन्तु सही मज़ा तो उसका लाभ उठाने वालों को मिलता होगा।"

"अरे! लवजी भाई। इसका क्या तात्पर्य है? पंखे का लाभ उठाने वालों को कुछ समय तो यह भी मालूम नहीं होता कि पंखा चलता है और पवन आता है। ये लोग बेचारे बहुत मुसीबतों से घिरे हुए होते हैं। परन्तु हम दूसरे मार्ग पर आ गये। मैं यह कहना चाहता था कि बिजली के इस पंखे को किसने बोया होगा?"

"अरे! आप भी क्या व्यर्थ बातें करते हैं? पंखा भी कभी बोया जा सकता है? इसे तो उसे बनाने वाले ने बनाया है।"

"यह तो ठीक है। परन्तु जिसने इस पंखे की सर्वप्रथम खोज की होगी अर्थात जिसने सर्वप्रथम बिजली के बीज बोये होंगे, उसे मालूम होगा कि सारा विश्व उसका लाभ उठायेगा और उसके भाग्य में तो बोना ही बदा है।"

लवजी अपने पड़ोसी की बात को कुछ समझ पाया। उसने सोचा कि बात तो सही लगती है। बिजली वाले ने पहले-पहल जब बिजली की खोज की, वह बीज बोने जैसा ही कार्य हुआ। और बाद में उसके इस काम का फल पूरी तरह से भोगने का उसे मौका मिला होगा? इतने में तो उसके पड़ोसी ने ऐसी बातें बनाईं जो उसके विचार प्रवाह को आगे बढ़ाने में सहायक हुईं।

उसने कहा, "तब देखिये लवजी भाई! सारी दुनिया का सभी व्यवहार—खेत में बीज बोने से लेकर बड़ी से बड़ी खोज तक का सारा व्यवहार इस प्रकार ही चलता है। हम खुद औरों के द्वारा बोये गये बीज की फ़सल काटते हैं। हमारे द्वारा बोये गये बीज की कटाई कोई और करेगा। उसमें विचार और आपत्ति क्यों करें? यदि इस प्रकार न हो तो; हम खुद जो सुख और सुविधाएँ भोग रहे हैं, वे हमें कैसे प्राप्त होतीं?"

"अतः बीज बोने के बाद उसकी फ़सल कौन काटेगा, यह ख्याल वृथा ही है। उसे छोड़ दो। फ़सल को आप ही काटेंगे, परन्तु यदि आप न काट सकें, तो भी अन्तिम श्वास तक बीज बोना, यही आपका धर्म है और उसमें ही मानव जीवन की सफलता है। बीज बोने वालों की मान्यता हो कि काटने वाले कोई और होंगे, तो हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बोने वाले भी काटने वाले ही हैं। वे भी किसी के श्रम के फल का उपभोग करते हैं।"

लवजी अपने पड़ोसी की बात को समझ गया और वह धीरे-धीरे उस व्यर्थ विचार को छोड़कर काम में प्रवृत्त हुआ।

एक गाँव में जितने आदमी रहते हों, वे सब परस्पर सहयोग देते रहें तो सारे गाँव की काया पलटी जा सकती है।

जिसके पास धन का साधन हो, वह धन देकर; जिसके पास शारीरिक बल अधिक हो, वह उसे देकर; तथा जिसके पास प्रबल विचार शक्ति हो, वह निर्बल विचार शक्ति वाले आदमी को सच्चे विचार दे कर भी गाँव का काम कर सकते हैं।

भगवान श्री तथागत की एक कथा है। एक समय भारद्वाज नामक एक ब्राह्मण किसान के यहाँ वे भिक्षा लेने के लिए गये। ब्राह्मण किसान ने उनसे कहा, "भाई! इस प्रकार मुफ्त की भिक्षा माँगने के बजाय, कुछ काम क्यों नहीं करते हो?"

(शेष पृष्ठ २४ पर)

यत्न

सद्गुरुशरण अवस्थी

सृष्टि की चेष्टा का दूसरा नाम यत्न है। यत्न के "मूल में असाम्य का स्वीकार है और चेष्टा की प्रेरणा में समत्व की परिचालना काम करती है। परिणाम यह निकला कि सृष्टि की वास्तविकता असाम्य है और सृष्टि की गति इस असाम्य को समत्व की ओर ले जाना है।"

ईश्वर ने इस असाम्य की सृष्टि करके इतना बड़ा बखेड़ा क्यों खड़ा किया यह प्रश्न मेरे समक्ष बहुत बार आया करता था। इसी असाम्य के कारण विश्व में अनेकरूपता और नानात्व का आविर्भाव हुआ। असाम्य के साम्य की ओर यात्रा की आवश्यकता हुई। रेत अन्न और पुरुष का क्रम बना। 'रेतादन्नमन्नात् पुरुषः' का विकास क्रम उपनिषद ने स्वीकार किया। वैज्ञानिकों का विकासवाद सामने आया।

जड़ प्रकृति में ही विकास का यत्न देखने में नहीं आता, समस्त वनस्पति संसार और प्राणी संसार में भी यह यत्न स्पष्ट परिलक्षित होता है। मानव मानव में ही इतना वैषम्य है कि उसे दूर करने के अनेक बाहरी उपाय विफल से प्रतीत हो रहे हैं। धन वैषम्य अथवा बाहरी साधनों का वैषम्य साम्यवाद कितना भी दूर करने की चेष्टा करे परन्तु रूप वैषम्य, आकार और मनुहार वैषम्य, स्वभाव वैषम्य, रुचि वैषम्य, ज्ञान वैषम्य और बुद्धि वैषम्य इत्यादि न जाने कितने वैषम्य ऐसे हैं, जिनका दूर करना मानव प्रयास के परे की बात है। फिर भी हम देखते हैं अपरिलक्ष्य रूप से प्रकृति स्वयं वैषम्य को दूर करने में लगी है।

वैज्ञानिकों ने पर्यवेक्षण द्वारा यह सिद्ध किया है कि दो व्यक्ति जो निरंतर पचास-साठ वर्षों तक साथ रहते हैं, उनके आकार-मनुहार और रंग तक में साम्य अपरिलक्ष्य रूप में हो जाता है। सहस्रों दम्पतियों के फोटो छाप कर उन्होंने प्रमाणित कर दिया है कि वैवाहिक जीवन के पचास-साठ वर्षों को एक साथ व्यतीत करने के कारण उनकी आकृति और रंग में इतना साम्य आ गया है कि वे भाई-बहन से दिखाई देते हैं। किस प्रकार यह घटना दो मांस पिंडों में साथ रहने के कारण घटित होती है उस का कोई संतोषप्रद उत्तर अभी विज्ञान नहीं दे पाया है परन्तु यह वास्तविकता अवश्य है। रूप, रंग, मनुहार के अतिरिक्त स्वभाव, रुचि, ज्ञान और बुद्धि, बोलने की प्रणाली, वाणी का प्रवाह, उच्चारण के सस्थान, राग-द्वेष के आलम्बन, परिधान धारण विधि इत्यादि इत्यादि में लम्बे सहवास के कारण जो अन्योन्य का पारस्परिक प्रभाव दिखाई देता है वह तो इतना स्पष्ट होता है कि इसके लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। विस्तार के साथ यदि देखने की चेष्टा की जाए तो दम्पति का समीकृत रूप कुल में प्रतिबिम्बित होता है और एक घर में रहने वाले व्यक्ति सभी समत्व की ओर बढ़ते चलते हैं। भूगोल के घेरे इसी प्रकार समाज और राष्ट्र में भौतिक और मानसिक एकत्व की स्थापना करते चलते हैं और समाज और राष्ट्र अपने व्यक्तियों के एकसे आकार, स्वभाव, रंग-रूप तथा अन्य गुणों के लिए प्रसिद्ध हो जाता है। यातायात के साधनों ने अब यह भौतिक सम्पर्क विश्व सुलभ बना दिया है। मानव मानव को एक करने में यह एक बड़ा भारी सहारा है। पिता-माता से रजोवीर्य में प्राप्त उत्तराधिकार भी कहीं परीत और कहीं विपरीत काम करके इसी समत्व विधायिनी वृति में योग देता रहता है।

वैभिन्य, अनेकत्व और नानात्व की प्रासंगिकता सृष्टि में सृष्टा ने क्यों बैठाई और सारे झंझटों और झगड़ों का मूल खड़ा करके कौन सा सौकर्य उसने प्रदान किया, तरुणाई के इस प्रश्न ने बहुत काल तक मुझे क्षुब्ध कर रखा था। मैं जब घर में आकर देखता हूँ कि मेरे पास एक दर्जन जूते हैं और सब एक दूसरे से भिन्न हैं। मेरी कमीज़ों और कुरतों के कपड़े भिन्न हो नहीं हैं उनका आकार और प्रकार भी भिन्न है। मेरे बच्चे चाहते हैं कि जितने कपड़े हों उतने ढंग के हों कोई एक-दूसरे से न मिले। मेरी पत्नी भी एक ही प्रकार की साड़ी पसन्द नहीं करती। अनेकता ने सब पर ही अधिकार जमा रखा है और वैभिन्य सौंदर्य का ही दूसरा नाम है। दूसरी ओर जब मैं काला कोट पहनता हूँ तो काला पायजामा काली टोपी और काले जूतों का जोड़ा अच्छा लगता है। जिस रंग की साड़ी पत्नी पहनती है उसी रंग का ब्लाउज़ और दूसरे परिधान यहाँ तक कि मनोवेग का रंग भी वैसा ही होना चाहिए। यह साम्य की विवशता है। वैषम्य और साम्य की इस खैंचा-तानी में मानव रस लेता है और रमण करता है। वैषम्य उसका शृंगार और विहार है। साम्य उसका सौंदर्य और स्वभाव है। यही तो ईश्वर ने किया और कर रहा है, फिर हम उसे कोसें क्यों?

यदि संसार में वैषम्य न होता तो साम्य की साधना और प्रेरणा का यत्न भी न होता। अतएव यत्न ही तो संसार है और यही जीवन है। इसकी अनुपस्थिति में एक प्रकार की सृष्टि सूखे ठूँठ से अधिक सरस और सुन्दर न दिखाई देती। वह रस विहीन होने के कारण प्राण हीन, गति हीन और चेष्टा हीन होती। उसमें 'अकल' होने के कारण कला को स्थान न रहता।

निष्कर्ष यह निकला कि वैषम्य का विस्तार ही संसार है और जीवन है। समत्व की ओर इस वैषम्य को गति ही निसर्ग की नियोजना, जीवन का लक्ष्य, मुक्ति की साधना तथा आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्म साक्षात्कार की परिपाटी है। अपने एक दर्जन जूतों के पीछे एक ही रूप; वह है उनका चमड़ा यह पहचानने का अभ्यास जूतों के

बाहरी अनेकत्व के शृंगार की यथातथ्यता स्पष्ट कर देता है। यही बात नाना प्रकार के कमीजों, कुरतों, धोतियों, पायजामों और कोटों के पीछे लहलहाते हुए कपास के पौधों को पिस कर धागों के तानों-बानों में विस्तार का स्वरूप ज्ञान वस्त्रों के अनेकत्व और नानात्व की एकरूपता स्पष्ट कर देती है।

अनेकत्व की ओर बढ़ना संसार में रमण करना है और एकत्व की ओर मुड़ना अपने में रस लेना है। वैभिन्य में उलझना जीवन को विस्तार देना है और अनुभूतियों का कोष बढ़ाना है। अपने में खिंच कर अनेकता को छोड़ना जीवन को पवित्र बनाना है और संतत्व की साधना करना है। नानात्व और अनेकत्व का अनुराग-विराग, खंड की उपासना और ससीम की आराधना है। नानात्व और अनेकत्व का लय और उसकी उपेक्षा अखंड की स्थापना और निस्सीम की प्रतिष्ठा है।

ऊपर के ऊहापोह से जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। इस लक्ष्य की ओर बढ़ाव का ही दूसरा नाम यत्न है। इस यत्न में जिस प्रकार का भी योग दिया जाए वह पुण्य है और उसके प्रतिकूल व्यवहार पाप है। प्रकृति समत्व विधायक कार्य स्वतः करती रहती है। इसका संकेत ऊपर किया गया है। एक छोटा-सा बीज पृथ्वी से कितनी रेत उधार लेकर उसे अपने में मिला लेता है और इतना बड़ा मोटा वृक्ष बन कर तैयार हो जाता है। यह समत्व और एकत्व का प्रयास-विकास का पहला सोपान है। साथ ही साथ वृक्षों की पत्तियों को खा-खाकर, उनके हरेपन को अपने मांस, मज्जा और रक्त में इस प्रकार पशु सृष्टि घुला-मिला लेती है कि वनस्पति संसार का कहीं पता भी पशु शरीर में नहीं मिलता और ठीक उसी प्रकार मानव शरीर पशु-मांस अथवा शश्य श्यामल अन्न से पोषित होकर आत्मसात की एकत्व वाली क्रिया सम्पादित करता है।

पर यह सब तो ठीक है। मानव में एकत्व और अद्वीयत्व की ओर मुड़ने वाली बलवती वृत्ति किस प्रकार उदय हो? वह साक्षात्कार कैसे हो जिसके सहारे वह एकत्व की उस पृष्ठ भूमि को देख सके जिसमें अनेकत्व और नानात्व सजे हैं। तभी तो सारी गणना इकाई में समा सकेगी और सारा अंकगणित शून्य में प्रवेश कर सकेगा।

मानव तो अनेक से ही हमेशा भेंट करने का अभ्यासी है और यही उसका जीवन है। यही उसकी प्रवृत्ति का यत्न है। अब उसे विराट के महान विग्रह की कल्पना करना है जिसमें अनेकत्व और नानात्व के रूप व्यापार उचित रूप से सज सकें। मानव के हाथ-मुँह सभी हैं। उसके सारे अवयव काम करते हैं। पर सब की परिचालना के पीछे एक शक्ति रहती है। इस शक्ति को जितना ही व्यक्ति साकार कर सके वह सारे अवयवों की जड़ता भी साकार कर सकेगा। अपने ज्ञान विस्तार को ऊँचे उठाते-उठाते उसे केवल यही शक्ति दिखाई देगी और सारे अवयवों की अनेकरूपता ओझल हो जाएगी। विराट को कल्पना जगत में निस्सीम शक्ति पुंज के रूप में जो प्राणी अभ्यास द्वारा स्पष्ट ही नहीं, साकार कर सकता है वह एकत्व में अनेकत्व का पूर्ण लय भी कर सकता है। पर कल्पना जगत ठोस में घूमने-फिरने वालों को वास्तविक और असत्य लगता है और अनेकत्व और नानात्व का गोचर ज्ञान वास्तविक और सत्य प्रतीत होता है। अतएव पहले गोचरत्व के स्थूल भ्रमण की यथातथ्यता को समझने का प्रयास करना चाहिए। स्थूलत्व और ठोसत्व में परिवर्तन की पोल छिपी है जिसे सीमित गोचर ज्ञान जान नहीं पाता। इसे बुद्धिगम्य करना है। यह रहस्य समझ में आ जाने के बाद अपनी पूरी सजावट के साथ निस्सीम विराट का विग्रह कल्पना को दीखने लगेगा और स्थूल गोचर ज्ञान विलीन हो जाएगा। अभ्यासी को पहले तो अवास्तविक को वास्तविक और वास्तविक को अवास्तविक सत्य समझने का अभ्यास करना है। यही यत्न की सात्विक रूप रेखा है।

ज्ञान गंगा—(पृष्ठ २२ का शेषांश)

भगवान तथागत ने कहा, "हे ब्राह्मण भारद्वाज यदि तू ठीक विचार करेगा तो तुझे मालूम होगा कि जिस प्रकार तू खेती करता है, बढ़िया बीज बोता है, ज़मीन की सम्हाल रखता है, रात-दिन उसकी रखवाली करता है, और उसमें से उत्पन्न अनाज सबों को पोषण के लिए देकर तू अपना पोषण प्राप्त करता है, इसी प्रकार मैं भी सद्-विचार के बीज समाज रूपी ज़मीन में बोता हूँ, इससे समाज का लाभ होगा। अब तू ही बता कि तेरी और मेरी खेती में क्या फ़र्क है? इसी लिए मैं अपना पोषण समाज से प्राप्त करता हूँ। हाँ, यदि मैं दुराचारी होऊँ, समाज को झूठा मार्ग बताने वाला होऊँ तो मुझे समाज से पोषण प्राप्तकरने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु मेरी और तेरी, दोनों की खेती एक समान है। अतः मैं भिक्षा माँगता हूँ।"

हमारे यहाँ भी सारे समाज के स्तर पर गाँवों की पुनर्रचना करने का समय अब आ पहुँचा है।

सब खेती करें, यदि सबों के काम निराले हों, परन्तु सभी दिल लगा कर मेहनत करें, परिश्रम करें और रोटी प्राप्त करें।

बीज बोने वाले और फ़सल काटने वाले अलग नहीं हैं। यह समझकर सभी लोग दिल लगा कर श्रम करें। इस प्रकार श्रम द्वारा समाज की सूरत पलटी जा सकती है।

अनुवादक : श्री वासुदेव व्यास

पिञ्जर-मुक्ति

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(१)

'राधा कृष्ण' न बोले,
और, न 'सीताराम' कहा उनने;
चुग्गा खाकर शुक जी—
'टेंऊँ-टेंऊँ-टिंयाँ' लगे करने ।

(२)

कई युगों से बैठे
बन्दी कीर पींजरे में अपने;
खाते हैं, पीते हैं;
किन्तु न अक्षर एक सीख पाए ।

(३)

रहे असंस्कृत अब तक,
तो क्या छोड़ें आशा संस्कृति की ?
ये क्या वह ऊसर हैं—
जिसमें कोई बीज नहीं जमता ?

(४)

सुग्गाराम, क्या यों ही—
बने रहोगे जंगली के जंगली ?
बन्य भाव अब छोड़ो
करो पठित एकाध नाम-अक्षर ।

(५)

व्यर्थ करो मत टें-टें;
और, न अपने पंख फड़फड़ाओ;
पिंजरे की तीली पर
मत रगड़ो अब और चोंच अपनी ।

(६)

पिञ्जर-मुक्ति मिलेगी,—
जब तुम निश्चल, शान्त, सौम्य होकर,
लेकर अक्षर-आश्रय,—
अन्तरिक्ष नापोगे नयनों से ।

पंजाबी कविता



अमृता प्रीतम

पूरब ने कुछ खोज लिया
कौन से आकाश फरोल कर
जैसे कि हाथ के कटोरे में
घोल दिया हो केसर !

हम कातने बैठीं
तार बारीक और कोमल निकले
अनेक तारों से अनेक गुड्डियाँ बन गईं
रेशम सी महीन सुन्दर !

फिर चाँदनी से लिपी-पुती रात
जहाँ बिखरी सात प्रकार की सुगन्धियाँ
अम्बर की फसलें पक गईं
लगा दीं सितारों ने जिनकी बोलियाँ !

जिन्दगी को किसने अर्पण किया है
चारों कलियों से खोलकर
बादलों ने आँखें भर लीं हैं
हवाओं ने झोलियाँ !

पंछी परों को है तोल रहा
टहनियाँ हिल गईं
ले दे, बिकते पंखों को
या हमारे पास ही रहने लग जा
ओ परदेशी !

अनुवादक—अजीत मधुकर

नई कविता : उपलब्धि और भ्रांतियाँ

नेमिचन्द्र जैन

पिछले कुछेक वर्षों में हिन्दी साहित्य के जिस कला-रूप ने लेखकों, पाठकों और समालोचकों का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया है वह निस्संदेह कविता ही है, इससे शायद बहुत कम लोगों को इंकार होगा। इस बीच न केवल अनगिनती छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे कविता संग्रह तथा संकलन प्रकाशित हुए हैं बल्कि पिछले दिनों सभी पत्र-पत्रिकाओं ने कविता-विशेषांक निकाले हैं—'धर्मयुग' तक इस छूत से बच नहीं पाया है। और उन अनगिनती लेखों का तो उल्लेख ही क्या किया जाए जो हर पत्रिका में नई कविता के बारे में निकलते रहे हैं। शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जिसने नई कविता के भूत, भविष्यत् और वर्तमान में से किसी न किसी पर, अथवा सभी पर, उसकी वंशावली से लगाकर उसके संभाव्य-असंभाव्य गुण-दोषों तक पर कुछ न कुछ न लिखा हो। यहाँ तक कि लगभग प्रत्येक रेडियो केन्द्र से किसी न किसी रूप में नई कविता पर वार्ता-मालाएँ अथवा परिसम्वाद प्रसारित किए गए हैं। शायद छायावादी कविता के प्रारम्भिक युग के बाद से कविता को इतना अधिक महत्त्व कभी नहीं मिला। अब कविता पत्र-पत्रिकाओं में दो लेखों अथवा कहानियों के बीच के खाली स्थान को भरने के लिए, अथवा 'टेलपीस' की भाँति, नहीं छापी जाती। कविता का समकालीन साहित्य में एक सर्वथा आत्यंतिक स्थान है यह बात घटिया से घटिया पत्र के सम्पादक के निकट भी उजागर हो चुकी है।

साहित्यिक माध्यम के रूप में आज कविता की प्रमुखता का कारण शायद यही है कि सामान्यतः हर युग में अभिव्यक्ति का कोई विशेष रूप ही युग की आत्मा को वाणी देने में सफल होता है और वह एक विशेष स्तर पर कलाकार के व्यक्तित्व और बाह्य परिवेश के बीच तथा कलाकृति और पाठक के बीच नवीनतम रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। इस अर्थ में उस कला-रूप की यह प्रधानता उसकी विशेष सार्थकता तथा सक्षमता की सूचक तो होती ही है, साथ ही यह इस सत्य की ओर भी संकेत करती है कि उस कला-रूप में उस युग के समस्त कलागत और अभिव्यक्तिगत संघर्ष और अन्तर्विरोध भी पुंजीभूत तथा केन्द्रित हैं।

आज की नई हिन्दी कविता को लेकर होने वाली अन्तहीन ऊहापोह, विचारों, मूल्यों और मानदण्डों की टकराहट इस काव्य की इसी प्रधानता को प्रकट करती है। इस कविता की विषयवस्तु और उसका रूप आपको रुचिकर लगे अथवा न लगे, उसकी अन्तभूंत स्थापनाओं और मान्यताओं को आप स्वीकार करें अथवा न करें, किन्तु उस पर विचार करने को, उसके सम्बन्ध में मतामत प्रकट करने को आप बाध्य हैं। और यही नहीं, उससे असहमत होकर भी उसके प्रवाह और प्रभाव को रोक सकने में आप असमर्थ हैं। वह ऐसी वेगवती धारा की भाँति है जिसके बाँध बनाने की योजनाएँ तो बनाई जा सकती हैं पर जिसके अस्तित्व और अपार सम्भावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हिन्दी कविता के नए रूप के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि वह कोई बलपूर्वक ऊपर से थोपी हुई स्थिति अथवा कुछ सिर-फिरे अथवा परम प्रतिभाशाली कवियों की सनक या सूझ नहीं है। वह न केवल हमारे देश तथा युग की सांस्कृतिक-आध्यात्मिक उथल-पुथल की तथा उसके साथ संवेदनशील जागरूक व्यक्ति-चेतना के सम्बन्ध की ऐतिहासिक उपज है, बल्कि वह पिछली तीन दशाब्दियों के हिन्दी काव्य का सर्वथा स्वाभाविक तथा सहज विकास और परिणति है। वह हिन्दी की गतिमान काव्य परम्पराओं के साथ नई पीढ़ी के मानस की अनिवार्य समन्विति की अभिव्यक्ति है, जो छायावादी कविता से सर्वथा भिन्न लगने पर भी उससे अनगिनती सूक्ष्म भावसूत्रों के द्वारा जुड़ी हुई और अविच्छिन्न है। उसकी अनिवार्यता लगभग वैसी ही अनिवार्यता है जैसी, उदाहरण के लिए, हमारी मौजूदा लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था की है। यह सम्भव है कि बहुत सी परिस्थितियाँ जैसी थीं वैसी न हुई होतीं तो हमारे देश की शासन व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ आज से भिन्न होता। किन्तु इस सम्भावना से वर्तमान यथार्थ की अनिवार्यता और वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता। यही कारण है कि वर्त्तमान हिन्दी कविता को आधुनिक विदेशी कविता के अनुकरण अथवा नकल के रूप में देखना कमोबेश उतना ही सार्थक अथवा हास्यास्पद है जितना पंत की कविताओं को शेली को, निराला को रवीन्द्रनाथ की अथवा बच्चन को उमर खैय्याम की अनुकृति मानना होगा। प्रत्येक युग ही अपनी सम्भावनाओं और सक्षमताओं के अनुरूप तथा अनुकूल बाह्य प्रभावों को ग्रहण और आत्मसात् करता है और इस प्रकार उसे नई आध्यात्मिक व्यापकता और सार्थकता प्राप्त होती है। इसीलिए आज की कविता को विदेशी विचारधाराओं, काव्य परम्पराओं अथवा भावदशाओं से प्रेरित मानना बौद्धिक अवयस्कता का सूचक है। किसी ज़माने में पंत, प्रसाद, निराला के काव्य को भी इसी प्रकार विदेशी कह कर उसकी विशिष्टता को कम करने का प्रयत्न हुआ था जो स्वभावतः ही सर्वथा असफल और निरर्थक ही सिद्ध हुआ। किसी हद तक हमारे कुछेक विचारकों और आलोचकों के ऊपर 'स्वदेशी' के राजनीतिक नारे का इतना गहरा असर है कि वे उसे विचार और भावसम्पदा के क्षेत्र में भी घसीट लाते हैं, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सम्पर्क के इस युग में राजनीति भी अपनी यह संकुचित मनोवृत्ति छोड़ने को बाध्य हो रही है।

जो भी हो, आज की कविता की उपलब्धि और उसकी मौलिक विलक्षणता तथा सक्षमता के साथ-साथ उसकी आत्यन्तिक दुर्बलताओं और

भ्रांतियों का विवेचन करने के लिए इस तथ्य को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार करना बहुत ही आवश्यक है कि नई कविता हिन्दी की सहज और उन्मुक्त-प्रवाही काव्यधारा का ही एक कालखण्ड है। उसकी परख अथवा उसके माध्यम से रस और आनन्द की तथा जीवन की बृहत्तर और गहनतर चेतना की उपलब्धि ऐसे पूर्वाग्रह के साथ तो हो ही नहीं सकती मानो वह कोई अचानक ही कहीं से खरीदी हुई नए से नए 'मॉडल' की और विशेष 'मेक' की मोटरगाड़ी हो जिसे इच्छानुसार बदला जा सकता है, जिसके रूप-रंग और गुण-अवगुणों की चर्चा सर्वथा निरपेक्ष तटस्थ भाव से की जा सकती है, जिसका होना न होना हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है।

वैसे किसी भी साहित्यिक अथवा कलात्मक प्रवृत्ति अथवा युग के विषय में यह बात बहुत ही प्राथमिक और सहज है। पर नई कविता के विषय में इस बात पर बहुत कुछ ज़ोर देना इसलिए आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि आज की बहुत सी चर्चा में नई कविता को कुछ इसी प्रकार की नए 'मॉडल' और 'मेक' की मोटरगाड़ी की भाँति ही ग्रहण किया जाता है। जिन लोगों को वह 'मॉडल' सुलभ और प्राप्त अथवा प्रिय है वे न केवल उसके रूप-रंग और खूबियों को आसमान पर चढ़ा कर देखते हैं बल्कि अपने से भिन्न सभी 'मेक' और 'मॉडल' उन्हें निकृष्ट और पुराने और सड़ियल लगते हैं। और जो लोग पुराने 'मॉडलों' के अभ्यस्त हैं अथवा जिनके पास इस विशेष 'मेक' का नया 'मॉडल' नहीं है वे नए को कुछ भी मानना ही नहीं चाहते। कुछ लोग नई कविता को "कालिदास और तुलसीदास से क्रमशः दो हज़ार और चार सौ वर्ष आगे के मानव की सांस्कृतिक थाती" मानते हैं जो "विज्ञान और दर्शन जहाँ समाप्त होता है, वहाँ का चिन्मय, घनीभूत, क्षण-चित्रात्मक, प्रामाणिक, समग्र अन्तरदर्शन है" तो दूसरे लोग कहते हैं कि "आधुनिक कविता युग की क्रिया का ही प्रतिनिधित्व करती है, वह सर्वदेशीय और सर्वकालीन सत्य से बहुत दूर है..........और इस युग के साथ ही जिसे नई कविता कहा जा रहा है वह नष्ट हो जाएगी।" यदि एक के लिए नई कविता शताब्दियों बाद अचानक हो प्राप्त पारसमणि है तो दूसरे के लिए वह मानसिक विकार की अवस्था में सड़क से उठाया हुआ काँच का टुकड़ा, जिससे हाथ कट जाने की ही अधिक आशंका है। दोनों के आगे ही नई कविता मूलतः अपने इतिहास से विच्छिन्न जड़ीभूत धारणा मात्र है।

इसी विचित्र दृष्टिकोण के कारण अधिकांश नई कविता के समर्थकों अथवा विरोधियों ने—इनमें स्वयं कविगण तथा आलोचक दोनों ही शामिल हैं—'नई कविता' की बड़ी 'गुट्टवादी' और संकीर्ण परिभाषाएँ बना ली हैं। विशेषकर समर्थकों ने तो धीरे-धीरे 'नई कविता' का वैसा ही आभिजात्यपूर्ण, ढला हुआ, पक्का साँचा बना लिया है जैसा किसी ज़माने में प्रगतिवादियों ने प्रगतिशील कविता का बना रक्खा था। इस समय 'नई कविता' का लेखक स्वीकृत होने के लिए 'सप्तकों' में संग्रहीत होने या हो सकने के उम्मीदवारों में गिना जाना बहुत आवश्यक हो गया है। नए कवियों में इस बात की होड़ है, और उनके बीच इस बात को लेकर पर्याप्त उथल-पुथल है कि तीसरे, चौथे अथवा पाँचवें 'सप्तक' में कौन शामिल किया जाता है। क्योंकि उसके बिना उचित रूप में और सही कोटि का नया कवि नहीं बना जा सकता, कम से कम उस रूप में मान्यता तो मिल ही नहीं सकती। और जो 'सप्तकों' में शामिल हैं वे स्वभावतः ही जो शामिल नहीं हैं उन्हें कम 'नया' कवि मानते हैं। जो ठीक उन्हीं की तरह नहीं लिखते अथवा नहीं लिखना चाहते अथवा जिनके संस्कार, शिक्षा अथवा अनुभवों का रूप और विषय-वस्तु कुछ अलग प्रकार की है वे या तो नए कवि माने ही नहीं जाते या बहुत कम माने जाते हैं।

ऐसी अवस्था में इस नई कविता की पहचान और कसौटी धीरे-धीरे रूपगत अधिक होती जा रही है। इस कसौटी के अनुसार अनावश्यक रूप से गद्यात्मक और लगभग लयहीन लम्बी-लम्बी पंक्तियों में लिखी कविताएँ स्पष्ट ही अधिक 'नई' लगती हैं, साधारण छंदबद्ध रचना अथवा कोई सीधा सहज 'गीत' नई कविता नहीं लगता। किन्तु किसी भी युग का जीवन्त काव्य-सृजन ऐसी संकीर्णताओं और बहिष्कारवादी एकान्त कसौटी या कसौटियों को लेकर दूर तक नहीं चल सकता। क्योंकि ऐसी संकीर्णता बाह्य स्थिति को चाहे बदले या न बदले किन्तु अपने पोषकों को वह अनिवार्य रूप से निष्प्राण और उनकी कलादृष्टि को बंध्या बनाती है और धीरे-धीरे उन्हें एक अंधी गली में ढकेलती जाती है। प्रगतिशील आन्दोलन की यह परिणति हमने अपनी आँखों देखी है और उनकी प्रवृत्ति के नए उत्तराधिकारी भी, जो चाहे प्रगतिवाद के उच्चस्वरी घोषित विरोधी और विपक्षी ही हों, काव्य को उसी दलदल में घसीटेंगे इसमें संदेह नहीं।

पर जिस प्रकार छायावादी काव्य की लगभग शिशु-सुलभ आत्म-निष्ठता के बाद साहित्य में बाह्यनिष्ठता तथा सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा एक अनिवार्य परिणति थी और वह, प्रगतिशील आन्दोलन की संकीर्णता के बावजूद, आज की साहित्य परम्परा का एक अविच्छिन्न अंग बन गई है, उसी प्रकार 'नएपन' की सारी हठग्राहिता के बावजूद आज की कविता का एक अपना ऐसा अलग स्वर और रूप है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है और पिछले सारे काव्य की परिणति होते हुए भी उसे मौलिक रूप में नवीन बना देता है।

यह नवीनता अथवा विशिष्टता है काव्य में व्यक्ति-मानव की, अपने परिवेश के साथ असंख्य भावसूत्रों से जुड़े हुए और अपने अन्तर की अतल गहराइयों में झाँकते हुए आत्मसजग व्यक्तित्व की, अपनी सम्पूर्ण सामाजिकता तथा व्यक्तिमत्ता में, अनेक स्तरों पर नानाविध रूपों में प्रतिष्ठा। मानव व्यक्तित्व की सामाजिकता तथा आत्मसजगता की यह बहुरूपी स्वीकृति ही हिन्दी के वर्तमान काव्य की नवीनता है और यही कारण है कि यह नवीनता किसी नए आकस्मिक रूपगत अथवा विषय-गत तत्व के प्रचलित हो जाने में नहीं है, बल्कि समूचे पिछले हिन्दी काव्य की परिणति के रूप में है। इसलिए नई कविता की संज्ञा केवल किसी नवीन छन्द, लय, शब्द तथा भाव विन्यास वाली कविता का एकाधिकार नहीं है, वह इस युग की समूची सार्थक और सक्षम काव्य रचना को प्राप्त होनी चाहिए, वह चाहे किसी छंद में और किसी दल के कवि की लिखी हुई क्यों न हो। अनुभूति की विविधता तथा विस्तार

और उसकी स्वीकृति ही आज की हिन्दी कविता की विशेषता और उसका नयापन है, यह बात दीक्षाधारी प्रगतिवादियों, 'प्रयोगवादियों' अथवा नवीनतावादियों को छोड़ कर बाकी अधिकांश सजग पाठकों और स्वयं कवियों को मान्य होगी। इस कविता में न कोई अनुभूति वर्जित है और न कोई जीवन दर्शन बहिष्कृत। वह न निराश प्रेम के गीतों तक सीमित है, न यौन-वर्जनाओं के प्रतीक-चित्रों तक, न क्रांति की हुंकार अथवा सामाजिक परिवर्तन की कल्पना मूलक लालसा तक। यही कारण है कि आज की कविता में यदि विचार-विश्लेषण है तो लोक-गीतों जैसे लुभावने प्रकृति के तथा किशोर प्रणय के चित्र भी हैं, तीखी आत्मसजगता और कुंठा है तो व्यंग्य और फक्कड़पन भी है, सरल आत्मदर्शन है तो सामाजिक विषमता की चेतना भी है। निस्संदेह इन्हें तथा अन्य अनगिनती भावरूपों को असंख्य स्तरों पर, तीव्रता और प्रौढ़ता की विभिन्न मात्राओं में पूरी स्वीकृति के साथ झेलने और वाणी देने वाली कविता ही नई कविता है। चेतना का ऐसा विस्तार हिन्दी काव्य के पिछले किसी युग में नहीं आया और जीवन के छोटे से छोटे साधारण अनुभव को इतनी सहजता के साथ पहले कभी व्यक्त नहीं किया गया।

अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की इस व्यापकता के अतिरिक्त एक और भी तत्व इस कविता में मौजूद है। पिछली दो दशाब्दियों में हिन्दी कविता क्रिया-प्रतिक्रिया के परस्पर विरोधी दो छोरों से निरन्तर टकराती रही थी; सामाजिक यथार्थ तथा वर्ग-संघर्ष अथवा मनोवैज्ञानिक सत्य और व्यक्तिमन के आंतरिक उलझाव और कशमकश—दोनों एक-दूसरे को काटते से जान पड़ते थे और कोई भी एक सम्पूर्ण नहीं लगता था क्योंकि कोई भी एक सम्पूर्ण था ही नहीं। किन्तु साथ ही हमारे सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन की विभिन्न शक्तियाँ जैसे हमें एक साथ ही दोनों ओर खींचती थीं। एक तीखी दुविधा के कारण किसी को हम स्वीकृति नहीं दे पाते थे। इसीलिए उस युग में इस असमंजस और दुविधा का काव्य बहुत लिखा गया। कम से कम एक पीढ़ी के कवि तो निश्चित रूप से इतने संशयभ्रमित रहे कि वे बहुत बार इस संशय पर भी संशय करने लगते थे। किन्तु उसी के साथ-साथ धीरे-धीरे एक और ऐसा कवि-वर्ग भी प्रगट होकर और उसी मिट्टी से रस सोख कर पनपता रहा जो अधिक एकाग्रता से अपने अनुभव को देख सकता था। उसने युग की बौद्धिक विश्रृंखलता और आस्थाहीनता को भी एक सत्य की भाँति स्वीकार कर लिया जिससे भागने का प्रयत्न आवश्यक नहीं था, और जहाँ सम्भव हुआ, जीवन के सरल खुले सौंदर्य को भी सहजता से ग्रहण किया। इसीलिए जीवन के अनुभव के प्रति आज कवि की दृष्टि प्रश्नसूचक तो है, सम्पूर्ण विश्वास अथवा सम्पूर्ण अविश्वास की नहीं। किन्तु साथ ही इस प्रश्नात्मकता में एक सहजता है, वह पिछली तीव्रता और तिक्तता नहीं। इस भाँति जीवन हर स्तर पर और प्रत्येक रूप में काव्य में स्वीकृति पा सका है। इसी के साथ एक बात और भी है। हिन्दी कविता के पिछले युग या तो बड़ी-बड़ी भावनाओं और आदर्शों की परिकल्पना के युग थे या अधिक से अधिक व्यक्तिगत प्रेम और निराशा की अभिव्यक्ति के। आज जीवन के प्रत्येक पक्ष की, प्रत्येक स्तर की, भावना के स्तरों में इसके उतार-चढ़ाव की काव्य में अभिव्यक्ति है। इस प्रकार से कविता का यह 'जनवादीकरण', ऊँचे सिंहासन से उतार कर उसे बाज़ारों के मोड़ पर ला खड़ा करना, आज की कविता की नवीनतम विशेषता है।

यह स्पष्ट है कि इस 'जनवादीकरण' ने दो परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं। एक तो आज के कवि की सौन्दर्य-दृष्टि एक दम भिन्न हो गई है। उसका 'सुन्दर' भी आज अधिक व्यापक और विस्तृत है, और वह पिछले युगों के लम्बी कल्पना लोकों को छोड़ कर नीचे धरती पर उतर आया है। यह स्वाभाविक ही है कि पुराने संस्कारों में पले बहुत से लोगों को यह बड़ा अजीब लगे, उन्हें जान पड़े कि जैसे बहुत से वर्जित प्रदेशों में कविता भटक रही हो, बल्कि लगे जैसे कविता की हत्या ही हो रही हो। किन्तु यह तो लोकतंत्र के युग की अनिवार्य समस्या है कि सामंती संस्कारों को हर नई चीज़ इतनी अपरिचित और त्रास-दायक लगती है। कविता के संबंध में यह संस्कारों की समस्या केवल पुराने लोगों के लिए ही हो ऐसी बात नहीं है। पिछले युगों में हम कविता को किसी न किसी परिभाषा के घेरे में रख कर ही देखते समझते आये हैं—छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, हृदयवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद इत्यादि। यहाँ तक कि अब तो इन विशेषणों के बिना हमें उसे ग्रहण करने में कठिनाई होने लगी है। 'नई कविता' भी दुर्भाग्यवश कुछ इसी प्रकार का विशेषण बनता जा रहा है और बहुत से लोग इस नएपन की कोई न कोई रूढ़ परिभाषा बनाने में प्रयत्नशील हैं। पर यह आज के युग की व्यापकता और विस्तार की पहली आवश्यकता है कि कोई नई 'वर्ण व्यवस्था' रूप-रंग अथवा दल के आधार पर हम न बनाने लगें। जो कुछ भी यथार्थ है, सच्चा है, ईमानदारी की उपज है और हमारी भावसम्पदा को अधिक समृद्ध बनाता है, वह किसी भी रूप में, किसी भी शिल्प में, किसी भी पीढ़ी के कवि से क्यों न प्राप्त हो, हमारा उत्तराधिकार है और अपना है। इसीलिए सुविधादायक नारों और 'लेबिलों' से मुक्त करके कविता को अपने वास्तविक प्रकृत रूप में प्रतिष्ठा देना आज अत्यन्त ही आवश्यक है।

दूसरे परिधि के इस विस्तार ने कविता को व्यापकता तो दी है पर इसी से उसकी सघनता कम हो गई है। वर्तमान युग संभवतः साधारण तीव्रता वाले अनगिनती विविध अनुभवों का है, बहुत प्रबलता से झकझोर देने वाले एक या दो अनुभवों का नहीं। यही कारण है कि अधिकांश नई कविता उस गहराई अथवा ऊँचाई तक नहीं उठती जिनसे कला को 'क्लासीकल' की कोटि प्राप्त होती है। आज के कवि की अनुभूति में खरी भावना की मद्धिम धीमी उष्णता है, हर वस्तु को पिघला देने वाला प्रचण्ड उत्ताप नहीं। शायद वह अभी कुछ काल तक सम्भव अथवा स्वाभाविक भी नहीं हो। इसीलिए आज जब कुछ कविगण आक्रोश, व्यंग्य अथवा अन्य किसी भी भाव सत्य को तीव्रता के साथ प्रगट करने लगते हैं तो वह मिथ्या और खोखला लगता है, कृत्रिम और निस्सार जान पड़ता है। इधर कुछ नए लेखकों की बहुत सी कविताओं में यह निरर्थक भाव-स्फीति प्रकट होने लगी है, जो चिन्तनीय है। यही थोथा शब्दाडम्बर पहले

प्रगतिवादी काव्य में भी प्रायः दिखाई पड़ता था—अब तो ख़ैर "प्रगतिवादी" कविताएँ लिखी ही कम जाती हैं।

नई कविता की चर्चा में साधारणतः शिल्प को लेकर बहुत-कुछ कहा-सुना जाता है और कई दृष्टियों से आज के काव्य का वह महत्त्वपूर्ण पक्ष है भी क्योंकि भाव-जगत के वर्त्तमान विस्तार के फलस्वरूप अनिवार्यतः काव्यशैली और शिल्प में ऐसे बहुत से तत्व आ गए हैं। जिनसे, आज तक का काव्य रसिक सर्वथा नहीं तो बहुत-कुछ अपरिचित था। प्रत्येक नए काव्ययुग में छंद, लय और अलंकार योजना के बहुत से परिचित विधान अपर्याप्त हो जाते हैं और नए युग की भाववस्तु के अनुकूल नए प्रतीक और उपमान तथा नई व्यंजनाएँ प्रगट होती हैं। आज की कविता में भी यह रूपगत विविधता और नवीनता वर्त्तमान है। किन्तु एक बात स्मरण रखना आवश्यक है कि कला का शिल्प-निरा वैयक्तिक सत्य अथवा तत्व नहीं है। भावसत्य की अपेक्षा वह कहीं अधिक स्थायी और परम्परावलम्बी है। पिछले युगों का शिल्प विकास आज के युग का उत्तराधिकार बनता है और समर्थ कलाकार उसे आत्मसात करके, उस पर अधिकार प्राप्त करके ही उसे आगे विकसित करता है तथा उसे नवीन भावसत्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है। जिस मिट्टी को गूँध कर नया शिल्प गढ़ा जाता है वह पुरानी परम्पराओं से ही प्राप्त होती है। उनकी अवहेलना करके, उन्हें तिरस्कृत करके अथवा उनसे विच्छिन्न होकर नए शिल्प की चर्चा, चाहे वह कितनी ही ज़ोर से भावसत्य की नवीनता की दुहाई क्यों न दे, केवल सुविधावादी संस्कारहीनता को प्रश्रय देना है। इसी लिए आज शिल्प का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण है, और उसका अलग से और विस्तार से विश्लेषण और विवेचन अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु मूल प्रश्न नए कवि की दृष्टि और उसके भाव-जगत के अंगरूप विभिन्न तत्वों को सही पार्श्व-भूमि में रखकर देखने का है। क्योंकि यह भाव और अनुभूतिगत नवीनता अथवा विलक्षणता ही उसे ऐसी सार्थकता देती है जिसके कारण आज का हिन्दी काव्य पिछली समूची काव्य-परम्परा के विकास का उत्तराधिकारी बन सका है। साथ ही यह विलक्षणता ही उस शिल्पगत नवीनता को भी विचारणीय बनाती है जिसको दुर्भाग्यवश बहुत से 'नए' कवियों ने साधन से अधिक साध्य इसी कारण मान लिया है क्योंकि उन्हें अपनी ही भावगत विशिष्टता की पर्याप्त चेतना प्रायः नहीं होती। इस बात से शायद इंकार करना कठिन है कि शिल्प और रूप की चर्चा आज इतनी अधिक—लगभग असंतुलित रूप में अधिक—होने पर भी जितनी शिल्पगत शिथिलता आज के काव्य में है उतनी पहले कभी नहीं रही। आज गद्य लिखना कठिन है, कविता के लिए तो कुछेक लोग भाषा, शैली अथवा रूपगत कोई नियम ही आवश्यक नहीं मानते। बिम्ब और प्रतीक योजना में इतनी अराजकता और संस्कारहीनता दिखाई पड़ती है कि यदि यह काव्य विषय-वस्तु की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण न होता तो बहुत-कुछ कूड़ा-कचरा माना जाता।

भाषा के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति की और भी तीव्र तथा घातक अभिव्यक्ति हुई है। एक ओर जहाँ नए-नए शब्द अथवा परिचित शब्दों की नई नई व्यंजनाएँ नई कविता ने हिन्दी को दी हैं, वहीं दूसरी ओर कभी-कभी इतनी अशिक्षा, असंयम और अनुशासनहीनता दीखती है कि अचरज होता है। कवि के साधनों में भाषा एक ऐसा तत्व है जो सबसे अधिक सामाजिक और व्यक्ति-निरपेक्ष है। भाषा किसी एक व्यक्ति के द्वारा, किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा अथवा किसी एक युग के द्वारा नहीं बदल जाती। उसके संस्कार और विकास के लिए लम्बे समय की आवश्यकता होती है। प्रतिभावान साहित्यकार भी भाषा के मूल स्वरूप और प्रकृति को समझ कर और उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं को समन्वित कर सकने पर ही उसके संस्कार में योग दे पाता है। और यदि किसी कारण से वह यह समन्विति प्राप्त करने में सफल न हो सके तो उसके प्रयत्न स्वीकृत नहीं होते। अधिक-से-अधिक उन्हें विशिष्ट कवि की शैली का चमत्कार मान लिया जाता है। कम-से-कम भाषा के रूप पर उनका कोई सर्वमान्य प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि पंत ने 'पल्लव' में जिन भाषागत नवीनताओं का इतने ज़ोर-शोर से समर्थन किया था वे हिन्दी में स्वीकृत न हो सकीं, और समूचे छायावादी काव्य का हिन्दी भाषा के रूप, शब्द-विन्यास तथा उसकी रचना पर यथेष्ट प्रभाव होने पर भी, कवियों के व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य से सम्बन्धित नवीनताएँ स्वीकार नहीं की गईं। आज की कविता में बड़ी भारी भाषा संबंधी अराजकता का कारण यही है कि अनुभूति की वैयक्तिकता से भ्रमवश कवियों ने यह निष्कर्ष भी जाने अन-जाने निकाल लिया है कि भाषा भी व्यक्तिगत और स्वच्छंद हो सकती है। शायद इसी से आज बहुत से कवि अपनी निजो भाषा बना डालने के फेर में हैं। 'नकेन' पंथियों के अविवाद को छोड़ भी दें, तो शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि की कविताओं में भाषा के साधारण नियमों तक के प्रति उदासीनता अथवा अवहेलना पाई जाती है। प्रभाकर माचवे की कविताओं में कथ्य की नवीनता और सार्थकता होने पर भी भाषा की शिथिलता तथा उखड़ेपन के कारण वे मन को छूती नहीं। उन में चमत्कार भले ही हो, सहजता और अनिवार्यता नहीं है। इस दृष्टि से पुराने गीतकारों अथवा अन्य कवियों की भाषा के पिटी-पिटाई होने के कारण यदि उसके देवता कूच कर गए हैं तो बहुत से नए कवियों की भाषा में तो किसी देवता की प्रतिष्ठा की क्षमता ही नहीं है। वह जन्म से ही लगभग निष्प्राण और निरी शब्द-देह मात्र है। यह स्थिति अन्ततः काव्य की आत्मा के लिए ही घातक है। इसमें कोई संदेह नहीं और यह निर्विवाद है कि शिल्प और भाषा की इस कृत्रिम नवीनता के मोह से नए कवि को मुक्ति पानी ही होगी।

वास्तव में नई कविता के सबसे बड़े अ-मित्र उसके कुछ ऐसे ध्वजवाही समर्थक ही हैं जो नई कविता को एक स्कूल, एक गुट, एक दीक्षा सुलभ अभिजात कुलीनता पर आधारित ऐसा गुह्य समाज बनाना चाहते हैं जिसके यज्ञ के ऋत्विज वे स्वयं बन सकें। ये कवि अथवा आलोचक-समर्थक इसी से ऐसे नए-नए मंत्रों की रचना और उनकी दीक्षा में संलग्न हैं जो अपने नएपन के कारण ही मान्य हो सकें। इसी से वे साहित्य में भ्रष्टाचार के विरोध के नाम पर फिर से प्रगतिवादियों की

(शेष पृष्ठ ४९ पर)

हिन्दी और उर्दू में समन्वय-भावना

हरिशंकर शर्मा

शम्सुल उलमा प्रो० मुहम्मद हुसैन आज़ाद १८३१ ई० में पैदा हुए और १९१० ई० में चल बसे। ये उर्दू-फ़ारसी और अरबी के प्रकाण्ड पण्डित और साहित्यकार थे। सबसे पहले— ग़दर से पूर्व— इन्होंने ही देहली से 'उर्दू' नामक अख़बार निकाला। ये अपने 'आबे हयात' ग्रन्थ में लिखते हैं—'ज़बाने उर्दू की तारीख़' शीर्षक के नीचे :

"इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी उर्दू ज़बान ब्रज भाषा से निकली है, और ब्रजभाषा ख़ास हिन्दुस्तानी ज़बान है। इसकी उम्र आठ सौ बरस से ज्यादा नहीं है और ब्रज का सब्ज़ाज़ार इसका वतन है।"

उर्दू-फ़ारसी के बड़े-बड़े विद्वानों और इतिहासकारों का स्पष्ट मत है कि उर्दू का जन्म 'ब्रज भाषा' से हुआ; वह स्वतन्त्र भाषा न होकर हिन्दी की ही एक शैली है। स्वतन्त्र भाषा के लिए शब्द-कोष व्याकरण और छन्द-शास्त्र का होना आवश्यक है, सो उर्दू का न कोई शब्द है, न व्याकरण और न छन्द। उसने सारे शब्द फ़ारसी, अरबी, तुर्की, हिन्दी और अंग्रेज़ी आदि से लिये हैं। उर्दू और हिन्दी के व्याकरण में किसी प्रकार भेद नहीं। दोनों एक हैं। जब उर्दू-हिन्दी की एक शैली है तो उसका व्याकरण भिन्न कैसे हो सकता है। रहे छन्द, ये भी उर्दू में हिन्दी से ही ज्यों के त्यों गए हैं। यह बात अच्छी तरह देख ली गई है कि उर्दू में जो छन्द व्यवहृत होते हैं, वे हिन्दी के ही छन्द हैं। बाल बराबर भी अन्तर नहीं है। केवल पढ़ने का ढंग दूसरा हो गया है। यदि 'तक़्ती' (प्रस्तार) किया जाए तो उर्दू-बहर हिन्दी छन्दों के अनुसार ही सिद्ध होंगे। यह विषय एक पृथक् निबन्ध द्वारा ही भली प्रकार समझ में आ सकता है। ऐसा निबन्ध लिखा जा चुका है, और उसकी बातों को उर्दू साहित्यकारों ने सहर्ष स्वीकार किया है।

व्याकरण की दृष्टि से उर्दू के दो-तीन वाक्य देखिए 'मैं मुल्क को आज़ाद करूँगा'; 'आपके हाज़िर होने की कोई ज़रूरत नहीं है'; 'आप तेल का इस्तेमाल क्यों नहीं करते।' इन्हीं वाक्यों को हम हिन्दी में कहेंगे—मैं देश को स्वतन्त्र करूँगा; आपके उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं है; आप तेल का प्रयोग क्यों नहीं करते। इन वाक्यों में केवल फ़ारसी-अरबी के शब्दों के स्थान पर हिन्दी-संस्कृत के शब्द बदल दिए गए। व्याकरण ज्यों का त्यों रहा। करूँगा, लिखूँगा, पढ़ूँगा, चलूँगा, हँसूँगा, रोऊँगा इत्यादि सब क्रियाएँ हिन्दी की हैं। खाना-पीना, जाना-आना, देना-लेना, मिलना-खिलना, मरना-जीना सब हिन्दी की क्रियाएँ हैं, जो उर्दू में निरन्तर प्रयुक्त होती हैं। शब्द तो उर्दू के हैं ही नहीं। छन्दों की दृष्टि से देखा जाए तो वीर, भुजंग, प्रयात, गीतिका, हरिगीतिका, कवित्त-सवैया, चौपाई, चतुष्पदी (रुबाई) इत्यादि सभी प्रकार के हिन्दी छन्द उर्दू में काम में लाए जा रहे हैं।

उर्दू की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि ब्रजभाषा से बनी हुई 'रेख़ता' या 'खड़ी बोली' में मुसलमानों के इस देश में आने पर जब फ़ारसी-अरबी और तुर्की शब्दों की बहुलता हुई तो यहाँ की भाषा का रूप बदला। एक संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा, और दूसरी अरबी-फ़ारसी, तुर्की शब्द प्रधान भाषा। पहली का नाम 'हिन्दी' हुआ और दूसरी का 'उर्दू।' उर्दू का अर्थ है लश्कर, छावनी, फ़ौजी पड़ाव। यानी उर्दू वह भाषा है जो लश्कर या छावनी के सिपाहियों की भाषा थी। जब दूसरे देशों का संसर्ग और शासन इस देश पर हुआ तो भाषा में अन्तर पड़ना स्वाभाविक था। अंग्रेज़ी ज़माने में भी हिन्दी, अंग्रेज़ी भाषा से प्रभावित हुए बिना न रही। अंग्रेज़ी के सैकड़ों शब्द हिन्दी में काम लाए जाने लगे। यहाँ तक लोगों ने कहना शुरू किया—

"मैं मदर को रिसीव करने स्टेशन जा रहा हूँ।" "मैं प्लेटफ़ार्म टिकट लेकर स्टेशन पर पड़ी बेंच पर बैठ गया।" "अब तो कण्ट्री को इंडिपेंडेंट करना ही होगा।" "इंजीनियरों की स्कीम प्रैक्टीकेबल नहीं है" इत्यादि। यह भी हिन्दी है। क्रिया तथा कारकों को छोड़ कर सारे शब्द अंग्रेज़ी के हैं। जिस प्रकार ऐसी भाषा को 'अंग्रेज़ी' न कह कर हिन्दी ही कहा जाता है, उसी तरह हिन्दी में जब अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दों की मिलावट हुई तो उसका नाम भी 'हिन्दी' ही रहा, 'उर्दू' उसे कोई न कहता था। इस बात को हम ही नहीं कहते। ओरिएण्टल कान्फ्रेंस लाहौर के अध्यक्ष मौलाना हबीबुल रहमान साहब अपने भाषण में फ़रमाते हैं—

शाहजहाँ के शासन-काल में इस भाषा का नाम उर्दू था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

और समीप की बात सुनिए। सन् १८०५ ई० में सैयद मुहम्मद हैदरी 'दह मज़लिस' नामक एक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—

अब तक फ़ारसी ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी गद्य में नहीं हो पाया।

इतना ही नहीं सन् १८१६ में सर विलियम कैरी नामक अंग्रेज़ विद्वान लिखते हैं—

हिन्दी मुसलमानों की अदालती भाषा है। यह छावनियों में भी बोली जाती है। मुसलमान शासकों की राजधानियों में भी उसका अव्याहत प्रचार तथा व्यवहार है।

२८ जुलाई १८३६ तक उर्दू नहीं, 'हिन्दी' 'कोर्ट लेंग्वेज़' (अदालती ज़बान) मानी गई है, इसके पुष्ट प्रमाण हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि हिन्दी में अरबी-फ़ारसी शब्दों के मिश्रण के पश्चात भी अब से कुछ दिन पूर्व तक उसका नाम हिन्दी ही रहा, उर्दू नहीं हो पाया।

महाकवि मिर्ज़ा ग़ालिब भी उर्दू और हिन्दी को एक ही समझते थे। उनकी राय में हिन्दी का ही दूसरा नाम उर्दू था। और इसीलिए उन्हें उर्दू को हिन्दी कहने में कभी संकोच नहीं हुआ। नीचे उनकी एक चिट्ठी उद्धृत की जाती है, जो उन्होंने अपने शिष्य मुन्शी हरगोपाल तुफ्ता को लिखी थी—

बन्दापरवर,

तुमको पहले यह लिखा जाता है कि मेरे दोस्त क़दीम मीर मुकर्रम हुसेन साहब की ख़िदमत में मेरा पेश सलाम कहना और यह कहना कि अब तक जीता हूँ। और इससे ज्यादा मेरा हाल मुझको भी नहीं मालूम...... मेरा हाल अब यह है कि शेर कहने की रविश और अगले कहे हुए अशआर सब भूल गया। मगर हाँ अपने हिन्दी कलाम में से डेढ़ शेर यानी एक मक़ता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाह-गाह, जब दिल उलटने लगता है, तब दस-पाँच बार यह मक़ता ज़बान पर आ जाता है—

ज़िन्दगी अपनी जो इस तौर से गुज़री ग़ालिब—
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।

फिर जब सख्त घबराता हूँ और तंग आता हूँ तो यह मिसरा पढ़ कर चुप हो जाता हूँ—'ऐ मर्गे नागहाँ तुझे क्या इन्तज़ार है।'

—ग़ालिब

मिर्ज़ा ग़ालिब ने उपर्युक्त पत्र में अपनी कविता को 'हिन्दी कलाम' कहा है, उर्दू नहीं कहा। उन्हें 'उर्दू' शब्द प्रिय होता तो उसे अवश्य इस्तेमाल करते।

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शम्सुल-उलमा मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' की नीचे लिखी पंक्तियाँ बड़ा प्रांजल प्रकाश डालती हैं। मौलाना लिखते हैं—

उर्दू के ग्रामर का दारोमदार बिल्कुल ब्रज भाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर पर है। अरबी, फ़ारसी से इसको सिर्फ़ इस कदर ताल्लुक है कि दोनों ज़बानों के इस्मा उसमें कसरत से शामिल हो गए हैं। बाकी तमाम अजज़ा (अंग) जिनके बगैर किसी ज़बान की नज़्मों-नस्र मुफ़ीद मानी नहीं हो सकती, ब्रज भाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर से माख़ूज़ हैं।

मौलाना हाली के ये शब्द कितने भावपूर्ण हैं। उनमें हिन्दी या संस्कृत को महत्ता कितने अच्छे ढंग से स्वीकार की गई है। वे तो कहते हैं कि उर्दू व्याकरण का सारा दारोमदार हिन्दी या संस्कृत के व्याकरण पर है। और भी वह सारा आधार जिस का होना किसी भाषा के लिए अनिवार्य है, हिन्दी संस्कृत से ही लिया गया है।

हिन्दी और उर्दू का प्रश्न इस देश में क्यों उठ खड़ा हुआ और उसके कारण इन दोनों भाषाओं के समर्थकों के मध्य मतभेद की दीवार कैसे खड़ी हो गई, इस पर उक्त महाकवि हाली की नीचे लिखी पंक्तियाँ पढ़ने लायक हैं। उन्होंने रोग का कैसा उचित और उपयुक्त निदान किया है और कैसी अमोघ औषधि बतलाई है। महाकवि लिखते हैं—

"कौन नहीं जानता कि मुसलमान बावजूदे कि तकरीबन एक हज़ार बरस से हिन्दुस्तान में आबाद हैं, मगर इस तवील मुद्दत में इन्होंने चन्द मुस्तस्नियात को छोड़कर कभी संस्कृत या ब्रज भाषा (हिन्दी) की तरफ़ बावजूद सख्त जरूरत के आँख उठा कर भी नहीं देखा। जिस संस्कृत को यूरोप के मुहक्किक लातनी व यूनानी से ज्यादा फसीह, ज्यादा बसीह और ज्यादा बाकायदा बताते हैं, और जिसकी तहकीकात में उम्रें बसर कर देते हैं, मुसलमानों ने आम-तौर पर कभी उसको काबिले इल्तिफ़ात नहीं समझा। अगर यह कहा जाए कि संस्कृत का सीखना कोई आसान काम नहीं है, तो ब्रज भाषा (हिन्दी) तो बमुकाबले संस्कृत के निहायत सहलुलहुसूल (सुलभ) है और उसको शायरी निहायत लतीफ़ शिगुफ्ता और फसाहत, बलागत से लबरेज़ है, उसको भी अमूमन बेगानावार नज़रों से देखते रहे हैं। हालाँ कि जो उर्दू इनको इस कदर अज़ीज़ है, उसकी ग्रामर का दारोमदार बिल्कुल ब्रज भाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर पर है...

"सच तो यह है कि मुसलमानों का हिन्दुस्तान में रहना और संस्कृत या कम-से-कम ब्रज भाषा (हिन्दी) से बेपरवाह या मुतनफ्फिर होना बिल्कुल अपने तईं इस मसल का मुसदाक़ बनाना है कि दरिया में रहना मगरमच्छ से बैर।...

"जो शख्स उर्दू का अदीब और मुहक्किक होना चाहता है उसे संस्कृत या कम-से-कम हिन्दी भाषा का जानना जरूरी है।

"उर्दू लुगात में हिन्दी के वे अलफाज़ जो आम बोलचाल में आते हैं या जो हमारी जबान में खप सकते हैं बिला तकल्लुफ कसरत से दाखिल करने चाहिए। खुद अपनी नज़्मोनसर में वे हिन्दी अलफाज़ ऐसी खूबसूरती से लिखे जाते थे कि यह मालूम होता था कि गोया इसी मौके के लिए वज़अ हुए हैं। उन्होंने बहुत से ऐसे हिन्दी अलफ़ाज़ उर्दू अदब में दाखिल किए जो हमारी नज़र से ओझल थे और जिन्हें किसी उर्दू वाले ने इस्तेमाल न किया था। उर्दू पर कुदरत हासिल करने के लिए यह भी जरूरी है कि हिन्दी में फिल जुमला दस्तगार बहम पहुँचाई जाए। उर्दू की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रखी गई है। इसके तमाम अफआल और तमाम हरूफ और गालिब हिस्सा इसका हिन्दी से माखूज़ है।......उर्दू ज़बान का शायर जो हिन्दी भाषा मुतलक नहीं जानता और महज़ अरबी-फ़ारसी को तान पर गाड़ी चलाता है वह गोया अपनी गाड़ी बगैर पहियों के मंजिले मकसूद तक पहुँचाना चाहता है।"

यह तो आपने उर्दू हिन्दी के सम्बन्ध में महाकवि हाली के विचार पढ़े, अब ज़रा इसी दिशा में, दूसरे साहित्य-महारथी शम्सुल-उलमा मौलाना इमदाद इमाम साहिब 'असर' की पंक्तियाँ पढ़िए। वे कहते हैं—

सोचा तो यह था !

अंचल

सोचा तो यह था प्रेम तुम्हारा अक्षय मधुतामय होगा
सोचा तो यह था रूप तुम्हारा गीतों का संचय होगा

ये सपने कभी न टूटेंगे
सुख के घट कभी न फूटेंगे
अरमानों की अमराई को
दुर्दिन आकर क्यों लूटेंगे

उजड़े जीवन के मधुवन में यौवन का कीर सदय होगा
सोचा तो यह था अन्तहीन जीवन का प्रथम प्रणय होगा

गदराई हँसी—विलास नया
मन का आवर्तन केन्द्र नया

एकाकी सन्ध्या तारों-सी
आँखों का था निर्माल्य नया

इन नूतनता के स्रोतों का जीवन में कभी न क्षय होगा
सोचा तो यह था अन्तहीन रूपसि का स्नेहाश्रय होगा

कर रहे अंग थे सुरापान
था शिथिल चीर थे तृप्त प्राण
दिल की धड़कन की कोरों ने
कर दिए कभी थे लाल कान

कब सोचा था व्रीड़ा के इन्द्रधनुष का फिर विक्रय होगा
सोचा तो यह था प्रेम तुम्हारा अक्षय मधुतामय होगा।

"उर्दू की मौजूदा शायरी फारसी की शायरी के साथ बहुत मुशाबेहत रखती है। इसका सबब यह है कि उर्दू के शोअरा फारसी के शोअरा का हमेशा ततब्बो (आदेश पालन) करते रहे हैं। हालाँकि तकाज़ाए मुल्क यह था कि उर्दू की शायरी संस्कृत की शायरी का अन्दाज पैदा करती। ऐसी सूरत में उर्दू की शायरी का दायरा बहुत वसीअ हो जाता। मगर इस अदम तवज्जो का सबब यह मालूम होता है कि अक्सर उर्दू के शोअरा जबाने संस्कृत से वाक़फियत नहीं रखते थे और चूँकि अरबी या फारसी में महारत रखते थे इसलिए उसी जबान की तबीयत थी। काश! शोअराए उर्दू संस्कृत की शायरी से मुत्तला होकर उसका चरबा (अनुकरण) उतारते तो असनाफ़े शायरी में उर्दू का दर्जा बढ़ जाता। मसलन ड्रामा निगारी, जो फारसी में नहीं, उर्दू में दाखिल हो जाती और ड्रामा निगारी के दाखिल हो जाने से उर्दू की शायरी बिलाशुबा मुमताज़ हो जाती। फ़ारसी की तरह अरबी में भी रामायण जैसी मबसूत (विस्तृत) किताबें नहीं, इसलिए अरबी को भी इस बहस से खारिज समझना चाहिए।"

उपर्युक्त दोनों विद्वान अर्थात शम्सुल-उलमा मौलाना 'हाली' और मौलाना असर उर्दू साहित्य के सुप्रसिद्ध महारथी हैं। महाकवि हाली ने तो उर्दू शायरी के शिथिल शरीर में नव जीवन का संचार किया है, वे उचित रूप से आधुनिक उर्दू के युग प्रवर्त्तक माने जाते हैं। दोनों विद्वानों ने अब से लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व संस्कृत और हिन्दी के सम्बन्ध में उर्दू वालों को कैसी नेक सलाह दी है और हिन्दी तथा संस्कृत-सी महत्ता कैसे सुन्दर शब्दों में समझाई है।

उर्दू के इन महान साहित्यकारों ने अपने ये विचार उस समय प्रकट किए, जब राजनीतिक खींचातानी नहीं थी। सब लोग साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखते थे। दोनों साहित्यकारों का यही अभिप्राय है कि उर्दू वालों को संस्कृत न सही, हिन्दी तो अवश्य ही सीखनी चाहिए और संस्कृत साहित्य की भावनाओं से अपने इल्मोअदब को अनुप्राणित करना चाहिए। हम देखते हैं कि पहले समय में उर्दू को हिन्दी कहने में किसी मुस्लिम उर्दू साहित्यकार को आपत्ति नहीं थी। ग़ालिब तो बराबर उर्दू को हिन्दी ही कहते, लिखते रहे।

हम उर्दू साहित्य के प्रशंसक हैं उसमें बड़े-बड़े विद्वान लेखक और प्रतिभाशाली महाकवि हुए हैं। हमें महाकवि हाली का समर्थन करते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि जिस प्रकार उर्दू के अदीबों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यकारों को उर्दू साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। ऐसी प्रवृत्ति से दोनों भाषाओं में एक अद्भुत सौन्दर्य और समन्वय पैदा हो जाएगा, विचित्र छटा दिखाई देने लगेगी। उर्दू ही क्यों हिन्दी साहित्य को समृद्ध और सम्पन्न बनाने के लिए तो हमें अनेक भाषाओं का अध्ययन करने की आवश्यकता है, जिससे विविध साहित्यों की विचारधारा हमारी हिन्दी में आ सके। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, उसका महत्त्व दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है ऐसी अनुकूल परिस्थिति में हिन्दी को सर्वांग सम्पन्न बनाने की आवश्यकता है। उर्दू, फ़ारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन जिस भाषा में भी उपयोगी और तात्विक विचार मिलें, हिन्दी में लाने चाहिएँ, अनुवादों द्वारा अथवा स्वतन्त्र निबन्ध रचना करके। ऐसा करने से जहाँ हिन्दी साहित्य की वृद्धि होगी, वहाँ हिन्दी वालों की उदारता भी प्रकट होगी और उनकी ज्ञान-गरिमा बढ़ेगी।



बुझे दीप

विमला रैना

एक छोटी-सी दुनिया उसकी भी थी और वह बड़ा सुखी था अपनी इस दुनिया में। उसका नाम था गोपाल। वह सुन्दर था, वह भावुक था और विनोदप्रिय था। लोग उसे भाग्यवान कहते थे। घर में माँ थी, छोटा भाई था और थी जीवन में मुस्कान लाने वाली राधा, उसकी पत्नी। अभी छोटे भाई प्राण का विवाह हुआ था। घर में छोटी-सी, सुन्दर-सी बहू आई थी। अम्मा अपनी सुन्दर सुशील बहुओं को देख निहाल हो जाती थी और गोपाल का जीवन एक मधुर संगीत भरी सरिता के समान इठलाता हुआ चल रहा था।

इधर जीवन सरिता बढ़े जा रही थी, उधर काल खड़ा मुस्करा रहा था। एक दिन भयंकर तूफ़ान आया और जीवन सरिता अनायास ही मरुभूमि बन गई। गोपाल की राधा मायके गई हुई थी। गोपाल कार्यवश उसे लिवाने न जा सका। उसने छोटे भाई प्राण को अपनी भाभी को लिवाने भेज दिया। प्राण भाभी को लेकर मोटर से लौट रहा था। मोटर तेज़ी से चली आ रही थी कि अचानक एक भारी ट्रक से इनकी मोटर टकरा गई। दुर्भाग्यवश मोटर में आग लग गई और काल के भीषण अट्टहास से दोनों की जीवन-ज्योति बुझ गई।

गोपाल पर ऐसा आघात हुआ कि वह जीवित ही मर गया। अम्मा पर एक ही पल में दुख का पहाड़ टूट पड़ा। एक ही वार में काल ने उनके छोटे बेटे प्राण और बड़ी बहू राधा को उनसे छीन लिया। अब घर में बड़ा बेटा गोपाल और छोटी बहू बीना दो बुझे दीपक के समान रह गए। उनके घर में सहसा अँधेरा छा गया।

छोटी-सी बीना ने एक विधवा का रूप धारण कर लिया। इस बीना के तार टूट गए थे। अब वह कभी झंकृत न होंगे। उसका संगीत कहीं नीरवता की गोद में जाकर सो गया था। उसकी आँखों की चमक आँसुओं से बह गई थी। उनमें भय का अँधेरा छा गया था। उसके अधरों की मुस्कान सिकुड़ कर केवल रुदन का कंपन बन कर रह गई थी। उसका हृदय केवल गति का एक यंत्र बन गया था। भावहीन, लक्ष्यहीन, अर्थहीन! अब उसका जीवन ही व्यर्थ और निरर्थक था। एक भारी बोझ, जिसके भार से वह खुद दबी जा रही थी और गोपाल को भी दबा रही थी। वह स्वयं मानो दुखद पीड़ा का साकार रूप हो, भाग्यहीनता का प्रतिबिम्ब हो, शंका और भय की छाया हो। उसे देख लोगों की मुस्कान क्षीण पड़ जाती थी, हँसी काँप जाती थी, उल्लास मौन हो जाता था। बेचारी छोटी-सी बीना एक अटूट दुखद रागिनी-सी बन गई थी। वेदना, दुख और पीड़ा ही उसके स्वर, गत और लय थे। वह जहाँ जाती यह रागिनी उसके पद से झंकृत होती। और कभी-कभी वह अपने मन से पूछती: "क्या सती की प्रथा उसकी इस दशा से अधिक भयंकर थी?"

उस घटना को साल भर बीत चुका था। शोक थक कर सो रहा था। पर सोई इन्द्रियाँ जागने लगी थीं। वह पुनर्जीवन पाने को मचल रही थीं। आँखें अन्धकार को चीर कर बादलों में रंगीन लहरें देखना चाहती थीं। हृदय के यंत्र में जान आ रही थी। इधर जान आ रही थी उधर बीना घबरा रही थी। इतना घबरा रही थी कि वह चाहती थी कि इस तरह जान आने से पहले वह खुद मर जाए। पर वह बेबस थी। यौवन उसे मरने न देता था। काल भी अपनी भेंट ले निश्चिन्त हो चुका था। वह अब निर्द्वन्द्व हो बीना के अन्तर्द्वन्द्व का खेल देख रहा था। और काल के साथ देख रहा था गोपाल। अपना दुख भूल वह बीना की व्यथा में घुटा जा रहा था। क्योंकि वह बेबस था। बेबस था क्योंकि वह समाज का एक अंश था और समाज किसी का दुख निवारण करने में सदा बेबस ही रहा है।

माँ से गोपाल का दुख देखा न जाता था। दुख उन्हें बीना के लिए भी था। पर उस दुख पर रो-पीट कर वह संतोष पा चुकी थी। अभागिन के भाग को कोई क्या करे? अब साल भर बीत चुका था। जिस बहू के भाग्य ने उनका बेटा उठा लिया हो, उस बहू से उन्हें विशेष सरोकार न था। विधाता ने उसे विधवा बना दिया। अब कोई क्या कर सकता है? पर उनका बेटा गोपाल! अभी उसकी आयु ही क्या थी? २८ वर्ष का सुन्दर युवक यों बैरागी बना फिरे, इसे वह सहन न कर सकती थी। वह फिर से उसकी आँखों में मुस्कराहट देखना चाहती थी। फिर से उसका घर बसाना चाहती थी। फिर से इस बुझे दीपक में लौ लगाना चाहती थी। वह तो चार महीने बाद से ही पुनर्विवाह की चर्चा करने लगी थी। पर यह चर्चा चलते ही गोपाल उठकर चला जाता था। अब साल भर बीत चुका था। अब उनका धैर्य हताश हो रहा था। माँ अब उतावली हो रही थी। शोक की भी एक सीमा होती है। अपने छोटे बेटे के शोक को उन्होंने स्मृति के गाढ़तम अतल में दबा दिया था। और बड़ी बहू के सम्बन्ध में उन्होंने ज्ञान से काम लिया—वह तो रानी-सी गई। भगवान की देन थी, उसी ने ले ली। अपना क्या चारा है? और बीना के तो करम ही फूटे थे। कर्म का भोग तो भोगना ही होता है। पर गोपाल! गोपाल के आगे तो दुनिया खड़ी है। उसे कौन रोक है? माँ के विचार से शायद बेटों का कर्म-भोग नहीं होता। वह क्यों अपना जीवन बरबाद कर रहा है? कम आयु के सुन्दर विधुर के लिए संसार में किस बात की कमी थी। ६ महीने भी न बीते थे कि कितने ही घरों से माँगें आने लगी थीं। माँ ने लड़कियाँ देखनी भी शुरू कर दी थीं। दो-चार पसन्द भी आई थीं, पर सब बेकार था। उन्होंने लाख कहा, लाख समझाया, कसमें दीं, रोई, पीटी, झल्लाई पर गोपाल न मानता था। जैसे जैसे अम्माँ शादी का हठ

करती थी, गोपाल का बैरागी रंग गाढ़ा पड़ता जाता था। अब उसने दाढ़ी भी बढ़ा ली थी। बाल न कटवाता था। अच्छे कपड़े बक्सों में पड़े रो रहे थे। वह सादे कपड़ों में ही सन्तुष्ट रहता। वह किसी भी मनोरंजन में सम्मिलित न होता था। लोग कहते, वह ऐसे रहता है जैसे वह कोई विधवा हो। उसका हठयोगीपना उनकी समझ में न आता था। शायद वह विधवा और विधुर के अन्तर को न समझ पाया था। लोग कहते, यह भी अजीब आदमी है। देखा तो यही गया है कि शोक शुरू में इनसान को राहु की भाँति सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है, पर समय के साथ शोक भी उसी तरह घट जाता है, जैसे चन्द्र-ग्रहण धीरे-धीरे हट जाता है। पर यहाँ तो मामला ही उलटा था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, गोपाल का शोक भयंकर होता जाता था। उसका जीवन केवल एक कार्यक्रम सा था, जिसके अनुसार रात बीत जाती, सुबह होता, वह काम पर जाता, शाम होती, वह घर आता और फिर रात हो जाती। खाली समय में वह या तो कुछ पढ़ता रहता या खोई आँखों से एक ही ओर घंटों बैठे ऐसे देखता जैसे उसके आगे एक अन्धकार का परदा हो, जिसके पीछे कुछ ऐसा छिपा है, जिसे वह पा लेना चाहता है। उसके इस हठयोग में भजन-पूजन सम्मिलित न था। वह अपनी वेदना किसी से न कहता। जब कोई उसके पास आता तो वह सभ्यता से बातें करता, उनका एक उदासीनता के साथ स्वागत भी करता। पर जब कभी कोई उससे पुनर्विवाह की बात करता तो वह चुप हो जाता था। और जब वह चुप हो जाता तो ऐसा लगता जैसे उसके अन्तरतम की हज़ारों ज़बानें कुछ बोलने को मचल रही हैं और वह उनको बश में रखने के लिए एक युद्ध लड़ रहा है। हाथों की मुट्ठियाँ बँध जातीं, आँखें लाल हो जातीं, दाँत भिंच जाते और वह अपने आपको समेटे बैठा रहता। उसके इस रौद्र रूप को देख लोग घबरा जाते और बातों का विषय बदल कर घर चले जाते।

कभी-कभी बीना के आगे अम्मा अपनी पड़ोसिन को गोपाल से विवाह की चर्चा करने को उकसातीं, तो गोपाल एक बार बीना की ओर देखकर काँप जाता और फटी आँखों से माँ की ओर देख बड़ी ज़ोर से हँसता। वह कर्कश हँसी प्रलय के समान भयंकर होती। उस हँसी के आगे माँ की आँखें भर आतीं। पड़ोसिन का दिल दहल जाता और बीना का पीला मुख सफ़ेद पड़ जाता। वह गोपाल की आँखों का उन्माद देख काँप जाती। एक हँसी में इतनी पीड़ा! इतनी वेदना!! इतना उन्माद!!! गोपाल तब बीना की दशा देख अपने को कुछ सँभालता, फिर साधारणता लाते हुए वह बीना को सान्त्वना देने के ख्याल से कोई और बात छेड़ देता, फिर उठ कर चला जाता।

दिन बीते चले जाते थे और अम्मा का पूजा-पाठ, मानता-प्रसाद, जादू-टोना सब निष्फल होता जाता था। अच्छी-अच्छी लड़कियाँ दूसरों के घरों की शोभा बढ़ाने चली जा रही थीं और अम्मा यों ही हाथ फैलाए बैठी थी। आज उन्होंने आखिरी कोशिश करने की ठानी थी। वह यह जानती थी कि गोपाल को वीणा का ध्यान रहता है। उसको वह कभी निराश और दुखी न करना चाहता था। वह वीणा के आगे अधिकतर घर का वातावरण स्वाभाविक ही रखने की कोशिश करता था। उसके आगे वह अपना रौद्र रूप न लाता था। जो क्षणिक आवेश में कभी कुछ उलटी सीधी कह भी रहा हो तो बीना को देख वह चुप हो जाता था। वीणा के आगे वह हठयोगी कुछ इंसान-सा बन जाता था।

तो आज अम्मा ने छोटी बहू बीना को गोपाल से विवाह के लिए हठ करने को कहा। वह उसकी बात न टालेगा। अम्मा ने दिन भर बीना को सिखाया। वचन लेने का अस्त्र उसे बताया। और जब तक गोपाल वचन न दे बीना को तब तर्क और हठ करने की सीख दी। उन्होंने बीना को अच्छी तरह समझा दिया कि जब तक गोपाल का पुनर्विवाह न होगा, घर में सुख और शान्ति न होगी। बीना ने गोपाल के आगे कभी खुल कर बात न की थी। वह जेठ का नाता रखता था। सुहागिन बीना उससे लजाती थी। उसका ससुर समान आदर करती थी। पर वैधव्य की बीना उससे डरती थी, बहुत डरती थी। और आज अम्मा उससे गोपाल से आग्रह करने को कह रही थी। उसे आग्रह करना ही होगा। उसके इस आग्रह का क्या मूल्य होगा, वह न जानती थी, पर तब भी उसे यह आग्रह करना ही था। इसलिए करना था कि अम्मा ने कहा था, इसलिए करना था कि कहीं लोग यह न समझें कि वह नहीं चाहती कि गोपाल का पुनः विवाह हो।

अम्मा ने गोपाल के परम मित्र कैलाश को भी बुलाया था। शायद इसलिए कि कैलाश बीना के तर्क और हठ को और भी महत्त्व दे सके।

आज शाम को गोपाल काम से लौटने पर आराम कुर्सी पर हाथों से आँखें मूँदे हुए बैठा था। बीना चाय की ट्रे लेकर आई। सदा बीना ही चाय लाया करती थी। घर में नौकरों की कमी न थी, पर वह यह काम खुद ही करती थी। शायद इस सेवा में वह अज्ञात रूप से गोपाल को उसकी अव्यक्त सहानुभूति के लिए धन्यवाद सा देती हो। अथवा अस्पष्ट रूप में वह गोपाल को अपनी समवेदना दिखाना चाहती हो। तो बीना आज भी हमेशा की तरह चाय लेकर आई, पर आज उसके हाथ काँप रहे थे। ट्रे के बरतन खनखना रहे थे पर गोपाल की विचार-धारा कुछ ऐसी गहन-गंभीर थी कि वह वैसे ही बैठा रहा। बीना ने कहा—"भइया!" उसका स्वर काँप रहा था। गोपाल ने आँखें खोलीं। बीना का स्वर पहचानते ही वह स्वाभाविकता से बोला—"चाय लाई हो बीना?" जवाब में बीना ने ट्रे के बर्तन खनखना दिए। गोपाल ने मुड़ कर देखा। उसके हाथ से ट्रे ली और फिर बैठ गया। बीना को देख उसे न जाने क्या हो जाता था। वह बहुत कुछ कहना चाहता था, बहुत कुछ करना चाहता था, पर वह न कुछ कह पाता था न कुछ कर पाता था। उसे सब व्यर्थ-सा लगता था। व्यर्थ की ढोंगी-पोली सहानुभूति सब व्यर्थ। जब वह बीना के वृद्ध यौवन को देखता, जब वह उसके जीवित शरीर और मृत आत्मा को देखता, जब वह उसकी आँखों के बुझे दीपों को देखता, तो उसे लगता जैसे हजारों शक्तियाँ उसे पुकार रही हैं कि वह कुछ करे। कुछ करे जिससे कि बीना की, जिससे कि वैधव्य की यह कुरूपता बदल जाए। पर वह अकर्मण्य खड़ा रहता। उसके कानों में 'कायर, निकम्मा, ढोंगी, स्वार्थी, निर्लज्ज, पशु, पाषाण' की ध्वनि उठती। जैसे उसकी समस्त शक्तियाँ उसे धिक्कार



एक तिब्बती लड़की



सिक्किम का गंगटोक बाज़ार

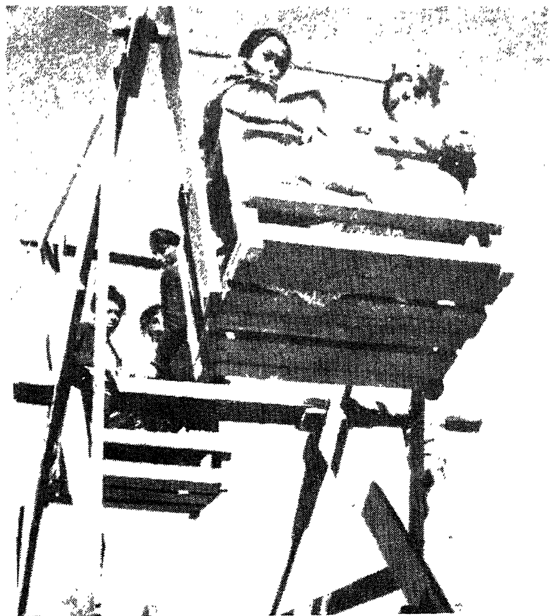
प्रकृति का दुलारा सिक्किम



सिक्किम का रांगपू पुल



सिक्किम में एक तिब्बती मज़दूर

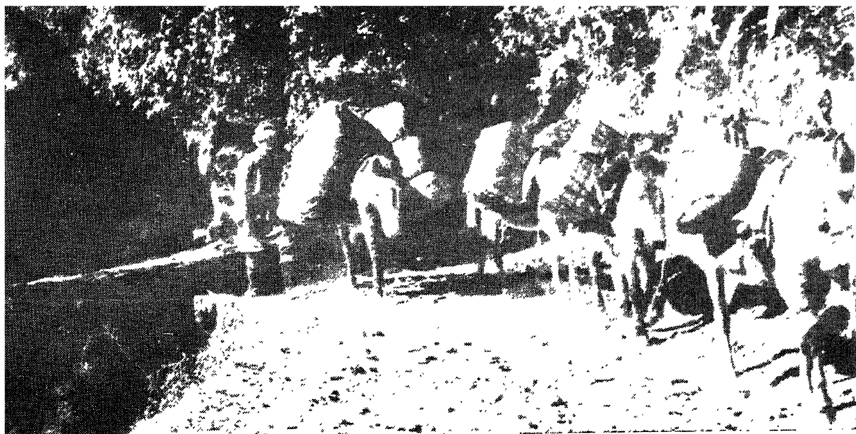


गगंटोक के मेले में



चांगू झील के किनारे एक छोटी-सी दुकान

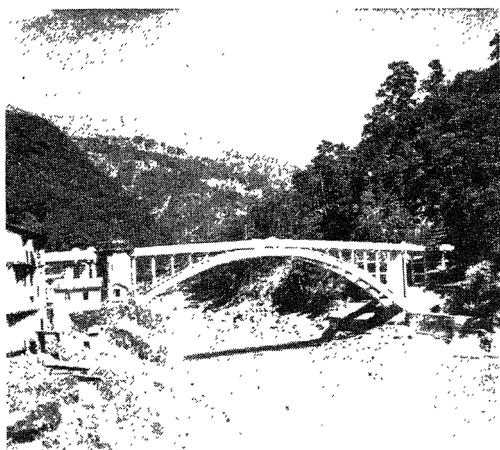
गंगटोक बाज़ार का सामान्य दृश्य



सिक्किम का अधिकांश यातायात टट्टुओं पर होता है



हाट के दिन गगंटोक का बाज़ार



तिस्ता नदी का पुल



गंगटोक के निकट नमैल से कंचनजंगा का दृश्य

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिक्किम में सड़क का निर्माण हो रहा है



गंगटोक के निकट पहाड़ी खेत

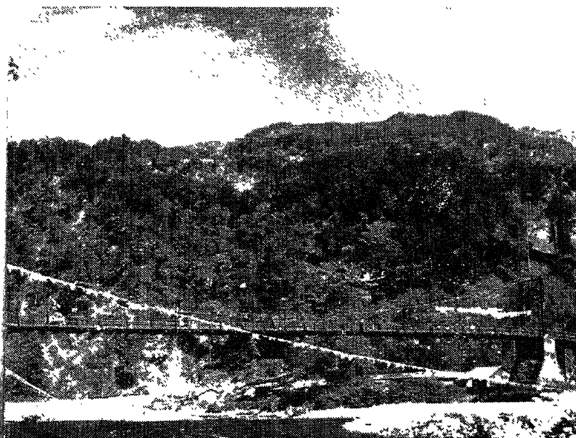






गंगटोक का आकाश से लिया गया चित्र

बम्पू का पुल जहाँ से सिक्किम की सीमा प्रारम्भ होती है



पहाड़ पर खेती



रही हों। पर वह कुछ कर न पाता, कुछ कह न पाता, और बेबस-सा मौन हो अपनी आँखें मूँद लेता। जैसे उसकी आँखें बंद हो जाने से बीना का वैधव्य ही हट जाता हो।

और दिन बीना चाय देकर चली जाती थी। पर आज वह खड़ी रही। आँखें बंद होने पर भी गोपाल को यह मालूम था कि बीना खड़ी है। और गोपाल सोच रहा था, बीना क्यों खड़ी है? वह क्या कर सकता है उसके लिए, कि फिर एक डरी हुई आवाज आई "भइया!"

गोपाल सहम कर चौंक गया। आज बीना कुछ कहना चाहती थी। कैसे सुनेगा वह? क्या करेगा वह? पर बीना अब भी खड़ी थी। वह भी खड़ा हो गया। उसने देखा बीना घबरा रही है। "क्या है बीना?" उसने हताश स्वर में पूछा।

"मेरी एक बात मानेंगे आप?"

गोपाल ने सुना। वह घबरा रहा था। जो कभी कुछ न बोली हो, वह आज एक बात कहेगी। वह 'न' कैसे कह सकता था। "हाँ···हाँ ······बैठो।" उसने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा।

"पहले मुझे वचन दीजिए।" बीना ने लड़खड़ाते स्वर में कहा।

"वचन देता हूँ।" वचन देते गोपाल को कोई शंका न हुई।

"आप अम्मा का कहना क्यों नहीं मानते? आप शादी कर लीजिए।" बीना ने भीख सी माँगी। गोपाल सिर से पैर तक काँप गया। उसका सारा शरीर बुरी तरह झनझना रहा था।

"यह 'तुम' कह रही हो बीना!·····················यह अम्मा ने 'तुम से' कहलवाया है? और कोई न मिला उन्हें?" गोपाल तड़प गया और अपने हाथों से अपना मुँह ढक कर बैठ गया।

"हाँ, मैं कह रही हूँ। क्या मैं आप की कोई नहीं हूँ? क्या अब मैं कुछ कह भी नहीं सकती? आप शादी नहीं करते। आप हँसते नहीं, बोलते नहीं, आप कुछ भी तो नहीं करते। ये कपड़े, ये दाढ़ी, ये बाल!" वह आगे न कह सकी गला रुँध रहा था उसका।

"'मैं' हँसता नहीं, बोलता नहीं, कुछ भी तो नहीं करता! हहहहह! ये 'मेरे' कपड़े, ये दाढ़ी, ये बाल!······और तुम? 'तुम' बीना?" गोपाल की चेतना को न जाने कहाँ से साहस आ गया। पर बीना सिहर गई।

"मैं?······मैं? क्या कह रहे हैं आप?" बीना एक डरी हिरनी-सी आँखें फाड़े गोपाल की ओर देख रही थी।

"मैं क्या कह रहा हूँ? हाँ·········मैं "क्या" कह रहा हूँ। हुँ हुँ! हः, ह:, हः!! हा हा हा हा!!!" गोपाल उन्माद का ठहाका मार कर हँसा। बीना से गोपाल का यह हँसता रुदन न देखा गया। वह डरी हुई सी पीछे हटने लगी। उसने अपनी आँखें मूँद लीं। कानों पर हाथ रख लिए। फिर वह घबरा कर रो दी। गोपाल ने देखा। देख कर अपने को धिक्कारा।

"बीना! बीना! सुनो!" वह सस्नेह बोला। बीना ने सिसकी भरते हुए उसकी ओर डरी आँखों से देखा। उसकी आँखें उस समय उस कुत्ते की आँखों के समान थीं, जो मालिक से अकारण ही झिड़की खाने के बाद फिर प्यार से बुलाया गया हो। उन आँखों में सन्देह, विश्वास, स्नेह और भय का विचित्र मिश्रण था। गोपाल को अपने ऊपर क्रोध आ रहा था। मन में उन आँखों की दैन्य अनि ग्लानि थी। "सुनो" वह शान्त होते हुए बोला—"तुमने मुझ से वचन लिया है न?······बोलो।"

"हाँ" बीना ने आँसू रोक कर कहा। "तो जो तुम कहोगी मैं करूँगा। जाओ! अम्मा से कह दो तुमने अपना काम कर दिया।" यह कह गोपाल फिर आँखें बंद कर कुर्सी पर बैठ गया। वह थक गया था, हार गया था, अम्मा की जीत हुई थी। पर आज वह बोल सका था, उसने बीना से कहा था "और तुम बीना?" अब वह चुप न रहेगा। वह फिर गहरे सोच में पड़ गया। पर इस सोच में निराशा न थी।

उधर अम्मा कैलाश को लिए दरवाजे के पीछे खड़ी सब सुन रही थी। गोपाल के वचन देने पर उन्होंने सन्तोष की साँस ली और कुछ देर बाद कैलाश को गोपाल के निश्चय को दृढ़ करने को भेजा। कैलाश भी एक अभिनय सा करता हुआ कमरे में आते ही बोला—"भाई वाह! यह क्या हो रहा है? खैर, शुक्र है होश तो आया! अम्मा से अभी मुझे मालूम हुआ कि हमारे बैरागी साहब अब रास्ते पर आ रहे हैं। चलो आज की खुशी में तुम्हारी यह दाढ़ी साफ कर दी जाए।"

गोपाल निश्चल बैठा रहा। कैलाश कुछ समझता कुछ न समझता-सा पास ही बैठ गया। अभिनय का पहला हिस्सा खत्म हो गया था और आगे उसकी समझ में न आ रहा था कि वह क्या कहे! उसको गोपाल की आँखों में अब भी वही हठ दीख रहा था। उसके भावावेश में कोई अन्तर न था। कैलाश कुछ उलझ कर बोला—"ऐसी भी क्या बात है गोपाल? तुम तो ऐसे बन रहे हो जैसे कि यह सब दुनिया में होता ही नहीं। अभी कुछ ही साल की तो बात है, जब तुमने रमेश को खुद समझा-बुझा कर उसकी दूसरी शादी करवाई थी। तुम दोस्त के नाते उसके ब्याह में गए भी थे। तब तो तुम बड़े फिलौसफर बना करते थे।·········तुम्हीं ने तो कहा था कि भूत को वर्तमान और भविष्य पर हावी नहीं होने देना चाहिए। ······तुम्हीं तो कहा करते थे कि मैं निराशावादी नहीं, आशावादी हूँ। तुम्हारा ही कहना था कि इंसान को हर परिस्थिति में सुख को फिर से गढ़ना होता है। इंसान कलाकार है और यह उसकी सबसे बड़ी कला है। अब क्या हो गया है तुम्हें? इस दुनिया को छोड़ कर जो चला जाता है, उसको प्रियजनों के दुख से कभी सुख नहीं मिल सकता! बोलो! कहो! क्या यह सब तुम नहीं कहते थे?"

गोपाल ने एक ठंडी साँस ली, फिर कहा—"हाँ, मैं ही यह सब कहता था······और अब भी कहता हूँ।"

"तो फिर यह बैरागी होने का ढोंग क्यों रचा है तुमने? क्यों माँ को इतने दिनों से तड़पा रहे हो? क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो?" कैलाश ने आवेश में कहा।

गोपाल सोच रहा था। अपना साहस बटोर रहा था। बोला: "कैलाश, तुम मुझे गलत समझ रहे हो। यह ढोंग मैंने इसलिए नहीं रचा कि मैं दुनिया को यह दिखाना चाहता हूँ कि मैं एक आदर्श पति हूँ। मेरे विचार अब भी वही हैं जो पहले थे। मैं मौत और ज़िन्दगी को सम्मिलित नहीं करता। प्रेत आत्मा और जीवित आत्मा का नाता कैसा? इस दुनिया में रह कर उस दुनिया से सम्बन्ध कैसा? पर, पर मैं कायर

हूँ। मैं बुज़दिल हूँ, कैलाश ! ······आज अम्मा ने बेचारी बीना को मेरे पास शादी का वचन लेने को भेजा था। 'बीना' को ! बेचारी बीना को ! मुझे समझाने भेजा था कि जीवन में तो रंगीनियों से यों मुँह नहीं मोड़ा जाता कि हँसना, बोलना, खेलना, घूमना, कपड़े पहनना, श्रृंगार करना ही जीना है। और यह रूखे बाल और सूने ललाट वाली बीना मुझे समझाने भेजी गई थी। जिसे मैं अभी दो साल हुए ब्याह कर लाया था ! जो मेरी छोटी बहन के समान है। जिसे ईश्वर ने नहीं, समाज ने आजन्म फाँसी पर लटके रहने का दण्ड दिया है, वह मुझ से कह रही थी कि मैं अपने जीवन में रस भर लूँ, संगीत भर लूँ और रंग भर रंगरलियाँ मनाऊँ ! कि मैं वचन दूँ कि मैं काल से हार नहीं मानता ! कैलाश ! एक खण्डहर कह रहा था कि मैं एक विशाल महल बनूँ ! ऊफ़ ! अम्मा को कोई और न मिला था !"

"फिर तुमने उससे क्या कहा गोपाल ?" कैलाश ने पूछा।

"मैं उस बेचारी की पहली माँग पर 'न' कैसे कहता ? मैंने वचन दे दिया। अम्मा ने उसे मेरे पास भेजा था, अब मैं भी तुम्हें उनके पास भेजना चाहता हूँ। तुम्हें इसलिए भेज रहा हूँ कि मैं कायर हूँ। उनका बेटा होने के नाते मेरी जुबान खुल न पाएगी। मैंने कुछ दिन हुए उनसे एक बार बीना के इस नीरस जीवन के बारे में बातें की थीं। उसकी इस वेशभूषा को बदलने को कहा था। जानते हो, उन्होंने मुझसे क्या कहा ?"

"क्या ?" कैलाश ने डरते-डरते पूछा।

गोपाल बोला—"माँ कहने लगी 'मुझे क्या ? कह दो कहीं जाकर मुँह काला कर ले !' कैलाश ! वह ऐसे बोलीं जैसे किसी भेड़-बकरी की बात कर रही हों। और मैं बुज़दिल की तरह वहाँ से भाग आया। पर अब मैं चुप न रहूँगा। मैं पागल हो रहा हूँ। तुम उनसे पूछो कैलाश, उनके छोटे बेटे की मृत्यु हो गई। वह माँ है और माँ की ममता से बढ़कर कहते हैं कोई ममता नहीं। फिर भी उस दुख को सहन कर वह फिर से सुख की दुनिया में रहना चाहती है। मैं उसका बड़ा भाई था। बहुत प्यार करता था मैं उसे। २५ साल का नाता था मेरा उसका, फिर भी मैं अपनी दूसरी शादी कर उसे भूल जाऊँगा। अपनी राधा, अपनी पत्नी को भूल जाऊँगा, नई बहू लाऊँगा। और केवल माँ के कहने से नहीं, ज़िन्दगी के कहने से ! शोक की एक सीमा होती है। अम्मा की दुनिया न बदली। मेरी दुनिया में फिर वसंत आएगा। पर साल दो साल की ब्याही पराई लाड़ली से हम चाहते हैं कि वह आजन्म उस परदेशी की स्मृति में धूनी रमा सदा के लिए संन्यासी हो जाए ! वह अपना दुख एक त्योहार की तरह मनाए। उनसे पूछो कैलाश, दुख भी क्या मनाने की चीज है ? दुख होता है या नहीं होता। दुख कोई त्योहार नहीं, जो मनाया जाए। ओह ! मैं यह सब नहीं देख सकता कैलाश। नहीं देख सकता !" गोपाल फिर उन्मादित हो अपने बाल नोंचने लगा।

"शान्त हो गोपाल ! भाग्य के आगे इन्सान हारा है।" कैलाश ने गोपाल को समझाते हुए कहा।

"चुप रहो ! तुम भी अम्मा के सिखाए भेजे गए हो। भाग्य ! फूटे कर्म ! भाग्य और फूटे कर्म हम दोनों के एक थे। यह भगवान का न्याय था। वह दण्ड दे चुका। मुझसे मेरी राधा और बीना से उसके प्राण छीन लिए उसने। यह ईश्वर का दण्ड था। पा लिया हमने। पर अब समाज देवता का न्याय कैसा है ? मैं फिर से ब्याह कर लूँ और बीना बेचारी ठीक से कपड़े भी न पहने। मैं फिर से जीवन पाऊँ और बीना जीवित ही मर जाए ? यही है न तुम्हारे समाज देवता का न्याय ? ईश्वर समदर्शी है। वह हम सब को एक-सा दण्ड, एक-सा फल देता है। पर समाज देवता ईश्वरी न्याय के बाद भी दण्ड देते हैं। हाँ, फर्क सिर्फ़ इतना है कि उनका न्याय केवल सुन्दर कोमल अबलाओं को ही यह भीषण दण्ड देने का है। ······मैं बेटा हूँ वह बहू। हम दोनों पर शायद भगवान ने एक साथ एक-सा दुख केवल इसीलिए दिया हो कि बेटे का दुख देख अम्मा को बहू की भी संवेदना हो। पर नहीं हुई। नहीं हुई कैलाश ! वह केवल मुझको ही देखती रहीं। मेरे कपड़े, मेरे बाल, हुँह ! मर्द तो श्रृंगार के लिए बने ही नहीं। पर लड़की तो होश आते ही श्रृंगार की दुनिया में पलती और बड़ी होती है। वह संन्यास ले ले और मैं अपने जीवन का श्रृंगार करूँ ? मैं बीना को वचन दे चुका हूँ। मैं अपना वचन वापस नहीं माँगता। पर जब तक बीना सुखी न होगी, मैं शादी नहीं करूँगा।"

"विधवा विवाह कोई जुर्म तो नहीं है गोपाल !" कैलाश ने कुछ झिझकते हुए कहा।

"विवाह ! विधवा विवाह ! क्या विवाह ! क्या विवाह ही सब कुछ है कैलाश ? क्या तुम चाहते हो कि एक नारी केवल स्वाभाविक जीवन बिताने के लिए दूसरा विवाह कर ले ? क्या बिना विवाह किए उसे जीने का कोई अधिकार नहीं ? कितना शौक था बीना को साड़ियों का, फूलों का, गहनों का। आह ! मुझे याद है वह दिन, जब चूड़ी वाली की आवाज़ सुन वह ऐसा भागी थी कि ठोकर खा गिर पड़ी थी। अब सिर्फ़ कुछ गहने कपड़े पहन सकने के लिए उसे ब्याह की भीख माँगनी होगी ?······शादी-ब्याह उसके अपने मन की निजी बात है। सुख के लिए वह अनिवार्य नहीं। पर मैं कहता हूँ कैलाश ! मैं उसे ऐसे न रखूँगा। अम्मा से कह दो, कि यदि वह मुझे सुखी देखना चाहती है तो बीना को फिर से घर की लड़की का स्थान दे।······उसे इस जीवन में जीने दें। मैं ब्याह को नहीं कहता। मगर मैं उसके लिए सिर्फ़ ज़िन्दगी माँगता हूँ। वही ज़िन्दगी जो एक दिन ब्याही लड़की की होती है। उसे पुनर्विवाह की नहीं, पुनर्जीवन की आशा दें, उसे हँसने की आशा दें, उसकी आती-जाती साँसों को मौत की नहीं, ज़िन्दगी की आशा दें। नहीं तो······नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा···मैं !"

·········"वह कैसी आवाज़ थी, क्या हुआ ?"

"तुम ठहरो गोपाल, मैं देखकर आता हूँ।" कैलाश ने आगे बढ़ कर दरवाज़ा खोला। बीना नीचे अचेत पड़ी थी। "बीना गिर पड़ी ! चक्कर आ गया हो शायद। थोड़ा पानी लाना गोपाल !" गोपाल पाषाण मूर्त्ति सा खड़ा था।

"खड़े देख क्या रहे हो ? बेहोश हो गई है। पानी दो जल्दी !" कैलाश ने गुस्से में कहा।

(शेष पृष्ठ ४१ पर)

भगवान बुद्ध

सरोजिनी नायडू

पद्मासन में अवस्थित भगवान बुद्ध !
तुम्हारी ध्यानमग्न आँखें,
ऊपर उठा हुआ हाथ
अभिव्यक्त करते हैं
उस उदात्त आनन्द को
जो कि चरम और शाश्वत है
उस शान्ति को
जो कि कल्पनातीत है
और हमारे लिए अनुभवगम्य नहीं

हमारा जीवन
प्रतिदिन का है
बदलता रहता है
नए दुःख
पुराने दुःखों को हलका कर देते हैं
एक विचार के बाद दूसरा
एक कष्ट के बाद दूसरा
और अन्त में मृत्यु
जीवन के तारों को उधेड़ देती है

हमारे लिए
दुःख और कष्ट
टूटा हुआ अभिमान
न हारनेवाली पराजय
हमारे जीवन का
फूल कभी खिलता नहीं
फल कभी मिलता नहीं
हमें वह शान्ति कहाँ
जो तुम्हारी पद्मासन की मुद्रा में है
भगवान बुद्ध !

हमारी इच्छाएँ मृगतृष्णा
हमारे अथक प्रयत्न निरर्थक
उच्च शिखरों पर पहुँचने के लिए
हमारा विश्वास शिथिल
हमारे चरण लड़खड़ाते हुए
इतने पर भी हमारी दिव्य जीवन
की भूख
न पूर्ण होती है और न मिटती है

हमारा उद्देश्य
दूर और अप्राप्य
ज्यों ही हम उसके निकट पहुँचते हैं
वह हमसे और अधिक दूर हो जाता है
हमारी नश्वरता
अमरता का एक क्षण
हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे
उस चरम और दिव्य निर्वाण को
जोकि तुम्हारी पद्मासन की मुद्रा में है
हे भगवान बुद्ध !

अनुवादक—वंशीधर विद्यालंकार



नालन्दा से प्राप्त बुद्ध की कांस्य मूर्ति

बुझे दीप—(पृष्ठ ४० का शेषांश)

"बेहोश हो गई है ? ओह ! कितने दिनों बाद बेहोश हुई है आज ! पानी ? पानी क्या करोगे कैलाश ? तुम उसे होश में लाना चाहते हो ? क्यों ? मैं पूछता हूँ क्यों ? उसे होश में ला तुम उसे क्या दोगे ?"

गोपाल बक रहा था । कैलाश पानी को सुराही की तरफ़ लपका । "खबरदार ! जो कोई उसे होश में लाया । वह अब सुखी है, कम से कम कोई दुख नहीं उसे । बधाई दो कैलाश ! बधाई दो !! अम्मा से कह दो शहनाई बजवाएँ । उनकी बहू बेहोश है, बेटा शादी करने जा रहा है । विवाह रचाओ । जल्दी करो । उसे होश न आने पाए । इस समय वह दुखी नहीं । हः हः हः हः ! बुझे दीप जलाओ कैलाश ! बुझे दीप जलाओ !"

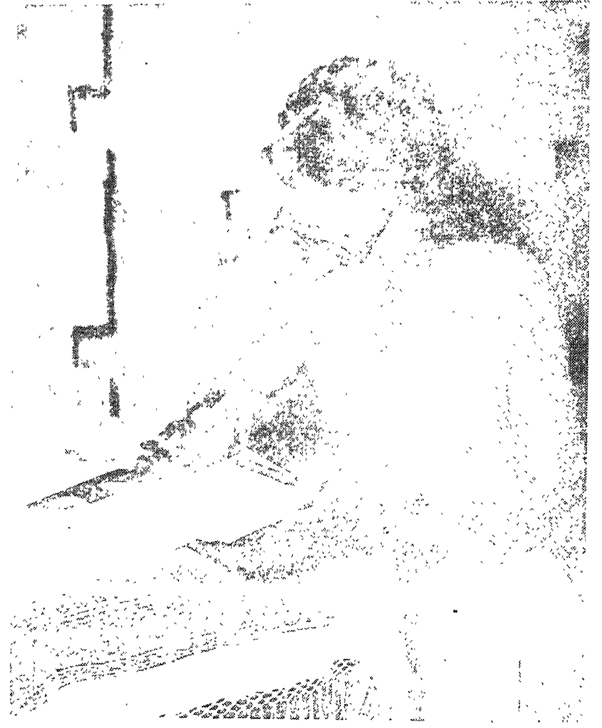
विश्व शान्ति और भूदान यज्ञ

सुरेश रामभाई

कुछ समय हुआ दुनिया के आठ बड़े से बड़े वैज्ञानिकों ने एक अपील निकाली थी। इसमें स्वर्गीय अलबर्ट आइन्स्टाइन की भी सही थी और इसका संयोजन इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक बरट्रेण्ड रसेल ने किया था। इस अपील में अणु शक्ति के हथियारों के निषेध करने की प्रार्थना की गई थी क्योंकि—वैज्ञानिकों ने दुःखपूर्वक निवेदन किया—हीरोशिमा पर सन् १९४५ में जो एटम बम गिराया गया था उससे दो हज़ार गुना शक्तिशाली बम अब बनाया जा सकता है। आजकल इस तरह के बमों के परीक्षण भी करके देखे जा रहे हैं। वैज्ञानिक लोगों का कहना है कि यह परीक्षण भी कम ख़तरनाक नहीं हैं क्योंकि इनसे वायुमण्डल के दूषित हो जाने की सम्भावना है। पारसाल जेनेवा में जो चार बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था उसमें एक सूचना यह भी ज़ाहिर हुई थी कि अगर चारों सरकारें निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई उपयोगी कदम उठा सकती हैं तो ज़रूर उठाया जाए। हमारे अपने देश का जो पंचशील सिद्धांत विदेशों में प्रसिद्ध हो गया है उसका भी एक मुख्य अंग यह है कि सम्बन्धित राष्ट्र एक दूसरे के खिलाफ़ हथियार नहीं उठाएँगे। लेकिन इतना सब होने पर भी, शस्त्रों की होड़ लगी है और विश्व शान्ति के लिए खतरा लगातार बढ़ता जा रहा है।

स्पष्ट है कि लड़ाई के केवल न होने को ही शान्ति नहीं कहा जा सकता और जब तक लोगों के अन्दर भय प्रेरणा काम करती है और लाखों-करोड़ों को दो जून भर पेट खाना भी न नसीब हो, तब तक शान्ति की स्थापना हो भी नहीं सकती। अगर विरोधी शक्तियों को यह ख्याल हो कि एक दूसरे के पास हथियार टक्कर के हैं, तो उससे लड़ाई टल भले जाए, शान्ति नहीं पैदा हो सकती। शान्ति तो शान्ति के तरीके से काम करने पर और शान्ति की शक्ति बढ़ाने पर ही पैदा हो सकेगी। इसके अलावा विश्व शान्ति के भवन को खड़ा करने के लिए ठोस बुनियाद की भी ज़रूरत पड़ेगी। विश्व शान्ति तभी हो सकती है जब हर देश में शान्ति हो। हर देश में शान्ति तभी होगी जब वहाँ के हर प्रदेश या प्रान्त, हर ज़िले और हर गाँव में शान्ति हो। जिस तरह छप्पर के एक तिनके में आग लगने पर सारा छप्पर जल उठता है, एक गाँव में अशान्ति होने से सारे विश्व की शान्ति खत्म हो सकती है। इसलिए विश्व शान्ति के लिए यह अनिवार्य है कि हर गाँव या शहर में शान्ति हो।

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल है कि हर गाँव में शान्ति कैसे रहे? इसका एक ही जवाब है—यह कि गाँव की शान्ति में विघ्न डालने वाले कारणों को खत्म या शान्त किया जाए। वे कारण क्या हैं? गाँव की ज़मीन, वहाँ की अचल और चल सम्पत्ति। इनके कारण जो झगड़े,



खादी ग्राम में सन्त विनोबा भावे

रात-दिन चलते हैं उन्हीं के सहारे पुलिस, अदालत, फौज आदि पनपते हैं। इन झगड़ों का सहज हल यही है कि गाँव की ज़मीन या जो भी सम्पत्ति हो उस पर न किसी की निजी मिल्कियत हो, न सरकारी हो बल्कि गाँव की हो और ज़रूरत के अनुसार गाँव के ही लोग, एकमत से उसका आपस में बँटवारा कर लें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब आज जो भूमि सम्पत्ति के मालिक हैं वे खुशी-खुशी अपनी चीज़ों की मिल्कियत छोड़ दें, उसे गाँव के सिपुर्द कर दें और फिर जो भी चीज़ अपने हिस्से में पड़े उसकी एक ट्रस्टी के नाते सँभाल करें। मिल्कियत के विसर्जन से एक बड़ा परिणाम तो यह भी होगा कि लोगों में निर्भयता आएगी। क्योंकि सम्पत्ति या परिग्रह का और डर का चोली-दामन का साथ है।

यह कोई नई या अनहोनी बात नहीं है। सच तो यह है कि घर में मनुष्य इसी पर अमल करता है। समाज में जितनी संस्थाएँ हैं, उन सबमें मनुष्य को घर ही सबसे ज्यादा प्यारा होता है। कारण साफ है—

(क) घर की चीज़ों पर किसी की निजी मिल्कियत नहीं होती। वह पूरे घर की ही होती हैं।

(ख) घर में हर किसी को जरूरत के मुताबिक मिलता है और अपनी योग्यता के मुताबिक हर कोई काम करता है ;

(ग) घर के झगड़े घरमें ही तय हो जाते हैं ।

यही बातें समूचे गाँव में लागू हो सकती हैं । यानी—

(क) गाँव में जो जमीन और सम्पत्ति है उस पर किसी की निजी मिल्कियत न होकर गाँव की मिल्कियत हो ।

(ख) हर कोई—चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित—अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और जरूरत के अनुसार पाए ।

(ग) गाँव के झगड़े गाँव में ही तय हो जाएँ ।

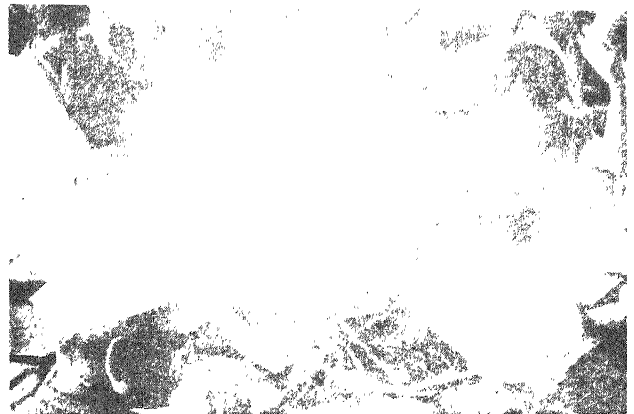
आज विश्व शान्ति की माँग यह है कि ये मान्यताएँ विश्व-व्यापी पैमाने पर लागू हों । यही विज्ञान की भी पुकार है । आधुनिक विज्ञान कह रहा है कि जो नियम या सिद्धान्त एक अणु के लिए है वही सारी सृष्टि के लिए । यह नहीं हो सकता कि एक अंश के लिए एक पाबन्दी हो, दूसरे के लिए दूसरी । विज्ञान ने तो अणु के अन्दर सारी सृष्टि का दर्शन करा दिया है और बता दिया कि दोनों के लिए एक ही न्याय चलता है । इसी तरह से जो बात एक व्यक्ति के लिए ठीक और अच्छी है वही सारी दुनिया के लिए ठीक और अच्छी होगी । गौतम बुद्ध ने तो कहा ही है—

"इन्सान खुद ही अपना मालिक है । खुद ही अपना लक्ष्य है । इसलिए जिस तरह सौदागर घोड़े को काबू में रखता है तुझे अपने पर काबू रखना चाहिए ।"

इसलिए अगर सामूहिक तौर पर काबू पाने की कोशिश की जाए तो विश्व शान्ति होकर रहेगी । अपनी चीज़ों की मिल्कियत छोड़ना अपने पर काबू पाने की ही निशानी है । और यही बाइबिल का आदेश है—'पड़ोसी पर अपने जैसा प्यार करो ।' पड़ोसी के दुःख दर्द में शरीक हुए बिना उस पर प्यार नहीं किया जा सकता । वह प्यार तभी सार्थक होगा जब मिल्कियत समाज की हो और व्यक्ति खुद ट्रस्टी के जैसा व्यवहार करे ।

सवाल अब यह रह जाता है कि क्या यह व्यावहारिक बात है अपनी मर्जी से मिल्कियत छोड़ देना मृगमरीचिका जैसी चीज़ तो नहीं ? हरगिज़ नहीं । पिछले सवा पाँच साल में भूदानयज्ञ आन्दोलन ने जो प्रगति की है उसने इस बात को सच्चा सिद्ध कर दिखाया है । पाँच लाख से ऊपर लोगों ने लगभग बयालीस लाख एकड़ ज़मीन का दान दिया है और करीब बारह सौ गाँवों में ज़मीन की मिल्कियत किसी की निजी न रह कर गाँव भर की हो गई है । भूदानयज्ञ की सफलता बतलाती है कि घर के अन्दर जो मूल्य और मान्यताएँ प्राणवान हैं समाज उन्हें स्वीकार करने को तैयार है ।

भूदान की यात्रा से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है दान की शान्तिमय प्रक्रिया । डराने, धमकाने, ललचाने या दबाने की इसमें कोई बात ही नहीं है । अपनी खुशी से, सोच, समझकर दाता दान दे रहा है । इस तरह देश के अन्दर एक नया जलवायु उत्पन्न हो रहा है जिसके कारण यहाँ के लोग अपने सवालों का हल शान्ति, उदारता और दूर दृष्टि से कर सकते हैं । भूदानयज्ञ की मुख्य विशेषता यही है जो दुनिया के अन्य शान्ति आन्दोलनों में नहीं मिलती ।



१९४८ में जयपुर में सर्वोदय प्रदर्शनी के उद्घाटन के बाद सन्त विनोबा चरखा चलाते हुए

संक्षेप में हम उन पर विचार करेंगे । सबसे प्रचलित और पुराना ढंग है हथियारों द्वारा शान्ति । लेकिन यह भ्रम मात्र है । क्या यह कभी सम्भव है कि जो चीज़ें शान्ति को तबाह करती हों उनसे शान्ति पैदा हो सकेगी ? तो उन चीज़ों के तैयार करने से शान्ति कैसे आ सकती है ? परशुराम ने पृथ्वी पर से क्षत्रिय जाति को मिटाने के लिए इक्कीस बार कोशिश की—यानी खुद क्षत्रिय बने । तब फिर क्षत्रिय खत्म कैसे होते ? इसी तरह हथियारों द्वारा शान्ति लाने की कोशिश कभी सफल नहीं होने वाली है । यह तो बबूल बोकर आम पाने की आशा करना जैसा है । विज्ञान सावधान कर रहा है कि अगर मनुष्य समय रहते नहीं चेतता है, तो मानवजाति ही इस धरती पर से उठ जाएगी ।

शान्ति का दूसरा उपाय है राष्ट्र संघ के माध्यम से काम करना । एक मेज़ के चारों तरफ सब देशों के प्रतिनिधि बैठकर आपस में वाद-विवाद और चर्चा कर लेते हैं । लेकिन इस तरीके में कमजोरी यह है कि बैठने वालों को एक-दूसरे पर विश्वास नहीं होता । एक-दूसरे को बहुत शंका की निगाह से देखते हैं । ऐसी हालत में शान्ति कहाँ से आ सकती है ?



सन्त विनोबा अपने कार्यकर्त्ताओं के साथ

तीसरी कोशिश नैतिक शस्त्रीकरण दल की है। उसके सदस्यों का कार्यक्रम यह है कि परस्पर प्रेम और मैत्री पैदा करने के लिए विभिन्न देशों में लोक-हित के काम करते रहें। लेकिन उनका यह निश्चय नहीं है कि हथियारों का इस्तेमाल किसी भी हालत में नहीं होना चाहिए। उन्हें खुद ही पता नहीं कि किस स्थिति में वे क्या कर बैठेंगे।

इनके अलावा दो संस्थाएँ और हैं जो शान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं—शान्तिवादी या पैसिफिस्ट लोग और 'विश्व शान्ति आन्दोलन' वाले। शान्तिवादी बन्धु तो अपने विचारों के लिए संसार प्रसिद्ध हैं। हथियारों से उनका पूरा परहेज़ और हर हालत में परहेज़ है अपनी इस अनुपम निष्ठा के कारण वे तरह-तरह के कष्ट भी झेल चुके हैं। लेकिन केवल हथियार नहीं उठाने से तो दुनिया से युद्ध नहीं मिटाए जा सकते। इस निश्चय के साथ-साथ कुछ कार्यक्रम भी ऐसा होना चाहिए जिससे कि शान्ति के लिए रचनात्मक शक्ति पैदा हो सके। मोटे तौर से कहें तो शान्तिवादियों का काम अच्छा है, पर निषेधात्मक मात्र है।

रहे विश्व शान्ति आन्दोलन वाले। वे शान्ति इस कारण से चाहते हैं कि बिना शान्ति के बहुत से देशों का विकास हो ही नहीं सकता जैसे हिन्दुस्तान, चीन, इन्डोनीशिया, यूगोस्लाविया आदि। उनका कहना है कि 'अविकसित' देशों को शान्ति की खास दरकार है। क्योंकि अगर वहाँ अशान्ति रहती है तो न वहाँ की गरीबी दूर हो सकती है और न वहाँ का जीवन-मान उठ सकता है। दूसरे शब्दों में उन्हें आर्थिक प्रगति की खातिर ही शान्ति चाहिए।

इन सब शान्ति प्रयासों की चर्चा करते हुए विनोबा जी ने एक बार कहा था—

"शान्ति पानी की तरह होती है। उसके दो उपयोग हैं, फ़सल के लिए और प्यास मिटाने के लिए। जिसे समृद्धि बढ़ाने के लिए शान्ति चाहिए, वह समृद्ध बनने पर कहता है कि अब शान्ति नहीं चाहिए। लेकिन जिसे पानी के समान शान्ति की स्वतन्त्र प्यास है, उसे हर हालत में शान्ति चाहिए। दुनिया में तब तक शान्ति नहीं होगी, जब तक मानव को शान्ति की स्वतन्त्र प्यास नहीं लगती। भूदान यज्ञ के जरिए हम यही कोशिश कर रहे हैं कि लोग शान्ति का स्वतन्त्र मूल्य समझें।"

इससे विदित होता है कि शान्ति के लिए दुनिया में जो आज अनेक प्रयत्न हो रहे हैं वे अपने में भले ज़रूर हैं, मगर अधूरे हैं। उनकी बुनियादें खोखली हैं। इसलिए सच्ची शान्ति स्थापित करने में वे सहायक नहीं हो सकेंगे इसके विपरीत भूदान की पहुँच कहीं ज्यादा गहरी है और उससे शान्ति की शक्ति खड़ी होने वाली है। विनोबा जी के शब्दों में—

"भूदान के बारे में जब हम बोलते हैं तो लोग हमसे कहते हैं कि आप लोगों को जो समझाते हैं, वह अच्छा काम है, लेकिन अगर कानून हो जाएगा तो यह काम कहीं ज्यादा जल्दी हो सकेगा। ऐसे लोगों से हमारा निवेदन है कि कानून को हम रोकते नहीं, कानून आप बनाइए। जिनको आपने वोट दिया है उनसे बनवाइए। लेकिन हमारा यह जो भूदान का प्रयत्न चल रहा है वह सिर्फ ज़मीन प्राप्त करके उसको बाँटने का नहीं है। वह इसलिए है कि शान्ति का एक नूतन शस्त्र बने। शान्ति का एक स्वतन्त्र मूल्य है यह बात लोग समझें और ज़मीन के भी मसले शान्ति से ही हल कर लें। इस तरह शान्ति का स्वतन्त्र मूल्य स्थापित करने के लिए आज भारत को बहुत अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है।"

शान्ति के लिए जो उद्योग किए जा रहे हैं उनमें एक चीज़ खटकने वाली और भी है। वह यह कि उन उद्योग करने वालों की श्रद्धा उन्हीं मूल्यों और मान्यताओं पर है जिनमें उनकी है जिन्हें शान्ति की कोई चिन्ता नहीं है। वे मूल्य यह हैं—सम्पत्ति पर निजी या सरकारी मिल्कियत, मानसिक श्रम के मुकाबले शारीरिक श्रम की हीनता, आदि। इसके विरुद्ध भूदान के मौलिक मूल्य यह हैं—

(क) सम्पत्ति या उत्पादन के साधनों पर समाज की मिल्कियत हो।

(ख) मानसिक और शारीरिक श्रमों के बीच भेद-भाव न बरता जाए।

(ग) उत्पादक शरीर श्रम थोड़े समय के लिए अनिवार्य रूप से हर कोई करे चाहे वह बौद्धिक काम करता हो या राज्यकर्त्ता हो।

दूसरे शब्दों में भूदान का आशय यह है कि सोचने-विचारने के जो आज चालू ढर्रे हैं उनमें फरक किया जाए और जिस तरह चोरी एक सामाजिक रोग है उसी तरह परिग्रह को भी दोष समझा जाए। भूदान या सम्पत्ति दान के द्वारा व्यक्ति परिग्रह के अत्याचार से मुक्त होकर अपनी संग्रह-वृत्ति को नया और ऊँचा रूप देता है। अपरिग्रह पर आधारित होने के कारण भूदान गरीब की गरीबी और अमीर की अमीरी मिटा कर दोनों को एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहयोगी बना कर समरस समाज का निर्माण करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत लाभ की वासना जहाँ दूर होती है और जैसा उस अप्राकृतिक गद्दी से उतर आता है जिस पर वह आज स्थिति वश विराजमान है, तो वातावरण एक दम बदलेगा, मनुष्य को अपने नैसर्गिक विकास का सुन्दर अवसर मिलेगा और जीवन एक नए रंग से निखर उठेगा।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भूदान यज्ञ किस प्रकार विश्व-शान्ति के लिए काम कर रहा है और इसमें तथा शान्ति के दूसरे आन्दोलनों में कहाँ भेद है। सच तो यह है कि भूदान यज्ञ की कोई आस्था हिंसा-शक्ति या दण्ड-शक्ति पर नहीं है। वहाँ कि हिंसाशक्ति के रहते रहते शान्ति केवल सपना है, सर्व-विदित है। लेकिन दण्ड-शक्ति या कानूनी बल भी कम खतरनाक या हानिकारक नहीं है। यह सही है कि प्रजातंत्र के अन्दर जनता ही अपने वोट द्वारा सरकार को दण्ड का अधिकार सौंपती है। लेकिन कौन नहीं जानता कि सरकारों की कोशिश सदा यही रही है कि हमेशा हमारा ही शासन चलता रहे। इसलिए सरकार में जो दल होता है वह दूसरे दलों को पनपने नहीं देता उन्हें ढकेलने की साँठ-गाँठ में लगा रहता है। इसलिए वह शस्त्रों का सहारा लेता है और शस्त्रों की ताल ऐसी बाँधता है कि उसे कोई हटा न सके। यही वजह है कि दण्ड-शक्ति शस्त्रों के बढ़ाने में उत्तरोत्तर सहायक हो रही है। इस वास्ते यह कहा जा सकता है

कि हिंसा-शक्ति से शान्ति के शरीर को चोट पहुँचती है और दण्ड-शक्ति से उसकी आत्मा का हनन होता है। इसलिए एक तीसरी शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। वह शक्ति ऐसी हो जो हिंसक शक्ति की तो विरोधी हो और दण्ड-शक्ति से भिन्न हो। विनोबा जी ने इसे लोक-शक्ति का नाम दिया है। इसे हम प्रेम-शक्ति या आत्म-बल भी कह सकते हैं।

लोक-शक्ति के तत्वावधान में लोग अपने सवालों को खुद ही हल करने की कोशिश करेंगे। और कम से कम ऐसे सवाल तो जरूर हल करेंगे जिनका वास्ता खाना, कपड़ा, मकान, तालीम, सफ़ाई, इन्साफ़ आदि जैसी बुनियादी बातों से हो। इन मामलों में सरकारों को वैसे भी दखल नहीं देना चाहिए। वे अपने ही बल से उन्हें सुलझाएँ। हाँ, अगर वह मर्यादा का ध्यान न रखें और समाज के जीवन में अड़चन पैदा करें तो सरकार ज़रूर हाथ डाले। लेकिन अगर लोग सहयोग और प्रेम के साथ यह मसले हल कर लेते हैं तो सरकार क्यों बीच में पड़े। इस तरह जन-शक्ति से जब काम होगा तो समाज आज की तरह अविश्वास घृणा और जिसे 'योग्यतम की बचत' जैसे आधारों पर खड़ा न होकर विश्वास, सहयोग और 'सर्व भूत हिते रतः' पर खड़ा होगा। सरकारी शक्ति वहाँ रहेगी, पर एक दण्ड बन्धक के रूप में नहीं, बल्कि फूलों को जोड़ने वाले धागे की तरह। इस प्रकार भूदान यज्ञ की योजना है कि शासन मुक्त, समस्त और पक्षातीत समाज का निर्माण हो। पक्ष या 'पार्टियाँ' जो 'पार्ट' का प्रतिनिधित्व करती हैं दिलों को 'पार्ट' करती हैं फाड़ती हैं, जोड़ती नहीं। इसलिए पक्षातीत समाज की परम आवश्यकता है। सार यह है कि भूदान यज्ञ जिस समाज को सामने रखकर आगे बढ़ रहा है वह आज के समाज से बिल्कुल भिन्न होगा—पर ज्यादा प्राकृतिक, सरल और समरस। इसका मतलब यही है कि आज की रचना में आमूल क्रान्ति की जरूरत है। विनोबा जी ने इसे 'भूदान यज्ञ मूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रान्ति' कहा है।

अंत में एक बात और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई हिंसा या व्यवस्थित हिंसा का मानव का प्रयत्न आज अतिहिंसा के दर्जे को पहुँच गया है। इसके आगे दो ही सम्भावनाएँ हैं या तो यह विकराल रूप लेकर सर्वनाश कर देगा—न मानव रहेगा न इस हिंसा का नाम लेवा पानी देवा कोई रहेगा। या फिर इस अतिहिंसा को खत्म करके पूर्ण अहिंसा की तैयारी होनी चाहिए तब मानव बचेगा, सब का भला होगा, सर्वोदय होगा। इसलिए अतिहिंसा की प्रक्रिया को बहुत तीव्रता और वेग के साथ अहिंसा में बदलना चाहिए। बिना इसके विश्व शान्ति असम्भव है। इस दृष्टि का सविस्तार स्पष्टीकरण करते हुए विनोबाजी ने एक बार कहा था—



प्रातःकालीन सैर के समय सन्त विनोबा भावे बाबा राघवदास से बातचीत करते हुए

"बात केवल भूमि समस्या हल करने की नहीं है। दुनिया की कुल सलतनतें मिटानी हैं जो कि हिंसा को सीमित करने में कारगर नहीं हो सकतीं। उनको मिटाने के लिए और परिणाम स्वरूप दुनिया में अहिंसा को स्थापना करने के लिए, यानी विश्व शान्ति के लिए हम भूदान माँग रहे हैं क्या आप विश्व शान्ति के लिए जमीन का, सम्पत्ति का छठा हिस्सा नहीं दे सकते? आप जो दान-पत्र देंगे वह विश्व-शान्ति के लिए है।"

यही वजह है कि भारत के इस भूदान यज्ञ की ओर आज दुनिया बड़ी आशा की निगाह से देख रही है। जिस देश ने सत्याग्रह के द्वारा, सामूहिक असहयोग के द्वारा, अहिंसा के द्वारा राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, वह अगर अहिंसा के द्वारा आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करेगा तो कौन करेगा? उसके बाद ही भारत दुनिया का मार्ग-दर्शन कर सकेगा।

●

नई कविता : उपलब्धि और भ्रांतियाँ—(पृष्ठ २९ का शेषांश)

भाँति ही, नयों और पुरानों के परस्पर विरोधी और सर्वथा विच्छिन्न दो शिविरों की धारणा चालू करने के संगठित अभियान में जुट गए हैं क्योंकि दो परस्पर विरोधी खेमों में दुनिया को बाँटे बिना एक की नेतागिरी हाथ नहीं लगती। किन्तु नई कविता किसी एक खेमे की कविता नहीं है, चाहे उसके नेता उसे राहों के अन्वेषियों का खेमा ही क्यों न बताएँ। नई कविता वास्तव में उन सभी अनगिनती छोटे-बड़े इंसानों की कविता है जो शायद एक लम्बे समय तक इधर-उधर भटकने के बाद अब अपने-अपने स्तर पर जीवन की सार्थकता का सन्धान पा रहे हैं और इस चेतना को नाना-रूपों और आकृतियों में सहज ही अभिव्यक्त करने के लिए उलझ रहे हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व प्रकाशित लेख : श्री भगवतीचरण वर्मा, जुलाई १९५६, श्री प्रभाकर माचवे, सितम्बर १९५६

मालवे की संगीत साधना

सूर्यनारायण व्यास

मालव-प्रदेश भारतवर्ष का 'हृदय' है, विभिन्न समयों में भारत के विभिन्न-अंगों ने जो उन्नति की है, वह उसके 'हृदय' स्पर्श की उच्चता की प्रतीक ही है। मालव ने साहित्य-संगीत और कला में जो देश और विदेश को देन दी है, वह इस राष्ट्र के गौरव-वर्द्धन में सहायक हुई है। कालिदास-भास-बाण का साहित्य, आज विश्व, साहित्य की अमर निधि है।

जिस प्रदेश की साहित्यिक-समुन्नति ने जगत के समक्ष उसे साहित्य-साम्राज्य के सिंहासन पर समासीन करवाया है, उसकी संगीत और कला-साधना कितनी समुन्नत और गौरव-गिरि पर समासीन होगी, यह कहना सहज सम्भव नहीं है। महाश्वेता की वीणा-विनन्दित स्वर लहरी का आकर्षण, महाकवि बाण की कविता मंजरी को भी सुरभि-भाराक्रांत बनाने में 'सहायक' हुआ है। वासवदत्ता की वीणा-प्रवणता, नीलगिरि जैसे प्रमत्त गजेन्द्र को वशीभूत कर लेने वाली मंजु-घोषावलि (वीणा) का स्वर-संधान साहित्य-रसिकों को सदैव विमोहित करता रहेगा। उस अवंती-सुन्दरी-वसन्तसेना की मनोहारी संगीत साधना और मधुर-मद-स्पंदिनी स्वर लहरी को कौन ऐसा रसिक होगा जो आज भी नहीं सुन रहा होगा, जिसने परम-रसिक दरिद्र चारुदत्त के चरणों में अपनी संगीतांजलि समर्पित कर दी थी। सम्राट् समुद्रगुप्त की यह प्रसिद्धि है कि वह रसिकाचार्य था। उसके शिलांकित लेख शतियों से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए खड़े हैं, स्वर और वेणु-वादिता में उसका उस काल में कोई समकक्ष नहीं था। उसकी राज-मुद्राओं पर भी वीणा अमर बनी हुई है। उसके तथा विदिशाधिराज-पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञों के प्रसंग पर वीणा के प्रवीणवादक चारों द्वारों पर अपनी सतत-स्वर-लहरी प्रवाहित करते रहते थे। यही हाल चन्द्रगुप्त द्वितीय की रसिकता के हैं। इतिहास के पृष्ठों पर नेत्रों को निरन्तर व्यायाम करना पड़ेगा। सम्राट् अशोक के रस-विलास, और कलानुराग का वर्णन उसके 'चण्डाशोक' से 'देवानांप्रिय' के मध्यकाल के रस-रहस्य में सन्निहित है। और ध्रुवस्वामिनि की कथा-गाथाओं का साक्षी भी इतिहास बना हुआ है। वीर-विक्रमादित्य की अगणित यशोगाथाओं के अन्तर्गत उसके दीपक-राग की प्रवीणता भी प्रचुर प्रख्यात बनी हुई है। दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी वह जग-जनश्रुतियों में जुड़ी चली आ रही है। उसी प्रकार महाकवि कालिदास की रसवन्ति ने अवंती में जिस रस-निर्झरिणी को प्रवाहित किया है, उसके आस्वादमात्र से विश्व रस-विमुग्ध बना हुआ है। महाकालेश्वर के सांध्य पूजन, पटह-वादन, ताण्डव-नर्तन से लेकर यक्ष-गंधर्व-किन्नरों की रस-वर्षा तक का सुन्दर समावेश है। कवि के काव्य नाटकों में गीत-वाद्यों, गायन-कला-कुशली जनों की महत्ता और उनके समादर का सुन्दर और सरस वास्तविक वर्णन है। भोज-भर्तृहरि जैसे विद्या-कला के परमोपासक राजर्षियों ने शृंगार ही नहीं, स्वर-संगीत साहित्य पर भी ग्रन्थ-सृष्टि कर कला-प्रवणता, और मर्मज्ञता का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत किया है। ऐसे ही किसी परम कलोन्नत-काल में उस 'मालव-राग' को अवतरित होने का अवसर उपलब्ध हुआ है—जिसे प्रादेशिक नाम से संयुक्त हो, राग-राष्ट्र में प्रवेश करने का अधिकार मिला है। 'मालव-राग' अपने प्रदेश की रागानुरागिता और साधना-सिद्धि का चिर-प्रतीक बनकर संगीत साहित्य में समादृत है।

अवश्य ही संगीत-स्वर-नाद-शास्त्र के पुरातन रूप-रस-भेदों का मर्म, और मौलिक महत्त्व आज के युग में सहज सुलभ नहीं, राग-राज्य पर भी विदेशी वर्चस्व ने दुष्प्रभाव डाला है। विभिन्न संस्कारों के कारण उनके सही स्वरूप समझने में भी बाधा उत्पन्न हो गई है। हमें अपने रागों से भी इसी कारण बहुधा विराग हुआ है। यही कारण है कि अनेक महत्त्व के मौलिक रागों का रूप, और अस्तित्व भी संदिग्ध बन गया है, कुछ तो विस्मृति के गर्भ में विलीन ही हो गए हैं, और उनके विषय में हमारा ज्ञान दयनीय हो गया है। आवंती, शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि भाषाओं में जिस 'आवंती' को आदर-स्थान उपलब्ध था, वह उपेक्षित, काल के कुटिलआवरण में अपना मुख छुपाए हुए है, और नाटकों में प्रचलित तथा लोकप्रिय 'आवन्ती-रीति' भी न जाने किस पट में प्रच्छन्न है। इसी प्रकार राग मालिकाओं में मालव-राग का प्रयोग भी विस्मृतावस्था में चला जाए तो विस्मय का कारण नहीं। आज के रागानुरागियों की ज्ञान-निधि इतनी अल्प है कि उनका वैभवोन्माद केवल अंग्रेज़ी काल के धनिकों की तरह बना हुआ है—जिनका कोष दारिद्र्य-राशि-संचित कर ऊपर से रजत-आवरण डाले पूँजी का निरर्थक प्रदर्शन कर रहा हो!

आज मालव-राग विस्मृत रागों में से है, अवश्य ही इसका प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक होता रहा है। पुराने संगीत शास्त्रीय ग्रन्थ प्रमाण हैं। कुछ लोग 'मालकंस' को 'मालव-कौशिक' का विकृत रूप बतलाकर शब्द शास्त्र की शल्य क्रिया कर डालते हैं और कुछ संगीतज्ञ 'मारवा' को 'र-ल यो र भेदः' के न्यायानुरूप 'मालवा' रूपान्तर प्रदर्शित करते हैं, परन्तु यह ज्ञान का दयनीय प्रदर्शन मात्र है। मालव ही क्या, अनेक राग, स्वर, भेद आदि अज्ञात बन गए हैं, राग-शास्त्र से हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न होने के कारण यह अज्ञान बढ़ा हुआ है। मालव-राग का स्मरण पुरातन साहित्य में अब भी उपलब्ध है। उसके उदाहरण भी मिलते हैं, शब्द-सुर-सरी का एक मात्र-भाषा-भगीरथ, सुकुमार सुंदरी कविता का कान्त-कवि जयदेव गीत-काव्य का रस-सम्राट् रहा है। उसने अपने गेय-काव्य में विभिन्न रागों का साधिकार प्रयोग किया है। जयदेव की संगीत प्रवीणता पर

कोई संगीत-मर्मज्ञ अंगुलि-निर्देश करने का साहस नहीं कर सकता। वह राग-रागिनियों का न केवल मार्मिक ज्ञाता ही, किन्तु सकल प्रयोक्ता भी रहा है। उसकी वाणी राग-रागिनियों में ही प्रवाहित हुई है। उसने अपने अमर गीति काव्य 'गीत गोविन्द' में प्रथम पद्य ही मालव-राग में गूँथ कर प्रथम-स्थानीय सम्मान प्रदान किया है। मालव-राग का यह सम्मान सूचित करता है कि १२वीं शताब्दी तक यह राग लोकप्रिय बना हुआ था, अन्यथा बंग (बंगाल) का रसिकशिरोमणि जयदेव, किसी अपने अन्य प्रिय राग, या प्रादेशिक-संगीत का प्रथम प्रयोग कर सकता था। मालव-राग से अपने गीत-काव्य का आरम्भ कर मालव रागानुरागिता और उसकी विशेषता को कवि ने स्वीकार किया है।

मालव-राग के उदाहरण स्वरूप यहाँ उसका प्रथम पद्य प्रस्तुत करते हैं :—

गीत

मालव रागे, रूपक ताले, अष्टपदी

प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम्
विहित वहित्र चरित्र मवेदम्
केशव धृत मीन शरीर,
जय जगदीश हरे। (ध्रुव)

इस प्रकार ११ पदों में, दशावतारों का क्रमशः वर्णन मालव-राग के रूपक ताल, अष्टपदी में किया है। आगे विभिन्न पाँच रागों में अन्य गीतों को ग्रथित कर फिर मालव-राग का दूसरा उदाहरण गीत गोविन्द में दिया है। परन्तु यहाँ एक ताल और अष्टपदी का प्रयोग किया है, यथा—

मालव रागे, एक ताली ताले, अष्टपदी

निभृत निकुंज गृहं गतया
निशि रहसि निलीय वसन्तम्।
चकित विलोकित सकल दिशा,
रति रभस भरेण हसन्तम्,
सखि हे, केशीमथन मुदारम्
रमय मयासह मदन मनोरथ
भावि तया सविकारम् (ध्रुव)

आगे सप्तम सर्ग के आरम्भ में फिर मिश्रित राग के रूप में एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है, यह 'गौड़-मालव-राग' है। जिस प्रकार 'गौड़-मल्हार' होता है, उसी प्रकार मालव राग का 'गौड़' भेद है। इसे प्रतिमंठ-ताल, अष्टपदी में दिया है। जैसे—

कथित समयेऽपि हरि रहह नवयौवनम्
मम विफलमिदम् मलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे, कमिह शरणम्।
सखिजन वंचिता। (ध्रुव)

संगीत रत्नाकर में इसका भेद इस प्रकार बतलाया है :—

ग्रहान्निषादा दारोहे दीपस्तूर्यं स्वरांवकः।
विलंघ्य ग्रहपर्यंतमवरोहो यदा भवेत्।
तदा द्राविड़-गौड़स्य स्वस्थानं प्रथमं मतम्,
लोके मालव-गौडोयं तृतीयोस्यग्रहो मतः।

जयदेव के मधुर काव्य में मालव-राग ने माधुर्य भर दी है। कवि इसके भेदों, ताल, स्वरों से पूर्ण परिचित रहा है। कवि के प्रयोग से इस राग के प्रति उसकी आसक्ति प्रकट होती है। विक्रम के नव-रत्नों में कवि शंकुक का नाम प्रख्यात है। उसका समय और साहित्य अनुपलब्ध है। परन्तु उसकी प्रसिद्धि संगीत-शास्त्रज्ञ के रूप में रही है। मालव राग पर उसके कई आविष्कार थे, यह किंवदन्ती आज भी प्रचलित है।

संगीत कलाधर नामक पुरातन शास्त्रीय-ग्रन्थ में मालव-राग के विषय में विविध वर्णन प्राप्त हैं। उसके स्वर-भेद वर्णन नामक पाँचवें कला विभाग में स्पष्ट सूचित किया है कि—'भरत मुनि ने नारद के सम्मुख मालव-राग, श्रीराग और मनोहर का मिश्रण कर जिस राग का गायन किया, उसे 'राजहंस' कहा गया था, अर्थात मालव-राग के विभिन्न मिश्रण का स्वरूप 'राजहंस' था। इस समय राग-संसार में विशेष रूप से हनुमन्त-मत का प्रचार है, उसके अनुसार ६ राग प्रधान माने गये हैं। उसमें पंचम राग 'श्रीराग' है। श्रीराग की पाँच रागिणियाँ हैं। ये स्त्री—संज्ञक हैं। और ८ पुत्र भी हैं। उक्त श्रीराग के पुत्रों में—१. सिंधु, २. मालव, ३. गौड़, ४. गुणसागर, ५. कुंभ, ६. गंभीर, ७. शंकर, और ८. विहागड़ा हैं। हनुमंत मतानुरूप मालव-राग श्रीराग का द्वितीय-पुत्र है।

मालव-राग का रूप इस प्रकार वर्णित किया गया है :

नितंबिनी चुंबित वक्त्र पद्मः
शुकद्युतिः कुण्डलवान् किरीटी,
संगीत मालां प्रविशत् प्रदोषे,
मालाधरो मालव-राग राजः।

इसी प्रकार मालव-राग का रूप "राग कौतुक" में प्रस्तुत किया है :

गमधाश्च पसौरोहे
रिसौ निधौ पसौ मगौ
रिसौ निसौ स्वरे रेभि
मालवः परिगीयते।

जो लोग मारवा, और मालकंस को 'रलयो रभेदः' के अनुसार 'मालव' सूचित करते हैं, वह तो कदापि उचित नहीं, मारवा सर्वथा भिन्न है। वह 'मारु' से मारवा है। यह मालकंस का पुत्र—राग है। इसका अन्य भेद 'मेवाड़ा' भी है जो स्पष्ट ही मरु (मारवाड़) भूमि से मेवाड़ का निकट सम्बन्ध सूचित करता है। और जिस 'मालश्री' को 'मालव-श्री' के अपभ्रंश के रूप में कहा जाता है। वह भी रागश्री की भार्या-रागिणी है। उसका रागों में स्वतन्त्र स्थान नहीं है। ये मालकंस के भेदों में परिगणित हैं।

जिस श्रीराग के अष्ट-पुत्रों में "मालव" की मान्यता है, वह श्रीराग शुद्ध राग है। वह किसी मिश्रण से निर्मित नहीं है। महादेव के पश्चिम-मुख से उसकी उत्पत्ति मानी गई है। कुछ लोग उसे शेषनाग से प्रसूत भी मानते हैं। श्रीराग की पाँच भार्याओं में से 'मारवा' है। जिसके खरज, शुद्ध, रिषभ, कोमल, गंधार, तीव्र, मध्यम-तीव्र, धैवत-कोमल,

महान बापू

नामक्कल रामलिंगम पिल्लै

करुणा की अद्भुत महिमा
गान्धी जैसे किसने दिखाई ?
मृत्यु उनके शरण में स्नेह पाती
तो बाकी क्या है जो त्रास पाए ?

सत्य धर्म ही शस्त्र है,
सात्विक जीवन ही सूत्र है,
उत्तम गान्धी को भूल जाए,
सच्ची आज़ादी ओ ! वह छिप जाती ।

खून, हत्या, न करके
पवित्र विचार कलंकित न कर.
दुनिया में जो निराली सबसे
वैसी आज़ादी अलौकिक हमने पाई ।

अणु बम से पीड़ित न होकर,
आत्मबल से अनुराग भरी,
अद्भुत, अनदेखी शक्ति को,
हम में भरने वाले वे महान बापू ।

भारत भूमि के तत्व ज्ञान को,
विश्व भर में विख्यात किया,
निन्दा स्तुति से निर्लिप्त, उसे
शान्ति ही चरम ध्येय रहा ।

युद्ध की भीति से भ्रान्त,
देश, विदेश का दिल काँपे,
दिन, दिन, अकुलाए चित्त,
गूँजेगा तब गान्धी का अमर सन्देश

देश, विदेश के ज्ञानी चिन्तक,
गान्धी का स्मरण कर पाएँ शाँति,
हे भारतीय हुए पागल क्या ?
क्यों बेसिरपैर की बातें करते हो तुम ।

शान्ति का अनुसंधान किया,
गान्धी को तुमने जन्म दिया,
सत्य के रक्षक हे भारत ?
करुणा का मार्ग अपनालो तुम ।

—अनुवादिका, सरस्वती रामनाथ

और निषाद-तीव्र इस प्रकार ६ स्वर हैं, पंचम इसमें वर्ज्य है। ग्रह-स्वर रिषभ है। मध्यम और धैवत इसमें न्यास है। वादी स्वर धैवत है। संवादी मध्यम-तीव्र है। और यह मारवा-रागिणी गौरी-परज एवं सोरठ से मिश्रित रागिणी है। परन्तु श्रीराग का पुत्र—'मालव-राग' विभास गौरी और परज से मिलकर रागरूप प्राप्त करता है। इसी प्रकार शिवमत के अनुसार श्रीराग का एक भेद मालव-राग है। और यह शाम के समय गाया जाता है ।

शिवमत के अनुसार ही कृष्णमत (अथवा कालिनाथ मत) भी मालव-राग को श्रीराग का पारिवारिक राग स्वीकार करता है। इसके विपरीत भरत की मान्यता के अनुसार मालव-राग श्रीराग के उपरागों में न होकर हिंडोल राग के पुत्र-राग में परिगणित हुआ है। संगीत कलाधर-ग्रन्थ में इस पर विशद चर्चा हुई है। मालव-राग में गेय-पद का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—लिखा है—

अथ-मालवीय रागे पदानि गेयानि, तत्रादौ ध्रुवपदं ज्ञेयं झँपताले ।
कुसुमेषु संधिनि, गिरिसुता रागिणि ।

अथ पदानि—

कमल लोचनसुसेरति कलामंडितो,
पर काम सुंदरो भोग कामी,
सखि गर्वो रंजितं श्रुतिवानुविग्रहो
मन्मथाकृति मदोन्मत्तदेहः
स्मित पुष्प वासना परिवृते
मंदिरे मृदुतरे तस्यके संस्थितः स्यान् ।
आलिंग्य सुन्दरं घन कुचा कामिनी
चुंबने निरतया वोष्ट भालं ।

रात्रि गेयौ

माल कौशिक के विषय में स्वतन्त्र रूप से कहा गया है कि—

सन्यासः वाडवः सादिः
कथितो माल कौशिकः ।

इसी प्रकार राग मंजिरी में बतलाया है—

एकैक गतिको रिधौ, निगौ, मालव कौशिकः ।

इसका समय कल्पद्रुम—कर्ता के मत से

निशि त्रितीये प्रहरे गेयो मालव कौशिकः ।

इसी प्रकार—

विपुलंमे प्रयोक्तव्यः
शिशिरे प्रहरेन्तिमे ।

(शेष पृष्ठ ४८ पर)

विशाखा

सेठ गोविन्ददास

मुख्य पात्र

[नाटक में प्रवेश के अनुसार]

१. गौतम बुद्ध
२. विशाखा—बुद्ध की शिष्या, नाटक की नायिका
३. रेणुका—पुण्यवर्धन की माता, जिस पुण्यवर्धन के साथ आगे चल कर विशाखा का विवाह हुआ
४. मिगारा—पुण्यवर्धन का पिता
५. पुण्यवर्धन—विशाखा का पति
६. धनंजय—विशाखा का पिता
७. सुमनादेवी—विशाखा की माता

स्थान

भद्दीय—अंगदेश का एक नगर
श्रावस्ती—उस काल का प्रसिद्ध नगर
साकेत—श्रावस्ती के निकट एक नगर

समय

गौतम बुद्ध के बुद्ध पद प्राप्ति के पश्चात के वर्ष

●

उपक्रम

स्थान—भद्दीय में जहाँ गौतम बुद्ध चातुर मास के लिए ठहरे हैं, वह उपवन

समय—सन्ध्या

[वर्षा ऋतु के कारण उपवन खूब हरा-भरा है, इस समय वर्षा नहीं हो रही है, पर आकाश घटाओं से घिरा हुआ है। उद्यान में एक काष्ठ के पीठ पर श्वेत वस्त्रों से ढकी हुई गद्दी बिछी है जिस पर तकिए लगे हैं। इस पीठ पर गौतम बुद्ध विराजमान हैं। बुद्ध की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है, उनका वर्ण गौर है और मुख तथा शरीर के सारे अवयव ढले हुए से। चालीस वर्ष की प्रौढ़ावस्था में भी वे अत्यन्त सुन्दर दिख पड़ते हैं। शरीर पर वे चीवर धारण किए हुए हैं; बौद्ध भिक्षुओं की पोशाक। पीठ के सामने अनेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ और गृहस्थ स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। वे उपदेश दे रहे हैं।]

बुद्ध—जिस प्रकार वायु का दुर्बल वृक्ष पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मार अर्थात विषय उस पुरुष को दबा देते हैं, जो ऐहिक सुखों में लिप्त है, जिसको इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं जो भोजन में मस्त है, जो आलसी है और जिसमें सच्चा पुरुषार्थ नहीं। जिस प्रकार वायु पर्वत को नहीं डिगा सकती, उसी प्रकार मार उसको नहीं दबा सकता जो ऐहिक सुखों में लिप्त नहीं; जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है जो नियमित भोजन करता है, श्रद्धालु है और पुरुषार्थी।

[अनेक सखियों के साथ विशाखा का प्रवेश। इस समूह के आगे एक बौद्ध भिक्षु है। विशाखा की अवस्था सात वर्ष की है, वह अत्यन्त सुन्दर बालिका है। जिस प्रकार के वह वस्त्र और आभूषण धारण किए हुए है, उससे वह बहुत सम्पन्न दिख पड़ती है। विशाखा और उसकी सखियाँ बुद्ध को दण्डवत कर एक ओर बैठ जाती हैं। इनके साथ जो बौद्ध भिक्षु आया है, वह आगे बढ़ बुद्ध को दण्डवत कर खड़े हो कहता है।]

भिक्षु—भगवन ! बालिका, जो अपनी सखियों के साथ आई है, अंगदेश के इस भद्दीय नगर के सबसे सम्पन्न कोषाध्यक्ष धनंजय की कन्या है। इसका नाम विशाखा है। इस बाल्यावस्था में भी यह आपके दर्शनों के लिए इतनी आतुर थी कि इसके पिता ने मुझे बुलाया और मेरे साथ इसे सखियों सहित आपके दर्शनार्थ भेजा है। (पुनः दण्डवत कर बैठ जाता है)

बुद्ध—(विशाखा की ओर देख मुस्कराते हुए) बेटी, तू तो, बड़ी रूपवती और बुद्धिमती जान पड़ती है।

[विशाखा कोई उत्तर न दे सिर झुका लेती है। उसकी एक वयस्क सखी कुछ आगे बढ़ कर खड़े हो कहती है।]

विशाखा की एक सखी—भगवन ! आप अन्तर्यामी हैं। आपने हमारी सखी का केवल रूप ही नहीं देखा पर यह कितनी बुद्धिमती है, यह भी तुरन्त जान लिया।

दूसरी सखी—(पहली सखी के सदृश ही आगे बढ़ दण्डवत कर खड़े हो) भगवन ! बुद्धिमती तो यह इतनी है कि हम वयस्कों की बुद्धि भी इसकी बुद्धि के सम्मुख तुच्छ है।

बुद्ध—रूप और गुणों का संयोग सोने में सुगन्ध के संयोग के तुल्य है। फिर बाह्य रूप तो अस्थायी वस्तु है। आन्तरिक गुण ही स्थायित्व देते हैं, जिनकी जननी बुद्धि है। इस कन्या की बुद्धि इसमें ऐसे सद्गुणों का प्रादुर्भूत करेगी जिससे इसका तो कल्याण होगा ही इसके द्वारा लोक कल्याण भी कम न होगा।

पहली सखी—(विशाखा से) सखि ! भगवान तथागत तुझे अपूर्व आशीर्वाद दे रहे हैं।

दूसरी सखी—(विशाखा से) दण्डवत करके इस आशीर्वाद को ग्रहण करो।

[विशाखा बुद्ध के निकट बढ़ उन्हें पुनः दण्डवत करती है।]

बुद्ध—(विशाखा के मस्तक पर हाथ रख कर) सुखी हो और संसार को सुखी कर। बेटी! तेरी अवस्था बड़े भारी उपदेश ग्रहण करने की नहीं है, पर जैसा मुझे दिखा है और तेरी सखियों ने कहा है तेरी बुद्धि वयस्कों से भी आगे है, इसलिए तुझे कुछ सार की बातें कहे देता

हूँ। हीन धर्म का सेवन न करना, परन्तु समदृष्टि रखना और सहिष्णु रहना, प्रमाद से न जीना, चरित्रवान होना, किसी प्रकार की तृष्णा न रखना, इच्छाओं के वशीभूत न होना, अपवाद न करना, अच्छे विचार रखना, सच्ची वीरबाला बनना। सच्ची वीरता आन्तरिक वीरता है। इस आन्तरिक वीरता वाला व्यक्ति सुख, दुःख की चिन्ता न कर सत्-सिद्धान्तों पर हर परिस्थिति में अडिग रहता है।

●

पहला दृश्य

स्थान—श्रावस्ती में मिगारा के भवन का एक कक्ष

समय—प्रातःकाल

[कक्ष बौद्ध काल की कला के अनुसार बना है। काष्ठ के मोटे स्तम्भों पर कक्ष की छत है। स्तम्भों पर खुदाई का काम है। छत पर भी काष्ठ जड़ा हुआ है और उस पर भी खुदाव है। कक्ष की भित्तियों पर श्रावस्ती के दर्शनीय दृश्यों के चित्र बने हैं। कक्ष की भूमि पर रंगबिरंगी बिछावन है। बिछावन "शयन" (एक प्रकार के उस काल के सोफा) और आसन्दियाँ (एक प्रकार की उस काल की कुर्सियाँ) रखी हैं, इनके निकट कुछ चौकियाँ हैं, जिन पर विविध प्रकार की सजावट की सुवर्ण-रजत की वस्तुएँ सजी हैं। ऊँची रजत की धूपदानियों में धूप का सुगन्धित धूम धीरे-धीरे उठ रहा है, कक्ष की बनावट और सजावट से जान पड़ता है कि कक्ष किसी सम्पन्न व्यक्ति का है। रेणुका कक्ष में इधर-उधर घूम कर गा रही है। रेणुका अधेड़ अवस्था की सुन्दर महिला है। वर्ण गोरा, न बहुत ऊँची न ठिगनी न मोटी न दुबली। वह कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है, जिस पर सुनहरी काम है। वक्षस्थल पर उसी प्रकार का वस्त्र बाँधे है। उसके सभी अंगों में रत्न जटित आभूषण हैं। मिगारा का प्रवेश। मिगारा भी अधेड़ अवस्था का ही है, गेहुँए रंग का लम्बा पूरे गठे हुए शरीर का व्यक्ति। वह भी कौशेय वस्त्र का अधोवस्त्र पहने है और उसी प्रकार का दुकूल ऊपर के अंग पर डाले है। उसके वस्त्रों पर भी सुनहरी काम है। अंगों पर वह भी रत्न जटित आभूषण धारण किए है। सिर के लम्बे बाल हैं जो यत्र-तत्र श्वेत हो रहे हैं। इन बालों पर वह रत्न जटित किरीट धारण किए हुए है।]

मिगारा—जैसा आज का शुभ दिन है, वैसा ही रेणु तुम्हारा मंगल गीत भी था।

रेणुका—ऐसे शुभ दिन ऐसा ही गीत तो गाया जा सकता था।

मिगारा—फिर, तुमने उसे बड़े सुरीले और भावपूर्ण ढंग से गाया भी। कदाचित इस प्रकार भावनाओं से भरे और इतने सुरीले स्वर से तुमने आज पर्यन्त कोई गीत न गाया होगा।

रेणुका—हमारे इकलौते पुत्र के विवाह के दिन मेरा हृदय यदि ऐसी भावनाओं से भरा रहे और उन भावनाओं के कारण यदि स्वर और भी सुरीला हो जाय तो इसमें आश्चर्य तो नहीं है न, नाथ!

मिगारा—थोड़ा भी नहीं। मैं तो कुछ क्षण पूर्व आ जाता पर तुम्हारी स्वर लहरी भंग न हो जाए इसलिए तुम्हारा गीत मग्न हो सुनता रहा और जब वह पूरा हुआ तब यहाँ आया। (कुछ रुक कर) प्रिये! हमने अपने पुत्र का नाम पुण्यवर्धन सोच समझ कर ही रखा था।

रेणुका—हाँ, सिद्ध तो यही हो रहा है।

मिगारा—जिन, भगवान की कृपा से उसे जैसा रूप मिला, वैसी ही बुद्धि भी।

रेणुका—और फिर भगवान महावीर की कृपा से वह बुद्धि कितनी परिष्कृत हुई!

मिगारा—हाँ, उसका पठन-पाठन जिस प्रकार हुआ, उस प्रकार का पठन-पाठन इस श्रावस्ती क्या कोशल देश में भी कदाचित ही किसी का हुआ हो।

रेणुका—बड़ी बात हुई कि उसने विवाह न करने के अपने निश्चय को परिवर्तित कर दिया, वह आपके इस कथन पर कि जिस कुल में नई पीढ़ी की उत्पत्ति नहीं वह कुल ही नष्ट हो जाता है।

मिगारा—परन्तु, प्रिये! इतने पर भी वह कदापि विवाह न करता यदि उसके कथनानुसार पंच सौंदर्य वाली कोषाध्यक्ष धनंजय की यह कन्या विशाखा न मिलती। जिन आठ ब्राह्मणों को कन्या की खोज के लिए मैंने नियुक्त किया था, उन्होंने दूर-दूर भटक कर अन्त में इसी श्रावस्ती के निकट साकेत में ही इस विशाखा को ढूँढ़ निकाला।

रेणुका—परन्तु, आपको विश्वास तो है न! कि विशाखा पंच सौंदर्य वाली कन्या ही है, अन्यथा पुण्यवर्धन को उसे त्यागते देर न लगेगी।

मिगारा—मुझे इसमें थोड़ा भी सन्देह होता तो ब्याह रचाने में इतनी शीघ्रता न करता। उन आठों ब्राह्मणों ने उसके पाँचों सौंदर्य के मुझे प्रमाण दिए हैं। उसकी अस्थि के सौंदर्य का प्रमाण उसकी दंत पंक्ति है, जिसमें हीरकमणि के सदृश चमक और मुक्ताओं के सदृश सुघड़ता है। उसके मांस के सौंदर्य का प्रमाण उसके ओष्ठ हैं, जो बिम्बा फल के सदृश रक्त वर्ण और पाटलपुष्प के सदृश कोमल हैं। उसकी त्वचा के सौंदर्य का प्रमाण उसकी स्वयं की त्वचा ही है, जिसमें कमल के गुलाबीपन और मालती की शुभ्रता का अद्भुत मिश्रण है तथा बिना चन्दन आदि सुगन्धित लेपों के उसकी त्वचा से स्वाभाविक सुगन्ध निकला करती है। उसके केशों के सौंदर्य का प्रमाण उनकी भ्रमर के सदृश श्यामता और उनका मयूर पुच्छ के सदृश होना है और इन चारों प्रकार की सुन्दरता के भव्य भवन पर यौवन के सौंदर्य का दिव्य कलश है जो उसके अंग-प्रत्यंगों से प्रस्फुटित होता है। फिर इस सारे सौंदर्य के सुवर्ण में सुगन्धि का मिश्रण हुआ है, उसकी अद्भुत बुद्धिमत्ता से।

रेणुका—और, नाथ, जिस कुटुम्ब में हम अपने पुत्र का विवाह कर रहे हैं, वह कुल भी तो बड़ा सम्पन्न है।

मिगारा—धनंजय के कुल की सम्पन्नता की बात ही न करो, प्रियतमे! हम चालीस कोटि के धनी माने जाते हैं, परन्तु धनंजय की सम्पन्नता के सम्मुख हमारी सम्पन्नता तुच्छ है।

रेणुका—कोशल देश में यह कुटुम्ब अंगदेश से आकर बसा है।

मिगारा—हाँ, यह कुटुम्ब अंगदेश से ही आया है। इसके यहाँ आने का तो एक इतिहास है।

रेणुका—कैसा?

मिगारा—अंगदेश के नरेश बिम्बसार और कोशल देश के भूपति पासिन्दि नातेदार हैं, यह तुम जानती हो।

रेणुका—हाँ, यह तो मुझे ज्ञात है।

मिगारा—राजा बिम्बसार के राज्य में पाँच श्रेष्ठतम महाजन निवास करते थे। जौतीय, जतिला, पुण्यक, काकवल्य और धनंजय के पिता कोषाध्यक्ष राम। राजा पासिन्दि ने राजा बिम्बसार से इन पाँचों में से एक को कोशल देश के लिए चाहा। और तो किसी ने अपना देश छोड़ना स्वीकार नहीं किया किन्तु राम के पुत्र धनंजय ने यह स्वीकार कर लिया। जब राजा पासिन्दि धनंजय को लेकर श्रावस्ती आ रहे थे तब श्रावस्ती पहुँचने के पूर्व सन्ध्या को जब वे साकेत पहुँचे तब धनंजय को साकेत बहुत प्रिय जान पड़ा और वे राजा पासिन्दी की अनुमति ले कर वहीं बस गए।

रेणुका—तो ऐसे ऐतिहासिक और सम्पन्न कुटुम्ब की ऐसी कन्या से हमारे पुत्र का विवाह हो रहा है।

मिगारा—तभी तो मैंने कहा कि हमने अपने पुत्र का नाम पुण्य-वर्धन सोच समझ कर ही रखा था।

रेणुका—और मैंने भी कहा कि सिद्ध तो यही हो रहा है।

[कुछ देर निस्तब्धता]

रेणुका—बस, इस विवाह से सम्बन्ध रखने वाली एक ही बात की मुझे आशंका है।

मिगारा—(कुछ चिन्तित स्वर में) वह कौन सी ?

रेणुका—धनंजय और उनका कुटुम्ब बुद्ध के बौद्ध मत का अनुयायी है और हम भगवान महावीर के जैन धर्म के अनुयायी।

[नेपथ्य में वाद्यध्वनि सुन पड़ती है।]

मिगारा—भविष्य में जो होगा, देखा जाएगा। इस समय तो अब बरात के विदा का समय हो गया! वाद्य भी बजने लगे।

[पुण्यवर्धन का प्रवेश। पुण्यवर्धन गौर वर्ण का ऊँचा, भरे हुए शरीर का अत्यन्त सुन्दर युवक है। वह वर-वेश में है। सुनहरी काम का भड़कीला अधोवस्त्र, उसी प्रकार का उत्तरीय, अंग-प्रत्यंगों में रत्न जटित जगमगाते आभूषण और सिर पर वैसा ही देदीप्यमान मौर।]

मिगारा—(एकटक प्रेमपूर्वक पुण्यवर्धन की ओर देखते हुए रेणुका से) कितना—कितना सुन्दर दिखता है पुण्यवर्धन आज इस विवाह के वेष में देदीप्यमान मौर से सुशोभित।

रेणुका—पुण्यवर्धन हमारे समस्त पुण्यों का संचय है।

मिगारा—एक जन्म के पुण्यों का नहीं, न जाने कितने जन्मों के पुण्यों का। और वह भी केवल हमारे पुण्यों का ही नहीं हमारी न जाने कितनी पीढ़ियों के पुण्यों का।

रेणुका—(पुण्यवर्धन से) बेटा, तुम विवाह नहीं करते थे। यदि तुम अपने उस निश्चय को परिवर्तित न करते तब तो इस पुण्यशाली कुल के पुण्यों की समाप्ति होकर इस कुटुम्ब की ही इतिश्री हो जाती।

मिगारा—और फिर अब तो इसे वधू भी इसकी इच्छानुसार पंच सौंदर्य वाली मिलेगी। देखो बेटा, मानव ने दीर्घकालीन अगणित अनुभवों के पश्चात इस विवाह संस्था की स्थापना की है। निसर्ग की समस्त सृष्टि में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। क्योंकि जो ज्ञान भक्ति निसर्ग ने मानव को दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। मानव के दो अंग हैं, एक नर और दूसरा नारी। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग तो सभी विकसित प्राणियों में होते हैं, और इनके बिना सृष्टि चल नहीं सकती, परन्तु मानव ने अपनी ज्ञान शक्ति के कारण इन दोनों अंगों के सम्मिलित जीवन के लिए विवाह संस्था का जैसा विकास किया, वैसा हमें अन्य किसी प्राणी में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसीलिए मानव जीवन में जन्म के पश्चात विवाह को जितना महत्त्व है उतना किसी बात को नहीं। आज तुम्हारा विवाह हो रहा है और वैवाहिक जीवन का आरम्भ। समस्त तीर्थंकर और भगवान महावीर तुम्हारा यह जीवन हर प्रकार सुखी करें यही तुम्हारे माता-पिता की अभिलाषा हो सकती है।

रेणुका—हाँ, हम लोगों के जीवन की इससे बड़ी कोई साध सम्भव नहीं।

[कुछ महिलाओं तथा पुरुषों का प्रवेश। इन सबकी वेशभूषा से सम्पन्नता दृष्टिगोचर होती है। एक महिला के हाथ में स्वर्ण की थाली में कुमकुम, अक्षत, श्रीफल आदि तिलक की सामग्री है। रेणुका आगे बढ़ कर पुण्यवर्धन को विदा का मंगल तिलक करती है। वाद्य बजता है।]

●

दूसरा दृश्य

स्थान—साकेत का एक मार्ग

समय—मध्याह्न

[कुछ पुरवासियों का प्रवेश। इन नागरिकों में अधिकांश गौर और गेहुँए वर्ण के हैं। कुछ साँवले भी। सभी अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किए हैं। अधिकतर लोगों के वस्त्र बहुमूल्य हैं। अधिकांश व्यक्ति आभूषण भी पहने हैं।]

एक—ऐसा·········ऐसा विवाह तो साकेत और श्रावस्ती में क्या संसार में कहीं न हुआ होगा।

दूसरा—और भविष्य में भी कदाचित ही हो।

तीसरा—कैसी बरात थी।

चौथा—उसमें कितना बड़ा जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था।

पाँचवाँ—कैसी सजावट थी उस बरात की।

छठवाँ—कितने हाथी, कितने घोड़े।

सातवाँ—वे किस प्रकार स्वर्ण और रजत के भूषणों से विभूषित।

आठवाँ—और भी कितनी प्रकार की सजावट।

नौवाँ—और जैसी बारात वैसी ही जहाँ बारात की अगवानी हुई वह सभा मण्डप।

दसवाँ—फिर कैसे·········कैसे मनोरंजक कार्य हुए उस सभा-मण्डप में।

पहला—मैं तो धनंजय द्वारा दिए गए दहेज को देखकर दंग रह गया।

दूसरा—आप क्या, सभी दंग रह गए।

कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ, सभी।

पहला—धनंजय ने अपनी कन्या के लिए जो आभूषण बनवाए हैं, उनका वृत्त मुझे ज्ञात है।

दूसरा—अच्छा ?

पहला—हाँ, उन्हें बनाने के लिए पाँच सौ स्वर्णकारों ने कार्य किया था। और उनके बनने में नौ करोड़ मुद्राएँ लगीं।

तीसरा—नौ करोड़ मुद्राएँ।

पहला—हाँ, नौ करोड़ मुद्राएँ। चार कलश हीरे लगे, ग्यारह कलश मोती, बाईस कलश पन्ने, तेंतीस कलश माणिक, तथा अनेक कलश भरे सात प्रकार के अन्य रत्न। सोने का तो पूछना ही क्या है। शिरोभूषण के लिए जो मयूर बना है, वह भिन्न-भिन्न रत्नों से इस प्रकार बनाया गया है जो दूर से सच्चा मयूर दिख पड़ता है।

चौथा—मैंने ही जब उसे दूर से देखा तब मुझे ही वह सच्चे मयूर के सदृश दिख पड़ा।

पाँचवाँ—और सच्चे मयूर के सदृश दिखते हुए भी उसमें कैसी विलक्षण चमक-दमक थी।

कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ, विलक्षण, सर्वथा विलक्षण।

पहला—इन आभूषणों के बनाने में इन पाँच सौ स्वर्णकारों को चार मास का समय लगा था और इनका पारिश्रमिक ही एक लाख मुद्राएँ हुआ था।

छठवाँ—फिर, इन आभूषणों के अतिरिक्त भी कितना दिया धनंजय ने।

सातवाँ—पाँच सौ गाड़ी भरी चौवन करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ।

आठवाँ—पाँच सौ गाड़ी सोने के बर्तन।

नौवाँ—पाँच सौ गाड़ी चाँदी के बर्तन।

दसवाँ—पाँच सौ गाड़ी ताँबे के बर्तन।

ग्यारहवाँ—पाँच सौ गाड़ी बहुमूल्य वस्त्र।

बारहवाँ—पाँच सौ गाड़ी घृत।

तेरहवाँ—पाँच सौ गाड़ी अन्न।

चौदहवाँ—पाँच सौ गाड़ी खेती करने की वस्तुएँ।

पन्द्रहवाँ—पन्द्रह सौ वस्त्राभूषण से अलंकृत दासियाँ।

सोलहवाँ—सहस्रों गायें।

पहला—पर मुझे जिस बात से सबसे अधिक संतोष है वह जानते हो ?

दूसरा—कौनसी बात ?

पहला—धनंजय ने एक बड़ी बुद्धिमानी का कार्य यह किया है कि विशाखा के ससुर मिगारा से उन्होंने इस बात की स्वीकृति ले ली है कि यदि विशाखा पर कभी कोई दोषारोपण होगा तो वह तब तक दण्डित न की जाएगी जब तक उसके साथ भेजे जाने वाले आठ विद्वान उसे अपराधी घोषित न कर दें।

तीसरा—और ये आठ विद्वान धनंजय अपनी कन्या के साथ भेज रहे हैं।

पहला—हाँ, ये आठ विद्वान विशाखा के संग यहीं से जा रहे हैं, ये ऐसे विद्वान हैं जिनकी धाक सारे कोशल देश में है।

चौथा—कदाचित् ही किसी पिता ने अपनी पुत्री के लिए इतना किया हो जितना धनंजय ने किया है।

पाँचवाँ—ऐसे सम्पन्न व्यक्ति की इकलौती पुत्री ठहरी।

छठवाँ—और फिर वह पुत्री भी कैसी।

सातवाँ—पाँच सौन्दर्य वाली विदुषी।

आठवाँ—भगवान बुद्ध का आशीर्वाद बाल्यावस्था से ही जो उसके साथ रहा है।

सातवाँ—मुझे इस विवाह में एक ही बात कुछ अरुचिकर जान पड़ती है।

पहला—कौनसी ?

सातवाँ—मिगारा का कुटुम्ब बौद्ध धर्मावलंबी न होकर जैन धर्मावलंबी है।

पहला—अरे छोड़ो इस संकीर्णता को। मिगारा का कुटुम्ब चाहे किसी भी धर्म का अनुयायी हो। विशाखा के लिए पुण्यवर्धन से अच्छा वर कदापि न मिल सकता था।

कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ······हाँ यह सर्वथा सत्य है········· सर्वथा।

नौवाँ—अच्छा, तो अब हम जल्दी चलकर विदा के समारोह के भी दर्शन करें।

पहला—हाँ, हाँ। चलो चलो।

[सब का प्रस्थान]

●

तीसरा दृश्य

स्थान—साकेत में धनंजय के प्रासाद का एक कक्ष

समय—अपराह्न

[कक्ष मिगारा के कक्ष के समान ही बौद्ध काल की कला के अनुसार बना है। लगभग वैसी ही सजावट है, परन्तु, यह कक्ष और इसकी सजावट और अधिक सम्पन्नता प्रदर्शित करती है। धनंजय और सुमनादेवी बातें कर रहे हैं। धनंजय और सुमनादेवी दोनों अधेड़ अवस्था के हैं, अत्यन्त रूपवान। वेशभूषा मिगारा और रेणुका के ही सदृश है।]

धनंजय—(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) हाँ, मेरे मन में तो बार-बार यही बात उठती है कि भगवान किसी को पुत्री न दे।

सुमनादेवी—विशाखा के सदृश पुत्री होने पर भी आपकी ऐसी मानसिक स्थिति है।

धनंजय—विशाखा के समान पुत्री होने के कारण तो मेरी यह मनोदशा और भी बुरी हो गई है। ये पुत्रियाँ सदा दूसरे के घर की ही शोभा रहती हैं, प्रिये ! जानती हो पहले विवाह संस्था ही न थी। फिर जिस प्रकार आज पितृगृह रहते हैं, उसी प्रकार मातृगृह थे। ये पितृगृह तो पीछे से आए। यदि आज भी पितृगृह न होकर मातृगृह होते तो विशाखा यहाँ से काहे को जाती।

सुमनादेवी—(मुस्करा कर) तब तो मैं भी यहाँ न आती। आपको भी मेरे घर आना पड़ता। आपको इस बात पर सन्तोष होना चाहिए

नाथ कि हमारे विशाखा के सदृश कन्या हुई। ऐसी रूपवती, ऐसी बुद्धिमती, ऐसी तेजस्विनी, ऐसी सद्गुणों की खान।

धनंजय—यह तो ठीक है, पर आज हमारे घर में अँधेरा कर यह चली जाएगी।

सुमनादेवी—निकट ही रहेगी, नाथ! श्रावस्ती साकेत से दूर ही कितनी है। फिर चाहे हमारे कुल के सदृश मिगारा का कुल न हो परन्तु, पुण्यवर्धन के समान हमें जामात्र मिलना भी सम्भव न था। और फिर आपने विशाखा के सुख के लिए ऐसा कौनसा प्रबन्ध है, जो न किया हो। हमें उसी के सुख में अपना सुख मानना चाहिए।

[विशाखा का प्रवेश। वह अब युवती हो गई है, उसका सौंदर्य अद्वितीय है। वेशभूषा खूब भड़कीली। विशाखा को देख धनंजय और सुमनादेवी उसके निकट आते हैं।]

धनंजय—बेटी! आज तू चली जाएगी इस घर में सदा के लिए अन्धकार कर चली जायगी। (आँखों से आँसू टपकने लगते हैं)

सुमनादेवी—देखिए, आज के मंगल अवसर पर इस प्रकार आँसू डालना अच्छी बात नहीं है। और फिर विशाखा जा ही कितनी दूर रही है।

धनंजय—दूर चाहे न हो परन्तु, घर तो छोड़ रही है।

विशाखा—पिता जी, आप ही तो मुझसे घर छुड़वा रहे हैं।

[तीनों बैठ जाते हैं।]

धनंजय—(आँसू पोंछते हुए) यह मनुष्य सामाजिक प्राणी है, कन्दरा में रहने वाला पशु, घोंसले में रहने वाला पक्षी, किसी जलाशय के किसी बिल में रहने वाला जलचर नहीं। अतः उसे समाज के नियमों और बन्धनों के अनुसार चलना पड़ता है। कन्या का विवाह समाज का एक आवश्यक नियम है और विवाह के पश्चात पति के गृह में रहती है अतः तेरे ससुराल जाने के सिवाय अन्य कोई मार्ग भी तो नहीं है।

सुमनादेवी—तब सब प्रकार से ज्ञानवान होने पर भी आप इस प्रकार दुःखी क्यों?

धनंजय—मस्तिष्क के अतिरिक्त मेरे हृदय भी तो है। और फिर क्या तुम दुःखी नहीं हो? नौ महीने तुमने विशाखा को उदर में धारण किया है, शैशव में अपने रक्त के दुग्ध से इसका पालन पोषण किया है। न जाने क्या-क्या इसके लिए भोगा है। इसकी मंगल-कामना ही तुम्हारे भावोद्वेग को रोक रही है।

[सुमनादेवी कोई उत्तर नहीं देती, उसकी आँखों में भी आँसू छलछला आते हैं। वह सिर नीचा कर उन आँसुओं को पी जाने का प्रयत्न करती है। विशाखा बड़ी कारुणिक मुद्रा से कभी पिता की ओर देखती है और कभी माता की ओर। कुछ देर तक एक कारुणिक निस्तब्धता।]

धनंजय—(दीर्घ निःश्वास ले आँखें पोंछते हुए) बेटी, तेरा जाना अवश्यम्भावी है। तू जाएगी ही। तेरे जाने से ही सरेगा। पिता के कुल की सारी प्रतिष्ठा पुत्री के आचरण पर निर्भर रहती है। तेरे विदा करने के पूर्व फिर से वे ही दस बातें तुझे स्मरण दिलाता हूँ, जो तुझे अनेक बार कह चुका हूँ और जिनका अर्थ तू भली-भाँति जानती है। घर के भीतर की अग्नि बाहर न ले जाना, बाहर की अग्नि घर के भीतर न लाना, केवल उसी को देना जो तुम्हें कुछ दे, उसे कुछ न देना जो तुम्हें कुछ न दे, उस को भी देना जो तुम्हें न भी दे। अग्नि को प्रज्वलित रखना, उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के व्यक्तियों से भी ऊँचे हों। सुख से बैठना, सुख से खाना, सुख से सोना।

[नेपथ्य में वाद्य-ध्वनि सुनाई देती है।]

सुमनादेवी—लो, विदा के बाजे बजने लगे, चलो विशाखा के कल्याण के लिए भगवान बुद्ध की प्रार्थना कर इसे विदा करें।



चौथा दृश्य

स्थान—श्रावस्ती में मिगारा के उपवन का एक भाग

समय—सन्ध्या

[सुन्दर उपवन है, उपवन में पुण्यवर्धन के विवाह के उपलक्ष में प्रीति-भोज का आयोजन किया गया है। अतः उपवन अनेक प्रकार से सजाया गया है। इधर-उधर कई आसन्दियाँ हैं, जिन पर स्त्री-पुरुष बैठे हुए हैं। सभी अपनी वेशभूषा से सम्पन्न जान पड़ते हैं। निकट ही मिगारा रेणुका, पुण्यवर्धन, विशाखा कई अतिथियों के साथ बैठे हुए वार्तालाप कर रहे हैं। परन्तु चूँकि नर्तकियों का नृत्य हो रहा है अतः यह वार्तालाप स्पष्ट सुनाई नहीं देता।]

एक व्यक्ति—(नृत्य पूर्ण होते-होते उच्च स्वर में मिगारा से) हाँ, मैं......मैं कहता हूँ, यह विवाह आपने धन के लिए किया है। (उच्च स्वर में यह वाक्य सुन कर कुछ मेहमान इन लोगों के निकट आते हैं।)

दूसरा—(उससे भी अधिक ऊँचे स्वर में) हाँ, मिगारा महोदय कोई काली-कलूटी, कानी-अन्धी लड़की को पुत्रवधू बनाकर लाए हैं न।

पहला—बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ नहीं होता। मैं दावे के साथ कहता हूँ, यह विवाह कदापि कल्याणकारी सिद्ध न होगा। हम जैनी यह बौद्धों की कन्या, देखते नहीं हो कितने जैन इस वर्णशंकर ब्याह में सम्मिलित हुए। इस प्रीति-भोज का भी अधिकांश जैनियों ने बहिष्कार किया है।

तीसरा—यह संकीर्णता है।

पहला—देखना है, तुम्हारी उदारता का कितने लोग अनुसरण करते हैं। मिगारा महोदय, हमारी जाति पंचायत के सरपंच थे, वे अब इस पद पर रह सकें यह असम्भव है। मैं भी केवल चेतावनी देने यहाँ आया था। मैं भी यह चला। (शीघ्रता से प्रस्थान)

[इस छोटे से परन्तु अत्यन्त उग्र वाद-विवाद से प्रीति-भोज में एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता छा जाती है। मिगारा के मुख का रंग-सा उड़ जाता है।]

विशाखा—(घृणा से नाक-मुँह सिकोड़) जैन और बौद्ध, बौद्ध और जैन। सबसे पहले हम मानव हैं क्या यह हम नहीं देख सकते।

तीसरा—कैसा असभ्य व्यक्ति था यह (नर्तकियों तथा उनके साथी वाद्य-यन्त्र वालों से) गाओ, गाओ। आपकी स्वर-लहरी ही इस दूषित वायुमण्डल को पुनः शुद्ध करेगी।

[वाद्य-यन्त्र का स्वर आरम्भ होता है]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—मिगारा के भवन में पुण्यवर्धन का कक्ष

समय—रात्रि

[यह कक्ष भी लगभग वैसा ही है तथा उसी प्रकार सजा हुआ जैसा पहले और तीसरे दृश्य का कक्ष था। सजावट में एक ही प्रधान अन्तर है, इस कक्ष में एक ओर स्वर्ण के पायों वाला स्वच्छ शय्या से युक्त पलँग बिछा है, जिस पर सुगन्धित पुष्पों के कई हार सजे हैं। रजत की दीवटों पर सुगन्धित तेल के दीपों से कक्ष प्रकाशित है, विशाखा और पुण्यवर्धन का प्रवेश।]

विशाखा—आपके घर में प्रवेश करते ही जीवन में मुझे आज जितनी ठेस लगी उतनी इसके पूर्व कभी न लगी थी।

पुण्यवर्धन—प्रीति-भोज में आपकी मुद्रा देखते ही मुझे यह ज्ञात हो गया था।

[दोनों शय्या पर बैठते हैं]

पुण्यवर्धन—परन्तु, इसमें हमारे घर का तो कोई दोष नहीं। पिता जी ने जैन होते हुए भी मेरा विवाह बौद्धों के यहाँ किया।

विशाखा—आपके घर का दोष मैं भी नहीं कहती, परन्तु, जिस समय उस असभ्य और उद्दण्ड व्यक्ति ने वह सब कहा उस समय मैंने आपके पिता जी की मुद्रा को देखा था। जान पड़ता था कि उनके मुख का सारा रंग ही उड़ गया है। फिर उस व्यक्ति ने यह भी कहा कि उन्होंने यह विवाह धन के लिए किया है। क्या आपके पिता लोभी वृत्ति के हैं?

पुण्यवर्धन—थोड़े भी नहीं। फिर आपको उनसे मतलब भी क्या है? आपका विवाह मेरे संग हुआ है, हमारा एक दूसरे से सम्बन्ध है।

विशाखा—यह तो ठीक है परन्तु···परन्तु (चुप हो जाती है)

पुण्यवर्धन—परन्तु····· पर आप रुक क्यों गईं!

विशाखा—नहीं, रुकना तो मैं जानती ही नहीं। कुछ सोचने लगी थी।

पुण्यवर्धन—क्या?

विशाखा—हमारे समाज में संयुक्त कुटुम्ब प्रथा है, इसलिए चाहे मेरा विवाह आप से हुआ हो परन्तु, आपके माता-पिता से मेरा मतलब नहीं, यह तो नहीं हो सकता। आपके साथ विवाह होते ही वे मेरे भी माता-पिता के तुल्य हो गए हैं। और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं·····मैं (फिर चुप हो जाती है)

पुण्यवर्धन—(विशाखा को देखते हुए) आप फिर चुप हो गईं।

विशाखा—मैं फिर सोचने लगी थी। एक ओर मेरा जिस प्रकार पालन हुआ है, और जिस प्रकार की भावनाएँ मेरे मन में भरी गई हैं वह है, और दूसरी ओर संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा के ये सारे बन्धन। मैं नहीं जानती कि मैं स्वयं इस वायुमण्डल में कितनी दूर तक सुखी रह सकूँगी और कहाँ तक आप सब को सुखी रख सकूँगी। नाथ! मैं अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री हूँ। शैशव से ही एक विशिष्ट ढंग से बड़ी की गई, एक विशेष प्रकार की भावनाएँ मेरे मन में भरी गईं। भगवान बुद्ध की मैं अनन्य उपासिका हूँ। सात वर्ष की अवस्था में मैंने सर्वप्रथम उनके दर्शन किए थे। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख जो उपदेश मुझे दिया था वह मैंने उसी समय से कंठस्थ कर लिया है। सुनेंगे आप उनके उस उपदेश को।

पुण्यवर्धन—अवश्य, सहर्ष सुनूँगा।

विशाखा—(ध्यानावस्थित-सी सामने की ओर देखते हुए) उन्होंने कहा था "सुखी हो और संसार को सुखी कर, हीन धर्म का सेवन न करना, परन्तु समदृष्टि रखना और सहिष्णु रहना, प्रमाद से न जीना, चरित्रवान होना, किसी प्रकार की तृष्णा न रखना, इच्छाओं के वशीभूत न होना, अपवाद न करना अच्छे विचार रखना, सच्ची वीरबाला बनना, सच्ची वीरता आन्तरिक वीरता है, इस आन्तरिक वीरता वाला व्यक्ति सुख-दुःख की चिन्ता न कर सत् सिद्धान्तों पर हर परिस्थिति में अडिग रहता है।" मैंने अपना सारा जीवन इन्हीं उपदेशों के अनुसार चलाया है तथा भविष्य में चलाऊँगी।

पुण्यवर्धन—प्रिय! भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के उपदेशों में कोई अन्तर नहीं है।

विशाखा—भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के क्या किसी भी महापुरुष के न उपदेशों में अन्तर होता और न आचरण में ही। परन्तु, उनके ये अनुयायी······क्या कहूँ!

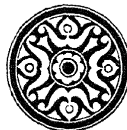
पुण्यवर्धन—हाँ, सारा झगड़ा ये सच्चे नहीं झूठे अनुयायी (पाखण्डी) करते हैं। पर आप एक बात जानती हैं!

विशाखा—कौन सी?

पुण्यवर्धन—आप ने आज के प्रीति-भोज में कहा था—"जैन और बौद्ध। बौद्ध और जैन। सबसे पहले हम मानव हैं क्या यह हम नहीं देख सकते?" मेरे विचार भी आपके इन विचारों के ठीक अनुरूप हैं और यदि हम दोनों एक विचार के हैं तो संसार की कौन बाधा हमारे जीवन को दुःखी कर सकती है। (अत्यधिक प्रेमभरी दृष्टि से विशाखा की ओर देखते हुए) मैं तो······मैं तो यह मानता हूँ प्रिये, कि आपके सदृश पत्नी पा मेरा जन्म धन्य हो गया।

विशाखा—(उसी प्रकार प्रेमभरी दृष्टि से पुण्यवर्धन की ओर देखते हुए) सो तो मैं······मैं भी नाथ······(पुण्यवर्धन के चरणों की ओर झुकती है। पुण्यवर्धन विशाखा को खींच हृदय से लगा लेता है।)

(शेष अगले अंक में)



शेख मुबारक

राहुल सांकृत्यायन

(गताङ्क का शेषांश)

आफत के बादल—शेख मुबारक के पीछे भेदिए छोड़े गए। कुछ उनके शागिर्द बन कर पढ़ने के बहाने पास में रहने लगे। एक दिन पता लगा, कि मुल्लों ने षड्यन्त्र कर लिया है, और शेख मुबारक पर पकड़ कर दरबार में उनके धर्म-विरोधी होने का अपराध लगाया जाएगा। आधी रात को यह खबर अबुलफ़ज़ल को मिली। उसी वक्त वह बेतहाशा दौड़े। बचाने का एक ही रास्ता था कि जब तक बादशाह (अकबर) को सच्ची बात मालूम न हो जाए, तब तक कहीं वह छिपे रहें। अबुलफ़ज़ल ने बड़े भाई फ़ैज़ी से जाकर कहा। फ़ैज़ी अपने छोटे भाई की तरह कौटिल्य का अवतार नहीं बल्कि बहुत ही सीधा-सादा पुरुष था। वह शेख के शयनकक्ष में उसी वक्त घुस गया, और उनसे सारी बातें बतलाईं। शेख ने कहा—"दुश्मन जबर्दस्त हैं, तो खुदा तो मौजूद है? न्यायप्रिय बादशाह की छाया तो सिर पर है? यदि भाग्य-भगवान ने हमारे लिए बुरा नहीं लिखा है, तो कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अगर भगवान की मर्जी यही है, तो कोई बात नहीं। हम हँसते-हँसते अपने जीवन को समर्पण करने के लिए तैयार हैं।" समझा कर फ़ैज़ी हताश हो गए। उन्होंने तुरन्त छुरी हाथ में उठा ली, और कहा—"दुनिया की बातें और हैं, और सन्तों की कहानी और। अगर आप इसी वक्त नहीं चलते, तो मैं अपना जीवन समाप्त कर डालता हूँ। फिर आप जानिएगा। मैं उस बुरे दिन को देखने के लिए तैयार नहीं हूँ।" अपने अभिमान-मेरु ज्येष्ठ पुत्र की यह बात सुन कर शेख मुबारक में इन्कार करने की शक्ति नहीं रह गई। अबुलफ़ज़ल बड़े भैया को कह कर सोने चले गए थे। बाप ने उन्हें भी जगाया। उसी अँधेरी रात में तीनों पैदल निकल पड़े। कोई मार्ग-दर्शक नहीं था। कहाँ जाएँ? जिसका नाम भाई लेता, उसे अबुलफ़ज़ल विश्वास-योग्य नहीं मानते, जिसको अबुलफ़ज़ल बतलाते, उसे भाई ठीक नहीं समझता। फ़ैज़ी ने किसी आदमी के लिए अधिक आग्रह किया। तीनों वहाँ पहुँचे। आदमी का रवैया देख कर फ़ैज़ी पछताने लगे—"कम अनुभव के होते भी तुमने ठीक सोचा था। अब बतलाओ, क्या करें।" अबुलफ़ज़ल ने कहा—"अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, अपने खटले को लौट चलें। यदि ज़रूरत पड़े, तो मुझे वकील कर देना, मैं दुश्मनों को नंगा करके रख दूँगा।" शेख ने कहा—"शाबाश, मैं भी इसी के साथ हूँ।" फैज़ी इतना बड़ा खतरा सिर पर लेने के लिए तैयार नहीं थे। भाई पर फिर बिगड़े और कहा—"तुझे इन मामलों की खबर नहीं। इन लोगों की मक्कारी और छल-कपट को तू क्या जाने? घर को छोड़ो और रास्ते की बात करो।" अबुलफ़ज़ल ने कहा—"मेरा दिल गवाही देता है, कि अगर कोई आसमानी बला न आन पड़े, तो फलाँ आदमी सहायक हो सकता है।"

रात का वक्त था। समय अधिक नहीं था। दिल परेशान था। उधर ही चल पड़े। दलदल और रपटन की जमीन थी। चले जा रहे थे, मगर मन में पछता भी रहे थे। कदम भी मुश्किल से उठता था, साँस लेने में भी दर्द होता था, विचित्र दशा थी। रात खतरनाक, और कल सर्वनाश या महाप्रलय का दिन। सुबह हो रही थी, जब तीनों बाप-बेटे उस आदमी के दरवाजे पर पहुँचे। उसने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। एक अच्छे कमरे में उन्हें उतारा। दो दिन निश्चिन्त वहीं बीते। तीसरे दिन खबर लगी, कि दुश्मनों ने बादशाह के पास शिकायत की है। उसका मन भी फिर गया। उसने मुल्लाओं को कह दिया है तुम्हारी सलाह बिना मुल्की और माली के काम भी नहीं चलते, यह तो खास धर्म और कानून की बात है। इसका फैसला करना तुम्हारा काम है। अदालत में बुलाओ। जो शरीयत फतवा दे और बुजुर्ग निश्चय करें, वह करो।

दुश्मन दरबारियों ने तुरन्त चोबदारों को पकड़ने के लिए भेज दिया। उन्होंने बहुत जाँच-पड़ताल की। घर से तीनों बाप-बेटे गायब थे। वहाँ पहरा बैठा दिया। छोटे भाई अबुलखैर को पकड़ ले गए। बादशाह से बहुत बढ़ा-चढ़ा कर समझाया, कि शेख ज़रूर अपराधी है, इसीलिए भागा-भागा फिर रहा है। अकबर नौजवान था, लेकिन तब भी सोच-समझ रखता था। वह तस्वीर के एक पहलू पर ही ध्यान नहीं देता था। उसने कहा—"शेख को सैर-सपाटे की आदत है, कहीं गया होगा। इस बच्चे को क्यों नाहक पकड़ लाए? क्यों घर पर पहरा बैठा दिया तुरन्त भाई को छोड़ दिया गया, और पहरा भी उठा लिया गया। सब खबरें तीनों बाप-बेटों के पास पहुँचती रहती थीं। पर, अभी प्रकट होना, वह ठीक नहीं समझते थे। दुश्मनों ने असफल होने के बाद सोचा, दो-तीन गुण्डे भेजो, जहाँ मिलें वहीं इनका काम तमाम कर दो। उनको डर लग रहा था, कि कहीं बादशाह के बदले रुख को देख कर वह स्वयं दरबार में हाजिर न हो जाएँ, और हमें लेने के देने पड़ें।

एक हफ्ते तक गृहपति ने उन्हें अपने यहाँ शरण दी। फिर उसको भी डर लगने लगा। दुश्मन तरह-तरह की बातें उड़ाते थे। समझा कहीं जौ के साथ घुन न पिस जाए। टके सेर जवाब पाकर अब फिर तीनों उपाय सोचने लगे। बाप और बड़ा भाई तरुण कौटिल्य की बुद्धि का लोहा मानने लगे थे। उसके ही ऊपर रास्ता निकालने को छोड़ दिया। शाम हुई। तीनों फिर उस घर से निकले। चलते-चलते

एक कस्बा नज़र आया। वहाँ शेख का एक शागिर्द रहता था। गए, थोड़ी देर आराम की साँस ली, लेकिन वहाँ भी शरण कहाँ? अबुलफ़ज़ल ने कहा—"ये हैं, अच्छे-अच्छे दोस्त और पुराने-पुराने शागिर्द! सच्चे शिष्यों का हाल चन्द ही दिनों में प्रकट हो गया। अब यही राय है, कि यहाँ से निकल चलें और इन दोस्तों और डरपोक मित्रों से जल्द दूर हो जाएँ। खूब देख लिया इनकी मित्रता का कदम हवा पर, और दृढ़ता की जड़ नदी की तरंग पर है। शहर को चलें, कहीं एकान्त स्थान ढूँढें। कोई अज्ञात सज्जन अपनी शरण में लें। वहाँ से बादशाह का हाल मालूम करें। गुंजाइश हो, तो भाग्य परीक्षा कर देखें। यदि आशा न हो, तो दुनिया तंग नहीं है। पक्षी के लिए भी घोंसला और शाखा है। इसी मनहूस शहर (आगरा) पर प्रलय तक के लिए हमने अपने को बेच नहीं दिया है। एक अमीर दरबार से हटकर अपने इलाके को जाता, बस्ती के पास उतरा। सब को छोड़ कर उसी की शरण में चलो। अपरिचित स्थान है, शायद थोड़ा आराम मिले। यद्यपि दुनियादारों से दया का भरोसा नहीं है, लेकिन वह अब दुश्मनों के लगाव में नहीं है।"

फ़ैज़ी भेस बदल कर उसके पास पहुँचे। वह सुन कर बहुत खुश हुआ और तीनों का स्वागत करने के लिए तैयार हुआ। दुश्मन सब कुछ करने पर उतारू थे, इसलिए फ़ैज़ी अपने साथ कई तुर्क सिपाही लेते आए। आकर बाप और छोटे भाई से सब बात बतलाई। उसी वक्त भेस बदल कर तीनों चल पड़े और अलग-अलग होकर अमीर के डेरे में पहुँचे। स्वागत देखकर तबियत खुश हुई, दिन आराम से बीता। अच्छे दिनों की सोचने लगे। इसी वक्त दरबार से फिर अमीर को बुलावा आ गया। उसने रुख बिल्कुल बदल दिया। रात को निकल एक और दोस्त के घर गए। उसने बहुत स्वागत किया, लेकिन उसका पड़ोसी बहुत दुष्ट था, इसलिए वह घबरा उठा। लोग सो गए, तीनों वहाँ से भी निकले। कोई शरण-स्थान मालूम नहीं होता था। फिर घूम-घाम कर उसी अमीर के डेरे में चले आए। डेरे वालों को तीनों के निकल के जाने की खबर नहीं थी। अमीर इस बला को सिर पर लेने के लिए तैयार नहीं था। उसके रुख को बदला देखकर नौकरों ने भी आँखें फेर लीं। अबुलफ़ज़ल ताड़ गए, लेकिन फ़ैज़ी में उतनी व्यवहार-बुद्धि कहाँ थी? अमीर ने देखा, ये तीनों टलते नहीं हैं। बिना बातचीत किए वह सवेरे वहाँ से कूच कर गया। नौकरों-चाकरों ने भी तम्बू उखाड़ लिया। तीनों बाप-बेटे आसमान के नीचे जमीन पर बैठे रह गए।

अब वहाँ रहने के लिए गुंजाइश कहाँ थी? चले। दिन था। दुश्मनों की भीड़ में से निकलना था। लेकिन जान पड़ता था उनकी आँखों पर परदा पड़ गया था। जाते-जाते एक बगीचे में पहुँचे। थोड़ी देर ठहरे। पता लगा, गुप्तचर यहाँ भी घूम रहे हैं। भागते-फिरते रहे। इसी समय एक माली मिला। उसने पहचान लिया। तीनों घबरा गए। माली ने बहुत ढारस बँधाया, अपने घर जाकर ठहराया। फ़ैज़ी का दिल घबराता था, क्या जाने लालच के मारे यही कुछ कर डाले। कुछ रात बीतने पर बाग वाले माली ने आकर कहा, मेरे जैसे आपके भगत के रहते आप क्यों इधर-उधर भटकते रहें। वस्तुतः गरीब जितने ईमानदार हो सकते हैं, दूसरों के लिए कुर्बानी कर सकते हैं, उतने अमीर नहीं। उसने ले जाकर एक सुरक्षित जगह में टिकाया। एक महीने से ज्यादा हिन्दुस्तान का भावी महामन्त्री और कवि सम्राट अपने बाप के साथ आराम से वहाँ रहे। अपने मित्रों और मेहरबानों को पत्र भेजे। सब लोग कोशिश करने लगे।

सादगी के पुतले पर अद्भुत प्रतिभाशाली फ़ैज़ी ने साहस का परिचय दिया। पहले आगरा फिर फतेहपुर-सीकरी पहुँचे, जो अकबरी उस समय राजधानी थी। वहाँ हितचिन्तकों से मिला। एक दिन दरबार में एक प्रभावशाली पुरुष ने मुँह खोल कर कहना शुरू किया—"हुज़ूर, क्या आखरी जमाना खतम हो रहा है? कयामत आ गई है? हुजूर की बादशाही में बदकार और बददिमाग स्वच्छन्द विचर रहे हैं, और भलेमानुस मारे-मारे फिर रहे हैं। यह क्या व्यवस्था है?" बादशाह ने पूछा—"किसकी बात करते हो? तुम्हारा अभिप्राय किस आदमी से है?" जब आदमी ने शेख का नाम लिया, तो अकबर ने कहा, "आज के बड़े लोगों ने उस पर आफत का पहाड़ ढाने और जान लेने पर कमर बाँध कर फतवा तैयार किया है। मैं जानता हूँ, आज शेख अमुक स्थान पर मौजूद है। मगर जान कर अनजान बनता हूँ। किसी को कुछ और किसी को कुछ कह कर टाल देता हूँ। तुम्हे खबर नहीं है, यों ही उबल पड़ता है। सवेरे आदमी भेज कर शेख को हाज़िर करो, और आलिमों को एकत्रित करो।"

फ़ैज़ी को जब यह बात मालूम हुई, तो वह तुरन्त भागा-भागा बाप और भाई के पास पहुँचा। तीनों ने भेस बदला और किसी को कहे बिना आगरा के लिए चल खड़े हुए। मौत के मुँह में जाना था, क्योंकि इस रात के वक्त अगर दुश्मन अपने गुण्डों को भेज देते, तो अकबर उनकी रक्षा नहीं कर सकता था। अँधेरी रात में चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। वह आगरा की ओर भागे जा रहे थे। भेस बदलने पर भी उनके दिल को कैसे विश्वास हो सकता था। एक खण्डहर सामने आया, उसमें घुस गए। सलाह हुई, कि यहाँ से घोड़ों का प्रबन्ध करके फतेहपुर-सीकरी चलें। रात को ही वह घोड़ों पर सवार हो सीकरी की ओर रवाना हुए। इधर-उधर भटकते वहाँ पहुँचे। परिचित ने उन्हें तरह-तरह की बातें कह कर उनके दिमाग को और परेशान कर दिया, लोगों ने फिर बादशाह को उलटा-सीधा समझाने में सफलता पाई है। पहले आ जाते, तो काम आसानी से बन जाता। अब पास के एक गाँव में कुछ दिन ठहरो, बादशाह को अनुकूल देख कर फिर कुछ किया जा सकेगा। बैलगाड़ी पर बिठा कर उन्हें गाँव की ओर रवाना कर दिया। गाँव के जिस आदमी के भरोसे वह गए थे, वह घर में मौजूद नहीं था। लेकिन, अब तो आ गए थे। वहाँ के दारोगा को कोई कागज पढ़वाना था। मुसाफिरों को देख कर उसने उन्हें शिक्षित समझा और उन्हें बुला भेजा। तीनों वहीं गए। थोड़ी देर में मालूम हुआ, कि गाँव तो किसी बड़े दुष्ट का है। फिर वहाँ से निकले। एक पथ-प्रदर्शक को ले भूलते-भटकते आगरा के पास एक गाँव में पहुँचे। उस दिन वे तीस कोस चले थे। एक घर में

उतरे। मालूम हुआ कि इस जमीन का मालिक भी एक दुष्ट है, जो कभी-कभी इधर आ जाता है। आधी रात को फिर यहाँ से भागे। सुबह होते आगरा पहुँचे। एक दोस्त के घर में उतरे, जरा दम लिया। जरा ही देर में गृहपति ने तोताचश्मी दिखाते हुए कहा कि मेरा पड़ोसी बड़ा धोखेबाज़ है। मालिक मकान ने इधर-उधर जगह ढूँढ़ी। दो दिन ऐसे बीते, जिस में हर एक साँस अन्तिम साँस मालूम होती थी।

एक भलेमानुस का पता लगा। गृहपति ने बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ के उसका घर निकाला। उसी समय उस घर में पहुँचे। गृहपति के बर्ताव को देख कर तबियत बहुत खुश हो गई। यद्यपि वह शेख़ का शिष्य नहीं था, लेकिन बड़ा भला आदमी निकला। अबुलफ़ज़्ल के अनुसार—गुमनामी में नेकनामी से जीता था, अल्प धन में अमीरी से रहता था, तंगदस्ती में दरियादिली करता था, बुढ़ापे में जवानी का चेहरा चमकाता था।'' फिर लिखा-पढ़ी शुरू हुई। दो महीने की प्रतीक्षा के बाद भाग्य ने पलटा खाया। अकबर का बुलावा आया। शेख मुबारक फ़ैज़ी को साथ ले दरबार में पहुँचे। अकबर ने जिस कृपा और उदारता का परिचय दिया, उसे देखकर दुश्मनों में 'सन्नाटा' हुआ, भिड़ों का छत्ता चुपचाप हो गया।

सुखी जीवन—शेख मुबारक अकबर के सम्मान और कृपा के भाजन थे। लेकिन, उन्होंने दरबार की नौकरी नहीं स्वीकार की। मीर हबश आदि को शिया होने के जुर्म में अकबर के शासन में कत्ल कर दिया गया था। जिन लोगों ने उन्हें कत्ल करवाया था, वही अब्दुल नबी और मुल्ला सुल्तानपुरी शेख मुबारक को शिया और मेहदी-पंथी बतला रहे थे। गाढ़ के समय शेख मुबारक ने शेख सलीम चिश्ती से भी सिफारिश करवानी चाही थी। शेख सलीम के प्रति अकबर की भारी श्रद्धा थी, उन्हीं की दुआ से उसे पुत्र मिला था, जिसका नाम शेख के नाम पर ही सलीम रक्खा—जो जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। चिश्ती के ही कारण वह अपनी राजधानी को फतहपुर ले आया था। लेकिन, शेख ने कुछ पैसों के साथ संदेश भेजा, ''यहाँ से तुम्हारा निकल जाना ही अच्छा है। तुम गुजरात चले जाओ।'' मिर्जा अज़ीज़ ने बादशाह को समझाने में सफलता पाई। ६३ वर्ष की उमर में अब उनका भाग्य खुला। जबकि १५६६ या १५६७ ई० (हिजरी ६७४) में फ़ैज़ी को दरबार में स्थान मिला। उसके साथ वर्ष बाद अबुलफ़ज़्ल भी जाकर मीर मुन्शी (महासचिव) बने।

सत्तर-बहत्तर की उमर में शेख मुबारक की जवानी फिर लौट सी आई। कहाँ एक समय धर्म के खिलाफ समझ कर गाने की आवाज़ आती देख वह जल्दी-जल्दी आगे निकल जाते थे, और कहाँ तम्बूर और तराना सुनते-सुनते थकते नहीं थे।

अकबर निरक्षर था, पर उसका अर्थ अशिक्षित नहीं है। आखिर एक समय था, जब विद्या को कान से सुन कर ही लोग सीखते थे, लिखने-पढ़ने का रिवाज नहीं था। अकबर बहुश्रुत था। फारसी और तुर्की दोनों उसकी मातृभाषा जैसी थीं। नकीब खाँ का काम था, फुर्सत के समय बादशाह को इतिहास और विद्या की पुस्तकें पढ़ कर सुनाए। ''हयातुल हैवान'' (प्राणिजीवनी) नामक एक अरबी पुस्तक थी। उसका अर्थ समझाना पड़ता था। बादशाह ने उसको फ़ारसी में अनुवाद करने का काम शेख मुबारक को दिया। अकबर भिन्न-भिन्न धर्मों और शास्त्रों की बहस सुनने का बहुत शौकीन था। इन वाद-सभाओं में शेख मुबारक भी शामिल होते थे। अरबी किताबों को अनुवाद में सुनते-सुनते बादशाह को ख्याल आया, अरबी भाषा भी क्यों न सीख ली जाए। शेख मुबारक से बढ़ कर अच्छा कौन शिक्षक मिल सकता था। फ़ैज़ी बाप को साथ लेकर गए। अरबी व्याकरण शुरू हुआ। फ़ैज़ी ने इसी समय बादशाह से कहा—''शेखेमा तकल्लुफ अस्ला न दारद'' (हमारा शेख बिल्कुल तकल्लुफ नहीं रखता)। अकबर ने जवाब दिया—''आरे, तकल्लुफात रा हमा बर-शुमा गुज़ाश्ता अन्द'' (हाँ, सभी तकल्लुफों को तुम्हारे ऊपर छोड़ रक्खा है)। चन्द दिनों अरबी का जोश रहा, फिर अरबी पढ़ने के लिए अकबर को फ़ुरसत कहाँ?

फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़्ल अकबर के उन आधे दर्जन दरबारियों में से थे, जिन्हें बादशाह अपना अभिन्न हृदय समझता था, और बेतकल्लुफी से उनके साथ बर्ताव करता था। उनके बाप की भी वह बहुत इज्जत करता था। कभी-कभी दरबार में आते, तो उनकी दर्शन, इतिहास, साहित्य-सम्बन्धी बातों को सुन कर खुश हो जाता। शेख को संगीत-विद्या का शौक है, सुन कर एक बार अकबर ने कहा—''इस कला की जो सामग्री हमने एकत्रित की है, उसे हम दिखाएँगे।'' शेख मंजू, तानसेन और दूसरे कलावन्तों को बुला कर शेख के घर अपना गुण प्रदर्शन करने के लिए भेजा। शेख ने सब को सुना। तानसेन से कहा—''शुनीदम् तू हम् चीज़े मी तवानी गुफ्त'' (सुना है, तू भी कुछ चीजें बोल सकता है)। तानसेन के गान को सुनकर कहा—''जानवरों की तरह कुछ भाँय-भाँय करता है।'' इसमें शक नहीं, कि तानसेन के संगीत-शास्त्र पारंगत होने में उन्हें सन्देह नहीं हो सकता था, पर गान के लिए मधुर कण्ठ होना वह आवश्यक समझते थे, जो सभी संगीत उस्तादों की तरह शायद तानसेन में भी नहीं था, इसलिए उन्हें उनकी तान भाँय-भाँय मालूम हुई।

अकबर उदार हृदय और दृढ़ साहस रखने वाला पुरुष था। पर, शासन के सारे यन्त्र और कायदे-कानून को एकदम उठा देना उसके बस की बात नहीं थी, विशेषकर आरम्भिक समय में। मथुरा में एक ब्राह्मण ने एक शिवाला बनवाया। उस पर अपराध लगाया गया, कि उसने मस्जिद की और इस्लाम की तौहीन की। सल्तनत के सर्वोच्च न्यायाधीश के पास मामला गया, ब्राह्मण को कत्ल करवा दिया गया। अकबर बहुत परेशान था। इसी समय शेख मुबारक किसी विशेष अवसर पर बधाई देने के लिए अकबर के पास पहुँचे। बादशाह ने कितने ही प्रश्न उनके सामने रखते हुए कहा, कि इन मुल्लाओं के मारे जान आफत में है। वह अपने को धर्म और कानून में प्रमाण मानते हैं। शेख मुबारक ने कहा—''न्यायमूर्ति बादशाह सर्वोपरि प्रमाण हैं। जिन बातों पर मतभेद है, उन्हें देश-काल के अनुसार देखकर हुजूर स्वयं हुकुम दें। मुल्लों ने यों ही हवा बाँध रखी है। इनके भीतर कुछ नहीं है। आपको उनसे पूछने की जरूरत नहीं है।'' अकबर ने कहा—

"हरगाह शुमा उस्तादे-मा बाशीद्, व सबक पेशे-शुमा ख़ान्दाबाशीम्, चिरा मारा अज़्मिन्नते ईं मुल्लायां फ़लाय न मी-साज़ीद्" (जब आप हमारे उस्ताद हैं, और आपके सामने हमने पाठ सीखा है, तो क्यों इन मुल्लाओं की दया से हमें छुट्टी नहीं दिलाते ?)

शेख मुबारक ने वह विधान-पत्र तैयार किया, जिसने अकबर की सल्तनत को मुल्लों के पंजे से छुड़ा दिया, अकबर निधड़क होकर अपने साथियों को लेकर नए हिन्दुस्तान के निर्माण के लिए तैयार हुआ। उसके काम को आगे ले जाने वाले योग्य सहायक और उत्तराधिकारी नहीं मिले, इसलिए यदि अकबर अपने स्वप्न को सजीव कराने में सफल नहीं हुआ, तो उसमे उसका दोष क्या ? शेख मुबारक ने कुरान और इस्लामी धर्म-शास्त्र के वाक्यों तथा पुराने उदाहरणों को इकट्ठा करके एक अभिलेख तैयार किया, जिसका सारांश यह था, कि जिन बातों में मतभेद हो, उनके बारे में अपनी राय के अनुसार बादशाह हुकुम दे सकता है। उसकी राय आलिमों और धर्म शास्त्रियों से बढ़ कर प्रामाणिक है। यह अभिलेख बहुत संक्षिप्त १८ २० पंक्तियों से ज्यादा बड़ा नहीं है, लेकिन वह हिन्दुस्तान का मेग्नाचार्टा है, जिसके अनुसार दीन (धर्म) के प्रश्नों पर भी मुल्लों के हाथ से हटा बादशाह को हुकुम देने का अधिकार दिया गया था। यह रज्जब ९८७ हिजरी (अगस्त या सितम्बर १५७९ ई०) में लिख कर दरबार में पेश किया गया। सभी बड़े-बड़े आलिम-फ़ाज़िल, मुफ्ती-काज़ी बुलाए गए। शेख मुबारक आज की सभा के अध्यक्ष थे। उनके पुराने शत्रु भीगी बिल्ली बन कर साधारण लोगों में आकर बैठे थे। अभिलेख पर मुहर करने का हुकुम हुआ, और कुछ भी मुँह से निकाले बिना मुहर कर देना पड़ा। शेख मुबारक ने अपने हस्ताक्षर करते हुए यह भी लिख दिया—"ईं अमरेस्त, कि मन् ब-जान-व-दिल ख्वाहाँ व अज़-सालहाय बाज़ मुन्तज़िर-आँ बूदम्।" (यह वह बात है, जिसकी मैं दिलोजान से, सालों से कामना करते प्रतीक्षा कर रहा था।)

शेख मुबारक अकबर और उनके घनिष्ठ सहकारियों से भी पहले अपने देश का सपना देख रहे थे। मेहदी जौनपुरी के साम्यवाद से उनकी सहानुभूति इसी कारण थी, क्योंकि वह मुट्ठी भर आदमियों को नहीं, बल्कि सभी को खुशहाल देखना चाहते थे। शिया सम्प्रदाय से उनकी सहानुभूति जरूर थी, वह जानते थे, जिस तरह ईरान में इस्लाम ने शिया-पंथ के रूप में देश की संस्कृति के साथ समझौता किया, उसी तरह भारत में भी जरूरत है। भारत के हिन्दू हों या मुसलमान, सभी को इस मिट्टी के साथ एक-सी मुहब्बत होनी चाहिए। उसके इतिहास और संस्कृति के प्रति वैसा ही सम्मान और सद्भाव रखना चाहिए, जैसा कि ईरान के फिरदौसी ने ईरानी संस्कृति के बारे में "शाहनामा" को लिख कर दिखलाया। एक बार उन्होंने बीरबल से कहा था—"जिस तरह तुम्हारे (हिन्दुओं के) यहाँ किताबों में परिवर्तन हुए हैं, इसी तरह हमारे यहाँ भी हैं। इसलिए वह प्रामाणिक नहीं हैं।" शेख मुबारक बुद्धिवादी थे, चाहते थे, लोग मुल्लों और किताबों के फेर में न पड़ें।

शेख मुबारक ने ८७ वर्ष की लम्बी आयु पाई। वह २७ अक्तूबर १५९२ ई० को लाहौर में मरे। अबुलफ़ज़ल के आग्रह पर वह उनके साथ रहते थे। आखिरी उमर में उनकी आँखें काम नहीं देती थीं। उनकी मृत्यु पर किसी ने कहा—

रफ्त आंकि फेलसूफे-जहाँ बूद बर-दिलश,
दुरहाय आसमाने-मआनी कुशादऽबूद।
बे-ऊ यतीम व मुर्दा-दिल अन्द अक़वाय-ओ...

(वह संसार का फिलासफर जो दिलों के ऊपर था, चला गया, जिसने दिव्य गुप्त भेदों का मोतियों को प्रकट किया। उसके बिना उसके नजदीकी अनाथ और मुर्दा-दिल हैं।)

बाप के मरने पर बेटों ने सिर-दाढ़ी मुड़ाई। अकबर हिन्दू-मुसलमान को मिला कर एक जाति बनाना चाहता था, इसलिए एक-दूसरे की रीति-रिवाजों को लेने में आनाकानी नहीं की जाती थी। शेख मुबारक के आठ बेटे और चार बेटियाँ थीं। बेटे थे—१. अबुलफ़ैज़ फ़ैज़ी, २. अबुल फ़जल, ३. अबुल बरकात, ४. अबुलखैर, ५. अबुल-मुकारिम, ६. अबूतुराब, ७. अबू हामिद, ८. अबूराशिद। सातवें और आठवें दासी के पुत्र थे, लेकिन बड़े भाइयों ने उन्हें अपने असली भाई की तरह माना। बेटियाँ थीं— अफ़ीक़ा, दूसरी, तीसरी भी दरबार के अच्छे अमीरों से ब्याही गई थीं। सबसे छोटी बेटी लाडली बेगम थी, जिसके लिए विशेष लाड़-प्यार होना स्वाभाविक था। इनका ब्याह शेख सलीम चिश्ती के पोते से हुआ।

लाहौर में मरने पर भी उनका शरीर आगरा में लाया गया। अकबर के रौज़ा (सिकन्दरा) से कोस भर पूर्व लाडली का रौज़ा है। पहले इसके किनारे अच्छा बाग और विशाल दरवाजा था। इसी के भीतर कई कब्रें हैं। जिनमें ही नए हिन्दुस्तान के स्वप्न देखने वाले शेख मुबारक व कवि सम्राट् फ़ैज़ी सो रहे हैं।



मालवे की संगीत साधना—(पृष्ठ ४८ का शेषांश)

इस प्रकार मालव राग से मालव कौशिक भिन्न राग है। मालव राग के विषय में पुरातन साहित्य में बहुत स्थानों पर वर्णन है। अनेक प्रदेशों ने अपने रागों को रागराज्य में सम्बन्धित किया है। जैसे वैराडी, विराडी, देश, कर्नाटकी, मालीगौर, देशक, गुर्जरी, टोड़ी, जौनपुरी, मुलतानी, आशावरी, इमन, पूरिया, गौड़, रागराज्य में देश की एकता निहित है। विभिन्नता में भी संघीय एकता है।

मालव राग संस्कृत के प्रचार-युग में प्रमुख स्थान रखता होगा। बाद में विस्मृत होता गया है। आज तो संगीत शास्त्रीय सीमा से निकल कर सिनेमा में सिमिटता जा रहा है, परन्तु जिन्होंने पुरातन राग—शास्त्र और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण को समझने की कोशिश की होगी वे उसके अन्वेषणकर्ताओं के महान प्रयास के समक्ष नतवदन हुए बिना नहीं रह सकेंगे।



प्रेत का घर

विमान चन्द्र दे

सात-आठ वर्ष के भीतर इस गाँव में कितना परिवर्तन हो गया। बदलू भी आज यहाँ नहीं रहता और उसकी पत्नी चांदनी का भी स्वर्गवास हो चुका था। उनके साथ-साथ और भी कितने ही लोग चले गए थे और दूसरी ओर कितने ही नूतन व्यक्तियों का जन्म हो चुका था।

बदलू का घर मिट्टी में भूमिसात होकर एक ढोह सा बन गया था। अवशेष रूप में बचे थे दो पौधे, एक महुआ का और दूसरा कागजी नींबू का। मिट्टी उपजाऊ होने से शीघ्र ही वे पौधे वृक्ष बने जा रहे थे। ऋतु-ऋतु में पुष्प-सम्भार से वे लद-से जाते। बसन्त ऋतु में महुए के फूलों की सुगन्धि-सिक्त वायु चारों ओर मन-मोहक वातावरण बना देती। और वे वृक्ष मदमस्त हो कर, झूम-झूम कर पवन के ताल में ताल मिलाकर नृत्य में खो जाते। मनुष्यों के सुख-दुख की कराल छाया उन्हें स्पर्श तक न कर पाई थी।

गाँव के लोग कहते—"इन दो वृक्षों के तले निशीथ में किसी नारी की प्रेतात्मा आज भी भटकती हुई नज़र आती है। उसका सर्वांग जलकर झुलसा हुआ है और उसकी गोद में एक अर्ध-दग्ध शिशु चिपटा रहता है।" बीच-बीच में उस नारी का हृदय विदारक क्रन्दन रात्रि की निस्तब्धता में गूँज उठता। इसलिए गाँव के लोग रात्रि के समय उस रास्ते से कभी न गुज़रते थे। वायु के झोंकों से महुआ और नींबू धरातल पर गिरकर अभागों की तरह सूखकर-सड़कर मिट्टी में मिल जाते थे। फिर उनके बीजों से असंख्य नन्हें-नन्हें पौधे निकल आते और उस स्थान को घने बन में रूपान्तरित कर देते। सिर्फ एक बालक उस डरावने स्थान पर आया-जाया करता था। वह महुआ और निम्बुओं का संग्रह कर इधर-उधर बेचता था। इस मासूम उम्र में ही जीवन निर्वाह के लिए उसने व्यापार करना सीख लिया था।

गृहिणियों के द्वार पर पहुँचकर वह बालक दुखित हृदय से कहता—"अनाथ पर दया करोगी माँ? तुम्हारा कल्याण होगा।" 'कल्याण' शब्द का अर्थ तक भी शायद वह भोला बालक न जानता था। कभी-कभी किसी गृहिणी का हृदय लाख गिड़गिड़ाने पर भी नहीं पिघलता था। तब भी उसे कोई अभिमान, अभियोग न था, कोई दुःख न था। कभी वह व्यवसायी बन, जीर्ण कमीज़ के आंचल से नींबू बाहर निकाल कर गृहिणी से कहता—"नींबू लोगी माँ? हरे-हरे नींबू तोड़ कर लाया हूँ।"

इस पर भी अगर गृहिणी को दया न आती, तो वह मुँह बिचका कर भाग खड़ा होता। बाद में गाली भी देता था। और यों ही दस-बारह दिनों के लिए वह एक गाँव से दूसरे गाँव में चला जाता। उसकी अनुपस्थिति उन गृहिणियों के अन्तःस्थल में करुणा उभार देती है, यह राज़ उसे बखूबी ज्ञात था।

कोई नई गृहिणी उसे देख कर पूछती— "कौन है रे···तू?

बालक निर्विकार भाव से उत्तर देता—"मैं 'लाला' हूँ माँ। मगर दुनिया मुझे इस नाम से नहीं पुकारती। लोग मुझे अभागा समझ कर 'काला' कह कर पुकारते हैं।"

—"किसका छोकरा है रे तू?" घृणा से गृहिणी पूछती।

—"उस पगली का बेटा हूँ···माँ। पता नहीं, मेरी माँ कहाँ चली गई, मुझे अकेला छोड़कर। अब भीख माँग कर गुज़ारा करता हूँ।"

फिर दया से गृहिणी पूछ बैठती,—"अहा! तब तू कहाँ रहता है?"

"उस गाँव के पेड़ के नीचे पड़ा रहता हूँ।"

जननी पृथ्वी के हाथों से बनाई हुई सन्तान थी वह। वह वसुन्धरा की सन्तान, जीव और मनुष्य! संसार में यही सबसे बड़ा परिचय था उसका। कोई गृहिणी उसे देख कर घृणा से मुँह बिचका कर कहती, "दूर खड़ा रह रे, छूना नहीं। सब जात-कुजात यहाँ ही आया करते हैं। तुझे और कोई दूसरा घर दिखाई नहीं देता?"

इस तरह की स्पष्ट कटु भाषा से भी, लाला क्रोधित न होता। कभी मन्दिर की ओर जाने वाली कोई बुढ़िया, उसे रास्ते में देखते ही झुँझला उठती—"अरे, हट जा, हट जा, छू देगा क्या?"

लाला शान्तभाव से दूर हटकर कहता, "छुऊँगा नहीं, कहाँ जाओगी? जाओ माँ।"

दूसरों के कुवचनों के बदले उसने सिर्फ सहृदयता और दीनता प्रकट करना ही सीखा था। अगर कोई कृपालु उसके दुःख का इतिहास सुन कर दीर्घनिश्वास लेता, तो लाला मृदु कण्ठ से कहता "दो रोटी मिलेगी क्या? खा कर पानी पिऊँगा।"

रोटी प्राप्त होने पर और भी नम्र निवेदन से वह पूछता—"फटी हुई पुरानी कोई कमीज़ नहीं मिल सकती? और एक पैसा भी दे दीजिए। मैं एक दिन महुआ और नींबू लाकर दूँगा।"

कृपालु व्यक्ति उसकी बातों से प्रभावित हो, कुछ न कुछ अवश्य ही उसे दे देता था। लाला के साथ कभी-कभी एक बुढ़िया भिखारिन भी रहती थी। आयु के थपेड़ों से उसकी कमर झुक कर कमान हो गई थी। भयंकर अँधेरी रात में, बरसात में रास्ते के फिसलाव पर लाला उस बुढ़िया को सहारा देता हुआ उसकी झोंपड़ी में पहुँचा दिया करता। कभी वह बुढ़िया को चिढ़ाया करता और बुढ़िया पिनक कर उसे गाली भी दे देती। परन्तु लाला उसके खिसियाने पर खिल-खिला कर हँस उठता था। फिर भी बुढ़िया से, अगर दो-चार दिनों तक साक्षात न होता, तो वह घबड़ा उठता और स्वयं जाकर खोज-खबर ले आता।

एक दिन, 'बुढ़िया मरी है, या जिन्दा है' यह सोचता हुआ लाला उसके पास जा रहा था। उसे आते देखकर बुढ़िया ने काँपती आवाज़ में पूछा—"कौन है? काला···लाला, और···आ। आज कई दिनों से बीमार हूँ।" "क्या खाया है, बुढ़िया दादी?"

"क्या खाऊँगी बेटा? अगर आज तू कुछ दे···"

"हाँ-हाँ, मैं तेरे लिए मुढ़ी लाया हूँ, ले।"

आनन्द-विभोर हो गद्गद स्वर में बुढ़िया ने आशीर्वाद दिया, "चिरंजीवी होओ बेटा। भगवान तुझे 'राजा' बनाए।"

लाला खिलाखिला कर उपहास भरे स्वर में हँस पड़ा, 'राजा'! फिर उसने बुढ़िया से पूछा—"अच्छा दादी, एक बात पूछूँ?"

"क्या?"

—"अगर अमीर लोग न रहते, तो कितना मज़ा आता! और सुनती हो, कल कुछ लोग कह रहे थे कि हम गरीब उनके महलों में रहने लगेंगे।"

बुढ़िया कुछ भी समझ न पाई और डरकर बोली—"हम भिखमंगे भीख ही माँगते रहेंगे। ऐसी बातें न किया कर लाला। वे लोग पकड़ कर मारेंगे और भीख भी न देंगे। वे ही तो हमारे भाई-बाप हैं।"

× × ×

एक दिन वैशाख की दोपहर में बदलू अपने ध्वंसावशेष घर के पास उपस्थित हुआ। देखने में वह भयंकर था। बड़े-बड़े केशों से समूचा मस्तक ढँका हुआ था। आधे बाल भी सफेद हो गए थे। आठ साल की जेलवास कर बदलू आज घर लौटा है। इस बीच उसकी स्त्री को गाँव के कर्णधार ने अपनी वासना का शिकार बना कर पाप भुगतने के लिए छोड़ दिया था और गाँव के किसी भी व्यक्ति ने उस अन्याय का विरोध नहीं किया था। उस नारी ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया और चार-पाँच बरस तक उसे पालती भी रही। लेकिन एक दिन हठात हैज़े से उसकी मृत्यु हो गई।

उसकी ही सन्तान था लाला। ध्वंसावशेष घर को पहचान एवं दो वृक्षों को हर्षितावस्था में देख बदलू की आँखों से टप-टप आँसू टपक पड़े। स्त्री का मृत्यु संवाद उसे जेल में ही मिल चुका था। उस दुखान्त समाचार ने उसे विक्षिप्त सा बना दिया।

बदलू को मनुष्य और समाज से घृणा हो गई। जेल से छुटकारा मिलते ही शान्ति की खोज में वह तीर्थाटन करने चला गया। फिर भी जन्म भूमि की याद कभी-कभी उसे दिशाहीन कर देती थी। अस्तु, एक दिन वह अपने गाँव की ओर वापस चल पड़ा।

महुए और नींबू की भीनी-भीनी सुगन्धि से वह स्थान कोई देवालय-सा मालूम हो रहा था। अतीत की स्मृति में डूबा हुआ बदलू उन वृक्षों की छाया के नीचे सो गया। नींद उसकी तब टूटी, जब किसी ने उसे पुकारा—"साधुबाबा ओ साधुबाबा!"

उसने देखा, एक धूल-धूसरित लड़का नजदीक ही खड़ा उसे बुला रहा है। बदलू ने पूछा—"क्या है रे?"

लड़के ने उत्तर दिया—"यह जगह तो मेरी है, हट जाओ।"

उस ९ या १० बरस के लड़के को बातचीत में पटु पाकर, बदलू बहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा—"तेरी जगह पर मैं नहीं ठहरूँगा लड़के। तू किसका छोकरा है?"

"कौन जाने! मगर सुनता हूँ मेरी माँ इस गाँव की पगली थी।"

"पिता नहीं है···तेरा?"

"मैं नहीं जानता साधुबाबा। लोग कहते है कि मेरे बाप का कोई ठिकाना नहीं है।"

"क्या नाम है तेरा?"

"मेरा नाम तो है लाला, मगर तुम मुझे काला कहकर पुकारो। क्योंकि गाँव के लोग मुझे 'काला' ही पुकारते हैं।" कुछ रुक कर उसने पूछा—"मुझे अपना चेला बनाओगे?"

"क्यों नहीं, कल तू मेरे साथ चलना।"

"आज कहाँ रहोगे?"

"इसी जगह।"

"यहाँ पर भूत विचरते हैं साधुबाबा। जलकर झुलसी हुई वह एक नारी है जो इसी जगह रोती हुई भटकती है। कई लोग कहते हैं कि वह मेरी माँ है। सो मैं दो वर्ष से यहाँ ही रह रहा हूँ।"

संध्या घिर चली थी। पक्षियों के समूह कलरव करते हुए अपने-अपने नीड़ों को वापस जा रहे थे। साधुबाबा खामोश था और लाला उसके मुखमण्डल की तरफ तन्मय दृष्टि से देख रहा था। कुछ देर के बाद लाला ने साधु की तन्द्रा को भंग करते हुए डर-डर के कहा, "मैं भी तुम्हारे साथ रहूँगा यहाँ।"

"डर नहीं लगेगा तुम्हें?" और फिर यह सोच कर कि 'दो जनों' के रहने पर वह नहीं आई तो?" रूढ़स्वर में बदलू ने कहा—"नहीं यहाँ तुम नहीं रह सकते।"

बालक ने कहा—"मैं तो यहाँ हमेशा से रह रहा हूँ। फिर क्यों तुम आज डाँट रहे हो? मैं नहीं जाऊँगा यहाँ से। चाहो तो तुम चले जाओ।"

बादलू ने क्रोधित हो कर कहा—"भाग नहीं तो मारूँगा।"

लाला भय से दूर हट गया।

प्रहर के बाद प्रहर रात्रि बीतती चली गई। निस्तब्ध रात्रि की भयानक खामोशी ने उस स्थान पर और भी भयंकर रूप धारण कर लिया था। बदलू जाग कर उठ बैठा था। उस नारी की इन्तजारी में व्याकुल बदलू सहसा कोई शब्द सुन कर चौंक उठता था। मन ही मन वह कह उठता—"कहाँ? चांदनी आ रही है···नहीं, यह तो किसी पक्षी के पर फड़फड़ाने की आवाज़ है!" शून्यता मिटाने के लिए भाँग की गोली मुँह में दबा वह हँस पड़ा—"वाह री दुनिया, तू मरे हुए के पीछे भी भागती है। वह चांदनी मर गई, फिर भी तू उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की अफवाहें गली-गली फैलाती है। हे ईश्वर चांदनी तो तेरे पास चली गई। तू उसे शान्ति पहुँचा। मैं इस जीवन में उसे कुछ भी न दे सका।"—यह कहकर उसने बहते हुए आँसू पोंछ डाले।

बदलू उठकर चलने लगा। लेकिन थोड़ी दूर गया ही था कि उसके कदम रुक गए। देखा लाला धरती की छाती से चिपटकर सो

(शेष पृष्ठ ६८ पर)

विश्व के आर्थिक विकास के कुछ पहलू

उमा अग्रवाल

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा प्रकाशित वार्षिक सांख्यिकीय पुस्तक में दिये आँकड़ों से पिछली दो दशाब्दियों में होने वाले विश्व आर्थिक तथा सामाजिक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। प्रस्तुत लेख में प्रकाशित आँकड़ों के आधार पर हम विकास के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

जनसंख्या सम्बन्धी स्थिति

अनुमान लगाया गया है कि सन् १९५४ में समूचे विश्व की जनसंख्या २६९.२ करोड़ थी। सन् १९४० में यह संख्या २३९ करोड़ और १९३० में २०१.३ करोड़ थी। स्पष्ट है कि विश्व की जनसंख्या क्रमागत तीव्रता से बढ़ रही है। सन् १९३०-४० के बीच जनसंख्या की औसत वार्षिक प्रतिशत वृद्धि १.२ थी। सन् १९४०-५४ के बीच यह दर बढ़ कर औसतन १.७८ हो गई। निस्सन्देह आधे से अधिक जन एशिया में रहते हैं परन्तु जनसंख्या के घनत्व की दृष्टि से यूरोपीय महाद्वीप बाजी मार ले जाता है। रूस को छोड़ कर एशिया में १४५.२ करोड़ व्यक्ति रहते थे तब भी प्रति वर्ग किलोमीटर जनसंख्या का घनत्व ५४ ही था। इसके विपरीत रूस-विहीन यूरोप में ४०.४ करोड़ की जनसंख्या होते हुए भी जनसंख्या का घनत्व ८२ था। विश्व का औसत जनसंख्या का घनत्व २० है और इसको दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि ओसिनिया (आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड आदि), अफ्रीका, अमेरिका (उत्तरी तथा दक्षिणी) तथा रूस में, जहाँ जनसंख्या का महत्त्व क्रमशः २, ७, ८ और १० था, अभी जनसंख्या वृद्धि के लिए पर्याप्त सीमा है। यदि विश्व में पूर्वी-पश्चिमी तनाव चलते रहें तो इन चारों प्रदेशों में विशेषतः अमेरिका और रूस में जनसंख्या की वृद्धि होगी।

सन् १९२० से सन् १९५४ तक की वृद्धि-दर को ध्यान में रक्खें तो सबसे तीव्र वृद्धि अमेरिका में ही हुई है और उससे अधिक तीव्र वृद्धि रूस में। निस्सन्देह इसमें द्वितीय महायुद्ध का हाथ रहा है। सन् १९४०-५० में अमेरिका की जनसंख्या में लगभग १९ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि रूस में यह वृद्धि ३ प्रतिशत ही थी। पिछले ३४ वर्षों में यूरोपीय देशों की कुल जनसंख्या में सबसे कम प्रतिशत वृद्धि हुई। इस काल की विश्व जनसंख्या वृद्धि (४६ प्रतिशत) की अपेक्षा यूरोप की प्रतिशत वृद्धि आधी थी और अमेरिका की प्रतिशत वृद्धि की अपेक्षा एक-तिहाई।

सन् १९२० में अमेरिकी जनसंख्या की अपेक्षा एशियाई जनसंख्या लगभग पाँच गुनी थी और यूरोप की जनसंख्या ड्योढ़ी से कुछ अधिक। सन् १९५४ में अमेरिकी जनसंख्या की अपेक्षा एशिया की जनसंख्या केवल चौगुनी रह गई। यूरोप की जनसंख्या अमेरिका की जनसंख्या से अब लगभग केवल १४ प्रतिशत अधिक है। अपने से पूर्व स्थित देशों को जनसंख्या वृद्धि रोकने का पाठ सिखाना और अपने यहाँ जनसंख्या को अधिक तेज़ी से बढ़ने देना—यह दोनों बातें विरोधात्मक हैं। कई वर्ष पूर्व 'विश्व-दर्शन' के किसी अंक में विश्वव्यापी जनसंख्या की प्रगति के सम्बन्ध में खुल कर विचार किया जा चुका है। वर्तमान आँकड़े उन बातों की पुनः याद दिला देते हैं। कम जनसंख्या का घनत्व वाले प्रदेश जहाँ प्रकृति ने कोई विषम परिस्थितियाँ (यथा, मरुस्थल, बर्फीले बियावान अथवा तप्त प्रदेश) नहीं खड़ी कर रक्खी हैं वहाँ कम जनसंख्या घनत्व का अर्थ है प्रति व्यक्ति अधिक प्राकृतिक साधन, और अपेक्षाकृत इस अधिक साधन का लाभ उठाकर ऐसे प्रदेशों में जनसंख्या-वृद्धि का होना स्वाभाविक है। इन आँकड़ों से यह शंका दृढ़ होती है कि कम जनसंख्या वाले प्रदेश अपनी जनसंख्या बढ़ा रहे हैं ताकि आदमी आदमी से लोहा ले सके। सम्भव है यह कहा जाए कि कम घनत्व वाले प्रदेशों की जनसंख्या वृद्धि प्रवासियों के कारण अधिक हो रही है परन्तु हमारी समझ में यह बात विशेष नहीं जँचती।

अति और जनसंख्या-वृद्धि

यह सत्य है कि सन् १९२०-५४ में विश्व जनसंख्या वृद्धि का लगभग ४।७ भाग एशिया के कारण था परन्तु यह उल्लेखनीय है कि उसके बाद दूसरा स्थान अमेरिका का था और वहाँ की वृद्धि विश्व सम्बन्धी वृद्धि का १।६ से अधिक थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अति सुलभ साधन पाकर भी देश की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती है। अमेरिका और एशिया दो सीमाओं की अति के नमूने लगते हैं।

अमेरिका की आर्थिक प्रगति

अभी हाल में (२१-५-१९५६) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की आर्थिक सलाहकार परिषद् के सभापति तथा आर्थिक चक्रों के विशेषज्ञ श्री आर्थर बर्न्स ने कहा है कि सन् १९५२ से अमेरिका का अनुभव यह रहा है कि ऊँचे तथा बढ़ते हुए उत्पादन स्तर तथा वृत्ति के कारण मुद्रा-स्फीति अनिवार्य नहीं है। यह सत्य है कि वर्तमान अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक सलाहकार यह मानते हैं कि उत्पादन और वृत्ति के अतिरिक्त मूल्यों के स्थायीकरण की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है। अमेरिका में सन् १९५१-५२ से थोक तथा फुटकर मूल्यों का रुख गिरने की ओर रहा है। यह सत्य है कि उपभोग सेवाओं का मूल्य बढ़ा है परन्तु उपभोग पदार्थों के मूल्य में होने वाली कमी ने उसको छिपा लिया। अमेरिका की उक्त स्थिति के चार प्रमुख कारण हैं। प्रथम, औद्योगिक सामर्थ्य तथा उत्पादकता बढ़ रही है। द्वितीय उत्पादकों के मध्य अधिकाधिक प्रतिस्पर्धा हो रही है। तृतीय, श्रम तथा व्यवस्थापकों की ओर से मूल्य न बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ, सरकारी द्राव्यिक तथा राजस्व नीति ऐसी रही है कि गवेषणा, अनुसंधान,

विनियोग को प्रोत्साहन मिला है, द्रव्य की प्रचलित मात्रा की वृद्धि वस्तु उत्पादन वृद्धि से कम रही है और उत्पादकों की गुटबन्दी और समझौतों पर रोक रही है। साथ ही जनता की आर्थिक समस्याओं के प्रति जागरूकता बढ़ रही है। वह जितना ही आर्थिक ज्ञान प्राप्त करती है उतना ही वह समझती जा रही है कि कार्य इस प्रकार हो कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा ह्रास की स्थिति से बचाया जा सके। निस्सन्देह कृषि-क्षेत्र में अब भी लागत और मूल्य का साम्य वैसा नहीं है जैसा होना चाहिए परन्तु सब कुछ देखते हुए स्थिति संतोषजनक तथा उत्साहवर्धक है। श्री बर्न्स के अनुसार यह स्थिति आगे भी ऐसी ही रहेगी। तब तो अमेरिका की बढ़ती हुई जनसंख्या की रोक की बात ही नहीं उठती। एशियाई देशों में जनसंख्या तथा आर्थिक स्थिति सम्बन्धी इस पहलू को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

राष्ट्रीय आय तथा विदेशी व्यापार

अमेरिका की आर्थिक स्थिति तथा विदेशी व्यापार का एक अन्य पहलू है जिस पर सन् १९५५ की सांख्यकीय वार्षिक पुस्तक में प्रकाशित आँकड़ों द्वारा प्रकाश पड़ता है। सन् १९५३ में अमेरिका की कुल राष्ट्रीय आय का केवल ९ प्रतिशत भर विदेशी व्यापार था (देखिए तालिका न० २) जबकि इंग्लैंड में प्रतिशत अनुपात ४०, स्वीडेन में ४२, कैनेडा में ४५, डेन्मार्क में ५८, आस्ट्रेलिया में ३४, और जापान व जर्मनी में ३३ था। अवश्य चीन में भी विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय का १४ प्रतिशत और भारत में केवल १० प्रतिशत था। आर्थिक समृद्धि के लिए विदेशी व्यापार का अधिक होना अनिवार्य नहीं है, विशेषतः उन देशों में जो अधिक क्षेत्र वाले तथा प्राकृतिक संपत्ति से भरे पड़े हैं। उनकी आर्थिक उन्नति के लिए उन्हें परमुखी होना आवश्यक नहीं है। अमेरिका की आर्थिक उन्नति तथा वृत्ति वृद्धि विदेशी व्यापार पर बहुत कम निर्भर है। अतः यदि उसका विदेशी व्यापार नहीं बढ़ता है तब भी वहाँ की आर्थिक परिस्थितियों और जनसंख्या-प्रगति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। अविकसित देशों को भी विदेशी व्यापार के कम अनुपात से यही शिक्षा मिलती है कि उन्हें आन्तरिक स्थितियों और प्रगतियों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

राष्ट्रीय आय तथा द्रव्य-पूर्ति

यह भी ज्ञातव्य है कि विभिन्न देशों में द्रव्य-पूर्ति तथा राष्ट्रीय आय में विभिन्न अनुपात हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य-पूर्ति का राष्ट्रीय आय से अधिक प्रतिशत अनुपात हो तभी देश की आर्थिक उन्नति होगी। जर्मनी में द्रव्य-पूर्ति वहाँ की राष्ट्रीय आय का २३ प्रतिशत ही है। कैनेडा में यह अनुपात २७ स्वीडेन में २९ तथा फिन्लैंड में केवल १४ है। अधिकांश यूरोपीय देशों में यह ३०-५० प्रतिशत के बीच है यथा, आस्ट्रिया में ३७, डेन्मार्क में ३३, फ्रांस में ४३, इटली में ३९, नीदरलैंड में ४४, नार्वे में ५१ तथा इंग्लैंड में ३८। आस्ट्रेलिया में द्रव्य-पूर्ति और राष्ट्रीय आय का अनुपात ३९ तथा जापान में ३६ था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में द्रव्य-पूर्ति राष्ट्रीय आय की ४३ प्रतिशत थी और भारत में केवल १६ प्रतिशत। भारत में राष्ट्रीय आय की अपेक्षा द्रव्य-पूर्ति कम प्रतीत होता है परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि बिना सोचे-समझे और उचित नियंत्रण तथा सावधानी को द्रव्य-पूर्ति में वृद्धि कर दी जाए।

प्रस्तुत आँकड़ों के सांख्यकीय सम्बन्ध का जो अध्ययन हमने किया है उससे यह बात अवश्य स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय वृद्धि के साथ द्रव्य-पूर्ति में भी आनुपातिक वृद्धि होने का रुख होता है। परन्तु जो औद्योगिक देश हैं उनमें द्रव्य-पूर्ति की वृद्धि बैंक जमा के रूप में अधिक होती है तथा जो कृषि-प्रधान देश हैं उनमें राष्ट्रीय आय और मुद्रा-मान्य के सम्बन्ध अधिक निकट प्रतीत होती है। क्योंकि भारत, बर्मा, चीन आदि भी कृषि-प्रधान देश हैं अतः यहाँ द्रव्य-पूर्ति की वृद्धि के रूप में अधिक होनी चाहिए।

अरब राष्ट्रीय मुद्रा में

	राष्ट्रीय आय	विदेशी व्यापार	विदेशी व्यापार का राष्ट्रीय आय से प्रतिशत अनुपात
फ्रांस	१०,८५१	२,७०२	२६
इटली	९,२१९	२,४५४	२७
जर्मनी	१०४	३४	३३
इंग्लैंड	१४'७	५'९	४०
स्वीडन	३७	१५'८	४२
फिन्लैंड	६०५	२५३	४२
आस्ट्रिया	६३	२६	५२
डेन्मार्क	२२'६	१३'१	५८
नार्वे	११'२	१०'१	५९
नीदरलैंड	१९'४	१७'२	८९
कैनेडा	१९	८'६	४५
अमेरिका	३०४	२६'६	९
भारत	१०६	१०'७	१०
बर्मा	३'९	१'९	५०
जापान	३,९६५	१,३२६	३३
आस्ट्रेलिया	३'८	१'३	३४

देश	जनसंख्या (करोड़ों में)		क्षेत्र (करोड़ वर्ग किलोमीटर में)	घनत्व
	१९२०	१९५४		
संसार	१८१	२६५	१३'५	२०
अफ्रीका	१४	२१	३'०	७
अमेरिका	२०'८	३५'७	४'२	८
एशिया	९६'७	१४५'१	२'७	५४
यूरोप	३२'८	४०'४	४'९	८२
ओसीनिया	०'९	१'४	८'६	२
रूस	१५'८	२१'४	२२'३	१०



पुस्तक समालोचना

इधर हाल में हिन्दी में कई अच्छे काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से मैंने निम्नलिखित चार संग्रह छाँटे हैं :

प्रणय पत्रिका : लेखक—डाक्टर हरिवंश राय बच्चन; प्रकाशक—सैण्ट्रल बुकडिपो इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १३३; मूल्य २॥) रु० ।

धूप के धान : लेखक—गिरिजा कुमार माथुर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी; पृष्ठ संख्या १४२; मूल्य ३) रु० ।

विश्वास बढ़ता ही गया : लेखक—डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस; पृष्ठ संख्या १०४; मूल्य ३) रु० ।

पर, आँखें नहीं भरीं : लेखक—डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ११४; मूल्य ३॥) रु० ।

सुमन जी की गिनती प्रगतिवादी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवियों में की जाती है और श्री गिरिजा कुमार उस धारा के कवि समझे जाते हैं जिसका प्रचलित नाम प्रयोगवाद पड़ गया है। हमारे ये दो कवि कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं और इस महत्त्व का सबसे बड़ा कारण यह है कि ये दोनों कवि वादी कम, कवि अधिक हैं।

प्रगतिवादी कविता जिन लक्षणों के कारण निन्दित हुई वे लक्षण सुमन की कविता में कम रहे हैं और इन दो संग्रहों में भी वे अल्प मात्रा में ही मिलते हैं। नाम तो उनका 'एशिया की आग' जैसी रचनाओं को लेकर चमका, किन्तु वर्त्तमान दोनों संग्रहों को मिला कर यह अनल-तत्त्व कम, प्रेम और विरह का जलतत्त्व ही अधिक है। 'विश्वास बढ़ता ही गया' में ऐसी रचनाएँ कुछ अधिक अवश्य हैं जिनसे कवि के प्रगतिवादी रूप पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु, 'पर, आँखें नहीं भरीं' की तुलना में 'विश्वास बढ़ता ही गया' का पलड़ा कुछ ऊपर उठा हुआ है, यद्यपि 'युगान्तरकारी कवि निराला के प्रति' नामक कविता, जिसे मैं सुमन जी की सर्वश्रेष्ठ कृति मानता हूँ, इसी संग्रह में सम्मिलित है।

अनेक मनोदशाओं से होकर गुजरने के कारण एक ही कवि अनेक प्रकार की कविताएँ रच सकता है। किन्तु, इस विविधता से उसका वह रूप नहीं छिप सकता जो उसका असली रूप है और जो उसकी प्रत्येक भावदशा के भीतर से झलक मारता है। इस दृष्टि से विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि सुमन जी सन्देशवाही कवि किसी झकोर में पड़ कर बन जाते हैं, अन्यथा उनका वास्तविक रूप सौन्दर्यवादी कवि का ही रूप है और इसीलिए वे काव्यरसिकों के प्यारे भी हैं। उनके भीतर छायावाद का वह रोमांटिक तत्त्व जीवित है जिसने एक समय बच्चन जी की कविताओं में रस भरा था तथा जो प्रत्येक उदीयमान कवि की रचनाओं पर मोहकता का रंग छिड़क देता है। उनकी यह रसिकता, उनका यह स्निग्ध भाव इस बात का प्रमाण है कि कुछ अन्य कवियों की भाँति उनकी सरसता दोपहर होते-होते न सूखेगी। 'तुम को सूरज ने कभी छुआ तो होगा', 'क्या किसी साँस की रगड़ ज्वाल में बदली ?' इन पंक्तियों में जो लाक्षणिकता है, वह भी इस बात का संकेत देती है कि सुमन जी की प्रतिभा परिचित क्षितिजों के पास धूनी रमा कर बैठ जाने को तैयार नहीं है। वह अभी नये क्षितिजों का निर्माण कर सकती है। 'पर, आँखें नहीं भरीं' की गणना हिन्दी के अच्छे काव्य-संग्रहों में की जा सकती है।

बच्चन जी की अच्छी-अच्छी इतनी कविताएँ हम पढ़ चुके हैं कि उनकी 'प्रणय-पत्रिका' कुछ सूनी-सूनी-सी लगती है। टेकों में तो रस अब भी विद्यमान है, किन्तु, अन्तराएँ अधिकतर रची-रचायी दीखती हैं। बच्चन जी की भाषा में लाक्षणिकता की मात्रा पहले भी न्यून थी। उनकी कविताओं में जो रस था वह अनुभूतियों से आता था। 'प्रणय-पत्रिका' में अनुभूति की वेधकता पाठकों को प्रभावित नहीं करती। अधिकांश में 'प्रणय-पत्रिका' के गीत बच्चन जी के पहले के गीतों की छायामात्र हैं। ऐसा दीखता है, मानों, कवि नये उन्मेष के अभाव में अपने पूर्व रूप का अनुकरण कर रहा हो। किन्तु, जब रससिद्ध कवि अपना अनुकरण आप करता है तब भी कुछ रस तो वह दे ही जाता है। वह रस 'प्रणय-पत्रिका' में भी है। किन्तु, जिस भावधारा में 'निशा-निमन्त्रण' और 'आकुल अंतर' के गीत अपना चमत्कार दिखा चुके हैं उसमें 'प्रणय-पत्रिका' कागज़ की नाव के समान लगती है। कविता की सारी शक्ति उसकी भाषा में होती है और 'प्रणय-पत्रिका' की भाषा स्वच्छ और परिमार्जित होने पर भी प्रकाशहीन है। इस पुस्तक को पढ़ कर ऐसा भासित होता है कि बच्चन जी के सामने प्रेम और विरह की जो भूमि थी, कवि उसके चप्पे-चप्पे को छान चुका है और उसमें कवि को अब कोई नवीनता नहीं मिलती।

कवित्वमयी भाषा से मेरा क्या तात्पर्य है, इसे स्पष्ट करने के लिए मैं कहना चाहता हूँ कि श्री गिरिजा कुमार के 'धूप के धान' की भाषा कवित्वपूर्ण है। कोमल शब्दों की योजनामात्र से कविता की भाषा नहीं बनती। रवि बाबू ने ठीक ही ऐसी भाषा को कवित्वमयी न कह कर, ललितलवंगी कहा है। एक समय ललितलवंगी भाषा से भी कविता आदरणीय हो जाती थी। किन्तु, वह समय चला गया और इसलिए

चला गया कि सहृदयों की रुचि अब अधिक परिमार्जित और गहरी हो गई है। अब वह अनुप्रासों की सजीवता और छन्दों की संगीतमयता से तृप्त नहीं होती, प्रत्युत् कवित्व का प्रमाण वह प्रत्येक शब्द में खोजती है। कविता की भाषा रूखी होने पर भी कलरवपूर्ण और रंगीन हो सकती है। छन्द पूरा करने के लिए जब ऐसे शब्द चुने जाते हैं जो संकेत नहीं देते, चिनगारियाँ नहीं फेंकते, तब ऐसे शब्दों को भरती के ही शब्द कहना चाहिए। कवि की जो सबसे बड़ी शक्ति है वह न तो छन्द-रचना में परखी जा सकती है, न ऊँचे-ऊँचे विचारों को बाँधने में। उसकी जाँच विशेषणों के प्रयोग में होती है या फिर ऐसे शब्दों के प्रयोग में जिनके बैठने की अदा से ही कविता चमक उठती है। अंग्रेज़ी कवियों में यह गुण सबसे अधिक कीट्स में है। हिन्दी कवियों में से इस गुण का सबसे अधिक प्रमाण पन्त जी ने दिया है। 'दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार' तथा 'सर सर सर सर रेशमी वायु' में सारी कविता नील झंकार और रेशमी वायु में सिमट कर बैठी हुई है। शब्दों से जब ज्योति छिटकती हो, संकेत ध्वनित होता हो अर्थात शब्द जब इस प्रकार बैठते हों, मानों, उनके पंख निकल आए हों और वे उड़ने को तैयार हों, तभी यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा सचमुच कवित्वपूर्ण है। किन्तु, यह गुण जितना ही अनुपम है उतना ही दुर्लभ और दुष्प्राप्य भी। जब तक भीतर के तार चढ़े हुए न हों और प्रतिभा के उन्मेष से रोम-रोम न थिरक रहा हो, तब तक ऐसी भाषा सत्कवि भी नहीं लिख सकता। और जो कवि ऐसी भाषा लिख सकता है उसे सत्कवि न मानना, कविता के सबसे ऊँचे गुण से अपना अपरिचय घोषित करना है।

'धूप के धान' में कवित्वमयी भाषा के विलक्षण प्रयोगों के इतने अधिक उदाहरण वर्त्तमान हैं कि मैं तो उन्हें देख कर चकित रह गया। इस संग्रह की कविताओं में कुछ दोष भी हैं, किन्तु, वह अलग बात है। किन्तु, जहाँ तक काव्य की भाषा का सम्बन्ध है, मैं नूतन काव्य-साहित्य में किसी भी ऐसी पुस्तक का नाम नहीं ले सकता जिसमें लक्षणा और सम्यक् विशेषणों का इतना अधिक प्रयोग हुआ हो और ऐसी सफलता के साथ। 'यह कपूरी लौ उठी', 'सभ्यता का रंग-केतन', 'अब ब्राह्म घड़ी का ठंडा-सा आलोक जगा', 'हलकी हो गई हवा की तिमिर-दबी साँसें', 'कच्ची मिट्टी का ठंडापन', 'इस धूसर साँवर धरती की सोंधी उसाँस', 'या कालान्तर में पथराये भाव हमारे', 'उजली बाँहों सी दीवारें', 'सोंधे तन-गन्ध-भरे आँचल', 'और ब्लाउज़ महीन चटकीले, जिनमें थे पड़ गये पहनने से, चिह्न रंगीन गठे अंगों के, सभी कोमल कठोर उतार-चढ़ाव', 'दूर पर छै की गजर डूब रही', 'यह दो हज़ार वर्षों की छाँह हवाओं में', 'हैं कसे धनुष के वक्र ओंठ', 'सर्दियों की धूप उजले ऊन की मृदु शाल पहने', उद्धरण कहाँ तक दिए जाएँ, सारी पुस्तक ही ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है। मुझे तो इस संग्रह की अधिकांश पंक्तियाँ अपने भीतरी प्रकाश से जगमगाती दीखती हैं और कवि की उस तन्मयता पर श्रद्धा होती है जिसमें रह कर उसने इतनी ज्योतिर्मयी भाषा का निर्माण किया है। 'धूप के धान' की कविताओं को देख कर इस बात का आभास मिलता है कि प्रयोगवादी कवि कविता में किस सौन्दर्य को उतारने के प्रयास में हैं।

आलोचक अभी भी प्रयोगवादी कवियों पर अलग-अलग विचार न करके उन्हें गुच्छ-रूप में ही देखते हैं। किन्तु, मेरा ख्याल है, गिरिजा कुमार गुच्छ से ऊपर आ गए हैं और उनकी रचनाओं का विधिवत् अध्ययन करने से नई कविता के कितने ही सुन्दर रूप प्रत्यक्ष हो जाएँगे।

'धूप के धान' की दूसरी विशेषता यह है कि वह नए प्रयोग की रचना होने पर भी परम्परा से बहुत दूर नहीं है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ छन्द में हैं, यद्यपि, वे छन्द कहीं तो नपे-तुले और तुकों के साथ हैं और कहीं मुक्त प्रवाह का अनुकरण करते हैं।

शायद, हापकिन्स ने कहा था कि कविता का सारा सौन्दर्य ऐसा होता है जिसे हम चर्म-चक्षुओं से देख सकते हैं। गिरिजा कुमार की कविताएँ इस सूक्ति का समीचीन उदाहरण हैं। कल्पना में उन्होंने स्वयं जो कुछ देखा है, चित्र बना कर उसके दर्शन उन्होंने अपने पाठकों को भी करा दिये हैं। वे, सचमुच ही, लैंडस्केप के कवि हैं अर्थात उनकी कविता में अंकित छवि दृश्य रूपों की छवि है जो आँखों से देखी जा सकती है। इसके सिवा, कविता में उनकी स्पर्श और घ्राण इन्द्रियाँ भी अत्यन्त जागरूक रहती हैं। स्पर्श, घ्राण और दृष्टि, गिरिजा कुमार की कविताएँ इन तीन इन्द्रियों की कविताएँ हैं। किन्तु यही बात उनकी श्रुतिचेतना के बारे में नहीं कही जा सकती।

विचित्र बात है कि गिरिजा कुमार की सबसे बड़ी शक्ति यदि भाषा के काव्यात्मक प्रयोग में है तो भाषा के क्षेत्र में ही उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी छिपी हुई है। कलाकारिता और सुदृढ़ प्रेरणा के कारण वे ऐसी पंक्तियों पर पंक्तियाँ लिखते चले जाते हैं जिनमें आने वाले शब्द अपनी लाक्षणिकता से सहृदयों का मन मोहित कर लेते हैं। किन्तु, कदाचित, असावधानी के कारण वे ऐसे शब्द भी ले आते हैं जो बेमेल हैं। यह उदारता ग़लत किस्म की उदारता है। उदाहरण के लिए, 'गतिवान मंज़िलें पार हुईं' में या तो मंज़िल को नहीं लाना चाहिए था या फिर 'गतिवान' के बदले किसी ऐसे शब्द को लाना था जो मंज़िल से मेल खाता। 'शक्तिवान मेहनत की बाँहों' 'दीगर मुल्क' और 'कातिक का रसवान महीना' में भी मुझे कुछ ऐसे ही बेमेल प्रयोग की झलक दीखती है।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'
(आकाशवाणी के सौजन्य से)

●

भारतीय अर्थशास्त्र : लेखक—भगवान केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद ; पृष्ठ संख्या—६५२; मूल्य ४) रु० सजिल्द।

भगवान दास केला अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा परिवर्धित संस्करण सन् १९३७ में छपा। स्वाधीनता के बाद सन् १९५१ में इस पुस्तक में यथोचित संशोधन और परिवर्धन किए गए। अब सन् १९५६ के इस संस्करण में केला जी ने अपनी इस पुरानी रचना को नवीनतम रूप दे दिया है। इस संस्करण में सर्वोदय सम्बन्धी विचारधारा पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है, क्योंकि वह भारतीय

अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है, उसकी लेखन शैली प्रशंसनीय है और दाम भी बहुत कम रक्खा गया है। पर १६२९ से सन् १६५६ तक अर्थशास्त्र की आधारभूत धारणाओं के सम्बन्ध में जो प्रगति हुई है, उसका यथेष्ट प्रभाव इस ग्रन्थ पर नहीं है। अर्थशास्त्र सम्बन्धी हिन्दी शब्दों का निश्चित स्टैण्डरडाइज़ेशन अभी तक नहीं हुआ। उसका प्रभाव अर्थशास्त्र सम्बन्धी सभी प्रकाशनों पर पड़ना स्वाभाविक है। पुस्तक के अन्त में आवश्यक शब्द सूची तथा ग्रन्थ-सूची दे दी जाती तो उससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

सचित्र हिमालय पर्वत (रंगीन मानचित्र): मानचित्रकार—मनमोहन दे; प्रकाशक—बोरा एण्ड कम्पनी; ८, राउण्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई-२; आकार—६७×१५; मूल्य ६) रु०।

हिमालय पर्वत तथा निकटवर्ती क्षेत्र का यह चार रंगी मानचित्र अत्यन्त सुन्दर रूप में छापा गया है। मानचित्र में विभिन्न पर्वत श्रेणियों की ऊँचाई तो दी ही गई है, पर सभी आवश्यक नाम नहीं दिए गए। मानचित्र में अक्षांश और देशांश का निर्देश भी आवश्यक था, जो इस मानचित्र में नहीं है। फिर भी यह मानचित्र अत्यन्त उपयोगी और सुन्दर है। प्रकाशक को भारत भर के इसी तरह के मानचित्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करना चाहिए। चित्रों की पीठ पर कपड़ा तथा ऊपर और नीचे लकड़ी की गोल पट्टी लगाना आवश्यक है।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

साँसों का संगीत (कविता संग्रह) : रचयिता—अब्दुल अज़ीज़ हनफ़ी 'अमीक़'; प्रकाशक—चिन्तन-गृह प्रकाशन, मथुरा; पृष्ठ संख्या ३४; मूल्य आठ आने।

'साँसों का संगीत' कवि का प्रथम हिन्दी-कविता संग्रह है। इसमें भाषा और छंद की त्रुटियाँ मिल सकती हैं, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कवि में प्रतिभा है और है भावुक सहृदयता, जिससे कवि को रस-सृष्टि करने में सफलता मिली है। हम कवि की उत्तरोत्तर सफलता की कामना करते हैं।

नयी ज़िन्दगी : नया सवेरा (कविता संग्रह) : रचयिता—विश्वनाथ तरुण; प्रकाशक—प्रतिमा प्रकाशन, लक्ष्मीसागर, दरभंगा; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य बारह आने।

तरुण जी की कविताओं में तरुणाई का ज्वार है। आज के जीवन और समाज की अनेक ज्वलन्त समस्याओं का स्पर्श ये ओजस्वी कविताएँ करती हैं। परन्तु जैसा कि समस्या-मूलक कविताओं के सम्बन्ध में प्रायः देखा गया है, अभिव्यक्ति के संयम और सौकर्य का अनेक रचनाओं में अभाव है। क्रान्ति-गीतों का अपना स्थान और महत्त्व होता है, इसमें संदेह नहीं। पर यदि उनमें काव्य-कला और शैली की परिपक्वता न हो, तो वे हृदय में उतनी गहराई तक नहीं उतर पाते जितना काव्य का अभीष्ट होता है। हमें आशा है कि समय के साथ तरुण जी की रचनाओं में इस प्रकार की कलात्मक परिपक्वता और सौन्दर्य आता जाएगा जो क्षोभ के आत्यन्तिक आवेग को सहज काव्यात्मक रूप प्रदान कर सकेगा।

[illegible]—श्री [illegible] [illegible]; [illegible] पृष्ठ संख्या १६; मूल्य [illegible]

'दिव्य ज्योति' [illegible] संग्रह है। बिहार के छोटा नागपुर, संताल परगना और मुंगेर के कुछ भाग की जनपदीय भाषा की संज्ञा '[illegible]' है और इसी भाषा में श्री [illegible] ने आज के जीवन की कष्ट-कथाओं को छन्द-बद्ध किया है। इस दृष्टि से संग्रह का हम स्वागत करते हैं। जिन लोगों के लिए यह लिखा गया है, वे इससे अवश्य प्रभावित होंगे।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

●

विराट मानव (मराठी खण्ड काव्य): रचयिता—डा० शं० जा० पुरवार; प्रकाशक—वही, ललित कला विकास मण्डल, सराफ़ा, औरंगाबाद (द); पृष्ठ संख्या ७५; मूल्य १।)

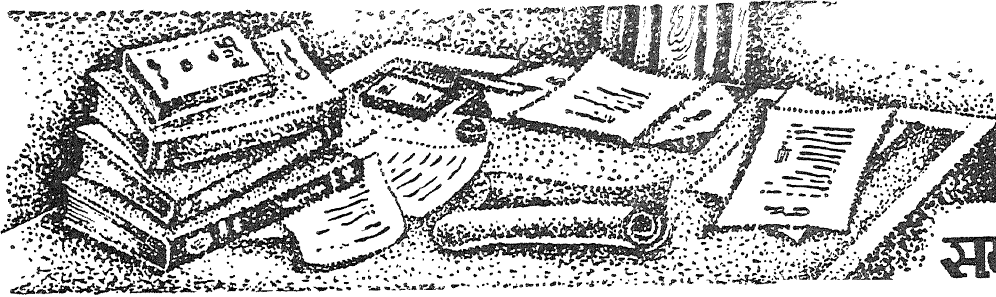
मानवता की शक्ति महान है। विश्व का रचयिता और संहारकर्त्ता योगेश्वर शंकर मानव ही है और खेत में हल चलाने वाला श्रमिक कृषिकार भी मानव ही है। इस सृष्टि में असहाय और अज्ञान अवस्था में जन्म पाकर मानव-शिशु ने बिना किसी की सहायता से आगे चल कर प्रकृति पर विजय पाई और सभ्यताओं और कलाओं का निर्माण किया। अन्याय और आतंक का दमन और सत्य, शान्ति आदि सद्गुणों की रक्षा करने के लिए इसी मानव ने कृष्ण, बुद्ध, धर्मराज, शिवाजी, गांधी, आदि महापुरुषों के रूप में अवतार लिया।

मानव की इसी विशाल कल्पना को श्री पुरवार जी ने अपने "विराट मानव" नामक मराठी खण्ड काव्य में काव्य रूप दिया है। दूसरे महायुद्ध से आन्दोलित काल में उन्होंने इस काव्य की रचना की। उनकी विशाल कल्पना-शक्ति मानव-मानव में भेद नहीं करती। उनका विश्वास है कि मानव ही अपनी तामसी अवस्थाओं से संसार को बिगाड़ता है और फिर वही अपनी सात्विक सामर्थ्य के आविर्भाव द्वारा उसको सुधारता है। दूसरे महायुद्ध के विषय में वह अन्त में कहते हैं कि मानव ने ही संसार को सत्, चित और सुन्दर बनाने के लिए रणदेवी को जगाया है। मानव के सृजन सामर्थ्य पर पुरवार जी को अनन्य श्रद्धा है।

यह विराट मानव नीत्शे के मानव जाति का संहार चाहने वाले अमानुष सुपरमैन से मूलतः भिन्न है। उसका साम्य वेदों में उल्लिखित विराट पुरुष से होते हुए भी, उस आर्थिक विराट पुरुष से यह विराट मानव अधिक मानवीय है और अधिक कर्त्तव्यशील भी। प्रकृति निर्मित मानव समूचे गुणों का एक उदात्त और सामर्थ्यशाली रूप इस विराट मानव में प्रकट हुआ है।

किन्तु संसार के हरेक व्यवहार में जब श्री पुरवार जी इसी कल्पना का समर्थन करने जाते हैं तब उनकी कल्पना यथार्थता से दूर जा पड़ती है और केवल उनकी भोली भावुकता का उफ़ान लगती है। उनकी प्रतिभा भी ऊँची कल्पना से गिर कर लड़खड़ाती हुई ढीली चाल से चलने लगती है। फिर भी प्रथम प्रयास के रूप में यह काव्य अभिनन्दनीय है।

—मा० कृ० पारधी



श्रद्धांजलि

२ अक्तूबर १९५६ को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की ८७वीं जन्म जयन्ती का पुण्य पर्व है। इस अवसर पर हम सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ "आजकल" परिवार की ओर से बापू के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं। नवीन भारत के निर्माता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की स्मृति हम सब को अपने कर्तव्य पालन के प्रति जागरूक रखे।

अब से १३ वर्ष बाद २ अक्तूबर १९६९ को राष्ट्रपिता की जन्म शताब्दी का पुण्य पर्व होगा। इसी आगामी नवम्बर मास में युनैस्को की अध्यक्षता में दिल्ली ही में महात्मा बुद्ध की २५००वीं वर्ष गाँठ मनाते हुए हमें गांधी जन्म शताब्दी की योजना भी बना लेनी चाहिए। ताकि इन आगामी १३ वर्षों में उक्त योजना की पूर्ति का भरसक प्रयत्न किया जा सके।

●

दसवाँ वर्ष

गत १५ अगस्त से भारत की स्वाधीनता का दसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ है। स्वाधीनता के पहले ९ वर्षों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले साढ़े-चार वर्ष, जिनमें भारत का ध्यान अपनी आधारभूत बड़ी-बड़ी समस्याओं को हल करने की ओर रहा। ये समस्याएँ थीं—(१) देश में गृहयुद्ध की दशाओं को रोकना और उसके साथ ही साथ लाखों शरणार्थियों को सुरक्षापूर्वक स्वदेश ले आना, (२) लगभग ६० लाख शरणार्थियों को फिर से बसाने की समस्या, (३) सैकड़ों देशी राज्यों को भारत का अविभाज्य अंग बनाने का सवाल, (४) काश्मीर युद्ध और उसके बाद काश्मीर के भविष्य का सवाल, (५) देश का नया संविधान बनाना और उसे जारी करना, (६) देश के दो बड़े अन्न-उत्पादन केन्द्रों के पाकिस्तान में चले जाने के कारण उत्पन्न अन्न की कमी की समस्या। महात्मा गांधी के अमर बलिदान, भारतीय नेताओं की सूझ-बूझ तथा भारतीय जनता के अनथक सहयोग से जिस प्रकार स्वाधीनता के प्रथम साढ़े-चार वर्षों में उक्त सभी समस्याएँ हल कर ली गईं, वह अब भारत के इतिहास का एक शानदार अध्याय बन चुका है।

सन् १९५२ के आरम्भ तक भारत में नए आम चुनाव किए गए। वह निर्वाचन संसार के इतिहास का सबसे बड़ा निर्वाचन था। उस निर्वाचन के साथ भारतीय स्वतन्त्रता का दूसरा दौर शुरू हुआ और भारत अपनी पूरी शक्ति के साथ अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना की पूर्ति में जुट गया। इन वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का असाधारण सम्मान बढ़ा और नई दिल्ली संसार से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्रों में सम्मिलित हो गई।

१५ अगस्त १९५६ से हमारा देश स्वाधीनता के दशम वर्ष में प्रवेश कर रहा है। साथ ही अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना को पूरा कर लेने के बाद इसी वर्ष हमारे देश ने दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ किया है, जो प्रथम योजना से लगभग दोगुनी है। पूरे आत्मविश्वास के साथ भारत में इस दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ किया गया है।

इस अवसर पर हमें अपनी कमज़ोरियों को भी नहीं भूलना चाहिए। अपनी आधारभूत कमज़ोरियों को हम मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) देश में योग्यता की कमी, तथा (२) नैतिकता की दृष्टि से हमारा निम्न स्तर। देश में आज जो बड़े-बड़े निर्माण कार्य हो रहे हैं, उन सब के लिए लाखों योग्य और निपुण कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। सभी क्षेत्रों में योग्य और निपुण भारतीय कार्यकर्त्ताओं की कमी हमारी उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा बनी हुई है। जिस देश में अभी तक लगभग ८० प्रतिशत नागरिक साक्षर तक नहीं हैं, वहाँ योग्यता और निपुणता का स्टैंडर्ड ऊँचा कर सकना कितना दुस्साध्य कार्य है। साक्षरता मनुष्य को एक नई आँख देती है। हमारे देश की लगभग ८० प्रतिशत जनता अभी तक इस आँख से वंचित है। हमारी दूसरी कमज़ोरी और भी अधिक चिन्तनीय है। योग्यता और निपुणता की कमी ईमानदारी तथा कर्त्तव्यभावना से ही पूरी की जा सकती है, पर विदेशी शासन में हमारे देश का इतना नैतिक पतन हो गया था कि अभी तक भारत के पुनर्निर्माण कार्य में आधारभूत ईमानदारी की कमी एक बहुत बड़ी बाधा बनी हुई है। रिश्वत, पक्षपात और स्वार्थपरायणता से अभी तक हमारा पिण्ड नहीं छूटा।

हमें आशा करनी चाहिए कि स्वाधीनता का प्रथम दशक पूरा करने से पूर्व हमारा देश अपनी उपर्युक्त कमियों और त्रुटियों को भी दूर करने का गम्भीर प्रयत्न करेगा।

●

लन्दन कान्फ्रेन्स के बाद

राष्ट्रपति नासर ने जिस भद्रता से पाँच राष्ट्रों के प्रतिनिधि मण्डल का स्वागत किया था, उससे संसार भर को आशा हो गई थी कि स्वेज़

का मसला शान्तिमय उपायों से हल हो सकेगा। इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्वेज़ के सम्बन्ध में मिश्र को पूर्ण प्रभुसत्ता (सौवरेण्टी) प्राप्त है या नहीं। मिश्र एक स्वतन्त्र राष्ट्र है और स्वेज़ नहर मिश्र की सीमा में विद्यमान है। स्वेज़ का महत्त्व चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह मिश्र देश का अविभाज्य भाग है। यदि सम्बद्ध राष्ट्र सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार करलें कि स्वेज़ पर मिश्र की पूर्ण प्रभुसत्ता विद्यमान है, तो इससे स्वेज़ सम्बन्धी समस्या को सुलझाना निस्सन्देह अपेक्षाकृत सहल हो जाएगा। तब तीन बातें सामने रहेंगी—(१) स्वेज़ पर मिश्र का पूरा अधिकार है, (२) संसार के बहुत से राष्ट्रों का हित इस बात में है कि उनके जहाज़ इस नहर में से बिना किसी बाधा के आ-जा सकें और किसी दशा में उन्हें रोका न जाए, (३) मिश्र का अपना हित इस बात में है कि संसार भर का जो जहाज़ स्वेज़ नहर में से गुज़रना चाहे, वह नियमित शुल्क देकर नहर में से आ-जा सके।

स्पष्ट है कि उक्त तीनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं। इस सम्बन्ध में मिश्र ने भी यह वचन दिया है कि वह स्वेज़ में जहाज़ों के यातायात पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं लगाएगा। मैत्री के ढंग पर मिश्र को अवश्य ही इस बात के लिए तैयार किया जा सकता है कि वह सम्बद्ध राष्ट्रों की एक स्वेज़ सलाहकार समिति की राय से स्वेज़ नहर का संचालन और नियन्त्रण करे। सम्बद्ध राष्ट्रों का हित इसी बात में है। साधारण दशाओं में इस सलाहकार समिति की बात मानने में मिश्र को कोई एतराज़ न होगा। युद्ध की परिस्थितियों में बात दूसरी हो जाती है। पिछले दोनों विश्व-युद्धों में भी स्वेज़ का मार्ग संसार भर के सभी राष्ट्रों के लिए खुला नहीं रहा था। आज कोई समझौता हो जाने पर भी यह कहना कठिन है कि युद्ध की परिस्थितियों में कोई राष्ट्र क्या कदम नहीं उठाएगा। पर युद्ध के दिनों रणमहत्त्व का दृष्टिकोण सबसे अधिक प्रबल हो जाता है। इससे युद्ध के दिनों में स्वेज़ नहर के यातायात का खुले रहना या बन्द हो जाना, साधारण अर्थों में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। क्योंकि स्वेज़ के खुले रहने पर भी आकाशी आक्रमण के भय से शायद कितने ही राष्ट्र उसमें से अपने जहाज़ ले जाना पसन्द न करें।

इन दिनों एक ओर तो मिश्र से मित्रतापूर्ण बात-चीत द्वारा यह समस्या सुलझाने के प्रयत्न हो रहे हैं, दूसरी ओर स्वेज़ के निकट सेनाओं के आवागमन की खबरें भी आ रही हैं, जो मंगलपूर्ण नहीं हैं। कुछ सम्बद्ध देशों का प्रेस भी इस बारे में यथोचित संयम से काम नहीं ले रहा।

मैन्ज़ीज़ मिशन की वापसी के समय राष्ट्रपति नासर ने अपने एक पत्र में १८ राष्ट्रों के प्रस्ताव के सम्बन्ध में कहा—"स्वेज़ नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के उद्देश्य से बनाई गई १८ राष्ट्रों की योजना से बढ़कर मिश्र की जनता को अधिक उत्तेजित करने वाली किसी बात की कल्पना करना भी कठिन है। इस योजना का उद्देश्य ही यह है कि स्वेज़ नहर को मिश्र के हाथों से ले लिया जाए। इस तरह के काम से न सिर्फ़ वास्तविक उद्देश्य पूरा न होगा, अपितु नाराज़गी, ग़लतफ़हमी और झगड़ा लगातार बना रहेगा। दूसरे शब्दों में यह एक बड़ी मुसीबत का प्रारम्भ होगा, अन्त नहीं।

"जहाँ तक मिश्र का सम्बन्ध है, मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि स्वेज़ के सम्बन्ध में मेरी सरकार की नीति इस प्रकार रहेगी—

"(क) स्वेज़ में जहाज़ों का स्वाधीन यातायात तथा बिना किसी भेदभाव के उसका उपयोग;

"(ख) आवश्यकतानुसार स्वेज़ नहर का विकास;

"(ग) उचित, समान और युक्तियुक्त चुंगी: और

"(घ) स्वेज़ नहर के यातायात को और अधिक सुविधाजनक बनाना।"

पाँच राष्ट्रों के मिशन के अध्यक्ष श्री मैन्ज़ीज़ के अनुसार कैरो कौन्फ्रैन्स की असफलता से स्वेज़ समस्या अब अत्यन्त गम्भीर दशा में पहुँच गई है। पर हमें अब भी विश्वास है कि अमेरिका के समझदार नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियाँ आक्रमणकारी तरीकों से इस मसले को हल करने का प्रयत्न किसी भी दशा में नहीं करेंगी।

इस सम्बन्ध में सब से अधिक चिन्ताजनक स्थिति ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री एन्थनी ईडन की इस घोषणा के कारण उत्पन्न हुई थी कि ब्रिटेन के नेतृत्व में स्वेज़ नहर का उपयोग करने वाले राष्ट्र अपना एक स्वतन्त्र संघ बनाएँगे, जिस संघ के अधीन इन राष्ट्रों के जहाज़ अपने पाइलेटों की देखरेख में स्वेज़ नहर में से आने जाने का प्रबन्ध करेंगे। यह स्थिति तो कुछ इस ढंग की थी कि एक होटल में रहने वाले व्यक्ति होटल की सम्पूर्ण व्यवस्था और लेन देन स्वयं करने लगें! पर बाद में ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में प्रधान मन्त्री श्री ईडन ने यह स्थिति स्पष्ट कर दी कि उक्त योजना बलपूर्वक पूर्ण करने का उनका इरादा नहीं है। इस बीच स्वेज़ नहर कम्पनी की सलाह पर स्वेज़ नहर के अधिकांश विदेशी पाइलैट अपने कार्य से पृथक हो गए हैं। मिश्र की सरकार पर इस तरह का दबाव डालने की पद्धति को किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

पश्चिमी शक्तियों के कितने ही पत्रों की सलाह है कि उपयोक्ता राष्ट्रों को स्वेज़ के रास्ते अपने जहाज़ भेजना बन्द कर देना चाहिए। यह स्पष्ट है कि यदि ब्रिटेन और फ्रांस आदि राष्ट्रों के जहाज़ स्वेज़ की राह आना-जाना बन्द कर दें तो इस से मिश्र का बहुत आर्थिक नुकसान होगा। पर उन राष्ट्रों का अपना नुकसान भी कुछ कम न होगा। पड़ौसी की दो आँखें फोड़ने के उद्देश्य से अपनी एक आँख फोड़ लेना समझदारी नहीं है। समझदारी इसी बात में है कि शान्तिमय उपायों से स्वेज़ की उलझन सुलझा ली जाए। मिश्र की प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से कायम रहे और स्वेज़ का मार्ग संसार भर के राष्ट्रों के लिए खुला रहे।

भारत के नए राज्य

सितम्बर के मध्य तक भारतीय राज्यों का पुनः संगठन सम्बन्धी कानून भारतीय पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों में पास हो गया था और अब उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई है। इस

तरह यह नया राज्य संगठन देश के कानून का भाग बन गया है। नव-संगठित भारत में १४ राज्य हैं—जम्मू और काश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बम्बई, बिहार, पश्चिम बंगाल, आसाम, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल। इन सभी राज्यों की एक समान स्थिति है। वही स्थिति तो अब तक 'ए' भाग के राज्यों की थी। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित छः प्रदेश केन्द्रीय सरकार के अधीन हैं—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अन्देमन निकोबार, लिक्कदिव तथा मिनिकोय। यह तो स्पष्ट ही है कि सभी राज्यों की उन्नति में भारत की उन्नति है और भारत की उन्नति में इन सभी राज्यों की उन्नति सन्निहित है।

विकासमान हिन्दी

प्रत्येक जीवित भाषा एक बहती नदी के समान है, जिसमें न जाने कितना नया जल सम्मिलित होता रहता है। यह नया जल विविध प्रकार का होता है, पर पूरी नदी के साथ वह एकाकार हो जाता है और नदी के बहते पानी के साथ अम्लजन का जो संसर्ग होता है, उससे वह सबका सब पानी पेय और ग्राह्य बन जाता है। अंग्रेज़ी जैसी समृद्ध भाषा में भी अभी तक प्रतिवर्ष सैकड़ों बल्कि हज़ारों नए शब्द सम्मिलित किए जा रहे हैं। हमारी हिन्दी तो अभी निर्माण की दशा में है। अभी हमें वैज्ञानिक और समाज शास्त्र सम्बन्धी लाखों पारिभाषिक हिन्दी शब्दों का निर्माण करना है। दूसरी ओर हिन्दी को भारत की राज्य भाषा स्वीकार कर लिए जाने के बाद हिन्दी का क्षेत्र भी एकाएक बहुत विस्तृत हो गया है। क्षेत्रफल और बोलने वालों की दृष्टि से किसी एक भाषा का एकाएक इतना विकास शायद ही कभी और हुआ हो। हिन्दी अब समूचे भारत की भाषा है और स्वभावतः उस पर भारत की सभी राष्ट्रीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेज़ी का भी गहरा प्रभाव पड़ रहा है। दूसरे शब्दों में यह हिन्दी का विकास काल है और इस समय यह दावा किया ही नहीं जा सकता कि हिन्दी एक प्रमानीकृत (स्टैंडर-डाइज़्ड) भाषा है।

हाल ही में एक प्रमुख बंगाली विद्वान ने हम से कहा—"मैं हिन्दी सीख रहा हूँ। पर मैं आपको चेतावनी देना चाहता हूँ कि हिन्दी सीख लेने के बाद कितने ही भाव प्रकाशनों के लिए मैं आपके शब्द स्वीकार नहीं करूँगा। कितने ही संस्कृतजन्य बंगला शब्दों को मैं आपके प्रचलित हिन्दी शब्दों की तुलना में श्रेष्ठ मानता हूँ और अपने भावों का प्रकाशन करते हुए मैं उन्हीं का व्यवहार करूँगा। यही बात और हज़ारों लाखों बंगाली भी करेंगे।"

उक्त बंगाली विद्वान की स्थापना में जो खतरा सन्निहित है, उसकी ओर हमने उनका ध्यान खींचा। पर उसमें जो सचाई है, वह भी हमें स्वीकार करनी ही पड़ी। अन्य भारतीय भाषाओं के लोग जब हिन्दी को अपनाएँगे तो स्वभावतः वे न केवल अपनी भाषाओं के तद्भव शब्द अपने साथ लाएँगे, अपितु अपने मुहावरों तक का प्रयोग करेंगे। इस तरह हिन्दी के अतिरिक्त अन्य १३ भारतीय भाषाओं का सीधा प्रभाव हिन्दी पर पड़ेगा और हमें मानना चाहिए कि उससे हिन्दी का रूप स्पष्टतः बदलेगा। केवल शब्दकोष की दृष्टि से ही नहीं, अपितु मुहावरे, वाक्य रचना आदि सभी दृष्टियों से। यहाँ तक कि व्याकरण पर भी उसका थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ेगा। व्याकरण किसी भाषा के लंगर के समान होता है, इससे उक्त परिस्थितियों का न्यूनतम प्रभाव हिन्दी व्याकरण पर पड़ेगा।

यह आवश्यक है कि हिन्दी जगत इन परिस्थितियों को समझे और इस अवसर पर आवश्यक सूझ-बूझ और सहनशीलता से काम ले।

लेखकों को आवश्यक सूचना

१. यह निश्चय किया गया है कि अनाहूत रचनाओं की वापसी का उत्तरदायित्व "आजकल" कार्यालय नहीं लेगा। केवल वे रचनाएँ ही वापस की जाएँगी, जिन के साथ उचित आकार का, आवश्यक डाक टिकटों से युक्त पूरा पता निर्दिष्ट किया हुआ लिफ़ाफ़ा विद्यमान होगा। उस दशा में भी "आजकल" कार्यालय केवल उक्त लिफ़ाफ़े को डाक में डालने का उत्तरदायित्व ही लेगा; पहुँच के लिए वह उत्तरदायी नहीं होगा। "आजकल" कार्यालय में प्रतिमास अनाहूत रूप से प्राप्त होने वाली रचनाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है, इसी कारण उक्त निश्चय किया गया है। उचित यही होगा कि रचना भेजने से पूर्व उसकी एक प्रति अपने पास सुरक्षित कर ली जाए।

२. अनुवादित रचनाएँ भेजते हुए मूल लेखक की लिखित अनुमति साथ भेजना आवश्यक है।

'प्रेत का घर'—(पृष्ठ ६० का शेषांश)

रहा है। जैसे शिशु माँ के स्तन से चिपटा हो। बदलू चित्रवत खड़ा हो गया और बालक को उठाते हुए उसने पुकारा—"लड़के, ओ लड़के!"

आँखें मलते-मलते लाला उठा, और आश्चर्य से बदलू की ओर देखने लगा।

"चलेगा नहीं बेटा? मैं जा रहा हूँ।"

लाला का हाथ पकड़े बदलू उसी अन्धकार में एक दिशा की ओर बढ़ गया।

(ताराचन्द वन्द्योपाध्याय लिखित 'नीलकण्ठ' नामक उपन्यास के तेईसवें परिच्छेद के आधार पर)



भारत देखिये

पर्यटन तथा तीर्थयात्रा

विशेष रेलें और (सर्क्यूलर) चक्राकार यात्रा

'भारत देखिये' यह नारा विदेशी पर्यटकों के लिए ही नहीं, बल्कि भारतीयों के लिए भी है। हम में से बहुतों को अभी अपनी ही मातृभूमि से परिचित होना है, उसके विशाल पर्वतों, रम्य घाटियों, प्राचीन स्मारकों, ऐतिहासिक मन्दिरों और नवीन उपनगरों का दर्शन करना है।

विशेष चक्राकार यात्राएँ

उत्तर रेलवे साधारण किराये की तीन-चौथाई रकम पर प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के टिकट दे रही है। इन यात्राओं के लिए अनेक निर्दिष्ट मार्ग हैं, जिनका विस्तृत विवरण उत्तर रेलवे के स्टेशन मास्टरों से मिल सकता है। इसके अतिरिक्त यदि जनता (चीफ़ कमर्शियल सुपरिण्टेण्डेण्ट-रेट्स) मुख्य व्यावसायिक निरीक्षक (दर सम्बन्धी) को कोई नवीन सुझाव रखेगी तो उसकी भी जाँच की जाएगी और विशेष शर्तों के पूरा होने पर किराये में छूट मिल सकेगी।

विशेष रेलें

बड़ी लाइन की गाड़ियों से विशेष यात्रा अथवा पर्यटन के लिए प्रार्थना करने पर इस पर विचार किया जाएगा तथा निम्न छूटें मिल सकेंगी—

१. पाक प्रबन्ध के लिए प्रत्येक गाड़ी के साथ मुफ़्त एक बोगी लगाई जाएगी।
२. एक कण्डक्टर तथा चार रसोइये नौकरों को मुफ़्त जाने की आज्ञा मिल सकेगी।
३. १,५०० मील से अधिक यात्रा के लिए साधारण किराये के तीन-चौथाई पर कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में रियायती टिकट मिल सकेंगे।

विस्तृत विवरण के लिए कृपया उत्तर रेलवे के मुख्य व्यावसायिक निरीक्षक (दर सम्बन्धी), कश्मीरी गेट, दिल्ली से पत्र-व्यवहार कीजिए।

सार्वजनिक सम्पर्क अधिकारी, उत्तर रेलवे द्वारा प्रचारित

Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

No. D—510

आजकल

चित्र-दर्शन सहित

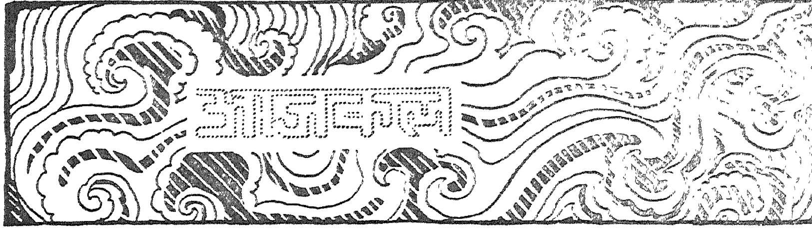


नवम्बर १९५६

●

आठ आना


SARMA



वर्ष १२ | अंक ७ | पूर्णांक १४९

सम्पादक मण्डल :
बनारसीदास चतुर्वेदी
नगेन्द्र
मोहन राव
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (मन्त्री)



सहायक सम्पादक—जगदीश गोयल

नवम्बर १९५६

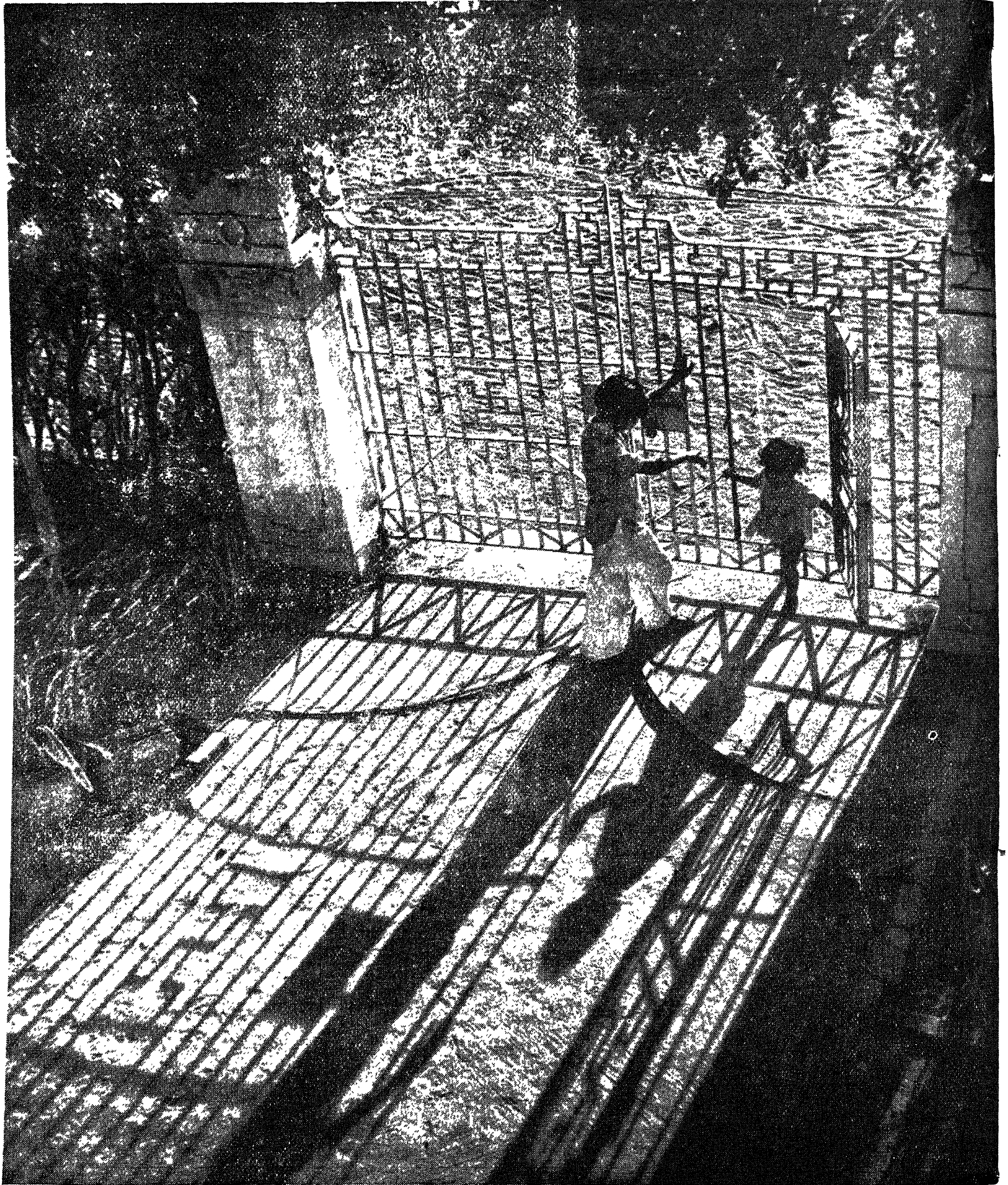


वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, एक सेंट या नौ पेंस

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

आवश्यक सूचना : दिसम्बर १९५६ में 'आजकल' के वार्षिक अंक के रूप में "बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष" नामक ग्रन्थ (३ रु०) स्थायी ग्राहकों को निःशुल्क भेंट किया जाएगा।





"छोटा मेहमान" फोटो : ए० एल० सैयद



वर्ष १२ नवम्बर १९५६ अंक ७

बंगला कविता

स्वर्ग से विदाई

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

म्लान कंठ में हो आई मंदार मालिका,
हे महेन्द्र, बुझ गया ज्योतिमय जगमग टीका
मलिन भाल पर। हुआ पुण्यबल क्षीण सभी गिन
आज स्वर्ग से मेरी शेष विदाई का दिन।
देव-देवियो, मैंने काटे वर्ष लक्ष शत
यहाँ देवताओं जैसे ही हर्ष-पुलक रत
देवलोक में। शेष विदाई के इस क्षण में
लेशमात्र आँसू की रेखा स्वर्ग-नयन में
जाऊँगा मैं देख, यही आशा थी। लेकिन
हृदयहीन सुखस्वर्गभूमि यह दुःखशोक बिन
उदासीन है। एक पलक भी नहीं आँख की
उसकी लाखों लाख बरस यह। कहीं शाख की
सूखी पत्ती एक छोर से गिर पड़ती जो,
तो जो नेक व्यथा पीपल के जी गड़ती हो,
स्वर्गलोक में नहीं व्यथा इतनी भी जागे
जब हम सौ-सौ की संख्या में नित्य अभागे
गृहच्युत हतज्योति नखतगण जैसे जाकर
देवलोक से गिर पड़ते पल में भूतल पर
जन्म-मरण के अंतहीन उस अतल धार में।
कहीं वेदना बजती जो यह हृदय-तार में
तो वियोग की घिर आती धुँधली-सी छाया
मंद स्वर्ग की पड़ जाती चिर ज्योतिर्माया
धरती जैसी शिशिर-वाष्प से। नन्दनवन यह
भर उसाँस मर्मर कर उठता, कूलों में बह
करुण कहानी गाती मंदाकिनी मधुर स्वर,
दिन डूबे सूने प्रांतर के पार उतर कर
संध्या चल देती दिगन्त को यों उदासिनी,
गा उठती वैराग्य-गीत नीरव निशीथिनी
नक्षत्रों की भरी सभा में झींगुर स्वन में।
नृत्यनिरत मेनका, कनक नूपुर रुनझुन में
ताल भंग होता रह-रह कर। और उर्वशी—
के स्तन से सोने की वीणा झुकी-सटी-सी
कर उठती झंकार अनमनी पड़ी अचानक
कठिन कष्ट से करुण मूर्च्छना। झकमक-झकमक
अश्रुहीन आँखों में देवों के आँसू कण
आते बरबस। बैठ पास पति के एकासन
शची हेरती इन्द्र नयन में क्या तो सहसा
खोज रही ज्यों वारि प्यास की। आता बहता
दूर मर्त्य से बीच-बीच में वायु-स्रोत धर
धरती का निश्वास दीर्घ कुछ उभर-उफन कर
नन्दनवन की कुसुम-मंजरी पड़ती झर-झर।
रहो, स्वर्ग, हँसते ही सब दिन। सुधापान कर
हे देवता, स्वर्ग तुम सब का ही सुख का घर,
हम परवासी। स्वर्ग नहीं धूलों की धरती,
मातृभूमि वह, इसीलिए आँखों से गिरती
जल की धारा—दो दिन को आकर कोई जो
दो पल को भी छोड़ उसे चल देता है तो।
क्षुद्र क्षीण जितने हैं, जितने अधम-अभाजन
पापी-तापी सब को कर आकुल आलिंगन,
मृदुल वक्ष में अपने उनको लपक लगाती,
धूल सने तन परस जुड़ाती जलती छाती
है जननी की। बहे स्वर्ग में अक्षय अमृत
देव तुम्हारे। रहे मर्त्य में सुख-दुःख मिश्रित
अश्रुवारि से धोने वाली प्रेम निर्झरी
भूतल के सब स्वर्ग-खंड को।
अरी अप्सरी!
नहीं नयन की जोत तुम्हारी कभी मलिन हो

प्रेम-व्यथा से; मैं तुम सबसे हुआ विदा लो।
मत करना आरज़ू किसी की, शोक किसी पर।
जो मेरी प्रियतमा जन्म ले परम दीन घर
धरती के आँगन में कहीं नदी के तीरे
किसी गाँव में एक छोर पर कुंज कुटीरे,
सावन श्याम छाया वाले पीपल तरु तल में;
अमृत का संचार [illegible] वक्षस्थल में
बड़े जतन से रक्खेगी वह। नदी तीर पर
माँग सुखी को लेगी शिव की पूजा में वर
शैशव में जा लिये सवेरे। संध्या आए
ले प्रज्वलित प्रदीप नदी की धार बहाए
शंकित-कंपित लिये हिया [illegible]-सी
अपना भाग्य पूछेगी [illegible]
खड़ी घाट पर। उसी दिन [illegible], पावन क्षण में
चंदनचर्चित माथ और [illegible] वदन में
आएगी [illegible]
वह मेरे घर। [illegible] दिन-दुर्दिन में
माँग भरा सिन्दूर [illegible]
सुख-दुःख में [illegible] आँगन
पूनम के [illegible]-सी [illegible] के तट पर।

और देवता! स्वर्ग तुम्हारा स्मृति के पट पर
दूर स्वप्न-सा खिंचा करेगा—सहसा जग कर
आधी रात गए देखूँगा जब शय्या पर
छिटक पड़ी है रजत चाँदनी। सुप्त प्रेयसी,
शिथिल भुजाएँ छूटी पड़ी हैं, खुली कसी-सी
गाँठ लाज की; सहसा मृदु सुहाग चुम्बन से
चौंक जगेगी, अपना गाढ़ा आलिंगन दे
बाहुलता से कस लेगी मेरा वक्षस्थल,
दखिनी हवा सुगंध लाएगी; जाग्रत कोयल
कूक उठेगी दूर डाल पर।

जननी, दीना,
अश्रुसजल दृग, दुःख आतुरा, अरी मलीना!
अयि मेरी माटी की धरती, बहुत दिनों पर
आज तुम्हारे लिये रो उठा मेरा अन्तर।
विदा-दुःख से ज्यों ही आँखें भीज गईं ये
[illegible] कल्पना-से ज्यों ही छवि स्वर्गलोक के
कहाँ गये मृदु छाया-छवि ले! गगन तुम्हारा,
खेत तुम्हारे, जनाकीर्ण पुर, सिंधु किनारा
दूर [illegible]; गहन नील गिरि के माथे पर
हिम की रेखा, तरुश्रेणी के भीतर-भीतर

नीरव अरुणोदय, नदिया के पार विजन में
अवनत आनन संध्या—आँसू जल के कण में
जितना भी प्रतिबिम्ब स्वच्छ मानो दर्पण में
उतर पड़ा है।

अयि जननी संतान वियोगिन,
वह शोकाश्रुधार, झर आया था जो उस दिन,
शेष विदाई की बेला में माँ के स्तन का
जिसने किया उमग कर आतुर अभिसिंचन था
सूख गई होगी अब तक तो। फिर भी मन में
है विश्वास जभी पहुँचूँगा पुनः सदन में
अपनाओगी बढ़ा बाहु दो तुरत लपक कर
शंख बजेंगे, स्नेह-छाँह में तुम अपने घर
दुःख-सुख भय से भरी प्रेम की उस दुनिया में
अपना लोगी पुत्र-पुत्रियों बीच; नया मैं
उन-सा हूँगा, जो सब दिन के चीन्हे-जाने।
और दूसरे ही दिन से बैठी सिरहाने
लिये धड़कते प्राण, अहर्निश किए जागरण
शंकित हृदय, उठा ऊपर को नयन प्रतिक्षण
करुणा भरी निगाह, सदा ही चिन्तित-सी हो
जिसे आज पाया, उसको जाने कब दूँ खो।

अनुवादक—हंसकुमार तिवारी

मैं क्या जानूँ

चिरंजीव दास

मैं क्या जानूँ किस समय सुर के पथ से
होकर आकर मेरी कल्पना रूप पा गई?

किस समय स्तर-स्तर भाव की नीहारिका
मेरे इस मनोगगन में भर गई,
किरनों की नई बहुएँ आकर सारे
भुवन में ओस का चौक पूर गई।

मैं क्या जानूँ किस समय नव छवि उद्-
भासित कर मेरी साधना प्रतिमा हो गई?

किस समय उसके पदकमलों में मैंने श्रद्धा
का अधखिला फूल रख दिया,

किस समय मैं अतिशय सुख में रोने लगा
और गर्व के साथ आकुल हुआ।

मैं क्या जानूँ किस समय मुझे कितना
उल्लसित कर आराधना मुझे विकल कर गई?

उन्मादी घंटा आप ही आप बजने लगे
यह हाथ आरती लेकर उठा,
आप ही आप जलकर धूप ने हृदय को
भर दिया और गले से गीत भारती उठा।

मैं क्या जानूँ किस समय मेरे ओ प्रवासी
आप ही आप बन्दना हो गई?

मैं अचेतन होकर चरणों में गिर गई
अलता माथे में सिन्दूर बन गया,
फूलों के हार गिर कर कंकण किंकिणि
बन गये और नीरवता ही मधु कथा बन गई।

मैं क्या जानूँ किस समय ओ मेरे चिर
उदासी! मेरी याचना ही मुझे वर दे गई?

प्रयोगवाद, सम्भावनाएँ और दुर्बलताएँ

रामधारी सिंह 'दिनकर'

पहले प्रशंसा और पीछे निन्दा, यह अमित्र-धर्म है। मैं नई कविता का मित्र हूँ। अतएव, मैं पहले उसकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डालूँगा।

प्रगतिवादी आन्दोलन अभी चल ही रहा था कि 'तार सप्तक' का पहला भाग प्रकाशित हुआ जो इस बात की सूचना था कि हिन्दी के नए कवि कविता की प्रचलित शैली से सन्तुष्ट नहीं थे। 'तार सप्तक' की कविताओं पर विचार करते हुए, आज से दस वर्ष पूर्व, मैंने अपनी पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में लिखा था कि "ये उन सभी कविताओं से भिन्न हैं जिन्हें हम देखने-सुनने के अब तक आदी रहे हैं। इनका कवि जान-बूझ कर काव्य के साधारण नियमों को भी भूल गया है।...इनकी पृष्ठभूमि में जो कुछ दीखता है वह निर्जन और विपरण है।" तथा "शायद आने वाले युग की कविता इनमें अपनी ट्रेनिंग पा रही है।" और तब से आज तक हिन्दी के तरुण कवि विभिन्न दिशाओं में जिस आकुलता से प्रयोग कर रहे हैं, उससे आज भी यही भासित होता है कि नई कविता की ट्रेनिंग अभी खत्म नहीं हुई है और उसके निश्चित भूमि में पहुँचने में अभी और कुछ देर है।

पहले 'तार सप्तक' के कई वर्ष बाद एक दूसरा 'तार सप्तक' भी निकला जो पहले की अपेक्षा अधिक सफल था। इन दो संग्रहों के अलावा, इधर और कुछ संग्रह और काव्य-ग्रन्थ (जैसे अज्ञेय का "हरी घास पर क्षण भर" तथा "बावरा अहेरी", गिरिजाकुमार का "धूप के धान", धर्मवीर भारती का "ठंडा लोहा" और "अंधा युग" तथा नई कविता के दो एक अंक) निकले हैं जिन्हें, साधारणतः, लोग नई कविता के प्रतिनिधि-ग्रन्थ मानते हैं। इनके सिवा, पत्र-पत्रिकाओं में बालकृष्ण राव, भारतभूषण, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, प्रयागनारायण त्रिपाठी, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, मदन वात्स्यायन, राजेन्द्र प्रसाद सिंह आदि तरुण कवियों की जो स्फुट रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनसे भी ईषत् संकेत मिलता है कि हिन्दी कविता किस दिशा की ओर जा रही है।

यह आन्दोलन अपनी किशोरावस्था को पार कर चुका है, किन्तु, तब भी इसका सही तो क्या, आनुपातिक मूल्यांकन भी अभी नहीं हो पाया है। जहाँ तक मेरा ख्याल है, आज तक भी प्रयोगवाद का कोई ऐसा घोषणा-पत्र कहीं नहीं निकला जैसी घोषणा 'पल्लव' की भूमिका में छायावाद ने की थी। और इसके उद्देश्य और लक्ष्य के बारे में जो थोड़ा-कुछ कहा भी गया है वह उतना विशद और पुष्ट नहीं है जिससे काव्यरसिक जनता यह समझ सके कि प्रयोगवाद कविता के किन गुणों पर जोर देना चाहता है और वह कैसी उपलब्धि के प्रयास में है। इस आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि प्रयोगवाद का गढ़ आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, अनेक बच्चों से भर गया है और जो असली कवि हैं वे इस भीड़ को हटा कर आगे आने में कठिनाइयों का अनुभव कर रहे हैं।

जब छायावादी आन्दोलन उठा था, तब भी हिन्दी में कवियों की बाढ़ आ गई थी, किन्तु, आज के दल-बल की तुलना में वह फिर भी बहुत छोटी बाढ़ थी। कारण, कदाचित्, यह था कि उस समय शिक्षा का प्रसार आज की अपेक्षा कहीं सीमित था और तत्परिणामस्वरूप कविता की ओर आने वाले युवकों की संख्या भी कम थी। किन्तु, छायावादोत्तर काल में आकर हिन्दी भाषी देशों में कविता का जो व्यापक प्रचार हुआ, उससे अब अनेक युवकों में कविता का प्रेम जग पड़ा है और अपने ही समान कुछ अन्य लोगों को काव्य-क्षेत्र में यशस्वी होते देख कर वे भी इस सुयश के भागी होने को ललचा उठे हैं। इसे मैं भारतीय जाति के लिए शुभ लक्षण मानता हूँ। कम-से-कम, यह इस बात का प्रमाण तो है ही कि हमारे नवयुवक अपने आपको अभिव्यक्त करने की इच्छा से आन्दोलित होने लगे हैं। किन्तु, कवियों की संख्यावृद्धि के कारणों की खोज यहीं समाप्त नहीं होती। इस संख्या-वृद्धि का मुख्य कारण, शायद, यह है कि छायावादी युग में निरी बकवास करने के लिए भी कवियों को छन्द में लिखना पड़ता था और यद्यपि, छन्द कभी-कभी अनावश्यक भी हो जाते हैं, किन्तु, उनकी रचना सब के लिए सुगम नहीं होती। प्रयोगवादी कवि छन्द में भी लिखते हैं और छन्दों को तोड़ कर भी और दोनों ही शैलियों की कितनी ही नई कविताएँ काफी सुन्दर हुई हैं। किन्तु, इससे युवकों ने यह शिक्षा निकाली कि छन्द अब कविता के लिए किंचित भी अनिवार्य न रहे। परिणाम यह हुआ कि कविता के बाह्य प्रांगण का दरवाजा चूर-चूर हो गया और आज वे सभी लोग हिन्दी में कविता कर रहे हैं जिनके पास करने योग्य और कोई काम नहीं है। इस सामान्य सिद्धान्त के अपवाद कुछ ऐसे अध्यापक और अन्य बुद्धिजीवी ही हैं जिनके पास करने योग्य काम तो बहुत हैं, किन्तु, जो फिर भी अवकाश के समय, ताश या बेडमिंटन नहीं खेल कर, कविताओं की रचना में लगे हुए हैं। और ये सारी की सारी कविताएँ प्रयोगवाद के नाम पर चल रही हैं। अभी तो प्रयोगवादी कविता की सफलता के दो नहीं, मात्र एक प्रमाण खोजने की अपेक्षा यह कहीं आसान है कि उसकी विफलता के एक हजार प्रमाण तुरन्त एकत्र कर दिए जाएँ।

आज कविता के क्षेत्र में गुण नहीं, संख्या का बोलबाला है। और संख्या की विशालता के कारण ही इस कविता की सच्ची पहचान गम्भीर समस्या का रूप लेती जा रही है। यदि छायावादी आन्दोलन अंग्रेजी में शेली और बायरन के समय उठने वाले रोमांटिक आन्दोलन

से मेल खाता था तो यह नई कविता का आन्दोलन बहुत कुछ उस (इमेजिस्ट) आन्दोलन के समान है जो अंग्रेजी कविता में प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ होने के आसपास उठा था। उस आन्दोलन में भी इतने अधिक कवियों ने भाग लिया था कि सन् १९२० ई० में जब पोयट्री बुकशाप ने "बिबलियोग्राफी ऑफ माडर्न पोयट्री" के नाम से केवल सन् १९१२ ई० से लेकर सन् १९२० ई० के बीच उगने वाले नक्षत्रों की सूची प्रकाशित की तब उसमें कवियों की संख्या एक हजार से ऊपर चली गई। और इन सहस्राधिक कवियों में से एक सौ चार ऐसे थे जिन पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी दी गई थीं। किन्तु, समीक्षा, शोर-गुल और पक्षपातपूर्ण आन्दोलनों से साहित्य में खोटे सिक्के नहीं चलाए जा सकते, न खरे सिक्कों के प्रचलन को ईर्ष्या, द्वेष और निन्दा रोक ही सकती है। इमेजिस्ट सम्प्रदाय के इन हजार कवियों में से केवल दस-बारह ही ऐसे निकले जिनकी कविताएँ तो नहीं, हाँ, यदा-कदा साहित्य में उनका नामोल्लेख चलता था। अंग्रेजी में जब यह आन्दोलन चल रहा था तब उसके समर्थक और उन्नायक भी उक्त आन्दोलन के आलोचकों पर उसी प्रकार टूटते थे जैसे आज हिन्दी में टूट रहे हैं और अंग्रेजी में भी कविगण कविताओं के द्वारा जनता के हृदय को न जीत कर उसे बुद्धि द्वारा गद्य में ही पराजित करना चाहते थे। किन्तु, जनता के हाथ में तो ब्रह्मास्त्र होता है। उसने इन कविताओं को खरीदा ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि इस युग के कवियों की कविताएँ या तो पतली छोटी कापियों में छपीं या कई कवियों ने मिल-मिल कर अपने एकत्र संग्रह छपवाए। कहते हैं, जब युद्ध छिड़ा, तब इन कविताओं की थोड़ी बिक्री अवश्य हुई, किन्तु, इतनी नहीं कि किसी कवि का नाम सर्वत्र पहुँच जाए अथवा उसे अच्छी राशि की प्राप्ति हो।

इमेजिस्ट सम्प्रदाय से अपने यहाँ के वर्तमान आन्दोलन की इतनी ही समता नहीं है। विचित्र संयोग है कि इमेजिस्ट कवियों में जो नकली कवि थे ठीक उन्हीं के लक्षण प्रयोगवाद के नकली कवियों पर चरितार्थ होते हैं और जो सीमाएँ या कमजोरियाँ असली इमेजिस्ट कवियों की थीं, अपने यहाँ के भी कितने ही नए सत्कवि ठीक उन्हीं दुर्बलताओं से पीड़ित दीखते हैं।

सुर्रियलिस्ट चित्रकारी पर व्यंग्य कसने को किसी ने एक कहानी गढ़ी है कि एक सुर्रियलिस्ट चित्रकार के घर में चोरी हो गई। दूसरे दिन जब पुलिस आई तब उसने पूछा कि चोर को किसी ने देखा था या नहीं ? चित्रकार बोला, "क्यों, चोर को तो मैंने स्वयं देखा है और देखा ही नहीं, मैंने छिप कर उसका यह स्केच भी खींच लिया है।" पुलिस वाले इस आशा से वह चित्र ले गए कि उसके सहारे चोर पहचाना जा सकेगा। किन्तु, खुफिया-विभाग के अधिकारियों ने जब उस चित्र को देखा, उन्हें हँसी आ गई और वे बोले, "अरे, यह तो आलू कोबी की तस्वीर मालूम होती है। इसे देख कर आदमी कैसे पकड़ा जा सकता है ?"

सुर्रियलिज्म पर चाहे यह कहानी फिट नहीं बैठती हो, किन्तु, प्रयोगवाद के नाम पर प्रतिदिन जो मनों कविताएँ छप रही हैं वे उसी प्रकार की कविताएँ हैं जिस प्रकार का उस सुर्रियलिस्ट का बनाया हुआ चित्र था। इन कविताओं की तुलना उन गीतों से की जा सकती है जिनमें और सब कुछ तो होता है, केवल सुर नहीं होता अथवा उस शबीह से की जा सकती है जिनकी गरदन ही गायब हो।

और स्मरण रहे कि ये बातें मैं इस लिए कह रहा हूँ कि प्रयोगवाद के अन्दर अपार कविताएँ बिना छन्द के लिखी जाती हैं। मुक्त-छन्द की परम्परा प्रयोगवादियों की सृष्टि नहीं है। उसका आरम्भ निराला जी ने और प्रसाद जी ने किया था तथा प्रयोगवाद के आगमन से पूर्व भी ऐसी कविताएँ यथेष्ट मात्रा में लिखी जा चुकी थीं। कविता में से छन्द की महिमा अभी विलुप्त नहीं हुई है। किन्तु अच्छी कविताएँ बिना छन्द के भी लिखी जाती हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि मुक्त-छन्द की ओर युवक इसलिए भी दौड़ते हैं कि उसमें स्वतन्त्रता की थोड़ी झाँकी रहती है। कुछ यह बात भी है कि कविता की परम्परागत शैली में जो नियन्त्रण है, बल्कि, उसमें जो जकड़बन्दी आ गई है, उसे युवकों की चेतना बर्दाश्त नहीं कर सकती। अतएव, इन कवियों ने अपने आपको यह विश्वास दिला रखा है कि कविता की पुरानी शैली इतनी पुरानी हो गई है कि अब उसका कोई उपयोग नहीं है। छन्दों का त्याग नई कविता का उतना बड़ा दोष नहीं है जितना कि नए कवियों का यह आग्रह कि छन्द छोड़ने पर चाहे जो भी लिखो, वह काव्य हो जाता है। परम्परा से किंचित भिन्न चलने की स्वतन्त्रता और प्रचलित शैली में परिवर्तन करने का अधिकार, ये दावे तो, प्रायः, प्रत्येक युग के कवि किया करते हैं। किन्तु, प्रयोगवाद के नाम पर असंख्य कवियों ने इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया है। परिणाम यह है कि उनकी जो कविताएँ छपती हैं वे कविताएँ नहीं, असमर्थ गद्य हैं जिन्हें कविताओं की तरह सजा दिया जाता है। किन्तु, इससे केवल आँखें ही धोखा खा सकती हैं, मन नहीं, क्योंकि वह कविता को पहचानता है।

कला की दृष्टि से देखा जाए तो काव्य-सृष्टि के दो सोपान होते हैं। पहला सोपान प्रेरणा का और दूसरा सोपान रचना का होता है। प्रेरणा का उद्गम शिक्षा-दीक्षा, संस्कार और भावुकता होती है। और जिस व्यक्ति में भावुकता और कविता का संस्कार है, उसके भीतर काव्य-प्रेरणाओं का उठना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। किन्तु, केवल प्रेरणाओं के उठने से कोई व्यक्ति कवि नहीं हो जाता। उसे उन प्रेरणाओं को इस प्रकार अभिव्यक्ति देनी होती है कि कविता पढ़ने या सुनने वालों के हृदय में वैसी ही प्रेरणाएँ उत्पन्न हो सकें। इसीलिए, प्रेरणा का धरातल संस्कार का और रचना का धरातल परिश्रम और अभ्यास का धरातल होता है। जिसे हम कवि की साधना कहते हैं वह इस अभ्यास के सिवाय और कुछ नहीं है कि हम जो अनुभव करते हैं उसे अनुरूप ढंग से अभिव्यक्त कर सकें। किन्तु, जब कवि यह समझ लेता है कि जवानी की ताजगी स्वयं सब से बड़ी कविता है तथा हमें परिश्रम से बचे रह कर इस ताजगी को बचाए रखना चाहिए, तब साहित्य में अर्थ से अधिक अनर्थों के ही उदाहरण भरने लगते हैं। शेरिडन ने कहीं कहा है कि जो साहित्य पढ़ने में आसान होता है उसकी रचना करने में घोर परिश्रम करना

पड़ता है। इसी प्रकार जिस साहित्य का पढ़ना कठिन है, सामान्य नियम यही है कि उसकी रचना बड़ी आसानी से की जाती है। अधिकांश प्रयोगवादियों पर हमारा यह आक्षेप है कि वे अपनी मेहनत बचा कर पाठकों की कठिनाई बढ़ा रहे हैं।

उदाहरण के लिए, प्रयोगवाद के जो अच्छे कवि हैं उनमें भी यह दोष है कि वे पूर्वापर सम्बन्धों के निर्वाह पर ध्यान नहीं देते अथवा कविता कहते-कहते अचानक वे ऐसी बात बोल उठते हैं जिससे पहले के भाव का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। पाठक यह स्पष्ट अनुभव करता है कि दो भावों के बीच कोई और कड़ी होगी जिसे कवि को बतला देना चाहिए था। किन्तु, कवि, न जाने क्यों, पुल की दो-एक पटरियाँ बीच से अचानक खींच लेता है और चाहता है कि इस दूरी को पाठक अपने आप तय करे। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है, मानो, कवि ने आधी कविता लिख कर ही पूरी कविता समाप्त कर दी हो। कवि की दृष्टि में यह आधा काव्य पूरे काव्य से अधिक पूर्ण भले ही दीखे, किन्तु, वह पाठक की दृष्टि में आधा ही रहता है।

पाठकों को किंचित अतृप्त रखते हुए कविता या उपन्यास को समाप्त कर देना, यह कुछ दिनों से कला का कौशल बन गया है। किन्तु, पाठकों की कल्पना के भरोसे कितना छोड़ा जाए और कितना नहीं, यह विचारणीय विषय है और इसका सम्यक् ज्ञान रचना की प्रक्रिया में संलग्न कवि को होना ही चाहिए। अन्यथा जिस कौशल से वह पाठक की कल्पना को उत्तेजित करना चाहता है, उसका यह परिणाम भी हो सकता है कि पाठक खिन्न, उदास या अप्रसन्न हो कर कविता को फेंक दे। और सब से बुरी बात तो यह है कि ऐसी कविताएँ पाठकों की कल्पना के भरोसे रची तो जाती हैं, किन्तु, वे कल्पना को जगा तो क्या, उसे छेड़ भी नहीं सकतीं। यह ठीक है कि इन असम्बद्ध पंक्तियों में अथवा एक शब्द के विचित्रतापूर्ण वाक्यों में भी कभी-कभी कवित्व की किरणें झलक मारती हैं, किन्तु, उन्हें हम कविता नहीं कह सकते। उनसे तो केवल इतना ही सूचित होता है कि कवि कोई कविता लिखने को तैयार हो रहा है। अब यदि वह कविता लिखे ही नहीं तो उसकी तैयारी मात्र से क्या होता है?

कवियों और पाठकों के बीच का सेतु हर युग में नए ढंग से बनाया जाता है अथवा उस पर नए रंग छिड़के जाते हैं और जब यह पुल जीर्ण हो जाता है अथवा उसके रंग पुराने पड़ जाते हैं तब फिर नया सेतु रचने अथवा पुराने सेतु पर नया रंग छिड़कने की आवश्यकता अनुभूत होने लगती है। होना यह चाहिए था कि प्रयोगवादी कवियों के हृदय में जो नए स्वप्न मँडलाने लगे हैं, वे बाहर आते और पाठकों का उनसे परिचय कराया जाता। अथवा नए कवि जिस नवीन भंगिमा के कारण यह विशेषण पसन्द कर रहे हैं वह पाठकों में भी उतारी जाती। किन्तु, यह काम प्रयोगवाद में बहुत कम हो रहा है। प्रयोगवादियों के बीच ज्यादा शोर तो इसी बात का सुनाई देता है कि पुरानी कविता पुरानी हो गई, नई कविताएँ लेकर अब हम आ रहे हैं और हमारे साथ साहित्य में एक नया युग प्रवेश कर रहा है।

अच्छा हो या बुरा, साहित्य में नया युग तो आता ही रहता है। सपूत हो या कपूत, पिता का दायित्व किसी न किसी पुत्र को ढोना ही पड़ता है। इलियट परम्परा को तोड़ कर चले, यह बात नवयुवकों को बहुत पसन्द आई। किन्तु, वे यह देखना भूल गए कि परम्परा की जितनी टूटी कड़ियाँ इलियट में आकर जुड़ीं, उतनी पहले और कभी नहीं जुड़ी थीं। प्राचीनता और नवीनता के सतही भेद गलत हैं। इलियट के अनुसार, नवीनता आकाश से नहीं टपकती, न कभी प्राचीनता का नाश ही होता है। इतिहास सर्वथा ध्वस्त युगों की गाथा नहीं, प्रत्युत् ऐसा मानचित्र है जिसमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों एक साथ जी रहे हैं, जैसे भूगोल के मानचित्र में हमें विश्व के विभिन्न देश एक-साथ जीवित दिखाई देते हैं। इलियट ने यह भी कहा है कि हड्डी के भीतर अपने युग का अस्तित्व और पीठिका में परम्परा का ध्यान, यह साहित्य लिखने की सही मुद्रा है। परन्तु, इलियट में परम्परा-भंजन का जो नाद है उसे तो हमारे नवयुवकों ने सुना, किन्तु, उनके भीतर परम्परा को जोड़ने वाले जो विचार हैं, उन्हें ये कवि पकड़ नहीं पाते। यही कारण है कि प्रयोगवादी धारा का जो कथ्य विषय है उसका कथन तो नाममात्र को ही हो रहा है, किन्तु, जिन बातों का कोई स्थायी महत्त्व नहीं है वे ही बातें बार-बार दुहराई जा रही हैं। जो उन्हें करना है उसका मर्म वे समझ नहीं पाते। किन्तु, जो महज़ आनुषंगिक बातें हैं सबसे ज्यादा जोर वे उन्हीं पर दे रहे हैं। नया युग लाने के उत्साह ने उन्हें इस जोर से पकड़ लिया है कि इस नवीन युग के रहस्योद्‌घाटन का काम अभी वे प्रारम्भ भी नहीं कर पाए हैं। वे तो बार-बार हमें यही बताए जा रहे हैं कि प्राचीनता उन्हें तनिक भी स्वीकार्य नहीं है।

किन्तु, प्राचीनता किस युग को स्वीकार्य होती है? मैं फिर इलियट का ही उद्धरण दूँगा। वर्तमान की चेतना, वस्तुतः अतीत का ज्ञान है। हम मृत लेखकों की अपेक्षा कुछ अधिक जानते हैं, किन्तु, मृत लेखकों के सिवाय और हम जानते भी क्या हैं? सारा साहित्य सातत्य का अविच्छिन्न प्रवाह है जिसका वर्तमान बराबर अतीत को अपने साथ लिए रहता है। अतीत बराबर अपूर्ण होता है और जब नए मुहावरों में नई अनुभूतियाँ लिखी जाने लगती हैं तब वह केवल वर्तमान के जीवित होने का ही प्रमाण नहीं होता, उससे यह भी प्रत्यक्ष होता है कि अतीत की प्रक्रिया पूर्ण हो रही है। छायावाद का जन्म द्विवेदी-युग की अपूर्णताओं में हुआ था और छायावाद भी अपूर्ण निकला जिसकी पूर्ति का प्रयास छायावादोत्तर काल ने किया। और अब छायावादोत्तर काल की अपूर्णता और अतृप्ति भी युवकों को अनुभूत होने लगी है। हम जानते हैं कि वे इस अपूर्णता को भी पूर्ण करेंगे और फिर पोतों का युग आएगा जो अपने पिता की अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करेगा। अपूर्णता और पूर्णता की यह प्रक्रिया, अनिवार्य रूप से, कविता की निचाई या ऊँचाई की प्रक्रिया नहीं है। ऐतिहासिक सत्य केवल इतना है कि हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है तब उसके लाए हुए जल से आगामी युग की प्यास नहीं बुझ पाती। इसलिए प्रत्येक युग को

अपना कुआँ आप खोदना पड़ता है, चाहे वह छिछला हो क्यों न हो। किन्तु, मेरा अनुमान है, हमारे नए कवि साधनापूर्वक अपने युग का कुआँ खोदने में निरत नहीं रह कर बार-बार यह घोषणा करने में अपना समय बर्बाद कर रहे हैं कि हमारा कुआँ पहले के कुओं के समान नहीं होगा। पहले के कूप अच्छे नहीं थे, अब हम अच्छा कूप तैयार कर रहे हैं। और यह बात वे केवल लेक्चरों में ही नहीं कहते, उनकी बहुसंख्यक रचनाएँ भी केवल इतना ही प्रचार करके मौन हो जाती हैं कि वे पहले की रचनाओं से भिन्न हैं। हिन्दी में अब तक जो श्रेष्ठ कवि हुए, प्रयोगवादी कवि उनके लक्षणों को त्याज्य समझते हैं। चूँकि पहले के कवियों ने छन्द में लिखा, इसलिए नए कवि बिना छन्द के लिखते हैं। चूँकि पहले के कवियों की रचनाओं में लय होती थी, इसलिए, नए कवि लय को छोड़ रहे हैं। और चूँकि पहले के कवि एक शब्द का वाक्य नहीं लिखते थे, इसलिए नए कवि ऐसे वाक्य धड़ल्ले से लिख रहे हैं। अंग्रेज़ी के मेटाफिज़िकल कवियों की रचनाओं से शिक्षा यह निकली है कि कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण उसका "सिरे-कुलिज्म" यानी चमत्कार है; कविता को और कुछ करने के पूर्व पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए, उनकी चेतना को चौंका देना चाहिए। और एक शब्द के वाक्यों में और कोई गुण चाहे न हो, यह गुण तो है ही कि उन्हें देख कर पाठक चौंक उठे, भले ही चौंक उठने के बाद, उसके भीतर हास्य के अनुभाव उत्पन्न हों, कविता चाहे किसी भी रस की क्यों न हो।

किन्तु, प्रयोगवादी कविता के ये लक्षण अधिकतर उन्हीं कवियों में मिलते हैं जो बाढ़ के साथ बह कर आए हैं और जो बाढ़ के उतरने के बाद तक कविता की खाद बनेंगे। प्रत्येक आन्दोलन को खाद की आवश्यकता होती है और हर आन्दोलन अपनी खाद अपने साथ लाता है। कविता की खाद यानी वे लोग जो नई दिशा में चलने की कोशिश करते हैं, किन्तु, चल नहीं पाते। फिर भी, उनके कूदने-फाँदने से पाँव के नीचे की जमीन चिकनी और मुलायम हो जाती है। इस दृष्टि से असफल कवियों का भी महत्त्व है, क्योंकि नए आन्दोलन की सारकता को वे अपने ऊपर खींच कर, दूसरों को उससे बचने का संकेत देते हैं।

किन्तु, इस बाढ़ के उतरने के बाद कौन लोग बचने वाले हैं? वे जिनके कलश अभी से कुछ ऊपर दिखाई देने लगे हैं या वे जिन्हें इस आन्दोलन का परिपाक आगे चलकर उत्पन्न करेगा? सम्भव है, भविष्य के कोट पर दोनों ही प्रकार के कवियों का अधिकार हो। किन्तु, यह विचिकित्सा व्यर्थ है। मैंने जो नए आन्दोलन से आशा लगाई है वह व्यक्तियों को देखकर नहीं प्रत्युत, इस भाव से कि यह आन्दोलन शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है और चूँकि यह प्रगतिवादी आन्दोलन की पीठ पर आया है, इसलिए, इसकी साहित्यिकता मुझे स्वाभाविक भी दीखती है।

प्रयोगवाद के एकाध समर्थक ने यह कहा है कि "छायावाद की शब्दावली भावनाओं को प्रेषित करने में असफल सिद्ध होने लगी थी" इसलिए नई कविता को आना पड़ा। किन्तु, यह अनुमान अशुद्ध है। छायावाद और रहस्यवाद की असमर्थता के समय प्रयोगवाद जन्मा भी नहीं था। और जब वह जन्मा उसके पहले ही छायावादी कवि सम्हलने लगे थे। यह ठीक है कि प्रयोगवादियों की साधना यदि सफल हुई तो उससे अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की स्वच्छता में वृद्धि होगी और ये दोनों की दोनों चीजें छायावाद काल में धूमिल रह गई थीं। किन्तु, यह शिक्षा प्रयोगवाद ने छायावाद से नहीं ली। यह ज्ञान तो उसने यूरोप की अत्याधुनिक आलोचनाओं और कविताओं से प्राप्त किया है। फिर यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि प्रयोगवाद छायावाद के अनन्तर नहीं, छायावादोत्तर काल के पश्चात उत्पन्न हुआ और छायावादोत्तर काल को ही लोग भ्रमवश प्रगतिवाद का काल कहने लगे हैं। अतएव, यदि प्रतिक्रिया की दृष्टि से सोचें तो कहना पड़ेगा कि जैसे छायावाद काल द्विवेदी युग के विरुद्ध आया था और छायावादोत्तर काल छायावादी युग की परिष्कृति से उत्पन्न हुआ, वैसे ही, प्रयोगवाद, छायावादोत्तर काल, विशेषतः उसके प्रगतिवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बीच यह जो प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है उसे लोग, साधारणतः, इस कारण नहीं समझ पाते कि पहले 'तारसप्तक' में भी साम्यवादी कवि घुसे हुए थे और आज भी इस धारा में ऐसे अनेक नवयुवक चल रहे हैं जो विचारों से मार्क्सवादी हैं। ये लोग इस आन्दोलन के साथ रहेंगे या उससे अलग हो जाएँगे, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। और इस प्रश्न का कोई खास महत्त्व भी नहीं है, क्योंकि यह तो पूर्णरूप से समझ में आने की बात है कि मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्ति चाहे तो शुद्ध साहित्यिक भाव से साहित्य की सेवा कर सकता है। जब कवि के गांधीवादी अथवा आस्तिक या नास्तिक होने से उसकी प्रतिभा मारी नहीं जाती तो उसे मार्क्सवाद से ही क्यों भय होगा?

जिस बात का मेरी समझ में विशेष महत्त्व है वह यह है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, ये दोनों, दो भिन्न आन्दोलन हैं। प्रगतिवाद का खास जोर कवियों के सामाजिक विचार पर था। उसे इस बात की, प्रायः, कोई चिन्ता नहीं थी कि ये विचार शुद्ध कविता की शैली में व्यक्त हो रहे हैं, या गद्य-कल्प रीति से। इसके विपरीत, इस बात की उसे चिन्ता थी और बहुत अधिक थी कि कविगण साहित्य में राजनीति के दल-विशेष की पताका उठाए चल रहे हैं या नहीं। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था।

किन्तु, प्रयोगवाद पर ऐसा कोई भी आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। वह आदि से अन्त तक शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है और उसका मुख्य ध्येय काव्य एवं कला सम्बन्धी हमारी धारणाओं को परिवर्तित करना है। यह आन्दोलन छायावाद क पीठ पर भी आ सकता था क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों को स्वच्छ बनाना है और छायावादकाल में ये दोनों की दोनों चीज़ें अधिकांश रचनाओं में अस्वच्छ थीं। किन्तु, वह छायावाद-काल की समाप्ति के साथ नहीं आया जिसका एक कारण तो यह था कि उस समय हिन्दी में ऐसे युवक बहुत थोड़े थे, कविता के सम्बन्ध

में जिनकी रुचि अन्तर्राष्ट्रीय रुचि से प्रभावित रही थी। सूर्य, अपनी तमाम दुर्बलताओं के साथ छायावाद पूर्णरूप से कलापूर्ण और साहित्यिकता से ओतप्रोत था। अतएव उस समय यह अत्यन्त अस्वाभाविक बात होती यदि कोई नया आन्दोलन यह घोषणा करने को आ जाता कि साहित्य में कला और साहित्यिकता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह तो कमल को रंगने और गुलाब को सुवासित करने के समान हास्यास्पद बात होती। छायावाद में सबसे बड़ी कमी सुस्पष्टता की थी जो सबको अनुभूत होती थी और सुस्पष्टता की दिशा में हिन्दी कविता ने छायावादोत्तर काल में प्रगति भी की। किन्तु, जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य में कनस्तर बजाए जाने लगे और साहित्यिक मूल्यों का ह्रास होने लगा तब यह आवश्यक हो गया कि हिन्दी में कला और शैली के हिलते हुए महत्त्व को फिर से सुस्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाए। वही प्रयास धीरे-धीरे प्रयोगवाद बन गया। यह और बात है कि अब इस आन्दोलन के दर्शन की पीठिका पर छायावादी और छायावादोत्तर युगों की प्रवृत्तियाँ भी खराद पर चढ़ी हुई मालूम होती हैं।

स्वयं प्रयोगवादियों ने अपना आन्दोलन आरम्भ करते समय इन बातों पर विचार किया था या नहीं, इस विचिकित्सा से मेरी स्थापना में कोई फर्क नहीं आता। कोई भी नया कवि आरम्भ में यह नहीं जानता कि वह प्रचलित शैली को छोड़ कर किसी नई शैली में क्यों लिख रहा है, न कविगण आरम्भ में यही जानते हैं कि वे किसी नए आन्दोलन के साथ हैं। नई शैली भी उसी स्वाभाविकता से जन्म लेती है जिस स्वाभाविकता से फूल चटकते या टहनी में पत्ते निकलते हैं। सचेष्ट आन्दोलन केवल राजनीति में चलते हैं। साहित्य में तो आन्दोलन भी सहज भाव से ही प्रकट होते हैं। बाद में चल कर जब छायावादियों का विरोध होने लगा तभी छायावादी कवि यह जान सके कि वे एक नए आन्दोलन के प्रवर्तक हो पड़े हैं। अन्यथा वे यह क्यों सोचने जाते कि कविताएँ नहीं लिख कर वे कोई आन्दोलन चला रहे हैं? प्रयोगवाद के जन्म की प्रक्रिया भी ऐसी ही सहज थी। जब अनेक कवियों और आलोचकों ने साहित्य में विचारों को अत्यधिक प्रमुखता देकर उसके शैली-पक्ष को गौण कर दिया तब कुछ नवयुवक साहित्य के शैली या कला-पक्ष को ऊपर उठाने को आगे बढ़े। किन्तु, आरम्भ में, इन युवकों को यह ज्ञात नहीं था कि वे प्रगतिवाद से उत्पन्न होने वाले दोषों का परिहार करने को आगे बढ़ रहे हैं। यही कारण था कि उनके इस सदुपयोग में बहुत-से ऐसे लोग भी साथ हो गए जो अपने को प्रगति-वादी कहते थे अथवा जो मार्क्सवादी राजनीति के साथ थे। किन्तु, आन्दोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ा, बातें सुस्पष्ट होती गईं। यहाँ तक कि आज यह स्थिति है, कि यद्यपि, नई शैली में लिखने वाले कितने ही कवि विचारों से मार्क्सवादी हैं, किन्तु, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के बीच का भेद, फिर भी, काफी प्रत्यक्ष हो गया है।

मुझे इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है कि प्रगतिवादी आन्दोलन ने साहित्य में साहित्येतर मूल्यों को प्रोत्साहन देकर जो स्थिति उत्पन्न की उसी से युवकों को फिर से शैली की महिमा पर विचार करने की प्रेरणा मिली और इसी चिन्तन में प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ जिसका प्रारम्भिक उद्देश्य [illegible] अधिक काव्यत्व और साहित्य में अधिक साहित्यिकता [illegible] करना है। प्रयोगवाद के साहित्यिक लक्ष्यों का [illegible] कारण भी, प्रयोगवाद अपने ऊपर साहित्यिकता के सम्पूर्ण निर्वाह [illegible] अत्यन्त गुरु दायित्व लेकर आया है। किन्तु, दायित्व की इस भयानकता को वे यथा समझें जो केवल साहित्यिक क्रान्ति के [illegible] से इस आन्दोलन के साथ हो गए हैं? इसका मर्म तो कुछ वे ही कवि जानते होंगे जो सच्चे और ईमानदार हैं तथा इस दायित्व को सफल करने के प्रयास में जिनका दिमाग फटता होगा। इसी प्रकार, इस पीढ़ा का रहस्य वे कवि भी न जान सकेंगे जो बनी-बनाई राह पर चलने के अभ्यासी हैं। छायावाद की शैली रोमांटिक प्रेरणा से निर्मित हुई थी और रोमांटिक प्रेरणा आनन्द की चीज है। इस प्रेरणा के सन्दोन्माद में शैली का निर्धारण आपसे आप हो जाता है। किन्तु, प्रयोगवाद के भीतर आनन्दमय सन्दोन्माद के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है। इसकी सफलता प्रेरणा के साथ बहने में नहीं, उसे विचारों के अधीन रख कर काम करने में है। रोमांटिक मनोदशा उड़ने की मनोदशा होती है और कल्पना की यह उड़ान अब तक कविता की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती रही है। इस से विपरीत, क्लासिक कवियों की वह मनोदशा होती है जिसमें कवि धीर, स्थिर और अपने वर्ण्य विषयों पर हावी बना रहता है। किन्तु, क्लासिक चिन्तन की ही दिशा में अब एक नई मुद्रा उत्पन्न हो रही है जो उड़ने नहीं, जम कर मिट्टी तोड़ने की मुद्रा है, जो पर्वतों पर मूर्त्ति-खचन नहीं करके संदेह उनके भीतर प्रवेश करना चाहती है। इस मुद्रा के नए कवि, मुख्यतः चिन्तक कवि होंगे, किन्तु, कल्पना को वे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उनका सारा चिन्तन कल्पनामय होगा। कल्पना के सिवाय और कौन साधन है जिससे कवि वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा कल्पना को छोड़ कर और कौन शक्ति है जो वस्तुओं की आन्तरिकता के ज्ञान को चित्रों में परिवर्तित कर सके?

इसलिए, मेरा विचार है कि प्रयोगवाद हिन्दी-कविता को जिस ओर जाने का संकेत दे रहा है वह काव्यमात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है और इसीलिए प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती। न जाने, यह साधना कितने कवियों का बलिदान लेगी। न जाने, इसमें कितने कवियों के खाद बन जाने पर एक सफल कवि उत्पन्न होगा।

इस कविता की आलोचना भी कोई सरल कार्य नहीं है। और हमारे आलोचकों के पास जो पुरानी कसौटी है उस पर तो नए कवि परखे ही नहीं जा सकते। नए कवि अपना रहस्य, शायद आप खोलेंगे। अभी भी प्रयोगवादियों में अनेक कवि ऐसे हैं जिनके भीतर कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं का अपूर्व संयोग है। मेरा अनुमान है कि जो लोग इन कवियों की कविताओं को हँस कर टाल देते हैं, वे भी उनके चिन्तनयुक्त समीक्षात्मक निबन्धों से अवश्य प्रभावित होते होंगे। ज्यों-ज्यों यह कविता विकसित होगी त्यों-त्यों आलोचकों की कठिनाई

बढ़ती जाएगी। नई कविता की समीक्षा यूरोप में भी दुष्कर सिद्ध हुई है। होल्डरलीन, रिम्बाड (या रोम्बू ?), रिल्के, इलियट, स्पेंडर, डिलेन टामस आदि अभिनव कवियों की कृतियों का विश्लेषण करने में यूरोप के बड़े-बड़े दार्शनिक समीक्षकों की बुद्धि को पसीना आ गया है।

नवयुवकों ने कविता में जो अन्तर्राष्ट्रीय रुचि को अपनाना शुरू किया है, उससे भी उन्हें कलंक नहीं, सुयश की ही प्राप्ति होनी चाहिए। और अब क्या यह सम्भव है कि भारत की रुचि अन्य देशों से सर्वथा भिन्न रखी जा सके ? और अन्तर्राष्ट्रीय रुचि है क्या चीज़ ? वह अनेक राष्ट्रों की रुचियों के पारस्परिक मिलन से ही उत्पन्न होती है। गेटे के 'फ़ॉस्ट' का प्रिलूड भारतीय नाटकों के नान्दी-प्रसंग से बना था, शीलर और हाइने पर कालिदास का प्रभाव था और इलियट के विकास का एक मुख्य कारण उन पर उपनिषदों और बौद्ध चिन्तन का प्रभाव भी है। और इलियट को अपना आदर्श मान कर चलने में भारत के नव-युवकों का कोई अपमान भी नहीं है। इलियट आसानी से आज विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं और उनका उद्भव साहित्य-जगत के लिए कोई आकस्मिक घटना भी नहीं है। रोमांटिक युग से ही कविता छिलकों को तोड़ कर बीज के भीतर प्रवेश करने का प्रयास करती आ रही है और इस क्रम में छिलके बहुत बार टूटे भी हैं और कभी-कभी कवियों ने बीज के भीतर प्रवेश भी किया है। किन्तु, कविता का अधिक सौन्दर्य अब तक छिलकों के रंग से लिपटा रहा है। मगर, नए प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो रही है कि वस्तुओं के ऊपर-ऊपर अब काव्य नहीं है। कविता तो वस्तुओं के अन्तराल में बसती है। यह नया प्रयास प्रत्येक वस्तु की उसी आन्तरिकता में धँसने का प्रयास है। यह उन महलों में दीपक जलाने की तैयारी है जहाँ पहले किसी ने दीये नहीं जलाए थे। महर्षि अरविन्द की कल्पना थी कि अगले युग की कविता मन्त्र के समान होगी अर्थात आकार उसका छोटा होगा, किन्तु उसका प्रत्येक शब्द पाठक के भीतर अपार अनुभूतियों का द्वार खोलने वाला होगा। कविता का यह मन्त्रत्व क्या होगा, इस बात की कुछ थोड़ी झाँकी इलियट की कविताओं में मिलने लगी है। हिन्दी कविता का चरम लक्ष्य इसी मन्त्रत्व की प्राप्ति है और राह भी उसकी वही हो सकती है जिस पर आज इतना कोलाहल मचा हुआ है।

और इस महायज्ञ के पुरोधा भी इसी भीड़ में छिपे हुए हैं। एक दिन यह भीड़ नष्ट हो जाएगी। सम्भव है, कोयलों के साथ कुछ हीरे भी नष्ट हो जाएँ। किन्तु, ये कोयले और ये हीरे नष्ट होने पर भी नए हीरे उत्पन्न करेंगे। इसीलिए, मैं इस आन्दोलन को अत्यन्त श्रद्धा से देखता हूँ और चाहता हूँ कि यह अपने ध्येय को न भूले, हू-हुल्लड़ में पड़ कर यह पथभ्रष्ट न हो जाए और इसके समर्थ कवि विवाद से बच कर अज्ञात और अपरिचित को छूने के प्रयास में अगाधता के भीतर अधिकाधिक डूबते चलें।

यह प्रयोग सफल हुआ तो कविता उस ऊँचाई या गहराई में पहुँचने वाली है जहाँ वह पहले कभी नहीं पहुँची थी। यह ठीक है कि यह कविता जब सफल होगी, कवि-सम्मेलन बन्द हो जाएँगे और कविता के पाठकों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम हो जाएगी। किन्तु, तभी शायद, वे लोग कविता की पुस्तकों को हाथ में लेंगे जो आज कविता को छूते भी नहीं और यदि कृपापूर्वक कभी उसे सुन लेते हैं तो केवल मन बहलाव के लिए, कुछ इस भाव से नहीं कि कविता भी अनि-वार्य है अथवा वह भी उस मस्तिष्क की खुराक बन सकती है जिसे तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक कि वह किसी गहन-गम्भीर विचार से टक्कर नहीं ले। सम्भव है, मैं जो सोच रहा हूँ, उसके घटित होने में अभी काफी देर हो और प्रयोग अभी सदी-आधी-सदी तक प्रयोग ही रह जाए। किन्तु, कविता को अपनी खोई प्रतिष्ठा को यदि फिर से प्राप्त करना है तो उसकी राह वही है जिस पर प्रयोगवादी कवि चल रहे हैं। और उनमें से प्रत्येक को यदि खाद ही बनना पड़ता है, तब भी यह प्रयोग छोड़ने लायक नहीं है। आखिर अंग्रेज़ी के इमेजिस्ट कवियों का भी इतना महत्त्व तो मानना ही पड़ेगा कि जिस मार्ग पर आगे चल कर इलियट उत्पन्न हुए, उसके आरम्भिक प्रयोक्ता इमेजिस्ट कवि थे।

साँझ

शम्भूनाथसिंह

साँझ सिन्दूरी
सुनहरी पहन कर साड़ी लहरिया :
—लगे जिसमें रुपहरे गोटे—
बुलाती है क्षितिज पर
झुटपुटे में चाँद को।
चाँद,
आश्विन पूर्णिमा का चाँद
पूरब के धुँधलके बीच
काले झुरमुटों से झाँकता है;
बीथियों में ताड़ और खजूर के
छिप-छिप, दबा कर पाँव चलता,
और सहसा कर बढ़ा कर
लाजवन्ती साँझ को
झकझोर देता;
आँक देता चुम्बनों के जाल
श्याम कपोल पर।
कस कर रजत के बन्धनों में
साँझ अब मुरझा रही है।
यह सुधा का विष
कि तन का खून काला पड़ रहा है।
मर गयी लो, साँझ !
चाँदनी का भस्म
निज तन में रमाये
चाँद सारी रात अब भटका करेगा।

साहित्य और कला की समान प्रेरणा

भगवत शरण उपाध्याय

साहित्य और कला की प्रेरणाएँ समान हैं, उनके अवतरण की भूमि समान है। दोनों ने समान पृष्ठभूमि जीवन से अपना भाग पाया है। समान उपकरणों से दोनों समृद्ध हुए हैं। इसी से अनेक बार अनेकशः उनके प्रतिमान, प्रतिमाएँ, अभिप्राय समान अथवा कम-से-कम एक से रहे हैं। 'शिथिल समाधि' का दोष समान रूप से उनकी सफलता में घातक सिद्ध हुआ है, वर्ण्य, लेख्य अथवा अनुकार्य का साक्षात्कार सर्वदा-सर्वत्र उनके वैभव का कारण बना है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में सर्वत्र और सर्वदा समान आवाज़ उठती रही है, समान सैद्धान्तिक संकेत अथवा लाक्षणिक शब्दावलि से उनकी प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। क्लासिकल, रोमैंटिक, यथार्थवादी, नव-क्लासिकल, प्रकृतिवादी, इम्प्रेशनिस्ट, पोस्ट-इम्प्रेशनिस्ट, क्यूबिस्ट, फ़्यूचरिस्ट, सर्रियलिस्ट, सामाजिक-यथार्थवादी आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ आज इन नामों से द्योतित होती हैं वे सभी साहित्य और कला दोनों के क्षेत्रों में समान रूप से व्यवहृत हुई हैं।

इसी कारण साहित्य और कला दोनों के अभिप्राय (मोटिफ़) भी अनेक बार प्रायः एक ही रहे हैं। साहित्य में निरन्तर कला के लक्षणों और उसके अनुकार्यों का उल्लेख हुआ है और कला के अनेकानेक भाव-विषय सीधे साहित्य से लेकर लिखे, खींचे या कोरे गए हैं। इसी से दोनों में असाधारण अन्योन्याश्रय और अन्तरावलम्बन है।

कालिदास ने अपने साहित्य का सृजन करते समय 'ललिते कलाविधौ', 'ललिताभिनय', 'पत्रविशेषक', 'चित्रशाला', 'सद्मसु चित्रवत्सु', 'सचित्राः प्रासादाः', 'विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्', 'द्वारोपान्तोल्लिखित वपुषो शंखपद्मौ', 'आलेख्यशेषस्य', 'सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन', 'प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखां', आदि पदों में उस साहित्यगत कलाकारिता की ओर संकेत किया है। ऐसे ही उनके अनेक स्थल चित्रण और तक्षण कलाओं के समान प्रतिमानों-प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं। कुछ इनमें से इस प्रकार हैं—'प्रतिकृति', 'मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ती', 'प्रणयकुपितां', 'आलेख्य वानर इव', 'तर्कयामि येन ···लिखिता सा शकुन्तला', 'रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग', 'पूरितव्यं···कदम्बैः', 'कुसुमरसः···मधुकरः', 'चित्रगताया···आसन्नदारिका', 'अपूर्वेयं···आलिखिता', 'चित्रपरिचयेनांगेषु'।

चित्र-सम्पदा के अतिरिक्त वह कवि बार-बार अपनी साहित्यगत स्थितियों की व्याख्या-विन्यास के लिए मूर्तन के अभिप्रायों का सहारा लेता है। अपने काल की मृण्मूर्तियों के प्रति वह 'वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरः', 'मृण्मयूरहस्ता', 'भद्रमयूरः', 'शकुन्तलावण्यं' आदि में संकेत करता है। और मूर्तनतक्षण (पत्थर में) की तो अनन्त सम्पदा कवि के साहित्य में खुल पड़ी है। 'कालीकालाभरणा', 'चलकपालकुण्डला', 'मयूरपृष्ठाश्रयी गुह', 'अश्वमुख्यः', 'श्रीकमललक्ष्मा पुरुषश्चसाक्षात्' कला और साहित्य दोनों अपने समसामयिक जीवन के ठोस प्रतिमानों को प्रस्तुत करते हैं। 'मूर्ते च गंगा यमुने तदानीं स चामरे देवमसेविषाताम्' में कालिदास ने गुप्तकालीन उस कलागत अभिप्राय का उल्लेख किया है जो मूर्तन के क्षेत्र में अभी हाल ही में उतरा था और जिसमें मन्दिरों के द्वार मकरारूढ़ा गंगा और कच्छपारूढ़ा यमुना के प्रतीकों से सजाए जाने लगे थे। पार्वती-परिणय अथवा शिवपार्वती की जो अनन्त मूर्तियाँ मध्यकाल में बनीं, उनके स्रोत की ओर कवि ने पूर्व ही अपने 'शम्भुनादत्तहस्ता' में निर्दिष्ट कर दिया। गुप्तकालीन प्रभामण्डलों का अनेकशः वर्णन कालिदास के 'छायातपत्र', 'प्रभामण्डल', 'स्फुरत्प्रभामण्डल', 'पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशांकम्', में हुआ है। अपने 'दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः कैलासस्य' और 'रामस्तुलित कैलासं' में उसने रावण के कैलास उखाड़ने से उसकी सन्धियों के विच्छिन्न हो जाने के उस प्रसंग की ओर संकेत किया है जिसका मूर्तन पिछले मध्यकाल की मूर्तिकला में प्रभूत मात्रा में होता चला गया। इसी प्रकार यक्ष-यक्षिणियों का मूर्तन शुद्ध कला में जितना उस काल प्रचुर हुआ, उसी प्रचुर मात्रा में कवि ने भी अपने साहित्य में उन्हें व्यक्त किया है। मेघदूत का तो नायक ही यक्ष है। कुषाणकालीन मथुरा की स्तूप-वेदिकाओं (और दूर भरहुत) की यक्षियों की पृष्ठभूमि से ही कवि की अयोध्या की उपेक्षित स्तम्भ-नारी-मूर्तियाँ उठी हैं।

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥

स्तम्भों पर बनी नारी मूर्तियों के रंग विवर्ण हो गए हैं, धूलि-धूसरिता उनके उत्तरीय अब नहीं दिखते, उनके स्थान पर उन पर रेंगने वाले कालभुजंगों की केंचुलें अब उनके स्तनों का अवगुंठन करती हैं! यक्षों का संसार तब की भावभूमि पर अपने आपानक लेकर उतरा था। यक्ष और उनके स्वामी कुबेर इन आपानकों के श्लाघ्य देवता थे। कुबेर की चषकहस्ता मूर्तियों का तब प्राधान्य था, जब कवि के शब्दों में नागरिकों द्वारा मदिरा पीकर फेंके, टूटे चषकों से 'भूमि चषकोत्तरा' हो उठती थी। 'कुमार सम्भव' में शिव की समाधि और तत्कालीन अनन्त समाधिगत बुद्ध-प्रतिमाओं की प्रेरणा सर्वथा समान है, एक भावभूमि से उठी। कन्दुक क्रीड़ारता, गाती-नाचती वीणा बजाती, पुष्प-चयन करती नारी के अनेकानेक अभिप्राय एक ही सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं, जैसे दोहद की अभिराम परम्परा भी। मूर्तनकला में दोहद की सम्पदा जैसे बरस पड़ी है। नूपुर धारण कर तरुणी सुन्दरी का अशोक-मूल पर पदाघात कला और साहित्य दोनों में

सुकुमार निष्ठा से रूपायित हुआ है, जैसे मदिरा के कुल्ले से बकुल का कुसमागम। दोहद का जो रूप कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में निखारा है वह साहित्य के दूसरे कृतिकारों का भी इष्ट रहा है और उन्होंने भी उसका अनेकधा रुचिर वर्णन किया है।

समाज में संस्कृत सुरुचिप्राण नारी ललितावसरों पर 'लीलारविन्द' धारण करती थीं—कमलदण्ड। यह प्रतीक कला और साहित्य दोनों के रूपायन का अभिमत प्रिय अभिप्राय बन गया। मौर्य-शुंग कालीन मिट्टी के ठीकरों से लेकर उत्तर गुप्तकालीन कृतियों पर निरन्तर यह अभिप्राय आकलित मिलता है। सदा समाज के सौन्दर्य-मानों का आकलन कला और साहित्य में होता आया है। मूर्तन के क्षेत्र में पीनपयोधरों और गुरुनितम्बों की जो छाया पड़ी तो समूचे साहित्यकारों ने, विशेषतः कालिदास ने, उस सौन्दर्यमान को अपनाया। कवि ने उन्हीं की प्रशंसा में 'नितम्बगुर्वी', और 'गुरुश्रोणिपयोधरत्वात्' के से सैकड़ों-सैकड़ों पद लिखे। एक स्थान पर तो कला की उस पृष्ठभूमि को लेखनी के माध्यम से साहित्य में उतारते हुए उसने लिखा कि परस्पर पीड़न करने वाले पीनपयोधरों का सान्निध्य इतना गहन है कि दोनों के बीच एक मृणालतन्तु तक नहीं रखा जा सकता।

बुद्धकालीन वत्सराज उदयन को अवन्ती के चण्ड प्रद्योत महासेन ने मायागज के छल से बन्दी कर लिया था। बन्दी की स्थिति में ही उस वीणावादक उदयन ने प्रद्योत की रुचिर कन्या वासवदत्ता को तन्त्रीवादन सिखाते समय मोह लिया और एक दिन अपने मन्त्री यौगन्धरायण की सहायता से उदयन वासवदत्ता को हाथी पर चढ़ा कर कौशाम्बी ले भागा। यह कथा संस्कृत साहित्य में बार-बार उतरी है। कालिदास से पहले महाकवि भास ने इसी कथा को अपने दो-दो समूचे नाटकों—'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञाय गन्धरायण'—का विषय-वस्तु बनाया, बाद में हर्ष ने उसे अपनी 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' में ध्वनित किया। 'कथासरित्सागर' में भी वह कथा खुल कर आई और साहित्य में अनेकधा मुखरित हुई। स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' के अपने 'उदयनकथा कोविदग्रामवृद्धान्' में गाँव-नगर के वृद्धों द्वारा उस कथा के कहे जाने का उल्लेख किया। वह कथा-प्रसंग भास-कालिदास से सदियों पहले कलावन्तों के हाथ से प्रकाश पा चुका था। कलाकार ने साहित्यकार से कहीं पहले अपने साँचे को उस रोमांचक प्रसंग से कृतार्थ कर दिया था। वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी के खण्डहरा में इस कथा को रूपायन करने वाले मिट्टी के अनेक ठीकरे मिले हैं जो शुंग काल यानी ईस्वी पूर्व दूसरी सदी के ही हैं, उदयन से केवल तीन-चार सौ वर्ष बाद के बने। उपलब्ध ठीकरों के मतिमान साँचाकार ने ठीकरे पर समूची कथा खींच दी है। राजा वीणा धारे हाथी पर बैठा है। वासवदत्ता उसकी कमर से चिपटी हुई है। पीछे पूँछ के पास अनुचर बैठा नकुली से स्वर्ण-मुद्राएँ गिरा रहा है जिससे पीछा करने वाले शत्रु-सैनिक लाभ में फँस कर राजा का पीछा करना छोड़ दें। गज बेतहाशा भागा जा रहा है। ऐतिहासिक घटना का इतना सजीव वर्णन कला के ठीकरे पर अन्यत्र कभी नहीं हुआ। इस एक ठीकरे ने साहित्य के अनेकानेक नाटकों की काया अकेले सिरज दी। इस कथा की पृष्ठभूमि से साहित्य और कला दोनों ने अपना भाग पाया, दोनों इसके सौरभ से गमके।

साहित्य और कला दोनों में समान प्रचुरता से प्रसाधन का निरूपण हुआ है। पति या प्रेमी पत्नी या प्रेयसी का वेणि प्रसाधन, पुष्प-मण्डन या पत्र-लेखन (भक्ति विशेषक-अंकन) करता है। इस प्रसंग के आकलन तक्षक की छेनी से बार-बार द्वार-स्तम्भों के चतुष्कों में हुआ है। कुषाण और गुप्तकालीन अनेक कला अभिप्राय इस प्रतीक से मुखरित हुए हैं। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में इस लक्षण के आकलन सुरक्षित हैं। प्रतीकतः नन्द द्वारा सुन्दरी का प्रसाधन मान कर भी इनकी ओर कुछ लोगों ने संकेत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका आकलन, जैसे स्वयं नन्द-सुन्दरी का साहित्यगत प्रसाधन, तत्कालीन समाज का प्रक्षेपण-प्रसार-प्रतिबिम्ब मात्र है। नन्द द्वारा सुन्दरी का वह अभिराम, पर परिणाम में भयावह प्रसाधन महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' महाकाव्य में विशद रूप से मुखरित हुआ है।

वर्णन चौथे सर्ग का है। नन्द बुद्ध का सौतेला भाई है, बुद्ध का भक्त, पत्नी सुन्दरी का एकान्त प्रिय और प्रेमी। एक दिन वह अपने प्रासाद के प्रकोष्ठ पर प्रिया के मुख पर विशेषक लिख रहा था। विशेषक पत्र-लेखन को कहते थे, कपोलों, ललाट और चिबुक पर लतापत्रों और टहनियों को रंग की रेखाओं से अंकित करने को। वह प्रसाधन सामान्यतः नन्द द्वारा सम्पन्न होने के बावजूद उस विशेष अवसर पर विनोद का रूप धारण कर चुका था, क्योंकि वस्तुतः नन्द द्वारा सुन्दरी का नहीं बल्कि सुन्दरी द्वारा नन्द का प्रसाधन हो रहा था। नन्द के हाथ में दिखाने के लिए दर्पण पकड़ा कर पति की मूँछ को देख देख कर अपने चेहरे पर राग रेखाओं द्वारा मूँछ बना रही थी। नन्द भी अपनी गीली साँसों से दर्पण की स्वच्छ भूमि धूमिल करता जा रहा था, जिससे चिढ़कर एक बार तो सुन्दरी ने बनावटी कोप दिखा कर उसके समूचे मुख को रंग दिया। तब कुछ घबड़ा कर नन्द सुन्दरी के पाँव पर गिर पड़ा। सुन्दरी ने तब उसे उठा कर अंक में भर लिया। यह मण्डन-विनोद अभी चल ही रहा था कि तथागत भिक्षा के लिए द्वार पर आए और उन्होंने बदस्तूर अपना भिक्षापात्र गृहस्थ की देहली में बढ़ा दिया, पर स्वामी-स्वामिनी के विलास के उद्दीपक प्रसाधन के उपकरण—अंगराग, फेनक, गन्धद्रव आदि—प्रस्तुत करने में व्यस्त अनुचरों ने बुद्ध को न तो भिक्षा दी, न आसन दिया, न उनसे मीठे बैन बोले। तथागत निर्द्वन्द्व आए थे निर्विकार चले गए। दासी ने जो बुद्ध को इस प्रकार बिना भिक्षा लिए लौटते हुए देखा तो भाग कर नन्द से वह अपराध निवेदित किया। नन्द ने तत्काल प्रिया से प्रसाधन बन्द कर बुद्ध को मना लाने की अनुमति चाही, प्रिया ने अनुमति दी, पर उस प्रसंग में उसने जो कहा, उससे उनके प्रणय की घनता और वियोग की अधीरता का पता चलता है। सुन्दरी ने कहा—

नाहं यियासोगुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीड़ाम्।
गच्छार्यपुत्रेहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः॥ ३४॥

(शेष पृष्ठ १८ पर)

मूक मानव

मा० गोखले

चारों तरफ अँधेरा फैल गया। हट्टाकट्टा यानादि[1] मुसलाय ब्राह्मणों की गली के हर घर का दरवाज़ा खटखटा कर निराश हो, आखिर-कार रामय्या के घर के सामने खड़ा हो गया।

"रामय्या जी! रामय्या जी!!" मुसलाय ने बाहर से आवाज़ दी। अन्दर से कोई जवाब नहीं आया।

"कोई भी दिखाई नहीं पड़ रहा है, कहाँ गए सब लोग?" कहते हुए मुसलाय अन्दर दाखिल हुआ।

रामय्या जी घर के अच्छे आदमी हैं। तीन बच्चे भी हैं। हमेशा घर में रिश्तेदारों का ताँता-सा लगा रहता है। मकान भी बहुत बढ़िया है। घर के आगे खाली मैदान पड़ा है।

किवाड़ अधखुला था और अन्दर से रोशनी कुछ अस्पष्ट-सी बरामदे में पड़ रही थी। वहाँ कोई नहीं था। मुसलाय इधर-उधर देखते हुए बरामदे में गया। अचानक उसकी नज़र एक ऐसी चीज़ पर पड़ी जो बरामदे के एक खम्भे की बगल में चमक रही थी।

मुसलाय ने इसके पहले कभी ऐसी चमकती हुई चीज न मालकिन के पास देखी थी, न उसके बाल-बच्चों के हाथ में ही। खड़े-खड़े वह सोच रहा था कि इस तरह आँखें चौंधिया देने वाली वह चीज क्या हो सकती है? बहुत सोचा, पर कुछ समझ में नहीं आया। आखिर वह अपना सन्देह दूर करने के लिए आगे बढ़ा। उसे लगा कि अगर वह देरी करेगा तो चमकने वाली वह चीज कहीं गायब न हो जाए। सो वह अपनी नज़र उस पर गड़ा कर आहिस्ता-आहिस्ता उसके पास गया और बड़े इतमीनान से उसे देखा—गागर, और उसकी बगल में एक छोटा-सा लोटा। मुसलाय उन पर टकटकी लगा कर देखता वहीं खड़ा रह गया। वह सब कुछ भूल गया। उसे इसका भी ख्याल न रहा कि वह रामय्या जी के घर के बरामदे में है और वह उनसे मिलने आया है। सब कुछ भूल कर उन दोनों बर्तनों की तरफ वह देखता जा रहा था। उस बरामदे में अकेला मुसलाय था और वे चमकने वाली दो चीज़ें। आजकल ये चीज़ें बाजार में नहीं मिलतीं, अगर मिलती भी हैं तो बहुत ही मँहगी। मामूली आदमी के लिए ऐसी चीज खरीदना तो ख़्वाब की बात है।

मुसलाय का एक पैर आगे को बढ़ा। इतने में घर के अन्दर से किसी के आने की आहट हुई। मुसलाय के होश एकदम उड़ गए। उसे ऐसा महसूस हुआ कि अभी उस पर घूँसों और लातों की बौछार पड़ेगी। वह कुछ सम्हल गया और दरवाज़े की तरफ़ मुँह करके उसने आवाज़ दी—"माई जी!" उसके बाद ही उसे कुछ तसल्ली हुई।

"कौन है?" कहती हुई रामय्या की पत्नी सीतम्मा अधखुले किवाड़ को पूरा खोलती हुई बरामदे में आ गई। जैसे ही सीतम्मा बरामदे में आई, उसके साथ-साथ रसोईघर की खुशबू भी आई और मुसलाय की नाक ने उसे अपने में समेट लिया।

"माई जी! मैं हूँ यानादि मुसलाय!" वह कुछ सम्हल तो गया, पर मुँह से ठीक तरह शब्द नहीं निकल पा रहे थे।

"कौन? मुसलाय? तुझे हो क्या गया रे कम्बख्त! इतने जोर से तूने आवाज दी कि सुन कर मेरे होश उड़ गए। इस समय यहाँ कैसे आया?·········अरे, यहाँ तो कोई भी नहीं है! कितनी देर से है तू यहाँ?·········मुझे तो इसका ख्याल भी नहीं रहा कि बरामदे का दरवाजा खुला हुआ है और बच्चे यहाँ नहीं।·········ये बच्चे तो एक मिनट के लिए भी घर में नहीं रहते। इन्हें अड़ोस-पड़ोस के घर अच्छे लगते हैं। इतने लापरवाह हैं कि दरवाजा खुला ही छोड़ गए। क्या किया जाए? मेरी तो नाक में दम है!·········शास्त्री जी के लिए क्या कहूँ? इतनी रात बीत गई पर घर आने का नाम नहीं, कहीं बैठ कर शास्त्र-मीमांसा में दिमाग लड़ा रहे होंगे।·········हाँ, यह तो तूने बताया नहीं—बात क्या है? किस काम से आया है—? पर अच्छा हुआ आ गया, गागर·········" सीतम्मा इस तरह बहुत जल्दी-जल्दी बातें पूछ रही थी, मानो पानी में डूबने से उसके मुँह और नाक में बहुत-सा पानी भर गया हो और वह उसे निकालने की बड़ी कोशिश कर रही हो।

"रामय्या जी से मुलाकात करने आया था।" मुसलाय ने किसी प्रकार कहा।

"वे तो घर में नहीं हैं। मालूम नहीं कहाँ अपनी बैठक जमाए हुए हों। घर में कोई मर भी जाए, उसकी उनको परवाह नहीं।·········तूने बताया नहीं, उनसे क्या काम है?"

"कुछ नहीं माई जी! बाऽऽऽऽत! बऽऽबऽऽबऽऽब·········!!!"

"क्या बा बा बा, तुम्हारा सिर! अपनी हकलाहट से मुझे परेशान कर रहे हो। कुछ ठीक बोलते भी नहीं! रसोई का सारा काम वैसे ही पड़ा हुआ है।·········कच्चा ईंधन लाकर मेरे सिर पटक दिया!······खैर उनसे कल मिल लेना! अभी उनके आने में और भी देरी हो जाएगी! हाँ, चले जाओ, किवाड़ बन्द करके जाऊँगी! हाँ, हाँ, मुसलाय! ज़रा ठहर तो जाओ! दो घड़े पानी दे जाओ! तुम्हारा बड़ा भला हो! इतना काम कर देना, इतने में शायद वे आ भी जाएँ! अभी अन्दर से घड़ा लाए देती हूँ। अरे, मैं तो भूल ही गई—गागर और लोटा तो यहीं पड़ा है। आजकल ये चीज़ें बहुत मँहगी हैं। ऐन वक्त पर तुम आ गए हो! अभी ठहर जाओ मुसलाय!"

---

१. आन्ध्र की अनुसूचित आदिम जाति।

सीतम्मा यह कहकर अन्दर चली गई और एक हाथ में लालटेन और दूसरे हाथ में घड़ा लिए वापस आ गई। छत से लटकने वाले एक लोहे के तार में लालटेन लटका दी और मुसलाय के हाथ में घड़ा देते हुए कहा—"तेरा बड़ा एहसान मानूँगी। ज़रा उन दोनों टबों में पानी तो भर दे!"

सीतम्मा यह कह वहीं खड़ी हो गई।

"हाँ, हाँ, माई जी! तुरन्त भर देता हूँ! आप अपना काम देख लीजिएगा।"

"कोई बात नहीं, लालटेन लिए मैं कुएँ के पास आ जाऊँगी।··· क्यों मुसलाय? तुमने अपनी बीबी को घर बुला लिया या नहीं?"

"क्या कहूँ माई जी?"

"क्यों अपनी बीवी के बारे में कुछ कहते शर्म आती है? अरे तू तो पागल है!···सूरत-शक्ल कैसी है, उसकी?"

"हमारी बस्ती में तो लोग उसे खूबसूरत कहते हैं।"

"उसका नाम क्या है?"

"उहूँ"

"क्यों रे उसकी याद करके खुश हो रहा है या शरमा रहा है? हमारे परिवारों में तो ऐसा नहीं होता। पत्नी का नाम बतला देते हैं।"

"वह बात नहीं माई जी! नाम तो उसका शशिरेखा है।"

"शशिरेखा? नाम तो बहुत अच्छा है। तुम्हें तो अच्छी बीबी मिल गई है। बड़ा शौकीन नाम है। शहर की लौंडी तो नहीं।"

"नहीं माई जी! उसकी ताई का नाम शशिरेखा है। उसने अपना ही नाम इसे भी दे दिया!"

"अच्छा!···वह घड़ा वहीं रख दे! देख मुसलाय! ज़रा तकलीफ़ दे रही हूँ। गौशाला के उस कोने में उपले पड़े हैं। एक टोकरी भर लाकर इस बरामदे में डाल दे।"

"जी···?"

"बस!···अभी लड़के आजाएँगे। उनको खिलाते-पिलाते सवेरा हो जाएगा। हाँ सुना—बच्चों की ये खाटें ज़रा आँगन में रख दे।"

"और कोई काम तो नहीं है न"···

"नहीं बाबा, नहीं! तेरा भला हो।"

"रामय्या जी ने शाम को आने के लिए कहा था!"

"कहा होगा, पर अभी तक तो आए नहीं। पता नहीं, कब आएँगे।"

"सवेरे उनसे मुलाकात हुई भी और······"

"हाँ! हुई होगी!······"

"मैंने चार आने माँगे थे।"

"अच्छा···हाँ···अरे, मैं तो भूल ही गई। रसोईघर का सारा काम वैसे ही पड़ा है। उनके···खाने-पीने में कोई कसर नहीं रहनी चाहिए।···अभी तो वे आये नहीं। तुम कल सवेरे मिल लेना।"

"माई!···पाव भर···चावल···!"

"अभी तो मैं कोई चीज़ छू नहीं सकती! रसोई के कपड़े पहने हूँ। फिर कभी आना!···जा रहे हो? एक बात सुनो तो। दर्भावालों के घर में हमारे बच्चे होंगे। ज़रा उनसे घर आने को कहना, अँधेरा बहुत हो गया है।"

× × ×

"सीतम्मा जी के बच्चे अन्दर होंगे! कह दीजिएगा, उनकी माँ बुला रही हैं।" मुसलाय दर्भावालों के आलीशान मकान के आँगन के अन्दर कदम रखते हुए बोला!

"कौन है रे वह?" घर के बाहर के खाली मैदान में खाट पर बैठे दर्भा सुब्बय्या जी ने प्रश्न किया।

"मैं हूँ बाबू जी! मुसलाय! सीतम्मा जी के बच्चों को बुलाने आया हूँ।"

"ओह, तुम हो मुसलाय! इधर आओ तो! ···उनके बच्चे अभी अभी गए, राघवय्या जी के बच्चों के साथ! अब बस पहुँचते ही होंगे। बैठो। मेरे बायें पैर की हड्डी में बड़ी चोट लगी है! इतना दर्द हो रहा है कि क्या कहूँ? बाप रे बाप! भगवान मुझे ज़िन्दा नहीं रखना चाहता!···हूँ!! हूँ!!!"

"पैर बहुत सूज गया है बाबूजी! चोट कैसे लगी?"

"सीढ़ियों से उतरते हुए पैर फिसल गया! हे भगवान! कौन-सा पाप मैंने किया? ज़रा देखो तो मुसलाय!···सुनती हो? क्या कर रही हो? तेल का डिब्बा तो इधर लाना!"

"हाँ, हाँ, सुन रही हूँ! चिल्लाते क्यों हो!···ये मर्द हैं कि बस हर छोटी-सी बात के लिए आसमान सिर पर उठा लेते हैं! अड़ोस-पड़ोस के लोग सुनेंगे, तो क्या कहेंगे, ज़रा इसका भी तो ख्याल रखना चाहिए!···मैं रसोई के काम में लगी थी।" खाली हाथ तो बैठे नहीं!······यह कौन?"

"कोई भी हो! मैं तो यहाँ दर्द से मरा जा रहा हूँ, पर तुम्हें इसकी परवाह ही नहीं। तिस पर चुप रहने का सबक सिखाने चली हो। तेल का डिब्बा वहाँ रख दो और जाओ अपना काम करो! रसोई करके मुझ पर कोई एहसान तो नहीं कर रही हो।"

"एहसान तो आप कर रहे हैं, दिन-भर घर में बैठे-बैठे!"

"बकवास बन्द कर अपना काम करो।······देखो मुसलाय! तेल से ज़रा पैर की मालिश आहिस्ता-आहिस्ता करना!······ओह! भगवान रामचन्द्र जी! तुम कहाँ हो?"

"आजकल तो हर किसी को अपनी-अपनी तकलीफ़ का ही ख्याल रहता है। ज़माना बेढंगा है, सरकार!"

"हाँ! तुम ठीक कहते हो। आजकल कोई मोटा-तगड़ा आदमी ही नहीं दीखता। हर कोई हड्डी का ढाँचा-सा दीखता है। लोगों में सुस्ती बहुत छा गई है। हर घर में बीमारी पलती है। इसीलिए तो डाक्टरों का बोल-बाला हो गया है। हमारे दादा जी के ज़माने में लोग इतना चावल खाते थे, इतना दूध-दही पीते थे कि उसमें से एक चौथाई भी आज का इन्सान खा-पी नहीं सकता! टोकरी भर के गारेलु[1] एक मिनट में उड़ा जाते थे। हमारे गाँव के विष्णु मन्दिर के

१. आन्ध्र का उड़द का बनाया पकवान।

पास जो पत्थर का रथ पड़ा हुआ है, उसे ये लोग अपनी एक भुजा के सहारे हिला देते थे, और उसे मोटर-गाड़ी की तरह दौड़ाते थे।……ओह, ज़रा धीरे-धीरे मालिश करना!……अभी कलियुग का अन्त होने को है। अन्यथा ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती!"

"जब से धान की कटाई हुई, तब से आज तक कोई मज़दूरी मिली ही नहीं। हमारे तो मरने की नौबत आ गई है, सरकार!"

"मैं भी वही कह रहा था! भगवान का जन्म बसन्त देव के रूप में होने वाला है। राक्षसी प्रवृत्ति के आदमियों का अन्त हो जाएगा। कृतयुग का प्रारम्भ होगा!"

"हमारी बस्ती में ऐसा कोई घर नहीं, जहाँ चूल्हा जलता दीखे। लोग दाने-दाने को मुहताज हो गए हैं बाबू जी!"

"एक तूफ़ान आएगा! लोगों का सर्वनाश हो जाएगा! राक्षसों का संहार! शंकर जी के दर्शन, धर्म परायणता का साक्षात्कार होने का समय आ गया।"

"रात बीतती जा रही है, सरकार! कल सवेरे से हम दोनों ने कुछ खाया-पिया नहीं, भूख बहुत लग रही है।"

"हाँ! हाँ!! रात बहुत बीत गई है। अब छोड़ दे न, मालिश। हाँ, देखना, तुम्हारे हाथों में जो तेल लगा हुआ है, उससे पैंदे को ज़रा रगड़ देना। हाँ, बस!……सुनती हो। गरम पानी तैयार है कि नहीं?"

"रामय्या जी से सवेरे चार आना पैसा माँगा था। उन्होंने शाम को आने के लिए कहा, पर अभी तक वे घर नहीं आए। शायद देर से घर पहुँचेंगे। दया कीजिए बाबूजी! कल से हमने कुछ खाया-पिया नहीं। कुछ खाने को दिला दीजिए।"

"अरे रे! यह बात है! पर, सच मानो, घर में कुछ नहीं है। अब मैं तुम्हारी मदद कैसे करूँ? मैं आज सवेरे शेषय्या से एक रुपया उधार माँग कर लाया था, पर घी वाली ज़मीन-आसमान एक कर उसे ले गई। मैं अन्दर पूछ कर देखता हूँ। कोई चटनी-वटनी हो, तो ले जाना।……सुनती हो?……"

"जब खाने को कुछ नहीं है, तो चटनी क्या चाटें बाबू जी! अगर आप थोड़ा-सा चावल दिला देते, तो मेरा काम चल जाता!"

"चावल तो बहुत मँहगा हो गया है, और मिलना भी मुश्किल हो गया है! हमारे अनाज का पातरा[1] अभी खुला नहीं। क्योंकि मैं इधर लँगड़ा बनकर बैठ गया हूँ! लोगों से सप्ताह-भर से कह रहा हूँ, पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। कोई आदमी ही नहीं मिला! हमारे घर में भी चावल की बड़ी तकलीफ़ हो रही है। अड़ोस-पड़ोस से उधार ले-लेकर काम चला रहे हैं। यह भी बड़ी मुसीबत है! भगवान श्री रामचन्द्र जी की जय हो!……हाँ शायद रामय्याजी अब घर पहुँच ही गए होंगे। उन्हीं से जाकर मिल लो। हाँ, सुनो—कभी-कभी इधर आ जाया करो। भूलना नहीं।……भगवान रामचन्द्र जी की!……"

× × ×

रामय्या जी रात को बड़ी देर से घर लौटे।

"गरम पानी रख देना! तौलिया दे देना। खाना भी जल्दी परोस देना!"—घर पहुँचते ही वह बड़ी झुँझलाहट से बोले। मानो अभी तक गाँव-भर के मामले सुलझाने में मशगूल रहे हों। उसी वक्त मुसलाय ने दबे पाँव वहाँ आकर दरवाज़ा खटखटाया।

"आपने साँझ को आने के लिए कहा था"—दरवाज़ा खुलने पर रामय्या जी को सामने देख मुसलाय ने कुछ डरते हुए धीमे से कहा।

"राम! राम!! तू तो नाक में दम कर रहा है। इस वक्त तो चला जा! कल मिल लेना—देखा जायगा! इस वक्त मुझे क्यों परेशान कर रहा है?"—रामय्या जी ने बड़ी नाराज़गी से कहा। मुसलाय रामय्या जी के घर से सीधे साहूकार चेंचय्या की दूकान के पास गया और वहाँ एक कोने में दबकर खड़ा हो गया। खाली मुँह से यों ही कुछ चबाते हुए-से!

"क्यों रे मुसलाय, तू तो बड़ा चंट आदमी निकला। तूने कहा था कि सवेरे आकर लकड़ी फाड़ दूँगा। पर दिखाई अब दे रहा है।" दूकान की चीज़ें इधर-उधर सँभालते और कनखियों से मुसलाय की तरफ़ देखते हुए साहूकार चेंचय्या ने कहा।

"इस यानादि जाति के लोग ही ऐसे हैं कि फाका करना मंजूर है, पर काम करना पसन्द नहीं करेंगे।"—गाँव के एक बड़े किसान के लड़के ने, जो तमाखू की रीढ़ बड़ी सावधानी से निकालकर चुरुट बना रहा था, मुसलाय की तरफ़ बड़ी लापरवाही से देखते हुए अपनी राय साहूकार को बता दी।

"आप भी कैसी बात कर रहे हैं साहूकार जी? मैं गाँव से भाग थोड़े ही जाऊँगा! कल मैं ज़रूर आपका काम कर दूँगा। मुट्ठी भर दाने के लिए मैं कोई भी काम करने के लिए हमेशा तैयार रहता हूँ। आपका काम करने में तो मुझे बेहद ख़ुशी होगी। कल मैं ज़रूर यहाँ आकर लकड़ी फाड़ दूँगा साहूकार जी।"

"मैं ज़माने से जानता हूँ, तुम लोगों पर यकीन करना निहायत बेवकूफ़ी है। अगर तुम लोगों की उम्मीद में बैठे रहें, तो हमारा कारोबार ही ठप्प हो जाए।......ख़ैर, ज़रा बाहर के धान के बोरे अन्दर कोठी में रख देना!"

"अभी रखता हूँ सरकार!—पर आपकी बड़ी मेहरबानी हो, अगर आप पाव सेर चावल उधार दे दें। कल से हम दोनों ने कुछ छुआ तक नहीं है। पैसा मैं कल शाम तक चुका दूँगा।"

"मुसलाय बातें तो बहुत मीठी-मीठी कर रहा है। उधार चुका दे, न चुका दे भाड़ में जाय—!" किसान के लड़के ने चुरुट मुँह में रखते हुए कहा।

"हाँ, हाँ, तुम ठीक कह रहे हो। देखो, मुसलाय मुझे तो तुम पर तरस आता है, पर बात यह है कि मैंने आज का सारा हिसाब-किताब खतम कर दिया है और अभी-अभी भगवान को कपूर जला कर भेंट भी चढ़ा दी। अब तो उधार दे नहीं सकता। और फिर दूसरी बात यह भी है कि मुझे गाँव में बहुत-से लोगों से उधार का रुपया-पैसा मिलना बाकी रहता है। साहूकार पैसे के बिना रोज़गार भला क्या कर

१. (भंडार)

सकता है ? यह तुम्हें मालूम नहीं। इस लेन-देन में मुनाफ़ा तो दूर रहा, उल्टे लोगों के सामने नाक रगड़नी पड़ती है। ख़ैर, रहने दो यह साहूकारी का पलड़ा। कल किसी वक्त चले आना। हम तुम गाँव छोड़कर तो भाग नहीं जायेंगे। क्यों ?"

"मुझ पर रहम कीजिए चेंचय्या जी ! जान निकली जा रही है।"

"तुम तो अपनी ही बात पर अड़े हो। मैं अधिक क्या कहूँ ? आधी रात कोई उधार माँगने का वक्त होता है ?......ए ! आखिर तुम धान के बोरे अन्दर पहुँचाओगे कि नहीं ? टुकुर-टुकुर क्या देख रहे हो ?"

"साहूकार जी ! मुझे तो रोना आ रहा है। आप नहीं जानते भूख की कितनी बड़ी लपटें मुझ में भभक रही हैं। कम से कम कुछ तो खाने को दे दीजिए !"

"यह लो तमाखू ! ......चेंचय्या जी ! उसके सामने गुड़ की थोड़ी-सी बुकनी फेंक दीजिए न ! बहुत रो रहा है !"

× × ×

"मैं पूछ रही हूँ, अभी तक तुम गए कहाँ थे ? क्या खाक छान रहे थे ? तुम्हें तो मालूम है, कल सबेरे से घर में चूल्हा नहीं जला। घूम-घामकर अब खाली हाथ लौट आए हो। इस तरह मुझे भूखी रखकर क्यों मारना चाहते हो ? मायके ही भेज दो। मैं बेमौत यहाँ मरना नहीं चाहती !" ......मुसलाय को देखते ही शशिरेखा आग-बबूला हो गई !

"क्या बकवास कर रही है तू ? अन्दर आ जा !"—खाली हाथ लटकाए कुटिया के अन्दर जाते हुए मुसलाय ने जवाब दिया।

"नहीं, मैं नहीं आऊँगी। मैं तो अपने मायके चली जाऊँगी।"

"मायके कैसे जायेगी ! मर्द के जीते जी बीवी कहीं मायके जा सकती है ? नखरे छोड़कर अन्दर चली आ !"

"अरे रे !! मेरी बाँह क्यों खींच रहे हो ?"

"अन्दर तो आ ! मैं सब कुछ बता दूँगा।"

"क्या बता दोगे ? घर में एक दाना भी नहीं है।......अरे रे !!! यह क्या कर रहे हो ?......रहने दो अपनी मुहब्बत !"

"रहने कैसे दूँ ?......इधर बैठ जा, मेरे सामने।"

"मैं नहीं बैठूँगी।"

"नहीं बैठेगी ?......हड्डी-पसली एक कर दूँगा तेरी !"

"ज़रूर कर दो ! अभी तो आधा मर ही चुकी हूँ 'भूख से' अगर मेरी मौत से तुम्हें खुशी हो तो अपनी वह इच्छा भी पूरी कर लेना।"

"छीः ! छीः !! कैसी गन्दी बात कर रही है ! तू तो मेरे दिल की धड़कन है ! ख़ैर,......हमारे दिन अच्छे नहीं ! मैं लोगों का हरेक काम कर देता हूँ, लहू-पसीना एक करके भी। पर कोई एक दमड़ी तक नहीं देता ! मैं करूँ तो क्या ?......एक-दो दिन भूखे ही रहें तो क्या हुआ ? सब दिन एक-से नहीं गुज़रते ! जिन्दगी धूप-छाँह है।"

"इस गाँव के लोग बड़े कंजूस हैं, किसी की मदद ही नहीं करते !"

"मदद की बात रहने दे। काम करता हूँ, तो उसके बदले में भी वे कुछ नहीं देते।......मैंने तुझसे कितनी बार कहा था कि ब्राह्मणों के यहाँ जाकर उनके घर का कुछ काम-काज अगर कर देती, तो कुछ न कुछ मिल ही जाता !"

"मैं उनके घर नहीं जाऊँगी। एक-एक लफ़्ज़ को खींचते हुए-से वे बात कहते हैं, कुछ समझ में नहीं आता कि वे क्या कहते हैं !...अगर नारियल के पेड़ के पत्ते तुमने ला दिए होते, तो मैं चटाई वगैरह बना देती। पर तुमने मेरी बात पर गौर ही नहीं किया।"

"जब मैं लोगों के बताए हर काम को कर देता हूँ, तो भी कुछ फ़ायदा नहीं होता। ऐसी हालत में चटाई के कारोबार से क्या होगा ? पर याद रखना, हमारे भी दिन लौटेंगे। ऊपर तो भगवान हैं ही ! यह सब वह देखता ही होगा।"

"कल मुझे भी अपने साथ ले चलो। मैं भी काम की खोज करूँगी।"

"हाँ, हाँ,—ज़रूर !! दोनों साथ-साथ चलेंगे ! देख !......घर में कच्ची मछली है न ? वही सही ! ले आ ! दोनों खा लेंगे।"

"अरे रे—यह क्या कर रहे हो ? मेरे बाल तो छोड़ो।......कोई देख लेगा—रहने दो अपना लाड़-प्यार !"

"सखि से अब कुछ कहना क्या है,
सखि मुझमें अब अपना क्या है ?"

अनुवादक : दण्डमूडि महीधर

साहित्य और कला की समान प्रेरणा—(पृष्ठ १४ का शेषांश)

'निश्चय जाओ, प्रिय धर्म कार्य में तुम्हारी बाधा नहीं बनूँगी। पर शीघ्र लौट कर आओ, कपोलों के विशेषक सूखने से पहले। कितनी महान और अद्भुत उक्ति है, और कितना संसार के साहित्य का वह प्रसंग असाधारण करुण क्योंकि वह प्रिय सुन्दरी का नन्द फिर नहीं लौटा, कभी नहीं, प्रव्रजित हो गया। सुन्दरी का वह रागांकन सूख गया, उसकी पृष्ठभूमि भी निष्प्राण हो गई, पर प्रिय नहीं लौटा !

इस प्रकार सामाजिक भूमि से उठने वाले मधुर प्रसंग बाल्मीकि से बाण, श्रीहर्ष तक के साहित्य में वैसी ही ऋद्धिमत्ता से रूपायित हुए हैं, जैसे मौर्यकाल से अद्यावधि की कला में अभिराम आकलित। साहित्य और कला समान अभिप्रायों से मुखरित होते हैं। उनका अन्योन्याश्रय, उनकी समान निष्ठा, समान कर्तृत्व का परिचायक है।



पंजाबी कविता के आठ वर्ष

अमृता प्रीतम

(१९४८ से १९५५)

सन् १९४७ में पंजाब का विभाजन हुआ। शारीरिक और मानसिक अत्याचारों को देख कर रोमांस और इख़लाक की कीमतें जैसे जड़ से हिल गईं। लोगों के बदन पर से ताज़े खून के दाग मिटने में नहीं आते थे। पंजाबी साहित्यकारों ने मानव के मानव में से डोलते हुए विश्वास को बचाने के लिए अपनी कला अर्पण कर दी।

सामाजिक चेतना

प्रेम की रँगीली कहानियाँ कहने वाले कवियों ने समय की उड़ती हुई धूल को देखा और उन्हें रँगीले स्वप्नों को पल भर में धूल में मिला देने वाले निज़ाम के प्रति रोष जागा :

पै कुठाली इश्क वाली
तड़प बदली वेग विच
हौली-हौली बन गया
मित्राँ दा गम लोकाँ दाँ गम।

"इश्क की कुठाली में पड़कर तड़प और तेज हो गई और धीरे-धीरे मित्रों का गम दुनिया का गम बन गया।"

यूँ तो यह कहानी तब से चल रही थी जब १९वीं सदी के मध्य में हृदयों की पीड़ा को पीकर स्वतन्त्र पंजाबियों ने अंग्रेज़ी सेना के आगे हथियार डाल दिए थे और आदर्शवाद, सुधारवाद, छायावाद जैसी राहों पर दिल को बहलाते हुए हमारे साहित्यकारों में सामाजिक चेतना सुलगती रही थी। लेकिन सन् १९४७ की आग ने चेतना की आग भी जला दी और अपनी प्रिया की ओर से आने वाले दूत का कदम चूमने वाले कवियों ने फाँसी को चूमने के गीत लिखे। प्रिया की लटों में उलझने वाले दिलों ने अनुभव किया कि अब उन्हें लटों में उलझने की बजाय सारे संसार की साँझी बाँहों में आना चाहिए।

मोहनसिंह उन कवियों में से हैं जिन्होंने व्यक्तिगत प्रेम की कीमतों को पुराना सिक्का कह कर छोड़ नहीं दिया, बल्कि उसमें समष्टिगत प्रेम की कीमतों को मिला कर उस सिक्के को समय की मर्यादा बना दिया :

आओ बुत छड के बुतखाना सजाइए साथियो
सोहणियाँ नूँ सोहणी दुनियाँ विच वसाइए साथियो।

"बुत को छोड़ कर आओ साथियो बुतखाना सजाएँ और रूप वालों को रूप की दुनिया में बसाएँ।"

पियारा सिंह सहराई ने मिलन गीतों के इन्तज़ार में विरहगीत रचे। बलबीर सिंह ने अपनी प्रिया के नयनों को अपनी दीप ज्योति बना कर कत्लगाहों के कठिन और उलझे हुए राहों की कहानी लिखी।

और इस तरह हमारे जिन कवियों ने समाज की गहरी चिनाब को अपनी मुहब्बत के सहारे पार किया है, वे ही हमारे साहित्य में जीवित हैं।

१९४७ से चल रहे साहित्य की कहानी मित्रों के गम से लोगों का गम बनाने की एक लम्बी कहानी है। इस कहानी में कई एक ऐसे पात्रों का ज़िक्र भी आया है जो कहानी की गठन में पूरे नहीं आ सकते थे, जिनका कहानी से सीधा कोई मेल नहीं था। समाजवाद के कई तजरबे कुछ उन लोगों ने भी किए जिनके मन में समय की ज़रूरत को एक रिवाज के रूप के पूरा करने का शौक तो था, लेकिन समाजवाद के प्याले में उनके रक्त की एक बूँद भी शामिल नहीं थी। इन अवसर-वादी लेखकों की रचनाएँ आती रहीं और समय के एक ही झोंके से मिटती रहीं। इसमें इतना दोष हमारे लेखकों का नहीं, जितना हमारे आलोचकों का है। हमारे आलोचक नया धर्म-परिवर्तन करने वाले उस व्यक्ति की तरह हो गए जिसकी कट्टरता धार्मिक नेताओं को भी मात कर देती है। प्यार की कविताओं को जैसे एक बार ही सिंहासन से उतार दिया गया।

काव्य के तुकांत तुलना, अलंकार और रूप चित्रण को न केवल देखकर अनदेखा-सा कर दिया बल्कि मुहब्बत की हर बात को दुविधा कह कर अपमानित किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यदि किसी कवि को अपनी प्रेमिका के आँचल का वर्णन करना होता तो वह उस आँचल को पहले लाल रंग में डुबो लेता और हमारे आलोचक उसको प्रगतिवादी कह कर खुशी से स्वीकार कर लेते।

सच्ची कीमतें कभी मिट नहीं सकतीं। वक्ती बातें मिट जाती हैं और स्थायी रंग खिल उठते हैं। बाबा बलवंत में बड़ी गहरी और सच्ची सामाजिक वेदना है। उसने जो कुछ भी लिखा है अपनी लेखनी को लाल स्याही में नहीं, बल्कि अपने रक्त में डुबो कर लिखा है।

समाजवाद जैसी तीखी कविता केवल बाबा बलवंत ही लिख सकता है।

जन्म से पहले मेरे, एक ज्योतिषी कहता रहा
इसके हाथों से है महारानी की मौत
इस लई रानी दे राखे
उसदे गोले ते वज़ीर
उसदे कुत्ते
उसदे दारूगीर ते उसदे फ़क़ीर
जन्म दे दिन ही मेरे मारन नूँ आई
हट्ट बहीर
सैंकड़े यमरूप तोपाँ गोलियाँ

फौजाँ दे नाल
बन के आए मेरा काल

"मेरे जन्म से पहले एक ज्योतिषी ने कहा था कि इसके हाथ से महारानी की मौत होगी। इसलिए रानी के रखवाले, उसके गुलाम और वज़ीर, उसके कुत्ते, उसके वैद्य और फ़कीर, यह सारी सेना मेरे जन्म के दिन ही मुझे मारने के लिए आ गई। यमरूप सैकड़ों तोपों, गोलियों और सेनाओं के रूप में मेरा काल बन कर आ गए। साजिशी लोहे की एक दीवार बनवाई और क्रोध की कड़ियों से अलग-अलग मुल्कों को घेरा गया और मुझे मिटाने के लिए षड्यन्त्र रचे गए।"

जहाँ बाबा बलवन्त में सच्ची वेदना है, यदि लोकवाणी का साथ भी उसके साथ होता तो वह निःसन्देह हमारा बहुत बड़ा और लोगों का प्रिय कवि होता। बहुत बार हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली छाप उसकी लेखनी पर इस तरह पड़ जाती है कि उसमें से पंजाबी का मुख पहचाना नहीं जाता। हमारी मंडियों में गेहूँ और बाजरे की तरह रूप और प्रेम को बिकता हुआ देख कर प्यारा सिंह सहराई ने लिखा--

सुन्दरता दी हिक ग्रहणी
प्रीताँदे बुल खट्टे
विकियाँ हीराँ विकन रंजेटे
जिंदगी मौहरा चट्टे देहियाँ गालनिआँ।
जिच्चर जीवन पंथ हनेरे
जिच्चर धरती तत्ती
किदाँ प्रीत करूँ बेल फुट्टे
लख सुगन्धिया सती। होनिया ढालनियाँ।

"सुन्दरता के सीने पर ग्रहण लगा हुआ है, प्रीत के ओठ खट्टे हैं। हीरें बिक गई, रांझे बिक रहे हैं। जिन्दगी विष पी रही है। शरीर गलाने पड़ते हैं। जब तक जिन्दगी के रास्ते अँधेरे हैं, जब तक धरती तप रही है, लाखों सुगन्धियाँ लेकर प्रीत की कोंपल कैसे फूट सकती है। हमें भाग्य का निर्माण करना होगा।"

इस तरह भाग्य का निर्माण करने की भावना लेकर न केवल सहराई बल्कि संतोख सिंह धीर भी एक बहुत अच्छा कवि हमारे साहित्य को इन वर्षों में प्राप्त हुआ है। संतोख सिंह धीर के पास सामाजिक वेदना के साथ-साथ लोक-गीतों जैसी सादी, प्यारी और मीठी भाषा है। बोलियों और बैंतों के छन्दों में धीर ने नए अर्थों को समो कर अपने लोगों को बहुत से गीत गाने के लिए दिए हैं। और सबसे अधिक उसकी लेखनी का चमत्कार इस बात में है कि आज के कमकरों के इतिहास में अपने देश की पुरातन सभ्यता और संस्कृति की परम्परा को इस तरह मिला दिया है कि कृष्ण, बुद्ध, नानक, गांधी, माओ और स्टालिन का वर्णन, मास्को और दिल्ली का जोड़, नील चिनाब और वोलगा का चित्र केवल संतोख सिंह धीर की लेखनी में ही उचित रूप में जुड़ा हुआ मिल सकता है, क्योंकि उसने इन सब धागों को अपने दिल के करघे पर बुन कर दिखाया है।

हुंदीआँ ने सरदियाँ नित्त नेरिआँ दी कुख विच्चों
जागना है क्रान्ति ने हर किसे दी चुप विच्चों
सिरजना नवयुग दी होनी सरब साँझे दुख विच्चों

"अंधकार की कोख में से ही नित उषा जन्म लेती है। क्रांति आज की खामोशी से ही जगेगी। नवयुग का सृजन सबके साँझे दुःख में से होगा। आज मुझे जिंदगी की अमावस में से चाँद नज़र आते हैं। और मुझे अपनी शक्ति आज फौलाद जैसी प्रतीत होती है।"

कीमतों का फर्क है। पर वर्तमान के पृष्ठ को पुरातन इतिहास के साथ जोड़ना देवेन्द्र सत्यार्थी की कविता का भी एक स्वाभाविक अंग है। किसी सिनेमाघर के सामने खड़ी हुई आधुनिक युवती उन्हें शकुन्तला प्रतीत होती है जो किसी दुष्यन्त को खोज रही है। कॉफी हाउस की आवाज़ें कभी उनको रूई की पूनियाँ प्रतीत होती हैं और कभी गुँथी हुई वेणी जैसी।

प्रभजोत कौर के गीतों में सुलझी हुई सामाजिक रुचि आ रही है। हरनाम सिंह नाज़, गुरचरन सिंह रामपुरी, अजायब चित्रकार, सुरजीत रामपुरी, तेरासिंह चन्न, इन वर्षों में सम्मुख आए, हमारे ऐसे कवि हैं जिनकी सामाजिक चेतना के साथ काव्य-शक्ति भी बढ़ती जा रही है।

भाषा

पंजाबी साहित्य की रचना सदा से लोगों की नित व्यवहार में आने वाली भाषा में होती रही है।

कीकली, गीटे, गेंद और लुकाछिपी खेलती और झूला झूलती लड़कियाँ नित नए गीत गाती रही हैं। कपास चुनती, रूई बेलती, चर्खा कातती, चने पीसती और पानी भरती हुई युवतियाँ गीत रचती और गाती रही हैं। खेतों को पानी देते और फसलों को काटते समय हमारे युवक दिल की बातों को गीतों में गाते रहे हैं।

लोक-गीतों के उन लोक-कवियों के अलावा १३वीं सदी का कवि शेख फ़रीद, १५वीं सदी का गुरु नानक, १६वीं सदी का शाह हुसैन, १७वीं सदी का सुल्तान बाहू, पीलू, हाफिज बर्खुर्दार, १८वीं सदी का बुल्हेशाह, वारिस शाह, हाशिम, १९वीं सदी का फ़ज़ल शाह आज तक हमारी साहित्यिक गोष्ठियों में ही नहीं, हमारे घर के आँगन में भी गाए जाते हैं।

सरल भाषा और वार्तालाप की शैली का हमारी कविता में बहुत गहरा स्थान है। इसलिए नए कवियों को जनता के दिलों में स्थान बनाने के लिए नई समस्याओं पर विचार करते हुए भी सरल और स्वाभाविक भाषा में पुरातन शैली का मिश्रण आवश्यक प्रतीत हुआ।

जैसे 'बीड़' शब्द के साथ हमारे लोगों का केवल प्यार ही नहीं मिला हुआ, एक भावना भी मिली हुई है। आज के कवि ने ईश्वरीय प्रेम की बजाय मानवीय प्रेम के लिए इस शब्द का प्रयोग करके लोगों का केवल प्यार ही प्राप्त नहीं किया बल्कि मानवीय स्नेह के लिए सत्कार भी पाया है।

कानी समेंदी सदा ही रही लिखदी
खूनी पत्तरे प्यार दी बीड़ वाले······

"समय की लेखनी प्यार की पुस्तक पर सदा ही खून के पृष्ठ लिखती रही है।"

पाठक को ऐसा लगता है जैसे 'बीड़' तो बहुत ऊँची वस्तु थी प्यार के योग्य, सत्कार के योग्य, [illegible] क्यों लिखे? पढ़ने वाले के मन में केवल करुणा ही नहीं जागती, एक रोष भी छा जाता है। उस रोष को पैदा करने में 'बीड़' शब्द का जादू है। हमारी धार्मिक और पवित्र वाणी के साथ सम्बन्धित 'बीड़' शब्द से भावना का जो मेल है वही मेल मानवीय प्रेम को हमारी आँखों में ऊँचा और सच्चा बना देता है।

इसी तरह जब जुल्फों की बात छिड़ती है लोगों के मन में एक रँगीला और नशीला वातावरण पैदा हो जाता है। आज का कवि जब जुल्फों को एक सुन्दर युवती की लटें कहने की बजाय धरती की जुल्फें कह कर बात करता है तो अपने पाठक के मन में वही रँगीला और नशीला वातावरण पैदा करते हुए सामाजिक बात को भी रोमांटिक बात की तरह रसीली और जोरदार बना लेता है।

सजनी, सेज, शराब और सुराही को पुनर्जन्म देने वाला कवि बलीराम चात्रिक है······

सजनी सेज शराब सुराही
पुनर जन्म विच आए
रिंदाँ दी महफल विच बह गए
सुरगाँ दे दीवाने

"सजनी, सेज, शराब और सुराही पुनर्जन्म में आ गए हैं और स्वर्ग के दीवाने रिंदों की महफिल में बैठ गए हैं।"

शब्दों की पुरातनता और अर्थ की नवीनता लिए हुए मोहन सिंह कहता है—

गगनां दी बुढी छत उत्ते
कद तीक चित्र तूं वाहेंगा
आ जुल्फ सँवारिए धरती दी
आ गल करिए कोई नेड़े दी

"गगन की बूढ़ी छत पर कब तक चित्र लिखते रहेंगे। आओ धरती की जुल्फें सँवारें और कोई निकट की बात करें।"

और फिर हीर और राँझा की प्यार की कहानी में से आज मोहनसिंह नए अर्थ खोज निकालता है। वह हीर को मानवता, और राँझे को मानव, खेड़े को ज़ालिम और कैदो को लोग-दुशमन कहता है।

जे राँझा एँ तो झंग धिया
जे हीर एँ तखत हज़ारा गा
एथे थां ना सोभे कैदोआं दी
एथे थां ना रंग पुर खेड़े दी

"यदि तू राँझा है तो झंग शहर का ध्यान कर और यदि तू हीर है तो तख़्त हजारे के गीत गा। यहाँ ना कैदो के लिए ना रंगपुर खेड़े के लिए कोई स्थान है।"

एक साधारण मटकी के टूटने पर दूध के बिखर जाने में वह जागृति का नया भाव पैदा करता है।

चिट्टे चानन दा दुध डुला
ते मटकी भजी हनेरे दी······

[illegible] का दूध बिखर गया है [illegible] की जान कर।"

इसी तरह 'दारू' (शराब) को [illegible] साथ में यूँ कहता है—

[illegible]

"मज़दूर की [illegible] और कसकर की आँख फिर शराब की तरह दमकने लगी।"

प्रेमी के 'दर' को समाज का नया रूप देते हुए मोहन सिंह लिखता है—

दस्तक मैं तेरी सुन लई है, रता दोस्ता उडीक।
घर नूं मैं तेरे वास्ते कुझ तां सजा लवां॥

"तुम्हारा द्वार खटखटाना मैंने सुन लिया है, मेरे मित्र, जरा प्रतीक्षा करो। मैं तुम्हारे लिए अपने घर 'अपने समाज' को कुछ तो सजा लूँ।"

बाबर के आक्रमण के समय लालो बढ़ई को सम्बोधन करते हुए गुरु नानक के लिखे हुए खून के सोहले से हमारा दर्द जुड़ा हुआ है। आज के रक्त भरे सामाजिक जीवन के लिए वैसा ही दर्द पैदा करने के लिए गोपाल सिंह ने आज के श्रोता को भी लालो कहकर सम्बोधन किया है—

पाप दी जंज लै चढ़े चुगत्ते
लाईहिंद परनाए वे लालो
मानुखता हैं कोही कसाईयाँ
डकरे कर-कर खाए वे लालो
इक दर उड़दी ऐश महल्लां
इक दर उठदी हाए वे लालो

"हे लालो! अन्यायी पाप की बरात लेकर चढ़े और उन्होंने हिंद रूपी दुलहन को घेर लिया। कसाइयों ने मानवता के टुकड़े-टुकड़े कर दिए हैं। एक ओर महलों में विलास छाया हुआ है, दूसरी ओर घरों में से हाय की ध्वनि आ रही है।"

रचना

हमारे लोक-गीत हमारे साहित्य का बहुत बड़ा अंग हैं। इसलिए लोक-साहित्य के काव्य रूप का आधुनिक साहित्य की काव्य-रचना से बड़ा सम्बन्ध है।

रचना पक्ष में नवीन साहित्य ने नए तजरबे किए हैं। इसकी आवश्यकता भी है। फिर भी पुराने छन्दों से हमारे लोगों के भाव इतने जुड़े हुए हैं कि जिन हमारे नए कवियों ने पुराने छन्दों में नई बात कहने का प्रयत्न किया है वे बड़े लोकप्रिय हुए हैं।

अतुकान्त कविता लिखने का तजरबा पंजाबी में ज्यादा सफल नहीं हुआ। ग्राम और कस्बों में इस प्रकार की कविता के लोकप्रिय न होने के दो कारण हैं, पहला यह कि इसके साथ लोगों की गाने की रुचि पूरी नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि ग्रामों में हमारे लोगों को पुस्तक पढ़कर नहीं बल्कि जबानी सुनने और सुनाने का शौक है और कविता को कण्ठ करने के लिए तुकान्त ही सहायक हो सकता है।

शहरों में पुस्तक पाठ में रुचि रखने वाले लोगों में अतुकान्त कविता के अप्रसिद्ध होने का बड़ा कारण यह है कि बहुत से लोगों ने इस तरह की कविता को भाव के बल पर नहीं बल्कि मेहनत से बचने के लिए एक उपाय के रूप में इस्तेमाल किया है। इस प्रकार की कविता रचने वाले पुराने कवियों में से यदि किसी को सफल कवि कहा जा सकता है तो वह केवल पूर्णसिंह हैं जिनके विचारों का तेज प्रवाह भाषा के बन्धन से निकल जाता है, पर अपने पाठक को किनारे पर नहीं खड़ा छोड़ जाता, बल्कि अपने भावावेग के साथ बहा ले जाता है।

इन आठ वर्षों में, इस प्रकार की कविता लिख कर यदि किसी को लोकप्रियता मिली है तो वह कवि बलबीर सिंह हैं। हालाँकि इस कवि की सफलता का कारण वह नहीं जो पूर्ण सिंह का था। इस कवि की सफलता का राज़ इसकी वर्णन-शैली है जो इतनी नवीन और रूप चित्रों से भरी हुई है कि पाठक को भले ही कई बार कविता पढ़ने के उपरान्त दो पंक्तियाँ भी याद न रहें लेकिन हर बार कविता पढ़ते समय उसे एक सन्तोष-सा अनुभव होता है।

जैसे अतुकान्त कविता के बारे में कहा जा सकता है कि प्रयोग सफल हो सकता है यदि कोई हाथ इसके काबिल हो। इसी तरह पुराने छन्दों के बारे में कहा जा सकता है कि वारस के बैंत को आज के दो सौ साल के बदले हुए सामाजिक वातावरण में भी सफलता से व्यवहार में लाया जा सकता है, यदि किसी के पास कहने की कोई बात हो और उसकी वर्णन-शैली इतनी नवीन हो कि छन्द की पुरातनता उस पर छा न जाए, बल्कि परिचित संगत बन कर उसकी सहायक हो।

कविता में रूप चित्र निर्माण करने की हमारी एक परम्परा चली आ रही है। १२वीं शताब्दी में शेख फ़रीद प्रिया के गले में पड़ी हुई बाहों को वर्णन करने के लिए एक चित्र पेश करता है—

"कार्तिक के महीने में कूजें, चैत के महीने में जंगल की आग, सावन में बिजलियाँ और शीत काल में प्यारे की गलबहियाँ शोभा देती हैं।"

आकाश का लँहगा और धरती की किनारी लगाने की हमारी परम्परा आज तक कायम है। मोहन सिंह लिखता है—

चाँद का डोला आधे आसमान में है
परात तारों से भरी हुई है,
पूरब की ग्वालिन दूध बिलोने बैठी है,
छींटे (किरणें) दूर दूर तक उड़ते हैं।
आकाश प्रकाश से भर गया है। सुवर्ण सवेरा हो गया है
वातावरण और भी शान्त हो गया है, शाम और गहरी हो गई है।
सूरज किरणों का आखिरी मेला मुगलकालीन खँडहर पर जुड़ा हुआ है।

धरती से सुगंध उठी। उन खेतों में से, जिन में अभी-अभी हल चलाया गया है, जिन्दगी के अनेकों राज़ों में से प्रीत का एक राज़ मिल गया है।

ईश्वर चित्रकार अपनी कविता में बड़े सुन्दर रूप-चित्र प्रस्तुत करता है। आम तौर पर वह ग़ज़ल लिखता है। ग़ज़ल पंजाबी की परम्परा नहीं है। पाँच-सात गिनती की ग़ज़लों को छोड़कर हमारे पास कोई ऐसी ग़ज़ल नहीं है जो उर्दू ग़ज़लों के मुकाबले में रखी जा सके। ईश्वर चित्रकार के अच्छा कवि होने में ग़ज़ल का हाथ नहीं बल्कि यह उसके शब्द-चित्र हैं जिनकी सूक्ष्मता और नवीनता पर उसको मान हो सकता है।

"दिल की गहराइयों में उसकी छाया इस तरह पड़ती है जैसे अमृत के भरे सरोवर में हरि मंदिर की छाया। मेरी हर प्रतीक्षा में तेरी याद इस तरह सहारा देती रही जैसे अग्नि की जिह्वा पर पानी की बूँद बूँद पड़े। तेरी प्रतीक्षा में मेरी कल्पना इस तरह कुण्ठित हो गई है जैसे कोई तरंग मचल कर फिर एक ही स्थान पर खड़ी रहे।"

बलबीर सिंह की सारी रचना का आधार उसके रूप चित्र हैं, फूलों की तरह ताज़े, सुगन्ध की तरह सूक्ष्म, पर सामाजिक चेतना की सान पर चढ़े हुए तीखे और तरुण—

"आज मेरी भावनाओं में से कौन गुज़र रहा है कि मेरे विचारों के कँगूरों पर सैकड़ों दीप जल रहे हैं।

हल की नोक बंजर धरती के स्वप्नों को जगा रही है, फूलों की सुगन्धि से रात की वेणी खुल रही है।

झोंपड़ियों में बचपन इस तरह है जैसे पतझड़ में कोई सूखा हुआ पीला फूल।

ऐ रात, तेरी आयु युगों लम्बी हो, और तेरे सुगन्धित बालों की वेणी इसी तरह खुली रहे।

कोई मेरे सुपनों में आ रहा है।

और सुपनों के नाजुक कदम अँधेरे की मखमली राह पर डगमगा रहे हैं।

ऐ रात, तुम्हारे कंधों से चाँदनी का दुपट्टा खिसक गया है, उसे यूँ ही रहने दे।

और जिन्दगी अपने पंखों को समेट कर इस तरह बैठ गई है जैसे पक्षी अपने नीड़ में आराम कर रहा हो।"

आज की पंजाबी कविता के बारे में यह कहा जा सकता है कि हमारी कविता में उस क्षितिज को स्पर्श करने की भावना है जहाँ सामाजिक चेतना की धरती और काव्य सुन्दरता का आकाश एक दूसरे से मिलते हुए से दिखते हैं।

"अग्राह्या: कर्म कालेषु कर्षका राजपुरुषाश्च"

कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण, ३ अध्याय ११

खेत में काम करने वाले किसानों और ड्यूटी पर तैनात राजकर्मचारियों को गिरफ़्तार नहीं करना चाहिए।

अधूरे प्रारम्भ

माखनलाल चतुर्वेदी

कितने प्रारम्भ अधूरे रह गये ?

मेरा 'कभी-कभी' जब जागता है, मेरी निराशा को सुला देता है।

उस समय ऐसा लगता है मानो प्रभु जाग उठे।

उस समय ऐसा लगता है, मानो अन्तर का अन्धकार, वाणी की गंगधार पर, प्रकाश बनकर प्रतिबिम्बित हो उठा है, उस समय ऐसा लगता है, मानो वाणी ने अपने आवरण फेंक दिये हैं, वह समर्पण-शीला हो उठी है। उस समय कोटि-कोटि इच्छाएँ अपने रक्त से सुहाग लिखती हैं, और अर्ध-नग्ना-साधना अपनी दोष-हीनता से विदुर-वधू होकर, अपने प्रलय-वीणा के वादक को केले फेंक-फेंक कर, केले के छिलके खिलाती दीख पड़ती है।

× × × ×

हाँ, तो मेरा "कभी-कभी" जब जागता है तब मानो वह प्रारम्भों में प्राण देने के लिये, किन्तु केवल प्रारम्भों में ! इरादों की अस्थि-ढेरियाँ, कितनी पड़ी रह गईं, अधूरापन बन कर !

मानो यह कहती हो प्रकृति, कि 'पूर्णता' सबके बूते का रोग नहीं है !

मानो पूर्णता, अल्पता के अव्यवस्थित संग्रह का लेखा-जोखा हो। मानो पूर्णता नाम की कोई वस्तु ही न हो। जहाँ प्रारम्भ किया, वहाँ श्रीगणेश, जहाँ जूड़ा डाल दिया, वहाँ पूर्णता !

किन्तु प्रभु की अव्यवस्था में भी, कितनी सुन्दर व्यवस्था है !

जब क्षण, इच्छाओं का बलिदान माँगता हो, और जब प्रभु, दोष-हीनों की माँग करे, जो सर्वस्व चढ़ा उठें, तब वह केवल बोलता नहीं है, वह भाग्य लिखना छोड़कर, स्वयं रचनाकार बन कर बैठ जाता है।

वह पूर्ण है, क्योंकि उसका प्रारम्भ शंकाओं से भरा हुआ नहीं, उसका सृजन थकावटों से बोझीला नहीं।

प्रतिभाहीन हम ! प्रभु के उन अनहोने निर्माणों को, जान ही उस दिन पाये जिस दिन हमने उनकी साँसों के अंगारे देखे।

चिता, मानो हमारे अस्तित्व की भाषा-टीका हो !

किन्तु टीका में, मूल काव्य का रस कहाँ ? वह तो साँसों के साथ उड़ जाता है।

अतः सूझों के डोरों को सूरज की किरनों के साथ बुनकर, जो चादर बना पाते हैं, वे स्पन्दन-शीला साँसों को, उनकी ताजगी के साथ, अपनी यादों में बाँध लेते हैं।

वे मानों उनमें से प्रत्येक साँस की सुगन्ध में, पूर्ण मानव का आभास पाते हैं।

बचपन, आँगन और चौपाल में से खेल-खेल की मस्ती में से उठे, अपराजिता स्नेह, भावना, मानो शरीर को देव-मन्दिर मान कर, उसकी एक ईंट भी टूटने नहीं देती, और मन मानो आराधना की वृत्तियों का संग्रहालय है, जिसके लिये साँसों को विज्ञापन नहीं देना होता। अपना कुछ न होते हुए भी जहाँ तक प्राण जाता है, वहाँ तक प्यार जाता है, जहाँ तक जागता हुआ सपना है, वहाँ तक सभी कुछ अपना है। प्यार वह, जिसे कोई सेनानी, कोई नायक, कोई सन्त भूल नहीं सका जिसे छोड़कर आगे न बढ़ सका, मानों वह प्राण के पौरुष-व्यापार का मूल धन था।

अपराध, यंत्रणा, कारागार, बेसमझी, बदनामी और विनाश का ताण्डव सबके बीच उन्हें एक ही वरदान प्राप्त है, वे प्राणों की वायु, सूरज की किरन और टूटी बैलगाड़ी की तरह धीरे-धीरे सरकती ऋतुओं में अपने प्रभु की अँगुलियों के दर्शन करते हैं। वे मानों राम की रामायण में भी, उपद्रव के क्षणों भरत का जीवन-दर्शन करने लगते हैं।

निश्चिंत वे, कितनी चिन्ताओं से घिरे हुए ! अपने अज्ञान के प्रदर्शन के प्रति सजग वे, कितने बीमारों को अपनी मसीहाई से मुक्ति प्रदान करते से 'स्वामी' वे, कितनी कठोर मजदूरी करते हुए कि जिसमें रूप, स्वाँग और आकार सब विलीन हो उठें।

मानो 'ज्ञानपीठत्व, धनवंतरित्व, और मजदूरी' का सम्मिलित पूजा-मय नाम, उनकी पहचान हो।

दुखियों के लोक की ओर बढ़े, मानो प्रभु का आशीर्वाद, प्यार के देश में, सिसकतों की ओर प्रगमनशील हुआ।

वे बढ़े, और उस दिशा में मानो प्रभु का आशीर्वाद उनके साथ बढ़ा।

और संकट मिला, मानो प्रभु मिल गये, परीक्षा-भवन के परीक्षक बन कर मानो दिन आ गया, उस सब के सिद्ध करने का, जिसका विभ्रम वेश ने, वाणी ने, व्यवहार ने, किंवदंतियों ने और अपने आत्म-संकीर्तकों ने फैला रखा था।

मानो 'नास्ति' के नीले आसमान पर, अस्ति के अक्षर ऊँचे पर उठकर, तारों की भाषा में लिखने का दिन आ गया।

तुकाराम ने कहा—"प्रभु ! मैंने अपनी मौत जीते-जी अपनी आँखों देखी।"

क्या मौत ?

ना, भस्म की ढेरी जैसे अन्धकार में से, सूरज की किरणों जैसा, वह उठा सोना बिखेरता जीवन।

भगवान आया ?

ना जी, वह मनुष्य आ रहा है।

●

पं० मदन मोहन मालवीय सम्बन्धी संस्मरण

इन्द्र विद्यावाचस्पति

मेरा ऐसा अनुभव है कि विशाल चित्र और महापुरुष समीप से उतने अच्छे नहीं दिखाई देते जितने दूर से। समीप से देखें तो दृश्यवस्तु के गुण और दोष स्थूल रूप में सामने आ जाते हैं। देखने वाले की दृष्टि अंग-प्रत्यंग पर इतनी फैल जाती है कि छोटे-से-छोटे दोष भी बड़े होकर सामने आ जाते हैं। इस कारण यथार्थ और अनुकूल सम्मति बनाने के लिए आलोचक को विशाल चित्रों अथवा महापुरुषों के इतना ही समीप जाना चाहिए कि उनका विस्तृत रूप दिखाई देता रहे।

प्रायः महान पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वह सामान्य व्यक्तियों को अपने अधिक समीप नहीं आने देते। वे लोग भक्तों और अनुयायियों से इतने घिरे रहते हैं कि सामान्य व्यक्ति को उन तक पहुँचने के लिए कई ड्योढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। मेरे जैसे संकोचशील व्यक्ति के लिए ऐसे महापुरुषों के अत्यन्त समीप जाना असम्भव ही रहा है। मैं सदा कुछ दूरी से ही विशेष व्यक्तियों के चरित्र का अध्ययन करने के अपने शौक को पूरा करता रहा हूँ। मेरी इस प्रवृत्ति में जो दो-तीन अपवाद हुए हैं, उनमें से एक पं० मदन मोहन मालवीय जी थे। उनके कुछ समीप जाकर दूर रहना असम्भव ही था। उनके स्वभाव में एक विशेष प्रकार का चुम्बक का-सा आकर्षण था जो पास आने वालों को अपनी ओर खींचता था। जो व्यक्ति एक बार उनके समीप आ जाता था, वह उनकी सब विशेषताओं से परिचित हो जाता था। यही कारण है कि श्रद्धेय मालवीय जी के सम्बन्ध में मेरे जितने संस्मरण हैं, उनमें व्यक्तिगत सम्पर्क का अंश अधिक है।

२

इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मालवीय जी के समीप पहुँचने में मुझे कभी कठिनाई नहीं हुई। जहाँ अपने सार्वजनिक जीवन के तीस वर्षों में मैंने देश के अनेक नेताओं से भेंट करने का अवसर दस-बारह बार प्राप्त किया होगा, वहाँ मालवीय जी से भेंट करने के अवसरों की संख्या सौ से कम न होगी। इस बड़ी संख्या का श्रेय मुझे नहीं है, क्योंकि मैं तो सदा ही मिलने-जुलने में संकोचशील रहा हूँ। परन्तु श्रद्धेय मालवीय जी का व्यवहार ही इतना मधुर और आकर्षक था कि वह दूरी को रहने ही नहीं देता था। 'यथा राजा तथा प्रजा' जैसा मालिक होता है वैसे ही उसके मन्त्री बन जाते हैं। बड़े आदमियों के निजी मन्त्री प्रायः बहुत रूखे होते हैं। वह सामान्य दर्शकों और मिलने-जुलने वालों से अपने स्वामी की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस प्रसंग में हमारे कुछ चोटी के नेताओं के सम्मानित प्राइवेट सेक्रेटरियों के कई नाम याद आ रहे हैं। परन्तु यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक भी है और अनुचित भी, क्योंकि उन्हें जो रुखाई बरतनी पड़ती थी, उसे वह अपने कर्त्तव्य का हिस्सा ही समझते थे। यहाँ तो इतना ही बतलाना अभीष्ट है कि मालवीय जी के प्राइवेट सेक्रेटरी प्रायः उनकी सामाजिकता से प्रभावित रहते थे। मालवीय जी महाराज के द्वार सदा खुले रहते थे। प्रायः उनके कमरे के बाहर कोई प्रतीक्षा करने की ड्योढ़ी भी नहीं होती थी। उनकी रुग्णावस्था को छोड़ कर शेष दशाओं में मैंने दरवाज़े पर कभी रोकटोक का अनुभव नहीं किया। यह असाधारण सामाजिकता श्री मालवीय जी के चरित्र की सबसे पहली और बड़ी विशेषता थी।



पं मदन मोहन मालवीय

३

सबसे पहली बार मालवीय जी के दर्शन मैंने शिमले में किए। भाई हरिश्चन्द्र जी और मैं एक वर्ष पूर्व ही स्नातक बने थे। हम दोनों भाई पूज्य पिता जी के साथ आर्य समाज शिमला के उत्सव पर गए। उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्य के लिए श्रद्धेय मालवीय जी

भी शिमले गए हुए थे और सनातन धर्म सभा के भवन में ठहरे हुए थे। पिता जी के साथ हम दोनों मालवीय जी से मिलने गए। जब हम लोग वहाँ पहुँचे तो मालवीय जी नाई से क्षौर करवा रहे थे। क्षौर भी करवाते जाते थे और बीच-बीच में नाई को हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की आवश्यकता और उसके मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जानकारी भी देते जाते थे। बीच ही में हम लोग पहुँच गए। क्षौर का सिलसिला और लम्बा हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो क्षौर कुछ मिनटों में समाप्त हो जाना चाहिए था, वह लगभग १ घण्टे तक खिंच गया। उस समय प्रातःकाल के नौ बजे होंगे, पंडित जी के प्राइवेट सेक्रेटरी ने कुछ हिचकिचाते हुए घड़ी दिखा कर निवेदन किया कि महाराज, आपने नौ बजे का समय बीकानेर के महाराज को मिलने के लिए दिया हुआ है, वह आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे और आपने अभी स्नान भी नहीं किया। पंडित जी पर इन याद्दिहानियों का कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने उत्तर दिया, "भाई देखते नहीं हो कि मैं इस (नाई की ओर इशारा करके) भाई को विश्वविद्यालय की आवश्यकता समझा रहा हूँ। क्या यह काम कुछ कम ज़रूरी है? महाराज से कहला भेजो कि मैं उनसे इस समय नहीं मिल सकूँगा। कल शाम को मिलूँगा।"

प्राइवेट सेक्रेटरी मालवीय जी के समय विभाग में ऐसे परिवर्तनों का अभ्यस्त था। चुपचाप चला गया और बीकानेर नरेश के पास समय परिवर्तन की चिट्ठी लिख दी। प्रतीत होता है कि नरेश लोग भी उस तपस्वी ब्राह्मण के भेजे हुए ऐसे, साधारण लोकप्रथा के विरुद्ध, आदेशों के अभ्यस्त थे, इस कारण कोई गड़बड़ नहीं हुई और मालवीय जी की नाई से और हम लोगों से इकट्ठी बातचीत लगभग दस बजे तक जारी रही। बातचीत का विषय वही था—'हिन्दू विश्वविद्यालय।'

४

ऊपर दिए हुए संस्मरण के साथ मिलती हुई एक और घटना मुझे याद आ गई उसे भी यहीं लिख देता हूँ। यह घटना शायद पहली घटना से २४ वर्ष पीछे की है। मैं दिल्ली की जिला कांग्रेस कमेटी का प्रधान था। मालवीय जी महाराज असेम्बली के अधिवेशन में भाग लेने के लिए दिल्ली आए हुए थे और नई दिल्ली के एक बंगले में ठहरे हुए थे। दो दिन पीछे कांग्रेस की ओर से गांधी मैदान में एक बड़ी सभा होने वाली थी। नेताओं को उसका निमन्त्रण देने के लिए मैं प्रातःकाल ही घर से चल दिया और सूर्योदय के समय नई दिल्ली जा पहुँचा। जनवरी का महीना था। खूब कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी।

पहले मैं माननीय पं० मोतीलाल नेहरू के बंगले पर पहुँचा। मैं उस उषःकाल में नेहरू जी के द्वार पर पहुँचता हुआ बहुत ही डर रहा था। मशहूर था कि वह कांग्रेस के नेता हो जाने पर भी विलायती ढंग से रहते हैं। मुझे डर था कि मैं कहीं ऐसे समय पर न पहुँच जाऊँ जब मुझे उपाध्याय जी से यह उत्तर मिले कि 'अभी पंडित जी सो रहे हैं'। मुझे संतोषमिश्रित आश्चर्य हुआ जब बाहर के कमरे में बैठे हुए उपाध्याय जी ने मुझे बैठने का इशारा करते हुए कहा, कि आप बड़े [illegible] समय पर आ गए, पंडित जी स्नान का काम समाप्त करके बाहर आने वाले ही हैं, मैं [illegible] बतला देता हूँ कि आप आए हैं।"

[illegible] मालूम हुआ कि उपाध्याय जी बड़े नेहरू जी के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। वह पं० मोतीलाल जी के साथ छाया की तरह रहते थे। इन्हें यह भी मालूम था कि पं० मोतीलाल जी का मुख [illegible] है।

उपाध्याय जी ने अन्दर जाकर खबर दी तो मुझे उसी समय बुला लिया गया। अन्दर जाकर देखा तो पंडित जी बाहर आने के लिए बिलकुल तैयार बैठे थे और उनके सामने मेज पर लिखे हुए खतों का एक ढेर रखा हुआ था। उस ढेर को देख कर मैंने अनुमान लगाया कि पंडित जी कम-से-कम एक घण्टे से चिट्ठियाँ लिख रहे होंगे।

बातचीत में शायद दो ही मिनट लगे। मैंने सभा का निमन्त्रण दिया, पंडित जी ने उसे स्वीकार कर लिया और बस। मैंने खड़े होकर नमस्कार किया और बाहर चला आया।

५

वहाँ से मैं मालवीय जी महाराज के बंगले पर पहुँचा। नेहरू जी के बंगले की घटना का उल्लेख मैंने इस उद्देश्य से किया है कि मालवीय जी के बंगले पर जो कुछ हुआ उससे तुलना की जा सके। जब मैं मालवीय जी के बंगले पर पहुँचा तब आप बंगले के बरामदे में खड़े संस्कृत पाठशाला के एक विद्यार्थी से बातें कर रहे थे। कंधों पर शाल पड़ा हुआ था, परन्तु सिर सर्दी के लिए खुला था। बाहर कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। उसमें खड़े हुए पंडित जी उस झगड़ालू विद्यार्थी को यह समझा रहे थे कि अछूतों को ओम् नमः शिवाय मंत्र का दान करने में कोई पाप नहीं है। मेरे पहुँचने पर भी वह सिलसिला जारी रहा। इतना भेद अवश्य आ गया कि पहले जो बातें वह केवल उस विद्यार्थी से कर रहे थे वह दोनों से होने लगीं। लगभग आध घण्टे तक वह वाक् संघर्ष जारी रहा। पंडित जी का धैर्य और विद्यार्थी को समझा लेने का संकल्प तथा उस विद्यार्थी का उग्र हठ और न मान लेने का दृढ़ निश्चय दोनों ही आश्चर्य में डालने वाले थे। अन्त में विद्यार्थी परास्त हुआ पर उसका पराजय युक्ति के कारण नहीं था अपितु सर्दी के कारण था। तपस्वी बुजुर्ग जिस सर्दी को अपने आन्तरिक उत्साह की गर्मी से सह रहा था वह विद्यार्थी उससे परास्त हो गया और बातचीत का सिलसिला बीच में ही छोड़ कर विदा हो गया। उसके जाने पर पंडित जी को ध्यान आया कि सर्दी है, अन्दर जा कर आपने मुझ से कहा, "भाई जरा बैठो, मैं सर्दी उतार लूँ।" यह कहकर आप रज़ाई में घुस गए और लगभग १५ मिनट तक गरमी लेने के पश्चात करवट बदल कर मेरी ओर देखा और कहा, 'बराबर तीन दिन से इस विद्यार्थी को मैं समझा रहा हूँ, परन्तु इसकी समझ में नहीं आता। प्रतीत होता है अभी और समझाना पड़ेगा।' मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पंडित जी का न परास्त होने वाला आशावादी हृदय न सर्दी से परास्त हुआ न उस विद्यार्थी की ढिठाई से। उस समय मुझे वह दिन याद आ गया जब मैंने पहली बार पंडित जी के दर्शन किए थे। उस समय नाई को विश्वविद्यालय

की उपयोगिता समझाने की जिस प्रबल इच्छा ने आपको प्रेरित देखा था, आज २२ वर्ष पीछे उसी इच्छा शक्ति को उसी वेग से काम करता देख कर मेरा मस्तिष्क आदर से झुक गया।

इस घटना से एक बात स्पष्ट हो जाती है, और वह ऐसी बात है जिसे प्रायः सारा भारतवर्ष जानता है। वह बात यह है कि कार्य करने का जो ढंग साधारण रूप से सर्वसामान्य समझा जाता है, श्रद्धेय मालवीय जी का ढंग उससे बिलकुल अलग था। माना जाता है कि बहुधन्धी व्यक्तियों को समय विभाग बनाना चाहिए और उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। नेताओं को मिलने-जुलने का समय निश्चित रखना चाहिए ताकि अन्य कार्यों में विक्षेप न हो। यह सम्भव है कि पंडित जी के प्राइवेट सेक्रेटरी अपनी नोटबुक में समय विभाग और इंगेजमेंट जैसी रिवाजी चीज़ें नोट करके रखते हों, परन्तु उस तपस्वी ब्राह्मण का मानसिक बल उन सबको रौंदता हुआ चलता था। वह इतनी उग्रता से अनुभव करते थे कि जब हृदय काम करने लगता था, तब समय विभाग जैसी कृत्रिम वस्तु उसके रास्ते को नहीं रोक सकती थी। पंडित जी का मस्तिष्क बहुत ऊँचे दर्जे का था; वह अद्भुत वक्ता और अनथक परिश्रमी थे। परन्तु इन सबसे बढ़ कर उनकी यह विशेषता थी कि उनका हृदय स्त्रियों से भी अधिक भावुक था। जब हृदय किसी ओर लग जाता था तब कोई बाधा उनकी गति को नहीं रोक सकती थी। यही श्रद्धेय मालवीय जी के चमत्कारिक चरित्र का रहस्य था।

५

मालवीय जी हिन्दी के महान वक्ता तो थे ही। उस समय के अंग्रेजी के तीन-चार भारतीय वक्ताओं में उनकी गिनती होती थी। पहले-पहल जब वे कांग्रेस के मंच पर आए उनकी आयु तीस साल के लगभग होगी। उनके पहले भाषण को सुन कर कांग्रेस के एक बुजुर्ग नेता ने उन्हें 'सिल्वर टंग आरेटर' रजत जिह्व वक्ता की उपाधि दी थी। उनके भाषण की बड़ी विशेषता यह थी कि वे श्रोताओं के अन्तःस्तल में प्रवेश करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। सब बातें ऐसे मीठे ढंग से कहते थे कि श्रोताओं के कानों में बिना किसी प्रतिरोध के घुस जाएं। अप्रिय या खटकने वाली बात एक भी नहीं कहते थे। कोई अप्रिय बात कहनी ही पड़े तो उसे इतने पर्दों में लपेट कर कहते थे कि कोई कोना बाहर न रह जाए और बात चुभे बिना हृदय तक चली जाए। उनके भाषण में भाषा का प्रवाह सुरेन्द्रनाथ या बिपिनचन्द्रपाल की तरह बाढ़ बन कर नहीं बहता था अपितु शीत ऋतु की भरी हुई गंगा के प्रवाह की तरह हलकी-सी गूँज करता हुआ अनवरत बहता था।

मालवीय जी की व्याख्यान कुशलता पूर्ण रूप में उस समय प्रगट होती थी जब कभी उन्हें ऑल इन्डिया कांग्रेस कमेटी में महात्मा गांधी के कानून भंग सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध करना पड़ता था। मालवीय जी और महात्मा जी का परस्पर भाइयों का सा स्नेह सम्बन्ध था। दोनों एक-दूसरे का आदर करते थे, प्रेम भी करते थे और अनेक मुख्य सिद्धान्तों पर एक-दूसरे से असहमत भी रहते थे। महात्मा जी के भाषण के पश्चात जब मालवीय जी उनके प्रभाव के विरोध में बोलने के लिए खड़े होते थे तो प्रायः प्रारम्भ में महात्मा जी के प्रति अपनी श्रद्धा और सत्याग्रह में अपनी आस्था प्रगट करते थे। इस कार्य में प्रायः आधा घण्टा व्यतीत हो जाता था उसके पश्चात श्रोता लोग एक "किन्तु" की प्रतीक्षा करने लगते थे। वह "किन्तु" उनकी वक्तृता के मार्ग का मोड़ होता था। उस किन्तु के पश्चात वे अपने भाषण के पूर्वार्द्ध का उत्तर देते थे और अन्त में महात्मा जी के प्रति श्रद्धा की भावना को दोहरा कर उनके प्रस्ताव का पूरा विरोध कर देते थे। ऐसे कुशल वक्ता को अपना पूरा अभिप्राय प्रगट करने के लिए अधिक समय लग जाए यह तो स्वाभाविक ही था। मालवीय जी प्रायः बहुत लम्बा बोलते थे, परन्तु आपका व्यक्तित्व इतना आकर्षक था, तथा भाषा और भाषणशैली इतनी सुन्दर थी कि कोई श्रोता थकने का नाम नहीं लेता था। बहस का अन्तिम परिणाम यह होता था कि महात्मा जी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मालवीय जी की उत्कृष्ट देशभक्ति और उदारता का इससे बड़ा क्या प्रमाण हो सकता है कि प्रस्ताव के स्वीकार हो जाने पर वे उसे शिरोधार्य कर लेते थे और सत्याग्रहियों की अगली पंक्ति में खड़े हो जाते थे। इस विरोध और स्वीकृति का रहस्य यह था कि मालवीय जी महाराज का मस्तिष्क नरम राजनीतिज्ञों की तरह दूरदर्शिता और सावधानी से पूर्ण था। परन्तु हृदय स्त्रियों और बच्चों से भी अधिक भावुक था। उसमें अनन्त सहानुभूति का निवास था। कई राजनीतिक तथा सामाजिक मन्तव्यों में पुरातन पद्धति के अनुयायी होते हुए भी कार्यक्षेत्र में वे आगे बढ़ने में युवकों को भी मात दे देते थे।

६

यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि श्रद्धेय मालवीय जी विचारों में सनातन होते हुए भी क्रिया में सुधारक थे। यह उनकी सामान्य प्रवृत्ति थी कि वे यथासम्भव भूतकाल से सम्बद्ध रहने का यत्न करते थे। परन्तु जब अनुभव कर लेते थे कि पीछे रहना देश के लिए हानिकारक है तब तेजी से चलकर अगली पंक्ति में पहुँच जाते थे। इसी असाधारण विशेषता का परिणाम था कि वे रेल पकड़ने के लिए घर से प्रायः देर में चलते थे। परन्तु यह बात मैंने उन्हीं के मुँह से सुनी थी कि कभी उनकी गाड़ी नहीं छूटी। मालवीय जी महाराज के रेल पर देर-देर में पहुँचने के अनेक किस्से प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ शायद अत्युक्तिपूर्ण भी हैं। मैं यहाँ केवल वही घटनाएँ लिखूँगा जो या तो मेरी स्वयं देखी हैं अथवा पण्डित जी की स्वयं अपनी जुबानी सुनाई हुई हैं।

सन् १९२४ की बात है। वर्तमान युग में हिन्दू-मुस्लिम एकता की जन्म भूमि दिल्ली में साम्प्रदायिक उपद्रव की अग्नि प्रज्वलित हुई देख कर महात्मा गांधी और देश के अन्य नेता उसे बुझाने के लिए यहाँ एकत्रित हुए। उस समय मालवीय जी महाराज भी आए और बिड़ला मिल की सब्जीमण्डी वाली कोठी में ठहरे। सन् १९२४ में दिल्ली के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का केन्द्र सदर बाज़ार ही था। वह बाज़ार तीन-तीन हिस्सों में बँटा हुआ है। जहाँ बड़े-बड़े मुसलमान सौदागरों

की दुकानें थीं। उसके आगे पहाड़ी धीरज की बस्ती है जिसमें जाट, गूजर, अहीर, माली आदि जातियों के लोगों की अधिकता है। पश्चिमी किनारे पर हिन्दूराव का बाड़ा है, जो मुस्लिम प्रधान था। अब भी कसाबघर की समीपता के कारण वहाँ कसाइयों की आबादी बहुत अधिक है। आबादी की इस परिस्थिति के कारण शहर में थोड़ा सा भी साम्प्रदायिक विक्षोभ होने पर सदर बाज़ार में गृह युद्ध की भेरी बजने लगती थी, सन् १६२४ में भी ऐसा ही हुआ था।

एक दिन संध्या के समय सदर बाज़ार पहाड़ी धीरज की एक चौपाल में इलाके के प्रमुख हिन्दुओं की एक पंचायत बुलाई गई थी। उसमें मालवीय जी भी पधारे थे। शान्ति स्थापना के सम्बन्ध में विचार करते-करते बहुत देर हो गई, रात के लगभग नौ बज गए। मुझे मालूम था कि पण्डित जी साढ़े-नौ बजे की गाड़ी से बाहर जाने वाले हैं। मैंने उन्हें याद दिलाया कि समय हो रहा है, अब बातचीत समाप्त कीजिए, परन्तु पण्डित जी की तसल्ली अभी नहीं हुई थी। उन्होंने बातचीत का सिलसिला जारी रखा। सामान स्टेशन पर जा चुका था। सेक्रेटरी को आज्ञा थी कि वह रिज़र्व की हुई सीट पर बिस्तर बिछा छोड़े। इस कारण कुछ अटपटी बात होते हुए भी मुझे फिर याद दिलाना पड़ा कि गाड़ी का समय हो रहा है चलिए, इस समय सवा-नौ बज चुके हैं। पण्डित जी ने हाथ के इशारे से मुझे रोकते हुए बातचीत जारी रखी। जब साढ़े-नौ बज गए तब फिर एक बार घड़ी सामने रख कर पण्डित जी को याद दिलाना पड़ा, इसका कुछ असर हुआ और पण्डित जी बातचीत का सिलसिला समाप्त करके खड़े हो गए। मोटर में बैठ कर पण्डित जी ने मुझे इन शब्दों में आश्वासन दिया। आपने कहा कि यह समझना गलत है कि केवल हम ही लेट होते हैं क्योंकि ट्रेनें भी प्रायः लेट होती हैं। आपने अपने अनुभव के आधार पर कहा कि ट्रेन मनुष्य से भी अधिक लेट होती है। यही कारण है कि देर होने के कारण मेरी गाड़ी शायद ही कभी छूटी हो। यदि कभी छूट भी गई तो मेरा काम नहीं रुका। इस कथन की पुष्टि में पण्डित जी ने अपनी एक अनुभूत घटना सुनाई जो इतिहास का अंग होने के योग्य है, इसलिए उसे मैं यहाँ दोहराता हूँ।

७

वह घटना तब हुई थी, जब भारत के वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड थे। पण्डित जी को एक अत्यन्त आवश्यक कार्य से ऐसी जगह जाना पड़ा, जहाँ इलाहाबाद से रेल द्वारा तीन-चार घण्टों में पहुँचा जा सकता था। उसी दिन रात के समय पण्डित जी का इलाहाबाद वापस पहुँचना अत्यन्त आवश्यक था। शायद वह किसी सार्वजनिक सभा में सभापतित्व करने वाले थे। उस जगह का कार्य समाप्त करके इलाहाबाद वापस जाने के लिए जब पण्डित जी स्टेशन पर पहुँचे तो मालूम हुआ कि जिस गाड़ी से इलाहाबाद जाना चाहिए था, वह निकल चुकी थी। यूँ पण्डित जी के सुदीर्घ जीवन में यह घटना अपवाद ही समझनी चाहिए, क्योंकि स्टेशन पर देर से पहुँचने पर भी गाड़ी उन्हें मिल ही जाती थी। उस दिन मानो अनहोनी हो गई। वह लेट हो गए, गाड़ी लेट नहीं हुई। परन्तु पण्डित जी आशा का सूत्र छोड़ने वाले नहीं थे। उन्होंने स्टेशन मास्टर से दरयाफ्त किया कि क्या और कोई गाड़ी, फिर चाहे वह मालगाड़ी ही हो, इलाहाबाद के लिए मिल सकती है या नहीं। स्टेशनमास्टर ने उत्तर दिया कि हाँ, मालगाड़ी आने वाली थी, परन्तु वह दूसरे स्टेशन पर रुक गई है, क्योंकि वाइसराय की स्पेशल यहाँ से गुजरने वाली है। इतने भी निराश न होकर पण्डित जी ने पूछा कि क्या वाइसराय की स्पेशल यहाँ नहीं ठहर सकती। स्टेशनमास्टर ने बतलाया कि स्पेशल ट्रेन यहाँ नहीं ठहरेगी और यदि अकस्मात लाइन क्लीयर देने में ही कोई भूल न हो जाए तो उसे किसी प्रकार ठहराया भी नहीं जा सकता।

इस पर पण्डित जी ने उसे सुझाया कि क्या यह सम्भव नहीं कि लाइन क्लीयर देने में चूक कर दी जाए, जिससे ट्रेन यहाँ ठहर जाए। जब स्टेशनमास्टर ने यह आशंका प्रकट की कि ऐसा करने से लाइन क्लीयर देने वालों पर आपत्ति आ सकती है, तो पण्डित जी ने उसे आश्वासन दिया कि मैं ऐसा नहीं होने दूँगा।

बात तय हो गई, लाइन क्लीयर देने वाले आदमी ने अपना हाथ इतनी दूर रखा कि ट्रेन को लाइन क्लीयर न मिल सका। गाड़ी स्टेशन पर खड़ी हो गई। पण्डित जी प्लेटफार्म पर ही खड़े थे। झट उस डिब्बे के सामने जा पहुँचे, जिसमें वाइसराय बैठा हुआ था। वाइसराय ने पण्डित जी को देख कर बाहर मुँह निकालते हुए पूछा, "हैलो पण्डित, आप यहाँ कहाँ?" पण्डित जी ने उत्तर दिया कि "मैं यहाँ इलाहाबाद वापस जाने के लिए खड़ा था। आपकी स्पेशल ट्रेन के कारण गाड़ियाँ रुक गईं, जिससे मैं लटकता रह गया।" वाइसराय ने सज्जनता को निभाते हुए कहा, "आइए, मेरी गाड़ी में आ जाइए। मैं आपको इलाहाबाद पहुँचा दूँगा।" पण्डित जी बगैर तकल्लुफ के वाइसराय के डब्बे में बैठ गए। साथ ही बातचीत के सिलसिले में गाड़ी रोकने की पूरी कहानी सुना कर बिचारे सिगनलर की सफाई भी कर दी। इस तरह स्टेशन पर देर में पहुँचने पर भी पण्डित जी इलाहाबाद समय पर पहुँच गए। ऐसी घटनाओं ने पण्डित जी के आत्मविश्वास को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। उन्हें यह अटल विश्वास सा हो गया था कि शीघ्र या विलम्ब में कार्य अवश्य सिद्ध होगा।

यह घटना पण्डित जी ने हमको सदर से दिल्ली स्टेशन की ओर जाते हुए रास्ते में सुनाई। स्टेशन पर जाकर देखा कि गाड़ी सचमुच १०-११ मिनट लेट थी और मानो पण्डित जी की प्रतीक्षा में ही सीटियाँ दे रही थी।

८

इसी प्रकार की एक और घटना इलाहाबाद स्टेशन की है। पण्डित जी बाँकीपुर के कांग्रेस अधिवेशन में जा रहे थे। उससे कुछ दिन पहले ही दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम गिरने की घटना हुई थी। उस दिन सायंकाल के समय प्रयाग में बम फेंकने वाले की निन्दा करने के लिए विराट सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। सर सुन्दरलाल उसके सभापति थे। मालवीय जी उसी दिन दिल्ली से प्रयाग पहुँचे थे। सभा में मुख्य भाषण उन्हीं का हुआ। मैं भी दिल्ली

से पण्डित जी के साथ ही प्रयाग गया था और ठहरा भी उन्हीं के पास था। सभा में जाते समय पण्डित जी यह आदेश दे गए थे कि उनका सामान समय से पहले स्टेशन पर पहुँचा दिया जाए और बिस्तर बिछा रखा जाए। पण्डित जी के प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ मैं सभा से जल्दी उठ गया और हम दोनों सामान लेकर स्टेशन पर पहुँच गए। आज्ञानुसार सब कुछ कर दिया गया। नौकर को सर्वेंट की कोठरी में बिठा कर हम दोनों प्लेटफार्म पर पण्डित जी की प्रतीक्षा करने लगे। गाड़ी के छूटने का समय हो गया, गार्ड ने हरी झण्डी दिखाई, फिर सीटी बजाई और गाड़ी हिलने लगी। तब हम लोगों को सामान की चिन्ता हुई, सेक्रेटरी साहब ने डिब्बे में घुस कर पण्डित जी का बिस्तर लपेटा और बाहर फेंक दिया। नौकर भी नीचे उतर आया। सारा सामान प्लेटफार्म पर उतार कर सेक्रेटरी महोदय भी कूद कर ट्रेन से उतर आए। उस समय गाड़ी के लगभग आधे डिब्बे प्लेटफार्म से बाहर जा चुके थे। गाड़ी अकस्मात रुक गई। हम लोग देखने लगे कि गाड़ी रुकने का क्या कारण हुआ? देखते क्या हैं कि आगे-आगे मालवीय जी और उनके पीछे-पीछे डा० भगवानदास जी प्लेटफार्मों पर बने हुए पुल पर से गाड़ी की ओर भागे आ रहे हैं। पाठक विश्वास रखें कि भागे शब्द का प्रयोग मैंने अतिरंजना में नहीं किया। दोनों महानुभाव वस्तुतः भागे आ रहे थे। दोनों के दाएँ हाथ गाड़ी को रोकने के लिए ऊपर उठे हुए थे। वहाँ सभी लोग मालवीय जी को पहचानते थे। उन्हें आते देख कर स्टेशन मास्टर ने गाड़ी को लाल झण्डी दिखला दी। गाड़ी खड़ी हो गई। सामान फिर से डिब्बे में लगा दिया गया, और पण्डित जी के पीछे-पीछे मैं भी गाड़ी पर सवार हो गया।

इस घटना से यही परिणाम निकालना चाहिए कि भगवान अपने भक्तों के काम किसी न किसी तरह सँवार ही देता है।

यदि आप मुझ से यह पूछें कि मालवीय जी का सबसे बड़ा गुण कौनसा था तो मैं कहूँगा "हृदय की कोमलता"। उनके मस्तिष्क की असाधारण महत्ता को कौन नहीं जानता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका असली मार्गदर्शक उनका हृदय ही था। जब कभी उनके मस्तिष्क और हृदय में संघर्ष होता था, तब तपस्वी ब्राह्मण के हृदय की ही जीत होती थी। मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि मालवीय जी के मस्तिष्क की शक्ति किसी अन्य सामयिक भारतवासी से न्यून थी, अपितु यह अभिप्राय है कि 'इतिकर्त्तव्यता' निश्चय करने के समय उनका हृदय मस्तिष्क से अधिक बलवान सिद्ध होता था।

इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उनकी सहृदयता का अनुभव करने के कई अवसर मिले। यहाँ मैं उनमें से केवल दो अनुभव लिख कर इन संस्मरणों को समाप्त करूँगा।

पहली घटना तब की है जब मैं परिवार सहित अपनी कन्या को हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रविष्ट कराने बनारस गया था। गाड़ी लगभग दिन के १२ बजे बनारस पहुँची। गुरुकुल के अनुभव से मेरा ऐसा विचार बना हुआ था कि प्रत्येक बड़ी सार्वजनिक संस्था में अतिथियों के ठहरने का स्थान तो होना ही चाहिए। इसी धारणा से एक बन्द गाड़ी पर सब सामान लाद कर हम लोग विश्वविद्यालय जा पहुँचे। पहले महिला आश्रम के द्वार पर पहुँचे। वहाँ की अधिष्ठात्री पूर्व परिचिता थीं। उन्होंने सलाह दी कि ठहरने के बारे में आप लोग वाइस चान्सलर साहब से मिलिए। उन दिनों एक काश्मीरी सज्जन विश्वविद्यालय के भाग्य विधाता थे। उनके बंगले पर गाड़ी ले जाकर मैंने अपना कार्ड भेजा तो एक मद्रासी क्लर्क ने आकर पूछा कि क्या काम है? यह उत्तर देने पर कि कन्या को दाखिल कराने आए हैं, कुछ घण्टों के लिए सामान रखने और नहाने-धोने के लिए जगह चाहिए, उत्तर मिला कि ऐसा कोई स्थान यहाँ नहीं। एक अतिथिगृह है, परन्तु वह एक राजा साहब के लिए रिजर्व हो चुका है, जो परसों आने वाले हैं, आपके वहाँ ठहरने से वह खराब हो जाएगा।

यह टका सा जवाब पाकर गाड़ी का मुँह बनारस के रेलवे स्टेशन की ओर मोड़ देते, यदि लड़की को विश्वविद्यालय में दाखिल कराना न होता। जुलाई का महीना था। कड़ाके की धूप पड़ रही थी। छोटा बच्चा प्यास से परेशान था। अन्त में लाचार होकर एक प्रोफेसर के यहाँ अनिमन्त्रित अतिथि बनना पड़ा। उनके यहाँ सामान रख कर स्नान किया और विश्वविद्यालय के कार्यालय में पहुँच कर आवश्यक पूछताछ की। जब मालूम हुआ कि कार्य पूरा कराने के लिए एक-दो दिन ठहरना पड़ेगा, तो निश्चय किया कि पहले बाजार में चल कर खाना खाया जाए फिर शहर में रहने की जगह तलाश की जाए।

जब विश्वविद्यालय से बाहर जाने लगे तो रास्ते में एक बंगले के द्वार पर पूज्य मालवीय जी का साइनबोर्ड दिखाई पड़ा। पंडित जी तब कार्य छोड़ चुके थे। मुझे मालूम था कि उनका शरीर बहुत निर्बल हो गया है। नाम देख कर एकदम मन में विचार उठा कि यदि पंडित जी को असुविधा न हो तो उन्हें प्रणाम करते चलें। अन्दर जाकर देखा तो उनके सेक्रेटरी पन्त जी विराजमान हैं। वह बड़े प्रेम से मिले। प्रणाम करने की बात पूछने पर उन्होंने कहा कि इस समय बाबू भोजन कर चुके हैं, शायद ही मिल सकें, उनका आराम करने का समय है। इतना उत्तर देकर पंत जी ने अनुभव किया कि यह उत्तर संसार की दृष्टि से ठीक होता हुआ भी मालवीय शिष्टाचार के अनुसार उचित नहीं हुआ। सीधा इन्कार मालवीय शिष्टाचार में वर्जित था। मेरी निराशा को हलका करते हुए पंत जी ने कहा, 'ठहरिए, मैं बाबू से पूछ कर आता हूँ।' जब पंत जी पूछ कर आए तो उनके चेहरे पर मुस्कराहट थी। चलिए बाबू ने बुलाया है। यह कहते-कहते वह आगे चले।

अन्दर जाकर जो दृश्य देखा तो दिल बैठ सा गया। मैंने पंडित जी को कई वर्षों बाद देखा था, वह सौम्यमूर्ति जो सदा सीधी दिखाई देती थी, थकान, बीमारी और बुढ़ापे के कारण झुक गई थी। सुनने और बोलने में भी कष्ट अनुभव होता था। यह तो शरीर का हाल था, परन्तु जब बातचीत हुई तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस निर्बल शरीर में वही बलवान मस्तिष्क और उससे भी बलवान हृदय विद्यमान है। उस समय की सब बातों का विवरण देने से लेख बहुत लम्बा हो जाएगा। यहाँ उतना ही अंश देना पर्याप्त है, जिससे पण्डित जी की प्रकृति का वास्तविक रूप पहचानने में सहायता मिले। पण्डित जी ने

पूछा, 'कहाँ ठहरे हो ?' यह प्रश्न हिन्दू विश्वविद्यालय में मुझे बिल्कुल नया प्रतीत हुआ। मैंने उत्तर दिया, 'अभी तो कहीं नहीं ठहरे। सामान एक जगह रख दिया है।' पण्डित जी—'क्यूँ ? क्या ठहरने को कोई स्थान नहीं मिला ?।'

इस प्रश्न के उत्तर में मैंने संक्षेप से अपनी सुना दी। सुनाते हुए यह ध्यान रखा कि किसी की शिकायत न होने पाए, फिर भी मेरी कहानी का पण्डित जी पर जो असर हुआ उसे देख कर मुझे पछतावा हुआ कि मैंने वह कहानी क्यों सुनाई ! आपकी आँखों में पानी झलकने लगा। आपने नौकर को इशारा करके अपने पौत्र पं० श्रीधर मालवीय को बुलवाया और कहा, "यह कितने दुःख की बात है कि इन्द्र जी परिवार सहित यहाँ आए और ठहरने को कोई स्थान न मिले। इस बंगले के ऊपर दोनों कमरे अभी साफ करवा कर रहने के योग्य कर दिए जाएँ और भोजन का प्रबन्ध भी यहीं होगा।" यह स्पष्ट था कि जहाँ पण्डित जी का यह आदेश उनकी सहृदयता और विशालता का उज्ज्वल सबूत था, वहाँ उससे लाभ उठाना हम लोगों की स्वार्थपरायणता और अमानुषिकता का प्रमाण होता। मैंने और मेरी पत्नी ने प्रतिवाद करने के लिए इकट्ठा मुँह खोला तो पण्डित जी ने हाथ के एक निश्चयात्मक इशारे से हमें चुप कर दिया और श्रीधर जी को सब प्रबन्ध जल्दी कर देने का आदेश देकर विदा कर दिया।

इस सारी घटना में मालवीय जी महाराज के हृदय का वह स्पन्दन झलक रहा था, जो उनके सुदीर्घ परोपकारी जीवन का मुख्य प्रेरक था।

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है कि हम लोगों ने शाम को श्रीधर जी को सूचना दे दी कि हम लोग बाबू शिवप्रसाद जी के यहाँ ठहर गए हैं। आप हमारी प्रतीक्षा न कीजिएगा।

अब मैं पण्डित जी के अन्तिम दर्शनों का थोड़ा सा वृत्तान्त सुना कर इस प्रकरण को समाप्त करता हूं। [illegible] शरीर से निर्बल और वृद्धावस्था [illegible] सार्वजनिक सेवाओं [illegible] पहुंचाने के लिए सन् १९४६ के नवम्बर मास में दिल्ली पधारे थे। आप अपने सुपुत्र पं० गोविन्दकान्त मालवीय के साथ ठहरे हुए थे। मैं अपनी दोनों कन्याओं के साथ उनके दर्शन के लिए उपस्थित हुआ। गोविन्दकान्त जी ने बड़े प्रेम से हमारा अभिनन्दन किया और पण्डित जी से आज्ञा प्राप्त करके हमें अन्दर ले गए। अन्दर जा कर भारतीय राष्ट्र के उस [illegible] चिन्तक को मानो शरशय्या पर पड़े हुए पाया। शरीर सूख कर कांटा हो गया था। चेहरे पर निर्बलता का पूर्ण अधिकार था और बोलने में बहुत कष्ट अनुभव हो रहा था। सिरहाने की ओर गोविन्दकान्त जी खड़े थे और पाँयत की ओर राधाकान्त जी। अत्यन्त क्षीण स्वर हो जाने पर भी पंडित जी के ओंठों के इशारे को गोविन्दकान्त जी समझते प्रतीत होते थे। मैंने देखा कि पंडित जी के हृदय और मस्तिष्क पर शरीर की असमर्थता का बहुत ही कम असर था। वह प्रत्येक बात को बिल्कुल स्पष्टता से समझते और पहले की भाँति अनुभव करते थे। उनकी आँखें और ओंठ हृदय के दर्पण बने हुए थे। हमारे प्रणाम का उसी प्रेम से उत्तर दिया। दिल्ली की परिस्थिति के बारे में वैसे ही कुशल प्रश्न किए और आत्मरक्षा के लिए तैयार रहने की वैसी ही प्रेरणा दी, जैसी बीस वर्ष पहले दिया करते थे। मुस्कराये भी और आँसू भी बहाए। जब कन्याओं ने प्रणाम किया तो आपने मुझसे पूछा कि इनके पास आत्मरक्षा का कोई साधन भी है या नहीं। साथ ही राजपूताने का कोई प्रसिद्ध पद बोला, जिसे मैं याद नहीं रख सका। संभव है गोविन्द जी को याद हो। उस समय बड़े से बड़े प्रकृतिवादी को भी मानना पड़ता कि आत्मा शरीर से अलग और ऊँची वस्तु है। शरीर जर्जरित हो गया था, परन्तु आत्मा युवा थी।



तार जगे

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

तार जगे
आज वायलिन के
फिर सहसा तार जगे।
बहुत दिनों के बाद हँसी
दीवारों से टकराई
पर्दे हिले, खिड़कियों ने ली
हल्की-सी अँगड़ाई
हरे बल्ब की छाया में
सोये संसार जगे,
तार जगे।
वर्षों बाद झरोखे से फिर
कई सीढ़ियाँ आईं
गलियारे में पड़ी कोच पर
छायाएँ लहराईं
फ्रेम कसी तस्वीरों के
रूठे उपहार जगे,
तार जगे।
प्रश्न-चिह्न से खड़े एरियल
ने बाहें फैलाईं
सन्नाटे का दर्द चीरती
डूब गई तनहाई
फिर गमलों के फूल सरीखे
अनगिन प्यार जगे,
तार जगे।

रूस में प्रेमचन्द तथा अन्य भारतीय लेखकों के प्रशंसक

जोज़िफ़ पी० वैकोव

बहुत पुराने जमाने में भी रूसी लोगों की भारत देश के बारे में बड़ी दिलचस्पी रही। वे भारत के बारे में गीत गाया करते थे और कहानियाँ कहा करते थे। न केवल उन कहानियों से रूसी लोग भारत के बारे में जानते थे, बल्कि १५वीं सदी में, वास्को दि गामा से भी तीस साल पहले अफानासी निकितिन नामक एक बहादुर रूसी सौदागर ने भारत की यात्रा की, और रूस देश वालों को भारत के बारे में बताया। इस रूसी यात्री ने अपनी "तीन समुद्रों के पार की यात्रा" नामक पुस्तक में अपनी यात्रा के बारे में काफ़ी विस्तार से लिखा है।

उसके बाद भी प्रगतिशील रूसी विद्वानों, लेखकों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने भारत के बारे में गहरी दिलचस्पी ली। मिसाल के तौर पर, रूस के महान विचारकों और साहित्य के पंडितों ने जैसे कि, चेर्निशेव्स्की और दोब्रोल्यूबोव ने अपनी रचनाओं में भारत की सन् १८५७ की महान राज्य क्रान्ति पर रोशनी डाली।

इसी काल में प्रसिद्ध रूसी कवि जुकोव्स्की ने भारत की मशहूर पुस्तक "महाभारत" में से "नल-दमयन्ती" नामक कहानी का रूसी भाषा में अनुवाद किया।

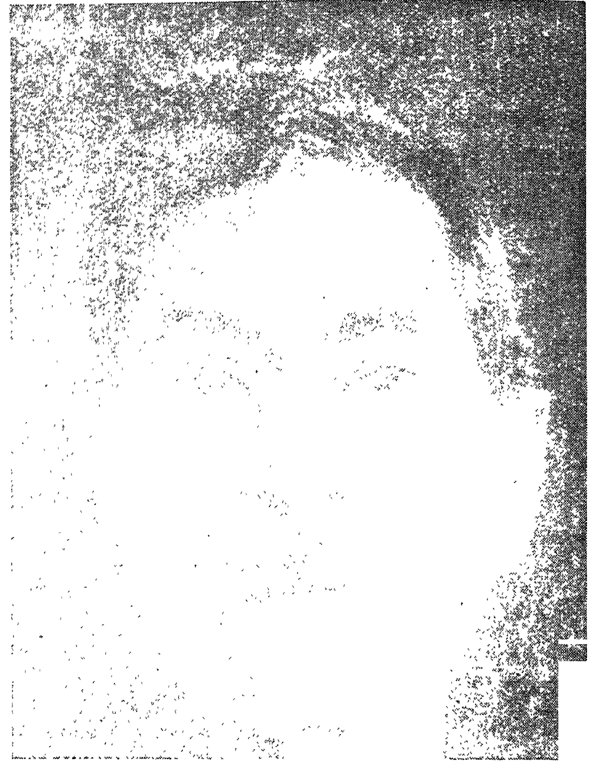
उन्नीसवीं सदी के आखीर में पूर्वीय धार्मिक साहित्य के बड़े विद्वान श्री मिनायेव भारत आये। उनकी इस यात्रा की एक डायरी अभी कुछ दिन हुए रूस में छपी है जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से बड़े महत्व की है।

रूस के नामी चित्रकार श्री वेरेश्चागिन को भी भारत देश के दर्शन करने का सौभाग्य मिला था। उन्होंने भारतीय जीवन और भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष के सम्बन्ध में जो चित्र बनाए थे वे अजोड़ हैं, और उनकी एक झाँकी ही दिलों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है।

बीसवीं सदी के शुरू में दुनिया की पहली बड़ी लड़ाई छिड़ने के कुछ दिन पहले तक भी रूसी लोगों की भारत के बारे में यह दिलचस्पी ज़रा भी धीमी नहीं पड़ी। इन्हीं दिनों पहली बार भारत के अमर कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबल पुरस्कार-प्राप्त पुस्तक "गीतांजलि" तथा उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं के अनुवाद रूसी भाषा में रूस के लोगों को पढ़ने को मिले। इन्होंने पाठकों के मनों को मोह लिया।

एक रूसी कवि बाल्मोंत ने भारत के संस्कृत साहित्य के सबसे महान कवि कालिदास के कई नाटकों का रूसी में अनुवाद किया। इन अनुवादों में कालिदास की दुनिया भर में मशहूर पुस्तक "शाकुन्तल" भी थी।

रूस की अक्तूबर की महान क्रान्ति और सोवियत शासन की



जन्म : १० अगस्त १८८१ प्रेमचन्द अवसान ८ अक्तूबर, १९३६

स्थापना के बाद रूस में वहाँ के पूर्वीय साहित्य के विद्वानों ने जो रचनाएँ कीं उनमें बिल्कुल साफ तौर पर भारत की गौरवशाली तथा विभिन्न रूप वाली संस्कृति झलकती है। ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की, बरान्निकोव जैसे अकादमी आफ़ साइन्स के प्रतिष्ठित सदस्यों के नाम न केवल रूस में ही बल्कि रूस के बाहर दूर-दूर देशों में भी मशहूर हैं। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का ठीक परिज्ञान कराने वाली उनकी ये रचनाएँ एक तरह से दुनिया को बड़ी देन हैं।

इसी काल में ही रवि बाबू की एक के बाद दूसरी रचनाओं के रूसी अनुवाद प्रकाशित हुए। सन् उन्नीस सौ तीस और उन्नीस सौ चालीस के बीच के दस सालों के समय में श्री बरान्निकोव नामक एक रूसी अकादमीशियन ने लल्लू लाल जी के प्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थ "प्रेमसागर" का रूसी भाषा में अनुवाद पूर्ण किया। इसी काल में उन्होंने भक्त कवि श्री तुलसीदास के "रामचरित मानस" नामक विशाल ग्रन्थ के एक बड़े हिस्से का अनुवाद किया। उन्होंने पूरा अनुवाद द्वितीय महायुद्ध के काल में किया जो कि युद्ध की समाप्ति पर रूस में छपा।

इस अनुवाद की भूमिका को पढ़कर रूसी पाठकों को गुरुदेव टैगोर के अद्भुत जीवन का और अद्भुत कवित्व-शक्ति का परिचय मिला।

आखिर में, आज से लगभग दो या तीन साल पहले भारत के बहुत पुराने काल के महाकाव्य "महाभारत" का पहला हिस्सा रूसी भाषा में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद संस्कृत वेत्ता श्री कल्यानोव ने किया है।

मगर भारत के बारे में रूसी लोगों की खास दिलचस्पी पिछले महायुद्ध के बाद, गत वर्ष ही जागी। इसी काल में सोवियत संघ के बड़े-बड़े विद्वान और लेखक, चित्रकार और अभिनेता एवं इंजीनियर और खिलाड़ी भारत की यात्रा पर अनेक बार आए और आज भी वे आ रहे हैं। उन्होंने अपनी इन यात्राओं के द्वारा भारतीयों को सोवियत संघ की बहुत राष्ट्रों वाली सभ्यता की सफलताओं से परिचित कराया।

दूसरी ओर भारतीय कला और संस्कृति के अनेक प्रतिनिधियों ने सोवियत संघ की अपनी हाल की यात्राओं से रूस की जनता के सामने भारत देश की अनुपम नृत्यकला व संगीत विद्या आदि के सुन्दर उदाहरण उपस्थित किए।

इधर पिछले कोई पाँच सालों से भारतीय आधुनिक लेखकों की कृतियों के काफी संख्या में अनुवाद और प्रकाशन सोवियत रूस में हुए हैं। इन अनुवादों के कारण ही आज रूस के पाठकों को भारत के आधुनिक लेखकों, और कवियों को जानने का अवसर मिला है। इसीलिए आज रूस में कृष्णचन्दर, मुल्कराज आनन्द, भवानी भट्टाचार्य, अब्बास, अली सरदार जाफरी और वल्लाथोल जैसे लेखकों की रचनाएँ खास तौर पर पसन्द की जा रही हैं। उक्त विद्वानों की भारतीय भाषाओं में लिखी पुस्तकों तथा लेखों के अनुवाद रूसी भाषा में प्रकाशित होने वाले जनप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर छपते रहते हैं। इन रूसी पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों व ग्राहकों की संख्या लाखों में है।

इन लेखकों में से कितनी ही रचनाएँ अलग पुस्तक के रूप में भी छपी हैं, और उनके कई-कई संस्करण निकल चुके हैं। उदाहरण के लिए श्री भवानी भट्टाचार्य लिखित "दुर्भिक्ष," मुल्कराज आनन्द लिखित "कुली" तथा दूसरे लेखकों और कवियों की रचनाएँ। भारतीय लेखकों व ग्रन्थकारों की जिन पुस्तकों के अनुवाद रूसी भाषा में अथवा सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं उनकी प्रतियों की संख्या कम से कम पन्द्रह लाख तक होगी।

किन्तु इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि भारत के तमाम लेखकों में मुंशी प्रेमचन्द का विशेष ही स्थान है। वे सचमुच में आधुनिक भारतीय साहित्य के जन्म-दाताओं में से हैं। न केवल आज ही बल्कि, आज से बहुत साल पहले से श्री प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय ज्ञान के विशेषज्ञ रूसियों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। इन रूसी विद्वानों ने श्री प्रेमचन्द के जीवन की घटनाओं को पढ़ा, उनकी साहित्य की सृजन शक्ति और भाषा की शैली का गहराई के साथ अध्ययन किया। इसके आधार पर उन्होंने श्री प्रेमचन्द के



जन्म : १८६१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर अवसान : १९४१

"प्रेमाश्रम", "गोदान" और "संग्राम" आदि ग्रन्थों का रूसी भाषा में अनुवाद किया।

रूस के अधिकांश पाठक श्री प्रेमचन्द को छोटी कहानियों के लेखक के रूप में खास तौर पर जानते हैं। श्री प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ जैसे "सवा सेर", "ठाकुर का कुआँ" और "गुल्ली डन्डे का खेल" आदि रूसी पाठक-पाठिकाओं ने एक बार नहीं बल्कि सैकड़ों बार पढ़ी होंगी। श्री प्रेमचन्द ने जो रूसी पाठकों को अपनी ओर इतने ज़ोरों से खींचा उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि श्री प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा है वह सीधी-सादी भाषा में आम जनता के जीवन की सही तस्वीर को खींच कर रख दिया है। उनकी भाषा बड़ी सँजी हुई और मुहावरेदार है। उन्होंने भारतीय जीवन की सामाजिक समस्याओं का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। श्री प्रेमचन्द की इन कहानियों को पढ़कर ही रूसी पाठकों को भारत के देहाती या ग्रामीण जीवन की, जिससे आज तक वे बिल्कुल ही अनजान थे, सबसे पहले गहरी जानकारी मिली।

उनकी इन कहानियों से ही हमारे इन पाठकों ने भारत के देहातों की दुनिया के सीधे-सादे बाशिन्दों की रोजमर्रा की ज़िन्दगी की गमियों और खुशियों और तकलीफ़ों व आनन्दों को अनुभव किया। श्री प्रेमचन्द के पात्र सदा बड़े संघर्ष तथा विकट परिस्थिति के जीवन

में से गुजरते हैं। किन्तु उनका यह अडिग विश्वास व भरोसा होता है कि अन्त में सत्य की तथा न्याय की ही विजय होगी। श्री प्रेमचन्द जिन्दगी की तकलीफों का और उनसे जूझने का ऐसा जिन्दा खाका खींचते हैं कि उन्हें पढ़ने वाला पाठक यह भूल जाता है कि वह कोई किस्सा या कहानी पढ़ रहा है, बल्कि उसमें ऐसा कुछ ख्याल जोर मारता है कि वह भी कहानी के पात्रों के सुखों और दुखों में कुछ हिस्सा बँटाने को और बुराइयों के विरुद्ध किए जा रहे संघर्ष में उन पात्रों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने को मचलने लगता है।

श्री प्रेमचन्द के सारे उपन्यास, कहानियाँ व लेख हमें सामाजिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए पुकार-पुकार कर बुलाते हैं। श्री प्रेमचन्द के इन्हीं गुणों के कारण रूसी पाठक उन्हें न केवल एक महान लेखक के रूप में बल्कि एक उच्च सामाजिक योद्धा और देश-भक्त के रूप में सदा चाहते हैं और उनका सम्मान करते हैं।

रूसी जनता ने जो प्रेमचन्द को इतना अपनाया निस्सन्देह उसका विशेष कारण यह भी है कि भारत के इस महान लेखक ने दूसरे देशों की खासकर रूस की संस्कृति के प्रति हमेशा ऊँचा सम्मानपूर्ण भाव प्रकट किया। उन्हें रूसी उच्च साहित्य की दुनिया में मशहूर लेखक—टाल्सटाय, तुर्गनेव, चेखव, और दास्तोवस्की, की रचनाओं का पूरा-पूरा ज्ञान था, और उन्होंने लियो टाल्सटाय की अनेक कहानियों का अनुवाद हिन्दी में किया। सोवियत शासन की स्थापना के बाद के रूसी साहित्य, और सोवियत जीवन पद्धति में भी उनकी कुछ कम दिलचस्पी न थी। उन्होंने सोवियत रूस पर पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर विशेष लेख लिखे और उनके द्वारा भारत के लोगों के सामने सोवियत संघ का सच्चा स्वरूप रखा। इसलिए यह कहना गलत न होगा कि आज संसार के दो महान देशों—भारत और रूस में—जो मैत्री-सम्बन्ध है, उसका बुनियादी पत्थर श्री प्रेमचन्द के कर-कमलों से रखा गया था। सोवियत रूस के उच्च कोटि के जन-लेखक मैक्सिम गोर्की की रचनाओं का, इस महान भारतीय साहित्यकार ने गहरा अध्ययन किया था और इस अध्ययन के आधार पर वे उनके बड़े प्रशंसकों में थे। गोर्की की मृत्यु की खबर सुनकर उनके दिल को बड़ा सदमा पहुँचा था।

श्री प्रेमचन्द यद्यपि उस समय खाट पर बीमार पड़े हुए थे लेकिन अपने लेखक-बन्धु की मौत की खबर सुनकर उठ खड़े हुए और उन्होंने फौरन उसी दिन स्वर्गगत गोर्की की याद में एक पब्लिक मीटिंग जुड़ाई।

आज उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द इस संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी वे अमर रचनाएँ पहले की तरह ही आज भी सच्ची शान्ति और मानव-कल्याण के लिए संघर्ष करते रहने की प्रेरणा दे रही हैं। अदृश्य होकर, आज भी वे बिल्कुल पहले के समान ही भारत और रूस की सच्ची मैत्री को बढ़ावा देने वालों की पंक्ति में ही बैठे नज़र आते हैं।

बताओ आली, किस की वधू हो तुम ?

धुर्वे-सी धुँधली,
पाणी-सी पतली;
मीठी कदली-सी,
पाणी-सी पतली,
केला-सी गखोल,
रौंदी-सी कुरेड़ी,
नौण-सी गुंदकी, कैकी बौराण छ ?
इनी मेरी होन्दी जिकुड़ी मा सेन्दी !
दिवा जसी जोत,
फ्यूँली जसो फूल,
दुबला की-सी लड़ी,

हरी जनी काखड़ी,
भीमल की-सी सेटगी, कैकी बौराण छ ?
इनी मेरी होन्दी गलाऊँदी भूल दी !
नाक मा छ तोता,
जीभ मा क्वोल,
आँख्यो मा आग,
गालू मा गुलाब !
डुड़की-सी कमर, कैकी बौराण छ ?
इनी मेरी होन्दी हथगुली मा सेन्दी !
बाँदू मा की बाँद,
चाँदू मा की चाँद,

चीणा जसी झूम,
पालिंगा की-सी डाली !
हिसर की-सी गोंदो, कैकी बौराण छ ?
इनी मेरी होन्दी क्लै ज्यू तू खोंदी।
घास काटद काटद,
बणी छ गितांग;
स्वामी गैन विदेश,
मेरी याद नी च !
दुरू देखणी तू कैकी बौराण छ ?
इनी मेरी होन्दी, धारू धारू नी रोंदी।

अनुवादक : गोविन्द चातक

अजन्ता के भित्ति चित्र

राय कृष्णदास

अजन्ता की पहली गुफा में घुसते ही बाईं ओर दीवार की भित्ति पर सिवि जातक का चित्र है, जिसका कथानक पौराणिक रूप से भिन्न नहीं। हम इस गुफा के खंभों को, उनके ब्योरों को देख इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यह गुफा गुप्तकाल के अन्तिम प्रहर में बनी होगी। सिवि जातक का चित्र भी हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है। क्योंकि इस चित्र में वस्तुओं पर यत्र-तत्र मोटी लिखाई में मध्यकालीन तरहें बनने लगते हैं, जिनका उदय सातवीं शती के पहले नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं आकृतियों के लम्बोतरे चेहरे, उनकी लम्बी नाक, भावहीन नेत्र और शिखर जैसे मुकुट, हमें पल्लव मूर्त्तियों की याद दिलाते हैं। दृश्य में भीड़-भाड़ है, पर संपुंजन का अभाव है। हाथों की मुद्राओं को चित्रकार भूल चुका है। हमें ये सब विशेषताएँ मामल्लपुरं के पल्लव वास्तुओं पर मि हैं।

सिवि जातक के बाद ही हमें कृशकाय एवं पीड़ा से विह्वल एक सुन्दरी का चित्र मिलता है, जिसकी विरह व्यथा को कई सखियाँ दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं। यहाँ हमें पर्याप्त सजीवता दीख पड़ती है। विशेष रूप से हस्त-मुद्राओं, आँखों और केश-पाश में, जो अपनी कोमलता में कमानों को मात करते हैं, हमें विशेष चारु अंकन दीखता है। दूसरे दृश्य में हम राजस्त्रियों की एक गोष्ठी देखते हैं, जो वार्तालाप में मग्न हैं। द्वार पर एक भिक्खु उपस्थित है, यह अनुमान कि यह बुद्ध का अंकन है, कुछ अप्रत्याशित-सा जान पड़ता है—क्योंकि यह आकृति साधारण मानुषी अनुपात में बनी है और उसके पीछे प्रभा-मण्डल भी नहीं, जो अजन्ता की प्रत्येक बुद्ध-आकृति में मिलता है।

इसकी बाईं भित्ति पर नागराज की सभा का दृश्य है। अपनी सजीवता, चहल-पहल और सर्वोपरि उसमें हो रहे नृत्य के आलेखन के कारण यह चित्र बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। अनेक कारणों से इस चित्र को परवर्ती गुप्तकाल में रखना होगा। फिर भी इसमें आँखें भाव-पूर्ण हैं, यद्यपि मुखमुद्रा भावहीन। नर्तकी के कुच अत्यन्त भारी हैं और कटि क्षीण।

फिर भी इस चित्र में राजसभा की चहल-पहल का अच्छा अनुभव होता है और कई आकृतियाँ बहुत ही सजीव रूप में अंकित हुई हैं। इनमें राजदम्पती के पीछे चामरग्राहिणी की आकृति भी अपनी सुन्दर और कोमल मुद्रा के कारण दर्शनीय है। उसके बाद एक विचित्र आकृति वाला व्यक्ति है, प्राचीन राजसभाओं में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं। उसके बाद कुछ फल-फूल लिए हुए दासी है। दूसरी ओर भी एक ऐसी ही परिचारिका दीखती है। दरबार के दूसरे भाग में अनेक स्त्री-पुरुष अंकित हैं जिनका संपुंजन बड़ा ही सुन्दर एवं स्वाभाविक हुआ है। उन सबके बीच जो केन्द्रीय आकृति है वह फूलदार बिछावट पर नृत्य की मुद्रा में अंकित हुई है।

इसी के उपरान्त शंखपाल जातक की कथा आती है जहाँ लिखाई में अत्यन्त प्रौढ़ता के कारण हम इसे अजन्ता के सर्वोत्कृष्ट चित्रों में रख सकते हैं। विशेष रूप से पहले ही दृश्य में शिला, जिसे चौकोर टुकड़ों के सजाए हुए खण्डों से अंकित किया है, के ऊपर मगध के संन्यस्त राजा और नागराज का वार्तालाप दीखता है। यहाँ शंखपाल और उनके पीछे राजमहिला की मुद्राएँ बड़ी सुष्ठु हैं। इनमें सामने बैठी स्त्री का एक चित्र जो दर्शक की ओर पीठ किए है, अपनी मुद्रा के कारण बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। उसका बायाँ हाथ भूमि पर टिका हुआ है, दाहिना हाथ घुटने पर डोलता हुआ किंचित मुड़े हुए मुख तक पहुँच गया है जो किसी वार्तालाप को सुनने के लिए सबसे सहज मुद्रा है। उसके बायें पैर की तनिक मुड़ान भी दर्शनीय है और उसके कोमल शरीर का भंग भी, जिसकी तुलना किसी लता से ही की जाती है।

पहली गुफा की बाईं भित्ति पर मध्य में चित्रों की एक लम्बी परम्परा है। अतः इसके आगे वाले दृश्यों में महाजनक जातक के दृश्य दीखते हैं। यहाँ हम चहल-पहल से भरी राजसभा को पाते हैं, जिसमें एक ओर गर्भगृह के अन्दर मंचासीन राजा-रानी विराजमान हैं, जिनकी आसक्ति मुद्रा तथा नेत्रों के अंकन में चित्रकार ने बहुत ही सफलता पाई है। यह राजदम्पती अनेक दास-दासियों और सखियों से घिरा हुआ है। सामने की ओर नृत्य के दृश्य में पूरी सजीवता है। यह नर्तकी की कोमल बाहुलता की प्रवाहपूर्ण लिखाई में दर्शनीय है। नृत्य के अतिभंग के कारण उसमें अस्वाभाविकता तो नहीं आई है, वरन् थिरकन की गति स्फुट हो गई है, जिसके लिए उड़ते हुए वस्त्रों, अधो-

वस्तु की घूमी हुई धारियों को दिखलाकर चित्रकार ने और भी सजीवता ला दी है। उसके चारों ओर वेणु-ताल-मंजीरक वादकों पर भी संगीत का नशा छाया हुआ है।

चित्र का दूसरा दृश्य एक द्वार से अलग हो जाता है। यहाँ से हाथी पर आसीन एक राजा सदल-बल निकल रहा है। उसके आगे अनेक अश्वारोहियों का खड्गधारियों की मुद्रा में वीरोचित दर्प स्पष्ट लक्षित होता है। सारा समाज बड़ी आन-बान से आगे बढ़ता जाता है। अन्यत्र कई स्थानों पर अजन्ता में सवारी के कई सुन्दर दृश्य मिलते हैं। ऊपर एक आश्रम में भक्ति और ध्यान के साथ तत्व चर्चा में मग्न समाज का दृश्य स्फुट हुआ है। उसमें व्याख्यात की शान्त मुद्रा दर्शनीय है। कलाकार ने पृष्ठिका में दो मृगों को बनाकर आश्रम के शान्त वातावरण का अच्छा चित्रण किया है। इसी दृश्य से सम्बन्धित चित्र में हम महाजनक को घोड़े पर बाहर जाते देखते हैं। यहाँ पर भी वैसा ही समाज है। घोड़े के आगे शंख बजाने वाले की मुद्रा में पर्याप्त ओज है।

इसके बाद हमें समुद्र-यात्रा एवं उसके उपरान्त जहाज टूटने का दृश्य दीखता है जिसमें भय की मुद्रा बहुत ही सुन्दर रूप में अंकित हुई है।

पहली गुफा की बाईं भित्ति के बीचोंबीच पद्मपाणि बोधिसत्व का जगत्प्रसिद्ध चित्र है। ऐसा जान पड़ता है अजन्ता में बोधिसत्व चित्रों की संख्या कम-से-कम एक दर्जन अवश्य रही होगी जिनमें अधिकांश नष्ट हो गए हैं—कहीं किसी का मुकुट बच रहा है, कहीं किसी का हाथ, कहीं भावपूर्ण आँखें।

यहाँ बोधिसत्व की लिखाई में चित्रकार ने हमें उस असीम विश्व-करुणा को बड़े सामर्थ्य से स्फुट किया है जो बोधिसत्व का स्वभाव मानी जाती है। उनकी भाव-मग्न आँखें जैसे किसी ऊँचाई (स्वर्ग) से देखने के कारण नीचे झुकी हुई हैं, मानों सारे संसार की व्यथा को दूर करने के लिए वे उत्सुक हैं। उनका आकार इतर आकृतियों से बड़ा है, जिससे उनकी विशिष्टता का ज्ञान होता है। सर्वोपरि है उनकी किंचित भंगिमा जिसकी अटूट रेखाएँ द्रष्टव्य हैं—जिसे दर्शाने के लिए चित्रकार ने उनकी रत्नों वाली सेल्ही को शून्य में तनिक लहरा दिया है। इसी प्रकार वलय की फहरान में भी सजीवता है। उनके तीन शिखरों वाले भारी मुकुट, गले में मोतियों की माला, जिसमें स्थूल-मध्येन्द्र-नील भी है, की चमक दिखाने में चित्रकार ने पर्याप्त कौशल का परिचय दिया है। फलतः यह चित्र अजन्ता के सर्वश्रेष्ठ चित्रों में से है।

यहीं एक दृश्य, ईरानी दौत्य के नाम से प्रसिद्ध है, इसमें हमें एक राज-सभा में मध्य एशियाई, सम्भवतः ईरानी वस्त्र विन्यास में कुछ आकृतियाँ दीखती हैं। उन्हें लेकर कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कल्पना कर ली है कि यह पुलकेशिन के दरबार में ईरानी दौत्य का चित्रण है। परन्तु अजन्ता में अन्यत्र भी अनेक ईरानी तरहों के उदाहरण मिलते हैं जो वहाँ पाटन के अलंकरण में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार जान पड़ता है कि उस काल में पश्चिमी भारत से ईरान या मध्य एशिया का जो व्यापार एवं कूटनीतिक सम्बन्ध था उसके कारण बराबर सांस्कृतिक आदान-प्रदान चलता रहा होगा एवं एक के कलात्मक तरह दूसरे की चित्रकला में अवतरित होते रहे होंगे। हमें अजन्ता में ही अन्यत्र (देखिये आगे) गान्धार शैली से प्रभावित बुद्ध-चित्र मिले हैं। यह भी अस्वाभाविक नहीं कि यह किसी जातक या अवदान आदि का दृश्य हो।

अजन्ता की अन्य गुफाओं की भाँति पहली गुफा में भी पाटन पर अनेक सुन्दर अलंकरण हैं। वस्तुतः उनसे सारे मण्डप की पाटन भरी है जिसके बीच-बीच में रंगों की पट्टियाँ दे देकर एवं उनके बीच आयताकार विभिन्न स्थान निकाल कर ये आलेखन बने हैं, जो कई दृष्टियों से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। खेद है कि न तो उनका समुचित संरक्षण हुआ है, न सफ़ाई। उनके प्रकाशन की बात तो दूर है। ऐसी अवस्था में उनमें से कितने ही खिरते जा रहे हैं। अतः उनमें से एक-एक की प्रतिकृति तो अविलम्ब तैयार हो जानी चाहिए, जिससे दैव-दुर्विपाक से यदि उनका मूल नष्ट हो भी जाय तो कम से कम उनके सौंदर्य का एक चयन तो वर्तमान रहेगा।

दूसरी गुफा की बाईं भित्ति पर बुद्ध-जन्म सम्बन्धी कई चित्र आते हैं जिनमें सर्वप्रथम राजमहल का दृश्य है, वहाँ शयनागार में सम्भवतः महामाया देवी सो रही हैं, उनके निकट दो-तीन दासियाँ बैठी हैं। कथा है कि उन्होंने स्वप्न में एक हाथी देखा। यहाँ एक सफेद गोल आकृति अंकित हुई है, इस प्रकार प्रतीक रूप में चित्रकार ने इस कथा का निरूपण किया है। इसी प्रकार दूसरे दृश्य में हम तुषित स्वर्ग में बोधिसत्व को पाते हैं, सिंहासन में दोनों ओर मकर की सुन्दर आकृतियाँ हैं जो अजन्ता के अन्य आलेखनों से पुष्ट हैं। बोधिसत्व के हाथ धर्म चक्र मुद्रा में हैं जिसकी उँगलियों की लिखाई अत्यन्त सुन्दर है। उनकी मुखमुद्रा में पर्याप्त गाम्भीर्य है और उनकी स्थिर दृष्टि चिन्तन प्रगट करती है। इस प्रकार उनकी आकृति से हमें पर्याप्त श्रद्धा उत्पन्न होती है। उनके पार्श्व में कई आकृतियाँ ससंभ्रम बैठी हैं जिनमें दो बहुत ही भक्तिपूर्ण टकटकी लगाए उन्हें देख रही हैं और दो बहुत ध्यानपूर्वक उनके उपदेशों को सुनती जान पड़ती हैं। उनके पीछे दो चामरग्राही व्यक्ति हैं जिनकी भंगिमा दर्शनीय है।

दूसरे दृश्य में हम महामाया और शुद्धोदन को पाते हैं, जहाँ सम्भवतः उक्त स्वप्न की चर्चा चल रही है। राजदम्पती और दासियों की भंगिमाएँ सुन्दर हैं। सम्भवतः सामने वाले दो व्यक्ति वे ब्राह्मण हैं जिन्होंने स्वप्न का महत्व बताया होगा। दाहिनी ओर कोने पर महामाया की भाँति ही रत्न-भूषणों से सज्जित एक आकृति खम्भे का सहारा लिए खड़ी है।

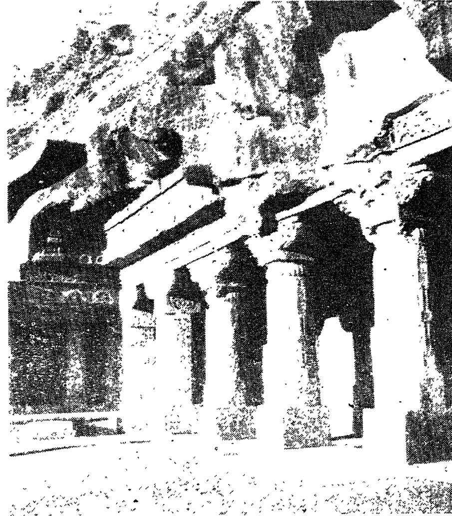
यह आकृति अपने भंग के कारण लतिका जैसी है। उसका एक पैर बड़ी स्वाभाविकता से मुड़ कर खम्भे पर टिका हुआ है जिससे उसका मध्य उससे तनिक दूर हो गया है फलतः शरीर का ऊपरी भाग खम्भे से सटा हुआ, उस पर आवृत्त है। क्वचित झुकी हुई गर्दन उसकी कोमलता प्रकट करती है। उसकी उँगलियों की मुद्रा से जान पड़ता है, जैसे वह किसी गणना में व्यस्त है। इस प्रकार यह आकृति अजन्ता की सर्वोत्तम आकृतियों में गिनी जाती है।

अजन्ता की गुफाएँ



दूर से गुफाओं का सामान्य दृश्य

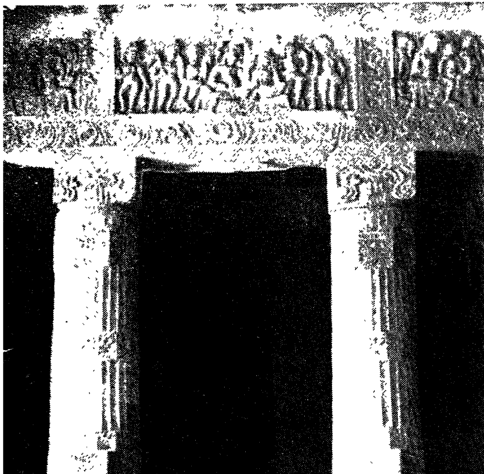
१९वीं गुफा का प्रवेश द्वार

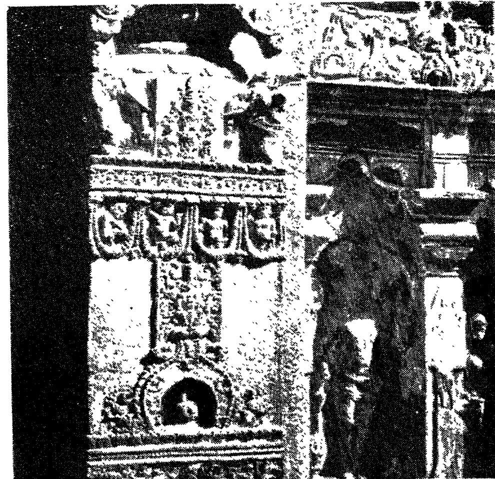


प्रथम गुफा का बाह्य दृश्य



२०वीं गुफा के दो प्रस्तर स्तम्भ

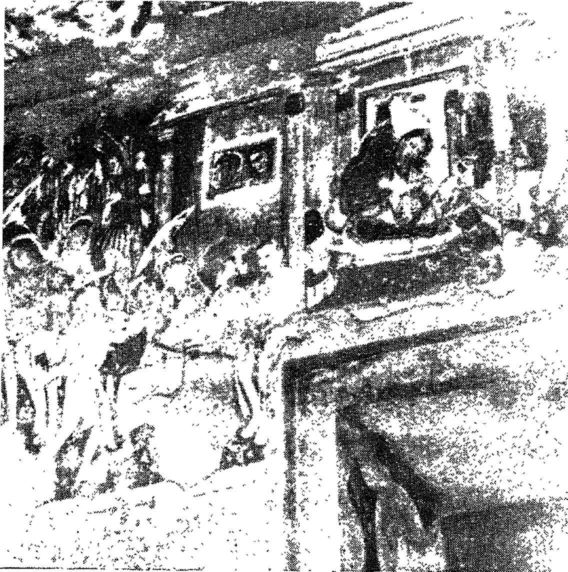




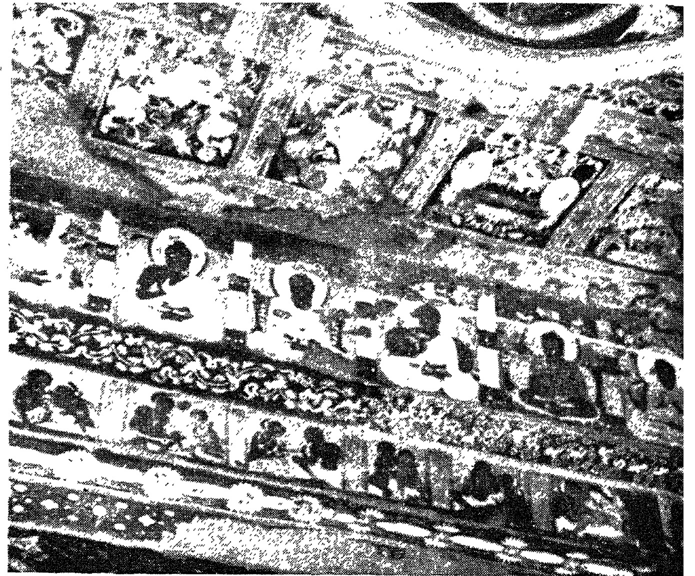
गुफा का बाह्य दृश्य



सत्रहवीं गुफ़ा में प्रमत्त हाथी की कथा का दृश्य

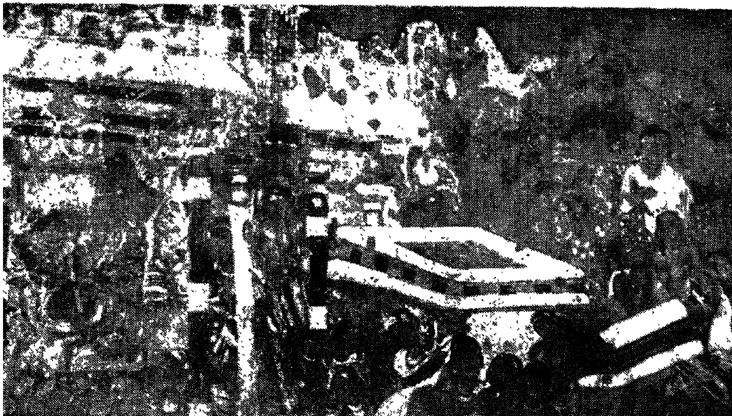


अजन्ता का एक भित्ति चित्र



अजन्ता का एक भित्ति चित्र

गुफ़ा संख्या १ में नृत्य सम्बन्धी भित्ति चित्र



गुफ़ा संख्या १६ में मरणासन्न राजकुमारी का भित्ति चित्र





गुफ़ा संख्या १ में राजा के जुलूस का चित्र



गुफ़ा संख्या १ में नृत्य का चित्र

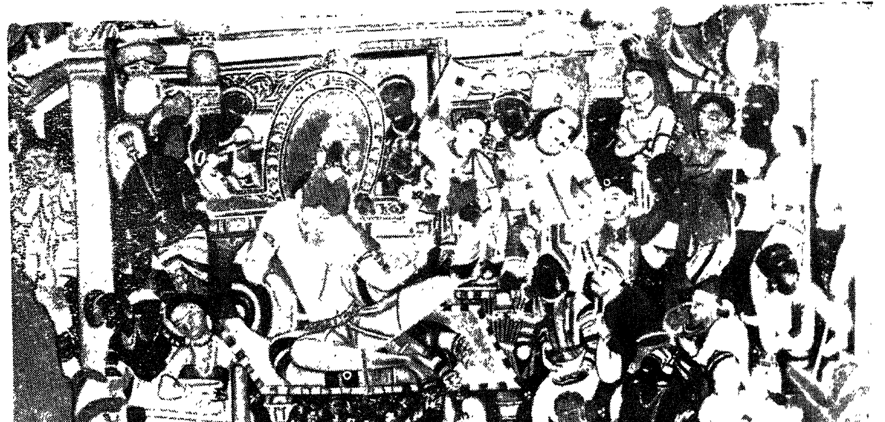
छत की सज्जा



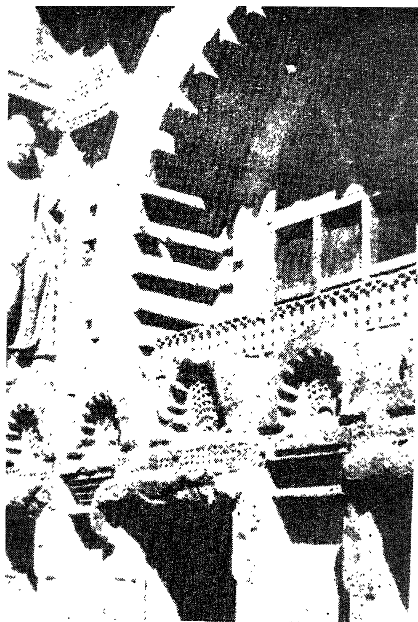
तथागत उपदेश देते हुए



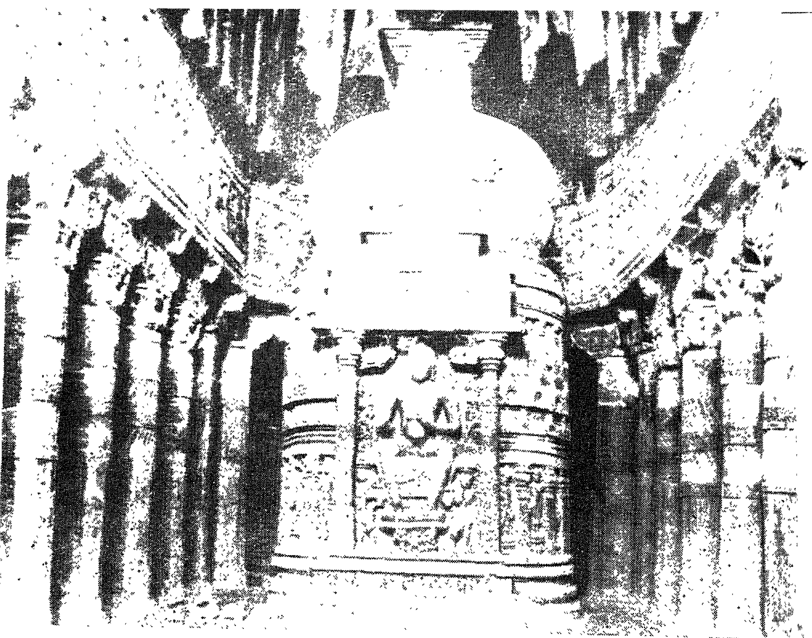
(इस पृष्ठ पर अजन्ता के चित्रों के आधार पर पुनर्निर्मित चित्र हैं ।)



सम्राट पुलकेशिन फारस के राजदूत का स्वागत करते हुए
(अजन्ता का एक भित्ति चित्र)



गुफा का बाह्य दृश्य



गुफा के भीतर स्तूप

१९वीं गुफा में चैत्य मूर्त्तियाँ



अजन्ता में 'नागराज' की मूर्त्ति





अगले दृश्य में हम नगर के बाहर उपवन में शाल वृक्ष की डाल पकड़े मायादेवी को उस रूप में पाते हैं जैसी बौद्ध ग्रंथों के अनुसार इस दृश्य की कल्पना है। नवजात बुद्ध को इन्द्र ने ग्रहण कर लिया है। उपवन के बाहर द्वार पर संतों की भीड़ लगी है। उसकी रेल-पेल का दृश्य जीवन्त है। उनमें विचित्र-विचित्र आकृतियों से अजन्ता के चित्रकार की विलक्षण सूझ-बूझ, कल्पना-शक्ति का पता चलता है।

दूसरी गुफा की बाईं भित्ति पर जो मुख्य आलेखन रह जाते हैं उनमें पहले विदुर पंडित जातक की चित्रावली आती है। अजन्ता में हमारे भाग्य से थोड़े चित्र बहुत कुछ सुरक्षित बच रहे हैं उनमें से यह एक चित्रावली है। इसके बाद ही रुरु जातक की चित्रावली थी जो अब नामाशेष रह गई है। हम यहाँ कथा एवं चित्रों के विस्तृत विवरण का लोभ संवरण कर इसकी दो-तीन प्रसिद्ध आकृतियों का ही वर्णन कर संतोष कर लेंगे। वस्तुतः इन चित्रों में हमें बड़े ही संपंजन मिलते हैं जिनमें एक-एक में बीसों आकृतियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत विशेषताओं, प्रकृतिय ं को बड़े ही श्लिष्टात्मक ढंग से चित्रकार ने उरेहा है। नमूने के लिये द्यूत का दृश्य लीजिये। इसके संपुंजन में—प्रत्येक आकृति को जुहाने में—चित्रकार ने दृश्य की स्वाभाविकता न जाने दी है। अर्थात इसी प्रकार वाली बाजाब्तगी के रहित बैठकों में जैसे लोग स्थान ले लेते हैं उसका ठीक-ठीक चित्रण यहाँ दीखता है। यह बैठने वालों की मुद्राओं से और भी स्पष्ट है। इनमें से एक का शरीर पासे फेंकने में आगे को बढ़ा हुआ देख कर चित्रकार की निरीक्षण शक्ति का पता चलता है। इस दृश्य में घोड़े के मांसल शरीर का भी बहुत अच्छा चित्रण हुआ है।

बीच में विदुर पंडित की सवारी का दृश्य भी अपनी पुष्ट लिखाई के कारण द्रष्टव्य है। यहाँ हम कृष्णवर्ण हस्ती का संभवतः पहली बार दर्शन करते हैं। जिस प्रकार सवार विदुर पंडित धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं। उनके पार्श्व में एवं आगे घोड़े पर कई इतर आकृतियाँ हैं। इसके आगे नंगी तलवारें लिए हुए पदाति सेना का एक जत्था चल रहा है। यह दृश्य का सर्वोत्तम अंश माना जाता है। इस जोरदार अंकन में हम आगे बढ़ने की पर्याप्त गति पाते हैं, उनकी मुद्राओं में ओज विद्यमान है। इनमें नंगी तलवारों की चमकीली नीली रेखाएँ और चेहरों वाले ढालों की प्रधानता है। इस प्रकार अनायास ही एक तरह पैटर्न उपस्थित हो गया है जो दृश्य की भयानकता बढ़ा देता है।

अन्ततः इसमें झूला झूलती हुई एक राजकुमारी का भी सवेग चित्रण बहुत प्रसिद्ध हुआ है। चित्रकार ने उसके कौमार सौन्दर्य का तो चित्रण किया ही है, उसकी स्वाभाविक आँखों के चित्रण में कमाल कर दिया है।

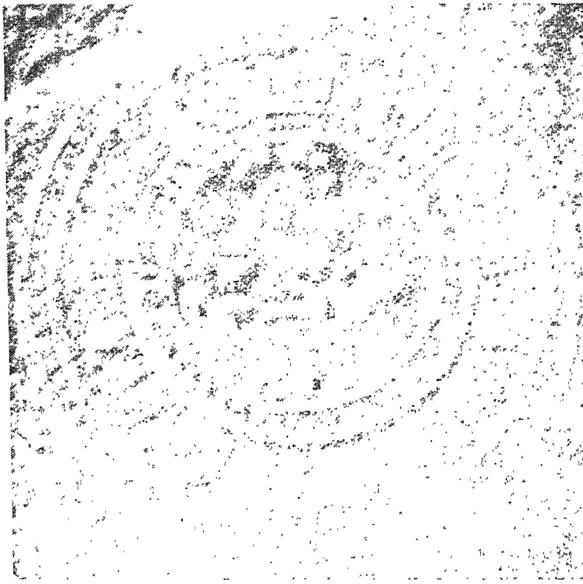
दूसरी गुफा की दाहिनी भित्ति पर पूर्णावदान की कथा भी सुरक्षित है। इसका भी अधिकांश बचा हुआ है, जिसमें शूर्पारक के व्यापारिक केन्द्र, वहीं के समुद्र व्यापार आदि के दृश्य उपस्थित होते हैं। श्री याजदानी के अनुसार हम यहाँ कुछ भक्तों की भीड़ में सम्भवतः पूर्ण को बुद्ध के दर्शन करने जाते देखते हैं। इस चित्रावली के अतिरिक्त अजन्ता में सर्वत्र बुद्ध के पीछे प्रभा मण्डल का अंकन हुआ है फिर भी इस सन्त के चारों ओर जुटे समाज में भक्ति भावना पर्याप्त स्फुट हुई है।

नीचे पूर्ण के भाई भविल की समुद्र यात्रा का दृश्य है। यहाँ तूफान समुद्र का चित्रण आलंकारिक रूप से हुआ है। जिसमें दो नाग आकृतियाँ भी हैं। समुद्र की लिखाई आवर्तित रेखाओं के समूह से हुई है। यह शैली हमें भरहुत शैली से पान की लिखाई में प्रयुक्त हुई मिलती हुई है।

दूसरी गुफा का सर्वोत्कृष्ट चित्र गुफा के दाहिनी दीवार के सिरे पर ही है। यह अपने विस्तृत वर्ण विधान, पुष्ट आलेखन, भाव भंगिमाएँ और सर्वोपरि अत्यन्त मार्मिक दृश्य के कारण यह चित्र बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। यह चित्र काफी टूट फूट गया है। फलतः इसकी अधिकांश मुखाकृतियाँ अन्तर्द्धान हो चुकी हैं। फिर भी इस दशा में भी उसके प्रत्येक भाव से हम परिचित हो जाते हैं वस्तुतः अजन्ता के आलेखनों में एक ऐसी भाषा प्रयुक्त हुई है जो बिना बोले ही हमें चित्रकार का सारा संदेश सुना देती है। उसकी कसौटी के लिए प्रस्तुत चित्र को लें। यह दृश्य यों तो अनभिज्ञात है पर हमें क्षान्तिवादक जातक में इस प्रकार काशिराज द्वारा सुन्दरियों के वध का वर्णन मिलता है। एक बार एक क्रूर काशिराज के रनिवास की स्त्रियाँ बोधिसत्व का उपदेश सुनने, उसे सोता छोड़ कर चली गईं। उन स्त्रियों को अनुपस्थित पा राजा क्रोध से पागल हो उठा और जब वे वापस आईं तो उनके एवं बोधिसत्व के वध की आज्ञा दे डाली। बोधिसत्व उस जन्म में क्षान्तिवादन मुनि थे आदि, आदि। यहाँ इसके विपरीत इतना ही कि बोधिसत्व को मुनि के रूप में न अंकित करके राजस् रूप में ंकित किया है, जैसा अजन्ता में ही हम कई बार देख चुके हैं।

इस प्रकार इस दृश्य में नीचे वाला दृश्य पहली घटना से सम्बंधित होगा जिसमें बोधिसत्व के आश्रम में हम राजस्त्रियों को पाते हैं। अतः दोनों चित्रों की आकृतियाँ बहुत ही खंडित हैं, अतः दोनों में आकृतियों का सामंजस्य स्थापित करना कठिन है। इस चित्र में दो आकृतियाँ बहुत ही विशिष्ट कोटि की हैं। एक आकृति तो एक वृद्ध भिक्षु की है जिसकी आँखों में सारे संसार का अनुभव और उससे जन्य निराशा एवं अवस्था सभी प्रतिफलित हो रहे हैं। उसका बायाँ हाथ ठोड़ी से चिन्ता की मुद्रा में टिका हुआ है और दाहिना इस प्रकार घूमा हुआ है, मानो सब कुछ नष्ट हो गया हो। इस व्याख्या के अनुसार कला प्रेमियों ने इसे राजदूत मंत्री आदि बना दिया है जो किसी सर्वनाश की सूचना दे रहे हैं। परन्तु यह सब वैराग्य सूचक मात्र ही जान पड़ता है। उसके पीछे खम्भे का सहारा लेकर एक सुन्दरी खड़ी है जिसकी देह की कोमलता उसकी भंगिमा एवं घूमे हुए चेहरे से झलकती है। सब से विलक्षण तो उसकी आँखें हैं जो इस दृश्य की ओर घूमते हुए चूड़ान्त तक पहुँच गई हैं, मानों अब वे वापस घूमना ही चाहती हों।

ऊपर के दृश्य में बड़ा भयानक वातावरण है। एक दीर्घवपुष राजा सिंहासन पर बैठा है जो अपने दृढ़ हाथों में तलवार लिए एक कोमलांगी का वध करने पर उद्यत है जो पैरों पर गिर-गिर कर क्षमा याचना कर रही है। राजा के दृढ़ शरीर की तुलना से सुन्दरी का कोमल वपु



अजन्ता : छत पर चित्रकारी

दर्शनीय है, चारों ओर की स्त्रियाँ भय से त्रस्त हैं। एक भाग रही है दूसरी ने सम्भवतः अपना मुँह छिपा लिय है। तीसरी सोच में निमग्न है।

यहाँ बुद्ध के चित्रों में भी एक चित्र में दया करुणा का अच्छा अंकन हुआ है। यहीं मार विजय का भी दृश्य है जो अपनी भयंकर आकृतियों के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ है। यह बहुत खण्डित हो गया है। सर्वोपरि एक बुद्ध मूर्त्ति के पार्श्व में एक भक्त का चित्र यहाँ है जो भक्ति भावना का बहुत सुन्दर उदाहरण है। उसकी अधखुली आँखें जिनमें प्रार्थना और दासत्व का भाव है बैठने की मुद्रा एवं कमल का समर्पण करने का भाव बड़ा ही स्वाभाविक बना है। यह चित्र अजन्ता के विशिष्ट आलेखनों में रखा जा सकता है क्योंकि चित्रकार की रेखाएँ सपाटे से सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई अनायास चली जा रही हैं। फलतः रेखाओं की जैसी स्वल्पता इस चित्र में है वैसी भारतीय इतिहास के चित्रों में दुर्लभ है। अंगों ल दिखलाने के लिए उनका समुचित प्रयोग हुआ है। अतः दो-तीन रंगों के प्रयोग से ही चित्रकार ने सजीवता की समुचित सृष्टि कर दी है। दो-एक रेखाओं से वस्त्रों की सिलवटें दिखलाना वह नहीं भूला एवं खल्वाट सिर को चेहरे के रंग से भिन्न बनाने के लिए उसने तनिक भी दी है।

नवीं और दसवीं गुफाएँ अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती जान पड़ती हैं जैसा उनके वास्तु से स्पष्ट है। दसवीं गुफा में एक शिलालेख है जिसे विद्वानों ने दूसरी शती ई० पूर्व का मान लिया है। नवीं और दसवीं गुफा के चित्रों में बहुत साम्य है और वे समकालीन जान पड़ती हैं। इतना ही नहीं तत्कालीन मूर्त्तियों एवं वास्तु की शैलियों से इनकी निकटता है।

नवीं गुफा में इस प्रकार के जो दृश्य हैं उनमें मुरैठा जिनमें आगे लट्टू जैसा निकला रहता है जिसे कम्बु कहते हैं बाँधे पुरुषों का एक दल चित्रित है। हमें आंध्र मूर्त्तियों में ऐसे मुरैठे मिलते हैं। यह अपने भारी एवं चौखूँटे चेहरों, मोती की मोटी माला जिनमें चौखूँटे टिकरे हैं, कान के बड़े-बड़े आभूषण, हाथों में मोटे कड़े, कमर में डेढ़ गाँठ वाले कमरबन्द आदि से, एवं निकले पेट से तत्कालीन आंध्र मूर्त्तियों के ही निकट नहीं हैं वरन् उनसे प्राचीन यक्ष मूर्त्तियों की परम्परा भी विद्यमान है। गुफा में घुसते ही बाएँ हाथ कुछ लेख भी हैं जो ई० पू० की लिपि में जान पड़ते हैं।

यह दल एक स्तूप की ओर बढ़ रहा है जिसका तोरण तत्कालीन परम्परा में है। स्तूप भी अर्धवृत्ताकार है, पिछले स्तूपों की भाँति उसमें ऊँचाई नहीं। अन्य वास्तुओं पर गजपृष्ठाकृति छतें हैं। यह सब ई० पू० की विशेषतायें हैं।

इन चित्रों के अंकन में भी कुछ विशेषताएँ हैं जो उन्हें गुप्तकालीन चित्रों से अलग कर देते हैं। उनमें कुल तीन-चार ही रंगों का प्रयोग हुआ है। जैसे काला, पीला, हिरौंजी, हरा आदि। फलतः वर्ण विधान संकुचित है, इतना ही नहीं प्रायः सभी चेहरे एक से हैं जिनमें एक व्यक्ति का दूसरे से अन्तर करना कठिन है, जिन्हें हम अव्यक्तिवाचक चेहरे कह सकते हैं। खुलाई स्याही में हुई है। उनमें भंग का अभाव है और उनकी मुद्राएँ एक सी हैं एवं हस्त मुद्राओं का विकास नहीं हुआ है। उनकी आँखें भी भावशून्य हैं। इस प्रकार छाया पुरुष की भाँति हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। यह भी लक्ष्य करना अनुचित न होगा कि यहाँ हाथों और ओंठों पर सिन्दूर लगाने की प्रक्रिया मिलती है जो गुप्तकाल में भी मिलती है। कहीं-कहीं सील खा जाने के कारण यदि वह रंग फीका व काला पड़ गया है तो विद्वानों ने उसके अनेक अर्थ लगाए हैं जैसे काली राजकुमारी अथवा बीमार सुन्दरी आदि। (याजदानी पृ० २२ टिप्पणी १)

इन चित्रों की एक विशेषता और है कि पृष्ठभूमि में वृक्षों का अंकन यथार्थवादी हुआ है जो भरहुत वाली शैली से भिन्न है। भिन्न-भिन्न वृक्षों के संदर्भ से यह बात ठीक-ठीक प्रकट होती है। दसवीं गुफा के छदन्त जातक की चित्रावली में यह बहुत ही स्फुट हुआ है। यहाँ वन के कई सुन्दर दृश्य आते हैं जिनके बीच एक कमलवन में बोधिसत्व गजराज छदन्त के रूप में विहार कर रहे हैं। यहाँ हाथियों की मुद्रा और उनके स्वभाव का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। ऐसे में ही काशिराज के भेजे दो व्याध आते हैं, जो आड़ में खड़े यह सब देख रहे हैं। अन्ततः उनका मन भी पिघल जाता है और वे गजराज के छः दाँत मात्र लेकर लौट पड़ते हैं। काशी की रानी उन छः दाँतों को देख कर मूर्छित हो उठती है—उसने पूर्वजन्म का प्रतिशोध जो लिया था। ऐसे करुण वातावरण को चित्रित करने की क्षमता अजन्ता के ही चित्रकार में थी। खेद है हमारे देशवासियों ने अपने नाम खुरच-खुरच कर इनका अधिकांश नष्ट कर दिया है। यहीं श्याम जातक के सुन्दर चित्र थे।

इन पूर्ववर्ती चित्रों के अतिरिक्त नवीं-दसवीं गुफाओं में कुछ गुप्तकालीन सुन्दर चित्र भी हैं। दसवीं गुफा के खम्भों पर खड़े हुए बुद्ध की कई आकृतियाँ बच रही हैं—इनकी आँखों से सहज करुणा का

भाव टपकता है। इनमें दो एक गान्धार शैली की भी हैं। यह पश्चिमी भारत का उत्तर-पश्चिम से सीधा व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण ही जान पड़ता है।

सोलहवीं गुफा में गुप्तकाल के विशिष्ट चित्र प्राप्त होते हैं। इस गुफा के खम्भों और उनकी घुड़ियों की आकृतियों में भी विशिष्टता है जिनमें हम तत्कालीन मूर्त्तियों के सर्वश्रेष्ठ नमूने देखते हैं। जान पड़ता है इस गुफा के और सत्रहवीं गुफा के निर्माण का काल हमारे देश का स्वर्ण युग था। खेद है कि सोलहवीं गुफा के कई महत्वपूर्ण चित्र बुरी तरह नष्ट हो गये हैं। इनमें बुद्ध का तुषित स्वर्ग से अवतरण और सुतसोम जातक के चित्र आते हैं। ये चित्र नष्ट न हो गये होते तो गुप्तकालीन अच्छे चित्रों में रखने योग्य थे। यहाँ हस्ति जातक सम्बन्धी चित्र भी इसी कोटि के थे।

सोलहवीं गुफा का सबसे प्रसिद्ध अंकन 'म्रियमाण रानी' के रूप में प्रकट होता है। यहाँ नन्द की परित्यक्ता पत्नी की विरह व्याकुलता प्रकट हुई है। उसकी कमल जैसी आँखें व्यथा से मुँदी जा रही हैं, उसका मुख मुरझा कर झुक गया है और उसका सुडौल शरीर जैसे आपे में नहीं है—वह निढाल हुआ जा रहा है। सारा ऐश्वर्य, सुन्दरी सखियों का झुंड, उसे तनिक भी स्वस्थ करने में समर्थ नहीं। वस्तुतः सारा समाज चिन्ता में डूबा हुआ है—प्रत्येक के मुख पर दुख, निराशा, भय के भिन्न भिन्न भाव बहुत ही अच्छी तरह प्रकट हुए हैं। इसके पार्श्व में नन्द के धर्म परिवर्तन की कथा, इस हृदयविदारक दृश्य से निरपेक्ष चलती रहती है।

इसी दृश्य में केले के वृक्ष बनाने में उसकी सुकुमारता तथा हरीतिमा प्रकट करने में चित्रकार ने कमाल दिखलाया है। अजन्ता में अन्यत्र एक स्थल पर केले का और भी अच्छा अंकन हुआ है, जिसमें उसके नये पत्तों का घुमाव, उसके जीर्ण-शीर्ण पुराने पत्ते दोनों के अंकन में चित्रकार ने समान रूप से रस लिया है।

यहीं बुद्ध उपदेश का दृश्य है जो ग्रिफिग्स के काल तक काफी बचा हुआ था। पर अब अधिकांश खिर चुका है। इसमें बुद्ध की शान्त स्मित मुद्रा एवं उपदेश के रस में निमग्न श्रोताओं की आकृतियाँ दर्शनीय हैं।

सोलहवीं गुफा में अन्य दृश्य हैं। सुजाता का खीर अर्पण, गृहत्याग के पूर्व वाले चार दृश्य, महामाया का स्वप्न। अन्तिम चित्रावली में आकृतियाँ बहुत ही सुष्ठु बनी हैं, उनकी आँखों में एक सम्प्रेषणीयता है—वे चुपचाप हमें कुछ कह जाती हैं।

सत्रहवीं गुफा के चित्र अजन्ता के सर्वश्रेष्ठ आलेखनों में से हैं पर खेद, इनका वहाँ तक अंश नष्ट हो गया है, जहाँ तक हमारे कौतुकप्रिय देशवासियों का हाथ पहुँच सकता था, अन्यथा यहाँ हमें दो एक बोधिसत्वों की और सम्पूर्ण आकृतियाँ मिलतीं, जिनके अब मुकुट और पृष्ठिकाएँ बच गई हैं। सौभाग्यवश इन्हीं पृष्ठिकाओं में एक स्थान पर दिव्य गायकों का समूह बच रहा है जिसकी आज संसार के सर्वश्रेष्ठ चित्रों में गणना की जा सकती है। यह दृश्य इस गुफा के बाहर ही बना है और प्रायः इसके द्वार के ऊपर ही स्थित है। इसमें एक और इन दिव्य गायकों के उड़ने का [illegible] और तान में तन्मय गंधर्व की मुख मुद्रा—उसकी तनिक संकुचित भौंह, हिलते से ओंठ एवं अधमुँदी आँखें बनाने में चित्रकार ने अभूतपूर्व मार्मिकता का परिचय दिया है और परिचय दिया है निसर्ग-निरीक्षण का उसके साथ अन्य समाज के चित्रण में भी विशिष्टता है—जैसे लता की भाँति घूमी हुई उस महिला का जो वेणु बजा रही है।

द्वार की दूसरी ओर पाटन पर उड़ते हुए एक समूह में एक गंधर्व की घूमी हुई निश्चल आँखें और सुडौल मुखमंडल में अजन्ता के चित्रकार की विशिष्टता प्रकट होती है। इस प्रकार यह अजन्ता के सुन्दर आलेखनों में से है। उसके आगे बढ़ने की गति में, उसका आभूषण पीछे की ओर तनिक झुक गया है जिससे चित्र की स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। उसके हाथों में मंजीरे हैं—जिनके कारण उसके हाथों की मुद्रा चित्रकार ने इस भाँति रखी है, मानो अब वह ताल देना ही चाहता है फलतः ताल की एक लय सी बँध गई है। उसकी कोमल उँगलियों



अजन्ता : (गुफा संख्या १७ में) संगीत वादक

की मुद्रा में एक प्रस्फुटित होते हुए कमल का भान होता है। इस प्रकार सचमुच यह चित्र अजन्ता के सर्वश्रेष्ठ आलेखनों में से है।

सत्रहवीं गुफा के द्वार के ठीक ऊपर प्रेमालाप में लीन कई दम्पतियों के चित्र हैं। ये मांगलिक माने जाते थे अतः द्वार पर इनका आलेखन आवश्यक होता। परवर्ती काल में इन्हीं के स्खलित रूप में हमें मध्यकालीन मन्दिरों के वास्तुओं पर अश्लील आकृतियाँ मिलने लगती हैं। यहाँ इन आकृतियों में शृंगार के विभिन्न पक्षों को स्फुट करने में कलाकार ने बहुत सफलता प्राप्त की है।

यहीं अलिन्द में एक ओर एक राजदम्पती बैठे हैं उनकी आँखें प्रेमासव से छकी हैं। दूसरी ओर वे अपने अनुचरों के साथ बाहर जा रहे हैं। सारे दृश्य में जीवन उच्छ्लित हो रहा है।

सत्रहवीं गुफा के भीतर भी कई उत्कृष्ट गुप्तकालीन चित्र आते हैं। इनमें एक स्थान पर राजद्वार पर मंगतों की भीड़ लगी है। इनमें भिन्न-भिन्न चेहरे बनाने में चित्रकार ने विशेष क्षमता प्रकट की है। उस काल में साधुओं के कैसे-कैसे रूप होते थे इसे जानने का भी यह बड़ा अच्छा साधन है। यहीं दुष्ट हाथी नलगिरि के दमन का दृश्य है जो बुद्ध जीवनी का एक अंश भी है।

इस गुफा में छदन्त जातक है और है कपि जातक जिसमें वन के सुन्दर दृश्य और अच्छी भीड़भाड़ है। इसी कोटि के चित्र हंस जातक के हैं। इसमें सरोवर में हंसों की चेष्टाएँ, विशेष रूप से पाँव फैलाये, आँखें निकाले मुँह खोले भयभीत हंसों की चेष्टाएँ विशेष रूप से लक्ष्य हैं।

यहीं माता-पुत्र का लोक विश्रुत चित्र है। भगवान बुद्ध बुद्धत्व प्राप्ति के बाद एक बार कपिलवस्तु भिक्षा माँगते आए और अभागिनी यशोधरा के प्रासाद के नीचे से निकले। जान पड़ता है यह चित्र उसी अवसर का है। यहाँ एक अति मानवाकार विशाल आकृति है जो निर्विकार शान्त खड़ी है। उसके हाथ में भिक्षापात्र है और वह मानों भिक्षा लेने के लिए आगे बढ़ा हुआ है। बुद्ध की इस बड़ी आकृति के सामने हम अपने द्वार पर एक स्त्री को पाते हैं, जो अपेक्षाकृत छोटे आकार में है। इस प्रकार चित्रकार ने दिखाया है कि यशोधरा के हाथों में एक बालक राहुल है, जिसे वे बुद्धदेव को अर्पित कर रही हैं। उस अकिंचन स्त्री के पास राहुल से बढ़ कर कौन सी भेंट हो भी सकती थी।

यशोधरा के प्यासे नेत्र बुद्ध को अपलक देख रहे हैं, उनमें सारे जीवन की व्यथा छिपी हुई है। दूसरी ओर, राहुल ससंभ्रम बुद्धदेव को निहार रहा है, जो इस प्रथम दर्शन के समय स्वाभाविक ही था।

सत्रहवीं गुफा में अनेक जातक आते हैं—जैसे श्याम जातक, मृग जातक, कपि जातक, मत्स्य जातक, सुतसोम जातक आदि, साथ ही आते हैं—बुद्ध जीवनी के अनेक दृश्य, जैसे श्रावस्ती का चमत्कार, तुषित स्वर्ग में प्रवचन, माता-पुत्र (जिसकी ऊपर चर्चा हो चुकी है) आदि। इनमें भिन्न-भिन्न वर्ग के व्यक्तियों के ही, नहीं भिन्न-भिन्न पशुओं के भी निरीक्षण में, उनके स्वभावों के अंकन में चित्रकार ने अद्भुत क्षमता दिखलाई है। पर इनमें भी 'वेस्सन्तर जातक' के आलेखन में तो चित्रकार ने कमाल कर दिखलाया है। इसमें भिन्न-भिन्न अवसरों पर आए हुए भिन्न वर्गों के चित्रणों में कल्पना की अपूर्व उर्वरता है, इस जातक के विस्तृत क्षेत्र में उसे राजमहल, नगर वन, तड़ाग, पर्वत आदि के अंकनों का अवसर भी यथेष्ट मिला है। इस पृष्ठभूमि में मानव आकृतियाँ अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करती हैं।

पहले हमें राज सभा का दृश्य मिलता है। इसमें केशप्रसाधन करती हुई एक सखी का मुड़ कर दर्शक की ओर देखना अपने लालित्य के कारण लोक प्रसिद्ध हो चुका है। दूसरे दृश्य में धूमधाम से राजा की सवारी निकल रही है। इस भीड़-भाड़ से आगे बढ़ कर हम उस दृश्य पर पहुँचते हैं जो चूडान्त माना जा सकता है। यहाँ हम प्रियदर्शन राजकुमार वेस्वान्तर को तापस वेश में पर्णकुटी के भीतर बैठा पाते हैं। उन्होंने अपनी दानवृत्ति के कारण अपना सब कुछ त्याग दिया था। ऐसे अवसर पर एक ब्राह्मण उपस्थित होता है। अजन्ता के कलाकार की ऐसे लोभी मंगते ब्राह्मणों के प्रति क्या प्रतिक्रिया रही होगी, यह इस आकृति से स्पष्ट है। यह अर्ध खल्वाट व्यक्ति, दाढ़ी भी हफ्तों से बढ़ी है, दाँत निपोर कर वैश्वान्तर से उनकी एक मात्र निधि उनके दो कोमल कुमारों की याचना कर रहा है। सचमुच, अजन्ता का चित्रकार 'सुन्दर' को बनाने में ही सफल न था, उसे 'असुन्दर' के निर्माण में भी उतना ही आनन्द मिलता था। 'सुन्दर' और 'असुन्दर' के द्वंद्व से वह ऊपर उठ गया था।

उधर मांसल, प्रियदर्शन और पितृभक्त कुमार वैश्वान्तर की ओर इस प्रतीक्षा में देख रहा है कि ये कब आज्ञा दें और मैं कब उसे पूरी करूँ।

यहीं मातृपोषक जातक के भी अंकन हैं, जहाँ बोधिसत्व अपने अंधे माता-पिता से बिछुड़ कर बंदी हो गए थे। अन्तिम दृश्य में वे फिर आ मिलते हैं। उनके माँ-बाप अपनी सूँडों से उन्हें सहला-सहला कर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं। हाथियों के स्वभाव एवं अंधे माता पिता के स्नेह दोनों को एक साथ इस प्रकार व्यक्त करने में अजन्ता का अज्ञात कीर्तिशेष कलाकार कितना सफल हुआ है।



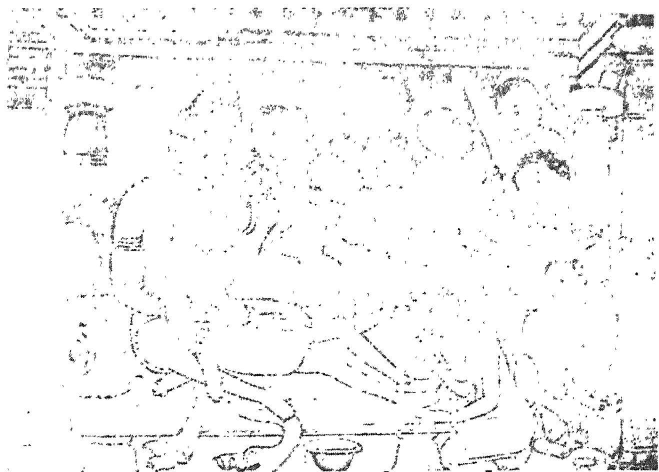
अजन्ता : (गुफा संख्या १)
राजा । स्नान

सत्रहवीं गुफा में ही एक स्थल पर युद्ध का बड़ा संकुलित दृश्य आता है—संभवतः यह किसी अवदान से सम्बन्धित है। इसी प्रकार यहाँ सिंहल अवदान के दृश्य आते हैं। यहाँ भी चित्रकार ने भयानक आकृतियों के अंकन में पूरा रस लिया है। इनमें से अनेक आकृतियाँ अकबर के समाश्रय में बने हम्ज़ानामा चित्रों में परम्परा से चली आई हैं। उसी के साथ-साथ कलाकार ने सुन्दरियों की आकृति में उनके तन की कोमलता प्रकट करने में कमाल दिखलाया है। संभवतः इन तन्वंगियों के भंगिमायुक्त खड़े होने के आलेखन में वह सबसे बाज़ी मार ले गया है।

अजन्ता की कुछ अन्य गुफाओं में भी उत्कृष्ट चित्र हैं, पर उनके वर्णन का लोभ संवरण कर हम यहाँ के आलंकारिक तरहों (पैटर्न) पर कुछ कहना चाहेंगे। अजन्ता के चित्रण विधान में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है और ये प्रायः सभी गुफाओं की पाटनों खम्भों को छेंके हुए हैं। खेद है, इन आलंकारिक तरहों का न तो समुचित संरक्षण हुआ है, न प्रकाशन, न अध्ययन। परन्तु इनके द्वारा चमत्कारी लिखाई, अभूतपूर्व कल्पना के कारण हम चित्रकार के हृदय के बहुत निकट आ सकते हैं। उसका मन कैसा खिलवाड़ी रहा होगा—यह इन्हीं से ज्ञात होता है। इन आलेखनों में सब कुछ कल्पित है, सब कुछ जीवन से दूर है फिर भी हम उसे जीवन से निकाल नहीं सकते। उसमें कमल के कोमल मृणाल की भाँति हमारा मन भी चारों ओर भटकता रहता है, कहीं अन्त नहीं पाता, कहीं टूट नहीं पड़ती। इन आलेखनों का मेरुदण्ड कमल है। उसके साथ-साथ अनेक प्रकार जल-जन्तु आते हैं, सब उसी प्रकार आलंकारिक रूप धर कर, अटपटी भाषा में, फिर भी उसका अपना माधुर्य, शिशु की स्खलित, अटपटी बोली जैसा। स्वयं कमल भी बहुरूपी की भाँति न जाने कितने रूप धर कर हमारे सामने प्रकट होता रहता है और रस की, सौंदर्य की वह धारा अजस्र बहती रहती है। स्वप्न के इस लोक की अनन्तता अविच्छिन्न चलती रहती है।

× × × ×

अजन्ता की इस परिक्रमा के अन्त में वहाँ की चित्रशैली के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। प्रायः पुराने विद्वानों



अजन्ता : (गुफा संख्या १७) छदन्त जातक का एक दृश्य

ने इसे बौद्ध शैली का नाम दिया है। उसके पक्ष में एक तर्क है कि इन चित्रों का विषय बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। पर हम किसी कृति के विषय के अनुसार शैलियों का नामकरण नहीं करते। हम 'बुद्ध चरित' या 'यशोधरा' को बौद्ध शैली में नहीं मानते। भिन्न-भिन्न मतावलम्बी राजाओं की प्रशस्तियाँ तत्तत् शैलियों में नहीं। वस्तुतः शैली विशेष काल वा विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित होती है। अतः अजन्ता के चित्र गुप्त शैली के अंतर्गत हैं।

यह भी अनुमान उपस्थित किया जाता है कि ये चित्र उन बौद्ध भिक्षुओं के बनाए हुए हैं जो अजन्ता में रहते रहे होंगे। पर जैसा हम ऊपर के वर्णनों में देख चुके हैं, ये चित्र उस युग की सर्वोत्तम कला-कृतियाँ हैं, इतना ही नहीं वे संसार के सर्वोत्तम चित्रों के समकक्ष ठहरते हैं। ऐसे चित्र इतर जनों द्वारा संभव नहीं, इनके सृजन में सारे जीवन की तपस्या भी अपेक्षित है, ऐसी प्रवाहयुक्त रेखाएँ, चारु वर्ण विधान और सर्वोपरि भाव व्यंजना चित्राचार्यों द्वारा ही संभव है। निश्चय ही इन चित्रों को बनाने में गुप्त युग के सर्वश्रेष्ठ चित्राचार्यों ने योग दिया होगा।

सचमुच, अजन्ता जैसे सौन्दर्य के सागर को शब्दों में बाँध सकना असंभव सा है। करुणा, भक्ति और सौन्दर्य की यह त्रिवेणी हमारी नई कलाओं का पथ प्रदर्शन करे।



भारत का नया मानचित्र

सत्यदेव विद्यालंकार

"भारत की एकता सबसे बड़ी चीज़ है। राज्यों के पुनर्विभाजन का सवाल कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, पर आखिर पहला सवाल सारे भारत का है। अगर पूरा भारत आगे नहीं बढ़ता तो उसके हिस्से भी आगे नहीं बढ़ सकते। अगर भारत आगे बढ़ता है तो उसके सब हिस्से भी आगे बढ़ते हैं। हमें यह समझ लेने की ज़रूरत है कि संसार के सभी बड़े राष्ट्र अपनी एकता के बल पर ही आगे बढ़े हैं।"

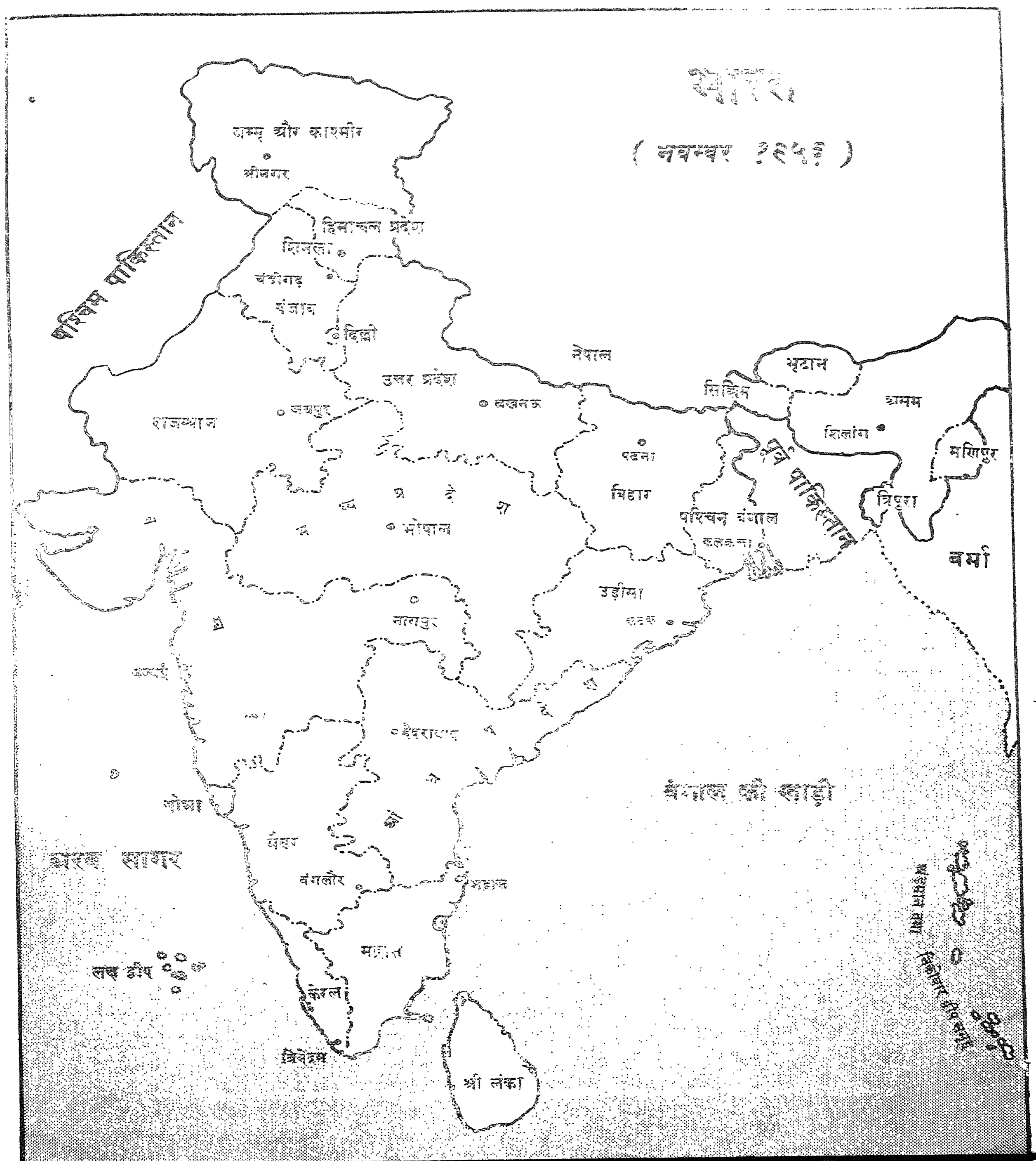
—जवाहरलाल नेहरू

देश के स्वतंत्र होने के बाद नौ वर्षों की अवधि में उसका जो दूसरा मानचित्र तैयार किया गया है वह पहली नवम्बर १९५६ को मूर्त्त रूप धारण कर रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत का जो प्रथम मानचित्र बना था, उसको 'रक्तहीन क्रान्ति' कहा गया था और इस नए मानचित्र को नव-निर्माण कहना चाहिए। दोनों प्रयत्नों का लक्ष्य एक ही है, किन्तु दोनों की प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है। ५६२ या ६०० देशी राज्यों को भारत में शान्तिपूर्वक विलीन करना विश्व के इतिहास की एकाकी घटना है। अपने देश के नवीन मानचित्र तैयार करने के इन दोनों प्रयत्नों के महत्त्व को ठीक-ठीक आँकने के लिए अंग्रेज़ी राज की रीति-नीति की पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

वास्तविकता यह है कि भारत में अंग्रेज़ी राज के शासन काल में प्रान्तों का विभाजन घुणाक्षर न्याय से कुछ स्वतः ही हो गया था। उनके पीछे कोई स्पष्ट आदर्श अथवा ध्येय नहीं था केवल शासन की सुविधा और अपने राज्य की सुरक्षा की फौजी कार्रवाई के लिए वर्तमान स्थिति को यथापूर्व बनाए रखने में ही अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ अपना कल्याण मानते रहे। १८५७ की राज्य क्रान्ति के विफल हो जाने के बाद कम्पनी के हाथों से शासन की बागडोर जब महारानी विक्टोरिया के नाम से पार्लियामेंट को सौंपी गई तब केन्द्र को सुदृढ़ बनाने की नीति अपनाई गई थी। लेकिन १८५७ की राज्य क्रान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव रखने वाले अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने केन्द्र को सुदृढ़ न बना कर प्रान्तों की इकाइयों को पृथक रखने पर ज़ोर दिया। उनका कहना यह था कि फिर दुबारा समूचे भारत में कोई भी देश-व्यापी राजनीतिक आन्दोलन शुरू होने की सम्भावना नहीं रहने देनी चाहिए। केन्द्र के सुदृढ़ बनाने में उनको वैसा होने की आशंका थी। प्रान्तों की इकाइयों के पृथक रहने पर प्रान्तीय आन्दोलनों को दबा सकना कुछ कठिन नहीं हो सकता था। सम्भवतः यही कारण था कि देशी राज्यों के सम्बन्ध में उनके अस्तित्व को समाप्त करने की लार्ड डलहौज़ी की नीति का परित्याग करके उनको भी बनाए रखने में अपना हित समझा गया। परिणाम यह हुआ कि भारत का मानचित्र मुख्यतः दो लाल-पीले रंगों में रंग दिया गया और पीले रंग में दिखाया जाने वाला भारत ५६२ से ६०० हिस्सों में बँटा हुआ था। इन दो संख्याओं का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि अंग्रेज़ स्वतः ही अन्त तक यह निर्णय नहीं कर सके कि भारत में देशी राज्यों की ठीक-ठीक संख्या और स्थिति क्या थी? वे उनके लिए न तो किसी एक शब्द का प्रयोग और न इनकी कोई स्पष्ट व्याख्या ही कर सके। १९२६ में नियुक्त की गई बटलर कमेटी ने उनकी संख्या ५६२ बताई तो साइमन कमीशन के बाद नियुक्त की गई संयुक्त पार्लिया-मेंटरी कमेटी ने उनकी संख्या ६०० स्वीकार की थी। एक ओर ८४,४७१ वर्ग मील का काश्मीर और ८२,३१३ वर्ग मील का हैदराबाद था तो दूसरी ओर २०२ ऐसे भी राज्य थे जिनका क्षेत्रफल १० वर्ग मील से भी कम था। नरेन्द्र मंडल के सदस्य होने का अधिकार रखने वाले केवल १८८ राज्य थे और १२० वे थे जो मिलकर इसके लिए १२ सदस्य चुन कर भेज सकते थे।

१९३५-३६ के शासन सुधारों में फेडरल शासन योजना का ढाँचा तैयार कर उनको पहली बार शासकीय दृष्टि से भारत में सम्मिलित करने का एक हलका सा प्रयत्न किया गया था, परन्तु उसको सफल बनाने के लिए राज्यों के सम्बन्ध में डोर ढीली छोड़ दी गई थी उसके बाद साइमन कमीशन, संयुक्त पार्लियामेंटरी कमेटी, संघ शासन योजना, गोलमेज़ परिषदों, शिमला सम्मेलन, क्रिप्स मिशन, मंत्रिमंडल मिशन और अंत में १९४७ के भारत स्वतंत्रता विधान आदि के जो भी प्रयत्न किए गए उन सब में उनकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई और यहाँ से जाते हुए उनकी वह सार्वभौम सत्ता जो इंग्लैंड के बादशाह में निहित मानी जाती थी, उनको इस रूप में लौटाई गई कि भारत की राष्ट्रीय एकता ५५० या ६०० टुकड़ों में विभाजित हो जाती और उसका राजनीतिक संगठन सुदृढ़ बनना असम्भव हो जाता। डाक्टर पट्टाभि ने ठीक ही कहा था कि अंग्रेज़ यहाँ से जाते हुए उस चिड़ियाघर का दरवाज़ा खुला छोड़ गए जिस में ५६२ या ६०० शेर बन्द थे। इन परिस्थितियों में भारत के लौह-पुरुष सरदार पटेल द्वारा भारत की एकता का निर्माण विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्री पंत द्वारा निर्मित दूसरे नवीन मानचित्र का महत्त्व भी उससे कुछ कम नहीं है। इसके तैयार करने में लगभग पौने तीन वर्ष का लम्बा समय लगा है और जिस विवाद, वितंडा, रोष, असंतोष, विरोध तथा बवंडर में से गुज़रना पड़ा है वह भी प्रसव-वेदना के समान असह्य पीड़ा पैदा करने वाला सिद्ध हुआ है। कांग्रेस अध्यक्ष श्री ढेबर


(नवम्बर १९५६)
जम्मू और काश्मीर
श्रीनगर
पश्चिम पाकिस्तान
हिमाचल प्रदेश
शिमला
चंडीगढ़
पंजाब
दिल्ली
राजस्थान
जयपुर
उत्तर प्रदेश
लखनऊ
नेपाल
सिक्किम
भूटान
आसाम
शिलांग
मणिपुर
त्रिपुरा
पटना
बिहार
पश्चिम बंगाल
कलकत्ता
बर्मा
भोपाल
उड़ीसा
नागपुर
गोआ
मैसूर
बंगलौर
केरल
त्रिवेन्द्रम
श्री लंका
लक्ष द्वीप
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

ने ठीक ही कहा है कि इस महान प्रयत्न के विरोध में जो लज्जास्पद दृश्य उपस्थित हुए उनसे एक बार तो कांग्रेस के संगठन की जड़ें ही हिल गईं। कांग्रेसियों में जो ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य तथा कलह उत्पन्न हुई उससे उसके सारे ढाँचे के ही अस्त-व्यस्त होने का संकट उपस्थित हो गया, बिहार-बंगाल-उड़ीसा तथा बम्बई-महाराष्ट्र-गुजरात में और पंजाब आदि में भी "सूच्यग्रं नैव दास्यामि" की जिस मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया गया वह कितनी अनुदार, संकीर्ण तथा दूषित थी, हमारे बहुत से देश-भाइयों की अपेक्षा तो उन देशी नरेशों ने ही कहीं अधिक उज्ज्वल देश-भक्ति का शानदार परिचय दिया और यह बता दिया कि सदा बदनाम किए जाने पर भी देश भक्ति का वे कैसा सुन्दर चित्र उपस्थित कर सकते थे। "अन्त भला सो भला" तथा "बीती ताहि बिसार दे" की नीति से काम लेते हुए अब हमें भविष्य का चिन्तन करना चाहिए।

पहले मानचित्र की समीक्षा यदि देशी राज्यों के विलय की दृष्टि से की जाती है, तो दूसरे मानचित्र की समीक्षा दूसरी पंचवर्षीय योजना की दृष्टि से की जानी चाहिए। हम अपने राष्ट्र का चहुँमुखी विकास अथवा निर्माण करने में लगे हुए हैं। देश का भौगोलिक मानचित्र उसके लिए विशेष महत्त्व रखता है। यह ही तो वह भूमि है जिस पर खड़े होकर निर्माण का सारा कार्य किया जाता है। क्या ही अच्छा होता यदि यह मानचित्र दूसरी योजना के तैयार करने से पहले ही बन गया होता। दूसरे आम चुनावों से भी बहुत पहले यह मानचित्र बन जाना चाहिए था। तब संभवतः इतना वितंडा व बवंडर खड़ा न होता। दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रकाश में इसकी समीक्षा करने से पहले उन सिद्धान्तों अथवा आदर्शों की थोड़े में चर्चा कर लेनी आवश्यक है, जिनको इस मानचित्र के लिए स्वीकार किया गया है।

सबसे बड़ा काम यह किया गया है कि जिन ऊँचे आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन हमने अपने संविधान में किया है, इस मानचित्र के तैयार करने में उनका पूरी तरह अनुसरण किया गया है। स्वतन्त्र राष्ट्र की राष्ट्रीयता और नागरिकता के तत्त्व सर्वोपरि हैं। किसी भी कारण से उनकी अवज्ञा या अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। धर्म, भाषा, संस्कृति, पुराना इतिहास, सम्प्रदाय, जन्मगत जाति और प्रादेशिकता तथा ऐसे ही कुछ अन्य तत्त्व हैं जिनके भावावेश में आकर प्रायः इन महत्त्वपूर्ण मूलभूत तत्त्वों की उपेक्षा कर दी जाती है। भिन्न-भिन्न राज्यों का मोह राष्ट्रीयता के सम्मुख क्या महत्त्व रखता है? इसी प्रकार धर्म, भाषा, संस्कृति, पुराना इतिहास, सम्प्रदाय तथा जन्मगत जाति आदि के तत्त्व यदि नागरिकता के बन्धु-भाव की भावना में बाधक होते हैं तो वे अपना महत्त्व खो देते हैं। इस मानचित्र में पहली बार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया है कि ऐसे किसी भी तत्त्व अथवा भावना को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता जो राष्ट्रीयता एवं नागरिकता के विपरीत अथवा उसके लिए बाधक हों। यदि बम्बई की तरह बिहार और बंगाल के साथ उड़ीसा का भी एकीकरण हो सकता, दक्षिण के राज्य भी वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ श्री राजगोपालाचार्य के परामर्श के अनुसार एक माला में पिरोये जा सकते और पंजाब में सिख व हिन्दुओं में मतभेद की घटाएँ न उमड़तीं तो राष्ट्रविरोधी इन तत्त्वों को सदा के लिए दफ़ना दिया गया होता। फिर भी उन पर जो घातक चोट की गई है उसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। राज्यों के गठन में उनको सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। शासन की सुविधा, देश की सुरक्षा, आर्थिक साधनों की सुलभता और विकास कार्यक्रमों की अनुकूलता ही वे मुख्य तत्त्व हैं, जिनके आधार पर राज्यों का गठन अथवा निर्माण किया जाना चाहिए और इस मानचित्र में किया गया है। राष्ट्रीय एकता के हित में शासन और राजनीति को महत्त्व न देकर प्रधानता राष्ट्र की ही रखी गई है।

दूसरा काम यह किया गया है कि विभिन्न राज्यों के अस्वाभाविक अन्तर को जहाँ तक सम्भव हुआ, दूर कर दिया गया। राज्यों का क, ख और ग श्रेणियों में विभाजन और राज्यपाल, उप-राज्यपाल, राजप्रमुख तथा मुख्य आयुक्त आदि की व्यवस्था केवल अन्तरिम काल के लिए की गई थी। उस सब का अंत करके एक ही सरीखी व्यवस्था, केन्द्र शासित क्षेत्रों के अपवाद के साथ कर दी गई है। जो इकाइयाँ आर्थिक दृष्टि से असंतुलित, वित्तीय दृष्टि से दुर्बल और प्रशासकीय एवं राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर थीं उनकी समाप्ति कर दी गई है।

भाषा व संस्कृति सम्बन्धी कुछ ऐसी भावनाएँ और विकास सम्बन्धी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनका आदर करना उचित समझा गया और उनके लिए विभिन्न राज्यों में विभिन्न योजनाएँ स्वीकार की गई हैं। पंजाब में क्षेत्रीय योजना, बम्बई में क्षेत्रीय विकास बोर्ड और तेलंगाना तथा आन्ध्र में पंचवर्षीय संधि उसी के परिणाम हैं। अल्प-संख्यकों की भाषा, शिक्षा तथा नौकरी आदि के सम्बन्ध में उचित संरक्षण रखने की जो सिफारिश की गई उस पर भी पूरा ध्यान दिया गया है।

राज्यों के पुनर्गठन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में भारत संघ की सर्वोच्चता का निरन्तर ध्यान रखा गया है। राजनीति तथा शासन आदि के सम्मुख उसकी अवहेलना नहीं की गई। १ नवम्बर १९५६ से पूर्व भारत के मानचित्र में २७ राज्य थे। उनके स्थान में राज्य पुनःसंगठन आयोग ने १६ राज्य और तीन केन्द्रीय शासित क्षेत्र रखने की सिफारिश की थी। यह अत्यन्त संतोषजनक समझा जाना चाहिए कि अब केवल १४ राज्य और ६ केन्द्रीय शासित प्रदेश रह जाएँगे। जम्मू और कश्मीर की गणना इन राज्यों में करके गत वर्षों में हुई घटनाओं से प्रगट होने वाले इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है। हैदराबाद की सर्वथा अस्वाभाविक रचना का कई सौ वर्षों के बाद अन्त किया जा सका है और नगर के महत्त्व की रक्षा, उसको आन्ध्र राज्य की राजधानी बनाकर पूरी तरह कर दी गई है। बंगाल और बिहार के बीच पैदा हुए अप्रिय विवाद का जिस प्रकार अन्त किया गया है उसको भी अन्त में सब पक्षों ने स्वीकार कर लिया है। नए मानचित्र में नए राज्यों की स्थिति निम्नलिखित होगी—

राज्य	राजधानी	क्षेत्रफल (वर्गमील)	आबादी
१. बम्बई	बम्बई	१,६०,११६	४,८२,६५,११०
२. मध्य प्रदेश	भोपाल	१,७१,२०१	२,६०,६५,६८०
३. राजस्थान	जयपुर	१,३२,०७८	१,५९,४६,७३१
४. उत्तरप्रदेश	लखनऊ	१,१३,४०९	६,३२,१५,७४२
५. आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद	१,०५,९६२	३.१२,५९ ८१५
६. जम्मू और काश्मीर	श्रीनगर	९२,७८०	४४,००,०००
७. असम	शिलौंग	८५,०१२	९०,४३.७०७
८. मैसूर	मैसूर	७४,३४७	१,९४,०१,६१२
९. बिहार	पटना	६७,३००	३,८८,२७.५१७
१०. उड़ीसा	कटक	६०,१३६	१,४६,४५,९४६
११. मद्रास	मद्रास	५०,११०	२,९९,७४,९३३
१२. पंजाब	चण्डीगढ़	४७,४५६	१,६१,३४,८९०
१३. पश्चिम बंगाल	कलकत्ता	३३,८०९	२,६२,५८,६४७
१४. केरल	त्रिवेन्द्रम	१५,०३५	१,३५,४९,११८
	योग	१२,३९,५५४	३५,७०,१९,४६१
प्रदेश			
१. हिमाचल प्रदेश		१०,९०४	११,०९,४६६
२. मणिपुर		८,६२८	५,७७,६३५
३. त्रिपुरा		४,०३२	६,३९,०२९
४. अन्देमन निकोबार द्वीप		३,२१५	३०,९७१
५. दिल्ली		५७८	१७,४४,०७२
६. लक्षद्वीप		१०	२१,०३५
	योग	२७,३६७	४१,२२,२०८
	पूर्ण योग	१२,६६,९२१	३६,११,४१,६६९

आगामी आम चुनाव और दूसरी पंचवर्षीय योजना की व्यवस्था इस नए मानचित्र के अनुरूप करनी होगी। कुछ निर्वाचन क्षेत्रों की पुनर्व्यवस्था करके आगामी आम चुनाव सहज में कर लिए जाएँगे। दूसरी पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में भी कोई असुविधा पैदा न होगी। श्री नेहरू का क्षेत्रीय परामर्शदात्री समितियाँ नियुक्त करने का सुझाव इसके लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करने में विशेष सहायक होगा। बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं, विशेषतः जल-विद्युत सम्बन्धी नदी घाटी योजनाओं के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा विभिन्न राज्यों की सीमाएँ हैं। उदाहरण के लिए चम्बल बाँध योजना ग्वालियर, इन्दौर, उदयपुर तथा कोटा के विभिन्न देशी राज्यों में एकमत न होने के कारण कार्य में परिणत नहीं की जा सकी थीं और इनमें से कोई भी राज्य अकेले उसका निर्माण नहीं कर सकता था। राजस्थान और मध्य भारत निर्माण के बाद भी दोनों राज्यों के बीच उसके सम्बन्ध में काफी समय तक विचार-विनिमय होता रहा। अन्त में दोनों राज्यों का संयुक्त बाँध बनाने का [illegible] सम्बन्ध में [illegible] से समझौते [illegible] प्रदेश की ओर से [illegible] के लिए मध्य भारत के साथ विशेष समझौता किया गया। अन्य [illegible] योजनाएँ भी इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के अनुकूल समझौते के कारण काफी समय तक रुकी रहीं। यही कारण है कि छोटे राज्यों के निर्माण के सिद्धान्त को सर्वथा तिलांजलि देकर बड़े राज्यों के निर्माण का सिद्धान्त अपनाया गया। खनिज-पदार्थों और बड़े उद्योगों के विकास की दृष्टि से भी इस सिद्धान्त का अपनाया जाना अनिवार्य समझा गया। दक्षिण में कोयले की खानों का प्रायः अभाव है। इसलिए दक्षिण अर्काट ज़िले में निवेली स्थान में लिग्नाइट बहु-उद्देशीय योजना प्रारम्भ की गई है, जिसमें भूरा कोयला, बिजली और खाद बहुत बड़ी मात्रा में पैदा की जाएगी। इस योजना को तब कहीं अधिक लाभप्रद बनाया जा सकता है यदि समूचे दक्षिण को एक राज्य में परिणत किया जा सकता। मध्य प्रदेश के विशाल राज्य के निर्माण से उसमें शामिल होने वाले चारों राज्यों का जो विकास हो गया है, उसकी इन अलग-अलग राज्यों के लिए कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विन्ध्य की खानें व जंगल, महाकोशल के मैदान, भोपाल की उर्वरा भूमि और मध्य भारत का औद्योगिक क्षेत्र अब अपने पूरे यौवन को प्राप्त हो सकेगा। अन्य राज्य भी प्रगति एवं विकास के पथ पर पूरी तेज़ी से अग्रसर हो सकेंगे।

यह कभी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि राष्ट्र का मानचित्र उसकी भौगोलिक देह का सूचक है और इस देह की आत्मा उसमें रहने वाली जनता है। वास्तविक लक्ष्य जनता की उन्नति एवं प्रगति होना चाहिए। अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा हम नव-निर्माण के जिस महान कार्य में लगे हैं, उसका लक्ष्य जनता की चहुँमुखी उन्नति एवं विकास करना है। पहली योजना के लक्ष्यों को जिस ढंग से पूरा किया गया उसके लिए कोई भी राष्ट्र अभिमान अनुभव कर सकता है। विश्वास रखना चाहिए कि दूसरी योजना के लक्ष्य और भी अधिक शान से पूरे किए जाएँगे और उससे हमारे हृदय में आत्म-विश्वास तथा स्वाभिमान की भावना और भी अधिक मात्रा में पैदा हो सकेगी, परन्तु यह सब निर्भर है हमारे हृदयों की एकता पर। केवल मानचित्र में दिखाई गई एकता मानसिक एकता के बिना निर्जीव बनी रहेगी। पिछला अनुभव हमारे सामने है। मध्य भारत में इन्दौर तथा ग्वालियर और विंध्य प्रदेश में बघेलखण्ड तथा बुन्देलखण्ड की संकीर्णता पर हम विजय प्राप्त नहीं कर सके। नए मानचित्र का निर्माण करके यदि पंजाब में हिन्दू सिख आपस में घुल-मिल कर एक न हो सके और बम्बई में महाराष्ट्री व गुजराती दो तन एक मन न हो सके तो हमारा भविष्य कभी भी उज्ज्वल नहीं बन सकता। मानसिक एकता का सम्पादन करके अपनी भौगोलिक एकता को सार्थक बनाना हम सबका परम कर्तव्य है।

संध्या की वेला

तिः जः रंगनाथन

"बस्ती के पच्छिम में बहती है नदिया,
पक्की है पोखरिया,—ऐ चंदी, री चंदी !"

अब चिन्नप्पन को यह गीत याद आता है। बरगद के नीचे और ग्रामदेवता के सामने सम्पन्न होने वाले "हरिश्चन्द्र नाटक" में चंद्रमती (शैव्या) अपने मालिक ब्राह्मण से सविनय पूछती—"बाबा, बेटा मेरा 'लोहितासन्' (रोहिताश्व) प्यास से तड़पता है, थोड़ा पानी दिलाइए, बड़ा पुन्न होगा!" झट तैश में आकर वह भूसुर कह देता: "ऐ चंदी। इस बस्ती के पच्छिम में नदी बहती है और साफ़ पानी से भरी एक पोखरिया भी है। तुम वहाँ जाकर अंजुली भर सिर्फ़ एक ही अंजुली पानी लेकर बेटे को पिला आओ।" वह इसी प्रसंग के गीत का चरण था।

हर साल उस देहाती नाटक में नकली दाढ़ी, मूँछ आदि लगा हाथ में छड़ी ले और कुबड़े की चाल-ढाल दिखाकर ब्राह्मण नक्षत्रक के 'पार्ट' लेने का हक सिर्फ़ बड़े घर के मुत्तु करुप्पन को ही था। यह चिन्नप्पन मानों 'चन्द्रमती' के भेष के लिए ही जन्मा हो, प्रतिवर्ष शैव्या का पात्र वही लिया करता था, और रो-धोकर तमाशाइयों के दिल द्रवित कराने में तो वह बेजोड़ था ही। आस-पास, आठों मीलों तक उसका शोकालाप अपनी धाक जमा चुका था।

मुत्तु करुप्पन और चिन्नप्पन दोनों की उम्र भी एक ही थी। तगड़े-पट्ठे तरुण थे। किन्तु मुत्तु करुप्पन दाढ़ी-मूँछ लगा लेता तो ठीक काँपता-गिरता बुड्ढा सरीखा ही बन जाता। और चिन्नप्पन की बात ही क्या? स्त्री-वेश ऐसा फबता उसको कि बस, लोच-लचक लहर उठती। सूरत भी ऐसी खूबसूरत कि लोग एक अत्यन्त सुन्दरी युवती ही समझ लेते। उसे लोगों ने उस पंचवर्णी तोता की उपाधि दे दी थी। सचमुच वैसी ही चमक-दमक और वैसा ही सलोनापन उसके वेश और अभिनय में था। इसी कारण उसका नाम भी 'पंचवर्णी चिन्नप्पन' पड़ा, फिर धीरे-धीरे 'पंचवर्णम्' के नाम से लोग उसे पुकारने लगे। घर में वह चिन्नप्पन था, और बाहर पंचवर्णम्।

वह ज़माना अब बीते सपने का-सा हो गया। देहात में नाच और नाटक का दौर ऐसा चलता रहता कि रोज़ पौ फटने के साथ ही वह विराम पाता और आठ रातों तक अबाध गति से यह समारोह चलता रहता। केवल 'हरिश्चन्द्र नाटक' ही नहीं, श्रीकृष्ण लीला, राम नाटक, प्रह्लाद चरित—इन सब का अभिनय इसी सप्ताह में होता। कुछ गाँवों में नाचने और नाटक खेलने का काम एक जाति विशेष के लोग करते हैं, पर इनके गाँव में वह बात नहीं है। करीब १२५ एकड़ ज़मीन वाले मुत्तु करुप्पन और उसकी बराबरी का चिन्नप्पन दोनों ही नृत्य नाटक में शामिल होते हैं, तो औरों की बात ही क्या? गाँव-गाँव की अपनी-अपनी रीति-नीति है। इनके गाँव में 'कूत्ताडि' (नाटकिया) कह कर किसी को नीची नज़र से देखने की प्रथा नहीं है।

मुत्तु करुप्पन और चिन्नप्पन दोनों ने मिलकर ही नाटक की तैयारी की। मुत्तु करुप्पन की जीभ गाने का नाम लेते ही असहयोग कर बैठती, और लेक्चर की फुलझड़ियाँ छोड़ने लगतीं। इसलिए बनजारा, तेली, चेट्टियार, मोती का सौदागर, ब्राह्मण, हनुमान, नृसिंह इत्यादि पात्रों के अभिनय में वह सफल होता था। चिन्नप्पन को कोयल की कूक को भी मात कर देने वाला मीठा सुरीला कण्ठ प्राप्त था। युवती का-सा मधुर-कोमल स्वर और लता-सी लचीली देह वाले चिन्नप्पन को सदा नल्लतंगाल चन्द्रमती, यशोधरा, सीता देवी आदि स्त्री पात्रों के रूप में अभिनय करने का मौका मिला करता था।

मुत्तु करुप्पन की छोटी बहन शेंगमलम् चिन्नप्पन को प्यार करती थी। उसका दृढ़ संकल्प था कि अगर शादी करूँगी तो चिन्नप्पन से ही करूँगी। उसकी इस सहज अभिलाषा का अनादर किसी ने नहीं किया। पिता जी पलनिस्वामि, माता जी अम्मलम् और बड़े भाई मुत्तु करुप्पन ये सब इस सम्बन्ध के प्रस्ताव से पूरी तरह सन्तुष्ट थे।

घर में चिन्नप्पन इकलौता बेटा था। माँ-बाप दोनों उसे छोड़ गए हैं। घर की देखभाल करने के लिए केवल एक बूढ़ी बुआ है। शेंगमलम् को ब्याहने में चिन्नप्पन को कोई एतराज़ नहीं था। फिर भी जब शादी की बात उठती, वह कोई न कोई होला हवाला करके टाल देता। क्या सचमुच उसकी शेंगमलम् से शादी कर लेने की इच्छा नहीं थी? हंसिनी-सी उस सुन्दर लड़की को पत्नी के रूप में पाकर, अपना भाग्य न सराहने वाला युवक शायद ही हो। फिर? चिन्नप्पन के पास क्या रुपए की कमी थी कि वह परिवार-पालन में असमर्थ हो? नहीं, यह सब नहीं। वह बड़े संकोची स्वभाव का था। शादी की बात उठाते ही, उसे शरम घेर लेती थी। शेंगमलम् को पाने के लिए वह लालायित भी था, फिर भी उस लजीलेपन के कारण चार-पाँच साल तक वह टालता ही रहा। उसकी यह टालमटोल एक बड़ी मूर्खता साबित हुई। ज़माना क्या उलटेगा? आदमी ही उलट जाता है। और आदमी के ही स्वभाव, वचन विश्वास सभी बदल जाते हैं। कभी स्वार्थवश, कभी अभिमानवश और कभी हठवश। चिन्नप्पन और मुत्तु करुप्पन के बीच में उनके स्नेह-सौजन्य में वही उलट-पलट आ गई। ऐसा मनमुटाव हुआ कि उसके दूर होने की भी आशा नहीं रही।

शेंगमलम् के लिए दूसरी जगह वर ढूँढ़ा जाने लगा, और बात-चीत चलनी भी प्रारम्भ हो गई। पर वह अपनी धुन की पक्की थी। वह साफ बता चुकी थी, "मैं चाहे सूने गले वाली ही रह जाऊँ, मगर किसी अन्य को अपने गले पर मंगल-सूत्र बाँधने नहीं दूँगी!" वह

घर भर की लाड़ली लड़की थी। कोई ज़बरदस्ती दूसरे के साथ उसकी शादी नहीं कर देना चाहता था। मगर चिन्नप्पन से ब्याह करने की आशा भी उसे छोड़ ही देनी पड़ी। अपने बाप और भाई के खिलाफ वह उससे ब्याह करती भी कैसे ? चिन्नप्पन भी अपने दुश्मन के घर की लड़की को चाहे प्राणप्यारी ही क्यों न हो, बलात् ले आकर विवाह कर लेने के पक्ष में नहीं था। अतः उसने भी अपनी शादी की बात किसी को उठाने नहीं दी।

× × ×

आज, यह सन्ध्या की वेला कितनी मनोहर है। इस मोहिनी वेला में, उस अतीत सन्ध्या की स्मृतियाँ चिन्नप्पन के मन में उमड़ रही हैं।

ओह ! उस दिन की सन्ध्या कितनी डरावनी थी। आज इस वेला में मंगल दीप जल रहा है। इसकी आभा मन के कुटिल भावों को दूर करने वाली है। रजताभ चाँदनी बरसाते हुए चाँद भी निकल चुका था। क्या इसी वेला की तरह भव्य और मोहक थी उस दिन की सन्ध्या ? बिजली की कड़कड़ाहट और वर्षा की मूसलधारा से संकुल उस सन्ध्या की याद आते ही देह काँप उठती है। चिन्नप्पन एक क्षण के लिए अपनी कँपकँपी दबा नहीं सका।

आज उस भयावनी सन्ध्या को कितने ही साल बीत गए। आज से कितने ही वर्ष पूर्व चोक्कायि देवी के रथोत्सव के समय ही वह सब बखेड़ा खड़ा हुआ। उस दिन की सन्ध्या गाँव में स्नेह-सौजन्य के दृढ़ बन्धन को शिथिल बना चुकी थी।

इनके गाँव में सब काम अजीब ढंग से हुआ करते हैं। ग्राम देवता के जुलूस के लिए बड़ा रथ तैयार करना है और उस पर रंग-बिरंगे कपड़े बाँध कर उसे सजाना है। इस तरह पूरी तैयारी और सजावट के होने के बाद रथ को बाहर निकालना तक दुश्वार होता है। उस भारी भरकम रथ को रस्सी बाँध कर खींचना ही जुलूस के लिए आसान तरीका है, पर इस सुगम प्रणाली के लिए गाँव वाले ही नहीं, वह ग्राम देवता भी सहमत नहीं थे। अगर रस्सी से रथ खींचने की कोशिश शुरू हो गई, तो बस, किसी गाँव वाले पर देवता का कोप आ गिरता और वह कुचल जाता, यह कौन जानता है ?

इस कारण देवता के उस बड़े रथ के दोनों ओर अजगर की तरह दो लम्बे-मोटे डण्डे बाँध दिए जाते हैं। इन दोनों डण्डों के अलग-अलग नाम थे, एक का 'शिलाडण्डा' दूसरे का 'कागडण्डा'। हैं तो दोनों ही काठ के, फिर भी शायद एक का वज़न ज्यादा रहा होगा और दूसरे का कम, इसी से उनके वे नाम पड़े होंगे। गाँव की चारों बीथियों में रहने वाले लोग अपने लिए डण्डों का एक-एक भाग चुन लेंगे और डण्डों के चारों भागों पर कन्धा देने के लिए कुल सौ-सवा सौ आदमी इकट्ठे हो जाएँगे। जुलूस के दौरान में कहीं एक ओर बोझ अधिक पड़ गया तो रथ के दूसरी ओर के आदमी सहायता नहीं करेंगे। इसलिए उनमें रथ खींचते समय प्रतिस्पर्धा की भावना सहज ही फैल जाती। जब रथ का जुलूस अपनी बीथी में आ जाता है, तब उस बीथी वालों के उत्साह का वार-पार नहीं रहता। एक तरफ के लोग कन्धे उठा-उठाकर उछल[illegible] दूसरी तरफ वालों को भौंचक्का [illegible] के दूसरी ओर झुक कर गिर जाने की आशंका पैदा हो जाती है [illegible] आदमी भी सारी शक्ति बटोर कर बोझ सम्हाल लेते हैं और स्थिति ठीक हो जाती है। यह तमाशा हर साल, हर बार होता है। चिन्नप्पन बचपन से ही यह सब देखता आ रहा है। मगर उस साल उस सन्ध्या की वेला में जुलूस का रथ एक ओर गिर ही गया। कौन जाने, देवी का क्या कोप था ?

"हाँ, दूसरी टोली वालों के पास न तो बुद्धि है और न एकता ही। इस हालत में देवी क्या करेगी ?" रथ के गिरते ही मुत्तु करुप्पन ने कह दिया। झगड़े की शुरुआत इसी से हुई। रथ के गिरने में उत्तर बीथी वालों का दोष कुछ भी नहीं है—यही कहने का उसका इरादा था। वह स्वयं जो उत्तर बीथी का रहने वाला है।

"सब देवी की इच्छा से ही होता है भाई। बुद्धि और एकता उन्हीं लोगों में नहीं रह पाती जिन में दम्भ और घमण्ड घर कर बैठते हैं !" यह चिन्नप्पन का सहज प्रत्युत्तर था। उसका यह कहने का सलीका भी मामूली ही था। यह नहीं कहा जा सकता कि उसने खुद दक्खिनी बीथी का होने के कारण यह जवाब दिया था।

"अपने और अपने आदमियों के लिए काम तो सदा भले ही जँचेंगे ! अगर अपना दोष पहचानने की शक्ति होती तो दूसरों पर अपना दोष न मढ़ते !"

मुत्तु करुप्पन ने बेहिचक यह व्यंग्य मारा। वाद-विवाद बढ़ता गया जैसा कि आम तौर से इन परिस्थितियों में सभी जगह होता है।

चिन्नप्पन और मुत्तु करुप्पन की मित्रता अभी तक औरों के लिए आदर्श बनी हुई थी, पर अब वे एक दूसरे से घृणा करने लगे। देवी का रथ नीचे गिर तो गया, पर किसी को चोट तक नहीं लगी। दोनों दलों को यह खुशी मनानी चाहिए थी कि कोई भी आदमी रथ के नीचे दब कर मरा नहीं। परन्तु रथ क्या गिरा, दो मित्रों की मित्रता गिर गई, होश-हवास गिर गए। रथ को गिरना ही था, तो वह दक्खिनी बीथी छोड़ कर और कहीं गिरता, तो यह सब झंझट नहीं होता। वह दक्खिनी बीथी पर ही गिरा जो चिन्नप्पन की बीथी थी।

संयोग की बात है कि उसी साल राजा का पार्ट लेने वाले रामलिंगम की आकस्मिक मृत्यु हो गई और राजा का पार्ट लेने के लिए नया आदमी ढूँढ़ना पड़ा। उस साल जब बरगद के नीचे 'सत्य-वीर हरिश्चन्द्र' नाटक खेलने का आयोजन हुआ तो यह चर्चा चली कि रामलिंगम के अभाव में चिन्नप्पन ही राजा का पार्ट भी ले ले। चिन्नप्पन ने यह सुझाव स्वीकार कर लिया।

"एक दिन का नाटक है और उसमें भी 'मसान-कांड' ही अधिक है। सिर्फ नाम भर के लिए एक राजा रहे, तब भी काम चल जाएगा। इस ज़रा से पार्ट के लिए किसी नए नौसिखुए को रख लेने में क्या हर्ज़ है ?" यह मुत्तु करुप्पन का प्रतिवाद था।

"यह कैसे होगा ? चन्द्रमती और हरिश्चन्द्र का विवाद तो खास रंग जमाने का दृश्य है। राजा हरिश्चन्द्र के लिए अच्छे अनुभवी

आदमी की ही जरूरत है। तभी नाटक में बल आएगा।" चिन्नप्पन ने अपने मत की पुष्टि की।

"नाटक का ज्यादा समय चन्द्रमती-विलाप में ही चला जाएगा और उसे कम करना भी मुश्किल है। यह अच्छा होगा कि राजा और रानी के विवाद को थोड़ा कम कर लें।"

मुत्तु करुप्पन का यह हठ चिन्नप्पन को नागवार ज़रूर लगा, फिर भी अपनी नाखुशी प्रकट न करता हुआ वह बोला—"देखेंगे उस वक्त अभी क्यों इन बातों में उलझें ?"

यह विवाद रथ के नीचे गिरने के पहले हुआ था। अब इस घटना के साथ मुत्तु करुप्पन ने उसकी गाँठ भी जोड़ दी। रथ के गिरने के सिलसिले में जब बात बढ़ी, तो मौका पाकर मुत्तु करुप्पन ने कह दिया—"हाँ, भाई। तुम्हीं एक बेकसूर आदमी निकले। इसीलिए न तुम कहते हो कि राजा भेष को तो भी तुम्हीं हो और रानी भेष के लिए भी तुम्हीं हो।"

अब चिन्नप्पन से अपने अरमान का यह अपमान सहा नहीं गया तो वह तुरन्त बोल उठा—"योग्यता और सामर्थ्य रखने वाला व्यक्ति हर भेष के योग्य सिद्ध होता है। डरना तो उसी को चाहिए जिसकी जीभ को जलाकर भी गाने लायक नहीं बनाया जा सकता।"

मुत्तु करुप्पन के पास भी तीखा जवाब मौजूद था। वह बोला—"क्या औरत भेष धरने से सब कुछ आ जाएगा ? राजा का भेष और बन जाने के समान सहल नहीं है। भाई यह देवी के रथ के डंडे को कन्धे पर रख कर उछलने का-सा खेल नहीं है।"

बात बढ़ गई। ईश्वर की कृपा से दोनों में हाथापाई की नौबत न आई। इन गाँव वालों में अगर हाथापाई की नौबत आ जाए तो हँसिए और फावड़े तक चलने लगेंगे। पर चिन्नप्पन इस हब्शीपन से दूर था। मुत्तु करुप्पन स्वभाव से ही बड़ा गुस्सैल और झगड़ालू था। वह मशहूर लठैत भी था। बात में थोड़ी-सी गरमी आने की देर है। बस, लाठी घुमाता हुआ चिल्ला-चिल्लाकर ललकारे बिना नहीं रहेगा। जब चिन्नप्पन ने स्थिति सम्भाल ली तो लटापटी की नौबत नहीं आई।

पर मनमुटाव ऐसा गहरा हो गया कि दोनों ने एक दूसरे का मुँह तक न देखने की कसम खा ली।

उस साल से नाटकों का अभिनय बन्द हो चुका था। मुत्तु करुप्पन और चिन्नप्पन के पारिवारिक सम्बन्ध टूट गए और चिन्नप्पन के साथ शेंगमलम की शादी की बातचीत पर भी पानी फिर गया।

चिन्नप्पन ने बहुत कोशिश की कि अपने मन से शेंगमलम की याद को दूर कर दे। पर वह कैसे सम्भव हो सकता था ? वह खोया-खोया-सा रहने लगा। किसी भी काम में उसका जी नहीं लगता था। पहले शहर में जो भी नाटक नया आए, उसे देखने चिन्नप्पन अवश्य जाता और मशहूर गवैयों की बैठक को तो वह कभी चूकता ही नहीं था। एक बार ध्यान से सुनने पर सभी गीत उसे कण्ठस्थ हो जाते। नए रागों और नए गीतों में उसका लगाव और भी अधिक था। अब यह सब उसे नीरस प्रतीत होने लगा। मन बेचैन है, तो कोई क्या करे ?

शेंगमलम उसके मानसपटल पर बार-बार आकर ऊधम मचाती रहती थी। यह बावलापन हटाए न हटता था; उलटे, बढ़ता गया। अगर दूसरा व्यक्ति होता तो अब तक पूरा पागल हो चुका होता। चिन्नप्पन के पास संयम और संतुलन की शक्ति थी, इसलिए वह सम्हल गया।

चिन्नप्पन रोज़ उत्तर वीथी जाया करता था। कोई न कोई बहाना उसे मिल ही जाता। थोड़ी दूर पर खड़े होकर किसी से बातें करता, पर उसकी दृष्टि शेंगमलम के घर पर ही लगी रहती। मानिनी शेंगमलम अपनी साया तक बाहर नहीं दिखाती। अगर भूल कर सड़क की ओर आ भी गई, तो चिनगारी-भरी आँखों से चिन्नप्पन को एक बार देखकर भीतर चली जाती। उस समय चिन्नप्पन की व्यथा की कोई सीमा न रहती। उसके मन में यही विचार उमड़ आता—'यह मेरी शेंगमलम अब मुझ से घृणा करने लग गई ? क्या यह सचमुच मुझे नहीं चाहती ? तब दूसरे से शादी करने को राजी क्यों नहीं होती ? हमारे आपसी प्रेम की चर्चा जो लोगों के बीच चल रही है, वह झूठ है ?'

व्यथाबोझिल मन के बहकाव में अधिक न पड़ने के इरादे से वह घर की ओर लौट चलता। पर दूसरे दिन भी वही बहाना, वही प्रतीक्षा और वही व्यथा ! दिन में कम-से-कम एक बार शेंगमलम को देखे बिना चिन्नप्पन को चैन नहीं आता था।

ऐसी ही हालत में एक अप्रत्याशित घटना घटी।

× × ×

पलनिच्चामि की उम्र करीब पचास को पार कर चुकी थी, तब उसे रतौंधी आ गई। वह मुत्तु करुप्पन के पिता थे। यद्यपि साँझ पड़ते ही उनकी आँख भी कमज़ोर हो जाती, फिर भी उनकी चुस्ती और फुर्ती में कोई कमी नहीं आई थी। हमेशा कुछ-न-कुछ काम करते रहने की आदत उनमें थी। कभी कहीं एक जगह बैठे रहना उनसे नहीं होता था। उनके जैसा फुर्तीलापन नौजवानों में भी शायद ही पाया जा सकता।

उस दिन भी सन्ध्या पड़ते ही चिन्नप्पन उत्तर वीथी की ओर गया और दस्तूर के माफिक जाने-पहचानों के साथ बातें करने का बहाना कर रहा था कि तुरन्त धूल उड़ाती हुई आँधी शुरू हो गई, उमड़ते घने बादलों से आसमान काला हो चला। मूसलाधार वर्षा की पूरी तैयारी हो रही थी। बड़े घर के बाहर शेंगमलम और उसकी माँ दोनों सुखाने के लिए डाले गए अनाज को बटोरती हुई आपस में बातें कर रही थीं। उनके स्वर में चिन्ता और भय की छाप स्पष्ट थी। चिन्नप्पन ने अपना कान उस ओर दिया।

"बाबू जी खेत की ओर ही गए हैं, मुझे ठीक मालूम है।" यह शेंगमलम का स्वर था।

"मुत्तु करुप्पन भी साथ गया है न ?" उसकी माँ पूछ रही थी।

माँ नहीं, बैल का जोड़ा देखने कहीं बाहर जाना है। इसलिए वे ज़रूर पास के किसी गाँव में गए होंगे।

शेंगमलम की माँ घबरा गई, बोली —"तब इन्हें कौन जाकर ले आएगा ? इस बुढ़ापे में यों तंग न करते, तो कितना अच्छा रहता।

रतौंधी तो आ चुकी। साँझ पड़ते ही आँखों की रोशनी गुम हो जाती है। ऐसी हालत में इनको समझ में यह क्यों नहीं आता कि सूरज डूबने के पहले ही घर वापस आ जाना चाहिए। अब देखो, हवा जोर से चल रही है, बूँदाबाँदी भी शुरू हो गई और बड़ी तेज़ वर्षा आने वाली है। झाड़ियों व टीलों से भरा वह बीहड़ रास्ता कैसे उनसे बेखटके कट सकेगा? पता नहीं, किसी झाड़ी में फँस गए हों। हम क्या करें? जिनके सिर पर जो लिखा है, उसे वही भोगें।"

चिन्नप्पन को वह स्थिति समझने में देर नहीं लगी। खतरे में फँसे उस बूढ़े को बचाने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठी। पर बचपन से ही अँधेरे से उसे बड़ा डर लगता था।

"कोई कहीं जाकर फँसे या मरे, हमें क्या पड़ा है?" यह लापरवाही भी उसे सूझी, पर दूसरे ही क्षण वह दुर्भावना दूर हुई। "वे मेरी शेंगमलम के पिता हैं। अगर उनको कुछ हो गया है, तो मेरी प्यारी फूट-फूट कर रोएगी। उसकी आँख से आँसू का एक बूँद भी गिरते मैं कैसे सहूँगा? इसकी गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिए।"

आत्मविस्मृत-सा चिन्नप्पन खेत की ओर तेज़ी से चल रहा था। 'करुप्पण्ण स्वामी' (ग्रामदेवता) का मंदिर, उसके बाद गाँव का श्मशान और उसके बाद जंगली नदियाँ सब पार कर गया। तब तक संध्या भी विलुप्त होती जा रही थी। बिजली की कड़कड़ाहट बार-बार डरा रही थी। सब ओर घोर निस्तब्धता छाई हुई थी। मवेशियों की घंटी तक कहीं से सुनाई नहीं दे रही थी। चिड़ियों की फुरफुराहट भी बंद हो चुकी थी। सिर्फ बिजली की कड़क और आँधी की डरावनी सरसराहट ही बारम्बार उठ रही थी।

पर चिन्नप्पन तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। बूढ़े पलनिच्चामि कहीं नहीं दिखाई पड़े। नाले में छाती तक पानी बह रहा था। उसे पार कर ही उनके खेत की ज़मीन को जाना है। चिन्नप्पन नाले में उतरा। आहट उठते ही किसी ने आवाज़ दी "कौन है?"

चिन्नप्पन ने मुड़कर देखा। बोलने वाले की सूरत कहीं दिखाई नहीं पड़ी, पर कंठ स्वर उस बूढ़े का ही था। असमंजस में पड़कर चिन्नप्पन वहीं खड़ा रहा।

"अरे, कौन है? क्या सुनाई नहीं पड़ती?" बूढ़े का स्वर गंभीर हो उठा। उसके साथ उनके हाथ की लाठी की पट्-पट् आवाज़ भी उठ रही थी। नाले के पास एक टीले पर उनको बैठे वह दिखाई दिया। पास जाकर काँपते स्वर में चिन्नप्पन बोला, "जी, मैं हूँ।"

"अरे, 'मैं' माने कौन है? क्या आखिरी घर के कुप्पन हो, या पच्छिम वीथी के मरुते हो?"

"नहीं जी। मैं...मैं ही हूँ।" चिन्नप्पन की जीभ हकलाने लगी। अंधकार और भी घना हो गया। चिन्नप्पन अटकल से ही रास्ता बनाकर जा रहा था। पीछे से बूढ़े ने कहा, "बेटा, जरा तेज़ी से आ।"

बीच में थूहड़ का घेरा पड़ा तो चिन्नप्पन रुक गया। बूढ़े ने तुरन्त कहा, "क्यों बेटा, रुक क्यों गया है? थूहड़ का घिराव है? तू इधर आ, मैं रास्ता बना देता हूँ।" कहते हुए वे आगे आकर लाठी से घिराव पर ज़ोर से मारने लगे। [illegible] गए और रास्ता बन गया।

"हाँ, अब चले आओ बेटा।"

बूढ़े की सूझ और ताकत पर आश्चर्य करता हुआ चिन्नप्पन आगे बढ़ा। बिजली की चौंधियाती लम्बी रेखा एक क्षण चमक उठी और साथ ही शेर की दहाड़ की तरह 'गड़-गड़' की आवाज़ से मेघ गरज उठे। बिजली की चमक से चिन्नप्पन को रास्ता मिलने में सहूलियत हुई। दोनों तेज़ी से चल रहे थे।

रास्ते में कई बातें बूढ़े पलनिच्चामि ने कहीं। चिन्नप्पन ने सिर्फ 'हाँ,' 'नहीं' कहकर अपने को पहचानने नहीं दिया। बूढ़ा रह-रह कर बोले जा रहा था।

"क्यों बेटा। उस चिन्नप्पन से कब तक वैर-विरोध निभाता रहेगा?"

"नाटक तो एक तरह से बन्द ही हो गया इस गाँव में। यह सब तेरे हठ और झगड़े का नतीजा है।"

"शेंगमलम की चिन्ता ही मुझे खा रही है। वह बिचारी उस लड़के की याद में हमेशा बिसूर रही है। उसे क्या कुँवारी ही रहने देगा तू?"

"वह हठीली लड़की चिन्नप्पन को छोड़कर दूसरे को चाहती ही नहीं।"

चिन्नप्पन मन ही मन अपार आनन्द का अनुभव कर रहा था। और वह देख रहा था कि बूढ़ा उसे अपना बेटा मुत्तु करुप्पन समझकर यह सब बातें कह रहा है। दोनों गाड़ी के रास्ते पर आ सके। दोनों ओर लम्बे-लम्बे थूहड़ पहरेदार की तरह खड़े थे।

बूढ़े ने पूछा—"गाँव में आ गए हैं, न बेटा?"

"जी हाँ।"

"गाड़ी का रास्ता है?"

"जी, हाँ।"

चिन्नप्पन ने देखा कि सामने थोड़ी दूर पर हाथ में लालटेन लिए कोई आ रहा है। वह तुरन्त पास के पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया। लालटेन के साथ मुत्तु करुप्पन ही आ रहा था। अपने पिता जी को आते देख वह खुशी से बोला—"आइये बाबू जी। मैं बहुत घबरा गया था कि······"

"अरे, करुप्पन। तू अभी आ रहा है? तब, अब तक मुझे ले आने वाला कौन था? उसने अपना नाम तक तो बताया नहीं। आवाज़ भी पहचानी हुई नहीं थी। अब वह कहाँ चला गया?" बूढ़ा विस्मयातिरेक से बोला। मुत्तु करुप्पन ने लालटेन घुमा-फिराकर चारों ओर देखा, पर उसे कहीं कोई दिखाई नहीं पड़ा।

जब चिन्नप्पन अपने घर पहुँचा, तब उसकी देह पानी से खूब भीग चुकी थी और वह ठंड के मारे थर-थर काँप रहा था। पर सन्ध्या की घटना की बार-बार याद कर वह मन ही मन खुश हो रहा था। उसने अपनी प्रियतमा के पिता को बड़ी आफत से बचा लिया, यह

(शेष पृष्ठ ५७ पर)

जीवन और घास

शकुन्त माथुर

जीवन

१

दो पेड़ों के नीचे
पीपल और नीम के पीछे
क़सबे का बड़ा कुँआ
उसकी चौड़ी मैंड़ पर
नया कोई नहीं
मौसी, काकी, बूआ
या क़ौल का भाई
पुकारे का भतीजा।
रँगीली प्रणाली ये पनघट की
सख़्त लड़ाई किन्तु क्षण भर की
कभी हँसी भारी कभी चुहलबाज़ी
तलछट की।
इनके तेज़ रंग रँगे कपड़े
केलिया के फूल से लगते
लाल-पीले चटक गुच्छे ज्यों हरी घास पर
दिखते।
रस्सियाँ कुण्डली मारे भुजंग सी बैठीं
मँजी साफ़ कलसियें, टोकनियें रुपैली,
सुनहरी
सर्प मणि का आलोक लिए पाँत में दिखतीं
और जेवरियों के फैले दूर तलक
लम्बे साँप
मणियों पै झपटते या नीचे को लटकते।
पीपली से पीपल टपकते
नीम से पखेरू बीट भी करते
जो कुँए की लाल मैंड़ पर जम जाती
अँधेरे में किसी भी पनिहारिन को रुपए
की ग़लतफ़हमी हो जाती
शरमाती, बात बना कर
झेंप मिटाती।
उधर कुँए में टकराती परस्पर
गगरियाँ, टोकलियाँ
धमक जैसे गहनों की गूँज उठी
गहनों से लदी ब्याही बेटी
मिल रही कुठरिया में
पी के जाते
नीर गिराती।

२

घास

नल कल दल-पाँच
लग गई क़सबे में
पनघट की रंगीनी, जीवन
सिमट गया, ज्यों तलले में
हिलती बँहगी की गति दबाव
कंधों का लरजना
पनिहारिनों का अटक अटक के चलना
रुकना
लहरता तन
आगे कभी पीछे मुड़ना
व्यायाम काम।
अब आ खड़े हुए पाँत में
पतझर के पत्ते से
या कि कीचड़ में लिपटे पतले डण्डे से
टूटे कनस्तर पिचके टीन डालडा के लिए
उठाने वाले जिन्हें
मरियल घोड़े से
सजल मटकियाँ, चमकती कलसियाँ
काई का ओढ़ना ओढ़े
कुछ नंगे बच्चे उस नाले से निकल
इस तरफ़ ही दौड़े
सुबह की टैम थी
भीड़ बेहाल थी
निराशा और ज़रूरत के बादलों में
मुँह बेरुअत, रुँआसे
कपड़े मैले फटे कोढ़ के चकत्ते से
नागिन सी फुफकारती थी
नल कल की सूँ‥‥‥हर बार
न पानी की धार उतरती थी
कोई कहता छिपकली चिपटी थी
देख हुज्जत, नख़रे, तिलमिलाती थी—
वो पटे कुँए की घास
श्रम से बुझती घास, मानव जीवन नहीं
मात्र घास‥‥‥‥‥‥‥।

●

गुजराती गीत

प्रेम की सुगन्ध

'स्वप्नस्थ'

अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
सूरज-सुख आज का उगाओ हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
जाग गया ऊँवा जल, जागा पवन हे
जाग पड़ा कानन गहन-वन हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
कोनों की कोंपलों खिली कली दिगंत की
उड़ते पतंग पँचरंग हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
जागे अधीर कण्ठ पंछियों के वृंद हे
छेड़े अवाई के छन्द हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
जाग पड़े जनगण-मन, जागा जीवन हे
जागा जगत लोक-संघ हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
नतिका प्रभात मेरे नयनों में जागता
भर-भर कर रूप यह प्रसन्न हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।
आज ही कहाँ का क्या जागा है प्राणों में
छिटकी है प्रेम की सुगन्ध हे प्रियतम
अमृत गगन मेरे अन्तस्तल में।

अनु०—युगजीत नवलपुरी

विशाखा

सेठ गोविन्ददास

छठा दृश्य

स्थान—मिगारा के भवन में मिगारा का कक्ष

समय—उषा काल

[वही कक्ष है जो पहले दृश्य में था, मिगारा बेचैनी से इधर-उधर घूम रहा है। उसके साथ ही रेणुका भी घूम रही है।]

मिगारा (अत्यन्त घृणा से)—हाँ, उसने कहा कि मैं बासी खा रहा हूँ।

रेणुका—आपने उसका कथन स्पष्ट सुना?

मिगारा—सर्वथा स्पष्ट! मैं बहरा नहीं हूँ, न इतना वृद्ध हो गया हूँ, कि कम सुनाई पड़ने लगे। फिर वह तो बोलती भी इस तरह है कि उसे वज्र बहरा भी सुन सकता है।

[मिगारा चुप होकर टहलता रहता है। रेणुका उसके पीछे-पीछे टहलती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

मिगारा—(ठहर कर रेणुका की ओर देखते हुए) रेणु, यह बड़ी बुरी लड़की हमारे घर में आई, अत्यन्त उद्दण्ड! बड़े-छोटे का इसे कोई ध्यान नहीं, न इस बात का कि क्या कहती है और क्या करती है? मेरे भोजन को अभक्ष्य कहा, रात को अपने कक्ष से बाहर अश्वशाला में गई और निम्न वर्ग के कार्य करती रही।

रेणुका—धनंजय की इकलौती पुत्री है, अतः सिर पर चढ़ा कर इसे पाला-पोसा गया है।

मिगारा—(फिर टहलते हुए) फिर न जाने उसके पिता ने उसे कैसे-कैसे गूढ़ अर्थ वाले उपदेश दिए हैं। विदा के समय उसे जो उपदेश दिया गया, वह उसी के कक्ष के निकट के कक्ष में ठहरने के कारण मुझे स्पष्ट सुनाई दिया। विचित्र उपदेश था।

रेणुका—अच्छा!

मिगारा—हाँ, मैंने तो उसे लिख लिया है। (एक भोजपत्र को अधोवस्त्र की अण्टी से निकाल खड़े हो उसे पढ़ता है) घर के भीतर की अग्नि बाहर न ले जाना, बाहर की अग्नि घर के भीतर न लाना, केवल उसी को देना जो तुझे कुछ दे, उसे कुछ न देना जो तुझे कुछ न दे। उन दो को देना जो तुझे न भी दे, अग्नि को प्रज्वलित रखना, उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हों, सुख से बैठना, सुख से खाना, सुख से सोना।

रेणुका—पूरा समझ में नहीं आया।

मिगारा—पूरा क्या बहुत थोड़ा समझ में आता है, पर जो समझ में आता है, उसी से इस उपदेश की भयानकता सिद्ध हो जाती है। अग्नि को प्रज्वलित रखना, अर्थात हमारे घर में यह लड़की अग्नि लगाने वाली है। उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हों, अर्थात तुमसे, मुझसे, पुण्यवर्धन तक से यह लड़की अन्यों को ऊँचा मानेगी। और अन्त में कहा है, सुख से बैठना, सुख से खाना, सुख से सोना, अर्थात हमारे घर को भस्म कर अन्यों को हम सबसे ऊँचा मान यह स्वयं सुख से बैठेगी, सुख से खाएगी, सुख से सोएगी। (फिर टहलने लगता है।)

रेणुका—(घबराकर) सचमुच, यह तो बड़ी भयानक परिस्थिति है।

मिगारा—पुण्यवर्धन उसके पंच सौंदर्य पर रीझ गया और मैं उसके कुटुम्ब की सम्पन्नता पर। जैनियों में हमारा कुटुम्ब उतना ही प्रतिष्ठित है, जितना बौद्धों में धनंजय का। गौतम का इस लड़की पर बड़ा प्रभाव है। और इसे उस बौद्ध धनंजय ने इसीलिए हमारे कुटुम्ब में ब्याहा है जिससे यह हमारे कुटुम्ब का नाश कर दे। मैंने······मैंने प्रिये, बड़ी भूल की जो इससे पुण्यवर्धन का ब्याह कराया। इसे आए कुछ ही घड़ी बीती, मैं जैन समाज का सरपंच, मेरी सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई और भविष्य में न जाने और क्या होने वाला है।

रेणुका—मैंने तो विवाह के पूर्व आपको इस सम्बन्ध में संकेत भी किया था।

मिगारा—हाँ, तुमने तो कहा था, पर उस समय मैं इसके सौन्दर्य की बात सुन तथा धनंजय की सम्पन्नता तथा उसका कुछ अंश दहेज में हमें भी मिलेगा, इस कारण कोई अन्य बात सोचने की मानसिक दशा में ही न था।

रेणुका—पर अब क्या किया जाए!

मिगारा—(फिर खड़े हो रेणुका की ओर देखते हुए) मैंने निर्णय कर लिया है कि मैं एक घड़ी भी ऐसी लड़की को अपने घर में न रखूँगा।

[विशाखा का प्रवेश]

विशाखा—पिता जी, आपने मुझे बुलाया है।

मिगारा—हाँ, बुलाया है। (शय्या पर बैठ कर) इसलिए बुलाया है कि तुम इस घर में घड़ी भर भी रहने योग्य नहीं। अपना सारा सामान बाँध-बूँधकर यहाँ से तत्काल चल दो।

विशाखा—(आश्चर्य से स्तंभित-सी होकर) मैं इस घर में रहने योग्य नहीं हूँ, तत्काल यहाँ से चल दूँ, अर्थात्।

मिगारा—जो वाक्य मैंने कहे हैं, उसके दो अर्थ नहीं निकल सकते।

विशाखा—वह तो मैं समझी, परन्तु मेरा अपराध?

मिगारा—एक अपराध हो तो बताऊँ, कल संध्या को तू यहाँ पहुँची और संध्या से लेकर आज प्रातःकाल तक अपराध पर अपराध ही हुए हैं।

विशाखा—परन्तु, आप जानते हैं कि मेरे पिता ने आठ विद्वानों को मेरे साथ भेजा है, जो इस बात के लिए आए हैं कि यदि मुझ पर

कुछ दोषारोपण हो तो वे इसका निर्णय करें कि मैं अपराधिनी हूँ या नहीं ? आप अपने पुत्र से मेरा विवाह कर मुझे यहाँ लाए हैं। यह घर अब मेरा घर भी है। जब तक वे विद्वान इस बात का निर्णय न दे दें कि मैं अपराधिनी हूँ तब तक आप मुझे इस प्रकार घर से नहीं निकाल सकते।

मिगारा—(रेणुका से) देखती हो, रेणु, इस लड़की की उद्दण्डता। (कुछ विचारते हुए) परन्तु, इसका यह कथन सत्य है कि मैं इसके पिता को यह वचन दे चुका हूँ कि इसको दण्डित करने के पूर्व इसके अपराधों को मैं उन विद्वानों के सम्मुख निर्णय के लिए अवश्य रखूँगा। अतः मैं उन्हें अभी बुलाता हूँ।

सातवाँ दृश्य

स्थान—मिगारा के भवन में मिगारा का कक्ष

समय—प्रातःकाल

[वही कक्ष है, जो इसके पूर्व के दृश्य में था। पीछे की ओर आसन्दियों पर विशाखा के संग आए हुए आठों विद्वान बैठे हुए हैं। आठों में कुछ वृद्ध और कुछ प्रौढ़ हैं। वेशभूषा उस काल के सदृश। उनके दाहिनी ओर आसन्दियों पर मिगारा और रेणुका बैठे हैं। और बायीं ओर आसन्दी पर विशाखा।]

पहला विद्वान—तो···तो विशाखा पर आपके तीन दोषारोपण हैं। पहला यह कि इन्होंने कहा कि आप अभक्ष्य का भक्षण कर रहे हैं, दूसरा यह कि ये रात्रि को अपने कक्ष से बाहर अश्वशाला में गईं और तीसरा यह कि इन्होंने वहाँ निम्न वर्ग का काम किया।

मिगारा—जी हाँ, कल संध्या को तो यह यहाँ आई और कुछ ही घड़ियों में इसने ये तीन महान अपराध कर डाले।

पहला—(विशाखा से) कहो विशाखा, तुम्हें क्या कहना है ?

विशाखा—मेरे पहले अपराध के सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि मैंने यह कहा ही नहीं कि पिता जी अभक्ष्य का भक्षण कर रहे हैं।

मिगारा—(क्रोध से) तू, मिथ्या भाषण भी करती है। तूने यह नहीं कहा कि मैं बासी भोजन कर रहा हूँ।

विशाखा—मैंने यह अवश्य कहा कि आप बासी भोजन कर रहे हैं, पर यह नहीं कि आप अभक्ष्य का भक्षण कर रहे हैं।

मिगारा—बासी भोजन अभक्ष्य नहीं तो और क्या होता है ?

विशाखा—बासी भोजन से मेरा अभिप्राय खाद्य वस्तु से नहीं था।

दूसरा—तब ?

विशाखा—कल के प्रीति-भोज में जब एक असभ्य और उद्दण्ड व्यक्ति ने यह कह कर आपका अपमान किया कि आपने धन के लिए अपने पुत्र का विवाह किया है और जैनियों और बौद्धों का यह विवाह कल्याणकारी सिद्ध न होगा, तब आप चुप रह गए और आपने उसके प्रतिवाद में एक शब्द न कहा। आपकी मुद्रा से भी मुझे जान पड़ा कि उस व्यक्ति के कथन का आप पर प्रभाव पड़ा है। अतः मेरे इस कथन का कि आप बासी भोजन कर रहे हैं, यह अभिप्राय था कि इस प्रकार के पुराने बासी विचारों का आप पर प्रभाव है।

मिगारा—परन्तु, यह बात तूने उस समय कही जब मैं भोजन कर रहा था।

विशाखा—यह एक संयोग की बात थी। भोजन से मेरा अर्थ कुछ दूसरा था। मैं कल ही संध्या को यहाँ आई। मेरे आने के पश्चात आपने पहले-पहल कल संध्या को जो भोजन किया, वह प्रथा के अनुसार मैंने परोसा था। अतः मैं उस भोजन को बासी या अभक्ष्य किस प्रकार कहती ?

तीसरा—दूसरे अपराध के सम्बन्ध में तुम्हारा कथन क्या है ?

विशाखा—यह बात सत्य है कि मैं रात्रि को अपने कक्ष से अश्वशाला में गई थी।

चौथा—किसलिए ?

विशाखा—इसलिए कि जिस घोड़ी पर मैं वर्षों चढ़ी और जिसे पशु होते हुए भी मैं अपनी भगिनी के तुल्य मानती हूँ, उसने एक बच्चा जना था।

पाँचवाँ—और जो तुम पर तीसरा दोषारोपण है कि तुमने निम्नतम वर्ग का कार्य किया, उसके सम्बन्ध में तुम्हारा क्या कहना है ?

विशाखा—अश्वशाला में मैंने जो कार्य किया, वह आपको बता देती हूँ, मैंने अपनी उस बहन घोड़ी को स्नान कराया, उस बच्चे को स्नान कराया, उन्हें अच्छी बिचाली बिछा लिटाया, इस प्रकार उनकी सेवा की। मैं भगवान बुद्ध के सर्वभूत हित सिद्धान्त को मानने वाली हूँ। मानव और जीव-मात्र की कोई भी सेवा मैं निम्न वर्ग का कार्य नहीं मानती। मैं तो उच्च वर्ग और निम्न वर्ग को ही नहीं मानती। नैतिक कार्य को, जिनमें सेवा प्रमुख है, मैं उच्चतम कार्य मानती हूँ और अनैतिक कार्य को निम्न कार्य। जो व्यक्ति या समुदाय नैतिक कार्यों में दत्तचित्त रहते हैं, उन्हें उच्च वर्ग का मानती हूँ और जो अनैतिक कार्यों में लिप्त रहते हैं, उन्हें निम्न वर्ग का।

पहला—मिगारा महोदय, विशाखा के इन कथनों पर आपको और कुछ कहना है ?

मिगारा—(कुछ चकमकाकर) इसने बाल की खाल निकालने का प्रयत्न किया है, फिर······फिर मुझे एक बात और कहनी है।

पहला—कहिए !

मिगारा—कुछ ही घड़ियों में मुझे इस लड़की से अपने कुटुम्ब के नाश का भय हो गया है।

पहला—यह कैसे ?

मिगारा—एक तो कल संध्या से आज उषाकाल तक इसने जो कुछ किया और इसका जैसा उद्दण्ड स्वभाव और व्यवहार मैंने देखा उसके कारण और दूसरे इसके पिता ने विदा करते समय इसे जो दस बातों का उपदेश दिया था, उसके कारण जिस कक्ष में यह उपदेश दिया गया था, उस कक्ष के निकट के कक्ष में ठहरे रहने के कारण मैंने उस उपदेश को सुन लिया था और मैंने उसे लिख भी लिया है। (अधोवस्त्र की अण्टी में से भोजपत्र निकाल) इसके पिता ने कहा था—(पढ़ते हुए) घर के भीतर की अग्नि बाहर न ले जाना, बाहर की अग्नि घर के भीतर न लाना, केवल उसी को देना जो तुझे कुछ

दे। उसे कुछ न देना जो तुम्हे कुछ न दे, उन दो को देना जो तुम्हे न भी दे, अग्नि को प्रज्वलित रखना, उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हैं, सुख से बैठना, सुख से खाना, सुख से सोना।

विशाखा—इन उपदेशों में आपको कौन सा उपदेश भयभीत करने वाला है?

मिगारा—मैं इन सब का तो अर्थ समझा नहीं। पर जिनका अर्थ मैंने समझा है, वे उपदेश अत्यन्त भयंकर हैं।

विशाखा—जैसे?

मिगारा—तेरा कुछ ही घड़ियों में जैसा व्यवहार रहा उससे मैंने अग्नि को प्रज्वलित रखने का यह अर्थ समझा है कि तू इस घर में अग्नि लगाने वाली है।

[विशाखा जोर से हँस पड़ती है।]

मिगारा—(क्रोध में विद्वानों से) देखते हैं, आप इसकी उद्दण्डता।

विशाखा—क्षमा कीजिए पिता जी! इस उपदेश का आपका यह अर्थ सुन मैं अपनी हँसी नहीं रोक सकी।

मिगारा—(विद्वानों से) फिर आगे देखिए। उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हों। अर्थात यह अपनी सास से, मुझ से, पुण्यवर्धन तक से अन्यों को ऊँचा मानेगी और अन्त में इसके पिता ने कहा है—"सुख से बैठना, सुख से खाना, सुख से सोना" अर्थात हम पर चाहे कैसी भी आपत्तियाँ क्यों न आएँ इसके सुखों में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

विशाखा—पिता जी, यदि आप सारे उपदेशों का अर्थ समझ लेंगे तो अन्तिम उपदेशों का आपने जो भ्रमपूर्ण अर्थ निकाला है, उससे विपरीत अर्थ निकालेंगे। "घर के भीतर की अग्नि बाहर न ले जाने" का अर्थ यह है कि मैं आपके, माता जी के, मेरे प्रिय पति के घर के किसी भी व्यक्ति के दोषों को बाहर न ले जाऊँ, "बाहर की अग्नि भीतर न ले जाने" का अर्थ यह है कि यदि मैं बाहर आप लोगों में से किसी के भी किन्हीं दोषों का श्रवण करूँ तो उन्हें आप लोगों से कह आप लोगों को दुःखी न करूँ। "केवल उसी को देना जो दे" का अर्थ यह है कि घर-गृहस्थी में लूटने वालों की कमी नहीं अतः उन्हीं को देना चाहिए जो दी हुई वस्तुओं को लौटा दें, "उसे कुछ न देना जो कुछ न दे" का अर्थ यह है कि यदि समय पर हमें कोई सहायता नहीं देता तो हमें भी ऐसे व्यक्ति की सहायता न करनी चाहिए, "उन दो को देना जो न भी दें," का अर्थ यह है कि उन दीन दुखियों को तो देना ही चाहिए जो हमें कुछ नहीं दे सकते। "अग्नि को प्रज्वलित रखने" का अर्थ यह है कि बधू को अपने पति, ससुर, सास आदि के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति को सदा प्रज्वलित रखना चाहिए, "उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हों" का अर्थ यह है कि अपने कुल-देवताओं को आदर देना। "सुख से बैठने का" अर्थ यह है कि बधू को तब बैठना चाहिए जब घर का कोई कार्य न रहे अर्थात उसे आलसी नहीं होना चाहिए और "सुख से खाने और सोने का" यह अर्थ है कि उसे तब खाना और सोना चाहिए जब उसके पूज्य जन खा चुकें और सो गए हों।

मिगारा—(एकदम उठकर) यह…यह अर्थ है इन उपदेशों का! (विद्वानों से) अब…अब विद्वज्जन मेरा विशाखा पर कोई दोषारोपण नहीं है। मैं इन्हें घर से नहीं निकालना चाहता।

विशाखा—(उठते हुए) परन्तु…परन्तु, पिता जी अब मैं इस घर में नहीं रहना चाहती।

मिगारा—(आश्चर्य से) यह…यह क्यों?

विशाखा—यह इसलिए पिता जी कि स्त्री पुरुष के हाथ की कठपुतली नहीं है कि जब चाहे तब उसे सजाया, नचाया और जब चाहा तब उसे अपमानित कर उसे घर तक से निकाल दिया। हमारे यहाँ स्त्री को सहधर्मिणी माना गया है, स्त्री के और पुरुष के समान अधिकार हैं। आप मुझे उद्दण्ड कहते हैं। यदि मेरा व्यवहार अन्य दबोची हुई स्त्रियों के सदृश दासीवत हो तो मैं उद्दण्ड नहीं, बड़ी अच्छी, बड़ी सीधी, बड़ी शिष्ट और यदि मैं अपने को पुरुषों के समान मानूँ तो मेरा व्यवहार बुरा, मैं उद्दण्ड। मेरा किसी प्रकार का दोष न रहते हुए भी आपने मुझ पर ऐसे दोषारोपण किए, यहाँ तक कि मुझे घर से निकल जाने की आज्ञा तक दे दी। वह तो मेरे पिता ने आपसे यह वचन ले लिया था कि मैं अपराध के लिए तभी अपराधिनी मानी जाऊँगी, जब उनके द्वारा भेजे गए ये आठ विद्वज्जन मुझे उन अपराधों के लिए दोषी घोषित कर देंगे। यदि मेरे पिता ने यह न किया होता तो आज मेरी क्या दशा होती? मैं तो निरपराधिनी होते हुए भी सब प्रकार से सम्मान से रहित गली-गली में भटकने वाली निराश्रिता हो जाती। मानव सामाजिक प्राणी है, वह अकिंचन होकर रह सकता है, परन्तु अप्रतिष्ठित होकर नहीं। आज के समाज में नारी की सभी प्रतिष्ठा नर के हाथ में है। जब आपने मुझे गृह निष्कासन का दण्ड दिया, तब मैं इस घर से नहीं निकली कि यह घर मेरा भी है। क्योंकि यदि मैं उस समय निकल जाती तो समाज में मेरा क्या स्थान रह सकता था? पिता द्वारा भेजे हुए विद्वान मुझ पर लगाए गए दोषों पर अपनी कोई व्यवस्था दें इसके पहले ही आपने स्वयं मुझे उन दोषों से मुक्त मान लिया। मुझे जो अनुभव यहाँ हुआ है उसके आधार पर मैं अब एक क्षण भी इस घर में नहीं रहूँगी।

मिगारा—(अत्यन्त आतुर स्वर में) विशाखा…विशाखा! मुझे क्षमा करो!

विशाखा—नहीं पिता जी मेरा अब यहाँ रह सकना असम्भव है। कुछ घड़ियों में ही जब यहाँ यह सब हो गया तब मैं अपना सारा जीवन यहाँ कैसे बिता सकती हूँ?

[पुण्यवर्धन का प्रवेश]

पुण्यवर्धन—और पिता जी अब मेरा भी यहाँ रह सकना सम्भव नहीं।

मिगारा—(दोनों हाथों से अपना सिर पकड़ विह्वलता से शयन पर गिरते हुए से) ओह!…ओह!…अब…क्या होगा?

रेणुका—(उठकर जाती हुई विशाखा के सामने खड़े हो) बेटी! तू क्या…क्या कर रही है कुछ समझती भी है? किनके और कितने पुण्यों के संचय स्वरूप यह पुण्यवर्धन मेरे पेट में आया, कितने कष्टों से इसका जन्म हुआ, कितने परिश्रम से यह पाला-पोसा गया और ऐसा

बन पाया जैसा तू इसे देखती है। कितनी मनौतियाँ मान-मानकर तुझे इस घर में लाई और तू हम सब का जीवन उजाड़ इस घर को मरुभूमि बना इस पुण्यवर्धन के साथ चली जाएगी। यदि कभी तू माता हुई, तूने किसी पुत्र को उदर में धारण किया उसे जना, उसे पाला-पोसा, उसे बड़ा किया, उसका विवाह किया तो तू जान पाएगी, माता की भावनाओं को।

विशाखा—बिना माता हुए ही माता जी, मैं आपकी भावनाओं को समझ सकती हूँ। मैं (पुण्यवर्धन की ओर इशारा कर) इनसे अपने संग जाने के लिए नहीं कहती। पर मेरा·········मेरा अब इस घर में रहना नहीं हो सकता।

रेणुका—तो मेरा तुझ पर कोई अधिकार नहीं?

विशाखा—किसी स्त्री का उसके अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को छोड़कर और किस वस्तु पर अधिकार है। जहाँ तक अधिकारों का प्रश्न है वे सबके सब पुरुषों के हाथ में केन्द्रित हैं। फिर जब मुझ पर पिता जी ने दोषारोपण किए उस समय आपके अधिकार कहाँ गए थे, अब जब आप देखती हैं कि (पुण्यवर्धन की ओर संकेत कर) ये भी मेरे संग जाने को प्रस्तुत हैं तब आप प्रेम का यह अधिकार जताती हैं।

रेणुका—बेटी, तू इतनी कठोर हृदय वाली है, यह मैं नहीं जानती थी।

विशाखा—जिस प्रकार पिता जी ने मुझे समझने में भूल की मैं समझती हूँ, एक अन्य प्रकार से आप भी उसी प्रकार की भूल कर रही हैं। माता जी, मैं कठोर हृदया नहीं हूँ, पर मैंने यहाँ आकर कुछ घड़ियों में ही युग-युग से प्रताड़ित नारी की जिस दशा का अनुभव किया है वही मुझे इस समय इतना कठोर दर्शा रहा है। नारी पर किए गए अगणित अत्याचार मेरे शब्दों द्वारा चीत्कार कर रहे हैं। नारी पर किए गए पुरुषों के अमानुषिक व्यवहार मेरे द्वारा इस प्रकार की कृति करा रहे हैं। जब मैं सात वर्ष की थी और जब मैंने सर्वप्रथम भगवान बुद्ध के दर्शन किए थे उस समय उन्होंने मुझे कुछ उपदेश दिए थे। मैंने अपना सारा जीवन उन उपदेशों के अनुसार चलाया है और अपना आगे का जीवन भी उन्हीं उपदेशों के अनुसार चलाना चाहती हूँ।

मिगारा—(उठकर विशाखा के निकट आ भर्राये हुए स्वर में) बेटी! यहाँ रहते हुए तुझे स्वतन्त्रता·······पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी, उन उपदेशों के अनुसार अपना जीवन चलाने की।

[विशाखा का सिर झुक जाता है। रेणुका और मिगारा एकटक उसकी ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

मिगारा—बोल,···········बोल बेटी!

रेणुका—हाँ, जिस प्रकार भी तू अपना जीवन चलाना चाहेगी उस प्रकार चलाने के लिए तू सर्वथा स्वतन्त्र रहेगी।

विशाखा—(दीर्घ निःश्वास छोड़ कर) पिता जी, जो वचन आप दे रहे हैं, उनका निभाना सरल न होगा।

मिगारा—यदि, मैं अपने वचनों को न निभाऊँ तो तू यही कर सकती है जो इस समय करने जा रही है।

विशाखा—पिता जी, भगवान बुद्ध ने मुझ से कहा था सच्ची वीर बाला बनना, सच्ची वीरता आन्तरिक वीरता है, इस आन्तरिक वीरता वाला व्यक्ति सुख, दुःख की चिन्ता न कर सत् सिद्धान्तों पर हर परिस्थिति में अडिग रहता है। इन सत् सिद्धान्तों का भी उन्होंने विवेचन किया था जो उनके उस उपदेश के पश्चात मैं भी सतत् करती हूँ, इस परिस्थिति में उनमें से कुछ सिद्धान्त हैं, समदृष्टि और सहिष्णुता। आप को पुरुषों और स्त्रियों को समदृष्टि से देखना होगा। जितना अधिकार इस गृह में आपका और (पुण्यवर्धन की ओर संकेत कर) इनका है, उतना ही माता जी का और मेरा रहेगा, जितनी भक्ति आपकी जैन धर्म पर है, उतनी ही मेरी बौद्ध धर्म पर है। मैं यह नहीं कहती कि आप बौद्ध हो जाएँ, पर बौद्ध धर्म के प्रति आपको वैसी ही सहिष्णुता रखनी होगी जैसी मेरी जैन धर्म के प्रति है। यदि इस घर में महावीर स्वामी का स्वागत और आदर होता है तो भगवान गौतम बुद्ध का भी होगा और······और ऐसे असहिष्णु, असभ्य व्यक्तियों का यहाँ कोई स्थान न रहेगा, जैसा असहिष्णु और असभ्य व्यक्ति मैंने कल संध्या को आपके उद्यान के प्रीति-भोज में देखा था।

मिगारा—(आँखों में आँसू भर गद्गद् स्वर से) ऐसा·····ऐसा ही होगा बेटी। और·····और मैं तुझे पुत्र-वधू न मानकर अपनी माता के सदृश मानूँगा।

[नेपथ्य में गान होता है]

हे वीतराग, हे वीत शोक
त्रिविध ताप-तम, घोर निशा में, मोह मुग्ध यह लुब्ध लोक।
विकच वासना चिर अतृप्तिमय, जरा, मरण, अवसार सतत भय,
जगती के इस ज्वलित वृक्ष पर, शप्त नम मानेव विलोक॥
अति दया द्रवित अन्तर उदार, झरती करुणा की सतत धार,
सरल स्निग्ध नयनों से उद्गत् शान्ति शान्ति का नवालोक॥
विगत रजस्तम, मानस निर्मल, अनुबिम्बित सत्चित् धन उज्ज्वल,
शुद्ध-बुद्ध जागे जन जीवन, हो कृतार्थ यह मर्त्य लोक॥

उपसंहार

स्थान—मिगारा का उद्यान

समय—सन्ध्या

[वसन्त के कारण उद्यान पुष्पों से भरा हुआ है, इनमें पीत रंग के पुष्प अधिक हैं। भगवान गौतम बुद्ध के स्वागतार्थ उद्यान पीत पताकाओं से सजाया गया है। एक ऊँचे स्वर्ण के सिंहासन पर जिस पर पीले रंग के वस्त्रों से ढकी हुई गद्दी बिछी है और तकिए लगे हैं, गौतम बुद्ध विराजमान हैं। उनके चारों ओर भिक्षुओं का जमघट है जो पीत रंग के चीवर पहने हैं। उनके सिंहासन के निकट ही पीले रंग की साड़ी पहने विशाखा बैठी हुई है।]

बुद्ध—प्रमाद से मुक्त को अमृतपद की प्राप्ति होती है और प्रमाद से युक्त को मृत्यु की। जो प्रमाद रहित हैं, वे नहीं मरते और प्रमादी मरे के ही समान हैं। जिस प्रकार तीर बनाने वाला तीर को सीधा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान अपने उस मन को सीधा करता है जो हिलता

है, चपल है। कोई सुगन्ध चाहे वह चन्दन की हो, अगर की, मल्लिका की, वायु से उल्टी ओर नहीं जाती, परन्तु, सत्पुरुषों की सुगन्ध पवन के प्रवाह के विपरीत भी चलती है। मार्ग में जाते हुए तुम्हें अपने से अच्छा या अपने समान साथी न मिले तो अकेले ही चलो। उपासना का मल अनभ्यास है। घर का मल उसकी अरक्षा है, सौंदर्य का मल आलस्य है, संरक्षक का मल प्रमाद है, स्त्री का मल दुश्चरित्र है, दानी का मल मत्सर है। पापयुक्त कर्म लोक और परलोक दोनों का मल है और इन सब मलों से बड़ा मल अविद्या है। मलों को त्याग निर्मल बनो।

[बुद्ध चुप हो जाते हैं, चारों ओर से [illegible] शब्द होते हैं।]

बहुजन हिताय
बहुजन सुखाय
बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

[यवनिका]

समाप्त

●

संध्या की वेला—(पृष्ठ २१ का शेषांश)

क्या उसके लिए कम आनन्द की बात है? साथ ही उसने यह इरादा कर लिया कि इस बात को कभी किसी से नहीं कहूँगा।

दूसरे दिन चिन्नप्पन को ज़ोर का बुखार हो आया। तीन-दिन तक उसे अपनी सुधि तक नहीं रही और उस हालत में तरह-तरह की बातें बकता रहा।

"अरी शेंगमलम। तेरे बाप को मैंने ही बचाया है। तू जानती है कि किसने बचाया? मैंने ही, मैंने ही···। अरी, तू मुझे ब्याहेगी नहीं···? नहीं? शेंगमलम।···"

ज्वर की तीव्रता के अनुसार उसका यह बकना भी बढ़ता रहा। तीन-चार दिनों के बाद बुखार का जोर कम हुआ और चिन्नप्पन थोड़ा स्वस्थ होकर गाढ़ी नींद सो रहा था। तब भी वह शेंगमलम का ही सपना देख रहा था। न जाने, स्वप्न और जागृति की सन्धि में उसका अन्तरमन कब घुमा हो। वह बोल उठा—शेंगमलम! तू···तू कहाँ है? रहती कहाँ है? आ गई?···"

"हाँ, आ गई हूँ। अजी। इधर···इधर ही हूँ।"

चिन्नप्पन हड़बड़ाकर उठा और आँखें मल मलकर उसने देखा। सपना नहीं, भ्रम नहीं, भूल-भुलैयाँ नहीं! शेंगमलम—वही उसकी रूठी रानी—खाट के पास साक्षात् खड़ी हुई थी।

"अजी। तुम···तुम···?"

"हाँ-हाँ। मैं ही हूँ, शेंगमलम। अपने दिल को बोझीला मत बनाओ। निश्चिन्त होकर सोओ। सब ठीक हो जाएगा।" अपनी प्राण-प्यारी का यह मधुर कोमल स्वर कानों में पड़ते ही चिन्नप्पन को लगा कि अमृतमयी औषधि मिल गई है और मैं पूरी तरह स्वस्थ हो गया हूँ।

पास ही खड़ा मुत्तु करुप्पन सजल नेत्रों से उसे देख रहा था। उसकी नींद टूटती देख मुत्तु करुप्पन ने गद्गद होकर कहा—"भाई चिन्नप्पन। अब बड़े घर का बेटा मैं नहीं रहा, तुम ही, उसके लायक हो। घर के बूढ़े मालिक को तुम्हीं ने बचाया है। आज तुम्हीं हमारे बड़े घर के बेटे हो?"

चिन्नप्पन अप्रत्याशित आनन्द और विस्मय के संवेदन के भार से थक-सा गया और उसकी आँखें पुनः नींद से मुँद गई।

बिछुड़े मन फिर से जुड़ गए। दोनों घर वालों की आत्मीयता और निकटता को दृढ़ करने का शुभ मुहूर्त अगले महीने में ही आ गया। चिन्नप्पन और शेंगमलम को नव दम्पती के रूप में देखकर सारा गाँव बहुत प्रसन्न हुआ।

चिन्नप्पन की गृहलक्ष्मी शेंगमलम आज इस घर में, इस सन्ध्या की वेला में भव्य आभा बिखेरने वाला मंगल-दीप देवता के सामने रखकर गई है। अभी थोड़ी देर में मुत्तु करुप्पन आने वाला है। उसको यह तय करना था कि इस साल कौन-सा नाटक खेला जाए। निर्णय करने वाला चिन्नप्पन है।

"इस साल 'नृसिंहावतार' का नाटक ही खेलना है। नृसिंह मूर्त्ति के अवतार का प्रतीक है। वह भयंकर सन्ध्या की वेला में भक्तवर प्रह्लाद को अपने वरद पाणि से स्पर्श की याद दिलाती है।"

सन्ध्या की उस मोहक वेला में, चिन्नप्पन अपना निर्णय बताने के लिए मित्रवर मुत्तु करुप्पन की प्रतीक्षा कर रहा था।

—अनुवादक र० शौरिराजन

मत्स्याः यथान्तः सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः॥

कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ६

जिस तरह यह पता लगाना अशक्य है कि पानी में रहती हुई मछली कब पानी पी लेती है, उसी तरह धन के लेनदेन में नियुक्त राजकर्मचारी कब रिश्वत ले लेते हैं, यह पता लगा सकना भी अशक्य हो जाता है।

ओलिम्पिक खेल

हरिश्चन्द्र कैला

खेल-जगत में क्रिकेट के अन्तर्राष्ट्रीय मैच होते हैं। विम्बलडन और डेविस कप जैसी टेनिस प्रतियोगिताएँ चलती हैं। फुटबाल में ज्यूल्ज़े रेमिट कप खेला जाता है। लेकिन इनमें से कोई भी प्रतियोगिता विश्व ओलिम्पियड के (जो कि हर चौथे वर्ष होती है) विराट स्वरूप अथवा उसकी विशालता को नहीं पहुँचती। इन खेलों का कब और किस देश में प्रादुर्भाव हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके बारे में कई धारणाएँ हैं, लेकिन सभी इतिहासज्ञ इस बात पर एकमत हैं कि ऐसे खेलों का आयोजन सर्वप्रथम ७७६ बी० सी० में हुआ। इन खेलों का रूप भी किसी हद तक निश्चित किया जा सकता है। कहा जाता है कि ये खेल उसी नमूने पर हैं जिस नमूने पर इनमें भी पुराने काल में पर्व-सम्बन्धी प्रतियोगिताएँ चलती थीं। इन प्रतियोगिताओं को आकार यूनान के एक प्रसिद्ध व्यक्ति महर्षि डेल्फिक द्वारा मिला। उसने देखा देश छोटी-छोटी रियासतों में बँट गया है, राजे-महाराजे स्वतन्त्र रूप से शासन चलाते हैं और आपस में लड़ते-भिड़ते हैं। उनमें पारस्परिक मैत्री बढ़ाने का एक ही उपाय है—उनको एक ही अखाड़े में लाया जाए। उसने सुझाव दिया कि एक विशेष स्थान पर समारोह हो। हरेक रियासत अपने सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए भेजे और जो व्यक्ति उनमें से प्रथम स्थान पाए, उसे हेलास (उन दिनों यूनान का नाम हेलास था) का सर्वोत्तम पुरुष माना जाए। इस सुझाव को सब ने स्वीकार किया और नरेशों ने प्रतियोगिता में अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने शुरू कर दिए। स्थान ओलिम्पस का पर्वत निश्चित हुआ। इसका एक विशेष कारण था। यूनानियों के धार्मिक विचारों के अनुसार वहाँ देवता वास करते हैं, इसलिए यूनानियों को विश्वास था कि उन्हें उनका आशीर्वाद आप हो आप मिल जाएगा।

लेकिन प्राचीन काल की यूनान की वे प्रतियोगिताएँ आज की प्रतियोगिताओं से भिन्न थीं। उसमें कुदान, लम्बी अथवा छोटी दौड़ें, मुक्केबाज़ी और कुश्तियों के ही मुकाबले नहीं चलते थे, बल्कि कला, कविता, शिल्प कला, और राजनीतिक सूझ इत्यादि की प्रतियोगिताएँ भी रहती थीं। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सांस्कृतिक विषयों का महत्त्व कम होता गया और अन्ततः उनका बिल्कुल ही लोप हो गया। प्राचीन प्रतियोगिताओं के लिए नियम बहुत कड़े होते थे। प्रत्येक प्रतियोगी के लिए चरित्रवान और स्वतन्त्र यूनानी होना लाज़मी था। प्रतियोगिता में भाग लेने का अवसर मिलना गौरव और सम्मान की बात मानी जाती थी। प्रथम आने वाले को उपहार के रूप में जैतून का हार दिया जाता था।

इस सम्बन्ध में एक और बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। उस समय प्रतियोगिताओं में नारी भाग नहीं ले सकती थी—भाग ही क्या उन्हें देख भी नहीं सकती थी। इसके सम्बन्ध में नियम तक बना दिया गया था। लेकिन जहाँ-तहाँ नियम की अवहेलना होने लगी। कई एक तो खेलों को सुराखों इत्यादि से झाँक कर देख लेतीं अथवा कोई और युक्ति निकाल लेतीं। इस अभियोग में कुछ को मौत की सज़ा भी हुई। प्राचीन काल के यूनानी धार्मिक समारोहों में नारी की उपस्थिति को बुरा समझते थे, और इन खेलों का धार्मिक समारोहों सरीखा ही महत्त्व था। एक दिलचस्प घटना इस प्रकार प्रसिद्ध है। मुक्केबाज़ पी० सी० डोरस की माता फेरिनिस अपने लड़के का खेल देखने के लिए इतनी उतावली हो गई कि मर्द के वेश में स्टेडियम में जा घुसी। जब यह घोषित किया गया कि उसका लड़का किसी विशेष प्रतियोगिता में प्रथम आया है तो वह अपनी खुशी को दबा न सकी, दीवाने की तरह उसकी तरफ भागी और उसका आलिंगन कर लिया। लेकिन वेशभूषा की कोई वस्तु गिर जाने से सारा भेद खुल गया। पकड़ी गई और पूछताछ हुई। उसने मातृस्नेह का सहारा लेकर क्षमा-याचना की। अधिकारियों ने उसे छोड़ दिया। इससे समस्त नारी जाति का हित हुआ। कुछ समय के बाद नारियों को खेल देखने की इजाज़त मिल गई। बाद में उन्होंने अपने पृथक खेल चला लिए। ये खेल होते तो हर चौथे वर्ष थे, लेकिन उस वर्ष में नहीं जिसमें मर्दों के खेल होते थे। इन खेलों का नाम हेरिया था और इनकी स्थापना हिप्पो-डी-मैया द्वारा हुई।

खेलों के प्रारम्भिक काल में प्रतियोगी लंगोट बाँधते थे लेकिन ७२० बी० सी० में इसका भी त्याग करना पड़ा। इसके पीछे एक रोचक कहानी है। ओरसीपस नामक एक एथलीट की (जिसकी एक विशेष दौड़ में जीत की तनिक-भी सम्भावना नहीं थी) भागने में लंगोटी खुल गई। इससे शायद वह हल्का हो गया और ऐसी तेज़ी से भागा कि प्रथम आया। इसके फलस्वरूप नियम को ही बदलना पड़ा। कई वर्षों तक यूनानियों ने प्रकृति के ही वेश में भाग लिया।

इन खेलों को जो रूप यूनानियों द्वारा मिला १,२०० वर्षों तक जीवित रहा। ३६४ में इनका लोप हो गया और फिर लगभग १,६०० वर्षों तक ये बिल्कुल उपेक्षित रहे। लेकिन सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में फिर पुनर्जन्म के चिह्न दिखाई देने लगे। सन् १८१७ में इंग्लैंड में इन खेलों का पहला क्लब बना और सन् १८६६ में समस्त इंग्लैंड की पहली प्रतियोगिता शुरू हुई। फिर सन् १८६८ में अमेरिका में और इसके ६ वर्ष बाद जर्मनी में इनका श्रीगणेश हुआ।

लेकिन आधुनिक युग की सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तिथि सन् १८९६ है। इसी वर्ष फ्रांस के प्रसिद्ध शिक्षक बेरिन पीयर डी० कूबटन के कई वर्षों के अनवरत प्रयास के बाद इन खेलों का आयोजन विश्व स्तर पर किया गया। चूंकि सबसे पहले ये खेल यूनान में हुए थे

इसलिए उसी देश की राजधानी एथेन्स को ही पहली विश्व-ओलिम्पियड के लिए चुना गया। कूबर्टन ने इन खेलों को नया आदर्श-वाक्य भी दिया जो इस प्रकार है : "ओलिम्पिक खेलों में महत्त्वपूर्ण बातचीत नहीं बल्कि उनमें भाग लेना है। जीवन में महत्त्वपूर्ण बात विजय नहीं, बल्कि जीवन से जूझना है। मूल बात विजय प्राप्त करना नहीं बल्कि ईमानदारी से संघर्ष करना है।"

इन खेलों के विषय में कई और बातें भी जानने योग्य हैं। पहली तो यह कि ये खेल किसी देश को नहीं मिलते। बल्कि विश्व के किसी प्रमुख शहर को मिलते हैं। उदाहरण के लिए सन् १९४८ के खेल लन्दन के ओलिम्पियड कहलाते हैं, इंग्लैंड के नहीं। सन् १९३६ के खेल बर्लिन के खेल थे, जर्मनी के नहीं। इसी तरह सन् १९५२ के खेल हेलसिन्की समारोह के नाम से प्रसिद्ध हुए, फिनलैंड के नाम से नहीं। इस क्रम के सर्वप्रथम खेल एथेन्स के खेल थे, यूनान के नहीं।

दूसरी बात यह है कि इन खेलों में राष्ट्र भाग नहीं लेता, बल्कि व्यक्ति अनधिकृत ढंग से ऐसा जरूर बता दिया जाता है कि किसी देश विशेष ने कितने अंक अर्जित किए या किसी विशेष खेल में किस देश की टीम जीती। लेकिन इससे परे इसका कोई महत्त्व नहीं। शायद यही कारण है कि जैसा सुहृदयता (स्पोर्ट्समैनशिप) का स्तर इन ओलिम्पियड में दृष्टिगोचर होता है विश्व के किसी अन्य सम्मेलन में नहीं होता।

ओलिम्पिक वल्लरी में समय की गति के साथ-साथ पुष्प लगते गए हैं। सन् १९२४ में पहली बार विन्टर गेम्स यानी बर्फ पर खेले जाने वाले खेलों का आयोजन हुआ और आज ये बड़े समारोह का अनिवार्य अंग बन गए हैं। सन् १९५१ में एक और कदम भी उठाया गया। इसका श्रेय भारत को है। नई दिल्ली के विशाल नेशनल स्टेडियम में मार्च के महीने में एशियन गेम्स (एशियड) का आयोजन किया गया। इस समारोह को एशिया की ओलिम्पियड कहा जा सकता है। इसमें ग्यारह देशों ने भाग लिया और सात दिन तक कार्यक्रम चलता रहा। ये खेल भी हर चौथे वर्ष होते हैं। इस क्रम की दूसरी प्रतियोगिता मनीला में सन् १९५४ में हुई। लेकिन इससे पहले एक और कदम भी उठाया जा चुका था। दुर्भाग्य से बहुत से लोगों का ध्यान इसकी तरफ आकर्षित नहीं हुआ। इन खेलों का नाम है "लिंगियड"। लिंगियड सन् १९४८ में स्टाकहाम में हुई। इसके तत्त्वावधान में पुरातन के तीरन्दाज़ी, योगासन और तलवार इत्यादि चलाने के मुकाबले हुए। जैसी कि आशा की जाती थी भारत के प्रतिनिधियों ने इसमें बहुत नाम कमाया। इन खेलों को ओलिम्पियड का ही एक रूप मानना चाहिए। ओलिम्पिक खेल जितने दिन चलते हैं, ज्योति जलती रहती है। ज्योति इन खेलों का प्रतीक है। खेलों से कुछ मास पूर्व इसे यूनान के एक ऐतिहासिक मन्दिर में प्रज्वलित किया जाता है और इसके बाद एक निश्चित मार्ग से इसे खेल स्थान तक लाया जाता है। हेलसिन्की में ओलिम्पिक ज्योति जलाने का काम फिनलैंड के विश्व प्रसिद्ध एथलीट पावो नूरमी ने किया। यह शुभ कार्य किसी वयोवृद्ध एथलीट को ही सौंपा जाता है। एशियन गेम्स के समय ज्योति भारत के पुराने एथलीट मेजर दिलीपसिंह ने जलाई थी।

ओलिम्पिक खेल विश्व में कुछ ऐसे प्रवेश कर गए हैं जैसे धमनियों में रक्त। किसी देश अथवा महाद्वीप की प्रतियोगिता तो एक तरफ रही छोटे से छोटे स्कूल का एथलेटिक समारोह भी इसी का ही एक रूप है। विश्वविद्यालयों, जिलों, नगरों, सरकारी महकमों आदि के खेल इसी का एक रूप हैं। इनमें से प्रत्येक के अपने रिकार्ड होते हैं जिनका लेखा-जोखा रखा जाता है। सर्वोच्च स्तर पर रिकार्ड दो प्रकार के होते हैं—विश्व के रिकार्ड और ओलिम्पिक के रिकार्ड। इन दोनों में विशेष अन्तर है यद्यपि जनसाधारण को ये एक ही प्रतीत होते हैं। ओलिम्पिक के रिकार्ड वे हैं जो किसी विश्व ओलिम्पियड के दौरान में स्थापित हों, विश्व के रिकार्ड केवल किसी ओलिम्पियड में ही नहीं और स्थान पर भी स्थापित हो सकते हैं। यद्यपि कई एक ओलिम्पिक के रिकार्ड साथ ही साथ विश्व के रिकार्ड भी हैं। बहुत से विश्व के रिकार्ड भिन्न भी हैं।

किसी विश्व-रिकार्ड के स्थापित होते ही उसे स्वीकृति नहीं मिल जाती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय एमेच्योर एथलेटिक फेडरेशन को भेजा जाता है। इस संस्था के अधिकारी (जो कि कई देशों से होते हैं) कई प्रकार की जाँच-पड़ताल करते हैं। वे देखते हैं कि उस समय हवा तो ज्यादा नहीं चल रही थी, हवा आदमी की गति को बढ़ा देती है जमीन में ऊँच-नीच तो नहीं थी, प्रतियोगिता का स्तर कैसा था आदि। इन खेलों के बारे में एक और कड़ा नियम भी है। कोई भी एथलीट प्रतियोगिता से पहले किसी ऐसी चीज़ का सेवन नहीं कर सकता जिससे उसकी क्षमता में अनुचित वृद्धि हो जाए। काफी, चाय, कोको इत्यादि का सेवन तो वर्जित नहीं। लेकिन किसी रसायन अथवा नशीली चीज़ का (जो कि रसायन का काम दे) प्रयोग वर्जित है।

वैसे तो ओलिम्पिक खेलों में मुक्केबाजी, हॉकी, बासकेट बाल, तैराकी, घुड़सवारी, निशानेबाज़ी, कुश्तियाँ, बोझा उठाना और तलवार चलाने जैसी दर्जनों प्रतियोगिताएँ सम्मिलित होती हैं लेकिन इनमें सब से महत्त्वपूर्ण स्थान केवल फील्ड और ट्रेक प्रतियोगिताओं का है। फील्ड की प्रतियोगिताओं के अन्तर्गत लौंग या ब्रौड जम्प, यानी लम्बी से लम्बी कुदान, हाप स्टैप जम्प यानी एक कुदान के बाद एक कदम लेकर दूसरी छलाँग लगाना, हाई जम्प, यानी ऊँची से ऊँची कुदान, पटिंग दी शेट यानी गोला फेंकना, डिसकस थ्रो यानी लोहे से मढ़े चप्पड़ी के आकार के एक यंत्र को फेंकना, भाला फेंकना, पोल वाल्ट (लम्बे बाँस के सहारे ऊँची से ऊँची कुदान लगाना) और हैमर थ्रो आते हैं। ट्रेक प्रतियोगिताओं में कई प्रकार की लम्बी और छोटी दौड़ें सम्मिलित हैं।

ओलिम्पिक के अन्तर्गत होने वाली दौड़ों को सुविधा के लिए श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है। जो एथलीट सौ गज़ या सौ मीटर दो सौ मीटर तक की दौड़ों में भाग लेते हैं स्प्रिंटर्स कहलाते हैं। मिडिल डिस्टेंस ग्रूप में सब ऐसे एथलीट आते हैं जो ४०० से २०० मीटर तक की दौड़ों में भाग लेते हैं और माइलर्स वे होते हैं जो कि १,५०० मीटर अथवा एक मील की दौड़ के विशेषज्ञ होते हैं। माइलर्स के बाद 'डिस्टेंस मैन' आते हैं। ये दो मील से पाँच मील

तक की दौड़ों में भाग लेते हैं। मेराथन दौड़ (२६ मील ३८५ गज़ की दौड़) एक अलग श्रेणी की दौड़ है। हर्डल्स दौड़ में लकड़ी के बने स्टैंडों को फाँदना पड़ता है और स्टीपलचेज़ में कुछ बाधाओं की व्यवस्था होती है। इससे ये दौड़ें दिलचस्प बन जाती हैं। उदाहरण के तौर पर स्टीपलचेज़ में दौड़ने वाले को हर्डल्स फाँदनी पड़ती हैं और पानी में से गुज़रना पड़ता है। इनके अतिरिक्त रिले रेस भी होती है। इसमें टीम के चार सर्वश्रेष्ठ दौड़ने वाले भाग लेते हैं। एक बेटन (डंडे) का प्रयोग होता है, जिसे निश्चित दूरी के बाद पहला व्यक्ति दूसरे को थमा देता है, दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को। आपने पत्रों में देखा होगा कि रिले रेस का नाम देते समय सीधा ४०० मीटर नहीं लिखा जाता बल्कि ४×१०० मीटर। इसका अर्थ यह है कि चार व्यक्ति मिलकर १००, १०० मीटर भागें।

इन्हीं खेलों के आधार पर दो नई प्रतियोगिताओं का भी निर्माण हुआ है। इनके नाम हैं पेन्टेथलान (पाँच खेलों की प्रतियोगिता) और डिकेलान (१० खेलों की प्रतियोगिता) पहली एक दिन तक चलती है और दूसरी दो दिन तक। पेन्टेथलान का रूप तो काफी बदल गया है। डिकेथलान में इस बात का निर्णय होता है कि सामूहिक क्षमता की दृष्टि से कौन-सा एथलीट सब से अच्छा है।

नारियाँ तो इनी-गिनी प्रतियोगिताओं में भाग लेती हैं। वे लम्बी दौड़ों और स्टीपलचेज़ में भाग नहीं लेतीं। और उनको अपनी पेन्टेथलान और डिकेथलान भी नहीं होती। हाँ, वे सब छोटी दौड़ों में भाग लेती हैं। और हर्डल्स और रिले रेस में भी। उनके लिए हर्डल्स की ऊँचाई ज़रा कम होती है। इसके अलावा वे गोला फेंकती हैं, भाला फेंकती हैं, डिसकस फेंकती हैं और लम्बी और ऊँची छलाँगों में भाग लेती हैं।

यहाँ कुछ विश्व-विख्यात एथलीटों का भी नाम देना जरूरी है। विश्व के सब से ज़्यादा प्रख्यात एथलीट (विशेष करके लम्बी दौड़ों में) फिनलैंड के पावो नूरमी माने जाते हैं। उनको फ्लाइंग फिन का नाम भी दिया गया है। उसी देश के रिटोला भी उन्हीं के आस-पास स्थान पाते हैं। प्रतीत होता है फिनलैंड के एथलीट लम्बी दौड़ों में अधिक दक्ष हैं। नूरमी के अलावा और भी बहुत से एथलीट हैं जो अपनी अमिट छाप छोड़ गए हैं। अमेरिका के जिम थोर्प तो सन् १९१२ में पेन्टेथलान और डिकेथलान दोनों में प्रथम आए। लेकिन चूँकि वह पेशेवर ड़ी की हैसियत से बेसबाल खेल चुके थे उन्हें पदक नहीं दिए गए। विश्व-ओलिम्पियड में प्रोफेशनल भाग नहीं ले सकता। इनके अलावा और भी बहुत से नाम हैं। ग्लैन कनिंघम, कार्नीलियस, वारमर्डम, मिलिड्र डिड्क्सिन, ज़हारियस, चार्ल्स पैडक, और गंडर हेग के नाम आपको बार-बार ओलिम्पिक-सम्बन्धी पुस्तकों के पन्नों में दृष्टिगोचर होंगे।

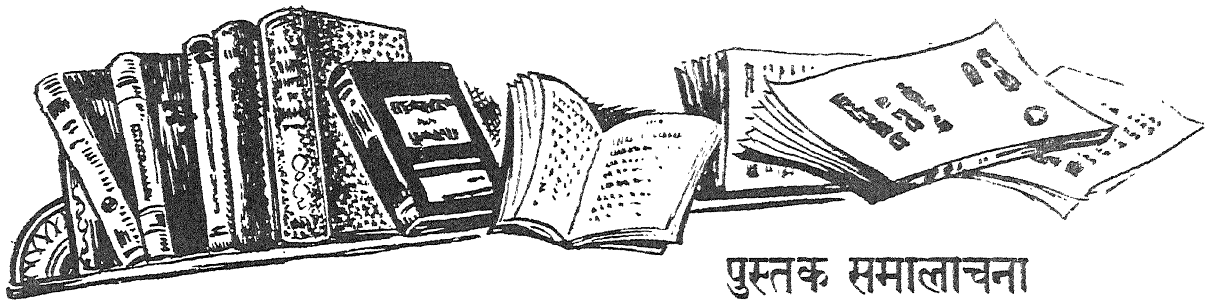
सन् १९५२ की ओलिम्पियड में चैकोस्लोवाकिया के एमिल ज़ेटोपिट का प्रदर्शन भी इतना ही अच्छा हुआ जितना ओलिम्पिक इतिहास में किसी भी अन्य एथलीट का। वह लम्बी दौड़ों के विशेषज्ञ हैं। नूरमी को "फ्लाइंग फिन" का नाम मिला था, इनको ह्यूमन लोकोमोटिव अथवा पुरुष रूपी इंजन का। चतुर्मुखी क्षमता में अमेरिका के बोब मैथियास भी कमाल दिखा रहे हैं। सत्तर वर्ष की आयु में पहली बार लन्दन में डिकेथलान की प्रतियोगिता जीते, और चार वर्ष बाद (हेलसिनकी) की। अमेरिका के वह सर्वश्रेष्ठ एथलीट माने जाते हैं। ओलिम्पिक इतिहास में ऐसे एथलीट कम ही हुए हैं।

जैसे पुरुषों के क्षेत्र में उपर्युक्त एथलीटों का विशेष स्थान है, वैसे ही नारियों के क्षेत्र में भी कई एक का अपना स्थान है। आज तक सबसे ज़्यादा नाम हालैंड की फैनी ब्लेंकर्ज़ कोइन ने कमाया है। वह सन् १९४८ की लन्दन की ओलिम्पियड में तीन प्रतियोगिताओं (१०० मीटर की दौड़, २०० मीटर की दौड़ और ८० मीटर की हर्डल्स) में प्रथम आई। विगत ओलिम्पियड में आस्ट्रेलिया की एक टाइपिस्ट लड़की मारजोरी जैक्सन सबसे ज़्यादा चमकी। वह दो प्रतियोगिताओं (१०० मीटर की दौड़ और २०० मीटर की दौड़) में प्रथम आई। दूसरी प्रतियोगिता का तो उनका विश्व का रिकार्ड है।

औरतों ने प्रथम बार सन् १९२८ की ओलिम्पियड में प्रवेश किया।

यदि आप ओलिम्पिक के आँकड़ों पर दृष्टि डालें तो आपको पता चलेगा कि रिकार्डों में दिनों-दिन वृद्धि हो रही है। कई पुराने रिकार्ड देख कर आज हँसी आती है। सन् १८९६ में १०० मीटर की दूरी को यदि प्रथम आने वाले दौड़ाक टी० ई० बर्क ने १२ सैकण्ड में तय किया था, तो आज औरतें भी इस दूरी को १२ सैकण्ड से कम समय में तय कर लेती हैं। सन् १९१२ में लम्बी से लम्बी छलाँग २० फुट १० इंच थी तो आज दर्जनों एथलीट इससे ऊपर जाते हैं। आज का पुरुष ६० वर्ष पूर्व के पुरुष से ज़्यादा स्वस्थ है यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन निश्चित ही वह समझ से ज़्यादा काम लेता है। आज के एथलीट की टेकनीक निश्चय ही बेहतर है। वह वैज्ञानिक ढंग से अभ्यास करता है। शक्ति बढ़ाने या कायम रखने के लिए कई प्रकार की मालिशें करवाता है। प्रगतिशील देशों में उसे एलेक्ट्रिक ट्रीटमैंट (बिजली के प्रयोग द्वारा स्वास्थ्य में वृद्धि) की भी सुविधा है। इसके अलावा उसे कई प्रकार का परामर्श अथवा निर्देशन भी मिलता है।

वैसे तो किसी भी देश में अच्छी से अच्छी क्षमता वाला एथलीट पैदा हो सकता है। लेकिन कई-कई देशों ने किसी विशेष क्षेत्र में असाधारण प्रगति दिखाई है। छोटी दौड़ों में सामान्यतः अमेरिका सबसे आगे है। वहाँ के नीग्रोज़ का उस देश का स्तर ऊँचा करने में बहुत हाथ है। जैसी ओवन्ज़ और हैरीसन डिलर्ड दोनों नीग्रो हैं। रूसी जिनको विगत ओलिम्पियड में द्वितीय स्थान मिला फील्ड और ट्रेक प्रतियोगिताओं की अपेक्षा मुक्केबाज़ी, कुश्तियों और बोझा उठाने में ज़्यादा दक्ष हैं। फिनलैंड के एथलीट जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है लम्बी दौड़ों के विशेषज्ञ रहे हैं। जापानी तैराकी में कमाल दिखाते रहे हैं यद्यपि अब उस क्षेत्र में प्रतिभा बिखर चुकी है। स्वीडन, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, फ्रांस और इंग्लैंड ने भी अच्छे-अच्छे एथलीट पैदा किए हैं। सामान्य रूप से पश्चिम पूर्व से आगे है।



पुस्तक समालोचना

अमिता (मौलिक उपन्यास) :, लेखक—यशपाल; प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ; पृष्ठ संख्या—बड़े आकार के २३८; मूल्य ४) रु० सजिल्द।

उपन्यास की कल्पना इस प्रकार है—सम्राट अशोक ने कलिंग पर कितने ही आक्रमण किए थे। एक आक्रमण में कलिंगराज की मृत्यु हो गई और महारानी की छत्रछाया में कलिंग के प्रधान मन्त्री कलिंग को अशोक के अगले आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार करने लगे। कलिंगराज की एकमात्र सन्तान अमिता अभी केवल ६ वर्ष की बालिका थी। महारानी बौद्ध प्रभाव में आकर युद्धों के विरुद्ध हो गईं, तो प्रधान मन्त्री ने उन्हें एक किले में कैद कर दिया और बालिका राजकुमारी का राज्याभिषेक कर दिया। अपनी पालिका दासी हिता की देख-रेख में बालिका महारानी अमिता की बाल लीलाओं का काफ़ी विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है। अन्त में अशोक के आक्रमण से कलिंग का पतन हो गया और महामन्त्री बालिका महारानी को कलिंग से भगा ले जाने में सफल नहीं हो पाए। अपनी माता से अमिता को निरन्तर यह शिक्षा मिली थी—"किसी को डरना नहीं चाहिए, किसी से कुछ छीनना नहीं चाहिए, किसी को मारना नहीं चाहिए।" नाटकीय परिस्थितियों में बालिका महारानी सम्राट अशोक को भी यही आदेश देती है और लाखों हत्याओं का ज़िम्मेवार सम्राट अशोक निर्भीक बालिका की उक्त नसीहतों से इतना प्रभावित होता है कि वह हिंसा न करने का निश्चय कर लेता है।

स्पष्ट है कि अशोक का नाम रहते भी इस उपन्यास को ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अशोक को छोड़ कर उपन्यास के सभी पात्र एकदम काल्पनिक हैं और उपन्यास की सभी घटनाएँ, यहाँ तक कि अशोक के विचार-परिवर्तन की घटना भी, पूरी तरह कल्पना पर आश्रित हैं। उपन्यास का चरमबिन्दु उपन्यास के अन्त में है, जहाँ कलिंग की ६ वर्षीय महारानी परमप्रतापी सम्राट अशोक से ज़रा भी भयभीत न होकर सहज स्वाभाविक ढँग से उन्हें आदेश देने लगती है। यह चरम बिन्दु मनोरंजक और प्रभावशाली अवश्य है, पर उपन्यासकार इसके द्वारा अशोक के मानसिक-कल्प का औचित्य सिद्ध नहीं कर पाया।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब 'अमिता' पूर्णरूप से काल्पनिक उपन्यास है तो ऐतिहासिक भित्ति पर उसका निर्माण करने की क्या आवश्यकता थी। लेखक सम्भवतः भारत के इस स्वर्ण-युग (मौर्य साम्राज्य) के साधारण सामाजिक जीवन का चित्र उपस्थित करना चाहता हो, और उसके द्वारा परोक्ष तथा प्रतीक रूप से कितनी ही बातें कहने में उसे सुविधा प्रतीत हुई हो। यदि ऐसा है, तब भी जहाँ तक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मौर्यकालीन समाज-व्यवस्था का सम्बन्ध है, लेखक को इस कार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त नहीं हुई। तत्कालीन दास-प्रथा, वाणिज्य, यातायात, दास-दासी-निग्रह आदि का यथेष्ट मनोरंजक वर्णन 'अमिता' में है, पर यह चित्र स्पष्टतः एकांगी है। राखालदास वन्द्योपाध्याय के गुप्तकालीन पृष्ठभूमि वाले उपन्यासों का वातावरण 'अमिता' की अपेक्षा कहीं अधिक ऐतिहासिक है। पर यशपाल मानते हैं कि 'अमिता' ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

दूसरा दृष्टिकोण तत्कालीन वातावरण में प्रतीक रूप से अपने विचारों की अभिव्यक्ति हो सकता है। 'अमिता' में उस युग के समाज की कितनी ही मान्यताओं का शिष्ट ढंग से मज़ाक उड़ाया गया है। राजसत्ता की संस्था पर बहुत चुभता हुआ व्यंग्य इस उपन्यास में है। उस युग की धार्मिक धारणाओं और अन्धविश्वासों का भी अच्छा-खासा मनोरंजक चित्रण 'अमिता' में है। यदि इसी उद्देश्य से यह उपन्यास लिखा गया है, तो निस्सन्देह यशपाल को अपने उद्देश्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है।

परन्तु यशपाल ने 'अमिता' के प्राक्कथन में लिखा है कि "इस उपन्यास का मेरुदण्ड युद्धों द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने अथवा समस्याओं को सुलझाने की नीति की विफलता प्रदर्शित करना है।" इस दृष्टि से मैं 'अमिता' को सफल प्रयास नहीं कहूँगा। उपन्यास के अन्त में अशोक का शिलालेख उद्धृत कर देने से यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता। पूरा उपन्यास पढ़ते हुए पाठक के हृदय में एक बार भी युद्धों के प्रति प्रतिकूलता की भावना उत्पन्न नहीं होती। बल्कि उपन्यास में तो राजमाता की युद्ध-विरोधी धारणाएँ हास्यास्पद प्रतीत होती हैं और पाठक के हृदय पर कलिंग के तेजस्वी महामात्य के युद्ध की तैयारी सम्बन्धी प्रयत्नों का औचित्य अंकित हो जाता है। लेखक ने तो यहाँ तक दर्शाया है कि राजमाता को युद्ध विरोधी आदेश देने वाले महा-स्थविर कलिंग पर मुसीबत आते ही पीत चीवर छोड़ कर राजधानी से भाग खड़े होते हैं।

जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, उपन्यास खूब मनोरंजक है। घटनाओं के वर्णन की शैली श्रेष्ठ और आकर्षक है। परन्तु कथावस्तु की भित्ति मुझे यथेष्ट बलवती प्रतीत नहीं हुई। बालिका महारानी को

लेकर कथावस्तु में कितनी ही कमज़ोरी और एक-आध स्थान पर तो अस्वाभाविकता भी आ गई है। ६ वर्ष की बालिका को अपनी माता से पृथक कर उसका राज्याभिषेक हो जाने के बाद राजमहलों पर महामात्य का नियन्त्रण जितना बढ़ जाना चाहिए, उतना इस उपन्यास में नहीं दिखाया गया। हिता जिस तरह बालिका महारानी को लेकर पशुओं के चेहरे लगाए बालकों के साथ महल से भाग खड़ी होती है, व्यवहार में वह सम्भव नहीं है। जब महल से बाहर आने-जाने पर इतना प्रतिबन्ध था, तब द्वारपाल किसी को जाने-पहचाने बिना द्वार से किस तरह निकल जाने देते, विशेषतः जब हिता के सम्बन्ध में सम्पूर्ण महलवासियों को ज्ञान था कि वह सदा महारानी के साथ रहती है।

'अमिता' की भाषा कुछ क्लिष्ट होते हुए भी अत्यन्त श्रेष्ठ तथा प्रवाहमयी है। उपन्यास पढ़ने में आनन्द आता है। संस्कृतप्रधान शैली में यशपाल का-सा प्रवाह बहुत कम मिलेगा। 'अमिता' में कितने ही वाक्य और भाव-प्रकाशन इतने ऊँचे दर्जे के और कलापूर्ण हैं कि वे समकालीन अत्यन्त श्रेष्ठ और स्थायी हिन्दी साहित्य के भाग बन कर रहेंगे। छापे की भूलें रह गई हैं, जो इस तरह की अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की मौलिक रचनाओं में नहीं रहनी चाहिएँ।

यशपाल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में हैं। मेरी धारणा है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मोह छोड़ कर उन्हें वर्तमान काल की पृष्ठभूमि में अपने उपन्यास लिखने चाहिएँ। यशपाल के पास कहने को बहुत कुछ है और कहने का ढँग उन्हें आता है।

शिवपूजन रचनावली (पहला खण्ड) : लेखक—आचार्य शिवपूजन सहाय; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या बड़े आकार के ४१८; मूल्य ८॥) सजिल्द।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से गम्भीर और श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से पटना की बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का स्थान सर्व-प्रथम है। यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थावलि का प्रथम प्रकाशन है। इस खण्ड में आचार्य शिवपूजन सहाय के ये तीन ग्रन्थ अविकल रूप में संगृहीत हैं—(१) बिहार का बिहार, (२) विभूति (१६ कहानियाँ), तथा (३) देहाती दुनिया (देहात सम्बन्धी उपन्यास)। आचार्य शिवपूजन सहाय हिन्दी जगत् के उज्ज्वल नक्षत्रों में से हैं। उनमें असाधारण विनय है। इस खण्ड की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"पुस्तक का नाम 'ग्रन्थावली' के बदले 'रचनावली' इसलिए रखा गया है कि इसमें कोई ग्रन्थ नहीं है, केवल तीन रचनाएँ ही हैं। रचनाओं में भी कुछ ऐसा महत्त्व है या नहीं कि उनका संग्रह हिन्दी संसार के सामने उपस्थित किया जाए, यह बात हमारे कहने की नहीं है।" इसके बाद उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि परिषद् से कथा-साहित्य प्रकाशित न होने का नियम रहते भी केवल हमारी बीमारी में हमें आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से बिहार सरकार ने हमारी ये रचनाएँ प्रकाशित करने का निश्चय किया।

वर्तमान हिन्दी के इस निर्माणकाल में आचार्य शिवपूजन सहाय की रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है। इस संग्रह की कहानियाँ १९११ से लेकर १९३१ तक लिखी गई हैं और उपन्यास का रचना-काल १९२६ है। हिन्दी कहानी और हिन्दी उपन्यास इन बीते वर्षों में नई ऊँचाई पर पहुँच गए हैं, फिर भी आचार्य शिवपूजन सहाय की उक्त सब रचनाओं का महत्त्व स्थायी है, क्योंकि वे हिन्दी गद्य तथा हिन्दी कथा साहित्य के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के समान हैं। इन बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर राष्ट्रभाषा परिषद् ने अत्यन्त उपयोगी और प्रशंसनीय कार्य किया है।

मध्यदेश : लेखक—धीरेन्द्र वर्मा; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या; १९६ (बड़ा आकार); मूल्य ७) सजिल्द।

'मध्यदेश' नामक इस ग्रन्थ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के ४ व्याख्यानों का संग्रह है, जो उन्होंने बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् में दिए थे। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी प्रदेश की इकाई में विश्वास है और उनका दावा है कि इस ग्रन्थ में "पहली बार हिन्दी प्रदेश अथवा मध्यदेश की इकाई की ओर इतने स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप में हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है।" मध्यदेश की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री को उन्होंने चार कालों में बाँटा है—(१) जनपद युग, (२) साम्राज्य युग, (३) राजवंश युग, और (४) विदेशी संघर्ष युग।

इन व्याख्यानों में किसी तरह की नई ऐतिहासिक खोज का दावा विद्वान लेखक ने नहीं किया। अब तक अन्वेषित और प्रकाशित सामग्री के आधार पर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मध्यदेश की एक स्पष्ट और पृथक् सांस्कृतिक इकाई है। इस प्रदेश की मुख्य भाषा हिन्दी है, इसी कारण डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इसे हिन्दी प्रदेश भी कहा है। इस मध्यदेश की राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भाषा सम्बन्धी रूपरेखा इन चार भाषणों में दी गई है। मैं मानता हूँ कि अपने इन भाषणों में आर्य साहित्य, प्राचीन आर्य जीवन, समकालीन सुधार आन्दोलन तथा साहित्य, साम्राज्यकालीन शासन-व्यवस्था और जीवन, नवीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था और साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त श्रेष्ठ ढंग से यथेष्ट प्रकाश विद्वान लेखक ने डाला है। स्पष्टता उनकी शैली का विशेष गुण है।

पर जहाँ तक लेखक के आधारभूत उद्देश्य का सम्बन्ध है, लेखक उसे सिद्ध नहीं कर पाया। मध्यदेश यानी हिन्दी प्रदेश में पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है, जो ग्रन्थ के समर्पण से स्पष्ट है—"अपने अत्यन्त उज्ज्वल इतिहास तथा असाधारण शक्ति के प्रति उदासीन मध्यदेश के जनपदवासियों को एक मध्य देशवासी द्वारा।"

मनुस्मृति में आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार की गई है :

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

(दूसरे अध्याय का २२वाँ श्लोक)

पूर्व समुद्र (अर्थात् बंगाल की खाड़ी) से लेकर पश्चिम समुद्र (अर्थात् अरब समुद्र) तक और दोनों पर्वतों (हिमालय तथा विन्ध्याचल) के बीच का प्रदेश आर्यावर्त है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस आर्यावर्त की सीमा पश्चिम उत्तर में अफ़गानिस्तान तक थी। गान्धार, कपिशा, पुरुषपुर

तथा तक्षशिला उक्त आर्यावर्त के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे और सम्पूर्ण आर्यावर्त में मूलतः एक ही संस्कृति और एक ही ढंग का सामाजिक जीवन व्याप्त था। और उस संस्कृति तथा साहित्य के विकास में आर्यावर्त के सभी प्रदेशों ने लगभग एक समान भाग लिया था। पर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने हिन्दी प्रदेश के उत्साह में सम्पूर्ण आर्यावर्त की इस संस्कृति तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त के इस सामाजिक जीवन को मध्यदेश के ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के रूप में प्रस्तुत किया है।

यह मध्यदेश क्या है? डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "आर्यावर्त (मनुस्मृति के अनुसार जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है) के पाँच स्वाभाविक भौगोलिक भाग माने जाते थे। उत्तर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और मध्य। आर्यावर्त का यह मध्य भाग ही मध्यदेश कहलाता था।" (पृष्ठ ६)

परन्तु परिषद्-मन्त्री श्री शिवपूजन सहाय ने अपने वक्तव्य में लिखा है—"आर्यावर्त और मध्यदेश में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता।" (पृष्ठ २)

यानी डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार मध्य देश आर्यावर्त के ५ भौगोलिक भागों में से एक (मध्य का) भाग है और श्री शिवपूजन सहाय के अनुसार आर्यावर्त और मध्य देश में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि अमरकोष में लिखा है—"आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्य हिमालयोः।"

मध्यदेश की महत्ता सिद्ध करने के उत्साह में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने आगे चल कर लिखा है—"यूरोपीय विद्वानों का यह मत अत्यन्त चिन्त्य है कि आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत में पंजाब में था तथा पंजाब में वे भारत के बाहर से मध्य एशिया अथवा पूर्वी यूरोप से आए थे। ऋग्वेद के लगभग १,००० सूक्तों में से केवल दो-तीन सूक्तों में पंजाब की नदियों के उल्लेख हैं और यदि इन दो-तीन सूक्तों को ध्यान से पढ़ा जाए तो यह मालूम होता है कि मध्यदेश से ही कोई आक्रमण पंजाब की ओर हुआ था और उसीकी स्मृति इन सूक्तों में सुरक्षित है।" (पृष्ठ १०)

बिना कोई प्रमाण उपस्थित किए यह स्थापना करना कि ऋग्वेद के युग में मध्यदेश से पंजाब पर कोई हमला हुआ था और उसकी स्मृति ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में सुरक्षित है, इतना अधिक 'चिन्त्य' है, जिसकी तुलना में यूरोपियन विद्वानों का मत कुछ भी चिन्त्य नहीं।

स्पष्टतः इस वर्तमान युग में मध्य देश में पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करने के उत्साह में विद्वान लेखक सभी ज्ञात ऐतिहासिक तथा साहित्यिक प्रमाणों की उपेक्षा कर गए हैं।

सच तो यह है कि उस युग के भारत का अध्ययन करने की दृष्टि से भारत के इतिहास को केवल दो भागों में बाँटना चाहिए—उत्तर भारत (आर्यावर्त) तथा दक्षिण भारत। सम्पूर्ण उत्तर भारत यानी आर्यावर्त को हिन्दी प्रदेश कहना हिमाकत होगा, क्योंकि वर्तमान हिन्दी के विकास से पूर्व इसी प्रदेश में बंगला, गुजराती, उड़िया, पंजाबी आदि का विकास हो चुका था। इस ग्रन्थ में मध्यदेश के जो मानचित्र दिए गए हैं, उनमें बंगला, गुजराती आदि क्षेत्र छोड़ दिए गए हैं, यह भी ठीक हुआ है कि नहीं। बिना किसी ऐतिहासिक आधार के केवल हिन्दी प्रदेश में पृथकता की भावना उत्पन्न करने के दृष्टिकोण से ये नक्शे तैयार करवाए गए हैं। बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के कुछ भाग को लेकर मध्यदेश का यह नक्शा तैयार किया गया है, क्योंकि इन प्रदेशों में हिन्दी के विभिन्न रूपों का विकास हुआ है। स्पष्टतः इन नक्शों का आधार प्राचीन मध्यदेश नहीं है। इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि जिस संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का इस पुस्तक में वर्णन है, वह इस कथित मध्यदेश की नहीं, अपितु सम्पूर्ण आर्यावर्त की संस्कृति और सम्पूर्ण आर्यावर्त का सामाजिक जीवन रहा है, जिसकी सीमा उक्त मध्य देश की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत थी। यह बात पृथक् है कि राजनीतिक शासनकर्त्ताओं के दृष्टिकोण से अपने लम्बे इतिहास में कितनी ही बार यह आर्यावर्त छोटे-बड़े भागों में विभक्त होता रहा है। पर जहाँ तक संस्कृति और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, भारत भर में, जिसमें दक्षिण भारत भी सम्मिलित है, एक गहरी एकता तथा समानता अक्षुण्ण रही है। आज हमारा यह कर्त्तव्य है कि भारत की उक्त आधारभूत एकता पर अधिक से अधिक बल दें।

भारत के उक्त क्षेत्र (मध्यदेश) में कभी प्रान्तीयता की संकुचित भावनाएँ नहीं आने पाईं। यह प्रदेश अपनी शक्ति से भी अनभिज्ञ नहीं है। वर्तमान भारत में इस प्रदेश का महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम या उपेक्षणीय नहीं है। प्रान्तीयता की संकुचित भावनाओं का न होना इस प्रदेश का एक बहुत बड़ा गुण है, दोष नहीं।

शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार के ५ प्रकाशन

१. युगों-युगों में उत्तर प्रदेश : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी; पृष्ठ सं० ७० (बड़ा आकार); मूल्य १)।

२. हस्तिनापुर : लेखक—ज्योतिप्रसाद जैन ; पृष्ठ सं० ४८ (बड़ा आकार) मूल्य १)।

३. मथुरा : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी ; पृष्ठ संख्या १०४ (बड़ा आकार); मूल्य १)।

४. अहिच्छत्रा : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी; पृष्ठ संख्या ६४ (बड़ा आकार) ; मूल्य १)।

५. कन्नौज : लेखक—रामकुमार दीक्षित; पृष्ठ संख्या ४८ (बड़ा आकार); मूल्य १)।

इन सभी का प्राप्ति स्थान—शिक्षा विभाग, लखनऊ।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग के ये प्रकाशन उक्त राज्य के विद्वान मुख्यमन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द की सूझ का परिणाम हैं। इन सभी प्रकाशनों में उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से परिचय दिया गया है। इतिहास के विभिन्न कालों में हस्तिनापुर, मथुरा, अहिच्छत्रा और कन्नौज की क्या स्थिति और क्या महत्त्व रहा, इस सम्बन्ध में उपयोगी और यथेष्ट सामग्री इन प्रकाशनों में है। प्रत्येक स्थान के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक मानचित्र तथा प्राप्त मूर्तिकला और स्थापत्य के सुन्दर चित्र भी प्रभूत मात्रा में इन पुस्ति-

लेकर कथावस्तु में कितनी ही कमज़ोरी और एक-आध स्थान पर तो अस्वाभाविकता भी आ गई है। ९ वर्ष की बालिका को अपनी माता से पृथक कर उसका राज्याभिषेक हो जाने के बाद राजमहलों पर महामात्य का नियन्त्रण जितना बढ़ जाना चाहिए, उतना इस उपन्यास में नहीं दिखाया गया। हिता जिस तरह बालिका महारानी को लेकर पशुओं के चेहरे लगाए बालकों के साथ महल से भाग खड़ी होती है, व्यवहार में वह सम्भव नहीं है। जब महल से बाहर आने-जाने पर इतना प्रतिबन्ध था, तब द्वारपाल किसी को जाने-पहचाने बिना द्वार से किस तरह निकल जाने देते, विशेषतः जब हिता के सम्बन्ध में सम्पूर्ण महलवासियों को ज्ञात था कि वह सदा महारानी के साथ रहती है।

'अमिता' की भाषा कुछ क्लिष्ट होते हुए भी अत्यन्त श्रेष्ठ तथा प्रवाहमयी है। उपन्यास पढ़ने में आनन्द आता है। संस्कृतप्रधान शैली में यशपाल का-सा प्रवाह बहुत कम मिलेगा। 'अमिता' में कितने ही वाक्य और भाव-प्रकाशन इतने ऊँचे दर्जे के और कलापूर्ण हैं कि वे समकालीन अत्यन्त श्रेष्ठ और स्थायी हिन्दी साहित्य के भाग बन कर रहेंगे। छापे की भूलें रह गई हैं, जो इस तरह की अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की मौलिक रचनाओं में नहीं रहनी चाहिएँ।

यशपाल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में हैं। मेरी धारणा है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मोह छोड़ कर उन्हें वर्तमान काल की पृष्ठभूमि में अपने उपन्यास लिखने चाहिएँ। यशपाल के पास कहने को बहुत कुछ है और कहने का ढंग उन्हें आता है।

शिवपूजन रचनावली (पहला खण्ड) : लेखक—आचार्य शिवपूजन सहाय; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या बड़े आकार के ४१८; मूल्य ८॥) सजिल्द।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से गम्भीर और श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से पटना की बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का स्थान सर्व-प्रथम है। यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थावलि का प्रथम प्रकाशन है। इस खण्ड में आचार्य शिवपूजन सहाय के ये तीन ग्रन्थ अविकल रूप में संगृहीत हैं—(१) बिहार का बिहार, (२) विभूति (१६ कहानियाँ), तथा (३) देहाती दुनिया (देहात सम्बन्धी उपन्यास)। आचार्य शिवपूजन सहाय हिन्दी जगत् के उज्ज्वल नक्षत्रों में से हैं। उनमें असाधारण विनय है। इस खण्ड की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"पुस्तक का नाम 'ग्रन्थावली' के बदले 'रचनावली' इसलिए रखा गया है कि इसमें कोई ग्रन्थ नहीं है, केवल तीन रचनाएँ ही हैं। रचनाओं में भी कुछ ऐसा महत्त्व है या नहीं कि उनका संग्रह हिन्दी संसार के सामने उपस्थित किया जाए, यह बात हमारे कहने की नहीं है।" इसके बाद उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि परिषद् से कथा-साहित्य प्रकाशित न होने का नियम रहते भी केवल हमारी बीमारी में हमें आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से बिहार सरकार ने हमारी ये रचनाएँ प्रकाशित करने का निश्चय किया।

वर्तमान हिन्दी के इस निर्माणकाल में आचार्य शिवपूजन सहाय की रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है। इस संग्रह की कहानियाँ १९११ से लेकर १९३१ तक लिखी गई हैं और उपन्यास का रचना-काल १९२६ है। हिन्दी कहानी और हिन्दी उपन्यास इन बीते वर्षों में नई ऊँचाई पर पहुँच गए हैं, फिर भी आचार्य शिवपूजन सहाय की उक्त सब रचनाओं का महत्त्व स्थायी है, क्योंकि वे हिन्दी गद्य तथा हिन्दी कथा साहित्य के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के समान हैं। इन बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर राष्ट्रभाषा परिषद् ने अत्यन्त उपयोगी और प्रशंसनीय कार्य किया है।

मध्यदेश : लेखक—धीरेन्द्र वर्मा; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या; १९६ (बड़ा आकार); मूल्य ७) सजिल्द।

'मध्यदेश' नामक इस ग्रन्थ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के ४ व्याख्यानों का संग्रह है, जो उन्होंने बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् में दिए थे। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी प्रदेश की इकाई में विश्वास है और उनका दावा है कि इस ग्रन्थ में "पहली बार हिन्दी प्रदेश अथवा मध्यदेश की इकाई की ओर इतने स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप में हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है।" मध्यदेश की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री को उन्होंने चार कालों में बाँटा है—(१) जनपद युग, (२) साम्राज्य युग, (३) राजवंश युग, और (४) विदेशी संघर्ष युग।

इन व्याख्यानों में किसी तरह की नई ऐतिहासिक खोज का दावा विद्वान लेखक ने नहीं किया। अब तक अन्वेषित और प्रकाशित सामग्री के आधार पर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मध्यदेश की एक स्पष्ट और पृथक् सांस्कृतिक इकाई है। इस प्रदेश की मुख्य भाषा हिन्दी है, इसी कारण डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इसे हिन्दी प्रदेश भी कहा है। इस मध्यदेश की राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भाषा सम्बन्धी रूपरेखा इन चार भाषणों में दी गई है। मैं मानता हूँ कि अपने इन भाषणों में आर्य साहित्य, प्राचीन आर्य जीवन, समकालीन सुधार आन्दोलन तथा साहित्य, साम्राज्यकालीन शासन-व्यवस्था और जीवन, नवीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था और साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त श्रेष्ठ ढंग से यथेष्ट प्रकाश विद्वान लेखक ने डाला है। स्पष्टता उनकी शैली का विशेष गुण है।

पर जहाँ तक लेखक के आधारभूत उद्देश्य का सम्बन्ध है, लेखक उसे सिद्ध नहीं कर पाया। मध्यदेश यानी हिन्दी प्रदेश में पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है, जो ग्रन्थ के समर्पण से स्पष्ट है—"अपने अत्यन्त उज्ज्वल इतिहास तथा असाधारण शक्ति के प्रति उदासीन मध्यदेश के जनपदवासियों को एक मध्य देशवासी द्वारा।"

मनुस्मृति में आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार की गई है :

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

(दूसरे अध्याय का २२वाँ श्लोक)

पूर्व समुद्र (अर्थात् बंगाल की खाड़ी) से लेकर पश्चिम समुद्र (अर्थात् अरब समुद्र) तक और दोनों पर्वतों (हिमालय तथा विन्ध्याचल) के बीच का प्रदेश आर्यावर्त है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस आर्यावर्त की सीमा पश्चिम उत्तर में अफ़ग़ानिस्तान तक थी। गान्धार, कपिशा, पुरुषपुर

तथा तक्षशिला उक्त आर्यावर्त के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे और सम्पूर्ण आर्यावर्त में मूलतः एक ही संस्कृति और एक ही ढंग का सामाजिक जीवन व्याप्त था। और उस संस्कृति तथा साहित्य के विकास में आर्यावर्त के सभी प्रदेशों ने लगभग एक समान भाग लिया था। पर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने हिन्दी प्रदेश के उत्साह में सम्पूर्ण आर्यावर्त की इस संस्कृति तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त के इस सामाजिक जीवन को मध्यदेश के ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के रूप में प्रस्तुत किया है।

यह मध्यदेश क्या है? डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "आर्यावर्त (मनुस्मृति के अनुसार जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है) के पाँच स्वाभाविक भौगोलिक भाग माने जाते थे। उत्तर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और मध्य। आर्यावर्त का यह मध्य भाग ही मध्यदेश कहलाता था।" (पृष्ठ ६)

परन्तु परिषद्-मन्त्री श्री शिवपूजन सहाय ने अपने वक्तव्य में लिखा है—"आर्यावर्त और मध्यदेश में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता।" (पृष्ठ २)

यानी डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार मध्य देश आर्यावर्त के ५ भौगोलिक भागों में से एक (मध्य का) भाग है और श्री शिवपूजन सहाय के अनुसार आर्यावर्त और मध्य देश में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि अमरकोष में लिखा है—"आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्य हिमालयोः।"

मध्यदेश की महत्ता सिद्ध करने के उत्साह में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने आगे चल कर लिखा है—"यूरोपीय विद्वानों का यह मत अत्यन्त चिन्त्य है कि आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत में पंजाब में था तथा पंजाब में वे भारत के बाहर से मध्य एशिया अथवा पूर्वी यूरोप से आए थे। ऋग्वेद के लगभग १,००० सूक्तों में से केवल दो-तीन सूक्तों में पंजाब की नदियों के उल्लेख हैं और यदि इन दो-तीन सूक्तों को ध्यान से पढ़ा जाए तो यह मालूम होता है कि मध्यदेश से ही कोई आक्रमण पंजाब की ओर हुआ था और उसीकी स्मृति इन सूक्तों में सुरक्षित है।" (पृष्ठ १०)

बिना कोई प्रमाण उपस्थित किए यह स्थापना करना कि ऋग्वेद के युग में मध्यदेश से पंजाब पर कोई हमला हुआ था और उसकी स्मृति ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में सुरक्षित है, इतना अधिक 'चिन्त्य' है, जिसकी तुलना में यूरोपियन विद्वानों का मत कुछ भी चिन्त्य नहीं।

स्पष्टतः इस वर्तमान युग में मध्य देश में पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करने के उत्साह में विद्वान लेखक सभी ज्ञात ऐतिहासिक तथा साहित्यिक प्रमाणों की उपेक्षा कर गए हैं।

सच तो यह है कि उस युग के भारत का अध्ययन करने की दृष्टि से भारत के इतिहास को केवल दो भागों में बाँटना चाहिए—उत्तर भारत (आर्यावर्त) तथा दक्षिण भारत। सम्पूर्ण उत्तर भारत यानी आर्यावर्त को हिन्दी प्रदेश कहना हिमाकत होगा, क्योंकि वर्तमान हिन्दी के विकास से पूर्व इसी प्रदेश में बंगला, गुजराती, उड़िया, पंजाबी आदि का विकास हो चुका था। इस ग्रन्थ में मध्यदेश के जो मानचित्र दिए गए हैं, उनमें बंगला, गुजराती आदि [illegible] दिए गए हैं। [illegible] किसी ऐतिहासिक आधार के केवल हिन्दी प्रदेश में एकता की भावना उत्पन्न करने के दृष्टिकोण से ये नक्शे तैयार करवाए गए हैं। बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के कुछ भाग को लेकर मध्यदेश का यह नक्शा तैयार किया गया है, क्योंकि इन प्रदेशों में हिन्दी के विभिन्न रूपों का विकास हुआ है। स्पष्टतः इन नक्शों का आधार प्राचीन मध्यदेश नहीं है। इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि जिस संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का इस पुस्तक में वर्णन है, वह इस कथित मध्यदेश की नहीं, अपितु सम्पूर्ण आर्यावर्त की संस्कृति और सम्पूर्ण आर्यावर्त का सामाजिक जीवन रहा है, जिसकी सीमा उक्त मध्य देश की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत थी। यह बात पृथक् है कि राजनीतिक शासनकर्त्ताओं के दृष्टिकोण से अपने लम्बे इतिहास में कितनी ही बार यह आर्यावर्त छोटे-बड़े भागों में विभक्त होता रहा है। पर जहाँ तक संस्कृति और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, भारत भर में, जिसमें दक्षिण भारत भी सम्मिलित है, एक गहरी एकता तथा समानता अक्षुण्ण रही है। आज हमारा यह कर्त्तव्य है कि भारत की उक्त आधारभूत एकता पर अधिक से अधिक बल दें।

भारत के उक्त क्षेत्र (मध्यदेश) में कभी प्रान्तीयता की संकुचित भावनाएँ नहीं आने पाईं। यह प्रदेश अपनी शक्ति से भी अनभिज्ञ नहीं है। वर्तमान भारत में इस प्रदेश का महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम या उपेक्षणीय नहीं है। प्रान्तीयता की संकुचित भावनाओं का न होना इस प्रदेश का एक बहुत बड़ा गुण है, दोष नहीं।

शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार के ५ प्रकाशन

१. युगों-युगों में उत्तर प्रदेश : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी; पृष्ठ सं० ७० (बड़ा आकार); मूल्य १)।

२. हस्तिनापुर : लेखक—ज्योतिप्रसाद जैन ; पृष्ठ सं० ४८ (बड़ा आकार) मूल्य १)।

३. मथुरा : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी ; पृष्ठ संख्या १०४ (बड़ा आकार); मूल्य १)।

४. अहिच्छत्रा : लेखक—कृष्णदत्त वाजपेयी; पृष्ठ संख्या ६४ (बड़ा आकार) ; मूल्य १)।

५. कन्नौज : लेखक—रामकुमार दीक्षित; पृष्ठ संख्या ४८ (बड़ा आकार); मूल्य १)।

इन सभी का प्राप्ति स्थान—शिक्षा विभाग, लखनऊ।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग के ये प्रकाशन उक्त राज्य के विद्वान मुख्यमन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द की सूझ का परिणाम हैं। इन सभी प्रकाशनों में उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से परिचय दिया गया है। इतिहास के विभिन्न कालों में हस्तिनापुर, मथुरा, अहिच्छत्रा और कन्नौज की क्या स्थिति और क्या महत्त्व रहा, इस सम्बन्ध में उपयोगी और यथेष्ट सामग्री इन प्रकाशनों में है। प्रत्येक स्थान के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक मानचित्र तथा प्राप्त मूर्तिकला और स्थापत्य के सुन्दर चित्र भी प्रभूत मात्रा में इन पुस्ति-

काओं के अन्त में दिए गए हैं। इन चित्रों से उक्त सभी प्रकाशनों का महत्त्व बढ़ गया है। प्रत्येक प्रकाशन में लगभग आधा कलेवर इन चित्रों का है, जो आर्ट पेपर पर छापे गए हैं। हमें विश्वास है कि उत्तर प्रदेश का शिक्षा-विभाग अपने राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विवरण इसी प्रकार प्रकाशित करेगा।

इस ग्रन्थमाला के सम्पादक मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष कृष्णादत्त वाजपेयी हैं। "युगों-युगों में उत्तर प्रदेश" के प्राक्कथन में कृष्णदत्त वाजपेयी ने आर्यावर्त यानी मध्यदेश (यानी उत्तर प्रदेश) को अन्वर्थक बता कर उसे भारतवर्ष का हृदय बताया है। वर्तमान उत्तर प्रदेश ही पुराना आर्यावर्त था, यह स्थापना कितनी भ्रामक सिद्ध हो सकती है। "मध्यदेशो देशानामुत्तमः" का हवाला देकर उत्तर प्रदेश में पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न कितना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के हिन्दीदेश में बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब का कुछ भाग सम्मिलित है, पर कृष्णदत्त वाजपेयी का मध्यदेश केवल वर्तमान उत्तर प्रदेश तक सीमित रह गया है। जब इतिहासज्ञ इस तरह की संकुचित मनोवृत्ति का प्रदर्शन करने लगते हैं तो और भी अधिक दुख होता है। पर इन पाँचों प्रकाशनों के प्रतिपाद्य विषय पूरी तरह अपने-अपने क्षेत्र का ऐतिहासिक परिचय देने तक ही सीमित हैं, केवल वाजपेयी जी के प्राक्कथन में ही उक्त भावना का संकेत है। यही सन्तोष का विषय है।

प्रत्येक राज्य के विभिन्न प्रदेशों का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिचय देना एक बात है और उनमें पृथक् इकाई की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न एकदम दूसरी और अत्यधिक हानिकर प्रवृत्ति है। इस माला के प्रकाशनों का स्वागत हम इसलिए कर रहे हैं कि प्रतिपाद्य विषय के आधार पर हम इन्हें प्रथम श्रेणी में गिनते हैं। इन प्रकाशनों का उद्देश्य मध्यदेश में पृथकता की भावना उत्पन्न करना नहीं है।

आशा है कि अन्य राज्य भी इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश सरकार से प्रेरणा प्राप्त करेंगे। हमें ज्ञात है कि अन्य कितने ही राज्य इस तरह के प्रयत्न कर रहे हैं, पर उत्तर प्रदेश सरकार का यह कार्य स्पष्टतः अधिक सुचारू और वैज्ञानिक ढंग पर हो रहा है। जहाँ तक इन पुस्तिकाओं के आकार-प्रकार और सज्जा का सम्बन्ध है, अभी उसमें सुधार की काफी गुंजाइश है। इस तरह के प्रकाशनों के लिए सज्जा और आकार-प्रकार का महत्व और भी अधिक है। उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

हिन्दी की योग्यता कैसे बढ़ावें : लेखक—हरिमोहन दातिया; पृष्ठ संख्या १३४; मूल्य १॥)।

इस छोटी सी पुस्तक में हिन्दी के इतिहास, व्याकरण, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, शैली, अलंकार, छन्द, ग्रन्थ प्रकाशन आदि २५ विषयों के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में लेखक ने अपने विचारों को अनुचित महत्त्व दिया है। लेखक द्वारा आविष्कृत 'भारतीय लिपि' तथा 'हिन्दी की १०० श्रेष्ठ पुस्तकें' ऐसे ही विषय हैं। फिर भी पुस्तक का उपयोग निर्विवाद है। हिन्दी सीखने तथा सिखाने वाले व्यक्तियों के लिए यह पुस्तक विशेषतः उपयोगी सिद्ध होगी। हिन्दी के प्रसार काल में इस ढंग की पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है।

ए लाइफ डेडीकेटिड : लेखक—भूपेन्द्र हूजा; भूमिका-लेखक : सरदार के० एम० पणिक्कर, प्रकाशक—सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समिति, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या १८०; मूल्य ५) रु०।

हिन्दी के यशस्वी लेखक सेठ गोविन्ददास इस वर्ष अपनी आयु के ६० वर्ष पूर्ण कर ६१वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। इस अवसर पर सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समिति ने अंग्रेजी में उनकी यह जीवनी प्रकाशित की है। यह जीवनी दो भागों में विभक्त है। पहले १३० पृष्ठों में, १० अध्यायों में गोविन्ददास जी की जीवनी दी गई है। दूसरे भाग में ६ अध्याय हैं, जो इनके साहित्य के सम्बन्ध में हैं। जीवनी की शैली यथेष्ट रोचक है। पुस्तक में १२ पृष्ठ सुन्दर चित्र भी हैं। छपाई-सफ़ाई बहुत उत्तम है, पर छापे की भूलें रह गई हैं।

मेरी श्रेष्ठ कहानी : प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, ३ राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई २; पृष्ठ संख्या २३४; मूल्य ४) सजिल्द।

इस पुस्तक में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नए और पुराने इन १८ कहानी-लेखकों की कहानियाँ संग्रहीत हैं—आनन्दप्रकाश जैन, करतारसिंह दुग्गल, कुलभूषण, किशोरीरमण, ख्वाजा अहमद अब्बास, 'मस्त', 'निर्गुण', परदेशी, बलदेवप्रसाद, मन्मथनाथ गुप्त, मार्कण्डेय, मोहन राकेश, रांगेय राघव, राजेन्द्र यादव, 'दोषी', वीरेन्द्र कुमार, विष्णु प्रभाकर, और सुदर्शन। इस सूची में दो कहानियाँ स्पष्टतः भारतीय भाषाओं से अनुवादित हैं। यदि अन्य भारतीय भाषाओं की कहानियाँ लेना भी अभिप्रेत था, तो वह सूची अधिक लम्बी होनी चाहिए थी।

'मेरी श्रेष्ठ कहानी' के लेखकों से यह अनुरोध किया गया था कि वे अपनी कहानी के चुनाव के साथ यह भी सूचित करें कि उनकी उक्त कहानी किस लिए श्रेष्ठ है। प्रारम्भ ही से मेरी यह राय थी कि यह सवाल माकूल नहीं है। अब यह संग्रह देख मेरी उक्त धारणा और भी पुष्ट हो गई है। कुछ लेखकों ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कुछ ने इसे हँसी में टालने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए 'मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी वह है, जो अभी लिखी ही नहीं गई!' अथवा 'यह कहानी मुझे इस कारण सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हो रही है कि मैंने अभी-अभी इसे लिखा है!' पर कुछ लेखकों ने इस प्रश्न को बड़ी गम्भीरता से लिया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनकी कहानी विश्व साहित्य का स्थायी अंग है।

सच बात तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर इस संग्रह की कहानियाँ सम्बद्ध लेखकों की भी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ नहीं हैं। और कुल मिला कर यह एक औसत दर्जे का ऐसा साधारण कहानी-संग्रह है, जिसकी छपाई-सफ़ाई निस्सन्देह बहुत सुन्दर है।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

पद्मसिंह शर्मा के पत्र : सम्पादक—बनारसीदास चतुर्वेदी और हरिशंकर शर्मा; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस; काश्मीरी गेट, दिल्ली–६; पृष्ठ संख्या बड़े आकार के २५१; मूल्य ६) सजिल्द।

जब तक जिये, लिखे सफरनामे,
चल दिए हाथ में कलम थामे—

यह शेर मुझे जब कभी स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा की याद आती है तो स्मरण हो आता है और इसमें शक नहीं कि यह उन पर बड़ा मौज़ूँ बैठता भी है, उनके जीवन का वास्तविक खाका खींच देता है। वह उन लोगों में थे जिन्होंने जीवन भर सिवाय साहित्य-सेवा के और कुछ जाना नहीं, किया नहीं। लिखना-पढ़ना, यही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य रहा। संसार की और किन्हीं बातों से उन्होंने न तो सम्पर्क रक्खा न उनमें दिलचस्पी ही ली। आदि से अन्त तक उनका जीवन विद्या, व्यसन एवं साहित्य-चर्चा में ही व्यतीत हुआ।

शर्मा जी के लेख—जिनका एक संग्रह आज से २७-२८ साल पहले 'पद्म-पराग' के नाम से प्रकाशित हुआ था—साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि तो है ही, उनके पत्र भी साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। हर्ष और सन्तोष का विषय है कि आपके पत्रों का एक संग्रह पिछले दिनों, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, ने प्रकाशित किया है जिसका सम्पादन शर्मा जी के दो अनन्य मित्रों—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी तथा श्री हरिशंकर शर्मा ने किया है। संग्रह सुन्दर है एवं एक दर्पण है जिसमें लेखक का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित है। इन पत्रों से सर्वप्रथम पाठक को वह महान अन्तर नज़र आएगा जो हिन्दी संसार के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यिकों में है। शर्मा जी को लिखने और पढ़ने दोनों का समान रूप में शौक था, जब कभी कोई पुस्तक या पत्रिका पा जाते तो उसे बगैर आद्योपान्त पढ़े दम न लेते थे। अक्सर दो-दो बजे रात तक जग कर उसे समाप्त करते थे और यदि उसमें कोई सुन्दर वस्तु पा जाते—कोई अच्छे भाव, सुन्दर पंक्तियाँ, मौलिक विचार, तो फौरन ख़त लिखकर लेखक को उसकी दाद देते, उत्साह प्रदान करते थे। कहीं यदि कोई त्रुटि पाते तो उसे भी जनाते पर ऐसे ढंग से कि बुरा न लगता। उपर्युक्त पत्र-संग्रह के पृष्ठ १४१ पर छपे हुए एक खत की इन पंक्तियों पर ध्यान देवें—

"आज 'सुधा' में आपका लेख दीख पड़ा। बहुत ख़ूब रहा। 'किस तरह मैं···' शेर मन्सूर का नहीं, ज़ौक़ का है। मन्सूर की जीवनी में उनके भाव का द्योतक समझ कर लिखा गया है। अकबर के दो शेरों का आपने खूब इस्तेमाल किया है। लेख बहुत अच्छा है।"

हिन्दी के विद्वानों में आज कौन है जो लेखक को इस प्रकार पत्र लिख कर दाद देता है। अधिकतर ऐसा देखा गया है कि हिन्दी भाषा के आधुनिक कवि और लेखक शायद ही किसी और की रचनाएँ पढ़ने का कष्ट उठाते हैं और फिर पढ़ कर दूसरों को उनकी रचनाओं पर दाद देना तो एक अनहोनी-सी बात है। स्वयं पत्र लिखना तो दर-किनार, दूसरों के पत्र का उत्तर भी वे जल्दी नहीं देते हैं।

सन् १९३१ की एक घटना है जो शर्मा जी की अध्ययनशीलता तथा साहित्य-संगीत-समीक्षा की क्षमता पर प्रकाश डालती है। हिन्दी प्रेस, प्रयाग, में वह उन दिनों ठहरे हुए थे। एक दिन शाम को डाक से 'विशाल भारत' का नया अंक आ पहुँचा। उसी शाम मित्रों ने गाने-बजाने का भी प्रोग्राम रख रक्खा था। उनका तकाज़ा था कि वह संगीत के इस आयोजन में, श्रोता रूप में, अवश्य शामिल हों। उधर 'विशाल भारत' पढ़ने की भी उत्कण्ठा थी। इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में, श्री बनारसीदास जी को लिखा है—

"मैं 'विशाल भारत' पढ़ना चाहता था, उधर संगीत शुरू हो गया। मुझे पढ़ने का व्यसन तो है ही पर सितार सुनने के लोभ को भी संवरण नहीं कर सका। पार्टी में सम्मिलित न होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा, मंडली के पास बैठ कर सुनना ही पड़ा। पहले सितार की गत बजी, उधर मैंने आपका सम्पादकीय पढ़ना शुरू किया। बड़े मज़े में पढ़ता रहा, और आपके ज़ोरे क़लम की दाद देता रहा। 'सारनाथ में क्या देखा' ख़ूब लिखा है, मार्के की टिप्पणी है···बेला सितार से भी अच्छा बजा। बड़ा तैयार हाथ था··· । बेला के साथ-साथ मैंने नन्ददास जी को समाप्त कर डाला। नन्ददास जी की कविता मुझे बहुत पसन्द आई। आपने ख़ूब लिखा है······"

सारे पत्र में इसी तरह लेख, कविता तथा संगीत की समन्वित आलोचना है और अन्त में हार्मोनियम पर एक छोटा-सा छींटा भी—

"सितार और बेला के बाद हार्मोनियम का नम्बर आया तो मैंने कहा कि भई, अंगूर खिला कर यह निम्बोलियाँ क्यों खिलाते हो?··· सितार आदि बाजों के लिए यह हार्मोनियम भी वैसी ही बला है जैसी तुलसीदास की रामायण के लिए राधेश्याम की रामायण।"

साहित्यिक दृष्टि से ये पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, अतिशय दिलचस्प भी हैं। एक बार आप कलकत्ते में किसी मित्र के घर पर ठहरे हुए थे। उनका लड़का तुकबन्दियाँ किया करता था तथा सुबह-शाम शर्मा जी के पास घण्टों बैठ कर उन्हें सुनाता था। शिष्टाचार के नाते उन्हें पसन्द न आने पर भी मजबूरन सुनना पड़ता था। इसका ज़िक्र करते हुए उन्होंने अपने एक मित्र को बड़े रोचक ढंग पर लिखा—

कान खा जाते हैं कमबख़्त, जान भी खा जाएँगे।
सख़्त मुश्किल है कि मैं एक शायर का मेहमाँ हो गया!

स्व० शर्मा जी का यह दृढ़ विचार था कि संगीत की भाँति साहित्य-सेवा भी तभी सफल हो सकती है जब कि उसे साधना का रूप दिया जाय वर्ना वह एक बाजारू-सी वस्तु मात्र ही रह जाती है। उसमें वह प्राण जो उसे जीवित रख सके नहीं आ पाता है। यही वजह थी कि वह स्व० पारसनाथ सिंह को—जिनकी साहित्यिक प्रतिभा पर वह मुग्ध थे तथा जिसकी पत्रों में यत्र-तत्र उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है—बारम्बार कहते रहे कि वह बिड़लों की नौकरी छोड़ कर पूर्ण रूप से साहित्य-साधना में लग जायँ। अफ़सोस! पारसनाथ जी ने उनकी यह राय न सुनी। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उन्होंने शर्मा जी का यह परामर्श माना होता तो आज उनका हिन्दी-भाषा के चन्द इने-गिने विद्वानों में शुमार होता, पर, जैसा कि उन्होंने स्वयं शर्मा जी के नाम के एक ख़त में लिखा था—

आप बैठ साहित्य सम्हालें,
मैं जाता जीवन की ओर ।

साहित्य-जगत से मुँह मोड़ कर वह अपनी अद्भुत प्रतिभाओं का दान बिड़ला ब्रदर्स को ही देते रहे। स्व० शर्मा जी ने दुःखित होकर एक पत्र में लिखा है—"हाँ, आपने ईसा मसीह की उक्ति ठीक लिखी है। दो विरुद्ध काम एक साथ नहीं हो सकते। यानी पारसनाथ जी बिड़लाओं के यहाँ रहते हुए साहित्य-सेवा के लिए समय नहीं निकाल सकते।"

फिर एक दूसरे पत्र में :

"पारसनाथ जी यदि साहित्य-सेवा में जुट जाते तो हिन्दी का भण्डार भर जाता, पर, इस पुण्य कार्य में बिड़ला जी भरपूर बाधक हो रहे हैं। वह कुछ न करने देंगे।"

कहा है कि 'होता है वही जो मंज़ूरे खुदा होता है' पारसनाथ जी ने बिड़लों का साथ न छोड़ा। उनकी सेवा में उनके स्वास्थ्य का संहार हो गया और अन्त में रक्त-चाप रोग के वह शिकार होकर प्राण खो बैठे। अफ़सोस ! कि आज तक उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कुछ भी न किया गया ! कवि की इस वाणी में कितना सत्य है !

यूँ तो मुँह देखे की होती है मुहब्बत सबको,
जब मैं जाँचूँ कि मेरे बाद मेरा ध्यान रहे !

पत्रोत्तर देने में स्व० शर्मा जी आदर्श-स्वरूप थे। जिन दिनों वह प्लेग जैसे सांघातिक रोग के चंगुल में फँसे हुए जीवन की घड़ियाँ गिन रहे थे, उन्होंने कई पत्र अपने मित्रों को लिखे, उनके खतों के जवाब में, जो इस संग्रह में सम्मिलित हैं। इनमें एक खत वह भी है जिसमें एक साहित्यिक विषय पर उन्होंने अपना मत प्रगट किया है। प्लेग जैसे घोर कष्टप्रद एवं प्राणनाशक रोग में पड़े हुए व्यक्ति की इस साहित्य-निष्ठा की मिसाल शायद ही कहीं और मिले। वर्तमान हिन्दी के हमारे अधिकांश विद्वान लेखक और कवि पत्र-लेखन-कला में ठीक इसके विपरीत, इतने सुस्त हैं कि दर्जनों ख़त लिखिए, फिर भी "दिल्ली दूर अस्त"—जवाब दूर ही रहता है, काम भले ही बिगड़ जाय पर वे जल्दी पत्रोत्तर न देंगे। प्राचीन साहित्यकारों में, पर यह बात न थी और स्वर्गीय शर्मा जी इसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पुस्तक की भूमिका में विद्वान सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने पत्र-लेखन-कला पर एक सुन्दर निबन्ध लिख डाला है। संसार के कई महापुरुषों के पत्र भी उद्धृत किए हैं, महात्मा गान्धी, कवीन्द्र रवीन्द्र, श्रीनिवास शास्त्री आदि के। यह पठनीय है, पत्र-कला पर विद्वत्तापूर्ण विवेचनायुक्त लेख है।

आमतौर पर यह धारणा है कि शर्माजी छायावाद के विरोधी थे पर यह ग़लत है। छायावाद से उनका विरोध न था, विरोध उस छायावादी काव्य से था जो समझ में न आए क्योंकि यदि कोई लेख और कविता ऐसी लिखी हो जो किसी की समझ में ही न आए तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है और उसे सिवाय पागल के प्रलाप के और क्या कहा जा सकता है ? ऐसे ही काव्य की ओर संकेत था जब कि उन्होंने कहा था :—

अगर अपना कहा वह आप ही समझे तो क्या समझे,
मज़ा कहने का तब है, एक कहे और दूसरा समझे ।

निर्विवाद है कि आज से प्रायः तीस वर्ष पहले हिन्दी संसार में छायावादी कविता की एक बाढ़ सी आ गई थी जब कि छायावाद के नाम पर कूड़ा-कर्कट, अनर्गल बातें, लिखी जाने लगी थीं। स्पष्टतः शर्मा जी का विरोध उनसे ही था। वास्तविक छायावादी रचनाओं को तो वह पसन्द करते, खूब पसन्द करते थे। छायावादी कवियों के प्रशंसक थे जो उनके उन पत्रों से ज़ाहिर होता है जिनमें श्री सुमित्रानन्दन पन्त का उन्होंने मार्मिक ढंग से उल्लेख किया है। एक जगह लिखते हैं—

"इस बार पहली बार पं० सुमित्रानन्दन पन्त से बिजनौर में मुलाकात हुई। आदमी तबीयत के साफ़ और 'जेन्टिलमैन' मालूम हुए। 'पल्लव' की भूमिका में जो पहले कवियों के विषयों में अन्ट-शन्ट, अनाप-शनाप, ऊल-जलूल, लिखे गए हैं, उसे वापस लेने को कहते थे। वह भी कहते थे कि ब्रजभाषा का विरोध करने के लिए मुझसे खास तौर पर कहा गया था, इसी से वैसा लिखना पड़ा इत्यादि। गला सुरीला है। सुर-ताल के वाकिफ़ हैं। राग-रागिनियों के नाम जानते हैं। आजकल के एक आदर्श छायावादी कवि में जो गुण होने चाहिएँ, सब हैं। खुशी की बात यह है कि रोग से मुक्त हो गए हैं।"

संस्कृत की एक उक्ति है :

वज्रादपि कठोराणि,
मृदूनि कुसुमादपि ।

"वज्र से भी कठोर, कुसुम से मृदुल"—महापुरुषों का यह खास गुण है। स्वर्गीय शर्मा जी के इन संगृहीत पत्रों से उनका यह चरित्र-गुण साफ़-साफ़ परिलक्षित है और इस अर्थ में ये पत्र उनके चरित्र-चित्रण में सहायक हैं ।

शर्मा जी दूसरों का दुःख देख कर रो पड़ते थे, यह उनकी स्वभावगत कोमलता ज़ाहिर करता है। पर साथ ही मौका आने पर स्पष्ट कहने में भी तनिक हिचकिचाते न थे, न किसी की मुँह देखी बातें ही कहते थे। श्री बनारसीदास जी को एक पत्र में लिखा था—

"क्या आपने मेरे प्राइवेट पत्र..........जी को दिखलाए थे ?...... मुझे आपसे ऐसी आशा न थी।......किसी भी लेख का रहस्य-भेद उसकी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार नहीं करना चाहिए। आपके इस अनीतिमूलक आचरण से अत्यन्त दुःख हुआ है। मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ कि आखिर आपने ऐसा किस लिए किया, जब कि मैंने मना भी कर दिया था। आपके इस व्यवहार ने मेरी आँखें खोल दी हैं। 'हाली' ने सच ही कहा है—

जहाँ में अपने सिवा किसी पै कभी भरोसा न कीजिएगा,
जो अपना साया भी हो तो उसको तसव्वर अपना न कीजिएगा।"

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी पर उनका अनन्य स्नेह था, फिर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट करने में साफगोई से ही काम लिया, यह उनकी स्पष्टवादिता का प्रबल परिचायक है, 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि' का यह प्रमाण है ।

शर्मा जी के संस्मरणात्मक लेख बड़े उच्च दर्जे के हुआ करते थे'

मालूम इसलिए कि वे उनके अन्तस्तल के उद्गार थे, लौकिक प्रदर्शनात्मक शब्द मात्र ही नहीं। पर-दुःखकातर, भावुक, दुःख देख और लिखते वक्त भावावेश की-सी दशा में पहुँच जाते थे वह। इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही एक पत्र में लिखा है—

"कहाँ से लाऊँगा खूने जिगर इनको खिलाने को,
हज़ारों तरह के गम दिल के महमाँ होते जाते हैं।

सूखे हुए जख्म हरे हो जाते हैं। पुरानी चोटें ताज़ा होकर दुखती हैं। कभी-कभी लोप संस्कार जाग पड़ते हैं और दिल को बेचैन कर देते हैं। पं० भीमसेन जी के दुःखप्रद संस्मरणों ने दिल की कमर तोड़ दी। इस कूचे में धँसते जी डरता है.........."

"पद्म-पराग" के पृष्ठ ऐसे संस्मरणों से भरे हुए हैं ही, प्रस्तुत पुस्तक के भी संगृहीत अनेक पत्रों में, इसके नमूने देखने को मिलते हैं। उनके सच्चे और करुण हृदय के उद्गारों की बानगी मिलती है। एक मित्र के देहान्त पर, देखिए, किन कारुणिक शब्दों में अपना उद्गार प्रगट किया है—

"काल का चक्र बड़ी तेज़ी से चल रहा है। बड़े-छोटे सबको पीस रहा है। जीवन क्षण-भंगुर है। दुविधा के झगड़ों का अन्त नहीं। तूफ़ानी अनन्त सागर में तिनके की तरह मनुष्य बह रहा है। किनारे का पता नहीं। 'बहा जाता हूँ बेमकसूद बहरे ज़िन्दगानी में'।"

'बहरे ज़िन्दगानी' में बहते हुए वह भवार्णव की दूसरी ओर जा लगे पर स्मृति-रूप में अपनी कृतियाँ छोड़ गए जो हिन्दी संसार के लिए गौरव की वस्तु हैं। लिखने में उन्हें कमाल हासिल था, कलम का वह ज़ोर जो उन्हें प्राप्त था विरले जनों को नसीब होता है। उनके एक-एक शब्द मानों बोलते हों। लिखने वालों की आज कमी नहीं है पर वह बात कहाँ?

शर्मा जी सरस-हृदय थे—सहृदय थे—अच्छी चीज़ों के प्रशंसक थे, पर स्पष्टवादी थे, किसी की खुशामद में आने वाले न थे—गलत बात अथवा थर्ड क्लास कृतियों पर कोई उनसे प्रशंसा की मुहर न लगवा सकता था। कहते हैं, एक बार उर्दू के एक मशहूर शायर ने उनसे अनुरोध किया कि वे उनकी पुस्तक की प्रस्तावना लिख दें—मंशा थी कि वे उसकी तारीफ़ में कुछ लिखें—और शर्मा जी ने ऐसा करना स्वीकार भी कर लिया, पर जब उन्होंने पुस्तक पढ़ी तो उसे निम्न श्रेणी का पाया। ख़ैर, उन्होंने प्रस्तावना तो लिखी पर—

'ज़हरे हलाहल को मैं कह न सका कंद!'

वह उसे बढ़ियापन का सर्टिफ़िकेट न दे सके। फलस्वरूप वह प्रस्तावना ज्यों की त्यों पड़ी रही। हज़रते शायर को यह साहस न हुआ कि वह उसे छपायें—और आप शर्मा जी के घनिष्ट मिलने-जुलने वालों में थे।

—पुस्तक के एक-दो पत्रों में इस प्रसंग का उल्लेख है।

इसी तरह 'विशाल-भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास जी ने जब उनके एक लेख पर—जैसा कि सम्पादक अपनी 'जिद' में बहुधा किया करते हैं—छुरी चला दी, कुछ अंश काट दिए, तो उन्होंने लिखा: "मैंने, आपकी [illegible] जो कुछ लिखा उसको [illegible] ने इस तरह [illegible] सिद्धान्त कर दल-बदल कर दिया। [illegible] जो बाधा [illegible]—[illegible] के कोई [illegible] नहीं लिखना। [illegible] रहा [illegible] स्पष्ट और सुदर्शन [illegible] कोई हो।"

स्पष्ट है कि वे बातें [illegible] जिसे वह [illegible] करते थे। पर उनकी [illegible] जानकारी थी कि वह तो [illegible] किसी की छूट देनी करें। अकबर ने कहा था कि जो बात सही होगी कहता रहूँगा—

'नहीं रुकते हो मैं [illegible], [illegible] !'

[illegible] सिद्धान्त था और मूल पुस्तक के संग्रहीत पत्रों में इसके दर्जनों दृष्टान्त मौजूद हैं।

'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' के पन्नों में उनकी वह अद्वितीय लेखन-शैली प्रचुर परिमाण में बिखरी पड़ी है। यही नहीं, यह ग्रन्थ उनकी कुशल पत्र-लेखन-कला का अद्भुत नमूना है, उनके विचारों का मनोवृत्तियों का, ज़बर्दस्त परिचायक है। उनका विद्या-प्रेम, उनकी सुखनफ़हमी, सुखनसंजी, सुखनदानी का एक 'रेकार्ड' है। पत्रों के इस सुन्दर संग्रह को यदि हम उनकी आत्म-कथा कहें तो गलत नहीं। उनके विचारों का लेखा-जोखा ही नहीं, उनके साहित्यिक कार्यों का यह एक रोजनामचा भी है। तत्कालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास भी। पढ़ते समय ऐसा लगता है मानों हम आज से ३०-४० वर्ष पूर्व के साहित्यिक वातावरण में विचर रहे हों। तब के और आज के साहित्यिक जीवन में, विचारधारा में, कितना फ़र्क है! संगृहीत कई पत्रों में शर्मा जी ने अपना यह मन्तव्य कि साहित्यिक राजनीति से अलग रहें, दूर रहें, बार-बार प्रकट किया है पर आज हम उससे लिपटे जाते हैं, उसमें तल्लीन हैं। हमारा अभीष्ट साहित्य-सेवा नहीं, आत्म-सेवा हो रहा है और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की अपेक्षा सरकारी नौकरी अथवा मंत्री-पद हमें कहीं अधिक पसंद है।

विद्वान संपादकों तथा प्रकाशक को हम ग्रन्थ के प्रकाशन पर बधाई देते हैं। इस पुस्तक ने स्व० शर्मा जी की स्मृति जागृत कर दी है, याद ताज़ी कर दी है। इसे पढ़ते हुए हमें बरबस भारतेन्दु की इस उक्ति का स्मरण हो आता है—

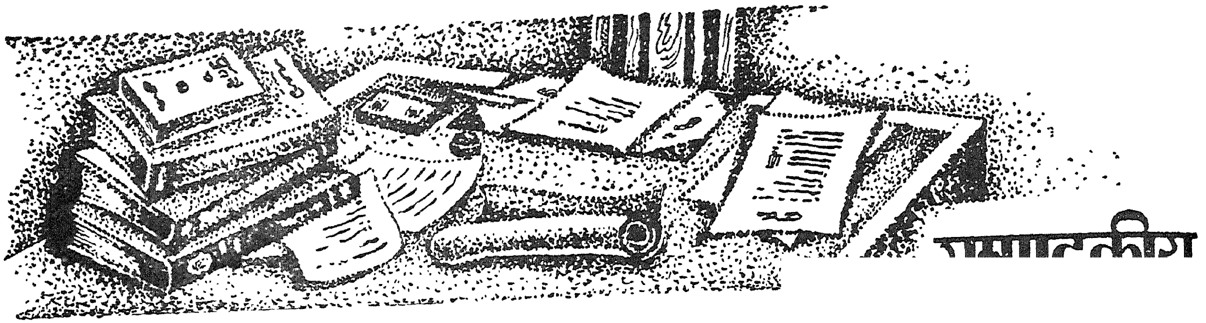
कहेंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे,
प्यारे हरीचन्द की कहानी रहि जायगी।

अच्छा होता यदि पुस्तक के अंत में उन संस्थाओं, विषयों तथा जनों के सम्बन्ध में जिनका इस में उल्लेख है, विशद टिप्पणियाँ होतीं ताकि पाठक उन्हें अधिक सुगमता से समझ सकते। पर पुस्तक की यह कमी उसकी विभिन्न खूबियों में छिप जाती है जैसे कि—

एकोहि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।

—राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह





आत्म निवेदन

'आजकल' को भारतीय साहित्य, संस्कृति और कला तथा राष्ट्रीय चर्चाओं का पत्र बनाने का प्रयत्न करते हुए आगामी दिसम्बर में दो वर्ष पूरे हो जाएँगे। जैसा कि पहले घोषित किया जा चुका है, इस वर्ष दिसम्बर में 'आजकल' का पृथक् अंक प्रकाशित नहीं होगा। उसके स्थान पर 'आजकल' के स्थायी ग्राहकों को "बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष" नामक बहुमूल्य ग्रन्थ वार्षिक अंक के रूप में उपहार स्वरूप दिया जाएगा। इस कारण गत दो वर्षों के अनुभवों के रूप में कुछ बातें हम पाठकों की सेवा में निवेदन करना चाहते हैं :

१. हमें इस बात की प्रसन्नता तथा सन्तोष है कि 'आजकल' के वर्तमान रूप को हमारे पाठकों ने पसन्द किया है। इस बात का सब से स्पष्ट प्रमाण यह है कि गत दो वर्षों में 'आजकल' की ग्राहक संख्या में ६० प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हुई है।

२. भारतीय साहित्य का पत्र बनाने का प्रयत्न कितना दुस्साध्य है, यह गत दो वर्षों के अनुभव से हमारे सामने बहुत स्पष्ट हो गया है। हमारे देश में १४ भाषाएँ हैं और इन सभी भाषाओं में आज नवजीवन का संचार हो रहा है। प्रत्येक भारतीय भाषा की सभी गतिविधियों और सभी लेखकों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकना आसान नहीं है। इस से भारतीय साहित्य के चयन का कार्य कठिन बन जाता है। उस पर सब से बड़ी दिक़्क़त अनुवादकों के सम्बन्ध में है। हमारी राय से हमारे देश में अच्छे और प्रामाणिक अनुवादकों की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी अच्छे इंजिनीयरों और अच्छे डाक्टरों की। पर अभी तक इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। भारतीय साहित्य के पत्र पर अच्छे अनुवादकों की इस न्यूनता का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। फिर भी हम प्रयत्न करते रहे हैं कि प्रत्येक भारतीय भाषा से हिन्दी में श्रेष्ठ अनुवाद कर सकने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं से हमारा सम्पर्क बढ़े।

३. हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि 'आजकल' में किसी भी रचना का अनुवाद मूल लेखक की अनुमति के बिना न जाने पाए। यह अनुमति प्राप्त करने का काम वास्तव में उन सज्जनों का है, जो हमें अनुवादित रचनाएँ भेजते हैं। इसी दृष्टिकोण से हमें यह नियम बनाना पड़ा है कि अनुवादित रचनाओं के साथ मूल लेखक की लिखित अनुमति भेजना आवश्यक है।

४. 'आजकल' में नई कविता के सम्बन्ध में एक चर्चा का प्रारम्भ गत कुछ महीनों से किया गया है। इस चर्चा का उद्देश्य यह है कि कविता, विशेषतः नई कविता सम्बन्धी सभी धारणाएँ और मान्यताएँ स्पष्ट हो सकें, जो स्पष्टतः कविता के मूल्यांकन में सहायक सिद्ध होगा। इसी तरह की अन्य उपयोगी साहित्यिक चर्चाएँ 'आजकल' में निरन्तर जारी रखने का हमारा इरादा है।

५. 'आजकल' में जो रचनाएँ प्रकाशित होती हैं, उनके सम्बन्ध में हम पाठकों की प्रतिक्रिया जानना चाहते हैं। हमें ज्ञात है कि 'आजकल' के बीसों पाठक हमारे लेखकों को पत्र लिखकर उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में आवश्यक पूछताँछ करते हैं। इसी उद्देश्य से हम प्रत्येक अंक में लेखकों के पते देते हैं। हमारे लेखकों का कथन है कि जितने पत्र उन्हें 'आजकल' में प्रकाशित लेखों के सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं, उतने किसी अन्य स्रोत द्वारा प्राप्त नहीं होते। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक अपनी प्रतिक्रियाओं तथा आलोचनाओं के सम्बन्ध में हमें भी पत्र लिखें। इन पत्रों में से कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ हम 'चिट्ठी-पत्री' स्तम्भ में प्रकाशित करेंगे।

६. जिन परिस्थितियों से बाधित होकर 'आजकल' के सम्पादक मण्डल को यह नियम बनाना पड़ा है कि अनाहूत रचनाओं की वापसी का उत्तरदायित्व 'आजकल' कार्यालय पर नहीं होगा, उनका ज़िक्र इन्हीं स्तम्भों में किया जा चुका है। एक मास में हम 'आजकल' में जितनी रचनाएँ प्रकाशित कर सकते हैं उससे लगभग १५ गुणा अधिक रचनाएँ हमें प्रति मास प्राप्त होती हैं। इन में अच्छी, साधारण, निकृष्ट—सभी तरह की रचनाएँ होती हैं। स्वभावतः उक्त सामग्री में से केवल ८ प्रतिशत सामग्री ही देर-सबेर हमारे काम आ सकती है। शेष ९२ प्रतिशत रचनाएँ, जिन में कितनी ही बहुत अच्छी भी होती हैं, लाचार होकर हमें वापस कर देनी होती हैं। इन परिस्थितियों में कितनी ही बार रचनाओं के सम्बन्ध में निश्चय करने तथा उनके प्रकाशन में असाधारण विलम्ब हो जाता है।

●

राष्ट्र-पुरुष दर्शन

भारतीय संग्रहालयों की केन्द्रीय सलाहकार समिति का उद्घाटन समारोह इस वर्ष का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पर्व था। मानव संस्कृति की एकता तथा प्रत्येक राष्ट्र के क्रमिक सांस्कृतिक विकास की

दृष्टि से संग्रहालयों का महत्त्व बहुत अधिक है। विशेषतः भारत जैसे विशाल और पुराने देश के राष्ट्रीय विकास को समझने में इस देश के संग्रहालयों से जितनी सहायता मिल सकती है, उतनी सम्भवतः किसी अन्य एक साधन से नहीं मिल सकती। डाक्टर अलतेकर के शब्दों में "जब आप किसी देश के किसी श्रेष्ठ संग्रहालय में जाते हैं तो वहाँ आप राष्ट्र-पुरुष दर्शन करते हैं।" भारत जैसे विशाल और प्राचीन देश में, जहाँ दिल्ली में एक बहुत बड़ा संग्रहालय होना चाहिए, वहाँ प्रत्येक राज्य में कम से कम एक अत्यन्त श्रेष्ठ संग्रहालय का होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल्ली में एक बड़े संग्रहालय का निर्माण कार्य प्रारम्भ भी हो चुका है।

विदेशी शासन के दिनों में भारत से बहुत सा अत्यन्त बहुमूल्य और उपयोगी संग्रह विदेशों में चला गया। वह सब इस देश में वापस मँगवाने का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। पर उससे भी अधिक आवश्यक बात यह है कि देश में आज भी जो महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, उसे ठीक ढंग से सुरक्षित रखने तथा उसके उचित प्रदर्शन का प्रबन्ध बहुत शीघ्र किया जाए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए २ करोड़ रुपए का प्रबन्ध है। पर यह आवश्यक है कि राज्यों की सरकारें तथा नगर समितियाँ इस कार्य में उक्त राशि की अपेक्षा बहुत अधिक धन व्यय करें। इस समय भारत में लगभग १२० संग्रहालय हैं, पर इनमें से अधिकांश की दशा अच्छी नहीं है। हमारे देश की ८० प्रतिशत जनता निरक्षर है। इस निरक्षर जनता के लिए संग्रहालयों का महत्त्व और भी अधिक है, क्योंकि संग्रहालयों में राष्ट्र-पुरुष के दर्शन करके ही उसे पहचाना और समझा जा सकता है।

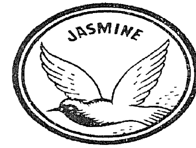
●

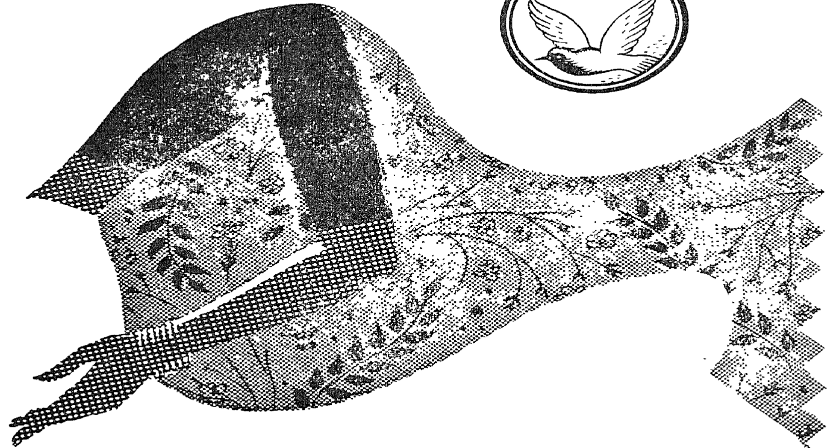
स्वेज़ उपयोक्ता संघ

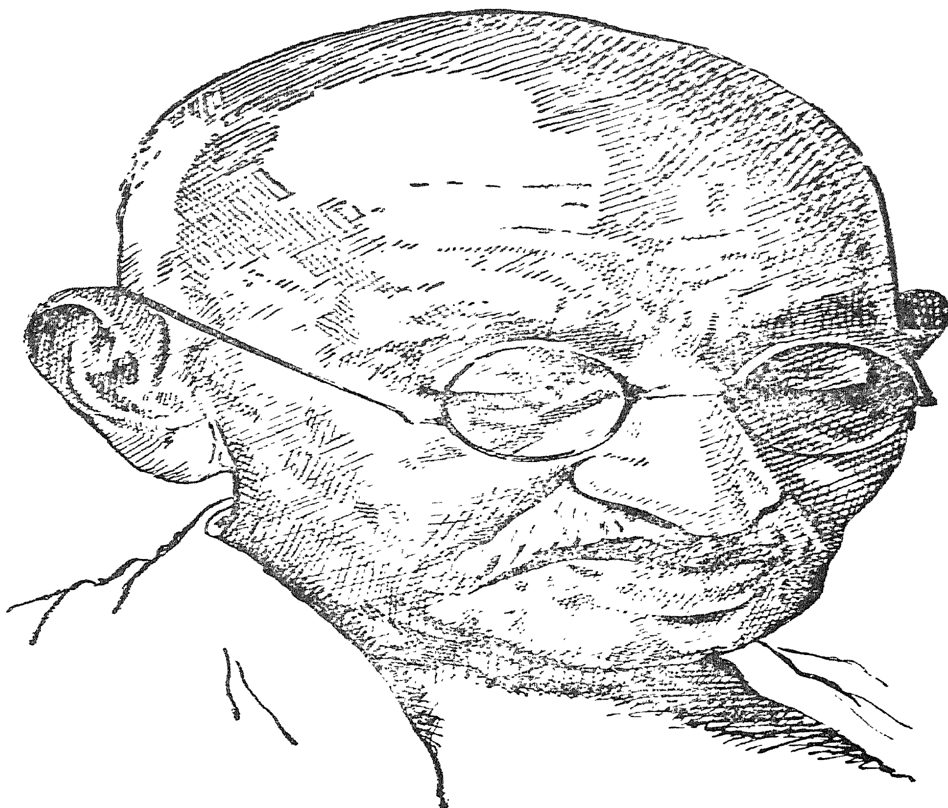
स्वेज़ के सम्बन्ध में लण्डन में जो प्रथम सम्मेलन बुलाया गया था, उसमें २२ राष्ट्र सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन में १८ राष्ट्रों के समर्थन से एक प्रस्ताव पास किया गया था। इन्हीं १८ राष्ट्रों का एक प्रतिनिधि मण्डल राष्ट्रपति नासर से मिला था। उसके बाद उक्त १८ राष्ट्रों का एक सम्मेलन लण्डन में बुलाया गया, जिसमें 'स्वेज़ उपयोक्ता संघ' नाम से एक नया संगठन बनाने का निश्चय हुआ। उक्त १८ में से ३ राष्ट्रों ने इस संगठन में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। शेष १५ राष्ट्रों द्वारा निर्मित उक्त 'स्वेज़ उपयोक्ता संघ' की पहली बैठक गत मास लण्डन में हुई थी। यह संघ किस तरह अपना कार्य करेगा, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। विश्वास दिलाया गया है कि संघ किसी आक्रमणात्मक अथवा अशान्त उपाय का व्यवहार नहीं करेगा। हाल ही में स्वेज़ का मामला सुरक्षा समिति में भी पेश हो गया है। एक अमेरिकन पत्र के सम्वाददाता को राष्ट्रपति नासर ने यह विश्वास दिलाया है कि मिस्र सुरक्षा समिति के निर्णय को स्वीकार करेगा। यह हर्ष का विषय है कि अशान्ति की सम्भावनाएँ अब पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई हैं। सुरक्षा समिति स्वेज़ के मामले पर आजकल जिस ढंग से विचार कर रही है, वह पूर्णतः सन्तोषजनक है।

●




JASMINE





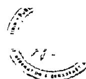
सदियों से प्रचलित छूआछूत के इस पाप का प्रायश्चित करने का केवल एक ही मार्ग है—हरिजनों की बस्तियों में जाइए, उन्हें स्नेह से अपनाइए। अपने बच्चों के समान उनके बच्चों को भी प्यार से गले लगाइए। उनके कल्याण में रुचि दिखाइए। आपके समान उनको भी अधिकार है कि उन्हें पर्याप्त भोजन, शुद्ध जल, ताजी हवा और आवश्यक प्रकाश जैसी सुविधाएँ सुलभ हों।

"महात्मा गांधी"

हरिजनों के प्रति अपना कर्त्तव्य याद रखिए

DA—56/104

नए प्रकाशन



Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

Regd. No. D—510

आजकल

जनवरी १९५७

आठ आना

अब 'मुहन्नद' के लिये नहीं



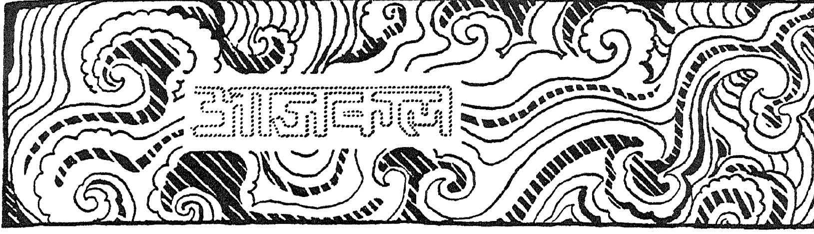
फिरदौसी के महाकाव्य 'शाहनामा' से ज्ञात होता है कि जब ईसापूर्व ३३१ में सिकन्दर ने फ़ारस पर आक्रमण किया, तब तलवार तथा इस्पात के अन्य अस्त्र शीघ्रता के साथ भारत से मँगवाये गये। समस्त सभ्य संसार में भारत उत्तम इस्पात के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध था। वस्तुतः प्राचीन अरबी में 'तलवार' को 'मुहन्नद' कहते हैं जिसका अर्थ है 'हिन्द से'।

आज फिर देश के सामने इस्पात का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु उद्देश्य पृथक् है। युद्ध के लिये नहीं, बल्कि शांति और विकास के लिये राष्ट्र की इस्पात-निर्माण क्षमता बड़ी शीघ्रता से बढ़ायी जा रही है।

टाटा स्टील

राष्ट्र की सेवा करता है

TN 999

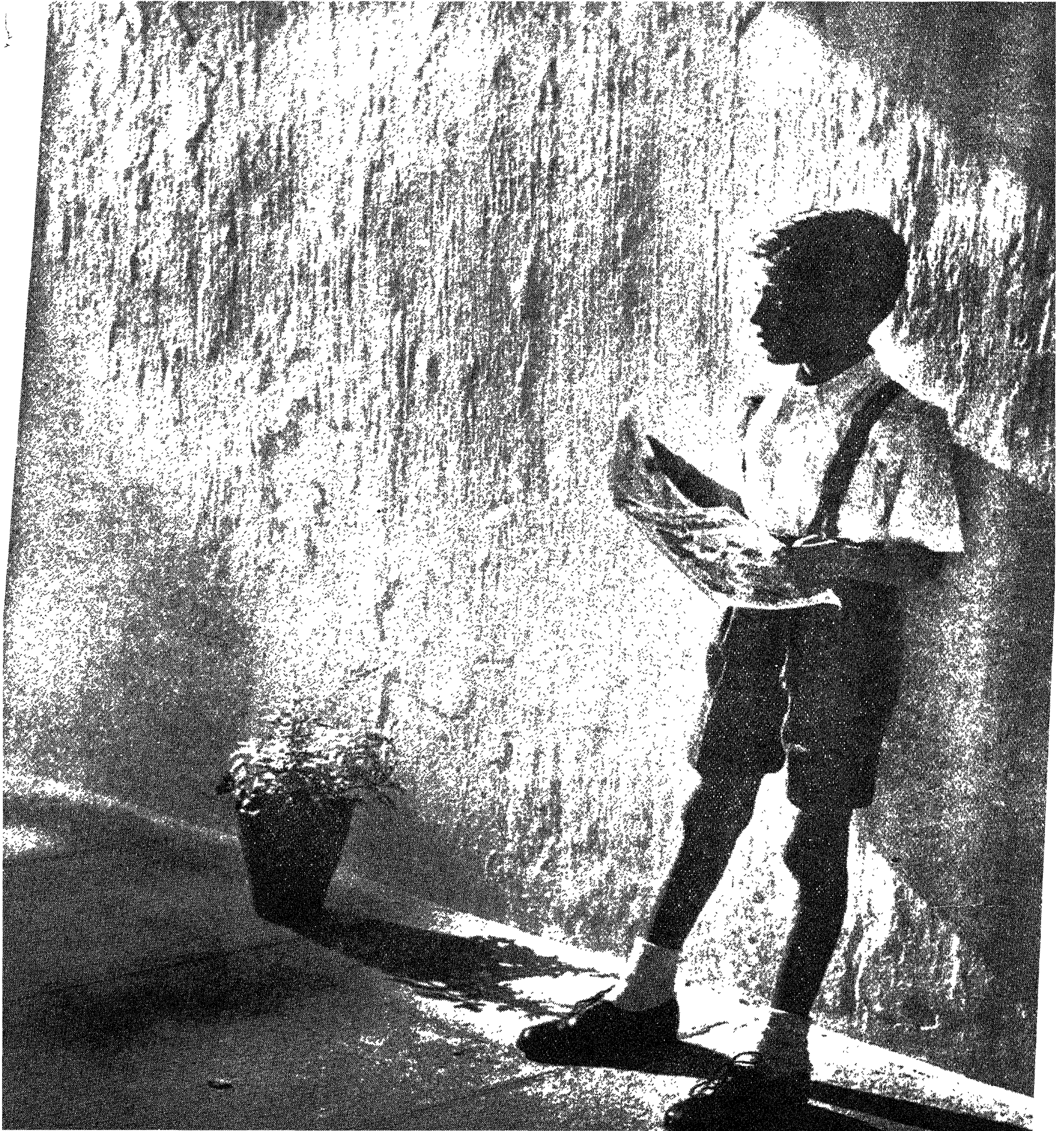


वर्ष १२ अंक ६ पूर्णांक १५१

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, एक सेंट या नौ पेंस







वर्ष १२ जनवरी १९५७ अंक ९

हिन्दी कविता

क्यों चुप हो गए ?

माखनलाल चतुर्वेदी

साँझ आई तो गगन के पंख वाले गीत
क्यों चुप हो गए ?
साँझ आई, वे हृदय के रोष वाले मीत
क्यों चुप हो गए ?
सूर्य के प्रभ-नवल-रथ की दौड़ के वे चित्र
फीके पड़ चले,
भूमि के अहरह सभी चलते हुए वरदान
क्यों चुप हो गए ?
साँस पर पहरा दिए, बैठी समय की नागिनी
कुण्डल बना,
इस समय सब चाह के लड़ते हुए अहसान
क्यों चुप हो गए ?

उड़िया लोकगीत

गोपालकृष्ण

अरी प्यारी सहेली !
श्याम के साथ मेरे सरोकार से जो अपवाद मिल रहा है,
वह मुझे हमेशा पसन्द है ।
मेरे दिन उनके चिन्तन में बीतें ।
इनके सुन्दर मुख को देखने से कोटि जन्म का दुःख भाग जाता है ।
जिसकी जो मर्जी, उसे बोलने दे !
विनय के समुन्दर की मीठी बात जिसने सुनी
उसकी जिन्दगी धन्य हो गई ।
जो कुछ कहते हो, मैं उसे मीत के समान सुनने पर भी मौन
रह जाती हूँ ।
गोपालकृष्ण जी कहते हैं कि राधा का अपवाद ब्रज भर
में फैल गया है ।

भावानुवादकः मानसिंह

मेरा देश

बच्चन

जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है ।

काल की गति फेंकती किस पर नहीं अपना अलक्षित पाश है,
सिर झुका कर बन्धनों को मान जो लेता वही बस दास है,
थे विदेशी के अपावन पग पड़े जिस दिन हमारी भूमि पर,
हम उठे विद्रोह की लेकर पताका साक्षी इतिहास है,
एक ही संघर्ष पोरस-तीर से गोवा शहीदों तक चला,
जो कि सदियों में नहीं बैठा कभी भी हार, मेरा देश है ।
जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है ।

जो कि सेना साज आए चूर मद में हिन्द को करने फ़तह,
आज उनके नाम बाक़ी रह गई इतिहास पृष्ठों पर जगह,
किन्तु वह आज़ाद होकर शान से है विश्व के आगे खड़ा,
और होता जा रहा है शक्ति से सम्पन्न हर शामो-सुबह,
झुक रहे जिसके चरण में पीढ़ियों के गर्व को भूले हुए
सैकड़ों राजों, नवाबों के मुकुट-दस्तार, मेरा देश है ।
जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है ।

हम हुए आज़ाद तो देखा जगत ने एक नूतन रास्ता,
सैकड़ों सिजदे उसे जिसने दिया इस पंथ का हमको पता,
जबकि नफ़रत का ज़हर फैला हुआ था जातियों के बीच में
प्रेम की ताक़त गया बलिदान से अपने ज़माने को बता,
मानवों के शान्ति-सुख की खोज में नेतृत्व करने के लिए
देखता है एक टक जिसको खड़ा संसार, मेरा देश है ।
जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है ।

जांचते उससे हमें जो आज हम हैं, वे हृदय के क्रूर हैं,
दासता की कुछ वसीयत हम उठाने के लिए मजबूर हैं,
पर हमारी आँख में हैं स्वप्न ऊँचे आसमानों के जगे,
जानते हम हैं कि अपने लक्ष्य से हम दूर हैं-हम दूर हैं,
बार ये हट जाएँगे, आवाज़ तारों की पड़ेगी कान में,
है रहा जिसको परम उज्ज्वल भविष्य पुकार, मेरा देश है ।
जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है ।

इन्सान

नीरज

क्या करेगा प्यार वह भगवान को,
क्या करेगा प्यार वह ईमान को,
जन्म लेकर गोद में इन्सान की,
प्यार कर पाया न जो इन्सान को ।

उनको बदलने के लिये हमको बदलना ही पड़ा,
चाँद बनने के लिये सूर्य को ढलना ही पड़ा,
नभ के सितारे न करें व्यंग कभी धरती पर,
इसलिये रात में हर दीप को जलना ही पड़ा ।

जहाँ भी जाता हूँ वीरान नज़र आता है,
ख़ून में डूबा हर मैदान नज़र आता है,
कैसा है वक्त जो इस दिन के उजाले में भी,
नहीं इन्सान को इन्सान नज़र आता है ।

धरा तपी तो अश्क आसमान भर लाया,
चाँद रोया तो समन्दर में ज्वार लहराया,
मगर ऐ दोस्त ! मेरा काफ़िला लुटा जिस दम,
न किसी की आँख भरी, न किसी को प्यार आया ।

हिन्दी लोक-साहित्य

राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी लोक-साहित्य से मतलब यदि हिन्दी क्षेत्र के लोक-साहित्य से है, तो इसमें जैसलमेर से पूर्निया और केदार-बदरी से छत्तीसगढ़ तक का लोक-साहित्य आ जाएगा। भाषाओं की दृष्टि से इसमें मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली-बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, मालवी, मारवाड़ी, ब्रज, हरियानी-कौरवी, पहाड़ी एवं बिहार तथा मध्यप्रदेश की जनजातीय भाषाएँ सम्मिलित हैं। कुछ में तो कई और भाषाएँ सम्मिलित हैं, जैसे पहाड़ी में कुमाऊनी, गढ़वाली, शिमला-पहाड़ी, लहासुई, बिलासपुरी, काँगड़ी, कुलुई, चंबियाली, पंगवाली। यहीं ऊपरी लाहुल और ऊपरी कनौर (चिनी तहसील) और स्पिती की तिब्बती, एवं निम्न कनौर और निम्न लाहुल की किरात भाषाएँ बोली जाती हैं। इस प्रकार पहाड़ी में हिन्दी, किरात और तिब्बती वंश की एक दर्जन भाषाएँ और उनके लोक-साहित्य मौजूद हैं। छोटानागपुर और मध्य-प्रदेश की जनजातियों की संथाल, उडाँव, मुण्डा, हो आदि अनेक भाषाएँ हैं, जिनमें (उडाँव जैसी) कुछ द्रविड वंश से सम्बन्ध रखती हैं, और कुछ आस्ट्रिक वंश से। हिन्दी-वंश से भिन्न भाषाओं को हम इस लेख में नहीं लाना चाहते। तब भी ऊपर की सूची से मालूम होगा, कि हिन्दी-वंशी लोक-भाषाओं की संख्या काफी अधिक है। हमारे अहिन्दी-भाषी भाई समझते हैं, कि उत्तर में एक ही हिन्दी भाषा है, बाकी उसी की छोटी-छोटी बोलियाँ हैं। पर मैथिली, अवधी, ब्रज और मारवाड़ी को कौन बोली कह सकता है, जिनका काव्य-साहित्य हमारी हिन्दी से कहीं अधिक पुराना और गुण तथा परिमाण में अधिक नहीं तो कम समृद्ध नहीं है। वस्तुतः वह बोलियाँ नहीं साहित्यिक भाषाएँ हैं, जिन्होंने विद्यापति, तुलसी, सूर और पृथ्वीराज जैसे महान कवि दिए। किसी साहित्यिक भाषा की बोली वही भाषा हो सकती है, जिसका व्याकरण बहुत मामूली भेद के साथ एकसा हो, और जिसके समझने में एक-दूसरे से परिचय रखने वालों को दिक्कत न हो। हिन्दी की बोली वस्तुतः कौरवी (मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के पूरे ज़िलों तथा पास के गंगा-जमुना पार के भी कितने ही भू-भाग की बोली) और हरियाणी (रोहतक आदि अंबाला कमिश्नरी के ज़िलों की भाषा) हैं। यह दोनों बोलियाँ असल में एक ही जरा सा बदले हुए रूप हैं। भेद है और सै का है। बाकी भाषाएँ हिन्दी की बोलियाँ नहीं बल्कि उसी तरह स्वतंत्र भाषाएँ हैं, जैसे बंगला और गुजराती। पूर्निया और मारवाड़ी को कौन एक (हिन्दी) भाषा की बोली कह सकता है? मारवाड़ी गुजराती से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रखती है, और पूर्निया (मैथिली) भाषा बंगला से। मारवाड़ी और मैथिली वाले यदि अपनी-अपनी भाषा में बोलें, तो वह एक-दूसरे की बात समझ नहीं पाएंगे। हिन्दी की सहोदरा पंजाबी ज़रूर है, पर उसे हिन्दी की बोली नहीं कहा जा सकता। किसी भाषा को इसलिए बोली नहीं कहा जा सकता, कि उसका साहित्य लिपिबद्ध नहीं हुआ। दूसरी भाषा के हावी होने से भी ऐसा हो सकता है, जैसे कुछ शताब्दियों पूर्व लातीन के कारण अंग्रेजी आदि भाषाओं के साथ हुआ था। किसी भाषा का साहित्य अभी तक लिपिबद्ध नहीं हुआ, तो इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं कि उसने हमेशा के लिए अपने इस हक को खो दिया। भोजपुरी का साहित्य अभी तक अलिखित था, पर अब उसके लोक गीतों के कितने ही सुन्दर संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उसमें "भोजपुरी" जैसी अच्छी पत्रिका निकलती है, नए कविता-संग्रह निकल रहे हैं, और बिहार सरकार ने उसे प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया है। इसी तरह छत्तीसगढ़ी भी "छत्तीसगढ़ी" के द्वारा निराकार से साकार रूप लेने की कोशिश कर रही है। हिन्दी क्षेत्र में और भी भाषाएँ आगे बढ़ रही हैं और लिपिबद्ध न होने के कारण जिनके अस्तित्व को नहीं स्वीकार किया जाता था, वह लिपिबद्ध हो अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने जा रही हैं।

हिन्दी के लोक-साहित्य से हमें उन सब भाषाओं के लोक-साहित्य को लेना चाहिए, जिनके शिष्ट साहित्य को हम हिन्दी का साहित्य मानते हैं, जैसे विद्यापति की मैथिली, तुलसीदास की अवधी, सूरदास की ब्रज और पृथ्वीराज की मरुवाणी (मारवाड़ी) का लोक-साहित्य। यही नहीं, बल्कि पहले अलिपिबद्ध और अब तेजी से लिपिबद्ध होती ऊपर गिनाई हिन्दी क्षेत्र की अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य को भी उसमें गिनना होगा।

पर यह तो निश्चय ही है, कि हमारी साहित्यिक गद्य-पद्य की हिन्दी की लोक-भाषा उपरोक्त सभी नहीं हैं। वह मूलतः कुरु जनपद की भाषा है और अपने लोक-भाषा के रूप में अब भी वहाँ बोली जाती है। इसे कोई अपना नाम नहीं दिया गया है। कुछ लोग इसे मेरठी नाम देना चाहते हैं, पर वह केवल मेरठ जिले की भाषा नहीं है। वह केवल मेरठ कमिश्नरी की भी भाषा नहीं है, क्योंकि मेरठ कमिश्नरी में बुलन्दशहर जिले के आधे दक्षिणी भाग में वह नहीं, ब्रजभाषा बोली जाती है। उत्तर के देहरादून जिले के पहाड़ी भाग (जौनसार) में भी वह नहीं बोली जाती। वह मेरठ कमिश्नरी की सीमा से बाहर भी बोली जाती है। रुहेल-खण्ड के बिजनौर जिले के अधिक भाग की वह भाषा है। इसी तरह करनाल ही नहीं रोहतक के कितने ही भाग, दिल्ली राज्य को लेते हुए अम्बाला कमिश्नरी के बहुत से भागों में बोली जाती है। पंजाबी और मारवाड़ी के सीमा पर के अम्बाला कमिश्नरी के भू-भाग में हरियाणी बोली जाती है। परन्तु इस भाषा की कौरवी से इतनी अधिक समानता है कि उसे

हम इसका ही एक रूप मान सकते हैं। फर्क स और ह का है। कौरवी वाले है और हूँ बोलते हैं, जिसे हरियाणीवाले से और सूं। गुजराती में भी काठियावाड़ी और पूर्वी गुजराती में स और ह का अन्तर देखा जाता है। काठियावाड़ी सारो (अच्छा) को हारो कहते हैं और दूसरे सारो। सिर्फ इतने उच्चारण के लिए जिस तरह हम काठियावाड़ी को गुजराती से भिन्न नहीं मानते, उसी तरह हरियाणी को हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी से अलग नहीं मान सकते। पुराना कुरुदेश यद्यपि गंगा और जमुना के बीच सूरसेन-पंचाल (आधुनिक ब्रज) और हिमालय से घिरा हुआ था। गंगा के पूर्व के किसी भाग को कुरुदेश का अंग नहीं माना जाता था। वहाँ उत्तर-पंचाल (आधुनिक रुहेल-खण्ड) था। इसी तरह जमुना के पश्चिम अम्बाला कमिश्नरी के कौरवी-भाषी प्रदेश को बस्ती कम और जंगलों के अधिक होने से कुरुजांगल कहा जाता था। पुरानी सीमा के कुछ बाहर बोले जाने पर भी हम अम्बाला-मेरठ कमिश्नरियों के प्रायः सारे भू-भाग की लोक-भाषा को कौरवी कह सकते हैं, जो कि साहित्यिक हिन्दी की लोक-भाषा है।

किसी भी साहित्यिक भाषा का, उसकी लोक-भाषा और लोक-साहित्य से सम्बन्ध कायम रहना अत्यावश्यक है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा है, कि अपनी लोक-भाषा से सम्बन्ध टूट जाने पर साहित्यिक भाषा अवरुद्ध जल वाली नदी की परित्यक्त धार-सी हो जाती है। हजारों मुहावरे और भाषा की सजीव शैली लोक-भाषा में उद्भूत होती है। हिन्दी जो हमारी किताबों में लिखी जाती है और जिसको भारत के आधे लोग अपनी भाषा कहते हैं, उसका अपनी लोक-भाषा कौरवी से सम्बन्ध स्थापित होना अत्यावश्यक है।

यहाँ हम हिन्दी और कौरवी लोक-भाषा के गठन और व्याकरण के बारे में कहने नहीं जा रहे हैं। हिन्दी के लोक-साहित्य से वस्तुतः कौरवी के लोक-साहित्य को ही लेना है, इसे बतलाने के लिए हमने उपरोक्त पंक्तियाँ लिखीं। यदि मैथिली, अवधी, ब्रज और मारवाड़ी के साहित्य को हिन्दी का साहित्य मानने के खयाल से हम लोक-भाषा की व्याख्या करें, तो उपरि निर्दिष्ट डेढ़ दर्जन भाषाओं के लोक-साहित्य को हिन्दी का मानना पड़ेगा। पर मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी लोक-गीतों के जो बड़े-बड़े संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें हिन्दी नहीं उन्हीं भाषाओं के लोकगीत का नाम दिया गया है। जब दूसरी सभी भाषाओं के लोक-साहित्य को हम हिन्दी लोक-साहित्य नहीं कह रहे हैं, तो वह कौनसा लोक-साहित्य है, जिसे हिन्दी का लोक-साहित्य कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है, कि वह वही हो सकता है, जिसकी भाषा का साहित्यिक रूप हमारी हिन्दी है। भाषातत्त्व विशारदों ने (और आगे दिये जाने वाले उद्धरणों से भी) यही सिद्ध किया है, कि हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी है। हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी के हरियाणी और तद् भिन्न दो रूप तो हम अभी बतला चुके हैं। हर भाषा में कुछ कोसों के बाद उच्चारण में कुछ अन्तर पड़ता जाता है, वह कौरवी में भी है। पर वह इतना बड़ा अन्तर नहीं है, जितना भोजपुरी के काशिका (पच्छिमी) और मल्लिका (पूर्वी) रूपों में देखा जाता है।

लोक-साहित्य के गद्य और पद्य यह दो मुख्य भेद हैं। गद्य में कहानियाँ, कहावतें और पहेलियाँ आती हैं, और पद्य में लोकगीत और पंवाड़े हैं। लोकगीत अपेक्षाकृत छोटे होते हैं, जिनमें कुछ विवाह आदि संस्कारों के वक्त में गाये जाते हैं, कुछ पूजा-त्यौहारों में, कुछ प्रेम-परिहास आदि के सम्बन्ध में होते हैं। इन्हीं में बच्चों के गीत और लोरियों को भी हम ले सकते हैं। इनसे भिन्न ऋतु-सम्बन्धी गीत भी होते हैं, जैसे फागुन के गीत, सावन के गीत (झूलना) और बारहों महीनों से सम्बन्ध रखने वाले बारहमासा के गीत, जिनमें प्रेम, शृंगार और करुणा की प्रधानता देखी जाती है। पंवाड़े पद्यमय होते हैं, जिन्हें लोकगीत इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि गीत से छोटे-छोटे मुक्तक गीत अभिप्रेत हैं, वह पद्य का पर्यायवाची नहीं है। पंवाड़े ऐसे पद्य हैं जो कई-कई दिन और कुछ घंटों ही गाने पर कई-कई महीनों में समाप्त होते हैं। आल्हा एक ऐसा ही पंवाड़ा है, जो हिन्दी के सारे विशाल क्षेत्र में अपनी-अपनी भाषाओं में गाया जाता है। कौरवी और हरियाणी में भी वह उसी तरह गाया जाता है, जैसे बुन्देली, अवधी और भोजपुरी में। इसे हम कौरवी लोक-साहित्य की केवल अपनी चीज नहीं मान सकते हैं। कोई पंवाड़ा, यदि वह जन-मन को अत्यधिक आकृष्ट करने वाला है, इस तरह की सीमा में बंध नहीं सकता। उदाहरणार्थ ढोला-मारू और निहालदे के पंवाड़ों को ले लीजिये। ढोला-मारू का सबसे पुराना लिपिबद्ध रूप हमें मारवाड़ी में मिलता है, लेकिन पंजाबी तथा कौरवी वाले भी उसे अपना पंवाड़ा मानते हैं। निहालदे कौरवी (हरियाणी और मेरठी दोनों रूपों में) और मारवाड़ी दोनों का सुपरिचित पंवाड़ा है। पता लगाने पर वह पड़ोसी दूसरी भाषाओं में भी मिल सकता है। इसमें शक नहीं, राजस्थानी (मारवाड़ी) का "निहालदे" बहुत ही सरस और समृद्ध काव्य है। निहालदे का प्रेमी नरसुलतान (मुसलमान नहीं, राजपूत राजकुमार) आल्हा-ऊदल की तरह बावन किलों का विजेता है। राजस्थान के संस्करण में वह इतना विस्तृत है, कि एक रात की बैठकी में एक दुर्ग-विजय को गा लेना भी मुश्किल है। वहाँ इसे बरसात की रातों में बैठकर गाया और सुना जाता है। हाल तक चली आती राजस्थानी सामन्तशाही ने जनतंत्रता के प्रसार और जनाधिकार के विस्तार के रोकने में चाहे जितने पाप किये हों, किन्तु लोक-कला और लोक-साहित्य की जितनी रक्षा वहाँ हुई है, उतनी भारत में अन्यत्र नहीं। यही कारण है जो वहाँ के संस्करण में हरेक पंवाड़ा बहुत विशाल और निखरा हुआ मिलता है। गोगा जी का पंवाड़ा काँगड़ा और चम्बा के पहाड़ों में भी गाया जाता है, लेकिन वह राजस्थानी भाषा में ही पूरा और सुन्दर रूप में मिलता है।

१. गद्य

कौरवी लोकवार्ता के संग्रह में जितनी उदासीनता दिखलाई गई, उतनी हिन्दी क्षेत्र की बहुत कम ही भाषाओं के लिये किया गया है, हालांकि साहित्यिक हिन्दी की समृद्धि के खयाल से उसे सबसे पहले करना चाहिए था। "देर आयद दुरुस्त आयद"—खैर देर ही से सही, अब इस तरफ ध्यान गया है और कौरवी-भाषी तरुणों-तरुणियों ने

इस ओर काफी तत्परता दिखानी शुरू की है। वह समय दूर नहीं है, जब कौरवी लोकवार्ता—गद्य और पद्य—का विशाल संग्रह सुलभ होगा। जैसा कि हमने ऊपर कहा, लोक-साहित्यिक गद्य के कहानियों, कहावतों और पहेलियों के तीन रूप हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण हम यहाँ देते हैं।

(१) कहानियाँ—बड़ी कहानियों को उद्धृत करना संभव नहीं है। पर जो कहानियाँ यहाँ दी जाती हैं, उनसे पता लगेगा कि अपने लोकभाषीय रूप में हिन्दी कितनी चमत्कारपूर्ण है।

गौरा का ब्याह[1]—

एक राज्जा की एक बेट्टी ती, नाम ता उसका गौरा। नाई-बाम्मण सब देस-देस होय आये, कोई बर ना मिलें। बाप ने कया—बेट्टी घर ढुंढू तो बर नई हात आत्ता, बर ढुंढू तो घर नहीं आत आत्ता, इससे तो अच्छा ता कि तू होत्तेई मर जात्तो।

बेट्टी ने कया—मेरे ब्या का संदेसा ना करो तुम। मैं तो अपणा बर आपी ढुंढूंगी।

बेट्टी ने नाई-बाम्मण कू बुला के कै दिया अक—मेरा बर ढुंढि आओ, उसकू देखके घिणा मत जइयो, उसीसे मेरा रिस्ता कर अइयो।

नाई-बाम्मण गये। उनने बर कू कया अक—तुम्हारी सगाई आवै है।

बर सिब्जी माराज ते। उनने कया अक—मेरी सगाई कौण करै?

—राज्जा की बेट्टी करै।

लोग-बाग्गों ने सिबजी माराज से कया अक,—इने खाणा तो खुलाओ।

उनने कया—हम पै क्या रक्खा है खाणेकू?

फेर सिबजी ने मुड्डों के रेत रख दिये पतलों पै, अर गंगाजल उनके धोरे रहैताई। उनने गंगाजल बी गेर दिया। रेत का तो बूरा हो गया अर गंगाजल का घी बण गया।

नाई-बाम्मण ने खा-पी लिया।

लोग-बाग्गों ने कया अक—इने दछणा भी चइये।

सिबजी ने कया—"हम पै क्या रक्खा है?" फेर उनने कंकड़ों से दोन्नों की झोल्ली भर दी—"लो दछणा भई।"

दोन्नों चल पड़े। बाम्मण ने झोल्ली से लिकाल के कंकड़ बखेर दिये, नाई ने रख लिये। रस्ते में जाके देक्खा, तो उनकी असरफी-मोअर बण गई।

बाम्मण ने कया—भई, हमैं तो खबर ती नई, के मोअर-असरफी हो जाग्गी, हमने तो गेर दी।

दोन्नों ने जाक्के राज्जा की बेट्टी से कया—हम सिक्का चढ़ाइ आये, ब्या बी ठराइ आये।

बरात क्या चली, बस अपणे सिबजी नांदिया-बैल पै चढ़के चल दिये। लोग-बाग 'बरात आवेगी' समझ के जाजम-ओजम बिछा रये ते। सिबजी आयके बैठ गये। लोग-बाग्गों ने कया—याँ कम्रों बैट्ठो हो लेके नाँदिया बैल कू, याँ तो राज्जा की बेट्टी की बरात आय रई है।

सिबजी ने कया—हमीं घरात्ती, हमीं बरात्ती, हमीं गौराजी के बर।

लोग-बाग्गों ने राज्जा पै संदेसा भेज्जा अक—याँ तो सिबजी माराज बैट्ठे हैं, बाज्जा-गाज्जा कुछ नई है।

राज्जा ने कया—गौरा बेट्टी, तू होत्तेई मर जात्ती तो अच्छा होत्ता, तन्ने मेरी बड़ी हँसाई करी।

लौंडिया ने सिबजी पै संदेसा भेज्जा अक— जैसे अन्तर-ग्यानी हो, वैसेई हो जाओ। बाप्प की हँसाई हो रई है मेरे।

सिबजी ने एक बीन बजाई, घोड़े-टम-टम-बग्गी सब आय गये। दूसरी बीन बजाई, बस अंग्रेजी बाज्जा बी आ गया।

राज्जा ने नाई कू भेज्जा अक— बरात जिमाणे कू बुलाय लाओ।

उन्ने जाक्के सिबजी कू कया।

सिबजी ने कया—"दो आदमी कू जिमाई लाओ, जब मेरी बरात जायगी", अर उन्ने सुक-सिनिच्चर दोन्नों भेज दिये। उनोंने खुलाना करा। टोकरे भर-भर के दिया, जब बी वे भुक्के ई रये।

राज्जा ने कया— इने कोट्ठे में बाड़ दो, कम्रां तक खुलाओगे टोकरों से।

सुक-सिनिच्चर सवा-सवा हाथ धरती बी चाट गए, अर कोट्ठे में कुछ बी न छोड्डा। फेर राज्जा आया गौरा पै— बेट्टी, मैं क्या खुलाऊँ इने, ये तो सब चाट गए।

बेट्टी ने संदेसा भेज्जा सिबजी पै—जी, क्यों मेरी हँसाई करो हो, जैसे अन्तर-ग्यानी हो वैसे क्यूँ नई होत्ते?

सिबजी ने राख की चुटकी भर के पुटलिया बान्द के घर दी भन्डारे में। भन्डार वैसाई भर गया— वो तो अपणे लच्छण दिखावै ते।

सब बरात जोम लिया, अर भर-भर थाल पड़ोसनों कूँ बाँटि आए।

गौरा का ब्याव हो गया। सिबजी माराज ले चले गौरा कू।

सिबजी माराज ने कया— ह्याँ मेरी मावसी है, मैं तो मावसी से मिलके जाऊँगा। वो अपनी मावसी पै गए, गौरा कू बी ले गए साथ में। वाँ जाक्के ठैरे।

मावसी की बऊ ताग्गा खोल रई ती— आठ हिस्सा, आठ कँगी, आठ कटोरी, आठ सुरमेदानी, आठ सलाई, आठ चूड़ियों के जोड़े, आठ अङ्गी, आठ पूरी— सब चीज आट्ठ आठ ती।

बऊ ने गौरा से कया— बिब्बी जी, तुम सिबजी माराज से कैके करवा लो, तुम बी ये सब चीज मँगा लो, बौत महात्तम है इनका।

गौरा ने जाक्के कया सिबजी माराज पै— हम बी करेंगे यो उद्दापण।

सिबजी ने कया— हम पै क्या है? कोट्ठे के बिचाले में बड़के देक्खो, जो कुछ मिले तो कर लो। वे तो, सब चीजों के देने वाले ते। उनने सब चीज पैदा कर दी।

गौरा ने बी जैसी मावसी की बऊ कर रई ती, वैसा कर दिया उद्दापण।

गौरा जी सोहाग बाँट रई ती। सब ले आईं, कोई पिटारी भर लाई, कोई बोइया भर ले आई, कोई गाड्डी भर लाई, ऐसे सब जात की भर लाईं। बणिये-बाम्मण की रै गईं, आईं पीच्छे से। गौरा ने कया— तुमें बी तो चइये सोहाग।

उनोंने कया-- हमें भी चइये, देद्दो हमें बी सोहाग।

गौरा के पास बस उंगली में रया ता बंचा, बाकी सब बाँट दिया ता। गौरा ने उंगली तरास के छिंटा दे दिया सबकू। किसी कू थोड़ा लगा, किसी कू बौत लग गया, किसी कू तनक छिंटा ई लगा। इसीलिये बणिये-बाम्मण में कोई थोड़ा भुगतै हैं सोआग, कोई ज्यादा।

फेर गौरा सस्सू कै गई, ले गये सिबजी माराज।

सिबजी माराज की बहन आई आरता करने। उसका सोन्ने का थाल मट्टी का हो गया अर उलटा बी हो गया। नणद ने कया—यो तो बड़ी कुलच्छणी आई बऊ, जो सोन्ने का थाल मट्टी का हो गया।

सिबजी ने कया—"सुलच्छणी जब मुझे, कुलच्छणी जब मुझे" अर वो कलास परबत पै गौरा कू लेके चढ़ गये।

पार्वती और शिव के विवाह की कथा संस्कृत और भारत की दूसरी भाषाओं में दोहराई गई है। पर कौरवी "गौरा का ब्याह" की कथा में एक तरह की विचित्र ताजगी मालूम होती है।

काणा गीदड़[२]—

एक काणा गीदड़ ता। उनने हाड़ कट्ठे कर लिये जंगल से। हड्डियों का चौतरा बणाय के लीप लिया अर काणों से बाँद लिये फूटे से लीतड़े। बो बैठ गया चौतरे पै। दरियाव पास में ता। गाय आई पाणी पीणे। गीदड़ ने कया—गाय री गाय, तुम पाणी मत पीजो। जब पीजो जब तुम इतना बोल लोजो।

"चान्दी का तेरा चौतरा, सोन्ने लिप्पा होय,
कान्नों तेरे मूँदरा, कोई राज्जा बैट्ठा होय।"

बेचारी गाय कै के पाणी पीकै चली गई।

फेर भैंस्सें आईं। उनसे बी गीदड़ ने नोई कया—

"चाँदी का तेरा चौतरा, सोन्ने लिप्पा होय,
कान्नों तेरे मूँदरा, कोई राज्जा बैट्ठा होय।"

भैंस्सें बी कै के पाणी पी गईं।

फेर आई बकरी। बकरी कू बी उनने नोई कया। बकरी बी कै के पाणी पीके चली गई।

फेर आई चिड़िया। चिड़िया कू बी गीदड़ ने नोई कया। चिड़िया बी कै के पाणी पीके चली गई।

फेर आये कौबे। कौवों ने बी नोई कै दिया।

पिच्छे से आई कट्टो (गिलहरी)। कट्टो कू बी उनने नोई कया।

कट्टो ने कया—भई, मैं तो पाणी पीऊँगी पैले, जब कऊँगी। मेरा तो हलक सुका जाय।

उनने पाणी पी के कया—"मैं तो नीम पै चढ़के कऊँगी।" नीम पै चढ़के कट्टो ने कया : कऊँ काणे गीदड़ कऊँ ?—

"हाड्डों का तेरा चौतरा, गुबड़ लिप्पा होय,
कान्नों तेरे लीतरे, काणा गीदड़ बेट्ठा होय।"

गीदड़ लकड़ी लेके चला मारने कट्टो कू। वो क्या हात आवै तो ? गिदड़ ने गुस्से में चौतरा बी ढा गेरा, हाड़ बी बखेर दिये, अपणे कान्नों के लीतरे बी फाड़ गेरे।

२ पद्य

(१) पंवाड़े—पंवाड़े कौरवी में बहुत हैं। "निहालदे" के बारे में हम बतला चुके हैं। इसके लोकवार्तीय रूप भी मिलते हैं और अर्ध-लोकवार्तीय भी। अर्ध-लोकवार्तीय रूप वह है, जो कि आधुनिक काल में नागरिक सभ्यता से प्रभावित होकर चौबोले और नौटंकी के रूप में लिखे गए हैं।

निहालदे—मुझे रामनमाई के मुँह से इसकी सिर्फ दो पंक्तियाँ सुनने को मिली थीं[३]—

लिखि-लिखि परवाणा भेजे, सत्ती हो रई कंवर निहालदे।
भैया भले बखत पे आए सिरके बाल जलण ना पाये॥

८० वर्ष की वृद्धा होने के कारण रामनमाई के लिए बहुत सी बातों का याद न रहना या याद को अस्त-व्यस्त रूप में रखना स्वाभाविक था। स्वर्गीय श्रीमती होमवती देवी (मेरठ) ने इसकी कुछ और कड़ियों को बतलाया था, जिसमें "भैया भले बखत पै आये" की जगह "स्वामी भले बखत पै आये" कहा गया था। नरसुलतान उस वक्त निहालदे के पास पहुँचा, जबकि वह चिता पर बैठ चुकी थी और उसमें आग भी लग चुकी थी। राजस्थानी संस्करण से पता लगता है, कि निहालदे ने स्वामी नहीं भैया ही कहा था। वह अर्ध-मूर्छित अवस्था में समझती थी, मेरा भाई ही आ गया है। होमवती जी की दी हुई पंक्तियाँ निम्न हैं[४]—

बांदी ऐसा खत लिखवइयो, मेरे मरम की सुनके आवैं,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया सावन महीना, सब-सब पाट रंगावैं—सब-सब
डोर डटावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
राजा भले बखत पै आए, सिर के केस जलन नहीं पाए,
सत्ती हो रई कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया भादों महिना, बिजली चमक डरावै, झुक रई
रैन अंधेरी, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
बांदी ऐसा खत लिखवइयो मेरे मरम की सुनके आवैं,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया क्वार महीना, सब-सब चौक पुरावैं—सब-सब
तिलक संजोवैं, बैठी-झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया कातक महीना, सब-सब दिवले बलावैं,
बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया अघन महिना, सब-सब हार गुंदावैं, सब-सब
माँग भरावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया पूस महिना, सब-सब सौड़ भरावैं—सब-सब
पलंग बिछावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया माह महिना, सब-सब गींठी तपावैं, तत्ते
जल से नहावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया फागण महिना, सब-सब रंग घुलावैं—सब-सब
फगुवा चढ़ावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे···।
सखि, यो आया चैत महिना, सब-सब खिड़की झकावैं, सब-सब

चाँदनी लखावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे…।

सखि, यो आया बैसाख महिना, सब-सब बिजन डुलावैं,

बैठी झुरवै कंवर निहालदे…।

सखि, यो आया जेठ महिना, बन की कली मुरझावैं, खस के

बंगले छवावैं, बैठी झुरवै कंवर निहालदे…।

सखि, यो आया साढ़ महिना, सब-सब तपन बुझावैं, बन के

मोर चिंघाड़े, बैठी झुरवै कंवर निहालदे…।

स्वामी भले बखत पै आए, सिर के केस जलन नहीं पाए,

सत्ती हो रई कंवर निहालदे…।

इस भाषा में साहित्यिक नागरिक भाषा का प्रभाव स्पष्ट है, तो भी लोक-साहित्य के गुणों का बिल्कुल अभाव नहीं है।

निहालदे और नरसुलतान की गाथा इतनी प्रिय है, कि पिछली शताब्दी में नौटंकी और प्रेस से छपी पुस्तकों का जब प्रचार हुआ, तो उसके लिए कितने ही "शायरों" ने पुस्तकें लिखीं। कलछिना (ज़िला मेरठ) निवासी चौधरी रामसिंह ने "निहालदे-नरसुलतान" के नाम से दस भागों में इस पंवाड़े को लिखा है। चौथे भाग के अन्त में उन्होंने निहालदे के अन्तिम समय का वर्णन निम्न प्रकार किया है[५]—

दोहा—ये री ऊदा आये नहीं, मेरे पति भरतार।

दिल धीरज धरता नहीं, खाके मरूँ कटार॥

चमोला–खाके मरूँ कटार बहन री, या दे सल रचवाई।

याद पिया की बसी है दिल में, रातों मरूँ तवाई॥

खोटे-खोटे ख्वाब रोज के, देवें मुझे दिखाई।

दुरबल जीना हुआ मेरा, अब दूँगी देह जलाई॥

मु०— कागा बोला महल पे, लीना सगुन बिचार।

मक्खी लोटी चून में, आवें हैं भरतार॥

चमोला–आवें हैं भरतार तुम्हारे, कहूँ धरम की बानी।

आज श्याम तक धीरज धरले, मलना तजो प्रानी॥

कौरवी के सुन्दर और लोकसंमत पंवाड़े तो कितने ही पुराने कण्ठों में मौजूद हैं, जिनके नष्ट हो जाने का भी भय है। चौधरी रामसिंह की तरह की भाषा में कितने ही पंवाड़े पढ़ने या स्वांग खेलने के लिए लिखे भी गए हैं। "आल्हा खण्ड" स्वाँग की चीज़ नहीं है, इसलिए उसकी बावनगढ़ की लड़ाई डेढ़ हज़ार पृष्ठों में छपी मिलती है। स्वांग के पंवाड़े संगीतों, स्वाँग की पुस्तिकाओं के रूप में छपे हैं, जैसे "चम्पादे", "चन्दा सूरज", "फूलाजाट', "चांदकौर" आदि।

(२) लोकगीत—

कौरवी में ऐसे कितने ही गीत हैं, जो हिन्दी क्षेत्र की दूसरी भाषाओं में भी प्रसिद्ध हैं, जैसे "चन्द्रावल"। यह कौरवी का एक बहुत ही करुणापूर्ण गीत है, जो मारवाड़ी, बुंदेली ही नहीं अवधी में भी मिला है। किसी में यह अधिक पूर्ण है और किसी में अपूर्ण है। रामनमाई का गाया गीत निम्न प्रकार है—

अब रुत आई बाबा बीजणे की,

सास्सु बरजै—"बऊ री, पणिया मत जाई,

डेरा पड़ा है मोगल के का, दे लेगा तमुओं के बीच।"

"सास्सु की बरजी ना रहूँ, मैं तो पणिया भरूँ झकझोल,

क्या करैगा वारा मोगल के का, तमुओं में दे दूंगी आग।"

पणिया चली चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस,

डेरे से लिकला मोगल के का, दे लिया तमुओं के बीच।

"बाटे चलत बटेउड़ा, एक संदेसा लेके जा,

मेरे बाबल से नूँ कहो रे, बेटी तमुओं के बीच,

मेरे बीरन से नूँ कहो रे, भेन्ना तमुओं के बीच।" अब रुत० ॥

बाबल सुण के रो पड़ा, "बेट्टी तमुओं के बीच,"

बीरन ने खाई है पछाड़ "भेन्ना तमुओं के बीच,"

बाबल हाँसे चल पड़ा, छकड़ों भर लिए दाम,

"बेटी छुड़ाऊँ चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

बीरन हाँसे चल पड़ा, छकड़ों भर लिए दाम,

"भेन्ना छुड़ाऊँ चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

"जारे मुगल के छोहरे, छकड़ों लीजो दाम,

बेट्टी छोड़ो चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

जा बीरन ने नू कया, "हस्ती लीजो दाम,

भेन्ना छोड़ो चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।" अब रुत० ॥

"जा रे बाबल घर आपुणे, राखूँ पंचों की लाज,

जा रे बीरन घर आपुणे, राखूँ टुपिया की लाज।"

"बाटे चलत बटेउडा रे, एक संदेसा लेके जा,

मेरे सुसर से नू कओ, बऊ तमुओं के बीच,

मेरे देवर से नू कओ रे, भाभी तमुओं के बीच,

मेरे कन्त से नू कओ रे, गोरी तमुओं के बीच।"

सुसर सुण के रो पड़ा, देवर खाई है पछाड़।

कन्त चौधरी हँस पड़ा, "लाऊँ ऐसी दो चार।"

सुसर हाँसे चल पड़ा, छकड़ों भर लिए दाम।

"बऊ छुड़ाऊँ चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

"जा रे सुसर घर आपुणे, राखूँ पंचों की लाज,

देवर हाँसे चल पड़ा, छकड़े भर लिए दाम,

भाभी छुड़ाऊँ चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

"जा रे देवर घर आपुणे, राखूँ टुपिया की लाज।

जा रे मुगल के छोहरे, पणिया भर के ला,

प्यासी मरे चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।"

मुगलके के पीठ फेरते, तमुओं में देल्ली आग,

खड़ी-खड़ी जले चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।

बाल जलै जैसे दूबिया, जीब कंवल के सा फूल,

दाँत जलै जैसे कौड़ियाँ, पेट जैसे मैदे की लोथ।

खड़ी-खड़ी जलै चंद्रावली, जिसके लम्बे-लम्बे खेस।

हाथ मलै मुंडी धुणै, "यो क्या करी करतार,

देखी तो चाखी नई, यो क्या करी करतार॥"

हमारी दूसरी भाषाओं में चंद्रावली (चन्दा) के जो गीत गाये जाते हैं, वह सभी एक से एक सुन्दर हैं। सभी में चन्द्रावली के अतिमानुस साहस और करुण अन्त का हृदयद्रावक वर्णन है। राजस्थानी "चन्द्रा-

वली" से मालूम होता है, कि जिस मुगल ने चन्द्रावली को पकड़ा था, वह हाड़ा राव को फौज का एक अफसर था, जैसे[७]—

सात सैयां के झूमखे, चंदा पाणी नै जाय।
आई फौज हाड़ाराव की, ज्या में बुगल पठाण ॥१॥
तम्मू तणै डोरी तणै, तणगो सारो सामान।
फोज बैठी हाड़ाराव की, ज्या में बुगल पठाण ॥२॥

इसकी और कौरवी गीत में बहुत समानता है।

तम्बू बलै डोरी बले, बलगो सारो समान।
बीच बलै चन्दा गोरड़ी, ज्यां का लांबां जो केस ॥

और अन्त में कहा गया है—

मुगल देखतो रह गयो, होई चंदा की राख।
ये धोखा मन में रहा, क्यैं मैं ल्यायो जी साथ।
"खारी ए लूमण की बेलड़ी, फल लाग्यो ए ना फूल।
तोड़ी ही चाखी नहीं, धोखा मनई-मनड़ै रै मांय" ॥

बुन्देलखण्डी "चन्द्रावली"[८] में कौरवी की तरह "लम्बे-लम्बे केस" को अनेक बार दोहराया गया है।

"खड़ी-खड़ी जलै चन्द्रावली, जाके हैं लम्बे-लम्बे केस,
अंग जरै जैसे लाकड़ो, केस जरै जैसे घास,
दाँत जलै जैसे कौड़ियां, पेट जैसे मैदे की लोथी"

अवधी में और कुछ दूसरे संस्करणों में भी सात सखी या सात बहनें चंद्रावली कहा गया है[९]—

सात बहिनि चंदा सिंकिया जे चीरें,
सिकिया चिरै ए रे सदौली के घाट जी।
आइगे लस्कर मुगलकै, चन्दा परिबन्दिखान जी।

और अन्त में

चिता बारि चन्दा जरि गई, चन्दा तो होई गई राख जी।
चन्दा के चिता अस धधकै, धूवा से भरिगा भण्डार जो।
जरिगै मोगला कै दाढ़ी, ऊहाँ होइगा तमाम जी।

लोकगीतों की अधिकांश कवयित्रियाँ स्त्रियाँ होती हैं। उनमें पुरुषों को स्वार्थान्धता और क्रूरता की छाप मिलती है। अपनी पत्नी के मुगल के हाथ में पड़ने पर चंद्रावली के पति को कोई दुःख नहीं होता, वह कहता है "लाऊं ऐसी दो चार।" पुरुष की क्रूरता का परिचायक एक और गीत है—

मनरा[१०]—

चूड़ा तो हाथो दांत का, चूड़ा तो मेरे मन बसा।
गली गली मनरा फिरे, अरी बीबी मनराकू लाओ बुलाय।
पल्ला पसार मनरा बैठ गया, "मनरा, कओ इस चूड़ले का मोल" ॥चूड़ा०॥
"औरोंकू बीबी मेरी लाख टका, तुमकू पराऊं बिना मोल"॥
"हरी, जंगीरी ना परु ं, हरे मोरे राजा जी के बाग।
काली जंगीरी मनरा मैं ना परु ं, काले मोरे राजा जी के पंठे।
लाल जंगीरी मनरा मैं ना परु ं, लाल मोरे राजा जी का बिडला।
चिट्टी जंगीरी मैं ना परु ं, चीटी मारे राजाजी का बस्तर।"

एक गीत में तरुणी गौना (मुकलावा) जाने में देरी होने के लिए विकल हो रही है—[११]

"मेरी काली चोटी एन की, धरी परानी हो।
जिब देक्खूँ जिब रोय पड़ूँ, मेरा कद मुकलावा हो।
मेरे संग की छोरियाँ, गोड्डों में लाल खिलावें।
जिब देक्खूँ जिब रोय पड़ूँ, मेरी सारी मन पै आवैं।"

दूसरी तरुणी बिदेस में दूर ब्याह करने और ससुराल के झगड़े के बारे में कहती है—

"काहे को ब्याही बिदेस, रे लक्खो बाबल मेरे
हम तो रे बाबल तेरे खूँटे की गइया, जिधर बांधो बंध जाये, जिधर खोलो खुल जायें।
काहे को ब्याही बिदेस, भइयों के दोन्हें महल दुमहले, हमको दियो परदेस।
रे लक्खी बाबल मेरे, काहे को ब्याही बिदेस।
घर सुसरा लड़ै, घर सासड़ लड़ै, घर बालम लड़ै, मेरी कदर घटी।
पास पैसा हो तो मैं जहर खा मरूँ, आंगन में कुँआ हो तो डूब मरूँ।
सासु भी मारै, सोहरा भी मारै, बेअकला मारै, मैं बैठ लई मोटर में। मत लड़े मोरी सास्सु जुदा हो जा री, अपणा झुम्मर भी ले ले, अपणा टिक्का भी ले ले।"

लोक-कवि के अपने छन्द, अपनी शैली और अपने शब्दविन्यास होते हैं। उनका जितना हो अधिक अनुसरण किया जाय, उतना ही लोक-काव्य सुन्दर होता है। पर शिक्षा और सम्पर्क के साथ-साथ फैलती हुई नागरिक सभ्यता के अनुचित प्रभाव नई पीढ़ी के लोक-कवियों के ऊपर भी पड़ते जा रहे हैं। जिस भी घटना से लोकमानस उल्लसित या विकल हो जाता है, वह उससे कविता के रूप में निकल पड़ती है। नाथूराम गोडसे ने राष्ट्रपिता गांधी जी की नृशंस हत्या की, इस पर कोई कौरवी कवि-हृदय चिल्ला उठा—[१२]

"ऐ नात्थूराम तूने जुलम करा, कैसे मारा गांधी।
शान्तिदेवी राज करै थी, आग्गे लगा ली बांधी।
चुल्हे आग्गे आहा छोड्या साग, गांधी जी के मार्रानया।
हारी में छोड्या साग, गांधी जी के मारनिया, तुझे कुछ ना आई लाज।

हरियाणी कवि ने भो इसी निष्ठुर घटना का वर्णन किया है—[१३]

(शेष पृष्ठ २१ पर)

---

१. "आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें" (राहुल सांकृत्यायन), पृष्ठ १४, २. "आदि०", पृ० ३८, ३. वहीं, पृ० १०३, ४. वहीं, भूमिका पृ० १०-११, ५. "निहालदे नरसुल्तान", खलीफा अबदुल मजीद के शिष्य, चौधरी राम सिंह कलछीने निवासी कृत, पृ० १५३. ६. "आदि", पृ० ६१, ७. "शोधपत्रिका" उदयपुर, दिसम्बर—मार्च, १९५४-५५ ई०, पृ० ३५. (मनोहर शर्मा), ८. वहीं, पृ० ४३ ९. "हमारा ग्रामसाहित्य", रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १३७, १०. "आदिहिन्दी", पृ० १०३, ११. "सम्मेलनपत्रिका" संवत् २०१२, संख्या ३, पृ० ६१-६२ (सत्या गुप्ता), १२. "विशाल भारत", दिसंबर १९५४, पृ० ४१४-१५ (सत्या गुप्ता), १३. "हिन्दुस्तान साप्ताहिक", ३० जनवरी १९५५, पृ० ७ (कन्हैया लाल मिडा)।

हिन्दी की साहित्यिक कृतियों का रूसी अनुवाद

प० स० बरान्निकोव

कई शताब्दियों पूर्व भी रूसी जनता में भारतीय संस्कृति के प्रति विशेष रुचि थी। इसका प्रमाण यह है कि भारत के सम्बन्ध में सामग्री अनेक पुरानी रूसी लोक-कथाओं में मिलती हैं, जैसे "द्युक स्तेपानोविच", "वासीलिय् बुस्लाएव" आदि लोक-कथाएँ। प्राचीन रूसी कृतियों, जिन में भारत का वर्णन है, में "भारतीय राज्य की कथा" अग्रगण्य है। इस कृति में भारत का सुन्दर और भव्य वर्णन मिलता है।

प्रसिद्ध रूसी व्यापारी और यात्री अफनासिय् निकीतिन ने अपने देशवासियों को भारत-सम्बन्धी जानकारी दी। उसने १५वीं सदी में भारत का भ्रमण किया और भारतीय जनता के प्रति गहरी रुचि और प्रेम अभिव्यक्त किया। दूसरा रूसी यात्री फ़िलिप एफ़्रेमोव १८वीं सदी के अन्त में भारत आया। उसने भी भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन देकर रूसी भारततत्व विज्ञान को समृद्ध किया।

लेकिन दोनों देशों की जनता के सांस्कृतिक सम्बन्ध सुदृढ़ बनाने में १८वीं सदी में गेरासिम लेबेदेव ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वह भारतवर्ष में कई बरस रहे और कलकत्ते में सब से पहले रंगमंच की स्थापना की। रूस वापस लौटने पर उन्होंने अपने देशवासियों को अपनी कृतियों से भारत की संस्कृति, साहित्य तथा विभिन्न भाषाओं का विस्तृत परिचय दिया। १८वीं सदी में रूसी-भारततत्वविद् प्रोफ़ेसर ई० प० मिनाएव ने तीन बार भारत-यात्रा की। वे संस्कृत, पाली और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विद्वान थे। उसी शताब्दी में भूगोल के विद्वान प० ई० पशिनों, चित्रकार अ० द० सलतिकोव तथा व० व० वेरेश्चागिन ने भारत-यात्राएँ कीं। उन्होंने भारतीय जनता के वास्तविक जीवन को अपनी कलाकृतियों में चित्रित किया है। १८वीं सदी के अन्त में और १९वीं सदी के आरम्भ में भारतीय साहित्य के पहले रूसी अनुवाद निकलने आरम्भ हुए। इस काल में प्राचीन भारतीय भाषाओं पर विशेष ध्यान रखा गया। इसी कारण पहले-पहल प्राचीन भारतीय साहित्य की कृतियों के रूसी अनुवादों का प्रकाशन हुआ। सन् १८७७ में "विश्व साहित्य का इतिहास" नामक पुस्तक के एक खंड में ऋग्वेद् की कई ऋचाओं का रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके दो साल बाद प्रोफ़ेसर कुशेवस्की ने ऋग्वेद की अन्य आठ ऋचाओं का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया। वैदिक साहित्य की तुलना में भारतीय प्राचीन महाकाव्यों के रूसी अनुवाद बड़ी संख्या में प्रकाशित हुए। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत के रूसी अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय हुए। इनके कई अंश रूसी भाषा में अनेक बार अनूदित होते रहते हैं। सन् १७८८ में महाभारत का सुप्रसिद्ध अंश— "श्रीमद्-भगवद्गीता" का रूसी अनुवाद निकला। १९वीं सदी के दौरान में महाभारत के अंशों के रूसी अनुवाद निकलते रहे, जैसे "शकुन्तला", "नल-दमयन्ती", "सुन्द और उपसुंद", "राजा उशिनर और चील", "द्रौपदी-हरण" आदि। "शकुन्तला" के अनेक रूसी अनुवाद हुए हैं। इनमें एक का अनुवाद सुप्रसिद्ध रूसी कवि व० अ० ज़्हुकोवस्की ने किया है। इस अनुवाद के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं और रूस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तथा जनतन्त्रवादी विचारक व० ग० बेलिनस्की ने इसकी प्रशंसा की है। संस्कृत के विद्वान ई० कोस्सोविच ने "शकुन्तला" का दूसरा अनुवाद किया है।

रूस में वाल्मीकि-रामायण के प्रति भी विशेष अनुराग रहा है। १९वीं सदी के मध्य में इस कृति के कई रूसी अनुवाद निकले। सन् १८४३ में "मयाक" नामक पत्रिका में रामायण के एक अंश का रूसी अनुवाद प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। सन् १८८६ में रिज़्होव ने तिफ़लीस (त्बिलीसी) में रामायण का अपना अनुवाद प्रकाशित कराया। सन् १९०२ में पितेरबुर्ग (लेनिनग्राद) में यू रोमेंस्की ने भी रामायण का रूसी अनुवाद किया। किशोर पाठकों के लिए म० चिस्त्य-कोव कृत रामायण का अनुवाद दो बार प्रकाशित किया गया।

भारतीय कथा-साहित्य के रूसी अनुवाद भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में हितोपदेश के दो अनुवाद प्रकाशित हुए। इनके अनुवादक द० न० कुद्र्यावस्की और म० ई० आर्लोव हैं। इसके अतिरिक्त पंचतन्त्र का अनुवाद भी किया गया। अनेक भारतीय कथा-संग्रह और कहानी-संग्रह रूसी भाषा में निकले। इनमें "विद्याधर जीमूतवाहन की कथा", "ध्रुव की कथा", "कथासरित्-सागर", "बैताल की कहानियाँ", "टोटी कहानी" आदि हैं।

संस्कृत के शास्त्रीय युग की अनेक कृतियों के जो रूसी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, इनमें महाकवि कालिदास की कृतियाँ अग्रगण्य हैं। इनके "अभिज्ञान-शाकुन्तल" के दस से अधिक अनुवाद प्रकाशित हुए। इनकी अन्य सभी कृतियों के अनुवाद भी अनेक बार प्रकाशित हो चुके हैं। रूसी पाठकवर्ग भर्तृहरि, शूद्रक, अमरु आदि के अनुवादों से भी भली-भाँति परिचित है और उनका प्रशंसक भी है।

बुद्ध सम्बन्धी साहित्य की अनेक कृतियाँ भी रूसी भाषा में निकलीं। इनमें से अश्वघोष कृत "बुद्ध-चरित्र" का अनुवाद प्रसिद्ध रूसी कवि बल्मोंत ने किया है।

महान अक्तूबर समाजवादी क्राँति से पहले रूस में नए भारतीय साहित्य की कृतियों में से केवल महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक कृतियाँ अनुदित हुई। इनमें "माली", "गीताँजलि", सुभाषिणी," "जीवन की पहचान", "चित्रा" आदि हैं।

हिन्दी साहित्य की कृतियों के रूसी अनुवाद महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद ही निकलने आरम्भ हुए। इस कार्य का

गहरा सम्बन्ध आधुनिक भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन से है। इस अध्ययन को अकदेमिशियन श्री अलैक्सेइ प्रेत्रोविच बाराज्निकोव ने विस्तृत और वैज्ञानिक रूप से चलाया।

अ० प० बाराज्निकोव ने हिन्दी साहित्य के विषय में अनेक खोजपूर्ण निबन्ध लिखे तथा हिन्दी साहित्य की कृतियों के कई अनुवाद किए। निबन्धों में हैं—"हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त विवरण", "प्रेम सागर और उसके रचयिता"। मुंशी प्रेमचन्द के कृतित्व का वर्णन "प्रेमचन्द का सप्तसरोज" नामक लेख में दिया गया है, जो सन् १६३४ में प्रकाशित हुआ था। परन्तु अ० प० बाराज्निकोव ने विशेष ध्यान "राम चरित मानस" की ओर रखा, जिसके परिणामस्वरूप "तुलसीदास और उनका युग" नामक एक विस्तारपूर्ण आलोचना प्रकाश में आई। इस आलोचना में तुलसीदास के कृतित्व के विभिन्न अंगों पर विशद् रूप में विचार किया गया है। सोवियत लोगों को इससे बड़ी खुशी हुई है कि यह कृति सोवियत संघ में ही नहीं, वरन् भारत में भी प्रसिद्ध हो चुकी है। इस कृति का हिन्दी अनुवाद डा० केसरी नारायण शुक्ल ने किया है, जो गतवर्ष लखनऊ से प्रकाशित हुआ। भारत सोवियत सांस्कृतिक संघ की मुखपत्रिका में इस विवेचना के कई अंश प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री अ० प० बाराज्निकोव के अनेक शिष्य भी हिन्दी साहित्य पर खोजपूर्ण निबन्ध लिखने में संलग्न हैं। श्री व० म० बेस्क्रोव्नी ने सन् १६४१ में "प्रेमचन्द" नामक एक खोजपूर्ण विवेचना लिखी, जिसमें भारतीय साहित्य के महान स्रष्टा श्री प्रेमचन्द की कलासम्बन्धी महत्ता दिखाई गई है और उनकी कृतियों में भारतीय जनता के जीवन, उसके विषाद तथा उल्लास और सुखमय भविष्य के लिए किए गए संघर्ष के चित्रों पर विवेचनात्मक दृष्टि डाली गई है। नवयुवक भारत तत्वविद् व० ई० बालिन ने अपने खोजपूर्ण निबन्ध "कहानीकार प्रेमचन्द" में, जो अभी हाल ही में समाप्त हुआ है, श्री प्रेमचन्द की सभी कहानियों की विस्तृत विवेचना की है। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के भारततत्व विभाग के अनेक विद्यार्थी हिन्दी साहित्यकारों की कृतियों का अध्ययन करते हुए वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं। इनमें तुलसी, कबीर, नानक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि की कृतियाँ सम्मिलित हैं। आधुनिक लेखकों में यशपाल, अमृतराय, उपेन्द्रनाथ "अश्क", कृष्णचन्द्र आदि की रचनाओं का अध्ययन भी किया जाता है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ हिन्दी साहित्य की कृतियों के अनुवाद भी किए जाते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में पहला रूसी अनुवाद प्रेमचन्द की "सप्तसरोज" में संग्रहीत कुछ कहानियों का हुआ। इन कहानियों का अनुवाद अ० प० बाराज्निकोव ने किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने लल्लूलाल जी कृत "प्रेम सागर" का अनुवाद भी किया है। लेकिन उनका "राम चरित मानस" का रूसी अनुवाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह अनुवाद पूरा करने के लिये अनुवादक को करीब दस साल परिश्रम करना पड़ा। सख्त बीमार होने पर भी वे अनुवाद का काम अबाध गति से करते रहे। जब जर्मनी पर फासिस्टों का आक्रमण हुआ, कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार ने उनको उत्तरी कज़ाकिस्तान में भेज दिया, ताकि वे बिना किसी रुकावट के अपने काम आगे चला सकें। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के दौरान में अनुवाद का मुख्य भाग पूरा हुआ। प्रकाशित होने पर सोवियत जनता ने हृदय से उसका स्वागत किया। हमारे भारतीय मित्रों ने भी हृदय से उसका स्वागत किया। भारत ने भी इस पुस्तक का यथोचित सम्मान किया है। श्री अ० प० बाराज्निकोव की मृत्यु के पश्चात् सोवियत विज्ञान एकेडेमी के प्रतिनिधि मंडल के सदस्यों ने भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को "मानस" के रूसी अनुवाद की एक प्रति उपहार स्वरूप भेंट की थी।

आजकल जिस प्रकार सोवियत संघ तथा भारत के बीच सांस्कृतिक तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दिन प्रति दिन बढ़ते जा रहे हैं, उसी प्रकार सोवियत संघ में भारतीय साहित्य और उसमें भी हिन्दी साहित्य की कृतियों के अनुवादों की संख्या भी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। कालिदास, शूद्रक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की कृतियों के साथ-साथ हिन्दी साहित्य की कृतियों के अनुवाद भी हो रहे हैं।

इनमें मुंशी प्रेमचन्द की कृतियों का बहुत बड़ा स्थान है। सन् १६५५ में प्रेमचन्द की कई कहानियों का एक संग्रह "ठाकुर का कुआँ" नाम से प्रकाशित हुआ। इसी साल "पानी का वृक्ष" नामक कहानी संग्रह में प्रेमचन्द की कई अन्य कहानियों के अनुवाद निकले हैं। कई पत्रिकाओं में, जैसे "इनोस्त्रान्नाया लितेरतूरा" (विदेशी साहित्य), "अगन्योक" आदि में प्रेमचन्द जी की कहानियाँ निकलती रहती हैं। इसके सिवा आजकल प्रेमचन्द की रचनाओं को अनेक खंडों में प्रकाशित करने की तैयारी हो रही है। इनमें प्रेमचन्द के कई उपन्यास (गोदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि आदि) शामिल होंगे। यशपाल की अनेक कृतियाँ भी अनुवादित हो चुकी हैं और हो रही हैं। उनके उपन्यास "दिव्या" का अनुवाद भी तैयार हो रहा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी कविता का संग्रह भी प्रकाशित होने वाला है, जिसमें सर्वश्री निराला, मैथिलीशरण गुप्त, बच्चन, हरिऔध, नागार्जुन, शील आदि की कविताएँ सम्मिलित हैं। पंचतन्त्र और हितोपदेश के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी लोक-कथाओं का संग्रह भी तैयार हो रहा है।

पिछले पाँच साल के दौरान ही में भारतीय साहित्य की प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियों की संख्या दस लाख से अधिक है। यह इस बात का प्रमाण है कि सोवियत संघ में भारतीय लेखकों की कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हो चुकी हैं। इसलिए इन किताबों का इतनी बड़ी संख्या में प्रकाशन होने पर भी इनकी ज़रूरत और माँग हमेशा बनी रहती है।

सोवियत अनुवादक अपने काम को बड़े उत्साह से आगे बढ़ा रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनका यह काम भारत तथा सोवियत संघ की जनता के सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में योगदान देता है।

इस लेख के लेखक श्री प० स० बराज्निकोव सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान एलैक्साई पैत्रोविच बराज्निकोव के सुपुत्र हैं। यह लेख उन्होंने मूल हिन्दी में लिखा है। —सम्पादक

मैं उपन्यास कैसे लिखता हूँ ?

आचार्य चतुरसेन

आपको सुन कर आश्चर्य हो सकता है, मैंने विश्व के बहुत कम नामांकित उपन्यास पढ़े हैं और बहुत कम प्रसिद्ध उपन्यासकारों के नाम जानता हूँ। अभारतीय भाषाओं के उपन्यासों की बात दूर, भारतीय भाषाओं के भी उपन्यासों और उनके रचयिताओं से मैं बहुत कम परिचित हूँ। यहाँ तक कि यही बात सच्चे अर्थों में हिन्दी भाषा के उपन्यासों और उनके लेखकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रेमचन्द तक के पूरे उपन्यास मैंने नहीं पढ़े। उनके 'गोदान' का देश-विदेशों तक में डंका बज रहा है, पर मैंने अभी तक उसे पढ़ा ही नहीं, पढ़ने की प्रवृत्ति मन में हुई ही नहीं। अज्ञेय जी के 'नदी के द्वीप' और बहुत से ऐसे उपन्यास जिनकी आलोचना-जगत में निरन्तर चरचा चलती रहती है, उनके भी मैंने दर्शन नहीं किए। और यदि वे मेरे सम्मुख कभी आ भी जाएँ तो वे बिना ही पढ़े मेरे पास इधर-उधर पड़े रहेंगे, जैसे प्रेमचन्द का ख्यातिलब्ध—गोदान। यदि आप मुझसे पूछें कि हिन्दी में कौन-कौन अच्छे उपन्यास और उपन्यासकार हैं तो सचमुच में बग़लें झाँकने लगूँगा। हाँ, अपने उपन्यासों को तो मैं दस-बीस, सौ-पचास बार पढ़ चुका हूँ। पढ़ता ही रहता हूँ। कभी नहीं ऊबता। हर बार उनमें मुझे नया रस मिलता है।

भारतीय और अभारतीय उपन्यासों के प्रति मेरी यह उदासीनता और अज्ञान और अपने उपन्यासों के प्रति यह आसक्ति न तो आलस्य और आत्मनिष्टा पर आधारित है, न जड़ता और अहम्मन्यता पर। असल बात यह है कि उपन्यासों के पढ़ने में मेरा मन ही नहीं लगता। दो-चार पृष्ठ पढ़ने के बाद ही जी घबराने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे व्यर्थ समय नष्ट हो रहा है। एक बात और कह दूँ—ताश-शतरंज या दूसरे ऐसे ही हल्के-भारी खेल भी मैं पूरे मनोयोग से नहीं खेल सकता। दस-पाँच मिनट में ही मेरा जी ऊब जाता है। इसी से सदैव इन खेलों में बाज़ी हारता हूँ। ठीक वैसी ही मनोवृत्ति मेरी उपन्यासों के पढ़ने के समय हो जाती है। भीड़-भाड़ से भी मैं बहुत घबराता हूँ। मेले-ठेले में बहुधा नहीं जाता, कभी-कभार मुझे कार्यवश शहर जाना पड़ता है तो मैं बेहद परेशान हो उठता हूँ। शांत, एकान्त, निस्तब्ध वातावरण में मैं प्रसन्न रहता हूँ। बहुधा उपन्यासों के पढ़ने में मुझे भीड़-भाड़ में फँस जाने की जैसी ही परेशानी अनुभव होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं रेलगाड़ी के ठसाठस भरे डब्बे में बैठा हूँ—तीसरे दर्जे के डब्बे में—जहाँ कुछ देहाती किसान, कुछ बेतुके से ऊट-पटांग स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी हाँक रहे हैं। कोई मुकदमे की चर्चा करता है, कोई घर-गिरस्ती का रोना रो रहा है, कोई छैल नई नवेली को लिए प्रेमालाप कर रहा है, कोई थूक रहा है, कोई खांस-खखार रहा है, कोई ताश खेलता—बीड़ी पीता है, कोई हँसता है, कोई लड़ता-झगड़ता है। स्टेशन आ रहे हैं, एक उतरता है, दूसरा चढ़ता है। मेरी क्या दिलचस्पी हो सकती है भला इन सब से ? हाँ, बहुत लोग सहयात्रियों से तुरन्त दोस्ती गांठ लेते हैं, पर मैं उन सब से जुदा आदमी हूँ। सदैव ऊब जाता हूँ और जान बचाने को छटपटाने लगता हूँ।

अपने उपन्यासों की बात बिलकुल जुदा है। उनका जब कोई भी पृष्ठ खुला, किसी भी पंक्ति पर मेरी दृष्टि पड़ी, मेरा चित्त प्रसन्न हो जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं आत्मीयों में आ गया। अपने घर में आ पहुँचा। ये मेरे परिजन हैं, बच्चे हैं, सम्बन्धी, रिश्तेदार, भाईबन्द हैं। अकस्मात आ मिले हैं। मुझसे मिल कर ये खुश हैं, उनसे मिल कर मैं खुश हूँ। बहुधा मैं दो-चार पन्ने पढ़ता चला जाता हूँ, किसी खास मतलब से नहीं; यों ही जैसे किसी आत्मीय-दोस्त से बात करते-करते कुछ दूर तक टहलने चला जा रहा होऊँ।

यह कुछ विचित्र-सी ही बात आपको लगेगी। पर हक़ीक़त यही है। बचपन में "चन्द्रकान्ता" और "चन्द्रकान्ता संतति" मैंने चाव से पढ़ा था। उन दिनों में पाँचवीं या छठी कक्षा में पढ़ता था। उसके बाद बंकिम के दो-चार उपन्यासों में मेरा मन लगा। "आनन्द मठ" मुझे बहुत भाया। पर यह भी बचपन की ही बात कहनी चाहिए। थोड़ा समझदार होने पर शरत और रवीन्द्र के कुछ उपन्यास पढ़े। शरत में मेरा मन लगा, रवीन्द्र के दो ही उपन्यास मुझे अच्छे लगे "आँख की किरकिरी" और "कुमुदिनी"। प्रेमचन्द के उपन्यासों में मेरा मन नहीं लगा। वृन्दावन लाल वर्मा का "गढ़ कुंडार" अवश्य मैंने रुचि से पढ़ा। "लण्डन रहस्य" जब रामलाल वर्मन छाप रहे थे, तब चाव से पढ़ा था। मुझे याद है जब वे एक लाख रुपये के मूल्य की हीरे की अंगूठी पहन कर कनवेसिंग करते फिरते थे, तब मुझे भी सीरीज़ का ग्राहक बना गए थे। जैनेन्द्र की "परख" भी मैंने नहीं पढ़ी, उसकी अनधिकृत आलोचना तो कभी-कभी मेरी आँखों से गुज़र जाती है। पर "परख" के पात्रों से मेरा परिचय है और जब जैनेन्द्र उनके साथ खेल रहे थे, वे दिन भी मुझे याद हैं। 'कट्टो' को तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ

इतिहास और दर्शन में विशेष रुचि रहने के कारण हल्की और उथली चीज़ मुझे जंचती ही नहीं। हालांकि मैं दार्शनिक नहीं हूँ। दर्शन शास्त्र पर श्रद्धा भी नहीं रखता हूँ। पर मैंने हिन्दू-दर्शन पढ़े, समझे हैं यत्न से। इसी से मेरी दार्शनिक दृष्टि तो समीक्षा दृष्टि बन गई है। जीवन के प्रत्येक संघर्ष को, चरित्र के प्रत्येक मोड़ को मैं दार्शनिक समीक्षा पर जांचने का आदी हो गया हूँ। इसी से सभी उपन्यास पात्र मुझे भाते नहीं, उनकी बातों में रस आता नहीं।

पता नहीं, शायद इसी कारण मेरा दृष्टिकोण जीवन की व्याख्या के सम्बन्ध में इतना वक्र और निगूढ़ हो गया है।

बहरहाल, मैं उपन्यास के टैकनीक को कुछ भी नहीं जानता। इस सम्बन्ध में मैंने कोई साहित्य, यदि है, तो पढ़ा नहीं। मैं नहीं जानता कि विश्व के नामांकित उपन्यास लेखक उपन्यास कैसे लिखते हैं। मैंने यह विद्या कहीं किसी से सीखी नहीं है, मैं इस विषय में कुछ जानता भी नहीं हूँ। बहुत से लोग खास कर छात्र, जो अध्ययन की दृष्टि उपन्यासों पर रखते हैं, बहुधा इसी प्रकार के प्रश्न पूछते हैं, तब मुझे बग़लें झाँकनी पड़ती हैं। अंटशंट कुछ बक देता हूँ। तब या तो वे लोग मेरे सद्भाव में आ जाते होंगे या पीछे मुँह फेर कर मेरी मूर्खता और अज्ञान पर हँसते होंगे।

फिर भी मैं अपने उपन्यासों के लिखने के विषय में तो जानता ही हूँ। यद्यपि बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं बता सकता, पर कुछ तो बता ही सकता हूँ। सबसे बड़ा प्रभाव तो मेरे उपन्यासों पर मेरे अपने ही जीवन का है। एक दरिद्र और मज़दूर माता-पिता के घर जन्म लेने के कारण बचपन ही से मुझे अभाव ने छुआ। मेरे बचपन के अभाव के स्पर्श का दाग तो अब तक मेरे दिल पर है। मेरी माता चिररोगिणी रहीं। वह लगभग १४ वर्ष शैयागत रहीं। यह वह समय था जब मेरी समझ ज़रा पक रही थी, मैं तीसरी-चौथी कक्षाओं में पढ़ रहा था। तब तीन बातों से मेरा परिचय हुआ—अभाव, सेवा और श्रम।

मैंने बहुत बार देखा कि मेरे पिता जी रोगिणी माता के लिए समय पर ठीक-ठीक पथ्य और औषध भी न जुटा सकते थे। अत्यन्त आवश्यक होने पर वे हम लोगों को पड़ोसियों से उधार माँग लाने को भेजते, और हम लोग वहाँ से नकार लेकर प्रायः लौटते। उन दिनों वह अभाव मुझे कुछ विशेष नहीं खला, पर बाद में तो उसने एक स्थायी दर्द की उत्पत्ति मेरे मन में कर दी। मैं बालक था, पर एक दृश्य नहीं भूल सकता—जब सब ओर से नकार ग्रहण कर पिता जी अर्द्धमूर्छिता माता का सिर गोद में लिए ज़रा-ज़रा पानी चम्मच से उनके मुँह में डाल रहे थे। तब, जैसे वह नकार मूर्छिता माता के भी अन्तस्तल को छू गया था। उन्होंने बहुत यत्न से बहुत देर तक इंगित किया, पर वह इतना अस्पष्ट था कि पिता जी बहुत ही कठिनाई से समझ पाए, और तब उन्होंने संकेतस्थल से दीवार की एक दरार से मैले कपड़े में लिपटी एक पोटली निकाली, जिसमें कुछ रुपये थे। शायद दो-चार। उनमें से एक तुड़ा कर माता के लिए दूध मँगाया गया। दूध तब चार पैसे का सेर मिलता था। पर आज भी मैं उस एक पाव दूध की कीमत का अनुमान नहीं लगा सकता। एक पैसे के उस दूध के लिए पिता जी को दो घण्टे संघर्ष करना पड़ा था, बीस जगह हाथ फैला कर नकार प्राप्त किया था। यह था मेरे जीवन पर अभाव का स्पर्श।

सेवा मैंने पिता जी की देखी। १४ वर्ष निरन्तर अनवरत, वे माता को अनायास ही फूल की डाली की भाँति हाथों में उठा लेते। सेवा, सुश्रुषा, सफ़ाई और न जाने क्या-क्या उन्हें करना पड़ता था, जिसे तब नहीं समझा था, बाद में जीवन भर समझा। यह हुआ मेरे जीवन पर सेवा का स्पर्श।

श्रम हम सभी को करना पड़ता था। हमारी ६-७ वर्ष की बहन प्रौढ़ा गृहिणी की भाँति उन दिनों हमारी सारी गृहस्थी चला रही थी। उन्हीं दिनों मुझे भी अपने हाथ से सब काम करने और रसोई बनाने का अभ्यास हो गया। जो आज भी है। इस प्रकार अभाव, सेवा और श्रम इन तीनों ने मेरे बालभाव का शृंगार किया।

अब चौथी वस्तु आई विद्रोह। पिता जी आर्यसमाजी थे। पर अधिक पठित नहीं थे। उनकी युक्तियाँ लठ के बराबर मोटी होतीं, वैसी ही चोट करती थीं। समाज की प्रत्येक रूढ़ि का विद्रोह मैंने उन्हें करते देखा और वह विद्रोह मेरे रक्त में घर कर गया। आगे चल कर उसमें साहस ने योग दिया, जब काशी और जयपुर में ब्राह्मण न होने के कारण संस्कृत अध्ययन केन्द्रों में मुझे उपेक्षा और तिरस्कार का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार मैं अपने जीवन की देहरी पर खड़े होने योग्य हुआ। मैं एक असाधारण तरुण था, जिसके शरीर में अभाव, श्रम और सेवा के स्पर्श-चिह्न थे और आत्मा में विद्रोह का साहस।

परिस्थितिवश मैंने चिकित्सा सीख ली और जीवन एक चिकित्सक के रूप में आरम्भ किया। इस समय ये चारों तत्व—सेवा, श्रम, अभाव और साहस मेरे बड़े काम आए। कहना चाहिए, यही मेरे सब कारोबार की पूंजी थे।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर, मुझे भयानक महामारी इन्फ्लुएन्ज़ा और उसके बाद प्लेग के दिनों में प्रतिदिन दो सौ, तीन सौ नरनारियों को भीषण यन्त्रणाओं में छटपटाते हुए मृत्यु का ग्रास होते और उनके प्रियजनों के क्रन्दन आर्तनाद को अति निकट से देखने का अवसर मिला। मेरे जैसे तरुण के लिए, जिसके हृदय में साहित्य की भावना सोई पड़ी थी, तीन-तीन सौ नर-नारियों का नित्य मेरी आँखों के सामने छटपटा कर प्राण त्यागना, प्राण बचाने के भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद भी निराश होना कोई साधारण बात न थी। इसने मेरी सम्पूर्ण चेतना को आहत कर दिया। मैं उन दिनों को भूल ही नहीं सकता, जब स्वयं १०५ डिग्री के ज्वर में रात-दिन एक के बाद दूसरे सांघातिक रोगियों को देखना, उपचार करना पड़ता था। कोई-कोई मृत्यु तो अतिशय भयानक, हृदयविदारक मर्मान्तिक पीड़ा देने वाली होती थी। उन दिनों तक भी मेरा साहित्यकार सो रहा था, अथवा शैशव में था। यद्यपि कुछ न कुछ मैं लिखता रहता था, पर उपन्यास या कहानी नहीं। चिकित्सा सम्बन्धी या सामाजिक कुरीति सम्बन्धी लेख। चिकित्सक होने के नाते या आर्यसमाजी होने के नाते इन दोनों विषयों पर मेरी कलम चलती रही थी। कानपुर के "प्रताप" में कभी-कभार मेरे लेख छप जाते थे। उन दिनों मैं अजमेर में प्रैक्टिस कर रहा था। सबसे प्रथम कथा का रूप मेरे एक उस लेख ने धारण किया, जो मैंने एक मारवाड़ी वृद्ध सेठ के एक बालिका से विवाह के विरोध में लिखा। वह काल्पनिक कहानी न थी—सच्ची घटना थी। 'प्रताप' में वह छपी और उस पर बहुत गोंगा मचा। उसी के बाद

इन्फ्लुएन्ज़ा और प्लेग ने मेरी चेतना को आहत किया। और मैंने उन्हीं दिनों अपना सबसे पहला उपन्यास लिखा—उसमें मैंने अत्यन्त मर्मान्तिक प्लेग और इन्फ्लुएन्ज़ा के बीस-बीस केसों के विवरण दिए, जो मैंने आँखों देखे थे। वे सब के सब दिल हिला देने वाले थे। उन्हें पहले मैंने पृथक विवरणों में लिखा, फिर प्रत्येक के तीन, तीन या चार, चार टुकड़े कर डाले। उन टुकड़ों के बीच में दूसरे प्रसंगों के टुकड़े डाल कर मैंने उस पूरे विवरण संग्रह को उपन्यास का सा रूप दे डाला। यह रूप देने में मेरा ध्यान बाल-काल में पठित "चन्द्रकान्ता संतति" की पद्धति पर केन्द्रित रहा। उसी के अनुकरण पर मैंने इन विवरण खण्डों को परस्पर बीच में डाल कर गूंथ दिया। आरम्भ में एक विवरण का एक दृश्य, फिर उसे छोड़ कर दूसरे, तीसरे, चौथे विवरण के अधूरे अंश। फिर वही पूर्व का आगे का कथन। इसी प्रकार पूरा उपन्यास तैयार हो गया। उसी का नाम मैंने रखा था शायद 'प्लेग-विभ्राट'। उन दिनों 'प्रताप' के माध्यम से मेरा परिचय आगरे के श्री कृष्णदत्त पालीवाल से हो गया था। उन्हीं को वह तथाकथित उपन्यास मैंने छपने के लिए भेज दिया। उसे उन्होंने शायद लापरवाही से कहीं डाल दिया, पीछे सूचना दी कि वह पाण्डु-लिपि कहीं खो गई। इस प्रकार मेरे उस तथाकथित प्रथम उपन्यास रूपी शिशु का गर्भपात ही हो गया। इसके खो जाने का दुःख बहुत हुआ। पालीवाल से झिकझिक भी बहुत हुई। पर जो खो गया, वह खो गया। फिर भी उसके वर्णित पात्रों ने मेरे मानस-पटल पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। वे कोई काल्पनिक पात्र न थे। मैंने अति निकट से उन्हें देखा था, इसलिए बहुत दिन तक उनके रेखाचित्र मेरे नेत्रों में घूमते रहे और मेरी मनोवृत्ति और चेतना में उपन्यास तत्व की भूमिका बनाने लगे। बहुधा मैं सोचने लगता, यदि यह न होकर वह होता, ऐसा न करके ऐसा किया जाता तो कदाचित ऐसा होता। यद्यपि ये सब विकल्प चिकित्सा से सम्बन्धित थे, पर उनमें से कल्पनाएँ मूर्त हो उठीं। इस प्रकार आँखों देखे सच्चे रेखाचित्रों के साथ ही साथ काल्पनिक रेखाचित्र भी उभरने लगे। वे अधिक सशक्त थे, प्रिय थे। इससे सच्चे घटित रेखाचित्रों के ऊपर काल्पनिक चित्रों की प्रतिष्ठा मेरे मानस में होती चली गई। इस प्रकार अभाव, सेवा, श्रम और विद्रोह में दो वस्तुतत्व और आ मिले—वेदना और कल्पना। वेदना सत्य पर आधारित और कल्पना वेदना की प्रतिक्रिया स्वरूप। परन्तु इसमें कहीं उपन्यास तत्व पनप रहा है, यह तब भी मैं समझ नहीं रहा था।

इसी समय मेरे एक मित्र अतिथि रूप में मेरे घर आए। वे कोई साहित्यिक न थे, साहित्य-रसिक थे। उन्होंने मेरी कारोली का कोई उपन्यास तभी पढ़ा था। एक दिन रात को बातों ही बातों में उन्होंने मुझे उस उपन्यास का पूरा मसौदा ज़बानी कह सुनाया। उससे मैं इतना प्रभावित हुआ कि तत्काल ही उसे मैंने अपने ढंग पर लिख डाला, और वह मेरा प्रथम उपन्यास बन गया, जो बम्बई में श्री नाथूराम प्रेमी ने "हृदय की परख" के नाम से छापा। बाद में उसके १०,१२ संस्करण हुए। अपनी इस प्रथम रचना को देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ था।

उसके बाद मैं धीरे-धीरे कहानियाँ और गद्य काव्य लिखने लगा, जो कानपुर के "प्रताप", लखनऊ की "माधुरी", "सुधा" तथा प्रयाग के "चाँद" में कभी-कभी छपते रहे। अब कल्पनाओं का निखार मेरे मानस पर उभर आया था और किसी भी छोटी-सी साधारण घटना को तोड़-मरोड़ कर कल्पना के सहारे मैं उसे एक सम्पूर्ण चित्रण में व्यक्त करने में सफल होने लगा था। धीरे-धीरे मेरी यह सामर्थ्य बढ़ती चली गई। पूर्वोक्त छहों तत्वों ने कभी भी मेरा साथ न छोड़ा। मेरी कहानियों में और गद्य काव्यों में भी वे कायम रहे, उनके द्वारा उनमें भाव व्यंजना और अर्थ गाम्भीर्य एवं समस्यापूर्ति का अभिव्यक्तिकरण होने लगा।

अब चिकित्सक के नाते धीरे-धीरे राजस्थान के राजवर्गी जनों से मेरा सम्पर्क बढ़ा, और शीघ्र ही नामांकित राजा-ठाकुर-जागीरदार महाराजों के रनवासों में मेरी पैठ हो गई। चिकित्सक का कार्य कितना नाजुक और रहस्यमय होता है, यह कदाचित सब लोग नहीं जानते। बड़े-बड़े अनहोने चित्र और मानव चरित्र मेरे सामने आए। बड़े-बड़े पेचीदे मामले मुझे सुलझाने पड़े। बहुत-से राजा, महाराजाओं के, रानियों के तथा अति सम्भ्रांत प्रभावशाली जनों के भीतरी आर्तनाद, दुर्बलताएँ, मूर्खताएँ, कुत्साएँ मुझ पर प्रकट होने लगीं। लोगों के सम्मुख वे महामान्य, शान और ऐश्वर्यमुक्त प्रभावशाली पुरुष थे, परन्तु मेरे निकट वे अति दीनहीन निकृष्टतम व्यक्ति थे। उन दिनों दर्जनों बड़े-बड़े सम्भ्रान्त पुरुषों-स्त्रियों की इज़्ज़त आबरू मेरी जेबों में पड़ी रहती थी। कुछ राजा-महाराजा, रानी-महारानियों की ही नहीं, बड़े-बड़े अनेक पुरुषों, प्रसिद्ध नेताओं, राजपुरुषों, विद्वानों, अध्यापकों, हाई कोर्ट के महामान्य जजों, करोड़पति सेठों की अपनी वासनाएँ, कुत्साएँ, दुरवस्थाएँ, मूर्खताएँ, दुरभिलाषाएँ, हिंसक प्रवृत्तियाँ मेरे सामने नग्न होने लगीं। वे एक दीन, हीन भिखारी के समान मेरी कृपा के याचक बन मेरे सम्मुख आते थे। इनमें से बहुत सी बातें बड़ी चमत्कारिक असाधारण, प्रभावशाली और कभी अति-भयानक, जघन्य अपराधों की सीमाएँ लांघ जाती थीं। मुझे इन सब को नितान्त गोपनीय रखना पड़ता था, भारी-भारी व्यवस्थाएँ करनी पड़ती थीं, असाधारण उद्योग करने पड़ते थे, जिन सब का मेरे मन पर कभी-कभी इतना दबाव पड़ता था कि बहुधा मैं असंयत हो उठता था। इन सब बातों ने और दो नए तत्वों को मेरे मानस पर उदित किया—विवेक और संयम। अब मेरी कलम का नेतृत्व आठ तत्व कर रहे थे—अभाव, सेवा, श्रम, विद्रोह, वेदना, कल्पना, विवेक और संयम। यद्यपि इस समय तक भी मैं कोई उत्तम उपन्यास न लिख सका था, पर ये तत्व मेरे नित्य के जीवन में ओत-प्रोत रहते थे, निरन्तर मुझे उनकी आवश्यकता पड़ती रहती थी, अपने गम्भीर और जटिल व्यवसाय में। इससे प्रत्येक वस्तु को देखने का मेरा अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण हो गया था। इन दिनों मेरी कहानियाँ और गद्य काव्य प्रभावशाली हो रहे थे। सम्पादक और पाठकों की प्रशंसाएँ मुझे मिल रही थीं। इन्हीं दिनों मैंने अपना प्रसिद्ध गद्य काव्य 'अन्तस्थल' लिखा, जो हिन्दी का सर्वप्रथम गद्य काव्य था। मेरे तात्कालिक जीवन

से टकराने वाले तत्वों का वह एक भावावेश पूर्ण उद्वेग है।

बचपन में ब्राह्मण न होने के कारण जयपुर और बनारस में मुझे जाति-अभिमान का शिकार होना पड़ा था। वह अपमान मुझे सदा के लिए आहत कर गया, कभी मैं उसे भूला नहीं। इसी के साथ-साथ इस भावना से कि जन्मतः मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा ममत्व क्षत्रियत्व पर उमड़ आया। बचपन ही में एक छोटी-सी पुस्तक मेवाड़ का इतिहास कहीं से मेरे हाथ आ लगी थी। आगरे में वह छपी थी। उसे मैंने हज़ार, पाँच सौ बार पढ़ा होगा। उन दिनों रात को मैं बहुधा पिता जी को उसे पढ़ कर सुनाया करता था। उसमें वर्णित वीर चरित कुछ ऐसे मेरे मन पर अंकित हो गए और मेरे मन के क्षत्रियत्व का ममत्व उनमें मिलकर कुछ ऐसा रस उसमें उत्पन्न कर गया कि इस समय भाव व्यक्तिकरण में समर्थ होकर मैं राजपूत शौर्य और उत्सर्ग के रेखाचित्र कहानियों में चित्रत करने लगा। मेरी राजपूत वातावरण की कहानियाँ खूब उभरीं। राजपूती का बखान करते-करते स्वाभाविक ही रीति पर मेरी कलम मुग़ल वैभव पर रपट गई और इस प्रकार मुग़ल जीवन पर लिखी हुई तत्कालीन मेरी कहानियाँ भी खूब प्रौढ़ हो गईं। परन्तु इन कथा-वस्तुओं पर उपन्यास लिखना मेरे बूते का काम न था। लेकिन मेरे मानस भण्डार में पूर्वोक्त आठ तत्वों में नया तत्व इतिहास और आ मिला। और उसके साथ ही दो वस्तुएँ भी आईं—शौर्य और शृंगार। राजाओं के वैभव मैं अपनी आँखों से इन्हीं दिनों देख रहा था। बड़ी-बड़ी शानदार दावतें मेरी राजमहलों में हो चुकी थीं, जहाँ मुझ अकेले को भोजन कराने चालीस-चालीस सेवक व्यस्त रहते थे। थालों में साठ-साठ कटोरियों में व्यंजन परसे जाते थे। राजा लोग अकिंचन सेवक की भाँति लल्लो-चप्पो करते थे। अभावों में पले हुए मुझ जन्म-दरिद्र के लिए ये सब बातें कम प्रभावशाली न थीं। इसी से वैभव-विलास-ऐश्वर्य का ऐसा गहरा रंग मेरे मानस पटल पर चढ़ गया कि उसे मैंने अपनी कहानियों में दोनों हाथों से उलीचा। एक रोगिणी राजकुमारी को देखने जब मैं अन्तःपुर में पहुँचा तो मैंने देखा, मकड़ी के जाले के समान परिधान में एक प्रकार से वह नंगी उस कक्ष में दीख रही थी और उसके अंग पर लाखों रुपयों के जवाहरात थे। इतने बड़े-बड़े मोती मैंने कभी न देखे थे—अंगूर के बराबर। "दुखवा मैं कासो कहूँ" कहानी में मैंने उसी राजकुमारी को, उसके सारे ही शृंगार-विलास सहित, अपने पाठकों के सम्मुख ला खड़ा किया है।

आर्थिक अवस्था अब मेरी सुधर रही थी, नोटों के गट्ठर मेरी जेबों में आ आकर ठस रहे थे। पर मैं नहीं जानता था कि उन्हें कैसे खर्च किया जाए। रहन-सहन मेरा अभी भी साधारण व्यक्तियों जैसा था और उस वातावरण में, जब बड़े-बड़े लोग मेरे सम्मुख दयनीय हो रहे थे, मेरी सहायता के भिखारी थे। यहाँ तक कि जब युवक राजा का विवाह होता है, एक बहुत बड़े छत्रधारी की कुमारी से, लाखों का दान-दहेज, नगर में महीनों जशन, धूम-धाम, मगर तरुण राजा एकान्त में मेरे सम्मुख खड़ा होकर आँखों में आँसू भर कर और हाथ जोड़ कर कहता है, "आज मेरी सुहागरात है, मेरी लाज रख लीजिए। नई दुलहिन के सामने जिसमें मेरी लाज रह जाए, दया कीजिए, मैं किसी योग्य नहीं रह गया हूँ।" भला कहिए, यह कितनी प्रभावशाली बात थी। ऐसी ऐसी अनेक घटनाओं ने मेरे मन का 'अहं' जगा दिया और तब मेरी कलम उपन्यास के रूप में 'अहं' का चित्रण करने लगी। मेरा दूसरा उपन्यास 'हृदय की प्यास' और तीसरा 'आत्मदाह' सोलह आना 'अहं' है। उसका केवल परिधान ही उपन्यास का है। परन्तु, जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि रजवाड़ों के विलास और ऐश्वर्य का अभी मैं साक्षी ही था, अपने जीवन में मैं साधारण ही व्यक्ति था। विलास ने मेरे जीवन को स्पर्श नहीं किया था। इसी से इन दोनों उपन्यासों में मेरे 'अहं' में विलास है ही नहीं। वही अभाव, श्रम, सेवा और विद्रोह। कहीं-कहीं साहस का पुट। मेरा यह 'अहं' दलितों का संरक्षक भी हो उठा। इसी भाव से प्रेरित होकर मैंने 'अमर-अभिलाषा' उपन्यास लिखा, जो अब 'बहते-आँसू' के नाम से छप रहा है। इसमें केवल हिन्दू विधवा की हिमायत है। मेरे यह तीनों उपन्यास उपन्यास-तत्व में अपूर्ण हैं, क्योंकि तब तक मेरे मस्तिष्क में उपन्यास तत्व परिपक्व ही न हुआ था। मेरा गुरु तो कोई था ही नहीं, केवल ज्यों-ज्यों मेरा जीवन नए मोड़ लेता जाता था, मेरी प्रतिभा भी अपना काम करती जाती थी। इसी से ये उपन्यास अति साधारण कोटि के थे।

अब मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया। राजस्थान से हटकर मैं कुबेर पुरी बम्बई में जा बैठा। करोड़पति मारवाड़ी सेठों के बीच। और कुछ दिन बाद उन्हीं के साथ, उन्हीं की भाँति सट्टा-फाटका भी करने लगा। अद्‌भुत दिन थे वे। जब खाने-सोने का भी अवकाश न मिलता था, प्रतिदिन लाख, पचास हज़ार का लाभ या हानि होती थी। रात-रात भर या तो रुपये गिने जाते थे या अगले दिन के सौदों पर बहस होती थी। तभी करोड़पति सेठों के जीवन से भी परिचय हुआ, जो राजा-महाराजाओं से सर्वथा भिन्न था—एक गधे की भाँति जो सदा लदा-फदा रहता है, उसके ऊपर मिट्टी लदी है या नोटों के गट्ठर, इसकी उसे तमीज़ नहीं। विलास का यहाँ पता भी न था। कुत्सा ही कुत्सा थी। एक सेठानी को मैंने देखा, जिसकी ओढ़नी में सच्चे मोती टके थे, पर वह ओढ़नी सिर के तेल की चिकनाई से जगह जगह गन्दे दागों से भरी थी। एक सेठानी को देखा, जिसका वज़न साढ़े तीन मन से भी ऊपर था, जो अस्सी गज कपड़े का घाघरा पहनती थी और जब कभी बाहर निकलती थी तो दो ब्राह्मणियाँ उसके शरीर को दोनों ओर से थामे रहती थीं। एक बार तो चलते-चलते बीच-बाजार उसका घाघरा, न जाने कैसे नाड़ा खुल जाने से, ज़मीन में आ रहा था। एक रायबहादुर सेठ थे, जिनका नीचे का मोठा होठ नीचे लटक जाता था और एक नौकर उनके साथ केवल इसीलिए तैनात रहता था कि तत्काल कहे—मापने (होठ भीतर)। एक सेठ साहब कहारों की जूठी चिलम पिया करते थे। एक सेठ जी सौ रुपये रोज़ की कोकीन खाते थे। एक सेठ ने अपनी पत्नी की अस्वस्थता का समाचार पाकर उसके पीहर मारवाड़ में मुझे देखने भेजा। मैंने देखा तो कहा, तपेदिक है। उसके पिता को मेरा यह कहना अच्छा नहीं लगा। लड़की

को हठपूर्वक पीहर में रखा गया था और यह उनके ख़याल में उनकी बदनामी की बात थी। उन्होंने छः सात नामांकित डाक्टरों को मुझ से ला भिड़ाया, जिनमें दो अंग्रेज़ थे। उन्होंने मुझ से बहुत हुज्जत की, सेठ का रुख़ देख और फ़ीस पाकर। इस काम में सेठ के दो-डेढ़ हज़ार रुपये उसी दिन ख़र्च हो गए और उन्होंने मुझे चिकित्सा नहीं करने दी। अन्ततः वह स्त्री उसी रोग में मर गई। इन सब बातों ने मेरे मन में धन की कुत्सा और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उत्पन्न कर दिया। उसी से प्रेरित हो मैंने उन्हीं दिनों 'चाँद' का 'मारवाड़ी अंक' सम्पादित किया, जिसका बहुत भोग मुझे भोगना पड़ा। बहुत से मेरे पोषक मारवाड़ी परिवारों ने मुझ से चिकित्सा कराना छोड़ दिया। मुझ पर कलकत्ते में केस भी चलाया गया। उसकी तो एक पृथक ही मज़ेदार कहानी है।

परन्तु शीघ्र ही मुझे एक चोट लगी। एक दिन सर्वस्व दे, छूछे हाथ घर लौट आया। लौट कर देखा, पत्नी क्षय से असाध्य अवस्था में पड़ी है। उसे धर्मपुर चिकित्सार्थ ले जाने के लिए मैंने सौ रुपया बहुतों से उधार माँगा, पर न मिला। पत्नी का देहान्त होगया। बहुत भारी आघात था, केवल जीवन पर नहीं, मानस पर, विचारधारा पर। अब पीड़ा मेरी सम्पूर्ण चेतना को आक्रान्त कर गई। उसने मेरी कलम को गहराई में उतार दिया। परन्तु जब इस प्रकार मानसिक प्रतिक्रियाएँ विचार क्रान्ति कर रही थीं, तभी भारतीय क्रान्ति के भी मैं निकट पहुँचा। इसका कारण भगतसिंह था। उसे मैं तब किसी और ही नाम से जानता था। मेरी लेखन शैली से आकर्षित होकर वह मेरे पास आया था। मुझे अपने गिरोह का सरदार बनाने का उसका आग्रह था। उन लोगों में मैं सम्मिलित तो न हुआ, पर सम्पर्क तो रहा ही। पीछे उस सम्पर्क के बड़े-बड़े मूल्य चुकाने पड़े। इन सब कारणों से मेरे कथा-साहित्य में क्रान्ति मूर्त होने लगी। बहुत-सी कहानियाँ मैंने इसी प्रकार की लिखीं। "चाँद" का "फांसी अंक" भी तभी सम्पादन किया। परन्तु यह तत्व उपन्यास के रूप में कभी भी प्रकट नहीं हुआ।

इसी समय जब मेरा साहित्य जाग रहा था और मेरी कलम चलने लगी थी, एक नए व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ; बम्बई में ही। उसका नाम हाजी मुहम्मद अल्लारखिया शिव जी था। गुजराती साहित्य का वह मस्ताना पुजारी था। "बीसवीं सदी" गुजराती साहित्य का सम्पादक और स्वामी। जात का खोजा मुसलमान। स्वस्थ, गौर वर्ण, लम्बा-तगड़ा हँसमुख तरुण। साहित्य साधना में मस्त। शीघ्र ही मेरा परिचय उससे घनिष्ट हो गया और १०-१० घण्टों की मेरी मुलाकातें उसके घर पर होने लगीं। उन दिनों राष्ट्रवाद—देशभक्ति और हिन्दुत्व मेरी विचारधारा का केन्द्र बने हुए थे। गद्य काव्य उन दिनों मैंने लिखने आरम्भ किए थे। उनका स्वागत खूब हो रहा था। ये गद्य काव्य राजनैतिक भी थे, राष्ट्रीय भी थे। ऐसा ही एक काव्य "स्वदेश" मैंने लिखा। नाथूराम प्रेमी को दिखाया तो फड़क गए। पर जब हाजी मुहम्मद को सुनाया तो वह गुमसुम चुप बैठा रहा। मेरे मन पर आघात लगा। पूँछने पर धीरे से कहा—"अच्छा है।" पर यह ठण्डी बारीक़ अच्छी न लगी। घर पर आकर विचार किया, लेख में मुस्लिम आक्रमणों, अत्याचारों और हिन्दु सहनशीलता की भावना थी। राष्ट्रीय तत्व थे। भारत में मुसलमान आक्रान्ता हैं, हिन्दु भारत की सन्तान—ऐसी अभिव्यंजना थी। कैसे भला ये सब बातें मेरे इस मुसलमान साहित्यकार को रूच सकती थीं ? तभी मैंने हिन्दु-मुस्लिम भेद-भाव पर, राष्ट्रीयता पर—गम्भीर विचार किया। राष्ट्रभक्ति मैंने त्याग दी। देश भक्ति से मैं परे हट गया। कम से कम अपने साहित्य को उससे अछूता रखने का मैंने संकल्प कर लिया और मानव-प्रेम पर मेरी चेतना जा टकराई। मैंने निश्चय किया अब मैं जो कुछ लिखूँगा मानव पूजा के लिए। मानव वेदना के, हास्य के, जीवन के, संघर्ष के चित्र खींचूँगा। और तभी मेरे गद्य काव्यों का नया मोड़ मुड़ा। 'अन्तस्तल' के गद्य छन्द लिखे गए। हाजी मुहम्मद को सुनाए तो उछल गया। बारम्बार सुना, गुजराती अनुवाद छापा, चित्र बनाए। पर अफ़सोस ? 'अन्तस्तल' के दो-चार पद ही अभी लिखे गए थे कि साहित्य का यह पुजारी संसार से चल बसा। पर मुझे साहित्यकार की सबसे पवित्र, शुद्ध और ऊँची राह दिखा कर, मानव-पूजा के पथ पर मेरी कलम की नोक को स्थापित करके।

मानव-पूजा ने मेरा मुँह अतीत की ओर फेर दिया। मैं इतिहास में अभिरुचि रखने लगा। बुद्ध का मानव-प्रेम मुझे भा गया। दो-चार कहानी मैंने बौद्ध संस्कारों पर लिखीं। जिनमें एक अम्बपाली पर थी। उसका एक ज़रा सा संकेत मुझे बुद्ध के जीवन सम्पर्क का मिला था—उस वेश्या को बुद्ध ने शाश्वत साध्वी बना दिया। यह मुझे बहुत प्रिय लगा। अम्बपाली पर इसके बाद काफ़ी साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी में सर्वप्रथम मेरी कहानी "अम्बपाली" थी। छोटे-छोटे और ५-७ उपन्यास इस बीच में लिखे गए। 'नीलमणि' में एक आधुनिक शिक्षा से सुशिक्षिता रूढ़ि की विद्रोहिणी तरुणी का रेखाचित्र बनाया गया। उन दिनों मैं रसायन शास्त्र में अभिरुचि रखता था। अतः नकली हीरे बनाने का एक नुस्खा भी मैंने इस छोटे से उपन्यास में समावेशित कर दिया। अभी हाल ही में अमेरिका में कुछ उसी सिद्धान्त पर हीरे बनाए जा रहे हैं। यह पढ़ कर मुझे प्रसन्नता हुई। मेरी कल्पना तो भारतीय रस शास्त्र पर आधारित थी और अनुभव इस सम्बन्ध में कुछ था ही नहीं। इसी प्रकार सेक्स मेरी चिकित्सा का खास विषय था। इस युवती को मैंने उसी आधार पर पति के अनुगत किया। इस प्रकार मेरा यह छोटा-सा उपन्यास नई पुरानी विचारधारा की आपस में एक मज़ेदार टक्कर कराकर रस-शास्त्र और काम-शास्त्र को भी स्पर्श कर गया। कुछ छोटे-छोटे उपन्यास इतिहास पर तथा कुछ सामाजिक लिखे—'दो किनारे', 'अदल-बदल', 'मन्दिर की नर्तकी' आदि। प्रकाशक ने उनके नाम बाज़ारू रखे।

अम्बपाली पर मेरी कहानी के बाद हिन्दी साहित्य में कई कहानियाँ तथा एक-दो उपन्यास छपे। मेरा मन भी ऐसा कुछ उपन्यास लिखने का हुआ और मैंने, "वैशाली की नगर-वधू" लिख डाला। कई साल इसमें लगे। परन्तु तैयार पाण्डुलिपि कुछ यारों ने उड़ाली। दो वर्ष इसके शोक में डूबा रहा और अन्त में दुबारा उसे मैंने लिखा। इस

प्रकार पूरे दस वर्ष मेरे इस उपन्यास में खर्च हुए। वही दुबारा लिखा उपन्यास सात वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसकी कुत्सित आलोचना भी हो चुकी है। इधर पाठक इसे प्यार भी कर चुके हैं। इसके सम्बन्ध में मेरे लिए कुछ कहना कदाचित उचित नहीं। पर कुछ बातें तो मैं कह ही दूँ।

पहली बात स्त्री-तत्व के सम्बन्ध में। मैंने अम्बपाली की जो मूर्ति उसमें स्थापित की है, उसे जितना शुद्ध, संस्कृत और उच्च भावनायुक्त मैं बना सकता था, बनाया है। वह ढोंगी भी नहीं है, पत्थर भी नहीं है, निष्प्राण भी नहीं है। हाड़-मांस की स्त्री है। दया, उदारता, स्नेह के साथ आत्म-सम्मान, गर्व और त्याग की चरम शक्ति अपने व्यक्तित्व में समेटे हुए। सोमप्रभ, एक अनौपचारिक जन्मजात तरुण उसके सम्पर्क में आता है। उसका शौर्य, कौशल, व्यक्तित्व और सत्साहस भी उसके प्रेम की भाँति उद्ग्रीव है। दोनों ही जीवन-संघर्ष की भारी-भारी सी चट्टानों से टकराते हैं। सोमप्रभ ख़ास कर अन्यत्र भी। वह दुस्सह-साहस कर चम्पाविजय करता है, चम्पा की राजकुमारी को उसके श्रेय के लिए विसर्जित करता है और अम्बपाली को उसके सम्मान के लिए। चम्पा की राजकुमारी अम्बपाली, बिम्बसार, सोमप्रभ, इनके प्रेम की अभिव्यंजनाएँ गहन मनोघातों पर आधारित हैं। उनमें त्याग और विसर्जन के ऊँचे तत्व हैं। ऐसे ऊँचे कि कदाचित ही मनुष्य वहाँ तक पहुँच सके।

विष कन्या कुण्डली, राजगृह का वैज्ञानिक काश्यप, राजामात्य वर्षकार, राजपुत्र विदूड़ब, कीमियागर गौड़पाद, राजगृह का नाई, ये सब विशिष्ट व्यक्ति तत्कालीन चमत्कारिता के राजनैतिक और मानसिक आघातों के प्राचीन प्रतिष्ठित तत्वों के पाठकों को ऐसे झकोरे देते हैं कि पाठक उनमें अभिभूत हो जाता है। फिर यह चरित्रात्मक उपन्यास तो है ही नहीं। न ऐतिहासिक है, न समस्यामूलक है। इसमें तो उस कर्म की, उस सर्वोदय विजय की ओर संकेत है जो आर्यों पर तत्कालीन आर्यों ही से उत्पन्न संकर जातियों ने की। मैंने इसे मानसिक घात-प्रतिघातों का, तत्कालीन सामाजिक और राज-व्यवस्था का एक पारदर्शक शीशा बनाने की चेष्टा की है। मानव-आत्मा का संघर्ष भी इसमें कम नहीं है।

इस उपन्यास में मैंने इतिहास-रस की स्थापना की है। इसका भी एक मज़ेदार कारण है। जब उपन्यास की पाण्डुलिपि तैयार हो गई तो मैंने उसे देखने को पुरातत्व और इतिहास के पण्डित एक मित्र के पास भेज दिया। वह देख ले कि कहीं कुछ भूल-चूक तो नहीं रह गई है। परन्तु उन्होंने तो आरम्भ ही में एक ऐसी ग़लती निकाल दी जिसका मेरे पास कोई जवाब ही न था। मैंने कहीं आसावरी राग की चर्चा कर दी थी। उन्होंने व्यंग की चुटकी लेते हुए मुझ से पूछा, यह मसीह पूर्व की छठी शताब्दी ही में आसावरी राग गाने वाला कौन पैदा हो गया? अब मैं क्या जवाब दूँ। मैंने विचार किया, उपन्यास में तो ऐसी बहुत गलतियाँ हो सकती हैं। ऐसी ही क्या ऐतिहासिक भी। आज़ ऐतिहासिक मान्यताएँ कुछ और हैं, कल नई गवेषणाएँ उन्हें रद्द करके नई मान्यताओं को स्थापित करेंगी। इतिहासकार तो इतिहास में संशोधन कर देंगे, पर उपन्यासकार कैसे संशोधन करेंगे। मैंने देखा, इतिहास के स्थिर-सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य कोई पृथ्वी पर है ही नहीं। इतिहास में तो सदैव ही एक सत्य को धकेल कर दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जाएगा। पर साहित्य में ऐसा नहीं हो सकता। मैंने स्थिर-सत्य और चिर-सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक् कर दिया और अपने इस उपन्यास को इतिहास-रस का उपन्यास नाम दिया।

'नगर वधू' लिखने के बाद उपन्यास लिखने में मेरा गतिरोध हो गया। मैं यह कल्पना भी न कर सकता था कि इससे अच्छा कोई उपन्यास मैं लिख सकता हूँ। काफ़ी समय तक मैं निष्क्रिय ही सा बैठा रहा। इसी समय अकस्मात ही, जब मैं बनारस में दो-चार दिन के लिए ठहरा था, "अपराजिता" लिख ली गई। कैसे? यह मैं नहीं कह सकता। पर बीसियों वर्षों से मैं एक ऐसी स्त्री मूर्ति की रेखा बनाना चाहता था, जो केवल स्त्री-तत्वों से ओत-प्रोत होकर अपराजिता हो। पर कुछ बन नहीं पाता था। उस दिन एक साधारण-सी ही घरेलू घटना घटित हो गई, जिस का उल्लेख मैंने भूमिका में कर दिया है और इसके बाद ही बनारस जाकर केवल ३-४ रात्रियों में यह उपन्यास पूरा कर लिया, जिसे मैं अपने छोटे उपन्यासों में सर्वोत्कृष्ट मानता हूँ। इसमें मेरी मन-चाही स्त्री-मूर्ति का मैं निर्माण कर सका, ऐसी मेरी मान्यता है।

इसके बाद 'नरमेध' और 'धर्मपुत्र' की बात है। 'नरमेध' एक फांसी की सज़ा पाई हुई स्त्री की असाधारण कहानी है और 'धर्मपुत्र' में एक साहसी मुस्लिम नवाबज़ादे के विशिष्ट चरित्र की अभिव्यंजना है। चारों ओर के पात्र भी अच्छे चुस्त हैं। बहरहाल, ये मेरे तीनों लघु उपन्यास मानसिक घात-प्रतिघात और ख़ास कर स्त्री-तत्व के उत्कर्ष के चरम द्योतक हैं।

अब मैंने "सोमनाथ" पूरा किया, जो बरसों से अधूरा पड़ा था। 'सोमनाथ' किस राह जाएगा, यह तो मैं उसके समाप्त होने तक भी नहीं सोच पाया था। मैं आगे बढ़ता गया। अप्रत्याशि[illegible]ग पर राह में ही शोभना और फ़तह मुहम्मद आ मिले और अपने व्यक्तित्व से मेरे उपन्यास को प्राणदान दे गए। जैसा गहन चरित्र का विकास मानव तत्वों के आधार पर 'सोमनाथ' में उपन्यास के इन अप्रधान पात्रों का बन पाया है, वैसा तो मैं 'नगरवधू' में भी उभारने में समर्थ नहीं हुआ था। साथ ही मैं वर्णित संस्कृति को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखता, यह बात मैंने 'सोमनाथ' की भूमिका में कह भी दी है। फिर महमूद तो आततायी भी था। पर एक नया साहित्यकार उसके कलुष पर घृणा कर सकता है। साहित्यकार मनुष्य का पुजारी है। मनुष्य केवल वही व्यक्ति नहीं है, जो सदाचारी, धर्मात्मा, विद्वान और महान गुणों का आकर है। मनुष्य तो वह भी है जो कोढ़ी, कलंकी, दुष्ट, दुरात्म, खूनी, लम्पट, आततायी और दुराचारी हैं। साहित्यकार का प्यार और सहानुभूति तो सभी से समान है। मनुष्य का वह कलुष उसके भीतर का नहीं, ऊपर का है, साहित्कार यह मानता है। जैसे माँ अपने असली बालक को, जिसने मल-मूत्र में अपने को लथपथ कर लिया है, धो-पोंछ कर गुलाब के पुष्प के समान स्वच्छ और सुन्दर बना

छाती से लगाती है, वैसे ही साहित्यकार मनुष्य के कलुष को पोंछ उसे छाती से लगाता है। इसी से मैंने दुर्दान्त आततायी महमूद को शोभना को आँचल की छाया में उसे चुपचाप गज़नी भेज दिया है।

"वयं रक्षामः" अब जो मेरा अन्तिम से एक पहला उपन्यास है, इन सबसे पृथक है। मैं ऐसा मानता हूँ, कि हिन्दी उपन्यासों की जो परम्परा आरम्भ से अब तक चली "नगर वधू" में उसका चरम विकास हुआ। अब 'वयं रक्षामः' सर्वथा नई धारा, नई पद्धति और नई परम्परा का श्रीगणेश है। उसकी गणना अब तक प्रचलित उपन्यासों की किसी श्रेणी में नहीं की जा सकती। कथा की दृष्टि से उसमें रावण की कथा है। चरित्र सम्बन्धी नहीं, सांस्कृतिक प्रयास की। वास्तव में यह रामचरित का विपर्य्यास है और उसकी पृष्ठ-भूमि में देव, दानव, दैत्य, आदि तत्कालीन जातियों के जीवित सम्पर्क हैं। जिन्हें हमने आकाश के देवता मान लिया था। इस उपन्यास में पुराकल्प का ऐतिहासिक रूप है। पाश्चात्य पण्डित इसे लीजैण्ड मानते हैं, और उसे मिथ (कल्पित कथा—गप्प) कहते हैं। इसी से इस उपन्यास के तथ्यों का समर्थन मैंने पाश्चात्य इतिहासों से, भारतीय पुराणों तथा अन्य प्राचीन साहित्य से किया है। इसी से इस उपन्यास के साथ ३०० पृष्ठों का भाष्य भी लिखना पड़ा। हिन्दी उपन्यासों में तो यह अभूतपूर्व है ही। मैं समझता हूँ कि अभारतीय भाषाओं में भी यह पहला उपन्यास है। पर यह मेरा ही मत है। अन्य जनों का मत क्या है—वह अभी मैंने सुना नहीं। अभी मेरा यह उपन्यास लोगों ने पढ़ा भी नहीं।

भाषा के सम्बन्ध में मैं सदैव ही लापरवाह रहा। उर्दू मैं बिल्कुल नहीं जानता। पर दिल्ली में रहने से मेरी भाषा चुस्त है। मैंने जो थोड़ा बहुत संस्कृत का अभ्यास बचपन में किया था—उससे भी मेरी भाषा परिमार्जित हुई है। अब मैं विषयों के अनुसार भाषा को चाहे भी जैसा हल्का, भारी कर सकता हूँ। सबसे प्रथम भाषा के श्रृंगार पर मेरा ध्यान तब गया, जब मैंने "पूर्णाहुति" लिखा। यह पृथ्वीराज रासो पर आधारित था। भाषा का सारा श्रृंगार उसके लेखक का था। मैंने तो उसे केवल अपनी शैली में ढाला भर था। पर "नगर वधू" में मैंने सबसे प्रथम भाषा संस्कार किया और "वयं रक्षामः" में तो मैंने मोती जड़े हैं, कसीदाकारी की है। मैं तो यही समझता हूँ कि हिन्दी गद्य मे मैंने एक नया रिकार्ड स्थापित किया है। पर यह मेरा ही कहना है। मेरा समर्थक अभी कोई नहीं है।

इस उपन्यास में मैंने जानबूझ कर संस्कृत का पुट लगाया है। अनेक सम्भाषण संस्कृत में हैं। अनेक परिच्छेद पूरे संस्कृत में हैं। उपसंहार की इति और आरम्भ का समर्पण भी संस्कृत में है। कहना चाहिए बासी कढ़ी में उबाल आया। ४० वर्षों तक भूली हुई संस्कृत को फिर से मैंने जहाँ-तहाँ लिखा।

"वैशाली की नगर वधू" की भूमिका १०० पृष्ठों की, "सोमनाथ" की ६० पृष्ठों की तथा "वयं रक्षामः" की तीन सौ पृष्ठों की है। यह भी हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में नई बात है।

"गोली" मेरा इस समय तक का सबसे अन्तिम उपन्यास है। इसमें मैं एक ऐसी स्त्री मूर्ति की स्थापना कर सका हूँ, जैसी विश्व के किसी उपन्यासकार ने अब तक नहीं की, ऐसी मेरी धारणा है। 'गोली' सहित मेरे सत्रह उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

यह है संक्षेप में मेरे उपन्यास लिखने की कहानी। जिसमें न किसी किसी पौर्वात्य लेखक की न पाश्चात्य लेखक की प्रेरणा है, न किसी का प्रभाव है। न मेरा कोई गुरू या पथप्रदर्शक है। वह सब साहित्य मेरी अन्तःप्रेरणा की बदौलत है, जीवन की अनुभूतियों और प्रज्ञा की गम्भीर चेतावनियों का परिणाम है। अब इस वर्ष शरीर खतरे में चल रहा है। पैंसठ वर्ष पूरे कर चुका, पर शरीर रह गया तो "सोना और खून" आपके सामने आएगा, नहीं तो नमस्कार।

इस लेख में वर्णित सभी विचार आदरणीय लेखक के व्यक्तिगत विचार हैं। उनका साहित्य समझने में यह लेख सहायक सिद्ध होगा।

●

हिन्दी लोक-साहित्य—(पृष्ठ १२ का शेषांश)

थारी कृपा तें उड़ी गुलामी तार्‌या भूमि का भार तनै,
कुछ दिन पहले चांद छिपा था, शेर सपूत सुभास तेरा।
अब तुम सूरज छिपा चाले, आ भारत में प्रकाश तेरा।
गजब हो गए जुलम ढा दिए, पापी नत्थूराम तनै,
हिन्दू महासभा और संघ को, खूब किया बदनाम तनै,
पूना शहर हिंद का दुश्मन, किया मरहठा जाम तनै,
तीन फैर से ताज हिन्द का, कर दिया काम तमाम तनै।
हिन्दू होकर गऊ मार दी, मारणिए जा नाश तेरा।

हिन्दी का अपना लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है। उसका पूर्ण संग्रह होना चाहिये।

●

श्रुते महाकवेः काव्ये नयने वदने च वा
युगपत् यस्य नोदेति स वृषो महिषोथवा ॥

किसी महान कवि का काव्य सुन कर आनन्दवश जिसकी आँखों में जल नहीं भर आता अथवा मुँह से बरबस 'वाह वाह' नहीं निकलती, उसे बैल या भैंस की श्रेणी में गिनना पड़ेगा।

बौद्ध-युग में दण्ड-व्यवस्था

मोहनलाल महतो, वियोगी

हिन्दूशास्त्रों और नीतिग्रंथों में दण्ड-व्यवस्था का उज्ज्वल रूप हम देखते हैं। मात्स्य-न्याय को रोकने और राष्ट्र की शुद्धि के लिए दण्ड को आवश्यक बतलाया गया है—

अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धते

ऐसा वाक्य महाभारत के शान्ति पर्व में आया है। आगे कहा गया है—

विना येन स सन्देहो मात्स्यन्यायो प्रवर्त्तते
यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दंड इह केवलः ।।

जिस के अधीन सब कुछ है वह केवल दण्ड ही है, ऐसा भीष्म का मत है। दडनीतिसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत का मत है कि रोग की चिकित्सा की तरह दण्ड विकारों को मिटाता है—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्ड :

इतना ही नहीं उन आचार्यों ने दण्ड को भगवान विष्णु का ही एक रूप माना है। दण्ड नारायण का ही पवित्र रूप है—

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।

महाभारत के शान्ति-पर्व का यह वाक्य है। पूर्व-कृत अपराध के लिये शास्ति देना और भविष्य में अपराध न हो इस के लिये व्यवस्था करना, यही दण्ड का उद्देश पूर्वाचार्यों ने माना है। बिना विचार के दण्ड देने से अराजकता और घृणा फैलती है तथा शासन अप्रिय हो जाता है। मनु का कहना है—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभि :
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ।।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दण्ड पर प्रकाश डाला है। उसने कहा है कि—

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालित:

दण्ड की सहायता से ही राजा-शासक चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने-अपने धर्म, कर्म में ठीक रख कर उचित मार्ग से चलाता है। शुक्राचार्य का मत और भी स्पष्ट है। उनका कहना है कि बलवानों के वश में सभी रहते हैं और जो कमजोर है, दुर्बल है, उस के शत्रुओं का अन्त नहीं है—

बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः

जो शासक दण्ड-व्यवस्था में ढिलाई कर देता है उसका प्रतिकूल प्रभाव प्रजा पर पड़ता है। जनता यह कभी नहीं मानती कि शासक दया या उदारता के कारण दण्ड देना नहीं चाहता। लोग यही समझते हैं कि शासन करने की क्षमता का ही ह्रास होता जा रहा है। इसका परिणाम होता है जनता का नैतिक और चारित्रिक पतन। शुक्रनीति के अनुसार दण्ड के कई भेद हैं, जैसे—झिड़कना, द्रव्यहरण, नाशन, बन्धन, ताड़न, उलटी हजामत बनवा देना, असत्-यान यानी गधे पर चढ़ा कर घुमवाना, अंग काटना, दागना, वध और युद्ध। ये दण्ड के भेद हैं जिस का वर्णन हिन्दूशास्त्रों में हम पाते हैं।

यह विषय बहुत ही व्यापक है क्योंकि शासन चलाने के लिए दण्ड की अत्यन्त आवश्यकता है, अतः पूर्वाचार्यों ने दण्ड-व्यवस्था पर अच्छी तरह विचार किया है और सिद्धान्तों की स्थापना की है। हम यहाँ बौद्धयुग की दण्ड-व्यवस्था का ही परिचय देना चाहेंगे। हिन्दू-दण्डनीति पर विचार करना हमारा लक्ष्य नहीं है।

बौद्धयुग के इतिहास को नहीं, बौद्ध-ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि उस समय की दण्ड-व्यवस्था अपनी भयानकता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। इसमें संदेह नहीं कि आज से २२०० साल का भारत नैतिक दृष्टि से जरूर ऊपर उठा हुआ था किन्तु दण्ड की भयानकता तो इस बात का द्योतक है कि वहीं बर्बर-दण्ड विहित होता है जहाँ की जनता गिरी होती है। "मज्झिम-निकाय" में एक महादुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (१।२।३) है। भगवान बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में बिहार कर रहे थे। उन्होंने १२ प्रकार के भयानक दण्डों का वर्णन किया जो रोंगटे खड़े कर देनेवाले हैं। आज ही नहीं अपने आदि-युग से मानव ने मानव के साथ कैसा-कैसा अमानुषिक व्यवहार किया था उसका पता इन दण्डों से लगता है। शासन के नाम पर, धर्म के नाम पर, सुव्यवस्था के नाम पर, सेवा और हित के नाम पर मानव ने मानव के साथ जैसा बर्ताव किया वैसा बर्ताव पशुओं ने भी पशुओं के साथ नहीं किया। एक पशु यदि दूसरे पशु का आहार हुआ तो पेट भरने के लिए ही उसने मारा न कि तरह-तरह के बहाने बना कर और उच्च आदर्शों की दोहाई देकर। अब बौद्धयुग में दिए जाने-वाले दण्डों का वर्णन सुनिए—

बिलंग-थालिक : सिर पर की चमड़ी हटा कर तप्त लोहे का गोला रख देना—इस दण्ड का नाम था बिलंग-थालिक। इसे दण्ड नहीं यमयातना कहना चाहिए।

शंखमुंडिका

सिर का चमड़ा अच्छी तरह छील कर शंख की तरह बना देना। चमड़ी हटा दिए जाने से खोपड़ी शंख जैसी सफेद हो ही जाएगी। इसी दण्ड का नाम था शंखमुंडिका जो बहुत ही पीड़ाजनक था।

राहुमुख

अपराधी का मुँह कानों तक फाड़ दिया जाता था। राहु एक कुग्रह है जो राक्षस माना जाता है। शायद राक्षस का मुँह कानों तक फटा होता है, फैला होता है। अपराधी का मुँह चीर कर उसे राक्षस जैसा बना दिया जाता था। यह दण्ड भी कम भयानक न था।

ज्योर्तिमालिका

यह दण्ड जीते जी जला कर मार डालता था। शरीर में कपड़ा लपेट कर उसे तेल से भिगो दिया जाता था और फिर आग लगा दी जाती थी। मशाल की तरह अपराधी जल उठता था और फिर तड़प-तड़प कर मर जाता था। जीते जी जला कर मार डालना कितना भयानक दण्ड है जिसकी कल्पना भी आज हम नहीं कर सकते। इससे भी भयानक सजा थी—

एरकवर्तिका : अपराधी की खाल उसकी गर्दन तक उतार डाली जाती थी और उसी हालत में उसे धरती पर घसीटा जाता था। शायद नंगा भी कर दिया जाता होगा। खाल उतारने के बाद घसीटना—यह कितना कठोर कर्म है।

हस्त-प्रद्योतिका

अपराधी को दोनों हाथों में तेल से भीगा हुआ कपड़ा लपेट कर आग लगा दी जाती थी। यह दण्ड सम्भवतः चोरी करने पर दिया जाता होगा। चोरी करना हाथों का अपराध माना जाता है। यही कारण है कि हाथों को सजा दी जाती होगी।

चीरकवासिका

ऊपर से कमर तक की खाल उतार डालना और नीचे की खाल को पैरों की घुट्टी तक उतार लेने का नाम था चीरकवासिका। यह दण्ड दूसरे दण्डों से कम जघन्य नहीं कहा जा सकता। अब सभी दण्डों से एक भयानक दण्ड का वर्णन सुनिए। इसका नाम है—

ऐणेयक : यह सजा जिसको दी जाती थी उसकी केहुनी और घुटने में लोहे की मजबूत कीलें ठोंक दी जाती थीं और उन्हीं कीलों पर अपराधी को टिका दिया जाता था, फिर आग जलाकर उसे झुलसते थे। इस तरह दारुण यन्त्रणा भोग कर वह अभागा बुरी मौत मरता था या मार डाला जाता था।

बडिशमंसिका

यह बडिशमंसिका इतना भयानक दण्ड था कि सोचने से हृदय काँप उठता है। क्या मानव मानव पर ऐसा अत्याचार भी, न्याय के नाम पर, कर सकता है? हाँ, कर सकता है—यही उत्तर इतिहास से मिलता है। वंशी की तरह बने हुए लोहे के अंकुश को मुँह में डाल दिया जाता था। अपराधी को बाध्य किया जाता था कि वह उसे निगल जाए। इसके बाद उस अंकुश को खींच कर निकाला जाता था। कितना भयानक दण्ड था यह। वंशी निगल जाने पर जिस तरह मछली उसमें फँस जाती है और शिकारी डोर खींच कर वंशी को बाहर निकाल लेता है। यही तस्वीर अपने सामने रख कर मछली की जगह पर किसी अभागे मानव की कल्पना कर लीजिए। क्या दशा होती होगी उस बेचारे की। आह—ऐसा भयानक दण्ड।

कार्षापणक

एक-एक पैसा भर शरीर का मांस काट-काट कर सारे शरीर का मांस काट लेना कार्षापणक दण्ड था।

इस तरह की नृशंसता की भी कोई हद है—तिल-तिल करके मांस काटना और असह्य पीड़ा देना। यह अत्याचार भी न्याय के नाम पर होता था।

खारापतच्छिका

यदि शरीर का पैसा-पैसा भर मांस काट कर उस पर क्षार रगड़ दिया जाय तो इस दण्ड का नाम था खारापतच्छिका। एक तो मांस का जरा-जरा करके काटा जाना ही यमयातना है उस पर क्षार मलना, यह भारी हृदयहीनता है किन्तु कानून का न तो दिल होता है और न आँखें होती हैं, केवल दिमाग होता है वह भी पत्थर का।

परिघपरिवर्तिका

यह दण्ड दूसरे दण्डों से कम न था। किसी अपराधी के दोनों कानों में कील ठोंक दी जाती थी, फिर उस कील को धरती में गाड़ देते थे। इसके बाद सबसे राक्षसी प्रक्रिया इस तरह शुरू होती थी कि अपराधी की टांगें पकड़ कर चारों ओर घुमाते थे। कानों में कील ठोंकना, कील को जमीन में गाड़ कर अपराधी की टांगों को पकड़ कर चक्राकार घुमाना, क्या यह साधारण बात है या मामूली सजा है? अब आप एक और जघन्य-दण्ड का वर्णन सुनिए यह तो और भी भयानक था—

पलालपीठिका : बिना मांस पर क्षति पहुँचाए मुँगरी या इसी तरह की किसी चीज से मार-मार कर शरीर की हड्डियों को भीतर-ही-भीतर चूर कर देना पलालपीठिका दण्ड है। हड्डियों को तोड़ कर शरीर को मांस की लुगदी बना दिया जाता था। "महाभारत" में कीचक को भीम ने शायद यही सजा दी थी, उसे पलालपीठिका दण्डविधि के अनुसार मार-मार कर मांस का लोथड़ा बना दिया था। यह सजा भी अत्यन्त निर्मम और दहला देनेवाली थी।

इन विशेष दण्डों के अतिरिक्त खौलते हुए तेल में भी अपराधी को झोंक दिया जाता था, कुत्तों से नुचवा देना, शूली पर चढ़ाना और तलवार से सिर काट लेना साधारण दण्ड थे। ऐसे दण्डों का कोई शानदार महत्त्व न था।

शूली पर इस तरह चढ़ाते थे कि सात-आठ हाथ लम्बी लोहे की नोकदार मजबूत किल्ली खड़ी कर दी जाती थी और अपराधी को उस पर बैठा देते थे। किल्ली शरीर को छेदती हुई खोपड़ी के पार हो जाती थी। इसी का नाम था शूली चढ़ाना। बेंत से चमड़ी उधेड़ देना, हाथ-पैर काट डालना आदि दण्ड नगण्य ही थे, ऐसी सजाओं की कोई गणना न थी।

मानव ने मानव को कितना सताया है, कैसी कैसी पीड़ायें पहुँचाई हैं इसका भी इतिहास अलग से लिखा जाना चाहिये। जब यह इतिहास कभी प्रकाश में आयेगा तो मानव का असली रूप दिन की रोशनी में चमक उठेगा, वह अपने को देखेगा और फिर खुद फ़ैसला करेगा कि निन्दनीय पशुओं से ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना मानव में क्या अन्तर है।

कांजी केन्द्र

को० कुटुम्बराव

"क्यों माई जी, कांजी को आप चावल में ही सुखा देती हैं, या उसे निकाल देती हैं?"

"सवेरे तो उसे निकाल ही देती हूँ, पर शाम के वक्त चावल में ही सूखने देती हूँ। क्यों, बात क्या है बेटा?"

"कुछ नहीं, आपके यहाँ गाय-भैंस तो हैं नहीं, सो मैंने सोचा, आप उसकी फिक्र तो नहीं करती होंगी।"

"कांजी का फिक्र? मैं तो उसे रसोई घर के बाहर यों ही फेंकवा देती हूँ।"

"तब आप एक काम कर सकेंगी?"

"क्या है बेटा?"

"अगर आप को कोई एतराज़ न हो, तो मेहरबानी करके कांजी मुझे दिया कीजिएगा।"

"तुम्हें?"

"जी हाँ! आप अचरज क्यों करती हैं? इधर 'रायल-सीमा' में अकाल पड़ा था। जो काजी-केन्द्र उस वक्त चलाए गए, उनकी तरफ़ से कोई संतोषजनक कार्य नहीं हुआ। हमारे अफ़सर का कहना है कि इस दिशा में कुछ खोज करने की ज़रूरत है। सो हमारे कुछ मित्रों ने सोचा—इस सम्बन्ध में कुछ खोज करके देखें।"

"अच्छा! इसमें रखा क्या है? मैं खुशी-खुशी कांजी तुम लोगों को देती रहूँगी।"

अपनी दादी और श्रीनिवास राव, जो उन्हीं के घर के एक कमरे में किराये पर रह रहा है, दोनों के बीच हो रही ये बातें पंकजम बड़े ग़ौर से सुनती रही। उसे बहुत गुस्सा आया। क्योंकि श्रीनिवास राव को देखकर अक्सर पंकजम को गुस्सा आता ही है। ऐसा क्यों होता है, सो उसकी भी समझ में नहीं आता, पर हाँ, इतना तो ज़रूर है कि उसने कभी न पंकजम का कुछ बिगाड़ा, न किसी दूसरे का ही। वह हमेशा दूसरों की मदद करने के लिए तैयार रहता है। अपने घर में जब कभी बिजली का बल्ब फ़्यूज़ हो जाता है, तो श्रीनिवासराव उसे ठीक कर देता है। एक बार तो ऐसी करामात कर दिखाई कि देखते-देखते बुझे हुए बल्ब में फिर से रोशनी ला दी। पढ़ाई-लिखाई के बारे में भी पंकजम की कभी-कभी मदद कर देता है। आदमी में कोई ऐब नहीं। पर अपने कमरे का भाड़ा वह नियमित रूप से दे नहीं पाता। पंकजम का इसमें अपना कुछ भी आता-जाता नहीं, क्योंकि स्वयं उसके पिताजी इसकी फ़िक्र नहीं करते।

श्रीनिवास राव के यहां हमेशा मित्रों का तांता-सा लगा रहता है। कोई आ जाते हैं, तो फिर जाने का नाम तक नहीं लेते। इस पर भी पंकजम को कोई आपत्ति नहीं थी।

श्रीनिवास राव के प्रति पंकजम की नापसंदगी की कोई ख़ास वजह न थी, पर वह बहुत शक करती रहती। वैसे तो छः महीने से श्रीनिवास राव उसके एक कमरे में रह रहा है, पर उसके सम्बन्ध में पंजकम को किसी तरह की जानकारी हासिल नहीं हुई। वह काम कहां करता है? रोज़ खाता-पीता कैसे है? वह कहां का रहने वाला है? तनख्वाह कितनी मिलती है? इनमें से एक का भी जवाब वह नहीं दे सकेगी। इस तरह की बातों के सम्बन्ध में पूछताछ करने की बात तो अलग, पंकजम के पिता को भी दिलचस्पी नहीं है। अगर श्रीनिवास राव से कोई बात पूछता तो उसका जवाब इतना अस्पष्ट होता था कि ओंठ हिलने के अलावा कुछ सुनाई ही नहीं देता था। अगर कोई बात सुनाई भी देती तो सुनने वालों को शक होने लगता कि उसकी बातें कहां तक सच हैं!

जब श्रीनिवास राव नया-नया आया था तो पूछताछ करने पर पंकजम को मालूम हुआ था कि वह किसी दफ्तर में रिकार्ड कीपर का काम सम्भाल रहा है। इधर एक दिन बातचीत के सिलसिले में पंकजम ने उसे यह कहते हुए सुना कि वह अपर डिवीज़न का क्लर्क है। फिर यह पूछने पर कि रिकाड कीपर की नौकरी क्या हुई, उसने उत्तर दिया था कि वह नौकरी उसने दो महीने पूर्व छोड़ दी थी। पंकजम को दोनों बातें झूठ प्रतीत हुईं। एक दिन उसने श्रीनिवास को अपने एक मित्र के साथ कमरे में रसोई बनाते भी देखा था। पूछने पर मालूम हुआ कि जिस होटल में वह खाते हैं, उसमें किसी को भोजन करते ही हैज़ा हो गया था, और इस कारण होटल बन्द कर दिया गया। यह बात तो सच हो सकती है, क्योंकि यह समाचार पंकजम ने पहले से सुन रखा था। पर शहर में तो और भी कई होटल हैं। इस पर श्रीनिवास राव कहते—होटलों का विश्वास कर लेना खतरा मोल लेना ही है।

पंकजम ने मन में सोचा—होटल की बात तो ठीक है। पर आप का विश्वास कर लेना भी तो खतरा मोल लेने के बराबर ही है।

उन्होंने रसोई बनाना तो आरम्भ किया, पर तरकारी का ख़याल भी उन्हें नहीं आया। आखिर पंकजम को स्वयं उन्हें दाल-भात बनाने में मदद पहुँचानी पड़ी।

पंकजम ने उसके कमरे में पहली बार प्रवेश किया था। कमरे में अधिक सामान तो नहीं, पर किताबें ढेर की ढेर पड़ी हुई थीं। कमरे को देखकर श्रीनिवास राव की सारी बातें अवगत कर लेना उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। पर वह इतना ज़रूर मालूम कर सकी कि उसके पास अधिक कपड़े-लत्ते नहीं हैं। बाहर आते-जाते वक्त तो उसके शरीर पर अच्छे कपड़े दीखते थे। पर आज मालूम हुआ कि उसके पास सिर्फ दो-तीन जोड़े कपड़े ही हैं।

इन छः महीनों की अवधि में वह दो मर्तबा समय पर किराया अदा नहीं कर सका था। एक बार उसने बताया था कि बहन का ख़त आने से अपने यहां मिलना पैसा था, वह सब का सब बहन के पास भेज दिया है। इसी तरह दूसरी बार उसने अपने किसी और रिश्तेदार की मदद की थी। पंकजम को ये दोनों बातें भी झूठ ही मालूम हुई थीं। इतना सब कुछ होने पर भी वह सोचती थी कि आदमी ऐसा नहीं दीखता जैसे वह पैसे के अभाव में किसी मुसीबत का सामना कर रहा है। यदि कभी किसी एक महीने का किराया चुकाया नहीं गया तो दूसरे महीने में दोनों महीनों का किराया एक साथ चुकता कर दिया गया। उस आदमी को देखने से ऐसा भी नहीं लगता था कि उसने किसी से कर्ज़ ले लिया होगा, क्योंकि कभी कोई पैसा मांगने के लिए वहां आता नहीं देखा गया। पंकजम ने सोचा—शायद आमदनी कम होगी, सो बचा-बचा कर खर्च करता होगा।

अभी उन्होंने कांजी की मांग की है। कह रहे थे—मांड की गवेषणा करनी है। पर ये साहब यह क्यों नहीं सोचते कि ऐसी हवाई बातों पर कोई कैसे विश्वास कर सकता है?—पंकजम बहुत देर तक यही सब सोचती रही।

(२)

चार दिन बीत गए।

"क्यों माई जी! मालूम होता है आज आपने कांजी को चावल में ही सुखा दिया है?"

"नहीं बेटा! कांजी को निकाला तो था, पर पंकजम ने अपने कपड़ों के उपयोग के लिए ले लिया है। यदि तुम्हें इतनी अधिक जरूरत हो तो रात को ज़रूर दूँगी।"

"रहने दीजिए माई जी!—पित्त के निवारण के लिए क्या खाना अच्छा होगा?"

"क्यों बेटा? तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

"हां, माई जी! तबीयत कुछ ऐसी ही है—पेट में चक्कर-सा आ रहा है। इस वक्त मैं खाना नहीं खाऊंगा।"

"पुराने आंवले का अचार है। दो-चार कौर उसी को खा लो बेटा। अभी तो तुम कमज़ोर दीख रहे हो। अगर कुछ नहीं खाओगे तो और भी कमज़ोरी आ जाएगी।"

"बहुत धन्यवाद, माई जी! दे दीजिएगा। उससे दो-चार कौर खा कर होटल से रसम पीकर आ जाऊंगा।"

"बेटा! इसके लिए तुम होटल क्यों जाओगे? यहीं खा लेना। मैं अभी रसम बना देती हूँ।"

"सब झूठ! सब झूठ!!" उसकी ये बातें सुन कर पंकजम ने सोचा—अपने और श्रीनिवास राव के बीच कोई 'षष्टाष्टक' है, नहीं तो वह कुछ भी कहे, वह सब मुझे सरासर झूठ ही क्यों मालूम होता है?"

आधे घण्टे के बाद दादी ने बुलाया—"पंकजम!"

रसोई घर की तरफ झांकते हुए पंकजम ने पूछा—"क्या बात है मां?"

"उस लड़के को भोजन के लिए तो बुलाओ बेटी।"

पंकजम ने श्रीनिवास राव के कमरे में झांक कर देखा। उसे प्रतीत हुआ कि वह सो रहा है। पर दूसरे ही क्षण उसे लगा कि शायद वह मरा पड़ा है, क्योंकि सांस लेने की आवाज़ भी उसे सुनाई नहीं दे रही थी। इसी शक में उसके नज़दीक जाकर देखा तो पंकजम को इतना निश्चय तो हो गया कि वह मरा नहीं है। "देखिये तो"—उसने पुकारा। कोई उत्तर नहीं आया। अनौचित्य का भी ख़याल न कर पंकजम ने अपने हाथ से उसे जगाया। श्रीनिवास राव ने आंखें खोलीं।

"भोजन के लिए आइए!"

"पत्तल में थोड़ा-सा इधर ही ला देना। थोड़ी देर बाद खा लूँगा"—श्रीनिवास राव ने फिर से आंखें बन्द करते हुए कहा।

पंकजम ने यह सन्देश अपनी दादी को पहुँचाया। दादी ने जो कुछ बनाया था, वह सब एक पत्तल में परोसा और उसे पंकजम को देकर श्रीनिवास राव के कमरे में जाने के लिए कहा।

"एक तरफ तो वह कह रहे हैं कि खाना नहीं चाहिए, फिर यह सब तुमने क्यों बनाया—" पंकजम ने पूछा।

"इसमें है ही क्या? थोड़ी-सी दाल और करेले की भाजी है। अगर नहीं भी खाया तो क्या हुआ? ले जाओ इसे, और कह देना पहला कौर आँवले का अचार का खाएँ। एक गिलास में रसम ले जाओ। थोड़ा-सा घी और मट्ठा भी ले जाना।"

दादी जी की खुशी इसी में है कि उसकी बनाई रसोई लोग खाएँ और उनके बनाए भोजन की तारीफ़ करें। जब श्रीनिवास राव ने कहा कि वह मांड की गवेषणा में संलग्न है, तो उसे भी उसकी मदद करने की इच्छा हुई। सच बात यह है कि केवल मांड को ही नहीं, बल्कि घास को भी रुचिकर बनाया जा सकता है। सब अपने-अपने हाथ की महिमा है।

(३)

पंकजम के पिता, प्रसाद राव भोजन करने बैठ गए। उनकी माँ खाना परोस रही थी और उन दोनों में पंकजम की शादी की बात चल रही थी।

"हाँ, लड़का यहीं डाक्टरी पढ़ रहा है। बचपन में ही उसके माँ-बाप गुज़र गए। उसके भाई ने पाल-पोस कर उसे बड़ा किया, और अब भी पढ़ा-लिखा रहा है। लड़के को मैंने देख लिया है। अच्छा है।" प्रसाद राव ने कहा।

"तब तो ठीक ही है। शादी के बाद हमारे ही घर रहेगा। मेरे बाद बेटी के अलावा तुम्हारा है ही कौन? सो बेटी और दामाद तुम्हारे ही साथ रहेंगे। तुम्हारा काम भी चल जाएगा। क्यों बेटा दाल ठीक है न?"

"ठीक क्यों कहती हो? आज तो बहुत अद्‌भुत बनी है।"

"अच्छा, यह बात है? मैं सोचती थी कि दाल कुछ ख़राब हो गई होगी। क्योंकि नमक कुछ अधिक पड़ने का आभास हुआ था मुझे। बहुत देर तक दाल उबलती रही।"

"ऐसी कोई बात नहीं। बहुत मज़ेदार है, थोड़ी और लाओ तो सही।"

प्रसाद राव को दाल परोसी गई।

उसने कौर उठाया ही था कि उसे किसी के कै करने की आवाज़ सुनाई पड़ी। "कौन है वह ?"—प्रसाद राव ने पूछा!

"श्रीनिवास राव होगा" पंकजम ने कहा।

उसी वक्त पंकजम ने घर के पिछवाड़े में जाकर देखा तो श्रीनिवास राव ने जितना खाया था वह सब का सब कै कर दिया है। जब तबीयत ठीक नहीं है, तो यह सब खाया ही क्यों था? यह सोच कर पंकजम को उस पर गुस्सा आया। उसे ऐसे लोगों को देखकर चिढ़ होती है, जो न पचने वाली चीज़ बहुत अधिक खा लेते हैं, और हर कोई कार्य करने को उद्यत हो जाते हैं

यों उसके मन में चिढ़ हो रही थी। पर दूसरे ही क्षण श्रीनिवास राव की असहाय स्थिति पर दया उत्पन्न हो आई। नज़दीक जाकर हाथ का सहारा देकर उसे उठाया। कमरे के दरवाज़े पर लाकर कुल्ला करने के लिए पानी ला दिया।

"आपको मैं तकलीफ़ दे रहा हूँ"—श्रीनिवास राव ने कुछ फीकी आवाज़ में कहा।

"अच्छा होता, अगर आप खाना नहीं खाते"—पंकजम ने कहा।

"हाँ, मैंने अधिक खाया भी नहीं था"—कमरे के अन्दर जाने का प्रयत्न करते हुए श्रीनिवास राव ने कहा।

"डाक्टर को क्यों नहीं दिखाते ?" पकजम ने पूछा।

"न न! डाक्टर को दिखाने से कोई फ़ायदा नहीं। कोई बीमारी तो है नहीं मुझे"—श्री निवास राव ने कुछ बड़बड़ाते हुए कहा।

पर प्रसाद राव ने उसके "ना ना" करने पर भी डाक्टर को बुला भेजा, क्योंकि उसे डर था कि कहीं श्रीनिवास राव को हैज़ा तो नहीं हो गया।

डाक्टर आया और श्रीनिवास राव को देखकर उसने बतलाया कि उसे हैज़ा नहीं हुआ है। कमज़ोरी के अलावा उसे कोई और बीमारी नहीं है। सलाह दी गई कि उसे दूध, फल और पानी के साथ ग्लूकोज़ दिया जाए। प्रसाद राव ने डाक्टर की सलाह के अनुसार सब चीज़ें मंगवा दीं और पंकजम ने उन्हें श्रीनिवास राव के कमरे में पहुँचा दिया।

पंकजम को देखकर श्रीनिवास राव उठ बैठा। वह कमज़ोर तो ज़रूर था पर मुँह पर दीनता छायामात्र भी नहीं थी।

"इस कांजी-केन्द्र में ये सब चीज़ें क्यों ?" उसने कहा।

पंकजम की कुछ समझ में नहीं आया।

"डाक्टर कह गये थे न ?......क्यों नहीं चाहिएं ?" उसने कहा।

"चाहिएं क्यों नहीं ? बड़ी खुशी से ले लूँगा। पर मुझे जो चाहिए वह यह नहीं है।"

"तो फिर आपको क्या चाहिए ?"

श्रीनिवास राव के मुँह पर एक फीकी हँसी खिंच गई। "नौकरी, पैसा और खाना चाहिए। झुलसते हुए पेट को खाना देने से उसका असर बुरा हुआ। आप लोगों ने नाहक डाक्टर को बुलाया। मैंने बहुत तकलीफ़ दी आप सब को।"

जीवन में पहली बार पंकजम ने उसकी बातों पर विश्वास किया। "तो क्या आपकी सब नौकरियाँ झूठी थीं ?"

"झूठी काहे को थीं ?—मैंने मद्रास के एक दफ़्तर में काम किया। फिर आंध्र राज्य बना तो कर्नूल के एक दफ़्तर में चला गया। डेरों में रहने लगा। हमारे डेरे में पाँच आदमी थे। एक तो पहले ही दिन इस्तीफ़ा देकर चला गया, और दो आदमी इधर-उधर के डेरों से पूछताछ कर अच्छे डेरे में चले गए। मुझे बुखार हो गया और मैं बेहोश डेरे में पड़ा रहा। किसी ने पूछताछ तक नहीं की कि मैं मरा हूँ या ज़िन्दा। न दवाई थी, न पानी। एक हफ़्ते के बाद जब मेरा बुखार उतर गया तो देखा कि मेरा सारा सामान गुम हो चुका है। पर आफ़िस के काग़ज़ात ढेर के ढेर मेरे सामने पड़े हुए थे। आदेश किया गया कि मैं इतवार के दिन भी छुट्टी न लेकर रात-दिन काम करूँ। मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। यहाँ 'काम दिलाऊ दफ़्तर' की कृपा से दो जगह तात्कालिक नौकरी की। इधर महीने भर से फिर खाली बैठा हूँ। एक सप्ताह से खाया-पिया नहीं। मैं किसके सामने जाकर अपना दुखड़ा रोऊँ कि मेरे पास नौकरी नहीं है, मैं भूखा हूँ। कर्ज़ भी कौन देगा मुझे ? किराया देने में यदि चार दिन की देरी करता, तो आप लोग मुझे घूर-घूर कर देखने लगते। दोस्तों से कर्ज़ लेकर यदि मैं नहीं देता, तो मेरा क्या हाल होता ?"

"हाँ-हाँ, सच बात तो है"—पंकजम ने कहा।

"क्यों बेटा, कुछ खाओगे ?" बूढ़ी दादी ने कमरे में झांकते हुए पूछा।

श्रीनिवास राव छाती पर किताब रखे पड़े-पड़े मन ही मन कुछ सोच रहा था। कमरे में लालटेन जल रही थी।

"रहने दीजिए माई जी"—उसने कहा।

"रहने क्यों दूँ ? मैंने तुम्हारे लिए कुछ हलका खाना बनाया है।"

श्रीनिवास राव उठ बैठा और दादी जी के साथ चला गया। दादी ने रसोई घर में पीढ़ा डाल कर उसे बिठाया।

"घर में कोई नहीं है क्या, माई जी ?" —श्रीनिवास राव ने पूछा।

"बेटी की शादी की बात चल रही है। बाप-बेटी देखने गए। अभी हाल में सत्रहवां बरस वह पूरा कर चुकी है। शादी तो करनी ही पड़ेगी न बेटा"—दादी ने कहा।

"देखिए माई जी, बहुत थोड़ा परोसिएगा। माफ़ कीजिए। सच बात तो यह है कि सबेरे थाली भर खाना आपने भेज दिया। फिर मेरी हालत बिगड़ गई।"

"ऐसा क्यों हुआ ?"—दादी ने उतावलेपन से पूछा।

"मैंने बहुत कम खाने की सोची, पर मालूम नहीं, आपके हाथों से बनाई रसोई में ऐसा कौन-सा स्वाद था कि छोड़ने का मन ही नहीं हुआ। करेले की तरकारी बहुत अच्छी बनाई आपने! मैंने अपनी जिन्दगी में पहली बार ऐसी तरकारी चखकर देखी।"

दादी का मुखड़ा खुशी के मारे फूल कर कुप्पा हो गया।

"तो करेले की तरकारी अच्छी बनी ?" दादी ने पूछा।

"अरे, 'अच्छी' क्यों कहती हैं, वह तो 'अद्भुत' बनी। यों तो मैं करेला खाता ही नहीं। आज करेला भी बड़े स्वाद से खाया। पर उसकी उल्टी हो गई। अब तो कुछ हलका-सा खाना दीजिए।"

"बना ही क्या है। लहसुन का मिर्च-पाउडर है और हींग का रसम है। मैं तो भूल ही गई। मूंग की दाल से बनाया साग है। ज़रा उसे भी चख लेना और कहना, उसका स्वाद कैसा है?"

"नहीं, माई जी!"

"थोड़ा-सा परोसे देती हूँ। एक कौर ही सही, खा लेना।"

"इसका तो बहुत बढ़िया स्वाद है। नल महाराज को आपने मात कर दिया माई जी।"

"थोड़ा और, थोड़ा और" कहते-कहते दादी ने उस दिन भी सभी चीज़ें श्रीनिवास राव को खिला दीं। हर चीज़ श्रीनिवास राव को बहुत बहुत पसन्द आई।

"तुम तो यों कह रहे हो न बेटा? मेरे लड़के को भी मेरी रसोई बहुत पसन्द आती है। पर मेरी नातिन को मेरी एक चीज़ भी पसन्द नहीं आती। हर चीज़ की वह नुक्ताचीनी करती रहती है।"

"सब अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है, माई जी"—श्रीनिवास राव ने कहा।

"बहुत अच्छा कहा तुमने"—दादी हँसते हुए बोली।

बाप-बेटी के घर लौटते-लौटते नौ बज चुके थे।

"उन्हें कुछ खिलाया-पिलाया या नहीं?" पंकजम ने दादी को देखते ही पूछा।

"वह कभी का खा चुका है। हाँ—बेटा! दुल्हे को देख आए हो न?"—दादी ने पूछा।

"हाँ, देखा है"—प्रसाद राव ने उत्तर दिया।

"तो क्या हुआ?"—दादी ने पूछा।

"उन्हें दस हज़ार का दहेज़ चाहिए।"

"दादी, मुझे भूख लग रही है, थाली लगाओ जल्दी।"—पंकजम ने प्रसंग को बदलने के इरादे से कहा।

"दस हज़ार!" दादी ने दाँतों तले उँगली दबाते हुए कहा।

"क्यों दादी! कह दिया न कि भूख लग रही है मुझे"—पंकजम ने तनिक गुस्सा दिखाते हुए कहा।

"हाँ हाँ—दस हज़ार रुपए देकर दो दामाद खरीदे जा सकते हैं" प्रसाद राव ने कहा।

पंकजम खाने को बैठ गई और वह रोज़ की तरह नाक-भौं सिकोड़ने लगी। यह दाल का साग तुमने ऐसा क्यों बिगाड़ दिया?—क्या यह रसम है, या कषायम? पंकजम रसोई की बुराई करती ही रही।

"देखो, वह लड़का तुमसे लाख गुना अच्छा है। उसे मेरी बनाई हर चीज़ बहुत पसन्द आई। कितना बुद्धिमान लड़का है! क्यों बेटा—तुम ऐसे लड़के के साथ इसकी शादी करके घर में क्यों नहीं रख लेते? राजा-रानी बन कर घर आबाद करते!"—दादी ने कहा।

होने वाले डाक्टर साहब का ठाठ-बाठ और शान-शौकत अभी प्रसाद राव भूला नहीं था। सो दादी का यह प्रस्ताव उसे बहुत पसन्द आया। उसने अपनी बेटी की तरफ़ देखा। पंकजम यों बैठी थी जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं हो, पर जिस तरकारी की वह नुक्ताचीनी करती रही थी, उसी को अब वह बड़े चाव के साथ गबागब खाने लगी।

अनुवादिका—डी० मंजुलता

●

गुजराती कविता

बीते हुए वर्ष

उमाशंकर जोशी

यह याद भी नहीं रहा कि अबतक के जीवन के वर्ष किस प्रकार बीत गए। स्वप्न के उल्लास में, मृदु और करुण हास में ये वर्ष चले गए। जीवन का मार्ग कभी स्मितमय पसंद किया तो कभी-कभी भय से भरा हुआ। मानो ऊँघ में ही चलता जा रहा होऊँ, इस प्रकार जीवन बीत गया। हृदय में प्रणय का संभार था और वह मुझको चुप नहीं रहने देता था। वह प्रणय कार्य में और काव्य में प्रकट हुआ। जगत की मधुरता का पान करके मैंने सौहार्द का सर्जन किया। धन्य है उस हृदय को, जिसने जीवन का समस्त पंथ बना दिया। परन्तु ऐसी बात भी नहीं कि जीवन में विष न मिला हो! विषम दुःस्वप्न और निर्दयताएँ भी प्राप्त हुईं। परन्तु वे सब संजीवनी जैसी बन गईं। अनेक कंटक भी किसी गूढ़ संकेत द्वारा कुसुम बन गए। तिरस्कार के अन्दर भी करुणा के दर्शन हुए! और अब कभी-कभी शिव-तत्त्व के अरुण शिखर भी दिखाई देते हैं। जीवन में अब तो उन्हीं की वांछा है।

अनुवादक—शंकरदेव

●

श्री सुभाषचन्द्र बोस

इन्द्र विद्यावाचस्पति

श्री सुभाषचन्द्र बोस के सम्बन्ध में मेरे व्यक्तिगत संस्मरण तब से आरम्भ होते हैं, जब वे देशबन्धु चितरंजनदास के प्रमुख सिपाही के तौर पर कांग्रेस के मंच पर बैठे दिखाई दिया करते थे। पत्रकारों के आसन से अपने प्रधान सेनापति के बायें हाथ बैठा हुआ एक सुन्दर, तेजस्वी, गोरा मुस्कराता हुआ नवयुवक दृष्टिगोचर होता था, जिसके प्रतिभा-सम्पन्न चेहरे को देख कर दर्शक आपस में यह प्रश्न पूछते थे कि यह नवयुवक कौन है ? उत्तर मिलता था कि यह देशबन्धुदास का मुख्य शिष्य सुभाष बाबू है, जिसने आई० सी० एस० की नौकरी को त्याग कर देश-सेवा का व्रत धारण किया है। उन दिनों सुभाष बाबू के चेहरे पर जो स्थायी भाव प्रगट होता था, वह निरन्तर सन्तोष का था। होठों पर हल्की-सी मुस्कराहट दिखाई दिया करती थी। मैंने उन्हें सिपाही के रूप में देखा, फिर कलकत्ते की कांग्रेस में राष्ट्रीय स्वयंसेवकों के प्रधान सेनापति के रूप में देखा और अन्त में भारतीय युवकों के हृदय सम्राट नेता के रूप में भी देखा। तीनों दशाओं में उनके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट दिखाई देती रही। उसे देख कर मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सम्बन्ध में कवि की निम्नलिखित उक्ति चरितार्थ होती थी :

"राज्यमारोढुकामस्य वनायाभ्युद्यतस्य च
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोप्याकारविभ्रमः"

प्रत्येक दशा में मुख की प्रसन्न मुद्रा को देख कर ऐसा अनुभव होता था कि वे अपने कर्त्तव्य का पालन करने से सर्वथा सन्तुष्ट हैं। मुख का वह प्रसाद हृदय की सन्तुष्टि का प्रमाण था। ऐसा प्रतीत होता था कि सुभाष बाबू के लिए उनका कर्त्तव्य ही मुख्य था, फल की प्राप्ति गौण थी।

अगली स्मृति कलकत्ते के राष्ट्रीय कन्वेन्शन की है। वह कन्वेन्शन सन् १९२८ में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ था। उस समय तक दास बाबू का यह नया रंगरूट राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-सेना का प्रधान सेनापति बन चुका था। कांग्रेस और कन्वेन्शन के लिए जो स्वयंसेवक दल इकट्ठे हुए थे, उनकी कमान सुभाष बाबू को सौंपी गई थी। जिस व्यक्ति ने उस समय के राष्ट्रपति पं० मोतीलाल नेहरू का जुलूस देखा हो उसके स्मृतिपट पर से वह कभी नहीं धुल सकता। वह अपने ढंग का अपूर्व प्रदर्शन था। उसमें बहुत सी चीजें असाधारण थीं। कलकत्ते के बाजारों में अनन्त भीड़ दिखाई दे रही थी। जिस गाड़ी में राष्ट्रपति की सवारी निकल रही थी, उसमें शायद दो दर्जन घोड़े जुते हुए थे। गाड़ी में पं० मोतीलाल नेहरू अपने पूरे शाही ठाठ से विराजमान थे। ये सभी चीज़ें अपूर्व और दर्शनीय थीं। परन्तु इन सबसे अधिक अपूर्व और दर्शनीय जो चीज़ थी, वह मानो भविष्य में होने वाली घटनाओं की प्रतीक थी। वह चीज़ थी सुभाष बाबू को उ[स] समय की मूर्ति।

मैं उस ऐतिहासिक जुलूस को बड़े बाजार के एक चौबारे से दे[ख] रहा था। वहाँ से जो कुछ दिखाई दिया, उसे मैंने दिल्ली आकर दैनि[क] अर्जुन में अंकित किया था। उसे मैं यहाँ संक्षेप में लिखता हूँ।

"राष्ट्रपति की गाड़ी के आगे-आगे प्रधान सेनापति की मोटर जा रही थी। प्रधान सेनापति पूरे सैनिक वेश में मोटर के हुड पर बैठे हुए थे। उनका एक-एक अंग सेनापति के साँचे में ढला हुआ था। वे सोलहों आने कोई चीनी या जापानी जनरल प्रतीत होते थे। जितने जयकारे सुभाष बाबू की कार के निकलने पर उठे, उतने अन्य किसी गाड़ी के निकलने पर सुनाई नहीं दिए। ऐसा प्रतीत होता था कि जनता उस अहिंसात्मक स्वयंसेवकों के सेनापति को, भारत की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सेनाओं के प्रधान सेनापति के बीज के रूप में देख रही थी।"

कलकत्ते की उस कांग्रेस का एक और दृश्य सुभाष बाबू के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाला था। कन्वेन्शन में भारत का जो भावी विधान स्वीकार हुआ था, उसमें भारत का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य माना गया था। कन्वेन्शन एक गंगा-जमुनी सभा थी। उसमें गर्म-नर्म और बर्फ जैसे ठण्डे लोग भी शामिल थे। वहाँ औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव उपस्थित होने को था। उसे कांग्रेस के गले से उतारना बहुत कठिन काम था। अपने दो महारथियों के नेतृत्व में युवक-दल औपनिवेशिक स्वराज्य को कूड़े की टोकरी में फेंकने के लिए तैयार खड़ा था। वे दो महारथी पं० जवाहरलाल नेहरू और सुभाष-चन्द्र जी बोस थे। जब ऑल इंडिया कमेटी के सामने लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव आया तब उस पर एक संशोधन भेजा गया, जिसके प्रस्तावक श्री पं० जवाहरलाल नेहरू और अनुमोदक श्री सुभाषचन्द्र जी बोस थे। संशोधन का आशय यह था कि हमारा ध्येय पूर्ण स्वाधीनता है, औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं। मूल प्रस्ताव को उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति ने सत्याग्रह आश्रम में विशेष सन्देश भेज कर महात्मा गांधी को बुलाया था। दोनों युवक नेताओं के सम्मिलित आक्रमण का इतना आतंक था कि अनिच्छा होते हुए भी पं० मोतीलाल जी की सहायता के लिए महात्मा गांधी जी को अपनी द्वारिका छोड़ कर आना पड़ा। यह बात महात्मा जी ने अपने भाषण में स्पष्ट कह दी थी।

महात्मा जी ने प्रस्ताव को उपस्थित करने के समय जो भाषण दिया वह उन सब गुणों का परिचायक था जिन्होंने उन्हें भारत की राजनीति पर पच्चीस साल तक प्रभुत्व करने का अधिकार दिया था। प्रारम्भ में उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ समझाया फिर उसके गुण बतलाए और उसके पश्चात संशोधन की चर्चा की। वह चर्[चा]

इतनी संशोधन की नहीं थी, जितनी उसके प्रस्तावक की थी। महात्मा जी के कथन का सारांश कुछ इस प्रकार था :

"जवाहरलाल कहता है कि मुझे डोमिनियन स्टेटस पसन्द नहीं। मैं तो पूरी आज़ादी चाहता हूँ। वह चाहेगा भी क्यों नहीं? वह तो आज़ादी का दीवाना है। उसके पिता भी तो आज़ादी के दीवाने हैं। वह तो अपने इस दीवानेपन में सूख गया है। कमला बीमार है, उसकी उसे चिन्ता नहीं। आप रोगी है, इसकी भी परवाह नहीं करता। देश की चिन्ता में घुला जाता है, इत्यादि इत्यादि।"

जब महात्मा जी यहाँ तक पहुँचे तो लोगों ने देखा कि पं० जवाहरलाल नेहरू अपने स्थान से उठ कर सिर झुकाए हुए पण्डाल से बाहर चले गए।

महात्मा जी के भाषण के बाद जब संशोधन के उपस्थित करने का समय आया तो जवाहरलाल जी की तलाश हुई, पर वह कहीं न मिले। लोगों ने समझा संशोधन मर गया, परन्तु नहीं, बंगाल के प्रतिनिधियों में से अकस्मात आवाज़ आई, "महोदय, मैं उस संशोधन को उपस्थित करता हूँ।" लोगों ने उधर देखा तो हरे रंग की खादी की टोपी, और सफेद धोती कुरता पहने सुभाष बाबू खड़े हैं। सारा पण्डाल तालियों से गूँज उठा, निराश युवक-दल की जान में जान आ गई। सुभाष बाबू ने मंच पर आकर बड़े ज़ोरदार वक्तव्य द्वारा संशोधन को उपस्थित किया, परन्तु पं० जवाहरलाल जी की अनुपस्थिति ने संशोधन का जोर तोड़ दिया।

यह घटना उस समय साधारण समझी गई, क्योंकि महात्मा जी का कांग्रेस में सफल होना असाधारण बात नहीं थी। वह तो पूर्व निर्णीत सी बात थी। उस घटना का विशेष महत्त्व यह था कि उसने सुभाष बाबू के स्वभाव का स्पष्ट परिचय दे दिया। वह और पं० जवाहरलाल जी दोनों ही अग्रगामी दल के नेता माने जाते थे। दोनों भारत की पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे। महात्मा जी से सार्वजनिक रूप में मतभेद होने पर दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई। जवाहरलाल जी महात्मा जी के सामने से हट गए और सुभाष बाबू छाती तान कर खड़े रहे। इस परिस्थिति ने जहाँ दोनों के स्वभावों की भिन्नता को स्पष्ट कर दिया, वहाँ दोनों के भविष्य की भी झलक दिखा दी। यद्यपि उस अधिवेशन में सुभाष बाबू का संशोधन गिर गया तो भी अगले वर्ष लाहौर में वह सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। भाग्यों का फेर यही रहा कि लाहौर में कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलाल जी थे, सुभाष बाबू नहीं। एक वर्ष पूर्व सुभाष बाबू की असफलता ने जवाहरलाल जी की सफलता का मार्ग तैयार कर दिया था।

सुभाष बाबू का तीसरी बार साक्षात्कार करने का अवसर कई वर्षों पश्चात मिला। सन् १९३७ के प्रारम्भ में दिल्ली में कांग्रेस की ओर से निर्वाचित सदस्यों का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। उसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल जी थे। स्वागताध्यक्ष की हैसियत से मैंने सुभाष बाबू को भी विशेष रूप से निमन्त्रित किया था। वह उन दिनों विलायत से लौट कर आए थे और अस्वस्थ थे। उनके विलायत जाने की भी एक कहानी थी। कलकत्ते की कांग्रेस के समय महात्मा जी तथा उनके निकट अनुयायियों और सुभाष बाबू के बीच में जो खाई खुदी थी, वह निरन्तर गहरी और चौड़ी होती गई। इस परिस्थिति से उकता कर सुभाष बाबू विदेश यात्रा को निकल गए। भारत सरकार तो उनसे परेशान थी ही, अनुकूल अवसर पाकर सरकार ने उन्हें बाहर ही रोक दिया। उनके भारत वापस आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कई वर्षों तक सुभाष बाबू को प्रवासी बने रहने के लिए बाधित होना पड़ा। सन् १९३७ के मार्च मास में देश की परिस्थिति को शान्त समझ कर सरकार ने प्रतिबन्ध उठा दिया। तब सुभाष बाबू भारत लौट आए, परन्तु उनका स्वास्थ्य अभी ऐसा नहीं हुआ था कि थकाने वाले राजनीतिक कार्य में पड़ जाते। चिकित्सकों ने परामर्श दिया कि कुछ समय तक विश्राम द्वारा स्वास्थ्य सुधार करके ही कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिए। कन्वेन्शन में सम्मिलित होने के लिए मेरा निमन्त्रण पहुँचने पर आपने जो पत्र लिखा उसमें स्वास्थ्य की निर्बलता के कारण आने में असमर्थता प्रगट करते हुए यह सूचना दी कि "मैं शीघ्र ही स्वास्थ्य सुधार के लिए डलहौज़ी जा रहा हूँ। मुझे दिल्ली के स्टेशन पर मिलना।" तार द्वारा गाड़ी की सूचना मिलने पर मैं और मेरी पत्नी भोजन आदि लेकर स्टेशन पर पहुँचे तो स्तब्ध रह गए। कलकत्ते में जिस चेहरे पर से स्वास्थ्य चू रहा था, वह पीला पड़ा हुआ था। स्वर और गति में भी निर्बलता के चिन्ह थे।

यह परिवर्तन देख कर चित्त को बहुत दुःख हुआ। शरीर निर्बल हो गया था, परन्तु हृदय के सौजन्य और चेहरे की मुस्कराहट में कोई भेद नहीं आया था। उस समय दिल्ली के कुछ और मित्र भी स्टेशन पर पहुँचे हुए थे। हम सबसे वे लगभग आध घन्टा तक राजनीतिक विषयों पर बात-चीत करते रहे। बात-चीत में सुभाष बाबू बहुत ही स्पष्टवादी थे। मैंने अनुभव किया कि कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से अपने गहरे मतभेद को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हुए भी उन्होंने न तो किसी कड़वे शब्द का प्रयोग किया और न ही किसी प्रकार के निराशावाद की झलक आने दी। मतभेदों को सार्वजनिक जीवन का आवश्यक अंग बतलाते हुए उसका दार्शनिक रूप से विवेचन किया और अन्त में यह वाक्य कहे : "हमें विश्वास रखना चाहिए कि अन्त में हमारे विचारों को सफलता मिलेगी।"

मैं अपने पत्रकारिता और सार्वजनिक सेवा के लम्बे जीवन में अनेक महापुरुषों से मिला हूँ। उन सब की कुछ न कुछ स्मृतियाँ मेरे हृदय में सन्निहित हैं। परन्तु उनमें से जिन दो महानुभावों ने स्वयं स्थूलरूप में अपनी स्मृति मेरे पास भेजी, उनमें से एक सुभाष बाबू थे। उन्होंने डलहौज़ी पहुँच कर अपने हस्ताक्षरों से अंकित अपना एक नवीनतम फोटो मेरे पास भेजा जिसके नीचे लिखा हुआ है "योर सिंसियर्ली सुभाष. सी० बोस २२. ८. ३७।" दूसरे जिस महापुरुष ने हस्ताक्षर सहित फोटो भेज कर मुझ पर आत्मीयता प्रगट की है वह राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद हैं। मैंने चाटुकारिता से स्मृति के इन चिन्हों को प्राप्त नहीं किया, इस कारण मैं इन्हें सज्जनता और सहृदयता के प्रतीक समझ कर निधि के समान आदर की दृष्टि से देखता हूँ।

(शेष पृष्ठ ९५ पर)

प्राण, पत्थर और प्रेरणा

घनश्याम सेठी

प्रिय लड्डू ! इधर देख रहा हूँ, मेरे पत्र डायरी का-सा रूप भरते जा रहे हैं। पर इस सूरत में, जब तुम्हारा कोई पत्र नहीं आता, इनका बिल्कुल ही एकांगी हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे सामने उत्तर लिखने में काफी उलझनें होंगी और फिर तीन चार दिन से अधिक किसी स्थान पर मैं रुकता नहीं, परन्तु अब वीयना में शायद दस दिन रहूँगा, पर मेरे दस या बीस दिन भी रहने से उन उलझनों का हल नहीं निकलता, जो तुम ने खुद अपने लिए पैदा कर ली हैं।

अभी मैंने वीयना का कुछ भी नहीं देखा, पर इस शहर की सुन्दरता ने यों ही मुझे बाँध लिया है। वीयना संसार के कुछ बड़े नगरों में से एक है, पर इस की विशालता में भी एक आत्मीयता है, जिसका अभाव पैरिस और रोम में बुरी तरह खटकता है। मैं ३ बज कर ५५ मिनट वाली गाड़ी में साल्ज़बर्ग से चला था, गाड़ी आवश्यकता से अधिक भरी हुई थी। स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही यात्रियों का सैलाब डिब्बों के सामने एकत्रित हो गया। मैं माज़ा के साथ था, (पिछले पत्र में, मैंने अपनी इस यूगोस्लाव मित्र के विषय में लिखा था) वह जर्मन भाषा भी जानती है। हमारा भाग्य कुछ प्रबल था कि सैकण्ड क्लास के एक डिब्बे में सबसे पहले ही घुस गए।

बाईं ओर तंग कारीडोर का रास्ता था और दाईं ओर यात्रियों के लिए डिब्बे थे, प्रत्येक डिब्बे में आठ यात्रियों के बैठने का स्थान था। माज़ा ने एक डिब्बे के दो यात्रियों को प्लेटफार्म पर उतरते हुए देखा और झपट कर उस में घुस गई। उसके पीछे-पीछे जब मैं भी वहाँ पहुँचा तो डिब्बे के भूरे बालों वाले यात्री ने मुझे बतलाया कि केवल एक ही सीट खाली है। उसने एक नौ या दस वर्ष के स्वस्थ एवं सुन्दर बालक की ओर संकेत करके जर्मन भाषा में कहा कि उसके माता तथा पिता बाहर हैं। एक खाली सीट पर मैंने अधिकार कर लिया। माज़ा किसी अन्य डिब्बे में दो सीटें खोजने का इरादा कर रही थी कि एक स्त्री ने भीतर प्रवेश किया। माज़ा से उसकी कोई बात हुई। इस संक्षिप्त-सी वार्ता के पश्चात माज़ा भी वहीं बैठ गई। मैं उनकी बात-चीत समझ नहीं सका था, इसलिए मुझे बड़ी उलझन हो रही थी। इस समय इस डिब्बे में मेरे और माज़ा के अतिरिक्त छः यात्री थे, जिनमें एक तो वही बच्चा था और एक वह स्त्री जिससे माज़ा की बात हुई थी। गाड़ी चलने में अभी कुछ देर थी और मैं अपना छोटा-सा सूटकेस गोद में रखे डर और परेशानी के मिले-जुले भावों के साथ नवें व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करता रहा। डर यह था कि बालक के पिता के आ जाने पर सीट खाली करनी पड़ेगी और फिर शायद वीयना तक खड़े-खड़े ही जाना पड़े। मैं अत्यधिक थका



साल्ज़बर्ग का विहंगम दृश्य

हुआ था। पिछले दिन मैं इन्ज़ब्रूक में भी काफी पैदल चला था और प्रातः पाँच बजे की गाड़ी से साल्ज़बर्ग पहुँचा था। साल्ज़बर्ग में यह फिएस्टा मेले का समय है। शायद इसी कारण लाख सिर पटकने और सारा दिन दर-बदर भटकने के बाद भी किसी होटल में कोई कमरा न मिल सका और जब यह विश्वास हो गया कि स्थान की आशा रखना व्यर्थ है, तो सारा दिन टहल-टहल कर साल्ज़बर्ग के दुर्ग, चर्च, सड़कें और उद्यान देखता रहा और रात के ग्यारह बजे मोज़ार्ट का कंसर्ट और फिर हॉफमेंथल का आपेरा 'एवरी मेन' देखते-देखते प्रभात हो आया। सारा संसार अपने नागरिकों की आँखों से मोज़ार्ट की अमर कलाकृतियों और हॉफमेंथल के "पेशनाले" को देख रहा था। कहते हैं, सन १६१६ की एक संध्या में दो मित्रों ने इस छोटे से नगर में प्रवेश किया। उन में से एक सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन नाटककार मेक्स रीनहार्ड था और दूसरा ह्यूगो-वान-हाफमेंथल। गिरजों के चौक में पहुँच कर, जहाँ विशाल चर्च के सम्मुख सेंट पाल और सेंट पीटर अपनी पथरीली मुद्रा में खड़े चाँदनी से खेल रहे थे, रीनहार्ड ने अपने मित्र से अडिग स्वर में कहा था, "हाफमेंथल, यही वह स्थान है, जहाँ मैं तुम्हारी अमर कलाकृति को खेलूँगा।"

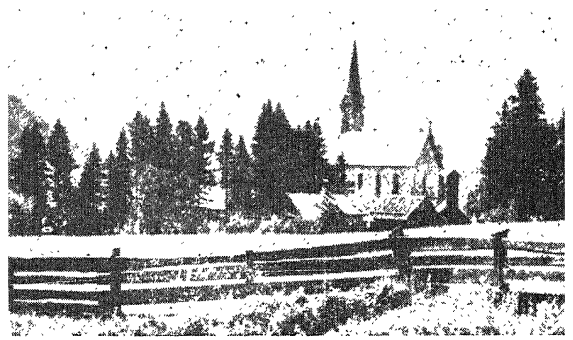
और अर्धरात्री के उस निःस्तब्ध क्षण में साल्ज़बर्ग के इस विश्वप्रसिद्ध फिएस्टा ने जन्म लिया था।

यद्यपि यह कथा कुछ विचित्र सी मालूम पड़ती है, क्योंकि अकाल और युद्ध से पीड़ित यूरोप के लिए फिएस्टा से कहीं अधिक आवश्यकता आलुओं की थी। साल्ज़बर्ग, उस समय तक छोटा-सा नगर था और शायद यह रीनहार्ड का ही साहस और दृष्टि थी कि यह साधारण-सा नगर गरमियों के इन दिनों में, समूचे संसार की साँस्कृतिक राजधानी बन जाता है।

और १६२० में फिएस्टा के प्रथम वर्ष में ही, जब रीनहार्ड और हाफमेंथल की साधना का स्पर्श यूरोप को मिला, साल्ज़बर्ग भी अमर हो गया। गत तीस वर्षों में थामस में आकर, मोज़ार्ट के संगीत को बजाने और "एवरीबॉडी" के संगीत की व्यवस्था का भार सम्भालने में अपने आपको भाग्यशाली समझा है। फिर युद्ध आ गया, समूचा यूरोप एक छोर से दूसरे छोर तक अहंकार और घृणा की ज्वाला में जल उठा। साल्ज़बर्ग के गिरजों के चौक के आगे खड़े पुरातन गिरजे की धज्जियाँ बिखर गईं। सेंट पाल और सेंट थामस ने चाँदनी के बजाए अग्नि की लपटों का स्पर्श पाया और पियानों के बजाए बमों का संगीत सुना, पर सन् १६४५ में आस्ट्रिया ने जहाँ अपने घावों पर मरहम रखा, वहाँ अपने साँस्कृतिक वैभव को जलाने की बात को भी भुलाया नहीं।

आज साल्ज़बर्ग फिर जीवित हो गया है। इसका जलाल पहले से कई गुना ज्यादा है। छः सप्ताह तक मेले के दौरान में यहाँ तिल धरने को जगह नहीं रहती: नाटक, ओपेरे, कंसर्ट, बेले इत्यादि, परन्तु लोग भी कम नहीं होते। लगभग प्रत्येक खेल के प्रथम शो की टिकटें महीनों पहले बुक हो जाती हैं। रेस्टरां और होटलों की लाबियों में मेरे जैसे दर्शकों की भी कमी नहीं रहती, जो कला-प्रेम तो रखते हैं परन्तु सिर छिपाने के लिए जगह नहीं। परन्तु साल्ज़बर्ग का कार्य केवल आतिथ्य ही है। कलाकार अधिकतर वीयना के होते हैं और दर्शक रोम, लण्डन, पेरिस और सिडनी से आते हैं। साल्ज़बर्ग अपनी फ़िज़ा देता है और नोट गिनता है और बस! पर यह भी कोई साधारण सी बात नहीं, यही शो यदि वीनस में हों तो सेटिंग की भव्यता और शहर का रोब खेल पर हावी हो जाएगा और यदि एडनबरा में हो तो सेटिंग और वातावरण खेल के साथ न्याय नहीं कर पाएँगे।

साल्ज़बर्ग अधिक सुन्दर या कलात्मक शहर नहीं है। सैंकड़ों देशों के झण्डों से सुसज्जित एक साधारण से रेलवे स्टेशन से बाहर निकलते ही जो दृश्य नवागन्तुक देखता है, वह जर्मनी के किसी फ़ैक्ट्री टाऊन से अच्छा नहीं। पर ज्यूँ ज्यूँ वह पुराने साल्ज़बर्ग की ओर बढ़ता है, मध्यकालीन वातावरण और स्थापत्य-कला स्पष्ट होते चले जाते हैं और दुर्ग तक पहुंचते-पहुंचते वह साल्ज़बर्ग को अपना समझने लगता है, क्योंकि साल्ज़बर्ग अपने वैभव से डराता नहीं, अपनी सादगी से लुभाता है। परन्तु मुझे साल्ज़बर्ग काठ के उस "डायस" में नज़र आया जो प्रत्येक जुलाई के मध्य, गिरजों के चौक में लगा दिया जाता है। इसके निर्माण के साथ ही जनता का रुख़ नौका-विहार की बजाए इस चौक की ओर फिर जाता है। दिन के तीसरे पहर, गेबरडीन की जैकटों और पतलूनों में स्मार्ट और सजीव पुलिस वहाँ पहुँचती है। "रिहर्सल"



एल्प्स के पार्श्व में आस्ट्रिया के एक गाँव का गिरजा

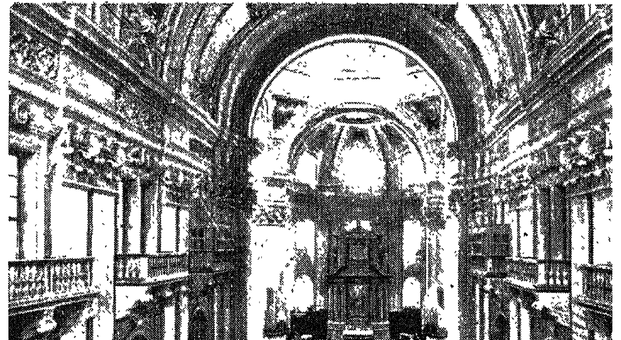
आरम्भ होती है। गिरजों के चौक में पहुँचने के लिए टिकट-घरों के सामने "क्यू" लगने शुरू हो जाते हैं और फिर गई रात तक "एवरीमेन" "एवरीमेन" को देखता रहता है। "एवरीमेन" "मध्यकालीन पेषन" पर आधारित एक ओपेरा है। यह प्रत्येक देश के प्रत्येक मानव की कहानी है, जिसका जन्म मृत्यु के लिए ही होता है, परन्तु वह डरता सब से अधिक मृत्यु से ही है।



साल्ज़बर्ग रात के समय

रात्रि के उस भयावने क्षण में जब "एवरीमेन" का नायक अपनी अन्तिम घड़ी को करीब आया देखता है, तो सारा जीवन जैसे उसकी आँखों के सामने आ जाता है, और वह सब को सहायता के लिए पुकारता है—मित्रों को, साथियों को, प्रेमीजनों को, चाकरों को और लक्ष्मी को, कि उसे

सेंट पीटर्स के गिरजे का भीतरी दृश्य





एल्प्स पर्वत, आस्ट्रिया से

उस घड़ी से निजात दिलाएँ, एक के बाद एक सब पीछे रह जाते हैं। मेक्स-रीनहार्ड के कला के नमूने उसके मेक-अप ने मनुष्य को मूर्तियों के रूप में ढाला है, विशेषकर जब काल, कंकाल के रूप में स्टेज पर आता है और तीखी आवाज़ में पुकारता है "मदर मन···मदर मन" (प्रत्येक व्यक्ति···प्रत्येक व्यक्ति)। गिरजों का चौक तब तक साथ सिसकती है, एक साथ रोता है, एक साथ हँसता है। सुख-सुविधा, जिनके घर के नौकर-चाकर हैं, वह "टूईड" के, "अमेरिकन फर" और "बरबरी" के ओवरकोटों में अगले बेंचों पर, और कदम-कदम पर जिनके लिए जीवन में संघर्ष है, वह ठिठुरते हुए खड़े या बैठे पिछले बेंचों पर, वातावरण के एक अंग से दृष्टिगोचर होते हैं दर्शक नहीं। फिर खेल समाप्त होता है, बेंच सूने पड़ जाते हैं। पर आज चाँदनी सेंट-पीटर और सेंटपाल के साथ खिलवाड़ नहीं करती, और वातावरण किलकारियाँ भरता रहता है "मदरमन···मदरमन"।

साल्ज़बर्ग पर "आर्चिबीशिप्स" शताब्दियों तक राज्य करते रहे हैं, इसलिए यहाँ रोमन और गोथिक ढँग के चर्च, उद्यान और दुर्ग अनेक हैं। युद्ध आस्ट्रिया की कला के इन नमूनों के लिए भी बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ, पर आज भी इस देश में देखने, समझने और सीखने के लिए इतना कुछ है कि यूरोप के किसी अन्य देश में नहीं।

साल्ज़बर्ग का "रेज़िडेंस", विश्व-प्रसिद्ध दुर्ग इंजीनियर बोल्क डाइट्रिच का निर्माण किया हुआ है, तत्पश्चात सन १६९६ से सन १७१४ तक यह कार्य मारसस और लोडानं द्वारा हुआ। स्थापत्य इटालियन पुनर्जागरण से काफ़ी प्रभावित है पर फिर भी इसमें व्यर्थ की सजावट से काम नहीं लिया गया। सिंह-द्वार से भीतर प्रवेश करते ही फुव्वारों की पंक्तियाँ ही पँक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु इस सारी कला से गिरजों के चौक की एक मूर्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है सिक्के में ढली "मेरी की मूर्ति" जिसे "कुमारी की मूर्ति" कहकर पुकारा जाता है। इसका निर्माण हेगनाक ने पन्द्रह वर्षों की अनथक लगन से किया था।

पर मुझे साल्ज़बर्ग की आत्मा शहर के उस भाग में झाँकती हुई दृष्टिगोचर हुई, जिसे अंग्रेज़ और अमेरिकन बरथीज़ नगर का नाम दे चुके हैं। लकड़ी के छोटे-छोटे चबूतरों पर बनी कलात्मक दुकानें, छोटे-छोटे घर, ज़रा हट कर मीराबल के अत्यन्त सुन्दर उपवन!······

लेकिन ऐसे तो मैं असल बात भूल ही जाऊँगा। तो इस प्रकार नींद से बोझिल आँखों ने साल्ज़बर्ग देखा था और अब और कुछ देर तक उसी अवस्था में रहने की ताव उनमें नहीं थी। इसलिए मैं बड़ा उद्विग्न था। उधर वेटिंग रूम में कुरसी पर बैठे-बैठे आँख लग गई थी, इस से नींद के नशे को एड़ मिल गई और अब मुझे अपना शरीर बिल्कुल थका हुआ और चूर-चूर प्रतीत हो रहा था।

डिब्बे के अन्य यात्रियों ने जब अपनी-अपनी चलाई तो माज़ा ने मुझे अंग्रेज़ी में बतलाया कि डिब्बे में एक नहीं बल्कि दो जगहें ख़ाली थीं और बच्चे का बाप डिब्बे में मौजूद था। भूरे बालों वाले यात्री ने बालक की सुविधा के लिए अधिक स्थान प्राप्त करने के लिए झूठ बोला था। यह फ़रेब मुझे अच्छा नहीं लगा। और अब मैं ज़रा आराम से बैठ गया। क्योंकि सन्तोष हो गया था कि अब स्थान छिनेगा नहीं और सम्भवतः आगे चल कर सोने का अवसर भी मिल जाए।

गाड़ी के भीतर डिब्बों में और बाहर प्लेट-फार्म पर काफ़ी कोलाहल और रेल-पेल थी। बीच-बीच में स्टेशन का माइक्रोफोन नई गाड़ियों के आने-जाने की सूचनाएं प्रसारित करता रहा। कारीडोर में लोगों की भाग-दौड़ और प्लेटफार्म का कोलाहल पहले से कहीं अधिक बढ़ गया था। डिब्बे के एक यात्री ने उठ कर बत्ती बुझा दी और द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

और फिर आखिरकार गाड़ी रींगने लगी।

डिब्बे के भीतर "स्टीम-हीटिंग" के कारण काफी गरमी थी और मैं इतना थका हुआ था कि पल भर बैठने में भी बड़ी परेशानी हो रही थी। और फिर थोड़ी सी बैठने की जगह में सो रहने की कोई युक्ति भी समझ में नहीं आ रही थी। न बैठने की हिम्मत थी और न लेटने की गुंजाइश। इधर-उधर बैठे अन्य यात्री भी मेरे समान ही परेशान और बेचैन थे, विशेषकर बालक बहुत थका हुआ मालूम होता था।

मैंने आँखें बन्द करने का प्रयत्न किया और ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि गाड़ी जल्दी से जल्दी वीयना पहुँच जाए। फिर मैं साल्ज़बर्ग के विषय में सोचने लगा—साल्ज़बर्ग के अध-गिरे और अध-जले चर्च और दुर्ग, उन अवशेषों में भी मुझे एक विचित्र परन्तु महान उदासीनता का आभास हुआ। एक दिन बिना कहे-सुने कुछ जहाज आए और लावा बरसा कर चले गए—"केथरेडल स्क्वायर" की बेवगी और मीराबल और हेलब्रुन की रौनक, मेरी आँखों के सामने नृत्य करने लगीं और फिर साल्ज़बर्ग के दुर्ग की प्राकृतिक दीवारों में बनी हुई उन गुफाओं का ध्यान मुझे हो आया जहाँ, एक युग था, रोमनों और टर्कों के अत्याचारों से बचने के लिए, क्रिश्चियन पनाह लेते थे और फिर एक ज़माना वह भी आया, जब बमबाज़ क्रिश्चियनों से बचने के लिए कलाकार क्रिश्चियनों को इनमें पनाह लेनी पड़ी। गाड़ी दौड़ती-भागती चली जा रही थी। अथाह अँधेरे में मैंने आँखें खोलीं और फिर बन्द कर लीं। नींद बुलाने के प्रयत्न में मैंने तुम्हारे विषय में दुनिया, जहान की अल्लम-गल्लम बातें सोचनी आरम्भ कर दीं।

एकाएक डिब्बे का द्वार खुला और बड़ा तेज़ प्रकाश हुआ। टोपी और टाप-कोट डाटे, लम्बे कद का हंस-मुख कण्डक्टर डिब्बे के भीतर प्रवेश कर रहा था। सब यात्रियों ने अपनी-अपनी टिकटें दिखलाईं। कण्डक्टर ने किसी को पंच किया, किसी पर हस्ताक्षर किए और "कुदनाख़" कहता हुआ, द्वार बन्द करके, बत्ती बुझाकर बाहर चला गया। बालक उसी प्रकार अप्रभावित रहा। न तो उसने कुछ कहा और न कण्डक्टर की ओर देखा। मैंने पुनः सोने की चेष्टा की। बैठे-बैठे गरदन अकड़ गई थी। अब फिर मैंने ज़रा फैल कर बैठने का यत्न किया और पुनः बेकार सी बातें सोचता हुआ न जाने कब सो गया।

जब पुनः नेत्र खुले तो बाहर की दुनिया में भोर के चिन्ह दृष्टि-गोचर हो चुके थे। डिब्बे के दो यात्री न जाने कहाँ चले गए थे और अब थोड़ी और जगह हो गई थी। बच्चा भूरे बालों वाले यात्री से बातें कर रहा था। मैंने उनकी वार्ता के विषय में सोचने का प्रयत्न किया। बालक के माता-पिता भी उसकी बातों पर दिल खोल कर हँस रहे थे। बालक बड़ी तेज़ी से बोल रहा था, उसके बोलने के ढंग से प्रतीत होता था कि वह हमेशा लोगों के आकर्षण का केन्द्र बना रहता था। बात करते-करते वह माता के दोनों हाथों को पकड़ कर उसका मुँह चूम लेता परन्तु उसका मुँह उसी प्रकार भावहीन रहता, वह इधर-उधर अधिक देखता भी नहीं था।

बाहर प्रातः हो रही थी। आस्ट्रिया की हरियाली और कोहरा दोनों अत्यन्त सुन्दर दीख रहे थे। मन्द-मन्द हवा चल रही थी और पकी हुई फसलों में सुनहरे रंग की लहरें हिलकारे भर रहीं थीं। छोटे-छोटे साफ़-सुथरे घर, उजले-उजले स्टेशन, रेलवे लाइन के दोनों ओर फूलों की लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ दूर तक चली गई थीं। स्विटज़रलैण्ड की बनावट के मुकाबले में यह सादगी कितनी दिलफ़रेब थी। कटी हुई घास के ढेरों के ढेर पंक्तियों में खड़े थे। इस प्रकार कि दूर से देखने पर एक ही पंक्ति में खड़े शिविरों का भ्रम होता था और कमाल यह था कि प्रत्येक पंक्ति अपने में एक सी होकर भी हर दूसरी पंक्ति से भिन्न थी। छोटे-छोटे एक मंज़िले मकानों की चिमनियों से उठता हुआ धुँआ फ़ुहारों से टक्कर ले रहा था।

फिर एक सुरंग आ गई और डिब्बे का एक यात्री जो कहीं चला गया था, फिर आकर मेरे साथ वाली सीट पर बैठ गया। उन लोगों की बात वैसे ही चल रही थी। बच्चा अमेरिका के विषय में कुछ कह रहा था। फिर एकाएक वह सीट पर खड़ा हो गया। उसकी दृष्टि बाहर के दृश्य पर जमी हुई थी। माता ने प्यार भरी दृष्टि से पुत्र को देखा और दुलार भरी एक थपकी दी। मुझे लगा कि अत्यन्त लाड़-प्यार ने बच्चे को बिगाड़ दिया है। वह उसी प्रकार बोलता रहा और जर्मन भाषा से अनभिज्ञ होने पर भी मुझे पूरा विश्वास था कि वही सब पर छाया हुआ है, समूचे डिब्बे की आँखें उस पर जमी थीं।

फिर वह मेरी ओर मुँह करके बोलने लगा। मैं उसकी ओर देख कर मुस्कराया, किन्तु उसने कोई ध्यान न दिया। परन्तु अन्य यात्री बड़े ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुनते रहे। हँसते रहे, मुस्कराते रहे और वह उसी प्रकार माँ की थपकियों में उसका मुँह चूमता रहा।

धीरे-धीरे मेरा यह विश्वास पक्का होता गया कि बच्चा बड़ा बातूनी है और माता-पिता इस के उत्तरदायी हैं। मेरे साथ वाली सीट पर बैठे यात्री ने अपने चमड़े के बेग में से किसी "सेंट" का एक चित्र निकाल कर बच्चे को दिया। फिर बातें होने लगीं और मैंने अनुमान से समझा कि अब यह लोग चित्र-सम्बन्धी बातें कर रहे हैं। बालक चित्र हाथ में लिए हुए कुछ कह रहा था। मैंने समझा शायद वह चित्र की पीठ पर लिखी इबारत के बारे में कह रहा था। बच्चे की माँ ने उसकी जेब से एक लाल बटुआ निकाला और चित्र को बड़ी सावधानी से उसमें बन्द करके बच्चे को लौटा दिया।

अब माज़ा भी वार्तालाप में शरीक हो गई थी। परन्तु मुझे वह जैसे भूल ही गई थी। मैं उसी प्रकार उन लोगों को घूरता रहा और कहीं-कहीं से कोई शब्द समझने का प्रयत्न करता रहा। अब की बार फिर बच्चे ने अमेरिका के विषय में कुछ कहा।

तभी गाड़ी वीयना के प्लेटफार्म पर पहुँची। अन्य यात्री हम से पहले ही बाहर निकल गये। बाप ने बेटे का हाथ पकड़ रखा था। हम लोग डिब्बे से बाहर निकले तो वीयना की सुहानी धूप ने हमारा स्वागत किया। बच्चा हम से कुछ ही आगे बाप और माँ के साथ जा रहा था।

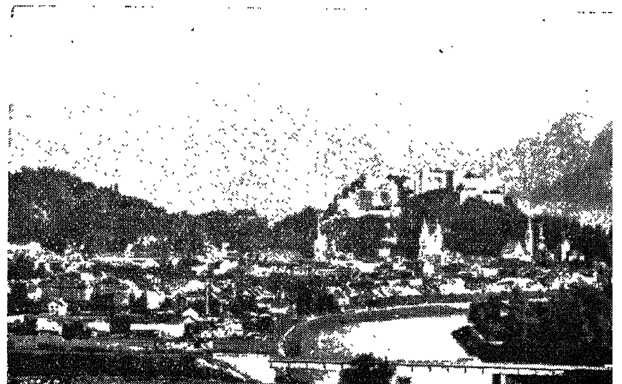
फिर माज़ा ने मुझे बतलाया कि बच्चे की आँखों में रोशनी नहीं है। अचम्भे से मुझे सक्ता सा हो गया।

मैंने माज़ा से पूछा, "अमेरिका के सम्बन्ध में क्या बातें हो रहीं थीं ?"

माज़ा ने बतलाया कि सरकार बच्चे के इलाज के लिए उसे अमेरिका भेज रही है। उसी सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए बच्चे के माता-पिता वीयना आए हैं। जब एक यात्री ने बालक से पूछा कि वह वहाँ जाकर क्या करेगा तो बालक ने उत्तर दिया कि वह वहाँ जाकर नौकरी करेगा और प्रति सप्ताह अपनी माता को तीस डालर भेजा करेगा।

मैंने वीयना के मकानों और स्टेशन के पार्क में खड़े बुतों को देखा, जिन पर सुनहरी धूप की किरणें पड़ रही थीं और फिर उस बालक को देखा जो हम से आगे आगे अपने माता-पिता का हाथ थामे यात्रियों के समूह में खोता जा रहा था।

साल्ज़बर्ग का दुर्ग और उसकी परिस्थितियाँ



भारत का रासायनिक खाद उद्योग

कृष्णशंकर व्यास

भारत की कुल भूमि और उसमें से कृषि योग्य भूमि का आपस का अनुपात अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा है। लेकिन यहाँ अनाज की प्रति एकड़ पैदावार सब से कम है। उदाहरण के लिए गेहूँ को लिया जाए। संसार के जिन भागों में गेहूँ पैदा होता है उनकी तुलना में भारत में इस अनाज की पैदावार का औसत सबसे कम है।

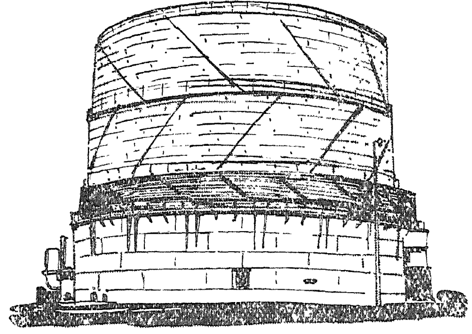
कृषि-गवेषणा और कृषि शिक्षा का अध्ययन करने वाले भारतीयों और अमेरिकनों के एक सम्मिलित दल ने इस विचित्र दशा का रहस्य भारत की घिसी-पिटी कृषि प्रणाली में निहित बताया है। उनके प्रतिवेदन में लिखा है कि भारतीय किसानों के पास जैसे औज़ार हैं, उन्हें जितनी बिजली उपलब्ध है और फसलों की बीमारियों, कीड़ों और बुरे मौसम से बचाने के लिए जो उनके पास साधन हैं, उन्हें देखते हुए यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि वे आज भी अधिकतम उत्पादन कर रहे हैं।

सुधरी प्रणाली से केवल अच्छे औज़ारों से ही अभिप्राय नहीं है, अपितु उसमें खेती करने के आधुनिक वैज्ञानिक ढंग भी शामिल हैं। इन वैज्ञानिक ढंगों में एक है प्राकृतिक और रासायनिक उर्वरकों का ठीक-ठीक प्रयोग।

किसानों को जब तक अच्छी खाद नहीं मिलेगी अनाज, कपास, चीनी आदि के उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव न होगा। गोबर जैसी पुरानी किस्म की खाद द्वारा पैदावार का यथेष्ट मात्रा में बढ़ना सम्भव न हो सकेगा। सिन्दरी में रासायनिक खाद का जो कारखाना स्थापित किया गया है उससे खाद की कमी को बहुत कुछ पूरा किया जा रहा है, पर वह एक कारखाना भारत में खाद की आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसीलिए दूसरी पंचवर्षीय योजना में रासायनिक खाद के तीन नए कारखाने खोले जाएँगे, ताकि पाँच साल बाद सन् १९६०-६१ तक खाद की पैदावार आज के मुकाबले चार गुनी हो जाए।

नाइट्रोजनीय खादों में से देश के क्षारीय भागों में सबसे अधिक प्रयोग अमोनियम सल्फेट का होता है। अम्लीय मिट्टियों में सोडियम नाइट्रेट का प्रयोग बहुत अधिक किया जाता है। अमोनियम सल्फेट और चिलियन नाइट्रेट का स्थान जल रहित अमोनिया और अमोनियम नाइट्रेट शीघ्रता से ले रहे हैं। बाद वाली दोनों खादें पहली दोनों की अपेक्षा बहुत सस्ती हैं।

लाने ले जाने का व्यय कम होने के कारण एकगुणी सुपरफास्फेट के स्थान पर त्रिगुणी सुपरफास्फेट का प्रचार बढ़ रहा है। परन्तु खादों का मिश्रण तैयार करने में एकगुणी सुपरफास्फेट ही अधिक काम में आती है। विभिन्न फसलों पर भिन्न-भिन्न किस्म की खादों के उपयोग से उपज में कोई अन्तर नहीं पड़ता।



कृषि के उत्पादन की बढ़ोतरी में खाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खादें पौधों को आवश्यक खुराक पहुँचाती हैं, जिससे उनकी अनाज रखने की शक्ति में बढ़ोतरी होती है। पौधों के तीन मुख्य भोज्य पदार्थ हैं: नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश। भारत की भूमि के लिए नाइट्रोजन और फासफोरस की बहुत आवश्यकता है। नाइट्रोजनात्मक मात्रा वाली खाद अमोनियम सल्फेट होती है और फास्फोरसात्मक मात्रावाली खाद सुपरफासफेट होती है। किसी भी किस्म की खाद के उचित उपयोग के लिए चूना का प्रयोग भी बहुत आवश्यक है। प्रति वर्ग गज़ पर औसतन तीन या चार औंस चूने का प्रयोग, खाद के प्रयोग के एक माह पहले किया जाना चाहिए।

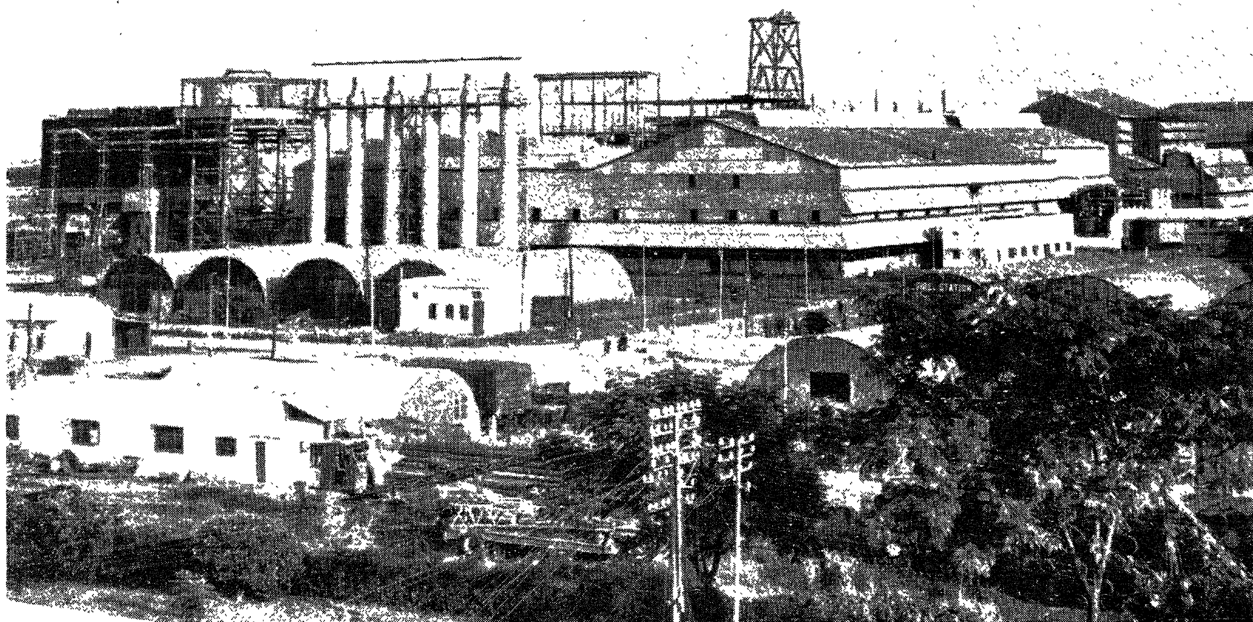
भारत के कृषि विकास के इतिहास में अमोनियम सल्फेट नामक खाद ने एक नया पृष्ठ जोड़ा है। सिन्दरी में मुख्यतः अमोनियम सल्फेट की खाद बनाई जाती है। अमोनियम सल्फेट बहुत सी किस्म की फसलों और विभिन्न किस्म की ज़मीन के लिए उपयोगी है। इसका प्रयोग अकेले भी किया जा सकता है अथवा अन्य खादों के साथ मिलाकर भी किया जा सकता है। इसको ज़मीन के साथ मिलाने का तरीका और उपयोग की मात्रा फसल तथा ज़मीन के अनुपात में बदलती है।

भारत में अमोनियम सल्फेट का औसत प्रयोग बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। धान और गेहूँ की खेती में १½ मन प्रति एकड़ अमोनियम सल्फेट की खाद को मिलाने से ३-४ मन अथवा २·९ मन प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि होती है। इसी प्रकार गन्ना, जौ, चना आदि अन्य फसलों के लिए भी यह खाद बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।

यूरिया

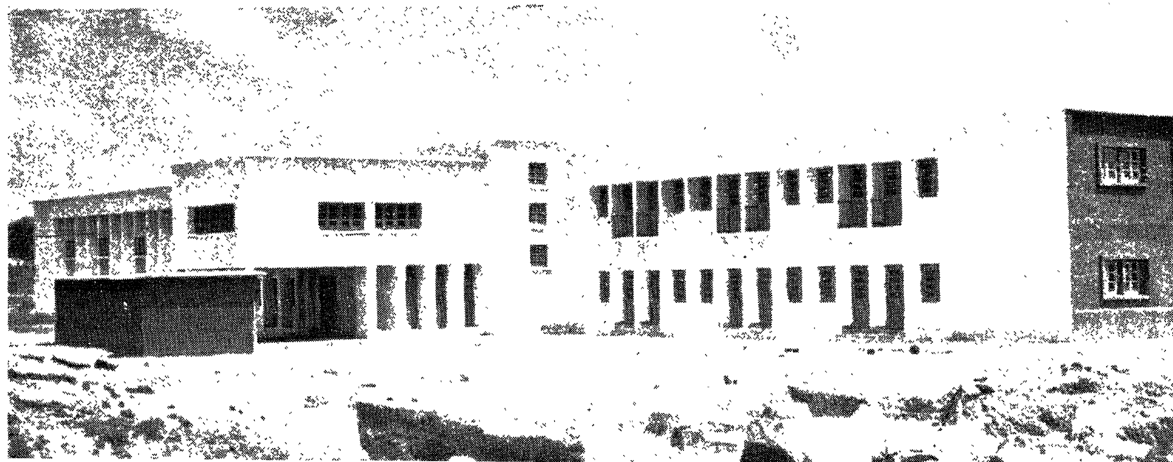
यह एक अच्छे किस्म की नाइट्रोजन मात्रात्मक खाद है, जिसका व्यवहार यूरोप, अमेरिका एवं जापान में बहुत ही सफलता पूर्वक हो रहा है। नाइट्रोजन मात्रात्मक खादों में यूरिया सबसे अधिक नाइट्रोजन मात्रात्मक है। इसमें ४० से लेकर ५० प्रतिशत नाइट्रोजन की मात्रा है।

सभी उपज के पौधों के लिए नाइट्रोजन एक अच्छी खुराक है। इसमें दूसरी खादों की अपेक्षा नाइट्रोजन की मात्रा अधिक है। एक मन यूरिया खाद में नाइट्रोजन की मात्रा एक मन अमोनियम सल्फेट



सिन्दरी के कारखाने का सामान्य दृश्य

सिन्दरी के प्रशिक्षण केन्द्र का छात्रावास

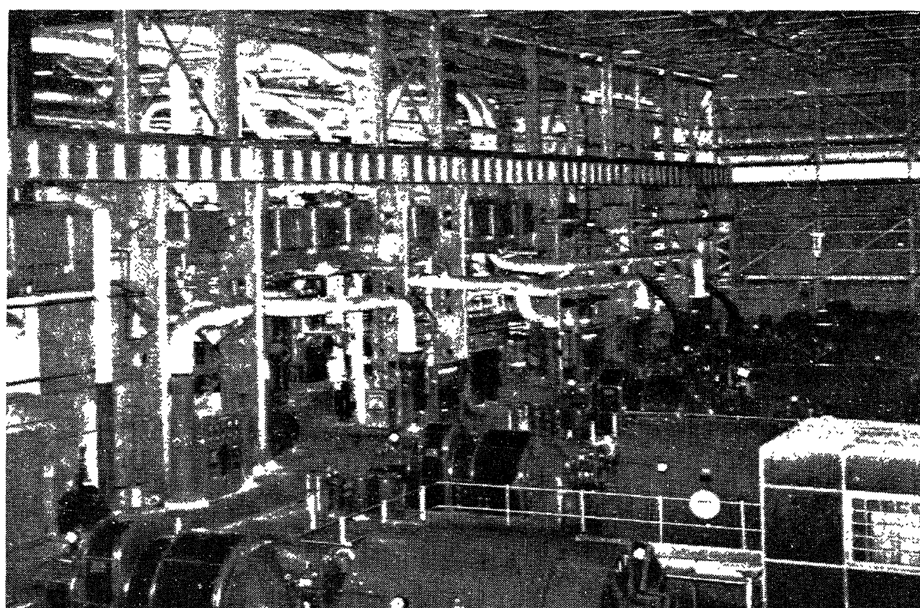


कारखाने का विशाल गैस प्लाण्ट



सिन्दरी के कारखाने का एक भाग

सिन्दरी के कारखाने का एक भाग



सिन्दरी का बिजली घर

अमोनिया भण्डार

कारखाने का दूर से दृश्य



खाद की नाइट्रोजन की मात्रा से दुगनी है। सिन्दरी के खाद के कारखाने में निकट भविष्य में यूरिया की खाद का उत्पादन किया जाएगा।

यूरिया का व्यवहार जाँच एवं अनुभव के आधार पर प्रति एकड़ आवश्यक नाइट्रोजन के हिसाब से किया जाना चाहिए। गेहूँ और धान की फसलों के लिए २५ सेर से लेकर ५० सेर तक प्रति एकड़ इसका व्यवहार बहुत ही लाभप्रद होता है। यदि बीज डालने से पहले ही यूरिया को खेत में मिला दें, तो इसका परिणाम बहुत ही अच्छा होता है। ऐसा या तो हम जुताई के साथ या सिंचाई के जल के साथ कर सकते हैं। अगर जुताई के साथ इसे मिलाना हो तो अन्य रासायनिक खादों के समान ही इसका व्यवहार किया जाना चाहिए। चूँकि यह खाद पानी में बड़ी आसानी से घुल-मिल जाती है, इसलिए सिंचाई के जल के साथ घुल-मिलकर यूरिया खेत की उन जगहों तक पहुँच जाती है जहाँ तक पानी प्रवेश करता है।

फास्फेट उर्वरक

फास्फोरस पौधों के लिए आवश्यक पदार्थ है। यह छोटे पौधों की जड़ों को बढ़ाता और उन्हें शक्ति प्रदान करता है। फास्फोरस से पत्तियाँ बढ़ती हैं। पौधों की शाखाएँ और जड़ें भी जल्दी बढ़ती हैं। जिस फसल में फास्फेट उर्वरक दिया गया हो वह जल्दी ही पकती है।

फास्फोरस उर्वरकों में सुपरफास्फेट बहुत प्रचलित है। सुपरफास्फेट सभी फसलों के लिए लाभदायक है। इसे बुवाई या रोपाई के समय या उससे पहले खेत में डालना चाहिए। सुपरफास्फेट बुवाई यन्त्र द्वारा चार इंच की गहराई पर बीज की कतार के दोनों ओर एक या दो इंच की दूरी पर डाली जानी चाहिए। आम्लवाली भूमि में सुपरफास्फेट को नहीं डालना चाहिए।

अभी देश में जितनी मात्रा में सुपरफास्फेट की खाद मिलती है उसे अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। इसीलिए दूसरी योजना की अवधि में निजी क्षेत्र में इसके उत्पादन का लक्ष्य ७ लाख २० हज़ार टन प्रतिवर्ष रखा गया है। इस लाभदायक उर्वरक को तैयार करने की नई विधि भी प्रयोग में लाई जा रही है। हड्डियों से जो खाद बनती है उसमें फास्फेट की मात्रा काफी होती है। इसलिए इस खाद को भी लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला ने हड्डियों से खाद तैयार करने की एक मशीन बनाई है। राज्य सरकारों को कहा गया है कि वे इन मशीनों को ग्रामीण क्षेत्रों में लगाएँ, ताकि इन उर्वरकों का उत्पादन बढ़ सके। साथ ही साथ हरी खाद के प्रयोग को भी बढ़ाना आवश्यक है। विशेषज्ञों का कहना है कि भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए दोनों किस्म की खाद का प्रयोग किया जाना चाहिए।

भूमि को पोटैश प्रदान करने के लिए अधिकांशतः "म्यूरिएट आफ पोटैश" का प्रयोग किया जाता है। पोटैशियम सलफेट को सुपरफास्फेट के साथ मिलाकर प्रयोग करते हैं। यह खाद मिश्रण अधिकतर पौधों की रोपाई के समय ही दिया जाता है। सुपरफास्फेट को या तो बीज के साथ (बुवाई यन्त्रों द्वारा) डालते हैं या बुवाई करने से पहले देते हैं। खाद फैलाने वाली मशीनों का भी आविष्कार किया गया है जो बीजों वाली पंक्ति से १॥ से दो इंच की दूरी पर खाद डालती है। इस प्रकार से दिए जाने पर सुपरफास्फेट छिड़के जाने की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होती है। किसानों में इन मशीनों का प्रचार बहुत अधिक बढ़ रहा है।

पोटैश वाली खादों का प्रयोग बुवाई से पूर्व ही किया जाता है। जब नाइट्रोजनीय खादें अकेले ही प्रयोग में आती हैं तो इन्हें फसलों में पौधे के अंकुर फूटने के एक महीने बाद छिड़का जाता है।

अमोनियम सलफेट नाइट्रेट

यह एक नाइट्रोजन मात्रात्मक खाद है जिसका उत्पादन यूरोप में आज से २५ वर्ष पहले से हो रहा है। भारत में इसका उत्पादन सर्वप्रथम सिन्दरी में होने जा रहा है। इसका उत्पादन अमोनियम सलफेट तथा दूसरी मात्रात्मक खाद अमोनियम नाइट्रेट के मेल से होता है। इसका एक-चौथाई नाइट्रोजन नाइट्रेट के रूप में तथा तीन-चौथाई अमोनिया के रूप में होता है। अमोनियम सलफेट नाइट्रेट नामक खाद में नाइट्रोजन की मात्रा २६ प्रतिशत है अर्थात इसमें प्रति सैकड़े नाइट्रोजन की मात्रा प्रति सैकड़े अमोनियम सलफेट की मात्रा से ६ पौंड अधिक है।

अमोनियम सलफेट की सारी मात्रा जल में घुलकर मिल जाती है। इस खाद का नाइट्रेट भाग पौधों को शीघ्र ही मिलने लगता है। ज़मीन की नमी के साथ घुल-मिलकर यह खाद सारे खेत में फैलती रहती है।

अमेरिका एवं यूरोप की ज़मीन पर किए गए अनुसन्धान के आधार पर यह परिणाम निकला है कि एक मन अमोनियम सलफेट नाइट्रेट खाद का व्यवहार ३½ मन अधिक धान या ३ मन अधिक गेहूँ उत्पन्न कराने में समर्थ है। साधारणतया अनाज की फसलों के लिए आवश्यकतानुसार ४० सेर से लेकर ८० सेर तक अमोनियम सलफेट नाइट्रेट का व्यवहार प्रति एकड़ किया जाता है।

केन्द्रीय उर्वरक भण्डार

नाइट्रोजन के उर्वरक प्राप्त करने और "न फायदा न नुकसान" के आधार पर राज्यों में उनका वितरण करने के लिए सरकारी व्यापार योजना के अन्तर्गत सन् १९४४ से एक केन्द्रीय उर्वरक भण्डार चल रहा है। देश में जितना भी अमोनियम सलफेट बनता है उस सब को यह भण्डार खरीद लेता है और सरकार जो उर्वरक आयात करती है उसे भी इसी भण्डार को दे दिया जाता है।

ऋण की सुविधा

उर्वरकों का प्रचलन बढ़ाने के लिए प्रतिवर्ष लगभग २ लाख खेतों में उर्वरक देने की विधि का प्रदर्शन किया जाता है। इस दिशा में सरकार का दूसरा कदम है राज्य सरकारों को केन्द्रीय भण्डार से उर्वरक खरीदने के लिए छोटी अवधि का अनुदान, जिससे ये सरकारें अपने किसानों को उर्वरक उधार दे सकें। इसके अतिरिक्त उर्वरकों की उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रचार प्रसार पर भी भारत सरकार पर्याप्त रकम व्यय कर रही है। किसानों तक सुविधापूर्वक उर्वरक पहुँचे, इस दिशा में उठाए गए उपरोक्त दोनों कदम, आशा है, लाभदायक सिद्ध होंगे।

निम्न तालिका में विभिन्न खादों के मात्रात्मक अनुपात का विवरण दिया गया

	मक्का	रुई	चुकन्दर	अलसी	आलू	गेहूँ	जौ	धान
नाइट्रोजन की औसत मात्रा (पौंड प्रति एकड़)	३८	५५	८६	४४	१०९	६	८	३१
अमोनियम सलफेट की सम मात्रा	१८८	२७५	४२५	२१७	५४०	२९	३९	१५३
फास्फोरिक एसिड की औसत मात्रा (पौंड प्रति एकड़)	६	१२	३४	४३	३८	२	२	९·१
एक गुणी सुपरफास्फेट की सम मात्रा	३३	६६	१८७	२३६·५	२०९	११	११	·५५
औसत उपज (मन में)	३२$\frac{१}{२}$	२०	५१३	१५	३१२	१३$\frac{१}{२}$	२१$\frac{३}{४}$	४४
उत्पादन शक्ति	५१	६४	७४	७७	८३	६१	७६	७१

रासायनिक उद्योग के विकास की रूपरेखा

आज के युग में रासायनिक खादों का उपयोग कितना बढ़ गया है, इसका अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि संसार में आज लगभग १,८०,००,००० मीट्रिक टन विभिन्न किस्म की रासायनिक खादों का उपयोग प्रतिवर्ष होता है। रासायनिक खादों के उपयोग की वृद्धि से कृषि उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

भारत में रासायनिक खाद के उद्योग के विकास की कहानी द्वितीय महायुद्ध के बाद से आरम्भ होती है। सन् १९३९ में मैसूर के बेलेगुला क्षेत्र में एक रासायनिक खाद का कारखाना खोला गया, जिसमें प्रतिदिन २० टन अमोनियम सलफेट बनाया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत में रासायनिक खाद बनाने का कोई अलग कारखाना नहीं था, केवल 'कोक ओवन' के प्लाण्ट के सहकारी उत्पादन के रूप में प्रतिवर्ष लगभग २५,००० टन अमोनियम सलफेट बनता था। उस समय रासायनिक खाद का आयात भी सीमित ही था। सन् १९२२-२३ में अमोनियम सलफेट का आयात ३०६ टन था जो बढ़कर सन् १९३८-३९ में ७६,७४८ टन अमोनियम सलफेट, ६,७८८ टन सुपर-फास्फेट, २,१३७ टन नाइट्रेट ऑफ सोडा, १,८२९ टन नाइट्रेट ऑफ पोटैश तथा ७,०३७ टन अन्य किस्म की रासायनिक खादों का आयात हो गया। इस प्रकार सन् १९३८-३९ में सब मिलाकर कुल ९९,४५२ टन रासायनिक खाद का आयात हुआ था, जिसका मूल्य लगभग १ करोड़ से भी अधिक था।

सन् १९४७ में भारत में रासायनिक खाद का एक कारखाना फर्टिलाइज़र्स एण्ड केमिकल्स (त्रिवांकुर) लि० आलवे (दक्षिण भारत) में खोला गया, जहाँ प्रतिदिन १५० टन अमोनियम सलफेट तथा १०० टन सुपरफास्फेट बनाया जाने लगा। इस क्षेत्र में कोयला नहीं मिलता। अतः अमोनिया गैस बनाने के हेतु यहाँ गैस जेनरेटर की बैटरियों में लकड़ी का जलावन के रूप में प्रयोग होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत के रासायनिक खाद के उद्योग ने बहुत अधिक उन्नति की है। इस उन्नति की पृष्ठभूमि में सन् १९४३ का अकाल तथा भारत के कृषि उत्पादन का निरन्तर ह्रास और उसकी जांच के हेतु बनाई गई "फूड ग्रेन पौलिसी" कमेटी की सिफारिशें हैं। इस कमेटी ने एक और फैक्टरी बनाने की सिफारिश की जो ३,५०,००० टन अमोनियम सलफेट प्रतिवर्ष बनाया करे।

सिन्दरी का कारखाना

स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार ने धनबाद से १५ मील की दूरी पर स्थित सिन्दरी गाँव में २३ करोड़ की लागत से रासायनिक खाद का एक कारखाना खोला। इस कारखाने को बनाने में पांच-छः वर्ष की अवधि लगी और नवम्बर १९५१ से यहाँ अमोनियम सलफेट की खाद का उत्पादन आरम्भ हो गया। यह एशिया का सबसे बड़ा खाद बनाने वाला कारखाना है और इसे विश्व में नवीनतम प्लाण्टों से युक्त एक आधुनिक कारखाना माना जाता है। १६ जनवरी १९५२ को इसे फर्टिलाइज़र्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड कम्पनी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

यह कारखाना मुख्यतः पाँच विभागों में विभक्त है (१) पावर प्लाण्ट, (२) गैस प्लाण्ट, (३) अमोनिया प्लाण्ट, (४) सलफेट प्लाण्ट और (५) नया बना हुआ कोक ओवन प्लाण्ट।

सिन्दरी में "अर्द्ध जल गैस जिप्सम पद्धति" अमोनियम सलफेट बनाने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। इस प्रणाली में पहले अमो-निया, नाइट्रोजन की और हाईड्रोजन की सिन्थेसिस से बनाई जाती है। इस अमोनिया को फिर अमोनियम कारबोनेट में कारबनडाई आक्साइड के रिएक्शन से परिवर्तित किया जाता है। इसके बाद पीसे हुए जिप्सम को अमोनियम कारबोनेट से मिलाकर अमोनियम सलफेट बनाते हैं और चाक स्लज नामक अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करते हैं जो सीमेण्ट बनाने के लिए उपयोगी होता है। निम्न पंक्तियों में सिन्दरी के विभिन्न प्लाण्टों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

पावर प्लाण्ट जो ८०,००० किलोवाट शक्ति का है (भारत के प्रमुख औद्योगिक उत्पादकों में एक), फैक्टरी को बिजली तथा 'प्रोसेस स्टीम' देता है।

गैस प्लाण्ट गैस मिक्सचर बनाता है, जो कि सफाई के बाद अमोनिया सिन्थेसिस बनाने के काम आता है। प्रतिदिन यहाँ ४४ मिलियन क्यूबिक फुट गैस बनती है।

अमोनिया सिन्थेसिस प्लाण्ट में गैस प्लाण्ट की परिवर्तित गैस कारबनडाई आक्साइड से मुक्त की जाती है और नाइट्रोजन और

हाइड्रोजन के बचे हुए मिक्सचर को केटेलिस्ट के साथ सिन्थेसाइज्ड किया जाता है। यह प्लाण्ट प्रतिदिन (२४ घण्टों में) २७० टन अमोनिया बनाता है।

अन्त में सलफेट प्लाण्ट में जिप्सम और अमोनियम कारबोनेट के घोल को मिलाया जाता है और कुछ केमिकल प्रोसेसों के बाद अमोनियम सलफेट बनता है, जिसे क्रिस्टल (दाना) का रूप दिया जाता है और कैलसियम कारबोनेट स्लज को अलग कर दिया जाता है, जिसका प्रयोग सीमेण्ट बनाने के लिए किया जाता है।

कोक की आवश्यकता पूर्ति के लिए बनाया गया नया कोक ओवन प्लाण्ट प्रतिदिन ६०० टन कोक का उत्पादन करता है और इससे बहुत से अतिरिक्त उत्पादन भी प्राप्त होते हैं।

सिन्दरी सरकारी क्षेत्र के उद्योगों का प्रतिनिधित्व करती है। विगत पाँच वर्षों में इसने उत्पादन एवं सफल कार्यक्षमता का एक नया मानदण्ड उपस्थित कर दिया है। सन् १९५५-५६ में सिन्दरी का उत्पादन निर्धारित मात्रा से ६,०६२ टन अधिक था। सन् १९५५-५६ में सिन्दरी का कुल उत्पादन ३,२६,०६२ टन अमोनियम सलफेट था। विगत वर्ष भी सिन्दरी का उत्पादन निश्चित मात्रा से ३९३ टन अधिक था। कुल उत्पादन की निर्धारित मात्रा थी ३,२०,००० जबकि उत्पादन हुआ था ३,२१,३६४ टन अमोनियम सलफेट। जनवरी ५६ में सिन्दरी में अमोनियम सलफेट का उत्पादन ३१,२२८ टन था, जिसका औसत १,००७ टन प्रतिदिन होता है। यह उत्पादन का नया रेकार्ड है जो अब तक के प्रतिमास उत्पादन का सबसे अधिक है। अब तक रासायनिक खाद का सिन्दरी का उत्पादन १२ लाख टन के लगभग रहा है, जिससे ४० करोड़ से अधिक मूल्य की विदेशी मुद्रा की बचत रही है। दूसरे शब्दों में सिन्दरी की खादों के प्रयोग के फलस्वरूप २३ लाख टन अतिरिक्त अन्न की पैदावार हुई है, जिससे ६५ करोड़ रुपये से अधिक मूल्य के खाद्यान्नों की पैदावार में वृद्धि हुई।

सिन्दरी ने भारत की खादों का उत्पादन सात गुने से अधिक बढ़ाया है। भारत में बनाई जानेवाली खादों का उत्पादन सन् १९५०-५१ में केवल ४६,००० टन था, जिसमें सिन्दरी ने ३२१,३९३ टन खाद के उत्पादन को जोड़ा है। सन् १९५५-५६ में कुल मिलाकर खादों का उत्पादन ३,८०,००० टन हो गया। इस कारण अब हमारे देश को विदेशी खादों पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है क्योंकि सिन्दरी में बनाई जाने वाली खाद विदेशी खादों से सस्ती पड़ती है।

जहाँ एक ओर सिन्दरी के उत्पादन में वृद्धि हुई है, वहाँ दूसरी ओर खाद के मूल्यों में भारी कमी आई है। अमोनियम सलफेट का मूल्य जो सन् १९५४-५५ में २७५ रुपये प्रति टन था वह सन् १९५५-५६ में २७० रुपये प्रति टन हो गया। स्मरणीय है कि सन् १९५१ में सलफेट का मूल्य ३१५ रुपये प्रति टन था। मूल्य की कमी और रासायनिक खादों की उपयोगिता की वृद्धि के साथ ही साथ रासायनिक खाद की मांग में भी बढ़ोतरी हुई है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा—

१९५२	२,७६,००० टन
१९५३	४,२२,००० टन
१९५४	५,५०,००० टन
१९५५-५६	६,००,००० टन

६ लाख टन की मांग के विपरीत भारत में सब मिलाकर ३,८०,००० टन रासायनिक खादों का उत्पादन सन् १९५५-५६ में हुआ था। इससे स्पष्ट है कि हमारी मांग और वर्तमान उत्पादन में प्रतिवर्ष २,२०,००० टन का अन्तर है, जिसकी पूर्ति रासायनिक खादों के आयात द्वारा की जाती है।

सिन्दरी में प्रतिदिन औसतन ३०० टन अमोनिया का उत्पादन होता है। अभी तक अमोनिया का विक्रय बहुत कम होता है, लेकिन निकट भविष्य में, एक समझौते के अनुसार प्रतिवर्ष सिन्दरी फैक्टरी १,३०० टन अमोनिया बेचा करेगी।

सिन्दरी का नया कोक ओवन प्लाण्ट प्रति दिन ६०० टन कोक बनाता है जो सिन्दरी की अपनी आवश्यकता से अधिक होता है। कोक के अतिरिक्त अन्य अतिरिक्त उत्पादन भी कोक ओवन प्लाण्ट के होते हैं, जैसे कोलतार, मोटर बेनज़ाल, बेनज़ीन, टोलूइन, तथा जेलीन आदि। विगत डेढ़ वर्ष से सिन्दरी इन अतिरिक्त उत्पादनों को बेचता रहा है, जिससे काफी लाभ हो रहा है। कोलतार की मांग बराबर बढ़ती ही जा रही है। निम्न तालिका से कोक ओवन बाई प्रोडक्टस के होने वाले प्रतिवर्ष के उत्पादन का अनुमान लग जाएगा—

	१९५४	१९५५	१९५६ (केवल तीन माह)
कोक (टन)	६८,६१६	२१२,१९४	२३,७८५
कोलतार (टन)	२,९३५	११,५८२	३,१६०
मोटर बेनज़ाल (गैलन)	—	१,०८,०९९	२८,१२८
बेनज़ीन	—	८५,५३८	४७,३४९
जेलीन	—	१,७३०	—
नैपथा	—	७,३०९	३,०४०

इनमें से अनेकों अतिरिक्त उत्पादनों के विक्रय की भी व्यवस्था है और इनकी खपत को बढ़ाने के हेतु प्रचार प्रसार भी किया जा रहा है।

चाक स्लज

प्रतिदिन अमोनियम सलफेट के बनाने में लगभग ९०० टन चाक स्लज बाईप्रोडक्ट बन जाता है। यह अतिरिक्त उत्पादन सीमेण्ट बनाने के काम आता है। सिन्दरी के रासायनिक खाद के कारखाने के निकट ही एसोशिएटेड सीमेण्ट कम्पनी ने एक सीमेण्ट बनाने का कारखाना स्थापित किया है जो प्रतिदिन ६०० टन चाक स्लज सम्प्रति लेता है। चाक स्लज को सीधे ए० सी० सी० को पम्प कर दिया जाता है। निकट भविष्य में यह कारखाना सिन्दरी के चाक स्लज का पूरा दैनिक उत्पादन लेने लगेगा।

आर्थिक दृष्टिकोण से भी सिन्दरी ने पर्याप्त प्रगति की है। सन् १९५४-५५ का लाभ सन् १९५३-५४ के लाभ से १·२५ करोड़ अधिक था। सन् १९५४-५५ में १·६७ करोड़ ह्रास, ३० लाख मरम्मत और

सुधार और २७ लाख भारत सरकार के ऋण के ब्याज आदि की व्यवस्था के बाद १'७३ करोड़ रु० का लाभ हुआ था। स्मरणीय है कि यह लाभ सिन्दरी के कोक ओवन प्रोजेक्ट के लिए अढ़ाई करोड़ की व्यवस्था करने तथा १६७'१४ लाख का भारत सरकार का ऋण भुगतान करने के बाद हुआ था। सन् १९५५-५६ में ह्रास आदि अन्य व्यय की व्यवस्था के बाद लगभग १'७० करोड़ रु० का लाभ हुआ है। सिन्दरी के भावी विकास के हेतु भी ४-५ करोड़ रु० की व्यवस्था आगामी तीन वर्षों में की जाएगी। इस सम्बन्ध में प्रतिवर्ष अनुपाततः डेढ़ करोड़ रु० की व्यवस्था की जा रही है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रासायनिक खाद उद्योग के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है और सिन्दरी जैसे तीन नए कारखाने खोले जा रहे हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १०० करोड़ रु० की रकम नए रासायनिक खाद के कारखानों को खोलने के लिए रक्खी गई है। सन् १९६१ तक नाइट्रोजन की आवश्यकता ३७३ मिलियन टन अथवा १८,६५,००० टन अमोनियम सलफेट होगी। फासफेटिक खादों की आवश्यकता द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक '०२ मिलियन टन अनुमानित है।

रासायनिक खादों के उपयोग का विकास-क्रम द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इस प्रकार है :—

१९५६-५७	१,५०,००० टन
१९५७-५८	१,६०,००० टन
१९५८-५९	२,४०,००० टन
१९५९-६०	३,००,००० टन
१९६०-६१	३,७०,००० टन

फर्टिलाइज़र्स मिशन की सिफारिशें

सन् १९५३ के आरम्भ में भारत में रासायनिक खादों के प्रचार प्रसार एवं सिन्दरी के विकास के सम्बन्ध में एक मिशन भारत सरकार द्वारा संसार के दौरे पर भेजा गया था। मिशन ने विभिन्न खादों के उत्पादन की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अध्ययन किया और सिन्दरी में यूरिया और अमोनियम नाइट्रेट खाद बनाने की योजना को ठीक बताया। उन्होंने यूरिया और अमोनियम नाइट्रेट की खाद बनाने के लिए प्लाण्टों की साइज़ तथा नए प्लाण्टों के आपरेशनल तथा मेण्टेनेन्स की समस्याओं पर विचार विमर्श कर उस सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट की। उनका मत था कि सिन्दरी में ७० टन प्रतिदिन यूरिया बनाने वाला प्लाण्ट तथा ११० टन अमोनियम नाइट्रेट बनाने वाला प्लाण्ट लगाया जाए अथवा ३५ टन यूरिया तथा १५० टन अमोनियम नाइट्रेट उत्पादन करने वाले प्लाण्ट लगाए जाएं।

इसके अतिरिक्त इस मिशन ने नए फर्टिलाइज़र्स प्रोजेक्टों के स्थापित करने के पहले निम्न तथ्यों पर भी ध्यान देने के लिए कहा—

(१) कोक ओवन गैस मिलने की नई सम्भावनाएँ (स्टील प्रोजेक्ट्स के पास)

(२) आयल रिफाइनरी के बम्बई तथा विशाखपत्तनम में खोले जाने की सम्भावनाएँ।

(३) जलविद्युत केन्द्रों के निकट सस्ती जलविद्युत मिलने की सम्भावनाएँ।

सिन्दरी की विकास योजना

सिन्दरी के कोक ओवन प्लाण्ट से १० मिलियन क्यूबिक फुट गैस पैदा होती है, जिसका उपयोग यूरिया और अमोनियम नाइट्रेट नामक खाद बनाने में किया जाएगा। फर्टिलाइज़र्स मिशन की सिफारिशों के आधार पर सिन्दरी में प्रतिदिन ७० टन यूरिया तथा ४०० टन अमोनियम नाइट्रेट बनाई जाएगी।

यूरिया और अमोनियम सलफ़ेट-नाइट्रेट के प्लाण्टों को बनाने के लिए विभिन्न फर्मों से टेण्डर माँगे गए थे। अन्त में नए प्लाण्टों को बनाने का कन्ट्रेक्ट मिलान के मेसर्स माण्टकेटनी को दिया गया है। ये प्लाण्ट आगामी ३२ महीनों में बन कर तैयार हो जाएँगे और ३६ महीनों में यहाँ नई रासायनिक खादें बनने लगेंगी। इस कन्ट्रेक्ट के लिए मेसर्स माण्टकेटनी को ७'०२ करोड़ रुपया दिया जाएगा। मेसर्स माण्टकेटनी को लगभग १ करोड़ रु० अभी तक दिया जा चुका है। भारत सरकार ने इस विकास योजना के लिए ७ करोड़ रु० दिया है। आगामी वित्तीय बजट (१९५६-५७) में इसके लिए ३'६४ करोड़ की व्यवस्था की गई है।

सिन्दरी की इस विकास योजना को पूरा करने में सिन्दरी फर्टिलाइज़र्स फैक्टरी को भी लगभग ४-५ करोड़ रु० का व्यय करना होगा। सर्वप्रथम पूर्वोक्त ऊर्वरक बनाने के लिए प्रतिदिन २५० टन सलफेट लीकर बनाना होगा। इसके अतिरिक्त विद्युत एवं जल आदि की व्यवस्था में भी पर्याप्त व्यय करना होगा। सन् १९५६-५७ में इस सम्बन्ध में होने वाले व्यय का अनुमान १३१'३०८ लाख रु० लगाया गया है और इसकी व्यवस्था भी सिन्दरी फर्टिलाइज़र्स के कैपिटल बजट में कर दी गई है।

सिन्दरी के विकास की दूसरी योजना को "बैलेन्सिंग एक्सपैन्शन स्कीम" के नाम से जाना जाता है, जिसके अनुसार प्रयत्न किया जा रहा है कि पूरी कार्यक्षमता के अनुसार होने वाले उत्पादन और वर्तमान उत्पादन का अन्तर कम से कम हो सके।

दूसरी विकास योजनाएँ

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में एक ओर वर्तमान रासायनिक खादों के उत्पादन को बढ़ाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है और दूसरी ओर तीन नए कारखाने खोले जा रहे हैं। आगामी सन् १९६१ तक प्रतिवर्ष २,५०,००० टन कुल मिलाकर रासायनिक खाद की आवश्यकता होगी। अतः लगभग १,७०,००० टन की कुल उत्पादन शक्ति वाले रासायनिक खाद के कारखानों को बनाने की आगामी पंचवर्षीय योजना में व्यवस्था की गई है। निम्नांकित तीन फर्टिलाइज़र्स प्रोजेक्ट आगामी पंचवर्षीय योजना काल में बनाए जाएँगे।

१. नंगल प्रोजेक्ट

फर्टिलाइज़र्स प्रोजेक्ट कमेटी की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने नंगल प्रोजेक्ट बनाया है, जिसकी उत्पादन क्षमता ७०,००० टन (अमोनियम नाइट्रेट) प्रतिवर्ष होगी तथा साथ ही साथ यहाँ हेवी वाटर

भी बनाया जाएगा। आटोमेटिक एनर्जी प्लान १५,०००,००० पौं० के फर्टिलाइज़र्स तथा हैवी वाटर प्लाण्ट के लिए ब्रिटिश फर्म कास्टेन जॉन ब्राउन लिमिटेड को सलाह देने के लिए नियुक्त किया गया है। इस प्रोजेक्ट का सारा कार्य लगभग समाप्त हो गया है और नंगल फर्टिलाइज़र्स एण्ड कैमिकल्स प्राइवेट लिमिटेड नामक कम्पनी का निर्माण किया जा रहा है जो इस प्रोजेक्ट का कार्यभार ले लेगी। यह प्रोजेक्ट सन् १६५६-६० तक पूरा हो जाएगा और इसको बनाने में लगभग २२ करोड़ रु० लगेगा।

२. रूड़केला फर्टिलाइज़र प्रोजेक्ट

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में एक प्रोजेक्ट रूड़केला में बनाया जा रहा है जो ८०,००० टन नाइट्रो लाइम स्टोन प्रतिवर्ष बनाएगा।

३. नेवेली प्रोजेक्ट

नेवेली प्रोजेक्ट दक्षिण भारत में बनाया जा रहा है। नेवेली प्रोजेक्ट लिगनाइट प्रोजेक्ट का एक हिस्सा है जो प्रतिवर्ष ७०,००० टन सलफेट नाइट्रेट और यूरिया की खाद भी बनाएगा।

भारत में रासायनिक खादों के उद्योग का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। आगामी पंचवर्षीय योजना काल में रासायनिक खाद के उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में ऊपर विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गई है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि आगामी कुछ वर्षों में हमें रासायनिक खादों के सम्बन्ध में विदेशों पर निर्भर न रहना पड़ेगा।

साँझ हो गई

सुमित्राकुमारी सिन्हा

साँझ हो गई।

सोने का दिन-पंछी उड़ कर पहुँच रहा विश्राम-दुआरे,
जहाँ देखते राह, रात के बड़े नयन फैले कजरारे,
ऐसा लगा कि जैसे पलकें थके दृगों पर छापा करतीं,
खिले गुलाबों-सी मुस्कानें होठों के स्पन्दन से झरतीं,
काले दीवट पर तारों के दिये जला कर—
साँझ खो गई।
साँझ हो गई।

लगा दिशायें नींदों अलसा, मुखड़ा ढाँपे लुढक चलीं-सी,
स्तब्ध शिरायें जकड़े लगती शिशिर-पवन कुछ भली भली-सी,
दिनभर की हलचल से ऊबी, दम साधे, साँसे फिर निकलीं,
मन की नदियों के घाटों पर धरते-पाँव, भावना
लगा कि दूरी पर के घर की सुधि, आ, जड़ता—
साँज धो गई।
साँझ हो गई।

अब चमकूँगी घर कुटुम्ब की आत्मीयता-गोद में डुबकी,
और शिथिलता मुझे छोड़ कर भाग चलेगी लेती सुबकी,
मिल जायेंगे रूप, रंग, रस, के नव-चित्रित कच रूपहले,
काली रात कहेगी छिन भर मुझ से लग कुछ सुख-दुख कह ले,
और लगेगा निशा प्रात के सपने नूतन भर पलकों में—
आँज लो गई।
साँझ हो गई।

गुजराती कविता

बढ़ो बच्चे सँभल सँभल कर !

चुनिलाल माडिया

(स्वतन्त्र भारत के प्रति)

अरे छोटे से बच्चे! बड़ी मुश्किल की यात्रा पर चले हो, बहुत ऊँचे पर है चरम-लक्ष्य का धाम!

परन्तु गति मन्द, लघु गात्र, ज़ोम ज्यादह नहीं है। गिरते, डगमगाते, धीरे-धीरे बढ़ते हो किसी तरह उठते-पड़ते, अपनी अदम्य स्फूर्ति से डग भरते, 'पांपा' पग से। हृदय में ज्योति है, आँखें मंज़िल पर टिकी हैं।

तुम्हें बच्चा कैसे कहूँ? नहीं। उम्र भले नौ की हो, फिर भी तुम्हें विरासत में कई हज़ार वर्ष मिले हैं। पृथ्वी पट पर अजोड़ परम ज्ञान प्रज्ञा तुम्हारी ही थी—सदियों पुरानी विराट ऋत-राशि तुम्हारे ही हृदय में बसती है। तुम भले लघुगात्र हो, हिरण-शावक कैसे लम्बी डग भरता है! ईश्वर-कृपा से तुम्हें सुभाग्य मिला है, हे भारत!

बढ़ो शिशु, सँभल-सँभल कर!—आँखें आकाश में, ज्योति में लगा कर। अवश्य तुम्हारी दिग्दिगन्त में यशोदुन्दुभी बजेगी!

अनुवादक: प्रभाकर माचवे

इन मूढ़ हवाओं का बुरा हो

महाराज कृष्ण रसगोत्र

(कुछ सप्ताह पहले अमेरिकी सेना के एक जनरल ने परमाणु-बमों की विनाशक शक्ति की व्याख्या करते हुए कहा था कि इन बमों के बेरोक विस्फोट से करीब करीब दो-तिहाई दुनिया का विनाश संभव है। किन्तु विनाश किस दिशा में और किन देशों में होगा, यह बहुत कुछ बम-विस्फोट के समय हवाओं की दिशा पर निर्भर करेगा और हवाओं की दिशा को बदलने की शक्ति अभी मनुष्य में नहीं है। यही विचार इस कविता का विषय है।)

पूर्वज अपने बड़े भोले थे,
सहज संतोषी, अंधविश्वासी थे
ज्ञान-अज्ञान के भेद से अनभिज्ञ थे,
अनछीले थे।
सृष्टि के आदि दिनों से प्रचलित थी
क्रमिक उन्नति की परिपाटी;
मगर अभी पनप नहीं पाई थी
मानवी बुद्धि।
अविद्या की अवस्था में
विश्वास परम सुखकर है,
जीवन की समस्त समस्याओं को उन्होंने
हल एक खुदा माना,
कि जिसका कुल दुनिया में
परमाण नहीं मिलता था;
और अनस्थित को उन्होंने
बे-अन्त, अनादि, अगोचर कह कर
अपना विधाता जाना।
निर्दयी प्रकृति की गोदी के निवासी वे
उसकी प्रचण्ड चपलताओं के रहम पर
जीते थे—मरते थे।
बेरहम कारिन्दे कुदरत के—
बिजलियाँ, बाढ़, वबा, भुखमरी, बड़वानल,
झुलसती धूप, शरद बर्फ़ीली,
और आकाश की
उद्विग्न, अनवरुद्ध हवाओं की रवें—
बेरोक विचरते थे,
विध्वंस मचाते थे धरातल पर,
मगर नर निर्बुद्धि निरायुध था, निर्बल था;
कोई न कहीं पद्धति थी, विधि थी,
नहीं रीति, नहीं क्रम था,
जीवन के किसी पहलू में नहीं संभव था
कल्पना-युक्त, प्रगतिशील, प्रबन्धात्मक आयोजन;
जिन्दगी घटनाओं से घटी चलती थी।
चर्चा से हवाओं की मुझे याद आई
निकट अवतीत के इतिहास की इक घटना:
सैकड़ों बरस हुए कोलम्बस
इस्पेन के इक लालसी सम्राट के धन से
जुटा कुछ जल-पोत,
हिन्द की खोज में उतरा था
समुन्दर के तरंगित तल पर।
हिन्द की ख़ैर
कि रुख़ बदला हवाओं ने,
और वे बेड़े को बहा कर
ले गईं ओर नई दुनिया की।
पाँच सौ बरस का इतिहास हमारा
उन हवाओं की लहर की लीला है।
किन्तु प्रथम पुरखों की तरह
असहाय नहीं हैं अब हम:
हम यशस्वी हैं, प्रतापी हैं, प्रबुध हैं,
सभ्य हैं, मानव की नई जाति हैं,
हम परमश्रेष्ठ, क्रमिक उन्नति की
परिपाटी की चरम सीमा हैं;
हमने प्रयोगों से किया है साबित
अनस्तित्व खुदा का;
हम स्वयं देव हैं,
और हमारी ताकत निःसीम है,
अपरिमेय है।
बुद्धि की, ज्ञान की, विज्ञान की सत्ता से
हम बदल देते हैं मग नक्षत्रों के।
कल्पना अपने बुजुर्गों की जहाँ
पहुँच नहीं पाती थी,
हम उन दुनियाओं का भ्रमण करते हैं
बैठ कर धातु-खटोलों के पों पर।
हम अगर चाहें तो बदल देते हैं
दरयाओं की रवानी,
हम बनाते हैं, उठाते हैं गगन में,
फिर गिरा सहराओं में वनों को
कुसुम उपजाते हैं।
अब हमें कुदरत पर काबू है मुकम्मल।
हमने तहें खोली हैं कणों की,
और परमाणु की छाती को टटोला है,
उसमें निहित शक्तियाँ जीवन की
संजो कर, हमने भरी हैं
विप्लव के बमों के अन्दर।
हम नहीं कायल हैं
हँसिया-हथौड़े की लड़ाई के;
हमने स्वयं साधा है, समेटा है
प्रलय गोलों में,
जिनसे, अगर चाहें तो, गगन में
आग लगा सकते हैं,
और सम्पूर्ण जगत के
शून्य में विष भर सकते हैं;
हम अगर चाहें तो
सृष्टि की काय को पलट के रख दें।
मगर इन मूढ़ हवाओं का बुरा हो
कि जिनकी हठधर्मी की शरण ले
जीते हैं हमारे दुर्जन दुश्मन,
कुछ इनकी मनमौजी रौओं की दिशा पर
निर्भर है दिशा जय का,
और ये कम्बख़्त
न जाने कब क्या रुख़ बदलें—
और कहाँ निरपेक्ष उपद्रव कर दें,
इसलिए हम अपने इन गोलों को लिए
चुप बैठे हैं।

फूल-कहानी

हबीब बेग

मैंने फूल से एक दिन पूछा
कौन से देश से तू आया है
क्यों कर यह सौंदर्य और यह कोमलता पाई है
किन काँटों का विष पाया है

फूल हँसा और कुछ भी न बोला

मैंने कहा,
जब पतझड़ के हिमाणी झोंके आते हैं
और मृत्यु के संदेशवाहक बन कर
उपवन पर लहराते हैं
तब तुम्हारे साथ हो रहे अन्याय को
प्रत्येक दर्शक देखता है
पर तुम
दिल का दर्द दिल में छिपाए
कहीं चल देते हो

अदृश्य पथ पर और गुमनाम मंज़िल की ओर
तेरे विरह में समूचा संसार घुलता है

फिर,
फिर एक बीज का भेस बदल कर
तुम धरती के गर्भ में सो जाते हो
जब निद्रा टूटती है तो संसार
कोंपलों को चटकते हुए देखता है
और मृत्यु की वह आँधी देखती रह जाती है
निर्माण का यह खेल

मिट्टी में जो पिनहाँ है अब भी
मिट्टी में तब भी जो पिनहाँ था
जब तू अंकुर के रूप में छिप कर
धरती के गर्भ में प्रगाढ़ निद्रा में रत था
और तुम हो कि

खिल कर, हँस कर
सौंदर्य और सुगन्ध की रचना करते हो
धूप-छाँव के इस संसार में
सुगन्ध बन कर फैले हुए हो

और यही है तुम्हारा संसार, तुम्हारी जकात
क्षण गुज़रा तो कोंपल थे
और अब खिलकर फूल बन गए हो
फूल से फल में बदलोगे
नित्य का यह खेल है, चाहे कितना भी रूप
बदल ले

फूल, फूल ही रहेगा
ख़ुशबूओं में लहराएगा
गीतों की लहरों पर बहेगा

फूल हँसा और कुछ भी न बोला।

●

स्वातन्त्र्य गीत

राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
तम पर विजय ज्योति की, बिहरो
मुक्त-पंख खग! शत-सहस्र तुम,
मुक्त-कंठ हो, मुदित, अभय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
भागे दस्यु विकल पौ फटते,
द्रुतगति, तिमिर-तन्तु के कटते,
निरालम्ब, तम-आश्रय हटते,
मानो भ्रान्ति-प्रलय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
सजग सुमन हैं त्याग खुमारी,
मिली फूल से मधुप-कुमारी,
प्रकृति-नटी ने बीन सँवारी,
पा नव-स्वर, नव-लय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!

पुलक उठीं धरणी की बाहें,
दिनमणि की भी बढ़ी भुजायें,
आलिंगन का सुख सरसायें,
जो अनन्त, अक्षय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
शैल-शृंग - हिम-रजत - आवरण,
हिम-किरीटिनी-वसन, आभरण,
रँग-गुलाल-से अरुण-वर्ण तन,
शोभन, ज्योतिर्मय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!

झड़-झड़ झड़ती ज्योति व्योम से,
मधुक्षरण हो यथा सोम-से,
अंतरिक्ष के रोम-रोम से,
निःसृत गीत-प्रणय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
गाओ गीत सरस वनराजिनि,
वन-विहंगिनी, मानस-हंसिनि,
दिव्यांगिनी, कल-कल निनादिनि,
सुरसरि, करुण-हृदय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!
लहराओ स्वातन्त्र्य-पताका,
मन-मानस में हंस-बलाका,
उड़ें शुभ्र विज्ञान-शलाका,
करें अविद्या-जय हे!
स्वागत शत-शत अरुणोदय हे!

●

सब की इज़्ज़त ?

यशपाल

"शट्टप रौन ! बेवकूफ़ कहीं की"—उत्तरा ने बहुत जोर से डाँटा ।

रौन अपने फर्श तक लटकते कानों से उत्तरा के काले सेंडलों में मढ़े गोरे पाँवों को पोंछती हुई उसकी सफ़ेद साड़ी के छोर के नीचे दुबक गई । उत्तरा ने अपनी उल्लास से चमकती आँखें व्यास की आँखों में डाल कर रौन की धृष्टता के बदले अपना आदर प्रकट किया—"यह पागल तुम्हें देख कर जाने क्यों बावली हो जाती है ?"

व्यास ने हाथ में रूल की तरह लपेट कर थामी हुई पत्रिका समीप पड़ी नक्काशीदार गोलमेज़ पर रख दी । सोफ़ा पर बैठते हुए वह आँख दबाकर बोला—"यह मेरे प्रति तुम्हारे घर की भावना को खूब समझती है । जानती है, मैं चोरी से आया हूँ ।"

उत्तरा ने आँखों में स्नेह की भर्त्सना लाकर व्यास को डाँटा—"वाह, चोरी से क्यों आए हो । सौ खुशामद कराकर पधारे हैं ।" सोफ़ा के साथ आड़ी रखी हुई कुर्सी पर बैठते हुए उत्तरा बोली—"असल में इस बेवकूफ़ को आदत है कि हर पैदल आने वाले पर भौंकती है । कोई मोटर पर आये तो उछलकर उसकी गोद में जा बैठेगी । डबल रोटी, दूध और फल वाले साईकल पर आते हैं । उन पर दूर से गुर्रा कर रह जाती है । पोस्टमैन या दूसरे पैदल आने वालों को देख कर इतना भौंकेगी जैसे इसी का गला काटने आए हों ।"

"यही तो कह रहा हूँ"—व्यास ने कहा, "यह श्रेणी-भेद समझती है । रौन समझती है कि अरिस्टोक्रेट लोगों के यहाँ साधारण लोगों का क्या काम ? उनके आने से वातावरण खराब हो जाता है ।"

"क्या ऊटपटांग बक रहे हो ?"—उत्तरा प्यार से झुँझलाई, "हमें नहीं अच्छी लगती ऐसी बातें । आपके प्रभाव और प्रतिभा का यह लोग क्या मुकाबला करेंगे ? लोक सांस्कृतिक सम्मेलन पर आपकी परसों की टिप्पणियों की चर्चा सभी जगह है । क्या मखमल में लपेट-लपेट कर मारे हैं, मजा आ गया ! बागीरा कह रहा था, विद्रूप में आपका कोई सानी नहीं ।"

व्यास ने उत्तरा की आँखों में आँखें गड़ा कर कहा—"सच बताऊँ ? टिप्पणियाँ इसीलिए लिखी थीं कि तुम्हें पसन्द आ जाएँ ।"

"झूठे कहीं के !"—गद्‌गद स्वर में उत्तरा ने विरोध किया और आँखें झुका लीं,—"हमारी आपको क्या परवाह है । आपको तो दुनिया मानती है । आप तो व्यास मुनि हैं । वैसे ही यश फैल रहा है । अच्छा हाथ देखें आपका ?"

व्यास ने हाथ आगे बढ़ा दिया । उत्तरा ने व्यास का हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर ध्यान से देखा—"देखिए, यश की रेखा कितनी लम्बी और स्पष्ट है ।" और फिर व्यास के हाथों को अपने दोनों हाथों में दबाए रही ।

व्यास ने पूछा—"तुम्हारे भाइयों ने भी टिप्पणियाँ पढ़ीं ?"

"उन्हें ऐसी बातों से क्या मतलब ?"—उत्तरा ने होंठ बिचकाकर निरुत्साह से उत्तर दिया, "वे लोग तो जायदाद की बिक्री के और सरकारी ठेकों के नोटिस देखते हैं या फिर मिलिटरी क्लब, टर्फ़ क्लब के नोटिस या ऐसी पार्टियों के जहाँ मंत्रियों ने जाना हो ।"

"उन्हें यह मालूम है कि मैं कौन हूँ ?"—कुछ चिन्ता से व्यास ने पूछा ।

उत्तरा ने अपने हाथों में दबे व्यास के हाथ को सहलाते हुए उत्तर दिया—"कुछ मालूम है, परन्तु आपको ठीक से तो नहीं पहचानते ।"

"क्या मालूम है ?" व्यास उत्सुकता से उत्तरा की ओर झुक गया।

"आपके साथ मुझे दो-तीन बार उन लोगों ने देखा है । आप यहाँ भी कई बार आए हैं । पूछा था कौन हैं ? मैंने बताया था बहुत प्रसिद्ध पत्रकार हैं । नाम भी बताया था ।"

"तो फिर ?"—व्यास उत्तरा की ओर कुछ और झुक गया ।

"बड़े भाई ने मुँह बनाकर कहा 'पत्रकार ?' मुझे बुरा लगा । मैंने आगे बात ही नहीं की ।"

निरुत्साहित व्यास की पीठ सोफ़े से जा लगी । उसने चारों ओर सरसरी दृष्टि दौड़ा कर कहा—"यहाँ तुमने मुझे व्यर्थ बुलाया । मैं तुम्हारे ड्राइंग रूम में जँचता नहीं हूँ ।" उसने अपनी ठोड़ी पर हाथ फेरा—"जल्दी में शेव भी नहीं कर सका । और यह मेरी मसली हुई बुश शर्ट और बिना क्रीज़ की पैंट ।"

उत्तरा स्नेह से उसकी ओर देखकर बोली—"लाल गुदड़ी में भी नहीं छिपते ।"

"तुम 'अरोरा' में ही आ जातीं । वहाँ इस समय भीड़ भी नहीं रहती । वह किसी के बाप की जगह नहीं है । जो चाहे जाकर बैठ सकता है ।"

उत्तरा ने क्षमा माँगने के स्वर में कहा—"भई रेस्तोरां में हमें अच्छा नहीं लगता । कोई न कोई जान-पहचान के लोग आ ही जाते हैं और झेंप आती है । कल मैंने कुछ लिखा है, तुम्हें दिखाना चाहती थी ।"

"पर यहाँ मन में धुक-धुकी सी लगी रहती है ।" व्यास ने अपनी बेचैनी प्रकट की ।

उत्तरा ने सान्त्वना के स्वर में कहा—"धुक-धुकी किस बात की ? पिता जी परसों सोलन चले गए हैं, दोनों भाई छः बजे से पहले अपना

कहानी की शैली में रंगमंच के उपयुक्त एकांकी ।

दफ़्तर नहीं छोड़ सकते। आज तो रतन भी नहीं है।" कुछ चौंक कर बोली—"हाय मैं चाय तो ले आऊँ"

—उत्तरा कुर्सी से उठने को हुई।

व्यास ने उसका हाथ पकड़कर रोक लिया—"रतन कहाँ गया? उस कमबख्त की आँखों में भी बहुत चौकसी भरी रहती है।"

"जब मैंने तुम्हें फोन किया था, उसके कुछ देर बाद आकर बोला, साहब ने दोपहर में दफ़्तर में बुलाया है, किसी साहब के यहाँ से कुछ सामान लाना है। मैंने सोचा तू भी जा। भगवान ऐसा रोज़ करें" उत्तरा का चेहरा खिल उठा—"चाय मैं ही बना लूँगी। ट्रे लगाकर रखी हुई है।"

व्यास ने उत्तरा को अपनी ओर खींचते हुए कहा—"भगवान ने समय दिया है, एक बार तो समीप हो जाएँ।" उत्तरा व्यास के निकट खिंच आई और लजा कर उसने अपना मुख व्यास के कंधे पर रखकर छिपा लिया।

व्यास ने उत्तरा के बालों को सहलाते हुए अधीरता से कहा—"सुनो तो।"

"क्या?"—उत्तरा अपना चेहरा व्यास के कंधे पर छिपाए रही।

"इधर तो देखो"—उत्तरा का मुख अपनी ओर मोड़ने का यत्न करते हुए व्यास ने अनुरोध किया।

उत्तरा ने लाज और उत्तेजना से गुलाबी चेहरा उठाकर व्यास की ओर देखा—"क्या?"

व्यास ने एक हाथ उत्तरा की गर्दन पर रखकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा।

उत्तरा ने हाथ व्यास के सीने पर रख कर सिर पीछे हटा लिया—"नहीं, अभी नहीं।"

"तो फिर कब?,' व्यास का स्वर कांप रहा था।

"जब मुझे अपनी बना लोगे"—उत्तरा ने हल्के स्वर में उत्तर दिया।

"तुम मेरी बनोगी।"—वैसे ही स्वर में व्यास ने पूछा।

"ज़रूर! आप स्वीकार करें तब न!"—उत्तरा ने सिर व्यास के कंधे पर रख दिया।

"तुम्हारे भाई और पिता मानेंगे?" व्यास ने अपनी बाँह से उत्तरा की पीठ पर रखते हुए कहा।

"उनकी बात आप जाने दीजिए।"

"वे लोग क्या कहते हैं?"

"उन्हें छोड़िए। मैं कहती हूँ उनकी बात जाने दीजिए। विवाह तो मेरा होगा।"

"कुछ बात तो हुई होगी।"—व्यास ने आग्रह किया।

"कह तो रही हूँ। उसकी आप परवाह न कीजिए।" उत्तरा ने सिर उठाकर दीवार की ओर देख दृढ़ निश्चय के स्वर में कहा।

"नहीं, तुम बताओ?"—व्यास ने उत्तरा का मुख अपनी ओर कर आग्रह किया।

"कुछ भी नहीं।"—उत्तरा ने सिर हिला दिया।

"नहीं बताओ, मेरे सिर की कसम। स्थिति तो समझ में आए।"—व्यास अधिकार के स्वर में बोला।

"क्या बताऊँ। उन लोगों को पसन्द नहीं।"—उत्तरा ने सिर झुका लिया।

"उन्होंने कहा क्या, यह तो बताओ।"

"यही कि मुझे अपनी और परिवार की सामाजिक स्थिति का ध्यान रखना चाहिए।"

"खास कर मेरे विषय में क्या कहा, यह बताओ? कैसे बात हुई?"—उत्तरा के चेहरे पर दृष्टि गड़ाए व्यास बोला।

"एक दिन कहने लगे, यहाँ आपका आना ठीक नहीं है और बाहर भी मेरा आपके साथ मिलना-जुलना वे लोग पसन्द नहीं करते।"

"तो फिर तुमने मुझे यहाँ क्यों बुलाया?" व्यास चिन्ता से गम्भीर हो गया।

"क्यों?"—उत्तरा ने निर्भयता और अधिकार के भाव से कहा, "मेरे और उन लोगों के विचार नहीं मिलते तो क्या हुआ? घर तो मेरा भी है। उन लोगों के मेहमान आते हैं तो मेरे भी आ सकते हैं। वे लोग जब्र कर रहे हैं। मुझे अवसर मिलेगा, मैं भी अपनी इच्छा पूरी करूँगी। हाय, बिजली की केटली तो जल गई होगी।" उत्तरा उछलकर उठ खड़ी हुई। "ज़रा सी बात पर सब लोग शोर मचा देंगे। अभी आई। स्विच आफ़ कर आऊँ।"

उत्तरा बैठक के पीछे के दरवाजे से भीतर की ओर चली गई। व्यास ने ध्यान केन्द्रित करने के लिए आँखें आधी मूँद कर अपना अँगूठा दाँतों के तले दबाया ही था कि उसे बरामदे से कुछ आहट सुनाई दी। खिड़की से दिखाई दिया कि उत्तरा के बड़े भाई बलवन्त खन्ना और यशवन्त खन्ना भीतर झाँक कर परे हट गए हैं। वह घबरा कर सोफा से उठकर खड़ा हो गया।

यशवन्त ने धीमे स्वर में रतन को कुछ कहा। रतन व्यास को अनदेखा कर भागता हुआ बैठक में से होकर उसी दरवाजे से भीतर चला गया जिस दरवाजे से उत्तरा केटली का स्विच आफ़ करने गई थी। दूसरे ही क्षण छोटा भाई यशवन्त लम्बे-लम्बे कदम रखता भीतर आया और व्यास की उपेक्षा कर बैठक में खुलने वाले दरवाज़े को चिटखनी लगा-कर बन्द करने लगा। व्यास घबराहट में एक आँख इधर और एक आँख उधर दोनों भाइयों की ओर देख रहा था कि क्या होने वाला है।

यशवन्त दरवाजे में चिटखनी लगाकर धमकी के ढंग से आस्तीनें समेटता हुआ व्यास की ओर बढ़ रहा था। दूसरी ओर से बलवन्त उसे घूरता हुआ समीप आ गया।

बलवन्त ने दबे परन्तु कड़े स्वर में पूछा—"तुम कौन हो?"

व्यास उत्तर दे सके उससे पहले ही यशवन्त आस्तीनों को और ऊपर समेटता हुआ पूछ बैठा—"किस से पूछ कर बंगले में आया? बिना पूछे कैसे आया।"

व्यास ने अपमान और धमकी की इस अद्भुत परिस्थिति में साहस बटोर कर उत्तर दिया—"मैं बिना पूछे नहीं आया हूँ। आप लोगों की बहन मिस उत्तरा ने टेलीफोन पर सन्देश देकर मुझे यहाँ बुलाया

है। आप लोग मुझे पहचानते भी हैं। मैं इस मकान में पहले भी कई बार आया हूँ। आप से परिचय भी हो चुका है। शायद आप भूल गए हैं।"

बलवन्त ने पाँव पटककर धमकाया—"हम तुमको नहीं जानते। तुम चोर हो। हमने तुमको यहाँ चोरी करते पकड़ा है।"

व्यास ने समझा, वह जाल में फँस गया है।

यशवन्त अपनी समेटी हुई आस्तीनों से शक्ति प्रदर्शन के लिए फूलते डौले दिखाकर अधिक समीप सरकता आ रहा था। व्यास ने भय प्रकट न करने और आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए कहा—"यह भले आदमियों का व्यवहार नहीं है। मैं बिना बुलाए नहीं आया हूँ। आपकी बहन के बुलाने पर आया हूँ। आपको आपत्ति है तो मैं जा रहा हूँ।"

बलवन्त ने फिर दबे हुए क्रुद्ध स्वर में धमकाया—"तुम नहीं जा सकता। तुम चोर है। तुम्हें पुलिस ले जाएगी।" और वह टेलीफोन करने के लिए टेलीफोन पार्टीशन के पीछे रखी हुई मेज़ की ओर बढ़ा।

व्यास ने डरते-डरते भी क्रोध प्रकट किया—"आप इस तरह धोखा देकर मेरा अपमान कर रहे हैं। मैं यहाँ नहीं ठहरूँगा। आप मुझे कैसे रोक सकते हैं?"

यशवन्त के बहुत देर से उतावले दोनों हाथों के घूँसे व्यास के दायें-बायें जबाड़ों पर जा पड़े। और वह क्रोध में ज़ोर से गुर्रा उठा—"स्वाइन! गुण्डा! सूअर!"

व्यास ने चेहरे को चोट से बचाने के लिए चेहरे को दोनों बाहों में ले लिया। उसे अपने शारीरिक बल का नहीं लेखनी के बल का ही भरोसा था। वह लड़खड़ा गया। उसका होंठ अपने दाँत और यशवन्त के घूँसे के बीच कुचल जाने से खून टपकने लगा। जेब में रूमाल न पाकर व्यास अपनी बुशशर्ट की आस्तीन से खून पोंछने लगा।

बलवन्त ने यशवन्त की ओर देखकर आदेश दिया—"दरवाजा बन्द कर दो! देखना, यह चोर भाग न सके। मैं अभी टेलीफोन करता हूँ।"

यशवन्त ने व्यास को धक्के से सोफ़ा पर गिरा कर धमकाया—"खबरदार उठा तो, सिर तोड़ दूँगा। सुअर! बदमाश!" और उसने बैठक के बरामदे में खुलते दरवाजे में भी चिटखनी लगा दी।

उसी समय बैठक का पीछे का दरवाजा जिससे उत्तरा बिजली की केटली बुझाने गई थी, भड़भड़ा उठा।

बलवन्त की दृष्टि उस ओर गई और उसके मुख से बेबसी में निकल गया—"यह क्या मुसीबत है!" उसने यशवन्त की ओर बढ़ कर धीमे से कहा—"उसे दूर रखो। कह दो, यहाँ दूसरे कई आदमी हैं। पुलिस का मामला है। ज़रा ठहरे।"

यशवन्त ने किवाड़ों की चिटखनी गिराकर दरवाजे को तनिक खोला। व्यास को उत्तरा की पुकार सुनाई दी—"मुझे आने दीजिये। यह आप........।"

यशवन्त ने तुरन्त दूसरी ओर जाकर किवाड़ों को अपने पीछे ज़ोर से मूंद लिया।

व्यास को संकट में सहारे की आशा हुई। वह ऊँचे स्वर में पुकार उठा—"आप आइए! देखिए यहाँ।"

बलवन्त तुरन्त दाँत पीसकर उस पर झपट पड़ा। व्यास का बोल रुक गया। कुछ पल बाद उसे किवाड़ों के पीछे कहीं खूब ज़ोर से किवाड़ बन्द कर दिए जाने की आहट सुनाई दी। व्यास बेबसी बलवन्त की ओर देख होंठ का खून पोंछता रह गया।

यशवन्त फिर किवाड़ों को खोलकर बैठक में आ गया और उसने घूमकर किवाड़ों में चिटखनी चढ़ा दी। बलवन्त उद्विग्नता में चहल-कदमी करता हुआ यशवन्त के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। यशवन्त लौटकर बोला—"सब इन्तजाम कर दिया।"

व्यास ने होंठ से बहते खून को आस्तीन से दबाते हुए एक बार फिर साहस किया—"खन्ना साहब, आप बहुत ज्यादती कर रहे हैं।" खन्ना ने उसे लाल आँखों से घूर कर डाँट दिया—"शटप यू स्वाइन।" और यशवन्त की ओर देखा—"तुम इस पर आँख रक्खो। मैं पुलिस को फोन कर रहा हूँ।" और वह नक्काशीदार पार्टीशन के दूसरी ओर चला गया।

बलवन्त ने फोन का रिसीवर उठाकर एक नम्बर घुमाया। हठात उसके मुख से निकल गया—"ओह! आई सी—" उसने रिसीवर को वापस रखकर अपना बैग मेज़ पर से उठा कर खोला। बैग में से लोहे के दो लम्बे-लम्बे काँटे से निकाल कर मेज पर रख दिए। स्वगत उसके मुख से निकला—"अब सब ठीक हो जाएगा।" वह डायल पर नम्बर घुमाकर सुनने लगा।

बलवन्त फोन पर बोला—"हैलो, हैलो पुलिस स्टेशन मैकाले रोड। क्या मिस्टर नारायण हैं?"

उत्तर पाकर बलवन्त तनिक हकला गया—"न, न पर्सनल नहीं। मैं रिपोर्ट दे रहा हूँ।"

"..................."

"मेरे मकान पर एक चोर मौजूद है।"

"..................."

"जी नहीं। मैं और मेरा भाई अभी अपने दफ्तर से लौटे हैं। हमने उसे अपने ड्राइंग रूम में आफिस टेबिल के पास देखा।"

"..................."

"हाँ, हाँ हमें देखते ही उसने भागने की कोशिश की।"

"..................."

"हम लोगों ने उसे पकड़ लिया है।"

"..................."

"नहीं हथियार दिखाई तो नहीं दिया।"

"..................."

"जी मेरा नाम बलवन्त खन्ना है। बंगला मैकाले रोड पर, सात नम्बर।"

"..................."

"ड्राइंग रूम मेरी आफिस टेबिल का ड्राज़ खोलने की कोशिश कर रहा था।"

"..................."

"नहीं, भागते समय उसके हाथ से गिर पड़ा।

"..................."

"मि० नारायण आ गए। गुड!"

"..................."

"हाँ भाई बहुत जल्दी।"

"..................."

"अरे भाई, खतरा तो है ही।"

बलवन्त ने रिसीवर फोन पर रखते हुए छोटे भाई की ओर देखा—"मि० नारायण ही आ रहा है। अच्छा हुआ।"

बलवन्त ने रिसीवर टेलीफोन पर रखा तो व्यास फिर बोल उठा—"आप रिपोर्ट दे चुके हैं। मुझे भी फोन पर बात कर लेने दीजिए।"

यशवन्त फिर घूंसा तान कर उसकी ओर बढ़ा—"चुप्प! गुंडा, सुअर, बदमाश! तेरी हिम्मत इस मकान में कदम रखने की। चोर!"

बलवन्त ने दोनों हाथ पतलून की जेब में डाल कर सिर झुकाए सोचते हुए बैठक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चहलकदमी की और फिर यशवन्त को संकेत से समीप बुलाकर दरवाजे के समीप ले जाकर धीमे स्वर में समझाया—"हम लोग बरामदे में आए तो इसे देखा। नो, बैठक के किवाड़ खुले थे। समझे, इसे पार्टीशन के पीछे भागते देखा। तुमने आगे बढ़ कर रोका। अच्छा, जल्दा से इसकी बुशशर्ट कंधे से फाड़ दो। जल्दी!"

यशवन्त तुरन्त व्यास की ओर गया और उसके सीने पर बुशशर्ट का कपड़ा पकड़ कर बहुत जोर से खींच कर कुछ कपड़ा फाड़ दिया और बलवन्त के समीप जाकर बोला—"यस।"

बलवन्त खिड़की से बाहर झाँकते हुए समझाने लगा—"तुमने इसे छूटते देख कर दो-तीन घूंसे इसके चेहरे पर मार दिए।" एक जीप के रुकने की आहट पा कर उसने "यस, पुलिस आ गई। वैरी गुड, नारायण खुद है। नहीं, वही किवाड़ खोल दो।"

यशवन्त ने बैठक के किवाड़ खोल दिए। एक पुलिस इन्सपेक्टर चार सशस्त्र सिपाहियों सहित बैठक के दरवाजे पर आ गया।

"हम लोग भीतर आ सकते हैं?"—इन्सपेक्टर ने अधिकारपूर्ण विनय के स्वर में पूछा। और बलवन्त की ओर परिचय की मुस्कराहट से देखा।

"तशरीफ लाइए। हम लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे।" बलवन्त ने स्वागत की मुस्कान से आगे बढ़कर इन्सपेक्टर से हाथ मिलाया।

इन्सपेक्टर दो सिपाहियों के साथ भीतर चला आया। दोनों सिपाही व्यास के दाएँ बाएँ खड़े हो गए। दो सशस्त्र सिपाही बैठक के दरवाजे के दोनों ओर बरामदे में खड़े रहे।

"मैकाले रोड, सात नम्बर यही बंगला है?"—इन्सपेक्टर ने तटस्थ भाव से प्रश्न किया, मानो वह बलवन्त का पूर्व परिचित नहीं। "आप मिस्टर खन्ना हैं। आप ही ने फोन पर घर में चोरी होने की रिपोर्ट की है? मेरा नाम नारायणप्रसाद सिन्हा है। मैं सीनियर इन्सपेक्टर हूँ।"

"क्षमा कीजियेगा, आपको कष्ट देना आवश्यक था"—बलवन्त ने मुस्कराहट छिपा कर उत्तर दिया। और व्यास की ओर संकेत कर बोला—"वह आदमी है। हम लोगों ने पकड़ कर बैठा रखा है। अब उसे आप सम्भालिए। यह मेरे छोटे भाई यशवन्त खन्ना हैं।"

यशवन्त ने भी आगे बढ़कर इन्सपेक्टर से हाथ मिलाया।

व्यास तुरन्त सोफा से बोल उठा—"यह सब धोखा है। मुझे घर पर बुला कर धोखा दिया गया है, मेरा अपमान किया गया है।"

इन्सपेक्टर ने विस्मय प्रकट करने के लिए आँखें फैला कर व्यास की ओर देखा और उत्तर दिया—"तुम्हारी भी बात सुनी जाएगी।" और फिर बलवन्त को सम्बोधित किया—"आप फरमाइए?"

बलवन्त इन्सपेक्टर को कुर्सी पर बैठा कर स्वयं दूसरी कुर्सी पर बैठ गया। जेब से सुनहरी सिगरेट केस निकाल कर उसने इन्सपेक्टर के सामने सिगरेट प्रस्तुत किया—"सिगरेट लीजिए" और एक सिगरेट अपने होंठों में ले लिया। उसने लाइटर जला कर पहले इन्सपेक्टर का फिर अपना सिगरेट जला लिया। बलवन्त ने सिगरेट केस और लाइटर मेज पर रख कर खंखार कर बोलने के लिए गला साफ़ किया, कलाई की घड़ी देखकर बोला—"लगभग अठारह मिनट हुए, मैं और मेरा भाई मि० यशवन्त खन्ना अपने दफ्तर से लौटे थे। हमने देखा कि बैठक का दरवाजा ठीक से बन्द नहीं था। हमें सन्देह हुआ। तो फिर मैंने आगे बढ़कर किवाड़ खोल कर भीतर झाँका तो मुझे पार्टीशन के पीछे मेज के पास यह आदमी दिखाई दिया। हमारी आहट पाते ही यह आदमी हमारी ओर झपटा। मेरा मतलब है बाहर भागने के लिए दौड़ा। यानी कि बाहर निकल कर भाग जाए। तो एकदम मि० यशवन्त ने रास्ता रोक कर इसे पकड़ लिया। इस आदमी ने भागने की कोशिश की तो हाथापाई में इसके मुँह पर भी चोट आई है। मेरा भाई यशवन्त बाक्सर है। ही इज़ ए स्पोर्ट्स मैन—कसरती जवान है........"

बैठक के बन्द दरवाजों के पीछे कहीं से बन्द किवाड़ों के भड़भड़ाने की आहट आई। बलवन्त के कान खड़े हो गए और वह बोलता-बोलता रुक गया और चिन्ता प्रकट न करने के लिए फिर बोलने लगा—"तो फिर हम लोगों ने इसे पकड़ कर बैठा लिया और किवाड़ बन्द कर लिए। मैंने मेज पर आकर देखा तो मेज के दराज़ के सामने, नीचे ताला तोड़ने के काँटे पड़े हुए थे।"

"ताला तोड़ने के काँटे"—इन्सपेक्टर नारायण ने पूछा—"मैं देख सकता हूँ?"

बलवन्त ने कुर्सी से मेज की ओर जाकर मेज पर रखे लोहे के काँटे लाकर इन्सपेक्टर के हाथ में दे दिए।

काँटों को ध्यान से देख कर इन्सपेक्टर ने धीमे से कहा—"अच्छा, यह हथियार हैं? जी आप फरमाइए?"

बलवन्त एक बार खाँस कर बोलने लगा—"इस आदमी ने बैठक का दरवाज़ा भी उन्हीं काँटों से खोला है।"

इन्सपेक्टर—"यह आपका अन्दाज़ा है।"

बलवन्त—"आफकोर्स। जी, हाँ मेरा ख्याल है।"

"फिर हमने मैकाले रोड पुलिस स्टेशन पर तुरन्त फोन कर दिया।"

बलवन्त को चुप हो जाते देख इन्सपेक्टर ने पूछा—"और कुछ?"

बलवन्त ने अपना सिगरेट राखदानी में दबाते हुए उत्तर दिया—"जी, फिर मैंने पुलिस स्टेशन पर फ़ोन कर दिया। इट वाज़ माई ड्यूटी।"

व्यास ने गर्दन सीधी कर कहा—"अब मैं बोल सकता हूँ।"

इन्सपेक्टर ने उसकी ओर हाथ से चुप रहने का संकेत कर कहा—"ज़रा सब्र करो।" और मि० खन्ना से प्रश्न किया, "इस मकान में और कौन-कौन लोग रहते हैं?"

बलवन्त ने नया सिगरेट इन्सपेक्टर को पेश कर और स्वयं दूसरा सिगरेट होंठों में दबाकर उत्तर दिया—"इस मकान में हमारे माता-पिता भी रहते हैं। परन्तु पेरेन्ट्स जुलाई से सोलन चले गए हैं। ये मेरे छोटे भाई यशवन्त खन्ना हैं। हमारी छोटी बहन है। बहन दोपहर बाद प्रायः घर पर नहीं रहती। वह राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-परिषद की आनरेरी जोइंट सेक्रेटरी है।

इन्सपेक्टर ने माथा खुजाते हुए पूछा—"नौकर आपके यहाँ कितने हैं?"

बलवन्त ने लम्बा कश खींच कर उत्तर दिया—"नौकर दो हैं।" एक फादर के साथ सोलन गया है। दूसरा नौकर यहाँ है। उसकी बुढ़िया माँ भी यहाँ हो रहती है। चौका, बर्तन, झाड़ू-बुहारी कर देती है। रसोई में पिछले बरामदे में पड़ी रहती है। एक कामन माली है।"

बन्द किवाड़ों के परे से सुनाई देती भरभराहट इस बार इन्सपेक्टर ने भी सुनी और पूछा—"क्या दूसरी तरफ कोई और लोग भी रहते हैं?"

इन्सपेक्टर के प्रश्न से बलवन्त और यशवन्त के चेहरों पर चिन्ता का भाव आ गया। बलवन्त ने हकला कर उत्तर दिया—"न-नहीं, आफकोर्स। उधर कोई होगा।"

यशवन्त ने विज्ञता से उत्तर दिया—"रौन होगी। रौन कुतिया है।"

इन्सपेक्टर—"कुतिया है। आपकी कुतिया आने जाने वाले लोगों पर नहीं भौंकती?"

अवसरवश इसी समय रौन पिछवाड़े से आकर बरामदे में खड़े पुलिस वालों पर ज़ोर से भोंकी और भीतर आकर व्यास की ओर देख कर भोंकने लगी। यशवन्त ने उसे पुचकार कर चुप करा दिया।

इन्सपेक्टर ने कुतिया की ओर मुस्कराकर देखा—"कुतिया सुन्दर है। प्योर ब्रीड मालूम होती है।"

"आफकोर्स प्योर ब्रीड—" बलवन्त ने गर्व से कहा—"कर्नल लोनावाला के कुत्ते की बहन है। सेम लिटर। कर्नल के कुत्ते को इस साल डौग शो में प्राइज मिला है। आपको भी कुत्तों का शौक है? इसके लिए जोड़ा ढूँढ रहा हूँ। कर्नल से बात करूँगा।"

इन्सपेक्टर ने संकोच अनुभव कर बात बदली—"नहीं, मैं यह पूछ रहा था, यह कुतिया आने वालों पर भोंकती नहीं?"

बलवन्त ने उत्तर दिया—"यह वाच डौग नहीं है। बस शौक की चीज़ समझिए। चौकीदारी के लिए तो एलसेशियन ठीक रहता है।"

भाई की ओर घूम कर बलवन्त ने पूछा—"तुम जानते हो, मिसेज़ सुन्दरैया की एलसेशियन ने तीन बच्चे दिए हैं न?"

व्यास फिर बोला—"अब मैं बोल सकता हूँ?"

इन्सपेक्टर ने उसकी ओर घूर कर देखा और विनय के विद्रूप से उत्तर दिया—"शौक से फरमाइए?"

व्यास—"पहली बात तो आप यह नोट कीजिए कि मुझे मि० खन्ना की बहन मिस उत्तरा ने बुलाया था। मैं उनसे मिलने के लिए यहाँ आया था।"

इन्सपेक्टर नारायण के माथे पर त्यौरियाँ पड़ गईं। व्यास को घूर कर उसने पूछा—"तुम किस कम्पनी में काम करते हो? लांड्री में या बिजली कम्पनी में?"

व्यास ने गर्दन ऊँची कर उत्तर दिया—"मिस उत्तरा ने मुझे काम के लिए नहीं मुलाकात के लिए बुलाया था।"

इन्सपेक्टर के स्वर में कड़ाई आ गई—"ज़रा सोचकर बात करो। पहली बात यह कि तुमने यहाँ कम-से-कम ट्रेसपास यानी मकान में बिना इजाज़त घुसने का जुर्म किया है। दूसरे तुम एक सम्मानित परिवार की लड़की पर लांछन लगा रहे हो। किसी की मानहानि करना भी जुर्म है।"

व्यास उठ कर खड़ा हो गया—"आपका अगर ऐसा ढंग है तो मैं कुछ कहना नहीं चाहता। आप मुझे फोन करने दीजिए। मैं पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट से बात करूँगा।"

इन्सपेक्टर मुस्कुराया—"आप सुपरिन्टेन्डेन्ट से बात करेंगे?"

व्यास ने निर्भयता से कहा—"मैं सुपरिन्टेन्डेन्ट से बात करूँगा।" "योर एटीच्यूड इज़ पारशल। आप सरीहन पक्षपात कर रहे हैं। मैं किसी अन्य पुलीस अफसर को भेजने का अनुरोध करूँगा।"

इन्सपेक्टर चौंका और सम्भल कर बोला—"पारशियलिटी क्या है? मि० खन्ना की रिपोर्ट थी। मैंने पहले उनकी बात सुनी है। अब आपकी बात सुन रहा हूँ।"

व्यास और अधिक तन कर बोला—"अच्छा सुनिए, ये लोग"—उसने बलवन्त खन्ना और यशवन्त खन्ना की ओर संकेत किया—"मुझ पर चोरी का आरोप लगा रहे हैं। आप मुझे हिरासत में लेंगे मुझे जमानत देनी होगी। मैं अपने जामिन बुलाने के लिए फोन करना चाहता हूँ और मैं एक वकील को भी मौका देखने के लिए यहाँ ही बुलाना चाहता हूँ।"

इन्सपेक्टर का चेहरा गम्भीर हो गया। उसने दो बार पलक झपक कर सोचा और बोला—"अपना कुछ परिचय तो देने की कृपा कीजिए।"

व्यास ने बुशशर्ट की जेब से अपना कार्ड निकाल कर इन्सपेक्टर की ओर बढ़ा दिया और बोला—"मेरा नाम के० एल० व्यास है और कार्ड पर मेरा एड्रेस है। फोन नं० ७७०१।" आप "इंडियन हैरल्ड" को फोन करके पूछ लीजिए, मैं वहाँ ज्वाइंट एडीटर हूँ। आप एडीटर मि० नाथन से कहिए कि मैं चोरी के आरोप में पकड़ा जा रहा हूँ और मैं जमानत के लिए ७ नम्बर मैकाले रोड पर उन्हें बुला रहा हूँ...।"

बन्द किवाड़ों की भड़भड़ाहट फिर अधिक ज़ोर से सुनाई दी। व्यास ने उत्तेजना में खड़े हो उस ओर संकेत कर कहा—"यह भड़भड़ाहट आप नहीं सुन रहे हैं ? इन लोगों ने मिस उत्तरा को कमरे में बन्द कर दिया है। उन्हें सामने क्यों नहीं आने दिया जाता ? आप इस पर एक्शन क्यों नहीं ले रहे हैं ? मैं इसकी इत्तला पुलिस स्टेशन पर देना चाहता हूँ। मैं सुपरिंटेंडेंट मि० माथुर से बात करना चाहता हूँ।"

इन्सपेक्टर नारायण ने एक गहरी साँस लेकर बलवन्त की ओर देखा—"यह तो नई नई उलझनें सामने आ रही हैं।" और फिर व्यास की ओर घूम कर बोला—"मि० व्यास, आप तशरीफ तो रखिए।"

किवाड़ों की भड़भड़ाहट फिर सुनाई दी। व्यास ने अधिकार के स्वर में आग्रह किया—"आप पहले मिस खन्ना को कैद से छुड़ाइए और उन्हें यहाँ बुलवाइए, उलझनें स्वयं सुलझ जाएँगी।"

यशवन्त बोल उठा—"मिस खन्ना मकान में नहीं हैं। परिषद में गई हैं।"

व्यास ने एक कदम आगे बढ़कर माँग की—"इन्सपेक्टर साहब, मैं आप से मकान की तलाशी लेने के लिए अनुरोध कर रहा हूँ। यह माँग मैं प्रेस प्रतिनिधि की हैसियत से कर रहा हूँ। मैं इस तलाशी में गवाह रहूँगा। अगर आप मेरी रिपोर्ट पर एक्शन नहीं लेंगे तो इसकी जिम्मेवारी आप पर होगी।"

इन्सपेक्टर नारायण कुर्सी पर से उठकर खड़ा हो गया। बहुत नम्रता और आदर से व्यास के कंधों पर हाथ रख कर उसने कहा—"व्यास साहब आप तशरीफ तो रखिए।" उसने व्यास को सोफा पर बैठा दिया और बलवन्त की ओर घूमकर बोला—"मिस्टर खन्ना, आप ज़रा सुनिए।"

इन्सपेक्टर नारायण खन्ना के कंधे पर हाथ रखकर पार्टीशन की ओर दो कदम ही बढ़ा था कि व्यास ने फिर खड़े होकर विरोध किया—"इन्सपेक्टर साहब आप तहकीकात करने आए हैं। आप षड्यंत्र नहीं कर सकते। आप पहले मिस खन्ना को बुलवाइए।"

इन्सपेक्टर नारायण ने व्यास के विरोध की उपेक्षा कर खन्ना के कान में अपनी बात कह दी और फिर व्यास को सम्बोधन किया—"व्यास साहब, मुझे विस्मय है, आपकी स्थिति के सम्मानित सज्जन के साथ यह सब गलतफहमी कैसे हो गई ? आप इस झगड़े को छोड़िए। आप फर्माइए, कहाँ तशरीफ ले जाना चाहते हैं ? आपको पहुँचा दिया जाए।"

व्यास ने ऊँचे स्वर में विरोध किया—"नहीं साहब, मेरे साथ धोखा किया गया है। मेरा अपमान किया गया है। मेरा आग्रह है कि आप मिस खन्ना को बुलवाएँ और चोरी की रिपोर्ट की तहकीकात करें। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ उन्होंने मुझे क्यों बुलवाया है। उन पर भी जब्र हो रहा है। जब तक वे नहीं आएँगी, मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा और इन लोगों के (उसने खन्ना भाइयों की ओर संकेत किया) व्यवहार के लिए आप साक्षी होंगे।"

इन्सपेक्टर ने व्यास को आत्मीयता के ढंग से समझाया—"व्यास साहब, आप भाई-बहनों के झगड़े में क्यों पड़ते हैं ? आप चलिए। आपकी चोट को डाक्टर से धुलवाकर कोई मल्हम लगवा लेना उचित होगा।"

किवाड़ फिर ज़ोर से भड़भड़ा उठे और दबी हुई चीख भी सुनाई दी।

व्यास ने रोष के स्वर में चुनौती दी—"आप सुन नहीं रहे हैं कि ज़ुल्म हो रहा है। आप ज़ुर्म को देखकर उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। भाई बहन को कत्ल कर देगा तो आप उसे भाई-बहन का झगड़ा कह कर उपेक्षा कर जाएँगे ? आपको मालूम करना चाहिए कि मिस खन्ना को क्यों बन्द किया गया है। मुझे मिस खन्ना ने फोन करके बुलाया है तो मैं ज़रूर उनसे पूछूँगा कि उन्होंने मुझे क्यों बुलाया है ?"

"अच्छा आप तशरीफ तो रखिए"—इन्सपेक्टर ने और भी नम्रता से अनुरोध किया और बलवन्त और यशवन्त को पार्टीशन की ओर ले जाकर बात करने लगा।

यशवन्त विवशता में गर्दन झुका कर पीछे के किवाड़ों की चिटखनी खोल कर भीतर गया। किवाड़ खुल जाने पर भड़भड़ाहट और चीख अधिक स्पष्ट सुनाई दी।

व्यास ने फिर इन्सपेक्टर को सम्बोधन किया—"आप देख रहे हैं कितना अत्याचार हो रहा है ?"

यशवन्त ने अपने पीछे किवाड़ मूँद लिए।

इन्सपेक्टर व्यास के समीप सोफा पर आ गया और परामर्श देने लगा—"व्यास साहब, यह सब क्या और कैसे हो गया ? मुझे आपसे पूरी सहानुभूति है। आप इस झगड़े में कैसे फँस गए। आप गौर कीजिए इस मामले में…"

मुँदे हुए किवाड़ों के पीछे से यशवन्त का स्वर सुनाई दिया—"ज़रा सुनो ! प्लीज़ ……।"

"नो आई डोंट केयर। कुछ परवाह नहीं……"। उत्तरा ने हट से चिल्ला कर उत्तर दिया।

किवाड़ खुल गए। उत्तरा आंचल से क्रोध और रुलाई से लाल चेहरा पोंछती बदहवासी की-सी हालत में कमरे में चली आई। आते ही पुकार उठी—"मैंने बुलाया है। इन्हें मैंने बुलाया है। आप लोग क्या कर रहे हैं……?"

व्यास उठकर खड़ा हो गया और उसने इन्सपेक्टर को सम्बोधन किया—"सुन लीजिए। आप गवाह हैं।"

इन्सपेक्टर सोफे से उठकर उत्तरा की ओर बढ़ गया और उसने आश्वासन दिया—"मिस खन्ना ! आप शान्त हो जाइए ! यहाँ कोई अन्याय नहीं हो सकेगा।"

उत्तरा व्यास के कटे ओंठ और खून लगी आस्तीन की ओर संकेत कर क्रोध से चिल्ला उठी—"अत्याचार कैसे नहीं हो रहा। इन्हें मारा गया है। इन्हें मैंने बुलाया है।" उसने यशवन्त और बलवन्त को सम्बोधन किया—"आपको मारना है तो मुझे मारिए।"

इन्सपेक्टर ने भर्त्सना की दृष्टि से बलवन्त की ओर देखा। बलवन्त के चेहरे पर विवशता थी। स्थिति सम्भालना आवश्यक समझ कर नारायण ने उत्तरा की ओर बढ़ कर कहा—"देखो बहन,

जो हुआ बहुत बुरा हुआ। अब मैं यहाँ मौजूद हूँ। आप विश्वास रखें। आप मुँह धो कर आइए। शेष बात आपके सामने ही होंगी। आप अपने मेहमान को भी आश्वासन दे सकती हैं।" नारायण ने यशवन्त के कन्धे पर हाथ रख कर आदेश दिया, "मि० खन्ना, आप बहन को ले जाकर इनका मुँह धुलवा लाइए।"

उत्तरा झमक कर बोली—"आप मेरी फिक्र न कीजिए। मुझे मुँह धोने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप लोगों को जो बात करनी है, मेरे सामने कीजिए।" उसने एक बार आँचल से मुँह पोंछ लिया और सामने आ गए केशों को पीछे हटा कर एक कुर्सी पर जम कर बैठ गई।

"ठीक है! ठीक है!"—इन्सपेक्टर ने स्वीकार कर लिया, "इसी तरह ठीक है। मैं केवल आपकी सुविधा के विचार से ही कह रहा था। बहुत खेदजनक कांड हो गया है। बहुत बड़ी गलतफहमी हो गई! इसे समाप्त करना चाहिए। व्यास साहब, आप खड़े कैसे हैं, तशरीफ रखिए।"

नारायण ने व्यास के कन्धे को सहारा देकर उसे सोफा पर बैठा दिया और स्वयं भी एक कुर्सी पर बैठ कर बोला—"ओफ ओ! देखिए, गलतफहमी में क्या से क्या हो गया। बहुत ही खेदजनक बात है। व्यास साहब जैसे सम्मानित और सज्जन व्यक्ति के साथ भयंकर अन्याय हुआ है। चाहे जैसे भी गलतफहमी हुई हो। मि० बलवन्त और यशवन्त को व्यास जी के सम्मुख अवश्य ही खेद प्रकट करना चाहिए और मैं कहूँगा, क्षमा माँगनी चाहिए।"

व्यास ने नारायण की सहानुभूति को अस्वीकार कर कहा—"इन्सपेक्टर साहब, मेरा विचार है कि आप अपनी सीमा से बाहर जा रहे हैं। आपको चोरी की घटना की रिपोर्ट मिली है। आप तहकीकात कीजिए। निर्णय अदालत में होगा।"

बलवन्त ने अपनी कुर्सी पर आगे की ओर झुककर कहना चाहा-"बट...नो...बट..."

इन्सपेक्टर ने अधिक विनम्र स्वर में उसे टोक दिया—"पुलिस अफसर के नाते न सही एक नागरिक के नाते भी तो मैं बात कर सकता हूँ। पुलिस का काम सदा झगड़ने में सहायता देना ही नहीं, समझौते में सहायता देना भी हो सकता है। मैं किसी भी तथ्य से इन्कार नहीं कर रहा हूँ। मेरी धृष्टता क्षमा कीजिए। मैं आप सब के मित्र की स्थिति से बात करना चाहता हूँ। अदालत में जाना मेरे विचार में आप जैसे लोगों के सम्मान के अनुकूल शायद न होगा।"

व्यास ने उत्तेजना से कहा—"मेरा अपमान होने में कसर ही क्या रह गई है?"

उत्तरा ने समर्थन किया—"हाँ, इसमें क्या सन्देह है। इनका बहुत अपमान हुआ है।"

"निस्संदेह बहुत अपमान हुआ है"—नारायण ने उत्तरा का सबल समर्थन किया—"और बहन आप मुझे क्षमा करेंगी, इस घटना का उत्तरदायित्व, जाने या अनजाने में आपके भाइयों पर है। हमें मामले को सुलझाने का यत्न करना चाहिए और मि० बलवन्त और मि० यशवन्त को व्यास जी से सविनय क्षमा माँगनी चाहिए। वरना मामला कैसे सुलझ सकता है?"

व्यास ने आपत्ति की—"सुलझाने से क्या मतलब! मामला तो अदालत में सुलझेगा और पत्रों द्वारा पूरा समाज उस पर विचार करेगा।"

"पूरा समाज!"—इन्सपेक्टर ने माथे पर चिन्ता की रेखा प्रकट करने के लिये भौंएं चढ़ा कर सब लोगों की ओर देखा और बोला—"सोचिए पूरा समाज! और सोचिए खन्ना परिवार और व्यास जी जैसे लोगों को कौन नहीं जानता? अदालत में तो मुख्य बात होगी बहन उत्तरा की गवाही।"

व्यास—"आफकोर्स। उत्तरा जी अदालत के सामने सच ही कहेंगी।"

"हाँ, मैं सच कहूँगी।" उत्तरा ने हामी भरी।

"सच या झूठ जो हो!"—इन्सपेक्टर ने आँखों से आशंका का भाव प्रकट किया—"सच या झूठ जो हो, अदालत में जाना और वकीलों की जिरह का उत्तर देना विकट अनुभव होता है। आप लोग जानते हैं वकील लोग जिरह में कितना ज़लील करते हैं? इस खेदजनक घटना के मूल में, मेरा विचार है मि० खन्ना की अपने परिवार की इज़्ज़त बचाने के लिए उद्विग्नता ही थी। यह बात उत्तरा बहन भी मानेगी।"

उत्तरा ने विरोध किया—"इसमें खान्दान की इज़्ज़त का क्या प्रश्न था? अपने खान्दान की इज़्ज़त के लिए क्या किसी की जान ले लेंगे! ख़ामुख़ाह किसी का मुँह काला कर देंगे?"

इन्सपेक्टर ने स्वीकार किया—"बहन, आप ठीक कह रही हैं। ऐसा हरगिज़ नहीं होना चाहिए था। समझ और व्यवहार दोनों में गलती हुई है। मैं केवल सम्मान रक्षा की भावना की बात कह रहा हूँ। बहन को अदालत में जाना पड़ा तो यह बात कहाँ रह जाएगी।"

व्यास बोला—"अगर मुझ पर चोरी का आरोप सफलता से लगा दिया जा सकता तो क्या मिस उत्तरा की गवाही अदालत में न होती? बहन को अदालत में ले जाने का प्रबन्ध तो इन लोगों ने खुद ही किया है।"

इन्सपेक्टर—"मैं तो कहूँगा कि इस लज्जाजनक घटना के लिए दोनों भाइयों को खेद प्रकट कर क्षमा माँगनी ही चाहिए। मुझे तो विश्वास है कि खन्ना भाई अपने खान्दान के सम्मान के विचार से न तो स्वयं अदालत जाना चाहेंगे और व्यास जी की पोज़ीशन जान लेने पर उनका अदालत जाना भी उचित न समझेंगे।"

व्यास का चोट खाया होंठ फड़फड़ा उठा और आँखों में क्रोध की लाली आ गई—"जी हाँ, यह खान्दान की इज़्ज़त का खयाल बहुत अच्छा है कि पुलिस के सहयोग से मुझे चोर बना कर जेल भिजवा देने की तैयारी कर ली जाए।"

बलवन्त ने संकोच के कारण हकलाते हुए कहा—"आ आ नेवर थ-थ थौट सो फार। हमारा ऐसा इरादा नहीं था। सिर्फ.........।"

व्यास ने और भी क्रोध से कहा—"जी हाँ, आप शायद नाटक की रिहर्सल कर रहे थे। अब पांसा पलट गया तो आपका यह मतलब ही

नहीं था। अब अदालत में जाने में आपकी नाक कटने लगी। यह अदालत क्यों जाएँगे ? परन्तु मैं तो जाऊँगा। मेरे साथ धोखा हुआ है, मेरी मानहानि हुई है। अब मैं ही अदालत जाऊँगा और इन्सपेक्टर साहब गवाह होंगे।"

इन्सपेक्टर—"वैल वैल, एज़ फैक्ट्स गो—आई मीन—मेरा मतलब है कि तथ्यों से मैं इन्कार नहीं कर सकता।"

बलवन्त ने टोका—"पर यह सब......"

इन्सपेक्टर ने उसे रोक कर अपनी बात पूरी की—"लेकिन मामला तो बहन उत्तरा की गवाही पर निर्भर करता है।"

उत्तरा ने सिर झुकाए कहा—"मैं सच कहूँगी। मैंने बुलाया था।"

व्यास—"देयर यू आर। सुन लिया आपने ?"

इन्सपेक्टर—"मेरा अभिप्राय है कि गलतफहमी से हुई घटना के कारणों पर अदालत में बहस और फिर पत्रों में उसका प्रकाशन किसके लिए सम्मानजनक होगा ? कहिए मि० खन्ना। बहन उत्तरा आप ही बताइए।"

दोनों सिर झुकाए चुप रह गये। व्यास बोल उठा—"मैं यह शौक से नहीं कर रहा हूँ। मुझे तो मजबूर कर दिया गया है।"

इन्सपेक्टर—"आई एडमिट, मैं आप से सहमत हूँ और मैं मि० बलवन्त और यशवन्त से साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि दोनों भाइयों को अनकँडीशनल मुआफी इस घटना के लिए माँगनी चाहिए और अगर बहन उत्तरा मेरी धृष्टता क्षमा करें तो मैं बहन से अनुरोध करूँगा कि ये अपने भाइयों को व्यास जी से क्षमा माँगने के लिए मजबूर करें।"

उत्तरा ने सिर झुका कर साड़ी का किनारा दाँतों में दबा कर कह डाला—"अवश्य माँगनी चाहिए।"

व्यास को क्रोध आ गया। वह तीखे स्वर में बोला—"क्षमा माँग लेने का क्या मतलब ? दैट इज़ ओनली स्नाबरी, (यह तो फैशन है) क्षमा तो किसी से कोहनी छू जाने पर भी माँग ली जाती है!" व्यास ने अपने कटे हुए होंठ की ओर इशारा करके पूछा—"यह क्या केवल कोहनी छू जाना है ? किसी को घर बुलवा कर चोर बना देना केवल कोहनी छू जाना होगा ?"

इन्सपेक्टर नारायण की मुद्रा बहुत ही विचारपूर्ण हो गई। बहुत ध्यान से व्यास की आँखों में देखकर वह बोला—"ठीक है। अच्छा, तो आप कहिए आपके प्रति हुए अन्याय का क्या प्रतिकार होना चाहिए ? आप अपनी माँग पेश कीजिए।"

व्यास ने निस्संकोच उत्तर दिया—

"मैं कहूँगा मुझ पर लगाए गए कलंक का पूरा प्रतिकार होना चाहिए।"

उत्तरा अपनी साड़ी की खूंट को बटकर उस पर दृष्टि लगाए बोल उठी—"यह तो होना चाहिए।"

यशवन्त के मुख से निकल गया—"आप क्या चाहते हैं ?"

इन्सपेक्टर ने उसे टोककर उत्तरा को सम्बोधन किया—"मैं तो स्वयं ही कह रहा हूँ कि व्यास जी के अपमान का उचित प्रतिकार होना चाहिए। परन्तु कैसे ? आप जरा शान्त होकर सोचिए ?"

व्यास ने नारायण की बात अस्वीकार करने के लिए सिर हिलाकर कहा—"फैसला अदालत में ही होगा"

"अदालत में ?" नारायण ने पूछा—"आप बहन उत्तरा को अदालत में घसीटिएगा ?"

व्यास क्रोध में उबल पड़ा—"इन्सपेक्टर साहब यह क्या इतनी छोटी बात है। मेरी इज़्ज़त का कोई मूल्य नहीं। मेरे पास बंगले न हों, मोटरें न हों परन्तु मेरा भी आत्म-सम्मान है! मैं सिर दे सकता हूँ। अनादर और अपमान को नहीं निगल सकता।"

इस बार इन्सपेक्टर भी गरमी से बोला—"तो आप बदला चाहते हैं ? खन्ना साहब की बहन को अदालत में खड़ी करके ही आपकी इज़्ज़त की रक्षा होगी ?"

व्यास क्रोध में आकर सोफा से उठकर बहुत उत्तेजना में बोला—"इन्सपेक्टर साहब आप पक्षपात कर रहे हैं। यह आपके लिए उचित नहीं।"

इन्सपेक्टर नारायण आँखों में धमकी परन्तु स्वर में नम्रता का भाव लाकर बोला—"व्यास साहब, मेरा विचार था कि आपके हृदय में उत्तरा बहन के प्रति आदर का भाव है। आप अदालत में क्या दुहाई देंगे कि मिस खन्ना ने भाइयों से चोरी-चोरी आपको घर पर बुलाया था ?"

उत्तरा के माथे पर बल पड़ गए। वह सहसा उठ खड़ी हुई और व्यास की ओर मुँह कर बोली—"अच्छा आपको जो करना है, आप भी कर लीजिए।" उसने भाइयों की ओर संकेत किया—"इनके लिए खानदान की इज्जत की तुलना में मेरा कुछ मूल्य नहीं। आपके व्यक्तित्व के सम्मान के सम्मुख भी मेरा कोई अस्तित्व नहीं। सब की इज्जत है, लड़की की इज्जत कुछ नहीं।" उत्तरा का स्वर ऊँचा हो गया—"मैं कहती हूँ मैं अदालत में नहीं जाऊँगी—"वह बैठक से चली जाने के लिए घूम गई। "चाहे साइनाइड खाकर ही सो जाना पड़े!"



"पुत्रदारं अप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूवः साहसदण्डः स्त्रियं च प्रव्राजयतः।"

कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १

जो पुरुष अपनी सन्तान और पत्नी के भरण-पोषण का प्रबन्ध किए बिना ही संन्यास लेने लगे, अथवा अपने साथ अपनी पत्नी को भी संन्यासिनी बनाने लगे, उसे वही दण्ड देना चाहिए, जो एक डाकू के लिए नियत है।

शूर्पक और कुमुद्वती की कथा

कृष्णदत्त वाजपेयी

प्राचीन भारत में अनेक लोक-कथाएँ प्रचलित थीं। इनमें कुछ के उल्लेख साहित्य में मिलते हैं। कुछ लोक-कथाएँ इतनी प्रसिद्ध हो गई थीं कि मूर्तिकारों ने भी उनका चित्रण अपनी कृतियों में किया है। गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की जातक-कथाएँ इसी प्रकार की थीं। भारत में ही नहीं, बर्मा, लंका, हिन्दचीन, हिन्देशिया आदि देशों में भी जातक-कथाओं को मूर्त रूप प्रदान किए गए। इन जातक-कथाओं का विविध रूपों में चित्रण निःसंदेह बड़ा मनोरंजक है।

जातक-कथाओं की तरह उदयन-वासवदत्ता की कथा, नंद-सुन्दरी की कथा, ऋष्यश्रृंग-शान्ता की कथा आदि कितने ही ऐसे रोचक उपाख्यान थे जो लोकजीवन में बहुत व्याप्त हो गए थे। मूर्तिकारों और चित्रकारों ने इन उपाख्यानों को अपनी कृतियों में अंकित कर उन्हें अमर बना दिया है। अनेक कथाओं को नाट्यकारों द्वारा रंग-मंच पर भी प्रदर्शित किया जाता था।

शूर्पक और कुमुद्वती की कथा आज अज्ञातप्राय है। परन्तु किसी समय यह प्रेमकथा बहुत प्रचलित थी। 'पद्मप्राभृतक' (चतुर्भाणी) में इस कथा का उल्लेख मिलता है, जिससे यह भी ज्ञात होता है कि इसे रंगमंच में प्रदर्शित किया जाता था। शूर्पक नामक मछुए पर आसक्त राजपुत्री कुमुद्वती के प्रति उसकी धात्री का उपालंभ इस प्रकार कथित है—"कुमुद्वतीप्रकरणे शूर्पक-सक्तां राजदारिकां धात्री रहस्युपालम्भते।" (पद्मप्राभृतक, २९, १, २०)।

प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ 'कथासरित्सागर' (अध्याय ११२, श्लोक ११२-१४९) में सुप्रहार नामक मछुए और राजकन्या मायावती की कथा दी हुई है, जो इस प्रकार है—

राजगृह नगर के राजा मलयसिंह की रूपवती पुत्री का नाम मायावती था। एक दिन जब वह उद्यान-क्रीडा में व्यस्त थी, सुप्रहार नामक मछुए की दृष्टि उस पर पड़ी। सुप्रहार देखते ही राजकन्या पर मुग्ध हो गया। घर लौटने पर उसे विरह-वेदना व्यथित करने लगी। उसकी माता रक्षितिका को जब यह मालूम हुआ तब उसने सुप्रहार को धीरज बँधाया। वह राजकन्या को नित्य मछली भेंट करने लगी। कुछ समय बाद राजपुत्री प्रसन्न हो गई। उसने रक्षितिका से कुछ माँगने को कहा। रक्षितिका ने अपने पुत्र का सारा हाल कह सुनाया। राजकुमारी ने कुछ देर तक सोच-विचार करने के बाद उससे कहा "अपने लड़के को यहीं ले आओ।" सुप्रहार जब राजभवन में पहुँचा तब मायावती के स्पर्श से उसकी विरह-व्यथा दूर हुई और उसे निद्रा आ गई। नींद से जागने पर जब उसने वहाँ राजकन्या को न पाया तब वह दिवंगत हो गया। इसके बाद कथा में आया है कि किस प्रकार उसे जीवित कर उसको राज्य का स्वामी बनाया गया।

अश्वघोष द्वारा रचित 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दर नन्द'—इन दोनों प्रसिद्ध ग्रंथों में शूर्पक नामक मछुए की कथा का उल्लेख मिलता है। 'बुद्धचरित' में तपस्या में लीन बुद्ध के प्रति कामदेव क्रुद्ध होकर इस प्रकार कहता है—

"अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन्
भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम्।
मयोद्यतो ह्येष शरः स एव
यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः॥"

(बुद्धचरित, १३, ११)।

(हे दृढ़ प्रतिज्ञ बुद्ध! यदि तुम तप छोड़कर नहीं उठते हो तो ठहरो, अपनी प्रतिज्ञा मत छोड़ना। मैंने आज यह वही बाण उठाया है जिसे मैंने मछलियों के शत्रु (मछुए) शूर्पक पर छोड़ा था।)



मथुरा में प्राप्त "कामदेव"

'सौन्दरनन्द' ग्रंथ में बुद्ध के आश्रम में एक भिक्षु नंद को संसार से विरक्त करने के लिए कुछ स्त्रियों के उदाहरण देता है, जिनके मोहजाल में फँसकर अनेक लोग नष्ट हुए। भिक्षु इस प्रकार कहता है—

"श्वपचं किल सेनजित्सुता चकमे मीनरिपुं कुमुद्वती।
मृगराजमथो बृहद्रथा प्रमदानामगतिर्न विद्यते॥"

(सौन्दरनंद, ८, ४४)।

(सेनजित् की पुत्री ने एक चंडाल को, कुमुद्वती ने मछुए को, और बृहद्रथा नामक राजपुत्री ने मृगराज को अपने प्रेम का शिकार बनाया। इन प्रमदाओं की गति नहीं जानी जा सकती।)

इसी ग्रंथ के एक दूसरे स्थल पर भी शूर्पक और कुमुद्वती-उपाख्यान की चर्चा मालूम पड़ती है। जब भगवान बुद्ध अपने मौसेरे भाई नंद को स्वर्ग का दृश्य दिखाने के लिए ले गए तब वहाँ अप्सराओं को देखकर नंद अत्यन्त कामाभिभूत हो गया और रागाग्नि से जलने लगा। वह बुद्ध से प्रार्थना करता हुआ कहता है:—

"वाग्वारिणा मां परिषिञ्च तस्माद्यावन्न दह्ये स इवाब्ज-शत्रुः।
रागाग्निरद्यैव हि मां दिधक्षुः कक्षं सवृक्षाग्रमिवोत्थितोऽग्निः॥"

(सौन्दरनंद, १०, ४३)।

(हे बुद्ध! अपनी वाणी रूपी जल से सिक्त कर अब मेरी रक्षा करो, जिससे मैं मत्स्यहारी (शूर्पक) की तरह कामाग्नि में जल कर नष्ट

न हो जाऊँ। क्योंकि आज यह रागाग्नि उसी प्रकार मुझे जला देना चाहती है, जिस प्रकार जंगल की आग सूखी घास से लेकर पेड़ की चोटियों तक को जला कर समाप्त कर देती है।)

तीनों उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शूर्पक कुमुद्वती की प्रेमाग्नि में जल कर भस्म हो गया था।

'पद्मचूड़ामणि' (६, २३) में शूर्पक को कामदेव का शत्रु कहा गया है। 'पद्म प्राभृतक' तथा 'पद्मचूड़ामणि' के सम्बन्धित उल्लेखों से पता चलता है कि पहले राजपुत्री कुमुद्वती शूर्पक पर आसक्त हुई, परन्तु शूर्पक ने उसके प्रेम को ठुकरा दिया। कामदेव ने शूर्पक से इसका बदला लिया। फलस्वरूप शूर्पक मदन-व्यथा से पीड़ित हुआ और अपने को उसने राजकुमारी के प्रेम पर न्यौछावर कर दिया। शूर्पक के देह-दान ने इस कथा को अमर बना दिया।

यही शूर्पक-कुमुद्वती की कथा है। 'कथा सरित्सागर' की कथा में नामों के अतिरिक्त कहानी में भी कुछ अंतर है। उसमें मछुए का नाम सुप्रहार और राजकुमारी का मायावती दिया है। इसके अतिरिक्त प्रथम प्रेम मछुए की ओर से दिखाया गया है। 'कथासरित्सागर' में अन्य अनेक प्राचीन कथाओं के इसी प्रकार किंचित परिवर्तित रूप मिलते हैं।

सौभाग्य से मथुरा-कला की एक शुंगकालीन मृण्मूर्ति पर शूर्पक-उपाख्यान का एक अंश मिला है। यह मूर्ति (मथुरा संग्रहालय संख्या २५५२) अत्यन्त कलापूर्ण है। इसमें कामदेव के पैरों के नीचे असहाय अवस्था में पड़ा हुआ मछुआ दिखाया गया है। कामदेव का सिर टूट गया है, परन्तु शेष भाग बिल्कुल सुरक्षित है। उनके दाएँ हाथ में बाण और बाएँ में ऊँचा धनुष है। वे पुष्पावलियों के बीच पुष्पमाला तथा आम्रमंजरी धारण किये हुए विजेता के रूप में खड़े दिखाए गए हैं। कथा का प्रारम्भिक अंश इस कलाकृति में नहीं दिखाया गया।

मानव-शरीर के ऊपर इस प्रकार अधिष्ठित कामदेव की कल्पना पौराणिक साहित्य में मिलती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्री कृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय ३१) में मोहिनी नामक एक सुन्दरी अप्सरा की कथा है, जो एक बार ब्रह्मा के रूप पर मोहित हो गई। अंत में प्रमुख अप्सरा रम्भा की सहायता से वह उन्हें वश में कर सकी। काम-रूप ब्रह्मा की प्रार्थना करती हुई मोहनी कहती है—

"शाश्वद् योषिदधिष्ठान योषित्प्राणाधिकप्रिय।
योषिद्वाहन योषास्त्र योषिद्बंधो नमोऽस्तुते ॥
तव साध्याश्च बाध्याश्च सदैव पाञ्चभौतिकाः।
पंचेन्द्रियकृताधार पंचबाणनमोऽस्तुते ॥"

(ब्रह्मवैवर्त, अ० ३१, श्लोक ६६ तथा ७४)।

("हे देव! स्त्रियाँ तुम्हारा शाश्वत आलंबन हैं, तुम स्त्रियों को प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। वे ही तुम्हारा वाहन और अस्त्र हैं। हे नारियों के बंधु, तुम्हें नमस्कार है। पंचभूत शरीर वाले सभी जीव तुम्हारे द्वारा साध्य हैं, तुम उन्हें सब प्रकार बाध्य करने में समर्थ हो। हे पंचेंद्रियों को आधार बनाने वाले पंचसायक, तुम्हें नमस्कार है!)

पंचसायक कामदेव की यह कितनी सुन्दर प्रशस्ति है!

श्री सुभाषचन्द्र बोस—(पृष्ठ २१ का शेषांश)

अगले कई वर्षों तक मैं श्री सुभाषचन्द्र बोस के निकट सम्पर्क में नहीं आ सका। उसका मुख्य कारण यह था कि मैं कांग्रेस की अधिकृत नीति के साथ मिल कर कार्य करता रहा और सुभाष बाबू अग्रगामी दल का नेतृत्व कर रहे थे। उनके लिए अत्यन्त प्रेम और आदर का भाव रखते हुए भी मुझे उनके समीप जाने का अवसर नहीं मिला। सुभाष बाबू का जीवन भी आंधी की तरह अनेक देश-प्रदेशों में घूमता हुआ सिंगापुर में जा पहुँचा, जहाँ उन्होंने वह रूप धारण कर लिया जो उन्हें सबसे अधिक जंचता था। वे आज़ाद हिन्द फौज़ के प्रधान सेनापति और स्वतन्त्र भारत सरकार के प्रमुख पद पर निर्वाचित होकर 'नेता जी' इस पद से विभूषित किए गए। उस समय उन्होंने वह वेश धारण कर लिया जिसका स्वप्न मैंने कलकत्ते के कन्वेन्शन के समय देखा था। नेता जी के सिपाहियाना वेश में सुभाष बाबू के चित्र को देख कर ऐसा अनुभव होता था कि दैव ने उन्हें यही वेश धारण करने के लिए उत्पन्न किया था। उन दिनों प्रतिदिन रात्रि के प्रथम प्रहर में रेडियो पर नेता जी के श्रवण द्वारा दर्शन हो जाते थे। उसे केवल भारत के निवासी ही नहीं, भूमंडल के अन्य भागों में रहने वाले भारतीय भी बड़ी उत्सुकता से सुनते थे। सिंगापुर के रेडियो से सुभाष बाबू के ओजस्वी भाषण सुन कर यह अनुभव होने लगता था कि अब आज़ाद हिन्द फौज़ के "दिल्ली चलो!" का नारा लगाते हुए सिपाहियों के दिल्ली पहुँचने में देर नहीं, परन्तु भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। एक दिन प्रातःकाल समाचार पत्र में पढ़ा कि नेता जी सुभाषचन्द्र बोस जापान जाते हुए हवाई जहाज़ की दुर्घटना में समाप्त हो गए। भारतवासी उस समाचार को पढ़ कर स्तब्ध रह गए। मैंने उस अवसर पर एक संस्मरणात्मक लेख लिखा था जिसके अन्त में यह पंक्तियाँ थीं:

"मेरे लिए तो उनकी स्मृति उस चित्र के रूप में विद्यमान है, जिस पर उनके हस्ताक्षर हैं। मैं उसे देखता हूँ और कहता हूँ कि

बहुत गौर से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते कहते।"

"सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति का है। सरकार का काम इतना ही है कि वह ऐसा स्वस्थ्य वातावरण उत्पन्न करे, जिसमें जनसाधारण पूर्ण विश्वास और सुरक्षा के साथ कार्य कर सकें।"

—राष्ट्रपति आइजन हावर
(दुबारा निर्वाचित होने के अवसर पर)

पत्रकार जीवन के अनुभव

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

आज से ठीक पच्चीस वर्ष पूर्व सन् १९३१ में जब मैंने जबलपुर में, निरन्तर संघर्षों के बीच मैट्रिकुलेशन की परीक्षा उत्तीर्ण की, तब मेरे समक्ष दो समस्याएँ उपस्थित हुई। डिग्री लेने के लिए किसी विश्वविद्यालय में प्रवेश करूँ अथवा अपने छोटे-से परिवार का भरण-पोषण करने के लिए किसी नौकरी का सहारा लूँ? गम्भीर मन्थन के पश्चात तत्कालीन राष्ट्रीय संग्राम में सक्रिय भाग लिया और डिग्रियाँ देने वाले विश्वविद्यालय में प्रवेश करने की अपेक्षा अनुभवों के विश्व-विद्यालय में ही उतर पड़ा।

उस समय तक 'माधुरी', 'प्रेमा' तथा अन्य दो-एक प्रतिष्ठित मासिक पत्रिकाओं में मेरी कुछ कविताएँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें देखकर सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य स्वर्गीय पं० कामताप्रसाद गुरु और हाईस्कूल के मेरे हिन्दी शिक्षक पं० शालग्राम द्विवेदी ने मेरी पीठ थपथपाकर मुझे बड़ा प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी तो इससे भी आगे बढ़ गए और उन्होंने तत्कालीन सुप्रसिद्ध हिन्दी दैनिक 'लोकमत' के प्रधान सम्पादक पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र से भी मेरी कुछ प्रशंसा कर दी। फलस्वरूप मिश्र जी ने मुझे 'लोकमत' का सहायक सम्पादक नियुक्त कर दिया। अनुवाद से लेकर प्रूफ़ संशोधन तक का कार्य मैं करने लगा और एक अपूर्व सन्तोष से भर उठा।

दिन दूने रात चौगुने उत्साह से मैं पत्रकारिता और साहित्य सेवा के मार्ग पर चल पड़ा। इस उत्साह का एक ज़बरदस्त कारण था। मैं अपने छात्र जीवन से ही हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ रुचिपूर्वक पढ़ा करता था। मुझे आज भी स्मरण है, जब मैं अपनी जन्मभूमि देवरी (सागर, मध्यप्रदेश) के हिन्दी मिडिल स्कूल में पढ़ता था, तभी से 'माधुरी', 'चाँद', 'सरस्वती' आदि को पढ़ा करता था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस समय इन पत्रिकाओं को पढ़ कर मैं कितना क्या समझ पाता था; किन्तु बिना पढ़े मैं रह नहीं पाता था। इसके पश्चात माडल हाईस्कूल, जबलपुर, में पढ़ते समय मेरी यह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। आठवीं अंग्रेज़ी कक्षा उत्तीर्ण होते-होते मुझे तुकबन्दियाँ करने की ऐसी धुन सवार हुई कि बहुधा अंग्रेज़ी अथवा विज्ञान के घंटे में पाठ्य-पुस्तकों के हाशियों पर भी तुकबन्दियाँ लिखने का मेरा क्रम जारी रहता। इन तुकबन्दियों की प्रेरणा मुझे मैथिलीशरण जी गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कविताएँ पढ़ कर ही प्राप्त हुई थी। उस समय अच्छी तरह समझे बिना ही मैं इनकी कविताएँ तन्मय होकर पढ़ा करता था। किन्तु तुकबन्दियों का नशा छा जाने पर भी मेरा परीक्षा-फल कभी खराब नहीं रहा; प्रत्युत प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मैं सदा इन परीक्षाओं में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होता रहा।

इस दशा में जब मैं एक सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र का सहायक सम्पादक हो गया, तब स्वभावतः मेरा उत्साह कई गुना बढ़ गया और एक अपूर्व सन्तोष के साथ मैंने अपनी तरुणाई में ही पत्रकारिता के क्षेत्र में पग बढ़ाया। परन्तु यह सन्तोष अधिक दिनों तक मेरा साथ न दे सका। एक वर्ष पूरा होते-न-होते 'लोकमत' तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का कोप-भाजन बन गया और उसका प्रकाशन स्थगित हो गया।

पत्रकार-जीवन का श्रीगणेश ही इस संघर्ष के साथ हुआ कि साल भर भी 'लोकमत' में न रह सका। परन्तु पत्रकारिता और साहित्य-सेवा का जो नशा छा गया था, वह इतनी जल्दी उतरने वाला नहीं था। पत्र-पत्रिकाओं में लिखने का ऐसा चाव बढ़ा कि १९३२ तक मेरी रचनाएँ 'सरस्वती', 'विश्वमित्र', 'सुधा', 'माधुरी' आदि प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित होने लगीं।

इन रचनाओं पर पारिश्रमिक के नाम पर तो कहीं से एक पैसा नहीं मिला, किन्तु मेरे उत्साह में इससे कोई कमी नहीं आई, बल्कि वह बढ़ता ही गया। अप्रैल १९३२ की 'सरस्वती' में तो मेरा एक नोट 'भारत की आर्थिक अवस्था' उसके सम्पादकीय स्तम्भ में भी प्रकाशित किया गया था, जिसे मैं आज एक आश्चर्यजनक संयोग ही कह सकता हूँ। उस समय कौन जानता था कि ठीक बीस-इक्कीस वर्ष के बाद सन् १९५२ में मैं स्वयं 'सरस्वती'—सम्पादक हो जाऊँगा और तब ऐसे सम्पादकीय नोट नित्य ही लिखने होंगे। और, यह भी एक संयोग की बात कही जाएगी कि अपने पत्रकार जीवन की रजत-जयन्ती पर मुझे 'सरस्वती' के सम्पादन कार्य से भी पृथक् हो जाना पड़ा।

इस २५ वर्ष के पत्रकार जीवन में मुझे सदा संघर्षों से टकराते रहना पड़ा। २० जुलाई १९५५ को जब मेरा पैंतालीसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ, तब देखा कि जीवन के इस उतार में—अन्तिम चरण में—मेरे संघर्ष और भी सघन होते जा रहे हैं। मेरी समस्याएँ विकट से विकटतर होती जा रही हैं। ये समस्याएँ मेरे बुढ़ापे के लिए ऐसी चुनौती हैं कि मुझे अपने जीवन की अन्तिम साँस तक नौकरी करनी पड़ेगी—बिना नौकरी के इस जीवन का छकड़ा एक दिन भी चल न सकेगा। लेकिन इस नौकरी में मेरा वह आत्मसम्मान सदा अक्षुण्ण रहेगा, जिसकी रक्षा विकट से विकट संघर्ष की चिन्ता किए बिना मैं अब तक बराबर करता आया हूँ।

मुझे अपने पत्रकार जीवन के २५ वर्षों में दैनिक, अर्द्ध-साप्ताहिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, आर्थिक मासिक और साहित्यिक मासिक सभी प्रकार के पत्रों में सम्पादन-कार्य करना पड़ा। इन पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग दस है। यदि प्रत्येक पत्र में कार्य करने के समय का औसत निकाला जाए, तो ढाई वर्ष होता है। किसी भी एक पत्र से पृथक होकर दूसरे में जाने पर कुछ दिन बेकार बैठे रहने और स्थानान्तर

करने का जो व्यय होता है, वह ढाई वर्ष में पेट काट कर भी संचित करना आजकल सम्भव नहीं। फिर किसी भी नए पत्र में जाने पर उसे अपने ढंग पर व्यवस्थित करने में एकाध वर्ष का समय यों ही सरक जाता है और ज्योंही पत्र सुचारु रूप से चला नहीं कि एक-डेढ़ वर्ष बाद उससे पृथक हो जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मेरा यह कटु अनुभव व्यक्तिगत होते हुए भी, आधुनिक युग के नब्बे प्रतिशत पत्रकारों पर घटित होगा, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। जिस देश में और जिस भाषा में पत्रकारिता का क्षेत्र इतना अस्थिर और डाँवाडोल हो, वहाँ के पत्रकारों की प्रतिभा का दीपक कितने दिनों तक टिमटिमा सकेगा और स्निग्ध प्रकाश के अभाव में वहाँ की पत्रकारिता देश और समाज में व्याप्त अन्धकार को विकीर्ण कर प्रगति के पथ को कितना आलोकित कर सकेगी, यह समस्या हमारे राष्ट्र के लिए यथेष्ट चिन्तनीय है।

पत्रकारों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने और पत्रकारिता का विकास करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने जिस प्रेस कमीशन की स्थापना की थी, उसकी सिफारिशों में से अभी हाल ही में कुछ सिफारिशों पर हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ध्यान देकर कानून का रूप भी दे दिया है। इसके अनुसार पत्रकारों के झगड़े भी श्रमजीवियों की भाँति सरकारी अधिकारियों द्वारा निपटाए जाने की व्यवस्था की गई है। परन्तु इस प्रकार के कानूनों से भी पत्रकारों की स्थिति में क्या दृढ़ता आ जाएगी, यह तो कुछ समय के अनुभव के बाद ही कहा जा सकेगा।

इस २५ वर्ष के दीर्घकाल में मुझे कितने ही असाधारण अनुभव हुए। पत्र संचालकों के निर्मम शोषण तथा साहित्यकारों और पत्रकारों की गहरी दलबन्दी का बहुत निकट से अनुभव करना पड़ा। हिन्दी में ऐसे पत्रकारों की कमी नहीं, जो अपने ही क्षेत्र के उन दूसरे पत्रकारों के नाम से ही चिढ़ते हैं, जो उनके दल से बाहर के हैं। ऐसे पत्रकार अपने दल से बाहर के पत्रकारों को न तो पत्रकार के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं, न साहित्यकार के रूप में। उनकी इस मनोवृत्ति का साफ चित्र ऐसे आलोचनात्मक लेखों में देखा जा सकता है, जिनमें साहित्यिक गतिविधि का ऐतिहासिक सिंहावलोकन किया जाता है। ऐसे लेखों में अपने दल से बाहर के बड़े-से-बड़े पत्रकार और साहित्यकार का नामोल्लेख तक करना ये पत्रकार पसन्द नहीं करते। और साहित्यकारों की दलबन्दी तो आज के युग में सीमा को ही पार कर चुकी है। किसी मंच पर भाषण करते समय जहाँ ये साहित्यकार, संगठन और एकता की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए साहित्यकार के समुचित विकास और उसकी सुविधाओं की दुहाई देते हैं, वहीं अपने दल से बाहर के साहित्यकार की कठिनाइयाँ और कष्ट देख कर कदाचित फूले नहीं समाते। ऐसी विषम परिस्थितियों के बीच साँसें लेना और जीवित रहना भी मुझ जैसे अनेक साहित्यकारों के लिए आज कठिन हो रहा है।

मैं अपने अनुभवों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हिन्दी पत्रकारिता अब मिशन न रह कर एक साधारण-सी नौकरी मात्र रह गई है। अधिकतर संचालकों के इंगित पर नाच सकने वाले पत्रकार ही आज के युग में अपनी सम्पादकीय गद्दी पर आसीन रह सकते हैं। ये संचालक अच्छे-से-अच्छे और योग्य पत्रकारों को भी चुटकी बजाते हटा देने में किसी औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता नहीं करते। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पैसे के बल पर ये संचालक पत्रकारों को खरीद लेने का स्वप्न देखा करते हैं, किन्तु जो लाभ इनके द्वारा होता है, उसका उचित अंश इन्हें कभी नहीं देना चाहते। मेरी राय से इस विषम स्थिति का अन्त तभी हो सकता है जब पत्र-पत्रिकाओं का भी राष्ट्रीयकरण हो जाए अथवा हमारी राष्ट्रीय सरकार पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों पर सीधा नियन्त्रण रक्खे।

आज तो बहुधा यह देखा जाता है कि अनेक पत्र-संचालक तराज़ू के बटखरों की भाँति सम्पादकों को बदलते रहते हैं। पत्रिका की उन्नति के लिए अथवा सम्पादक की स्वेच्छा से ऐसा परिवर्तन किया जाए, तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती; परन्तु जहाँ अन्य व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण योग्य और कर्मठ सम्पादकों को भी पृथक् कर देना और उनके स्थान पर पत्रकारिता के व्यावहारिक अनुभव से सर्वथा शून्य रहने वालों को नियुक्त कर देना साधारण-सी बात हो, वहाँ पत्रकारिता के क्षेत्र को संकुचित और धूमिल करने की गर्हित भावना नितान्त अकल्याणकारी ही मानी जाएगी।

मैंने उन तूफ़ानी दिनों में अपनी पत्रकारिता का श्रीगणेश किया था, जब हमारा राष्ट्र स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रहा था और विदेशी शासन के दमन-चक्र का सामना कर रहा था। परन्तु मैं देखता हूँ कि आज २५ वर्ष के पश्चात् भी—जब कि हमारा राष्ट्र स्वतन्त्रता के सुनहरे प्रभात की सुखद रश्मियों का स्पर्श कर चुका है—कम-से-कम हिन्दी पत्रकार के संघर्षों का अन्त अब भी बहुत दूर दीखने वाला क्षितिज है।

पिछले २५ वर्ष के अपने पत्रकार-जीवन में कभी किसी पत्र-पत्रिका से मुझे इतना वेतन नहीं मिला कि खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी सहज-सम्भव होती और मैं निश्चिन्त रह सकता। सदा यही हुआ कि दिन-भर किसी पत्र-पत्रिका का सम्पादन-कार्य किया और रात में जब थके-माँदे शरीर को विश्राम देना आवश्यक हुआ, तब अन्य कोई ऐसा कार्य करने में लगा रहा, जिससे गृहस्थी का छकड़ा घसीटने में कुछ सहारा मिलता रहे। और इतने पर भी जब गृह-खर्च पूरा करने में अथवा किसी पारिवारिक सदस्य की बीमारी में डाक्टरी उपचार कराने में कोई व्यवधान सामने आया, तो अपनी साहित्यिक कृतियों के सर्वाधिकार कहीं भी और किसी भी प्रकाशक को मिट्टी के मोल बेच देने पड़े। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मेरी प्रकाशित पुस्तकों की एक लम्बी सूची होने पर भी आज जब उतरती उम्र में मुझे किसी आर्थिक सहारे की नितान्त आवश्यकता है, तब मुझे अपने सामने एक विशाल मरुभूमि ही दिखलाई पड़ती है, जिसमें कहीं हरित भूमि नहीं, कहीं प्यास बुझाने वाले शीतल-पावन जल की कोई बूँद नहीं।





(दायें से बायें) श्री जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री जवाला मुनीज (अध्यक्ष), डा० राधाकृष्णन और श्री मुदालियर

युनेस्को अधिवेशन दिल्ली



मलाया इसी वर्ष युनेस्को में सम्मिलित हुआ

डा० राधाकृष्णन युनेस्को के ६वें अधिवेशन में भाषण देते हुए





तस्वीरों का शौक

श्रीपाद जोशी

"भई, आप तो बिल्कुल अरसिक हैं! लोगों के घरों में तस्वीरों की कतारों की कतारें लगी हुई रहती हैं, और आप हैं कि एक भी तस्वीर आपको अच्छी नहीं लगती। मैं कहती हूँ, आप खुद अपनी फोटो भले ही न लगाएँ, पर हमारे लाड़ले मुन्ने की तस्वीर लगाने में आपको क्यों आपत्ति है? अगर आपको मामूली आदमियों की तस्वीरें दीवार पर लटकाना पसन्द न हो तो कम से कम गान्धी जी, विनोबा जी आदि महात्माओं की तस्वीरें तो लगाइए। भला देखिए तो, हमारे कमरे की दीवारें कैसी खाली-खाली लगती हैं! तो फिर मैं कुछ तस्वीरें टाँग ही दूँ न?" हमारी श्रीमती जी ने बड़े नाज़ से पूछा।

"हाँ! हाँ! शौक से लगाओ। मैंने तुम्हें रोका थोड़े ही है? तुम चाहे जितनी तस्वीरें लगाओ—शर्त इतनी ही है कि वह मेरे कमरे में न हों!" मैंने शांति के साथ कहा।

"वाह! वाह!" मुँह बनाते हुए श्रीमती जी बोलीं, "तो क्या मैं रसोईघर में तस्वीरें लगाऊँ? बहुत बढ़िया खयाल है आपका! चूल्हे के धुएँ से दो महीनों के अन्दर-अन्दर वह तस्वीरें इतनी बदल जाएँगी कि यह पहचानना भी मुश्किल हो जाएगा कि वह आदमियों की हैं या जानवरों की। पर मैं आपसे पूछती हूँ......"बड़े ज़ोर से आगे बढ़ते हुए वे बोलीं।

"हाँ, हाँ, ज़रूर पूछो!" मैंने हँसकर कहा।

"देखिए, मज़ाक मत कीजिए। मुझे आपकी ये हरकतें बिल्कुल अच्छी नहीं लगतीं। हर वक्त यह हँसी-मज़ाक आप जैसे चार बच्चों के बाप को शोभा नहीं देता। तो हाँ, ध्यान से सुनिए। मैं आपसे पूछती हूँ, आपके इस दीवानखाने में दो-चार तस्वीरें लगा दी जाएँ तो उसमें आपका क्या जाता है? क्या आपको वह खा जाएँगी? मैंने कई लेखकों के घरों में देखा है, ये इतनी बड़ी-बड़ी तस्वीरें टंगी रहती हैं। आखिर आपकी यह ज़िद किस लिए? मैं आपकी एक न सुनूँगी। कम से कम गांधी जी का चित्र तो ज़रूर लगाऊँगी।" किसी बड़े पुरजोश नेता की तरह मेरी मेज़ पर मुट्ठी मारकर श्रीमती जी बोलीं।

"देखो भई, तुमने अगर तस्वीरें लगाने की ठान ही ली है तो खुशी से लगाओ। लेकिन मैं जानता हूँ कि गांधी जी की तस्वीर के पीछे-पीछे और किन-किन की तस्वीरें यहाँ आ जायेंगी। यह तो उस महान संकट का पहला चरण होगा। और मैं तुमसे सच कहता हूँ, उसी आफ़त से मैं डरता हूँ।"

"मतलब? मैं नहीं समझी।" उसने बड़े भोलेपन से पूछा।

"मतलब यही कि गांधी जी के पीछे-पीछे विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विनोबा, सुभाष बाबू, जवाहरलाल, वल्लभभाई वगैरह आधुनिक महापुरुष आयेंगे और उनके साथ ही शिवाजी, रामदास, तुकाराम, तुलसीदास, राणा प्रताप आदि ऐतिहासिक श्रेष्ठ पुरुष पधारेंगे। फिर राम, कृष्ण, शंकर, भवानी, दुर्गा, काली वगैरह देवी-देवताओं की तस्वीरें हमारे कमरे में दिखाई देने लगेंगी।" मैंने डरते हुए कहा।

"तो उसमें हर्ज ही क्या है?" श्रीमती जी ने हमको बीच में ही टोक कर पूछा।

"अजी, इतने पर यह शौक थोड़े ही दम लेगा? जब सारे महापुरुष, वीरपुरुष और देवी-देवता ख़त्म हो जायेंगे तो तुम मेरे अच्छे-बुरे सब चित्र यहाँ लगाओगी।" मैंने कहा।

"जी हाँ, जरूर लगाऊँगी—हज़ार बार लगाऊँगी। मुझे किसी के बाप का डर थोड़े ही है? अपने घर में मैं अपने आदमी की तस्वीरें लगाऊँ तो किसी का क्या जाता है? देखूँ तो सही, कौन मेरा हाथ पकड़ता है?" उसने बहुत गर्म हो कर कहा।

मगर ऐसे मौके पर मैं अपना समतुलन कभी नहीं खोता। मैंने बिल्कुल ठंडे स्वर में, मानो कुछ हुआ ही न हो, कहा "और फिर अपने मुन्ने की, फिर तुम्हारी अपनी—न जाने कितनी दर्जन तस्वीरें खिंचवाई हैं—और उसके बाद हमारे पूज्य माता-पिताजी की, फिर तुम्हारे माँ-बाप की तस्वीरें...... ।"

"अच्छा, अच्छा! अब समझी! आपके दिल का सारा गुबार अब बाहर निकला। आख़िर पुरुष जो ठहरे! इस सारे प्रपंच का मतलब यही है कि आप मेरे माँ-बाप की तस्वीरें इस घर में देखना नहीं चाहते और वैसा साफ़-साफ़ कहने की हिम्मत आप में नहीं है—इसी लिए आप किसी की भी तस्वीर लगाने नहीं देते। आप इतने बुज़दिल हैं, इसका पता मुझे नहीं था। पर मैं आपसे पूछती हूँ, मेरे माँ-बाप पर आपकी यह नाराज़गी किस लिए है? इसीलिए न, कि उन्होंने आपको दहेज में पाँच हज़ार रुपये देने के बजाय चार हज़ार सात सौ रुपये दिए थे। मैं सच कहती हूँ, मेरे पिता जी बड़े शरीफ़ और भोले-भाले हैं, इसीलिए आपको इतना दहेज मिला, वरना दूसरा कोई आप को दो हज़ार भी न देता। बेचारे पिता जी को आपकी (अ) योग्यता मालूम होती......" रोवांसी होकर श्रीमती जी कहती गईं।

"अरे हाँ, हाँ, हाँ! कहाँ से कहाँ पहुँच गईं तुम। किसी ने कहा है, और अगर किसी ने नहीं कहा है तो मैं कहता हूँ कि तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बनाने में दुनिया की स्त्रियाँ पुरुषों से कभी हार नहीं खाएँगी। जरा सोचो तो सही, इस कबूतरों के दड़बे जैसे कमरे को तुम दीवानखाना कहती हो, मगर क्या यह कमरा कहलाने के भी लायक है? घर के इस सामान-असबाब के कारण यह कमरा पहले

ही रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे के डिब्बे की तरह दिखाई देता है। फिर उसमें तस्वीरों की भीड़ लगाने में कौन-सी अकलमन्दी है?" मैंने उसे समझाने की कोशिश करते हुए कहा।

"यह सब बहाने मैं पहचानती हूँ। सौ बात की एक बात यह है कि आप मेरे माँ-बाप की तस्वीरें यहाँ लगाना नहीं चाहते। इसीलिए ये फालतू बातें बना रहे हैं। आपमें किसी प्रकार का शौक ही नहीं। ज़रा दूसरे लोगों की तरफ़ तो देखिए। खुद अपने माँ-बाप की तस्वीरें शायद न भी लगाएँ, पर अपनी स्त्री के माँ-बाप की तस्वीरें बड़ी शान से लगाते हैं लोग। मगर आपकी बात तो दुनिया से उल्टी ही है।" हमारी बीबी साहबा ने कहा और वह भन्ना कर अन्दर चली गईं।

वास्तव में उसके इस इल्ज़ाम में कोई सच्चाई नहीं थी और संसार के सारे सज्जन यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी देवियों द्वारा लगाये गए आरोपों में कोई तथ्य कभी नहीं होता। असल में उसके मायके के इतने अधिक लोग हमारे इस कालकोठरी (कलकत्ते वाली) जैसे घर में आकर हमेशा भीड़ लगाते हैं कि कई बार मुझे ऐसा लगने लगता है कि यह घर मेरा नहीं है, बल्कि मैं स्वयं यहाँ मेहमान हूँ और मेहमान के तौर पर आने वाले लोग ही असल में मालिक हैं। पहले जमाने में, कहते हैं कि, मेहमानों से कहा जाता था कि, "महाशय, यह घर अपना ही समझकर यहाँ रहिए।" पर अब जब हमारी घरवाली के नैहर के लोग हमारे यहाँ आकर अड्डा जमाते हैं तब कई बार मुझे खुद अपने को बतलाना पड़ता है कि, "भैया, ये लोग तुम्हारे यहाँ मेहमान बनकर आए हैं और यह घर असल में तुम्हारा ही है। किसी न किसी दिन ये ज़रूर यहाँ से चले जाएँगे, जैसे कि अंग्रेज़ चले गए।" इतना होते हुए भी अगर हमारी श्रीमती जी हम पर ऐसा उल्टा इल्ज़ाम लगाएँ तो इसे हद दर्जे की कृतघ्नता ही कहना चाहिए।

वैसे पूछा जाए तो मैं मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हूँ। फिर भी तस्वीरें लगाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि आखिर वह एक कला ही है और कला-प्रेम ही तो मनुष्यता का चिन्ह है। कह सकते हैं कि एक तरह से वह भी मूर्तिपूजा ही है—और इसीलिए इस काम में तस्वीरकशी कुफ्र भी शामिल है—फिर भी उसे बर्दाश्त करने को मैं तैयार हूँ। मगर मेरी सबसे बड़ी दिक्क़त जगह की है। हम शहर में रहने वाले मध्यवित्त श्रेणी के लोग! कबूतरों के दड़बे भी हमारे कमरों से अच्छे होंगे—क्योंकि वहाँ सामान की भीड़ तो नहीं होती। ऐसी हालत में अगर तस्वीरों से उन कमरों को भर दिया जाए तो उन्हें कबाड़ी की दुकान की शक्ल-सूरत आने में क्या बाकी रह जायगा? अगर कोई लम्बा-चौड़ा मकान है, उसमें आलीशान दीवानख़ाना है, इधर-उधर बहुत-से कमरे हैं, तो उस दीवानख़ाने में तस्वीरें लगाने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? बल्कि ऐसे स्थानों में तस्वीरें लगाने से उनकी शान भी बढ़ सकती है और दिल को यह सन्तोष हो सकता है कि हमने खाली जगह का अच्छा इस्तेमाल किया—जैसे अमीरों और बड़े अफ़सरों की देवियाँ क्लबों में जाकर यह सन्तोष प्राप्त करती हैं कि उनके समय का बहुत उचित उपयोग होता है। आख़िर हम जनतंत्र के और व्यक्ति स्वातंत्र्य के ज़माने में रह रहे हैं। यहाँ हर एक को इतनी स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए कि उसे जो चीज़ अच्छी लगे वह करता जाए, बशर्ते कि उससे औरों को कोई कष्ट न उठाने पड़ें। इसीलिए तो मैंने हमारी मालकिन यानी घरवाली से कहा था कि वह अपने कमरे में शौक से तस्वीरें लगा सकती हैं।

तस्वीरों का शौक रखने वाले लोगों के घर जब मैं जाता हूँ तो वहाँ की तस्वीरें देखकर कई बार समझ में नहीं आता कि मज़ाक देख कर हँसें या अपना सर पीट लें। पुराने ढंग के अमीरों के दीवानख़ानों में यह मज़ा ख़ास तौर पर देखने को मिलता है। एक तरफ रवि वर्मा की वह विश्वामित्र-मेनका (छोटी बच्ची शकुन्तला के साथ) वाली मशहूर तस्वीर, दूसरी तरफ स्नान करने वाली नग्न गोपियों के वस्त्र उठाकर नदी किनारे के पेड़ पर चढ़ बैठे हुए गोपीनाथ श्रीकृष्ण की तस्वीर और बीच में बेचारे बाल ब्रह्मचारी हनुमान जी! पहाड़ को एक हाथ में उठाए भागे जा रहे हैं लक्ष्मण जी को होश में लाने। उन हनुमान जी की वहाँ क्या हालत होती होगी इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अगर अपने दायें-बायें ध्यान न देकर भले आदमी की तरह वे सीधे सामने नज़र डालें तो वहाँ रंगीले राजा गोपीचंद के स्नान का शृंगारपूर्ण दृश्य! अब हनुमान जी महाराज देखें तो किधर देखें?

मेरे एक मित्र के घर में इस तरह मुसीबत में फंसे हुए हनुमान जी की तस्वीर देखकर मुझे उस रामदूत पर बड़ा तरस आया। एक बार मैंने उस मित्र से कहा भी कि, "भैया मेरे, अपने इस रंगमहल में तुमने इस बेचारे ब्रह्मचारी को क्यों कैद कर रखा है जिसने सीता माई को छोड़ किसी स्त्री का मुँह तक नहीं देखा था? मुझे डर है कि किसी दिन इस यंत्रणा से तंग आकर ये महाराज कहीं अपनी जान से हाथ न धो बैठें।"

"कैसी नास्तिकता की बातें करते हो, यार!" मेरे मित्र ने मेरा धिक्कार करते हुए कहा।

मगर सचमुच, कुदरत का तमाशा तो देखिए कि जब मैं दूसरी बार वहाँ चला गया तो उस वायुसुत के स्थान पर मैंने एक अति-आधुनिक फ़िल्मी अभिनेत्री की तस्वीर देखी जो कम से कम कपड़े पहनकर, या पहनने का बहाना बनाकर, नृत्य कर रही थी।

"क्यों जी, यहाँ की हनुमान जी की तस्वीर कहाँ चली गई?" मैंने उस मित्र से पूछा।

"छूट गए बेचारे!" एक आह भरकर मेरा मित्र बोला।

"छूट गए? कौन छूट गया? भला किसकी बात करते हो तुम?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"वही बाल ब्रह्मचारी हनुमान जी! उस दिन की तुम्हारी बातों ने बेचारे मारुति जी के दिल पर बड़ा गहरा असर किया मालूम होता है। उसके बाद दूसरे ही दिन ऊपर से ज़मीन पर कूद कर उन्होंने आत्मघात कर लिया। मुझे दुःख इसी बात का है कि उन पर खुदकुशी की नौबत आने से पहले ही मैंने उनको वहाँ से नहीं हटाया। बड़ी गलती हुई मुझसे।" उसने कहा।

"जी हाँ ! कम से कम तस्वीर का काँच तो काम आता।" मैंने व्यंग-पूर्ण ढंग से कहा।

"तुम तो यार, सब मज़ाक ही समझते हो। मगर मेरा दिल सचमुच ही दुखी है। उस तस्वीर की रस्सी पुरानी हो चुकी थी और उस पर बैठकर एक चिड़िया अपने घोंसले के लिए हमेशा उसमें से रेशे निकाला करती थी। लेकिन उस रस्सी को बदलने का ख़याल भी मुझे नहीं आया। उसी की सज़ा बेचारे बजरंग को भुगतनी पड़ी। इसी का मुझे अफ़सोस है।"

"जाने दो भैया ! तुम्हारे घर के हनुमान ने इस दुनिया से विदा ली हो तो भी लाखों हनुमान घर-घर मौजूद हैं। बल्कि मर्कट चेष्टाओं का ख़याल किया जाय तो सारी दुनिया में ऐसे हनुमान विद्यमान हैं और उनकी संख्या कभी कम नहीं होगी। अतः तुम उस अमर वानर के लिए शोक मत करो !" मैंने उसे सांत्वना देते हुए कहा।

किसकी तस्वीर कहाँ लगाई जाए इस के बारे में तो कोई नियम ही आजकल नहीं रह गया है। बिल्कुल अराजकता फैल गई है।

हमारे नाई की दुकान को ही ले लीजिए। वहाँ की दीवार पर आधी से अधिक तस्वीरें फ़िल्मी सितारों की हैं। उस भले आदमी से कोई पूछे कि भैया, फ़िल्मी अभिनेत्रियों का (हमारे देश की) हजामत से क्या वास्ता ? मैं इसे स्वीकार कर सकता हूँ कि बाल-नाशक साबुन के विज्ञापनों में दिखाई देने वाली भद्र (?) महिलाओं के चित्र हज्जामों की दुकानों में भले ही शोभा बढ़ाते रहें, लेकिन मेरी समझ में अभी तक यह बात नहीं आ सकी है कि अपने कपड़ों, लिपस्टिक, घुटने तक लम्बे बालों (वे भले ही कृत्रिम क्यों न हों ?) और भोंडे नाच का प्रदर्शन करने वाली अभिनेत्रियों का हेअर कटिंग सलूनों में क्या काम हो सकता है ?

ख़ैर ! फ़िल्मी सितारों की तस्वीरों का यह मर्ज़ सारे देश में आम हो गया है, इसलिए नाई की दुकान में भी उनका रहना लाज़मी समझा जा सकता है। पर समझ में नहीं आता कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द को तस्वीरें नाई की दुकान में लगाने में क्या तुक है ? भाई हज्जाम की यह इच्छा तो हो नहीं सकती कि रवीन्द्रनाथ की लम्बी, सफ़ेद, शानदार दाढ़ी देखकर दुकान में आने वाला ग्राहक वैसी ही दाढ़ी बढ़ाने का निश्चय करे। इसके विपरीत टागोर की दाढ़ी देखकर अगर कोई छैला जवान यह समझ बैठे कि उन्हीं की तरह दाढ़ी बढ़ाने से हम भी बहुत बड़े साहित्यिक बन जाएँगे, विश्वकवि कहलाएँगे और रोबदार दिखाई देंगे तो नाई महाराज को कमाई में उतनी ही कमी हो जाएगी।

कुछ तस्वीर-शौकीन लोग राजनैनिक परायेपन या शत्रुत्व को अपने घर में बिल्कुल मिटा देते हैं। भूतपूर्व भारत सम्राट पंचम जार्ज की तस्वीर से सटकर ही वे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक या कभी कभी क्रान्तिवीर सरदार भगतसिंह की तस्वीर लगाते हैं और सावरकर के साथ गांधी जी को बिठा देते हैं। ब्रिटिश सत्ता के कट्टर दुश्मन बाबू सुभाषचन्द्र बोस (नेता जी) के पास ही उस सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली रानी एलिज़बेथ या विक्टोरिया को बिठाकर उनके बीच की खाई को पाट देते हैं। आजकल विनोबा, जयप्रकाश, जवाहरलाल जी और राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की तस्वीरों का शौक लोगों में बहुत बढ़ गया है लेकिन उनके साथ ही बैरिस्टर जिन्ना और पुराने गवर्नरों जैसों की तस्वीरें भी देखने को मिलती हैं, जिससे देखने वाले को बड़ी हँसी आती है। मगर उससे भी एक फ़ायदा यह अवश्य होता है कि उन लोगों के इस शौक के कारण देखने वालों के दिलों पर यह बात अच्छी तरह जम जाती है कि यह दुनिया माया है और सबके अन्दर एक ही आत्मा निवास करती है।

मेरे एक मित्र अपनी शकल-सूरत पर खुद इतने फ़िदा हैं कि उन्होंने अपनी ही बीसों तस्वीरों से अपना सारा कमरा भर दिया है। इसी को तो अपनी आरती खुद उतारना कहते हैं। यह बात भला किस को पसन्द नहीं आयेगी ? मुझे भी वह अच्छी ही लगेगी। लेकिन उसमें एक बड़ी दिक्कत है। आप पर विश्वास कर मैं आप ही को बताता हूँ कि मेरी तस्वीरें बड़ी सुन्दर होती हैं। आप पूछेंगे कि "इसमें दिक़्क़त काहे की ? यह तो बड़ी अच्छी बात है। किसी को भी उससे खुश ही होना चाहिए।"

मगर नहीं ! यह बात मुझे हमेशा मुश्किल में डाल देती है। आप समझे नहीं ? आइए, मैं साफ़-साफ़ बता दूँ। मेरी तस्वीरें सुन्दर होती हैं इसका मतलब यही है कि असल में मैं दीखने में खूबसूरत नहीं हूँ, फिर भी मेरी तस्वीरें मोहक होती हैं। अतः देखने वाले को इस बात का यक़ीन नहीं होता कि वह मेरी ही हैं। जो कोई मेरी तस्वीर देखता है वह अगर बहुत निकट परिचय में आने वाला न हो तो केवल इतना ही कह कर चुप हो जाता है कि, "भई, आपकी यह फ़ोटो तो बिल्कुल पहचानी नहीं जाती। आप मज़ाक तो नहीं कर रहे हैं ? या फ़ोटोग्राफ़र से "री-टच" करवा लिया है ?"

अगर वह निकट परिचित हो तो खिलखिलाकर हँसते हुए कहता है, "अरे यार, क्यों बनाते हो ? क्या यह तुम्हारी फोटो है ? ज़रा अपनी सूरत तो देखो आइने में ! कामरेड मानवेन्द्रनाथ राय (या श्री जे० कृष्णमूर्ति) की तस्वीर दिखा कर कहते हो कि यह मेरी फोटो है। अरे भाई, इस तस्वीर में जितनी नज़ाकत, जितनी शान दिखाई देती है उसका सौवाँ हिस्सा भी तो तुममें नहीं है। किसी और को बनाया करो !"

और तब मुझे मुँह की खाकर चुप रहना पड़ता है। अब आप ही बताइए, इस तरह का अपमान आए दिन सहना न पड़े और हर एक से यह कहने की नौबत न आए कि, "अजी जनाब, आप विश्वास कीजिए, यह फोटो मेरी ही है," इसलिए अगर मैंने तस्वीर का ही बहिष्कार कर 'पेड़ की जड़' काट दी, तो क्या उसमें बुद्धिमानी नहीं है ? मगर इतनी अक़्ल हमारी श्रीमती जी में हो तब न ? हमारी ही नहीं, दुनिया की किसी भी पत्नी में भला इतनी अक़्ल कहाँ से होगी ?

●



युवक समारोह में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत "कंजूस" का अभिनय

बड़ौदा विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत समूह नृत्य



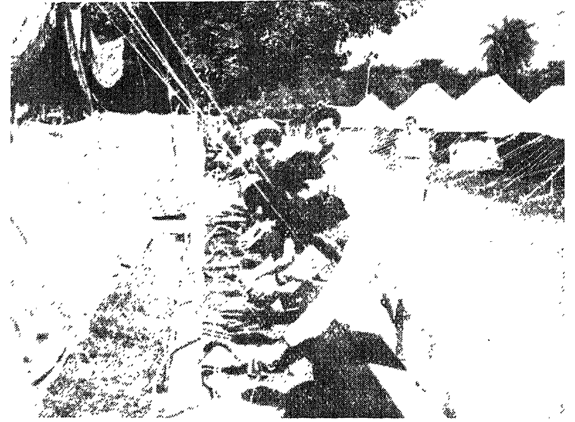
तीसरा भारतीय युवक समारोह

छात्राओं द्वारा नृत्य प्रदर्शन









नागपुर विश्वविद्यालय की
छात्राओं द्वारा प्रस्तुत नृत्य

बायें :

कैम्प में भोजन के बाद
छात्र हाथ धोते हुए

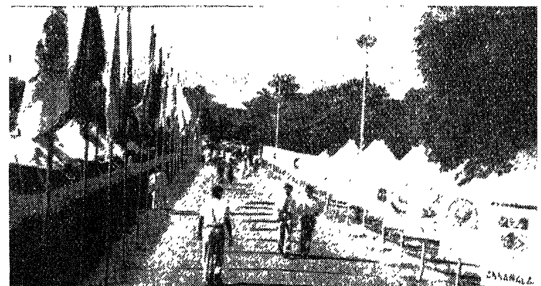
तालकटोरा में कैम्प जीवन
का एक सामान्य दृश्य



विश्वविद्यालय की
ओं द्वारा प्रस्तुत समूह नृत्य



तालकटोरा में युवक कैम्प का मुख्य मार्ग





पुस्तक समालोचना

सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पादक—डा० नगेन्द्र; प्रकाशक—सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, ३ कीलिंग लेन, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या (बड़े आकार के) १००० तथा ३२ पृष्ठ सुन्दर चित्र; मूल्य २५) रु० सजिल्द।

सेठ गोविन्ददास देश के एक प्रमुख राजनीतिक नेता होने के साथ ही साथ हिन्दी के एक सुविख्यात, यशस्वी और सफल लेखक भी हैं। गत ८ दिसम्बर को उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने यह अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया था। इस अभिनन्दन ग्रन्थ में कुल मिलाकर ४ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में ४६ पृष्ठों में सेठ गोविन्ददास को श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। उसके बाद लगभग ५० पृष्ठों में सेठ गोविन्ददास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। इस भाग में कुछ लेख तो अत्यन्त सजीव और मनोरंजक हैं, उदाहरण के लिए श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र का लेख। दूसरे खण्ड में लगभग २०० पृष्ठों में सेठ गोविन्ददास की कृतियों की आलोचना और मूल्यांकन किया गया है, जो सब मिला कर श्रेष्ठ कोटि का है। इसी खण्ड में लगभग ८० पृष्ठों में सेठजी की विभिन्न रचनाओं में से चुने हुए सन्दर्भ भी दिए गए हैं, जो यदि न भी दिए जाते, तो कोई हर्ज न था। क्योंकि पूरी रचना पढ़े बिना ८० पृष्ठों का चयन कुछ अर्थरहित-सा हो जाता है। इससे अधिक अच्छा होता यदि उनकी रचनाओं का संक्षिप्त कथासार इन ८० पृष्ठों में दिया जाता।

अभिनन्दन ग्रन्थ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग उसके तृतीय और चतुर्थ खण्ड हैं, जो लगभग ६०० पृष्ठों में पूर्ण हुए हैं। भारतीय नाट्य साहित्य पर इससे अधिक उपयोगी और प्रामाणिक सामग्री शायद ही कहीं अन्यत्र एक साथ उपलब्ध होगी।

तृतीय खण्ड में ४०० पृष्ठों में नाट्य सिद्धान्तों तथा भारतीय नाट्य साहित्य का वर्णन है। इस खण्ड में वर्णित कुछ विषय इस प्रकार हैं—संस्कृत नाटक तथा अभिनय, संस्कृत नाट्य शास्त्र में रूपक, कथावस्तु, कथा-सन्धियों तथा अर्थ-प्रकृतियों का वर्णन, प्राचीन नृत्य नाट्य विधि, हिन्दी लोक नाट्य, नाटक का संकलन-त्रय, अव्यवसायी रंगमंच, यूरोपीय नाटक शास्त्र, रोमानी नाटक, पाश्चात्य रंगमंच और आधुनिक भारतीय नाट्य, अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त, संस्कृत नाटकों का उद्गम, संस्कृत के प्रमुख नाटककार, अपभ्रंश नाट्य साहित्य, भारतेन्दु, हिन्दी लोक-नाटक आदि। इस खण्ड के लेखकों में डा० वी० राघवन, डा० त्रिगुणायत, डा० बलदेव उपाध्याय, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० लक्ष्मीनारायण, डा० कन्हैयालाल, श्री नेमिचन्द्र जैन, डा० राम-अवध, प्रो० मथाई, डा० चार्ल्स फाब्री, डा० सूर्यकान्त, डा० भोलाशंकर, डा० सत्येन्द्र, श्री जगदीशचन्द्र माथुर आदि हैं।

इस तृतीय खण्ड के विषयों और लेखकों की सूची इतनी प्रभावशाली होते हुए भी, यही एक ऐसा खण्ड है, जिसमें विषय सूची के विस्तृत निर्माण और प्राप्त सामग्री के उचित सम्पादन की सबसे अधिक आवश्यकता थी। जो सामग्री इस खण्ड में दी गई है, उसका महत्त्व स्वीकार करते हुए भी हमें यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः विद्वान सम्पादक सभी आवश्यक विषयों पर यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं कर सके। नाटक की सबसे बड़ी सफलता उसका रंगमंच पर अभिनीत होना है। इस दृष्टिकोण से बहुत कम सामग्री इस अभिनन्दन ग्रन्थ में दी गई है। विशेषतः हिन्दी नाटक साहित्य की रंगमंचात्मकता पर तो जैसे प्रकाश डालने का भी प्रयत्न नहीं किया गया। नाट्य शास्त्र पर जहाँ ६०० पृष्ठों में सभी तरह की सामग्री दी गई हो, वहाँ रंगमंच के सम्बन्ध में बहुत कम सामग्री देना कहाँ तक उचित है? नाट्य शास्त्र तो रंगमंच और उसकी टैकनीक सम्बन्धी चरचाओं के बिना एकदम अधूरा है। चाहिए तो यह था कि इस ग्रन्थ में भारतीय रंगमंच की रूपरेखा तथा उसके क्रमिक विकास पर प्रामाणिक सामग्री दी जाती। यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अभी तक इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। भारत में नाट्य और रंगमंच अत्यन्त प्राचीन हैं, पर भारत के प्राचीन रंगमंच, वेशभूषा, दर्शकों का प्रबन्ध, सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था आदि तथा इन सबके क्रमिक विकास और रूपान्तरों के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इस ग्रन्थ में इस पहलू की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी, क्योंकि नाट्य शास्त्र का सर्वेक्षण इस ग्रन्थ का एक प्रमुख ध्येय था। इसी खंड में ५, ६ हिन्दी नाटककारों पर पृथक्-पृथक् लेख हैं, जो न सिर्फ आपस में अननुपातिक हैं, अपितु वर्तमान सम्पूर्ण हिन्दी नाटक साहित्य से भी उनका उचित अनुपात कायम नहीं रखा जा सका।

चतुर्थ खण्ड में लगभग २०० पृष्ठों में प्रादेशिक भाषाओं के नाट्य-साहित्य की चर्चा की गई है। तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, बंगला, असमिया, उड़िया, गुजराती, मराठी, उर्दू, पंजाबी नाट्य तथा रंगमंचों पर मामा वरेरकर, डा० सीतापति, डा० वरदराजन, आद्य रंगाचार्य, डा० सी० कुमार, डा० प्रफुल्ल गोस्वामी, श्री कालिन्दी-

चरण पाणिग्रही, श्री दुग्गल जैसे प्रामाणिक भारतीय लेखकों ने प्रकाश डाला है। सबसे अन्त में डा० मुल्कराज आनन्द ने विश्व नाटक के सन्दर्भ में भारतीय नाटक पर एक लेख लिखा है। सब मिला कर यह खण्ड तीसरे खण्ड की अपेक्षा अधिक सुगठित है और इस खण्ड में विभिन्न भारतीय भाषाओं के रंगमंच की भी उपेक्षा नहीं की गई।

सब मिला कर यह 'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ' इस वर्ष का एक असाधारण और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। जैसा कि हम कह चुके हैं, भारतीय नाटक साहित्य के सम्बन्ध में एक साथ इतनी अधिक और प्रामाणिक सामग्री शायद ही कहीं अन्यत्र प्राप्त हो। ग्रन्थ की छपाई, सफ़ाई, कागज़, चित्र, जिल्दबन्दी सभी अत्यन्त नयनाभिराम हैं और यह ग्रन्थ श्रेष्ठ प्रकाशन का एक बहुत सुन्दर उदाहरण है।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

रीता : लेखक— श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'; प्रकाशक—किताबघर, पटना राँची (बिहार); आकार डबल क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या ३४४; मूल्य पाँच रुपये; गेटअप और आवरण अत्यन्त नयनाभिराम।

अपने वक्तव्य में लेखक ने लिखा है, "रीता का कथानक धरती का है, इसके कहने का टेकनिक आसमान का है। इसकी ज़िन्दगी समुन्दर की है। इससे अधिक या कम इसमें कुछ है, इसका ज्ञान मुझे नहीं है।"

आरम्भ के लगभग सौ पृष्ठ पढ़ते समय मुझे लगा कि अपनी रचना हर लेखक को पसन्द होती है, इसी से रीता के रचियता ने भी वक्तव्य में वैसी बातें लिख दी हैं। किन्तु, आगे बढ़ने पर उपन्यास की गहराई स्पष्ट दिखाई देने लगी और आप से आप यह विश्वास हो गया कि यह विलक्षण उपन्यास है। फिर भी मेरा खयाल है कि आरम्भ के लगभग १०० पृष्ठ यदि कसे जाते तो उनका आकार आधा हो जाता और उस से कथानक के विकास में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इस उपन्यास की विलक्षणता तकनीक की नवीनता में है। ललित नाम का एक सामान्य लेखक कोई उपन्यास लिख कर प्रकाशक का कर्ज़ चुकाना चाहता है। किन्तु, बेचारे को कोई कथानक नहीं सूझता। निदान म्यूजियम के आहाते में उसे एक व्यक्ति से भेंट हो जाती है जो अपना नाम कृष्ण बतलाता है। कृष्ण रोज उसी स्थल पर आकर ललित को अपने जीवन की एक कथा लिखवाता है। यही कथा उपन्यास बन जाती है।

कथा यह है कि कृष्ण कुसुमा नगरी में प्रवास करने जाता है। वहाँ कुछ कवि, गायक एवं एमेच्योर अभिनेताओं से उसकी मैत्री हो जाती है जिनके लिए वह एक नाटक लिखता है। यह नाटक अभिनीत किया जाता है। इसी सिलसिले में रीता नामक एक कुमारी से कृष्ण को प्रेम हो जाता है। किन्तु कृष्ण विवाहित और बाल-बच्चों वाला आदमी है। उधर रीता के माता-पिता रीता का व्याह गज्जू बाबू नामक एक अन्य व्यक्ति से कर देते हैं। इस सामाजिक कृत्य के सामने कृष्ण और रीता, दोनों सिर झुका देते हैं और दोनों का प्रेम निष्कलंक रह जाता है।

कथानक में कोई विचित्रता नहीं है, किन्तु, कृष्ण और रीता का पारस्परिक सम्बन्ध जिस प्रकार वासना के सरोवर में कमल के समान निर्लिप्त दिखाया गया है, वह अद्भुत है। कविता हो या उपन्यास, उनके विषय या कथानक में विचित्रता कम ही रहती है। साहित्य का असली आनन्द तो भावों के उत्थान-पतन और रसों के चढ़ाव-उतार का आनन्द है। और भावों के घात-प्रतिघात इस उपन्यास में इतने वेगवान हैं कि पाठक का मन उनमें पूर्ण रूप से रम जाता है।

रीता विचित्र नारी है। अथवा वह तनिक भी विचित्र नहीं है। डी० एच० लारेन्स ने एक नायिका के बारे में लिखा है, "अभी भी वह यही कहती है कि अपनी ज्वालाएँ समेटे रहो। उन्हें ढीली मत करो नहीं तो वे मुझे चाट कर बर्बाद कर देंगी।"……"अभी भी मैं देखता हूँ कि वह ज्वालाओं का वर्जन करती है और तब भी वह मेरी उष्णता को तापने में सुख मानती है और मुझे उपालम्भ देती रहती है कि तुम्हारी ज्वालाएँ मंजूषा के भीतर से फुत्कार रही हैं।" रीता का भी यही हाल है किन्तु एक दिन वह कहती है, "आपको शरीर नहीं दे सकी, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं तो आपकी कला के लिए हूँ न। आपकी कविता के लिए!"

किन्तु, रीता की यह उलझन केवल प्राणिशास्त्रीय उलझन नहीं है। उसके कुछ सामाजिक और रोमांटिक पहलू भी हैं। उसकी उलझन का सामाजिक पक्ष तो उसके माता-पिता के निर्णय से उत्पन्न हुआ है, किन्तु धीरे-धीरे वह इस कल्पना में भी सन्तोष खोज लेती है कि वह कृष्ण-जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि की प्रेरणादात्री बन कर रहेगी। "मैं लाखों कोस दूर जाकर भी आपके पास हूँ, आप में हूँ। मेरे हृदय में अब किसी प्रकार की साध नहीं रह गई है। मैं पूर्ण हो गई हूँ, पूर्ण।"

और कृष्ण भी अपनी ज्वालाओं को आत्मा की मंजूषा में समेट लेता है। "तुम्हारे शरीर को आज से मैं सरस्वती का शरीर समझूँगा, उसकी पूजा करूँगा, अर्चना करूँगा।……मैं तेरे ऊपरी रूप पर नहीं, तेरी कला पर समर्पित हूँ। मैं तुझे अपने सपने का एक प्रतीक बनाना चाहता हूँ।"

इस कथा की सारी रंगीनी वासना की रंगीनी है जो अनेक अच्छे उपन्यासों में पाई जाती है। किन्तु वासना के दलन से जो कुंठा या निराशा उत्पन्न होती है, वह इसमें नहीं है। असल में, कृष्ण और रीता ने अपनी वासना का दलन नहीं किया है, उसे संयत बना कर अपने भीतर प्रेरणा का स्रोत तैयार कर लिया है। विवेक से जब मनुष्य अपनी भावनाओं को संयत करता है, तब वह संतुलित हो जाता है। प्रेम की उतनी गहरी और घनघोर अनुभूति के बाद भी कृष्ण और रीता पूर्ण रूप से संतुलित हो जाते हैं। विवाह के पश्चात रीता कृष्ण से अपने सारे प्रेम-पत्र वापस कर लेती है। और उपन्यास के अन्त में कृष्ण बड़े ही संतोष से ललित को लिखवाता है, "आज रीता की शादी को कई बरस हो गए। दोनों पति-पत्नी, पति-पत्नी की तरह ही ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं।"

सारे उपन्यास में ललित बड़ा ही बुद्धू दिखलाया गया है। वह कृष्ण-रूपी व्यास का गणेश है और ये व्यास और गणेश प्रत्येक अध्याय में कथानक पर विचार विमर्श करते हुए परस्पर जो बातें करते

हैं उनसे भी पाठक का काफ़ी मनोरंजन हो जाता है। कथानक तो अलग चलता है, किन्तु, लेखक और उसके किरानी का वार्तालाप खुद एक कहानी का मज़ा दे जाता है। कृष्ण जब रीता के साथ अपने प्रेम की कहानी ललित को लिखा रहा था, तब ललित ने सोचा होगा कि दोनों की शादी अब होने ही वाली है। किन्तु जब उसे लिखाया गया कि कृष्ण और रीता का दैहिक मिलन न हो सका, बल्कि, गज्जू के साथ रीता के विवाह की बात पक्की हो गई तब वह, मानो, आकाश से गिर पड़ा और किसी भी प्रकार की भूमिका बाँधे बिना वह बोल उठा, "कृष्ण भाई! जरा दियासलाई दीजिए। इस उपन्यास को बिना जलाए मैं नहीं छोड़ूँगा। यह कम्बख्त मुझे भी खा जाएगा।"

रोचकता को मैं उपन्यास का बहुत बड़ा गुण मानता हूँ। यह गुण इस उपन्यास में इतना अधिक है कि सौ पेज तक पढ़ कर छोड़ देने के बाद जब मैंने उसे फिर हाथ में लिया तो पुस्तक, बस, एक साँस में खत्म हो गई। "रीता" हिन्दी का अच्छा उपन्यास है।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

●

प्राङ्मौर्य बिहार : लेखक—डा० देवसहाय त्रिवेद; प्रकाशक—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या बड़े आकार के २१४; मूल्य ७।) रुपये।

इस पुस्तक का प्रतिपाद्य कुछ-कुछ उसी प्रकार का है जैसे इन्हीं स्तम्भों में आलोचित डा० धीरेन्द्र वर्मा लिखित "मध्य देश"। "मध्य देश" में यह दावा किया गया है कि "मध्य देश" यानी वर्तमान समय का लगभग उत्तर प्रदेश ही आर्यों का आदि स्थान है और वहाँ से ही कोई आक्रमण पंजाब पर हुआ था और उसी की स्मृति उन थोड़े से सूक्तों में है, जिनमें पंजाब की नदियों का उल्लेख है। डा० त्रिवेद ने इसी प्रकार से यह सम्मान बिहार को देने की चेष्टा की है। आखिर यह कौनसी मनोवृत्ति है, जिसके कारण हमारे विद्वान इस तरह की बातों का प्रतिपादन करना चाहते हैं? क्या यों ही उत्तर प्रदेश और बिहार तथा भारत के अन्य राज्यों को गौरव करने के लिए बहुत सी अन्य बातें नहीं हैं कि वे चिन्त्य और संदिग्ध ऐतिहासिक मान्यताओं की शरण लेने की ओर बढ़े? वर्तमान बिहार में बहुत से महापुरुष उत्पन्न हुए और उसका इतिहास कई बार भारत का इतिहास रहा। पर डा० त्रिवेद इतने से सन्तुष्ट न होकर कई तरह के दावे पेश करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "यहीं संसार के प्रसिद्ध धर्म यथा—व्रात्य, वैदिक, जैन, बौद्ध, वीर सिक्ख धर्म, दरियापंथ तथा लश्करीपंथ का अभ्युदय हुआ।" (पृष्ठ १) वे और कहते हैं कि "आर्य भारत में कहीं बाहर से नहीं आए। आर्यों का भारत पर आक्रमण की कल्पना किसी उर्वर मस्तिष्क की उपज है। आर्य या मनुष्य का प्रथम उद्गम मुलतान (मूलस्थान) में सिन्धु नदी के तट पर हुआ, जहाँ से वे सारे संसार में फैले।" यहाँ पर श्री त्रिवेद से यह पूछने को जी चाहता है कि जब आर्य और मनुष्य पर्यायवाची हैं तो फिर आर्यत्व में विशेष गौरव की धारणा कैसे ठहर सकती है? यहाँ पर वह प्रसिद्ध कविता खण्ड याद आता है कि जब आदम करघा चलाते थे और हौआ सूत कातती थी, उन दिनों कौन शरीफ आदमी था, क्योंकि सब लोग तो उन्हीं की सन्तानें हैं। जब आर्य का अर्थ ही मनुष्य है तो फिर अनार्य कोई है ही नहीं। फिर भी न जाने कैसे डा० त्रिवेद अगले वाक्यों में लिखते हैं :— "इन्हीं आर्यों का प्रथम दल पूर्व दिशा की ओर आया और इसी प्राची में उसी ने व्रात्य-सभ्यता को जन्म दिया। कालान्तर में विदेघ माथव (?) की अध्यक्षता में आर्यों का दूसरा दल पहुँचा और वैदिक धर्म का अभ्युदय हुआ। आर्यों ने व्रात्यों को अपने में मिलाने में व्रात्यस्तोम की रचना की।" (पृष्ठ ४)

यह स्मरण रहे कि इसी प्रकार डा० त्रिवेद एक के बाद एक स्थापना करते जाते हैं, वे किसी भी प्रकार का प्रमाण देना आवश्यक नहीं समझते। बिहार में वैदिक धर्म के प्रादुर्भाव होने के सम्बन्ध में वे सबसे विस्तृत चर्चा करते हैं, उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है। वे लिखते हैं :—

"सम्भवतः, वैदिक धर्म का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम प्राची में ही हुआ था, जहाँ से कुरु-पंचाल में जाकर इसकी जड़ जमी, जिस प्रकार जैनों का अड्डा गुजरात और कर्नाटक हुआ। इसी प्रदेश में फिर औपनिषद ज्ञान का आविर्भाव हुआ, जिसने क्रमशः बौद्ध और जैन दर्शनों को जन्म दिया और विचार स्वातन्त्र्य को प्रोत्साहित करके, मनुष्य को कट्टरता के पाश से मुक्त रखा। महाभारत में कर्ण जिस प्रकार पंचनद भूमि की निन्दा करता है, वह इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मण लोग पंचनद को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। अतः यह अनुमान भी निराधार नहीं है कि वेदों का सही उच्चारण भी पंजाब में नहीं होता होगा, वेदों की रचना तो दूर की बात है।"

फिर वे लिखते हैं कि :—"ऋग्वेद की सभी नदियाँ पंजाब की नहीं हैं। इनमें गंगा तो निस्सन्देह बिहार से होकर बहती है। अपितु, गंगा का ही नाम नदियों में सर्वप्रथम आता है और यह उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल में है, जिसे आधुनिक विद्वान् कालान्तर की रचना मानते हैं। कीथ कहता है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल छन्दों के विचार और भाषा की दृष्टि से अन्य मण्डलों की अपेक्षा बहुत बाद का है। ऋग्वेद (१०-२०-२६) का एक ऋषि तो प्रथम मण्डल का आरम्भ ही अपने मन्त्र को आदि में रखता है और इस प्रकार वह अपने पूर्व ऋषियों के ऊपर अपनी निर्भरता प्रकट करता है।"

"इस प्रकार हम वैदिक साहित्य के आन्तरिक अध्ययन और उनके ऋषियों की तुलना से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संहिताओं ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का अधिकांश बिहार प्रदेश में ही रचा गया था, न कि भारत के अन्य भागों में। विद्वानों में इस विषय पर मतभेद भले ही हो, किन्तु, यदि शान्त और निष्पक्ष दृष्टि से इस विषय का अध्ययन किया जाए तो वे भी इसी निर्णय पर पहुँचेंगे।"

हम यह नहीं कहते कि शोध के क्षेत्र में पहले के विद्वान जो स्थापनाएँ कर गए हैं, उन्हीं पर चला जाए, पर किसी नई स्थापना विशेष कर ऐसी स्थापना के लिए कुछ माकूल प्रमाण तो होना चाहिए हम इस प्रयास को किसी भी हालत में शोध की मनोवृत्ति से यु

नहीं मान सकते। क्या यह एक आकस्मिक बात है कि उधर से डा० धीरेन्द्र वर्मा उत्तर प्रदेश को वैदिक आर्यों का आदिस्थल प्रमाणित करना चाहते हैं और उधर से डा० त्रिवेद बिहार के सिर पर वही सेहरा बाँधना चाहते हैं या ये दोनों हमारे राष्ट्र-शरीर के किसी कठिन रोग का परिचय देते हैं ?

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : लेखक—त्रिभुवनसिंह; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस; पृष्ठ संख्या २४८; मूल्य ५) रुपये।

लेखक ने हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में जो स्थापनाएँ पेश की हैं, उनमें कोई नई बात न होने पर भी बहुत सी बातों को एक साथ लाकर रख देने के लिए लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। आधुनिक युग के सम्बन्ध में लेखक ने जिन नामों को गिनाया है और उनको जो महत्त्व दिया है, वह काफी सन्देह जनक है। इसे कोई पद्धतिगत अध्ययन नहीं माना जा सकता।

रूस का भविष्य : लेखक—एफ० बी० ज़ारनोमस्त्री; अनुवादक—देवीसिंह राणा; प्रकाशक—ज्योति प्रकाशन, गाज़ियाबाद; पृष्ठ सं० १४०; मूल्य १।) रुपया।

इस प्रकाशन द्वारा प्रकाशित रूस के विरुद्ध कई पुस्तकों की पहले आलोचना की जा चुकी है। इस पुस्तक को पढ़ने पर यही धारणा बनती है कि रूस में कोई भी प्रगति नहीं हो रही है। वहाँ के लोग निरन्तर डराए और दबाए जाते हैं, वहाँ विज्ञान की कोई उन्नति नहीं हुई है इत्यादि इत्यादि। यदि ये बातें सच हैं तो लेखक और अनुवादक को इतनी परेशानी क्यों उठानी पड़ी ? लेखक और अनुवादक ने दुनियाँ के अन्य पिछड़े हुए देशों पर इस तरह की पुस्तकें न लिखकर केवल रूस पर ही ऐसी पुस्तकें क्यों प्रचारित कीं ? अब तो यह सारा प्रचार किसी दृष्टि से भी अनावश्यक है और अर्थहीन मालूम होता है।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

पगडंडी और परछाइयाँ : लेखक—कुलभूषण; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ संख्या—१६०; मूल्य ३) रु० सजिल्द।

कुलभूषण हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री सुदर्शन के पुत्र हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि कथाकार पिता का पुत्र भी कथाकार हो और उतना ही सफल भी हो। परन्तु कुलभूषण इसके अपवाद हैं। उनका यह कहानी संग्रह इस बात का प्रमाण है। उनकी कला में प्रौढ़ता है और उनकी दृष्टि सुलझी हुई, व्यापक और उदार है। भाषा पर उन्हें काफ़ी अधिकार है। सबसे बड़ी बात यह है कि कुलभूषण जी कहानी कहना जानते हैं। उनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता है रोचकता। उनका शिल्प गठा हुआ है और अन्त तक पाठक को वह अपने साथ लिए चलता है। आज के लेखक की तरह न उन्हें किसी राजनीतिक सिद्धान्त से मोह है, न वे दार्शनिकता की दलदल में फंसते हैं। मनोविज्ञान भी उनके लिए कोई रहस्य नहीं है। संयम और संतुलन के साथ वे उतनी ही बात कहते हैं, जितने पर उनका अधिकार है। कहीं-कहीं भाषा के चिन्त्य प्रयोग अवश्य हैं। लेकिन उनकी शैली का विशेष गुण चित्रमयता है। इन चित्रों की रूपसज्जा मन को बरबस ही पकड़ लेती है। वातावरण और मनोभावों का चित्रण करने की उनकी शक्ति इस बात का विश्वास दिलाती है कि सब कहानियाँ एक जैसी प्रभावोत्पादक न होने पर भी उनका भविष्य उज्ज्वल है। क्योंकि उनका धरातल अधिकतर सामाजिक है। मानव मन को लक्ष्य करके उन्होंने उसके स्वप्नों को, उसकी कल्पनाओं को, उसके सुख-दुःख को बड़ी खूबी से पाठक के सामने प्रस्तुत किया है। वह ढँग इतना मनमोहक है कि 'चूल्हे चक्की की बात' जैसी साधारण कहानी भी पाठक को कहीं अटकाती नहीं। इसमें 'वर की खोज' जैसी कमजोर कहानियाँ भी हैं। फिर भी 'दिल्ली का धड़कता दिल' और 'खुली आँखें बँद आँखें' जैसी कहानियाँ अपनी चित्रमयता के कारण, 'कलाकार की हार' जैसी कहानियाँ मानवीय समवेदना के कारण पाठक को देर तक याद रहेंगी। कुलभूषण जी की कहानियों में एक बड़ी दुर्बलता यह है कि वे कहीं-कहीं बहुत अधिक संकेत से काम लेते हैं जैसे 'माँ से कहा था' अपनी सारी मार्मिकता से बावजूद एक अस्पष्ट और कमज़ोर कहानी है। 'खुली आँखें बँद आँखें' में भी कमोबेश यही कमज़ोरी है। इसके विपरीत 'बदला' कहानी इस रोचक ढँग से कही गई है कि वह एक दुर्बल मनुष्य को निराशा, प्रतिहिंसा और दिवा स्वप्नों का चित्र बन जाती है। इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'महान झूठ' है। आत्मोत्सर्ग, मानव समवेदना और अपनी सरलता के कारण वह बहुत ही मार्मिक बन गई है।

कुल मिला कर इन कहानियों को पढ़ कर मन पर एक अच्छी छाप पड़ती है। उनके कुछ पात्र जैसे मन में बस जाते हैं। हमें विश्वास है कुलभूषण जी की कला आगे चल कर और भी प्रौढ़ होगी। उनकी नई कहानियाँ पढ़कर हमारी यह धारणा और भी पुष्ट होती है।

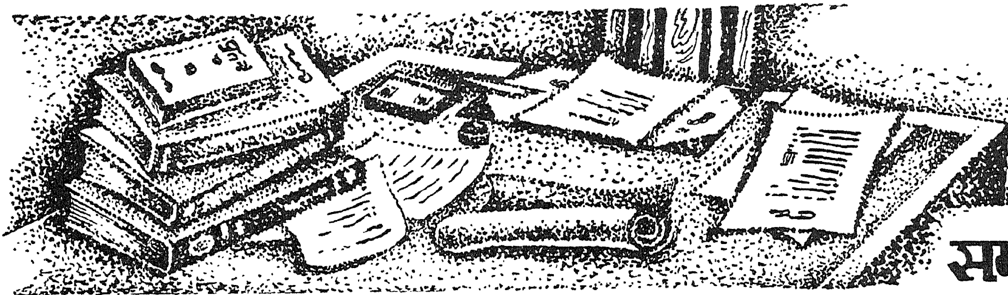
दिल की गहराई से : (दो भाग)

धूप और छाया (कहानी संग्रह)

लेखक—ज्योतिप्रसाद; प्रकाशक—काँति प्रभा प्रकाशन, डाल्टनगंज, (विहार); मूल्य क्रमशः १-६-०, १-६-० और १-१०-०।

'दिल की गहराई से' नामक कहानी संग्रह में लेखक ने ऐसी घटनाओं का संकलन किया है जिन्होंने उसके हृदय पर चोट की है। इन लघु कथाओं में अनुभूति और पकड़ है। सचमुच वे दिल की गहराई से निकली जान पड़ती हैं। इनमें कल्पना की उड़ान नहीं है, पर इनमें मानवता का वह गुण है जिनके सहारे आज का मनुष्य जी रहा है। लेखक की शैली में भावना का पुट है और संयम है। इस संग्रह की लघु कथाओं को पढ़कर मन पर जितना अच्छा प्रभाव पड़ता है 'धूप और छाया' की कहानियाँ उतनी ही निराशाजनक हैं। वे अस्पष्ट और नितान्त अधूरी जान पड़ती हैं। प्रायः सब कहानियाँ निराशा, मृत्यु, विषाद और मनुष्य के आत्म-हनन की कहानियाँ हैं। लघु कथाओं की अपनी एक कला होती है। बेशक उसमें शब्द बहुत थोड़े होते हैं लेकिन थोड़े ही शब्दों में वह इतना कुछ कह जाता है कि कभी-

(शेष पृष्ठ ७० पर)



सन् १९५७

इस वर्ष भारत के ऐतिहासिक स्वाधीनता संग्राम को १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। हमारे देश के इतिहास में सन् १८५७ का महत्त्व बहुत अधिक है। विशेषतः दो कारणों से। इस प्राचीन देश की प्राकृतिक समृद्धि और भौगोलिक अवस्थिति के कारण आदिकाल से इस देश पर बाह्य आक्रमण होते रहे हैं। इस पर भी भारत में अत्यन्त पुरातन काल से एक ऐसी प्रभावशाली संस्कृति और जीवन शैली का विकास कर लिया गया था कि आर्य, हूण, शक आदि सभी आक्रान्ता विजयी होकर भी बहुत शीघ्र पराजित बन गए। अर्थात वे बहुत शीघ्र पूर्णतः भारतीय बनते चले गए। जिस तरह नमक की कान में सभी कुछ नमक बन जाता है। इस प्रक्रिया में पहली बाधा मुस्लिम आक्रमणों से उपस्थित हुई। ये आक्रमण दसवीं सदी से प्रारम्भ हुए थे। इन मुस्लिम आक्रान्ताओं पर धर्मान्धता का इतना गहरा रंग था कि इस देश की उन्नत संस्कृति भी उन्हें बहुत कम प्रभावित कर पाई। भारतीय समाज व्यवस्था तथा जीवन में तब तक जो आन्तरिक विकार उत्पन्न हो गए थे, उनके कारण भी स्वभावतः भारतीय संस्कृति की प्रभावकारी शक्ति में आंशिक ह्रास आ गया था। परिणाम यह हुआ कि सदियों तक इस देश में एक विकट सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्ष जारी रहा। सौभाग्य की बात यह थी कि भारतीय संस्कृति की वह प्राण शक्ति जो बाह्य प्रभावों के श्रेष्ठ अंशों को स्वीकार कर लेती थी और क्रमशः उन्हें अपना ही अंग बना लेती थी—इस युग में भी विनष्ट नहीं हुई और धीरे-धीरे मुस्लिम आक्रान्ता भी भारतीय जीवन के अंग बनते चले गए। इस क्षेत्र में दिक्कत यह थी कि ये मुस्लिम आक्रमण विभिन्न कालों में विभिन्न देशों तथा विभिन्न दिशाओं से हुए। एक आक्रान्ता-शक्ति के प्रति समन्वय की प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई होती थी कि दूसरा और पहले की अपेक्षा भी अधिक व्यापक आक्रमण हो जाता था। परिणाम यह हुआ कि भारत के इतिहास में ११वीं सदी से लेकर १८वीं के अन्त तक (अकबर से शाहजहां तक के काल को छोड़कर) एक लम्बी सांस्कृतिक महारात्री (केऑस) जारी रही। १८वीं तथा १९वीं सदी में यूरोपियन देशों के आक्रमण से यह महारात्री जैसे और भी अधिक घनीभूत हो गई। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह लम्बा युग एक बहुत बड़ी भंवरगेरी के समान है।

पर सन् १८५७ इस शानदार तथ्य का प्रमाण बन कर आया कि उक्त लम्बे संघर्ष में भी अन्ततोगत्वा भारतीय संस्कृति की अटूट प्राणशक्ति विजयिनी सिद्ध हुई। स्वाधीनता के उस संग्राम में देश भर के हज़ारों हिन्दू और मुसलमानों ने स्वेच्छापूर्वक एक साथ अपना खून बहाया। सम्पूर्ण भारत में एक ही राष्ट्रीयता व्याप्त हो गई, भारतीय मुसलमान भी जिसका एक अविभाज्य अंग था। यह एकता एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम थी और यह समझना गलत होगा कि वह एकाएक १८५७ में उत्पन्न हो गई। पर १८५७ इस एकता का एक अमर प्रतीक है और इस दृष्टिकोण से उसका महत्त्व बहुत बड़ा है।

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में भारतीय राष्ट्रवादियों के प्रयत्न सफल नहीं हो पाए। तब तक हमारे देश में आन्तरिक विकार इतना अधिक बढ़ गया था भारतीयों की ही सहायता से अंग्रेज़ आक्रान्ता इस देश के स्वाधीनता संग्राम को कुचल देने में सफल हो गए। पर सन् १८५७ स्वाधीनता का जो आदर्श इस विशाल देश के सन्मुख छोड़ गया, वह एक अमर ज्योति की तरह आने वाली पीढ़ियों के नवयुवकों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा। यह सन् १८५७ का दूसरा महत्त्व है। परिणाम यह हुआ कि ९० वर्ष बाद, सन् १९४७ में भारत स्वाधीन हो गया।

इस वर्ष भारत की स्वाधीनता के १० वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। यह वर्ष आत्मचिन्तन और आत्मनिरीक्षण के साथ-साथ आत्मविश्वास का भी वर्ष है। हमें विश्वास है कि सन् १८५७ में पुनःप्राप्त भारतीय एकता और आत्मविश्वास की भावनाएँ राष्ट्रोन्नति के लम्बे सफ़र में हमारा मूल्यवान सम्बल सिद्ध होंगी।

●

यूनेस्को का दिल्ली अधिवेशन तथा बौद्ध सम्मेलन

दिल्ली का यूनेस्को अधिवेशन प्रत्येक दृष्टि से सफल रहा। यूनेस्को में सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी जिन प्रश्नों पर विचार विनिमय हुआ, वे संसार भर के देशों, विशेषतः संसार के पिछड़े हुए देशों के लिए महत्त्वपूर्ण थे। जो निश्चय किए गए, वे प्रायः सभी के सभी पूर्णमत से हुए। यूनेस्को के प्रायः सभी प्रतिनिधि इस दिल्ली अधिवेशन से पूर्णतः सन्तुष्ट हैं, यह तथ्य इस अधिवेशन की सफलता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है। नवम्बर के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के एकाएक गम्भीर हो जाने के कारण कितने ही प्रतिनिधि इस अधिवेशन में नहीं पहुँच पाए, इस बात का सभी को खेद रहा।

यूनेस्को के इस अधिवेशन से जहाँ दिल्ली का महत्त्व बढ़ा है, वहाँ दिल्ली को एक और स्थायी लाभ भी हुआ है। दिल्ली को अब एक ऐसा

शानदार भवन प्राप्त हो गया है, जिसमें संसार की अधिक से अधिक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के अधिवेशन बड़े आराम और पूर्ण सुविधा के साथ हो सकते हैं। इस 'विज्ञान भवन' के निर्माण का श्रेय भारत सरकार को है। यूनेस्को के डाइरेक्टर-जनरल के शब्दों में "यूनेस्को का अब का कोई भी अधिवेशन 'विज्ञान भवन' जैसे शानदार और सुविधापूर्ण भवन में नहीं हुआ था।" याद रहे कि यह यूनेस्को का ९वाँ अधिवेशन था।

यूनेस्को अधिवेशन के दिनों में विज्ञान भवन में बौद्ध सम्मेलन के रूप में जो बुद्ध-जयन्ती समारोह हुआ, वह सन् १९५६ के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बल्कि ऐतिहासिक समारोहों में है। इस अधिवेशन में बर्मा के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री यू नू का भाषण बौद्ध साहित्य और बौद्ध दर्शन की अत्यन्त प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या के रूप में स्थायी महत्त्व का भाषण था। अन्य भी कितने ही भाषण अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि के थे। भारत में बुद्ध-जयन्ती का यह चरम समारोह था।

दशमिक सिक्के

जनता की सुविधा के ख्याल से यह निश्चय किया गया है कि प्रथम अप्रैल १९५७ से देश में दशमिक सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ किया जाए। रुपया और पैसा भारत की मुद्रा से अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय अंग हैं, इससे उनके नाम नहीं बदले गए। एक रुपये में अब ६४ की अपेक्षा १०० पैसे होंगे, एक चवन्नी में २५ तथा अठन्नी में ५०। यद्यपि चवन्नी और अठन्नी के नाम बदल दिए गए हैं।

यह आवश्यक है कि मुद्रा को दशमिक बनाने के साथ ही साथ भार और माप को भी दशमिक बनाय जाए, क्योंकि मुद्रा का वास्तविक उपयोग उसकी क्रय शक्ति में है और क्रय की वस्तुएँ प्रायः या तो तोली जाती हैं और या मापी जाती हैं। अभी तक एक रुपये में १६ आने थे तो एक सेर में १६ छटाकें थीं और गज़ में १६ गिरह थे। अब यह अत्यन्त आवश्यक है तोल और माप भी दशमिक बना दिए जाएँ, तभी उसका वास्तविक लाभ होगा। यह निश्चय किया गया है कि मुद्रा को दशमिक बनाने के साथ ही साथ तोल और माप को दशमिक बनाने की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाएगा। इस कार्य के लिए जो समिति बनाई गई थी, उसने तोल और माप के सम्बन्ध में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

दशमिक पद्धति खरीद-फ़रोख़्त के हिसाब को अपेक्षाकृत बहुत सहल बना देगी, यह बात स्वीकार करते हुए भी कुछ क्षेत्रों में यह एतराज़ उठाया गया है कि इस कार्य को इतनी प्राथमिकता क्यों दी जा रही है। सभी क्षेत्रों में हमारा देश पुनर्निर्माण और नव-संगठन का आकांक्षी है। हमारे साधन सीमित हैं। अतः हमें सबसे पूर्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राथमिकताओं की ओर ही अपनी शक्ति और सीमित साधनों का उपयोग करना है। आलोचकों का कथन है कि नए सिक्के, नए तोल और नए माप बनाने तथा उनका भारत भर में प्रचार करने में करोड़ों रुपया व्यय आएगा। उक्त क्षेत्र का यह भी कथन है कि यह काम चौथी या पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के साथ भी किया जा सकता था। इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य कभी एकाँगी नहीं हुआ करता। राष्ट्रीय जीवन के जिन क्षेत्रों में हमें सुधार और परिवर्तन करने हैं, उनका प्रारम्भ अवश्य ही अभी से हो जाना चाहिए। इन परिवर्तनों और सुधारों में स्वभावतः कुछ समय लगेगा। दशमिक पद्धति भी देश भर में एकदम से जारी नहीं हो जाएगी। उसे व्यावहारिक रूप देने में कई वर्ष लगेंगे और इसी कारण प्रारम्भिक वर्षों में नए और पुराने दोनों सिक्के, दोनों तोल और दोनों माप जारी रहेंगे।

मेलबोर्न की विश्व ओलिम्पक प्रतियोगिता

८ दिसम्बर को मेलबोर्न में जिस विश्व ओलिम्पिक प्रतियोगिता की समाप्ति हुई, वह सदा के ओलिम्पिक खेलों के समान महत्त्वपूर्ण थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ओलिम्पिक प्रतियोगिताओं का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। ये प्रतियोगिताएँ न केवल मानव एकता का प्रतीक हैं, अपितु विश्व के नवयुवकों में पुराने रिकार्ड तोड़ने का असाधारण उत्साह भी भरती रहती हैं। आज से ३२ वर्ष पहले के रिकार्डों से आज के रिकार्डों की तुलना करने से एक विस्मयोत्पादक सन्तोष प्राप्त होता है। पर यह देख कर खेद भी होता है कि हमारा देश, केवल एक प्रतियोगिता को छोड़ कर, इस दृष्टिकोण से कितना पिछड़ा हुआ है। सच तो यह है कि हमारे देश का सर्वतोमुखी विकास अब पिछले १० वर्षों से ही प्रारम्भ हुआ है। संसार के उन्नत देशों का ओलिम्पिक जीवन जहाँ दो पीढ़ियों का है, वहाँ भारत का ओलिम्पिक जीवन, सही अर्थों में, १० हो वर्षों का है। आशा है, हमारा देश भी यथाशीघ्र ओलिम्पिक प्रतियोगिताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकेगा। इस वर्ष का परिणाम इस प्रकार है:—

देश	अंक	पदक स्वर्ण	रजत	कांस्य
रूस	६२२·५	३७	२९	३२
अमेरिका	४९७	३२	२५	१७
आस्ट्रेलिया	२३९·५	१३	८	१४
जर्मनी	२०६·५	६	१३	७
हंगरी	१९३	९	१०	७
इंग्लैण्ड	१६३·५	६	७	११
इटली	१६१	८	८	९
स्वीडन	१४०	८	५	६
जापान	१२७	४	१०	५
फ्रान्स	१०८·५	४	४	६
रूमानिया	९३·५	५	३	५
फिनलैण्ड	८९·५	३	१	११
पोलैण्ड	७१·५	१	४	४
चेकोस्लोवाकिया	६८·५	१	४	१
टर्की	५२	३	२	२
कैनाडा	४६	२	१	३
ईरान	४२	२	२	१

बल्गेरिया	३५·२	१	३	१
डैन्मार्क	२६	१	२	१
आयरलैण्ड	२५·५	१	१	३
दक्षिण अफ्रीका	२४	०	०	४
यूगोस्लाविया	२२	०	३	०
कोरिया	२२	०	१	१
न्यूज़ीलैण्ड	२०	२	०	०
अर्जनटीना	१८·५	०	१	१
नार्वे	१८	१	०	१
चिली	१७	०	२	२
मैक्सिको	१४	१	०	१
आस्ट्रिया	१२	०	०	२
बेल्जियम	११	०	२	०
भारत	१०	१	०	०
ब्राज़ील	६	१	०	०
ट्रीनीडाड	६	०	०	०
आइसलैण्ड	५	०	१	०
स्विटज़रलैण्ड	५	०	०	१
उरुगुए	५	०	०	१
पाकिस्तान	५	०	१	०
ग्रीस	४	०	०	१
बोहामा	४	०	०	१

इनके अतिरिक्त पुर्तगाल, नाइजीरिया, क्यूबा, मलाया और स्पेन को क्रमशः ३, २, १, १, १ अंक प्राप्त हुए, पर कोई पदक नहीं मिला। स्मरण रहे कि ओलिम्पिक प्रतियोगिताओं में प्रत्येक प्रतियोगिता के प्रथम विजेता को एक स्वर्ण पदक तथा ७ अंक, द्वितीय विजेता को एक रजत पदक तथा ५ अंक, तृतीय विजेता को एक काँस्य पदक तथा ४ अंक, चतुर्थ को ३ अंक, पंचम में २ अंक तथा षष्ठ को १ अंक दिए जाते हैं।

लेखकों से निवेदन

१. यह निश्चय किया गया है कि अनाहूत रचनाओं की वापसी का उत्तरदायित्व "आजकल" कार्यालय नहीं लेगा। केवल वे रचनाएँ ही वापस की जाएँगी, जिनके साथ उचित आकार का, आवश्यक डाक टिकटों से युक्त पूरा पता निर्दिष्ट किया हुआ लिफ़ाफ़ा विद्यमान होगा। उस दशा में भी "आजकल" कार्यालय केवल उक्त लिफ़ाफे को डाक में डालने का उत्तरदायित्व ही लेगा, पहुँच के लिए वह उत्तरदायी नहीं होगा। "आजकल" कार्यालय में प्रतिमास अनाहूत रूप से प्राप्त होने वाली रचनाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है, इसी कारण उक्त निश्चय किया गया है। उचित यही होगा कि रचना भेजने से पूर्व उसको एक प्रति अपने पास सुरक्षित कर ली जाए।

२. अनुवादित रचनाएँ भेजते हुए मूल लेखक की लिखित अनुमति साथ भेजना आवश्यक है।

पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ६७ का शेषांश)

कभी वह एक वृहद् उपन्यास में भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन 'धूप और छाया' की कहानियों में वह बात नहीं है। फिर भी लेखक में वह चिनगारी मौजूद है जो उसे एक सफल लेखक बना सकती है। उसे कुछ और गहरे में पैठना चाहिए।

मखमली जूती : लेखक—मोहन लाल गुप्त एम० ए०; प्रकाशक—प्रकाश गृह बनारस; मूल्य १॥) रु०।

इस संग्रह में हास्य रस की १५ कहानियाँ संकलित हैं। प्रकाशक का दावा है कि वे शिष्ट हास्य की सरस कहानियाँ हैं। लेकिन कुछ कहानियों को छोड़ कर वे हिन्दी की पुरानी परिपाटी से अलग नहीं हैं। बेचारी नारी को पत्नी, साली किसी रूप में अपना लक्ष्य बनाकर लेखक ने आज के समझदार पाठक को हँसाने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं तो वह इतना अश्लील हो उठा है कि दुःख होता है। "मुंशी जी का बेटा जीए" जैसी सफल कहानी, पृष्ठ २५ की ऐसी ही कुछ पंक्तियों के कारण फूहड़ बन गई है। इसी तरह "श्रीमती जी ने कुत्ता पाला" कहानी में पृष्ठ ३६-३७ पर से ३-४ लाइनें निकाल देने से भी काम चल सकता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि लेखक की कला में अभी प्रौढ़ता नहीं आई, नहीं तो मात्र संकेत से भी वह वही प्रभाव पैदा कर सकता था जो अपेक्षित था। "अछूत कन्या" जैसी कहानी तो इस संग्रह में आनी ही नहीं चाहिए थी। लेकिन यह सब कहने के बावजूद यह मानना पड़ता है कि लेखक कहानी कहना जानता है। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ वस्तुतः उसके उज्ज्वल भविष्य की द्योतक हैं। "आर्य समाजी ससुर" इसका प्रमाण है। इसमें लेखक ने न शब्दों से खिलवाड़ की है, न नग्नता का सहारा लिया है बल्कि ऐसा वातावरण और ऐसी स्थितियों की सृष्टि की है जो बरबस ही हमारे मन को खिला देती है। यों अपनी आदत से मजबूर होने के कारण एक-दो शब्द तो उसने प्रयोग कर ही दिए हैं। इसी प्रकार "श्रीमती जी ने नौकर रखा" कहानी के बारे में भी यही कहा जा सकता है। "इस्तीफ़ा" जैसी कुछ कहानियाँ इस परिधि से बाहर भी हो जाती हैं।

हमें विश्वास है यदि लेखक इस बात का ध्यान रखे कि नारी को लेकर हँसी पैदा करने का युग अब बीत गया है और हिन्दी को दूसरी भाषाओं के शिष्ट हास्य से लोहा लेना है, तो वह सचमुच ही अच्छी कहानियों की सृष्टि कर सकता है।

—विष्णु प्रभाकर

नवनीत (दीपावली विशेषांक) : सम्पादक—रतनलाल जोशी; पृष्ठ संख्या—२३० (जिनमें ६० पृष्ठ विज्ञापन हैं); पता—३४१ तारदेव, बम्बई-७; वार्षिक मूल्य १०) रु०।

'नवनीत' हिन्दी के सुसम्पादित तथा सुप्रकाशित मासिक पत्रों में

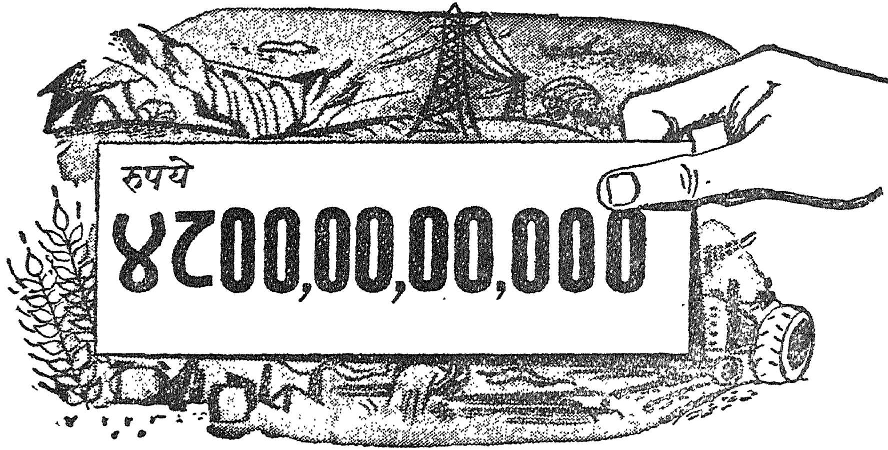
है। 'लिटरेरी डाइजैस्ट' के ढंग का पत्र प्रकाशित करना 'नवनीत' के प्रकाशनों का ध्येय है। नए व पुराने विभिन्न प्रकाशनों तथा भारतीय तथा विदेशी स्रोतों से प्राप्त सामग्री के आधार पर 'नवनीत' के प्रत्येक अंक में ३० से लेकर ४० संक्षिप्त रचनाएँ दी जाती हैं। सब मिला कर खासी ज्ञानवर्धक और मनोरंजक सामग्री देने का प्रयत्न किया जाता है। यह विशेषांक और भी अधिक श्रेष्ठ कोटि का है। पर हम 'नवनीत' के सम्पादक और प्रकाशकों से यह अनुरोध करेंगे कि प्रत्येक प्रकाशित लेख का स्रोत वह अवश्य दिया करें, ताकि पाठक यदि चाहें तो मूल लेखक की पूर्ण रचना भी पढ़ सकें। यही बात चित्रों के सम्बन्ध में भी है, क्योंकि 'नवनीत' में अधिकांश चित्र बहुत छोटे आकार में छापे जाते हैं।

सुप्रभात : सम्पादक—पृथ्वीनाथ शास्त्री; पृष्ठ संख्या—१२६; पता—१७६ मुक्ताराव बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता-७; वार्षिक मूल्य ८); एक अंक १२ आना।

'सुप्रभात' का दिसम्बर, ५६ का अंक हमारे सम्मुख है। इस अंक में ५ कहानियाँ, १ एकांकी, ७ कविताएँ, १ संस्मरण, १ भावनाट्य, ३ उद्धरण और १६ लेख हैं। विविध विषय सम्पन्न यह मासिक पत्र योग्य सम्पादक तथा श्रेष्ठ प्रकाशन का उदाहरण है। हम 'सुप्रभात' की मंगल कामना करते हैं।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

प्रगति के लिए आयोजन



आगामी पांच वर्षों में (१९५६-६१) नवभारत-निर्माण के इस महाप्रयास में खर्च किये जायेंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के २,३५६ करोड़ रुपयों के व्यय से यह राशि दुगुने से भी अधिक है।

प्रथम योजना की प्राथमिकताएं :

(१) कृषि (२) सिंचाई व विद्युत-शक्ति (३) सामाजिक सेवाएं।

द्वितीय योजना में :

(१) उद्योग— विशेषत: भारी उद्योग (२) परिवहन तथा संचार (३) बढ़ी हुई सामाजिक सेवाएं इन पर विशेष बल दिया गया है।

व्यय का बंटवारा (करोड़ रुपयों में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना
कृषि और सामूहिक विकास	३५७	५६८
सिंचाई और विद्युत शक्ति	६६१	९१३
उद्योग और खनिज	१७९	८९०
परिवहन और संचार	५५७	१,३८५
सामाजिक सेवाएं, आवास और पुनर्वास	५३३	९४५
विविध	६९	९९
	२,३५६	४,८००



'आखिर तो आयोजन प्रत्यक्षकार्य ही है; आयोजन ही श्रम है संगठित और सुयोजित।

देश के साधन और सम्पत्ति का उपयोग खासकर इन्सानों में मौजूद ताक़त का उपयोग, उन्हीं के लाभ और अधिक से अधिक कल्याण के लिए होना चाहिए।'

"जवाहरलाल नेहरू"

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

राष्ट्र की समृद्धि के लिए

DA-56/101

Edited and Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

Regd. No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित

फरवरी १९५७ आठ आना



उपयोगी प्रकाशन

	मूल्य	डाक व्यय
भारत १९५६	४—८—०	१— २—०
नौवाँ वर्ष (छप रहा है)	१—८—०	०— ८—०
स्वाधीनता और उसके बाद		
जवाहरलाल नेहरू के भाषण (१९४६ से १९४९)	५—०—०	१—१०—०
भारत की एकता का निर्माण	५—०—०	१— ८—०
शान्ति तथा सद्भावना की ओर	०—८—०	०— २—०
एशिया-अफ्रीका सम्मेलन	०—४—०	०— २—०
समाज और संस्कृति	०—८—०	०— २—०
मद्यनिषेध प्रश्नोत्तर	०—२—०	०— १—०
जवाहरलाल नेहरू के भाषण		
(भाग १, भाग २ व भाग ३)—प्रत्येक	०—१—०	०— १—०

दस रुपये या इससे अधिक के आर्डर पर डाक व्यय नहीं लिया जायेगा। पोस्टल आर्डर द्वारा रुपया प्राप्त होने पर सुविधा रहती है।



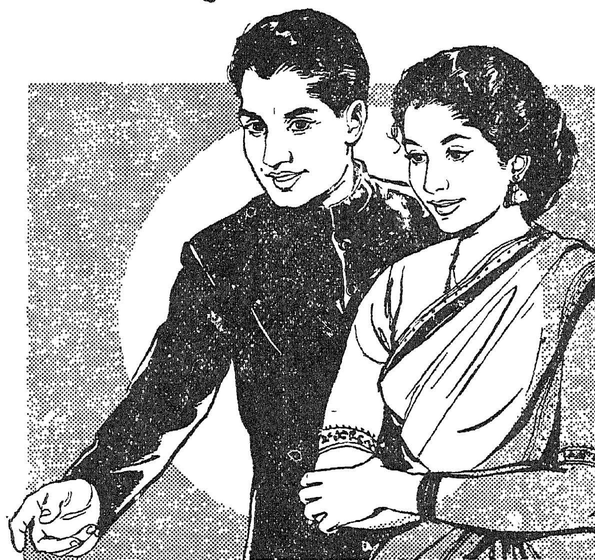
सभी प्रमुख पुस्तक विक्रेताओं से प्राप्त करें या सीधा लिखें

बिज़िनेस मैनेजर

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८

बिलकुल नये जैसे !



ये टाटा के ५०१ स्पेशल

से धोये गये हैं



अपने खास कपड़े **टाटा के** ५०१ स्पेशल साबुन से धोइए — वे बिलकुल नये जैसे बने रहेंगे। इस शुद्ध व सौम्य साबुन से कपड़ों को कोई नुक़सान नहीं पहुँचता और आपको बहुत ही किफ़ायत भी रहती है !

१००% भारतीय : पूँजी : प्रबन्ध : श्रम

● स्त्रियों के लिये

फैशन का महत्त्व



देश के सर्वोत्कृष्ट शिल्पी हाथकरघे के वस्त्रों का डिजाइन बनाते हैं और उत्तमोत्तम बुनकर इन वस्त्रों को बुनते हैं। यही कारण है कि हाथकरघे के वस्त्रों का डिजाइन, छपाई और बुनाई आधुनिक और परंपरागत कलात्मकता के उच्चतम स्टेंडर्ड की होती है। हाथकरघे की बनी साड़ियां हों, खण हों या अन्य कोई वस्त्र हो इन्हें खरीद कर आप को कभी पश्चाताप नहीं होगा। हर व्यक्ति की सुविधानुसार ही इन वस्त्रों के दाम होते हैं।



हाथ करघे के

वस्त्र

फैशन में नंबर एक, रंग, बुनाई और डिजाइन में सर्वोत्कृष्ट

आल इण्डिया हैंडलूम बोर्ड, मद्रास, बम्बई, कानपुर

DA56/136

महान प्रगति

द्वितीय योजना में मुख्य जोर औद्योगीकरण की रफ्तार तेज करने पर दिया गया है। जन साधारण को वस्तुएं और अन्य सेवाएं सरलता से प्राप्त करा देने के लिए परिवहन और संचार की सुविधाओं का पर्याप्त होना भी जरूरी है, अतः दूसरी योजना में इन को महत्त्व दिया गया है। उत्पादन और वितरण दूसरी योजना के मुख्य उद्देश्य हैं और योजना पर होने वाले व्यय में लगभग आधा व्यय इन दो मदों पर होगा।

हर एक वस्तु की विपुलता

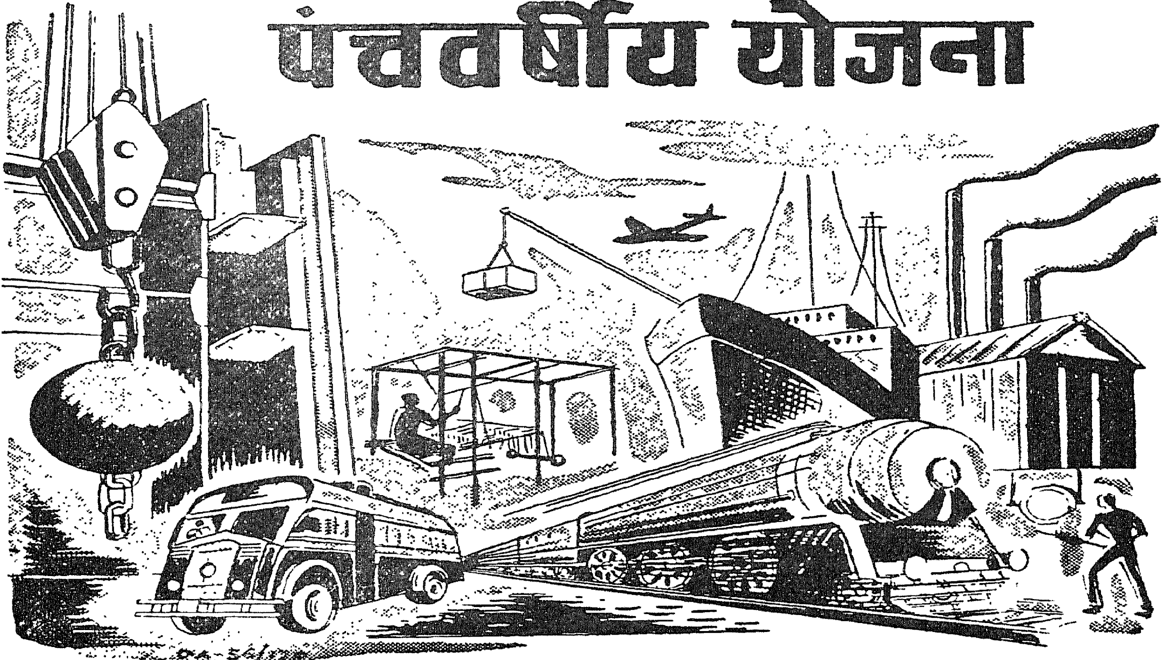
भारी तथा मशीन बनाने वाले उद्योगों के विकास से उत्पादन की गति तेज होगी और हमारी समृद्ध खनिज संपत्ति का भी उपयोग किया जाएगा। उद्योग तथा खनिजों के विकास के लिए ८९० करोड़ रुपयों की राशि (कुल व्यय का १९ प्रतिशत) स्वीकृत की गई है। इस में ग्राम और लघु उद्योग भी शामिल हैं। दूसरी योजना का इन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है—अधिक रोजगारों का निर्माण। अनुमान है कि लगभग ८० लाख लोगों को रोजगार मिलेगा जिस में कृषि क्षेत्र सम्मिलित नहीं है।

समृद्धि के मार्ग पर

जैसे जैसे उद्योगों का विकास होगा वैसे वैसे वस्तुओं और सेवाओं का वितरण भी शीघ्र होगा। द्वितीय योजना के कुल व्यय के २९ प्रतिशत यानी १,३८५ करोड़ रुपयों की राशि परिवहन और संचार सुविधाओं के विकास पर खर्च होगी। इस में रेलवे, नई सड़कें, अधिक स्थल परिवहन और पर्यटक-सुविधाएं, जहाजरानी, हवाई सेवा, प्रसार, डाक और तार विभाग आदि विषय सम्मिलित है।

राष्ट्र की समृद्धि के लिए

द्वितीय





आओ बहन भरलो पानी!

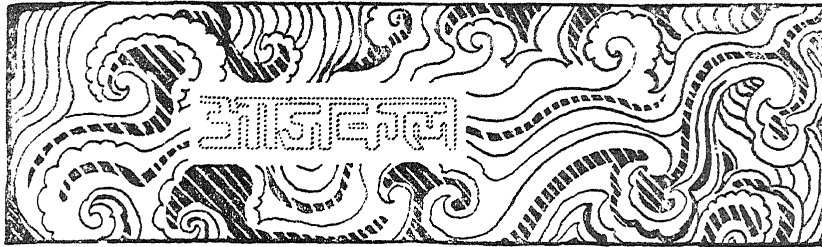
पानी पर हमारा जीवन निर्भर है, पानी ही हमारे शरीर का स्वच्छ करता है, हमारी प्यास बुझाता है। भगवान की यह देन हम सभी के लिए है।

आइये, बंधुत्व की श्रेष्ठ भावना से हम हृदय ओतप्रोत करलें। हम अपने भाई-बहिनों की तरह हरिजनों को भी प्यार से गले लगाएं।

> हिंदू शास्त्रों में अस्पृश्यता नाम की कोई चीज ही नहीं है:—
> महात्मा गांधी।

"छूतछात को छोड़ो, दिल को दिल से जोड़ो"

DA56/171

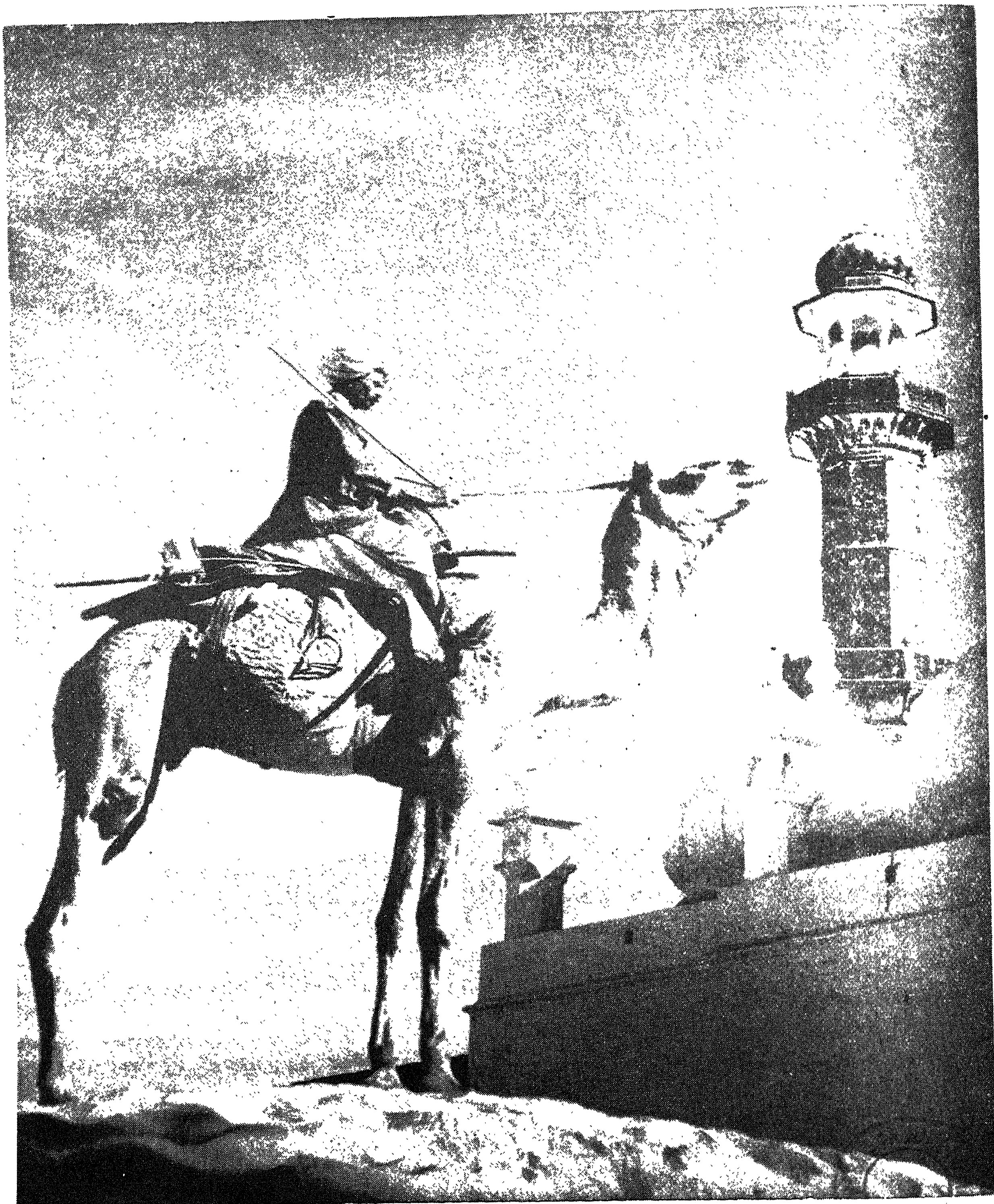


वर्ष १२ अंक १० पूर्णांक १५२

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८



वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, एक सेंट या नौ पेंस



"राजस्थान का यात्री" फोटो : ए० एल० सैयद



वर्ष १२ फरवरी १९५७ अंक १०

बंगला कविता

पुजारिणी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बिंबिसार नृप लाए
माँग बुद्ध से उनकी पदनख
कणि का शीश झुकाए।
निर्जन महलबाग में उस पर
रचा शिलामय स्तूप मनोहर
शिल्प-कला में अनुपम सुन्दर
तन मन नैन जुड़ाए।
साँझ हुए पट पावन पहने,
राजवधू नृप बाला।
फूल भरी डाली से आतीं।
थाल सजा सोने का लातीं
स्तूप तले नित आप जलातीं
कनक दीप की माला।
राजा हुआ अजातशत्रु जब
बैठा सिंहासन पर।
धर्म पिता का उसके था जो
उसे लहू की धार दिया धो
सौंपा यज्ञ-अनल ज्वाला को।
बौद्ध ग्रंथ का आकर।
बुलवा कहा अजातशत्रु ने
"सुनो राजपुर नारी।
छोड़ वेद ब्राह्मण राजा को
कुछ भी नहीं यहाँ पूजा को,
सार बात यह मन में रक्खो–
भूले विपदा भारी।"
उस दिन शरद दिवा शेष पर
श्रीमती नाम की दासी।
जल में शीतल स्वच्छ नहा कर
फूल दीप का थाल उठा कर
रानी-पद में दृष्टि झुका कर
आकर रुकी सुहासी।
सिहर कहा डर से रानी ने
"याद नहीं है तुमको।
किया अजातशत्रु ने वर्जित
करे अर्घ्य जो उस पर अर्पित
शूली पर मरना है निश्चित
अथवा निर्वासित हो।"
लौट वधू अमिता के घर वह
गई वहाँ से मंथर।
रख सम्मुख सोने का दर्पण
बाँध रही थी चिकुर, एकमन,
कर सिंदूर-रेख का अंकन
माँग रही थी वह भर।
देख श्रीमती को, काँपा कर
बिगड़ गई वह रेखा।
कहा—"अबोध कौन साहस से
चली अर्घ्य पूजा का लेके
लौट, कहीं कोई जो देखे
होगा विपद अदेखा।"
अस्तंगत रवि-रश्मि जोत में
वातायन से सट कर।
बैठ कुमारी शुक्ला संयत
काव्य-कहानी पढ़ने में रत
सुन पग पायल की धुन आगत
झाँक पड़ी झट बाहर।
उसको देख पटक कर पोथी
पास गई बह भागी।
कानों कान कहा चुपचाप जा,
किसे न ज्ञात हुकुम राजा का,
दौड़ मौत के मुँह में यों क्या
जाना भला अभागी।
द्वार-द्वार वह फिरी भटकती
लिये अर्घ्य की थाली
कहा पुकार "सुनो पुरवासिन,
प्रभु की पूजा का पहुँचा दिन"
कुछ भयभीत रहीं उत्तर बिन
बहुतों ने दी गाली।
दिन का शेष प्रकाश खो गया
पुर के सौध शिखर पर।
गुमा तिमिर में जनविहीन मग
हो आया कोलाहल नीरव
गूँजा आरति का घंटा रव
देवालय के भीतर।
शारद निशि के घुले तिमिर में
जलते अनगिन तारे।
बजी सिंहदरवाज़े भेरी,

सांध्य तान वंदी ने टेरी,
उठी मंत्रणा सभा, न देरी,
प्रहरी सजग पुकारे ।
सहसा चौंका देख महल के
पहरेदारों का दल ।
राजा के निर्जन कानन में

स्तूप तले उस तिमिर गहन में
कैसे जैसे पंक्ति सघन में
दीप उठे हैं जल-जल ।
ले कृपाण आ पहुँचा प्रहरी
अद्भुत वेष विनाशी ।
पूछा, "कौन कुमति की मारी,

मरने को आरति सँवारी ।"
सुना, "श्रीमती मैं दुखियारी,
बुद्ध देव की दासी ।"
हुआ शुभ्र पाषाण फलक
उस दिन लोहू से रक्तिम ।
शारद स्वच्छ निशा के मन में

महल बाग नीरव निर्जन में
स्तूप तले सहसा ही च्रण में
बुझी आरती अंतिम ।

—'कथा ओ काहिनी' से

—अनुवादक : हंसकुमार तिवारी

तेलुगु कविता

मानव

गुरजाडु अप्पाराव

मानव निर्मित प्रतिमा में लग्न
महिमा तुम हो शीश नवाते,
लेकिन शिल्पी मानव को क्यों
पत्थर से भी तुच्छ समझते ?

ढूँढ़ रहे हो कहाँ कहाँ औ'
छान रहे वन-गुहा-पहाड़ी,
ईश छिपा है कहीं जगत का
भरम नहीं है यह क्या भारी ?

खोलोगे जब नयन ज़रा लो
देखोगे भगवान यहीं है,
मानव के ही भीतर क्या रे
रमा हुआ भगवान नहीं है ?

सच्चाई को समझो तुम अब—
वही मुक्ति का भी दाता है,
पावन प्रेम तुम्हारा पाकर
द्रवित तुरत वह हो जाता है ।

—रूपान्तरकार : 'भारती भक्त'

गुजराती कविता

भोमिया विना*

उमाशंकर जोशी

चाह रहा था बिनपथ-दर्शक गिरि-मालाएँ घूमूँ,
चाह रहा था वन-उपवन की कुंज-कुंज को झूमूँ ।
यही चाहना थी मैं देखूँ गिरि-गह्वर का कोना-कोना,
आँख पोंछ कर रोकूँ एकाकी निर्झर का रोना ?

अभिलाषा थी एकाकी सरवर के स्वर्ण किनारों पर,
गिन डालूँ हंसों की पाँती जी भर-भर ।
नीड़ झूलता कोकिल का, किसी डाल पर लख पाऊँ,
इच्छा थी उस पर अन्तर की कसक मिटाने पाऊँ ।

एकाकी अंबर के नीचे मैं एकाकी छाया,
अपने ही अन्तर की ध्वनि में आप झेलने आया ।
किन्तु हृदय के स्वर बिखरे सब फैले अंबर में,
मैं एकाकी तेज-हीन यह भाव उठा अन्तर में ।

मुझे घूमना जीवन भर पर्वत-प्रदेश यह सारा,
मुझे देखना कुंज-कुंज का दृष्य मनोहर प्यारा ।
पथ-दर्शक भी पथ भूले मैं ऐसी गुह में पहुँचूँ,
और, जरा-सा अन्तर की आखों को पोंछूँ ।

अनुवादक : अरविन्द जोशी 'पुष्प'

* बिन पथ-दर्शक

हिन्दी निबन्ध

गुलाबराय

यह निर्विवाद सत्य है कि संसार के प्राचीनतम लिखित साहित्य का अधिकांश पद्य में ही उपलब्ध है। किन्तु प्राचीन वाङ्मय में गद्य विधाओं का अपेक्षाकृत अभाव यह प्रमाणित नहीं करता कि उस समय गद्य का अस्तित्व ही न था। यह केवल यह सिद्ध करता है कि जो कुछ शाश्वत, संग्रहणीय था उसे पद्य की स्वर्ण मंजूषा में सुरक्षित कर दिया जाता था। गद्य दैनिक जीवन-व्यापार का माध्यम था किन्तु आज पद्य नवीन युग की सर्वतोमुखी प्रगति के थपेड़ों से पराजित है। यहाँ तक कि काव्य भी पद्य की रूढ़ कारा से मुक्त होकर गद्य के उन्मुक्त क्षेत्र में रहना चाहता है। फलतः गद्य गीत आदि नवीन से नवीनतर गद्य विधाओं का जन्म हो रहा है।

प्रारम्भ में गद्य बोलचाल तथा दैनिक व्यवहार की भाषा थी। इसका प्रमाण यह है कि 'गद्य' शब्द 'गद्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है बोलना या कहना।

इस युग में गद्य की अनेक विधाओं का जन्म और पोषण होना स्वाभाविक है। वस्तुगतता और व्यक्तिगत की न्यूनाधिकता के आधार पर गद्य विधाओं का वर्गीकरण किया जाता है। यदि व्यक्तिगतता का प्राधान्य हुआ तो काव्य का, (गद्यगीत) या चित्रण कला (रेखाचित्र) का संस्पर्श होने से गद्य में कलात्मकता आ जाती है। विचार प्रधान या शुद्ध ज्ञान विज्ञान का शुष्क निरूपण करने वाली विधाएँ कला की कोटि में नहीं आतीं। निबन्ध इन दोनों के बीच की कड़ी है। निबन्ध में लेखक के समग्र व्यक्तित्व का सार या 'सत्' शैली का निर्माण करता है। यह निजीपन निबन्ध में एक कलात्मक रमणीयता उत्पन्न कर देता है। शैली के सुरम्य तटों के बीच प्रवाहित विचार-धारा पाठक की बौद्धिक उत्कंठा का तोष करती है। निबन्ध एक कला है जिसमें आनन्द और उपयोगिता का समन्वय हो जाता है। निबन्ध की लोक-प्रियता का यही रहस्य है।

इसकी लोक-प्रियता के सम्बन्ध में एक और भी बात कही जा सकती है। साहित्य की अन्य विधाओं में गद्य माध्यम के रूप में रहता है: उनमें शैली का इतना महत्व नहीं होता: शैली वहाँ आधार बन कर नहीं सहायक एवं माध्यम के रूप में रहती है। निबन्ध में गद्य अपने निजी रूप में प्रतिष्ठित रहता है: शैली उसका आधार बन कर आती है। शैली का आधार लेखक का निजी व्यक्तित्व होता है जहाँ से अनेक मुख्य स्रोत फूट कर निबन्ध को सिक्त करते रहते हैं। अन्य गद्य रूपों (उपन्यास, कहानी आदि) में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है। व्यक्तित्व का यह उभार निबन्ध को आकर्षक और रोचक बना देता है।

किसी वस्तु की परिभाषा देना अत्यन्त दुष्कर है। उसके एक ओर अतिव्याप्ति और दूसरी ओर अव्याप्ति मुँह बाए खड़ी रहती हैं। इस स्थिति में उसकी व्याख्या करके एक काम चलाऊ परिभाषा बना लेना सुविधाजनक रहता है। निबन्ध गद्य की एक कलात्मक विधा है। इसमें मनुष्य-मस्तिष्क की दो प्रमुख शक्तियाँ, कल्पना और तर्क परस्पर सक्रिय सहयोग रखती हैं। पद्यात्मक विधाओं में जो स्थान गीत का है वही गद्य के क्षेत्र में निबन्ध का है। दोनों ही स्वतः पूर्ण रचनाएँ होती हैं: लघु आकार दोनों में ही अपेक्षित है पर गद्यात्मक होने से निबन्ध का आकार कुछ बढ़ भी जाता है। सीमित आकार में आन्तरिक आवेश के उग्र तूफ़ान को बाँधना गीतकार का कार्य है तथा वस्तु के समस्त बोध-परक तथा कल्पना से स्फीत रूपों को सीमित शब्दों में स्पष्टता और सजीवता से अभिव्यक्त करना निबन्ध का धर्म है। दोनों ही व्यक्ति-वादी युग की उपज हैं। केवल अन्तर यह है: गीत में स्वतः स्फूर्ति अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इन तत्वों को ध्यान में रखकर निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं: निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वतः पूर्णता, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता, आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है भली भाँति कसी हुई या सुगठित रचना। सुगठन का सम्बन्ध बुद्धि तत्व से है: संगति एवं तर्क बुद्धि की माँग हैं। विचारों का गठन और सुश्रृंखलता निबन्धों को संतुलित तथा सीमित आकार देते हैं। अंग्रेजी शब्द 'ऐस्से' का अर्थ है प्रयास। सुगठन तथा 'मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन' (a loose rally of the mind) इन दोनों सिद्धान्तों में बहुत अन्तर है। शिथिल व्यक्तित्व का प्रकाशन शैलीगत शिथिलता बन जाएगा और निबन्ध अनुरंजनकारी नहीं हो सकेगा। अब पाश्चात्य आदर्श भी संगठन की ओर अधिक झुकते जाते हैं। निबन्ध में बौद्धिकता की अवहेलना नहीं की जा सकती किन्तु वह बौद्धिकता स्निग्ध होती है। यदि विचारों के जोड़ों पर दर्ज हों तो लेखक के व्यक्तित्व के हल्के और विनोदपूर्ण तत्व उनमें सीमेंट की भाँति समा जाने चाहिएँ। निबन्ध के इस सुगठित सीमित आकार में बिहारी की पतली पर भरी सी देह वाली नायिका की पूर्णता रहनी चाहिए:

'खरी पातरी हू लगति भरी सी देह।'

मोटे तौर से निबन्धों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है:

वर्णात्मक निबन्ध:

इनमें किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य आदि का वर्णन रहता है। वर्णन में प्रायः वर्ण्य विषय की स्थिरता द्योतित रहती है। अतः ये निबन्ध 'देश' तत्व से सम्बन्धित हैं। इनमें चित्रात्मकता आवश्यक है। चित्र भी नपा तुला और आकर्षक हो। बात इस प्रकार कही

जाय कि पूर्ण लगे। निरीक्षण को रोचक रूप में सजाने का कार्य कल्पना का है। यथार्थ की झलक साधारणीकरण के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। इससे पाठक में भी अनुभूति-साम्य का उद्रेक होता है। रेखाचित्र भी, यदि उनको एक स्वतन्त्र विधान माना जाए, इसी कोटि के निबन्धों में आएँगे।

विवरणात्मक :

विवरणात्मक निबन्धों का सम्बन्ध गतिवान अतीत या वर्तमान की घटनाओं से रहता है। अतः ये 'काल' तत्व से सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार फिल्म की तस्वीरें द्रुत गति से दौड़ कर स्थिर चित्रों का एक गतिशील क्रम उपस्थित कर देती हैं उसी प्रकार विवरणात्मक निबन्ध में लेखक को दृश्यों का आयोजन कुछ इस प्रकार करना होता है कि गतिमयता आ जाए। इन निबन्धों में किसी सभा, यात्रा अथवा घटना या प्रगति का विवरण आता है। कथात्मक निबन्ध, संस्मरण, यात्रा सम्बन्धी निबन्ध प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं।

विचारात्मक :

स्वभावतः इनमें बुद्धितत्व प्रधान रहता है। इनमें आलोचनात्मक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक विषयों पर लिखे निबन्ध आ जाते हैं। आलोचना किसी रचना की होती है अथवा साहित्य सिद्धान्तों की विवेचना की जाती है। इस प्रकार के निबन्धों में कल्पना का कार्य केवल विचार कड़ियों की सक्रम व्यवस्था करना रहता है। बुद्धि पथ पर बढ़ते हुए कुछ हृदयाभिराम दृश्य भी मिलते हैं, जिनका अस्तित्व शुक्ल जी ने भी 'चिन्तामणि' (प्रथम भाग) की भूमिका में स्वीकार किया है। यदि लेखक उनका यथोचित उपयोग कर लें तो प्रस्तर खंडों की संधियों में उगा घास की भाँति अपने निबन्धों में कोमलता और सरसता उत्पन्न कर सकते हैं।

भावात्मक :

ऐसे निबन्धों के तत्व हृदय में पोषित और संस्कृत होते हैं। इस कोटि में भावात्मक वर्णन, विवरण वाले निबन्ध और गद्य गीत आते हैं। ऐसे निबन्धों में मूर्त्तता कम और सूक्ष्म भाव रेखाओं की झिल मिल अधिक रहती है। भाषा अलंकृत, गतिमय और प्रभावोत्पादक हो जाती है।

उक्त वर्गीकरण में कुछ विद्वान कथात्मक निबन्धों का एक वर्ग और जोड़ते हैं। इनमें एक लघु कथानक तो रहता है पर उसका विकास कहानी की भाँति नहीं होता। कथानक के क्रम संयोजन में कोई विशिष्ट अभिप्राय निहित रहता है।

हिन्दी निबन्ध विकास की पृष्ठभूमि :

हिन्दी की प्रायः सभी पद्य तथा अधिकांश गद्य विधाओं को संस्कृत की सम्पन्न परम्परा का बल मिलता रहा। पर निबन्ध संस्कृत साहित्य में एक स्वतंत्र विधा के रूप में नहीं था। छोटी गद्य पुस्तकों को ही निबन्ध कह सकते हैं। अतः हिन्दी निबन्ध इस परम्परा की शक्ति से वंचित रहा। हिन्दी को इस क्षेत्र में अंग्रेज़ी से प्रेरणा और सहयोग लेना पड़ा।

यदि परिस्थितियों को देखें तो सामन्तशाही का गढ़ अपने ही संघर्षों से जर्जर और डगमग था। उस पर आश्रित और पोषित राजशाही को गहरा धक्का लगा। सामंतों से प्रोत्साहित काव्य विधाएँ अपने भविष्य के विषय में चिंतित थीं। इसी समय व्यापार के बहाने अंग्रेज़ों ने भारत में प्रवेश सूत्र पाया। सांस्कृतिक केन्द्र लाहौर, दिल्ली, बनारस न रहे, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास हुए। इन नगरों में अंग्रेज़ी संस्कृति और साम्राज्य तथा पूंजीवाद का रूप खड़ा होने लगा। आर्थिक शोषण का सूत्रपात हुआ।

अंगरेज राज सुखसाज सज्यौ अति भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

—भारतेन्दु

अंग्रेज़ भारत को अपना घर बनाने की सोचता भी नहीं था। फलतः भारत और अंग्रेज़ के बीच सांस्कृतिक मेल-जोल की सम्भावना नहीं रही। परिणामतः अंग्रेज़ी राज्य का विरोध भी हुआ और उसकी संस्कृति के बहिष्कार की भी बात सोची जाने लगी। यहीं कहीं राष्ट्रीयता के बीज छिपे पड़े थे। रूढ़िगत सामाजिक दुर्बलता का मूलोच्छेदन करने के लिए बंगाल में राजा राम मोहनराय का ब्राह्म समाज, बम्बई में प्रार्थना समाज तथा हिन्दी प्रदेश में स्वामी दयानन्द का आर्य-समाज जैसी संस्थाएँ स्थापित हुईं। समस्या जटिल हुई : प्रश्न उलझे। नित नए प्रश्नों के इस युग में गद्य का विकास हुआ। "हिन्दी नई चाल में ढली।" साहित्य जनता तक पहुँचने के लिए 'प्रेस' और रंगमंच को अपना रहा था। मंच ने अतीत को मूर्त और भव्य रूप में प्रस्तुत किया। प्रेस ने सामयिक प्रश्नों और पतन के कारणों पर कभी व्यंग से, कभी विनोद से, कभी तर्क से प्रकाश डाला। प्रेस का यह कार्य मुख्यतः निबन्ध ने सम्पन्न किया।

विकास-क्रम :

हिन्दी निबन्ध का आरम्भ भारतेन्दु से मानना चाहिए। निबन्ध के विकास क्रम का एक सीधा सच्चा विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

१. आरम्भिक काल : भारतेन्दु युग, सन् १८७३ से १९०२ ई०
२. मध्यकाल : द्विवेदी युग, सन् १९०३ से १९२५ ई०
३. आधुनिक काल : सन् १९२५ से ……

वस्तुतः निबन्ध विकास कुछ इस क्रम से चला। सन् १८५० में निबन्ध युग का आरम्भ होता है। सन् १८५० से १८७३ तक के लेखक मुख्यतः स्वामी दयानन्द, राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिव प्रसाद हैं। सन् १८७३ में भारतेन्दु जी 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' को लेकर १६ वर्ष की अवस्था में रंगमंच पर आए और 'हिन्दी नए चाल में ढली' : सन् १८७३ ई०। सन् १८८५ में भारतेन्दु लोकान्तरित हुए और द्विवेदी जी ने 'बैकन विचार रत्नावली' के द्वारा निबन्धों का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। वैसे भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियाँ सन् १९०० तक चलती रहीं। सन् १९२५ तक द्विवेदी युग निबन्ध को प्रभावित करता रहा। वैसे यदि निबन्ध साहित्य को एक इकाई मान कर देखें तो सन् १९१५ ई० से १९२५ ई० तक एक संक्रान्ति युग सा रहा जिसमें शुक्ल जी ने निबन्ध साहित्य का नेतृत्व किया। सरल रूप में यह कह सकते हैं कि निबन्ध का विधिवत आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। द्विवेदी युग में उसके रूप में प्रौढ़ता और निखार आया। शुक्ल युग ने निबन्ध को

एक गहराई दी और आधुनिक युग में विश्लेषणात्मक शैली का पूर्ण विकास हुआ।

भारतेन्दु युग :

भारतेन्दु युग का उत्थान राष्ट्रीय जागृति की माँग थी, सर्वतोमुखी जनजागरण। अतः लेखक के सामने यह प्रश्न जटिल नहीं था कि वह क्या लिखे। भारतीय इतिहास की इस युग संक्रान्ति ने उसके लिए अनेक विषयों का द्वार खोल दिया था। चाहे जिधर से वह लिखना आरम्भ कर सकता था। पर समस्या यह अवश्य थी कि वह कैसे लिखे। पाठक राजनैतिक आतंकवाद से खिन्न और अन्यमनस्क था। लेखक की लेखनी स्वतंत्र नहीं थी। पाठक को स्वस्थ और अविकार विनोद चाहिए था। लेखक ने 'व्यंग' का आश्रय लिया। शासकीय दुर्बलताओं और धाँधली पर व्यंग्योक्ति ही कसी जा सकती थी। व्यंग्य ऐसा जो एक बार खिलखिलाए, फिर अन्तर को झकझोर दे, अभीष्ट सत्य मस्तिष्क के कोने-कोने में भर दे। ऐसी व्यंगोक्तियाँ सत्य पर सुरम्य आवरण डाल देती हैं और कटूक्तियों को भी निरापद बना देती हैं। पाठक की रुचि और मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर लेखक ने शुद्ध व्यंग्य और विनोद भी दिए।

इस प्रकार भारतेन्दु युगीन निबन्ध की अन्तर्झांकी में राष्ट्रीय तथा सामाजिक जागरण की कुलबुलाहट थी और बाह्य झाँकी में विनोद, रूपकत्व, व्यक्तिगत भाव संस्पर्श तथा जीवन की विधियों पर गंभीर स्पष्ट विचार उभरे हुए थे।

इस प्रकार बने, सजे निबन्ध का पाठक तक वहन पत्र-पत्रिकाओं ने किया। अनेक दैनिक और साप्ताहिक निकले। पत्रों की जठराग्नि की तुष्टि के अर्थ निबन्धों की माँग बढ़ी। अन्य सभी देशों के समान पत्रों के ही द्वारा भारतेन्दु युगीन निबन्धों का विकास हुआ। हिन्दी में समाचार-पत्रों का आरम्भ हिन्दी के प्रथम पत्र 'उदंत मार्तण्ड' से हो गया था (सं० १८८३)। फिर राजा शिव प्रसाद का 'बनारस' (सं० १९०२), 'सुधाकर' (सं० १९०७), सदासुख लाल का 'बुद्धि प्रकाश' (सं० १९०६), राजा लक्ष्मण सिंह का 'प्रजा हितैषी' (सं० १९१८), हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, कविवचन सुधा, सारसुधा निधि, हिन्दोस्थान, भारतोदय, धर्म प्रचारक, दिनकर प्रकाश, धर्म दिवाकर, प्रयाग समाचार शुभचिंतक, सदाचार मार्तण्ड, भारतेन्दु आदि पत्रों का तांता लग गया। पत्रों ने निबन्ध का मार्ग प्रशस्त किया।

पत्रों में वृद्धि के साथ लेखकों की संख्या भी बढ़नी चाहिए थी। पर उनकी संख्या अधिक बढ़ी नहीं। पत्रों में सम्पादकीय विचार ही किसी शीर्षक के साथ निबन्ध रूप में छपते थे। अन्य सामग्री प्रेरित पत्रों के रूप में थी जो 'सरनामे' को छोड़कर छोटे-बड़े निबन्ध ही थे। फिर पत्र भी निबन्ध रूप में छपने लगे। लेखकों में राजा शिव प्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह आदि तो पूर्व युगीन कहे जाने चाहिएं। उस युग के प्रमुख निबन्ध लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी (प्रेमघन), ला० श्रीनिवास दास, पं० अम्बिका दत्त व्यास, बाबू बालमुकन्द गुप्त आदि थे।

निबन्धों के विषय अधिकांश राजनैतिक चर्चा, साधारण साहित्य परिचय, यात्रा, वर्णनात्मक निबन्ध, सामयिक प्रसंगों से सम्बन्धित घटनाएँ और उनकी आलोचना, मत प्रकाशन आदि से सम्बन्धित थे। पर्व, तीज, त्यौहार तथा तीर्थों पर जो निबन्ध लिखे गए वे कभी शुद्ध वर्णन के रूप में रहे, कभी किसी अभिप्राय को लिए रहे। गम्भीर राजनैतिक तथा उपदेशात्मक निबन्ध भी सामने आए। साहित्यिक निबन्ध भी लिखे गए पर कम।

इस सबके उदाहरण रूप में कुछ प्रमुख लेखकों की शैली और प्रवृत्तियों का सामान्य-सा परिचय नीचे दिया जाता है।

राजा शिव प्रसाद :

भाषा की किस शैली और उसके किस रूप को प्रोत्साहन दिया जाए, यह विवाद इनके समय से आरम्भ होता है। राजा साहब सामान्य बोलचाल की (आमफ़हम) भाषा को अपनाए जाने के पक्ष में थे। वह देवनागरी लिपि में उर्दू ही थी। साधारण बोलचाल की भाषा का रूप 'राजा भोज का सपना' में देखिए :

"सिवाइ इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जांचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल-सा शरीर कांटा बनाया।" 'इतिहास तिमिरनाशक' की भाषा उर्दू के अधिक निकट है।

राजा लक्ष्मण सिंह :

ये शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इनकी शुद्ध हिन्दी भी सरल एवं ललित है। भाषा पर विदेशी प्रभाव को ये सहन नहीं करते थे। भाषा में स्थानीय रूप रहता था जिससे उसकी परिनिष्ठता में कुछ कमी रहती थी। इनकी भाषा शैली देखिए :

"याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परन्तु राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है, नित्य वह चिन्ता ही में रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीत कर वश किए उनकी प्रजा के प्रति पालन का नियम दिन-रात मन को विकल रखता है।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

भारतेन्दु यथार्थ रूप में निबन्धकार थे। आपने पुरातत्व सम्बन्धी (रामायण का समय, अकबर और औरंगज़ेब आदि), ऐतिहासिक (काश्मीर कुसुम, उदयपुरोदय आदि), सांस्कृतिक (वैष्णवता और भारतवर्ष, ईश्वर खृष्ट और ईश कृष्ण आदि), यात्रा सम्बन्धी (जैसे लखनऊ, हरिद्वार, वैद्यनाथ की यात्रा, सरयूपार की यात्रा आदि), हास्य और व्यंग्य (कंकड़ स्तोत्र, अंगरेज स्तोत्र, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पाँचवाँ पैगंबर आदि), जीवन चरितात्मक (सूरदास का जीवन चरित, बीबी फ़ातमा, लार्ड मेयो साहब का जीवन चरित्र आदि), विविध (संपादक के नाम पत्र, मदालसा उपाख्यान, संगति सार आदि) निबन्ध लिखे। विषयों का यह वैविध्य हिन्दी निबन्धकारों के आदि पुरुष के रूप में भारतेन्दु जी को प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। सामयिक घटनाएँ भी अछूती नहीं रहीं।

उनकी शैली उनकी परिष्कृत रुचि, सुलझे विचारों और अभिराम व्यक्तित्व की परिचायिका है।

अंग्रेज़ और उनके समर्थकों पर व्यंग्य देखिए :

"ख़ज़ाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

गंभीर लेखों में गंभीरता भी कम नहीं रहती। गंभीर शैली का भी एक उदाहरण देखिए :

"उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली डोरी हो रहे हैं। इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरी को एक में बाँध कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिग दिगंत भागने से रुकेगा।"

भारतेन्दु जी ने अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी के लिए चलने वाले आन्दोलन में एक अपूर्व शक्ति का संचार किया। निबन्धों में इनका पत्रकार रूप भी स्पष्ट है।

बालकृष्ण भट्ट :

भट्ट जी के निबन्धों का संग्रह 'भट्ट निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हो गया है। भारतेन्दु युग के एक प्रमुख और मँजे हुए लेखक के रूप में भट्ट जी प्रतिष्ठित हैं। इनके निबन्ध प्रायः दो प्रकार के हैं : गंभीर मननशील लेख तथा सामान्य स्थायी विषयों पर भावात्मक, विनोदयुक्त लेख, जैसे कान, नाक, आँख, आँसू, बात-चीत, बाल्यभाव, चन्द्रोदय आदि। गंभीर लेखों में सामयिक प्रसंग, शिक्षा, समाज, राजनीति आदि मुख्य रूप से रहते थे।

निबन्धों की शैली पर भट्ट जी के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट थी। व्यंग्य विनोद की शैली उनकी एक विशेष देन है। उनमें मुहावरों का प्रयोग, रचना चातुरी और चलताऊपन लिए हुए व्यंग्य परिष्कृत रूप में हैं। उनकी विनोद शैली का परिचय एक उद्धरण से किया जा सकता है :

"पृथ्वीराज के कानों की कथा कानों सुना करते थे, परन्तु अब अपने सामयिक पृथ्वीराज के कानस्टेबिल अर्थात कान के अस्तबलों को हर ठौर कोने कोने में खड़े आँखों देखते हैं। कैसा अच्छा होता जो हमारी सरकार के आँख स्टेबिल भी होते। तब तो हम इनको साक्षात, इन्द्र ही समझते जो अब केवल अपने इन्हीं कानों से सुनते हैं, उसे आँखों से भी देखते तो कानों के कच्चे न होते।"

हिन्दी प्रदीप सन् १८८४

इसमें व्यंग्य भी गहरा है। भाषा में मुहावरे, उर्दू तथा अंग्रेज़ी के शब्दों का भी प्रयोग इसमें मिलता है। विदेशी शब्दों के प्रचुर प्रयोग की शैली यह है :

"यूरोप के लोगों में बात करने का हुनर है, 'आर्ट ऑफ़ कनवरसेशन' इतना बढ़ा इतना बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते...सुहृद गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ़ है कि बात करने वालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में प्रगट न हो।"

भट्ट जी अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग में भी नहीं रुकते थे।

प्रताप नारायण मिश्र

इनके व्यक्तित्व का प्रमुख तत्व हास्य और विनोद था। इस तत्व से इनके निबन्धों की शैली सदा किसी न किसी रूप में प्रभावित रही। आपके निबन्धों में उस युग की चुहुलबाज़ी और ज़िन्दादिली, मुखरित हो उठी है। निबन्ध के शीर्षकों में भी हास्य का पुट है। जैसे 'तुच्छ', 'बन्दरों की सभा', 'घूरे के लत्ता बिनें कनातन का डौल बांधें' आदि। निबन्धों के पूर्वी प्रयोग हास्य तो उत्पन्न कर सके पर उनके कारण भाष्य का परिष्कृत रूप सुरक्षित नहीं रह सका। विचारों का गांभीर्य विनोदपूर्ण शैली में उभर नहीं पाता था। उनकी शैली का एक उदाहरण यह है :

"सच है 'सबते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति।' मज़े से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथि त्यौहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगा पुत्र को चार पैसे देकर सेंत मेंत में धरममूरत, धरम औतार का खिताब पाना।"

उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी (प्रेमघन)

प्रेमघन जी भारतेन्दु जी की लेखन सम्बन्धी जल्दबाज़ी की शिकायत किया करते थे। इनका शैली की सुघड़ता और पच्चीकारी पर अधिक बल रहता था। कभी कभी अनुप्रास, तुकान्तता और अद्‌भुत पद्‌विन्यास चमक उठते थे। पर यह केवल शब्दाडम्बर मात्र नहीं था। 'परिपूर्ण पावस' का एक उदाहरण लीजिए :

"जैसे किसी देशाधीष के प्राप्त होने से देश का ढंग बदल जाता है, तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा। भूमि हरी हरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई। सुन्दर हरित पत्रावलियों से भरित तरूगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानो मुग्ध मयंक मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं।"

बा० बाल मुकुन्द गुप्त

आप भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग को बीच की कड़ी हैं। गुप्त जी की गणना द्विवेदी युगीन लेखकों में भी की जाती है। आप पहले उर्दू में लिखते थे। फिर हिन्दी में उर्दू की मुहाविरेदानी और चुहुलबाज़ी को लेकर आपने पदार्पण किया। गुप्त जी के लेखों में तत्कालीन राजनैतिक इतिहास की व्यंग्यात्मक झलक मिलती है। वातावरण का चित्र सुन्दर बन पड़ता था। विनोदपूर्ण लेखों का भी अन्त गम्भीर होता था। 'मन की तरंग' की अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं :

"यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषा और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिए जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वर की कृपा समझ कर स्वीकार करनी चाहिए और जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष देश बाँधवों के हाथ बन्धें उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिए।"

गुप्त जी के निबन्ध 'शिव शम्भु के चिट्ठे' और 'गुप्त निबंधावली' में संग्रहीत हैं। गुप्त जी ने अपने निबन्धों में लार्ड कर्ज़न को अपने व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बनाया था।

द्विवेदी युग

जिन प्रवृत्तियों का बीजारोपण भारतेन्दु युग में हुआ उसका प्रतिफलन द्विवेदी युग में हुआ। राष्ट्रीय जागरण ने क्रियात्मक रूप पकड़ा। वंग-भंग ने स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया। समाज सुधार व्यापक हुआ। स्वतन्त्रता के लिए उत्साह ज्वलन्त रूप में दिखाई देने लगा। दमन और शोषण उग्र हुआ। साहित्यकार रूढ़ि, दमन और शोषण के प्रति विद्रोही हो उठा।

निबन्ध साहित्य में कुछ पुराने रूप समाप्त होने लगे। कुछ नवीन रूपों ने जन्म लिया। प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट की शैली उतनी आवश्यक न रही क्योंकि लेखक में बात कहने की निर्भयता आ गई थी। राष्ट्रीय उत्थान के साथ साहित्यिक अध्ययन में भी गम्भीरता आई। प्रकाशनों की बाढ़ के साथ-साथ समालोचना की परम्परा भी चल पड़ी। इस परम्परा को नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी (१८९७), सरस्वती, प्रयाग (१९००), सुदर्शन, काशी (१९००), तथा समालोचक, जयपुर (१९०२) आदि के प्रकाशन से बल मिला। पुराने मानदण्डों का संस्कार हुआ, नए मानदण्ड आए। तुलनात्मक आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी लेख भी लिखे गए जैसे द्विवेदी जी के रसज्ञ रंजन के निबन्ध।

ज्ञान के क्षितिज के विस्तार के साथ इस युग में निबन्धों के विषय का विस्तार हुआ और उनमें विशदता आई। पुरातत्व विभाग के खुलने से अतीत का चित्रण वैज्ञानिक और अधिक ऐतिहासिक हुआ। 'प्राचीन भारत की झलक' (द्विवेदी जी), 'सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता' (सम्पूर्णानन्द), 'प्राचीन भारत में युवराजों की शिक्षा' जैसे लेख लिखे जाने लगे।

राष्ट्रीय निबन्धों के एक रूप ने मातृभूमि में देवत्व की स्थापना की। 'मातृ-भूमि की पूजा' (कन्हैयालाल पोद्दार) जैसे लेख लिखे जाने लगे। मातृ-भूमि पर सर्वस्व न्यौछावर करने की बात कही गई। विदेशी क्रान्तियों और स्वतन्त्रता-संग्रामों पर भी लेख निकले, जैसे टर्की की जागृति और चीन की क्रान्ति।

भारतेन्दु युग की भाँति समाज सुधार मध्यम वर्ग तक ही सीमित नहीं रह गया, निम्नवर्ग की समस्याओं पर निबन्ध लिखे जाने लगे। कृषक और मज़दूरों ने लेखक और कवि का ध्यान आकर्षित किया। स्त्री-शिक्षा तथा निःशुल्क शिक्षा का महत्त्व दिखाया जाने लगा। धर्म पर निबन्ध कम लिखे गए पर जो लिखे गए उनमें, साम्प्रदायिकता की अपेक्षा धर्म का व्यापक रूप (मानव धर्म) प्रतिष्ठित था जैसे मिश्र बन्धुओं के धर्म पर लेख।

आर्थिक जागरण भी निबन्धों का विषय बनने लगा। उद्योग, शिल्प, कृषि, व्यापार पर निबन्ध लिखे जाने लगे। स्वयं द्विवेदी जी ने 'अमेरिका में कृषि-कार्य' जैसे निबन्ध लिखे। भारतीय उद्योग धन्धों का गौरवपूर्ण अतीत चित्रित होने लगा।

आचार्य द्विवेदी जी के नेतृत्व में शैली के प्रामाणिक रूप स्थिर करने की चेष्टा रही। निबन्ध की सभी शैलियों का विकास हुआ। वर्णनात्मक निबन्धों में सजीवता आई। विचारात्मक निबन्धों में सैद्धान्तिकता और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का बीजारोपण हुआ। भावात्मक निबन्धों में भी विकास हुआ। गद्य-गीतों का चलन बढ़ा। सामान्य भावात्मक लेख लिखने वाले अध्यापक पूर्णसिंह जैसे लेखक प्रकाश में आए। गद्य-गीतों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि आदि की प्रतिभा विकीर्ण होने लगी। भाषा में तत्समता की प्रवृत्ति प्रबल हुई जिससे भाषा को एक सामान्य व्यापक रूप मिलने लगा। हरिश्चन्द्र युग में तद्भावना की ओर जो प्रवृत्ति थी, वह अब न रही। तद्भव शब्दों में स्थानीयता रहती है और बहुरूपता एवं परिनिष्ठता का अभाव रहता है। किन्तु तत्सम शब्दों में ये बातें नहीं होतीं। विराम चिन्ह, अवतरण चिन्हों आदि के प्रयोग पर आग्रह होने लगा।

यह सब इस युग के निबन्धकारों के कर्तृत्व का परिणाम था। इस युग के प्रमुख लेखक महावीर प्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपाल राम गहमरी, गोविन्द नारायण मिश्र, बा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, अध्यापक पूर्णसिंह, मिश्रबन्धु, पं० पद्म सिंह शर्मा, पं० पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, पं० हरी शंकर शर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, शिव पूजन सहाय, राम दास गौड़, राम चन्द्र वर्मा आदि हैं। इनमें से प्रतिनिधि लेखकों की शैली पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी :

द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों को शिक्षकों और उपदेशकों की व्यास शैली में लिखा। यह निबन्ध को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न था। इससे निबन्धों में अर्थ-स्पष्टता और बोध-गम्यता आई। व्यास शैली और व्यावहारिक भाषा द्विवेदी जी की विशेषताएँ थीं। निबन्ध छोटे भी हैं, बड़े भी, किन्तु अधिकांश में वे विचारात्मक हैं। कहीं-कहीं जैसे कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता में भावात्मकता का पुट आ गया है। द्विवेदी जी ने परिचयात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक लेख लिखे। व्यंग्य और हास्य चुटीला है पर मर्यादित ('दण्ड-देव का आत्मनिवेदन' शीर्षक निबन्ध में देखिए)। इनके निबन्धों के संग्रहों में 'रसज्ञ रंजन' मुख्य है। शैली में संस्कृत के पाण्डित्य की छाप मिलती है। शैली का उदाहरण देखिए :

"ज्ञान राशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिन की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-सम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य पर ही अवलंबित रहती है।"

बा० श्यामसुन्दर दास :

इनके निबन्ध भी विचारात्मक हैं और व्यास शैली में लिखे गए हैं। कठिन से कठिन विषय को भी सरल से सरल भाषा में व्यक्त करने की प्रवृत्ति है। साहित्य के प्रायः सभी अंगों पर आपने आलोचनात्मक प्रकाश डाला है। खोज और अनुसंधान सम्बन्धी निबन्ध भी आपने लिखे हैं। भाषा विशुद्ध साहित्यिक है। वाक्य छोटे पर भाव सार-गर्भित होते हैं। शैली में उनके स्वभाव की सरलता और व्यक्तित्व की

गंभीरता झलकती दीखती है। गवेषणात्मक निबन्धों की शैली कुछ अधिक गंभीर हो जाती है। इनकी शैली का परिचय नीचे की पंक्तियों से मिल सकता है :

"यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। लड़को, तुमने बहुधा देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कह कर खाना था।"

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी :

गुलेरी जी ने केवल पाँच निबन्ध लिखे। पर पांडित्य, व्यंग्य, अर्थगर्भितता और वैशिष्ट्य का इतना सुन्दर समन्वय निबन्धों में रहता है कि इनका 'कछुआ' हिन्दी का श्रेष्ठ निबन्ध गिना जाता है। 'पुरानी हिन्दी' में भारतीय भाषाओं की स्थिति को एक रूपक द्वारा किस प्रकार स्पष्ट किया है :

"वह (संस्कृत) मानो गंगा की नहर है। नरौने के बाँध से उसमें सारा जल खींच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़ कर यह अच्छोद नहर गई और समय के सनातन भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह अविच्छिन्न रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम नहीं जान सकते।"

पद्मसिंह शर्मा :

शर्मा जी द्विवेदी युग के प्रमुख शैलीकार और तुलनात्मक समालोचना के मार्ग प्रशस्त करने वाले थे। शैली में कहीं-कहीं व्यंग्य अत्यन्त कटु है। 'सतसई संहार' में विद्यावारिधि जी पर व्यंग्य किया गया, "देखा आपने ? कैसा निशान रूपी द्वारपाल ड्योढ़ी पर बिठलाया है। धन्य महात्मन् ! इस अपूर्व अर्थ को सुन कर बिहारी लाल की आत्मा भी स्वर्ग में फड़क उठी होगी। जो खास बात इस दोहे में थी उसी को आपने धूल में मिला दिया। और 'निसान' का निशान बना कर ब्रज भाषा की शान को बट्टा लगा दिया। 'शीन' के शड़ाकों का आपको बहुत शौक है।" उनकी गंभीर रोचक शैली का उदाहरण लीजिए :

"बिहारी की प्रतिभा का विहार स्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उनकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती वहाँ भी वह पहुँचती थी।" भाषा में विदेशी शब्द भी आ जाते थे। 'पद्म पराग' आपके निबन्धों का संग्रह है।

पूर्ण सिंह :

ये स्वामी रामतीर्थ के शिष्य थे। इनके निबन्धों में एक विशेष मस्तानापन और निर्झर वेग है।

सरदार जी ने जो लिखा है वह निबन्ध साहित्य का शृंगार है। सूक्ष्म भावों को स्पष्ट, सुन्दर और भावात्मक शैली में व्यक्त करना आपकी विशेषता है। कला में कृत्रिमता नहीं स्वाभाविकता है। कहीं-कहीं लाक्षणिकता का पूरा चमत्कार दिखाई देता है। 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' तथा 'पवित्रता' आदि प्रसिद्ध निबन्ध हैं। 'मज़दूरी और प्रेम' का एक उदाहरण लीजिए :

"समाज का पालन करने वाली दूध की धारा, जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकल कर बहती है तब वही जगत में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है। आओ यदि हो सके तो टोकरी उठाकर, कुदाली हाथ में ले लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें।"

इनकी भाषा भावानुसारिणी है। उसमें स्वदेशी-विदेशी का कोई विचार नहीं रहता। प्रवाह में सभी प्रकार के शब्द चले जाते हैं। निबन्धों में इनके हृदय का ओज झलकता दिखाई पड़ता है।

माखनलाल चतुर्वेदी :

चतुर्वेदी जी ने कवित्वमय भावात्मक निबन्ध लिखे। भाषा भावमय, चंचल पर युक्तिपूर्ण होती है। हृदय का भावावेश अभिधा के धरातल पर लक्षणा और व्यंजना के किनारों के बीच प्रवाहित होता है। कवि सुलभ कल्पना इनकी शैली का प्राण है। भावना मूर्तिमान रहती है। 'साहित्य देवता' इसी प्रकार के निबन्धों का संग्रह है। एक उदाहरण लीजिए : 'वाणी का रूप'।

"वह एक वाणी है जो लोक जीवन के हृदय को सोच सोच कर चिल्ला रही है और चिल्ला-चिल्ला कर सोच रही है। एक भुजा है जो उनकी ओर से उठ रही है, जिनकी भुजाएँ उठ नहीं पातीं और उनका भाग्य लिख रही है जिन्हें शासन ने लिखना-पढ़ना नहीं सीखने दिया। वह एक वाणी है जो झोंपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जाकर टकराती है और राजमहलों के अपमानों को झोंपड़ियों के सेवापथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती है।"

(शेष अगले अंक में)



"हमारा सबसे बड़ा दुश्मन गरीबी है। उस पर हर तरफ़ से फ़ौजी हमला होना चाहिए : खेतों से, खलिहानों से, कारखानों से, अधिक रोज़गार से—सब तरफ़ से।"

—जवाहरलाल नेहरू
(कलकत्ता भाषण से)

भूमि की समस्या

सत्यकेतु विद्यालंकार

अब से कोई डेढ़ सौ साल पूर्व माल्थस ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि जिस गति से मनुष्यों की आबादी में वृद्धि होती है, उस गति से आर्थिक उत्पत्ति और ज़मीन की पैदावार में वृद्धि नहीं होती। यदि पैदावार में वृद्धि १, २, ३, ४, के हिसाब से होती है तो जनसंख्या २, ४, ८ के अनुपात से बढ़ती जाती है। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर माल्थस ने यह आशंका प्रगट की थी कि एक समय ऐसा आ सकता है, जब कि ज़मीन बढ़ती हुई आबादी का पालन पोषण करने में समर्थ न रहे। इसीलिए अनेक विद्वानों का ध्यान सन्तति-निग्रह की ओर गया, और उन्होंने परिवार-आयोजन की आवश्यकता को अनुभव किया।

इसमें सन्देह नहीं कि माल्थस के सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई है। ऐतिहासिकों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल (८००० ईस्वी पूर्व) में पृथ्वी की जनसंख्या केवल १,००,००,००० थी। ईसवी सन् के प्रारम्भ काल में पृथ्वी पर कुल मिला कर २,००,००,००० मनुष्य निवास कर सकते थे। आजकल पृथ्वी की कुल आबादी २,३५,००,००,००० है। बीस सदियों में पृथ्वी की जनसंख्या में सौ गुने से भी अधिक की वृद्धि हो गई है। पिछली एक सदी में जनसंख्या की समस्या ने बहुत अधिक गम्भीर रूप धारण किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में यूरोप की कुल आबादी केवल २० करोड़ थी। इस समय वह ४० करोड़ से भी अधिक है। यूरोप के जो लोग एशिया, अफ्रीका आदि में बसे हुए हैं, वे इससे अतिरिक्त हैं, और उनकी संख्या भी २० करोड़ के लगभग है। एक सदी के स्वल्प काल में यूरोप की आबादी तीन गुना हो गई है। १८८१ में भारत की जनसंख्या २५,४०,००,००० थी। अब वह (पाकिस्तान को मिला कर) ४४ करोड़ के लगभग है। सन् १८६८ में जापान की आबादी ३ करोड़ थी, अब वह बढ़ कर ८ करोड़ हो गई है। अनेक विद्वानों का अनुमान है कि बीसवीं सदी का अन्त होते-होते पृथ्वी की जनसंख्या ४०० करोड़ तक पहुँच जाएगी।

अब से डेढ़ सदी पूर्व माल्थस ने जो आशंका प्रगट की थी, वह बहुत भयावह रूप धारण नहीं कर सकी, इसका कारण यह हुआ कि इस काल में यूरोप के लोगों ने अनेक नए क्षेत्रों में बसना प्रारम्भ किया। अमेरिकन महाद्वीप को पता किये अभी अधिक समय नहीं हुआ था। उसकी विशाल भूमि यूरोप के लोगों के बसने के लिए खुली पड़ी थी। यही बात आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, साईबीरिया और मध्य एशिया के भूखण्डों के सम्बन्ध में थी। इन क्षेत्रों में जो लोग निवास करते थे, वे संख्या में बहुत कम थे, और सभ्यता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। यूरोप के लोगों ने सुगमता से इन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, और वहाँ बसना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी यूरोप के लोगों को उस भय का सामना नहीं करना पड़ा, जिसकी ओर माल्थस ने जनता का ध्यान आकृष्ट किया था। पर साथ ही यह भी सत्य है कि पिछली एक सदी में जो अनेक भयंकर युद्ध लड़े गए, उनका आधारभूत कारण वह 'साम्राज्यवाद' ही था, जिससे प्रेरित होकर संसार के उन्नत देश पिछड़े हुए देशों को अपने अधिकार और आधिपत्य में ले आने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे थे।

सम्भवतः, अब वह समय आ गया है, जब कि माल्थस द्वारा प्रगट की गई आशंका क्रिया में परिणत हो सकती है। शायद अब पृथ्वी पर कोई ऐसा प्रदेश शेष नहीं रह गया है, जिसका अभी लोगों को परिज्ञान न हो, और जहाँ भविष्य में लोग बसने की सम्भावना रख सकते हों। इस समय पृथ्वी पर जो भूमि कृषि योग्य है, उसका कुल क्षेत्रफल ४,००,००,००,००० एकड़ के लगभग है। पृथ्वी की वर्तमान आबादी २,३५,००,००,००० है, जिसमें से ७५ प्रतिशत के लगभग अपनी आजीविका के लिये खेती पर निर्भर करती है। पृथ्वी के सम्पूर्ण निवासियों ने अपने निर्वाह के लिये जिस भोजन सामग्री को प्राप्त करना है, वह इस ४०० करोड़ एकड़ जमीन से ही प्राप्त की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक मनुष्य के हिस्से में केवल उतनी भोजन सामग्री आती है, जो कि पौने-दो एकड़ भूमि पर पैदा की जा सकती है। भोजन-शास्त्र के विद्वानों का इस विषय में मतभेद है कि एक मनुष्य के लिए कितनी भोजन सामग्री पर्याप्त है। कुछ का मत है कि एक मनुष्य के लिये आवश्यक भोजन को उत्पन्न करने के लिए कम से कम पाँच एकड़ भूमि चाहिए। दूसरे लोगों का कथन है कि एक मनुष्य के लिए आवश्यक भोजन को २½ एकड़ भूमि से भी पैदा किया जा सकता है। यदि हम दूसरे मत को भी स्वीकार्य मान लें, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान समय में पृथ्वी पर जितनी कृषि योग्य भूमि है, वह पृथ्वी के सब निवासियों के लिए पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि एशिया के अनेक देशों के निवासी जो भोजन सामग्री प्राप्त कर रहे हैं, उसे उनके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। एशिया के इन देशों की आबादी बहुत अधिक है, और उनमें कृषि योग्य भूमि की बहुत कमी है। हिसाब लगाया गया है कि भारत और पाकिस्तान में कृषि योग्य भूमि की मात्रा वहाँ के निवासियों के हिसाब से ⅘ एकड़ प्रति व्यक्ति पड़ती है। चीन में यह मात्रा केवल ½ एकड़ है, जावा में ⅓ एकड़, मिस्र और सूडान में ⅐ एकड़ और जापान में केवल ⅐ एकड़ है। इसी का यह परिणाम है कि भारत, चीन, जावा और मिस्र के लोग अन्न, फल, दूध, घी, माँस आदि की उतनी मात्रा प्राप्त नहीं कर सकते, जितनी

कि अमेरिका और इंग्लैंड सदृश देशों के निवासियों को प्राप्त होती है, और इसी कारण उनके बहुसंख्यक निवासी शरीर से दुर्बल हैं। आबादी की अधिकता और ज़मीन की कमी के कारण ही जापान साम्राज्य विस्तार के लिये प्रवृत्त हुआ था, और उसने चीन आदि पूर्वी एशिया के देशों को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न किया था।

वर्तमान समय में भूमि की समस्या का मुख्य तत्त्व यही है कि एक ओर जहाँ कृषि योग्य भूमि मात्रा में सीमित है, वहाँ जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। भोजन और कृषि संघ (फूड एण्ड एग्रिकल्चरल आर्गनिज़ेशन) के डाइरेक्टर श्री नारिस डाड ने ठीक कहा था कि "रात को जब हम सोने के लिए जाते हैं, तो यह प्रश्न हमारे सम्मुख रहता है कि प्रातः काल जब हम सो कर उठेंगे, तो पचास हज़ार नए मनुष्यों के नाश्ते का प्रबन्ध हमें करना होगा, जो इस काल में हमारे बीच में नए आ जाएँगे।" निःसन्देह, पृथ्वी की आबादी में ५०,००० प्रति दिन की गति से वृद्धि हो रही है। पर इस गति से कृषि योग्य भूमि की मात्रा में वृद्धि नहीं हो पाती। भूमि की समस्या का यही गम्भीर व मुख्य तत्त्व है।

जहाँ एक ओर कृषि योग्य भूमि में वृद्धि नहीं हो पाती, वहाँ खेती के तरीके भी अभी इतने उन्नत नहीं हो पाए हैं कि आबादी की वृद्धि के अनुपात से अनाज की पैदावार में वृद्धि की जा सके। इसके विपरीत सचाई यह है कि मनुष्यों की भूलों के कारण बहुत सी कृषि योग्य भूमि निरन्तर ऊसर होती जा रही है। संसार की पुरानी सभ्यताओं के इतिहास पर दृष्टिपात करके इस तथ्य को भली-भाँति समझा जा सकता है। ईराक, सिन्धघाटी और मिस्र पुरानी सभ्यताओं के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। समुन्नत सभ्यताएँ वहीं विकसित हो सकती हैं, जहाँ प्राकृतिक सुविधाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हों। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के अवशेषों से भली-भाँति सूचित होता है कि सिन्धघाटी का प्रदेश किसी समय शस्यश्यामल और उपजाऊ था। इस क्षेत्र में बड़े-बड़े जंगल थे, और खेती की पैदावार बहुत अधिक थी। पर आज यह प्रदेश एक विशाल रेगिस्तान के रूप में है। यही बात ईराक, मिस्र आदि की पुरानी सभ्यताओं के क्षेत्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन सभ्यताओं के निवासियों ने ज़मीन का पूरी तरह से शोषण किया, उसकी उपज-शक्ति को कायम रखने की बात पर समुचित ध्यान नहीं दिया। इसीलिए ये रेगिस्तान के रूप में परिणत हो गई। वर्तमान समय में भी यह प्रक्रिया अनेक प्रदेशों में जारी है। राजस्थान का रेगिस्तान आगरा की दिशा में आगे बढ़ रहा है। और उत्तरी बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश के अनेक शस्यश्यामल क्षेत्र बाढ़ों द्वारा तबाह हो रहे हैं। चीन के भी अनेक प्रदेश इसी विपत्ति से ग्रस्त हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ सदियों के बाद पृथ्वी के अनेक ऐसे क्षेत्र रेगिस्तान व ऊसर भूमि के रूप में परिणत हो जाएँ, जो आज समृद्ध व शस्यश्यामल हैं। मध्य एशिया किसी समय बहुत धन-धान्यपूर्ण और आबाद था। रेत के ढेरों के नीचे वहाँ अनेक पुराने वैभवशाली नगर दबे हुए हैं। सहारा के विशाल रेगिस्तान में भी पुरानी समृद्ध सभ्यताओं के भग्नावशेषों के चिन्ह पाए गए हैं। मनुष्य ने कृषि योग्य भूमि की उपज शक्ति को कायम रखने में जो उपेक्षा विगत इतिहास में की, उसी का यह परिणाम हुआ। यदि वर्तमान समय में भी मनुष्य इस सम्बन्ध में उपेक्षा करता रहा, तो भविष्य में यही परिणाम हो सकना सम्भव है।

पर जिस विज्ञान की सहायता से मनुष्य रेल, तार, हवाई जहाज़ और अणु शक्ति का आविष्कार करने में समर्थ हुआ है, उसका उपयोग कर वह जहाँ ज़मीन की उपज शक्ति को कायम रख सकता है, वहाँ साथ ही रेगिस्तानों को फिर से शस्यश्यामल भूमि के रूप में भी परिवर्तित कर सकता है। जो विज्ञान अणुबम द्वारा एक क्षण में लाखों की आबादी को नष्ट कर सकता है, वही मनुष्य की भूमि समस्या को हल करने में भी सहायक हो सकता है। पर भूमि समस्या को हल करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय और (२) राजनीतिक। अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाई का रूप यह है कि संसार के अनेक प्रदेश, जिनमें कृषि योग्य भूमि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, ऐसे देशों के अधिकार में है, जिनकी अपनी आबादी बहुत अधिक नहीं है। अफ्रीका के बहुत से प्रदेश, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि ब्रिटेन के अधिकार में हैं और वहाँ एशिया के उन देशों के निवासियों के लिए जाकर बस सकना सम्भव नहीं है, जहाँ की जन-संख्या बहुत अधिक है। यदि जापान के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आस्ट्रेलिया में जाकर बस सकें, तो जापान (जहाँ कृषि योग्य भूमि प्रति व्यक्ति के हिसाब से केवल $\frac{1}{5}$ एकड़ है) की भूमि समस्या सुगमता से हल हो सकती है। कनाडा और अमेरिका में भी कृषि योग्य भूमि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, पर उसका उपयोग चीन, भारत व जापान के लोग नहीं कर सकते। अफ्रीका की विशाल भूमि का उपयोग यूरोप के गौरांग लोग अपनी समृद्धि के लिए कर रहे हैं। साईबीरिया और मध्य एशिया के विशाल क्षेत्र केवल रूसी लोगों के लिए हैं। इस दशा का परिणाम यह है कि पृथ्वी पर ४०० करोड़ एकड़ के लगभग जो कृषि योग्य भूमि है, उस का वितरण भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से न्याय्य आधार पर नहीं है। इसलिए जहाँ अमेरिका और ब्रिटेन के निवासियों के पास इतनी कृषि योग्य भूमि है, जो उनकी आवश्यकता से अधिक है, वहाँ जापान, चीन, जावा और भारत के लोगों के पास उतनी भूमि नहीं है, जो उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ हो। जब तक संसार के विविध राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्वरूप भूमि की समस्या को हल करने के लिए प्रयुक्त नहीं होगा, इस समस्या का हल सम्भव नहीं होगा।

राजनीतिक कठिनाई का रूप यह है कि राज्य की सरकारें भूमि समस्या को हल करने के लिए विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण को अपने सम्मुख नहीं रख पातीं। उनके सामने राजनीतिक दृष्टिकोण सदा बना रहता है। इसीलिए अनेक देशों में ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया, और ऐसा करते हुए यह आशा की गई कि ज़मींदारी प्रथा को नष्ट कर देने से भूमि समस्या स्वयमेव हल हो जाएगी। ज़मींदारी प्रथा वस्तुतः हानिकारक थी, इसके कारण जनता में एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपनी रैयत पर अनुचित प्रभुत्व रखता था। सामाजिक न्याय और राजनीतिक समता की दृष्टि से ज़मींदारी प्रथा

को नष्ट कर देना बहुत उचित हुआ। पर उसके नष्ट हो जाने से भूमि की समस्या हल नहीं हो गई। ज़मींदारी के स्थान पर राज्य भूमि का स्वामी बन गया, और किसान की आर्थिक स्थिति वही रही, जो पहले थी। ज़मीन की पैदावार के बढ़ने में इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिली। कुछ देशों में भूमि का पुनः वितरण भी किया गया, और कृषि योग्य भूमि को किसानों में नए सिरे से बाँट दिया गया। पर इसके कारण प्रत्येक किसान के हिस्से में जितनी ज़मीन आई, वह उसके निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं थी। यदि भारत की सम्पूर्ण कृषि योग्य भूमि को इस देश के निवासियों में बाँट दिया जाए, तो प्रत्येक मनुष्य के हिस्से में $\frac{3}{4}$ एकड़ भूमि आएगी। यह किसी भी प्रकार एक मनुष्य के निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं होगी। विविध देशों में अब तक जिस ढँग से भूमि की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया है, उसमें राजनीतिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है। इस कारण यह समस्या ठीक प्रकार से हल नहीं हो पाई है।

आर्थिक दृष्टि से भूमि की समस्या को हल करने के तीन पहलू हैं—(१) जन-संख्या की वृद्धि को रोकना, (२) ज़मीन की पैदावार को बढ़ाना और (३) नई कृषि योग्य भूमि को प्राप्त करना। हम इन तीनों पर क्रमशः विचार करेंगे।

पुराने ज़माने में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के कुछ प्राकृतिक उपाय थे। महामारियों और रोगों के कारण आबादी निरन्तर नष्ट होती रहती थी। पर चिकित्सा शास्त्र की उन्नति के कारण अब यह उपाय विशेष महत्त्व का नहीं रह गया है। सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में मृत्यु का अनुपात अब भी बहुत अधिक है। पर नए विज्ञान के उपयोग के कारण अब प्रायः सभी देशों में महामारियों और रोगों के कारण मृत्यु संख्या में कमी आ रही है। निरन्तर युद्धों द्वारा भी पहले मृत्यु संख्या पर्याप्त रहती थी। सामन्त राजाओं के पारस्परिक युद्धों और विदेशी आक्रमणों के कारण जन-संख्या में निरन्तर कमी होती रहती थी। वर्तमान समय में विशाल राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण के कारण सामन्त राजाओं के युद्धों का प्रायः अन्त हो गया है, और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों व शान्ति-आन्दोलनों के विकास के कारण विदेशी आक्रमणों की आशंका भी बहुत घट गई है। इस दशा में युद्धों द्वारा जन-संख्या के क्षय की सम्भावना भी कम हो गई है। इसीलिए आजकल के विचारक सन्तति-निग्रह को बहुत महत्त्व देने लगे हैं। पिछले दिनों में रूस के कम्युनिस्ट विचारक सन्तति-निग्रह को अनुचित मानते थे। उनका कथन था कि सम्पत्ति के मूल स्रोत केवल दो हैं, पुरुष और प्रकृति। प्राकृतिक साधनों का मानव श्रम द्वारा उपयोग कर मनुष्य इतनी सम्पत्ति उत्पन्न कर सकता है, जो किसी भी देश की बढ़ती हुई आबादी के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त हो। मनुष्य जो अपने निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति का समुचित मात्रा में उत्पादन नहीं कर सकता, उसका कारण यही है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधन कुछ थोड़े से लोगों—ज़मींदारों और पूँजीपतियों—के हाथों में हैं, और वे उनका उपयोग केवल अपने स्वार्थ के लिए करते हैं, सर्वसाधारण जनता के हित में नहीं। इसीलिए रूस के कम्युनिस्ट सन्तति-निग्रह का विरोध करते थे। रूस की अपनी दशा के लिए यह बात ठीक भी थी। साइबीरिया और मध्य एशिया के विशाल क्षेत्रों को विकसित करके रूस की जनता अपनी आवश्यकताओं को भली-भाँति पूर्ण कर सकती थी, और रूसी साम्राज्य के क्षेत्रफल के मुकाबले में वहाँ की आबादी बहुत कम थी। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए रूस के कम्युनिस्ट यह अनुभव करते थे कि रूस की जन-संख्या में वृद्धि का होना आवश्यक है। पर चीन की कम्युनिस्ट सरकार इस विषय में रूस की नीति का अनुसरण नहीं कर सकी। चीन की आबादी ६० करोड़ के लगभग है, और वहाँ कृषि योग्य भूमि इतनी कम है कि प्रति व्यक्ति $\frac{1}{2}$ एकड़ के लगभग पड़ती है। इसीलिए चीन के कम्युनिस्ट सन्तति-निग्रह पर ज़ोर देने लगे हैं, और वहाँ सरकार की ओर से परिवार-आयोजन की नीति को अपनाया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि उन सब देशों को, जिनकी आबादी कृषि योग्य भूमि के हिसाब से अधिक है, सन्तति-निग्रह और परिवार-आयोजन की नीति को अपनाना पड़ेगा। इसके बिना वे भूमि सम्बन्धी समस्या को हल नहीं कर सकेंगे।

ज़मीन की पैदावार को बढ़ा सकना तभी सम्भव है, जब कि इसके लिए विज्ञान की सहायता ली जाए। व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में नये वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से पिछली डेढ़ सदी में बहुत अधिक उन्नति हुई है। उन्नीसवीं सदी से पूर्व संसार में सर्वत्र कारीगर लोग घर पर बैठ कर कुटीर-उद्योगों द्वारा व्यावसायिक उत्पत्ति किया करते थे। न उस समय बड़े कल-कारखाने थे, और न यान्त्रिक शक्ति से चलने वाली मशीनें। व्यावसायिक उत्पत्ति छोटे पैमाने पर हुआ करती थी। विज्ञान की सहायता से अब मनुष्य ने ऐसे कल-कारखाने बना लिए हैं जिनमें बहुत बड़े पैमाने पर व्यावसायिक माल तैयार होता है। पर भारत, चीन आदि देशों में खेती के तरीके आज प्रायः वे ही हैं, जो मध्यकाल में थे। ज़मीन की पैदावार को बढ़ाने के लिए अभी वैज्ञानिक साधनों का इन देशों में प्रयोग नहीं हुआ है। जब तक खेती के लिये रासायनिक खादों, सिंचाई के उन्नत साधनों और ट्रेक्टर सदृश नये उपकरणों का प्रयोग नहीं होगा, खेती की पैदावार में समुचित वृद्धि सम्भव नहीं होगी। जो कार्य औद्योगिक क्षेत्र में हुआ है, वही कृषि के क्षेत्र में भी होना चाहिए। पर इसके लिये खेतों के परिमाण और भूमि के स्वत्व सम्बन्धी कानून-कायदों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने होंगे। वैज्ञानिक साधनों का उपयोग छोटे-छोटे खेतों में कदापि सम्भव नहीं है। बड़े पैमाने के कल-कारखानों के समान खेती भी बड़े पैमाने पर करनी होगी, ताकि उसमें वैज्ञानिक साधनों का उपयोग सम्भव हो। खेतों की पैदावार को बढ़ाने के लिए यह अनिवार्य है। बड़े पैमाने की खेती के लिये यह आवश्यक है कि खेत बड़े-बड़े हों। जिन देशों में प्रति व्यक्ति $\frac{1}{2}$ एकड़ या १ एकड़ ज़मीन पड़ती है, वहाँ ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वत्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर बड़े पैमाने की खेती की कल्पना करना भी असम्भव है। इसके दो ही उपाय हैं, या तो ज़मीन को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर सरकार की ओर से खेती प्रारम्भ की जाए, और या किसानों को सहकारी समितियों में संगठित करके

कृषि कार्य इन समितियों द्वारा किया जाए। चीन दूसरी नीति को अपना रहा है, और रूस का आदर्श राजकीय खेती है। लोकतन्त्रवाद के अनुयायी राज्य भी सहकारी खेती की नीति को अपना कर कृषि के लिए वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सकते हैं, और इस प्रकार ज़मीन की पैदावार को बढ़ा सकते हैं।

विज्ञान की सहायता से रेगिस्तानों और ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सकता है। बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन सामग्री जुटाने के लिए यह अनिवार्य है कि कृषि योग्य भूमि के परिमाण में वृद्धि की जाए। भारत और चीन जैसे देशों में ऐसी ज़मीन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, जहाँ इस समय रेगिस्तान हैं, और या जहाँ छोटी-छोटी झाड़ियाँ, काँस आदि हैं। जो मनुष्य विज्ञान की सहायता से अणु बमों का आविष्कार कर सकता है, वह ऐसे वैज्ञानिक साधन भी जुटा सकता है, जिनसे इस भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सके। ऐसे वैज्ञानिक साधन इस समय आविष्कृत भी हो चुके हैं। झाड़-झंकाड़ से ढकी हुई भूमि को ट्रेक्टर द्वारा साफ किया जा सकता है, और ऊसर भूमि से उन तत्त्वों को निकाल कर बाहर किया जा सकता है, जिनके कारण ज़मीन ऊसर हो जाती है। बड़े पैमाने पर सिंचाई का प्रबन्ध करके रेगिस्तानों और परती पड़ी हुई ज़मीन को उपजाऊ बनाया जा सकता है। पर इस कार्य के लिये बहुत बड़े परिमाण में पूँजी की आवश्यकता है। पिछड़े हुए देशों में पूँजी की यूँ ही कमी रहती है। अणुबम के समान अन्य वैज्ञानिक साधन भी बहुत मँहगे हैं। उन्हें केवल ऐसे देशों से ही प्राप्त किया जा सकता है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उन्नत हैं। पर इन साधनों को प्राप्त करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होगी, और वह पूँजी भी बहुत बड़ी मात्रा में। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना इस पूँजी को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होगा। पर प्रश्न यह है कि क्या इस अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्वरूप ऐसा हो सकता है, जिसमें राजनीतिक दृष्टि का सर्वथा अभाव हो? वर्तमान समय में अनेक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व योजनाएँ विद्यमान हैं, जिनका उद्देश्य पिछड़े हुए देशों को आर्थिक उन्नति के लिए सहायता प्रदान करना है। कोलम्बो योजना, भोजन और कृषि संगठन, प्रेजिडेन्ट ट्रूमैन के 'पायन्ट फोर' के अधीन दी जाने वाली आर्थिक सहायता आदि इसी प्रकार की योजनाएँ हैं। पर अनेक पिछड़े हुए देश इन योजनाओं से पूरा-पूरा लाभ इस कारण नहीं उठा पा रहे, क्योंकि इन्हें विशुद्ध रूप से आर्थिक नहीं माना जाता। राजनीतिक दृष्टिकोण से ये योजनाएँ पूरी तरह से विरहित नहीं हैं। अनेक पिछड़े हुए देश इन्हें 'पाश्चात्य साम्राज्यवाद' का नया रूप समझते हैं, और इनसे लाभ उठाना अपने 'राष्ट्रीय हितों' की दृष्टि से हानिकारक समझते हैं। इस बात से इन्कार भी नहीं किया जा सकता, कि सहायता की ये योजनाएँ राजनीतिक प्रयोजनों से पूर्णतया पृथक नहीं हैं।

संयुक्त राज्य संघ (यू० एन० ओ०) के अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि यदि पिछड़े हुए देशों की व्यावसायिक और कृषि सम्बन्धी आमदनी में प्रति वर्ष दो प्रतिशत के हिसाब से वृद्धि करनी हो, तो उन्हें १,४०० करोड़ रुपए प्रतिवर्ष को पूँजी की सहायता देनी होगी। यदि इस विशाल पूँजी का कुछ अंश वे अपने क्षेत्र में भी (राष्ट्रीय ऋण और टैक्सों में वृद्धि द्वारा) प्राप्त कर सकें, तो भी ४,००० करोड़ रुपया तो उन्हें प्रति वर्ष उन देशों से प्राप्त करना होगा, जो कि आर्थिक दृष्टि से उन्नत व समृद्ध हैं। इन समृद्ध देशों की आर्थिक स्थिति ऐसी है भी कि वे इतनी सहायता प्रति वर्ष कर सकते हैं। संसार की सम्पत्ति और आर्थिक साधनों का अन्तर्राष्ट्रीय वितरण इस समय इतना असम और दूषित है कि एक ओर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्राँस सदृश समृद्ध देश जो पृथ्वी की बहुत बड़ी सम्पत्ति व क्षेत्र पर अधिकार किए हुए हैं, दूसरी ओर भारत, जापान और जावा जैसे देश इनसे बहुत कुछ वंचित हैं। आर्थिक साधनों की इस अन्तर्राष्ट्रीय विषमता को दूर कर सकना एक ऐसा प्रश्न है, जो इस लेख के विषय से बाहर है। पर पिछड़े हुए देशों की आर्थिक व भूमि सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिए यह अनिवार्य है कि इन देशों को आर्थिक पैदावार को बढ़ाने के लिये विज्ञान के नए साधनों का आश्रय लिया जाए, और इसके लिए समृद्ध देशों से पूँजी की सहायता प्राप्त हो। पूँजी की यह सहायता किस प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण से अलग रह कर दी जा सकती है इसी बात पर पिछड़े हुए देशों की भूमि सम्बन्धी समस्या का हल हो, सकना सम्भव है।

●

यह विवशता

शमशेर बहादुर सिंह

यह विवशता
कभी बनती चाँद
कभी काला ताड़
कभी ख़ूनी सड़क
कभी बनती भीत, बाँध
कभी बिजली की कड़क जो
क्षण-प्रतिक्षण चूमती-सी पहाड़।

यह विवशता
बना देती सरल जीवन को
ख़ून की आँधी।
यह विवशता
मौन में भी है,
अथाह।
भावनाओं के सलीब
स्वयं काँधा बन उठे-से हैं।

घोर तम।
हड्डियों के जोड़
खुल रहे हैं।
टूटते हैं बिजलियों में स्वप्न के आँसू;
आँख सी सूनी पड़ी है भूमि।
कान्त अन्तर में अपार
मौन।

मेंढकी का ब्याह

वृन्दावन लाल वर्मा

उन ज़िलों में त्राहि-त्राहि मच रही थी। असाढ़ चला गया। सावन निकलने को हुआ, परन्तु पानी की बूँद नहीं। आकाश में बादल कभी-कभी छिटपुट होकर इधर-उधर बह जाते। आशा थी कि पानी बरसेगा, क्योंकि गाँव वालों ने कुछ पत्रों में पढ़ा था कि कलकत्ता मद्रास की तरफ़ ज़ोर की बरसा हुई है। लगते असाढ़ थोड़ा सा बरसा था। अपने यहाँ भी बरसेगा, इसी आशा में अनाज बो दिया गया था। अनाज जम निकला, फिर हरियाकर सूखने लगा। यदि चार-छः दिन और न बरसा तो सब समाप्त! यह आशंका उन ज़िलों के गाँवों में घर करने लगी थी। लोग व्याकुल थे।

गाँवों में सयानों की कमी न थी। टोने-टोटके, धूप-दीप सभी कुछ किया, लेकिन कुछ न हुआ। एक गाँव का पुराना चतुर नावता बड़ी सूझ-बूझ का था। अथाई पर उसने बैठक करवाई। कहाँ क्या किया गया है, थोड़ी देर इस पर चर्चा चली। नावते ने अवसर लाकर कहा—"इन्द्र बरसा के देवता हैं, उन्हें प्रसन्न करना पड़ेगा।"

"सभी तरह के उपाय कर लिए गए हैं। कोई गाँव ऐसा नहीं है, जहाँ कुछ न कुछ न किया गया हो। अभी तक हुआ कुछ नहीं है।" बहुत से लोगों ने तरह-तरह से कहा और उन गाँवों के नाम लिए।

होम हवन, सत्यनारायण की कथा, बकरों, मुर्गों का बलिदान इत्यादि किसी-किसी ने फिर सुझाए, परन्तु नावते की एक नई सूझ अन्त में सब को माननी पड़ी। नावते ने कहा,—"बरसात में ही मेंढक क्यों इतना बोलते हैं? क्यों इतने बढ़ जाते हैं? कभी किसी ने सोचा? इन्द्र बरसा के देवता हैं सब जानते हैं, पानी की झड़ी के साथ मेंढक बरसते हैं सो क्यों? कोई किरानी कह देगा कि मेंढक नहीं बरसते। बिल्कुल ग़लत। मैंने खुद बरसते देखा है। बड़ी नाद या किसी बड़े बर्तन को बरसात में खुली जगह रख के देख लो। साँझ के समय रख दो, सवेरे बर्तन में छोटे-छोटे मेंढक मिल जाएँगे। बात यह है कि इन्द्र देवता को मेंढक बहुत प्यारे हैं। वे जो रट लगाते हैं तो इन्द्र की जय जयकार करते हैं।"

अथाई पर बैठे मुँह ताक रहे थे कि नावता जी अन्त में क्या कहते हैं।

नावता अन्त में बहुत आश्वासन के साथ बोला,—"मेंढक मेंढकी का ब्याह, करादो। पानी न बरसे तो मेरी नाक काट डालना।" मेंढक मेंढकी का ब्याह! कुछ के होठों पर हँसी झलकने को हुई, परन्तु अनुभवी नावते की गम्भीर शक्ल देखकर हंसी उभर न पाई।

एक ने पूछा,—"कैसे क्या होगा उसमें? मेंढक मेंढकी के ब्याह की विधि तो बतलाओ दादा।"

नावते ने विधि बतलाई—"वैसे ही करो मेंढक मेंढकी का ब्याह जैसे अपने यहाँ लड़के-लड़की का होता है। सगाई, फलदान, लगुन, तिलक, आतिशबाज़ी, भाँवर, ज्योनार, सब धूम-धाम के साथ हो तभी इन्द्रदेव प्रसन्न होंगे। लोगों ने आकाश की ओर देखा। तारे टिमटिमा रहे थे। बादल का धब्बा भी वहाँ न था। पानी न बरसा तो मर मिटे। ढोरों बैलों का क्या होगा? बढ़ी हुई निराशा ने उन सब को भयभीत कर दिया।

लोगों ने नावते की बात स्वीकार करली। चन्दा किया गया। आस-पास के गाँवों में भी सूचना भेजी गई। कुतूहल उमगा और भय ने भी अपना काम किया। यदि नावते के सुझाव को ठुकरा दिया तो सम्भव है इन्द्रदेव और भी नाराज़ हो जाएँगे। फिर? फिर क्या होगा? चौपट, सब तरफ़ बन्टाढार!

आस-पास के गाँवों ने भी मान लिया। काफ़ी चन्दा थोड़े ही समय में हो गया।

नावते ने एक जोड़ी मेंढक भी कहीं से पकड़ कर रख लिए। एक मेंढक था, एक मेंढकी। ब्राह्मणों की कमी नहीं थी। ब्याह की धूमधाम का मज़ा और ऊपर से दान दक्षिणा।

गाँव के दो भले आदमी मेंढक मेंढकी के पिता भी बन गए। मुहूर्त शोधा गया—जल्दी का मुहूर्त।

बाजों गाजों के साथ फलदान, लगुन की रस्में अदा की गईं। दोनों के घर दावत पँगत हुई। मेंढक मेंढकी नावते के ही पास थे। वही उन्हें खिला-पिला रहा था। अन्यत्र हटाकर उनके मरने जीने की जोखिम कौन ले?

तिलक भाँवर का भी दिन आया। पानी के एक बर्तन में मेंढकी उस घर में रख दी गई, जिसके स्वामी को कन्यादान करना था। उसने सोचा—हो सकता है पानी बरस पड़े, कन्यादान का पुण्य तो मिलेगा ही।

मेंढक दूल्हा पालकी में बिठलाया गया। रक्खा गया बाँध कर। उछल कर कहीं चल देता तो सारा कार-बार ठप हो जाता। आतिश-बाज़ी भी फूँकी गई। और बड़े पैमाने पर। एक तो आतिशबाज़ी के बिना ब्याह क्या? दूसरे अगर पिछले साल किसी ने आतिशबाज़ी पर एक रुपया फूँका था तो इस साल कम से कम सवा का धुआँ तो उड़ाना ही चाहिए।

तिलक हुआ। जैसे ही मेंढक के माथे पर चन्दन लगाने के लिए ब्राह्मण ने हाथ बढ़ाया कि मेंढक उछला। ब्राह्मण डर के मारे पीछे हट गया। ख़ैरियत हुई कि मेंढक एक पक्के डोरे से बर्तन में बँधा था नहीं तो उसकी पकड़-धकड़ में मुहूर्त चूक जाता। कुछ लोग मेंढक की उछल-कूद पर हँस पड़े। कुछ ने ब्राह्मण को फटकारा,—"डरते हो! दक्षिणा मिलेगी पण्डित जी! करो तिलक।"

पण्डित जी ने साहस बटोर कर मेंढक के ऊपर चन्दन छिटक दिया। फिर पड़ी भाँवर।

एक पटे पर मेंढक बाँधा गया। दूसरे पर मेंढकी। दोनों ने टर्र टर्र शुरू की।

नावता बोला—"ये एक-दूसरे से ब्याह करने की चर्चा कर रहे हैं।"

ब्राह्मणों ने भाँवरें पढ़ीं और पढ़वाईं। फिर दावत पँगत हुई। मेंढकी की बिदाई हुई। मेंढक के 'पिता जी' को दहेज़ भी मिला। मनुष्यों के विवाह में दहेज़ दिया जाए तो मेंढक-मेंढकी के विवाह में ही क्यों हाथ सिकोड़ा जाए? पानी बरसे या न बरसे, मेंढक के 'पिता जी' बहरहाल कुछ से कुछ तो हो ही गए। नावता दादा की अंटी में भी रक़म पहुँची। और इन्द्रदेव ने भी कृपा की।

बादल आए, छाए और गड़गड़ाए। फिर बरसा मूसलाधार। लोग हर्ष मग्न हो गए। नावते की धाक बैठ गई। कहता फिर रहा था—"मेरी बात ख़ाली तो नहीं गई। इन्द्रदेव प्रसन्न हो गए न।"

बरसा और बरसता रहा। इतना बरसा कि रुकने का नाम न ले रहा था। नाले चढ़े, नदियों में बाढ़ें आईं। पोखरे और तालाब उमड़ उठे। कुछ तालाबों के बाँध टूट गए। खेतों में पानी भर गया। सड़कें कट गईं। गाँवों में पानी तरँगे लेने लगा। जनता और उसके ढोर डूबने उतराने लगे। बहुत से तो मर भी गए। सम्पत्ति की भारी हानि हो गई। आठ-दस दिन के भीतर ही भीषण बरबादी हुई। इन्द्रदेव के बहुत हाथ-पैर जोड़े। वह न माने, न माने। लोग कह रहे थे कि इससे तो वह सूखा ही अच्छा था।

फिर नावते की शरण पकड़ी गई। अब क्या हो?

उसका नुस्ख़ा तैयार था। बोला—"कोई बात नहीं। सरकार ने तलाक का कानून पास कर दिया है। मेंढक मेंढकी का तलाक कराए देता हूँ। पानी बन्द हो जाएगा।"

"पर वह जोड़ा मेंढकों का कहाँ मिलेगा?" लोगों ने प्रश्न किया।

नावते का उत्तर उसकी जेब में ही था। उसने चट से कहा—"मेरे पास है।"

"कहाँ से आया? कैसे?"—प्रश्न हुआ।

उत्तर था—"मेंढक के पिता के घर से दोनों को ले आया था। जानता था कि शायद अटक पड़ जाए।"

पानी बरसते में ही तलाक की कार्रवाई जल्दी-जल्दी की गई। तलाक की क्रिया के निभाने में न तो अधिक समय लगना था, और न कुछ वैसा ख़र्च।

मेंढक मेंढकी दोनों छोड़ दिए गए। दोनों उछल कर इधर उधर हो गए।

परन्तु पानी का बरसना बन्द न हुआ। बाढ़ पर बाढ़ और जनता के कष्टों का वारापार नहीं।

गाँव छोड़ छोड़ कर लोग इधर-उधर भाग रहे थे। दुखी थे, और क्षुब्ध। एक-दो के मन में आया कि नावता मिल जाए तो उसका सिर फोड़ डालें।

परन्तु नावता कहीं नौ-दो-ग्यारह हो गया था।

●

ऑटोग्राफ़ की नायिका

पद्मनारायण

लकीरों की वक्रता में
यह संयोगिता, जो
अलसित सोई है, न जाने क्यों?
मेरे इन सूने क्षणों में
(शायद इसे सूना ही अच्छा लगता है।)
अपने रूप और भावों के साथ
मुखर हो उठी है।
केशों की रस्सियों को
पीछे फेंकती हुई,
आँखों में दार्शनिक भावों के साथ
कहने लगी : जीवन?
जिसे तुम प्यार करते हो? और
मृत्यु? जिससे अभी-अभी
तुमने भागने का भाव
प्रकट किया—इसी के विषय में न
पूछते थे?

मेरे प्रिय!
तुम्हारी ममता ठीक है :
सद्भाव को क्या कहूँ?
वह भी तो अनुरूप है!
तुम्हारी इन चिंतनाओं में
तुम्हारा परिवेश मुखर है।
रंगीनियों की लिप्सा
तुम्हारी ममता की माया है,
जो तुम्हें एक बार छेड़
फिर, दूर-दूर भागती रही है
और एक तुम हो,
जो धूल की तरह
आकाश में
खींचते जा रहे हो,
वहीं, जहाँ से अभी-अभी
तुमने भागने का भाव प्रकट किया था।

धम्मपद

सियारामशरण गुप्त

'धम्मपद' विभिन्न अवसरों पर विभिन्न जनों के प्रति संबोधित भगवान बुद्ध की उपदेश गाथाओं का संग्रह है। जिस श्रद्धा और विश्वास के साथ भारतीय श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ करते हैं, 'धम्मपद' को भी बौद्ध जनता का वही समादार प्राप्त है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत से लिखा गया अंश विशेष है। धम्मपद भी पालि भाषा के त्रिपिटक का एक खण्ड है। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ लोगों के तत्त्व संग्राहक पौरुष को प्रकट करते हैं। हिन्दू अथवा बौद्ध के ही लिए ये नहीं हैं। इनके वक्ता और श्रोता दोनों ही सार्वजनीन हैं। अर्जुन के सामने जो समस्या थी वह व्यक्ति विशेष की नहीं, वरन भिन्न-भिन्न रूपों में सब की थी। नर रूप में अर्जुन के ग्रहण किए जाने का हेतु यही है और इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दुओं के ही निमित्त न होकर सब की है। धम्मपद में भगवान बुद्ध ने जिन विभिन्न जनों को उद्बोधित किया, उन सब की समस्याएँ भी हम सब की हैं और इसी से शतियों से इस ग्रन्थ ने भी देश-विदेश में दूर-दूर तक असंख्य पुरुषों को प्रभावित किया है। भगवान बुद्ध को बौद्ध कहकर कैसे किसी सम्प्रदाय की सीमा में अवरुद्ध रखा जा सकता है, वे सब के—समस्त विश्व के—हैं और 'धम्मपद' में संगृहीत उनके वचन भी सब के लिए—समस्त विश्व के लिए हैं।

यह ग्रन्थ काव्य की प्रचलित रूप-रेखा के भीतर नहीं आता। प्रत्येक छन्द में अपनी रुचि का रस-भीना कवित्व चाहने वाले की प्यास, हो सकता है, यहाँ न बुझे। जल पीने के लिए समुद्र के किनारे जा पहुँचने जैसा उनका वह प्रयास सफल होने वाला है भी नहीं। धम्मपद में संगृहीत गाथाओं का रस भिन्न प्रकार का है। शतियों के कितने ही उलट-फेरों में न तो वह कभी सूखा और न कभी वह बासी ही पड़ा। अपनी दैनिक समस्याओं का समाधान इनमें हमें सरल और बोधगम्य भाषा में मिलता है। गाँव, नदी, वन, बाढ़, फूल-पत्ती, सीमान्त-रक्षा, कूड़े के ढेर, पशु-पक्षी, और सूर्य और चन्द्रमा के साथ संग्रथित करके तथागत ने इन्हें हमारे समग्र जीवन के साथ गूंथ दिया है।

कहा गया है कि तथागत के परिनिर्वाण के अनन्तर भिक्षुओं ने इन बुद्ध वचनों का संचयन इस उद्देश्य से किया कि भगवान को अनुपस्थिति में हमें इनसे निरन्तर प्रेरणा मिलती रहे। ईसा संवत् की पाँचवीं शती में बुद्धघोषाचार्य ने धम्मपद की अट्ठकथा नाम की टीका लिखी थी। उन्होंने प्रत्येक गाथा के सम्बन्ध में निर्देश किया है कि भगवान ने किस स्थान पर किस के प्रति वह वचन कहा। ये स्थान हमारे वर्तमान हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही आते हैं और इसी क्षेत्र की तत्कालीन लोक भाषा इन वचनों में सुरक्षित है। ऐतिहासिक कारणों से यद्यपि बौद्ध-धर्म भारतवर्ष में लुप्तप्राय है, फिर भी हमारे लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन दिनों जब संचार के साधन संसार में अत्यन्त सीमित थे, वैसे में भी ये दूर-दूर तक पहुँचे और चीन, बर्मा, स्याम और लंका आदि देशों में अपने मूल रूप में रक्षित रहकर आज तक समादृत हैं। इनके सम्बन्ध में अपने भाव का निदर्शन इन्हीं में से एक गाथा में हम इस प्रकार पाते हैं :

चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥
(लौटा चिर प्रवासी हो स्वस्ति संयुत दूर से,
ज्ञातिमित्र सुहृद् लेते अभिनन्दन से उसे।)

गाथा—१६-२१६

इन बुद्ध वचनों के सम्बन्ध में यही स्थिति वास्तव में हमारी है। अगली गाथा में हमारे इस भाव को और ऊँचे उठने का अवसर मिला है :

तथैव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं ।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति पियं ञाती व आगतं ॥
(तथैव सुकृती जाता यहाँ से परलोक में,
प्रिय पुण्य वहाँ लेते लौटे स्वजन-ज्यों उसे।)

गाथा—१६-२२०

और इस प्रकार ये गाथाएँ हमारे निचले स्वर से हमें अन्य लोक में ऊपर उठा ले जाती हैं। यही नहीं, हमारे इस लोक के समस्त 'ज्ञाति मित्र सुहृद्' उस लोक के अधिवासी सुकृतों से, पुण्यों से, तुलकर नए अभिनन्दन के गौरव से कृतार्थता का अनुभव करते हैं। इस देश में बौद्ध-धर्म के न रहने पर भी इसी से इन वचनों की सुरभि अब भी इस भूमि में बसी हुई है और हमारे सन्त और कवि इस भाव धारा में अविच्छिन्न रूप से हमारा वातावरण मुखरित किये रह सके हैं।

किसी कल्याणकारी धर्म का विरोध इन वचनों में नहीं है। मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी इनके तुल्यरूप वचन यत्र-तत्र मिलते हैं। ब्राह्मण वर्ग की गाथाओं में तथागत ने ब्राह्मण के लिए जो आदर्श उपस्थित किया है, वह गीता के स्थितप्रज्ञ जैसा ही है। तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ—कहकर किसी प्रकार का ब्राह्मण विरोध व्यक्त नहीं किया गया है। वाक्य में बल देकर यहाँ जो स्वर ऊँचा उठाया गया है, वह सच्चे ब्राह्मणत्व को जगाने के लिए है। विरोध पाखण्ड का ही किया गया है। जेतवन में एक जटिल ब्राह्मण के प्रति बुद्ध की उक्ति :

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

(नहीं ब्राह्मण है कोई जटा से जाति-गोत्र से,
सत्य को धर्म को धारे शुचि ब्राह्मण है वही।)

गाथा—२६-३६३

जाति, गोत्र और जटाओं की जटिलता से छूटने के लिए आज भी इस वाणी का स्मरण आवश्यक है। ब्राह्मण के अग्निहोत्र का उल्लेख इस गाथा के पहले इस प्रकार हुआ है :

यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्ध देसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो॥
(ज्ञान हो जिसके द्वारा सम्यक् संबुद्ध-धर्म का,
उसे नमन से पूजे विप्र ज्यों अग्निहोत्र को।)

गाथा—२६-३६२

अग्निहोत्र का यह उल्लेख यहाँ समादर के साथ ही है। तीखे शब्दों में विरोध और निन्दा भी मिलती है, परन्तु वह बनावट और ढोंग के लिए है :

किं ते जटाहि दुम्मेध! किं ते अजिनसाटिया?
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि॥
(दुर्बुद्धे, क्या जटाओं से और क्या मृगचर्म से,
अभ्यन्तर किये काला, धो रहा निज बाह्य तू।)

गाथा—२६-३६४

ब्राह्मण वर्ग ग्रन्थ के अन्त में होने से अनुमान किया जा सकता है कि सच्चे ब्राह्मणत्व की कितनी प्रतिष्ठा तथागत करते थे। क्षत्रियत्व के सम्बन्ध में उनकी भावना इस गाथा में अभिव्यक्त हुई है :

दिवा तपति आदिच्चो रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्ब महोरत्तं बुद्धो तपति तेजसा॥
(दिन में दीप्त आदित्य, रात्रि में दीप्त चन्द्रमा,
दीप्त क्षत्रिय सन्नद्ध, दीप्त ध्यानस्थ ब्राह्मण,
सर्वत्र ही अहोरात्र तेजोदीपित बुद्ध हैं।)

गाथा—२६-३८७

स्वयं अपने सम्बन्ध में तथागत का यह कथन कितना स्पष्ट है :

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं?
(हूँ सर्ववेत्ता सबका विजेता,
छूता मुझे रंच न धर्म कोई।
अतृष्ण हूँ, मुक्त अशेष दाही,
अभिज्ञ लूँ मैं किससे सुदीक्षा?)

गाथा—२४-३५३

रंगमंच पर किसी पुण्य पुरुष का अभिनय करते हुए अभिनेता को जैसे अपने अभिनय का कुछ संस्पर्श, क्षण भर के लिए ही सही, होता दीख पड़ता है, वैसे ही इस कोटि के वचन उच्चारित करते हुए सामान्य पाठक भी अपने में किसी ऊँचाई का अनुभव कर सकता है। इसी से ऐसी वाणी का उच्चारण और मनन सदैव श्रेयस्कर है। तथापि इस गाथा में तथागत का अलोकसामान्य रूप ही प्रकट हुआ। पढ़कर श्रद्धा और भक्ति का उद्रेक एक साथ होता है और यह लाभ भी अमूल्य और दुर्लभ ही है। फिर भी सर्वसामान्य के लिए इस भाव के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकना कठिन है। परन्तु पाठक जब यह गाथा पढ़ता है :

अहं नागो व संगामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥
(रण में सह लेता है सन्धाने शर नाग ज्यों,
दुर्वाक्य सह लूँगा मैं दुःशील बहुला धरा।)

गाथा—२३-३२०

तब अपनी त्रुटियों और अभावों से अभिज्ञ होते हुए भी वह अपने में वीरत्व का अनुभव करता है। उसे प्रतीत होता है, हम भी दुःशीलों के वाक्य-बाण सह सकेंगे। सामान्य पाठक के मन पर पड़ा हुआ यह प्रभाव सामान्य बात नहीं है। भारतवर्ष के मानसलोक में इन गाथाओं के सहस्रों बरसों से मुखरित होते रहने के कारण ही अपने महान निःशस्त्र सेनापति के नेतृत्व में वह अभी कुछ ही पहले पर-शासन से मुक्ति का अपना ऐसा अहिंसक अभियान सफल कर सका है कि जिसका उदाहरण संसार के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकता।

इस गाथा में उदाहृत हाथी का सहिष्णु शील इस भूमि की विशेषता है। किन्तु आगे चलकर निषादी के उदाहरण से पाठक के वीरभाव को और भी नई गति मिलती है। पिछले समय में बोधिसत्व का मन भी यथारुचि इधर-उधर छूटा रहा है, यह ज्ञान उसे उनके साथ अपनी तुलना कर सकने का गौरव देकर उसका हृदय छू लेता है और अपने को वह और ऊँचे स्थान पर आरूढ़ हुआ पाता है।

इदं पुरे चित्तमचारि चारितं
येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदुज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो॥
(यथेच्छ मेरा मन पूर्वकाल में
खुला फिरा है सुख से सभी कहीं।
इसे करूँगा वश अंकुशाग्र से,
यथा निषादी मदमत्त नाग को।)

गाथा—२३-३२६

इन गाथाओं के संग्रहकर्ता भिक्षु थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे मुख्यतः ऐसे वचन चुनते जो कहीं भी परिव्रजन करते हुए भारी न बैठें। फिर भी इनमें भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य जनों के लिए भी बहुत कुछ है। जेतवन में पाँच सौ भिक्षुओं को उपदेश करते हुए भगवान का वचन है :

वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो॥
(यूथिका झाड़ देती है फूल वे सब म्लान जो,
भिक्षुओ छोड़ दो त्यों ही राग को और द्वेष को।)

गाथा—२५-३७७

लताओं को अपने म्लान पुष्प झाड़ते हुए केवल उसी भिक्षु-संघ ने नहीं देखा था, अपने बाग-बगीचों में हम सभी यह सब देखते हैं। अतः हम सभी इस गाथा का सौरभ पा सकने के अधिकारी हैं।

'यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे' नामक श्री रवीन्द्रनाथ के गीत के 'एकला चल' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कितने ही युवक इसका उच्चारण करते हुए अपने क्रान्ति पथ में मृत्यु को सानन्द भेंट सके हैं। इस पर से यह अनुमान हम सहज ही कर सकते हैं कि धम्मपद की इस गाथा ने अमृत तीर्थ के अगणित यात्रियों को कितना अभय और कितनी प्रेरणा दी होगी :

चरं चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दलूहं कयिरा नत्थि बाले सहायता॥
(सहचारी न हो कोई श्रेष्ठ या निज तुल्य, तो
चले सुदृढ़ एकाकी, मूर्ख की क्या सहायता।)

गाथा—५-६१

और यह गाथा आज भी हमारे लिए जीवनमन्त्र का काम दे सकती है :

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं॥
(क्रोध अक्रोध से जीते, साधुता से असाधुता,
लोभी को दान से जीते, सत्य द्वारा असत्य त्यों।)

गाथा—१७-२२१

आज के लुब्धक संसार में इसी बोध की आवश्यकता हमें है। जातक कथाओं में कहा गया है कि मनुष्यों ही नहीं, पशु-पक्षियों तक में अवतरित होकर, उतर कर, अनेक जन्मों की संसिद्धि के रूप में बहु बोधिसत्वों ने इस परम ज्ञान की उपलब्धि की है। अतः गौतम अधिकार पूर्वक ही कहते हैं :

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
(दण्ड-त्रास सभी को है, सभी को भय मृत्यु का,
आत्म-ज्यों सब को जाने, आघाते न हने कहीं।
दण्ड-त्रास सभी को है, सभी जीवन चाहते,
आत्म-ज्यों सब को जाने, आघाते न हने कहीं।)

गाथा—१०-१२६-१३०

भाव एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न स्वरों में आरोह-अवरोह के साथ गुनगुनाया गया है। पुनरुक्तियाँ हैं, तो वे भी आभूषण बन कर शोभित हो उठी हैं। पाठक को यह नहीं जान पड़ता कि उस पर कुछ लादा जा रहा है। इसी से धम्पद की ये गाथाएँ छन्द से उठ कर गीत बन गई हैं। उनकी टेक दूर-दूर तक मुखरित है, जैसे हमारे लिए भी छूट हो कि भाव को इसी प्रकार हम भी आगे बढ़ा सकते हैं।

कितना उल्लास है इन उद्‌गारों में!
सुसुखं वत जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो -
वेरिनेसु मनुस्सेसु बिहराम अवेरिनो॥
सुसुखं वत जीवाम आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा॥
सुसुखं वत जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका॥
सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभास्सरा यथा॥
(सुख से हम जीते हैं वैरियों में अवैर हो;
वैर हीन सवैरों में विहार करते अहो!
सुख से हम जीते हैं रोगियों में अरोग हो;
रोग हीन स-रोगों में विहार करते अहो!
सुख से हम जीते हैं रागियों में अ-राग हो;
रागहीन स-रागों में विहार करते अहो!
सुख से हम जीते हैं जो अकिंचन ही अहो!
आभास्वर सुरों जैसा लेंगे आहार प्रीतिका॥

गाथा—१५-१६७-२००

पच्चीस शतियाँ बीत चुकी हैं जब तथागत ने प्रीति का आहार ग्रहण करने का यह संकल्प किया था। अब यह देखने का अवसर है कि हम कितना क्या उन्हें अर्पित कर सके हैं। उस समय के लोगों की स्थिति इस गाथा में अभिव्यक्त है :

सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं॥
(जो निर्लज्ज वृथाभाषी काकशूर विघातकी,
हीनवृत्ति दुराचारी दीखते हैं सुखी यहाँ।)

गाथा—१८-२४४

लगता है, वह स्थिति आज भी वैसी ही है। लोगों की विध्वंस वृत्ति में भी अन्तर पड़ा नहीं जान पड़ता है। हाँ, उनकी संहारशक्ति और बढ़ गई है। इससे यह अवश्य हुआ है कि बड़ी-बड़ी राजशक्तियाँ भी हिंसकास्त्रों से अपने को सुरक्षित न पाकर शान्ति के पथ की ओर उन्मुख हैं। आज के अन्धकार में आशा की यही किरण बहुत बड़ी है। हमारी कामना है, ऐसे में ये बुद्ध-वचन हमें सुबुद्धि देकर लोक के उद्धार में सहायक हों :

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥
(वैर से वैर की शान्ति होती नहीं कदापि है,
शान्ति निर्वैर से ही है, यही धर्म सनातन!)

हमारा आज का मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न

इन्द्रसेन

'संस्कृति' आधुनिक युग का सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। हमारे क्रियात्मक व्यवहार, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, चाहे कैसे भी तात्कालिक फलों से चालित हों, विचार की दृष्टि से उन्हें हम उनके सांस्कृतिक अर्थ और मूल्य से ही सिद्ध करने का यत्न करते हैं अथवा उनका वास्तविक मूल्य उनके सांस्कृतिक अर्थ में ही स्वीकार करते हैं। यह शब्द और इसकी भावना, प्रत्यक्ष ही, आज अत्यन्त प्रभावशाली हो रहे हैं।

परन्तु जितना यह शब्द प्रभावशाली और प्रचलित है उतना ही शायद इसका अर्थ अनिश्चित है। पाश्चात्य विचारकों के मत अत्यन्त रोचक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इस विषय के एक विशेषज्ञ हैं और उनका ग्रन्थ 'पश्चिम का अधोगमन' जगद्विख्यात है। उनके विचार में यूरोप की सांस्कृतिक स्थिति का जीवन काल यूनानी संस्कृति के साथ समाप्त हो गया था और अब वह सभ्यता की अवस्था में आ पड़ा है। जहाँ पहले आन्तरिक प्राण और सजीवता थी वहाँ अब बाह्य शिल्प और यन्त्र-आयोजन है। यही सांस्कृतिक अधोगमन का प्रारम्भ है। हरमान काईजरलिंग, एक और प्रसिद्ध विचारक सभ्यता को संस्कृति के पतन की स्थिति नहीं मानते। वे इसे बर्बरता के बाद की स्थिति कहते हैं। ऐसी स्थिति जब कि बाह्य जीवन और व्यवहार में कुछ संगठन और नियम आ जाते हैं। परन्तु, प्रत्यक्ष ही, दोनों के लिए संस्कृति आन्तरिकता की भावना रखती है और सभ्यता बाह्य परिस्थिति और व्यवहार की। एलबर्ट स्वाईटजर इसी विषय के एक और प्रसिद्ध विशेषज्ञ हैं। वह संस्कृति को आन्तरिक अनुशीलन मानते हुए, विशेष बल नैतिक भावना के विकास पर देते हैं। किसी मनुष्य ने कितना भी पढ़ा-लिखा क्यों न हो, कलाओं का कितना भी भावुक मर्मज्ञ वह क्यों न हो उसकी चित्त-शक्ति भी चाहे कितनी विकसित हो, फिर भी यदि व्यक्तित्व मूल रूप में नैतिक भाव और भावना से प्रेरित नहीं है तो वह वास्तविक अर्थ में संस्कृत नहीं। नैतिक भाव और भावना पर आग्रह सामान्य प्राकृतिक सूचनार्थक ज्ञान के विरोध में पैदा हुआ है। लगभग ४०० वर्ष से यूरोप के प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकृति के नियमों को जानने, उनका व्यावहारिक उपयोग उठाने में विशेषज्ञ बनने का यत्न कर रहे हैं। और इसके परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार हुए हैं और एक शक्तिसम्पन्न और आडम्बरशील सभ्यता की रचना हुई है। परन्तु इस वैज्ञानिक सभ्यता की अपरिमेय शक्ति को योग्य रीति से संचालित करने के लिए आवश्यक हितभाव अथवा समाज के प्रति कर्त्तव्य-भाव विकसित नहीं हुआ। फलतः उन शक्तियों का विनाशकारी और अहितकर प्रयोग अधिक हो रहा है। इस संकटावस्था को तीव्र रूप में अनुभव करते हुए स्वाईटजर महोदय कहते हैं कि संस्कृति में नैतिक भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जाति को संस्कृत नहीं कहा जा सकता।

'संस्कृति' के विचार की ये सभी पाश्चात्य भावनाएँ एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही आधार पर स्थित हैं। वह आधार है मानवी व्यक्तित्व का मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को विकसित करना, उनकी विभिन्नताओं में से अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करना और उनके प्रयोग से फिर परिस्थिति और समाज को संगठित और अधिकृत करना। शिल्प, कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि की रचना इस विकास का साधन भी है और ध्येय भी। वास्तव में ये सब सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ ध्येय अधिक हैं और मानव को अपने आन्तरिक भाव में उन्नत करने की साधन कम। इसीलिए आज का सांस्कृतिक विकास मानव चेतना के लिए आडम्बर और भार बना हुआ है। मानव चेतना मानो उनसे परिचालित होती है, वे मानव चेतना से अधिकृत नहीं हैं।

'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति' सम्बन्धी भारतीय विचार मौलिक रूप में पाश्चात्य विचार से भिन्न हैं। वहाँ इस विचार में 'अनुशीलन' का भाव प्रधान है और यहाँ 'शोधन' का। वहाँ यत्न है अनुशीलन अथवा अभ्यास द्वारा मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को अपनी विशिष्ट-विशिष्ट पराकाष्ठा तक विकसित करना। यहाँ पुरुषार्थ है मन, प्राण और शरीर के साथ आत्म भाव के सम्मिश्रण को दूर करना और वास्तविक आत्मभाव को उपलब्ध करना और फिर उस भाव से सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को यथार्थ आत्माभिव्यक्ति बनाना। भारत की सब कलाओं और विज्ञानों तथा दर्शन और धर्म-शास्त्र की प्रधान धारा, निश्चित रूप में, यही है। श्री अरविन्द जैसे भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ तथा ज्ञाता बलपूर्वक कहते हैं : "आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुंजी है, अनन्तता की भावना उसकी सहजात भावना है। भारत ने आदि काल में ही यह देख लिया—और अपने तर्क बुद्धि के युग में तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञान के युग में भी उसने वह अन्तर्दृष्टि कभी खोई नहीं,—कि जीवन को केवल उसकी बाह्य परिस्थिति के प्रकाश में ही ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता और न ही वह केवल उन्हीं की शक्ति से पूरी तरह बिताया जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियों की महत्ता के प्रति जागरूक था; भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का उसे सूक्ष्म बोध था; वह साधारण जीवन की कलाओं को संगठित करना जानता था। परन्तु उसने यह देखा कि भौतिकता को अपनी पूरी सार्थकता तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक वह अतिभौतिक से ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर

लेती; उसने देखा कि संसार की जटिलता की व्याख्या मनुष्य की वर्तमान परिभाषाओं से नहीं की जा सकती और न ही मनुष्य की स्थूल दृष्टि इसे समझ सकती है, और विश्व के मूल में कुछ अन्य शक्तियाँ हैं तथा स्वयं मनुष्य के भीतर भी कुछ अन्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।''

परन्तु आध्यात्मिकता कोई विभिन्नता और विविधताशून्य एकरसता नहीं। यह अत्यन्त समृद्ध तथा समूर्त जीवन का एक स्तर है, मानसिक तथा बौद्धिक से अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण। आध्यात्मिक जीवन की समता का अर्थ विभिन्नता और मौलिकता रहित समानता नहीं। इसका अर्थ है वास्तव में रजोगुणी आवेशों के उतार-चढ़ाव से मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलनों से स्वतन्त्र शान्त अन्तर में गम्भीर तथा मौलिक आत्मप्रेरणा द्वारा जीवन की स्थिति और गति का निर्धारण। प्रत्यत्न ही, साधक और सिद्ध निजी अभीप्सा तथा विकास की विशेषता से भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक भावों को अभिव्यक्त और द्योतित करेंगे। इन भावों में जहाँ शान्ति और समता एक न्यूनतम सामान्य अंश होगा, वहाँ उनमें समृद्धता में कम व अधिक अथवा स्तर में ऊँच व नीच के भेद होंगे। अथवा इनमें एक क्रम-विकास दिखाई देगा और अनन्त भावी विकास की सम्भावना तो सदा ही उपस्थित रहेगी।

इस दृष्टि से यदि हम भारतीय जीवन के ऐतिहासिक विकास को विचारें तो हमें कई अपूर्व तथ्य दिखाई देंगे जो हमें आज की अपनी जातीय स्थिति को अधिगत करने में विशेष सहायक हो सकते हैं। इतना हमें यहाँ स्मरण कर लेना चाहिए कि हमारा प्रयोजन ऐतिहासिक छोटी-बड़ी घटनाओं से नहीं है। हम देखना चाह रहे हैं उस जातीय चेतना को जो सब प्रकार के सुखद-दुःखद अनुभवों से विकसित होती गई है। इस चेतना की धारा, हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार, वेदकाल से शुरू होकर अब तक अनवरत रूप में ही बहती रही है। ऐसा लम्बा जीवन संसार में हिन्दू जाति की अद्वितीय विशेषता है और यह अपने आप में एक गम्भीर सांस्कृतिक तथ्य है।

स्वाधीनता उपलब्ध करने के बाद हमारी जातीय चेतना ने अपने प्रश्नों के लिए स्वयं हल ढूँढ़ने शुरू किए। आज संसार भर की स्थिति विषम है, उसमें अपने विकट प्रश्नों का बुरा उलझाव पड़ा हुआ है। भारत में भी सामान्यतः यही स्थिति है। परन्तु हम उत्साहपूर्वक अपने प्रश्नों को हल कर रहे हैं। बहुतों को हल कर चुके हैं और बहुतों को नहीं कर पाए हैं। स्वीकार करना होगा कि हम अनेक बार काफ़ी व्यग्र और चिन्तित हो जाते हैं, अपनी स्थिति के लिए अपने आपको अपर्याप्त अनुभव करते हैं। इस स्थिति के प्रश्नों के बारे में तथा उनके समाधानों में बारे में हम अनेक मत और विचार सुनते हैं। ये सब प्राय: संगठन और नियम-कानून द्वारा स्थिति को सुधारने के उपाय होते हैं। इन सब में कुछ न कुछ सार्थकता है। परन्तु ये उपाय मूल कारण को स्पर्श नहीं करते। यह उस चेतना से सीधा सम्पर्क नहीं रखते जो स्थिति के साथ संघर्ष कर रही है और अपने आपको अपूर्ण अनुभव कर रही है। इस चेतना का, इस अपूर्णता का यथार्थ निरूपण और निदान आज की सबसे पहली आवश्यकता है और हमारी जिज्ञासा यहाँ विशेष रूप से यही है।

अपनी वर्तमान वास्तविक चेतना-स्थिति को जानने के लिए एक ऐतिहासिक पुनरावलोकन अत्यन्त सहायक होगा। वैदिक काल की जातीय चेतना का चिन्तन करते हुए हम अपने आपको एक-दूसरे जगत में अनुभव करने लगते हैं। वैदिक युग का नेता 'ऋषि' था और वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक शरीर और चेतना में स्वस्थ तथा अन्तर्दृष्टियुक्त और आनन्दमय प्राणी अनुभव होता है। यह प्रकृति के सौन्दर्य को अनुभव करता है, उसका भक्त है। स्त्री, सन्तान, धन-धान्य आदि के लिए मुक्त कण्ठ से प्रार्थनाएँ करता है और उन्हें वह यथार्थ स्वीकारात्मक भाव में ग्रहण करता है। पर फिर भी वह स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं। वह तो गम्भीर अध्यात्मवादी है। वह अन्तर्दृष्टि से वस्तुओं के निहित चेतन तत्व को जानता है और उसकी ही अभिव्यक्ति अनुभव करता है। वेद मन्त्रों के वातावरण में निवास करना मानो आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के वास्तविक आनन्द का उपभोग करना है। वैदिक ऋषि गाता है, "पश्य देवस्य काव्यं न ममार, न जीर्यति", देखो, इस प्रभु के सुन्दर जगत को जो न नष्ट होता है, न पुराना पड़ता है। वह प्रार्थना करता है "जीवेम शरदः शतम्", हम सौ साल तक जीएँ। आँख, नाक, कान आदि के सबल रहते सौ वर्ष तक जीएँ। वह अग्नि, वरुण, आदि प्राकृतिक शक्तियों से कितना प्रभावित है, वे उसे कितनी प्रिय लगती हैं। वह किस सरलता से स्त्री, सन्तान, धन-धान्य पृथ्वी आदि के लिए प्रार्थना करता है और किस स्वाभाविकता से उनका उपयोग तथा उपभोग करता प्रतीत होता है। वह कहता है, "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ······ निधि विभूति बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे", मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, वह मुझे अपनी विविध सम्पत्ति तथा गुप्त धन प्रदान करे। साथ ही वह आध्यात्मिक चेतना की भी किन उड़ानों का आनन्दपूर्ण वर्णन करता है। वह आध्यात्मिक जगत् का अनथक अन्वेषक है। वह सत्यं ऋतं बृहत्, सत्य, यथार्थ और बृहत का उपासक है। वह अभीप्सा करता है "ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदा विष्कृणुस्व दैव्यान्यग्ने", हे अग्नि तू ऊपर उठ, सब आवरणों को भेद डाल और हमारे अन्दर देवत्व को प्रकट कर।

कालांतर में स्थिति बदल जाती है और हमारी जातीय स्मृति के चिन्ह मंद पड़ने लगते हैं। हम आन्तरिक चेतना का बल खोकर बाह्य कर्मकाण्ड में लिप्त हो जाते हैं, हमारे व्यवहार में दम्भ आ जाता है। कितने समय बाद फिर गौतम बुद्ध के रूप में एक उच्च कोटि का जिज्ञासु प्रकट होता है। वह संसार को दुःखरूप अनुभव करता है, रोग, जरा और मृत्यु का उपाय ढूँढ़ना चाहता है। वह निर्वाण स्थिति प्राप्त करता है और त्याग के महा-मन्त्र का उपदेश देता है। संसार को छोड़कर स्त्री, पुरुष भिक्षु और भिक्षुणी बन भारतवर्ष तथा आस-पास के अनेक देशों में अपने जीवन के दृष्टान्त से उसी उपदेश को सुनाते हैं।

शताब्दियों तक 'संसार तुच्छ है, त्याज्य है' यह भाव जनता के अन्तःकरण में रमता चला जाता है। फिर एक और महापुरुष प्रकट

होकर जातीय चेतना को नए रूप में उद्वेलित कर देता है। शंकराचार्य नास्तिक बौद्ध-धर्म के स्थान पर आस्तिक हिन्दू-धर्म को प्रतिष्ठित करता है। जनता में एक व्यापक चेतन-तत्त्व के लिए, ब्रह्म के लिए भावना पैदा हो जाती है। परन्तु संसार पहले के समान ही तुच्छ और त्याज्य रहता है, बल्कि माया बन जाता है। कर्ममात्र बन्धन हो जाता है तथा जीवन से मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाना पूर्णता।

फिर अनेक बड़े-बड़े ईश्वरभक्त स्मरण आते हैं। कैसी है उनकी भक्ति, कैसी तल्लीनता। परन्तु संसार उनके लिए भी हौआ है, कनक और कामिनी पाप का मूल है।

अपने इतिहास के निकट भूत में हम एक नई भावना का उदय देखते हैं। कई महान मूर्तियाँ प्रकट होकर जाति के नकारात्मक भाव के स्थान पर स्वीकारात्मक वृत्ति पैदा करने का यत्न करती हैं। अपना ऐहिक जीवन सुधारने को कहती हैं, पिछड़े हुए भाइयों को अंगीकार करने का आदेश देती हैं, स्त्रियों के प्रति स्वस्थ भाव बनाने की प्रेरणा देती हैं, वैदिक आदर्शों का स्मरण कराती हैं, राज-सत्ता अधिगत करने के लिए संघर्ष का भाव उत्तेजित करती हैं।

भारतीय चेतना के लम्बे विकास की ये प्रधान स्थितियाँ और गतियाँ कही जा सकती हैं। ये सब आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं और इन सब की भारतीय चेतना के लिए कुछ देन है।

इन सब में अपने-अपने ढंग का आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध सांस्कृतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। वैदिक चेतना आध्यात्मिक चेतना होने के कारण प्रकृति से अपने आपको अलिप्त और स्वतन्त्र अनुभव करती है पर फिर भी प्रकृति पर पूरा अधिकार अनुभव करती है और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करती है। बुद्ध-काल की चेतना संसार के प्रति, प्रत्यक्ष ही, भयभीत भाव रखती है। संसार दुःखमय है और इसका त्याग ही एकमात्र उपाय है। उस समय मानो हमारी चेतना एक एकांतिक जगत से अलग, आध्यात्मिक सौम्यता के अनुभव के लिए लालायित हो उठी थी। वह गति, वास्तव में थी एक प्रतिक्रिया– बाह्य नीरस धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति, जो उस समय की सामान्य अवस्था बनी हुई थी।

इस प्रतिक्रियात्मक गति को शंकराचार्य ने बहुत सुधारा– आत्मा के अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया। परन्तु यह धारा अपने आप में बौद्ध विचार की प्रतिक्रिया भी थी। बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा के विषय में मौन धारण किया था, मानो उनका अस्तित्व है ही नहीं। शंकर ने कहा, केवल ब्रह्म ही है और कुछ नहीं। संसार दुःखमय है, माया है, सर्वथा त्याज्य है अथवा मजबूरी का बन्धन है। ये भाव-भावनाएँ हमारी जातीय चेतना में लगभग ढाई हज़ार वर्ष से रम रही हैं। परिणाम-स्वरूप जहाँ हमने आध्यात्मिक अनुभव में कुछ नई उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वहाँ संसार और जगत के जीवन में अनेक कष्ट भी झेले हैं, राज-पाट खोया और शक्ति तथा प्रभाव से वंचित रहे। हम कह सकते हैं कि हमने एक विशेष आध्यात्मिक अनुभव की सबलता तथा सीमा दोनों को जान लिया। इससे हम वैदिक और औपनिषदिक आदर्श की विशेषता को अनुभव करने के लिए विशेष रूप से तैयार हो गए हैं और निश्चय ही, अब जो नई चेतना विकसित होगी वह सम्भवतः पूर्णतर होगी। अथवा यदि हम अपनी ऐतिहासिक उपलब्धियों का लाभ उठाते हुए आगे चलना चाहें तो वह कम से कम पूर्णतर हो सकती है।

हमारे निकट भूत के महापुरुषों ने संसार और जगत के प्रति एक नया स्वीकारात्मक भाव पैदा करने पर ज़ोर दिया है। वे एक के बाद एक, चेतना के अन्दर नया विश्वास, नई शक्ति तथा संघर्ष भाव भरते रहे हैं।

परन्तु सत्ता अधिगत करने के बाद, अधिकार और राजशक्ति के प्रति जो हमारा मनोभाव एकदम ही विकसित हो गया उसने हमें कुछ चौंका-सा दिया है। इस नई स्थिति में हमने यथोचित रूप में स्वस्थ और तटस्थ अनुभव नहीं किया। हम सत्तालोलुप हो गए। स्वाभाविकतया हमें चिन्ता होती है और हम अनुभव किए बिना रह नहीं सकते कि हमारी मध्य युगीन चेतना के पुराने संस्कार इतनी जल्दी दूर नहीं हो सकते। जो चेतना संसार से भय मानती थी, वह अब भी या तो किंचित् भय और अविश्वास को व्यक्त कर रही है या प्रतिक्रिया रूप में लोलुपता दिखा रही है। इन संस्कारों का शोधन और जगत सम्बन्धी स्वस्थ स्वीकारात्मक भाव बनाना ही, हमारे विचार में, आज की भारतीय चेतना का मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न है। आज के हमारे प्रश्न प्रथमतः इस विकास की माँग करते हैं और यदि हम अपने प्रश्नों के इस मौलिक रूप को देख सकें तथा उसका ऐतिहासिक कारण पहचान सकें तो आधा हल स्वतः प्राप्त हो जाएगा।

आज संसार 'संस्कृति' की पाश्चात्य भावना के अनुसार मन, प्राण और शरीर के 'अनुशीलन' में लगा हुआ है और प्रकृति में लिप्त भाव के कारण आत्मभाव और आत्म-गौरव को खो बैठा है। प्रकृति में लिप्त भाव होने के कारण ही आज की पाश्चात्य चेतना के लिए यह विपुल वैज्ञानिक विकास संकट बन गया है। संस्कृति सम्बन्धी भारतीय विचार ही इसका यथार्थ समाधान है। 'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति' का अनिवार्य लक्षण है आन्तरिक शुद्ध भाव अर्थात् आत्मा का मन, प्राण और शरीर की प्राकृतिक चेष्टाओं से स्वतन्त्र तथा तटस्थ भाव। इससे ही मानव प्रकृति में स्वामी भाव से विचर सकता है और उसका यथोचित उपयोग और उपभोग कर सकता है।

भारत की सामान्य मानव संस्कृति के लिए यह अमूल्य देन हो सकती है। वास्तव में भारत अपने यथार्थ सांस्कृतिक भाव को अभिव्यक्त करके इस समय संसार को संकट से निकाल लेने की भी सामर्थ्य रखता है। परन्तु उसे अपने मध्य युगीन अनुभवों का उचित शोधन करना होगा। जगत-त्यागात्मक भाव को एक उच्चतर स्वीकारा-त्मक अध्यात्मवाद में संगठित करना होगा। जगत अपने आप में, आत्मा का विरोधी ध्रुव होते हुए तुच्छ भी है और त्याज्य भी। परन्तु वास्तव में तो वह ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, एक प्रयोजनीय चरितार्थता है। तब वह त्याज्य कैसे हो सकता है? निश्चय ही हमें ब्रह्म को उसके सर्वांगीण रूप में अंगीकार करना तथा उसके साथ पूर्ण तादात्म्य के लिए अभीप्सा करते हुए उसके सगुण और निर्गुण रूप में, उसकी

(शेष पृष्ठ ४१ पर)

चण्डालिका

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रथम दृश्य

माँ—प्रकृति, ओ प्रकृति ! गई कहाँ ! न जाने लड़की क्या हो गई । घर में तो कहीं दिखाई ही नहीं पड़ती ।

प्रकृति—क्या है माँ, यहीं तो हूँ ।

माँ—कहाँ ?

प्रकृति—यहाँ, कुएँ पर ।

माँ—गज़ब कर दिया तूने । दोपहरी बीत चुकी है, चिलचिलाती धूप, धरती जलने लगी है, पैर नहीं रखा जाता । घर का पानी सुबह कब का भरा जा चुका है । मुहल्ले की सब लड़कियाँ पानी भर ले गईं । ये देख, मारे गरमी के आँवले की डाल पर कौवा चोंच खोले हाँफ रहा है और तू अकारण बैसाख की इस धूप में तप रही है । पुराणों की कथा सुनी है, उमा ने घर छोड़कर, बाहर जलती हुई धूप में तप किया था । तेरी भी क्या वही दशा है ?

प्रकृति—हाँ माँ, ठीक है, तप ही तो कर रही हूँ ।

माँ—आश्चर्य में डाल दिया तूने । किसके लिए तप कर रही है ?

प्रकृति—जिसने मुझे पुकारा है ।

गान

ये आमारे दिये छे डाक दिये छे डाक,
वचन हारा आमाके ये दिये छे वाक् ॥
ये आमारि नाम जेनेछे ओगो त्सरि
नामखानि मोर हृदये थाक् ॥[1]

माँ—किसकी पुकार ?

प्रकृति—जो मेरे मन में झंकृत कर गया है—'जल दो' ।

माँ—हतभागिनी ! तुझसे कहा—'जल दो' ! कौन है वह, सुनूँ तो ! तेरी अपनी जाति का है कोई ?

प्रकृति—वही तो कहा था, वे हमारी अपनी जाति के ही हैं ।

माँ—तूने जाति छिपाई तो नहीं ? कहा था कि तू चण्डालिनी है ।

प्रकृति—कहा था । वे बोले, झूठ बात है । कहने लगे, सावन के काले बादल को चण्डाल कह कर पुकारने से क्या होता है, इससे उसकी जात बदल नहीं जाती और न नष्ट होता है उसके जल का गुण । उन्होंने कहा, स्वयं अपनी निन्दा मत करो । आत्म-निन्दा पाप है, आत्महत्या से भी बढ़ कर ।

माँ—तेरे मुँह से यह सब क्या सुन रही हूँ ? तुझे क्या पूर्वजन्म की कोई कहानी याद आ गई है ?

प्रकृति—यह कहानी मेरे नए जन्म की है ।

माँ—सुन कर हँसी आती है । तेरा नया जन्म ! हुआ कब ?

प्रकृति—उस दिन राजमहल में दोपहर का घण्टा बजा, कड़ाके की धूप पड़ रही थी । जिस बछड़े की माँ मर गई है उसे नहला रही थी । कुएँ के जल से । कब बौद्ध-भिक्षु सामने आकर खड़े हो गए । पीले वस्त्र थे उनके । बोले जल दो । प्राण चमत्कृत हो उठे, सिहरकर दूर से प्रणाम किया, प्रभात कालीन प्रकाश से निर्मित था उनका रूप । मैंने कहा, मैं चण्डाल कन्या हूँ और कुएँ का जल अशुद्ध है । उन्होंने कहा, जो मनुष्य हैं वही मनुष्य तुम भी हो । वे सभी जल तीर्थ-जल हैं जो तापित को स्निग्ध करते हैं और तृषित को तृप्त करते हैं । पहले-पहल ऐसी बात सुनी । पहले-पहल (उन्हें) एक चुल्लू जल दिया जिनके चरणों की धूल का एक कण लेते कलेजा काँप जाता था ।

माँ—अरी नासमझ लड़की ! हठात तूने ऐसा दुस्साहस कैसे किया ? इस पागलपन का प्रायश्चित्त करना होगा । जानती नहीं किस कुल में तेरा जन्म हुआ है ?

प्रकृति—केवल एक चुल्लू जल लिया था मेरे हाथ से और वह जल अगाध-असीम हो उठा । उसी जल में सातों समुद्र एक हो गए, उसी में मेरा कुल डूब गया और उसी से धुल गया मेरा जन्म ।

माँ—तेरे मुँह से निकलने वाली बातें तक बदल गई हैं । तेरी बातों पर भी जादू कर दिया है । क्या कह रही है यह स्वयं भी कुछ समझ पा रही है ?

प्रकृति—सारी श्रावस्ती नगरी में और कहीं क्या जल नहीं था ? इसी कुएँ पर क्यों आए ? इसी को तो कहते हैं पुनर्जन्म होना । मानव की तृष्णा बुझाने का गौरव मुझे प्रदान करने आए थे । इसी महापुण्य को वे खोज रहे थे । जिस जल से व्रत पूर्ण हुआ वह जल और कहीं तो पाते नहीं, किसी तीर्थ में नहीं । कहते थे वनवास के आरम्भ में जानकी ने इसी जल से स्नान किया था और वह जल भर कर लाया था गुहक चण्डाल । तभी से मेरा मन नाच उठा है । दिन-रात यही गम्भीर कण्ठ-स्वर सुनती रहती हूँ—जल दो, जल दो ।

गान

बले दाओ जल, दाओ जल ।
देब आमि, के दियेछे हेन सम्बल ॥
कालो मेघ-पाने चेये
एल धेये
चातक विह्वल—
दाओ जल, दाओ जल !
भूमितले हारा

1. जिसने मुझे पुकारा है, मुझे पुकारा, मैं—जो मूक हूँ—उसे, जिसने वाणी दी है । जिसने मेरा नाम जान लिया है, अरी ! उसी का नाम मेरे हृदय में विराजे ।

उत्सेर धारा
अन्धकारे
कारागारे
कार सुगभीर वाणी
दिल हानि
कालो शिलातल
दाओ जल, दाओ जल ॥[२]

माँ—क्या कहूँ बेटी ? मुझे तो यह बात कुछ अच्छी नहीं मालूम होती। उनके मन्तरों का जादू मैं नहीं समझ पाती। आज तेरी बात नहीं समझ पा रही हूँ। (हो सकता है) कल तेरा चेहरा ही न पहचान सकूँ। उन लोगों का यह है प्राणों का बदल देने वाला मन्तर।

प्रकृति—पहचान नहीं सकी इतने दिनों तक। जिन्होंने पहचाना है वे ही पहचनवा देंगे। इसी की प्रतीक्षा में हूँ। राजमहल में दोपहर का घण्टा बज रहा है, लड़कियाँ पानी भरकर ले जा रही हैं। श्वेत चील अकेली सुदूर आकाश में उड़ रही है और मैं अपना घड़ा लेकर कुएँ पर रास्ते के किनारे आ बैठी हूँ।

माँ—किसके लिए ?

प्रकृति—पथिक के लिए।

माँ—तेरे पास कौन पथिक आएगा पगली ?

प्रकृति—वही एक पथिक माँ, वही एक पथिक। उसी एक पथिक में विश्व के सकल पथों के सब पथिक हैं। दिन पर दिन बीतते जाते हैं लेकिन वे आए तो नहीं। बिना कुछ कहे ही जो मुझे वचन दे गए थे किन्तु उन्होंने अपना वचन क्यों न निभाया ? मेरा मन तो मरुभूमि के समान हो उठा है। धू-धू करता रहता है सारे दिन, हू-हू करती रही है तप्त हवा क्योंकि वह जल नहीं दे पाता। कोई आकर माँगता भी तो नहीं।

गान

चक्षे आमार तृष्णा, ओगो
तृष्णा आमार वक्ष जुड़े।
आमि वृष्टिविहीन वैशाखी दिन,
सन्तापे प्राण याय ये पुड़े॥
झड़ उठेछे तप्त हाओयाय
मनके सुदूर शून्ये धाओयाय,
अवगुण्ठन याय ये उड़े॥
ये-फुल कानन करत आलो
कालो हये से शुकालो।
झरनारे के दिल बाधा
तापेर प्रतापे बाँधा
दुःखेर शिखर चूड़े॥[३]

माँ—तेरी आज की बात तो बिलकुल नहीं समझ पा रही हूँ। न जाने तुझ पर कौन सा नशा सवार है। क्या चाहती है मुझसे साफ-साफ कह ?

प्रकृति—मैं उन्हीं को चाहती हूँ। सहसा आकर वे मुझे बता गए, विधाता की दुनिया में मेरी सेवा भी स्वीकार होगी। इतनी बड़ी आश्चर्यजनक बात ! मैं सेविका हूँ, उन्होंने इसी बात को धूल से उठा कर अपने हृदय के निकट स्थान दिया, इस धतूरे के फूल को।

माँ—ध्यान रखना प्रकृति, उनकी ये बातें कहने-भर की हैं, अमल में लाने की नहीं। दुर्भाग्यवश जिस कुल में तूने जन्म लिया है वह पंकिल घेरा तोड़ सके ऐसी सब्बल भी कहीं नहीं है। तू अपवित्र है और अपने स्पर्श से वायु को अपवित्र करते हुए बाहर मत घूम। जहाँ है उसी सीमित जगह में सावधानी से रह। इस सीमित जगह के बाहर सर्वत्र ही तू अपराधिनी है।

प्रकृति—

गान

पुल बले धन्य आमि माटिर परे,
देवता ओगो, तोमार सेवा आमार घरे॥
जन्म नियेछि धूलिते
दया करे दाओ भुलिते,
नाइ धूलि मोर अन्तरे॥
नयन तोमार नत करो,
दलगुलि कांपे थरो थरो।
चरण-परश दियो दियो,
धूलिर धन के करो स्वर्गीय,
धरार प्रणाम आमि
तोमार तरे॥[४]

माँ—बेटी ! कुछ-कुछ समझ पा रही हूँ तेरी बात। तू लड़की है, सेवा ही तेरी पूजा है, सेवा में ही तेरा राजत्व है। पलक मारते जाति की सीमा पार कर सकती हैं स्त्रियाँ ही। यदि सहसा भाग्य का पर्दा हट जाए तो यह पकड़ में आ जाता है कि सभी में राजरानी का अंश है। तुझे तो सुयोग मिला था। शिकार खेलता हुआ राजपुत्र तेरे कुएँ पर आया था। याद है न ?

२. कहता है—जल दो, जल दो। इतना सम्बल मुझे किसने दिया कि मैं (उसे) जल दूँ। काले मेघ की ओर ताकता हुआ विह्वल चातक दौड़ा आया—जल दो, जल दो। (इस) भूमितल पर, घोर अन्धकारपूर्ण कारागार में झरने की धारा अदृश्य थी। किस की सुगभीर वाणी ने काले शिलातल पर आघात किया-जल दो, जल दो।

३. अरी ! मेरे नयनों में तृष्णा है (और यह) तृष्णा मेरे हृदय में परिव्याप्त है। मैं वर्षाविहीन वैशाखी (गरम हवा के साथ उठने वाली आँधी जिसे बंगाल में 'काल वैशाखी' कहा जाता है।) के दिन (के समान) हूँ (जिसके) प्राण सन्ताप से दग्ध हुए जा रहे हैं। तप्त हवा की आंधी उठी है। (जो) मन को सुदूर शून्य की ओर उड़ाए लिए जाती है, मेरा अवगुण्ठन भी उड़ा जाता है। जो फूल कानन में उजाला करता था वह काला पड़ कर सूख गया। (इस) झरने को किसने बाधा दी (जो) ताप के प्रताप से दुःख के शिखर पर बँधा हुआ है।

४. पुष्प कहता है—इस मिट्टी पर मैं धन्य हूँ। हे देव, मेरे घर तुम्हारी सेवा है। मैंने इस धूलि में जन्म लिया है—दया कर मुझे यह भूल जाने दो, मेरे अन्तर में धूलि नहीं है। (मेरी ओर) अपने नेत्रों को नत करो, (पुष्प की) पंखुड़ियाँ थर-थर काँप रही हैं। (हे देव !) मुझे अपना चरण-स्पर्श दो (और इस) धूलि-धन को स्वर्गीय बनाओ। तुम्हारे प्रति मैं धरती का प्रणाम हूँ।

प्रकृति—हाँ, याद है।

माँ—तो फिर राजा के घर क्यों न चली गई? रूप देखकर तो वह अपने को भूल गया था।

प्रकृति—हाँ, भूला नहीं था तो क्या? वह भूल ही तो गया था कि मैं मनुष्य हूँ। पशुओं का शिकार करने निकला था—पशु ही उसे नज़र आ रहा था और उसी को उसने सोने की श्रृंखला में बाँधना चाहा था।

माँ—तब भी तो शिकार मानकर उसने इसी मुख को लक्ष्य बनाया। और वह भिक्षु, उसने क्या नारी-रूप में पहचाना है तुम्हें?

प्रकृति—नहीं, तुम नहीं समझोगी। मैं समझ गई हूँ। इतने दिनों बाद उसी ने मुझे पहले-पहल पहचाना है। बड़ा आश्चर्य है।

गान

ओगो, तोमार चक्षु दिए मेले सत्यदृष्टि
आमार सत्यरूप प्रथम करेछ सृष्टि॥
तोमाय प्रणाम, तोमाय प्रणाम,
तोमाय प्रणाम शतबार
आमि तरुण अरुण लेखा,
आमि विमल ज्योतिर रेखा,
आमि नवीन श्यामल मेघे
प्रथम प्रसादवृष्टि
तोमाय प्रणाम, तोमाय प्रणाम,
तोमाय प्रणाम शतबार॥[५]

उन्हीं को चाहती हूँ माँ, केवल उन्हीं को। अपने इस जन्म की पूजा की डलिया उनके सामने सजाकर धर देना चाहती हूँ। इससे उनके चरण अपवित्र नहीं होंगे। सभी देखें मेरी स्पर्धा। गौरव से कहना चाहती हूँ कि मैं तुम्हारी सेविका हूँ—अन्यथा संसार में दासी होकर सभी के चरणों से सदा बँधकर रहना होगा।

माँ—झूठमूठ नाराज़ क्यों हो रही है बेटी! दासी का ही तो जन्म है तेरा। विधाता के लिखे को कौन मिटा सकता है?

प्रकृति—छिः-छिः माँ, तुझ से फिर कहती हूँ, भूल मत-बार-बार झूठी आत्मनिन्दा मत कर। यह पाप है पाप! राजवंश में घर-घर कितनी कितनी दासियाँ जनमती हैं, मैं दासी नहीं हूँ। ब्राह्मण के घर में देश-देश में कितने चाण्डाल जनमते हैं, मैं चाण्डाल नहीं हूँ।

माँ—तेरे साथ बातचीत कर सकूँ ऐसी बातें मुझे नहीं आतीं। वही ठीक है, मैं खुद उनके पास जाऊँगी। चरण पकड़कर कहूँगी कि सभी घरों से अन्न ग्रहण करते हो किन्तु मेरे घर केवल एक चुल्लू जल लेने आओ।

प्रकृति—

गान

ना ना, डाकब ना, डाकब ना अमन करे बाइरे थेके।
पारि यदि, अन्तरे तार डाक पाठाब आनब डेके।
देबार व्यथा बाजे आमार बुकेर तले,
नेबार मानुष जानि ने कोथाय चले,
एइ देओया-नेओयार मिलन आमार घटाबे के॥
मिलबे ना कि मोर वेदना तार वेदनाते,
गंगाधारा मिशबे ना कि कालो यमुनाते।
आपनि की सुर उठल बेजे
आपना हते एसेछे ये,
गेल यखन आशार वचन गेछे रेखे॥[६]

जब अनावृष्टि के कारण पृथ्वी में दरारें पड़ जाती हैं तब क्या होगा माँ एक लोटा जल-संग्रह करने से? आकाश को भरकर क्या बादल अपने-आप खिंचकर नहीं आएगा?

माँ—ये सब बातें कहने से क्या लाभ? बादल अपने-आप आए तो आए, न आए तो नहीं आए। खेत-खलिहान यदि सूख जाएँ तो इससे किसी को क्या गरज है। हम आकाश की ओर ताकते रहते हैं। और कर ही क्या सकते हैं?

प्रकृति—यह नहीं होगा। ताकते हुए मैं बैठी नहीं रहूँगी। तू तो 'मन्तर' जानती है। वही 'मन्तर' मेरा 'बाहुबन्धन' हो और उन्हें खींच लाए।

माँ—अरे सत्यानाशिनी तू कहती क्या है? देखती हूँ तेरा साहस बढ़ता ही जाता है। आग से खेल! ये क्या साधारण मनुष्य हैं और इन पर 'मन्तर'—प्रयोग? सुनकर कलेजा काँप उठता है।

प्रकृति—राजपुत्र की बार किस बल पर 'मन्तर' पढ़ना चाहती थी?

माँ—मैं राजा से नहीं डरती, वह सूली पर ही तो चढ़ा सकता है। किन्तु ये लोग तो कुछ नहीं करते।

प्रकृति—मुझे और कोई भय नहीं। भय है तो यही कि फिर से गिर जाऊँगी, फिर से अपने को भूल जाऊँगी। उन्हें लाना ही होगा, यह बात इतना ज़ोर देकर कह रही हूँ यह क्या आश्चर्य नहीं—यही चमत्कार तो किया है उसने। क्या और भी आश्चर्य की बात नहीं होगी, क्या वह आएगा नहीं मेरे पास? क्या मेरे आँचल की छाया में नहीं बैठेगा?

माँ—उन्हें ले आ सकती हूँ सम्भवतः, किन्तु तू उसका मूल्य दे सकेगी। तेरा कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाएगा।

प्रकृति—नहीं, कुछ भी नहीं रहेगा। मेरे जन्म-जन्मान्तर का वह ऋण, कुछ भी नहीं रहेगा। बिलकुल सम्पूर्णरूप से अपने को मिटा देने पर ही बच पाऊँगी। इसी से तो उन्हें चाहती हूँ। मेरा कुछ भी

---

५. अपने चक्षुओं द्वारा सत्यदृष्टि देकर तुमने मेरे सत्यरूप की सर्वप्रथम सृष्टि की है। हे देव, तुम्हें सौ-सौ बार प्रणाम। मैं तरुण अरुण लेखा हूँ, विमल ज्योति की रेखा हूँ और नवीन श्यामल मेघ की प्रथम प्रसादवृष्टि हूँ। हे देव, तुम्हें सौ-सौ बार प्रणाम।

६. नहीं, नहीं पुकारूँगी, इस प्रकार बाहर से नहीं पुकारूँगी। यदि पुकार सकी तो उसके अन्तर तक अपनी पुकार पहुँचाऊँगी और बुला लाऊँगी। देने की व्यथा मेरे हृद्-तल में बज रही है (किन्तु) इसे लेने वाला न जाने कहाँ फिर रहा है? यह देने-लेने का मिलन कौन कराएगा? क्या मेरी वेदना उसकी वेदना में न मिलेगी? क्या गंगा की काली धारा यमुना में न मिलेगी? अपने-आप कौन-सा स्वर बज उठा, जो अपने-आप आया था, जाते समय आशा का बचन दे गया है।

नहीं रहेगा। मेरी युग-युग की प्रतीक्षा इसी जन्म में सार्थक होगी। मेरा मन बार-बार केवल यही कह रहा है—प्रतीक्षा सार्थक होगी। इसलिए तो यह आश्चर्यजनक बात सुनी—जल दो। आज मैंने जाना कि मैं भी कुछ दे सकती हूँ। इसी बात में सभी ने मुझे भुला रखा था। दूँगी-दूँगी, आज अपना सब कुछ दे डालूँगी। इसी से तो बैठी उनका रास्ता देख रही हूँ।

माँ—तू धर्म को नहीं मानती?

प्रकृति—कैसे कहूँ, मैं तो उन्हीं को मानती हूँ जो मुझे मानते हैं। जो धर्म अपमानित करता है वह मिथ्या है। जो धर्म अन्धा बनाता है, जो मुँह बन्द कर देता है, सभी ने मिलकर वही धर्म मुझ से मनवाया है। किन्तु उसी दिन से इस धर्म को मानना मेरे लिए वर्जित है। कोई भय नहीं अब मुझे— अपना 'मन्तर' पढ़ और भिक्षु को चण्डाल-कन्या के पार्श्व में ला खड़ा कर। मैं ही दूँगी उन्हें सम्मान। इतना बड़ा सम्मान जो और कोई नहीं दे सकेगा।

गान

आमि तारेइ जानि तारेइ जानि
आमाय ये जन आपन जाने,
तारि दाने दाबि आमार
यार अधिकार आमार दाने॥
ये आमारे चिनते पारे
सेइ चेनातेइ चिनि तारे,
एकइ आलो चेनार पथे
तार प्राणे आर आमार प्राणे॥
आपन मनेर अन्धकारे ढाकल यारा
आमि तादेर मध्ये आपन-हारा।
छुंइये दिल सोनार काठि,
घुमेर ढाका गेलफाटि,
नयन आमार छुटेछे तार
आलो-करा मुखेर पाने॥[७]

माँ—क्या तुझे शाप का भय नहीं?

प्रकृति—शापित तो जन्म से ही हूँ, एक शाप का विष दूसरे शाप के विष को क्षीण कर देता है। तेरी कोई बात नहीं सुनूँगी माँ, नहीं सुनूँगी, नहीं सुनूँगी। शुरू कर दे मन्त्र पढ़ना, अब और देरी नहीं सह सकती।

माँ—अच्छा, तो बोल क्या नाम है उनका?

प्रकृति—उनका नाम—आनन्द!

माँ—आनन्द? भगवान बुद्ध के शिष्य?

प्रकृति—हाँ, वही भिक्षु।

माँ—तू मेरे हृदय की निधि है, मेरी आँखों की पुतली है। तेरा कहा मानकर ही इतने बड़े पाप में हाथ डाल रही हूँ।

प्रकृति—कैसा पाप! जो सभी को पास लाते हैं उन्हीं को पास लाऊँगी। इसमें दोष ही क्या है?

माँ—वे मनुष्य को पुण्य के ज़ोर से खींच लाते हैं और हम 'मन्तर' पढ़कर खींचते हैं, जैसे पशु को फंदे में फंसाकर खींचा जाता है। हम मथकर कीचड़ निकालते हैं।

प्रकृति—ठीक है, वह ठीक ही है। नहीं तो पंकोद्धार नहीं होता।

माँ—हे देव, तुम महापुरुष हो, अपराध करने की जितनी शक्ति मुझ में है, तुम में क्षमा करने की शक्ति उससे कहीं अधिक है। प्रभु, तुम्हें असम्मानित करने बैठी हूँ तो भी मेरा प्रणाम ग्रहण करो।

प्रकृति—माँ, तुझे भय किस बात का? माँ के मुख से मैं ही मन्त्र पढ़ने जा रही हूँ। मेरी वेदना यदि उन्हें खींच लाए और वही यदि अपराध है तो मैं वह अपराध करूँगी, अवश्य करूँगी। जिस विधान में केवल दण्ड ही है सांत्वना नहीं, नहीं मानूँगी उस विधान को।

गान

दोषी करो, दोषी करो
धुलाय-पड़ा म्लान कुसुम
पायेर तलाय धरो॥
अपराधे भरा डालि
निज हाते करो खालि,
तारपरे सेइ शून्य डालाय
तोमार करुणा भरो॥
तुमि उच्च आमि तुच्छ-धरब तोमाय फांदे
आमार अपराधे।
आमार दोष के तोमार पुण्य
करबे तो कलंकशून्य,
क्षमाय गेंथे सकल त्रुटि
गलाय तोमार परो॥[८]

माँ—प्रकृति, तेरा साहस भी खूब है।

प्रकृति—मेरा साहस! सोचकर देख तो उनके साहस का बल। जो बात कोई मुझ से नहीं कह सका उन्होंने सहज ही कह दी—जल दो। इतनी-सी बात, उसका तेज कितना है। मेरे समस्त जीवन को आलोकित कर दिया। चिरकाल से मेरे हृदय पर जो काला पत्थर रखा हुआ था, उसे ढकेलकर हटा दिया। इसकी धारा फूट पड़ी। तूने उन्हें देखा जो नहीं, तेरा भय मिथ्या है। सवेरे का सारा समय श्रावस्ती नगरी में भिक्षा माँगने में बिताकर मैदान पार कर, श्मशान पार करते

---

७. मैं जानती हूँ केवल उसी को जानती हूँ जो मन मुझे अपना मानता है। उसी के दान पर मेरा दावा है जिसका अधिकार मेरे दान पर है। जो मुझे पहचान सकता है उसके पहचानने में ही उसे पहचानती हूँ। पहचानने के पथ में केवल एक ही प्रकाश उसके और मेरे प्राणों में है। अपने मन के अन्धकार से जो आवृत हैं मैं उनके बीच आत्म-विस्मृत हूँ। उसने सोने की तीली छुआ दी (जिससे) निद्रा का आवरण हट गया। मेरी आँखें उसी के आलोकित मुख की ओर दौड़ पड़ी हैं।

८. हे देव, मुझे दोषी बनाओ, दोषी बनाओ, (और) धूल में पड़े (इस) म्लान कुसुम को चरण-तल में स्थान दो। अपराधों से भरी इस डलिया को अपने हाथों से खाली करो (और) इसके बाद उसी रिक्त डलिया में अपनी करुणा भर दो। तुम उच्च हो और मैं तुच्छ (किन्तु) तुम्हें अपने अपराध के फन्दे में फँसाऊँगी। तुम्हारा पुण्य मेरे दोष को कलंक-शून्य तो कर सकेगा। मेरी समस्त त्रुटियों को क्षमा में गूँथकर अपने गले में पहनो।

हुए, नदी के किनारे-किनारे भागते हुए, सिर पर प्रखर धूप सहते हुए आए। किसलिए? मेरी जैसी लड़की से सिर्फ़ यही एक बात कहने के लिए—जल दो। मरी जाती हूँ, मरी जाती हूँ। कहाँ से उतर कर आई इतनी दया, इतना प्रेम। ये उतरे उस भीरु के पास जो सबसे अयोग्य है। और किसका भय है मुझे। जल दो। वही जल जो मेरे इस जन्म को पूर्ण कर उमड़ पड़ा है, न दे पाने पर तो बचूँगी नहीं। जल दो। पल भर में जान गई कि मेरे पास जल है, अशेष जल, किन्तु यह मैं किसे जताऊँगी? इसीलिए तो मैं पुकार रही हूँ। दिन-रात। यदि वे न सुन सकें तो भय नहीं। तू अपना 'मन्तर' पढ़—सहेंगे वे सहेंगे।

माँ—मैदान के उस पार रास्ते पर पीत वस्त्र धारण किए हुए ये कौन चले जा रहे हैं प्रकृति?

प्रकृति—वही तो, देखती हूँ वे तो सभी संघ के श्रमण हैं। सुन नहीं रही हो मन्त्र-पाठ?

(पथ के श्रमण)

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महाण्णवो
योच्चन्त, सुद्धव्वर-जाणलोचनो,
लोकस्स पापूपकिलेसघातको
वन्दामि बुद्धं अहमादरेण तं।

प्रकृति—माँ, ये देख वे चले जा रहे हैं सबके आगे-आगे। इस कुएँ की ओर मुड़ कर ताका भी नहीं। एक बार तो और कह दे सकते थे—जल दो। समझा था कि वे मुझे छोड़ कर जा नहीं सकेंगे। मैं जो उनके हाथों निर्मित नूतन सृष्टि हूँ।

[बैठ कर मिट्टी में बार-बार सिर पटकती है।]

यही मिट्टी, यही मिट्टी, यही मिट्टी ही तेरी अपनी है हत भागिनी, किसने तुझे प्रकाश में ला एक क्षण के लिए प्रस्फुटित कर दिया? क्या इसे ही दया कहते हैं? अन्त में इसी मिट्टी में ही लौटना पड़ा। जितने लोग रास्ता चलते हैं उनके पैरों तले सदा इस मिट्टी में मिल कर रहना होगा।

माँ—बेटी, भूल जा, यह सब कुछ भूल जा। तेरे एक निमेष के स्वप्न को भंग कर वे चले जा रहे हैं, जाए, जाए। जो टिकने वाला नहीं वह जितना शीघ्र जाए उतना ही अच्छा।

प्रकृति—यह प्रतिदिन की चाहना—चाहना, यह प्रति मुहूर्त का अपमान, हृदय के भीतर यह पिंजरे के पक्षी की तरह पंख फड़फड़ा कर मरना इसी को स्वप्न कहते हैं? जो हृदय की समस्त शिराओं को काटता रहता है, छोड़ना नहीं चाहता वही स्वप्न है? और वे हैं जिन्हें कोई बन्धन नहीं, कोई सुख-दुःख नहीं, कोई सांसारिक भार नहीं। जो शरत-कालीन बादलों की तरह उड़ते चले जाते हैं। क्या वे ही जागृत हैं, क्या वे ही स्वप्न नहीं (देख रहे)?

माँ—तेरा कष्ट नहीं देखा जाता प्रकृति! उठ तू। मन्त्र पढ़ उन्हें खींचकर लाऊँगी ही। धूल भरे मार्ग से ही लाऊँगी। 'कुछ नहीं चाहिए' यह कहने का उनका अहंकार भंग करूँगी ही। 'चाहिए' 'चाहिए' कहते हुए ही आना होगा उन्हें दौड़ते-दौड़ते।

प्रकृति—माँ, तुम्हारा मन्त्र तो जीव-सृष्टि के आदि काल का है। किन्तु उनका मन्त्र कच्चा है, अभी हाल का। वे तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकेंगे। तुम्हारे मन्त्रों के खिंचाव से उनके मन्त्र की गाँठ खुल जाएगी। उन्हें हारना पड़ेगा, हारना ही पड़ेगा।

माँ—कहाँ जा रहे हैं वे?

प्रकृति—वे जाते हैं इतना-भर ही जानती हूँ (किन्तु) वे कहीं भी नहीं जाते। कुछ दिन बाद वर्षा आरम्भ होगी। तब वे चातुर्मास के लिए बैठेंगे। फिर जाएँगे, क्या जानूँ कहाँ। इसी को वे कहते हैं 'जागते रहना।'

माँ—पगली, तब फिर 'मन्तर' की बात क्या कहती है? चले जा रहे हैं कितनी दूर—कहाँ से लौटा कर लाऊँगी?

प्रकृति—जहाँ भी जाएँ लौटा कर लाना ही होगा। तेरे 'मन्तर' के लिए दूर नहीं।

गान

याय यदि याक सागरतीरे।
आबार आसुक, आबार आसुक, आसुक फिरे।
रेखे देब आसन पेते
हृदयेते,
पथेर धुलो भिजिये देब अश्रुनीरे॥
याय यदि याक शैलशिखरे।
आसुक फिरे, आसुक फिरे।
लुकिये रब गिरिगुहाय,
डाकब उहाय—
आमार स्वपन और जागरण रइबे घिरे॥[१]

मुझ पर दया नहीं की, मैं भी उस पर दया नहीं करूँगी। तेरा जो सबसे निष्ठुर मन्त्र है उसे ही पढ़—ऐंठन-ऐंठन में (मंत्र-प्रहार से) दाग दे—देकर बाँध उसके मन को। मुझे अतिक्रम कर जाएगा कहाँ, कैसे जा सकेगा?

माँ—चिन्ता मत कर, असाध्य नहीं होगा। तुझे माया दर्पण दूँगी। उसी को हाथ में लेकर तू नाचेगी। उसकी छाया उसमें पड़ेगी। उस दर्पण में ही देख पाएगी क्या हुआ उसका, वह कितनी दूर आया।

प्रकृति—ये देख पश्चिम में मेघ जमने लगे—आँधी के मेघ। मन्त्र का असर होगा माँ होगा। सूखे पत्तों की तरह उड़ जाएँगे शुष्क साधन। दीप बुझ जाएगा। पथ दिखाई नहीं देगा, घूमते-घूमते इसी दरवाज़े पर आ पड़ेगा। जिस प्रकार निशीथ रात्रि में आँधी से उजड़े हुए घोंसले का पक्षी अंधेरे आँगन में आ गिरता है। हृदय धड़क रहा

१. यदि सागर तीर पर जाता है तो जाए। फिर लौटे, लौटकर फिर आए। मैं अपने हृदय में आसन बिछाकर रखूँगी (और) पथ-धूलि को अपने अश्रुनीर से भिगो दूँगी। यदि शैल-शिखर पर जाता है तो जाए। फिर लौटे, फिर लौटकर आए। मैं गिर-गुहा में छिपी रहूँगी (और) उसे पुकारूँगी—मेरे स्वप्न उस के जागरण को घेरे रहेंगे।

है, मन में बिजली चमक रही है। जिस समुद्र में बड़ी-बड़ी फेनिल लहरें उठ रही हैं उसका पार कहीं दिखाई नहीं देता।

माँ—अब भी सोच ले। बीच में भय से आतंकित तो न हो उठेगी? तेरा धैर्य बना रहेगा? जब मंत्र पूरे वेग पर होगा तब हठात बाधा देने से मेरे प्राण निकल जाएँगे। यह बात ध्यान में रखना कि जलने योग्य सभी वस्तुएँ जलकर राख हो जाएँगी तभी यह आग बुझेगी।

प्रकृति—तू किसके लिए डरती है? यह क्या कोई ऐसा-वैसा मनुष्य है? किसी बात से कुछ नहीं होगा उसका-अग्निपथ को रौंदते-रौंदते अन्त में वह चला आए। मैं मन में देख पा रही हूँ सामने है प्रलय की रात्रि, मिलन की आँधी और ध्वंस का आनन्द।

गान

हृदये मन्द्रिल डमरू गुरू गुरु,
घन मेघेरे भुरू, कुटिल कुंचित,
हल रोमाँचित वन-वनान्तर,
दुलिल चंचल वक्षो हिन्दोले
मिलनस्वप्ने से कोन् अतिथि रे।
सघन-वर्षण-शब्द-मुखरित
वज्र-सचकित त्रस्त शर्वरी
मालती-वल्लरी कांपाय पल्लव
करुण कल्लोले,
कानन शंकित झिलिलझंकृत।[१०]

द्वितीय दृश्य

प्रकृति—छाती फट जाएगी। मैं दर्पण नहीं देखूँगी, नहीं देख सकूँगी। दुःख का कितना भयंकर बवण्डर है। क्या अन्त में वनस्पतियाँ चरमरा कर धूल में लोटने लगेंगी, क्या उनका अभ्रभेदी गौरव भंग हो जाएगा?

माँ—देख बेटी, अब भी यदि कहे तो अपने मन्त्र को लौटा लाने की चेष्टा करूँ। उससे यदि मेरी नाड़ियाँ फट जाएँ, मेरे प्राण निकल जाएँ, यह ठीक होगा। किन्तु वह महाप्राण त्राण पाए।

प्रकृति—यही ठीक होगा माँ, रहने दे अपना मन्त्र। अब इसकी आवश्यकता नहीं है।—नहीं-नहीं, नहीं-नहीं—पथ और रहा ही कितना है। अन्त तक उन्हें आने दे, आने दे मेरे इस हृदय के निकट तक। उसके बाद अपना घर-संसार उजाड़कर सब दुःख मिटा दूँगी। गहन-गम्भीर रात्रि में पथिक आ पहुँचेगा। अपने सम्पूर्ण हृदय की ज्वाला से प्रदीप जला दूँगी। मेरे गम्भीर अन्तर में सुधा का झरना है। उसी के जल से अभिषेक होगा उसका—जो शान्त है, जो तप्त है, जो क्षत-विक्षत है और फिर एक बार चाहेगा, जल दो—मेरे हृदय—समुद्र का जल! वह दिन आएगा। तू अपना मन्त्र चलने दे, चलने दे।

गान

दुःख दिये मेटाब दुःख तोमार,
स्नान कराब अतल जले विपुल वेदनार॥
मोर संसार दिब ये ज्वालि,
शोधन हबे ए मोहेर कालि,
मरणव्यथा दिब तोमार चरणे उपहार॥[११]

माँ—इतनी देर होगी यह नहीं जानती थी, बेटी! लगता है मेरा मन्त्र समाप्त हो गया। मेरे प्राण कण्ठ तक आ पहुँचे हैं।

प्रकृति—(कोई) भय नहीं माँ, और थोड़ा सहन करो! थोड़ा-सा और! अधिक विलम्ब नहीं है।

माँ—आषाढ़ तो लग गया। उन लोगों का चातुर्मास भी आरम्भ हो गया।

प्रकृति—वे लोग वैशाली के गोशिर संघ में गए हैं।

माँ—कितनी निठुर है तू। वह तो बहुत दूर है।

प्रकृति—बहुत दूर नहीं। सिर्फ सात दिन का रास्ता है। पन्द्रह दिन तो कट गए। जान पड़ता है इतने दिनों बाद आसन डिगा है। आ रहा है, आ रहा है, जो बहुत दूर है, जो लक्ष योजन दूर है, जो चन्द्र-सूर्य के परे है, मेरे (दोनों) हाथों की पहुँच से जो असीम दूर है, वही निकट आ रहा है। आ रहा है! भूमिकम्प से मेरा कलेजा काँप रहा है।

माँ—मैंने मन्त्र के सभी अँगों को पूर्ण कर दिया है—इससे तो वज्रपाणि इन्द्र को भी खींच कर लाया जा सकता था। किन्तु फिर भी देर हो रही है। कैसा मरणान्तक युद्ध चल रहा है। क्या देखा था तूने दर्पण में?

प्रकृति—पहले देखा आकाश में व्याप्त कुहासा—दैत्य के संग युद्ध कर क्लान्त हुए देवता के म्लान मुख के समान। कुहासे के बीच-बीच में से अग्नि निकल रही है। उसके बाद कुहासा खण्ड-खण्ड कर छंट गया और सूजे हुए, फूट गए, विशाल भयंकर विषैले फोड़े की तरह लाल हो उठा उसका रंग। वह दिन बीत गया। अगले दिन देखती हूँ पटभूमि में घने-काले बादल, बिजली चमक रही है और वे सामने खड़े हैं—उनके शरीर के चारों ओर अग्नि जल रही है। मेरा रक्त जमने लगा। दौड़ी-दौड़ी तुझ से कहने गई—अभी अपना मन्त्र बन्द कर दे। जाकर देखती हूँ तू ध्यानी शिव की तरह ऊर्ध्वगत अपलक नेत्र काठ हुई बैठी है। ज़ोर-ज़ोर से साँस चल रही है। कोई ज्ञान नहीं है। लगा तुझ में भी कहीं धाँय-धाँय कर अग्नि जल रही है। जिस पावक से उन्होंने अपने को ढँक रखा है, तेरी अग्निनागिन फुफकार-फुफकार कर उसे डस रही है। द्वन्द्व युद्ध चल रहा है।

---

१०. हृदय में मन्द्रिल डमरू की गुरु-गुरु ध्वनि हो रही है। घने मेघ की कुटिल-कुंचित भ्रू से वन-वनान्तर रोमान्चित हो उठे हैं। मिलन-स्वप्न में चंचल वक्ष-हिण्डोले पर जो भूल गया वह अतिथि कौन है रे! घनी वर्षा का शब्द मुखरित होने (और) बिजली चमकने से शर्वरी त्रस्त हो उठी है। मालती लता ने करुण कल्लोल से पल्लवों को कंपा दिया है। कानन शंकित और झिल्ली के रव से झंकृत हो उठा है।

११. दुःख देकर तुम्हारा दुःख मिटाऊँगी (और) विपुल वेदना के अतल जल में (तुम्हें) स्नान कराऊँगी। (मैं) अपने संसार में आग लगा दूँगी। (जिससे) यह मोह का अँधकार परिशुद्ध हो जाएगा। तुम्हारे चरणों में (मैं) अपनी मरण-व्यथा का उपहार दूँगी।

वापिस लौट—दर्पण उठाकर देखा प्रकाश नहीं है—केवल दुःख, दुःख, दुःख, असीम दुःख की मूर्ति।

माँ—मर न गई तू उसे देखकर! उसी की तो लपट लगी थी मेरे प्राणों में। लगा और सहन नहीं होगा।

प्रकृति—दुःख का जो रूप देखा है वह उनका अकेले का तो नहीं है, वह मेरा भी है, हम दोनों का। भीषण अग्नि में गलकर सोने के साथ ताँबा भी मिल गया।

माँ—भय नहीं हुआ तेरे मन में?

प्रकृति—भय से बहुत अधिक—लगा जैसे देखा हो, सृजन का देवता प्रलय के देवता से भी भयंकर हो। वे अग्नि को चाबुक मार-मार कर अपने काम में लगा रहे हों। और अग्नि केवल फुफकारती और गरजती है। उनके चरणों के सामने सप्तधातु की मंजूषा में क्या है—प्राण या मृत्यु? मेरे मन में एक आनन्द उमड़ने लगा। उसे क्या कहकर पुकारूँ? मैं तो कहूँगी नवीन सृष्टि का विराट् वैराग्य था। चिन्ता नहीं, भय नहीं, दया नहीं, दुःख नहीं—सभी टूट रहे हैं, जल उठे हैं, गले जा रहे हैं (और) स्फुलिंग छिटक रहे हैं। अपने को रोक न सकी, मेरा समस्त शरीर और मन अग्निशिखा की तरह नाच-नाच उठा।

गाना

हे महादुःख, हे रुद्र, हे भयंकर,
ओहे शंकर, हे प्रलयंकर।
होक जटानिःसृत अग्निभुजंगम—
दंशने जर्जर स्थावर जंगम,
घन-घन झनझन, झननन-झननन
पिणाक टंकारो॥[१२]

माँ—कैसा देखा अपने भिक्षु को?

प्रकृति—मैंने देखा उनकी दृष्टि सुदूर की ओर लगी हुई है—गोधूलि (के) आकाश के तारे के समान। इच्छा हुई कि अपने पास से अनन्त योजन दूर चली जाऊँ।

माँ—तू दर्पण के सामने जब नाच रही थी, वे तुझे देख पा रहे थे?

प्रकृति—धिक-धिक! कितनी लज्जा की बात है। लगता था रह-रहकर नेत्र लाल हो उठते हैं, (मानो) अभिशाप देना चाहते हों और फिर तत्काल ही क्रोध के अंगारों को पैरों से रौंदकर फेंक रहे हैं। अन्त में देखा, उनका क्रोध काँपते-काँपते, शेल के समान उन्हीं की ओर लौट पड़ा और जाकर मर्म में बिंध गया।

माँ—तूने सब सहन किया?

प्रकृति—चकित रह गई मैं। मैं, मैं ही, यही तुम्हारी बेटी जो कहाँ की कौन है, जिसका कोई ठिकाना नहीं—मेरा दुःख और उनका दुःख आज एक है। किस सृष्टि के यज्ञ में ऐसा होता है? इतनी बड़ी बात क्या कभी कोई सोच पाता?

माँ—यह उत्पात कितने दिन में शान्त होगा।

प्रकृति—जब तक मेरा दुःख शान्त नहीं होता तब तक उन्हें दुःख दूँगी ही। यदि मैं मुक्ति नहीं पाती तो वे (भला) कैसे मुक्ति पाएँगे?

माँ—अपना दर्पण तूने अन्तिम बार कब देखा था?

प्रकृति—कल सन्ध्या समय—कुछ दिन पहले गम्भीर रात्रि में उन्होंने वैशाली का सिंहद्वार पार किया था। जान पड़ता है यह उन्होंने छिपकर श्रमणों को बिना बताए किया। उसके बाद कभी देखा खेई जाने वाली नौका से नदी पार की है, कभी देखा दुर्गम पहाड़ पर हैं, कभी देखा साँझ घिरती आ रही है और मैदान में वे अकेले हैं और कभी अँधेरी रात्रि में वन के मार्ग में देखा है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं त्यों-त्यों स्वप्न की जड़ता घनी होती जाती है। कोई सोच-विचार किए बिना वे चल पड़े हैं। अपने साथ के समस्त द्वन्द्वों का अन्त करके। मुख पर एक प्रकार की विह्वलता, देह में एक प्रकार का शैथिल्य। दोनों नेत्रों के सामने मानो कोई वस्तु नहीं, सत्य और मिथ्या नहीं और न ही अच्छा-बुरा। है केवल चिन्ताहीन अन्ध लक्ष्य, जिसका कोई अर्थ नहीं।

माँ—आज वे कहाँ तक आ पहुँचे हैं? कुछ अनुमान कर सकेगी?

प्रकृति—कल संध्या समय उपली नदी के किनारे पाटल ग्राम में देखा है। नव वर्षा के कारण उन्मत्त धारा, घाट के निकट पीपल का पुराना वृक्ष, डाल-डाल पर जगमगाते हुए जुगनू, नीचे की ओर सेवार से घिरी वेदी, वहाँ आते ही हठात चौंक कर रुक गए। बहुत दिनों की जानी-पहचानी जगह थी। सुना है यहीं बैठकर भगवान बुद्ध ने एक दिन राजा सुप्रभास को उपदेश दिया था। वे दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर वहीं बैठ गए। जान पड़ता है हठात उनका स्वप्न भंग हो गया। तभी दर्पण फेंक दिया। मुझे डर लगा, न जाने क्या दिखाई देगा। उसके बाद सारा दिन बीत गया किन्तु कुछ जानना नहीं चाहती। आशा करती हूँ और आशा छोड़ बैठती हूँ। बस इसी में पड़ी हुई हूँ। अब रात अँधेरी होती आ रही है। प्रहरी रास्ते में आवाज़ लगाता हुआ जा रहा है। लगता है एक पहर रात कट गई। अब समय नहीं है माँ, अब समय नहीं है। यह रात व्यर्थ मत गंवा और अपना सारा बल इसी मन्त्र पर लगा दे।

माँ—अब और कुछ नहीं कर पा रही बेटी! मन्त्र दुर्बल हो चला। अब मेरे प्राण और शरीर भी अवश होते जा रहे हैं।

प्रकृति—दुर्बल होने से काम नहीं चलेगा। पतवार मत छोड़ बैठना। शायद पीछे लौटने की ओर मुँह फेरा है। बन्धन पर अन्तिम खिंचाव पड़ा है—सम्भवतः यह टिकेगा नहीं। हो सकता है वे मेरे इस जन्म के संसार से निकल जाएँ फिर किसी प्रकार भी उन तक मेरी पहुँच न हो सकेगी। तब मेरा स्वप्न ही स्वप्न रह जाएगा और फिर वही चण्डालिनी की मायामूर्ति। उस मिथ्या स्थिति को मैं सहन न कर सकूँगी। तेरे पाँव पड़ती हूँ माँ, एक बार अपनी पूरी शक्ति लगा दे। अब आरम्भ कर अपना वसुन्धरा मन्त्र। जिससे पुण्यशालियों का तुषित स्वर्गलोक भी डगमगाने लगे।

---

१२. हे महादुःख, हे रुद्र, हे भयंकर, हे शंकर, हे प्रलयंकर! तुम्हारी जटा से निकले हुए अग्निभुजंगम के दर्शन से स्थावर-जंगम जर्जर हो जाएँ। घन-घन, झनझन, झननन-झननन अपने पिनाक को टंकारो।

गाना

आमि तोमारि माटिर कन्या,
जननी वसुन्धरा ।
तबे आमार मानवजन्म
केन वंचित करा ॥
पवित्र जानि ये तुमि
पवित्र जन्मभूमि—
मानवकन्या आमि ये धन्या
प्राणेर पुण्ये भरा ॥
कोन स्वर्गेर तरे
ओरा तोमाय तुच्छ करे,
रहि तोमार वक्ष परे ।
आमि ये तोमारि आछि
नितान्त काछा काछि,
तोमार मोहिनी शक्ति दाओ आमारे
हृदय-प्राणहरा ॥ [13]

माँ—जिस प्रकार कहा था वैसे ही प्रस्तुत हुई हो न ?

प्रकृति—हाँ, हुई हूँ । कल शुक्ल पक्ष की द्वितीया की रात थी । गम्भीरा में अवगाहन-स्नान किया । चावलों, अनार के फूलों, सिन्दूर और लाल रत्नों से आँगन में चक्र पूरा । हल्दी के रंग के कपड़े की ध्वजाएँ ज़मीन में गाड़ीं, थाली में माला-चन्दन रखा और दीप जला दिया। स्नान करने के बाद धान के अंकुर के रंग के कपड़े पहने—चम्पई रंग की ओढ़नी । पूर्व दिशा की ओर आसन लगा कर सारी रात उनकी मूर्ति का ध्यान किया है । सोलह सुनहले सूत्रों में सोलह गाँठ देकर बायें हाथ में राखी पहनी है ।

माँ—अच्छा, तो फिर अपना वही आह्वान-नाच नाचो, प्रदक्षिणा करो । मैं वेदी के पास मन्त्र पढ़ती हूँ ।

प्रकृति—

गाना

मम रुद्ध मुकुलदेले एसो
सौरभ अमृते ।
मम अख्यात तिमिरतले एसो
गौरवनिशीथे ॥
एइ, मूल्यहारा ममशुक्ति,
एसो मुक्ताकणाय तुमि मुक्ति,
मम मौनी वीणार तारे-तारे
एसो संगाते ॥
नव अरुणेर एसो आह्वान—
चिररजनीर होक अवसान, एसो ।
एसो शुभस्मित शुकताराय,
एसो शिशिर-अश्रुधाराय,
सिन्दूर पराओ उषारे
तव रश्मिते ॥ [14]

माँ—प्रकृति, ज़रा अपना दर्पण उठाकर तो देखो । देख रही हो वेदी पर काली छाया पड़ गई है । मेरा हृदय फटा जा रहा है, मेरा धीरज छूट रहा है । दर्पण देखो और कितनी देर है ?

प्रकृति—नहीं, मैं नहीं देखूँगी, नहीं देखूँगी । मैं सुनूँगी मन में ध्यान में । यदि वे दर्शन दें तो हठात उन्हें सामने देखूँगी । और थोड़ा-सा सहन करो माँ, दर्शन देंगे अवश्य दर्शन देंगे । ये देखो एकाएक आँधी आ गई, 'आगमनी'[1] की आँधी । उनके पगभार से पृथ्वी थर-थर काँप रही है । कलेजा धक-धक कर रहा है ।

माँ—तेरा अभिशाप ला रहा है । मुझे तो मार डाला । जान पड़ता है शिराएँ छिन्न-भिन्न हो गई हैं ।

प्रकृति—अभिशाप नहीं, अभिशाप नहीं, मेरा जन्मान्तर ला रहा है, वज्र के हथौड़े की चोट से मरण का सिंहद्वार खुल रहा है । द्वार टूट गया, प्राचीर टूट गई, मेरे इस जन्म का समस्त मिथ्या नष्ट हो गया । भय से मेरा मन काँप रहा है, आनन्द से मेरे प्राण दोलायित हो रहे हैं । हे मेरे सर्वनाश, हे मेरे सर्वस्व, तुम आ गए हो—अपने समस्त अपमान के शिखर पर तुम्हें बैठाऊँगी । तुम्हारे लिए सिंहासन निर्मित करूँगी—अपनी लज्जा से, अपने भय से और—अपने आनन्द से ।

माँ—मेरा समय होता आ रहा है । और कुछ नहीं कर पा रही । शीघ्र देख अपना दर्पण ।

प्रकृति—माँ, भय लग रहा है ? उनका मार्ग समाप्त होता आ रहा है किन्तु उसके बाद ? उसके बाद ?··· उसके बाद क्या ? केवल मैं, और कुछ नहीं ! इतने दिनों का निष्ठुर दुःख क्या इसी में समाएगा ? केवल मैं ? किसलिए इतना दीर्घ, इतना दुर्गम पथ ? इसका अन्त कहाँ है ? केवल मुझ में ही !

गाना

पथेर शेष कोथाय शेष कोथाय
की आछे शेषे ?
एत कामना एत साधना कोथाय मेशे ?
ढेउ ओठे-पड़े कांदार

(शेष पृष्ठ ४४ पर)

---

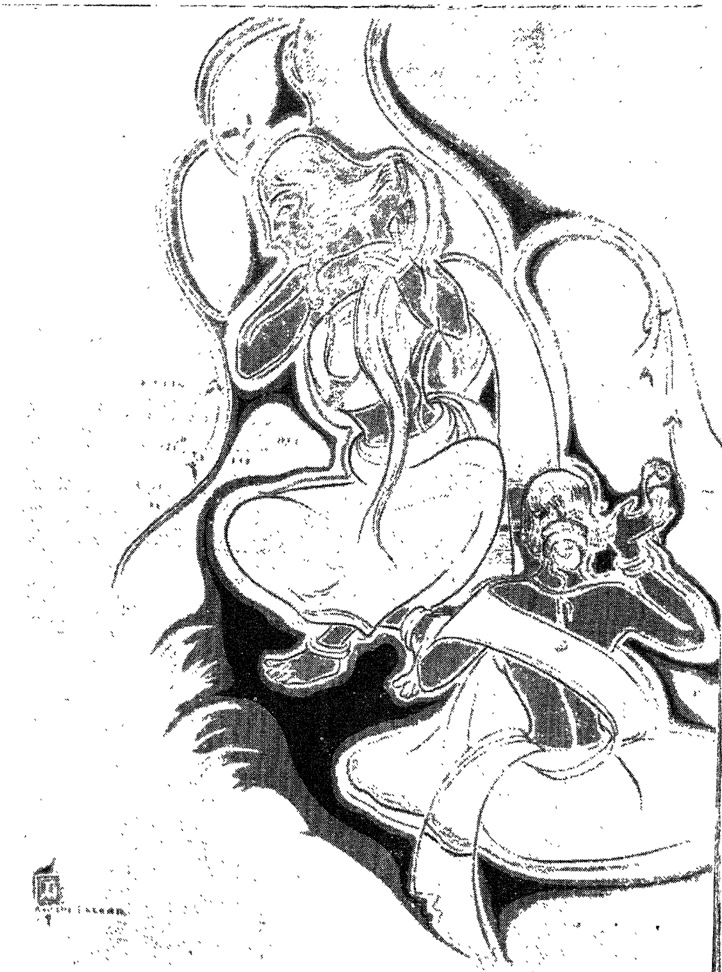
१३. जननी वसुन्धरा ! मैं तुम्हारी मिट्टी की कन्या हूँ । तो फिर मेरा मानव-जन्म क्यों निरर्थक करती हो । हे जन्मभूमि ! (मैं) यह जानती हूँ कि तुम पवित्र हो (और) तुम्हारे प्राणों के पुण्य से भरी मैं मानव-कन्या धन्य हूँ । किस स्वर्ग के लिए वे तुम्हें तुच्छ मानते हैं ? मैं भी तुम्हारे वक्षस्थल पर (पड़ी) रहूँ । मैं तो तुम्हारी ही हूँ, तुम्हारे अत्यन्त निकट । मन-प्राण को हरने वाली अपनी मोहिनी शक्ति मुझे दो ।

१४. मेरे रुद्ध मुकुल दल के सौरभमय अमृत में आओ, गौरव-निशीथ में मेरे (इस) अख्यात तिमिर-तल में आओ । मेरी इस मूल्यहीन शुक्ति में मुक्ताकण के रूप में तुम मुक्ति (बनकर) आओ । मेरी मौन वीणा के तार-तार के संगीत में तुम आओ, इस चिर-रजनी का अवसान हो । शुभस्मित शुकतारे (के रूप) में आओ, शिशिर की अश्रुधारा (के रूप) में आओ और अपनी रश्मियों से ऊषा (की माँग) में सिन्दूर भरो ।

१. उमा के पितृगृह में शिव के 'आगमन की सूचना' देने वाला गीत ।



"वापसी" चित्रकार : रमेश पाण्डे

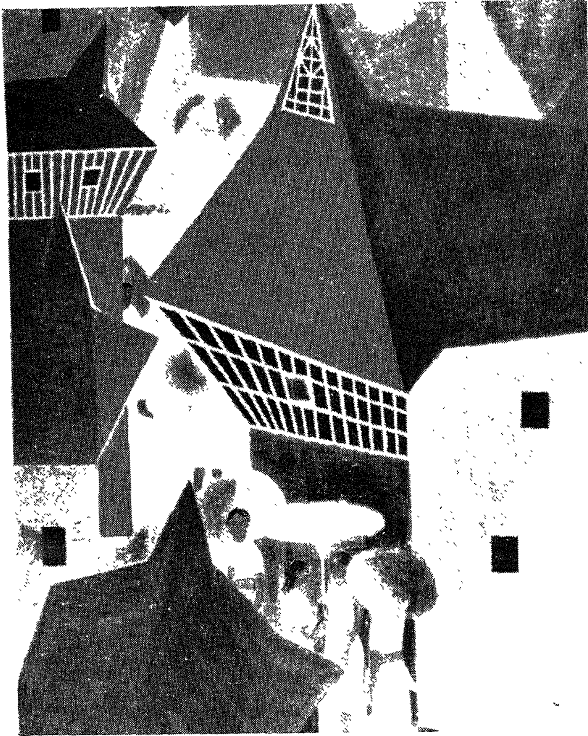


"सज्जा" सुशील सरकार

"झोंपड़ियों के निकट" गोपाल घोष



भारतीय चित्रकला प्रदर्शनी १९५६ के कुछ विशिष्ट चित्र



''दैनिक कार्य''
एस० डी० चावडा



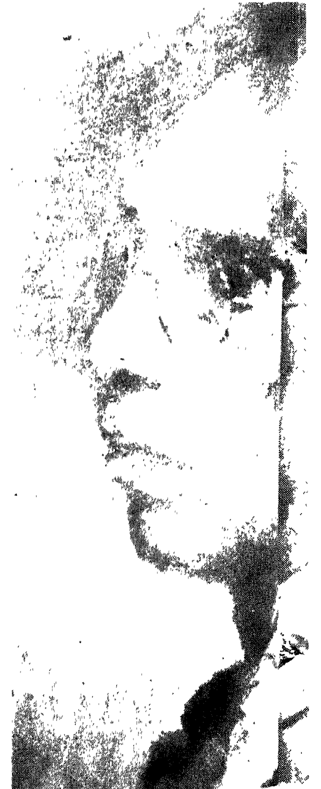
''चाँद''
ए० ए० रैबा

''फसल का गीत''

के० सी० एस० पणिकर



''आत्मचित्र''





"गरमी के
मध्याह्नोत्तर में"
शैलोज मुकर्जी

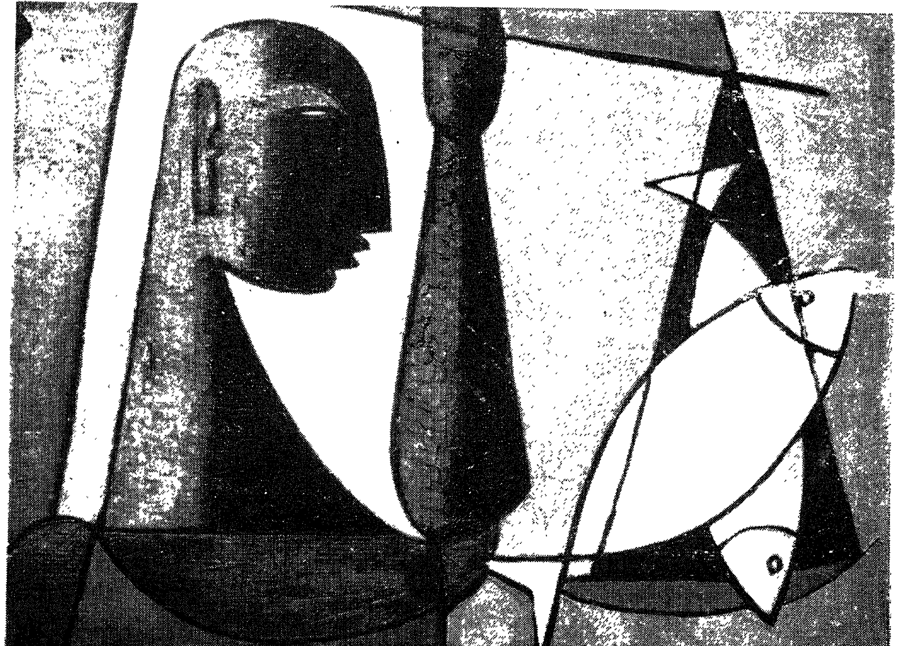


अतुल बोस



"मछली तोलते हुए"

बीरेन दे



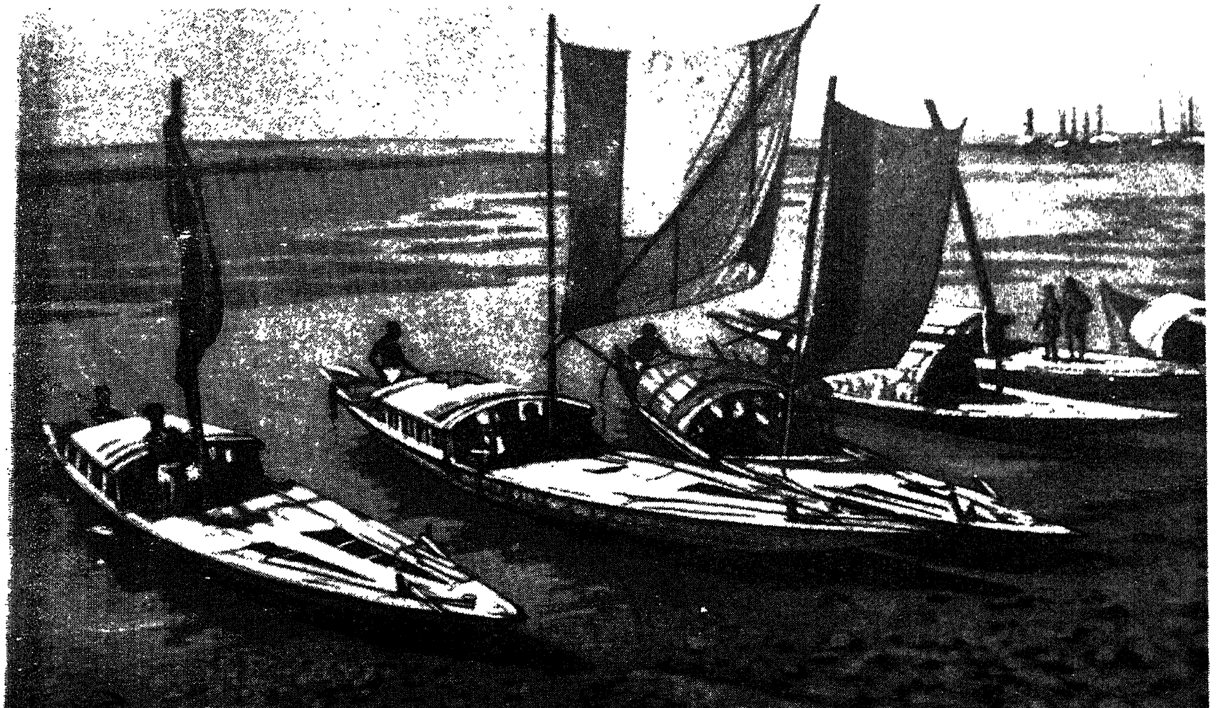


"मछलियाँ" के० एच० आरा



"गाँव की दुलहन" श्रीनिवासूलू

"पालवाली किश्ती" मरन दास



संगीत, अभिनय और नृत्य

सद्गुरुशरण अवस्थी

मैंने अन्यत्र कहीं कहा है कि किसी राष्ट्र के व्यष्टि की इकाइयों के परमोत्कर्षपूर्ण विचार जब समष्टि के सहयोगी प्रयोगों की पवित्र चेतना को सबल बनाते हैं और उनके सहारे संकल्प और कर्म दोनों में निर्मलता की एकतानता उत्पन्न हो जाती है और उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है तो उन्हें संस्कृति कहते हैं। यदि संस्कृति की यह व्याख्या सही है तो संस्कृति के नाम पर कलाओं की जो योजनाएँ की जाती हैं उनका उद्देश्य और परिणाम निर्मलता का प्रसार होना चाहिए और मन, वचन और कर्म में पवित्रता का संचार होना चाहिए। परन्तु आज जो योजनाएँ की जाती हैं उनके सम्बन्ध में बड़े-बड़े व्यक्तियों के मन में यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि उनसे निर्मलता की रक्षा ही नहीं होती अपितु पवित्रता का ह्रास होता है। ऐसी धारणा क्यों सबल हो रही है? अपढ़ अनुदारवादी अथवा रूढ़िवादी ही इस प्रकार नहीं सोचते। देश के बड़े-बड़े व्यक्ति, समाज और राष्ट्रभक्त भी कभी-कभी इसी प्रकार सोचते हैं। वास्तव में बात यह है कि कला के मादक प्रवाह में जागरूकता को बहा ले जाने की अनुपम क्षमता रहती है। बुद्धि के निष्क्रिय हो जाने पर चेतना पर केवल वही रंग चढ़ता है जो कलाकार चढ़ाना चाहता है। इसी प्रयोजन में कला का महत्त्व और मूल्य है। यदि इस प्रयोजन की रक्षा हो सकी है तो बुद्धि से सोता हुआ भी प्राणी विकास ही करेगा।

यहाँ पर नाना प्रकार की सांस्कृतिक योजनाओं और कला-प्रदर्शनों की व्याख्या नहीं करनी है। कलाओं का जीवन से कैसा सम्बन्ध होना चाहिए इस सम्बन्ध में काफी सोचा और लिखा गया है। इस उद्देश्य से कलाओं के अनेक भेदों की मीमांसा भी खूब की गई है। यहाँ केवल संगीत-कला, अभिनय-कला और नृत्य-कला के तात्विक स्वरूपों से अवगत कराना है। आजकल संगीत, अभिनय और नृत्य तीनों ही की ओर समाज का ध्यान अधिक है और इनका प्रचार और प्रसार संस्कृति का प्रचार और प्रसार माना जाता है। शिक्षालयों में, विशेष करके कन्याओं की शिक्षा-संस्थाओं में सारी शिक्षा ही अधूरी समझी जाती है यदि पाठ्य-क्रम में संगीत, नृत्य और अभिनय की योजना न की गई हो। संगीत और अभिनय-कलाएँ शिक्षा और ज्ञान-प्रसार का उत्तम माध्यम समझी गई हैं। दृश्य योजना से ज्ञान का विस्तार आजकल की शिक्षा-व्यवस्था का एक उत्तम अंग माना जाता है।

संगीत-कला का सात्विक रूप विराट की मुखर ध्वनियों को साकार करने की व्यवस्था है। उसका व्यापार अरूप को सरूप करना तो है परन्तु स्थूल के लिए वह सरूप अरूप ही रहता है। संगीत उलझे नाद-तरंगों को सुलझाने की व्यवस्था है। वह अग्राह्य होते हुए भी प्रभावशील होता है। निराकार शब्द तरंग संगीत के द्वारा साकार को स्पंदित, झंकृत और द्रवित करता है। संगीत स्थूल भी है और अस्थूल भी है। जब वह अदृश्य नाद-तरंगों द्वारा भावुक मानव के मर्मस्थलों को स्पर्श करता है और वे स्थल अपनी गुदगुदी को सारे शरीर-तन्तुओं में विद्युत-वेग से प्रवाहित कर देते हैं और मानव मादकता ही मादकता अनुभव करने लगता है तो इस व्यापार को अभौतिक होते हुए भी नितान्त भौतिक ही समझना चाहिए। परन्तु जब वह वाणी की मुखर ध्वनियों में अधिक बोलते हुए अर्थों और मन्तव्यों द्वारा चिन्तना को मुग्ध कर देता है और चिन्तना अपनी मस्ती से समस्त जागरूक प्रदेश को नहला देती है और बुद्धि थिरकन अनुभव करने लगती है तो यह संगीत व्यापार स्थूल होते हुए नितान्त अस्थूल रूप में काम करता है। प्रथम प्रकार का संगीत मानव भाव-पक्ष और हृदय-वृत्ति को सचेतन, विस्तृत और विकसित करता है और दूसरे प्रकार का प्रभाव बुद्धि पक्ष और चिन्तन-वृत्ति को सजग, व्यापक और समुन्नत करता है। इन दोनों के योग की समवेत प्रेरणा ही उत्तम संगीत है। संगीत को ऊपर किये हुए ऊहापोह में द्विधारूप दिया गया है। वह केवल सूक्ष्म मानसिक विभाजन मात्र है, वह केवल तात्विक अवस्था की कल्पना है। वैसे संगीत के ये दोनों प्रभाव अभिन्न भाव से परस्पर घुले-मिले हैं। उनका पृथकीकरण केवल काल्पनिक प्रयोजन मात्र है।

"गिरा अरथ जल बीच सम,
कहियत भिन्न न भिन्न"

जब संगीत का ऐसा प्रभाव मानव पर पड़ता है तो यह स्वाभाविक है कि संगीत संयोजकों से यह आशा की जाए कि केवल ऐसी स्वर-लहरियों की योजना हो जो हृदय और मस्तिष्क दोनों में निर्मलता का प्रचार करें जिससे सारा व्यक्तित्व निर्मलता से ओत-प्रोत होकर निर्मलता का अनेकमुखी विकास कर सके और जीवन का सच्चे अर्थों में विकास हो। निर्मलता की जब परम्परा बँध सकेगी तभी जीवन में उच्चता की व्यवस्था आएगी। शरीर, मन और बुद्धि को समवेत रूप से निर्मल बनाने की प्रेरणा और उसका अभ्यास संगीत से ही उत्तम रूप में मिल सकता है। कदाचित यही भावना संगीत के प्रवर्त्तक आचार्यों के सम्मुख रही होगी। ऐसी दशा में सस्ती भावुकता उभाड़ने वाले, भोग-भूख को जगाने का प्रयास करने वाले, वासनाओं को छेड़कर खड़ा कर देने वाले, तरुणाई की असंयमित पार्थिव आकांक्षाओं के स्वभाव-सुलभ उभारों को गुदगुदाने वाले, विषय सम्पर्कों के राग-द्वेषों से लिपटे गानों का क्या मूल्य रह जाता है, इसे स्वयं मनीषी समझ लें। साहित्य के अधीन होकर जब संगीत उतरता है तब भी उसका लक्ष्य मानवता का विकास ही है। साहित्य का स्वयं एक मात्र लक्ष्य मानवता का विकास ही समझना चाहिए। जीवन की अनेक व्यापी

शतधा घटनाएँ, मानव-मन के दाँव-पेंच, मनुष्यत्व के उतार-चढ़ाव और देव-दानव संघर्ष सभी को संगीत वास्तविकता के नाम पर केवल इस प्रकार पाले कि उनका केवल एक रंग चढ़ सके और वह हो निर्मलता का। इस देश की समस्त कलाओं का केवल एक उद्देश्य है कि वह किस सुन्दरता से वास्तविकता को आदर्श की ओर मोड़ सकती हैं और आदर्श केवल एक ही है और उसे निर्मलता माना है। गन्दी नाली के घिनौने कीड़ों से सने हुए मानव से लेकर आकाश-कुसुम के भीतर से मुस्कराते हुए मानव तक एक रेखा है, जिसके दोनों छोरों पर अभिशाप की कराहट और वरदान का अट्टहास जुड़े हैं। जो कलाकार इस रेखा की समस्त शृंखलाओं को इस सुन्दरता से जोड़ सकता है कि कराहट का स्वर धीमा होता हुआ अट्टहास के सुख में विलीन हो जाए और घिनौने-पन की घोर मलिनता क्रमशः धुलती-धुलती सुन्दरता से चमक उठे वही सच्चा कलाकार है।

भारतीय संगीत में अर्थ-विहीन, मंतव्य-विहीन और प्रयोजन-विहीन केवल स्वर साँचों की भी योजना है जिनमें स्वर के केवल अवरोह और आरोह, और उतार-चढ़ाव की हल्की और गहरी अनेक भूमियों में स्वर की मात्रा के अनेक रूप मात्र निर्माण किए गए हैं। नाद-साम्य और नाद-वैषम्य के ऐसे छोटे-बड़े आवर्त्तन संघटित कर रखे गए हैं जो केवल अपने ही सहारे नाद-सौंदर्य की भारी योजना करते हैं और अपना अकेला प्रभाव मानव क्या पशुओं तक पर डालते हैं। इन स्वर साँचों से होकर चाहे मानव-कण्ठ की ध्वनि निकले अथवा किसी प्रकार के वाद्य की ध्वनि निकले, उसका प्रभाव एक-सा ही पड़ता है। इसमें शुद्ध नाद को अर्थ अथवा साहित्य का बिना सहारा तके प्रभाव डालने की योग्यता का अवसर मिलता है। यही संगीत की सब ललित कलाओं के ऊपर विजय है और संगीत सब ललित कलाओं से उत्तम है। इस देश के अक्षय ज्ञान भण्डार वेद को इसीलिए श्रुति कहा है। नाद के सहारे ज्ञान का उदय इसकी परम योजना है। संगीत कला को जितना भी दूषित विषय संग दोष की पंक्तियों से दूर रखा जाए उतना ही उत्तम है। परन्तु हम देखते यह हैं कि पक्के कहे जाने वाले गानों से हम दूर हटते जाते हैं और उदात्त विचारों और संतों-महात्माओं के उत्कर्षपूर्ण भजनों को भी दूसरी ओर छोड़ उत्तम और निर्मल कविताओं को भी भुलाकर हमने साधारण वासनामय चित्रों के गाने गाना और सिखाना संगीत का सौकर्य बना रखा है। बालक और बालिकाओं—दोनों के कण्ठों में आज तो चलचित्रों के शृंगारिक संगीत ने स्थान कर रखा है और विद्यालयों के उत्सवों के समय यही गाने सुनने को मिलते हैं, और इसे देश की संस्कृति के नाम पर सिखाया जाता है।

अभिनय-कला को लीजिए। यह एक अत्यन्त दुःसाध्य कला है। नट जिसका प्रतिरूप बन कर सामने आता है उसके भाव, विचार, वेशभूषा इत्यादि का अनुकरण करता है। इस अनुकरण में गहरे मानसीकरण का निदर्शन परमावश्यक है। फिर भी वह मन अपना दूर ही रखता है। लोग देखते हैं वह रोता है, लोग देखते हैं वह हँसता है। पर वह न रोता है और न हँसता है। फिर भी वह रोता और हँसता दिखाई देता है। इस कला का उद्देश्य ही राग-द्वेष विहीनता की साधना है। विषयों की समुपस्थिति में और वासनामय वातावरण के बीच डूबा हुआ अभिनयकर्त्ता वाणी और शरीर से पूरा-पूरा उत्तेजित होकर भी मन से नितांत अस्पृष्ट रहे, यही अभिनय-कला की साधना है। यह कितना कठोर अभ्यास है। नट शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र इत्यादि सभी का परम रूप, वचन और कर्म से प्रदर्शित करता हुआ भी अपने मन को इन वृत्तियों से पूरा अछूता रखता है। अपनी कही जाने वाली प्रेयसी को अपने अंक में समेटे हुए भी न सात्विक भावों की उद्दीप्ति होती है और न विषय सम्पर्क की वासना। कितना कठोर अभ्यास है। इसी प्रकार स्मिति से लेकर अट्टहास करता हुआ भी न वह मन में मुस्कराता है और न हँसता है। दानी कर्ण अथवा राजा बलि बन कर भी और दर्शकों के अनुमान से सब कुछ दे डालने के लिए उतावला होने पर न उसमें दया का मन्थन है और न उदारता का उतावलापन है। दूसरे के ऊपर खड्ग से आक्रमण करते हुए, दाँतों की कड़कड़ाहट, रक्तिम नेत्र, भ्रू भंग, अधरों को दाँतों से पीसना, सारी मुद्रा में क्रोध की वक्र रेखाओं के चित्र का भरपूर प्रदर्शन, फिर भी मन और हृदय में कहीं रोष का नाम तक नहीं, कितनी बड़ी बात है? मुझे बड़े-से-बड़े अभिनयकर्त्ताओं से इस द्विधा परिस्थिति को समझने का अवसर मिला है और उन्होंने स्पष्ट ही यह मत व्यक्त किया कि सारी अभिनय-कला की साधना और सफलता इसी द्विधा परिस्थिति की प्राप्ति है। मन में और व्यापार में, हृदय में और सात्विक भावों में, भीतर में और बाहर में इतना वैषम्य साध ले जाना बड़े योग और कठिन अभ्यास से ही सम्भव है। मन के छल का मुद्रा की बाहरी छाया में न आने देना और धूर्तता की प्रतिछाया को मन तक न पहुँचने देना अद्वितीय कला है। सात्विक भावों के प्रभाव में अपने सत्व को अचंचल रखना अभिनय-कला का परम पुरुषार्थ है। जो व्यक्ति अपने राग-द्वेष से अस्पृष्ट रह सकता है वही दूसरे के राग-द्वेष का व्यक्तीकरण भी असंगभाव से कर सकता है। विषय चिंतन और विषय का ऐहिक संयोग दोनों के प्रदर्शन में मन न बिगड़े और शरीर-तन्तु न सिहरें, यह बड़े कठोर अभ्यास से ही सम्भव है। इस साधना में मानव-विकास निहित रहता है। जिस नट में बाहर का बाना अन्तर को विचलित करने लगता है वही अभिनय-कला 'शैलूष व्यवसाय' बन कर मलिन पड़ जाती है और ऐसे नट को 'शैलूषाधम' करके सम्बोधित किया जाता है। इस दुर्बलता का सामना न कर सकने के कारण और प्रदर्शनों में दर्शकों की वासनाओं को उभारने की अनेकार्थ योजनाओं की आकांक्षाओं ने ही इस देश में नट-व्यवसाय को हेय व्यवसाय बना दिया था। अनैतिक पापाचार प्रधान पात्रों के अभिनयों में नटों के भागों में इन्द्रिय स्वरूपों की लपेट में विकार की योजनाएँ उपस्थित करके भी नट के मन को निर्मल बनाए रखने का आग्रह बड़ी कठिन परीक्षा अवश्य है। इसलिए भारतवर्ष में अभिनय-मंचों पर भावनाओं को झकझोर डालने वाले रूप, आलिंगन, चुम्बन, हत्या इत्यादि का प्रदर्शन वर्ज्य है। भावों के गहरे बहाव में अपने भावरूप को अचंचल रखने का अभ्यास प्रत्येक नट को करना चाहिए। वह नाना भोग और भाव परिस्थिति

में पड़ा हुआ दिखाई अवश्य दे परन्तु स्वयं विकार मुक्त रहे, यही सच्ची अभिनय-कला है और यही कला के लिए सच्ची नैतिकता है। नीति के सहारे जो कला नहीं चलती वह राष्ट्र और जाति का विनाश कर देती है। ऊँचे से-ऊँचे अभिनय-कला विशारदों का भी यही मत है कि यदि परिस्थिति और वातावरण के गहरे आवरण में नट डूब जाता है तो उसका अभिनय भी उत्तम नहीं रह सकता। यह एक प्रचलित भ्रम है कि अपने को पूर्णरूपेण वातावरण में खोकर ही उत्तम अभिनय किया जा सकता है। घोर-से-घोर भावचक्र में पड़ा हुआ नट अपनी जागरूकता और चेतना यदि स्थिर न रखेगा तो उसका अभिनय उत्तम नहीं हो सकता। अपने को खोकर बहने वाला नट अपने व्यापार का अकेलापन ही अधिक-से-अधिक दिखला सकता है। दर्शकों में केवल एक रुचि नहीं होती, अतएव सब दर्शकों को किसी एक नट के विषय व्यापार से आल्हाद नहीं मिल सकता। अपने अभिनय में सार्वभौमिकता लाने के लिए ही उसे पहले अपनी जागरूकता स्थिर रखनी होगी। यही इस कला का आदेश है। यदि यह उद्देश्य अभिनय-कला के संयोजकों के सामने रहे तो अवश्य ही यह कला सच्ची संस्कृति की व्याख्या कर सकेगी। पर अभी तक ऐसा कम देखा गया है।

नृत्य-कला की ओर ध्यान दीजिए। यह भी प्रयास-साध्य कला है। इसकी अपनी एक विशेष परिपाटी है। नृत्य-कला की सार्थकता स्वस्थ भावों और विचारों का ऐहिक भंगिमाओं के सहारे दूसरों तक पहुँचाना है। इन भंगिमाओं में शारीरिक स्वास्थ्य की योजना भी अन्तर्हित रहती है और नर्त्तक अथवा नर्त्तकी के कौतूहल का मनोरंजन भी रहता है। मनोरंजन की सीमाओं को जहाँ एक ओर भद्देपन के स्पर्श से बचाए रखा जाता है वहाँ दूसरी ओर सस्ती वासनाओं को उकसाने के संकेत से भी दूर रखा जाता है। मनोरंजन का अर्थ केवल हास्य अथवा विनोद नहीं है। वह तो ऊँची और गहरी अन्तर्दशाओं की योजना भी करता है जिसमें मन रमे, टिके और विकसित हो। अतएव मनोरंजन का आधार नैतिकता होती है। मनोरंजन और नैतिकता के समवेत प्रयोजन को सामने रख कर अंगों और अवयवों की सौन्दर्यपूर्ण गति की अनेकार्थी योजना नृत्य-कला ने की है। शरीर भंगिमाओं की सहेतुक विकास-प्रणाली ने नृत्य के अनेक भेद और उपभेद खड़े कर दिए। परन्तु वे सब-के-सब देश की जीवन संस्तरण कला के ही अधीन रहने चाहिएँ। जहाँ मनोरंजन नैतिकता को पीछे छोड़ कर भद्देपन की ओर बढ़ा वहाँ कला में अभद्रता और अनागरिकता आ जाती है और नृत्य-कला असुन्दर होकर कला नहीं रह जाती। दूसरी ओर जहाँ मनोरंजन ने सस्ती वासनाओं की ओर संकेत करना आरम्भ किया वहाँ नैतिकता पीछे रह जाती है और दर्शक नृत्य में पार्थिव दुर्बलताओं का उभार अनुभव करने लगते हैं और एक ओर नर्त्तक अथवा नर्त्तकी और दूसरी ओर दर्शक दोनों के मनों में विकार उत्पन्न हो जाता है। ग्रीवा का गतिलाघव, नेत्र का संचालन, भ्रूविलास, कर, पद, कटि, नितम्ब, का तिर्यक और सरल विक्षेप, सब के भीतर यदि कला के भारी प्रभाव और उसकी मादकता से ध्यान हट कर नर्त्तक और नर्त्तकी पर टिकने लगता है तो नृत्य-कला को सदोष समझना चाहिए। गहरी रस निष्पत्ति के मोटे वातावरण में भंगिमाओं की अद्वितीय स्फूर्ति दर्शकों को इतना उलझा सके कि सूक्ष्म सौन्दर्य भूमियों से नीचे उतर कर दर्शक, नर्त्तक अथवा नर्त्तकी के अंगों की स्थूलता न देखें और उनमें भौतिकता के झटके न अनुभव करें तो नृत्य सार्थक समझना चाहिए। नृत्य जहाँ एक ओर शरीर व्यायाम की योजना करता है वहाँ भाव पक्ष का परिष्कार भी करता है और भौतिक तन्तुओं की सिहरन में निष्प्रयोजन वासना की अवतारणा भी करता है। यह सभी देशों में नृत्य-कला का सच्चा रूप होना चाहिए। यह दूसरी बात है किसी का आदर्श ही भौतिक भूख को हर साधनों से जगाना और भोग-लिप्सा को नए-नए उपायों से तृप्त करना हो। वहाँ की तो सारी कलाएँ भी भौतिक अनैतिकता के अधीन होंगी। परिस्थितियों के विकास में, पशु जीवन के वासनामय उत्तराधिकार का स्थूल रूप, जनसाधारण जिस साधना और योजना से परिष्कृत और निर्मल कर सकें वही सच्ची कला है। कोई भी कला इसका अपवाद नहीं हो सकती। संगीत-कला, अभिनय-कला और नृत्य-कला के संयोजकों को भारतवर्ष के इस मूलभूत सिद्धान्त को हमेशा समक्ष रख कर आगे बढ़ना चाहिए। हमारे समस्त बौद्धिक अनुष्ठानों की प्रेरणाओं में आदर्शप्रियता बिखरी पड़ी है। हमारी परम्परागत बुद्धि तो दूसरे पक्ष का सहारा नहीं लेती। हाँ, अन्यत्र से उधार ली हुई युक्तियाँ भले ही उसे थोड़े काल के लिए बहला ले जाएँ। फिर भी हमारा आदर्श बुद्धिवादी अथवा बुद्धिजीवी बनकर कला-व्यवसायी बनना नहीं है और न यह भारतीय परम्परा ही है।

हमारा आज का मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न—(पृष्ठ २६ का शेषांश)

स्थिति और गति में, उसे प्राप्त करना तथा अभिव्यक्त करना होगा।

श्री अरविन्द दर्शन भारतीय संस्कृति की वर्तमान अभीप्सा का पूर्ण प्रतीक प्रतीत होता है। यह जगत को भागवत अभिव्यक्ति के रूप में केवल अंगीकार ही नहीं करता, बल्कि इसे मानव के सर्वांगीण आध्यात्मिक भाव का उपयुक्त आधार और क्षेत्र बतलाता है। इसके अनुसार जगत अनिवार्य रूप में विश्व विकास के क्रम से, जड़, प्राण और मन के स्तरों द्वारा व्यापक अध्यात्माभिव्यक्ति के लिए तैयार हो रहा है और एक समय आएगा जब कि उसके जीवन के प्रकाशपूर्ण तथा आनन्दमय स्तर सजग और सचेतन हो उठेंगे। उनके लिए अभीप्सा करना, उनकी चरितार्थता के लिए यत्न करना तो सर्वांगीण सांस्कृतिक विकास को उपलब्ध करने का मार्ग है।

संशोधन

उषादेवी मित्रा

(१)

दिन में झड़ी और रात्रि में घोर वर्षा जारी थी और इन्हीं दोनों के गले में बाँह डाले संसार में अपना बसेरा डाले हुई थी, दिवा और निशा। न उन्हें बिजली और वर्षा का दुःख और चिन्ता रही और न शीत की शीतलता का तथा उत्तप्त गर्मी के लू-लपटों का भय। वे शायद इन से परिचय और सखीत्व भी स्थापित कर चुकीं हों, तो विस्मय नहीं। उनकी बातें वे ही जानें।

रेवती को जब उसके पति रणधीर बहादुर के साथ उस प्रकाण्ड किन्तु अर्द्ध जल-मग्न प्रसाद में प्रवेश करते हुए दिवा और निशा ने देखा तो उदासीनता भरी मुसकान उनके मुख पर व्याप्त हो गई और फिर वायु के झोखे में दोनों समा गईं।

उस घर में प्रवेश करती हुई रेवा बार-बार सिहरने लगी। न जाने क्यों उसके प्रत्येक लोमकूप में एक अद्भुत और विचित्र अशान्ति जागकर बैठ गई।

प्राणीवर्जित गृह, न तो कोई नववधू का स्वागत करने को आया और न शंख का निनाद हुआ, न बाजे बजे, न खुशी की एक चिनगारी ही दिखाई दी। साईस गाड़ी पर से सामान उतार कर सीढ़ियाँ पार करता हुआ, ऊपर की मंज़िल में चढ़ने लगा।

रणधीर बहादुर ने पुकारा—"लछिया, ओ लछिया!"

एक वृद्धा नारी आँगन का दूसरा दरवाज़ा खोलती हुई पहुँची—"हाँ मालिक! आहा, हमारी नई रानी बहू भी आ गई है! परन्तु महाराज ने न कोई तार दिया और न किसी और तरह आने का सन्देश भेजा। राज बहू का आदर-सत्कार कुछ नहीं किया गया। आज कितने दिनों के बाद यह राज-महल गुलज़ार हो रहा है। रानी बहू शीतला देवी के स्वर्गवास के बाद वर्षों से राजप्रासाद खाली पड़ा था।"

तब अन्धकार धीरे-धीरे बाँह बढ़ाकर मानो प्रासाद को निगलता चला जा रहा था।

राजा ने धीरे कहा—"नौकरों को बुलाओ। सब कहाँ चले गए? प्रासाद में उजेला करो।"

नौकर सब पहुँच गए। उज्ज्वल प्रकाश से महल जगमगा उठा। रणधीर ने लौटकर रेवती को देखा। उसके अनावृत मुख को देखकर रणधीर विस्मित हुआ। बाँह बढ़ाकर उसने रेवती को समेट लिया। फिर अर्द्ध मूर्छित पत्नी को उठा कर ऊपर चला गया।

रेवती जब स्नान कर निकली, तब रणधीर ने अपने हाथों से उसे हीरा मुक्ता के अलंकारों से भूषित कर दिया। सहसा रेवती ने पूछा—"यह ज़ेवर किसके हैं?"

"यह? यह आभूषण इस राजप्रासाद के भग्नावशेष, स्वयं मेरी माँ के हैं।"

"क्या आप राजा हैं? परन्तु मेरी कुटिया में और मेरे पालक पिता के सामने तो आपने यह सब कुछ नहीं बताया था।" उसके बाद रेवती विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उस गृह का वैभव देखने लगी।

रणधीर हँसा—विषादपूर्ण हँसी। कहा—"कभी एक दिन मैं इस छोटे-से गढ़ का राजा था। लेकिन आज तो सरकार से पैंशन मिलती है, कई हज़ार। बस, उसी से गुज़रा होता है।"

लछिया पहुँची—"महाराज? रानी साहिबा को कालिका देवी के मन्दिर में ले चलिए।"

"नहीं, इतनी रात को रानी वहाँ न जाएँगी। इन्हें भोजन कराकर उनके कमरे में सुला दो।"

(२)

रेवती का मन प्रफुल्लित था, अत्यन्त प्रफुल्ल। सोचती—इतना ऐश्वर्य? और यही है पूर्व ऐश्वर्य का भग्नावशेष? रेवती राजमहल को घूमघूम कर देख रही थी। नीचे के वृहत दरबार-गृह का ताला उसने खोला। और उसे देखकर वह अवाक हो रही थी। चाँदी का सिंहासन, कौच, कुर्सियाँ और चाँदी की मूठलगी तलवारें, दीवारों पर चाँदी के फ्रेम में आबद्ध वृहत-वृहत तैल चित्र। चित्रों के नीचे नाम लिखे थे। उन चित्रों को रेवती ने आँख गड़ाकर देखा, और पहचान कर श्वसुर के फोटो को प्रणाम किया। सास को भी। पति के तैलचित्र को वह मुग्ध होकर देखती रही। मन ने कानों में कहा—यौवन अवस्था में कितना सुन्दर था रणधीर, और तुरन्त उसने गुनगुनाकर कहा—अब भी क्या वे असुन्दर हैं?

फिर एक स्थूल सी नारी के चित्र के सामने खड़ी वह सोचने लगी यही थी प्रथम राजवधू! एक सीधी सादी नारी।

रेवती नीचे के तल्ले से ऊपर चढ़ी। अपने कमरे में पहुँची। कमरे की सफाई हो चुकी थी, किन्तु फिर भी सुहागरात की नवोढ़ा वधू का दीर्घश्वास दीवारों पर टकराता हुआ माथा पीटता फिर रहा था। रेवती ने लज्जा से आँचल में मुँह ढाँक लिया। लज्जा-लज्जा, नारी के पराजय की लज्जा। सुहागरात के एकाकीपन की लज्जा। अरे कहाँ? विश्व के किस कोने में वह इसे छिपाकर रखे।

रेवती धीरे-धीरे कमरे में टहलने लगी। दीवार पर टंगे हुए वृहत दर्पण पर उसके नेत्र गए। निगाह पड़ते ही वह सिहर कर हट गई। हाँ, अपनी ही आकृति को देखकर वह सिहरी! क्यों? सो तो वही जाने। रेवती धीरे से बाहर निकली। अत्यन्त सुन्दर फूलों से सजे हुए दालान को पार करती हुई वह चली और अपने बगल वाले कमरे के

द्वार पर वह हठात रुकी। कमरे के द्वार पर सुन्दर किन्तु पुरातन परदा लटक रहा था। कौतूहलवश उसने धीरे से वह परदा हटाया, और स्थाणुवत अचल रह गई। फिर कब उसके पैर उठे और कब वह सुप्त पति के पलंग के निकट पहुँची, यह वह स्वयं भी नहीं जान सकी।

दासी की पुकार से उसकी चेतना लौटी। किन्तु यह देखकर रेवती अत्यन्त विस्मित हुई कि दासी की इतनी चीत्कार पुकार से भी उसके पति की निद्राभंग नहीं हुई। रेवती बाहर निकली। एक नूतन दासी जलपान आदि की ट्रे लिए खड़ी थी।

अपने कमरे में पहुँच कर रेवती ने चाय का प्याला उठा लिया। कहा—"कल तो मैंने तुम्हें नहीं देखा था, सोना।"

"मैं इस महल की पुरानी सेविका हूँ, रानी साहिबा? पहले की रानी बहू की सेवा मैं ही करती थी। उनके मरने के बाद मैं फिर महल में नहीं आई। उनकी वैसी मौत को देखकर"—वह चुप हो रही।

"कैसी मौत?" चकित सी रानी ने पूछा।

"क्या आपने उस तरफ की तालाबन्द कोठरी को नहीं देखा? देखा है? उसी में वे गले में रस्सी फन्दा डाल कर मरी थीं। उसके बगल वाले बड़े कमरे में वह रहती थीं। क्या हुआ था? भगवान जाने। हाँ, उस सन्ध्या में जब राजा बहादुर काली कालिका को पूजने गए थे, तब वह भी उनके पीछे-पीछे छिपकर वहाँ गई थी, इतना तो मैं जानती हूँ।" यह कह कर सोना चाय की ट्रे आदि लेकर चली गई।

और नानाविध समस्याओं के बीच में पड़ी रेवती अपने आप में गुम हो गई।

तब सहसा एक सुमधुर सम्बोधन को सुनकर रेवती चौंकी। पति उसके कन्धे पर हाथ रख कर कह रहा था—"रेवा! तुम यहाँ बैठी क्या सोच रही हो रानी?"

पति के उस स्पर्श से रेवती के शरीर में एक अपूर्व सिहरन जाग उठी। लोमकूपों में विचित्र-सा स्पन्दन होने लगा और तुरन्त ही उस शिक्षिता नारी ने अपने को सम्भाल कर धीमी मुसकान के साथ कहा, "कुछ नहीं महाराज! आपने चाय पी ली?"

"मेरी रानी, मुझे 'आप' नहीं 'तुम' कहो, मुझे अपनत्व में खींच लो। चाय? नहीं, तो मैं चाय पीता ही नहीं हूँ। न रात में भोजन ही करता हूँ। चाय के बदले मैं शराब पीता हूँ।"

रेवती ने कहा "कोई बात नहीं। मैं आज सवेरे ही यह समझ गई थी।"

"तुम? लेकिन कैसे?"

"तुम्हारे पास घण्टों खड़ी रही थी न।"

राजा ने आँखें गड़ाकर इस सुन्दरी नववधू की ओर देखा और सोचा—कितनी सुन्दर, कितनी मोहक आकृति है, सामने खड़ी हुई इस नारी की। और एक हृदयभेदी दीर्घश्वास राजा के हृदय को चीरती हुई निकली।

रेवा के निकट उस दीर्घश्वास की कथा गुप्त न रही। वह पति को अपलक नेत्रों से देखने लगी। उस दृष्टि के सामने राजा एक विचित्र परेशानी-सी अनुभव करने लगा। रेवती बात को समझी। फिर अधरों पर गुलाल की-सी लालिमा भरी हँसी बटोर कर पति का हाथ पकड़ कर उसने उन्हें अपने पलँग पर बैठाया। उसके स्पर्श से राजा का बार-बार सिहरन रेवा अनुभव करती रही। रणधीर मुग्ध नेत्रों से रेवती को देखता रहा और किसी एक अज्ञात मुहूर्त में राजा सहसा उस पलँग पर से उठकर खड़ा हो गया, कहा—"स्नान कर चुकी हो न रेवती? तो चलो, राजवँश की कुलदेवी काली माँ के मन्दिर में।" रेवती पति के साथ-साथ चल पड़ी।

(३)

प्रासाद के बगल वाले पुष्प उद्यान में रेवती राजा के साथ पहुँची। पुष्प उद्यान के मध्य में परिष्कार विरहित, उजड़ा-सा बृहत कालिका का यह मन्दिर था। देवी के सामने जाकर वह स्तब्ध हो रही। लगने लगा जैसे काली के नेत्रद्वय मातृ-हृदय के स्नेह से परिपूर्ण होकर उस पर गड़े हुए हैं। श्रद्धा से रेवती ने उनके विशाल पादमूल में मस्तक अवनत कर दिया और पुष्पाँजलि देते समय सहसा काली के चरणों की विशेषता ने रानी को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। काले पत्थर के चरणों में ऊँचे घुण्डीदार पत्थर के ढक्कन लगे हुए थे और पत्थर के ये भारी ढक्कन अल्प-अल्प हिल भी रहे थे। भीत रानी पूजारत राजा से लिपट गई। रणधीर ने आँखें खोलीं। उस कम्पित नारी को हृदय में समेट लेना चाहा। किन्तु वैसा न कर सका, पूछा—"क्या हुआ है रेवा? डर गई हो? अरे काँप क्यों रही हो?"

आर्त स्वर में रेवती ने बताने की कोशिश की—"व···ह···वह!" तुरन्त राजा उठा और रानी को साथ लिए हुए प्रासाद में चलते-चलते बोला—"वह कुछ भी नहीं! देवी की माया है। तुम अकेली मन्दिर में कभी मत आना। मेरे सिवा यहाँ कोई भी नहीं आता है।"

रेवती की दिनचर्या थी नित अपनी शून्य-शय्या पर से उठना, और प्रासाद के पुनः संस्करण में जुट जाना। रणधीर बहादुर केवल अवाक होकर नूतन रानी का कार्य देखता रहता। अल्प समय में उसने महल को वासोपयोगी बना लिया था। इतना कि कोई टूटा हुआ अंश शेष न रहा।

उस दिन रानी पति के कमरे को साफ़ करती हुई एकाएक अकड़-सी गई। एक अलमारी में चाबी लटक रही थी और कौतूहलवश उसने उसे खोला था। उसके अन्दर रखी हुई वस्तुओं को देखकर वह सिहर उठी और सहम गई। अल्मारी में उसने शराब भरी बोतलों को देखा, गाँजा आदि और उनके चिलमों को देखा और देखा नाना-प्रकार की गोली भरी शीशियों को। उनके नाम पढ़-पढ़ कर वह स्तम्भित रह गई और रणधीर की पदध्वनि सुनकर शीघ्रता से वह अल्मारी बन्द कर अलग खड़ी हो गई।

राजा ने गृह में प्रवेश किया। अपने घर का आमूल परिवर्तन देख कर वह हँसा—"तो रानी साहिबा, देखते ही देखते महल का तो तुमने आमूल परिवर्तन कर डाला है। अब क्या मेरा भी परिवर्तन, संशोधन करना है?"

रानी मुस्कराई और बोली—"शायद किसी दिन वह भी हो जाए।"

प्रथम रानी की मृत्यु की कहानी रेवा यद्यपि दासी के मुख से सुन

चुकी थी, तो भी वह अपनी आँखों से काली मन्दिर का रहस्य देखना चाहती थी।

उसी रात्रि को जब रणधीर काली मन्दिर का द्वार रूद्ध कर पूजा कर रहे थे, तब रेवती के नेत्रद्वय रुद्ध द्वार के अन्दर से भीतर देख रहे थे। पूजा शेष कर दो चाँदी के दूध भरे कटोरे राजा ने अपने हाथों काली के दोनों पादमूल में रक्खे। फिर पादमूल के दोनों भारी पत्थर खोल दिए। उन छेदों से फनफनाती हुई दो काली नागिनें निकलीं। उन्होंने दूध पिया। एक को राजा ने तुरन्त बन्द कर दिया, दूसरी के सामने राजा ने अपना हाथ बढ़ाया। नागिन ने मानो चुम्बन की बूँद राजा के हाथ में टपका दी और तब वह छेद में घुस गई। राजा ने रूमाल से रक्त बिन्दु को पोंछा, ढक्कन लगाया और नशे में झूमता हुआ महल में पहुँच कर अपने पलंग पर पड़ कर सो रहा। शान्त धीरता से रेवती ने सब कुछ देखा। वहीं खड़ी रह कर वह जाने क्या सोचती रही। उसके बाद दृढ़ निश्चय की छाया उसके मुख पर व्याप्त हुई।

(४)

अर्द्ध रात्रि की निस्तब्ध सुषुप्ति। रानी ने राजा के कमरे में प्रवेश किया। रणधीर शय्या पर पड़ा छटपटा रहा था। रेवती खड़ी रह कर पति की दशा देखने लगी। फिर पलंग पर बैठ गई। पति का मस्तक उसने अपनी गोद में उठा लिया—"क्या हो गया? आज तुमको महाराज?"

"तुमने मेरा भी संस्कार कर डाला न? परन्तु इतनी जल्दी? मुझे ऐसी जल्दी की आशा नहीं थी। यद्यपि मैं देख रहा था अलमारी की बोतलें खाली हो रही हैं। और अब तो अलमारी ही खाली है।"

रेवती चुप रही।

"क्या देख रही हो रेवा?"

"अपने पति को। न सवेरे भोजन, न रात को भोजन। आज से नित्य भोजन करोगे, चलो उठो।"

एक आज्ञा-पालक शिशु-सा राजा उठा और चाँदी की थाली, कटोरियों में नाना प्रकार के भोजनों को देखकर वह विस्मित हुआ—"यह सब किसने बनाया?"

रेवा केवल मुस्करा दी।

× × × ×

भोर की सुहावन घड़ियाँ विश्व प्रांगण में तब पहुँच नहीं पाई थीं। राजा रेवती को देखता हुआ बोला—"आज रात जाग कर किस साधना में लगी हुई हो रेवा? न बोलोगी? परन्तु सुनो तो, एक अपंग पुरुष नारी को सन्तान की भिक्षा कैसे दे सकता है? तुम्हारे बाह्य और अन्तरंग दोनों रूपों ने मुझे मोह लिया है। कितना भयंकर पशु हूँ मैं! क्या अब भी नहीं समझीं?"

रानी मुस्करा दी।

राजा ने आँखें गड़ा कर रानी की ओर देखा—"क्या चाहती हो रानी? सन्तान? राजवंश की रक्षा? तो "टी···ऊ···ब···बे···बी···"

रेवती बीच ही में गरज उठी—"बस, चुप रहो? एक दिन उस अभागिनी के, मेरी जीजी के, तुम्हारे इन्हीं शब्दों से प्राण गए थे। मैं सब जानती हूँ!"

"तुम-तुम-इतना भी जानती हो रेवा?"

"क्या चाहती हूँ? इसी राजवंश की सन्तान? तुम नहीं-एक दिन मैं ही तुम्हें भिक्षा दूँगी। तुम अपंग हो? तुम्हारी यह मिथ्या-कल्पना है। बस, अब सो जाओ।"

"और तुम? क्या योंही रात भर जाग कर यहाँ बैठी रहा करोगी?"

"हाँ, दिन और रात।"

"कब तक?"

"जब तक राजा बहादुर का पूर्ण संस्कार होकर उन्हें पूर्वावस्था प्राप्त न हो जाए।"

राजा आँखें बन्द कर पड़ा सोचता रहा। किन्तु फिर भी उसकी समझ में बात नहीं आई कि उन दोनों नागिनों को किसने मार डाला? रेवती ने? या स्वयं काली माता ने?



चण्डालिका—(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

सम्मुखे घन आंधार—
पार आछे कोन् देशे?
आज भावि मने मने
मरीचिका-अन्वेषणे
बुझि तृष्णार शेष नेइ—
मने भय लागे सेइ,
हालन्भाङन पाल-छेंड़ा व्यथा
चलेछे निरुद्देशे॥१५

माँ—अरी ओ निष्ठुर लड़की, मुझ पर दया कर। मुझसे और सहन नहीं होता। शीघ्र दर्पण देख।

प्रकृति—(दर्पण देखते ही फेंक कर)

माँ-माँ, अरी माँ, रहने दे- रहने दे, लौटा ले- लौटा ले अपना मन्त्र! अभी, तुरन्त! अरी ओ राक्षसी क्या किया यह क्या किया? तू मर क्यों न गई? क्या देखा यह मैंने? अरे, कहाँ है मेरा वह दीप्त, उज्ज्वल, वह शुभ्र निर्मल, वह सुदूर स्वर्ग का प्रकाश? कैसा म्लान, कैसा क्लान्त, आत्म-पराजय का कितना प्रकाण्ड भार लेकर मेरे द्वार पर आया है। सिर नीचा करके आया है। जाए-जाए, यह सब कुछ चला जाए—

(शेष पृष्ठ ६१ पर)

१५. (इस) पथ का अन्त कहाँ है, कहाँ है, अन्त (और) इसके अन्त में क्या है? इतनी कामनाएँ, इतनी साधनाएँ कहाँ विलीन हो जाती हैं? रुदन की लहरें उठती-गिरती हैं, सामने सघन अन्धकार है—इसका छोर कहाँ है- किस देश में है? आज मन ही मन सोच रही हूँ—लगता है मरीचिका की खोज में तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है—मन में वही भय है। टूटे पतवार और फटे पाल वाली व्यथा निरुद्देश्य चली जा रही है।

कुछ संज्ञा शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन

हरिहरप्रसाद गुप्त

हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने पर प्रादेशिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। आज सभी प्रदेशों के भाषाविद् एवं साहित्यिक एक दूसरे के निकट आने की लालसा रखते हैं—यह न केवल राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए ही हितकर है वरन इससे सभी प्रादेशिक भाषाएँ समृद्ध बनेंगी। हमारे देश में मुख्यतः दो परिवार की भाषाएँ हैं—हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भारतीय आर्य भाषा परिवार की हैं तथा दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु आदि द्राविड़ परिवार की हैं। इन दोनों परिवारों में अत्यधिक भिन्नता होते हुए भी तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम देखेंगे कि संस्कृत नामों का प्रभाव केवल भारतीय आर्य भाषाओं पर ही नहीं है वरन द्राविड़ पर भी है। सं० पटोल शब्द ते० में 'पटोल', त० में 'पुडलै' तथा क० में पडवल के रूप में मिलता है, गुजराती में पटोल शब्द ही प्रचलित है, म० और हिंदी में क्रमशः पडवल तथा परवल प्रयुक्त होता है, बंगला में इसे पलतालता कहते हैं।

हिं० तरबूज (सं० तरंबुजं) ते० में तरबुज पुच्चकाया कहलाता है। बं० में यह उच्चारण भेद से तरमुज है, सं० में इसका एक पर्याय कालिंग है जिससे प्रभावित म० कलिगड, गु० कालिंगडुँ तथा क० कौंडे है। कालिंग तत्सम अथवा तद्भव रूप में हिं० में क्यों नहीं प्राप्त होता यह भाषा-विज्ञान में रुचि रखने वालों के लिए एक प्रश्न है।

हिं० करेला, करेली (सं० कारवेल्ल, कारवेल्ली) म० कारलें, गु० कारेला के रूप में है, तेलुगु में भी यह करिला के रूप में विद्यमान है।

हिं० भिंडी (सं० भेण्डा, भेण्डातिका) ते० में भेडकाया, क० में बेडे के रूप में प्रचलित है। म० तथा गु० में यह क्रमशः भेंडे तथा भींडा रूप में प्रयुक्त होता है।

हिं० बैंगन (सं० बंगण) म० बांगे, बं० बेगुनु के रूप में तो है ही, यह ते० में बङ्कण, बंकाया एवं क० में बदने के रूप में प्रयुक्त होता है, गु० में यह रिंगणा है।

सिंघाड़ा (सं० शृंगाटक) हमारे देश का एक प्रसिद्ध जलफल है। यह बं०, म० तथा गु० में क्रमशः सिंघाड़े, शिंगाड़े तथा शिगोडा के रूप में प्रचलित तो है ही, क० में भी यह सिंवाड़े के रूप में प्रयुक्त होता है।

गाजर (सं० गर्जर) हिं०, म० तथा बं० तीनों में एक ही रूप में व्यवहृत होता है, ते० में एतदर्थ सं० गृंजन शब्द ज्यों का त्यों अपना लिया गया है।

सूरन (सं० सूरण) म० तथा गु० में क्रमशः सुरण तथा सूरण के रूप में मिलता है, त० तथा क० में संस्कृत रूप ज्यों का त्यों है, ते० वंचाकंदा में कंदा सं० कंद से प्रभावित है। इसे बं० में ओल कहते हैं जो सं० ओल्ल का ही तद्भव रूप है।

हिं० पानी उच्चारण भेद से गु० तथा म० में पाणी कहलाता है। हिं० जल बं० में भी जल (सं० जल) के रूप में है; ते० नीरु सं० नीर से ही उद्भूत है।

हिं० तथा म० का दूध (सं० दुग्ध) उच्चारण भेद से बं० तथा गु० में दुध है, इसे क० में हालु तथा ते० में पालु कहते हैं।

हिं० तथा म० का दही बं० तथा गु० में क्रमशः दइ एवं दहि के रूप में प्रचलित है। यह क० में मसरु तथा ते० में पेरुगु कहलाता है। हिं० छाछ (सं० छच्छिका) गु० में छास के रूप में प्रयुक्त होता है। गु० घोलवु तथा बं० घोल सं० घोल के रूप हैं; म० ताक सं० तक्र का ही रूप है। ते० तथा क० में क्रमशः चल्ला तथा मज्जिगे कहते हैं।

हिं० नैनू, नोनी, म० लोणी, बं० ननी सभी सं० नवनीत के तद्भव हैं तथा हिं० मक्खन, बं० माखन, गु० माखण सं० म्रक्षण से विकसित हुए हैं। क० तथा ते० में इनके लिए क्रमशः बेण्णी तथा पेन्ना शब्द हैं। हिं० घी (सं० घृत) बं० तथा गु० में भी प्रयुक्त होता है। म० में इसके लिए तूप शब्द है। ते० का नेई शब्द संभव है सं० नवनीतज से प्रभावित हो।

हिं० तेल (सं० तैल) म०, गु० तथा बं० तीनों में व्यवहृत होता है, क० में संस्कृत तैल ज्यों का त्यों है, ते० में एतदर्थ नुने है जो घृत के लिए ते० नेई से मिलता-जुलता है।

हिं० खांड (सं० खण्ड) गु० तथा बं० में भी प्रयुक्त होता है। क० में इसे मालखंड तथा ते० में पांचदारा कहते हैं, जो संभवतः सं० पाण्डुरा से प्रभावित है। हिं० शक्कर (सं० शर्करा) गु० में शाकर, म० में साखर पिठी साखर (सं० सुपिष्टा + शर्करा) है। क० में इसे गुडगुडातुगीतु तथा ते० में फाटिके पांचादारा कहते हैं।

हिं० कांकर, ककड़ी (सं० कर्कटी) बं० कांकड़ तथा गु०, म० में कांकडी के रूप में प्रयुक्त होता है। क० तथा ते० में इसे क्रमशः क्येयसौत तथा दोसकाया कहते हैं।

हिं० लहसुन (सं० लशुनं) गु० में लसण तथा म० में लसूण कहलाता है, क०, ते० तथा त० में इसे क्रमशः विलीय वेल्लुल्ली, तेल्लाउल्ली गांडा तथा वल्लइपाण्डु कहते हैं।

हिं० मूली (सं० मूलक) म० तथा गु० में मूला तथा बं० में मुला एवं चणफमूली, सं० चाणक्यमूलक कहलाती है। क० में इसे मुलंगी तथा ते० में शूविदंपा कहते हैं।

हिं० पालक (सं० पालङ्क्य) बं० तथा गु० में क्रमशः पालंशाक, पालख तथा पालखनी कहा जाता है। क० में इसे पालक्य कहते हैं।

सं०=संस्कृत; ते०=तेलुगु; त०=तमिल; क०=कन्नड़;
म०=मराठी; बं०=बङ्गला; हिं०=हिन्दी; गु०=गुजराती

हिं० सरसों (सं० सर्षप) बं०, म० तथा गु० में क्रमशः सरिषा या सर्के, शिरस तथा शरशव कहलाते हैं, क० में इसे बिलीयसासेव तथा ते० में पाचाग्रश्वालु कहते हैं।

हिं० तिसी, अलसी (सं० अतसी) म० तथा गु० में अलशी, बं० में तिसी कहलाती है। क० में इसे असगे तथा ते० में नल्लपगसिचेटट्ट कहते हैं।

हिं० धान (सं० धान्यं) ते० में धान्यमु कहलाता है। हिं० शालि, बं० शालि धान्य, म० साली तथा गु० शाल्य सभी सं० शालि से उद्भूत हैं।

हिं० जौ (सं० यव) म० तथा गु० में जव, बं० यव के रूप में तथा क० तथा ते० में क्रमशः मुडजयव व यवधान्य के रूप में प्राप्त है। हिं० गेहूँ (सं० गोधूम) ते० में गोदुम तथा बं०, म०, गु० में क्रमशः गम, गहूँ, धउँ कहलाता है। क० में इसे गोदी कहते हैं।

हिं० ज्वार (सं० यवनाल, यावनाल) ते० में जोन्तलु तथा क० में जोलदद्देसह के रूप में है। बं०, म० तथा गु० में इसे क्रमशः जोयार, ज्वारी तथा जुवार कहते हैं।

हिं० मसूर (सं० मसूरक) म० तथा गु० में भी मसूर ही है, बं० में यह मसूरि है, ते० में मसूरपप्पु कहते हैं। क० में चणगी संभवतः सं० कल्याणबीज से प्रभावित है।

हिं० अरहर, बं० अडहर, सं० आढ़की से तथा म० तुरी, गु० तुरदाल्य सं० तुवरी से उद्भूत हैं। क० में इसे तौगरी तथा ते० में कादुलु कहते हैं।

हिं० तिल (सं० तिल) म० में तील, गु० में तन, क० में एलु, ते० में नोवुल्लु तथा त० में वल्लेनेय कहलाता है।

विभिन्न धातु-उपधातुओं के नाम लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं में समान हैं। हिं० सीसा (सं० सीसक) बं० सीसा, म० शिसें, गु० शीसुं, क० सीसा तथा ते० शीश है। हिं० लोहा (सं० लोह) बं० लोह तथा म० लोखंड, गु० लोढुं है। क० में इसे अयस्कांत (सं० अयस्कांत) कहते हैं। ते० में यह इनुमु है। हिं० कांस (सं० कांस्य) बं० में कांसा, म० में कांसे, गु० कांसु तथा क० एवं ते० में कंचु कहलाता है। हिं० तथा गु० पीतल (सं० पित्तल) बं० तथा म० में पितल के रूप में है, क० तथा ते० में इसे क्रमशः पित्तालेयरड्ड तथा इत्तडी कहते हैं। हिं० पारा (सं० पारद) बं०, म० में भी पारा ही है, गु० में पारो है, क० तथा ते० में इसे क्रमशः पारदरस तथा पारदरसमु कहते हैं। हिं० गंधक (सं० गंधक) बं०, म०, गु० तीनों में इसी रूप में है। ते० में यह गंधकमु है। इसी प्रकार हिं० सिन्दूर (सं० सिन्दूर) भी तीनों भाषाओं में एक ही रूप में मिलता है, ते० में इसे चेन्दुरमु कहते हैं। हिं० मैनसिल (सं० मनःशिला) बं० में मनछाल, म० में मनशील, गु० में मणशल तथा ते० में मानुशिला है। हिं० फिटकिरी (सं० स्फटिकारि) बं० में फटकिरी, म० तथा क० में फटकी एवं ते० में फाटिके है। हिं० सोना (सं० सुवर्ण) बं० सोना, म० सोने, गु० सोनु क० में स्वर्ण तथा ते० में भङ्गार सं० भृङ्गार के रूप में प्राप्त है। हिं० तांबा (सं० ताम्र) बं०, म० तथा गु० में क्रमशः तामा, ताँबे और ताँबो है, क० में तत्सम रूप ही प्रयुक्त होता है, ते० में इसे रागी कहते हैं। हिं० रांगा (सं० रंग) बं० में रांग, म० तथा गु० में क्रमशः कथील तथा कथीर सं० कस्त्रीर के रूप में प्रयुक्त होता है; क० तथा ते० में यह क्रमशः तवर तथा तगरमु रूप में प्रचलित हैं जो संभवतः सं० तमर के तद्भव हैं। विभिन्न पर्यायों में कोई किसी प्रदेश में क्यों प्रसिद्धि प्राप्त करता है यह प्रश्न भी रुचिकर है। इस प्रकार धातूपधातु सम्बन्धी शब्दावली द्राविड़ भाषाओं में भी अधिकांशतः संस्कृत से ही उद्भूत है, इससे यह स्पष्ट है कि आर्यों ने ही धातुओं को महत्त्व दिया। किसी प्रदेश की भाषा पर दूसरी सभ्यता का कितना प्रभाव पड़ सकता है इसका यह एक उत्तम उदाहरण है।

हिं० कपूर (सं० कर्पूर) गु० में भी इसी रूप में है, क० में यह तत्सम रूप में तथा ते० में उच्चारण-भेद से कर्पूरमु के रूप में प्रयुक्त होता है। कस्तूरी म०, गु०, क० तथा ते० सभी में तत्सम रूप में ही व्यवहृत होता है। केशर हिं०, म० तथा गु० तीनों में तत्सम रूप में प्रयुक्त होता है। इसका पर्याय सं० कुंकुम क० तथा ते० में व्यवहृत होता है। हिं० नागकेशर (सं० नागकेशर) म०, गु०, क० तथा ते० में भी इसी रूप में व्यवहृत होता है। इसी प्रकार तालीसपत्र, जटामांसी तथा गोरोचन बं०, म०, क० तथा ते० सभी में अपने तत्सम रूप में ही व्यवहृत होते हैं।

हिं० चंपा (सं० चंपक) बं० चाँपा, म० चाँफा, गु० रायचम्पो, ते० चंपागी, त० चवंक के रूप में प्रचलित है। सेवती (सं० शतपत्री) बं० सेउती, गु० शेवती, क० सेवतिगे के रूप में व्यवहृत है। हिं० में इसका एक पर्याय गुलाब है, बं० में यही गुलाबांचे फूल तथा ते० गुलाबीचुवु के रूप में है। हिं० अडूसा (सं० अटरूप) म०, बं०, गु०, क० तथा ते० में क्रमशः अडलुसा, अरडुशो, आडसोगे तथा आडासार है। इसी का एक नाम सं० वासक है जो बं० में बाकस के रूप में मिलता है।

हिं० ताम्बूल (सं०) ते० में तामलपाकु के रूप में है। इसका पर्याय सं० नागवल्ली म०, गु० तथा क० में क्रमशः नागवेल, नागरवेल्य तथा नागरवल्ली है।

हिं० सेंधा (सैंधव) बं० तथा क० में तत्सम के रूप में है, म०, गु० तथा ते० में यह क्रमशः सैंधे लोण, सिंधालुण तथा सिंधुउपु है।

हिं० लाख (सं० लाक्षा) म० लाखा, गु० लाख, ते० में लाका है।

हिं० मरिच बं० में मरिच, म० में मिरें, गु० में मरी, क० में मेणसु तथा ते० में मरिया है।

हिं० केला, बं० कला, म० केल, गु० केल्य के रूप में है, क० में सं० कदली तत्सम रूप में वर्तमान है; ते० में इसे चक्राकेली कहते हैं।

हिं० नारंगी (सं० नारंग) बं० नारंगा लेबु, म० नारिंग, गु० नारंगीलिंबु, ते० में नारंजिचेट्टु है। हिं० जंभीरी नेबू (जम्बीर जम्भीर) ते० में भी जंभिरम है।

हिं० इमली (आम्ली) गु० में आँबली है। इसका एक अन्य पर्याय सं० चिंचका, चिंचा है जो म० में चिंच तथा ते० में चिंताचेट्टु, चिंट के रूप में विकसित हुआ है तथा बं० का तेंतुल सं० तिन्तिडी

(शेष पृष्ठ ४१ पर)

तमिल की वर्तमान लेखिकाएँ

सरस्वती रामनाथ

राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ जो राजनीतिक तथा सामाजिक नव-चेतना हुई थी, उससे दक्षिण अछूता न रहा। बापू जी के बिगुल ने कोने- कोने में सुप्त पड़ी बेसुध मानव आत्माओं को जगा दिया था। उससे पूर्व भारत की अन्यान्य भाषाओं की तरह, तमिल का साहित्य भी केवल मनोरंजनात्मक ही था। समसामयिक मनोभाव साहित्य द्वारा ही व्यक्त होते हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। गांधीवाद की लहर ने जिस समय व्यापक रूप धारण कर लिया था, तब तमिल के साहित्यिकों ने भी क्षणिक मनोरंजन करने का विचार छोड़कर शाश्वत सत्य और युग की पुकार की माँग पर ध्यान दिया।

विदेशी दमन, सामाजिक पतन, रूढ़िग्रस्त परवशता, जो भारतीय जीवन को कस रहे थे, उनके पंजे से अपने को छुड़ाने के लिए भारतीय मानव छटपटा उठा। उसका मन बंधन मुक्त होने को विकल हो उठा। 'कवि भारती' का सिंहनाद तमिलनाड भर में गूंज उठा। उस सामन्तवादी युग में, नारियों की दशा के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? घर की अंधेरी धुआँभरी कोठरी में, भारतीय नारी अपने भाग्य पर सिसक रही थी। तभी नारी स्वतंत्रता पर भारती ने गाया—

घर में नारी बन्धित करने वाले उड़ गए,
पत्र छूना पाप समझने वाले उड़ गए,
ताली बजा री—नारी—बजा री,
आज़ादी की खुशी में ताली बजा री!

निराशा के कुहरे से घनीभूत हृदयों में इस गीत ने आशा का संचार किया था। श्रीमती गोदैनायकी अम्माल बापू जी की राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित होकर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने वाली पहली नारी थीं। उस समय तक के साहित्यिकों में एक-दो स्त्रियों का नाम अवश्य था, मगर वे श्रीमती गोदैनायकी के समान प्रतिभा सम्पन्न नहीं थीं। गान्धीवादी प्रभाव से ओतप्रोत, सुधारात्मक उपन्यास लिखने का श्रेय उन्हीं को है। भारती के उस युग में, तमिल के नव विकास में, उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वह तत्कालीन समस्याओं और समाज सुधार आदि को प्रधानता देकर जन-साधारण के लिए उपन्यास लिखने लगीं। प्रेमचन्द के पहले उपन्यास 'सेवासदन' की तरह उन्होंने 'वैदेही' नाम से एक उपन्यास लिखा जिसे उनका साहसपूर्ण कदम कहना ठीक होगा। साधारणतः सुधारवादी भावनाओं को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में कृत्रिमता का आना स्वाभाविक है। उन्होंने लगभग सौ उपन्यास लिखे हैं और अब भी लिख रही हैं। वह अपने उपन्यासों में शराबबन्दी, जातीय कट्टरता, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह इत्यादि सामयिक प्रश्नों का उत्तर देने में सफल हुई हैं। उस समय उनकी लेखनी की बड़ी धूम थी। उनकी रचनाएँ हाथों-हाथ बिक गईं। उनका आदर्शवाद यथार्थ की आग में तपी नारियों को बेहद प्यारा लगता है। वह 'जगन मोहिनी' नामक एक मासिक पत्रिका की संपादिका हैं, उसी में उनके उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहे हैं। कला की कसौटी पर भले ही उनके उपन्यास उतने खरे न उतरें, किन्तु सार्वजनिक, राजनीतिक समस्याओं पर (खासकर गांधीवाद) लिखने वाली वही एकमात्र महिला हैं। आदर्शवाद की ओर उनकी दृष्टि जितनी गई है उतनी जीवन की यथार्थता की ओर नहीं। उपदेशात्मक प्रवृत्ति उनके कलाकार के रूप को छिपा लेती है। फलस्वरूप उनके उपन्यास लम्बे वर्णनों, अतिरंजित कल्पना तथा अमानवीय चित्रणों से भरे रहने पर भी पठनीय हैं।

श्रीमती गुहप्रिये का नाम उनके बाद में आता है। वह नवीन तमिल साहित्य की विकसित भावधारा के प्रतीक के रूप में आती हैं। उनके कई उपन्यास, कहानी संग्रह, निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने पांडित्यपूर्ण तमिल को, जो जन-साधारण की समझ के बाहर थी, सरल, सुबोध और प्रांजल बना दिया।

चन्द्रिका, इललोलि (जीवन ज्योति), मल्लिका, इन्द्रधनुष, भाई की पत्नी, मृगमरीचिका आदि उनकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। वह उपन्यास लेखिका मात्र नहीं, गम्भीर चिन्तनशील जागृत महिला हैं। अपने प्रौढ़ विचारों को उन्होंने 'खोया धन', 'इतिहास का चमन' 'नारियों के लिए' आदि निबन्ध संग्रहों में व्यक्त किया है। वह पक्की गांधीवादी हैं, जिसकी भीनी-भीनी गंध उनकी रचनाओं में महक उठती है। वह जीवन के खुले क्षेत्र से यथेष्ट सामग्री लेकर लिखती हैं किन्तु प्रगतिशीलता का तीखापन, विद्रोह की कड़वाहट आदि हम उनमें न पाएँगे। सजीव चित्रण उनकी विशेषता है। प्रगतिशीलता के नाम पर यौन सम्बन्धी विकृत धारणाओं पर लिखने से उन्हें चिढ़ है। उनकी 'चन्द्रिका' मध्य वर्ग के पारिवारिक जीवन पर आधारित सुन्दर भावमय चित्र है।

विदेशी सभ्यता की लुभावनी हवा और स्वदेशी आन्दोलन में जो संघर्ष हो रहा था—उसकी छाया हम इस उपन्यास में पाते हैं। लेखिका मानव की चारित्रिक दुर्बलता मात्र को न लेकर उसकी सबलता और मनुष्यता को उभारती है। तमिल भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। मुहावरेदार भाषा उनकी विशेषता है। उनकी रचनाओं में चिंतन की तड़क-भड़क नहीं, पर गाम्भीर्य और गूढ़ता अवश्य है। प्राचीन के प्रति उनके मन में अधिक मोह है इसलिए कहीं-कहीं सन्तुलन ठीक नहीं हो पाता। राष्ट्रभाषा से वह सुपरिचित हैं। कई कहानियों और एकाध उपन्यास का अनुवाद भी उन्होंने किया है। तमिलनाड में उनकी रचनाओं का अच्छा आदर है।

इन लेखिकाओं पर विदेशी साहित्य का प्रभाव है किन्तु तमिलनाड की संस्कृति व शालीनता के विरुद्ध विद्रोह की वाणी उनमें नहीं मिलती। उनके साहित्य में हमें युग-युग से शोषित नारी की मूक व्यथा, मर्यादा पर मर मिटने की उसकी लगन, मूक क्रन्दन करती नारी का चित्रण ही अधिकतर मिलेगा। पाश्चात्य सभ्यता में बह जाने वाली नारियों की विकृति तथा पतन का चित्र उपस्थित करके, भारतीय परम्परा के महत्त्व को दिखाने में ये लेखिकाएँ सतत प्रयत्नशील हैं।

श्रीमती गुहप्रिये का हाल में प्रकाशित 'नारियों के लिये' नामक निबन्ध संग्रह उत्तम कोटि का है। आज की नारी के सामने कई प्रश्न और समस्याएँ हैं। वे किस दिशा में बढ़ रही हैं? क्या कर रही हैं? इसका फलाफल क्या होगा? आदि प्रश्नों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। उन्होंने प्राचीनता का पल्ला पकड़े रहने का उपदेश न देकर प्राचीन तथा नवीन संस्कृति का सुन्दर सामंजस्य करने की प्रेरणा दी है। सुन्दर, सुबोध शैली में लिखित यह पुस्तक नारियों के लिए एक वरदान है। लेखिका ने अपने अनुभवों को हमारे सामने रखते हुए जीवन की सच्चाइयों का सजीव चित्रण किया है।

तिलस्म के करिश्मे, चमत्कार प्रदर्शन, खून, हत्या, अतिरंजित कल्पना आदि का तमिल लेखिकाओं में अभाव है।

जागरूक साहित्यकार राजनीति से अछूता नहीं रह सकता, ऐसा कहा जाता है। तमिल लेखिकाओं की रचनाओं पर दृष्टि डालते समय यह उक्ति खरी नहीं उतरती। इतना तो कह सकते हैं कि तमिल लेखिकाएँ अपने प्रति वफ़ादार हैं। अपनी पहुँच की बाहरी बातों की असंगत कल्पना उन्होंने नहीं की है। मध्यवर्गीय पारिवारिक घेरे को छोड़कर कहीं बाह्य समस्याओं पर नज़र डालने का उन्होंने साहस नहीं किया है। उनकी रचनाओं में राजा-महाराजाओं की कहानियाँ या श्रमजीवियों की दुखभरी गाथा हम नहीं पाते। जिस वातावरण में वे रहती हैं, जिस वातावरण में वे पली हैं, उसका व्यापक और सूक्ष्म वर्णन ही उन्होंने किया है।

श्रीमती लक्ष्मी के ज्यादातर उपन्यास पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। वह तमिलनाड की लोकप्रिय उपन्यास लेखिका हैं। वह तमिल की 'जेन आस्टीन' कही जाती हैं। आगे क्या होगा, इस जिज्ञासा को कहानी में बनाए रखने की सामर्थ्य उनकी लेखनी में है। तमिलनाड की जनता के लिए, जो साहित्य को हलका मनोरंजन मात्र समझती है, श्रीमती लक्ष्मी के उपन्यास दिलचस्प हैं। कथा में कोई नवीनता न होने पर भी उनके कहने का ढंग आकर्षक है। उनके दर्जनों उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'आनन्द विकडन' में उनके उपन्यास धारावाहिक रूप से लगातार निकलते रहते हैं। जनता की माँग व रुचि को समझकर लिखने में वह सफल हैं। 'मिथिला विलास', 'पेन-मनम' (नारी हृदय), 'कांचना का स्वप्न' आदि उत्कृष्ट हैं। 'मिथिला विलास' और 'नारी हृदय'—तमिल अकादेमी द्वारा पुरस्कृत रचनाएँ हैं। 'कांचना का स्वप्न' फिल्म के रूप में सामने आ चुका है। श्रीमती लक्ष्मी डाक्टर हैं। जीवन का उन्हें विशाल अनुभव है। भद्र समाज का खोखलापन, दिखावे की सभ्यता आदि को उन्होंने साफ चित्रित किया है। उनकी भाषा बहुत सरल है तथा चरित्र चित्रण सुन्दर है। डाक्टर के नाते उन्होंने स्वास्थ्य सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखी हैं।

श्रीमती राजम कृष्णन उदीयमान लेखिका हैं। उनकी एकाध रचना ही प्रकाशित हुई है पर उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनके उपन्यास 'नारी की आवाज़' ने उन्हें उच्च कोटि की लेखिका सिद्ध कर दिया है। नए शिल्प की झाँकी भविष्य को आशामय बना रही है। तमिलनाड की उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिका हर साल तमिल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास को एक हज़ार रुपये का पुरस्कार देती है। सन् १९५४ का पुरस्कार श्रीमती राजम कृष्णन को प्राप्त हुआ है। 'नारी की आवाज़' एक उत्तम रचना है। बाह्य तथा अन्तर्मन के द्वन्द्वात्मक संघर्ष को लेकर कथावस्तु के ताने-बाने बुने गए हैं। सुशीला सुशिक्षित संभ्रान्त कुल की युवती है। बीसवीं सदी के नारी जागरण के प्रभाव से वह अछूती न रही। सुशील जैसे पति को पाकर भी वह सुखी नहीं होती —पर क्यों? इस प्रश्न का उत्तर ही यह उपन्यास है। लेखिका ने मनोविश्लेषणात्मक ढंग से जीवन की वास्तविकता, मानव मन की विवशता, आदर्श की असफलता आदि को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। उन्होंने नारी जीवन को विविध कोणों से देखा है। नए सामाजिक धरातल पर खड़ी आज की युवती को स्वच्छन्द विचार धारा और आत्माभिमान उसे कहाँ से कहाँ ले जाते हैं—इसे बखूबी चित्रित किया गया है। जोश और उफान के साथ नारियों का पक्ष लेकर तर्क उपस्थित नहीं किया गया किन्तु बड़ी भावुकता से अन्तर्मन के संघर्ष पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मध्यवर्ग की नई और पुरानी पीढ़ी के विचार वैषम्य का चित्रण बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है।

श्रीमती राजम कृष्णन सफल रेडियो नाटककार हैं। उपदेशात्मक कथन और नीति सूक्तों से कथा को बोझिल न बनाकर, सजीव और रोचक बनाने का कौशल उनकी विशेषता है। पात्रों तथा प्रकृति के वर्णन में शब्द चित्र का सौंदर्य मिलता है। अभी हाल में प्रकाशित 'प्रेम का पारावार' (अन्युक्कडल) मानव हृदय की ममता का अलौकिक चित्र है। कथानक का निर्वाह, शिल्प विधान, भावमय कल्पना आदि सभी मार्मिक बन पड़े हैं।

मनोविज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखने में श्रीमती अनुत्तमा बेजोड़ हैं। वह स्थूल समस्याओं को न लेकर, कौटुम्बिक जीवन के सूक्ष्म भावात्मक चित्र प्रस्तुत करती हैं। उनकी रचनाएँ लोकप्रिय हैं। 'एक ही बात', 'गौरी', 'बालू का घर' (कलैमगल द्वारा पुरस्कृत), 'वरदान', 'मीठा शहद', 'बिखरा स्वप्न', 'भूमा' (लघु उपन्यास—तमिल अकादेमी द्वारा सम्मानित), 'जमन्तिपुर का मेला', 'तुच्छ बात'—आदि उनके उपन्यास हैं। इधर की पत्रिकाओं में बराबर उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीमती अनुत्तमा का नाम श्रीमती राजेश्वरी पद्मनाभन है। उनकी शैली प्रवाहमयी है और कौतुक लिए रहती है। चरित्र चित्रण कलात्मक और सजीव है। वह यही दिखाना चाहती हैं कि

कौटुम्बिक जीवन एक महान क्षेत्र है। दुःख-सुख की कसौटी पर मानव की परीक्षा हो जाती है। जिस तरह उपन्यासों में पात्र एकाएक भारी धक्का खाकर सम्हल जाते हैं उस तरह जीवन में नहीं घटता। कौटुम्बिक जीवन त्यागमय है, यदि उसमें स्वार्थ और अशांति रहे तो जीवन का सुख मृगमरीचिका बन जाएगा। उनके उपन्यासों में इन सब समास्याओं का समाधान मिलता है। उनका पुरस्कृत उपन्यास 'बालू का घर' उत्पीड़ित विधवा की करुण कहानी है। 'मीठा शहद' एक विधुर की पत्नी बनकर विमाता के स्थान पर आने वाली आदर्श युवती की विवशता की कथा है। लेखिका यही दिखाना चाहती है कि बच्चा गिर-गिर कर ही चलना सीखता है। उसको देखकर सहानुभूति से द्रवित होकर उसके आँसू में अपनी हँसी को भुलाने वाला समाज, ठोकर खाने वाली विमाता को देखकर क्यों हँसी उड़ाता है? क्यों उसके हर कृत्य को काले चश्मे से देखता है? इसको विवेचना, 'भूमा' और 'मीठा शहद' में की गई है।

तमिल लेखिकाओं के उपन्यास पारिवारिक पृष्ठभूमि पर अंकित रंगीन चित्र हैं। मगर इनमें एकरूपता या एकरसता नहीं मिलती। सुपरिचित कथा का स्वाभाविक घटनाओं के द्वारा विकास हुआ है। मर्यादापूर्ण, स्वस्थ, स्वप्नदर्शी, प्रेम का वर्णन ही उनमें मिलता है। जिस प्रेम की स्वाभाविक परिणति त्याग, आत्मशक्ति, या विवाह में नहीं होती उसे मान्यता नहीं दी गई है। चटकीले, वासनामय, सस्ते प्रेम को अलौकिक प्रेम के रूप में दिखाने की चेष्टा वे नहीं करतीं। आज के युग ने नारी को खुले आँगन में लाकर खड़ा कर दिया है, उसके सामने घर और बाहर की विकराल समस्या है। उसके मन में खींचा-तानी होती रहती है। इस संक्रान्तिकालीन नारी को तमिल लेखिकाओं ने सहानुभूति की दृष्टि से देखा।

श्रीमती सावित्री अम्माल उच्चकोटि की लेखिका हैं। वे ज्यादा नहीं लिखतीं पर जो लिखतीं हैं वह उत्तम होता है। उनका गहरा अध्ययन और मनन है। उनकी शैली गम्भीर और पांडित्यपूर्ण है। एफ० डब्ल्यू० वेन के दो उपन्यासों का उन्होंने अनुवाद भी किया है। अंग्रेज़ी से अनूदित यह उपन्यास सफल प्रयत्न है। श्रीमती अम्माल कहानियाँ, लेख आदि लिखा करती हैं।

श्रीमती कुमुदिनी (श्री रंगनायकी) अपने उपनाम द्वारा ही तमिल-नाड में अधिक प्रसिद्ध हैं। इधर न जाने क्यों उनकी अधिक रचनाएँ पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिल रहा है। वह बापू जी की शिष्या, सर्वोदय की साधिका हैं। कवि रवीन्द्र की कृतियों का तमिल अनुवाद पहले पहल उन्होंने ही किया था। वे चिंतनशील साहित्यिक हैं, मनोरंजन मात्र उनका उद्देश्य नहीं। उनके लेख गम्भीर और विचारात्मक होते हैं। सब क्षेत्रों में उनका अधिकार है। अभी हाल में उत्तर भारत की अपनी यात्रा पर उन्होंने जो लेख लिखा था वह इतना रोचक और दिलचस्प रहा कि पाठक खिल उठे। बापू जी की शिष्या होने के नाते, सत्य कटु होने पर भी उसे छिपाने का प्रयत्न वह नहीं करतीं। 'दीवान की बेटी', 'नन्दु का जन्म दिन', 'कुमुदिनी' (रवीन्द्र) और एकाध रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

श्रीमती कौशल्या (असिस्टेंट कलैक्टर, कस्टम्स) भरत नाट्यम की विशिष्ट कलाकार तथा लेखिका हैं। उनके दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त श्रीमती सरस्वती अम्माल, सरोजा राममूर्त्ति, एस० एस० कमला, 'विंध्या', 'हरिणी', 'सौम्या' आदि अच्छी लेखिकाएँ अपनी रचनाओं द्वारा पाठकों का मनोरंजन कर रही हैं। कहानी के क्षेत्र में भी उनकी ख्याति कम नहीं हैं। हर साप्ताहिक और मासिक में उनकी एक न एक कहानी निश्चय ही शोभा पाती है।

संस्मरणात्मक ग्रन्थ श्रीमती तंगम्माल (भारती की पुत्री), श्रीमती चेल्लम्माल भारती (भारती की पत्नी), श्रीमती यदुगिरी अम्माल (भारती के मित्र की पुत्री), अम्मुजइयाल (श्रीनिवास अय्यंगार की पुत्री) आदि ने अपने-अपने विख्यात पिताओं पर लिखे हैं। यह महत्त्वपूर्ण प्रयास है। श्रीमती अम्मबुजम्माल ने तुलसी रामायण, अयोध्या काण्ड, का पद्यमय वर्णन किया है।

तमिल के आज के नवोत्थान में नारियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन पर बड़ी आशा भी है, वे ज़रा दुनिया की ओर भी अपनी नज़र डालें और देखें कि क्या हो रहा है। पारिवारिक साहित्य मात्र से वे अपने लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाएँगी। यदि वे विश्व के उपन्यासों में, विश्व के साहित्य में अपना स्थान बनाने का ध्येय मन में रखें और अपने साहित्य के प्रति वफ़ादार रहें तो तमिल लेखिकाओं का भविष्य अति उज्ज्वल होगा। उनमें मौलिकता, क्षमता, नई कल्पना और तड़पन है। मगर बाह्य जगत की समस्याओं से बिलकुल अछूता रहना उतना शोभनीय नहीं लग रहा है। तूफ़ान के बीच में भी अचल खड़े दीप स्तम्भ की धीरता प्रशंसनीय है। अंधकार में भी अपनी ज्योति जगाए रखना उसकी अलौकिक शक्ति का परिचायक है, मगर दुनिया की दृष्टि से वह जड़ता का लक्षण है चेतना का नहीं। तमिल लेखिकाएँ इस ओर ध्यान देंगी, ऐसी मुझे आशा है।



कुछ संज्ञा शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन—(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

से विकसित है। इसी प्रकार हिं० कटहल (सं० कण्टफल) बं० में कांटाल है और इसी का पर्याय सं० पनस, फणस म० में फणस, गु० पणस तथा ते० में पनसकायि के रूप में विकसित हुआ है।

हिं० चिरौंजी (सं० चार + बीज) म०, गु० तथा क० में क्रमशः चारोलो, चारोली तथा चारबीज के रूप में मिलता है तथा बं० का पियाल सं० प्रियाल से विकसित है।

इस प्रकार एक ही शब्द के विभिन्न पर्याय विभिन्न प्रदेशों में अपने वातावरण तथा सामाजिक प्रभाव के कारण विभिन्न रूपों में विकसित हुए हैं, यद्यपि सँस्कृत में एक नाम के जितने पर्याय प्राप्त हैं उनमें से नब्बे प्रतिशत इस समय प्रादेशिक भाषाओं में तत्सम अथवा तद्भव किसी रूप में प्रयुक्त नहीं होते। अर्वाचीन भाषाओं के विकास की एक यह भी विशेषता है।

हरा नोट

दि० बा० मोकाशी

मेरा यह हमेशा का अनुभव है कि जिस दिन सुबह-सुबह मेरी छोटी बच्ची रो उठती है, उस दिन हमारे यहाँ ज़रूर कोई मेहमान आ टपकता है।

मैंने अपना यह अनुभव अपनी श्रीमती जी को कई बार सुनाया है। मगर उन्हें कभी उस पर विश्वास नहीं आता। जब जब मैं इस प्रकार की बात करता हूँ, वे हँस कर टाल देती हैं। वैसे देखा जाए तो उन्हें मेरी सारी बातें केवल हँसी-मज़ाक की ही लगती हैं और जब कि शादी के दस बरस बाद भी उन्हें ऐसा ही लगता है, इसलिए उसमें कुछ न कुछ तथ्य तो ज़रूर होगा।

उस दिन भी बड़ी फजर को हमारी बच्ची रोती हुई जाग गई, मैंने श्रीमती जी से कहा, "आज ज़रूर कोई मेहमान आ जाएगा!"

नींद ख़राब हो जाने से श्रीमती जी बड़ी नाराज़ हो गई थीं। उन्होंने चिढ़ कर कहा, "बस, वही विनोद बार-बार करते हैं आप! अब तो उस पर हँसी भी नहीं आती। बेटी को प्यास लग गई होगी या चींटी ने काटा होगा। अब कौन अतिथि आने वाला है?"

"अतिथि और आपत्तियाँ, भला क्या पहले से बता कर आया करती हैं?" मैंने विनोद में कहा।

"यानी यह कि अब मुझे यहाँ हँसना चाहिए। क्यों? यही न?" उन्होंने ताना देते हुए कहा।

मैं चुप रह गया। मगर दिल में बेचैनी थी। श्रीमती जी ने बच्ची को पानी पिलाया। पानी पीते ही बच्ची चुप हो गई और तुरन्त सो गई। पत्नी ने दीया बुझा दिया और वे भी सोने को तैयारी में लग गईं। मैं अंधेरे में छत की कड़ियाँ गिनने लगा।

मगर दो-चार मिनट भी न बीते होंगे कि इतने में किसी ने किवाड़ की कुण्डी खटखटाई। मैं झट से उठ बैठा, दीया जलाया और किवाड़ खोला। बाहर झाँक कर देखा तो क्या! मेहमान महाराज खड़े थे।

यह मेहमान हमारी श्रीमती जी के मामा थे। हर एक आदमी का अपना एक निराला ही शौक होता है। इन बुज़ुर्गवार को रात-बेरात मुसाफ़िरी करने और असमय में लोगों के किवाड़ खटखटाने का बड़ा शौक है। ख़ैर!

मामा जी का बैग और बिस्तर मैंने अन्दर रख लिया। उन्होंने अन्दर आते ही अपना लम्बा कोट और पगड़ी उतार कर खूँटी पर रख दी और 'हरश'! करते हुए मुम्बई की आब-हवा को कोसना शुरू किया।

अपने मामा जी को देखते ही मेरी पत्नी जल्दी से उठ गईं। मामा जी के उग्र स्वभाव से शायद वे अब भी डरती हैं। इसीलिए जल्दी उठकर वे मामा जी का बिस्तर लगाने लगीं।

तब तक मैं इस समस्या को सुलझाने में लगा हुआ था कि मामा जी का बिस्तर कहाँ लगाया जा सकता है। मैंने एक रेडियो उठाकर टेबल पर रख दिया, दूसरा मेज़ के नीचे सरका दिया, तीसरे को चौथे के सिर पर धर दिया···। जी हाँ, मैं रेडियो की मरम्मत का काम करता हूँ। हमारे दो कमरों में से एक में घरवाली ने रसोई घर बना लिया है, दूसरे में मैंने रेडियो की दूकान लगा रखी है। मेरा कमरा दिन में वर्कशाप बनता है और रात को सोने का कमरा।

इसीलिए रेडियो इधर-उधर रखकर मुझे मामा जी के सोने का प्रबन्ध करना पड़ा। बिस्तर तैयार होते ही वे लेट गए और एक-दो बार भगवान का नाम लेकर सो भी गए।

मगर मेरी नींद उचट गई थी। इसलिए नहीं कि मेहमान आ गए थे, बल्कि इसलिए कि कल रात को हम पति-पत्नी में जो झगड़ा हुआ था उसका स्मरण मुझे हो आया था। रात को जब बच्चे सो गए तो पत्नी ने दूध वाला बनिया आदि के बिल मेरे सामने धर दिए। इन लेनदारों से उन्हीं को वास्ता पड़ता था, इसलिए उनका चिढ़ना स्वाभाविक था, मगर बिना कारण के मैं भी चिढ़ गया। यह कुछ ठीक नहीं हुआ था, क्योंकि गुस्से में मेरे मुँह से कुछ कठोर शब्द निकल गए थे।

उसी घटना के स्मरण से मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं सोच रहा था कि पैसे की तंगी का मुकाबला कैसे किया जाए? मैं यह स्मरण करने लगा कि किन-किन लोगों से उधार की वसूली होने की संभावना है। मगर ऐसा कोई व्यक्ति याद नहीं आ रहा था जिससे तुरन्त पैसे मिल जाएंगे। अतः कल ही एक एम्प्लिफ़ायर का आर्डर मिल गया था, उसमें से कुछ निकल सकता है या नहीं इसका विचार करने लगा। एम्प्लिफ़ायर आधा तैयार हो गया था, मगर उसे पूरा करने में अभी सौ रुपयों की ज़रूरत थी, उसके पूरे होते ही ग्राहक नकद पैसा देने वाला था। उन पैसों में से रेडियो का एक आर्डर पूरा किया जा सकता था। रेडियो के पैसों से एक बड़ा एम्प्लि-फ़ायर बन सकता था और उसके लिए ग्राहक तो मैंने देख ही रखा था। इन तीन कामों से मिलने वाले पैसों से सब लोगों के बिल चुका देना भले ही सम्भव न हो, तो भी हर एक को कुछ-न-कुछ दे कर रोका जा सकता था। सारी रकम पत्नी के हवाले कर दी जाएगी और उनसे कुछ थोड़े पैसे लेकर ऐसे स्थान में जाऊँगा जहाँ रेडियो की आवाज़ भी सुनाई नहीं देगी, चार दिन आराम में बिताऊँगा। फिर अपना काम है ही—।

अचानक मेरे ध्यान में यह बात आ गई कि सोच-विचार करने के बदले मैं सपनों की दुनिया में खोता जा रहा हूँ। इस समय सवाल तो सौ रुपयों का है। जब वे मिल जाएँगे तभी आगे की बातें सोची जा सकती हैं।

मेरा जी धक हो गया। अगर यह एक आर्डर पूरा नहीं होगा तो दूसरे काम भी नहीं किए जा सकेंगे। और तब दूध वाला, घर का मालिक, बनिया सभी आकर सिर पर सवार हो जाएँगे। मैं ज़ोर-ज़ोर से सोचने लगा।

अब तक पास ही सोए हुए मामा जी ख़ुर्राटें भरने लग गए थे। मेरे मन में आया, कितना सुखी व्यक्ति है यह। मुझे उनसे कुछ ईर्ष्या भी हुई। मैं उठ बैठा और सिगरेट निकाल कर धुआँ छोड़ने लगा।

सिगरेट कब खत्म हुई, मैंने उसे कब बुझा दिया और मैं कब सो गया, इसका मुझे कुछ स्मरण ही नहीं रहा। जब मैं जाग गया तो सवेरा हो चुका था। मामा जी स्नानादि से निवृत्त हो चुके थे और बाहर जाने के लिए कपड़े पहन रहे थे। कपड़े पहनते-पहनते वे मेरी पत्नी से कह रहे थे, ''सोने दे उसे। मैं अपने काम में लग जाता हूँ। दोपहर को मैं भोजन करने नहीं आऊँगा। बाहर ही कहीं खा लूँगा। सारे काम खत्म करके रात को ही आ जाऊँगा और रात को ही वापस चला जाऊँगा।''

इस पर श्रीमती जी ने कहा, ''कम से कम रात को तो यहाँ भोजन कीजिए!''

मामा जी बोले, ''हाँ, हाँ रात को यहाँ जरूर भोजन करूँगा। नौ बजे तक आ जाऊँगा। और हाँ, यह देखो, जेब में पैसे कुछ ज्यादा हैं। इतने नहीं लगेंगे। यह सौ रुपये का नोट तुम यहाँ रख दो, मैं रात को आकर ले लूँगा। यहाँ मुम्बई में गिरहकटों का बड़ा डर रहता है।''

अब तक मैं नींद के नशे में मामा ज़ी की बातें सुन रहा था, मगर सौ रुपयों का नाम सुनते ही मेरी नींद पूरी तरह खुल गई। मैंने अधखुली आँखों से देखा कि मामा जी ने अपने जेब से एक बड़ा हरा नोट निकाला है। मैंने यह भी देखा कि मेरी पत्नी ने वह नोट अपने हाथ में ले लिया है और जब वे नोट रखने के लिए अन्दर के कमरे में गईं तो मैंने अन्दाज़ से यह भी जान लिया कि उन्होंने वह हरा नोट कहाँ रख दिया होगा।

बड़ा अजीब इत्तफ़ाक था। मुझे सौ रुपयों की ज़रूरत थी। मामा जी के ये सौ रुपये आज शाम तक काम के लिए मिल जाएँ तो कितना अच्छा होगा? रेडियो की ध्वनि-लहरों से भी अधिक वेग से यह विचार मेरे मन में प्रविष्ट हो गया। मगर तुरन्त ही मन ने हिम्मत हार दी। दूसरे के पैसों का इस्तेमाल उससे पूछे बिना करना उचित नहीं था।

मैं फिर सोचने लगा। मेरे मन में विचार आया, यह हरा नोट मेरी पत्नी ने जहाँ रखा है वहीं पर सारा दिन धूल में पड़ा रहेगा। उसके बजाय अगर दिन भर उसे इधर-उधर का सफ़र कराया जाए और रात को मामा जी के आने से पहले ही उसे पूर्ववत स्थान पर रख दिया जाए तो उसमें क्या हर्ज है? हम कोई उसे चुराने वाले या भगाने वाले तो हैं नहीं। मैंने उसे वहाँ से उठाया है, इस बात की भी किसी को कानों-कान ख़बर न होगी। और इतने से मेरे सारे काम पूरे हो जाएँगे। एम्प्लिफ़ायर बन जाएगा, फिर रेडियो का आर्डर पूरा होगा, फिर एम्प्लिफ़ायर बनेगा और इन सबका पैसा हाथ में आते ही सब के सब बिल चुका दिए जाएँगे। फिर घरवाली से थोड़े पैसे लेकर ऐसे स्थान में जाया जा सकेगा जहाँ रेडियो की आवाज़ भी सुनाई नहीं देगी।

बस, तै हो गया। उस नोट को उठा कर काम शुरू कर दिया जाएगा। सवाल यही था कि पत्नी को इसकी ख़बर लगने दी जाए या नहीं।

मैंने यह निश्चय कर लिया कि श्रीमती जी को बताए बिना ही नोट ले लिया जाए। वरना मामा जी के प्रति उनके मन में जो डर है, उसके कारण वे मेरे मार्ग में बाधा बन कर खड़ी हो जातीं!

निश्चय होते ही मैं अपने स्वभाव के अनुसार शेर की तरह उठ खड़ा हुआ। हिरन की तेज़ी से सुबह का सारा काम निबटा लिया और बाहर जाने की तैयारी करने लगा।

मगर यह सब करते समय मेरा ध्यान इसी में लगा हुआ था कि पत्नी की नज़र बचा कर वह नोट कैसे हथियाया जा सकता है। अन्त में जब वे चूल्हे के पास जाकर काम करने लगीं तब मुझे मौका मिल गया। मैं बिल्ली की तरह चुपके से उस अलमारी के पास गया जिसमें नोट रखा हुआ था। मैंने एक क्षण में नोट निकाल कर अपनी जेब में रख लिया और पीछे मुड़ गया। मगर देखता क्या हूँ कि श्रीमती जी खड़ी-खड़ी मेरी चालाकी को देख रही हैं।

एक क्षण के लिए मैं पानी-पानी हो गया। परन्तु दूसरे ही क्षण मैं एक लाचार-सी हँसी मुँह पर लाते हुए आगे बढ़ गया। उनकी आँखों से प्रकट होने वाली धमकी की परवाह किए बिना मैंने कहा, ''एक शब्द भी मुँह से मत निकालना। आज शाम तक यह नोट यहाँ पर आ जाएगा।''

इतना कह कर उन्हें एक शब्द भी बोलने का अवसर दिए बिना मैं जूते पहन कर बाहर निकला।

सुबह का समय और हाथ में पैसे! सारी दुनिया मुझे हरी-भरी दिखाई दे रही थी। नियोजित काम की योजना बनाते हुए मैं जा रहा था। मैंने मन में कहा, ''ऐसा बढ़िया एम्प्लिफ़ायर बना दूँ कि ग्राहक उस पर फ़रेफ़्ता ही हो जाए।''

मामा जी रात को नौ बजे वापस आने वाले थे। उससे पहले एम्प्लिफ़ायर का सारा सामान खरीद कर उसे तैयार करके, बेच कर फिर वह हरा नोट उसके स्थान पर रखना ज़रूरी था। इसलिए मैंने घण्टे भर के अन्दर-अन्दर सारी चीज़ें खरीद लीं और भोजन के समय तक एम्प्लिफ़ायर बना कर तैयार कर दिया। इसके बाद भोजन हुआ। खाना खाते समय श्रीमती जी ने ताकीद की, ''वह हरा नोट ठीक समय पर वहाँ आ जाना चाहिए। वह अगर न आया तो मामा जी को मुँह दिखाने के भी लायक मैं नहीं रहूँगी।''

मैंने कहा, "समय की क्या बात है ? एक घण्टे भर के बाद तुम उस अलमारी में देख लो। बस, हो गया ? भोजन होते ही मैं एम्प्लिफ़ायर पहुँचा आता हूँ।"

ग्राहक के बारे में मुझे पूरा विश्वास । एम्प्लिफ़ायर उसके पास ले जाना, उसे बजाकर दिखाना और पैसे ले लेना—बस, सारा एक घण्टे का काम था !

भोजन के बाद मैंने फिर एक दफ़ा एम्प्लिफ़ायर टेस्ट किया, कोट पहना और कुली लाने के लिए निकला। जाते समय मैंने पत्नी को फिर से विश्वास दिलाया कि "तुम बिल्कुल फ़िकर मत करना, आधे घण्टे के अन्दर नोट अपने स्थान पर आ जाएगा।"

बाहर जाने के लिए मैं किवाड़ खोलने ही वाला था कि इतने में बाहर से किसी ने कुण्डी खटखटाई। हम दोनों चौंक पड़े। सोचा, असमय में आ धमकने वाले मामा जी शायद इस वक्त भी 'असमय' में ही आ गए हैं। किवाड़ खोलकर देखा तो मेरा एक पुराना मित्र बाहर खड़ा था। एक क्षण के लिए मैं उसकी ओर देखता ही रह गया। उसका मुँह उतरा हुआ था और चेहरे पर चिन्ता के चिन्ह स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

"कहो भई, क्या हुआ है ?" मैंने पूछा।

"बताता हूँ, सब कुछ बताता हूँ। मगर तुम आज अपने सारे काम मेरे लिए स्थगित कर दो।" उसने कहा।

मैंने सिर पीट लिया और कहा, "देखो भाई, आज के दिन तुम मुझे मा कर दो। कल अगर तुम मुझे सातवीं मंज़िल से कूदने के लिए कहोगे तो वह भी कर लूँगा। आज मैं बिल्कुल लाचार हूँ।"

मित्र ने बड़ी आजिज़ी से कहा, "यह भी कोई बात हुई ? तुम मेरे लिए चार घण्टे भी नहीं निकाल सकते ? आज मेरा ब्याह है। उसमें जरा गड़बड़झाला हो गया है। इसलिए तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारे बिना यह काम नहीं हो सकता !"

श्रीमती जी अन्दर से हमारी बातचीत सुन रहीं थीं। मैंने झाँक कर अन्दर देखा। मन में विचार आया, सारी बातें हमारी योजना के अनुसार कब पूरी होती हैं ? मेरा यह विचार था, मगर मेरी पत्नी को शायद वह पसन्द नहीं था। उन्होंने अपनी त्योरियाँ बदलीं तो मेरा विचार भी बदल गया। अगर मैं शादी के लिए चला जाता तो फिर वह हरा नोट अपने स्थान पर कैसे आ सकता था ? और उस नोट के आ जाने से पहले ही मामा जी लौट आएँ तो ?

इसीलिए मैंने मित्र से कहा, "माफ़ करना भाई, आज मेरे पास बिल्कुल समय नहीं है। शादी-वादी······"

मैंने अचानक अपने को रोक लिया। अपने बर्ताव पर खुद मुझे ही शर्म आने लगी। मैंने सोचा, क्या इतनी भी इन्सानियत मुझ में नहीं रही है ? क्या मैं इतना स्वार्थी बन गया हूँ कि मुझ में मित्र के प्रति भी लापरवाही आ गई है ? वैसे देखा जाए तो पैसा है ही क्या चीज़ ? कुत्ते के आगे रुपया फेंक दो, क्या वह उसे खाएगा ? सिर्फ सौ रुपयों के लिए मैं अपने मित्र का दिल दुखाने वाला था। ब्याह का प्रसंग जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण होता है ! उस नोट का बाद में देखा जाएगा।

मैंने अचानक मित्र का हाथ पकड़ लिया और बोला, "कहो, क्या माजरा है ?"

उसके कथन का सारांश यह था—

सरला कुलकर्णी नामक अपनी सहेली के साथ उसने ब्याह करने का निश्चय किया था। दोनों के माता-पिताओं को यह रिश्ता पसन्द नहीं था। इसलिए उनकी अनुमति के बिना ही ब्याह कर लेने का फैसला उन्होंने कर लिया था। उसी में उसे मेरी मदद की ज़रूरत थी। दो-चार मित्रों की साक्षी से वैदिक पद्धति से विवाह कर लेने का उसने सोचा था।

उसका यह विचार मुझे सोलहों आने पसन्द आया। मैंने वैसा उसे कह भी दिया। तब बड़े प्रेम से मेरा हाथ दाबते हुए वह बोला, "तो फिर जल्दी चलो। एक मिनट भी अब गँवाया नहीं जा सकता।"

श्रीमती जी की आँखों का सामना करने की हिम्मत मुझ में नहीं थी। इसलिए मित्र के साथ बाहर जाते हुए बिना उनकी तरफ देखे ही मैंने कहा, "मैं पाँच बजे तक ज़रूर आ जाऊँगा। उसके बाद वह काम (यानी एम्प्लिफ़ायर का-अर्थात् हरे नोट का) कर डालूँगा।"

मित्र के साथ लापरवाह होकर मैं बाहर निकला तो सही, मगर दिल धड़क ही रहा था। बीच-बीच में यह चिन्ता खाए जाती थी कि कहीं मामा जी नियत समय से पहले ही आ धमके तो ? बेचारी पत्नी की क्या हालत होगी ?

मेरे मन की यह तालाबेली पुरोहित जी से भेंट होने तक चलती रही। जब उनसे बात करके पाँच बजे का मुहूरत तै हो गया तो अन्य बातों के प्रबन्ध में मैं इस कदर फँस गया कि पत्नी या नोट का विचार भी मेरे मन में नहीं आ सका।

वधू को विवाह-स्थान तक ले जाने की ज़िम्मेवारी मुझ पर आ पड़ी। सारा लुकाछिपी का मामला था। वधू की सहेली से उसे सन्देशा भेजा और स्टेशन पर मैं उसकी प्रतीक्षा करने लगा।

किसी युवती की प्रतीक्षा करने की मेरी आदत बहुत दिनों से छूट गई थी, इसलिए मुझे वह सब बड़ा अजीब-सा लग रहा था। मगर मेरा धीरज ख़त्म होने से पहले ही वह लड़की आ पहुँची।

स्टेशन में प्रवेश करने से पहले उसने चारों तरफ घबड़ाई हुई आँखों से देख लिया। उसके उस डर ने मेरे मन में भी प्रवेश किया। अब तक मेरे ध्यान में यह बात नहीं आई थी कि इस शादी में मदद देने के मानी क्या हैं, अब उसका भान मुझे हो गया। मैंने उससे पूछा, "क्या, घर के लोग जान गए ?"

"जी नहीं, मगर आजकल मुझ पर कड़ा पहरा-सा लग गया है," उसने कहा।

गाड़ी में हम दोनों सुरक्षित रूप से बैठ गए। दो स्टेशन गुज़र गए। लोग चढ़ते थे और उतरते थे। इतने में मुझे एक तरफ़ इशारा करके वह बोली, "वे जो बूढ़े सज्जन हैं, वे मेरे काका हैं।"

मैंने उन 'सज्जन' को देख लिया।

"देखिए, हम दोनों पर उनकी नज़र कैसे लगी हुई है। हमारा ब्याह इन्हीं साहब की करतूतों के कारण नहीं हो पा रहा था !" उसने बताया ।

"अच्छा, यह बात है !" मैंने कहा।

"देखिए तो, कैसे घूर रहे हैं !" उसने घबड़ाकर कहा ।

"घूरने दीजिए !" मैंने लापरवाही से कहा ।

हमारा स्टेशन आ गया। हम नीचे उतरे ही थे कि उसके चाचा हमारे सामने आ खड़े हुए और डाँटते हुए बोले, "क्यों री छोकरी, क्या यही तुम्हारा वह रमुवा है ? क्या इसी से तुम ब्याह करने जा रही हो ?"

बेचारी लड़की घबड़ाहट में बोल बैठी,

"जी हाँ, यही हैं।"

अब मज़ा देखिए कि उस वधू द्वारा किए गए इस गड़बड़झाले को ठीक करने का मौका ही मुझे नहीं मिला। मैंने मन में कहा, "आज सारी बातें उलटी-सीधी हो रही हैं। चलो, इसका भी मज़ा थोड़ी देर देख लें।"

उसके चाचा जी ने मुझे घूरते हुए कहा,

"वाह ! क्या पसन्द है तुम्हारी ! इतने-इतने सुन्दर लड़कों को तुमने धुतकार दिया और आखिर इस बन्दर को पसन्द किया ? कोई ऐक्टर है या फ़िटर ? देखो, कैसे बाल बिखराए हैं !"

मैं दिल ही दिल में जल-भुन गया। मन में कहा, इस बुड्ढे को चाहिए था कि दस साल पहले वह मुझे देख लेता। ख़ैर ! इसमें सन्तोष की बात इतनी ही थी कि उनके कथन से मुझे पता चल गया कि मैं वास्तव में कैसा दीखता हूँ।

चाचा जी ने धमका कर पूछा, "अब कहाँ चले हो ?"

लड़की में भी जोश आ गया था। उसने धड़ल्ले से कह दिया, "हमारा ब्याह होने वाला है अभी, उधर ही हम जा रहे हैं।"

ब्याह का नाम सुनते ही बुड्ढे का सारा बदन गुस्से से काँपने लगा। वह चिल्लाया, "अच्छा मैं भी देखता हूँ, तुम लोग कैसे ब्याह रचते हो। तुम दोनों को थाने पर ले जाता हूँ। वहाँ ब्याह कर लेना। तब तक तुम्हारे बाप को ले आता हूँ।"

जब हमने देखा कि हमारा तमाशा देखने के लिए लोग इकट्ठे हो रहे हैं तो हमने चाचा जी के साथ पुलिस-थाने पर जाने में ही ग़नीमत समझी। हम दोनों को थाने में छोड़कर चाचा जी लड़की के पिता को लाने चले गए।

एक युवती के साथ दो पुरुषों को पुलिस-थाने में प्रवेश करते देख जो कुतूहल लोगों में पैदा होना चाहिए वही वहाँ के नागरिकों में पैदा हुआ। बाहर जमा हुए लोगों में कहीं मुझे पहचानने वाला तो कोई नहीं है, इसकी चिन्ता करता हुआ मैं उनके चेहरे देखता रहा।

पुलिस वाले हमारे साथ ऐसा बरताव कर रहे थे गोया यह तो उनके लिए हर रोज़ का मामला था। उन्होंने लड़की को बैठने के लिए कुर्सी दी और मुझे एक टूटे-फूटे बेंच पर बैठने को कहा।

मैंने घड़ी में देखा। ब्याह में अभी एक घंटा था। बाहर तमाशाइयों की भीड़ बढ़ रही थी। अचानक मुझे एक तरकीब सूझी। पास ही जमादार साहब अपनी सफेद मूछों पर हाथ फेरते हुए बैठे थे। उनके पास जाकर मैं अदब से बोला, "जमादार साहब, आप ही देखिए, इन सब लोगों के सामने इस लड़की को बे-आबरू करना कहाँ तक उचित है ? हम दोनों ब्याह करने जा रहे थे। अब थाने में बैठने से मेरी इज़्ज़त चली जाए तो उसकी मुझे परवाह नहीं, मगर उस बेचारी पर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ेगा। इसलिए, आप मुझे यहाँ रोक रखिए, मगर उस लड़की को उसके रिश्तेदारों के यहाँ भेज दीजिए—वे लोग पास ही रहते हैं। अगर चाहें तो आप अपना आदमी उसके साथ कर दीजिए।"

जमादार साहब बड़ी उम्र के थे। दुनिया का ख़ासा अनुभव वे रखते थे। शायद उनके घर में भी बहू-बेटियाँ थीं। इसलिए मेरी प्रार्थना को उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और एक पुलिस वाले को बुलाया। इतने में मैंने उस लड़की को इशारा कर दिया। उसने उसे समझ लिया और गर्दन हिलाई।

जब वह पुलिस वाले के साथ चली गई तो मैं निश्चिन्त हो गया। सोचा, अब वह ठीक समय पर वहाँ पहुँच जाएगी, ब्याह होगा और उसके साथ गया हुआ पुलिस का आदमी मुँह मीठा करके आ जाएगा। एक क्षण के लिए मेरा दिल ख़ुश हो गया। मगर दूसरे ही क्षण मुझे हरे नोट का, मामा जी का और अपनी धर्मपत्नी का स्मरण हो आया।

दिल में एक टीस-सी उठी। शंका-आशंकाओं से मन बेचैन हो गया। क्या मैं आठ बजे से पहले यहाँ से छुटकारा पाऊँगा ? और अगर उससे पहले ही मामा जी घर पहुँच जाएँ तो ? बेचारी पत्नी की क्या हालत होगी ?

मैं सोचने लगा कि अगर ठीक समय पर नोट अपने स्थान पर न पहुँच जाए तो उसके क्या-क्या परिणाम होंगे ? सबसे पहला परिणाम यह था कि हमारी श्रीमती जी के मन में मेरा महत्त्व, जो पहले से ही बहुत कम है, बिल्कुल घट जाएगा। मामा जी को अगर नोट की बात मालूम हो जाएगी तो हमारी श्रीमती जी फिर कभी अपने ननिहाल ही नहीं बल्कि मायके भी जाने की बात मुँह पर नहीं ला सकेंगी, और मन ही मन कुढ़ती रहेंगी। उसके कारण सारे घर का ही वायुमंडल बिगड़ जाएगा। तब मैं घर से बाहर ही रहने लगूँगा—और कोई पुरुष घर से दूर रहने लगे वह कोई अच्छा लक्षण नहीं कहा जा सकता।

फिर मामा जी का तो पूछना ही क्या ? वे मुझे 'अनचाहा रिश्तेदार' समझने लगेंगे और हर किसी को सौ रुपयों की यह घटना नमक-मिर्च लगाकर सुनाते रहेंगे। फिर लोग मेरे बारे में कहने लगेंगे, "वैसे आदमी बहुत अच्छा है, मगर पैसों के मामले में जरा संभल के रहना चाहिए।"

हमारे विषय में लोगों की जो धारणाएँ बनती हैं उनका दोष पूर्णतया हमीं पर नहीं होता है। परिस्थिति भी बहुत अंशों तक कारण बनती है। आख़िर मजबूर होने पर ही तो मुझे वह हरा नोट लेना पड़ा था। उसे उसके स्थान पर वापस रखने के लिए मैंने क्या कम

कोशिशें कीं ? मगर बीच में ही दोस्त की शादी आ गई । अब इसमें मेरा क्या दोष था ?

पर दिल को तसल्ली देने वाले इन विचारों से अब कोई फ़ायदा नहीं था । मेरी धर्मपत्नी का ख़याल बार-बार मेरे मन में आता था और मेरी बेचैनी बढ़ती जाती थी ।

इतने में मेरा मित्र अपनी नव परिणीता वधू के साथ वहाँ पहुँच गया । इसी वक्त चाचा जी भी लड़की के माता-पिता को लेकर आ पहुँचे । अपनी कन्या के विवाह की ख़बर सुनने के बाद ज़्यादा तमाशा करने के बजाय माता-पिता ने उसे स्वीकार किया और दामाद का स्वागत किया । इस प्रकार एक नाटक सुखान्त हो गया ।

मगर बेचारे क्रुद्ध चाचा जी का चेहरा बिल्कुल इतना-सा हो गया था । उन्होंने जिसे चोर समझ के पकड़ा था वह मैं बिल्कुल बेदाग़ छूट गया था ना ?

आठ बजने आए थे । अभी एक और नाटक पूरा करना था । इसलिए मित्रों को वहीं छोड़कर चाय भी पीए बिना मैं घर की तरफ़ दौड़ा ।

मेरी पत्नी दरवाज़े में खड़ी-खड़ी मेरा ही इन्तज़ार कर रही थी । उसका धीरज बिल्कुल छूट गया था और रोने के कारण मुँह फ़ूल गया था ।

उससे एक शब्द भी कहे बिना मैंने एम्प्लिफ़ायर उठाया और ग्राहक के पास दौड़ा । दोपहर को नियत समय पर मेरे न पहुँचने के कारण साहब कुछ नाराज़ हो गए थे । मगर जब मैंने एम्प्लिफ़ायर लगा कर एक स्वरमुद्रिका (रेकार्ड) बजाकर दिखा दी तो सब कुछ ठीक हो गया ।

मगर हाँ, एक बात नहीं हुई, पैसे की कोई बात उनके मुँह से नहीं निकली । अतः मैंने उठते हुए उनसे पूछा, "पैसे आप नकद देंगे या चैक से ?"

"अजी, पैसे तो मैंने दोपहर को लाकर रखे थे । मगर आप नहीं आए । इसलिए वे वापस लौटा दिए । अब यह हो सकता है कि दुकान से पैसे आ जाएँगे तो नौ बजे तक आपको भिजवा दूँगा । आप घर पर ही तो रहेंगे ना ?" ग्राहक ने कहा ।

उनकी बात सुनकर जैसे मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकने लगी । मैंने किसी तरह उनसे कहा कि, "जी हाँ, मैं घर पर ही रहूँगा" और घर चला आया ।

किवाड़ खोलकर जब पत्नी ने मेरी तरफ़ देखा तब वे तुरन्त जान गईं कि पैसे नहीं मिले हैं । वे एक शब्द भी मुँह से निकाले बिना अंदर चली गईं और दीवार से पीठ लगाकर सिसकियाँ भरने लगीं ।

मैं उन्हें समझाते हुए बोला, "अरे, यह क्या करती हो ? नौ बजे तक पैसे ज़रूर आ जाएँगे । चलो, उठो !"

उन्होंने सिर्फ़ एक गहरी साँस ली ।

इतने में किवाड़ की कुण्डी खटखटाई । मैंने इस आशा से किवाड़ खोला कि ग्राहक के यहाँ से पैसे आए होंगे । मगर बाहर देखा, तो वे मामा जी थे ।

मामा जी को देखते ही श्रीमती जी उठ खड़ी हुईं और काम में लग गईं । मामा जी ने कपड़े उतारे और रूमाल से पसीना पोंछते हुए बोले, "अरे भाई, कितनी बेहद महंगाई हो गई है ।"

महंगी का शब्द सुनते ही मैं चौंक पड़ा । क्योंकि महंगी पर से पैसे का सवाल ज़रूर ही उठ सकता है । और जब पैसे की बात आएगी तब सौ रुपये के हरे नोट की भी बात निकलने में क्या देर लग सकती है ? अतः बात को बदलते हुए मैंने पूछा—

"क्यों मामा जी, आपने एक तल्लेवाली लोकल गाड़ी देखी या नहीं ?"

"नहीं तो ! मगर यहाँ मुम्बई के लोगों में सिनेमा देखने का कैसा पागलपन सवार है ! जहाँ देखिए वहाँ थिएटरों के सामने लम्बी-लम्बी कतारें लगी हुई हैं । इतना सारा पैसा भला कहाँ से आता है इन लोगों के पास ?"

फिर पैसा ! मैंने झुंझलाकर कहा, "आप लोग नाटक देखते थे । आज के लोग फिल्में देखते हैं ।"

"अरे भाई, वे दिन ही अलग थे । कहाँ वे महान नाटक और कहाँ आजकल की छिछोरी फिल्में ।"

इतने में घरवाली ने भोजन तैयार होने की सूचना दी । हम लोग हाथ-पाँव धोकर भोजन करने बैठे ।

"अरे हाँ, देखो बेटी, तेरी मामी ने स्टेनलेस स्टील की थालियाँ लाने को कहा था । मगर उनकी क़ीमतें सुनकर उन्हें खरीदने की हिम्मत ही नहीं हुई ।"

क़ीमत का ज़िक्र आते ही मेरी पत्नी बेचैन हो गई । उन्होंने मेरी तरफ़ एक बार गुस्से से देखकर बात बदलने के लिए पूछा, "मगर मामा जी आपने यह नहीं बताया कि नानी माँ की तबियत कैसी है ?"

"अब उसकी तबियत का क्या पूछती हो ? बस, ठीक ही समझो । अच्छा, तुम्हारी मामी के लिए यह देखो साड़ियाँ खरीदी हैं । तुम्हारे लिए भी एक है—देखो, तुम्हें पसन्द है न ?"

इस तरह मामा जी बार-बार पैसे की बात पर आ जाते थे और हम उन्हें दूसरे विषय की ओर घसीटने की कोशिश कर रहे थे । किसी तरह भोजन समाप्त करके हम बाहर वाले कमरे में जा बैठे । इतने में हमारी छोटी बच्ची के हाथ से एक पैसा फर्श पर गिर गया । उसकी 'छनन' आवाज़ भूकम्प के भयंकर विस्फोट की तरह हमारे कानों में गूंज उठी । अब तक हमने पैसे की चर्चा को टाल दिया था, क्या अब यह पैसा हमें बेइज़्ज़त करके रहेगा ?

मैं लड़की की ओर झपटा । मामा जी बोले, "तुम लोग बच्चों के हाथों में पैसा क्यों देते हो ?"

मैंने पैसा उठाते हुए कहा, "जी नहीं, यह तो रेडियो का वाशर था ।"

मामा जी ने पान लगाते हुए घड़ी की तरफ देखा और कहा, "बस, अब एक घंटा रह गया ।"

इसके बाद वे कपड़ों का गट्ठर लेकर अन्दर चले गए और अपनी भानजी को साड़ियाँ दिखाने लगे । मैं इस तैयारी में बैठा था कि हरे

(शेष पृष्ठ ६१ पर)

'पापक'

हरगोविन्द गुप्त

बोधिसत्व से कहा विनत हो
भोले, भावुक एक भिक्षु ने ।
'भन्ते, मेरा नाम बदल दे,
क्योंकि चिढ़ाते मेरे साथी
मेरा नाम अशुभ सूचक कह ।'
'बहुत ठीक' कह, कहा देव ने
'जाओ, वत्स धरा पर फिर कर
अपनी रुचि का कोई शुभ सा
मंगल-मूल नाम चुन लाओ,
उससे ही सम्बोधित तुमको
किया जाएगा संस्कार कर ।'
आज्ञा पाकर, शीश झुकाकर
भिक्षु विचरने चला जगत में ।
गाँव-गाँव में, नगर-नगर में
नामों का अन्वेषण करता ।
देखा एक गाँव में कुछ जन
किसी मृतक को कन्धों पर
लिये जा रहे थे मरघट को
उसके गुण कर्मों की सुधि कर
'हा, जीवक, हा, जीवक' कहते
हाथ जोड़कर कहा भिक्षु ने 'कौन विगत यह ?'
उत्तर मिला कि जीवक भैया ।
औचक हो फिर कहा भिक्षु ने
'क्या जीवक भी मर जाते हैं ?'
कहा एक ने 'बुद्ध हो तुम,
नहीं जानते जो इतना भी,
मरण-शील इस मर्त्यलोक में
जीवक और अजीवक सबको
आगे-पीछे मरना ही है
'अमरसिंह' हो या कि 'मरनजू'
यम का नियम एक सा सबको
सबकी साँसों का हिसाब है ।
जिसके चुकते सभी छोड़ते
इस कंचन काया को कन सा
काम नाम से वहाँ न चलता
जन्मे का मरना निश्चित है ।'
खिन्न भाव से छिन्न हृदय से
भिक्षु बिचारा चला गैल घर
और दूसरे एक नगर में देखा एक बड़े द्वारे पर
अबला एक बिलखती रोती ।
पीट रहा है उसे एक जन
झोंटो को झकझोर झटक कर
अपनी लाल-लाल आँखों के
अंगारों से उसे जलाता !
दया द्रवित हो पूछा उसने,
'मार रहे क्यों भाई इनको
पत्नी हो कि बहन-बेटी हो
हैं तो श्री समृद्धि ही घर की ।'
गृहपति बोला, 'नहीं, नहीं, यह
दासी धनपाली मेरी है
धन दे मोल बिसाहा इसको
ताकि कमा कर पैसे लावे
पर यह 'गाडर ऊन न देकर—
चरने लगी कपास गाँठ का'
समझ लिया 'लातों की देवी
बातों नहीं कभी भी मानी ।'
किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ सा
भिक्षु क्षणिक रुक लगा सोचने
'क्या महत्त्व उस धनपाली का
जो कुछ चाँदी के टुकड़ों पर
अपना मान महत्त्व बेचकर
दासी बन यों कुगति करावे ।'
समझ साधु के मन की गति-विधि
गृहस्वामी बोला कि 'साधु जी'
समझ लिया तुम कितने भोले,
जो कि नाम को लेकर रोते,
वह तो कोरे सम्बोधन हैं ।
'लक्ष्मीपति' हो या कि 'छदामी'
कुछ न बिगड़ता बनता इससे
श्रेयस्कर तो कल्पवृक्ष-सा
जो चाहो सो देने वाला
यहाँ कहाँ सब कहीं कर्म है ।
अन्य-मनस्क हुआ सा साधक
डग-मग डग-मग पैर बढ़ाता
नामों की 'नौ पूजे वाली
पुरिया के ताने में उलझा'
और दूसरे गाँव चल दिया ।
पर थोड़ा ही बढ़ा कि देखा
बीच मार्ग में एक भ्रमित जन
दिग्भ्रम सा हो भटक रहा है ।
कभी इधर की कभी उधर की
दाँयीं-बाँयीं, अगली-पिछली
पगडंडी धर छोड़ रहा है ।
कहा भिक्षु ने, 'वत्स कौन तुम
व्यथित हुए क्यों भटक रहे हो ?'
नत सिर होकर बोला वह जन
'स्वामिन, मुझको पन्थक कहते,
चलते-चलते भटक गया हूँ
भिन्न-भिन्न मार्गों वाले इस चौराहे पर ।'
चोट लगी साधक के मन को
पूछा तुम कैसे पन्थक हो
मार्ग भूल कर भटक रहे जो ।
पन्थक बोला, 'स्वामी, नाहक
मुझ भूले को चिढ़ा रहे क्यों ?
साधारण जन सी बातें कर
तुम तो उपदेष्टा हम सबके
पथ तो पथ है, जिस पर चलते
पन्थक और अपन्थक सबही
भ्रम में भूल भटक जाते हैं ।
क्या 'अन्धे का नाम नैनसुख' नहीं सुना है
जो मुझ पन्थक की विडम्बना आप कर रहे ।
काम नाम से चलता यदि तो
काम कौन करता धरती पर ।'
उतर भूत सा गया भिक्षु का
और मोह मिट गया नाम का ।
उल्टे पैरों लौट चला वह
अकुलाता अपने आश्रम को
और पहुँच कर वहाँ विनत हो
बोधिसत्व का पद वन्दन कर
शान्त भाव से बैठ गया चुप ।
बोधिसत्व ने ही तब पूछा
भद्र, कौन सा नाम चुना है,
बतलाओ ? बस वही आज से
शुभ सूचक हो नाम तुम्हारा ।
हाथ जोड़ कर कहा भिक्षु ने देव, क्षमा दें,
अब न कोई भी नाम बदलना ।
जीवक भी मरता दुनिया में,
धनपाली पैसों के खातिर
दासी बनकर कुटती-पिटती
और बिचारा पन्थक पथ में
मारा-मारा भूला फिरता ।
तब फिर बुरा नहीं मैं पापक
ज्ञान दान दें वह कि कर सकूँ
काम नाम से सुन्दर जग में ।
जिससे लोग असत् में भी सत्
शिव सुन्दर की झाँकी पावें ।

महाकवि शंकर

रामस्वरूप शास्त्री

भारतेन्दु के समकालीन तथा उनके पश्चात द्विवेदी युग में जिन कवियों ने अपनी कविता से हिन्दी साहित्य में एक नया युग उपस्थित कर दिया उनमें श्री नाथूराम शंकर शर्मा (शंकर) का स्थान बहुत ऊँचा है। खड़ी बोली के तो वे आद्याचार्यों में से हैं। इस युग में कविता के लिए सबसे पहले खड़ी बोली अपनाने वालों में शंकर जी अग्रगण्य हैं। हिन्दी हितैषी ग्रियर्सन-सदृश विदेशी विद्वानों ने भी शंकर जी को खड़ी बोली का आचार्य मान कर, उनकी कविता की प्रशंसा की थी। उस समय 'काव्यसुधाधर', 'कवि-व-चित्रकार', 'रसिकमित्र', 'कवीन्द्र वाटिका' इत्यादि पत्रों में साहित्य के धुरन्धर विद्वानों की रचनाएँ तथा समस्या-पूर्तियाँ प्रकाशित होती थीं। पूर्तिकारों में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जैसे प्रतिभाशाली कवि भी थे। उन कवियों के साथ स्पर्द्धा में श्री शंकर जी ने एक नहीं, अनेक बार सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त किए। समस्या-पूर्ति करने में शंकर जी सिद्धहस्त थे। समस्या के पद जिस वाच्यार्थ को प्रकट करते थे, उससे भी अलग एक अपूर्व अर्थ की कल्पना करके शंकर जी कविता में जान डाल देते थे। उदाहरण के लिए एक बार समस्या दी गई थी, 'वृषभानुलली को'। समस्त कवियों ने वृषभानु की पुत्री राधा को लक्ष्य में रखकर अपनी पूर्तियाँ कीं, परन्तु श्री शंकर जी ने वृषभानुलली शब्द को श्लिष्ट बना कर वृष को अलग कर लिया और भानुलली—सूर्यपुत्री—यमुना अर्थ लेकर निम्नलिखित पूर्ति कर डाली :

"बाहर बाँध गिरीश गये, हरि को मुख हेरन नन्द गली को,
डील फुलाय कुडौल भयौ, हम रोक सकं न बिजार बली को।
लाखन गाय रम्हाय रहीं खुल, खाय गयौ सब न्यार खली को,
हा, अब चूस न जाय कहीं यह, 'शंकर' को वृष भानुलली को।"

इसी प्रकार 'चुम्बक युगल बीच मानो लोह फँसिगो' समस्या की पूर्ति में अपने अपूर्व बुद्धि-कौशल से श्री शंकर जी ने बहुत ऊँची उड़ान भरी है। वे लिखते हैं :

राजा तू सदेह सदा स्वर्ग में रहेगो ऐसो,
शंकर असीस जाके मुखते निकसिगो,
ताही गाधिनन्दन को योग बल पाय उड़ो,
तीर सौ त्रिशंकु नभ-मण्डल में धँसिगो।
वासव ने मारो, त्राहि-त्राहि सो पुकारो, मिलो,
मुनि को सहारो, अधवर ही में बसिगो।
आयो न मही पर, न पायो लोक देवन को,
चुम्बक युगल बीच मानो लोह फँसिगो।

उन दिनों का युग समस्या-पूर्ति-प्रधान था। जिसकी पूर्तियाँ सर्वोत्तम होती थीं, वही कवि-समाज में समादृत किया जाता था और उसे



महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा

सर्वश्रेष्ठ कवि समझा जाता था। इस दिशा में, यह 'सर्वश्रेष्ठता' शंकर जी को जीवन-भर प्राप्त होती रही। एक बार भी उनका दूसरा नम्बर नहीं रहा। पूर्तियों के निर्णायक तत्कालीन बड़े-बड़े विद्वान होते थे।

शंकर जी संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने संस्कृत कानपुर में प्रसिद्ध विद्वान श्री पं० देवदत्त शास्त्री से पढ़ी थी और उर्दू-फ़ारसी मौ० लाल मुहम्मद साहब से। उनका प्रारम्भिक जीवन, कानपुर में नहर के 'सब ओवरसियर' के रूप में प्रारम्भ हुआ। वहाँ वे साढ़े-छः वर्ष रहे। श्री प्रतापनारायण मिश्र से उनकी घनिष्ठता थी।

शंकर जी की जीवनी लिखने का निश्चय आचार्य पद्मसिंहजी शर्मा कर चुके थे। इसी उद्देश्य से वे शंकर जी के यहाँ से एक हज़ार से

अधिक चिट्ठियाँ ले गए। इनमें तीन चिट्ठियाँ भारतेन्दु जी की भी थीं। पं० मदनमोहन मालवीय, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० सुधाकर पाण्डेय, पं० श्रीधर पाठक, श्री के० पी० जायसवाल, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी, श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी इत्यादि विद्वानों के अनेक पत्र थे। सबसे अधिक चिट्ठियाँ आचार्य द्विवेदी जी की थीं। पर, वह सारी सामग्री आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा के देहान्त के बाद, बहुत तलाश करने पर भी नहीं मिली। होती तो हिन्दी-साहित्य पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के भी बीसियों पत्र थे—उस समय जब वे अधिक प्रसिद्ध न हो पाए थे। इन पत्रों में निराला जी ने शंकर जी की प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की थी।

शंकर जी की एक-दो, दस-पाँच नहीं पचासों समस्या-पूर्तियाँ हैं। समस्याएँ भी बड़ी अटपटी और असाधारण होती थीं। यथा 'बिनवारन माँग सँवारत आवे', 'भूमिसुता जिनकी पत्नी फिर राम महीपति कैसे कहाये', 'सारो जग जीत लियो हीजरा के जाये ने', 'पावक पुंज में पंकज फूल्यो' इत्यादि। तात्पर्य यह कि समस्या-पूर्तियों में शंकर जी अपनी उपमा आप ही थे। अनन्वयालंकार के तो वे साक्षात उदाहरण थे। प्रसंगवश अनन्वयालंकार का ज़िक्र करते हुए यह बात याद आ गई कि आदि-कवि वाल्मीकि ने अपने एक पद्य में अनन्वयालंकार बड़ी खूबी से निभाया है और अनन्वयालंकार का वैसा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। पद्य है—गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः। राम रावणयोर्युद्धं, रामरावणयोरिव। संस्कृत साहित्य वाले अनन्वयालंकार के उदाहरण में इसी पद्य को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु हिन्दी में शंकर जी कृत अनन्वयालंकार का निम्न लिखित उदाहरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है,

"इसके अनुरूप कहें जिसको वह कौन सुदेश समुन्नत है,
समझे सुरलोक समान इसे उनका अनुमान असंगत है।
कवि-कोविद-वृन्द बखान रहे सबका अनुभूत यही मत है,
उपमान विहीन रचा विधि ने बस भारत के सम भारत है।"

इस प्रकार के अनेक अलंकारों की छटा शंकर जी की कविता में मिलेगी। यदि सबके उदाहरण लिखकर उनका विवेचन किया जाए, तो लेख के बजाय एक स्वतन्त्र पुस्तक बन जाएगी। खेद तो यह है कि आलोचक लोग शंकर जी को ठीक तरह से नहीं समझ पाए। आज हिन्दी कविता जिस नए युग में से गुज़र रही है, उस पर यहाँ टीका-टिप्पणी करना अभीष्ट नहीं, परन्तु एक बात अवश्य है, कुछ आधुनिक कवियों ने छन्द को आवश्यक वस्तु नहीं समझा। वे छन्द को छोड़कर एक नए प्रकार की स्वच्छन्द शैली में रचना करने लगे हैं। इस दिशा में यदि शंकर जी की ओर दृष्टिपात किया जाय तो महाकवि केशव के बाद वही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने छन्दःशास्त्र के नियमों का बड़ी कठोरता से पालन किया है। बल्कि कई बातों में तो वे और भी आगे बढ़ गए हैं। मात्रिक छन्दों में भी वर्णों का बराबर लाना साधारण बात नहीं, ऐसे पद्य बनाना तलवार की धार पर चलने के समान है। लेकिन शंकर जी इस दिशा में बड़ी सफलता से आगे बढ़े हैं और उनके काव्य में रसाभिव्यंजना उत्तरोत्तर चमत्कृत हो उठी है। सुप्रसिद्ध नाटककार और कवि स्वर्गीय श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' ने स्व-रचित 'पद्य परीक्षा' नामक पुस्तक में कवियों के छन्दों की अनेक त्रुटियाँ बतलाई हैं, किन्तु श्री शंकर जी के छन्दों में ढूँढ़ने पर भी उन्हें कोई त्रुटि नहीं मिली। अतः पुस्तक का समर्पण भी उन्होंने शंकर जी को किया है और लिखा है कि इस हलाहल को पान करने की क्षमता 'शंकर' के सिवा अन्य किसी में नहीं हो सकती।

आजकल हिन्दी इतिहास-लेखकों और आलोचकों की अजीब हालत है। वे बिना किसी कवि या साहित्यकार की कृतियाँ देखे-भाले, उसके सम्बन्ध में चाहे जो कुछ लिख डालते हैं। शंकर जी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है। कितने ही अज्ञ आलोचकों और इतिहासकारों ने न जाने क्या-क्या लिख डाला। यदि उनसे पूछा जाए कि आपने शंकर जी की कौन-कौन सी पुस्तकें और कविताएँ पढ़ी हैं तो उत्तर बड़ा ही निराशापूर्ण होगा। यही ग़लती आचार्य पद्मसिंह शर्मा के सम्बन्ध में भी की जा रही है।

तत्कालीन विद्वत्समाज और कविमण्डल में शंकर जी का कितना मान था इस बात पर ध्यान दिया जाए तो ज्ञात होगा कि उस समय वे अपनी प्रतिभा-प्रभा के कारण कविता-क्षेत्र में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। उन दिनों किसी कवि को सम्मान देने की दो ही प्रसिद्ध पद्धतियाँ थीं, पदवी-पदक प्रदान या उपहार–पुरस्कार-दान। किसी ने उनको 'कविराज' की उपाधि प्रदान की तो किसी ने पुरस्कार दिया। प्रसिद्ध साहित्यमर्मज्ञ स्व० राजा लक्ष्मणसिंह ने उन्हें 'भारत-प्रज्ञेन्दु' की उपाधि से सम्मानित किया। पुरस्कारों का तो ताँता-सा ही लगा रहता था। घड़ी, पगड़ी, शाल-दुशाले, पदक, पुस्तक व चित्र आदि इतने मिले कि उनकी गणना भी नहीं की जा सकती।

'आर्य विद्वत्सभा' ज्वालापुर-महाविद्यालय की विद्वन्मण्डली से सम्बन्धित थी और उसके प्रधान-मन्त्री थे आचार्य श्री पण्डित पद्मसिंह शर्मा। उस सभा ने भी श्री शंकर जी को एक स्वर्ण-पदक और 'कविता कामिनीकान्त' की उपाधि से समलंकृत किया। स्वर्ण-पदक पर निम्न लिखित श्लोक अंकित था :

कविताकामिनीकान्तः श्री नाथूराम शंकरः।
ज्वालापुरार्य विदुषां, सभयामान्यतेतराम्॥

शंकर जी की हृदयहारिणी कविता का प्रवाह अबाध गति से चल रहा था। श्री शंकराचार्य, श्री भारती कृष्णतीर्थ जी के हाथों में जब उनकी कविता पहुँची तो वे फड़क उठे और उन्होंने तत्काल उन्हें 'कवि-शिरोमणि' की उपाधि से सम्मानित किया। सुप्रसिद्ध विद्वान तथा सैकड़ों शास्त्रियों और अनेकों आचार्यों के गुरु श्री पण्डित काशीनाथ जी तो शंकर जी की कविताओं से कभी अघाते ही न थे। आध्यात्मिक, दार्शनिक और गम्भीर वेदान्त-भावों से भरी शंकर जी की कविताओं के कारण गुरु जी उन्हें 'सरस्वती का अवतार' कहने लगे थे। एक बार शंकर जी ने अपनी कुछ कविताएँ गुरुवर काशीनाथ जी की सेवा में भेजीं, उनमें से एक इस प्रकार है—

अज की माया है अजा, समझ विश्वविलास।
राधिकेश राधा रमे, शंकर यों रच रास॥

शंकर अखण्ड एक अक्षर की एकता ने,
स्वाभाविक साधन अनेकता का साधा है।
तारतम्यता के साथ विश्व की बनावट में,
पोल और ठोस का प्रयोग आधा-आधा है।
नाम रूप ज्ञान से क्रिया की कर्म कल्पना से,
नित्य निरुपाधि चिदानन्द में न बाधा है।
सामाधिक धारणा में ऐसा ध्रुव ध्यान है तो,
पुरुष मुकुन्द है प्रकृति प्यारी राधा है॥

गुरुवर काशीनाथ जी इस कविता को पढ़कर आनन्द-सागर में निमग्न हो गए। बार-बार कविता पढ़ी और कवि-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अन्ततः अपनी सम्मति प्रकट करते हुए तत्क्षण लिखा—

शंकरं प्रणमन् काशीनाथो अहं द्विजसत्तमः
काव्य दर्शन संजात-चमत्कारो निवेदये।
नूनं 'सरस्वती' नाथूराम शंकर पण्डितः,
अन्यथेदृश पद्यानि को निर्मिमीत मानवः।

गुरुवर श्री काशीनाथ जी महाराज ने उक्त श्लोक में कहा था : पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा निश्चय ही 'सरस्वती' हैं क्योंकि मनुष्य में तो ऐसी कविता करने की शक्ति ही नहीं है। वह तो ऐसे पद्य रच ही नहीं सकता।

महाकवि शंकर ने काव्य के प्रायः सब ही रसों में सफलतापूर्वक कविताएँ लिखी हैं। उनकी लिखी शृंगारमयी रचनाएँ बड़ी शिष्ट, उत्कृष्ट और कवित्वमयी हैं। अब से प्रायः पौन शती पूर्व शंकर जी ने स्वतन्त्र भारत का आह्वान किया। देश की दुर्दशा का दिग्दर्शन कराया। किसान और मज़दूरों की हालतेज़ार पर आँसू बहाए। समाज की विधवाओं का करुणक्रन्दन बड़ी सहृदयता से सुनाया। अनाथों और गौओं का आर्तनाद देश के कर्ण-कुहरों तक पहुँचाया। सामाजिक कुप्रथाओं के कोढ़ को दूर करने के आवेश में, उग्र भाव भरी कविताएँ कीं। देश-हित और लोक-कल्याण का ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर शंकर जी ने सफलतापूर्वक कविता न की हो। गम्भीर और हास्यमयी कविताओं में उनकी प्रतिभा-प्रभा समान रूप से दीप्तिमान थी।

शंकर जी प्रवासभीरु थे, इसलिए वे बाहर बहुत ही कम जाते थे। महाधिवेशनों और विराट सम्मेलनों का सभापतित्व करने से इन्कार कर देते थे। संवत् १९८० विक्रमी में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की तीन सौ वर्ष की जयन्ती काशी में, बड़े समारोहपूर्वक मनाई गई। शंकर जी को उसका सभापति बनाना निश्चित हुआ। अध्यापक रामदास जी गौड़ शंकर जी को लेने हरदुआगंज आए। परन्तु शंकर जी प्रवासभीरुता और अस्वस्थतावश काशी न जा सके। महाकवि तुलसीदास के सम्बन्ध में एक कविता रचकर गौड़ जी को दे दी, जो बहुत पसन्द की गई।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व-पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए, सम्मेलन के प्रधान मन्त्री श्री पण्डित रामजीलाल शर्मा की अध्यक्षता में, एक डेपूटेशन शंकर जी के पास हरदुआगंज पहुँचा और उसने सभापति बनने का आग्रह किया, परन्तु शंकर जी ने यह कहकर अस्वीकृति प्रकट की कि मैं 'हिन्दी' शब्द का समर्थक नहीं हूँ। सम्मेलन के साथ 'हिन्दी' शब्द जुड़ा हुआ है।

पर दिल्ली में जब साहित्य सम्मेलन के अवसर पर अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन की भी आयोजना की गई थी, उन्हें अपने घनिष्ठ मित्र आचार्य पद्मसिंह शर्मा के आग्रह के कारण सभापतित्व करने जाना पड़ा था।

मथुरा में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मशताब्दी के अवसर पर भी एक महान कवि-सम्मेलन हुआ था, उसका सभापतित्व शंकर जी ने बड़े उत्साह से किया था। क्योंकि वे स्वामी जी के अनन्य भक्त थे और उनके दर्शन कर चुके थे।

शंकर जी ने अपनी कविता-कला को कभी अपनी आय का साधन नहीं बनाया। वे सब कुछ 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखते थे। कई महाराजों (हिज़ हाइनेसों) ने उन्हें बड़े-बड़े प्रलोभन देकर अपने प्रशंसात्मक चरित लिखाने चाहे, परन्तु उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। उनकी जीविका का साधन चिकित्सा था। कविता तो उनकी मनस्तुष्टि की चीज़ थी। शंकर जी जब तक जीवित रहे, उनकी जन्म-भूमि हरदुआगंज, कवि और साहित्यकारों की 'सैरगाह' बनी रही। आचार्य पद्मसिंह शर्मा तो वर्ष में तीन मास वहाँ बिताते थे। महाकवि रत्नाकर जी भी पधारे थे, और भी अनेक कवि तथा साहित्यकार।

शंकर जी स्वभाव के बड़े सरल और मिलनसार थे। अतिथि-सेवा, यानी मेहमानदारी, उनको अत्यन्त प्रिय थी। जो आता, शंकर जी से अत्यन्त प्रभावित होता था। उनके अन्तिम समय में, जब वे मृत्यु शय्या पर थे, साहित्यिक मित्रों का ताँता लगा रहता था।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह बात भली प्रकार जानी जा सकती है कि अपने समय में शंकर जी कैसे प्रतिष्ठित कवि थे और उनकी कविता-कला का कितना अधिक आदर था। जी चाहता है कि पाठकों को शंकर जी की सुन्दर कविताओं का रसास्वादन कराया जाए, किन्तु इस छोटे-से लेख में इतनी गुंजायश ही कहाँ है। अवसर मिलने पर अन्य किसी अंक में कविताओं के उदाहरण दिए जा सकेंगे। अभिप्राय यह कि वरदा सरस्वती देवी की कृपा से जिन कवियों ने यश, महत्त्व, और मान पाया है, उनमें शंकर जी भी अवश्य हैं, यह बात उन्हीं के शब्दों में पढ़िए :

मान दान माघ को, महत्त्व दान मम्मट को,
दान कालिदास को सुयश का दिला चुकी।
रामामृत तुलसी को, काव्यसुधा केशव को,
राधिकेश भक्ति-रस सूर को पिला चुकी।
मुख्य मान-पान देश-भाषा परिशोधन का,
भारत के इन्दु हरिचन्द को खिला चुकी।
सुकवि-सभा में महावीरता सरस्वती की,
शंकर-से दीन मति-हीन को मिला चुकी।

संकरा की कहानी

युधिष्ठिर मेहता

संकरा राजस्थान का गाँव है। यह राजस्थान के मरुस्थल के बीचों-बीच है, और समीपतम रेलवे स्टेशन से भी इसकी दूरी २६ मील है। यह जैसलमेर क्षेत्र में बसे अन्य गाँवों की भाँति ही है। ये गाँव देखने में ही गरीब से लगते हैं और गाँव वालों को जीवन यापन के साधन देने की दृष्टि से तो और भी विपन्न हैं। यहाँ भी दुःख, दैन्य और रोग अन्य स्थानों की भाँति ही हैं। यहाँ के बच्चों को पहनने के लिए कपड़ा नहीं मिलता, शिक्षा-दीक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है, वयस्कों के लिए समुचित काम-काज नहीं है। ठीक वही दशा है जो जैसलमेर के आस-पास के गाँवों में दिखलाई पड़ती है। बाहर से देखने में संकरा अन्य गाँवों की भाँति दिखलाई पड़ता है, लेकिन अन्य गाँवों तथा संकरा में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर है और वह यह है कि संकरा की अपनी अलग कथा है। संकरा में एक कुआँ है जिसका जल लोगों को डाकू बना देता है। रेगिस्तान के बीचोंबीच इस गाँव में यह अकेला कुआँ है और इसके जल में भी यह विशेषता है कि उसके पीते ही लोग डाकू हो जाते हैं, इस बात ने संकरा को कुख्यात कर दिया। यह किंवदन्ती फैल गई, और इसके साथ बहुत-सी अर्धसत्य कथाएँ जुड़ गईं। बड़े-बड़े डाकू न केवल यहाँ पैदा होते और पालन-पोषण पाते, वरन बहुत से डाकू बाहर से लूटे हुए माल के बलबूते पर गुलछर्रे उड़ाने आते। फलतः यह स्थान डकैतों का गढ़-सा बन गया। संकरा ऐसा गाँव था जिसमें कोई सुविधा नहीं थी। और हृष्ट-पुष्ट ऊँटों तथा डकैतों की बढ़ती हुई कुख्याति के अलावा बाहरी दुनिया से सम्पर्क रखने का कोई साधन भी नहीं था। अन्ततः, इस गाँव की ओर जोधपुर दरबार का ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योंकि संकरा जोधपुर राज्य की सीमा में था। जोधपुर दरबार ने बदनाम कुएँ को बन्द करवा दिया और गाँव में पुलिस थाना खुलवा दिया। डकैतों को समाप्त करने का यही हल प्रशासक खोज सके। लेकिन डकैत बढ़ते ही गए। दूर पास डाके पड़ते ही रहे। डाकू संकरा के आसपास ठहरते और आराम करने बराबर आते ही रहे।



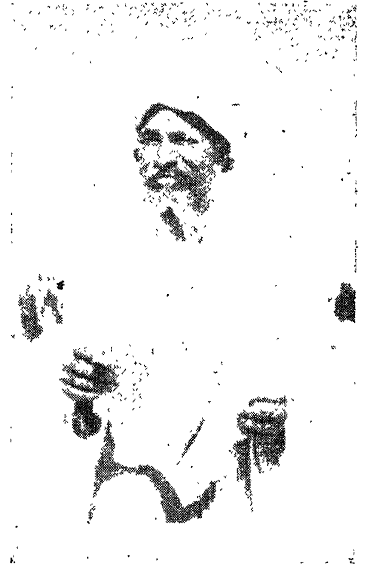
संकरा का एक बृद्ध

वयस्कों को साक्षर बनाने का प्रयत्न



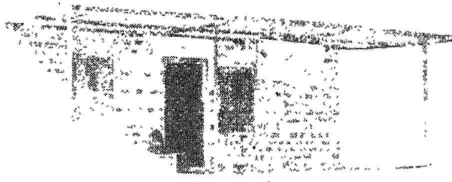
उस युग में जब सरकार लोगों के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करती थी और यह हस्तक्षेप भी उस समय तक नहीं किया जाता था जब तक कोई बहुत बड़ी उथल-पुथल ही न हो जाए, तब तक संकरा की कीर्ति-कथा में भी नित्य नए-नए अध्याय जुड़ते गए। किसी ने संकरा की समस्या का उतने ध्यान से अध्ययन नहीं किया जितनी आवश्यकता थी और न बुराइयों को रोकने के लिए ही कोई प्रयत्न किया। पुलिस थाना खोल देने या कुएँ का मुँह बन्द करा देने से तो बुराई रंच-मात्र भी कम नहीं

संकरा में वयस्क साक्षरता





संगीत का आनन्द



पाठशाला की नई इमारत



संकरा का एक दृश्य

होती। उस क्षेत्र के निवासियों के समस्त सामाजिक और आर्थिक जीवन में व्याधियों ने काफी गहरी जड़ पकड़ ली थी। जहाँ सिंचाई के लिए पानी न मिलता हो, अस्पताल न हो, सड़कें न हों, शिक्षा की कोई व्यवस्था न हो, वहाँ लोग यदि चोरी-डकैती करने लगें तो आश्चय ही क्या है? चोरी-डकैती करने पर पकड़े जाने की भी बहुत कम गुंजाइश थी। और यही उन लोगों के जीवनयापन का एक-मात्र उपलब्ध साधन भी था। प्रकृति से भी इन्हें इस कार्य में सहायता मिलती थी, क्योंकि उड़ती रेत के क्षेत्र में अपराधियों को खोजना बड़ा कठिन काम है, विशेषतः उस अवस्था में, जब अधिकारी स्वयं उस प्रदेश में घुसने से हिचकते हों।

तथापि, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संकरा के निवासियों का जीवन अव्यवस्थित था और डाकू बाहर जैसा उपद्रव करते थे वैसा ही गाँव में भी हुड़दंग मचा रहता था। सच पूछिए तो गाँव का जीवन एक तरह से बड़ा शान्त था। पुराने रीति-रिवाजों के मुताबिक जीवन चलता था। लोग मिट्टी की दीवालों की झोंपड़ियों में रहते थे, भेड़ें और गायें चराते थे और कभी-कभी खेती भी कर लेते थे। होली-दिवाली के आनन्दमय त्योहार उतने ही उत्साह से यहाँ भी मनाये जाते थे जितने देश के अन्य भागों में। यहाँ के जीवन की एक मनोरंजक विशेषता यह भी थी कि लोग मदक (अफ़ीम) पीने के बेहद आदी थे। कोई भी उत्सव या सामाजिक कार्य उस समय तक सफल नहीं माना जाता था जब तक मदक (अफ़ीम) पी और पिलाई न जाए। जब तक मेहमान अफ़ीम साथ में सौगात देने के लिए न लाये तब तक गृहस्वामी उत्साहपूर्वक उसका स्वागत न करता था। लेकिन यह संकरा के बीते युग की कहानी है।

अब कहानी कुछ बदल गई है। गाँव बदल रहा है। भाग्यवश, धीरे-धीरे। अब संकरा की समस्या केवल अमन और कानून कायम करने की ऐसी समस्या नहीं समझी जाती जिसे उदासीनता या तटस्थ भाव से सुलझाना है। संकरा की समस्या को मानवीय समस्या, उस क्षेत्र के निवासियों के सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या माना जा रहा है। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि वहाँ के लोगों को कुमार्ग से बचाकर ऐसे रास्ते पर लाना है जिससे वे देश के उपयोगी नागरिक बन सकें। यह नीति-परिवर्तन सन् १९५३ में हुआ। उस समय श्री जयनारायण व्यास राजस्थान के मुख्यमंत्री थे। उन्होंने इस गाँव की समस्या में व्यक्तिगत रुचि ग्रहण की। और ऐसे कार्य किए जिससे अपराधों का मूल कारण ही समाप्त हो जाए तथा लोगों की आर्थिक दशा में सुधार हो सके। डाकुओं का अन्त करने के लिए कठोर दमन या मूलोच्छेद का सहारा लेने के बजाय उनके साथ मनुष्यता का व्यवहार किया गया और उनसे आत्मसमर्पण कराने के लिए उचित शर्तें रखी गईं। बहुतों ने शर्तें मान लीं। आत्मसमर्पण कर दिया। वे आज शान्ति से जीवन बिता रहे हैं। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संकरा और उसके आसपास के निवासियों की आर्थिक दशा सुधारने का काम आरम्भ हो गया है। एक स्कूल खुल गया है। इस स्कूल में अब उन्हीं लोगों के बच्चे पढ़ने आते हैं जो किसी समय यह समझते थे कि शिक्षा बच्चों को कायर बना देती है। पोकराना रेल स्टेशन से संकरा तक कच्ची सड़क बन गई है। इस सड़क पर बसें चलती हैं। समाज-कल्याण केन्द्र खुल गया है। केन्द्र में

औषधालय भी है। रेडियो लगा है। बिजली पैदा करने का जेनरेटर भी है। यह बदलते हुए युग के चिह्न हैं। सामुदायिक योजना प्रशासन ने भी नए संकरा के निर्माण में हाथ बँटाना शुरू कर दिया है। यहाँ विकास खण्ड भी खुल गया है। अब यहाँ खेती के अच्छे औज़ारों और अच्छे बीज के बारे में बातचीत चलती रहती है। लोग भेड़ों की अच्छी नसलों और सहकारी ढंग से माल की बिक्री के सम्बन्ध में विचार करते हैं। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि संकरा की काया ही पलट गई है या वहाँ कोई स्वर्ग बस गया है या वहाँ के लोग सहयोग देने के लिए बहुत उत्सुक हैं। ऐसी आशा करना तो उचित न होगा। यहाँ के लोग शताब्दियों से बाहरी दुनिया से अलग और लड़ते रहे हैं और उनके मन की शंकाओं तथा कुभावनाओं को दूर करना है। सामाजिक और आर्थिक जीवन का नया ढाँचा खड़ा करना है। अभी इस कार्य की केवल शुरुआत हुई है। अब नया संकरा नई कहानी कहेगा और वह कहानी होगी प्रगतिशील भारत में आर्थिक उन्नति की कहानी। गत वर्ष गान्धी मेले का श्रीगणेश और गान्धी की प्रस्तर मूर्ति की स्थापना इस परिवर्तन का प्रतीक है।

चण्डालिका—(पृष्ठ ४४ का शेषांश)

(पैरों से मन्त्र के सब उपकरण तोड़-फोड़कर बिखेर देती है) —अरे, तू यदि चण्डालिनी नहीं है तो वीर का अपमान न कर। जय हो, उनकी जय हो!

(आनन्द का प्रवेश)

प्रभो मेरा उद्धार करने आए हो—इसी से इतना दुःख भी पाया—क्षमा करो, क्षमा करो, मेरी असीम ग्लानि अपने पदाघात से दूर कर दो। तुम्हें धूल में खींच लाई हूँ. अन्यथा मुझे किस प्रकार अपने पुण्य लोक में ले जाते। हे सुनिर्मल, तुम्हारे पैरों में धूल लग गई है—सार्थक होगा यह धूल लगना। मेरा माया-आवरण छिन्न होकर तुम्हारे पैरों पर पड़ेगा जो सब धूल पोंछ डालेगा। जय हो, जय हो, तुम्हारी जय हो!

माँ—जय हो प्रभु! मेरा पाप और मेरे प्राण दोनों तुम्हारे चरणों पर पड़े हैं, यहीं मेरे दिन समाप्त हो गए—तुम्हारी क्षमा के तीर पर आकर—

(मृत्यु)

आनन्द—

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महाण्णवो
योच्चन्त सुद्धव्वर आठालोचनो।
लोकस्स पापूपकिलेस घातको
वन्दामि बुद्धं अहमादरेण तं॥

अनुवादक—हरिशंकर शर्मा

हरा नोट—(पृष्ठ ४४ का शेषांश)

नोट का ज़िक्र आते ही मैं अपनी पत्नी की मदद के लिए दौड़ूँगा। इधर दरवाज़े पर भी मेरा ध्यान था कि ग्राहक के यहाँ से पैसे कब आते हैं।

अन्दर श्रीमती जी को साड़ियाँ देखने में कोई मज़ा नहीं आ रहा था। वे बार-बार चौंक कर किवाड़ की तरफ़ देखती जाती थीं।

आख़िर किसी तरह 'उन' पैरों की आहट सुनाई दी। कुण्डी खटखटाई। मैंने किवाड़ खोला। ग्राहक ही आया था। अन्दर जाकर उन साहब ने अपनी जेब से पैसे निकाले और मुझे दे दिए। मैंने उनका आभार माना और वे चल दिए।

उन पैसों में से मैंने सौ रुपयों का हरा नोट निकाल लिया और अन्दर जाकर उसे उसके स्थान पर रख दिया। फिर मामा जी की खरीदी हुई साड़ियाँ मैं देखने लगा। पत्नी ने पूछा, "कौन आया था?"

"ग्राहक आया था पैसे देने।" मैंने कहा।

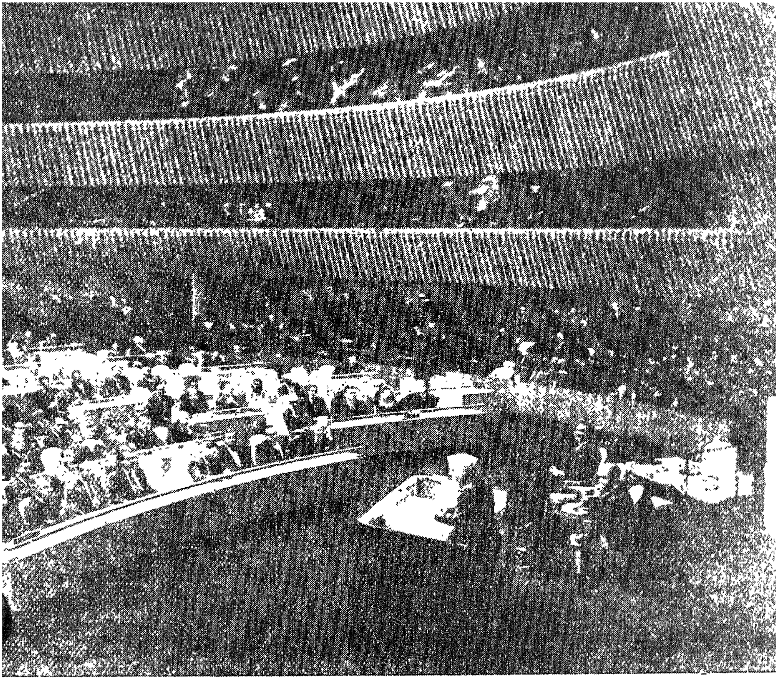
फिर तो सारा समां ही बदल गया। श्रीमती जी ने साड़ी के आँचल से मुँह पोंछ लिया और वे स्त्री की सच्ची दिलचस्पी के साथ साड़ियाँ देखने लगीं। उनके शब्दों में भी नया उत्साह आ गया। सारा घर हँसी-खुशी से खिल उठा।

जब मामा जी जाने लगे तो उन्होंने बच्ची के हाथ में एक रुपया रखा और भानजी से विदा ली। मैं उन्हें पहुँचाने स्टेशन जाने वाला था मगर उन्होंने यह कह कर मना किया कि, "तुम थक गए होगे, अब घर जाकर सो जाओ।"

मैं घर पहुँचा ही था कि श्रीमती जी ने वह हरा नोट मेरे सामने धरते हुए कहा, "देखो, मामा जी इसे भूल गए!"

मैंने वह नोट हाथ में ले लिया। मन में विचार आया, जब मामा जी भूल ही गए हैं तो इससे पूरा फ़ायदा क्यों न उठाया जाए? नया एम्प्लिफ़ायर बनाया जा सकेगा। फिर सारे बिल चुका दिए जाएँगे और मैं ऐसे स्थान पर जाकर रहूँगा जहाँ रेडियो की आवाज़ भी सुनाई नहीं देगी.........।

मगर मेरी पत्नी ने मेरी आँखों में ही मेरे भावों को पढ़ लिया और वह ज़ोर से चिल्लाईं, "अभी जाओ! स्टेशन पर जाकर यह नोट मामा जी को दे आओ। यह पाप हमें नहीं चाहिए। सारा दिन इसने हम दोनों को कितना परेशान कर दिया था। क्या भूल गए?" और मुझे बाहर धकेल कर उन्होंने किवाड़ बन्द कर दिया।





राष्ट्रपति आइजनहावर द्वारा स्वागत

बाएँ : संयुक्त राष्ट्र संघ में भाषण देते हुए





हवाई अड्डे पर सैनिक सलामी लेते हुए

ऊपर बाएँ :

अमेरिका पहुंचते ही प्रेस प्रतिनिधियों को वक्तव्य देते हुए; साथ में उपराष्ट्रपति निक्सन हैं ।



वाशिंगटन की नैशनल प्रेस क्लब में प्रेस प्रतिनिधियों के बीच





भारतीय प्रधान मन्त्री और अमेरिकन राष्ट्रपति



ऊपर दाहिने :

अमेरिकन युद्धमन्त्री से बातचीत करते हुए

भारतीय दूतावास में भोज :

यें से दायें : श्री मेहता, श्रीमती मेहता, श्री आइसन हावर, श्रीमती आइसन हावर, श्रीमती इंदिरा गांधी, श्री जवाहरलाल नेहरू

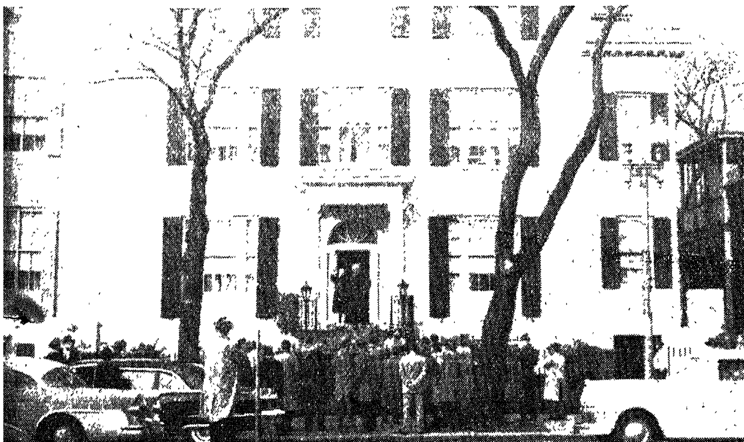


प्रधान मन्त्री की अमेरिका यात्रा

ीचे दाएँ :

शरमन कूपर के घर पर

ब्लेअर हाउस के मुख्य द्वार में फोस्टर डलेस के साथ







पुस्तक समालोचना

सन्त कवि दरिया : लेखक—डा० धीरेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठसंख्या बड़े आकार के ५२०; अनेक रंगीन और सादे चित्र; मूल्य १४) सजिल्द ।

दरिया ग्रन्थावली का यह प्रथम ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में २६४ पृष्ठ हैं और उनमें दरिया साहब के अत्यन्त संक्षिप्त जीवन-चरित्र, समय निरूपण आदि के साथ उनके दर्शन और अध्यात्म पर विशेष विस्तार के साथ लिखा गया है । इसी खण्ड में दरिया की रचनाओं के काव्य-सौष्ठव की विवेचना के साथ ही साथ कबीर और तुलसी से उनकी तुलना भी की गई है । दूसरे खण्ड में लगभग १८४ पृष्ठों में दरिया के मूल ग्रन्थों में से चुने हुए सन्दर्भ दिए गए हैं और अन्त में लगभग ७२ पृष्ठों में उपयोगी परिशिष्टों के अतिरिक्त शब्दानुक्रमणिका भी दी गई है ।

जहाँ तक दरिया साहब की काव्य-रचना, उनके विचार और सन्त जीवन का सम्बन्ध है, ग्रन्थ की सब बातें सुबोधगम्य हैं । पर जहाँ उनके दर्शन और अध्यात्म की चर्चा की गई है, ग्रन्थ अत्यन्त रहस्यमय और दुरूह बन गया है । विशेष रूप से सहस्रदलकमल, बंकनाड़ी, भंवरगुफा, सुचिद्वार, अष्टदलकमल, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, ब्रह्मरन्ध्र, सुरति डोर आदि क्या हैं और वर्तमान वैज्ञानिक युग में ज्ञात भौतिक तथा शारीरिक उपादानों और अंगों में उनकी संगति किस प्रकार स्थापित की जा सकती है, इस सम्बन्ध में डा० धीरेन्द्र ब्रह्मचारी ने कुछ भी नहीं लिखा । षट्चक्र और भी चक्कर में डालने वाला है । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—इन सब चक्रों को मेरुदण्ड के ६ क्रिया-केन्द्रों के रूप में माना जाता है, पर वैज्ञानिक ढंग से नर्वस सिस्टम में उनका स्थान और कार्य बताए बिना हमारे साहित्यिक ग्रन्थों में उन्हें रहस्यवाद का आधार मान कर उनके कितने ही चित्र भी प्रस्तुत किए जाते हैं, जैसा कि इस ग्रन्थ में किया गया है । प्राचीन मान्यताओं और विश्वासों के अध्ययन की दृष्टि से उनका उल्लेख अवश्य ही उपयोगी है, पर अच्छा होता यदि उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करने का भी प्रयत्न किया जाता ।

सब मिला कर यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और मूल्यवान है । इसके लेखक और प्रकाशक बधाई और साधुवाद के पात्र हैं । सन्त काव्य की परम्परा में दरिया साहब की प्रमुखता लेखक भली प्रकार सिद्ध कर पाए हैं ।

ईख और चीनी : लेखक—फूलदेव सहाय वर्मा; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठसंख्या बड़े आकार के ४४०; सचित्र; मूल्य १३॥) सजिल्द ।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के औद्योगिक रसायन के अवसर-प्राप्त अध्यापक फूलदेव सहाय वर्मा का यह ग्रन्थ हिन्दी में ईख और चीनी के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है । गन्ना इस देश की, विशेषतः उत्तर भारत (वहाँ भी उत्तर प्रदेश) की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपज है और पिछली पीढ़ी में भारत में जिन व्यवसायों का खूब अच्छा विकास हुआ है, उनमें चीनी और सूती वस्त्र सबसे अधिक प्रमुख हैं । इस ग्रन्थ में ईख के श्रेष्ठ उत्पादन से लेकर चीनी के निर्माण तक की सभी आवश्यक और सम्बद्ध बातों पर बहुत अच्छे ढंग से प्रकाश डाला गया है । चीनी रसायनशास्त्र सम्बन्धी विषयों पर भी अत्यन्त उपादेय सामग्री इस ग्रन्थ में है । यह सब सामग्री लगभग ४० प्रकरणों में बाँटी गई है । पुस्तक में १०४ चित्र भी हैं, जिनसे उसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है । पुस्तक में कहीं-कहीं पुनरोक्ति है और कुछ बातें अधिक विस्तार से कही गई हैं, पर वह शायद साधारण पाठकों की सुविधा के दृष्टि-कोण से किया गया है । ग्रन्थ में पारिभाषिक शब्द वही दिए गए हैं, जिनका निर्माण भारत सरकार के शिक्षा सचिवालय की दक्ष समिति ने किया है । यह ग्रन्थ पटना की राष्ट्रभाषा परिषद् के अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकाशनों का एक उदाहरण है ।

श्री रामावतार शर्मा निबन्धावली : प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठसंख्या बड़े आकार के ३२०; मूल्य ८ रु० १२ आना सजिल्द ।

महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा भारत के प्रमुख विद्वानों में थे । वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक विकास में श्री रामावतार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । संस्कृत साहित्य, व्याकरण तथा भारतीय दर्शन के वह प्रकाण्ड पण्डित थे । इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि के भी वह विद्वान थे । १९१६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर अधिवेशन के वह सभापति थे । ऐसे विद्वान के लेखों के संग्रह का महत्त्व निर्विवाद है । इस निबन्धावली में विभिन्न विषयों पर ४० निबन्ध हैं । भूगोल, भूगर्भ, परमार्थ सिद्धान्त, व्याकरण-सार आदि विषयों से लेकर साहित्यिक 'खुली चिट्ठी' आदि तक इस संग्रह में सम्मिलित हैं । संग्रह के कितने ही विषय, उदाहरण के लिए 'हिन्दी की उन्नति और प्रचार' आदि आज भले ही पुराने पड़ गए हों, पर ऐतिहासिक और रिकार्ड की दृष्टि से उनका स्थायी महत्त्व है ।

प्रबन्ध सागर : लेखक—यज्ञदत्त शर्मा; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठसंख्या २००; मूल्य ६) सजिल्द।

प्रबन्ध सागर का यह चौथा संस्करण जनवरी १९५७ में प्रकाशित हुआ है। पिछले ६ वर्षों में इस पुस्तक की १३,२०० प्रतियाँ छपी हैं, जो हिन्दी के बाज़ार को देखते हुए अच्छी संख्या है। इस पुस्तक में श्रेष्ठ निबन्धों का संग्रह नहीं है, अपितु हिन्दी व्याकरण, वाक्य-विन्यास आदि के पाठों के साथ निबन्ध तथा पत्र-लेखन-शैली की शिक्षा विस्तार से देने का प्रयत्न किया गया है। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए विशेषतः उपयोगी है और सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से इसे लिखा गया है।

रूसी लोक-साहित्य : लेखक—वीर राजेन्द्र ऋषि; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठसंख्या १२०; मूल्य ४) सजिल्द।

वीर राजेन्द्र ऋषि रूसी भाषा के जानकार हैं और उनका कथन है कि स्वयं रूस जाकर उन्होंने इस संग्रह की सामग्री एकत्र की थी। वास्तव में यह पुस्तक मुख्यतः एक ही रूसी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। किसी अन्य देश को भली प्रकार समझने का एक अत्यन्त मूल्यवान साधन उसका लोक-साहित्य है। इस कारण विदेशी लोक-साहित्य का प्रकाशन और अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में आत्माराम एण्ड संस ने अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। परन्तु इस पुस्तक में रूस के विभिन्न श्रेणी और प्रकार के लोक-साहित्य का परिचय भर ही दिया गया है, लोक-साहित्य के यथेष्ट उदाहरण उस में नहीं हैं। जितने विषय इस पुस्तक में लिए गए हैं, उनकी दृष्टि से पुस्तक का आकार कम से कम तीन गुणा होना चाहिए था। लोक-साहित्य के प्रकाशनों में बड़ा भाग लोक-साहित्य के उदाहरणों का होना चाहिए। पुस्तक की शैली और भाषा दोनों प्रशंसनीय हैं।

वनराज के राज में : लेखक—विराज ; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६ ; पृष्ठसंख्या २०० ; मूल्य ४) सजिल्द।

जंगल सम्बन्धी विषयों पर विराज जी की यह सम्भवतः छठी रचना है। इस विषय पर कहना उन्हें आता है। उन्हें स्वयं भी जंगलों का थोड़ा-बहुत अनुभव है। साथ ही अपने साहसी मित्रों से जंगल सम्बन्धी जो कहानियाँ वह सुनते हैं, उन्हें मनोरंजक ढंग से हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य वह यथेष्ट सफलता और खूबी के साथ कर रहे हैं। इस पुस्तक के वर्णनों में कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है, पर अतिशयोक्ति तो "यान्त्रिक" जैसी सुप्रसिद्ध बंगाली रचना में भी है। हमारे देश में 'अतिशयोक्ति' को भी एक अलंकार माना जाता रहा है। अस्तु, पुस्तक यथेष्ट मनोरंजक है और उसकी छपाई-सफ़ाई आदि भी बहुत सुन्दर है। चित्र कम हैं, पर जितने हैं, अच्छे हैं।

मुहावरे और कहावतें : लेखक—बालमुकन्द 'अर्श' मलसियानी ; परिचय-लेखक—डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ; भूमिका-लेखक डा० नगेन्द्र ; सोल एजेण्ट—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६, पृष्ठसंख्या ४०८ ; मूल्य ५) सजिल्द।

अर्श 'मलसियानी' उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि और लेखक हैं। उनका कथन है कि उर्दू ने मुहावरे लिए तो हिन्दी से, पर उनका विकास करने तथा उन्हें टकसाली रूप देने में उर्दू लेखकों का बहुत बड़ा भाग रहा है। यह स्थापना पूर्ण रूप से सही है। उर्दू की तरह हिन्दी में भी मुहावरों का प्रयोग होता है। यह आवश्यक है कि मुहावरों का प्रयोग शुद्ध रूप में हो। डाक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "मुहावरों के न रहने से भाषा जीवन्त और प्रवाहमयी नहीं हो पाती।" इस ग्रन्थ के लेखक मुहावरों के सम्बन्ध में प्रामाणिक व्यक्ति हैं। उन्होंने लगभग ४,००० मुहावरे इस पुस्तक में दिए हैं और प्रत्येक मुहावरे का अभिप्राय समझाने के साथ ही साथ प्रत्येक मुहावरे के प्रयोग का उदाहरण भी उन्होंने दिया है। कितने ही मुहावरों का बहुत जीवन्त प्रयोग उन्होंने सुप्रसिद्ध शेरों में दिखाया है, जो इस पुस्तक को साहित्यिकता का पुट देता है। हमें विश्वास है कि इस पुस्तक का यथेष्ट आदर होगा। पहले संस्करण में कहावतों का संग्रह, अनुक्रम आदि चाहे पूर्ण नहीं बन पाया, पर सब मिला कर पुस्तक अत्यन्त उपादेय है।

गोली : लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री ; प्रकाशक—राजहंस प्रकाशन, रुई मण्डी, सदर बाज़ार, दिल्ली-६ ; पृष्ठसंख्या ३४८; मूल्य ६॥) सजिल्द।

'गोली' आचार्य चतुरसेन शास्त्री का सब से नया उपन्यास है। स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व तक राजपूताना की छोटी-बड़ी रियासतों में गोले-गोलियों की एक जमात थी, जिनकी दशा अर्ध-दासों की सी थी। गोलियों को रानियों के साथ दहेज में दिया जाता था, गोलों ही से उनका विवाह होता था, पर होती थीं, वे राजाओं की उप-पत्नियाँ। व्यवहार में गोले पति का गोली पत्नी से कोई सम्बन्ध न होने पाता था। उस गली-सड़ी राज-प्रथा का कोढ़ गोले-गोलियों की इस संस्था में भयंकर रूप से प्रकट होता था। आचार्य चतुरसेन ने उसी प्रथा के सम्बन्ध में इस उपन्यास की रचना की है। कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण या गम्भीर सामाजिक तत्त्व-विवेचन उन्होंने इस उपन्यास में नहीं किया। पर उपन्यास में वर्णित घटनाएँ सत्य पर आश्रित होते हुए भी इतनी अजीब किस्म की हैं, कि वे अत्यन्त मनोरंजक हैं। यों उपन्यास के कुछ पात्र भी बहुत सजीव और श्रेष्ठ कोटि के बन पाए हैं, जैसे रसोइया वासुदेव महाराज। कितनी ही नई बातें हमें इस उपन्यास से मालूम हुईं। जैसे बर्फ़ी और कलाकन्द का भेद। "बर्फ़ी तो वह उम्दा जो मुँह में डालते ही घुल जाए और कलाकन्द उसका नाम कि एक डली दीवार पर मारो तो रवा रवा बिखर जाए।"

आचार्य जी का कथन है कि आज भी उनकी नायिका चम्पा देवी की जमात के भाई बहनों की संख्या ६० हज़ार के लगभग। यदि यह बात ठीक है, तो सामाजिक सुधार की दृष्टि से भी इस उपन्यास का बहुत बड़ा महत्त्व है। —चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

जयप्रकाश की विचारधारा : सम्पादक—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; प्रकाशक—पुस्तक जगत, पटना–३; पृष्ठ संख्या ३२६; मूल्य ४)।

श्री बेनीपुरी ने इस पुस्तक का संकलन सही दृष्टिकोण लेकर किया है। उनका उद्देश्य एक विशेष व्यक्तित्व के विचारों को जनता के सामने ला देने का है, पर वे साफ कहते हैं कि "अन्ध भक्ति हमेशा ही बुरी है, किन्तु किसी नए सन्देश के मसीहा के प्रति अन्ध भक्ति तो उसके साथ विश्वासघात और अपने साथ धोखा है।" मैं समझता हूँ कि किसी भी व्यक्ति के विचार को समझने के लिए यह दृष्टिकोण बहुत स्वस्थ और सुन्दर है।

इस पुस्तक में जयप्रकाश के समाजवाद सम्बन्धी आठ वक्तव्य, आज़ादी के सैनिकों के नाम तीन पत्र, देवली के कुछ मशहूर खत और कुछ फुटकर चीज़ें हैं। जयप्रकाश यह विश्वास करते थे कि "आज के संसार में कोई भी पार्टी समाजवाद कायम नहीं कर सकती जिसके हाथ में राज्य की मशीन न हो। राज्य की यह मशीन जनता ने आपको चुनाव में विजयी बनाकर दी हो या हथियारबन्द दस्ते संगठित कर, छापा मार कर वह हासिल की गई हो—हमारी इस समय की बहस से उसका कोई सरोकार नहीं है।"

जयप्रकाश मार्क्सवाद के इस विचार को मानते हैं कि धन मेहनत से ही पैदा होता है, और उसमें से एक हिस्सा धन पैदा करने वाले मेहनत-कश के पास जाता है और बाकी उन शोषक वर्गों को पहुँचता है, जो उस मेहनत-कश को मज़दूरी पर काम कराते हैं। जयप्रकाश का विचार है कि "धन मेहनत से ही पैदा होता है। रुपया से रुपया नहीं पैदा हो सकता। न कोई भी आर्थिक या व्यापारिक उलट-फेर उसे पैदा कर सकता है। पूँजीवादी व्यापार का सारा खेल इस बात में है कि उसके भिन्न-भिन्न अंग ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करें और इस शोषण का केन्द्रीय लक्ष्य है बेचारे मेहनत-कश की कमाई। पूँजीवादी प्रतियोगिता या व्यापार के बारीक रहस्य यही है। विश्वविद्यालयों में धन के संग्रह के बारे में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह सब भ्रमजाल है—भूल-भुलैया है।"

धन की असमता के सम्बन्ध में जयप्रकाश के विचार इस प्रकार हैं कि "धन की असमता का मुख्य कारण यह है कि प्रकृति के वरदानों पर, जिनसे धन पैदा होता है और उत्पादन के साधनों पर, जिनके द्वारा धन पैदा होता है कुछ लोगों का व्यक्तिगत कब्ज़ा हो गया है जो उनका उपयोग अपने लाभ के लिए करते हैं। यहीं से आर्थिक शोषण शुरू होता है। यानी मेहनत-कश के पास से पूरी पैदावार छीन ली जाती है, सिर्फ उसके जिन्दा रहने भर का सामान उसके लिए दे दिया जाता है। यह कभी तो सीधे-सीधे होता है, कभी तिरछे-तिरछे। सीधा आर्थिक शोषण वह है जब पूँजीपति मज़दूरों से अपने कारखानों में काम लेता है। और अप्रत्यक्ष शोषण वह है जब ज़मीन या दूसरे प्राकृतिक साधनों की मालगुजारी या दूसरे ढंग के करों पर लगाता है।"

असमता दूर करने के सम्बन्ध में जयप्रकाश के विचार में दो उपाय हैं। पहला उपाय कारगर नहीं है। इसलिए दूसरे उपाय पर ही वे ज़ोर देते हैं। वह है उत्पादन के सभी साधनों पर से व्यक्तिगत अधिकार खत्म कर दिया जाए और उसके बदले समूचे समाज का अधिकार उन पर स्थापित किया जाए। वे यह साफ कहते हैं कि "समाजवादी ढंग पर समाज का पुनर्निर्माण तब तक सम्भव नहीं है, जब तक उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत अधिकार उठा नहीं दिया जाता। जयप्रकाश मार्क्सवाद की सब बातों में कायल नहीं हैं, वे कहते हैं कि "मार्क्सवाद के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रम और प्रतिस्पर्धी दावों को देखते हुए, मेरी राय में भारत के समाजवादी आन्दोलन को, मार्क्सवादी विचारधारा, मार्क्स की मृत्यु के पश्चात के संसार के इतिहास तथा अपने देश की अवस्था एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए समाजवाद की अपनी रूपरेखा तैयार करनी चाहिए। मार्क्सवाद समाज के परिवर्तनों की व्याख्या करने वाला समाज विज्ञान एवं समाज के परिवर्तन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। ऐसी अवस्था में मार्क्सवादी विचारधारा में कट्टरपन के लिए अथवा "बाबा वाक्यं प्रमाणम्" की मनोवृत्ति के लिए स्थान नहीं हो सकता। जो लोग एक ओर मार्क्सवाद को विज्ञान कह कर पुकारते हैं और दूसरी ओर उसमें कट्टरपन का समावेश करते हैं, वे उसके प्रति बड़ा अन्याय करते हैं। विज्ञान में अन्तिम सत्य जैसी वस्तु नहीं होती। विज्ञान की प्रगति मनुष्य के ज्ञान-भण्डार से मिथ्या ज्ञान को उत्तरोत्तर दूर करने से होती है। यदि मार्क्सवाद विज्ञान है तो मार्क्स अन्तिम सत्यों का प्रतिपादन नहीं कर सकते थे। वे अपने पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा अन्तिम सत्यों के अधिक निकट थे, यही कहा जा सकता है। आज जब कि मार्क्स के ज़माने की अपेक्षा ज्ञान का भण्डार कहीं अधिक विस्तृत हो गया है और पूँजीवादी समाज के सम्बन्ध में हमारा अनुभव और पर्यवेक्षण भी कहीं अधिक है, हम ऐसी स्थिति में हैं कि मार्क्स की अपेक्षा निकटतर सत्य के दर्शन कर सकें।"

उनके अनुसार समाजवाद की आर्थिक रूपरेखा इस प्रकार है

"१. ग्राम-पंचायतों द्वारा संचालित सहयोगी कृषि।
२. नई बस्तियों में सामूहिक खेती।
३. राज्य के स्वामित्व तथा प्रबन्ध में बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धे।
४. समाज के स्वामित्व और प्रबन्ध में चलने वाले (पंचायतों द्वारा संचालित) व्यवसाय।
५. सहयोगी उत्पादक समितियों द्वारा संचालित छोटे पैमाने वाले व्यवसाय।"

जयप्रकाश का विश्वास है कि समाजवादी भारत में राज्य पूर्णतः लोकतांत्रिक होगा। समाजवाद के अन्तर्गत लोकतन्त्र का अर्थ क्या है, इस पर वे कहते हैं कि "किसी दल-विशेष का शासन न हो, मज़दूरों की एक से अधिक राजनीतिक पार्टियाँ हो सकती हैं, मज़दूरों और किसानों के सहकारी संघों आदि की अपनी विभिन्न पार्टियाँ हो सकती हैं जो स्वाधीनतापूर्वक कार्य कर सकती हैं। समाजवाद के अन्तर्गत लोकतन्त्र का अर्थ यह होना चाहिए कि विचार प्रकट करने और राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करने की पूर्ण स्वाधीनता हो। मज़दूर संघों, सहकारी समितियों और इस प्रकार की दूसरी संस्थाओं को अपने समाचार-पत्र प्रकाशित करने, अपनी रेडियो-व्यवस्था रखने और अपना विद्यालय चलाने की स्वाधीनता होनी चाहिए।"

"समाजवाद के अन्तर्गत लोकतन्त्र का दूसरा अर्थ यह कि मज़दूर-संघ राज्य के अंग और उसके अनुचर न होकर राज्य का समर्थन करने वाली स्वाधीन संस्थाएँ हों और वे सरकार के दिन-प्रतिदिन के कार्यों पर नियन्त्रण रख सकें।"

ऊपर जो कुछ बताया गया, उसमें समाजवाद के सम्बन्ध में जयप्रकाश के विचार आ जाते हैं।

उजली आग : लेखक—रामधारीसिंह दिनकर; प्रकाशक—उदयाचल आर्यकुमार रोड, पटना–४; पृष्ठ डिमाई १०८; सजिल्द मूल्य ३) रु०।

इस पुस्तक में श्री दिनकर की ४६ गद्य रचनाएँ संगृहीत हैं जो कहीं तो गद्य काव्य है, कहीं खलील ज़िब्रान के ढंग पर कहानियाँ हैं, कहीं बंगला साहित्य में बहुत दिनों से चालू रम्य रचना के ढंग पर हैं, जिसमें विदग्ध लेखक आप बीती से लेकर इतिहास, भूगोल, जीव-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र कुछ भी पाठक को परोस सकता है, कहीं रवीन्द्रनाथ की 'कणिका' के ढंग पर गागर में सागर है, कहीं नीति कथा या पैरेबल के रूप में है तो कहीं सुभाषितों का संग्रह है। सच तो यह है कि इसमें संगृहीत प्रत्येक रचना में ये सारे गुण कम या अधिक मात्रा में आ जाते हैं। उन्होंने 'नील कुसुम' से जो ये पंक्तियाँ पेश की हैं, वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में बहुत ही मौज़ूँ हैं :

'जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं।
उत्तर शायद हो छिपा मूकता के भीतर,
हम तो प्रश्नों का रूप सजाने वाले हैं।'

उनकी रचना का एक नमूना भूमिका के रूप में यों प्रस्तुत किया गया है :

मकड़ी ने मधुमक्खी से कहा, 'हाँ, बहन! शहद बनाना तो ठीक है, लेकिन, इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई है? बौरे हुए आम पर चढ़ो, तालाब में खिले हुए कमलों पर बैठो, कांटों से घिरी कलियों से भीख माँगो या फिर घास की पत्ती-पत्ती की खुशामद करती फिरो, तब कहीं एक बूँद तुम्हारे हाथ आती है। मगर, मुझे देखो। न कहीं जाना है न आना, जब चाहती हूँ जाली पर जाली बुन डालती हूँ। और मज़ा यह कि मुझे किसी से भी कुछ माँगना नहीं पड़ता। जो भी रचना करती हूँ अपने दिमाग से करती हूँ, अपने भीतर संचित सम्पत्ति के बल पर करती हूँ। देखा है मुझे किसी ने किसी जुलाहे या मिलवाले से सूत माँगते?'

मधुमक्खी बोली, 'सो तो ठीक है बहन! मगर, कभी यह भी सोचा है कि तुम्हारी जाली फिजूल की चीज़ है, जब कि मेरा बनाया हुआ मधु मीठा और पथ्य होता है?'

यह खुशी की बात है कि श्री दिनकर ने इस क्षेत्र में पैर रखा। उनकी यह रचना यह सूचित करती है कि वे गद्य के एक महान् लेखक होने के साथ ही विचारों के धनी हैं। कई रचनाएँ तो बिल्कुल कविता बन गई हैं।

२. सामान्य मनोविज्ञान : लेखक—प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप; प्रकाशक—राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया; पृष्ठ संख्या : ४४३; मूल्य ५) रु०।

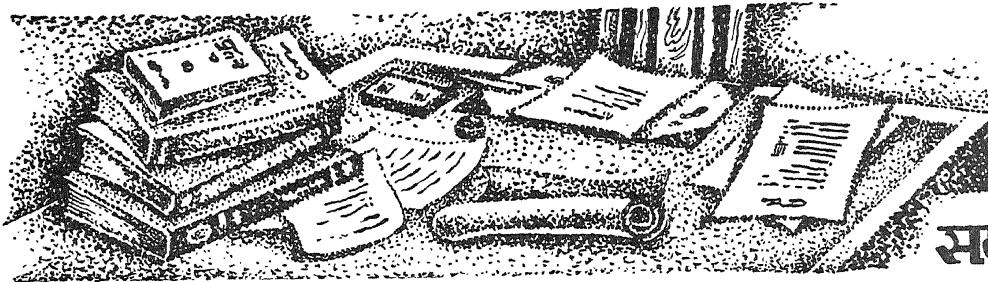
इस पुस्तक में लेखक ने सारे मनोविज्ञान का एक अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में काम आ सकती है। लेखक ने अँग्रेज़ी शब्दों के जो हिन्दी प्रतिशब्द तैयार किए हैं, वे काफ़ी सुन्दर हैं, पर इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए शब्द प्रस्तुत कर हिन्दी में जिस अराजकता की सृष्टि कर रहा है, उससे बचने का भी कोई उपाय होना चाहिए। आश्चर्य है कि जिस तेज़ी के साथ इस दिशा में काम होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। अभी हमारी सारी भारतीय भाषाएँ पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में बहुत कमज़ोर हैं। किसी भी भाषा में पारिभाषिक शब्दों की ही बहुतायत होती है और उन्हीं के कारण वह भाषा ऐश्वर्यशाली होती है। यदि हमारे कर्णधार इसी समय से इस बात के लिए कटिबद्ध हो जाएँ कि सारी भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता होगी तो किसी एक भाषा भाषी के लिए दूसरी भाषाएँ बहुत ही आसान हो जाएँगी।

६. शराबबन्दी क्यों? : लेखक—भारतन् कुमारप्पा; प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या ४८; मूल्य : दस आने।

शराबबन्दी पर विद्वान लेखक के विचार मननीय हैं। उनके विचारों को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। शराब से रुपये और अन्न की हानि तो होती ही है और वह बड़ी हानि है! साथ ही शराब के खाते में दुराचार, हत्या, चोरी, पारिवारिक कलह, गृहस्थी का नाश, भूखे बच्चे, और विनष्ट जीवन भी लिखने पड़ेंगे। गरज़ यह कि नैतिकता की भावना, निर्णयशक्ति और बुद्धि में आम तौर पर कमी पैदा होती है। अवश्य ही कोई समझदार आदमी यह दावा नहीं कर सकता कि शराब से होने वाली आमदनी के कारण राष्ट्र को सदा के लिए यह हानि सहन करनी चाहिए। सचमुच कितना बेहूदा तर्क है यह। यह तो ऐसी बात हुई कि किसी बड़े डोल में बहुत-सा घी भरा हो और डोल चूता हो, तो डोल को चूने भले ही दिया जाए, मगर छेद बन्द करने के लिए एक रुपया भी खर्च न किया जाए। बच्चा भी जानता है कि रुपया खर्च करके घी को बचा लेना अधिक बुद्धिमानी है। इसलिए शराब खोरी के पक्ष में जितनी दलीलों की हमने जाँच-पड़ताल की है, उनमें से यह दलील कि शराबबन्दी बहुत महंगा सौदा है, सबसे ज्यादा कमज़ोर मालूम होती है। यदि मद्यपान से राष्ट्र की इतनी जबरदस्त हानि होती है, तो उसे बन्द करने के लिए कोई भी खर्च और कोई भी त्याग बहुत बड़ा नहीं है। इसलिए शराबबन्दी हरगिज़ वापस न ली जाए, क्यों कि शराबखोरी से भयंकर आर्थिक बरबादी होती है, उसके मुकाबले शराबबन्दी इतना सस्ता सौदा है कि उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

—मन्मथनाथ गुप्त

(शेष पृष्ठ ७० पर)



प्रधान मन्त्री की अमेरिका-यात्रा

गत दिसम्बर मास में प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू की संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा गत वर्ष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी। अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर और भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू वर्तमान संसार के सर्वोच्च नेताओं में हैं। पर उन दिनों की उक्त बातचीत केवल इसी कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि वह वर्तमान संसार के दो सर्वोच्च नेताओं की बातचीत थी। अमेरिकन राष्ट्रपति और भारतीय प्रधान मन्त्री का यह मिलन वास्तव में एक नए युग का प्रतीक है। यह नया युग है, उन्नति की ओर बड़ी शीघ्र गति से उन्मुख एशिया के बढ़ते हुए महत्त्व का युग।

संयुक्त राज्य अमेरिका आज संसार के दो सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में है। आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से वह संसार का सबसे अधिक समुन्नत राष्ट्र है। अभी तक वहाँ एशियाई देशों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया जाता था। संसार के सभी बड़े-बड़े मसलों पर अमेरिकन राष्ट्रपति इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि के प्रधानमन्त्रियों के साथ विचार-विनिमय किया करते थे और उन्हीं बातचीतों को अमेरिकन जनता और अमेरिकन पत्रकार जगत में महत्त्व दिया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में पहली बार एक एशियाई देश के प्रधान मन्त्री को इतना अधिक महत्त्व दिया गया। राष्ट्रपति आइसनहावर ने आज तक किसी अन्य देश के प्रधान मन्त्री या मुखिया की अमेरिका-यात्रा का कार्यक्रम बनाने में इतनी दिलचस्पी नहीं ली थी और न किसी अन्य को इतना समय ही दिया था। सम्पूर्ण संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू की इस सद्भावना यात्रा को जो बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया, अमेरिकन प्रेस क्लब में उनकी प्रेस कान्फ्रेन्स उसका एक प्रमाण है। अमेरिका जैसे प्रेस की दृष्टि से समुन्नत देश में भी इतनी बड़ी और इतनी महत्त्वपूर्ण प्रेस कान्फ्रेन्सें बहुत कम हुई हैं। इस कान्फ्रेन्स द्वारा प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू अमेरिकन जनता की दृष्टि में और भी अधिक ऊँचा उठ गए।

यह स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री की इस अमेरिका यात्रा का मूल्याँकन इस दृष्टि से नहीं होना चाहिए कि अब अमेरिका भारत को कितनी सहायता देता है। भारत के लिए किसी तरह की सहायता देना या माँगना इस बातचीत का उद्देश्य ही नहीं था। राष्ट्रपति आइसनहावर और प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू की इस खुली हार्दिक बातचीत का मुख्य उद्देश्य यही था कि वे दोनों एक दूसरे के दृष्टिकोण और आदर्शों को अच्छी तरह समझ सकें। स्वभावतः संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं के सम्बन्ध में एक दूसरे के विचार जानना भी इस यात्रा का एक उद्देश्य था। पर वास्तविक ध्येय तो एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझना था।

जैसा कि प्रधान मन्त्री ने अमेरिका में अपनी प्रेस कान्फ्रेन्स में कहा, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में कितनी ही बातें एक समान हैं। दोनों देश संसार के दो बड़े गणतन्त्र हैं। दोनों ही देशों ने अपनी स्वतन्त्रता एक लम्बे संघर्ष के बाद प्राप्त की। दोनों ही देशों में कितनी ही जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। भारत में यदि द्रविड़, आर्य, शक, हूण, मुगल आदि जातियों का क्रमिक समन्वय हुआ, तो अमेरिका में भी अंग्रेज़, जर्मन, फ्रान्सीसी, स्पेनिश, इटेलियन, अफ्रीकन आदि जातियों का समन्वय हुआ है। और वर्तमान संसार में भारत और अमेरिका के दृष्टिकोण में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समानताएँ हैं: प्रथम यह कि दोनों देश गणतन्त्रात्मक हैं, जहाँ जनता की इच्छा सर्वोपरि मानी जाती है और दूसरा दोनों देश इस पक्ष में हैं कि संसार भर के सभी देश पूर्णतः स्वतन्त्र रहें।

चीन भारत का प्राचीनतम और घनिष्ट मित्र है। रूस और भारत के सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण हैं। हमें विश्वास है कि संयुक्त राज्य अमेरिका भी भारत को घनिष्ट मित्र के रूप में स्वीकार करेगा। भारत में साम्यवादी समाज की स्थापना करने का प्रयत्न हो रहा है, पर यह साम्यवादी समाज पूर्णतः गणतन्त्रात्मक ढंग पर स्थापित होगा। इसी मध्यमार्ग द्वारा, आशा है, प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत संसार के दोनों शक्तिशाली धड़ों में परस्पर मित्रता और सहयोग की भावना उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त कर सकेगा।

●

एशियाई लेखक सम्मेलन

दिल्ली में निमन्त्रित एशियाई लेखक सम्मेलन अनेक दृष्टियों से एक निराला आयोजन था। तीन मास पूर्व इस सम्मेलन की तैयारी के लिए जो बैठक बुलाई गई थी, उसकी अध्यक्षता करते हुए काका साहब कालेलकर ने दो मनोरंजक पर अर्थपूर्ण बातें कही थीं। एक तो यह कि "लेखक स्वभाव ही से इतना स्वाधीन होता है कि उनका सम्मेलन बुलाना जीवित मेंढकों को तराजू पर तोलने के प्रयत्न के समान है।" दूसरा यह कि "मुझे भय है कि यह सम्मेलन कहीं एशिया के अंग्रेज़ी बोलने वालों का ही सम्मेलन न बन जाए।"

व्यवहार में ये दोनों बातें बहुत अंशों तक सत्य सिद्ध हुईं। सम्मेलन प्रारम्भ होने से सिर्फ़ तीन ही दिन पहले जिस प्रकार पत्रकार जगत के सम्मुख स्टीयरिंग कमेटी के कुछ नए और पुराने सदस्यों में घोर मतभेद का प्रदर्शन हुआ, वह सम्मेलन के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस एशियाई लेखक सम्मेलन की माध्यम के रूप में स्वीकृत भाषा अंग्रेज़ी थी, यद्यपि सम्मेलन में भाग लेने वाले कितने ही देशों में अंग्रेज़ी का स्थान नितान्त गौण है। सम्भवतः भारत के प्रतिनिधियों की सुविधा के दृष्टिकोण से ही ऐसा किया गया होगा। विज्ञान भवन में, जहाँ यह सम्मेलन हुआ, चार भाषाओं के प्रसार का प्रबन्ध है। अच्छा होता, यदि अंग्रेज़ी के साथ एक प्रमुख भारतीय भाषा और दो अन्य एशियाई भाषाओं में भी सभी भाषणों के एक साथ अनुवाद की व्यवस्था की जाती।

अच्छा यह होता, यदि इस वर्ष केवल भारतीय लेखक सम्मेलन बुलाया जाता। इस सम्मेलन में भारत की १४ भाषाओं तथा अंग्रेजी के ३०० या ४०० लेखक भाग लेते और उन्हें ५-७ दिन एक ही साथ रहने का अवसर मिलता। उसके बाद, उक्त भारतीय सम्मेलन की सफलता देखकर, यथावसर कभी एशियाई लेखक सम्मेलन बुलाया जाता।

सच बात तो यह है कि भारत की १४ भाषाओं के लेखक एक दूसरे के सम्बन्ध में, एक दूसरे के साहित्य के सम्बन्ध में, अभी तक बहुत कम जानते हैं। एक दूसरे के सम्बन्ध में उन्हें जितना भी ज्ञान है, उसका भी अधिकांश भाग अंग्रेज़ी की मार्फ़त है। पिछले दो वर्षों से 'आजकल' भारतीय साहित्य का प्रतिनिधि पत्र बनने का प्रयत्न कर रहा है। इस कारण हमें ज्ञात है कि भारतीय साहित्य को एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित करने का काम कितनी कठिनाइयों से भरा हुआ है। पर इस कार्य में चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न हों, भारतीय लेखकों को एक दूसरे के निकट आना है और एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करना है। तभी हम इस देश में अटूट एकता की गहरी नींव डाल सकेंगे।

जब अनेक ऐसी भाषाओं के लेखकों का सम्मेलन बुलाया जाता है, जो भाषा की कठिनाई से एक दूसरे को समझ नहीं सकते, तो उसके केवल दो ही ध्येय हो सकते हैं। पहला ध्येय तो यह कि विभिन्न भाषाओं के वे लेखक एक दूसरे के सान्निध्य में आकर एक दूसरे को समझने का यत्किंचित प्रयत्न करें। अगर उन्हें कुछ दिन एक साथ रहने का अवसर मिलेगा, तो सीधे या परोक्ष रूप से वे एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करेंगे ही। एक दूसरे को और एक दूसरे के साहित्य की प्रवृत्तियों को थोड़ा-बहुत समझ लेना भी कम मूल्यवान नहीं है। दूसरा ध्येय है लेखकों की आर्थिक समस्याओं और हितों के सम्बन्ध में विचार करना। इस दृष्टिकोण से भी हमारे देश में कितनी ही बातें विचारणीय हैं। लेखक प्रकाशक के सम्बन्ध, कापीराइट आदि के प्रश्न तो हैं ही। इन सबसे बढ़कर हमें अपने देश में अभी वे परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी हैं, जिनमें लेखक केवल अपनी कलम के बल पर सम्मानपूर्वक अपना जीवन निर्वाह कर सकें। भारत की अधिकांश भाषाओं में अभी यह स्थिति नहीं है। हिन्दी में तो, कुछ अपवाद चाहे भले ही हों, यह स्थिति अभी बहुत दूर प्रतीत होती है। पर हमें विश्वास है कि यदि भारतीय लेखक एक साथ मिल कर इस समस्या पर विचार करें और राष्ट्र का सहयोग उन्हें प्राप्त रहे, तो यह समस्या हल होने में भी बहुत विलम्ब नहीं लगेगा। इन दोनों दृष्टियों से, बड़े पैमाने पर भारतीय लेखक सम्मेलन का आयोजन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

गणराज्य दिवस

पिछले बरसों के समान इस वर्ष भी भारत भर में गणराज्य दिवस अत्यन्त उत्साह और समारोह के साथ मनाया गया। नवीन भारत के इतिहास में स्वाधीनता दिवस के समान गणराज्य दिवस का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। गणराज्य दिवस भारत के स्वप्नों और आदर्शों का प्रतीक है। यह दिन हमारे सामने यह आदर्श उपस्थित करता है कि भारत में जनता जनार्दन का राज्य है और इस राज्य में हम ऐसी स्थिति की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं, जिस में भारत भर में कोई बेकार, अशिक्षित या दरिद्र नहीं रहेगा।

दिल्ली में गणराज्य दिवस वर्ष भर के सब से अधिक महत्त्वपूर्ण त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर जो जुलूस निकलता है, वह भारत के महान् गौरव के अनुरूप होता है और उससे वर्तमान भारत को समझने में भी यथेष्ट सहायता मिलती है। हम चाहते हैं कि प्रतिवर्ष विभिन्न राज्यों, विशेषतः दक्षिण के राज्यों के हज़ारों विद्यार्थियों को इस अवसर पर दिल्ली में निमन्त्रित किया जाए।

स्वाधीन भारत का यह गणराज्य दिवस देश भर के लिए शुभ हो।

'हिन्दी साहित्य'

विशेषतः अन्य भाषा-भाषी लोगों को हिन्दी साहित्य से परिचित करने के उद्देश्य से गत जनवरी मास से 'आजकल' में हिन्दी साहित्य सम्बन्धी एक लेखमाला का प्रारम्भ किया गया है। प्रथम लेख महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन का "लोक-साहित्य" के सम्बन्ध में था, जो जनवरी १९५७ अंक में प्रकाशित हुआ था। दूसरा लेख आचार्य गुलाबराय का "हिन्दी निबन्ध" के सम्बन्ध में है, जिस का बड़ा अंश इसी अंक में प्रकाशित हुआ है। शेषांश मार्च अंक में प्रकाशित होगा। अप्रैल अंक में "हिन्दी समालोचना" शीर्षक से डाक्टर देवराज का लेख प्रकाशित होगा। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्बन्धी १२ विषयों पर १२ प्रामाणिक लेखकों से लेख लिखवाए जा रहे हैं, जो 'आजकल' के १२ अंकों में प्रकाशित होने के बाद पुस्तकाकार भी छपेंगे। योजना यह है कि उक्त पुस्तक का सभी भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित किया जाए। यह परीक्षण सफल रहा तो भारत भर की सभी भाषाओं के सम्बन्ध में इस तरह की पुस्तकें प्रकाशित करने का कार्य 'आजकल' द्वारा किया जा सकेगा।

पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ६७ का शेषांश)

मूर्च्छना (गीत संग्रह) : रचयिता—श्री रामगोपाल 'रुद्र'; प्रकाशक—चाणक्य प्रकाशन, चाणक्य चैत्य, देवेन्द्रनाथ लेन, पटना-४; पृष्ठ संख्या १०४; मूल्य २) रु० ।

'मूर्च्छना' में 'रुद्र' जी के ७७ गीत संग्रहीत हैं । गीतों की सभी विशिष्टताएँ इनमें प्रचुर मात्रा में मिलती हैं । गेयता, कोमल कान्त पदावली, ऋजुता, भाव बोध—सभी कुछ दृष्टव्य है । पहला ही गीत—'बहुत मैंने पुकारा, ओ पिया !' फिर-फिर गुनगुनाने को जी करता है । कहीं-कहीं प्रकृति के मनोरम चित्रण मिलते हैं, जैसे—

धन खेतों की सोना रानी धरती कुटिया में पाँव,
ओढ़े धूमल चादर दिखते धानी धानी के गाँव ।

गीतों की व्याप्त भावना विछोह और करुणा है । एक कसक, एक स्मृति, एक अवसाद जैसे कवि की विह्वल पंक्तियों पर छाया हुआ है । और, एक जिज्ञासा भी—

अमरण लय-स्वर क्यों मरण-रन्ध्र में फूँका ?

आप 'रुद्र' के गीतों को पढ़िए । आप अवश्य उनमें डूब सकेंगे । बेनीपुरी जी के शब्दों में कहूँ तो "गीतकार 'रुद्र' अधिक दिन तक जीवित रहेगा ।"

हिमशिखर (कविता संग्रह) : रचयिता और प्रकाशक—उपर्युक्त; पृष्ठ संख्या ७२; मूल्य २) रु० ।

'हिमशिखर' में 'रुद्र' जी की करुण-मधुर एवं प्रेरणादायक कविताएँ संगृहीत हैं । 'रुद्र' जी का प्रकृत कवि-रूप गीतकार का ही है, श्री बेनीपुरी की इस स्थापना से मैं सहमत हूँ । पर 'हिमशिखर' की भी अनेक कविताओं का अपना एक पृथक सौन्दर्य है । ओज इन कविताओं का विशिष्ट गुण है । अनेक कविताएँ सामयिकता से प्रेरित हैं । व्यक्ति-वंदना भी कई कविताओं का विषय है । मैं आशा करता हूँ कि काव्य-रसिकों को ये ओजपूर्ण रचनाएँ अवश्य रुचेंगी ।

आरोह (गीत-संग्रह) : रचयिता—श्री वासुदेव नारायण 'आलोक'; प्रकाशक—चाणिक्य प्रकाशन, पटना; पृष्ठ संख्या ५२; मूल्य १।) रु० ।

'आलोक' जी के ५१ गीतों की सबसे प्रमुख विशेषता, और सफलता, है विराट् मानव की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति । गीत जैसे वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति के माध्यम से मानवता के हर्ष-विषाद को अभिव्यक्त कर सकना कुछ छोटी सफलता नहीं है । अपने गीतों के विषय में 'आलोक' जी ने स्वयं ही कहा है—

ये गीत हैं उनके लिए
जो नित नये विश्वास के जग में जलाते हैं दिये ।

मैं आशा करता हूँ कि 'आलोक' जी के ये गीत हमारे जग और जीवन के अन्धकार को दूर करने में अपना सुनिश्चित योग देंगे ।

सर्वोदय-पथ : रचयिता—श्री चन्द्रदेव सिंह 'हृदय'; प्रकाशक—लेखक प्रकाशन, नया टोला, पटना—४; पृष्ठ संख्या ४०; मूल्य आठ आना ।

विनोबा के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और आन्दोलन पर इधर जो काव्य-ग्रन्थ निकले हैं, उनमें 'सर्वोदय-पथ' को अच्छा स्थान मिलेगा । कवि 'हृदय' में प्रतिभा है, कल्पना है । वे अच्छे शब्द-साधक हैं और उनकी वर्णन-सूक्ष्मता उच्च कोटि की है । शैली उनकी 'दिनकर' या अन्य सम-सामयिक कवियों से प्रभावित अवश्य है, पर वह मात्र अनुकरण नहीं; उसका अपना सौन्दर्य और प्रवाह है । मैं 'सर्वोदय-पथ' का स्वागत करता हूँ ।

पागल के गीत : रचयिता—राम भरोसे पाठक; प्रकाशक—साहित्य मण्डल, सेवढ़ा, दतिया (विन्ध्य प्रदेश); पृष्ठ संख्या चौंसठ; मूल्य पन्द्रह आना ।

आलोच्य पुस्तक में कवि ने अपनी पत्नी के देहावसान के बाद अपनी व्यथा को छन्दबद्ध किया है । गीत स्वयं जो कुछ कह रहे हैं, अच्छा होता कि उस सब को भूमिका में न कहा जाता । अनेक गीतों में कवि की करुणा सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है, किन्तु पुनरावृत्ति बहुत हुई है । भावुकता गीतों का प्राण भी हो सकती है और वही उन्हें निष्प्राण भी कर सकती है । तलस्पर्शी भावुकता की अभिव्यक्ति संयत हो, तभी उसका स्थायी प्रभाव पड़ता है । आशा है कवि राम भरोसे जी भविष्य की कृतियों को प्रकाश में लाने के पहले इस सुनहरे नियम पर अवश्य विचार कर लेंगे ।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

१० के १५
20 के 30



यह कोई कठिन नहीं और न तो इस के लिए किसी जादूगर की जरूरत है। यदि आप आज नेशनल सेविंग्ज सर्टिफिकेट में १० रुपये लगाएंगे तो १२ साल के बाद आप को उसके १५ रुपये मिलेंगे। आप का पैसा सुरक्षित रहेगा और आप को सूद देने की जिम्मेदारी सरकार की है।

दुगना लाभ

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्पन्न किए जाने वाली भिन्नभिन्न योजनाओं के लिए आप के पैसों का उपयोग किया जाएगा और उसी के जरिये देश की तमाम जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जाएगा। आपको सूद मिलने के अलावा आप देश की खुशहाली में हिस्सा लेते है।



नव भारत के निर्माण में
आप सहायक होते हैं

अधिक विवरण और/या इस से सम्बन्धित नियमों की जानकारी के लिए नेशनल सेविंग्ज कमिश्नर, शिमला या अपने राज्य के रीजनल नेशनल सेविंग्ज आफिसर को लिखिए।

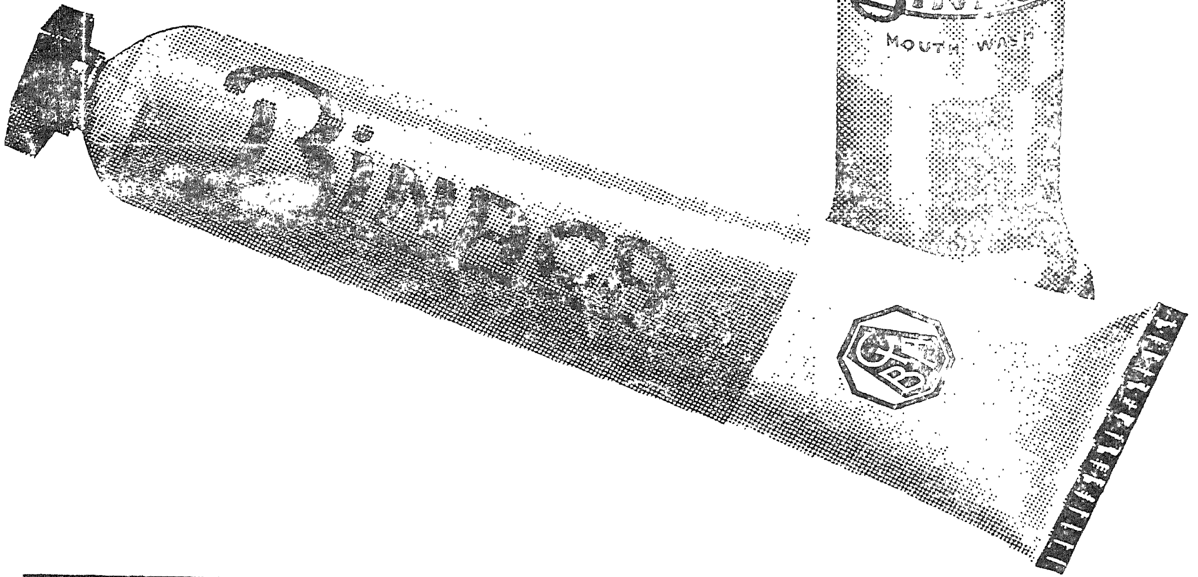
DA 56/15.



मधुर मुस्कान, वर्षा के बाद
सूर्य के प्रकाश की तरह
दिन को आनन्दमय बनाती है।

बिनाका का प्रयोग करके
अपनी मुस्कान को मधुर बनाइये
क्योंकि बिनाका में
"सल्फ़ो-रिसिनोलियेट" होता है
जिसमें दाँतों को साफ़ करने के
विशेष गुण हैं।





CBK-30096

Edited and Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

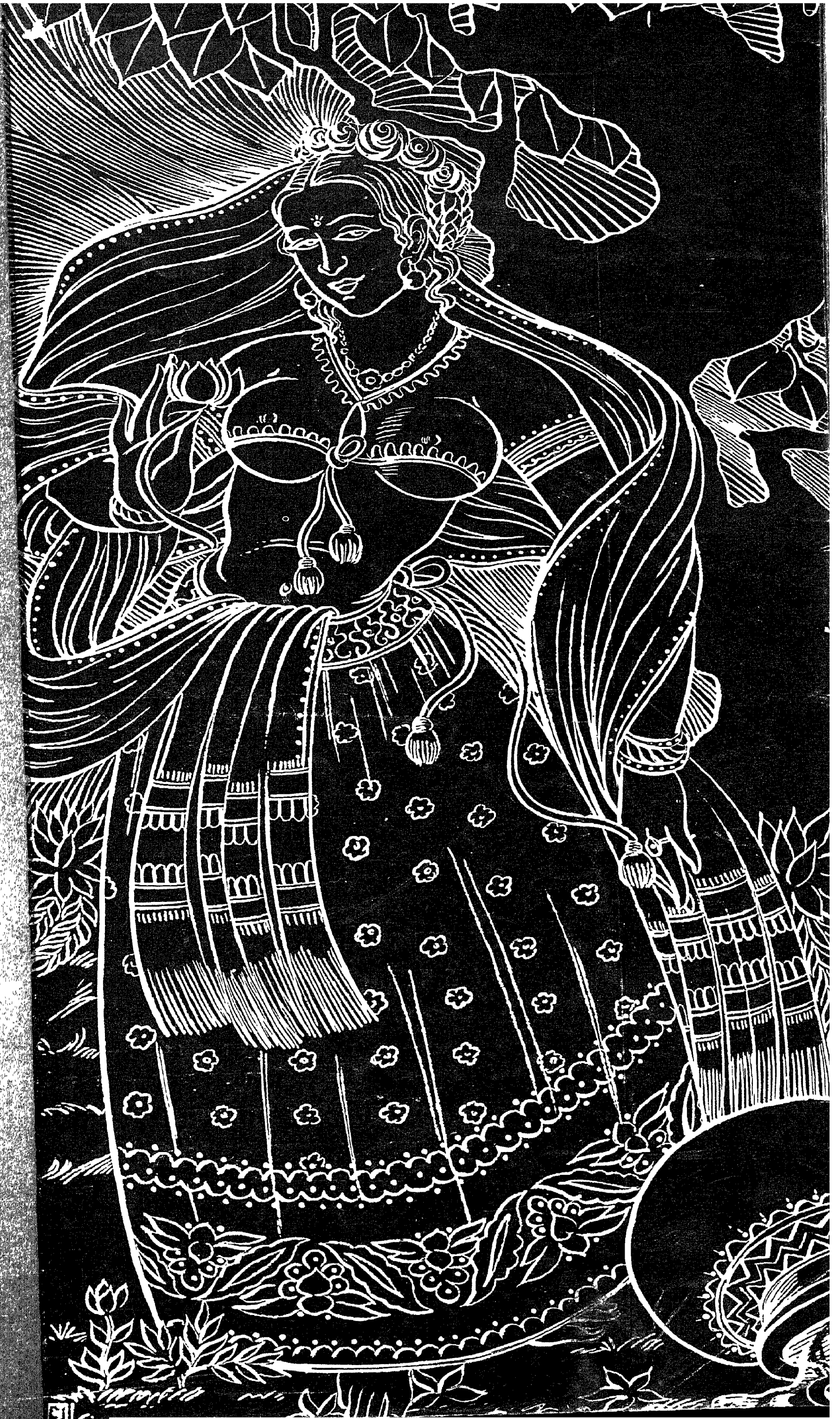
No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित

मार्च १९५७

मू०
आठ आना



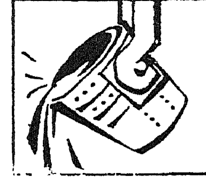
इस्पात और अखबार

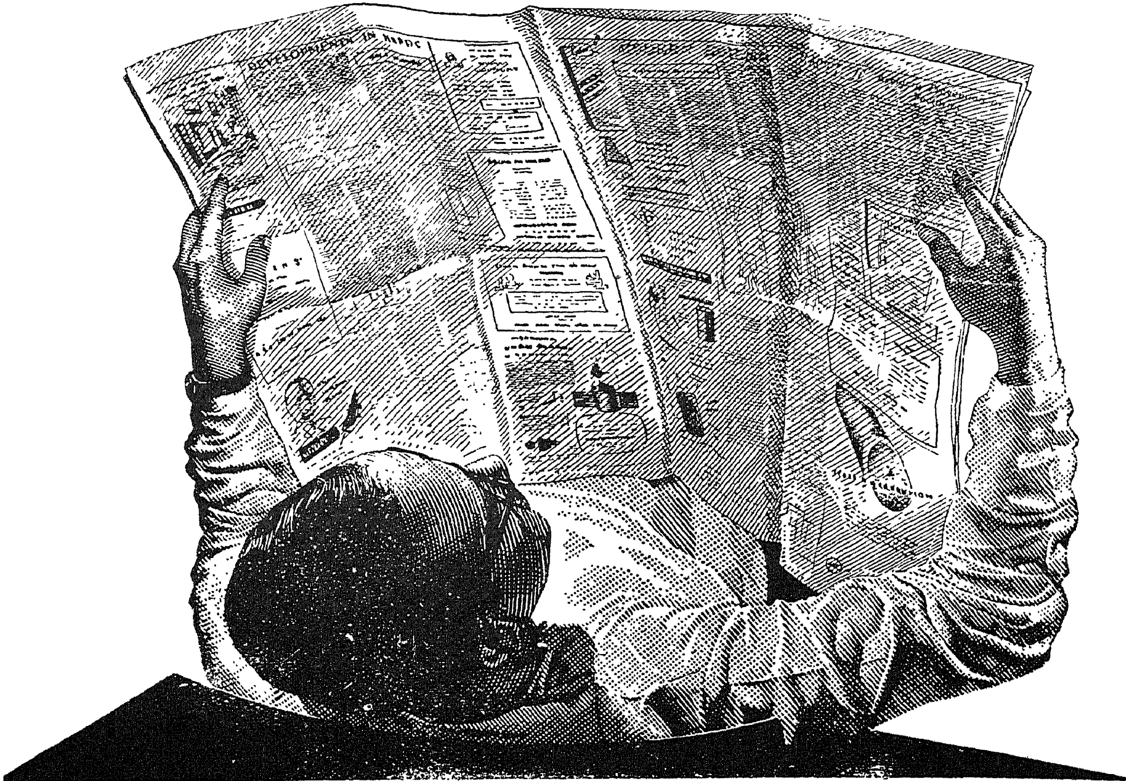
जी हाँ, यह अखबार जो आप पढ़ते हैं, इस्पात द्वारा ही अस्तित्व में आया है। यह इस्पात ही है जो कागज बनाने में सहायता देता है, छपाई करता है और समाचारों के संकलन में मदद देता है। शायद ही जीवन का कोई ऐसा पहलू होगा जिसमें इस्पात किसी-न-किसी रूप में महत्वपूर्ण पार्ट अदा नहीं करता है।

टाटा स्टील

देश की सेवा करता है

आज हमारे देश की नजर में इस्पात का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस्पात की उत्पादन-शक्ति बड़ी तेजी से बढ़ाई जा रही है ताकि देश सुदृढ़ व सुनिश्चित रूप से उन्नति कर सके।

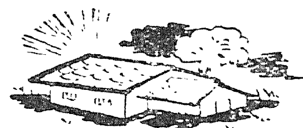




TN 1018



आप



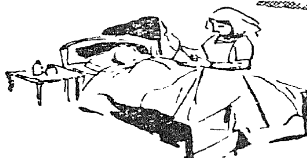
मकान बना सकते हैं



ज़मीन खरीद सकते हैं



बच्चों को शिक्षित कर सकते हैं



बीमारी का इलाज करा सकते हैं



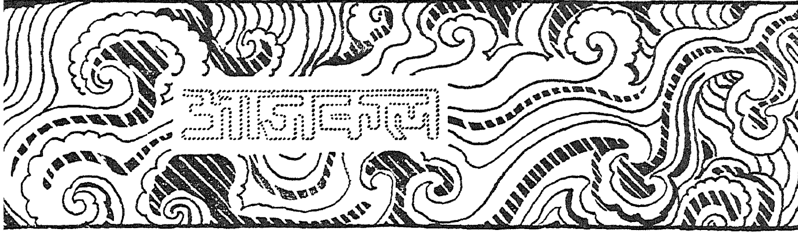
वृद्धावस्था में सुख पा सकते हैं

आप का धन राष्ट्रीय बचतों में सुरक्षित है और इस से आप को उचित ब्याज मिलता है। विशेष कर यह धन राष्ट्रीय उन्नति के लिए पंच वर्षीय योजना में प्रयुक्त होगा।

अधिक विवरण और/या इस से सम्बन्धित नियमों की जानकारी के लिए नैशनल सेविंग्ज़ कमिश्नर, शिमला या अपने राज्य के रीजनल नैशनल सेविंग्ज़ आफिसर को लिखिए।

अपनी तथा राष्ट्रीय समृद्धि के लिए अपना संचित धन लगाइए

56/160



वर्ष १२ : अंक ११ **मार्च १९५७** पूर्णांक १५३

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, एक सेंट या नौ पेंस

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८





"निन्दित" चित्रकार : सतीश गुजराल



वर्ष १२ मार्च १९५७ अंक ११

पंजाबी कविता

तुम नहीं आए !

अमृता प्रीतम

तुम नहीं आए
चैत ने करवट ली
रँगों के उत्सव के लिए
फूलों ने रेशम बटोरा
तुम नहीं आए !

दुपहरें लम्बी हुई
अँगूरों को लाली छू गई
हँसिए ने गेहूँ की बालों को चूम लिया
तुम नहीं आए !

बादलों की दुनिया छा गई
धरती ने अँजलि जोड़ कर
नीले नभ की दया पी ली
तुम नहीं आए !

पेड़ों ने जादू किया
जंगलों को छू कर हवा आई
हवा के होठों में शहद भर गया
तुम नहीं आए !

गज़ब की है ऋतुओं की माया
चाँद आया
रजनी के माथे पर झुमका लगा दिया ।
तुम नहीं आए !

आज तारों ने फिर कहा—
"उम्र के महल में अभी भी
रूप का दीपक जल रहा !"
तुम नहीं आए !

किरणों की झुरमुट ने कहा—
"निशा की नींद में से
अभी भी आलोक का आभास जागता !"
तुम नहीं आए !
तुम नहीं आए !!

अनुवादक : नागार्जुन

पाषाण-कारा

बालकृष्ण राव

उठो शिल्पी—उठो, सुन लो
तुम्हें पाषाण-कारा से
न जाने आज
कितनी मूर्तियाँ
आवाज़ देती हैं !

उन्हें आज़ाद करना है,
छुड़ाना है उन्हें
निर्जीव, निश्चल मान्यता के बाहु-बंधन से—
न जाने आज
किस नूतन, सरल सौन्दर्य-सीमा में
बने साकार
युग का सत्य !

सारी राह को रोके,
पड़ी है जो
अचलता की शिला निष्प्राण,
संभव है
प्रतीक्षाकुल
शिराओं में उसी की हों
तरल संभावनाएँ
आज की सारी !

उठो शिल्पी ! सुनो,
पाषाण-कारा से
बुलाती है तुम्हें
सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति,
भूले स्वप्न की स्थिरता—
समाहित है
नई गतिशीलता की प्रेरणा जिसमें ।

उठो,
उन्मुक्त करना है
तुम्हें बन्दी कलाकृति को ।

●

खुले शिशिर की श्याम घटा

'अंचल'

तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा।
तुम सी नहीं बरसती मुझ पर यह जलकी अविराम घटा ॥

कच्ची धूप तनिक सी निकले तो शरमा-शरमा जाए ।
उड़ते विहगों की टोली में ठिठके और लजा जाए ॥
सहसा हवा चले तो खुशबू से खेले बाहें खोले ।
दूर देश की लहर उठे तो सकुची बौराई डोले ॥
गोरे सपनों की जैसे हो नीली-नीली घनी लड़ी ।
तुम्हें देखता ही रह जाऊँ मेरी तृष्णा बहुत बड़ी ॥
पवन परस से मुँह पर आ जाती मेचिल अभिराम लटा ।
तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा ॥
शर्मी हुई आलोक लहरियाँ तुमको छूकर खुल जातीं ।
मुँह पर बन्दनवार सजातीं मोती और मुकुल लातीं ॥
मुंदी गगन की पलकें भीगे तारों की चितवन लेकर ।
रँगे साँवरे द्वार नयन के तुमने कब खोले पल भर ॥

सिक्त नीलिमा के शिखरों से वह न कभी नीचे उतरी ।
तुमने मुझको कब पहचाना तुमने मेरी आश हरी ॥
सदा कुँआरी नीले सीपों की घाटी की नई छटा ।
तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा ॥
वर्षा बीती शरद सो गया जागीं तुहिनों की परियाँ ।
जागी नई सभ्यता तुम में और नई सुषमावलियाँ ॥
तुम-सी दूर-दूर रहती है यह मदमाती मानवती ।
केवल मुग्ध पुलक की सिहरन को दाबे रहती हँसती ॥
कच्चे रंगों-सा घुल-घुल कर बह जाता मन का मर्मर ।
दुर्बल मेरे पंख तुम्हारा ऊँचा कितना रूप-शिखर ॥
तुम-सी नहीं सोचती यह चातक ने कितना नाम रटा ।
तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा ॥

बरसाती नदी

शकुन्त माथुर

आयति की सोची नहीं कभी
आयत्त किसी के रही नहीं कभी
मनमानी भरी
मनमानी चढ़ी
छोटी उम्र के चाँद ने सभी रस पाया
अन्तर में बहुत कुछ छिपाया
रत्न प्रसूति
बंजर
आभीर पल्ली
सभी को डुबाया
मीलों भरी छाप नाप का
कहीं चिह्न भी न पाया
न कभी अंतर में झाँका
न अवकाश ही पाया

कुछ क्षण का ही सही
प्रलय मचाने वाला जीवन
दो क्षण का सुख,
वही सही
पर कैसा ?
जो बहुत कम को मिल पाया ॥

●

भाखड़ा-नंगल

राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

'बड़े काम जो करने हों तो जा पहाड़ से टक्कर ले,
व्यर्थ गली का धक्कम-धक्का इसका प्रेम मनुज तज दे।'

किसी कवि की यह उक्ति यदि कहीं चरितार्थ हो रही है तो वह भाखड़ा-नंगल में। पर्वत के बीच की संकीर्ण घाटी में, पहाड़ों को काट-काट कर, घोर खतरे में अपनी जान को रख हमारे इंजीनियर तथा श्रमिक जिस बहादुरी के साथ इस महान योजना को सफल बनाने में लगे हुए हैं वह वर्णनातीत है। इसका वास्तविक अन्दाज़ा हम इसे देख कर ही लगा सकते हैं। भाखड़ा-नंगल जैसे स्थानों को प्रधान मंत्री ने आजकल का तीर्थ कहा है और वे वास्तव में हमारे तीर्थ-स्थान होने की योग्यता रखते हैं।

इस योजना के सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ पढ़ा था, लिखा भी था, औरों से सुना था, पर इसका पूरा एवं यथार्थ ज्ञान मुझे तभी हुआ जब मैंने गत २९ दिसम्बर को भाखड़ा-नंगल की यात्रा की तथा भाखड़ा-नंगल योजना के अन्तर्गत विविध स्थानों को जाकर देखा। अब संक्षेप में देखिए कि यह योजना क्या है।

इस देश में फिलहाल जितनी भी नदी-घाटी योजनाएँ चालू हैं उनमें यह सबसे बड़ी योजना है। इसके दो उद्देश्य हैं—प्रथम, सतलुज नदी में बाँध बाँध कर उसके जल को नहरों के द्वारा सिंचाई के काम में लाना; द्वितीय, उसके द्वारा बिजली पैदा करना। इस उद्देश्य सिद्धि के हेतु निम्नलिखित कार्य करने हैं—

१—नंगल से सात मील दूर भाखड़ा नामक स्थान पर एक कंक्रीट (चूना, सीमेन्ट, कंकर, बजरी आदि मिश्रित पदार्थ) के बाँध का निर्माण।

२—उपर्युक्त बाँध के पीछे एक ६६ मील वर्गाकार आकृति के जल-संग्रहालय (जलाशय) का निमार्ण।

३—भाखड़ा में दो बड़े-बड़े बिजली पैदा करने वाले कारखानों का निर्माण।

४—नंगल में बाँध बाँधना।

५—गंगोवाल (नंगल से १२ मील दूर) में बिजली पैदा करने वाले कारखाने की स्थापना।

६—नंगल से १८ मील की दूरी पर कोटला में भी एक बिजली पैदा करने वाला कारखाना बनाना।

७—सतलुज नदी के जल को विविध स्थानों में पहुँचाने के निमित्त नहरों की खुदाई।

पूरी योजना १७० करोड़ रुपयों की है जिसमें ११६ करोड़ अब तक व्यय हो चुके हैं और—

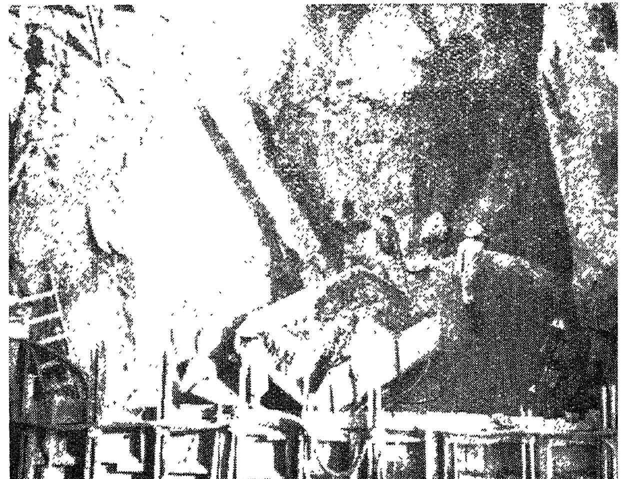
१—नंगल में बाँध बँध चुका,

२—गंगोवाल तथा कोटला में बिजली पैदा करने के कारखाने बन चुके, तथा

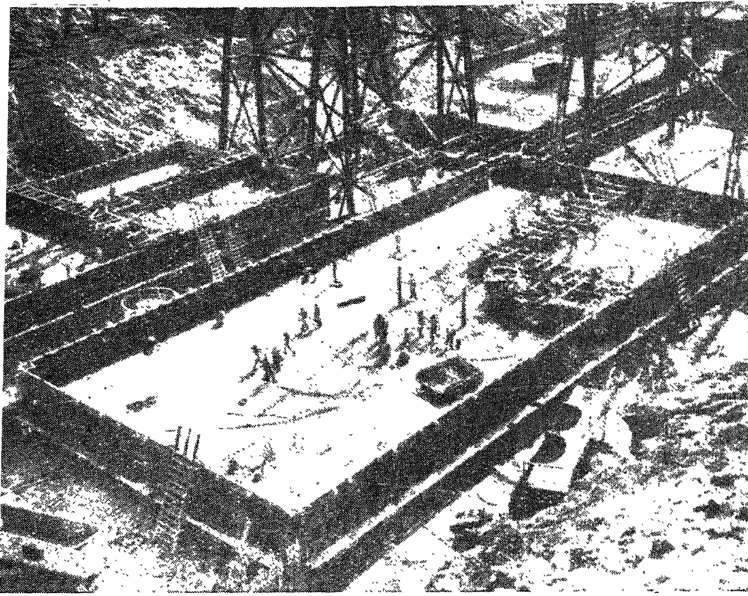
३—६६० मील लम्बी मुख्य तथा २,१०० मील की जल-वितरण करने वाली नहरें बन चुकीं। इन नहरों के द्वारा पंजाब, राजस्थान तथा दिल्ली सूबों की एक करोड़ बीघे से अधिक ज़मीन की सिंचाई हो सकेगी जिससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि ६,००,००० टन नाज, २,५०,००० टन कपास तथा ८,००,००० टन ईख अधिक पैदा हो सकेंगे। संसार के किसी हिस्से में आज तक बाँध बाँध कर सिंचाई तथा अन्न वृद्धि में इतना ज़्यादा इज़ाफ़ा नहीं किया जा सका है।

४० मील लम्बे जलमार्ग, जो नंगल में सतलुज से बहिर्गत होता है, की मदद से गंगोवाल तथा कोटला के कारखाने चलाए जा रहे हैं जिनके द्वारा कुल ९६,००० किलोवाट बिजली पैदा हुआ करेगी। इसके नीचे सैकड़ों नालियाँ बनी हुई हैं जिनके द्वारा पहाड़ी झरनों तथा छोटी-छोटी नदियों का जल नहर को बगैर नुक्सान पहुँचाए प्रवाहित होता है। इन नलिकाओं का निर्माण भी यंत्रशास्त्र का एक अद्भुत कौशल है।

भाखड़ा-नंगल योजना, जिसका आरम्भ १९४८ में हुआ था, के ये अंग समाप्त हो चुके, इनसे काम भी लिए जा रहे हैं। अब शेष है केवल भाखड़ा बाँध जिसमें ज़ोरों से काम लगा हुआ है। जैसा कि लेख के शुरू में कहा जा चुका है, इस सारी योजना का सम्बन्ध सतलुज नदी से है जो पंजाब की प्रमुख पाँच सरिताओं—रावी, झेलम, चुनाब, सिन्धु और सतलुज, में से एक है। तिब्बत स्थित मान-सरोवर झील के जल से उदर भरने वाला राकस ताल इसका उद्गम-संस्थान है। २०० मील उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रवाहित होकर यह भारतवर्ष में पहुँचती है और फिर २०० मील का चक्कर लगाकर यह उस स्थान पर पहुँचती है जहाँ आज भाखड़े का प्रसिद्ध बाँध बाँधा



पहाड़ के कमज़ोर भाग को कृत्रिम उपायों से मज़बूत बनाया जा रहा है



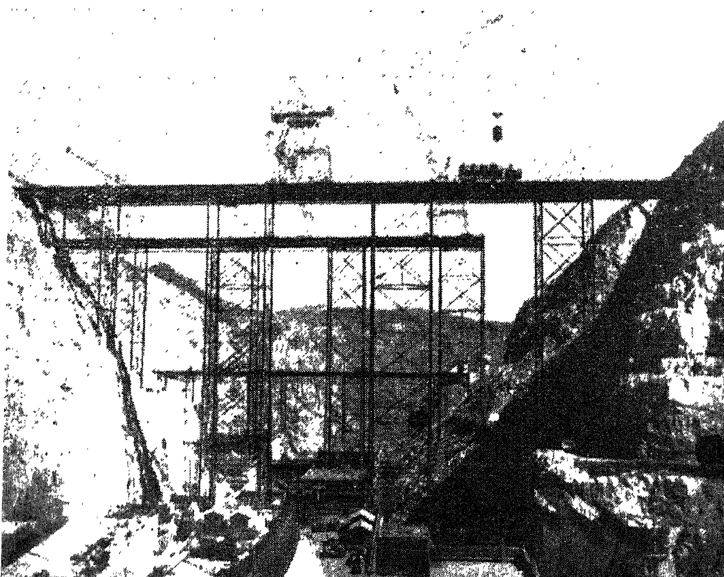
ही एक ईंट ! कंक्रीट से बनाई जाने वाली इस विशालकाय ईंट का आकार है (फीटों में—१००×५०×६ ऊँचाई)

जा रहा है। कहते हैं, किसी ज़माने में यह नदी नगाधिराज हिमालय की गोद में क्रीड़ा करने वाले अनेकानेक सरोवरों से होकर गुज़रती थी और शायद इसीलिए संस्कृत भाषा में इसका नाम 'शतद्रव' है जिसका अर्थ होता है—शत सरोवरों से होकर प्रवाहित।

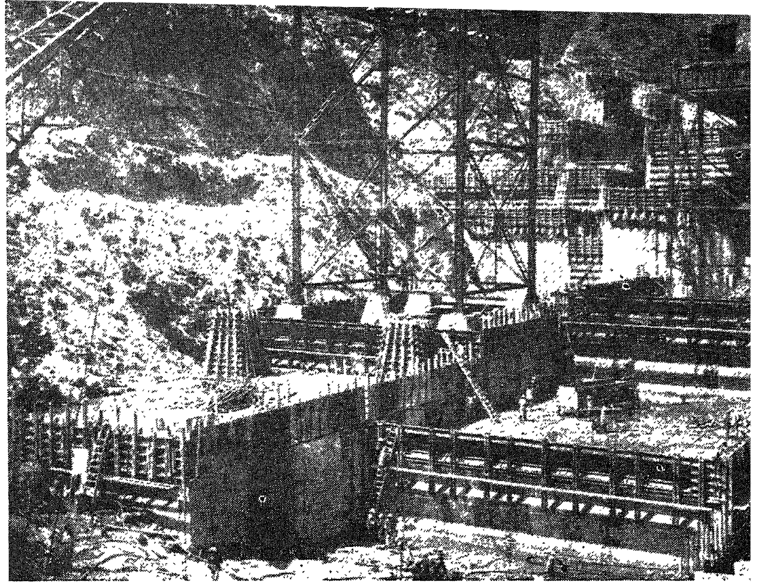
नंगल जो कि पहले एक पहाड़ी ग्राम मात्र था, अब सतलुज के तट पर एक खुशनुमा शहर बन गया है। इसके समीपवर्ती भाखड़े की यह संकीर्ण घाटी ही इस बाँध के लिए सबसे उपयुक्त समझी गई। फिर नदी गर्भ के दोनों ओर पहाड़ काट कर दो आध-आध मील लम्बी सुरंगें (कुल खर्च ४८ लाख) बनाई गईं, जिनका निर्माण भी भारतीय इंजीनियरों की बुद्धिमत्ता एवं कार्यदक्षता का एक ज़बर्दस्त दृष्टांत है, तथा सतलुज के जल का मार्ग बदल कर इन सुरंगों के भीतर से कर दिया गया। आज भी सतलुज का जल इन्हीं सुरंगों की राह से प्रवाहित हो रहा है।

जल-मार्ग के परिवर्तन के फलस्वरूप नदी का गर्भ सूख-सा गया। इसकी दोनों ओर मिट्टी के दो मज़बूत बाँध बाँध दिए गए ताकि यह क्षेत्र जल-रहित बना रहे, और आज इसी स्थल पर भाखड़े का प्रसिद्ध बाँध निर्माणशील है। नदी की सतह से १८० फुट नीचे इसकी नींव है तथा पूरी तरह तैयार हो जाने पर इसकी ऊँचाई ७०० फुट-यानी कुतुब-मीनार से तिगुनी होगी। संसार में ऊँचाई की दृष्टि से यह बाँध दूसरा स्थान प्राप्त करेगा। इसके पार्श्ववर्ती पहाड़ों में दो-दो सौ फुट लम्बी १० सुरंगें बनाकर इनमें यंत्रों के द्वारा वायुशक्ति से सीमेन्ट दे-दे कर इन्हें बल प्रदान किया जा रहा है। संसार में आज तक कहीं और इस प्रकार से कृत्रिम ढंग कमज़ोर पहाड़ों को मजबूत नहीं बनाया गया है। यह इसलिए किया जा रहा है ताकि भावी बाँध में कहीं से कोई कमज़ोरी न रह जाए।

नीचे धीरे-धीरे कंक्रीट का बाँध ऊपर की ओर उठ रहा है। सारे काम मशीनों के द्वारा होते हैं—मीलों से सीमेन्ट, पत्थर के टुकड़ों, रेत इत्यादि का लाना, उनका मिश्रण, कंक्रीट की बड़ी-बड़ी चट्टानों का सृजन आदि। बड़े-बड़े भीमकाय यंत्रों को देखकर ही इस कार्य की महानता का अनुभव किया जा सकता है। हर घंटे ४०० टन कंक्रीट का उपयोग किया जा रहा है, दिन-रात काम लगा हुआ है, फिर भी इसके पूरा होने में अभी तीन वर्ष और लगेंगे। कहते हैं, जितना कंक्रीट इस बाँध के निर्माण में लगेगा उसके द्वारा पृथ्वी के चारों ओर आठ फुट चौड़ी कंक्रीट की सड़क बनाई जा सकती है। कहीं-कहीं पहाड़ के भीतर छिद्रों में घुस कर काम करना होता है, कहीं बगैर पाँव को किसी स्थल में रखे हुए, केवल रस्सियों के सहारे टंगी हुई अवस्था में। गर्ज़ यह कि इस बाँध के निर्माण में हमारे श्रमिक जान पर खेलकर काम कर रहे हैं, स्वभावतः आए दिन दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। सरकारी रिपोर्टों के देखने से पता चलता है कि गत नवम्बर के महीने में ४१ दुर्घटनाएँ हुईं। इस प्रकार सैकड़ों की तादाद में आज तक हमारे नागरिक भारत के भावी उत्थान के निमित्त अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं। इस भगीरथ प्रयत्न में लगे हुए, प्राण को संकट में डाल कर काम करने वाले इन इंजीनियर और मज़दूरों के सम्मुख हमारे मस्तक नत हैं। इनके कामों को देखकर अमेरिका से आए हुए बड़े-बड़े निपुण इंजीनियरों तक को दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी थी तथा उन्होंने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा था कि भारतीय इंजीनियरों के रहते हुए उनकी सहायता की इस देश में आवश्यकता नहीं है।



दो पर्वतों के बीच की संकीर्ण घाटी
जहाँ भाखड़ा बाँध बनाया जा रहा है



भाखड़ा बाँध के निर्माण-कार्य का एक दृश्य

इंजीनियरिंग—यंत्रशास्त्र—की पहली परीक्षा उस स्थान की खुदाई में हुई जहाँ कंक्रीट के बाँध का आज निर्माण हो रहा है। साधारण औज़ार पहाड़ की इन चट्टानों पर चूर-चूर हो गए और इस काम में अन्ततः बुलडोज़र आदि मशीनें लगानी पड़ीं। इन प्रक्रियाओं से आज तक कुल पचास लाख क्युबिक फुट चट्टानों की खुदाई हो चुकी, और बावजूद विषम परिस्थितियों के यह आशा की जा रही है कि निश्चित काल के भीतर ही यह काम सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाएगा। कंक्रीट के सृजन में भी बुद्धि की परीक्षा थी। वैसे तो, आमतौर पर, सब को मालूम है कि इसके निर्माण में किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है किन्तु यदि चीज़ों के अनुपात अथवा तापमान की यथार्थता में ज़रा भी कसर रही तो इसमें कमज़ोरी रह जाती है जो आगे चलकर एक खतरे की परिस्थिति पैदा कर सकती है। पर हमारे इंजीनियरों ने इस सम्बन्ध में भी पूरी सावधानता से काम लिया है। सारे काम मशीनों के द्वारा हो रहे हैं, वस्तु-परिवहन, सफ़ाई, मिश्रण आदि, तथा एक बड़ी-सी ठंडा करने वाली मशीन में इस्तमाल के पहले सारी चीज़ों को काफी समय तक रखकर इनके तापमान को ठीक कर लिया जाता है। गर्ज़ यह कि इनके निर्माण में पूरी दक्षता एवं सावधानता का प्रदर्शन ये यंत्रकार दे रहे हैं। कंक्रीट के बनाने में यदि प्राचीन रीति से काम लिया जाता तो भाखड़ा बाँध के निर्माण में कुल ३२ वर्ष लगते पर प्रस्तुत रीति से यह केवल चार वर्षों में ही समाप्त हो जाएगा। इसका श्रेय भी इन्हीं यंत्रकारों को है। इन सारी मशीनों का इन्होंने नंगल में बैठकर स्वयं ढाँचा तैयार किया, कारखानों में बनाया और भाखड़े ले जाकर इन्हें बिठाया भी। ये सारी मशीनें इनकी खुद की ईजाद हैं। इन मशीनों के कारण समय की बचत तो होगी ही, खर्च में भी काफी बचत है।

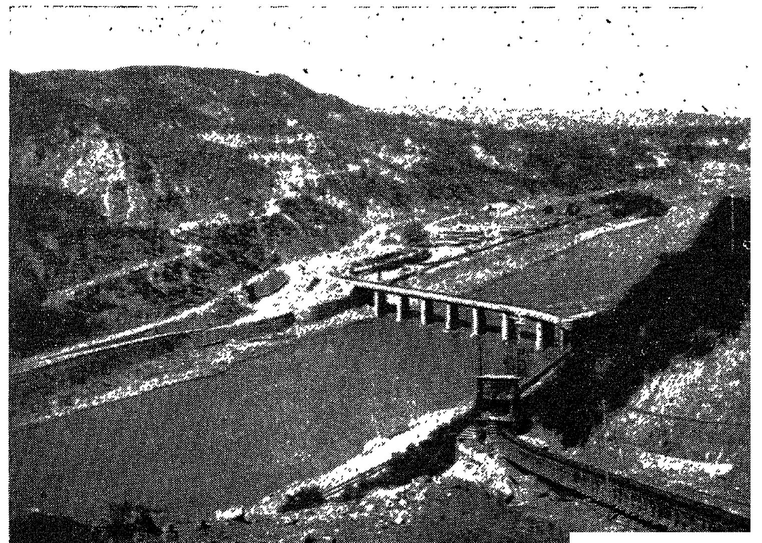
प्रस्तुत बाँध के पीछे एक जल-संग्रहागार बनाने का प्रस्ताव है जिसमें वर्षाकाल में पहाड़ों से आया हुआ जल एकत्रित रहा करेगा। इसका नामकरण भी अभी से हो चुका है—गोविन्द सागर। सिक्खों के १० वें गुरू गोविन्द सिंह का कार्य-क्षेत्र इसके समीप होने के कारण ही इसका नाम गोविन्द सागर रखा गया है। यहाँ से २० मील पर ही वह स्थान, आनन्दपुर साहिब है, जहाँ उन्होंने खालसा दल का निर्माण किया था।

जलाशय का क्षेत्रफल ६६ मील तथा लम्बाई ५६ मील की होगी। गहराई ५५० फुट की। इसके चारों ओर पक्की सड़कें होंगी तथा जहाँ-तहाँ नगर बसाए जाएँगे जिनमें बड़े-बड़े होटल, सिनेमा आदि, मन बहलाव के सारे सामान होंगे ताकि ये नगर देश-विदेश के यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। निस्सन्देह इन शहरों के बन जाने के बाद यह इलाका स्विट्ज़रलैंड जैसे देशों का मुकाबला करेगा।

कंक्रीट के ६ फाटक उपर्युक्त बाँध में बने होंगे जिनके द्वारा निष्कासित जल-बिजली पैदा करने वाले कारखाने चलाए जाएँगे तथा नदी-गर्भ को भरा-पूरा रखा जाएगा।

अनुमान किया जाता है कि पूर्वोक्त जलाशय के पूरी तरह भरने में प्रायः दो वर्ष लग जाएँगे, अतएव ऐसा प्रबन्ध किया जा रहा है कि इसका भरा जाना सन् १९५८ से ही आरम्भ कर दिया जाए, जबकि बाँध आधे से ज्यादा बन चुका होगा। सन् १९५९ में यह बाँध पूर्ण रूप से तैयार हो जाएगा।

गोविन्द सागर में व्यावसायिक ढँग पर मछलियाँ पालने का भी प्रबन्ध रहेगा। किन्तु एक ज़बर्दस्त खतरा भी है जिसका इस जल-



बिजली से चालित एक बैल्ट निर्माण कार्य के लिए रेत ले जाता हुआ

संग्रहागार को कालान्तर में मुकाबला करना पड़ेगा, वह है पहाड़ से जल-स्रोत के द्वारा लाए गए पंक-रेत से इसके धीरे-धीरे भर जाने का। वैसे तो पानी के बहाव के साथ-साथ पंक के निष्कासन का भी यथा-साध्य प्रबन्ध रहेगा, सैकड़ों मील में पहाड़ों पर वृक्षारोपण करके इसके प्रवाहावरोध का भी। फिर भी अनुमान है कि ६०० वर्षों में इस जलाशय की सतह काफी ऊपर उठ जाएगी जिससे जल-संग्रह में रुकावट पड़ जाने की पूर्ण संभावना है। पर सतलुज के पर्वत-पथ पर जहाँ-तहाँ रुकावट के बाँध बाँध कर सम्भव है इस संकट का काफी हद तक निराकरण किया जा सके।

नंगल से भाखड़ा तक रेलवे लाइन बनी हुई है तथा थोड़ी-थोड़ी देर में ट्रेनें चलती रहती हैं जिन पर भाखड़े में काम करने वाले मज़दूर तथा इंजीनियर आते-जाते रहते हैं। नंगल में उनके क्वार्टर, अस्पताल, क्लब, रेस्टोरां आदि बने हुए हैं। भाखड़े में भी भोजन आदि का सुप्रबन्ध है।

भाखड़े में सड़कें और पुल बने हुए हैं जिनसे होकर तमाम जगहों पर हम आज पहुँच सकते हैं। पार्श्ववर्ती पर्वत के उच्च शिखर पर पहुँच कर मैं देर तक नीचे की ओर जहाँ विशालकाय मशीनें और सैकड़ों की संख्या में हमारे इंजीनियर तथा श्रमिक एक महान यज्ञ में लगे हुए हैं, देखता रहा। भावी भारत का मानचित्र आँखों के सामने था और मैं भारत के इस महान उद्योग पर गर्व अनुभव करता हुआ बड़ी देर तक खड़ा रहा।

शाम को नंगल लौटा तथा रात में पंजाब के लोकनृत्य एवं लोकगीत के एक जलसे में शामिल हुआ। समारोह में जो नृत्य और गीत प्रस्तुत किए गए थे वह उस काल के थे जबकि फसल की कटाई समाप्त करके किसान नर और नारी आनन्दोमत्त होकर नाचते और गाते हैं। इन्हें देखकर मुझे प्राचीन यूनान के उस लोकगीत का स्मरण हो आया जिसे फसल के बाद देश के कृषक नृत्य के साथ-साथ गाया करते थे—डिथिरैम्ब का—जिसका सम्बन्ध वृक्ष-लता-फल-नाज आदि के देवता डायनिसस की जीवन-गाथाओं से होता था। उक्त पंजाबी लोकगीतों में से एक की ये पंक्तियाँ मेरे कानों में अब भी गूँज रही हैं—

दूर देस ना दईं मेरे बाबल,
उत्थे पाणी दा तसीहा,
बोले जंगल दा पपीहा।
पंजाब देस दा सुथरा पाणी,
ते सोहणी जही ऐ थां,
हाइ चरखा मैं कत्तण लगी
मेरी चूंदी लै गिया कां।
ओए कावां कावां चूंदी दे जा,
चूंदी तेरी मैं बां दियां हीरे जे
दसें माही दा नाओं, (नाओ)
जिहड़ा मेरे दिल दा वाली,
रांझा उस दा जाओ,
कि चूंदी दे जा वे, मैं बुलबुल तूं कां।

'पंजाब देश दा सुथरा पाणी'—सतलुज के तट पर, पंजाबी युवक-युवतियों के मुख से निःसृत ये शब्द, स्वाभाविक था, कि कानों को अधिक प्रिय लगते, अधिक मौजूँ भी।

सतलुज नदी की घाटी की यह विशाल योजना पंजाब तथा राजस्थान के अपार सुख का कारण होगी इसमें सन्देह नहीं। लाखों एकड़ ज़मीन को 'सुजला-सुफला-शस्य-श्यामला' बनाने में तो यह समर्थ होगी ही, ३,६५,००० किलोवाट विद्युत्शक्ति पैदा करके पंजाब, राजस्थान तथा पड़ोसी सूबों के उद्योगीकरण में भी यह अत्यधिक सहायता प्रदान करेगी। पहले से ही नंगल में भारत सरकार ने कई बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करने का निश्चय कर लिया है तथा पंजाब के कई स्थानों में चीनी तथा कपड़े की मिलें स्थापित की जा रही हैं। इनसे बेकारी की समस्या भी काफी हद तक दूर हो सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।

इसके सिवाय, उपर्युक्त विद्युत्शक्ति से पंजाब के १३० बड़े-बड़े नगर तथा प्रायः ५,००० गाँवों को बिजली दी जा सकेगी। यह घरों को आलोकित करेगी, छोटी-मोटी कलों, आटा पीसने की चक्की, तेल की घानी आदि को भी चलाएगी।

वर्तमान समय में यन्त्र-शास्त्र के द्वारा कैसे-कैसे बड़े कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, भाखड़ा नंगल-योजना इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। विशाल मशीनों की सहायता से आज हम क्या नहीं कर पाते हैं—

'समुन्दर फाँदते हैं, कोह से दरिया बहाते हैं!'

पर ये दोधारी तलवार हैं, इनमें अच्छाइयाँ हैं, बुराइयाँ भी। काश! हम इनका उपयोग लोक-संग्रह में ही करते, जनसंहार में नहीं!



"यह जाहिर है कि अगर हम देश से दरिद्रता और गरीबी दूर करना चाहते हैं तो उसके लिए हमें एक बहुत बड़ी लड़ाई लड़नी होगी। संसार में हम लड़ाई नहीं चाहते, मगर अपने देश में तो हम एक बहुत बड़ी लड़ाई लड़ रहे हैं। यह है देश की दरिद्रता, देश की गरीबी और देश की बेरोजगारी से लड़ाई।"

—जवाहरलाल नेहरू
१०-११-५६
कलकत्ता

स्वतन्त्र भारत के स्वप्न-द्रष्टा एण्ड्रूज़

गुरुदयाल मल्लिक

स्वतन्त्र भारत के अनेक उज्ज्वल स्वप्न-द्रष्टाओं और उस स्वप्न को सिद्ध करने वालों में दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज़ का नाम हमारे देश के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखने के योग्य है। कारण कि कई वर्षों पहले जबकि कांग्रेस ने भारत को सम्पूर्ण तौर से स्वतन्त्र बनाने की प्रतिज्ञा भी नहीं ली थी, उन्होंने मनुष्य के स्वभाव और इतिहास के आधार पर इस सत्य को जान लिया था कि मनुष्य पर अगर कोई शासन करने का अधिकार रख सकता है तो वह केवल प्रभु ही है। इसलिए किसी एक विशेष जाति को, चाहे वह भौतिक सभ्यता के मार्ग पर कितनी ही प्रगति कर चुकी हो, किसी और जाति पर, चाहे वह आधुनिक सभ्यता से कोसों दूर क्यों ही न हो, राज्य करने का अधिकार नहीं है। हाँ, वह उसकी सेवा ज़रूर कर सकती है, मगर सिर्फ़ ऐसी सेवा जिस से जिस जाति की सेवा की जाती है, उसके अपने विशेष विश्वास और वातावरण के अनुसार, उसके जुदा-जुदा गुणों और उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियों का विकास हो सके। दीनबन्धु के इस विश्वास के पीछे उनके धर्मगुरु ईसामसीह, जिसके वह एक नम्र और इसलिए सच्चे अनुयायी थे, का दिया हुआ महानता का यह मन्त्र था : "जो कोई व्यक्ति या जाति बड़ा होना चाहती है, उसे औरों की सेवा करनी होगी।"

मगर दीनबन्धु इस सत्य पर कि कोई जाति और किसी जाति पर शासन नहीं कर सकती, इतनी आसानी से न पहुँच पाते अगर उनके अन्दर इन्सानियत कूट-कूट कर न भरी होती। और यह इन्सानियत थी जिसे उन्होंने कभी भी कलंकित न होने दिया। उनके देश के लोग अफ्रीका और एशिया के लोगों से प्रेम करने और उनकी सेवा करने के कारण बार-बार उनसे खूब चिढ़ जाते थे, मगर उन्होंने उसकी रत्ती भर भी परवाह न की। कौन नहीं जानता कि कितनी ही बार जब वह हिन्दुस्तान से जहाज़ पर अफ्रीका गए, तो जाति अभिमान के नशे से चूर-चूर हुए उनके कई स्वदेश भाइयों ने उनका अपमान किया। एक बार तो इसलिए कि उन्होंने एक हिन्दुस्तानी बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया था। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने दीनबन्धु को जहाज़ से समुद्र में फेंकने की कोशिश भी की थी। उनके कई मित्रों ने उनको अनेक बार ऐसी सूचना दी कि वह हिन्दुस्तान और अफ्रीका के लोगों के बजाय अपने देश के लोगों की सेवा करें, इससे उन्हें मान और मन का सन्तोष दोनों मिलेंगे। उन सब को दीनबन्धु का केवल एक ही जवाब होता : "मैं इन्सान और इन्सान में किसी किस्म का भेद-भाव नहीं मानता। मेरा धर्म मुझे सिखलाता है कि प्रभु और मनुष्य आत्मिक दृष्टि से एक हैं, तो सब मनुष्य भी एक हैं।"

दीनबन्धु खुद कहा करते थे कि अगर वह अपनी इन्सानियत को,—



और इन्सानियत प्रभु की मनुष्य को सबसे बड़ी और कीमती देन है— निष्कलंकित रख सके, तो उसका एक विशेष कारण यह था कि उन्हें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जी का सम्पर्क मिला था। गुरुदेव से उन्होंने यह सत्य समझ लिया था कि इन्सान का जन्म पाप में नहीं होता। और वह मूल में पापी नहीं है। बल्कि मनुष्य तो अमृत-पुत्र है और इसलिए वह आनन्द का अधिकारी है। आनन्द अनुभव करने का और आनन्द सर्जन करने का सन्देश उन्हें गुरुदेव से मिला। महात्मा जी से उन्होंने यह सीखा था कि दरिद्र और दुःखी मनुष्य ही प्रभु का सबसे उत्तम और विराट रूप है और उसके दर्शन और उसकी आराधना से मनुष्य अपनी खुदी को आहिस्ता-आहिस्ता खो बैठता है और इस तरह आदम और खुदा में जो अन्तर है वह

(शेष पृष्ठ १४ पर)

राजगुरु पण्डित हेमराज

राहुल सांकृत्यायन

१९२३ ई० की शिवरात्रि थी। राजनीतिक कामों की भीड़ में से छुट्टी निकाल कर वर्षों से मन की साध पूरी करने के लिए मैं नेपाल पहुँचा था। मेरे शरीर पर काले कम्बल की एक अलफी थी। उसी वेष में काठमाण्डू की थापाथली के वैरागी मठ में धुनी के पास बैठा था। मेले के समय 'न जाने केहि भेस में नारायण मिल जायें' का खयाल करके कितने ही श्रद्धालु पण्डित और गृहस्थ साधुओं की जमात के दर्शन करने के लिए आया करते थे। १० मार्च को ठिगने से एक प्रौढ़ पुरुष नेपाली सुरुवाल (पायजामा) और चौबन्दी, सिर पर नेपाली टोपी लगाए मेरे पास आए। मैं तीस वर्ष का स्वस्थ फक्कड़ साधु था, वह मेरी ओर आकृष्ट हुए। कुछ देर बातचीत हुई। सन्ध्या-वन्दन का समय आया, उसका ज़िक्र आने पर मेरे मुँह से अनायास उदयनाचार्य (कुसुमांजलि) की कारिका निकल आई—"उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" (कानों में आती दिव्य वाणी मानो उपासना ही है)। उन्हें पता चल गया, यह काली कमली वाला साधु विद्वान है।

इसी समय नीचे से एक विद्वान संन्यासी स्वामी सच्चिदानन्द नेपाल पहुँच राजा के अतिथि बने थे। स्वामी सच्चिदानन्द ने शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया था। उनका झुकाव कुछ कुछ बौद्ध धर्म की ओर था। नेपाल में शाक्त मत का ज़ोर है। हरेक शुभ कार्य में पशु-बलि की ज़रूरत होती है। स्वामी जी ने उसका खण्डन करके राज्य के सबसे अधिक सम्माननीय, तथा महान पण्डित महिला गुरु को चुनौती दी। पं० हेमराज अपने तीनों भाइयों में माहिला (मंझले) थे, इसलिए उन्हें लोग अधिकतर 'माहिला गुरुज्यू' के नाम से याद करते थे। उस दिन माहिला गुरु ने मुझे अपने यहाँ बुलाया था। दरबार पुस्तकालय के वही अध्यक्ष थे, मुझे पुस्तकालय देखना था, इसलिए मैं स्वयं उनके पास जाने के लिए उत्सुक था। अगले दिन उनके घर पर गया, देखा, चारों ओर पुस्तकाधानियों से भरे पुस्तकालय हैं—कालीन के ऊपर बहुत सी पुस्तकें रक्खी हुई हैं, और वह तथा दूसरे पंडित स्वामी सच्चिदानन्द की उक्तियों का खण्डन करने के लिए शास्त्र वचनों को ढूँढ़ रहे हैं। कोई चर्चा चली, मैंने कुमारिल के वचन "गोक्षीरं श्वदृतौ धृतम्" (कुत्ते के चमड़े में रक्खे गाय के दूध) को उद्धृत करते कहा, मीमांसा वेद बाह्य वचनों को अमान्य ठहराता है। दो ही साल पहले वेदान्त मीमांसा पढ़ कर मैं मद्रास से आया था। बहुत से वचन मुझे याद थे। माहिला गुरु ने कहा—"आप स्वामी के विरुद्ध बोलिए।" पर, भीतर से आर्यसमाजी मुझे स्वामी-विचार ही पसन्द थे, इसलिए मैं क्यों उनके ख़िलाफ़ जाने लगा?

माहिला गुरुज्यू का यह मेरा पहला सम्पर्क था। काल पाकर यह सम्पर्क उनके मन से भूल गया, यद्यपि मुझे नहीं भूला। लंका में पालि बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने के बाद मुझे दीखने लगा कि बौद्ध-दर्शन और धर्म के चरम विकास को जानने के लिए तिब्बत गए बिना काम नहीं चल सकता। तिब्बत जाने में मेरे रास्ते में अनेक बाधाएँ थीं। मैं असहयोग और काँग्रेस के लिए दो बार जेल हो आया था, इसलिए अंग्रेज़ सरकार मुझे सीमा पार करने नहीं दे सकती थी। कुछ भारतीयों ने तिब्बती बन्धुओं के आतिथ्य का उपयोग अंग्रेज़ों की गुप्तचरी में किया था, जिसके कारण वहाँ के लोग हमारे लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, इसलिए तिब्बत की सीमा के भीतर जाकर मुझे स्वागत की आशा नहीं थी। तो भी मैंने निश्चय कर लिया, तिब्बत जाना ही होगा। एक ही सुगम रास्ता मालूम हुआ, कि मैं भारतीय सीमा से सीधे न जा नेपाल के द्वारा तिब्बत में प्रवेश करूँ। नेपाल में भी शिवरात्रि के रामहल्ले में ही जाने की छूट थी, बाकी समय राहदानी (प्रवेश-पत्र) मिलना करीब-करीब असम्भव था। मैं १९२९ ई० की शिवरात्रि में जाकर महीने-डेढ़ महीने नेपाल में अज्ञातवास करते आगे जाने का रास्ता ढूँढ़ रहा था। यह समय माहिला गुरुज्यू से भेंट करने का नहीं था। वह राज्य के एक बड़े कर्मचारी थे।

तिब्बत में सवा वर्ष रह कर मैं भारत लौट आया। मेरे अनुसन्धानों और कार्यों की अब काफी प्रसिद्धि हो गई। मेरे बहुत से लेख भी निकले। यूरोप भी हो आया था। 'तिब्बत में सवा वर्ष' के नाम से मैंने अपनी यात्रा प्रकाशित करवा दी थी। पं० हेमराज शर्मा संस्कृत के सभी शास्त्रों में अच्छी गति रखते थे। प्राचीनता के ज़बर्दस्त पक्षपाती थे, लेकिन ज्ञानार्जन के किसी साधन को अस्पृश्य नहीं समझते थे। हिन्दी का साहित्य नेपाली (गोरखाली) से अधिक समुन्नत था। नेपाली और हिन्दी में अन्तर बहुत कम है, और वह हिन्दी को भी अपनी मातृभाषा की तरह ही बोल सकते थे। हिन्दी की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ ढेर की ढेर आती थीं, और वह उनको मन लगा कर पढ़ते थे।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा से मैं नेपाल के रास्ते लौटा। और कुछ दिन (१७ नवम्बर से २ दिसम्बर) तक मैं काठमाण्डू में रहा। इसी समय राजगुरु के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिला। हमारे राजनीतिक और सामाजिक विचारों में ज़मीन-आसमान का अन्तर था, पर विरोधियों का भी घनिष्ठ समागम और सम्पर्क होता है, इसका उदाहरण हम दोनों थे। हिन्दू-धर्म के हरेक खूसट रीति-रिवाज और विचार का वह अनुमोदन करते थे। यहाँ तक कि सती-प्रथा के उठाने को भी बुरा बतलाते थे। राणाओं के परम निरंकुश शासन के वह ज़बर्दस्त समर्थक थे। उधर इसी साल मैंने 'साम्यवाद

ही क्यों ?' नामक पुस्तक तिब्बत की राजधानी ल्हासा में रहते हुए लिखी थी, जिस के पत्रिकाओं में छपे कुछ अध्याय राजगुरु की नज़र से भी गुज़रे थे। मैं क्या हूँ, इसे वह अच्छी तरह जानते थे। पर, इस सब के साथ उन्हें यह भी मालूम था, कि तिब्बत में जाकर मैंने भारतीय लुप्त साहित्य को ढूँढ़ निकालने के लिए बहुत प्रयत्न किया है। काठमाण्डू में धर्ममान साहु के मकान में पहली तिब्बत-यात्रा में भी मैं कई दिनों रह चुका था। वहाँ पहुँचते ही, मैंने माहिला गुरु को अपने आने की सूचना दे दी। १९३४ ई० के भूकम्प का नेपाल पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था। कितने ही स्तूप और मन्दिर ध्वस्त हो गए थे।

राजगुरु मिलने के लिए उत्सुक थे। मैं शाम को उनके पास गया। भूकम्प-ध्वस्त सुनयश्री के विहार की बात आने पर उन्होंने ठण्डी साँस लेकर कहा—"वहाँ तो दिल दहलाने वाली घटना घटी है। उस विहार में पचासों बहुमूल्य तालपोथियाँ थीं। मैंने कई बार उन्हें देखने की कोशिश की, लेकिन गुमाज्यू (बौद्ध पुरोहित) लोग दिखलाने के लिए राज़ी नहीं हुए। भूकम्प की सहायता में मुझे भी काम करना पड़ता था। बरसात के बाद मैं एक दिन उस जगह पर पहुँचा, तो पुस्तकें याद आ गईं। मैंने पूछा—"वह पुस्तकें कहाँ हैं?"

"यहीं ज़मीन में।"

"सारी बरसात वर्षा पड़ती रही। उन पुस्तकों के लिए क्या आशा हो सकती थी? तो भी मैंने जल्दी-जल्दी कुछ आदमियों को बुला कर उस जगह को खुदवाना शुरू किया। मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े, जब मैंने पुस्तकें बाँधने की तख़्तियों को हाथ से उठा कर देखा, तो तालपत्र सड़ कर कीचड़ हो गए थे।"

माहिला गुरु एक सच्चे विद्वान की तरह इस घटना का वर्णन करते इतने खिन्न थे, जैसे किसी सगे-सम्बन्धी को उन्होंने अभी खोया हो। यह बात थी, जिसके कारण मैं माहिला गुरु के प्रति अनुरक्त था, और वह मेरे प्रति। तिब्बत की दूसरी, तीसरी, चौथी यात्राएँ भारत से गई तालपोथियों के ढूँढ़ने के लिए मैंने की थीं। दूसरी यात्रा तो विशेष तौर से धर्मकीर्ति और दिङ्नाथ के न्यायग्रंथों के खोजने के लिए हुई थीं। इस यात्रा में मुझे सफलता भी हुई थी। प्रथम यात्रा से लौट कर मैं धर्मकीर्ति से इतना प्रभावित हुआ कि उनके मुख्य ग्रंथ 'प्रमाणवार्त्तिक' को तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद करने लगा। मेरे मित्र पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने बतलाया कि उसकी तालप्रति राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को मिल गई है। मैंने अनुवाद का काम छोड़ दिया। विशेष तौर से उसी पुस्तक को देखने के लिए मैं नेपाल होकर लौट रहा था। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि जीर्ण-शीर्ण तालपोथी मिली थी, उसे लौटाने को कह कर इतालियन प्रोफ़ेसर तूची ले गए, लेकिन लौटाया नहीं। फिर उन्हें याद आया कि किसी फ़ोटोग्राफ़र से उसकी कापी करवाई थी। बड़े प्रयत्न से ढुँढ़वाया और सौभाग्य समझिए, फ़ोटो के प्लेट मिल गए। उसकी कापी उतरवाई।

पोथी के दोनों छोर जीर्ण होकर झर गए थे। इन्हीं छोरों में पत्र का अंक लिखा रहता है। अब यह मालूम करना मुश्किल था कि कौन पत्र पहला है और कौन दूसरा। सौभाग्य से गेशे गेनदुन छोम्फेल (संघधर्मवर्धन) तिब्बत से मेरे साथ आए थे। धर्मवर्धन महान रत्न थे। अफ़सोस है कि मेरे मित्र इंदिरारमण शास्त्री और विज्ञानमार्तण्ड की तरह उनकी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं हो सका। वह एक बड़े चित्रकार, तिब्बती भाषा के महाकवि और दर्शन के पण्डित थे। तिब्बती भाषा में उनको सारा 'प्रमाणवार्त्तिक' कंठस्थ था। मैं ताल-पोथी की एक पंक्ति को तिब्बती में अनुवाद करके कहता और वह हमारे पास मौजूद तिब्बती पोथी में से निकाल कर उस कारिका को रख देते। कई दिन भिड़ने के बाद हम पत्रों को क्रम से लगा सके। पता लगा, पुस्तक में दस पत्रे लुप्त हैं। 'प्रमाणवार्त्तिक' के उद्धार से जितनी मुझे प्रसन्नता हुई, उतनी ही राजगुरु को भी। धर्मकीर्ति ऐसे विचारों के मानने वाले थे, जिन्हें राजगुरु कभी पसन्द नहीं करते थे। किन्तु, हमारी पुरानी परम्परा विचार सहिष्णुता की है, नास्तिकों और परम आस्तिकों के उच्च विचारों को आदर और स्नेह के साथ पढ़ने की। इसलिए धर्मकीर्ति उनको भी प्रिय थे।

१९३६ ई० में मैं तीसरी तिब्बत-यात्रा के लिए नेपाल पहुँचा। १८ फरवरी से १४ अप्रैल तक प्रायः दो मास रहा। पिछली मुलाकात में ही माहिला गुरु से घनिष्ठता स्थापित हो गई थी। अब वह और आगे बढ़ी। डा० जायसवाल नेपाल देखना चाहते थे। नेपाल पुरातत्व-सामग्री से भरा हुआ है। मैं भी चाहता था कि वह यहाँ आएँ। लेकिन, शिवरात्रि के अतिरिक्त दूसरे समय प्रवेश के लिए सरकार से आज्ञापत्र लेना पड़ता था, जो अंग्रेज़ों और यूरोपियनों के लिए सुलभ था, पर भारतीयों के लिए अत्यन्त दुर्लभ। राजगुरु के प्रयत्न से जायसवाल जी को राज्य के अतिथि के तौर पर निमंत्रित किया गया। नेपाल के शासक और राजगुरु भी मानते थे कि नेपाल की अजेय और पवित्र भूमि को कभी म्लेच्छ पददलित नहीं कर सके। पर, मैं जगह-जगह सैकड़ों नाक कटी पत्थर की मूर्तियाँ देखता था। मुसलमान आक्रमणकारी ही ऐसा कर सकते थे, यह मुझे विश्वास था। पर, इसका प्रमाण चाहिए। ७ अप्रैल को मैं स्वयम्भू चैत्य देखने गया। वहाँ एक कोने में जयार्जुन देव का शिलालेख मिला। उससे और दरबार पुस्तकालय में मौजूद राजवंशावलि से भी मालूम हुआ कि ७७० नेपाल संवत् (१३५० ई०) में बंगाल का 'सुरत्राण शमसदीन भाँगरा' (सुलतान शम्सुद्दीन बैंगडा) ने नेपाल में आकर वहाँ के बहुत से देवालय तोड़े।

राजगुरु ने एक दिन कहा—'तिब्बत में सवा वर्ष' में यहाँ के शासक-वर्ग के बारे में आपने जो टिप्पणी की है, उससे वह बड़े असंतुष्ट हैं। इसकी वजह से आपकी दूसरी किताबों के यहाँ आने में बड़ी रुकावट हो रही है, इसलिए उसे आप हटा दें, तो अच्छा है।" इस असन्तोष का एक और पता २४ मार्च को लगा। अपनी पुस्तक 'जापान' और 'खुद्दकनिकाय' (पालि) के प्रूफ़ों को डाक से भेजने के लिए ले जाने पर कस्टम (भंसार वाले) अफ़सर ने उन्हें रख लिया और कहा, कि हम इन्हें तब तक नहीं देंगे, जब तक कि 'तिब्बत में सवा वर्ष' की एक कापी नहीं मिल जाती। हमारे पास पुस्तक कहाँ थी, और वह तो सरकार द्वारा ज़ब्त थी। गुरु जी ने बहुत कोशिश

की, तब जा कर प्रूफ़ भेजे जा सके। राजगुरु के सुझाव पर मैंने 'तिब्बत में सवा वर्ष' के प्रथम संस्करण के ३३ से ३६ पृष्ठों को नरम करके दुबारा लिख दिया। नेपाल से मुझे बार-बार वास्ता पड़ता था, इसलिए उसे अपने अनुसन्धान-क्षेत्र से बाहर रखना पसन्द नहीं था।

राजगुरु पं० हेमराज शर्मा में विद्वत्ता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कालज्ञता, राजनीतिज्ञता सभी का सुन्दर मिश्रण था। जब-जब मैं इधर आया, उन्होंने मेरे कामों में सहायता की। तिब्बत की तरफ़ जाते वक्त उन्होंने अपनी मोटर साखू तक भेजी और सीमान्त तक के लिए दो घोड़े भी दे दिए। सीमान्त की नेपाली फौजी चौकी वाले मुझे आगे जाने के लिए न छोड़ते, यदि उनके घोड़े और साईस मेरे साथ न रहते।

राजगुरु का दर्शन १६४७ के दिसम्बर में साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में हुआ, मैं सम्मेलन का अध्यक्ष था। वह बहुत क्षीण हो गए थे। बुढ़ापे का पूरा प्रभाव था, और साथ ही स्वास्थ्य बहुत खराब रहता था। अन्तिम बार उनके दर्शन १६५३ की जनवरी में नेपाल में हुए थे। उस समय जाड़ों के कारण नीचे जाने की तैयारी कर रहे थे। घूमते-घामते मैं उनके घर पर पहुँचा। मैंने लिखा था—"मैं कम्युनिस्ट विचार रखता हूँ।" यह उनको मालूम था और मुझे भी मालूम था कि वह परम निरंकुश सामन्तवाद के समर्थक हैं। तो भी संस्कृत, भारतीय संस्कृति, तत्सम्बन्धी अनुसन्धान ऐसी चीज़ें थीं, जिनके कारण हममें १६ वर्ष से घनिष्ठता स्थापित हो गई थी। सब से पिछली बार जब मिले थे, तो माहिला गुरु शासन के एक सबल स्तम्भ और प्रभावशाली राजगुरु थे। अब राणा चले गए, इसलिए वह पानी के बाहर की मछली जैसे थे।

बड़े प्रेम से मिले। दो-तीन घण्टे तक साहित्य और अनुसन्धान की चर्चा चलती रही। उनके ज्येष्ठ पुत्र को मैंने कभी आठ-दस वर्ष का बालक देखा था, अब वह लम्बे-तगड़े जवान थे। साहित्याचार्य करके ग्रेजुएट बन रहे थे। कनिष्ठ पुत्र के रंग-ढंग से राजगुरु को बहुत दुःख था। वह बी० ए० करके अनब्याहे आगे पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड या अमेरिका जाने के लिए उतावले थे। राजगुरु का वंश राणा जंगबहादुर के विलायत जाने में बाधक नहीं हुआ, पर वह उस समय अपने खान-पान और सभी चीज़ों का पूरा प्रबन्ध करके गए थे। राजगुरु के कनिष्ठ पुत्र अवश्य ही गंगाजल और गंगा की मिट्टी लेकर यहाँ से नहीं जाते, वह वहाँ होटलों में खाते। खैर, खाने की छुआछूत ज़्यादा दिन टिक नहीं सकती, इसका राजगुरु को विश्वास हो चला था, पर, डर था, कि कहीं वह वहीं से ब्याह करके न आए। मुझ से सलाह ली। मैंने कहा—"प्राप्ते तु षोडषे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्।" सोलह क्या, वह तो बीस वर्ष से ऊपर के हो गए थे। ऐसे पुत्र पर आप अंकुश कैसे रख सकते हैं। वह कह रहे थे—"यदि ब्याह करके जाता तो अच्छा था।" मैंने कहा—"इसकी क्या गारण्टी है, कि यहाँ से ब्याह करके जाने पर किसी गोरी के प्रेमपाश में बद्ध होने से वह रुक जाएगा।" राजगुरु लाखों के धनी थे। पुत्रों को सभी तरह के आर्थिक सुभीते थे। वह अपना-अपना रास्ता लेंगे यह तो निश्चित ही था।

काठमाण्डू में मैं जिस जगह ठहरा था, वह राजगुरु के निवास से दूर नहीं थी। २१ जनवरी को देखा, वह पैदल ही मेरे यहाँ चले आए हैं। आश्चर्य की बात नहीं थी, उनका स्नेह ही मेरे ऊपर ऐसा था। पर, उनका स्वास्थ्य अब बहुत खराब था। मैंने जब यह कहा, तो कहने लगे—"कोई बात नहीं। बहुत दूर नहीं था। मैं धीरे-धीरे चला आया।" इसके बाद तीन घण्टे तक हम तल्लीन होकर नेपाल के इतिहास पर बातचीत करते रहे। वह नेपाल के विश्वकोश थे, इसलिए उनसे बात करने में बड़ा आनन्द आता था। यही अन्तिम भेंट थी। इसके शायद साल भर बाद अखबारों में पढ़ा, माहिला गुरु अब इस दुनिया में नहीं रहे। मैंने एक अत्यन्त सहृदय मित्र को और उनके रूप में एक प्राचीन ज्ञान-राशी को हमारे देश ने खोया। माहिला गुरु का पुस्तकालय बहुत विशाल था। सैकड़ों तालपत्रों की पोथियाँ उन्होंने जमा की थीं। दूसरे हज़ारों ग्रन्थ भी अब दुर्लभ थे। उनके पुस्तकालय को किसी पुस्तक-विक्रेता ने खरीद लिया। यह सुन कर मुझे खेद हुआ। यदि नेपाल या भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय को सारी ग्रन्थ-राशि मिल गई होती, तो उसका ठीक से उपयोग होता। पुस्तक-विक्रेता सूखे पत्तों की तरह उन ग्रन्थों को बिखेरेगा।

मेरा सिद्धान्त था, संग्राहक को अपने जीवन में ही संग्रहीत सामग्री की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। इसीलिए तिब्बत में संग्रहीत अपनी सारी सामग्री को मैंने पटना म्यूज़ियम को दे दिया था, जिसके अध्यक्ष उस समय जायसवाल जी थे।

स्वतन्त्र भारत के स्वप्न—द्रष्टा एण्ड्रूज़—(पृष्ठ ११ का शेषांश)

दिन-दिन कम हो जाता है। महात्मा जी द्वारा प्रयुक्त 'दरिद्र नारायण' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सच यह है कि खुदी मनुष्य को औरों से और ईश्वर से परे रखती है। इसलिये जैसे ही स्वार्थ भावना कम होती जाएगी, मनुष्य अन्य मनुष्यों तथा प्रभु के नज़दीक आता जाएगा। और व्यक्तिगत शान्ति और विश्व-शान्ति का यही एकमात्र मूल-मन्त्र है।

ऐसे दीनबन्धु और देवता रूप सी० एफ० एण्ड्रूज़ को क्या स्वतन्त्र भारत कभी भूल सकता है?



साधक, साधन एवं साध्य की स्वरूपाभिव्यक्ति

व्रजभूषण पाण्डेय

इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टिपात तथा अलग-अलग इनका विवेचन उपस्थित करना जितना ही दुरुह एवं नीरस है, उतना ही मनोरंजक एवं सरस भी। किसी भी प्रकार की क्रिया, गुण एवं पदार्थ की पूर्णता में इन तीनों की समष्टिगत सत्ता अनिवार्य है। यहाँ लौकिक और अलौकिक का भेद नहीं है। किसी क्रिया के करने के पहले, हमारी दृष्टि साधन की ही ओर दौड़ती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यह आवश्यक नहीं कि साधन का हमें पूर्णतः ज्ञान हो। कभी-कभी हम आंशिक या दोषयुक्त साधन को ही अपना लेते हैं। फलतः उसके द्वारा सम्पन्न क्रिया या तो अपूर्ण होती है या दोषपूर्ण। कभी-कभी क्रिया को ही ठीक तरह से समझ न पाने के कारण ऐसी ही असफलता मिल जाती है। लोक में अनेक असफलताओं की जननी, साधन और साध्य के स्वरूप की अनभिज्ञता ही है। इसलिए क्रिया की पूर्णता का उत्तरदायित्व कर्त्ता की योग्यता पर ही निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए घड़ी ले लीजिए—इस कृति (घड़ी) में कारीगर की योग्यता और स्वयं घड़ी की सत्ता में क्या अन्तर है? घड़ी में से कर्त्ता की योग्यता को पृथक कर देने पर सम्भवतः घड़ी का अस्तित्व मिट जाएगा। मुख्य साधन के निकाल देने पर साधक और साध्य का भी अस्तित्व मिट जाता है। घड़ी के भौतिक साधन (उपादान कारण) मुख्य साधन नहीं हैं। यह सब तो कारीगर की योग्यता के फलस्वरूप ही आए हैं। भौतिक साधनों के ऐसे संयोजन में ही मुख्य साधन निहित है, जिससे घड़ी को रूप मिला है। इसी बात को दार्शनिक कार्य कारण की परम्परा में दूसरे ढंग से स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में लोक में प्रचलित एक विचित्र प्रश्न को नहीं भुलाया जा सकता। वह प्रश्न है—"सड़सी, निहाई और घना, इनमें पहले कौन बना।" लोहार इन्हीं तीनों साधनों से सभी वस्तुओं को बनाता है। लोहे की किसी वस्तु के निर्माण में इन तीनों की समान रूप से आवश्यकता पड़ती है। अब प्रश्न यह है कि इन चीज़ों में पहले-पहल किस का निर्माण हुआ? बड़ा विचित्र प्रश्न है। इसी तरह का एक प्रश्न यह भी है कि पहले बीज पैदा हुआ या वृक्ष? साधक, साधन और साध्य में अधिक महत्त्व किसे है? यह प्रश्न भी कुछ इसी प्रकार का है।

साधक की महत्ता

क्रिया का मुख्य हेतु कर्त्ता में और साध्य का मुख्य साधन साधक में ही निवास करता है। उसे ही हम कर्त्ता की योग्यता या साधक का स्वरूप कहते हैं। कारण से कार्य कठोर कहा गया है। कार्य की यह विशेषता कर्त्ता की योग्यता है। निमित्त और उपादान कारणों का संयोजन कर्त्ता की इसी योग्यता या प्रतिभा पर निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी क्रिया के स्वरूप का आधार कर्त्ता का ही स्वरूप होता है। कवियों, कलाकारों आदि की अमरता का यही रहस्य है। कविता और कला ही उनका स्वरूप है। कुछ कुछ यही बात साध्य और साधक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ हम क्रिया के स्वरूप में कर्त्ता का स्वरूप देखते हैं, वहाँ साधक के स्वरूप में ही साध्य का स्वरूप दिखाई देता है। तो इस प्रकार साधक का महत्त्व और बढ़ जाता है। साधना और साध्य दोनों का स्वरूप साधक में पाया जाता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि साधना और साध्य का संयुक्त स्वरूप ही साधक का स्वरूप है। भक्ति, भक्त तथा भगवन्त की एकता का यही रहस्य है। आचार्य शंकर ने जीव की ज्ञान साधना की पूर्णता ज्ञान स्वरूप बताई है। कभी-कभी साधन ही साध्य और साधक दोनों पर हावी हो जाता है। साधक और साध्य की ज्ञानरूपता में यही बात पाई जाती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम लोक में प्रतिष्ठित एक विशेष भावना की चर्चा करना चाहते हैं। हम रुपया इसलिए पैदा करते हैं क्योंकि उससे हम अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ खरीद लेते हैं। वस्तुएँ साध्य हैं और रुपया-पैसा साधन। किन्तु हम रुपए-पैसे को ही साध्य मान लेते हैं और उसी का अर्जन करना वस्तुओं का अर्जन स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं का स्वरूप ओझल हो जाता है। उनके स्थान पर रुपया-पैसा आकर प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर रुपए-पैसे वाले का स्वरूप भी इसी प्रकार का हो जाता है। कुछ हद तक सम्पत्तिशाली के व्यक्तित्व पर सम्पत्ति का ही प्रभाव रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य, साधन और साधक में बड़ा कौन है? या इनके स्वरूपों की विभाजक रेखा कहाँ है?, इसे बतलाना बड़ा कठिन है। यह सामान्य दृष्टि का काम नहीं है। इन प्रश्नों का उत्तर इनसे अलग रह कर नहीं दिया जा सकता। घायल की गति घायल ही जान सकता है। बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा नहीं जानती। इससे आगे बढ़कर शंकर ने इसीलिए ब्रह्म को अनुभवगम्य कहा और कबीर आदि सन्तों ने ब्रह्मानन्द को गूंगे का गुड़ बताया है। रुपए-पैसे का क्या महत्त्व है या उससे आवश्यक वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है तथा हमारा इन सबसे क्या प्रयोजन है, इन सब बातों का जितना सही उत्तर हम और आप दे सकते हैं, उतना मानवेतर जाति क्या जानेगी, जिसने इस प्रपंच में पैर ही नहीं रखा है। इसीलिए प्रयोगिक ज्ञान ही विज्ञान बनता है। मस्तिष्क में ही दौड़-धूप कर रह जाने वाला ज्ञान दो कौड़ी का है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि साधक, साधन और साध्य ऊपर से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी मूलतः एक हैं। शंकर

के अद्वैत का यही रहस्य है। और अनेकत्व में एकत्व के इस रहस्य का ज्ञाता साधक है। साधक ही इसके सम्बन्ध में कुछ कहने का सच्चा अधिकारी है।[1] यों हम सभी साधक हैं, किन्तु कच्चे और भूले हुए। मानव-जीवन का चरम साध्य जब हमारे जीवन में ओत-प्रोत हो जाता है, तो हम भी सच्चे और पक्के साधक बन जाते हैं। किन्तु यह कोई खेल-तमाशा नहीं है। शताब्दियों बाद, अरबों-खरबों वर्षों में कोई एक साधक हमारे बीच आता है। ऐसे साधकों की वाणी ही जीवन के रहस्य, उसके साध्य और साधन के सम्बन्ध में जो कुछ प्रकट करती है उसी से हम अनुप्राणित होते हैं। सन्तों की वाणी में, साधकों के ज्वलन्त जीवन में एक ऐसी शक्ति होती है जिससे लोक निरन्तर प्रेरणा लेता रहता है। साधक के माध्यम से ही हम उसकी साधना और साध्य का किंचित अनुभव करते हैं। यही कारण है कि साधना-जगत में साधकों की पंक्ति एक अविच्छेद्य परम्परा में स्थित दिखलाई देती है। सभी साधकों का पन्थ अलग-अलग होते हुए भी उनमें विचित्र सी एकता है।[2] यह एकता अटूट परम्परा की ही देन है। कौनसा ऐसा साधक है जो पूर्व साधकों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर सका है। परम्परा के प्रबल विद्रोही साधक कबीर की साधना पर भी उनके पूर्व साधकों की साधना का प्रभाव स्पष्ट रूप से पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनन्तकाल से ही मानव-जीवन की साधना-सरिता अप्रतिहत गति से प्रवाहित होती चली आ रही है। अनेक साधक उस सरिता में जलविहार करने वाले रसिकों या कलाविदों से अधिक महत्त्व नहीं रखते। भेद केवल इतना ही है कि जलविहार करने वाले व्यक्ति जल से अपनी रुचि विशेष का पोषण कर आनन्द प्राप्त करते हैं। जल या नदी पर उनका प्रभाव नगण्य होता है। किन्तु साधक जहाँ एक ओर साधना की सरिता में निमग्न होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है, वहीं वह सरिता के प्रवाह और शक्ति का भी सम्वर्द्धन करता है। यही साधकों की लोकोपकारिता है।[3] और इसी का परिणाम है कि हम भूले-भटकों को भी रास्ता मिल ही जाता है। इस प्रकार साधना की गति निरन्तर बढ़ती जाती है। लोक में भी मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश दक्षता अनुकरणात्मक ही है। जीवन-साधना का भी यही स्वरूप है।

साधक का स्वरूप

साधक के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से हमें दो तत्वों का परिज्ञान होता है। एक ओर वह साधना के स्वरूप के साथ एकाकार रहता है, तो दूसरी ओर उसका व्यक्तित्व भी होता है जो साधना से उसे पृथक करता है। किन्तु इनका अलग-अलग विश्लेषण बाल की खाल खींचना है। हरे रंग में मिले हुए काले तथा पीले रंग की परख जैसी अनुभूति द्वारा ही वह लक्ष्य है। लौकिकता और अलौकिकता, राग और विराग तथा करुणा और निष्ठुरता का अपूर्व संगम ही साधक का स्वरूप है।[4] भौतिक दृष्टि से हमारे बीच में रमता हुआ साधक जहाँ एक लौकिक व्यक्ति बना रहता है, वहीं विचारों, भावों तथा कर्मों की दृष्टि से वह लोकोत्तर में ही भ्रमण करता है। हमारे लोक से उसका लोक भिन्न होता है। अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने लोक की बात बताता है और कर्मों द्वारा उसका प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि से 'अहं' का चश्मा उतार कर वह इस जगत के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता है। निष्काम होते हुए भी उसे लोक संग्रह के लिए कर्म का आश्रय लेना पड़ता है। वह लोक से विरक्त नहीं होता है। भेद दृष्टि को दूर करके वह लोक के साथ ही चलना चाहता है, किन्तु लोक का अगुआ बनकर, पिछलग्गू बनकर नहीं। यह अहं नहीं, दृढ़ता है, नेतृत्व नहीं स्वभाव है। कहने का तात्पर्य यह कि साधक लोक को अपना ही साथी या रूप मानता है। इसलिए उसकी यह कामना रहती है कि वह (लोक) ठीक रास्ते पर चलता रहे। लोक के प्रति उसकी निरीह ममता होती है।[5] यह ममता दिव्य तथा अलौकिक होती है। हम यहाँ ऐसे साधक की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जिसकी साधना लोक से बिलकुल परे केवल उसी के लिए होती है। इन्द्रिय-दमन और प्रवृत्तियों का अतिशय संकोचन (अभाव) कर जो साधक साधना-क्षेत्र (जगत) से हट जाते हैं, वे हमारे किसी काम के नहीं हैं। लोक के लिए ऐसे ही साधक का महत्त्व है, जिसकी साधना जगत में पल्लवित और पुष्पित होती है। उसकी ममता सूखती नहीं, ब्रह्मानन्द के अद्भुत रस से पूर्ण होकर दिव्य हो जाती है। हमारी आपकी तरह, बल्कि इससे भी अधिक संसार के प्रति उसकी अनुरक्ति बढ़ जाती है। भेद यही है कि हम सब जगत के कल्पित विभेदों को जगत का रूप देकर उसके प्रति अपनी दोषपूर्ण अनुरक्ति लगाते हैं, किन्तु साधक जगत को अखण्ड तथा अपना ही स्वरूप समझ कर दिव्य अनुरक्ति करता है।

साधक का हृदय बड़ा विशाल होता है। बल्कि उसकी सिद्धि का यही स्वरूप ही है। हृदय के संकुचित रूप का धीरे-धीरे विकास करना ही साधना का लक्ष्य होता है। जब हृदय का विकास उस अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ समस्त तत्व उसमें लीन हो जाते हैं, तब साधना पूर्ण समझी जाती है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि समस्त जगत साध्य या साधना का स्वरूप बनकर साधक के हृदय में आ विराजता है। इस स्थिति में पहुँच जाने पर लोक और साध्य में कोई भेद नहीं रह जाता। और, ऐसे साध्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर साधक भी पूर्ण हो जाता है।[6] ऐसी स्थिति में साधक का निजी सुख-दुःख कुछ नहीं रह

१. ताकर सुख सोइ जानइ परानन्द सन्दोह। —तुलसी

२. सर्व वेदान्त प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्। ब्रह्मसूत्र।३।३।१

३. मुद मंगलमय संत समाजू, जो जग जंगम तीरथराजू—तुलसी

४. साधु चरित सुभ चरित कपासू, निरस बिसद गुनमय फल जासू—तुलसी

५. सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती, सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती—तुलसी

६. स यथेमा नद्य स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश-कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलो ऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥

प्रश्नोपनिषद् ६।५

जाता।[७] लोक का सुख ही उसका सुख है और लोक का दुःख ही उसका दुःख। इस प्रकार यद्यपि साधक निज के सुख-दुःख और मानापमान से ऊपर उठ जाता है तथापि लोक के साथ उसका अटूट सम्बन्ध रहने के कारण वह सुखी और दुःखी भी हुआ करता है।[८] इसी स्थिति के कारण वह लोकहित की भावना से पूर्ण रहता है। उसका 'स्व' विकसित होकर लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार लोकहित में वह उसी प्रकार निरत रहता है जैसे हम सब अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में। यही साधक की विशालता है। साधक के इस विशाल व्यक्तित्व में 'अहं' का भी भाव रहता है। किन्तु इसका रूप दूसरा होता है। लौकिक 'अहं' से इसकी कोई तुलना ही नहीं है। वस्तुतः इसे 'आत्मशक्ति' कहते हैं। लोक में भी 'अहं' का सम्बन्ध आत्मा से हो रहता है। भेद केवल इतना ही है कि लौकिक 'अहं' विषयाभिलाषी मन की छाया में विकसित और जीवित रहता है। और यह आत्मशक्ति, साधना द्वारा प्राप्त आत्मा की वास्तविक शक्ति है। इसीलिए यह निर्मल और ज्योतिमान रहती है।[९] और लौकिक 'अहं' कल्मष तथा अन्धकारपूर्ण। इस लौकिक 'अहं' को अपदस्थ करके साधक उस स्थान पर आत्मशक्ति को प्रतिष्ठा करता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि लौकिक 'अहं' को परिशोधित कर साधना की पवित्र अग्नि में तपाकर साधक उसे ही एक दिव्य आत्मशक्ति के रूप में परिवर्तित कर लेता है। भक्तों का स्वाभिमान और ज्ञानियों का 'ब्रह्मोस्मि' इसी आत्मशक्ति का परिचायक है। कुछ लोग कबीर के स्वभाव में अक्खड़ता, अभिमान तथा इसी प्रकार को अन्य बातों का आरोप करते हैं। वस्तुतः यह सब कबीर की आत्मशक्ति से प्रेरित स्वाभिमान का ही रूप है। यह बात थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ सभी साधकों में पाई जाती है। साधक साधना-पथ पर जिस दृढ़ता से अड़ा रहता है, वह इसी आत्मशक्ति द्वारा ही प्राप्त होती है। साध्य में साधक की अनन्यता, तल्लीनता तथा घना विश्वास भी इसी आत्मशक्ति की देन है।

साधन-पथ की विशेषताएँ

उपर्युक्त शब्दों में साधक के जिस स्वरूप की चर्चा की गई है, कुछ हेर-फेर के साथ वही स्वरूप साधन का भी है। वस्तुतः साधक अपनी साधना से जिन गुणों का अर्जन करता है, वे ही साधन को रूप प्रदान करते हैं। साधकों के अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार उनकी साधना अलग-अलग हो सकती है, किन्तु उनसे प्राप्त साधनों में कोई भेद नहीं होता। साधन में साधना और साधक का स्वरूप मिला होता है, इसलिए उनके साधनों में ऊपर से अन्तर दिखलाई देता है। साध्य के स्वरूप का भी उन पर प्रभाव पड़ता है इसलिए उनमें मौलिक एकता होती है। साधना ज्ञेय पदार्थ नहीं है और न वह किसी अन्य के अनुभव की ही वस्तु है। साधक ही उसका अनुभव करता है। साधक जब स्वयं इसका वर्णन करता है तो वह भी स्पष्ट नहीं कर पाता। वस्तुतः वह साधना और उसके द्वारा प्राप्त साधन का मिला-जुला रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। भारतीय साधना-जगत में तीन साधन-पथ प्रमुख रूप से मान्य हैं। बल्कि यदि यह कहा जाए कि चौथे की कोई कल्पना ही नहीं है तो अत्युक्ति नहीं होगी। यह बात केवल भारतीय साधना-जगत पर ही नहीं लागू होती, बल्कि विश्व की साधना पर भी इन तीनों पथों का स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु यदि इन तीनों साधनों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें, किसी में भी स्वतन्त्र साधन बनने की क्षमता नहीं है। ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वित रूप ही वास्तविक साधन है। जिसे हम ज्ञानपथ कहते हैं, उसमें भी भक्ति तथा कर्म अनिवार्य है। ज्ञान का अपना रूप भक्ति तथा कर्म से पृथक हो सकता है, किन्तु जब वह साधन की परिधि में आता है तो भक्ति और कर्म को नहीं छोड़ सकता। इसलिए हमारी यह मान्यता है कि भक्ति और कर्म से पृथक केवल ज्ञान मात्र जैसे साधन की चर्चा वास्तविक नहीं है। यही बात भक्ति और कर्मपथ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पथ एक ही है, साधक गण उसमें अपनी साधना और व्यक्तित्व को मिलाकर उसे अलग-अलग रूपों में देखते हैं। गीता में इसी समन्वित साधन-पथ की चर्चा है। ज्ञानमार्गी उसी को ज्ञानप्रधान और भक्तिमार्गी भक्ति-प्रधान कहते हैं। कर्मयोगी गीता में कर्मयोग का वर्णन मानते हैं। 'प्रस्थानत्रयी' के द्वारा विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का समर्थन किया है। इन सब अपूर्व सामंजस्य की बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे सारा जगत अखण्ड और एक है, भेदों की कल्पना हमारी अपनी है। उसी प्रकार साधन-पथ भी दो या तीन नहीं हैं। भेदों की कल्पना साधकों की अपनी है। किन्तु यह भेददृष्टि भ्रम नहीं है। यह तो साधक के स्वरूप चिन्तन की निष्ठा, विश्वास एवं दृढ़ता की परिचायक और स्वाभाविक है। अतः हम आगे जिस साधन-पथ की चर्चा करेंगे, वह ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वित रूप है। साधक जिस साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त होता है, वह केवल बोधमात्र नहीं है। उसमें साधक का भाव और कर्त्तव्य भी निहित रहता है। बोध, भाव और कर्त्तव्य का ही परिष्कृत रूप ज्ञान, भक्ति और कर्म है। साधन-पथ को पूर्ण बनाने में इन तीनों का समान महत्त्व है। बोध से साधन-पथ आलोकित तथा भ्रमरहित बना रहता है। और, भाव द्वारा पथिक (साधक) उसे रसमय बना लेता है, इससे तल्लीनता, लगन और अनन्यता बनी रहती है। कर्त्तव्य के द्वारा निष्ठा, जिज्ञासा तथा पथ पर बढ़ते चलने की दृढ़ता पैदा होती है। इन सब विशेषताओं से रहित

---

७. सम अभूतरिपु बिमद बिरागी, लोभामरष हरष भय त्यागी।
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई, यथालाभ सन्तोष सदाई॥
निन्दा स्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुंज॥ —तुलसी

८. विषय अलम्पट शील गुनाकर, पर दुःख-दुःख सुख-सुख देखे पर।—तुलसी

९. कठोपनिषद में आत्मशक्ति के स्वरूप को पूर्ण स्वाधीन बताते हुए इन्द्रियों और मन की स्थिति को इस प्रकार कहा है:—
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाणिवश्यन्ति सदश्वा इव सारथे॥ १।३।६
यहाँ इन्द्रियों का विनाश नहीं है, वे जीवन रथ के सिखाए-पढ़ाए उत्तम घोड़े हो जाते हैं। जीवन-साधना को अप्रतिहत गति से आगे बढ़ाने के लिए इन अश्वों की स्थिति अनिवार्य है। —लेखक

किसी साधन की कल्पना ही नहीं की जा सकती । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, साधन-पथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके स्वरूप का निर्माण साधक ही करता है । साधक की जीवन-साधना साधन के लिए उपकरण इकट्ठा करती है और साधक उसमें अपनी अनुभूति, भावना तथा क्रिया मिला कर उसे साधन का रूप दे देता है। इसीलिए अनेक साधकों का साधन-पथ मूलतः एक ज्ञात होता हुआ भी स्वरूपतः भिन्न होता है । मीरा, सूर, जायसी, कबीर, तुलसी आदि साधकों के पथ में पारस्परिक अन्तर ढूँढ़ा जा सकता है। यह अन्तर ही साधक का व्यक्तित्व है । साधन से साधक का व्यक्तित्व पृथक कर देने पर उसमें जो कुछ बचता है वही विशुद्ध साधन है। और, इसी विशुद्ध साधन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अनेक नहीं एक है ।

उपर्युक्त बातों के कारण साधन के स्वरूप में कुछ अनिवार्य अनुभूति साधकों को होती है, जैसे उसका अत्यन्त कठोर, दुर्गम तथा चमत्कारिक ज्ञात होना । कबीर जैसे साधकों ने तो अपनी इस अनुभूति को बहुत बार व्यक्त किया है । तुलसी ने भी कुछ हेर-फेर के साथ इसको स्वीकार किया है ।[१०] इसका एक कारण है । जब साधक साधन-पथ पर पूर्णतः अग्रसर हो जाता है, तभी उसे तत्सम्बन्धी वास्तविक अनुभूति होती है । इसके पहले साधक के हृदय में साधन के जिस स्वरूप का निर्माण हुआ रहता है, वह बिल्कुल बदल जाता है। साधन के स्वरूप के सम्बन्ध में बाहर से प्राप्त ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर साधक लौ लगाता है । किन्तु जब लौ लग जाती है तो पहला कल्पित स्वरूप नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर उससे सर्वथा नहीं तो पर्याप्त भिन्न उसका वास्तविक रूप आ जाता है । उस अवास्तविक एवं कल्पित पथ से साधक को वास्तविक पथ पर ले जाने वाला कौन-सा तत्व है ? या किन परिस्थितियों में ऐसा हो जाता है ? इसका निर्णय साधक के अनुभव पर निर्भर करता है। किन्तु तत्वतः ऐसे अनुभवों को निम्नलिखित रूपों में बाँटा जा सकता है । प्रथम तो इस स्थिति को उत्पन्न करने में प्रमुख हेतु साधक की साधना होती है । और इसीलिए साधक को यह अनुभव होता है कि "इस पथ पर आना कोई हँसी-खेल नहीं है ।"[११] दूसरे यह कि पथ इस चमत्कारिक ढंग से आलोकित हो उठता है कि यह विश्वास नहीं होता है कि "इसमें हमारा भी कोई प्रयत्न है ।" इसलिए उसे आत्मप्रकाश या प्रभु की कृपा (साध्य) के मत्थे मढ़ दिया जाता है । इसीलिए उसे स्वतन्त्र भी माना गया है । अर्थात साधन-पथ किन्हीं अन्य उपसाधनों की अपेक्षा नहीं रखता, वह अपने द्वारा ही लभ्य है ।

किन्तु सिद्ध साधक को साधन की इस दुर्गमता की अनुभूति भूत-कालिक अनुभूति जैसी होती है । उसकी तात्कालिक अनुभूति तो आनन्द स्वरूप ही होती है । साधन-पथ उसे दुखदायी नहीं सुखदायी प्रतीत होने लगता है । फिर तो साधक को प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती । जैसे सामान्य व्यक्तियों की आसक्ति लोक के ऐन्द्रिक विषयों में स्वाभाविक होती है उसी प्रकार साधन पथ पर बढ़ते चलना और उसके प्रति साधक की अनुरक्ति स्वाभाविक हो जाती है ।[१२] साधक को उस पर चलते रहने से रस विशेष (ब्रह्मानन्द) की अनुभूति होती है । साधन-पथ की यह सरसता जब चरम परिणति पर पहुँच जाती है तो साध्य के प्रति साधक उदासीन हो जाता है । बल्कि इसी को यों कहा जा सकता है कि साधन-पथ ही मंजकर साध्य का रूप ले लेता है । यद्यपि वह साध्य से भिन्न होता है । यहाँ पहुँच कर साध्य को प्राप्त करने की जिज्ञासा तथा उसके प्रति साधक की निष्ठा मूक हो जाती है । इसी स्थिति के कारण भक्त भक्ति को और ज्ञानी ज्ञान को ही साध्य स्वीकार कर लेता है । यज्ञ को ही ब्रह्म बतलाने का भी यही रहस्य है । यह साधन-पथ की चरम अवस्था है । इसीलिए यह भी कहा जाता है कि यह साधनावस्था नहीं सिद्धावस्था है । इस प्रकार साधन के स्वरूप को विकास-क्रम से निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

१-वह कल्पित स्वरूप जिसके आधार पर साधक साधना का प्रारम्भ करता है ।

२-कल्पित स्वरूप का विनाश और उसके स्थान पर वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति तथा दुर्गमता और चमत्कार का अनुभव होना ।

३-साधन-पथ की सरसता और उसके प्रति गाढ़ी अनुरक्ति ।

४-साधन की चरम अवस्था अर्थात साध्यावस्था ।

उपर्युक्त विकास-क्रम को अध्ययन की दृष्टि से रखा गया है । वस्तुतः साधन-पथ खण्ड-खण्ड करके या किसी क्रम से नहीं देखा जा सकता । यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें उपर्युक्त सभी बातें अनिवार्यतः उपस्थित ही हों ।

साध्य की स्थिति

साधक की सिद्धावस्था तथा साधन की चरम परिणति ही साध्य का स्वरूप है । साधक जहाँ साध्य के स्वरूप का चिन्तन करता है, वहीं अपने स्वरूप का भी चिन्तन करना उसकी अनिवार्य स्थिति होती है । बल्कि साध्य चिन्तन की अपेक्षा स्वरूप चिन्तन को विशेष महत्त्व दिया जाता है । साध्य और स्वरूप की चिन्तना जब एकाकार हो जाती है, तभी सिद्धावस्था आती है । इस प्रकार साध्य का निजी अस्तित्व बहुत कुछ अज्ञात है । साधनावस्था में साधक साध्य के जिस स्वरूप की चिन्तना करता है, वह बहुत कुछ अस्पष्ट रहता है । आगे चलकर वह जिस साध्यस्वरूप का साक्षात्कार करता है वह इससे सर्वथा भिन्न साधक का निजी साध्य होता है । सभी साधकों के साध्य

१०. यहि सर आवत अति कठिनाई. राम कृपा बिनु आइ न जाई । —तुलसी

११. कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहिं । —कबीर
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोप० १।२।७
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । कठोप० १।२।१२
कठोपनिषद ने प्राणिमात्र को उद्बोधन देते हुए इस प्रकार सजग किया है—
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१।३।१४

१२. पतीव पत्नि रुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः । —ऋग्वेद
कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभी के प्रिय दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥ —तुलसी

में पारस्परिक विभिन्नता का यही रहस्य है। उदाहरण के लिए तुलसी के राम, कबीर के राम तथा गांधी के राम मूलतः एक होते हुए भी साधक भेद से परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार सूर, मीरा और हितहरिवंश के कृष्ण में भी महान अन्तर है। इस अन्तर का कारण साध्य में साधक के स्वरूप का एकीकरण है। यही अन्तर साधनों में भी पाया जाता है। ईसा की अहिंसा, गांधी की अहिंसा, बुद्ध और महावीर की अहिंसा सब एक होते हुए भी परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु इस भिन्नता में मूलतः जो ऐक्य है, वही साध्य की वास्तविक स्थिति है। इस स्थिति का प्रत्यक्षीकरण साधक में ही होता है। साधक को अलग रखकर इस साध्य का साक्षात्कार करना किसी साधक के लिए भी सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि साध्य का कोई विशेष महत्त्व ही नहीं है। साधना-क्षेत्र के इतिहास का मनन करने पर साध्य के सम्बन्ध में हमें तीन प्रमुख धारणाओं का पता चलता है। पहली तो यह कि वह (साध्य) कभी एक नहीं रहा। उसकी स्थिति सर्वदा बदलती रही है। प्राकृतिक तत्वों से लेकर शून्य तक को साध्य माना गया है। दूसरे यह कि इस अनेकता में भी एकता की स्वीकृति सर्वदा मिलती रही है।[१३] तीसरी यह कि उसके चिन्तन या साक्षात्कार की अभिव्यक्ति सदा मूक रही है।[१४] कोई ऐसा सर्वमान्य साध्य निश्चित नहीं हो सका है जिसके सम्बन्ध में दो मत न हों। इसका परिणाम यह हुआ है कि साधना-क्षेत्र में जिज्ञासा की स्थिति सुदृढ़ हुई है। और इसके कारण पर्याप्त गम्भीरता, मनन एवं निदिध्यासन की प्रतिष्ठा भी हुई। इसी गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप विभिन्न साध्यों में ऐक्य की प्रतिष्ठा सम्भव हुई।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्य आधार होते हुए भी साधना क्षेत्र में साध्य का कोई विशेष योग नहीं है। साधक और साधन का उच्च विकास साध्य की स्थिति है। जब साधना क्षेत्र में साध्य की इस स्थिति को भुला दिया जाता है तो कृत्रिमता, पाखण्ड और दिखावे को प्रोत्साहन मिलता है। बुद्ध ने उपनिषदों के 'ब्रह्मवाद' का खण्डन इसीलिए किया था। उस समय 'अहम् ब्रह्मोऽस्मि' तथा 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों के पीछे साधना लुप्त हो चुकी थी। वस्तुतः 'अहमेव ब्रह्म' यह कथन या ऐसा मान लेना साध्य की स्थिति नहीं है।[१५] जिन अनुभूतियों ने साधक को इस कथन के लिए प्रेरणा दी है, उन अनुभूतियों के मूल में ही वास्तविक साध्य की स्थिति है। तुलसी के 'सियाराम मय सब जग जानी' इस कथन का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार की स्थिति से यह कथन अभिव्यंजित हुआ है, वह स्थिति ही वास्तविक है। अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में महान अन्तर होता है। वाणी की अभिव्यक्ति द्वारा साध्य स्वरूप की अनुभूतियों का आकलन या निर्धारण नितान्त भ्रमपूर्ण है। साधक स्वयं इस बात का अनुभव करता है। जब अनुभव करने वाला ही उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति में अपने को असमर्थ पाता है तो यत्क-थंचित आह्लाद के प्रवाह में कथित साधकों की वाणी के आधार पर साध्य का स्वरूप निर्धारण कहाँ तक उचित है। हाँ, उस वाणी के आधार पर हम अपनी जिज्ञासा और तदनुसार साधना को प्रेरणा दे सकते हैं। साधकों की वाणी का यही फल भी है। भौतिक विज्ञान की तरह आध्यात्मिक खोजों का पूर्णतः लाभ सर्वसामान्य जन नहीं उठा सकता। और न साधक ही अपनी खोज किसी को इस प्रकार सौंप सकता है, जिस प्रकार अणुरहस्य की खोज दूसरे को सौंपी जा सकती है। साधना-क्षेत्र की स्थिति को लोक में प्रचलित एक कहावत से समझा जा सकता है जिसमें कहा गया है कि 'निज मरण के बिना स्वर्ग (मरणोत्तर स्थिति) नहीं देखा जा सकता।' लोक में भी लेन-देन या विनिमय पदार्थ का ही होता है गुण का नहीं। गुण तो निज प्रयत्नों द्वारा ही अर्जित किया जा सकता है। साध्य भी साधक की साधना द्वारा अर्जित इसी प्रकार का तत्त्व है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन पर सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना-क्षेत्र में साधक की ही स्थिति सबसे सुदृढ़ और स्थायी है। साधन और साध्य का प्रभाव या सत्ता साधक पर ही निर्भर है।

---

१३. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यस्स गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राबहुधा वदन्त्यग्निं, यमं मातरिश्वानमाहुः। —ऋग्वेद
एकस्यात्मनो न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। निरुक्त—दैवतकाण्ड

१४. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—कठोपनिषद २।३।९

राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी —तुलसी

१५. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ कठ० २।३।१२
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥ कठोप० १।२।२३
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।—तुलसी

क्षारं जलं वारिमुचः पिबन्ति, तदेव कृत्वा मधुरं वपन्ति
सन्तस्तथा दुजन दुर्वचांसि पीत्वा च सूक्तानि समुद्गिरन्ति।
"बादल समुद्र का खारी जल पीते हैं और मीठा जल बरसाते हैं, उसी तरह दुर्जनों की गालियाँ खा कर भी सन्तजन मधुर सूक्तियाँ बरसाते हैं।"

एक के बाद एक

एम० गोविन्दन

"कुंजम्मद ।"

"हूँ......।"

"देखो तो, समुद्र कितना सुन्दर है ?"

"हाँ, हाँ, ज़रूर सुन्दर है"—शैतान बच्चों की तरह हो-हल्ला मचाने वाले नील समुद्र के ऊपरी हिस्से को देखते हुए कुंजम्मद बोला ।

"समुद्र के उस पार क्या है ?"

"द्वीप है ।"

"द्वीप के आगे ?"

"द्वीप के आगे...द्वीप के भी आगे......"

कुंजम्मद थोड़ी देर रुका, फिर बोला—"जन्नत है ।"

"जन्नत के भी आगे ?"

"देखो पात्तू", कुंजम्मद को गुस्सा आ गया । वह बोला—"जन्नत के आगे कुछ है ही नहीं, समझी ?"

पात्तू को बड़ा अचरज हुआ । उसकी बड़ी-बड़ी मस्तानी आँखें खिल-सी गईं ।

"क्या तुम मुझे जन्नत ले चलोगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"ऊँ हूँ ।"

कुंजम्मद नौ बरस का था और पात्तू सिर्फ़ सात की । दोनों समुद्र के तट पर सीपी इकट्ठा करने आए थे । वहाँ से थोड़ी दूर पर बहुत-सी छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं, मुर्गीखाने-जैसी । वहीं पर वे रहते हैं—पात्तू और कुंजम्मद और उनके जैसे हज़ारों मछुए । सूरज के निकलने पर उनका 'दिन' शुरू होता है और उसके डूबने पर उनकी 'रात' । इन लोगों की ज़िन्दगी बिल्कुल अजीब-सी लगती है—आधी पानी में और आधी ज़मीन पर, शायद, मछलियों की तरह । उनकी दुनिया होती है—गरजती लहरों की, खौफ़नाक तूफ़ानों की, छोटी-छोटी नावों की और बड़े-बड़े जालों की ।

हज़ारों, सैकड़ों ऊँची लहरें एक के बाद एक रेतीले तट से टकरा कर टूट जाती हैं और छिन्न-भिन्न हो समुद्र में जा मिलती हैं । इसी तरह ये मछुए भी समुद्र की लहरों से टकरा-टकरा, जीवन और मृत्यु के बीच झूलते-झूलते काल के अथाह समुद्र में एक के बाद एक डूब जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

"पात्तू, तुम अब नन्हीं बच्ची नहीं रहीं, समझीं ?" एक दिन माँ ने पात्तू से कहा । वह माँ की बात ताड़ गई । कुंजम्मद के साथ वह पूरी आज़ादी के साथ खेलती थी, उसे रोकने का यह एक हल्का इशारा था । अब वह बच्ची न भी हो, तो क्या हर्ज है ? कुंजम्मद भी तो बच्चा नहीं—उसने सोचा । बूढ़े-बुज़ुर्ग नौजवानों के मनोभावों को समझ नहीं पाते ।

माँ-बाप इधर से बाहर निकले नहीं कि पात्तू उधर से चुपचाप कुंजम्मद की खोज में निकल पड़ी । वह कहीं बाहर होगा ही, किसी नारियल के पेड़ की आड़ में ।

एक दिन की बात है । पात्तू को देखते ही कुंजम्मद की आँखों में रौनक-सी आ गई । वह उससे बहुत कुछ कहना चाहता था । लेकिन शरमा गया । शर्मीली आँखों से वह उसे निहारता रहा । पात्तू भी शर्मा रही थी ।

"धत, उस चिड़िया को देखो तो !"—वह कुंजम्मद का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित कर उछलती-कूदती झोंपड़ी के अन्दर दौड़ गई ।

कुंजम्मद ने इसकी ज़रा भी प्रतीक्षा न की । वह स्तब्ध-सा रह गया । ज़रा शर्मिन्दा भी हुआ, साथ-साथ नाराज़ भी ।

"अरी पात्तू, इधर आओ तो ।"

"क्यों साहब, क्या बात है, ?" उसने घर के अन्दर से पूछा ।

"इधर ज़रा निकलो तो ।"

वह बाहर आ गई । उसकी जवानी उभरी आती थी । पर कुंजम्मद को लगा कि पात्तू अब भी वही सात बरस की नादान लड़की है ।

"अरे कहो तो" कुंजम्मद ने पूछा ।

"क्या ?"—वही नादान सवाल ।

"क्या तुम्हें मंज़ूर है ?"

"क्या बताओ तो सही"

"मैं शादी करना चाहता हूँ ।"

"अच्छी बात है । कौन है दुलहिन ?"

"तुम"—आख़िर उसने अपनी सारी हिम्मत समेटकर कह ही डाला

"उँ हूँ । अब नहीं, कुंजम्मद । तुम्हारे पास पैसा है क्या ?"

"नहीं तो........."

"नहीं तो ?"

उसने कुछ और कहना चाहा । पर बिना कुछ बोले ही मुँह लटकाए वह अपने झोंपड़े को लौट गया । उसे ऐसा लगा मानो किसी ने थप्पड़ मार दिया हो । उसने उसे अपना दिल दिया, मगर......।

उस दिन पात्तू की भी तबीयत ज़रा बिगड़ी-सी रही । उसे यह ख़याल भी न था कि मामला इस तरह बढ़ जाएगा । उसके भी अपने मनसूबे थे । औरतें तो हमेशा अपनी मुरादें अलग बना लेती हैं ।

× × ×

एक दिन पात्तू पानी लाने, कुएँ की ओर जा रही थी । कुंजम्मद की माँ ने रास्ते में उससे पूछा—"पात्तू, कुंजम्मद के बारे में तुम कुछ जानती हो ? मालूम होता है, कुछ पता ही नहीं चलता है ।"

पात्तू के शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। सो···वही बात हुई। उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। उसने पूछा—"काकी, वह वापस नहीं आएँगे ?"

"क्या जानूँ, अल्लाह की मर्ज़ी। कौन जाने ?"

शाम को वह समुद्र के किनारे गई, जहाँ वे दोनों पहले खेला करते थे। उसने रेत पर अंगोछा बिछाया, घुटनों के बल बैठ गई और नमाज़ पढ़ने लगी।

दिन हफ्ते हो गए, हफ्ते महीने और महीने बरस। पर कुंजम्मद नदारद था। उसकी माँ रोज नमाज़ पढ़ती "या खुदा! इस नादान बच्ची को दुआ दो! क्या वह मिलेगा ?"

× × ×

"ओह! अरे बाप रे!" मारे डर के वह चीख पड़ी। वह कुएँ से पानी भर रही थी। उसके पीछे खूबसूरत कपड़े पहने, बड़ी-बड़ी मूँछों वाला एक नौजवान आकर खड़ा हो गया।

"क्यों री, पात्तू, तूने मुझे पहचाना नहीं ?"

हाँ, पात्तू ने खूब पहचान लिया था। फिर भी···

"क्यों बेटी ?" पात्तू की माँ चिल्लाती हुई बाहर आ गई।

"माँ··माँ···मैंने···मैंने एक जि···जि···जिन देखा। ओह! वह गायब हो गया।"

बूढ़ी के होंठों पर हलकी मुस्कान फैल गई। वह जान गई, वह जिन कौन है? उसने सोचा, जवान लोगों में बूढ़ों का क्या सरोकार? उसके अपने भी तो बहुत-से काम हैं, रसोईघर में। अंगीठी पर जो मछली रखी थी, उबली जा रही थी। अगर ठीक नहीं हुई, तो बूढ़ा उसके सिर पर सवार हो जाएगा। वह उन दोनों को अकेले छोड़, रसोईघर में चली गई।

"तुम मुझे भूल गईं क्या ?"

"नहीं तो, वह कैसे ?"

उसको खुशी भी हुई, और दुःख भी।

कुंजम्मद ने ठंडी साँस ली। हाँ, पात्तू उसकी अपनी है, अपनी ही है।

"देखो पात्तू, मैं तैयार हो गया हूँ।"

वह इधर-उधर खुशी के मारे चहलक़दमी करने लगा। ऐसा लगता था, जैसे उसने एक सल्तनत पर फ़तह पा ली हो। चहलक़दमी करते-करते उसने एक बीड़ी सुलगाई, और कोई रूमानी गाना गुन-गुनाने लगा।

"देखो पात्तू। खबरदार! जब मैं अगली बार आऊँगा, तो कुंजम्मद होकर नहीं, तुम्हारा दूल्हा बनकर आऊँगा। समझी ?"

पात्तू की आँखें शर्म से झुक गईं। कुंजम्मद किसी कुश्ती में विजयी पहलवान की तरह छाती तानता चला गया।

× × ×

एक दिन पात्तू की माँ कुंजम्मद की माँ से बोली—"उन दोनों का बड़ा मेल-जोल है।"

"हाँ, हाँ, मुझे मालूम है ?"

"दोनों बचपन से ही साथ-साथ खेलते जो आए हैं।"

"हाँ, हाँ, बिलकुल बचपन से ही।"

"देखो, हम बदनाम हो जाएँगे। और तुम जानती ही हो, लोगों ने बदनाम करने की ठान रखी है।"

"हाँ, हाँ बिलकुल सही। मैं उसे खूब जानती हूँ। कुंजम्मद के अब्बा शाम को जब समुद्र से वापस आएँगे, मैं मना लूँगी।"

× × ×

उन दोनों की इच्छा पूरी हुई। उन दोनों का निकाह पढ़ा गया। वे दोनों अपनी रूमानी दुनियाँ में बादशाह और बेगम बने। उनके राज में दख़ल देने वाला कोई नहीं था।

वक़्त तूफ़ान की तरह गुज़रता जाता था। पर वे अपनी उल्फ़त में मशगूल थे।

एक दिन माँ ने कुंजम्मद से कहा—"देखो बेटा, बाप रोज़ कमज़ोर होते जा रहे हैं।"

माँ की बात ने उसे सपनों की दुनियाँ से असली दुनियाँ में खींच लिया। उस तरह मौज उड़ाने लायक अमीर वह नहीं था। उसे काम करना चाहिए, अपना पुश्तैनी पेशा अपनाना चाहिए। नहीं तो······ नहीं तो सब को, उसकी प्यारी पात्तू को भी भूखों मरना पड़ेगा। बूढ़ा बाप कितने दिन तक अकेले कमा कर उनको खिला-पिला सकता है ?

एक दिन पात्तू को कै हुई। कुंजम्मद बहुत घबरा गया। माँ ने उसे समझाया—"घबराओ नहीं। बहू के पैर भारी हो रहे हैं। तुम मर्द क्या जानो इन बातों को ?"

कुंजम्मद माँ की ओर ताकता रह गया। "अरे बुद्धू! हमारी रोटी खाने एक मुँह और आने वाला है। कुछ समझे ?"

हाँ, उसे ज़रूर कोई रोजगार चाहिए। कुंजम्मद अपने बाप से मछली पकड़ने का हुनर सीखने लगा। दोनों एक साथ समुद्र जाते, दिनभर मछली पकड़ते और तब तक वापस नहीं आते, जब तक अँधेरा न हो जाता। घर पहुँचते ही, वह पात्तू के पास दौड़ जाता और पूछता :—

"क्यों री पात्तू! तुम कैसी हो, आज ?"

"मैं अच्छी तो हूँ। और तुम ?"

असल में दोनों की तबीयत बिगड़ी हुई थी। पर दोनों अपनी तकलीफों को ज़ाहिर नहीं करते थे। होने वाले बच्चे का खयाल आते ही वे सब कुछ भूल जाते थे। बच्चे की हँसी और खेल-कूद की सुनहरी दुनियाँ में अपने को भूल जाने के लिए उतावले हो रहे थे।··· बूढ़ा नारियल के छिलके के अन्दर कुछ पैसा बचाता जाता था। एक दिन बूढ़े ने बुढ़िया से कहा—"यह हमारे पोते की सुन्नत के लिए है।"

"तुमको कैसे मालूम, वह लड़का होगा ?"

"अरी पगली! वह मुझे पहले ही मालूम है। उत्तन के घर में पहली संतान कभी लड़की नहीं हो सकती। समझी ?"

"लड़की हो या लड़का। सब कुछ बिना तकलीफ़ के हो जाए, यही काफ़ी है।"

उत्तन की भविष्यवाणी सच निकली। पात्तू ने एक बच्चे को जन्म दिया। कुंजम्मद ने बच्चे को अपनी गोद में ले, उससे प्यार भरी आवाज़ में पूछा—"अरे बदमाश, इतने दिन तू था कहाँ?"

बच्चे ने अपनी निजी भाषा में कुछ जवाब दिया। इस उल्लास-भरे दृश्य को देख, बुढ़िया ने अपने पति से कहा—"जिस दिन मैंने कुंजम्मद को जन्म दिया था, तुम अन्दर घुसे तक नहीं मारे शर्म के! अब देखो अपने लाड़ले को।"

बूढ़ा बोला—"अब ज़माना बदल गया है। वह पच्चीस साल पहले की बात है न?" दोनों बूढ़े लोगों को पुरानी बातों की याद कर ज़रा खुशी भी हुई और रंज भी।

बच्चे के पैदा होने पर, कुंजम्मद एकदम बदल गया। अब वह बाप था। अच्छे बच्चे का अच्छा बाप। उसके लिए जीवन के मानी हैं काम, काम, न आराम, न आमोद-प्रमोद। खुद ज़िन्दा रहने और अपनी बीवी-बच्चों को, अपने माँ-बाप को ज़िन्दा रखने के लिए उसे जी तोड़ काम करना चाहिए। बाहरी दुनिया सूनी-सी दिखाई दी। उसकी सारी ज़िन्दगी, अपने परिवार और काम तक सीमित हो गई। अड़ोस-पड़ोस वाले कहा करते—"देखो उस जवान को। उसकी किस्मत कितनी अच्छी होगी जिसका ऐसा लड़का हो।"

रमज़ान नज़दीक आ रहा था। उत्तन इतना कमज़ोर हो गया था कि वह समुद्र तक नहीं जा सकता था। नन्हें बाबू के लिए यह दूसरा रमज़ान था। कुंजम्मद ने तय कर लिया कि घर पर जो दावत हो अपने दोस्तों को भी उस में बुलाएँ। उस का इन्तज़ाम घर पर बाप खुद कर लेगा।

समुद्र पर अपनी मदद के लिए कुंजम्मद ने अपने पड़ोसी को भी बुलाया। बेहद खुशी और जोश के साथ वे समुद्र की तरफ़ निकल पड़े—उस चौड़े समुद्र के सीने की ओर, जहाँ उनकी जीविका थी।

उस दिन उसकी किस्मत जग गई, उन्हें बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलीं। उसने और भी मछलियाँ पकड़नी चाहीं। और भी……… और भी……रमज़ान बड़ी धूमधाम से मनाना चाहिए, बड़े ठाटबाट से। उसके लिए पैसे चाहिएँ। नक़द पैसे के लिए बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलनी चाहिएँ। साथियों की सलाह की परवाह किए बिना वह आगे बढ़ा……और आगे बढ़ा……और भी आगे……।

शाम हुई। उत्तन घबराया। लड़का अभी वापस नहीं आया था। यह बिलकुल असाधारण बात थी।

"लड़का कहाँ है?" उसने अपनी बीवी से पूछा।

"शायद वह सीधे बाज़ार गया होगा, नए कपड़े खरीदने।"

"तो भी……क्या हैदर वापस आया?"

"हाँ तो।"

"और अज़ीज़?"

"वह भी।"

"वीरायचू के लड़के भी?"

"शायद लौट आए।"

"समुद्र के किनारे जाकर देखना अच्छा होगा।"

"पात्तू पहले ही गई हुई है।"

"मैं भी जाऊँगा।"

"मैं भी साथ जाऊँगी।"

बच्चे को गोद में लिए, पात्तू पहले ही समुद्र की तरफ़ चली गई थी। समुद्र ज़ोर से गरज रहा था, जैसे हज़ारों शैतान एक साथ गरजते हों। चारों तरफ़ अँधेरा फैल गया था। वह अकेली किनारे-किनारे चली गई। यह क्या? नाव? हाँ, नाव, कुंजम्मद की। लेकिन बिना कुंजम्मद के।

"मेरा बाप कहाँ है, माँ"—बच्चे ने पूछा।

पात्तू की पुरानी याद ताज़ा होके, सामने चक्कर काटने लगी। एक बार कुंजम्मद ने मज़ाक में उससे कहा था, मैं तुम्हें भी ले चलूँगा। मगर, वह अकेला ही गया।

× × ×

उत्तन जाल बुन रहा था। पाँच बरस का बच्चा अपने दादा के पास आ बैठा।

"दादा के बच्चे को क्या चाहिए?"

"बुनने के बाद जाल मुझे दे दो।"

"किसके लिए?"

"उस शैतान को पकड़ने के लिए, जिसने मेरे बाप को मारा था।"

इनकी बातचीत रसोई घर में पात्तू के कानों में पड़ी। बच्चे के समुद्र जाने का वह ख़याल ही न कर सकती थी। वह दौड़ी-दौड़ी बाहर आई और उत्तन के हाथ से वह जाल छीन लिया और टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

"नहीं, हर्गिज़ नहीं। मेरा लड़का समुद्र नहीं जाएगा। भीख माँगूँगी, चोरी करूँगी, सब कुछ करूँगी। पर उसे मछुवा बनने नहीं दूँगी।"

वह चिल्ला उठी—"मेरे बेटे, ये लोग तुमको मार डालेंगे।"

"तुम नहीं समझतीं बेटी! हमारी जात का पेशा ही यही है।"

बूढ़ा दीनता से बोला—"अगर खुदा की मर्ज़ी हो तो किस्मत खुल जाएगी।"

"ज़िन्दगी, यह ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगी का हलाल है!—" पात्तू चीख़ उठी—

"मैं अपने लाल को हलाल होने न दूँगी। आप क्या भूल गए, उनकी बात?"

"हमें याद है, पात्तू। अच्छी तरह याद है। लेकिन……।"

यह बुढ़िया की आवाज़ थी।

वह वहाँ खड़ी थी। वह उसके मृत पति की माँ थी। बाल पके, शरीर कुबड़ा और काँपता हुआ। चमड़े से ढँकी कुछ हड्डियों की बोरी-जैसी वह हो गई थी अब। उसने कुंजम्मद को दस महीने तक अपनी कोख में ढोया था। उसने उसके जन्म की मीठी पीड़ा का अनुभव किया था और मृत्यु की कठोरतम वेदना का भी। पात्तू ने कुछ कहना तो चाहा, लेकिन वह बोल न सकी।

समुद्र के तट से किसी नौजवान मछुए की सुरीली आवाज़ आई। भरे दिल से उसने वह गाना गौर से सुना। वही गाना जो उसका कुंजम्मद गाया करता था :—

(शेष पृष्ठ ४९ पर)

प्रगतिशील कविता में प्रेम की अभिव्यक्ति

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

निराला, पंत और दिनकर आदि ने हिन्दी कविता को 'अहं' और 'स्व' के सीमान्त से उबार कर नवयुग के सृजन में प्रवृत्त किया, इस बात से प्रायः सभी समीक्षक सहमत हैं। नवोत्थान की इस परम्परा को नई दिशाओं तक खींचने में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा 'अंचल' का भारी हाथ है। बच्चन ने गीत के टुकड़ों पर पारिवारिक परिवेश को कुछ इस कद्र उठाया है कि सामाजिक सम्बन्धों के उद्वेग स्वतः बेकाबू हो उठे हैं। सच तो यह है कि छायावादी आध्यात्मिकता तथा सर्वात्मवादी कल्पनाशीलता से उत्तर-छायावाद की प्रेम-भावना को मुक्त करने में बच्चन सबसे आगे रहे हैं। उन्होंने ऐन्द्रिक उल्लास और विषाद को बड़ी सरलता से ढालकर रख दिया है। किन्तु नरेन्द्र के गीतात्मक बोल कुछ दूसरे ढंग से उभरते हैं। उनमें अनुभूति की तीव्रता अधिक होने के कारण फेनिल भावुकता अथवा प्रतिक्रियाजन्य शिथिलता ढलती ही नहीं है। दैनिक सम्बन्धों की बहर पर आगे बढ़ने की वजह से नरेन्द्र का लयात्मक आवेश कहीं भी ढीला नहीं पड़ता। यह सच है कि छायावादी रचनाओं के अतिशय प्रभाव के कारण पस्ती और अनास्था की फ़िज़ा नरेन्द्र की कई कविताओं को अपने में समोकर खीझ उठती है। किन्तु उनकी गीतिधारा परम्परागत रूपक-प्रतीकों का मोह छोड़कर सामान्य जीवन के उपमानों का सधे हाथों गढ़ाव ले लेती है।[1] 'नवीन' की रचनाओं में लोकोन्मुख सामाजिक यथार्थ पिछली परिपाटी से आगे रेंगकर, मानवीय संवेदना गहरी कर सकने वाली तीखी पकड़ और विद्रोह ग्रहण कर सका है। उनकी तत्कालीन रचनाओं में ध्वंस के प्रति तीव्र मोह देखने को मिलता है। आगे चलकर उनकी विद्रोहात्मक भाव-स्थिति निराशा और अनास्था सँवार कर युग के वज़न को अपलक निहारती रही।

> आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है खाली तूणीर हुआ।
> विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ॥

इन पंक्तियों में इस बात के स्पष्ट चिन्ह मिल जाते हैं। लेकिन 'अंचल' इन सब से भिन्न कोटि के रचयिता हैं। उन्होंने साफ़ तौर पर अपनी प्रेयसी को नेह की गरिमा से प्रेरित कर उसे उदात्त प्रेरणाओं के अखण्ड स्रोत के रूप में उतार दिया है। उनके गीतों में प्रेम जिजीविषा की भावमय प्रक्रिया और तद्गत तन्मय उन्मेष के रूप में अभिव्यक्ति पाता है।[2] अंचल ने न तो वैष्णवी भावनाओं का आधार हेरा है और न प्लेटोनिक आवरण की टोह लगाई है। गीतों में प्रणय का विह्वल रस उतार देना उनके रचना-कौशल और लोकमन की गहरी पहचान का द्योतक है। रसमय संयोग और उल्लास का जब कभी वह अंकन करते हैं, उनके छंदों के ठप्पे पर बिसरी यादों की छुअन निस्तरंग चेतना को गति और आस्था देकर तरसती-सी लख पड़ती है।[3]

छायावादोत्तर काल के इन गीतकारों के साथ कई बातें सामान्य रूप से सच हैं। इन गीतकारों ने हिन्दी गीति-कविता में लयात्मक प्रस्फुटन और बातचीत के लहज़े पर बल देकर नए उत्थान की दिशाएँ स्पष्ट कर दी हैं। यौवन और सेक्स, इन रचयिताओं की भावात्मक हस्ती के रूप में ग्रहण किए गए हैं। इस प्रकार, छायावादी खेवे के परवर्ती गीतकारों ने प्यार की मस्ती और अनजान घड़ियों के अवसाद को बोलचाल की भाषा में उतार कर कविता को जन-जीवन के अति समीप लाने का भरपूर यत्न किया है।

---

१. गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि वेला
देख पाओ यदि कदाचित क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूल का बादल अकेला।

फिर धधक बुझ जाए जब दिन की चिता भी
अस्थि-फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द तारक
व्यर्थ भर लाना न लोचन॥ —नरेन्द्र शर्मा

कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सम्मुख
क्षण-भर को तो दिन-भर के सब था भूल गया, श्रम-सुख-दुख,
सहसा सफ़ेद दीवारों पर आई हल्की-सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया,
पर मुड़कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँस कर निकली
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर बदली। —नरेन्द्र शर्मा

२. भरे तुम्हारी याद तृषित मन मेरा
है खग का कितना सुनसान बसेरा!
बाहर बरस रही सपनों की शोभा नभ से झरझर
जैसे सुषमा के मुकुलों का फूट पड़ा रस भू पर,
भरा विरह का सिन्धु, बीच में,
चन्द्र-ज्वाल सी दीप रही तुम उस तट,
मेरे प्राणों का कोकी तुम्हें पुकारे
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मनमारे। —अंचल

३. अब तक प्रिय, मैं रही तुम्हारी, अब हो गई पराई
मेरे आँचल में तेरी साँसों का स्वर भर आता
सोच रही मैं जली आग से या हूँ गई बुझाई
शेष हो गया प्राणों का सुख स्रोत, हृदय की बातें
मधुर जागरण मादक निद्रा की वे क्वारी रातें
आज शिथिल बाँहों के बंधन चुम्बन मंत्र न गाते
लगता यों प्राणेश मुझे, मैं उमड़ी बरस न पाई। —अंचल

किन्तु निराला की सामाजिक भावधारा, पंत की जनपदीय शोभाश्री और स्वाधीनता-आन्दोलन की भूमि से उपजते हुए व्यापक जन-जागरण को नई भाव-दिशाओं की मंज़िल तक मोड़ने वाले कवियों में गिरिजाकुमार माथुर, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, केदार नाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, महेन्द्र भटनागर तथा वीरेन्द्र कुमार जैन के नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कविता को सामाजिक धरातल पर धरकर इन रचयिताओं ने जन-जीवन से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित किया और दड़बों की रेत पर तरसती ज़िन्दगी से भावों का आवेग और तीखापन ग्रहण किया। हिन्दी कविता के रोमांटिक उत्थान का व्यक्तिपरक विद्रोह अब सामाजिक रूप में प्रकट हुआ। लोक-मंगल की युग-प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उत्तर-छायावाद की कविता-धारा स्थितिशीलता तथा उसके दमघोंटू वातावरण से छूटकर तत्कालीन जीवन-मूल्यों और जन-भविष्य के अंकन में सफल साबित हुई। नई सामाजिक चेतना से युक्त होने के कारण यह कविता-धारा 'प्रगतिवाद' या 'प्रगतिशील कविता' के नाम से पुकारी गई। कुछ समीक्षकों के लेखे प्रगतिशील कविता मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की साहित्यिक परिणति है और उसमें नारों की शुष्कता के सिवा कुछ है ही नहीं। किन्तु ऐसा कहना प्रगतिशील कविता के पूरे दौर को नज़र अन्दाज़ कर जाना है, सच तो यह है कि कविता के भीतर ठेठ दैनिकी तथा जन-समाज की रस-मग्न तन्मयता देखकर वे विरोधी कवि और आलोचक भीतर-ही-भीतर अपनी हीन भावना महसूस करते हैं और हिन्दी कविता की सामाजिक धारा के पथावरोध की ख़ातिर नए-नए शगूफ़े रचते हैं। हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा न तो कम्यूनिस्ट आन्दोलन से प्रेरित है और न किसी स्थिर राजनीतिक मतवाद पर आधारित। वह पिछली काव्य-परम्परा के सबल और चेतन जीवन-तत्त्वों की कोख से जन्मी है। उसकी भाव-दिशाओं के विकास में व्यापक लोक-जागरण और मुक्तिकामी जन-समुदाय की गतिमय आस्था का महत्त्वपूर्ण 'रोल' है।

जन-समाज की संघर्षशील चेतना को पौरुष-दृप्त तेज तथा नवनिर्माण की आस्था से अनुप्राणित कर प्रगतिशील रचयिताओं ने लोकोमोटिव को जगाया है तथा राष्ट्र के जीवन-रथ को पूरे वेग से मोड़ दिया है। यह बात एकदम सही है कि प्रगतिशील कविता में जन-समाज की देह को विद्रूप ओठों से चूमकर रक्ताक्त कर देने वाले आदमखोर वर्ग-समाज के प्रति ध्वंस का स्वर है, इस ध्वंसात्मक तीव्रता के पीछे अनटूटे सपनों की विलम्बित आस्था है, इस मांगलिक विश्वास के पीछे स्वस्थ निर्माण की भूख है।[४] मानना होगा कि इन रचनाकारों के प्रयत्न से हिन्दी कविता में सामाजिक सम्बन्धों का निश्छल अपनाव छंदों के टाँके खोलकर एकाकार हो गया है। उसी प्रगतिशील काव्यान्दोलन का यह प्रतिफल है कि आज के नवीन हिन्दी साहित्य में भावों के प्रति आस्था और विश्वास का स्वर बड़ी तीव्रता से उठ रहा है।[५] नवीन हिन्दी कविता में भावधाराओं की गति निश्चित मंज़िल की ओर बढ़ रही है। छांदसिक विवर्त-वस्म के चरमराते ही, भावों की प्रधानता प्रायः सब कहीं देखी जा सकती है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रगतिशील कविता में संघर्ष और सृजन के साथ सौन्दर्य और प्रेम की भी बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। प्रकृति की विभिन्न मुद्राओं के चित्र उरेहकर प्रगतिशील रचनाकारों ने अपनी तीव्रतम सौन्दर्यानुभूतियों को साकार कर दिया है। छायावादी रचयिताओं के माफ़िक इन लोगों ने मानवेतर प्रकृति को मन की मूर्ति के रूप में न उतार कर उसे कर्म-मुखर वास्तविकता के रूप में अभिव्यक्त किया है। 'पूस मास की धूप सुहावन, घिसे हुए पीतल-सी पाँडुर' में नई प्रगतिशील कविता की अकूत संभावनाएँ भरी पड़ी हैं। 'हवा हूँ, हवा में बसन्ती हवा हूँ', 'केसर रँग रँगे वन', 'सतपुड़ा के घने जंगल' तथा 'पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री' आदि कविताएँ हमारी इस धारणा को बल देती हैं कि प्रगतिशील कवियों ने केवल मछुओं के नंग-धड़ंग छोकरों एवं बदसूरती के बेनूर चेहरों को ही चित्रित न कर प्राकृतिक सुषमा को भी सधे हाथों मूर्त्त कर दिया है।

ग्राम-प्रकृति की चित्रात्मक अभिव्यक्ति के लिहाज़ से प्रगतिशील कवियों की पहुँच यथार्थवादी है। देखे-अनदेखे जनपदों का स्थानिक अनुषंग जब हमारी आँखों के आगे उभरने लगता है, तब यह अहसास होता है कि प्रगतिशील कविता में जनपदीय विशेषताओं की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है। आम, लीची, पीपल, बाँस, तालमखान, कटहल और लहटोर से लेकर मिट्टी की ख़ुशबू में डूबकर लहराने वाले स्वर्णिम अन्नसिन्धु तक छंद की लकीरों पर इस क़दर रच उठते हैं कि ग्राटेस्क की पगडंडी में ग्राम-प्रकृति अपनी विशिष्ट गंध के आँचल फैला देती है और 'चिल्ला जाड़ा' तथा 'झाँय झाँय करती दुपहरिया' में स्वेद से लथपथ धरती के बेटों की आत्माएँ मिट्टी के मद में घुलकर मुखरित हो उठती हैं।

---

४. एक नहीं सौ-सौ गंगा को राह धराकर
   यह जन-बल का मंत्र-भगीरथ आगे आकर
   नगपति की अतिरिक्त कृपा पर अंकुश देगा
   स्वेच्छाचारी महामेघ को कैद करेगा। नागार्जुन

   हरा-भरा संसार है आँखों के आगे
   ताल भरे हैं खेत भरे हैं
   नई-नई बालें लहराएँ
   झूम रहे ये धान हरे हैं
   झरती हैं झीनी मंजरियां
   खेल रही हैं खेल लहरियां
   जीवन का विस्तार है आँखों के आगे। —त्रिलोचन

५. "किसी युग में कविता रीति, छन्द, अनुप्रास आदि के कठोर बंधनों में बँधी हुई थी। आज के युग में कविता के वे बंधन टूट गए हैं और उस क्षेत्र में भी भाव ही सर्वाधिक प्रधान बन गया है।"
   —चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ('कहानी'—'हिन्दी कथा साहित्य की समस्याएँ' —जनवरी १९५६)

इसके अलावा स्वस्थ पारिवारिक प्रेम को अभिव्यंजित कर इन रचयिताओं ने अपनी अपूर्व प्रतिभाओं के छंद खोल दिए हैं। दैनिक सम्बन्ध-भावना से प्रेरित होकर ऐसी ढेर-सी रचनाएँ गढ़ी गई हैं जिनमें प्रेम के पारिवारिक पक्षों के नक्श-नक्श निखार दिए गए हैं। प्रेयसी को सामंती बन्धन से मुक्त करने के साथ-साथ प्रगतिशील कवियों ने उसे सामाजिक एवं आर्थिक बन्धनों से भी मुक्त करने का अथक प्रयास किया है, नारी को सपाट सामाजिक धरातल पर रखकर उससे निर्माणोन्मुख गति और आस्था का दान माँगा है। प्रयोगवादी रचनाकारों की तरह ये लोग दमित वासना या फ्रायडीयन सेक्स के शिकार नहीं हैं वरन् निहायत स्वाभाविक ढंग से पारिवारिक सम्बन्ध-भावना को उभार कर रख देना, इन लोगों की विशेषता है।

गिरिजाकुमार माथुर ने स्वस्थ पारिवारिक प्रेम को कुछ इस अन्दाज़ से टेर दिया है कि प्रेम मध्यवर्गीय समाज की ठेठ दैनिकी की पूरी शक्ल लेकर उभर आया है। "सफल रूपवाद और अनिश्चित विचार-प्रणाली के बावजूद गिरिजाकुमार की 'थकान' और 'रूप-रस-रंग' की ऐन्द्रिय तृप्ति के पीछे संक्रान्ति युग के मध्यवर्गीय कवि की निश्चित मनोवृत्ति का पता चलता है।"[६] उन्होंने प्रेयसी को अपनी प्रेरणाओं का अविरल स्रोत माना है। प्रेयसी की याद उनमें कर्त्तव्य-भावना जगाती है। यह सच है कि उनकी दृष्टि रूमानी है किन्तु उससे यथार्थ-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में खलल नहीं पड़ता। उनमें मानवता, आशावादिता, इन्सानी जीवन और भविष्य में विश्वास का स्वर ज़्यादा उभर कर रंग-रोमान के समन्वय के साथ आया है।[७] उनके कृतित्व में एक बात अपने ढर्रे की है कि जब कभी उनके मन में साँझ उदास हो जाती है, मुक्ति की संघर्षमूलक चाप और मंज़िल की याद धरकर वह निर्माणोन्मुख आलोक-भुजा प्रेयसी से ही पा लेते हैं, अपना निदान खोज लेते हैं।[८]

शिवमंगलसिंह 'सुमन' की कविता में सामाजिक सत्यों का फैलाव अधिक व्यापकता से उभर आया है। उनके कई गीतों में प्यार की लय तन्मय सपनों के बोल रचाती है तथा जन-पथ पर मुक्ति के सुप्रभात ढाल कर मौलसिरी की डालों में सिहक-सिहक भिद जाती है। सावन की बदरी जब क्षितिज-से-क्षितिज छूकर बरसती रहती है, तब प्रेयसी की याद उनके मन-प्राणों में निहायत स्वाभाविक गति से शृंगार पूरित रूप-बोध ढुलका जाती है।[९] पावस की तृष्णाकुल घड़ियों में प्रतीक्षा और आस और विश्वास की व्यापक मधुरिमा ढुलका देने में उनके छांदसिक टप्पे जापानी हाकू की तरह चंद रेखाओं पर ही सब कुछ कह देते हैं।[१०] शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने ब्रजभाषा की सुमधुर रौ पर सब कुछ कह देने का अलग अंदाज़ पाया है। 'सई साँझ लगी अनटूटी झरी' जैसी पंक्ति लिखकर उन्होंने अजीब जादू उत्पन्न किया है। मिलन और मोद के क्षणों की अभिव्यक्ति भी बड़ी सशक्त हो सकती है और होती रही है, इस बात के प्रमाण हैं: 'किस तरह हम तुम मिल गए आज भी कहना कठिन है' तथा उनके अन्य प्रेमालाप। सुमन की कविता की फूटकर फैली हुई जटाओं के भीतर से स्नेह की गरिमा अंकुरित होती है।

नागार्जुन में तीव्रतम सम्बन्ध-भावना को समोकर रख देने की अद्भुत क्षमता है। रोज़ की सच्चाइयों के अतिसरलीकरण में उनका स्थान निश्चय ही उच्च है। 'पाषाणी' की भावात्मक सहजता ने उनके कवि को नई दिशाओं की ओर मोड़ा। उनके कृतित्व में न तो रिक्त-मन की खंडितावस्था यौन-प्रतीकों की भूमि पर चलती है न शारीरिक मांसलता तथा रूपोपासना की चाह में उठी हुई ऐन्द्रिय अनुभूति का चित्रण ही लख पड़ता है। प्रेयसी के अभाव में कवि के मन के भीतर अतृप्त छांदसिक आकुलता कंठों का स्फुट नाद-सौन्दर्य पकड़ कर एक लयात्मक बिम्ब ग्रहण करती है और उसके मूल में प्रेयसी की याद है, परितृप्तियों की लालसा है।[११] 'घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल, याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल' उनकी स्वस्थ प्रेम-भावना तथा सामाजिक संगीत को गज़ब की खूबियों से अंकित करने वाली रचना है।

केवल मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति में ही नागार्जुन कविता की रसप्राण आत्मा ढुलकाते हों, सो बात नहीं है, बल्कि मानवेतर प्राणियों की रसमग्न तन्मयता को भी सधे हाथों उरेह कर साकार कर देना उन्होंने अपना कवि-कर्म माना है। चातकी स्वाती के बादलों की

---

६. नामवर सिंह (आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—'प्रयोगवाद' से)।

७. गिरिजाकुमार माथुर—'नई कविता का भविष्य'—आलोचना—अंक ९२।

८. मिट्टी से संयोग आग का
तन पर जैसे परस तुम्हारा
दीपक को आलोक मिल गया
मन ने फिर मन पर छवि डाली
बाहर दीपक जले किन्तु
भीतर का मंदिर अभी अँधेरा
दीप नयन नयनों में डालो
मिट जाये छाया का घेरा।
—गिरिजाकुमार माथुर

९. कांस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार
मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो
शरद-सी तुम कर रही होगी वहीं शृंगार
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

१०. आज की साँझ सलोनी बड़ी मनभावनी री!
भीजि गयी देहरी पै खड़ी, बौछार की मार जाय न सही
पीपर पात की घात लगी, कछु बात उठै पै जाय न कही
साज री साज सिंगार को दीपक, आज पिया की है आवरी री!
आज की साँझ सलोनी बड़ी मनभावनी री!
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

११. तुम नहीं हो पास
मैं तो तरसता हूँ
प्यार के दो बोल सुनने के लिए!
एक की ही दस उँगलियाँ
नहीं हैं काफ़ी कदाचित
रेशमी परितृप्तियों का जाल बुनने के लिए!
—नागार्जुन

रसमसाती बूँद के लिए किस प्रकार तरसती है, इसका चित्र हमें 'चातकी' शीर्षक कविता में मिलता है। 'प्रतीक्षा थी, आस थी, विश्वास था' की तर्ज़ पर मन के भीतर निहित लय को पकड़ कर यह कविता आगे बढ़ती है।[12]

केदारनाथ अग्रवाल ने हिन्दी कविता में छन्दमुक्त गीतों की सम्भावना अकूत कर दी है। 'दीन की न बीन बजी, हीनकी न बांसुरी, बीन बजी, बीन बजी, बीन बजी आसुरी' से उनकी स्वस्थ गीतात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। 'नींद के बादल' में उनके ढेर से प्रेम-गीत मिलते हैं, जिनमें मानव-मन की परुष-कोमल वृत्तियों के रेशे-रेशे निखार दिए गए हैं। उनकी कई कविताओं के भावस्रोत लोक-मन के चौमुख बोल पकड़ कर आवाज़ लगाते हैं। व्यक्ति मन की प्रेमाकुल स्थितियों के चित्रांकन में भी उनकी संयत यथार्थ-दृष्टि की सूचना मिलती है। लैंडस्केप तथा ग्राम-गीतों के माध्यम से देखे-अनदेखे दृश्यों और नज़ारों और उनकी उन्मद रस-दशाओं की अभिव्यक्ति मिलती है।

जनपदीय शोभाश्री और ग्रामीण वातावरण को सानेट जैसे काव्य-रूप में उतार देने के लिहाज़ से त्रिलोचन का स्थान नई पीढ़ी के सर्व-श्रेष्ठ कवियों में है। उन्होंने ढेर से सानेट लिख दिए हैं। सानेट के सिवा अन्य काव्य-रूपों में भी त्रिलोचन की अभिव्यक्ति बड़ी सशक्त एवं स्फूर्तिप्रद सिद्ध हुई है। नई प्रगतिशील कविता की प्रेम-धारा उनकी रचनाओं में सहज ही परिस्फुट है। स्मृति-चित्रों को दरसाकर उनके बोल स्वैराचार, यौन-भावना या मार्बिड मनस्थितियों का आश्रय नहीं लेते वरन यथार्थोन्मुख सामाजिकता का रस-पिच्छिल प्रवाह पकड़ते हैं। स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति में भी प्रगतिशील कवि स्वस्थ पारिवारिकता की झलक दे सकते हैं, समाजोन्मुख धौली स्निग्धता ढुलका सकते हैं, इस बात के प्रमाण हैं त्रिलोचन के सानेट और छन्द गीत।[13] प्रेयसी के रूप और उसके मोहक सौन्दर्य की रेखा बनाने में त्रिलोचन ने अपनी संयत मनोवृत्ति का पता दिया है।[14]

भवानीप्रसाद मिश्र को प्रेम सम्बन्धों पर गहरी आस्था है। उनके प्रेमिल विश्वासों का स्वर गहराई तक पहुँचा है। यह विश्वास स्वस्थ सामाजिक परिवृत्ति के गढ़ाव के लिए निश्चय ही आवश्यक तत्व है। अनास्थामूलक प्रवृत्तियाँ मानसिक फ्रस्ट्रेशन और शैथिल्य को उकसाकर सामाजिक गतिरोध और ठहराव का सृजन करती हैं। मिश्र जी ने इस बात पर बल दिया है कि प्यार मानवीय संवेदना को जागृत कर युग-सम्बन्धों के पाट को विस्तृत और गहरा करने का सफल साधन है।[15]

महेन्द्र भटनागर के काव्य-कृतित्व में युग की आवाज़ प्रेममिश्रित रसमयता में डूब कर उभरती है। वह आज की संघर्षमूलक नव-चेतना की गहरी और गहरी नींव में नए युग की नारी और उसकी जागृत चेतना के दर्शन करते हैं। अनुभूति और कल्पना के उदात्तीकरण के माध्यम से महेन्द्र ने अपनी प्रेयसी की इस प्राण आत्मा को बिसराया नहीं है, वरन जन-समाज के निश्चित भविष्य के लिए, उसकी विकासोन्मुख टोह के लिए प्रेयसी से प्रेरणाएँ ली हैं।

वीरेन्द्रकुमार जैन काफ़ी दिनों से लिखते आ रहे हैं। और उनका स्वर बहुत हद तक स्वस्थ सामाजिक जीवन-दृष्टि पर आधारित है। उनकी प्रेम-भावना में न तो न्यूरोसिस है और न वैयक्तिकता का अतिशय प्रक्षेप। जन-भविष्य की खातिर वह 'लहरों की सेजों सोया', 'दुल्हिन का मन' हेरते हैं। जीवनी-शक्ति से अनुप्राणित होने के कारण उनकी कविता मुग्ध-सरल आत्मा की संघर्ष परक शक्ति बिछा देती है।

प्रगतिशील कविता के स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण और यथार्थोन्मुख 'एप्रोच' के संस्कार में हिन्दी की नई प्रगतिशील कविता पनप रही है। यह नई कविता मानव-आत्मा के जड़ संस्कार, बदल कर, उसके नील-मौन को मुखरित कर वक्त की धड़कन टटोल रही है। सभी प्रकार के नारों की संकीर्णता से बरी होकर नए कवि आगे बढ़ रहे हैं, यह हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात है। कविता को भाव-दिशाओं में युग का चेतन आलोड़न परिवर्तन के आसारों को उद्भूत कर हिन्दी के नए कवियों को सही दिशा की ओर ले जा रहा है। नए कवियों में स्वस्थ सामाजिक भूमि पर कविता सृजन करने वाले हैं :—बालकृष्ण राव, केदारनाथ सिंह, हरिनारायण मिश्र, नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, अनिल कुमार, वीरेन्द्र मिश्र, रामदरश मिश्र, नीरज तथा विद्यावती कोकिल आदि। स्थानाभाव से इन सब कवि-कवियों की कविताओं के उदाहरण हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

---

१२. धन्य स्वाती के जलद तुम धन्य हो
विकल थी चिर प्यास से यह चातकी
किया दर्शन, नयन शीतल हो गए
उपालम्भक भाव थे, सब सो गए
आ गई है जान में अब जान रे
कर लिया मैंने अमृत का पान रे —नागार्जुन

१३. यों ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की वह गाँठ लगा दी
था पर मैं भूला-भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी
कभी-कभी यों हो जाता है
गीत कहीं कोई गाता है
गूँज किसी उर में उठती है
तुमने वही धार उमगा दी —त्रिलोचन

१४. पहले-पहल तुम्हें जब देखा
क्या सोचा
सोचा था
इससे पहले ही
सबसे पहले
क्यों न तुम्हीं को देखा ? —त्रिलोचन

१५. कितने भी गहरे रहें गर्त,
हर जगह प्यार जा सकता है,
कितना भी भ्रष्ट जमाना हो,
हर समय प्यार पा सकता है, —भवानीप्रसाद मिश्र

महानदी नील और युगांडा

द्वारका प्रसाद हेमराज नथवाणी और भानुशंकर ओधवजी व्यास

केन्या, युगांडा और टांगानिका—तीनों प्रदेशों में छब्बीस हज़ार वर्ग मील में फैली हुई विक्टोरिया झील के समीप अवस्थित जिंजा नगर के निकट का एक बड़ा प्रपात नील नदी का उद्गम स्थान है। यह प्रपात रिपन फॉल्स के नाम से प्रसिद्ध है। जन्म के बाद तुरन्त ही जैसे मुनि शुकदेव जी प्रभु के दर्शन पाने के लिए दौड़े थे और महामुनि व्यास के अनुरोध पर भी न रुके थे, ठीक वैसे ही नाइल यहाँ से वेग धारण कर भाग निकलती है। कहीं-कहीं पर बालगंगा के स्मित प्रदर्शित करती, और कहीं पंचनद की प्रचंड गंभीरता को लिए हुए वह भागी चली जाती है। किसी स्थान पर किसी सरोवर में मिल जाती है, तो किसी स्थान पर सरस्वती की तरह भूगर्भ में प्रवेश कर कई मीलों तक अदृश्य रह कर अकस्मात बाहर आ जाती है। सन् १९५४ में नील ने बड़ा उत्पात मचाया था। परन्तु ऐसा तूफ़ान तो वह हज़ारों वर्षों से मचाती आई है। प्राचीन काल में मिस्र की प्रजा को इस नदी से इतना डर रहता था कि इसके क्रोध को शान्त करने के लिए नदी में कुमारियों का बलिदान दिया जाता था।

नील नदी के प्रमुख स्रोत तीन हैं। इनमें से एक मध्यपूर्व अफ्रीका का न्यासा सरोवर, दूसरा एबीसीनिया का ताना सरोवर और तीसरा छोटी नदियों के मिलने से पैदा हुआ कोंगो का स्रोत। भूमध्य समुद्र में विलीन होने से पहले सूडान में, एबीसीनिया के ताना सरोवर से निकलता नील नाइल का पानी उसमें आ मिलता है। इससे उसकी गति में अनोखी चंचलता आ जाती है। नील उस प्रदेश से उपजाऊ मिट्टी खींच लाती है। इसी उपजाऊ मिट्टी पर मिस्र की खेती का आधार है। एक ऐसी भी मान्यता है कि नील का मुख्य उद्भव स्थान तो कगेरा सरोवर है। यह प्रवाह पूरे ज़ोर से बहता हुआ अनेक जलराशियों का समुदाय है। यह एक संकुचित घाटी में से होकर अनेक छोटे-मोटे सरोवरों के जल को खींचती उत्तर की तरफ जाकर विक्टोरिया-न्यासा में विलीन हो जाती है। फिर भी प्रमुख स्रोत तो युगांडा का ही माना जाता है। अतएव इसके मुख पर जिंजा नगर के समीप महान बाँध बाँधा गया है। मिस्र ने भी आधा खर्च देकर अपना अधिकार सुरक्षित किया है। यह बाँध सन् १९५४ के अप्रैल में रानी एलिज़ाबेथ के वरद हस्तों से उद्घाटित किया गया था और तब से सारे संसार में उसका नाम—ओवन डाम—प्रसिद्ध हो गया है।

नील के उद्गमस्थल के साथ ही साथ युगांडा का नाम भी विश्व भर में प्रख्यात हो चुका है। युगांडा नाम बुगांडा नामक देशी राज्य के नाम से प्रचलित हुआ है। यह प्रदेश पहले बहुत छोटा था। ब्रिटिश शासन काल से इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी और बेल्जियम के साथ शान्ति स्थापित कर टांगानिका, कोंगो के सीमाप्रदेशों, चार देशी राज्यों और पूर्वीय बड़े विस्तार को मिला कर युगांडा के वर्तमान स्वरूप का निर्माण किया था। शासक-सम्बन्धी सुविधा के लिए युगांडा के कई विभाग केन्या में भी मिलाए गए हैं। विक्टोरिया, आल्बर्ट, और एडवर्ड—इन तीनों सरोवरों तथा पहाड़ी नाइल और झील रुडोल्फ के बीच का यह चौरानवे हज़ार वर्ग मील का विस्तृत प्रदेश भाषा, जाति, रीति-रिवाज, संस्कृति और आबो-हवा की दृष्टि से निकटवर्ती प्रदेशों से थोड़ा भिन्न दिखाई पड़ता है। उसके एक तरफ घने जंगलों के बीच अवस्थित सोलह हज़ार फुट ऊँचाई वाला हिमाच्छादित गिरिशिखर है। दूसरी ओर गर्म, समथल मरुभूमि है। एक तरफ महान जलराशि होने के साथ प्रतिवर्ष सौ से भी अधिक इंच वर्षा होती है। दूसरी तरफ सूखे प्रदेश में पचीस इंच वर्षा भी नहीं होती है। सब मिलाकर युगांडा हरा-भरा और समशीतोष्ण प्रदेश है। सिन्दूरवर्णी युगांडा की भूमि अतीव उपजाऊ है। कुदाली और फावड़ा कृषि के मुख्य साधन हैं। हल चलाने की कहीं भी आवश्यकता नहीं है। सतत वर्षा, विशाल जलाशयों और सील के कारण इस देश की आबो-हवा अच्छी नहीं रहती। मलेरिया, काला बुखार और रक्तपित्त अभी तक यहाँ व्यापक रोग थे। युगांडा सरकार के व्यवस्थित आंदोलन से वे सब अब काबू में आ रहे हैं।

सैंकड़ों वर्ष पूर्व हैमेटिक जाति इस देश में प्रविष्ट हुई। उन लोगों ने अपने बल से अपना मार्ग निकाला। भारत में जो शक, हूणादि आक्रामक जातियों में हुआ वैसे ही यह जाति भी यहाँ के आदिवासियों के साथ मिल गई। आक्रान्ताओं पर देश की पुरानी सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा। पशु-पालन तथा मिट्टी के बर्तन बनाने की कला व्यवहार में आई। उस समय के पश्चात कई जातियाँ यहाँ आकर बसीं। इनमें से बहुत सी जातियाँ तो इतनी मिश्रित हो गई हैं कि घने जंगलों में या सीमा-प्रदेशों में रहने वाली कुछ आदिवासी जातियों के सिवा वर्गीकरण करना असम्भव नहीं तो आसान भी नहीं है। तथापि भाषा के मूल, रूप-रंग और रीति-रिवाज से युगांडा की प्रजा को चार भागों में बाँटा जा सकता है—हैमाइट, अर्ध-हैमाइट, बान्टु और निग्रोटो।

यहाँ की प्रजा सांस्कृतिक दृष्टि से प्राथमिक अवस्था से आगे न बढ़ सकी। ख्रिस्ती मिशनरी और अरब लोगों के आने-जाने की शुरुआत से पहले इन लोगों में धर्म, समाज, नीति आदि किसी प्रकार की खास व्यवस्था नहीं थी। इस बात का प्रमाण मिशनरी लोगों की लिखी हुई पुस्तकों से मिलता है। इन लोगों का बाहर की दुनिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। मिस्र में आने-जाने

के लिए मार्ग थे लेकिन बीच में विशाल सरोवर होने से अज्ञात ही रहे होंगे। कई विद्वानों का कहना है कि उनका एबीसीनिया के साथ थोड़ा सम्बन्ध होगा। परन्तु यह सम्बन्ध दीर्घकालीन नहीं रहा होगा। क्योंकि मिस्र और एबीसीनिया में मृत देह को ज़मीन के अन्दर गाड़ देने के प्रचलित रिवाज, जो यहाँ अभी विकृत स्वरूप में स्वीकृत है, के सिवा अन्य कोई विशिष्ट असर यहाँ मालूम नहीं पड़ता है। एबीसीनिया के ऊपर प्राचीन मिस्री, यहूदी और खिस्ती धर्म के उपरान्त इस्लाम का प्रभाव बढ़ता गया। इसीलिए वहाँ की प्रजा ईश्वर में शुरू से ही विश्वास और श्रद्धा रखती है। तब युगांडा की प्रजा की कल्पना भूत-प्रेतों से आगे बिल्कुल नहीं गई थी। शायद खिस्ती मिशनरी ही सबसे पहले 'स्वर्गीय पितर' को युगांडा का नंदनवन देखने के लिए ले आए। इसी समय में अरबों ने भी धर्म प्रचार का प्रारम्भ किया।

मध्ययुग में इस प्रदेश में पहले इस्लाम और बाद में ईसाइयत का प्रभाव पड़ा। आजकल अधिकांश लोग ईसाई धर्म को स्वीकार कर रहे हैं फिर भी कई कुप्रथाएँ यहाँ वर्तमान हैं। इनमें से एक कुप्रथा है बहु-पत्नीत्व की। कई लोग यहाँ ऐसे हैं जिनको अपनी पत्नियों की संख्या भी याद न होगी। फिर बाल-बच्चों की तो बात ही क्या? यहाँ स्त्री का अभी तक कोई स्थान नहीं है। स्त्रियों को मोल लिया जाता है। जिस आदमी के पास अधिक पशुधन, सम्पत्ति और ज़मीन हो वह अवश्य बहु-पत्नी वाला होगा, क्योंकि स्त्रियाँ खेत में, बाग में, पशुशालाओं में काम करती हैं और इससे धनी को ज़्यादा लाभ होता है। आयु की तो कोई बात ही नहीं है। वृद्धत्व के किनारे पहुँचा हुआ कोई भी आदमी पैसे देकर किसी युवती को खरीद सकता है। कई कौमों में पिता की मृत्यु के बाद पुत्र को धन सम्पत्ति के साथ औरतें भी दी जाती हैं। तब से पुत्र माता के पति बन जाते हैं।

यहाँ के कुछ निवासियों में मनुष्य का माँस भक्षण अभी तक होता रहा था। यात्री स्टेन्ली के साथियों में से कई आदमी भक्ष्य बनाए गए थे। कहा जाता है कि आज से तीस वर्ष पहले के मगेसु युवक अवसर मिलने पर जलता शव भी उठा ले जाते थे। वर्तमान समय में ऐसी कोई बात सुनाई नहीं देती।

बुगांडा के लोग भी अपने इतिहास को हज़ार वर्ष पुराना कहते हैं। एक सौ पचास वर्ष पहले बुनो नाम के बान्टु सरदार ने इस राज्य की स्थापना की। युगांडा का इतिहास भी यहीं से प्रारम्भ होता है। जब उनका मुत्सद्दी पुत्र मुटेसा गद्दी पर था, तभी युगांडा पर मिस्री दबाव बढ़ने लगा। उन्हीं दिनों गुलामों और हाथी-दाँत के व्यापार के लिए अरब लोग भी यहाँ आते थे। पहले पहल मुटेसा ने इस्लाम को अंगीकार किया। तब प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक और अरबों के बीच धार्मिक स्पर्धा हुई और दुश्मनी बढ़ने लगी।

फादर मेक, जो मुटेसा के दरबार में रहते थे, ने अपने समय की सामाजिक स्थिति का मनोरंजक ब्योरा लिखा है। उसके अनुसार मृत-देह को दबा-दबा कर शरीर से रस निकाल कर शरीर को सूखा बना दिया जाता था। पश्चात शक्त्यनुसार अधिक से अधिक वल्कल से शव को ढक कर गड्ढे में डाला जाता था। सम्बन्धी स्वजन बाद में अपनी ओर से इस गड्ढे में वस्त्र डालते थे और उसके ऊपर खाद्य पदार्थ रख कर गड्ढा भरा जाता था। मुटेसा की माता के ऊपर पच्चीस हज़ार वस्त्र छोड़े जाएँगे, इस अनुमान से गहरा गड्ढा बनाया गया था। इसलिए मुटेसा ने स्वयं चालीस थान खरीदे थे और मरीकान के भी कितने ही थान कब्र में डाले गए थे। यह प्रथा कुछ परिवर्तन के साथ अभी तक प्रचलित है। महायुद्ध के पहले जब कपड़े का दाम बहुत न था, तब लाखों गज़ कपड़ा हर साल ज़मीन में डाला जाता था। कई जातियों में मृत-देह को गड्ढे में गाड़ने के बाद मुँह तक पहुँचने वाली लम्बी बाँस की नली रखी जाती थी और उसके द्वारा मदिरा और माँस रस का प्रवाह मृत के मुँह में छोड़ा जाता था।

मुटेसा के पश्चात उनका पुत्र म्वांगा गद्दी पर बैठा था। तब धार्मिक मतमतान्तरों में छल-कपट बहुत बढ़ गया। इस पर क्रुद्ध होकर म्वांगा ने खिस्ती और मुस्लिम प्रजा पर अत्याचार किए। इससे क्रांति फैलने लगी। ब्रिटिश लोगों ने म्वांगा को अपने अधिकार में करके संधि कर ली। अन्त में म्वांगा को देश निकाला दिया गया और सन् १९०३ में उनकी मृत्यु हुई। वर्तमान काबाका के वे पितामह थे। युगांडा का प्रारम्भिक कारोबार इम्पीरियल ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कम्पनी के हाथ में था। अब युगांडा में कितने ही सुधार हो रहे हैं। सन् १९२० से प्रान्तीय धारा सभा की स्थापना की गई है। औद्योगिक क्षेत्र में इस राज्य में भारतीय अग्र स्थान पर हैं। अफ्रीकनों को भी आने के लिए मौका दिया जाता है। सरकारी बचत में से सहाय्य देकर अफ्रीकनों को भी सहकारी संस्थाएँ स्थापित करने में, देश की समृद्धि में भाग लेने का अवसर दिया जाता है। तांबा शुद्ध करने के लिए दो ऐसे कारखाने भी चलाए जा रहे हैं। अफ्रीकनों की पूँजी से कॉफ़ी के कारखाने शुरू किए गए हैं। और वह समय अब बहुत दूर नहीं है जब अफ्रीकन अपना अधिकृत स्थान प्राप्त कर लेंगे।

अफ्रीका खण्ड में जाग्रत होती हुई नूतन राष्ट्रीय भावनाओं से युगांडा भी अब सजग हो गया है। यद्यपि अधिकतर लोग अनपढ़ हैं, फिर भी महत्त्वाकांक्षी शिक्षितों द्वारा अफ्रीका के अलग राज्य की मांग हो रही है। मध्य पूर्व अफ्रीका के फेडरेशन की योजना ने युगांडा के राजपुरुषों को बेचैन कर दिया था और उसमें से ही वर्तमान काबाका को गद्दी से दूर करने का प्रसंग उठा था। सन् १९३९ में युगांडा की अफ्रीकन कांग्रेस ने काबाका के साथ सरकार द्वारा किए गए बर्ताव के प्रति विरोध भाव प्रदर्शित किया था। पर इस आन्दोलन को दबा दिया गया था। यह संस्था युगांडा के भविष्य में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लेगी यह बात निःशंक है।

युगांडा पर भारतीय संस्कृति का असर कितना गहरा है, यह कहना कठिन है। वर्षों के रहन-सहन के पश्चात, निकट के सम्पर्क के बाद आदान-प्रदान का व्यवहार तो होता ही रहा है। परन्तु तात्विक दृष्टियों से भारतीयों का त्याग कम है। हाँ, एक बात यह है कि भारतीय फिल्मों से बिना परिश्रम प्राप्त संस्कृति को अफ्रीकनों ने

(शेष पृष्ठ ४५ पर)

बीज और पौधा

'पहाड़ी'

सुरेशी की नींद ढोल, नगाड़े और तुरई द्वारा ध्वनित गूँज से उचट गई। वह कुछ देर तक बिस्तर पर आलस्य में भरी हुई पड़ी रही और अब जमहाई लेकर उठी। उस ध्वनि ने आज अनायास ही उसकी हृदतन्त्री के तारों को झँकृत कर दिया था। उसके मन में कई तरंगें उठ रही थीं। वह अनजाने कुछ गुनगुनाती हुई चूल्हे के पास गई। राख के नीचे दबे हुए उपले को निकाल कर फूँका और उसकी चिंगारी से लीसे वाले चीड़ के पतले टुकड़े को बाल लिया। कमरा प्रकाश से उज्ज्वल लगा। उसने दिया बालना चाहा पर पाया कि वह रात में उसे बुझाना भूल गई थी। बाती सब तेल पी कर अन्त में स्वयं जल गई। लकड़ी का टुकड़ा अंतिम प्रकाश देकर बुझ गया और कमरे में अँधेरा छाया। वह उस अँधकार में अपने शरीर के अँगों को निहारने की असफल चेष्टा कर अज्ञेय संतोष पा गई कि वह युवती है। उसमें जीवन और उसकी गति को अपने में समेट लेने की पूरी शक्ति है। उसके चेहरे पर मुस्कान फैली और जीवन की नई कल्पना से बदन सिहर उठा। वह तो खिलखिला कर हँस पड़ी। वह स्वर बाहर संगीत लहरी के प्रवाह में खो गया। एक नूतन आशा की अपेक्षा मन में उमड़ रही थी।

उसने खिड़की खोली, भादों के अन्तिम दिन थे। ठँडी हवा का एक तेज झोंका आया। अभी-अभी पौ फटी थी और धरती पर धुँधला प्रकाश फैलने लगा। एक पक्षी कहीं दूर वन में बोल रहा था। चिड़ियाँ घोसलों में चिचिया रही थीं। गोशाला में गाय रँभ रही थीं। सीढ़ियों से नीचे उतर कर वह गोशाला पहुँची और उसका दरवाज़ा खोला, गोबर हटाया, फिर लकड़ी के बरतन पर गौंत ढाँका। ताजे गोमूत्र तथा गोबर की भीनी-भीनी महक से शरीर स्वस्थ हुआ। बाछी माँ··· आँ···माँ···करती हुई खूँटे की रस्सी खींच कर माँ के पास आने का असफल-सा प्रयास कर रही थी। उसने उसे खोला, बाछी उछली और माँ के थनों को खींच-खींच कर दूध पीती रही। गाय उसके शरीर को चाँट रही थी। वह बीच-बीच में दूध पीना छोड़ कर उछल-कूद मचाती थी। वह सुरेशी के पास आई तो उसने उसे फिर खूँटे से बाँध दिया। लोटे में दूध दुहा, लगा कि बछिया दुबली पड़ गई है। इधर वह तेल नहीं पिलाती है। दूध से भरा हुआ लोटा एक ओर सँभाल कर वह गाय के गले के निचले भाग को खुजलाने लगी। उस पशु ने अपनी मालकिन की भावुकता पहचान कर गरदन आगे बढ़ाई।

वह झरने पर देर तक टिकी नहीं। वहाँ प्रति दिवस गाँव भर की रमणियाँ आती हैं और गाँव की भली-बुरी बातों की सटीक व्यवस्था की जाती है। कभी कुछ के बीच आपसी मनमुटाव भी हो जाता है, पर जिस भाँति यह झरना निरंतर बहता रहता है, उसी के समान वे बातें यहाँ से गति पाकर गाँव के समाज के बीच खो जाती हैं। उन बातों में आज सुरेशी को कोई जीवन नहीं मिला। बिना किसी उत्साह के वह अकेली लौट रही थी कि एक सहेली ने चुटकी ली, "किस भाग्यवान से मिलने के लिए भाग रही है?"

सुरेशी वहाँ ठहरी नहीं। वैसे उसे यह झरना बहुत पसन्द है। ऊपर की ओर घना बाँज तथा बुराँश का वन है। वहाँ सदा हरियाली रहती है। कई काँटे वाली लताएँ हैं। जिनमें रँग-बिरँगे फूल खिले हैं। झरने के ऊपर चौकोर पत्थर बिछे हुए हैं और नीचे काले पत्थर के बने गौमुखी से अविरल गति में निरंतर पानी की धारा बहती रहती है। वह सदा ही यहाँ अंधेरे मुँह आती है और पौ फटने पर घर लौट जाती है। यह गाँव का शिष्टाचार है कि पुरानी बहुएँ पहले आती हैं और नई बहुओं को कुछ देर तक सोने की छूट है। वह तो आज बड़ी देर करके आई। रात को देर तक नींद नहीं आई, इसीलिए समय से न उठ सकी थी।

अब वह चुपचाप गाँव की बटिया पर घर लौट रही थी, उसके दोनों ओर बाँज बुराँश, काफल, पाँगर आदि के विशाल पेड़ खड़े हैं। नीचे की ओर चीड़ का घना जंगल है। सामने हिमालय की हिम से ढकी हुई चोटियों पर अभी धुँध छाया हुआ था। गाँव के पास अखरोट सेव, चोला-मेलू आदि फलों के पेड़ थे। एक घर के पीछे वाली छोटी खिड़की पर मधु-मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। रँगीन परों वाली चिड़िया उसके ऊपर उड़, नीले आकाश को पार कर देवदार के गिरोह में खो गई। पहाड़ी की तरेटी तक छोटे-छोटे खेत फैले हुए थे। बरसात में उनकी मिट्टी बह गई है। वे प्रति वर्ष बड़े परिश्रम के साथ उनको बनाते हैं, फिर बरसात आती है और उपजाऊ मिट्टी को बहा कर ले जाती है। जाड़े के दिनों में ये खेत बरफ़ से ढके हुए रहते हैं। इनमें खाने भर का अनाज पैदा नहीं होता है।

आज पहले-पहल वाद्यों की ध्वनि गाँव की धरती पर नई थिरकन लाई। वह लय तो आस-पास के घने जँगलों के भीतर फैल कर दूर-दूर तक गूँज रही थी। घर पहुँच कर पाया कि पूरब में लाली फूट चुकी है। हिमालय की चोटियाँ अँगड़ाई लेकर उठती हुई मिलीं। वह लाली तो बरफ़ के शिखरों पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। लगता था कि वहाँ का भेद अब सूर्योदय के साथ खुल जाएगा और मानव उसको निहार कर नई कल्पना करेगा। वह आँखें फाड़ दूर-दूर तक देखती हुई कुछ ढूँढ़ रही थी। अब उसने गोशाला की सफ़ाई की और पशुओं को घास दी। आज उसे जंगल से हरी घास लाने का उत्साह नहीं रहा। वह वहाँ जाकर क्या करेगी? वह कुछ देर में पिछवाड़े के बाड़े से पेड़ की हरी टहनियाँ काट कर पशुओं को देगी। वह अकेली कितना काम करे। बहुत थक जाती है। आज यह भावना मन को उद्वेलित कर रही थी कि वह जीवन में निपट अकेली है।

वह एकाकी जीवन से ऊब गई है। कल रात भर उसका हृदय नई उमँगों का क्रीड़ास्थल रहा है। वहाँ कुछ भावनाओं की धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। उसने कई बार आँसू बहाए और बड़ी रात तक फूट-फूट कर रोई। अपने समस्त पिछले जीवन को बिखेर उसकी कई घटनाओं पर गंभीरता से विचार किया। फिर भी मन की बेकली नहीं हटी। वहाँ उदासी छाई रही। मानो कि हृदय सूख गया हो। जीवन में कोई भावुकता बाकी नहीं बची थी। वह तो पिछले बारह साल मशीन के समान काम करती रही है। उसने जब वर्तमान और भविष्य की व्याख्या नहीं की। यदि कोई सबल भावना उठी तो उसने अपनी कायरता से वह नष्ट कर दी।

वह बारह साल की अवस्था में इस परिवार में आई थी। पति, सास और वह, तीन व्यक्तियों की गृहस्थी। गाय, भैंस, भेड़-बकरी और कुछ खेती। उसने पति के चेहरे पर कभी चमक नहीं पाई। पति ने विवाह के अवसर पर साहूकार से दो हज़ार रुपया कर्ज़ा लिया। वह साहूकार जब चाहता चला आता और बकरा, घी, शहद आदि जो मन में आता लेकर चला जाता था। पति वर्ष में ठीक तरह ब्याज तक नहीं चुका पाते थे। वह उनको बहुत अपमानित करता और बार-बार अदालत से कुड़की करवाने की धमकी देता था। खेतों में साधारण अनाज पैदा होता, जो कि तीन महीने के लिए भी पूरा नहीं पड़ता था। वह और उसकी सास धनी परिवारों के धान कूटने, आटा पीसने और कडाली की हरी टहनियों को उबाल उसमें मंडुआ का आटा और नमक डाल कर उस लप्सी को पीकर पेट भरते थे। पति कई धनी परिवारों का हल लगाता था। उन्होंने कर्ज़ा चुकाने के लिए भैंस ली और उसकी बड़ी सेवा की कि घी बेच कर रुपया कमा लें, पर पटवारी, कानूनगो और साहूकार के घरों में शादी आदि कार्य होते और वह सस्ते दामों में उधार बिक जाता था। उनके चार अखरोट के पेड़ थे जिनके फलों को पति दस मील दूर वाले कस्बे में बेच आते। कोई भेड़ कंकड़ी खाने से मरती तो उसे भी कस्बे में बेच दिया जाता था। उन्होंने शहद कभी नहीं चखा। साहूकार का ऋण फिर भी नहीं पटा। वह तो बढ़ता ही चला गया।

गृहस्थी से ऊब कर पति ने एक दिन मैदान जाकर नौकरी करने का निश्चय किया। और आगे भरती के खुल जाने पर वे फ़ौज में चले गए। अब नियमित रूप से प्रति मास पन्द्रह रुपये आते और चिट्ठियों में साहूकार के आश्वासन दिलाने की बात लिखी हुई होती कि चार-पाँच साल में वह पूरा कर्ज़ा चुका देगा। भविष्य का निर्माण भी सुझाते कि कुछ खेत क्रय कर आगे वे एक सफल किसान का जीवन व्यतीत करेंगे। सुरेशी को युद्ध का कोई ज्ञान नहीं था। प्रति दिवस सैकड़ों युवक भरती हो रहे थे और धीरे-धीरे गाँवों से युवकों के चेहरे खो गए। ऋतुएँ आतीं, धरती और प्रकृति अपना रंग-रूप बदलती, पर गाँव का जीवन फीका-फीका लगता था। जीवन की कठिनाई बढ़ गई थी उसमें स्थिरता-सी आ गई। हृदय की प्यास अबुझी रह गई। वह अपने को बूढ़ी पाने लगी। पति कुछ दिन साथ रह जाते और वह मातृत्व प्राप्त कर लेती तो एक अभाव न अखरता। उसे वे सुहावने वन, रमणीक घाटियाँ, हिमालय के प्राण प्रदान करने वाले शिखर सब सौन्दर्यहीन और नीरस लगते थे। वहाँ से बहने वाली हवा अबूझ सन्देशा लाती, किन्तु चीड़ और देवदार के जंगलों के बीच वह विषाद की ध्वनियों में गूँजती रहती थी। आज उसकी संगीतमय लय खो गई थी। जंगली गुलाब की झाड़ियों पर लगता कि मुरझाए थहए फूल लगते हैं। मानो कि वे उन नौजवान सिपाहियों के विछोह से दुखी हैं, जो कि दूर युद्ध में चले गए हैं। उसे बुरांश के फ़ूलों की पकौड़ियाँ बहुत भाती थीं, पर अब जब कि वह उन्हें तोड़ने का प्रयास करती तो उसके हाथों पर लाल रंग का स्थान गाढ़ा कालापन ले लेता। वह तो खून की भाँति जम जाता था। चीड़ के पेड़ गरमियों में अपनी भूरी-भूरी सीकें धरती पर फैलाते और उन पर उसके फूलों की पीली-पीली राख मिलती। वे टहनियाँ वायु में साँय-साँय कर सिसकियाँ लेती हुई मिलतीं और उसका हृदय मुरझा जाता था।

अब वह अपनी सहेलियों से बहुत कम बातें करती थी। कभी वह उनकी बातें सुन कर चौंक उठती और उस साहूकार को कोसती जिस का ऋण चुकाने के लिए पति उससे दूर चले गए। धरती पर कमरतोड़ मेहनत करने के बाद भी पेट भर कर खाना नहीं मिलता था। बरसात में छाया हुआ कुहरा हृदय पर चोट करता। जब वह छँट जाता तो कम-से-कम वह सामने हिमाच्छादित शिखरों को देखकर मन हलका कर लेती। वह उस साहूकार का ऋण जल्दी से चुका देना चाहती थी, ताकि उसका परिवार उसके चंगुल से मुक्त हो जाए। उसने नथ तथा बिछुवों के अतिरिक्त सब गहने बेच दिए। रात-दिन कड़ी मेहनत की। पति के भेजे हुए पूरे रुपये दो साल तक उसे दिए। पति के पत्र बहुत कम आते थे और फिर वे बन्द हो गए। रुपया प्रति मास आता रहा।

जाड़े के दिन थे। वह संध्या को गोशाला का दरवाज़ा बन्द कर उसे घास तथा सूखी हुई टहनियों से ढंक रही थी कि एकाएक उसका पिता आया। पिछले चार दिनों से बरफ़ पड़ रही थी। आज बरफ़ का तूफान कुछ शान्त-सा हुआ था। वह पिता को देखकर आश्चर्य-चकित रह गई। इस भयानक मौसम में वह तीस मील का रास्ता पार करके क्यों आया, यह बात उसकी समझ में नहीं आई। मन में दुर्भावना उठी कि क्या माँ बहुत बीमार होंगी? वह माँ की मृत्यु की बात मन में नहीं उठाना चाहती थी। वह शादी के बाद मायके केवल एक बार गई और फिर सारा समय परिवार की रक्षा करने में ही जाता था। उसका पिता सास के पास चला गया। वह नीचे के कमरे में खाना बनाने लगी।

एकाएक ऊपर तिवारी में सास के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। वह काँप उठी, उसके हाथ से साग से भरी हुई कड़ाही छूट कर चूल्हे पर गिर पड़ी। आग बुझ गई। वह निर्जीव सी सोचने लगी कि अब उसका पति लौट कर नहीं आएगा। अब वह उसके आने की प्रतीक्षा नहीं करेगी। वह उसका कोई समाचार नहीं पाएगी। वह फूट-फूट कर रोई और बड़ी देर तक रोती रही। जब होश आया तो उसने पाया कि उसकी सहेलियों ने उसे घेर रखा था। अपना सुहाग वह खो चुकी है। वह सुहाग इतना

क्षणिक होगा, इसका ज्ञान उसे पहले नहीं था। वह पति तो युद्ध के मैदान में मर गया और उसकी पत्नी आज तक उसकी प्रतीक्षा कर रही है।

पिता ने बहुत अनुरोध किया, फिर भी वह मायके नहीं गई, उसे भय था कि वहाँ कुछ महीने बाद उसका पिता किसी दूसरे परिवार से रुपया लेकर उसकी शादी कर देगा जबकि वह इस परिवार को छोड़ना नहीं चाहती थी। सास, बहू दोनों महीनों तक रात-रात भर रोती रहीं। जाड़े की वे बड़ी-बड़ी रातें आँसू बहाने में ही बीत जाती थीं। वे रातें भयानक बड़ी लगती थीं।

२

अब सूर्योदय हो आया। गाँव भेड़-मुण्डन उत्सव की तैयारी कर रहा था। कल सुबह सन्देश आया था कि भेड़ें लौट रही हैं। गाँव वाले नदी का छोटा पुल बनाने के लिए गए थे। संध्या को लौट कर उन्होंने बताया कि दिन को चार बजे तक भेड़ें गाँव पहुँच जाएँगी। गाँव लगभग नौ हज़ार फुट की ऊँचाई पर घने वनों से घिरा हुआ है। आज गाँव भेड़ें पहुँच जाएँगी। वह चरागाह से लौट कर आ रही हैं। जून में बरफ़ पिघलने पर धरती का नया श्रृंगार होता है। उसमें हरियाली फैलती है, उसी समय चरवाहे गाँवों से हज़ारों भेड़ें लेकर दूर हिमालय की चोटी के चरणों में फैले हुए चरागाहों की ओर जाते हैं। बरफ़ पिघलती रहती है और रास्ता हरा-भरा हो जाता है। जब वे चारागाहों में पहुँचती हैं तो वहाँ प्रकृति अपनी पूर्ण छटा में खिली हुई मिलती है। वे कुछ महीने भेड़ों के साथ वहाँ व्यतीत करते हैं और सितम्बर के अन्त तक अपने गाँवों को लौट कर प्रत्येक परिवार को उसकी भेड़ें सौंप देते हैं। यदि किसी परिवार की भेड़ मर जाती है तो वे उसके सींघ तथा खुर साथ लाकर उसे सौंपते हैं। भेड़ें पौष्टिक घास तथा जड़ी-बूटियाँ खाकर बलवान बनती हैं। वे सदियों से ऐसा ही घुमक्कड़ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनके जीवन में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

आज गाँव का प्रत्येक परिवार अपनी भेड़ों के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा है। ऊन खरीदने वाले व्यापारी तीन-चार दिन से यहाँ टिके हुए हैं। सुरेशी की भेड़ें भी लौट कर आएँगी। लेकिन क्या भेड़ें ही ही लौटेंगी ? उनके साथ एक नवयुवक चरवाहा आएगा जोकि चारागाह जाने से पहले उसे बता गया है कि वह अब लौट कर उसी के परिवार में रहेगा। आज संध्या को उसे इसका अन्तिम उत्तर देना है। वह तो चक्की में मंडुआ पीस रही थी। उस घरड़ घरड़ घरड़ के साथ मन की पीड़ा बढ़ती जा रही है। उसके हृदय में दुःख के बादल उमड़ रहे हैं। उसके मन में वेदना की लहर उठी और वह फूट-फूट कर रोने लगी। अनायास ही वह गुनगुनाने लगी।

"सब भग्यान घर ऐन, मेरु सिपाही का छ ?"

(सब भाग्यवान लड़ाई के मैदान से घर लौट कर आ गए। मेरा सिपाही कहाँ है ?)

उसका सिपाही ? उसने साहूकार से कर्ज़ा लेकर विवाह किया और फिर उसे चुकाने को मैदान कमाई करने के लिए चला गया। नौकरी करता हुआ वह साहूकार का ध्यान रखता रहा। सुरेशी उस प्रवासी पति की बाट जोहती, पर वह लौटा नहीं। कहीं विदेश की युद्ध-भूमि पर मर गया। वह अपने हृदय की उमंग छुपा कर चुपचाप रोती रही। पेन्शन का पट्टा भले ही माहवारी दस रुपया देता, पर वह उसके पके हुए मन को ठेस पहुँचाता है। वह जानती है कि उसका पति भाग्यवान नहीं था, अन्यथा लड़ाई से कई सिपाही लौट कर आए हैं और वे खेती के काम-धन्धों में अपने परिवार वालों का हाथ बँटा रहे हैं। वे नौजवान नई दुनिया देख कर आए हैं, और पिछले किसान युवकों से भिन्न हैं। उनका पहनावा बदल गया। उनकी बातों में एक अक्खड़ता मिलती है। वे अपने नए दिलचस्प अनुभव सुनाते। वह उनको खेतों में काम करती हुई देखती और मन भर आता। कोई खेत की गिरी हुई दीवाल को चिनता हुआ मिलता, कोई गोशाला छाता हुआ और कोई नई ज़मीन को आबाद करता हुआ दीखता था। सब भावी नव-निर्माण में लगे हुए हैं, उसके हृदय में एक हूक उठती जो कि मन में करवट बदल कर सवाल पूछती कि "उसका सिपाही कहाँ है ?"

वह अपनी सास के साथ मन लगाकर काम करती, पर उस माँ का हृदय टूट गया था। वह बावली बनी गली, खेतों तथा झरने के पास गाँव के युवकों के चेहरे ताका करती। वह पागल हो गई और एक दिन घास लेने के लिए गई तो घास काटते हुए संकरी पहाड़ी बटिया से खड्ड में लुढ़क कर गिर पड़ी। उसे गाँव के लोग चारपाई पर लाद कर घर लाए थे। उसने सास की छै महीने सेवा की, लेकिन जाड़ों में बुढ़िया एकाएक सूज गई। जब दो सप्ताह तक लगातार हिम गिरता रहा वह चुपचाप मर गई थी। सास की मृत्यु के बाद उसने निश्चय किया था कि इस परिवार को छोड़कर पिता के घर चली जाएगी। वहाँ वह माँ के हृदय की छाँव में स्नेह पाकर नया जीवन बनाएगी। यहाँ तो वह बहुत अस्वस्थ हो गई है। वह पाती कि न जाने वह सास क्यों सुपने में आकर उसे डराती है। वह कभी उसका गला घोंटने की चेष्टा करती सी लगती थी। नींद उचट जाने पर वह भय से काँप उठती, न वह यह सोच पाती कि क्या करे ? तभी अनायास एक घटना घटी……

एक दिन वह अकेली ही जंगल में घास और लकड़ी काटने के लिए गई थी। उसने घास तथा लकड़ी का बोझा बाँधा और उसे उठाकर सिर पर रख रही थी कि पाया एक नौजवान खाकी वर्दी में खड़ा हुआ उसे घूर रहा है। वह उसे देखकर काँप उठी। उसे इस बात का ज्ञान था कि वह सरकारी बन्द जंगल है। पहले वाला पतरोल सहृदय था, अतएव गाँव वालों को कठिनाई नहीं उठानी पड़ती थी। यह नया पतरोल तो जिद्दी है और किसी की बात नहीं सुनता था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए कचहरी में जुर्माना करवा देता है। इन लोगों की हंसिया (थमाली) छीन लेता है। पिछले महीने से उसका आतंक आस-पास के कई गाँवों पर छाया हुआ है। वह किसी को क्षमा करना नहीं जानता था। उसे कोई लालच दिया जाता तो तपाक से उत्तर देता कि उसे सरकारी वेतन उस जंगल की रक्षा करने के लिए मिलता है। गाँव के नवयुवकों ने एक बार उसकी हत्या करने की

ठहराई और आधी रात को उसके क्वार्टर पर धावा बोल दिया । कुत्ते भौंके तो उसकी नींद उचट गई । उसने आहट सुनी और उस ओर गोली दाग दी । एक व्यक्ति के पाँव पर चोट आई थी । वह तो आधी-आधी रात जंगल में कहीं भी पेड़ काटने खट खट खट वाली आवाज़ सुन कर बिना किसी भय के घने जंगल को पार कर वहाँ पहुँचता और अपराधी को पकड़ कर अपनी कोठड़ी में लाता और उसे वहीं बन्द रखता ।

सुरेशी आज चोरी करती हुई पकड़ी गई, अतएव बहुत भयभीत थी । उसने उसे आदेश दिया कि बोझा उठा कर उसके पीछे चले । वह अपराधिनी थी, चुपचाप उसके पीछे होली । क्वार्टर पर पहुँच कर घास तथा लकड़ी का बोझा उसने छप्पर के नीचे रखवा लिया । फिर उससे हंसिया माँगा और क्रोधित होकर बोला "गाँव चली जा, फिर सरकारी जंगल की ओर मत आना नहीं तो टाँग तोड़ दूँगा ।"

वह बिना हँसिया लिए हुए घर कैसे लौटे ? वह उसका सबसे अच्छा और सबसे मज़बूत हथियार था । पति उससे एक झटके में भेड़ का सिर काट देते थे । वह अवाक् कुछ देर खड़ी रही और फिर गिड़-गिड़ा कर उसके पाँवों में गिर पड़ी । विनती की कि वह असहाय है, उसका हथियार लौटा दिया जाए ।

लेकिन वह कड़क कर बोला कि वह औरतों के फुसलाने में नहीं आता है । नारी चरित्र उसे लुभा नहीं सकता । कोई बाहरी औरत आज तक उसे फँसा नहीं सकी है । वह गुस्से में भर कर कहता रहा । नखरे न कर भाग जा, नहीं कुत्ते को छोड़ दूँगा । कोई उसे छका नहीं सकता है । वह सरकारी नौकर है ।

हार कर उसने अपनी सारी व्यथा सुना दी और बताया कि वह विधवा है । उसकी भैंस एक मात्र सहारा है, साहूकार का कर्ज़ा वह घी बेच कर चुका रही है । भैंस के कारण वह इस जंगल में चोरी से घुसी । अब वह भैंस बेच देगी । वह अधिक न कह कर बड़े-बड़े आँसू टपकाती रही ।

सब सुन कर वह न जाने क्या सोचता रहा और फिर बोला कि जंगल में घास काटा जा सकता है, लेकिन छोटे पौधों को नहीं काटना चाहिए । वह उसे पहले अपराध पर माफ़ करता है । वह घर जा सकती है । फिर वह कान लगाकर मूक-सा कुछ सुनता रहा । खट खट खट का स्वर दूर से प्रतिध्वनित हो रहा था । वह तेज़ी से कमरे के भीतर घुसा और अपनी बन्दूक निकाल कर जंगल वाली बटिया पर बढ़ गया था । वर लौटने पर सुरेशी को बड़ी ग्लानि हुई । आज तक कभी उसने इतना अपमान नहीं सहा था । मन में भावना उठी कि वह गले पर फाँस लगा कर मर जाएगी । सोचा फिर यहाँ रहना व्यर्थ है । वह सब कुछ बेच-बाच कर अपनी माँ के पास चली जाएगी । लेकिन किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने पर असमर्थ रही ।

एक सप्ताह तक वह कहीं नहीं गई । फिर विवश होकर उसे जंगल घास लेने के लिए जाना पड़ा था । वह चुपचाप घास काट रही थी कि उसने देवदास के विशाल पेड़ों वाली बटिया से उसे आते देखा । वह पास आकर बोला, "तुम कई दिन से नहीं आई हो । सामने एक सूखी मोटी टहनी गिरी पड़ी है, उसे ले जाना ।" वह तेज़ी से जंगल के बीच खो गया ।

आगे वह बहुधा जंगल में उसे मिल जाता । और साधारण बातें करता था । एक दिन समझाया था कि वह सूखी लकड़ियाँ बटोर सकती है । सरकार जंगल बढ़ाना चाहती है इसीलिए पौधों को काटने की मनाही है । लेकिन गाँव वाले तो मनमानी करते हैं । यह सलाह दी थी कि भैंस न बेचे । उसकी सहृदयता से उनका मन स्वस्थ हुआ था । उसने उसके लिए मन में आदर बटोर लिया । उस पतरोल के जीवन को जानने की जिज्ञासा मन में उठी । वह बहुत कम मिलता था । उसने कभी उसके चेहरे पर मुस्कराहट नहीं पाई । वह बहुत कठोर लगता और बहुत कम बातें करता था । सात-आठ महीने इसी भाँति कट गए । वह तो अनजाने सी कुछ खोई-खोई रहने लगी । पति के मरने के बाद जो घाव पड़ा था वह भरता हुआ लगा । वह गृहस्थी के काम पर जुट गई । परिश्रम करके गोशाला की मरम्मत की । मकान के समीप के खेतों की दीवालें ठीक तरह चिनीं । हिसाब लगाकर पाया कि अब साहूकार का दो-सौ रुपया देना है । वह अपने मन में किसी भावी निर्माण की कल्पना करने लगी ।

एक दिन वह जंगल में घास काट रही थी कि वह नवयुवक पतरोल समीप आकर बोला—"बहिन, मेरी बदली हो गई है । मैं परसों चला जाऊँगा । नया पतरोल घूस खाता है, शराब पीता है और उसका चरित्र भला नहीं है । मैं उससे तुम्हारे बारे में कह दूँगा । लेकिन तुम उसके फुसलाने में न आना । उसकी परछाँई से दूर रहना ।"……

इससे पहले कि वह उससे कुछ पूछे वह चला गया । वह बड़ी देर तक टकटकी लगाए उसे जाते हुए देखती रही । घास काटने पर मन नहीं लगा । सामने हिमालय की चोटियों की ओर देखा, जस्ती रंग के बादल छाए हुए थे । आँधी आने वाली थी । जंगल के दूसरे कोने से तेज़ हवा के टकराने की आवाज़ कान में पड़ रही थी । आँधी आने की पूरी संभावना लगी । वह अनमनी-सी जल्दी-जल्दी घास काटती हुई कुछ सोचती रह गई । जिस व्यक्ति से वह स्नेह करती है वही उसे छोड़ कर न जाने क्यों चला जाता है, यह उसका कैसा फूटा हुआ भाग्य है ।

आकाश में बिजली कड़कने लगी तो वह जल्दी-जल्दी गाँव की ओर वाली बटिया पर चलने लगी । तूफ़ान बहुत तेज़ी पर था और उसका वेग समीप आता हुआ लगा । तेज़ हवा जंगल के भीतर विशाल पेड़ों से संघर्ष कर रही थी । वहाँ विचित्र स्वर सुनाई पड़ते । कभी किसी बूढ़े पेड़ के टूट जाने की आवाज़ सुनाई पड़ती, तो फिर बिजली कड़कती थी । मेह की तेज़ झड़ी लग गई । वह सोच रही थी कि वे तूफ़ान प्रति वर्ष आते और चले जाते हैं । मनुष्य ने उनको अपना-सा लिया है । आज उसके लिए प्रकृति, अचरज भरा व्यापार नहीं रह गया है । उसे मौसमों का ज्ञान है । इन तूफ़ानों से वह अपनी रक्षा करना जानता है । वह फिर भी अपने हृदय के संघर्ष में न जाने क्यों निर्बल पड़ जाता है । कभी-कभी असहाय-सा सोचता है कि उसका जीवन निरर्थक है । सुरेशी नारी है । उसका वह हृदय जो कि पिछले

दिनों प्रफुल्लित हुआ था, अब एकाएक मुरझा गया। वह उस भावनाओं की आँधी में सूखे हुए पत्ते के समान उड़ रही थी।

वह व्याकुल और भयभीत-सी घर पहुँची। दिन भर उद्विग्न रही और कुछ खाया, पीया नहीं। उसके मन में भयानक आँधियाँ उठ रही थीं। वहाँ सागर के ज्वार भाटों के साथ-साथ उसकी गहराई में मृत्यु की पुकार सुनाई पड़ती थी। वह अपने को खाली और निर्जीव पाती। लगता कि उसने बेकार ही मानव जीवन पाया है। पति को वह पहचान तक न सकी थी कि वह चला गया। तब वह बहुत छोटी थी। जब उसे कुछ समझ आई तो पति प्रवासी बन गए। वह वन में घास काटती, फसलें बोई जातीं और अन्न घर आता, त्यौहार मनाए जाते। उत्सव होते, उस प्रवासी पति की याद आती, पर वह लौटा नहीं.........। दिन भर आँधी चलती रही। संध्या को बादल ऊँची-ऊँची चोटियों पर उड़ कर चले गए। हवा फिर भी वेग से बह रही थी। रात पड़ने पर आकाश साफ़ हुआ और तारे टिमटिमाए, फिर भी उस पर कहीं-कहीं बादल छा जाते थे।

वह कुछ देर तक आँगन में खड़ी हुई आकाश को निहारती रही। कुछ हल-सा वहाँ पाया और एक भारी निश्चय कर ऊपर आई। उसने अपना पिटारा खोला। आवश्यक सामान एक चादर में बाँध कर गठड़ी बनाई और चुपचाप नीचे उतर गई। अब वह सावधानी से इधर-उधर देखती हुई गाँव की बटिया पर जंगल की ओर बढ़ गई। वह उस गाँव से भाग रही थी। गाँव का कोई मोह मन में बचा हुआ नहीं रहा। इस गाँव में आते ही उसके जीवन में गतिरोध आ गया। आज उसकी सहेलियाँ तीन-तीन चार-चार बच्चों की माँ हैं। लेकिन उसका जीवन निचुड़ गया है। इस गाँव में वह प्रगति नहीं कर सकी है, जहाँ की तहाँ स्थिर खड़ी है। जीवन को सुलझाने का एकमात्र मार्ग मृत्यु का संकल्प पाती है। उसे अपने प्राणों का कोई मोह नहीं है, फिर भी न जाने वह आज तक मर क्यों नहीं गई है और आज अब वह जीवन से नई प्रेरणा लेकर बढ़ रही थी।

उस घने अंधियारे में वह तेज़ी से जंगल की ओर बढ़ रही थी। वह यह निश्चय कर चुकी थी कि उस युवक को प्राण समर्पित कर देगी। उसे बताएगी कि उसे कुछ सूझ नहीं रहा है। वह उसे जो रास्ता दिखलाएगा वह उसी पर चलेगी। वह उसका आदर करती है। उसने उसके मन को बाँध लिया है। यदि वह ठुकरा देगा तो वह नदी में डूब कर प्राण दे देगी। वह घर नहीं, नहीं लौटेगी। वह चुपचाप आगे बढ़ रही थी। जंगल में दूर घने अंधियारे के बीच उसके क्वार्टर पर धुँधली रोशनी बीच-बीच में चमक रही थी। कभी वह किसी पेड़ के तने से छुप जाती। वह उसे इस प्रकार पाकर आश्चर्य-चकित रह जाएगा, पर वह विवश है। वह अब घर किसी स्थिति में लौट नहीं सकती है।

वह बटिया विशाल लम्बे देवदार के जंगल के बीच थी। वह प्रसन्न थी कि कुछ देर के बाद उसके पास पहुँच जाएगी कि एकाएक वह चीख उठी। उसने पाया कि आगे बटिया पर उसका पति दोनों हाथ फैलाए खड़ा है। सुरेशी तो उसके वक्षस्थल से टकराई। उसने पति की गरम साँस अपने चेहरे पर पाई। वह उसे भली भाँति न देख सकी फिर भी पाया कि वे सच ही उसके पति खड़े हैं। पति का वह रूप? मुरझाया चेहरा, आँखें भीतर की ओर धंसी हुई। वे तो उसे घूर रहे थे। पति उससे क्या चाहते हैं? क्या उसे जीने का कोई अधिकार नहीं? वह आहट पीछे-पीछे सुनाई पड़ रही थी। जब वह नागराज के मन्दिर पर गाँव की सीमा के भीतर पहुँची तो आहट एकाएक खो गई। उसने पीछे मुड़ कर देखा तो कोई नहीं था।

वहाँ बने हुए चबूतरे पर थकी हुई सी वह बैठ गई। सोचा कि क्या यह कोई भय था? लेकिन पति का चेहरा वह नहीं भूल सकती है। वे पति ही थे। वे आज भूत बन कर उसकी रखवाली करते हैं। इस कल्पना से वह काँप उठी। वह स्वतन्त्र नहीं है। पति ने उसे मुक्त नहीं किया है। उसने जंगल की ओर दूर-दूर तक देखने की चेष्टा की, वहाँ तो निपट अंधकार था। उसने खड़े होकर एक बार फिर मन को पक्का करने का प्रयास किया कि वह उस पतरोल के पास जाएगी। पर पति की अतृप्त-सी आँखें मन को पीड़ा पहुँचाने लगीं। वह पति को अब भूलेगी नहीं। यह स्वप्न मन को उद्वेलित कर समस्त शरीर पर भय फैला रहा था। पति ने संभवतः किसी आने वाली विपत्ति के प्रति आगाह किया होगा। उसे घर लौट जाना ही कल्याणकारी लगा था।

उसने घर पहुँच कर अपने कमरे की कुण्डी खोली और दिया बाला। अब एक मोटी बाती बट कर उसमें रखी और उसे भी बाल लिया। फिर दिए में इतना तेल भरा कि वह इधर-उधर बह गया। कमरा जगमगाया। उसने अब पिछली घटना पर स्थिर मन से विचार किया। इस बात को मन से न हटा सकी कि वह पति की छाया थी। आज पति जीवन में रुकावट न डालते तो वह नई गति पा जाती। पति के प्रति गुस्सा उठा और वह फूट-फूट कर रोई थी। वह पति.........। उसने उसे प्यार किया था, वह उसे कभी भूल नहीं सकेगी। पर जीवन तो अधूरा-सा लगता है और इस वैधव्य में क्या वह सारा जीवन काट लेगी। नीरस प्राणहीन जीवन।

अगले दिवस उसने पाया कि वह बहुत अस्वस्थ है। जब उसे होश आया तो सहेलियों ने बताया कि वह झरने के पास बेहोश पड़ी थी। वह वहाँ कैसे पहुँची यह न समझ सकी। बूढ़ी औरतों की धारणा थी कि उस पर अपनी सास का भूत आया है। ओझा बुलाए गए और भूत नचाने की व्यवस्था की गई। लेकिन वह तो एक ही बात जानती थी कि उसका अँग-अँग टूट गया है। उसे बहुत तेज़ बुखार चढ़ा था। वह अपने जीवन में असफलता पर मरने की कामना कर रही थी। वह मौत पति ने उसे सौंपी थी।

३

वह चुपचाप पीसती रही। उसने तीन सेर मंडुवे का आटा पीस लिया था। वहाँ गेहूँ प्राप्त नहीं होता है और मंडुवा भी आसानी से नहीं मिलता। एक धनी परिवार से उसने इस वायदे पर अनाज उधार लिया है कि वह उनको बदले में ऊन देगी। वह आज तक उस विषादपूर्ण रात्रि को नहीं भूल पाती है। और जीवन को नष्ट करने वाला गीत, जिसकी पंक्तियाँ यह भावना व्यक्त करती हैं कि जीवन कितना क्षणिक है, वह फिर गुनगुनाने लगी:

"सब भग्यान घर ऐन, मेरु सिपाही का छु ?"

उसका सिपाही ? वह घर लौट कर नहीं आया। आठ साल उसकी प्रतीक्षा में कट गए। एक दिन रात्रि को एक भ्रम-सा वह दीख पड़ा था। उसने उससे कुछ पूछा तक नहीं। जब वह बहुत बीमार रही तो वह स्वप्न तक में नहीं आया। उसकी देखभाल गाँव के एक गरीब परिवार की बुढ़िया ने की जिसके कि दो लड़के चरवाहे हैं। उसका बड़ा लड़का गरीबी के कारण अब तक विवाह नहीं कर सका। इसके लिए उसे साहूकार से तीन हज़ार रुपया कर्ज़ लेना पड़ता। वह इस भार से दबने को उत्सुक नहीं था। उसे साहूकारों की जाति से आन्तरिक घृणा थी। वह फक्कड़ प्रकृति का है और किसी से ऐसा समझौता नहीं करना चाहता है कि उसे आजीवन उसकी दासता करनी पड़े।

वे दोनों भाई बहुधा उसे चरागाहों की कहानियाँ सुनाया करते। आठ-दस हज़ार फुट की ऊँचाई पर मीलों लम्बे चारागाह। हरे भरे घास के मैदान, जहाँ कि सुन्दर रंग-बिरंगे फूल खिले हुए रहते, वहाँ भूमि पर पत्थर कम मिलते हैं। वहाँ से हिमालय के शैल त्रिशूल, चौखम्भा, बद्रीनाथ, केदारनाथ की चोटियाँ सुबह की धूप में सुनहली तथा रुपहली लगती हैं। कभी-कभी इन्द्र-धनुष घाटी से शिखर तक सातों रंग फैला देता है। वह भोजपत्र के वनों का वर्णन करते हुए बताते कि वहाँ के फूलों का रंग गाढ़ा नहीं होता है। वहाँ का आकाश नीला रहता है। नर कस्तूरी मृग के ऊपरी जबड़े में प्रायः तीन इंच लम्बी पतली-सी खांग होती है। नर की नाभी में कस्तूरी मिलती है। वह मोछंग (तार वाला मुँह का बाजा) पर मधुर धुन बजाया करता। उनके व्यक्तित्व से वह बहुत स्वस्थ हुई। वह बड़े भाई से बहुत प्रभावित हुई थी। एक दिन उसने बरफ़ के बघेरे से अपनी मुठभेड़ की कहानी सुनाई थी। बघेरे ने कुत्ते पर हमला किया और जब वह उसे बचाने के लिए गया तो वह उस पर झपटा था। उसने बघेरे के मुँह में मोटा डंडा घुसेड़ कर भाले से उसे मारा था। वह कहता था कि सभी को अपना घर भला लगता है। पर चारागाहों के जीवन में एक आकर्षण होता है, जिसे कि भुलाया नहीं जा सकता है। वहाँ तो देवता निवास करते हैं। वे कुत्ते को आग के पास नहीं आने देते हैं अन्यथा वह असली हो जाएगा।

उस बहादुर युवक ने उसका मन मोह लिया। वह तीन महीने में भली हुई थी। वह बहुत दुबली पड़ गई। जब वह कुछ स्वस्थ होकर, चारपाई छोड़कर चलने की चेष्टा करती तो निर्बलता में उसकी आँखों के आगे धुन्ध छा जाता। वह उसके लिए जंगली चिड़िया मार कर लाता और वह उसका शोरवा पीती। उस शोरवे में कई ऐसी जड़ी डाली जातीं जिनसे कि खून बनता। उसने उसे कस्तूरी के चार बीड़े दिए थे। समझाया था कि वह जाड़े में खाया करे। लेकिन वह अपने को बहुत कुरूप पाती। उसके सुन्दर काले बाल, जिन पर कि उसे बड़ा नाज़ था, झड़ रहे थे। उसके शरीर पर केवल हड्डियाँ बची थीं। वह ज़रा सा खटका पाकर चौंक उठती थी। उसका हृदय थोड़ा परिश्रम करने पर धुक-धुक-धुक करने लगता था।

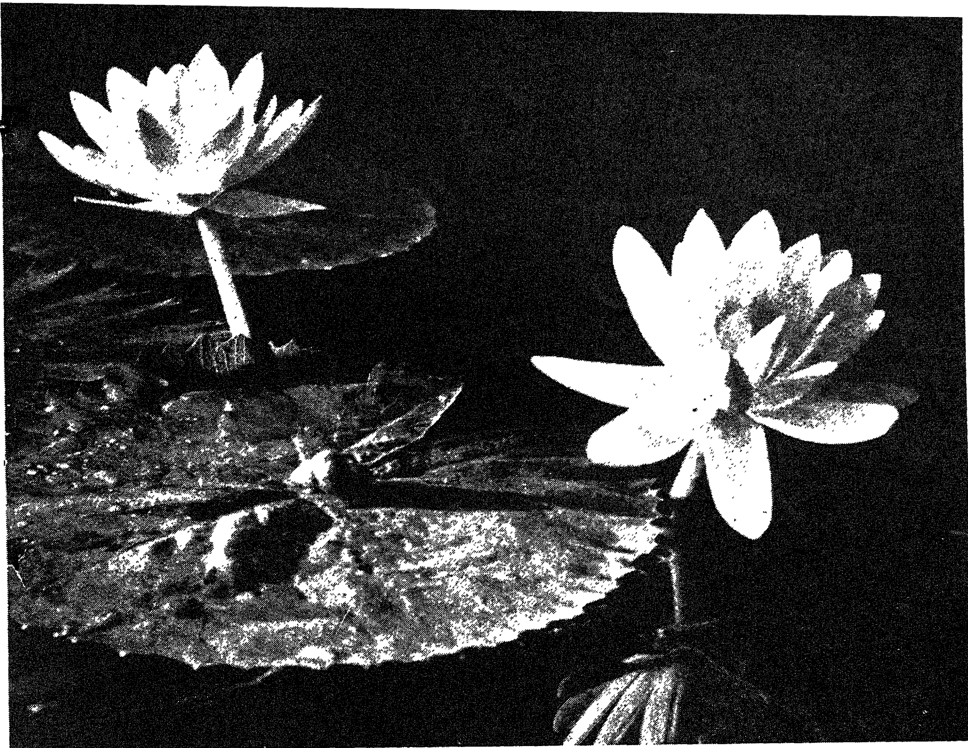
वह युवक बहुधा उसे मूक ही ताका करता तो वह भय से काँप उठती। लगता कि कोई उसका गला घोंट रहा है। उसका मुँह बन्द हो जाता और उससे सफेद झाग निकलता, वह तो सिर पटक कर रोने लगती। वह हाथ-पाँव पटकती हुई बेहोश हो जाती थी। ओझा आते, भूत झाड़ने के उपाय होते। थाली झनझनाती, डमरू बजता, मन्त्र पढ़े जाते, पर वह कभी नाची नहीं। भूत ने कभी उसके शरीर के माध्यम द्वारा कोई माँग नहीं रखी। जब कि उसकी कई सहेलियाँ अनायास ही किलकारियाँ मार मार नाचती हुई अनर्गल न जाने क्या-क्या बकती हुई नाचती थीं। वह उनके उस व्यवहार को चकित-सी देखती रह जाती थी।

वह चरवाहा जब जून में भेड़ों के साथ चारागाह जाने लगा तो उससे बिदा लेने के लिए आया था। उसने उसे तिब्बती रमणियों से क्रय करके लाई हुई मूंगे की माला, गहने तथा कपड़े भेंट किए थे। वह चुपचाप उन वस्तुओं को निहारती रह गई। उसे कपासी से भरी हुई एक थैली दी थी। अब वह चार महीने बाद लौट कर आएगा। सदियों का वही पुराना घुमक्कड़ जीवन, कई मीलों की यात्रा, वही रास्ता और वे ही पड़ाव जहाँ कि कई पीढ़ियों से उसके परिवार के लोग जाते रहे हैं। वह सब उनके जीवन और शरीर के भीतर रम गया था। सुरेशी अभी तक पूर्ण स्वस्थ्य नहीं हुई थी। उसे न जाने क्यों यह भय लग रहा था कि वह उसे छोड़ कर जा रहा है। लेकिन वह उसका कौन है ? वह भले ही मूक मन ही मन उसे प्यार करे, उससे शादी न हो सकेगी, उसकी जाति छोटी है। समाज ऐसे विवाहों को स्वीकृति नहीं देता है। वह दूसरे परिवार में अपनी जाति के भीतर रह सकती है, उसके साथ नहीं। यह भावना मन को पीड़ा पहुँचाती है। वह लाचार थी।

उसने उसे एक छुरी भेंट स्वरूप दी। कुछ जड़ियाँ देकर बताया था कि वे कैसे खाई जाएँगी। शिलाजीत दूध के साथ खाने का अनुरोध किया था। एक ताबीज़ उसके बाएँ हाथ पर बाँधा था, जिससे कि भूत, प्रेत, अछरी आदि न सताएँ। वह ताबीज़ वह एक लामा से लाया था। इस सब के बाद वह मुस्करा कर बोला था "अब मैं लौट कर इस घर का स्वामी बन कर रहूँगा। उस घुमक्कड़ जीवन में अकेले आनन्द नहीं आता है। एक बार तुम भी साथ चलना। तुम्हारे प्राणों के साथ मेरी स्वांस बँध गई है। लौटने पर इसका उत्तर सोच लेना। चार महीने का मौका है।"

वे लोग पीठ पर खाल की टोकरी लाद कर चले गए। उनकी भेड़ों पर खाने, पीने का आवश्यक सामान लदा हुआ था। वह उनको विदा करने दूर तक न जा सकी थी। उसके चले जाने पर वह बहुत निराश हुई और ज्वर रहने लगा। उस युवक की माँ उसे अपने जीवन की कहानियाँ सुनाती हुई सांत्वना देती। वह स्वस्थ हुई कि पति की याद आई। प्रश्न उठा कि क्या वे आज भी उसके जीवन में रुकावट डालेंगे ? लेकिन वह अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहती है। उसने गंभीरता से इस पर विचार किया। पति को उसका जीवन नष्ट करने

(शेष पृष्ठ ४९ पर)



कुमुद

फूलों की बहार

डल झील में
कमलों का खेत





नरगिस



डेलिया फोटो : काशीनाथ

जंगली गुलाब



एंटिरेनम



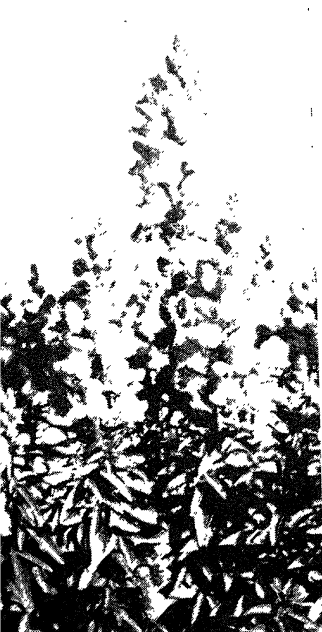


गुलचीन फोटो : रामेश बेदी



सूर्यमुखी

फोटो : काशीनाथ

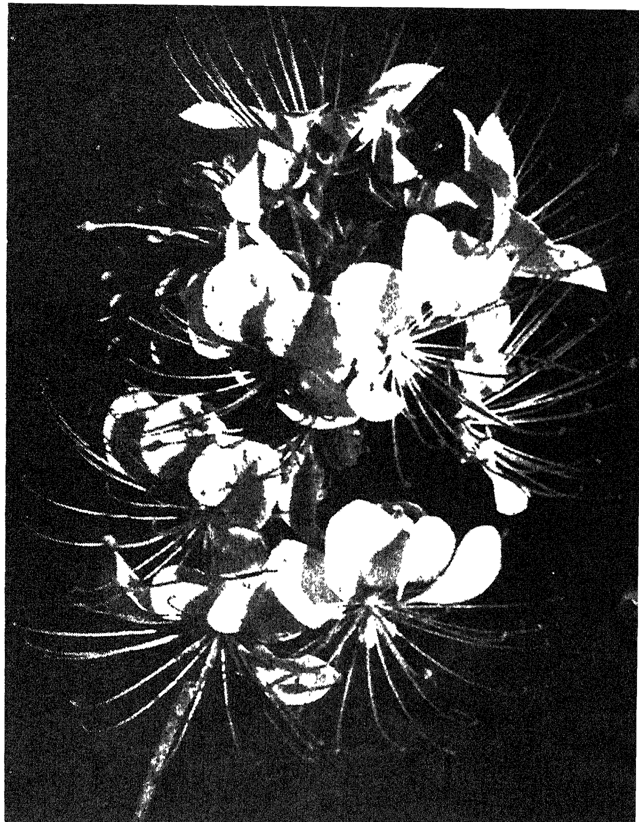


गुलाब फोटो : एडवर्ड्स





पुष्पित गिलास (चेरी) वृक्ष



बरना फोटो : रामेश बेदी

कनेर (कर्वी) फोटो : काशीनाथ



लाल डायन्थस फोटो : एडवर्ड्स



फूलों की नगरी—फ़्लोरेन्स

ब्रजकिशोर 'नारायण'

फ़्लोरेन्स (फ़िरेंत्से) इटली का मेरा दूसरा पड़ाव था। मिलान से विदाई लेते वक्त अपने भारतीय चित्रकार मित्र श्री राजनीति सिंह से मुझे परामर्श मिला था कि मैं फूलों की नगरी फ़्लोरेन्स में कम से कम चार दिन ज़रूर ठहरूँ। श्री सिंह मिलान विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक और चित्रकला विद्यालय के अन्तिम वर्ष के विद्यार्थी हैं। उनसे मेरा परिचय इटली जाने के बहुत पहले का है। उन्होंने फ़्लोरेन्स वाली गाड़ी पर मुझे बिठाते हुए बताया कि बेनीपुरी जी को भी फ़्लोरेन्स सबसे अधिक भाया था। चित्रकार और शब्द-चित्रकार, दोनों की प्रत्यक्ष और परोक्ष सिफ़ारिश से अनुप्राणित होकर मैं फ़्लोरेन्स के लिए रवाना हुआ। साढ़े-तीन बजे मध्याह्न में गाड़ी चली और आठ बजे रात फ़्लोरेन्स पहुँच गई। हर जगह की तरह यहाँ भी मैं अपने दोनों सूटकेस हाथ में लिए हुए होटल की खोज में बाहर निकल पड़ा। स्टेशन के बाहर आते ही बाईं ओर फूलों की एक बहुत बड़ी दूकान दिखाई पड़ी, जहाँ सैकड़ों किस्म के फूलों के बीच, फूलों की रानी जैसी एक किशोरी बिजली की चकाचौंध को भी चकाचौंध में डालकर मुस्कुरा रही थी। मैंने पाया कि फ़्लोरेन्स सचमुच ही फूलों की नगरी है!

होटल की खोज में खुद खराब होने का जो मज़ा मैंने मोल ले रखा था, वह फ़्लोरेन्स में बहुत ही मुफ़ीद मालूम हुआ। थोड़ी दूर आगे जाते ही एक सतमंज़िले होटल के सामने मेरे पाँव अपने आप रुक गए। यह होटल एकदम नया था। कुछ एशियाई वर्ण और पोशाक में देखते ही होटल का एक किशोर कर्मचारी दौड़कर मेरे पास आया और मेरे हाथ से दोनों सूटकेस ले लिए। उस किशोर का रंग और नक्श तो इटालियन था, किन्तु केश बिल्कुल भारतीय थे। अंग्रेज़ी अच्छी तरह बोल लेता था। जब मैंने उससे कहा कि तुम तो एकदम भारतीय लगते हो, तो उसने हँसकर कहा—"प्रायः सभी भारतीय यात्री यही कहते हैं।" किशोर ने मैनेजर के पास ले जाकर मेरे पास-पोर्ट का नंबर और यात्रा का उद्देश्य दर्ज कराया और मुझे चौमंज़िले की ऐसी कोठरी में ले गया, जिसका रुख स्टेशन के ठीक सामने था। खिड़कियाँ भी उसमें दो थीं, जिनसे हवा के झोंके आते थे और अपने देश की गर्मी से आए हुए स्वेद-बिन्दुओं को सुखाने का भरपूर प्रयास करते थे।

यूरोप में इटली ही एक ऐसा देश है, जहाँ आते ही ऐसा अनुभव होता है कि हम भारत के आस-पास आ गए हैं। मक्की के खेत, गेंदे के फूल, केलों की कतारें और खपरैल के मकान! गर्मी भी इतनी, जितनी यूरोप के किसी दूसरे देश में नहीं। यही कारण था कि फ़्लोरेंस पहुँचते ही मैंने होटल में ऐसी कोठरी की ख्वाहिश की, जिसमें हवा मलयानिल बनकर नहीं, झंझावत होकर आए। हालाँकि मैंने मिलान से ही स्नान का क्रम प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु फ़्लोरेंस में तो पहुँच कर लगा कि स्नान-घर के फव्वारे के नीचे ऐसे खड़ा रह जाऊँ, जैसे गंगावतरण के समय महादेव रह गए थे। स्नान का भरपूर आनन्द लेकर मैं भोजन करने के लिए स्टेशन की ओर चल पड़ा। होटल के साथ रेस्तराँ नहीं था। स्टेशन पर आते ही वहाँ के बड़े रेस्तराँ को देखकर बहुत खुशी हुई। वहाँ पचास से कम मेज़ें और दो सौ से कम कुर्सियाँ नहीं होंगी। मेज़ों पर एक-एक रंगीन मेज़पोश और रंग-बिरंगे फूलों से भरे फूलदान। बैठते ही बूढ़ा 'ब्वाय' आकर खड़ा हो गया और संध्याभिवादन कर बोला—"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?" मैंने उससे कहा कि इटालियन में लिखी हुई खाद्य-सूची को समझना मेरे लिए मुश्किल है, इसलिए तुम जो सर्वश्रेष्ठ समझो, वही देकर मुझे कृतार्थ करो। ब्वाय की पसन्द मेरी रुचि के अनुकूल निकली और मैं पूर्णरूप से परितृप्त होकर स्टेशन से शहर की सैर के लिए निकल पड़ा।

फ़्लोरेंस छोटा-सा शहर है। हल्ला-गुल्ला कम। शान्ति अधिक। रास्ते छोटे और गलियाँ तंग। जब मैं शहर के प्रमुख बाज़ार में दाहिने फुटपाथ पर चलने लगा, तो अधिकांश नागरिकों को अपनी ओर गौर से ताकते हुए देखकर समझा कि यहाँ भारतीयों का आगमन शायद बहुत कम होता है। पुरुष तो उतने नहीं मगर नारियाँ बड़े शौक से मेरी ओर घूर रही थीं। एक जगह तो दो-तीन लड़कियों ने मुझे घेर लिया और उनमें से अंग्रेज़ी जानने वाली एक लड़की ने मुझ से पूछा—"क्या आप भारतीय हैं?" मेरे 'हाँ' कहने पर उसने मेरी मखमली चप्पल की ओर इशारा करके पूछा—"आपका यह चप्पल क्या भारत का बना हुआ है? इस पर प्राचीन रोमन-कला की पूरी छाप है।" लड़की की बातें कुछ ऐसी कलात्मक लगीं कि मैं उसका परिचय पूछ बैठा। मालूम हुआ कि वह फ़्लोरेंस के कला-विद्यालय की छात्रा है और कविता भी रच लेती है। जब मैंने उसके माँगने पर अपना 'विज़िटिंग कार्ड' दिया तो उसकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। वह 'पोयता! पोयता!' (कवि, कवि) कह कर नाचने लगी। दूसरी लड़कियों को उसने मेरा परिचय दिया और मुझसे कहा—"ये सभी लड़कियाँ मेरी सहपाठिनी हैं।" जब मैं उनसे अलग होने लगा तो उन्होंने अपने हाथ में लिए हुए गुच्छों में से एक-एक फूल निकाल कर मुझे दिया और कहा—"यह भारत को फ़्लोरेंस का उपहार है!"

दूसरे दिन सुबह, नाश्ता करने के बाद, मैं फ़्लोरेंस दिखाने वाली 'टूरिस्ट बस-कम्पनी' में होटल के किशोर कर्मचारी के साथ चला

गया। कम्पनी का कार्यालय होटल के एकदम करीब था। मेरे जाने और टिकट लेने के कुछ देर बाद ही बस फ़्लोरेंस की परिक्रमा को निकल पड़ी। सबसे पहले हम 'केसिनो' की ओर गए, जहाँ की वृक्षावली से सजी सड़क को देखकर मन्त्र-मुग्ध हो जाना पड़ा। दो-तीन मील की लम्बाई का वह दृश्य आँखों को आत्मिक शान्ति प्रदान कर रहा था। केसिनो के आखिरी हिस्से में अंग्रेज़ चित्रकार फुलर द्वारा बनाया हुआ एक स्मृति-सौध दिखाई पड़ा, जिसके विषय में पथ-प्रदर्शक ने बताया कि यह कलापुर के राजा की स्मृति में बनाई हुई समाधि है, जो सन् १८७४ में २१ वर्ष की उम्र में स्वर्गीय हुए थे। शहर दिखाने वाली पुस्तिका में 'राजा' को रोमन लिपि में पढ़कर और 'कलापुर' को Kalapore के रूप में लिखा देखकर ऐसा लगा कि किसी विशुद्ध भारतीय गाथा का इस समाधि से सम्बन्ध स्थापित हो गया है। केसिनो से वापस लौटकर हम लोग फ़्लोरेंस की प्रसिद्ध चित्र-गैलरी 'हफ़िज़ी' को देखने के लिए गए। इटली तथा यूरोप के महान चित्रकारों और मूर्त्तिकारों की अनगिनत और अनमोल कला-कृतियों का यह बेजोड़ संग्रहालय है। दो-तीन घंटों तक इस संग्रहालय का भली भाँति निरीक्षण करने के बाद, हम लोग फ़्लोरेंस के दूसरे महान कला संग्रहालय 'बारगेलो' में गए। यहाँ मूर्त्तियों, शस्त्रास्त्रों, बर्तनों और चित्रों का ऐसा प्राचीन और अर्वाचीन संग्रह है कि देखकर यह निर्भ्रान्त स्वीकार करना पड़ता है कि फ़्लोरेंस में लगातार दो वर्षों तक देखते रहने पर भी यहाँ की कला-कृतियों को पूरी तरह देख पाना कठिन है।

फ़्लोरेंस 'फूलों की नगरी' शायद इसलिए कहलाती है कि यहाँ सिर्फ़ फूल ही नहीं उपजते, बल्कि फूलों की तरह के कोमल कीर्त्तिवान कलाकार भी उत्पन्न होते हैं और अपने सुगंधित सौंदर्य से अखिल सृष्टि को महिमा-मंडित करते हैं। फ़्लोरेंस के विषय में, वहाँ के पथ-प्रदर्शक ने बताया कि इटली और यूरोप के कला-क्षेत्र में पुनर्जागरण (रेनेसां) का श्रीगणेश फ़्लोरेंस से ही हुआ था। यूरोप के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों और मूर्त्तिकारों का अर्थ, इटली के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार और मूर्त्तिकार हैं और इटली के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों और मूर्त्तिकारों का मतलब, फ़्लोरेंस के मूर्त्तिकार और चित्रकार हैं।

मूर्त्तियों और चित्रों के चुने हुए दो-चार संग्रहालयों को देखने के बाद, हम 'एकेडमी आफ़ फाइन आर्ट्स' के भवन में गए। भवन बाहर से धूमिल पीले रंग का है तथा अनाकर्षक भी। किन्तु उसके अन्दर जाकर और वहाँ की आश्चर्यजनक कला-कृतियों के विशाल संग्रह को देखकर फ़्लोरेंस की कलाप्रियता पर चकित रह जाना पड़ा।

एकेडमी-भवन से जब बस यात्रियों को उनके होटल की ओर वापस लाने लगी तो पथ-प्रदर्शक ने यात्रियों के सामने खड़े होकर कहा—"आपका यह विनम्र सेवक, आपका पथ-प्रदर्शक ही नहीं, यहाँ के एक प्रसिद्ध महाविद्यालय के इतिहास का प्राध्यापक भी है। अतएव वह चाहता है कि अगर आप 'बोर' नहीं हों तो वह आपसे फ़्लोरेंस के इतिहास के बारे में कुछ अर्ज़ करे।" प्रोफेसर का यह प्रस्ताव सभी यात्रियों को पसन्द आया और उन्होंने बताना शुरू किया—"फ़्लोरेंस नगरी का निर्माण कब हुआ था, यह उसी तरह अज्ञात है, जिस तरह संसार के अधिकांश प्राचीन नगरों का इतिहास अज्ञात है। प्राचीन रोमनों ने जब इस प्राचीन नगर पर अपना आधिपत्य जमाया, तब से लोग यह मानने लगे कि रोमनों ने इसका निर्माण किया। यद्यपि इसका निर्माण ईसामसीह के जन्म के भी कई सौ वर्ष पहले हो चुका था, फिर भी इसका प्रामाणिक इतिहास ग्यारहवीं सदी से पहले नहीं प्राप्त होता।"

"फ़्लोरेंस शहर पर पहले बर्बर जातियों के इतने आक्रमण हुए कि यह बराबर बरबाद होने में ही आबाद होने का ख्वाब देखता रहा। सन् १४१३ में जब इस पर पोप और सम्राट के समर्थकों का विभाजक आक्रमण हुआ तो इसकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय हो गई। द्वैध-शासन की प्रतिशोधात्मक चढ़ाइयों के कारण, फ़्लोरेंस पर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आईं और यह क्रम सन् १७३७ में समाप्त हुआ, जब इसे 'दि मेदिसी' परिवार का शासन प्राप्त हुआ। सन् १८६६ से सन् १८७० तक फ़्लोरेंस इटली की राजधानी बना रहा। १८७० में इटालियन सरकार ने रोम को राजधानी बना लिया।"

प्राध्यापक पथ-प्रदर्शक ने अपना संक्षिप्त भाषण समाप्त करते हुए अन्त में कहा—"यह भगवान की ही कृपा है कि फ़्लोरेंस नगर इटली की राजधानी के रूप में नहीं, बल्कि फूलों की नगरी और महान कला-कारों की जन्मभूमि के रूप में आज इटली का यश सारे संसार में फैला रहा है। हम फ़्लोरेंस निवासियों को इस पर गर्व है।"

गुजराती कविता

मुख मोहिनी

श्री सुन्दरम

मुख-मुख तोरी मोहिनी, मैं मुख चाहूँ कौन ?
सुमन-सुमन रस तोर ही, मैं रस पीऊँ कौन ?
मैं रस पीऊँ कौन, बहे रस-सरिता तोरी,
मैं गुण कौन बताऊँ, गुणन के तुम गिरिधारी।

मैं बन कौन बसाऊँ, जहाँ तुम वन-वन-माली,
मैं पट कौन सजाऊँ, जहाँ तुम सब पटहारी !
चिन्तत-चिन्तत यों बहुत, मन लागा भटकन बहुत,
मूढ़ बनी देखत रही, मुख-मुख तोरी मोहिनी।

अनुवादक—गौरीशंकर जोशी

स्वतन्त्रता के पश्चात भारतीय उद्योगों की प्रगति

आनन्द प्रकाश सिंह

स्वतन्त्रता के उपरान्त अनुकूल वातावरण तथा सरकारी संरक्षण प्राप्त कर अनेक भारतीय उद्योग जिनकी जड़ें काफ़ी समय पूर्व जम चुकी थीं, फूले-फले और तेज़ी से प्रगति कर सके। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अनेक उद्योगों के लिए एक उत्पादन-लक्ष्य घोषित किया गया था और उनमें से अधिकांश उस निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सके। स्वतन्त्रता के पश्चात ही सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ ऐसे उद्योगों की स्थापना की गई जिनकी स्थापना विदेशी शासन के अन्तर्गत शायद सम्भव न थी।

सर्व-प्रथम हम निजी क्षेत्र के उन प्रमुख संगठित उद्योगों पर दृष्टि डालेंगे जिनमें काफ़ी पूँजी लगी हुई है और जो अच्छी संख्या में लोगों को रोज़गार देने में सफल हुए हैं अथवा वे जो सबसे अधिक वैदेशिक विनिमय अर्जित कर देश की पूँजी को न केवल बाहर जाने से रोक सके हैं बल्कि उसका उपयोग अन्य उद्योगों में करने में योग दे रहे हैं। इन दोनों प्रकार के उद्योगों ने समान रूप से राष्ट्रीय आय की वृद्धि में योग दिया है। पूँजी और रोज़गार की दृष्टि से सूती वस्त्र उद्योग को सभी उद्योगों में गर्व का स्थान प्राप्त है। यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राप्ति से काफ़ी समय पूर्व ही अपनी जड़ें जमा चुका था किन्तु उसके पश्चात भी इसने आशा के अनुकूल प्रगति की जिसके फलस्वरूप भारत के वस्त्रों की माँग मध्य-पूर्व, दक्षिण-पूर्वी-एशिया तथा अफ़्रीका के अनेक देशों में इस प्रकार बढ़ गई कि इन देशों को युद्ध के दिनों में अपना सूती माल न भेज सकने वाले देश ब्रिटेन और जापान उनके बाज़ारों पर पुनः अधिकार नहीं जमा सके।

विगत सात वर्षों में इस उद्योग ने जो प्रगति की है उसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

उत्पादन

वर्ष	धागा (००० पौंड में)	कुल वस्त्र (००० गज़ों में)
१९४९	१,३५६,११६	३,८०४,२०३
१९५०	१,१७४,२२०	३,६६५,०९१
१९५१	१,३०३,८६१	४,०७६,१८६
१९५२	१,४५०,०००	४,६०२,०००
१९५३	१,५१०,०००	४,८७८,०००
१९५४	१,५६५,०००	५,०११,०००
१९५५	१,६३७,०००	५,०९८,०००

इस उद्योग का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें ८११ लाख व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं जबकि एक करोड़ बुनकर जीविका के लिए इस पर आश्रित हैं। उद्योग में कुल ११० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। प्रतिवर्ष इसका वार्षिक उत्पादन ३५० से ५०० करोड़ रुपयों की लागत का होता है। देश भर में कुल मिलों की संख्या ४९८ है और प्रतिवर्ष अनुमानतः ७,००० लाख गज़ कपड़े का निर्यात होता है। केवल सरकार को ही उद्योग से ३० करोड़ रुपयों की वार्षिक आय हो रही है।

पूँजी की दृष्टि से सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात सबसे बड़ा उद्योग है चीनी का। इस उद्योग में कुल ७२ करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई है। इस कारण देश की माँग के अधिकांश भाग की पूर्ति यहीं पर बनी हुई चीनी से हो जाती है और वैदेशिक विनिमय की बचत अन्य आकस्मिक वस्तुओं के आयात के लिए होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात इस उद्योग की वार्षिक प्रतिस्थापित शक्ति और उत्पादन दोनों में ही वृद्धि हुई है, यद्यपि उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि नहीं हो पाई। उत्पादन के आँकड़े इस प्रकार (लाख टनों में) हैं :—

१९४९	१०.०१
१९५०	९.७७
१९५१	११.१५
१९५२	१४.९४
१९५३	१२.९१
१९५४	१०.०१
१९५५	१५.८६ (जन०-जून)

सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात सबसे अधिक संगठित उद्योग है जूट उद्योग। यद्यपि देश के विभाजन के फलस्वरूप इस उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिनमें कच्चे माल की उपलब्धि मुख्य थी, फिर भी निर्यात की दृष्टि से यह भारत का सर्वप्रथम उद्योग है और इसमें भारत को एकाधिकार प्राप्त है। देश भर में कुल मिलों की संख्या ११२ है और उनमें ३० करोड़ रुपयों से अधिक की पूँजी लगी हुई है। विगत नौ वर्षों में इस उद्योग के उत्पादन तथा निर्यात की जो स्थिति रही है वह निम्न तालिका से प्रकट हो जाएगी :—

वर्ष	उत्पादन (००० टन में)	निर्यात (००० टन में)
१९४७-४८	१,०३५	८९६
४८-४९	१,०८१	८७२
४९-५०	८७१	७८७
५०-५१	८५०.९	६४९
५१-५२	९४५.२	८०८

५२-५३	८६२	७०६
५३-५४	८६५.३	७७८
५४-५५	९९३.३	८५२

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है देश के विभाजन के फलस्वरूप जूट उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनको दृष्टि में रखते हुए उपरोक्त आँकड़े कम सन्तोषजनक नहीं।

जूट उद्योग के पश्चात सबसे अधिक वैदेशिक विनिमय अर्जित करने वाला अन्य उद्योग है चाय उद्योग। इस उद्योग द्वारा प्रतिवर्ष १० करोड़ रुपयों का वैदेशिक विनिमय उपलब्ध होता है जबकि चुंगी और निर्यात-करों द्वारा भी १६ करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। संसार की चाय की कुल माँग का आधा भाग भारत द्वारा ही पूरा किया जाता है। विगत पाँच वर्षों में चाय का उत्पादन (दस लाख पौंड में) अन्तर्राष्ट्रीय वृद्धि पर रहा जो कि उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार इस प्रकार है :—

१९४८	५६१
१९४९	५७७
१९५०	६०६
१९५१	६२४
१९५२	६२०

सूती वस्त्र उद्योग की भाँति इस उद्योग में भी कई लाख व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं। अनुमान है कि सन् १९५६-६६ का चाय उत्पादन ६.६०० लाख पौंड है जो कि स्वतन्त्रता के पश्चात सबसे अधिक उत्पादन होगा।

उपरोक्त उद्योगों की चर्चा करने के उपरान्त हम लोहा तथा इस्पात उद्योग को नहीं भुला सकते। राष्ट्र निर्माण तथा औद्योगीकरण का कार्य प्रचुर मात्रा में लोहा तथा इस्पात की उपलब्धि के बिना किसी तरह भी सम्भव नहीं। आधार-उद्योग तथा सुरक्षा उद्योग भी इसी उद्योग पर निर्भर हैं। इस उद्योग में कुल ६१ करोड़ रुपयों की पूँजी लगी हुई है। विगत सात वर्षों में इस उद्योग ने जो प्रगति की है उसका अनुमान सहज ही निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

उत्पादन (००० टनों में)

वर्ष	बिना शोधा लोहा	तैयार इस्पात
१९४९	१,५२८	९३०
१९५०	१,५६२	१,००४
१९५१	१,७०९	१,०७६
१९५२	१,६८५	१,१०३
१९५३	१,६५५	१,०१८
१९५४	१,७९३	१,२४३
१९५५ (जन०-जून)	८९२	६३७

देश की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग को देखते हुए उपरोक्त उत्पादन सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। किन्तु टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की विस्तार तथा आधुनिकीकरण योजना पूरी हो जाने और ४०० करोड़ रुपयों की लागत से स्थापित हो रहे रूरकेला, दुर्गापुर और भिलाई के कारखानों के उत्पादन प्रारम्भ कर देने पर इस्पात के उत्पादन में बहुत कुछ वृद्धि हो सकेगी और हम अपनी बढ़ती हुई माँग की पूर्ति कर सकेंगे।

लोहा तथा इस्पात उद्योग के समान ही राष्ट्र-निर्माण के कामों में सीमेंट उद्योग का भी बड़ा महत्त्व है। सन् १९५१-५४ में तीन नए कारखानों की स्थापना के उपरान्त आज कुल सीमेंट कारखानों की संख्या २७ है जबकि देश के विभिन्न भागों में ३३ नए सीमेंट कारखानों की स्थापना के लिए प्रस्तुत आवेदन-पत्र स्वीकृत कर लिए गए हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात सात सीमेंट कारखानों का विस्तार तथा आधुनिकीकरण कार्यक्रम भी पूरा किया गया। फलस्वरूप उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई जो कि इन आँकड़ों (दस लाख टनों में) से प्रकट हैं :

१९४८	१.५५
१९४९	२.१०
१९५०	२.६१
१९५१	३.१९
१९५२	३.३३
१९५३	३.७८
१९५४	४.४५

हमारी विभिन्न योजनाओं तथा सड़क-विकास योजनाओं की सम्मिलित माँग ४०.५० लाख टन है। आशा है कि कुछ नई इकाइयों के उत्पादन आरम्भ करने और विस्तार-कार्यक्रमों को पूरा करने के पश्चात हम न केवल अपनी आवश्यकताओं की ही भली भाँति पूर्ति कर सकेंगे बल्कि सीमेंट का निर्यात भी करने लगेंगे।

निजी क्षेत्र के उपरोक्त प्रमुख उद्योगों की उन्नति का ज़िक्र करते समय हम अन्य संगठित उद्योगों को भी नहीं भुला सकते जिनमें प्रमुख हैं—रसायन उद्योग, काँच उद्योग, रबड़ उद्योग, जहाज़रानी उद्योग, खनिज उद्योग, दियासलाई उद्योग आदि। इनमें से प्रायः सभी ने स्वतन्त्रता के विगत नौ वर्षों में अच्छी प्रगति की है किन्तु स्थानाभाव के कारण हम उनकी प्रगति का विस्तार से वर्णन नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत में निजी क्षेत्र में सब से बड़े उद्योग के रूप में तीन तेल-शोधक कारखानों की स्थापना भी हुई है जो कि क्रमशः बर्मा शेल रिफ़ाइनरी, स्टैंडर्ड वैक्यूम रिफ़ाइनरी और कालटेक्स रिफ़ाइनरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले दो कारखाने बम्बई में हैं और उनका उत्पादन क्रमशः सन् १९५५ और १९५४ में आरम्भ हो चुका है। कालटेक्स कारखाने का विशाखापटनम में निर्माण जारी है। इन तीनों में लगी कुल पूँजी ६० करोड़ रुपये से कुछ ऊपर है। ये

तीनों तेल शोधक कारखाने देश की किसी एक इकाई में लगी सब से अधिक विदेशी पूँजी का प्रतिनिधित्व करते हैं। तीनों कारखानों में मिल-जुल कर प्रतिवर्ष ३०.७० लाख टन कच्चे तेल का परिशोधन करने का सामर्थ्य है। इनके द्वारा प्रतिदिन का उत्पादन ८५,००० बैरल होगा जबकि हमारी दैनिक माँग १०५,००० बैरल है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में पेट्रोल का प्रतिदिन का उत्पादन केवल ५,००० बैरल था। इसके अतिरिक्त भी निजी क्षेत्र में नए उद्योगों की स्थापना की गई जिनमें रेयान तथा ओटोमोबाइल उद्योग प्रमुख हैं। आगामी ३ से लेकर ५ वर्षों में दोनों हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगेंगे।

स्वतन्त्रता के पश्चात उद्योगों द्वारा की गई प्रगति का सही अनुमान लगाने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम उनके द्वारा स्वतन्त्रता के पश्चात किए गए उत्पादन की तुलना स्वतन्त्रता के पूर्व उपलब्ध उत्पादन के आँकड़ों से करें। यदि सन् १९४६ को हम आधार वर्ष (१००) मानें तो पुराने अर्थात काफी समय पूर्व अपनी जड़ें जमाने वाले उद्योगों के उत्पादन में निम्न वृद्धि हुई है :—

उद्योग	१९५१	१९५५
सूती वस्त्र	१७१	१२७
जूट	८०	९४
इस्पात	११६	१३२
सीमेंट	२०७	२८६
कागज़ और कागज़ के गत्ते	१२४	१७४
दियासलाई	१४०	१४७
चीनी	१२१	१७३

स्वतन्त्रता के पश्चात नए स्थापित उद्योगों ने उत्पादन में जो वृद्धि की उसके आँकड़े निम्न हैं :—

मशीन टूल	५२	८२
डीज़ल इंजिन	१५३२	२१२४
बाइसिकल	२६६	११४३
सिलाई की मशीनें	७३६	१६५८
विद्युत मोटर्स	६११	५४९
सोडा ऐश	३९६	६४४
कास्टिक सोडा	५०८	११८१
सुपर फ़ास्फ़ेट्स	१३५६	१५९८

उपरोक्त आँकड़ों से यह प्रकट है कि जूट तथा मशीन टूल उद्योगों को छोड़ कर बाकी सभी उद्योगों ने स्वतन्त्रता के पश्चात आश्चर्यजनक प्रगति की है।

औद्योगिक वित्त निगम के अनुसार, जिसकी स्थापना स्वतन्त्रता के पश्चात हुई, उसके द्वारा विभिन्न उद्योगों को दी गई ऋण की रकम में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। जबकि सन् १९५१ में यह रकम ९.५ करोड़ रुपये थी, सन् १९५५ में बढ़ कर यह ४३.२० करोड़ रुपये हो गई। विगत दो वर्षों में ऋण के लिए दिए गए आवेदन-पत्रों की संख्या भी ४३ से बढ़ कर ८३ हो गई। ज्वायण्ट स्टाक कम्पनीज़ के रजिस्टरार के अनुसार सन् १९४७-४८ अर्थात स्वतन्त्रता प्राप्ति के वर्ष में पंजीकृत कम्पनियों की संख्या २२,६७५ थी जो कि सन् १९५४-५५ में २९,७१० तक पहुँच गई। सन् १९५३-५४ और सन् १९५५ के उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार सरकार को राष्ट्रीय औद्योगिक (विकास और अधिनियम) कानून के अन्तर्गत १,४४० आवेदन-पत्र प्रस्तुत किए गए जिनमें से १,१४२ की स्वीकृति दी गई। इनमें ३६३ नई योजनाओं के लाइसेन्स के लिए, ६५७ योजनाओं के विस्तार के लिए और १२२ संगठनात्मक परिवर्तनों के लिए थे। इन तथ्यों से औद्योगिक प्रगति का भली भाँति अनुमान लगाया जा सकता है।

देश की राष्ट्रीय आय में इन उद्योगों ने जो योग दिया है उसकी चर्चा भी आवश्यक है। यह इन उद्योगों की प्रगति का ही परिणाम था कि राष्ट्रीय आय सन् १९४८-४९ में ८,६५० करोड़ रुपयों से बढ़ कर सन् १९५२-५३ में ९,८६० और सन् १९५३-५४ में १०,६०० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। इस प्रकार इन तीनों वर्षों में प्रति व्यक्ति पीछे राष्ट्रीय आय क्रमशः २४६.९,२६७.४ और २८३.९ रुपये थी। इस आय में प्रमुख उद्योगों ने जो योग दिया है वह निम्न तालिका से प्रकट है :—

वर्ष	उद्योग	राष्ट्रीय आय में योग
		(करोड़ रुपयों में)
१९५०	सूती वस्त्र	१०७.९
	चाय	६९.३
	जूट का माल	४६.६
	चीनी	३५.८
	आम और बिजली इंजीनियरिंग	२९.४
	लोहा और इस्पात	२६.९
	रासायनिक पदार्थ	१४
	वनस्पति तेल	११.७
	तम्बाकू	१७.५
	रबड़	१०.१
	सीमेंट	८.५
	मोटरकार आदि	७.४
	कागज़ आदि	६.६
	कुल योग	४१३.४ करोड़

यद्यपि १९५० के बाद के उपरोक्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथापि विभिन्न उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय आय के योगदान में उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है, इसमें संदेह नहीं।

ऊपर हमने केवल ऐसे उद्योगों का ही वर्णन किया है जो निजी क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं, यद्यपि इनमें से कुछ का विकास, उदाहरणार्थ

लोहा तथा इस्पात और जहाज़रानी आदि, अब सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत सरकार द्वारा भी किया जा रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात अपनी सन् १९४८ की घोषित औद्योगिक नीति के अनुसार राज्य ने कई प्रकार के उद्योगों के विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। इनमें सुरक्षा उद्योग तथा भारी उद्योग प्रमुख थे। कुछ ऐसे उद्योगों की स्थापना भी सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत राज्य द्वारा अलग उसकी भागीदारी में करनी पड़ी जिनके लिए पर्याप्त मात्रा में निजी क्षेत्र में पूँजी उपलब्ध नहीं हो रही थी। समय-समय पर इस सूची में वृद्धि होती गई है और हाल में उसके अन्तर्गत ६१ अन्य उद्योग भी लाए गए हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के पश्चात जिन उद्योगों की स्थापना की गई है, उनमें प्रमुख हैं भारत इलेक्ट्रोनिक्स लि०, चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स लि०, हिन्दुस्तान केबल्स लि०, हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि०, हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि०, इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज़ लि०, इन्टीग्रल कोच फैक्टरी, नाहन फाउण्ड्री लि०, सिन्द्री फरटीलाइज़र एण्ड केमिकल्स लि०, नैशनल न्यूज़ प्रिंट एण्ड पेपर मिल्स।

भारत इलेक्ट्रोनिक्स की स्थापना अप्रैल सन् १९५४ में १ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से जलाहाली, बैंगलौर में की गई। यह कम्पनी बिजली के यन्त्र जैसे ट्रांसमीटर, रिसीवर, रेडियो आदि का निर्माण करेगी। दिसम्बर सन् १९५५ से इसका उत्पादन कार्य प्रारम्भ हो गया है और आशा है कि प्रतिवर्ष यह ५ करोड़ रुपये की लागत के यन्त्रों का निर्माण करेगी। चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स की स्थापना अप्रैल सन् १९४९ में लगभग १५ करोड़ रुपये की लागत से की गई। इस कारखाने द्वारा इंजिनों के उत्पादन का कार्यक्रम इस प्रकार था: १९५०—३, १९५१—१६, १९५२—३०, १९५३—५४, १९५४—८६, १९५५—१२३। पेनीसिलीन का उत्पादन करने वाली हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स की स्थापना पूना के पास पिम्परी में सन् १९५२ में की गई। अगस्त सन् १९५५ में इसने उत्पादन प्रारम्भ किया। प्रतिवर्ष इसके द्वारा १६१ लाख मेगायूनिट पेनीसिलीन उत्पादित किए जाने की आशा है। टेलीफोन तार निर्मित करने की दृष्टि से हिन्दुस्तान केबल्स की रूपनारायणपुर, पश्चिम बंगाल में स्थापना हुई। इस कारखाने द्वारा सितम्बर सन् १९५४ में उत्पादन प्रारम्भ किया गया और मार्च सन् १९५५ तक ११२ मील की लम्बाई का टेलीफोन-तार निर्मित किया गया। हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स, दिल्ली ने मार्च १९५५ से कीटाणु-नाशक पाउडर का उत्पादन शुरू किया। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि० की स्थापना भी जलाहाली, बंगलौर में सन् १९५५ में हुई। कम्पनी का निर्माण कार्य सन् १९५५ के प्रारम्भ में पूरा हुआ। अब तक इसके द्वारा ६० लेथ मशीनों का निर्माण हो चुका होगा। सन् १९५८ में इसके द्वारा प्रतिवर्ष ४०० लेथ मशीनें बनाए जाने की आशा है।

विशाखापटनम में स्थित हिन्दुस्तान शिपयार्ड का प्रबन्ध मार्च सन् १९५२ से एक ऐसी कम्पनी के हाथ में है जिस पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसके विकास के लिए १४·०८ करोड़ रुपये स्वीकृत किए गए थे। इस कम्पनी ने १९४८ में अपनी स्थापना के पश्चात अब तक १५ जहाज़ों का निर्माण किया है। इंडियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज़ लिमिटेड, बंगलौर की स्थापना स्वतन्त्रता के पश्चात सन् १९४८ में संचार मन्त्रालय के अन्तर्गत पहले राज्य उद्योग के रूप में हुई थी किन्तु १ फरवरी, सन् १९५० को इसे प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी का रूप दे दिया गया जिसके अधिकांश शेयर राज्य ने अपने हाथों में ले लिए। इस कम्पनी में कुल ४ करोड़ रुपयों की पूँजी लगी हुई है। इस कारखाने द्वारा प्रतिवर्ष ५०,००० टेलीफोनों का निर्माण किया जा रहा है और इसके उत्पादन की कुल वार्षिक लागत २ करोड़ रुपयों तक आती है। सन् १९६०-६१ तक उत्पादन में ३०,००० टेलीफोनों की वृद्धि होने की सम्भावना है। पेराम्बुर स्थित इण्टीग्रल कोच फैक्टरी एशिया की सबसे बड़ी कोच फैक्टरी है। इसका निर्माण कार्य सन् १९५२ में प्रारम्भ हुआ था। इस फैक्टरी द्वारा प्रतिवर्ष ३५० कोच बनाए जाने की आशा है जिसकी लागत ४ करोड़ रुपये होगी।

नाहन फाउण्ड्री लि०, हिमाचल-प्रदेश की स्थापना आज से बहुत समय पूर्व सन् १८९७ में हुई थी। १ जनवरी, सन् १९५३ को इसने एक प्राइवेट लि० कम्पनी का रूप ले लिया जिसके सभी शेयर राष्ट्रपति के अधिकार में हैं। सिन्द्री का खाद का कारखाना राज्य द्वारा संचालित सबसे बड़े उद्योगों में से है और इसने हमारे कृषि प्रधान देश की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। इसमें कुल २४.५ करोड़ रुपयों की पूँजी लगी हुई है जबकि अधिकृत पूँजी ३० करोड़ रुपये है। इस कारखाने ने ३१ अक्तूबर, सन् १९५१ से उत्पादन प्रारम्भ किया और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इस कारखाने की प्रगति का अनुमान उत्पादन के इन आँकड़ों से लगाया जा सकता है:

१९५३	२६३,१०४ (टन)
१९५४	२७५,२२९ (टन)
१९५५ (२७ सितम्बर तक)	३२०,२६२ (टन)

कारखाने के उत्पादन का लक्ष्य ३२०,००० टन प्रतिवर्ष है और इस प्रकार सन् १९५५ का उत्पादन लक्ष्य से अधिक हो चुका है। जिस प्रकार विगत तीन वर्षों में ही कारखाने ने उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि की है उसी प्रकार उसके द्वारा अर्जित लाभ में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। सन् १९५४-५५ का कुल लाभ खर्च निकाल कर सन् १९५३-५४ के लाभ से १·२५ करोड़ रुपये अधिक था। अन्त में मध्य-प्रदेश के निमाड़ ज़िले में स्थित नेशनल न्यूज़प्रिंट एंड पेपर मिल्स लि० का ज़िक्र करना भी उचित होगा। इस कम्पनी में लगी अधिकांश पूँजी मध्य-प्रदेश सरकार की है, अतएव नियन्त्रण भी उसके ही हाथों में है। कारखाने की उत्पादन शक्ति १०० टन प्रतिदिन है जबकि वर्तमान उत्पादन ३०-४० टन प्रतिदिन है। सन् १९५७ के अन्त तक यह अपने निर्धारित लक्ष्य १०० टन प्रतिदिन को पूरा करेगा, ऐसी आशा है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में भारतीय उद्योगों ने कुल मिलाकर प्रशंसनीय और सन्तोषजनक प्रगति की है जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। इस प्रगति का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि इससे होने वाले लाभ का वितरण न केवल पूँजी लगाने वालों में बल्कि समाज के सभी वर्गों के स्तर को ऊपर उठाने के हेतु हो रहा है। वास्तव में भारतीय उद्योगों की प्रगति का इतिहास भारत की आर्थिक प्रगति का इतिहास है जो भविष्य में हमारी सर्वांगीण प्रगति का इतिहास भी सिद्ध होगा।

बीज और पौधा—(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

का कोई अधिकार नहीं है। उसने निर्णय किया है वह उसके साथ रहेगी और इस भावना की पूर्ति के लिए संघर्ष करेगी।

"सुरेशी, सुरेशी!" किसी ने पुकारा। वह बुढ़िया आकर बता रही थी कि तीसरे पहर चरवाहे लौट कर आ जाएंगे। वह जल्दी खाना बना कर खा ले। गाँव के समूचे वातावरण में ढोल, डमों और तुरई की आवाज़ गूँज रही थी। सब में एक नए समारोह वाला उत्साह था। उसने जल्दी-जल्दी मोटी रोटियाँ डालीं और नमक तथा घी के साथ खाईं। अपना मुँह धोया, बाल काढ़ कर सुन्दर फुन्दा पीछे लटकाया। नथ पहनी, पाँवों में झंबरियाँ डालीं, रँगीन वास्कट पहनी, गले में मूंगों की माला डाली। छोटे आइने में घूर-घूर कर देखा और आँखों का काजल ठीक तरह से पोंछ डाला। जबकि वह गाँव की ओर बढ़ी तो उसकी सहेलियाँ उस शृंगार को देख कर दंग रह गईं। नन्दों ने ताना मारा कि किसे बरने जा रही है। हमारे हिस्से का गुड़ भिजवाना न भूल जाना, देर में ही सही मुँह तो मीठा होगा। वह उनको देख कर मुस्कराई और एक जवान नन्द को अपनी छाती से चिपटा कर उसके कान में चुपके से कुछ कहा। उसके समस्त शरीर पर एक नया जीवन आकर उसे रोमांचित कर रहा था। उसने पाया कि वह सदियों पुरानी सड़ी गली मान्यताओं की बेड़ियाँ तोड़ कर स्वतंत्र हो, नए जीवन की कल्पना कर रही है। उसके मन की बलवान भावना ने उसे रास्ता सुझाने की प्रेरणा दी है।

ढोल बज उठा। चरवाहों के पीछे भेड़ें उछलती हुई गाँव की बटिया पर आ रही थीं। वह निर्जन चरागाहों में रहने के बाद आज अपने घर प्रफुल्लित लौट रहीं थीं। कुछ अपने मालिकों को देखकर मिमयाने लगीं, लोग अपनी-भेड़ों की पीठ पर हाथ रखकर अनुमान लगा रहे थे कि कितनी ऊन निकलेगी। संध्या को जंगल से गाय, बैल लौट रहे थे। वे भेड़ों के समूह को देख कर रुक कर राँभने लगीं। भेड़ें एक बड़े मैदान पर आकर रुक गईं। चरवाहों के पास नवजात मेमने थे जिनको वे उनके स्वामियों को सौंप रहे थे। वह युवक पास आया और उसने मुसकरा कर सुरेशी को उसका मेमना सौंपा।

सुरेशी ने मेमना अपने हृदय से चिपकाया, उसका मुँह चूमा। एक बलवती आशा मन में उठी कि कभी भविष्य में वह भी माँ बनेगी। वह बलिष्ठ युवक जीवन में उसे सहारा देगा। वे सही राह पर चल कर नव-निर्माण करेंगे। वह मेमना तो चुपचाप गोदी में सो गया था।

अब मुण्डन संस्कार आरम्भ हो गया। भेड़ें लिटाई गईं। उनकी गर्दन तथा चारों टाँगों को रस्सियों से बाँध कर अलग-अलग खूंटियों से कस कर बाँधा गया। तेज़ छुरियों से ऊन काटी जाने लगी। प्रत्येक परिवार अपनी भेड़ों की ऊन उठा कर ले जा रहा था।

उत्सव बड़ी रात तक चलता रहा। उसके समाप्त होने पर वे दोनों चुपचाप घर लौट आए। रात पड़ गई थी। भेड़ के बच्चे को सुरेशी अपनी गोदी में चिपकाए हुए थी। जब वे घर पहुँचे तो सुरेशा ने भेड़ का बच्चा उसे सौंपा और अपने हाथ उसके कंधों पर रख दिए। उस सहारे को पाकर वह निश्चिंत हो गई।

गाँव में अभी तक वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि गूँज रही थी।

एक के बाद एक—(पृष्ठ २२ का शेषांश)

लुढ़कती लहरों-जैसे हम आए, प्यारी ज़मीन पर
हमारी ज़िन्दगी-जैसी गरजती हैं लहरें समुन्दर पर।
आओ मिलकर जाएं, गाते ज़िन्दगी का तराना
देखें प्यारी, लाता क्या है समुन्दर डरावना।

"ओह माँ।" वह बुढ़िया से लिपटकर फूट पड़ी—"माँ मुझे माफ़ करो।"

समुद्र लहरा रहा था। मछुए रोज़ी के लिए उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। लड़के ने दूर पड़ा जाल फिर से उठाया और बड़ी उत्सुकता के साथ समुद्र की तरफ़ देखने लगा।

अनुवादक: पी० एन० भट्टतिरि

दो कविताएँ

कीर्ति चौधरी

एकांत

अब अकसर जब
एकांत कहीं भी होता है ।
जाने किसके हित माथा मेरा झुक जाता
वे दृग मुंद कर वर्णनातीत सुख पाते हैं ।

मेरी तो कोई मूर्ति नहीं,
मैंने तो कुछ भी, कहीं, प्रतिष्ठित नहीं किया ।
प्रतिक्षण बढ़ते ही जाने वाले जो अभाव हैं
उनकी कोई पूर्ति नहीं ।

पर जाने क्यों
अनजान दिशा में हाथ स्वयं जुड़ जाते हैं
होकर कृतज्ञ
अन्तर सहसा ही भर आता
चेतन प्रबुद्ध मन
आस-पास को भूल-बिसर
अपमान-मान सब खोता है
अकसर अब जब एकांत कहीं भी होता है !

●

कई दिनों बाद

आज आँख खुलते ही
किरन एक शर्मीली सिरहाने आ डोली,
थपकी-सी मलय वात
बड़े निकट अस्फुट स्वर में
जैसे कुछ बोली ।

देखा तो जान पड़ा—
सुबह नहीं मेरी है ।
किसने यह जादू की छड़ी यहाँ फेरी है :
दीवारें ! और···और···
अजब-अजब लगता है सभी ठौर···।
धीरे से उठ कर
अपनी ही अंजलि में अपना मुख धर
मैंने बहुत देर अपने से प्यार किया,
कमरे में जैसे हो अतिथि कहीं—
वैसी ही मुद्रा में
सूनेपन को सत्कार दिया ।

चंचल चरणों से चल
खिड़की-दरवाज़ों के पार झाँक
जाने क्या देखा···क्या जाना···
कागज़ पर निरुद्देश्य
रेखाएँ खींच, हर्षित हो
जाने किस मूरत को पहचाना···

और तभी कोई ज्यों मिलती है अकस्मात
कई दिनों बाद लगा
—आज नहीं खाली हूँ ।

निश्चय ही मैं
कुछ अच्छा लिखने वाली हूँ ।

तुम बिन

रामदरश मिश्र

तुम बिन कुछ खोया खोया सा
कुछ सूना सूना लगता है
रीते घर का हर रीतापन
कुछ दूना दूना लगता है
यों था ही क्या रीते घर में
जो नए सिरे से रीता हो
फिर भी कुछ ऐसा लगता ज्यों
कन-कन से फागुन बीता हो
तुम आज नहीं हो तो 'क्या हो ?'
हर शाम-सुबह कह जाती है
दिन तो पाँवों में अँट जाता
पर रात तुम्हें गुहराती है

हर भीत महकती है तुम सी
हर हवा तुम्हीं सी छू जाती
हर घड़ी तुम्हारी आँखों सी
मेरी आँखों में चू जाती
हर पुस्तक की सतरों में दीठि
तुम्हारी ही दुहराता हूँ
इस घर के हर रीतेपन में—
मैं साँस तुम्हारी पाता हूँ
हर ठाँव फर्श का यों लगता
जैसे चल कर तुम अभी गईं
संगीत तुम्हारा सुनती है
यह छत जैसे उनयी-उनयी

मेरे कपड़ों में गरम गरम
ज्यों दो हथेलियाँ डोल रहीं
कुर्सी के पीछे खड़ी खड़ी
जैसे कि चुप्पियाँ बोल रहीं
चूल्हे की लपटों में जैसे
लपलपा रहीं गोरी बाँहें
थाली में बरस रहीं मंगल—
मधु-भीगी पलकों की छाँहें
तुम बिन लगता जैसे कोई
त्योहार अजाने गया निकल
ज्यों जाड़े का उदास तिजहर
चुपचाप रहा छती में ढल ।

आज फिर

प्रयागनारायण त्रिपाठी

आज फिर निश्चल तुम्हारी दृष्टि ने
इस देह-मन को
उषस-रंगों से छुआ है
स्पर्श : जिससे—
शिलाओं पर कसा हो कर भी
चीड़ : मेरा अहं—
और विस्तृत, और भी उन्मुक्त, और कुछ ऊँचा हुआ है।

आज फिर परितृप्त, विगलित मेघ-मन-सा
चुक रहा हूँ इस धरित्री पर
जो रहा हूँ यहाँ : अंकुर, फूल
वहाँ : फिर-फिर बरसने को तरंगायित ताल।

आज मैं आलोक
नित्य सन्ध्या : आरती
भोर : धारा में समर्पित अर्चना का दीप
अपलक जग रहा हूँ
जग रहा हूँ

आज फिर संस्पर्श यह, परितृप्ति यह, आलोक यह
दे रहे हैं दृष्टि
दे रहे हैं शक्ति मुझको
अनबिंधे सौन्दर्य में जीने
अनछुए उल्लास की अनिवार्यता को झेलने की।

श्रमिकों से

राजकुमारी श्रीवास्तव

तुम दीन न अपने को समझो,
तुम हीन न अपने को मानो।
नव उदित राष्ट्र के सजग श्रमिक,
निज सृजन-शक्ति को पहचानो।
अस्तित्व तुम्हारा व्यर्थ नहीं
अस्तित्व जहाँ कर्तृत्व वहीं
अधिकार तुम्हारा अल्प नहीं
अधिकार जहाँ दायित्व वहाँ
समझो अपने अधिकारों को
अपने कर्तव्यों को जानो।
बूँदों से सागर की सत्ता
युग का निर्माता है लघुपल
शशि घटता बढ़ता छिपता है
नभ की शोभा तारक मण्डल
तुम अपने पथ की ज्योति स्वयं
हे मुक्त देश की सन्तानों।
लघु ईंटों से निर्मित होते—
उत्तुंग गगन चुम्बी निवास
मिट्टी के लघु-कण पर आश्रित
वसुधा का यह वैभव विलास
बिंध एक सूत्र में चमक उठो
अनबिंधे मोतियों के दानो।
माना तुम त्रस्त अभाव ग्रस्त
दिन रात उदर चिंतनालीन—
पशुता के पोषण में निमग्न
हो जाय न मानवता मलीन
मन ही मानवता का रहस्य
इस सरल सत्य को संधानो।
बाधाएँ देंगी बल नवीन
तुममें यदि दृढ़ विश्वास जगे
है तृप्ति तुम्हें ही खोज रही
बस तीव्र सृजन की प्यास जगे
नव भारत के कर कर्मठ तुम
उज्ज्वल भावी के अरमानो।
करतीं विभक्त संकुचित भीत
उन प्राचीरों को ध्वस्त करो
संत्रस्त, सिसकती अकुलाती
मानवता को आश्वस्त करो
पनपे जिसके नीचे जीवन
वह स्नेह वितान नया तानो।
अरुणोदय की लाली बन कर
कालिमा करो तम की विनाश
तुम दिव्य किरण कर शक्ति पुंज
जिस ओर उठो कर दो प्रकाश
है ध्वंस सृजन का क्षेत्र विशद
हे नव संस्कृति के भगवानो!

हिन्दी निबन्ध

गुलाबराय

(गताङ्क का शेषांश)

पं० गोविन्द नारायण मिश्र :

मिश्र जी ने सामयिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर लिखा है। भाषा को सजावट, अलंकार और शब्दाडंबर पर विशेष ध्यान रहता है। अनुप्रास और यमक से सजी-सँवरी शैली 'बाण' की शैली का आभास देती है। देखिए :

"सहज सुन्दर मनहर सुभाव छवि सुभाव से सबका चितचोर सुचारू सजीव चित्र रचना चतुर चितेरा और जब देखो तब ही अभिनव सब नव रस रसीली, नित नव भाव-बरस रसीली, अनूप-रूप सरूप गरबीली, सुजन-जन-मोहन-मंत्र की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार सिंगार साज सजीली छबीली कविता कल्पना कुशल कवि, इन दोनों का ही उस अग जग मोहिनी अनोखी छवि को आँखों के सामने परतच्छ खड़ी-सी दरसा कर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, हरसाना और रिझाना ही है।"

इसमें हिन्दी की कोमलता और सुरीलेपन की पूर्णतया रक्षा की गई है, किन्तु कुछ कवित्व का प्रभाव और तुकान्तता की प्रवृत्ति अधिक हो गई है।

शिवपूजन सहाय :

द्विवेदी-युग के लेखकों में शिवपूजन सहाय अपनी एक विशेष शैली लेकर आए। उनकी शैली में अलंकरणीयता, मुहावरेदानी और शब्द-चयन-चातुर्य का पूर्ण साहित्यिक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। उनके निबन्धों में एक गंभीर पर चुटीला व्यंग्य रहता है, देखिए :

"प्रोपेगेन्डा प्रभु का प्रताप परम प्रचण्ड है—जिनके जस प्रताप के आगे 'ससि मलीन रवि सीतल लागे'। यदि आज भूषण और पद्माकर होते तो इनके यश और प्रताप का भड़कीला वर्णन कर सकते।"

यहाँ सब लेखकों पर विचार करना सम्भव नहीं। स्वच्छन्दतावाद तथा रवीन्द्र की गीतांजलि से बल लेकर 'गद्यगीत' प्रौढ़ हुआ। इनमें लेखक की तीव्र और घनीभूत भावनाएँ व्यक्तिप्रधान शैली में अभिव्यक्त होती हैं। इनको व्यक्तिप्रधान निबन्ध कहना असंगत नहीं। इस युग के प्रमुख गद्य-गीतकार वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास हैं। राय कृष्णदास के गीतों में सीधी-सादी सरल भाषा में रहस्यवादी भावना और व्याकुलता व्यक्त होती है। उदाहरण :

"मेरे नाच में न लय है, न भाव लेकिन तो भी तुम्हें उसी में खूबी मिल जाती है। मेरी पैंजनी कभी एक दम से बज उठती है, कभी मंद पड़ जाती है। मेरा कठुला मेरे वक्ष पर हिलोरें मार रहा है और उसके घुँघरू चुनमुन चुनमन ध्वनि करते है। माँ सबको छोड़ कर तुम मेरी यह लीला क्यों देखती हो?" इसमें स्निग्ध प्रवाह है।

वियोगी हरि के गीतों में लम्बी समास पदावलि, ओजमयता, वैष्णवी भावुकता विशेष है। कहीं-कहीं रूपक का भी प्रयोग है। उदाहरण :

"दयाराम! काँटा निकाल कर क्या करोगे! चुभा सो चुभा! उसकी कसकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधार प्राणों को धैर्य बँधाती आई है। सच मानो, प्रीति गली के इस काँटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है।"

संक्षेप में द्विवेदी-युग में सब प्रकार के निबन्ध लिखे गए। पर समालोचनात्मक उच्च कोटि के निबन्ध और गद्य-गीत इस युग की प्रमुख देन हैं।

आधुनिक युग :

जिन समालोचनात्मक और विश्लेषणात्मक निबन्धों का बीजारोपण द्विवेदी-युग में हुआ वे इस युग में अधिक पल्लवित और पुष्पित हुए। किन्तु शैली में अधिक साहित्यिकता और विषय-विवेचन में गाम्भीर्य आया। लेखकों के हृदयगत ओज ने अभिव्यक्ति के नए मार्ग खोजे। समालोचना की कई शाखाएँ फूट पड़ीं—विकासवादी तथा ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक तथा आलोचनात्मक मूल्यों का महत्त्व बढ़ा। सौन्दर्यगत मूल्यों, भाव तथा रूप-सौन्दर्य को छायावादी आलोचकों ने प्रमुखता दी और भौतिक मूल्यों को मार्क्सवादियों ने। ये भी अपना पथ बनाने लगे। भारतीय साहित्यशास्त्र का नवीन अध्ययन हुआ। इस प्रकार आलोचना का एक स्वस्थ मानदण्ड प्रस्तुत हो गया। इन्हीं मानदण्डों के आधार पर सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गए। यद्यपि आचार्य शुक्ल जी द्विवेदी-युग में हुए तथापि उनमें नवीन युग की प्रवृत्तियों के पूर्ण दर्शन हो जाते हैं, और इसलिए उनको नए युग का प्रवर्तक कहना अनुचित न होगा।

इस युग के प्रमुख लेखक प्रसाद, प्रेमचन्द, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रघुबीर सिंह, सद्गुरुशरण अवस्थी, सियाराम शरण गुप्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी, निराला, महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० श्रीराम शर्मा, हरिभाऊ उपाध्याय, प्रकाश चन्द्र गुप्त, डा० सत्येन्द्र, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, प्रभाकर माचवे, बेचन शर्मा 'उग्र', पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, आचार्य विनयमोहन शर्मा आदि हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल :

शुक्ल जी स्वयं ही एक युग के प्रवर्तक थे। ये द्विवेदी जी के परिकर से स्वतंत्र थे। द्विवेदी-युग में लिखते हुए भी ये आधुनिक युग

का बीजारोपण कर रहे थे। सर्वश्रेष्ठ समालोचक और निबन्ध सम्राट शुक्ल जी के निबन्धों में आचार्यत्व की स्पष्ट छाप है। सरल साधारण को भी आचार्यत्व की छाप निगूढ़ बना देती है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों में विश्लेषण और आलोचनात्मक निबन्धों में सैद्धान्तिकता विशेष रहती है। शुक्ल जी की गम्भीर शैली का परिचय 'लज्जा और ग्लानि' निबन्ध के निम्नलिखित अवतरण से होता है :

"विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरे की हो भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है उसे ग्लानि कहते हैं। उसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अन्तःकरण सत्यप्रधान होता है। ग्लानि अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान है। इससे उसके उद्‌गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुःख से या सुख से कथन भी करते हैं।"

शुक्ल जी के निबन्ध तथ्यपूर्ण होते हुए भी सरस और सजीव हैं, देखिए :

"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी।" व्यंग्य-विनोद भी साहित्यिक और गंभीर था। निबन्ध घरेलू उदाहरणों से पुष्ट रहते हैं। इस घरेलूपन और हास्य व्यंग्य के पुट के कारण इनके निबन्ध 'बेकन' की सी गंभीरता रखते हुए भी लोहे के चने बनने से बचे रहे हैं। व्यंग्य का उदाहरण 'श्रद्धा भक्ति' निबन्ध से लीजिए :

"जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अँगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।"

'चिन्तामणि' में आपके निबन्ध संग्रहीत हैं।

प्रसाद :

प्रसाद गम्भीर विचारक और सूक्ष्म अन्वेषी थे। यही दो उनके निबन्धों की विशेषताएँ बन गई। आलोचनात्मक निबन्धों में तर्क की जटिलता आ गई है। हास्य का भी प्रायः अभाव-सा है, परन्तु अत्यन्ताभाव नहीं है। ज्ञान-गुरुता प्रत्येक शब्द पर झूलती है। संस्कृत के अप्रचलित तथा पारिभाषिक तत्समों के प्रयोग से शैली में कहीं-कहीं दुरूहता आ जाती है। 'छायावाद' शीर्षक लेख से एक उदाहरण लीजिए :

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषता है।" इनके निबन्धों का संग्रह 'काव्य कला और अन्य निबन्ध' है।

प्रेमचन्द :

इनके निबन्ध संग्रह 'कुछ विचार', 'कलम और तलवार', 'त्याग' तथा 'मौ० शेखसादी' प्रकाशित हुए हैं। अभिव्यक्ति व्यावहारिक भाषा में हुई है। लोकोक्तियों का सजीव प्रयोग है। प्रवाह सरल और क्रमिक है। निबन्धों में सुबोध व्यास शैली के दर्शन होते हैं। साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त जो लेख हैं उनमें नैतिकता प्रधान है। 'उपन्यास' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। लेकिन यह क़ायदा है कि चीज़ जितनी सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी :

द्विवेदी जी ने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार के लेख लिखे हैं। इनके निबन्धों की विशेषताएँ क्रमबद्धता, चित्रात्मकता और मननशीलता हैं। लेखक गम्भीर विश्लेषण की भूलभुलैयों में नहीं पड़ा है। आलोचनात्मक लेखों में व्यापक गुण कथन और तुलनात्मक अध्ययन की झलक रहती है। शुक्ल जी की-सी गहराई नहीं है, पर एक नवीन शैली में विचारों की व्याख्या मिलती है। आपके निबन्ध 'हमारे साहित्य निर्माता', 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी' में संग्रहीत हैं। एक उदाहरण :

"नन्ददुलारे वाजपेयी में साहित्य की बड़ी अच्छी सूक्ष्म परख है। शुक्ल जी को रोमाण्टिक स्फूर्ति मिल जाती तो उनकी आलोचना का जो रूप होता वही वाजपेयी जी की समालोचना है। शुक्ल जी की साहित्यिक परिधि को उनके द्वारा विकास मिलता है। इसका मुख्य प्रयत्न रचना और रचनाकार के मनोवैज्ञानिक उद्घाटन की ओर है। इनका उद्घाटन कार्य साहित्य के क्षेत्र में सूक्ष्म अनुशीलन सुलभ करता है किन्तु वैयक्तिक क्षेत्र में अशोभन हो जाता है।"

हजारीप्रसाद द्विवेदी :

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या और उसके विश्लेषण से युक्त समालोचना-पद्धति में द्विवेदी जी का स्थान ऊँचा है। विचारात्मक निबन्ध भी उच्च कोटि के हैं। उनमें उनके प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय मिलता है। विषय की गवेषणापूर्ण प्रकृति के कारण शैली में गम्भीरता आ जाना स्वाभाविक है। किन्तु उनके स्वभाव की विनोद-प्रियता अपनी झलक दिखा जाती है। हिन्दी के सांस्कृतिक लेखकों में उनका नाम डा० वासुदेवशरण और राय कृष्ण दास के साथ आदर के साथ लिया जाता है। निबन्धों के संग्रह 'विचार और वितर्क' तथा 'अशोक के फूल' निकल चुके हैं। 'आम फिर बौरा गए' शीर्षक निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"हम लोग भी जानते हैं कि आम की मंजरी मादक होती है लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार मंजरी के केसर से मूर्छमान हो और मधुपान के लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे बसन्त में किसके चित्त में उत्कण्ठा नहीं लहरा उठती?

सहकारकुसुम केसर निकर भरा मोद मूर्छित दिगन्ते।
मधुर-मधुर विधुर मधुपे मधौ भवेत कस्यनोत्कण्ठा॥

अब अगर किसी सभा में आप यही सवाल पूछ बैठें तो प्रायः सौ फ़ी-सदी भले आदमी भी 'मम' 'मम' कह कर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनी ही कहे जाएगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखा कर पूछें कि इसे पाने की उत्कण्ठा किसे नहीं है, तो सारी सभा चुप रहेगी। सभी कहेंगे ऐसा भी प्रश्न क्या उचित है ?"

सियारामशरण गुप्त :

गुप्त जी का सीधा सरल व्यक्तित्व इनकी शैली में प्रतिच्छादित है। निबन्धों के विषय जीवन तथा साहित्य या समाज से सम्बन्धित हैं। विचारात्मक निबन्धों में भी काव्यात्मक स्थल हैं। पाठक सरलता से लेखक के हृदय के रस में मग्न हो जाता है। गांधीवादी करुणा की झलक वृत्तियों को कोमल बनाए रखती है। 'घोड़ाशाही' निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"हो, आज इस घोड़े का रूप ऐसा ही है। इसके दबाव से तिल-तिल गल कर पीले पड़ते हुए भी, इसके चक्के के नीचे कुचल कर पिसते हुए भी हम जो इस तरह हँस-खेल लेते हैं, यह हमारा सौभाग्य ही है। आज हमें इस तरह हँस-खेल लेने दो। अधिक कुछ चाहते हो तो देखो उस स्थान की ओर। और निकट से अबलाओं का विध्वंस और आर्तनाद देखना सुनना हो, तो बढ़ो उस चीन की ओर! कौन है वह स्थान, कौन है वह देश जहाँ का मानव कहीं खुले में, कहीं छिप कर आज की घोड़ेशाही से पीसा न जा रहा हो!"

महादेवी वर्मा :

संस्मरण और रेखाचित्रों के अतिरिक्त महादेवी वर्मा ने वर्णनात्मक, विवरणात्मक और विचारात्मक निबन्ध भी उसी सफलता के साथ लिखे हैं। 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' उनके विचारात्मक गम्भीर निबन्धों के संग्रह हैं। यात्राएँ सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे हैं। उनके व्यक्तित्व की मूलबद्ध करुणा, कला, चित्रात्मकता तथा कोमलता उनकी शैली के शक्ति-स्रोत हैं। साहित्यिक निबन्धों में दर्शन की-सी गहराई रहती है। साहित्यिक निबन्ध विवेचनात्मक गद्य में संग्रहीत हैं। बदरीनाथ की यात्रा का एक उद्धरण लीजिए :

"कोई टाट का सिला विचित्र पाजामा और फटे हुए काले खुरदरे कम्बल का गिलाफ़ जैसा कुरता गले में लटकाए भालू के समान घूम रहा है, कोई कोपीनधारी तार-तार फटा सूती कोट पहने, कमर में बोझ बाँधने की मोटी रस्सी लपेटे और रूखे खड़े बालों को खुजलाता हुआ सेही जैसे काँटेदार जन्तु-सा जान पड़ता है।"

जैनेन्द्र :

आपके निबन्धों की शैली अनूठी है। 'जैनेन्द्र के विचार' में इनके निबन्ध संगृहीत हैं। सूक्ष्म निरीक्षण निबन्ध की सामग्री जुटाता है। लेखक उस सामग्री को एक मौलिक स्वतन्त्र दर्शन प्रदान करता है। चिंतन को अनुकूल भाषा में व्यक्त कर देना उनकी विशेषता है। जो वे कहते हैं आकर्षक होता है। अपनी विचारधारा में पाठक को साथ ले चलने का प्रयत्न करते हैं और नए रास्ते खोजते चलते हैं। 'राष्ट्रीयता' से एक उद्धरण लीजिए :—

"इस भाँति कविता पर बैठकर राष्ट्रीयता से आगे बढ़ना बस न होगा। कविता में कल्पना तो उड़ती है, पर पैर स्थिर रहते हैं। तभी कवि को समाज अपनी बागडोर नहीं, प्रशंसा ही देता है। पर कवि मनुष्यता के आदर्श की चौकसी रखता है। रात अँधेरी है और दुनियाँ नींद में या नशे में है, तब भी कवि मनुष्यता की निधि यानी प्रेम के आदर्श पर पहरा दिए सजग बैठा है।"

बेचन शर्मा 'उग्र' :

'उग्र' जी गद्य-गीत भी लिखते हैं और स्थायी विषयों पर निबन्ध भी। विचारात्मक निबन्ध कम हैं। शैली अद्भुत तथा प्रभावपूर्ण रहती है। उनका अनूठा फक्कड़ व्यक्तित्व निबन्धों में प्रतिबिम्बित है। भाषा में चित्रात्मकता, छोटे वाक्यों का प्रयोग तथा प्रवाहमयता इनकी शैली की विशेषताएँ हैं। इनके द्वारा यह अपने विचारों को बल प्रदान कर सके। इनकी शैली का नमूना 'बुढ़ापा' शीर्षक निबन्ध में निम्न-लिखित अवतरण में देखिए :

"एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है एक ओर मेरा ६० वर्ष का अनुभव हो, मेरे सफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो, सैकड़ों वर्षों से प्रत्येक मन के हज़ार-हज़ार रुपये, लाल लाल गिन्नियाँ और गड्डियाँ नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ।"

महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह :

आपके निबन्धों का आधार मुख्य रूप से इतिहास है। इस प्रकार इनके निबन्ध मानव-जीवन से संबंधित हैं। ऐतिहासिक आधार होते हुए भी लेखक की शैली भावात्मक है। इनके निबन्धों में शब्द की सभी शक्तियों से काम लिया गया है। लक्षणा के द्वारा वाग्वैचित्र्य का सुन्दर और आकर्षक विधान आपके निबन्धों में मिलता है। छोटे छोटे वाक्यों का एक लम्बा तांता रहता है, जिससे कथन का प्रभाव बढ़ जाता है। मुहावरों का भी सजीव प्रयोग मिलता है। इनकी शैली का एक उदाहरण देखिए :

"एक अद्भुत दृश्य था। जो अकबर सहस्रों साधु भिखमंगों को राजा बना सकता था, वही आज एक अर्ध-नग्न तपस्वी के पास भीख माँगने आया। राज्यश्री के लाड़ले अकबर ने तप के सम्मुख भी सिर झुकाया, तपस्या के चरणों में राज्यश्री ने साष्टांग प्रणाम किया। जिस तपस्या ने सांसारिक जीवन छुड़वाया, भौतिक सुखों, मानवीय कामनाओं तथा ऐश्वर्य-विलास की बलि दिलवाई, उसी तपस्या ने अपना संचित पुण्य भी लुटा दिया। जब राज्यश्री अञ्चल फैलाकर भीख माँगने आई तब तो तपस्वी ने उसकी झोली भर दी।"

आपके निबन्धों को समझने के लिए ऐतिहासिक ज्ञान अपेक्षित रहता है। 'शेष स्मृतियाँ' आपके ऐसे ही लेखों का संग्रह है।

(शेष पृष्ठ ६८ पर)

नौकरी

गोपालचन्द्र मिश्र

बहुत बार सवाल पूछा गया कि देव तुम क्या काम करोगे। पर देवराज कुछ भी कार्य स्थिर न कर सका। वह सिर्फ़ इस आफ़िस से उस आफ़िस जाता। आज अनगुल, कल बालेश्वर तो परसों कोरापुट में है। यदि देव एक डिप्टी या अण्डर-सेक्रेटरी होता तो खर्च ले लेकर खज़ाने को भी खाली कर सकता था। लेकिन यह उसके भाग्य का कितना निर्मम परिहास है। आज दुनिया में देवराज कुछ भी नहीं, न वह डिप्टी है, न सब-डिप्टी, न मुनसिफ़ और न वह छोटा पुलिस अफसर ही है। वह अभी तक देवराज दास है। उसके पीछे विश्व-विद्यालय की दुम भी नहीं है। उसका संक्षिप्त परिचय इतना ही है कि वह एक बेकार देवराज दास है।

एक इन्टरव्यू बोर्ड बैठा था। उस्तादों ने पहले ही से स्याही, कलम और प्रश्न बनवा कर खूब तैयारी कर ली थी। बोर्ड में एक नहीं, दो नहीं, बहुत-से बड़े-बड़े विद्वान थे। नौकरी के लिए एक ही स्थान खाली है पर बोर्ड में पाँच सदस्य हैं।

बोर्ड के एक विद्वान सदस्य ने पूछा—"आप नरगिस को जानते हैं?" देवराज को जवाब देने का मौका न देकर उसने यह भी पूछा—"उनको अवकाश के समय में कौन-कौन-सी किताबें पढ़ने का शौक है?" देवराज इसका कोई जवाब न दे सका। वह केवल भूमि की ओर सर झुका कर खड़ा रह गया।

प्रश्न हुआ—"अच्छा, अगर आप यह नहीं जानते तो बताइए कि अशोक कुमार अपनी दाढ़ी और मूँछ बनाने के लिए कौन-से ब्लेड का प्रयोग करता है?" इन सब सवालों से देवराज का धैर्य टूट गया था। लेकिन इस बार उसने जवाब दिया—"जो ब्लेड हीरोइन ने उसे भेंट में दिया था।"

इसी तरह बोर्ड के विद्वान सदस्यों ने उससे प्रश्न किए—"जोब्रा के पास महानदी की चौड़ाई कितनी है?", "आज अखबार का सम्पादकीय नोट किस बात पर है?", "एक काले घोड़े का असली रंग क्या होता है?" नौकरी का अभिलाषी देवराज किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सका और कान खुजलाते हुए सीधे घर लौट आया।

एक किरानी नौकरी के लिए विज्ञापन निकला था। उसके लिए भी बी० ए० फ़ेल देवराज बाबू ने आवेदन-पत्र भेजा। लेकिन वह इन्टरव्यू से पार न पा सका। देवराज के जीवन में यह कोई नई बात नहीं थी। राज्य भर में जितने अखबार निकलते हैं, उनके जिन स्तम्भों में नौकरी के विज्ञापन निकलते हैं, वह सब देवराज इकट्ठे करता था। वह तो पत्र-व्यवहार द्वारा भी खाली स्थानों की सूचनाएँ एकत्र करता था। आज रमेश ने कटक से चिट्ठी भेजी कि वहाँ के एक आफिस में एक जगह खाली है। कल मयूरभंज से चिट्ठी आई कि वहाँ ज़िला आफिस में एक आदमी चाहिए।

बार-बार देवराज दरख़ास्तें भेजता है। पहले वह अपने आवेदन-पत्र रजिस्टरी द्वारा भेजता था, पर अब ऐसा समय आ गया है कि वह खाली पोस्टकार्ड द्वारा ही अपनी दरख़ास्तें भेजता है। महीने में एक-दो बार वह कटक जाता, पर कटक से गाँव को वापस लौट जाता था। जब वह चलने लगता तो गाँव वाले कहते थे कि आज तुम्हें ज़रूर नौकरी मिल जाएगी, पर कभी किसी की भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध न हुई। उसके मन का दर्द कौन समझता। पहले दिन जो व्यक्ति देवराज को आशा देता, दूसरे दिन वही उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता।

एक इन्टरव्यू बोर्ड के बाद नया इन्टरव्यू बोर्ड, एक मुलाकात के बाद दूसरी मुलाकात, एक प्रश्न के बाद दूसरा प्रश्न, एक इम्तहान के बाद दूसरा इम्तहान—यह सब तो निरन्तर बदलता रहता पर इन सब का परिणाम एक ही निकलता—पराजय, घोर पराजय! देवराज के घर की अवस्था ऐसी थी कि उसके बूढ़े माँ-बाप ने कर्ज़ ले लेकर उसे पढ़ाया था। पूरी मेहनत के बावजूद भी वह बी० ए० में फेल हो गया और उसके बाद भी निरन्तर फेल ही होता रहा। देवराज और सभी विषयों में तो अच्छी तरह पास हो जाता, केवल अंग्रेज़ी में वह सदा फेल हो जाता। क्या करे वह बेचारा?

देवराज दास के बार-बार बी० ए० में फेल होने के करुण इतिहास को छोड़ दीजिए। अब वह बेकार देवराज दास है और रतनपुर गाँव में उसकी तरह के बीसों अधूरे पढ़े हुए बेकार लोग हैं। उनके जीवन के इतिहास को क्यों कौन जानेगा? इस पृथ्वी पर उनका स्थान नहीं, इस मिट्टी पर भी उनका अधिकार नहीं है। बार-बार फेल होकर देवराज शहर छोड़ कर हरे-भरे देहात में चला आया।

रतनगाँव। वहाँ देवी नदी अपनी तिरछी चाल से टेढ़ी-मेढ़ी आगे को बढ़ रही थी। वर्षा दिन की मिट्टी, कीचड़ और छपछप करता पानी, आश्विन का महीना, मन्द-मन्द पवन। नीले-नीले बादल गाँव के सर पर मानो टूट रहे हैं। हरी-हरी घास चारों ओर दूर तक फैली है। रतनपुर गाँव के लड़के-लड़कियाँ सभी देवी मन्दिर में उपस्थित हैं, किन्तु अभागा देवराज दास आज गाँव से शहर जा रहा है। अनगुल के बन्दोबस्त आफिस में एक इन्टरव्यू है। सात अमीन की नौकरियाँ खाली हैं। कम से कम आइ० ए० पास होना चाहिए।

यह अनगुल का रास्ता है। कहाँ रतनपुर गाँव, कहाँ धान के खेत, कहाँ यह मैदान और कहाँ तालचेर का रास्ता। सात नौकरियों के लिए ग्यारह दरखास्तें आई हैं। आइ० ए० योग्यता के स्थान पर एम० ए० पास प्रार्थी भी हैं। उनमें और भी योग्यता वाले हैं। कोई डिप्टी का

लड़का, कोई सैक्रेटरी का नाती, कोई मजिस्ट्रेट का जामाता, कोई साला, कोई भतीजा, कोई साले के भाई का साला। कोई किसी का सिफ़ारिशी पत्र लाया है और कोई किसी का व्यक्तिगत पत्र।

रतनपुर गाँव का देवराज दास भी वक्त पर पहुँच गया। ठीक सवेरे साढ़े-नौ बजे इन्टरव्यू आरम्भ हुआ। हाकिम गजानन दास, हाकिम सुनामणि चहटरा, हाकिम मिस्टर जाकब, ये सब उच्च पदस्थ सरकारी कर्मचारी थे, काफ़ी तन्ख्वाह पाते थे और बड़ी-बड़ी खोपड़ी वाले थे। गजानन आइ० ए० फेल, सुनामणि मैट्रिक पास और जाकब युद्ध से लौटने वाले मिडल पास सैनिक अफ़सर थे। इन महाविद्वानों का बोर्ड बैठा था। उस दिन हठात, पिछले रात के डाक बँगला भोज में अधिक खा जाने के कारण गजानन बाबू को अजीर्ण हो गया था, सुनामणि चहटरा को अपनी लड़की के बी० ए० की परीक्षा में फेल हो जाने की खबर मिली थी, और मिस्टर जाकब को राइफ़ल लेकर चन्दका जंगल में शिकार खेलने जाना था। पर एक-एक करके कितने ही प्रार्थी आ पहुँचे। कोई बिना टिकट आया था, कोई चूड़ा-चावल लेकर, कोई थाली, कटोरा, बासन आदि बेचकर सौगात लाया था और कोई सिर्फ़ आशा और आकांक्षा लेकर ही आया था।

सभी के समान बेकार देवराज भी रंगीन कल्पनाएँ कर रहा था मानो जैसे नौकरी मिल जाएगी, वह रुपया कमाएगा और माँ-बाप के ऋण का शोध करेगा।

इन्टरव्यू बोर्ड के सामने देवराज दास खड़े हुए हैं। गजानन बाबू ने पूछा "तुम क्यों बी० ए० में फेल हुए? सुनामणि बाबू ने पूछा, "तुम नौकरी क्यों करना चाहते हो?" और जाकब साहब ने पूछा "तुमने कभी शिकार खेला? राइफल के सब अंगों का नाम बताओ।" देवराज चिन्तस्थ हो गया। ये सब कैसे सवाल हैं? वह आशंका से काँपने लगा। दूसरी बार फिर प्रश्न पूछा गया—"दो साल पहले तुम्हारी उम्र क्या थी? और २५ बरस बाद तुम्हारी क्या उम्र होगी?" देवराज ने पहले प्रश्न का उत्तर तो नहीं दिया, सिर्फ़ दूसरे प्रश्न का उत्तर, क्षीण स्वर में दिया—"जो क्या मैं तब तक जीवित रहूँगा?" सुनकर बोर्ड के सदस्य हँसने लगे।

जाकब साहब का दूसरा सवाल था—"तुमने कभी प्रेम किया है? यदि किया है तो उसकी अनुभूति क्या है?"

इसके सिवा हाकिम सुनामणि बाबू ने प्रश्न पूछा "एक दैनिक अखबार कितना लम्बा और कितना चौड़ा होता है?"

देवराज ने सोचा यह सब विद्या है या अविद्या? पर वह किस परिणाम पर नहीं पहुँचा।

इसके बाद हेमन्त पण्डा, लावण्यकुमार दास, वीरवर साह, पतित पावन पाण्डे, हनुमन्त राव, शिरीशकुमार चक्रवर्ती आदि बहुत से प्रार्थियों का नाम पुकारा गया। इण्टरव्यू खत्म हुआ। लेकिन पहले से जिन लोगों को अस्थायी नौकरी में मुकर्रर किया जा चुका था उन्हीं लोगों को स्थायी नौकरी दे दी गई और एक भी नया आदमी नियुक्त नहीं किया गया।

देवराज गाँव लौटा। जो देखता कहता देवराज को नौकरी मिली। गाँव वाले कहते, इतने पढ़े हुए को भी नौकरी नहीं मिली।

देवराज को नौकरी नहीं मिली। केवल एक नौकरी ही सबसे बड़ा सत्य है, क्योंकि इसी में राशन है, इसी में रोटी, भात, दाल और कपड़ा है।

इसी से जीवन का अभय मिलेगा। आहा! केवल नौकरी। पर कोई भी तो नौकरी न मिली। न मास्टरी की नौकरी, न किरानी की नौकरी, न अमीर की नौकरी और न पियन की ही नौकरी।

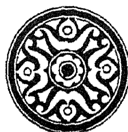
देवराज के पास आज एक भी कमीज़ नहीं, धोती नहीं, जूता तक तक नहीं। मुँह पर विशाल जंगल उग आया है, वह नाई की सेवा तक नहीं ले सकता। सभी ओर से 'रुपया दो', 'रुपया दो' का नगाड़ा है। घर में भात नहीं। माँ-बाप इस आशा में बैठे हैं कि इस बुढ़ापे में लड़का हमारा पालन करेगा।

आखिर देवराज सोचने लगा। उसे ख़याल आया कि आखिर सब दुनिया नौकरी ही तो नहीं करती। उसके आगे भी कितने ही व्यापारी, छोटे-मोटे व्यापारों से अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं। फिर उसे यह भी ख़याल आया कि उसकी तरह नौकरी की तलाश में दर-दर मारे फिरने वाले भी तो हज़ारों की संख्या में हैं। नौकरी की तलाश करने वाली यह जमात जैसे आँख पर पट्टी बाँधे रहती है, सिर्फ़ वह नौकरी ही चाहती है, और कुछ नहीं।

अचानक देवराज की आँखें खुल गई हैं। उसे एकाएक अपनी समस्या का समाधान मिल गया। देवराज कटक गया। वहाँ बाज़ार में एक टूटा-फूटा छोटा-सा मकान है। दूसरे ही दिन सबेरे देखा गया कि उस मकान पर एक नया बोर्ड लगा है: "बेकार ऑफ़िस", उसके नीचे लिखा है: "हर बेकार को नौकरी की सम्भावनाओं के सब समाचार भेजे जाएँगे। इन्टरव्यू के लिए ट्रेनिंग भी दी जाएगी। फ़ीस सिर्फ़ पाँच रुपया।"

देवराज के जमा किए हुए अखबारी कटिंग खूब काम आए। एक ही महीने में उसके पास इतने आवेदन-पत्र आए कि उसे दो सहकारियों को नियुक्त करना पड़ा।

देवराज की अपनी समस्या तो हल हो गई। पर जब देवराज प्रतिदिन डाक से आए सैकड़ों बेकारों के आवेदन-पत्र देखता था तो इतने व्यथित बेकार युवकों की करुण कथाएँ पढ़ कर उसकी आँखों के कोर आप से आप भीग उठते थे।



हंसाउली

अगरचन्द भंवरलाल नाहटा

त्रिभुवन प्रसिद्ध अमरावती के सदृश पइठाणपुर पत्तन (नगर) था, जो बावन वीरों का अधिस्थान था। यादव वंशी शालिवाहन का पुत्र नरवाहन वहाँ राज्य करता था, जिसका लघु भ्राता बावन वीरों में योद्धा शक्तिकुमार था। इस नगर में सहस्र स्वर्णकलश ध्वज मण्डित शिखरबद्ध प्रासाद थे, जिनके नीचे से गोदावरी की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही थी। वेदाभ्यासी ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोग वहाँ निवास करते थे। बीस हज़ार व्यवहारी एवं दो हज़ार जैन मन्दिर थे। उत्तम धवलगृह, चौरासी चौहटे, बीस सौ वेश्यागृह आदि से सुशोभित बारह योजन विस्तार वाली इस नगरी में अमित राजवैभव छलक रहा था। राजा के तीन-सौ साठ रानियाँ और तीस हज़ार दासियाँ थीं।

एक बार रात में सोया हुआ राजा सुख स्वप्न ले रहा था, जो प्रभात हो जाने पर भी नहीं जगा। उसने देखा कि वह कणयापुर पाटण गया और वहाँ के राजा कनकभ्रम की पुत्री हंसाउली से पाणिग्रहण किया। मंत्री मनकेसर ने आकर राजा को उठाया जिससे उसका स्वप्न-प्रेम भग्न हो गया। राजा ने कुपित होकर कहा—"तुमने मेरा कार्य नष्ट कर दिया अतः तुम्हें मार डालूँगा।" मंत्री ने कहा—"स्वामिन, मुझे निरपराध क्यों मारते हो!" राजा ने कहा—"मैं स्वप्न में कणयापुर जाकर कनकभ्रम की पुत्री हंसाउली से पाणिग्रहण कर रहा था।" मंत्री ने कहा—"मुझे आज मत मारिए, मैं एक महीने में शोध कर प्रत्यक्ष विवाह करा दूँगा।" राजा ने कहा—"यह पुरुषार्थ अवश्य करो।"

मंत्री ने चारों ओर दानशालाएँ खोल दीं और उनमें आने वाले ब्राह्मण, भाट, योगी, दरवेश आदि पथिकों से अपूर्व वार्त्ता ज्ञात करने के लिए अपने विश्वस्त दक्ष व्यक्ति नियुक्त कर दिए। बहुत दिन बीत जाने पर एक यात्री से कुछ टोह मिलने पर मंत्री ने उसे अपने घर बुला कर भोजन कराया और उससे कणयापुर की सुधि पूछी। उसने कहा—"मैं अड़सठ तीर्थ भ्रमण करके आया हूँ। यहाँ से तीन मास का मार्ग है। समुद्रतट पर कणयापुर पत्तन है, जहाँ का राजा कनकभ्रम है जिसके रंभा-उर्वशी जैसी रूपवती 'हंसाउली' नामक पुत्री है।" मंत्री उसे सत्कारपूर्वक राजा के पास ले गया। फिर तीनों ने गुप्त मंत्रणा की। बावन वीरों को बुला कर राजा की भलामण दी और शक्ति कुमार को राज सौंप कर तीनों प्रच्छन्न गति से चले। वे कहीं ब्राह्मण, कहीं योगी और कहीं कुछ रूप धारण कर विषम मार्ग लांघ कर तीन महीनों में कणयापुर पहुँचे। वे सरोवर की पाल पर वाटिका में विश्राम करने बैठे। कापड़ी राजा को प्रणाम कर स्वस्थान लौटा।

राजा नरवाहन और मंत्री ने नगर में प्रवेश किया। सर्वप्रथम उन्हें एक मालिन मिली, जिसने उत्तम लक्षणों वाले पुरुष रत्न (राजा) की पहिचान की और उन्हें आदरपूर्वक अपने घर में ले जाकर उतारा। माली ने घर बैठे गंगा आई जान कर उनका बड़ा सत्कार किया और इस नगरी की रहस्यमय मार्मिक बातों से अवगत कराते हुए कहा कि इस नगरी में जो अनजान व्यक्ति घूमता है, वह निश्चय ही अपने प्राण गँवाता है। पखवाड़े में पाँच दिन पुरुषद्वेषिणी राजकुमारी हंसाउली पाँच सौ सशस्त्र महिलाओं के साथ अश्वारूढ़ होकर शक्तिपीठ जाती है और आठम, चौदस, पूनम और रवि-सोमा को पुरुषों का संहार करती है। उस दिन राजसभा भी नहीं लगती। एक प्रकार से स्त्री राज्य हो जाता है।

मंत्री मनकेसर ने माली के वचनों पर विचार कर राजा से शक्तिपीठ जाने का आदेश माँगा। राजा ने कहा यदि उपाय निरर्थक हुआ तो लौट कर क्या मुँह दिखाएँगे? मंत्री ने कहा—"आपके प्रताप से मेरी आयु बड़ी है। मैं हंसाउली को आपके चरणों की दासी करके छोड़ूँगा। आप निश्चिन्त रहें!"

मंत्री मनकेसर अष्टमी के दिन देवी के मठ में जाकर छिप गया। संध्या समय पाँच सौ महिलाओं के साथ पूजन सामग्री सहित हंसाउली पहुँची और ज्योंही वह मठ के द्वार में प्रवेश करने लगी, बुद्धिनिधान मनकेसर ने देवी बनकर बढ़कर दी—"पापिनी! तुमने बहुत नरहत्या की है। मेरे मठ में मत आना!" हंसाउली ने ये शब्द सुनते ही देवी कुपित हुई जानकर करबद्ध हो प्रार्थना की—"देवी! मैं पूर्वभव में पक्षिणी थी और अपने अण्डों-बच्चों का सेवन कर रही थी कि अचानक वन में दावानल लग जाने पर मेरा स्वामी पुरुषार्थ न कर संतान को त्याग कर उड़ भागा। मैंने संतान सहित अपने को होम दिया। जाति स्मरण से अपना पूर्वभव याद कर निष्ठुर पुरुषों को मारती हूँ!" देवी ने कहा—"सुनो! तुमने अल्प ज्ञान से गर्व किया है। पुरुषों की क्या बात करती हो, सूर्यवंशी दशरथ ने अपने पुत्र के लिए प्राण त्याग कर दिए! तुम्हारा स्वामी भी कायर नहीं था। संक्षेप से तुझे कह दिया, पूजा मत करना!" हंसाउली ने कहा—"माता! मुझे मालूम नहीं। अज्ञानता वश मैंने नरहत्या की है। अब तुम्हारे चरण छूकर प्रतिज्ञा करती हूँ कि कदापि नरहत्या नहीं करूँगी।" हंसाउली फिर नैवेद्य-फल आदि का भोग चढ़ा कर स्वस्थान लौटी।

मंत्री को उठते ही लगा मानो यह चरित देखकर देवी हँस रही है। उसने कहा—"माता! क्षमा करना। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मैं देवी बनकर बोला व स्वामी के कार्य के लिए जो साहस किया उसके लिए अपराध क्षमा करना।" देवी ने संतुष्ट होकर कहा—"वत्स! वर माँग!" मंत्री के चित्रकार कला में प्रवीणता का वर माँगने पर शक्ति ने वहीं वर दिया। मंत्री मनकेसर राजा से मिला

और उसने प्रणाम कर नरहत्या बन्द कराने का वृत्तान्त कह कर आगे का कार्यक्रम निश्चित किया।

अब मनकेसर चित्रकार बना। उसने नाना प्रकार के चित्र बनाए। नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर राज दरबार में पहुँचा। हंसाउली ने महल में बुलाकर चित्रकला दिखाने का आदेश दिया। उसने रामायण, महाभारत, हाथी, ऊँट, राजमहल आदि नाना चित्र बनाए। एक चित्र में महावन के आम्र वृक्ष पर पोपट युग्म बनाए। दावानल लगने पर बच्चों को तृषातुर दिखाया। पोपट पानी के लिए उड़ कर गया और बच्चों के साथ शुकी जल मरी। जब वह जल लेकर आया तो शोक संतप्त हो स्वयं अग्नि में आ गिरा। चित्र परिचय लिख कर चित्रकार मनकेसर द्रव्य लेकर चलता बना। क्रमशः चित्रों को देखती हुई हंसाउली ने जब दावानल वाले चित्रों को देखा तो अपना पूर्वभव एवं प्रियतम के जल मरने का वृत्तान्त जान कर बड़ी दुखित हुई और अपने अधूरे ज्ञान के कारण की हुई नरहत्या पर पश्चाताप करने लगी। पश्चाताप की ज्वाला में जलती हुई "प्रिय! प्रिय!" कहते हुए वह मूर्छित हो गई।

राजकुमारी को मूर्छित देख कर कोई सखी चन्दन विलेपन करने लगी और कोई वायु व्यंजन। किसी ने कहा यह अनंग ज्वाला है, तो किसी ने कहा चित्रकार जादूगर है। अन्त में चित्रकार को पकड़ कर बुलाया गया और उसे राजकुमारी को स्वस्थ करने के लिए कहा गया। चित्रकार ने हँसाउली के कान में संकेत मंत्र सुनाया कि "शुक ने अवतार लिया है।" राजकुमारी ने होश में आकर एकान्त में चित्रकार से पूछा कि शुक पक्षी ने कहाँ अवतार लिया है? चित्रकार मनकेसर ने कहा—"मैं शक्ति माता और अपने ज्ञान के प्रभाव से जानता हूँ कि यह पड्ठाणपुर पत्तन के यादव राजा शालिवाहन का पुत्र नरवाहन हुआ है, जिसकी ३६० रानियाँ और ५२ वीर सेवा करते हैं।" हंसाउली ने पूछा तुम उसे कितने दिन में यहाँ ला सकोगे? मनकेसर ने कहा—"दूरी तो बहुत है। पर दिग्विजय के लिए निकले हुए राजा को मैं एक मास में यहाँ ला सकूँगा। तुम स्वयंवर की तैयारी करो!" फिर राजकुमारी को प्रणाम कर मनकेसर माली के घर आकर राजा से मिला और वे एक मास स्वयंवर की प्रतीक्षा में प्रच्छन्न रूप से गतिविधि देखने लगे।

हँसाउली ने माता के द्वारा स्वयंवर रचाने की बात राजा को कहलाई। राजा कनकभ्रम ने सभी राजाओं को निमन्त्रण भेजा और स्वयंवर मण्डप की तैयारी की। एक महीने के अन्दर सभी राजा आ पहुँचे और कनकावती नगरी में चहल-पहल मच गई। जब सत्ताईस दिन बीते तो राजकुमारी व्याकुल होकर बाट देखती हुई नाना विकल्प करने लगी—"कहीं चित्रकार ने धोखा तो नहीं दिया। यदि ऐसा हुआ तो मैं अन्य किसी को नहीं वरूँगी।" इतने में चित्रकार ने आकर बधाई दी। राजकुमारी ने पुरस्कृत करते हुए कहा—"मैं अपने पूर्वभव के पति को पहिचानती नहीं, अतः तुम उनके साथ अवश्य रहना।"

स्वयंवर में हँसाउली ने नरवाहन को वरा। बड़े समारोह पूर्वक विवाह हुआ फिर कनकभ्रम से विदा लेकर नरवाहन पड्ठाणपुर आकर सुखपूर्वक राज्य करने लगा।

राज्य सुख भोगते हुए क्रमशः हँसाउली गर्भवती हुई। उसने दो जुड़वें पुत्रों को जन्म दिया। राजा ने बावन वीरों के कारण बालकों को वारायत के हाथ वृक्ष के नीचे रखवाया फिर राजा ने स्वयं जाकर दो धायों के साथ उन्हें पुरोहित के सुपुर्द कर दिया। उनमें बड़े का नाम वत्सराज और छोटे का हँसराज रखा और उन्हें किसी दूर नगर में ले जाकर पालन-पोषण करने का आदेश दिया। जब वे पाँच वर्ष के हुए तो पुरोहित ने उन्हें शास्त्र और शस्त्रविद्या का अभ्यास कराया। वे शेर, बाघ, सूअर आदि का शिकार करने लगे। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के होने पर राजा ने शुभ मुहूर्त्त में पुत्रों को नगर में बुलाया। राजा और नागरिक लोग कुमारों को देखकर आनन्दित हुए। राजा ने भोजनादि के उपरान्त शिक्षा देकर कहा कि तुम्हें तुम्हारी माता से कल मिलाएँगे। फिर सवा करोड़ का 'जीडू' देकर गोदावरी के तट पर बावन वीरों के साथ खेलने के लिए भेजा। एक ओर दोनों भ्राता और दूसरी ओर बावन वीर थे। दो बार कुमारों ने बावन वीरों को हराया। वीरों ने कहा एक बार और खेलें, तब हार जीत का प्रमाण माना जाएगा। बावन वीर बल, बुद्धि में ज़बरदस्त थे। सभी वीर गोदावरी के तट पर थक कर हार गए। उनका पानी उतर गया तो उन्होंने शक्ति को स्मरण किया। हँस ने जब दड़ी को टोटा दिया तो उसके शब्द से पृथ्वी धड़धड़ाहट करने लगी। शक्ति के प्रभाव से जीडू अदृश्य हो कर गढ़ में जा पहुँचा। जीडू की खोज चारों ओर हुई। वीरों ने कहा, सवा करोड़ का जीडू गया। राजा को क्या उत्तर देंगे? एक ने कहा कि वह राजमहलों में गया। कुमारों ने कहा—तुम सब जाओ, हम जीडू ले आएँगे।

हँस ने कहा—"जीडू शोध कर लाएँ।" वत्सराज ने कहा—"अपनी ३६० माताएँ हैं अतः खड़े रह कर बातों में न लग जाना।" कुमार गढ़ में गए। महल के आगे देखकर दासी ने सूचना दी। रानी ने कुपित होकर कहा—"मैं नरवाहन की स्त्री हूँ, अन्य पुरुष मेरे बन्धु हैं।" वारायत ने कहा—"कुमार तुम्हारी जैसी आकृति वाला या तो तुम्हारा भाई या पुत्र मालूम देता है।" पुत्र ने माता को प्रणाम किया। उसके हर्षाश्रु बहने लगे। फिर दूसरी माताओं के महल में जाकर प्रणाम करता हुआ जीडू न मिलने से लौटने लगा। सब से अन्त में कुमार राजमान्य लीलावती रानी के महल में जुहार करने गया। लीलावती अद्भुत शृंगार कर आ खड़ी हुई। राजकुमार के नमस्कार करने पर लीलावती आशीर्वाद न देकर निर्लज्जता पूर्वक नाना हाव-भाव प्रदर्शित करने लगी। हँस ने कहा—"माता, आसीस क्यों नहीं देती, क्या नाराज़ी है? पुत्र कुपुत्र हो जाते हैं, माता को खयाल नहीं करना चाहिए। मेरे टोटा देने पर जीडू कहीं गायब हो गया, जिसे खोजने के लिए मैं आया हूँ।" लीलावती ने दड़ा दिखाते हुए कहा—"मेरा कथन मानो तो तुम्हें बहुत से रत्नमय जीडू दूँगी!" हँस ने देखा—"माता ने धर्म का लोप किया। प्रिय होने पर भी अपना माँस कौन खाए? कामान्ध को लज्जा नहीं होती।" लीलावती ने कहा—"कामवती स्त्री त्याज्य नहीं होती। मैं तुम्हारे रूप पर मुग्ध और विरह व्याकुल हूँ। मैं पटरानी हूँ। तुम्हारे लिए राजा को भी मरवा दूँगी!" यह

अनर्गल बातें सुनकर कुपित कुमार जीड्ड लेकर उसकी अवगणना कर चल पड़ा।

लीलावती ने दोनों कुमारों को मरवाने का विचार कर त्रियाचरित का अवलम्बन किया। उसने वस्त्र फाड़ डाले, अपने शरीर को नखों से क्षत-विक्षत कर डाला और कोपगृह में जाकर बैठ गई। राजा ने आकर पूछा—"देवी कहाँ है?" दासी के बताने पर राजा वहाँ गया। रानी राजा से कहने लगी—"मुझे स्पर्श न करना। तुम हँस के रिश्ते से मेरे श्वसुर हो!" राजा ने कहा—"गंगाजल की तरह पवित्र मेरा पुत्र है। ऐसा कहकर पाप क्यों बाँधती हो?" रानी ने कहा—"बातों से न मानो, पर मेरा शरीर साक्षी है। मेरे मना करने पर मेरे वस्त्र फाड़ कर नखों से मेरा शरीर क्षत-विक्षत कर डाला।"

राजा ने कुपित होकर मंत्री को बुलाकर दोनों कुमारों को मार डालने की आज्ञा दी। मंत्री ने कहा—"राजन, कर्ण-दुर्बल होकर अनर्थ मत कीजिए। पीछे पश्चात्ताप करेंगे! स्त्री अनर्थ की मूल है। १५ वर्ष विदेश में रहकर बड़े हुए एवं गुणों में श्रेष्ठ और वंशविशुद्ध हँसाउली के ये पुत्र हैं।" मंत्री ने रानी के नख-विक्षत घाव देखकर कहा ये प्रेमरसिक पुरुष के नख न होकर स्त्री के नख हैं। रानी ने कहा—"मंत्री, तुम स्वामी वचन को अमान्य करते हो तो दोनों के साथ तुम भी मरो।" मंत्री ने कहा—"स्वामिनी! तुम और नरेश्वर भोजन करो। मैं आज्ञा का पालन करता हूँ!" रानी ने कहा—"मुझे उनके नेत्र लाकर दो तभी जीऊँगी।"

मंत्री मनकेसर ने बारह रत्न और दो अश्व देकर दोनों राजकुमारों को गुप्त रूप से भगा दिया और हरिणों के नेत्र लाकर राजा रानी को दिए। रानी ने मंत्री से पूछा—"जब तुमने नेत्र निकाले तो उन्होंने क्या कहा?" मंत्री ने कहा—"उन्होंने कहा, हम अज्ञानी थे, कथन मानते तो क्यों प्राण गँवाते।" रानी ने कहा—"यदि ऐसी बात थी तो उन्हें क्यों नष्ट किया? यहाँ आते तो मैं उन्हें धवलगृह में रख लेती।"

वत्स और हँस दोनों भयानक वन, पहाड़ों और विषम मार्गों को पार करते चले जा रहे थे। दिन-रात सिंह, बाघ संकीर्ण मार्ग में चलते हुए पथ श्रान्त होकर जल विहीन स्थान में पहुँचे, जहाँ भूख और थकावट से चूर होकर हँस ने कहा—"भाई, मैं थक गया। अब विश्राम करें।" वट वृक्ष के नीचे दोनों अश्वों को बाँध कर बैठे। हँसराज को नींद आ गई। वत्सराज जल की शोध में निकला। एक जगह चक्रवाक सारस आदि के शब्द सुनकर उनके संकेत से वह सरोवर तट पर जा पहुँचा। वह पानी भरने का बर्तन भूल आया था, अतः कमल पत्र में जल लेकर आया। पीछे से निद्राधीन हँस को साँप डस गया। वत्सराज उसे गोद में लेकर नाना विलाप करने लगा। अन्त में उसने सोचा कि अकेले वन में रुदन करने से क्या होगा? भाई का दाह संस्कार तो करना आवश्यक है। भाई का संस्कार करने के लिए उसे घोड़े पर बाँध कर वह रुदन करता हुआ सुवर्ण सरोवर ले गया। हँस के शव को हिंस्र पशुओं से बचाने के लिए वट वृक्ष की डाल में बाँध कर स्नान करके चन्दन काष्ठ लाने के लिए वह सात कोस दूरी पर स्थित कातीनगर की ओर रवाना हुआ। वत्सराज के कातीनगर जाने के पश्चात एक गरुड़ पक्षी वहीं आकर बैठा, जिसके पँखों की वायु लगने से हँसराज का सर्प-विष उतर गया। उसने सचेत होकर देखा और सोचा कि मुझे वृक्ष पर किसने बाँध दिया? फिर स्वयं बन्धन मुक्त होकर वह नीचे उतरा और सुवर्ण-सरोवर में स्नान कर तथा जलपान कर तृप्त हुआ। उसने सोचा कहीं भाई वन में भूल तो नहीं गया। इससे ज़ोर-ज़ोर से पुकारता हुआ वह भाई की खोज करने लगा।

(शेष आगामी अंक में)

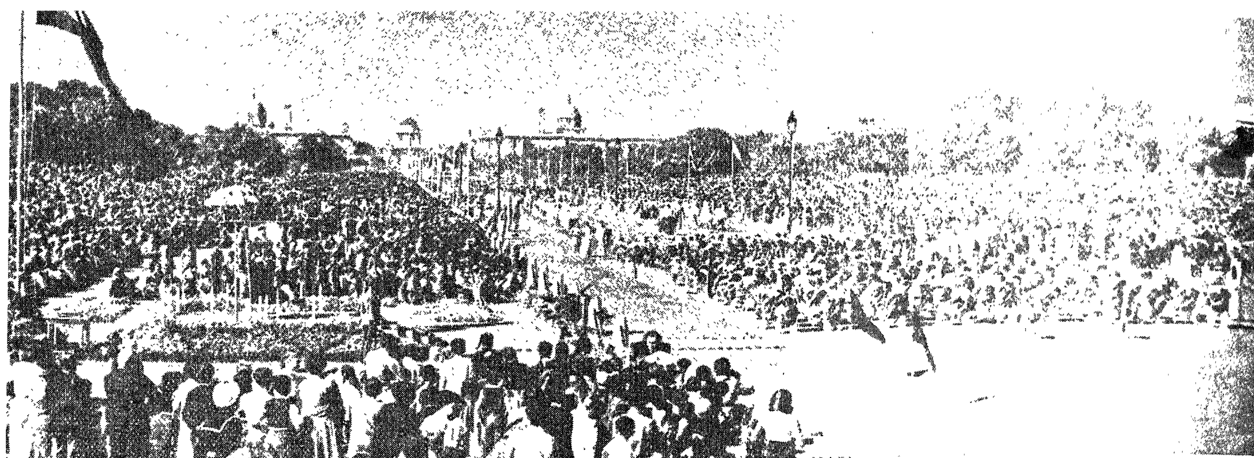
महानदी नील और युगांडा—(पृष्ठ २८ का शेषांश)

ठीक परिमाण में स्वीकार किया है। भारतीयों का यहाँ की प्रजा के साथ अब तक तो अच्छा सम्बन्ध था लेकिन अब आर्थिक बातों से तनाव बढ़ता जा रहा है। शायद यहाँ की संकुचित राष्ट्रीय भावना उसमें वृद्धि भी कर दे।

युगांडा कृषि प्रधान देश है। अब वह उद्योग-प्रधान हो रहा है। रूई, कॉफ़ी, चाय, गन्ना, साइसल और अन्य खाद्य पदार्थों का उत्पादन होने लगा है। इससे कृषि योग्य सभी ज़मीन उपयोग में ली जाती है। सन् १६०४ ई० में रूई प्रथम बार बोई गई थी। उस वर्ष सिर्फ़ दो सौ रतल रूई प्राप्त हुई, जो सन् १६४० में चार लाख गांठों तक जा पहुँची। कॉफ़ी सन् १६०२ में १२ टन हुई। सन् १६५३ में वह २७ सौ टन पर पहुँच गई। युगांडा में शक्कर के दो बड़े कारखाने भी हैं। उनका वार्षिक उत्पादन ४८,००० टन है।

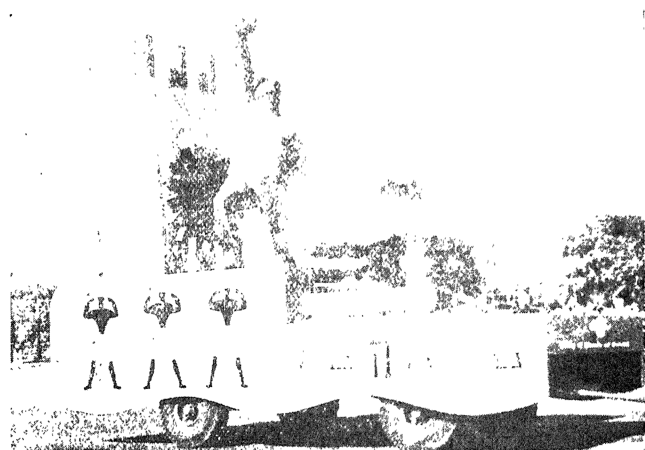
युगांडा में भारतीयों का प्रवेश ब्रिटिश राज्य होने के बाद हुआ। भारतीयों में सबसे पहले वहाँ श्री अलीदीना विश्राम ने व्यापार प्रारम्भ किया। युगांडा में हिन्दुस्तानियों को स्थिर करने का यश मुख्यतः उनको है। आज यहाँ के अर्थतन्त्र पर भारतीयों का प्रखर प्रभाव है। आठ वर्ष पहले की गई युगांडा की जनसंख्या इस तरह है: ४३,००,००० अफ्रीकन, ७,००० यूरोपियन और ४०,००० एशियन।

यहाँ की भूमि खनिज सम्पत्ति से भरपूर है। अब उसका संशोधन हो रहा है। तांबा बहुत परिमाण में मिल रहा है। उसको शुद्ध करने के लिए कारखाने भी बन रहे हैं। सिमेण्ट का उत्पादन भी हो रहा है। स्वर्ण की खानों में काम चल रहा है। यदि कहा जाए कि यहाँ के रहने वाले अल्पकाल में स्वतन्त्र देशों के साथ अपने कदम मिलाकर चलने लगेंगे तो इसमें कोई अतिशयोक्ति या आश्चर्य की बात नहीं होगी।





हाथियों पर शहनाई



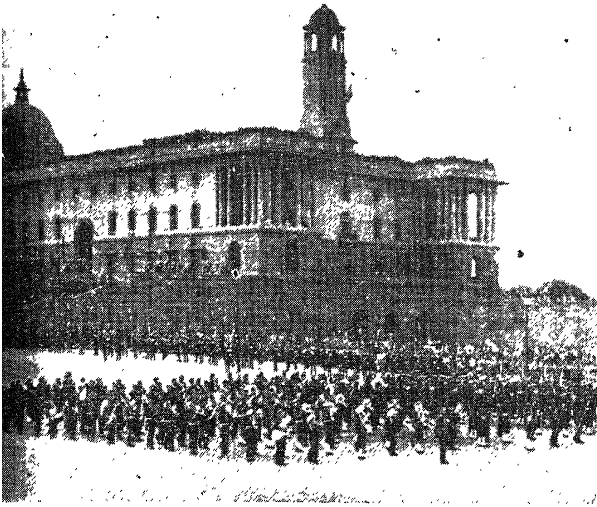
सूचना मन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत "पंचवर्षीय योजना"

सबसे ऊपर :
राष्ट्रपति के सम्मुख [illegible]

गणराज्य दिवस १९५७



डोगरा नर्तकों का नृत्य

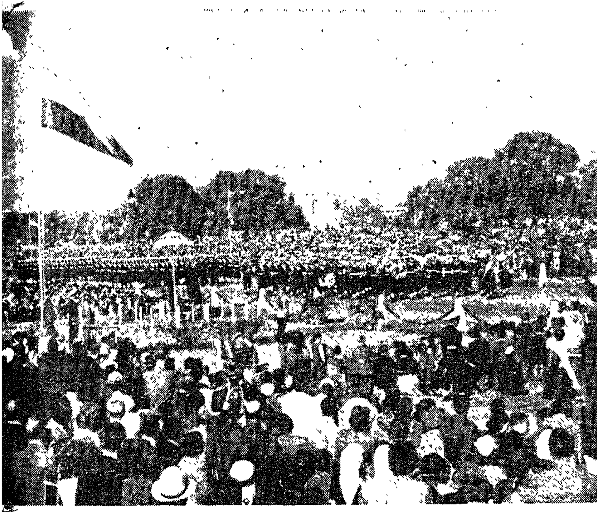


विजय चौक में "रिट्रीट संगीत"

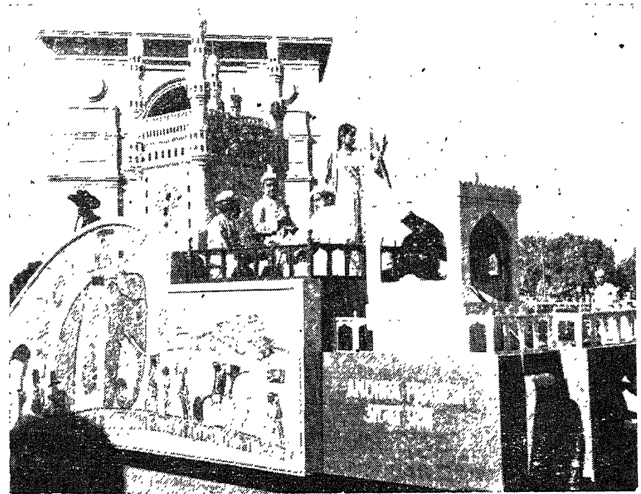


रेलवे मन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत "तीसरा दर्जा"

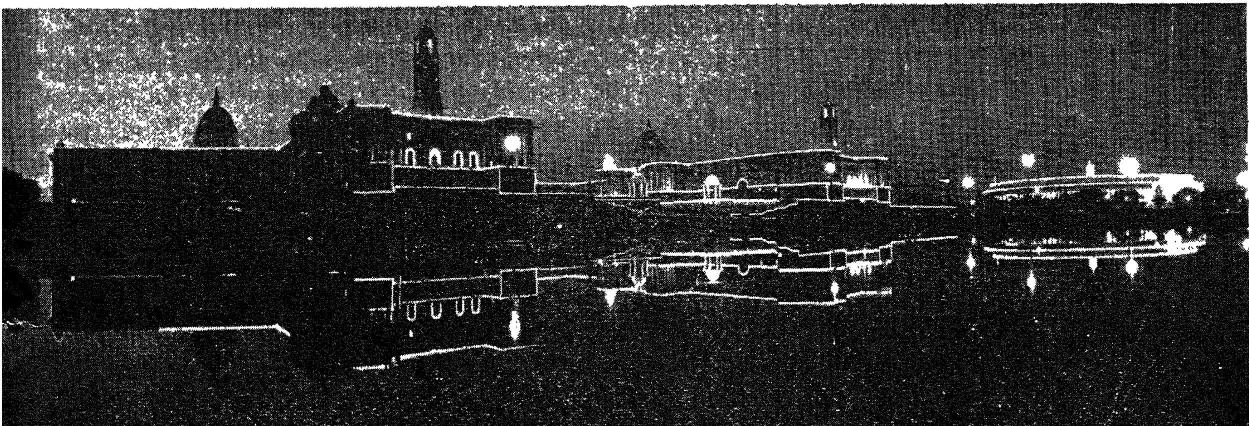
राष्ट्रपति सैनिक सलामी लेते हुए



आन्ध्र प्रदेश द्वारा प्रस्तुत झाँकी



प्रकाशित पार्लियामैण्ट भवन तथा केन्द्रीय मन्त्रालय





महोदय,

विगत दो वर्षों से भारतीय-साहित्य के अग्रदूत के रूप में 'आजकल' जो काम करता आ रहा है, वह हिन्दी जगत के लिए एक आदर्श की वस्तु है। न सिर्फ़ हिन्दी को, वरन उससे 'भारतीय-साहित्य' को भी प्रेरणा लेनी चाहिए। 'भारतीय वांग्मय' में जो एक ही चेतना और संवेदना काम कर रही है, उसकी अनुभूति सिर्फ़ कुछ आलोचकों के ही द्वारा हो रही थी—वह भी अधिकतर अंग्रेज़ी के ही द्वारा। हिन्दी के आगमन से उस प्रकाश को बहुत दिन पहले ही आना चाहिए था, पर इस पर 'हंस' के बाद 'आजकल' ने ही ध्यान दिया। स्व० प्रेमचन्द जी ने अपने जीवन-काल में 'हंस' के द्वारा हिन्दी की तन्त्रियों से 'भारतीय-वांग्मय' की इन संवेदनाओं को ध्वनित करने का प्रयत्न किया था। वह उनका एक मिशन था, जो उनके साथ ही अधूरा रह गया। उसको 'आजकल' पूरा कर रहा है। केन्द्रीय सरकार के पत्र को जिस आदर्श से पालना चाहिए—'आजकल' उस आदर्श को, वास्तव में, इन्हीं दो वर्षों में ठीक से छू पाया है।

आजकल के सम्पादकों तथा संचालकों से मेरा निवेदन है कि वे भारत की प्रत्येक भाषा से एक-एक ऐसे व्यक्ति को माध्यम या सलाहकार के रूप में चुनें—जो अपनी भाषा की सुन्दर-सुन्दर कथाओं, कविताओं और साहित्यिक आलोचनाओं के अनुवाद की सलाह आप को दें और उन सामग्रियों को भी 'आजकल' के पास भेज दें। इस तरह प्रत्येक भाषा से उच्च स्तर की सामग्री पाने के लिए एक उच्चकोटि के सलाहकार द्वारा दो-तीन अच्छे अनुवादकों की आवश्यकता होगी। किसी-किसी भाषा में सलाहकार और अनुवादन का काम एक ही व्यक्ति से हो जाएगा।

मेरी राय में अच्छे और निष्पक्ष सलाहकारों के द्वारा भारतीय भाषाओं के कथाकारों की अलग सूची बनाई जाए। फिर उनकी भी चुनी हुई रचनाओं की एक-एक सूची बने और तभी अनुवादकों के द्वारा उनका अनुवाद करवाया जाए। इस तरह निष्पक्ष सलाहकारों, जनप्रिय कथाकारों, उनकी लोकप्रिय रचनाओं तथा प्रामाणिक अनुवादकों को ढूँढ़ निकालने में काफ़ी दिक्कतें तो उठानी पड़ेंगी, पर यह काम असाध्य नहीं है। मेरा विश्वास है, इस तरह भारतीय साहित्य की एक ठोस और स्थायी सामग्री हिन्दी को मिल पाएगी।

गिलान पाड़ा, दुमका
(बिहार)

भवदीय—
प्रफुल्लनन्द पटनायक

★

हिन्दी निबन्ध—(पृष्ठ ५० का शेषांश)

शोध सम्बन्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, अगरचन्द नाहटा, परशुराम चतुर्वेदी, डा० सम्पूर्णानन्द आदि विद्वानों के लेख पठनीय हैं। इनसे अन्य भाषा-भाषी भी लाभ उठा सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक लेखकों में सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, लालजीराम शुक्ल, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और इन पंक्तियों के लेखक के निबन्ध जनता के सामने रखे जा सकते हैं।

ऐतिहासिक निबन्ध लेखकों में डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशी देवी प्रसाद, जयचन्द्र विद्यालंकार, महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह, भगवत शरण उपाध्याय के नाम सादर लिए जाते हैं।

वैज्ञानिक निबन्ध लेखकों में डा० गोरख प्रसाद, डा० सत्यप्रकाश, रामदास गौड़, त्रिलोकीनाथ वर्मा आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्ध-लेखकों में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान प्रभृति प्रमुख हैं। इनके साहित्यिक निबन्ध निबन्ध की कोटि में इसीलिए आते हैं कि वस्तु-वर्णन के साथ इनका निजी दृष्टिकोण भी रहता है और उनकी विश्लेषण पद्धति में उनके निजी व्यक्तित्व की छाप रहती है।

शुद्ध निबन्ध लेखकों में श्रीमती महादेवी वर्मा, सियाराम शरण गुप्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी और इन पंक्तियों के लेखक के उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं।

हिन्दी निबन्ध की ये ही संक्षिप्त कहानी है। वैसे निबन्ध-साहित्य हिन्दी में कम नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जीवन की समस्याओं पर उच्चस्तरीय विचार नहीं हुआ है। निबन्धों में आलोचना की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई है, और बढ़ती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं में मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित निबन्ध भी निकलते रहते हैं। पर इनमें से अधिकांश पुस्तकों के अध्याय का रूप धारण कर लेते हैं। अतः वे निबन्ध की कोटि में नहीं आते। आलोचनात्मक निबन्ध भी शोधपरक होते जा रहे हैं। जिनमें तर्क और प्रमाण का कला-मूल्यों से अधिक महत्त्व हो गया है। हिन्दी निबन्ध साहित्य सभी ओर से सम्पन्न हो रहा है। परन्तु उसके उचित मूल्यांकन की आवश्यकता है।

गुन ना हिरानौ गुन गाहक हिरानौ है।



पुस्तक समालोचना

सिंहावलोकन (तीन भागों में) : लेखक—यशपाल; प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, शिवाजी मार्ग, लखनऊ; पृष्ठ संख्या—(रायल आठपेजी) क्रमशः २०८, १६४ और १६४; मूल्य ४॥), ४॥) और ४॥) सजिल्द ।

'सिंहावलोकन' यशपाल के जीवन के उस अंश के संस्मरणों के रूप में लिखा गया है, जब वह हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना के अत्यन्त क्रियाशील सदस्य और नेता थे। यह काल सन् १९१९ से मार्च सन् १९३८ तक का है। अर्थात् लगभग दो दशक। भारत के इतिहास में ये दोनों दशक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं और इस अवधि में देश की राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना का स्पष्ट और अत्यन्त प्रभावशाली नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में रहा है। पर इसी काल में गुप्त रूप से भारत की स्वाधीनता के लिए सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्न भी जारी रहे हैं और 'सिंहावलोकन' इन्हीं प्रयत्नों की एक अत्यन्त मनोरंजक कहानी है।

अंग्रेज़ी राज्य के विरोध में सशस्त्र क्रान्ति का प्रारम्भ सन् १८५७ में हुआ था। वह भावना देश में निरन्तर जारी रही और प्रथम महायुद्ध के बाद जब भारत में नई चेतना का संचार हुआ, तो महात्मा गांधी ने अत्यन्त सफलतापूर्वक उसे एक नई दिशा में प्रवृत्त कर दिया। पर सन् १९१९ में जब जलियाँवाला बाग में नृशंस हत्याकाण्ड हुआ तब से लेकर सन् १९२७ तक जब लाहौर में पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय पर लाठी प्रहार किया गया, देश भर में जो नृशंस अत्याचार होते रहे, उनकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्तर भारत में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा की ओर बीसों साहसी नौजवान आकृष्ट हुए। अंग्रेजी सरकार के ये सब अत्याचार महात्मा गांधी के नेतृत्व में प्रबुद्ध भारत की बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना को दबाने के उद्देश्य से किए गए थे। इन अत्याचारों की प्रतिक्रिया के रूप में संगठित ये क्रान्तिकारी प्रयत्न इस तरह राष्ट्रीय चेतना की सुरक्षा की दूसरी पंक्ति के समान थे। ये नौजवान चाहे देश को अपनी राह पर नहीं चला पाए, पर जब इन में से भगतसिंह जैसे कुछ शहीद नौजवानों का नाम तो देश के बच्चे-बच्चे की ज़बान पर आ गया था। 'सिंहावलोकन' में यशपाल के आत्म-संस्मरण के रूप में इनमें से बहुत से क्रान्तिकारी युवकों पर अत्यन्त केन्द्रित प्रकाश डाला गया है, जिससे पाठक उन्हें बहुत निकट से देख पाता है।

आज जब हम दूर से उन तेजस्वी नौजवानों के क्रान्ति-प्रयत्नों को देखते हैं, तो उनके अधिकांश प्रयत्न बच्चों के खिलवाड़ के समान प्रतीत होते हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि इन्हीं प्रयत्नों से शक्तिशाली अंग्रेज़ी सरकार बहुत अधिक भयभीत हो उठी थी। इसका कारण भी स्पष्ट ही था। कारण यह था कि सरकार के सभी प्रयत्नों के बावजूद भारत में क्रान्ति की भावना रक्त बीज की तरह बढ़ती चली जा रही थी—चाहे वह क्रान्ति शान्त हो और चाहे सशस्त्र।

सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों की सफलता या विफलता अथवा उनकी वांछनीयता या अवांछनीयता के सम्बन्ध में हमें इस आलोचना में कुछ भी वक्तव्य नहीं है। यहाँ हमें 'सिंहावलोकन' के लेखन-कौशल का ही मूल्यांकन करना है। यशपाल अपनी इस रचना में हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना के सम्बन्ध के सभी तथ्य ठीक-ठीक दे पाए हैं अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में भी हम अधिकार के साथ कुछ नहीं कह सकते। पर जहाँ तक 'सिंहावलोकन' की लेखन-शैली का सम्बन्ध है, वह एक अत्यन्त सफल रचना है। वह एक ऐसे अत्यन्त मनोरंजक उपन्यास के समान रोचक है, जिसे प्रारम्भ कर छोड़ने की इच्छा नहीं होती। 'सिंहावलोकन' में विभिन्न व्यक्तियों का जो आंशिक चित्रण है, वह इतना मार्मिक और वास्तविक है कि मानव-चरित्र पहचानने तथा उसका विश्लेषण करने में यशपाल की दाद देनी पड़ती है।

सम्पूर्ण रचना में लेखक का 'अहं' अत्यन्त जागरूक और प्रबल रहा है, पर वह 'अहं' आत्म-विश्लेषण का प्रयत्न भी पूरी ईमानदारी से करता है।

'सिंहावलोकन' की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि लेखक न केवल अपने आग्रह और मतामत को संयत नहीं रख पाया, अपितु वह अपने आग्रह और मतामत के प्रकाशन के लिए जैसे मौके की तलाश करता है और मौका तलाश कर प्रचारकों की तरह उपदेश देने लगता है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं वह पराधीन अंग्रेज़ी भारत के दिनों की परिस्थितियों की तुलना स्वाधीन भारत के प्रारम्भिक वर्षों से करने लगता है। इन स्थलों पर 'सिंहावलोकन' जैसी श्रेष्ठ रचना प्रचार-प्रधान दैनिक पत्रों के स्वर पर उतर आती है।

'सिंहावलोकन' में से यदि ये सब झुँझलाहट भरे स्थल काट दिए जाएँ और कुछ प्रसंगों को ज़रा कस दिया जाए तो उसका आकार अवश्य ही कुछ कम हो जाएगा, पर उसका स्थायित्व और महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाएगा। हालाँकि 'सिंहावलोकन' के वर्तमान रूप के महत्त्व और स्थायित्व को भी हम निस्सन्देह स्वीकार करते हैं।

बावन पत्ते : लेखक—कृष्णचन्द्र; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, ३ राउण्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई-२; पृष्ठ संख्या रायल अठपेजी २५०: मूल्य ५॥) सजिल्द ।

'बावन पत्ते' उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र का सबसे नया उपन्यास है, जो 'धर्मयुग' में भी धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा है। उपन्यास पर यह कहीं नहीं लिखा कि यह उर्दू से अनुवादित है, इससे सम्भवतः यह उपन्यास सर्वप्रथम हिन्दी में ही प्रकाशित हुआ है। अपनी इस रचना के हिन्दीकरण में कृष्णचन्द्र जी ने शायद हिन्दी के किसी जानकार की सहायता ली होगी। उपन्यास की हिन्दी निर्दोष है और उसमें यथेष्ट प्रवाह है। अपनी इस रचना को सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशित करवाने के लिए हम यशस्वी भारतीय लेखक कृष्णचन्द्र का स्वागत करते हैं।

'बावन पत्ते' एक अत्यन्त शक्तिशाली रचना है। उसका कथानक बम्बई के फ़िल्मी जगत से सम्बद्ध है। फ़िल्मी क्षेत्र के प्रोड्यूसरों, डिस्ट्रीब्यूटरों, तारों, तारिकाओं, एक्स्ट्राओं आदि का अत्यन्त मनोरंजक और सजीव चित्रण इस उपन्यास में है। फ़िल्म क्षेत्र में किस तरह तारे एकाएक चमकते हैं और एकाएक टूट गिरते हैं, किस तरह कम्पनियाँ बनती हैं और मिट जाती हैं, वहाँ के प्राणशोषक वातावरण में इन्सान कितनी आसानी से हैवान बन जाता है, किस तरह इस ज़हरीले वातावरण में कितने ही युवक और युवतियाँ व्यवसाय को ऊँचे सतह पर लाने का प्रयत्न कर रहे हैं—इस सब का बहुत सजीव और अच्छा चित्रण 'बावन पत्ते' में है।

जहाँ तक कृष्णचन्द्र की उपन्यास कला का सम्बन्ध है, वह उपन्यास के कथानक को नाटकीय बनाने का अधिकतम प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में वह सम्भव, असम्भव, स्वाभाविक, अस्वाभाविक किसी बात की परवाह नहीं करते। परिणाम यह होता है कि अनुभूतिशील पाठक उपन्यास के कथानक में जगह-जगह झटके अनुभव करता है। इस उपन्यास में भी मार्फ़त फुटपाथ, विलायत बेगम, इशरत आदि कितने ही स्थल और पात्र इसी ढंग के हैं।

इस पर भी कृष्णचन्द्र हमारे देश के अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावशाली लेखकों में हैं। उनकी यह शक्ति उनके प्रभावशाली व्यंग्य में है। कृष्णचन्द्र का-सा श्रेष्ठ कोटि का व्यंग्य बहुत कम भारतीय लेखक लिख सकते हैं। यहाँ हम 'बावन पत्ते' में से केवल दो उद्धरण दे रहे हैं—"बम्बई में कितनी ही अँधेरी बस्तियाँ हैं। इन्हें नष्ट करने के लिए बहुत से राजनीतिज्ञों ने सलाह दी थी कि इन अड्डों को जला दो, यह सारी बदबू, अन्धकार, सीलन, घुटन अपने आप नष्ट हो जाएगी। ऐसा ही किया भी गया। मगर भायखला की अँधेरी बस्ती जली और तीन ही दिनों में माटुँगा के पास वैसी ही बस्ती प्रकट हो गई। वहाँ से जला दीजिए तो वह माहीम में नज़र आ जाएगी। ऐसा मालूम होता है जैसे यह बम्बई शहर न हो, एक बहुत बड़ा जिस्म हो, जिसमें विकार भरा है और फोड़े-फुंसियाँ उठते रहते हैं। एक जगह के फोड़े को दवाई लगा कर दबा दीजिए तो दूसरी जगह फोड़ा निकल आएगा।"

एक बदनाम दावत में कुछ बहुत ही अमीर और ऊँचे तबके के लोग शामिल होते हैं। उनके बारे में—"ये लोग जो बीसवीं सदी के परमात्मा थे, पवित्र थे, हर महफ़िल में पूजे जाते थे, यहाँ क्यों बैठे थे? इनके पास तो सभी कुछ मौजूद था, फिर यह ज़िन्दगी से और क्या चाहते थे? 'सब कुछ' के बाद 'कुछ और' उसके बाद 'कुछ और'। देवताओ, क्या तुम्हारी हविस कभी नहीं मिटेगी?"

यह उपन्यास १९५६ का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

नागफनी का देश : लेखक—अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या ९२; मूल्य १॥) सजिल्द।

अमृतराय का यह नया लघु उपन्यास एक दीर्घ कहानी के रूप में लिखा गया है। उपन्यास का कथानक शक्तिशाली है। पात्र उसमें कम हैं—केवल चार। उनमें भी प्रमुख तीन ही हैं: रनजीत, बेला और श्रीकान्त। चौथा पात्र, मदालसा तो जैसे कथानक का क्लाइमैक्स सुनाने भर के लिए आती है। एक बहुत सजीव मनोवैज्ञानिक समस्या अमृतराय ने अपने इस लघु उपन्यास में ली है और उसका प्रभावशाली चित्रण किया है। कथानक में पकड़ है और चित्रण साफ़ सुथरा है। समस्या का कोई हल अमृतराय ने नहीं दिया। वह उनका उद्देश्य भी नहीं था। श्रीकान्त हमारे नए समाज का एक टाइप है, उसी का चित्रण भर 'नागफनी का देश' में किया गया है। मेरी राय से यदि अमृतराय इसी कथानक में कुछ और घटनाओं का समावेश कर उक्त तीनों या चारों पात्रों को और अधिक सजीव और स्पष्ट बनाने का प्रयत्न करते तो उपन्यास और भी अधिक सप्राण और मनोरंजक बन जाता। अपने वर्तमान रूप में कहीं-कहीं तो यह उपन्यास के संक्षिप्त नोट-सा प्रतीत होने लगता है। उपन्यास का अन्त चाहे कितना ही नाटकीय हो, पर वह बहुत स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

मुगलकालीन भारत : लेखक—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा; पृष्ठ संख्या (रायल अठपेजी) ६८०; मूल्य १०) सजिल्द।

मुगलकालीन भारत का यह इतिहास सन् १५२६ से लेकर १८०३ तक का उत्तर भारत का इतिहास है और स्वभावतः मराठा काल भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित है। पुस्तक विशेषतः बी० ए०, एम० ए० के विद्यार्थियों तथा प्रादेशिक और भारतीय (लेखक ने यहाँ 'यूनियन' के लिए 'संघ' शब्द का प्रयोग किया है, जो विवादास्पद है) प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए लिखी है। पुस्तक में कुल १४ अध्याय हैं, जिनमें मुगल सम्राटों पर १० अध्यायों के अतिरिक्त १ अध्याय मराठों के अभ्युदय के सम्बन्ध में तथा ३ अध्याय क्रमशः मुगलकालीन शासन-व्यवस्था, समाज और संस्कृति तथा मुगल साम्राज्य की सफलताओं और विफलताओं के सम्बन्ध में हैं। पुस्तक की भाषा सरल और शैली मनोरंजक है। छपाई, सफाई भी सुन्दर है। पर इस पुस्तक में जितने मानचित्र दिए गए हैं, सब अंग्रेज़ी में हैं, जो स्पष्टतः लेखक की एक अंग्रेज़ी रचना से लिए गए हैं। पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए भी मानचित्रों को हिन्दी में न दे सकना प्रशंसनीय नहीं है। यों जिस उद्देश्य से लेखक ने यह पुस्तक लिखी है, उसमें उन्हें यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है।

विलेज पंचायत्स इन इण्डिया : लेखक—हर्षदेव मालवीय; प्रस्तावना लेखक—जवाहरलाल नेहरू; भूमिका लेखक—यू० एन० ढेबर; प्रकाशक—आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या बड़े आकार के ८८४; मूल्य १२) रु० ।

भारतीय ग्राम पंचायतों के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी का यह ग्रन्थ विशाल अध्ययन के बाद अत्यन्त परिश्रम से लिखा गया है। विश्व के प्राचीनतम ग्राम संगठनों से लेकर भारतीय ग्राम पंचायतों के वर्तमान संगठन तथा कार्यक्षेत्र तक के सम्बन्ध में यथेष्ट और प्रामाणिक सामग्री इस ग्रन्थ में दी गई है। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर अब तक भारतीय ग्राम संस्थाओं का जिस प्रकार विकास, ह्रास और पुनः विकास हुआ, इस सब की कहानी मनोरंजक रूप में लेखक ने लिखी है। इस ग्रन्थ के लिखने में लगभग ५०० ग्रन्थों से सहायता ली गई है। ग्राम पंचायतों के सम्बन्ध में राज्यों के क्रम से सभी तरह की जानकारी तथा आवश्यक गणनाएँ एकत्र की गई हैं और सब मिला कर यह ग्रन्थ अपने विषय का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया है। इस अध्यवसाय के लिए श्री हर्षदेव मालवीय साधुवाद और बधाई के पात्र हैं। वर्तमान भारत में पंचायतों का जो असाधारण महत्त्व है, उसे ध्यान में रख कर हम आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ का अनुवाद न केवल हिन्दी में, अपितु सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाएगा।

धम्मपद : अनुवादक—प्रो० इन्द्र; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या २१६; मूल्य ३) सजिल्द ।

बौद्ध साहित्य में 'धम्मपद' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह स्थान लगभग उसी प्रकार का है, जो स्थान हिन्दू-साहित्य में 'भगवद्गीता' का है। गत वर्ष २५००वीं बुद्ध जयन्ती के अवसर पर हिन्दी के कितने ही श्रेष्ठ प्रकाशकों का ध्यान बौद्ध-साहित्य के हिन्दी अनुवाद की ओर गया है। 'धम्मपद' का यह गद्यानुवाद मूल श्लोकों के सामने दिया गया है। सम संख्या पृष्ठों पर 'धम्मपद' के मूल श्लोक हैं और विषम संख्या पृष्ठों पर उनके अनुवाद। पाठकों के लिए यह ढंग विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। अनुवाद प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ और प्रामाणिक है। पुस्तक की छपाई-सफाई आदि बहुत सुन्दर है।

यात्री : लेखक—खलील जिब्रान; अनुवादक—माईदयाल जैन; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या ६६; मूल्य २) सजिल्द ।

विश्व प्रसिद्ध लेखक खलील जिब्रान की 'वाण्डरर' नामक रचना का यह हिन्दी अनुवाद, हमें आशा है कि हिन्दी जगत में यथेष्ट लोकप्रिय सिद्ध होगा। खलील जिब्रान एक बहुत बड़े विचारक, सन्त और कलाकार थे। उनकी छोटी-छोटी कहानियाँ अत्यन्त अर्थपूर्ण होने के साथ ही साथ हृदय को छूने वाली हैं। अनुवाद में यथेष्ट प्रवाह है।

हिन्दी गद्य का विकास : लेखक—यज्ञदत्त शर्मा; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या १४३; मूल्य २) सजिल्द ।

यह पुस्तक स्पष्टतः छात्रों के उपयोग के लिए लिखी गई है। पुस्तक की छपाई, सफाई सुन्दर होते हुए भी उसका स्तर अत्यन्त साधारण है। पुस्तक की भूमिका में, जिसे लेखक ने 'पुस्तक से पूर्व' नाम से ११ पृष्ठों में लिखा है, न केवल हिन्दी गद्य के विकास से असम्बद्ध बातों की चर्चा है, अपितु उसमें विचारों की उलझन भी स्पष्ट है। जब पुस्तक का नाम ही 'हिन्दी गद्य का विकास' है तो प्रत्येक अध्याय के विषय के साथ '.........का विकास' लिखने की क्या आवश्यकता थी?

एटम : लेखिका—मार्गरेट ओ० हाइड; अनुवादक—बालकृष्ण; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या १८६; मूल्य ३)।

श्रीमती हाइड की इस रचना में एटम शक्ति के वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के साथ-साथ शान्तिमय कार्यों में उसके उपयोग के सम्बन्ध में उपयोगी प्रकाश डाला गया है। सर्वसाधारण पाठकों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी, क्योंकि इसमें जितनी बातें कही गई हैं, खूब समझा कर कही गई हैं। अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। श्रेष्ठ चित्रकार क्लिफ़र्ड ग्रेयरी के चित्रों ने इस पुस्तक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ा दिया है।

साहित्य में तथ्य तथा सत्य : संग्रहकर्ता—अरुण; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या २००; मूल्य ३) सजिल्द ।

इस पुस्तक में साहित्यिक सुभाषितों का संग्रह है, पर नाम से यह कोई समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रतीत होता है। संग्रह अत्यन्त साधारण है और उसमें संगृहीत अधिकांश बातों को 'तथ्य' या 'सत्य' नहीं कहा जा सकता। अप्टन सिंक्लेयर के 'क्राई फ़ार जस्टिस' का पूर्ण अथवा उसके कुछ अंश का अनुवाद ही यदि प्रकाशित किया जा सकता तो वह कहीं अधिक अच्छा होता। सुभाषितों का स्रोत न देने से उनका महत्त्व और भी कम हो गया है और संग्रह में जो चित्र दिए गए हैं, वे इतने घटिया दर्जे के हैं कि उन्हें न देना कहीं अधिक अच्छा होता।

हिन्दी गद्य : लेखक—चन्द्रकान्त बाली; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ सं० ११२; मूल्य १॥) सजिल्द ।

हिन्दी गद्य सम्बन्धी यह पुस्तिका भी छात्रों के लिए लिखी गई है। हिन्दी गद्य की इस संक्षिप्त विवेचना में यद्यपि कोई विशेष मौलिक तत्त्व नहीं है, तथापि जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है, उसमें लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक निस्सन्देह उपयोगी सिद्ध होगी।

समय की प्रगति : लेखिका—कैथेराइन बी० शिपमैन; अनुवादक—हंसराज रहबर; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संज़, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या ११६; मूल्य २।) सजिल्द ।

श्रीमती शिपमैन द्वारा लिखित यह लघु पुस्तक संयुक्त राज्य अमेरिका के औद्योगीकरण के एक पहलू की मनोरंजक कहानी है। किस तरह अमेरिका में मशीनों का राज्य कायम हुआ, इस पर इस पुस्तिका में उपयोगी प्रकाश डाला गया है। अनुवाद की भाषा सरल है, पर गठन की दृष्टि से वह अभी और अच्छी हो सकती थी।

आधुनिक विज्ञान और आधुनिक मानव : लेखक—जेम्स बी० कानेण्ट; अनुवादक और प्रकाशक—उपर्युक्त; पृष्ठ संख्या ६०; मूल्य २) सजिल्द ।

इस पुस्तिका में डा० जेम्स कानेण्ट के चार भाषणों का संग्रह है, जो उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दिए थे । इन चारों भाषणों के विषय हैं—पिछले दस वर्षों में विज्ञान, विज्ञान की परिवर्तनशील स्थिति, विज्ञान और मानव चरित्र तथा विज्ञान और आध्यात्मिक मूल्य । अनुवाद बोझल नहीं है पर भाषणों के विज्ञान सम्बन्धी अंशों का अनुवाद पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है ।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

●

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : लेखक—डॉ० नगेन्द्र; प्रकाशक—ओरिएण्टल बुकडिपो, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ४६४; ऑक्टेवो साइज़; मूल्य १०) सजिल्द ।

शुक्ल जी के बाद जिन चार-छै हिन्दी आलोचकों के नाम लिए जा सकते हैं उनमें डा० नगेन्द्र का स्थान अन्यतम है । उन्होंने मुख्यतः वर्तमान हिन्दी लेखकों, विशेषतः कवियों का, जहाँ-तहाँ मूल्याङ्कन किया है (जैसे 'साकेत', 'सुमित्रानन्दन पंत' आदि का), विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं ('विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' आदि में), और इधर अनेक काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी प्राचीन पुस्तकों का सम्पादन किया है । डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकालीन कवि देव पर एक बड़ा प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनका रीतिकालीन तथा वर्तमान हिन्दी काव्य पर समान अधिकार है । इधर उनकी अभिरुचि काव्यशास्त्र की ओर बढ़ रही है जिसका एक महत्त्वपूर्ण फल आलोच्य ग्रन्थ है । प्रस्तुत ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' का दूसरा भाग है जिसमें रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों का तुलनात्मक 'स्पिरिट' में विशद विवेचन किया गया है । रस, ध्वनि तथा अलङ्कार-सिद्धान्तों का विवेचन प्रथम भाग में रहेगा, ऐसी सूचना दी गई है ।

आधुनिक हिन्दी के कुछ लेखक और आलोचक भी प्राचीन साहित्यशास्त्र को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं । इस मनोभाव को प्रसार देने का दायित्व कुछ हद तक छायावादी कवियों पर है, जिन्होंने रीतिकालीन काव्य को ख़ासतौर से अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया । प्रगतिवादी लेखक-समीक्षक तो प्रायः परम्परा का विरोध करते ही हैं । आधुनिक प्रयोगवादियों की दृष्टि में भी परम्परागत साहित्य एवं साहित्यशास्त्र विशेष महत्त्व रखते नहीं दीखते । सब प्रकार के लेखकों से क्षमा माँगते हुए हम यह कहने का साहस करते हैं कि परम्परा के प्रति इस प्रकार की मनोवृत्ति आधुनिक हिन्दी साहित्य की अप्रौढ़ बौद्धिक स्थिति की द्योतक है । बीसवीं सदी के प्रसिद्ध यूरोपीय लेखकों तथा समीक्षकों की प्राचीन 'क्लासिक्स' से सम्बन्धित दृष्टि इस प्रकार की नहीं है । इलियट आदि लेखक-समीक्षकों ने प्राचीन कवियों के पुनर्मूल्यांकन के जो प्रयत्न किए हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि वे लोग 'क्लासिक्स' के महत्त्व के प्रति अजागरूक नहीं हैं । हमें प्रसन्नता है कि हिन्दी समीक्षकों में डॉ० नगेन्द्र प्राचीन साहित्यशास्त्र के महत्त्व को उचित रूप में समझते हैं ।

डॉ० नगेन्द्र की इस स्थिति का विशेष कारण है । वे मूलतः रस-वादी, सौष्ठववादी अथवा आनन्दवादी समीक्षक हैं । उनके अनुसार काव्य-साहित्य का प्रधान लक्ष्य आनन्द देना है; वहाँ सामाजिक उद्देश्य गौण होता है । बिहारी की 'सतसई' एवं कालिदास के 'मेघदूत' जैसी कृतियों में किसी सामाजिक प्रयोजन को पाना कठिन है । प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने भले ही यह कह दिया हो कि काव्य-साहित्य का एक उद्देश्य कान्ता-सम्मित उपदेश देना भी होता है, किन्तु उन्होंने लेखकों को कभी यह सिखाने का दावा नहीं किया कि वे लोगों को क्या उपदेश दें । संक्षेप में, जीवन-दर्शन के प्रश्न में प्राचीन साहित्य-समीक्षकों की रुचि नहीं थी । कृति-विशेष की समीक्षा करते हुए वे उसमें मुख्यतः रसात्मकता एवं अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता की खोज करते थे; लेखक के जीवन-दर्शन के विषय में कोई राय नहीं देते थे । उनके विश्लेषण और परिभाषा का विषय भी वे तत्त्व थे जो अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता का उपादान होते हैं । प्राचीन काल में लेखकों से जीवन-दर्शन तथा 'संदेश' की कभी सीधे माँग नहीं की जाती थी । यह रोग बीसवीं सदी के समीक्षकों को ही लगा है । इसका कारण है, हमारे युग में जीवन-सम्बन्धी मूल्यों की डाँवाडोल स्थिति ।

प्राचीन काल के लेखक किसी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं देते थे, ऐसी बात नहीं । कालिदास जैसे लेखकों की कृतियों में तत्कालीन भारतीय समाज का प्रायः समस्त जीवन-दर्शन प्रतिफलित हो गया है । किन्तु प्राचीन लेखक अपना जीवन-दर्शन मान्यता प्राप्त दार्शनिकों एवं धर्म-शिक्षकों तथा जन-जीवन की अभिव्यक्तियों से लेते थे । आज के लेखक के लिए इस प्रकार किसी दूसरे स्रोत से जीवन-दर्शन लेना कठिन हो गया है; इसीलिए आलोचक लोग स्वयं उनके जीवन-दर्शन को खोजने और पाने का प्रयत्न करते हैं ।

किन्तु जीवन-दर्शन के अन्वेषण की झोंक में ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि किसी लेखक के महत्त्व का कारण विशिष्ट जीवन-दर्शन नहीं, अपितु उस दर्शन की अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता का धरातल होता है । किसी भी लेखक के इस धरातल को आँकने में प्राचीन साहित्यशास्त्र निःसन्देह सहायक हो सकता है । बात यह है कि भारतीय साहित्यशास्त्र का निर्माण उस समुन्नत युग तथा जाति में हुआ था जो साहित्य-सृष्टि के क्षेत्र में प्रौढ़तम प्रयोग करने की क्षमता रखती थी । किसी देश या युग में प्रायः सृजनात्मक साहित्य एवं समीक्षात्मक साहित्य के धरातल समान ही होते हैं । प्राचीन भारतीय विचारक उच्चकोटि के साहित्यिक सिद्धान्तों का अन्वेषण कर सके, इसका प्रधान कारण यह था कि उनके सामने उच्चतम साहित्य के निदर्शन मौजूद थे, जिनके अध्ययन द्वारा उनकी रुचि का निर्माण एवं विकास होता था ।

डॉ० नगेन्द्र ने रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है । हिन्दी में इन सिद्धान्तों पर किसी दूसरे समीक्षक ने इतने विस्तार से लिखा है, यह हमें मालूम नहीं ।

शुक्ल जी मुख्यतः रसवाद के समर्थक थे, उन्होंने रीति-सिद्धान्त, अलङ्कार-सम्प्रदाय, एवं वक्रोक्तिवाद के साथ न्याय नहीं किया है। डॉ० नगेन्द्र रस एवं ध्वनि के सम्प्रदायों को ज़्यादा महत्त्व देते हैं; फिर भी वे वक्रोक्ति तथा रीति-सिद्धान्तों को काफी सहानुभूति दे सके हैं। वक्रोक्ति-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उन्होंने शुक्ल जी का भी विरोध किया है, जो उपयुक्त है। साथ ही उन्होंने निरूपित सिद्धान्तों की, मुख्यतः रस एवं ध्वनिवाद की दृष्टियों से, आलोचना भी की है। यह आलोचना प्रायः विश्वसनीय हो सकी है। उदाहरण के लिए उन्होंने वामन के इस मत की समीक्षा की है कि अर्थगुण और शब्दगुण अलग-अलग होते हैं। उन्होंने मम्मट के इस मत से सहमति प्रकट की है कि, अन्तिम विश्लेषण में, तथाकथित काव्यगुण चित्त की अवस्था रूप होते हैं। गुण, चित्तवृत्ति तथा रस के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर आलोच्य पुस्तक में गहरा विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचनों से पाठकों की चिन्तन-शक्ति का विकास होना चाहिए।

डॉ० नगेन्द्र ने कुछ अध्यायों में पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। इन अध्यायों की उपादेयता के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। वस्तुतः डॉ० नगेन्द्र ने एक पुस्तक के कलेवर में बहुत सी उपयोगी सामग्री के संनिवेश का प्रयत्न किया है। इससे पुस्तक उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अवश्य ही विशेष उपयोगी हो गई है, किन्तु उसमें नगेन्द्र का अपना विचारक रूप बहुत नहीं निखर पाया है। वैसा उस दशा में होता जब वे निरूपित सिद्धान्तों के चुने हुए पहलुओं की अधिक विस्तृत एवं अन्तरंग परीक्षा करते। आलोच्य कृति में लेखक का मुख्य उद्देश्य सहानुभूतिपूर्ण प्रतिपादन ही रहा है, और इस उद्देश्य में वह सफल हैं।

पृष्ठ १६ पर हम पढ़ते हैं—"आधुनिक काव्यशास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन माने गए हैं", इत्यादि। हमारा निवेदन है कि इस प्रकार के संकेत अन्वेषक पाण्डित्य की उच्चतम कसौटी पर खरे नहीं उतरते। विभिन्न मतों के संकेत अधिक विशिष्ट (स्पेसिफिक) होने चाहिएँ। इसी प्रकार पृष्ठ ४४ पर निम्न वक्तव्य है—"यूरोप के साहित्य में भी कुन्तक का ही मत मान्य है।" हमारी समझ में भारतीय दर्शन एवं भारतीय साहित्य शास्त्र की भाँति यूरोपीय दर्शन अथवा साहित्यशास्त्र की चर्चा करना भी शिथिल चिन्तन एवं पाण्डित्य को प्रोत्साहन देना है। भारत तथा यूरोप दोनों जगह अनेक तथा विविध दार्शनिक एवं दूसरी कोटियों की चिन्तन-प्रवृत्तियाँ रही हैं, जिन्हें एक सामान्य नाम देकर संकेतित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर आलोच्य ग्रन्थ साहित्य एवं साहित्यशास्त्र के प्रेमियों के लिए एक मूल्यवान उपहार है।

—देवराज

●

अनाहूत : लेखक—योगेन्द्रप्रसाद चौधरी; प्रकाशक—योगेन्द्रप्रसाद चौधरी रघुनाथपुर, मानभूम; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य सजिल्द १॥)।

इसमें श्री चौधरी की ४९ कविताएँ संग्रहीत हैं। यह उनका पहला काव्य-संग्रह है। कुछ गीत भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कई कविताएँ हृदय को छू लेती हैं। हम कवि से आगे और भी आशा रखते हैं।

पश्चिमा : लेखक—प्रभुदयाल अग्निहोत्री; प्रकाशक—प्रेमा पुस्तक माला, ६१३ सुभद्रानगर, जबलपुर (म० प्र०); पृष्ठ संख्या ११४; मूल्य १॥)।

यह कवि का तीसरा संग्रह है, जिसमें उन्होंने कुछ कविताएँ नई कविता के ढंग पर भी लिखी हैं। पर ऐसा मालूम होता है कि नई शैली उनको उतनी फली नहीं।

ज्ञानदेव चिन्तनिका : लेखक—विनोबा; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ संख्या १२८; मूल्य बारह आना।

यह श्री विनोबा द्वारा प्रस्तुत प्रसिद्ध मराठी सन्त ज्ञानदेव के भजनों का एक संस्करण है, जो करीब-करीब एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। वे स्वयं ही लिखते हैं कि ज्ञानदेव की एक कविता को रख कर उनके मन में जब जैसी भावना उत्पन्न हुई, उसे बिना झिझक के लिख दिया।

सामाजिक क्रान्ति और भूदान : लेखक—जे० बी० कृपलानी; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ संख्या ७१; मूल्य पाँच आना।

इस पुस्तिका को भूदान पर एक प्रामाणिक विवेचन कहा जा सकता है। लेखक ने इसमें मार्क्सवाद की तुलना में गांधीवाद की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। वे भूदान को गांधीवाद का ही एक उप-सिद्धान्त मानते हैं। वे लिखते हैं कि "उनको और उनके साथियों को विश्वास हो गया है कि हिन्दुस्तान के आर्थिक स्वास्थ्य की प्रधान समस्या भूमि का सवाल है। इसके हल होने पर बाकी सब सवाल हल हो जाएँगे, या कम-से-कम उनका हल होना आसान हो जाएगा। सब जानते हैं कि गांधी जी ने यह मान लिया था और उनके साथ-साथ हम सबने मान लिया था कि देश की आर्थिक पुनर्रचना का खास आधार चरखा ही हो सकता है। उसी तरह विनोबा की और दूसरों की भी यह धारणा है कि जब तक भूमि का ठीक से बँटवारा नहीं होता और यह सवाल हल नहीं किया जाता, तब तक बाकी दूसरे सवाल—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक-हल हो ही नहीं सकते। इसी एक सवाल के चारों तरफ गाँव-पुनर्रचना, खादी और ग्रामोद्योग आदि के फूलने-फलने का पूरा कार्यक्रम उन्होंने बना लिया है। यही नहीं, बल्कि वह यहाँ तक कहते हैं कि अगर उनके इस तरीके से भूमि का सवाल हल नहीं होता है, तो खूनी क्रान्ति होकर रहेगी, जिससे हर हालत में बचना ही चाहिए।"

महात्मा गांधी : लेखक—रामगोपाल सिंह; प्रकाशक—कैलास प्रकाशन, आगरा; पृष्ठ संख्या ४४; मूल्य नौ आने।

यह पुस्तिका बालकों के लिए लिखी गई है। इस दृष्टि में इसमें कुछ चित्र अवश्य होने चाहिए थे।

गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन, लेखक—जे० बी० कृपलानी, प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ संख्या ६९; मूल्य आठ आना।

महात्मा जी के एक प्रमुख साथी तथा शिष्य होने के नाते लेखक की लिखी हुई यह पुस्तक बहुत ही मूल्यवान है। वे विशेष कड़वेपन के साथ लिखते हैं कि भारत के नेता गांधी जी के रास्ते पर नहीं चल सके।

"१९४५ में नेताओं की रिहाई और युद्ध की समाप्ति के बाद भारतीय समस्या के हल के लिए ब्रिटेन ने कष्टदायक वार्ताएँ शुरू कीं, गांधी जी ने इन वार्ताओं में उस हद तक संतुलन बनाए रखने की कोशिश की, जहाँ तक कांग्रेस के नेताओं ने उन्हें माना। किन्तु खेद के साथ यह मानना पड़ता है कि कांग्रेस के नेताओं पर उनका प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जा रहा था। मेरा उद्देश्य ब्रिटेन की कूटनीति के उस अन्तिम खेल का विस्तृत विश्लेषण करना नहीं, जिसमें उन्होंने भारत के दो टुकड़े कर दिए और हमें कुछ अंशों में एक तरह की आजादी दे दी। यह कार्य तो भविष्य का इतिहासकार ही अच्छी तरह कर सकता है बशर्ते कि वह इन उलझी गुत्थियों को अच्छी तरह समझ सके। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि यदि समझौते का अन्तिम चरण भी गांधी जी के नेतृत्व में हुआ होता—इन अन्तिम वार्ताओं में गांधी जी प्रायः अनुपस्थित रहते थे—या समझौते के बाद भी यदि नेताओं ने उनकी सलाह मानी होती और उनके परामर्श के बिना उठाए अपने कदम वापस ले लिए होते, तो पिछले ३ वर्षों में देश ने जो यातनाएँ भोगी हैं, उनसे देश को बचाया जा सकता था। भविष्य की उन पीढ़ियों को भी वे कष्ट न उठाने पड़ते, जिनका आभास आज से ही मिलने लग गया है।"

इसी प्रकार उन्होंने यह भी लिखा है कि सन् १९४५ में नेताओं की रिहाई के बाद गांधी जी के मुख से लेखक ने कई बार सुना था कि और कुछ करने से पूर्व वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एक युद्ध और करना चाहते थे। गांधी जी यह युद्ध क्यों नहीं कर सके, इसके उत्तर में वे कहते हैं कि—"यह बात तो निर्विवाद है कि उस समय हमने गांधी जी से नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया था। फिर भी उन्होंने हमारे नेतृत्व को चुनौती नहीं दी, उसके सम्मान को कोई ठेस नहीं पहुँचाई, बल्कि वे यही चाहते थे कि भविष्य में नेतृत्व के लिए देश इन्हीं नेताओं की ओर देखे। शायद उन्हें इस बात की शंका थी कि उनके दिन समाप्त हो चले थे।"

आश्चर्य है कि इस सम्बन्ध में गांधी जी के और किसी प्रधान शिष्य ने कुछ नहीं लिखा।

बदलता युग : लेखक—महेन्द्र भटनागर; प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुकडिपो, खजूरी बाजार; इन्दौर (म० भा०); पृष्ठ संख्या १७४; मूल्य १॥)।

महेन्द्र भटनागर नवीन पीढ़ी के कवियों में अच्छी प्रगति कर रहे हैं। कई कविताएँ जैसे "शराबी से" किसी विशेष मौके के लिए लिखी गई मालूम होती हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभी कविताओं में काफी अच्छा स्तर कायम रखा गया है। आशा है तरुण कवि और भी प्रगति करेंगे।

हिंसा का मुकाबला : लेखक—विनोबा; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन; राजघाट, काशी; पृष्ठ संख्या ३२; मूल्य ३ आना।

इस पुस्तिका में हृदय परिवर्तन कैसे होता है, अखिल भारतीय, सेवकत्व खतरे में, हिंसा की चढ़ाई का मुकाबला कैसे करें, शस्त्र त्याग की शक्ति, ये चार प्रवचन संग्रहीत हैं।

आगे देश बढ़ाओ : लेखक—भीष्मसिंह चौहान; प्रकाशक—नारायण प्रकाशन; सागोरिया-सदन, महारानी लक्ष्मीबाई रोड, ग्वालियर (म० प्र०); पृष्ठ संख्या ४६; मूल्य बारह आना।

इस पुस्तिका में कई राष्ट्रीय निर्माण के गीत संग्रहीत हैं। इस प्रकार का साहित्य भी अपने स्थान पर बहुत ज़रूरी है।

पूर्व-बुनियादी : लेखिका—शान्ता नारूलकर; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी; पृष्ठ संख्या १०१; मूल्य आठ आना।

इस पुस्तिका में छोटे बच्चों की तालीम के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर लिखा गया है। इसी को लेखिका पूर्व-बुनियादी तालीम कहती हैं। लेखिका को इस सम्बन्ध में अच्छा अनुभव मालूम होता है। इसलिए उनकी पुस्तक उपयोगी है।

विचार और अध्ययन : लेखक—सियारामशरण प्रसाद; प्रकाशक—निर्माण प्रकाशन, मोतीझील, मुजफ्फरपुर (बिहार); पृष्ठ संख्या ११८; मूल्य २॥)।

इस पुस्तक में विद्यापति, तुलसी, मीरा, पन्त, महादेवी, जानकीवल्लभ शास्त्री, सूरदास, राधिकारमणसिंह इत्यादि पर एक-एक लेख के अतिरिक्त रामकुमार वर्मा, कामायनी, अहल्याबाई पर एक-एक लघु लेख है। जब लेखक ने इस पुस्तक में श्री रामकुमार वर्मा पर एक सुबृहत लेख को स्थान दिया है, तो उन्हें इसकी भूमिका रामकुमार वर्मा से नहीं लिखानी चाहिए थी ऐसा मेरा विनम्र सुझाव है। राजा राधिकारमणसिंह पर जो लेख लिखा गया है, वह भी बड़ा असन्तोषजनक है, क्योंकि उसमें केवल राजा साहब के तीन पत्रों को उद्धृत करके अनमने ढंग से कुछ शब्द कह दिए गए हैं।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्था : लेखक—नरेन्द्रनाथ कौल; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; बम्बई; इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १८१; मूल्य ३।)।

इस पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्था पर सारे ज्ञातव्य विषय दे दिए गए हैं। यह एक उपयोगी प्रकाशन है।

नई चेतना : लेखक—महेन्द्र भटनागर; प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस प्राइवेट लि०, पटना–४; पृष्ठ संख्या ९३; मूल्य २)।

श्री भटनागर जी की यह कविताएँ ध्यान से पढ़ी जाएँगी, क्योंकि वे अब प्रगतिशील कवि मात्र कहलाने से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि "मेरी कविताएँ मात्र साम्यवाद की श्रेणी में नहीं आतीं। इससे उस वर्ग की मात्र सहानुभूति ही मुझे मिलती है और साम्यवादी

वर्ग के विरोधी साहित्यकारों की उपेक्षा। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब हमारे आलोचक भ्रांत धारणाओं से मुक्त नई हिन्दी-कविता का यथार्थ मूल्यांकन करेंगे। आलोचकों से बड़ा वर्ग पाठकों का है।"

यदि भटनागर जी प्रगतिवादी कहलाने से सन्तुष्ट नहीं हैं तो उनकी बात कुछ हद तक समझ में आती है, क्योंकि अब भी बहुत से लोगों में प्रगतिवाद एक दल विशेष का साहित्य समझा जाता है, जबकि वह ऐसा नहीं है। कई कविताएँ सुन्दर हैं।

लोकमान्य तिलक : (जीवन चरित्र), लेखक—प्रो० भीमराव गोपाल देशपांडे; प्रकाशक—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृष्ठ संख्या २२२; मूल्य ३)।

यह खुशी की बात है कि इधर हिन्दी में लोकमान्य तिलक की कई जीवनियाँ निकली हैं। इतिहासकारों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने समय के लोगों को ही अत्यधिक महत्त्व देते हैं। असल में किसी व्यक्ति या कृति का असली मूल्य तभी मालूम होता है, जब वह अपने काल के बाद भी जीवित रहे। दुख की बात है कि लोकमान्य तिलक के बाद ही भारत को एक के बाद एक कई महापुरुष हुए, जिन्होंने एक ऐसी विचारधारा चला दी, जिसे लोकमान्य तिलक की कर्मयोग सम्बन्धी विचारधारा के विरुद्ध करके पेश किया गया। फिर भी लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व इतना बड़ा था कि अब वह हमारे सामने गौरव के साथ आ रहा है। मेरी तो यह राय है कि लोकमान्य तिलक की सारी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत नई रोशनी पड़ेगी।

सच्ची शिक्षा : लेखक—गांधी जी; प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या; ३१८; मूल्य २)।

शिक्षा के सम्बन्ध में गांधी जी के विभिन्न लेखों, वक्तव्यों तथा भेटों के विवरणों का संग्रह किया गया है। शिक्षा के सम्बन्ध में गांधी जी के विचारों में जो परिवर्तन होते रहे, वे भी इस संग्रह से स्पष्ट हो जाते हैं।

उपनिषदों का अध्ययन : लेखक—विनोबा; प्रकाशक; सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या १०८; मूल्य १)।

इस पुस्तक में उपनिषदों के सम्बन्ध में विनोबा जी के चार लेख संग्रहीत हैं, जो इन विषयों के अध्ययन करने वालों के लिए बहुत रुचिकर होंगे।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

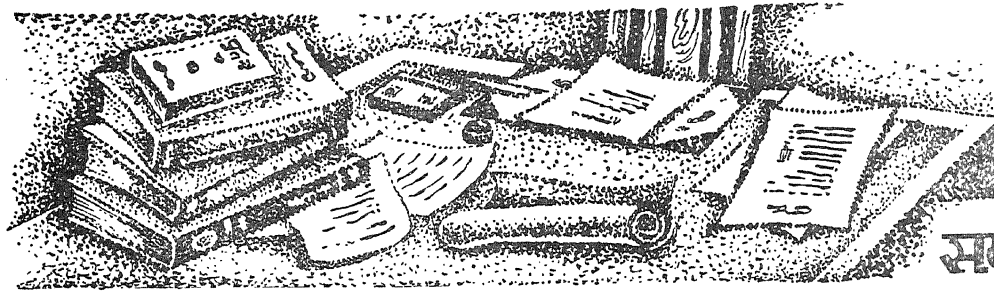
काव्य और कवि : लेखक—श्री विश्वमोहन कुमार सिंह; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स), प्राइवेट लि०, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १८६ ; मूल्य २) रु०।

'काव्य और कवि' में श्री विश्वमोहन कुमार सिंह ने ७३ पृष्ठों में काव्य सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किए हैं और शेष पृष्ठों में प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी और दिनकर के सम्बन्ध में आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस सब सामग्री के आधार पर पुस्तक का नामकरण 'काव्य और कवि' हुआ है। यह नाम कुछ भ्रामक लग सकता है। आवरण पृष्ठ को देख कर इस पुस्तक को पढ़ने के इच्छुक पाठकों को यह आशा करना स्वाभाविक है कि इसमें हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख कवियों के विषय में कुछ न कुछ पढ़ने को मिलेगा। अस्तु!

विद्वान आलोचक ने काव्य विषयक अपने विचारों को काफी विस्तार से व्यक्त किया है। परन्तु पूरा निबन्ध पढ़ जाने के बाद मैंने इसमें काव्य-विवेचना सम्बन्धी कोई नई बात नहीं पाई। इसमें लेखक की विद्वत्ता और बहुज्ञता तो प्रकट हुई है। उसकी तर्कशक्ति और अपनी बात को सिद्ध करने की क्षमता भी अच्छे रूप में प्रकट हुई है। परन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और सद्गुरुशरण अवस्थी जैसे गम्भीर आलोचकों ने काव्य विषयक जो विचार व्यक्त किए हैं, उनसे आगे की बात तो दूर, उनके समकक्ष भी इस निबन्ध को नहीं रखा जा सकता। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि आलोचक ने काव्य विषयक एक धारणा बना ली है (जो नई किसी भी रूप में नहीं है) और फिर जैसे भी हो, उस धारणा की पुष्टि में तर्क प्रस्तुत करता गया है। कोई धारणा बना लेना ग़लत बात नहीं है, परन्तु उस धारणा की गम्भीरता और तात्त्विकता के विषय में पाठकों को पूर्णतः सन्तुष्ट कर देना पहली आवश्यकता होती है। विश्वमोहन कुमार सिंह जी ने काव्य के विषय में कम कहा है, चित्रकला, संगीत, दर्शन, सत्यं-शिवं-सुन्दरं, अध्यात्म—इन पर अपनी विद्वता का प्रकाश अधिक फेंका है। फल यह हुआ है कि निबन्ध शिथिल हो गया है। अवान्तर वर्णन और पुनरावृत्ति भी बहुत है। काव्य की श्रेष्ठता सिद्ध करने की धुन में विद्वान लेखक यह भूल जाता है कि उसने एक ही पैरे में ऊपर क्या कहा है और नीचे क्या? पृष्ठ ८ पर वह कहता है, "व्यापकता की दृष्टि से संगीत, काव्य और चित्रकला दोनों ही को मात करता है।" पैरे की समाप्ति पर संगीत के विषय में वह कहता है, "यह काव्य की विस्तीर्णता को नहीं पा सकता।" इसी प्रकार लेखक का यह कहना कि "चित्रकार आदि से अन्त तक अपनी आँखों की सहायता लेता है।"—केवल आंशिक सत्य है। कोई भी चित्रकार जब तक अपनी कला को अपने हृदय का संयोग नहीं प्रदान करता, चित्रकार कहलाने योग्य नहीं।

इसी प्रकार के अपरिपक्व वाक्य इस लेख में अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं। जैसे पृष्ठ २० पर—"वह (कवि) हमारे जीवन के सूक्ष्म और स्थूल दोनों अवयवों को साधारण स्तर से ऊपर उठाने की चेष्ठा करता है। ऐसी अमोघ शक्ति न तो चित्रकला के पास है, न तो संगीत के पास।" अथवा पृष्ठ २२ पर—"काल्पनिक सत्य का मूल्य विवेक सम्मत सत्य से कहीं अधिक है।" अथवा पृष्ठ २७ पर—"विज्ञान के हज़ार नाप-जोख करने पर भी सृष्टि आज उतनी ही रहस्यमयी है, जितनी पहले थी।" ये सभी ऐसे वाक्य हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि विद्वान लेखक ने अपने शब्दों और अपने कथन को विवेक और चिन्तन के प्रकाश में भली भाँति परखने का प्रयास नहीं किया है।

(शेष पृष्ठ ६८ पर)



भारत का अविभाज्य अंग : काश्मीर

गत २६ जनवरी को जम्मू और काश्मीर राज्य की संविधान सभा अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य समाप्त कर बरख़ास्त हो गई और इस तरह सदा के समान अब जम्मू और काश्मीर राज्य भारत का अविभाज्य अंग बना रहेगा। अक्तूबर १९४७ में महाराजा काश्मीर के आवेदन पर जम्मू और काश्मीर की पुरानी रियासत को भारत का अंग स्वीकार किया गया था। अब इस सम्बन्ध में जम्मू और काश्मीर का जनमत भी प्राप्त हो गया है, क्योंकि जम्मू और काश्मीर की संविधान सभा बालिग मताधिकार के आधार पर चुनी गई थी और उक्त चुनाव इसी बात पर किया गया था। इस तरह उक्त संविधान सभा का निश्चय जम्मू और काश्मीर की जनता का निश्चय है।

अक्तूबर १९४७ में जब महाराजा काश्मीर के अनुरोध पर जम्मू और काश्मीर को भारत में सम्मिलित किया गया था, भारत की ओर से घोषणा की गई थी कि इस सम्बन्ध में भारत जम्मू और काश्मीर के निवासियों की राय जानना और उस पर अमल करना चाहेगा। भारत की ओर से भरसक प्रयत्न किए जाने के बावजूद जिस तरह पाकिस्तान की हरकतों से जम्मू और काश्मीर राज्य में इस विषय पर सीधा लोकमत ले सकना सम्भव नहीं हुआ, वह अब भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास का एक अध्याय बन चुका है। पाकिस्तान ने बिना किसी उत्तेजना के काश्मीर पर आक्रमण किया, पहले इस आक्रमण से इन्कार किया, बाद में जब यह सिद्ध हो गया कि पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर में थीं, तो आक्रमण करने की बात तो स्वीकार कर ली, पर अधिकृत प्रदेश से अपनी सेनाएँ वापस बुला लेने से इन्कार कर दिया। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र का निर्णय भी पाकिस्तान ने स्वीकार नहीं किया। उसके बाद पाकिस्तान ने अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। न सिर्फ़ अपनी राष्ट्रीय आय का बड़ा भाग शस्त्रीकरण पर व्यय करना प्रारम्भ किया, अपितु सच्चे-झूठे वायदे पर विदेशों से भी बहुत बड़ी सैनिक तथा शस्त्रास्त्र सम्बन्धी सहायता पाकिस्तान ने प्राप्त की। अब जब पाकिस्तान के शासकों को यह विश्वास हो गया है कि उनके पास यथेष्ट मात्रा में शस्त्रास्त्र मौजूद हैं, पाकिस्तान में भारत के विरुद्ध गहरी घृणा का व्यापक प्रचार किया जा रहा है। जम्मू और काश्मीर का बहाना बनाकर पाकिस्तान के धर्मान्ध प्रचारक भारत पर आक्रमण करने की बात भी खुले आम करने लगे हैं।

२४ जनवरी को पाकिस्तान के अनुरोध पर सुरक्षा समिति ने काश्मीर के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया, उसके सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री के शब्दों में भारत की स्थिति यह है कि "यह प्रस्ताव इस मामले पर विचार कर पास नहीं किया गया, अपितु जिन राष्ट्रों ने उक्त प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया, उनके सामने कुछ अन्य ऐसे कारण विद्यमान थे, जिनका इस मामले के सत्यासत्य से कोई सम्बन्ध नहीं था।"

यह एक निर्विवाद सत्य है कि जम्मू और काश्मीर को भारत में महाराजा काश्मीर के अनुरोध पर सम्मिलित किया गया, जो तब उक्त राज्य के वैधानिक शासक थे। तभी भारतीय सेनाएँ काश्मीर में गईं। पर पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया और पाकिस्तानी सेनाएँ एक आक्रान्ता के रूप में काश्मीर में प्रविष्ट हुईं और इसी रूप में वे सेनाएँ आज भी वहाँ विद्यमान हैं। भारत ने सुरक्षा परिषद् में यह माँग पेश की कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया है और उसे वहाँ से हटाया जाए। सुरक्षा परिषद् ने यह स्वीकार किया कि पाकिस्तान आक्रान्ता है। सुरक्षा परिषद् ने यह भी माँग की कि पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर से वापस बुला ली जाएँ। पर पाकिस्तान ने उक्त माँग पूरी नहीं की। प्रधान मन्त्री के शब्दों में "काश्मीर में पाकिस्तानी फौजों की विद्यमानता को भारत इसी कारण सहन करता रहा कि वह शान्ति भंग करना नहीं चाहता था।"

पर अपने देश में विदेशी सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति देकर पाकिस्तान ने कुछ महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों को अपना पृष्ठपोषक बना लिया और उसी आधार पर सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का मामला फिर से पेश कर दिया। इस बार पाकिस्तानी प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद् में जितने झूठे आरोप भारत पर लगाए और जितनी निराधार स्थापनाएँ कीं, और उन झूठी स्थापनाओं के बाद भारत के प्रतिनिधि का उत्तर सुने बिना ही पाँच राष्ट्रों ने जिस तरह भारत विरोधी प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् के लिए तैयार किया—वह सब वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक अत्यन्त लज्जाजनक अध्याय है।

सचाई यह है कि

१. काश्मीर की वैध सरकार के अनुरोध पर जम्मू और काश्मीर को भारत का अंग बनाया गया।
२. पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर में आक्रान्ता के रूप में प्रविष्ट हुईं।
३. सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव पर भी पाकिस्तानी आक्रान्ता सेनाओं ने काश्मीर नहीं छोड़ा।

४. सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के सम्बन्ध में पहला आवेदन भारत की ओर से गया था। उस आवेदन के सम्बन्ध में निश्चय किए बिना पाकिस्तान के आवेदन के सम्बन्ध में निर्णय देना तर्कसंगत नहीं है।

५. बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा ने जम्मू और काश्मीर की सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि रूप से काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग बनाना स्वीकार कर लिया।

६. पाकिस्तान में ६ वर्षों में एक भी राष्ट्रीय आम चुनाव नहीं हो पाया, तब भी जम्मू-काश्मीर में जनमत लेने की बात पाकिस्तान कहता है।

७. गत ६ वर्षों में भारत के भाग जम्मू और काश्मीर की चौमुखी उन्नति हुई है, जहाँ पाकिस्तान के अधीन काश्मीर का जो भाग है, वहाँ लगभग स्थायी अकाल के हालात हैं।

८. पाकिस्तान के अधीन काश्मीर से हज़ारों शरणार्थी जम्मू काश्मीर में आए हैं।

९. पाकिस्तान से ४० लाख से ऊपर शरणार्थी भारत में आ चुके हैं, क्योंकि पाकिस्तान में अल्पमत के लोग सम्मानपूर्वक जीवन निर्वाह नहीं कर सकते।

१०. पाकिस्तान का संविधान बनाते हुए जब पाकिस्तानी संविधान-सभा ने जम्मू और काश्मीर को पाकिस्तान का भाग स्वीकार किया, तब किसी तरह का कोई बावेला उन राष्ट्रों की ओर से नहीं मचाया गया, जिन्होंने अब उक्त प्रस्ताव पास किया है।

भारत में आजकल दूसरे आम चुनाव हो रहे हैं। हमारा सम्पूर्ण देश इनमें व्यस्त है। हमारी एक बहुत बड़ी व्यस्तता हमारी दूसरी पंचवर्षीय आयोजना है। भारत के अन्य राज्यों के समान जम्मू और काश्मीर में भी ये चुनाव हो रहे हैं और वहाँ भी पंचवर्षीय योजना यथेष्ट रूप से प्रगति कर रही है। वहाँ हाल ही में भारत का सब से बड़ा टनल बनाया गया है। किसी भी उत्तेजना से हमें विचलित नहीं होना है और दृढ़ता से अपने मार्ग पर बढ़ते चले जाना है। "कुत्ते भौंकते ही रहते हैं, पर काफ़िला आगे बढ़ता जाता है।"

पाकिस्तान की प्रतिक्रिया

सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को जो पहली सफलता प्राप्त हुई, उसकी दो प्रतिक्रियाएँ वहाँ स्पष्ट रूप से देखने में आई। एक तो यह कि पाकिस्तान-भर में भारत विरोधी प्रदर्शन किए गए और उनमें मध्य युग को मात देने वाली हरकतें की गई। भारत के प्रति घृणा फैलाने तथा अपनी ओर से भारत को अधिक से अधिक आघात पहुँचाने के लिए इन आततायी प्रदर्शकों ने भारत के अत्यन्त लोकप्रिय प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व का उजड्डपन-भरा अपमान करने का मूर्खतापूर्ण प्रयत्न किया। कहना न होगा कि ये सब बातें, करने वालों की नीचता और क्षुद्रता का प्रदर्शन करती हैं और उन्हें संसार-भर की निगाह में नीचे गिराती हैं। इससे उनकी उपेक्षा करना ही उचित है।

दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि उक्त सफलता से उत्साहित होकर पाकिस्तान के प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद् में यह माँग उपस्थित की कि जम्मू और काश्मीर में संयुक्त राज्यों की सेनाएँ भेजी जाएँ। इस सम्बन्ध में हमारे प्रधान मन्त्री की घोषणा है कि "हम काश्मीर में विदेशी सेनाओं की उपस्थिति बरदाश्त नहीं करेंगे।"

भारत का यह उत्तर बहुत स्पष्ट, संक्षिप्त और पर्याप्त है।

सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव

मुख्यतः पाकिस्तान की मांगों को आधार बना कर सुरक्षा परिषद् में यह प्रस्ताव पेश किया गया कि स्वीडन के प्रतिनिधि श्री जैरिंग को काश्मीर की समस्या सुलझाने के लिए भारत, पाकिस्तान और काश्मीर में भेजा जाए और १५ अप्रैल तक वह अपनी रिपोर्ट पेश कर दें। इस सम्बन्ध में उन्हें जिन सुझावों पर विचार करना था, उनमें काश्मीर में संयुक्त राष्ट्रों की सेनाएँ भेजने का पाकिस्तानी सुझाव भी था। एक लम्बी बहस के बाद रूस के वीटो के कारण यह सुझाव अस्वीकृत हो गया। इस सम्पूर्ण वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय में संसार की कुछ बड़ी शक्तियों के व्यवहार से भारत को बहुत दुःख पहुँचा है। प्रधान मन्त्री के शब्दों में, "कुछ बड़ी शक्तियों के इस व्यवहार में भारत के प्रति शत्रुता की भावना झलकती है। इन शक्तियों को यह पसन्द नहीं आया कि भारत उन्नति के मार्ग पर बढ़े और साथ ही साथ स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करे।...हम भिखमंगे नहीं हैं और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए, हम अपनी स्वाधीनता को किसी कीमत पर बेचने को तैयार नहीं हैं।" प्रधान मन्त्री ने यह भी कहा—"एक भी विदेशी सैनिक को हम भारत में कदम नहीं रखने देंगे।......यदि कोई देश काश्मीर पर आक्रमण करेगा तो, वह आक्रमण भारत पर होगा।"

२१ फरवरी को सुरक्षा परिषद् के एक नए प्रस्ताव के अनुसार श्री जैरिंग बहुत शीघ्र भारत उपमहाद्वीप में आ रहे हैं और सुरक्षा परिषद् ने उनसे अनुरोध किया है कि वह १५ अप्रैल तक अपनी रिपोर्ट दे दें।

गणराज्य दिवस की झाँकियाँ

जैसा कि हम गत अंक में कह चुके हैं, गणराज्य दिवस राजधानी का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय समारोह है। इस अवसर पर राष्ट्रपति को सैनिक सलामी देने के बाद विभिन्न राज्यों तथा कुछ मन्त्रालयों की ओर से जो झाँकियाँ निकाली जाती हैं, वे स्वभावतः प्रतीकात्मक होती हैं और राष्ट्र-भर का ध्यान अपनी ओर खींचती हैं। हमारा सुझाव है कि इन झाँकियों की वस्तु के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष अन्तिम चुनाव विशेषज्ञों की एक उप-समिति को करना चाहिए। प्रतिवर्ष के लिए २५ विषय चुने जा सकते हैं और वह सूची राज्यों और मन्त्रालयों को भेजी जा सकती है। प्रत्येक राज्य अपनी सुविधानुसार उनमें से एक विषय चुन सकता है। इस तरह की किसी पूर्व-निश्चित योजना के बिना जहाँ इन झाँकियों का पूर्ण प्रतीकात्मक महत्त्व नहीं बन पाता, वहाँ उनमें नवीनता भी नहीं आ पाती।

हमारी यह भी राय है कि इन झाँकियों के विषयों में अधिक से अधिक विविधता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ झाँकियाँ ऋतुओं के आधार पर बनाई जा सकती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर और हेमन्त—इन झाँकियों के बहुत सुन्दर विषय हैं। कुछ झाँकियाँ सुप्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थों के आधार पर बनानी चाहिएँ और कुछ विभिन्न त्यौहारों और समारोहों के आधार पर।



चिट्ठी-पत्री

इस मास से हम चिट्ठी-पत्री स्तम्भ का प्रारम्भ कर रहे हैं। अभी कुछ समय तक हमारा इरादा इस स्तम्भ में एक ही पत्र प्रकाशित करने का है। यों विभिन्न पत्रों के महत्त्वपूर्ण स्थल भी इस स्तम्भ में प्रकाशित किए जा सकते हैं। इन पत्रों द्वारा हम अपने पाठकों से "आजकल" में प्रकाशित सामग्री के सम्बन्ध में उनकी प्रतिक्रिया तथा सुझाव जानना चाहते हैं।

★

पुस्तक समालोचना—(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

विद्वान लेखक इस लेख को लिखते हुए मानो एक तीव्र धारा में बह गया है। कहीं पर भी मज़बूती से उसके पैर जम नहीं पाए हैं। कहीं-कहीं तो नितान्त मिथ्या सिद्ध हो चुकी बातों अथवा कपोल कल्पनाओं को भी लेखक ने सत्य-वत् प्रस्तुत किया है, जैसे पृष्ठ ६ पर यह वाक्य "तानसेन के संगीतों से अग्नि और वर्षा उत्पन्न हो सकती थी।" और पृष्ठ २३ पर यह कथन "यदि उसमें अपने वाहक के पूर्व जन्म का संचित गुण हो·······"

मुझे विद्वान लेखक की भाषा से भी कुछ शिकायत है। "के अलावा" की बजाय "के अलावे" का प्रयोग, "रूप धारण कर ले" की बजाय "रंग-रूप धारण कर ले" का प्रयोग, "जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि"—इस मुहावरे की बजाय यह लिखना—"जहाँ सूर्य की रश्मि नहीं जा सकती, वहाँ कवि जा सकता है" अथवा ऐसे शब्दों का प्रयोग जैसे "बाहुल्यरूप", "अचलता", "तुक-विहीनता", "भूलप्रद", "कायिक" आदि, लेखक के विद्वत्तापूर्ण विवेचन के मार्ग में बाधक बनते हैं।

जहाँ तक उपर्युक्त पाँच कवियों के काव्यों की आलोचनाओं का सम्बन्ध है, श्री सुमित्रानन्दन पन्त पर लिखी गई आलोचना एक सुन्दर प्रयास है। इसे पढ़ने पर स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि पन्त की अधिकांश कृतियों के अन्तर्तम में प्रविष्ट होने में लेखक को सफलता मिली है। केवल एक ही बात खटकने वाली है कि पन्त जी की नवीनतम रचनाओं के विषय में लेखक ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। १६५६ में छपने वाली पुस्तक में "उत्तरा" से लेकर "अतिमा" तक पन्त जी की काव्यकृतियों की चर्चा न होने से निश्चय ही आलोचना का महत्त्व घटा है।

शेष सभी आलोचनाओं में विद्वान आलोचक ने बड़ी स्पष्टवादिता के साथ गुण-दोष विवेचन किया है, यद्यपि जो त्रुटि पंत जी की आलोचना में है वही प्रायः सभी निबन्धों में पाई जाती है। पर अच्छा यह है कि किसी भी कवि के व्यक्तित्व से वह आक्रांत नहीं है। उसने कामायनी के दो प्रमुख दोष बताएँ हैं: ऐतिहासिक कथा-संयोजन का अभाव और रूपक के निर्वाह की अक्षमता। परन्तु 'कामायनी' के काव्य-सौन्दर्य पर बड़े सुन्दर रूप में लेखक ने प्रकाश डाला है। निराला की आलोचना करते हुए, मुझे ऐसा लगा, कवि के प्रति आलोचक पूरा न्याय नहीं कर सका है। कम से कम निराला सम्बन्धी लेख का अन्त बड़ा निराशाजनक है। निराला के काव्य में प्रवेश करने की क्षमता लेखक में नहीं दिखाई देती। महादेवी के विषय में भी कवि ने जो कुछ लिखा है, वह उच्च स्तर का कथन नहीं है। दिनकर की काव्य-प्रगति पर अवश्य लेखक ने कालक्रमानुसार जो प्रकाश डाला है, वह आश्वस्तकारी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि श्री विश्वमोहन कुमार सिंह की यह पुस्तक विचारोत्तेजक है और साहित्य के विद्यार्थियों को इसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी



ईश्वर के सम्मुख सब बराबर

"मंदिर में प्रवेश करना आध्यत्मिक क्रिया है जो अछूतों को स्वतंत्रता का सन्देश देगी और उन्हें विश्वास दिलाएगी कि वे परमात्मा के सम्मुख जातिभ्रष्ट नहीं है।"
महात्मा गांधी

भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन कर सब व्यक्तियों को नागरिक और सामाजिक अधिकार समान दिए हैं।

कोई भी व्यक्ति किसी को सार्वजनिक पूजा के स्थान में जो कि उसी धर्म के अनुयायी अन्य व्यक्तियों के लिए खुले हैं, प्रवेश करने से मना नहीं कर सकता। अथवा वह सार्वजनिक पूजा के स्थान पर पूजा करने, प्रार्थना करने, या कोई अन्य धार्मिक सेवा के कार्य करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये अधिकार एक ही धर्म के सब अनुयायियों के लिए समान हैं।

छूत छात को छोड़ो—दिल को दिल से जोड़ो

DA-56/208

उच्च जीवन स्तर

प्रथम योजना अवधि में खाद्य और कृषि उत्पादन में ठोस उन्नति हुई है । द्वितीय योजना अवधि में बड़ी और छोटी सिंचाई परियोजनाओं द्वारा और खाद, रासायनिक खाद और सुधरे हुए बीजों के अधिक प्रयोग करने से तथा प्रत्येक एकड़ भूमि पर भूमि संरक्षण की नई तकनीको द्वारा उत्पादन का स्तर और भी ऊंचा होगा । द्वितीय योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति पर जनता जनार्दन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जाएगी ।

परिमाणतः प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति की वर्त्तमान अनाज की मात्रा १७.२ आऊंस की तुलना में १८.३ आऊंस तक बढ़ेगी । इसी प्रकार चीनी की वर्त्तमान मात्रा १.४ आऊंस से १.७ आऊंस तक बढ़ जाएगी । इस के अतिरिक्त कपास की २३ लाख और पटसन की १५ लाख गांठों की वृद्धि होगी ।

द्वितीय योजना के कुल व्यय में से ५६८ करोड़ रुपया यानी ११.८ प्रतिशत कृषि और सामुदायिक परियोजनाओं पर खर्च होगा । राष्ट्रीय विस्तार सेवा के साथ सामुदायिक परियोजनाओं के अन्तर्गत सम्पूर्ण ग्रामीण आबादी आ जाएगी । मीनक्षेत्रों, कृषिकरण, पशुपालन और जंगलात के क्षेत्रों में वृद्धि होगी । इस के अतिरिक्त बिजली और जल की सुविधाएं ग्रामीणों को स्वावलम्बी बनाने में सहायक होंगी ।

द्वितीय योजना में २१० लाख एकड़ भूमि सिंचित होगी जिससे कुल मिला कर ८८० लाख एकड़ क्षेत्र सिंचाई के अंतर्गत आ जाएगा । उद्योग धंधो और गांवों की बिजली की आवश्यकता को पूरा करने के लिए वर्त्तमान ३४ लाख किलोवाट क्षमता से ६९ लाख किलोवाट क्षमता तक बिजली बढ़ाई जाएगी । द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खर्च होने वाले प्रत्येक रुपये में से तीन आने सिंचाई और बिजली पर खर्च होंगे ।

राष्ट्र की समृद्धि के लिये

द्वितीय वर्षीय योजना



अपने स्थायी ग्राहकों से

१. पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या लिखना न भूलें, अन्यथा उत्तर देने में असुविधा होने के अतिरिक्त विलम्ब होने की भी सम्भावना है।

२. पत्रिका को पोस्ट करने का प्रबन्ध एक मास पूर्व आरम्भ कर दिया जाता है, अतः पते में परिवर्तन अथवा अन्य आवश्यक आदेश कार्यालय में कम से कम एक मास पूर्व आ जाने चाहिएँ।

३. जिस मास से आपका वार्षिक चन्दा समाप्त होता हो उससे पहले मास के अन्दर ही चन्दा नया करने के सम्बन्ध में आदेश भेजिए, अन्यथा सम्भव है यहाँ से वी० पी० चली जाए—आपको भी अनावश्यक असुविधा हो और हमारा भी काम बढ़े।

४. कार्यालय को चन्दे का रुपया भेजने की सबसे उत्तम विधि "क्रास्ड पोस्टल आर्डर" से है। इससे कम से कम समय लगता है और भूल होने की भी कम से कम सम्भावना होती है। परन्तु यदि मनी आर्डर से ही रुपया भेजने के लिए बाध्य होना पड़े तो कूपन पर अपना नाम व पता और किस पत्रिका के लिए रुपया भेजा जा रहा है यह साफ लिखा होना चाहिए।

५. ग्राहक संख्या अधिक होने के कारण, पत्रोत्तर में प्रायः दो सप्ताह का और नया चन्दा आरम्भ करने में प्रायः एक माह का विलम्ब हो सकता है। इस बीच में बार-बार पत्र लिख कर अपना व्यय व कार्यालय का काम न बढ़ाइए।

६. प्रत्येक प्रति यहाँ से भली प्रकार जाँच-पड़ताल करके भेजी जाती है। इसमें भूल होने की बहुत ही कम सम्भावना है, अतः यदि आपको समय पर पत्रिका न मिले, तो कार्यालय को लिखने से पूर्व अपने स्थानीय पोस्ट मास्टर से पूछताछ कीजिए और वह जो कुछ उत्तर दें वह हमारे पास आवश्यक कार्रवाई के लिए भेजिए, डाक में खोई हुई प्रतियों के एवज़ में साधारणतः दूसरी प्रति भेजने का नियम नहीं है।

७. पत्रिका का मूल्य मिलने से पूर्व सप्लाई आरम्भ नहीं की जा सकती। अतएव इसके लिए आग्रह न करें। सरकारी महकमों को चाहिए कि या तो आर्डर के साथ चन्दे की राशि भेजें अथवा आर्डर में ही यह आदेश दें कि मूल्य किस "हैड आफ अकाउन्ट" के नाम लिखा जाए।

८. कुछ पत्रिकाएँ एक से अधिक भाषा में प्रकाशित होती हैं। पत्र-व्यवहार करते समय यह लिखना न भूलें कि आपको किस भाषा की पत्रिका चाहिए।



पब्लिकेशन्स डिवीज़न,

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

हमारे हिन्दी प्रकाशन

	मूल्य	डाक व्यय
जातक कथाएँ	०—१२—०	०—४—०
सरल पंच तंत्र—भाग—१	०—१२—०	०—३—०
भाग २, ३, ४ तथा ५	०— ६—०	०—२—०
	प्रत्येक	
भारत १९५४	७— ८—०	१—६—०
भारत की एकता का निर्माण	५— ०—०	१—६—०
स्वाधीनता और उसके बाद	५— ०—०	१—६—०
भारत १९५६	४— ८—०	१—०—०
शान्ति तथा सद्भावना की ओर	०— ८—०	०—२—०
समाज और संस्कृति	०— ८—०	०—२—०
छठा साल	१— ८—०	०—६—०
नवीन भारत का निर्माण	०— ८—०	०—२—०
भारत की लोक-कथाएँ	१— ०—०	०—४—०
हमारा झंडा	०— ८—०	०—२—०
अस्पृश्यता निवारण	०— ६—०	०—२—०

	मूल्य	डाक व्यय
वैदिक साहित्य	०— ६—०	०—२—०
मानव विज्ञान	०— ४—०	०—१—०
कबीर : एक विश्लेषण	०— ६—०	०—२—०
रेडियो विकास योजना	०— ६—०	०—२—०
प्रयाग दर्शन	०— ४—०	०—२—०
भारत की कहानी	०—१२—०	०—३—०
तीसरा साल	१— ८—०	०—६—०
एशिया अफ्रीका सम्मेलन	०— ४—०	०—२—०
आदर्श विद्यार्थी-बापू	०— ६—०	०—२—०
यह बनारस है	०— ४—०	०—२—०
जवाहरलाल नेहरू के भाषण	०— १—०	०—१—०
भाग १, २, ३, ४ तथा ५	प्रत्येक	
गौतम बुद्ध पर महात्मा गांधी के विचार	०— १—०	०—१—०

दस रुपये या इससे अधिक के आर्डर पर डाक व्यय नहीं लिया जाएगा।
पोस्टल आर्डर द्वारा रुपया प्राप्त होने पर सुविधा रहती है।



सभी प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्त या सीधे लिखें :

बिजिनेस मैनेजर,
पब्लिकेशन्स डिवीज़न,
ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

Edited and Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.

No. D—510

आजकल

विश्व-दर्शन सहित

अप्रैल १९५७

आठ आना

भारत देखिये

तीर्थ-यात्रा और भ्रमणार्थ विशेष रेलगाड़ियाँ, तथा चक्राकार यात्राएँ

'भारत देखिये'—यह नारा केवल विदेशी सैलानियों के लिए ही नहीं, भारतीयों के लिए भी है। हम में से बहुतों को अभी अपनी मातृभूमि, उसके विशाल पर्वतों, मनोहर घाटियों, प्राचीन स्मारकों, ऐतिहासिक मन्दिरों तथा नए उपनगरों के बारे में बहुत कुछ जानना है।

निर्धारित चक्राकार यात्रा-मार्ग

उत्तर रेलवे साधारण किराये की तीन-चौथाई दर पर पहले, दूसरे और तीसरे दर्जे के रियायती टिकट बहुत सी यात्राओं के लिए जारी कर रही है। इन यात्राओं में निर्धारित यात्रा-मार्ग भी सम्मिलित है, जिनका विवरण उत्तर रेलवे के स्टेशन मास्टरों से प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा, यदि जनता इस रेलवे के चीफ़ कमर्शियल सुपरिन्टेन्डेन्ट (रेट्स) को यात्रा के और मार्ग सुझाए, तो उन पर भी विचार किया जाएगा और यदि कुछ शर्तें पूरी हो जाती हों तो रियायती टिकट जारी कर दिए जाएँगे।

विशेष रेलगाड़ियाँ

बड़ी लाइन पर तीर्थ यात्रा या भ्रमण के लिए विशेष रेलगाड़ियाँ चलाने के अनुरोध पर विचार किया जाएगा और निम्न रियायतें दी जाएँगी :—

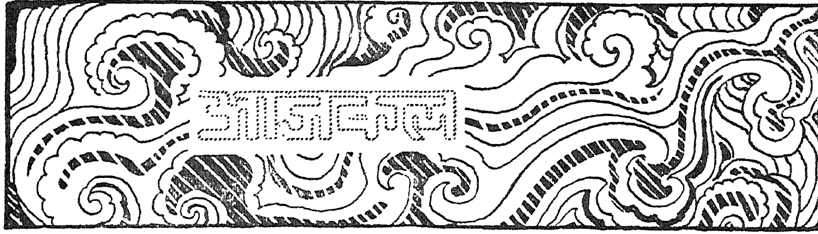
(१) रसोई का प्रबन्ध—प्रत्येक रेलगाड़ी के साथ रेल का एक डिब्बा निःशुल्क लगाया जाएगा।

(२) साथ में एक प्रबन्धकर्त्ता और चार रसोइये नौकर मुफ्त ले जाने की अनुमति होगी।

(३) १,५०० मील से अधिक की यात्रा के लिए कुछ शर्तों के अधीन तीन-चौथाई किराए पर रियायती टिकट दिए जाएँगे।

विस्तृत विवरण के लिए चीफ़ कमर्शियल सुपरिन्टेन्डेन्ट (रेट्स) उत्तर रेलवे, कश्मीरी गेट, दिल्ली से पत्र-व्यवहार कीजिए।

उत्तर रेलवे के जनसम्पर्क अधिकारी द्वारा प्रचारित



वर्ष १२ : अंक १२ **अप्रैल १९५७** पूर्णांक १५४

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक हिन्दी
पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, ५० नये पैसे, एक सेंट या नौ पेंस





'नासिक की एक गली'　　　　चित्रकार : एम० एस० जोशी



वर्ष १२ | अप्रैल १९५७ | अंक १२

निज ललाट की रेख

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अब तक भी क्या तुम न पढ़ सके निज ललाट की रेख ?
देखे इतने दर्पण, फिर भी, बाँच न पाए नेक ?
हाँ, उलटे आखर पढ़ने का तुम्हें नहीं अभ्यास;
किन्तु पढ़ेगा अन्य कौन तव भाल-लिखित ये लेख ?

अच्छा है कि रहें अपठित ही ये विधि-अक्षर वाम;
पढ़ लोगे तो भी क्या होगा ? कौन सरेगा काम ?
जो होनी है वह तो होगी; अनहोनी होगी न;
यदि यह नियम अटल है तो तुम क्यों होते हो वाम ?

यदि है नियति पूर्व-गति-निश्चित चालित घूर्णित चक्र-
तब क्या चिन्ता ? रहे भाग्य की रेखा ऋजु या वक्र !
यदि है यहाँ विवशता इतनी, तो फिर,—खेल समाप्त !!
मिलें भले ही जीवन-नद में तुम्हें मत्स्य या नक्र !!!

किसने तीतर-फन्द बनाया ? हैं ये तीतर कौन ?
पिञ्जर यह क्या है ? पिञ्जर के बाहर-भीतर कौन ?
कौन फँसा है ? फाँसा किसने ? कैसे ? कब ? किस अर्थ ?
तैत्तरीय गोत्रज तुम हो, तो बोलो, क्यों हो मौन ?

सहस्राब्दियाँ इन प्रश्नों को लेकर अपने अङ्क,—
यों विहँसीं, ज्यों हुलस विहँसता शरद शशाङ्क मयङ्क;
श्यामल शश शशि की गोदी में; औ' ये धूर्जटि प्रश्न,-
अयुत युगों, कल्पों के हिय में खेल रहे निःशङ्क।

निरुद्देश्य ही गिरी कङ्करी, जल में उठी तरङ्ग,
और उभक आए जो तारे तो काँपी नभ-गङ्ग,
उसी प्रकार, बिना आशय हो ये सब गहरे प्रश्न,—
करते हैं क्या संसृति-सर की नीरवता को भङ्ग ?

मत सोचो इन प्रश्नों की है निष्फल ऊहापोह;
चिर चिन्तन ही से कटता है जीवन का क्या मोह;
प्रश्न-करी मधुकरी वृत्ति है सहज उन्नयन-पन्थ;
ज्ञात नहीं क्या कि है हृदय में निरलस शाश्वत टोह ?

शतियों का शृङ्गार किया है इन प्रश्नों ने नित्य;
इनने सिरजा सहस्राब्दियों का मानव-साहित्य;
कम्पन, मन्थन, चिन्तन उन्मन, उलझन-क्षण, ये धन्य !
जिनके कारण चमका जन का बल-विक्रम-आदित्य।

कौन कहेगा कि ये प्रश्न हैं निरुद्देश्य, निःसार ?
कौन कहेगा कि है वृथा ही इनका तत्व-विचार ?
यदि ये प्रश्न व्यर्थ हैं तब तो जन-जिज्ञासा-वृत्ति—
होगी सिद्ध व्यर्थ। फिर, होंगे बन्द प्रगति के द्वार।

उठते हैं यदि प्रश्न हृदय में तो वे उठें सुखेन;
प्रश्नों के बल हमें उपनिषद मिलो-प्रश्न, कठ, केन;
करते-करते प्रश्न बन गया नचिकेता यम-मित्र;
और अमृत है केवल मन्थन-जिज्ञासा का फेन।

तुम हो कौन, कि जिसने हिय यों मथ डाला, हे प्राण ?
तुम हो कौन, कि मैं धरता हूँ निशि दिन जिसका ध्यान ?
विरही ने अकुला कर पूछा यों जिस क्षण, जिस याम-
उसी निमिष से मेघ-दूत के हुए हृदय-हर गान।

मानव ने भर प्रश्न दृगों में जब देखा जग-जाल—
वैज्ञानिकता बरबस जनमी उसी दिवस, तत्काल;
उसी प्रबल परिपृच्छा का पय पीकर हुई वयस्क
और कुशल इतनी कि खिलाती है वह अणु के व्याल।

अन्तर्मुख होकर मानव ने पूछी जब कुछ बात—
तब बहिरंग रूप की महिमा हुई और कुछ ज्ञात;
तू-तू, मैं-मैं, यह-वह के सब हुए आवरण दूर;
वह अद्वैत हुआ सम्मुख, जो अब तक था अज्ञात।

अपने श्रम की देख व्यर्थता मानव ने चुपचाप,—
गही शरण उस नियति नियम की जिसका क्षेत्र अमाप;
और, सोचने लगा कि क्या है यह सब दुर्दम खेल ?
क्यों है जीवन में इतना यह निपट विवशता-शाप ?

नियति तुम्हारे लिए अटल है; पर, सोचो यह बात,—
कि जो नियति-निर्माण-हेतु है वह क्या है अज्ञात ?
है निर्बन्ध प्रेरणा चेतन के विकास में व्याप्त;
तब, इच्छा-स्वातन्त्र्य तुम्हारा है स्वभाव, सहजात।

कलिल-जात जीवन-अणु से तुम स्वेच्छा से ही आज—
द्विपद, द्विभुज, मनवान, बुद्धियुत बने सृजन के राज;
इस प्रकार है स्वयं सिद्ध तव इच्छा का स्वातन्त्र्य;
और, कर्म-स्वातन्त्र्य सजाता है सर्जन के साज।

क्या है नियति ? नियति है केवल कर्म-समुच्चय, मित्र;
और क्रिया की प्रतिक्रिया है निश्चय अक्षय, मित्र;
कर्म तुम्हारे पच न सके जो वे बन नियति कठोर,—
तुम्हें विवश-सा नचा रहे हैं जीवन-नाच विचित्र।

स्वेच्छा-प्रेरित, स्वकृत, शुभ, अशुभ, जो एकत्रित कर्म—
उनमें ही है निहित नियति की जन्म-कथा का मर्म;
फिर भी सन्तत विद्यमान है तव स्वकर्म-स्वातन्त्र्य;
विषम-सम नियति-नाश, तुम्हारा है आत्यन्तिक धर्म।

कथित अमोघ नियति का कर्त्ता जो मानव मनवान—
हर्त्ता भी हो सकता है यदि हो सचेष्ट सज्ञान;
चक्रव्यूह-भेदन प्राक्तन का करना, यह है शक्य,—
यदि हों लौह-सार-बल संयुत इस मानव के प्राण।

× × ×

यह सब है ध्रुव सत्य किन्तु तुम निरखो वह निरीह प्राणी—
जिसके नयनों में जल-कण हैं और मूक जिसकी वाणी,
जिसका जीवन नियति हस्तगत कन्दुक बन कर लुढ़क रहा,-
स्वकृत कर्म-स्वातन्त्र्य भावना ऐसे जन ने कब जानी ?

× × ×

वृथा के डींग-भरे तुम न मारो;
तनिक निज ओर भी तो तुम निहारो;
मिला कब कर्म का स्वातन्त्र्य तुमको ?
तनिक अपनी दशा भी तो विचारो ?

× × ×

आ गया सम्मुख तुम्हारे भाग्य का यह खेल;
हो गई है वक्र, बन्धुर, कठिन जीवन-गैल;
पूर्व के अभिशाप का सह-चरण तुमको प्राप्त;
काट सकते हो सहज क्या फलित जो विष-बेल ?

चिर तितिक्षा, धैर्य, साहस, शान्ति, क्षान्ति अपार,—
नित्य निज कर्त्तव्य-पालन, हृदय-भाव उदार,—
दोष-दर्शन-शून्य आँखें, स्नेहमय मन, प्राण,—
ये मिलें तब स्वयं होगा नियति का संहार।

सहन कर लो, सहन कर लो, नित सहो यह शाप,
अन्य का यह नहीं, यह तो है तुम्हारा पाप;
भाग जाओगे कहाँ ? कुछ तो कहो, रण छोड़ ?
बाँध दोगे किस शमी पर कर्म के शर-चाप ?

पलायन है व्यर्थ का ही पाप-पूर्ण प्रपंच,
कौन कहता है कि इससे शान्ति मिलती रंच ?
लुढ़कते वे अतल पहुँचे, फिर, वितल, पाताल,—
जो पलायित हुए सहसा छोड़ जीवन-मंच।

तुम न भागो; लड़ो, जूझो निज नियति के संग;
बस, तभी होगी तुम्हारी शृंखला यह भंग;
भागने से तो निगड़-सम तव चरण को बाँध—
वह बनेगी विकट भावी बन्धनों का अंग।

कालकूट जो घोला—
जीवन-रस में अजान में तुमने,
उसे पान करने क्या—
शिव आएँगे शिवा छोड़ गिरि से ?

अमृत स्वसंचित मधुमय—
संपुट भर-भर चाहो तो बाँटो;
पर, विष-प्याला अपना
पीना सदा पड़ेगा तुमको ही ।

तव प्रसन्नता में हैं—
भागधेय संसृति के सब प्राणी;
किन्तु तुम्हारा रोना—
तुम्हें छोड़कर अन्य न रोवेगा ।

अपनी सजला आँखें—
करो निर्जला; और, भरो इनमें—
वे दृढ़ निश्चय-किरणें—
हरें ध्वान्त जो विकृति-नियति-सृति का ।

कालकूट पीकर ही
धूर्जटि बन आए अशङ्क श्री शङ्कर
स्वकृत हलाहल पीकर
और नहीं, तुम बनो शंभु-किंकर ही ।

●

मानव

रामइक़बाल सिंह 'राकेश'

जिस दिन तम अवगुंठित दिगंत में निराधार,
छिटका था अरुण प्रकाश उषा का प्रथम बार !
उस दिन देखा मानव ने जिसको भासमान,
वह दिव्य स्वस्तिप्रद ज्ञान-चक्षु था ज्योतिमान !!

जिसने उसको सर्वात्मभाव से लिया जान,
वह विभा-लोक में हुआ प्रतिष्ठित अग्रमान !!
जो रहा विमुख उसके प्रकाश से निरावरण,
पड़ गया निगूढ़ तिमिर का उस पर जड़ावरण !!

क्या नहीं आज भी ज्योति-चक्षु वह भ्राजमान,
होकर नभ के अन्तःप्रदेश में दृश्यमान ?
उस विषय-सत्य की ओर तत्त्व पर अवलम्बित,
करता रहता प्रतिदिन मानव को उत्प्रेरित ?

पर, कब उसकी प्रज्ञान-रूप किरणें विशिष्ट,
हो सकीं विश्व-मानव के अंतर में प्रविष्ट ?
कब वह वस्तुतः रहा अपने प्रति सावधान ?
कब अपने मूल रूप का उसको हुआ भान ?

पहचान लिया उसने अनंत में अन्तर्हित,
शत कोटि-कोटि नक्षत्रों को मणि-रत्न-जटित !
पर, कर न सका वह अपना ही प्रकाश-दर्शन,
निज अंतर के अंगार-पुष्प का रंग-ग्रहण !!

जिसकी मति में विरंचि, स्वर में सम्पूर्ण वेद !
छाया में ध्वंसक मृत्यु, भृकुटि में विधि-निषेध !!
वह मानव क्यों अपनी विभूति से है वंचित ?
अपने ज्योतिर्मय केन्द्र-बिन्दु से संग-रहित ?

कर दिए सभ्यता ने निर्मित पुर, दुर्ग रम्य,
कंचनजंघा के शिखर-सदृश प्रासाद, हर्म्य !
पर, उनमें विद्यमान मानव को तिमिरग्रस्त,
वह बना न सकी मनोज्ञ, दांत, संस्कृत, उन्नत !!

अनुभव से जान लिया मानव ने महाप्राण,
उड़ना सुपर्ण-सा ऊर्ध्व शून्य में शब्दमान !
निर्द्वन्द्व मछलियों के समान स्वेच्छानुसार,
अतलांत सिंधु की लहरों पर करना विहार !
पर, रहना भूमंडल पर मानव के समान,
वह नहीं आज तक तर्क-बुद्धि से सका जान !!

भौतिक मद के मणिधर भुजंग ने महत, प्रबल,
अपनी अंगारदीप्त आँखों से गरल उगल !
है जकड़ लिया जबड़ों के बंधन में दृढ़तर,
मानव-समाज के कुसुम-कलेवर को सुन्दर !!

जीवन के साथ सत्य का मौलिक समीकरण,
कर सकता है क्या वर्त्तमान भौतिक दर्शन ?
सर्वाङ्गपूर्ण मानव क्या होगा क्षिति-निपतित ?
जड़वादी मानव के द्वारा होकर विजड़ित ?

स्वर्णिम प्रभात की प्रथम लालिमा को बिम्बित,
कर सकती है क्या बहिर्नयन विद्युत व्यंजित ?
क्या गंधवान पाटल-प्रसून से भी सुरम्य ?
करता है हर्ष-प्रदान अधिक दामी हिरण्य ?

तज एकाङ्गी भौतिक प्रभुता के तर्क भ्रांत,
कर सकता है वह उस विभूति को पुनः प्राप्त !
है जड़ समृद्धि ने जिसको उससे लिया छीन !
वंचित जिससे रहकर है वह पुंसत्वहीन !!

●

काशी प्रसाद जायसवाल

राहुल सांकृत्यायन

अपनी दीर्घ जीवन-यात्रा में मेरे स्नेह के पात्र बहुत से हुए, पर जायसवाल जी तो बिल्कुल अभिन्न सहोदर-से थे। जब तक वह जीते रहे, उनके साहचर्य का आनन्द मुझे मिलता था, उनका घर मेरा अपना घर, उनका परिवार मेरा परिवार था।

जायसवाल का नाम मैं पहले भी सुन चुका था, लेकिन उनके सम्पर्क में आने का पहले-पहल मौका सन् १९२५ या १९२६ ई० में हुआ। बोधगया मन्दिर बौद्धों को मिलना चाहिए, इसका आन्दोलन कॉंग्रेस क्षेत्र में मैंने सन् १९२३ ई० में छेड़ दिया था। मेरे दो साल के कारावास के समय कॉंग्रेस ने बोधगया मन्दिर जाँच-समिति कायम की। उसके सदस्यों में मैं और जायसवाल जी भी थे। समिति की रिपोर्ट लिखते समय जायसवाल जी के घर हमें जाना पड़ा था, उसी वक्त पहले-पहल उनका दर्शन हुआ था।

सन् १९३० ई० में तिब्बत की पहली यात्रा से लौट कर वहाँ से लाई बीस खच्चर सामग्री—पुस्तक, चित्र—लेकर मैं लंका गया। सन् १९३२-३३ ई० में, डेढ़ सौ तिब्बती चित्रों में से तीन दर्जन को मैं अपने साथ यूरोप ले गया। वहाँ जाने पर चित्रों का ऐतिहासिक और कला-सम्बन्धी महत्त्व मुझे मालूम हुआ। एक चित्र का एक आदमी कई हज़ार रुपया देना चाहता था। मैंने सोचा, इन चित्रों को कहीं सुरक्षित रखना चाहिए। उसी वक्त मेरा ध्यान अपने प्रदेश के पटना म्यूज़ियम की ओर गया। लन्दन से २८ अक्तूबर को मैंने पटना म्यूज़ियम के सभापति जायसवाल जी के पास पत्र लिखा था—"मैं अपने तिब्बती चित्रपटों को म्यूज़ियम के लिए देने के लिए तैयार हूँ। किन्तु, नालन्दा में यदि कोई सुरक्षित स्थान मिल गया, तो वह वहाँ चले जाएँगे।" २२ नवम्बर को जायसवाल जी का तार मुझे पेरिस में मिला—"तिब्बती चित्रों के बारे में आपके २२ अक्तूबर के लिखे पत्र की शर्तें धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत हैं। टामस कुक को लिख रहा हूँ, कि वह चित्रों को सम्भाल लें।"

सन् १९३३ ई० में यूरोप और लंका से लौट कर मैं 'गंगा' के पुरातत्वांक के सम्पादन के लिए सुल्तानगंज में धूपनाथ जी के पास ठहरा था, वहाँ से मैंने जायसवाल जी को पत्र लिखा। उसका उत्तर उन्होंने इतनी आत्मीयता के साथ दिया था, जिसकी मुझे कभी आशा नहीं हो सकती थी। मेरे भारत में प्रत्यागमन का स्वागत और स्नेहपूर्ण निमन्त्रण भेजते हुए उन्होंने लिखा था—"अब तो मैं भी दुनिया से ऊब गया हूँ, और चाहता हूँ बुद्ध का भिक्षु बनूँ।" भारत में ऐसे खुले हृदय को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ९ मार्च को पटना जंक्शन उतरा, तो देखा, जायसवाल जी प्लेटफ़ार्म पर इन्तज़ार कर रहे हैं। भिक्षु वस्त्र मेरा परिचय देने के लिए काफ़ी था, और उनके चेहरे को मैं



काशी प्रसाद जायसवाल

सन् १९२५ और सन् १९२९ ई० में देख चुका था। स्नेह का आरम्भ बड़े वेग से हुआ, और बड़ा आरम्भ चिरस्थायी नहीं होता। पर, यहाँ जिस स्नेह का सूत्रपात हुआ था, वह दिन पर दिन बढ़ता ही गया। ९ मार्च १९३३ से मैं उनका सहोदर बना, और ४ अगस्त १९३७ में मैंने अपने कन्धों पर उनकी अर्थी उठाई। चार ही वर्ष तो हम साथ रहे, जिसमें भी अधिक भाग मेरा देश-देशान्तरों में घूमने में बीतता था, और जाड़ों के ही कुछ-कुछ महीने उनके पास बीतते थे। पर मालूम होता था, जैसे हम युगों से एक साथ रह रहे हैं। आज जब कभी भी उस मित्र की याद आती है, तो कलेजा सुन्न होने लगता है और आँखें पिघलने लगती हैं।

उस समय जायसवाल जी अपने बड़े लड़के के लिए परेशानी में थे। चेतसिंह की शादी हो चुकी थी, वह बैरिस्टरी पढ़ने इंग्लैण्ड गए। पहली पत्नी में शिक्षा और संस्कृति का अभाव-सा था।

चेतसिंह का प्रेम एक अंग्रेज युवती से हो गया। दोनों पति-पत्नी बन कर भारत आए। जायसवाल जी ने सोचा था, कि विवाहित तरुण वहाँ जाने पर प्रेमपाश में नहीं बँधेगा, पर यह बात बहुधा गलत साबित हुई है। जायसवाल जी स्वयं विवाहित थे, और वह भी बैरिस्टर होकर आते समय एक अंग्रेज़ महिला के प्रणय-सूत्र में बद्ध हो गए थे। हाँ, वह उसे भारत नहीं ले आए। चेतसिंह सबसे लायक पुत्र थे। उनके इस आचरण से पिता को बहुत दुःख था। उन्होंने अपने पुत्र की किसी प्रकार की सहायता करने से इन्कार कर दिया था। पर, चेतसिंह को जानने में देर नहीं हुई, मैं सदा उनका प्रशंसक रहा। इसका सबूत जायसवाल जी की मृत्यु के कई वर्षों बाद मिला। जायसवाल जी की कोठी पर उनके सभी पुत्र-पुत्रियों का अधिकार था। मध्यमा पुत्री, जो कि खुद बैरिस्टर हैं, ने मुकद्दमा कर दिया था। जायसवाल जी के दो पुत्र चतुर्भुज और वीर उसी कोठी में पिलानी होटल स्थापित करके अपनी जीविका चला रहे थे। बँगले के बँटने पर उनके लिए कोई अवलम्ब नहीं रह जाता। चेतसिंह, जो अपने परिवार के साथ अब मलाया के निवासी हो गए थे, ने बीस हज़ार रुपया देकर अपने भाइयों की रक्षा की। ऐसे भाई कहाँ मिलते हैं? पर, जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय चेतसिंह नए-नए बैरिस्टर होकर आए थे। उन्हें किसी बड़े बैरिस्टर के हस्तावलम्ब की आवश्यकता थी, जिसे उनके पिता भी देने को तैयार नहीं थे। पुत्र ने निश्चय किया, अपने साथ उस तरुणी को आफ़त में नहीं डालूँगा, जो उनके स्नेह से बद्ध होकर भारत आई थी। उसे वह फिर विलायत ले गए, और प्रबन्ध करके लौट आए।

जायसवाल विलायत में रहते क्रान्तिकारी विचार रखते थे, वैसे ही उन्होंने लेख लिखे थे। विलायत से हिन्दुस्तान लौटने पर सन्देह था, कि उन्हें गिरफ़्तार कर लिया जाएगा, इसीलिए वह सीधे न आकर पहले कोलम्बो गए। जब मालूम हुआ कि गिरफ़्तारी नहीं होगी, तब वह भारत चले आए। उनके पुराने विचारों ने आगे बढ़ने में हमेशा रुकावट डाली। यदि उन्हें हाईकोर्ट की जजी मिल गई होती, तो वह अपनी सारी प्रतिभा और ज्ञान को इतिहास के अनुसन्धान में लगा सकते थे।

एक सप्ताह के सहवास से ही जायसवाल जी की प्रकृति से मैं परिचित हो गया। "न उनको बनावटी रूप में अपने को रखने की आवश्यकता थी, और न मैं अपने को यथार्थ से अधिक दिखलाने की ज़रूरत समझता था।" हम अब अपने कामों में एक-दूसरे के सहयोगी हो गए।

उसी साल पता लगा था कि गिलगित (काश्मीर रियासत) में कितने ही प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ एक स्तूप से मिले हैं। प्रो० सिलवेन लेवी ने उसके बारे में अधूरी खबर पाई थी। उनका भी आग्रह था कि मैं काश्मीर और गिलगित जाकर उन हस्त-लेखों के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करूँ। गर्मियों में अब भारत में रहना मेरे बस की बात नहीं थी। इसलिए भी पहाड़ों में कहीं जाना था, और वह जाना एक पंथ दो काज होता था। मैंने गिलगित और काश्मीर जाने का निश्चय किया। गिलगित सीमान्ती इलाका था, जिसे अंग्रेजों ने पूरी तौर से अपने हाथ में कर रखा था और अपने अत्यन्त विश्वास-पात्र को ही उधर जाने देते थे। मुझे उधर जाने की इजाज़त नहीं मिली, और मैं काश्मीर से लद्दाख चला गया।

यात्राएँ करने में मुझे आर्थिक कठिनाइयाँ रहा करती थीं। हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने से काम तो नहीं चल सकता था, उनके फ़ोटो लेने की भी ज़रूरत थी। जायसवाल जी ने एक कैमरा, फ़ोटो सामग्री के साथ कुछ पैसे भी दिए, और मैं रवाना हो गया। लद्दाख में रहते उन्होंने मुझे लिखा कि, "दिसम्बर में बड़ौदा में ओरियण्टल कान्फ्रेंस मेरे सभापतित्व में हो रही है। उसके हिन्दी विभाग का अध्यक्ष होना आप स्वीकार करें।" मैं आग्रह को कैसे टाल सकता था?

'मज्झिमनिकाय' के हिन्दी अनुवाद को दिसम्बर से पहले प्रकाशित करवाने के लिए मैं प्रयाग में पड़ा हुआ था। वहीं से २० दिसम्बर को जायसवाल जी के साथ हमारी बड़ौदा यात्रा शुरू हुई, जो दो हफ़्ते से अधिक रही। हमारी एक पूरी बारात थी, जिसमें जायसवाल-परिवार के अतिरिक्त, पटना म्यूज़ियम के क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष, जायसवाल जी के मित्र श्री क्षीरोदकुमार राय, फ़ोटोग्राफ़र और दूसरे सहायक भी थे। रास्ते में अजन्ता, इलोरा, नासिक की पाँडवलेनी, कारला आदि के पुराने गुफ़ा-विहार देखने थे। कारले में मैं शाला के भीतर देखने में लगा हुआ था। जायसवाल जी बराँडे में खड़े राय महाशय को कुछ नोट लिखवा रहे थे। मेरे बाहर निकलने पर उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा—"देखिए इस काल में बुद्धमूर्ति बना करती थी।"

हम दोनों में अब बेतकल्लुफ़ी आ चुकी थी, इसलिए मैंने बिना किसी झिझक के कहा—"यह हो नहीं सकता।" लेकिन वहाँ दीवार पर सचमुच बुद्धमूर्ति उत्कीर्ण थी। ध्यान से देखने पर मालूम हुआ, जहाँ बुद्धमूर्ति उत्कीर्ण है, वहाँ पहले एक वृक्ष था, जिसका ऊपरी भाग अब भी वहाँ मौजूद था। बुद्धमूर्ति साधारण तल के भीतर खोद कर बनाई गई थी। जायसवाल जी ज़िद्दी कहे जाते थे, लेकिन अपने मत को दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करने के बाद भी यदि गलती मालूम होती तो उसे छोड़ देते थे। बम्बई में एक दिन ठहर कर हम २६ दिसम्बर को बड़ौदा पहुँचे। कान्फ्रेंस में उन्होंने अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया। ब्राह्मण पण्डितों की सभा ने जायसवाल जी को अपनी मण्डली का सदस्य निर्वाचित करके सम्मान प्रदर्शित किया। अहमदाबाद, आबू, अजमेर के सभी प्राचीन स्थानों को हमने घूम-घूम कर देखा। जायसवाल जी चित्तौड़, उदयपुर, उज्जैन, भिलसा होकर साथ ही लौटने वाले थे, लेकिन अजमेर में किसी मुकदमे के सम्बन्ध में तार मिला और वह वहाँ से पटना चले गए।

मैं लौट कर प्रयाग में पं० उदयनारायण तिवारी के पास ठहरा था। फरवरी में वहीं भूकम्प आया। प्रयाग की क्षति नहीं हुई। भूकम्प की खबर मिलने पर मैं सहायता करने के खयाल से पटना पहुँचा। रात को जायसवाल जी आए, छाती लगा कर मिले। वह दरभंगा किसी मुकद्दमे में गए थे। खबर न मिलने से लोगों ने समझ

लिया था, कि वह भूकम्प की बलि हुए। पर बलिदान का दिन अभी तीन साल बाद आने वाला था।

जायसवाल जी भी विद्वान, अद्‌भुत गवेषक और विचारक थे। इससे भी बढ़कर उनको यह लालसा रहती थी, कि दूसरे विद्वानों और सहकर्मियों को मदद पहुँचाएँ। १९३१ ई० के जाड़ों की बात है। बाहर संगमर्मर के चबूतरे के नीचे हरी घास पर एक ओर कुर्सी पर बैठे वह अपने मुवक्किलों का काम देख रहे थे, दूसरी ओर मेरा लिखना-पढ़ना चल रहा था। इसी समय एक तरुण गेरुआधारी साधु राहुल जी से मिलने आया। मैंने कहा—"मैं ही हूँ।" वह मेरे पास बैठ कर संस्कृत में बात करने लगा। इसी समय पटना के संस्कृत के एक प्रसिद्ध पंडित रंगनाथ जी भी आ गए। आगन्तुक ने उनसे शास्त्रार्थ छेड़ दिया : 'खंडन खंडखाद्य' वस्तुतः बौद्ध दर्शन का ग्रन्थ है। मंगलाचरण की आस्तिकता और ग्रन्थ के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। पंडित जी वेदान्त से हटा कर न्याय, व्याकरण में ले जा कर दबाना चाहते थे, किन्तु तरुण वहाँ भी कच्चा गोइंया नहीं दीख पड़ा। जायसवाल जी मुवक्किलों का कागज-पत्र देख रहे थे, किन्तु उनका मन इधर ही था। थोड़ी देर में पिण्ड छुड़ा कर वह भी पहुँचे। काफ़ी समय तक प्रेमपूर्वक शास्त्र-चर्चा चलती रही। तरुण का नाम ब्रह्मचारी विज्ञान मार्त्तण्ड था। मार्त्तण्ड जी पालि पढ़ने के लिए बाहर जाना चाहते थे। मैंने सिंहल या बर्मा जाने के लिए कहा। वह एक सप्ताह तक मेरे साथ जायसवाल-भवन में रहे। जायसवाल उस सीधे-सादे तरुण की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उनके लिए कम्बल-कपड़े मँगवा दिए। बैरिस्टरी से काफ़ी कमाते थे, किन्तु उनका हाथ बहुत खुला था। बड़े परिवार का खर्च चलाना श्रीमती जायसवाल का काम था। एक दिन हाईकोर्ट से लौटने पर उन्होंने कुछ रुपये लाकर चुपके से ब्रह्मचारी के हाथ में रख दिए। लंका या बर्मा को जाने का खर्च। श्रीमती शायद उतना रुपया देना पसन्द न करतीं, किन्तु जायसवाल तो मुग्ध थे उस सरस्वती-पुत्र पर।

अक्सर कहा करते थे—"मेरी बुद्धि और विद्या कानून के लिए नहीं है, किन्तु क्या करूँ।" जायसवाल अपने ज्ञान और प्रतिभा का पूरा इस्तेमाल उस क्षेत्र में नहीं कर पाते थे, जिसके लिए वह बने थे। उन्होंने जो कुछ गवेषणा की, जो कुछ लिखा, वह उस समय में से काट कर, जो कि उनके पास सोने या विश्राम करने के लिए था, यह मैं कह चुका हूँ। अँग्रेज़ शासक खुशामद चाहते थे, किन्तु इस गुण या अवगुण का उनमें नितान्त अभाव था। कभी-कभी परिस्थिति समझौता करने के लिए मजबूर करती पर स्वभाव अनजाने ही धोखा देता और सब किया-कराया चौपट हो जाता।

१९३९ के दिसम्बर में मैसूर में ओरियण्टल कान्फ्रेंस हो रही थी। पिछले साल वह उसके सभापति हुए थे, इसलिए इस साल उनका जाना अत्यावश्यक था। २३ दिसम्बर को मुझे कुछ बुखार आ गया। उन्होंने कहा—"मैं रह जाऊँ ?" मैंने कहा—"नहीं, आप जाइए। यह तो मामूली बुखार है।" वह उसी दिन पत्नी सहित मैसूर के लिए रवाना हो गए, लेकिन वह मामूली बुखार नहीं, बल्कि टाइफ़ाइड था, जिसमें ३० दिसम्बर से ३ जनवरी तक मैं बेहोश रहा। बेहोशी के साथ पाखाना-पेशाब की भी संज्ञा जाती रही। धूपनाथ खबर सुनते ही आ गए और नर्स या माता से भी बढ़ कर मेरी सेवा करते रहे। मैं जीवन और मृत्यु के बीच में झूल रहा था। ६ जनवरी को मन से स्वस्थ हो गया था, बुखार भी नहीं था। उसी दिन जायसवाल जी मैसूर से लौटे। सुनते ही माँ जी के साथ दौड़े-दौड़े अस्पताल पहुँचे। उनको बहुत दुःख हो रहा था कि मैं क्यों चला गया। लेकिन उस समय किसको मालूम था कि यह टाइफ़ाइड है।

सन् १९३६ ई० में मैं तिब्बत जाने के लिये नेपाल पहुँचा। जायसवाल जी नेपाल देखना चाहते थे, इसलिए उनके आने के लिए मैंने राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को कहा। और उन्होंने आने के लिए राणा सरकार पर ज़ोर दिया। ६ मार्च को पता लगा, कि उनको आने देने में एक कठिनाई है : "साथ में उनकी धर्म-पत्नी भी आएंगी, शायद वह पशुपति का दर्शन करना चाहें। उनके पति विलायत हो आए हैं। इसलिए पशुपति का दर्शन नहीं हो सकता।" रास्ते की कठिनाई को समझ कर श्रीमती जायसवाल स्वयं नहीं आईं। जायसवाल जी अपने मित्र श्री श्यामबहादुर बैरिस्टर और अपने छोटे लड़के दीप के साथ नेपाल पहुँचे। वहाँ के हरेक धार्मिक और ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों को उन्होंने देखा। स्वयंभू चैत्य में जाने पर मैंने राजा जयार्जुन देव के उस शिला-लेख को दिखलाया, जिसमें लिखा गया था, कि नेपाल संवत् ७७० (१३५० ई०) में बंगाल के 'सुरत्राण शमसदीन भँगरा' ने आकर नेपाल के देवालयों को तोड़ा था। बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री लेकर वह भारत लौटे। पत्रों को वक्तव्य देते हुए इस बात का उल्लेख किया, और यह भी कि मैं नेपाल की राज-वंशावलि पर कुछ लिखने जा रहा हूँ। नेपाल दरबार ने उनका आतिथ्य किया था, इसलिए वह अपना अधिकार समझता था, कि उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई बात न लिखी जाए। जायसवाल अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेवारी समझते थे। वह भला क्यों राणाओं की बात मानते ? उन्होंने अपने विचारों के अनुसार वह पुस्तक लिखी।

सन् १९३७ ई० के आरम्भ में असेम्बली के नए निर्वाचन का परिणाम निकला। काँग्रेस की विजय की खबर आने लगी। जायसवाल जी को आक्सफ़ोर्ड में पढ़ते समय साम्यवाद की हवा लगी थी। उस समय वह इतने खतरनाक समझे गए थे, कि विश्वास नहीं था, हिन्दुस्तान में स्वतन्त्रता पूर्वक रह सकेंगे। धीरे-धीरे वह आग राख के नीचे दब गई। कुछ विद्या-व्यसन और कुछ आराम के जीवन ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया। तो भी वह अपने को बिलकुल दबा नहीं सके। दस दिन तक गौरांग प्रभुओं के सामने नम्रता दिखलाते, फिर कोई अनुचित बात देख उबल पड़ते। ऐसे आदमी का भला अंग्रेज़ क्यों विश्वास करने लगे ? चुनाव के समय बहुत से लोकगीत बने थे। लोगों ने बड़े जोश के साथ काँग्रेस के उम्मीदवारों को वोट दिया था। मैंने गीतों में से कुछ को उन्हें सुनाया। उनको विश्वास हो चला था, कि अब वह अजेय शक्ति मैदान में आ रही है, जिसमें क्रान्ति करने की क्षमता थी। उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' और एकाध और पत्रों में कुछ

लेख लिखे, जिनमें बतलाया कि अब पुरानी दुनिया नहीं रहेगी, युगों से शोषित-पीड़ित मूक जनता अंगड़ाई ले रही है। उसमें ज़मींदारों के खिलाफ़ भी लिखा। बिहार में ज़मींदारों का बहुत ज़ोर था। बाबू चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह सबसे बड़े ज़मींदार नहीं थे, पर सबसे बड़े ज़मींदार-नेता तथा अंग्रेज़ों के नाक के बाल ज़रूर थे। जायसवाल जी के छोटे भाई इंजीनियर उमेशप्रसाद मुज़फ़्फ़रपुर में डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर थे, और शायद चन्द्रेश्वर प्रसाद डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन। उन्होंने भाई के द्वारा कहलवा कर धमकी दी: "यदि वह ऐसा लिखेंगे, तो हम ज़मींदार उनका बायकाट करेंगे, और अपने मुकदमे नहीं देंगे।" जायसवाल जी ने बहुत कड़ा जवाब लिखकर भेजा—"किसी की कृपा से मैं नहीं खड़ा हूँ। अपने बल पर अब तक मैं रहा।" कौन जानता था, कि इसी साल उन्हें महाप्रयाण करना है?

निर्भीकता रहते वह एक मात्र गुण के पक्षपाती थे। जात-पाँत या प्रांतीयता उन्हें छू नहीं गई थी। श्री क्षीरोदकुमार राय बड़े प्रतिभा-शाली पुरुष थे। कलम के ज़बरदस्त धनी थे, देशबन्धु दास के अंग्रेज़ी दैनिक-पत्र में सम्पादक थे। इतिहास और पुरातत्व में उनकी बड़ी गति थी। पटना में परिवार-सहित रहते थे। कैसे काम चलाते थे, यह कहना बहुत मुश्किल है। जायसवाल जी से उनकी बहुत घनिष्ठता थी। प्रायः रोज़ उनके पास आते और ऐतिहासिक स्थानों की यात्राओं में साथ रहते थे। पटना म्यूज़ियम के क्यूरेटर बाबू मनोरंजन घोष का देहान्त हो गया था। क्षीरोद बाबू से उपयुक्त क्यूरेटर कहाँ मिल सकता था? जायसवाल जी ने उनके लिए ज़ोर दिया। तुरन्त बंगाली-बिहारी का सवाल हो गया। बिहारी होते, तो शायद कायथ-भूमिहार का सवाल उठता। लोगों ने म्यूज़ियम के अध्यक्ष की बात नहीं मानी। क्षीरोद बाबू क्यूरेटर नहीं हो सके। इसके लिए जायसवाल को बहुत दुःख हुआ।

सन् १९३६ ई० के अन्त से ही मैं देख रहा था, जायसवाल जी अपने बचे समय का अधिक से अधिक उपयोग ऐतिहासिक अनुसन्धान में लगा रहे हैं। अब वह चाहते थे, बैरिस्टरी छोड़ दें। १ दिसम्बर को उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ सलाह करनी शुरू की—चल कर बिल्कुल साधारण तौर से बनारस में रहूँ। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय को भी इन विचारों को लिखा और कई और मित्रों को भी।

जायसवाल जी एक ओर प्रखर बुद्धिवादी थे। अपने अनुसन्धानों में उनका दृष्टिकोण पूर्ण तौर से वैज्ञानिक होता, पर दूसरी ओर हस्त-रेखा और ज्योतिष पर भी उनका विश्वास था। शायद इसका कारण आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। वह जानते थे, मैं इन कुराफ़ातों को सुनने के लिए भी तैयार नहीं था। १० अप्रैल, १९३७ ई० को डा० बीरबल साहनी ने पुरा-वनस्पति-शास्त्र पर पटना के साइन्स कॉलेज में व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने प्राप्त सामग्री के 'स्लाइड' भी दिखलाए। उनका कहना था, काश्मीर-उपत्यका में पुरापाषाण-युग में हथियार मिले हैं, और वैसे ही हिमालय के पार भी। उस वक्त हिमालय शायद इतना ऊँचा नहीं था। सम्भव है, पुरापाषाणयुगीन मानव हिमालय के इस पार से उस पार जाता रहा। व्याख्यान समाप्त हुआ। जायसवाल जी ने किसी पुराण का नाम लेकर बतलाया कि इस बात का संकेत वहाँ मिलता है। मैंने कहा—"मनुष्य की भाषा उस समय इतनी विकसित नहीं थी, कि वह अपनी इन यात्राओं का वर्णन अगली पीढ़ियों के पास पहुँचाता हो।" डा० साहनी भोजन के लिए हमारे साथ ही जायसवाल जी के घर जा रहे थे। पूछने पर उन्होंने भी मेरी बात का समर्थन किया।

एक दिन पुरा-लिपियों के पढ़ने की बात चली। अपने अनुसन्धानों के समय उनका चित्त अत्यन्त एकाग्र हो जाता था, इसीलिए दुष्पाठ्य ब्राह्मी अभिलेखों को भी वह पढ़ डालते थे। मैंने इसके खतरे को दिखलाते हुए कहा—"चित्त की एकाग्रता बड़ी अच्छी चीज़ है, लेकिन उससे हानि भी पहुँच सकती है। आप किसी पुराने शिलालेख को पढ़ रहे हैं। वहाँ कोई अक्षर बिल्कुल मिट गया है। चित्त पर आप बहुत ज़ोर दे रहे हैं, फिर मन अपने से एक अक्षर बना कर आपके सामने रख देता है।"

२१ अप्रैल को मैंने पटना से कुल्लू-लाहुल के लिए प्रस्थान किया। उस समय जायसवाल जी बिल्कुल स्वस्थ थे, सिर्फ़ गर्दन के पीछे ज़रा सी फुँसी थी, जिस पर वह पानी की पट्टी बाँधे हुए थे। जिसका फलित ज्योतिष पर विश्वास हो, उसका मन्त्र-तन्त्र और होमियोपेथी, नेचरोपेथी पर भी विश्वास हो सकता है। मैं जानता था कि उन्हें वर्षों से डायबेटीज़ थी। बहुत दवाइयाँ कीं, किन्तु बेकार, पुस्तकों को पढ़ते, तो उन्हें मालूम हो जाता, कि इस रोग की कोई दवाई नहीं है। बस, इन्सुलिन का रोज़ इंजेक्शन लीजिए। वह कभी इन्सुलिन का व्यवहार नहीं करते। रसगुल्ले से उनको बहुत प्रेम था। पत्नी बाधा डालतीं। मित्रों को चाय पर बुलाते। पत्नी कैसे रोकतीं? वह आधुनिक ढँग की नहीं थीं। पर्दा नहीं करती थीं, लेकिन बाहर मेहमानों में भी नहीं आती थीं। पिन्तो के रसगुल्ले सेर-सेर आते और जायसवाल जी भी खूब छूट कर गप्पें लगाते। पीछे जब पत्नी शिकायत करतीं, तो कहते—"भाभी, तुमको यों ही किसी ने कह दिया।" वह अपनी पत्नी को मज़ाकिया तौर पर भाभी कहा करते थे। उन्होंने डायबेटीज़ के लिए कभी ठीक तौर से संयम नहीं किया।

जायसवाल जी का बचपन बहुत तकलीफ़ में बीता था। उनके पिता बाबू महादेव प्रसाद अभी चपड़े के लखपती व्यापारी नहीं हुए थे। उन्होंने अपने बड़े लड़के काशी प्रसाद को उसकी माँ के साथ ससुराल में उपेक्षित छोड़ दिया था। ननिहाल बहुत गरीब था। लड़कों की देखादेखी वह भी मिठाई माँगते। उन्हें चने के सत्तू में गुड़ मिला कर छोटी-छोटी गोलियाँ बना लड्डू के नाम से देते। जायसवाल जी जब प्रसिद्ध बैरिस्टर और पक्के साहब हो गए थे, उनके यहाँ बैरा-खानसामा खाना बना कर मेज सजाते, तब भी गुड़ मिले चने के सत्तू वाला लड्डू नहीं भूलता था। कितनी ही बार वह उसे बड़ी रुचि से खाते। कहते थे—"मुझे बचपन का स्वाद याद आता है, और यह बहुत मीठा लगता है।"

उनका मिज़ाज कड़ा था, और हठी भी। यद्यपि मैंने अपने सम्बन्ध में उनके इस रूप को कभी नहीं देखा। एक बार उनका नेपाली

रसोइया लछमन खाना पकाने में कुछ गलती कर बैठा। जायसवाल जी बहुत गुस्से हुए। खूब फटकारा। सब लोग जान गए, आज लछमन की साहब खुशामद करेंगे। सचमुच उन्होंने सिर्फ़ आँखों से आँसू नहीं बहाए, वरन् अपने इस आचरण से बहुत दुःखी हुए। लछमन को बुला कर कहा—"देखो लछमन, मैंने बहुत बुरा किया, तुम मुझे माफ़ कर दो", और इनाम दिया।

जाड़े की रात में वह कभी-कभी चौबन्दी पहन लेते थे और ज़मीन पर आसन बिछा पालथी मार कर बैठ जाते। कथा शुरू होती, जिसमें जुमई मेहतर से लेकर घर भर के सभी नौकर शामिल होते। कभी भूतों की कथा शुरू करते, और अपने बगीचे के हरेक वृक्ष के भूत का हुलिया बतलाते। नौकरों को भूत का विश्वास तो था ही, अँधेरे-धुँधेरे में किसी को भय होना स्वाभाविक था। वह अपनी आँख देखी बात करता। जायसवाल जी उसमें और चार जोड़ते। फिर उस रात कितनों को आँख खोलनी मुश्किल हो जाती। जुमई को एक दिन आसमान में एक सफ़ेद दाढ़ी वाले पुरुष की बात बतला रहे थे। जुमई ने कहा—"हाँ भैया, मैंने देखा था। चाँदी जैसी सफ़ेद लम्बी-लम्बा दाढ़ी, आग सा चमकता चेहरा।" जायसवाल जी ने बड़ी गम्भीरता से कहा—"बस, बस, जुमई, वह दूसरा कोई नहीं, अल्ला मियाँ ही थे।" बचपन से ही वह भूतों के बारे में निर्भीक थे। मिर्ज़ापुर में उनके घर के पास लोग जोगटोन करके मिठाई, बकरा छोड़ आते। बालक काशी-प्रसाद मिठाई हाथ में ले लेते, और बकरे पर चढ़ कर उसी रात को लड़कों की पलटन बटोर मिठाई बाँट कर खाते।

मैं कुल्लू गया, कुल्लू से फिर बारह-तेरह हज़ार फुट ऊँचे रटंग जोत को पार कर लाहुल। केलंग से और आगे २५ मई से ६ जून तक ठाकुर मंगलचन्द के यहाँ कोलन में ठहरा। इससे पहले नारायण (जायसवाल-पुत्र) के पत्र से मालूम हो गया था, कि फोड़े का आपरेशन हुआ है। ३१ अप्रैल के पत्र से पता लगा, कि वह अच्छे हैं, पर बुखार नहीं छोड़ रहा है। कोलन में यह चिट्ठी पाकर मुझे कुछ घबराहट हुई। ६ जून को धूपनाथ की चिट्ठी पाकर मैं विकल हो गया। उन्होंने जयसवाल जी के पास कुछ दिनों रह कर लिखा था—"शायद अब साहब की अमृतवाणी सुनने को न मिलेगी। जीवन-शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। मैं तो निराश होकर आज घर लौटा जा रहा हूँ। शायद एक-दो दिन के बाद अशुभ सूचना आपको मिल जाए, तो कोई आश्चर्य नहीं।" धूपनाथ जी ने तेरह दिन पहले की अवस्था देख कर यह पंक्तियाँ लिखी थीं। मैं ऐसी जगह था, जहाँ से जल्दी करने पर भी बारह दिन से पहले पटना नहीं पहुँच सकता था। अगले ही दिन कोलन से रवाना हुआ। केलंग से पटना तार भी भेज दिया। नगर (कुल्लू) में नारायण की चिट्ठी मिली—"घाव भर रहा है, लेकिन बुखार अब भी है।" कुछ ढाडस हुआ। २५ जून को चेतसिंह का तार मिला—"अवस्था नहीं बदली, आपकी उपस्थिति ज़रूरी है।" २६ जून को मैं चला और २९ को सवेरे ५ बजे पटना पहुँचा। एक महीना—३० जुलाई—तक पटना में रहा। डाक्टरों की अक्ल काम नहीं कर रही था। इन्सुलिन और ग्लुकोज़ का इंजेक्शन दिया जा रहा था, साथ ही होमियोपेथी की दवा भी खिलाई जा रही थी। मेरे आने से पहले उनका सारा मुँह भयंकर रूप से सूज गया था। अब सूजन हट गई थी। घाव थोड़ा भरा था और बुखार सौ डिग्री था। लेकिन, मस्तिष्क विकृत हो चुका था, मानसिक वृत्तियाँ विश्रृंखलित थीं। स्मरण-शक्ति पूरी तौर से साथ नहीं देती थी। घाव में पीप ज़्यादा थी। अर्ध-प्रमत्त अवस्था में बोलते अधिक थे, बड़ी निर्बलता थी।

काँग्रेस ने असेम्बली का चुनाव जीता था। जायसवाल जी बराबर उसके बारे में पूछते थे। ७ जुलाई को समाचार मिला, कि बिहार में काँग्रेस ने मंत्री-पद स्वीकार कर लिया। खबर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। ९ जुलाई को दिनभर यही धुन रही, मुझे काँग्रेस के जलूस में ले चलो। खादी की अचकन और पायजामा पहन हमें मजबूर किया, कि उनकी चारपाई उठाकर बरसाती में ले चलें। दिन भर वहीं पड़े रहे। कमज़ोरी बढ़ती जा रही थी, और वह बराबर बोलते रहते थे। वह मस्तिष्क जो गम्भीरता और सूक्ष्म चिन्तन में लासानी था, अब पाँच वर्ष के बच्चों की तरह का हो गया था। मैंने उनके जीवन पर एक दृष्टि डालते हुए १२ जुलाई को लिखा था—"जायसवाल विद्या में, लिखने-बोलने में प्रवीण रहे, वह राजनीति से अलग रहे। इतना होते हुए भी वह हाईकोर्ट-जज या किसी दूसरे पद पर क्यों नहीं गए? किसी समय वह अधिकारियों को भले ही प्रसन्न करना चाहते हों, किन्तु खुशामद उनके स्वभाव में नहीं थी? स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक है। गर्म मिज़ाज हैं। अच्छी प्रेक्टिस होने पर भी रुपया नहीं जमा कर पाए, क्योंकि मितव्ययता जानते ही नहीं। घर पर घर के समान पर, लड़कों पर, यार दोस्तों पर आँख मूँद कर खर्च करते रहे।"

बराबर लेटे रहने के कारण २५ जुलाई को पीठ में भी फोड़े दिखाई देने लगे। एक फोड़े ने ही प्राणों को संकट में डाल दिया था। अब क्या आशा की जा सकती थी? ३० जुलाई को मित्र का तार आ गया, मुझे सारनाथ और लखनऊ जाना पड़ा। लखनऊ से चलकर ५ अगस्त को पौने ५ बजे सवेरे पटना उतरा। सामान उठवा कर जायसवाल जी के बंगले पर पहुँचा, जो स्टेशन से बहुत दूर नहीं था। कुली ने बरसाती के बाहर कुछ देखकर कहा—"यहाँ तो अर्थी है।" देखते ही दिल सन्न हो गया। मालूम हुआ, ४ अगस्त के सवा ६ बजे शाम को जायसवाल जी ने महाप्रयाण कर दिया। बतला रहे थे, अन्त तक स्मृति कायम रही, लेकिन वह स्मृति वही रही होगी, जिसे मैं देख गया था। ५ अगस्त की डायरी में मैंने लिखा था—"हा मित्र! हा बन्धु! हा गुरो! अब तुम मना करने वाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा सम्बोधन करने से कौन रोक सकता है। हो सकता है, तुम कहते—हमने भी तो आपसे सीखा है, किन्तु तुम नहीं जानते कि मैंने कितना तुम से सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण। अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओं की इस अभागे देश को बहुत ज़रूरत थी। आह! सभी आशाएँ खाक में मिल गईं। जायसवाल! ओः ऐसा!! दुनिया के लिए कुछ करना ही होगा, तुम्हारे बहुत

से स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरों के दिल से वियोग के दुःख को क्षीण भले ही करता जाएगा, किन्तु स्मृति उसे दिन पर दिन ताज़ी करती जाएगी। तुम्हारा वह सांगोपांग भारत का इतिहास तैयार करने और साम्यवाद के लिए मैदान में कूदने का खयाल !!! हा ! वंचित श्रमिक वर्ग, सहृदय मानव ! निर्भीक, अप्रतिभ मनोषी, दुनिया ने तुम्हारी कदर न की !!!

४ अगस्त को साढ़े ८ बजे श्मशान-यात्रा आरम्भ हुई। राजेन्द्र बाबू, काँग्रेस के मंत्रिगण—डा० महमूद, अनुग्रह बाबू आदि, कितने ही हाईकोर्ट के जज श्मशान तक गए। गंगा के किनारे चिता चिनी गई। साढ़े ११ बजे तक शरीर जल कर राख हो गया, राख गंगा में बहा दी गई।

मैंने जायसवाल जी की जीवनी लिखनी चाही। इसके लिए मिर्ज़ापुर में उनके घर गया, उनके बन्धु-बाँधवों, परिचितों और क-ख आरम्भ कराने वाले बूढ़े गुरू से मिला। बहुत-सी सामग्री जमा की, लेकिन रेल में पोर्टफोलियो भूल गया, जिसके साथ वह सारी सामग्री चली गई। फिर उतना परिश्रम करने के लिए समय नहीं मिला।

जायसवाल जी का जन्म मिर्ज़ापुर में १८८० ई० के आसपास हुआ। जैसा कि पहले बतलाया, उनके पिता ने माँ-बेटे को उपेक्षित कर दिया था, और बचपन उनका ननिहाल में बड़ी गरीबी में बीता। उनकी अपनी माँ से दो लड़के थे, जिनमें बड़े और छोटे चाईबासा की तरफ़ कहीं कोई काम करते थे। छोटी माँ से शायद तीन लड़के थे जिनमें बड़े उमेशसिंह इंजीनियर थे। मैट्रिक पास करने के बाद जायसवाल ने पढ़ाई छोड़ दी थी। पिता का चपड़े (लाख) का व्यापार चमका हुआ था, लाखों की आमदनी थी। मिर्ज़ापुर के व्यापारियों ने चपड़ा कमेटी कायम की थी। बातचीत में जायसवाल जी को अधिक बहस करते देखकर किसी ने ताना मारा—"बड़े बैरिस्टर बने हुए हैं।" बात लग गई, अब मुझे बैरिस्टर बनना होगा। पिता ने पुत्र की इच्छा पूर्ण करनी चाही, लेकिन विलायत में जाकर वह खाने-पीने में छुआछूत कैसे निबाहेंगे। उनके साथ ब्राह्मण रसोइया कर दिया गया। खाने की बहुत सी चीज़ें—दाल, चावल, मसाला आदि घर से भेजी जातीं। जायसवाल जी चाहते, तो बैरिस्टरी पास कर लौट आते, पर उनमें ज्ञान की पिपासा थी। वह आक्सफ़ोर्ड में भर्ती हुए, एम० ए० किया। फिर बैरिस्टरी पास की। इतिहास के अतिरिक्त उन्होंने चीनी भाषा जैसे कठिन विषय को पाठ्य चुना था, जिससे मालूम होगा, कि वह सस्ती डिग्री लेकर आने के लिए तैयार नहीं थे। वहाँ उनका सम्पर्क लाला हरदयाल और दूसरे भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ हुआ। वह भी उसी रंग में रंग गए, वहाँ से हिन्दी पत्रों में गर्मागर्म लेख भेजते, जिसे अंग्रेज़ों की खुफिया पुलिस देखा करती। उनको और घर भर को डर था, कि भारत लौटने पर वह पकड़ लिए जाएँगे। थाह लगाने के लिए वह लंका आए. मालूम हुआ कि कोई वैसी बात नहीं, फिर भारत आए। पहले कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करने लगे, वहीं उन्होंने मनु और याज्ञवल्क्य पर यूनिवर्सिटी में लेक्चर दिए जो पीछे पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो बहुत प्रसिद्ध हुए। 'हिन्दू राजनीति' (हिन्दू पालिटी) ने उनकी ऐतिहासिक विद्वत्ता की धाक विद्वानों के ऊपर बैठाई। बिहार बंगाल से अलग हो गया और पटना में हाईकोर्ट स्थापित हुआ, अब वह यहाँ चले आए। बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी और उसके जर्नल के वह संस्थापक और प्राण थे। इस शोध पत्रिका में उनके लेख बराबर निकला करते, जिसके कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रसिद्ध हो गए।

५७ वर्ष की उमर में ही उनका देहान्त हुआ। उनको बहुत करना था, और उसके लिए पूरा संकल्प कर चुके थे। जिस साल मृत्यु हुई, उसी साल उन्होंने बनारस जाने का निश्चय कर लिया था। हिन्दू यूनिवर्सिटी में अध्यापन का काम भी करने वाले थे, उसको ही उन्होंने अपनी पुस्तक संकल्प कर दी थी।

गढ़वाली कविता

लाडली माड़ी मेरी !

लाडली माड़ी मेरी, जाग जा हे !
कैसी नींद यह तेरी, जाग जा हे !
धूप छोड़ सिरहाने को, जाग जा हे !
है पर्दों में आने को, जाग जा हे !
साथ की पनिहारी, जाग जा हे !
पानी लाई बिचारो, जाग जा हे !
सहेलियाँ ये एक-एक, जाग जा हे !
घास को चलीं देख, जाग जा हे !

धौली गौ वह तेरो, जाग जा हे !
खूँटे पर बँधी है रो, जाग जा हे !
आया प्रात दृग खोलो, जाग जा हे !
लगे विहग बोलने, जाग जा हे !
हिमगिरि के शिखर, जाग जा हे !
गए आभा से निखर, जाग जा हे !
हमारा बाट का घर, जाग जा हे !
तेरी कैसी नींद, पर, जाग जा हे !

बात है वह कौन, जाग जा हे !
तू हुई जो मौन, जाग जा हे !
तेरे प्राण मुखर, जाग जा हे !
कौन देव गया हर, जाग जा हे !
क्या हुआ तुझे, जाग जा हे !
रो-रो दृग बुझे, जाग जा हे !

रूपान्तरकार : गोविन्द चातक



शरतचन्द्र : चन्दननगर-गोष्ठी में !

'प्रवर्त्तक' से

शरत बाबू बोले—"आप लोगों के यहाँ आने की मेरी इच्छा बराबर बनी थी। नाना झंझटों में फँसे रहने और शरीर अच्छा न होने के कारण आना नहीं हो सका। भाषण देना मैं नहीं जानता। उस बार जब मैं यहाँ आया था, तब कोई विशेष वक्तृता नहीं दी थी। बहुत-सी सभा-समितियों में गया हूँ, किन्तु मामूली ढंग की दो-चार बातें भर कह देना, यह मैं नहीं कर सकता। उस बार भी किसी से विशेष आलाप या परिचय नहीं हुआ था। इसी से फिर कभी आकर बातचीत करने की इच्छा थी। मैंने कहा था, लिखकर कुछ पढ़ सकूँगा किन्तु वह भी नहीं हो सका।

"चारु बाबू ने मुझसे प्रश्न करने का भार आप लोगों पर दिया है। व्यक्तिगत अभिज्ञता—जिसने एकाकार हो रूप ग्रहण किया है मेरी रचनाओं में, मेरे साहित्य में—उसी के सम्बन्ध में कुछ बोल सकता हूँ। इस प्रकार की गोष्ठी यदि हो और जो लोग साहित्यिक हैं, साहित्य के सम्बन्ध में जिनका कुतूहल है, वे लोग यदि मेरी किसी रचना के सम्बन्ध में कैसे और क्योंकर होती है, प्रश्न करें, तो मैं यथासाध्य उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। किन्तु ऐसा नहीं कि मैं सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकूँगा अथवा उत्तर देने को बाध्य हूँ।

"बचपन में एक बार यहाँ आया हूँ। धुंधली-सी याद है। मेरी आयु उस समय चार या पाँच साल की होगी। बोड़ाइ चण्डीतला[1] में एक-मंजिला घर, निकट ही पोखर, कुण्डु[2] महाशय का मकान—इसी तरह की दो-चार बातों को छोड़ और कुछ विशेष याद नहीं। दादी नाराज़ होकर यहाँ चली आई थीं, मैं भी उनके साथ आया था। यह बहुत दिनों की बात है। इस समय मेरी आयु ५५ वर्ष है। प्रायः पचास वर्ष पहले की बात है। इसी कारण आप लोगों से मेरी एक प्रकार की आत्मीयता की बात कही जा सकती है। अब तो बिल्कुल बाहर जा पड़ा हूँ।...मेरे मतामत आदि के सम्बन्ध में यदि कुछ जिज्ञासा करें तो ठीक है...यदि न करें तो आपत्ति नहीं। इस बहाने वार्तालाप और परिचय हो जाता है। मतिबाबू की भी आज कुछ सुनना चाहता हूँ।"

तब श्री बसन्त कुमार बंद्योपाध्याय ने अनुरोध किया—"आप अपना वंश-परिचय और साहित्यिक जीवन की कुछ विशेष बातें हमें बताइए।"

शरत बाबू ने कहा—"आपको अपने वंश का कुछ परिचय दिया इसलिए क्या सभी को देना होगा? सुनकर दुःख होगा। वंश का कोई गौरव मेरे पास नहीं।...जिन लोगों ने हमारे प्राचीन इतिहास को ईंट-पत्थर खोद कर ढूँढ निकाला है और कहते हैं—यह देखो, हमारा यह था, वह था—मैं उनकी बात सुनकर खुश नहीं होता। इससे मेरी छाती फूल नहीं उठती। मैं तो कहता हूँ—हमारे यहाँ कुछ भी नहीं था। इसमें दुःख करने की कोई बात नहीं। अपने जीवन का परिचय नहीं देता। दो हज़ार वर्ष पहले हमारे यहाँ क्या था, क्या नहीं, ईंट-पत्थर खोदकर उनकी बात सुनने की आवश्यकता नहीं। मेरा कहना है—प्राचीन वस्तुओं को लेकर गर्व करने से बात नहीं बनेगी। नूतन गढ़ डालो। जाति के सम्बन्ध में भी वही है। जात यदि नहीं रही तो उससे क्या आता जाता है। इस प्रकार के लड़के मिलते हैं, जिनके पास वंश-परिचय देने को कुछ भी नहीं। वह अपने बल पर बड़े बने हैं, सफल हुए हैं, मेरा तात्पर्य भी वही है। मेरी एक पुस्तक अधूरी पड़ी है—'शेष प्रश्न'। उसमें इसी सम्बन्ध में चर्चा की है। आजकल जो कुछ चल रहा है, उसके बहुत से पहलुओं पर उसमें कटाक्ष किया गया है। मति बाबू शायद खूब बिगड़ें, वे तो बिगड़े ही हुए हैं। पुस्तक अभी तक समाप्त नहीं हुई है, लगता है दो-चार दिनों में लिखना समाप्त होगा। समाप्त हो जाने पर, उसे पढ़ कर शायद वे प्रसन्न नहीं होंगे।

"धर्म के मामले में हमारे वंश की कुछ ख्याति रही है। हमारे वंश में आठ पुश्त से एक न एक व्यक्ति संन्यासी होता आ रहा है। मेरे मँझले भाई संन्यासी थे। मेरे मामा का वंश भी धर्म-भीरु वंश रहा। नाना कट्टर हिन्दू थे। मैं भी खूब...यहाँ तक कि चार पाँच बार संन्यासी होकर घूमता फिरा हूँ। अच्छे-अच्छे संन्यासी जो कर सकते हैं अर्थात गाँजा सेवनादि, वह भी खूब किया है। किन्तु अब इसका बिल्कुल उल्टा है। यह धर्म को लेकर चलने का जो मार्ग है—मति बाबू जो करते हैं, उन्होंने जिस मार्ग का अवलम्बन लिया है—किन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना शोभन नहीं होगा। मेरा मार्ग यह बिल्कुल नहीं है।

"मति बाबू की पुस्तकें मैं खूब पढ़ता हूँ, उनकी जितनी भी रचनाएँ हैं, मैंने खूब मन लगाकर पढ़ी हैं। वे इस देश को फिर पुराने धर्म पर खड़ा करना चाहते हैं, नया वर्ग गढ़ना चाहते हैं, किन्तु आधार हुआ धर्म, भगवद्भक्ति—यही सब। शास्त्रों में बहुत-सी साधना की बातें हैं। दुर्भाग्य से मेरा मन उलटी दिशा में गया है और साधना का कोई मूल्य ही नहीं खोज पाता। शास्त्र-साधना जो थी, सभी यदि इतनी महान थी तो हम इतने छोटे कैसे हो गए? नाना लोग नाना बातें कहेंगे। अपनी आँखों के सामने देखता हूँ कि सभी जातियाँ, जिनमें आत्म-सम्मान की अनुभूति बहुत अधिक है, वे लोग

१. मुहल्ले का नाम २. जाति का नाम।

स्वाधीन कहकर संसार को अपना परिचय देते हैं। हम लोग इतने बड़े होकर भी पठानों, मुग़लों और फिर अंग्रेज़ों के जूतों तले रौंदे गए। हम कहते हैं, हमारा आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊँचा है, किन्तु बाहर के लोग इस पर विश्वास नहीं करते। पता नहीं, मन ही मन हँसते हैं या नहीं! यदि इतने ही बड़े थे तो छोटे क्यों हुए जा रहे हैं? देश जिस त्याग के बीच से गुज़र रहा है, मुझे लगता है कि ठीक इसी में कोई गलती छिपी हुई है, उसे खोज भी नहीं पाते। क्रमशः अवनति की ओर चले जा रहे हैं। मेरी पुस्तक समाप्त हो जाने पर देखेंगे कि उसमें इन्हीं सब मतों की चर्चा की है। चार जनों को सुनाकर कहता हूँ, बताएँ, ये हज़ार वर्ष से ही हमारी दुर्दशा क्यों हुई? यह क्यों कर सम्भव हुआ? कोई यदि उसका कारण खोज सके तो देश का महान उपकार होगा। कोई उपाय साफ़ नज़र नहीं आता। अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं कर पाते, अपने पर भी कोई विश्वास नहीं। यही यदि बड़ी चीज़ है तो क्या आशा की जा सकती है? आप लोग ही कहें, इसमें कहाँ भूल है? मति बाबू से भी कहता हूँ, इस गोष्ठी में बताएँ, इसमें कहाँ गलती है, जिसके कारण हम इतना बड़ा दण्ड भोग रहे हैं! मैंने भी सोचा है राजनीति में अब नहीं पड़ूँगा। कभी बहुत अधिक सम्बन्ध था भी नहीं। मैं यही मार्ग अपनाऊँगा, विध्वंसात्मक कार्य करूँगा। सब वस्तुओं को छोटा करके देखूँगा। बहुत बड़े थे अतः परिणाम कुछ न निकला! हमारे पास कुछ नहीं था। इसके लिए कोई दुःख भी नहीं है। बड़े बन जाओ, जैसे और लोग बड़े बन सके हैं। हमारे साथ उन लोगों की नहीं बनती, वह बड़े हैं, यह बात कहने से भी नहीं होगा। हम जो कहते हैं वह करते नहीं—मिथ्यावादी—यह बिलकुल झूठ तो है, किन्तु यही एकमात्र कारण नहीं। इस बारे में चर्चा हो। मैं यही मार्ग ग्रहण करूँगा। जिनके पास था उनके साथ हमारा कोई सम्पर्क नहीं, रक्त-सम्बन्ध भी नहीं, धर्म-सम्बन्ध भी नहीं, केवल एक देश में रहते हैं, इतना ही सम्बन्ध है। उनके साथ सम्पर्क की बात मौखिक सुनी जाती है, सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता। यदि कोई समझा सके, यह इसी प्रकार तो है, तो बात अलग है। अन्यथा लोग सोचेंगे, मेरी रचनाओं से क्षति हो सकती है। तेरह-चौदह वर्ष पूर्व बहुतों ने सोचा था मैं साहित्य को नष्ट कर दे रहा हूँ। यहाँ तक कि बड़े लोगों की यह धारणा बँध गई थी कि मैंने जो लिखना आरम्भ किया है, लगता है, उससे सब विध्वस्त हो जाएगा। अब ऐसी धारणा नहीं। अब बहुत से लोग कहते हैं, विशेषकर नवयुवक, "आपने अच्छा ही मार्ग ग्रहण किया है, आपकी बात हम मान लेंगे।" मैंने जो चीज़ कही, मैं जानता हूँ शायद लोग उसका प्रतिवाद करेंगे। मैंने स्पष्ट ही कहा है, लुका-छुपा कर नहीं। यदि आप लोग कहें यह पथ तो ठीक नहीं, क्यों! यदि बता सकें, तो फिर से सोच-विचार कर देखूँगा। मति बाबू से भी यह बात कहता हूँ। असल बात यह है, मैं संस्कार का पक्षपाती नहीं। पुराण नामक वस्तु की पोशाक-भर बदल देना मैं नहीं चाहता। 'पथेर दावी' ('अधिकार' नाम से हिन्दी अनुवाद) में समझाया है संस्कार का अर्थ क्या है? वह अच्छा कुछ नहीं है। जो वस्तु खराब है, बहुत दिन चलने के कारण ढीली-ढाली होकर हिलने-डुलने लगी है, उसे सुधार कर खड़ा कराना है। जिस प्रकार गवर्नमेण्ट का शासन-सुधार और दूसरा दल जो क्रान्ति चाहते हैं, का अर्थ और कुछ नहीं, एक आमूल परिवर्तन है। हम बूढ़ों का दल यह नहीं चाहता, वे लोग सुधार करना चाहते हैं। मुझे लगता है, मरम्मत करने से चीज़ अच्छी नहीं बनती। जो कुछ है उसी की आयु वृद्धि कर खड़ा करना है। जो निश्चल हो चुका है, जिसे उपेक्षा करने से जो शायद स्वयं ही नष्ट हो जाता, उसे कठोर-मज़बूत बनाकर खड़ा करना है। जो खराब है, उसे सुधार कर, संस्कार कर, फिर से खड़ा करना उचित नहीं। मति बाबू ने भी शायद सोचा है, अपने धर्म का संस्कार कर, उसी को सुधार करके फिर से खड़ा कराएँगे। मैं कहता हूँ, सुधार नहीं, इस धर्म को ही छोड़ दो। उसका जीर्णोद्धार कर उसे पुनरुज्जीवित करने की क्या आवश्यकता? छः-सात सौ वर्ष पुरानी चीज़ को यदि फिर से खड़ा कराओ, तो वह और हज़ार वर्ष चलेगी। अच्छा मति बाबू ही कहें, इस सम्बन्ध में वे क्या सोचते हैं?"

मति बाबू—"शरत बाबू मुझ से कुछ सुनना चाहते हैं।···किन्तु धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है, उस बारे में दो-एक बातें कहे बिना मैं न रहूँगा। उन्होंने धर्म को उड़ा देना चाहा है। फ्राँसीसियों ने भी धर्म को उड़ा देना चाहा था, किन्तु उसके बदले में उन्होंने दिया था साम्य, मैत्री, स्वाधीनता। किसी चीज़ को मिटा कर उसके बदले में कुछ देना तो चाहिए। शरत बाबू धर्म को छोड़कर उसके बदले में क्या दे जाएँगे? यह जिज्ञासा करने का तो मेरा अधिकार है। मैं धर्म में आवश्यक सुधार कर, कूड़ा-कर्कट साफ़ करके उसे खड़ा कराना नहीं चाहता। अपनी रचनाओं के द्वारा मैंने यही कहा है। धर्म हम लोगों को मिला ही नहीं। हमारा देश भली भाँति धर्म पर अधिकार नहीं कर सका। धर्म, अर्थ, मोक्ष के सिद्धान्तों को सामने रख उन्हें पूरी तरह से जकड़ रखा है। भारत के ६० लाख संन्यासी इस मोक्ष की आकाँक्षा से वन-पर्वत और गिरि-कन्दराओं में विचरते हैं। इन साठ लाख संन्यासियों को छोड़कर भारत के शेष बत्तीस करोड़ चालीस लाख (यदि मोटे तौर पर भारतीयों की संख्या तेंतीस करोड़ मान ली जाय) लोग जो सांसारिक प्राणी हैं, वे भी तो धर्म का परिणाम मोक्ष ही जानते हैं। कर्मक्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होगा, यही धारणा बद्धमूल हो गई है। धर्म कहने से यदि केवल मोक्ष ही समझा जाए, जीवन को छोड़ देना ही यदि धर्म हो, तो इसमें संदेह नहीं कि धर्म बिलकुल असार वस्तु हो जाएगी। धर्म का प्रकृत स्वरूप यह नहीं है। धर्म कहने से उसे निर्माणकारी आधार पर खड़ा होना होगा। यदि ध्वंस का रुद्र रूप धारण कर आप आ जाएँ, आप सब कुछ विध्वस्त कर सकेंगे; किन्तु मुझे लगता है 'ध्वंस-गीत' के साथ-साथ निर्माण की चिंता भी आपके मन में है। उन्नति की ओर अग्रसर होती हुई जातियों की ओर से, आपसे कोई ठोस चीज़ चाहता हूँ। आप प्रहार कर सकते हैं किन्तु मेरे विश्वास से मुझे नहीं डिगा सकते। जिस प्रकार आपका एक विश्वास

है, आपको अपने विश्वास से मैं नहीं डिगा सकूँगा। उसी प्रकार मेरा भी एक विश्वास है।

"धार्मिक सुधार नहीं, मैं धर्म को नया रूप देने की बात कहता हूँ। धम मोक्ष नहीं है। हिन्दू आज धर्म कह जीवन को छोड़ कर आत्म-प्रतारणा करते हैं। हिन्दुओं के समान इतनी बड़ी प्रवंचना और कहीं नहीं है। अक्षमता जिसकी मूल भित्ति हो, वह जाति कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकती।...हम आपकी रचनाओं में जिस वास्तविकता का परिचय पाते हैं, उसी प्रकार विध्वंसात्मक नीति में भी कुछ एक धनात्मक की ओर भी आपको संकेत करना होगा। 'शेष प्रश्न' के बाद भी आपको लेखनी थामनी होगी। अंतिम प्रकाश आपको डालना ही होगा। यह तो बताना होगा कि विध्वंस के बाद क्या दे गए?"

शरत बाबू—"मति बाबू के कथन से अपनी बात का सही उत्तर मुझे नहीं मिला। शायद वे मेरी बात पकड़ नहीं पा रहे हैं। मैं यही बात कहना चाहता हूँ। सुधार कर कुछ खड़ा कराना चाहते हैं, जो अच्छा नहीं।"

मति बाबू—"मैंने कहा न, भारत का धर्म मोक्ष नहीं है। मुक्ति का अर्थ है वासना और अहंकार से मुक्ति, जीवन से मुक्ति नहीं। मुक्ति मुच् धातु से बना है। अहं और वासना मिट जाने पर, इसी जीवन में मुक्ति का आस्वादन किया जा सकता है, जीवन को त्याग करके नहीं। वासना-अहंकार-मुक्त मानव असीम शक्ति के साथ संयुक्त होगा, आनन्द एवं प्रकाश का प्रतिबिम्ब जीवन पर अधिकार कर लेगा। इस जीवन में मुक्ति का आस्वादन कर पाने पर धर्म का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। श्रद्धा का एक सनातन रूप है। उस रूप पर कोटि-कोटि लोगों की श्रद्धा है, उसको डिगाने की चेष्टा न कर, उसका उचित रूप से उपयोग कर पाने पर ही हमें अधिक से अधिक लाभ मिल सकेगा। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा बाद में होगी। इस गोष्ठी में अधिक वाद-विवाद में पड़कर आपके मूल्यवान उपदेश से वंचित होना नहीं चाहते।"

शरत बाबू—"कोई अमूल्य उपदेश मैं नहीं दे सकूँगा। मैं जो कुछ करूँगा वह कह चुका।

"अहंकार और वासना से मुक्ति की जो बात आपने कही, उसकी आवश्यकता है। फिर अन्य जातियाँ जो हमारे सिर पर सवार हैं वे सब जिस प्रकार बड़ी बनी हैं उसी प्रकार हमें भी बड़ा बनना होगा।"

मति बाबू—"उन्हीं के समान बनने को कहते हैं। रोमन भी किसी दिन बड़ी सभ्य जाति थी, किन्तु उनकी उस सभ्यता का अब कितना अस्तित्व है!"

शरत बाबू—"देखिए, इस बात से मुझे तनिक भी सांत्वना नहीं मिलती। उन्हीं की भाँति यदि हम भी बड़े बन सकें तो इसमें हानि क्या है?।"

मति बाबू—"उसमें तो निश्चिह्न हो जाने की आशंका है।"

शरत बाबू—"पृथ्वी की समस्त जातियाँ अपने पैरों के बल पर खड़ी हैं, महान बनती जा रही हैं। किन्तु हम नितान्त निरुपाय हैं, बड़े नहीं बन पा रहे हैं। इस अवस्था में और २०० वर्ष बाद क्या होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। रोम की तरह ध्वस्त हो जाने पर भी अब किस प्रकार उन्नति हो सकती है यही चिंता करना चाहता हूँ। मेरे कहने का उद्देश्य है—मैं बड़ी चिंता में पड़ा हूँ। राजनीति में भाग लिया था किन्तु अब उससे छुट्टी ले ली। उस भीड़-भाड़ में कुछ हो न सका। बहुत-सा समय भी नष्ट हुआ। इतना समय नष्ट न करने से भी तो चल सकता था। जो हुआ सो हुआ, कुछ अनुभव ही प्राप्त हुआ। आगे से अपनी साहित्य-साधना में ही लगा रहूँगा।

"लगता है आप लोग मेरी बात ठीक प्रकार से समझे नहीं।"

इसी समय श्रीयुत ब्रजेन्द्रनाथ गोस्वामी ने प्रश्न किया—

गोस्वामी जी "हमारे पास कुछ नहीं था इसका प्रमाण क्या?"

शरत बाबू—"प्रमाण है हमारी अवस्था।"

गोस्वामी जी—"कैसा प्रमाण! अच्छा मान लीजिए, मेरे बाप-दादा बड़े लोग थे, खूब धूम-धाम से होली-दिवाली मना गए हैं। किन्तु आज मैं गरीब हो गया हूँ, तो क्या इसीलिए कहा जाएगा कि मेरे बाप-दादा ने होली-दिवाली नहीं मनाई? यह क्या सच होगा?"

शरत बाबू—"मैं यह नहीं कहूँगा। किन्तु कहूँगा कि वे अपनी इस होली, दिवाली के द्वारा ही मुझे इस दुरवस्था तक पहुँचा गए हैं।"

चारु बाबू—"दोनों ही ठीक एक बात नहीं......कुछ न होने पर कुछ होने का प्रश्न है। अब आप अपने साहित्यिक जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ बताइए। आपकी साहित्यिक बनने की आकांक्षा ने सामान्य व्यक्ति अर्थात असाहित्यिक से आपको किस प्रकार जगत प्रसिद्ध साहित्यिक के रूप में परिणत कर दिया। इस प्रवृत्ति के क्रम-विकास के बारे में कुछ कहिए।"

शरत बाबू—(कौतुक पूर्वक) "गलत, मैं साहित्यिक ही नहीं हूँ, पेट की ख़ातिर साहित्यिक बना हूँ।"

चारु बाबू—"आपकी इस बात पर हम लोग विश्वास नहीं करेंगे। हम लोग सुनना चाहते हैं कि आपके साहित्यिक जीवन का सूत्र किस प्रकार क्रमशः विकसित होता हुआ उच्च शिखर तक पहुँच सका?"

शरत बाबू—"साहित्य का मूल है 'सहित' से अर्थात सबके सहित सहानुभूति रखना आवश्यक है। यही मूल बात है।

"मेरा किस प्रकार क्या हुआ यह मैं नहीं जानता। बचपन से ही पढ़ने-लिखने का शौक था। मन में भीतर ही भीतर एक प्रकार की इच्छा होती कि इस दुनिया में जो विभिन्न प्रकार की चीज़ें देखते-सुनते हैं उन्हें क्या कोई एक रूप नहीं दिया जा सकता? अकस्मात एक दिन लिखना आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ में अवश्य ही यहाँ-वहाँ से चुरा कर ही लिखता था। अभिज्ञता न होने के कारण कुछ अच्छा नहीं लिखा जाता था। अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। बहुत सभ्य, शान्त, शिष्ट जीवन होगा और सम्पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त हो जाएगी, ऐसा नहीं होता। मैंने कहा, इच्छा से हो या अनिच्छा

से मुझे चार-पाँच बार सन्यासी होना पड़ा। अच्छे पहुँचे हुए सन्यासी जो करते हैं, वह सब कुछ किया। चरस-गाँजा और वर-मलाई कुछ भी न छूटी।''

श्रोताओं में से किसी ने टिप्पणी करते हुए कहा—

''देखता हूँ उस विद्या में खूब पारंगत हो कर आया है।''

शरत बाबू ने उपयुक्त ही उत्तर दिया—''इन सब विद्याओं में पारंगत हुए बिना कुछ भी होने का नहीं, महाशय!''

उसके बाद फिर बोलने लगे।

''बीस वर्ष उसमें चले गए। उसी बीच कई एक पुस्तकें लिख डालीं। 'देवदास' आदि उसी बीस के बीच लिखी गईं। उसके बाद गाना-बजाना सीखने लगा। पाँच वर्ष उसमें निकल गए। तदुपरान्त पेट की खातिर विभिन्न दिशाओं को चल पड़ा। इसी में पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त हुई। इस प्रकार बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता जिसे सही अर्थों में अच्छा नहीं कहा जा सकता। किन्तु पुण्य का प्रताप था कि उनमें बिलकुल डूब नहीं गया। आँखें खुली रखता, प्रत्येक छोटी-मोटी चीज़ की तह तक पहुँचने की चेष्टा करता। अभिज्ञता बढ़ती जाती। समस्त द्वीपों (बर्मा, जावा, बोर्नियो) में घूमता फिरता। वहाँ के अधिकांश लोग अच्छे नहीं हैं। इस सारी अभिज्ञता का ही फल है—'पथेर दाबी'। घर बैठ, आरामकुर्सी पर पड़े रहकर साहित्य-सृष्टि नहीं होती। हाँ, नकल की जा सकती है। किन्तु साहित्यकार यदि मानव को न देखे तो साहित्य नहीं होता। ये लोग करते क्या हैं कि पुस्तक के किसी एक 'कैरेक्टर' को लेकर उसी में कुछ रद्दो-बदल कर एक नवीन 'कैरेक्टर' की सृष्टि कर डालते हैं। मानव क्या है, यह मानव को देखे बिना नहीं समझा जा सकता। अत्यन्त कुत्सित गन्दगी के भीतर भी इतनी मानवता देखी है कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह सारी अभिज्ञता मेरे मन में बनी रही। मेरी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी है। बचपन से तीव्र है, नष्ट नहीं हुई। जानने की इच्छा मेरी बराबर बनी रहती है। मानव के भीतर की सत्ता को जानना ही मेरा उद्देश्य है। जो तनिक फिसल गया, मनुष्य उसे बिलकुल फेंक दे, यह क्या बात?

''मैं निरंतर मनुष्य का अंतरंग ही देखता हूँ। इसने कहा, उसने कहा, दूसरे के कंधे से बंदूक चलाना, अन्य की अभिज्ञता को अपना बनाना—यह मैंने कभी नहीं किया। बहुत ही अभागा यह करेगा। वास्तविक जीवन को देखना चाहने पर शुचिता-अशुचिता के चक्कर में पड़ने से बात नहीं बनेगी। जिस अभिज्ञता के कारण गोर्की, टॉलस्टाय, शेक्सपीयर आदि शुचिता के फेर में नहीं पड़े। उनमें यह शुचिता की बीमारी नहीं थी। मूर्त्त रचना करना चाहने पर कल्पना से काम नहीं चलता, अपनी अभिज्ञता चाहिए। दूसरों की रचनाएँ मैंने बहुत कम पढ़ी हैं। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। मेरे घर पर जो पुस्तकें हैं उनमें अधिकांश साइंस की पुस्तकें हैं। इसलिए मेरी रचनाओं में युक्तियों का प्रयोग या समन्वयात्मक परिणाम अधिक है। रूप का वर्णन, स्वभाव का वर्णन प्रायः नहीं है। वह सब मैं दो-चार वाक्यों में ही निबटा देता हूँ, उस पर अधिक ध्यान नहीं देता। असली चीज़ है उसकी सत्ता या मन, चाहे जो कहिए, मनुष्य का अंतरंग। उसी को प्राप्त करने के लिए गहरी अभिज्ञता चाहिए। मैंने अपनी अभिज्ञता किस प्रकार बढ़ाई उसका विवरण देने की आवश्यकता नहीं, सब बताने लायक भी नहीं। मानव स्वभाववश अथवा दुर्बलता के कारण वह सब सहन नहीं कर सकता। रवीन्द्रनाथ के उस गीत में जैसा है, जो विष है, वह मेरे ही हिस्से में पड़ा। उससे जो निकला वह अपनी रचनाओं द्वारा सब को दिया है। बहुत से लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं, ''आपके चरित्रों को पढ़ने पर लगता है मानो वे काल्पनिक नहीं हैं।'' मेरे नब्बे प्रतिशत चरित्रों का आधार सत्य है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि सत्य मात्र साहित्य नहीं है। ऐसी अनेक सत्य घटनाएँ हैं जिन्हें साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किन्तु बुनियाद सत्य पर न खड़ी करने से पात्र प्राणवान नहीं हो पाता। नींव पक्की होने पर कोई भय नहीं। जैसे ही कहा अस्वा-भाविक वैसे ही उसे बदलना नहीं पड़ता। मैंने जो चरित्र देखे हैं, पारिपार्श्विक घात-प्रतिघातों के कारण उनकी जो परिणति हुई, वही चित्रित की है। इसी से मुझे डरने का कोई कारण नहीं। लोगों के उन्हें अस्वाभाविक कह देने भर से मैं नहीं मानूँगा। इसी प्रकार मेरे साहित्यिक जीवन का निर्माण हुआ।''

चारु बाबू ने पूछा—''आपकी जो गंभीरतर साहित्यिक उपलब्धि है, उसकी प्राप्ति किस प्रकार हुई? आप भाव को किस प्रकार मूर्त रूप देते हैं? कहने का जो ढँग, जो गठन, आद्योपान्त जो रस, जो आकांक्षा, जो लालित्य—यह सब आपने कहाँ से पाया? आपकी बोल-चाल की भाषा के साथ आपकी पुस्तकीय भाषा का कोई मेल नहीं। न तो यह 'पथेर दाबी' की भाषा है और न किसी अन्य रचना की ही।''

शरत बाबू ने कहा—''यह मैं नहीं कह सकता। भाषा तो अपने आप ही आती है; मेरा लिखने का ढंग साधारण से अलग है। मैंने पहले ही कहा, मेरी स्मरण-शक्ति बहुत तेज़ है। बचपन से जो देखा-सुना है, वह सब का सब हर समय मन में बना रहता है, ऐसा नहीं। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर याद आ जाता है। मैं सर्वप्रथम पात्र ठीक कर लेता हूँ—एक, दो, तीन क्रमशः। कहानी आरम्भ करना अथवा पात्रों को लाकर खड़ा कर देना मेरे लिए बहुत सहज है। बहुत से लोग कहते हैं—''हमें प्लाट नहीं मिलते, इससे लिखते नहीं।'' मैं अवाक रह जाता हूँ, इतनी विशाल धरती पड़ी है, इतना वैचित्र्य, और ये लोग प्लाट नहीं खोज पाते! इसका कारण है, वे मानवता को नहीं खोजते, अपनी कथा को लेकर ही व्यग्र रहते हैं। किससे लोगों का मनोरंजन हो, मैं यह नहीं करता। यही जैसे चारु बाबू को लीजिए। किसी पात्र का व्यक्तित्व भी नष्ट नहीं होने देता और घटनाक्रम को भी नहीं। लगता है साइंस की पुस्तकें पढ़ने के कारण मेरी भाषा भी उसी तरह की हो जाएगी। मैं भाषा अच्छी नहीं जानता। शब्दावलि बहुत कम है, फिर भी वह लोगों को क्यों अच्छी लगती है, मैं नहीं जानता। जो कुछ कहना या समझना चाहता हूँ वही मन में रखता हूँ और इसके लिए बहुत परिश्रम

करता हूँ। 'वह' और 'उन' का प्रयोग बहुत सावधानी से करना होता है। रचना को बहुत घिसना-माँजना पड़ता है, निर्झर सी स्वतः नहीं फूट पड़ती। जो लोग कहते हैं कि जो लिखूँगा वही उत्कृष्ट है, वे लोग भयंकर भूल करते हैं। मनुष्य की बात-चीत की तरह लिखने में भी बहुत-सी असम्बद्ध बातें रहती हैं। उस ओर नज़र रखनी होगी। मैं जैसे-तैसे कोई काम नहीं करता। इसलिए भूमिका लिखकर मुझे समझाना नहीं पड़ता। मेरी किसी पुस्तक में भूमिका नहीं है। चार सौ पन्ने की पुस्तक पढ़कर जो नहीं समझ सका वह चार पन्ने भूमिका के पढ़कर क्या समझ सकेगा? मैं पुस्तक में ही समझाने की चेष्टा करता हूँ। कोई बात द्व्यर्थक न हो इस ओर भी ध्यान रखता हूँ। मुझसे भले ही मत न मिले किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि आपकी रचना समझ नहीं सका।

"और एक बात बराबर देखता आ रहा हूँ। साहित्य रचना के भी कुछ कायदे-कानून हैं। ध्यान रखना होता है कि रस-वस्तु अश्लीलता की सीमा में न चली जाए। श्लीलता-अश्लीलता के बीच ऐसी एक सूक्ष्म रेखा है कि जिसके एक इंच उधर पाँव पड़ जाने से ही सब अश्लील होकर नष्ट हो जाता है। ज़रा-सा पाँव फिसला तो फिर बचना मुश्किल है। अवश्य ही मैं रसिकों के बारे में कह रहा हूँ। अश्लील साहित्य सर्वदा वर्जनीय है। मनोरंजन की खातिर मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। यथासाध्य मैं ऐसा नहीं करता। मेरी कठोर आलोचना हुई है। गाली-गलौच की बौछार निकल गई। देश नहीं जानता ग्रंथकार, कवि, चित्रकार, इनका जीवन सर्वसाधारण से भिन्न होता है। यहाँ के लोग यह नहीं जानते। नहीं जानते कि इनको स्नेह की छाया में ही रखना पड़ता है। लोग चाहते हैं, इन्हें अभिज्ञता भी प्राप्त हो और हमारी तरह शान्त, शिष्ट, भद्र जीवन भी यापन करें। ऐसा नहीं हो सकता। यह दुःख का विषय है कि हमारे देश में जो आलोचना होती है उसमें बारह-आने व्यक्तिगत आक्षेप होते हैं। यह सारी आलोचना व्यक्ति की होती है पुस्तक की नहीं। इसी कारण बहुत से लोग भयभीत हो उठते हैं। 'बामुनेर मेये' (ब्राह्मण की लड़की) नामक मेरी एक पुस्तक है। शायद बहुतों ने यह पढ़ी भी नहीं। पुस्तक लिखते समय रवीन्द्रनाथ से वार्तालाप हुआ था। उनसे कहा था कि इस प्रकार की एक पुस्तक लिखने की इच्छा होती है। इस सम्बन्ध में मेरे बहुत से व्यक्तिगत अनुभव हैं। उन्होंने कहा, "अब तो कुलीनता रही नहीं, एक व्यक्ति के सौ विवाह भी नहीं होते, कथानक की भी चिन्ता नहीं। तो फिर इसकी पुनरावृत्ति करने से क्या लाभ होगा? किन्तु यदि साहस हो तो लिखो, लेकिन कोई मिथ्या कल्पना मत करना।" गड़े मुर्दे उखाड़ना मेरा भी उद्देश्य नहीं। कुलीन प्रथा मुझे बहुत चुभती थी। जो लोग अपने को ब्राह्मण होने के कारण गौरवान्वित समझते हैं और सोचते हैं कि ब्राह्मणों में विशुद्ध रक्त प्रवाहित होता आया है, उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत है। अंग्रेज़ी में जिसे 'नील रक्त' कहते हैं, वह नहीं। कुलीनता के सम्बन्ध में कितना गोल-माल अपनी आँखों से देखा है। इतिहास की बात नहीं, मैंने जो स्वयं देखा है वही लिखा है। एक आध नहीं बहुत सा। ऐसे ही एक घर से निमन्त्रण पा कर भोजन भी कर आया हूँ। कुलीनता अच्छी चीज़ है या बुरी, इस बारे में मुझे निर्णय नहीं देना है, और मैंने दिया भी नहीं है। मैं यह बात कभी नहीं कहता कि वैद्य[1] के साथ कायस्थ का विवाह कर दो। फिर भी यदि कोई कर ले, कल्चर (शिक्षा-दीक्षा) मिलती हो, तो यह अवश्य कहता हूँ, "कि उसमें बाधा मत डालो।" उसने अच्छा किया या बुरा, मेरा कहना यह नहीं। वह कपटी नहीं, आखिर इतना तो कहूँगा। उसने जो उचित समझा, किया है। एक समाजिक प्रश्न उठाकर उसमें बाधा डालना उचित नहीं। बहुत से लोग मुँह से कहते रहते हैं, विधवा लड़कियों का विवाह करो। किन्तु जैसे ही अपनी लड़की विधवा हुई तैसे ही वे कहना शुरू कर देते हैं—देखिए, ऐसा हम नहीं कर सकेंगे। हमें और भी तो चार लड़कियों के विवाह करने हैं आदि आदि। इस प्रकार के मिथ्याचार को मैं अच्छा नहीं कहता। रवीन्द्रनाथ, जिनके समान इतनी बड़ी प्रतिभा इस धरती पर जन्मेगी या नहीं इसमें सन्देह है, उन्होंने वही कहा—"लिखो, किन्तु मिथ्या का आश्रय मत लेना।" मैं कुलीन ब्राह्मण हूँ, मुझे भी लगेगा, ऐसा मत करो। मिथ्या के आधार पर पात्र खड़े नहीं किए जा सकते, और जहाँ किए जाते हैं वहीं मिथ्या होते हैं, अस्वाभाविक हो जाते हैं। पुस्तक प्रकाशित होते ही, ओह! वह कितना भयंकर आक्रमण था। चारों ओर से बैरंग चिट्ठियाँ आने लगीं।"

सन्ध्या के सघन होने के साथ-साथ बात भी प्रायः समाप्त होती आ रही थी।

श्रीयुत नारायणचन्द्र दे ने अनुरोध किया—"राजनीति के सम्बन्ध में आपका क्या खयाल है? वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ कहिए। यह आन्दोलन कैसा चल रहा है और आपको कैसा लगता है?'

शरत बाबू—"क्यों, आप आन्दोलन चलाते-वलाते हैं क्या? अच्छा ही चल रहा है! किन्तु इस सम्बन्ध में मैं कुछ न कह सकूँगा।"

अपनी रचनाओं के प्रसंग में किसी बात पर उन्होंने कहा—

"लिखते समय मानो आनन्द विभोर हो जाता हूँ। घर पर कह रखा है—जब लिखूँ तो कोई कुछ मत पूछो। पूछने पर जो उत्तर मिले उस पर विश्वास मत करो। (हँसी)।

"भाषा अपने आप आती है। जिसका भाषा पर अधिकार नहीं उसकी बड़ी मुश्किल है। किस प्रकार वह अपनी बात कह पाता है, यह बताना भी मुश्किल है।"

[शैली के सम्बन्ध में]

"......यह गूढ़......इसी को तो आप लोग 'स्टाइल' कहते हैं। यह स्वयं बन जाता है। नकल करने से नहीं आता।"

गोस्वामी महाशय ने आदि से अन्त तक सारी बात सुनकर सहसा फिर कहा—

१. बंगाल की उच्च वर्ण की एक जाति विशेष।

"आप मुँह से चाहे जो कहें, आपकी रचनाओं को पढ़कर मुझे लगता है कि सनातन धर्म की मर्यादा को आप ठेस पहुँचाना नहीं चाहते। जब देखता हूँ 'चरित्रहीन' उपन्यास की उस लड़की ने स्टीमर पर एक बालक के साथ एक बिछौने पर रहते हुए भी अपने शील को नष्ट नहीं होने दिया, तो उसे क्या हम लोग कहेंगे कि आप सनातन-धर्म को नहीं मानते ?"

शरत बाबू ने उत्तर दिया—"आप मेरे उद्देश्य को ठीक समझ नहीं सके। आपने जो कहा, उस तरह मैं कुछ नहीं करता। यदि लड़की अपना शील नष्ट कर ही डालती तो इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं थी। किन्तु यह पात्र एकदम असत्य हो जाता। इस प्रकार की पढ़ी-लिखी, सुशिक्षिता लड़की, और जिस लड़के के साथ वह सिर्फ़ एक ज़िद की वजह से भाग आई है, उसे एक नाबालिग शिशु ही कहा जा सकता है। जिसे वह किसी प्रकार भी अपने बराबर नहीं मानती, उस लड़के के द्वारा ही यदि वह अपने शील को नष्ट होने देती तो वह चरित्र ही नष्ट हो जाता।"

तदुपरांत शरत बाबू बोले—"इस चर्चा में आनन्द आया। केवल मनोरंजन के लिए नहीं, वास्तव में इस प्रकार की गोष्ठियों की आवश्यकता भी है। देश को किस प्रकार आगे बढ़ाकर उठाया जा सकता है, इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं। बीच-बीच में इसी प्रकार पाठकों और लेखकों को एकत्रित होकर विभिन्न प्रयत्नों में सामंजस्य बनाए रखने की आवश्यकता है। इसमें बहुत लाभ है। आजकल बहुत से लोग लिखते हैं, किन्तु उनमें से बहुतों को ठीक लेखक नहीं कहा जा सकता। उनकी रचनाओं में संयम नहीं होता। वे लोग यौन-सम्बन्ध के बारे में ऐसा गोल-माल करते हैं कि उनकी रचनाएँ साहित्य कहलाने की अधिकारिणी हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। इन सारी रचनाओं में अधिकाँश बाहर से उड़ाया हुआ है। अपनी खुद की अभिज्ञता नहीं। इसीलिए दूसरे से उधार ली हुई चीज़ को चलाने जाकर एक अशोभनीय काण्ड कर बैठते हैं। किसी के कुछ कहने पर वे लोग ज़िद करते हुए कहते हैं—"खूब करेंगे, कहेंगे, लिखेंगे।" किन्तु यह ठीक नहीं। इस प्रकार की गोष्ठियों और सभा-समितियों का आयोजन कर यदि उनके साथ वार्तालाप की व्यवस्था की जाए तो इससे अच्छा परिणाम निकल सकता है!"

शरत बाबू ने वार्तालाप के प्रसंग में यह बात खूब ज़ोर देकर कही—

"मैं मनुष्य को बहुत बड़ा करके मानता हूँ। उसे छोटा करके मैं नहीं मान पाता!"

अनु०—हरिशंकर शर्मा

इस गोष्ठी का लिखित विवरण बंगला संवत् कार्तिक, १३३१ (ईस्वी सन् १९२५) के 'प्रवर्त्तक' में प्रकाशित हुआ था।

तेलुगु कविता

देशभक्ति

गुरजाड़ अप्पाराव

बन्धु, देश से प्रेम करो निज
अच्छाई की राह चलो अब,
बातें व्यर्थ बनाना तजकर
जनहित का ही ध्यान करो अब।

करो यत्न ऐसा तुम जिससे
अन्नमयी धरती हो जाए,
भोजन से ही पुष्ट बनोगे
पुष्ट मनुज ही मनुज कहाए।

कंकालों का देश भला क्या
उन्नति-पथ पर कभी बढ़ेगा ?
कला-करिश्मे सीखो ही सब
माल स्वदेशी खूब बनेगा।

देश-देश में विचरो तुम भी
माल स्वदेशी लिए मही पर,
निरुद्यमी को मिली भला है
कीर्ति-संपदा कभी कहीं पर ?

बढ़े चलो अब लखो न पीछे
अतीत पर क्या जमे रहोगे ?
गए पिछड़ यदि प्रगति-होड़ में
पीछे ही तुम सदा रहोगे।

स्पर्धा तुम करो जगत से
केवल विद्या और वणिज में,
खड्ग-शत्रुता भस्म करो अब
पड़ो नहीं संघर्ष कलह में।

ढोल पीटकर कहो न सबसे
दीवाना हूँ देश-प्रेम का,
कमर कसो, उद्योग करो कुछ,
जन-जन के ही सुखद क्षेम का।

दुर्बल बिलकुल बना चुका है
ईर्ष्या का शैतान देश को,
जलो न उन्नति देख किसी की
जगह न दो अब फूट-वैर को।

पर की 'श्री' लख रोता पापी
उसे कहीं क्या सुख मिलता है ?
भला सर्वदा होता उसका
पर-हित में जो रत रहता है।

खुदगर्ज़ी को तजकर उनका
ध्यान रखो जो पड़ौस में हैं,
नहीं देश का मतलब मिट्टी
मतलब उसका मानव से है।

रहें देशवासी सब मिलकर
कदम मिला सब को चलना है,
बंधु बंधु की तरह यहाँ अब
राष्ट्रों-धर्मों को रहना है।

मन से मानव एक रहें तो
धर्म-भेद से क्या क्षति होगी ?
भाव बढ़ेंगे ही मैत्री के
अखिल धरा यह ज्योतित होगी।

बने देश यह विटप सुहाना
झड़ें प्रेम के पुष्प निरन्तर,
बहे पसीना भू पर नर का
झूम उठे हरियाली सुखकर।

कोमल पत्तों के झुरमुट से
कूके - कविता - कोकिल सुन्दर,
जन-मन में अभिमान देश का
जगा रहे उसको नित सुनकर।

प्यासी

मलैयाट्टूर रामकृष्णन

जब मैं डाक्टर बालिगा के 'मेंटल हास्पिटल एण्ड नरसिंग होम' में पहुँचा, तो डाक्टर एक घूमती कुर्सी पर बैठे हवाना चुरुट पी रहे थे।

सालों पहले हम दोनों एक साथ मेडिकल कॉलेज में पढ़े थे। मगर मैं पहले साल में ही हार गया। इसलिए, निराशा और आर्थिक कठिनाइयों के कारण मैंने डाक्टर बनने का विचार छोड़ दिया और दूसरे कामों में लग गया। बालिगा ने तो चिकित्सा की उच्च उपाधि हासिल कर ली। उनकी आर्थिक परिस्थिति अच्छी थी, इसलिए ज़्यूरिच और वियाना में जाकर उन्होंने मनोरोग चिकित्सा का विशेष अध्ययन भी किया। मनोरोगों पर उनका लिखा प्रबन्ध, लन्दन के किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भी पढ़ा गया था। वे अपने देश में एक सुयोग्य डाक्टर की हैसियत से ही वापस आए। उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र भी चुना—मनोरोगों का इलाज। थोड़े दिनों में ही इस क्षेत्र में इनका सिक्का जम गया।

हमें आपस में मिले कई साल गुज़र गए थे। फिर भी पत्र-व्यवहार चलता था। उसी के सहारे हमारी दोस्ती बनी रही। जब मैं बम्बई के लिए रवाना हुआ, तभी मैंने डाक्टर बालिगा से मिलने का निश्चय किया था। सोचा कि कुछ घंटे उनके साथ गप्पें लगाऊँगा।

"हल्लो! तुम कब आए?"—डाक्टर ने मुस्कराते हुए मेरी ओर हाथ बढ़ाया।

मैंने देखा कि इतने सालों के बीच डाक्टर में काफ़ी परिवर्तन आ गया है। बदन मोटा हो गया है और सिर के बाल पकने लगे हैं। आँखों पर चश्मा भी लगाया था। इस चश्मे के भीतर से आत्मविश्वास चमक रहा था। डाक्टर मुझे किसी ऐसे व्यक्ति की तस्वीर-सी लगा, जो जीवन में विजयी हुआ हो।

हम दोनों ने काफ़ी समय साथ-साथ बिताया। उन्होंने अपनी भारी प्रैक्टिस के बारे में कहा। शुरू-शुरू में उनको आनन्द मिल रहा था कि बैंक में रक़म बढ़ रही है। उन दिनों उनका एक ही विचार था जितना हो सके, पैसा कमाया जाए। उसमें वह काफ़ी सफल भी हुए। मगर आज उन्हें पैसे का उतना मोह नहीं रहा। फिर भी पैसा बढ़ता ही रहता है। आजकल वे किसी ऐसे विद्यार्थी की तरह हैं, जो मनोरोगों के विभिन्न भावों का अध्ययन कर रहा हो। उन्होंने कहा—"बैंक में एक लाख रुपया जमा करते वक्त जो आनन्द मिलता है, उससे तिगुना आनन्द किसी विचित्र मनोरोगी को देखने पर मिलता है। आज मेरे नरसिंग होम में जितने रोगी हैं, उनमें कई तो मुफ़्त इलाज पा रहे हैं।"

इसी समय एक सुन्दर लड़की एकाएक उसी कमरे में घुस आई। उसने कीमती कपड़े सुन्दर ढंग से पहन रक्खे थे। सजीव आँखें, उम्र बीस से अधिक नहीं होगी।

"बैठिए"—डाक्टर ने मुस्कराते हुए कहा।

"डाक्टर, कल रात मेरा प्रसव हुआ!"—वह एकाएक बोली।

मुझे आश्चर्य हुआ। कल रात उसका प्रसव हुआ फिर भी उसका कोई चिन्ह नहीं दिखाई पड़ रहा था। मैं डाक्टर की ओर घूरता-भर रहा। मेरी ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया और वह उस लड़की से बातचीत करने में तल्लीन हो गए।

"बच्चा या बच्ची?"—डाक्टर ने पूछा।

"बच्चा"—यह कहते उसके चेहरे पर मुस्कान फैल गई।

"रंग उसका क्या है?"

"रंग? गुलाब का रंग है, डाक्टर! वज़न भी काफ़ी है। करीब नौ पाउण्ड। उसके बाल देखते ही बनते हैं, डाक्टर! सुन्दर और घुंघराले, मगर, हाँ, है बड़ा बदमाश। आँखों से ही उसकी बदमाशी पता लगती है।"

"बच्चे को अकेले छोड़ आई हो? वह रो पड़ेगा, तो......" डाक्टर ने जैसे उसे याद दिलाई।

वह झट उठ कर खड़ी हो गई।

"हाँ, डाक्टर, मेरा मुन्ना रोएगा। अभी रोता ही होगा। फिर मिलूँगी, डाक्टर! उसे रोने नहीं दूँगी।"

वह कमरे से बाहर चली गई। डाक्टर मुझे अद्भुत मुद्रा में देख कर हँस पड़े।

"वह कौन है?"—मैंने पूछा। क्योंकि अपनी जिज्ञासा मैं रोक नहीं पाया।

"कैसी लगती है?"

"समझ में बिल्कुल नहीं आया।"

"मेरी एक रोगिणी है।"

"पागल?"

"हाँ, एक तरह से पागल ही समझो।"

"देखने से तो वह पागल बिल्कुल नहीं लगती।"

"इसी को 'मोणो-मैनिया' कहते हैं"—डाक्टर ने मुझे समझाया। "वह बिल्कुल नॉरमल है, सिर्फ़ एक बात छोड़ कर। हमेशा वह यही कहेगी कि मेरा प्रसव हुआ है और अपनी कल्पना के बच्चे के बारे में बातें करती रहेगी।"

"क्या आपने उसे खुला छोड़ रक्खा है?"

"अरे क्या कहते हो? रोगियों को बन्द रखना, मारना आदि दो-तीन सदियों के पहले की चिकित्सा-रीति है। मैं अपने रोगियों को पूरी आज़ादी देता हूँ। खासकर उनको, जो मोणो-मैनिया से पीड़ित

हैं। अक्सर ऐसे रोगियों से कोई तकलीफ़ नहीं रहती। थोड़े दिन पहले यहाँ एक सैनिक कप्तान आया था। बड़ा अच्छा आदमी था। हाँ उसमें एक कमी थी। उसको हमेशा यह महसूस हो रहा था कि उसका शरीर काँच का बना हुआ है। वह बहुत धीरे-धीरे चलता और गद्देदार कुर्सियों पर ही बैठता। कोई उसे छू बैठता तो ज़ोर से रो पड़ता। क्योंकि बदन काँच का जो है, कहीं टूट न जाए!"

कहते-कहते डाक्टर हँस पड़े जैसे वह कप्तान उनकी आँखों के सामने खड़ा हो। मैं भी हँसा।

"इससे भी मज़ेदार बात सुनाऊँ? पिछले साल एक अवसर-प्राप्त आई० सी० एस० अफ़सर मुझे मिला। उसका विचार था कि वह एक चाय का बरतन है। बीच-बीच में चिल्ला उठता—मुझे उड़ेल दो, मुझे उड़ेल दो!…"

"क्या कप्तान और अफ़सर बिल्कुल स्वस्थ हो गए?"

"अगर स्वस्थ नहीं हुए तो मैं यह धन्धा ही क्यों करूँ?"

मैं उस लड़की के बारे में ही सोच रहा था। मैंने पूछा, "आखिर वह कैसे बीमार पड़ी?"

"उसकी कहानी पूरी-की-पूरी सुनोगे तो तुम उससे और भी सहानुभूति दिखाओगे"—डाक्टर ने एक नई चुरुट सुलगाते-सुलगाते कहा।

मेरी जिज्ञासा जैसे जाग उठी। उसकी पूरी कहानी सुनने का मैंने आग्रह प्रकट किया।

पहले तो डाक्टर ने यह कह कर टालना चाहा कि रोगियों की पूर्व-कहानी का वर्णन करना एक डाक्टर को शोभा नहीं देता। यह उसके धन्धे के भी खिलाफ़ है। पर जब मैं अपने आग्रह पर अड़ा रहा तब वह मान गए। उन्होंने मुझ से प्रतिज्ञा ली कि मैं इस सबका रहस्य अपने तक ही सीमित रक्खूँगा। तब उन्होंने कहना शुरू किया—"उसका नाम शीला है। उसका और मेरा परिवार पहले से ही परिचित थे। तुमने शीला के पिता के बारे में खूब सुना होगा। वे यहाँ के नामी वकीलों में हैं।

"डेढ़ साल पहले शीला की शादी हुई। समझो कि तभी से उसकी तकलीफ़ भी शुरू हुई। उसे अपना मनचाहा पति नहीं मिला।

"शीला कॉलेज में पढ़ती थी। मोती नाम के अपने एक सहपाठी के साथ उसका प्रेम हो गया था। उन दोनों का पक्का इरादा था कि वे दोनों एक-दूसरे के साथ शादी करेंगे। हाँ, ऐसा हुआ होता, तो उन दोनों की अच्छी जोड़ी बनी होती।

"मगर उन दोनों ने यह ग़लती की कि शीला के पिता की जानकारी के बिना आपस में प्रेम किया। शीला के पिता कट्टर सनातन पन्थी थे। वह उनकी अकेली संतान थी। संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में भाषण करते वक्त न्यायालय की दीवारों को भी वे हिला देते थे। मगर ऐसे आदमी अपनी बेटी को प्रेम करने का मौलिक अधिकार देने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते। मैं उनको दोषी भी नहीं ठहराता। मैं उनको खूब जानता हूँ। वह एक अधिकारवादी पिता हैं। उनका फ़ैसला था कि शीला की शादी तय करने का भार और अधिकार उसके घरवालों को यानी उन्हीं को है।

"मेरा विचार है कि इस निर्णय पर पहुँचने के लिए कुछ व्यावहारिक बातों ने भी उनको प्रेरित किया होगा। मोती गरीब था, उसका कोई अमीर रिश्तेदार भी नहीं था मगर था वह चित्रकला में निपुण। विज्ञापनों के लिए तस्वीरें बनाता और उससे जो कुछ मिलता, उसी से पढ़ाई का खर्चा चलाता था"—इतना कह कर डाक्टर बालिगा थोड़ी देर चुरुट सुलगाने के लिए रुके जो बुझ गई थी।

"यह कहानियों में और व्यावहारिक जीवन में अक्सर भेद पैदा करने वाली पार्श्वभूमि है, न?"—मैंने पूछा।

डाक्टर ने कहना जारी किया—"मोती को छोड़ना शीला के लिए मुश्किल था। पिता की परवाह न करने का साहस भी उसमें नहीं था। वह बेचारी अपने पिता से यह नहीं कह पाई कि मैं मोती के साथ ही जिन्दा रह सकूँगी।

"आखिर पिता के निर्णय के अनुसार ही शादी हुई, और बड़ी धूमधाम से हुई। शादी में मैं भी गया था। दुल्हा किसी सरकारी अफ़सर का बेटा था। जवान और सुन्दर था। स्वयं अच्छा इंजीनियर भी था।

"एक दो बार शीला को उसके पति के साथ भी मैंने देखा। उस समय मुझे लगा था कि शीला नए जीवन में अपने को जैसे खपा देने की पूरी कोशिश कर रही है। जो हुआ, उसे भूलने के लिए व्यावहारिक बुद्धि ने शायद उसको प्रेरित किया होगा। पति अच्छा आदमी था, इसमें कोई शक नहीं। वह उसको खूब चाहता था। उसकी मुस्कान के लिए वह तरसता था। शायद शीला ने सोचा होगा कि पति का प्रेम उसके दिल के घाव को भर देगा। मगर हुआ कुछ और ही।"

मैं एकाएक आश्चर्य से बोला—"एक डाक्टर इतनी होशयारी से कोई कहानी कह पाएगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।"

डाक्टर के होठों पर मृदु मुस्कान फैली। उन्होंने अपनी कहानी जारी रखी—"सारी बातों का पता मुझे अन्त में जाकर लगा था। जो कुछ हुआ, उसे मैं क्रम से बता रहा हूँ। बस इतना ही समझो।… अमेरिका में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए शीला के पति को सरकारी छात्रवृत्ति मिल गई। उसे तुरन्त जाना था। क्योंकि उसके सामने उज्ज्वल भविष्य का द्वार खुला पड़ा था।

"मधुमास (हनीमून) मनाने वाला वह पति अमेरिका के लिए रवाना हो गया।

"उन दिनों की बातें शीला ने स्वयं मुझे बताईं थीं। मानसिक रोगी के साथ अगर हम सहानुभूति से बातें करते हैं तो वह अपना दिल पूरा-पूरा खोल कर हमारे सामने रख देते हैं। पति का साथ रहना, उसे मोती को भुलाने में काफ़ी मदद पहुँचाता रहा था। मगर जब पति दूर चला गया तो उसके दिल में मोती की याद फिर से उबलने लगी। जब वह मोती के प्रसन्न मुखड़े और स्निग्ध हृदय की चर्चा करती तो मेरे पथराए हुए दिल में भी टीस का अनुभव होता। मोती उसके दिल का एक विशाल वृक्ष था तो पति एक नवजात पौधा मात्र। उस विशाल वृक्ष की छाया में वह पौधा तो जल्दी ही मुरझा गया।

"इसी बीच एक दिन जब शीला अपनी सहेलियों के साथ सिनेमा देखने गई तो वहाँ अचानक उसकी मुलाकात मोती के साथ

हो गई। वही मुलाकात जीवन का एक भारी मोड़ साबित हुई। पुराना प्रेम और भी तीक्ष्ण हो गया। उसके बाद वे जब-तब मिलते ही रहे। दोनों दिल से कमज़ोर थे। महीनों तक यह क्रम जारी रहा और एक दिन शीला को ज्ञात हुआ कि वह गर्भवती है।

"शीला के पिता ने ही इसका पता मुझे दिया था। किसी डाक्टर की मदद उनके लिए ज़रूरी थी। उन्होंने कहा कि शीला रो रही है। शायद इसलिए रोती होगी कि उसने अपने पति को धोखा दिया, जो हज़ारों मील दूर, उस पर पूरा-पूरा भरोसा रख कर किताबों से भिड़ रहा है, इस उद्देश्य से कि वह शीला के और अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाए। इधर घर में सुख से रहते हुए भी वह मन और शरीर पर नियन्त्रण नहीं रख सकी। इसलिए वह रोती होगी।

"मैंने अपने सामने किसी गम्भीर वकील को नहीं, अपनी बेटी का भविष्य अच्छा बनाने के लिए आतुर और असहाय पिता को देखा। अमेरिका से जब तक उनका जामाता नहीं आएगा, तब तक यह सारा मामला ठीक करना ही होगा। किसी अन्य व्यक्ति को भी इसका पता नहीं लगना चाहिए। इसका क्या उपाय है?

"इतना कह कर जो अवैध उपाय उन्होंने बताया, उसे मानने से मैंने साफ़ इन्कार कर दिया और कहा कि इस सम्बन्ध में मैं किसी तरह की मदद नहीं कर सकता। तब बड़े निराश भाव से शीला के पिता वापस लौट गए।

"लगभग दो सप्ताह बाद की बात है, एक दिन शीला के पिता फिर से मेरे पास दौड़े आए। इस बार वह और भी अधिक घबराए हुए थे।

"उन्होंने मुझ से कहा कि अपनी अवस्था का ध्यान किए बिना एक दिन शीला ६, ७ सीढ़ियाँ एक साथ कूद गई। उसकी कोई हड्डा-पसली तो नहीं टूटी, पर उसे उसी समय लेडी डाक्टर के पास ले जाना पड़ा। लेडी डाक्टर ने उसे कई दवा दी, जिससे उसकी तबीयत और भी अधिक बिगड़ गई है। और इसी कारण वह पुनः मेरे पास आए हैं।

"शीला के पिता ने जो कुछ कहा, उसमें सच झूठ कितना है, इसकी नितान्त उपेक्षा कर मैं उनके साथ शीला को देखने चल दिया।

"मैंने शीला की परीक्षा की तो पाया कि उसे किसी तरह का कोई नुक्सान नहीं पहुँचा है। मुझे तो उसके ६-७ सीढ़ियों से गिरने की बात ही एकदम असत्य प्रतीत हुई। पर लेडी डाक्टर ने शीला को जो दवा पिलाई थी उसका प्रभाव अत्यन्त हानिकारक हो सकता था। इन परिस्थितियों में सबसे अधिक सुरक्षित उपाय यही था कि शीला का ऑपरेशन कर दिया जाए। यों दवाई के प्रभाव को रोकने का प्रयत्न भी किया जा सकता था। पर उसकी सफलता निश्चित नहीं थी। मैंने यह सब स्थिति वकील साहब को समझा दी। ऑपरेशन के सुझाव पर वह बहुत प्रसन्न हुए।

"मैंने उनसे कहा कि इस बात का अन्तिम निश्चय शीला पर छोड़ देना चाहिए। मेरे ज़ोर देने पर उन्होंने शीला से सारी परिस्थिति साफ़-साफ़ कह सुनाई।

"मगर उसका जवाब ऐसा था, जिसकी आशा हमने बिलकुल नहीं की था। अपना सिर ऊँचा किये शीला ने कहा: "नहीं, मैं कभी यह नहीं करने दूँगी। मुझे यह बच्चा चाहिए। मैं खुश हूँ कि उस दिन की दवा का असर रोका जा सकता है।"

उसके पिता आश्चर्य और क्रोध के कारण बोल नहीं पाए।

जब कहानी यहाँ तक आई तो मैं पूछ बैठा: "आखिर शीला का मन क्यों बदला?"

"पति को धोखा दिया, यह विचार पहले उसके मन में था।" डाक्टर ने कहा: "बाद को हो सकता है कि उसने इस पर अधिक सोचा हो। कारण चाहे कुछ भी हो एक बात साफ़ थी। वह मोती के बच्चे को जन्म देना चाहती थी। पिता ने काफ़ी मजबूर किया, फिर भी उसने माना नहीं। लेडी डाक्टर की दवाई का प्रभाव रोकने के लिए मैं पूरी तत्परता से उसका इलाज करने लगा। अपने बेटे की वह प्रतीक्षा करने लगी। क्योंकि एक बार जब उसके घर में गया तो देखा कि वह अपने बच्चे के लिए कपड़े बुन रही थी।"

"आखिर शीला ने क्या बच्चे को जन्म दिया?"—मैंने कहानी का अन्त सुनने की जल्दी में पूछा।

"नहीं, दो-तीन महीने बाद अपने आप ही गर्भपात हुआ। एक रात में एकाएक यह हुआ। माता-पिता को इसका पता तुरन्त नहीं लगा, न शीला ने पता दिया। दो दिन तक वह बिस्तर से उठी नहीं। वह लगातार रोती रही। शुरू में ही गर्भपात हुआ होता तो और बात थी। मगर यह उस समय हुआ, जब वह बच्चे के लिए प्यासी थी। उसे अब विश्वास हो गया कि बच्चे की हत्या उसी ने की है। उसे लगा कि पुरानी दवा ने देरी से असर कर दिया।

"बेटी की अस्वस्थता का कारण दूसरे ही दिन माता-पिता को मालूम हो गया। उनको बहुत खुशी हुई। उन्हें विश्वास आ गया कि ईश्वर करुणा की मूर्ति है। आज तक इस रहस्य को होशियारी से छिपाए रखा। अब, वह खतरनाक सबूत अपने आप अदृश्य हो गया। अब डरने की कोई बात नहीं रही। शीला का जीवन बरबाद नहीं हुआ। उसका पति यह जानेगा ही नहीं। इधर माता-पिता जब ईश्वर की प्रशंसा करते थे, तो शीला फटे दिल से रोती थी।

"दो दिन तक कष्ट को छिपाए रखने का परिणाम यह हुआ कि शीला एक नई बीमारी का शिकार बनी। वही पुरानी लेडी डाक्टर आई। उसने शीला की जाँच की और कहा कि गर्भाशय सेप्टिक हो गया है और शल्य-प्रयोग करना होगा। उसके अनुसार शीला का गर्भाशय ऑपरेट करके अलग किया गया। वह कभी प्रसव नहीं कर सकती है।

"थोड़े दिनों बाद शीला इस बीमारी का शिकार बनी"—डाक्टर ने जल्दी ही कहानी पूरी करनी चाही। "आजकल पति की वह बिल्कुल चर्चा नहीं करती। यहाँ तक कि मोती की भी उसे याद नहीं है। वह किसी नई दुनिया में है। वह हमेशा बच्चे को जन्म देती है।"

"क्या अमेरिका से शीला का पति वापस आ गया?"

"वह दो महीने के अन्दर वापस आएगा। इन्हीं दो महीनों के भीतर वह ठीक हो जाए, यह शीला के पिता का आग्रह है। शीला का

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

हिन्दी आलोचना

देवराज

१

किसी भी सांस्कृतिक प्रयत्न के इतिहास का निरूपण एक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। बात यह है कि सांस्कृतिक इतिहास का कोई अंग केवल घटनाओं की परम्परा नहीं होती जिसकी विभिन्न कड़ियों को कार्य-कारण-मूलक व्याख्या प्रस्तुत कर दी जाए। मानवीय घटनाओं का महत्त्व उनके अर्थों में निहित होता है; उनके कारणों को भी अर्थों की भाषा में ही प्रकट किया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' से मतलब है वह संनिहित मूल्य जिसके कारण कोई घटना मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण बनती है। इससे यह स्पष्ट है कि मानवीय इतिहास की घटनाओं की व्याख्या मूल्यांकन की दृष्टि को छोड़ कर नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक इतिहास की पर्यालोचना में मूल्यांकन की यह क्रिया स्वभावतः अधिक सचेत रूप धारण कर लेती है।

समीक्षा-पद्धतियों की विविधता तथा विकास के मूल में क्या तत्व रहता है? उत्तर है—कला साहित्य में संनिहित विशेषताओं एवं प्रभावों की विविधता। साहित्य-सृष्टि, अंततः, जीवन के विशिष्ट, विशेष-सार्थकता समन्वित, स्पन्दनों अथवा रूपों की सृष्टि है। साहित्यकार अपनी रचना के विधायक तत्वों का आकलन स्वयं जीवन से करता है, साहित्य स्रष्टा के नाते वह उन तत्वों को नए, अधिक प्रभावपूर्ण रूपों में गठित करके उपस्थित कर देता है। फलतः साहित्य में सचेत जीवन की प्रायः सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं, यथा—तीव्रता, गहराई, ऋजुता, वक्रता, स्पष्टता, जटिलता, उदात्तभाव, क्रान्ति, गौरव, हलकापन आदि। जीवन की विशेषताओं के अतिरिक्त साहित्य में कुछ तत्व रहते हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः अभिव्यक्ति से होता है। विभिन्न साहित्यिक वाद तथा विभिन्न समीक्षक साहित्य की भिन्न-भिन्न विशेषताओं एवं प्रभावों पर गौरव देते हैं। यही बात साहित्य और साहित्य समीक्षा के विभिन्न युगों पर भी लागू होती है। किसी वक्ता के भाषण का मूल्यांकन हम दो दृष्टियों से कर सकते हैं, हम यह देखने का प्रयत्न कर सकते हैं कि उसका वक्तव्य कितना महत्त्वपूर्ण था, और यह कि उसने अपनी बात कितने प्रभावशाली, मनोरंजक अथवा सुन्दर ढंग से कही। जहाँ वक्तव्य के प्रभाव को आंकना अपेक्षित हो वहाँ, स्पष्ट ही, हम वक्ता की शैली की उपेक्षा नहीं कर सकते। साथ ही, यदि हम भाषण को मात्र विनोद की चीज़ नहीं समझते, तो हम उसके वक्तव्य पर भी ज़रूर ध्यान देंगे।

जिसे हम समीक्षा कहते हैं उसके तीन मुख्य अंग हैं—विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन। एक आदर्श समीक्षक आलोच्य कृति से प्राप्त होने वाली अनुभूति का विश्लेषण एवं व्याख्या करके उसके महत्त्व का परिमाप करने की चेष्टा करता है। किन्तु ये क्रियाएँ कृति की विभिन्न विशेषताओं एवं प्रभावों को लेकर विभिन्न धरातलों पर अनुष्ठित हो सकती हैं।

२

संस्कृत साहित्य में लेखकों एवं कृतियों पर आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखने का चलन नहीं था। पुराने अलंकार-शास्त्रियों ने मुख्यतः सैद्धान्तिक ग्रन्थ ही लिखे हैं जिनमें उदाहरणों के रूप में कवियों आदि के उद्धरण दे दिए गए हैं और उनके गुण-दोषों का संकेत कर दिया गया है। संस्कृत का साहित्य-शास्त्र साहित्यिक कृतियों को या तो रस-परिपाक की दृष्टि से देखता है, अथवा गुण-दोषों तथा अलंकारों की। फुटकर पद्यों या दूसरे अवतरणों पर टिप्पणी करते हुए ये विचारक शैली की सूक्ष्मतम विशेषताओं को पकड़ सके हैं। संस्कृत महाकाव्यों के टीकाकार गुण-दोषों और विशेषतः अलंकारों का उल्लेख करने में बड़े तत्पर दीख पड़ते हैं। कभी-कभी इन आचार्यों की दृष्टि नैतिक औचित्य आदि पर भी जाती है, लेकिन कम। देखने की बात यह है कि प्राचीन विचारक-समीक्षक किसी ग्रन्थ में निबद्ध, अथवा किसी महाकवि द्वारा अभिव्यक्त, सम्पूर्ण अनुभूति को समूचे मानव जीवन अथवा युग की अपेक्षा में नहीं देखते। सच पूछिए तो संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों को यह चेतना ही नहीं है कि साहित्यगत अनुभूति का युग-जीवन एवं युगीन संस्कृति से सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि हम संस्कृत वाङ्मय में समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक समीक्षा जैसी कोई चीज़ नहीं पाते। प्राचीन काल के दूसरे किसी साहित्य में भी उक्त कोटि की समीक्षा विकसित नहीं हुई। इसका कारण यही हो सकता है कि उन युगों में जीवन के मूल्यों एवं उसकी बाहरी रूप-रेखा में वैसे द्रुत परिवर्तन नहीं होते थे जैसे कि हमारे युग में हो रहे हैं। संस्कृत के किसी साहित्य-मीमांसक में आपको इस चेतना का आभास नहीं मिलेगा कि माघ अथवा श्री हर्ष से कालिदास इसलिए श्रेष्ठतर हैं कि उन्होंने भारतीय जीवन एवं संस्कृति को अधिक समग्रता में उद्घाटित या चित्रित किया है। संस्कृत के आचार्यों का ध्यान जितना शैलीगत सूक्ष्मताओं एवं अभिव्यक्ति की पूर्णता पर है उतना अनुभूति या वक्तव्य के स्वरूप पर नहीं।

३

संस्कृत समीक्षा-साहित्य का इतना उल्लेख ज़रूरी था, क्योंकि उसकी परम्परा ही हिन्दी आलोचना का मूल स्रोत थी। हिन्दी साहित्य में जब लक्षण-ग्रन्थों की रचना शुरू हुई तो उसका आदर्श बहुत-कुछ संस्कृत का समीक्षा-शास्त्र ही रहा। रीतिकाल के आचार्यों में विचारात्मक मौलिकता का अंश प्रायः नहीं के बराबर है। विचार के सभी क्षेत्रों में प्राचीनों के प्रति श्रद्धा हमारे यहाँ का नियम था, कोई

नई बात कहने अथवा मौलिक कहलाने की आकांक्षा जैसे हमारी प्रकृति के विरुद्ध थी। वस्तुतः जिस व्यक्तिवाद का उदय जनतन्त्र आदि भावनाओं के प्रसार के बाद यूरोप में हुआ, वह हमारे देश में अज्ञात वस्तु थी। यही कारण है कि यहाँ के बड़े-से-बड़े विचारक अपने को प्राचीनों का भाष्यकार अथवा टीकाकार कह कर सन्तुष्ट होते रहे ।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा को हम तीन प्रमुख युगों में विभाजित कर सकते हैं। यह काल-विभाजन इतिहास-ग्रन्थों के प्रचलित काल-विभाग से कुछ भिन्न होगा। समीक्षा के पहले युग का प्रसार भारतेन्दु-काल से द्विवेदी-युग के अन्त तक है। दूसरे काल को हम पंडित रामचन्द्र शुक्ल का युग कह सकते हैं। तीसरे युग को हम शुक्लोत्तर काल कहेंगे।

पूर्व-शुक्ल काल

हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। श्री बदरी नारायण चौधरी तथा बालकृष्ण भट्ट इस काल के प्रमुख आलोचक थे। ये लोग आलोचना का अर्थ आलोच्य कृति के दोषों का उद्घाटन समझते थे। उदाहरण के लिए श्री बदरी नारायण प्रेमघन ने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक के दोषों की विवेचना की। साहित्य के दोषों का विवेचन कोई घटिया या साधारण काम नहीं है। किन्तु इस युग की आलोचना घटिया जान पड़ती है, इसके कई कारण हैं। प्रथमतः आलोचकों का दृष्टिकोण प्रायः रूढ़िवादी है। दूसरे, उनमें अपेक्षित तटस्थता की कमी है। तीसरे, समीक्षकों में विभिन्न दोषों के आनुपातिक महत्त्व की भावना नहीं है।

भारतेन्दु-युग में ही ऐतिहासिक अनुसन्धान का कार्य भी शुरू हुआ। इस दिशा में 'शिव सिंह सरोज' पहला महत्त्वपूर्ण प्रयत्न था। उसके बाद ग्रियर्सन की प्रसिद्ध पुस्तक 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुई। भारतेन्दु-युग की पत्रिकाओं में भी हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करने वाले निबन्ध निकलते रहते थे।

यहाँ हम हिन्दी समीक्षा साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का उल्लेख करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति असन्तोष एवं सुधार की प्रवृत्ति है। भारतेन्दु-युग में जहाँ विचारों का वातावरण न्यूनाधिक रूढ़िवादी था, वहाँ उस समय के विद्वानों में स्वदेश, भाषा आदि की कमियों की चेतना भी जागने लगी थी। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य का युग रीतिकाल आदि से विशेष भिन्न है। कहना नहीं होगा कि सांस्कृतिक हीनता की इस चेतना के उदय के मूल में भारतीयों का यूरोप से बढ़ता हुआ परिचय प्रधान तत्त्व था। विचारशील लोग यह महसूस करने लगे थे कि देश की तात्कालिक स्थिति उसके गौरवपूर्ण अतीत से बहुत भिन्न थी, वह समृद्ध यूरोपीय संस्कृति से भी काफ़ी पिछड़ी हुई थी। फलतः हम पाते हैं कि इस समय के हिन्दी के विद्वान अतीत भारत एवं वर्तमान यूरोप दोनों से उपयुक्त शिक्षा लेने के लिए लालायित थे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्राचीनता-प्रेमी श्री रत्नाकर ने पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' का पद्यबद्ध अनुवाद किया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' पर संस्कृत आचार्यों के विचारों का संकलन किया। 'आनन्द कादम्बिनी' के एक निबन्ध में प्रेमघन जी ने लिखा—

"कुछ दिन पहले हमारी हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका विचार-क्षेत्र में अग्रसर होना कठिन दीख पड़ता था। बने-बनाए समास…लाकर भाषा अलंकृत की जाती थी…अनुप्रास से टँकी हुई शब्दों की लम्बी-लम्बी लड़ी इस बात को सूचित करती है कि लेखक का ध्यान विचारों की अपेक्षा शब्दों की ध्वनि की ओर अधिक है……"

असन्तोष तथा सुधार की ये भावनाएँ द्विवेदी-युग में और भी तीव्र हो गईं। छायावादी कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त लिखित 'पल्लव' की भूमिका में हम इसी स्वर को अधिक प्रखर एवं परिष्कृत रूप में सुन सकते हैं।

गुणात्मक दृष्टि से द्विवेदी-युग की समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ प्रायः वही हैं जिनके बीज भारतेन्दु-काल में पाए जाते हैं; भेद मुख्यतः मात्रा एवं विस्तार का है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र तथा पश्चिमी आलोचना के आधार पर गुण-दोषों की विवेचना; पूर्व और पश्चिम के लेखकों तथा आलोचनात्मक मान्यताओं का परिचय देने का प्रयत्न; हिन्दी साहित्य के उन्नयन की उत्कट कामना;—आदि प्रवृत्तियाँ क्रमशः अधिक बलवती होती गईं। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी-युग मुख्यतः भाषा के व्याकरणमूलक परिष्कार का युग था, किन्तु देश के इतिहास में यह समय चतुर्मुखी सुधार का युग है। उत्तर भारत में यह काल बुद्धिवादी आर्यसमाज के आन्दोलन का समय था। इन दिनों जनता रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि की ख्याति एवं उपदेशों से भी प्रभावित हो रही थी ।

हमने संकेत किया था कि भारतेन्दु युग का गुण दोष-विवेचन प्रायः रूढ़िवादी था। संस्कृत काव्यशास्त्र में यह विवेचन बड़े विकसित धरातल पर किया गया है। वैसा विकसित विवेचन, शायद, हिन्दी में आज भी उपलब्ध नहीं है। द्विवेदी-युग ने, इस प्रकार के विवेचन के साथ-साथ, वक्तव्य की विशेषता पर अधिक गौरव दिया। 'रसज्ञ रंजन' में श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—"कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है।" द्विवेदी जी ने परम्परागत परकीया-स्वकीया आदि विषयों का मज़ाक भी उड़ाया। इस दृष्टि से बाद में छायावादियों द्वारा की गई रीतिकाल की आलोचना विशेष नई चीज़ नहीं थी। देखने की बात यह है कि द्विवेदी-युग के हिन्दी समीक्षक मुख्यतः साहित्येतर क्षेत्रों के विचारकों तथा शिक्षकों से प्रभावित थे। वे साहित्य के वक्तव्य की जाँच विशुद्ध साहित्यिक पैमानों से करना नहीं जानते थे। इस दृष्टि से उनका संस्कृत साहित्य तथा यूरोपीय साहित्य दोनों का परिचय अधूरा था । उनकी सुधार-भावना बहुत कुछ सामयिक थी, उसका आधार मानव-इतिहास का गम्भीर अध्ययन अथवा मानवीय संस्कृतियों के उत्थान-पतन की गहरी जानकारी नहीं थी। संक्षेप में, द्विवेदी-युग का बौद्धिक धरातल निम्न था, उनका सुधारवाद किसी सुचिन्तित वैयक्तिक एवं सामाजिक लक्ष्य की ओर उन्मुख नहीं था।

द्विवेदी-युग के कतिपय समीक्षक गुण-दोष-विवेचन में रूढ़ि के आगे भी जाते हैं; श्री पद्मसिंह शर्मा ऐसे ही समीक्षक हैं। किन्तु शर्मा जी में जहाँ वह संवेदना है जो मौलिक ढंग से काव्य के गुण-दोषों को देखे, वहाँ चिन्तन की वह पूँजी नहीं है जो सामान्य धारणाओं या व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना करे, और अनुभूत विशेषताओं को उन धारणाओं एवं सूत्रों के माध्यम से व्यक्त करे। शर्मा जी दाद या वाह-वाही देने वाले समीक्षक हैं, वे काव्य के सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्वों की ओर संकेत कर सकते हैं, पर उन तत्वों को बुद्धि द्वारा विश्लेषित करके नाम नहीं दे पाते।

श्यामसुन्दर दास तथा मिश्रबन्धु मौलिक समीक्षक या विचारक नहीं हैं। प्रथम ने प्रायः पूर्वी-पश्चिमी सिद्धान्तों को परिष्कृत एवं स्वाभाविक हिन्दी में अनूदित किया है। इस दृष्टि से उनकी समीक्षात्मक संवेदना द्विवेदी जी से अधिक मार्मिक और तलस्पर्शिनी है। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा शास्त्रीय है, उनमें पकड़ और चिन्तन की मौलिकता का अभाव है। उनमें वैज्ञानिक दृष्टि की भी कमी या अभाव है; वे प्रायः अपने कवियों के पक्षपात से प्रेरित होकर तुलना-मूलक आलोचना एवं मूल्यांकन में प्रवृत्त होते हैं।

४
पं० रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी की कृतियों में हिन्दी आलोचना सहसा समीक्षा के उच्चतम धरातल पर उत्प्लवन कर जाती है। इस अभूतपूर्व घटना का प्रधान कारण शुक्ल जी की प्रतिभा और व्यक्तित्व को ही समझना चाहिए। काव्यगत प्रभाव साधारण भी होते हैं, और असाधारण भी। जो समीक्षक जितनी ही प्रौढ़ रुचि से सम्पन्न होता है वह उतने ही महत्त्वपूर्ण प्रभावों की छानबीन एवं विश्लेषण करता है। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा के स्वरूप एवं स्वर में मौलिक क्रान्ति उपस्थित की। यह क्रान्ति सस्ती नारेबाज़ी पर नहीं, गंभीर अन्तर्दृष्टि पर आधारित थी। गुण-दोष-विवेचन की अपेक्षाकृत हल्की प्रवृत्ति के स्थान पर उन्होंने रसात्मकता की गंभीर माँग को प्रतिष्ठित किया, और सुधारवादी विषय-वस्तु के बदले जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पर गौरव दिया। इस दूसरे वक्तव्य को पल्लवित करने की ज़रूरत है। काव्य-साहित्य के साधारण प्रभाव तद्गत प्रतीकों, अलंकारों, चित्रों आदि पर निर्भर होते हैं; श्रेष्ठ लेखक इनका ध्यान रखते और श्रेष्ठ समीक्षक उनका विश्लेषण करते हैं। किन्तु बड़े उपन्यासों, नाटकों तथा महाकव्यों का, उक्त छोटे प्रभावों से भिन्न, एक बड़ा प्रभाव होता है जो उनके वक्तव्य की विशाल विविधता एवं उनमें संनिहित जीवनदृष्टि अथवा जीवन-समीक्षा की सशक्तता से सम्बद्ध रहता है। यह बड़ा तत्व ही किसी कृति को एक देश या जाति के सांस्कृतिक जीवन की अपेक्षा में प्रभावशाली अथवा महत्त्वपूर्ण बनाता है। बाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, तुलसी आदि की कृतियाँ इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण रही हैं। शुक्ल जी साहित्य की इस कोटि की प्रभविष्णुता को विशेष महत्त्व देते हैं। इसीलिए वे प्रबन्ध-काव्य को गीत-रचना से श्रेष्ठतर समझते हैं। इस अर्थ में शुक्ल जी एक 'क्लासिकल' समीक्षक कहलाने के अधिकारी हैं।

शुक्ल जी किसी छिछले अर्थ में सुधारवादी नहीं हैं, वे पहले साहित्य के रसज्ञ समीक्षक हैं, पीछे कुछ और। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही वे हल्के चमत्कार के स्थान पर गहरे रस की माँग करते और प्रगीत काव्य की अपेक्षा समस्त जीवन का आकलन करने वाले प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य की श्रेष्ठता घोषित करते हैं। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी की दृष्टि में वक्तव्य की गरिमा स्वयं में साहित्य की श्रेष्ठता का उपादान होती है। जर्मन लेखक गेटे और अंग्रेज़ी समीक्षक मैथ्यू आर्नल्ड ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है। किन्तु इलियट-युग के कतिपय समीक्षक इस मन्तव्य को स्वीकार नहीं करते।

अपने उक्त पक्षपात के कारण शुक्ल जी जनतंत्र-सम्मत व्यक्तिवाद के, जिसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः प्रगीत काव्य में होती रही है, विरोधी जान पड़ते हैं। उनका मर्यादावाद भी इसी विरोध-प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। व्यक्ति की उच्छृंखल स्वच्छन्दता शुक्ल जी को सह्य नहीं है। यही कारण है कि वे वर्ण-व्यवस्था-विरोधी निर्गुनिए सन्त कवियों को पसन्द नहीं करते, और प्राचीन हिन्दी कवियों में तुलसीदास को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं।

शुक्ल जी की शक्ति और महत्ता के मूल रहस्य दो हैं; एक, उनका क्लासिकल साहित्यकारों से प्रगाढ़ परिचय, और दूसरे, उनकी समीक्षा क्रिया और चिन्तन-प्रणाली का परिपूर्ण सामंजस्य। अपनी आलोचनाओं में शुक्ल जी सिर्फ़ उन्हीं पैमानों का प्रयोग करते हैं जिनकी सचाई का, अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में, उन्होंने साक्षात्कार किया है। वे सिर्फ़ उन्हीं और उतने ही पैमानों का उपयोग करते हैं जो उन्हें अध्ययन-रूप अनुभूति से प्राप्त हुए हैं। वे सुने-सुनाए, प्रख्यापित एवं प्रचारित भड़कीले वादों से प्रभावित नहीं होते। इस सम्बन्ध में वे हर दस वर्ष बाद बदल जाने वाले पश्चिमी वादों की तनिक भी परवाह नहीं करते। पश्चिमी विचारकों में उन्हें आई० ए० रिचर्ड्स जैसे गंभीर चिन्तक ही पसन्द आते हैं।

अपने समसामयिक कवियों तथा लेखकों को शुक्ल जी एक रूढ़िवादी समीक्षक के रूप में दिखाई दिए। इसका कारण उनका मर्यादावादी आग्रह तो था ही, मुख्य कारण यह था कि वे मर्यादावाद के नाम पर पुरानी वर्णाश्रम-व्यवस्था का मंडन करते दिखाई देते थे। सामाजिक नीति-मर्यादाएँ युग-सापेक्ष होती हैं। उनमें परिवर्तन भी होता है और होना चाहिए, यह अवगति शुक्ल जी में नहीं है। यह भी एक कारण था कि शुक्ल जी समकालीन लेखकों, विशेषतः कवियों का, समुचित मूल्यांकन नहीं कर सके। जनतांत्रिक व्यक्तिवाद की लहर भी उनकी समीक्षा-प्रणाली के विरुद्ध थी।

५
शुक्लोत्तर काल

शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा को जिस सर्वांगीण धरातल पर प्रतिष्ठित किया, उस पर वह अधिक दिनों नहीं टिक सकी। इसका एक कारण यह था कि हिन्दी समीक्षा ने बाद में उतना बड़ा समीक्षक व्यक्तित्व उत्पन्न नहीं किया। दूसरा कारण था बदलते हुए युग की क्रान्तिकारी मनोवृत्तियाँ। शुक्लोत्तर काल हिन्दी साहित्य में इस

परिवर्तनों का काल रहा है, इस काल में प्रायः प्रत्येक दस वर्ष की अवधि में साहित्यिक मान्यताएँ या फ़ैशन बदलते रहे हैं। साहित्य विविध वादों से आक्रान्त होता रहा है, और प्रत्येक वाद अपने निराले समीक्षा-सिद्धान्तों का साम्प्रदायिक धरातल पर संगठन करता रहा है।

शुक्ल जी के बाद काफ़ी वर्षों तक उनके शिष्य तथा प्रशंसक उनकी परम्परा को चलाने का प्रयत्न करते रहे। इन शिष्यों अथवा प्रशंसकों में श्री गुलाबराय, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। लक्षित करने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल की परम्परा का कोई भी समीक्षक इधर के तीन दशकों में नेतृत्व का स्थान नहीं प्राप्त कर सका।

छायावाद-युग

सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में छायावाद द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। द्विवेदी-युग ने नीति और सुधार पर ज़ोर दिया था, छायावाद ने व्यक्ति को स्वतन्त्रता और उसके सौन्दर्य-बोध को महत्त्व दिया। छायावादी युग का समीक्षा को एक लेखक ने[१] सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की संज्ञा दी है, जो उपयुक्त है।

छायावादी काव्य की प्रेरणा मुख्यतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य से मिली थी; छायावाद-युग की समीक्षा का स्रोत भी मूलतः यूरोपीय समीक्षा तथा सिद्धान्त हैं। पंडित शुक्ल ने मुख्यतः भारतीय रसवाद का गहरा अध्ययन किया था, वही उनकी समीक्षा की मूल भित्ति था। इस प्रकार शुक्ल जी विश्व-साहित्य की एक बहुत बड़ी समीक्षा-परम्परा से सुपरिचित थे। उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत के क्लासिकल साहित्य का भी गहरा अनुशीलन किया था। इसके विपरीत छायावाद-युग के समीक्षक भारतीय क्लासिकल साहित्य के विशेष प्रेमी नहीं जान पड़ते; क्लासिकल समीक्षा-दृष्टि से भी उनका वैसा तादात्म्य नहीं है।

छायावादी समीक्षक, ज्ञात या अज्ञात रूप से, 'कला कला के लिए' मन्तव्य के समर्थक थे। स्पष्ट ही वे सुधारवादी द्विवेदी-युग तथा मर्यादावादी शुक्ल जी के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर रहे थे, यद्यपि यह ठीक है कि इन विगत परम्पराओं का थोड़ा-बहुत असर कुछ समीक्षकों पर बाकी रहा। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी की कृतियों में यह प्रभाव जहाँ-जहाँ देखा जा सकता है; यों सामान्यतः बाजपेयी जी स्थूल रूप में प्रचार करने वाले साहित्य के विरुद्ध ही रहे। उनमें नीतिवाद तथा मर्यादावाद के स्थान पर जगह-जगह भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म आग्रह दिखाई देता है। इस युग के दूसरे प्रधान समीक्षक डा० नगेन्द्र में इस प्रकार का आग्रह नहीं दीखता। स्वयं कवियों में निराला जी, प्रसाद तथा महादेवी में भारतीयता का आग्रह मुखर है।

छायावादी समीक्षा मुख्यतः काव्य के कलात्मक पक्ष की विवृति करती है। इस दृष्टि से वह गुण-दोष-विवेचन की प्राचीन परम्परा से समानता रखती है। किन्तु उसकी यह विवेचन-प्रक्रिया पुराने समीक्षकों से एकदम भिन्न है। प्रथमतः छायावादी समीक्षक यूरोपीय, विशेषतः अंग्रेज़ी, रोमांटिक साहित्य के समीक्षकों से प्रभावित हैं। वे काव्य में नई कोटि का सौन्दर्य देखने के अभ्यस्त बन गए हैं। दूसरे, उनकी प्रतिक्रिया में ताज़गी है। यह ताज़गी एक प्रकार से छायावादी काव्य की नूतनता का ही प्रतिफलन है।

शुक्ल जी ने साहित्य में समग्र जीवन की अभिव्यक्ति पर ज़ोर दिया था, जिसकी परम्परा भारतीय काव्यों तथा नाटकों में पाई जाती है। इसके विपरीत छायावादी कवियों तथा समीक्षकों ने अपना सम्बन्ध उस व्यक्तिवादी भारतीय परम्परा से जोड़ा जो उपनिषदों के रहस्यवाद एवं कबीर आदि सन्तों की अनलंकृत वाणी में अभिव्यक्ति पाती रही थी। इस दृष्टि से छायावादी कवि तथा आलोचक रवि बाबू के साहित्य से भी प्रभावित हुए।

जहाँ तक छायावादी समीक्षकों ने समकालीन कवियों के नए सौन्दर्य-बोध को अपना समर्थन दिया, उन्होंने निःसन्देह महत्त्वपूर्ण कार्य किया। छायावादी आलोचना हिन्दी के साहित्यिक वातावरण में ताज़ा हवा के झोंकों की भाँति समागत हुई; छायावादी काव्य ने भी कुछ वैसा ही प्रभाव उत्पन्न किया। किन्तु छायावादी काव्य प्रधानतया वैयक्तिक भावना का उच्छ्वास था; उसे गुरु-गम्भीर आदरणीयता का जामा पहनाने के लिए समीक्षकों ने उस पर रहस्यवादी दर्शन का आरोप कर डाला। स्वयं कवियों ने भी अपने को विदेशीपन अथवा क्रान्ति-कारिता के अभियोग से बचाने के लिए दर्शन के छद्म परिधान को ओढ़ लिया। इसका फल यह हुआ कि समीक्षक लोग कमर कस कर छायावाद में जीवन-दर्शन की खोज करने लगे; गम्भीर से गम्भीर परम्परावादी समीक्षकों के लिए छायावादी काव्य ग्राह्य बन गया। दूसरा फल यह हुआ कि रहस्यवाद के नाम पर, कवि और समीक्षक दोनों, छायावाद की कमियों, उसकी दुरूह उलझनों तथा दूसरी अभि-व्यक्तिगत कमज़ोरियों पर पर्दा डालने लगे। यह प्रवृत्ति इस युग के अधिकांश समीक्षकों में पाई जाती है। कवियों में पन्त जी और आलोचकों में डा० नगेन्द्र ही इसका अपवाद हैं।

सच यह है कि छायावादी कवियों में इतनी बौद्धिक क्षमता नहीं थी कि वे किसी महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन का निर्माण कर सकें। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में वैसा प्रयत्न किया, पर विशेष सफल नहीं हुए। वे परम्परागत शैव दर्शन का न्यूनाधिक अनुवाद करके ही रह गए। वस्तुतः छायावादी कवियों की गीतात्मक सम्वेदना जीवन के बड़े प्रश्नों से उलझने के योग्य नहीं थी।

छायावादी समीक्षकों में चार प्रमुख कवियों प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी तथा ऊपर संकेतित समीक्षकों के अतिरिक्त सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगा प्रसाद पांडेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

छायावाद-युग के कतिपय समीक्षकों पर फ्रायड के मनोविश्लेषण-वाद का भी प्रभाव पड़ा। सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र कुमार तथा अज्ञेय पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। समीक्षा-क्षेत्र में जोशी जी तथा अज्ञेय के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। सौष्ठववादी आलोचना

१. डा० भगवत स्वरूप मिश्र ने अपनी 'हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास' तक में।

साहित्य में मुख्यतः आनन्द की खोज करती है और जीवन तथा साहित्य दोनों में आनन्द का काम-भावना से निकट सम्बन्ध है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य-शास्त्री भी इस तथ्य से परिचित थे। आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में लिखा है, "कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्य," अर्थात् काव्य-साहित्य में काम से सम्बद्ध विषय वस्तु की प्रधानता होती है। फ्रायडवादी अथवा मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया प्रगतिवादी समीक्षा में हुई। इस समीक्षा ने छायावादी सौष्ठववाद अथवा अनुपयोगितावाद का भी विरोध किया।

मार्क्सवादी समीक्षा

मार्क्सवादी आलोचना में, जिसे प्रगतिवाद की संज्ञा प्राप्त हुई, द्विवेदी-युग के सुधारवाद एवं शुक्ल जी के मर्यादावाद का एक नए रूप में पुनरुत्थान हुआ। समीक्षा में मार्क्सवादी दृष्टि स्पष्ट रूप में उपयोगितावादी है। कला-कला के लिए नहीं, जीवन तथा समाज को आगे बढ़ाने के लिए है।

कुछ अंशों में प्रगतिवाद द्विवेदी-युग तथा रामचन्द्र शुक्ल दोनों को समीक्षात्मक दृष्टि से भिन्न है। द्विवेदी-युग सुधारवादी था, किन्तु उसका सुधारवाद प्राचीन भारतीय संस्कृति के मोह तथा नवीन यूरोपीय लब्धियों के प्रति प्रशंसा के भाव से अनुप्राणित था। उस युग का सुधारवाद, कम से कम साहित्य में, किसी सुचिन्तित एवं सम्बद्ध जीवन-दर्शन पर आधारित नहीं था। इसके विपरीत प्रगतिवाद कार्ल मार्क्स के सुग्रथित, पूर्ण जीवन-दर्शन पर अवलम्बित है, और उसका स्वर क्रान्तिवादी है। कट्टर आशावादिता के साथ-साथ मार्क्सवादी साहित्यकारों में दर्प और दृढ़ता की भावना भी रही है। वे इस प्रकार लिखते रहे हैं जैसे उनके दृष्टिकोण में किसी प्रकार की त्रुटि हो ही नहीं सकती। उन्हें यह भी विश्वास रहा है कि इतिहास की शक्तियाँ उनके साथ हैं, क्योंकि उनका सिद्धान्त इतिहास के प्रेरक तत्त्व का सही विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

हिन्दी प्रगतिवाद शुक्ल जी के मन्तव्यों से भी भिन्न है। शुक्ल जी ने इस बात पर गौरव दिया था कि साहित्य में जीवन के प्रयत्न पक्ष, अथवा सामाजिक पक्ष, की विवृति होनी चाहिए। किन्तु उन्होंने यह इस दृष्टि से कहा कि वैसी विवृति साहित्य को समृद्ध एवं प्राणवान बनाती है। जिसे 'समाजवादी यथार्थवाद' (सोशलिस्ट रियलिज़्म) कहते हैं उसका भी यही अभिमत है—अर्थात् यह कि सामाजिक विषय-वस्तु साहित्यिक श्रेष्ठता का उपादान है। किन्तु हिन्दी प्रगतिवाद एक कट्टर सीमा तक उपयोगितावादी बन गया। वह अधिकाधिक यह देखने की चिन्ता में पड़ गया कि लेखक-विशेष या कृति-विशेष कहाँ तक मार्क्सवादी सिद्धान्तों का समर्थन और प्रचार करने की योग्यता दर्शित करती है। प्रगतिवाद क्रमशः साहित्य के कला-पक्ष अथवा सौन्दर्य-पक्ष की परीक्षा से विरत होता गया, और उसके समर्थक लेखक खुले रूप में साहित्यिक दलबन्दी का प्रचार करने लगे। फल यह हुआ कि समझदार पाठक क्रमशः प्रगतिवादी समीक्षकों की आलोचना में आस्था खोने लगे।

इस सब के बावजूद प्रगतिवाद ने हिन्दी समीक्षा को स्थायी रूप में प्रभावित किया। उसने साहित्य की युग-सापेक्ष अर्थात् समाजशास्त्रीय व्याख्या पर व्यवस्थित गौरव दिया, और लेखकों को मजबूर किया कि वे देश तथा विश्व के सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों पर न केवल विचार करें, बल्कि उन्हें उचित दिशा में प्रभावित करने का प्रयत्न करें। प्रगतिवाद ने छायावादयुगीन व्यक्तिवादिता का भी सशक्त विरोध किया।

प्रगतिवाद के प्रमुख समीक्षक डा० राम विलास शर्मा, सर्व श्री शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त और अमृत राय हैं।

प्रयोगवाद

हिन्दी काव्य-साहित्य की आधुनातन प्रवृत्ति प्रयोगवाद है। प्रगतिवाद ने साहित्य-रचना के एक प्रमुख तत्त्व-व्यक्तित्व-की उपेक्षा की; उसने लेखक को दल-विशेष में और साहित्य को राजनीति में डुबा देने का प्रयत्न किया। प्रयोगवाद इस व्यक्तित्वहीनता के प्रचार के विरुद्ध विद्रोह है। वह मार्क्सवाद की कट्टर एवं छिछली आशावादिता, तथा उसकी रचना-शिल्प की अवहेलना के, विरुद्ध भी प्रतिक्रिया है। यह लक्षित करने की बात है कि, अपने सारे आन्दोलन और शोरगुल के बावजूद, प्रयोगवाद साहित्य में बड़े व्यक्तित्व पैदा न कर सका; उसने कई बड़े लेखकों को, आकृष्ट करने के बाद, अपनी कट्टरता से दूर कर दिया। फल यह हुआ कि क्रमशः प्रगतिवाद उन नए, थोड़ी साधना वाले लेखकों की चीज़ बन गया जो 'दल' की मदद से सहज ही कीर्ति पा जाना चाहते थे। प्रगतिवादी लेखकों में एकमात्र महत्त्वपूर्ण नाम कथाकार श्री यशपाल का है।

विशुद्ध प्रयोगवादी कैम्प ने अभी कोई महत्त्वपूर्ण समीक्षक उत्पन्न नहीं किया; उसके लेखक, विशेषतः कवि, ही उसके मुख्य प्रवक्ता हैं। इन प्रवक्ताओं में सर्व श्री अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही आदि के नाम मुख्य हैं। प्रयोगवाद की सब से बड़ी चिन्ता अनुभूति और व्यंजना में नवीनता की खोज है; दूसरी चिन्ता इस नवीनता को प्रेषणीय बनाना है। छायावाद और प्रगतिवाद की भाँति प्रयोगवाद भी विदेशी लेखकों से प्रभावित है, मुख्यतः टी० एस० इलियट और उसके समकालीन कवियों से। कुछ प्रयोगवादी कवि न्यूनाधिक मार्क्सवादी भी हैं, जैसे श्री गिरिजा कुमार माथुर और भारतभूषण अग्रवाल। साम्प्रतिक प्रयोगवाद की सबसे बड़ी कमी जान पड़ती है—जीवन के व्यापक प्रवाह से तटस्थता और जीवन के प्रति गम्भीर दृष्टि का अभाव। प्रगतिवाद की भाँति यह वाद भी एकांगी है। प्रगतिवाद 'जन जीवन' और 'जन हित' को साहित्यिक उत्कर्ष की एकमात्र कसौटी मानता है, तो प्रयोगवाद भाषा तथा शिल्प के नए विधानों को। प्रयोगवादियों की प्रयोगशाला में जीवन की शतशः नाटकीय प्रवृत्तियों और उसकी अनेक नैतिक-दार्शनिक गुत्थियों के लिए काफी जगह दिखाई नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अधिकांश प्रयोगवादियों की प्रवृत्ति निषेध-मूलक है।

'क्लासिक्स' की ओर

प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में शुक्लोत्तर काल की वाद-ग्रस्त समीक्षा की सबसे बड़ी कमी है—क्लासिकों के निकट परिचय की विरलता

या अभाव। इस युग के अधिकांश समीक्षक मुख्यतः आधुनिक साहित्य में रुचि लेते रहे हैं, और उसी की सापेक्षता में साहित्यिक चिन्तन करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे समकालीन यूरोपीय साहित्य का भी अवलोकन करते रहे हैं। यूरोप में समीक्षा की अखंड एवं उन्नत परम्परा रही है, किन्तु उस समीक्षा को वहाँ के साहित्य से सम्बद्ध करके आँकना भारतीय लेखकों के लिए सहल नहीं है। फलतः यह आवश्यक है कि हमारे समीक्षक काव्य-क्षेत्र में भारतीय क्लासिक्स का अध्ययन करें; कथा क्षेत्र में वे यूरोप के महान लेखकों को भी अपेक्षाकृत सुगमता से समझ सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन की सापेक्षता में ही हमारे आलोचकों की समीक्षा-क्रिया ऊँचे धरातल पर अनुष्ठित हो सकती है। वैसा होने पर ही हम शुक्ल जी जैसे अनेक गौरवपूर्ण व्यक्तित्व पैदा कर सकते हैं।

आज का युग हर क्षेत्र में उलझन, अनिश्चय, अनास्था एवं विशृंखलता का समय है। ऐसी स्थिति में यह और भी ज़रूरी है कि हम मूल्यों के विविध क्षेत्रों में 'क्लासिकल' परम्पराओं की गहरी अवगति प्राप्त करें, और उनसे भावात्मक प्रेरणा लेने का प्रयत्न करें।

६
शोध और अनुशीलन

अब तक हमने मुख्यतः उस समीक्षा की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जिसका साक्षात सम्बन्ध समकालीन सृजनात्मक साहित्य से रहता है। समीक्षा सृजनात्मक साहित्य की अनुचरी अथवा गौण सहकारिणी नहीं है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। कहा जा सकता है कि समालोचना साहित्य-सृष्टि की आत्मावगति है। इस अवगति में आत्म-विश्लेषण एवं आत्म-मूल्यांकन दोनों का समावेश रहता है। आलोचना-क्रिया साहित्य-सृष्टि को क्रमशः उच्चतर धरातलों पर पहुँचाने का, अथवा उसके उन पर पहुँचने का, साधन है। समीक्षा के इतिहास में प्रायः उन्हीं लेखकों एवं प्रवृत्तियों का उल्लेख होता है जिन्होंने, पाठक-समाज की रुचि को प्रभावित करते हुए, साहित्य-सृष्टि की दिशा और स्वरूप को प्रभावित किया है।

किन्तु सभ्य देशों में साहित्य के अध्ययन से सम्बन्धित एक दूसरी क्रिया भी चलती रहती है, जिसे शोध तथा अनुशीलन का नाम दिया जाता है। हिन्दी में वैज्ञानिक शोध का कार्य अपेक्षाकृत विलम्ब से शुरू हुआ; फिर भी इस क्षेत्र में महत्त्व का काम हुआ है, और हो रहा है।

आधुनिक ढंग की वैज्ञानिक शोध की प्रेरणा, निस्सन्देह, हमें यूरोप से मिली है, यद्यपि संस्कृत के शास्त्रीय क्षेत्रों में सतर्क पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन की शैली पूर्णतया प्रतिष्ठित रह चुकी है। हमारे देश में इस प्रकार के लेखन–प्रतिपादन की परम्परा यास्क तथा पाणिनि के समय में ही सुस्थापित हो गई थी, और प्रायः ईसा की सत्रहवीं-अट्ठारहवीं सदियों तक प्रतिष्ठित रही। हमारे देश के पाण्डित्य-पूर्ण लेखन का माध्यम मुख्यतः संस्कृत भाषा रही। संस्कृत वाङ्मय में प्राकृत की कतिपय कृतियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु अपभ्रंश-काल के बाद विकसित होने वाली तथा-कथित देशी भाषाओं के साहित्य की चर्चा का प्रायः पूर्ण अभाव है।

हिन्दी साहित्य में इधर शोध-ग्रन्थों की जो बाढ़-सी आ रही है उसके दो प्रमुख कारण हैं; एक, हिन्दी भाषी क्षेत्र और स्वयं हिन्दी साहित्य का सुदीर्घ विस्तार; और दूसरे, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी स्नातकों की पी० एच० डी० उपाधि प्राप्त करने की स्वाभाविक आकाँक्षा।

कुछ लेखकों ने 'डाक्टर' उपाधि के लिए लिखे गए शोध-ग्रन्थों को कड़ी दृष्टि से देखा है। इसका एक कारण जहाँ कतिपय ऐसे निबन्धों का साधारण या घटिया स्तर हो सकता है, वहाँ यह भावना भी है कि वे निबन्ध हमारे साहित्य के विकास में विशेष सहायक नहीं होते। यह भी कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ जिस अनुपात में 'डाक्टर' उत्पन्न हो रहे हैं, उस अनुपात में श्रेष्ठ समीक्षकों की संख्या में वृद्धि नहीं हो रही है।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। शोध-ग्रन्थ केवल महत्त्वपूर्ण कवियों या लेखकों, अथवा महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियों, को लेकर ही नहीं लिखे जाते। फलतः अनेक शोध-ग्रन्थों का जहाँ न्यूनाधिक सांस्कृतिक महत्त्व होता है, वहाँ उनका साहित्यिक महत्त्व नहीं होता। ऐसे ग्रन्थ देश के सांस्कृतिक इतिहास को ही समृद्ध करते हैं। आवश्यक यह है कि इस कोटि के अन्वेषकों में 'सांस्कृतिक महत्त्व' के विभिन्न स्तरों की आपेक्षिक चेतना हो, जिसे वे पाठकों में संक्रान्त कर सकें। दूसरे, कुछ अन्वेषक अधीन कवियों—जैसे कबीर, दादू, गोरखनाथ, मलूकदास आदि—के साहित्यिक तथा दूसरी कोटि के महत्त्वों को अलग-अलग विश्लेषित करके उपस्थित नहीं कर पाते।

हिन्दी शोध-कार्य की अनेक दिशाएँ हैं। यहाँ हम साहित्य-सम्बन्धी शोध का ही किंचित परिचय देंगे। साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' 'कबीर', 'सूर-साहित्य', 'नाथ-सम्प्रदाय' तथा 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी में साहित्यिक रसज्ञता तथा साहित्यिक समीक्षा-दृष्टि दोनों का समुचित समावेश है। शोधी विद्वानों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल का 'निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोएट्री' अपने विषय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। डा० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' तथा श्री विपिन बिहारी त्रिवेदी का 'चन्द बरदायी और उनका काव्य' विशिष्ट हैं। श्री माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसी दास,' श्री ब्रजेश्वर शर्मा का 'सूरदास', डा० नगेन्द्र का 'रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिक साहित्य पर डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९००), डा० श्री कृष्ण लाल का 'हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००-२५), डा० केसरी नारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्यधारा' विशिष्ट हैं। सिद्धान्त-क्षेत्र में डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', श्री बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र' तथा डा० नगेन्द्र की 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। डा० भगवत स्वरूप मिश्र ने 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' में हिन्दी समीक्षा का प्रामाणिक इतिहास उपस्थित किया है।



उर्दू के यूरोपियन शायर

हरिशंकर शर्मा

उर्दू की उत्पत्ति कैसे हुई, कब हुई, किस के द्वारा हुई या किस परिस्थिति में हुई, इन प्रश्नों पर यहाँ विचार नहीं करना है। उर्दू का रूप कुछ भी रहा हो, उसका विकास किसी प्रकार हुआ सही, परन्तु आज उर्दू इस देश की मुख्य भाषा है। उसमें बड़े-बड़े साहित्यकार और महाकवि हुए हैं। उसे मुग़ल शासन में आश्रय मिला और अंग्रेज़ सरकार ने उसे भी अपनाया। उर्दू के महाकवि ग़ालिब, ज़ौक़, दाग़ आदि की प्रतिभा का प्रकाश किस सहृदय का हृदय आलोकित नहीं करता? 'नसीम' की मसनवियाँ किसको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेतीं? 'अनीस' और 'दबीर' के मर्सियों ने महाकाव्य का रूप धारण कर, उर्दू साहित्य-संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया। 'आतिश' की शायरी किस ज़िन्दादिल को अपनी ओर नहीं खींच लेती? 'हाली' ने तो अपनी कविता-कला के प्रभाव से, शिथिल मुसलमान जाति को जगा कर, उसमें प्रगतिशीलता के भाव भर कर एक नया युग ही उपस्थित कर दिया। इक़बाल की दार्शनिकता से कौन प्रभावित नहीं हुआ? 'अकबर' की निराले रंग की कविता-शैली कितनी लोकप्रिय सिद्ध हो चुकी है। 'चकबस्त' पर उर्दू उचित अभिमान कर सकती है। जनकवि 'नज़ीर' तो हिन्दी और उर्दू दोनों क्षेत्रों में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। 'फ़ानी' की शायरी भी अपना अच्छा स्थान बना चुकी है। 'सरूर', 'सर सय्यद', 'शिब्ली', 'हसरत', 'जोश', 'जिगर' आदि सब ही विद्वान उर्दू के सच्चे सेवक रहे हैं। प्रो० मोहम्मद हुसैन 'आज़ाद' का नाम कैसे भुलाया जा सकता है? 'मीर' और 'मोमिन' तो आद्याचार्यों में से थे।

उर्दू साहित्यकारों ने उर्दू साहित्य के निर्माण में बहुत प्रयत्न किया। शायरों ने ज़माने के मुताबिक इश्क़िया नज़्म भी लिखीं और उनमें इश्क़ की गहरी रंगत भी दी। परन्तु जब युग ने पलटा खाया तो विलासिता की वृद्धि करने वाली इन कविताओं के स्थान पर नैतिकता अपनाई गई और राष्ट्रीय भावनाओं को उचित स्थान दिया गया, जिससे उर्दू कविता-कला का स्तर काफ़ी ऊँचा उठा और उसका अधिकाधिक प्रचार-विस्तार हुआ। उर्दू साहित्य की सेवा मुसलमानों ने ही की हो, ऐसी बात नहीं है। हिन्दुओं ने भी इस कार्य में बराबर भाग लिया। इसी प्रकार कई मुसलमानों ने भी हिन्दी की भी प्रशंसनीय सेवा की।

आज हमें यह बताना है कि मुसलमान और हिन्दू ही उर्दू के उपासक नहीं रहे, कई यूरोपियनों ने भी उर्दू साहित्य की बड़ी संलग्नता से सेवा की और उर्दू में कविताएँ भी लिखीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में जो यूरोपियन इस देश में रहे, उनमें से कितनों ही ने तो उर्दू तथा फ़ारसी का विधिवत अध्ययन किया। फ़ारसी भाषा के ग्रन्थों के अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद किए और इन भाषाओं में उर्दू-फ़ारसी के सम्बन्ध में कई किताबें भी लिखीं। सन् १६०२ ई० में सम्राट अकबर की आज्ञा से 'मीराक़ उल क़ुदस' या 'दास्ताने मसीह' नामक ग्रन्थ लिखा गया। इसके लेखक थे 'जैरम एक्सवियर' नामक एक यूरोपियन विद्वान। 'आईनए हक़नुमा' लिख कर बादशाह जहांगीर को भेंट किया गया। 'अदब-उस्सल्तनत' आदि पुस्तकों की रचना भी, इन्हीं दिनों, यूरोपियनों द्वारा हुई। यूरोपियनों में, गद्य लेखक ही नहीं, उर्दू-फ़ारसी के शायर भी अच्छे हो गए हैं। इन शायरों में से कुछ के संक्षिप्त परिचय नीचे दिए जाते हैं। आशा है, यह हिन्दी संसार और उर्दू दुनिया दोनों के लिए एक नई सी बात जान पड़ेगी—

कर्नल जान बेली—ये लखनऊ में रहते थे। इनका समय १७६७ से १८१५ ई० तक है। उर्फ़ फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे।

सर जान शोर—इनका समय सन् १७५१ से १८३४ ई० तक है। ये पीछे लार्ड टीन माउथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'दीन इस्लाम घटे, दीन मसीहा बढ़ जाय' शीर्षक कविता इन्हीं की लिखी हुई है। ये उर्दू-फ़ारसी के अतिरिक्त अरबी भी जानते थे। कितनी ही अरबी कविताओं का अंग्रेज़ी में पद्यात्मक अनुवाद किया है। इन्होंने अपने पुत्र को भारतीय भाषाओं की शिक्षा स्वयं दी थी।

जनरल स्मिथ—इनका उपनाम 'स्मिथ' था। इन्होंने उर्दू ग़ज़लें लिखी हैं। ये सेना के मेजर जनरल थे। ४१ वर्ष की आयु में, १८०६ ई० में मथुरा में इनकी मृत्यु हुई।

एडवर्ड हेनरी पामर—ये उर्दू, फ़ारसी और अरबी के बड़े विद्वान थे। उर्दू में कविता करते और 'अवध अख़बार' में लेख लिखते रहते थे। सन् १८४० ई० में ये कैम्ब्रिज में पैदा हुए। वहाँ उन्होंने अरबी, फ़ारसी और उर्दू का अभ्यास किया। इन भाषाओं के अध्यापक भी रहे। इन्होंने फ़ारसी और अरबी के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी में कई विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। ये फ़ारसी और उर्दू में कविता भी अच्छी करते थे।

डाक्टर हुई हुड—ये उर्दू-फ़ारसी के बड़े विद्वान थे। एम. ए. डी. लिट. और आई. सी. एस. थे। कभी-कभी उर्दू में कविता भी लिखते थे। इन्होंने भारत के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी में कई पुस्तकें लिखी हैं।

रौबर्ट पैगट ड्यू हर्स्ट—ये भी आई. सी. एस. थे। 'साकिब' इनका उपनाम था। अरबी-फ़ारसी और उर्दू के विद्वान थे। संस्कृत भी अच्छी जानते थे।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी कितने ही विदेशी विद्वान ऐसे हुए हैं जिन्होंने अरबी-फ़ारसी और उर्दू का अध्ययन किया और

इन भाषाओं में सफलतापूर्वक कविताएँ की हैं। इंग्लैंड, आरमेनिया, फ्रांस, पुर्तगाल, जर्मनी, इटली आदि जिन देशों के विद्वानों का सम्बन्ध इस देश से रहा, उनमें से भी कुछ ने इन भाषाओं को अपनाया और उनमें कविताएँ भी कीं। पुरुष ही नहीं, यूरोपियन स्त्रियों ने भी उर्दू-फ़ारसी में बड़ी सुन्दर कविताएँ की हैं। इनमें मलिका नाम एनीब्लोचर, 'मलिका', मिस सरहपेरी, मिस आरचेस्टन और मिस ब्लेक के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

नीचे कतिपय यूरोपियन शायरों की शायरी के नमूने दिए जाते हैं। पाठक देखेंगे कि ये कविताएँ कितनी सुन्दर, स्वाभाविक और भावपूर्ण हैं। मुहावरे कैसे चुस्त हैं, कविता में छन्दों और व्याकरण के नियम किस योग्यता से निभाए गए हैं। कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं, जो सिद्ध-हस्तों की-सी रचनाएँ जान पड़ती हैं। भक्ति, नीति और शृंगारपरक कविताएँ ही अधिकतर हैं। ज़रा इन शायरों की कविताओं की बानगी देखिए और आनन्द उठाइए। जोज़फ वन्सली 'फ़ना' ने तो हिन्दी के दोहे और पद भी लिखे हैं। एस० गार्डनर 'फ़ना' और मिस ऐलिस गार्डनर की पहेलियाँ कितनी सुन्दर हैं, किस खूबी से लिखी गई हैं? मिस्टर विलियम फ़रमाते हैं—

अदम के जाने वालो कोई दम का रंजे फुरकत है
पहुँच कर तुम वहाँ दम तो ज़रा लो हम भी आते हैं।

इन पंक्तियों में संसार की कैसी नश्वरता दिखाई गई है और किस ख़ूबी के साथ। मरने वाले, तुम निश्चय ही हमसे वियुक्त हो रहे हो। परन्तु यह वियोग अल्पकालीन है—क्षणिक है। आप जब तक वहाँ ज़रा आराम करेंगे, तब तक हम भी आ मिलेंगे और वियोगजन्य वेदना दूर हो जाएगी।

बे बुलाए न गया जन्नत में, वाह क्या आनबान है मेरी,
शेर कहता हूँ सादा ऐ विलियम बेतकल्लुफ़ ज़बान है मेरी।

अब ज़रा राबर्ट गार्डनर 'असबक' की भी सुनिए, वे मुखमंडल की चाँद से किस प्रकार तुलना करते हैं—

रोशनी ले लिया कर उस रुख़ से
छोड़ सूरज का तू सहारा चाँद।
उनकी सूरत से मिलता-जुलता है
इसलिए है हमें भी तो प्यारा चाँद॥

पैट्रिक सालोमन गार्डनर 'शौक़' कज़ा—मृत्यु के प्रति किन सुन्दर शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

छुड़ाया तूने पीछा दर्द से, मुसीबत से,
कज़ा ममनून हूँ तेरा कि तू आई दवा होकर।

मृत्यु, मैं तेरा अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। कष्ट, शोक, शूल से मैं बुरी तरह बीमार था, ये रोग मुझे रात-दिन खाए जाते थे। तूने आकर मुझे नीरोग कर दिया, मेरा रोग-धोग जाता रहा। तू मृत्यु नहीं, सन्ताप-संकट और चिन्ता-शोक दूर करने वाली अमोघ औषधि है। मैं तेरा ममनून हूँ—कृतज्ञ हूँ। तूने बड़ा उपकार किया। तू धन्य है। और सुनिए, यही साहब एक शेर में फिर फ़र्माते हैं—

ज़िन्दगी कैद में गुज़री, हुई अब गोर में बन्द,
न पसे मर्ग न हम ज़ीस्त में आज़ाद रहे।

जीवन भर तो जिस्म की कैद यानी शरीर के कारागर में बन्द रहे, मरने के पश्चात कब्र के किले में कैद कर दिए गए—दफ़ना दिए गए। यानी न हम जीवन में स्वतन्त्र रहे और न मृत्यु के पश्चात। सर्वदा और सर्वथा कारागार तथा कैद। बन्धन ही बन्धन। आज़ादी कभी और कहीं नहीं? कैसी सुन्दर उक्ति है। कितनी अच्छी कल्पना है?

वरथोलो गार्डनर 'सब्र' बुढ़ापे का वर्णन किस कवित्वमयी भाषा में करते हैं, ज़रा ग़ौर फ़रमाइए—

पीरी में लुत्फ़ देता है ज़िक्रे शबाब यों
जिस तरह सुबह बात कहे कोई ख़्वाब की।

वृद्धावस्था में तारुण्य-चर्चा उसी प्रकार है, जिस प्रकार कोई रात के स्वप्न की प्रातःकाल चर्चा करे। यौवन को स्वप्नवत कह कर उसे कैसा क्षणिक और क्षणभंगुर बताया है। साथ ही उसकी अचेत और अबोधावस्था की ओर भी संकेत किया है।

यही 'सब्र' साहब एक दूसरे शेर में दूसरी बात कहते हैं—

रह शौक से जहां में मगर यह ख़याल रख,
इस घर में कोई तुझसे भी पहले ज़रूर था।

अरे भाई, यह दुनिया सराय है सराय। सब मुसाफ़िर थोड़े-थोड़े दिन ठहर कर चले जाते हैं। आज मैं हूँ, कल वह है, और परसों और कोई। इस सराय में सदा कोई नहीं रहा, न रहता है। हम से पहले भी यहाँ यात्री ठहरे थे और बाद में भी ठहरेंगे। स्थायित्व किसी का नहीं है। यही समझ कर हमें संसार-यात्रा करनी चाहिए—सदा न कोई रहा और न रहेगा।

अब डाक्टर हुई-हुइ की अश्रु-वर्षा से दुःखपूर्ण हृदय भवन के भग्न होने की बात सुनिए, वे कहते हैं—

अश्कों से बहा जाता है अपना दिले पुरग़म
बरसात में गिरता है, यह घर कोई ख़बर ले
ईमान भी हाज़िर है दिलोजान भी हाज़िर
वह बादशाहे हुस्न अगर मेरी नज़र ले
होने को इस शहर में हैं माशूक़ हज़ारों
बेचारा 'हुइ' एक है, किस-किस की ख़बर ले।

अरे यार, इस अश्रु-वर्षा में मेरा दुखित हृदय-भवन क्यों भग्न करा रहे हो। ज़रा सावधानी से काम लो। हे सौन्दर्य-सम्राट प्रेमी, यदि आपको किसी प्रकार की भेंट चाहिए तो लीजिए, मेरा ईमान भी हाज़िर है और दिलोजान भी मौजूद है। स्वीकार कीजिए और दिल के दालान को आँसुओं की बाढ़ में मत बहने या ढलने दीजिए।

एलेक्ज़ेण्डर हैडरली 'आज़ाद' का यह शेर पढ़िए और सन्ताप से सुसज्जित बस्ती पर दृष्टिपात कीजिए—

कर याद उनको सैर इक रोज़ इस दिलचस्प मंज़िल की
ग़मों से ख़ूब ही आबाद है, बस्ती मेरे दिल की।

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

बेबसी का ज्ञान

भैरव प्रसाद गुप्त

रोज़ की तरह उस दिन सुबह अपने सात साल के लड़के का हाथ पकड़े मैं गाँव के बाहर बाग़ में टहलने निकल गया।

पिछली रात ख़ूब बरखा हुई थी। पत्थर भी गिरा था। इसलिए हवा बहुत तेज़ और ठंडी थी। बाग़ की ज़मीन रात के गिरे पत्तों, डालों और टहनियों से भर गई थी। पेड़ ऐसे उजड़े-से लग रहे थे, जैसे उनकी सारी ख़ूबसूरती ही लुट गई हो। कहीं किसी चिड़िया का भी पता न था। जो बाग़ सुबह को पंछियों के सुहाने चहचहों से संगीत-मय हो उठता था, वह आज ऐसा वीरान और सुनसान पड़ा था कि उसे देखकर डर-सा लगता था।

मैं लड़के का हाथ एक ओर खींचता हुआ दूसरी ओर मुड़ना ही चाहता था कि एकाएक बाग़ की ओर से ज़ोर-ज़ोर की टें-टें-टें की आवाज़ आई।

लड़के ने उधर मुड़कर कहा—"पिता जी, कोई तोता रो रहा है।"

सचमुच तोते को उस टें-टें में रोने का स्वर इतना साफ़ था कि वह छोटा लड़का भी उसे आसानी से समझ गया था। आदमी के रोने में जो दर्द होता है, उससे भी अधिक उस तोते की टें-टें में दर्द भरा था।

—"पिता जी, चलिए देखें, वह कहाँ पड़ा है"—लड़के ने यह कहकर मेरा हाथ बाग़ की ओर खींचा।

टें-टें की आवाज़ और भी ज़ोर पकड़ती जा रही थी। उस आवाज़ का लक्ष्य करके ही हम उस दिशा की ओर बढ़े। एकाएक लड़के ने चिल्लाकर कहा—"पिता जी, वह देखिए, उस पेड़ की जड़ में।"

मैंने देखा, तोता चित्त पड़ा पंख फड़फड़ा रहा था और टें-टें करके चीख़ रहा था। उस हालत में उसे देखकर मन दुःख और दर्द से भर गया। लड़का उसे पकड़ने दौड़ पड़ा।

चिड़ियों को न जाने क्यों बच्चे बहुत चाहते हैं। मेरा लड़का भी इसी भाव से उसे पकड़ने गया या कुछ और सोचकर, यह मैं उस समय न समझ सका, इसीलिए मैंने उसे रोका भी नहीं।

तोता बुरी तरह घायल था। लड़के को अपनी ओर लपकते देखकर बड़ी ही बेचैनी और बेबसी से उसने उसकी ओर देखा, फिर टें-टें-टें करके चीख़ते हुए उड़ने के कई असफल जतन किए, पर ज़रा भी इधर-से-उधर न हो सका। लड़के ने उसे पकड़ लिया, तो वह और भी ज़ोर से चीख़ उठा, जैसे उसके प्राण ही निकल रहे हों। उसकी वह चीख़ इतनी दर्द-भरी थी कि मैंने अपने कानों पर हाथ रख लिए।

लड़के ने उसके ख़ून से लथपथ डैने को मेरी ओर करते हुए कहा—"पिता जी, इसके दोनों डैने टूट गए हैं, हम इसे घर ले जाकर दवा करेंगे, यह अच्छा हो जाएगा न?"

पन्द्रह दिन पहले वह आप अपना हाथ तोड़ चुका था। दवा से उसका हाथ अच्छा हो गया था। शायद यही बात उस समय उसके दिमाग़ में थी। यों भी उसका यह विचार मुझे अच्छा लगा। मैं इन्कार न कर सका।

वह उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ सहलाने लगा, तो थोड़ी देर में उसका चीख़ना-चिल्लाना भी बन्द हो गया। उसने पास ही के गढ़े से हाथ में पानी लेकर उसकी चोंच में बूँद-बूँद टपकाया और उसके पंखों का ख़ून भी धीरे-धीरे धो डाला।

: २ :

मैंने दवा मंगा दी। लड़का बड़ी मुस्तैदी से तोते की सेवा और देख-भाल करने लगा।

तीन महीने में धीरे-धीरे उसके डैनों के घाव अच्छे हो गए। पर अब भी वह उड़ न सकता था। लड़के ने कहा—अब अच्छा हो गया। खाएगा-पिएगा, तो पंखों में ताक़त आ जाएगी। तब तो वह ज़रूर उड़ सकेगा।

मैंने कहा—"खिलाओ-पिलाओ, शायद तुम्हारा ख़याल ठीक हो।"

थोड़े ही दिनों में तोता काफ़ी मोटा हो गया, नए-नए पर भी उसके निकल आए। पर वह उड़ न सकता था, उसके एक डैने की हड्डी बिलकुल कमज़ोर हो गई थी।

बिल्ली से उसे सुरक्षित रखने के लिए एक पिंजड़ा बनवा दिया गया। पहले उसे खाँची में ढँक कर ही रखते थे, ताकि दवा लगाने, खिलाने-पिलाने में सुविधा रहे।

एक दिन सुबह जब हम टहलने चले, तो लड़के ने कहा—"आज मैं तोते को भी सैर कराने ले चलूँगा।"

मेरे मन में एक शंका उठ खड़ी हुई। मैंने कहा—"नहीं।"

इस पर उसने पूछा—"क्यों?"

मैंने कहा—"जब तुम्हारा हाथ टूटा था, तो चारपाई पर पड़े-पड़े सहन में लड़कों को खेलते-कूदते देखकर तुम्हारे मन में क्या होता था?"

लड़का मेरी, बात शायद समझ न सका। इसलिए ज़िद में आ कर बोला—"नहीं, पिता जी, हम तो ज़रूर ले चलेंगे! यह भी क्या मेरी तरह कोई लड़का है!"

मैंने फिर उसे मना न किया। भोले-भाले पंछी भोले-भाले लड़कों की ही तरह होते हैं, यह बात मैं उसे कैसे समझाता? फिर सोचा, शायद उसी की बात ठीक हो।

बाग़ में एक बेर के पेड़ पर तोतों का एक झुण्ड किलकारियाँ भरता बेर कुतर रहा था। उनकी किलकारियाँ सुन कर पिंजड़े के तोते ने आँखें उठा-गिरा कर ऊपर-नीचे देखना शुरू किया। उसकी नज़र बेर के पेड़ पर पड़नी थी कि वह ज़ोर से अपने पंख फड़फड़ाने लगा और चीख़ने लगा। तोतों ने उसकी आवाज़ सुनी, तो वह भी चीख़ने लगे।

मैंने कहा—"बेटा, पिंजड़ा खोल दे, यह चीख़ना मुझसे सहा नहीं जाता!"

लड़के को मालूम था कि उसका तोता उड़ नहीं सकता। इसीलिए शायद उसकी बेबसी का खेल देखने के लिए उसने पिंजड़ा खोल दिया। तोता आँधी की तरह पिंजड़े से बेर के पेड़ की ओर उड़ा, पर दूसरे ही क्षण तने से टकराकर चीख़ता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा। पेड़ के तोते उसकी वह आवाज़ सुन कर फ़ुर्र से उड़ गए और वह तोता आसमान की ओर देखता हुआ ऐसे चीख़ पड़ा, जैसे कड़ी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए आदमी मुक्ति की याचना करता है।

लड़का उसे पकड़ने दौड़ा, तो वह चीख़ता हुआ ही एक झाड़ी में घुस गया।

लड़का झाड़ी की ओर बढ़ा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा—"छोड़ दो अब उसे।" उसकी यह चीख़ मुझसे नहीं सुनी जाती! अब शायद उसकी यह चीख़ मरते दम तक बन्द न होगी।

लड़का कुछ समझ रहा था, ऐसा कैसे कहूँ। फिर भी मेरी बात मान कर वह सिर लटकाए लौट आया।

उस दिन वह बहुत उदास रहा। बार-बार उस तोते के बारे में मुझसे पूछता रहा। मैंने कहा—"मैं यह समझता था, बेटा, इसीलिए तुमसे कहा था कि उसे बाहर न ले जाओ।"

लड़का चुप रहा। जैसे उसे समझाने के लिए मैं कहता चला गया—"जब तक वह घर में था, अपनी आसमान की दुनिया, अपनी आज़ादी, अपना उड़ना भूला हुआ था, उस समय शायद उसे अपनी बेबसी का भी ज्ञान नहीं था। पर जैसे ही उसने आज़ाद भाइयों को देखा, उसे अपनी वह सब बातें याद आ गईं। एक बार उसने फिर अपनी उसी ज़िन्दगी में जाने की कोशिश की। पर डैनों की बेबसी ने वैसा न करने दिया। उसे अब अपनी बेबसी का ज्ञान हो गया है। अब उस बेबसी की ज़िन्दगी से छुटकारा पाना उसके बस की बात नहीं, मर जाना ही बेहतर समझता है। अब वह ज़िन्दा नहीं रखा जा सकता, बेटा!"

दूसरे दिन हम टहलने गए, तो देखा, वह तोता झाड़ी के किनारे मरा पड़ा था।



उर्दू के यूरोपियन शायर—[पृष्ठ ३० का शेषांश]

वह अपने अक्स से आइने में आँखें लड़ाते हैं,
इलाही ख़ैर करना दोनों चोटें हैं मुक़ाबिल की।

बैंजमिन ड्यूड मारुडरोज़ 'मुज़तर' के निम्न शेरों में 'सहिष्णु' और 'मौन-मूक' रहने की कैसी बढ़िया बात कही गई है। आलम पर कितना बढ़िया परदा डाला है।

लब पै फ़रियाद है न नाला है, ज़ब्त से अपना बोलबाला है।
तूने परदे से मुँह निकाला है, याकि आलम पै परदा डाला है।

यूरोपियन शायरों की उर्दू शायरी के नमूने आपके सामने प्रस्तुत किए गए। अब ज़रा उनकी हिन्दी कविता का भी रस लीजिए। नीचे कुछ दोहे दिए गए हैं, जो जौज़फ बंसली 'फ़ना' के लिखे हुए हैं। उनकी भाषा ब्रज भाषा है। इसमें आध्यात्मिक भाव व्यक्त किए गए हैं। संसार की क्षणभंगुरता, अनवधानता और झूठे सुख की ओर संकेत है।

सुख ही से दुख होत है, क्यों सुख चाहे कोय,
ऐसे सुख को त्याग दे, जा सुख सौं दुख होय।
मनमोहन मन में रहे, मन मूरख कहुँ और,
बनो बावरो आँधरो, ढूँढ़त ठौर-कुठौर।
आवत है सो जात है, यही जगत की रीत,
फना शाह इस देस में, करो न कासे प्रीत॥

भाव स्पष्ट है, भाषा टकसाली है, स्वाभाविकता की कमी नहीं। [यू]रोपियन कवि हिन्दी में कैसी अच्छी बात कह सका है?

अब तक आपने यूरोपियन कवियों की भावपूर्ण कविताओं के [न]मूने देखे, अब मिस एलिन गार्डनर की पहेलियाँ पढ़िए। कलम, पपीहा, उगालदान, चूना और मशक पर कितनी सुन्दर और स्वाभाविक रचनाएँ हैं—

एक नारि मुँह काले रावे बिन बोले सब कहती है,
पाँव नहीं हैं पर हाथों में सबके चलती रहती है।
(क़लम)

ए री सखी जब वर्षा आवे रैन-दिना वह जान गमावे,
पिउ की धुन में 'पिउ-पिउ' गावे, रोवे आँसू पी-पी जावे।
(पपीहा)

ख़्वाहिश इसकी सबको लोगो, महफ़िल में वह आता है,
पेट फुलाए आता है, और सबका उगला खाता है।
(उगालदान)

गोरा-गोरा देखो लोगो, चूँ न करो और खाओ,
आग लगे पानी से इसमें, याकी बूझ बताओ।
(चूना)

एक नारि वह फूली-फाली, बड़ा सा मुँह और रंग की काली
ख़ाली पेट वह पड़ी रहे, पेट भरे तो मर्द पै चढ़े। (मशक)

ऊपर के उदाहरणों से पाठकों को अच्छी तरह ज्ञात होगा कि यूरोप से आए विद्वानों ने तत्कालीन समादृत भाषा उर्दू में कितनी सुन्दर रचनाएँ कीं और उर्दू के साथ-साथ फ़ारसी तथा अरबी का कितना अधिक अध्ययन किया। उन्होंने हिन्दी को भी उपेक्षा-दृष्टि से नहीं देखा। उसमें भी सुन्दर रचनाएँ कीं, जैसा कि पहेलियों से प्रकट है। विदेशी शायरों ने अपने 'तख़ल्लुस' (उपनाम) भी फ़ारसी में ही रखे यह कैसी विशेषता है?



तीसरी राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी

रामकुमार

ललित कला अकादमी ने तीन वर्ष पूर्व जब यह घोषणा की थी कि वह हर साल अखिल भारतीय राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी का आयोजन किया करेगी तो सब भारतीय कलाकारों और कला-प्रेमियों ने इस योजना का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया था। उनका अनुमान था कि दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि में प्रतिवर्ष जो अ० भा० कला प्रदर्शनियाँ स्थानीय कला संस्थाओं द्वारा आयोजित की जाती हैं, वे धीरे-धीरे कई कारणों से केवल स्थानीय कलाकारों की प्रदर्शनी ही रह जाती हैं, उनमें व्यापक रूप से सारे देश का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। राष्ट्रीय प्रदर्शनी के व्यापक प्रतिनिधित्व और इसके ऊँचे स्तर की आशा करने के कई कारण थे। कुछ हद तक तो ललित कला अकादमी द्वारा आयोजित प्रदर्शनियों को जाने-पहिचाने और नए कलाकारों का सहयोग भी मिला और सब मिलाकर इनका स्तर ऊँचा रहा। परन्तु इसके बावजूद भी ऐसा जान पड़ा कि अभी तक बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई हैं। कुछ सिद्धान्त इतने अस्पष्ट और कुछ हद तक गलत भी हैं जिन्हें अपना कर अकादमी के संचालक अपनी ज़िम्मेदारी से बचने का उपाय ढूँढ़ते हैं, चित्रों को उनके गुणों पर अधिक न परख कर अचेतन रूप से भारतीय कला को 'एकेडेमिक' और 'आधुनिक' श्रेणियों में बाँट कर उनके पलड़े बराबर रखने की नीति बरतते हैं जिससे हमारी कला और कलाकारों के साथ पूर्ण रूप से न्याय नहीं हो पाता। सब प्रकार के विचारों वाले लोगों को प्रसन्न करने की नीति लाभदायक सिद्ध नहीं हुई और परिणाम यह निकला कि अधिकतर चित्रकार इन प्रदर्शनियों से असन्तुष्ट ही रहते हैं।

हाल ही में अकादमी द्वारा आयोजित कलाकारों की तीन दिनों की मीटिंग में एक बात और भी स्पष्ट रूप से देखने को मिली। लगभग सभी चित्रकारों को प्रदर्शनी के विषय में अकादमी से किसी न किसी प्रकार की शिकायत थी। कुछ का मत था कि अकादमी द्वारा प्रदर्शनी के दस सर्वश्रेष्ठ चित्रों को पुरस्कार देने की नीति ग़लत है क्योंकि एक चित्र या मूर्ति किसी भी कलाकार का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। हो सकता है कि एक चित्र किसी चित्रकार की अन्य कृतियों से बिल्कुल अलग हो या किसी प्रसिद्ध चित्रकार की कृति से प्रभावित हो या उसकी नकल हो। पुरस्कार चित्र को न देकर कलाकार को उसके बहुत से चित्रों के आधार पर देना चाहिए। कुछ का विचार था कि पुरस्कारों की प्रथा ख़त्म कर देनी चाहिए क्योंकि पाँच या सात निर्णायकों की कमेटी में वोटों के आधार पर चित्रों को पुरस्कृत करना बहुत ग़लत सिद्धान्त है। कुछ कलाकारों का कहना था कि अकादमी कुछ इने-गिने प्रतिष्ठित कलाकारों को चुन कर उनसे ही उनकी कृतियाँ माँगें और फिर उनमें से कुछ को पुरस्कृत करे। आपस में सब कलाकार एक मत नहीं थे और हो भी नहीं सकते थे, लेकिन इतना अवश्य जान पड़ा कि अकादमी की वर्त्तमान नीति से वे प्रसन्न नहीं थे।

यह बात सबको खटकी कि पिछले साल और इस साल अकादमी का स्वर्ण पदक (जो प्रदर्शनी के सर्वश्रेष्ठ चित्र एवं मूर्ति को दिया जाता है) दो ऐसे चित्रकारों को दिया गया जिनके नाम से अब तक लोग अपरिचित थे, उनकी कृतियाँ देखने की बात अलग रही। अपने में यह सिद्धान्त बहुत ऊँचा और न्यायसंगत भी है कि निर्णायक नामों का मोह छोड़ कर चित्रों के गुणों को ही केवल देखें। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इन दो सालों में जिन दो चित्रों को स्वर्ण पदक मिले वे अत्यन्त साधारण चित्र हैं, इस सत्य को बहुत से लोगों ने स्वीकार किया है। छिपी हुई प्रतिभाएँ ढूँढ़ निकालने की निर्णायकों की जो नीति है वह न्यायसंगत नहीं है। जिन कलाकारों ने अपनी कृतियों के बल पर पिछले वर्षों में अपने लिए जो स्थान बनाया है, उसी की पृष्ठभूमि में निर्णायकों के निर्णय समझ में आ सकते हैं। फिर पुरस्कार पाने वाले के दो या तीन चित्र अस्वीकार करने की बात भी समझ में नहीं आती। जब वह कलाकार अपनी एक कृति पर राष्ट्रीय पुरस्कार पाने की क्षमता रखता है तो क्या उसके अन्य चित्र प्रदर्शन करने योग्य भी नहीं होते, इसे स्वीकार करना कठिन है।

इस लेख में प्रदर्शनी का स्तर ऊँचा करने के लिए कोई उपाय मैं पेश नहीं कर रहा और किसी के दिमाग में इन समस्याओं का स्पष्ट हल है भी नहीं। परन्तु इतना सब चाहते हैं कि अकादमी की सब से ऊँची कमेटी के सदस्य कलाकारों एवं दूसरे लोगों द्वारा उठाई गई आपत्तियों पर ध्यान अवश्य दें और इन दोषों को दूर करने के लिए बड़ी ईमानदारी और निष्पक्ष भाव से कदम उठाएँ। लोग नहीं चाहते कि हमारे देश की तीन अकादमियों की वही दशा हो जो यूरोप में होती है, जहाँ पारस्परिक झगड़े और सांस्कृतिक राजनीति के दांव-पेंच खेले जाते हैं।

तीसरी राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी हमारे देश की चित्रकला और मूर्तिकला का काफ़ी हद तक सही मायनों में प्रतिनिधित्व करती है। सब महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों और लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कलाकारों की सर्वोत्तम कृतियों ने इसमें स्थान पाया है, अतः हमारे देश की वर्तमान कला का न्यायसंगत मूल्यांकन किया जा सकता है। परन्तु प्रदर्शनी देख कर उत्साह नहीं मिलता, ऐसा नहीं जान पड़ता कि हमारे कलाकारों ने कोई ऐसी मंजिल छू ली हो जिसको देख कर यह कहा जा सके कि उस अमुक कलाकार की कृतियों ने कुछ नई देन दी हो, कुछ अदृश्य स्तरों को छू लिया हो। शायद इसकी आशा करना वर्तमान

स्थिति को सही रूप से परखना नहीं है। ऐसा सम्भव भी है। दूसरी स्थिति यह है कि कुछ नए युवक कलाकार अच्छी प्रतिभा के साथ मैदान में आए हैं और यद्यपि अभी तक उनकी कृतियों में भले ही कोई महत्त्वपूर्ण चीज़ न निकल पाई हो परन्तु आगे उनकी प्रतिभा और भी चमकेगी, ऐसा विश्वास होता है। स्वाभाविक रूप से सब से पहले हमारी दृष्टि उन कलाकारों की ओर जाती है जिन्होंने पिछले सात-आठ वर्षों में अपनी कला के सहारे ख्याति पाई है, नए-नए प्रयोग किए हैं, जो सदा अपनी कृतियों को अधिक संवारने में संलग्न रहे हैं। हुस्सैन के दो चित्र हमें देखने को मिले। ये दोनों चित्र सन् १९५६ के अन्त में उनके नए प्रयोगों के परिणाम हैं जिनमें शिल्पकला की विशेषता देखने को मिलती है। उनके पिछले चित्रों में रंगों का जो सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता था और जिस संगीतमय वातावरण का आभास मिलता था, वह दिखाई नहीं देता। इनमें चित्र का केवल 'पवित्र निर्माण' और कम-से-कम रंगों का उपयोग दिखाई देता है, भावनाओं का महत्त्व नहीं है; एस्थेटिक अनुभूति को जगाने के लिए केवल 'रूप' का आश्रय लिया गया है, विषय-वस्तु को महत्त्व नहीं दिया गया। जैसा कि मैंने अभी कहा, मुझे उनके ये नए चित्र नए प्रयोग जान पड़े। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इन प्रयोगों का अपना महत्त्व नहीं है। हुस्सैन हमारे देश के उन प्रतिभाशाली कलाकारों में से एक हैं जो सदा नए प्रयोगों में आनन्द अनुभव करते हैं। कहीं कुछ नया पाने की चेष्टा सदा रहती है अतः अपने आप को दोहराने का दोष उन पर कभी नहीं मढ़ा जा सकता। हो सकता है कि कभी-कभी एक ही प्रयोग में व्यस्त हो जाने पर उनके कुछ चित्रों में बहुत समानता दिखाई दे। परन्तु वे उनके एक ही प्रयोग की कई नकलें होती हैं।

बेंद्रे, हेब्बर और चावदा—इनके नाम भी सम्मान से लिए जाते हैं। ये तीनों चित्रकार उस समय के हैं जब बंगाल स्कूल के मुकाबिले में पश्चिम से अधिक प्रभावित होकर इन लोगों ने बम्बई में कला के प्रति लोगों का उत्साह जगाने की कोशिश की थी। पिछले तीन-चार वर्षों में बेंद्रे क्यूबिज़्म की ओर अधिक प्रभावित हुए हैं और उनकी आकृतियाँ नीले और मटियाले रंगों की छोटी-छोटी आकृतियों को इकट्ठा करके एक सामूहिक प्रभाव छोड़ती है परन्तु उनके प्रयासों में मौलिकता कम है। हेब्बर पहले-पहल अमृता शेरगिल से अधिक प्रभावित हुए थे लेकिन आजकल यह प्रभाव खत्म हो चुका है और अपने चित्रों में कुछ हद तक लोक-कला से प्रभावित होकर वे महाराष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को चित्रित करते हैं, यद्यपि विषय का उनकी कला में अधिक महत्त्व नहीं है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि टेकनिकल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपनी अन्तरात्मा से वे कोई महत्त्वपूर्ण चीज़ नहीं निकाल सके। चावदा की कला में पहले भी और आज भी अलंकृतता का अधिक प्रभाव है। उनके रंग और उनकी रंगीन रेखाएँ उच्च स्तर की एस्थेटिक्स को नहीं छू पातीं। आलेखन में वे भी कम दक्ष नहीं हैं परन्तु जिस प्रकार चावदा अपने चित्रों में उसका उपयोग करते हैं, उससे उनके चित्रों में बिखराव अधिक आ जाता है।

इस प्रदर्शनी में तीन नई प्रतिभाएँ भी दिखाई देती हैं जिन्होंने पिछले साल की अपेक्षा इस बार बहुत आशाजनक प्रतिभा दिखलाई है। इनकी उन्नति की चाल बहुत तेज़ है और कोई शक नहीं कि वे अपने ईमानदार परिश्रम से काफ़ी आगे बढ़ेंगे। ज्योति भट्ट ने पिछले वर्ष अपनी कृति 'कृष्ण लीला' पर स्वर्ण पदक जीता था परन्तु उनके परिचित जानते थे कि वह रचना उनकी कला का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इस बार उन्होंने तैल रंगों में बनाए हुए अपने कुछ चित्र प्रदर्शित किए। चित्र के संयोजन में वे बहुत ध्यान देते हैं और उनके रंगों और आलेखन की भी अपनी एक मौलिकता है, यद्यपि उनके चित्रों को देख कर वुडकट या लिनोकट का भ्रम होने लगता है। ज्योति भट्ट का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ और विकसित है और किसी एक चित्रकार का प्रभाव उन पर हावी नहीं है। उनके प्रयोग बहुत नए हैं और आगे चल कर वे अपने में महत्त्वपूर्ण बन सकते हैं, ऐसी आशा सहज में ही की जा सकती है। संतोष दूसरे युवक हैं जिन पर उनके गुरु बेंद्रे का अच्छा प्रभाव पड़ा है। टेकनीक की दृष्टि से उन्हें काफ़ी सफलता मिली है और बड़े पैमाने के केनवसों को वे अत्यन्त कुशलता के साथ निभा ले जाते हैं। उनके रंगों का चुनाव भी सीमित नहीं है अतः हर चित्र में नवीनता मिलती है। छः फुट लम्बे केनवस पर मनुष्य जितने पैमाने की उनकी आकृतियों में पुरानी मूर्तियों का ठोसपन दिखाई देता है और यद्यपि रेखाएँ टूटी हुई होती हैं परन्तु फिर भी सारे चित्र में उनका संगीतमय प्रभाव पड़ता है। शान्ति दवे में भी प्रतिभा है लेकिन अधिक मौलिक बनने की चेष्टा का मोह इतना हावी जान पड़ता है कि जिससे चित्र अच्छा बनते-बनते चूक जाता है। कभी कभी उनकी ग्रामीण स्त्रियाँ पैंट पहने, पिकनिक करती हुई यूरोपीय स्त्रियाँ जान पड़ती हैं। उनके प्राकृतिक दृश्यों में एक प्रकार की 'फ़ैंटसी' का आभास मिलता है। इन तीनों युवकों से भविष्य में आशा की जा सकती है।

सामन्त को पिछले चार-पाँच सालों में बहुत ख्याति मिली है। जैन मिनिएचर से प्रभावित होकर वे पानी के रंगों में तैल रंगों जैसी शक्ति लाए थे। उनके पुरुष और स्त्रियाँ और उनके प्राकृतिक दृश्य किसी नए लोक के वासी जान पड़ते थे। फिर एक कदम आगे बढ़ कर उसी माध्यम में उन्होंने बड़े-बड़े चित्र बनाए जिनमें मौलिकता अधिक थी। इनसे उनकी प्रतिभा की मोहर पक्की हो गई और अनेक युवक चित्रकारों पर किसी न किसी रूप में उनका प्रभाव पड़ा। परन्तु उनके नए एब्स्ट्रेक्ट चित्रों में उनका व्यक्तित्व मुझे बहुत कम मात्रा में दिखाई देता है, वे किसी भी यूरोपीय कलाकार की कृतियाँ कहे जा सकते हैं।

सतीश गुजराल ने भी पिछले तीन वर्षों में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। वे एक अकेले भारतीय चित्रकार हैं जिन्होंने हमारे देश में वर्तमान मेक्सिकन कला का बहुत सुन्दर प्रचार किया है। उनके चित्रों में विषय-वस्तु का विशेष महत्त्व रहता है और उसका रूप उसी प्रकार विषय को व्यक्त करने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम बन जाता है। मेक्सिकन कला का निचोड़ बड़े अच्छे ढंग से वे अपने चित्रों में ले आए हैं। उनकी 'पोर्ट्रेट' में एक विशिष्टता होती है। कहीं-कहीं



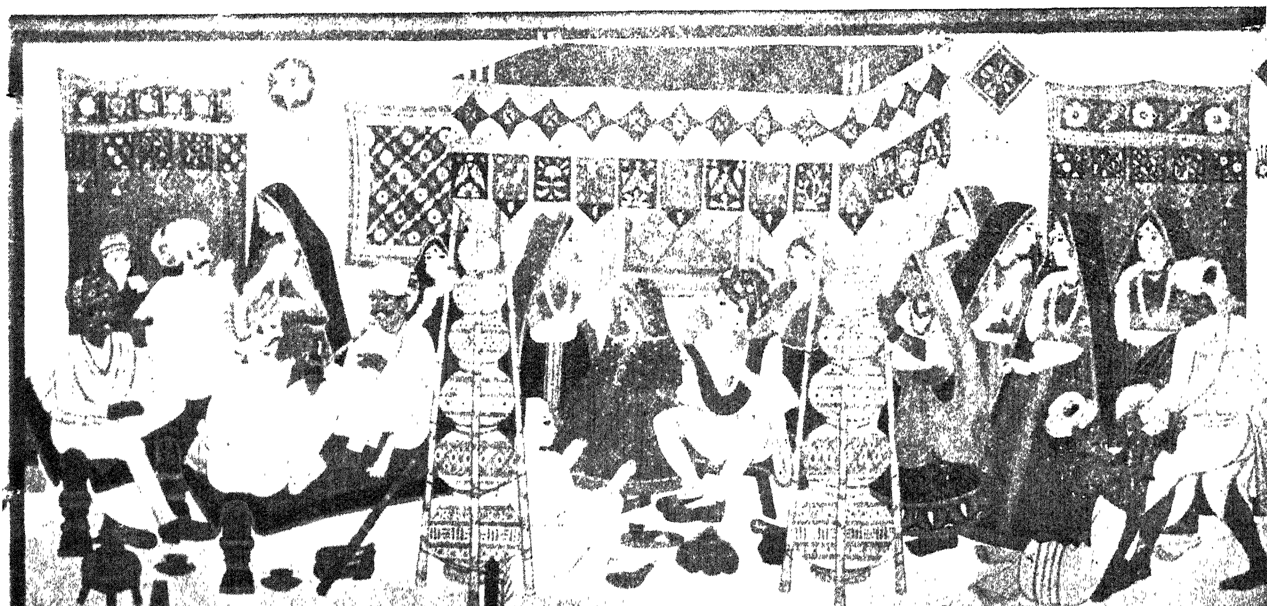
"जीवन" शान्तिलाल दवे

तीसरी अखिल भारतीय राष्ट्र कला प्रदर्शनी



"खेत का गीत"
के० के० हेब्बर

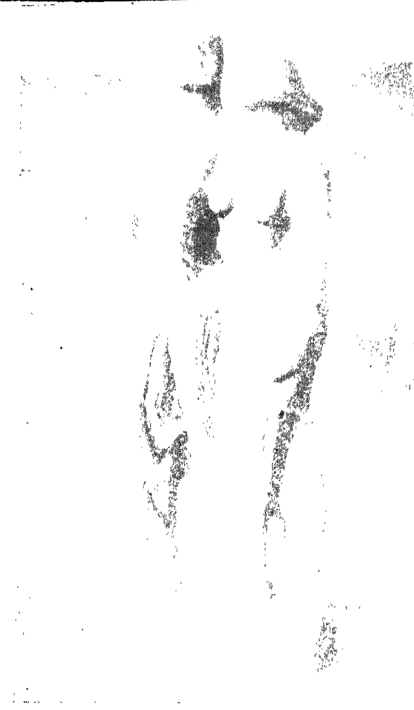
"सौराष्ट्र के एक गाँव में विवाह" परमार खोड़ी दास भव भाई





"मैंने पहले ही कहा था !"

बी० प्रभा



"प्रेमी"

मूर्त्तिकार : धर्माणी



'उदास नगर"

रामकुमार

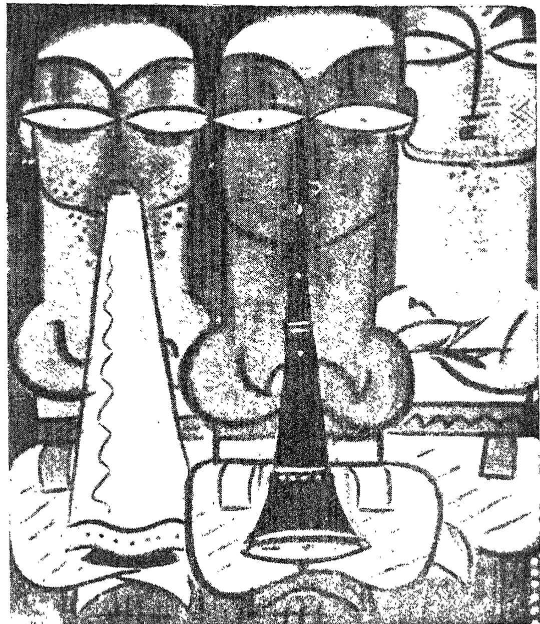
"[illegible]" ज्योतिमान शंकर भट्ट



"रामकिंकर की मूर्ति"

मूर्तिकार :
अवतारसिंह परमार





"वादक त्रिमूर्ति" श्रीनिवासु लू



फोटो : मोतीराम जैन

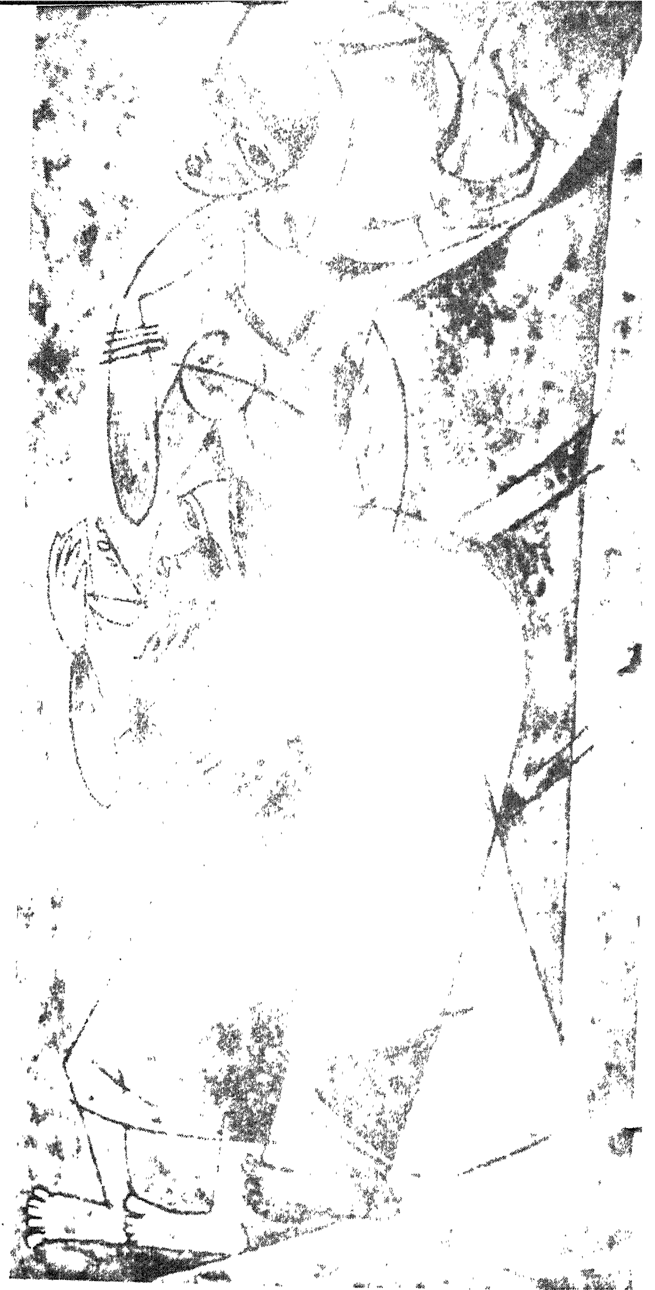
"नृत्य"
डी० डी० दलाल



"मीरा" अवतारसिंह परमार

"केले का बाग" एम० बी० भावे





"शान्ति" सन्तोष

उनके चित्र 'मैलोड्रैमेटिक' बन जाते हैं जो मेक्सिन कला की भी अपनी विशेषता है।

पिछले वर्ष राष्ट्रीय प्रदर्शनी में एक अन्य प्रवृत्ति जो कितने ही चित्रों में देखने को मिली थी वह थी एक प्रकार की पानी के गहरे रंगों में टेम्परा के माध्यम द्वारा अलंकृत कला, जिसमें बंगाल स्कूल की भाँति 'सेंटीमेंटल' भावनाओं को उभरने से बचाया गया था। दस, बारह वर्ष पूर्व बम्बई में पाल्सीकर ने इस दिशा में कुछ सफल प्रयोग किए थे जिसमें बाद में चलकर लक्ष्मण पाई, सामन्त, अलमेलकर, जोशी आदि ने अपने व्यक्तित्व की छाप देकर इसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया था। तीसरी राष्ट्रीय प्रदर्शनी में इसकी नकल के कुछ सस्ते नमूने हमें जैराम पटेल, बी० प्रभा, बद्रानगेकर, पेदी राजू, डी० डी० दलाल आदि के चित्रों में देखने को मिले। इस धारा में यदि ईमानदारी के साथ कुछ और प्रयोग किये जाएँ तो इसके रूप के निखरने की सम्भावना की जा सकती है।

इस प्रदर्शनी में एक और सत्य स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है। कुछ कारणों से पिछले तीस, चालीस वर्षों में भारतीय चित्रकला को दो धाराओं में बाँट दिया जाता था। एक भारतीय माध्यम, जिसमें अवनीन्द्र नाथ ठाकुर और उनके शिष्य आते थे और दूसरा पश्चिमी माध्यम, जिसमें तैल रंगों से चित्र बनाने वालों की गणना की जाती थी। इन दोनों के बीच कितने टकराव होते थे, एक-दूसरे की कड़ी आलोचना की जाती थी, इसकी चर्चा यहाँ नहीं की जाएगी। लेकिन अकादमी की प्रदर्शनी में चित्रों को पुरस्कार देते समय इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया। परन्तु फिर भी इन दो माध्यमों में बने चित्रों में अन्तर तो बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता ही था। हर वर्ष इस 'भारतीय माध्यम' या बँगाल शैली में बने प्रदर्शित चित्रों की संख्या कम होती जा रही है और जो चित्र प्रदर्शित भी होते हैं उनकी सराहना बहुत कम होती है, यद्यपि इस शैली के दो-तीन चित्रों को निर्णायक पुरस्कार अवश्य दे देते हैं। इस प्रश्न पर कुछ चित्रकारों ने अकादमी की कड़ी आलोचना भी की है परन्तु यह एक ऐसा सत्य भी है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आज के युवक चित्रकार अवनीन्द्र एवं नन्दलाल वसु और सारदा उकिल से प्रेरणा पाने की अपेक्षा अमृता शेरगिल या पश्चिम की ओर अधिक देखते हैं, यद्यपि उनकी नकल करना किसी को रुचिकर नहीं लगता जो अपने में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आश्चर्य-जनक सत्य है।

पश्चिम से प्रभावित होने के बावजूद भी और पिकासो, मातीस, ब्राक, दूफ़ी, ग्राहम सदरलैंड के प्रशंसक होने पर भी भारतीय चित्रकार कभी उनकी नकल नहीं करते, यह बहुत सराहनीय बात है जबकि हम देखते हैं कि पेरिस के युवक चित्रकार जल्दी ख्याति पाने की लालसा में रात-दिन इनकी नकल करने की कोशिशें किया करते हैं। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश से कितने ही चित्रकार यूरोप गए हैं, वहाँ रहकर उन्होंने अध्ययन किया है, मौलिक चित्रों को देखा है परन्तु फिर भी अपना व्यक्तित्व ही ढूँढ़ने की सदा कोशिश की है। आज भी रज़ा, लक्ष्मण पाई, न्यूटन, पदमसी आदि छः, सात वर्षों से यूरोप में रह रहे हैं परन्तु कभी किसी चित्रकार के प्रभाव में उन्होंने अपने अस्तित्व को नहीं खोया।

राष्ट्रीय प्रदर्शनी में कुछ प्रसिद्ध भारतीय चित्रकारों का अभाव बुरी तरह खटकता है। अकादमी को चाहिए कि वे उनसे विशेष रूप से अनुग्रह करके उनके कुछ चित्र प्रदर्शनी में दिखलाया करे। जामिनी राय, नन्दलाल वसु आदि के चित्रों की उपस्थिति आवश्यक है। 'सेलों द मे' और 'सेलों द ओतम' आदि प्रदर्शिनियों में पिकासो, ब्राक आदि विश्वविख्यात कलाकारों की कृतियाँ दूसरे फ्रांसीसी चित्रकारों के साथ प्रदर्शित की जाती हैं जिससे एक तो प्रदर्शनी को सम्मान मिलता है, दूसरे युवक कलाकार इन विभूतियों को अपनों में से एक समझने लगते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान से बाहर हमारे जितने प्रसिद्ध चित्रकार हैं, उनकी कृतियों को भी विशेष रूप से प्रदर्शनी के लिए निमन्त्रित करना चाहिए और उनको लाने और वापस भेजने का खर्च अकादमी को उठाना चाहिए। रज़ा ने हाल ही में पेरिस में आलोचकों का पुरस्कार पाकर बहुत ख्याति पाई है और पिछले आठ वर्षों से उनका एक भी चित्र हमारे देश में किसी को देखने को नहीं मिला। उनकी इस प्रदर्शनी में उपस्थिति अकादमी की जिम्मेदारी होनी चाहिए।

मूर्तिकला विभाग अन्य वर्षों की भाँति इस बार भी बहुत कमज़ोर है। रामकिंकर, प्रदोशदास गुप्त, शंखो चौधरी की अनुपस्थिति स्वाभाविक रूप से खटकती है। सम्भवतः दिल्ली के बाहर रहने वाले मूर्तिकार अपनी मूर्तियों को दिल्ली भेजने की असुविधाएँ स्वयं सहन नहीं करना चाहते और फिर उनकी तोड़-फोड़ का जो ख़तरा है सो अलग। मूर्तियों को दिल्ली लाने की व्यवस्था भी अकादमी को करनी चाहिए। अमरनाथ सहगल की मूर्तियाँ उनकी पुरानी एब्स्ट्रैक्ट कृतियों से सर्वथा भिन्न हैं। उन्हें देख कर ऐसा अभास होता है मानो मूर्तिकार 'प्रीहिस्टोरिक' काल की कृतियों से प्रभावित हुए हों परन्तु उनकी कृतियों में मूर्तियों का ठोसपन, उनकी विशालता, उनकी अनुभूति नहीं होती। यदि वे अपनी पुरानी कृतियों के कुछ आवश्यक तत्व बनाए रक्खें तो वे उपयोगी ही सिद्ध होंगे। धनराज भगत ने बहुत छोटी-छोटी मूर्तियाँ भेजीं जो उनके नए प्रयोगों का सही रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।

यों कुल मिला कर इस बार प्रदर्शनी का स्तर पिछले वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचा उठा है, और निम्न स्तर की कृतियों की संख्या भी इस बार कम है। अकादमी को इसके आयोजन में भविष्य में और भी ध्यान देना चाहिए और यह साबित करना चाहिए कि प्रदर्शनी में जो चित्र स्वीकृत हों, उसके कलाकार को उस पर गर्व होना चाहिए। इसमें अभी समय लगेगा परन्तु कोशिश तो होनी ही चाहिए।

एक एक हज़ार रुपए के दस पुरस्कार निम्नलिखित चित्रकारों एवं मूर्तिकारों को मिले—विद्याभूषण, शांति दावे, सतीश गुजराल, हेब्बर, परमार खोदीदास, जैराम पटेल, रामकुमार, शांतना राज, संतोष और अमरनाथ सहगल। विद्याभूषण को स्वर्ण पदक भी मिला।

काँगड़ा के लोकगीत

देवेन्द्र सत्यार्थी

पूणी नई ओ मुक्कदी, तन्द नई ओ टुट्टदी;
सस्स नई ओ आखदी पाणीए जो जाणा ।
पूणी जाई मुक्की गई, तन्द जाई टुट्टी गई;
सस्सू सां जो आखि दित्ता, पाणीए जो जाणा ॥

(पूनी समाप्त नहीं होती, तार नहीं टूटता । सास नहीं कहती, अब पानी लाने के लिए जाना होगा । पूनी समाप्त हो गई, तार भी टूट गया । सास ने हम से कह दिया, अब पानी लाने के लिए जाना होगा ।)

काँगड़े की नारी का यह साधारण-सा गान हमारे लिए वह वातायन खोल देता है जो उसकी मानसिक स्थिति को समझाने में सहायक होता है । सास इतनी कठोर है, घर में उसका नियन्त्रण इतना कड़ा है, निरन्तर चरखा कातते रहने का उसका आदेश इतना कड़ा है, कि बेचारी नव-विवाहिता वधू का नाक में दम आ जाता है । चरखा कातते हुए वह हर घड़ी यही सोचा करती है कि सास कब यह आज्ञा देगी कि जाओ अब पानी लेती आओ, बहू । सास सामने बैठी है, वधू पल भर के लिए भी निरन्तर चरखा कातने से छुट्टी नहीं पा सकती । जब एक पूनी समाप्त होती है, तो दूसरी पूनी उठाते समय एक आध क्षण के लिए वधू आराम कर लेती है, या फिर जब कभी कातते-कातते तार टूट जाता है तो तार को फिर से पूनी के साथ जोड़ते समय ही वह थोड़ा सुख अनुभव करती है । जब वह पूरी तरह थक जाती है तो लगता है अब यह पूनी समाप्त नहीं होगी, वह तार भी तो नहीं टूटता । लो, पूनी समाप्त हुई, तार टूट गया, और कठोरता की मूर्ति सास के मुँह से निकल गया, अब पानी ले आओ, बहू ! सच पूछा जाए तो पानी लाने का कार्य भी कुछ कम कठिन नहीं होता। हो सकता है, नीचे घाटी में उतर कर किसी नदी से अथवा किसी झरने से घड़ा भर कर लाना पड़े । पनघट पर या पनघट के रास्ते में किसी सहेली से भेंट हो जाती है । प्राकृतिक सौन्दर्य का नित-नूतन बोध भी तो आवश्यक है । इसीलिए चरखा कातती कुलवधू के मन में पनघट पर पहुँचने की इतनी साध रहती है ।

भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में 'काँगड़ा कलम' अथवा 'काँगड़ा शैली' प्रसिद्ध है । काँगड़ा के लोकगीत भी समूचे देश का ध्यान खींचने की क्षमता रखते हैं ।

काँगड़ा की यात्रा करने का सौभाग्य मुझे सर्वप्रथम सन् १६३० में प्राप्त हुआ था । उन दिनों मैं अकेला ही काँगड़ा, डलहौज़ी, चम्बा, कुलू और शिमला की यात्रा पर निकला था, और मुझे याद है कि कुलू से शिमला जाते समय मेरा मन मुड़-मुड़ कर काँगड़ा की ओर देख रहा था, क्योंकि पालमपुर से देखा हुआ धौलाधार का सा नयनाभिराम



"राधा" काँगड़ा शैली में

दृश्य इस समूची यात्रा में कहीं भी दिखाई नहीं दिया था । पूरा एक-चौथाई शताब्दी के पश्चात मुझे दोबारा काँगड़ा, कुलू और शिमला की यात्रा करने का अवसर मिला । अन्द्रेटा से धौलाधार की हिम धवल श्रृंखला काँगड़ा उपत्यका का सर्वोत्तम दृश्य प्रस्तुत कर रही थी, और मेरी कल्पना को गुदगुदा रही थी । काँगड़ा के एक लोकगीत की टेक :

काँगड़ा धौलाधार माता तैं बैकुण्ठ बणाया ।

(हे काँगड़ा की धौलाधार माता ! तुमने यह बैकुण्ठ बनाया ।)

इस प्रदेश में ऐसे गीत मिलेंगे, जिनमें हमें जीवित काव्य के दर्शन होते हैं । कठिन पहाड़ी मार्ग, जलवती वेगवती पहाड़ी नदियाँ, आकाश से बातें करती पहाड़ियाँ, जिनमें धौलाधार की बर्फ़ानी श्रृंखला, धवल-केशिनी वृद्धा दादी का शान्त, स्निग्ध व्यक्तित्व हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने का सामर्थ्य रखती है, और फिर इस प्रदेश के सुन्दर, स्वस्थ और संकल्पशाली प्राणी ।

'काँगड़ा कलम' के चित्रों में काँगड़ा की रूपगर्विता नारी का सौन्दर्यश्री कलाकार की तूलिका द्वारा धन्य हो उठी है । काँगड़ा के लोकगीतों में भी नारी की रूप-माधुरी को उचित स्थान मिला है।

मुग्धा, अज्ञातयौवना, मानिनी, प्रेषितपतिका, अभिसारिका, खण्डिता, धीरा, स्वयंदूतिका, उत्कंठिता, प्रेमगर्विता, पूर्वानुरागिनी—और जाने कौन-कौन सी नायिका के चित्र अंकित करने की 'काँगड़ा कलम' के चित्रकारों ने चेष्टा की। इनकी पूर्वपीठिका उन अज्ञात और ज्ञात चित्रकारों को किसी सीमा तक काँगड़ा के लोक-जीवन से उपलब्ध हुई होगी, यह सहज ही कहा जा सकता है। लोक-कवि का संकेत उन चित्रकारों ने अनदेखा तो न किया होगा:

डुग्गी डुग्गी नदियाँ ते सैली सैली धाराँ
छैले छैले गभरू ते बाँकीयाँ नाराँ

(गहरी-गहरी हैं नदियाँ और ऊँची-ऊँची चोटियाँ: छैले-छैले युवक हैं और बाँकी नारियाँ!)

काँगड़ा उपत्यका की यात्रा करते समय काँगड़ा की नारी की मुख-मुद्रा की छाप हमारे मन पर लगती चली जाती है, और हम 'काँगड़ा कलम' के चित्रों में विभिन्न नायिकाओं के रूप में अंकित नारी की सौन्दर्य-श्री को फिर से जीवित रूप में पाकर विभोर हो उठते हैं। काँगड़ा की नारी के लिए लोक-कवि ने "बाँकी" विशेषण ढूँढ़ कर बहुत-कुछ कह दिया: उसकी छबीली-सजीली, हाव-भाव-भरी और बनाव-शृंगार द्वारा परिष्कृत सुन्दरता मानो इस एक ही शब्द में सिमट आई हो।

आडम्बर और अस्वाभाविकता से मुक्त प्रेमी अपना गान छेड़ता है, और खेत में से जाती हुई पगडण्डी पर चली जा रही प्रेमिका कलकल बहती नदी से स्वर मिला कर अपने गीत में प्रेमी की बात का उत्तर देने का यत्न करती है। लोकगीत ही प्रेमियों का समाचार-पत्र है, मुक्त स्वर द्वारा वे इस पर अपनी-अपनी बात छापते चलते हैं। इस में लाग-लपेट के स्थान पर निष्कपट अनुभूति रही है। सहज प्रेम पर नैतिकता नहीं छा पाती।

पल भर बई लैणा बो, बई लैणा बो,
चन्दा पल भर बई लैणा बो!
इस बे बड़ोटे दीयाँ छाँवाँ
चन्दा पल भर बई लैणा बो!

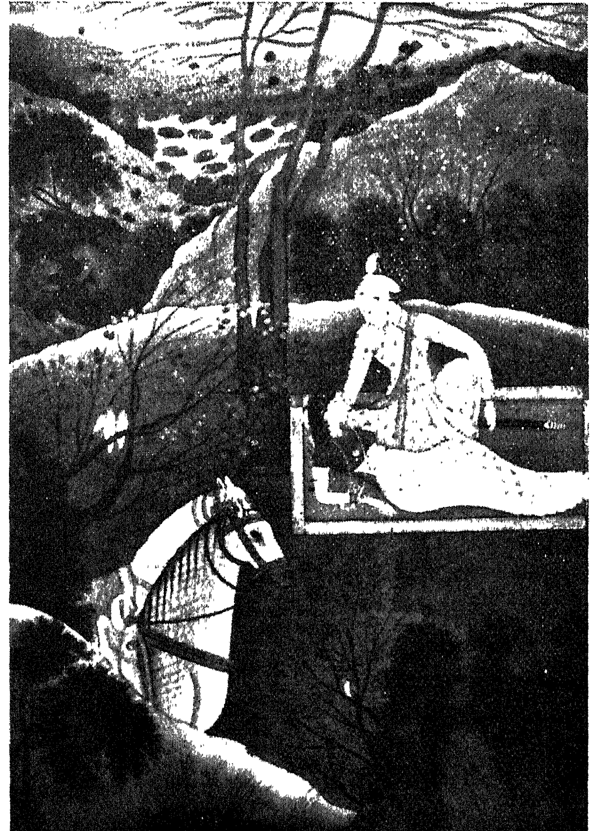
(पल भर बैठ लेना रे, बैठ लेना रे! ओ मेरे चाँद, पल भर बैठ लेना रे! इस वटवृक्ष की छाया में, ओ मेरे चाँद, पल भर बैठ लेना रे!)

इस आमन्त्रण की कौन अवहेलना करेगा? ऐसे ही गीतों द्वारा किसी न किसी प्रेम-कथा की पूर्व-पीठिका बनती रहती है। गाँव के

"वीर का प्रत्यागमन", काँगड़ा शैली, अट्ठारहवीं सदी



मुग़ल प्रेमी (१८०० में चित्रित)



समीप किसी न किसी वटवृक्ष की छाया पल भर के लिए बैठने और बात करने का बहाना बन सकती है।

एक पीढ़ी के गीत आने वाली पीढ़ी को उत्तराधिकार में मिलते हैं। फिर भी यह तो स्वाभाविक ही है कि समय-समय पर इन गीतों में घटती-बढ़ती होती रहती है। गाँव-गाँव, खेत-खेत, घर-घर ये गीत गाए जाते हैं। माँ की लोरी तो नित-नूतन है, शिशु को स्तन-पान कराने वाली माँ मानो लोरी की भाषा को भी वात्सल्य रस का पान कराती है। घोड़े पर चढ़ कर पिता सुदूर प्रदेश में चला जाता है। बच्चे पूछते हैं—माँ, बापू कब लौटेगा? पुत्र-जन्म के गीत भी काँगड़ा की स्त्रियों को कुछ कम प्रिय नहीं हैं। इन में देवी-देवताओं का अर्चन किया जाता है। विवाह-गान भी आवश्यक ठहरे, विवाह की प्रत्येक प्रक्रिया और मंगल-कामना के उपलक्ष में प्रचलित प्रत्येक प्रथा से सम्बद्ध विशिष्ट गान गाए जाते हैं। त्यौहारों के गीत उनसे अलग हैं, जिन में प्रत्येक ऋतु का जयघोष सुनने को मिलता है। ऐसे गीत भी

"राजकुमारी और काला हिरण", अट्ठारहवीं सदी



मिलेंगे, जिनमें काँगड़ा का इतिहास झंकृत हो उठता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगीत काँगड़ा के नर-नारियों का जन्म-मरण का साथी है।

एक बात जो काँगड़ा के लोकगीतों की विशेषता है, वह है उनकी स्वाभाविक मधुरता। यह मधुरता गीत की भाषा में तो रहती ही है, इस में चार चाँद लग जाते हैं, जब भाषा का शब्द-चातुर्य गायक के कंठ से होकर शब्दातीत संगीत का चमत्कार दिखाता है।

किसी-किसी गीत में प्रार्थना-सी शान्ति उपलब्ध होती है। जब लय, तान और स्वर-प्रवाह द्वारा इन शब्दों को दीये के समान संजोया जाता है, तो इस में आरती-सी आभा जगमग-जगमग कर उठती है। लय और तान काँगड़ा के गीतों की सब से बड़ी विशेषता है। यह आवश्यक है कि आप इन्हें गायक के मुख से सुनें और वह भी काँगड़ा के अपने विशिष्ट प्राकृतिक वातावरण में, तब जाकर आप इनके वास्तविक चमत्कार से परिचित हो सकते हैं।

ओ जाणा महाराज रस्ता बताई करी,
रस्ते ते भुल्ली गई आँ, ओ लोका!
चुम्बे लो चढ़दियाँ की रात जे पई गई,
रस्ते ते भुल्ली गई आँ, ओ लोका!
साकी रस्ता बताई करी जाणा, महाराज!

(ओ जाना, महाराज, हमें रास्ता बताकर जाना। रास्ता चलते में भूल गई, ओ लोगो! चम्बा की पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते रात उतर आई। रास्ता चलते में भूल गई, लोगो! हमें रास्ता बता कर जाना, महाराज!)

प्रेम की अनुभूति हो ऐसी है, भाषा स्वयं कोमल बन जाती है। कोमल ही नहीं, स्वप्निल भी। जो अपने प्रेमी को 'महाराज' कह कर सम्बोधित करती है, वह स्वयं भी 'रानी' बनने की क्षमता रखती है। रानी के क्या-क्या गुण होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता लोक-कवि, वह इस पचड़े में नहीं पड़ता, वह तो बस रानी बनने योग्य सुन्दरी को लाकर खड़ा कर देता है। चम्बा के रास्ते में रानी पथ से विपथ हो गई। ऊपर से रात उतर आई। रानी को अपनी मंज़िल पर पहुँचना है। कल्पना कीजिए: लमचौंये नयन, गोल मुख, गौर वर्ण, पतली-पतली अंगुलियाँ। पर यह सोचना तो भूल होगी कि प्रेमिका का बाह्य सौन्दर्य ही काफ़ी है, यह है उसके मन के भीतर के सौन्दर्य की वाणी:

खसम मरे कलबल करे, सजन मरे कोआँ जाणा!
खिंज फटे तां टल्ली लाइए, अम्बर फटे कीआँ साणा!

(पति मर जाए तो रंडापा रो-धो कर काटा जा सकता है। साजन मर जाए तो कैसा जीवन! कम्बल फट जाए तो चकती लगाई जा सकती है। अम्बर फट जाए तो उसे कैसे सीया जाए।)

नारी की यह वाणी महासत्य है, इसमें उसकी समस्त जीवनानुभूति रची हुई है।

काँगड़ा की लोक-कविता कितनी पुरातन है और कितनी नूतन, इस वाद-विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं। पुराने से पुराने गीत

पर भी काँगड़ा की नव-नवोन्मेश-शालिनी सृजन शक्ति की छाप लग जाती है। प्रतिभा और परम्परा का ऐसा समन्वय शायद ही किसी अन्य स्थान पर इतने सुन्दर स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ सके। "अम्बर फटे कीआँ सीणा" की अभिव्यक्ति काँगड़ा के लोकगीतों में और भी कई स्थलों पर हुई है, शब्द भले ही थोड़ा बदल जाए, पर भाव नहीं बदलता!

थोड़े-थोड़े पाणीएं मछली जो तड़फे,
इहां करी तड़फे बो नौकरे दी नार!

(थोड़े-थोड़े पानी में जैसे मछली तड़पती है, वैसे ही तड़पती है नौकर की पत्नी।)

कुथू तां उगमी काली बादली, ओ मुण्डिया पिरथी सिंघा!
किथों तां बरसिया ठण्डा नीर बो!
छाती ते उगमी काली बादली, ओ कुड़ीए इन्दर देईए!
नैणां तो बरसिया ठण्डा नीर बो!

(कहाँ से जन्मी काली बदली, ओ युवक पिरथी सिंह! कहाँ बरसा ठण्डा नीर?" "छाती पर जन्मी काली बदली, ओ युवती इन्द्र देवी! नयनों से बरसा ठण्डा नीर!)

जांदे-जांदे चली गए, जाए खलोते नदीयां दे पार,
रज्जो ना कीतीयां गल्लाँ गूढ़ीयां, साडे मन दा
न चुक्किया चाँ!

(जाता-जाता चला गया, जाकर नदियों के उस पार खड़ा हो गया। हम ने जी भर गूढ़ी बातें न कीं, हमारे मन का चाव भी न उतरा।)

नी तेरी सौं सूलीआ टंगोई गई जान,
भली होई जान पहचान!
उठदियां बेहंदियां की निकलदे हौके,
भुल्ली गए बरां दे चुल्ले तां चौक्के,
रैंहदा नित्त तेरा ही ध्यान!
नी तेरी सौं सूलीआ टंगोई गई जान!
भली होई राजे दी नौकरी वे सिपाहीआ,
भली चंगी फसी गई दुखें दीआ फाहीआ,
भुल्ली गेआ खाणा तां पीणा।
कारा उड़ावां वे सन्देसड़े भेजां
चन्ना तेरे बाज तेरी मेरी रेशमी सेजां
दौड़ी-दौड़ी औंदीआं खाणा!
भली होई राजे दी नौकरी वे सिपाहीआ!

(अरी तेरी सौगन्ध, मेरी जान तो सूली पर लटक गई। अच्छी हुई जान-पहचान। उठते-बैठते ठण्डी उसांसें निकलती हैं। घर के चूल्हे और चौके भूल गए। हर समय तुम्हारा ही ध्यान रहता है। अरी! तेरी सौगन्ध, हर समय तुम्हारा ही ध्यान रहता है। भली हुई राजा की नौकरी, ओ सिपाही! मैं तो भली-चंगी थी, दुःख की फाँस में फँस गई। भूल गया खाना-पीना। काग उड़ाती हूँ, सन्देश भेजती हूँ। ओ मेरे चाँद, तेरे बिना तेरी-मेरी रेशमी सेज मानो खाने को दौड़ती है। भली हुई राजा की नौकरी, ओ सिपाही!)

धौलाधार के 'गधेरन' प्रदेश के गद्दी चरवाहे यात्री का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहते। ग्रीष्म ऋतु में गद्दी चरवाहे ऊपर निवास करते हैं, जहाँ ये लोग भेड़-बकरियाँ पालते हैं, शीतकाल में नीचे काँगड़ा की उपत्यका में उतर आते हैं।

गद्दी लोगों के गीत अलग हैं, इनकी भाषा बहुत कुछ काँगड़ा और चम्बा की भाषा का मिश्रित रूप है। गद्दी संस्कृति का अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए। भेड़ की ऊन से गद्दी स्त्रियाँ स्वयं वस्त्र बुनती हैं।

गद्दी स्त्रियों को गहरे रंग के वस्त्र बहुत प्रिय हैं, लाल, पीले और नीले ही नहीं, काले रंग के वस्त्र भी उन्हें प्रिय हैं। गद्दी स्त्री बहुत ही स्वस्थ होती है, घर और बाहर के कार्य में वह पुरुष से किसी भी अवस्था में पीछे नहीं रहती।

धौलाधार के दोनों ओर गद्दियों के गाँव हैं, इस पार के गाँव काँगड़ा के अन्तर्गत आते हैं। उस पार के गाँव चम्बा में हैं। यह बात

"राधा का शृंगार", कांगड़ा शैली



उल्लेखनीय है कि गद्दियों के घर बहुत साफ़ होते हैं। चार हज़ार से आठ हज़ार फुट तक की ऊँचाई पर ही प्रायः इन लोगों का जीवन व्यतीत होता है। जब धौलाधार के मार्ग बर्फ़ से ढक जाते हैं, तो इस पार से उस पार जाना कठिन हो जाता है।

गद्दी स्त्रियाँ प्रायः चाँदी के गहनों से लदी रहती हैं। इस पार की कन्याओं के विवाह उस पार, और उस पार की कन्याओं के विवाह इस पार होते आए हैं युग-युग से। धौलाधार की बर्फ़ीली चोटियाँ दुर्लंघ्य प्राचीर नहीं बन पातीं।

गद्दियों में ब्राह्मण भी हैं, क्षत्री भी, राजपूत भी, और हरिजन भी। आप किसी गद्दी से बात करें, हो सकता है कि वह बताए कि उसका गोत्र कपूर अथवा मलहोत्रा है। कोई वयोवृद्ध गद्दी शायद अपनी पुरानी कहानी सुना दे कि किस प्रकार वे लोग लाहौर की ओर से चलकर सर्वप्रथम यहाँ धौलाधार के इस प्रदेश में आकर बसने पर मजबूर हुए थे। कई विद्वान, जिन्होंने गद्दियों का इतिहास ढूँढ निकालने का यत्न किया है, इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि औरंगज़ेब के युग में ये लोग लाहौर की ओर के मैदानी प्रदेश से ऊपर आकर बस गए थे, क्योंकि नीचे उन्हें अपना धर्म संकट में प्रतीत हो रहा था।

एक ढीला-सा ऊनी चोला, बस यही है गद्दी की पोशाक। कमर पर ऊन की रस्सियों से यह चोला कस कर बाँध लिया जाता है। वे सिर पर ऊँची टोपी पहनते हैं। शीतकाल में टोपी को कानों तक खींच सकने की व्यवस्था रहती है। चोले की जेब इतनी बड़ी होती है कि वे चाहें तो भेड़ के नवजात बच्चे को भी उसमें डाल लें। उनकी टाँगें प्रायः नंगी ही रहती हैं।

गद्दी स्त्रियों को रंग-रंग के रूमाल बहुत प्रिय हैं। उनका चोला पुरुष के चोले से भिन्न प्रकार का रहता है, इसकी एक विशेषता यह है कि इस पर लाल फूल काढ़े गए होते हैं। सिर पर गद्दी स्त्री दोपट्टा पसन्द करती है। गद्दी स्त्री धौलाधार की रानी प्रतीत होती है, सौन्दर्य में वह काँगड़ा की नारी से भी बाज़ी ले जाती है। इसका एक प्रमाण यह है कि काँगड़ा का राजा संसारचन्द एक गद्दी स्त्री पर मुग्ध हो गया था, अन्त में उसने उसे रानी बना कर ही दम लिया था। गद्दी लोकगीतों में आज भी उस घटना का उल्लेख किया जाता है।

गद्दी लोगों के कुछ विशिष्ट नृत्य हैं जिनमें उनके मुक्त जीवन की पूरी-पूरी झाँकी देखने को मिलती है। इन नृत्यों में बड़े-बड़े ढोल और नगाड़े बजा कर हर्षोल्लास की पताका फहराई जाती है। यह उल्लेखनीय है कि गद्दी नृत्य में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं। आप देखेंगे कि स्त्रियाँ दर्शकों का रिक्त स्थान पूरा कर रही हैं, क्योंकि पुरुषों में कोई भी युवक या वृद्ध नाच में सम्मिलित हुए बिना नहीं रहता। घण्टों यह नृत्य चलता है। नृत्य की मस्ती में 'लुगड़ी' का भी कुछ कम भाग नहीं होता, जिसके कई-कई प्याले चढ़ा जाने के पश्चात ही लोग नृत्य करते हैं।

गद्दी गीतों में बार-बार धौलाधार की बर्फ़ से ढकी चोटियों का उल्लेख किया जाता है। धौलाधार को वे 'माता' कहते हैं।

एक गद्दी गीत में गद्दी स्त्री अपने कठिन जीवन का चित्र अंकित करती है :

मैं नहींओं जाणा चम्बे दीओं धारों !
चम्बे दीओं धारों पैंण फुहारों,
मेरा चोलणू सिज्जी जाँदा सारा ओ जी,
मैं नहींओं जाणा चम्बे दीओं धारों !
हथड़ू तॉं गोरी दे ठरी वो तॉं जाँदे,
पैरा की लग्गी जाँदा पलाऊ मेरे,
चम्बे दे चौगाने विच ढोलकी जे बजदी,
अम्बी बज्जे नगारा,
घर घर टिकलू घर घर बिन्दलू,
घर घर बाँकीयाँ नारों।
ओ मेरे गद्दीआ, मैं नहीं जाणा चम्बे दीओं धारों !

(मैं नहीं जाऊँगी, चम्बे की पहाड़ियों में, चम्बे की पहाड़ियों पर निरन्तर फुहार पड़ती है। ओ जी, मेरा चोलना सारे का सारा भीग जाता है। मैं नहीं जाऊँगी चम्बे की पहाड़ियों में। गोरी के हाथ ठण्ड से ठिठुर जाते हैं। मेरे पैरों को अलग ठण्ड लग जाती है। चम्बे के चौगान में बजती है ढोलकी, अम्बी में बजता है नगारा। घर घर 'टिकलू' पहनती हैं स्त्रियाँ, घर-घर 'बिन्दलू', घर-घर हैं बाँकी नारियाँ। ओ मेरे गद्दी, मैं नहीं जाऊँगी चम्बे की पहाड़ियों में।)

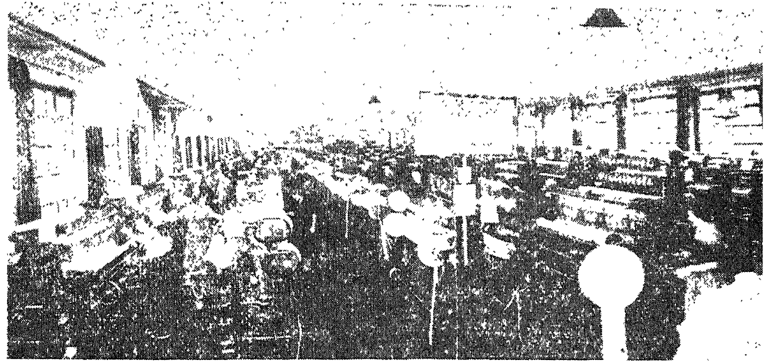
काँगड़ा के लोकगीतों में काँगड़ा की संस्कृति मिलती रहती है। मनुष्य और प्रकृति, नर-नारी, पर्व-त्यौहार का हर्षोल्लास और जीवन की कठिनाइयाँ, इन सब का समन्वय मानो काँगड़ा की संस्कृति को यथावत् ज्यों की त्यों हमारे सामने ले आता है।

'काँगड़ा कलम' के चित्रों के साथ-साथ ही हम काँगड़ा के लोक-साहित्य का मंगल-अध्ययन अपना लक्ष्य बनाएँ, तो हम देखेंगे कि एक को समझे बिना दूसरे की गहराइयों में उतरना असम्भव है।

ग्रासादर्धमपि ग्रासं, अर्थिभ्यः किन्न यच्छसि ?
इच्छानुरूपो विभवः, कदा कस्य भविष्यति ?

"अपने भोजन के ग्रास में से भी आधा ग्रास किसी ज़रूरतमन्द को क्यों नहीं देता ? अपनी इच्छा के अनुसार वैभव तो कब किस को मिला है ?"

पीसेक में एक बड़े कारखाने का बुनने का विभाग



चेकोस्लोवाकिया की प्रथम पंचवर्षीय योजना

सत्यकेतु विद्यालंकार

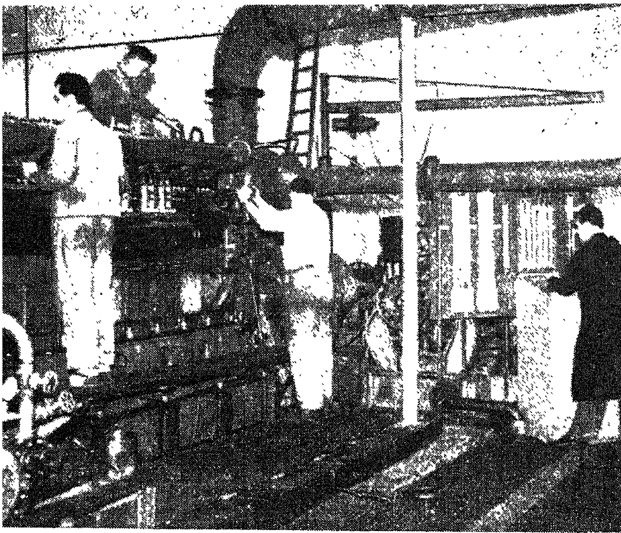
ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—चेकोस्लोवाकिया एक छोटा-सा राज्य है, जिसकी जनसंख्या सवा करोड़ के लगभग है। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद इस राज्य का निर्माण हुआ था। उससे पूर्व यह आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अन्तर्गत था। पुराने आस्ट्रिया-हंगरी में लोहे और कोयले की जो खानें थीं, उनका आधे से भी अधिक भाग चेकोस्लोवाकिया के राज्य में आया था। इस कारण इस नए राज्य को अपनी औद्योगिक उन्नति का अपूर्व अवसर मिला, और उसका तैयार माल संसार के बाज़ारों में सर्वत्र दिखाई पड़ने लगा। पर चेकोस्लोवाकिया के बहुसंख्यक निवासी गरीब थे, और अपने निर्वाह के लिए कृषि पर निर्भर थे। उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे अपने देश के कल-कारखानों द्वारा तैयार किए गए माल को क्रय कर सकें। इस दशा में चेकोस्लोवाकिया के व्यवसाय-पतियों को अपने माल की बिक्री के लिए विदेशी बाज़ारों पर निर्भर रहना पड़ता था, जहाँ उन्हें जर्मनी, जापान, ब्रिटेन और अमेरिका सदृश उन्नत देशों के माल के साथ मुकाबला करना होता था। इन देशों के मुकाबले में चेकोस्लोवाकिया अपना तैयार माल तभी बेच सकता था, जब कि उसकी कीमत कम हो। परिणाम यह था कि चेकोस्लोवाकिया के मजदूरों को बहुत कम वेतन दिया जाता था, जिसके कारण वे सदा असंतुष्ट रहते थे। वे बहुधा हड़तालें करते रहते थे, और देश की औद्योगिक उन्नति में इन हड़तालों के कारण बाधा उपस्थित होती रहती थी।

चेकोस्लोवाकिया की एक बड़ी इमारत



१९३९ ईस्वी में चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर ने अधिकार कर लिया था, और सन् १९१९ में स्थापित हुए इस नए राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया था। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय चेकोस्लोवाकिया जर्मनी की अधीनता में रहा। नाज़ी शासकों ने वहाँ के कल-कारखानों का उपयोग अपनी सैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किया, और अनेक ऐसे कारखानों में जहाँ पहले कपड़ा व अन्य उपभोग्य पदार्थ तैयार होते थे, युद्ध की सामग्री तैयार होने लगी। १९४४ ईस्वी में जर्मनी की शक्ति का पतन शुरू हुआ, और अमेरिका व ब्रिटेन के जंगी वायुयानों ने चेकोस्लोवाकिया पर हवाई आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। इन आक्रमणों के मुख्य लक्ष्य वे कल-कारखाने थे, जिनमें युद्ध की सामग्री तैयार की जाती थी। परिणाम यह हुआ कि चेकोस्लोवाकिया के बहुत से कल-कारखाने हवाई आक्रमणों से नष्ट हो गए, और उसका औद्योगिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया। १९४५ के प्रारम्भ में रूस की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश करना प्रारम्भ किया और मई मास तक यह देश जर्मनी की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया। क्योंकि रूसी सेनाओं द्वारा चेकोस्लोवाकिया नाज़ियों की अधीनता से स्वतन्त्र कराया गया था, अतः मई, १९४५ में वहाँ जो स्वतन्त्र सरकार कायम हुई, उसमें समाजवादी (कम्युनिस्ट) दल का प्रभुत्व था। इस नई सरकार के सम्मुख पहला और प्रधान कार्य यह था कि देश में शान्ति और व्यवस्था कायम करे। शुरू के दो साल इसी कार्य में लग गए। दो साल बाद १९४७ में चेकोस्लोवाकिया की समाजवादी सरकार इस दशा में आई कि वह अपने देश की आर्थिक उन्नति पर ध्यान दे सके।

प्रथम द्विवर्षीय योजना (१९४७-१९४८)—चेकोस्लोवाकिया ने अपनी जो पहली आर्थिक योजना तैयार की, वह केवल दो वर्षों



एक बड़े कारखाने का इंजन गृह

(१९४७-१९४८) के लिए थी। इस योजना का प्रयोजन यह था, कि देश की आर्थिक उत्पादन को उस स्तर तक पहुँचा दिया जाए, जो कि महायुद्ध से पूर्व था। जितनी आर्थिक उत्पत्ति १९३७ में (महायुद्ध से पूर्व) होती थी, उतनी फिर से होने लगे। इसी लक्ष्य को सम्मुख रख कर उन कल-कारखानों का पुनरुद्धार किया गया, जो कि महायुद्ध के समय हवाई आक्रमणों के कारण नष्ट हो गए थे। यह कार्य साधारण नहीं था, क्योंकि महायुद्ध के कारण चेकोस्लोवाकिया के प्रायः सभी बड़े कारखाने नष्ट हो गए थे, या उन्हें भारी क्षति पहुँची थी। इसी द्विवर्षीय योजना में इस बात पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया कि हवाई हमलों के कारण जो नगर भूमिसात हो गए थे, उनका फिर से निर्माण किया जाए, और जो इमारतें व मकान नष्ट हो गए थे, उन्हें नए सिरे से बनाया जाए। युद्ध के कारण चेकोस्लोवाकिया की कृषि की भी बहुत दुर्दशा हो गई थी। मज़दूरों की वहाँ बहुत कमी थी, क्योंकि बहुत से जर्मन और हंगरियन मज़दूर (चेकोस्लोवाकिया में इन जातियों के निवासियों की संख्या ४० लाख से भी अधिक थी) अपनी मातृभूमि को छोड़ कर जर्मनी और हंगरी चले गए थे। समाजवादी सरकार ने इस समस्या का बड़ी योग्यता से समाधान किया, और द्विवर्षीय योजना के काल में वह देश की आर्थिक दशा को १९३७ के स्तर पर ले आने में सफल हो गई। अनुमान किया गया है कि १९४८ के अन्त तक चेकोस्लोवाकिया का कुल आर्थिक उत्पादन १९३७ के मुकाबले में ११० प्रतिशत हो गया था। इस सफलता का प्रधान कारण यह था कि चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने आर्थिक उत्पादन के राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाया था, और सब बड़ी खानों, कारखानों और बैंकों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना लिया था। नाज़ी शासन के समय जिन पूँजीपतियों ने विदेशी सरकार का साथ दिया था, उनकी सब सम्पत्ति सरकार ने ज़ब्त कर ली थी। ज़ब्त की गई सम्पत्ति का उपयोग सरकार द्वारा राष्ट्रीय हित में किया जाने लगा था, और जनता की सम्पूर्ण शक्ति देश की आर्थिक उन्नति के लिए लग गई थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—द्विवर्षीय योजना का उद्देश्य जब पूरा हो गया, तो सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९४९-१९५३) का प्रारम्भ किया, जिसके प्रधान उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) चेकोस्लोवाकिया के आर्थिक जीवन का निर्माण समाजवाद के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाए; (२) राष्ट्र के अधीन कल-कारखानों का विस्तार किया जाए, और इस प्रकार के कल-कारखानों की संख्या में वृद्धि की जाए; (३) कृषि को भी राष्ट्र की अधीनता में लाया जाए; (४) ऐसी व्यवस्था की जाए, जिससे कि देश में न बेकारी होने पाए, और न आर्थिक संकट उपस्थित हो सकें। साथ ही, वस्तुओं की कीमतें भी स्थिर रहें, उनमें मन्दी व तेज़ी न आने पाए; (५) जनता की आमदनी में वृद्धि हो, और उनकी भौतिक व सांस्कृतिक उन्नति हो; (६) देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उसकी सैन्य शक्ति में भी वृद्धि की जाए।

स्थूल रूप से प्रथम पंचवर्षीय योजना के ये उद्देश्य निर्धारित किए गए, पर साथ ही विशद रूप से यह भी तय किया गया कि भविष्य में उद्योग और कृषि आदि के विविध क्षेत्रों में किस प्रकार उन्नति की जाएगी।

उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य—योजना के निर्माताओं का यह विश्वास था कि जनता की आमदनी को बढ़ाने और रहन सहन के स्तर को ऊँचा करने का यही उपाय है कि आर्थिक उत्पादन में वृद्धि की जाए। औद्योगिक क्षेत्र में कल-कारखाने केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन न करें, जो कि उपयोग के काम में आती हैं, अपितु भारी उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाए। इन बातों को दृष्टि में रख कर औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के जो लक्ष्य नियत किए गए, वे निम्नलिखित थे :—

कोयला और लोहे का कच्ची धात	३२	प्रतिशत	वृद्धि
बिजली और गैस	५२	,,	,,
लोहा और इस्पात	४६	,,	,,
मशीनरी और इन्जीनियरिंग	८३	,,	,,
रासायनिक पदार्थों के उद्योग	६२	,,	,,
सीमेण्ट, चूना और ईंट	५६	,,	,,
कपड़े का उत्पादन	६८	,,	,,
चमड़े और रबड़ का उत्पादन	४३	,,	,,
छपाई और फिल्म उद्योग	५६	,,	,,
चीनी का उत्पादन	१७	,,	,,
शराब का व्यवसाय	६८	,,	,,
गृह उद्योगों द्वारा उत्पादन	२०	,,	,,
इमारतों का निर्माण	१३०	,,	,,

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के समय १९४८ में चेकोस्लोवाकिया के औद्योगिक क्षेत्र द्वारा जो माल तैयार किया जाता था, उसका कुल मूल्य १९,००,००,००,००० रुपए था। योजना के निर्मा-

ताओं ने यह लक्ष्य रखा कि योजना के पाँच वर्षों की समाप्ति पर १९५३ में औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन का कुल मूल्य बढ़ कर ३०,००,००,००,००० रुपए हो जाए। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में कुल मिलाकर ५७प्रतिशत की वृद्धि करना उन्होंने अपना लक्ष्य निर्धारित किया।

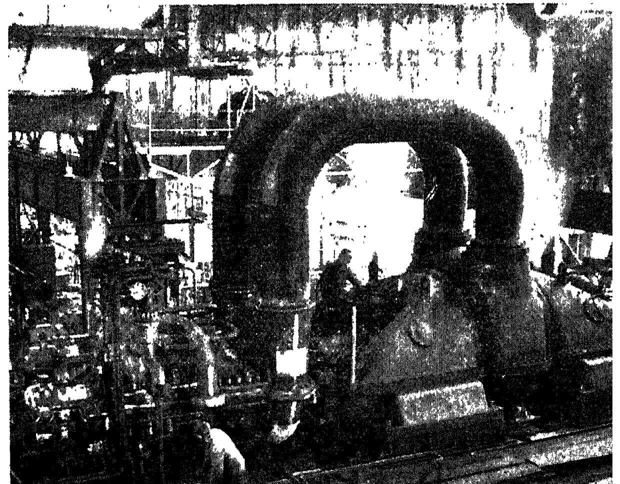
कृषि और पशुपालन के क्षेत्र में भी इसी प्रकार से वृद्धि के लक्ष्य नियत किए गए। १९४८ में कृषि और पशुपालन द्वारा जो आर्थिक उत्पादन चेकोस्लोवाकिया में हुआ था, उसका कुल मूल्य ५,००,००,००,००० रुपए था। यह निर्धारित किया गया कि १९५३ में इन क्षेत्रों के उत्पादन में वृद्धि द्वारा ७,००,००,००,००० रुपए के मूल्य का उत्पादन किया जाए। इस प्रकार इस क्षेत्र में ३७ प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य बनाया गया। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन को बहुत अधिक बढ़ा सकना सम्भव नहीं होता, इसलिए गेहूँ, ज्वार, मक्का, आलू, तिलहन आदि के उत्पादन में केवल ११ प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य नियत किया गया, पर पशुपालन में वृद्धि का अनुपात ८६ प्रतिशत रखा गया, क्योंकि इस क्षेत्र में उत्पादन को अधिक सुगमता से बढ़ाया जा सकता था। रेल, टेलीफ़ोन, रेडियो, तार आदि की उन्नति के लिए जो लक्ष्य निर्धारित किए गए, वे ४० प्रतिशत वृद्धि के थे। हवाई जहाज़ों की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया, और इनमें वृद्धि का लक्ष्य १२० प्रतिशत नियत किया गया।

योजना की सफलता के लिए पूँजी की व्यवस्था—आर्थिक उत्पादन में वृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि पूँजी की बड़ी मात्रा में व्यवस्था की जाए। नए कारखानों को स्थापित करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है, और साथ ही खेती की पैदावार में वृद्धि भी पूँजी के बिना सम्भव नहीं होती। इसलिए यह व्यवस्था की गई कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के पाँच सालों में कुल मिला कर २२,००,००,००,००० रुपए की नई पूँजी लगाई जाए, जिसमें से १७,००,००,००,००० रुपए आर्थिक उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रयुक्त किए जाएँ, और शेष ५,००,००,००,००० रुपए शिक्षा के प्रसार, सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करने और सर्वसाधारण जनता की सुख-सुविधा के साधनों को जुटाने में प्रयोग में लाए जाएँ।

२२,००,००,००,००० रुपए की पूँजी को विविध क्षेत्रों में निम्नलिखित ढंग से विभक्त करने की व्यवस्था की गई—

औद्योगिक विकास के लिए	६,००,००,००,००० रुपए
कृषि और पशुपालन	१,६०,००,००,००० रुपए
इमारती सामान	३०,५०,००,००० रुपए
यातायात के साधन	४,००,००,००,००० रुपए
व्यापार	३५,००,००,००० रुपए
सामाजिक कल्याण	५०,००,००,००० रुपए
स्वास्थ्य, चिकित्सा और बीमा	६०,००,००,००० रुपए
सांस्कृतिक सुविधाएँ	६०,००,००,००० रुपए
सड़कें, पुल व सार्वजनिक इमारतें	३,५०,००,००,००० रुपए
भवन-निर्माण	१,६४,५०,००,००० रुपए

२२,००,००,००,००० रुपयों की विशाल पूँजी की व्यवस्था कर सकना चेकोस्लोवाकिया के लिए सुगम नहीं था। महायुद्ध के कारण उसकी आर्थिक दशा बहुत शोचनीय हो गई थी। नई पूँजी जुटा सकने के तीन साधन होते हैं—पहले से जमा पूँजी, आमदनी में से बचत और कर्ज़। चेकोस्लोवाकिया के पास पहले से जमा पूँजी का सर्वथा अभाव था। महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के कारण उसके सिक्के की कीमत नाम मात्र रह गई थी। सरकार व जनता का जो धन बैंकों में गया था, वह अब कोई कीमत नहीं रखता था। हवाई हमलों के कारण बड़े कल-कारखाने नष्ट हो गए थे, और उनके हिस्सों (शेयरों) की कीमत नाम मात्र रह गई थी। बैंकों के पास जो सोना व अन्य धन था, नाज़ी शासकों ने उसका प्रयोग युद्ध सामग्री के लिए कर लिया था। इस दशा में चेकोस्लोवाकिया की सरकार के पास कोई ऐसी जमा पूँजी नहीं थी, जिसका उपयोग वह नए आर्थिक उत्पादन के लिए कर सकती। विदेशों से वह कर्ज़ अवश्य ले सकती थी। अमेरिका उस ऋण देने को तैयार भी था। पर चेकोस्लोवाकिया की समाजवादी (कम्युनिस्ट) सरकार अमेरिका से कर्ज़ लेने को तैयार नहीं हुई, क्योंकि उसका विचार था कि अमेरिका कर्ज़ के लिए ऐसी शर्तें निर्धारित करता है, जिनके कारण देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण नहीं रह पाती। किसी विदेशी राज्य का अपने ऊपर आर्थिक नियन्त्रण रहना चेकोस्लोवाकिया को किसी भी दशा में सह्य नहीं था। इस दशा में पूँजी जुटाने का उसके सम्मुख केवल यही साधन रह जाता था, कि आमदनी में से बचत की जाए, और इस बचत को पूँजी के रूप में प्रयुक्त किया जाए। कोई देश जो आर्थिक उत्पादन करता है, उसे वहाँ के लोग आमदनी के रूप में प्राप्त करते हैं। यदि लोग इस सारी आमदनी को खर्च कर लें, तो बचत सम्भव नहीं होती। बचत के दो ही उपाय हैं, आमदनी पर टैक्स लगाया जाए, और लोगों को सरकारी कर्ज़ में हाथ बँटाने के लिए प्रेरित किया जाए। पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए जो पूँजी चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने प्राप्त करनी था, उसकी मात्रा २२,००,००,००,००० रुपए थी। पाँच वर्षों में ४,४०,००,००,००० रुपए तो प्रतिवर्ष के हिसाब से पूँजी के रूप में प्राप्त किए जाने थे। यह तभी सम्भव था, जब कि



एक कारखाने का विशाल इंजन गृह

कुल आर्थिक उत्पादन के २० प्रतिशत भाग को प्रतिवर्ष पूँजी के रूप में प्राप्त किया जाता रहे, क्योंकि १९४८ में चेकोस्लोवाकिया का कुल आर्थिक उत्पादन केवल २५,००,००,००,००० रुपए था। इसके लिए वहाँ की सरकार ने जनता पर भारी टैक्स लगाए, और राष्ट्रीय उन्नति के नाम पर उससे यह अपील की कि वह सरकारी कर्ज़ में उत्साह-पूर्वक हाथ बटाए। टैक्सों में वृद्धि के बिना चेकोस्लोवाकिया के लिए यह सम्भव ही नहीं था, कि वह अपनी पंचवर्षीय योजना के लिए आवश्यक पूँजी की व्यवस्था कर सके।

पंचवर्षीय योजना की सफलता—चेकोस्लोवाकिवा की प्रथम पंचवर्षीय योजना का काल अब समाप्त हो चुका है। अब वह देश अपनी दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ कर चुका है, जो कि इस समय चालू है। हमें वह अंक उपलब्ध हैं, जिनसे चेकोस्लोवाकिया की प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता का सही-सही अन्दाज़ लगाया जा सकता है। इन अंकों द्वारा सूचित होता है कि चेकोस्लोवाकिया को अपनी प्रथम योजना के लक्ष्यों की पूर्ति में असाधारण सफलता हुई है, और अनेक क्षेत्रों में उसका उत्पादन लक्ष्य से भी अधिक बढ़ गया है।

उत्पादन का क्षेत्र	योजना का लक्ष्य	१९५३ में वृद्धि
कोयला और कच्चा धात	३५ प्रतिशत	४२ प्रतिशत
बिजली और गैस	५२ ,,	११० ,,
लोहा और इस्पात	४९ ,,	१०२ ,,
मशीनरी और इंजीनियरिंग	९३ ,,	२२४ ,,
रासायनिक पदार्थ	६२ ,,	१३८ ,,
सीमेण्ट, चूना और ईंट	५९ ,,	९६ ,,
कपड़े का उत्पादन	६८ ,,	५० ,,
चमड़ा	७३ ,,	१९ ,,
छपाई और फिल्म	५६ ,,	२५ ,,

इस तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में चेकोस्लोवाकिया ने लोहा, इस्पात, कोयला, बिजली आदि के उन उद्योगों में तो लक्ष्य से भी अधिक उन्नति की है, जो कि आधारभूत भारी उद्योग कहाते हैं, और जो उन पदार्थों का उत्पादन करते हैं, जो आर्थिक उत्पत्ति के काम में आते हैं। पर कपड़ा, चमड़ा आदि उपभोग योग्य वस्तुओं के उत्पादन में चेकोस्लोवाकिया अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका। इसका कारण यही था कि वहाँ की सरकार ने आधारभूत भारी उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया, और उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की उपेक्षा की। उद्योग के क्षेत्र में योजना का लक्ष्य ५७ प्रतिशत वृद्धि करना था, पर १९४८ के मुकाबले में १९५३ में १०२ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी, जो निस्सन्देह आशातीत थी।

कृषि और पशुपालन के क्षेत्र में भी प्रथम पंचवर्षीय योजना को अच्छी सफलता हुई। कृषि में उत्पादन का लक्ष्य ११ प्रतिशत वृद्धि था, पर यह वृद्धि ११ प्रतिशत के स्थान पर १२ प्रतिशत हो गई। पशुपालन में वृद्धि का लक्ष्य ८६ प्रतिशत था, पर यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका। इस क्षेत्र में केवल ७६ प्रतिशत की वृद्धि हो सकी। कृषि में जो वृद्धि हो सकी, उसका मुख्य कारण यह था कि चेकोस्लोवाकिया में खेती के नए वैज्ञानिक साधनों को प्रयोग में लाने पर विशेष ध्यान दिया गया। १९४९-१९५३ के काल में १४,३६३ नए ट्रैक्टर प्रयोग में लाए गए। ट्रैक्टरों के अतिरिक्त खेती की जो अन्य मशीनें प्रयोग में लाई गईं, उनकी संख्या १३,५७७ थी। १९३७ में चेकोस्लोवाकिया में १९२३ एकड़ के पीछे एक ट्रैक्टर की सत्ता थी, पर १९५३ में ६२५ एकड़ भूमि के पीछे एक ट्रैक्टर हो गया, और इससे खेती के उत्पादन में वृद्धि होने में बहुत सहायता मिली। खेती के लिए नए वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग इस कारण सम्भव हो सका, क्योंकि सरकार ने किसानों को सहकारी समितियों में संगठित करने के कार्य पर विशेष ध्यान दिया, और साथ ही सरकारी खेती को भी अच्छे बड़े पैमाने पर प्रारम्भ किया। १९४८ में चेकोस्लोवाकिया में केवल ३ प्रतिशत भूमि ऐसी थी, जिस पर सहकारी समितियों द्वारा या सरकार द्वारा खेती की जाती थी। १९५३ में ऐसी भूमि का परिमाण ४४ प्रतिशत हो गया। चेकोस्लोवाकिया की सरकार का लक्ष्य यह है कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण खेती राज्य के अधीन हो जाए। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में वह ४४ प्रतिशत खेती को राज्य की अधीनता में ला सकने में समर्थ हुई, और कृषि के उत्पादन में वृद्धि होने में इससे बहुत सहायता मिली।

बेकारी का अभाव—चेकोस्लोवाकिया की आर्थिक योजनाओं का यह परिणाम हुआ है कि वहाँ बेकारी का सर्वथा अन्त हो गया है। १९२९-३३ में उस देश में बेकारों की संख्या ९,२०,००० थी। १९३७ में भी, जो कि चेकोस्लोवाकिया के इतिहास में आर्थिक समृद्धि का साल था, वहाँ ४,००,००० मज़दूर बेकार थे। पर १९५३ तक वहाँ कोई भी मनुष्य बेकार नहीं रह गया। इस दशा के आ सकने का एक कारण यह हुआ कि महायुद्ध के बाद बहुत से जर्मन और हंगेरियन मज़दूर अपनी मातृभूमि को छोड़ देने के लिए विवश हुए, और चेकोस्लोवाकिया में मज़दूरों की कमी हो गई। पर साथ ही, यह भी स्वीकार करना होगा कि पंचवर्षीय योजना द्वारा आर्थिक उत्पादन में वृद्धि हुई, और उसके कारण मज़दूरों को काम प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध हुए। स्त्रियाँ भी इस काल में बड़ी संख्या में मज़दूरी करने के लिए प्रवृत्त हुईं, जिसके कारण १९५३ में स्त्री-श्रमिकों की संख्या कुल श्रमिकों के ३५.४ प्रतिशत तक पहुँच गई।

श्रमिकों की आमदनी में वृद्धि—चेकोस्लोवाकिया की समाजवादी सरकार ने इस बात पर भी ध्यान दिया कि श्रमिकों को अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक प्राप्त हो। इस उद्देश्य से मज़दूरी की दर में वृद्धि की गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में मज़दूरी की दर में जो वृद्धि हुई, वह ५६ प्रतिशत से भी अधिक थी। चेकोस्लोवाकिया के कल-कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों को १९५३ में ९० रुपए मासिक मज़दूरी दी जाती थी, जब कि १९३६ में उनकी मज़दूरी की दर केवल ३५ रुपए मासिक थी। १९५३ में चेकोस्लोवाकिया के

निवासी औसतन कितनी खाद्य-सामग्री एक साल में प्राप्त करते थे, इसका अन्दाज़ निम्नलिखित तालिका द्वारा किया जा सकता है—

वस्तु	१९३६ में	१९४८ में	१९५३ में
मांस	२१ सेर	२६ सेर	४० सेर
मक्खन	६ सेर	३ सेर	७ सेर
पनीर	५ सेर	१ सेर	५ सेर
चरबी	६ सेर	३ सेर	७ सेर
आटा	८८ सेर	१०४ सेर	१४८ सेर
चीनी	२६ सेर	२५ सेर	३१ सेर
अंडे	१३१	९३	१६१

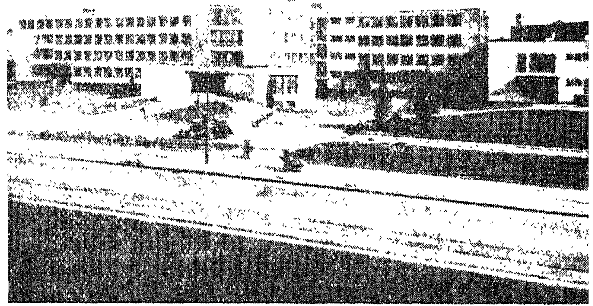
इस तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा चेकोस्लोवाकिया की जनता के जीवन-स्तर में समुचित वृद्धि हुई है, और अब वहाँ के निवासी अपने जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को समुचित मात्रा में प्राप्त कर सकने में समर्थ हैं। योजना के कारण अब चेकोस्लोवाकिया के निवासी इतनी आमदनी प्राप्त करते हैं कि वे साल में १९ गज़ कपड़ा और ३ जोड़ी जूते अपने लिए खरीद सकते हैं। चेकोस्लोवाकिया की सरकार उपभोग की इस मात्रा को पर्याप्त नहीं समझती। उसका प्रयत्न है कि आर्थिक उत्पादन में वृद्धि द्वारा जनता की आमदनी बढ़े, और वह अपने जीवन-स्तर को और अधिक ऊँचा उठा सके।

जनता के जीवन में निश्चिन्तता लाने के उद्देश्य से सरकार ने बीमे पर विशेष ध्यान दिया है। स्वास्थ्य और वृद्धावस्था के लिए बीमा कराना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक कर दिया गया है। इसीलिए १९५३ में चिकित्सा के लिए जो रकम सरकार द्वारा नागरिकों को प्रदान की गई, उसकी मात्रा २,३०,००,००० रुपए के लगभग थी। इसी वर्ष में जो व्यक्ति सरकार द्वारा बुढ़ापे की दशा के कारण पेंशन प्राप्त कर रहे थे, उनकी संख्या १८,१५,००० थी। चेकोस्लोवाकिया जैसे छोटे से देश में इतने लोगों का सरकार द्वारा पेंशन प्राप्त करना इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के निवासी अपनी वृद्धावस्था के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चिन्त हो सके हैं।

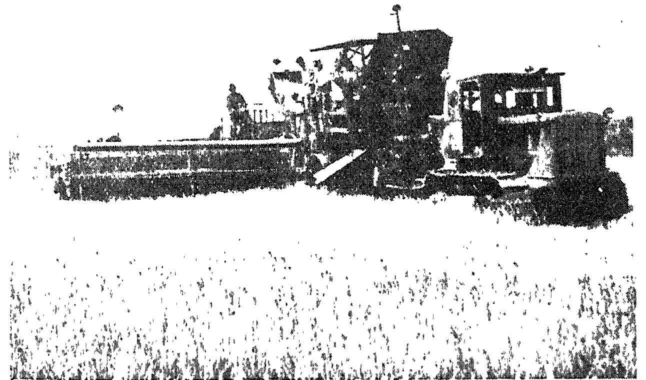
सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्नति—जनता के जीवन-स्तर के ऊँचा उठने के साथ-साथ पंचवर्षीय योजना के काल में चेकोस्लोवाकिया के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अच्छी उन्नति हुई है। १९३७ में इस देश में १३ विश्वविद्यालय थे। १९५३ में उनकी संख्या बढ़ कर ३८ तक पहुँच गई थी। इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी २५,००० (१९३७ में) से बढ़कर ४७,००० हो गई थी। विद्यालयों और उनके विद्यार्थियों की संख्या में भी इस काल में समुचित वृद्धि हुई है। चेकोस्लोवाकिया में शिक्षा के लिए कोई फ़ीस नहीं ली जाती, न विद्यालय विभाग में और न यूनिवर्सिटियों में। बहुत से विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है, जिससे वे भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त करने की सुविधा पा लेते हैं। छात्रवृत्तियों के लिए १९५३ में चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने ८० लाख रुपया व्यय किया था, जिससे २७,००० विद्यार्थियों ने लाभ उठाया था।

जनता के सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने के लिए चेकोस्लोवाकिया में नाटकों और सिनेमाओं को बहुत महत्त्व दिया जाता है।

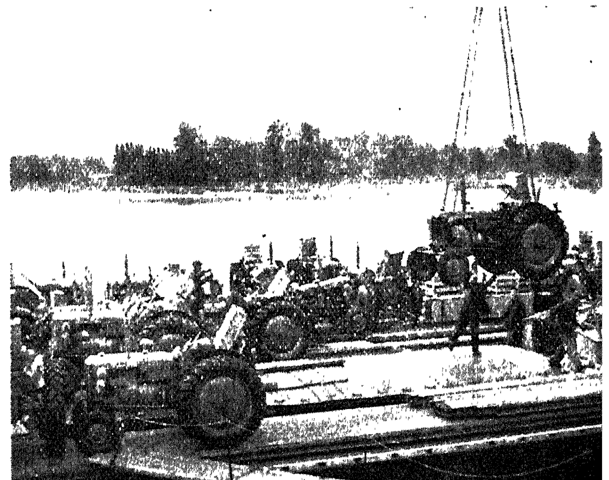
(शेष पृष्ठ ५३ पर)



प्राग का एक नवनिर्मित स्वास्थ्य केन्द्र



बड़ी मशीनों से खेती



खेती के यन्त्रों का यातायात

शांति और क्रांति

सुमित्रानंदन पंत

शांति चाहिए शांति ! रजत अवकाश चाहिए
मानव को, मानस वह : महत प्रकाश चाहिए,
आत्मा वह : हाँ, अन्न, वस्त्र, आवास चाहिए,
देही भी वह : आज मुख्यतः देही वह, क्षण—
मनोविलासी,—आत्मा बनना है कल उसको !

हाय, अभागा, बुरी तरह से उलझ गया वह
बाहर के अग जग में, बाहर के जीवन में,—
जहाँ भयानक अंधकार छाया युगांत का !
मानव के भीतर का जग, भीतर का जीवन
आज खोखला, सूना, जीवन्मृत, छाया सा—
गत संस्कारों से चालित, प्रेतों से पीड़ित !!

खाई, खंदक में, खोहों में, बीहड़ मग में
भटक गए जन के पग संकट की रेती में !
दलदल में फँस गया मत्त भौतिक युग, गज सा,
अपनी ही गरिमा के दुःसह बोझ से दबा !
जीवन तृष्णा, चक्की के पाटों सी, उसके
घायल पैरों से है लिपट गई, बेड़ी बन !
धृष्ट, निरंकुश, उच्छृंखल नर, आज, शील के
स्वर्णांकुश के प्रति असहिष्णु, अहता शासित !
सोच रहा मैं,—नहीं स्पष्टतः देख रहा मैं,
महत युगांतर आज उपस्थित मनुज द्वार पर !—
बदल रहे मानव के भौतिक, कायिक, प्राणिक,
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर !
बदल रहा, निःसंशय, मानव ईश्वर भी अब,—
युग युग से जो परिचालित करता आया नित
मानव जग को, लोक नियति को, जीवन, मन को !
जैवी स्थिति से उच्च भागवत स्थिति तक, संप्रति,
घूम रहा युग परिवर्तन का चक्र अकुंठित !

आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अतंद्रित,—
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत !
इस अणु उदजन के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अंतरतम में,—जिनका स्वप्नों का
अक्षय वैभव, अतिक्रम कर युग के यथार्थ को,
अकथित शोभा भुवनों में पल्लवित हो रहा
मानस की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिक्षण !
सूक्ष्म सृजन चल रहा नाश के स्थूल चरण धर !

कवि कपोल कल्पना नहीं,—अनुभूत सत्य यह,—
घोर भ्रांतियों के युग का निर्भ्रान्त सत्य यह,—
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरंतर
शिखरों से नव शिखरों पर अब, उठती गिरती,
संघर्षण करती, कराहती,—चिर अपराजित !
इसीलिए, मैं शांति क्रांति, संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को,
आशा कुण्ठा को, युग के सुन्दर कुरूप को
बाँहों में हूँ आज समेटे,—उन्हें परस्पर
पूरक, एक, अभिन्न मान कर,—युग विवर्त के
क्रंदन किलकारों में ध्यानावस्थित रह कर !

विस्मय क्या, यदि बदल रहा आर्थिक, सामाजिक,
धार्मिक, वैयक्तिक मानव ? यदि मनुज चेतना
अब सामूहिक, वर्गहीन बन रही बाह्यतः,
बिखर रहे यदि विगत युगों के मनःसंगठन,...
क्या आश्चर्य, बदलता यदि आमूल मनुज जग !

स्वयं, युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब,
निश्चेतन, उपचेतन, अंतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित !
उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक संस्थाओं का
रूपांतर हो रहा आज,—आवर्त शिखर से
घूम, पुनः जो संयोजित हो रहे धरा पर !
विगत निषेधों, रूढ़ि, वर्जनाओं को सहसा
छिन्न भिन्न कर अपने प्रलयंकर पंजों से,—
विस्तृत कर जीवन पथ, निष्कृत प्राणों का रथ !
नैतिक आध्यात्मिक अतीत संक्रमण कर रहा,—
निखर रहे आदर्श-लोक, सौंदर्य गगन सा !
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर,
तड़ित स्फुरित लतिकाओं में लिपटे घन सा,
अगणित सुर वीणाओं के झंकृत निर्झर सा,
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर सा !

झरते शत सीत्कार आज बाहर गत पतझर
सुलग रहा भीतर नव मधु का स्वर्गिक पावक !
आत्मा के गोपनतम अंतर में प्रवेश कर
मानव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख !
आज नाश के कर गढ़ रहे नवल मानव को,
नव इंद्रिय वह, विकसित इंद्रिय, अति इंद्रिय अब !

बदल रहा अब मानव ईश्वर—बदल रहा अब
मानव अंतर, मानवता का रूपांतर कर !

भारती के 'कृष्णगीत'

सुन्दर रामन भारद्वाज

भारतीय जन-जीवन में कृष्णावतार का उल्लेखनीय स्थान है। श्रीकृष्ण ने नीरस जन-जीवन में रस-संचार किया, निराशा में आशा का स्रोत बहाया और आनन्दहीनता में उल्लास की ऊर्मियाँ उठाईं। कृष्ण की बाल-लीलाओं ने जन-जीवन को बहुत ही आनन्द-विभोर कर दिया।

कृष्ण की महान रचना 'गीता' हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ बन गई। अन्य धर्मावलम्बियों पर भी कृष्ण के आकर्षण का जादू पड़ा। मुरलीमोहन की मधुर लीला का वर्णन सुनकर विधर्मियों का मन भी डोल गया। रसखान, ताज़ आदि मुस्लिम कवि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं, जो अनन्य कृष्णभक्त थे।

भारतीय दर्शन में निखिल प्रकृति को स्त्री और ईश्वर को पुरुष माना गया है। भारत में भक्ति की तीन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं: सेव्य भाव, सख्यभाव और प्रियभाव की भक्ति। तुलसीदास की भक्ति सेव्य भाव की और सूरदास की भक्ति सख्यभाव की थी। मीरा और आण्डाल (तमिल की भक्ति कवयित्री) की भक्ति प्रियभाव की थी। सभी भारतीय भाषाओं में अधिकतर भक्त कवियों ने प्रियभाव की पद्धति ही अपनाई है।

फ़ारसी का सूफ़ीवाद भी प्रिय-भाव की पद्धति से मिलता है। सूफ़ी लोग ईश्वर को माशूक़ा (नायिका) और अपने को आशिक (नायक) मानते हैं।

स्व० सुब्रह्मण्य भारती तमिल के राष्ट्रीय कवि थे। वे नवयुग के कवि थे। जहाँ उन्होंने गद्य को परिमार्जित किया और ज़िंदादिल बनाया, वहाँ पद्य में नवजीवन का संचार किया। उनका 'कण्णन पाट्टु' अर्थात 'कृष्णगीत' अनुपम ग्रन्थ है। यह नवीन भक्ति-साहित्य की मूल्यवान मणि है।

भारती की उपासना-पद्धति बिल्कुल निराली है। उन्होंने कई दृष्टिकोणों से श्रीकृष्ण को देखा है। उन्होंने मुरलीमोहन को साथी, माता-पिता, सेवक, राजा, गुरु-शिष्य, शिशु, खिलाड़ी, बालक, प्रियतम-प्रियतमा, स्वामी या सर्वेश्वर आदि अनेक रूपों में कल्पित किया है।

'कृष्णगीत' में भारती का प्रेमल हृदय गाता है। यह उनकी हृदय-वीणा का सरस संगीत है। इसमें उन्होंने अपने उर के उद्गार उँडेल दिए हैं। अपने आराध्य देव को उन्होंने कृष्ण के रूप में देखा है और उन पर अपने हृदय को, अपने आपको समर्पित कर दिया है।

भारती ने कृष्ण का जीवन इन रूपों में विभक्त देखा—विनोदी बालक, लोकपालक और मार्गदर्शक। बालावस्था में कृष्ण ने विविध लीला विनोदों से गोकुल में आनन्द की लहर दौड़ाई। युवावस्था में दुष्ट-निग्रह और शिष्ट-परिपालन से सुख-शान्ति का वातावरण बनाया। कुरुक्षेत्र में अर्जुन को जो उपदेश दिए, वे मानवता मात्र के लिए शुभ-संदेश हैं। वे स्वयं कर्मवीर और कर्त्तव्यपरायण थे और उन्होंने संसार को कर्मशीलता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का महत्त्व समझाया। गीता जीवन का पथप्रदर्शन करती है। गीता के अध्ययन से कवि भारती गीतापति के परम भक्त हो गए थे। भारती ने तमिल में गीता का सरल अनुवाद भी किया।

भारती मध्यम श्रेणी के थे। उन पर सरस्वती की जितनी ही कृपा थी, लक्ष्मी उनसे उतना ही दूर रहती थी। आदर्शवादी होने के कारण भारती ने धनोपासना कभी नहीं की। धन के लिए वे अपने कर्त्तव्य से हटने वाले या लक्ष्य से फिसलने वाले न थे। फलस्वरूप उनका जीवन-यापन कठिन हो गया। स्वदेशभक्त होने की वजह से उन्हें फिरंगी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। इतनी कठिनाइयों में भी उन्होंने अपनी टेक न छोड़ी, अपना प्रण न तोड़ा। अपने लक्ष्य पर अटल रहने की संजीवनी उनको गीता से और कृष्णचरित से ही प्राप्त हुई।

कृष्णचरित की विशेषताओं के स्मरण से भारती का हृदय पुलकित हो उठा। पुलकित हृदय के उद्गार गीत बनकर मुखरित हुए। 'कृष्ण गीत' सरल, सरस, मधुर और भावपूर्ण हैं। इन गीतों में नव रसों का सुन्दर परिपाक प्राप्त है जिनमें शृंगार रस का तो चित्ताकर्षक चित्रण हुआ है। वात्सल्य रस भी बढ़िया उतरा है। इन गीतों में कल्पना की सुषमा भी है और अनुभूति की भावुकता भी है।

यहाँ उन गीतों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

'कृष्ण—मेरा साथी'

भारती जी ने अपने घनिष्ठ साथी के रूप में श्रीकृष्ण का परिचय दिया है और उनका गुण गाया है। समय पर उचित उपाय सुझाकर या सलाह देकर, आपत्ति में अवलम्ब देकर, दुःख में धीरज बँधाकर, हर तरह से मदद पहुँचाना ही साथी का कर्त्तव्य है। तिरस्कार करके या फटकार बता कर बुराइयों और अनुचित कार्यों से बचाना या सावधान करना भी साथी का ही काम है। भारती का कृष्ण सज्जनों का साथी और दुर्जनों का शत्रु है। वह मधुर गीत गाने में, मनोहर चित्र खींचने में और वीरता से युद्ध करने में—सभी विषयों में निपुण है। वही कृष्ण जो ज्ञानियों के लिए परमात्मा है, भारती का साथी है।

'कृष्ण—मेरी माँ'

"माँ ने मुझे जन्म दिया है। अपने जीव के स्तन से मुझे चेतना या भावना का दूध पिलाया है। अनेक कष्ट झेलकर मेरा लालन-

पालन किया है। मधुर गीत गाकर मुझे सुलाया, रसीली कहानियाँ बताकर मेरा मन बहलाया। गोद में लेकर, हाथ में उठाकर, कंधे पर रखकर मुझे खिलाया। मेरी शरीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ पहचानकर पूरी कीं। मेरी सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध किया।"

'कृष्ण—मेरा पिता'

"कृष्ण मेरा पिता है। वह सृष्टि का मूल पुरुष है। वही ईश है, महेश है और जगदीश है। लोग उसके अलग-अलग नाम गिनाते हैं, परन्तु वह एक ही है। वह वेद-विज्ञ है, गीतापति है। उसने चार कुल निर्धारित किए। मूर्ख लोग झगड़ते हैं। शील, विवेक और कर्म से जो श्रेष्ठ है वही उच्च है। कृष्ण दुखियों का त्राता है, असहायों का साथी है और भक्तों का भक्त है। वह अजर है, अमर है, चिरंजीव है।"

'कृष्ण—मेरा सेवक'

कवि के यहाँ अनेक नौकर आए-गए। सब काम से जी चुराने वाले थे। कोई सच्चा न था। उनकी बेईमानी से कवि परेशान हो गए थे। ऐसे ही समय एक देहाती आया। वह बोला कि मैं गोपकुल का हूँ। वह दिल लगाकर काम-काज करने लगा। उसकी सेवा कवि को बहुत पसंद आई और वे उसे प्यार करने लगे।

भारती जी कहते हैं "जिस तरह पलकें आँखों की रक्षा करती हैं, उसी तरह कृष्ण हमारे कुटुम्ब की रक्षा करता है। कभी साथी तो कभी मंत्री बनकर, कभी गुरु तो कभी मार्गदर्शक बनकर वह हमारी सहायता करता है। जब से वह हमारे घर में आया, हमारे परिवार में अमन-चैन और शील-विवेक आदि सद्गुण आ गए हैं।"

'कृष्ण—मेरा राजा'

"कृष्ण में राजा के सभी गुण हैं। वह दुर्जनों को मारता है और सज्जनों का परिपालन करता है। वह कुशल राजनीतिज्ञ है और राजव्यवस्था खूब करता है।" "मैं उसके घर में झाड़न देने गया। उसने प्रेम से अपना कर मुझे मंत्री बना लिया। मैं रोटी के लिए नौकरी करने गया, उसने मेरी गरीबी दूर कर दी। उसने मुझ में ज्ञान का आलोक जगा दिया। कृष्ण जैसे प्रजावत्सल राजा के राज में मेरी कौनसी कमी हो सकती है?"

'कृष्ण—मेरा गुरु'

"स्वयंभू कृष्ण मेरे पास आया। वह मायावी मेरे सामने यों आया, ज्यों वह नादान बालक हो। मैं क्या जानता था कि कपटी कृष्ण मेरी परीक्षा लेने आया था। मैंने उसको धर्म, शास्त्र आदि की बातें संक्षेप में समझाईं और बताया कि सरल रहो, मधुर बोलो, प्रेम का बर्ताव करो, सज्जनों की संगति करो, धर्मग्रंथ पढ़ो आदि।"

"एक दिन मैंने देखा कि वह मेरे उपदेशों के ठीक विरुद्ध आचरण करता है। तब मैंने उसे फिर समझाया। मैंने उससे कहा कि तुम मेरी कविता की नकल उतारो। वह उठकर चला गया, मैं बुलाता ही रह गया। मैंने सोचा, पढ़ाने में मेरी हार हुई। परन्तु थोड़ी देर में वह लौटा। चुपचाप लेखनी लेकर बैठा और लिखने लगा। मैंने सोचा कि उस पर मेरी बातों का असर पड़ा और मैं जीता। दो पल में कविता की प्रतिलिपि पूरी करके वह ओझल हो गया।"

"मेरा अन्तःकरण बोला—सर्जन और विसर्जन तेरा काम नहीं। जब तुम सोचते हो कि हार गया तो जीतते हो। और जब सोचते हो कि जीत गया तो हारते हो। हार-जीत तुम्हारे हाथ में नहीं। मोह और कामना छोड़कर काम करते जाओ।"

"बालकृष्ण पढ़ने आया, मुझे पढ़ाकर गया।"

'कृष्ण—मेरा लाल'

"मेरा लाल नन्हा तोता है। वह सजीव कनकचित्र है। उसे चलते देखकर मेरा मन नाच उठता है। जब उसके कोमल गाल चूमता हूँ तो मदमस्त हो जाता हूँ। उसकी मुस्कान देखकर सारी व्यथा भूल जाता हूँ। उसका लाल और उदास मुख देखकर मेरा कलेजा धड़कता है। उसके आँसू देखकर मेरा खून खौलता है। मेरे लाल कृष्ण से बढ़कर दूसरा कौनसा आभूषण है।"

'कृष्ण—खिलाड़ी बालक'

इस अध्याय में भारती ने कृष्ण के लीला-विनोद, खेल-कूद, चंचलता आदि का बयान किया है। इसी लीला-विनोद से उसने गोपियों को मनमाना नाच नचाया था, इसी क्रीड़ा-कलाप से गोकुल को पागल बना रखा था। वह गोपों का प्यारा था, गोकुल का सारा था। वह खेल-खिझाकर सबको खूब रिझाता था। भारती जी ने कृष्ण की इस चपलता का सुन्दर वर्णन किया है।

'कृष्ण—मेरा प्रियतम'

इस शीर्षक से कवि ने छः अध्याय लिखे हैं। जिनमें पाँच या दस पद्य हैं। जिनमें शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। संयोग पक्ष का कोई पद नहीं, सब विप्रलंभ शृंगार के पद हैं। पहले अध्याय में कृष्ण की प्रियतमा अपनी सखी को अपनी विरह व्यथा सुनाती है। स्वप्न में कृष्ण के दर्शन पाकर, उसका विवरण भी देती है। दूसरे अध्याय में सखियाँ उसको चिढ़ाती हैं और उसकी हँसी उड़ाती हैं। तीसरे अध्याय में वह कृष्ण को वन-वन ढूँढ़ती जाती है। उसे तनचर्या की भी चिन्ता नहीं है। चौथे अध्याय में वह अपनी सखी को कृष्ण के पास दूत के रूप में भेजती है।

भारती जी ने अपने आपको कृष्ण की प्रियतमा मान लिया है। प्रियतम कृष्ण उससे दूर है। प्रियतम के वियोग से विकल नव प्रियतमा का व्यथित हृदय ज़ार-ज़ार आँसू बहाता है। उसके शब्द-शब्द से करुणा टपकती है।

'कृष्ण—मेरी प्रियतमा'

सूफीवादी कवियों की तरह भारती जी ने कृष्ण को अपनी प्रियतमा मानकर पद्य रचे हैं। इस शीर्षक के भी छः अध्याय हैं।

छायावादी या रहस्यवादी कवियों की भाँति भारती प्रकृति के कण-कण में अपनी आत्मिक प्रियतमा 'कण्णम्मा या कृष्णा' का प्रतिबिम्ब पाते हैं। चन्द्र की किरणों में, नक्षत्रों के प्रकाश में, सागर की लहरों में, कोयल की कूक में—सब जगह वे अपनी प्रियतमा को पाते हैं।

यहाँ कवि ने संयोग शृंगार का संयत चित्रण किया है। परस्पर दर्शन, अभिसार, प्रेमालाप आदि का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। वर्णन बड़े ही संयत हैं। कहीं भी लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है।

'कृष्ण—मेरा स्वामी'

"मुझे अपना लो और मेरी रक्षा करो।"

जैसे कि मीरा ने कहा—"मने चाकर राखो जी।"

साथ ही—"चाकर रहसूं, बाग लगासूं!" भारती ने भी प्रार्थना की है—"मैं बाग में काम करूँगा, खेत की भी रखवाली करूँगा, गाय-बैल चराऊँगा।"

मीरा अपने काम के फल रूप में चाहती थी—"नित उठि दर्शन पासूँ!" भारती भी चाहते हैं—"मैं बाल-बच्चे वाला हूँ, अतः मुझे कुछ अनाज और कपड़े मात्र दो!"

मीरा की इच्छा थी—"वृन्दावन की कुंज-गलिन में नित तव लीला गासूँ!" भारती चाहते हैं—"मैं बाजे बजाकर मुहल्ले-भर में तेरी कीर्ति सुनाऊँ।"

भारती के ये 'कृष्णगीत' बहुत ही लोकप्रिय हैं। सब गेय हैं। स्वयं संगीतमर्मज्ञ होने के कारण कवि ने सब गीतों के राग, ताल आदि भी लिख दिए हैं। भाषा भी सरल, शैली भी सरल और छन्द भी सरल हैं। अतः गीतों में माधुर्य, लालित्य और प्रसाद आदि गुण स्वयं आ गए हैं।

तमिल के आधुनिक पद्य-साहित्य में 'कृष्णगीत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारती जी के अमरत्व के लिए यही एक रचना काफ़ी है।

प्यासी—[पृष्ठ २२ का शेषांश]

यह रहस्य मेरे अलावा वह लेडी डाक्टर भी जानती है। बस, और कोई नहीं जानता। इस बीमारी के छूटने पर वह अपने पति के साथ रह सकती है, यही उन माता-पिता का भ्रम है।"

"क्या वह ठीक नहीं हो सकेगी?"

"ठीक ज़रूर हो सकती है। मगर मैं सोच रहा हूँ कि ऐसा मैं क्यों करूँ?"

"आप ऐसा क्यों सोच रहे हैं?"

"आज शीला खुश है। कल्पना में वह एक माता है। इस रोग को दूर करने का मतलब होता है उस सुन्दर कल्पना को छिन्न-भिन्न करना। उसका परिणाम भीषण नहीं होगा? इसलिए यही दशा बनी रहना बेहतर नहीं है क्या?"

मैं कोई उत्तर नहीं दे पाया। स्तब्ध-सा बैठा भर रह गया।

चेकोस्लोवाकिया की प्रथम पंचवर्षीय योजना—[पृष्ठ ४६ का शेषांश]

१९५३ में वहाँ ५६ थियेटर थे, जिनका संचालन राज्य की ओर से किया जाता था। इस साल में वहाँ ५०५ नई फिल्में बनी थीं, जबकि १९४८ में बनी फिल्मों की संख्या केवल १२८ थी। १९३७ में चेकोस्लोवाकिया में केवल १,८३८ सिनेमा हॉल थे, पर १९५३ में इनकी संख्या भी ३,४६३ तक पहुँच गई थी। पुस्तकों का प्रकाशन भी इस साल में बड़ी मात्रा में किया गया। १९४९-५३ तक के पाँच सालों में चेकोस्लोवाकिया में पुस्तकों की कुल मिलाकर ३३,३०,००,००० प्रतियाँ प्रकाशित हुईं, जो कि उससे पूर्व के पाँच वर्षों के मुकाबले में तीन गुना थीं। १९५३ में चेकोस्लोवाकिया में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की संख्या २,७३९ थी, जिनकी १०० करोड़ प्रतियाँ छपती थीं। प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक चेकोस्लोवाकिया में रेडियो सेटों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि प्रत्येक ५ व्यक्तियों के पास एक रेडियो हो गया था। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार के पास अपना एक रेडियो था। ये सब बातें चेकोस्लोवाकिया के सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने को पर्याप्त हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि चेकोस्लोवाकिया ने पंचवर्षीय योजना द्वारा देश की उन्नति में बहुत सफलता प्राप्त की है। पर इसके लिए उस देश ने बलिदान भी कम नहीं किया है। राष्ट्रीय आमदनी का २० प्रतिशत के लगभग भाग टैक्सों में वसूल कर लेने और उपभोग योग्य पदार्थों में कमी करके ही चेकोस्लोवाकिया ने जीवन के इस स्तर को प्राप्त किया है। १९५४ में उसकी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ हुआ, जिसमें कि आर्थिक उत्पादन के लक्ष्यों में और अधिक वृद्धि की गई।

"अनुरागे सार्वगुण्यम्।"

कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण ७, अध्याय ४

"जिससे प्रेम हो जाता है, उस में सब गुण ही गुण दिखाई देते हैं।"

खेती-बाड़ी के औज़ार

भगवान सिंह

सैकड़ों पीढ़ियों से हमारे पुरखे उसी भूमि पर खेती-बाड़ी करते आए, परन्तु गंगा और यमुना की धारा की तरह वही रास्ता और वही रवानी रही। हमारी खेती-बाड़ी के औज़ार भी करीब उसी ढंग से चलते रहे। समय और मौसम ने उन पर कोई परिवर्तनकारी प्रभाव नहीं छोड़ा। कुछ लोगों की निगाह में वह आज भी हमारी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक बने हुए हैं। हुकूमतें बदल गईं। युगों ने पलटा खाया। सामाजिक व्यवस्था का मूल्यांकन तब्दीली की राह से गुज़र गया, मगर हमारे खेती-बाड़ी के औज़ार वेद-वाक्य की तरह प्रायः अडिग और अमर ही रहे। उस दिन बौद्ध-धर्म और सभ्यता की गौरव गरिमा के प्रमुख स्थान साँची में संग्रहालय को देखने का अवसर मिला। उसमें भारत के उस स्वर्णकालीन युग के खेती-बाड़ी के औज़ार रखे हुए हैं, जो आज के औज़ारों से अधिक भिन्न नहीं। वस्तुतः आकार, प्रकार तथा निर्माण में एक से ही हैं।

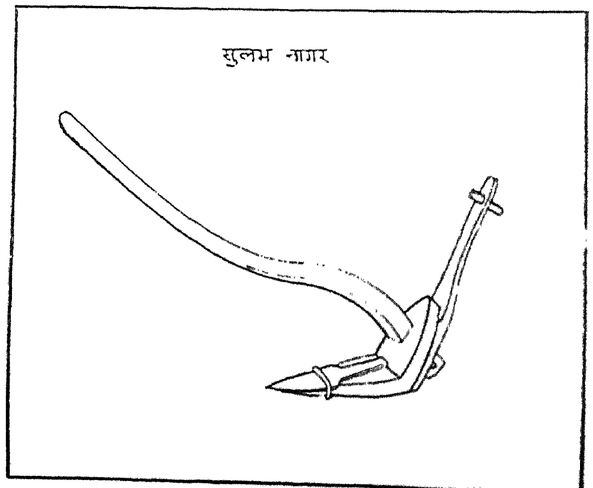
इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे खेती-बाड़ी के औज़ार समय के अनुसार अनुपयुक्त हों। वह सिद्धान्त और निर्माण के दृष्टिकोण से अब भी उतने ही कार्यशील और उपयुक्त हैं, जितने सौ साल पहिले थे। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात जिन समस्याओं ने विकट रूप धारण किया, उसमें अन्न की समस्या एक प्रमुख समस्या थी। अधिक अन्न उत्पादन के आन्दोलन ने ज्यों-ज्यों ज़ोर पकड़ा, त्यों-त्यों मशीनवाद भारत की खेती-बाड़ी के साधनों में घर करता गया। बैल का काम, हल का काम, बोने का काम, मशीन से लेने की चर्चा ही नहीं हुई, बल्कि विदेशी मशीन के निर्माताओं ने हमारे देश में इन मशीनों के जहाज़ के जहाज़ खाली करने शुरू कर दिए। नाना प्रकार की मशीनें आज प्रचलित हो गई हैं। सरकारी दृष्टिकोण भी मशीन से खेती को अन्नोत्पादन का सुगम और सफल उपाय-सा समझने लगा है। इन मशीनों के निर्माताओं तथा इनके व्यवसाइयों के व्यवसाय कुशल तथा वाक्य-चातुर्य में माहिर एजेण्ट भोले तथा खाते-पीते किसानों को हर प्रकार समझा-बुझा कर मशीनें बेचने लगे। हमारे सामाजिक जीवन में आधुनिकता पूरी तरह प्रवेश कर चुकी है। जिस प्रकार हमारे साहित्य में प्रगतिवाद तथा प्रतीकवाद आगे बढ़ने के रास्ते समझे जाने लगे, उसी प्रकार खेती-बाड़ी के औज़ारों में मशीनों का प्रयोग भी आधुनिक किसान बनने तथा उपज बढ़ाने का तरीका समझा जाने लगा। यह सच है कि बहुत-सी खेती-बाड़ी की मशीनें समय और श्रम बचाने में कारगर साबित हुईं, परन्तु आज की हमारी खेती-बाड़ी प्रधानतः बैल, हल और हाली के संगम का ही फल है।

एक प्रसिद्ध विद्वान ने लिखा है: "बैल के बदले बिजली की मोटर और तेल वाले इंजन से खेती करने में एक हानि तो अवश्य है कि मशीनों से गोबर और मूत पैदा नहीं होता। इसलिए यह मिट्टी की उर्वरता बनाए रखने में कोई सहायता नहीं कर सकते।"

अतः खेती-बाड़ी के औज़ारों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहले, मनुष्य-शक्ति से संचालित; दूसरे, पशु-शक्ति द्वारा संचालित तथा तीसरे, यन्त्रों द्वारा संचालित। इस लेख में मैं केवल बैलों द्वारा काम आने वाले औज़ारों के बारे में ही चर्चा करूँगा।

मनुष्य तथा पशु-शक्ति द्वारा संचालित खेती के औज़ारों में कुछ छोटे-छोटे सुधार किए गए हैं और हमारे वर्षों के अनुभव पर आश्रित औज़ारों में छोटे और साधारण कुछ अन्य सुधार भी किए जा सकते हैं। मगनवाड़ी, वर्धा में इसी प्रकार के सुधरे हुए औज़ारों की एक प्रदर्शनी अखिल भारतवर्षीय सर्व सेवा संघ के तत्वावधान में आयोजित की गई थी। वहाँ यों तो बहुत-से औज़ार प्रदर्शनी में रखे गए थे पर समयाभाव के कारण थोड़े से ही मुख्य औज़ारों का ज़िक्र यहाँ किया जा रहा है।

१. ज्वार इत्यादि की मड़ाई करने के लिए हमने अपने गाँव में देखा है कि दाँय के पैर में आठ बैल और दो-दो आदमी उसको बिखरने से बचाने के लिए लगे रहते हैं। इस प्रदर्शनी में ज्वार की मड़ाई करने के लिए एक पत्थर का रोलर रखा गया था, जिसकी गोलाई ६० इंच, बड़ी गोलाई ७० इंच और लम्बाई ३ फुट था। इसके द्वारा ऊपर एक हल्के लोहे की ८ फुट लम्बी एक बेंच लगाई गई थी, जो बैठने के काम आती थी। यह कोई नया आविष्कार नहीं। कर्नाटक में इसका आमतौर से उपयोग होता है। पंजाब में ज्वार, बाजरी की मड़ाई के लिए भी यह कहीं-कहीं काम में लाया जाता है। यह रोलर



फ़सलों की मड़ाई, दूसरे खेतों के ढेलों को फोड़कर बारीक करने तथा खेत को बोने लायक बना देने का काम करता है। इसे दो बैलों की सहायता से एक-दो बार घुमाने पर ढेले बारीक हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि बोने के पहले खेत में नमी (ग्राल) कुछ कम हो तो यह रोलर घुमाने से गीलापन ऊपर आ जाता है और बोया हुआ बीज बड़ी सुगमता से उपजता है। इसे एक बैल जोड़ी से एक आदमी द्वारा चलाया जाता है। जिसे १०० मन की पैरी पर चलाने के लिए कम से कम आठ जोड़ी बैलों की ज़रूरत होती है, उसी पर दो बैलों द्वारा उस रोलर को घुमा कर उससे आधे समय में काम पूरा किया जा सकता है। आठ घंटों में १०० मन ज्वार की मड़ाई की जा सकती है अथवा आठ जोड़ी बैलों का काम एक जोड़ी से ही हो जाता है। इसकी कीमत लगभग ५०) रु० है और यह पचासों साल काम दे सकता है। एक हज़ार की आबादी वाले गाँवों में तीन-चार रोलरों से फ़सलों की मड़ाई का काम आसानी से हो सकता है।

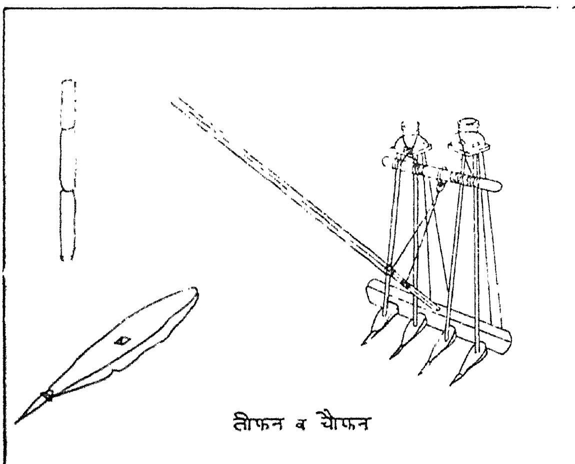
२. मड़ाई की हुई फ़सलों से भूसे को उड़ाने का काम भी बड़े महत्त्व का है। इसमें ग़लती होने से बहुत-सा अनाज भूसे में मिला रह जाता है क्योंकि बरसाने का काम हवा की रफ़्तार और उसके रुख़ पर निर्भर है। हवा कभी समान गति से चलती नहीं है। कभी तेज़ झोंकों से चलती है और कभी बारीक अनाज के दोनों को भूसे के साथ उड़ा ले जाती है और कभी-कभी इतनी मन्द गति से चलती है कि किसान को घंटों टोकरी लिए खलिहान में खड़ा रहना पड़ता है। कभी-कभी मड़ाई की हुई फ़सलें हवा न होने से कई-कई दिन खलिहानों में ही पड़ी रहती हैं जिससे चोरी तथा बर्षा का भय किसान को लगा रहता है। हवा की यह कमी किसानों को बहुत ही खलती है परन्तु लाचारी से सब सहना पड़ता है। इस काम के लिए एक ऐसा पंखा बनाया गया है जिससे मड़ाई की हुई फ़सलें आसानी से उड़ाई जा सकें। इन मशीनों के अन्दर पंखे लगे होते हैं। बाहर से जब पंखे घुमाए जाते हैं तब हवा पैदा होती है और जब इसमें मड़ाई की हुई फ़सलों का दाना, भूसा डाला जाता है तो यह पंखों की हवा के द्वारा साफ़ होकर अलग अलग गिरता जाता है। इन मशीनों के द्वारा ५-६ आदमियों की सहायता से दिन भर में २५० मन अनाज की सफ़ाई सुगमता से की जाती है। इसकी कीमत भी करीब-करीब १५०)रु० है। यदि सहकारी पद्धति से काम चले तो ३-४ पंखों से गाँव-भर का काम हो सकता है।

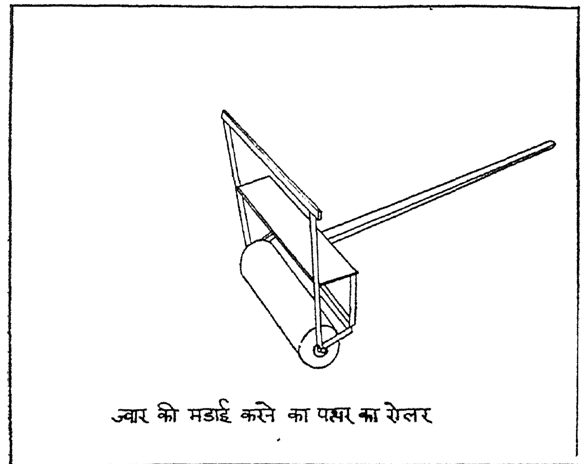
३. बीज बोने का एक उत्तम साधन तीफन या चौफन नाम का एक औज़ार है जिससे २ से ५ तक लाइनें एक साथ बोई जाती हैं। एक बैल जोड़ी इसके द्वारा ४-६ घंटों में आसानी से ३-४ एकड़ ज़मीन की बोआई कर सकती है। तीफन या चौफन से बोआई की हुई फ़सलों की निकाई, गुडाई, डोरा, दुग्गडा आदि औज़ार चलाकर कम खर्च और कम समय में आसानी से की जा सकती है। हाथ से फेंक कर बीज बोने की प्रथा से यह तरीका कहीं अधिक वैज्ञानिक और लाभदायक व आसान है। हाल में इसे सर्व सेवा संघ काम में ला रहा है।

४. सुलभ नागर, जो बाला प्रसाद जी, ज़िला नादेड़, हैदराबाद निवासी ने सुधार कर बनाया, काफ़ी उपयोगी औज़ार है। यह दो बैलों से चलने वाला नागर काफ़ी गहराई पर ज़मीन पर चलता है तथा मिट्टी को ऊपर की ओर फेंकता हुआ चलता है। और हवा की तरह अपने साथ मिट्टी को घसीटता हुआ नहीं चलता। एक विशेषता यह भी है कि यह अपनी जोत में नीचे और ऊपर की ज़मीन की सतह को अलग-अलग नहीं करता बल्कि दोनों सतह के बीच फिर कर काम करता है। इसकी बनावट काफ़ी सरल है। सुधार की दृष्टि से इसमें पीछे का भाग जो ७-८ इंच तक होता था, वह घटाकर कम कर दिया गया है। दाँते को नीचे से तिकोना बना दिया गया है जिससे चलाते समय आसानी से हिला-डुला सकते हैं। इसकी कैरिज पीछे की ओर दाँते के पास से अन्दर की ओर गोलाई लिए हुए होती है और सामने से ऊपर की ओर गोलाई लिए हुए उठती हुई बनाई गई है। यह छोटे-बड़े किसी भी तरह के बैलों पर आसानी से लादा जा सकता है और देखने में काफ़ी हल्का लगता है।

५. पशु-शक्ति द्वारा संचालित यंत्रों में जुए का जिक्र न किया जाए तो यह वर्णन अधूरा ही रहेगा। महाराष्ट्र प्रान्त में काम में आने

(शेष पृष्ठ ५७ पर)


तीफन व चौफन


ज्वार की मडाई करने का पत्थर का रोलर

अमेरिकन साधु सत्यानन्द

मंगलदेव शर्मा

सन् १९१९ में जलियाँवाला हत्याकाण्ड के उपरान्त, उस जघन्य पाप के कूटनीतिक प्रक्षालन के हेतु, तत्कालीन अंग्रेज़ शासकों ने बरतानवी पार्लमैन्ट से सार्वजनिक क्षमादान की जो घोषणा भारत के सम्बन्ध में कराई, उसके प्रतिफलस्वरूप अनेक देश भक्त कालेपानी से छूटे। तभी पंजाब केसरी लाला लाजपतराय भी अमेरिका से भारत आ सके।

लाला जी बड़े कर्मठ नेता थे। गांधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह आन्दोलन में योगदान देने के लिए उन्होंने लाहौर से 'बन्दे मातरम' नामक उर्दू दैनिक जारी किया और देश के युवकों के राष्ट्रीय-प्रशिक्षण के लिए 'तिलक स्कूल आफ़ पालिटिक्स' की स्थापना की। देश में जब दिन-दूनी रात-चौगुनी जागृति हुई, तब एक दिन लाला जी ने हम सब युवकों को बुलाकर आदेश दिया कि, "अब राजनीति के अध्ययन की यह वेला नहीं है, अब तो देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेने का अवसर आ गया है। मैं 'तिलक राजनीति विद्यालय' को फ़िलहाल बन्द कर रहा हूँ। आप लोग अपने अपने यहाँ जाकर असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना आरम्भ करें।" इन पंक्तियों का लेखक भी इस विद्यालय का एक शिक्षार्थी था।

देश में संगठित और सुव्यवस्थित राजनीतिक आन्दोलन का यह श्रीगणेश था। कांग्रेस कमेटियाँ सब जगह कायम हो गई थीं। लाला जी ने मुझे हरियाना प्रान्त में काम करने के लिए भेज दिया। मैं हरियाना के केन्द्र भिवानी आ गया। उस समय हरियाना के एकमात्र नेता पण्डित नेकी राम शर्मा थे। हरियाना में तब बेगार का बोलबाला था। पण्डित नेकी राम जी ने उसके विरुद्ध संगठित आन्दोलन उठा रखा था। उन्होंने मुझे अपना सहायक और सहयोगी बना लिया।

शिमला की पहाड़ियों में आबाद छोटे-छोटे देशी राज्यों में भी उस समय बेगार-प्रथा भयावह रूप में व्याप्त थी, जिसके विरोध में यदाकदा एक अमेरिकी मिशनरी मि० स्टोक्स की आवाज़ सुनी जाती थी। असहयोग आन्दोलन के प्रबल होने पर मि० स्टोक्स ने कई बार 'पायनियर' में पहाड़ी जनता पर होने वाले विविध अत्याचारों के विषय में लेख लिखे थे जिनमें बेगार-प्रथा की भीषणता का विशेष उल्लेख रहता था। इस प्रकार स्टोक्स साहब के व्यक्तित्व के प्रति हम लोगों का आकर्षण हुआ, और उनसे सम्पर्क स्थापित करने को हम लोग लालायित हुए।

उसी समय अम्बाला में एक डिवीज़नल कान्फ्रेन्स का आयोजन किया गया जिसमें महात्मा गांधी ने भी आना स्वीकार किया था। उनके साथ मौ० आज़ाद और अलीबन्धु भी आए थे। बेगार-विरोधी और भारत-प्रेमी होने के नाते हम लोगों ने स्टोक्स साहब को भी इस कान्फ्रेन्स में भाग लेने के लिए विशेष रूप से आमन्त्रित किया था। कान्फ्रेन्स में बेगार-विरोधी प्रस्ताव पर स्टोक्स साहब प्रभावशाली ढंग से बोले। वह भारतीय वेषभूषा में ही इस कान्फ्रेन्स में सम्मिलित हुए। मेरा उनका यह प्रथम परिचय था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया। शिमला की पहाड़ियों में कोटगढ़ में तब उनका निवास था। असहयोग आन्दोलन के बढ़ने पर उन्होंने अपने इलाके में कांग्रेस का थोड़ा-थोड़ा काम आरम्भ किया। 'पायनियर' और 'स्टेट्समैन' में बेगार के विरुद्ध लिखने वालों में स्टोक्स साहब का नाम यदाकदा प्रकाशित होता रहता था। स्टोक्स साहब शान्त वृत्ति के व्यक्ति थे। वे मिशनरी तो थे ही, और एक सच्चे मिशनरी की भाँति ही प्रदर्शन शून्य और ठोस काम में उनका विश्वास था।

कुछ समय उपरान्त पढ़ा कि स्टोक्स साहब बम्बई पहुँच गए। चौपाटी के समुद्र-तट पर महात्मा गांधी के हाथों विदेशी वस्त्रों की एक विशाल होली जलाई गई। स्टोक्स साहब ने यहीं अपने यूरोपियन वस्त्रों को होली में स्वाहा कर दिया और शुद्ध खद्दर का धोती-कुरता धारण कर लिया और गांधी जी के देशोद्धार के दौरे में उनके साथ हो गए। अमेरिकन होने के कारण सरकार उन्हें गिरफ़्तार करने में पहले तो तरह देती रही, किन्तु बाद में उसे स्टोक्स साहब को जेल भेजना ही पड़ा। जेल में उन्होंने यूरोपियनों को मिलने वाली सुविधाओं को लेने से इन्कार कर दिया और साधारण सत्याग्रहियों की भाँति ही जेल में रहना स्वीकार किया।

हिन्दू समाज के उपेक्षित अंग, हरिजन और दलित वर्ग में काम करने का ईसाई मिशनरियों को अनायास ही अवसर प्राप्त हो जाता है। स्टोक्स साहब का ध्यान इनकी ओर आरम्भ में सम्भवतः इसी कारण गया होगा। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, सन् १९१९ के भारत-व्यापी जागरण से प्रभावित होकर उनकी विचार-धारा में भारी परिवर्तन हुआ। उनके जीवन का क्रम ही बदल गया और उन्होंने पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित बेगार-प्रथा के प्रश्न को एक राष्ट्रीय प्रश्न का रूप दे दिया। एक सच्चे ईसाई की भाँति जलियाँवाला हत्याकाण्ड ने उनके सुकोमल और संवेदनशील मानस में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। इस विचार-क्रान्ति ने उन्हें आमूल बदल डाला और भारत-प्रेमी बना दिया। भारतीय राष्ट्रीयता से ही वे प्रभावित नहीं हुए, अपितु भारतीय तत्व-दर्शन की गरिमा से भी वे अभिभूत हुए। उन्होंने संस्कृत पढ़ी और गीता एवं उपनिषदों का गहन अध्ययन किया।

स्टोक्स साहब का जन्म अमेरिका के पैन्सिलवेनिया राज्य के जर्मन टाउन में १६ अगस्त १८८२ ई० को हुआ था। स्टोक्स परिवार क्वेकर ईसाई मत का अनुयायी था। अन्य ईसाई सम्प्रदायों की तुलना में

क्वेकर अधिक उदार, सेवाव्रती और सहिष्णु होते हैं। सेमुअल ईवान स्टोक्स २१ वर्ष की अवस्था में १६०४ में डा० कार्लटन के मिशन के साथ सपाटू के कोढ़ीखाने में सेवा-कार्य करने भारत चले आए।

स्टोक्स साहब ने कोढ़ी-सेवक मिशन में कार्य करते हुए भारतीय सन्यासी का वेष धारण कर लिया था और दाढ़ी भी बढ़ा ली थी। सपाटू में एक कोढ़ी के दो लड़कों को अपनी संरक्षता में लेकर वे उनके धर्म-पिता बन गए। स्टोक्स साहब की आध्यात्मिक क्षुधा और जिज्ञासा निरन्तर तीव्रतर होती गई और स्कूल कार्य से जब कभी वह अवकाश पाते तो समीप की गुफ़ा में जाकर ध्यानावस्थित हो जाते। इन दिनों वह किसी को भी अपने पास नहीं आने देते। वह दो उद्देश्यों से यहाँ आकर निवास करते, एक तो जब उन्हें ध्यान-धारण की अन्तर्प्रेरणा होती, दूसरे आस-पास के पहाड़ियों के हृदय से मिथ्या भय का निराकरण करने के लिए।

सन् १६१२ में श्री स्टोक्स ने ऐग्नेस बेंजामिन नामक एक षोडशी (राजपूत ईसाई) कन्या से विवाह किया। अपनी पत्नी श्रीमती ऐग्नेस को साथ लेकर श्री स्टोक्स पुनः अपने घर अमेरिका गए। वहीं सन् १६१३ में उनके प्रथम पुत्र प्रेमचन्द का जन्म हुआ। सन् १६१५ में वह भारत लौटे। प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध १६१४ में ही आरम्भ हो चुका था। भारत लौट कर स्टोक्स साहब ने कोटगढ़ के हाईस्कूल को बन्द कर दिया और फ़ौज में भर्ती हो गए। उन्हें कप्तान का पद दिया गया। सन् १६१७ के अन्त तक वह इस पद पर रहे।

भारत, भारतीयता और आर्य-दर्शन की ओर स्टोक्स साहब की अनुरक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उन्होंने भारत में ही स्थायी रूप से बस जाने और भारतीयता ग्रहण कर लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। असहयोग आन्दोलन के जेल-जीवन में उन्होंने आर्य ब्रह्मज्ञान और भारतीय अध्यात्म विषय पर कई मननीय निबन्ध अँग्रेज़ी में लिखे जिनमें से कुछ ब्रिटेन के पत्रों में प्रकाशित हुए। 'सत्यकाम' नामक एक पुस्तिका भी अँग्रेज़ी में उन्होंने इन्हीं दिनों लिखी और हिन्दू-धर्म शास्त्रों का उनका अध्ययन निरन्तर चलता रहा।

इसके बाद उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। 'पारिवारिक-उपासना' नामक पुस्तक में उन्होंने गीता, यजुर्वेद और विभिन्न उपनिषदों के चुने हुए श्लोकों का सुन्दर समुच्चय किया है। निस्सन्देह यह पुस्तक विश्व के मानव मात्र के हित के लिए लिखी गई है।

सन् १६३२ में स्टोक्स साहब ने सपरिवार हिन्दू-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। स्वेच्छा से उन्होंने अपने नाम परिवर्तन कराए। उन्होंने अपना नाम सत्यानन्द रखा और अपनी पत्नी का प्रिया देवी तथा अपने बड़े पुत्र का प्रेमचन्द। इनके दो पुत्र और हैं—प्रीतमचन्द और लालचन्द। दो पुत्रियां भी हैं। सबके विवाह उच्च हिन्दू राजपूत घरानों में हुए हैं।

सन् १६४२ ई० में सत्यानन्द जी ने बारोबाग में 'परमज्योति मन्दिर' का निर्माण कराया। इस मन्दिर में लकड़ी और पत्थर की दीवारों पर भीतर और बाहर, चारों ओर उपनिषदों, गीता, महाभारत (शान्तिपर्व) के श्लोक, ऋग्वेद की ऋचाएँ, गायत्री मन्त्र आदि खुदे हुए हैं। इस मन्दिर में कोई मूर्ति नहीं है क्योंकि यह उस देव को समर्पित किया गया है जो सर्व नामों, रूपों और लोकों से परे है, और फिर भी प्रत्येक जीवमात्र के हृदय में विराजमान है, अर्थात उस आत्मा को जो सर्व ज्योतियों की परम ज्योति है।

प्रिया देवी जी, सत्यानन्द जी की ही भाँति, अत्यन्त सरल, शालीन, साधारण पहाड़ी महिला जैसी सादगी-पसन्द और सहृदय महिला हैं। वह एक स्नेहमयी माता और गाँव में ज़रूरतमन्दों की खबर रखने वाली गृहस्थिन हैं। सत्यानन्द जी का ६४ वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। उन्हें गुर्दे की पथरी का रोग हुआ था। समय से बहुत पूर्व सन् १६४६ में आपरेशन भी कराया गया, किन्तु रोग-शय्या से वे फिर नहीं उठे। स्टोक्स साहब के पिता की वसीयत के अनुसार सत्यानन्द जी के परिवार को अमेरिका की पारिवारिक आय से बराबर समुचित भाग मिल रहा है।

स्टोक्स साहब ने भारत के अन्तरिक्ष में व्याप्त सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व के परम सन्देश को अटल हिमाचल के श्वेत-धवल शिखरों पर लिखा देखा और वे उस कल्याण-मार्ग के पथिक बने जिस पर चलकर भारत के ऋषि-मुनियों ने आत्म-दर्शन के साथ-साथ मानवमात्र का उद्धार अपने अखण्ड तप-तेज द्वारा सम्पन्न किया है। यही समय है, जब देश के कोटि-कोटि हिन्दू अपने समाज-शरीर से द्वेष-भाव के दैत्य को भगाने की सतत चेष्टा में लग जाएँ। जो भी अटके, उसका बाहु पसार कर आलिंगन करें। सैंकड़ों स्टोक्स आज न्याय के अध्यात्म तेज से अभिभूत हो रहे हैं। उनका स्वागत कीजिए और अपने में आत्मसात कर लीजिए। ईसाई मिशनरियों से भयभीत होने का समय चला गया। अब तो इन सभी मिशनरियों को भी अपने ब्रह्मज्ञान से प्रभावित करना है। और जो हमारे विरोधी रहे हैं या हैं, उनको भी इसी प्रकार अपना बनाए जाने का अवसर यही है।



खेती-बाड़ी के औज़ार—[पृष्ठ ४५ का शेषांश]

वाले जुए की भी विशेषता है। यह अपनी एक खास रचना के कारण बैलों के कन्धों पर पकड़ के साथ फिट बैठता है जिसकी वजह से इसके द्वारा बैल अपनी पूरी ताकत लगाकर काम करते हैं। किसी किस्म की कोई तकलीफ़ इसके द्वारा बैलों को नहीं होती जबकि अन्य प्रान्तों में चलने वाले जुए बैलों के कंधों में गड़ते हैं और कभी-कभी भारी ज़ख़्म भी कर देते हैं। इससे बैल को काफ़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती है और उसकी ताकत का पूरा इस्तेमाल नहीं होने पाता। इसकी लम्बाई साढ़े-पाँच फुट होती है और कंधों पर चौड़ाई १० इंच होती है। इसकी बनावट काफ़ी मज़बूत होती है। हल्के, भारी दोनों तरह के काम इसी से किए जा सकते हैं।



हंसाउली

अगरचन्द भंवरलाल नाहटा

शेषांश

इधर वत्सराज को चन्दन की खोज में घूमते हुए सूमण सेठ ने देखा और उसे अपनी दूकान में बुलाकर आदर सहित यथावश्यक वस्तु लेने को कहकर साथ में बिना सवार के घोड़े का कारण पूछा। वत्सराज ने कहा—"मेरे भाई को साँप ने काट खाया। उसकी अन्त्येष्टि के लिए चन्दन लेने आया हूँ। आप मेरी धरोहर बारह रत्न व घोड़े रखिए। लौट कर दाम चुका दूँगा।" सेठ ने दो भारवाहकों के सर पर चंदन लाद कर सात कोस दूर सुवर्ण सरोवर पर वत्सराज के साथ भेजा। वट की शाखा पर बँधे हुए अपने भाई को न पाकर वह विस्मित हुआ और सरोवर के तट पर भाई के पदचिन्ह पहचान कर ज़ोर ज़ोर से पुकारने लगा। भ्राता का पता न लगने पर उसने भारवाहकों के साथ चंदन वापस कर दिया। कुमार के बारह रत्न और घोड़ों को देख कर सूमण सेठ के मन में पाप आ गया और कुमार को गिरफ़्तार करवा कर उसका धन हरण करने की उसने तरकीब सोची। उसने कुमार से कहा—"घोड़े पर बैठो। मैं रत्न लाकर देता हूँ।" वह ज्योंही घोड़े पर बैठा, सेठ ने चिल्लाना शुरू किया। लोग इकट्ठे हो गए। एक रक्षक भी आकर उपस्थित हुआ। सेठ कुमार को गिरफ़्तार करवाके स्वयं राज दरबार में साथ गया। उसने राजा से दण्ड देने की प्रार्थना की। राजा ने व्यापारियों की इच्छानुसार करने की आज्ञा दी। तलारक्षक कुमार को लेकर आ रहा था। रास्ते में श्रावक लोग एवं माहेश्वरी मिले। तलारक्षक की स्त्री ने जब सुन्दर बालक को देखा तो अपने पति को घर बुला कर कहा—"यह चोर कदापि नहीं हो सकता। व्यर्थ की बाल-हत्या सर पर मत चढ़ाओ।" आखिर दोनों ने निश्चय किया कि अपने संतान नहीं है, अतः धर्मपुत्र करके इसका अपने घर में पालन किया जाए। तलारक्षक के घर में उत्सव होने लगे। चर लोगों ने सूमण सेठ को सारा वृत्तान्त अवगत करा दिया।

इधर हँसराज को वन में घूमते हुए एक ऋषि के दर्शन हुए। उपदेश श्रवण कर कुमार ने अपने भाई का वृत्तान्त पूछा। ऋषि ने कहा—"वह कांतीनगर गया है, छः महीने और तीन दिन व्यतीत होने पर तुम्हारी उससे भेंट होगी।" यह सुनकर हंसराज कातीनगर आया। वह भाई की खोज में घूमता हुआ बाज़ार में आया। वहाँ केल्हण कबाड़ी से भेंट हुई। उसने कहा—"आप हमारे यहाँ पधारिए।" कुमार के परिचय पूछने पर उसने कहा—"मैं परमार राजपुत्र हूँ। मेरे घर में स्त्री, पाँच पुत्र और पुत्र-वधुएँ हैं। आप निःसंकोच हमारे यहाँ रह कर भाई की शोध करें। हम लोग आपकी सेवा करेंगे।" केल्हण के आग्रह से कुमार उसके घर रहने लगा।

सूमण सेठ ने जहाज़ में माल भर कर पुष्पदन्त कुमार की विदेश यात्रा की तैयारी की। मुहूर्त के दिन प्रवहण न चलने पर ज्योतिषी से पूछा। उसने 'अमानत में ख़यानत' दोष का कारण बतलाया। प्रतिकार पूछने पर बत्तीस लक्षण पुरुष की आवश्यकता जानकर सूमण सेठ का ध्यान धरोहर के मालिक की ओर गया जो बत्तीस लक्षणवान था। उसने राजा को नाना प्रकार की भेंट से प्रसन्न कर तलारक्षक के पुत्र (वत्सराज) को समुद्र यात्रा के लिए माँग लिया। राजा ने पुष्पदन्त के साथ कुमार को भेजने के लिए तलारक्षक को आदेश दिया। कुमार ने श्रावक और हँस के धर्म की दुहाई देते हुए ज्योंही जहाज़ पर पैर रखा, जहाज़ चल पड़ा। सेठ ने पुष्पदन्त को कुमार का [illegible] करने की हिदायत कर दी। प्रवहण अनुकूल वायु से चलते हुए रत्नकावती के तट पर लगा। पुष्पदन्त वहाँ के राजा से मिला और व्यापार की अनुमति प्राप्त कर ली। उसने कुमार वत्सराज को ओढ़ने के लिए कम्बल दे दिया और घोड़े चराने का काम सौंप दिया। घोड़े पर जाते हुए कुमार को वहाँ के राजा [illegible] की पुत्री [illegible] ने देख लिया। उसकी अश्वारोहण कला से प्रभावित होकर अपनी दासी को देखने के लिए भेजा। उसके अंग-लक्षणों द्वारा राजपुत्र होने का अनुमान कर माता के द्वारा विवाह प्रस्तावित किया। राजा ने स्वयंवर की रचना की। बहुत से राजाओं की उपस्थिति थी। पुष्पदन्त भी सपरिवार आया था। राजकुमारी ने सबको छोड़ कर घोड़े चराते हुए कम्बलधारी वत्सराज को वरमाला पहनाई। उसके पश्चात् ही सभा के बीच राजा ने अन्यमनस्क हो पाणिग्रहण कर दिया।

राजा ने चमक, समरु, गजु और गुडम्ब नामक चार पहलवानों को बुलाकर मर्दन के बहाने कुमार की अस्थि-सन्धि भंग कर डालने का निर्देश किया। वत्सराज ने उन मल्लों में किसी का मुँह टेढ़ा कर दिया, किसी के हाथ-पाँव मोड़ दिए। प्रधान के निवेदन पर उदार वत्सराज ने उन्हें ठीक कर दिया। राजा ने फिर कुमार को मारने का षड्यन्त्र किया। उसने प्रधान को मृगया के बहाने पवनवेग घोड़े पर बैठाने का आदेश दिया, ताकि आकाश में उड़ने पर गिर कर मर जाए। कुमार इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गया। तब राजा ने सोचा, यह अवश्य ही कोई महान व्यक्ति है। उसने लज्जित होकर पुत्री से जामाता का नाम और वंश परिचय पूछा। राजकुमारी ने वत्सराज से बड़े विनय के साथ वृत्तान्त पूछा। वत्सराज ने सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक सुना दिया। कुमार का परिचय जान कर राजा स्वयं आकर जामाता से मिला और उसे सम्मानित किया। राजा ने कहा सेठ को उचित दण्ड देना चाहिए। कुमार ने अपने सौजन्य से उसे क्षमा करवा दिया। राजा ने कुमार को वस्त्राभरणादि से खूब सत्कृत किया।

इधर कांतीनगर में हँसराज कबाड़ी के यहाँ आनन्दपूर्वक रहता था। भवितव्यता वश उस नगरी का राजा श्रीभद्र अपुत्रिया मर गया। मंत्री ने उत्तराधिकार नियुक्ति के लिए हथिणी आदि दिव्य प्रकट किए। हँसराज राज्याभिषिक्त हुआ। वह कांतीनगर का राज्य करने लगा, पर भ्राता का विरह उसे कचोट रहा था।

सनकावती का कार्य हो जाने पर पुष्पदन्त ने वत्सराज से स्वदेश लौटने के लिए प्रार्थना की। जब कुमारी ने सुना तो वह अचेत होकर गिर पड़ी। सनकभ्रम राजा ने वत्सराज को अपना राजपाट सुपुर्द कर दिया। वत्सराज ने कहा—"भाई की खोज के लिए मेरा जाना अनिवार्य है। आप अपनी पुत्री को यहीं रखिए।" राजकुमारी ने कहा—"मुझे कौन रख सकता है? मैं पीछे से समुद्र में कूद पड़ूँगी।" पुत्री का आग्रह देखकर राजा ने नाना प्रकार के वस्त्राभरण, शृंगार सामग्री व दासी आदि के साथ उसे विदा किया। राजकुमारी समुद्र को एकाउल हार भेंट कर नमस्कार पूर्वक जहाज़ में आरूढ़ हुई। प्रवहण बड़े वेग से चल रहा था। दो-चार दिन बाद जब एक दिन वत्सराज अपनी प्रिया के साथ बैठा मेड़ी में पाण खेल रहा था तो जाली से पुष्पदन्त ने उन्हें देखा और अपने कर्मचारियों के समक्ष ईर्ष्या से छाती कूटने लगा। उन्होंने कहा—"चिन्ता क्यों करते हो, कुमार को समुद्र में गिरा कर सुन्दरी पर सहज ही में अधिकार कर सकते हो।"

रात्रि के समय एक ने कहा—"देखो, देखो, समुद्र में जल मानुस जा रहा है!" कुमार उसे देखने के लिए सरल भाव से ज्योंही आकर झुका, पूर्व योजनानुसार उसे समुद्र में गिरा दिया गया। वह नवकार मन्त्र का उच्चारण करता हुआ समुद्र में गिरा, जिससे उसे मच्छ ने ग्रहण कर लिया और ले जाकर समुद्र तट पर पहुँचा दिया। इधर विलाप करती हुई चित्रलेखा ने पति को समुद्र में देखकर समुद्र से पति को निकालने की प्रार्थना की। समुद्र ने उत्तर में कहा—"तुम्हारा स्वामी कांतीनगर गया। है निश्चिन्त रहो!" चित्रलेखा शान्त होकर मेड़ी में आ बैठी। पुष्पदन्त ने अपनी कलुषित वृत्तियाँ प्रगट करते हुए अपनी प्रियतमा बनाने के मनोभाव व्यक्त किए। चित्रलेखा ने चतुराई से काम निकालने के लिए कहा—"कुछ दिन ठहरिए। वर्ष नहीं तो छः मास तो अवश्य! क्योंकि मैंने शास्त्रों में सुना है कि बिना क्रिया-कर्म आदि के यदि स्त्री पुरुष को वरे तो मृतक पति प्रेत होकर नाना प्रकार से पीड़ित करता है।" इस सयानी बात से पुष्पदन्त को सन्तोष हुआ और वेग पूर्वक प्रवहण को चलाने लगा।

वत्सराज समुद्र तट पर जा पहुँचा। वह एक वाड़ी में जाकर आम्र वृक्ष के नीचे सो गया। उसके पुण्य प्रभाव से वृक्ष को मुकुलित-फलित देखकर लोगों ने मालिन को इसकी सूचना दी। मालिन ने कुमार को छाया में सोया हुआ देखकर उठाया। उसने प्रणाम किया। मालिन ने उसे अकेला जानकर अपने पति और पाँच पुत्रों के वियोग में अकेलेपन के दुःख को भुलाने के लिए उसे अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। वह सहर्ष मालिन के घर जा कर रहने लगा। वह फूल गूँथ कर बेचने के लिए मालिन को देता, जिससे उसकी तिगुनी आमदनी हो गई।

थोड़े दिन में पुष्पदन्त के प्रवाहण पहुँचे। चारों ओर से लोग बधाई देने लगे। पुष्पदन्त एक सुन्दर ब्याह कर लाया है, इसकी चर्चा भी जब मालिन ने सुनी तो उसके लिए भी फूलों के आभरण व पुष्प ले जाने के लिए कहा। कुमार ने उसकी देह के परिमाण से गजरे, नाभि तक का हार, पंच वर्ण कंचुकी आदि बना कर दिए। केल के फूल में उसने संकेत में लिख दिया कि—"मैं मालिन के यहाँ सकुशल हूँ। चिन्ता मत करना।" मालिन ने जाकर पुष्पदन्त को पुष्पहार आदि भेंट कर स्त्रियोचित सामान कर उसके निर्देशानुसार चित्रलेखा को समर्पित किए। अपने शरीर के प्रमाण से सुघटित पुष्पालंकरणों के साथ पति का सन्देश पढ़ कर वह अचेत हो गई। मालिन को बड़ी चिन्ता हुई। थोड़ी देर में होश आने पर उसने पूछा कि ये किसने गूँथे? मालिन ने अपने पुत्र द्वारा गूँथने की बात कही। कुँवरी के डाँट कर पूछने पर उसने रहस्य खोल दिया। अब चित्रलेखा ने पान के बीड़े में पत्र लिखकर मालिन को दिया और कहा कि अपने पुत्र को दे देना। मालिन से बीड़ा प्राप्त कर कुमार ने पत्र पढ़ा। उसमें चित्रलेखा ने अपने शील अखण्डित होने की बात लिखी थी।

हँसराज ने कांतीनगर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो मेरे भ्राता वत्सराज की खबर देगा, उसे मैं अर्ध राज्य दूँगा। बन्दरगाह में चित्रलेखा ने यह खबर सुनी तो उसने घोषणा-पट का स्पर्श किया। पालकी में बैठकर वह राज-दरबार में गई। सूमण सेठ और पुष्पदन्त भी अर्द्धराज्य जैसे पुरस्कार की आशा से साथ गए। कौतुक देखने के लिए मलूक, वेलण, जासड़, पासड़, पदमसी, कडूउ, केलू, कर्मसी, घाईड, घोगु, धर्मसी, वस्तु, वीरम, पूनु, पेथड़, वीरुउ, खेतल, खीम हादु, भादु भाद और भीम आदि महाजन लोग भी जाकर आगे बैठ गए। प्रतोलिए ने कहा—"राजा हँसराज परस्त्री का मुख नहीं देखते इसलिए परदा लगाया गया है।" चित्रलेखा से राजा ने कहा—"माता, वत्सराज की सुधि कहो।" राजकुमारी ने विस्तार से वत्सराज की कथा सुनाई और यही बता दिया कि अब वह सचमुच मालिन के यहाँ सकुशल है।

हँसराज तत्काल मालिन के यहाँ जाकर भाई से मिला। पीछे-पीछे सारा परिवार पैदल चल रहा था। मुनि का छः मास तीन दिन में भ्रातृ-मिलन का वचन सत्य हुआ। गाढ़ आलिंगन और हर्षोल्लास-पूर्वक मिलकर राजप्रसाद में पधारे। हँस के इस कथन पर कि सेठ को सकुटुम्ब शूली का दण्ड दिया जाए वत्सराज ने अपने कर्म-दोष बतलाकर राम, युधिष्ठिर और हरिश्चन्द्र के उदाहरणों से सेठ व पुत्र के अपराध को क्षमा करवाया। फिर परस्पर आलोचना करके प्रधान को राज सौंप कर सैन्य सहित पडठाणपुर गए और माता-पिता तथा परिवार से सस्नेह मिले।



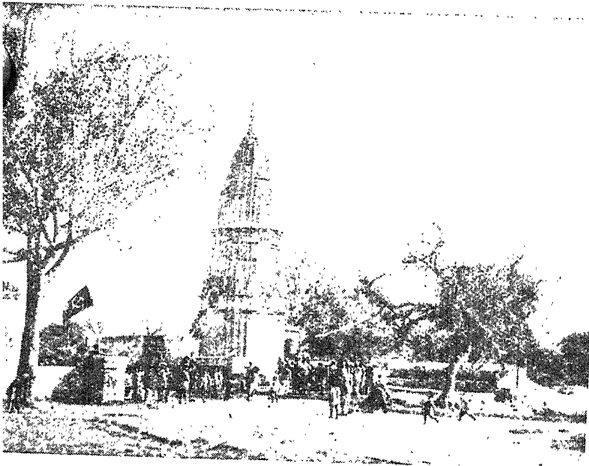




एक पार्टी का कैम्प

वोटर आपस में विचार-विनिमय करते हुए

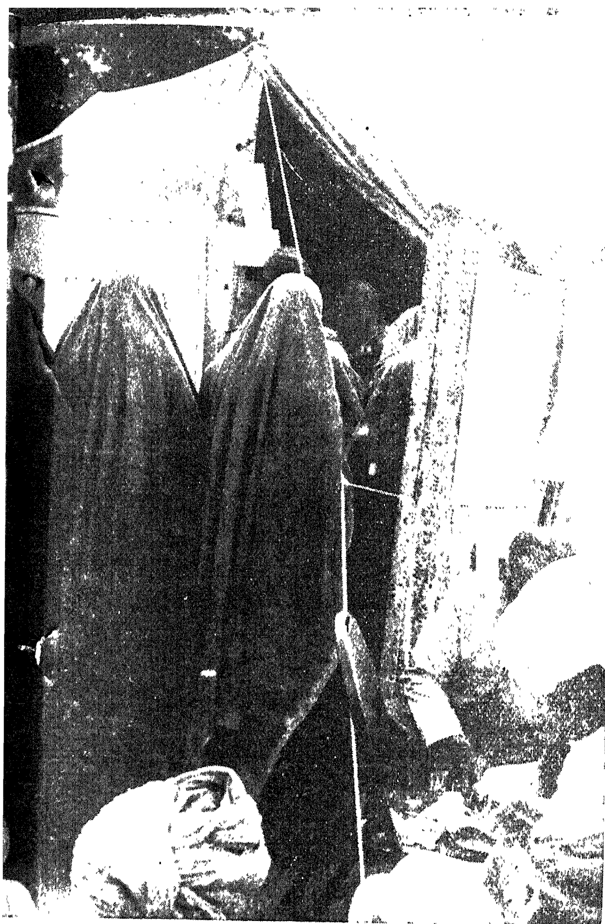
उम्मीदवार के समर्थक



नीचे बायें :
राजस्थान का एक निर्वाचन-केन्द्र







वोटरों की कतार



पोलिंग बूथ में

संसार के सबसे बड़े गणतन्त्र में द्वितीय आम-चुनाव

वोटरों का जमाव



वोटरों की सूची का निरीक्षण





पुस्तक समालोचना

नन्दलाल बोस : परिचय-लेखक—जवाहरलाल नेहरू; प्रकाशक—शान्ति निकेतन आश्रमिक संघ, ५७ सदर्न एविन्यू, कलकत्ता; बड़े आकार का पाँच रंगों में छपा एलबम; मूल्य २०) रु० सजिल्द।

आचार्य नन्दलाल बोस विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में हैं। भारतीय चित्रकला को वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में जिन महान कलाकारों ने अनथक साधना की है, उनमें आचार्य नन्दलाल बोस अग्रगण्य हैं। शान्ति निकेतन का कलाभवन संसार के कला प्रेमियों के लिए एक तीर्थ के समान है। इस कलाभवन को यह रूप देने का अधिकांश श्रेय श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और आचार्य नन्दलाल बोस को है। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य नन्दलाल बोस के कला गुरू थे और उन्हीं ने श्री नन्दलाल बोस को कला-साधना के मार्ग पर प्रेरित किया था।

आचार्य नन्दलाल बोस जितने महान कलाकार हैं, उतने ही महान वह मानव भी हैं। उन्होंने देश के बीसों प्रमुख कलाकारों को कला साधना की दीक्षा दी है। आचार्य नन्दलाल को जैसे कला की आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त है और इस आत्मा को वह अपने शिष्यों में अनुप्राणित कर सकते हैं। वह एक ऐसे प्रकाश पुंज के समान हैं, जिनसे कितने ही छोटे-बड़े पिण्ड प्रकाश ग्रहण कर रहे हैं।

सन् १९५३ में उनकी ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर शान्ति-निकेतन आश्रमिक संघ ने उनके कार्य की एक भव्य प्रदर्शनी संगठित की थी और तभी अंग्रेजी माध्यम में यह एलबम निकालने का निश्चय किया गया था। इस भव्य एलबम में आचार्य नन्दलाल बोस के जीवन के सम्बन्ध में एक विस्तृत नोट भी है। आचार्य जी द्वारा निर्मित २१ रंगीन चित्र तथा २० रेखाचित्र इस एलबम में हैं। ये सभी चित्र कलाजगत में बहुत लोकप्रिय हुए हैं और इनमें से कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हैं। ये चित्र १९०८ से लेकर १९४९ तक बनाए गए हैं। एलबम की छपाई-सफ़ाई बहुत सुन्दर और प्रथम श्रेणी की है। छपाई इतनी सुन्दर है कि वह कलकत्ता के सरस्वती प्रेस की ख्याति को बढ़ाने में सहायक होगी।

यह एलबम आचार्य नन्दलाल बोस के महान कार्य की यथेष्ट झाँकी देता है। आश्रमिक संघ से हमारा अनुरोध है कि वे इस एलबम को प्रथम खण्ड मान कर आचार्य जी की सम्पूर्ण कलाकृतियों के एलबम प्रकाशित करें। उनके सैकड़ों रेखाचित्र उनके शिष्यों और मित्रों के पास हैं। उनका संग्रह भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ये रेखाचित्र बहुत सजीव, सुन्दर और अर्थपूर्ण हैं। इस एलबम में प्रकाशित कुछ रेखा-चित्र तो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।

संघ से हमारा यह भी अनुरोध है कि वे यह एलबम बहुत शीघ्र हिन्दी, बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित करें। यह अत्यन्त आवश्यक और वांछनीय है।

आत्मकथा : लेखक—राजेन्द्रप्रसाद; प्राक्कथन—वल्लभभाई पटेल; प्रकाशक—सस्ता साहित्य प्रकाशन, सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या ७४८; मूल्य ८) सजिल्द।

डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद वर्तमान भारत के निर्माताओं में हैं। प्रथम महायुद्ध से लेकर अब तक भारत में जितना प्रगति और नवनिर्माण का कार्य हुआ है, उसमें डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद का भाग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वाधीन भारत के वह प्रथम राष्ट्रपति हैं। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा स्वभावतः एक ऐसे चरित्र की गाथा है, जो इतिहास का अंश है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से लेकर सन् १९४७ तक (क्योंकि इस आत्मकथा में जनवरी १९४७ तक का ही वर्णन है) देश में जो राजनीतिक तथा सामाजिक घटनाएँ घटीं, उनका अत्यन्त सजीव, प्रामाणिक और सही-सही वर्णन इस आत्मकथा में है। समकालीन व्यक्तियों और संस्थाओं पर भी बहुत मार्मिक और स्पष्ट प्रकाश इस रचना में डाला गया है।

एक आत्मकथा के रूप में यह रचना अब तक के सम्पूर्ण हिन्दी आत्मकथा साहित्य में निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। स्पष्टता, सरसता, अनासक्ति, विनय और सत्यनिष्ठा—ये सब किसी श्रेष्ठ आत्मकथा के आवश्यक अंग हैं। ये सभी गुण इस ग्रन्थ में यथेष्ट परिमाण में हैं, बल्कि इन सबका बहुत श्रेष्ठ समन्वय इस आत्मकथा में हुआ है। हमें आशा है कि इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार होगा। भारत के किसी श्रेष्ठ पुस्तकालय को इस ग्रन्थ के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सन् १९४७ से लेकर १९५७ के १० वर्ष स्वाधीन भारत के इतिहास के प्रथम १० वर्ष हैं। इन १० वर्षों में डा० राजेन्द्रप्रसाद पहले इस देश की संविधान सभा के अध्यक्ष रहे और उसके बाद वह देश के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। स्पष्ट है कि इन १० वर्षों के सम्बन्ध में भारत भर में दो ही व्यक्ति सर्वोपरि प्रामाणिकता के साथ लिख सकते हैं। ये दोनों हमारे देश के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री हैं। दोनों ही सर्वश्रेष्ठ कोटि के लेखक भी हैं। दोनों ही ने आत्मकथाएँ लिखी हैं और हमें आशा है कि यथावसर ये दोनों महापुरुष अपनी आत्मकथाओं में नए युग को भी सम्मिलित करने का प्रयास करेंगे।

कित्तूर की रानी : लेखक—अ० न० कृष्णराव; अनुवादक—सिद्ध गोपाल; प्रकाशक—सस्ता साहित्य प्रकाशन, सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या १३०; मूल्य २)।

यह लघु उपन्यास कन्नड़ भाषा की 'रानी चेन्नम्मा' नामक रचना का हिन्दी अनुवाद है। रानी चेन्नम्मा कित्तूर नामक छोटी-सी रियासत की रानी थी और उन्होंने न केवल अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई सत्ता की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार किया था, बल्कि शक्तिशाली ब्रिटिश कम्पनी राज्य से उन्होंने अत्यन्त वीरतापूर्वक लोहा लिया था। इस वीर रानी की यशोगाथा इस अत्यन्त श्रेष्ठ लघु उपन्यास में है। उपन्यास यथेष्ट मनोरंजक और उपादेय है। प्रारम्भ ही से लेखक अपने पाठक को अपने साथ-साथ लिए चलता है। अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है। अनुवाद की भाषा प्रवाहमयी और निर्दोष है। इस उपन्यास के प्रकाशन के लिए सस्ता साहित्य मण्डल साधुवाद का पात्र है। हमें विश्वास है कि भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद हिन्दी में अधिकतम संख्या में प्रकाशित किए जाएँगे। हमारी राय से उपन्यास का नाम बदलने की आवश्यकता नहीं थी। 'रानी चेन्नम्मा' नाम अधिक उपयुक्त था।

भारत की संस्कृति का विकास : लेखक—मथुरालाल शर्मा; प्रकाशक—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा; पृष्ठ संख्या ४२४; मूल्य ६।) सजिल्द।

इस पुस्तक के प्रथम १८४ पृष्ठों में सिन्धु घाटी की सभ्यता, वैदिक युग, बौद्ध और जैन धर्म, मौर्य, कुशान, और गुप्तकालीन संस्कृति तथा विदेशों में भारतीय सभ्यता के प्रसार का वर्णन है। शेष पुस्तक में अरब प्रभाव, मुस्लिम प्रभाव, राजपूत काल आदि का। अन्त में पराधीनता के तीन कालों की तीन संस्कृतियाँ वर्णित हैं : अफ़गान-तुर्क युग, मुस्लिम युग और अँग्रेज़ी युग। पुस्तक का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका निर्वाह भी औसत दर्जे के सन्तोषप्रद रूप में हुआ है। लेखक कहीं भी बहुत गहराई में नहीं गया। संस्कृति के सम्बन्ध में किसी तरह का कोई मौलिक दृष्टिकोण अथवा अध्ययन देने का प्रयत्न इस पुस्तक में नहीं किया गया। फिर भी भारतीय संस्कृति सम्बन्धी साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक निस्सन्देह उपयोगी है।

बेकसी का मज़ार : लेखक—प्रतापनारायण श्रीवास्तव; प्रकाशक—भारती प्रतिष्ठान, पी० रोड, कानपुर; पृष्ठ संख्या—(रायल आठपेजी) ५५२; मूल्य १०) रु० सजिल्द।

'बेकसी का मज़ार' हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव का नया उपन्यास है। इससे पूर्व उनकी विदा, विजय, विकास, बयालीस, विषमुखी आदि कृतियाँ यथेष्ठ लोकप्रिय हुई हैं। 'बेकसी का मज़ार', सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के सम्बन्ध में है, जिसमें श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रपितामह ने भी भाग लिया था। लेखक के हृदय की कसक इस उपन्यास में सर्वत्र ओत-प्रोत है। जहाँ तक उक्त संग्राम की प्रमुख घटनाओं का सम्बन्ध है, वे इतिहास का अँश है और सर्वविदित हैं। इस ऐतिहासिक तत्व में लेखक ने अपने हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति समाविष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है।

पर 'बेकसी का मज़ार' में जो कल्पना का अँश है, उसमें रोमान्स का भाग सबसे अधिक है। यह रोमान्स और सन् १८५७ के संग्राम की राजनीतिक घटनाएँ—उपन्यास के ये दोनों तत्व शुरू से आख़ीर तक एक-दूसरे में घुल-मिल नहीं पाए। गुलशन का स्त्री से पुरुष बन जाना, अज़ीमुल्ला और मातादबल सिंह के विचित्र रूमानी आचरण और हडसन के बचकाना व्यवहार—ये सब इस उपन्यास के कमज़ोर पहलू हैं। यदि लेखक सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के अवसर पर देश के विभिन्न भागों में घटी कहीं अत्यन्त वीरतापूर्ण, कहीं अत्यन्त क्रूरतापूर्ण, कहीं अत्यन्त मानवतापूर्ण और कहीं एकदम भीरुतापूर्ण विभिन्न घटनाओं का संग्रह कर उन्हें एक उपन्यास में पिरोने का प्रयत्न करता, तो वह एक अत्यन्त श्रेष्ठ और उपादेय प्रयास होता।

उपन्यास की कुछ घटनाएँ तो जैसे उसका कलेवर बढ़ाने का प्रयत्न मात्र प्रतीत होती हैं, जैसे लाल किले में छिपा खज़ाना ढूँढ़ निकालने की बात, जिस धन का कहीं प्रयोग नहीं होता; जेरोनियो लेज़ारो की कल्पना जो बहादुरशाह के जहाज़ में यात्रा करता है और जहाज़ के स्टाफ़ के अधिकांश लोग उसकी पत्नी के प्रेम में लड़ मरते हैं।

सन् १९५७ में उक्त संग्राम की प्रथम शताब्दि मनाते हुए इस विशाल उपन्यास का प्रकाशन निस्सन्देह प्रशंसनीय है।

कहानियाँ १९५५ : सम्पादक—गो० प० नेने, बसन्त देव और रामबहादुर सिंह; प्रकाशक—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, ३८७-८९ नारायण पेठ, पूना-२; पृष्ठ संख्या ४५६; मूल्य ६) रु०।

हिन्दी का कहानी साहित्य बहुत समय से इस योग्य है कि प्रति-वर्ष हिन्दी की चुनी हुई कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया जाए। हमें हर्ष है कि महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा ने यथोचित पैमाने पर इस कार्य का प्रारम्भ किया है। इस संग्रह में सन् १९५५ में लिखित ४४ नए-पुराने हिन्दी कहानी लेखकों की ४४ कहानियाँ हैं। संग्रह को छपाई-सफ़ाई यथेष्ट सुन्दर है। कहानियों का चुनाव भी यथेष्ट प्रयत्न से किया गया है। यद्यपि सम्पादकों का यह दावा नहीं है कि ये ४४ कहानियाँ ही सन् १९५५ की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ हैं। इस संग्रह में सन् १९५५ में लिखी गई कितनी ही ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानी कहा जा सकता है। पर कुछ कहानियाँ इतनी कमज़ोर हैं कि उन्हें इस संग्रह में नहीं देना चाहिए था। आख़िर एक स्टैंडर्ड से नीचे की कहानी इस तरह के संग्रह में नहीं जानी चाहिए। इस संग्रह का नाम '१९५५ की चुनी हुई कहानियाँ' रखा जाता, तो अधिक अच्छा रहता। हमें विश्वास है कि इस तरह का संग्रह प्रतिवर्ष प्रकाशित किया जाएगा और सन् ५६ का संग्रह जून १९५७ तक अवश्य छप जाएगा। ऐसे कार्य में इससे अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए।

ढुलंगते इक्के पके आम : लेखक—हर्षदेव मालवीय; भूमिका लेखक—पुरुषोत्तम दास टण्डन; प्रकाशक—भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या १६४; मूल्य २॥) सजिल्द।

हास्यरस प्रधान इस साहित्यिक रचना में ये १२ रेखाचित्र हैं—वे, कल्लू, चड्ढा बाबू, लाला लूलीलाल, मुरली बादशाह, सुनिया, बाबू सूरजप्रसाद चोरसिया, पाँगल गुरू आफ़ दी बर्ड, पुराने, नारायण और ताराचन्द, क़ुन खलीफ़ा और वोलगा। इन रेखाचित्रों में शिष्ट हास्य के साथ चुभता हुआ व्यंग्य भी है और कोई भी चित्र निरर्थक नहीं है। इस रचना की सब से बड़ी विशेषता इन रेखाचित्रों की प्रवाहमयी रसपूर्ण भाषा में निहित है। एक युग में हिन्दी में इस तरह की शैली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। पाठक पाएँगे कि उक्त शैली में आज भी यथेष्ठ ओज और पकड़ है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस श्रेष्ठ साहित्यिक रचना के लेखक श्री हर्षदेव मालवीय एक प्रामाणिक अर्थ-शास्त्रज्ञ भी हैं। पुस्तक में जो चित्र दिए गए हैं, उनका स्तर रचनाओं के स्तर से बहुत निम्न है। ऐसे चित्र न दिए जाते तो अधिक अच्छा था। यों ऐसी रचनाओं में चित्रों का महत्त्व भी बहुत अधिक होता है। पर चित्रों का स्तर ऊँचा होना आवश्यक है। इस युग में ऐसी रचना में १६ पाइन्ट के काले टाइप का व्यवहार एक बड़ी प्रकाशकीय भूल है।

मनोविज्ञान : लेखिका—निर्मला शेरजंग; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस; पृष्ठ संख्या २८०; मूल्य ४) सजिल्द।

मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पिछले १० वर्षों में साधारण स्टैण्डर्ड की बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकाँश पुस्तकों का उद्देश्य एफ० ए० या बी० ए० के विद्यार्थियों को हिन्दी भाषा द्वारा मनोविज्ञान की शिक्षा देना है। निर्मला शेरजंग की प्रस्तुत पुस्तक इन प्रयासों में एक बहुत सफल प्रयास है। मनोविज्ञान का सूक्ष्म विवेचन न कर पाठक को मनोविज्ञान का प्रारम्भिक पर वैज्ञानिक ढंग से प्रौढ़ परिचय देना इस रचना का ध्येय प्रतीत होता है। पुस्तक में बुद्धि, मूल प्रवृत्तियाँ, सीखना, स्मृति, ध्यान, संवेदना, दृष्टि संवेदना, अन्य संवेदनाएँ, संवेग, स्थायी भाव, प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन और तर्क, कल्पना, परिगणन के प्रयोग—इन शीर्षकों से १५ अध्याय हैं। अन्त में मनोविज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की सूची भी दी गई है। पुस्तक उपादेय है। छापे की अशुद्धियाँ खटकती हैं। विशेषतः इस कारण कि यह पुस्तक वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी है।

अवध के प्रथम दो नवाब : लेखक—आशीर्वादलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा; पृष्ठ संख्या (रायल अठपेजी) ३३४; मूल्य १२॥) सजिल्द।

प्रो० आशीर्वादलाल श्रीवास्तव ने सन् १९३३ में लखनऊ विश्वविद्यालय से डाक्टरेट प्राप्त करने के लिए जो निबन्ध लिखा था, यह ग्रन्थ उसका हिन्दी रूप है। आमुख में डा० जदुनाथ सरकार का कथन है कि अवध के प्रथम दो नवाबों के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में समस्त प्राप्त सामग्री का यथोचित उपयोग किया है और फ़ारसी के इतिहासों और पत्रों के मूलस्रोत से लेखक ने लाभ उठाया है। परिणामतः यह वैज्ञानिक इतिहास का ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में सूक्ष्म अनुसन्धान डा० जदुनाथ सरकार की देख-रेख में हुआ है। पुस्तक १७ अध्यायों में विभक्त है। अन्त में शब्दानुक्रमणिका के अतिरिक्त सहायक पुस्तकों का आवश्यक परिचय भी दिया गया है। यह ग्रन्थ सन् १६८० से लेकर १७५४ तक के अवध का अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास है और तत्कालीन समय पर सभी तरह का उपयोगी प्रकाश डालने का यथेष्ठ प्रयत्न इस प्रबन्ध में किया गया है।

क्रान्तिकारी की आत्मकथा : लेखक—मन्मथनाथ गुप्त; प्रकाशक—माया कार्यालय, अलहाबाद; पृष्ठ संख्या: ४८० मूल्य ४)।

घटिया कागज़ पर छपी और साधारण रुचि का कहानी साहित्य छापने वाली एक संस्था की ओर से प्रकाशित यह आत्मकथा शायद पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकृष्ट न कर सके। पर यदि पाठक अत्यन्त ईमानदारी से लिखी इस आत्मकथा को एक बार पढ़ने का प्रयत्न करेगा, तो उसे न केवल उत्तर भारत में प्रथम महायुद्ध के बाद हुए सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों का प्रामाणिक परिचय मिलेगा, अपितु वह कितने ही ऐसे युवक पात्रों के संसर्ग में आएगा, जिनकी वीरता भरी शहादत पर किसी भी युग और किसी भी देश को गर्व हो सकता है। यह आत्मकथा लेखक ने जेल में लिखी थी और यह रचना उन गरिमाशाली रचनाओं में है, जो विदेशी सरकार द्वारा छपने से पहले ही ज़ब्त कर ली गई थीं। किस तरह ... रैपरों और पत्रिकाओं के हाशियों पर लेखक ने ४०० पन्नों की यह आत्मकथा लिखी, यह स्वयं अपने में एक अत्यन्त मनोरंजक कहानी है। इस आत्मकथा की सब से बड़ी खूबी यह है कि इसमें लेखक अपने व्यक्तित्व को अहं भावना से बचाकर रखने में पूरी तरह सफल हुआ है। हालांकि उसका अपना त्याग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आत्मकथा में यतीन्द्र बैनर्जी, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि शहीदों का वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। इस आत्मकथा में कितने ही स्थलों पर लेखक अपने विचारों के प्रकाश में समकालीन परिस्थितियों की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह निस्संग नहीं रह पाया। अच्छा होता यदि लेखक अपनी आत्मकथा को समकालीन इतिहास बनाने का प्रयत्न न करता, क्योंकि जेल में रहते हुए उसे इतिहास के लिए सभी तरह की आवश्यक जानकारी प्राप्त होना सम्भव नहीं था। फिर भी सब मिलाकर यह आत्मकथा अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की रचना है।

गुलिस्ताँ : अनुवादक—ज़हूरबख्श; प्रकाशक—हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या २५२; मूल्य ४) सजिल्द।

महात्मा शेखसादी कृत गुलिस्ताँ विश्व साहित्य की एक अमर कृति है। जो स्थान भारतीय साहित्य में 'पंचतन्त्र' का है, वही स्थान फ़ारसी में 'गुलिस्ताँ' का है। संस्कृत और फ़ारसी दोनों बहन आर्य भाषाएँ हैं और दोनों ही के प्राचीन साहित्य में कितनी ही समान धाराएँ प्राप्त होती हैं। श्री ज़हूरबख्श द्वारा कृत इस हिन्दी अनुवाद में यथेष्ठ प्रवाह है। प्रत्येक दृष्टिकोण से अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। छपाई-सफ़ाई भी बहुत सुन्दर है। पुस्तक के अन्त में शेख सादी के १२१ सुभाषित दिए गए हैं, जिनसे इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इन सुभाषितों को 'उपदेश' नहीं कहना चाहिए था।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

खेल-खिलौने : लेखक—राजेन्द्र यादव; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ संख्या १६२; मूल्य २)।

अपना राज अपने आदमी : लेखक—रामकृष्ण; प्रकाशक—श्वेता प्रकाशन, लखनऊ; पृष्ठ संख्या १३२; मूल्य २)।

लड़खड़ाते कदम : लेखक—महेन्द्र भटनागर; प्रकाशक—स्वरूप ब्रदर्स, इन्दौर; पृष्ठ संख्या ६०; मूल्य १)।

ये तीनों कहानी-संग्रह अब काफ़ी पुराने पड़ चुके हैं और हमारे कहानी साहित्य का प्रतिनिधित्व भी नहीं करते। इनमें राजेन्द्र यादव नई पीढ़ी के प्रगतिशील कलाकार हैं और नए कहानीकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संग्रह के बाद उनके कई और संग्रह निकल चुके हैं और वे बहुत आगे बढ़ गए हैं। उनकी कला में शक्ति है, उनके पास विचार हैं, लेकिन भाषा से उन्हें कुछ ऐसा मोह है, भावना कुछ इतनी उत्तेजित रहती है कि वे न तटस्थ रह पाते हैं और न संयमी। प्रचार कला के ऊपर छा जाता है। लेकिन फिर भी भले ही 'खेल-खिलौने' की कहानियाँ उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ हों, पर उनमें व्यंग्य का निखार है। जीवन की समस्याओं का और उलझनों का चित्रण है। प्रतीक और सांकेतिकता की दृष्टि से इस संग्रह की कई कहानियाँ बड़ी सफल हैं। इनमें समस्याएँ पूरी शक्ति के साथ उभर कर आती हैं। लेकिन अन्त होते होते न जाने क्यों एक घुटन उन पर छा जाती है। 'खेल-खिलौने' और 'नास्तिक' जैसी सशक्त कहानियाँ इसी कारण पूरी तरह चोट नहीं कर पातीं। 'यथार्थवादी कहानी लेखक' कई कमियों के बावजूद एक मार्मिक व्यंग्य चित्र है। 'नरभक्षा', 'जब कला मर गई', और 'आजकल के लड़के' सशक्त कहानियाँ हैं।

'अपना राज अपने आदमी'—के लेखक रामकृष्ण, 'सुन्दर की अपेक्षा सत्य' का सहारा लेने में अधिक विश्वास करते हैं। लेकिन वह भूल जाते हैं कि कहानी केवल इतिहास नहीं होती कुछ और भी होती है। और इतिहास भी कहना उन्हें अभी अच्छी तरह नहीं आता। उनकी कलम में कला का निखार बिलकुल नहीं आ पाया है। यह ठीक है कि वे विक्षुब्ध मन का अंकन करने में सफल हो जाते हैं, लेकिन कलाकार न होने के कारण उनका निशाना ठीक जगह पर नहीं लगता। उदाहरण के लिए पहली कहानी 'अपना राज अपने आदमी' ले सकते हैं। उन्होंने स्वतन्त्रता के बाद एक मित्र के मन्त्री बन जाने पर और दूसरे मित्र के अभाव में तड़पते रहने पर व्यंग्य किया है। उन्होंने दिखाया है कि मन्त्री अपने मित्र की सहायता तो क्या करता, उसे तुच्छ समझता है। लेकिन वे पाठक को यह विश्वास नहीं दिला सके कि दीनू के साथ सचमुच ही अन्याय हुआ है। रामकृष्ण की कहानियों में घटनाएँ बहुत हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे वह बड़ी तेज़ी से घटनाओं का संकलन करता जा रहा है। यह विशेषता भले ही हो, लेकिन इसे हम सफलता नहीं कह सकते। अगर लेखक अन्तर दृष्टि पा सके और कहानी कला को समझ सके, तो हमें विश्वास है कि जो सामग्री और सादगी उनके पास है, उसको लेकर वह पाठक के मर्म को छू सकने में सफल हो सकेंगे। उन्होंने समाज में प्रचलित विषमताओं, रूढ़ियों, चोर बाज़ारी, भूख और शोषण पर प्रहार किया है। काश कि वे कला का सहारा भी लेते?

'लड़खड़ाते कदम'—इस दृष्टि से और भी असफल प्रयास है। महेन्द्र भटनागर के पास रामकृष्ण की सशक्त अभिव्यक्ति भी नहीं है। वह न घटनाओं को संजो पाते हैं और न पाठक के मन पर किसी तरह का प्रभाव डाल पाते हैं। इसीलिए उनकी सारी कहानियाँ एक वक्तव्य होकर रह गई हैं और वक्तव्य भी एक भावुक और निष्क्रिय लेखक का। इसी कारण 'कैकेई जीजी की कहानी' का व्यंग्य भी प्रभाव-हीन होकर रह गया है। असल में ये सारी कहानियाँ किसी कुशल लेखक के लिए कहानियों के बड़े अच्छे प्लाट्स हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि भटनागर जी कहानी कला का अच्छी तरह से अध्ययन करते। उनके पास कहने को बहुत कुछ है। यदि इस बहुत कुछ को वह संयम के साथ संजो सकें और संवेदना के साथ चित्रित कर सकें, तो वह सशक्त कहानियाँ हमें दे सकेंगे। किसी घटना के घटने का कोई कारण भी तो होना चाहिए और इस कारण का भी एक पहलू नहीं होता, कई पहलू होते हैं यह बात याद रखनी चाहिए। इसके अभाव में लेखक एक पक्ष का प्रचारक मात्र रह जाता है। —विष्णु प्रभाकर

गान्धी एण्ड मार्क्स (अंग्रेज़ी) : लेखक—के० जी० मशरूवाला; प्रकाशक—नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या ११७; मूल्य १॥)।

१६४० में लेखक ने 'हरिजन' में एक लेखमाला लिखी थी, जिनका यह पुनर्मुद्रण है। इसमें लेखक ने कुछ आत्मकथा के ढंग पर और कुछ दार्शनिक ढंग पर बातें लिखी हैं। भूमिका लेखक विनोबा जी ने गान्धी जी को महात्मा और मार्क्स को महामुनि कहा है। केवल यही नहीं, वे यहाँ तक कहते हैं कि मानव-जाति का गत १०० वर्ष का इतिहास लिया जाए तो उसमें से दो ही बड़े नाम बच रहेंगे, वे हैं गान्धी और मार्क्स के नाम। भूमिका-लेखक के अनुसार लेनिन मार्क्स में समा जाते हैं और टालस्टाय का साया गान्धी जी पर फैलता है। वे कहते हैं—"ये दो विचारधाराएँ एक दूसरे को निगलने के लिए उद्यत होकर आमने-सामने खड़ी हैं। ऊपर से यही मालूम होगा कि ये दो प्रतिद्वन्द्वी हैं रूस के नेतृत्व में चलने वाले साम्यवादी तथा अमेरिका के नेतृत्व में लोकतन्त्र का चेहरा ओढ़ने वाले पूँजीवादी। पर विचारधारा की दृष्टि से पूँजीवाद में अब कुछ दम नहीं रहा और यद्यपि सैनिक शक्ति के बूते पर वह तगड़ा मालूम होता है, फिर भी मैं यह नहीं मानता कि वह साम्यवाद के विरुद्ध वास्तविक रूप से विद्यमान प्रतिद्वन्द्वी है। दूसरी तरफ यद्यपि इस समय गान्धीवादी विचारधारा का संगठित रूप से कोई विशेष अस्तित्व नहीं है, फिर भी इसमें सही चिन्तन का तेज भरे होने के कारण मैं यह समझता हूँ कि अन्तिम रूप से साम्यवाद को गान्धीवाद से ही मोर्चा लेना पड़ेगा।"

श्री मशरूवाला ने इन्हीं दो विचारधाराओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं। साम्यवादी हो या गान्धीवादी हरेक को इस पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। पुस्तक चिन्तनोत्तेजक है।

माई डियर चाइल्ड : सम्पादक—एम० बार्नेस; प्रकाशक—नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद; पृष्ठ संख्या १२३; मूल्य १॥)।

गान्धी जी ने समय-समय पर श्रीमती एस्थर मेनन को जो पत्र लिखे थे, इसमें उन्हीं का संग्रह किया गया है। श्रीमती एस्थर मेनन एक डैनिश महिला हैं और वे दक्षिण भारत में डैनिश मिश्नरी सोसायटी का काम करने आई थीं। वे गान्धी जी के सम्पर्क में आईं और गान्धी जी ने उन्हें कुछ पत्र लिखे। दोनों में पिता और पुत्री का सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। इस प्रकार इन पत्रों में गान्धी जी के जीवन की अच्छी झाँकियाँ मिलती हैं। इन पत्रों में से दो-एक तथ्य इस प्रकार हैं—

१९१७ की १६ मई को गान्धी जी ने एक पत्र में लिखा था कि इस समय मुझे उन ५०) रु० की ज़रूरत नहीं है, जो आप भेजना चाहती हैं। उसी साल ६ जून के एक पत्र में वे लिखते हैं कि "जो गोरे भारतवर्ष में आए हैं, वे प्राच्य देशों की बुराइयों के शिकार हो गए हैं, अपनी भलाइयों को प्राच्य देशों के लोगों पर लादना तो दूर रहा। इसके अलावा कुछ हो ही नहीं सकता था। जैसा कि मैं वर्तमान युग से देख रहा हूँ कि इन पर धर्म की कोई छाप नहीं पड़ी है। मेरा सिद्धान्त यह है कि निश्चित रूप से यह सभ्यता ईसाइयत के विरुद्ध है और गोरे भारत में जो कुछ लाए हैं, वह ईसा का जीवन नहीं, बल्कि यही सभ्यता है।"

जीवन-दर्शन : लेखक—श्री रोहित महेता; प्रकाशक—आनन्द प्रकाशन लिमिटेड, थियोसोफिकल सोसायटी बनारस-१; पृष्ठ संख्या : १२४; मूल्य : डेढ़ रुपया।

जो लोग अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में रुचि रखते हैं, उन्हें यह पुस्तक रुचिकर प्रतीत हो सकती है।

हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म : मूल लेखिका—एनीबेसेंट; प्रकाशक—आनन्द प्रकाशन लिमिटेड, बनारस–१; पृष्ठ क्रमशः ३६ तथा ६५; मूल्य क्रमशः दस आने तथा बारह आने।

इन पुस्तिकाओं में श्रीमती एनीबेसेंट ने बौद्ध तथा हिन्दू-धर्म का जो परिचय प्रस्तुत किया था, वही संकलित है, वह उपयोगी होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है।

नवयुग की शिक्षा : लेखक—डा० मारिया माण्टेसरी; प्रकाशक—एस० चाँद एण्ड कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ६६; मूल्य २) रु०।

शिक्षा-शास्त्र के क्षेत्र में मारिया माण्टेसरी एक आविष्कारक से कम महत्त्व नहीं रखती हैं। उनके विचारों का यह हिन्दी रूप विशेष उपयोगी है।

राष्ट्र निर्माण की घड़ी में : प्रकाशक—सूचना तथा प्रकाशन, मध्य प्रदेश; पृष्ठ संख्या २७५ डिमाई।

इस पुस्तक में मध्य प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल के भाषणों का संग्रह है। मुख्य मन्त्री के नाते उन्हें किस प्रकार विभिन्न विषयों पर जागरूक रहना पड़ता था, इसका परिचय इस संग्रह से मिलता है।

ध्वनि की लहरें : लेखक—प्रज्ञानन्द गुप्त और नरेश वेदी; प्रकाशक—मार्तण्ड उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या ४४; मूल्य—१॥)।

यह पुस्तक बच्चों तथा वयस्क शिक्षार्थियों के लिए लिखी गई है। इसमें चित्र बहुत अधिक हैं और सारे वैज्ञानिक तथ्य बहुत सरल रूप में पेश किए गए हैं। आशा है, इस पुस्तक का बहुत प्रचार होगा।

भगवान बुद्ध की आत्मकथा : लेखक—परदेशी; प्रकाशक—वोहरा एण्ड कम्पनी, ३ राउण्ड बिल्डिंग; कालबादेवी रोड, बम्बई–२; पृष्ठ संख्या १६० डिमाई; मूल्य—४)।

भगवान बुद्ध का जीवन गत २,००० वर्षों से चित्रकारों, कवियों, दार्शनिकों को प्रलुब्ध करता रहा है। यदि बुद्ध पर लिखे हुए अथवा प्रस्तुत किए हुए साहित्य और कला को एकत्र किया जाए, तो इसका एक बहुत बड़ा अजायबघर और पुस्तकालय बन सकता है। परदेशी ने जैसा कि वे कहते हैं बौद्ध साहित्य के अनुशीलन के बाद भगवान बुद्ध की आत्मकथा लिखी है। उनकी पुस्तक महापरिनिर्वाण जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित हुई। लेखक ने जो कृति प्रस्तुत की है, वह कुछ लोगों को जो आत्मकथा के ढंग पर चीज़ों को पढ़ने के आदी हैं, बहुत पसन्द आएगी। लेखक की भाषा कहीं-कहीं यथेष्ट कवित्वमयी और भावुक है। कई वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

—मन्मथनाथ गुप्त

●

कविश्री : दस पुस्तकें (भास, कालिदास, जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, सियारामशरण गुप्त, अज्ञेय और दिनकर) संयोजक—श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक—साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; मूल्य प्रति पुस्तक १० आने।

'कविश्री' एक पुस्तकमाला है जिसमें 'भिन्न भिन्न कवियों की सुन्दर कविताएँ एक जैसे आकार-प्रकार में सुलभ की जाएँगी। (संयोजना) इस वक्तव्य के अनुसार ऊपर दिए दस कवियों की रचनाएं इस माला में प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक पुस्तक में ४० पृष्ठ हैं जिनमें ६ पृष्ठों में वक्तव्य, सूची आदि और शेष ३४ पृष्ठों में कविताएँ हैं। छोटे टाइप के डिमाई साइज़ के इतने पन्नों में काफ़ी पठनीय सामग्री आ गई है। साथ ही इन पुस्तिकाओं की साज-सज्जा भी अच्छी दी गई है। गहरे कत्थई रंग की भूमि पर एक कमल की रेखाएँ और नाम—बस इतना ही कवर पृष्ठ है जो देखने में रुचि की यथेष्ट उत्कृष्टता का प्रमाण है। मूल्य दस आने काफ़ी कम है और जिस उद्देश्य से इसका प्रकाशन किया गया है उसकी पूर्ति हो जाती है। सामान्य जनता को इन कवियों की रचनाएँ इतने कम मूल्य में उपलब्ध कराई जा सकें, इससे अधिक साहित्य का और भला क्या हो सकता है? आशा है कि शीघ्र ही और भी कवियों की रचनाएँ प्रकाश में आएँगी।

जहाँ तक इस पुस्तकमाला के बाह्य उद्देश्यों और काव्य को सर्वप्रिय बनाने का प्रश्न है, उसकी अच्छाई में कोई संदेह नहीं हो सकता और प्रयास को स्तुत्य मान कर स्वागत ही करना चाहिए। परन्तु साथ ही हमें इन

कवियों के चयन को उनके प्रतिष्ठित व्यक्तित्व के प्रकाश में भी देखना चाहिए। प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा और दिनकर के संचयन तो काफ़ी संतुलित और सर्वांगपूर्ण हैं : वे कवि विशेष के व्यक्तित्व को सामने रखने में सहायक होते हैं। अज्ञेय और सियारामशरण गुप्त के चयन की तो काफ़ी प्रशंसा की जानी चाहिए। कारण चाहे जो भी रहा हो, सियारामशरण जी की कविताओं के विषय में हिन्दी आलोचना काफ़ी मौन रही है और परिणामस्वरूप वे शेष समकक्षीय कवियों की अपेक्षा उतने उभर कर सामने नहीं आ पाए। इस चयन में सियारामशरण जी की कविताएँ कुछ इस ढंग से रक्खी गई हैं कि वे पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करेंगी। उनके अग्रज श्री मैथिलीशरण जी उनकी तुलना में कुछ दब-से गए हैं। उनके पौराणिक स्त्री पात्रों को ही काट-छाँट कर पेश कर दिया गया है। समस्त हिन्दी प्रेमी जनता गुप्त जी को राष्ट्र के उन्नायक और अपने प्राचीन गौरव के शालीन गायक के रूप में जानती है। किसी भी पाठक ने यह नहीं सोचा होगा कि गुप्त जी विशेषतः पौराणिक स्त्री-पात्रों के ही पद्यकार हैं। दुर्भाग्य से गुप्त जी का यही चित्र गुप्त जी की इस पुस्तक द्वारा सामने आता है। पंत जी की भी केवल एक कविता 'स्वर्णोदय' दी गई है। सामान्य पाठक की दृष्टि से मेरा यह मत है कि पंत जी की छोटी-छोटी कई कविताएँ देनी चाहिए थीं जो उनके क्रमिक विकास की परिचायक होतीं। चयन की दृष्टि से इन पुस्तकों में सबसे अधिक अन्याय हमारे कविकुलगुरु कालिदास के साथ हुआ है। एक तो इसमें संस्कृत का मूल नहीं है, मात्र पद्यानुवाद दिया हुआ है जिससे अनुवाद होने का भान तक नहीं होता। फिर शकुन्तला, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय काव्य ग्रन्थ नहीं हैं। परन्तु यहाँ शकुन्तला की विदा वाले स्थल का पद्यबद्ध रूप और मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय के नाम पर क्रमशः दो और तीन छन्द दिए हुए हैं। इन नाटकों के कुछ स्थल देने के बजाए यह मनमाना पद्योकरण किस तर्क से प्रस्तुत किया गया है, समझ में नहीं आता। और सबसे अधिक अति तो 'मेघदूत' के अंश में है। पहला ही छन्द देखिए—

आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया।
ज्यों गजेन्द्र क्रीड़ा में तन्मय
टकराता टीलों से निर्भय
शैल शिखर संलग्न मेघ
वैसे ही घिर छाया।
आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया।

इसी प्रकार "छायावादी गीत" शैली में १२ छन्द दिए गए हैं जिनको मेघदूत का भावानुवाद तो दूर, छायानुवाद भी नहीं कहा जा सकता। यह तो मेघदूत की वस्तु पर अलग से लिखी गई छायावादी कविता ज्ञात होती है।

हिन्दी में ऐसी पुस्तकमाला की आवश्यकता को हर कोई अनुभव करता रहा है और इस प्रयास का मुक्त रूप से स्वागत होगा, यद्यपि, मुझे ऐसा लगा कि चयन की दृष्टि से और अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता थी।

परम्परा—अंक २-गोरा हट जा; सम्पादक—नारायण सिंह भाटी; प्रकाशक—राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर; पृष्ठ १७०; मूल्य ३)।

राजस्थानी लोक-साहित्य का यह सर्वांग सुन्दर पत्र "स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रारम्भिक दिनों की काव्यात्मक व्यंजना का संकलित रूप" है। इसमें अंग्रेजों के विरुद्ध राजस्थान में छुटपुट या संगठित रूप से होने वाले विद्रोहों का स्मरण दिलाने वाले डिंगल गीत एकत्र किए गए हैं। इतिहास का निर्माण करने वाले कच्चे माल के रूप में इन गीतों का बड़ा महत्त्व है। श्री बिजयदान देथा के विद्वत्तापूर्ण लेख में इन गीतों की ऐतिहासिक दृष्टि से महत्ता पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। अनुवाद सहित होने के कारण इन गीतों का अलग से भी आनन्द उठाया जा सकता है। "सुतंतरता-सम्बन्धी फुटकर दूहा" के अन्तर्गत ऐसे दोहों से कौन न प्रभावित होगा ?

विस खावो कै सरण लो, सरवरिया री थाह।
कै कंठा बिच घाल लो, घाघरिया री घाह॥
कठै गई वा वीरता, कटै रजपूती सांन।
टुकड़ां रा मोताज हो, खो बैठ्या अभिमान॥
रजपूती सत खो दियो, सतहीणा सिरदार।
पतहीणा रजपूत हो, मतहीणा भरतार॥
वस्त्र कसूमल पहर लो, कसो कमर तरवार।
बरछी और कटार ले, हुवो तुरग असवार॥

'परम्परा' का यह अंक अपनी शानदार परम्परा के ही अनुकूल है। लोक-साहित्य की रक्षा और उपयोग की दिशा में होने वाला यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। हमें विश्वास है कि हिन्दी-जगत में इस ठोस और सराहनीय प्रयास का पूर्ण आदर होगा।

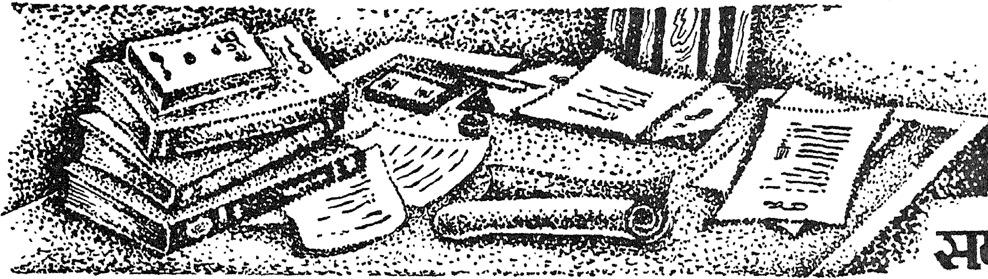
माता के मंदिर में—(गद्य-गीत) लेखक—कोमलसिह सोलंकी; प्रकाशक—उदय द्विवेदी, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर; पृष्ठ १०१; मूल्य २)।

गद्य-गीतों के इस संग्रह में भावुक हृदय के कोमल उद्गार मिलेंगे। गद्य-गीत की परम्परा हिन्दी से उठती-सी जा रही है। उसे जीवित रखने का यह प्रयत्न प्रशंसनीय ही कहा जाएगा, यद्यपि मुझे संदेह है कि गद्य-गीतों का माध्यम सजीव साहित्यिक रचना के लिए अब अधिक दिन जीवित रह पाएगा। इसका एक कारण कविता के उस रूप का प्रसार भी है जिसे 'नयी' विशेषण दिया जा रहा है और जिस के अन्तर्गत हर छोटी-बड़ी पंक्तिवाली रचना, चाहे वह घोर गद्य हो क्यों न हो, कविता पद-वाच्य बन रही है।

"माता के मंदिर में" भावुक पाठकों को अच्छी लगेगी। पर साहित्य में तर्क और यथार्थ को ही स्थान देने और खोजने के हठी लेखक-पाठक को इससे निराशा न हो, तभी आश्चर्य होगा।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

(शेष पृष्ठ ७० पर)



नया तराना

स्वाधीनता प्राप्ति का जो संग्राम सन् १८५७ में आरम्भ हुआ था, उसकी पूर्ति सन् १९४७ में जाकर हुई। इस तरह, दूसरे शब्दों में, भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध वह युद्ध ९० वर्षों तक निरन्तर जारी रहा। इतने लम्बे युद्ध में निरन्तर असफलताओं का मुँह देखते रहने का प्रभाव हमारे देश के साहित्य और कला पर पड़ना स्वाभाविक ही था। यह कहा जा सकता है कि इस युग में निर्मित साहित्य यदि एक ओर विद्रोह की भावना से अनुप्राणित है (जो स्वाधीनता के उक्त निरन्तर युद्ध का स्वाभाविक परिणाम था) तो दूसरी ओर उसमें गहरी निराशा भी सन्निहित है। "टूटा है, सुख स्वप्न हमारा! तार बीन के टूटे हैं!!"—इस युग के साहित्य के एक बड़े अंश के स्वर का प्रतिनिधित्व करता है।

इस वर्ष भारत को स्वाधीन हुए १० वर्ष पूरे हो रहे हैं। हमारी धारणा है कि भारतीय साहित्य में अभी तक निराशा का वह स्वर दबा नहीं है। ९० वर्षों की परिस्थितियों का प्रभाव आज भी हमारे देश की कला और साहित्य पर विद्यमान है। इन १० वर्षों में जो बड़े-बड़े निर्माण कार्य हो रहे हैं, उनकी स्पष्ट छाप देश के जीवन पर तो पड़ रही है। साथ ही इन्हीं १० वर्षों में देशव्यापी दो साधारण चुनाव हो जाने का बहुत व्यापक और गहरा प्रभाव हमारे देश की सर्वसाधारण जनता की चेतना पर पड़ा है। पर हमारा साहित्य अभी तक उस चेतना से ओत-प्रोत नहीं हुआ। हमें यह भी ज्ञात है कि इस तरह की सम्पादकीय टिप्पणियों से वह चेतना साहित्य का अंग नहीं बन पाएगी। पर अपने देश के साहित्यकारों का ध्यान हम इस नई और शक्तिशाली चेतना के आशाप्रद तराने की ओर अवश्य आकृष्ट करना चाहते हैं। देश के कलाकार और साहित्यकारों की अनुभूति से ही यह नया तराना देश का सबसे प्रमुख तराना बन पाएगा और देश को उसकी बहुत बड़ी आवश्यकता भी है।

●

ब्रिटिश मज़दूर दल और काश्मीर

सदा के समान आज भी संसार की कितनी ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ और घटनाएँ 'अवसर' पर आश्रित रहती हैं। सुरक्षा-परिषद् में काश्मीर के सवाल पर ब्रिटेन ने पक्षपातपूर्ण और भारत विरोधी रुख अख़्तियार किया था। पिछले दिनों ब्रिटेन के कितने ही पत्र भारत तथा उसके महान प्रधानमंत्री के विरुद्ध लिखते रहे हैं। पर यदि ब्रिटेन में आज टोरीदल की बजाय मज़दूर दल की सरकार होती, तो सम्भवतः यह सब परिस्थितियाँ विभिन्न होतीं। मज़दूर दल की सरकार किसी भी दशा में भारत विरोधी नीति स्वीकार न करती। और भाग्य का विधान कुछ ऐसा अदम्य है कि आज ब्रिटेन की जनता में मज़दूर दल का स्पष्टतः अधिक प्रभाव रहने भी वहाँ अनुदार दल की सरकार है और अभी काफ़ी समय तक वहाँ नए चुनाव की आशा नहीं है। हाल ही में जो उपचुनाव हुए हैं, उनसे ब्रिटेन में मज़दूर दल की बढ़ती हुई लोकप्रियता स्पष्ट सिद्ध हुई है। अनुदार दल के स्वेज़-काण्ड की विफलता के बाद ऐसा होना स्वाभाविक ही था। पर पिछले चुनाव की विजय के बल पर अनुदार दल अभी काफ़ी समय तक सिंहासनारूढ़ रह सकता है।

हाल ही में मज़दूर दल के एक प्रमुख नेता अनुरिन बेवन के पत्र 'ट्रिब्यून' में (मज़दूर दल की सरकार में जिन्हें परराष्ट्र मन्त्री का पद मिलने की आशा है) काश्मीर के सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर और तर्कयुक्त सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में कहा गया है—"यदि पाकिस्तान काश्मीर में प्लेबीसिट (जनमत) जीत जाए, तो यह काल को १० वर्ष पीछे ले जाने के समान होगा, क्योंकि तब काश्मीर भी इस इस्लामी प्रजातन्त्र के असहिष्णु और भ्रष्ट वातावरण का शिकार बन जाएगा!"

मज़दूर दल को इस सम्बन्ध में आगाह करते हुए उक्त सम्पादकीय में कहा गया है—"जिन लोगों ने अपने देश में आज तक जनमत जानने की परवाह नहीं की, उन लोगों की तरफ़ से काश्मीर के जनमत के प्रति चिन्ता व्यक्त करने का क्या अभिप्राय है? हमें देखना तो यह चाहिए कि भारत और पाकिस्तान में से किस देश में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर चलने की क्षमता है, और दोनों में से कौन-सा देश प्रजातन्त्र की भाषा को समझता है।"

ब्रिटेन में श्री अनुरिन बेवन जैसे नेताओं के रहते, हमें आशा है कि, भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध अधिक बिगड़ने नहीं पाएँगे। विशेषकर इस जानकारी के रहते कि आजकल ब्रिटेन की सर्वसाधारण जनता में मज़दूर दल अधिक लोकप्रिय है।

●

सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़

सैनिक मामलों के विशेषज्ञ एडमिरल रैडफ़ोर्ड ने हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका को सैनिक शक्ति के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट दी

है। इस रिपोर्ट से संसार के इस सब से अधिक सम्पन्न राष्ट्र के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। अमेरिकन वायुसेना में बी० ४७ (माध्यमिक बोइंग) तथा बी० ५२ (बड़े बोइंग) हवाई जहाज़ों की प्रधानता है। हाल ही में १,००० माध्यमिक बी० ४७ जहाज़ एक साथ उड़े थे और प्रत्येक जहाज़ ८,००० मील का सफ़र कर, निश्चित समय के भीतर वापस आ गया था। बड़े जहाज़ों की उड़ान शक्ति इससे बहुत अधिक है। वायुशक्ति का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण हाल ही में एफ-१०० तथा एफ़-८४ लड़ाकू बममारों, बी-६६ बममारों तथा हवाई टैंकरों की संख्या बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। एफ० १०४ नामक जो बड़ा बममार हवाई जहाज़ बनाया गया है, उसकी चाल १,५०० मील प्रति घण्टा तक है।

जल-सेना में भूमध्य सागर के छठे बेड़े और पश्चिमी प्रशान्त महासागर के सातवें बेड़े के अतिरिक्त बड़ी संख्या में ऐसे जहाज़ बनाए गए हैं, जो कुछ ही घण्टों में विश्व भर के रण महत्त्व के स्थानों पर पहुँच कर चारों तरफ़ अपने ६०० मील प्रति घण्टा रफ़्तार वाले बममार हवाई जहाज़ों का प्रसार कर सकेंगे। लड़ाकू जहाज़ों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बहुत दूर तक मार करने वाले एटॉमिक डैप्थ चार्जों की व्यवस्था की गई है। आजकल १५वीं एटॉमिक सब-मेरीन बनाई जा रही है। यह सब-मैरीन किसी तरह का नया इंधन लिए बिना समुद्र के भीतर ही भीतर लगभग ६०,००० मील की यात्रा कर सकती है। आजकल १५ नए एअर-क्राफ़्ट कैरियर भी बनाए जा रहे हैं, जिनमें से प्रत्येक पर १,५५,००,००० रुपया व्यय आएगा। अमेरिकन जल-सेना को एटॉमिक शक्ति वाले सभी ज्ञात शस्त्रों से सुसज्जित किया जा रहा है।

यह प्रयत्न किया जा रहा है कि बहुत शीघ्र सम्पूर्ण सेना को वायुयान-चालित बना दिया जाए। द्वितीय महायुद्ध से पहले तक जर्मनी को छोड़ कर संसार के अन्य देशों की सेनाओं का संगठन इस ढंग का नहीं था कि पूरी की पूरी आक्रान्ता सेना मोटर-चालित बना दी जाए। युद्ध के प्रारम्भिक दो वर्षों में इसी पूर्णतः मोटर-चालित सेना के बल पर जर्मनी को बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त हुई थीं। पर दो वर्षों की तैयारी के बाद कुछ अन्य देश भी इस सम्बन्ध में जर्मनी से पीछे नहीं रहे। अब संसार के दोनों सब से अधिक शक्तिशाली राष्ट्र—रूस और अमेरिका—अपनी पूरी की पूरी आक्रान्ता सेनाओं को उनके पूरे साज-सामान सहित वायुगामी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके लिए आजकल अधिकतम प्रयत्न किया जा रहा है। वहाँ सेना पर खरबों रुपया व्यय किया जा रहा है।

संसार के अन्य राष्ट्र भी इस सम्बन्ध में सोये हुए नहीं हैं। सभी शक्तिशाली राष्ट्र अपने सैनिकीकरण और शस्त्रों के नवीनीकरण तथा वैज्ञानिकीकरण पर अपनी सामर्थ्य से अधिक धन और शक्ति व्यय कर रहे हैं। एटम तथा हाइड्रोजन बमों के जो ढेर जमा किए जा रहे हैं, आख़िर उनका अन्त कहाँ जाकर होगा? सोचने की बात यह है कि यह दौड़ कहाँ जाकर समाप्त होगी और मानव जाति अपने ही हाथों अपनी क्या हालत कर डालेगी? समझदार लोगों का कथन है कि आज तक जितने एटम बम तथा हाइड्रोजन बम बन चुके हैं, वे सम्पूर्ण मानव-निर्माण को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए काफ़ी हैं।

घाना राष्ट्र का अभिनन्दन

६ मार्च १९५७ से गोल्ड कोस्ट का 'घाना' नामक नए स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में जो जन्म हुआ है, उसका हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। वर्तमान युग में एशिया और अफ़्रीका के राष्ट्र जिस तरह स्वाधीन होकर अपनी अधिकारपूर्ण महत्ता प्राप्त कर रहे हैं, घाना का जन्म उसका सब से ताज़ा प्रमाण है। घाना के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री क्वासे नक्रूमा का कथन है कि "घाना राष्ट्र तब तक खुशी से कौमनवेल्थ का सदस्य रहेगा, जब तक इंग्लैंड प्रजातन्त्रात्मक तथा शान्तिमय पथ का अनुसरण करता रहेगा।" भारत भर की शुभ कामनाएँ घाना राष्ट्र के साथ हैं। घाना राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ का ८१वां सदस्य बन गया है।

श्री पुरुषोत्तम मंगेश लाड का निधन

श्री पुरुषोत्तम मंगेश लाड के असामयिक देहावसान से भारत की और विशेषतः भारत सरकार की एक बहुत बड़ी क्षति हुई है। श्री लाड भारतीय सिविल सर्विस के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली सदस्य थे और पिछले १० वर्षों में बम्बई सरकार तथा भारत सरकार के सचिव पदों पर उन्होंने ठोस, अनथक और स्थायी महत्व का कार्य किया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि दिन-रात सरकार-संचालन के कार्य में व्यस्त रह कर उन्होंने अपने शारीरिक स्वास्थ्य की उपेक्षा की और इस तरह कर्त्तव्य भावना के लिए वह बलिदान हो गए। श्री लाड न केवल एक अत्यन्त जागरूक और प्रतिभाशाली जन-सेवक थे, अपितु वह एक श्रेष्ठ कोटि के विद्वान भी थे। उनका जीवन निष्ठा और तप का जीवन था। 'आजकल' को वर्तमान रूप देने में उनका हाथ सबसे अधिक था। हम 'आजकल' परिवार की ओर से श्री पुरुषोत्तम मंगेश लाड की दिवंगत आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

"हमारा सबसे बड़ा मन्दिर भारत हो गया है। तो अब यात्रा के ये नए-नए स्थान (हीराकुड, भाखड़ा नंगल आदि) देश में बन रहे हैं, जहाँ भारत के लोग अपने परिश्रम से यज्ञ कर रहे हैं। जिससे जनता की भलाई हो। आसमान के देवताओं से भी बड़ी भारत की जनता है। जिसकी हम सेवा कर रहे हैं और जिसके लिए यह परिश्रम कर रहे हैं। इसीलिए ये बड़े काम हमने उठाए हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू
[हीराकुड, १३ जनवरी १९५७]

कजरारे बादल (नव एकांकी गीति नाट्य) : रचयिता—विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त; प्रकाशक—पुस्तक भवन, मोती झील, मुज़फ़्फ़रपुर; पृष्ठ संख्या ८३; मूल्य १।) ।

बादल, चाँद और प्रकृति के अन्य मनोरम उपकरणों के माध्यम से व्यक्त मानव-मनोभावनाओं के ये गीत अपनी सरलता और गेयता से आपका मन अवश्य मुग्ध कर सकेंगे । परन्तु अच्छा यह होता कि कवि इन गीतों को ही प्रस्तुत करता, इन्हें नाटक के निरर्थक शिकंजे में न जकड़ता । नाटक के रूप में यह पुस्तक सर्वथा असफल है । केवल गीतों का ही सौन्दर्य इसे पठनीय बनाता है ।

गुटरगूँ : (हास्य एवं व्यंग्य की कविताएँ) लेखक—भीष्मसिंह चौहान; प्रकाशक—नारायण प्रकाशन, सागोरिया सदन, महारानी लक्ष्मीबाई रोड, लश्कर (ग्वालियर); पृष्ठ संख्या १०६; मूल्य १॥) ।

हिन्दी में हास्य साहित्य की बहुत कमी है । जो कुछ है भी, वह घटिया दर्जे का है । पिछली कई दशाब्दियों से हो यह रहा है कि यदि कभी कोई हास्य-लेखक प्रसिद्धि पा लेता है (रचनाओं के बल पर नहीं बल्कि आत्म-विज्ञापन, आत्म-प्रचार, गुटबन्दी आदि के बल पर) तो दो-चार छुटभैये चट उसका अनुकरण करने लगते हैं । फल यह होता है कि इन छुटभैयों की रचनाओं का स्तर और भी गिरा हुआ होता है । 'गुटरगूँ' एक ऐसे ही स्तर की काव्य-पुस्तक है । इसकी अधिकांश कविताएँ श्री गोपाल प्रसाद व्यास के 'पत्नीवाद' के अनुकरण के रूप में लिखी गई हैं । पुनरावृत्ति और हलकापन ही उनमें अधिक मिलता है । समस्यामूलक हास्य या व्यंग्य की रचनाओं में भी नयापन कुछ भी नहीं है । कवि सम्मेलनों में इन कविताओं का भले ही आदर हुआ हो (कवि सम्मेलनों की श्रोतामंडली के बौद्धिक स्तर को देखते हुए और कुछ आशा ही कैसे की जा सकती है !) पर साहित्यिक दृष्टि से इस पुस्तक का कोई भी मूल्य नहीं आँका जा सकता । छपाई-सफाई भी साधारण है जिसे देखते हुए मूल्य कुछ अधिक ही लगता है ।

अवसाद (गद्य-काव्य) : लेखिका—'ममता'; प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग; पृष्ठ संख्या ६५; मूल्य १।) ।

'अवसाद' में भावुक लेखिका के ६३ गद्य-काव्यों का रसास्वादन किया जा सकता है । इनमें करुण-कोमल भावनाओं की विविधता और गहराई है । कहीं-कहीं रहस्यात्मकता और अपरोक्षानुभूति की मधुर झलमलाहट है । लेखिका ने यथार्थ अनुभवों के माध्यम से कल्पना-जगत की सूक्ष्म-सुकुमार झाँकियाँ प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है । कुछ पंक्तियाँ सचमुच हृदय में गहरे उतर जाती हैं, जैसे—

"मेरे देवता ! जब मैं नास्तिक होने का आडम्बर रचती हूँ तब भक्ति की एक छोटी-सी लहर मेरे मानस में तुम क्यों बिखेर देते हो ?

तुम्हारी शक्ति का उपहास कर जब तुम्हारी सामर्थ्य पर मैं आशंका करती हूँ तब इस विस्तृत व्यापार के प्रति श्रद्धा का मधुर भाव क्यों जगाते हो ?

तुम्हारे अस्तित्व के विरुद्ध जब मैं विद्रोह से भर संदेह कर उठती हूँ तब क्षितिज के उस पार अपना विराट धवल आकार साकार बना एक सहज-सा विश्वास क्यों दिलाते हो ?

जब मैं तुमसे प्रवंचना करती हूँ तब भी तनिक-सा मुस्का तुम क्यों अपना स्निग्ध नेह इस अकिंचन पर बरसाते ही रहते हो ?

मेरा व्यंग भी तुम्हें रोष नहीं दिलाता—मेरा विद्रोह भी तुम्हें मुझ से दूर नहीं ले जा पाता । अब तुम्हीं बताओ इसे अपनी हार मानूँ या जीत !"

'अवसाद' को पढ़ कर आप अवश्य ही उस सहज वेदना-भावना में डूब सकेंगे जो मीरा और महादेवी जैसी कवयित्रियों की रचनाओं को लोकप्रिय बना सकी है । छपाई-सफाई अच्छी है ।

—प्रयाग नारायण त्रिपाठी

हर्ष चरित : लेखक—वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रकाशक—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना; पृष्ठ संख्या २२० + ५८ आर्ट पेपर पर रंगीन तथा इकरंगे चित्र; मूल्य ६॥) रु० सजिल्द ।

यह ग्रन्थ सुप्रसिद्ध विद्वान डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के ८ खोजपूर्ण व्याख्यानों का संग्रह है । महाकवि बाण के आधार पर लिखित यह हर्ष चरित आज से लगभग १३, १४ सौ वर्ष पूर्व के भारतीय रीति-रिवाज, वेशभूषा, संस्कृति आदि के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाशन है । उपलब्ध सामग्री के आधार पर महाराजा हर्षवर्धन की जीवनी तो इस ग्रन्थ में दी ही गई है, पर वह जैसे आनुषंगिक है । ग्रन्थ का वास्तविक ध्येय हर्षकालीन भारतीय समाज पर अधिकतम सर्वांगीण प्रकाश डालना है । और इस उद्देश्य में लेखक को यथेष्ट में सफलता भी प्राप्त हुई है । हर्षकालीन भारत के सम्बन्ध में इससे अधिक श्रेष्ठ रचना आपको हिन्दी में ही क्या किसी अन्य भाषा में भी नहीं मिलेगी । तत्कालीन वेशभूषा आदि सम्बन्धी ५२ चित्रों से पुस्तक का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है । अन्त में स्कधावार, राजकुल और धवल गृह के कुछ उपयोगी मानचित्र भी दिए गए हैं । इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल और बिहार राष्ट्र भाषा परिषद बधाई के पात्र हैं ।

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

नए प्रकाशन

पुस्तक का नाम	मूल्य	डाक व्यय
हमारे नए सिक्के	४ आने	२ आने
सामाजिक मनोविज्ञान	८ आने	२ आने
योजनाओं से समाजवाद की ओर	२ आने	२ आने
अन्न और खेती	२ आने	२ आने
जवाहरलाल नेहरू के भाषण भाग ४	१ आना प्रति	१ आना प्रति
और ५ भाग १, २, और ३ भी उपलब्ध हैं	१ आना प्रति	१ आना प्रति

(रजिस्ट्रेशन व्यय अलग)

दस रुपये से अधिक का माल मँगाने पर डाक व्यय माफ। सब आर्डरों के साथ पेशगी रकम आनी आवश्यक। यदि रकम क्रॉस्ड पोस्टल आर्डर से भेजी जाए तो अच्छा हो।

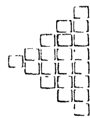


सभी प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्य अथवा डाक से सीधे लिखें :

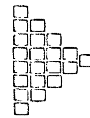
बिज़िनेस मैनेजर,

प ब्लि के श न्स डि वी ज़ न,

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८



सूचना



बाल-भारती

एक प्रति : ६ आने

वार्षिक चन्दा : ४ रुपये

※ बच्चों की प्रिय मासिक पत्रिका ※

बाल-भारती का जून, १९५७ का वार्षिक अङ्क "विज्ञान अङ्क" के रूप में निकलेगा। इसमें विज्ञान के बारे में कई रोचक लेख होंगे। अङ्क सचित्र होगा।

उसी मूल्य में अधिक पाठ्य-सामग्री



सभी प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्य अथवा सीधा लिखें :

बिज़िनेस मैनेजर,

पब्लिकेशन्स डिवीज़न,

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८